1.1 प्रस्तावना -

ज्ञान का मूल वेदों में निहित है। दार्शनिक चिन्तन तथा वैदिक ज्ञान का निचोड़ आत्म तत्व की प्राप्ति है। आत्मतत्व की प्राप्ति का साधन योग विद्या के रूप में इनमें (वेद) उपलब्ध है। योगसाधना का लक्ष्य कैवल्य प्राप्ति है। वैदिक ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण और दर्शन आदि में यत्र-तत्र योग का वर्णन मिलता है। जिससे यह पुष्टि होती है कि योग वैदिक काल से सृष्टि में उपलब्ध है।

1.1.1-योग शब्द का अर्थ

पाणिनी ने 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'युजिर् योगे', 'युज समाधो' तथा 'युज् संयमने' इन तीन धातुओं से मानी है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'योग' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है, जैसे - जोड़ना, मिलाना, मेल आदि। इसी आधार पर जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग कहलाता है। इसी संयोग की अवस्था को "समाधि" की संज्ञा दी जाती है जो कि जीवात्मा और परमात्मा की समता होती है। महर्षि पतंजलि ने योग शब्द को समाधि के अर्थ में प्रयुक्त किया है। व्यास जी ने 'योग: समाधि:' कहकर योग शब्द का अर्थ समाधि ही किया है। वाचस्पति का भी यही मत है। संस्कृत व्याकरण के आधार पर 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जा सकती है।

* **"युज्यते एतद् इति योग:** - इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मकारक में योग शब्द का अर्थ चित्त की वह अवस्था है जब चित्त की समस्त वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है। यहाँ पर 'योग' शब्द का उद्देश्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

* **"युज्यते अनेन अति योग:** -इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण कारक में योग शब्द का अर्थ वह साधन है जिससे समस्त चित्तवृत्तियों में एकाग्रता लाई जाती है। यही 'योग'

शब्द साधनार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर योग के विभिन्न साधनों को जैसे हठ, मंत्र, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि को हठयोग, मंत्रयोग, भक्ति योग, ज्ञानयोग,

कर्मयोग आदि के नाम से पुकारा जाता है।

* **"युज्यतेऽस्मिन् इति योग:"** -इस व्युत्पत्ति के अनुसार योग शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है। अत: यहाँ पर अधिकरण कारक की प्रधानता है।

1.1.2-योग की परिभाषाएं-

भारतीय दर्शन में योग विद्या का स्थान सर्वोपरि एवं विशेष है। भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर योग विद्या से सम्बन्धित ज्ञान भरा पड़ा है। वेदो, उपनिषदो,गीता एंव पुराणों आदि प्राचीन ग्रन्थों में योग शब्द वर्णित है। दर्शन में योग शब्द एक अति महत्वपूर्ण शब्द है जिसे अलग-अलग रूप में परिभाषित किया गया है।

1. योग सूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है -

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। चित्त का तात्पर्य, अन्त:करण से है। वाह्य ज्ञानेन्द्रियां जब विषयों का ग्रहण करती हैं, मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा साक्षी भाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्य भाव लाते है। इस सम्पूर्ण क्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है, वही वृत्ति कहलाता है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। अत: विषय उसमें आकर प्रतिबिम्बत होता है अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है।
महर्षि पतंजलि ने योग को दो प्रकार से बताया है-

* सम्प्रज्ञात योग
* असम्प्रज्ञात योग

सम्प्रज्ञात योग में तमोगुण गौणतम् रूप से रहता है तथा पुरूष के चित्त में विवेक-ख्याति का अभ्यास रहता है। असम्प्रज्ञात योग में सत्व चित्त में बाहर से तीनों गुणों का परिणाम होना बन्द हो जाता है तथा पुरूष शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूप में

अवस्थित हो जाता है।

2. महर्षि याज्ञवल्क्य ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है-

'संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो।'

अर्थात जीवात्मा व परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम ही योग है।

कठोपनिषद् में योग के विषय में कहा गया है-

'यदा पंचावतिश्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिष्च न विचेश्टति तामाहु: परमां गतिम्।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभावाप्ययौ।।

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती है और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को 'परमगति' कहते है। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही

योग है। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है, अर्थात् प्रमादहीन हो जाती है। उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारो का नाश होने लगता है। यही अवस्था योग है।

3. मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है -

एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।

सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते।।

अर्थात प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, वाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना,प्राण का निश्चल हो जाना योग है।

4. योगषिखोपनिषद् में कहा गया है-

योSपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनो:।

एवंतुद्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते।।

अर्थात् अपान और प्राण की एकता कर लेना, स्वरज रूपी महाशक्ति कुण्डलिनी को स्वरेत रूपी आत्मतत्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला और चन्द्र अर्थात् इड़ा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा से जीवात्मा का मिलन योग है।

5. श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया है।

योगस्थ: कुरू कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय:।

सिद्ध्यसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

अर्थात्- हे धनंजय! तू आसक्ति त्यागकर समत्व भाव से कार्य कर।

सिद्धि और असिद्धि में समता-बुद्धि से कार्य करना ही योग है। सुख-दु:ख, जय - पराजय, शीतोष्ण आदि द्वंदों में एकरस रहना योग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुश्कृतें।

तस्माधोग युज्यस्व योग: कर्मसुकौशलम्।।

अर्थात् कर्मो में कुशलता में ही योग है। कर्म इस कुशलता से किया जाए कि कर्म बन्धन न कर सके अर्थात् अनासक्त भाव से कर्म करना ही योग है क्योंकि अनासक्त भाव से किया गया कर्म संस्कार उत्पन्न न करने के कारण भावी जन्मादि का कारण नहीं बनता। कर्मो में कुशलता का अर्थ फल की इच्छा न रखते हुए कर्म का करना ही

कर्मयोग है।

पुराणों में भी योग के सम्बन्ध में अलग-अलग स्थानों पर परिभाषाएं मिलती है-

ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैक चित्तता।

चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनी: पर:।।

अर्थात् ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता ही योग है।

6. **रांगेय राघव ने कहा है**-'शिव और शक्ति का मिलन योग है।'

7. **लिंड्ग पुराण के अनुसार -** लिंग पुराण मे महर्षि व्यास ने योग का लक्षण किया है कि -

सर्वार्थ विषय प्राप्तिरात्मनो योग उच्यते।

अर्थात् आत्मा को समस्त विषयों की प्राप्ति होना योग कहा जाता है। उक्त परिभाषा में भी पुराणकार का अभिप्राय योगसिद्धि का फल बताना ही है। समस्त विषयों को प्राप्त करने का सामर्थ्य योग की एक विभूति है। यह योग का लक्षण नहीं है। वृत्तिनिरोध के बिना यह सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता।

8. **अग्नि पुराण के अनुसार** - अग्नि पुराण में कहा गया है कि

आत्ममानसप्रत्यक्षा विशिष्टा या मनोगति:।

तस्या ब्रह्मणि संयोग योग इत्यभि धीयते।।

अर्थात् योग मन की एक विशिष्ठ अवस्था है जब मन में आत्मा को और स्वंय मन को प्रत्यक्ष करने की योग्यता आ जाती है, तब उसका ब्रह्म के साथ संयोग हो जाता है। संयोग का अर्थ है कि ब्रह्म की समरूपता उसमें आ जाती है। यह कामरूपता की स्थिति का योग है। अग्निपुराण के इस योग लक्षण में पूर्वोक्ति याज्ञवल्क्य स्मृति के

योग लक्षण से कोई भिन्नता नही है। मन का ब्रह्म के साथ संयोग वृत्तिनिरोध होने पर ही सम्भव है।

9. **स्कन्द पुराण के अनुसार -** स्कन्द पुराण भी उसी बात की पुष्टि कर रहा है जिसे अग्निपुराण और याज्ञवल्क्य स्मृति कह रहे है। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि-

यव्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्म परमात्मनो:।

सा नष्टसर्वसकल्प: समाधिरमिद्यीयते।।

परमात्मात्मनोयोडयम विभाग: परन्तप।

स एव तु परो योग: समासात्क थितस्तव।।

यहां प्रथम "लोक में जीवात्मा और परमात्मा की समता को समाधि कहा गया है" तथा दूसरे "लोक में परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता को परम योग कहा गया है।" इसका अर्थ यह है कि समाधि ही योग है। वृत्तिनिरोध की अवस्था में ही जीवात्मा और परमात्मा की यह समता और दोनों का अविभाग हो सकता है। यह वात नष्टसर्वसंकल्प: पद के द्वारा कही गयी है।

10. **हठयोग प्रदीपिका के अनुसार** - योग के विषय में हठयोग की मान्यता का विशेष महत्व है,वहां कहा गया है कि

सलिबे सैन्धवं यद्वत साम्यं भजति योगत:।

तयात्ममनसोरैक्यं समाधिरभी घीयते।।

अर्थात् जिस प्रकार नमक जल में मिलकर जल की समानता को प्राप्त हो जाता है ; उसी प्रकार जब मन वृत्तिशून्य होकर आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है तो मन की उस अवस्था का नाम समाधि है। यदि हम विचार करें तो यहां भी पूर्वोक्त परिभाषा से कोई अन्तर दृष्टिगत नही होता। आत्मा और मन की एकता भी समाधि

का फल है, उसका लक्षण नहीं है। इसी प्रकार मन और आत्मा की एकता योग नही अपितु योग का फल है।

1.1.3 योग का विकास-

योग का आशय उस प्राचीन योग प्रणाली से है जिसे पतंजलि ने योगसूत्र मे निरुपित किया है । पतंजलि ने अष्टांग योग प्रणाली के बारे में बताया है जिसके अंतर्गत समग्र आध्यात्मिक विकास पर जोर दिया गया । यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन योग महान वैदिक परम्परा का हिस्सा रहा है। भारत में योग मनुष्य के उस क्रिया कलाप का हिस्सा रहा है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक ऊंचाईयों तक पहुंचा जा सकता है, योग के इतिहास को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है ।

*प्राचीन काल में योग

*मध्यकाल में योग

*आधुनिक काल में योग

1.1.3.1प्राचीन काल में योग

प्राचीन काल में पतंजलि ने योग सूत्र लिखे थे जिसमें 196 सूत्र हैं, जिनमें मानव जीवन के लक्ष्य तक पहुंचने के लिये 8 सोपान निरुपित हैं, जो जन्म और मृत्यु के दुःख़ों से मुक्ति का मार्ग है इसे राजयोग यानि संकल्प शक्ति का योग कहा गया है ।

बुद्ध का अभ्युदय भी इसी काल में हुआ था, जिन्होंने हमें अष्ट मार्ग की शिक्षा दी तथा जिसमें ध्यान पर विशेष जोर दिया गया।

योग का सर्वाधिक असाधारण ग्रंथ है श्रीमद्भगवदगीता , जिसकी रचना ईसा के लगभग 5000 वर्ष हुई थी । भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर से मिलने के चार मार्ग हैं, इन्हें इस प्रकार निरुपित किया गया है - कर्मयोग ,भक्तियोग ,ज्ञानयोग , राजयोग। भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय योग कहलाता है। प्रत्येक अध्याय में अंतिम सत्य तक पहुंचने का मार्ग योग ही है।

1.1.3.2 मध्यकाल में योग-

बुद्ध ने पूरे उपमहाद्वीप में ध्यान को लोकप्रिय बनाया था पर छठी शताब्दी में जब बौद्धधर्म के प्रभाव में कमी आ गई थी तो मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ जैसे कुछ महान योगियों ने इस पद्धति को परिशोधित किया । इस अवधि के दौरान हठ योग से सम्बंधित कई ग्रंथों की रचना हुई । इस अवधि में जो प्रमुख ग्रंथ लिखे गये उनमें स्वात्माराम द्वारा रचित योग प्रदीपिका, श्रीनिवास योगी द्वारा रचित घेरंड संहिता एक संवादात्मक ग्रंथ, श्रीनिवास योगी द्वारा रचित हठ रत्नावली, नित्यानाथ द्वारा रचित सिद्ध सिद्धांत पद्धति आदि शामिल है। गुरुगोरखनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रणेता माना

जाता है, इन्होनें योग और ध्यान का संदेश प्रसारित किया। गुरुगोरखनाथ ने कई पुस्तकों की रचना की है जैसे- गोरखसंहिता, गोरखगीता, योगचिंतामणि।

1.1.3.3 आधुनिक काल में योग-

श्री अरविंदो द्वारा रचित “समग्र योग” अथवा पूर्ण योग में दिव्य शक्ति के प्रति सम्पूर्ण समर्पण पर जोर दिया है जो दिव्य शक्ति का मार्ग है, ताकि व्यक्ति का रूपांतरण हो सके। श्री रामकृष्ण परमहंस भक्तियोग और दिव्य प्रेम के मार्ग का समर्थन करते हैं। रामकृष्ण के विचार में सभी धर्म मानव मन की विविध इच्छाओं की संतुष्टि हेतु ईश्वर के विभिन्न रूपों का प्रकटिकरण है। श्री रामकृष्ण का आधुनिक विश्व के लिये सबसे बड़ा योगदान है सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित करना। स्वामी विवेकानंद ने वेदांत की शिक्षाओं को निम्नलिखित रूप में संक्षेपण किया है ।

→ प्रत्येक आत्मा सम्भाव्य रूप से दिव्य होती है।
→ इस आंतरिक दिव्यता को प्राप्त करने के लक्ष्य पाने के लिये आंतरिक और वाह्य प्रकृति को नियंत्रित करना है ।
→ इसे कर्मयोग भक्तियोग राजयोग अथवा ज्ञानयोग से किसी एक के द्वारा प्राप्त करें और मुक्त हो जायें ।

1.1.4 योग का महत्व-

प्राचीन काल मे योग विद्या सन्यासियों या मोक्षमार्ग के साधको के लिए ही समझी जाती थी तथा योगाभ्यास के लिए साधक को घर को त्याग कर वन मे जाकर एकांत में वास करना होता था । इसी कारण योगसाधना को बहुत ही दुर्लभ माना जाता था। जिससे लोगो में यह धारणा बन गयी थी कि यह योग सामाजिक व्यक्तियों के लिए नहीं है। जिसके फलस्वरूप यह योगविद्या धीरे-धीरे लुप्त होती गयी परन्तु पिछले कुछ वर्षों से समाज में बढ़ते तनाव, चिन्ता, प्रतिस्पर्धा से ग्रस्त लोगों को इस गोपनीय योग से अनेक लाभ प्राप्त हुए और योग विद्या एकबार पुन: समाज मे लोकप्रिय होती गयी। आज भारत में ही नही बल्कि पूरे विश्वभर में योगविद्या पर अनेक शोध कार्य किये जा रहे है और इससे लाभ प्राप्त हो रहे हैं। योग के इस प्रचार-प्रसार में विशेष बात यह रही कि यहां यह योग जितना मोक्षमार्ग के पथिक के लिये उपयोगी था, उतना ही साधारण मनुष्य के लिए भी महत्व रखता है। आज के आधुनिक एवं विकास के इस युग में योग अनेक क्षेत्रों में विशेष महत्व रखता है जिसका उल्लेख निम्नलिखित विवरण से किया जा रहा हैं।

1.1.4.1 स्वास्थ्य क्षेत्र में -

वर्तमान समय में भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी योग का स्वास्थ्य के क्षेत्र में उपयोग किया जा रहा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में योगाभ्यास पर हुए अनेक शोधों से आये सकारात्मक परिणामों से इस योग विद्या को पुन: एक नयी पहचान मिल चुकी है आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान चुका है कि वर्तमान में तेजी से फैल रहे मनोदैहिक रोगों में योगाभ्यास विशेष रूप् से कारगर है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानना है कि योग एक सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवन शैली है, जिसे अपना कर अनेक प्रकार के प्राणघातक रोगों से बचा जा सकता है। योगाभ्यास के अन्तर्गत आने वाले षट्कर्मों से व्यक्ति के शरीर में संचित विषैले पदार्थों का आसानी से निष्कासन हो जाता है। वहीं योगासन के अभ्यास से शरीर मे लचीलापन बढ़ता है व नस- नाड़ियो में रक्त का संचार सुचारू रूप से होता है। प्राणायामों के करने से व्यक्ति के शरीर में प्राणिक शक्ति की वृद्धि होती है, साथ - साथ शरीर से पूर्ण कार्बन-डाई-ऑक्साईड का निष्कासन होता है। इसके अतिरिक्त

की उत्पत्ति और उसका प्रारम्भिक इतिहास

लालमणि जोशी

(परिसंवाद–१ प्रतिमुद्रणम्)

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी–२२१००२ (उ० प्र०)

31496

योग की उत्पत्ति और उसका प्रारम्भिक इतिहास

लालमणि जोशी

[१]

'योग' क्या है ? भारतीय धार्मिकता के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता। 'योग' शब्द के अनेक अर्थ हैं। इसका सामान्य अर्थ जोड़ने, युक्त करने, एक साथ होने से है। रथ के साथ बाँधे जाने वाले पशुओं के बन्ध को 'योग' कहा गया है। ऋग्वेद (१-२४-९) में 'योग' शब्द का प्राचीनतम यही अर्थ है। यद्यपि ऋक् संहिता में अन्यत्र 'योग' एवं 'योगक्षेम' शब्द आये हैं, परन्तु उनका अर्थ योगसूत्र अथवा उपनिषदों अथवा महाभारत में उपलब्ध 'योग' के अर्थ से अति दूर है। दूसरे शब्दों में 'योग' शब्द प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सुविदित है, परन्तु वह ध्यानपथ अथवा योगमार्ग का पारिभाषिक शब्द नहीं है। हमारा विश्वास है कि 'निर्वाण' अथवा 'मोक्ष' की निष्णात कल्पना और 'योग' द्वारा उसकी प्राप्ति की खोज ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति की परिधि के बाहर आर्येतर एवं अवैदिक विचारधारा का परिणाम थी।

'योग' का सम्बन्ध 'तप' के साथ रहा है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थ 'तप' का और उसके परिणामों का बहुल उल्लेख करते हैं। 'तप' का यज्ञ के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल का 'तप' यज्ञ का ही एक स्वरूप अथवा पहलू था। चूँकि 'मोक्ष' का आदर्श संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में अज्ञात है, अतएव वैदिक 'तप' को उसी प्रकार मुक्ति का मार्ग नहीं माना जा सकता है, जिस प्रकार वैदिक यज्ञ को निर्वाण का साधन नहीं माना जा सकता। 'योग' का 'तप' व यज्ञ के अतिरिक्त जादू (वैदिक 'यातु') चमत्कार, तन्त्र, मन्त्र, चिकित्सा एवं सिद्धियों से भी प्राचीन समय से सम्बन्ध रहा है। ऐतिहासिक युग में 'तप' और उससे प्राप्त होने वाली शक्तियों का ध्यान से उत्पन्न सिद्धियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता था। तपस्या के विचारादर्शों ने प्राचीन भारतीय धार्मिक पुराकथाओं, उपदेशपरक आख्यानों एवं लोकमानस को अत्यधिक प्रभावित किया था। महाभारत (उद्योगपर्व, अध्याय ४३, श्लोक १३) में **'तपोमूलमिदं सर्वम्'** कहा गया है। इस धारणा में महाभारत के पूर्व वैदिक युग में और उसके पश्चात्

के समय में आज तक जनसाधारण की आस्था रही है। 'योग' की भाँति 'तप' का भी विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन करना आवश्यक है।

'योग' का सम्बन्ध 'संन्यासाश्रम' से भी है, परन्तु 'योग' की उत्पत्ति चतुर्थाश्रम की उत्पत्ति से और योगाभ्यास को संन्यासाश्रम तक ही सीमित समझना त्रुटिपूर्ण है। आश्रमव्यवस्था शाक्यमुनि बुद्ध के पश्चात्काल की उपज है और चतुर्थ अथवा संन्यास-आश्रम का ब्राह्मणपरम्परा में प्रवेश जैन एवं बौद्ध श्रमणों के संगठित संघों की व्यापकता का परिणाम माना गया है।[1] प्राचीन वैदिक ब्राह्मण परम्परा संन्यासाश्रम अथवा श्रामण्य के पक्ष में नहीं थी। कालान्तर में 'योग' की भाँति संन्यासाश्रम अथवा भिक्षु-जीवन भी प्रगतिशील वैदिक परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना गया।

'योग' की उत्पत्ति अनेक पश्चिमी विद्वानों ने 'जादू' से सम्बन्धित काय-वाक्-चित्त की उन प्रक्रियाओं से हुई मानी है, जो विश्व भर में व्यापकरूप से आदिकाल से प्रचलित रही हैं। 'योग' के लौकिक एवं अर्द्ध लौकिक स्वरूप की अवहेलना नहीं की जा सकती है। 'योग' का तप, मन्त्रविद्या, गुह्यसाधना, सिद्धि, शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक चमत्कार, परकायप्रवेश, परचित्तज्ञान, अभिचार, वशीकरण, भूत-प्रेत पर विजय, रोग व विष से मुक्ति आदि नाना मानवीय व्यापारों से जो लोकप्रिय सम्बन्ध रहा है, वह इतिहास में सुविदित है।[2] 'योग' विषयक नाना भ्रान्तियों का सम्बन्ध 'योग' के लौकिक एवं अर्द्धलौकिक स्वरूप से है। इससे यह भी संकेतित है कि 'योग' का पारलौकिक एवं पारमार्थिक स्वरूप भी है। वस्तुतः यही स्वरूप हमारे वर्तमान अध्ययन का विषय है। हमारा मत यह है कि 'योग' एक पद्धति है, शरीर एवं मन को व्यवस्थित करने की एक विद्या अथवा शास्त्र है। मार्ग, यान, विधि इसके पर्यायवाची हैं। 'योग' इस पद्धति अथवा पथ को भी कहते हैं और इस पद्धति अथवा पथ पर उद्योग एवं प्रयत्न अथवा प्रध्यान (पालि=पधान) को भी कहते हैं। इस पद्धति का उपयोग आरोग्य-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति, सिद्धियों की प्राप्ति अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है और कदाचित् किया जाता रहा है। यही कारण है कि 'योग' का सम्बन्ध बोधिचर्या अथवा ब्रह्मविद्या के साथ ही नहीं, अपितु

---

१. द्रष्टव्य—गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, 'स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म' १९५८ (इलाहाबाद), पृ० ३२२–२६; लालमणि जोशी—'ब्राह्मनिज्म बुद्धिज्म एण्ड हिन्दूइज्म', १९७०, (कण्डी) पृ० ३५–३८।

२. द्र०—मर्सिया इलियाडे, 'शमनिज्म', न्यूयार्क १९६४, वही, इमार्टैलिटी एण्ड फ्रीडम, न्यूयार्क १९६४ पृ० २७४ से आगे।

नाना प्रकार को 'तिरच्छान' (तिरश्चीन) विद्याओं एवं लौकिक जीवनव्यापार से भी रहा है।

प्रस्तुत निबन्ध में 'योग' को मोक्षप्रापक धर्मसाधना अथवा निर्वाण-गामिनी प्रतिपदा के रूप में समझा गया है। इस अर्थ में 'योग' जैनधर्म, बौद्धधर्म एवं वैदिक-ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित अनेक धार्मिक मतों में विद्यमान रहा है। वस्तुतः भारतीय धार्मिक परम्पराएं विश्व के अन्य धर्मों की तुलना में योगप्रधान कही जा सकती हैं। 'योग' भारतीय धार्मिक साधना-पद्धतियों की विशेषता है। भारतीय संस्कृति एवं विचारजगत् में, भारतीय लौकिक तथा धार्मिक जीवन में, साहित्य में, भारतीय कलाओं में और भारतीय जनमानस में 'योग' शब्द से अभिप्रेत होने वाले नाना तत्त्वों का व्यापक प्रभाव विवाद का विषय नहीं कहा जा सकता है।[1] 'योग' की व्यापकता, निरन्तरता एवं प्राचीनता असाधारण एवं आश्चर्यजनक तथ्य हैं। इस निबन्ध का उद्देश्य 'योग' की प्रारम्भिक अवस्थाओं एवं उसके स्वरूपों का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से मात्र विहङ्गावलोकन करना है। इस विषय का विस्तृत अध्ययन एक विशाल ग्रन्थ में ही किया जा सकता है।[2]

यहाँ पर यह कहना प्रसङ्गानुकूल होगा कि हमारा दृष्टिकोण परम्परागत न होकर ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक है। इन दोनों दृष्टियों में पर्याप्त मतभेद हैं। हमारे देश में अनेक धार्मिक परम्पराएं हैं, उनमें परस्पर मतैक्य भी हैं, मतान्तर भी हैं। चूँकि 'योग' लगभग सभी धार्मिक मतों में प्रचलित रहा है, अतएव 'योग' के अर्थ एवं स्वरूप में भी मतभेद अथवा समानता की आशा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त 'योग' के अनेक अर्थ हैं और अनेकार्थक होने से इसे विविध भी मानना पड़ेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर 'योग' की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता, जैसा कि महाभारत अथवा भगवद्गीता[3] में अथवा परवर्ती काल के बहुसंख्यक शैवागमों एवं योग-उपनिषदों में कहा गया है। हम 'योग' की दैवी नहीं, अपितु मानवीय उत्पत्ति मानते हैं तथा अनादिकालिक नहीं, अपितु देश और काल के अन्तर्गत विकसित उच्चतर मानव संस्कृति को एक बहुमूल्य देन

१. देखिये—ई० डब्ल्यु० हाप्किन्स, 'योग टेकनीक्स इन दि महाभारत' जर्नल ऑफ अमेरिकन आरियन्टल सोशायटी, वर्ष २२ (१९०१) पृ० ३३३–७९।

२. इस विषय पर मर्सिया इलियाडे का योग इमार्टैलिटी एण्ड फ्रीडम नामक ग्रन्थ (न्यूयार्क द्वितीय संस्करण, तथा सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनेक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

३. गीता ३–३।

मानते हैं। 'योग' अथवा ध्यान आर्येतर एवं अवैदिक ही नहीं, वरन् पूर्ववैदिक माना गया है।[1] पुरातत्त्व एवं भाषाविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम तथा स्वयं वैदिक साहित्य के साक्ष्य के आधार पर यह मान्यता ख्यातिप्राप्त हो चुकी है कि सैन्धव संस्कृति के निर्माता आर्येतर एवं पूर्ववैदिक भारतीय जन थे। उन्हें द्रविड जातीय कहने के लिये जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वे अपर्याप्त हैं। परन्तु उन्हें आर्यभाषाभाषी ऋग्वैदिक जनों से सम्बन्धित करने के बलात् प्रयत्न और भी अधिक दरिद्र एवं असन्तोषजनक हैं। प्राचीन भारत में 'आर्य' एवं 'द्रविड' शब्दों से सम्बोधित होने वाली दो ही जातियाँ नहीं थीं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक जातियों के लोगों ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध एवं बहुमुखी बनाने में सहयोग किया होगा। प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास आर्य एवं आर्येतर, वैदिक एवं अवैदिक विचारादर्शों के पारम्परिक संघर्ष, सम्पर्क एवं मिश्रण के विकास का इतिहास है।

'योग' और 'ध्यान' शब्द हड़प्पा-संस्कृति में प्रचलित थे अथवा नहीं, हमें ज्ञात नहीं है। परन्तु 'ध्यान' अथवा 'योग' के अभ्यास करने वाले मनुष्यों की सत्ता के पुरातात्त्विक एवं असन्दिग्ध प्रमाण ईशा से तीसरी सहस्त्राब्दी पूर्व की इस संस्कृति में उपलब्ध होते हैं। मोहिंजोदड़ों नगर के खण्डहरों से उत्खनन-पश्चात् प्राप्त कुछ मुहरों पर अङ्कित तथा पाषाणखण्डों पर तक्षित चित्र ध्यानस्थ पुरुष और तपस्वी व्यक्ति को चित्रित करते हैं। अतएव ध्यान परम्परा की उत्पति आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व में हुई माननी पड़ती है।[2]

ऋग्वेद (१०-१३६) के केशीसूक्त में वर्णित 'मौन से उन्मत्त' 'वातरसना मुनि' का दृश्य प्रागैतिहासिक काल के एक प्रकार के 'योगी' का परिचय देता है। यह 'मुनि' अवैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि इस कारण माना गया है कि सूक्तकार उससे प्रभावित एवं उसके असाधारण सिद्धि सरीखे चरित्रों से आश्चर्य में पड़ गया प्रतीत होता है। ऐसा 'मुनि' वैदिक समाज व धर्म में सुपरिचित व्यक्ति नहीं था।

---

१. लालमणि जोशी, पूर्व उल्लिखित ग्रन्थ पृ० ५७-५८, पाण्डे पू० उ० ग्रन्थ, पृ० ३०२-३०५, इलियाडे, योग पृ० १०१, ३५३-३५८, सुनीति कुमार चटर्जी का लेख 'दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' खण्ड १ (कलकत्ता) १९५८, पृ० ८०-८१, हाइनिक जिमर, फिलासाफीज ऑफ इण्डिया, न्यूयार्क १९६० पृ० २८१।

२. जान मार्शल,—'मोहिंजोदड़ो एण्ड दी इन्डस सिविलाइजेशन' खण्ड १, लन्दन, १९३१, पृ० ५२, स्टुअर्ट पिगट,-'प्रिहिस्टरिक इण्डिया', लन्दन, १९५०, पृ० २०२-२०३, इलियाडे, योग, पृ० ३५४-३५६।

अनेक आधुनिक विद्वानों ने योगपद्धति की उत्पत्ति इन्हीं अवैदिक मुनियों, यतियों एवं श्रमणों को संस्कृति से निःसृत मानी है, जिनका विरल उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में सुरक्षित है।

वैदिक काल के मध्य में अवैदिक तथा वैदिक संस्कृतियों का पर्याप्त सम्मिश्रण हो गया था। इस सांस्कृतिक मिश्रण का प्रभाव जैन, बौद्ध, सांख्य, आजीवक एवं प्राचीनतर वेदान्त अथवा उपनिषदों में स्पष्ट दिखायी देता है। न केवल जैन, आजीवक एवं बौद्ध मतों के विशिष्ट विचार, अपितु सांख्य का प्राचीन स्वरूप, 'योग'-पद्धति तथा प्राचीनतर उपनिषदों के योगप्रधान और निवृत्तिपरक विचार सम्भवतः मुनिश्रमण संस्कृति के प्रभाव के परिणाम थे।

मोक्षोपाय अथवा निवृतिमार्ग के रूप में 'योग' की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि यह सभी वर्णों अथवा जातियों के मुमुक्षुओं के लिये खुला था। जैन एवं बौद्ध क्षेत्रों में यह स्त्रियों व पुरुषों के लिये प्राचीन काल से समान रूप से सुलभ था। ब्राह्मण परम्परा में यह उदारता कालान्तर में विकसित हुई।

ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से 'योग' को 'श्रमणयोग' और ब्राह्मणयोग इन दो प्रकारों के रूप में देखा जा सकता है। यह प्रकारभेद 'योग' के ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों दिशाओं में विकास-क्रम से सम्बन्धित है। श्रमणयोग का बौद्ध-संस्करण न केवल अनीश्वरवादी है, वरन अनात्मवादी भी है। दूसरी ओर ब्राह्मणयोग ब्रह्मात्मवादी, ईश्वरवादी तथा पुरुषवादी है। यह सम्भव है कि वैदिक-ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव में आने के पूर्व 'योग' एक अनीश्वरवादी ध्यानपद्धति मात्र था। अनेक अधिकारी विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक योग एवं सांख्य अनीश्वरवादी थे। जैसा कि विदित है, मध्यकाल में इन दोनों की सेश्वर व्याख्यायें लिखी गयीं और इनकी गणना ब्राह्मणपरम्परा के षट्दर्शनों में होने लगी।

'योग' एक व्यावहारिक ध्यानपरक मार्ग था, जो पतञ्जलिकृत योगसूत्र तथा उस पर लिखे गये व्याख्या-साहित्य में एक ईश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप धारण करता है। योगसूत्र तीसरी शती ईसवी की रचना मानी गयी है। इस ग्रन्थ में उपनिषदिक वेदान्त, प्राचीन सांख्य एवं प्राचीन योगपद्धति का समन्वित रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आलोचकों ने इस प्रयत्न को असफल माना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'योगदर्शन' एक अर्वाचीन सम्प्रदाय है, जिसका योग व ध्यान सम्बन्धी अंश प्राचीन योग की परम्परा पर आधारित है।

महाभारत के शान्तिपर्व में सङ्कलित सांख्य एवं योग विषयक सामग्री विविध युगों की तथा विभिन्न स्रोतों पर आधारित है। महाभारत का वर्तमान स्वरूप चतुर्थ

शती ईस्वी में सम्पन्न हुआ माना जाता है। अतएव ईसा पूर्व की अन्तिम छः या पाँच शतियों में 'याग' का विकास-क्रम समझने के लिये प्राचीनतर पालिसुत्तों, उपनिषदों, महाभारत के प्राचीनतर अंशों एवं जैन सूत्राङ्गों की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है। प्राचीनतर उपनिषदों का काल इन छः या पाँच शतियों से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों की सूची में केवल निम्नलिखित ग्रन्थों की गणना होती है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी, केन, ईश, कठ, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर, माण्डूक्य तथा मैत्रायणी। इनमें से प्रथम दो उपनिषद् छठी शती में, उनके बाद के पाँच उपनिषद् पाँचवीं व चौथी शतियों में तथा अन्तिम छः उपनिषद् तीसरी व दूसरी शतियों में रखे जा सकते हैं।[1] मैत्रायणी उपनिषद् निश्चित रूप से अन्य उपनिषदों से बहुत पश्चात् काल की रचना मानी गई है। एक सौ आठ उपनिषदों के संग्रह में सम्मिलित अन्य सभी उपनिषद् पूर्व मध्यकाल अथवा ईसा के पश्चात् की प्रथम सहस्राब्दी की रचनायें हैं।

पालि त्रिपिटक का प्राचीनतम अंश विनय के कुछ अंशों, सुत्तपिटक के बहु-संख्यक सुत्तों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अभिधम्मपिटक तीसरी शती ईसा पूर्व के पश्चात् का संग्रह है। इसी प्रकार खुद्दकनिकायान्तर्गत संकलित विमानवत्थु, पेतवत्थु, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, बुद्धवंश, अपदान एवं चरियापिटक निश्चय ही अशोक के पश्चात् काल की रचनाएँ हैं। बौद्ध योग विषयक सामग्री पालि निकायों के प्राचीनतम भागों में विकसित रूप में मिलती है। इनकी तिथि शाक्यमुनि और अशोक अर्थात् ईसा पूर्व छठी और तीसरी शती के मध्य में रखी जा सकती है। कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों—यथा उदानवर्ग, गान्धारी धर्मपद, महावस्तु एवं प्राचीनतम महायान सूत्रों के प्राचीनतर अंशों की साक्षी भी पर्याप्त प्राचीन एवं प्रामाणिक है।

[२]

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का यह मत उचित लगता है कि "योग" शब्द तीन धातुओं से निकला है। यथा "**युजिर् योगे**" एक साथ मिलने या युक्त होने के अर्थ में, "**युज् समाधौ**" एकाग्रता के अर्थ में, और "**युज् संयमने**" नियन्त्रित अथवा निरुद्ध होने के अर्थ में[2]।

---

१. लालमणि जोशी, पू० उ० ग्रन्थ पृ० २१-३१।

२. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी' खण्ड १, केम्ब्रिज १९२२, पृ० २२६-२२७।

'योग' शब्द का 'युक्त' अर्थ दो परस्पर विरोधी दिशाओं में प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण योग के परवर्ती ग्रन्थों में जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन 'योग' कहा गया है। परमहंस उपनिषद् (१–२) में **"परमात्मात्मनोरेकत्वं"** तथा योगतत्त्वोपनिषद् (श्लोक १०७) में **"समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः"** का योग अथवा समाधि कहा गया है। भक्तिमार्गी परम्पराओं में 'योग' का यही सामान्य अर्थ है। इस दृष्टि से 'योग' मिलन, एकता अथवा संयोग का नामान्तर है। श्रमणयोग के अनेक ग्रन्थों में 'योग' शब्द का प्रतिकूल अर्थ है। पालि निकायों में 'योग' बन्धन का पर्याय है। **"चत्तारो योगा" "चत्तारो आसवा"** काम, भव, दिट्ठि एवं अविद्या नामक याग एवं आस्रव हैं, जो मार के पाश कहे गये हैं। सांख्य मत में पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध अथवा मिलन 'योग' कहा गया है। इस संयोग से वियोग को कैवल्य कहा गया है। जैन मत में भी आत्मा (जीव) का जड (अजीव) पदार्थों के साथ सम्मेलन 'योग' कहलाता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि श्रमणयोग में अथवा बौद्ध पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों में 'योग' समाधि का और ध्यान का पर्यायवाची नहीं है। हम इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं कि 'योग' शब्द अपनो व्युत्पत्ति के धातु के अर्थ का अतिक्रमण करते हुए अनेकार्थक हो गया। अतएव मात्र व्युत्पत्ति से इसका अर्थ सम्यक् रूपेण स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। आचार्य धर्मोत्तर ने लिखा है। **"योगः समाधिः"। स यस्यास्ति स योगी।** योग और समाधि समानार्थक हैं। तीसरा समानार्थक शब्द ध्यान अथवा झान है। इस परम्परा में 'योगी' शब्द श्रमण मुनि, ध्यानो, समाहित एवं प्रतिसंलीन का पर्यायवाची है। यद्यपि शाक्यबुद्ध को पालि ग्रन्थों में योगी नहीं कहा गया है, तथापि उन्हें प्रथम बौद्ध योगो कहने में स्थविरवादी सौगतों को आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः पहले चार निकायों मे हमें 'योगी' शब्द नहीं मिला है। प्राचोन वैदिक साहित्य में भी यह शब्द कदाचित् प्रयुक्त नहीं हुआ है। परन्तु खुद्दकनिकाय के कुछ ग्रन्थों में एवं मिलिन्दपञ्ह में और उनके पश्चात् के ग्रन्थों में 'योगी' शब्द सुपरिचित है। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में 'योगिनो योगाचारा' वाक्य प्रयुक्त हुआ है। 'योगावचर' शब्द योगचर्या करने वाले श्रमण का सुविदित नामान्तर है। प्रथम शती ईसा पूर्व में प्रकाशित काश्यपपरिवर्त नामक सूत्र में 'योग' शब्द प्रयत्न के अर्थ में व ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और 'योगाचारो भिक्षु' को 'योगी' कहा गया है। महायान का 'योगाचार' आम्नाय ध्यान, योग के लिये प्रसिद्ध है। पालि ग्रन्थों में भी 'योग' शब्द अभ्यास तथा प्रयत्न के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु प्राचीन पालि ग्रन्थों में 'योग' शब्द समाधि शब्द का पर्याय-वाची नहीं है। पटिसल्लान (प्रतिसंलीन) बहुधा समाधि का समानार्थक माना गया है। उदाहरणार्थ :—

पटिसल्लाने भिक्खवे, योगमापज्जथ।
पटिसल्लानो भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति॥

(संयुत्तनिकाय खण्ड ३, पृ० ७४)

तथा—

समाधिं भिक्खवे, भावेथ। समाहितो भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

(संयुत्तनिकाय, खण्ड ३, पृ० ७४)

अनेक स्थलों पर बौद्धधर्म का सार निम्नलिखित गाथा द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।[1]

सीलं समाधि पञ्ञा च विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा गोतमेन यसस्सिना॥

तथाकथित बौद्ध अष्टाङ्गमार्ग वस्तुतः शील, समाधि एवं प्रज्ञा रूपी धर्मस्कन्धों वाला त्रिविध मार्ग है। यही बौद्ध योग का विषय है। अर्हत् उपतिस्स रचित 'विमुत्तिमग्ग' एवं आचार्य बुद्धघोष विरचित 'विसुद्धिमग्ग' इसी त्रिविध योजना पर आधारित है।

गौतम बुद्ध प्रथम 'योगी' अथवा प्रथम 'ध्यानी' माने जाते हैं। उनके समय में उनकी ख्याति एक 'ध्याना' एवं ध्यानपथ के उपदेष्टा के रूप में भी थी।[2]

झायी चेव सो भवं गोतमं अहोसि झानसीली च।
सब्बं च पन सो भवं गोतमो झानं वण्णेसि॥

स्वयं तथागत ने स्मृति, ध्यान, समाधि, शमथ, विपश्यना एवं पटिसल्लान (प्रतिसंलीन आदि के महत्त्व पर जोर डाला था। स्मृति (पालि=सति) तथा समाधि का महत्त्व इतने से स्पष्ट हो जाता है कि स्मृति एवं समाधि की गणना पाँच 'इन्द्रियों' पाँच 'बलों' सप्त बोध्यङ्गों, तथा मार्ग के अष्टाङ्गों में की गयी है। पालि संहिताओं में दो स्थलों पर बुद्धवचन के रूप में चार स्मृत्युपस्थानों की साधना को निर्वाण का एक मात्र मार्ग कहा गया है।[3]

एकायनो अयं भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया.....
निब्बानस्स सच्छिकिरियाय:—यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।

---

१. दीघनिकाय, खण्ड २, पृ० ७५।

२ मज्झिमनिकाय, खण्ड , पृ० ९५।

३. दीघनिकाय तथा मज्झिमनिकाय "महासतिपट्ठानसुत्त"।

स्मृति शमथभावना के लिये परमावश्यक है। स्मृति की प्राप्ति न होने से विपश्यना का अभाव रहता है और विपश्यना के अभाव में प्रज्ञाचक्षु का उन्मीलन नहीं होता है। वस्तुतः शमथ एवं विपश्यना का विकास एक साथ होता है। इसी कारण इन्हें युगनद्ध कहा गया है :

इमे द्वे धम्मा युगनद्धा वत्तन्ति—समथो च विपस्सना च।

(मज्झिमनिकाय खण्ड ३, पृ० ३९१)

योग अथवा समाधि का चरम लक्ष्य परमार्थ की प्राप्ति करना है। कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु से परे निर्वाणधातु अथवा धर्मधातु को अधिगत करना ही बौद्ध योग अथवा समाधि का एकमात्र उद्देश्य है। चित्त को एकाग्रता समाधि है। चार स्मृत्युपस्थान इसके निमित्त और चार सम्यक् प्रधान इसके परिष्कार हैं। इनके अभ्यास, विकास एवं इनको वृद्धि को समाधिभावना कहा गया है।

"या चित्तस एकग्गता अयं समाधि, चत्तारो सतिपट्ठाना समाधिनिमित्ता, चत्तारो सम्पधाना समाधिपरिक्खारा, या तेसं येव धम्मानं आसेवना भावना, बहुलीकम्मं—अयं एत्थ समाधिभावना[1]।"

ध्यान एवं समाधि विषयक जितना साहित्य प्राचीन भारत में बौद्धों ने लिखा, उसकी समानता भारत अथवा विश्व के किसी अन्य धार्मिक परम्परा का एतद्विषयक साहित्य नहीं कर सकेगा। चोन एवं जापान में ध्यानमार्ग पर आधारित 'चान' एवं 'जेन' सम्प्रदायों का प्रभावशाली विकास बौद्ध योग की महान् परम्परा के विश्वव्यापी स्वरूप का परिचायक माना गया है।

[३]

पालि निकायों एवं प्राचीन उपनिषदों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन उपनिषदों में ध्यान-योग-समाधि का स्थान साधारण महत्त्व का था। योग शब्द बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में अज्ञात है। समाधि शब्द सभी प्राचीन उपनिषदों में अविदित है। इसी प्रकार ध्यान शब्द का उल्लेख चित्त, विज्ञान, बल, अन्न आदि के सापेक्षिक महत्त्व के प्रसङ्ग में प्रथम बार छान्दोग्य में हुआ है। बृहदारण्यक का सुविदित वाक्य **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** ध्यान या योग को प्रमुखता नहीं देता है। अन्य प्राचीन उपनिषदों में ध्यान-योग का प्रारम्भ होता देखा जा सकता है। पातञ्जल योग के अनेक

---

१. मज्झिमनिकाय, खण्ड १, पृ० ३७१।

तत्त्वों को इन उपनिषदों में ढूढ़ा जा सकता है। कठोपनिषद् (६–११) में सर्वप्रथम योगशब्द का पारिभाषिक प्रयोग हुआ है। 'तां योगमिति मन्यन्त स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्।' यह ग्रन्थ 'योगविधि' का एवं 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' प्राप्त होने वाली हर्ष व शोक से रहित अवस्था का उल्लेख करता है। परन्तु आत्मा का साक्षात्कार देव की कृपा पर निर्भर है, न कि मात्र ध्यानयोग पर। **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"** यह भी ध्यातव्य है कि नचिकेता ने यह 'योगविधि' किसी वैदिक ब्राह्मण ऋषि से नहीं, वरन् मृत्यु (मार अथवा यम) से सीखी थी। इस पुराकथा में योगविधि के एक वास्तविक ऐतिहासिक आचार्य का नाम लुप्त हो गया है। यहाँ पर यह कहना प्रसङ्गानुकूल लगता है कि बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के मौलिक एवं मान्यता प्राप्त आचार्य पाञ्चाल नरेश, प्रवाहण जैवालि जैसे महापुरुष 'राजर्षि' हैं, न कि 'ब्रह्मर्षि।' श्वेताश्वतर उपनिषद् (१–३) में 'ध्यानयोग' द्वारा 'देवात्मशक्ति' देखने का उल्लेख सुविदित है। यह ग्रन्थ ध्यान व योग से सम्बन्धित अनेक तत्त्वों, सिद्धियों, योगाग्निमय शरीर, कपिल ऋषि एवं 'सांख्ययोग' के अतिरिक्त 'भक्ति' शब्द का भी उल्लेख करता है। **मुण्डक उपनिषद्** जैसा कि इसके नाम से संकेतित होता है, मुण्डकों अथवा भिक्षुओं की कृति है। इस ग्रन्थ में चारों वेदों तथा छः वेदाङ्गों को 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत रखा गया है और उसे अक्षर अर्थात् ब्रह्म को जानने की 'पराविद्या' से हीनतर कहा गया है। यह उपनिषद् यतियों, भिक्षुओं एवं वीतराग ऋषियों का तथा 'सन्यास-योग' का उल्लेख करता है।

मैत्रायणी उपनिषद् ग्रन्थ उपर्युक्त सभी उपनिषदों के पश्चाद्वर्ती काल का माना गया है। यह प्रथम उपनिषद् है, जो योग के छः अंगों की एक सूची प्रस्तुत करता है—**"प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः।"** परवर्ती काल के ध्यानविन्दूपनिषद् तथा योगचूडामणि उपनिषद् में भी योग के छः अङ्गों की सूची मिलती है, जिसमें 'तर्क' अनुपस्थित है और अङ्गों का क्रम भी अधिक व्यवस्थित है।

"आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥"

मैत्रायणी-उपनिषद् में ॐ तथा प्राण की एकता को 'योग' माना गया है। छान्दोग्य-उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ॐ ब्रह्म का प्रतीक प्रतीत होता है। योगसूत्र में 'प्रणव' को ईश्वर का वाचक कहा गया है। प्रत्याहार की दिशा में छान्दोग्य उपनिषद् एवं प्राणायाम की दिशा में बृहदारण्यक उपनिषद् संकेत करते हैं। परन्तु योग के अष्टाङ्गों का क्रमबद्ध वर्णन सर्वप्रथम योगसूत्र में ही उपलब्ध होता है।

"**अथ योगानुशासनम्**" वाक्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में प्राचीन समय से विकसित योगविद्या का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया था। गीता में 'योग' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। श्रमण योग की दृष्टि से अध्याय ६ श्लोक २३ में "**दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**" ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार अध्याय २ के ५२–७२ श्लोक भी ध्यातव्य हैं। योग के आठ अथवा छः अङ्गों का क्रमबद्ध उल्लेख गीता में नहीं मिलता, परन्तु गीता को एक 'योग-शास्त्र' कहा गया है। एक ओर आसन, संयम, इन्द्रियनिग्रह, त्याग, ध्यान एवं समाधि द्वारा प्राप्य स्थिरबुद्धि अथवा स्थितप्रज्ञ की अवस्था की प्रशंसा की गई है और स्थिर समाधि वाले योगी को मुनि की संज्ञा दी गयी है। दूसरी ओर ध्यान-योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, बुद्धियोग, समत्वयोग आदि शब्दों के द्वारा 'योग' का लौकिक व धार्मिक कृत्यों के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया है। अन्त में सभी धर्मों अर्थात् सर्व प्रकार के योगों और दायित्वों का परित्याग करके भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाकर ही सब क्लेशों से मुक्ति की घोषणा की गयी है। गीता में प्रतिपादित केन्द्रीय विचार वैष्णव भक्ति है, जिसे गुह्यतम विद्या अथवा योग कहा गया है। यद्यपि गीता को एक उपनिषद् कहा गया है, तथापि इसकी विद्या उपनिषदों से भिन्न प्रतीत होती है और जिस योग को गुह्य कहा गया है, वह गुह्यसमाज में प्रतिपादित योग से सर्वथा भिन्न है। गीता का योग पातञ्जल योग से भी भिन्न है। इसको योग-शास्त्र उसी अर्थ में समझा जा सकता है, जिस अर्थ में हेमचन्द्र ने अपने एक ग्रन्थ को 'योगशास्त्र' कहा है। कुछ आधुनिक लेखकों ने जैन श्रावकाचार को 'योग' की संज्ञा दी है। यह उल्लेख है कि गीता में योग के आचार्य श्रीकृष्ण एक गृहस्थ हैं और योगविद्या का शैक्ष्य अर्जुन भी गृहस्थ हैं। यह कोई नवीन बात नहीं है। उपनिषदों के अधिकांश आचार्य एवं अन्तेवासी गृहस्थ ही थे। पालि ग्रन्थों में उपासक 'अर्हतों' की लम्बी सूची सुविदित है।[1] महायान सूत्रों में भिक्षु और उपासक में बोधिचर्या अथवा पारमिताभ्यास की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना गया है।

गीता के अतिरिक्त महाभारत का एक अन्य भाग योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह शान्तिपर्व के अन्तर्गत सङ्कलित 'मोक्षधर्म' नामक अंश है। परन्तु योग के स्वरूप का इस ग्रन्थांश में निरूपण करना अति कठिन है। योग को लोकप्रिय, बहु-उद्देशीय एवं विविधार्थक बनाने में महाभारत का सर्वाधिक योगदान रहा है।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, खण्ड ३ पृ० १४८–१५९ जहाँ पर इक्कीस गृहपति अर्हतों की सूची दी हुई है।

031496

हमारी समझ के अनुसार महाभारत में वे सभी कार्य योग के अन्तर्गत हैं, जो जीवात्मा को ब्रह्म अथवा ईश्वर की ओर ले जाते हैं और साथ ही सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। तप, जप, ध्यान, त्याग, इन्द्रियों का नियन्त्रण करना, मन का समाहित होना, संन्यास आदि व्यष्टिगत व समष्टिगत रूप में योग माने गये हैं। मोक्ष के मार्ग में जहाँ उपनिषदों में आत्मज्ञान का प्राधान्य है, वहाँ महाभारत और गीता में भगवान् (विष्णु) की भक्ति का प्राबल्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कुछ श्लोकों में योग का श्रमण संस्करण भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता, २-७१-७२)

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः॥

(महाभारत, शान्ति० १९५-२)

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित्॥

× × ×

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १९५-१४,२२)

मोक्षप्रापक धर्मव्यापाररूपी ध्यानयोग के साथ साथ प्राचीन भारत में 'योग' के अन्य अनेक स्वरूपों का भी विकास हुआ था। बुद्ध और वर्धमान के युग में श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा के तथा अन्य अब लुप्तप्राय परम्पराओं के तथा-कथित 'योगी' अथवा 'परिव्राजक' बहुसंख्या में थे। उदाहरणार्थ पालि उदान (६-४-९) में एक स्थल पर नाना तैर्थिकों की श्रावस्ती नगर में उपस्थिति का उल्लेख करते हुए कहा गया है-"**नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका सावत्थियं पटिवसन्ति नानादिट्ठिका नानाखन्तिका नानारुचिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता।**" ब्रह्मजालसुत्त के समय से विसुद्धिमग्ग के समय तक विविध प्रकार के कुक्कुरव्रतधारी, गोव्रतधारी हत्थयोगी, पत्तयोगी, दण्डधारी, जटाधारी, नग्न और चीवर पहनने वाले, भक्ष्याभक्ष्य

का भेद न करने वाले, कठोर शारीरिक यातनाओं को सहन करने वाले, तथा अन्य कई प्रकार के योगियों के उल्लेख साहित्य में ही नहीं, वरन् कभी-कभी शिलालेखों में अथवा मूर्तिकला में भी हैं। वस्तुतः बुद्ध के समय से लेकर आज तक भारत में विविध एवं विचित्र योगियों की परम्परा बनी हुई है। वैखानसस्मार्तसूत्र में औदुम्बर, वैरिञ्च, बालखिल्य एवं फेनप इन चार प्रकार के सपत्नीक योगियों के अतिरिक्त कूटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस कहे जाने वाले मुमुक्षुओं का तथा 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' नामक योगी-वर्गों का वर्णन हुआ है। 'सारङ्ग' योगियों की एक शाखा ऐसी थी जो 'विमार्ग' योग का अनुगमन करती थी। यह अनीश्वरवादी शाखा थी। जहाँ तक हमारी सूचना की पहुँच है 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' शब्द वैखानसस्मार्तसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र अज्ञात हैं[1]। योगियों की एक तालिका वराहमिहिर के बृहज्जातक (१५-१) में उपलब्ध है, जिसमें निम्न-लिखित सात प्रकार के प्रव्रजितों की गणना की गई है—

शाक्य, आजीवक, भिक्षु, वृद्ध (वृद्धश्रावक), चरक, निर्ग्रन्थ तथा वन्यासन। बृहज्जातक के टीकाकार भट्ट उत्पल ने जैन कालकाचार्य के साक्ष्य के आधार पर निम्नलिखित नामों का उल्लेख किया है—तपस्वी, कापालिक, रक्तपट, एकदण्डी, यति, चरक तथा क्षपणक[2]। यह उल्लेख्य है कि कपालियों का उल्लेख ललितविस्तर तथा मैत्रायणी-उपनिषद में भी हुआ है। वस्तुतः कापालिक-पाशुपत के संस्थापक आचार्य नकुलीश एक प्रसिद्ध योगी थे, जिनका समय ईसा की दूसरी शती माना गया है। पाशुपत सूत्र में पाँच 'अर्थों', अथवा तत्त्वों में से एक तत्त्व 'योग' है। चीनी बौद्ध परिव्राजकाचार्य ह्वानच्वाङ् ने भारत के अनेक भागों में पाशपत योगियों को देखा था। योग के विकास में शैव आम्नायों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ललितविस्तर महायानसूत्र के 'दुष्करचर्या परिवर्त' में नाना प्रकार के धार्मिक व्रताभ्यासकों की सूची एक पूरे पृष्ठ में विस्तृत है। यह सभी विशुद्ध ध्यानयोग के अन्तर्गत नहीं आते, परन्तु 'योग' शब्द के अन्तर्गत आने वाले विचारादर्शों के बाहर भी इन्हें नहीं रखा जा सकता है। इसी कारण प्रारम्भ में ही हमने निवेदन किया था कि 'योग क्या है' इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता है। योग के विकास का इतिहास हमें बताता है कि 'योग' योग की सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता

---

१. वैखानसस्मार्तसूत्र, सम्पादक डब्ल्यु० कैलेन्ड, कलकत्ता, १९२९, द्र०—इलियाडे, योग पृ० १३-१४०।

२. द्र — ए० एल० बाशाम, 'हिस्टरी एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकास्' लन्दन १९५१ पृ० १६९-१७३।

हमारी समझ के अनुसार महाभारत में वे सभी कार्य योग के अन्तर्गत हैं, जो जीवात्मा को ब्रह्म अथवा ईश्वर की ओर ले जाते हैं और साथ ही सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। तप, जप, ध्यान, त्याग, इन्द्रियों का नियन्त्रण करना, मन का समाहित होना, संन्यास आदि व्यष्टिगत व समष्टिगत रूप में योग माने गये हैं। मोक्ष के मार्ग में जहाँ उपनिषदों में आत्मज्ञान का प्राधान्य है, वहाँ महाभारत और गीता में भगवान् (विष्णु) की भक्ति का प्राबल्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कुछ श्लोकों में योग का श्रमण संस्करण भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता, २-७१-७२)

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः॥

(महाभारत, शान्ति० १९५-२)

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित्॥

× × ×

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १९५-१४,२२)

मोक्षप्रापक धर्मव्यापाररूपी ध्यानयोग के साथ साथ प्राचीन भारत में 'योग' के अन्य अनेक स्वरूपों का भी विकास हुआ था। बुद्ध और वर्धमान के युग में श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा के तथा अन्य अब लुप्तप्राय परम्पराओं के तथा-कथित 'योगी' अथवा 'परिव्राजक' बहुसंख्या में थे। उदाहरणार्थ पालि उदान (६-४-९) में एक स्थल पर नाना तैर्थिकों की श्रावस्ती नगर में उपस्थिति का उल्लेख करते हुए कहा गया है—"**नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका सावत्थियं पटिवसन्ति नानादिट्ठिका नानाखन्तिका नानारुचिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता।**" ब्रह्मजालसुत्त के समय से विसुद्धिमग्ग के समय तक विविध प्रकार के कुक्कुरव्रतधारी, गोव्रतधारी हत्थयोगी, पत्तयोगी, दण्डधारी, जटाधारी, नग्न और चीवर पहनने वाले, भक्ष्याभक्ष्य

का भेद न करने वाले, कठोर शारीरिक यातनाओं को सहन करने वाले, तथा अन्य कई प्रकार के योगियों के उल्लेख साहित्य में ही नहीं, वरन् कभी-कभी शिलालेखों में अथवा मूर्तिकला में भी हैं। वस्तुतः बुद्ध के समय से लेकर आज तक भारत में विविध एवं विचित्र योगियों की परम्परा बनी हुई है। वैखानसस्मार्तसूत्र में औदुम्बर, वैरिञ्च, बालखिल्य एवं फेनप इन चार प्रकार के सपत्नीक योगियों के अतिरिक्त कूटोचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस कहे जाने वाले मुमुक्षुओं का तथा 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' नामक योगी-वर्गों का वर्णन हुआ है। 'सारङ्ग' योगियों की एक शाखा ऐसी थी जो 'विमार्ग' योग का अनुगमन करती थी। यह अनीश्वरवादी शाखा थी। जहाँ तक हमारी सूचना की पहुँच है 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' शब्द वैखानसस्मार्तसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र अज्ञात हैं[1]। योगियों की एक तालिका वराहमिहिर के बृहज्जातक (१५-१) में उपलब्ध है, जिसमें निम्न-लिखित सात प्रकार के प्रव्रजितों की गणना की गई है—

शाक्य, आजीवक, भिक्षु, वृद्ध (वृद्धश्रावक), चरक, निर्ग्रन्थ तथा वन्यासन। बृहज्जातक के टीकाकार भट्ट उत्पल ने जैन कालकाचार्य के साक्ष्य के आधार पर निम्नलिखित नामों का उल्लेख किया है—तपस्वी, कापालिक, रक्तपट, एकदण्डी, यति, चरक तथा क्षपणक[2]। यह उल्लेख्य है कि कपालियों का उल्लेख ललितविस्तर तथा मैत्रायणी-उपनिषद में भी हुआ है। वस्तुतः कापालिक-पाशुपत के संस्थापक आचार्य नकुलीश एक प्रसिद्ध योगी थे, जिनका समय ईसा की दूसरी शती माना गया है। पाशुपत सूत्र में पाँच 'अर्थों', अथवा तत्त्वों में से एक तत्त्व 'योग' है। चीनी बौद्ध परिव्राजकाचार्य ह्वानच्वाङ् ने भारत के अनेक भागों में पाशपत योगियों को देखा था। योग के विकास में शैव आम्नायों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ललितविस्तर महायानसूत्र के 'दुष्करचर्या परिवर्त' में नाना प्रकार के धार्मिक व्रताभ्यासकों की सूची एक पूरे पृष्ठ में विस्तृत है। यह सभी विशुद्ध ध्यानयोग के अन्तर्गत नहीं आते, परन्तु 'योग' शब्द के अन्तर्गत आने वाले विचारादर्शों के बाहर भी इन्हें नहीं रखा जा सकता है। इसी कारण प्रारम्भ में ही हमने निवेदन किया था कि 'योग क्या है' इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता है। योग के विकास का इतिहास हमें बताता है कि 'योग' योग की सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता

१. वैखानसस्मार्तसूत्र, सम्पादक डब्ल्यु० कैलेन्ड, कलकत्ता, १९२९, द्र०—इलियाडे, योग पृ० १३ -१४०।

२. द्र — ए० एल० बाशाम, 'हिस्टरी एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकास्' लन्दन १९५१ पृ० १६९-१७३।

गया है। यदि आप चाहें तो योग के विकास को योग का ह्रास कह सकते हैं। परन्तु यह दृष्टिभेद का विषय है। पाञ्चरात्र भागवत संहिताओं, शाक्ततन्त्रों, शैव आगमों, वज्रयानी तन्त्रों तथा ब्राह्मणपरम्परा के पुराणों एवं उपपुराणों में योग के जो स्वरूप प्रगट हुए, उनमें वैदिक कर्मकाण्ड, सांख्यदर्शन, पूर्वमीमांसा, उपनिषदों का रहस्यात्मक ब्रह्मात्मवाद, बौद्ध श्रामण्य एवं ध्यानपरम्परा, पातञ्जलयोग, शैव-शाक्त उपासना एवं वैष्णव भक्ति के अतिरिक्त कुछ मध्य एशिया से आये हुए विचारा-दर्शों का अभूतपूर्व मिश्रण देखा जा सकता है। यह यागों का संयोग कहा जा सकता है। बौद्ध ग्रन्थों में सुविदित धूतगुणों, जैन धर्म में प्रस्तावित कठोर संवर एवं निर्जरा तथा पातञ्जल योग द्वारा प्रतिपादित साधना का उग्र रूप हमें नहीं भूलना चाहिए। योग के दुष्कर बाह्य स्वरूपों को उसके समाधि पक्ष से पूर्णरूपेण अलग करना कठिन है। यह दोनों ही स्वरूप प्राचीन काल से चले आ रहे थे। मध्यकालीन भारत में समाधि-भावना का स्थान मन्त्रयोग, लययोग और ईश्वराराधन ने ले लिया, जिसको श्रमणयोग का लोप कहा जा सकता है। धुताङ्गों[1], संवरों एवं यमनियमों का स्थान हठयोग और शक्तिसाहचर्य ने ले लिया प्रतीत होता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि योग के सभी स्वरूप मध्य युग में भक्ति और सिद्धि से सम्बन्धित धाराओं के प्रवाह में प्रवाहित होकर अन्त में लुप्तप्राय हो गये। भक्ति का 'फैशन' और सिद्धियों का आकर्षण आज भी लोकप्रिय हैं।

योग के प्रारम्भिक विकास का उपर्युक्त सर्वेक्षण अत्यन्त संक्षिप्त तथा अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है। जैन साहित्य की सामग्री का उपयोग न कर सकने का एकमात्र कारण अज्ञान है। योग का ऐतिहासिक अध्ययन करना योगाभ्यास करने से भिन्न है। हमें योगमार्ग पर चलने का लेशमात्र भी अनुभव नहीं है। अतएव योग के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालना हमारे अधिकार में नहीं हो सकता।

[४]

उपसंहार रूप में बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध योगविषयक सामग्री का कुछ बौद्धेतर साहित्य की सामग्री के साथ तुलना की दिशा में संकेतमात्र कर देना यहाँ पर अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

'ईश्वर' एवं 'प्रणव' को छोड़कर योगसूत्र के अन्य अधिकांश पारिभाषिक शब्द पालि एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में सुविदित हैं। महायान ग्रन्थों में यह दो शब्द

---

१. धुतागों अथवा धूतगुणों की सूची विसुद्धिमग्ग का दूसरा प्रकरण तेरह धुतंग, धर्मसंग्रह ६२ में द्वादश धूतगुणों की ही सूची है।

भी सुपरिचित हैं। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर तथा 'ओम् मणि पदमे हूँ' का स्मरण कराना पर्याप्त होगा। तिब्बती बौद्ध मत में अवलोकितेश्वर का और स्वयम्भूपुराण में प्रतिपादित आदिबुद्ध का ईश्वर के रूप में स्मरण वही महत्त्व रखता है, जो योग-सूत्र में ईश्वर का है। श्रमणयोग की ईश्वरपरक व्याख्या नेपाली बौद्ध परम्परा तथा पातञ्जल योग की समान विशेषता है। परन्तु बौद्ध योग की ईश्वरपक्षिक परम्परा उन वैष्णव पुराणों के पश्चात् काल की उपज है, जिसमें शाक्यमुनि को विष्णु का नवाँ अवतार घोषित कर दिया गया था। सद्धर्म के इतिहास के प्रथम एक सहस्र वर्षों में बौद्धयोग विशुद्ध श्रमणयोग के रूप में विकसित हुआ था। इस काल में ब्राह्मणयोग और श्रमणयोग के बीच एक मौलिक दृष्टिभेद था, जिसे 'आत्मा' का प्रश्न कह सकते हैं। एक ओर **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदारण्यक उप० २-४-५), **'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'** (मुण्डक उप० २-२-६), **'आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते'** (नादविन्दूप० २१), **'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'**, (अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३१-१५) और **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः'** (ध्यानविन्दूपनिषद, ९), **'ओम् इति ब्रह्म'** (तैत्तिरीय उप० १-८) इत्यादि द्वारा आत्मवाद, ब्रह्मवाद अथवा ब्रह्मात्मवाद का शाश्वतवादी विचार ध्याता, ध्यान और ध्येय के मूल में निहित था। दूसरी ओर **'सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति, अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।'** (धम्मपद २७९), **'निरात्मानः सर्वधर्माः'** (वज्रच्छेदिका अध्याय १७), **'सर्वमात्मशून्यम्'** (तर्कभाषा, पृ० ३४), **'मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टिस्तदर्थाशेषभावना'** (तत्रैव) **'आत्मा तीर्थ्यैः कल्प्यते नित्यरूपो'** (मध्यमकावतार, ६-१४२), **'आत्मदृष्टौ हि विनष्टाः (निविष्टाः ?) सर्वतीर्थिकाः'** (तत्त्वसंग्रह, ३३२४) और **'विंशतिशिखर-समुद्गतः सत्कायदृष्टिशैलः'** (महाव्युत्पत्तिः ४६८४) इत्यादि द्वारा सर्वविकल्पजाल-वासनाप्रपञ्चविगत शान्ति (निर्वाण) को ध्यान और समाधि का लक्ष्य माना गया था, इस आधारभूत दृष्टिभेद के कारण समाधि के परिष्कारों में भेद होना स्वाभाविक था। परन्तु भेदों के विस्तार में न जाकर हम संक्षेप में तुलनीय सामग्री की ओर ध्यानाकर्षण की चेष्टा करेंगे। योग साधना का फल दृष्टधर्म दोषों अथवा आस्रवों का विनाश है। योगी निष्पाप एवं शुद्ध होता है। इस दृष्टि से गीता में उक्त **'योगी विगतकल्मषः'** (६-२८), **'ऋषयः क्षीणकल्मषाः'** (५-२५), मुण्डकोपनिषद् (३-१-५) में उल्लिखित **'यतयः क्षीणदोषाः'** तथा (वही ३-२-६) **'यतयः शुद्धसत्त्वाः'** का तथा दूसरी ओर धम्मपद (४२०) के **'खीणासवं अरहन्तं'** और लङ्कावतारसूत्र (१०-६२९) के **'योगिनां शुद्धचित्तानां'** को स्मृति कराता है। गीता (६-२०) का **'चित्तं निरुद्धं**

योगसेवया' जहाँ योगसूत्र (१–२) के **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** से तुलनीय है, वहाँ बोधिचर्यावतारपञ्जिका (पृ० १३७) के **'शमथः चित्तैकाग्रतालक्षणः'** की ओर भी संकेत करता है। गीता में **'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु'** (६–१७) आदि के द्वारा बौद्ध योगी के मध्यम मार्ग की दिशा में और साथ ही योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित दुष्करचर्या के प्रतिकूल उपदेश हुआ है। सिद्धियों की परम्परा योगसूत्र व बौद्ध ध्यान-साहित्य की समान विशेषता है। गीता में भक्ति का प्रतिपादन सर्वोपरि होने के कारण श्रमणयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली शक्तियों का उल्लेख नहीं हुआ है। शान्तिपर्व का ध्यानयोगवर्णन सिद्धि का उल्लेख करता है। 'आस्रवक्षयज्ञान' नामक अभिज्ञा बौद्धयोग की विशेषता है। श्रमणयोग के दो प्राचीनाचार्य आलार कालाम तथा रुद्रक रामपुत्र थे। आचार्य अश्वघोष ने जिस परम्परा का उल्लेख किया है उसके अनुसार आलार एक सांख्य विचारक थे। परन्तु सभी बौद्ध ग्रन्थ एकमत होकर यह कहते हैं कि उनके द्वारा सिद्ध ध्यानयोग की पहुँच केवल नैवसंज्ञा न-असंज्ञा आयतन तक ही थी **'नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेर्मार्ग.'** (ललितविस्तर पृ० १८०)। सिद्धार्थ मुनि ने संज्ञावेदयितनिरोधसमापत्ति स्वयं अधिगत की थी। निर्वाण-भूमि इसके पश्चात् प्राप्त होती है। **'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगसूत्र २–१५) का यह कथन बौद्धधर्म के किसी भी ग्रन्थ में सर्वथा समीचीन होगा। शास्ता ने प्रथम आर्यसत्य द्वारा इसी तथ्य का उपदेश किया था। योगसूत्र में दी गई अविद्या की परिभाषा भी सौगत सिद्धान्तानुकूल है। अनित्य, अनात्म एवं दुःख इन लक्षणों को न पहचानना अविद्या है, इसमें इनका प्रतिकूल ढूढ़ना विपर्यास है।

करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा इन चार ब्रह्मविहारों की सूची योगसूत्र, पालि एवं संस्कृत सूत्रों के अतिरिक्त एक मध्यकालीन पाशुपत अभिलेख में भी उल्लिखित है। गीता और उपनिषदों में यह अज्ञात हैं। परन्तु बौद्ध क्षेत्र में बुद्ध के युग से ही इनका प्रचलन व वर्णन होता आया है।

श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा (योगसूत्र १–२०) की गणना बोधिपाक्षिक धर्मों में, पाँच 'इन्द्रियों' व पाँच 'बलों' के अन्तर्गत बौद्ध ग्रन्थों में सैकड़ों बार हुई है। स्मृति के प्रकार और समाधियों की लम्बी सूची संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों की विशेषता है। उदाहरणार्थ कुछ सूचियाँ अर्थविनिश्चयसूत्र, धर्मसंग्रह, महाव्युत्पत्ति तथा श्री एडजर्टनकृत 'बौद्धसंस्कृतशब्दकोश' की सहायता से तैयार की जा सकती है।

'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' के ऊपर टीका करते समय योगभाष्य के लेखक ने योगशास्त्र के चतुर्व्यूह–संसार, संसारहेतु, मोक्ष, एवं मोक्षोपाय की तुलना चिकित्सा-

शास्त्र के चतुर्व्यूह–रोग, रोगहेतु, आरोग्य एवं भैषज्य के साथ की है। चतुर्व्यूह का हेय, हान, हानोपाय तथा अतिगन्तव्य के अन्तर्गत उल्लेख न्यायसूत्रभाष्य (१-१-१) के लेखक वात्स्यायन ने भी किया है। इस चतुर्व्यूह की तुलना बौद्ध चतुर्व्यूह अथवा सत्यचतुष्टय—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध एवं दुःख निरोधमार्ग के साथ अनेक विद्वानों ने की है। योगशास्त्र, बौद्ध तथा अबौद्ध, एक प्रकार का चिकित्साशास्त्र है। योगी ही चिकित्सक है। मार्ग भैषज्य है। अविद्या, तृष्णा, दुःख, मृत्यु आदि रोग हैं। भगवान बुद्ध को **'स वैद्यराजो अमृतभेषजप्रदः'** (ललितविस्तर पृ०३) में वैद्यराज कहा गया है। काश्यपपरिवर्त (पृ० १३९) में कहा गया है–**'आर्याष्टाङ्गो मार्गः दौष्प्रज्ञसर्वपरप्रवादिनां कुमार्गप्रतिपन्नानां चिकित्सा इयं उच्यते काश्यप, भूतचिकित्साः; तत्र काश्यप, बोधिसत्त्वेन योगः करणीयः।'** मध्य एशिया, चीन तथा जापान में बुद्ध की भैषज्यगुरु के रूप में स्तुति प्राचानकाल से सुविदित है। निर्वाण का एक नामान्तर आरोग्य भी है। अर्थविनिश्चयसूत्र में भी अष्टाङ्गमार्ग को **'महौषधं शान्तिकरं'** कहा गया है।

अष्टाङ्गमार्ग के आठ अङ्गों–सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक्समाधि—की पातञ्जलयोग के आठ अङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के साथ बहुधा तुलना की जाती रही है। परन्तु 'आठ अङ्गों' को गिना देने के अतिरिक्त दोनों मार्गों का विस्तृत अध्ययन कदाचित् अभी नहीं किया गया है। यह यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इन दोनों अङ्ग-सूचियों के मध्य एक भेद यह है कि बौद्ध अङ्ग-सूची में बौद्ध दार्शनिक पक्ष भी सम्मिलित है : 'सम्यग्दृष्टि' जिसका स्थान सबसे पहले सुरक्षित है तथा 'सम्यक्संकल्प' भी इसी वैचारिक पक्ष को संकेतित करता है। पातञ्जल अङ्ग-सूची में इस प्रकार का कोई अङ्ग नहीं है। बौद्ध 'स्मृति' एवं 'समाधि' के परिष्कारों में ही प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान को सम्मिलित किया गया है।

बौद्ध योग के चार ध्यानों की तुलना पातञ्जल योग की चार समाधियों के साथ अनेक विद्वानों ने की है। सेनार्त एवं पूसें द्वारा फ्रेञ्चभाषा में इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हैं। समाधि एवं समापत्ति समानार्थक शब्द हैं। इसी प्रकार ध्यान और समाधि भी समानार्थक हैं। अर्थविनिश्चयसूत्र (पृष्ठ ३१६) में कहा है :— **"सम्यक्समाधिः कतमः? चत्वारि ध्यानानि। "सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं, अध्यात्मप्रमोदनात्प्रीतिसुखं, उपेक्षास्मृतिसम्प्रजन्यसुखं, तथा उपेक्षास्मृतिपरिशुद्धिरदुःखासुखा वेदना"** (धर्मसंग्रह ७२)। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ध्यान की चरमावस्था समाधि है, जिस अवस्था में ध्याता, ध्येय एवं ध्यान का भेद समाप्त हो

जाता है। इसकी सिद्धि ईश्वरप्रणिधान के विना भी होती है। पतञ्जलि ने चार समाधियों के लिये नामों की दो मालायें प्रयुक्त की हैं। प्रथम में 'सवितर्क', 'निर्वितर्क', 'सविचार', तथा 'निर्विचार' तथा द्वितीय में 'वितर्क', 'विचार', 'आनन्द' व 'अस्मिता' हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि अथवा समापत्ति की विभिन्न भूमियाँ अथवा अवस्थाएँ हैं। पातञ्जल योग और बौद्धयोग के बाहर भी चार ध्यानों की परम्परा सुविदित है। उदाहरणार्थ जैन सूत्रों में अट्ट (आर्त), रोद्द (रौद्र), धम्म (धर्म) एवं सुक्क (शुक्ल) यह चार प्रकार के ध्यानों की विस्तृत चर्चा है।[1] इनमें से धम्म झाण की चार अवस्थाएँ भी जैन ग्रन्थों में सुविदित हैं। महाभारत (शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १९५, श्लोक १) में **"ध्यानयोगं चतुर्विधम्"** कहा गया है। परन्तु चतुर्विध ध्यान का विस्तार वहाँ पर नहीं मिलता है। मात्र 'विचार' 'विवेक' एवं 'वितर्क' का प्रथम ध्यान के साथ सम्बन्ध बताया गया है। (तत्रैव श्लोक १५)।

ऐसा समझना कि ध्यान अथवा समाधि की केवल चार अवस्थाएँ या प्रकार होते हैं, त्रुटिपूर्ण होगा। बौद्धग्रन्थों में कई प्रकार से ध्यानों व समाधियों का वर्गीकरण तथा नामकरण किया गया है। उदाहरण के लिये कुछ का यहाँ उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। बौद्ध ग्रन्थों में नौ प्रकार की अनुपूर्व समापत्तियों की सूची में उपर्युक्त चार ध्यानों के अतिरिक्त चार आरूप्य समापत्तियों—आकाशानन्त्यायतन-समापत्ति, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, न संज्ञा-न-असंज्ञायतन तथा संज्ञा-वेदयितनिरोध की भी गणना की जाती है। महाव्युत्पत्ति (१४९१) में यह संख्या बढ़ाकर ग्यारह समापत्तियों की तालिका दी गई है। पालि ग्रन्थों में 'चेतोसमाधि', 'धम्मसमाधि', 'उपचारसमाधि', 'अप्पनासमाधि', 'खणिकसमाधि', 'सम्मासमाधि' आदि के उल्लेख सुविदित हैं। विसुद्धिमार्ग में विमोक्षत्रय को सुञ्ञतसमाधि, अप्पणिहित तथा अनिमित्त कहा गया है। एक पालिजातक में कहा गया है कि सम्यक्सम्बुद्ध ने 'अनेककोटिसतसहस्स' समापत्तियों को प्राप्त किया था। ललितविस्तर (पृ० १८०) में **"लौकिकसमाधीनां"** तथा **"संस्कृतसमाधीनां"** का अलग अलग उल्लेख तथा पुनः **"ध्यानसमाधिसमापत्तीनां"** का एक साथ उल्लेख हुआ है। यह विदित है कि समापत्ति का अर्थ 'प्राप्ति' है। उदाहरणार्थं लङ्कावतारसूत्र (पृ० ४२) में **"समाधि-समापत्त्याधिष्ठानेन"** वाक्यांश से यह स्पष्ट है। परन्तु चार समाधियों अथवा ध्यानों के अतिरिक्त चार अथवा पाँच समापत्तियों का उल्लेख यह संकेतित करता है कि

---

१. द्रष्टव्य—वाल्टर शूब्रिंग, दि 'डाक्ट्रिन आफ दि जैनास्', दिल्ली, १९६२, पृ० ३१३-३१५, संस्कृत साक्ष्यों के लिये हेमचन्द्रकृत 'योगशास्त्र' उल्लेख्य है।

समाधि का अर्थ समापत्ति के अर्थ से भिन्न है और यह अर्थ मात्र 'प्राप्ति' नहीं कुछ और भी है।[1] इस विषय पर बौद्ध ध्यानियों व योगियों द्वारा प्रकाश अपेक्षित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चार समापत्तियों की गणना आठ प्रकार के विमोक्ष की सूची में अन्तिम चार प्रकार के विमोक्ष के अन्तर्गत भी की गई है (धर्मसंग्रह ५९)।

हमारा विश्वास है कि ध्यान, समाधि एवं समापत्ति बहुधा सूत्रों व शास्त्रों में समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं; तथापि उनके व्यक्तिगत प्रसङ्गभेद के कारण अर्थभेद भी सम्भव है।

चतुर्विध ध्यान के सम्बन्ध में महायान सूत्रों में सुविदित एक अन्य प्रकार के वर्गीकरण का वर्णन लङ्कावतारसूत्र (२–१५९, पृ० ४०–४१) में हुआ है। **"पुनरपरं महामते, चतुर्विधं ध्यानम्। कतमच्चतुर्विधम्? यदुत बालोपचारिकं ध्यानम्, अर्थप्रविचयध्यानम्, तथतालम्बनं ध्यानम्, तथागतं चतुर्थं ध्यानम्।"** श्रावकों व प्रत्येकबुद्धों के योग के योगियों द्वारा किया जाने वाला ध्यान 'बालोपचारिक' कहा गया है। अर्थप्रविचय से तात्पर्य पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य की दृष्टि से किया जाने वाला ध्यान है। तथतालम्बन ध्यान वह ध्यान है, जिसमें द्विविध नैरात्म्य को यथाभूततथता की दृष्टि से मात्र परिकल्पित समझकर तथता का ध्यान होता है। चतुर्थ ध्यान की परिभाषा में कहा गया है: **"यदुत तथागतभूम्याकारप्रवेशं प्रत्यात्मार्यज्ञानलक्षणत्रयसुखविहाराचिन्त्यसत्त्वकृत्यकरणतया तथागतं ध्यानम् इति।"** इस दृष्टि से ध्यान का चरम लक्ष्य पुरुष की कैवल्यावस्था न होकर असंख्य प्राणियों की बोधि के लिये कार्य करना है। शाक्यमुनि ने तथागतभूमि अधिगत करके यही आदर्श सौगतों के समक्ष रखा था।

गुह्यसमाजतन्त्र (१८–१४३) में चार के स्थान पर निम्नलिखित पाँच प्रकार के ध्यानों की सूची दी गई है—

वितर्कं च विचारं च प्रीतिश्चैव सुखं तथा।
चित्तस्यैकाग्रता चैव पञ्चैते ध्यानसंग्रहाः॥

यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि योग के अङ्गों की दो परम्पराएं प्राचीन काल में प्रचलित थीं। एक षडङ्गयोग की और दूसरी अष्टाङ्गयोग की। मैत्रायणी-उपनिषद्,

---

१. देखिए फ्रेंकलिन एडजर्टन, 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत डिक्शनरी' दिल्ली १९७०, पृ० ५१९–७०, टी० डब्ल्यू० रीज डेविड्स एवं विलियम स्टेड, 'पालि-इंगलिश डिक्शनरी' लन्दन, १९६६, पृ० ६८५–८६।

ध्यानविन्दूपनिषद्, तथा योगचूडामणि-उपनिषद् योग के केवल छः अङ्गों का वर्णन करते हैं। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये पाँच अङ्ग इन तीनों सूचियों में समान रूप से विद्यमान हैं। छठा अङ्ग मैत्रायणी उप० में तर्क है, परन्तु अन्य दो उपनिषदों में आसन है। षडङ्गयोग का उल्लेख एक बौद्ध ग्रन्थ भी करता है। श्री गुह्यसमाजतन्त्र (१८-१४०) में कहा गया है —

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

इस सूची में पाँच वही अङ्ग हैं जो उक्त सूचियों में हैं, परन्तु अनुस्मृति इस सूची की विशेषता है। इस ग्रन्थ में षडङ्गयोग को तन्त्र के चार उपायों में से एक उपाय के अन्तर्गत माना गया है। यह स्मरणीय है कि तान्त्रिक योग में यम-नियमों का वह स्थान नहीं है, जो पातञ्जल योग व जैन-बौद्ध योगों में महाव्रतों, अणुव्रतों, पञ्चशीलों तथा दशशीलों का है। पूर्वमध्यकालीन एक अभिलेख[1] भावतेज नामक पाशुपत योगी की प्रशंसा करता है, जो पातञ्जल योग के सभी अङ्गों का अभ्यास करता था। परन्तु अभिलेख में केवल नियम, प्राणायाम, समाधि, ध्यान तथा आसन इन्हीं पाँच अङ्गों का उल्लेख है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता (३१-१७) में अष्टाङ्गों की उसी क्रम में गणना की गई है, जिस क्रम में योगसूत्र में उनका उल्लेख है। अष्टाङ्गयोग का तथा उपनिषदिक षडङ्ग-योग का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का संयोग अथवा सायुज्य है। परन्तु गुह्य-समाजतन्त्र (१८-३२) में 'बोधिचित्त' अथवा 'प्रज्ञोपाय' का योग लक्ष्य है। "**प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।**" तन्त्रों के प्रकाशन के पूर्व बौद्ध योग का लक्ष्य समाधि प्राप्त करना था। 'समाधि' न केवल ध्यान और योग का, अपितु निर्वाण का भी नामान्तर है। 'प्रज्ञोपाय' अथवा प्रज्ञा और उपाय समाधि के ही दो स्वरूप हैं।[2] समाधि को 'वज्रसत्त्व' भी कहा गया है। अद्वयवज्राचार्य ने कहा है-'वज्रेण शून्यता प्रोक्ता, सत्त्वेन ज्ञानमात्रता।' (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २४)। शून्यता अथवा चित्त-मात्रता समाधि के अधिवचन हैं। जिस प्रकार समथ और विपस्सना युगनद्ध कहे गये हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा भी युगनद्ध हैं, एक सिक्के के दो पहलू मात्र हैं। इस अद्वैत तत्त्व को प्रज्ञापारमिता, तथता, धर्मकाय, धर्मधातु,

---

१. द्र०—विश्वम्भरशरणपाठक, 'शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया' वाराणसी १९६०, पृ० १५। सम्बन्धित अभिलेख 'इण्डियन एन्टीक्वरी' के अट्ठारहवें अङ्क में प्रकाशित है।

२. द्र०—लालमणि जोशी-'स्टडीज इन दि बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया' दिल्ली १९६७,

परमार्थ, निर्वाण, उपशम, और शान्ति कहा गया है। यही बौद्ध योग और साधना का परमार्थ ध्येय है। इसे समाधि भी कहा गया है। यही ध्यानपारमिता है। दशभूमिकसूत्र (पृ० ३७) में ध्यानपारमिता को 'सर्वज्ञज्ञानाभिमुखता' कहा गया है। समाधिराजसूत्र (पृ० ७९) के समाधिनिर्देशपरिवर्त में समाधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

"कतमः समाधिनिर्देशः ? या यथावत्तता सर्वधर्माणां समता अविषमता। अकल्पना अविकल्पना। अविठपना असमुत्थापना। अनुत्पादः अनिरोधः। कल्पविकल्पपरिकल्पसमुच्छेदः। चित्तानालम्बता। अमनसिकारः। प्रज्ञप्तिसमुच्छेदः। वितर्कविकल्पसमुच्छेदः। रागद्वेषमोहसमुच्छेदः। नान्तानन्तमनसिकारः। मनसिकारसमुच्छेदः। स्कन्धधात्वायतनस्वभावज्ञानम्। स्मृतिमतिगतिह्रीधृतिचारित्राचारगोचरप्रतिपत्तिस्थानम्। अरणाभूमिः। शान्तभूमिः। सर्वप्रपञ्चसमुच्छेदः। सर्वबोधिसत्त्वशिक्षा। सर्वतथागतगोचरः। सर्वगुणपरिनिष्पत्तिः। अयमुच्यते कुमार, समाधिनिर्देशः। यत्र समाधिनिर्देशे प्रतिष्ठितो बोधिसत्त्वो महासत्त्वोऽविरहितो भवति समाधिना, अभ्रान्तचित्तश्च भवति, महाकरुणासमन्वागतोऽप्रमेयाणां च सत्त्वानामर्थं करोति।" इस समाधि को लङ्कावतारसूत्र में 'तथागतध्यान' कहा गया है। षडङ्गयोग और अष्टाङ्गयोग की चर्चा के साथ अचानक समाधि के इस परिनिष्पन्न स्वरूप का वर्णन करने का हमारा मन्तव्य यह बताना था कि 'योग' के अङ्गों के केवल ये दो ही संग्रह नहीं हैं और समाधि केवल योग का एक अङ्गमात्र नहीं है। मैत्रायणी-उपनिषद व गुह्यसमाजतन्त्र में उल्लिखित षडङ्गयोग के अतिरिक्त दो अन्य षडङ्ग मार्ग भी बौद्ध साहित्य में विदित हैं। एक षडङ्गयोग षट् पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा का है, जो बोधिसत्त्वयान अथवा बुद्धयान अथवा एकयान कहा गया है। पालि अङ्गुत्तरनिकाय (खण्ड ३ पृ० १४८–१४९) में एक स्थल पर एक अन्य षडङ्गयोग अथवा षडङ्गमार्ग का वर्णन हुआ है। कहा है—

"छहि, भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो तपुस्सो गहपति तथागते निट्ठङ्गते अमतद्दसो अमतं सच्छिकत्वा इरियति। कतमेहि छहि ? बुद्धे अवेच्चप्पसादेन, धम्मे अवेच्चप्पसादेन, संघे अवेच्चप्पसादेन, अरियेन सीलेन, अरियेन ञाणेन, अरियाय विमुत्तिया।" न केवल तपुस्स गृहपति ने वरन् बीस अन्य गृहपतियों ने भी इसी षडङ्गमार्ग द्वारा निर्वाण अथवा अमृत प्राप्त किया था। इन गृहस्थ अर्हतों की सूची स्थानाभाव के कारण यहाँ पर नहीं दुहराई जा रही है। इस मार्ग में त्रिमुखी श्रद्धा, शील, ज्ञान तथा विमुक्ति ये छः अङ्ग मोक्ष के लिये पर्याप्त माने गए हैं। यहाँ पर परम्परागत अष्टाङ्ग मार्ग से भेद ध्यातव्य है, विशेषरूपेण ध्यान और समाधि की अनुपस्थिति।

स्थानाभाव के कारण दश पारमियों या पारमिताओं की तथा तेरह धुतङ्गों की चर्चा से वियोग करना पड़ रहा है।[1]

निबन्ध में उल्लिखित पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों की सूची—

अङ्गुत्तरनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
संयुत्तनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
दीघनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
मज्झिमनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
धम्मपद पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
विमुत्तिमग्ग (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो)।
विसुद्धिमग्ग पालि (हार्वर्ड आरियन्टल सिरीज)
उदान पालि (नालन्दा ना० सं०)
जातक पालि (रोमन संस्करण, लन्दन)
ऋग्वेद संहिता (पूना संस्करण)
महाभारत (गीताप्रेस संस्करण)
भगवद्गीता (गीताप्रेस संस्करण)
योगसूत्र (गीताप्रेस संस्करण)
बृहदारण्यक उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
छान्दोग्य उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
तैत्तरीय उपनिगद् (गीताप्रेस संस्करण)
कठ उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
मुण्डक उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
श्वेताश्वतर उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
मैत्रायणी उपनिषद् (रोमन संस्करण)
परमहंस उपनिषद् (बरेली संस्करण)
योगतत्त्वोपनिषद् (बरेली संस्करण)
योगचूडामणि उपनिषद् (बरेली संस्करण)
ध्यानबिन्दूपनिषद् (बरेली संस्करण)
नादबिन्दूपनिषद् (बरेली संस्करण)

---

१. धूतगुणों की सूची व चर्चा के लिये देखिए—'मिलिन्द पञ्हो' बम्बई, १९४० पृ० ३५१ विसुद्धिमग्ग (दूसरा अध्याय)।

अहिर्बुध्न्य संहिता (अडयार–मद्रास)
वैखानसस्मार्तसूत्र (कलकत्ता संस्करण)
स्वयम्भूपुराण (कलकत्ता संस्करण)
महाव्युत्पत्ति (रोमन संस्करण, टोकियो)
तत्त्वसंग्रह (वाराणसी संस्करण)
न्यायबिन्दुटीका–धर्मोत्तर (वाराणसी संस्करण)
मध्यमकावतार (मद्रास)
तर्कभाषा (बड़ौदा संस्करण)
अद्वयवज्रसंग्रह (बड़ौदा संस्करण)
काश्यपपरिवर्त (शांघाई से प्रकाशित रोमन संस्करण)
अर्थविनिश्चयसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
धर्मसंग्रह (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
वज्रच्छेदिका (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
समाधिराजसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
लङ्कावतारसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
ललितविस्तर (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
गुह्यसमाजतन्त्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
बोधिचर्यावतारपञ्जिका (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
दशभूमिकसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)

• • •

पंचम अध्याय

योग के विविध रूपों की दृष्टि से विवेच्य उपनिषदों का अध्ययन

क. हठयोग
ख. ध्यानयोग
ग. लययोग
घ. मंत्रयोग
ड. तारकयोग
च. राजयोग से इनका सम्बन्ध

पंचम अध्याय

क. विवेच्य उपनिषदों में 'हठयोग साधना' :–

'हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते'।।

संसार में स्थित प्रत्येक जीव के शरीर में इड़ा, पिङ्गला नामक नाड़ियाँ सदैव गतिशील रहती हैं, परन्तु सूर्य एवं चन्द्र की द्योतक ये दोनों नाड़ियाँ एक साथ गति नहीं करती हैं। इनकी गति को एक साथ संयुक्त करने के लिये उपनिषद् साहित्य में कुछ अस्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन मिलता है, जिन्हें हठयोग की संज्ञा दी गयी है।

'हठयोग का सम्बन्ध शरीर एवं मन से है। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि शरीर एवं मन एक–दूसरे से घनिष्ठरूपेण जुड़े हुये हैं, इनमें से किसी एक को वश में करने से दूसरा स्वतः ही वश में आ जाता है।'[1]

घेरण्डसंहिता में हठयोग के साधनों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि –

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्य सप्तसाधनम्।।[2]

इन साधनों को प्राप्त करने के लिये कहा गया है –

षट्कर्मों के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है, मुद्राओं से शरीर में स्थिरता आती है, प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है, प्राणायाम के द्वारा शरीर लघुता को प्राप्त होता है तथा समाधि से चित्त निर्लिप्त होता है –

---

[1] *पातञ्जल योग एवं श्री अरविन्द योग (पृ0सं0 – 4)*
[2] *घेरण्डसंहिता (1/9)*

'षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिनां निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः'।।[1]

हठयोग–साधना के अंगो (आसन, प्राणायामादि) का वर्णन पातञ्जल योग के अन्तर्गत सम्यक् रूपेण किया जा चुका है। अतः यहाँ पर उनका नाममात्र का उल्लेख करने के साथ–ही उन तत्वों अथवा क्रियाओं का विवेचन किया गया है, जो मुख्यरूपेण हठयोग की साधना में ही प्रयुक्त किये जाते हैं जो कि अग्रलिखित हैं' –

हठयोग–साधना में धौति, बस्ति, नेति, नौलि, त्राटक व कपालभाति ये षट्कर्म के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनका अभ्यास करने से शरीर स्वस्थ रहता है।

उचित आसन सिद्धि के बिना हठयोग–साधना संभव नहीं है। आसन अर्थात् स्थिरता के साथ अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठने की स्थिति अथवा अवस्था। **घेरण्ड संहिता में बत्तीस प्रकार के आसन बताये गये हैं। ध्यानबिन्दूपनिषद् (42) में बताया गया है कि जितने इस संसार में जीव हैं उनके समान ही आसन हैं** अर्थात् आसनों की संख्या भी उतनी ही है। विवेच्य उपनिषदों **(ध्यानबिन्दूपनिषद् (43), योगतत्त्वोपनिषद् (29) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (35–52) योगकुण्डल्युपनिषद् (1/4) तेजोबिन्दूपनिषद् (26) एवं दर्शनोपनिषद्, (3/1–2)) में स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, योगासन, पद्मासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, धनुरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन, मत्स्येन्द्रासन, सिंहासन, पश्चिमोत्तानासन, सुखासनादि सप्तदश आसनों का वर्णन मिलता है।** उपर्युक्त सभी आसनों का विवेचन इस शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया जा चुका है।

---

[1] *घेरण्डसंहिता (1/10–11)*

हठप्रदीपिका में प्राणायाम को द्वितीय सोपान माना है एवं प्राणायाम का वर्णन इस शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया जा चुका है अतः यहाँ पर प्राणायाम के अन्तर्गत आने वाली उन नाड़ियों, उसमें संचरित होने वाली प्राण–वायु एवं उससे जाग्रत होने वाले चक्रादि का वर्णन किया जा रहा है, जिनका पातञ्जलयोग में अधिक विस्तृत रूप में वर्णन नहीं मिलता। हठसाधना में प्राणायाम के द्वारा शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों में से प्रमुख दश नाड़ियाँ **इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, शंखिनी** का स्थान बताते हुए कहा गया है– 'इड़ा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिङ्गला नासिका के दायीं ओर एवं बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गान्धारी का निवास है। पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें बायें कान में स्थित हैं। मुँह में अलम्बुसा का निवास है। जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है।'[1]

जाबालदर्शनोपनिषद् में उपर्युक्त दस नाड़ियों के अतिरिक्त **सरस्वती, वरूणा विश्वोदरा, शंखिनी** नामक नाड़ी का भी वर्णन मिलता है। इन चतुर्दश नाड़ियों में प्रमुख तीन नाड़ियाँ इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना हैं इनमें भी **सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ब्रह्मनाड़ी कही जाती है –**

'ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः'।[2]

'सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर एक वज्रा नाम की नाड़ी है उस वज्रा के अन्दर चित्राणि नाम की नाड़ी एवं उसके भी अन्दर ब्रह्म नामक नाड़ी है। जिसमें षट्चक्र स्थित हैं।'[3] उन चक्रों के नाम है –

'मूलाधार स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्।
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्'।।[1]

---

[1] *'एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिंगला स्थिता।।*
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे चानेन चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।' योगचूडामण्युपनिषद (18–20)

[2] *दर्शनोपनिषद (4/9)*

[3] *योगविज्ञान (174)*

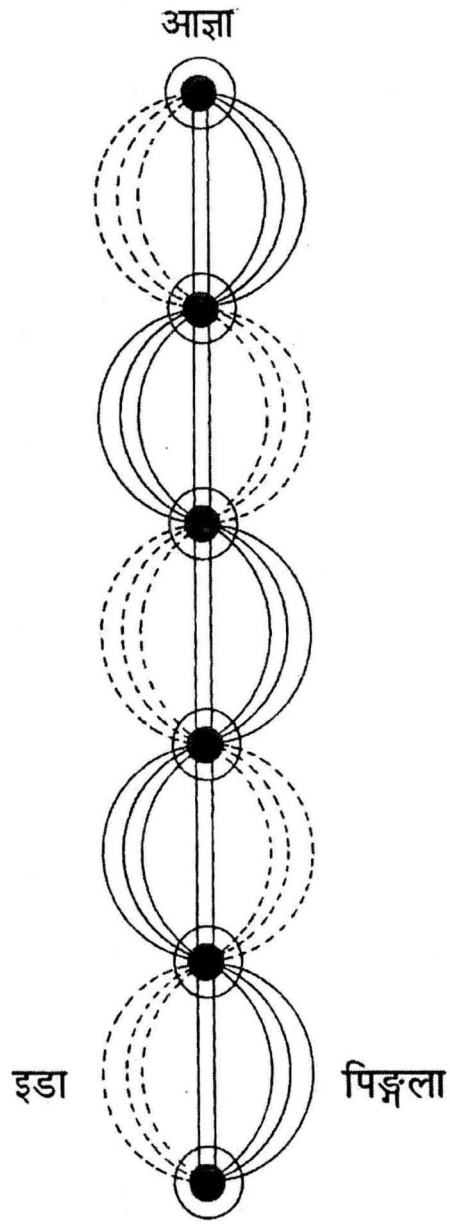

नाड़ियाँ

इन चक्रों की स्थिति बताते हुये **योगकुण्डल्युपनिषद्** में कहा गया है – मूलाधार चक्र गुदा के समीप, स्वाधिष्ठान लिङ्ग के समीप, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत कण्ठमूल में विशुद्ध एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है –

'आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैंगिकम्।
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्'।।[2]

इस प्रकार इन चक्रों का भेदन कर जब प्राण सहस्त्रार में प्रवेश कर जाता है तब उस साधक के लिये कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता।

हठयोग साधना में मुद्राओं का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि **'मुद्रया स्थिरता चैव'**। साधक द्वारा प्राणायाम (रेचक, पूरक, कुम्भक) के माध्यम से प्राण (वायु) नियंत्रित कर शरीर के अन्दर रोकने पर मुद्रा की स्थिति आती है अर्थात् साधक द्वारा स्वेच्छानुसार वायु का आवागमन करने की क्षमता से युक्त हो जाने पर चित्त स्वाभाविक रूप से दृढ़ता को प्राप्त कर लेता है ऐसी स्थिति में चित्त के स्थैर्यभाव को और अधिक दृढ़ करने के लिये एवं कुण्डलिनियों को सहस्त्रार में प्रवेश करके जीव उस आनन्द का अनुभव करे, इसके लिये हठयोग साधना में साधक को मुद्राओं का अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है –

'तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्'।।

'मुद्रा' शब्द **'मुद्'** और **'रा'** इन दो शब्दों से मिलकर बना है **'मुद्'** का अर्थ है **'मोद्'** और **'रा'** का अर्थ है **'दान'**। जब ये दोनों एक स्थान पर आकर जीवात्मा और परमात्मा में मिलन कराते हैं, तब यह क्रिया मुद्रा कहलाती है।

मुद्रा, आसन एवं प्राणायाम का मिश्रित रूप होने के कारण दोनों अंगो के अभ्यास से प्राप्त होने वाले लाभ प्रदान करने के साथ–साथ सिद्धियों की प्राप्ति कराने में भी सक्षम है। अतः हठयोग साधना में मुद्रा को आसन एवं प्राणायाम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

---

[1] *यौकुण्डल्युपनिषद् (3/9–10)*
[2] *योगकुण्डल्युपनिषद् (3/10–11)*

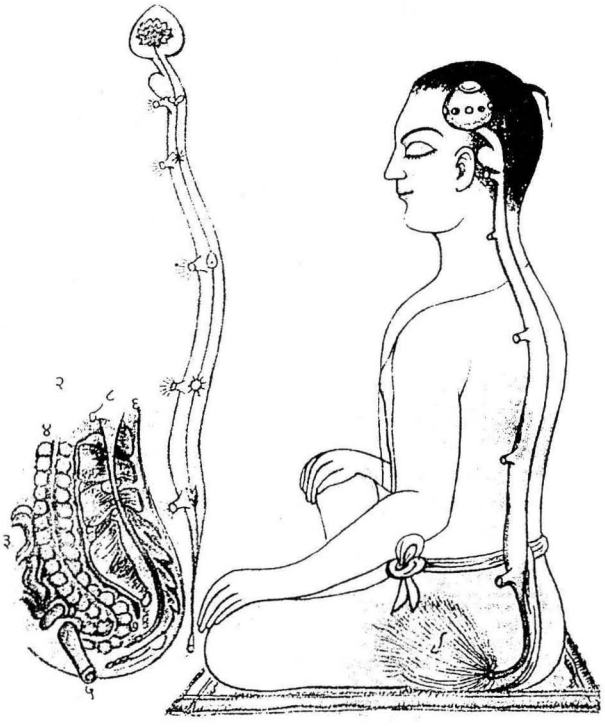

मूलाधार चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र

मणिपूर चक्र

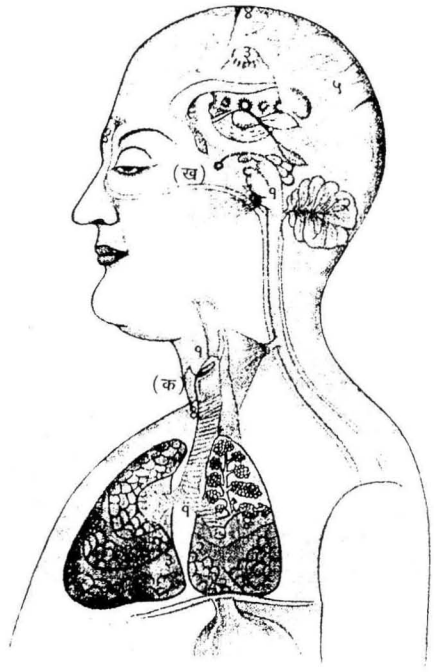

विशुद्धि चक्र

हठयोग साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में मुद्राओं के अनेक भेद बताए गये हैं, यथा **घेरण्ड–संहिता में पञ्चविंशति मुद्राएँ (3/1–3), हठयोग– प्रदीपिका में दश मुद्राएँ (3/6–7), शिवसंहिता में एकादश मुद्राएँ (4/20,24,25) एवं गोरक्ष पद्धति में पञ्च मुद्राओं (1/56) का वर्णन मिलता है।** यहाँ पर हमने विवेच्य उपनिषदों में वर्णित मुद्राओं का वर्णन किया है, जो कि इस प्रकार है –

योगतत्त्वोपनिषद् में मुद्रा के दश प्रकारों का उल्लेख मिलता है –

'महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालंधरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता'।।[1]

योगचूडामण्युपनिषद् में भी नव मुद्राओं का वर्णन किया गया है –

'महामुद्रानभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्'।।[2]

महामुद्रा :–

घेरण्ड संहिता में महामुद्रा की व्युत्पत्ति बताते हुये कहा गया है – **'महा'** अर्थात् **'उच्चतम', 'मुद्रा'** अर्थात् **'मानसिक वृत्ति'**। इस प्रकार महामुद्रा वह स्थिति हैं जिससे मानव चेतना उच्चतम स्तर में गमन करती है।

महामुद्रा की क्रियाविधि बताते हुये **ध्यानबिन्दूपनिषद्** में कहा गया है–

'वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च बामाघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं
बध्वा शनै रेचयेदेषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते'।।[3]

वक्षस्थल को ठोड़ी से और बायीं एड़ी से योनिस्थल को दबाकर, प्रसारित दाहिने पैर को हाथों से पकड़कर कुक्षियुगल को श्वास से भरकर, कुम्भक करने के बाद धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकालें। इसे सर्वपापनाशिनी महामुद्रा कहा

---

[1] *योगतत्त्वोपनिषद् (26–27)*
[2] *योगचूडामण्युपनिषद् (45)*
[3] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (93)*

गया है। **योगचूडामण्युपनिषद्** (65–66) में महामुद्रा की क्रियाविधि बताने के साथ ही यह भी बताया गया है कि यह नाड़ी शोधन एवं रस का शोषण करने वाली मुद्रा है। इससे सभी प्रकार का पथ्य–अपथ्य एवं नीरस भोजन सरस हो जाता है एवं विष भी अमृत के समान पच जाता है।

महाबन्ध :–

महाबन्ध प्रायः मूलबन्ध, उड्डियाणबन्ध एवं जालन्धरबंध का मिश्रित रूप है। इसका स्वरूप बताते हुये **योगतत्त्वोपनिषद्** में कहा गया है बायें पैर की एड़ी के द्वारा योनिस्थान को दबाकर दायें पैर को फैलाकर उस पैर के अंगूठे को मजबूती से पकड़कर ठोड़ी को छाती से लगाने के बाद वायु को धीरे–धीरे अन्दर धारण करें और शक्ति के अनुसार कुम्भक करें फिर रेचक द्वारा वायु को बाहर निकाल दें। इस क्रिया को निरन्तर अभ्यासपूर्वक बायें अंग से करने के उपरान्त दाँयें अंग से करें। यह क्रिया ही 'महाबन्ध' कहलाती है।[1]

महाबंध का अभ्यास पद्मासन लगाकर किया जाता है। इस मुद्रा के अभ्यास से प्राण इड़ा व पिङ्गला नाड़ी में न जाकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है।

खेचरी मुद्रा :–

योगकुण्डल्युपनिषद् के द्वितीय अध्याय में **खेचरी विद्या** का अति विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। **योगतत्त्वोपनिषद्** में कहा गया है जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल–कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना 'खेचरी मुद्रा' कहलाती है –

'अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयते।
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी'।।[2]

---

[1] *''पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। प्रसार्यं दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।।*
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः। कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्।।
वामांगेन समभ्यस्य दक्षांगेन ततोऽभ्यसेत्। प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्''।। योगतत्त्वोपनिषद् (112–114)

[2] *योगतत्त्वोपनिषद् (117)*

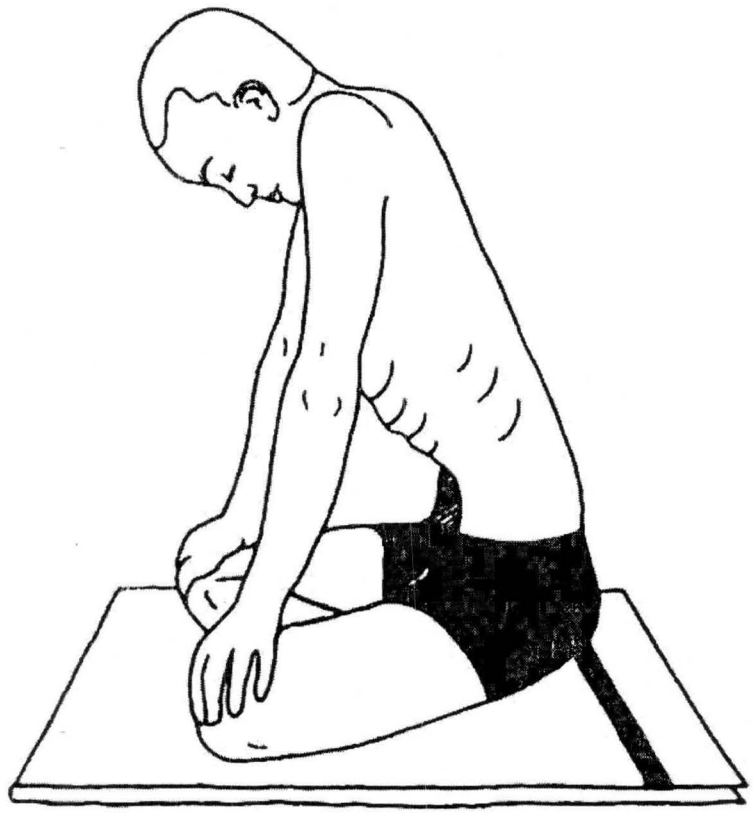

महाबन्ध

खेचरी की यही विधि **ध्यानबिन्दूपनिषद्** (79–80) **योगचूडामण्युपनिषद्** (52–58) में भी वर्णित है।

शाण्डिल्योपनिषद् में खेचरी मुद्रा को वैष्णवी–मुद्रा के रूप में वर्णित करते हुए कहा गया है अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और वायु विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी–साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर, नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ न देखता हो, यही 'खेचरी मुद्रा' है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी–मुद्रा भी कही जाती है –

'अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्वं पदं वैष्णवी'।[1]

इसकी सिद्धि होने पर साधक कर्मों में लिप्त नहीं होता अतएव यह मुद्रा योगियों द्वारा प्रशंसनीय है।

जालन्धरबन्ध :–

योगचूडामण्युपनिषद् (50) **योगकुण्डल्युपनिषद्** (51), **ध्यानबिन्दूपनिषद्** (77–78) तथा **योगतत्त्वोपनिषद्** में जालन्धरबन्ध का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है –

'कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी'।।[2]

अर्थात् कण्ठ का आकुञ्चन करके ठोड़ी को कण्ठकूप में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार स्थापित करने का आदेश दिया है कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाये और आगे की ओर तना हो। कण्ठ क्षेत्र के समस्त नाड़ी जाल को बाँधकर उस प्रदेश की सभी विकृतियों को दूर करने के कारण ही इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह समस्त कष्टों का नाश कर देता है।

---

[1] *शाण्डिल्योपनिषद् (1/7/15)*
[2] *योगतत्त्वोपनिषद् (118)*

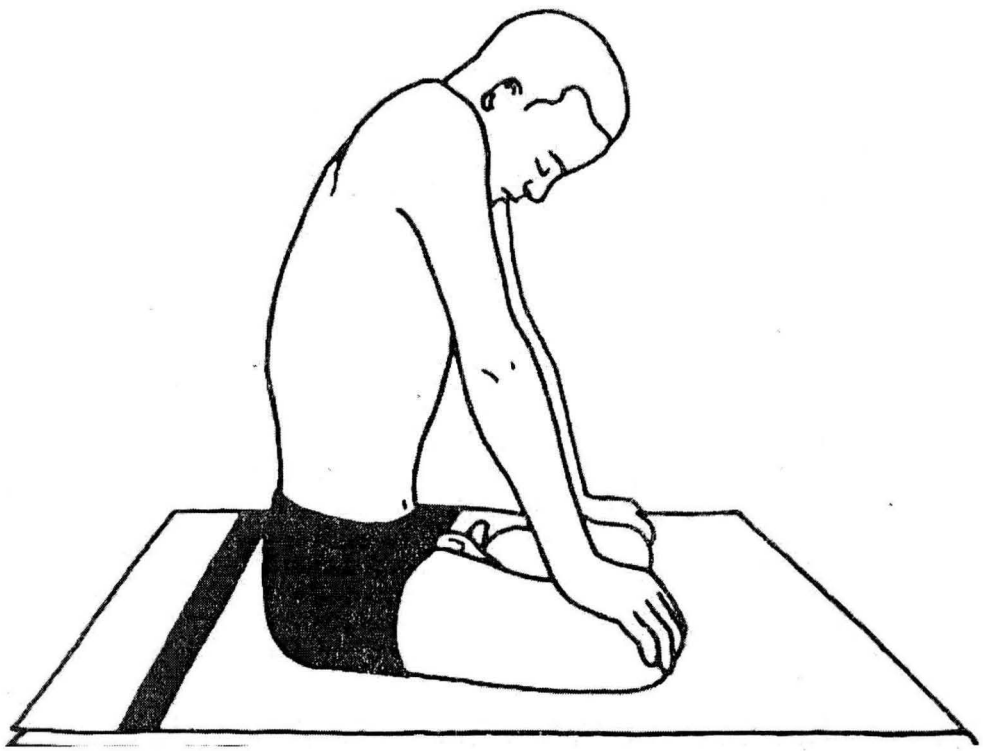

जालन्धरबन्ध

उड्डियाणबन्ध :–

अर्थात् –

'बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः'।।[1]

जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है। उसे योगी लोग उड्डियानबन्ध कहते हैं। इसको **ध्यानबिन्दूपनिषद्** में और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा गया है– जिस प्रकार बिना थका महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया (पेट को पीछे की ओर सिकोड़ने) के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना उड्डियाणबन्ध कहलाता है –

'उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।

उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्'।।[2]

योगकुण्डल्युपनिषद् (47) **योगचूडामण्युपनिषद्** (48) में भी उड्डियाणबन्ध की यही क्रियाविधि बतायी गयी है।

मूलबन्ध :–

योगकुण्डल्युपनिषद् में मूलबन्ध का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये कहा गया है – प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिये गुदा के आकुञ्चन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं –

'आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते।

अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति'।।[3]

अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि मूलबन्ध की स्थिति में अपान और प्राण का एकीकरण होता हैं **ध्यानबिन्दूपनिषद्** (75) **योगचूडामण्युपनिषद्** (46–47) तथा **योगतत्त्वोपनिषद्** (121) में भी उपर्युक्त विधि का वर्णन किया

---

[1] *योगतत्त्वोपनिषद् (112)*

[2] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (75–76)*

[3] *योगकुण्डल्युपनिषद् (1/64)*

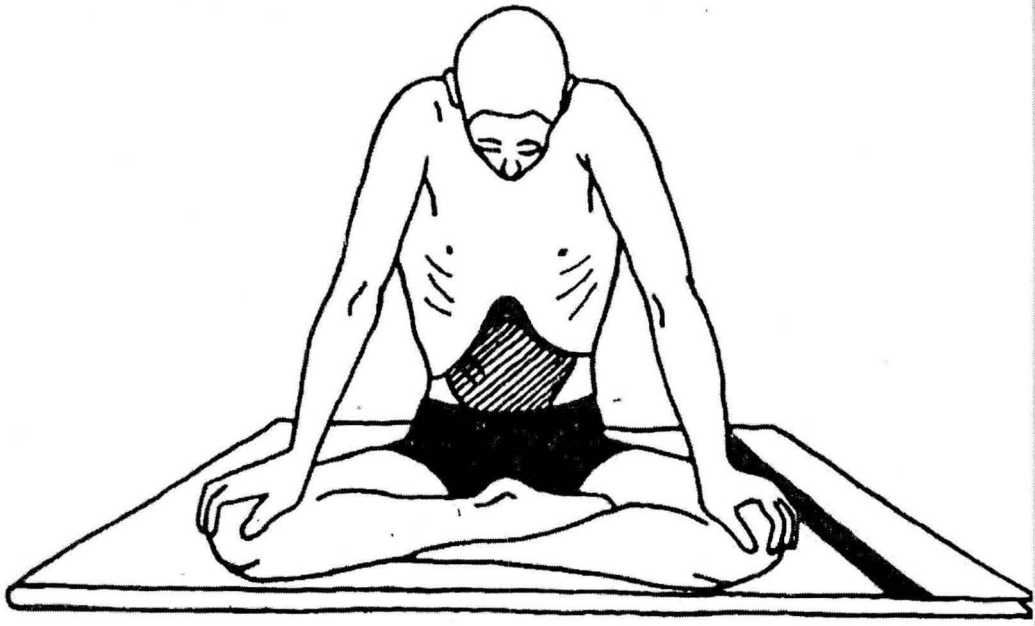

उड्डियान बन्ध

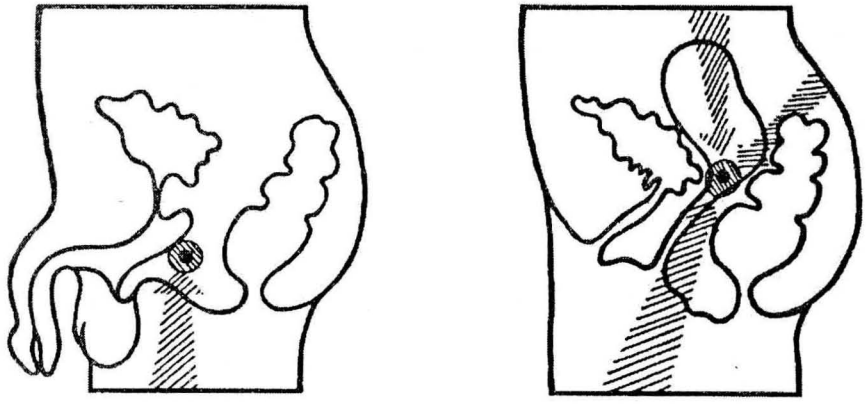

मूलबन्ध

गया है। **योगशिखोपनिषद्** में बन्धत्रय की महत्ता प्रतिपादित करते हुये कहा गया है –

'बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्।
नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्यनुयात्'।।[1]

वस्तुतः यह कह सकते हैं कि बन्धत्रय का मूल उद्देश्य वायु को नियंत्रित करना है।

वज्रोली :–

वज्रोली मुद्रा का अभ्यासी साधक सिद्धावस्था की प्राप्ति करने में सक्षम हो जाता है तथा –

'लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता'।।

इस प्रकार जो उस मुद्रा का अभ्यास कर लेता है वह योग की सिद्धि का प्राप्तकर्ता भी हो जाता है।

अमरोली :–

'अमरोली' 'अमरी' शब्द से निष्पन्न है जिसका अर्थ है **'मूत्र'** जो (योगी) 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है एवं घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उसका नस्य करता (सूँघता) है तथा वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है –

'अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते'।।[2]

सहजोली वज्रोली का ही एक भाग है। अतः इसका वर्णन उपनिषदों में सहजोली से भिन्न रूप में प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि चित्तशोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन के लिये मुद्राओं का अभ्यास आवश्यक ही नहीं अपितु परमावश्यक है।

ध्यान एवं समाधि का उल्लेख विस्तार के साथ पातञ्जलयोग में पूर्व में ही किया जा चुका है, एवं चतुर्थ अध्याय में भी लघु उपनिषदों में ध्यान एवं समाधि

---

[1] *योगशिखोपनिषद् (101)*
[2] *योगतत्त्वोपनिषद् (128)*

का अति विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अतः विस्तार भय एवं पुनरावृत्ति के कारण यहाँ इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

वस्तुतः हठयोग–साधना को करने वाले साधकों का मुख्य उद्देश्य अपने प्राण को साधना है अर्थात् हमारे शरीर में मकड़ी के जाल के सदृश फैली बहत्तर हजार नाड़ियों में प्रवाहित प्राण (वायु) को स्वेच्छानुसार शरीर के अन्दर भ्रमण करवाने के लिये साधक को हठयोग की साधना का नियमित अभ्यास अत्यावश्यक है।

ख. विवेच्य उपनिषदों में 'ध्यानयोग' :–

योग की आभ्यन्तर साधना के अन्तर्गत धारणा, ध्यान और समाधि को माना गया है। धारणा और ध्यान के अभ्यास में किसी प्रकार का शारीरिक और मानसिक तनाव नहीं होना चाहिए। धारणा का अर्थ है चित्त का एकाग्र करना। चित्त की एकाग्रता के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न उपकरण बताये गये हैं। ध्यान की प्रथम पद्धति किसी स्थूल वस्तु को लेकर आरम्भ होती है। इसके अन्तर्गत अपने इष्ट की मूर्ति अथवा व्यक्ति आते हैं। इस सन्दर्भ में ध्यान की वस्तु ऐसी होनी चाहिये जो मन पर गम्भीर प्रभाव डालती हो। ध्यान की स्थिति में मन धारणा किये हुए स्थान विशेष पर एकतानता भाव से केन्द्रित हो जाता है। ध्यान की स्थिति में साधक की समस्त चित्त–वृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध रहते हुए एक मात्र ग्रहीता, ग्राह्य तथा ग्रहण के सूक्ष्माभास से भासित होती रहती हैं –

'तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्'।[1]

हमारे ऋषि–मुनियों द्वारा उपनिषदों में साधकों के लिये अनेक प्रकार की ध्यान–साधना **(सूक्ष्म ध्यान, स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सगुण ध्यान एवं निर्गुण–ध्यान)** का वर्णन किया गया है।

विवेच्य **योगतत्त्वोपनिषद्** एवं **शाण्डिल्योपनिषद्** में ध्यान के दो प्रकार बताए गये हैं – **सगुण ध्यान** एवं **निर्गुण ध्यान**। सगुण ध्यान परमात्मा के सगुण स्वरूप का एवं निर्गुण ध्यान परमात्मा के निर्गुण निराकरण रुप पर आधारित होता है।

उपनिषद् साहित्य में ब्रह्म के दो स्वरुपों का विशद वर्णन प्राप्त होता है – सगुण रुप तथा निर्गुण रुप। निर्विशेष अथवा निर्गुण ब्रह्म वह है जिसे किसी लक्षण के द्वारा लक्षित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता, जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, ऐसे गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता, जिससे उसे धारण किया जा सके इसलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्पक आदि नामों से अभिहित

---

[1] *योगसूत्र (3/2)*

करते हैं। सविशेष अथवा सगुण भाव ठीक इसके विपरीत होता है। इसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है। जिनके द्वारा उसका उक्त स्वरूप वर्णित किया जा सकता है। इसी कारण सामान्यतः सगुण स्वरूप का ध्यान बताया जाता है तथा सगुण ब्रह्म द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्यादि क्रिया होती है। विवेच्य **योगकुण्डल्युपनिषद्** में ब्रह्म के सगुण रुप से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है –

'आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः।

वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः प्रथिवी'।।[1]

सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा को इन पाँच महाभूतों का देवता बताया है।

योगराजोपनिषद् में परमात्मा के सगुण रूप ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मंत्रों के जप द्वारा कल्याण–प्राप्ति का वर्णन प्राप्त होता है –

'ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः'।[2]

अद्वयतारकोपनिषद् में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वह ब्रह्म गर्भ, जन्म, जरा, मरण एवं संहार आदि पापों से तारता है –

'गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्संतारयति'।[3]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अंहकार, अहंकार से पाँचों तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत और पंच महाभूतों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मानी है –

'ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः।

अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि।

पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्'।।[4]

इसमें ब्रह्म के निर्गुण रूप के विषय में बताया गया है कि वह शिव निर्विकार है अतः जैसा जीव होता है, शिव भी उसी के अनुरूप हो जाता है –

---

[1] *योगचूडामण्युपनिषद् (72)*
[2] *योगराजोपनिषद् (3)*
[3] *अद्वयतारकोपनिषद् (3)*
[4] *त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (1/3)*

'यथा जीवस्तथा शिवः'।[1]

देह में स्थित चेतना को सकल ब्रह्म एवं देहरहित परम चेतना को निष्कल ब्रह्म जानना चाहिए –

'देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः'।[2]

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म के रूप में विष्णु पद की प्राप्ति बताई है अर्थात् विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध अद्वैवतत्त्व की सिद्धि होती है, क्योंकि उसमें भेद का अभाव होता है –

'तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम्'।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अध्येय परवर्ती उपनिषदों में निर्गुण निराकार परम सत्ता को शिव, विष्णु, वासुदेव आदि विविध संज्ञाओं से अभिहित किया गया है तथा उन्हीं के स्वरूप–ध्यान का वर्णन किया गया है। वस्तुतः मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली समस्त चित्त–वृत्तियों को किसी एक लक्ष्य पर साधकर अन्य सभी वृत्तियों का त्याग कर देना ध्यान कहलाता है। ध्यान की स्थिति में साधक की समस्त चित्तवृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध रहते हुए एक मात्र ग्रहीता, ग्राह्य तथा ग्रहण के सूक्ष्माभास से भासित होता रहता है। साधक द्वारा ध्यान की स्थिति में प्रगाढ़ता लाने पर वह सूक्ष्माभास भी समाप्त हो जाता है एवं साधक उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है यही समाधि की भी अवस्था कहलाती है, इसमें साधक तदाकर हो जाता है –

'सोऽहं चिन्मात्रमेणेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते'।

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त उपनिषदों में ॐकार, हंसादि में ध्यान की वृत्ति करनी चाहिये –

'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में मध्य देश में ज्ञान–मुद्रा के स्वरूप वाले उस परमहंस का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है जो दिव्य एवं संशय रहित है।

---

[1] *त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (2/12)*
[2] *ब्रह्मविद्योपनिषद् (33)*
[3] *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (5/1/6)*

शाण्डिल्योपनिषद् में 'ॐकार के त्र्यक्षर को त्रिदेवियों का सम्मिलित रूप एवं तीन अवस्थाओं का द्योतक मानकर उसमें ध्यान करने का उपदेश दिया गया है।'[1] कहने का तात्पर्य है कि ॐकार की प्रथम मात्रा अकार गायत्री रूप बालरूप से युक्त, उकार सावित्री रूप युवावस्था से युक्त एवं मकार सरस्वती रूप वृद्धावस्था से युक्त मानकर तीनों का ध्यान करना चाहिये।

ॐकार में भी ध्यान को प्रतिष्ठित करने का उपदेश दिया गया है –

'हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम्'।।[2]

अर्थात् हृदय कमल की कर्णिका के मध्य स्थिर ज्योतिशिखा के समान अंगुष्ठ मात्र अकार के नित्य ॐकार स्वरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार उस परब्रह्मा परमात्मा का कमल रूपी हृदय में ध्यान करने पर साधक स्वयं परब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ध्यानयोग समस्त पापों का नाश करने में पूर्णतः सक्षम है –

'यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन'।।[3]

अर्थात् यदि पर्वत की तरह (अनेक जन्मों के सञ्चित) अनेक योजन व्यापकत्व लिये पाप समूह हों, तो भी ध्यानयोग-साधना द्वारा उनको नष्ट किया जाना सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा वह नष्ट नहीं हो सकते हैं। अतएव ध्यानयोग को समस्त योगसाधनाओं का प्राण कहा जा सकता है। इसके अभाव में हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग तथा लययोगादि किसी भी

---

[1] *'पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्तागी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति।*
उकारमूर्तिः श्वेतागीताक्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति।
मकारमूर्तिः कृष्णागी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति। अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति।' शांडिल्योपनिषद् (6/3–4)

[2] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (19)*

[3] *'ध्यानबिन्दूपनिषद्' (1)*

प्रकार की साधना साधक का कल्याण करने में सक्षम नहीं है। यही कारण है कि सभी उपनिषदों में इसकी चर्चा मिलती है एवं छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी साधना के लिए ध्यानयोग को अतिमहत्त्वपूर्ण माना गया है। विवेच्य उपनिषदों में ध्यान की क्रियाविधि, प्रकार एवं महत्त्व का वर्णन चतुर्थ अध्याय के द्वितीय खण्ड में किया जा चुका है। अतः पुनरावृत्ति एवं विस्तारभय के कारण यहाँ उनकी व्याख्या न करते हुए केवल नाममात्र वर्णन किया गया है।

ग. विवेच्य उपनिषदों में 'लययोग' :–

जीवरूपी चैतन्य तत्त्व अविद्या में फँसकर शनैः–शनैः उस परब्रह्म से दूर हो जाता है उस दूरी को समाप्त करके उसे पूर्वरूप में लाने के लिये अर्थात् वह जिस स्थान से आया है पुनः उसी स्थान पर पहुँचाने के लिये उपनिषदों में वर्णित लययोग अत्यधिक सरल एवं सहज क्रिया है। 'लययोग को महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने सिद्ध किया था।'[1] लययोग को परिभाषित करते हुये **योगशिखोपनिषद्** में कहा गया है – सूर्य तथा चन्द्र नाड़ी के एक हो जाने पर साधक का चित्त विलीनता को प्राप्त कर लेता है। यही लययोग है –

'तदैक्ये साधिते ब्रह्मांश्चित्तं याति विलीनताम्।
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदयो सति'।।[2]

योगतत्त्वोपनिषद् में भी **'लययोगश्चित्तलयः'** कहा गया है। लय अनेक प्रकार का होता है, यथा – चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते आदि अर्थात् किसी भी अवस्था में उस कलारहित परमात्मा का साधक द्वारा निरन्तर चिन्तन करने पर साधक का मन उस परमात्मा में उसी प्रकार विलय होने लगता है जिस प्रकार जल में नमक विलीन हो जाता है –

'मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत्।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः'।।[3]

(ऐसी स्थिति में) उस साधक को मोह–माया के जाल में आबद्ध हुआ संसार स्वप्न की भाँति दृष्टिगोचर होने लगता है तथा वह पूर्ण निश्चल होकर स्वभाववश ही सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है।

उपनिषद्–साहित्य में लययोग की साधना के लिये नादश्रवण को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। **'शिव संहिता'** में कहा गया है –

'नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः'।।[1]

---

[1] *कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः'। योगराजोपनिषद् (4)*
[2] *योगशिखोपनिषद् (1/135)*
[3] *त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (165)*

अर्थात् सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है, केवल कुम्भक के समान कोई बल नहीं है, खेचरी मुद्रा की बराबरी करने वाली कोई मुद्रा नहीं है, मन का लय करने के साधनों में नाद की तुलना करने वाला कोई साधन नहीं है। **नादबिन्दूपनिषद्** में भी कहा गया है कि चित्त रूपी अन्तरङ्ग भुजंग नाद को सुनने के पश्चात् उस सुन्दर नाद की गंध से आबद्ध हो जाता है और तत्क्षण ही सभी प्रकार की चपलताओं का परित्याग कर देता है –[1]

'बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरंगभुजग्मः'।।[2]

ध्यानबिन्दूपनिषद् में भी **'ओंकारध्वनिनादेव वायो संहरणान्तिकम्। यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि'।।** कहकर चित्त को नाद में लय करने पर विष्णु के परमपद की प्राप्ति बताई है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध **हंसोपनिषद्** में नाद के दस प्रकार बताए हैं –

'चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थम्। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठतालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः। नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्'।।[3]

इन नादों के प्रभाव से शरीर में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं – चिणी नाद के प्रभाव से शरीर में चिनचिनी हो जाती है। चिञ्चिणीनाद से अंगों में अकड़न होती है, घण्टानाद का अभ्यास करने से शरीर में पसीना आता है, शंखनाद से सिर में कम्पन होता है, तन्त्रीनाद से तालु से स्त्राव उत्पन्न होता है, तालनाद से अमृतवर्षा होती है, वेणुनाद से गूढ़ ज्ञान–विज्ञान का लाभ प्राप्त होता है, मृदङ्गनाद से परावाणी प्राप्त होती है, भेरीनाद से शरीर को अदृश्य

---

[1] *शिवसंहिता*
[2] *नादबिन्दूपनिषद् (43)*
[3] *हंसोपनिषद् (16–17)*

करने तथा निर्मल दिव्य दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है और मेघनाद से परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

लययोग की साधना में चित्त को सर्वप्रथम किसी बाह्य ध्वनि यथा–ओऽम् का जोर से उच्चारण करने पर उसकी आवाज अथवा भ्रमर जैसी आवाज अथवा घण्टा या शंखादि की ध्वनि पर केन्द्रित करना चाहिये। जिससे साधक का प्राण सूक्ष्म होकर श्वासोच्छवास के माध्यम से उच्चरित होने वाली हंस ध्वनि का श्रवण कर सके। श्रवण करने पर मन उस हंस रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, उस स्थिति में संकल्प–विकल्प मन में विलीन हो जाते हैं तथा पाप–पुण्य भी दग्ध हो जाते हैं –

'तस्मिन्मनो विलीयते मनसि सङ्कल्पविकल्पे दग्धं पुण्यपापे.....।[1]

बाह्य ध्वनि के अभ्यास द्वारा प्राणों के सूक्ष्मता को प्राप्त करने पर साधक को ऊँकार रूपी सूक्ष्मनाद का श्रवण करना चाहिये, जो हृदय रूपी आकाश में निरन्तर ध्वनित होता रहता है। चित्तवृत्तियों के स्वभावतः बर्हिमुखी होने के कारण यह सहज में सुनायी नहीं देता। जब साधक साधना से चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेता है तत्पश्चात् उसको यह नाद सुनायी देता है। नाद साक्षात् ऊँकार स्वरूप ध्वनि है 'जिस प्रकार कांस्य धातु से निर्मित घण्टे का शब्द शान्ति प्रदान करता हुआ विलीन हो जाता है उसी प्रकार ओङ्कार की साधना से सभी इच्छाएँ शान्त हो जाती है'।[2] अतः –

'यस्मिन्विलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते'।।[3]

जिस तत्त्व में शब्द विलीन हो जाता है उसे परब्रह्म कहते हैं जो बुद्धि उस पर ब्रह्म में विलीन हो जाती है, वह अमृतस्वरूप ब्रह्मस्वरूप कही गयी है।

---

[1] *हंसोपनिषद् (21)*

[2] *'कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये। ओंकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता'।।ब्रह्मविद्योपनिषद् (12)*

[3] *ब्रह्मविद्योपनिषद् (13)*

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है –

'सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति'।[1]

निर्विषय होने पर मन निराश्रय हो जाता है जिसके कारण मन उन्मनी अवस्था में परिपक्व होकर ईश्वर में लय हो जाता है। मन जिसमें लय होता है वह विष्णु का परमपद है –

'तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम्'।।[2]

उस परमपद में लय होने से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है क्योंकि उसमें भेद का अभाव रहता है। यही परमतत्त्व है। **नादबिन्दूपनिषद्** में भी 'शिव के कल्याणकारी स्वरूप का प्रादुर्भाव नाद रूप से ही माना गया है।'[3] अतः उस परम शिव की प्राप्ति के लिये साधक को अन्तःकरण में उच्चरित होने वाले अनहद नाद का श्रवण एवं चिन्तन दूध में मिश्रित जल के सदृश करते हुए उसी में चित्त को लीन कर देना चाहिए।

निष्कर्षतः लययोग सहजानन्द को प्राप्त करने का सबसे सरल एवं सुगम उपाय है। इसका अभ्यास स्थूल नाद के श्रवण से प्रारम्भ होकर शनैः–शनैः सूक्ष्म नाद की ओर अग्रसर होता हुआ साधक की एकाग्रशक्ति को परिपक्व बनाता है। परिणामस्वरूप साधक का मन बुद्धि में लय हो जाता है, बुद्धि उस महत् तत्त्व में लय होकर साधक को उन्मनी अवस्था में स्थित कर देती है। अंत में साधक उस परब्रह्म में अपने आप को विलय कर देता है।

---

1 *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (5/1/1)*

2 *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (5/1/6)*

3 *ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः। स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव।। नादबिन्दूपनिषद् (30)*

घ. विवेच्य उपनिषदों में 'मंत्रयोग' :–

उपनिषद्–साहित्य में उस परब्रह्म के सामीप्य को प्राप्त करने के लिये योगसाधना के प्रमुख चार रूप मंत्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग का वर्णन किया गया है। मंत्रयोग को सिद्ध करने वाले प्रमुख आचार्य वत्सराजादि माने जाते है–

'साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा'।[1]

मंत्र साधना का अन्तःकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसी कारण तन्त्र शास्त्र में मन का त्राण करने वाले अक्षरों को मन्त्र कहा है। अध्येय उपनिषदों में मन्त्र–साधना के लिए शरीर में स्थित वाणी की चार विभिन्न अवस्थाएँ बतायी गई है – **वैखरी, उपांशु, पश्यन्ति, परा।**

योगकुण्डल्युपनिषद् में वाणी के चार भेद बताते हुए कहा गया है – शरीर में स्थित वाणी परा रूप में अंकुरित होती है, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती है, मध्यमा में खिलती एवं अग्रगामी होती है एवं वैखरी रूप में आकर पूर्ण प्रकट हो जाती है। इस वाणी का जिस तरह प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है –

'परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता।
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता।।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्'।[2]

वाणी की सिद्धि प्राप्त करने पर योगी किसी प्रकार के शुभ अथवा अशुभ वचनों से प्रभावित नहीं होता।

सभी उपनिषदों में मंत्रों की मुक्त कण्ठ से महिमा गायी गयी है। मंत्र अर्थात् जिसका निरन्तर मनन किया जाता है। मनन के अभाव में मंत्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता तथा मनन–पूर्वक मंत्र का जाप करने से वह इच्छित फल प्रदान करने वाला होता है। **योगसूत्र** में भी मंत्र से सिद्धि मानी गयी है और उल्लेख मिलता है–

---

[1] *योगराजोपनिषद् (4)*
[2] *योगकुण्डल्युपनिषद् (3/18–19)*

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'।[1]

मंत्र उस बीज की भाँति है जिसमें असीम शक्ति होती है, जो कि निरन्तर अभ्यास से वृक्ष के रूप में फलदायक सिद्ध होता है। **योगदर्शन** में **'तस्य वाचकः प्रणवः'** कहकर **प्रणव** को ईश्वर का वाचक माना गया है। **प्रणव** वेदों का मुख्य मंत्र है। अतः उपनिषद् में भी स्पष्ट रूप से मिलता है कि प्राचीन काल से ॐकार रूपी एकाक्षर ब्रह्म की प्राप्ति सभी साधकों का लक्ष्य रहा है एवं यह प्रणव तभी सुनाई देता है जब योगीजन का अन्तःकरण इस प्रकृति की वैषम्यावस्था–प्राप्ति के मूल स्थान में पहुँचता है। इस परमात्मस्वरूप प्रणव के बाहर की ओर **शब्द रूपात्मक जगत** है एवं दूसरी ओर **परम विष्णुपद** है **ध्यानबिन्दूपनिषद्** (9–13) तथा **ब्रह्मविद्योपनिषद्** में ॐकार का स्वरूप बताते हुये कहा गया है – उस ॐकार में तीन देवता (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश), तीन लोक (पृथ्वी, आकाश और द्युलोक), तीन वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) और तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि एवं आहवनीय अग्नि) हैं। शिव स्वरूप इस त्र्यक्षर की तीन और आधी मात्राओं में **'अ'कार** (सूर्यमण्डल के मध्य में), **'उ' कार** (चन्द्रमण्डल में) एवं **'म' कार** (अग्नि में प्रतिष्ठित) है –

'तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
तिस्त्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु'।।[2]

अतएव – ॐकार से देवों की उत्पत्ति, ॐकार से स्वर की उत्पत्ति और ॐकार से ही त्रिलोक के सभी स्थावरजंगम की उत्पत्ति हुयी है –

'ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाःस्वराः।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्'।।[3]

---

[1] *योगसूत्र (2/44)*
[2] *ब्रह्मविद्योपनिषद् (3)*
[3] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (16)*

अतः ॐकार ही साधक को मोक्ष की प्राप्ति करवाता है। कहने का तात्पर्य है ऊँकार का ह्रस्व अंश पापों को दहन करता है, दीर्घ अंश अमृतत्वरूप अक्षय सम्पदा को प्रदान करता है तथा अर्धमात्रा से युक्त यह प्रणव मोक्ष दायक है–

'ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः'।।[1]

वस्तुतः 'प्रणव' वह श्रेष्ठ अक्षर है, जो कभी च्युत नहीं होता तथा – तेल की अजस्र धारा की तरह, घण्टा के लम्बे निनाद के समान प्रणव के आगे ध्वनि रहित शब्द का ज्ञाता ही वेदवेत्ता है –

'तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्'।।[2]

अतएव साधक को अन्तःकरण और प्रणवाक्षर को नीचे और ऊपर की अरणि रूप बनाकर मंथन रूप ध्यान का अभ्यास करना चाहिये जिससे उसमें व्याप्त परमात्मा का अग्नि की भाँति दर्शन हो सके।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में बताया गया है प्रणव मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व एवं महत्तत्त्व स्वरूप है। इसका जाप विधि पूर्वक करना चाहिए–

'प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा घृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढ़भावनया
द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं
भवति'।।[3]

अर्थात् प्राण अपान वायु को एक करके कुम्भक धारण करने के पश्चात् नासिकाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ़ भावना से करद्वय की अंगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके प्रणव का ध्यान करना चाहिए इससे मन प्रणव में उसी प्रकार ही लीन हो जायेगा, जिस प्रकार काँस्य (टीन और ताँबा से मिलकर बनी) धातु से बने हुये घण्टे का शब्द शान्ति प्रदान करते हुये अन्त में विलीन हो जाता है।

---

[1] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (17)*
[2] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (18)*
[3] *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (2/2/2)*

ध्यानबिन्दूपनिषद् में **'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते'।**[1] कहा गया है तथा **अमृतनादोपनिषद्** में प्रणव को उस रथ के समान माना गया है जिस पर आरूढ़ होने के पश्चात् साधक इस मायावी संसार से पार हो सकता है अन्यथा नहीं। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि – प्रणव की 'अ'कारादि मात्राओं में स्थित जो लिङ्गभूत पद है, उन सभी के आश्रयभूत संसार का चिन्तन करते हुये उसका त्याग कर, स्वरहीन 'म'कार वाची ईश्वर का ध्यान करने से साधक की उस सूक्ष्म पद में प्रविष्टि हो जाती है, जो सभी प्रपंचों से दूर है –

'मात्रालिंगपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।

अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति'।।[2]

जाबालदर्शनोपनिषद् (6/1–7) में प्रणव के तीन वर्ण को रेचक, पूरक, कुम्भक से समानता रखने वाला कहकर रेचक, पूरक, कुम्भक के माध्यम से ॐकार का जप मन में निरन्तर करने से छः मास में ही साधक ज्ञान सम्पन्न हो जायेगा, ऐसा कहा गया है तथा पवित्र अथवा अपवित्र किसी भी अवस्था में ॐकार का जप करने वाला पाप–पङ्क में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त बना रहता है।

'शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।

न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा'।।[3]

उपनिषदों में हंस–मंत्र अर्थात् अजपा गायत्री को भी मोक्ष प्रदायक मंत्र माना गया है। 'हंस' सभी के शरीर में उसी प्रकार विद्यमान रहता है, जिस प्रकार तिल में तेल तथा काष्ठ में अग्नि। प्रत्येक जीव श्वासोच्छवास (पूरक, कुम्भक, रेचक) से स्वभावतः हंस–मंत्र का जप 21600 बार करता है –

'हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा'।[4]

---

[1] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (14)*
[2] *अमृतनादोपनिषद् (4)*
[3] *योगचूडामण्युपनिषद् (88)*
[4] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (62)*

योगशिखोपनिषद् में भी इस मंत्र का वर्णन प्राप्त होता है। हंस का स्वरूप बताते हुये कहा गया है – अग्नि और सोम उस (हंस) के पंख हैं, ओंकार सिर, बिन्दु सहित उकार (हंस का) तृतीय नेत्र, मुख रुद्र है, दोनों चरण रुद्राणी हैं।

'अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दु स्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ'।[1]

नादबिन्दूपनिषद् में ॐकार को हंस मानकर उसके विषय में कहा गया है कि हंस अर्थात् हकार ध्वनि के साथ प्राण बाहर जाता है, सकार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। इस प्रकार श्वास की आने जाने की प्रक्रिया वैसे ही चलती है जैसे रस्सी से बँधा हुआ पक्षी किसी मनुष्य द्वारा बार–बार अपनी ओर खींचा जाता है।

'ॐअकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम्।।
पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।
धर्मोऽस्य दक्षिणं चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः।।
भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत्।।
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः।।
सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः।
एवमेतां समारूढो हंसयोग विचक्षणः'।।[2]

उस मोक्ष प्रदायिनी हंस–विद्या की क्रियाविधि का वर्णन करते हुये **हंसोपनिषद्** में कहा गया है – 'सर्वप्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र से वायु को ऊपर उठाकर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करें, तदुपरान्त मणिपूरक चक्र का अतिक्रमण करें, फिर ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करें। इस प्रकार ध्यान करते

---

[1] *(हंसोपनिषद् – 14)*
[2] *नादबिन्दूपनिषद् (1–5)*

हुए कि **'मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ।'** योगी सर्वदा अनाकार ब्रह्म को देखता हुआ [illegible]तदवत् हो जाता है'।[1]

प्रत्येक जीव के हृदय में अष्टदल का कमल स्थित होता है उसी के आधार पर हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ स्वीकार की गयी हैं। जिनके विषय में कहा गया है–

'पूर्वदल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा और आलस्य आदि। दक्षिणदल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पाप-बुद्धि, पश्चिमदल में क्रीड़ा वृत्ति, वायव्य दल में गमन करने की बुद्धि, उत्तरदल में आत्मा के प्रति प्रीति, ईशान दल में द्रव्यादान की वृत्ति, मध्य दल में वैराग्य की वृत्ति उस अष्टदल कमल के केसर (तन्तु) में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था, लिङ्ग में सुषुप्तावस्था होती है'।[2]

इस प्रकार जब वह हंस उस अष्टदल कमल का अभ्यास के द्वारा परित्याग कर देता है तब वह तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः हंस रूपी विद्यामृत के समान नित्यत्व (प्राप्ति) का इस जगत् में और कोई साधन नहीं है–

'हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्'।[3]

अन्य शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जब वह हंस परमात्मा में विलीन हो जाता है, ऐसी स्थिति में संकल्प–विकल्प से युक्त समस्त भाव मन में ही विलीन होकर साधक द्वारा अनेक जन्मों में संचित किये गये पाप–पुण्य को सदैव के लिये नष्ट कर देते हैं। परिणामस्वरूप वह हंस शुद्ध–बुद्ध, नित्य–निरञ्जन एवं शान्त स्वरूप होकर स्वयं प्रकाशमान होने लगता है। **ब्रह्मविद्योपनिषद्** में भी कहा गया है –

---

[1] *'गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन्ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येव सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति।' हंसोपनिषद् (6)*

[2] *'पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋति पापे मनीषा। वारूण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिंगे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्'। हंसोपनिषद् (8)*

[3] *ब्रह्मविद्योपनिषद् (26)*

'हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम्।।

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्।

हंस एवं परो रुद्रो हंस एव परात्परम्।।

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः।

पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः।।

कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः'।[1]

यही वर्णन **योगचूडामण्युपनिषद् के मंत्र संख्या 31 से 34** में किया गया है तथा **ध्यानबिन्दूपनिषद्** में भी हंस–मंत्र की महिमा का गुणगान करते हुये बताया गया है – इस (अजपा गायत्री) के संकल्प मात्र से व्यक्ति पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस मार्ग से योग साधक सुगमता से ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। जिसके सदृश न कोई विद्या है, न जप है, और न ही कोई पुण्य, जो पहले न कभी हुआ है और न आगे कभी हो सकेगा–

'अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।।

अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्'।।[2]

विवेच्य उपनिषदों में **ॐकार** एवं **हंस (सोऽहं)** मंत्र के अतिरिक्त **मेलन मंत्र** का वर्णन भी मिलता है। **मेलन मंत्र खेचरी मुद्रा (योग) की सिद्धि के लिये अत्यावश्यक है।** इसके अभाव में खेचरी की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। इस मंत्र का उपदेश योग्य गुरु द्वारा विधिपूर्वक अपने शिष्य को उसकी योग्यता एवं लगन देखने के पश्चात् एक जन्म में अथवा खेचरी का कठोर अभ्यास करने पर अनेक जन्मों के पश्चात् दिया जाता है तथा –

'यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।

तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ'।।[3]

---

[1] *ब्रह्मविद्योपनिषद् (60–63)*

[2] *ध्यानबिन्दूपनिषद् (64–65)*

[3] *योगकुण्डल्युपनिषद् (2/8)*

साधक जब गुरू के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परा के अनुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है अर्थात् विधिवत् साधना करने पर ही साधक संसार रूपी सागर को पार करके शिवस्वरूप हो सकता है। मेलन मंत्र के प्रभाव से साधक आकाश में विचरण करने वाला हो जाता है।

इस प्रकार यह मंत्र सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इसका प्रतिदिन बारह बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। नियम– पूर्वक पाँच लाख बार जप करने से खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा साधक के जीवन के सभी विध्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है–

'गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया।।
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः।।
तस्यश्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।
नश्यन्ति सर्व विध्नानि प्रसीदन्ति च देवताः'।।[1]

मंत्रयोग–साधना कैवल्य की प्राप्ति के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन है। **योगतत्त्वोपनिषद्** में भी कहा गया है – 'मातृका आदि से युक्त मंत्र का बारह वर्ष तक जप करने से अणिमादि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है'।[2]

योगशिखोपनिषद् (1/30–32) में बताया गया है – मंत्रयोग से सुषुम्ना का दर्शन होता है। जिससे चित्त स्थिर होने पर तत्त्व का साक्षात्कार होता है। **ध्यानबिन्दूपनिषद्** में तो यहाँ तक कहा है कि –

'ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः'।

---

[1] *योगकुण्डल्युपनिषद् (2/23)*

[2] *मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः।।' योगतत्त्वोपनिषद् (21–22)*

तेजोबिन्दूपनिषद् में भी **अहंब्रह्मास्मि** मन्त्र की व्याख्या करते हुए उसके प्राप्त होने वाली अनेक सिद्धियों का वर्णन करते हुए कहा है –

'अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधि विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चितबन्धं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन्विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्नाशयेत्क्षणात्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सङ्कल्पादीन्विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्र विनाशयेत्'।[1]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता हे कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि रहती है परन्तु वह अरणी के द्वारा मथी जाने पर ही प्रकट होती है। उसी प्रकार योगयुक्त अन्तःकरण में व्यवस्थित रूप से मन्त्र का कार्य होते रहने से मन्त्र में व्याप्त शक्ति प्रकट होकर कार्य करने लगती है। निर्गुण प्रणव मन्त्र हो अथवा सगुण शक्ति–बीज, माया–बीज या शाखा पल्लव से युक्त मन्त्र हो, सभी में उस मन्त्र से सम्बन्धित समस्त शक्तियाँ व्याप्त होती हैं अतएव मन्त्र साधना के द्वारा साधक अपने इष्टदेव के समीप पहुँच जाता है। मन्त्रयोग को जपयोग भी कहते है।

---

[1] *तेजोबिन्दूपनिषद् (3/64–68)*

ड. विवेच्य उपनिषदों में 'तारकयोग' :-

तारकयोग का प्रचार निजानन्द सम्प्रदाय (प्रणामी धर्म) के संस्थापक श्री देवेन्द्र जी तथा स्वामी प्राणनाथ ने किया था। तारकयोग से तात्पर्य है –

जो गर्भ, जन्म, जरा, मरण, तथा संहार आदि पापों से तारता है, मुक्ति दिलाता है, उसे तारकयोग कहते हैं –

'गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति'।[1]

तारकयोग तारे के समान प्रकाशयुक्त वह ज्ञान है, जो साधक के विवेक से उत्पन्न होने के साथ–साथ सर्वविषयक एवं सर्वार्थविषयक होता है। अतएव महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है –

'तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्'।[2]

अतः **विद्यासागर वर्मा जी** ने इस मन्त्र की व्याख्या पद्य में करते हुए कहा है–

'सूर्यसम स्वतः प्रकाशयुक्त है विवेकज ज्ञान।
एक काल में सभी विषयों को, जो सर्वथा ले जान।।
यही ज्ञान ही भवसागर से, तारे नाव समान।
इसी की प्राप्ति पर होती है, योगी की पहचान।।'[3]

तारकयोग का ज्ञान किसी के उपदेश देने या सिखाने से नहीं होता है यह स्वयं अनुभव किया जाता है तथा योगी के प्रतिभाशाली होने पर ही उदित होता है, जिसके परिणामस्वरूप यह साधक के अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न सबको वस्तुओं के अवान्तर विशेषों के साथ पूर्णरूप से प्रकाशित करता है। अतः इसे परिपूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है। तारक का स्वरूप बताते हुए **अद्वयतारकोपनिषद्** में कहा गया है–

---

[1] *अद्वयतारकोपनिषद् (3)*
[2] *पातञ्जलयोगदर्शनम् (साधनपाद 54)*
[3] *विद्यासागर वर्मा, योगदर्शनः काव्य व्याख्या (पृ0 279)*

'नेत्रों को बन्द अथवा अधखुले रखकर अन्तःदृष्टि से भृकुटी के ऊर्ध्व स्थल में **'मैं चित् स्वरूप हूँ'** इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूट रूप (निश्चय) ब्रह्म का दर्शन करते हुए तद्रूप (तारकरूप) हो जाता है।'[1]

तारकयोग के दो भेद हैं – मूर्तितारक एवं अमूर्तितारक। मूर्तितारक से तात्पर्य है– **'यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्'** । एवं अमूर्तितारक अर्थात् **'भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्'।**[2] **मण्डलब्राह्मणोपनिषद्** (1/3/1) में भी तारक के इन दोनों भेदों का वर्णन प्राप्त होता है।

उपनिषद्–साहित्य में तारकयोग को करने की दो प्रकार की विधियों का वर्णन मिलता है – **पूर्वार्द्ध** एवं **उत्तरार्द्ध तारक। इनमें से पूर्व को तारक एवं उत्तरार्द्ध को अमनस्क कहा जाता है।** पूर्वार्द्ध की सिद्धि होने पर ही साधक उत्तरार्द्ध का अभ्यास करने में सक्षम हो सकता है। **तारकयोग की सिद्धि अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्यलक्ष्य पर आधारित होती है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद्** में भी **'तदुपाय लक्ष्यत्रयावलोकनम्'**[3] कहकर तारकयोग की सिद्धि के लिये लक्ष्यत्रय का अवलोकन करना आवश्यक बताया गया है। कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार हम बाह्य दृष्टि से इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्य एवं चन्द्र को देखकर उन पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी पर चित्त को एकाग्र करके तारकयोग की मूर्त अथवा अमूर्त साधना में से किसी पर भी चिन्तन की अविरल धारा को निरन्तर बनाये रखने से साधक अमनस्क की स्थिति को प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। अमनस्क की स्थिति में साधक उस तारकब्रह्म का दर्शन करने में समर्थ होता है जो कि दोनों भ्रूहों के मध्य में स्थित है एवं सच्चिदानन्द स्वरूप, तेजः सम्पन्न, कूट रूप है –

---

[1] *चित्स्वरुपोऽहमिति सदा भावयन्त्सम्यङ्.निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वान्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं परंब्रह्मावलोकयंस्तद्रूपोभवति।। अद्वयतारकोपनिषद् (2)*

[2] *अद्वयतारकोपनिषद् (10)*

[3] *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (1/2/5)*

'भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरुपं तारकं ब्रह्म'।[1]

अतः साधक को इस शरीर में स्थित पञ्चदोष काम, क्रोध, निःश्वास, भय और निद्रा को दूर कर 'संसाररूपी सागर से पार जाने के लिये सूक्ष्म मार्ग का अवलम्बन लेकर सत्त्व आदि गुणों से परे (ऊपर) होकर तारकब्रह्म का दर्शन करना चाहिये और उसी का ध्यान करते रहना चाहिए –

'संसारवार्धि-तरीतुं-सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्'।[2]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक प्रज्ज्वलित दीपक से अन्य दीपकों का संयोग होते ही सभी दीपक तत्काल प्रकाशयुक्त हो जाते हैं और प्रथम दीपक को किसी प्रकार का कष्ट या न्यूनता नहीं होती उसी प्रकार तारकयोग द्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारी को बिना क्षय हुये समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और वह ब्रह्म–साक्षात्कार के योग्य बन जाता है, साथ ही पुनर्जन्म के बन्धनों से सर्वथा के लिये मुक्त हो जाता है। अतएव कहा जा सकता है कि –

'सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयतीति तारणात्तारः'।।[3]

---

[1] *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (1/2/4)*
[2] *मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (1/2/3)*
[3] *अथर्वशिखोपनिषद् (2/1)*

च. राजयोग का अन्य योगों से सम्बन्ध :–

महर्षि पतञ्जलि ने **योगसूत्र** में दुःख (संसार), दुख हेतु (संसार हेतु), हान (मोक्ष) एवं हानोपाय (मोक्षोपाय) का स्वरूप सम्यक् रूपेण स्पष्ट किया गया है। गागर में सागर की भाँति इन्हीं चार व्यूहों में शास्त्र का सार निहित है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट अष्टाङ्ग साधनों में प्रारम्भिक चार अंग स्थूल शरीर का आश्रय बनाकर चित्तवृत्ति का निरोध करते हैं तथा अन्य चार अंग सूक्ष्म शरीर का अवलम्बन लेकर साधक का कल्याण करते हैं। इन आठों अंगों को चार श्रेणी के साधनों मन्त्र, हठ, लय एवं ध्यानयोग में विभक्त कर दिया गया है। इनमें से किसी साधन में किसी अंग पर अधिक ध्यान दिया गया है, तो अन्य किसी साधन में किसी अन्य अंग पर विशेष ध्यान दिया गया है परन्तु सभी योगों में श्रेष्ठ होने के कारण राजयोग योगों का मुकुटमणि कहा जाता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो ध्यान, मंत्र, लय, हठ सभी योग राजयोग में समाहित हैं। चित्त की पूर्ण एकाग्रावस्था अर्थात् समाधि की अवस्था ही राजयोग है। इस अवस्था में साधक अभ्यास से वैराग्य को और वैराग्य से अभ्यास को पुष्ट करता है। राजयोग तक पहुँचे हुए साधक का यह जन्म अन्तिम जन्म होता है, वह साधना के बल पर परमतत्त्व तक पहुँचने में समर्थ होकर पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने में सफल हो जाता है। राजयोग अपने आप में योग है तथा अन्य योगों को स्वयं में समाहित करके अवस्थित है। संक्षेप में अन्य योगों के साथ राजयोग का सम्बन्ध निम्नवत् है –

राजयोग एवं हठयोग का सम्बन्ध :–

राजयोग एवं हठयोग एकदूसरे से घनिष्ठरूपेण जुड़े है इसलिये घेरण्ड संहिता के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि मैं उस आदि ईश्वर को प्रणाम करता हूँ जिसके द्वारा उस हठयोगविद्या का उपदेश दिया गया है, जो विकसित होकर राजयोग के रूप में शोभायमान हो जाती है। उस स्थिति में पहुँचने के इच्छुक व्यक्तियों के लिये हठयोग विद्या सीढ़ी का काम करती है।

'आदीश्वराय प्रणमामि तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।
विराजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव'।।

राजयोग का लक्ष्य है – समस्त बाह्य एवं आन्तरिक प्रवृत्तियों को अनुशासित करके लक्ष्य सिद्धि को प्राप्त करना। कहने का तात्पर्य है कि राजयोग की साधना करने पर साधक का चित्त एकाग्रता की उस उच्चावस्था को प्राप्त कर लेता है, जिसमें मन एवं प्राण आत्मा में लीन हो जाते हैं परन्तु उस स्थिति को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम चित्त की शुद्धि आवश्यक है। शरीर एवं प्राणवायु को नियंत्रित करके चित्त की शुद्धि अर्थात्–चित्त की वृत्तियों को अवरुद्ध करने के लिये राजयोग में जिस शौच को सम्पूर्ण साधना का मुख्याधार माना गया है उसी शौच (बाह्य एवं आभ्यान्तर) को आधार बनाकर अर्वाचीन योगियों ने शौच की व्याख्या के रूप में हठयोग का आविष्कार किया क्योंकि शौच की सिद्धि के लिये जिन अप्राकृतिक क्रियाओं का आश्रय लिया जाता है वह हठयोग के अन्तर्गत आती हैं। अतएव हठयोग को राजयोग का आरम्भिक सोपान माना जाता है। हठयोग–साधना में शौच का विस्तार के साथ निरूपण करते हुए साधक के लिये इसकी महत्ता बताते हुये कहा गया है –

'अशेषताप तप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः'।।[1]

हठयोग साधना में वर्णित शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता का सम्यकरूपेण अभ्यास करने के बाद ही साधक समाधि की उच्चावस्था को प्राप्त करता है। हठयोगी भी यही मानते हैं कि 'हठसाधना का अभ्यास अन्ततः राजयोग में जाकर ही पर्यवसित होता है –

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्य परं पदम्'।।[2]

---

[1] *हठप्रदीपिका (1/10)*
[2] *हठप्रदीपिका (4/3)*

हठप्रदीपिका में 'समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमृतत्व, लयतत्त्व, शून्याशून्या, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा एवं तुर्यादि राजयोग के पर्यायवाचक बताये गये हैं'।[1]

हठयोग की पूर्णता समाधि अर्थात् राजयोग में ही है –

'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते'।[2]

इससे सिद्ध होता है कि राजयोग एवं हठयोग कोई अलग–अलग नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। हठयोग के बिना राजयोग एवं राजयोग के अभाव में हठयोग अपनी अन्तिम चरमावस्था तक नहीं पहुँच सकते –

'हठं बिना राजयोगी राजयोगं बिना हठः।
न सिद्धयति ततो युग्गमनिष्यन्ते समभ्यसेत्'।।

राजयोग का ध्यानयोग से सम्बन्ध :–

राजयोग का ध्यानयोग के साथ वही सम्बन्ध है जो धर्म की सिद्धि तथा धार्मिक क्रियाओं का है। राजयोग की सिद्धि के लिए ध्यान की सिद्धि परमावश्यक है। योग की साधन–विधियों में ध्यान अनिवार्य अंग के रूप में स्थित है। ध्यान के अभाव में किसी भी कार्य की पूर्णता में परिणति असम्भव है। ध्यान के माध्यम से ही साधक श्रेष्ठ तप की सिद्धि करने में समर्थ होता है। ध्यानावस्था में स्थित अथवा साक्षिभाव को प्राप्त व्यक्ति ही सांसारिक क्रिया–कलापों का तटस्थ रूप से अनुशीलन कर सकता है। ध्यान की सिद्धि करने वाला साधक ही परमतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इसलिए ध्यानयोग राजयोग के लिए आरम्भिक सिद्धावस्था का कार्य करता है। ध्यानयोग यद्यपि राजयोग के अन्तर्गत ही समाहित है किन्तु पृथक् रूप से भी अनेक विद्वानों ने इसका महत्त्व निरूपित किया है। ध्यानयोग के अभाव में राजयोग की पूर्ण सिद्धि असम्भव है। इसलिए संक्षेप में कह सकते हैं कि राजयोग एवं ध्यानयोग का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

[1] *हठप्रदीपिका (4/3–4)*
[2] *हठप्रदीपिका (1/2)*

राजयोग का मन्त्रयोग से सम्बन्ध :–

रहस्य का प्रकटन ही मन्त्र की सिद्धि है। जब साधक तप इत्यादि के माध्यम से मन्त्र को सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है तो वह साक्षात् ब्रह्म के दर्शन कर लेता है अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। मन्त्रयोग के अन्तर्गत मन्त्र–सिद्धि के सम्बन्ध में विस्तार के साथ बताया गया है तथा प्रणव एवं गायत्री–मन्त्र इत्यादि की सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् साधक किस अवस्था का अनुभव करने लगता है, यह बताया गया है। मन्त्रयोग के अभ्यास से साधक का चित्त स्थिर हो जाता है जिसमें आत्मसाक्षात्कार सहजता से ही प्राप्त हो जाता है। राजयोग की अवस्था तक पहुँचने के लिए साधक को चाहिए कि वह विविध प्रकार की उपासना–विधियों के माध्यम से मन्त्र–सिद्धि का प्रयास करे। सिद्ध–मंत्र वाला साधक सहज में ही राजयोग के मार्ग पर चलने में समर्थ हो जाता है। मंत्र योग की सिद्धि के लिए राजयोग की साधना–पद्धितियाँ भी उपयोगी कही जा सकती हैं। मन्त्रयोग राजयोग की सिद्धि के लिए भूमिका तैयार करता है इसलिए कह सकते हैं कि राजयोग तथा मन्त्रयोग का सम्बन्ध आपस में अन्योन्याश्रित है।

राजयोग का लययोग से सम्बन्ध :–

लयावस्था तक पहुँचने के लिए साधक को कई सोपान पार करने होते हैं। साधक जब लय की अवस्था में अवस्थित होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। तब उसका योग सिद्धावस्था की अवस्था में पहुँच जाता है। लय को अन्य क्रियाओं की अपेक्षा सरलता तथा सहजता से प्राप्य–प्रक्रिया माना गया है। इसमें चित्त अन्य योग–साधनाओं की अपेक्षा अधिक सरलता से एकाग्र हो जाता है। आरम्भ में स्थूल तत्त्वों पर मन को एकाग्र किया जाता है तथा बाद में सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो लययोग राजयोग तक पहुँचने के मार्ग को सुगम बनाने का प्रयास करता है। जहाँ राजयोग की सिद्धि के लिए साधक को योग्य होना परम आवश्यक है, वहीं लययोग की अवस्था में कुछ समय के लिए एक सामान्य साधक भी अपने

आपको पहुँचा सकता है। साधारण जिज्ञासुओं के लिए लययोग एक सुलभ साधन है, जिसके माध्यम से साधक अपने आपको अन्तःकरण सिद्धि की अवस्था में पहुँचाने योग्य बना सकता है। अन्य योगों की भाँति लययोग भी राजयोग के कठिन तथा जटिल मार्गों को साधकों के लिए सरल एवं सहज बनाने का प्रयास करता है। अतः राजयोग की सिद्ध–भूमि तैयार करने में लययोग अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि राजयोग अन्य सभी योगों द्वारा तैयार भूमि पर अवस्थित एक प्रासाद है जिसकी प्रत्येक ईंट किसी न किसी योग की मिट्टी से निर्मित है।

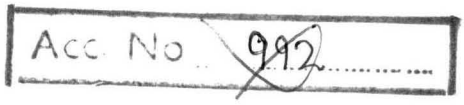

चैतन्य योग दर्शन

योग साधना एवं उपचार

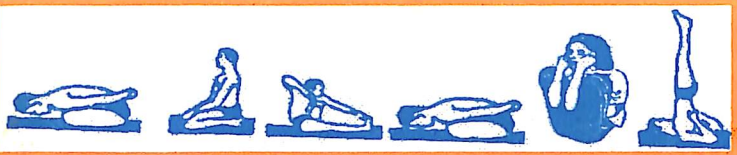

Chinar Offset Printers, Purani Mandi, Jmu#2541548

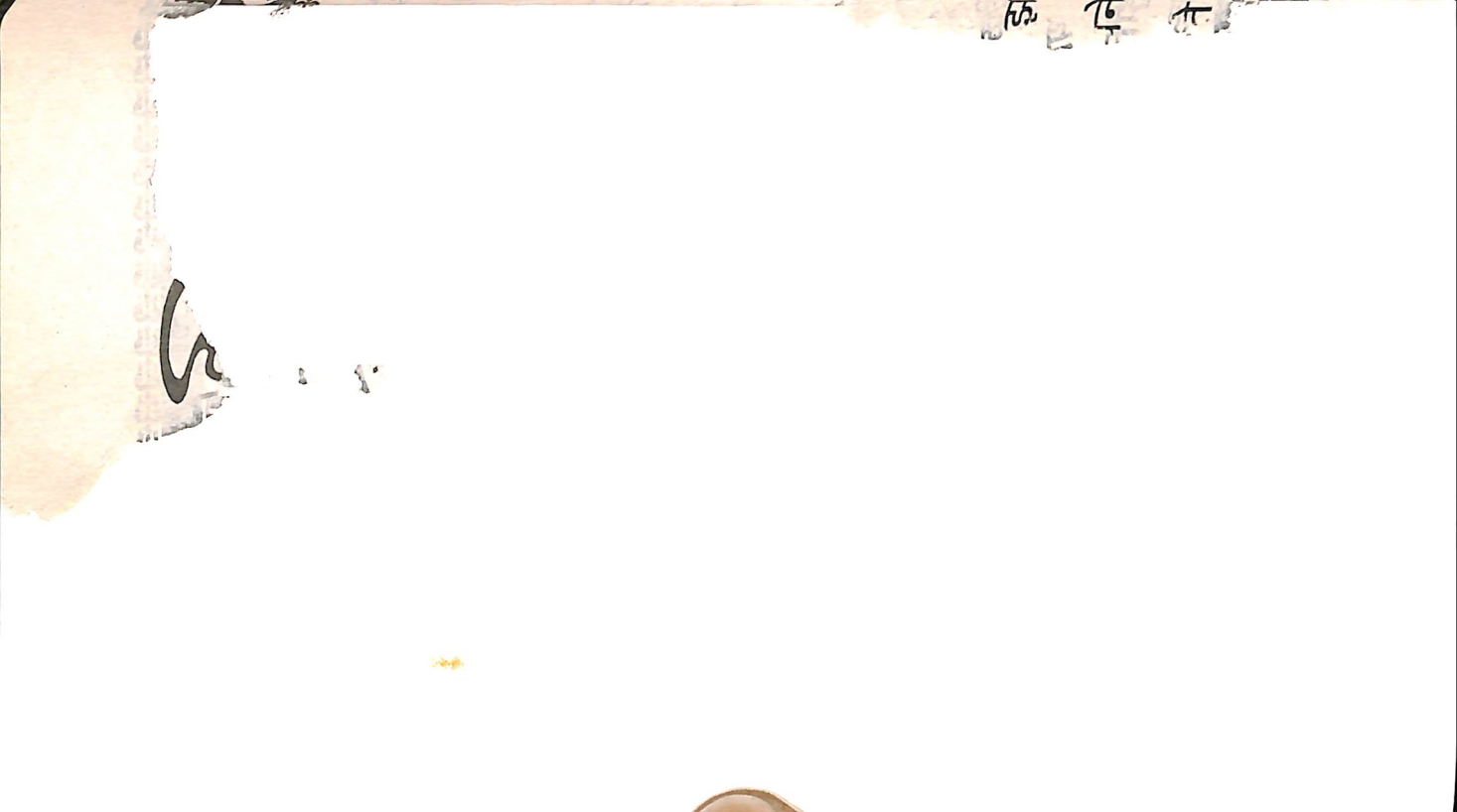

तन्त्र योग दर्शन

म गुप्ता
ोगाचार्य
लेंग, सैन्टर
ी नगर, जम्मू

सहसम्पादक :
मिस मोनिका गुप्ता
M.SC. (CHEMISTRY)
D.S.T. QUALIFIED

मुल्य 25रू

य योग संस्थान ३१९, शास्त्री नगर, जम्मू

यदि जीवन ही जीना है,
यदि रसमय जीवन जीना है,
यदि जीवन का स्वाद लेते
हुए जीवन को जीना है
तो योग रहस्य को जानो

मगर यदि यह योग रहस्य
हमें ठीक से समझ आ जाय
तो जीवन स्वर्ग समान है।

योग रहस्य को ना समझ
सकने के कारण हम अपने
को सीमित नही रख सकते।

''प्राक्कथन''

ईश्वर मिलन को योग कहते हैं योग के उच्च स्तर तक पंहुचने के लिये कुछ सीढ़ियां हैं। स्वस्थ शरीर। पवित्र वुद्धि। सद्कर्म। गायत्री पुरश्चरण। सात्विक आहार।

स्वस्थ शरीर योगासनों से होता है। सद्कर्म और गायत्री पुरश्चरण निर्मल वुद्धि बनती है। ज्ञान का उदय होता है। सात्विक आहार से शरीर के धातु निर्मल और स्वच्छ बनते हैं। वातपित कफ समअवस्था में आते हैं चित प्रसन्न और उल्लासित रहता है। ईश्वर का स्वरूप सच्चिदानन्द है । और योगी सदमार्ग पर चलकर उस के चरणों में जा बैठता है दूसरे शब्दो में हम यों कहें गे योगी का पूर्ण रूप से ईश्वर के साथ योग हो जाता है धन्य धन्य हो जाता है।

श्री विक्रम जी ने इस पुस्तक में प्रथम सीढ़ी को अच्छा निभाया है। यो न और उन के गुणों का विवेचन अच्छा किया है। आज के युवक क पथ प्रदर्शन चाहिए ये जिस की अभिव्यक्ति इस पुस्तक में सरलता पूर्वक निभाई है। अशा है यह पुस्तक समाज के लिये आदर्श हो कर उभरे गी।

वैद्य यज्ञवल्क्य शर्मा
योगाचार्य

ॐ

ॐ नमः शिवाय

प्रेरणा एवं अनुभव

व्यक्ति के संस्कार परिवेश एवं शिक्षा के आधार पर उस के व्यक्तित्व का विकास होता है। भारत की प्राण इस सांस्कृतिक चितनधारा पर मेरा परमं विश्वास है और भौतिक दृष्टिकोण को प्रधानता देने वाली आधुनिक शिक्षा दीक्षा में पल बढ़कर भी योग एवं प्राच्य विद्या की ओर रूचि का विकास कुछ तो मेरे पूर्व जन्म के संस्कारों और कुछ प्रातः स्मरणीय पूज्य "गुरू श्री कृष्ण ज्योतिषी जी" जो (श्री जम्मू महाराज जी के नाम से जाने जाते हैं) के सानिध्य एवं प्ररेणा का प्रतिफल है।

1966 में अभी मैं छोटा ही था कि पूज्य गुरू जी से मेरा सर्म्पक हुआ और उन की कृपा से योगाभ्यास में मेरी रूचि बढ़ने लगी। जीवन एवं जगत के संबन्ध में अनेक प्रश्न उठने लगे और आत्मिक उन्न[illegible] की सही कौन सी दिशा है। इस जिज्ञासा ने योग साहित्य के अध्य[illegible] की ओर उन्मुख कर दिया।

एक बात सच्चे मन और स्पष्टता से कह दूं कि योग जैसे महान विषय पर कुछ कहना मैं समझता हूँ मेरे बाल बुद्धि का ही प्रयास है पर प्रयत्न करना मनुष्य का धर्म है और बाल प्रयत्न को सुधि लोग भूलों भरा समझकर भी अपनाएंगे – मेरा उत्साह बढ़ाएंगे। झूठ मूठ ही सही – पीठ ठोक कर आगे कुछ अच्छा कर दिखाने की हिम्मत देंगे – महान ऋषियों और मनिषियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का संकल्प किया है। आशा है कि सुधि साधक मेरी भूलों को क्षमा करेंगे और सुझाव भी देंगे – क्योंकि मैं अपनी अटपटी भाषा में उस योग विद्या की बात कर रहा हुँ जिसका न आदि है न अंत। अपनी

व्यस्तताओं के कारण जब "श्री जम्मू महाराज जी" का जम्मू में रहना बहुत कम हो गया और मेरा उन से संर्पक लगभग टूट गया तो 1985 में मैं संयोगवश या प्रभु कृपा से *डा0 हरि कृष्ण जी* के संर्पक में आया। स्वर्गीय डा0 साहब *शिव शक्ति धाम ग्रैटर कैलाश के अधिष्ठाता थे* और इच्छुकों को राजेन्द्र पार्क नहर रोड पर योगाभ्यास करवाते थे। उन दिनों मेरा स्वास्थय ठीक नहीं रहता था। वह होंम्योपेथी डाक्टर थे । उन के पास दवाई लेने गया तो उन्होंने भी योगाभ्यास की सलाह दी और अनुकूल योगासन करने में मेरी सहायता की। आज उन योगासनों की निरंतर अभ्यास से मैं पूर्ण रूपेण स्वस्थ हूं।

स्वाध्याय, योगासनों के निरंतर अभ्यास एवं अपने चिंतन को लगातार इसी विषय पर केन्द्रित करते रहने के फलस्वरूप मुझे लगने लगा की जिस मार्ग पर चल कर मुझे शारीरिक स्वास्थय और मानसिक संतोष हुआ है उसी मार्ग पर चलकर अन्य अस्वस्थ एवं आशांत – लोगों को भी लाभ हो – उस का कोई उपाय करना चाहिए।

प्रभु की अनंत कृपा है कि "चैतन्य योग केन्द्र" के संचालक आदरणिय वैद्य "श्री यज्ञवल्क्य जी" से मेरा परिचय हुआ। वह रणवीरेश्वर मन्दिर के पास महाजन हाल जम्मू में कई वर्षो से योग एवं अध्यात्म की शिक्षा देते हुए कई असाध्य रोगियों एवं आर्त जिज्ञासुओं को स्वास्थय और आत्मिक आनंद एवं सुख शान्ति का प्रसाद वांट रहे थे उन्हीं के निर्देशन में अब यह प्रयत्न किया अगर कुछ लोगों को भी इस का लाभ हो जाए तो जीवन सफल मानूंगा इस समय मैं शास्त्री नगर राम मन्दिर के हाल जम्मू में योग का केन्द्र गुरू कृपा से चला रहा हुँ ।

प्रथम तो मेरा अनुभव है कि हम लोग स्वंय ही अपनी असावधानियों के कारण रोगों को न्योता देते हैं वह स्वयं नहीं आती। खान, पान, रहन–सहन जीवन व्यवहार में असंतुलन एवं अनियमितताएं रोगों का मुख्य उद्गम है। प्रभु कृपा से अगर हम अपने दैनिक व्यवहार– खान

पान और रहन सहन को संतुलित कर के योगाभ्यास व योगासनों द्वारा जीवन को गुरू के मार्ग दर्शन में अनुशासित कर लिया जाए जो रोग मुक्त सुखी जीवन बिता सकते है।

योग क्या है ? संत महात्माओं एवं साधकों ने योग को भिन्न भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है।

कल्याण में कहा गया है कि योग शब्द "युज" घातु से कारण और भाववाच्य में धाज्य प्रत्यय लगाने से बनता है वेदान्त के अनुसार जीव और आत्मा का संयोग ही योग है। प्रत्यभिज्ञान दर्शन के अनुसार आत्म–तत्व की शिव तत्व मे स्थिति ही योग है और इसी अर्थ में आगमवादी शिव एवं शक्ति के अभेद– ज्ञान को योग कहते हैं। पर पुराण वादियों के मत में पुराण पुरूष का ज्ञान योग कहलाता है। ए–पी सुपर स्पोर्टस सिरीज 76 "योग शिक्षा के अनुसार हृदय में प्राण वायु एवं गुदा में अपान वायु को निश्चित क्रियाओं से साध कर दोनों के संयोग को सहस्त्रार चक्र में प्रतिष्ठित करना ही योग है जिस से आत्मा का शिव तत्व एवं सूर्य का चन्द्र तत्व से मिलन हो जाता है। इस प्रकार योग वह क्रिया है जिस से आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है।

विश्वविश्वत महर्षि "पतांजली" ने योगशास्त्र में चितवृति निरोध को योग कहा है योग्श्च चितवृति निरोधः अर्थात मनद्वारा संचलित इन्द्रियों के कार्य कलापों का नियंत्रण ही योग है।

"भगवान वेदब्यास" जी ने समाधी को योग माना है तो गीता में भगवान "श्री कृष्ण जी" ने "योगा कर्मसु" कौशलम्" कह कर कार्य करने की प्रवीनता अथवा कौशल को ही योग का नाम दिया है। आधुनिक युग में भी डा0 "सम्पूर्णानन्द" जी ने योग को अध्यात्मिक कामधेनु कह कर जीवन के लिए योग के महत्व को सर्वोपरि माना है।

ऊँ शान्ति शान्ति शान्ति

डा० विक्रम गुप्ता
योगाचार्य

अष्टांग योग

मानव जीवन का लक्ष्य संसारिक दुखों से मुक्त हो कर ऐसे सुख की प्राप्ति है जो सदा रहने वाला हो। संसार की विषय वासनाओं में फंस कर प्राणी क्लेश दुख का अनुभव करता है। मनुष्य इन से छुटकारा हासिल करने के लिए कई प्रकार के साधनों को अपना कर आनन्द तथा परम तत्व की प्राप्ति का प्रयास करता है। कर्म उपासना यानि कर्म योग–ज्ञान योग तथा ध्यान योग आदि विभिन्न पद्धतियां इसी ध्यये सिद्धि की साधनाएं हैं।

'योग' शब्द "युजु" घातु से बना है। इस का अर्थ है मिलाप जा जोड़ना। आत्मा परमात्मा के मिलन की अनुभूति हि "योग" है। योग मार्ग द्वारा समाधि अवस्था में पहुंचने की कोशिश की जाती है। यह अभ्यास बैराग्य तथा प्रयास द्वारा चित्तवृतियों की एकाग्रता से सम्भव है। योगीशचित्त वृति निरोधः चित की वृतियों का बाहरी संसार के विषयों मे ना भटकना और शान्त हो जाना ही निरोध है।

श्री मदभगवदगीता के अनुसार योगानुष्ठान में चित्त यहां रम जाता है – वहां परमात्मा को देख कर आत्मा की संतुष्टी होती हे। इस से मन डोलता यानि डिगता नही है । संसार की कोई वस्तु उसे आकृषित नहीं कर सकती। मन की यह स्थिति योग है।

शास्त्रों के अनुसार चित्त की पांच आवस्थाएं बताई गई हैं।

1. मूढ अवस्था :– काम–क्रोध–मोह–लोभ से मूढ़ अवस्था उत्पन्न होती है। निद्रा–तन्दा–भय–आलस्य–दीनता आदि इस के लक्षण है।
2. क्षिप्त अवस्था :– रजोगुण प्रधान होने से क्षिप्त अवस्था उत्पन्न होती है–धर्म–अधर्म–राग विराग–ज्ञान विज्ञान–ऐश्वर्य– अनेश्वर्य की प्रवृति है।

3. निक्षिप्त अवस्था :– कर्म योग के कारण सत्वगुण की प्रधानता होने से धर्म–ज्ञान–एश्वर्य की प्रवति हो कर सुख– प्रसन्नता– क्षमा–श्रृद्धा–धैर्य–चेतना दया आदि गुणों से चित्त की निक्षिप्त अवस्था उत्पन्न होती है।

4. एकाग्र अवस्था :– सतोगुण की प्रधानता होने से चित्त में एकाग्रत आती है। इस स्थिति में परमाणु से महातत्व तक सभी विषयों क साक्षांत्कार होने लगता है।

5. निरूद अवस्था :– यह विवेक प्राप्ति की अवस्था है निरूद अवस्था में चित्त और पुरूष के स्वरूप के पूर्ण ज्ञान के साथ वैराग्य होता है। चित्त आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है। योग में जीवन के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों की महत्त विद्यमान है–किन्तु क्रियात्मक पक्ष पर अधिक जोर है। हर एक योगाभ्यासी को सत्यता अनुभव योगाभ्यास समय स्वंय होता है मनुष्य का संसार में दुखी रहने का कारण माया के साथ समब है–लेकिन दूसरे साथी परमात्मा की ओर उस का सम्बन्ध ध्य नहीं है। अगर मनुष्य का सम्बन्ध भगवान से बन जाए तो इस तमाम दुखो का नाश हो जाए।

योग में शरीर की साधना के साथ साथ मोक्ष की साध अनवरत रूप से चलती रहती है।

हमारे ऋषि मुनियों ने योग के द्वारा शरीर–मन और प्राण की शुद्धि त परमात्मा की प्राप्ति के लिए आठ प्रकार के साधन बताए हैं।

योगाभ्यास करने के लिए दीक्षा आवश्य ग्रहण करनी चाहिए दीक्षा प्राप्त करने वाला अपनी ब्रह्ममूर्ति की उपासना से सिद्धि प्र करने पर योग मार्ग में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त करता है।

योगाभ्यास का उद्धेश्य शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है।

तन्त्र योग (कल्याण योगतात्वाआंक) पृष्ठ 216 श्री अटल विहारी धोष जी के अनुसार :– इस के लिए सब से प्रथम कर्तव्य काम–क्रोध–लोभ–मोह–मद और मत्सर इन षटरिपुयों, का नाश करना।

1. स्त्री भोगादि की जो अभिलाषा है "वही काम है"
2. प्राणियों को पीढ़ा पहुंचाने का नाम क्रोध है।
3. धनादि की अतिशय अकांक्षा का नाम लोभ है।
4. मोह–तत्व ज्ञान का अभाव ही मोह है।

मद :– गर्व किसी भी प्रकार का यानि अभिमान को मद कहते हैं।

मत्सर :– दूसरे के भाग्य को देखकर दुखी होना, उसे "मत्सर" कहते हैं। यही शत्रु है क्योंकि आत्मा स्वरूप का विचार करने में बाधक है।

परम वन्धनीय अधिष्ठाता जी प्रातः स्मृणिय गुरू जी "डा0 हरि कृष्ण शर्मा जी" के अनुसार अष्टांग योगः–

तन–मन–वुद्धि और आत्मा की शक्तियों को केन्द्रित कर इच्छित ध्यये प्रप्ति ही वास्तव में अष्टांग योग का मूल उद्देश्य है।

देश–काल और पात्र से ध्यये परिवर्तन शील है। तो भी मानव मात्र का सभी देशों में सर्व कालों सर्वमानय ध्यये एक ही रहा है–दुख से निवृति और सुख की प्राप्तिं

अष्टांग योग साधना द्वारा :– मनुष्य तन का स्वास्थ्य मन की प्रसन्नता – वुद्धि की प्रखरता प्राप्त कर सभी प्रकार के दुखों से सदा के लिए छुटकारा पाना चाहता है। अपने इच्छित ध्यये परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है अतः नित्य–नियमत रूप से अष्टांग योग का अभ्यास करना चाहिए। श्री मदभागवद्गीता के अनुसार :–

"अथ चेत्वमिमं धम्यं संग्राम न करिष्यसि।"
ततः स्वधर्म कीर्ति चहित्वा पापम वाप्स्यसि
अध्याय २२ श्लोक ३३

अर्थ :– अब इस धर्म युद्ध को तू न करेगा तो निज धर्म और यश को खो कर तब पाप ही पाप करेगा।

मोह–मद–काम–क्रोध–लोभ मत्सर अन्त करने के लिए अष्टांग योग में यम–नियम– आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार–धारणा–ध्यान और समधि का अभ्यास बहुत जरूरी है।

यम :– यम–पतांजली ऋषि जी ने योग शास्त्र में यम पांच वर्णन किए हैं यम शब्द का अर्थ है उपरति अर्थात काम आदि से निवृति महार्षी पतांजली जी के उनुसार चित्त को धर्म मे स्थित रखने को यम कहते हैं।

1. अंहिसा :– किसी भी जीव को मन–वचन अथवा कर्म से हानि, चोट न पहुँचाना।
2. सत्य :– मन वचन कर्म से सच्चा होना– तथा झूठ न बोलना।
3. अस्तेय :– जो वस्तु आप की अपनी नहीं है–उस की न तो इच्छा करना तथा न उसे ग्रहण करना तथा चोरी न करना।
4. ब्रह्मचर्य :– सत तथा संयम से रहना–वीर्य की रक्षा करना। वचन तथा कर्म से किसी भी अन्य व्यक्ति को वासनामय दृष्टि से न देखना।
5. अपरिग्रह :– अनावश्यक वस्तुओं को इकट्ठा न करना–धन संग्रह की भावना का त्याग करना।

नियम

पातजंलि ऋृषि जी ने पाचं नियमो का वर्णन किया है।

1. शौच :– शब्द का अर्थ जिस के द्वारा चित्त निर्मल हो। उस पवित्रता का नाम शौच है।

2. सन्तोष :– तृप्ति अर्थात जो कुछ मिले उस में प्रसन्न रहना। इष्टतर वस्तु की भी अभिलाषा न करना। हर हालत में खुश रहना। उसे सन्तोष कहते हैं।
3. तप :– स्वेच्छा से गर्मी और सर्दी तथा भूख प्यास कष्ट आदि को सहन करना। व्रतों के आचरण का नाम तप है।
4. स्वाध्याय :– धर्म–ग्रन्थों का अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं ।
5. ईश्वर प्रण्धिान :– ईश्वर अस्तित्व में अटूट विश्वास रखना – उस की प्राप्ति का भरसक प्रयत्न करना अपने आप को ईश्वर की इच्छा पर छोड छोड़ देना आदि।

बहुत से ऋषि मुनियों ने योग के आठ अंग बताए हैं।

1. यम :– इस में अनुशासन के वह साधन सम्मिलित हैं जो मनुष्य के मन से सम्बन्धित हैं यम का अभ्यास अंहिसा–सत्य–चोरी न करना, पवित्रता तथा त्याग सिखाता है।
2. नियम :– इस मे वह ढंग सम्मिलित हैं जिन का सम्बन्ध शारीरिक अनुशासन से है। शरीर तथा मन की शुद्धि–सन्तोष–दृढ़ता तथा ईश्वर की पूजा। शरीर की सफाई करने के लिए नेति–धोति वस्ति का प्रयोग किया जाता है।
3. आसन :– पतांजली ऋषि जी के अनुसार आसन शब्द का अर्थ है मनुष्य के शरीर को ज्यादा से ज्यादा समय किसी विशेष स्थिति में रखना, उदाहरण्यता रीढ़ की हडड़ी को बिल्कुल सीधा रख कर टांगों को किसी विशेष दिशा में रख कर बैठने को पदमासन कहते हैं। डा० सतपाल जी तथा ढोलन दास जी के अनुसार उच्य प्रकार की शक्ति प्राप्त होने तक नित्य प्रति शारीरिक तथा मानसिक आसन करने पड़ते हैं। योगियों के इस प्रकार के आसन–प्राणायाम आदि का वर्णन किया जाता है जिनं के करने

से शरीर एवं मन में संयम आता है "स्थिरम सुखमात्नम्" (योसु) शरीर स्थिर रहे और मन को सुख प्राप्त हों–इस प्रकार की स्थिति आसन है।

4. प्राणायाम :– पतांजली महार्षि जी के अनुसार श्वास प्रश्वासयो गतिविच्छेदः प्राणयामः यानि प्राण की स्वाभविक गति श्वास–प्रश्वास के रोकने को प्राणायाम कहते हैं।
प्राणायाम से पाप संस्कार आदि दोष एवं इन्द्रियों की विषयाशक्ति निवृति होने से ज्ञान का प्रकाश होता है।
"ततः क्षियते, प्रकाशावरणम" (योग दर्शन 2/52) ज्ञान के ढकने वालअज्ञान का नाश होता है। प्राणयाम के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी प्रभावित होती है और नाड़ी चक्रों में चेतना आती है। अनेक प्रकार की शक्तियां विकासित होती हैं। जिन्हे सिद्धियां भी कहते है।

5. प्रत्याहार :– महार्षि पतांजली जी के अनुसार मन तथा इन्द्रियों को अपने बाहरी विषयों से हटाकर अर्न्तमुख करने की अवस्था को प्रत्याहार कहते है।

6. धारणा :– मन को किसी इच्छित विषय में लगाना। एक ओर ध्यान लगाने से मानव में एक महान शक्ति उत्पन्न होती हैं। महाभारत के मोक्ष पर्व में कहा है कि प्रमाद में की हुई धारणा साधक को शुभ गति नहीं देती। कारण कि समुद्र में पतवार रहित नौका यात्रियों को पार नही ले जा सकती। उसी प्रकार धारण रूपी नाव चित्त पत्तवार के बिना संसार सागर को पार नहीं कर सकती।

7. ध्यान :– यह अवस्था धारण से ऊंची है। इस से मनुष्य संसारिक भटकनों से ऊपर उठ कर अपने आप में अर्न्तध्यान हो

जाता है।

8. समाधि :– विक्षेप हटा कर चित्त जब ध्यान कार को ध्यान छोड़ कर ध्यये वस्तु के आकार को ग्रहण करता है तब उसे समाधि कहते हैं।

योगासन

योगासन २ प्रकार के होते हैं।

1. प्रथम श्रेणी के आसनों को ध्यानासन कहते हैं।
2. द्वितिय श्रेणी के आसनों को स्वास्थयासन कहते हैं। जिस आसन में बैठकर मन को स्थिर करने का प्रयास किया जाए उसे ध्यानासन कहते हैं।

प्रसिद्ध विद्ववान् *महार्षि पतांजली जी* ने योग शास्त्र में 5 ध्यानासन बताएं है। जैसे :–

1. पदमासन्
2. सिद्धासन्
3. भद्रासन्
4. स्वासितक आसन
5. वीरासन इत्यिादी।

जो आसन व्यायाम निमित किए जाते हैं–उन को स्वास्थयासन कहते हैं।

शरीर और मन को निरोग रखने के लिए उन्हे व्यायाम द्वारा और सदाचार से संगठित रखना चाहिए।

योग अभ्यासी की क्रियांए जितनी शरीर को कसती हैं उस सें अधिक मन की एकाग्रता मे से पैदा होने वाली मेघाशक्ति, धारणा शक्ति आदि वैद्विक शक्तियों का भी विकास करती है। आसनों में

स्थिरता प्राप्त होने और श्वास नियन्त्रन होने से आयु लम्वी होती है। शरीर के हरअंग में लचीलापन आता है–जो स्वास्थय रहने के बहुत उपयोगी है। शरीर का हर अंग 35 वर्ष से 60 वर्ष की अवस्था में अपनी ताकतखो कर कडा हो जाता है। इस काल में बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। बड़ी उम्र में Heart disease (ह्रदय रोग) Blood pressure (रक्त चाप) और Diabities (मधुमेह) जैसै कई प्रकार के रोगों से बचने के लिए आसन बहुत ही उपयोगी हैं। जिसे आनंद अनुभव करना है उसे प्रयत्न पूवर्क यह समय न खो कर पूर्ण विकासित–यौवन की स्थिति को सम्भालने –शरीर एवं मन के मूल स्वर को सुरक्षित रखने के लिए नियम अनुसार योगासन करने चाहिए। मानव के कार्य करने से जो विकार पैदा होते हैं और भोजन के पचने के बाद जो शरीर में मल इकट्ठा होता है– उसे शरीर चार मार्गो से बाहर निकालता है।

1. नासिका से श्वास
2. गुदा से मल द्वारा
3. लिंग से मूत्र द्वारा
4. चर्म से मैल तथा पसीने द्वारा। यह द्रव्य अगर शरीर में ही रह जाए तो विकार पैदा होते हैं। रोगों का एक मुख्य कारण है– विकार को तुरन्त बाहर निकाल दें तो हम कभी रोगी न हों। योगासन पद्धति इन चारों मार्गो को खुला रखती है। वही इन सभी अंगों को पुष्ट रखती है। ताकि शरीर में विकार न रूकें।

योगासन के अभ्यास में पांच क्रियाएं अति आवश्यक हैं।

1. शरीर को मोड़ना।
2. उस स्थिति को शक्ति अनुसार थोड़ी देर बनाए रखना।
3. श्वास की अवस्था (बाहर निकालना–अन्दर भरना, बाहर रोकना)

तथा अन्दर रोकना)

ध्यान (शरीर के कौन से भाग पर ध्यान लगाना।)

ध्यान के केन्द्रों पर इष्टमन्त्र जाप।

ासन करते समय इन पांच बातों का व्यवहार करने से आसन में सिद्धता तो आती है अपितु यही से प्राणायाम एवं ध्यान की क्रिया प्रारम्भ ो जाती है।

से हम कभी श्वास बाहर निकाल कर कभी अन्दर भर कर आसन की वस्था में रोकते हैं। वह भी एक प्राणायाम हैं।

श्चिमोतासन :– इस आसन में श्वास बाहर निकाल कर रूकने के थ साथ रीढ़ पर–जिस को मणिपुर चक्र कहते हैं ध्यान लगाया जाता । और भुजंग आसन में श्वास भर कर रूकते हुए कंठ के पीछे रीढ़ सें विशुद्धि चक्र कहते हैं – पर ध्यान ग्रस्त होते हैं। इस विधि का रन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक एवं विधि–अनुसार–अभ्यास प्राणों के थर करने में अति सहायक होता है। इस के फलस्वरूप मन स्थिर वस्था में आने की स्थिति ग्रहण करता है।

योगासनों का महत्व

ार्षि पतांज्जली जी के अनुसार।

गासन मानव के अन्दर के शरीर को स्वस्थ रखने की क्रियाएं हैं। उसे प देने के ऊपर मांस है। जो शरीर बाहर से दिखाई देता है वह केवल स्थि पिंजर है। शरीर रचना के विषय में आप को थेड़ी सी जानकारी गई हैं। जब तक हमारा अन्दर का शरीर स्वस्थ न होगा– उस का र्य ठीक न होगा–हम स्वस्थ नहीं रह सकते। हमारे हृदय को 24 टे काम करना पड़ता है, एक क्षण भी आराम नहीं मिलता। आराम ो मिल सकता है जब रक्त ले जाने वाले और विकार सहित वापस ने वाले मार्ग बिल्कुल साफ हों । हमारे फेफड़े ज्यादा से ज्यादा वायु

ग्रहण कर रक्त को शुद्ध कर सकें।
भोजन के पचाने के लिए अमाशय–यकृत–क्लोम तथा अन्य ग्रन्थियां अपने पूरे रस दे ताकि पाचन क्रिया ठीक से हो।
रक्त–मांस–मज्जा–हड्डियां–वीर्य–शरीर की आवश्यकता अनुसार बनें, हमारा नाड़ी संस्थान पुष्ट हो ताकि शरीर के हर कार्य का संचालन ठीक ढंग से हो। विकार अन्दर रूकने नहीं पाए–हमारी पकड़ बढ़ जाए। शरीर के अन्दर होने वाले हर कार्य की सूचना हमें तुरन्त मिल जाए। शरीर सब कुछ बताता है– हमें भूख लगती है–खाते हैं, प्यास लगती है, पानी पीते है–थकते हैं तो आराम करते हैं। शरीर जब भोजन ग्रहण नहीं करता या करना चाहता है तो वमन होता है। उस की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है और उस को सुन कर क्रियाशील करना है। जब हम उस की आर ध्यान नहीं देते है तब विकार रोग का रूप धारण कर लेता है हम दवाइयों की ओर दौड़ते हैं और दवाइयां जानकारी देने वाले नाड़ी सूत्रों को सुला देती हैं। जिस से रोग का प्रभाव दब जाता है और हम मान लेते है कि हम स्वस्थ हो गए हैं।

योगासनों का विशेष प्रभाव स्नायु मण्डल पर पड़ता हैं । स्नायु मण्डल जिस का कन्ट्रोल मस्तिष्क द्वारा होता है। जितना शिथिल व शक्ति शार्ली होगा–उतना ही आप का मन स्वस्थ होगा। आप की कार्य क्षमता बढ़ जाएगी। गृहस्थी का जीवन समस्याओं से भरा है।

जीवन एक चुनौती है – इस का मुकावला करना हमारा धर्म हे, कत्तव्य है–इस कत्तव्य का पालन हम तभी कर सकते है जब हम शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ हों।
इन समस्याओं का हल शान्त मन तथा स्वस्थ शरीर से ही हो सकता है। जब हमारा खून शान्त होगा–शरीर स्वस्थ होगा तो हम अपनी समस्याओं का हल निडरता से निकाल पाएंगे। हमें भय नहीं सताएगा। निडरता आ जाएगी

व कभी कोई काम बिगड़ जाएगा–किसी भी काम का परिणाम ठीक
हीं निकलेगा तो भी आप शान्त रहेंगे और आप को सन्तोष रहेगा कि
प्रयां पूरा प्रयास किया था। अपने पर आत्म विश्वास रहेगा। जब आत्म
श्वास, सन्तोष और प्रसन्नता बनी रहेगी तब वह आनन्द का रूप ले
नारा गा और यही योग है। स्वास्थय विशेषज्ञयो का कहना है कि व्यायाम
से करने से शरीर की मांसपेशियां–नसों तथा अन्य भागों में एक प्रकार
के मैल–खड़िया मिट्टी सी जम जाती है जिस में (Lime Phosphate)
सब इम फास्फेट, मैग्नेशिया आदि पदार्थ होते हैं। मनुष्य के लिए यह मैल
पीतेष तुल्य होती है। आयु के अनुपात से यह मैल बढ़ती है और शरीर
या यन्त्रों को बिगाड़ देती है। इस मैल के जमने से नसें व रक्त
कीलिकाएं मोटी हो कर सिकुड़ जाती हैं और भ्रम चित्ता चिड़चिड़ापन
उसदि विकार उतपन्न हो जाते है। व्यायाम द्वारा ही इस मल को साफ
है व कर ही शारीरिक और मानसिक स्वस्थ तथा लम्बी आयु प्राप्त कर
ाड़ कते हैं। कई व्यक्ति प्रश्न करते हैं व्यायाम क्यों नही, योग क्यों ?
हम अन्य व्यायाम मुख्यता मांसपेशियों पर प्रभाव डालते हैं।
जिस से बाहरी शरीर ही बलिष्ठ दिखाई देता है। अन्दर काम करने
डल वाले यन्त्रों पर इतना प्रभाव नही पढ़ता जिस से व्यक्ति अधिक देर
ार्ल तक स्वस्थ नहीं रह पाता। जब कि योगासनों से व्यक्ति की आयु
ब लम्बी होती है। विकारों को शरीर से बाहर करने की शक्ति
प्राप्त होती है। शरीर के (cell) बनते ज्यादा, टूटते कम हैं।
त्तव अन्य व्यायामों के लिए स्थान व साधनों की आवश्यकता पड़ती है।
तथ खेल साथियों के बिना खेल खेले नहीं जा सकते लेकिन योगासन
अकेले ही दरी तथा चादर बिछा कर किए जा सकते हैं।
ज दूसरे व्यायामों का प्रभाव मन और इन्द्रियों पर बहुत कम पड़ता
ह है–जब की योगासनों से मानसिक शक्ति बढ़ती है और इन्द्रियों को
गी

वश में करने की शक्ति बढ़ती है।

4. दूसरे व्यायामों में अधिक खुराक की आवश्यकता पड़ती है जिस लिए खर्च अधिक करना पड़ता है जब कि योगासनों में बहुत भोजन की जरूरत पड़ती हैं।
5. योगासनों से शरीर में वह शक्ति पैदा होती है जिस से रोग नाश है। किसी भी बाहरी द्रव्य को अन्दर रूकने नहीं देता – तुरन्त ब निकाल देता है और आप रोग मुक्त हो जाते हैं।
6. योगासनों से शरीर में लचक आती है। शरीर लम्बी आयु तक फुर्त रहता है और काम की शक्ति बनी रहती है। शरीर में रक्त संच ठीक रहता है और व्यायामों से शरीर में कढ़ापन आ जाता है–श कठोर हो जाता है और बुढ़ापा जल्दी आ जाता है।
7. जिस प्रकार हम नाली को झाड़ू लगा कर पानी फैंक कर साफ क है ताकि इस में कोई रूकावट पैदा न हो – इसी प्रकार हम रक्त नलिकाओं व कोशिकाओं को साफ करते हैं अलग अलग आस द्वारा ताकि कोई रूकावट पैदा न हो, और शरीर रोग मुक्त हो। सिर्फ योगासनों से सम्भव है, अन्य व्यायामों से नहीं।
8. फेफड़ों के द्वारा हमारे रक्त की शुद्धि होती है। योगासनों द्वारा त प्राणायाम द्वारा हम अपने फेफड़ो के फैलने तथा सुकड़ने की शक्ति को बढ़ाते हैं। जिस से अधिक से अधिक ओषजनक (ताजी हव फेफड़ो में भर सके और रक्त की शुद्धि कर सकें, दूसरे व्यायामों ऐसा नहीं।
9. वर्तमान समय गल्त रहन सहन व अप्राकृतिक भोजन के कारण पाचन संस्थान के यन्त्र ठीक कार्य नहीं करते। उन्हे ठीक रखने योगासन सहायक सिद्ध होते हैं।
10. मेरूदण्ड पर हमारा योवन निर्भर करता है। सारा रक्त संचार व ना

संचालन–इसी से हो कर शरीर में फैलता है–जितनी लचक रीढ़ की हडड़ी मे रहेगी शरीर उतना हि स्वस्थ रहेगा। आयु लम्बी होगी– मानसिक संतुलन बना रहेगा। ऐसा सिर्फ योगासनों से सम्भव है।

11. अन्य व्यायामों से मनुष्य के चरित्र पर कौई खास प्रभाव नहीं पड़ता योगासन स्वास्थय के साथ साथ चरित्रवान भी बनाते हैं। योगिक क्रियाओं से मानसिक तथा नैतिक शक्ति का विकास होता है। सत्वगुण की प्रधानता होती है और सत्य गुणों से मानिसक शक्ति का विकास होता है। यह सब कुछ योगासनों एवं प्राणेायामों से प्राप्त होता है।
12. शरीर के रोगों को दूर करने में प्राणायाम और परकर्म रामवाण का काम करते हैं। जब बाहरी द्रव्य बढ़ जाते हैं और शरीर के अंग उन्हे बाहर निकालने समथित नही होते तब रोग की उत्पति होती है। इन द्रव्यों को बाहर निकालने में आसनों का सहारा लिया जाता है।
13. शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक और आत्मिक विकास के लिए योग पद्धति सर्वोत्तम है। इस का मुकाबला और कोई पद्धति नहीं कर सकती।

योगासन और नियम

योगासन के निम्नलिखित नियमों का यथा संम्भव पालन करें तो तभी हम पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं।

1. योगासनों का अभ्यास प्रातः काल शौच आदि से निवृत हो कर करें। स्नान के बाद किए जाएं तो और भी अच्छा होगा। अगर पेट खाली हो तो योगासन शाम को भी किए जा सकते हैं। योगासनो से शरीर में लचक आती है और शरीर हल्का रहता है।
2. आसन करने का स्थान शांत व स्वच्छ होना चाहिए। किसी बाग में किए जाएं तो बहुत अच्छा होगा।

3. आसन के लिए स्थान समतल होना चाहिए ताकि जमीन की चुम्वक शक्ति आप के ध्यान को तोड़े नहीं और नीचे से कोई चीज आप को खीचे नहीं।
4. योगासन करते हुए बिल्कुल बातचीत न करें। अपने ध्यान को वहां लगांए जिस अंग पर आप का बल पड़ रहा है। आसन जितनी एकाग्रता में करेगें उतना शरीरिक और मानसिक वल मिलेगा।
5. योगासन अंहिसक क्रिया है – इसे करते समय (झटके नहीं लगने चाहिए। आसन करते समय) शरीर तान कर खींच कर धीरे धीरे अभ्यास करें। इस के बाद शरीर को कुछ देर के लिए आराम दे। आप का श्वास, स्वाभविक स्थिति में आ जाए तो फिर दूसरा आसन करें। योगासनों का अभ्यास धीरे धीरे बढ़ाएं।
6. आसन की स्थिति तक पहुंचने का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। धीरे धीरे आप के बंद खुलेगे–शरीर मे लचक आएगी। पूर्ण स्थिति तक पहुचने में 6 माह से एक वर्ष भी लग सकता है। देरी से निराश नही होना चाहिए। सफलता अवश्य मिलती हैं।
7. आसन मौसम के अनुसार कम से कम कपड़े पहन कर करें पहले लंगोट पहने फिर उस पर अन्य कपडा पहन कर अभ्यास करें।
8. योगाभ्यास सभी वर्गो के बच्चे–बूढ़े नोजवान कर सकते हैं। 10 वर्ष से 80.85 वर्ष तक के लोग योगाभ्यास कर सकते हैं। योगाभ्यास किसी जानकार व्यक्ति से सीख कर ही करने चाहिए। इन का सीधा सम्बन्ध अन्दर के अंगो से है।
9. योगासन करने वाले का भोजन हल्का होना चाहिए भोजन सत्विक तथा प्राकृतिक होना चाहिए। भोजन जितना हल्का तथा सात्विक होगा उतनी ही कार्य शक्ति बढ़ेगी।
10. कठिन रोगों तथा ज्वर से पीढ़ित व्यक्ति को आसन नही करने चाहिए।

गर्भ धारण करने वाली स्त्री 4–5 महीने तक आसन कर सकती है। पांच महीनों के बाद आसनों का त्याग कर देना चाहिए। उसे हल्का व्यायाम तथा सैर करनी चाहिए। मासिक धर्म में भी आसन वीजत हैं।

11. महर्षि पतांज्जलि जी के अनुसार शुरू में बहुत से आसन एक दिन में नहीं करने चाहिए। सर्वागांसन–शीर्षासन धीरे धीरे बढ़ाकर 10 मिन्ट तक जा सकते हैं। आसन की पहली स्थिति से अन्तिम स्थिति तक और अन्तिम स्थिति से पहली स्थिति तक धीरे धीरे आना चाहिए।
12. योगासनों का अभ्यास ठीक से हो रहा है या नहीं इन का लाभ आप को हो रहा है या नहीं। इस की पहचान की कसौटी यूं है कि योगासन करने के बाद आप को थकावट नहीं रहनी चाहिए। दिन प्रतिदिन आप युवा दिखाई देते हैं या नही।
13. योगासन करने के बाद कुछ देर के लिए शवासन जरूर करें तभी पूरा लाभ होगा।
14. योगासन–प्राणायाम करने के बाद कम से कम आधा घण्टा कुछ न खाएं। इस के बाद आधा घण्टा सो जाएं या विश्राम करें क्यों कि एक घण्टा अभ्यास करने से आप के अन्दर की इन्द्रियां सक्रिय रहेंगी। इस के बाद विश्राम करने से अपनी स्थिति में आएंगी।

बैठ कर करने वाले आसन

पद्मासन

विधि⇨ जमीन पर बैठ जाएं फिर बांई टांग को धुटने से मोड़ो और एड़ी को दांई जंधा पर ऐसे रखो कि दोनों एडियां नाभि के पास मिल जाएं। सामने देखते रहो और कमर के ऊपर के भाग को सीधा रखो। अपने धुटनों को जमीन से लगाओ और फिर दोनों हाथों को धुटनों पर रखे।

रीढ़ की हडड़ी गर्दन बिल्कुल सीधी रखनी चाहिए। ध्यान नाक के अगले भाग पर होना चाहिए।

लाभ⇨

1. यह आसन मेरूदण्ड तथा टांगों को बलवान बनाता है।
2. यह आसन पाचन शक्ति को बढ़ाता है।
3. इस आसन द्वारा मन और ध्यान एकाग्र हो जाता है।
4. यह आसन कमर के नीचे के भाग की नसों नाड़ियों को पुष्ट तथा लचकीला बनाता है।
5. इस आसन के अभ्यास द्वारा मांस पेशियां मुलायम हो जाती हैं।
6. यह आसन गंठिया–कब्ज–फील–फाइलेरिया आदि रोगों को दूर करता है। इस आसन के अभ्यास से पैरो को पसीना नहीं आता।

(पद्मासन या कमलासन)

सिद्रासन

1. दोनों भोहों के बीच में देखना।
2. सामने देखना।
3. ध्यान नाक के अगले भाग पर देखना।
4. आधी बन्द आखों से देखना।

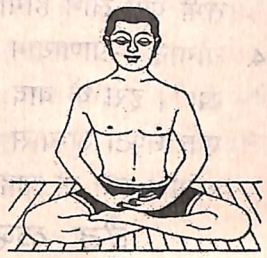
(सिद्धासन)

लाभ⇨ इस आसन से मन एकाग्र होता है।

यह आसन ध्यान पूजा के लिए उत्तम है। इस आसन द्वारा–बवासीर–गुदा रोग तथा जननेन्द्रिया सम्बन्धी दोष दूर होते हैं।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास द्वारा सिद्धियां प्राप्त होती है।

भद्रासन

यह आसन दो प्रकार का है। भद्रासन का वर्णन निम्नलिखित है।

विधि⇨ अपने पांव की एड़ियों को उल्ट कर वज्रासन की तरह वैठो और जांधों में थोड़ा सा अन्तर रखें। दोनों हाथों को पीछे ले जा कर अपने दोनों हाथों से दोनों पांव के अंगूठों को पकड़ो ताकि बाएं पावं का अंगूठा दांए हाथ में और दांए पावं का अंगूठा बांए हाथ में पकड़ो जाए। निगाहें सामने टिकी रहें। गर्दन–मेरूदण्ड सीधा रखें ध्यान नाक के अग्रभाग पर रखें।

लाभ ⇨

1. यह आसन ब्रह्मचर्य के लिए अति आवश्यक है।
2. इस आसन से कमर सीधी रहती हैं।
3. इस आसन से टांगें बलवान होती हैं।
4. यह आसन फेफडों के लिए भी उपयोगी है।
5. यह आसन बवासीर के रोगियों के लिए रामवाण का काम करता है।

शवआसन

विधि⇨ एक नर्म कम्बल बिछा लो और पीठ के बल लेट जाओ। हाथों को दोनों और भूमि पर रखो। हाथों की हथेलिओं को आसमान की ओर रखे। टांगों को पूरी तरह जमीन पर फैला दो। ऐड़ियों को आपस में मिलाएं–पंजों को खुला रखें। आखें बन्द कर के धीरे धीरे सांस ले। शरीर के सभी अंग एवं मांसपेशिया को ढीली छोड़ देवें।

यह प्रक्रिया पैर के अंगूठे से आरम्भं कर के फिर पिडलियों की मांस पेशियों–पीठ की मांस पेशियां–छाती हाथ गर्दन–मुहं आदि तक लाओ।

शरीर के सभी अंग शिथिल होते अनुभव होंगे। जमीन पर बांई करवट लेट जाओ। अपने बांये हाथ को दांए गाल के नीचे और दांए हाथ को दांई जंधा पर रखे। दांए पैर को बांय पैर के पीछे रखो। फिर अपने शरीर को ढीला छोड़ दो। यह आसन सभी सूक्षम व्यायाम तथा योगासनों के अन्त में करना चाहिए।

लाभ ⇨ इस अभ्यास के द्वारा शरीर के सभी अंगों, सभी मांस पंशियों– नसों नाड़ियों को विश्राम मिलता है किसी भी कारण खेल कूद यात्रा द्वारा थकावट हो तो इस अभ्यास द्वारा शीध्र दूर हो जाएगी। इस अभ्यास द्वारा हृदय तथा मस्तिष्क में ताजगी आती है। चिन्ता–भय–शोक आदि अवस्थाओं में चित्त शान्त रहता है। अनिद्ररोग दूर करने में लाभदायक है।

शलभासन

विधि ⇨ जमीन पर दरी या कम्बल बिछा लें पेट के बल जमीन पर लेट जाएं। दोनों हथेलियों को कन्धों के साथ जमीन पर रखो ताकि हथेली कन्धों के आगे पीछे न हो। फिर दोनों पांव को आपस में मिलाओ। तलवे ऊपर की ओर रहें। कमर के ऊपर ओर नीचे के भाग को यहां तक सम्भव हो बलपूर्वक उठाए रहो और कुछ देर के लिए इस स्थिति में बने रहे।

कमर से पैर तक भाग सीधा रहना चाहिए। मुड़ने न पाएं। अपने दोनो हाथों को पेट के नीचे ले जा कर दोनों हथेलियों को एक के ऊपर एक को रखें ताकि उपस्थ के नीचे के भाग को यहां तक सम्भव हो जमीन से ऊपर तथा नीचे के भाग को यहां तक सम्भव हो जमीन से ऊपर उठाने उठाने का यत्न करें।

लाभ⇨ इस आसन से मेरूदण्ड तथा कमर लचीली बनती है–छाती चौड़ी होती है।

इस आसन का विशेष प्रभाव रक्तवहा नाड़ियों पर होता है रक्त संचार क्रिया तेज हो जाती है।

इस आसन से थूक चलते रहना तथा मूत्र की रूकावट आदि रोग दूर होते हैं।

इस आसन द्वारा पेट में जठरागिन प्रदीप्त होती है। पेट के अनेक रोग जैसे अम्लता–गैस बनना–पेट में गुडगुड़ाहट भूख ना लगना–ऊपच आदि दूर होते हैं।

इस आसन के अभ्यास द्वारा नाभि अपने स्थान पर रहती हैं।

यह आसन मणिपुर चक्र विकासित करने में सहायक है। यह आसन गर्भाश्य सम्बन्धी रोगों को दूर करता है औरतों के लिए विशेषकर लाभदायक है।

लाभ⇨ इस आसन द्वारा स्मृण शक्ति का विकास होता है। इस आसन द्वारा मधुमेह यानि (Diabetes) में विशेष लाभ है।

भुजंगासन

विधि⇨ पेट के बल लेट जाइए। दोनों पैरों की एड़ियों और पंजों को आपस में मिलाओ और पूरी तरह जमीन के साथ चिपका लो। अपने शरीर के पांव की उंगलियों से ले कर नभि तक का भाग ज़मीन से लगाओ। हाथों को कन्धों के सामने ज़मीन पर रखो। दोनों हाथ कन्धों से आगे पीछे नहीं होने चाहिए, हाथों के बल नाभि के ऊपरी भाग को ऊपर की ओर झुकाओं जितना सम्भव है । कमर का ऊपरी भाग सापं जैसा प्रतीत हो।

1. हर्नियों के रोगी को यह आसन नहीं करना चाहिए।

2. गर्भवती स्त्रियों को इस का अभ्यास नहीं करना चाहिए।
3. यह आसन प्रत्येक आयु वर्ग के स्त्री पुरूष के लिए लाभकारी है।

लाभ⇨ कमर तथा मेरूदण्ड को पतला तथा लचकीला और छाती को चौड़ा करता है। सारा शरीर सुन्दर और कान्तिमान बन जाता है। मोटापे को दूर करता है।

रक्त संचार को तेज करता है–

पेट के अनेक रोग जैसे कब्ज–ऊपच और वायु विकार दूर होते हैं तथा भूख बढती है।

इस आसन के अभ्यास द्वारा व्यक्ति निडर तथा साहसी बन जाता है।

भुजंगासन

लाभ⇨ इस आसन द्वारा मसाने के रोग तथा स्वपन दोष जैसे रोग दूर होते हैं।

इस आसन द्वारा यमृत जैसे रोग दूर होते हैं।

स्त्रियों की जननेन्द्रियों तथा गर्भाश्य के रोगों को दूर कर पुष्ट होते हैं।

कई प्रकार के स्त्री रोग जैसे प्रदर– मासिक धर्म का कम या ज्यादा आना, दूर होते हैं।

यह आसन स्त्रियों की सुन्दरता को बढ़ाता हैं।

धनुरासन

विधि⇨ पेट के बल लेट जाओ। अपने दोनो हाथों से दोनों पांव की पिन्डलियों को पकडो। वक्षस्थल स्कन्ध और पेट के ऊपर और नीचे के भाग को खींचो । इस स्थिति में कुछ क्षण स्थिर रहो।

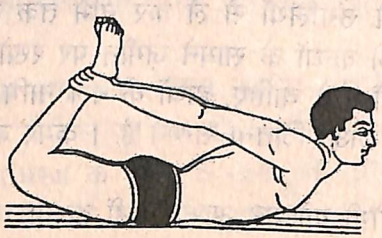

अपने आधे शरीर से शयन करो फिर दोनों टुखनों को पकड़ कर पीठ की और ले जाओ। अपने हाथों से टुखनों को पकड़ो गुदा को खीचंते हुए मुहं को पूरी तरह बन्द रखो।

लाभ⇨

1. यह आसन रीढ़ की हडड़ी के कड़े पन को खत्म कर के उस को लचीला बनता है। जीवनी शक्ति में वृद्धि करता है और बुढ़ापा शीध्र नही आता।
2. यह आसन मधुमेह रोग यनि Diabetes को दूर करता है।
3. रोजाना 10+15 बार इस का अभ्यास करने से शरीर पेट या नितम्ब पर आया मोटापा समाप्त हो जाता है।
4. यह आसन मोटी गर्दन की चर्बी को छांट कर उसे पतला तथा सुन्दर बनाता है।
5. पेट के सभी प्रकार की दर्दों को दूर करता है।
6. यह आसन कब्ज नहीं होने देता ।
7. इस आसन द्वारा टली हुई नभि अपने स्थान पर चली आती है।
8. इस आसन का अभ्यास करने से नभि फिर नही टलती।
9. इस आसन द्वारा–टांगें तथा भुजाएं पुष्ट हो जाती हैं।
10. यह आसन पीठ दर्द तथा कमर दर्द को दूर करता है।
11. यह आसन कण्ठ श्वास नली की क्रियाशीलता में वृद्धि करता हैं।

नोटः– धनुरासन हर्नियों के रोगी को नहीं करना चाहिए।

योगमुद्रा

विधि⇨ पद्मासन लगाएं–दोनो एड़ियां नभि के नीचे मिलें । दोनों हाथों को पीछे पीठ की ओर ले जाएं और बाई कलाई को दाएं हाथ से पकड़ लो। बांए हाथ की मुट्ठी बन्द कर लें। कमर सीधी श्वास भरते

हुए छाती तानें। हाथों का जोर नीचे की ओर जब धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए शरीर को सामने की ओर कमर से इस प्रकार झुकाते जाएं कि पूरा मेरूदण्ड सीधा रहे। गर्दन नहीं झुकनी चाहिए, प्रयास करें आप का माथा जमीन को लगे।

कुछ क्षण ब्रह्यम कुम्भक में रूकें। इस के बाद श्वास लेते हुए धीरे धीरे पहली स्थिति में आएं। ध्यान मणिपुर चक्र में रहे।

लाभ⇨ इस आसन से टांगों और पिंडलियों में जमा हुआ मल उखड़ता है।

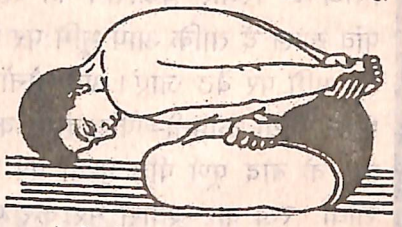

टांगों के पट्ठे मजबूत होते हैं।
पाचन यन्त्र पुष्ट होते हैं।
इस से पेशाब–लीवर–प्लीहा की बिमारियां दूर होती हैं।
छोटी आंते प्रभवित होती हैं। कब्ज दूर होती है।
रीढ़ की हडड़ी तथा कमर मांसपेशियों को आराम मिलता है।
जोड़ों के दर्दो में लाभदायक है।

उष्ट्रासन

विधि⇨ वज्रासन की स्थिति में रहते हुए खड़े हो जांए। घुटनों में कन्धों के बराबर फासला रखें, दोनो हाथों को कमर पर इस प्रकार रखें कि उंगलियाँ पेट की तरफ हों और अंगूठे रीढ़ पर मिलें। श्वास को भरते हुए गर्दन को अधिक से अधिक मोड़ते हुए पीछे ले जाएं। फिर हाथों को तलवों पर ले जाएं। थोड़ी देर इस स्थिति में रूकें– धीरे धीरे वापस आ जाएं। ध्यान रीढ़ पर रखें।

लाभ⇨ गले की ग्रन्थियों को प्रभावित करता है। रीढ़ – कमर की स्थूलता नष्ट हो कर लचकीला पन आ जाता है। पेट के रोगों को नष्ट करता है। छाती तथा फेफड़ों को ताकत देता है।

सुप्तवज्रासन

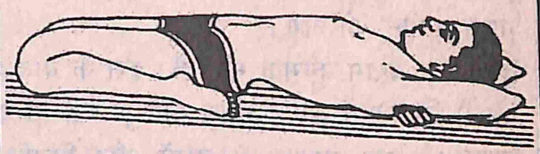

विधि⇨ स्थिति बज्रासन की रहेगी। घुटनों पर खड़े हो कर पीछे से पांव खोल दें ताकि आप भूमि पर बैठ सकें। पांव के पंजे जमीन पर लेटे हुए भूमि पर बैठ जाएं। अब दोनों हाथों को पांव के पंजों पर रखते हुए पहले बांयी कोहनी–फिर दांयी कोहनी को भूमि पर टिकाएं।

इस के बाद पूर्ण पीठ पृथ्वी पर लगाते हुए लेट जाएं, दोनों हाथों को सीधा रख कर–श्वास भर कर पीछे की ओर खीचें–घुटने मिलाते हुए जमीन से चिपकाकर रखें। इस स्थिति मे 1–2 मिन्ट रूकें।

लाभ⇨ इस के अभ्यास से टखने–घुटने–कन्धे–कमर तथा पेट स्वस्थ होते हैं। गुर्दे व स्त्री पुरूषों की जननेन्द्रिय अंग पुष्ट होते हैं। शारीरिक एवे मानसिक थकावट दूर होती है। पेट की धरण जैसे रोग ठीक होते हैं भूख बढ़ती है। गठिया तथा जोड़ों के दर्द में आराम होता है।

पश्चिमोतानसन

विधि⇨ अपने दोनों को डण्डे की तरह जमीन पर फैला दो पंजे और एड़ियां आपस में मिले रहे। सांस बाहर निकालते हुए यहां तक हो सके हाथों से पैरों की उंगलियों को पकड़ें। सिर को पंजों से मिलाने की चैष्टा करें। अभ्यास दृढ़ होने पर हाथों की अंगलियों को आपस में गूंथ लें और पांव के तलवों को हाथों की उंन्गलियों में फंसा कर ऐसा करें। इस आसन को झटके से नहीं करना चहिए।

लाभ⇨ यह आसन मेरूदण्ड यानि रीढ़ की हडड़ी को लचकीला बनाता है।

कमर को पतली तथा मजबूत बनाता है– मन प्रसन्न रहता है।

इस आसन के अभ्यास से मोटापा दूर होता है। इस से रक्त संचार नियमत होता है। ऐसा होने से क्रोध दूर कर मन शान्त रहता है।

गंठिया–पीठ–कमर–जांघ तथा पिंडलियों का दर्द तथा अर्धागं दूर होता है।

इस अभ्यास को नियम से करने वाला मनुष्य 300 वर्ष तक जी सकता है।

इस आसन को 3 घण्टे 48 मिण्ट अभ्यास करने वाले व्यक्ति की खुद ही समाधि लग जाती है।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

विधि⇨ बैठे हुए दायीं ओर के घुटनों को मोड़ते हुए एड़ी को नितंव के साथ लगा दें। बायां पावं दांए घुटने के ऊपर से ले जाते हुए भूमि पर रखें–पांव का पूरा पंजा धुटने से आगे न जाए और बांया घुटना छाती के मध्य में रहे। दाएं हाथ को बांय घुटने के ऊपर से ले जाते हुए बायें पैर के तलुवे को अंगूठे की ओर से पकड़ लें। बांया हाथ पीठ के पीछे रखें। पीठ को सीधा रखते हुए गर्दन को घुमा कर श्वास भरते हुए ठोढ़ी को बांय कन्धे की ओर ले जाएं। मेरूदण्ड को अपने अवलम्ब पर पूरा मोड़ दें ताकि दोनों कन्धें एक रेखा में हो जाएँ। जितना आप मोड़ देंगे उतना ही

(अर्धमत्स्येन्द्रासन)

अधिक लाभ होगा। मोड़ देने से धुटना दवेगा–जिस से बांयी ओर के अमाशय–क्लोम ग्रन्थि– बड़ी आन्त और प्लीहा प्रभावित होगें और दांयी ओर दबाव पढ़ने से यकृत बड़ी आंत प्रभावित होंगे।

लाभ⇨ इस आसन के करने से अनेक लाभ मिलते हैं। मधुमेह जैसे रोग शरीर से दूर रहते है।

इस आसन द्वारा क्लोम ग्रन्थि–यकृत– अमाशय प्रभावित होते हैं।

इस अभ्यास से कमर दर्द दूर होती है। इस से विशेष कर (पैनक्रियास) और यकृत यानि (Liver) पुष्ट हो जाते हैं।

लेट कर करने वाले आसन

पवनमुक्तासन

विधि⇨ पीठ के बल लेट कर दोनो पांव तान कर आपस में मिला कर रखें।

दांयी टांग मोड़कर घुटना छाती पर ले जाएं, दूसरी टांग बिल्कुल सीधी रहेगी और बाहर की ओर तनी हुई। श्वास छोड़ते हुए नासिका घुटनों के साथ लगा दें। और थोड़ी देर रूकें। शरीर में ढीलापन नहीं रहेगा–श्वास भरते हुए सिर वापस तथा श्वास छोड़ते हुए पांव वापस।

अब यही क्रिया बांयी टांग से करें। फिर दोनों वाजुओं में दोनों टांगो को लेकर श्वास भर कर दबाएं। फिर श्वास छोड़ते हुए नासिका घुटनों के बीच ले जाएं। श्वास भरते हुए टांगों को खोल दें और विश्राम करें। ध्यान मणिपुर चक्र पर रहे।

लाभ⇨ इस आसन के अभ्यास से ऊपान वायु की ठीक होती है। इस आसन से कब्ज की शिकायत नहीं रहती। फेफड़ों तथा हृदय में

कोई रोग नहीं रहता। मोटापे तथा पेट की चर्बी घट जाती है। सारे शरीर में वायु का प्रकोप नहीं रहता। स्त्रियों को गर्भाधान के बाद यह आसन नहीं करना चाहिए।

मकरासन

विधि⇨ पीठ के बल लेट जाएं। अपनी टांगों को मोड़कर एड़ियों पंजों को मिला कर नितम्वों से लगा दें। एक सीध में फैला दें–हथेलियां आकाश की ओर होनी चाहिए। अब श्वास को भरते हुए दोनो घुटनों को दांयी और पृथ्वी पर और गर्दन बांयी ओर घुमाएं। फिर श्वास को छोड़ते हुए वापस आएं। अब श्वास को भरते हुए दूसरी ओर करे। घुटने बांयी ओर तथा गर्दन दांयी ओर। इस प्रकार दाएं बाएं दो बार करें।

लाभ⇨ इस से रक्त संचार तेज होता है– पेट की आंती को प्रभावित करता है–कब्ज दूर होती है। खूबसूरती को बढ़ाता है। रीढ़ की हड्डी को प्रभावित करता है। नाड़ी संस्थान को शिथिल करता है।

उतानपादासन

विधि⇨ पीठ के बल लेट जाँए–दोनों हाथों को पीछे की ओर ले जाँए सारे शरीर को तान लें हथेलियां आकाश की ओर रहे–हाथों को पीछे की ओर तथा पांव आगे की ओर खींचे हुए हों । यह स्थिति ताड़ासन की है। टांगों को (3'') ऊपर उठाएं। श्वास भरते हुए दांयी टांग, एक बांया बाजू आसमान की ओर तानें–टांगों में खम न आए और सिर न उठे। श्वास छोड़ते हुए टांग (3'') पर वापस। अब बायीं टांग और दांए बाजू से यह क्रिया करें। धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं। नीचे वाले हाथ पांव जमीन से थोड़ी ऊपर उठे रहेंगे और खीचे

रहेंगे–पांव जीमन पर नहीं टिकेंगे। श्वास भरते हुए अब दोनों हाथ दोनों टांगों को ऊपर उठाएं। पांव को बाहर की ओर खींच कर रखें। एड़ियां पंजे मिले रहें कमर नहीं उठेगी। कुछ क्षण इस स्थिति में रूके। अब धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए पहले हाथ को पीछे ले जाएं फिर धीरे से पांव को वापिस पृथ्वी पर स्पर्श करें और शरीर को ढीला छोड़ कर विश्राम करें।

लाभ⇨ यह आसन 72000 नाडियों के नभि केन्द्र को ठीक करता है और निम्नलिखित रोगों को दूर करता है। आमाशय की जलन–पेट का दर्द–वायु विकार–पेट गैस ऊपच–कब्ज– अतिसार–खट्टी–मीठी उक्कार–वमन आदि इस आसन से रीढ़ की हड्डी तथा कोशिकाएं पुष्ट होती हैं। मन की घवराहट दूर होती है।

लाभ⇨ इस आसन द्वारा खून बनना शुरू हो जाता है तथा टांगों का सोना रूक जाता है।

हलासन

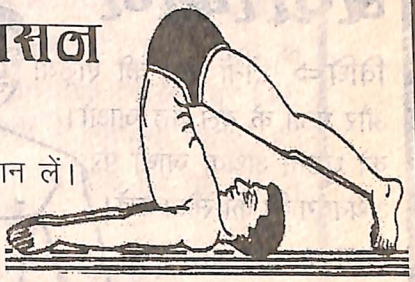

विधि⇨ पीठ के बल जमीन पर लेट जाएं शरीर को तान लें। हथेलियां जमीन पर शरीर के साथ सटी हुई हों। अब हाथों पर दबाव डालते हुए अपनी टांगों को धीरे धीरे श्वास भरते हुए ऊपर उठाएं। सिर ऊपर न उठाएँ–पावं बाहर की ओर खीचें रहें – टांगों में खम नहीं आना चाहिए। इस आसन में टांगों को जितना धीरे धीरे उठाएंगे इतना अधिक लाभ होगा।

अब श्वास छोड़ते हुए हाथों पर जोर देते हुए कमर को ऊपर उठा दे

और पांव को सिर के ऊपर से पीछे ले जा कर जमीन पर लगा दें। पांव को आगे से ले जाने का प्रयास करें। इस आसन में) मिण्ट से एक मिन्ट तक रूकें। अब धीरे से रीढ़ के एक एक मोहरे को जमीन पर पांव को पीछे की ओर तानते हुए टेकते जाएं। फिर पांव को जमीन पर लाएं। वापस आते हुए भी सिर को उठाना नहीं है। ध्यान विशुद्धि चक्र पर रहे।

लाभ⇨ इस आसन से सभी पाचन अंगों–रीढ़ के एक–एक मोहरे का व्यायाम होता है। उन में लचक और पुष्ट आती है। गले की ग्रन्थियाँ प्रभवित होती हैं। नाड़ी संस्थान होता है। उन में लचक आती है। पेट की चर्बी कम होती है। रक्त का संचार तेज होता है, भूख बढ़ती है। मानसिक व शारीरिक स्वस्थ के लिए हलासन सर्वोत्तम है।

बैठ कर करने वाले आसन

बज्रासन

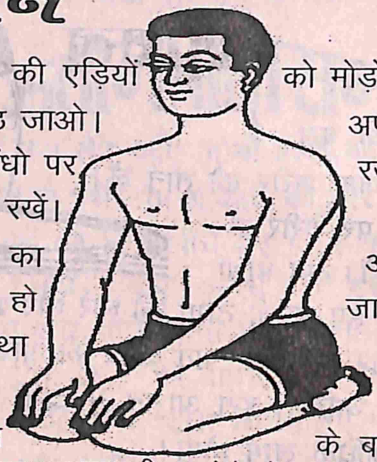

विधि⇨ दोनों पांव की एड़ियों को मोड़ो तथा घुटनों और पंजों के बल बैठ जाओ। अपने दोनों हाथों को धुटनों अथवा जांधो पर रखो। अपनी छाती अथवा गर्दन को सीधा रखें।

लाभ⇨ इस आसन का अभ्यास करने से शरीर बज्र के समान हो जाता है। इस आसन से धुटनों–जंधआ तथा पिडलियों में पुष्टता आती है।

यह आसन भेजन के बाद भी किया जा सकता है। इस से पाचन यन्त्र ठीक होते हैं–शरीर बलवान होता है। यह आसन ध्यान एकाग्र करने में बहुत सहायता करता है। इस आसन

द्वारा अतिसार–पीठ दर्द तथा छाती के रोग दूर होते हैं।
स्त्रियों के मासिक धर्म के सम्बन्धी दोष दूर होते हैं।

गोरक्षासन

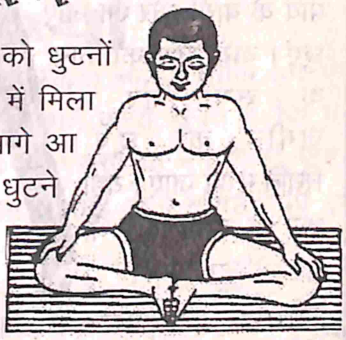

विधि⇨ जमीन पर बैठ जाओ। टांगों को घुटनों से मोड़ते हुए पांव के तलुवों को आपस में मिला कर दोनो हाथों से पैरों को मिला कर आगे आ कर मिले हुए पांवो के बीच बैठ जाओ। घुटने दोनों आर से जमीन पर लग जान चाहिए।

हाथों को घुटनों पर रख कर रीढ़ की हडड़ी तथा गले को सीधा रखते हुए इस अवस्था में स्थित रहो परन्तु आगे का भाग छाती आदि सीधे रहने चाहिए।

लाभ⇨ इस आसन द्वारा घुटनों तथा पिडलियों की कठोरता दूर होती है। इस आसन द्वारा कुण्डलानी शक्ति जागृत होती है। इस आसन के अभ्यास द्वारा गुदा के रोग–पेशाब सम्बन्धी रोग तथा बवासीर दूर होती है। इस आसन से बढ़ी हुई हडड़ी ठीक करने में सहायता मिलती है। इस आसन के अभ्यास द्वारा स्वपनदोष रोग दूर होते हैं। यह आसन सभी आयु वर्ग के व्यक्तियों के लिए ठीक हैं।

खड़े हो कर करने वाले आसन

त्रिकोणआसन

विधि⇨ सीधे खड़े हो कर पांव के बीच डेढ़ फुट का फासला रखें। दाएं हाथ को ऊपर आकाश की ओर उठाँए। ऊपर वाले हाथ को ऊपर की ओर नीचे वाले हाथ को नीचे की ओर खीचंते हुए तान दें। बायें हाथ

को बायी टांग साथ रखते हुए श्वास छोड़ते हुए नीचे की ओ
इस प्रकार झुकें कि आप क
टांगें न मुड़े–हथेली जमीन प
पांव के बायीं ओर आ जाएँ और जमीन
छुएं। दायें हाथ को कान के साथ रखते हुए भ
के समानांतर ले जाएं–फिर धीरे–ध
जमीन को छुएं। धीरे–धीरे वापस पह
स्थिति मआ जाएं। यही क्रिया बांया हाथ ऊ
कर के दांयी ओर भी करे। ध्यान मणिपुर च
पर केन्द्रित करे।

लाभ⇨ इस आसन से बड़ी आंत–जिगर तथा तिल्ली को क
लाभ पहुँचता है। बगल–कमर के पट्ठों को तथा पसलियों को
बनाने में सहायता मिलती है। इस से तन्तुयों की ग्रन्थियों को क
व्यायाम मिलता है।

खड़े हो कर करने वाले आसन

ऊर्द्ध चन्द्रासन

विधि⇨ सीधे खड़े हो जाएं–एड़ियां मिली हुई हों पंजों में थोड़ा
फासला रखें। दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर खींचते हुए हाथ
कर नमस्कार की स्थिति में आ जाएं, अब अपने हाथों को ऊपर की
खींचते हुए श्वास भर कर पहले बांयी ओर जितना अधिक मोड़ स
हैं मोड दें। श्वास छोड़ते हुए वापिस आएं और फिर इसी प्रकार
ओर करें, ध्यान रखें आगे की ओर नहीं झुकना चाहिए।

लाभ⇨ इस आसन से बड़ी आंत–जिगर तथा तिल्ली पर वि

प्रभाव पड़ता है। मेरूदण्ड की पेशियों और स्नायुओं पर खिचाव पड़ने से लचक पैदा होती है। कमर के पट्ठे पुष्ट होते हैं। इस से कण्ठ के तन्तुओं तथा ग्रन्थियों को व्यायाम मिलता है।

दिनचर्या

हमें अपनी पूरे दिन चर्या को व्यवस्थित रखना चाहिए ताकि हम पूर्ण स्वस्थ रह सकें। कई व्यक्तियों को हम बातें करते सुनते हैं कि हम योगासन करते हैं फिर भी बिमार रहते हैं। परन्तु यह हमें किसी समय भी नहीं भूलना चाहिए कि जब तक हम में कोई कमी न रह जाए हम बिमार नहीं हो सकते।

नित्य कर्म:– हमे रात को जल्दी सोना और सुबह जल्दी उठना चाहिए। जल्दी सोने से नीदं अच्छी आती है। मन शान्त रहता है और विचार शुद्ध रहते है। सुबह जल्दी उठने से आलस्य नहीं रहता सुबह के सब कार्य नित्य कर्म सैर व्यायाम–शरीर की सफाई भले प्रकार से की जा सकती हैं। सुबह उठ कर कुल्ला करें। ठण्डा पानी पियें और शौच जाएं। शौच न भी आए तो भी नियम अनुसार जाना चाहिए।

दांतों की सफाइ:– बहुत से व्यक्ति दांतो को सुबह ही साफ़ करते हैं। वह भी ब्रश से। दांतों को सुबह और रात को सोने से पहले आवश्य साफ करें। सुबह दातुन का आवश्य प्रयोग करना चाहिए। ब्रुश के प्रयोग से अन्त मे मसूडे खराब हो जाते है। दातुन के प्रयोग से अन्त में मसूडे खराब हो जाते हैं। दातुन के प्रयोग से Gum मजबूत होते हैं। ब्रुश तथा Paste के स्थान में आप मंजन का प्रयोग करें, मंजन साफ सुथरा होना चाहिए। और ज्यादा तीखा नहीं होना चाहिए। अगर किसी वक्त आप मंजन का या दातुन का प्रयोग न कर सकें तो गर्म पानी कर के नमक तथा फिटकड़ी मिला कर अस से अच्छी तरह कुल्ले कर के दांतों की सफाई करें।

रात को सोने से पहले दांत साफ न करने से दांतों में भोजन के कुछ तत्व रह जाते हैं। वह सड़ गल कर दांतों को खराब करते हैं।

प्योरिया जैसी बिमारियां इन्हीं तरीकों से पैदा होती हैं। दांतों को सूई या पिन से नहीं कुरेदना चाहिए। भोजन अच्छी तरह चबा कर खाना चाहिए इस से भी दांतो को व्यायाम होता है। जब भी कुछ खाए तो कुल्ला कर के दांतों को अच्छी तरह साफ कर लें।

स्नान :– प्रतिदिन स्नान ताजे पानी से करना चाहिए, त्वचा हर समय शरीर के अन्दर के विकार को बाहर निकालती है। उस मैल को स्नान द्वारा ही साफ किया जा सकता है। स्नान अच्छी तरह से शरीर को रगड़ कर करना चाहिए, स्नान करने से पहले शरीर को हल्का हल्का रगड़ें ताकि शरीर गर्म हो जाए फिर स्नान करें।

स्नान करने के बाद तौलिए से पौछ कर शरीर को अच्छी तरह सुखा दें। साबुन हफते में ज्यादा से ज्यादा एक बार लगाएं ज्यादा नहीं गीले शरीर पर कपड़े नहीं पहनने चाहिए। थोड़ी देर शरीर को धूप में सुखा लेना चाहिए। स्नान करने से पहले भी 15–20 मिन्ट शरीर को धूप में गर्म कर लें। गर्म पानी से शरीर खुलता नही है। ताजे और साधारण ठण्डे पानी से स्नान करने से रक्त संचार, चर्म तक होगा और रक्त शुद्ध रहेगा।

कपड़े :– समाज में कपड़े का पहनना अति आवश्यक है। कपड़े खुले तथा ढीले होने चाहिए ताकि बदन को हवा रहे। तंग कपड़े से शरीर को स्वस्थ रखने में बाधा आती हैं। सफेद कपड़े शरीर के लिए सब से अच्छे हैं। गर्मियों के मौसम में सफेद व मोटे वस्त्र धारण करने चाहिए ताकि लू से बचा जा सके। बरसात में पतले तथा जरूरत अनुसार ही पहनें नाइलिन के कपड़े हानिकारक होते हैं। सोने का स्थान स्वच्छ तथा हवादार होना चाहिए। बिस्तर साफ सुथरा रखें। सर्दियों में ऊपर ओढ़ने का वस्त्र भी पर्याप्त हो जिस से आप आराम से सो सकें। शरीर के

ढीला रख कर सोने से नई शक्ति का अनुभव होता है। चारपाई कसी होनी चाहिए बहतर है तख्तपोश पर सोना–ताकि मेरूदण्ड सीधा रहे और रक्त संचार सारे शरीर में वे रोक टोक हो सके।

मुख को कपड़े से ढ़क कर नहीं सोना चाहिए। श्वास नाक से लेना चाहिए और नाक से ही छोड़ना चाहिए ताकि गर्म हो कर छन कर ही छोड़नी चाहिए।

मुख से सांस लेना स्वस्थ के लिए हानिकारक हैं। मुंह के रास्ते कीटाणु अन्दर चले जाते हैं और विकार पैदा करते हैं। रात को सोते समय पेट हल्का रखना चाहिए, रात को पांव यदि ठण्डे हों तो गर्म पानी में रख कर गर्म कर लेने चाहिए। जिन को नींद न आती हो वे सोने से 10–15 मिन्ट पहले लम्बी लम्बी सांस लें। इस से बहुत अच्छी नींद आ जाएगी। रात को सोने से पहले एक गिलास ताजा पानी पीना चाहिए और पेशाब कर के सोना चाहिए। कपड़े कम से कम और ढीले पहन कर सोना चाहिए। तकिया न ज्यादा ऊंचा न नीचा होना चाहिए। रात को सोने से पहले हाथामुंह धो कर आंखों पर छीटें लगाए बज्र आसन में बैठ कर इष्टदेव का ध्यान करें–मन्त्र का जाप कर के प्रार्थना करें और सो जाएं।

यह निम्नलिखित नियम पूर्ण करने से हम स्वस्थ रह सकते हैं। हर काम अपने समय पर होगा। हम स्वस्थ रहेंगे और गल्त संग में नहीं पड़ेगें।

मानव के लिए भोजन और भोजन के कार्य

अगर आप योगासन, प्राणयाम आदि से पूरा लाभ लेना चाहते हैं तो आप को अपने भोजन और वस्त्रादि यानि रहन सहन में भी सुधार करना होगा। योगासन–प्राणायाम आदि क्रियाएं करने से शरीर को बिल्कुल स्वस्थ नहीं रखा जा सकता। भोजन से ही हमारे शरीर का पालन पोषण होता है शरीर की टूट फूट को ठीक करने–अन्दर के अंगों की कार्य शक्ति को बढ़ाने तथा रोगों से बचाए रखने की शक्ति को बनाए रखने

के लिए सात्विक– खनिज–लवण युक्त प्राकृतिक भोजन की आवश्यकता होती है। योगासन द्वारा शुद्धता–स्वच्छता तभी बनी रह सकती है जब कि आप का भोजन भी इसी प्रकार का हो।

अगर हम गल्त अमल प्रधान अप्राकृतिक भोजन खाकर अन्दर विकार इकट्ठे करते जाएंगे तो शरीर की शक्ति कमजोर हो जाएगी, शरीर के अंगों का ऊचित पोषण नहीं हो पाएगा।

शरीर में रक्तकण दो प्रकार के होते है।।

(1) सफेद रक्त कण(2) लाल रक्त कण

सफेद रक्त कण बढ़ने से लाल रक्त कण कम हो जाते हैं। सफेद रक्त कण बढ़ने से हम बार बार बिमार हो जाते हैं और शरीर दुर्वल पड़ जाता है। यदि लाल रक्त कण अधिक होंगे जो व्यक्ति स्वस्थ रहेगा रोग के कीटाणु उस पर जल्दी आक्रमण न कर पाएगें और रोग नाशक शक्ति अधिक होगी। भोजन से शरीर की सेलें अपनी वृद्धि के लिए सामग्री प्राप्त करती हैं। शरीर के विभिन्न रागों में निरन्तर जो रासयनिक क्रियाएं होती हैं उसके परिणाम स्वरूप हुए मुक्सान की कमी हो जा सकती है।

हमारे शरीर के ऐच्छिक और अनैच्छिक सभी कार्यो के लिए शक्ति आवश्यक है। इस शक्ति को पूरा करने में भोजन सहायता करता है। शरीर की वृद्धि क्षतपिक्षत तंतुओं की पूर्ति एवं शक्ति अत्पादन के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी हैं–जिन के लिए भोजन आवश्यक है।

भोजन के कुछ मूलतत्व जैसे विटामिन आदि न तो शक्ति उत्पन्न करते हैं और न शरीर की वृद्धि। फिर भी हमारे शरीर की रक्षा तथा भोजन के उपयुक्त कार्यो के ठीक सम्पादन के लिए उन की नितान्त आवश्यकता है। बहुत से लोग अपने खाने को तल भून कर मिर्च मसाला मिला कर खाते हैं। वह अपने खाने से लवणा खनिज समाप्त कर देते हैं। ऐसा करने से लोग बिमार होकर डाक्टरों के पास जाते हैं। वह खनिज लवणों की कमी पूरी करने के लिए टीके लगवाने पड़ते हैं

टिक्कियाँ खानी पड़ती हैं। धन का फजूल खर्च करते हैं और शारीरक तौर पर रोगों का शिकार हो जाते हैं। आज के युग में अधिकांश बिमारियाँ और मौतें गल्त आहार के कारण ही हो रही हैं। विज्ञान की इतनी उन्नति होने के बावजूद मनुष्य रोगों से पीढ़ित है। हृदय रोग से मृत्यु होना तो सामान्य बात बन गई है। खास कर वह लोग जो बड़े पदों पर आसीन हैं और लक्ष्मी तथा सरस्वती के कृपा पात्र है। आज का समाज अधिक से अधिक दवाइयों पर निर्भर है। इस का कारण असंतुलित आहार ही है। हम जैसा भोजन करते हैं वैसे ही बनते है। कैसा भोजन हमें स्वस्थ रखता हैं इस का हम ध्यान नही रखते है।

रक्त में दो प्रकार के कण होते हैं लाल रक्त कण और सफेद रक्त कण।

अगर सफेद रक्त कण बढ़ जाएं तो मनुष्य शीघ्र बिमार हो जाता है। महामारियों और जलवायु का उस के शरीर पर जल्दी असर पढ़ता है और वह रोगी हो जाता है। बिमारी का मुकाबला करने की शक्ति नहीं रहती।

अगर लाल रक्त कण बढ़ जाते हैं उस पर बिमारी हमला नहीं कर सकती वह स्वस्थ रहता है। उस में रोग नाशक किटाणु शक्तिशाली बने रहते हैं। रक्त लालकण तभी बढ़ सकते हैं– जब हमारा भोजन विटामिन–खनिज–लवण युक्त क्षारपन लिए हुए होगा शरीर का सतुंलन बनाए रखने के लिए 75 प्रतिशत क्षार प्रधान भोजन की ओर 25 प्रतिशत अम्लप्रधान भोजन की आवश्यकता होती है। हमारा भोजन ज्यादा तर अम्ल प्रधान होता है। इस लिए रोग घर किए रहते हैं।

चपाती–चावल–दालें–आलू– तली–भूनी चीजें चाय काफी पकौड़े आदि अम्लता बढ़ाने वाले पदार्थ हैं। ताजे फल– दूध कच्ची सब्जियां–अंकुरित अनाज पके हुए मेवे गुड़ इत्यिादी क्षारपन देने वाले पदार्थ हैं। शरीर में इस प्रकार यन्त्र हैं जो इसे ठीक रखते हैं। जब इस

में विकार पैदा होता है तो हम बिमार हो जाते हैं।

जो भी खाते हैं वमन हो जाता है–भूख चली जाती है कुछ भी खा की इच्छी नहीं रहती। धवराहट बढ़ जाती है–पेशाब का रंग बदल जात है–शरीर टूटने लगता है। यह सब क्रियाएं शरीर अपने अन्दर से विका व रोगों को बाहर निकालने के लिए करता है। हम दवाइयां खाने लग है। खाते पीते रहने से सब बाधाएं पैदा हो जाती हैं। अगर हम कु खाएं नहीं, थोड़ा–थोड़ा कर के पानी पिएं–पेट साफ कर लें, तो शरी जल्दी स्वस्थ हो सकता है।

अगर हमारा भोजन ठीक रहे तो रोगी होने की नोबत नहीं आएगी पूर्ण रूप से स्वस्थ रहने के लिए जरूरी है कि प्रकृति जिस तरह हमा खाने की वस्तुओं को पेदा करती है उसी रूप में खया जाए–उ पकाया न जाए। ऐसा भोजन करने से हमें बहुत कम भोजन से जरूर के मुताविक शक्ति पैदा हो जाती है। इस से अंकुरित अनाज कच्च सब्जियां–फल सूखे मेवे–दूध–सोयावीन व मुंगफली का निकला दूध सकते हैं। भोजन हमें कम से कम पकाना चाहिए जिस से तत्व कम कम नष्ट हों। अगर सूर्य द्वारा पका हुआ खाना मिल जाया या कम कम पका हुआ खाना मिल जाए तो हमें उस से अधिक से अधि लवण–खनिज व विटामिन सीधे मिल जाते हैं। ऐसा थोड़ा भोजन कर से हमें पूरी शक्ति मिल जाती हैं। इस समबन्ध में निम्नलिखित बातों प अमल किया जा सकता है और बहुत हद तक आप रोगी होने से ब जाएंगे। आदमी को दिन में 3 बार ही खाना खाना चाहिए। प्रातः नाश्त दोपहर और रात को भोजन, शाम को कोई फल या हल्की सी चीं लेनी चाहिए। इस से पाचन यन्त्रों को आराम मिलेगा और पाचन क्रि की शक्ति बढ़ेगी। बार–बार खाना खाने से पाचन क्रिया कमजोर हो है। बार बार चाय बिस्कुट–पकौड़े खाते रहना–पेट पर अत्याचार कर है–ऐसा करने से सच्ची भूख भाग जाती है। बाहर खाना खाने से पाच

क्रिया भली प्रकार होगी–खाए हुए खाने से भली प्रकार रस निकलेंगे–गैस पैदा नहीं होगी पेट हल्का रहेगा और भूख बढ़ेगी।

कच्ची सब्जियां सलाद के रूप में आवश्य लेनी चाहिए। हरी सब्जियों को पका कर भी अधिक सेवन करें।

इस से विटामिन तथा खनिज लवण तो मिलेंगे ही आप को फोक भी मिलेगा जो कभी कब्ज नहीं होने देगा। कब्ज बहुत से रोगों की जड़ है। पेट हल्का रहेगा, आप अनाज कम खाँएगे। खुराक जल्दी पच जाएगी और भूख बढ़ जाएगी।

गाजर–टमाटर–शल्गम–प्याज– अदरक–बन्द गोभी–खीराचुकन्दर– पालक –मूली–सलाद के पत्ते आदि असानी से खाए जा सकते हैं। आप टीडां–भिडी–सीता फल–फूल/गोभी मटर–कददू भी कच्चे खा सकते हैं। सब्जियां बिल्कुल ताजी लेनी चाहिए क्योंकि ताजी सब्जी में मिठास होती है। सब्जियों को काटने से पहले धोएं–छिलके समेत ही काटें क्योंकि विटामिन सब से ज्यादा छिलके में होती है। काट कर धोने से बहुत से धुलनशील तत्व पानी में वह जाते हैं। सब्जियों को भाप में कम से कम पकाएं।

सब्जी–प्याज–अदरक–नमक वगैरा डाल कर बिना धी का तड़का लगाएं, ऊवालने रख दें। सब्जी बन जाने के बाद धी या मक्खन का प्रयोग करें। इस प्रकार की सब्जी अपने प्राकृतिक स्वाद में बनेगी और मिठास बनी रहेगी। आटे की चपाती बनाने से पूर्व आटा कम से कम एक धण्टा पहले अच्छी तरह गूंदे। इस से चपाती हल्की बनेगी और जल्दी पच जाएगी। सब्जियों के रूप में आलू–टमाटर–अरबी बगैरा ज्यादा न लें। यह रोटी के समान भारी है। सब्जियों में हरी सब्जियों का व्यवहार करना चाहिए। सब्जियां मौसम के अनुसार लेनी चाहिए। वे

मोसमी सब्जियाँ मंहगी भी होती हैं।

भोजन में फलों को ज्यादा स्थान देना चाहिए। फल मौसम के अनुसार जो प्राकृति पैदा करती है उसे खाएं। फल पूरा पूराप का होना चाहिए। फल रसदार–संन्तरा–मौसमी–मालटा–अनार– शहतूत–अनानास अधिक लाभदायक होते है। भोजन करते समय पानी नहीं पीना चाहिए–आवश्यक हो तो कम से कम लें। भोजन के साथ अधिक पानी पीने से भोजन पचता नहीं। अन्तड़ियां इसे पूरा निकाल नहीं पाती। पानी के दबाव से भेजन अन्तड़ियों में चला जाता है अनपच भोजन मलारद्वार द्वारा बाहर हो जाता है। पानी भोजन से एक धण्टा पहले या बाद में लेना चाहिए। रात के समय पानी भोजन के बीच में लेना चाहिए भोजन के पचने के बाद आंते धुल जाएं। सुबह उठ कर पानी पीने से शरीर में चैतन्य आती है, आंखो की रोशनी बढ़ती है। वैसे हर व्यक्ति को दिन में 2–3 किलो पानी पीना चाहिए। अच्छा यह है कि सुबह का पानी निम्बू डाल कर पियें। निम्बू से अन्दर के अंग साफ होते हैं और भूख बढती है। बार बार चाय पीने से प्यास मिट जाती है। पाचन यन्त्र शक्ति हीन हो जाते हैं। चाय–काफी–कोको कोला–लिम्का–तंबाकू– मांस– मदिरा आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए–यह पाचन यन्त्रों को नष्ट कर देते हैं। धी का अधिक प्रयोग परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को ही करना चाहिए। अन्य व्यक्तियों को धी तेल का प्रयोग बहुत कम करना चाहिए। वनस्पति के स्थान पर तेल का प्रयोग करना चाहिए वह अधिक लाभदायक है– सरसों का बहुत कम करना चाहिए, वह आधिक लाभदायक है– सरसों का तेल–मुंगफली का तेल –खोपरे का तेल–सोयाबीन का तेल खाने के योग्य है। दालें छिलके वाली खानी चाहिए। दाल बनाने से दो धण्टे पहले भिगो देनी चाहिए। साबुत दालें अंकुरित कर के खाएं। 60 वर्ष के ऊपर वाले व्यक्तियों को दाल का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। मैदा–सफेद चीनी–मिठाइयों का प्रयोग न किया जाए। चीनी के स्थान

पर गुड़ या मधु अधिक लाभदायक है। सर्दियों में दूध में चीनी के स्थान पर खजूर डाल कर लेनी चाहिए। यह क्षारपन देती है। भोजन निश्चित समय पर लेना चाहिए समय पर भूख न हो तो खाना मत खाऐं इस से आप को समय पर भूख लगेगी। रात के भोजन से दोपहर का भोजन हल्का होना चाहिए।

रात का भोजन सोने से डेढ़–दो धण्टे पहले लेना चाहिए, भोजन को दांतो से अच्छी तरह चबा कर खाना चाहिए। जब यह पिस जाए, रस बन जाए तभी उसे निगलें–भोजन थोड़ी भूख रख कर खत्म करें। आप को सोते हुए दूध पीने की आदत है तो खाना भूख रख कर खाएं, भोजन के आधा धण्टा बाद दूध पिएं–रात को सोते हुए नहीं। भेजन लेने के बाद 15–20 मिन्ट लेट जान चाहिए। इस योग को वामकुक्षि कहते है।

खाना खाने में परिश्रम करना पढ़ता है पसीना, भी आ जाता है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है–श्वास तेज हो जाती है। 15 मिन्ट लेटने से शरीर अपनी स्थिति में आ जाता है और भोजन जल्दी पचता है। बांई तरफ लेटने का कारण हमारा अमाशय तथा हृदय बांई ओर हैं, उन्हें आराम मिलता है।

उपवास :– सप्ताह में एक बार हमे उपवास भी करना चाहिए। स्वस्थ के लिए अच्छा ही नहीं आवश्यक भी है। उपवास से शरीर की शक्ति आन्तरिक शुद्धि में लग जाती है और यन्त्रों को आराम मिलता हैं।

उपवास में केवल पानी तथा निम्बू का सेवन करना चाहिए। ताकि अन्दर अन्दर के सभी यन्त्र भली प्रकार धुल कर साफ हो जाएं। शरीर की छोटी छोटी बिमारियां केवल उपवास से ही दूर हो जाती हैं।

जब भी कभी हल्का बुखार आए–सिर दर्द हो–पेचिस–पेट दर्द हो–खांसी–जुकाम–सर्दी बगैरा रोग हो–आप उपवास करें केवल पानी पर रहें। अपनी प्रकृति अनुसार ठण्डा या गर्म पानी लें पूर्ण विश्राम करें। रोग अपने आप भाग जाएगा। आप से कभी बदपरहेजी हो जाए– किसी

पार्टी या विवाह शादी पर जुबान के स्वाद के लिए अधिक भारी भोजन कर लिया जाए उस का एक ही पश्चाताप है एक दिन या 8–10 धण्टे उपवास कर लो। तो स्वयं ही विकार को बाहर कर देगा और कोई तकलीफ न रहेगी। उपवास रामवाण की तरह एक औषिध है।

भोजन कब करें

जब सच्ची भूख लगे तब खाना खाना चाहिए। खाना उतना ही खाएं जिस से भूख शान्त हो जाए। भोजन बिल्कुल सादा होना चाहिए। भेजन करते समय चित्त भोजन की ओर एकाग्र रखना चाहिए। जब तक पहले ग्रास को पूरी तरह न चबा लें इतनी देर दूसरा ग्रास मुख में न डालें। भोजन जल्दी में और क्रोध में न खाएं। ऐसा करने से हानि होती है।

भोजन कब न करें

जब चितित–क्रोधित अथवा शोक में हो तब भोजन मत कीजिए। अपनी इच्छा से बाहर कोई चीज मत खाएं। कोई उबलती–गर्म सी चीज या बर्फ जैसी ठण्डी चीज मत खाएं। यदि ठण्डी–गर्म खानी हो तो धीरे धीरे खाएं।

योग द्वारा रोगों का उपचार

योग और उस के आसनों की रचना सिर्फ उपचार के लिए नहीं की गई। फिर भी मैं कुछ आसनों का वर्णन कर रहा हूँ। कौन सा आसन किस रोग के उपचार में सहायक हैं। इस के साथ परहेज तथा भोजन के बारे में भी बताया गया हैं फिर भी रोग के उपचार में किसी जानकार की सलाह से ही चलना चाहिए।

1. कब्ज :– कब्ज में मैदे वाली तथा तली मिली चीजें नही खानी चाहिए। इस में ऐसी चीजें खानी चाहिए जिन में फोक वाले पदार्थ अधिक मिलें जैसे चौकर वाला मोटा आटा, छिलके वाली दालें, पत्ते दार सब्जियाँ, सब्जियों के सलाद–फलों में अमरूद–पपीता–संतरा आदि का

ज्यादा प्रयोग करना चाहिए। पानी अधिक पीना चाहिए। विशेष कर सुबह उठते ही ताम्बे के बर्तन का पानी पिएं।

आसनः– अर्धमत्स्येन्द्रासन–ऊतानपादासन–मकरासन विशेष सहायक हैं।

2. बवासीर :– इस रोग वाले व्यक्ति को भोजन बिना मिर्च मसाले लेना चाहिए। कच्ची सब्जी के रस तथा कब्ज तोड़ने वाला भोजन होना चाहिए, हर रोज गुदा में ऊंगली से तेल की मालिश करनी चाहिए।

आसनः– इस में बज्रासन–पश्चिमोतानासन–योगमुद्रा–मकासन–गोरक्षासन तथा हलासन करने चाहिए।

3. गैस के रोग **(Gastrie Trouble)**

इस में भोजन बहुत हल्का होना चाहिए और बहुत कम। पालक–बथुआ–मेथी आदि किसी भी साग को मिक्सी में पीस कर । आटे को छान कर साग को उस में मिलादें। यह साग वाला आटा रोटी तैयार करने से 8–10 घण्टे पहले गूथँ दें। आटे की सूखी चपाती बना कर खाएं। एक धण्टे के बाद थोड़ा सा गर्म पानी पियें। रात को केवल दूध या फलों का रस ही लें।

आसनः– पश्चिमोतानसन–अर्धमत्स्येन्द्रासन–बज्रासन– सुप्तवज्रासन–पवनमुक्तासन–हलासन आदि कुंजल तथा नौली भी नियम उनुसार कर सकते हैं।

4. मोटापा **(Obesity)** स्नान करते समय शरीर को तौलिए से अच्छी तरह रगड़ना चाहिए और मुक्कियां मारनी चाहिए और सूखी मालिश करनी चाहिए। खाने के लिए अधिक फलों का रस–सब्ज सब्जियों का सलाद, सब्जियों का रस पका हुआ सूप लेना चाहिए क्रीम निकला हुआ थोड़ा सा दुध भी लेना चाहिए।

आसनः– मोटापे को दूर करने के लिए सुप्तवज्रासन, सर्पासन, ऊतानपादासन, पश्चिमोतानासन, मक्रासन, हलासन इत्यादि।

इस में तेल की मालिश, धूप स्नान, शरीर को खूब रगड़ कर स्नान

करना चाहिए। भोजन में दूध, दही, पनीर, तथा फलों का रस अधिक प्रयोग करना चाहिए। चीनी के स्थान पर दूध में खजूर का इस्तेमाल करना चाहिए।

योग द्वारा रोगों का उपचार

5. वीर्य समबन्धी रोगः–

आसन–पश्चिमोतानासन–गोरक्षासन–अर्धमत्स्येन्द्रासन–सुप्तबज्रासन–धनुरासन हलासन इत्यिादि प्राणयाम जानने वाले नाड़ीशोधन प्राणायाम कर सकते हैं।

6. मधुमेह **(Diabities)** :– चोकर आटे का इस्तेमाल अति उत्तम है। चोकर आटे में कोई भी हरा साग विशेष कर बथुआ, मेथी से मधुमेह नियन्त्रन में रहता है। इस में मेथी, पालक, करेले का कच्चा रस, सब्जियों का सलाद, जामुन, फलों के रस आदि का अधिक प्रयोग रखने से मधुमेह ठीक हो सकता है। कुछ न कुछ मेहनत करते रहना चाहिए। असानः–पश्चिमोतानासन–योगमुद्रा–अर्धमत्स्येन्द्रासन–सुप्तवजासन–ऊतानपादासन, मकरासन तथा नाड़ीशोधन प्राणायाम का नितप्रति अभ्यास करना चाहिए।

7. नाक, कान, गले के रोग **(ear, nose and throat):-** नींबू, शहद गर्म पानी में मिला कर लें। एक छोटी इलाची 4–5 काली मिर्च तथा अदरक की चाय और हल्का सात्विक भोजन लेना चाहिए।

आसनः– भुजंगासन, हलासन, मत्स्यासन, अर्धमतस्येन्द्रासन, जल नेति करनी चाहिए।

प्राणायाम करने वाले भ्रामरी प्राणायाम तथा कुंजल–क्रिया भी कर सकते है।

8. लीवर के रोग **(Liver Diseases)** इस रोग मैं फैट वाले फल तथा भोजन बिल्कुल बन्द कर देने चाहिए। सब्जियों तथा फलों के रस मधु डाल कर, नीबूं शहद पानी में मिला कर तथा हल्का सात्विक तथा सूखा भोजन लेना चाहिए।

2) पश्चिमोतानासन

3) अर्धमत्स्येन्द्रासन और उष्ट्रासन प्राणायाम की जानकारी रखने वाले कुंजल तथा उड्डियान बंध कर के लाभ ले सकते हैं।

9. हाईब्लडप्रैशर **(High Blood Pressure)** नमक–मिर्च मसाले बिल्कुल बन्द करें अधिक से अधिक फलाहार–रसाहार–क्रीम निकला दूध व पनीर लाभदायक है। हल्का भोजन कम से कम आवश्यकता के अनुसार ही लें।

आसनः– पदमासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, शलभासन, ऊतानपादासन तथा पवनमुक्तासन। इन आसनों का अभ्यास अच्छी तरह से करें और साँस न रोकें। हर दो आसन करने के बाद शवासन 10 मिन्ट आवश्यक करे।

10. हृदय रोग **(Heart Disease)** कच्ची सब्जियों के रस, फल तथा फलों के रस का ज्यादा इस्तेमाल करें। संतरा, नींबू, शहद गर्म या ताजे पानी में ले।

सब्जी चने के सूप तथा दूध अधिक से अधिक लें। एक आध चोकर व साग वाले आटे की चपाती, सब्जी के साथ शुरू शुरू में कुछ न कुछ हल्का सा व्यायाम तथा सैर करे।

आसनः– चक्रासन, वज्रासन, भुजंगासन, शलभासन, ऊतानपादासन, मकरासन तथा पवन मुक्तासन का धीरे–धीरे अभ्यास करें। किसी जानकार की देख रेख में ही करें।

11. लो ब्लड प्रैशर **(Low Blood Pressure)** नींबू व शहद गर्म पानी में मिला कर लें मुनक्का तथा बादाम भिगो कर, दूध, पनीर व फल, सलाद तथा हल्का भोजन आवश्यकता अनुसार लें।

आसनः– सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, वज्रासन, शलभसन, ऊतानपादासन

इत्यिादी।

12. गुर्दे की दर्द **(Kidney trouble)**

नींबू पानी तथा मधु मिला कर लेना चाहिए। नींबू पानी, फलों के रस जैसे संतरा, मौसमी अनार, सब्जियों के रस व सूप लेने चाहिए। वायु पैदा करने वाली कोई चीज़ लेनी नहीं चाहिए जैसे :– आलू, गोभी, भिण्डी आदि।

इलाची, अदरक, काली मिर्च की चाय कुछ दिन लेनी चाहिए। भोजन एक समय, बाकी ऊपर वाला आहार लेना चाहिए।

आसनः– योगमुद्रा, अर्धमत्स्येन्द्रासन, उष्ट्रासन, सुप्तबज्रासन, भुजंगासन, पवनमुक्तासन तथा धनुरासन का अभ्यास करें।

13. सिर दर्द **(Head Ache)** पेट साफ करें तथा उपवास रखें या केवल फल और थोड़ा दूध लें।

आसनः– पश्चिमोतानासन, भुजंगासन, हलासन इत्यिादी का अभ्यास करें।

14. जोड़ों के दर्द गठिंया **(Rehumatic Diseases)**

आसन योगमुद्रा, बज्रासन, सुप्तवज्रासन, ऊतानपादासन मकरासन, पवनमुक्तासन प्रतिदिन करने चाहिए। जितना भी हो सके अभ्यास करना चाहिए।

धूप स्नान , मालिश करके, स्नान करने से जल्दी लाभ होगा। हर दो आसनों के बादशवासन 10 मिनट आवश्यक करना चाहिए।

15. हर्नियों (Hearnia) में कभी भी ज्यादा भोजन न करें। कभी कब्ज न होने दें। पेट साफ रखें। भोजन में फलों–सब्जियों के सलाद को स्थान दें। वायु करने वाली चीजें न खाएं।

आसनः– योगमुद्रा–पश्चिमोतानासन–सुप्तवज्रासन–ऊतानपादासन–पवनमुक्तासन का प्रतिदिन अभ्यास करे।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

योगासनों का अभ्यास अपने शरीरिक विकारों एवं शरीरिक स्थिति के अनुसार ही करना चाहिए। अपना आहार भी अपनी स्थिति अनुसार ही लेना चाहिए।

आजकल तो योग एक फैशन बन कर रह गया हैं रात शराब पीनी प्रातः योगाभ्यास करना नहीं नही – – – नही योग का अर्थ वृतियों में change परिवर्तन हो– सही अर्थ में साधक योगी बनने की और अग्रसर हो। चेहरे पर कान्ति हो–प्रसन्नता हो। जीवन के सही मूल्य की समझ आ जाए। रोगों से छुटकारा मिले। फिर योग का पूर्ण आनन्द है मेरी सभी साधकों से प्रार्थना है तन मन से योग की ओर अग्रसर हों ताकि आप का जीवन खुशियों से भर जाए और मंगलमय हो।

ॐ

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

जीवन और मृत्यु

● जीवन और मृत्यु आत्मा–परमात्मा को पाने के दो पहलू है। रात के बाद दिन, दिन के बाद रात होती है इ तरह जीवन और मृत्यु के चोले बदलते रहते है।

● दिन जितना प्यारा है, रात भी उतनी ही आवश्यक जीवन जितना प्यारा है, मृत्यु भी उतनी ही आवश्यक

● बचपन बदल गया-यौवन बदल गया बुढापा बदल शरीर बदल गया फिर तुम भी हो। तुम वह 'अमर आ हो जिस पर काल का भी कोई प्रभाव नही चलता।

● तुम्हारी अवस्थाएं बदलती हैं, तुम नहीं बदलते पहले तु सूक्ष्म रूप में थे। फिर बालक का रूप धारण किया। बाल्या वस्था छूट गई तो किशोर बन गये। किशोर–वस्था छूट गई तो जवान बन गयें। जवानी गई तो वृद्धावस्था आ गई तुम नहीं बदले, परन्तु तुम्हारी अवस्थाएं बदलती गई।

ड० विक्रम गुप्ता

योगाचार्य

यदि मौत पर विजय प्राप्त करनी हो, जीवन को सही तरीके से जीना हो तो योगियों के कहे अनुसार आसन करों, प्राणायाम करो, ध्यान करो, योग करो, आत्मचिंतन करो और ऐसा पद प्राप्त कर लो कि जहाँ मृत्यु की पहुचँ नहीं हैं।

हरे हरे * हरे राम + हरे राम × राम राम *

ॐ

त्रिकुटीविलासस्य

द्वितीयभागात्मकः

प्राणायामविधिः

श्रीमत्स्वामिहंसस्वरूपेणनिर्म्मितः

अलवर राजधान्याम्

श्री हंसाश्रम यन्त्रालये ।

मुद्रितः

संवत् १९८१ ॥

नवीं बार १०००

सूचीपत्र

१. प्राणायाम से लाभ पृष्ठ-२-५

२. प्राणायामके अधिकारी औ यम नियमके वीसोअंग ६.२६

३. प्राणायाम करनेका समय औ मात्रा २७-३०

४. प्राणायाम वालोंका पथ्यापथ्य ३०.३३

५. प्राणायामकेलिये स्थान ३४-३५

६. मूलबन्धादि मुद्राओंका वर्णन ३८—४०

७ षट्कर्म्म ४०—४८

८. कुंभकके भेदसे आठों प्रकारके प्राणायामका वर्णन ४६—५६

९. प्राणायाम सिद्ध होनेकी अत्यन्त सुलभ रीति जिसको शांभवी मुद्रा औ सहजसमाधि भी कहते हैं ५६—६६

१०. " अनाहतध्वनिश्रवण " जिसकोशुन्न समाधि औ राजयोगभी कहते है (योगसिद्धि होनेकी अत्यन्त सुलभरीति) ६७- ७२

ॐ

नमो विश्वम्भराय जगदीश्वराय ।

अथ

त्रिकुटी-विलास

जिसमें

प्राणायाम-विधि

सर्वसाधारण मोक्षाभिलाषियोंके कल्याण-

निमित्त

श्री १०८ स्वामी हंसस्वरूपजी

की

शिक्षानुसार कथन कियागया ।

VOL. II } { भाग २

Chapter I } { अध्याय १

ॐ पूर्णपरब्रह्मणे नमः ।

ॐ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु
सहवीर्य्यं करवावहै तेजस्विनावधीत-
मस्तु माविद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सर्व साधारण मोक्षाभिलाषियोंपर विदितहो कि इस पुस्तकके प्रथमभागमें सन्ध्याविधि और प्राणायामके भेद कथन होचुके हैं। अब इस अध्यायमें निम्न-लिखित बातें, जो प्राणायामके शीघ्र सिद्ध होजानेकेलिये अति आवश्यक हैं, पूर्ण प्रकार वर्णन कीजाती हैं।

१—प्राणायामसे लाभ।
२—प्राणायामके अधिकारी।
३—प्राणायाम करनेका ठीक समय।
४—प्राणायाम करनेवालोंकेलिये पथ्य और अपथ्य।
५—प्राणायामकेलिये स्थान।
६—प्राणायामकी सहायता करनेवाली क्रियायें।
७—आठों प्रकारके प्राणायामका वर्णन।
८—प्राणायामके शीघ्र सिद्धहोनेकी ठीक ठीक और सुलभसे सुलभ रीति।

प्राणायामसे लाभ।

हे प्यारे भारतनिवासियो! "प्राणायाम" हँसी ठट्ठेकी बात नहीं है। लौंडोंका खिलौना नहीं है, कि सब के हाथोंमें पकड़ादिया जाये। गप्प और मसख़री नहीं

है, कि केवल बातोंहीसे प्रसन्न करदिया जावे, बरु प्राणायाम वैदिक क्रियाओंमें एक मुख्यक्रिया है (अर्थात् क्लेश उठाकर करनेका कर्म है), जिससे वे बातें लाभ होती हैं, जो करोडों द्रव्य और राज्यकाराज्य देदेनेसे भी लाभ नहींहोतीं। अर्थात् इस क्रियासे लौकिक पारलौकिक दोनों प्रकारके आनन्द लाभहोते हैं। लोकमें तो सबसे पहिले आयुर्वलकी वृद्धि होती है। सर्वप्रकारके रोग नाश होजाते हैं। शरीर पुष्ट और आरोग्य रहता है। बुद्धि तीक्ष्ण होजाती है। कांति शोभायमान होती है। वृद्धता शीघ्र नहीं आनेपाती। अर्थात् ६० वा ७० वर्षसे पूर्व केश श्वेत नहीं होते। दृष्टि कम नहीं होती। शरीरका चमड़ा नहीं सिकुड़ता। परलोककेलिये चित्त ऐसा एकाग्र होजाता है, कि अपनेको आप पहचानने लगता है। सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा दीखनेलगता है। सब पदार्थों में ब्रह्मका चमत्कार भासनेलगता है। तीनों कालोंका ज्ञाता होजाता है। परमात्मस्वरूपमें समाधि होती है। अर्थात् अपने प्रियसे मिलनेका आनन्द लाभहोता है, जिस आनन्दमें आजतक ब्रह्मादि देवताभी मग्नहो समाधिस्थ होरहे हैं। सबसे उत्तम गुण तो इस क्रियाका यह है कि कैसाही घोरपापी हो इस क्रियाद्वारा शीघ्र शुद्ध होजाता है।

प्रमाण "यमः"।

दशप्रणवसंयुक्तैः प्राणायामैश्चतुः शतैः ।
मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किंपुनः शेषपातकैः ॥

प्रमाण "मनुः"।

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ताः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥

अर्थात् दश प्रणवके सहित प्राणायाम मन्त्र * के साथ चारसौ प्राणायाम करनेसे ब्रह्महत्यासे छूटजाताहै तो और पापोंकी तो गिनतीही क्या है ? यह यमका वचन है । फिर मनु भी कहते हैं, कि व्याहृति और प्रणवोंके साथ सोलह प्राणायाम प्रतिदिन करनेसे मासभरमें भ्रूणहत्या अर्थात गर्भके बच्चे मारनेके पातकसे छुड़ादेते हैं । मासभरमें १६ प्राणायामके हिसाबसे ४८० प्राणायाम मनुके बचनसेभी हुए ।

परंतु हा शोक ! इन दिनों प्राणायाम क्रियाकी कैसी दुर्दशा होरही है, सबोंपर प्रगट है । कोई तो कहता है, कि

* देखो भाग १ वृहत्सन्ध्याविधि पृष्ठ ८४ प्राणायाममंत्र ।

किसी क्रियाकी क्या आवश्यकता है? मैं स्वयं सिद्ध हूँ, बिना कुछ किये ब्रह्मको जानता हूँ। कोई प्राणायामका नाम सुनतेही कैसे चौंकउठता है, जैसे गोदका बच्चा घोघड़ वा हउआसे। कोई कहता है, कि इसके करने वालेकी जान निकलजाती है, आंखें फूटजाती हैं, कानके परदे फटजाते हैं, और रोगोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसे ऐसे अनेक उलटे पुलटे फल ऐसी उत्तम क्रियाके बताते हैं। फिर कोईकहताहै, कि गृहस्थाश्रमीको तो करनाहीनहीं चाहिये। ऐसे पुरुषोंकी बातोंपर हँसी आती है, और शोकभी होता है। क्योंकि वे नहीं जानते हैं, कि वेदने छोटे छोटे बच्चोंको इस क्रियाके आरम्भ करनेकी आज्ञा दी है। देखिये जिस समय उनके गलेमें यज्ञोपवीत लटकायागया, प्राणायाम के साहित सन्ध्या गायत्रीके अधिकारी हुए। तात्पर्य यह है, कि बचपनहीसे थोड़ा थोड़ाभी प्राणायाम का अभ्यास करतेचलेंगे तो चतुर्थ अवस्थातक समाधि लाभहोगी। जैसे पूर्वके राजा महाराजा चतुर्थ अवस्थामें सन्यास स्वीकारकर बनमें जा समाधिस्थहो मुक्ति-लाभ करते थे। पर अब इसको हानिसे चतुर्थ अवस्था आतेही कलेजेमें खांसी, गलेमें कफ, और हाथमें लाठीलाभ होती है। कारण इसका कुछ नहीं, केवल विद्या और सद्गुणोंका अभाव। इसमें

सन्देह नहीं, कि पहलेपहल यह क्रिया आरम्भकरनेवालों को अत्यन्त कठोर जानपड़ती है, और करनेकी रुचि नहीं होती। जैसे विद्यार्थियोंको पहले (अ, आ, क, ख,) वर्ण-माला अत्यन्त कठिन जानपड़ती है, और पढ़नेमें जी नहीं लगता, परन्तु जबपढ़लिखकर पण्डित होजाते हैं, पूजनीय होजाते हैं, अथवा बैरिस्टरी पासकर कचहरियोंमें द्रव्य लाभकरते हैं, तब फल समझमें आता है। इसी प्रकार **प्राणायाम** सिद्ध होजानेसेभी जब ब्रह्मका साक्षात्कार होनेलगजाता है, तब परिश्रमका फल जानपड़ता है।

प्राणायामके अधिकारी।

जो पुरुष निम्न-लिखित **यम और नियम**के दश दश अर्थात् बीसों अङ्गोंसे सम्पन्न हैं, वा इनकी प्राप्तिका यत्न कर रहे हैं, वे वृद्ध हों वा अतिवृद्ध हों, बालक हों वा युवा हों, रोगी हों वा दुर्बल हों, कैसेही क्योंन हों, आलस्य रहित होकर अभ्यास करनेसे अधिकारी होसकते हैं। और यदि करें तो सिद्ध होसकते हैं; क्योंकि यह क्रिया करनेहीसे सिद्धहोती है; केवल योग-शास्त्र पढ़नेहीमात्र से सिद्ध नहीं होती।

प्रमाण ।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा । अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ क्रियायुक्तस्य सिद्धिःस्यादक्रियस्य कथं भवेत् । नशास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥

अब प्रथम यमके अंग कथन कियेजाते हैं--

१ यम ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं क्षमाधृतिः । दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश: ॥ अर्थात् अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य्य ४, क्षमा ५, धृति ६, दया ७, आर्जव ८, मिताहार ९, और शौच १०, ये दश अङ्ग यमके हैं ।

१. अहिंसा—ब्रह्मलोकसे पातालतकके निरपराधी और असमर्थ जीवोंको, अपनी आत्माके समान जान, अपने सुख वा जिह्वा-स्वाद-निमित्त हनन न करना वा किसी और प्रकारका शारीरिक वा मानसिक-दुःख न देना ।

प्रमाण "मनुः" अध्याय ५ ।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । सजीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥ ४५ ॥ योबन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्यहिते प्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । नच प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥ अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी संस्कर्ताचोपहर्ताच खादकश्चेतिघातकाः ॥ ५१ ॥

अर्थात्–जो अपने सुख और स्वादकेलिये निरपराधी जीवोंको हननकरता है, वह न जीवतेही इस लोकमें कुछ सुखपाता है, और न मरनेपर परलोकमें किसी आनन्दको लाभकरता है। अर्थात दोनों लोकों को जानबूझकर आपसे आप नष्ट करदेता है ॥ ४५ ॥ जो प्राणी किसी जीवको बांधता मारता नहीं, वह सबका हितकारी और प्यारा होनेके कारण अत्यन्त सुखको प्राप्तहोता है ॥ ४६ ॥

फिर किसी जीवकी जानमारे बिना मांस नहीं मिल सकता, और जीवका वधकरना स्वर्गका कारण नहीं, बरु नरकका मूल है, इसलिये मांस खानाही नहीं चाहिये ॥ ४८ ॥ क्योंकि मारनेकी आज्ञा देनेवाला, कुटिया अर्थात् मांसका टुकड़ा बनानेवाला, मारनेवाला, मोललेनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला अर्थात् खानेकेलिये आगे लाकर रखनेवाला, और खानेवाला, ये आठों हिंसाके अपराधी, अर्थात् घातक, हैं। ५१ ।

अब मनुकी इस आज्ञासे सिद्धहोता है, कि किसी जीव के वधमें थोड़ीभी सहायता करनेसे वा साझी (शरीक) होनेसे हिंसाका अपराधी होनापड़ता है । जैसे साहिब जज बहादुर के इजलासमें किसी खूनके मुकदमेमें जितने सहायक और साझी होते हैं, सब दंडपाते हैं। इसीप्रकार न्याय-कर्त्ता परमात्माभी इन आठोंको अवश्यही दण्डदेवेगा।

अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमस्तपः ।
अहिंसा परमो लाभः, हिंसायां परमो ह्यघः ॥

अर्थ– " अहिंसा " परमधर्म है, परमतप है, परमलाभ है , और " हिंसा " परमअघ (पाप) का मूल है ।

२. सत्य— जोकुछ अपनी आंखोंसे और कानोंसे देखासुनाहो, गुरु और शास्त्रद्वारा जानाहो, और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बोधहुआहो, उसे ठीक—ठीक दूसरे के सामने समयानुकूल पूछेजानेपर कहदेना। किन्तु यह ध्यान रखना, कि वार्ता तो सत्यहो, पर कठोर अर्थात् किसीके अन्तःकरणको दुखानेवाली नहो, बरु प्रियहो।

प्रमाण "मनुः" अध्याय ४ श्लोक १३८, १३९।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यम-
प्रियम्। प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः
सनातनः॥ १३८॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा
वदेत्। शुष्कवैरं विवादंच न कुर्य्यात्के-
नचित्सह॥ १३९॥

अर्थात् सच बोलो, पर उसे प्रियकरके बोलो! अप्रिय अर्थात् कठोर न बोलो! जैसे किसी अधिक भोजन करनेवाले पुरुषको जब समझानाहो तो ऐसे कहना चाहिये कि "भाई आपकी जठराग्नि ऐसी प्रबल है, कि आप और लोगोंसे कुछ अधिक अन्न पचासकते हैं; पर भाई! अधिक भोजन करनेसे अजीर्ण इत्यादि नाना

प्रकारके रोग उत्पन्नहोते हैं, इसलिये जहांतक होसके कम भोजन करना चाहिये"। फिर इसी बचनको यदि ऐसे कहैं, कि "तूतो बड़ा पेटू है, डेढ़सेर ठूंसलियाकरता है, अच्छा बच्चा खूब ठूँसो! मरोगे" तो बात वही हुई, पर कठोर हुई। फिर यहभी ध्यान रखनाचाहिये, कि प्रिय बचन हो, पर झूँठ न हो; जैसे कोई पुरुष किसी से कुछ लेनेके लोभसे ऐसा कहे, कि आपतो ईश्वर हैं ॥ १३८ ॥

फिर जब बोले तब भद्र अर्थात् कल्याणमय बचन बोले; यदि कोई अमंगल भीहो, तो ऐसी चेष्टा करे, कि उसे मंगल करके बोले। जैसे कोई पुरुष मरगयाहो, तो ऐसे कहना, कि अमुक प्राणीका स्वर्ग-वास होगयाहै। इसीप्रकार जब बोले तो सर्व मंगलही बोले।

निष्प्रियोजन किसीकेसाथ वैर-विरोध बढ़ानेवाला विवाद नकरे, और सूखा तथा कठोर न बोले।

फिर पातञ्जलि अ० २ सूत्र ३६ में लिखा है कि

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"।

अर्थात् जो पुरुष सदा सत्य बोलनेकी चेष्टा करता है, उसीको उसकी सब क्रियाओंका फल मिलता है, और झूँठे पुरुषकी कोईभी क्रिया सिद्ध नहीं होती।

३. **अस्तेय**— जो वस्तु अपनी नहीं है उसे कभी नहीं लेना, चोरी न करना, अथवा और किसीप्रकार धोखा वा छलसे दूसरेकी वस्तुको ग्रहण न करना।

मनुः। येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥

अर्थात् जिस जिस अङ्गसे जिस जिस युक्तिसे चोर चोरीकरे, राजाको उचित है, कि उसके उन अङ्गोंको उसी प्रकार कटवादेवे। फिर यह अस्तेय वह उत्तमसाधन है, कि जिसकिसीमें यह क्रिया पूरीहोगई उसके समीप सब रत्न, हीरे, लाल, बिना इच्छाकियेही आपसेआप चलेआते हैं।

प्रमाण।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

पात० अ० २ सू० ३७

४. **ब्रह्मचर्य्य**—किसी स्त्रीकी ओर काम-दृष्टि न करना। यदि गृहस्थाश्रममें हो, तो अपनी धर्म-पत्नीको छोड़ और किसी पर स्त्रीके संग काम-चेष्टा नहीं करे, वरु अपनी स्त्रीके संगभी बिना पुत्रादि प्रयोजन के काम-क्रीड़ा न करे, ऐसा गृहस्थभी सदा ब्रह्मचारीही है। इस क्रियासे वीर्य्य पुष्ट होता है। शरीर बलवान होजाता है। बुद्धि तीक्ष्ण होजाती है। लक्ष्मीकी वृद्धि होती है। संस्कार और

तेजभी दिनदिन अधिक होतेजाते हैं, जैसा पतञ्जलीने कहा है, कि—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

पात० अ० २ सू० ३८।

फिर मनुका भी वचन है—

मनु० अ० ९ श्लोक ४१।

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वसव्यं न जातु परयोषिति॥

अर्थात् ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र-संपन्न बुद्धिमान, यदि आयुर्बलकी वृद्धि और पुष्टि चाहता हो तो, परस्त्रीके गर्भमें अपना बीज कभी न बोवे।

५ क्षमा—जो कोई अपने साथ कोई बुराई करे तो उसका बदला न लेना, बरु समयपर उसकी भलाई करदेना; अर्थात् समर्थ होनेपर भी असमर्थोंको अपराधका बदला न लेना, बरु उनके दोषोंको स्मरण करतेहुए भी उनकी रक्षा करनी ; जैसे जगदीश्वर जीवों के पापोंको स्मरण रखतेहुये भी उनकी रक्षाकरता है, इसलिये क्षमासागर कहाजाता है।

६. धृति—किसी आपत्तिमें चंचलहोकर अपनी

निष्ठा भ्रष्ट न करनी, और विश्वास न छोड़देना । चाहे कैसाही कठोर समय क्योंन आजावे, आंखमूंद दृढ़ताके साथ सहन करलेना ।

गोस्वा० तुलसीदासजी, चौपाई—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
आपतकाल परखिये चारी ॥

७. दया— किसी प्राणीको दुखित देखकर उसके दुःख-निवारणार्थ क्लेशित होना; अर्थात् दुखी जीव जो अपनेसे निर्बल हो, अपने आधीन हो, अपनी शरणमें आया हो, वा किसी आपत्तिमें फँसा हो, यथा शक्ति सहायता करनी, और उसकी इच्छा पूर्ण करदेनी ।

८. आर्जव— अन्तःकरणका शुद्ध और निश्चल रखना । कपट, छल, और प्रपंचादिसे, कोसों दूर भागना । बुद्धिसे अपना समय व्यतीत करना । किसीको अपनेसे नीचा न जानना । स्वयं अपनी प्रशंसा न करनी ।

९. मिताहार— न इतना अधिक भोजन करना, जिससे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होजावें; और न इतना कम भोजन करना, जिससे शरीर निर्बल होजावे ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

मनु० अ० २ श्लोक ५७ ।

अर्थात् अतिभोजन रोगोंका उत्पन्नकरनेवाला है, इसलिये मृत्युका कारण है । फिर अस्वर्ग्य है, अर्थात् अधिक भोजनसे स्वर्गप्राप्ति-निमित्त यात्रादि क्रियायेंभी नहीं होसकतीं । फिर अपुण्य है, अर्थात् अधिक भोजन से किसी प्रकारका पुण्यभी नहीं होता । फिर लोक-विद्विष्ट है, अर्थात् लोकमें भी निन्दा होती है, कि अमुक पुरुष बड़ा खानेवाला वा पेटू है । इसकारण बुद्धिमानको चाहिये, कि अधिक भोजन न करे ।

१०. शौच-यह दो प्रकारका है, शारीरिक और मानासिक ।

१. शारीरिक शौच—मृत्तिका और जलसे शरीर और वस्त्रादि को शुद्धरखना । मल, मूत्र परित्यागके समय मल-स्थानमें पांच बार, और मूत्र-स्थानमें एक बार मृत्तिका लगाकर पश्चात् जलसे शुद्धकरना, तत्पश्चात् अच्छे प्रकार मुँह धोना । दंतधावन करना; अर्थात् कमसेकम एक घड़ीतक दांतोंको भलीभांति अच्छे मोटे दातवनसे,

जो कनिष्ठा अँगुलीके समान मोटा हो, शुद्धकर कमसे कम सातबार जिह्वाके मलको निकालना। ऐसा नहीं करनेसे दांत और जिह्वा शुद्ध नहीं होती। मुखसे एक प्रकार का दुर्गन्ध आता है। फिर केशोंको अच्छे प्रकार झाड़ना, कि जूयें (लीक) न फैलजावें, वा और किसी प्रकारसे घृणा न उत्पन्न हो। फिर स्नानके समय कटिसे जंघातक मृत्तिका लगा स्नान करना। स्त्री-प्रसंगके पश्चात् सर्वाङ्गमें मृत्तिका लगा स्नानकरना। और ध्यान रखंना, कि जिस वस्त्र को पहिनकर स्त्रीप्रसङ्ग किया हो, उसको पहनेहुये स्नान न करना, बरु उसको उतारकर दूसरे वस्त्रको धारणकर स्नान करना; क्योंकि मनुकी आज्ञा है, कि " अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति ", अर्थात् जलहीसे शारीरिक शुद्धि होती है।

२. **मानसिकशौच**—कपट, छल, प्रपञ्च, पाखण्डादि को परित्यागकर सबसे सच्चाहो रहना; और शुद्ध चित्तसे सबके सङ्ग मित्रतारखनी; और अपना कोई अर्थ अनुचित रीतिसे लाभ न करना।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि सः शुचि र्न मृद्वारि-
शुचिःशुचिः॥ मनु० अ० ५ श्लोक १०६।

अर्थात् सब शौचोंमें "अर्थ-शौच" * उत्तम है; क्योंकि जिसको अर्थशुचि प्राप्त है, वही शुद्ध है; नहीं तो, चाहे कितनाही मिट्टी और जलसे शरीर धोया करे, शुद्ध नहीं होसकता।

ये दशों अङ्ग "यम" के कथन होचुके; अब "नियम" के दशों अङ्ग वर्णन कियेजाते हैं।

नियम।

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वर-पूजनम्। सिद्धान्त-वाक्य-श्रवणं ह्रीमती च जपोहुतम्॥

अर्थात्—तप १, सन्तोष २, आस्तिक्य ३, दान ४, ईश्वरपूजन ५, सिद्धान्त-वाक्य-श्रवण ६, ह्री ७, मती ८, जप ९, हुत १०, ये नियम के दश अङ्ग हैं।

---

* अपने अर्थ-साधनके लिये दूसरे के साथ छल, कपटादि नहीं करना, और शुद्ध चित्तसे जहांतक अर्थ-लाभ हो उसीपर सन्तोष करना, अर्थशौच है।

१. तप– तपस्या, अर्थात् ईश्वरके प्रेममें तप्त होना। ईश्वरसे मिलनेके निमित्त नानाप्रकारके क्लेशोंको सहन करना। जिस आश्रम और वर्णमें हो, उसके नियमोंको विधिपूर्वक पालन करना *। शरीर और इन्द्रियोंको बुरे कार्य्योंसे हटाकर भले कामोंमें लगाना, क्योंकि ऐसे तपसे सब पाप नाशहोकर शरीरके साथ इन्द्रियां निर्मल, शुद्ध, और सिद्ध, अर्थात् वशीभूत होजातीहैं।

प्रमाण।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

पात० अ० २ सू० ४३।

तपप्रशंसा।

"मनुः" अध्याय ११।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषिकं सुखम्।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥ २३४॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २३६॥

* मनुः अ० ११ श्लोक २३५।
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्यतु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम्॥ २३५॥

यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वंतु तपसा साध्यम् तपोहि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्य्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः ॥ २३९ ॥
कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च पयांसिच ।
स्थावराणिच भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

अर्थात् जितने भी सुख देवताओं वा मनुष्योंको प्राप्त हैं, सबका मूल तपस्याही है । ज्ञानियोंने मध्यमें उन सुखोंकी स्थितिभी तपहीसे कही है; और उत्तम वेदज्ञों ने इनका अन्ततक प्राप्तरहनाभी तपहीसे वर्णनकिया है ॥ २३४ ॥ फिर काया, मन, तथा वाणीके संयमकरने-वाले, तथा कंद, मूल, फल, और वायुके आधारपर रहनेवाले ऋषिलोग तीनों लोकोंके जड़ और चैतन्य के वृत्तान्तोंको तपहीके बलसे बैठेबैठे जानलेते हैं ॥२३७॥ फिर जो कुछ दुस्तर, अर्थात् ग्रहादिके विकारसे कठिन, दुख हैं; और जो कुछ दुराप, अर्थात् अत्यंत कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य हैं, जैसे विश्वामित्रका क्षत्रीसे ब्राह्मण होना वा

और जो कुछ दुर्गम हैं, जैसे मेरु आदि पर्वतोंपर चढ़ना; और जो कुछ दुष्कर हैं, जैसे माणि, स्वर्ण, गोदानादि करना; वह सब केवल तपस्याहीसे साध्य होजाते हैं, क्योंकि तपस्या अतिउग्र बल है ॥२३९॥ फिर महा-पातक अर्थात् ब्रह्महत्यादि पाप, और भी अनेक दुष्कर्म तपस्याहीसे नाश होजाते हैं ॥ २४० ॥ फिर कीट, सर्प, बिच्छू, पशु, पक्षी, स्थावर, वृक्षादि, सब तपहीके बलसे स्वर्ग चलेजाते हैं; क्योंकि ये जीव, जिन पापोंसे ऐसी योनि पाते हैं, सब पापोंके उनकी स्वाभाविक-तपस्यासे, अर्थात् शीत, और उष्णके सहनेसे, क्षीण होजानेके कारण, फिर अन्तमें सुखको प्राप्तहोते हैं ॥ २४१ ॥

फिर जो जो पाप मन, वचन, और शरीरसे उत्पन्न होते हैं, वे सब तपहीसे नाश होजाते हैं, इसकारण यह तप परमधन है। इस धनका यत्न विधिपूर्वक करनाचाहिये ॥ २४२ ॥

फिर ऋग्वेदमें कहा है, कि इस त्रिलोकीकी रचनाभी ईश्वरके तपरूप बलहीसे होती है।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत &c. &c.

ऋ० अ० ८ व० ४८ ।

२. सन्तोष—कर्मानुसार जोकुछ प्राप्ति हो जावे, उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार करलेना; त्याग न करदेना । जो वस्तु प्राप्त न होवे, उसके लिये इच्छाभी न करनी । खोई वस्तुका शोक न करना; और ईश्वरको सब इच्छाओंका पूर्ण करनेवाला जानना ।

सन्तोषादनुत्तमस्सुखलाभः ।

अर्थात् सन्तोषसे ऐसा सुख लाभहोता है, कि जिससे बढ़कर उत्तम कोई दूसरा सुख नहीं ।

३. आस्तिक्य—सदा इस विश्वासको दृढ़ रखना, कि इस जगतका कर्ता कोई पुरुष है, जिसे हम लोग सर्व-शक्तिमान-जगदीश्वर, मुसलमान खुदा, और अंग्रेज गौड (God) के नामसे पुकारते हैं । यद्यपि वह किसी इन्द्रियद्वारा देखा, सुना, वा जाना नहीं जाता, तथापि ऐसा न समझना, कि ईश्वर नहीं है, अर्थात् नास्तिक वा नेचरिया न बनजाना, फिर अपने मतके ग्रन्थोंमें, अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराणादिमें, महापुरुषोंके वचनोंमें, और प्रयागादि तीर्थोंमें विश्वास रखना ।

४. दान—यथाशक्ति दुर्बलोंके उपकार-निमित्त अपने उपार्जन कियेहुये द्रव्यमेंसे कुछ देना; अर्थात् ऐसे स्थानमें द्रव्यको व्यय करना कि जिससे किसी प्रकार का लौकिक, वा पारलौकिक सुखका पराये निमित्त साधन हो। जैसे पाठशाला, गोशाला, धर्मशाला, वा चिकित्सालयके बननेमें, वा किसी निर्धनकी कन्याके विवाहमें, वा विधवा और उन बालकोंकी रक्षामें जिनके माता पिता न हों। यदि उक्त कार्य्योंमें व्यय करनेका सामर्थ्य न हो, तो भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, और नंगेको वस्त्र, देना भी उत्तम दान † है।

५. ईश्वर पूजन—चलते, फिरते, हँसते, खेलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते, सदा ईश्वरको स्मरण रखना, और सब वस्तुओंमें उसीका तेज मानकर ईश्वरमय देखना, इसप्रकार ईश्वरमें चित्तलगाये रहनेसे समाधि सिद्ध होजाती है।

---

† जाने रहो, कि जो मूर्ख अपनी इन्द्रियोंके स्वादनिमित्त वेश्या और भड़ुओंमें तो लाखों व्यय करदेता है, परन्तु दान नहीं देता, तो किसी दिन उसका उतना धन अवश्य चोरों वा अग्निद्वारा नष्ट होजायगा। फिर उस समय पछताना पड़ेगा, कि इतना द्रव्य दान देदेते तो अच्छा था।

प्रमाण।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

पात० अ० २ सू० ४५।

६. सिद्धान्त-वाक्य-श्रवण- जो जो बातें वेद, वेदान्त, श्रुति, स्मृति, और महापुरुषोंके अनुभवद्वारा सिद्ध कीहुई हैं, उनको ज्ञानियोंकी मण्डलीमें बैठ श्रवणकरना, क्योंकि बिना सिद्धान्त-वाक्योंके श्रवणकिये शुभआचरण नहीं होसकते।

प्रमाण मनुः अ० २ श्लोक ८, ९।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान स्वधर्मे निविशेतवै॥ श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमं सुखम्॥

अर्थात् सर्व शास्त्र और श्रुतिके प्रमाणोंको देखकर, और सर्व ज्ञान-विज्ञानके तत्वोंको भली भांति सुनकर विद्वानोंको अपने धर्ममें प्रवेशकरना उचित है। जो मनुष्य श्रुति और स्मृतिके अनुसार कर्मोंको करता है, वह इस लोक में यशपाता है, और परलोकमं उत्तम सुख लाभकरता है

७. ह्री— सलज्ज रहना । स्वार्थ-वश होकर लज्जा परित्याग न करदेनी । अपने कुल, वंश, जाति तथा घरकी जो मर्य्यादा हो, उसे उलंघन न करना ।

८. सती—संसारके विषय-सुखसे लेकर स्वर्गतकके सुखकी इच्छा न करके केवल ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, ऐसी बुद्धि रखेहुये सदाचारमें लगेरहना ।

प्रमाण मनुः अध्याय ४ श्लोक १५६, १५७, १५८ ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारोहन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥ दुराचारोहिपुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागीचसततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ॥ १५७ ॥ सर्वलक्षणहीनोपि यः सदाचारवान्नरः । श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतंवर्षाणिजीवति ॥ १५८ ॥

अर्थात् सदाचरणसे आयु, पुत्र, पौत्र, तथा अचल धनादि प्राप्त होते हैं, और देहका अरिष्ट नाशहोता है ॥ १५६ ॥

दुराचारी सदा लोकमें निन्दित, दुखी, रोगी, और थोड़ी आयुवाला होता है ॥ १५७ ॥ सर्वलक्षण-हीन मनुष्य भी यदि सदाचार करता है, और किसीका दोष प्रगट नहीं करता, तो वहभी सौ वर्ष जीता है ॥ १५८ ॥

९. जप—प्रणव, गायत्री आदि मन्त्रोंको, जो गुरुसे मिलेहों निरन्तर जपकरना, यह जप यज्ञ और सब प्रकारके यज्ञोंमें श्रेष्ठ है। यह तीन प्रकारका है, वाचिक, उपांशु, और मानसिक। (देखो त्रिकुटि-विलास भाग १ अध्याय २ पृष्ठ ६१)।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रोमानसः स्मृतः॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

मनुः० अ० २ श्लो० ८५, ८६।

अर्थात् दर्श पौर्णमासादि जो विधि-यज्ञ हैं, उनसे दशगुनी वाचिक-जप, सौगुनी उपांशु-जप, और हजार गुनी मानसिक-जप, को विशेषता है ॥ ८५ ॥

होम, वैश्वदेव, श्राद्ध, और अतिथि भोजन ये चारों पाक यज्ञ और उक्त विधि यज्ञादि सब मिलकर जप यज्ञ के सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं॥ ८६॥

१०. हुत—अर्थात् होम करना, वेदों की आज्ञानुसार वैदिक मन्त्रोंसे हवनकी सामग्रियां, समिध आदिक एकत्र करके पौर्णमासादि समय २ पर हवन करना क्योंके प्रगट है कि इन दिनों हवनादि यज्ञों के नहीं होनेसे प्रायः अनावृष्टि होजाती हैं जिससे अन्न उत्पन्न नहीं होता, प्रजा दुःखी रहती है ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

मनु०अ० ३ श्लोक ७६ ।

अर्थात् आहुति से रस आदित्य में जाता है, तिस आदित्य (सूर्य्य) से वर्षा फिर वर्षासे अन्न और अन्नसे प्रजाकी वृद्धि होती है, इस कारण ज्ञानियों विद्वानोंको समय २ पर हवन अवश्यही करना उचित है ।

फिर ईश्वरके प्रेम रूपी अग्निमें तन, मन, और धनको भस्म करना भी सच्चा होम है ।

अब हे प्यारे धर्मावलम्बियो! उक्त "यम" और "नियम" के जो दश दश अङ्ग कथन किये गये हैं इन बीसों अङ्गों का अभ्यास करने वाला प्राणायाम का सच्चा अधिकारी है ॥

प्राणायाम करनेका समय।

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्य्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥

हठ० २। ११।

अर्थात् अरुणोदयसे लेकर तीन घड़ी पर्य्यन्त जो प्रातःकालकी सन्ध्याका समय है और मध्यान्ह दिनके पांच विभाग करने से जो मध्य भाग होवे तिसमें फिर सूर्य्यास्तके एक मुहूर्त पहिलेसे लेकर तीन घड़ी पीछे तक जो सायं सन्ध्याका समय है, फिर अर्धरात्रि, इन चारों समय में अस्सी २ (८०) प्राणायाम करना उचित है यदि अर्धरात्रिको न होसके तो तीनही समय २४० प्राणायाम करे और यदि मध्यान्हमें भी असम्भव हो तो प्रातः और सायं दोही समय १६० ही प्राणायाम किया करे।

प्रथम साधन वालेसे अलसी २ प्राणायाम एक समय होना असम्भव है तथापि उचित है कि तीन प्राणायामसे (जो सन्ध्यामें करते हैं) लेकर जहां तक अधिक होसके बढ़ानेका परिश्रम करे।

अब वह प्राणायाम कालके भेदसे तीन प्रकार का है, १ कनिष्ट २ मध्यम और ३ उत्तम ।

कनीयसि भवेत् स्वेदः कंपो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥

हठ० २ । १२

अर्थात् कनिष्ट प्राणायाममें पसीना * निकलता है, मध्यममें कंप होता है और उत्तममें प्राण ब्रह्मरंध्रको पहुंच जाता है।

कुछ कम ४२ विपल अर्थात् आधे मिनट तक कुम्भक रहे सो कानिष्ट प्राणायाम काल, और ८४ विपल के लग भग अर्थात् एक मिनट कुम्भक रहे सो मध्यम प्राणायाम काल और १२५ विपल अर्थात् डेढ़ मिनट कुम्भक रहे सो उत्तम प्राणायाम काल है, जब एवम् प्रकार उत्तम प्राणायाम काल लाभ होता है तब

---

* प्राणायाम के समय जो पसीना निकले उसे तेलके ऐसा शरीरमें मर्दन करनेसे शरीरमें दृढ़ता और लघुता अर्थात् फुरती होती है।

प्राण ब्रह्मरंध्रमें अर्थात् सहस्र दलकी कर्णिका में, जिसको भ्रमर गुफा भी कहते हैं और जहां साक्षात् हंस स्वरूप परम चैतन्य कला जगदीश्वर तत्व करोड़ों सूर्य्यकी ज्योतिसे भी अधिक प्रकाशित है जा पहुंचता है फिर एवम् प्रकार ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश किया हुआ प्राण उस स्थानमें २५ पच्चीस पल तक अर्थात् १० मिनट तक स्थित रहे तो धारणा होती है और ६ छः घड़ी तक स्थित रहे तो ध्यान होता है और १२ दिन तक स्थित रहे तो समाधि होती है।

इस रीतिसे जो साधक जितना अधिक गुरु कृपा से परिश्रम करसकेगा उतना शीघ्र समाधि लाभ कर सकता है, यदि यह शंका हो कि इसके मध्य ही में मृत्यु आजावे तो परिश्रम व्यर्थ हुआ तो उत्तर यह है कि एक तो इस क्रिया वालेकी शीघ्र मृत्यु होती ही नहीं जैसे २ क्रिया करता जाता है वैसे २ आयु बढ़ती जाती है दूसरे यदि ऐसीही आयुकी क्षीणता हो कि मृत्यु आही जावे और क्रिया पूरी न हो सके तो वह पुरुष नरकादिके दुखोंसे एक दम बच जावेगा और किसी नीच योनिमें कदापि नहीं जन्म लेगा किन्तु नाना प्रकारके सुखोंको भोगता हुआ फिर किसी

योगी, धर्मात्मा, धनवान, कुलीनके घरमें जन्मलेगा जहां फिर उसको अपनी क्रिया बढ़ानेका सावकाश मिलेगा, एवम् प्रकार अनेक जन्मोंके संस्कार एकत्र होनेसे कैवल्य परम पदको लाभ करेगा जैसा श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने गीतामें अर्जुनसे इसी विषय पर कहा है कि :—

प्राप्य पुण्य कृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

अ० ६ श्लो० ४१

अर्थात् योग भ्रष्ट प्राणी अनेक लोकोंके सुखोंको भोगता हुवा फिर पवित्र धनवान कुलमें जन्म लेता है।

प्राणायाम करनेवालोंका पथ्यापथ्य।

अर्थात् प्राणायाम करने वालोंके लिये क्या पथ्य हैं और क्या अपथ्य हैं वर्णन किये जाते हैं:—

अपथ्य

पूर्वमें मिताहार यमका अङ्ग वर्णन हो चुका है सो साधक मिताहारी हो और नीचे लिखी हुई वस्तुओंको भूलकर भी भोजन न करे।

कटूवम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक,
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल,
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥

ह० १ । ५६

अर्थात् कड़ुई, खट्टी, तीक्ष्ण, (लालमिरचादि) अत्यन्त नमक, अत्यन्तगर्म, (गुड़ादि) हरीतशाक, (पत्रशाक) कांजी, तैल, तिल, सरसों, मद्य (शराब) मछली, बकरी, शूकर, पक्षी आदिका मांस, दही, तक्र, कुलथी, बेरका फल, तिलपिण्डी, हींग, लहसुन, प्याज, गाजर, उड़द, ये सब वस्तु साधकोंके लिये अपथ्य हैं, । फिर

भोजनमहितं विद्यात्पुनरप्युष्णीकृतं रूक्षम् ।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥ वर्जयेदुर्जनप्रान्तं वह्निं स्त्री पथिसेवनम् । प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं तथा ॥

ह० १ । ६०

अर्थात् जो भोजन पहिले ठंडा होगया फिर उसे गर्म करके खाना हानि कारक है, और जो अन्न रूखा घृत रहित होवे और सड़कर खट्टा हो गया हो उसमें गंध आ गया हो और उत्कट हो तो कदापि भोजन नहीं करना फिर दुर्जनके साथ बैठना, आग तापना, स्त्री प्रसङ्ग करना, मार्ग चलना, प्रातःकाल जाड़ेके दिनोंमें ठंडे जलसे अर्थात् रातका रखा हुआ बासी जल अथवा कूपसे देरके निकाले हुये जलसे स्नान करना, उपवास करना अथवा और किसी प्रकारका मिथ्या क्लेश शरीरको देना, साधकोंको एक दम वर्जित हैं, परंच यदि गृहस्थ हो तो ऋतु-कालमें भार्य्या गमन और जो अत्यन्त शीत काल हो तो अग्नितापना और तीर्थादिमें थोड़ा थोड़ा मार्ग चलना निषेध नहीं।

योगाभ्यासीको अभ्यास कालमें बहुत बोलना, बहुत चलना, बहुत सोना, बहुत जागना, बहुत भोजन करना अथवा किसी प्रकारका बहुत क्लेश उठाना नहीं चाहिये जब अभ्यास सिद्ध हो जावे तब चाहे करे।

अनेक शास्त्रोंका चिन्तन करना भी साधकोंके लिये निषेध है।

पथ्य ।

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नं,
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं,
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यतीन्द्रपथ्यम् ॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातु प्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥

हठ० १ । ६२, ६३

अर्थात् गेहूं, चावल शाठी, शमा, कँगनी, दूध, घृत शर्करा, माखन, मिश्री, शहत, शुंठी, परवर, पनस, (कटहल) जमीकन्द, सूरन, रतालू, चौलाई, मूंग, अरहर, निर्दोष फलादिक, और कूपकाजल साधकोंके लिये पथ्य है ॥६२॥ देहको पुष्टकरे ऐसा ओदनादि (भात) शर्करा सहित होय घृत, दूध गऊका, यदि गऊका नमिले तो भैंसका भी ग्राह्य है, धातुको पोषण करे ऐसाजो लड्डू, पूआ, पूरी, जलेबी, पेड़ा, जो मनको रुचिकरे, परंच अपथ्य न हो, ऐसे पदार्थों को साधक भोजनकरे, केवल सत्तू वा चनाचाबकर रहजाना ऐसा भूलकर भी साधक कभी नकरे ॥ ६३ ॥

प्राणायामके लिये स्थान निर्णय ।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्य्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।
अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं,
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजन्तू-
ज्झितम् । बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकार
संवेष्टितं, प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं
सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥

हठ० १ । १०, ११

अर्थात् जिस राज्यमें रहे वह ऐसा होना चाहिये कि जहां किसी प्रकारका क्लेश और उपद्रव न हो सर्व प्रकार की शोभा प्राप्तिरहे, राजा धर्मात्मा होवे और ऐसा न्यायकारी हो कि कोई सामर्थवान किसी असमर्थ पर अपना बल न दिखलासके, जिस राजमें डांका, चोरी, खून, अधिक न होते हों जैसी महाराजा एडवर्डके राजकी शोभा इन दिनों भारतमें चमक रहीहै और धार्मिक देश हो जैसा भारतवर्ष है सुभिक्ष हो अर्थात् योगाभ्यासी के अनुकूल

भोजनके पदार्थ शुद्ध मिलते हों--फिर जहां आसन हो वहांसे एक धनुष पर्य्यन्त अर्थात् चार हाथ तक शिला, अग्नि, और जल न हो * एकान्त हो, ऐसे स्थानमें सुन्दर मठिका बनाकर बैठे, अब वह मठिका कैसी होनी चाहिये सो सुनिये ।

योग मठिका वर्णन ।

एक मठिका सात हाथ लम्बी और पांच हाथ चौड़ी होनी चाहिये जिसमें छोटासा द्वार हो, जाली झरोखा, मोखा अर्थात् छिद्र किसी प्रकारका न हो, नीची ऊँची पृथ्वी न हो, मूसादिकनका बिल उसमें न हो, ऐसी शुद्ध और स्वच्छ हो कि उसमें मच्छर, गिरगट, मकरे, मेंढक मक्खी बिढ़ने आदि दुखदाई जन्तु न हों, सुन्दर गोबरसे लिपी हो, और नाना प्रकारके अगर, चन्दन, लोबानादि करके सुगन्धित हो और मठिकाके बाहर मण्डपशाला वेदीकी सी नाई कूप, जलाशय, वृक्षावली, पुष्पावली करके रमणीय हो चारों मेंड भीत युक्त हों, ऐसी योगियों करके कही

---

* परंच देवताओंकी मूर्तिकी शिला और हवन करनेकी थोड़ीआग और आचमनादि करनेका थोड़ा जल यदि समीप में हो तो कोई दोष नहीं ।

हुई मठिका बनाकर साधक उसमें बैठ सर्व चिन्ता विवर्जित कर जिस प्रकार गुरुने शिक्षा दीहो उसी प्रकार अभ्यास आरंभ करे।

प्राणायामकी सहायता करने वाली क्रियाओंका वर्णन।

प्राणायाम की सहायता करनेवाली बहुतेरी क्रियायें हैं जिनके बिना प्राणायाम कदापि सिद्ध नहीं होसकता उनमें सबसे पहले "आसन" फिर "बन्ध" फिर "षट्कर्म" हैं जिनमें आसन और बन्ध सबोंको करना उचित है परंच "षट्कर्म" (१ धोती, २ बस्ति, ३ नेती, ४ त्राटक, ५ नौली, ६ कपालभाति,) केवल उस साधक के लिये हैं जिसको श्लेष्मा (कफ) और मेद (चर्बी) अधिक होते हों।

आसन वर्णन

आसनका व्याहार इस ग्रन्थके प्रथम भागके प्रथमभाग अध्याय २ पृष्ट २२, २३, में वर्णन होचुकाहै देखलो

अर्थात् चौरासी लाख आसनोंमें चौरासी और चौरासीमें चार फिर चारमें एक सिद्धासन जो सब आसनों में सुलभ और श्रेष्ठ है लगानेकी आज्ञा दीगई है।

इसी आसनको कोई वज्रासन और कोई मुक्तासन और गुप्तासन भी कहते हैं, संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन इस कारण उत्तम और मुख्य कहाजाता है कि इसके लगाने से बहत्तर हजार नाड़ियां खुलजाती हैं, और शुद्ध होजाती हैं, जो प्राणी सदा आत्मध्यायी अर्थात् आत्माका ध्यान करने वाला है, और मिताहारी है, वह यदि बारह वर्ष केवल इस सिद्धासनको अभ्यास करे तो निःसन्देह सिद्ध होजावे, और जो यह सिद्धासन सिद्ध होजावे तो तीनों "बन्ध" जिनको आगे कहेंगे बिना परिश्रम आपसे आप प्रगट हों, क्योंकि श्री आदिनाथ शिवने कहा है कि हे पार्वति! सिद्धासनके समान कोई आसन नहीं, कुम्भक के समान प्राणायाम नहीं, खेचरी समान मुद्रानहीं, और नादके समान कोई लय नहीं, अर्थात् ब्रह्मसे मिलनेका हेतु नहीं।

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

ह० १। ४३

यदि किसी प्राणीको स्थूलता वा पाँवमें किसी बिकार के कारण सिद्धासन लगानेमें क्लेश हो तो और किसी प्रकार

का आसन जिसमे बैठनेमें उसको अधिक सुख और स्थिरता हो, और देरतक बैठसके उसीप्रकार बैठे, क्योंकि पतंजलिने अपने सूत्रमें कहाहै कि:—

" स्थिरसुखमासनम् " ॥

बंध वर्णन ।

बंध तीन हैं, मूलबंध, जालंधर बंध, और उड्डियान बंध इन तीनों बंधोंके सहित प्रणायाम करनेसे पूरक, कुम्भक, और रेचकमें दम नहीं फूलता, और किसी प्रकार का कष्ट वायुके चढाने रोकने और उतारनेमें नहीं होता ।

१. मूलबंध—यह बंध पूरकके समय अर्थात् वायुको मूलद्वारसे ऊपरकी ओर खींचनेके समय किया जाता है ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥

ह० ३ । ६१,

अर्थात् बाईं एड़ीसे मूलद्वारके ऊपर भागमें योनि स्थानको दाबकर (सिद्धासन में आपसे आप दवही जाता है देखो अध्याय २ पृष्ठ २२, २३)

गुदाको आकुंचन कर अर्थात् ऊपरको सिकोड़ अपान वायुको धीरे धीरे चढ़ाना मूलबंध कहाजाता है, इस बंध के करनेसे चतुर्दल कमलका मुंह जो नीचे है उलटकर ऊपर होजाता है ॥ ६१ ॥

२. **जालंधरबंध**—कुम्भकके समय अर्थात् प्राण वायुको ब्रह्मरन्ध्रमें रोकनेके समय कियाजाता है।

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥

ह० ३ । ७०

अर्थात् कंठको नीचे मुंह झुकाय ठुड्ढी (चिबुक) को हृदयके चारअंगुल ऊपर जो थोड़ी गहराई है उसमें स्थापना कर (जैसा सिद्धासनमें कियाजाता है) वायु को पेटमें भरकर रोके रहै, इसे जालंधरबंध कहते हैं, इस बंधमें पेट ऊपर को फूल कर उठा हुआ देखपड़ता है।

इस बंधसे कुंभक देरतक होता है, और जरा मृत्यु कदापि समीप नहीं आसकती।

३ **उड्डियान बंध**— यह बंध रेचकके समय अर्थात् प्राणवायु नीचे छोड़नेके समय कियाजाता है।

मूलस्थानं समाकुंच्य नाभिमाकृष्य पश्चिमे ।
शनैस्तु रेचयेत्प्राणमुड्डियानः स उच्यते ॥

अर्थात् मूलद्वारको आकुंचन कर नाभीको पीठ की ओर सटाते हुये यहां तक पीछे खींचे कि नाभी पीठ के रीढ़ अर्थात् मेरुदण्डमें सटजावे, जैसे २ प्राण छोड़-ताजावेगा वैसे २ आपसे आप नाभी पीठकी ओर सिकुड़ती जावेगी इसीको उड्डियान बंध कहते हैं, इस बंधसे रेचकके समय वायु सुखपूर्वक अपना सीधा मार्ग पाकर बाहर निकलआता है ।

ये तीनों बन्ध यदि आपसे समझमें न आवें तो अपने गुरुसे बनवा कर देखलेना, क्योंकि गुरु द्वारा ही ये तीनों बन्ध जानने योग्य हैं ।

षट् कर्म वर्णन ।

ये "षट्कर्म" सर्वसाधारण साधकोंको करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं, केवल उसी साधककेलिये इन कर्मों की आज्ञा दीगई है जिसको मेद और श्लेष्मा अधिक होते हों, अथवा किसी रोगसे ग्रसित रहनेके कारण प्राणाया-मादि क्रिया न करसक्ता हो, क्योंकि इन षट्कर्मोंके

अभ्याससे मेद और श्लेष्मा कम होजाते हैं, और सर्व प्रकार के रोगोंकी हानि होजानेसे शरीर शुद्ध और निर्मल प्राणायामादि क्रिया करने योग्य होजाता है, इसलिये संक्षेप से ये क्रियायें भी कथन करदीजाती हैं, और उनके करने की ठीक २ युक्तियां बताई जाती हैं।

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥

ह० २। २२

अर्थात् धौति १, बस्ति २, नेति ३, त्राटक ४, नौलि ५, कपालभाति ६, ये षट् कर्म कहेजाते हैं।

इनको गुप्त रीतिसे करना चाहिये, अब उनके करनेकी युक्तियां बताई जाती हैं।

१ धौतिः

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
राजदंतेन संलग्नं कृत्वा नौलिं यथाविधिः।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्॥

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥

ह० २ । २४, २५, २६

अर्थात् धौतिकर्म कैसे किया जाता है उसे वर्णन करते हैं, एक सूक्ष्म कोमल मलमल वा पगड़ीका टुकड़ा जो गरमपानीसे भिगोया* हुवाहो, चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रहहाथलम्बा लेकर गुरुके बतायेहुये मार्गसे पहलेदिन एकहाथ दूसरेदिन दोहाथ इसीप्रकार धीरे २ पन्द्रहोंहाथ कपड़ा निगलकर फिर एक छोर उस कपड़ेका जब एक बिलस्त मात्र रहजावे उसे राजदंत अर्थात् अगले दोनों दांतोंसे पकड़रक्खे, फिर नौलीकर्म जो आगे कहेंगे उस के द्वारा पेट को भ्रमाकर कपड़ेको छातीसे नीचे उतारदे, फिर धीरे २ उस कपड़ेको बाहर निकाल लेवे, उसके साथ कलेजेका सब कफ बाहर निकल आवेगा, फिर उस कपड़ेको धोकर उसी प्रकार करे जबतक कलेजा कफसे शुद्ध होजावे, आरम्भ करनेवाला थोड़ा २ करके

---

* इस कपड़ेको घी वा मक्खनसे तर करदेना चाहिये कि निगलनेमें क्लेश न हो ।

यह अभ्यास बढ़ावे तो इससे दमा, पिलही, कुष्ठ, और भी अनेक प्रकारके कफके रोग सब नाश होजावें ।

इस क्रियासे प्राणायाममें यह लाभ होता है कि कलेजेसे ऊपरका वायु ठीक २ ब्रह्मरंध्रको गमन करने लगता है ।

२ बस्तिः

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥
धातून्द्रियान्तःकरणप्रसादं,
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या,
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥

ह० २ । २७, २८, २९

अर्थात् छः अंगुल लम्बा और कनिष्टका अँगुली जिसमें प्रवेश करसके इतना छिद्र हो, चिकना वार्निश

किया हुआ एक बांसका नाल जैसा प्रायः बांसके पंखों के जड़में हाथसे पकड़कर डोलानेके लिये बना रहता है, बनवारक्खे, फिर उसे लेकर एकान्त स्थानमें नदी वा किसी तालके तटमें जाय नाभी तक जलमें प्रवेश करे, फिर उस नालको चार अंगुल गुदाके भीतर धीरे २ प्रवेश करे, और दो अंगुल बाहर रक्खे, फिर उत्कट आसन * करके जलको गुदाके छिद्र द्वारा धीरे २ ऊपरकी ओर खींच पेटमें भर चारों ओर भ्रमाय नीचे की ओर छोड़दे, अर्थात् उसजलको बाहर निकालदे, एवम् प्रकार कमसे कम तीन और अधिकसे अधिक सातबार करे, इसीको बस्तिकर्म कहते हैं।

यह बस्तिकर्म और पूर्वमें जो कहआये हैं धौतिकर्म इन दोनोंको भोजनसे पूर्वही करे, और इनके करने के पश्चात् भोजनमें विलम्ब न करे।

गुल्म, प्लीह, जलोदर, और बात, पित्त, कफ करके उत्पन्न जितने रोग हैं सब बस्तिकर्मसे नाशहोजातेहैं, फिर

---

* दोनों पांवके अंगुलके बल दोनों जंघोंको भलीभांति सटाय ऊपरकी ओर गुदाको आकुंचन करना उत्कटासन है।

रोम, चर्म, मांस, रुधिर, हड्डी, भेजा, शुक्र, इन सातों धातुओंके ताप, और पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रियों के ताप, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादिके ताप जो मोह, शोक, विक्षेप, गौरव, दीनता, राजसी, और तामसी बुद्धि सब दूर होजाती हैं, और कान्तिकी वृद्धि जठराग्निकी प्रबलता होती है ।

३ नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी। जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥

ह० २ । ३०, ३१

अर्थात् सूत नौगुण, दशगुण वा पन्द्रह गुण भली भांति दृढ कर बटे, फिर एक बिलस्त मात्र वा इससे कुछ अधिक जिसमें किसी प्रकारकी ग्रन्थी आदि न हों, लेकर एक छोर उसका नासिकाके एक छिद्रसे प्रवेश कर दूसरे छिद्रको अंगूठेसे दबा पूरक करे, फिर मुंहसे

रेचक करे, ऐसा बारम्बार करनेसे सूतका एक छोर मुंह के छिद्रमें निकल आवेगा, उस छोरको तर्जनी और अंगूठेसे पकड़ बाहर निकाललें. अर्थात् एक छोर नासिकाके बाहर रहे, और दूसरा छोर मुंहके बाहर रहे, फिर इन दोनों छोरोंको पकड़ चलावे तो उस सूतके साथ कफादि मस्तकके मैल लिपटेहुये बाहर निकल आवेंगे, फिर उस सूतको जलसे धो शुद्धकर बारम्बार उक्त प्रकारसे करे, इसी क्रियाको महात्माओंने नेति कही है ।

इस क्रियासे मस्तकके सब मैल दूर होजाते हैं, और दिव्य दृष्टि अर्थात् सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेकी शक्ति होजाती है, और कंधेके जोड़के ऊपरके सर्वप्रकारके रोग नाश होंजाते हैं ।

४ त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥

ह० २ । ३२, ३३

अर्थात् नेत्रोंके सामने कोई सूक्ष्म पदार्थ जो एक बिन्दुके समान हो, वा एक बिन्दु ही बनाकर अथवा कोई चमकीली वस्तु जैसे दीपशिखा वा एक मोती वा हीरा वा कोई सुन्दर चित्र रखकर निश्चलदृष्टि कर एकटक देखतारहै, जबतक कि आखों में आंसू भरआवें, इसप्रकार बारम्बार अभ्यास करनेसे मन एकाग्र हो-जाता है, इसीको त्राटक कहते हैं । सिद्धासनसे पहले इसके अभ्यास करलेनेसे आसनमें सुगमता होती है ।

इस क्रियासे नेत्रके सब रोग नाश होते हैं, और आलस्य, निद्रा, तमोगुण करके उत्पन्न जो क्रोधादि सब दूर होजाते हैं। यह त्राटक सोनेकी पेटी ऐसी छिपाकर गुप्त रखने योग्य हैं ।

५ नौलिः

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिःसिद्धैः प्रचक्ष्यते॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादि,
संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च

हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

ह० २ । ३४, ३५

अर्थात् दोनों कंधोंको नीचे मुँह झुकाय जैसे जल का भ्रमर बायें दाहिने घूमता है, उसी प्रकार बेग करके पेटको बायें दाहिने भ्रमावे, अर्थात् चलावे। इसीको सिद्धों ने नौली कही है ।

इस क्रियासे मन्द जठराग्नि प्रबल होजाती है, और जो कुछ अन्न भोजन करें सो सब भली भांति परिपक्व होजाता है, फिर आनन्द करनेवाली, और बात करके उत्पन्न सब रोगोंके नाश करनेवाली है, और षट् कर्मकी सब क्रियाओंमें मुकुटकीसी नाईं अर्थात् श्रेष्ठ है। धौति और बस्ति दोनोंमें यही नौली करनी पड़ती है, इसलिये इसे षट्कर्ममें सिद्धोंने कथन किया है ।

६ कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

ह० २ । ३६

अर्थात् लोहारकी धौंकिनीकी तरह बारम्बार शीघ्र रेचक और पूरक करनेको "कपाल भाति" कहते हैं। परंच इस क्रियाके करनेवालोंको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस नासापुटसे पूरक करें उसी ओर रेचक न करें! किन्तु जिधरसे रेचक करें उधरसे पूरक भी कर सकते हैं।

जिनको भेद और श्लेष्माका विकार नहीं है उनके लिये इन क्रियाओंकी आवश्यकता नहीं है, केवल पथ्यापथ्यके ठीक रखनेसे और यम नियमके पालन करने होसे उनकी क्रिया सिद्ध हो जाती है।

कुम्भकके भेदसे आठों प्रकारके प्राणायामका वर्णन।

कुम्भकके भेदसे आठ प्रकारके प्राणायाम हैं। इनमें से किसी एकको सिद्ध करनेसे आठों आपसे आप सिद्ध होजाते हैं। साधकोंको उचित है कि इन आठोंमें अपनी रुचि अनुसार जो सुलभ जानपड़े उसी एककी ठीक २ रीति अपने गुरुसे प्राप्त कर अभ्यास करें। ऐसा न करें कि चंचल चित्त होकर कभी यह और कभी वह आरम्भ करें। और सिद्ध एकभी न हो।

दोहा ।

इक साधेतें सब सधैं. सब साधे सब जाय ।
जो गहिराखे मूलको, फूले फलै अघाय ॥

अब आठों प्रकारके कुम्भकोंका वर्णन उनके फल सहित विलग २ कियाजाता है ।

सूर्य्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा । भास्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनी-त्यष्ट कुम्भकाः ॥ ह० २ । ४४

अर्थात् सूर्यभेदन १, उज्जायी२, सीत्कारी ३, शीतली ४, भास्त्रिका ५, भ्रामरी ६, मूर्च्छा ७, प्लाविनी ८, ये आठ प्रकारके प्राणायाम कुंभकके भेदसे हैं ।

१ सूर्य्यभेदनम्

आसने सुखदे योगी बध्वा चैवासनं ततः । दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं-शनैः ॥ आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि

कुंभयेत्। ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्-
पवनं शनैः ॥
कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्
पुनःपुनरिदं कार्य्यं सूर्य्यभेदनमुत्तमम् ॥

ह० २। ४८, ४९, ५०

अर्थात् अच्छे शुद्धस्थानमें जो बहुत ऊंचा नीचा न हो जैसा मठ लक्षण पूर्वमें कहआये हैं वैसाहो, सुन्दर सुख देनेवाला जो सिद्धासन तिसे सुखपूर्वक लगाय गर्दन, शिर, और शरीरको सीधा और स्थिर कर बाईं नासापुटको रोक दाहिनी नासापुटसे अर्थात् पिंगला नाड़ीसे शरीरके भीतरके वायुको मूलद्वारसे ऊपर की ओर खींचे, अर्थात् पूरक करे। फिर केश पर्यन्त और नख पर्यन्त वायुको यत्नपूर्वक रोक कुम्भक करे, अर्थात् शक्तिके बलहो वायुको रोके, बलसे अधिक न रोके, क्योंकि बलसे अधिक रोकनेसे वायु रंध्रद्वारसे निकल देहको विदीर्ण करता है, जब न रोकसके तो धीरे२ जिस प्रकार चींटी चलती है वायुको बायीं नासापुट अर्थात् इड़ासे उतारदे यही सूर्यभेदन महात्माओंने कहा है।

इस क्रियासे मस्तकके सब मैल दूर होते हैं, और वातसे उत्पन्न जितने रोग हों सब नाश होजाते हैं, और पेटमें कीड़े नहीं पड़ते।

३ उज्जायी

मुखं संयम्य नाड़ीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम्॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिड़या ततः।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम्॥
ह० २। ५१, ५२

अर्थात् मुंह मूंदकर बिना किसी नासापुट के रोके कंठसे एकहीबार इड़ा, पिंगला, दोनों नाड़ियों द्वारा वायुको इस प्रकार ऊपरकी ओर खींचे कि कंठसे हृदय तक वायु शब्द सहित लगताहुआ जानपड़े, जिसप्रकार निद्राके समयकी ध्वनि कंठसे हृदय तक लगताहुई जान पड़ती है, फिर जैसे सूर्यभेदनमें कहागया है उसी प्रकार नख और केश तक यत्न पूर्वक कुंभक कर इड़ा नाड़ीसे रेचक करदे, इसीको सिद्धोंने उज्जायी कही है, और इस क्रियाका सबसे उत्तम फल तो यह है कि कंठमें कफ करके जितने दोष हों सब दूर होजाते हैं, और जठराग्नि प्रबल होता है। ५१, ५२

३ सीत्कारी

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् । एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ योगिनीचक्रसामान्यःसृष्टिसंहारकारकः । न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥

ह० २ । ५४, ५५

अर्थात् दोनों होठोंके मध्य जिह्वा लगाय वायुको मुंहसे सीत * ऐसा शब्द करतेहुवे धीरे २ खैंच पूरक कर पूर्व कहे प्रकार कुंभक यत्न पूर्वक करे । फिर दोनों नासापुटोंसे विजृंभिका रेचक करे । (मुँह बन्दकर दोनों नासापुटसे रेचक करनेको विजृंभिका रेचक कहते हैं ।) इसमें किसी नासापुटके रोकनेकी आवश्यकता नहीं रहती इसकारण यह क्रिया अत्यन्त सुखदेनेवाली कान्ति को दूसरे कामदेव ऐसी बनादेती है, और इसका करने वाला कामियोंके मध्य बिहार करतेहुये भी कामवश

---

* (सी, सी) ऐसी ध्वनि आदिमें खींचनेके समर्थ होकर अन्तमें (त) ऐसी ध्वनिसे समाप्त हो वही सीत्कार ध्वनि है ।

नहीं होता है। फिर सृष्टि और संहार करनेमें समर्थ होता है। क्षुधा, तृषा, निद्रा, आलस्यादिसे रहित हो जाताहै, और योगियोंमें श्रेष्ठ होता है। इस फलको सत्य जानना।

४ शीतली

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसादनम्।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः।
गुल्मप्लीहादिकान् रोगाञ्ज्वरं पित्त क्षुधां
तृषाम्। विषाणि शीतलीनाम कुंभिकेयं
निहंति हि॥

ह० २। ५७, ५८

अर्थात् जिस प्रकार पक्षीकी नीचली चोंच रहती है, वैसेही होठोंके बाहर जिह्वा निकाल मुंहसे पूरककर पूर्व रीतिसे कुंभक करे, फिर दोनों नासापुटसे रेचक करदे, इसमें और पूर्व कही सीत्कारीमें बहुत थोड़ा अन्तर है। इन दोनोंको गर्मीके दिनोंमें करनेसे गर्मी नहीं जान पड़ती, और गुल्म, प्लीह, ज्वर, पित्तके दोष, क्षुधा, पिपासा, और सर्प आदि दुष्ट जीवोंके विष दूर होजाते हैं। ५७, ५८

५ भस्त्रिका

सम्यक्सिद्धासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत्।
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु। धार-
येन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम्।
विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिड़यानिलम्।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्॥
कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफार्गलनाशनम्॥
सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रंथित्रयविभेदकम्।

सुष्मणाके अग्रभागमें जो कफादि वायुके मार्गको रोकने वाले हों उनको नाश करदेती है, फिर सुष्मणा नाड़ीमें जो ब्रह्मग्रन्थी, विष्णु ग्रन्थी, और रुद्र ग्रन्थी तीन ग्रन्थियां हैं तीनोंको तोड़देती है ।

इस क्रियाको अवश्यही करनी चाहिये । सूर्यभेदन आदि जैसे होवे वैसेही करे। परंच इस भस्त्रिकाको अवश्यही विधिपूर्वक कियाकरे। यदि आपसे समझमें न आवे तो एकवार अपने गुरुसे करवाकर देखलेवे ।

६ भ्रामरी

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं,
भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यास योगा-
च्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥

ह० २ । ६८

अर्थात् पूरकके समय भृंग समान नाद हो, और रेचकके समय भृंगी समान, ऐसे पूरक रेचक जिसमें हों वही भ्रामरी है, अर्थात् इड़ा वा पिंगला किसी एक नाड़ी से भ्रमर ऐसा नाद करतेहुए पूरक कर, कुम्भक करते हुए दूसरी नाड़ीसे भ्रामरी समान नाद करतेहुए रेचक

करदे, ऐसे अभ्यास करनेवाले योगियोंके चित्तमें ऐसी आनन्द लीला होती है जो कथन नहीं कीजासकती।

७ मूर्च्छा।

पूरकान्ते गाढ़तरं बध्वा जालंधरं शनैः।
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदा॥

ह० २। ६६

अर्थात् किसी एक नाड़ीसे पूरक करनेके पश्चात् जालंधर बाँध धीरे २ रेचक करे तो यह कुंभिका मन को मूर्च्छा करती है। जिसको मनो-मूर्च्छा कहते हैं, जिस से नानाप्रकारके सुख उपजते हैं।

८ प्लाविनी

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्॥

ह० २। ७०

अर्थात् पूरक करके शरीरमें चारों ओरसे वायुको बांधकर इस प्रकार उदरको भरलेवे कि अथाह जलके ऊपर कमलपत्र ऐसा सुखपूर्वक बहतारहे, ऐसे कुंभकको प्लाविनी कहते हैं।

भ्रामरी, मूर्च्छा, और प्लाविनी, इन तीनोंमें पूरक गरम समय बांयीं नासापुटसे और शीत समय दाहिनी नासापुटसे कियाकरे। फिर जब अभ्यास करते २ सुषुम्णा खुलजाय तो नासापुटोंसे रोकनेकी कुछभी आवश्यक्ता नहीं है, बिना रोके पूरक, कुंभक, रेचक कियाकरे! सुखपूर्वक सिद्ध होजावेगा।

प्राणायाम सिद्ध करनेकी अत्यन्त सुलभ रीति।

अब इस स्थानमें प्राणायामके साधनकी सुलभ से सुलभ रीति वर्णन कीजाती है। जिसमें किसी प्रकार का परिश्रम नहीं होता न कोई आसन लगाना पड़ता, न नासापुट रोकनेकी आवश्यकता रहती, न वायु चढ़ाना उतारना पड़ता, अर्थात् पूरक रेचककी भी आवश्यक्ता नहीं पड़ती आपसे आप केवल कुंभक सिद्ध होजाता है। सोये, बैठे, खड़े, चलते चाहे जिस दशामें रहिये यह सुन्दर सहज रीति साधन करते रहिये। वह यह है कि

पूर्व में जो "त्राटक" कहआये हैं (देखो पृष्ठ ४६) कुछदिन उसे विधि पूर्वक अभ्यास करे। जब ऐसे अभ्यास करते २ आंखें थोड़ी देर तक एक स्थानमें ठहरने लगजावें, तब कुछदिन अपनी नाभीकी ओर दोनों नेत्र

कर देखे, फिर नाभीसे धीरे धीरे पुतलियोंको ऊपरकी ओर उठाताहुआ कलेजेकी गहराई पर ला जमावे फिर उसी प्रकार अभ्यास करताहुआ ऊपरकी ओर पुतलियोंको चढ़ातेहुए नासिकाके अग्रभागको देखे, जब कुछ दिन पीछे ऐसे देखते २ नासिकाका अग्रभाग दोनों पुतलियों से एकही बार स्वच्छ दिखाने लगे, और नेत्रोंको किसी प्रकारका क्लेश न हो तब बिना पलक उठाये पुतलियों हीको इसप्रकार नासिकाकी मध्य लकीर होकर ऊपर चढ़ाता जावे कि पुतलियां एकदम पलकोंके भीतर चलीजावें। इस प्रकार जबपुतालियां पलकोंके भीतरप्रवेश करजावेंगी तबउन के सामने एक अति गंभीर अँधियाली छा जावेगी, फिर इस अँधियालीमें औरभी ऊपरकी ओर धीरे २चढ़ाते२ पुतलियां उलटजावेंगी, इनके उलटतेही एक प्रकाश ज्योतिस्वरूप मण्डलाकार अति मोहनी करोड़ों सूर्यसा दमकताहुआ और बिजलीके समान थरथराताहुआ प्रगट होगा, फिर क्षणमात्र प्रगट होकर लोप होजावेगा। जब एवम्प्रकार तेज प्रगट होकर लोप होजाया करे तब धीरे २ ऐसा यत्न करे कि वह प्रकाश शनैः शनैः स्थिर होजावे, जब कुछ काल स्थिर होने लगे तो उसी प्रकाशमें अपने इष्टदेवका ध्यान करे, ऐसा ध्यान करते २ चित्त एकाग्र होजावेगा, और चित्तके एकाग्र होनेसे वायुकी चालभी रुकजावेगी, और आपसे

आप स्वासा निरोध होकर कुंभक होजावेगा, क्योंकि वायु और मनकी चाल इस शरीरमें समान है।

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ,
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्ति-
र्यतोमनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाशः,
एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्ति.,
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥

प्रमाण ह० ४। २४, २५

अर्थात् दूध और पानी जैसे एक संग मिलनेसे एकदम बिकजाते हैं, उसीप्रकार इस शरीरमें प्राण और मनका मेल है, अर्थात् जहां २ प्राण है तहां २ मनकी प्रवृत्ति है, और जहां २ मन है तहां २ प्राणकी प्रवृत्ति है, अर्थात् जिस चक्रमें मन वर्तता है, उसी चक्रमें प्राणभी वर्तता है। इसकारण एककी प्रवृत्ति होनेसे दूसरेकी प्रवृति और एकके लय होनेसे दूसरेका भी लय होजाता है, अर्थात् जबतक मन और पवन ये दोनों एकसाथ लीन नहीं होते तब तक इन्द्रियां अपने २ विषयकी ओर खींचती हैं, और

चित्तको चलायमान करदेती हैं, और जब ये दोनों एक साथ लय होजाते हैं तब मोक्षपदकी सिद्धी होती है।

मुख्य तात्पर्य उक्त वार्तासे यह है कि भ्रूमध्यमें पुतलियों के उलट जानेसे जो ब्रह्म प्रकाश प्रगट होआता है, उसमें चित्त लीन होनेसे आपसे आप प्राण निरोध होकर कुंभक भी होजाता है। फिर पूर्वमें जो आठ प्रकारके प्राणायामकी रीति कथन कीगई है उनका और सब प्रकारकी क्रियाओंका मुख्य फल यही है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर एकागृता लाभ होजावे।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

प्रमाण—पतञ्जल अध्याय १ सूत्र २

अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंकी रुकावट हीको योग कहते हैं, और वृत्तियोंके रुकजाने हीसे अपना स्वरूप स्वच्छ देखपड़ता है, जैसे किसी पात्रमें जल रखदो जब तक डोलता रहेगा अपना मुह स्वच्छ नहीं देखपड़ेगा जब स्थिर होजावेगा स्वच्छ देखाजावेगा, इसीप्रकार मन स्थिर होनेसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार जानो।

फिर शिव भगवानने पार्वतीप्रति कहा है कि हे प्रिये!

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनोबद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले॥

अर्थात् पारे और मनका स्वभावही है कि चंचल होय, फिर जिस प्राणीने पारेकी और मनकी चंचलता दूरकर एक स्थानमें बांधली, वह क्या नहीं सिद्ध करसक्ता है ?

फिर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने भी यही युक्ति अर्जुनको गीतामें उपदेश की है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतर चारिणौ ॥ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यःसदा मुक्त एव सः ॥ प्र० गीता अ० ५ श्लोक २७, २८

अर्थात् वाह्य इन्द्रियोंके विषयको त्यागकर नेत्रोंकी दृष्टि भृकुटीके भीतर मध्यभागमें प्रवेश कर प्राण और अपानको बलसे सम कियेहुये अर्थात् नासिकाके भीतरही भीतर संचार करताहुआ जो मननशील बुद्धिमान प्राणी मोक्षहीमें मनलगाता है, चित्तवृत्तियोंको रोकताहुआ इच्छा, भय, क्रोधादिसे रहित होता है वह सर्वकालमें मुक्तही है।

फिर मरण समयमें भी इसी युक्तिके करने की आज्ञा दीगई है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांस-

मनुस्मरेद्यः । सर्वस्य धातारमचिंत्य रूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

प्र० गी० अ० ८ श्लो० ९, १०

अर्थात् जो प्राणी मरणकालमें भी भक्तियुक्त हो स्थिर मन कर योगबलसे दोनों भृकुटीनके मध्य सुष्मणा नाड़ी द्वारा सम्यक् प्रकारसे प्राण वायुको प्रवेश करके कुंभक कर, कविम्, अर्थात् सर्वज्ञ, पुराणम् अर्थात् पुरातन पूर्वसे पूर्व अनुशासितारम्, अर्थात् सबको आज्ञामें रखनेवाला, अणोः अणीयांसम्, अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सर्वस्य धातारम्, अर्थात् सर्वका धारण करनेवाला अचिन्त्यरूपम्, अर्थात् जिसका रूप चिंतवनमें न आसके, आदित्यवर्णम्, अर्थात् सदा सूर्यके ऐसा प्रकाशमान, तमसः परस्तात् अर्थात् मायाके गुणोंसे रहित ऐसा जो पुरुष अर्थात् परमात्मा तिसको उस भ्रूमध्यमें ध्यान करता है, वह उस सर्वोत्तम दिव्य प्रकृति गुण रहित परमात्माको प्राप्त होता है ।

इसी क्रियाको महात्माओंने शांभवी मुद्रा योगके उत्तम मुद्राओंमें कथन की है

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा
वर्तते, दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः
पश्यन्नपश्यन्नपि । मुद्रेयं खलु शांभवी
भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः,
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं
शांभवम् ॥ ह० ४ । ३६, ३७

अर्थात् अन्तष्करणका लक्ष जो ब्रह्म तिसमें मनको लीन किये एकाग्र चित्त हो नेत्रोंको दृढ़ स्थिर कर अर्थात् पलकोंको उठने और गिरनेसे रोक बाहरके विषयोंसे दृष्टिको हटाय, पलकोंके भीतर ही भीतर इस प्रकार अवलोकन करे कि पुतलियां पलकोंके भीतर प्रवेश करती हुई एकदम उलटजावें, और कुछ थोड़ी २ आंखोंकी सफेदी किनारे बाहरसे देखपड़े जिसमें बाहरकी वस्तुओं को देखतेहुयेभी न देखे, अर्थात् अर्धोन्मीलित–लोचन*

* आधी बन्द और आधी खुलीहुई आंखैं जैसी प्रायः निद्राके समय देख पड़ती हैं नीचेकी ओर थोड़ी २ सुफेदी और पलकोंके मध्य पुतलियां प्रवेश किएहुए जानपड़ती हैं ।

हो. तिस ज्योतिस्वरूप परमात्मामें मग्न होजावे. इसीको शांभवी मुद्रा कहते हैं। जो उत्तम मुद्राओंमें गोपनीय है, और केवल गुरुही द्वारा जानने योग्य है।

यदि यह क्रिया अर्थात् नासाग्र अवलोकन करते नेत्रोंकी पुतलियोंको भृकुटीके मध्य उलट देना भी किसी साधकको कठिन जानपड़े, तो इससेभी अत्यन्त सुलभ एक और दूसरी रीति साधक गणोंके कल्याण निमित्त इस स्थानमें कथन कीजाती है। मानो बालकको परमहंस और महा दरिद्रको त्रिलोकीका राजा बनाया जाता है।

वह सुलभ रीति यह है कि एकान्त स्थानमें जहां किसी प्रकारकी भीड़ वा कोलाहल न हो, गृहमें, देवालय में, नदके तटपर, वा किसी रमणीय मैदानमें अकेला हो चारों ओरसे आखोंको बन्द कर होठोंको एक दूसरेसे मिलाय कुछ पलकोंको भी मींचतेहुवे कानके रंधोंको यन्त्रोंसे वा यन्त्र* न मिले तो केवल हाथकेअंगूठेहीसे

---

* बाबू देवीप्रसाद सिंह मंत्री सेक्रेटरी भारत त्रिकुटी महल जिला मुजफ्फरपुर चन्दबाराके समीप विनय पत्र भेजनेसे अनाहत शब्द श्रवण करनेको यन्त्र मिलेगा। इस यन्त्रसे कानोंके रंधू एकदम बन्द होजाते हैं, हाथों से परिश्रम नहीं करनापड़ता। मूल्य ३)

बन्दकर कुछ दाहिने कानकी ओर ध्यान लगाय अनाहत ध्वनि श्रवण करना आरम्भ करे, फिर नाना प्रकारके बाजोंके शब्द अर्थात् भेरी, मुरली, घंटा, बीणा आदिकों के शब्द सुन पड़ेंगे, इनके सुनते २ मन स्थिर हो तुरीय पदको प्राप्त होगा और चित्त वृत्ति एकदम ब्रह्माकार होजावेगी, क्योंकि यह उपाय योगके सब उपायोंमें उत्तम है,

श्री आदिनाथेन सपाद-कोटि,
लय प्रकाराः कथिता जयंति।
नादानुसंधानकमेकमेव,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥

ह० ४। ६६

अर्थात् श्री आदिनाथ शिव भगवानने सवा करोड़ (एक करोड़ पच्चीसलाख) चित्तके लय होनेके साधन भेद कहे हैं, वे सब मंगल कारक हैं, परंच मैं उन सभोंमें नादानुसंधान ही मुख्यतम मानता हूं, क्योंकि इस क्रियामें कुछभी शारीरिक क्लेश उठाना नहीं पड़ता । * सोये, बैठे, खड़े, चलते, चाहे जैसे रहिये इस क्रियाको सुख पूर्वक करते रहिये, और इसी

* सोय बैठे रहे उतानें। कहै कबीर हम उसी ठिकानें ॥

नादानुसन्धानको राजयोग कहते हैं। विशेष कलिके जीवों के लिये चाहे मूर्ख हो, वा विद्वान् इससे बढ़कर कोई सुलभ साधन नहीं। यह क्रिया मूर्खोंको भी सिद्ध बनादेती है।

अब विधि पूर्वक इस क्रियाकी व्याख्या इस स्थान में साधकोंके कल्याण निमित्त कीजाती है।

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः। तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिर पदं व्रजेत्॥ अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्य-मावृणुते ध्वनिम्। पक्षाद्विक्षेपमाखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥ श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्। ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः॥ आदौ जलधिजीमूतभेरीझरझरसंभवाः। मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा॥ अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः। इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः॥ मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा।

नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः॥
बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षःखगो यथा॥
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेटनम् ॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्यं उपलभ्यते ।
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ।
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांशो निराकारः स एव परमेश्वरः॥
सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥

ह० ४।८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ९०,
९१, ९२, १००, १, २, ५,

अर्थात् अंगुलियोंसे कानोंको मूंद तब तक अनाहत ध्वनि श्रवण करता रहे, जब तक स्थिर पदको अर्थात् तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जावे। नादाभ्यासी को बाहर की ध्वनि नहीं सुन पड़ती, इसलिये एक पक्ष मात्र में चित्त की संपूर्ण चांचल्यताको जीत सुखी हो जाता है। प्रथम अभ्यास समय अत्यन्त गंभीर नाना प्रकारके शब्द होते हैं फिर कुछ अभ्यास बढ़ने पर वही शब्द सूक्ष्म सूक्ष्म ही सुन पड़ते हैं। अभ्यास करते २ जब वायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रको गमन करता है, तब आदि में समुद्र, मेघ, भेरी, डमरु, ऐसे शब्द और मध्यमें प्रणव, शंख, घंटा, आदिके शब्द और अन्तमें प्राणके अच्छे प्रकार ब्रह्मरंध्रमें स्थिर होनेसे किंकिणी (क्षुद्रघंटिका,) वेणु, वीणा, और भ्रमर ऐसे शब्द शरीरके मध्यमें सुन पड़ते हैं।

फिर जैसे भ्रमर मकरन्द पानके समय गंधकी इच्छा नहीं करता तैसे नादमें आशक्त मन किसी विषयकी भी चाहना नहींकरता। विषय वन विहारी मतंग गज मनके लिये नाद अंकुश है। जिसके सुनने से पक्ष हीन पक्षीके समान स्थिर होजाता है, फिर गंधकके भस्मसे बधा हुवा पारेका गुटका मुंहमें रखनेसे जैसे आकाश गति होती है, तैसे नादसे बधाहुआ मन निरालंब ब्रह्मवृत्ति

को अखण्ड प्रवाह करता है। फिर इस नादके अन्तर्गत चैतन्य स्वप्रकाश ज्ञेय और तिस प्रकाशके अन्तर्गत मन है. सो मन उसी प्रकाशमें लय होनेसे विष्णु परम पदको लाभ करता है । जब तक शब्द सुना जाता है, आकाश ही आकाश रहता है और जब लय हो जाता है तब चित्त अपने स्वरूपमें मग्न होकर शब्द रहित निराकार ब्रह्मको प्राप्त होजाता है, क्योंकि शब्द तक प्रकृति है और शब्द रहित ब्रह्म है । इस नाद श्रवणसे सब पाप नाश होकर प्राण और मन दोनों एकाग्र हो निर्गुण चैतन्य ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं ।

नादानुसंधानसमाधिभाजां,
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं,
जानाति तं श्री गुरुनाथ एकः ॥

अर्थात् योगियोंके हृदयमें जो नाद श्रवणके आनन्द की वृद्धि है वह बचनसे वर्णन नहीं हो सकती उसे केवल श्री गुरुमहाराज ही जानते हैं । इसकारण श्री परमगुरुकी सेवा ही द्वारा यह परम गोपनीय रहस्य लाखोंमें किसी एक भाग्यवान पुरुषको लाभ होता है । इति

पुस्तक मिलनेका पता ॥

मैनेजर त्रिकुटीमहल चन्दवारा
मुजफ्फरपुर (विहार)

तथा

मैनेजर- हंसाश्रम प्रेस
अलवर
(राजपूताना)

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

पातञ्जल योग दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में आधुनिक योगाचार्यों के मतों की समीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

एम०ए० (गोल्ड मेडलिस्ट) डी० फिल्०
प्रो० तथा भू० पू० अध्यक्ष संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्त्ता:

कौशल किशोर

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2003

प्रमाणपत्र

मै यह प्रमाणित करती हूँ कि श्री कौशल किशोर ने मेरे निर्देशन में 'पातञ्जल योग-दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में आधुनिक योगाचार्यों के मतों की समीक्षा' विषय पर यह शोध प्रबन्ध पूरा किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यह शोध प्रबन्ध उनके द्वारा किया गया सर्वथा स्वतन्त्र तथा मौलिक शोध-कार्य है। इस विषय पर कोई भी शोध इलाहाबाद विश्वविद्यालय या अन्य विश्वविद्यालय में नहीं हुआ है।

ज्ञान देवी श्रीवास्तव

डॉ० ज्ञान देवी श्रीवास्तव
(निर्देशिका)
प्रोफेसर तथा भूतपूर्व
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

स्वस्वीकारोक्ति

मै कौशल किशोर, शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रमाणित करता हूँ कि मैने ''पातञ्जल योगदर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में आधुनिक योगाचार्यों के मतों की समीक्षा'' विषय पर इलाहाबााद विश्वविद्यालय की डी.फिल. उपाधि के लिए प्रो. ज्ञान देवी श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध पूरा किया है। मैने यह शोध-प्रबन्ध स्वतन्त्र रूप से पूरा किया है और जहॉ तक मुझे ज्ञात है इस विषय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय में शोध कार्य नहीं किया गया है।

कौशल किशोर 30.6.02

कौशल किशोर
शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

'पुरोवाक्'

आज के युग में समाजिक व्यवस्था में अराजकता, द्वेष घृणा, हिंसा आदि विश्वस्तर पर देखने को मिल रही है। चारो ओर अशान्ति का बोलबाला है। विश्व शान्ति बनाये रखने के लिए राष्ट्रो के स्तर पर प्रयत्न किये जा रहे हैं। मैने भी इस समस्या से आज के समाज को निवृत्त करने के लिए तप:पूत महर्षि पतञ्जलि को अपना आदर्श बनाया जिन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से आज के इस भौतिकवादी विलासिता पूर्ण समाज की विकृति को हजारो वर्ष पूर्व देखा था। व्यक्ति अनेक असाध्य रोगों का दिन प्रतिदिन शिकार होता जा रहा है। आज का चिकित्सा विज्ञान भी इतना उन्नत होने के बावजूद भी लाचार और विवश दिखाई पड़ रहा है। ऐसे समय में महर्षि पतञ्जलि ने जो साधन अपने योगसूत्र के साधनपाद के 29वें सूत्र में बतायें है वह आज के समाज को पूर्ण सात्विक शुद्ध एवं सुन्दर समाज का ढाचा देने मे समर्थ है तथा शरीर के समस्त विकारों को दूर करने के साधनों से मनुष्य अपने को पूर्ण स्वस्थ बनायें रख सकता है। मेरे शोध का विषय है पातञ्जल योगदर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में आधुनिक योगाचार्यो के मतों की समीक्षा'' जिस पर शोध प्रबन्ध लिखने का अवसर मिला और इस निष्कर्ष पर पहुचा कि महर्षि पतञ्जलि ने जो मार्ग दिखाया है। उसका अनुसरण करके हम अपने को समाजिक रूप से मानसिक रूप से आध्यात्मिक रूप से भावनात्मक रूप एवं शारीरिक रूप से पूर्णतया स्वस्थ रख सकते है। महर्षि पतञ्जलि का सबसे बड़ा योगदान मेरी दृष्टि से स्वस्थ समाज का निर्माण करके स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास करना है।

शोध के समय विषय सामग्री के चयन एव सकलन की समस्यायें उठी, जिसके समाधान में विभिन्न पुस्तकालयों यथा- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्य समाज (कटरा), स्वामी विवेकानन्द पुस्तकालय मुठटीगंज इलाहाबाद, ए.एच.व्हीलर्स कम्पनी लि0 इलाहाबाद। महर्षि महेशयोगी सस्थान, अरैल, ओशो भावातीत ध्यान केन्द्र दरभंगा कालोनी इलाहाबाद, सरगंगा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ- इलाहाबाद विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी के साथ ही पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय, विश्वनाथ ललिताघाट, सम्पूर्णानन्द विश्व विद्यालय काशी विद्यापीठ आदि पुस्तकालयों तथा चोखम्भा प्रकाशन वाराणसी से अध्यात्मिक सहायता मिली। तमन्ना योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र टैगोर टाउन के पुस्तकालय ने भी सराहनीय योगदान किया। इसके लिए मै इन पुस्तकालयों एवं संचालकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

डा. ज्ञान देवी श्रीवास्तव ने जिस प्रकार से मेरे शोध प्रबन्ध को सुधारा एवं संवारा तथा जिस उत्साह से मेरा मार्गदर्शन किया. उसके लिए मै आजन्म ऋणी रहूंगा उनके सम्मान में महात्मा तुलसीदास जी की यह चौपाई प्रस्तुत है -

वन्दहु गुरूपद पदुम परागा। सुरूचि सुवास सुभग अनुरागा।।

इस शोध प्रबन्ध के सम्पादन में मुझे अनेक विद्वानो और मनीषियों के सामीप्य का सौभाग्य मिला। मै संस्कृत विभाग की अध्यक्षा डा0 मृदुला त्रिपाठी अर्थशास्त्र विभाग के प्रो0 एस.एन. लाल, सस्कृत विभाग के डा0 रामकिशोर शास्त्री दर्शन शास्त्र विभाग के डा0 जटाशंकर: बायोटेक्नालाजी के डा0 डी के गुप्ता, डा0 शान्ती सुन्दरम के प्रति आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य में सहाय्य प्रदान किया।

इसी सन्दर्भ में इलाहाबाद आरोग्यमन्दिर योगकेन्द्र के डा. राजाराम आनन्द, देवअन्तर्राष्ट्रीय योग कानपुर के डा0 ओम प्रकाश आनन्द, डा0 वी0के0 तिवारी (निदेशक चिकित्सा स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण इलाहाबाद मण्डल इलाहाबाद) डा0 एस.जी.राम मुख्य चिकित्साधिकारी इलाहाबाद, डा0 एच.रहमान (प्रो0 मोती लाल नेहरू मेडिकल कालेज इलाहाबाद, डा0 वन्दना बसल, डा0 नजमी रहमान (निदेशक तमन्ना योग एव प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र) डा0 कृष्णा मुखर्जी, डा0 गंगेश बहादुर श्रीवास्तव का मै हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सहायता प्रदान की।

तत्पश्चात मै अपने पूजनीय माता-पिता के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपने वात्सल्य तथा संरक्षण से मुझे इस योग्य बनाया कि मै शिक्षा के इस उच्चतर शिखर पर स्वयं को आरूढ़ करने में समर्थ हो सका। इस कार्य में ज्येष्ठ भ्राताश्री अशोक कुमार एवं भाभी के कृतज्ञताभार से मेरा मस्तक सदैव उनके प्रति नत रहेगा और मै उनका सर्वदा ऋणी रहूंगा।

मेरे इस प्रयत्न को साकार रूप देने में मेरे मित्रगण डा0 उत्तम सिंह, एँडवोकेट रामकुमार सिंह, विन्ध्यवासिनी प्रसाद तिवारी, विनोद प्रकाश राकेश कुमार ने भरपुर सहयोग दिया और समय-समय पर मेरा उत्साह वर्धन कियां मेरी पत्नी श्रीमती सर्वेश कुमारी, अनुज सुरेश कुमार एवं ब्रजेश कुमार का योगदान सराहनीय रहा, जिनसे शोध कार्य करने की सतत प्रेरणा मिलती रही। अन्ततः अपने पुत्र दीपक उमराव और पुत्री दीपिका उमराव के सहयोग का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि उनके सहयोग के बिना इस कृति का पूरा होना कठिन अवश्य होता।

इसके साथ मै उन सभी विद्वानों एव ग्रन्थकारों का आभारी हूँ जिनके विचारों से मुझे प्रत्यक्ष एव परोक्ष किसी भी रूप में सहायता मिली अन्तत: मै राजीव मिश्रा एवं उनके सहयोगी शफीक अख्तर को धन्यवाद देना अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता से टंकण कार्य द्वारा शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत किया।

मुझे आशा है कि विद्वज्जन एव मेधावीगण मेरे इस शोध विषय की सामम्य त्रुटियों पर ध्यान न देगे। विविध प्रयासों के बाद भी त्रूटिया स्वाभाविक है, अतएव विद्वज्जनों से निवेदन है कि परिहार्य एवं अपरिहार्य त्रुटियोंको क्षमा करते हुये शोध प्रबन्ध का मूल्याकन करेंगे।

इलाहाबाद

भवदीय

कौशल किशोर

दिनांक : ३० ६ ०३

कौशल किशोर

विषय सूची

प्रथम अध्याय - प्रस्ताविक - पृष्ठ 1 से 22

1. भारतीय दर्शन तथा योग
2. महर्षि पतञ्जलि का परिचय
3. पतञ्जलि का समय
4. पतञ्जलि का स्थान
5. पातञ्जल योग दर्शन की परिवर्ती रचनाएं
6. योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त
7. योग का स्वरूप
8. सम्प्रज्ञात समाधि
9. असम्प्रज्ञात समाधि
10. योगसाधना के उपाय
11. योगदर्शन के तत्वमीमांसीय सिद्धान्त
12. परिणाम सिद्धान्त
13. कर्म सिद्धान्त
14. ईश्वर
15. कैवल्य

द्वितीय अध्याय - पृष्ठ 23 से 52

1. समाधिपाद

2. साधनपाद

3. विभूतिपाद

4. कैवल्यपाद

तृतीय अध्याय - आधुनिक योगाचार्य - पृष्ठ 53 से 76

1 स्वामी विवेकानन्द

2. महर्षि अरविन्द

3. महर्षि महेशयोगी

4. आचार्य रजनीश

चतुर्थ अध्याय

योगसाधना तथा उसका मानवीय कल्याण में प्रयोग - पृष्ठ 77-271

पंचम अध्याय -

निष्कर्ष पृष्ठ 272-275

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची - 276-279

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

भारतीय दर्शन तथा योग

तप:पूत तथा प्रज्ञाचक्षु ऋषि महार्षियों न सस्कृत वाड्गमय की उस विद्या को दर्शन सज्ञा प्रदान की जिसका विषय था 'परम तत्व ' अथवा परमार्थ। दृश दर्शने धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने मे निष्पन्न ' दर्शन शब्द का अर्थ होता है ' देखने का साधन ' अत· दर्शन शब्द का अर्थ हुआ देखन का साधनभूत चक्षुरूप ज्ञानेन्द्रिय। लोक में चक्षु (दर्शन) नामक ज्ञानेन्द्रिय का विषय सम्पूर्ण दृश्यमान जगत है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण दृश्यमान जगत का प्रत्यक्ष ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे 'दर्शन कहेंगे। इसी तरह जिस शास्त्र का विषय है।' परम तत्व ' या 'परमार्थ ' अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा परम तत्व का दर्शन अथवा ज्ञान कराया जाये उसे भी दर्शन कहेंगें। अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहते है या पाचों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में दर्शनेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वाधिक प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक जान पडता है। सम्भवत: इसलिए परमतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाले शास्त्र का नाम दर्शन शास्त्र ही रखा गया है।

भारतीय दर्शन को दो भागो मे विभक्त किया गयाा 1 नास्तिक दर्शन 2. अस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन उनको कहा गया है। जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानते । इसके अन्तर्ग चार्वाक बौद्ध तथा जैन दर्शन आते है। इनके विपरीत आस्तिक दर्शन वे है जो वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखते है। इनके अन्तर्गत न्याय आदि छ: दर्शन आते है जो इस प्रकार है।

1. न्याय दर्शन
2. वैशेषिक दर्शन
3 पूर्व मीमासा दर्शन
4 साख्य दर्शन
5. योग दर्शन
6 वेदान्त दर्शन (उत्तर मीसासा)

महर्षि पतञ्जलि का परिचय

समस्त भारतीय दर्शनों का चरमलक्ष्य है प्राणियों को त्रिविध दु.खों से सदा के लिए छुटकारा दिलाना। दु:खों की यह इस शाश्वतिक निवृत्ति को अलग-अलग दर्शनों में मुक्ति मोक्ष, कैवल्प, अपवर्ग, नि: श्रेयस , निर्वाण और परमपद इत्यादि पदों से अभिहित किया गया है।

उपर्युक्त षड्दर्शनों की परम्परा में योग दर्शन अन्यतम हैं। भारतीय दर्शनों में योग दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाभारत में श्री शुक्रदेव जी ने उचित ही कहा है कि '' न तु योगमृते प्राप्तु शक्या सा परमा गति:।'' तत्व

साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार के लिए योग साधना की आवश्यकता प्राय: सभी दर्शनों तथा भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। वैदिक एव अवैदिक (जैन तथा बौद्ध) दर्शनों में योग की उपादेयता निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। सहिता , आरण्यक और उपनिषद के योग की महनीयता का वर्णन उपलब्ध होता है।'

किन्तु योग दर्शन का व्यवस्थित रूप में विवेचन पजञ्जलि विरचित योग सूत्र में ही उपलब्ध होता है। इसीलिए योगदर्शन का दूसरा नाम पातञ्जल योग दर्शन भी है जिसमें पातञ्जल शब्द का अर्थ है। महर्षि पंतञ्जलि से सम्बद्ध । यहां यह उल्लेखनीय है कि महर्षि पजञ्जलि ने योगदर्शन को सुव्यवस्थित दार्शनिक रूप अवश्य दिया है किन्तु ये योगदर्शन के आदि प्रवर्तक नहीं है। योगियाज्ञवल्क्य में हिरण्यगर्भ को योग दर्शन का प्रथम वक्ता या उपदेष्टा स्वीकार किया गया है। पंतञ्जलि ने स्वय इस बात का सकेत प्रथम योग सूत्र ' अथयोगानुशासनम् ' में प्रयुक्त अनुशासन शब्द द्वारा किया है। ' अनुशासन ' और ' शास्त्रशब्द पर्यायवाची है। फिर भी बहुप्रचलित 'शास्त्र ' शब्द का प्रयोग न करके महर्षि पजञ्जलि ने अनुशासन शब्द को जो प्रयोग किया है उसका प्रयोजन यह है कि वे अनुशासन शब्द की इस व्यजना से 'शिष्टस्य शासनम् इत्यनुशासनम् ' अर्थात पहले से सिखाये गये विषय को सिखाने वाला शास्त्र अनुशासन है। यह प्रकट करना चाहते है कि वे योग शास्त्र के आदिवक्ता नही है। तो प्रश्न उठता है कि योगशास्त्र का आदि वक्ता कौन है ?

योगियाज्ञावल्क्य स्मृति से ज्ञात होता है कि योगशास्त्र के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ है। योगसूत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय तक योग के

---

1 क '' यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीना योगमिन्वति ।। '' ऋक्सहिता प्रथम मण्डल सूक्त 18 मन्त्र 7

ख '' योग योग तवस्तर वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।। '' ऋक्सहिता 1,30,7 शुक्ल यजु0 1,14
साममेव सहिता उत्तरार्चिक 1,2,।।1 पूर्वाचिक 1,2,7,9
अर्थवेदसहिता 20,26,1

ग '' युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे ।'' यजुर्वेदसहिता 11,2

घ '' अध्यात्मयोगेधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति'' काठकोपनिषद् 1,2,21

ड '' योगप्रवृत्ति प्रथमा वदन्ति ।'' श्वेता उप 2,13

च ' न तस्य रोगो न जरा न मृत्यू प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् । '' श्वेता. उप 2,12

अनेक सिद्धान्त विद्वतजनों के बीच प्रचलित थे। योग सबधी पूर्ववर्ती ग्रन्थो का यद्यपि पजञ्जलि ने न तो कही उल्लेख किया है और न ही किसी प्राचीन योगाचार्य का कहीं पर नाम लिया है। फिर भी अधिकाश प्रतिपाद्य विषयों को तर्को और प्रमाणों से सिद्ध करने का उनका प्रयास इस बात का प्रमाण है कि उन विषयों और सज्ञाओं का सामान्य बोध विद्वानों को पहले से रहा होगा । इन बातों से योगशास्त्र के आदि उपदेष्टा हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि ठहरते है।

उपनिषद और महाभारत में स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया गया है कि यह हिरण्यगर्भ आदि विद्वान परमर्षि कपिल से अभिन्न थे

1. कपिलोऽग्रज इतिपुराणवचनात कपिलोहिरण्यगर्मो वा व्यपदिश्यते-श्वे0 उप0 शाकरभाष्य

2 '' कपिलोनाम विष्णोरवतार विशेष: प्रसिद्ध:
स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तरयापि शांख्ययोगप्राप्तिवेर्द श्रूयते सएवेश्वर आदि
विद्वान कपिलो : विष्णु: स्वयम्भूरिति भाव: ।'' त0 वै0 1,25

3. विद्यासहायवन्तभादित्यस्थ समाहितम्।
कपिल प्राहुरार्चो सांख्यनिश्चितनिश्चिता:।।
हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुस्तुत:।
सोउहं योगरितिब्रहान्। योगशास्त्रेषु शब्दित:।। महा0 11/339/68-69

उल्लेखनीय है कि इन्ही महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम सांख्ययोग का उपदेश किया था। साख्य तथा योग एक ही दर्शन के सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक पहलू थे। दोनों पृथक दर्शन नहीं थे। गीता में साख्या और योग की एकता सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गयी है -

'' सांख्य योगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।

एकमप्यास्थित: सम्युगुभयोर्विन्देते फलम् ।। श्रीमद्भगवद्गीता ।5।4।
यत्सांख्यै· प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यपि स पश्यति। । श्रीमद्भगवद्गीता ।5।5।

---

1 ''ननुहिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन '' इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृते कथ पतञ्जलेयोगशास्त्र वक्तृत्वमित्याशाडक्य सूत्रकोरेणीक्तम् अनुशासनमिति शिष्टस्य शासनमनुशासनमित्यर्थ।'' तत्व वैशारदी पृष्ठ 6

2 क महाभारत 11,349,65

ख मनुस्मृति 1,88-89 ग भामती 2,1,3

श्रीमद्भागवतपुराण में महर्षि कपिल को साख्योपदेष्टा तथा सिद्धेश कहा गया है।

'' पंचमों कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचारसुरये साख्य तत्वग्रामविनिश्चयम्। '' श्रीमद्भागवतपुराण 1,3,11

सिद्धेश का अर्थ है योगिश्रेष्ठ अतः स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार भी महर्षि कपिल सांख्य और योग दोनो के प्रवर्तक थे। महाभारत में तो स्पष्ट कहा गया है-

'' कपिल परमर्षि च य प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम साख्ययोग प्रवर्तक .। '' 11/3/65

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कपिल अथवा हिरण्यगर्भ वैदिक काल के ऋषि थे क्योंकि संहिताओं तक में जिस योग की प्रशंसा की गयी है उसके आदि उपदेष्टा कपिल है। '' हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः '' पक्ति भी इनसे पर्ववर्ती किसी अन्य योगशास्त्र व्याख्याता का स्पष्ट निषेध कहती है। कपिल तथा पजञ्जलि के बीच कतिपय योगाचार्यो के केवल नाममात्र मिलते है, उनकी कोई कृति उपलब्ध नही होती।

पंतञ्जलि का समय :

पाश्चात्य विद्वान जे. एच. बुडस महर्षि पजञ्जलि का जीवनकाल 300 ई-400 ई0 के मध्य मानते है[1], प्रो0 जैकोबी तथा प्रो0 कीथ भी योगसूत्रकार पजञ्जलि को महाभाष्यकार पजञ्जलि से भिन्न मानते हुए योगसूत्रकार पंतञ्जलि की स्थिति तीसरी और चौथी शताब्दी में[2]

मानते है। अपने मत की पुष्टि मे उन्होनें कुछ तक्र दिये जिनको प्रो0 श्रीवास्तव ने अपने योगसूत्रभाष्य सिद्धिः में उल्लिखित किया है। अतः वे वहीं दृष्टव्य है।

---

1. The conclusion would be then that the Patanjali's were written at some time in the fourth or fifth century of ourera" Introduction of Yoga system of Patanjali P XIV
2 योगसूत्र भाष्य सिद्धि. पृष्ठ 12/13 लेखक प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

दूसरी ओर डा0 एस0 एन दास गुप्त श्री ज्वाला प्रसाद, रिचर्ड गार्वे महोदय आदि विद्वान उपर्युक्त मतों का खण्डन करते हुये एक प्राचीन भारतीय परम्परा के आधार पर योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पजञ्जलि को एक ही व्यक्ति मानते है। ऐसा मान लेने पर योग सूत्रकार का काल निश्चित करना सुकर हो जाता है क्योंकि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्ग वशीय राजा पुष्यमित्र के समसामयिक थे। दोनों पतञ्जलियों की एकता प्रतिपादित करने वाली जिस प्राचीन परम्परा का सहारा डॉ0 दास गुप्त इत्यादि ने लिया है। वह परम्परा यह है -छठी शताब्दी ई0 के वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ के ब्रहाकाण्ड में अधोलिखित श्लोक आया हुआ है।

कायावाग्बुद्धि विषया येमला: समुस्थित:।
चिकित्सा लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेपा विशुद्धय: ।। 1।146।

जिसका अर्थ है कि शरीर, वाणी और बुद्धि विषयक जो मत है उनकी विशुद्धि चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और अध्यात्मक शास्त्र के द्वारा होती है। वाक्यपदीय के टीकाकर पुष्पराज की ऐसी धारणा है कि उक्त श्लोक में पतञ्जलि की प्रशसा की गयी है। जिन्होनें इस त्रिविध मलों के शोधन के लिए 'चरक सहिता ' ' महाभाष्य ' और योग सूत्र' की रचना की है। पुष्यराज की इस धारणा का आधार उक्त श्लोक पर स्वयं भर्तृहरि की ही अधोलिखित व्याख्या है।

'' यथैव हि शरीरे दोषशक्ति रत्रोपधादिपु च दोषप्रतीकारसामथर्य
दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्धं, रागदीश्च बुद्धेरूपप्लवानवगम्य
तदुपघातहेतु ज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि,
तथेदमपि साधूनां वच: संस्काराणा ज्ञापनार्थमपभ्रशाना चोपधाताना
त्यागर्थ लक्षणमारब्धम्।''

इस व्याख्या में प्रत्येक शास्त्र के कर्ता के अलग-अलग उल्लेख न होने से यही धारणा बनती है कि भर्तृहरि एक ही व्यक्ति को इन तीनों शास्त्रों का कर्ता मानते थे।

येागसूत्रों पर ' राजमार्तण्डवृत्ति' की रचना करने वाले भोजराज (11बो शताब्दी ई0) ने इस वृत्ति के मगलाचरण में स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ही बैद्यक शास्त्र(चरक सहिता) और योगसूत्रों के भी रचयिता थे।

शब्दानामनुशासन विद्धता पातञ्जले कुर्वत
वृत्तिंराजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्येतोवपुषा मल: फणभृता भर्त्रेव येनोद्धतस्।
तस्य श्री रणारङ्गमल्लनृपयेतर्वाचो नयन्त्युज्ज्वला:।।

उक्त श्लोकों का अर्थ है कि जिस प्रकार से सर्पो के राजा (शेषनाग के अवतार पजञ्जलि) ने शब्दानुशासन (महाभाष्य), योगसूत्र तथा वैद्याकशास्त्र की रचना करते हुए वाणी, चित्त तथा शरीर के मलों के शोधन किया था उसी प्रकार जिस रणरङ्गमल्ल राजा (भोज) ने व्याकरणशास्त्र, पातञ्ज्ल-योगशास्त्र तथा वैद्यकशास्त्र राजमृगाङ्क नाम वृत्ति की रचना करते हुए उक्त तीनों प्रकार के मलों (दोषो) को दूर कर दिया है उनके उज्जवल वचन सर्वातिशायी है।

स्पष्ट है कि राजा भोज को महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा येागसूत्रकार पतञ्जलि की अभिन्नता में कोई सन्देह नहीं है।

चरक सहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त (11 वी शताब्दी ई0) पतञ्जलि को इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता रूप में प्रमाण करते है -

पाजञ्जलमहाभाष्यचरक प्रतिसस्कृतै:।
मनोवाक्कायदोषाणा हन्त्रेऽहिपतये नम:।।

वैयाकरणनागेश (16 वी शताब्दी ई0) अपने ग्रन्थ ' वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा ' में पंतञ्जलि को उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता मानते है।

क. '' तदुवक्त चरके पतञ्जलिना । सेन्द्रिय चेतन द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्।''
ख. '' आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुत्वस्य कात्स्न्र्यन निश्चयवान्

' रागदिवशादपि नान्यथावादी य: स इति चरके पतञ्जलि: ''।
(वैययाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृ0 12)

ग. योगसूत्रे पतञ्जल्युक्ते:' महाभाष्य पस्पशा उद्योत पृ0 58

रामभद्र दीक्षित (18 वी शताब्दी ई0) स्वरचित 'पतञ्जलिचरित ' में पजञ्जलि की वन्दना इस रूप में करते है -

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मल शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीना पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

प्राचीन शैली से पठन पाठन की परम्परा का अनुसरण करने वाली सस्थाओं में आज भी महाभाष्य का पाठ आरम्भ करने से पूर्व अधोलिखित मंगलपाठ किया जाता है -

वाक्यकारं वररूचि भाष्यकारं पतञ्अलिम्।
पाणिनीं सूत्रकार च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम्।।
योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत प्रवर मुनीनां पतंञ्जलि प्राञ्जलिरानतोअस्मि।।

कहावत है कि जनश्रुति निराधार नहीं हुआ करती '' न ह्यमूला जनश्रुति :'' इसलिए ठोस बाधक प्रमाणों के अभाव में उक्त परम्परा की प्रमाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आधुनिक विद्वान डॉ0 एस0 एन दासगुप्ता तो जोरदार शब्दों में यह कहते है कि महाभाष्य के पर्यवेक्षण के पश्चात् उन्हें कोई भी ऐसा तथ्य या सकेत नहीं मिला जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि दोनों पतञ्जलि अभिन्न नही थे।

दोनों ग्रन्थों के अन्तः साक्ष्य से भी डॉ0 दासगुप्ता के उपर्युक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। महाभाष्य 4।1।3 में , गुणसिद्धान्त, 1।2।64 में सत्कार्यवाद 2।2।5 में कालविषयक सिद्धान्त तथा 3।10-11 में बुद्धिपरिणाम के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अंश दर्शनीय है।

दोनो ग्रन्थों के आरम्भ करने की शैली में भी अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है। महाभाष्य का आरम्भ ' अथ शब्दानुशासनम्' वाक्य 1।1।1 से होता है तो योगसूत्र का आरम्भ अथ शब्दानुशासनम् 1/1 सूत्र से किया जाता है। चॅकि ग्रन्थों का आरम्भ अथ शब्द से किया ही जाता है। इसलिए उक्त स्थलों में अथ शब्द का साम्य उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अनुशासनम् शब्द का साम्य । ऐसा लगता है कि योगसूत्रों के व्याख्याता भाष्यकार व्यास भी दोनों की अभिन्नता के समर्थक है क्योंकि अथ योगानुशासनम् में अथ शब्द की व्यासकृत व्याख्या महाभाष्यकारकृत ' अथ' शब्द की व्याख्या क वजन पर ही की गयी प्रतीत होती है। महाभाष्यकार कहते हैं- '' अथेत्ययं शब्दोऽधिकारर्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासन शास्त्रमीधकृत वेदितव्यम्।'' महाभाष्कार कहते हैं - '' अथेत्ययमधिकारार्थ· योगानुशासनं शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम्।'' योगभाष्य पृ0 6

महाभाष्यकार पतज्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। इस संबध में किवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बार वे अपने शिष्यों के बीच पाणिनीय सूत्रों पर प्रवचन कर रहे थे। स्वयं पर्दे के पीछे बैठकर प्रवचन कर रहे थे और शिष्यों को आदेश दे रखा था कि वे पर्दे के पीछे नहीं देखेगें। उत्सुकता और चपलता के वशीभूत एक छात्र ने पर्दा उठा दिया। आचार्य एक हजार मुखों से प्रवचन कर रहे थे। पर्दो उठने से सारे शिष्य भस्म हो गये । एक शिष्य जो लघुशंका हेतु बिना आज्ञा चला गया था वही बचा रहा गया। आज्ञा के बिना ही जाने के कारण उसे दैत्य होने का शाप मिला। अन्त में उसके ऊपर दयालु होकर आचार्य ने उससे कहा कि तुम अमुक बरगद के पेड़ पर रहोगें। उधर से गुजरने वालों से तुम प्रश्न करोगे - ' पचेः निष्ठाया कि रूपम्।'' जो भी सही उत्तर देगा उसे पाणिनीय सूत्रो का ज्ञान करा कर तुम शाप मुक्त हो जाओगें।'' वह शिष्य वैसा ही करता रहा किन्तु हर व्यक्ति का उत्तर होता था- 'पक्तम्' ।

अन्त में किसी व्यक्ति ने उसके प्रश्न का उत्तर 'पक्वम्' दिया । तब आचार्य के आदेशानुसार उसे बटपत्र पर लिख लिख कर पाणिनीय सूत्रों का ज्ञान कराकर वह शिष्य शाप-मुक्त हुआ।

योगसूत्रकार पतञ्जलि को भी प्राय: सभी आचार्यो ने स्थल स्थल पर शेषावतार, फणिपति, अनन्त आदि कहा है। मल्लिनाथ (13वीं शताब्दी ई0) ने भी अपने प्रसिद्ध श्लोक वाणी काणभुजी मजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्। अन्तस्तन्त्रमरंम्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्।'' में योगशास्त्र को पन्नगवीगुम्फ कहा है। पजञ्जलि नाम के व्यक्ति तो अनेक हो सकते है किन्तु शेषवतार रूप में प्रसिद्ध पतञ्जलि के अनेक होने की सम्भावना कम ही बनती है। इस प्रकार दोनों पतञ्जलियों के सबध में शेषावतार से संबंधित उक्त धारणा भी दोनों की अभिन्नता की ही परिचायक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में आ जाते है कि दोनों ही पंतञ्जलि -महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि एक तथा अभिन्न थे । महाभाष्य के पुष्ट अन्त: साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकार इस सबध में एकमत है। कि महाभाष्यकार का समय द्वितीय शताब्दी ई0 पूर्व था। महाभाष्य में पतञ्जलि लिखते है।

' इह पुष्यमित्र याजयाम: ', 'पुष्यमित्र यजामहे, इन उल्लेखों से इतिहासकार इस मत के है कि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुग के पुरोहित थे। पुष्यमित्र शुग ने अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की उसके द्वारा सैन्य निरीक्षण के समय सेना के समक्ष हत्या कर के मौर्य साम्राज्य पर अधिकार किया था। पुष्यमित्र शुंग का राज्यकाम द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 स्वीकार किया जाता है। इसलिए उनके पुरोहित पंतञ्जलि का स्थितिकाल भी द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 होना चाहिए। अपने इस मत की पुष्टि में महाभाष्यकार के अधोलिखित प्रयोगों का भी सहारा इतिहासकार लेते हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि कहते है -

अरूणद्यवन: साकेतम्। अरूणद्यवन: माध्यमिकाम्।'

इतिहासकारों का कहना है कि यवनों का यह साकेत तथा मध्यदेश पर आक्रमण भी पुष्यमित्र शुग के ही जीवन काल में हुआ था।

इस प्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि महाभाष्यकार द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में हुए थे और उनके साथ अभिन्नता के आधार पर योगसूत्रकार पंतञ्जलि का भी सिद्ध होता है।

पतञ्जलि का स्थान :

महाभाष्य में कश्मीर के प्रति पंतञ्जलि का विशेष झुकाव परिलक्षित होता है।

1. '' काश्मीरान् गमिष्यामो देवदत्त। तत्र सक्तून पास्याम:। ''
2. '' अभिजानासि देवदत्त। यत् काश्मीरेषु वत्स्याम:।''
3. '' समेता: पुष्यकर्माणि पार्श्वे हिमवत: शुभे ।''

इस झुकाव को देखते हुए प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव इन्हें न केवल काश्मीर निवासी मानते है अपितु कुछ विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इनके गोर्नदीय (गोण्डावासी) होने का खण्डन भी करते है। अपने मत के समर्थन में उनका कहना है कि - '' पतञ्जलि ने कई स्थानों पर गोनर्दीय आचार्य का खण्डन भी किया है। ये मत कात्यायन के ही प्रतीत होते है। पाणिनीयसूत्र 1।1।5 पर वर्तिक है - सति त्वन्यस्मिन्।' इसका खण्डन करते हुए पतञ्जलि कहते है- '' गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति तु अन्यस्मिन् इति। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन ही गोनदीय थे न कि पतञ्जलि । इस मत को मानने वाले अन्य विद्वान हरिदीक्षित अर्वाचीन विद्वान सुब्रहाण्य शास्त्री और पण्डित दामोदर प्रसाद शर्मा शास्त्री वैद्य है।

योगसूत्रभाष्यकार व्यास: व्यास ने पातञ्ल योगसूत्रों पर जिस भाष्य की रचना की वह योगसूत्रों से सम्बद्ध होने के कारण योगभाष्य, व्यासकृत होने के कारण व्यासभाष्य, पतञ्जलि के योगसूत्रों से सम्बद्ध होने के कारण पातञ्जल भाष्य तथा (योगदर्शन में) तत्वविचार की दृष्टि से साख्यशास्त्र का प्रकृष्ट रूप से निर्वचन करने के कारण साख्य प्रवचनभाष्य नामों से प्रसिद्धि है। पातञ्जलयोगदर्शन के सम्यक् ज्ञान के लिए व्यासभाष्य अपरिहार्य है इसलिए इस महत्वपूर्ण गन्थ का परिचय प्रस्तुत करना अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य जान पडता है।

पातञ्जल योगदर्शन के मूर्धन्य विद्वान तथा योगसूत्रभाष्य के वरिष्ठ व्याख्याता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव का मन्तव्य है कि -

'' योगशास्त्र के इतिहास में पंतञ्जलि के पश्चात जिस कृति का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है, वे हैं व्यास । अध्येताओं की दृष्टि में योगसूत्रों की ही भांति योगभाष्य भी अतीव महत्वपूर्ण एवं प्रमाणिक कृति है। योगदर्शन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक -उभयविध स्वरूपनिरूपण योगभाष्य के आधार पर ही किया जाता है।''[25]

---

1. योगसूत्रभाष्यसिद्धि: पृ0 22

1.योगसूत्रभाष्यसिद्धि : पृ0 22

वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु आदि योग परम्परा के सभी आचार्य इस भाष्य के रचयिता के परम प्रशसक है विज्ञान भिक्षु कहते है

सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषित:।
योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षुरामिद गति·।
गंगाद्या: सरितो यद्वदब्धेरं शेषु संस्थिता:।
साख्याद्यदर्शनान्येवमस्यैवाशेपु सस्थिता ·।।

भाष्य की पुस्तिकाओं में कही भी व्यास का नाम नहीं मिलता है तथापि वाचस्पति मिश्र अपनी टीका तत्व वैशारदी के आरम्भ में इस भाष्य को वेदव्यास भाषित कहते है। योग वार्तिक के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्षु भी इस भाष्य को ' सर्ववेदार्थसार: तथा 'वेदव्यासनेभाषित: ' और 'रत्नाकर: प्रवादाना भाष्यं व्यासभिनिर्मितम् कहते है । इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन या अर्वाचीन सभी आचार्य व्यास मुनि नामक व्यक्ति को इस भाष्य का रचयिता मानते है। किन्तु यह व्यास कौन है- महाभारतकार परासर पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास? अथवा वेदान्तसूत्रों के रचयिता वादरायण व्यास या इन दोनों से भिन्न कोई अन्य व्याय ? इस प्रश्न को उठाकर साधक प्रमाणों के उपस्थापनापूर्वक प्रो0 श्रीवास्व इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि - '' बहुत सम्भावना यही है कि कृष्ण द्वैपायन तथा वादरायण दोनों से ही भिन्न किसी अन्य व्यास ने ही योगभाष्य की रचना की है। उनको वेदव्यास कहना ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना है।' योगभाष्य का रचनाकाल भी पर्याप्त विवादग्रस्त है किन्तु प्रो0 श्रीवास्तव इसका रचना काल दूसरी शताब्दी ईस्वी निर्धारित करते है।

व्यास कृत यह योग भाष्य पातञ्जल महाभाष्य, साबरभाष्य अथवा शांकरभाष्य के समान प्रौड तथा उच्चस्तरीय तो नहीं है किन्तु इतना निकृष्ट भी नही है कि इसे तृतीय श्रेणी का माना जाय । यह भाष्य विषय का सागोपाग निरूपण तो कर्ता ही है, सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करता है और प्रसिद्ध प्रमाणों द्वारा सूत्र के अर्थ की पुष्टि करता है। भाष्य की शैली सुदृढ सक्षम तथा सारग्राहिणी है। विषयों का विवेचन सोपपत्ति प्रस्तुत किया गया है।

पातञ्जल योग दर्शन की परिवर्ती रचनायें।

1. **तत्व वैशारदी टीका** :- इसके रचयिता वाचस्पति मिश्र है। इसे व्यास भाष्य पर प्रथम विश्वसनीय टीका होने का गौरव प्राप्त है। वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे जैसा कि वे स्वयं लिखते है - ' तस्मिन् महीये कीर्तव श्रीमगृगेऽकारि मयानिबन्ध:।' उनकी इस उक्ति से यह भी स्पष्ट है कि वे मृग नामक किसी यशस्वी राजा के आश्रित विद्वान थे। सभी दर्शनों पर प्रौड़ टीकाए लिखने के कारण इन्हें 'द्वादशदर्शनकानानपचानन' तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र की उपाधि

मिली हुई थी। उनकी तत्व वैशारदी टीका व्यास भाष्य के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला अद्वितीय व्याख्या है। इनका समय नवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है।

2. **राजमार्तण्डवृत्ति** :- योगसूत्रों पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति के लेखक भोजराज (11बी शताब्दी ई0) का नाम योगशास्त्र के इतिहास में बडा महत्वपूर्ण है। विद्वानों के बीच उनकी इस कृति का बडा सम्मान है। स्पष्टता के साथ इसमें न तो अनावश्यक विस्तार है और न ही दुरूह विषयों को छोड देने की दुष्प्रवृत्ति।
3. **योगवार्तिक** : इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य विज्ञानभिक्षु (16वी शताब्दी ई0) का पूर्वार्ध है। यह वार्तिक योगभाष्य के ऊपर लिखी गयी एक विशाल व्याख्या है। योगसूत्र भाष्य के रहस्यों को पूरी तरह से समझने तथा योग के महात्म्य के सही आकलन के लिए इस वार्तिक का अध्ययन अपरिहार्य है।

अन्य कृतियाँ : योगसूत्रों पर भावागणेश (17 वी शताब्दी ई0) की वृत्ति, प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजीभट्ट (17 वीं शताब्दी ई0) की ' छाया ' नामक व्याख्या , रामानन्द यति (18 वी शताब्दी ई0) क ' मणिप्रभा ' और नारायण तीर्थ की (18 वीं शताब्दी ई0) की 'सूत्रार्थबोधिनी ' तथा 'यागदर्शन ' नामक व्याख्यायें भी प्रसिद्ध तथा उपयोगी है। अर्वाचीन सस्कृत टीकाओं में हरिहरानन्द आरण्य की 'भास्वती' टीका भी विश्वसनीय तथा उपादेय है। आचार्य शंकर द्वारा लिखी गयी 'विवरण ' नामक व्याख्या भी योगसूत्रों तथा व्यासभाष्य का अच्छा विवेचन प्रस्तुत करती है। महामहोपाध्याय डॉ0 गगानाथ झा द्वारा लिखित अंग्रेजी भी उपयोगी है।

योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

पातञ्जल योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के उपस्थापन के पूर्व 'योग' शब्द का योगसूत्रकार सम्मत अर्थ निर्धारित करना आवश्यक जान पडता है। वस्तुतः यह योग शब्द युज धातु से घञ प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है और पाणिनीय व्याकरण में युज् धातुयें तीन हैं-

1 दिवादिगणीय आत्मनेपदी युज् समाधौ धातु।

2 रूधादिगणीय उभयपदी युजिर् योगे धातु।

3. चुरादिगणीय परस्मैपदी युज् संयमने धातु।

उपर्युक्त तीनों धातुओं से निष्पन्न 'योग' शब्दों का अर्थ क्रमशः 1. समाधि 2. जोड़ तथा 3. संयमन होता है।

अथ योगानुशासनम्। यो.सू. 1/1 पर भाष्य करते हुए भाष्यकार 'योग' शब्द का अर्थ करते हैं -

' योगः समाधिः '

तथा स्वयं योगसूत्रकार कहते हैं -

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। यो सू 1/2 तदा.

'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। यो.सू. 1/3

अतः स्पष्ट है कि योग का अर्थ सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनो ही समाधि कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'युज समाधौ' धातु करणो घञ् लगाकर ही 'योग' शब्द की निष्पत्ति मानना उचित होगा। पातञ्जल 'योग' सयोगरूप न होकर वियोगफलक है अर्थात् कैवल्य दिलाने वाला है। सम्भवतः 'योग' के इसी स्वरूप को लक्ष्य करके भोजराज ने कहा है -

पतञ्जलिमुनेरूक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया।। राजमार्तण्ड वृत्ति

योगियोज्ञवल्क्य में 'योग' को जो सयोगरूप कहा है[1] वह इसलिए कि वेदान्तदर्शन के अनुयायी जीवात्मा तथा परमात्मा को भिन्न मानते हैं और उनके यहॉ मोक्ष का फल है जीवात्मा तथा परमात्मा का सयोग अतः उनके 'योग' की निष्पत्ति तो युजित योगे धातु से ही माननी होगी।

योग का स्वरूप

---

1 सयोगो योग इत्युक्त· जीवात्मपरमात्मना·

1 योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। तदा द्रष्टु. स्वरूपोऽवस्थानम्। यो.सू 1/2,3

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि में योग का अर्थ है चित्त वृत्ति निरोध अथवा समाधि। प्रश्न उठता है कि समाधि अथवा चित्त वृत्ति का निरोध तो कुछ न कुछ मात्रा में सभी को और सदैव होता रहता है तो क्या उन सभी समाधियों को योग कहेंगे या किसी विशेष प्रकार की समाधि का योग कहेंगे। आचार्य के अनुसार केवल उस ममाधि को योग कहेंगे जिसमें द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाय।[1] अर्थात मोक्षप्रद चित्तवृत्ति निरोध (समाधि) को ही योग कहेंगे। जिस समाधि से जीवात्मा की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा न हो पाये वह चित्तवृत्ति निरोध अथवा समाधि योग नहीं है। इसीलिए भाष्यकार समाधि को चित्त का सार्वभौम (सभी भूमियों में रहने वाला) धर्म बताते हुये केवल एकाग्र तथा निरूद्ध भूमि वाले समाधि को ही योग कहते हैं। उनके अनुसार क्षिप्त मूढ तथा विक्षिप्त भूमियों में होने वाली समाधि योग नहीं है। क्योंकि इन भूमियों में हुआ वृत्ति निरोध स्वल्पकालि होता है और स्वत: उपस्थित तथा खण्डित होता रहता है। उससे मोक्ष प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं होती है। इसलिए इन भूमियों की समाधि साधना की दृष्टि से एकदम अनुपयोगी होती है।

योग कहलाने वाली यह समाधि दो प्रकार की होती है - 1. सम्प्रज्ञात समाधि
2. असम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि - योग की साधना का वास्तविक उपादान चित्त है जिसमें प्रकृति के तीन तत्व मन, बुद्धि और अहंकार समन्वित है। प्रकृति का विकार होने के कारण यह चित्त त्रिगुणात्मक है। चित्त की एकाग्र भूमि में राजस और तामस वृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है। इसमें केवल सात्विक वृत्ति पूर्ण रूप से उदित रहती है। फलस्वरूप साधक को समस्त वस्तुओं का वास्तविक और निर्भ्रान्त ज्ञान होता है। भाष्यकार के शब्दों में ''जो समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त मे होती है बुद्धि में स्थित पदार्थ को पूर्णतया प्रकाशित करती है. अविद्या आदिक क्लेशों को नष्ट करती है, कर्म के बन्धनों (कर्म सस्कारों) को शिथिल करती है और निरोध (असम्प्रज्ञात समाधि) को सामने लाती है वह समाधि सम्प्रज्ञात योग कहलाती हैं इसमें ध्येय का पूर्ण रूप से ज्ञान बना रहता है। इसलिए इसे सम्प्रज्ञात योग कहते है।[1] यह समाधि भी मोक्षप्रद होती है। अन्तर बस इतना है कि एकाग्र भूमि वाले योग में चित्त की केवल दो वृत्तियों - राजस और तामस- का निरोध होता है जबकि निरूद्ध भूमि वाले योग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस समाधि में राजस तथा तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण केवल सात्विक प्रकाश होता रहता है फलस्वरूप उस सात्विक वृत्ति के ध्येय विषय का पूर्ण साक्षात्कार उदित होता है। इस साक्षात्कार के कारण ही इस समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि (सम्यक प्रकर्षेण ज्ञात: साक्षात्कृत: सम्प्रज्ञात:) कहते हैं इस समाधि के सिद्ध होने पर प्रकृति और पुरूष इन

दो अन्तिम तत्वों का विवेकज्ञान भी हो जाता है यही विवेक ख्याति है। यह विवेक ख्याति निश्चित रूप से मोक्ष प्रद होती है यह समाधि चार प्रकार के ध्येयों का अनुगम (साक्षात्कार) करने के कारण चार प्रकार की मानी जाती है। वितर्करूप ध्येय अर्थात स्थूल पाञ्च भौतिक ध्येय का अनुगम करने वाली अर्थात स्थूल ध्येय में पूर्णतया तदाकारकारित होने वाली सात्विक वृत्ति के उदित होने पर वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। इसी प्रकार सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रादि विषयों को अनुगम होने पर विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। आनन्द अर्थात आनन्दात्मक इन्द्रियों का अनुगम होने पर आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है और अस्मिता का अनुगम होने पर अस्मिानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है वितर्कादि को समझाते हुये भाष्यकार का कथन है कि आलम्बन में चित्त की स्थूल (रूप की) परिपूर्णता वितर्क है, सूक्ष्म (रूप की परिपूर्णता) विचार है, अह्लाद (रूप की परिपूर्णता) आनन्द है और (पुरूष तथा बुद्धि) एकाकार बुद्धि (रूप की परिपूर्णता) अस्मिता है इनमें से प्रथम अर्थात वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि (इन) चारों से अनुगत होती है। (इस समाधि में यद्यपि स्थूल आभोग (वितर्क) का प्रधान्य रहता है फिर भी विचार, आनन्द तथा अस्मिता के आभोग भी गौण रूप में बने रहते हं)। इसी प्रकार वितर्क से रहित तथा शेष तीनों से अनुगत विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है : आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क तथा विचार से रहित तथा आनन्द एव अस्मिता से अनुगत होती है और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि उपर्युक्त तीनों से रहित और केवल अस्मिता से अनुगत होती है।ये सभी समाधिया सालम्बन होती है।

चतुर्थ सोपान में पूर्णता आने पर विवेकख्याति का उदय होता है। जब क्लेश कर्म सस्कारों के क्षीण होने के फलस्वरूप विवेकख्याति सुदृढ़ हो जाती है किसी प्रकार के मिथ्या ज्ञान से वाधित नहीं होती और निरन्तर सर्वथा विवेकख्याति होती रहती है' तब उसे धर्ममेघ समाधि का सज्ञा दी जाती है। उस स्थिति में योगी के सचित तथा क्रियमाण कर्मो के सस्कार फल देने में असमर्थ हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्मो के संस्कारों के भोग शेप रह जाते है जिन्हें भोगता हुआ साधक 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। प्रारब्ध कर्मो के संस्कार जन्य फलों का भोग समाप्त होते ही देहपात के फलस्वरूप वह 'विदेहमुक्त' हो जाता है। द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।

असम्प्रज्ञात समाधि - सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर विवेकख्याति के फलस्वरूप साधक को मोक्ष की प्राप्ति तो हो जाती है संचित तथा

---

1 सभ्यक प्रज्ञायते ध्येयम् अस्मिमनरोध विशेपरूपेयोगऽति सम्प्रक्रासतोयोगः - यो वा. पृ0 9

1 यो सू. 1/2 का भाप्य

क्रियामाण कर्मो के सस्कार भी क्षीण हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्मो का फल तो उसे भोगना ही पडता है। भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मो का क्षय होने पर ही देहयात तथा तदनन्तर विदेहमुक्ति का लाभ उसे हो पाता है। असम्प्रज्ञात समाधि की यह विशेषता है कि इसके सिद्ध होने पर समस्त कर्म सस्कार दग्ध हो जाते हें फलस्वरूप साधक प्रारब्ध कर्मो का फल भोगने से भी तत्काल मुक्त हो जाता है। यही इसका सवर्तिशायी वैशिष्ट्य है। अत: साधक की इस समाधि की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक है। सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होने पर चित्त की राजस और तामस वृत्तियॉ पूर्णतया निरूद्ध हो चुकी रहती है, केवल सात्विक वृत्ति पूर्ण रूप से उदित रहती है। इस समाधि के फलस्वरूप होने वाली विवेक ख्याति के समय साधक पुरूष और बुद्धि दोनों की वास्तविकता जान लेता है। फलस्वरूप पुरूष के स्वरूप की अलौकिक शुद्धि, निश्चलता तथा चिन्मात्रता का दर्शन कर चुकने वाला साधक विवेकख्यातिकालिक अत्यन्त सात्विक बुद्धि को भी परिणामशीलता और चंचलता इत्यादि त्रूटियों से युक्त जानकर उसके प्रति भी विरक्त हो जाता है। उसकी यह वैराग्य ऐहिक और आमुष्मिक विषयों के प्रति होने वाले अपर वैराग्य से बहुत ही उत्कृष्ट होता है। चूँकि यह शुद्धतम बुद्धि के प्रति होता है इसलिए इसको 'परवैराग्य' कहते। इस परवैराग्य के अभ्यास से असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। उस समाधि में न कोई ध्येय आलम्बन होता है और न किसी प्रकार का बौद्धिक ज्ञान।[1] इसीलिए इसको असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। इस प्रकार यह समाधि ऐसी समाधि है जिसमें चित्त की राजस, तामस और सात्विक तीनों प्रकार की वृत्तियॉ पूर्णत: निरूद्ध हो जाती है। केवल निरोध संस्कार ही चित्त में शेष रह जाते हैं। ये संस्कार चित्त के प्रविलय में बाधक नही होते। इस समाधि में किसी प्रकार का बुद्धिकृत ज्ञान बिल्कुल नही रहता और न तो इस ज्ञान के संस्कार ही अवशिष्ट बचते है। इसीलिए इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असम्प्रज्ञात योग में वृत्तिज्ञान समाप्त हो जाता है। जिसके कारण इसका नाम असम्प्रज्ञात पड़ा। किन्तु इसमें पुरूष तत्व की साक्षात उपलब्धि होती है बुद्धि का माध्यमत्व समाप्त हो जाता है आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा तो सम्प्रज्ञात योग के अन्तर्गत विवेकख्याति में ही हो जाती है। उस सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान की भी अशुद्धता और परोक्षता का निश्चय होने पर परवैराग्य के द्वारा उसका भी निरोध कर दिया जाता हैं इसमें ज्ञान के साधनभूत बुद्धि का आश्रय त्याग कर साक्षात अपरोक्ष चिद्घन, 'ज्ञ' रूप पुरूष तत्व में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात योग है। इसी की सुदृढ और व्युत्थान रहित हो जाने पर सारे सस्कार जल जाते है, निरोध संस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरूषमात्र अवशिष्ट रहता है। यही उसका कैवल्य है।

असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है -

1 भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि

2- उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि

इनमें से भवप्रत्यय असम्प्रज्ञान समाधि विदेहों और प्रकृतिलीनों की होती है। भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म से ही. सिद्ध होने वाली या जन्मकारणक। यह समाधि की सिद्धि से देवलोक में जन्म मिलता है। यह समाधि मोक्षदायक नहीं है इसीलिए यह योग नहीं अपितु योगाभासमात्र है। विदेह और प्रकृतिलीन देवों की कोटियाँ हैं।

उपायप्रत्यय अर्थात उपायकारण का उपायों से सिद्ध होने वाली समाधि योगियों की होती है। विवेकख्याति के श्रद्धालु योगी धारणा और ध्यान के द्वारा चित्त की चंचलता को समाप्त कर के समाहितचित्त हो जाना है। इस प्रकार धारणा, ध्यान तथा समाधि नामक सम्प्रज्ञात योग के तीनों अन्तरग उपायों से सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती हैं समाधि लाभ कर लेने वाले उस योगी को विवेकज्ञानरूप बुद्धि, का परमोत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस बुद्धिवैशद्य या प्रज्ञाविवेक से वह योगी हर पदार्थ को सम्यक रूप से जान लेता है। उस प्रज्ञाविवेक के अभ्यास से और बाद में उस विवेकख्याति के विषय में भी वैराग्य उत्पन्न होने से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इसीलिए इस समाधि को पतञ्जलि ने श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक कहा है? (यो.सू. 1/20)। इन उपायों के अतिरिक्त ईश्वर प्राणिधान से भी यह समाधि शीघ्र सम्पन्न होती है।

योगसाधना के उपाय

योगसाधना के मुख्य उपाय 'वैराग्य' तथा 'अभ्यास' है। वैराग्य दो प्रकार का है। - अपर वैराग्य तथा परवैराग्य। ऐहिक तथा आमुष्मिक सभी विषयों के प्रति विरक्ति अपर वैराग्य है। इसके द्वारा सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है। विवेकख्याति कालिक अत्यन्त सात्विक बुद्धि के प्रति होने वाला वैराग्य परवैराग्य है। इसके द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

योग के अधिकरियों की तीन कोटियॉ हैं - उत्तम, मध्यम तथा अधम या मन्द। उत्तम कोटि के साधकों को पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप अपर वैराग्य उदित हो जाता है जिसको दृढ़ करते हुए वे धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करते करते योग को सिद्ध कर लेते हैं। धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञान के लिए अन्तरग है इनकी अभ्यास तीनों प्रकार के अधिकारियों के लिए अनिवार्य है।

मध्यम अधिकारी 'क्रियायोग' के द्वारा वैराग्य प्राप्त करने में सफल होते हैं। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को क्रियोयोग कहा गया है क्योंकि इन क्रियाओं के करने से योग सिद्ध होता है। इनमें स्वाध्याय से तात्पर्य ओंकार का जप या मोक्षशास्त्र का अध्ययन। सभी क्रियाओं को ईश्वर में अर्पित कर देना या उनके फलों के प्रति निरपेक्ष होना ईश्वर प्रणिधान है। इन तीन उपायों से पहले सत्वशुद्धि हो

जाती है। फिर अभ्यास एव वैराग्य नामक उपायों से अगली सारी योग प्रक्रिया हो सकती है।

जो साधक क्रियायोग भी नहीं कर सकते हैं उनके लिए योग के आठ अगो का विधान किया गया है जो इस प्रकार हैं - यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। मन्द अधिकारी इन आठों अगो को पालन करते हुए शुद्धसत्व होकर अभ्यास और वैराग्य नामक उपायों से योग सिद्ध करने मे सफल होते हैं। उपर्युक्त योग के आठों अगो में धारणा ध्यान समाधि तो सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरग हैं अत: उन्हें तो तीनों प्रकार के अधिकारियों को करना पड़ता है।

इस प्रकार उत्तम अधिकारी तो वैराग्य प्राप्त करने के लिए जन्मत: सक्षम होते हैं। मध्यम अधिकारी क्रियायोग के द्वारा वैराग्य प्राप्त करके योगासिद्धि का लाभ करते हैं और मन्द अधिकारी यमनियमादि प्रथम पाँच साधनों के द्वारा वैराग्यप्राप्ति और योगसिद्धि का लाभ प्राप्त करते हैं।

योगदर्शन के तत्वमीमांसीय सिद्धान्त

पातञ्जलि योग का दार्शनिक आधार कपिलमुनि प्रणीत सांख्य ही है। कपिल के दर्शन में तत्वों की जानकारी वाला अंश सांख्य है और इस जानकारी की साक्षात उपलब्धि का उपायभूत (सम्प्रज्ञात) तथा उसका उपेयभूत (असम्प्रज्ञात) योग है। इसीलिए योगशास्त्र का तत्वमीमांसात्मक ज्ञान सांख्यशास्त्र सम्मत ही है। अत: योग के अनुसार समस्त जगत पुरूष नामक चेतन और प्रकृति नामक अचेतन तत्वों के रूप में विभक्त है। पुरूष तत्व, चेतन, त्रिगुणातीत, निर्गुण, निर्विकार, असग, निर्लेप तथा कुटस्थ नित्य है। जबकि प्रकृति जड, त्रिगुणात्मिका, विकारों के रूप में परिणत होने वाली तथा परिणामिनित्य है। यह प्रकृति समस्त विकारों की मूल प्रकृति है और मूलावस्था में सत्व रजस और तमस इन तीनों गुण संज्ञक दृव्यों की साम्यावस्था वाली तथा अव्यक्त रहती है। प्रकृति एक और पुरूष अनेक हैं।

परिणाम सिद्धान्त -

अनादि अविद्या के कारण जब पुरूष का प्रकृति से संयोग होता है तब संयोग के कारण वह मूला प्रकृति विकारों के रूप में परिणत होना आरम्भ करती है उसकी इस प्रकार की परिणति को साख्य योग में परिणाम सिद्धान्त कहा गया है। मूलाप्रकृति का प्रथम परिणाम है महत्, महत् के पश्चात यह प्रकृति क्रमश: अहंकार एकादश इन्द्रियों, पॉच तन्मात्राओं तथा पाँच महाभूतों ओर फिर संसार के विभिन्न पदार्थो के रूप में परिणत होती है। पञ्च महाभूत पर्यन्त प्रकृति का परिणाम तत्वान्तर परिणाम कहा जाता है। पञ्च महाभूतों की स्थिति में आने के बाद प्रकृति का जो और परिणाम होता रहता है उस परिणाम से नये तत्व नहीं अभिव्यक्त होते अपितु स्थित धर्मी के धर्मो में ही परिवर्तन आता है। अव्यक्त प्रकृति गुणत्रय का अलिंग परिणाम

है और महत् तत्व लिग परिणाम है। गुणों के छ अविशेष परिणाम है - अस्मिता और पॉच तन्त्रामायें। ग्यारह इन्द्रियॉ आर पॉच महाभूत गुणों के ये सोलह विशेष परिणाम है। पुरूष तत्व अपरिणामी निर्गुण तथा चिन्मात्र है।

कर्मसिद्धान्त

योगशास्त्र के कर्मसिद्धान्त पर विधिवत विचार किया गया है। जो कर्म बुद्धिपूर्वक ओर बुद्धि में स्थित अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, और अभिनिवेष नामक क्लेशों के साथ किये जाते हैं, उन कर्मो के करने से जीवों की बुद्धि मं सस्कार पड जाते हैं जो कर्म सस्कार या कर्माशय कहलाते हैं। ये कर्म संस्कार क्लेशों के हल्के होने पर, हल्के ओर जोरदार होने पर गहरे बनते है। ये संस्कार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होतें है। कर्मो के फल वर्तमान जीवन और भावी जीवनों में भी भोग्य होते हैं। इन कर्मो के फलों का मिलना जीवों में क्लेश की सत्ता रहने पर भी आरम्भ हो सकता है। क्लेशों के दग्धबीज हो जाने पर फल मिलना नहीं आरम्भ हो सकता है। यदि फल मिलना आरम्भ हो चुका है और बीच में विवेकख्याति हो जाये तो उनका फल भोग पूरा हो करके ही रहेगा। ऐसे कर्म संस्कार जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो चुका होता है 'प्रारब्ध कर्माशय' कहे जाते हैं। इनकी फलप्रदता को विवेक ख्याति भी नहीं रोक पाती इसीलिए प्रारब्ध कर्माशय बड़े बलवान कहे जाते हैं जिन सचित और क्रियमाण कर्म सस्कारों का फल मिलना प्रारम्भ हुआ नहीं रहता, विवेक ख्याति के उदय से उनका दग्ध बीज हो जाना निश्चित हैं।[1]

एक जन्म और उसके बाद वाली एक मृत्यु के बीच किये गये कर्मो से बने हुये शुभाशुभ सस्कारों का एक ऐसा गठ्ठर सा बना रहता है जिसके शुभाशुभत्व का प्रकाशन उस मृत्यु से होता है। वह पुञ्जीभूत कर्म संस्कार समूह ही अपने फलों के अनुकूल अगला जन्म देता है, उस अगले जीवन की आयु निर्धारित करता है और उसी कर्माशय समूह से उस जीवन का फल भोग सम्पन्न होता है।[8]

जन्म आयु और भोग - यही तीन मुख्य फल या बिपाक है जो कर्म सस्कारों से प्राप्त होते है। ऐसे कर्म सस्कार, जो तीनों फल देते है - 'त्रिविपाककर्माशय' कहलाते हैं। वे अदृष्ट जन्मवेदनीय भी होते है क्योंकि वे वर्तमान से भिन्न दूसरे

---

1 योगसूत्रभाष्य सिद्धि: - पृष्ठ 44

जन्मों से भोगे जाते है। यही कर्म सस्कार जन्मरूपी फल दे चुकने के उपरान्त 'प्रारब्ध' कहे जाते है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय वर्तमान जीवन में ही फल देने के कारण 'जन्म' नामक फल नहीं देते। वे केवल भोग या आयु देने के कारण 'एक विपाक' और दोनों देने के कारण 'द्विविपाक' कहे जाते है। इस प्रकार त्रिविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियत समय में फल देने के कारण नियतविपाक और जन्म नामक फल देने के कारण 'एक भाविक' भी कहे जाते हैं। इन अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों मे से कुछ एक विपाक या द्विविपाक भी होते है। वे जन्म नामक फल नहीं देते। वे 'अनियत विपाक' अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय कहे जाते है। उनकी गति बड़ी विचित्र होती है। इनकी तीन स्थितियॉ हो सकती है -

1 बिना फल दिये ही प्रबल प्रायश्चित्तादि के फलस्वरूप अत्यन्त कमजोर हो जाना या नष्ट हो जाना।

2- प्रबल कर्म सस्कारों में अन्तर्भावित हो जाना।

3- नियत विपाक प्रधान कर्म के द्वारा अभिभूत होकर बहुत जन्मों तक पडे रहना और अपने अनुकूल परिस्थिति के आने पर फल देना।

इस तीसरे प्रकार की गति वाले अनियत विपाक कर्माशय के फलोन्मुख होने की परिस्थिति किस समय किस स्थान पर कैसे आयेगी ? यह निश्चित नहीं रहता। इसलिए कब इस प्रकार के कर्म संस्कार फल दे देंगे ? इसकी जानकारी असम्भव होने के कारण कर्मगति दुर्विज्ञान और विचित्र कहीं जाती हैं ये सभी प्रकार के कर्मसंस्कार शुभ होने पर आनन्ददायक फल और अशुभ होने पर दु:खमय फल देते हैं।[1]

ईश्वर

पातञ्जल योगदर्शन में 'ईश्वर' नामक तत्व को भी स्वीकार किया गया है जबकि ईश्वरकृष्ण के साख्य में ईश्वर नामक तत्व के लिए कोई अवकाश नहीं है। इसलिए कुछ विद्वान योग को सेश्वर सांख्य कहते हैं या इसे 26 तत्वों वाला शास्त्र कहते हैं जो कि भ्रमक है क्योंकि योग का यह ईश्वर नामक तत्व एक प्रकार का पुरूष ही है, उससे भिन्न कोई अलग से तत्व नहीं है। सब पुरूषों में परस्पर कुछ न कुछ विलक्षणता रहने पर जैसे वे सब पुरूष ही कहालने हैं उसी प्रकार क्लेशादिपरामर्शरहिततारूप विलक्षणता होने पर भी ईश्वर है तो पुरूष ही उससे भिन्न कोई नया तत्व नहीं है। जैसे किसी अज्ञात वृक्ष का बोध कराने के लिए कहा जाता है 'वृक्षविशेष:' या अज्ञातपशु का बोध

---

1 योगसूत्रभाष्य सिद्धि: - पृष्ठ 45

कराने के लिए कहा जाता है 'पशुविशेप·' उसी प्रकार सांख्यशास्त्र में अज्ञात ईश्वर सका बोध कराने के लिए कहा गया है- पुरूषविशेपः ईश्वरः। इस प्रकार ईश्वर तत्व का अन्तर्भाव पुरूप तत्व के अन्तर्गत हो जाता है।

क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप तथा अभिनिवेश) कर्म (धर्म तथा अधर्म), विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाक या कर्मफलभोग से बनने वाले संस्कार) से अपरामृष्ट अर्थात सम्पर्क रहित पुरूप विशेष ही ईश्वर है। कैवल्य प्राप्त कर चुकने वाले बहुत से केवली होंते हैं। उन्होंने प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणा- इन तीनों बन्धनों कोकाट कर कैवल्य प्राप्त किया है। ईश्वर का इन बन्धनों से सम्बन्घ न कभी था और न कभी होगा। ईश्वर न तो अभी बूद्ध है, न कभी बूद्ध था ओर न कभी बूद्ध होगा। अन्य सभी पुरूष या तो अभी बंधे हुए हैं या मुक्त हो चुके हें किन्तु ईश्वर को किसी काल में मुक्त होने की आवश्यकता ही नहीं हुई क्योंकि वह तो सदैव मुक्त था।

उसका ऐश्वर्य सर्वातिशायी है। उसमें सर्वज्ञता की पराकाप्ठा होती हें। वह काल से अवच्छिन्न नहीं है इसलिए गुरूओं का भी गुरू हैं उसका वाचक शब्द 'प्रणव' अर्थात ओंकार है। योगसाधना में ईश्वर का महान उपयोग यह है कि उसके नाम का जप करने और उसकी भावना करने से योगदर्शन के सारे विघ्न दूर हो जाते हैं तथा साधक को स्वरूप का दर्शन होता है और अन्ततः उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रों में ईश्वर को न तो सृष्टि से सम्बन्धित स्वीकार किया गया है और न ही प्रलय से। वह साकार भी नहीं है। वह साधक के द्वारा स्वरूपदर्शन को सुकर और शीघ्र सम्पाद्य बनाने में सहायक मात्र है किन्तु तत्ववैशारदीकार वाचस्पिति मिश्र ने योग में ईश्वर को सृष्टि प्रक्रिया से भी सम्बद्ध करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित हो कर ही सृष्टि के विकास की प्रक्रिया और प्रलय का कार्य पूरा करती है।

कैवल्य

कैवल्य के साधनभूत योग का स्वरूप बताते हुए समाधिपाद में पतञ्जलि ने कैवल्य का स्वरूप द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान बताया था (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम! यो.सू. 1/3 । साधनपाद में पुनः कैवल्य पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं - सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होने पर अविद्याकृत पुरूष प्रकृत संयोग का अभाव हो जाता है। यही दु खों का ऐकान्तिक तथा आत्यान्तिक नाश है। यही पुरूष का कैवल्य या आत्यन्तिक निरूपाधित्व है। (तदभावात्संयोगाभावों हान तद् दृशेः कैवल्यम् यो.सू. 2/25)। विभूतिपाद में कैवल्य के लिये उपयुक्त स्थिति का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं कि बुद्धिसत्व और पुरूष की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य सिद्ध होता है (सत्वपुरूषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। यो.

सू. 3/55)। केवल सत्वात्मक बुद्धि का पुरूष की अन्यताख्याति मात्र में प्रतिष्ठित होना तथा उसका दग्धक्लेश बीज होना बुद्धि की शुद्धि है तथा उस समय पुरूष में व्यपदिष्ट भोगों का अभाव होना ही पुरूप की शुद्धि है। उस समय पुरूष स्वरूपमात्र ज्योति, निर्गुण और केवली रहता है। कैवल्य का पूरा-पूरा वर्णन कैवल्य पाद केअन्तिम सूत्र में किया गया है। इसके अनुसार कैवल्य की स्थिति को दो दृष्टियों से वर्णित किया जा सकता है। गुणों की दृष्टि से और पुरूष की दृष्टि से । पुरूषार्थ शून्य सत्वादि गुणों का अव्यक्त प्रकृति में प्रतिप्रसव हो जाना अर्थात लीन हो जाना गुणों की दृष्टि से कैवल्य है। पुरूष तत्व का अपने स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाना पुरूष की दृष्टि से कैवल्य है।

निर्विप्लवा विवेक ख्याति के पश्चात जीवित अवस्था में जो कैवलय हो ता है उसको जीवन्मुक्ति कहते है और लब्धविवेकख्याति योगी के प्रारब्धभोग के पश्चात शरीरपात होने पर अथवा असम्प्रज्ञात योग के सिद्ध होने पर गुणों का प्रतिप्रसव हो जाने से विदेह कैवल्य या विदेहमुक्ति होती है। वस्तुत: जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त दोनो ही प्रकार के साधकों की उपर्युक्त मुक्ति एक और अभिन्न है। जब उस मुक्ति का अनुभव जीवित रहते हुये होता है तब वह जीवन्मुक्ति कही जाती है और जब उसका अनुभव शरीर रहित होने पर होता है तो वही विदेह मुक्ति कही जाती है। (पुरूषार्थ शून्यानाम गुणानाम प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरीति- यो.सू. 4/34)

---

1. योगसूत्रभाष्यसिद्धि, पृष्ठ 30

द्वितीय अध्याय

योगसूत्र के अनुसार

योग का स्वरूप

योगसूत्र के अनुसार पातञ्जल योगदर्शन का स्वरूप

पतञ्जलिविरचित योगसूत्र चार पादों में विभक्त है जो विवेच्य विषय के आधार पर इस प्रकार हैं-

1. **समाधिपाद**
2. **साधनपाद**
3. **विभूतिपाद**
4 **कैवल्यपाद**

समाधिपाद

कुछ विद्वान कैवल्यपाद को प्रक्षिप्त मानते हैं पर उनकी धारणा उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि पाद का अर्थ होता है चतुर्थ अश और ग्रन्थ पादों में विभाजन स्वत: इस बात का प्रमाण है कि मूल ग्रन्थ चार अध्यायों वाला रहा होगा।

योग का लक्षण करते हुए महर्पि पत०जलि कहते हैं-

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' योगसूत्त 1/2

जिसमें योग लक्ष्य हे तथा शेप अश लक्षण। इस प्रकार आचार्य के अनुसार योग काअर्थ है चित्त की वृत्तियां का निरुद्ध हो जाना। 'चित्त' का अर्थ है 'अन्त करणसामान्य'। साख्य दर्शन म बुद्धि, अहकार तथा मन के भेद से अन्तकरण तीन बताये गये है।[11] योग दर्शन में भी अन्त: करण के इन तीनों भेदों को स्वीकार किया गया है पर व्यावहारिक दृष्टि मे इन तीनां के वाचक एक साधारण नाम की दृष्टि से चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार चित्त में सांख्य के बुद्धि, अहंकार तथा मन तीनों का योग है। वृत्ति का अर्थ है- व्यापार (वर्ततेऽनयेति वृत्ति: व्यापार·) योग के अनुसार चित्त ज्ञानेन्द्रियरूप प्रणालियों से बाहर जा कर विषयाकारकारित होता रहता है। इसी को चित्त का व्यापार कहा गया है। चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है इसलिए चित्त की वृत्तिया असंख्य होती हैं। त्तिगुणात्म्क चित्त की ये वृत्तियां सत्वादिगुणों

के प्राधान्य के आधार पर विविध मानी गयी है-

1. सात्तिवक वृत्तियॉ।
2 राजस वृत्तियॉ।
3. तामस वृत्तियॉ।

[11] अन्त·करण त्रिविध दशधा बाह्यम् '' सा का 33

चित्त की इन वृत्तियों का निगृहीत करना ही इनका विरोध है पर योगशास्त्त में 'निरोध' का अर्थ है वृत्तियों का चित्त में लय होना उनका अभाव नही ऐसा न मानने पर विरोध के अनन्तर इन वृत्तियों तथा इनके संस्कारों का फिर से उदय नही हो सकता। अत: वृत्तिनिरोध का अर्थ 'वृत्यभाव' न करके 'वृत्तियों का चित्त में लय मानना ही उचित जान पडता है।

भाष्यकर चित्त की पॉच भूमियाँ[12](अवस्थायें) बताते है। जो निम्नवत हैं-

1. क्षिप्त- रजोगुण के उद्रेक के कारण विषयों में ही व्यापृत रहने वाली चित्त की अवस्था 'क्षिप्त' भूमि है।[13]
2. मूढ- तमोगुढ के उदेक के कारण निद्रादिव्यापार युक्त चित्त की अवस्था 'मूढ' भूमि है।[14]
3 विक्षिप्त- यह भूमि क्षिप्तादि भूमि से कुछ अच्छी होती है। इसमें सत्त्व गुण का आधिक्य रहता है। इसमें कुछ समय के लिए समाधि लगने पर भी रजोगुण के विक्षेप के कारण बीच बीच में चित्त अन्य विषयों की ओर दोड़ जाता है। चित्त की यह अवस्था उसकी विक्षिप्त नामक भूमि कही जाती है।[15]
4. **एकाग्र**- इस अवस्था में चित्त की सात्विक वृति किसी एक ही विषय की ओर लगी रहती हे, रजोगुण और तमोगुण दबे रहते है अत: उस एक विषय की ओर उन्मुख वृति वाली इस अवस्था को चित्त की एकाग्र भूमि कहते है।[16]
5. **निरुद्ध** - जिस अवस्था में चित्त की तामस और राजस वृत्तियों के साथ-साथ सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, केवल संसार मात्त चित्त में रहते है उसे चित्त की निरुद्ध भूमि कहते है।[17]

चित्त की एकाग्र भूमि में केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, सात्विक वृत्ति का पूर्ण उदय हुआ रहता है जबकि निरुद्ध भूमि में सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसीलिए इस भूमि का नाम निरुद्धभूमि पड़ा। इस भूमि में

[12] 'क्षिप्त मूढ विक्षिप्तमकाग्र निरुद्धमिति चित्तभूमय ' पर योग भा सूत्र 1/1

[13] 'रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत्' यो वा पृ 5

[14] तमसा निद्रादिवृत्तिमत्। वही पृ 8

[15] 'क्षिप्ताद् विशिष्ट विक्षिप्त मत्त्वाधिक्येन समादधदपि चित्त रजोमात्रयाऽन्तराऽन्तरा विषयान्तखृत्तिमद्'। वही पृ 8

[16] एकस्मिन्नेव विषयेऽग्र शिखा यस्य चित्दीपस्येत्येकाग्र विशुद्धसत्त्वतयैकस्मिन्नेव विषये वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तमच०चल निवातरथदीपवत्। तथा च क्षिप्तादित्रयऽपि किं०चदैकाग्रयमत्वऽपि तत्र नाति प्रसड्ग। वही पृ 8

[17]. निरुद्ध च निरुद्धसकलवृत्तिक सस्कारमात्रशेषमित्यर्थ वही पृ 8

होने वाली सर्ववृत्ति निरोधात्मक समाधि असम्प्रज्ञात योग कहलाती है। सूत्त 1/2 में 'सर्व' शब्द का ग्रहण न होने से 'एकाग्र' भूमि की समाधि भी योग है। अन्तर बस इतना है कि एकाग्र भूमि वाले योग में चित्त की केवल दो वृत्तियों का निरोध होता है जबकि निरुद्ध भूमि वाले योग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

भाष्यकार 'योग' का 'समाधि'[18] अर्थ करते है जो कि योग का व्युत्पत्ति लक्ष्य अर्थ भी है क्योंकि युज् समाधौ धातु से घ०ा प्रत्यय लगाकर योग शब्द की निष्पत्ति होती है। पर जैसा की अभी हम देख चुके हैं, महर्षि पत०जलि योग का अर्थ करते हैं 'चित्तवृत्तिनिरोध'। दोनों ही आचार्यों के मत का समन्वित अर्थ यह निकलता है कि योग का अर्थ है, 'चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि'। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐसी समाधि, जिसमें चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता है, योग नहीं है। इसीलिए भाष्यकार समाधि को चित्त का सार्वभौम (चित्त की उपर्युक्त पांचों भूमियों या अवस्थाओं में रहने वाला) धर्म बताते हुए प्रथम तीन से सम्बद्ध समाधि के योगत्व का निषेध करते हैं।[19] उनके अनुसार जो समाधि एकाग्रभूमि वाले चित्त में होती है तथा बुद्धि में स्थित पदार्थ को पूर्णतया प्रकाशित करती है। (अविद्यादि) क्लेशों को नष्ट करती है, कर्म के बन्धनों (कर्मसंस्कारों) को शिथिल करती है और निरोध (असम्प्रज्ञातसमाधि) को सामने लाती है वह (समाधि) सम्प्रज्ञात योग कहलाती है।[20] इसमें ध्येय का पूर्ण रूप से ज्ञान बना रहता है इसलिए इसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।[21] सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है।[22] इस प्रकार चित्त की एकाग्र तथा निरुद्ध भूमियों की समाधि ही योग है। क्षिप्तादि भूमियों की समाधि योग क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर सूत्तकार ने तृतीय सूत्त 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् द्वारा दिया है जिसका अर्थ है कि 'उस समय द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। तात्पर्य यह निकला कि उसी चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि को योग कहेंगे जिसमें पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाय। द्रष्टा की अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति चूकि चित्त को केवल एकाग्र तथा निरुद्ध

[18] योग समाधि 1/1 पर यो० भा०

[19] स च सार्वभाम चित्तस्य धर्म.। तत्र विक्षिप्त चतसि विक्षेपापसर्जनीभूत समाधिर्न योगपक्ष वर्तते। 1/1 पर यो भा

[20] 'यस्त्वेकाग्र चेतसि सत्भूतमर्थ प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्म-बन्धनानि श्लथयति, निरोधभमिमुख करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।' 1/1 पर यो० भा०

[21] सम्यक् प्रज्ञायते ध्येयमस्मिन्नरोधविशेषरूप योग इति सम्प्रज्ञातो योग यो वा पृ 9

[22]. सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञात. समाधिः 1/1 पर यो भा

भूमियों में ही हो पाती है इसलिए इन्हीं दोनों भूमियों में होने वाली समाधि को योग कहेंगे।

दोनों ही समाधियों में द्रष्टा (पुरुप) की अपने स्वरूप में स्थिति होती है।[23] द्रष्टा अर्थात् पुरुप द्वारा सिद्ध विवेकख्याति इससे सर्वथा भिन्न तथा सत्वगुणात्मक है। इसलिए इसके प्रति भी विरक्त हुआ चित्त (परवैराग्य के द्वारा) इस विवेकख्याति को भी निरुद्ध करता है। इस पूर्ण निरोध की भूमि में स्थित चित्त निरोधसस्कारमात्तावशिष्ट रह जाता है। यह निर्बीज समाधि कही जाती हे। इस स्थिति में चित्त को किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता इसलिए इसे असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोधरूप यह योग दो प्रकार का होता है - सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात।[24]

सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होने पर विवेकख्याति की उपलब्धि होती है तथा क्रियमाण कर्मो के सस्कार फल देने में असमर्थ हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्मो के संस्कारों के भोग समाप्त होते ही देहपात के फलस्वरूप वह 'विदेहमुक्त' हो जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तिज्ञान बिल्कुल समाप्त हो जाता, पुरुप तत्त्व की साक्षात् उपलब्धि होती है, बुद्धि का माध्यमत्व समाप्त हो जाता है और आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। इसमें ज्ञान की साधनभूत बुद्धि का आश्रय त्याग कर साक्षात् अपरोक्ष चिद्घन 'ज्ञ' रूप पुरुष तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व में साधक प्रतिष्ठित होता है।[25] इसके दृढ़ होने पर सारे संस्कार जल जाते हैं, निरोध संस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुषमात्त अवशिष्ट रहता है। यही उसका कैवल्य है। 'योग: चित्तवृत्तिनिरोध:, में प्रयुक्त 'वृत्ति' का विवेचन करते हुए, इन वृत्तियों को क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूपों में विभाजित करते हुए महर्षि पत०जलि इनके पांच प्रकार बताते हैं जो इस प्रकार हैं -

1. प्रमाण
2. विपर्यय
3. विकल्प
4. निद्रा
5. स्मृति।[26]

[23] तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् यो सू 1/3

[24]. 'चितिशक्तिरपरिरामिन्यप्रतिसक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च। सत्त्वगुणात्मिका चयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्या विरक्त चित्त तामपि ख्याति निरुणाद्धि। तदवस्थ चित्त सस्कारोपग भवति। स निर्बीज समाधि:। न तत्र किञ्चित्सप्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञात। द्विविध स योग चित्तवृत्तिनिरोध इति। 1/2 पर यो. भा

[25] 'सवरूपप्रतिष्ठा तदानी चितिशक्तिर्यथा केवल्य। यो सू0 1/3 पर भाष्य

[26]. वृत्तय: पञ्चतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा ।। यो सू 1/5

तत्व वैशारदीकार इस सबध में स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि आचार्य ने इन पांच वृत्तियों को बताकर यह बता दिया कि वृत्तिया इतनी ही होती हैं इनसे भिन्न नहीं- एतावत्य एव वृत्तयो नापरा: सन्तीतिदर्शितम भवति' त वै पृ 27

योगभाष्यकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि अविद्या आदि पांचों क्लेपों से उत्पन्न होने वाली तथा कर्म सस्कार समूह को उत्पन्न करने वाली वृत्तिया क्लिष्ट[27] कहलाती हैं तथा विवेकख्याति को विषय बनाने वाली अर्थात् विवेकख्याति विपयिणी (वृत्तिया) तथा गुणों कार्य को रोकने वाली वृत्तियां अक्लिष्ट[28] कही जाती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वभाव वाली ये वृत्तियां अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होती चाहे जितना अपनी विरोधी वृत्तियों से घिरी हों इसीलिए भाष्यकार कहते हैं कि अक्लिप्ट वृत्तिया क्लिप्ट वृत्तियों के प्रवाह में पडी हुई होने पर भी अक्लिष्ट ही रहती हैं। इसी तरह अक्लिप्ट वृत्तियों के प्रवाह में पडी रहने पर भी क्लिष्ट वृत्तिया भी क्लिष्ट ही बनी रहती हैं।[29]

उपर्युक्त पाच वृत्तियों में से प्रमाण नामक वृत्ति प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भेद से त्तिविध है।[30] प्रमाण का लक्षण तो आचार्य नहीं करते लेकिन अन्य लोगों ने जो लक्षण प्रमाण का किया है उसके अनुसार अज्ञात तत्व का पौरुषेय (पुरुश को होने वाला) बोध ही प्रभा है और उस प्रभा का करण प्रमाण नामक वृत्ति कही जाती है।[31]

(क) प्रमाण

1. **प्रत्यक्ष प्रमाण** : इन्द्रिय रूपी प्रणाली (नाली) के द्वारा चित्त का बाह्य वस्तु से संपर्क होने के कारण तद्विपयिणी, सामान्याविशेषात्मक पदार्थ के विशेप अंश का प्रधानतया अवधारणा करने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।[32]
2. **अनुमान प्रमाण** : अनुमेय (अर्थात् साध्यविशिष्ट पक्ष) के सजातीयों (अर्थात् सपक्षों) में रहने वाला तथा विजातीयों (अर्थात् विपक्षों) में न रहने वारला जो संबधी

[27] 'क्लेशहेतुका कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूता· क्लिष्टा। 'या सू 1/5 पर भाष्य।

[28] 'ख्याति विषया गुणाधिकारविरोधन्याऽक्लिप्टा ' यो सू 1/5 पर भाष्य।

[29] क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टा , क्लिप्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिप्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। यो सू 1/5 पर भाष्य।

[30] 'प्रत्यखानुमानागमा प्रभारानि' यो सू 1/7

[31] 'अनधिगततत्त्वबाध प्रभा तत्करणा प्रमार्णमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।' या वा पृ 27

[32] इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तदविषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणाप्रधाना वृत्ति: प्रत्यक्ष प्रमाणम्। यो सू 1/6 पर भाष्य।

(अर्थात् लिग) हे उसके ज्ञान म उत्पन्न होन वाली ओर (पदार्थ के) सामान्य (अश) का मुख्य रूप से ज्ञान कराने वाली चित्तवृत्ति अनुमान कहलाती है। जैसे -
चन्द्रमा और तार गतिमान है।
भिन्न-भिन्न देशों में पहुचने के कारण।
जो जो भिन्न-भिन्न देशों में पहुचता रहता है वह वह गतिमान होता है जैसे चैत्त।
जो जो गतिमान नहीं होता वह वह भिन्न देशों में नहीं पहुंचता जैसे विन्ध्य पर्वत।[33]

3 आप्त पुरुप द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित अर्थ का जब दूसरे व्यक्तियों में अपना ज्ञान सक्रमित करने के लिए शब्दों द्वारा उपदेश किया जाता है तो वहा शब्दों के सुनने से उस कथित पदार्थ के विपय में सुननेवाले की जो चित्तवृत्ति बनती है वह आगम (प्रमाण) कहलाती है।[34]

(ख) विपर्यय :

ज्ञेय वस्तु से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को विपर्यय[35] कहते हैं। इसे (मिथ्या ज्ञान को) प्रमाण नहीं मानते क्योंकि यह प्रमाण से बाधित हो जाता है। प्रमाण तो वस्तुविषयक होता है।[36] शुक्ति आदि विषय में (शुक्तिभिन्न) रजतादि के रूप में प्रतिष्ठित रहने वाला मिथ्या ज्ञान विपर्यय का उदाहरण है। सशय भी इसी में अन्तर्भूत हो जाती है[37] क्योंकि संशयज्ञान की वृत्ति भी स्थाण्वाकार के स्थान पर स्थाणुपुरुषाकार होती है।

(ग) विकल्प :

विकल्प नामक वृत्ति शब्द बोध के अनन्तर होने वाला तथा निर्वस्तुक होती है।[38] जिस शब्द के सकेतिक अर्थ का अस्तित्व ही न हो उस शब्द के ज्ञान का अनुवर्ती होने के कारण वह ज्ञान (वृत्ति) भी वस्तु या पदार्थ से सर्वथा रहित होगा। वस्तुशून्यता के कारण वह प्रमाण में अन्तर्भूत नहीं हो सकता और (शब्दज्ञान से उत्पन्न होने के कारण) व्यवहार में अबाधित होने के कारण विपर्यय नामक वृत्ति में भी अन्तर्भूत नहीं

[33] अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयोभ्या व्यावृत्त सबधी य· तद्विषया सामान्यावधारणाप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तर प्राप्तर्गतिमच्चन्दतारक चैत्रवतम् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगति। वही 1/6 पर भाष्य।

[34] आप्तेन दृष्टाऽनुमितोवार्थ परत्र स्वबाधसक्रान्तय शब्दनार्पादश्यत। शब्दात्तदर्थविषया वृत्ति श्रोतुरागम:' वही 1/6 पर भाष्य।

[35] विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। या सू 1/8

[36] 'स कस्मान्न प्रमाणम्। यत प्रमाणन बाध्यत भृतार्थ विषयत्वात्प्रभाणस्य। वही 1/8 पर भाष्य।

[37] अतो सशयाऽपि मगृहीत। त व पृ 33

[38]. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प.। यो सू 1/9

किया जा सकता।[39] इसका उदाहरण हे- चेतन्य पुरुपस्य स्वरूपमिति। इस उदाहरण में चैतन्य और पुरुश एक ही पदार्थ हैं अर्थात् पुरुश ही चैतन्य है। अत: पुरुप में लगी हुई षष्ठी विभक्ति के प्रभाव से जो विशेषणविशेष्य भावरूप सबध प्रकट हो रहा है वह अवास्तविक (वस्तुशून्य) है। किन्तु शब्द ज्ञान के माहात्म्य से ऐसा ज्ञान होता है कि चैतन्य विशेपण हे पुरुप विशेष्य। व्यवहार में ऐसे वाक्य का प्रयोग होता है राहो: शिर: भी इसी तरह का प्रयोग है।

(घ) **निद्रा** .

(जाग्रत और स्वप्न काल के ज्ञान के) अभाव का कारणभूत जो तमोगुण है उसे विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है।[40] जागने पर इस प्रकार का स्मरण कि मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, अथवा मे बहुत बेचैनी से सोया मरा मन अकर्मण्य हो रहा है, बिना किसी अनुभवात्मक ज्ञान के नहीं होना चाहिए[41] अत: निद्रा भी एक विशेप प्रकार का ज्ञान या वृत्ति ही है।

(ड) **स्मृति** :

अनुभूतविपय की चित्त में उपस्थिति स्मृति नामक वृत्ति है।[42]

उपर्युक्त ये सभी वृत्तियां बुद्धि की त्तिगुणात्मकता के कारण सुखात्मक, दु:खात्मक तथा मोहात्मक हो सकती हैं। इनका निरोध होने पर ही सम्प्रज्ञात अथवा सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।[43] इनके निरोध का उपाय है अभ्यास तथा वैराग्य।[44] (चित्त की) स्थिति (स्थिरता) के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है।[45] चित्त की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि (राजस ओर तामस) वृत्तियों से रहित चित्त का निस्तरग प्रवाहित होना (चित्त की) स्थिति है। इसके लिए मानसिक प्रयास या उत्साह ही प्रयत्न है। उस स्थिति को सम्पादित करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना ही

[39] 'स न प्रमाणापाराही न विपर्ययोपाराही। वसतुशून्यत्वऽपिशाब्दज्ञानामाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। यो सू 1/9 पर भाष्य।

[40] अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। यो सू 1/10

[41] यो सू 1/10 पर भाष्य

[42] अनुभूतविषयासप्रमोष. स्मृति ।। यो सू 1/11

[43] सर्वाश्चेता वृत्त्य सुखदु खमोहात्मिका । आसा निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति।। यो सू. 1/11 पर भाष्य

[44] अभ्यासवराग्याभ्या तन्निराध ।। यो सू 1/12

[45] तत्र स्थितो यत्नाऽभ्यास ।। यो सू 1/13

अभ्यास है।[46] यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार सहित अर्थात् तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से किया जाने पर दृढभूमि होता है।[47] अर्थात् व्युत्थान संस्कार द्वारा तुरन्त अभिभूत नहीं होता है।[48]

वैराग्य : वैराग्य दो प्रकार का होता हे । अपर वेराग्य और 2. पर वैराग्य ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों से नि:स्पृह चित्त की वशीकारसंज्ञा (अपर) वैराग्य है।[49] स्तिया, अन्न पान और प्रभुता ये दृष्ट अथवा ऐहिक विषय हैं तथा स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्वप्राप्ति आनुश्रविक अथवा पारलौकिक विषय हैं। इन दोनों ही प्रकार के विषयों का सपर्क होने पर भी विषयां के दोषों का दर्शन करने वाले चित्त की विवेकज्ञान के बल से भोगाभावरूपिणी (अर्थात्) त्याग या ग्रहण की बुद्धि से शून्य वशीकारसंज्ञा अर्थात् उपेक्षा बुद्धि ही अपर वैराग्य है।[50] योग साधना के प्रारम्भ से लेकर विवेकख्याति पर्यन्त इसी वैराग्य की आवश्यकता और सम्भावना होती है। इसी के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

पर वैराग्य . पुरुषख्याति हो जाने पर पुरुप का साक्षात्कार हो चुकने के कारण चित्त की जो सत्वगुण के प्रति और सात्विकवृत्ति के प्रति भी वितृष्णा हो जाती है उसी को पर वैराग्य कहते हैं।[51] दृप्ट और वेदबोधित विषयों के दोषों को देखने वाला वितृष्णा साधक (विवेकख्याति काल में) पुरुप के दर्शन के अभ्यास से उस पुरुष तत्व की शुद्धि के ज्ञान से तृप्तचित्तवाला हो कर स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है। इस प्रकार दो वैराग्य होते हैं- अपर और पर। इनमें से जो बाद वाला है वह ज्ञान का चरमकोटिक वैशद्यमात्त है। अर्थात् उसमें ज्ञेय कुछ नहीं रहता। जिसका उदय होने पर आत्मदर्शी योगी ऐसा मानता है कि प्रापतत्व प्रापत हो गया, नष्ट करने योग्य क्लेश नप्ट हो गये और वह शृंखलाबद्ध संसार चक्र टूट गया जिसके टूटे बिना जीव जन्म लेकर मरता है तथा मर कर जन्म लेता रहता है। ज्ञान की पराकाप्ठा ही पर वैराग्य है तथा कैवल्य, इसी का नान्तरीयक है।[52]

[46] यो सू 1/13 पर भाप्य

[47] स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसवितो दृढभूमि। यो सू 1/14

[48] दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसज्ञा वैराग्यम्। या सू 1/15

[49]. व्युत्थानसस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थ । यो सू 1/14 पर भाप्य

[50] यो सू 1/15 पर भाप्य

[51]. तत्पर पेुरुषाख्यातेर्गुणवैतृष्णाय।। यो सू 1/16

[52]. यो सू 1/16 पर भाप्य

इस प्रकार अपर वैराग्य लौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रति वितृष्णा के रूप वाला होता है।[53] अपर वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है इसलिए अपर वैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि को हेतु हुआ। किन्तु यह अपर वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का हेतु नहीं बन सकती। यह तो हेतु हे ज्ञान का। पर वैराग्य जो कि इस ज्ञान के प्रति वितृष्णारूप है, ही असम्प्रज्ञात समाधि का साक्षात् हेतु है। इसीलिए इसे 'पर' या श्रेष्ठ कहा गया है।[54]

इनमें से सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त राजस तथा तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण केवल सात्विक वृत्ति का प्रकाश होता रहता है। इसीलिए इस समाधि में सात्विक वृत्ति के द्वारा ध्येय विषय का पूर्ण साक्षात्कार उदित होता है। उस साक्षात्कार के कारण ही यह समाधि (सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञात. साक्षात्कृत: समाधि: सम्प्रज्ञात:) कहलाती है। यह समाधि चार प्रकार के ध्येयों का अनुगम (साक्षात्कार) करने के कारण चार प्रकार की मानी जाती है।[55] वितर्करूप ध्येय अर्थात् स्थूल पा०चभौतिक ध्येय का अनुगम करने वाली सात्विक वृत्ति के उदित होने पर वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। इसी प्रकार सूक्ष्म प०च तन्मात्तादि विषयों का अनुगम होने पर विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती हे। आनन्द अर्थात् आनन्दात्मक इन्द्रियों का अनुगम होने पर आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है और अस्मिता का अनुगम होने पर अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है। वितर्कादि को समझाते हुए भाष्यकार का कथन है कि आलम्बन में चित्त की स्थूल (रूप की) परिपूर्णता वितर्क[56] है, सूक्ष्म (रूप की परिपूर्णता) विचार[57] है, आह्लाद (रूप की परिपूर्णता) अस्मिता[58] है। इन में से प्रथम अर्थात् वितर्कानुगतसम्प्रज्ञात समाधि इन चारों से अनुगत होती है। इस समाधि में यद्यपि स्थूल आभोग (वितर्क) का प्राधान्य रहता है फिर भी विचार, आनन्द तथा अस्मिता के आभोग भी गौण रूप में बने रहते हैं। इसी प्रकार वितर्क से रहित तथा शेष तीनों से अनुगत विचारानुगतसम्प्रज्ञात समाधि है, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्क तथा

[53]. प्रथम वैराग्य विषयविषय द्वितीय गुणविषयम् . भवति। रा मा वृ पृ 9

[54] तद्वरौय पर प्रकृष्ट . भवति। निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात्।'' रा मा वृ पृ 9

[55] वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञात। या सू 1/17

[56]. वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग। यो सू 1/17 पर भाष्य।

[57] सूक्ष्मो विचार. । वही।

[58] आनन्दोह्लाद । वही।

3 तस्य पर वैराग्यमुपाय। सालम्बनाह्यभ्यासस्तत्साधनायम न कलपत इति विराम प्रत्ययानिर्वस्तुक। आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्य। तदभ्यासपूर्व चित्त निरालम्बनम भाव प्राप्तामिव भवति। या सू 1/18 पर भाष्य

विचार से रहित तथा आनन्द एव अस्मिता से अनुगत होती है और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि उपर्युक्त तीनों से रहित और केवल अस्मिता से अनुगत होती है। ये सभी समाधियॉ सालम्बन होती है।

परवैराग्य के अभ्यासपूर्वक तथा (निरोध के) सस्कार मात्तावशिष्ट (चित्तवाली) समाधि सम्प्रज्ञात समाधि से भिन्न (असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। सभी वृत्तियों के अस्त हो जाने पर इसमें निरुद्ध हुए चित्त के निरोध के सस्कारमात्त शेष रह जाते है। इस समाधि का उपाय पर वैराग्य है। सालम्बन अभ्यास इसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता इसलिए सकलविषयहीन पर वैराग्य ही इसमें आधार बनाया जाता है। उसके अभ्यासपूर्वक चित्त निरालम्बन और स्वभावशून्य सा हो जाता है।[3]

आलम्बनहीन होने कारण इस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं। मास्ततीकर के अनुसार इसें निर्बीज कहने का कारण है ध्ययेविपयरूप का अभाव जबकि तत्त्ववैशारदी कार के अनुसार निर्बीजत्व का आधार है क्लेश कर्माशययरूपी बीजों से रहित होना। योगवार्तिककार की मान्यता है कि संसार के बीजभूत ज्ञानाज्ञान के सस्कार नामक संसारबीज का उन्मूलक होने के कारण यह निर्बीज कहा गया है।

इस समाधि के दो भेदे हैं- 1 उपायप्रत्ययय तथा 2. भवप्रत्यय। इनमें से भवप्रत्यये समाधि विदेहों और प्रकृति तीनों की होती है। भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म से ही सिद्ध होने वाली या जन्मकारणक-''तत्तद् योनिपु जन्म एव प्रत्यय कारणुं यस्य सः। इस समाधि की सिद्धि से देवलोक में जन्म मिलता है अतः योगवार्तिक कार कहते है- 'देवलोके भवप्रत्ययो जन्मकारणक इति। यह समाधि मोक्षदायक नही होती। इसीलिये यह योग नहीं है। यह योगाभ्यास मात्त है। विदेह ओर प्रकृतिलीन देवों की कोटियॉ हैं।

असम्प्रज्ञात उपायप्रत्यय अर्थात् उपायकारणक या उपायों से सिद्ध होने वाली समाधि योगियों की होती है। विवेकख्यमति के श्रद्धालु (इच्छुक) योगी को 'धारणा' रूप उत्साह (वीर्य) उत्पन्न होता है। धारणा रूप उत्साह जिस साधक को उत्पन्न हो चुका है

7 ससारबीज रूपज्ञानाज्ञान सस्काराख्यससारबीजोन्मूलक इति राऽर्थ ।

8 भवप्रत्यया विदहप्रकृतिलयानाम्।। या सू 1/19

1 तत्त प्रथम श्चतुष्टयानुगत समाधि सवितर्क । द्वितीया वितर्कविकल सविचार । तृतीयो विचारविकल· सानन्द.। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्त इति। एव एते सालम्बना समाधय.। यो सू 1/17 पर

2 विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्ण सस्कारशषाऽन्य ।। यों सू 1/18 भाष्य

4 तदभ्यासपूर्व चित्त निरालम्बनममाप्राप्रतिमव भवतीत्येषु निर्बीज समाधि रसम्प्रज्ञातः। यां स् 1/18 पर भाष्य

5. ध्येय विषयरूपस्यामावाद् निरोध समाधिर्निर्बीज इत्युच्येत। मा0पृ0 17

6. निर्बीजः निरालम्बन अथवा बीज क्लेशकर्माशयास्ते निष्क्रान्ता यस्मात् स तथा। त0 वै0 पृ0 19

उसको 'ध्यान' (स्मृति) लगने लगता है और ध्यान सिद्ध हो जाने पर चित्त की चचलता हो कर चित्त समाहित हो जाता है। इस प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि नामक (सम्प्रज्ञातयोग के) तीनों अन्तरंग उपायों से सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध हो जाती है। समाधि लाभ करने वाले उस योगी को विवेकज्ञानरूप का बुद्धि का परमोत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस बुद्धिवैशध अथवा प्रज्ञाविवेक से वह योगी हर पदार्थ को सम्यक् रूप से जान लेता है। उस प्रज्ञाविवेक के अभ्यास से और उसके पश्चात विवेकख्याति के विपय में भी वैराग्य उत्पन्न होने मे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इसीलिये सूत्तकार योगियों की इस समाधि को श्रद्धावीर्यस्मृतिसमर्नधप्रज्ञापूर्वक कहते है।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त ईश्वर-प्रणिधान से भी असम्प्रज्ञात समाधि शीघ्रतम सम्पाद्य होता है। प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेप से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्त से अनुगृहीत करता है। उस ईश्वर के सकल्पवमात्त से योगी को (असम्प्रज्ञात) समाधिलाभ तथा (असम्प्रज्ञात) समाधिफल शीघ्रतम सम्पाद्य हो जाते है। पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर संज्ञा उस पुरुपविशेष की हो जो क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयो के परामर्श से रहित होता है।

क्लेश आदि को समझाते हुये भाव्यकार का कथन है कि अविधा अस्मिता, राग, द्धौष और अमिनिवेश क्लेश है। धर्म और अधर्मकर्म है। कर्म का फल विपाक है उस विपाक (फलभाग) से बनने वाले सस्कार वासना कहलाते है वहीं आशय है। ये चारों बुद्धि से रहते हुये पुरुष में वर्तमान कहे जाते है और पुरुष बुद्धिगत (सुख-दुःख रूप) फल का भोक्ता कहा जाता है। जैसे जय और पराजय वस्तुतः राजा के सैनिकों की होती हुई राजा की कही जाती है जो पुरुष विशेप इस (तथाकथित) भोग से भी अपरामृक अर्थात (सम्पर्करहित) है वही ईश्वर है। केवली और ईश्वर का अन्तर समझाते हुये भष्यकार आगे कहते है कि केवली प्राकृतिक (अव्यक्त से लेकर तन्मात्त पर्यन्त आठों प्रकृतियों में अभिमान होना प्राकृतिक बन्धन कहलाता है।) वैकारिक (शब्दादि विपयों में राग होना वैकारिक बन्धन है) और दक्षिणा (गृहस्थो का कर्म, दक्षिणा, दान, अध्ययन, इष्टापूर्तादि मे अनुराग बन्धन है) नामक त्रिविध बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त करता है। जबकि ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बंध हुआ और न कभी होगा जैसे, मुक्त पुरुष की पूर्वकाल में बन्धन की स्थिति प्रकट होती है वैसी ईश्वर की नही। ईश्वर तो सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है। शुद्ध सत्वात्मक उपाधि धारण करने से ईश्वर का यह सार्वकालिक उत्कर्ष सप्रमाण है, शास्त्त उसका प्रमाण है। ईश्वरोपाधि रूप शुद्ध सत्व मे वर्तमान इन- शास्त्त और ईश्वरोन्कर्ष का अनादि सम्बध है। ईश्वर का यह ऐश्वर्य बराबरी और अतिशय से रहित है। किसी भी अन्य ऐश्वर्य से यह ऐश्वर्य कम नही है क्योंकि जो ऐश्वर्य सर्वातिशायी हो सकता है, वही ईश्वर, का ऐश्वर्य है, इसलिए जिसमें ऐश्वर्य की

पराकाष्ठा होती है वही ईश्वर है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अपनी पराकाष्ठा होती है वही ईश्वर है। उस ईश्वर मे सर्वज्ञता का बीज अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता हे वह काल से अवछिन्न नही होता इसलिए वह पूर्ववर्ती गुरूओं का भी गुरू है। पहले वाले गुरूजन ऋषिगण इत्यादि तो समय से अवधिन्न होते थे। सीमा के अन्तर्गत बाधन के लिए जिसमें समय भी नही उपस्थित होता वह (कालातीत) ईश्वर उन पूर्वकालिक गुरूओं का भी गुरू है। वह जिस प्रकार इस स्मृष्टि से पहले उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ विद्यमान था वैसे ही विगत सभी सृष्टियों के पहले भी विद्यमान समझा जाना चाहिए।

उस ईश्वर का अभिदायक शब्द ओड्कार है। प्रश्न उठता है कि क्या औडकार का वाच्य वाचकत्व सकेतजन्य हे अथवा दीप से प्रकाशित (पदार्थ) के समान (पहले से ही) स्थित (और संकेतधात्मे) है? इस वाच्य का वाचक से साथ सम्बंध स्थित (नित्य और संकेत द्योव्य) ही (होता) हो (सकेतजन्य नही) संकेत ईश्वर के स्थित अर्थ का ही प्रकाशन करता है। जैसे पिता और पुत्त का सम्बंध पहले से स्थित रहता है और संकेत के द्वारा प्रकाशित होता है कि यह इसका पिता है और यह उसका पुत्त है।

ईश्वर और प्रणव के वाच्यवाचक सम्बध के ज्ञाता योगी को उस ओड्म का जय और उसके वाच्यार्थ ईश्वर की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार ओंकट को जपते हुये तथा के अर्थ ईश्वर की भावना करते हुये योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। इससे महर्षि पतञ्जलि की धारणा है कि ओऽम् के जप एव ईश्वरार्थ की भावना से न केवल ईश्वर की उपलब्धि और ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है अपितु आत्मा का भी साक्षात्कार हो जाता है। साथ ही व्याधि इत्यादि जो विध्न है उनका भी अभाव हो जाता है।

अब प्रसगत यह प्रश्न उठता है कि व्याधि इत्यादि कौन से विध्न है और कितने है जो चिन्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाले है? स्वय महर्षि उन विध्नों का परिगठन करते हुये बताते है व्याधि स्त्यान, सशय, प्रभाद, आलस्य, अतिरति भ्रान्ति दर्शन आतब्धभूमिकत्व अनवस्थितव्य-चित्त के विक्षेप है। व्याधि उपलब्ध भूमिकत्व का अर्थ है शारीरिक पीडा, स्त्यान का अर्थ है अकर्मण्यता, संशय का अर्थ है संदेह या उमयकोटि ज्ञान प्रमाद का अर्थ है असावधानी अथवा उपेक्षा आलस्य का अर्थ है शरीर या मन के भारी होने के कारण योग साधन की ओर प्रवृन्ति न होना, अविरति का अर्थ है लोलुपता, बैराग्याभाव, भ्रान्तिदर्शन का अर्थ है विपर्यय ज्ञान अलब्ध भूमिकत्व का अर्थ है समाधि की भूमियों की अप्राप्ति तथा अनवस्थितत्व का अर्थ है समाधि की तन्तद् भूमियों का लाभ होने पर भी चिन्त का उस भूमि मे प्रतिष्ठित न होना। इन विक्षेपों के न उत्पन्न होने पर प्रमाण आदि चित्त बृत्तियों नही उत्पन्न होती फलस्वरूप चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग की सिद्धि हो सकेगी विक्षिप्त चित्त प्राणी दु:ख

(आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदेविक) दोर्मनस्य (इच्छा के अपूर्ण होने से चित्त का चञ्चल होना) अङ्गाकम्प श्वास तथा प्रश्वास से आक्रान्त होता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि इन पाचों को विक्षेपो का साथी कहते है।

उपर्युक्त विध्यों को दूर करने के लिए किसी एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए। एकता का अर्थ भोजराज तथा विज्ञान भिक्षु दोनो टीकाकारों ने कोई एक अभिमत तत्व एकस्मिन कस्मिश्चिदभिमते तच्चेडभ्यास (रा मा वृ पृ 19) किया है। आगे चित्त की प्रसन्नता (एकाग्रता) के उपाय बताते हुये आयार्य कहते है सुखी, दु खी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा (जीवों) के विपय से चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है। उनके आशय को स्पट करते हुये भाष्यकार कहते है सुख भोग युक्त सभी प्राणियों के प्रति मैत्ती की भावना करनी चाहिए दु खी प्राणियों के प्रति करूणा, पुण्यात्याओं के प्रति प्रीति और पापियों के प्रति उपेक्षा (उदासीनता या तटस्थता) की भावना करनी चाहिए इसप्रकार भावना करने वाले को सात्विक धर्म उत्पन्न होता है और उससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न चिन्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है। प्राणों का रेचक पूरक तथा कुम्मक करने से भी चित्त प्रसन्न होता है रेचक आदि
व्याख्या व्याख्या प्रस्तुत शोध प्रबन्ध क अन्तिम अध्याय में की गयी अत, वही दृष्टव्य है।

(गन्ध आदि पॉचों) विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियॉ भी उत्पन्न होने पर मन की स्थिरता की हेतु बनती है। नासिका के अग्रभाग में धारणा (चित्त को एकाग्र) करने वाले इस साधक को जो दिव्यगध का साक्षात्कार होता है वह गन्ध प्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग में धरण करने से दिव्य रस का साक्षात्कार होता है। (वह रूप प्रवृत्ति है) तालु में धारण करने से दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है। (वह रूप प्रवृत्ति है) जिह्वा के मध्य भाग में धारणा करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है (वह स्पर्श प्रवृत्ति है) जिह्वा की जड में धारणा करने से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है (वह शब्द प्रवृत्ति ये इतनी प्रवृत्तियॉ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती है, सशय को दूर करती है और समाधि प्रज्ञा (विवेक ख्याति) में माध्यम बनती है। गन्धादि प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर उनके विपय में वशीकार सज्ञा वैराग्य उत्पन्न होने पर चित्त (उत्तरोत्तर भूमि वाले) उन-उन तत्वों को साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है और वैसा होने पर इस योगी को श्रद्धा, वीर्य, स्मृत्ति और समाधि निर्वाध रूप से सिद्ध हो जाएगे।

ज्योतिष्यती विशोका नाम की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मनकों स्थिर करने वाली होती है। यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है-

(1) बुद्धि सविद्रूपिणी और (2) अस्मितासविद्रूपिजी हृदयपुण्डरीक में ही (अष्टदल कमल) बुद्धि की सत्ता मानी गयी है इसलिए इस हृत कमल में धारण करने वाले

योगी को जो बुद्धि साक्षाकार रूपिणी प्रवृत्ति होती हे, वहि पहले प्रकार की विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। प्रकाशवान ओर आकाश के समान व्यापक होता है। चमकीले पदार्थ में एकाग्र या स्थित होने के कारण साधक का चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त की इस निर्मलता के कारण बुद्धि साक्षात्कार रूपिणी प्रकष्ट वृत्ति बनती है। यह प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र ग्रह और मणियों को चमक के रूप में पीणत होती रहती है। अस्मिता तत्व में स्थित चित्त तरग शून्य महासागर के समान शान्त राजस और तामस तरगों से रहित (अपगतरजस्तमस्तरगम् त वे) अनन्त केवल अस्मिता रूप हो जाता है। उस अस्मिता तत्व को जानकर अस्मि मे हूँ इस प्रकार से सम्यक् साक्षात्कार करता है।

वीत राग चित्त को धारण का विपय बनाने वाला चित्त स्थिर होता हे। स्वप्न और सुषुति के ज्ञान को धारण का आताम्बन बनाने वाला चित्त एकाग्र हो जाता हे। जो अमीप्ट हो उसके ध्यान से भी चित्त स्थिर होता हे। चित्त को स्थिर बनाने वाले उपर्युक्त उपायों को योग में परिकर्म कहा गया है परिकर्मित चित्त का वशीकार (एकाग्रता की सामर्थ्य) परमाणु पदार्थो से लेकर परम महत (पदार्थी) पर्यन्त होता है तात्पर्य यह कि योगी का परिकर्मित चित्त सूक्ष्मतम ओर स्थूलतम दोनों प्रकार के तत्वों में स्थिति प्राप्त करने की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जात हे।
परिकर्म के अनन्तर से चित्त समाहित हो जाता हे।

परिकर्म के अनन्तर समापत्ति का विवेचन करते हुये महर्षि पतञ्जलि कहते हे श्रेष्ट मणि के समान सीप वृत्तियों वाले ग्रहीता ग्रहण इन्द्रियॉ और ग्राहण (विषयों) में स्थित (होने वाले) चित्त का उनके आकार को ग्रहण करलेना समापत्ति है। जैसे शुद्ध स्फरिट मणि भिन्न-भिन्न (निकटस्थ पदार्थाया) उपाधियों के कारण उनके आकारों से उपरम्त होकर (उर्ननिकटस्थ पदार्थो या) उन उपाधियों के आकार की ग्राहय स्वरूप के आकार का प्रतीत होता है। वैसे ही भूत सूक्ष्मरूप स्थूलालम्बनाकार होकर स्थूल रूप से आभासित होता है। ऐसे ही सभी (चेतनाचेतन ग्राहय) पदार्थो से उपरान्त चित्त भिन्न-भिन्न ग्राहय पदार्थाकार होकर भिन्न-भिन्न ग्राहय पदार्थो के रूप में भासित होता है। इसी प्रकार ग्रहणों अर्थात इन्द्रिय रूपी आलम्बन से उपरान्त चित्त इन्द्रियाकण होकर, इन्द्रिय के रूप का भासित होता है। इसी तरह ग्रहीता पुरूष अस्मिता रूपी आलम्बन से उपरम्त चित्त ग्रहीत पुरूषाकार होकर ग्रहीता पुरूष के स्वरूप के आकार का भासित होता है। इस प्रकार से निर्मल मणि के समान चित्त की ग्राहय भूतों में ग्रहण इन्द्रियों में ओर ग्रहीता पुरूप में जो तत्स्थतदञ्जनता अर्थात उनमें तदाकाराकारिता हे, वही समापत्ति कही जाती हे। यह समार्पत्ति चार प्रकार की होती है। उनमें से शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पा से मिली जुली हुई समापत्ति सवितर्का कही जाती हें। शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सकर ही इनका विकल्प है स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर अपने (ज्ञानात्मक) रूप से शून्य जैसी, कवल अर्थ को ही प्रकाशित करने

वाली समापत्ति निर्वितर्का समापत्ति होती हे। जब शब्द सकेत आगम ओर अनुमान ज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर ग्राहय आलम्बन के स्वरूप से उपरम्त प्रज्ञा, अपने ज्ञानात्मक प्रज्ञा रूप को मानों छोडकर (ग्राहयामम्बनरूप) अर्थ के स्वरूप वाली अर्थात ग्राहयालम्बन रूपाकार को प्राप्त हुई सी बन जाती है, तब वह निर्वितर्का समापत्ति होती हे। उनमें मे अभिकरत हुये धर्मो वाले तथा देश, काल सविचारा, कही जाती है। वहॉ पर भी (सवितकी समापत्ति की भाति) एक बुद्धि से ही गृहीत होने वाले, वर्तमानकाल के धर्मो से युक्त, तथा आलम्बनीभूत भूतों के सूक्ष्मतत्व (अर्थात परमाणु, तन्मात्त, इन्द्रियॉ और अस्मिता) समाधि में उपारूद होते हे। और जो समापत्ति, सब प्रकार से तथा सब ओर से भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक धर्मा से रहित किन्तु सभी धर्मा का आश्रय बनने (की योग्यता) वाले अर्थात सभी धर्मो के आधारभूत भूत सक्ष्मों मे होती हे वह निर्विचारा कही जाती हे।

ये सविचारा तथा निर्विचारा समापत्तियॉ सूक्ष्मविपयक होती हैं और उनकी यह सूक्षमविपयता प्रकृतितत्त्व पर्यन्त है। तात्पर्य यह हे कि तन्मात्ताओं से लेकर प्रकृति तक होने वाली सारी समापत्तियॉ सविचारा या निर्विचारा ही होगी क्योंकि ये समापत्तिया सूक्ष्म विषयों वाली है और सूक्ष्मविषयता प्रकृतितत्त्वपर्यन्त प्रसृत है।

ये चारों समापत्तियॉ ही सबीज समाधियॉ है। समापत्तियों के समय में होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि की सालम्बन सबीज कही जाती है। आलम्बन के स्थूल रहने पर वितर्क सहित तथा वितर्करहित तथा आताम्बन के सूक्ष्म होने पर विचार सहित तथा विचार रहित समापत्ति होती हे। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की हो गयी।

निर्विचार समापत्ति के निर्मल हो जाने पर (योगी को) आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होता है। उस स्थिति में ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा अन्वर्थनामा है क्योंकि यह केवल सत्य का ही धारण करती है। ऋत सत्य बिमर्ति इति ऋतम्मरा ऋत+मृन्+खच्+ टाप्) आगम तथा अनुमान प्रमाण जन्य ज्ञान पदार्थो के सामान्य स्वरूप विषयक होता है किन्तु ऋतम्मरा नामक प्रज्ञा विशेषरूपी विषय वाली होने के कारण उन दोनों की प्रज्ञा से भिन्न विपय वाली है। उस ऋतम्मरा प्रज्ञा से उत्पन्न सस्कार अन्य सभी सस्कारों (अर्थात् व्युत्थान प्रकारक सस्कारों) को बाधित करने वाले होते है। व्युत्थान सस्कारों के दबन से उनसे उत्पन्न होने वाली प्रमाणविपर्ययादि वृत्तियॉ नही उत्पन्न होती। वृत्ति-निरोध होने पर समाधि उपस्थित रहती है। उस समाधि से समाधिजन्य ऋतम्मरा प्रज्ञा ओर उससे (समाधिज) प्रज्ञाजन्य सस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नया नया सस्कार समुदाय उत्पन्न होता हे। उससे फिर ऋतम्मरा प्रज्ञा और उससे (तज्जन्य) सस्था-होते रहते है। ये प्रज्ञाजन्य सस्कार क्लेशों के क्षीण करने वाले होने के कारण चित्त को उसके (भागात्मक वृत्ति रूप) कार्य से हटाते है चित्त की

(भोगात्मक वृत्तिरूप) कार्य कारिता विवेकरव्याति के समय तक ही रहती है। बाद में ऋतम्मरा प्रज्ञा से उत्पन्न सस्कार का भी निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। निरोधजन्य सस्कार चित्त के लपपर्यन्त चित्त के साथ रहते है ओर अनन्त में चित्त के साथ-साथ पकृति में लीन हा जाते हे। उस चित्त के विलीन हा जाने पर पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिये उस समय पुरुष शुद्ध एव मुक्त अर्थात् त्तिगुणातीत एव दु खव्ययदशहीन कहा जाता हे।

अभ्यास ओर वेराग्य नामक उपाया के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करते हुए योग की सिद्धि कवल वे साधक कर पाते ह जिनका चित्त पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण इस जनम म एकाग्र हे। आशय यह ह कि जिन्हें पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण अपर वैराग्य उदित हा गया हो वे साधक उस अपर वेराग्य को दृढ करते हुए धारणा ध्यान तथा समाधि का अभ्यास करते-करत याग को सिद्ध किर लेंगे किन्तु जिनको यह अपर वेराग्य उदित ही नही हुआ है, जो नितान्त चञ्चल चित्तवाला है उसे किस प्रकार योग की सिद्धि हो यह बताने के लिये महर्षि ने साधनापद की रचना की हे। अत इस पाद में अधिक सरल तथा प्रारम्भिक साधनमार्ग निर्दिष्ट किया गया हैं जिसे अपना कर मध्यम तथा अधम या मण्र कोटि के अधिकारी भी योग की सिद्धि कर सकते हे। मध्यमाधिकारियों के लिय महर्षि ने क्रियायोग की विधि प्रतिपादित की है जिसक अन्तर्गत वे यह बताते हैं कि क्रिया योग के अन्तर्गत परिगणित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान से पहल सत्त्वशुद्धि हो जाती है, फिर अभ्यास ओर वैराग्य नामक उपायों से अगली सारी याग प्रक्रिया हो सकती हे। जो साधक इससे भी सफल नही हो सकते उनके लिये उन्होंने योग के यमनियमादि आठों अगों का विधान किया है। व मन्दाधिकारी आठों अगों का पालन करने पर ही शुद्धसत्त्व वाले हो कर अभ्यास और वेराग्य नामक उपायों स योग सिद्ध करने में सफल होते हैं। इन आठों अगों में से धारणा ध्यान तथा समाधि का अभ्यास तो सबीजसमाधि के लिये अन्तरग होने से सभा को अर्थात तीनों प्रकार क अधिकरियों का कारक होता है। तात्पर्य यह है कि उत्तम अधिकारी वेराग्य प्रति के लिय जन्मत सक्षम होते हैं, मध्यमाधिकारी क्रियायोग नामक तीनों नियमों का पालन कर के वेराग्य प्राप्ति मे सफल होकर योग-सिद्ध का लाभ करते हे जबकि मन्धाधिकारी यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारों का पालन करके वैराग्य-प्राप्ति ओर याग सिद्धि में सफल होते हं।

तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान को महर्षि ने क्रियायोग कहा है। चूँकि इनके करने से योग सिद्ध होती हे। इसलिये इन्हें क्रियायोग कहा गया हे। अनादिकर्म और क्लेश की वासनाओं से भरी हुई तथा विपयजाल के उपस्थित करने वाली रजस्तमोमयी अशुद्धि बिना तपस्या के छिन्न भिन्न नही होती है इसलियेतपस्या का ग्रहण किया गया है। ओङ्कार इत्यादि पवित्त मन्त्तों का जप या मोक्षपरक शास्त्तों

का अध्ययन करना स्वाध्याय हे। सभी क्रियाओं को परम गुरू ईश्वर में अर्पित करना या उनकर्मो के फलों का सन्यास ईश्वर प्रणिधान है। भावित। इस क्रियायोग के द्वारा समाधि भावित होती है तथा (अविद्याऽस्मिता रागदेपाभि निवेश नामक) क्लेश हल्के होते हैं।

साधनपाद

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष ओर अभिनिवेश में पॉच क्लेश होते हें।[1] प्रसुप्त, तनु विछिन्न और उदार (इन चारो अवस्थाओं में रहने वाले 'अस्मिता' इत्यादि चारो) परवर्ती क्लेशों की प्रसवभूमि अविद्या हे।[2] अनित्य, अपवित्र दु खमय और अनात्म पदार्थो में (क्रमश) नित्य, पवित्र, सुखमय ओर आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है।[3] दृकशक्ति (पुरूष) और दर्शनशक्ति (वृद्धि) की प्रतीयमान एकात्मता अस्मिता है।[1] सुख का अनुवर्ती (क्लेश) राग है अर्थात जो मनोवृत्ति दु ख के आधार पर रहती हे उसे राग कहते है।[2] दु ख का अनुवर्ती (क्लेश) द्वेप हे। अर्थात जो मनोवृत्ति दु ख के आधार पर रहती है उसे द्वेप कहते हे।[3] जा (पहले मृत्यु के अनुभवों से) स्वभावत चला आ रहा हे एव जो विवेकशील पुरूपों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात जीवन के प्रतिममता हे।[4] उन सूक्ष्म सस्कारों को प्रतिप्रसव अर्थात प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा (अपनी कारणावस्था में विलान करने के साधन द्वारा) नाश करना पडता है।[5] अर्थात वे सूक्ष्म क्लेश चित्त क लय के द्वारा निवर्तनीय होते है। उन (क्लेशों) की वृत्तियॉ (क्रियायोग से हल्को तथा) विवेकख्याति के द्वारा नष्ट की जाने योग्य होती है।[6] क्लेश मूताक कर्माशय, दृप्ट जन्म वेदनीय एव अदृप्टजन्म वेदनीय होते हैं।[7] अर्थात ये सब पूर्वोक्त क्लाप ही कर्म सस्कारों के समुदाय की जड हे वर्तमान या भविप्य में हाने वाल जीवन में वे फल प्रसव करते हे।

1 अविद्याऽस्मितारागद्वेपाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा यो सू 2/3
2 अविद्या क्षेत्रमुत्तरेपा प्रसुप्तनु विच्छिन्नादाराणाम् या सू 2/4
3 अनित्याऽशु चिदु खानात्मसु नित्य शुचि सुखाऽऽत्मन ख्यातिर विद्या 2/5
1 दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। यो सू 2/6
2 सुखानुशयी राग या सू 2/7
3 दु खानुशयी द्वेप या सू 2/8
4 स्वरसवाही विदुपोऽपि तथा रूढाऽभिनिवश । या सू 2/9
5 ते प्रति प्रसवध्या सूक्ष्मा । यो सू 2/10
6 ध्यानहेयास्तद्वत्तय । यो सू 2/11
7 क्लेशमूल कर्माशया दृष्टादृप्टजन्मवेदनीय या सू 2/12
8 सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा । यो सू 2/13
9 ते हलादपरितापफला पुण्यापुण्य हेतुत्वात्। यो सू 2/14
1 परिणामतापसस्कारदुखे र्गुणवृत्य विरोधाच्च दु खमेव सर्व विवेकिन यो सू 2/15

(क्लेशरूपरी) मृत के रहने पर जन्म आयु और गोगरूपी कर्माशय क फत (प्राप्त) होत है।[8] पुण्य ओर पाप (रूपी कर्माशय) स हे।[7] परिणाम दु ख, ताप दु ख और सस्कार दु खों के कारण एव गुणों की वृत्तियों के अविरोध के कारण विवेकी के लिए (जन्मायुर्भोग रूप) सभी फल दु ख यप ही हे अर्थात सत्व, रज ओर तम में परस्पर विरोध के कारण विवेकी पुरूप के लिए सब दु ख रूप ही है।[1] भविष्यत्कालिक दु ख ही ध्येय हे अर्थात जोस दु ख अभी तक नहीं आया उसका त्याग करना चाहिए।[2] भाष्यकार कहते हे कि जो बीता हुआ दु ख भोगा जा चुका है, इसलिए वह ध्येकोटि में नही आता। वर्तमान दु ख अपने इस क्षण में भोगा ही जा रहा है, इसलिए वह दूसरे क्षण में ध्य नहीं बन सकता। इसीलिए जो दु ख अभी तक नहीं आया हे, (भविष्यत्कालिक है) वही नेत्र गोलक सदृशयोगी को कष्ट देता हे, अन्य अनुभविताओं को नही। वही दु ख हेयता को प्राप्त होता हे (अर्थात त्याज्य होसता है।) दृष्टा ओर दृश्य का सयोग ध्येय का हेतु हैं[5] अर्थात यह दु ख जो ध्ये है अर्थात जिसका त्याग करना होगा, उसका कारण हे दृष्टा ओर दृश्य का सयोग। प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव हे, भूत ओर इन्द्रिया जिसका (प्रगट) स्वरूप है, (पुरूष) भोग और मुक्ति केलिए ही जिसका प्रयोजन हे वह दृश्य हे।[3] विशेष (भूतेन्द्रिय) अविशेप (तन्मात्रा, अस्मिता), केवल चिह्नमात्र (महत् और चिन्हशून्य (प्रकृति) ये चार (सत्वादि) गुणों की अवस्था हे।[4]

दृप्टा कवल चेतन्य मात्र हे यद्यपि वह स्वय पवित्र स्वरूप है तो भी वह बुद्धि के भीतर स देखा करता हे। उसके लिए ही दृश्य का रूप होता हे अर्थात (उस) दृश्य अर्थात प्रकृति का स्वरूप (विभिन्न रूपों में परिणाम) उस (दृष्टा चिन्मय पुरूप) के ही (भोग तथा मुक्ति) के लिए हे।[6] जिन्होंने इस परम पद को प्राप्त कर लिया है, उनके प्रकृति का नाश हो जाने पर भी प्रकृति नष्ट नहीं होती क्योंकि वह दूसरों के लिए साधारण के लिए सयाग हाता हे।[2] उस सयोग का कारण है अविद्या अर्थात अज्ञान हैं।[3] उस (अविद्या) के मिट जान से सयोग का नाश हो जाना (हान) है और वही पुरूष का (केवलय) हे।[4] (अबाधित मिथ्या ज्ञान शून्य विवेकख्याति (ही) हान उपाय है। अर्थात निरन्तर विवेक का अभ्यास ही अज्ञानानाश का उपाय है।[5] उस

हेथ दु खमनागतम् गा सू 2/16

2 दृष्टृदृश्यो सयागो ध्य हेतु । 2/17

3 प्रकाश क्रिया स्थितिशील भूतन्द्रियात्मक भागापवर्गार्थ दृश्यम। यो सू 2/18

4 विशेपविशेपलिगमात्रा लिगार्न गुणपर्वाणि । या सू 2/19

5 दृष्टादृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य । यो सू 2/20

6 तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। यो सू 2/21

(विवेकख्याति योगी) की उत्कृष्ट स्तर वाली प्रज्ञा सात प्रकार की होती है।[6] योग के अगो का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का क्षय हा जाने पर विवेक ख्याति के उदय तक ज्ञान का प्रकाश होता जाता हे।[7]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसा अशुद्ध क्षय क लिए आठ उपाय हैं। वे हे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, ओर समाधि।[8]

यम पॉच प्रकार हे। अहिसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ओर अपरिग्रह।[8] जाति देश काल ओर आचार्य परम्परा से सीमित न होत हुए (ये) सार्थभौम (यम) महाव्रत (कह जाते) हैं।[9] नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राविधान आते हैं।[10] इन यमों ओर नियमों के वितर्का से बाधि होने पर (वितर्को के) विरोधी (विचारों) की भावना करनी चाहिए।[11] वितर्क अर्थात योग के विरोधी हे - हिसा आदि भाव (वे तीन प्रकार के होते ह। स्वय किये हुए दूसरे से करवाये हुए और अनुमोदित किए हुए, इनके कारण हे- लोभ, क्रोध ओर मोह, इनमें भी कोई थोडे परिमाण का, कोई मध्यम परिणाम का ओर कोई बहुत परिमाण का होता है, इनके अज्ञान और क्लेश रूप अनन्त फल हे। इस प्रकार (विचार करना ही) प्रतिपक्ष की भावना हैं।[1] अहिसा के प्रतिष्ठित हो जान पर उस यागी के पास (प्राणियों का पारस्परिक) वेरभाव छूट जाता है।[2]

सत्य के प्रतिष्ठित (वितर्क शून्यतया स्थिर) हो जाने पर (उस साधक में) (शुभाशुभ) क्रियाओं ओर उनके फलों की आश्रयता आ जाती है। अर्थात अब सत्यश्रम

1 कृतार्थ प्रतिनष्टमप्यनष्ट तदन्यसा धारणत्वात या सू 2/22
2 स्वस्वामिशक्त्यो स्वरूपापलब्धि हतु सयोग । या सू 2/23
3 तस्य हतुरविद्या। यो सू 2/24
4 तदभावात् सयोगाभावा हान, तद हय कवल्यम्। या सू 2/25
5 विवेकख्यातिर विक्लवा हानोपाय या सू 26
6 तस्य सप्तचा प्रान्त भूमि। प्रज्ञा।। 2/26
7 योगागानुष्ठाना दशुद्धिक्षय ज्ञानदीप्तराविवकख्यात ।। 2/28
8 यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाध्ययाऽष्टावगानि या सू 2/29
9 अहिसासत्यास्तय ब्रह्मचया परिग्रहा यमा ।। जाग मूत्र 2/30
10 जाति दश कारा समयानवच्छिन्ना सार्वभामामहाव्रतम् या सू 2/31
11 शौच सन्ताप तप स्वाध्यायश्वर प्रणिधानानि नियम ।। या सू 2/32

1 वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्। या सू 2/33
2 वितक हिसादय कृतकारिपनुमादिता लाभ क्राध माह पूवका मृदु मध्याधिमात्रा दु खाज्ञानानन्तफला - इति प्रतिपक्ष भावनम् या सू 2/34
3 अहिसाप्रतिष्ठाया तत्सनिधो वैरात्याग । या सू 2/35

हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता हे, तब कोई कर्म बिना किए ही अपने लिए या दूसरे केलिए कर्म का फला प्राप्त करने की शक्ति योगी में आ जाती है।[3] अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर (उस योगी के सामने) सब प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं।[1] ब्रह्मचर्य की दृढ स्थित हो जाने पर वीर्य लाभ होता हे।[5] अपरिग्रह के स्थिर होने पर (भूत वर्तमान ओर भविष्य) जन्मों तथा उनके प्रकार का सभ्यक ज्ञान होता है।[6]

शौच के प्रतिष्ठित हो जाने पर अपने शरीर के प्रति घृणा का उद्रेक होता है, दूसरों के साथ सग करने की प्रवृत्ति नहीं रहती है।[7] (इसका विस्तार से वर्णन इस शोघ प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के पटकर्म के अन्तर्गत किया गया है।) बुद्धि, शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकागता, इन्द्रियों पर विजय ओर आत्म साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है।[8]

सन्तोष के (स्थिर होने) से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है[1] अर्थात परमेश्वर सुख प्राप्त होता है। तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती हे अर्थात उनमें अनेक प्रकार की शक्तियॉ आ जाती है।[2] मन्त्र के पुन पुन उच्चारण या अभ्यास से इष्टदेवता के दर्शन होते है।[3] ईश्वर में समस्त अर्पण करने से समाधि लाभ होता हे।[4]

जो (शारीरिक स्थिति) रथायी ओर सुखद हो, वह आसन है अर्थात स्थिर भाव से सुखपूर्वक बैठना।' आसन के स्थिर होन का तात्पर्य हे- शरीर के अस्तित्व का बिल्कुल भान तक न होना। (इसका विस्तार से वर्णन इस शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के आसन प्रकरण जो स्वाभाविक प्रयत्न हे, उसे शिथिल कर देने से ओर अनन्त के चिन्तन से आसन स्थिर ओर सुख कर होता है।[6] तब आसन सिद्धि होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों से बाधा नहीं होती।[7]

उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास दोनों की गति को सयत करना प्राणायात कहलाता है।[8] वाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति ओर स्तम्भ वृत्ति के भेद से यह प्राणायाम तीन प्रकार का है देशकाल और सख्या के द्वारा नियमित तथा दीर्घ या सूक्ष्म होने के कारण उनमें फिर अनेक प्रकार के भेद है। (प्राणायाम का विस्तृत वणन इस शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के प्राणायाम प्रकरण में किया गया है अत वही दृश्य हे।[9])

4 सत्यप्रतिष्ठायाम् क्रियाफलाश्रमयत्वम्।। यो सू 2/36
5 अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नो पस्थानम्।। यो सू 2/37
1 सत्त्वशुद्धि सौमनस्थैकाग्रयन्द्रिय जयात्म दर्शन योगत्वानिच।। यो सू 2/41
2 सतोषदनुत्तमसुखलाभ । यो सू 2/42
3 कार्योन्द्रसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस5। यो सू 2/43
4 स्वाध्याय दिष्ट देवता सम्प्रयोग । यो सू 2/44

चौथे प्रकार का प्राणायाम वह है, जिसमें प्राणायाम के समय वाह्य या आभ्यान्तर किसी विषय का चिन्तन किया जाता ह।[1] उस (प्राणायाम के अभ्यास) से (चित्त के) प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।[2] उसी स धारणा में मन की योग्यता भी होती है।[3]

प्रत्याहार

अपन (अर्थात इन्द्रियां क) विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेना 'प्रत्याहार' है।[1] इससिलए प्रत्याहार के सिद्ध होने पर चित्त के समान ही इन्द्रिया भी निरूद्ध हो जाती हे इसलिए प्राणायाम तीनों प्राणायाम तथा त्रिविध सयम (धारणा, ध्यान तथा तीनों को महर्षि पतञ्जलि ने सम्मिलित रूप से 'सयम'[1] कहा है) के बीच में प्रत्याहार की साधना बडी महत्वपूर्ण एव अनिवार्य है। प्राणायाम के कारण चित्त धारणादि सयम के योग्य अर्थात चञ्चलता से रहित हो जाता है। उस समय यदि इन्द्रियॉ विषयों की ओर उन्मुख होना आरम्भ करे तो विषयों की आर उनकी जोरदार एकागता होगी ओर महान अनर्थ हो जाएगा। इसलिए उस समय इन्द्रियों को विषया की आर स तुरन्त हटाकर अन्तर्मुखी करना चाहिए। इन्द्रियों को चित्तकारानुकारी बनाना ही उनका अन्तर्मुखीकरण है। इसी को प्रत्याहार कहा जाता है। इससे धारणा निष्पन्न होती हे, ध्यान तथा समाधि भी क्रमश सुसम्पन्न होते हैं। इसीलिए प्रत्याहार को भी एक प्रमुख योगाग के रूप में गिना गया है। उस धारणा-ध्यान काल में प्रत्याहत चक्षुरादि इन्द्रियॉ चित्त का अनुकरण पूर्ण रूप से करती हुई (चित्त के द्वारा) ध्यायमान तत्वाकारकारित चित्त अर्थात बुद्धिसत्तव के समानाकार वाली होती है।[3] उस प्रत्याहार से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता होती है।[4] अर्थात उनके ऊपर उत्कृष्ट अधिकार की प्राप्ति हो जाती है।

धारणा - योग के साधनभूत जो यमनियमदि आठ साधन महर्षि ने गिनाये उनमें से प्रथम पॉच का विवेचन तो व साधनवाद में करते हैं किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तिम तीन का विवेचन विभूतिपाद में करते ह। प्रश्न उठता है कि ये तीनों

5 समाधि सिद्धिरीश्वर प्राणिघानात्। यो सू 2/45

6 स्थिर सुखभासनम्। या सू 2/46

7 प्रयत्न शोथिल्यानन्तसनापत्ति भ्याम्। या सू 2/47

8 ततो द्वन्द्वानभिघात । या सू 2/48 (नोट फुटनाट न0 9 अगले पृष्ठ पर दर्ख)

1 तस्मिनसति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छद प्राणायाम या सू 2/49

2 वाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्ति देशकाल सख्याभि परिदृष्टा दीर्घसूक्ष्म यो सू 2/50

3 वाह्याभ्यान्तरविष्याक्षेपी चतुर्थ । यो सू 2/51

4 तत क्षीयत प्रकाशावरणम्। यो सू 2/52

5 धारणासुच योग्यता मनस । यो सू 2/53

योगसाधक होने के बावजूद साधनपाद में विवेचित न किये जाकर विभूतिपाद में क्यों विवेचित किये गये ? इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार स्वय कहते है कि पहले वाले पॉचो अग सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरगमात्र हे जब कि बाद वाले तीनों अग सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरग हैं। अन्तरगत्व का अर्थ है-

निकटतम होना या साक्षात सम्बद्ध होना और इस प्रकार अङ्गी की सिद्धि में अपरिहार्य होना। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यमादि पॉच साधन बहिरग कहे जाते है क्योंकि इनका इस जन्म में अभ्यास किय बिना ही केवल धारणा, ध्यान और समाधि के ही अभ्यास से बहुत मे यागियों को सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती हे। जैसे जऽभरतादि को किन्तु धारणा, ध्यान ओर समाधि के अभ्यास के बिना सम्प्रज्ञात की सिद्धि कभी भी किसी योगी को नहीं सुनी गयी। इसलिए यमादि पॉचों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरग कह गये हे तथा धारणा, ध्यान और समाधि को अन्तरङ्ग कहा गया है।

विभूतिपाद

चित्त की सात्विक वृत्ति को (किसी बाहरी या भीतरी) प्रदेश में लगाना धारणा[1] है। सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कथन हे- नाभिचक्र में, हृदयकमल में, शीर्षप्रकाश में, नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में - इस प्रकार के आन्तरिक देशों मं, या फिर बाहरी वस्तुओं (दूवमूर्ति आदि) में चित्त को वृत्तिमात्र से (अर्थात सात्विक वृत्ति से) बॉधना (लगाना) धारणा है।[2] चित्त को किसी देश में बाधने का आशय हे चित्त का उस देश के अतिरिक्त अन्य सभी स्थलों से हटाकर उसी देश में स्थिर करना या स्थापित करना।[3] चित्त का देशविशेष में स्थापित करना ही धारणा नामक योगाङ्ग है।

ध्यान - उस (विषय) में ज्ञान की एक तानता ही 'ध्यान' है।[4] अर्थात वह वास्तुविषयक ज्ञान निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते है। वही ध्यान जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोडकर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है, तब उसे समाधि कहते हे।[5] यह समाधि शब्द परिभाषिक है यह ध्येय विषय में

1 स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवन्द्रियाणा प्रत्याहार ।। यो सू 2/54

2 त्रयमेकत्र सयम ।। यो सू 3/4

3 योगसूत्रभाष्यसिद्धि पृ 330

4 तत परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।। या सू 2/55

5 क तदतदधारणा ध्यानसमाधि त्रयमन्तरग सप्रज्ञातस्य समाध पूर्वेभ्यो यमादिम्य पञ्चभ्य साधनेम्य इति।। यो सू 3/7 पर भाष्य

ख यमादिम्य पञ्चभ्य साधनम्य इति। या सू 3/7 पर भाष्य

चित्त की स्थिरता की अधिकाधिक सीमा का द्योतक होता है। समाधि का सामान्य लक्षण तो चित्त की वृत्तियों का निरोध है। यद्यपि वृत्ति निरोध थोडा बहुत तो चित्त की क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओं में भी होता है किन्तु वह चित्त वृत्ति निरोध अर्थात समाधियोग साधन के लिए बिल्कुल अनुपयोगी है।

इन तीनों (धारणा,ध्यान समाधि) का जब एक साथ अर्थात एक ही वस्तु के सम्बध में अभ्यास किया जाता है तब उस सयम कहत है।[1] इनको जीत लेने से ज्ञान का प्रकाश होता है।[2] उस सयम का प्रयोग धीरे-धीरे अर्थात सोपान क्रम से करना चाहिए।[3] पहलेकहे गये साधनों की अपेक्षा ये तीनों साधन अधिक अन्तरग है।[4] पर वे (धारणा आदि तीनो) भी निर्वीज समाधि की तुलना में बहिरग साधन है।[5] जब व्युत्थान-सस्कार अर्थात मन की चचलता हो जाता है, उस समय चित्त निरोध नामक सस्कार के अनुगत होता है, तथा उस निराध परिणाम कहते है।[6] अभ्यास के द्वारा इसका प्रवाह स्थिर होता है।[7] सब प्रकार के विपयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विपय का चिन्तन करन वाली एकाग्रता शक्ति का उदय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली एकाग्रता शक्ति का उदय हो जाना- यह चित्त का समाधि परिणाम है।[8] जब मन शान्त और उदित अर्थात अतीत और वर्तमान दोनो अवस्थाओं में ही तुल्य प्रत्यय हो जाता है अर्थात दोनो परिणाम कहते है।[9] इसी से भूतों में और इन्द्रियों में होने वाले धर्म-परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम - इन तीनों की व्याख्या की जा चुकी है।[10]

---

1 देशबन्धर्नाश्चत्तस्य धारणा।। 3/1 यो सू

2 यो सू 3/1 पर भाष्य

3 "देशे नाभिचक्रनासादो चित्तस्य बन्ध विपयान्तरपरिहारण यत्स्थिरीकरण सा चित्तस्य धारणोच्यते।" रा मा वृ पृ 56

4 तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम। या सू 3/2

5 तदेवार्थमात्रनिर्भास स्परूपशून्यमिव समाधि । यो सू 3/3

1 त्रयमेकत्र सयम । यो सू 3/4

2 तज्जयात् प्रज्ञालोक । या सू 3/5

3 तस्य भूमिषु विनियाग यो सू 3/6

4 त्रयमन्तरङ्गपूर्वेभ्य । यो सू 3/7

5 तदापि बहिरग निर्बीजस्य यो सू 3/8

6 व्युत्थान निरोध सस्कारयारभिभवप्रादुर्भवो निरोधक्षणचिन्तान्वया निरोध परिणाम । यो सू 3/9

7 तस्य पशान्त वाहिता सस्कारात्। यो सू 3/10

8 सवार्थ तेकाग्रतयो क्ष्योदयौ चित्तस्य समाधि परिणाम या सू 3/11

9 शान्तादितो तुल्यप्रत्ययो चित्तस्येकाग्रतापरिणाम या सू 3/12

शान्त (अतीत) उदित (वर्तमान) और अव्यपदश्य (अनागत) धर्मो में अनुगत रहने वाला (पदार्थ) धर्मी ह।[1] भिन्न-भिन्न परिणाम होने का कारण है, क्रम की भिन्नता (पूर्वापर पार्थक्य)।[2] उपर्युक्त तीन का ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] शब्द अर्थ और ज्ञानों के आन्योऽयाध्यास के कारण सकीर्णता रहती ह (जबकि तीनो अलग-अलग है) उनक अलगाव में सयम करन से (योगी को) सभी जीवों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है।[4] सस्कारों (में सयम करने) के (फलस्वरूप प्राप्त) साक्षात्कार से पूर्व जन्मों का ज्ञान होसता है।[5] दूसरो के चित्त पर सयम करने स दूसरों के चित्त का (सविशेष) ज्ञान होता है।[6] किन्तु उस चित्त का आलम्बन क्या है, यह वे नहीं जान सकते, क्योंकि यह उनके सयम विपय नहीं है।[7] शरीर के रूप में सयम कर लेने से जब उस रूप को अनुभव करने की शक्ति रोक दी जाती है, तब ऑख की प्रकाश-शक्ति के साथ उसका सयोग न रहने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाते है।[8] कर्म सोपक्रम और निरूपक्रम होते है। उनमें (किये गये) सयम से मृत्यु का ज्ञान होता है। आरिप्टो से भी (मृत्यु का ज्ञान) होता है।[9] मेत्री इत्यादि में (किये गये सयम से मेत्री आदि सम्बधी) बल उत्पन्न होते है।[10] हाथी आदि प्राणियों के बल में सयम का प्रयोग करने से योगी के शरीर में उन उन प्राण्यिों के सदृश बल आ जाता है।[11] महाज्योति में सयम करने से सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त और दूरवर्ती वस्तुओं को ज्ञान हो जाता है।[12]

सूर्य में सयम करने से सम्पूर्ण जगत का ज्ञान हो जाता है।[1] चन्द्रमा में सयम करने से तारा समूह का ज्ञान हो जाता है।[2] ध्रुवतार में सयम करने स ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है।[3] नाभिचक्र में सयम करने से शरीर की बनावट का ज्ञान हो जाता है।[4] कण्ठकूप में सयम करने स भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती ह।[5]

---

10 एतन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता। यो सू 3/13

1 शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी। या सू 3/14

2 क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हतु। यो सू 3/15

3 परिणाम त्रयसयमादतीतानागत ज्ञानम्। या सू 3/16

4 शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासार सकरस्तत्प्रविभागा सयमात्सर्व भूतरूपज्ञानम। यो सू 3/17

5 सस्कार साक्षात्करणात्पूर्ण जाति ज्ञानम्। या सू 3/18

6 प्रत्ययस्य पर चित्त ज्ञानम्। या सू 3/19

7 न च तत् सालम्बन तस्या विपयी भूतत्वात्। या सू 3/20

8 कायरूप सयमात तदग्राहयशक्तिस्तमी चक्षुष्प्रकाशा सम्प्रयोगेऽतर्द्धानम्। यो सू 3/21

9 सोपक्रम निरूपक्रमञ्च कर्म, तत्सयमादपरान्त ज्ञान मरिष्टेभ्या वा। यो सू 3/22

10 मैत्र्यादिपु बलानि। यो सू 3/23

11 बलपु हस्तिबलादीनि। या सू 3/24

12 प्रवृत्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृप्ट ज्ञानम्। या सू 3/25

कर्म नाडी में सयम करन स शरीर को स्थिरता होती है।[6] मस्तक के ऊर्ध्वभाग से निकलने वाली ज्योति में सयम करन स सिद्धपुरूषों क दर्शन होते हैं।[7] अथवा प्रतिभ ज्ञान उत्पन्न होने स समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता हे।[8] हृदय में सयम करन से मनोविषयक ज्ञान प्राप्त हो जाता हे।[9]

पुरूष और सत्व (बुद्धि) अत्यन्त पृथक है- उनके विवेक के अभाव से ही भोग होता है। वह भोग पदार्थ हे अर्थात पुरूष के लिए हे। सत्व (बुद्धि) की एक दूसरी अवस्था का नाम हे स्वार्थ, उसमें सयम करने स पुरूष का ज्ञान होयता है।[10] उससे प्रतिभ ज्ञान और (आलौकिक) श्रवण, स्पर्श, दश्रन, स्वाद एव वार्ता (घ्राण ये छह सिद्धिया प्रकट होती है।[11] ये (छहो सिद्धिया) समाधि में उपसर्ग (विघ्न) है, पर व्युत्थान (ससार-अवस्था) में सिद्धि स्वरूप हे।[12] जब बधन का कारण शिथिल हो सजाता है ओर योगी चित्त के प्रचार स्थानों को (अर्थात शरीस्थ नाडी समूह को) जान लेते हे, तब वे दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकते है।[13]

उदान नामक स्नायविक शक्ति प्रवाह पर जब प्राप्त कर लेने से योगी के शरीर से पानी या कीचड का सयोग नहीं होता, व काटो पर चल सकते है ओर इच्छा मृत्यु होते हैं।[1] समान स्नायाविक शक्ति प्रवाह को जीत लेने से (उनका शरीर) दीप्तिमान हो जाता हे।[2] कान ओर आकाश का जो परस्पर सम्बध है, उसमें सयम करने से दिव्य कर्ण प्राप्त होता हे।[3] शरीर ओर आकाश के सम्बध में चित्तसयम करने से और (रूइआदि) हल्की वस्तु स सयम करने से योगी आकाश में गमन कर सकते है।[4] शरीर के बाहर मन की जा यथार्थ वृत्ति या धारणा है, उसका नाम है महाविदेहा, उसमें सयम का प्रयोग करने से, प्रकाश का जो आवरण है, वह नष्ट हो

---

1 भुवनज्ञान सूर्ये सयमात्। या सू 3/27

2 चन्द्रे तारा व्यूहज्ञानम्। या सू 3/28

3 ध्रुव तद्गतिज्ञानम्। या सू 3/29

4 नाभिचक्र कायव्यूहज्ञानम्। यो सू 3/30

5 कण्ठकूपे क्षुठिपपासानिवृत्ति । यो सू 3/31

6 कूर्मनाडया स्थेयर्म्। यो सू 3/32

7 मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम।। यो सू 3/33

8 प्रातिभाद्वा सर्वम्। यो सू 3/34

9 हृदये चित्तसवित्। यो सू 3/35

10 सत्व पुरूषेमोरत्यन्त सकीर्णयो प्रत्याविशषाद भोग पदार्थत्वादन्यस्वार्थसयमात पुरूष ज्ञानम् । यो सू 3/36

11 तत प्रातिभश्रवणवदनादर्शास्वादवार्ता जाय त। यो सू 3/37

12 ते समाधावुपसर्ग व्युत्थान सिद्धय । या सू 3/38

13 बन्ध कारण शैथिल्यात् प्रचार सवदनाच्च चित्तस्य पर शरीरावेश । यो सू 3/39

जाता है।[5] भूतों की रथूता, स्वरूप सूक्ष्म अन्वय ओर अर्थवत्व - इन पॉच प्रकार की अवस्थाओं में सयम करने पॉचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।[6] उसस अणिमा दि सिद्धियों का आविर्भाव होता हे, कायसम्मत की प्राप्ति होती है और सारे शारीरिक धर्मो से बाधा नहीं होती।[7] रूप त्रावण्य बल ओर वज्र के समान दृढता - य कायसम्मत हे।[8] इन्द्रियों की वाह्य पदार्थ की ओर गति, उससे उत्पन्न ज्ञान, इस ज्ञान से विकसित अह- प्रत्यय, इन्द्रियों के त्रिगुणमयत्व ओर उनके भोगदतृत्व- इन पॉचों में सयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती हे।[9] उस (इन्द्रियजय) से शरीर को मन के सदृशगति, शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर विजय - ये तीनों सिद्धिया प्राप्त होती हे।[10]

सत्व (बुद्धि) और पुरूप के परस्पर पार्थक्य ज्ञान में सयम करने से सब वस्तुओं पर अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता हे।[1] इन सब सिद्धियों को भी त्याग देने से दोष की बीज नष्ट हो जाता हे, ओर उससे कैवल्य की प्राप्ति हा जाती है।[2] देवताओं द्वारा प्रलोभित किय जान पर भी उसमें आसक्त होना या आनन्द का अनुभव करना उचित नहीं हे क्योंकि उससे पुन अनिष्ट होना सम्भव हे।[3] क्षण और उसके क्रम में सयम करन स विवेक जनित ज्ञान उत्पन्न होता हे।[4] जाति, लक्षण आर देश भेद से जिन वस्तुओं का भेद न किये जा सकतने के कारण जो तुल्य प्रतीत होती है, उनको भी इस उपर्युक्त सयम द्वारा अलग करके जाना जा सकता है।[5] जो विवेक ज्ञान समस्त वस्तुओं को तथा वस्तुओं की सब प्रकार की अवस्थाओं को एक साथ ग्रहण कर सकता है, उसे तारक ज्ञान कहते है।[6] जब सत्व (बुद्धि) और पुरूप- इन दोनो की समानभाव से शुद्धि हो जाती हे, तब केवल्य की प्राप्ति होती हे।

सिद्धिया जन्म, ओर्षाध मन्त्र, तपस्या ओर समाधि से प्राप्त होती है।[1] जायत्तरपरिणाम एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन प्रकृति के पूर्ण होने से से होता है।[2] सत् ओर असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहींहै वरन

---

1 उदानजयाज्जलपङ्गकण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। या सू 3/40

2 सतान लयात्प्रज्वलनम्। यो सू 3/41

3 श्रोत्राकाशयोंऽ सम्बन्धसयमादिव्यश्रात्रम्। या सू 3/42

4 काया काशर्यो सम्बध सयमातलभूतलसमापन्तश्चाकाशगमनम्। यो सू 3/43

5 बहिर कल्पिता वृत्तिर्महाविदहा तत प्रकाशावरणक्षय । या सू 3/44

6 स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्वसयमाद् भूतजय । या सू 3/45

7 ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव कायसम्मतद्धर्मानभिघातश्च। या सू 3/46

8 रूपलावण्य बल बज्रसहननत्वानि काय सम्पत। यो सू 3/47

9 ग्रहण स्वरूपास्मिता वयार्थत्व सयमादिन्द्रिय जय । यो सू 3/48

10 ततो मनोज वित्वविकरणभाव प्रधान जयश्च। या सू 3/49

ये उसकी बाधाओं को दूर कर देने वाले निमित्त मात्र है - जैसे किसान जब पानी के बहने में रूकावट डालने वाली मेड को तोड देता है तो पानी अपने स्वभाव से ही बह जाता है।[3] बनाये हुये चित्त केवल अस्मिता (अहतत्व) से बने होते है।[4] यद्यपि इन विभिन्न बनाये हुये चित्तों के कार्य विभिन्न प्रकार क हे तो भी वह एक आदि (मूल) चित्त ही उन सब का नियन्ता हे।[5] उन विभिन्न चित्तो में से जो चित्त समाधि द्वारा उत्पन्न होता है वह वासना शून्य होता हे।[6] योगियों के कर्म शुक्ल भी नही और कृष्ण भी नही (पर) दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते है - शुक्ल, कृष्ण और मिश्र।[7] इन त्रिविध कर्मो से प्रत्येक अवस्था में वे ही वासनाये प्रकार होती है, जो केवल उस अवस्था में प्रकट होने के याग्य है। (अन्य सब उस समय केलिए स्तिमित रूप से रहती है।)[8] स्मृति और सस्कार एक रूप होने के कारण जाति देश और काल का व्यवधान रहने पर भी वासनाओं (कर्म सस्कारों का आनन्तर्य रहता है अर्थात उनमें व्यवधान नही होता।[9]

कैवल्यापाद

सुख की तृष्णा नित्य होने के कारण वासनाये भी अनादि है।[1] हेतुफल, आश्रय और (शब्दादि) विषय- इनसे वासनाओं का सग्रह होता है इसलिए इन चारो का अभाव होने से उन (वासनाओं) का भी अभाव हो जाता है।[2] वस्तु के धर्म विभिन्न रूप धारणा कर सब कुछ हुये है इसलिए अतीत ओर अनागत (भविष्य) स्वरूपत वियमान हे।[3] वे (धर्म) का भी व्यक्त अवस्था में रहते है, फिर कभी सूक्ष्म अवस्था में चले जाते है, और गुण ही उनकी आत्मा अर्थात स्वरूप है।[4] परिणाम में एकत्व रहने के कारण वस्तु वास्तव में एक हे।[5] वस्तु के एक होने पर भी, चित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण, विभिन्न प्रकार की वासनायें ओर अनुभूतियॉ होती है।[6] चित्त में वस्तु के प्रतिबिम्ब पडने की अपेक्षा रहन के कारण वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।[7] चित्त वृत्तियॉ सदा ज्ञात रहती है, क्योंकि उस (चित्त) का स्वामी पुरूष अपरिणामी है।[8] चित्त दृश्य होन क कारण स्वप्रकाश नहीं है।[9] एक ही

---

1 जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजा सिद्धय । यो सू 4/1
2 जासत्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूरात्। यो सू 4/2
3 निमित्तमप्रयोजक प्रकृतीना वरणभेदस्तुत क्षत्रिकवत्। यो सू 4/3
4 निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात्। यो सू 4/4
5 प्रवृत्ति भेदे प्रयोजक चित्त में कमनेकेपामृ। या सू 4/5
6 तत्र ध्यान जमनाशयम्। या सू 4/6
7 कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरषाम्। या सू 4/7
8 ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभि व्यक्तिर्वासनानाम्। या सू 4/8
9 जाति देश काल व्यवहितानामत्यानन्तर्य स्मृति सस्कारयारकरूपत्वात्। यो सू 4/9

समय में दो वस्तुओं को समझ न सकन के कारण चित्त स्वप्रकाश नहीं है[10] एक चित्त को दूसरं चित्त का दृश्य मान लने पर वह दूसरा चित्त फिर तीसरे चित्त का दृश्य होगा। इस प्रकार अनावस्था प्राप्त होगी और स्मृति का भी सम्मिश्रण हो जायेगा।[11]

चित्त (पुरूप) अपरिणामी हे चित्त जब उसका आकार धारण करता हे तब वह ज्ञान भय हो जाता है।[1] चित्त जब दृप्टा ओर दृश्य इन दोनो से रग जाता है तब वह सब कुछ समझने में समर्थ हाता हे।[2] वह (चित्त) असख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी दूसरे (अर्थात पुरूप) के लिए हे, क्योंकि यह सहत्यकारी (सयुक्त होकर कार्य करने वाला) हे।[3] विशेप दर्शी अर्थात विवेकी पुरूप के चित्त में आत्मभाव नहीं रह जाता।[4] उस समय चित्त विवेकप्रवण होकर कैवल्य के पूर्व लक्षण को प्राप्त करता है।[5] उसके विघ्नस्वरूप बीच-बीच में जो विचार उत्पन्न होते है वे सस्कारों से आते हैं।[6] जिन उपयों से क्लेशों के नाश की बात (सूत्र 2/10) कही गयी है इन (सस्कारों) को भी ठीक उन्हीं उपायों से नष्ट करना होगा।[7] तत्वों के विवेक ज्ञान स उत्पन्न ऐश्वर्य में भी जिनका वैराग्य हो जाता है, उनका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने कारण उन्हें धर्ममेघ्र समाधि प्राप्त हो जाती है।[8] उस (धर्ममेघ्र समाधि) से क्लेश ओर कमो का सर्वथा नाश हो जाता है।[9] उस समय ज्ञान, सब प्रकार के आवरण अशुद्धि से रहित होने के कारण, अनन्त हो जाता है, अत ज्ञेय अल्प हो जाता है।[10]

जब गुणों का काम समाप्त हा सजाता है तब गुणों के जो विभिन्न परिणाम है, वे भी समाप्त हो जाते हैं।[11] जो परिणाम प्रत्येक क्षण से सम्बन्धित हे, और जो

---

1 तासामनादित्व चाशिपानित्यत्वात्। यो सू 1/10

2 हेतुफलाप्रयालम्बने सग्रहीतत्व दयामभाव तदभाव । या सू 4/11

3 अतीतानागत स्वरूपाऽस्त्यमदाद्धर्माणाम्। या सू 4/12

4 ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान । या सू 4/13

5 परिणामेकत्वाद्धस्तुतत्वम्। या सू 4/14

6 वस्तु साम्ये चित्त भेदान्तयार्विभक्त पन्था । यो सू 4/15

7 तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। यो सू 4/16

8 सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो पुरूपस्यापरिणामित्वात्। यो सू 4/17

9 न तत्सवाभास दृश्यत्वात्। यो सू 4/18

10 एक समये चोभयानव धारणम्। यो सू 4/19

11 चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरति प्रसङ्ग स्मृति सङ्काश्रश्य। या सू 4/20

12 तत कृतार्थाना परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्। यो सू 4/31

13 क्षण प्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य क्रम । या सू 4/32

दूसरे छोर में (अर्थात एक परिणाम परम्परा के अन्त म) समक्ष में आते हैं वे क्रम हैं।[12] गुणों से जब पुरूष का कोई प्रयाजन नहीं रहता, तब प्रतिलोम क्रम से गुणों के लय होने का कैवल्य कहते है, अथवा या कहिए कि दृष्टा (चित्त शक्ति) का अपन स्वरूप में पतिष्ठित हो जाना कैवल्य ह।[13]

तृतीय अध्याय

आधुनिक योगाचार्य

1 स्वामी विवेकानन्द

'योगश्चित्तवृत्ति निरोध[1] के द्वारा प्राचीन सस्कृत शब्द 'योग' की परिभाषा की गई है। इसका अर्थ यह है कि 'याग' वह विज्ञान है, जो हमें चित्र की परिवर्तनशील अवस्था से निरूद्ध कर उसे वश में करने की शिक्षा देता है। चित्र वस्तु है, जिससे हमारे मन का निर्माण होता है और जो निरन्तर बाह्य तथा आन्तरिक प्रभावों से प्रमाणित होकर (सकल्प-विकल्प की) तरग उछालता रहता है। योग हमें सिखाता है कि मन का किस प्रकार नियमन किया जाए जिससे वह सन्तुलन खोकर तरगित न होने पाये। विवेकानन्द ने योग को मुख्यतया चार भागों में वर्गीकृत किया है[2]।

कर्मयोग -कर्मयाग कर्म के द्वारा मन को शुद्ध करता है। शुभ या अशुभ कर्म किये जाने पर अशुभ परिणाम अवश्य उत्पन्न होता है। कारण विद्यमान होने पर कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती। अतएव जब तक शुभ कार्य शुभ कर्म और अशुभ कार्य, अशुभ कर्म उत्पन्न करते रहेंगे, कोई भी मोक्ष प्राप्त कर सकने की आशा से रहित आत्मा शाश्वत बन्धनों में पडी रहेगी। कर्म केवल शरीर या मन से सबद्ध है, आत्मा से नहीं, वह आत्मा के समक्ष एक पर्दा भर डाल सकता है। अशुभ कर्म द्वारा डाला गया पर्दा अविद्या है। शुभ कर्म में नैतिक बल को करने की शक्ति है। इस प्रकार वह अनासक्ति को उत्पन्न कर सकता है। वह अशुभ कर्म के प्रति प्रवृत्ति को नष्ट और मन को निर्मल करता है। किन्तु यदि कर्म मोक्ष की प्रेरणा से किया जाता है, तो वह केवल इस भोग को उत्पन्न करता है, मन या चित्र को शुद्ध नहीं करता। अतएव समस्त कर्म उसके फलों को भोगने की इच्छा से नितान्त मुक्त होकर किया जाना चाहिए। कर्मयोगी के समस्त भय तथा इहलोक या परलोक में भोग की[77]
इच्छा को सदा के लिए निकाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतिदान की इच्छा से रहित यह कर्म स्वार्थपरता को नष्ट कर देगा, जो सारे बन्धनों की जड है। कर्मयोगी का जीवन मन्त्र है 'मै नहीं, वरन् तू', और आत्मोत्सर्ग का कोई भी परिणाम उसके लिए अधिक नहीं होता। किन्तु ऐसा वह स्वर्ग जाने, नाम और यश कमाने या इस ससार में कोई अन्य लाभ उपलब्ध कर सकने की इच्छा से नितान्त मुक्त होकर करता है। इस प्रकार के निःस्वार्थ कर्म की व्याख्या और हेतु यद्यपि केवल ज्ञानभोग में ही मिलते हैं, परन्तु मनुष्य की नैसर्गिक दिव्यता, बिना किसी प्रच्छन्न स्वार्थ भाव

1 पतजलि योगसूत्र, प्रथम अध्याय, समाधिपाद 2 सूत्र।
2 विवेकानन्द साहित्य भाग-7, पृ0 323
3 योग के चार मार्ग, पृ0 324
4
5 विवकानन्द साहित्य- भाग 4, पृ0 166

के, दूसरों के हित मात्र के लिए, उसका सम्प्रदाय या मत जो भी हो, उसे समस्त उत्सर्ग से प्रेम करने के लिए विवश करती है। बहुतेरे लोगों के लिए धन का बन्धन बहुत बडा होता है और धन के प्रति प्रेम के आस-पास जम गयी पपडी को तोडने के निमित्त उनके लिए कर्मयोग परमावश्यक है।

भक्तियोग[3]- भक्ति तथा पूजा अथवा किसी रूप में प्रेम मनुष्य के लिए सबसे अधिक सरल सुखद और स्वभाविक मार्ग है। इस विश्व की नैसर्गिक स्थिति आकर्षण की है, और अनिवार्य रूप से उसका अन्त वियोग में होता है। यहाँ तक कि मानव हृदय में प्रेम मिलन की नैसर्गिक प्रेरणा है। यद्यपि वह स्वयं क्लेश का एक बडा कारण है, सम्यक पात्र के प्रति सम्यक रूप से निर्दिष्ट होने पर वह मुक्ति प्रदान करता है। भक्ति का आलम्बन ईश्वर है। प्रेम के बिना कर्ता और आलम्बन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रेम का आलम्बन पहले एक ऐसा प्राणी होना चाहिए, जो हमारे प्यार का प्रतिदान कर सके। अतएव प्रेम का ईश्वर किसी न किसी न किसी अर्थ में एक मानवीय ईश्वर होना चाहिए। ऐसा ईश्वर है या नहीं, इस प्रश्न के बावजूद, यह एक तथ्य है कि जिनके हृदय में प्रेम है, उनके प्रति यह ब्रह्म प्रेम के ईश्वर के रूप में व्यक्तित्व रूप में प्रकट होता है।

राजयोग[1] इस योग की सगति इन योगों में प्रत्येक से हो जाती है। आस्थावान या आस्थारहित सभी वर्गों की जिज्ञासाओं से इसकी सगति हो जाती है और यह धार्मिक जिज्ञासा का यथार्थ उपकरण है। जिस प्रकार प्रत्येक विज्ञान की अनुसधान करने की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है, उसी प्रकार राजयोग धर्म की पद्धति है। विविध शरीर-सरचनाओं के अनुरूप इस विज्ञान का व्यवहारिक उपयोग भी विविध होता है। इसके मुख्य अग प्राणायाम, ध्यान और धारणा है। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं किसी गुरू से प्राप्त कोई प्रतीकात्मक नाम जैसे ओऽम् या अन्य पवित्र शब्द इसमें बडे सहायक सिद्ध होते है। ओऽम् इनमें महानतम् है और उसका अर्थ है ब्रह्म । इन पवित्र नामों का जप करते हुये उनके अर्थ की धारणा करना मुख्य अभ्यास है।

ज्ञानयोग यह तीन अगों में विभक्त है। पहला इस सत्य का श्रवण कि आत्मा ही एक मात्र वास्तविकता है और सब माया (सापेक्षता) है। दूसरा- इस दर्शन पर सभी दृष्टिकोणों से मनन- तीसरा- इसके आग सारे तर्क वितर्क को वर्जित करके सत्य की अनुभूति प्राप्त करना। यह अनुभूति इतन प्रकार से प्राप्त होती है- 1 इस बात के निश्चय से कि ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है। 2 भोग की समग्र इच्छा का त्याग। 3 मन और इन्द्रियों का सयग। 4 मुक्त होने की तीव्र आकाक्षा। इस सत्य की सतत धारणा और आत्मा का उसके वास्तविक रपरूप का सदैव स्मरण कराते

4 वही, पृ0 325

रहना ही इस योग के मार्ग है। यह योग सर्वोच्च किन्तु कठिनतम है। इसको बुद्धि के द्वारा तो बहुत से लोग ग्रहण कर लेते है।लेकिन उसकी सिद्धि बहुत कम लोग कर पाते हैं।

व्यवहारिक धर्म क्या है[1] ? इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति के विचार, व्यवहारिकता सम्बन्धी उसके सिद्धान्त तथा अपने ऐसे दृष्टिकोण के अनुरूप होते है, जहाँ से वह कार्यारम्भ करता है। वह ज्ञान भक्ति एवं कर्म है। दार्शनिकों का मत है कि मुक्ति तथा बन्धन के अन्तर का कारण ज्ञान तथा अज्ञान है। उसके लिए लक्ष्य, ज्ञान और उसकी व्यावहारिकता ज्ञान प्राप्ति के लिए होती है। भक्त का व्यावहारिक धर्म होता है प्रेम तथा श्रद्धा की अमित शक्ति। कर्मयोगी सत्कर्म को ही अपना व्यवहार्य धर्म बनाता है। जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है कि हम सदैव दूसरे के आदर्श की अपेक्षा करने और सम्पूर्ण ससार को अपने आदर्श के साँचे में ढालने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

प्रेम से परिपूर्ण व्यक्ति अपने सहजीवियों की भलाई को ही धर्माचरण मानता है। यदि मनुष्य कोई अस्पताल आदि बनवाने में मदद न दें, तो वह यह सोचने लगता है कि उनका कोई धर्म नहीं है। सभी एक सा ही करें, ऐसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञान-साधना न करने वाले की अवहेलना कर सकता है। भले ही लोग बीस हजार अस्पताल बनवा दें, ज्ञानी उन्हें देवताओं के पशु मात्र सिद्ध करेगा। भक्त के अपने ही विचार और मानदण्ड होते हैं। ईश्वर से प्रेम न करने वाले जैसे भी कर्म क्यों न करें, उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ नहीं है। योगी का विश्वास आत्मसयम और (अन्त) चित्रवृत्ति विजय पर रहता है। इस दिशा में आपकी सफलता कितनी बढी है। शरीर तथा इन्द्रियों पर कितना नियत्रण हुआ है ? योगी के ये ही प्रश्न रहते हैं। जैसा कहा गया है कि हर व्यक्ति दूसरों को अपने आदर्श से ही परखता है। मनुष्य लाखों डालर दान में क्यों न द चुका हो या भारतीयों की भाँति चूहों-बिल्लियों को क्यों अन्न खिला चुका हो। उनका कहना है कि मानव अपनी चिंता स्वय कर सकता है, लेकिन बेचारे जीव-जन्तु ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन योगी का चरम लक्ष्य (अन्त) चित्रवृत्ति निरोध है और वह उसी कसौटी पर मानव को कसता है।[80]

योग सिद्धान्त, जिसकी व्याख्या की जा रही है, उसका यह दृष्टिकोण नहीं है कि आत्मा की सत्ता है और इसमें सर्वशक्ति निहित है। यदि हम शरीर को अपने

1 योग के सिद्धान्त- पृ0 160

2 विवेकानन्द साहित्य भाग 4 पृ0 160

अधीन कर लें तो सारी शक्ति अभिव्यक्त हो जायेगी। जब सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा में निहित है तो सामान्य जन सघर्षरत क्यों हे? दु ख घटाने के लिए ही तो शरीर को वशीभूत न करने स ही सारे दु ख का सूत्रपात होता हे। हम घोड क आगे गाडी रखते हे उदाहरणार्थ कर्मपक्रिया को ही लो। हम गरीबों का आराम देकर उनकी भलाई करन का पयत्न करते हे हमें दु ख के मूल कारण का ज्ञान नही है। यह समुद्र को बाल्टी से खाली करने के बराबर है और लगातार पानी भरता जाता है। योगी इसे मूर्खतापूर्ण समझता हे। वह कहता है कि दु ख से त्राण पाने का पहला उपाय दु ख के मूल कारण को जान लेना है। हम यथाशक्ति अच्छाई करने का प्रयत्न करते है। यह किसलिए ? अगर कोई असाध्य रोग है, तो हम क्यों सघर्षरत हों, ओर क्यों अपनी रक्षा का प्रयत्न करें ? यदि उपयोगिता कहे, ईश्वर और आत्मा के विपय में परेशान मत होओ, तो उस का योगी पर या ससार पर पभाव ही क्या पडेगा ? (ऐसी मनोवृत्ति) से दुनिया का कोई भला नहीं होने वाला हे फिर भी दु ख की मात्रा अधिकाधिक बढती जा रही है।

योगियों की धारणा हे कि प्रकृति भोग्या ओर आत्मा भोक्ता हे। ये सारे दु ख और सुख कहॉ है ? इन्द्रियां मे ही। इन्द्रियों का सग ही हर्ष-शोक, शीत-उष्ण आदि को जन्म देता हे। यदि हम इन्द्रियों को सयत कर सकें और उनके विषय को निर्दिष्ट कर सकें - इस समय की भॉति हम उनके आज्ञाकारी न रहें- वे यदि हमारा आदेश मानें, हमारे दास बने रहें- तो तुरन्त समस्या का समाधान हो गया। हम इन्द्रियों के जाल में फसे है, वे हमेशा हमें नचाती हे ओर बुद्ध बनाती है। दूसरी समस्या जो सुलझानी है वह यह है, क्या वह व्यावहारिक हे ? मानव अपने शरीर पर नियत्रण पा सकेगा ? योग इसे व्यावसायिक -यत्नसाध्य- कहता है मान को, ऐसा नहीं है, मन में कुछ सदह हे। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना होगा। कोई दूसरा उपाय नही हे।

योगशास्त्र के अनुसार (अन्त चित्रवृत्ति पर विजय ही) एकमात्र उपाय है।

ईश्वर को पाने की उत्कल अभिलापा ही धर्म है[7]। लोक हितैषी कार्य आदि केवल मन को किचित शात करते हे। यह याग-साधना-पूर्ण बनना- पूर्णतया हमारे अतीत पर आश्रित है। मै जीवन भर अध्ययन करता रहा हूँ और अब तक थोडी सी ही प्रकृति कर पाया हूँ। लेकिन जो फल प्राप्त हुए हैं, उनसे मुझे विश्वास हो गया है कि यही एकमात्र सच्चा मार्ग हे। वह दिन दूर नही, जब मै अपना स्वामी बन जाऊँगा। इस जन्म में न सही अगल जन्म में ही सही। मे लगातार सघर्ष जारी रखूँगा, हार नही मानूगा। कुछ भी व्यर्थ नही जाता। यदि इसी क्षण मै दह छोड दूँ, तो मेरे पिछले सारे सघर्ष मरी सहायता करेंगे। क्या तुम्हें जन-जन के बीच अन्तर उत्पन्न करने वाली शक्तियों का पता नहीं हे ? यह उनका प्रारब्ध है। अतीत के

ससार एक को प्रतिभाशीला और दूसर को मूर्ख बनाते हैं। तुम अतीत क सस्कार के बल पर पॉच मिनट में सफला हो सकत हो। क्षण भर में क्या घटित हो सकता हे, कोई नहीं बता सकता है। हम सबको कभी न कभी (पूर्णत्व) प्राप्त करना ही है।

पहली बात है, स्थिर होकर उस आसन में बेठना, जिसमें देर तक निश्चल बैठे रह सको। सभी सक्रिय नाडी-प्रवाह मेरूदड के माध्यम से सचालित है। मेरूदड शरीर भार वहन करने के लिए नहीं है। अत आसन ऐसा होना चाहिए, जिससे शरीर का बोझ मेरूदड पर न पडे। सभी प्रकार के दबाव से उसे मुक्त रखना चाहिए। कुछ और भी प्रारभिक बातें हे। खान-पान तथा व्यायाम का मुख्य प्रश्न है।

युक्त आहार क्या हे, उसका भेद क्या हे, आदि का निर्णय स्वय हमें करना होगा। हमारे लिए दूसरा कोई इसका निर्णय नहीं कर सकता। साधारणत युक्ताहार का अर्थ है- ज्यादा मसालेदार खाना न खाओ। योगी का कहना है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार मन तीन प्रकार का होता ह। एक है तामसी मन, जो आत्मा के अमर आलोक ढक लेता है। दूसरा हे, राजसी मन, जो क्रियाशीलता बढाता हे। तीसरा है सात्विक मन, जो स्थिरता और शान्ति का मूल है।

इसी तरह प्राणायाम के कई विधान हैं। एक विधान के तीन भाग हैं- सॉस लेना, सॉस रोके रहना- बिना श्वास लिए विश्चेष्ट रहना और सॉस निकालना । प्राणायाम के कुछ प्रयोग कठिन जरूर हे और उचित आहार-सेवन के अभाव में कुछ जातिक क्रियाओं की साधना खतरे से खाली नहीं हे। सरल क्रियाओं की अपेक्षा मे इन जातिक क्रियाओं की साधना में रुचि लेने की सलाह तुमको नहीं दूँगा। लम्बी साँस लो एव फेफडो को फुलाओं। धीर-धीरे श्वास बाहर फेंको। एक नाक से सॉस खींचो और फेफडो को भरो। दूसरे नाक से उसे धीरे-धीरे बाहर निकालो। हममें से कुछ लोग सॉस भी उचित मात्रा में नहीं ले पाते हैं। कुछ सज्जन फेफडों को ठीक रूप में भर नहीं पाते। इस श्वास प्रश्वास- क्रिया से यह कभी कुछ हद तक दूर होगी। प्राय आधे घण्टे या सायकाल आधे घण्टे यह प्रयोग जारी रखें, तो तुम्हारा व्यक्तित्व ही बदल जायेगा। यह प्राणायाम बहुत लाभप्रद हे। अन्य क्रियाओं की साधना बहुत मन्द गति से करनी चाहिए। पहले अपनी शक्ति का अनुमान करो। यदि दस मिनट अधिक लगें, तो सही ढग स पॉच ही मिनट करें।

योगी से आशा की जाती हे कि वह अपना शरीर स्वस्थ रखें। प्राणायाम के ये विभिन्न विधान शरीर अवयवों को व्यवस्थित रखने में बडे सहायक हैं।[१] सभी भाग प्राण वायु से प्लवित है। प्राण के सहारे ही हम उन अवयवों को वश में रख सकते हैं। अवयवों में उत्पन्न असतुलन को उनकी ओर प्राण वायु तरगे अधिक प्रेषित करके ठीक कर सकते हैं। जब शरीर में कहीं पीडा हो, तो योगी को यह बताने में समर्थ

होना चाहिए कि वह प्राण की कमी से हुई या आधिक्य से। योगी को उसका सन्तुलन करना होगा।

योग-साधना की (सफलता के लिए) दूसरी शर्त ब्रह्मचर्य है। सभी साधनों की यही आधारशिला है। विवाहित हो या अविवाहित- पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी होना चाहिए। लेकिन यह बताना जरूरी है कि इस विषय पर सार्वजनिक रूप से चर्चा देश की प्रकृति के अनुकूल नही है। पश्चिमी राष्ट्रो में प्रचारकों के रूप में ऐसे खतरनाक सज्जनों की सख्या कम नही है, जो स्त्री-पुरूष में यह प्रचार करते है कि ब्रह्मचर्य हानिकारक है। ऐसी बातें उन्हें कहाँ से प्राप्त होती है?

त्याग के बिना कोई सिद्धि सभव नही है। त्याग मानवीय चेतना का पवित्रतम, सर्वोच्च साध्य है, उसे अपवित्र न बनाओं उसे पशु स्तर पर घसीटो नहीं अपने को भद्र पुरूष बनाओ शीलवान और पवित्र रहो।

दूसरा सकोई चारा नही है। ईसामसीह ने दूसरा कौन मार्ग ढूँढ निकाला था ? यदि तुम समुचित रीति से शक्ति का सचय ओर विनिमय सीखो, तो वही ईश्वर तक पहुँचायेगा यह विपरीत हो जाय, तो उसे नरक ही जानो।

बाह्य स्तर पर कुछ दिखाना आसान है, लेकिन दुनिया का महान से महान विजेता भी अपने मन पर विजय पाने के प्रयास म अपन को शिशु अनुभव करता है। उसी जगत को उसे जीतना है - जो बहुत बडा ओर कठिनता से जीता जा सकने वाला है। निराश न होओ। उतिष्ठ, जाग्रत, प्राप्य वरन्ति बोधत।

चित्तवृत्तिनिराध को योग बताते हुए स्वामी विवेकानन्द ने जो योग के चार विभाग बताये है उनमें से कर्मयोग का पतञ्जल योग से कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्तियोग पतजलि के ईश्वर के प्रणिधान की याद दिलाता है ' राजयोग अवश्य पातजल योग से साम्य रखता दिखता है क्योंकि विवेकानन्द के अनुसार प्राणायाम धारणा तथा ध्यान इसके मुख्य अग है। सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि के भी मुख्य अग ये ही तीनों है। आगे स्वामी जीन आसन ओर प्राणायाम पर जो जोर दिया है वह पातजल याग का ही प्रभाव कहा जायगा। उनका ज्ञानयोग वेदान्त के सिद्धान्त के अधिक निकट जान पडता है।

2 महर्षि अरविन्द

महर्षि अरविन्द के अनुसार योग वह है जिसके द्वारा आभ्यान्तर तथा वाह्य जीवन का ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग तथा परिवर्तन हो कि जिसके द्वारा भगवत चेतन्य की अभिव्यक्ति हो तथा वह स्वाग भी भगवत कर्म का एक अग बन सके। इसी उददेश्य की प्राप्ति के लिये महर्षि अरविन्द जी ने अपनी पुस्तक 'योग समन्वय' में जीवन और

योग, योग की प्रणालियॉ एव उनका समन्वय तथा समाधि तक पहुचने केलिए हठयोग एव राजयोग का एक समन्वयात्मक विवचन प्रस्तुत किया हे। यहॉ पर महर्षि अरविन्द जी के योग के सम्बध में इन्ही विचारों का विवेचन किया जायेगा।

भारतीय योग अपने अपने सारतत्व में प्रकृति की कुछ महान शक्तियों की एक विशष क्रिया या रचना हे यह स्वय विशिष्ट एव विभाजित हे ओर विविध प्रकार से निर्मित हुआ हे। अत यह अपन बीज रूप में मनुष्य जाति के भावी जीवन के इन सक्रिय तत्वों में से एक है। यह अनादि युगों का शिशु है तथा हमारें इस आधुनिक समय में अपनी जीवन शक्ति और सत्य के बल पर जीवित बचा हुआ है। अब यह उन गुप्त सस्थाओं ओर सन्यासियों की गुफाओं से बाहर निकल रहा है जिनमें इसने आश्रय लिया था, यह आजकल की जीवित मानवी शक्तियों ओर उपयोगिताओं भावी सघात में अपना स्थान खोज रहा हे।

अगर हम जीवन ओर योग दोनो का यथार्थ दृष्टिकोण से देखें तो सम्पूर्ण जीवन ही चेतन या अवचेतन रूप में योग है।[1] कारण इस शब्द से हमारा मतलब सत्ता में प्रस्तुत क्षमताओं की अभिव्यक्तियों क द्वारा आत्म परिपूर्णता के लिए किया गया विधिवत प्रयत्न ओर मानव व्यक्तित्व का उस विश्वव्यापी सत्ता के साथ मिलन है जिसे हम मनुष्य और विश्व में अशत होता हुआ देखते हे। किन्तु जब हम जीवन को उसके बाहय रूपों के पीछे जाकर देखते हे तो वह प्रकृति का एक विशाल याग दिखाई देता है - उस प्रकृति का जो अपनी शक्यताओं की सदा वृद्धिशील अभिव्यक्ति में अपनी पूर्णता प्राप्त करने की तथा अपनी दिव्य वास्तविक सत्ता के साथ एक होने की चष्टा कर रही हे। मनुष्य उसका एक विचारशील प्राणी हे अतएव उसमें वह पहली बार क्रिया के उन स्वचेतन साधनों और इच्छाशक्ति से युक्त प्रणालियों की रचना करती हे जिनकी सहायता से यह महान उददेश्य अधिक द्रुत और शक्तिशाली वेग से पूरा हो सकेगा।

योग एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति के विकास को शारीरिक जीवन के अस्तित्व के एक ही जीवन-काल में या कुछ वर्षो में यहॉ तक कि कुछ महीनों में ही साधित कर दे। अतएव योग की वर्तमान पद्धति उन सामान्य विधियों के एक अधिक सकुचित पर अधिक सबल ओर तीव्र रूपों में सग्रह या सक्षेप से अधिक कुछ और नहीं हो सकती। योग विषयक यह विचार यागिक प्रणालियों के यथार्थ और युक्तियुक्त समन्वय का आधार बन सकता हे। योगिक पद्धतियों का मनुष्य की प्रचलित मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के साथ वही सम्बध है जो विद्युत और वाष्प की स्वाभाविक शक्ति के वेज्ञानिक प्रयोग का वाष्प और विद्युत की सामान्य क्रियाओं के

1 योग समन्वय महर्षि अरविन्द पृष्ठ 10

साथ है 'समस्त राजयोग' उस ज्ञान एव अनुभव पर आधारित है कि हमारे आन्तरिक तत्व सयोग ओर कार्य तथा हमारी शक्तियॉ अलग-अलग की जा सकती हे- उनमं विघटन हो सकता है- उन्हें नये सिर से मिलाया जा सकता है तथा उनसे नये ओर पहले असम्भव माने गये कार्य करायं जा सकते हे या फिर ये सब स्थायी आन्तरिक प्रक्रियाओं द्वारा एक नये सामान्य समन्वय मं रूपातरित किये जा सकत हे।[1] इसी प्रकार हठयोग भी इस बोध एव अनुभव पर निर्भर करता है कि जिन प्राणिक शक्तियों ओर क्रियाओं की अधीनता हमारा जीवन स्वीकार कर लेता हे तथा जिनके साधारण कार्य रूढ ओर अनिवार्य ढग के प्रतीक होते है वे वश में भी जा सकती है, उन्हें बदला जा सकता हे अथवा उन्हं रोका जा सकता है।

योग का सच्चा ओर पूर्ण उपयोग ओर उददेश्य तभी साधित हो सकते है जबकि मनुष्य क अन्दर सचतन योग जसा कि प्रकृति मं अवचेतन योग होता ह, वाहयत जीवन के साथ समान रूप स व्यापक हो जाय और तभी हम मार्ग और उपलब्धि दोनों को देखते हुये एक बार फिर एक अधिक पूर्ण और आलोकित अर्थ में कह सकते है ''समस्त जीवन ही योग हे।''

महर्षि अरविन्द जी प्रकृति मे तीन क्रमिक अवस्थाए मानते हे शारीरिक जीवन जो यहा भौतिक जगत में हमारे अस्तित्व की आधारशिला है, मानसिक जीवन - जिसमें हम अभिव्यक्त होते हे ओर जिसकी सहायता से हम शारीरिक जीवन का अधिक उच्च प्रयोग करते हे तथा उस एक महत्तर पूर्णता में विकसित कर लेते है दिव्य जीवन- जो इन दानो का ही लक्ष्य है ओर जो इनकी ओर मुडकर इन्हें उनकी उच्चतम सम्भावनाओं में उन्मुक्त करता हे। हम इन विविध स्तरों को, मुक्ति और परिपूर्णता को कम से कम योग के लक्ष्य का एक बहुत बडा और महत्वपूर्ण अग मानते है।

ज्ञान योग का लक्ष्य एक उच्चतर या दिव्य चेतना मे है।[1] समाधि का इस लक्ष्य के साथ घनिष्ठ सम्बध है। यह माना जाता है कि सत्ता की कुछ भूमिकाए ऐसी है जो केवल समाधि में ही प्राप्त की जा सकती है उनमे से वह भूमिका विशेष रूप स कामनीय हे जिसमें आत्म ज्ञान की समस्त क्रिया समाप्त हो जाती है ओर निश्चल, कालातीत एव अनन्त सत्ता मं शुद्ध अतिमानसिक लय को छोडकर और किसी प्रकार का चैतन्य होता ही नहीं। इस समाधि मं प्रवेश करके आत्मा सर्वोच्च निर्वाण की नीरवता में चली जाती हे जहॉ से वह सत्ता की किसी भ्रमात्मक या निम्नतर अवस्था में नहीं लोट सकती। इसमं प्रवेश पाना राजयोग ओर हठयोग में योगसाधना की सीढी का सर्वोच्च सोपान माना जाता है। तो फिर पूर्ण योग में समाधि

1 वही पृष्ठ 11

1 योग समन्वय महर्षि अरविन्द पृष्ठ 595

का क्या स्वरूप हे या इसमें होने वाले चेतना के लय का प्रयोजन क्या है ? यह स्पष्ट है कि जब जीवन में ईश्वर को प्राप्त या हमारे लक्ष्य के अन्तर्गत हे, जीवन केविलोप की अवस्था चरम और परम सोपान या सर्वोच्च कामनीय स्थिति नहीं हो सकती। योग समाधि जो कितनी ही योग प्रणालियों का लक्ष्य है, हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता, वह तो केवल एक साधन ही हो सकती हे, और साधन भी जागरित अवस्था में पलायन करने के लिए नहीं बल्कि देखने, चैतन्य रहने और कार्य करने वाली सम्पूर्ण चेतना को विस्तृत ओर उन्नत करने के लिए है।

समाधि का महत्व उस सत्य पर आधारित हे कि जगत की या हमारी सत्ता का एक छोटा सा भाग ही हमारे ज्ञान या कार्य व्यवहार में आता हे। शेष सारा भाग पीछे की ओर सत्ता के प्रच्छन्न विस्तारों से छुपा हुआ है। ये प्रच्छन्न विस्तार नीचे अवचेतन की गहनतम गहराइयों में पहुचे हुये हे और ऊपर अतिचेतना की उच्चतम चोटियों तक उठे हुये हैं, अथवा ये हमारी जाग्रत आत्मा के छोटे से क्षेत्र का एक विशाल परिचेतन सत्ता के द्वारा चारो ओर से घेरे है।[1] हमारे मन और हमारी इन्द्रियों को इस विशाल परिचेतन सत्ता के केवल कुछ सकेत ही प्राप्त होते है। योगी विकास की एक विशेष अवस्था मं ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह अपने शरीर को मृत्यु की साधारण क्रिया श्रखला के बिना ही अपने इच्छा बल का प्रयोग करके, निश्चित रूप से त्याग सकता हे। समाधि की अवस्था में जीवन का त्याग करने से वह सीधे ही सत्ता की उस उच्चतर भूमिका को प्राप्त कर लेता है जिसकी वह अपेक्षा करता हे।

परमदेव के साथ एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना यही सब योगों का स्वरूप हे परम देव के साथ एकत्व का अर्थ है उनकी सत्ता के साथ तथा उनके चेतन्य ओर आनन्द क साथ एकत्व। ज्ञान योग द्वारा मानसिक चेतना को एक ऐसी निर्मल अवस्था में तथा एकाग्र शक्ति में उठा ले जाय जिसके द्वारा यह वास्तविक सत्ता को परिपूर्ण से जान सके, उसमें लीन होकर तद्रुप बन सके। परन्तु दो महान साधन पद्धतियां ऐसी भी हे जिनमें यह और भी अधिक महत्व ग्रहण कर लेती है। वे हे राजयोग और हठयाग।

हठयोग एक शक्तिशाली पर कठिन ओर कष्टप्रद प्रणाली है। इसकी क्रिया का सारा सिद्धात इस तथ्य पर आधारित हे कि शरीर और आत्मा में घनिष्ट सम्बध है।[5] बध और मोक्ष, पशुचित दुर्बलता और दिव्य शक्ति- मन और अन्तरात्मा की तमसाच्छन्नता तथा प्रकाशमयता पीडा ओर अपूर्णता के प्रति अधीनता और आत्म प्रभुता, मृत्यु ओर अमरता इन सब द्वन्दों की कुजी एव इनका रहस्य शरीर ही हे।

1 वही पृष्ठ 596

हठयोगी के लिए शरीर एक सजीव स्थूल द्रव्य का पिण्ड मात्र नहीं हे बल्कि आध्यात्मिक और भौतिक सत्ता के बीच एक गुह्म अहम सेतु है। हठयोगी के सम्पूर्ण लक्ष्य का सार इस रूप में प्रतिपादित कर सकते हे- यद्यपि वह स्वय इसे इन शब्दो मे प्रस्तुत करना नही चाहेगा कि वह इस स्थूल शरीर में आत्मा को कुछ निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक ऐसी शक्ति, ज्योति, पवित्रता एव स्वतत्रता तथा उत्तरोत्तर ऊर्ध्व स्तरों की ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रदान करने का यत्न करता है जो आत्मा के लिए, यहाँ सूक्ष्म शरीर में तथा विकसित कारण शरीर में निवास करने पर, स्वभावत ही सुलभ होगी।

वास्तव में हठयोग, अपने ही ढग से ज्ञान प्राप्त करने की एक प्रणाली है पर जहाँ वास्तविक ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना के रूप में क्रियान्वित किया गया सता का तत्व ज्ञान है अर्थात मनोवेज्ञानिक प्रणाली हे, वहा हठयोग सत्ता का विज्ञान हे अर्थात एक मनाभौतिक प्रणाली। योगमात्र अपनी प्रणाली में साधना के तीन मूल तत्वों के द्वारा अगसर होता हे उनमे पहला हे शुद्धि अर्थात हमारे भौतिक, नैतिक और मानसिक सस्थान से सत्ता की शक्ति को मिश्रित और अनियमित क्रिया से जो भी भूले, गडबडिया और बाधाएँ उत्पन्न होती हे उन सबको दूर करना। दूसरा है एकाग्रता अर्थात एक निश्चित लक्ष्य के लिए सता को उस शक्ति को अपने अन्दर पूर्ण उत्कर्ष तक ले जाना तथा प्रभुत्व और आत्मनिर्दशन के साथ उसका उपयोग करना। तीसरा है मुक्तता अर्थात मिथ्या और सीमित लीला में व्यष्टि भावापन्न शक्ति की जो सकीर्ण और दु खमय ग्रन्थियाँ हमारी प्रकृति के नियम के रूप में कार्य करती है उनसे अपनी सत्ता को मुक्त करना। हमारी यह मुक्त सत्ता हमे परम देव के साथ एकत्व या मिलन प्राप्त कराती हे, इस मुक्त सत्ता का उपभोग ही हठयोग की परम परिणति है इसीलिए योग किया जाता हे। ये तीन अनिवार्य सोपान हे और इसी प्रकार तीन उच्च उन्मुक्त और असीम स्तर भी हे जिनकी ओर ये सोपान आरोहण करते है और हठयोग अपनी समस्त साधना में इन्हें दृष्टि में रखता हे।

जिस पकार हठयोगी के लिए सब बन्द द्वारों की कुजी शरीर और प्राण है उसी प्रकार राजयोग में द्वारो की कुजी मन हे।[1] पर क्योंकि दोनों में हठयोग में पूर्ण रूप से और राजयोग की प्रचलित प्रणाली में आशिक रूप से यह माना जाता है कि मन शरीर ओर प्राण पर अवलम्बित हे अतएव दोनो ही प्रणालियों में आसन और प्राणायाम का अनुष्ठान समविष्ट हे, पर एक मे ये सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार किये रहते है, पर दूसरी में इनमे से प्रत्येक केवल एक ही सरल प्रक्रिया तक सीमित रहता है और दोनों का सम्मिलित प्रयोजन एक सीमित और मध्यवर्ती कार्य को ही पूरा करना

1 वही पृ 615

होता है। योग का मनोभौतिक विज्ञान हमारे लिए मुक्ति साधित कर सकता है क्योंकि वह इस बात को ध्यान में रखता है कि हमारी स्थूल सत्ता के पीछे एक चैत्य या मानसिक शरीर है और हमारा यह भौतिक शरीर स्थूल आकार में उसकी एक प्रकार की प्रकृति है: और उस मानसिक शरीर के द्वारा वह भौतिक शरीर के उन रहस्यों को खोज सकता है जो निरे भौतिक अनुसन्धान के द्वारा प्रकट नहीं हो सकते। इस मानसिक या चैत्य शरीर को आत्मा मृत्यु के पश्चात भी धारण किये रहती है, इसमें एक प्रकार की सूक्ष्म प्राण शक्ति भी है जो इसके अपने सूक्ष्म स्वभाव और उपादान के अनुरूप है। राजयोग भी प्रणायाम का उपयोग करता है उन्हीं प्रधान मानसिक उद्देश्यों के लिए करता है जिनके लिए हठयोग परन्तु अपने सम्पूर्ण सिद्धान्त में से एक मानसिक पद्धति होने के कारण, यह उसे अपने क्रियात्मक अभ्यासों की श्रंखला में केवल एक अवस्था के रूप में तथा एक अत्यन्त परिमित सीमा तक तीन या चार व्यापक प्रयोजनों के लिए ही प्रयुक्त करता है।[1] यह आसन और प्राणायाम से आरम्भ नहीं करता, बल्कि पहले मन की नैतिक शुद्धि के लिए आग्रह करता है। यह प्रारम्भिक साधन परम महत्वशाली है, इसके बिना शेष राजयोग का मार्ग कष्टों और बाधाओं से संकुल और प्रत्याशित मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक संकटों से पूर्ण हो सकता है। उसकी प्रचलित प्रणाली में यह नैतिक शुद्धि पाँच यम और पाँच नियम इन दो वर्गों में विभक्त है। इनमें से यम व्यवहार सम्बंधी नैतिक आत्म संयम के नियम है। जैसे सत्य-भाषण करना, पीड़ा पहुँचाने या हिंसा या चोरी करने से विरत होना (सत्य, अहिंसा, अस्तेय) आदि पर वास्तव में उन्हें नैतिक आत्म संयम एवं पवित्रता की सामान्य आवश्यकता के कुछ मुख्य लक्षणमात्र समझना होगा। अधिक व्यापक रूप में यम का अभिप्राय है ऐसा कोई भी आत्म अनुशासन जिसके द्वारा मनुष्य के राजसिक अहंभाव और इसकी उत्तेजनाओं एवं कामनाओं को विधित तथा शान्त करके पूर्ण रूप से मिटा दिया जाय। इसका उद्देश्य नैतिक शान्ति अर्थात आवेश शून्य स्थिति को उत्पन्न करना है और इस प्रकार राजसिक मनुष्य में अहंभाव की मृत्यु के लिये तैयारी है। इसी प्रकार नियम का अभिप्राय कुछ एक नियमित अनुष्ठानों के द्वारा मन को अनुशासन में लाता है जिनमें से सर्वोच्च है भागवत सत्ता का ध्यान करना (ईश्वर प्राविधान)। उनका उददेश्य सात्विक शान्ति और पवित्रता को जन्म देना तथा एकाग्रता के लिए तैयारी करना है जिसकी नींव पर शेष सारे योग का सुरक्षित रूप से अनुष्ठान किया जा सकता है।

राजयोग की एकाग्रता चार क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त है, इनमें से आरंभिक अवस्था है मन और इन्द्रियों दोनों को वाह्य वस्तुओं से पीछे खींच लेना (प्रत्याहार)

1. वही पृष्ठ 618

इससे अगला है अन्य सब विचारों आर मानसिक क्रियाओं को त्यागकर चित्त को एकाग्रता क एक ही विषय पर स्थिर करना (धारणा) इसके बाद है - मन का इस विषय में सतत निमग्न रहना (ध्यान) अतिम हे - चेतना का पूर्ण रूप से अदर चल जाना जिसके द्वारा यह समाधिक के एकत्व में पहुँचकर समस्त वाह्य मानसिक क्रिया से बेसुध हो जाती है। इस मानसिक साधन का वास्तविक लक्ष्य मन को वाहय तथा मानसिक जगत स हटाकर भगवान के साथ मिलन की अवस्था में ले जाना है। अतएव पहली तीन अवस्थाओं मं किसी मानसिक साधन या अवलम्बन का प्रयोग करना होता हे जिसके द्वारा एक विषय से दूसरे की ओर इधर-उधर दौडते रहने का अभ्यासी मन, एक ही विषय पर स्थिर हो जाय, और वह कोई ऐसा विषय होना चाहिए जो भगवान के विचार को निरूपित करे।

महर्षि अरविन्द विभिन्न योगों का विवेचन करते हुए और उसका समन्वय करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि पूर्ण योग के लिए राजयोग और हठयोग की विशिष्ट विधियॉ प्रगति की किन्हीं विशेष अवस्थाओं में समय-समय पर उपयोग हो सकती है, पर वे अनिवार्य नही हे। यह ठीक हे कि उनके प्रधान लक्ष्यों को योग के सर्वांगीण स्वरूप मं सम्मिलित करना होगा। पर इन्हें अन्य साधनों से भी प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि पूर्णयोग की विधियॉ मुख्यत आध्यात्मिक होनी चाहिए, और भौतिक विधियां अथवा नियत चेत्य या चेत्य-भौतिक प्रक्रियाओं पर बडे परिमाण में निर्भर रहने का अर्थ उच्चतर क्रिया का स्थान निम्नतर क्रिया को देना होगा।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए स्पष्ट है कि महर्षि अरविन्द पूर्णतया पातञ्जल योगदर्शन के अनुयायी हें। उनके द्वारा निर्दिष्ट योग का अर्थ है मानव व्यक्तित्व तथा विश्वव्यापी सत्ता का मिलन। उनकी राजयोग की धारणा पतञ्जलि द्वारा विवेचित असम्प्रज्ञात समाधि से सर्वथा अभिन्न है। उनके द्वारा निर्दिष्ट योग के तीन सोपान - शुद्धि, एकाग्रता और मुक्तता - मूल रूप में योगसूत्र में ही विस्तार में विवेचित हे। हठयोग का भी मूल तो योगसूत्र ही है पर अन्तर इतना है कि जहॉ पतजलि शरीर तथा शारीरिक दृढता को साधन मात्र मानते है हठयोगी शारीरिक दृष्टता को साधन मानते हुए भी उस पर अधिक महत्व प्रदान करता दिखाई देता है। महर्षि अरविन्द दोनो के समन्वय के समर्थक है। जिस दिव्य चेतना को अरविन्द ज्ञानयोग का लक्ष्य बताते है वही पतजलि की सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें प्रवेश करने के पश्चात साधक राजयोग में प्रवेश पाता है जो असम्प्रज्ञात समाधि का ही नामान्तर है।

1 वही पृष्ट 618

3 महर्षि महेश योगी

महर्षि महेश योगी ज्योतिर्मठ के ब्रह्मलीन जगद् गुरू शकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी के शिष्य हे। महेश योगी जी के 'भावातीत ध्यान' और उसके सैद्धान्तिक पक्ष 'चेतना विज्ञान' से समग्रत विश्व परिचित हे। सर्वप्रथम सैद्धान्तिक पक्ष चेतना विज्ञान का विवेचन अपेक्षित हे जोकि इस प्रकार है - चेतना के दो स्तर हैं - एक क्रियाशील चेतना तथा दूसरी शान्त चतना। व्यवहारिक (क्रियाशील) चेतना ही शान्त होकर भावातीत (चतुर्थ) चेतना की स्थिति को प्राप्त करती हे। ''तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्'' (योग सूत्र 1/3) शान्त चतना में मन अपने स्वरूप में, अपने आप में स्थित हो जाता हे। इस स्थिति में किसी भी पदार्थ का चित्र चेतना में नहीं आता है और चेतना अपने आप में जाग्रत हे। इस जाग्रत चेतना में समस्त सम्भावनाए होती है। समस्त सम्भावना होने के कारण ही जो भी चेतना का स्पन्दन होगा- एक सूक्ष्य स्पन्दन होगा, जो समस्त सम्भावनाओं में से एक सम्भावना के लिए स्पन्दन होगा। तुरन्त उसकी पूर्ति के लिए शब्द, अर्थ के रूप में प्रगट होकर इच्छा की पूर्ति कर लेगा। चचल मन, शान्त चेतना- चेतना की लहर और लहर का शान्त हो जाना। चेतना की स्थिति में अनन्त सामर्थ्य हे अखण्ड ज्ञान है, जीवन की पूर्णत है।

एक तो शब्द होता हे, उस शब्द का अर्थ होता है और उस अर्थ का भाव होता है ओर उस भाव की भावातीत सत्ता होकर अनन्त, अखण्ड सत्ता में अपना जीवन होता हे। तो केवल हम भाव समझते हे। भाव समझकर भावातीत होकर सारे ब्रह्माण्ड का जो वृक्ष है उसकी सत्ता हाकर, उसका रस होकर शुद्ध सत्ता स्वरूप होकर आनन्द लते है।

पहले शुद्ध चेतना स्पन्दन हीन चेतना, उस चेतना में हल्का सा स्पन्दन और उस हल्के से नाम के स्पन्दन में नाम के रूप का प्रकट होना, यह सारी सृष्टि के प्रकट होने का क्रम है। एक अखण्ड अनन्त शाश्वत चतना और उसका स्पन्दन जो हे वही शुद्ध ज्ञान का रूप हे। वद- उस वेद का रूप यह जगत है। तब नाम और रूप जो चेतना का रपन्दन है, वह पूर्ण ज्ञान का स्पन्दन हुआ और स्पन्दन होने से शब्द का रूप हुआ और शब्द होने से अर्थ का रूप प्रकट हुआ। उसी शुद्ध चेतना से सूक्ष्माति सूक्ष्म स्पन्दन हुआ उसी को कहते हे ''यस्य निश्वसित वेद''- वेद जिसका विश्वसित रूप है, जिसका विश्वास हे उससे सहज स्वाभावित रूप से पूर्ण ज्ञान प्रस्फुटित होता है।

जैसे जेसे चेतना भाव की सूक्ष्मता में जाती हे- बाहर का सब भूलता जाता है अर्थात अनुभवकर्ता ज्ञानकर्ता का कर्तापन समाप्त हो जाता है और जब सब समाप्त हो जाता हे तब ज्ञानकर्ता अपने आप में आ जाता है और वह निर्भय हो जाता है। यह भावातीत ध्यान शेली का स्वरूप हे कि चचलता शान्त होते होते शान्त हो गयी।

यही चेतना की शान्त स्थिति भावातीत स्थिति हे इसी को चतुर्थ चेतना कहते हे- जाग्रत- स्वप्न- सुषुप्ति से परे शुद्ध शान्त। बाहर से चेतना शान्त हो गयी लेकिन भीतर से जाग्रत हे। एसी शान्त नहीं हुई भीतर से भी सो गयी, बाहर से भी सो गयी यह तो गाढा नींद हा गयी। भावातोत ध्यान से भावातीत चेतना भीतर से जाग्रत अवस्था में ही रहती है यही भावातीत चेतना अर्थात चतुर्थ चेतना है।

जब जाग्रति-स्वप्न-सुपुप्ति तीनों चेतनाएँ तुरीया की चेतना के साथ आती जाती है तब यह चतना बराबर बनी रहती हे 'यह चौबीसो घण्टे जब वह शुद्ध, स्वत प्रमाणित चेतना, स्वय भू चेतना, सर्वव्यापक अखण्ड चेतना सत्ता जब स्थायी हो जाती है तब उसी शुद्ध चेतना के प्रागण में जाग्रति, स्वप्न, तथा सुषुप्ति ये तीनों चेतनाए आती जाती रहती हे लेकिन वह विशुद्ध चेतना की अखण्डता बनी रहती हे। उसे तुरीयातीत चेतना कहते हे। तुरीयातीत चेतना और जाग्रत दोनो चेतनाए साथ-साथ रहे अर्थात चेतना की शान्त स्थिति और क्रियाशील स्थिति दोनों स्थितिया बनी रहती है, इसी को कहत है 'जीवन मुक्ति' की चतना। अर्थात जीवन भी है मुक्ति भी है। जीवन का लक्षण है क्रिया, मुक्ति का लक्षण है स्तब्धता। स्वत स्वरूपता तो है जीवन और मुक्ति तुरीयातीत स्थिति अर्थात तुरीय स्थिति जागृत-स्वप्न और सुषुप्ति की स्थिति के साथ-साथ आये जाये। बराबर भावातीत ध्यान का अभ्यास करके एक बार तुरीया चेतना म जाते है। मन की क्रिया शान्त होते होते तुरीय में चले गये। न कोई विचार है न मन्त्र है भीतर की जागृति बनी रहती है। शान्ति की चेतना और क्रिया की चेतना दोनो चेतनाए इकट्ठी होती है इसमें एक व्यापक रूप है एक एक व्यक्ति रूप हे। इसी को तुरीयातीत चेतना कहते हैं।

जब हम मन, बुद्धि और भावना में अन्तर करते हैं तब बुद्धि अधिक आधारभूत जान पडती हे। मन बुद्धि से अधिक स्थूल है इसलिए महेशयोगी जी ने बुद्धि ओर भावना की अपेक्षा मन की वृत्ति पर पहले विचार किया। इसके लिए भावातीत ध्यान की प्रक्रिया बतायी। यह भावातीत ध्यान को गोता लगाने के समान बताते हैं। मन स्थूल स्तर पर ओर बुद्धि सूक्ष्म स्तर पर होने के कारण जब हम मन के स्तर पर साधना आरम्भ करते है तब वह बुद्धि के स्तर को स्वय में व तत्काल भेदकर आगे बढ जाती हे। बुद्धि का कार्य निर्णय करना है और निर्णय करना एक सूक्ष्म प्रक्रिया है, हॉ या नही की। बुद्धि के स्तर पर कोई दुविधा नहीं होती। मन के स्तर पर बहुत दुविधा होती रहती हे। बुद्धि की स्थूल और सूक्ष्म सीमा होती है और स्थूल बुद्धि वही होती है जिसके निर्णय अस्थिर होते है। बुद्धि का सूक्ष्म स्तर वह होता है जिसके बिल्कुल सही निर्णय होते है परन्तु स्थूल और सूक्ष्म स्तरों को समझने के लिए मन का क्षेत्र बहुत अधिक उपयुक्त है। अत निष्कर्ष पर निकला कि मन की क्रिया का क्षेत्र बुद्धि की क्रिया के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है इसलिए हमारे लिए

मन के रतर स अभ्यास आरम्भ करें सूक्ष्म रतरों का अनुभव करके उससे भी आगे का अनुभव करना अधिक सुविधाजनक ओर सरल हे।

विचार के क्षेत्र की अपक्षा भावना का क्षत्र अधिक सूक्ष्म है। वह अनुभव के क्षेत्र की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल हे। यथार्थ में वह अपनी चेतना का स्तर है जो विचार के स्तर का आधार हे इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभव का क्षेत्र विचारों के क्षेत्र का सचालन करता हे।

जीवन के विकास का अर्थ है अधिक उन्नत हृदय और अधिक विकसित मन, जिससे उत्तम व्यवहार ओर अधिक मूल्यवान उपलब्धियॉ होती है। अधिक मूल्यवान उपलब्धियों का अर्थ हे जीवन का उच्च रतर। इस प्रकार जीवन विकसित होता है अत ये सभी साधन जो मन की अपेक्षा हृदय से अधिक सम्बन्धित है, उपयोगी और मूल्यवान हे। जब हम कहते है कि मन का झुकाव आनन्द के और बडे क्षेत्र का अनुभव करने की ओर है तब हृदय उससे सम्बन्धित रहता है जैसे कि मन हृदय के लिए काम कर रहा है। मन बुद्धि के लिए भी काम करता है। मन बौद्धिक रूप से निर्णय लेने के लिए तथ्य सग्रह करता हे। इसलिए स उचित और अनुचित का निर्णय होता है।

भावनात्मक साधना का यथार्थ उपयोग सीधे तुरीय चेतना के स्तर से आरम्भ होता है। यह स्वयमेव होने वाली क्रिया हे। व्यक्ति स्वभावत विकास करता है। शरीर का स्वभाव है कि एकत्र हुये तनावों को दूर कर देता है। बाहरी वस्तु को बाहर फेंक देने का उसका स्वभाव हे। मन के लिए सीमा में बाहरी वस्तुए है। मन का प्रमुख स्वभाव असीमता और अनन्ता है। इसीलिए मन का स्वभाव ही सीमाओं से दूर रहने का प्रयत्न करने का हे। इसीलिए भावातीत ध्यान में मन असीमता की ओर स्वयमेव चला जाता है। किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है।

भावातीत ध्यान में मन के अधिक से अधिक आनन्द लेने के स्वभाव का उपयोग करते है। इसी तरह हृदय का भी स्वभाव अधिक आनन्द लेने का है और बुद्धि का भी स्वभाव अधिक आनन्द लेने का है। बुद्धि के सभी निर्णय अधिक आनन्द लेने के पक्ष होते हे। बुद्धि के गुण, मन के विचार करने के गुण से बहुत अधिक भिन्न नहीं होते। केवल इतना ही है कि विचार करना एक स्थूल स्तर है कम परिष्कृत है जबकि निर्णय करना मानसिक क्रिया अधिक परिष्कृत क्षेत्र है।

भावातीत ध्यान एक गहरी भावनात्मक साधना है। मन की स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की दिशा का निर्देश कौन करता हे ? वह काफी बढे हुए आकर्षण का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और वह हृदय के क्षेत्र की वस्तु है। यहॉ समता की अवस्था है जो हमें जीवन के पदार्थ विषयक ज्ञान के मार्ग में और भाव विषय ज्ञान के मार्ग में मिलता हैं भावातीत ध्यान जितना पदार्थात्मक है उतना ही भावनात्मक है। हम

भावनात्मक आधार से जीवन की पूर्णता की ओर पदार्थातमक आधार से सभी कर्मो के सगठन, समग्रता की बात कह सकते हे।

जब हम मन्त्र का विचार करते हे तब अपन को एक असीम चेतना की स्थिति में पाते हे। वह इतनी स्वत पूर्णपूर्ण होती हे कि हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमें आनन्दमयी चेतना की उपलब्धि होती हे जोकि जीवन की समस्त भावनात्मक प्रेरणा का लक्ष्य है। हम परमानन्द का अनुभव करते हे और वह अधिक आनन्द पाना चाहते हैं। हम अपनी चेतना को आनन्द रूप ही रखना चाहते है इसीलिए भावातीत ध्यान शुद्ध रूप से पदार्थात्मक अनुभव के बढते हुये आकर्षण से निर्देशित होता हे और वह मन को इतना आकर्षित करता हे कि हम कह सकते है कि भावातीत ध्यान शुद्ध रूप से भावनात्मक भी हे।

भावातीत ध्यान में मन स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। बहुत बार वह सही दिशा की ओर जाता हे ओर स्थूल की ओर गलत दिशा में भी जाता हे। जब मन उचित ओर अनुचित दिशा में जा सकता हे ओर जब हम देखते है कि ध्यान में मन स्थूल से सूक्ष्य की ओर जाता हे तब यह कह सकते है कि मन भावातीत ध्यान में अत्यन्त बुद्धि प्रधान होता हे।

इस पकार भावातीत ध्यान अत्यन्त बुद्धि प्रधान साधना है। क्योंकि बिना बुद्धि के उपयाग के मन सही दिशा में नहीं जायेगा ओर वह अपनी क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्म 'असीमता' प्राप्त नहीं कर पायेगा। भावातीत ध्यान बहुत पदार्थात्मक है वह बहुत भावात्मक हे वह भावना एव बुद्धि प्रधान दोनो है। जीवन की पूर्णता में मन की पूर्णता, सभी अनुभवों की पूर्णता, बुद्धि की पूर्णता, भावनाओं की पूर्णता सभी सम्मिलित है। यह मार्ग न केवल उन सब व्यष्टि जीवन के विभिन्न पक्षों का ब्रह्माण्डी जीवन के स्तर तक विकास ही करने का हे जहॉ पूर्ण क्षमता प्राप्त होती है, वरन इस पूर्ण तथा विकसित जीवन को जीने का भी हे। भावातीत ध्यान व्यक्ति की पूर्ण क्षमता के विकसित स्तर पर जीवन जीने का ब्रह्माण्डी चेतना के स्तर पर जीवन जीने की योग्यता देता हे।

इसीलिए भावातीत ध्यान में पूर्ण के भावनात्मक और बौद्धिक सभी मार्ग समाहित हे। भावना के विकसित करने के और बुद्धि के विकसित करने के चाहे जो साधन हो कोई अन्तर नही पडता। इन सब अनेक मार्गो में भावातीत ध्यान ज्यादा लाभदायक है। चूकि जीवन के भावनात्मक स्तर के और जीवन के बौद्धिक स्तर के बहुत से मार्ग हे तथापि भावातीत ध्यान का अभ्यास इन सब मार्गो के लाभ प्राप्त करा देता हे। अत. अनेक मार्गो का स्वीकारत हुये भी यदि भावातीत ध्यान का अभ्यास करत हे तो वह एक सर्व समाहित मार्ग हे - सभी मार्गो के लक्ष्य को समाहित करता है। किसी मार्ग की कुशलता लक्ष्य की प्राप्ति में है।

महेश योगी ने कर्म के सिद्धान्त का विवेचन भावातीत ध्यान के माध्यम से प्रतिपादित किया हे जिससे कि मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त रहकर आत्मा में स्थित होकर कर्म करके स्वय को मुक्त कर सके। उक्ति है कि 'जैसा हम बोते है वैसा काटते है'। यह एक कहावत कर्म का पूरा सिद्धान्त उपस्थित करती है। इसलिए हम महान कार्य करना चाहते है और महान कार्य करने के लिए कर्ता को महान बनना पडता है (मन की असीमता और अनन्ता की स्थिति होती है) और अनन्त विस्तारित चेतना वाला कर्ता कुछ भी कर सकने में समर्थ होता है। कर्म का सारा दर्शन हमारे कर्म करने की योग्यता के चारो आरे घूमता है। इसीलिए कर्म करने की उक्ति है - 'योगस्थ कुरू कर्माणि'। समता की स्थिति में प्रतिष्ठित होकर कर्म करना चाहिए तथा आत्मा में स्थित होकर कर्म करना चाहिए।

आत्मा में स्थित होने का अर्थ हे जीवन के अनन्त मूल्य में स्थित होना। जीवन की अनन्ता में स्थित होकर कर्म करना चाहिए इस स्थिति में कर्म करने से बडे कार्य करन के लिए बडा परिश्रम नहीं करना पडता है। एक शक्तिशाली व्यक्ति बिना प्रयास के बडा वजन उठा सकता है। एक कमजोर व्यक्ति उसी को बडा परिश्रम करके भी नहीं उठा सकेगा।

इसीलिए कर्ता को जीवन की अनन्त में स्थित होकर कर्म करना चाहिए क्योंकि इस अनन्त चेतना में मन स्थित होता हे। जो प्रकृति के समस्त नियमों के आधार है। अव्यक्त चेतना सृष्टि ओर विकास के लिए प्रकृति के सभी नियमों का आधार है। जिस प्रकार अव्यक्त रस उन सभी नियमों का आधार है जो कि डण्ठल पत्ती, फल और फूल उत्पन्न करते हे। उसी प्रकार प्रकृति के सभी नियम अव्यक्त सत्ता के स्तर पर क्रियाशील हे।

जब हमारी चेतना उस अव्यक्त सत्ता के स्तर पर स्थित हो जाती है तब प्रकृति के अनन्त नियम हमारी सहायता को तत्पर हो जाते है। एक बार आत्मा में स्थित होने पर बिना प्रयत्न के सर्वशक्तिमान प्रकृति की सहायता मिलने लगती है। इसीलिए आत्मस्थ होकर कर्म करना चाहिए। भगवत गीता में कहा है ''योगः कर्मसु कौशलम्'' अर्थात कर्म में कुशलता ही योग है। मन की आत्मा के साथ योग की स्थिति ही कर्म की कुशलता है क्योंकि इसमें मन असीम शक्ति ज्ञान और आनन्द से कभी वंचित नहीं होता जो कि उसने भावातीत अवस्था में प्राप्त किया था। यह कर्म की युक्ति या कर्म करने की कला हे। कर्ता के अनन्त शक्तिमान बनने में ही कर्म की कला निहित है।

हम जा कुछ देखते करते या अनुभव करते है उससे हमारी अनन्ता की चेतना आच्छादित होती हे। यही कर्म बन्धन कहलाता हे। तुरीय चेतना से कर्म करने का दर्शन तभी हे जब व्यक्ति की अनन्त चेतना कर्म करते समय भी सदा बनी रहे।

अनन्त चेतना को आत्म चेतना भी कहते हे क्योंकि आत्मा अनन्त है। आन्तरिक सत्ता समय और स्थान से सीमित नहीं ह। ता जब वह चतना सदा बनी रहती है। तब कर्म आत्मा की अनन्ता को आच्छादित नहीं करते। जब कर्म की अनन्ता को आच्छादित नहीं करते तब आत्मा कर्म व, बन्धनकारो प्रभाव से मुक्त रहती हे।

कर्म में कुशलता का पूरा क्षेत्र भावातीत ध्यान की सरल और प्रयासहीन विधि के एक ही चरण में उपलब्ध होता है मनुष्य जो प्राप्त करता है वह है सर्व शक्तिमान प्रकृति के पूरे सहयोग के साथ कर्म पर अधिकार। उसे प्रकृति पर अधिकार करने की सीमा तक प्रकृति का सहयोग प्राप्त होता है। अत दोनो पक्ष व्यक्ति का पूर्ण विकास ओर प्रकृति का पूर्ण सहयोग दोनो साथ-साथ कर्म में कुशलता प्रदान करते है जिसका परिणाम हे कर्म पर अधिकार ओर कर्म के बन्धनकारी प्रभाव से मुक्ति। इससे हम हर तरह के कर्म के स्वामी हा जाते हे। इस प्रकार महेश योगी जी से भावातीत ध्यान के द्वारा आत्मा में स्थित होकर कर्म करने की युक्ति की बात कही है जिससे मनुष्य कर्म बन्धा से सदैव मुक्त रहता है।

महर्षि महेश योगी के उपर्युक्त विवेचन के अनुशीलिन से स्पष्ट है कि उनका भावातीत ध्यान रहस्यमय अधिक हे। उसका महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

4 आचार्य रजनीश

आचार्य रजनीश विश्व के अद्वितीय रहस्यदर्शी चिन्तक और अभिनव विचारक के रूप में जाने जाते है आचार्य रजनीश ने पतन्जलि योग के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये है उनका विवेचन करने से पहले यह विवेचन ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उन्होंने पतजलि को किस दृष्टिकोण स दखा है। आचार्य रजनीश ने जिस दृष्टि से महर्षि पतन्जलि को देखा हे वह दृष्टि कोण उन्ही के शब्दों में इस प्रकार है - पतजलि अत्यन्त विरल व्यक्ति हें वे प्रबुद्ध है बुद्ध, कृष्ण और जीसस की भाति, महावीर, हजरत मोहम्मद साहब और जरथुस्त्र की भाति, लेकिन एक ढग से अलग है। बुद्ध महावीर, हजरत मोहम्मद साहब, जरथुस्त्र- इनमें से किसी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं हे। वे महान धर्म प्रवर्तक हैं, उन्होंने मानव-मन और उसकी सरचना को बिल्कुल बदल दिया, लेकिन उनकी पहुँच वेज्ञानिक नहीं है। पतजलि प्रबुद्ध-पुरूषों की दुनिया के आइरटीन हे। वे अदभुत घटना है। पतजलि सबसे बडे वैज्ञानिक हे अन्तर्जगत के। उनकी पहुँच एक वैज्ञानिक मन की है। वे कोई कवि नही है और इस दग से वे बहुत विरल हे क्योंकि जो लाग अन्तर्जगत में प्रवेश करते है, वे प्राय कवि ही हाते है सदा । जो बहिजगत में प्रवेश करते है, अक्सर हमेशा वैज्ञानिक होते है। पतञ्जलि एक दुर्लभ पुष्प हे। उनके पास वैज्ञानिक मस्तिष्क है, लेकिन उनकी यात्रा भीतरी। इसीलिए वे पहला ओर अतिम वचन बन गये। वे ही आरम्भ और वे ही अन्त हे। पॉच हजार वर्षो में काई उनसे ज्यादा उन्नत नहीं हो सका। लगता है कि उनसे ज्यादा उन्नत हुआ ही नहा जा सकता। वे अन्तिम वचन ही रहेंगे। क्योंकि यह जोड ही असम्भव है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना और आन्तरिक जगत में प्रवेश करना करीब असम्भव सम्भावना है। व एक गणितज्ञ, एक तर्क शास्त्रज्ञ की भाति बात करते हें वे है हरोक्लतु जैसे रहस्यदर्शी। उनके एक-एक शब्द को समझने की कोशिश करो। यह कठिन होगा। क्योंकि उनकी शब्दावली तर्क की, विवेचन की है, पर उनका सकेत प्रेम की ओर, मरती की ओर, परमात्मा की ओर है। उनकी शब्दावली उस व्यक्ति की हे, जो वेज्ञानिक प्रयोगशाला में काम करता है, लेकिन उनकी प्रयोगशाला आन्तारिक अस्तित्व की है। अत उनकी शब्दावली द्वारा भ्रमित न हो और यह अनुभूति बनाय रखो कि वे परमकाव्य के गणितज्ञा है। वे स्वय एक विरोधाभास हे। लेकिन वे विरोधाभापी भापा हरगिज प्रयुक्त नहीं करते। कर नहीं सकते। वे बडी मजबूत तर्क सगत पृष्ठभूमि बनायें रखते है। वे विश्लेषण करते, विच्छेदन करते, पर उनका उददेश्य सश्लेषण है। वे केवल सश्लेषण करने को ही विश्लेषण करते है। तो हमेशा ध्यान रखना कि ध्येय तो है परम सत्य तक पहुँचना, केवल मार्ग ही है वेज्ञानिक। इसलिए मार्ग द्वारा दिग्भ्रमित मत होना। इसलिए पतजलि

ने पश्चिमी मन को बहुत ज्यादा आभावित किया है। पतजलि सदैव एक प्रभाव बने रहे हे जहॉ कही उनका नाम पहुँचा हे, वे प्रभाव बने रहे है क्योंकि तुम उन्हें आसानी से समझ सकते हो। लेकिन उन्हें समझना ही पर्याप्त नहीं है। वे बुद्धि से बाते करते है, पर उनका उददेश्य, उनका लक्ष्य हृदय ही हे। वे चाहते हैं कि तुम तर्क के द्वारा तर्क के पार चले जाओ।

इस आकार आचार्य रजनीश पतजलि के तीखे तीरों का सहारा लेकर उनकी नोक से व अन्तर-कोष्ठ के ना-वापसी वाले मन के चौथे अवचेतन द्वार को मुक्त करने में जुटे हे। वे हमें अपनी आदतों ओर अभ्यासों के विरूद्ध लडाई के लिए सन्नद्ध करते है। वैज्ञानिक उपलब्धियों वाली इस भविष्यान्ध शताब्दी को जिसमें पागल बुद्धिजीवियों की सभ्यता दीनता ओर हीनता ओर समृद्धि से भरी है तथा जिनमे तनाव ग्रस्त भटकन ओर अहकार पूर्ण रिक्तता मनुष्य की पहचान बनी है, वे नये जीवन के सन्दर्भ में आश्वस्त कराते हैं।

यह विवादास्पद दुस्साहसी और विद्रोही विचारक मनुष्य जाति के बाहरी-भीतरी ससार का पहली बार व्यापक सर्वेक्षण कर, मन के आन्तरिक रचनातन्त्र को समझ कर, शास्त्रीय उलझाव और भटकाव की प्रवचकतहो को काट कर तथा सच्चे-सीधे दो टूक तथ्य सामने सरकाकर 'पतजलि की तीसरी सम्भावना-युद्ध और पलायन के बोच जागरूकता को प्रतिष्ठित करते हे। ताकि साक्षी खडा हो जाए, वैराग्य की पहली अवस्था।

अब आचार्य रजनीश ने योग के सम्बध में जो विचार व्यक्त किये है उनका विवेचन इस प्रकार है - योग सत्य को उदघाटित करने की एक पद्धति है, योग तो एक विधि हे स्वप्न विहीन मन तक पहुचने की। योग विज्ञान है अभी और यहाँ होने का। योग का अर्थ है कि अब तुम तैयार हो कि भविष्य की कल्पना न करोगे। इसका अर्थ है कि तुम्हारी वह अवस्था है कि अब तुम न आशाए बाधोगे और न स्वय की सत्ता रा, वर्तमान क्षण से आगे छलाग लगाओगे। योग का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार जसा वह हे। याग का अथ है कि अब कोई आशा न बची, अब कोई भविष्य न रहा, अब कोई इच्छा न बची। अब व्यक्ति तैयार है उसे जानने के लिए, जो है। अब कोई रूचि न रही इस बात में कि क्या हो सकता है क्या होना चाहिए या कि क्या होना चाहिए था। जरा भी रस न रहा। अब केवल उसी में रस है जो है। क्योंकि केवल सत्य तुम्हें मुक्त कर सकता है, केवल वास्तविकता ही मुक्ति बन सकती हे।

योग में परिपूर्ण निराशा की जरूरत हे। ऐसी निराशा को बुद्ध ने दु:ख कहा है और अगर सचमुच ही तुम्हें दु ख है, तो आश मत बनाओ, क्योंकि तुम्हारी आशा दु ख को ओर आगे बढा देगी। तुम्हारी आशा एक नशा है जो तुम्हें और कही

नहीं, केवल मृत्यु तक जाने में सहायक हो सकती है। अत पूर्ण रूप से आशा रहित होना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि योग तो अन्तस् की ओर मुडना है। यह पूरी तरह विपरीत मुड्ना हे। जब तुम भविष्य में गति नहीं कर रहे हो, जब तुम अतीत में भटक नहीं रह हो, तब तुम अपन भीतर की ओर गतिमान होने लगते हो, क्योंकि तुम्हारा अस्तित्व अभी और यही हे वह भविष्य में नहीं है। तुम अभी और यहाँ उपस्थित हो अब तुम यथार्थ में आत्मिक हो सकते हो। तब मन का इसी क्षण में उपस्थित रहना जरूरी है।

आचार्य रजनीश कहत हे कि योग कोई धर्म नहीं है। योग हिन्दू नहीं है। योग मुसलमान नहीं हे। योग तो एक विशुद्ध विज्ञान हे - गणित फिजिक्स या किमिस्ट्री की तरह। याग विज्ञान है पतजलि इसके लिए अग्रगण्य है। यह पुरूष विरल हे। किसी अन्य के साथ पतजलि की तुराना नहीं की जा सकती। मनुष्यता के इतिहास में धर्म को पहली बार विज्ञान की अवस्था तक लाया गया। पतजलि ने धर्म को मात्र नियमों का विज्ञान बना दिया, जहाँ विश्वास की जरूरत नहीं हे।

सब तथाकथित धर्मो का विश्वासों की जरूरत रहती है। धर्मो में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं हे। अन्तर है तो उनकी अलग-अलग धारणाओं में और विश्वासों। योग किसी बात पर विश्वास करने को नहीं कहता। योग कहता है- अनुभव करो। जैसे विज्ञान कहता हे - प्रयोग करो । प्रयोग ओर अनुभव एक ही बात है उनकी दिशायें अलग-अलग है। प्रयोग का अर्थ है कि तुम कुछ बाहर की ओर कर रहे है अनुभव का अर्थ हे कि तुम कुछ अपने भीतर कर रहे हो। अनुभव है एक आन्तरिक प्रयोग। विज्ञान का अर्थ है- 'जो है' उसका अनुभव करना, किसी विश्वास की जरूरत नहीं तो दूसरी बात याद रखनी है कि योग अस्तित्वगत है, अनुभव जन्य है। वहाँ किसी विश्वास की अपेक्षा नहीं किसी निष्ठा की आवश्यकता नहीं, वहाँ केवल साहस चाहिए प्रयाग करने का। लेकिन इसी की तो कमी है।

विश्वास आसान हे क्योंकि उसमें वास्तव में कुछ करना नहीं पडता। याग विश्वास नहीं है। योग एक अस्तित्वगत प्रयाग हे। किसी विश्वास के द्वारा सत्य को नहीं प्राप्त किय जा सकता, उसे अपने ही अनुभव द्वारा तथा अपने ही बोध द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता हे अर्थात आमूल रूप से रूपातरित होना होगा।

आचार्य रजनीश योग को मृत्यु तथा नव जीवन दोनो ही मानते है। नये का निर्माण तब तक सम्भव नहीं है जब तक पुराना नष्ट न हो जाए। वृक्ष बनने के लिए बीज को नष्ट होना ही पडेगा। अर्थात नवजीवन, मृत्यु की पूर्वापेक्षा पर ही आधारित है। और मृत्यु जीवन की विरोधी नहीं बल्कि पूरक है। योग दोनो है- मृत्यु भी और जन्म भी।

योग व्यक्ति के अस्तित्व स एव जडो स सम्बन्धित हे। वह दार्शनिक नहीं हे। इसलिए हम पतजलि के साथ चितन-मनन नहीं करगे। पतजलि के साथ हम जीवन के और उसके रूपान्तरण के परमनियमों को जानने का प्रयत्न करेंगे। पुराने की मृत्यु और सर्वथा नये के जन्म के नियमों को अतस की एक नव लयवद्धता की कीमिया को जानने का प्रयत्न करना पडेगा। इसलिए आचार्य रजनीश योग को एक विज्ञान मानते है।

योग दिव्य सत्ता के साथ मन का मिलन ह इसीलिए इसे योग कहा जाता है क्योंकि योग का अर्थ है मिलाना दो का जुडना। योग का अर्थ है अहकार का गिर जाना। अहकार ही बीच में बाधा है और जिस क्षण अहकार को गिरा दिया जाता है, व्यक्ति दिव्य सत्ता से जुड जाता है। अहकार ही हमे दिव्य सत्ता से अलग रखता है। पतजलि कहते हैं कि योग मन का अवसान हे, समाप्ति है। योग अन्मन होने की अवस्था हे।

निष्कर्षत आचार्य रजनीश योग को एक विज्ञान के रूप में लेते है क्योंकि विज्ञान और योग दोनों ही प्रयाग तथा अनुभव पर आधारित है योग एक विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धति है क्योंकि इसमें याग का साधक ही स्वय प्रयोगकर्ता अर्थात अनुभवकर्ता तथा प्रयोग की विषयवस्तु बनकर अन्तर्जगत में प्रवेश करता हे। उसकी आन्तरिक अस्तित्व की अनुभूति ही प्रयोग की विषय वस्तु है। प्रेम, आनन्द और मस्ती इस अनुभूति के फल है। आचार्य का यह मत सुसगत है कि योग सत्य को उद्घाटित करने की तथा वर्तमान अस्तित्व के अनुभूति की पद्धति है। अभी और यहाँ होने की अनुभूति समस्त भविष्यगत आशाओं और कल्पनाओं से मुक्त कर देती है। क्योंकि आशाए दु ख की जननी हे। योग हमको हमारे अतीत और भविष्य दोनों से हटाकर अन्तर्जगत की यात्रा पर गतिमान करता है जो अभी और इसी वर्तमान क्षण में प्रवाहित हो रही है चेतना का यह असाधारण अन्तर्मुखी प्रवाह वर्तमान अस्तित्वगत सत्य का साक्षात्कार कराता है प्रश्न उठता हे कि वह कौन सा सत्य है कौन सा यथार्थ है जिस का यौगिक अनुभूति में हम साक्षात्कार करते है। आचार्य के अनुसार वह यथार्थ है प्रतिपल आनन्दपूर्ण अस्तित्व की जहाँ काव्यात्मकता है लेकिन काव्य का विरोधाभास नहीं। आचार्य रजनीश की व्याख्या योग की परम्परागत स्थूल-व्याख्या की अपेक्षा अधिक यथार्थ हे जहाँ योग की अनिवार्य अवस्था ध्यान एक तलवार की तरह होता है जो समस्त ससार को काट गिराता है लेकिन अपने को बचाता है आचार्य के अनुसार यह आनन्दित चेतना का प्रवाह हे। जो प्रेमोत्सव में सचरित होती है।

आचार्य का यह सुसगतमत हे कि याग विश्वास नहीं है यह एक अनुभव है अपना अनुभव हे जबकि विश्वास दूसरे के अनुभव पर आधारित है जो अन्धविश्वास की ओर एक कदम हे। याग अस्तित्वगत अनुभव है।

जहाँ मृत्यु तो है लेकिन एक नव जीवन के रूप में जीवन का रूपान्तरण है। जिस क्षण दिव्यता की अनुभूति होती है। अहकार स्वय गिर जाता है। इसे गिराया नहीं जाता है बल्कि बहुमूल्य के प्राप्त होन पर तुच्छ छूट ही जाता है। समस्त दार्शनिक चिन्तनों का अवसान हो जाता है। जिस प्रकार योग में जीवन प्रतिपल एक नयी अनुभूति है उसी प्रकार आचार्य के योग की व्याख्या भी प्रतिपल नवीन है।

आचार्य रजनीश ने महर्षि पतजलि की महानता और उनके द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन की महत्ता का जेसा मूल्याकन किया है वह अनुपम होते हुए भी सत्य है। उसमें कहीं किसी प्रकार की अव्युक्ति नहीं है। आचार्य रजनीश प्रशसा के पात्र है इसलिए कि उन्होने पतजलि और उनकी योगविषयक कृति को उचित महत्व प्रदान किया। इनसे पूर्ववती अथवा परवर्ती किसी भी योगाचार्य ने इतने उन्मुक्त हृदय से योगसूत्र अथवा उसके कर्ता की सराहना नहीं की है। योग को भौतिक विज्ञानों के समकक्ष रखत हुए दोनो के बीच के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करना उनके जैसे सूक्ष्मदर्शी और वेज्ञानिक दृष्टिकोण वाले आचार्य ही कर सकते है। साथ ही उनके द्वारा उपस्थापित 'योग' की विविध प्रकार की व्याख्या भी चिन्ताकर्षक किन्तु सत्य है। तथा पतजलि सम्मत है।

चतुर्थ अध्याय

योगसाधना तथा उसका मानवीय कल्याण में प्रयोग

योग साधना तथा उसका मानवीय कल्याण में प्रयोग

मनुष्य जीवन का सर्वापरि उद्दश्य धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। इन चारों को पाने का वास्तविक साधन पूर्ण स्वास्थ्य हे। क्योकि अस्वस्थ मनुष्य न तो धर्म का यथावत पालन कर सकता है और न ही उसके लिए काम का आनन्द भोगना ही सम्भव हैं माक्ष की तो कामना ही व्यथ हे । इसीलिए कहा गया है -
शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्।

बहुत लोग भारी भरकम शरीर को भी स्वस्थ मान लेते है। तो कुछ लोग सोंचते है कि शरीर में किसी रोग के कीटाण न हों वही स्वस्थ है। किन्तु ये दोनों बाते पूर्ण स्वास्थ्य की परिभाषा में नहीं आती हे। आयुर्वेद में पूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण इस प्रकार कह गय हे वही मनुष्य पूर्ण स्वस्थ है जिसके शरीर में तीनों दोष अर्थात्वात, पित्त, कफ, सम हो जिसकी अग्नि सम हो अर्थात् मदाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, समस्त धातुए रस रक्त मोक्ष भद, अस्थि, मज्जा , वार्य सम हो, मल अर्थात, टट्टी पेशाब, पसीना , श्वास निकलाने वाली प्रणाली सही कार्य करती हो और मन, इन्द्रिया तथा आत्मा सदा प्रसन्न रहे। [1]

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगसूत्र में वर्णित अष्टाग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि का साधन पाद के अन्तर्गत विधान किया हे जिसको साधना धैर्य युक्त मन निर्यामतता से करने वाले साधक को पूर्ण स्वास्थ्य निश्चित प्राप्त हो जाता हे। किन्तु वर्तमान भोतिकवादी युग में प्रकृति से विमुखता भोगवाद का बढावा एव दिन प्रतिदिन दमनात्मक चिकित्सा की औषधियों के प्रचार एव प्रसार के कारण आदर्श स्वास्थ्य से न केवल लोग वचित होते जा रहे है, बल्कि दिन प्रतिदिन अनेक प्रकार के रोगो से ग्रसित होते जा रहे है। इन समस्त रोगों से छुटकारा पाने का सही उपाय हे। रोगों के मूल कारणों की खोज करना, उन्हें दूर करते हुए उत्पन्न हुए विचारों का निकलना क्योंकि कारण को हटाये बिना कारण फल नहीं मिटता हे। हमारे शरीर की प्रकृति में जब विकार उत्पन्न हो जाते है तो शरीर रोग ग्रस्त हो जाता हे। ये विकार पॉच प्रकार के होते है- 1 मल विकार 2 रक्त विकार 3 नाडी विकार 4 मन विकार 5 वृद्धि विकार ।

---

1 सम दोष समाग्निश्च समधातु मलक्रिया ।

प्रसन्नात्मन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधपत ।। (सुश्रुत) वैद्यकाय सुभाषितमाहित्यम् पृष्ठ23

इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय योगियों ने अपने चिन्तन एव अनुभव के द्वारा '' शोधन याग '' की खोज की जिसके अन्तर्गत उन्होनें षट्कर्म का विधान किया। इस शोधन योग के द्वारा इसका लक्ष्य था केवल्य प्राप्ति किन्तु आधुनिक भौतिकवादी वेज्ञानिक विकासशील समाज मे शोधन योग को एक चिकित्सा पद्धति के रूप में अपनाया गया जिसके अन्तर्गत षट्कर्म चिकित्सा को एक साधन के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। ये षटकर्म निम्नलिखित है।

1 नेति2 2 वस्ती 3 धोति 4 नालि 5 त्राटक 6 कपाल भाति

(क) षट्कर्म

1 नेति हमारे शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अक हमारा जिसके अन्तर्गत मस्तिष्क, कान, आँख , दाँत जिह्वा आदि अग आते हे। इन अगो में कफ आदि विकार जब एकत्र हो जाते है तो इन अगो की क्रियाओं को सुचारू रूप से कार्य करने में बाधा उत्पन्न हो जाती ह। जिससे अनकों प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हे। इन अगों को विकार मुक्त करने के लिए नेति क्रिया अत्यन्त अद्वितीय ह। यह तीन प्रकार की होती है-[2]

1 धृत नेति या तेल नेति

2 रबर नेति

3 जल नेति या प्रसारण

किन्तु अभ्यास द्वारा प्रस्तुत नतियों का उपर्युक्त क्रम हमारी दृष्टि मे उचित नहीं जान पडता क्योंकि जलनेति द्वारा पहले नासिका की सफाई के करने के पश्चात तेल नेति द्वारा नासिका में चिकनाई हो जाती है जो कि रबर नेति क्रिया से पहले आवश्यक हे तथा जलनेति क्रिया में जल के दुष्प्रभाव को भी समाप्त कर देती है।

हमारे विचार से वेज्ञानिक रूप से सर्वप्रथम जलनेति, तेल नेति पुनश्च रबर नेति करना अधिक लाभप्रद होगा। अत. हम उसी क्रम में इन नेतियों की व्याख्या क्रमश करेगें।

1 **जल नेति** - जिस प्रकार मनुष्य के जीवित रहने के लिए भोजन अत्यन्त आवश्यक हे उसी प्रकार स्वस्थ रहने के लिए अच्छी नींद का आना अत्यन्त आवश्यक हे क्योंकि नींद ठीक से न आने की वजह से शरीर में भारीपन रक्त चाप का उतर चढाव मानसिक उलझन आदि होने से दिनचर्या अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसके विपरित रात की अच्छी नींद से शरीर के

---

1 धौतिर्वस्तिनस्तथा नति नालिस्त्राटक स्तथा।
कपाल भातिरचतानि षट् कर्माणि समाचरेत ।। (गोरक्ष सहिता)

2 योग द्वारा रोगो का उपचार डॉ0 ओम प्रकाश आर्य पृ0 39

सम्पूर्ण स्नायु शक्ति एव आनन्द से भर जाते है। आज मनुष्य जितना भोतिक सुख सुविधाओ एव विलासितापूर्ण जीवन से युक्त होता जा रहा है वह उतना ही अधिक अच्छी नींद या शान्ति से दूर होता जा रहा है। वस्तुत वह जब धीरे-धीरे अनिद्रा का शिकार होता जाता है तो सही मार्ग दर्शन के अभाव में नीद के लिए वह अनेक प्रकार के दुर्व्यसनो, स्मैक, चरस , गाजा, अफीम, शराब आदि का शिकार हो जाता है। इनका सेवन तनाव के लिए हानिकार हे यह सर्वविदित है योग चिकित्सा में अच्छी नींद के लिए जल नेति एक अद्वितीय क्रिया है जिसका नियमित प्राय एव साय अभ्यास करने से निम्नलिखित लाभ होते है।

1 अच्छी नींद आने लागती है।
2 नेत्रों की ज्योति बढ जाती है तथा चश्मा से छुटकारा पाने में अत्यन्त सहायक है।
3 नासिका मार्ग का श्लेष्मा (कफ) साफ हो जाता है ।
4 स्मरण शक्ति बढ जातो हे।
5 बाल का झडना रूक जाता हे।
6 बाल काले बने रहते हे।
7 समस्त प्रकार के दुर्व्यसन जैसे धूर्मपान सिगरेट बीडी शराब आदि से छुटकारा दिलाने में उस क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान है।

जलनेति की पूर्व तैयारी -

जल नेति क्रिया को करने के लिए एक विशेष प्रकार का प्लास्टिक का लोटा आता हे यह लोटा स्टील या पीतल की धातु का भी हो सकता है। परन्तु प्लास्टिक का विशेष लोटा जो कि बहुत वैज्ञानिक ढग से बनाया गया है उसे ही हम प्राथमिकता देते है क्योंकि उसे दो जगह से खोला जा सकता है। उसकी सफाई ज्यादा अच्छी तरह से की जा सकती है जो कि अन्य धातु निर्मित लोटो की नही की जा सकती हे या करने में कठिनाई होती हैं मेरा अनुभव यह बताता है कि योग की क्रियाओं को यदि सावधानी पूर्वक ठीक से न किया गया तो लाभ की जगह हानि होने की सम्भावना बढ जाती है। अतः परम्पराओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक शोध का सहारा लेते हैं जिससे कि वर्तमान समय में उनका ठीक से प्रयोग कर सकें ।अब लोटे के अतिरिक्त नमकीन गुनगुना पानी चाहिए। पानी का तापमान शरीर के सामान्य तापमान से कुछ अधिक होना चाहिए। मेरे विचार से 40 डिग्री तक

तापमान ज्यादा उचित रहेगा। क्योंकि यदि पानी ठण्डा रहेगा तो नाक के अन्दर पानी लगेगा और उलझन व परेशानी होगी तथा गरम होने पर नाक के अन्दर से जला जाने का खतरा भी बढ जायेगा जिससे और ज्यादा परेशानी बढ जायेगी। नाक में उलझन या परेशानी न हो तथा ठीक से नाक की सफाई हो सके उसके लिए आवश्यक है कि गुनगुने पानी में थोडा नमक अवश्य मिला दें। एक किलो पानी में लगभग दो छोटे चम्मच नमक की मात्रा पर्याप्त रहती है यह साधारण खाने का नमक या सेंधा नमक कोई हो सकता है।

जलनेति करने की विधि -

जल नेति करने से पहले हम अपने नासिका के स्वरों के ऊपर विचार करते है, कि हमारा कोन सा स्वर चल रहा है। स्वर दो होते है 1 सूर्य स्वर 2 चन्द्र स्वर। सूर्य स्वर दायें स्वर को कहते हे तथा बायें को चन्द्र कहते है। मान लीजिए आपकी दायें नासिका से सरलता पूर्वक श्वास चल रहा हे तो उपर्युक्त ढग से तैयार गुनगुना नमकीन पानी भरें टोटीदार लोटे को निम्न चित्र के अनुसार पकड लें। तथा 'वाश बेसिन ' के सामने खडे जो जायें या नाली के पास या किसी चबूतरे में बैठ जायें अथवा नाक से निकालने वाले पानी को

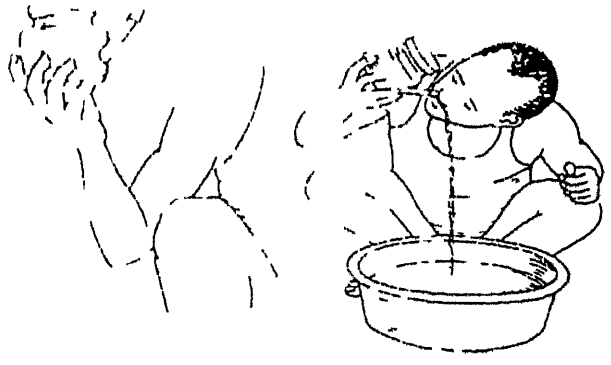

गिरने के लिए अपने सामने एक बर्तन रखें। अब गर्दन को थोडा सा घुमाकर सिर को थोडा बायी और झुकायें और दायें छिद्र से सटाकर जल अन्दर हाने दें। कुछ ही छडों में जल स्वत: बायी नासिका से बाहर निकलने लगेगा। इसी प्रकार से दूसरी ओर गर्दन घुमाकर बायी नासिका में टोटी लगाकर दायी नासिका से जल बाहर निकालिए।

सावधानियाँ

जल नेति क्रिया करने से पहले निम्नलिखित सावधानियॉ बरतनी चाहिए जो इस प्रकार है -

1 जल नेति प्रात कुल्ला दातुन के पश्चान या शाम के भोजन के पहले करना चाहिए किन्तु अनिद्रा के कष्ट में सोने के पहले भी क्रिया जा सकता है।

2 प्रारम्भ में आधे लोटे के जता से दायी नाक से जल नेति करनी चाहिए तथा लोटे के शप जल से बायी नाक से क्रमश धीरे-धीरे दोनों एक ओर नाक से एक-एक लोटा जल से जल नेति करनी चाहिए।

3 जल नेति करते समय आरम्भ में कभी-कभी नाक के छिद्र से ऊपर की तरफ चढता हुआ, नाक के ऊपर से पीछे की ओर बढता हुआ दर्द महसूस होता है। कई बार यह दर्द थोडा असहनीय भी हो जाता है ऐसी दशा में जल नेति बन्द करके 'कपाल भाति' प्राणायाम करने से थोडी देर में भी दर्द निकल जाता हे। ऐसा सायनस में कफ जमाव के कारण होता है। नित्य सुबह शाम नाक में दो चार बूँद कडुआ तेल या घी या ओट्रोबिन नोजल ड्रॉप डालने से तथा भस्त्रिका प्राणायाम करने से जेसे-जेसे सायनस का कफ हटता जायेगा जल नेति में उत्पन्न दर्द धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा।

4 इसी प्रकार से जल नेति का प्रभाव ऑखों की ओर बढता है तब ऑखे गरम हो जाती हे तथा ऑखों से पानी भी गिरने लगता है। इससे घबराये नहीं। कुछ दिन नियमित अभ्यास करने ऑखों का पानी गिरना बन्द हो जायेगा तथा ऑखों की रोशनी भी बढ जायगी।

5 यह भी ध्यान रखने योग्य बात हे कि जिन लोगों को गर्दन में तीव्र दर्द या सरवायकल स्पाडलायटिस का तीव्र दर्द होने की दशो में जल नेति न करें क्योंकि इस तकलीफ में गर्दन को दायी ओर बायी ओर झुकाने में कष्ट बढ जाता है चूँकि जलनेति गर्दन को बिना झुकाये नहीं हो सकती है।

6 जब चुकाम ज्यादा हो और कफ जम गया हो तो जलनेति नहीं करना चाहिए। पहले तेल नेति या रबड नेति से कफ को साफ करने के बाद ही जलनेति करे ऐसा न करने या नाक बन्द होने के कारण पानी नहीं निकलेगा।

7 जलनेति करने के पश्चात् नाक की सफाई विशेष तौर से ठीक ढग से करना चाहिए क्याकि जल से जहॉ इतने फायदे हैं वही पर नाक में पानी रह जाने से रोग बढ जाने की भी सम्भावना भी रहती है अत नाक को खूब अच्छी प्रकार से चारो दिशाओं में गर्दन मोड कर तेजी से हवा निकालते हुए करना चाहिए। तथा बाद में भस्त्रिका प्राणायाम दस-दस बार करना चाहिए। भस्त्रिका प्राणायाम करने से गर्मी उत्पन्न होती है जो कि नाक को एक दम सुखा देता है और बाद में तेल नेति अवश्य करना चाहिए।

नाक की सफाई निम्न चित्र के अनुसार करें।

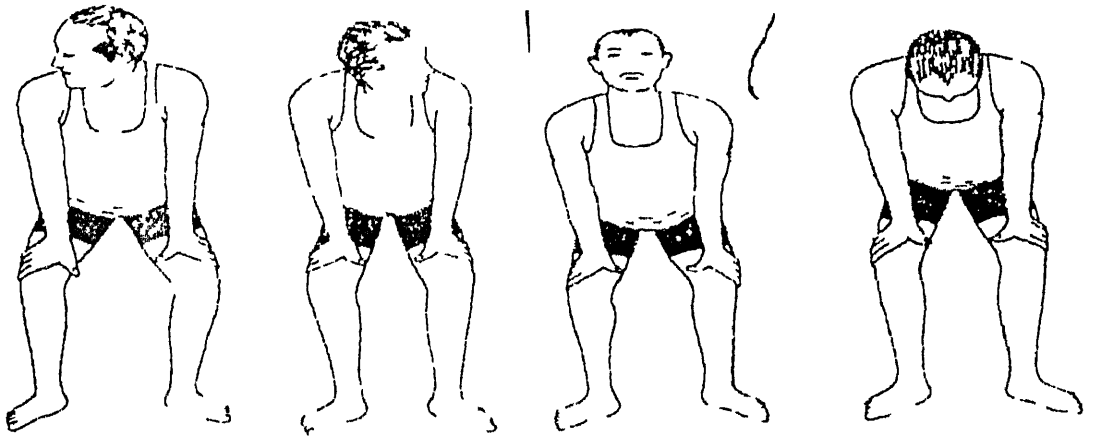

नासायान भी जलनेति के लाटे से ही किया जाता है। आजकल देखने में आ रहा कि छोटे छोटे बच्चों स लेकर वृद्धों तक में ऑख की रोशनी में कमी ओर कम उम्र में चश्मा चढ जा रहा हे। इसके अनेक कारण है। किन्तु काग्ण जान लेने पर भी पुन ऑखों की रोशनी पूर्ववत वापस लाने का कोई भी उपाय किसी ओषधि चिकित्सा पद्धति में नही हैं। आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने चश्मा की खोज करके इस समस्या को दूर करने का प्रयास तो किया है किन्तु यदि चश्मा एक बार लग गया तो वह उतरता तो कभी है ही नही, हाँ उसका नम्बर जरूर बढता चला जाता है और यदि चश्मा बचपन या किशोरावस्था में ही लग गया तो यौवन व प्रौढ अवस्था तक आँखों की रोशनी अति दयनीय हो जाती है। आँखों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए ऋषि वाणभट्ट ने कहा हे कि " जब तक जीते रहने की इच्छा हो, मनुष्य को अपनी आँखों की रक्षा का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए क्योंकि धन होने पर भी अधे मनुष्य के लिए रात दिन एक से होते है और ससार उसके लिए व्यर्थ होता है।1नासापान करने से चश्मे से छुटकारा पाया जा सकता है। स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। बालो का झडना भी रूक जाता है।

नासापान की पूर्व तैयारी .

जल नेति की तरह नासापान के लिए एक टोटीदार लोटा चाहिए। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें गुनगुने नमक युक्त पानी के स्थान पर सादा ताजा जल या गाडे का पानी अधिक उपयुक्त होता है।

नासापान की विधि

नाक से जल पीने को नासापान कहते है। नासापान करने मे पहले यह देख लें कि नासिका के किस छिद्र स मास आ जा रहा हे। अब जिस छिद्र से सास आ जा रही हो, उसी नाक स छिद्र में जल भरे टोटीदार लोटे को चित्र क अनुसार लगा दें।

ऐसा करते ही जल नाक व गल से होते हुए पेट में स्वय जाने लगता है। यह ध्यान रखना आवश्यक हे कि नासापान करते समय मुँह बन्द रखते हे।

॥२॥पा॰।

ओर जिस नाक से पानी पीत हे उसके दूसरी ओर से छिद्र को अँगूठे से बन्द कर लते हे जितना पानी पीना हो पी लें। इसके बाद इसी प्रकार से दूसरी नाक से जल पीते हे। नासापान मं जल के स्थान पर गाय का दूध भी प्रयोग कर सकते है। दूध का नासापान करने से मस्तिष्क को ताकत मिलती है। और तरोताजगी उत्पन्न होती है। नासापान करने के बाद जलनेति की ही भाति नाक की सफाई कपालभाति एव भस्त्रिका प्राणायाम के द्वारा करना अति आवश्यक होता हे। नासापान करते समय कुछ सावधानियॉ बरतनी आवश्यक होती हे जिसका वर्णन निम्न प्रकार से हे-

सावधानियॉ -

1 नासापान के पूर्व थोडे जल स जलनेति करना न भूलें। इससे नासिका मार्ग का कफ व श्लेष्मा बाहर निकल जाता है

2 प्रारम्भ में चोथाई-चोथाई लोटा या थोडा-थोडा जल पियें। कुछ दिनों के पश्चता धीरे-धीरे एक लोटा जल पी सकते है।

3 नासापान करते समय , न नाक से सास लेते है और न ही मुँह से अत कुछ देर बाद लाटे की टोटी को नासिका छिद्र से हटा लेत हे और दो चार श्वास-प्रश्वास के बाद पुन नासापान करने लगते है ऐसा अनेक बार बीच-बीच में करते हुए नासापान की क्रिया पूर्ण करते है।

4 नासापान में जल के स्थान पर गाय का दूध पीने से नेत्रों की ज्याति बढाने में विशप शीघ्रता होती ह। नासापान के लिए गाय का कच्चा दूध ही उपयुक्त हाता हे किन्तु बिना मीठा, चीनी या गुड मिलाये ही पीना चाहिए। यदि कच्चे दूध की इच्छा न हा ता दूध का बहुत ही हल्का गर्म कर लें। किन्तु मलाई की परत न पड इसलिए एक बार उबाल करके ठण्डा करके छान ल तब दूध नासापान क काम म लें।

5 तीव्र गा जीर्ण जुकाम के रोगियों का नासापान नहीं करना चाहिए उन्हें पहले नित्य नेलनेति, रबड नेति, जलनेति द्वारा जुकाम से छुटकारा पा लेने क बाद ही नासापान करना चाहिए।

2 रबड नेति

मोसम परिवर्तन होने पर तो देखा जाता हे कि जुकाम होने पर गले में खटास आदि हो जाती हे परन्तु आज के धूम्रयुक्त वातावरणया प्रदुषित वातावरण में जुकाम होना एक स्वाभाविक बात हो जा रही हे। सच दखा जाय ता जुकाम स्वय में कोई रोग नहीं होता है बल्कि जब शरीर क अन्दर हमारे श्वास नली एव फेफडो में विकार उत्पन्न हो जाते हे तो उन विकारों को शरीर से बाहर निकालने की शरीर की स्वाभाविक प्रकृति की एकमात्र प्रक्रिया होती हे जिस जुकाम का नाम दिया जाता हे यदि हम शरीर क विकारों को निकालने में शरीर के अन्दर के तन्त्र का सहायता करें ता वह विकार अतिशीघ्र निकला जायेगा और शरीर रोगयुक्त हा जायेगा। जुकाम द्वारा भी शरीर के विकार बाहर निकलते है हम विकार का बाहर निकलने में जिस प्रक्रिया का सहारा लेते है उसमें रबर नेति या सूत्र नेति का प्रधान स्थान हे। प्राचीन काल मे सूत्र नेति का प्रचलन था। एक फीट लम्बे दस पन्द्रह मुलायम सूतों को गॉठकर उसे एक नासिका से अन्दर डालकर मुख के बाहर निकालते की विधि को सिद्ध योगी सूत्र नेती कहते हैं।[1] सूत्र इतना मोटा हो कि आसानी से नासिका छिद्र में जा सकें। सूत्र का एक सिरा नासिका मं डालिए , दूसरी नासिका को अँगूठे मे बन्द करें तब खुली नासिका से पूरक करें ओर मुँह स रेचक । उसी प्रकार बार-बार करने से सूत्र मुख क अन्दर प्रवश करेगा तब सूत्र से दूसरे सिर को पकड लीजिए और दोनों हाथों स दानों सूत्रों को आगे पीछे खीचिए। इसी प्रकार दूसरी नासिका से दुहराईये यह क्रिया द्वारा दोनों नासिकाओं में उत्पन्न अवरोध दूर किये जात ह । जिसमे प्राण वायु के आवागमन में

---

[1] सूत्र वितस्तिसुस्निग्ध नासानाले प्रवशयत्।
मुखान्निगमियच्चैषा भति सिद्धोनिधित ।। 2/19 हठयागप्रदीपिका

सुविधा होती हे परन्तु यह उपरोक्त विधि जा हठयेाग प्रदीपिका में बतायी गयी हे वह कठिन हे सूत्र क स्थान पर अब रबर की टयूब या जिस केथेडर कहते हे जो किसी भी आपण, विक्रता की दुकान में आसानी से उपलब्ध हो जाती है। य कई साइज की हाती है आप मोटी पतली जैसी चाह तो लें। परन्तु प्रारम्भ में 4 5 6 नम्बर की कैथेडर ज्यादा उपयुक्त होती हे बाद में धीरे-धीरे बढायी चाहिए। यह रबर टयूब बहुत उययोगी हे । इसकी सफाई आसानी स की जा सकती हे। सूत नेति करने के लिए सबस अच्छी स्थिति उकड़ू बठना हे परन्तु इसे खडे होकर भी इमका अभ्यास किया जा सकता हे।

करने विधि - रबड नेति यदि ठोस वाली हे तो किसी भी सिरे से कितु यदि केथेडर हे तो पतल वाले सिर को नासिका के दाये छिद्र में डालकर धीरे-धीर बढाते जाईये। आग बढाते-बढाते जब वह सिरा गले तक पहुँच जाये तो दायें हाथ की तर्जनी ओर मध्यमा अँगुलियों को गले तक डालकर अँगुलियों से रबर नेति के सिरे को पकडकर के तथा बायें हाथ से रबड नेति को धीरे-धीर अन्दर सरकाते जाइये और दाये हाथ की अँगुलियों से पकडे हुए उस सिरे को धीरे-धीरे मुँह से बाहर खीचिए अब मुँह से बाहर निकाले सिरे को दाये हाथ से पकडिये और नाक से बाहर निकले सिरे को बाये हाथ से पकडियें। अब बहुत धीरे-धीरे दाय हाथ ओर बायें हाथ से बारी-बारी से खीचकर हल्क-हल्के मठ्ठे की तरह बिलोयें । प्रारम्भ में दस-बीस बार कीजिए। धीरे-धीरे बढाते हुए हु0 50-50 से 100-100 बार तक कर सकत हे। अब रबर नेति को मुँह के रास्ते से अथवा नासिका के रास्ते से खीचकर बाहर निकल लीजिए। इसी प्रकार बायी नासिका के छिद्र को रबड नेति डालकर करें। रबड नेति करत समय मुँह को नीचे की ओर करक खोले रखें जिससे लार, कफ तथा गन्दगी बराबर गिरती रहे। नाक की दीवारों में रगड नही पैदा होगी और लाभ जल्दी हागा।

खास ध्यान देने की बार यह भी हे कि रबड नेति करने से पहल नाक में दा चार बॅद कडुआ तेल अवश्य डाल दें तथा रबड में भी लगा दें जिससे रबड आसानी से अन्दर जायेगी। निम्न चित्र को ध्यान से देखें

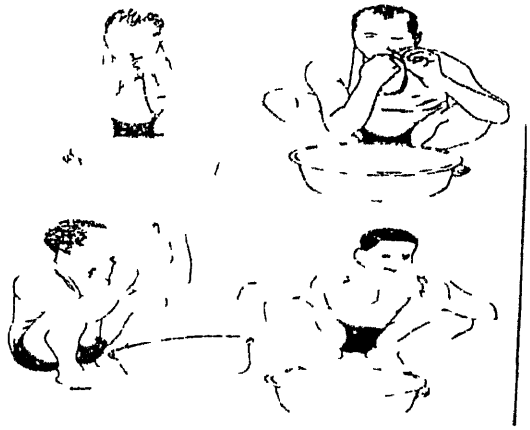

सावधानियाँ

1 कभी-कभी रबडनेति गले म चिपक जाती हे जिससे पकडन में नही आती ह। ऐसे में गल से ख ख शब्द का उच्चारण करने स नेति पकड में आ जाती है।

2 रबड नेति की शुरूआत 4 नम्बर कैथेडर से करनी चाहिए । यदि न 4 की रवड नेति जाने में कठिनाइ कर रही हो तेा न 3 से प्रारम्भ करें। फिर धीरे-धीर न 5 व 6 तक बढायें किन्तु नम्बर बढाना आवश्यक नही है।

3 रबड नेति करते समय यदि खासी आने लगे तो इसको हिलाना बन्द कर दें। घबरायें नहीं, खासी रूक जाने पर फिर उसी प्रकार धीरे-धीरे हिलायें।

4 रबड नेति करते समय नकली दॉत व चश्मा अवश्य उतार देना चाहिए।

5 महिलायें मासिक धर्म में पॉच दिन तक एक तीन माह के गर्भ के बाद रबड नेति न करें।

6 किसी भी प्रकार के बड आप्रेशन के 6 माह बाद तक बिना योग चिकित्सक के पूछे रबड नेति न करें।

7 रबड नेति करते समय शुरू में यदि दो चार बॅ खून आ जाय तो घबराये नहीं तुरन्त तेल नेति करके ठीक हो जायेगा।

8 यदि नाक में सूजन हो या मवाद अथवा किसी कारण घाव हेा तो कुछ दिन तक पहले इन कष्टों की चिकित्सा करें। जब से कष्ट ठीक हो जाय तब रबड नेति करें।

9 रबड नेति करने वाले रात को सेाते समय धृत नेति या तेल नेति अवश्य करें।

10 रबड नेति के बाद छिडक-छिडक कर खूब नाक साफ करें तथा भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा भी सफाई कर। अधिक कष्ट में प्राय खाली पेट के अतिरिक्त शाम को भोजन क पूर्व भी रबड नेति कर सकते है।

रबड नेति से लाभ -

1 जुकाम एव दमा तथा कफ के विकारों को शरीर से निकालने में यह अद्वितीय क्रिया हे।

2 नेत्रा की ज्योति बढ जाती हे। अधिक नम्बर या चश्मा कम हो जाता है। कम नम्पर का चश्मा छूट जाता ह। भविष्य में मोतियाविन्द क! सभ्भावना समाप्त हो जाती है।

3 नाक का बढा मास घट जाता हे। सायनस के कप्ट ठीक हो जाते हे।

4 मस्तिष्क शुद्ध हो जाता ह , सिर की खुजली तथा गर्मी शान्त हो जाती है। बाल झडना रूक जाते हे, बाता सफेद नहीं होते है तथा स्मरण शक्ति बढ जाती है।

5 प्रारम्भिक कान का बहरापन एव साय-साय की आवाज भी ठीक हो जाती हे।

6 खासा स्नाफीलिया , ब्राइकाइटिस, माइग्रेन, सबल वायु, अनिद्रा, अवसाद, उत्तेजना तथा टी0 वी0 जैसे रागा में रबड नेति बहुत ही उपयोगी क्रिया है।

7 शरीर को धीरे-धीरे खोखला बनाने वाले ओर कैसर तक ले जाने वाले व्यसन जैसे चाय, तम्बाकू, बीडी सिगरेट , गाजा , भाग , अफीम इत्यादि की आदत नियमित रबड नेति या जलेनति करने वाले की स्वय छूट जाती है।

8 ताम्बे अभ्यास क बाद झझलाहट एव गुस्सा भी नहीं आता ह

धृत नेति या तेल नेति

जल नेति, रबड नेति क्रिया क बाद धृत नति या तेल नेति का विधान किया गया ह। क्योंकि जलनेति करन क बाद नासिका की ठीक स सफाइ करन क बाद तरा नेति अवश्य करनी चाहिए। जिसस कि यदि किसी वजह स नाक के अन्दर पानी रह गया हा तो उसका दुष्प्रभाव न पडे। रबड नति करने के पूर्व तल नेति करना चाहिए कि रवड आसानी से नासिका द्वारा से चली जाय ओर बाद में भी ठीक मे सफाई करन के बाद भी तेल नेति करनी चाहिए। तेल नेति का आयुर्वेद पचकर्म विज्ञान में नस्य क्रिया के अन्तर्गत विधान किया गया हे। वास्तव में सिर विकारों या रोगों से शीघ्र छुटकारा पाने क लिए धृत नति या तेल नति विशेष उपयोगी सिद्ध हुई ह। क्योंकि

नासिका का सिर का द्वार समझा जाता है ओर द्वारों से जब धृत या तेल प्रवेश करते हैं तो सम्पूर्ण सिर में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता हे। और सिर क्षेत्र के विकार निष्कासित हो जाते हे। फलस्वरूप कुपित कफ के कारण उत्पन्न जुकाम, सिर दर्द, सूजन, गिरती स्मरण शक्ति, बालों का सफेद होना आदि रोग धीरे-धीरे नष्ट हो जात हे ओर नित्य करने वालो को उपरोक्त रोग होते ही नहीं नाक में गाय का घी डालने को घृत नेति कहते है। बादाम का तेल, सरसों को तल आदि डालन को तेल नेति कहते है।

करने की विधि -

उपरोक्त चित्र की भाति किसी तख्त या चारपायी पर पीठ के बल लेट जाइये अथवा कुर्सी पर सिर ऊपर की तरफ उठाकर बैठ जाइयें। ध्यान रहे कि गर्दन नीचे की तरफ उठाकर बेठ जाइये। ध्यान रहे कि गर्दन नीचे की तरफ लटकी रहे तब नाक में घी या तेल डालें। घी या तेल डालने के बाद दो-चार बार श्वास को जोर जोर से अन्दर की ओर खींचें। गले या नाक में चिपका हुआ कफ छुट जाता हे अत उस खखार कर बाहर निकाल दें। एसा भी हो सकता है कि धृत नति या तल नेति क कारण दिन में अनक बार कफ निकले। इसलिए परेशान न हो। धृत नात में घी जाड में पिघलाकर डालना चाहिए।

ध्यान दें

1 तीव्र कफ क रोगिया को सरसों या लाही के तल के नति अधिक लाभकारी होगी।

2 नकसीर के रोगियों का चारतल की नेति अधिक लाभकारी होगी।

3 स्मरण शक्ति बटान क लिए एव अनिद्रा के रोगी गाय के घी या बादाम क तेल क नति अधिक लाभाकारी होगी

4 जीर्ण कफ के रोगियों को षटबिन्दु तेल की पेति अधिक लाभकारी होगी।

5 जिन लोगों का सरसों या लाही क तेल स एलर्जी हो उन्हें बादाम का तेल प्रयाग करना चाहिए।

विशेष - कडुवे तेल का ऑख के पास लगाकर देख लेना चाहिए यदि चिरमिराहट अधिक हो तो पहल मो ग्राम तेता में दो-चार बॅद नीबू का रस मिलाकर धीमी ऑच में रखकर पका ल। आग समाप्त होने पर छानकर रख लें। एसा करने स चिरमिराहट दूर हो जायेगी।

धौति - शरीर शोध के निमित्त पटकर्म के अन्तर्गत नेति क्रिया पहल आती हे। जिसके द्वारा सिर के समस्त अगों का प्रक्षालन करने के पश्चात गले से

लेकर आमाशय तक का भाग आता ह । आमाशय शरीर का वह अक है जिसमें खाय हुए भोजन का पाचन होता हे तभी अगों से उसका पोषण होता है। आमाशय की उपमा हम रसोईघर के पतीले से कर सकते है। जैसे पतीले को भोजन बनाने के पूर्व स्वच्छ रखना जरूरी हे। अन्यथा भोजन विकार युक्त हो जाता ह। उसी प्रकार स आभाशय का कुपित कफ पित्त आदि से मुक्त रहना आवश्यक हे। धोति आमाशय की गन्दगी को स्वच्छ करने में अद्वितीय हे क्योंकि आमाशय की सफाई के बाद ही हमारी छोटी-बडी ऑतों की सफाई का क्रम आता है। अत वस्ति क्रिया धोति क्रिया के बाद करने की आवश्यकता होती है। धौति क्रिया के बाद सम्पूर्ण आतों की सफाई के लिए शख प्रक्षालन एक अद्वितीय क्रिया है जो कि मुख से लगाकर गुदा माग तक की सफाई एक साथ करती हे। वर्ष में दो वार या चार बार धौति क्रिया अवश्य करनी चाहिए ।1 धोति क्रिया तीन प्रकार की होती है -

1 जल धौति या कुजल क्रिया । इसे गजकरणी भी कहत हे।
2 दण्ड धोति
3 वस्त्र धौति
4 **जल धौति**

जल धोति को कुल या वमन क्रिया भी कहत ह । सम्भवन कुजल कुजर (हाथी) शब्द से बना हे क्योंकि जेसे हाथी खूब पानी पीन के वाद मुख से ही सारा पानी निकाल देता है, उसी प्रकार इस क्रिया में योगाभ्यासी भी पानी पीकर निकाल देता है। इस क्रिया को गजकरणी भी कहते हे।

करने की विधि.

निम्न चित्र के अनुसार उकडू बैठकर पानी पीना चाहिए।

[1]पंच कर्म विज्ञान। योग द्वारा कायाकल्प डा0 आम प्रका
[1] विश्वकुरू कल्पतरू पृष्ठ 510, योगसम्राट कल्पत

सर्वप्रथम पीने लायक गुनगुना पानी लगभग 4 से 5 किलो तक पानी कपडे से छान कर तैयार कर लें। ज्यादा अच्छा होगा यदि पहले पानी को ठीक से उबाल जें और पीने लायक होने तक ठडा होने दे तथा पानी को छान लें तो ज्यादा उचित होगा। प्राय सादे पानी से लोगों को सफेद नमक के स्थान पर यदि सेंधा नमक डाला जाय तो ज्यादा उपयुक्त होगा। वैसे यदि कुजल बिना नमक के करें ता ज्यादा अच्छा है।

पुनश्च अब पीठ और छाती के चारों आर कोई पतली चादर या कपडा कम से कम दो या तीन बाद लपेट कर ऊपर से नारियल या सूत की डोरी से चादर को छाती से कसवा लें। किन्तु ध्यान यह रखें कि कसाव इतना अधिक न हो कि दम घुटने लगे। परन्तु इतना ढीला भी न हो। कि कोई दबाव हो न पडें। यदि कोई विशेष परेशानी न हो तो इस प्रकार से कपडा बाधने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुन तलुओं के बल बैठकर गिलास से उपरोक्त चित्रानुसार जल्दी-जल्दी पानी पीते चले जाय। जब तक पेट खूब भर न जाय अर्थात पानी पीते-पीते उल्टी या वमन न होने लगे। यह ध्यान सदेव बना रहे कि घुटने यथा सम्भव छाती से लगे रहें।

खूब डटकर पानी पी लेने के पश्चात जब उल्टी की तीव्र इच्छा होने लगे तो निम्न चित्रानुसार

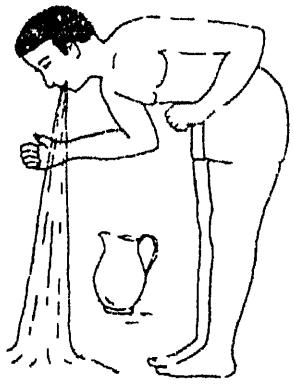

यथा सम्भव नाभि व कमर पर 90 अश का कोण बनाते हुए आगे की ओर झुक इस प्रकार खडे हो कि दोनो पैर आपस में मिले रहे ततपश्चात बायें हाथ को पेट पर रखते हुए दाहिने हाथ की तीन अँगुलिया(तर्जनी मध्यमा और अनामिका) को मिलाकर मुख के भीतर गले तक डाले और जहॉ छोटी सी जीभ को तरह कौआ या घण्टी लटकती रहती हे, उसी छोटी जीभ या कौआ पर मध्यमा अगुली को धीर-धीरे सावधानी के साथ घुमाने या केवल छूने से उल्टी होने लगेगी, लेकिन जब पानी बाहर निकलने लगे तब अगुलियों को मुख

से बाहर हटा लें। पानी निकालना बन्द होते ही पुन उसी प्रकार तोनों अगुलियो को भीतर ले जाकर छोटी जीभ या कौआ को पहले की तरह छूयें। बार-बार ऐसा करने से पेट का सारा पानी बाहर निकल जायेगा। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यदि नमक युक्त पानी पीकर कुज्जल कर रहे है। तो बाद मे सादे पानी अर्थात बिना नमक वाल पानी को पीकर एक या दो बार कुज्जल अवश्य करें क्योंकि यदि नमक युक्त पानी अन्दर रह जायगा तो दस्त आने की सम्भावना बढ जाता है। तथा नमक युक्त पानी गुद्रे के लिए हानिकारक भी होता है।

सावधानियॉ -

1 दाहिने हाथ के नाखून पूर्णतया कटे होने चाहिए अन्यथ। गले में नाखून लग सकता हे।

2 अगुलियें को मुख में गले तक डालने पर पानी पेट से बाहर न निकले, केवल मचली या उबकाई आवे तो समझना चाहिए कि पेट का सारा पानी निकल चुका हे या आमाशय के आगे बढ गया है।

3 यदि कभी ऐसा मालूम पडे कि कुछ पानी पट में रह गया हे तथा निकल नही रहा हे ता पुन दो-चार गिलास पानी पीकर कुञ्जल क्रिया दाहरायें। वेसे भी कम स कम दो या तीन बार पानी पीकर 'कुञ्जल' क्रिया करें।

4 अन्त में खट्टा या कडुआ पानी (पित्त) निकले तो एक या दो गिलास कुञ्जल का पानी ओर पीकर पुन कुञ्जल करें।

5 कुञ्जल समाप्ति क वाद छाती से कपडा खोलकर सिर को ठण्डे पानी से दा मिनट तक अच्छी तरह धायें। विशष कर तालू धोयें तथा दा-तीन घॅट (अधिक नहीं) पानी पिये।

6 कुञ्जल क्रिया प्रारम्भ करन से पहले शौच पेशाब आदि से भली भॉति निवृत्त हा जाये। यदि एनीमा या वस्ति करनी हो तो कुञ्जल से पहल ही कर लें।

7 कभी-कभी कुञ्जल से पूरा पानी नहीं निकल पाता । इसलिए कुछ समय बाद या तुरन्त पाखाना लग सकता हे। पाखाना दो-तीन बार भी हो सकता हे। इससे घबराने की कोई बात नहीं है।

8 कुञ्जल के बाद पाच-दस मिनट के लिए शवासन में लेटना आवश्यक है ताकि पेट के अवयव में उत्पन्न हलचल शान्त हो जाये।

9 किसी -किसी को कुञ्जल होता ही नही चाहे जितना प्रयास करें ऐसे लोगो को दण्ड धोति से कुञ्जल करना चाहिए।

लाभ -

जिस बर्तन में खाना पकाया जाय उसे अन्दर से प्रतिदिन साफ न किया जाय तो उसकी अन्दर की दीवारों से पकवान का अश चिपकता चला जायेगा। और कुछ दिनों में उसमें सडन पैदा हो जायेगी। पुन उसमें कितना ही पौष्टिक व सुन्दर विधि से भोजन क्यों न पकाया जाय भोजन अस्वाददार व नुकसानदेह ही हेागा। वैसे ही आमाशय को स्वच्छ एव स्वस्थ बनाये रखने के लिए हमारे भारतीय योग मनीषियों ने षट्कर्म में कुञ्जल क्रिया का विकास किया है। कुञ्जल मुँह पर फोडे, फुन्सियों, दात, जीभ व ऑख के रोग, रक्त विकार , हदय व छाती के रोग, पित्त कफ के प्रकोप मन्दाग्नि आदि को जड से दूर करने में विशेष सहायता करती है।

महत्वपूर्ण तथ्य

सामान्य स्वस्थ अवरथा में सप्ताह में एक बार कुञ्जल करना पर्याप्त होगा। उपवास के दिन अथवा भाजन सम्बन्धी गडबडी के कारण उत्पन्न अजीर्ण कष्ट में कुञ्जल बहुत ही लाभकारी क्रिया हे। चिकित्सा के दौरान लगातार तीन चार दिन वस्ति क्रिया क बाद कुञ्जल करने से रोगो को उसके कष्ट में चमत्कारी लाभ होता हे। तत्पश्चात् सप्ताह में एक दिन कुञ्जल पर्याप्त होगा। छाती में जलन (एसिडिटी) के कप्ट में कुञ्जल करके रेागी तुरन्त लाभ प्राप्त कर सकता है। किन्तु किसी विशेप प्रकार के अल्सर (आन्तरिक घाव) के कष्ट में उच्च रक्त चाप में कुञ्जल नही करना चाहिए।

दण्ड धौति -

दण्ड धाति भी कुञ्जल के समान ही हे। जो लोग हाथ से उल्टी नही कर पाते है, वे लोग दण्ड टयूब जा कि बारह नम्बर का एक केथेडर होता है। से सरलता से उल्टी करने में सफता हा जाते हे। इसलिए इसका नाम 'दण्ड धौति' है।

दण्ड धौति की पुरानी विधि

निम्न चित्र के अनुसार

छोटी अगुली के बगल वाली अगुली (अनामिका) के बराबर मोटी तीन लरों वाली कच्चे सूत की रस्सी बनावें, जो लगभग 30 इच लम्बी हो। उसके अन्तिम छोर से करीब चौथाई इच पहले एक धागा इस प्रकार बॉधे कि रस्सी का वह सिरा फूल के समान खिल जाय। तब समूची रस्सी को गर्म जल के पात्र में कुछ समय के लिए डुबो ले।

दण्ड धौति की नई विधि -

आजकल इस रस्सी के स्थान पर रबर की बनी इसी गोलाई की टयूब भी आती है। जो अन्दर से खोखली होती हे, जिससे दण्ड धौति करने में आसानी होती है।

करने की विधि - अब कुञ्जल की तरह सहने योग्य गरम पानी यथासभव अधिक से अधिक पिये। तत्पश्चात कुञ्जल करने की स्थिति से कुछ ऊँचें खडें होकर उपर्युक्त दण्ड धौति की रवर टयूब को मुँह द्वारा धीर-धीरे भीतर डालें और निकालें यदि बार-बार भीतर स पानी निकले ता निकालन द। दा-चार दिन के अभ्यास क बाद टयूब यथा जरूरत अन्दर ल जान में काई कठिनाई नहीं होगी।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 टयूब का चार अगुला दूसरा सिरा मुख क बाहर ही रख

2 उपरोक्त बाहर निकल सिरे की रस्सी पकडकर रस्सी या टयूब हिलाने से भीतर का पानी काफी मात्रा में बाहर निकलेगा।

3 यह क्रिया बिना अनुभवी योग्य प्रशिक्षक क निर्देशन क न करे। योग्य निर्देशन के बाद इस क्रिया का अभ्यास कुञ्जल क्रिया से भी ज्यादा आसान हो जाता है।

4 यदि गले मे घाव हो, सूजन हा ता दण्ड ट्यूब न करें।

वस्त्र धौति - वस्त्र धौति वह क्रिया है जिसम चार अगुल चोडा ओर पॉच से पन्द्रह-बीस हाथ लम्बा महीन, सूती एव सफेद कपडा मुख से आमाशय में डाला जाता है।

लाभ - इस क्रिया के अभ्यास से प्लीहा, गुल्म ज्वर, कण्ठ, कफ पित्त दूर होते है तथा मनुष्य निराग एव बतावान होता हे।1 इसके अतिरिक्त मैनें यह अनुभव किया है कि वस्त्र धौति जुकाम, खासी, दमा, टी0 वी0, अपच, मन्दाग्नि व किसी भी असाध्य रोग में बहुत लाभकारी हे।

तैयारी - चार अँगुल चोडी, पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी महीन, सूती सफेद मलमल की पट्टी तैयार करे। यदि किसी चौडे मं से फाडकर बनावें तो किनारे के दो-दो धोगे अवश्य निकाल दें। तत्पश्चात साबुन से भली भाति साफ करके उस कपड को गरम पानी मं कम से कम पॉच मिनट तक उबाल लें। फिर उसे निचोडकर ऐसी जगह में सुखायें जहॉ मक्खी वगैरह उसमें न बैठं। रात में पट्टी सुखाने में मक्खियों नहीं बेठेगी। अच्छी तरह सुखाने के बाद उसका गोला बनावें और अब वस्त्र धौति करने बेठ तो एक रवच्छ कटोरे में 250 ग्राम दूध में 250 ग्राम पानी लं तथा कपडें को डाल दें।

करने की विधि

निम्न चित्रानुसार

तुलओं के बल बैठकर वस्त्र धौति के कपडे के एक सिरे को खोलकर बहुत छोटी से गोली बना लें और दाहिने हाथ की तर्जनी व मध्यमा दानों अँगुलियों के आगे के भाग के बीच उस गोली को इस प्रकार से रखें कि मुख के भीतर छोटी जीभ(गोली) तक ले जाकर रखने में कोई कठिनाई न हो। इसके

---

1 प्लीहा गुल्म ज्वर कुण्ठ कफ पित्त विनाशयति ।

आरोग्य बल पुश्टिश्च भवेतस्य दिने-दिने ।। 'योगशास्त्र'

बाद दोनों अँगुलियों को इस सावधानी के साथ बाहर निकालें, कि भीतर डाला हुआ वस्त्र बाहर न आवे। तत्पश्चात जीभ से धीरे-धीरे वस्त्र धौति का भीत गले के नीचे उतारें। जिस प्रकार भाजन करते समय जीभ पर पडा हुआ कोर निगलते हे।

ध्यान रहे कि वस्त्र धौति का कपडा तालू में न लगने पावे। बल्कि जीभ पर ही रहे। इसलिए कटोरे में भरा पानी मिला दूध घूँट-घूँट कर इस प्रकार पियें कि गले के नीचे घूँट के साथ वस्त्र धौति भी बढती जाय। साथ ही साथ मुख इस प्रकार चलावें जेसे कोई चीज खा रहे हों ओर उस चबी चीज को निगल रहे हों। ऐसा करने से वस्त्र धोति भीतर चली जायेगी।

प्रथम दिन एक-डेढ हाथ से अधिक वस्त्र नहीं निगलना चाहिए। निगलते समय जी मचलाने तो दात बैठाकर मुख का बन्द करके , मनोबल से रोकना चाहिए, किन्तु यदि उल्टी आय तो रोके नही, जल्दबाजी न करें। धीरे-धीरे दस-पन्द्रह हाथ धौति आसानी से चली जायेगी।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 पूरी वस्त्र धौति कभी न निगलें। करीब एक फुट या एक बालिस (9इच वस्त्र मुख के बाहर अवश्य बची रहें।

2 जिन्हें कफ की शिकायत हो, व लोग पानी से यह क्रिया कर, दूध न मिलावें। लेकिन यदि कफ की शिकायत न हो पित्त की ही अधिकता हो या पित्त बिगडा हा तो पानी के स्थान पर गुनगुने दूध से वस्त्र धौति करें।

3 यदि वस्त्र को निगलने में जी मचलाये या उबकाई आये तो वस्त्र के अगले भाग पर शहद लगा लें।

4 कुछ लोग वस्त्र धौति का पेट में ले जाने के बाद नौलिक्रिया करते है, ऐसा करना नुकसान देता हे।

5 वस्त्र धौति के बाहर बचे भाग को पकडकर धीर-धीर वस्त्र को बाहर खीचें। जब तक यह आसानी स बाहर निकलती जाय, निकालत जाइये, किन्तु यदि रूके तो तुरन्त खीचना वन्द कर दें आर पहले की तरह फिर से वस्त्र को निगले। दा-तीन ग्रास निगलने के बाद पुन मुख को पूरा फैलाकर पूर्ववत वस्त्र का खीचना शुरू करें।

6 यदि किसी कारण वस्त्र धोति बाहर न आवे तो जितना जल पी सकें, पी लें और कुञ्जल की तरह खडें होकर मुख में अँगुली डालकर वमन करें। ऐसी आवश्यकता शायद ही किसी को पडें। फिर भी जानकारी जरूरी है।

7 अच्छी प्रकार से कुञ्जल एव दण्ड धोति के अभ्यास के बाद ही वस्त्र धौति करना चाहिए।

8 वस्त्र धौति के बाद कुञ्जल अवश्य करें।

9 वस्त्र धौति तब तक करना चाहिए, जब तक आमाशय स्वच्छ न हो जाय। इसकी पहचान यह हे कि कुछ दिनों के बाद वस्त्र में कोई कफ या चिकनाहट नहीं मिलती।

वस्ति क्रिया -

महर्षि पतञ्जल द्वारा प्रणीत योग सूत्र में साधनवाद के अन्तर्गत शोधन योग की चौथी क्रिया वस्ति क्रिया हे। प्राचीन योगियों ने शाधन योग क अन्तर्गत षटकर्म की क्रियाओं मे वस्ति क्रिया को दूसरे स्थान पर रखा हे। परन्तु मेरामत कुछ भिन्न हे। मै इसे शोधन की क्रियाओं में तीसरे स्थान पर रखता हूँ क्योंकि योग एक विज्ञान है, के अन्तर्गत योग की वैज्ञानिकता एव प्रमाणिकता की प्रासगिकता पर जोर दे रहा हूँ चूँकि नेति क्रिया के द्वारा मस्तिष्ट, धौति क्रिया के द्वारा आमाशय की सफाई के बाद बडी ऑत की सफाई का नम्बर आता है। इस प्रकार वस्ति क्रिया मेरे मत से तीसरे स्थान पर ज्यादा तक्र सगत एव उचित है।

बडी ऑत शरीर का वह अग हे जिससे खाये भोजन का पचना एव पाषक के बाद अवशेष मल एकत्र हो जाता है यदि वह मल अपने प्राकृतिक समय पर नहीं निकलता तो अनेको प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते है। आजकल कब्ज की समस्या बहुत ज्यादा देखा को मिलती है। शारीरिक रोगों की जड में कोष्ठबद्धताया क्रब्ज ही मूल कारण के रूप में होता ै ओर किसी भी चिकित्सा पद्धति से एक सीमा के बाद या कुछ दिनों के बाद लाभ न मिलने के कारण कब्ज का दूर न करना या होना। कारण स्पष्ट है कि कब्ज के कारण ऑतो में मल रूक जाता ह ओर वह जब सडता हे तो दूषित वायु उत्पन्न हाती हे अर वह दूपित वायु शरीर के किसी भी भाग में पहुँच कर दर्द या उसके स्वाभाविक क्रिया में बाधा उत्पन्न करती हे। मरे अनुभव में आया है कि कब्ज का पहला प्रभाव पाचन एव दूसरा पापण की कमजोरी के रूप में पडता हे। इस प्रकार धीरे-धीर पोषक एव निष्कामक अगों में कमचोरी इतनी हो जाती हे। कि मदाग्नि एव अर्जीर्ण के कष्ट रहन लगते है। मदाग्नि व अजीर्ण के सम्बन्ध में आयुर्वेद का कहना है कि सब रोग मल सचय और मदाग्नि से होते है। सब विकारों का आदि सम्बन्ध उदर(ऑतो) से है। अजीर्ण मदाग्नि का कारण होता हे ओर वह अजीर्ण मलिनता (कोष्ठबद्धता) के कारण होता है। ।

हमारी आतो में खाद्य पदार्था का रस चूसने का कार्य अविराम गति से चलता रहता हे पर जब उन्हीं आतो में मल जमा होकर सडने लगता हे तब हमारी आते उस जमा हुये मल से उसक विप को चूसती हे ओर चूसकर उस विष को रक्त में मिला देती हे जिससे रक्त विपाक्त हो जाता ह जा अनेकों प्रकार के रोगों का कारण होता हे।[3] कब्ज क अनकों कारण हे परन्तु मै। उनमें प्रमुख कारणेा को ज्यादा महत्व देता हूँ

95

वे कारण इस प्रकार है -शौच के वेग को रोकना , शौच में जल्दबाजी एव जोर लगाना, शौचालय की गन्दगी , भोजन में अनियमितता, बिना भूख या कम भूख में खाना भर पेट या भरपेट से अधिक खाना, चोकर निकले आटे की रोटी एव छिलका निकली दालों का सेवन, मात्रा से अधिक खाना , दिन भर में तीन किलों से कम पानी पीना, भोजन जल्दी-जल्दी व बिना खूब चबाये खाना, शारीरिक श्रम या उदर शक्ति विकासक व्यायाम की उपेक्षा, मानसिक तनाव की अधिकता एव मानसिक विश्राम का अभाव , रात्रि दर में साना एव प्रात देर से जागना, नाभि का हट जाना, नशीली गोलियों आदि का सेवन , अपानवायु का न खुलना उत्तेजक व दस्तावार औषाधियों का सेवन अनुचित विधि से उपवास या व्रत करना।

इस कब्ज को दूर करने के लिये एनीमा का सहारा लेते हे क्योकि एनीमा से रूका हुआ मल निकल जाता हे। फलस्वरूप रूके मल के कारण उत्पन्न कष्ट, गर्मी व गैस शान्त हो जाती है और रोगी को तुरन्त सुख का अनुभव होता हे।

एनीमा की भाति प्राचीन काल से ही वस्ति क्रिया के द्वारा योग साधक अपनी आतो की गन्दगी साफ करते थे। जिससे योगाभ्यासी विशेष नाप एव गोलाई (बॉस) की नली गुदा में डालकर नाभि तक जल में खड होकर आतों में पानी भर लेते थ। तत्पश्चात पानी से बाहर आकर मल को निकाल देत थे। लेकिन यह क्रिया न केवल सीखना ही कठिन है बल्कि वर्तमान समय में करना भी अव्यावहारिक है।

वस्ति युवावस्था को बनाये रखती हे, अयोग्य , आयु बल, अग्नि, मधा, बुद्धि तथा वर्ण को सुन्दर करती है। इसलिए वस्ति क्रिया को चरक सहिता में समस्त चिकित्सा का आधार कहा गया है। वस्ति कर्म से वायु गोला, तिल्ली उदर ओर

---

[1] रोगा सर्वोऽपि मदऽनो सुतरामुदरणजिच।

2 हैण्ड बुक आफ फिजिग्रालॉजी पृष्ठ 407 डब्लू0 ए0 हली वटन एम0 डा0

वात, पित्त ,कफ से पैदा[96] हुए सम्पूर्ण रोग नप्ट हो जाते है।1 मेरा स्वय का अनुभव है कि वस्ति क्रिया से तत्काल आतों को सफाई को जाती हे, कब्ज टूट जाता हे। जिससे गैस नहीं बनती है। मल की सडान मिट जाती हे। जिसके कारण सम्भवत सभी रोगों में जल्दी लाभ मिलता हे।

वस्ति क्रिया के प्रकार

1 गणेश वस्ति
2 सेल्फ वस्ति
3 डायरेक्ट वस्ति
4 लेट करके वस्ति
5 बच्चेा की वस्ति

1 गणेश वस्ति (गणेश क्रिया)

गणेश वस्ति या गणेश क्रिया शौचालय में ही शौच के बाद की जाती हे। किसी कारण यदि शौच खुलकर न हो रहा हो अथवा ऐसा लग कि अभी मल और हे जिसे निकल जाना चाहिए तो तुरन्त गणेश क्रिया करें। कब्ज, गैस, बवासीर, चक्कर, रक्तचाप, हदय कप्ट जेसे कठिन रोगियों को शोच के बाद नियमित गणेश क्रिया अवश्य करनी चाहिए। यह क्रिया करने वाले आसानी से बीमार नहीं पडते । मेरी राय यह है कि बीमार न भी हों तो भी गणेश क्रिया नियमित करनी चाहिए।

मै यह भी बताना चाहूँगा कि इसे गणेश क्रिया क्यों कहा जाता हे। हमारे रीड-रज्जु में चक्र स्थित है जिनमें मूलाधार चक्र का स्थान प्रथम हे और वह हमारी रीड के अग्रिम छोर अर्थात हमारे गुदा मार्ग में ही स्थित है और मूलाधार चक्र के देवता गणेश जी कहे जाते हे । अत उन्हीं के नाम से इस क्रिया को गणेश क्रिया कहा जाता है। **गणेश क्रिया की विधि** - इस क्रिया को शौचालय के स्वभाविक शौच के बाद करते है। जिसमें पहले बाये हाथ के अँगूठे के बगल वाली उगली ओर फिर बीच वाली उ ाली में अण्डी, गरी या सरसों का तेल लगाया जाता हे। फिर छोटी उगली को आगे

---

[96] गुल्म प्लीहोदर चापि बात पित्त कलादभाग ।
वस्ति कर्म पप्रभावन क्षीयन्त सकलाभया ।। चरकसहिता

[97] गुल्म प्लीहादर चापि बात पित्त कलादभाग ।
वस्ति कर्म पप्रभावन क्षीयन्त सकला ाया ।। चरकसहिता

की ओर से गुदा के अन्दर धीरे से डालकर धीर-धीरे चारों आर घुमायों। इसके बाद इस उगली को निकाता कर दूसरी अर्थात केवल बीच वाली उगली को उसी प्रकार गुदा के अन्दर डालकर गालाई से धुमायें। उगली मे चढाने के लिए एक विशेष प्रकार की रबर फिगर आती है। शुरू में रबर फिगर चढाकर करना ज्यादा अच्छा है। उगलियां के नाखून कटे होने चाहिए। सुविधा के लिए शोचालय में ही किसी चोडे मुँह की शीशी मे तेल भर कर रख लें। किसी कारण तेल की सुविधा न होन पर उगलियों को पानी में डुबाकर गणेश क्रिया का बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। लेकिन बवासीर, भगन्दर , कॉच एव कब्ज के जीर्ण रोगियों को तेल, रबर फिगर दोनों चीजों का प्रयोग करना अनिवार्य हे। तलों मे केस्टर आयल (अण्डी का तेल) सबसे अच्छा होता हे।

सेल्फ वस्ति क्रिया (बैठ करके)

सेल्फ वस्ति क्रिया के लिए , एक विशप प्रकार का यत्र होता हे जिसे सेल्फ एनीमा सिरीज कहते है। इसमे दो सिरे होते हे। एक सिरा नुकीला होता है जिसमें आउटर वाल्व होता हे अर्थात इस बाल्व से पानी अन्दर नहींआ सकता । दूसरा सिरा चोडे मुँह का हेाता है जिसमें इनर वाल्व होता है। इसमें पानी बाहर से अन्दर ही जा सकता है। इस यत्र के बीच में गेंद की तरह गोलाई होती है, जिसक माध्यम से पानी भरते और निकालते है।

यदि ऐसा लगे कि शोच खुलकर नहीं हुआ है अथवा नहीं होगा या किसी कठिन रोग से पीडित हे तो इस क्रिया को उस दिन अवश्य करें। रात को सोते समय वस्ति क्रिया करने से बहुत लाभ होता है।

सेल्फ वस्ति क्रिया करने की विधि सेल्फ एनीमा के चौड सिरे को पानी भरे लोटे में डालकर बीच वाले गुब्बारे को चित्र के अनुसार धीरे-धीर दबाइये और जब दूसरे सिरे से पानी की धारा निकलना शुरू हो जाय ।

तो इस सिरे में तेल लगाकर धीरे से डेढ मे ढाई इच गुदा के अन्दर करके

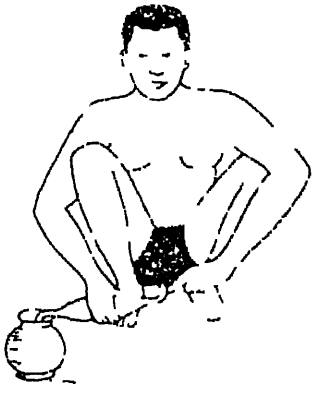

उपरोक्त चित्रानुसार धीरे-धीरे बीच के भाग को दबा -दबा कर आधा पाव या पाव भर पानी चढा ले। शोच का अनुभव होने पर गुदा के अन्दर का प्रवेशित सिरा बाहर निकाल तें। फतारवरूप पानी के साथ बडी आत का मल तुरन्त बाहर निकल जायगा। अब पुन गुदा क अन्दर पहतो की तरह पानी भरना शुरू करें। यह ध्यान रखना जरूरी है। कि जब पानी ओर मल स्वय निकलने की कोशिश करें तो गुदा के अन्दर का प्रवेशित सिरा हटा द। इस प्रकार पानी के साथ ऑत का रूका या पुराना मल धीर-धीरे निकल जाता है। बवासीर भगन्दर के रागी वस्ति यत्र मं किसी प्रकार की चिकनाहट अवश्य लगा दें। सभी लोग लगायें तो ओर भी अच्छी बात हे।

यदि इस क्रिया के बाद गणेश क्रिया से मलाशय में तेल की चिकनाहट कर दी जाय तो ओर जल्दी जाभ होता हे। जिनकी नोलि क्रिया चलती हो वे पानी भरकर अपने स्थान पर खडे हो जाय और कुछ देर तक नौलि चलाए नौलि न चलने पर उपनोलि चलायें तो विशेप लाभ होगा।

वस्ति क्रिया के लिए पानी - जेसे पानी नल अथवा कूँए से निकल वही पानी वस्ति क्रिया के लिए ठीक हे। किसी विशेष रोग की अवस्था में पानी में स्वमूत्र, गौ-मूत्र, चिरायता , कुटकी का पानी आदि मिला सकते हे। बहुत ठडे मौसम तथा पहाडों में जहॉ पानी बहुत ठण्डा हो तो पानी को थोडा गुनगुना कर लेना चाहिए। यदि पहले या दूसरे दिन भी सन्तोषजनक मल न निकले तो परेशान न हा। जब मल फूलेगा तो स्वय निकलेगा।

डायरेक्ट वस्ति क्रिया -

डायरेक्ट वस्ति क्रिया में एक लम्बी रबर की टयूब का प्रयोग होता है जिसे एनीमा टयूब अथवा एनीमा केन कहकर प्राप्त कर सकते है। इसके दोनों सिरे एक से होते है। सेल्फ वस्ति की ही भॉति इसे भी शौचालय में करते है।

विधि - निम्न चित्र के अनुसार एक हाथ से एक सिरा पकडकर टोटी

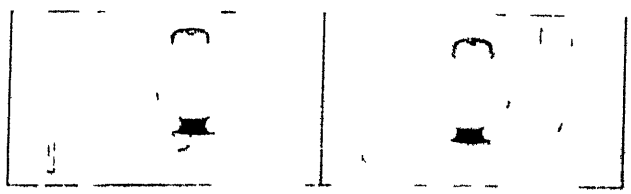

खेालदें और दूसरे हाथ से टयूब को नीचे पकड लें। अब नल की टोटी खोल दें आर पानी की धार की ऊँचाई कम से कम छ इच कर लें। अब इस सिरे को गुदा के अन्दर धीरे से प्रवेश करा दे। इस विधि से गुदा

के माध्यम से नल या पानी बड़ी आँत में स्वयं जाने लगता है। कुछ देर बाद गुदा का द्वारा अपने आप फैल जायेगा या खुल जायेगा। गुदा के फैलने से पानी के साथ -साथ रूका हुआ मल अपने आप बाहर अपने लगेगा। इस प्रकार पानी बड़ी आँत में जायेगा और साथ ही पानी व मल बाहर निकलेगा। जब पानी व मल निकलने लगे तब दायें हाथ से गुदा के अन्दर प्रेवशित टयूब को अवश्य पकड़े रहें जिससे टयूब बाहर न निकले। यह क्रिया दो-चार मिनट करना ही पर्याप्त होगा।

लेट करके वस्ति क्रिया:- इस विधि के लिए सेल्फ एनीमा या एनीमा केन या एक डिब्बा जिमें एक लम्बा लगभग दो मीटर लम्बा टयूब लगा होता है जिसे लगभग जमीन से एक मीटर की ऊँचाई पर पानी भर कर रख देते है। यहाँ पर दो उपकरण सेल्फ एनीमा टयूब व एनीमा केन दोनों के चित्र निम्नवत है। सुविधानुसार वस्ति क्रिया करें।

करने की तैयारी :-

1. इस विधि में वस्ति लेने वाले को पीठ के बल लेटना होता है।

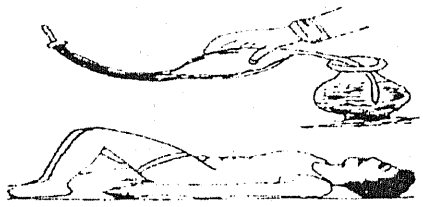

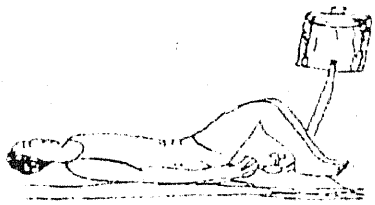

अत: इसके लिए अलग कमरा या बड़े बाथरूम की जरूरत होती है।

2. लगभग एक दो लीटर गुदगुना पानी।
3. चार बड़े नीबू का रस।
4. एक चम्मच नमक साधारण।
5. सेल्फ वस्ति यंत्र या एनीमा केन टयूब युक्त
6. कमर के नीचे लगाने के लिए तकिया।

सर्वप्रथम कमरे या बाथरूम में पीठ के बल लेट जाइये। दोनों पैरों को 45 डिग्री में मोड़ दें। कमर के नीचे के कपड़े उतार दें या ढीले करके घुटने के नीचे तक खिसका दीजिए। गुनगुने पानी का बड़ मुंह वाला लोटा दाहिनी जाँघ के निकट इस प्रकार से रखें कि सेल्फ एनीमा के चौड़े सिरे को जब इसमें डाले तो दूसरे सिरे को गुदा के अन्दर डालकर पम्प करके आंतों में पानी भरने में कोई कठिनाई न हो। पानी भरते समय यदि चौड़ा सिरा यदि लोटे के बाहर आ जाता है तो किसी रस्सी के इस सिरे को गांठ लगाकर लोहे के मुंह पर लपेटकर बांध दे। इससे वह सिरा लोटे से बाहर नही

निकलेगा। अब सेल्फ एनीमा के बीच वाली गेंद को कई बार दबाए, जब नुकीले सिरे से पानी की धारा निकलन लगे तो इस सिरे को गुदा के अन्दर प्रवेश करा दें । यदि कोई कठिनाई हो तेा इस सिरे को गुदा के अन्दर प्रवेश करा दें। यदि कोई कठिनाई हो तो इस सिरे को किसी तल जेस गरी, सरसों, या अण्डी के तेल से चिकना कर लें। अब बराबर पम्प करते जाये। और धीरे-धीरे आधा लीटर तक पानी चढा लें। बीच में यदि शोच जाने की इच्छा हो तो कुछ समय के लिए पानी भरने की क्रिया रोक दें। पर्याप्त पानी चढाने के बाद नुकीले सिर को गुदा स बाहर निकाल लें। इस अवस्था में कुछ देर लेटे रहें ओर लेट-लट ही पेट की हल्की मालिश बायें से ऊपर फिर ऊपर से दायी ओर की दिशा में करें। थेाडी -थोडी देर में करवट बदलें एव पैर सिकोडकर पेट म हाथ से दबायें व मालिस करं। तथा जब पानी रूक जाये तो किग एव क्वीन" व्यायाम करें। पुन जाघों को पेट में सटाकर हाथों से पैर दबायें ओर जब पानी रूक जाये तो खडे होकर नौलि क्रिया का अभ्यास करे। इस प्रकार दस पन्द्रह मिनट तक यदि पानी रोका जा सके और फिर शौच जाया जाय तो बहुत सा मल निकल जाता है यदि पानी चढाने के तत्काल बाद शौच जायेंगे तो मल ज्यादा फूलेगा नहीं ओर ज्यादा नहीं निकलेगा। अत एनीमा के पानी में नीबू का रस और नमक मिला दने से मल जल्दी फूल जाता हे तथा आतो में चिपका मल शीघ्र छूट जाता है और ज्यादा से ज्यादा पेट साफ होता हे । मे अपने अनुभव से सेल्फ एनीमा के स्थान पर एनीमा पाट को ज्यादा महत्व दॅगा। इसमें केवल पानी भर कर दीवार में कील गाडकर डिब्बे को लटका देते है तथा रबर में नोजल से पानी निकलने पर गुदा मार्ग में प्रवेश करा देते है। इसमे पानी स्वत अन्दर जाने लगता है। यह ज्यादा आसान होता है वस्ति क्रिया करने के पहले निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यों का क्रमबद्ध ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

महत्वपूर्ण तथ्य –

1 पानी में साबुन का भाग भूलकर भी न मिलाये।

2 यदि पेट में कीडे हो ऑव हो तो पानी में अधिक स अधिक अपना ही पेशाब जो कि प्रात काल का हो मिला लें।

3 उपवास के दिन प्रात ही यदि इस क्रिया से ऑत साफ कर ली जाय तो उपवास का लाभ कई गुना बढ जाता हे।

4 शरीर के किसी भी तीव्र कष्ट जस ज्वर, चुकाम, दस्त या अम्ल दर्द गस आदि से वस्ति क्रिया क करने से तत्काल लाभ मिलता ह।

5 वस्ति क्रिया के एक घन्टे तक कुछ नही खाया जाय, यदि आवश्यकता हेा तो गरम पानी मं आधा नीबू का रस, दो चम्मच शहद मिलाकर पियें अथवा सब्जियों का सूप या फलों का रस पी सकते हे।

6 स्वस्थ व्यक्ति सप्ताह में वस्ति क्रिया से यदि एक बार ऑते साफ कर लिया कर ता शायद ही कभी कोई बीमार पडे। इसलिए मेरी राय है कि परिवार के सभी सदरय चाहे बडे हो या बच्च, स्वस्थ हा या बीमार, स्त्री या पुरूप काई भी सप्ताह में एक बार वस्ति क्रिया करके आजीवन अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता हे।

यह वस्ति क्रिया योग की अनूठी क्रिया है। अपने अनुभव के आधार पर तो मैं इस बात को दावे से कहता हूँ कि यदि वस्ति क्रिया की उपरोक्त नवीन विधियॉ एव उपयोगिता का सही -सही प्रचार करा दिया जाय ता लोगों का बहुत सा चिकित्सकीय खर्च बच जायेगा। योगियों का अनुभव हे कि यदि रोगी की टट्टी नियमित ओर सही होने लागे तो रोगी जल्दी स्वरथ हो जायेगा।

वस्ति क्रिया आतों में रूका मल बिना जोर लगाये निकालने में सहायता करती है। कमजोर आतेा को शक्तिशाली बनाने में सहायता करती हे। इसी प्रकार जब बच्चे बीमार होते हे तो उन्हें भी टट्टी की गडबडी हो जाती हे। इसलिए छोटे बच्चे चाहे वे एक महीने के हो या चार साल के वस्ति क्रिया उन्हें भी उतनी ही लाभपाद हे जितनी जवानों एव वृद्धों को।

छोटे बच्चों की वस्ति क्रिया -

इसके लिए एक प्रकार की पिचकारी हाती हे। जिसे ग्लीसरीन सिरींज कहते हे । यह पिचकारी की तरह होता है।

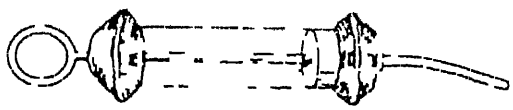

करने की विधि

सर्वप्रथम ग्लीसरीन सिरीज में नीबू नमक युक्त हल्का गुनगुना पानी भर ले। पानी भरत समय यह देख ले कि पानी क अन्दर एक भी बुलबुला न हो यदि हो तेा पलट कर अर्थात नुकीला सिरा आसमान की ओर करके नीचे मे दबाव डालकर हवा का निकाल दें। जैसे चिकित्सक इजक्शन लगाने से पहले करते हे। अब बच्चे को लिटाकर धीरे-धीरे पानी भरें। सिरिज क

नुकीले सिरे में चिकनाई अवश्य लगा देना चाहिए। एक बार मं यदि पर्याप्त पानी न भर पाये तो पुन इसी प्रकार पानी भर दें ।

अब बच्चे को पानी को रोकन की प्रेरणा दें या उसके नितम्ब आपस म चिपका कर पकड लें ओर उसके पट में मुलायमियत से मालिश करें। शौच लगने पर शौच जाने दें।

छ महीने की उम्र तक बच्चे की ऑत में 100 ग्राम से 200 ग्राम तक पानी एक वर्ष से लेकर छ वर्प तक के बच्चे की ऑत में 200 ग्राम स 500 ग्राम तक पानी चढाते है। छ वर्प से लेकर 12 वर्प तक के बच्चे की ऑत में एक किलो तक पानी और उससे बडी उम्र वाले लोगों को एक किलो से लकर दो किलो तक पानी चढाते हे।

वस्ति के बारे में भ्रम

कुछ लोगों को वस्ति क्रिया के बारे में यह भ्रम हो जाता हे कि इसके करने से इसकी आदत पडत जाती हे परन्तु यह बात नितान्त सही नही हे। सही बात तो यह है कि लोगों की ऑते जब कमजोर होती हे अथवा आहार विहार में अनियमितता बरतते है तो स्थायी कब्ज की शिकायत होती है ओर जब वस्ति क्रिया करते हे तो मल आसानी से निकल जाता है। चूकि जो काम विरेचक पूर्ण इत्यादि कठिनता से नहीं कर पाते है, वस्ति सरलता से दो-चार मिनट मे कर देती है। जब उसका कब्ज जड से दूर हो जाता तो मल स्वय समय पर होने लगता है। तब वस्ति की कोई जरूरत नहीं पडती है। अत वस्ति के बारे में भ्रमित न हो।

नौलि क्रिया

अष्टाग योग में साधनपाद के अन्तर्गत शरीर शोधन की क्रियाओं नेति, धौति वस्ति क्रियाओं के उपरान्त नौलि क्रिया का क्रम आता है। नौलि क्रिया से पेट के अन्दर के समस्त विकार स्वत. दूर हो जाते है। पेट के अन्तर्गत आमाशय, यकृत , प्लीहा छोटी ऑत व बडी ऑत आदि आते है इसमें मल चर्बी अथवा शक्तिहीनता आ जाने से अनेको प्रकार के रोग रहन लगते है। इन अगो में रूके विकार निकालने के लिए एव उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए नौलि क्रिया अद्वितीय हे। योग शास्त्र में नौलिक्रिया को सभी क्रियाओं का मुकुटमणि कहा जाता है । योगाभ्यासी को नौलि क्रिया सिद्ध करना इसलिए आवश्यक है कि इससे बढा हुआ पेट सामान्य हो जाता हे। गोला

तिल्ली, मन्दाग्नि , वात पित, कफ आदि दोप एक साथ दूर हो जाते हे। 1 कब्ज, गैस , ऑव का पुराने से पुराना कष्ट धीरे-धीरे दूर हो जाता हे।

पेट को बायें से दायें से बाये , ऊपर से नीचे , नीचे से ऊपर इस प्रकार से घुमाया जैसे बाजीगर के हाथ में दो गेंद घूमती हे अथवा जल की भँवरी घूमती है। इस प्रकार पेट के अन्दर बडी ऑत को घुमाने की क्रिया को नौलि क्रिया कहते हे।

सर्वप्रथम पुरूष कपडे उतारकर शीशे के सामने खडे जो जाय। महिलाए धोती पहने हो तो काघ लगा ले। अब एडियों का आपसी अन्तर छ इच और अँगूठों का अन्तर नौ इच कर लें। नाभि से लँगोटा , चढ्ढी अथवा धोती नाभि से तीन चार इच नीचे खिसका ले। अब घुटनों को थोडा आगे झुकायें और घुटनों के ऊपर हाथो को इस प्रकार रखें कि अँगूठा अन्दर की ओर, चारों अँगूलिया आपस में अच्छी तरह सटी हुई बाहर की ओर रहें। झुकते समय हाथों को घुटने के ऊपर रखें नौलि क्रिया सिद्ध करने की यह पहली तैयारी हे अब नये अभ्यासी पहले नौलि क्रिया न करके 20-100 बार उपनौलि करें और उपनौलि के बाद देर तक उडिडयान बन्ध लगाने का अभ्यास करें। जितना अच्छा और जितना देर तक उड्डियान बन्ध होगा, उतनी ही अच्छी नौलि होगी। नौलि की यह दूसरी तेयारी है। अब नौलि जल्दी सिद्ध हो इसके लिए घुटनों से जाँघों तक आगे की तरफ थोडा कडुआ तेल चुपड ले जिससे हाथों को चलाने में कठिनाई न हो और जिनकी जाँघों में घने बाल हो तो टूटे नहीं नौलि की यह तीसरी और अन्तिम तैयारी है।

उपनौलि क्रिया की विधि

सर्वप्रथम पेट को धीरे-धीरे पहल अन्दर की ओर सिकोडिये और फिर बाहर की ओर छोडिये। यथाशक्ति इस क्रिया को पहले धीरे-धीरे फिर जल्दी -जल्दी करना ही उपनौलि है। इस क्रिया को करते समय श्वास बाहर निकाल दें। यह क्रिया कम से कम 50 बार या सौ बार अवश्य करनी चाहिए। [98]

उडिडयान बन्ध की विधि सर्वप्रथम सीधे खडे जो जाइये। हाथों को कमर क ऊपर इस प्रकार रखिये कि चारों अँगुलियाँ आपस में सटी हुई बाहर तथा अँगूठे पीछ

[98] विश्वगुरूकल्पतरू पृष्ठ 520 कल्पतरू महाराज

की ओर रहें। अब ठुडडी को ऊपर करते हुए गहरा श्वास नाक से भरकर तुरन्त कमर के आगे की ओर झुकते हुए श्वास का मुँह से यथासम्भव बाहर निकाले। अधिक से अधिक श्वास तभी निकल सकेगा जब जिह्वा की आकृति कोये की चांच की तरह बनाकर निकालेगें। अब श्वास बाहर निकाल कर बाहर ही रोक द । और पेट को अन्दर की ओर खींच कर पीठ से चिपका कर सीधे खडे हो जाये और लगभग 30 सेकेण्ड तक रोंकें। कम से कम इस क्रिया को पॉच बार दोहरायें।

नौलिक्रिया के प्रकार इसके तीन प्रकार हे।

1 दक्षिण वाम नौलि

2 मध्य नौलि

3 गोल नौलि

1 दक्षिण वाम नौलि

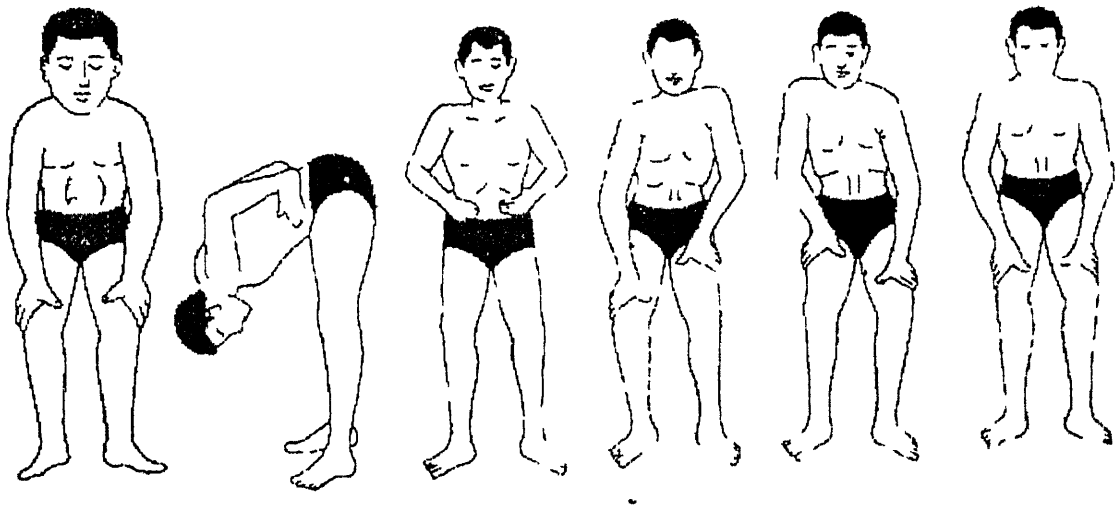

उपनौलि

पूर्ण तैयारी के बाद श्वास को नाक से भरिये, मुह को चोंच की तरह बनाकर श्वास को यथासम्भव बाहर निकालिए। बाहर निकालकर श्वास को बाहर रोक दीजिए। अब निम्न चित्रानुसार घुटनों को आगे की ओर झुका लीजिए और तेल लगी जॉघों में मालिश शुरू कर दीजिए । मालिश करत समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अब थाडा जोर लगाते हुए हाथों से ऊपर स नीचे की ओर ल जाये, जब बायें हाथ बिना जोर स नीचे से उ र की ओर ल जायें और जव बायें हाथ को जोर लगाते हुए ऊपर स नीच ले जायें तब दायें हाथ स वि ा जोर लगाये नीचे से ऊपर ले जाये। इसी क्रम को जव• तक सरलता से श्वाम बाहर रोक सकें, धीरे-धीरे केर ओर फिर उड्डियान बन्द करके उपराक्त क्रम में मालिश करें । यही दक्षिण वाम नौलि हे। दक्षिण वाम नौलि इसे इसलिए कहते है।

क्योंकि जब दाये हाथ की हथेली से दायी जाघ की मालिश करते है तो पेट का दाया हिस्सा नल की तरह बाहर आ जाता हे और बाया हिस्सा और अन्दर की आर चला जाता है । इसी प्रकार जब बायी हथेली से बायी जाघ पर मालिश करते है तो पेट का बाया हिस्सा नल पाइप की तरह आगे की ओर जा जाता हे और दाया हिस्सा ओर अन्दर की ओर चला जाता हे । इसी क्रिया को जल्दी जल्दी करने से भवरी या बाजीगर की गंदों की तरह पेट घूमता हुआ नजर आता है।

2 **मध्य नौलि** –

दक्षिण वाम नौलि के बाद मध्य नौल करनी चाहिए। दक्षिण वाम नौलि एव मध्य नोलि में केवल इतना ही अन्तर हे कि दक्षिण वाम नौलि में जब दायी जाघ की मालिश करते है तो बायी जाघ की नहीं करते और जब बायी जाघ की मालिश करते है। तो बायी जाघ की नहीं करते और जब बायी जाघ की मालिश करते है। तो दायी जाघ की नहीं करते। लेकिन मध्य नोलि में दोनों हाथों से एक साथ ऊपर से नीचे की ओर लेकिन नीचे से ऊपर की ओर नहीं करते जिससे पेट के बीच का हिस्सा मोटे नल की तरह आगे की ओर आ जाता है। और जब बिना रगडे हथेलियों को नीचे से ऊपर की ओर ले जाते है। तो पेट अन्दर की ओर चला जाता है।

3 **गोल नौलि** –

दक्षिण वाम नौलि और मध्य नौलि जब अच्छी तरह से सिद्ध हो जाय तब गोल नौलि का अभ्यास करना चाहिए। इसमें हथेलियों से जाघों पर मालिश नहीं करते बल्कि जाघ के मध्य में अपनी-अपनी तरफ की हथेलियॉ अच्छी प्रकार से चिपकाकर रख देते हे ओर

1 पहले दायी हथेली से दायी जाघ पर जोर दे तो बायी हथेली को बिल्कुल ढीला छोड दें। और फिर बायी हथेली से बायी जाघ पर जोर दे तो दायी हथेली को बिल्कुल ढीला छोड दें। कुल समय तक इसी प्रकार करना चाहिए।

2 दोनों हाथ से दोनो जाघों पर दबाव डालते हुए दोनों हाथेलियो को एक ही दिशा में अपनी जगह पर गोल घुमायें। पहले दायें से बायें, कुछ दे बाद बाये से दाये। इस क्रिया के फलस्वरूप पेट इस प्रकार घूमत. नजर आता है जैसे तेजी से चल रहा गोल झूला। जब श्वास न रूके तो पुन उड्डियान बन्दर करके उपरोक्त नौलि चलाये। यह क्रम कम से कम 10 बार अवश्य करना चाहिए।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 अति दुर्बल , कमजोर, अल्सर इत्यादि के रोगी बिना चिकित्सक के परामर्श के नौलि न करें।

2 नौलि जल्दी सिद्ध करने के लिए तीन चार दिन रसाहार या फलाहार पर रहें।

3 यदि कुछ दिन वस्ति से बडी ऑत की सफाई कर डालें तो नोलि सिद्ध करने मं कोई कठिनाई न होगी।

4 नौलि प्रात शौच के बादखाली पट का जाती है। तथा शाम को भोजन करने के पहले करना चाहिए।

5 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चे यह क्रिया न करें।

6 शख प्रक्षालन क्रिया के बाद नोलि क्रिया अतिशीघ्र सिद्ध हो जाती है।

शख प्रक्षालन -

महर्षि पातञ्जल एव गोरक्ष सहिता मं षट्कर्मो का विधान शरीर शोधन के निमित्त धौति वस्ति नेति नौलि से लगाकर कपाल भाति तक किया गया है परन्तु शोधन की जिन क्रियाओं का प्रयोग किया गया है वे सब क्रियाए अलग-अलग अगों की सफाई अलग-अलग समय करती है। परन्तु परवर्ती योगियों ने एक ऐसी प्रक्रिया की खोज की जिसकै द्वारा मुख से लगाकर गुदा मार्ग तक सफाई एक साथ एक ही समय में हो जाती है। इस क्रिया का नाम शख प्रक्षालन दिया गया। आज आधुनिक योगाचार्य प्राचीन विधियों के स्थान पर नयी विधियों का सहारा लेते है। मैं स्वय कम समय में मात्र दो व्यायामों के द्वारा ही इस क्रिया को सम्पादित करता व करवाता हूँ मेरे दृष्टिकोण में यह क्रिया शोधन योग की एक अद्वितीय क्रिया है। इस क्रिया को यदि माह में एक बार कर लिया जाय तो पेट के समस्त विकरों से शरीर सदैव मुक्त रहेगा। अब मै इस क्रिया की विस्तृत विवचना करूँगा जिससे नयी एव पुरानी विधियों का समन्वयात्मक अध्ययन सम्भव हागा।

इस क्रिया से आमाशय की बीमारियॉ, कफ बनाना , भोजन का सही पाचन न हाना, अम्लता की परेशानी , मन्दाग्नि आदि के कष्ट , छोटा ऑत एव बडी ऑत चिपका पुराना मल, ऑव , कृमि गैस आदि के रोग तथा गुदा द्वारा से सम्बन्धित रोग जैसे बवासीर आदि सदा के लिए ठीक हो जाते ह ।योगशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया को कायाकल्प भी कहते है।

इस क्रिया को करने से पूर्वकम से कम तीन दिन का उपवास कर लेना चाहिए। उपवास के पहले दिन सुबह शाम हरी सब्जी मिली खिचडी दूसरे दिन केवल सब्जी तथा तीसरे दिन , दिन में रसाहार आर रात्रि के भोजन के समय एकपाव या आधा लीटर पाचन शक्ति के अनुसार गुनगुना मीठा दुध पीते हे।

मीठे के लिए मैं गुड को प्रमुखता दूँगा। चौथे दिन के आधा घण्टे पहले पुन एक पाव मीठा गुनगुना दूध जरूर पीते है। इसके बाद लगभग चार या पॉच लीटर पानी गरम करके पीने योग्य बना लेते है। प्राचीन योगी गुनगुने पानी मं और नीबू मिला देते थे परन्तु आज कल नमक के स्थान मेग्नीशियम सल्फेट का चूर्ण पॉच लीटर पानी में लगभग 100 ग्राम मिला दिया जाता है। यह चूर्ण ऑतों की स्पन्दन क्रिया को बढा देता हे। जिससे शख प्रक्षालन की क्रिया आसानी से होती है। दूसरे नमक शरीर के गुर्दे के लिए हानिकारक हाता हे तथा उच्च रक्तचाप के रोगियों का भी नुकसान दह होता हे।

अब उकडू बैठकर कुज्जल की भाति दो गिलास पानी पीते हे। पानी पीने के पश्चात पाच मिनट तक टहलते हे। टहलने के बाद किग एव क्वीन व्यायाम पच्चीस-पच्चीस बार करते है। करने के पश्चात मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि पिया हुआ पानी आमाशय की धुलाई करते हुए छोटी आत म पहुच जाता है। अब पुन पूर्ववत पानी पीकर उपरोक्त क्रियाए दोहराते हे। अब यहा पर किग एव क्वीन व्यायाम की प्रक्रिया की जानकारी देना ज्यादा महत्वपूर्ण होगा तथा बाद में आगे की प्रक्रिया के बारे में बताएगें।

किग एव क्वीन व्यायाम -

इन दोनां व्यायामों की खोज स्वामी देवमूर्ति जी महाराज ने की है। इस व्यायाम की रोगी निरोगी, बालक , वृद्ध , स्त्री-पुरूष सभी लोग सरलता से कर सकत है। इस एक मात्र व्यायाम से एक साथ इतने लाभ है कि सम्भवत उतने लाभ अन्य किसी व्यायाम या आसन से शायद ही हो। इसलिए इस व्यायाम का नाम पडा किग एक्सरसाइज या योगासनों का राजा ।

करने की विधि -

तख्त या जमीन पर कम्बर या दरी बिछाकर पीठ के बल लेट जाये। हाथों को कधों की सीध में 180 डिग्री में फेलाकर सीधा कर लें तथा अगूठा अन्दर रखते हुए मुटठी बन्द कर लें। पैरों को चित्र के अनुसार घुटनों स

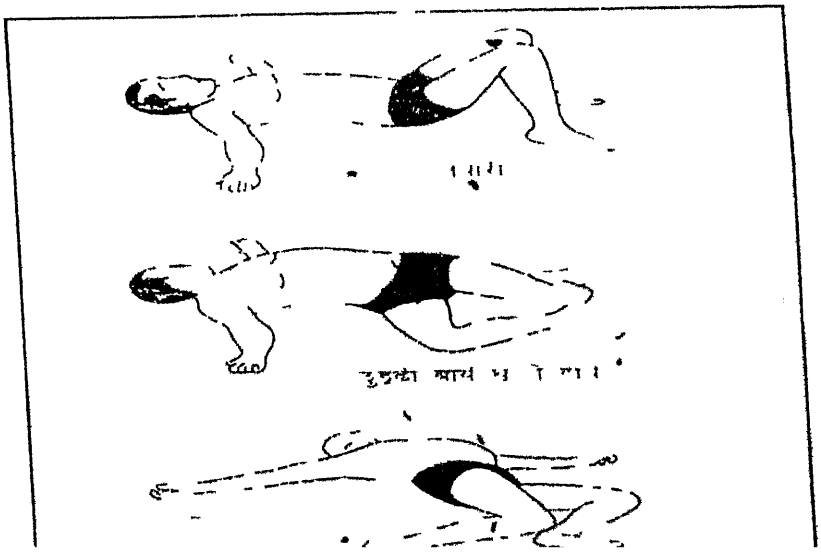

मोडकर आपस में इतना फासला करें जिससे कि जब घुटनों को दायी ओर की जमीन से लगाये तो एक पेर का घुटना दूसरे पेर की एडी से ठीक-ठीक लगें। उपरोक्त चित्र 2 एव 3 के अनुसार । अब ठोडी को बायें कध से लगाये और दोनों घुटनों को दायी ओर इस प्रकार झुकाये जिससे बाये पैर का घुटना दायें पैर की एडी से ठीक-ठीक लगे। चित्र दा के अनुसार स्थिति में कुछ देर रूके। इसके बाद अब ठोडी का दाये कन्धे से लगाये। चित्र 3 के अनुसार इस प्रकार ठोडी बाये तो घुटना दाये।, घुटना बायें तो ठोढी दायें।' प्रारम्भ के कम से कम 10 बार ओर क्रमश 15-15 बार तक बढाते हुए 50-50 बार तक कर सकते है।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 भोजन करने के एक घण्टे बाद तक यह व्यायाम न करें। हॉ इस व्यायाम के तुरन्त बाद भोजन किंया जा सकता है।

2 जिन व्यक्तियों के शरीर में बहुत लोच नहीं है। वह लोग प्रारम्भ में घुटने को एडी से बलपूर्वक लगाने का प्रयास न करे।

3 महिलायें मासिक धर्म के समय एव गर्भावस्था के तीन माह बाद इसे न करें।

4 जिन लोगो का हाल में कोई आप्रेशन हुआ हो या पेट या रीढ की नाडियों मे सूजन हो वे लोग भी किसी अनुभवी प्रशिक्षक के बिना इसे न करें।

क्वीन व्यायाम -

जिस प्रकार आसानों के विपरीतया पूरक आसन अनिवार्य रूप से करना पडता है। जिससे योगाभ्यासी को अधिक और पूरा लाभ हेागा। जिस प्रकार सर्वागासन के बाद मत्स्यासन , सर्पासन व शलामासन के बाद पीठ के बल का नौकासन, धनुरासन के बाद पश्चिमोतासन आदि वैसे ही योग महर्षिस्वामी देवमूर्ति जी द्वारा अन्वेषित किग एक्सरसाइज के बाद क्वीन एक्सरसाइज अवश्य करना चाहिए। तभी पूरा लाभ मिलेता है।

करने को विधि -

उपरोक्त चित्र के अनुसार ठोढी को बाये कन्धें से लगाये ओर दोनों

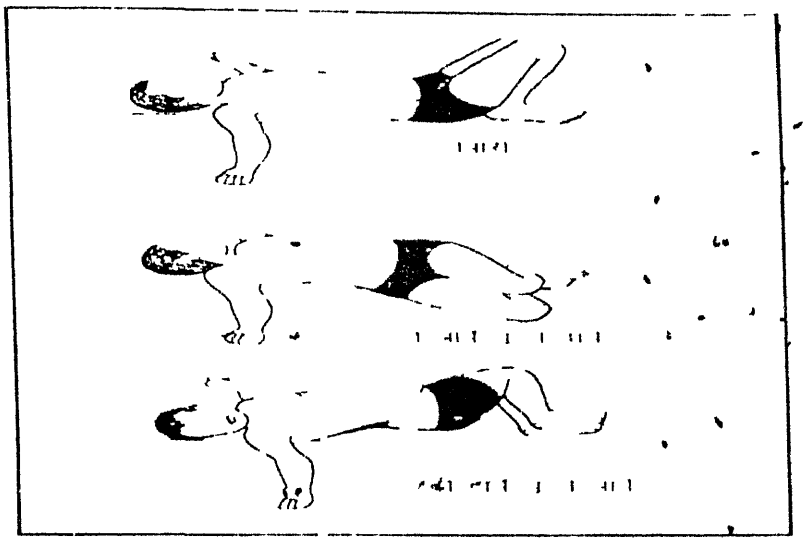

घुटनों अँगूठों एव एडियों को आपस में भली प्रकार चिपकाए हुए दायी ओर की जमीन से लगाये। इस स्थिति में कुछ क्षण रूके। इसके बाद ठोढी को दायें कन्धे से लगाये ओर पूर्ववत दोनों घुटनों , एडियों एव अँगूठों को आपस में चिपकाए हुए बायी ओर की जमीन से लगाये।

इस प्रकार किग्र एक्सरसाइज की तरह ही " ठोढी बाये तो घुटना दाये " घुटने बायें तो ठोढी दाये ।" प्रारम्भ में कम से कम दस बार। बाद में धीरे-धीरे बढाते हुए 50-50 बार तक करने की कोशिश करें।

विशेष -

1 इन दोनों व्यायामों के सुबह शाम अभ्यास से या करने से न केवल हटी नाभि बैठ जाती है बल्कि वायु विकार की तकलीफों में भी नियमित प्रात शौच के पूर्व एव शाम को भोजन के पूर्व करने से बहुत लाभ होता हे।
2 शरीर की थकान मिटाने में ये व्यायाम अद्वितीय लाभकारी हैं। दिन भर भकान से चूर होने के बाद इन व्यायामों को धीरे-धीरे करने स कुछ ही समय में पुन थकान से मुक्ति एव चुस्ती का अनुभव होने लगता है।
3 अनिद्रा के रोगी इन व्यायामों को कुछ देर सोने के पूर्व करें। तत्पश्चात शवासन में लेटकर यदि साँक्षी भाव से श्वास को आने जाने को देखने का अभ्यास करे तो उन्हें प्रथम दिन से ही नीद की गोलियों के खाने की आदत छूट जाती है।

4 रीढ सम्बन्धी कष्ट जैसे कमर दर्द, रीढ की हड्डी का टेढा होना उभरी याधसी होना आदि, इन व्यायामों के नियमित अभ्यास स निश्चित ठीक हो जाते है।

5 पहलवानी देशी व्यायाम , जिम्नास्टिक , ऊची कूद, लम्बी दोड , जागिग या किसी झटके के कारण डिस्क स्लिप जैसी तकलीफों में भी इस व्यायाम से बहुत लाभ होता है।

6 जिस पुरूष या महिला की कमर चौडी हाती जा रही हो अथवा पेट की चर्बी न घटती हेा इन व्यायामों से बहुत लाभ होता है।

7 जिन बच्चों की लम्बाई बढती हो उसके लिए किग एव क्वीन व्यायाम बहुत लाभकारी सिद्ध हुई।

8 जेा ध्यानाभ्यासी ध्यान में लम्बे समय तक स्थिर होकर नहीं बेठ पाते उन्हें इन व्यायामों को ध्यान के पहले अवश्य करना चाहिए।

अब किग एव क्वीन क्रियाओं की विस्तृत जानकारी हो जाने के बाद पुन शख प्रक्षाखन की क्रियाविधि को आगे कैसे बढाते है। इस पर पुन विचार करते हुए मुझ यह कहना हे कि पानी पीने से दूसरे क्रम के पश्चात अनुभव के अनुसार पहले पिया हुआ पानी बडी ऑत में ऑत में ओर नया पिया हुआ पानी छोटी ऑत में पहुँच चुका होता है। फलस्वरूप शौच की अनुभूति होती है। शौच को टालते नहीं बल्कि शौच क्रिया क लिए चल जाते है शौच के पश्चात गुनगुने पानी से हाथ धोकर पुन इच्छानुसार पानी पीकर पूर्ववत टहलने के बाद उपरोक्त आसन दुहराते हे। यदि शौच की अनुभूति हो, तो शोचालय चले जाते है। किसी किसी को इतना पानी पीने के बाद भी शोच नहीं आता हेअत घबराना नहीं चाहिए बल्कि चौथी बार पानी पीकर उपरोक्त क्रम को दुहराते है ओर साथ में यदि आवश्यकता अनुभव करे तो वस्ति क्रिया भी कर लेते है। वस्ति क्रिया के कारण बडी ऑत के अन्तिम भाग में फसी मूल की गाठे निकल जाती है। और बार-बार शौच लगना प्रारम्भ हो जाता है। शोच में नया पुराना मल, आव कृमि इत्यादि निकलने लगते है। 1 महत्वपूर्ण बात यह है कि यह क्रम पानी पीने तथा व्यायाम करने का क्रम तब तक जारी रखते है। जब तक दस्त में एकदम साफ पानी अर्थात जैसा पानी पीते है वैसा ही पानी न आने लगें।[2]

प्राचीन विधि के आसन

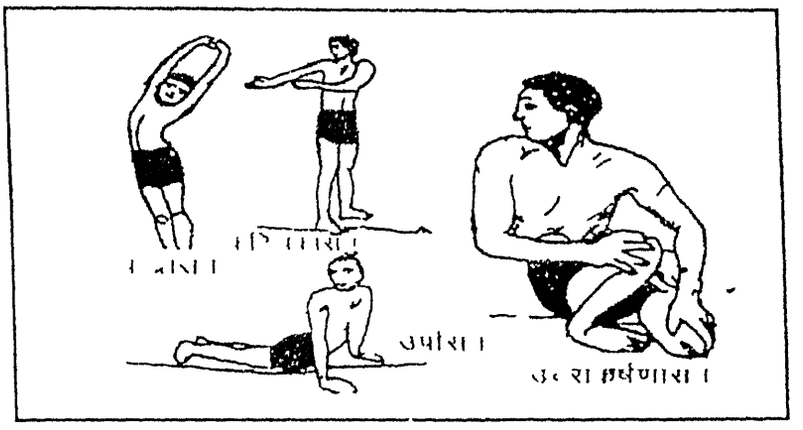

शख प्रक्षालन क्रिया की प्राचीन विधि के प्रचलित चार आसन

उपरोक्त चारों आसन चित्रानुसार क्रम से दोनों ओर जल्दी - जल्दी चार -चार बार प्रत्येक बार 2 -2 गिलास शख प्रक्षाखल का पानी पीने के बाद किये जाते है।

जैसा मैने अनुभव किया हे कि आजकल प्राचीन काल के चारों आसनों की जगह योग महर्षि स्वामी देवमूर्ति जी महाराज के किंग एव क्वीन आसन व्यायाम अधिक उपयोगी है।

जब यथावत पानी शौच मल के स्थान पर आने लगे और फिर पानी आना भी बन्द हो जाये तब 10-15 मिनट का श्वासन और उसके पश्चात बन्द जगह में ताजे पानी से स्नान करते है। उसके बाद दलिया या चावल, मॅग और उसमें घी 50 ग्राम से 100 ग्राम तक डाल कर खाते हे खाने के बाद नींद लगे तो सो जाते है ।फिर उस दिन शाम को कुछ नही खाते। यदि बहुत भूख लगे तेा पुन घी पडी खिचडी खा सकते है। अगले दिन दोपहर में भी खिचडी खाते हे तथा शाम को दो रोटी सब्जी के साथ ले सकते है। शख प्रक्षालन के बाद अगर प्यास लगती है तो सादा गुनगुना पानी पिया जा सकता है।

महत्वपूर्ण तथ्य.-

1 शख प्रक्षालन अकेले स्वय नहीं करना चाहिए किसी अनुभवी योग प्रशिक्षक के निर्देशन में करना चाहिए।

2 खिचडी के साथ पत्तीदार सब्जियॉ, खटाई, लाल मिर्च, गरम मसाले व अचार का प्रयोग न करें। खिचडी में धनिया, हल्दी और जीरा मिलाया जा सकता है। नमक की मात्रा कम रखें।

3 खिचडी को स्वादिप्ट एव पाचक बनाने के लिए पत्तीदार सब्जियां के अलावा मौसम की सभी मब्जियॉ डालकर बनाना चाहिए तथा जो जो दालें सम्भव हों जैस मूग , मसूर मूगफली आदि भी मिला सकते हे।

4 जिनके पेट में कृमि या कीडे हो उन्हे शख प्रक्षालन मं पिय जाने वाले पानी के साथ एक गिलास चिरायता कुटकी का गुनगुना काढा भी लेना चाहिए

कपाल भांति

प्रतिदिन योगियों द्वारा प्रतिपादित शोधन याग की छठी क्रिया कपाल भाति है। जिमे शोधन के लिए 5वी क्रिया के रूप मे प्रतिपादित करना चाहूँगा क्योंकि पॉचवी क्रिया त्राटक हे। त्राटक चॅकि मस्तिष्क की एकाग्रता की क्रिया ह अत पहले यह ज्यादा आवश्यक होगा मस्तिष्क शोधन में जा पहले नेति क्रिया का विवेचन किया गया हे उन क्रियाओं के उपरान्त भी कुछ गन्दगी शेप रह जाती हे जिसे हम कपाल भाति की क्रिया द्वारा पूर्णरूपेण साफ करके मस्तिप्क का अधिक से अधिक स्वच्छ कर लेते है। जिससे त्राटक को करने में आसानी हो तथा उसके दुष्प्रभावों से भी बचा जा सकें। अतएव मेरे मत में त्राटक जो कि प्राचीन योगियों ने 5वें स्थान पर रखा है मैं उसे छठे स्थान पर रखने में सहमत हूँ ओर उससे पहले कपाल भाति को प्रथम वरीयता देता हूँ ओर इसी क्रम में कपाल भाति का विवेचन अब करने जा रहा हूँ

कपाल अर्थात मस्तिप्क शरीर का ऐसा अग है जिनकी बराबरी में मनुष्य के पास कोई भी दूसरा महत्वपूर्ण अवयव नहीं है। मस्तिष्क ही परमात्मा को जानने एव ससार की प्रत्येक वस्तु के पाने का एकमात्र साधन है जैसा कि यह सभी जानते हैं कि हाथ पैर के कटने से ऑख, कान आदि के बिगड जाने से तो मनुष्य जिन्दा रह सकता है। किन्तु मस्तिष्क के कट जाने पर मनुष्य का जीवित रह सकना असम्भव है। मोक्ष के सबध मे तो समालोचना ही नहीं की जा सकती है। योगियों ने इसका ही नाम ब्रहास्ध्र रखा हे। मनुष्य के जीवन की अमूल्य वस्तु को शुद्ध व पवित्र करने वाली योग क्रिया का नाम 'कपाल भाति ' है। यह क्रिया तीन प्रकार से होती है।

1 वातकर्म कपाल भाति

2 व्युत कर्म कपाल भाति

3 शीतकर्म कपाल भाति

इसके अभ्यास से मस्तिष्क के सभी रोग नष्ट हो जाते हे। इसमें आराग्यता का विकास होता है। विचार धारायें मलिनता को त्याग कर स्वच्छता की ओर बहने लगती है। ये विचारधारायं ही मनुष्य के मस्तिष्क को विकास में बदल सकती है।

आधुनिक विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया हे कि मनुष्य का पतन उसके अपने विचारों से हाता है और वह उन्नति के शिखर पर अपने विचारों से ही पहुँचता है। तभी तो हमारे उपनिपदों में कहा गया हे कि मनुष्य विचारों का ही बना हुआ है। गीता में भी महात्मा कृष्ण कहत हे कि हे अर्जुन जो कुछ भी तेरे पास हे वह तुझे श्रद्धाजलि से ही मिला है। आगे तू जैसी श्रद्धा करेगा वैसा ही तू बन जायेगा। विचारों के कारण ही आज नवयुवक वीर्य दोष से परेशान है और विचारों को शुद्ध करके ही इस कष्ट से मुक्ति पा सकता है।

मस्तिष्क गन्दा तो विचार गन्दे, मस्तिष्क स्वच्छ तो विचार स्वच्छ, बस यही जीवन कर सार है।

1 वात कर्म कपाल भाति

प्राचीन विधि – सर्वप्रथम पद्मासन या सुखासन में बैठकर बायीं नासिका से श्वास भरना फिर दायी नासिका से बाहर निकालना इसी प्रकार दायी से भरकर बायीं से निकालना और बायी से भरका दायी से निष्कालना । इस प्रकार पूरक रेचक करने को वातकर्म कपाल भाति कहते है। प्रारम्भ में पूरक रेचक बहुत गहरे करने चाहिए। अर्थात् लम्बा श्वास खींचना चाहिए।

सशोधित विधि .-

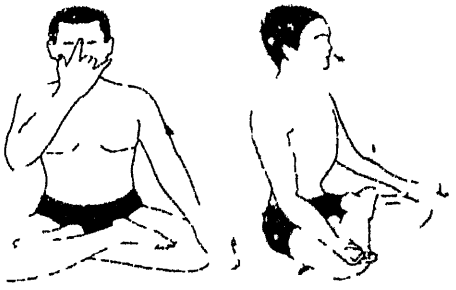

उपरोक्त चित्रानुसार दरी या कम्बल पर पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठ जाये। कमर पीठ तथा गर्दन सीधी रहनी चाहिए। दोनों हाथों को दोनों

---

[100] अथ कुतुमय पुरूप (उपरिषद)

घुटनों पर रखियें अब ऑख बन्द करके शान्त भाव से बैठ जाना चाहिए। फिर नासिका के दोनो छिद्रों द्वारा जोर स धक्का देकर श्वास को बाहर फेंकिये। बाहर फेंकने अर्थात रेचक करने के बाद पूरक करने की चिन्ता या प्रयास नही करना चाहिए। पूरक स्वत हो जायगा। शुरू में थोडा धीर-धीरे रचक करें। चार पॉच रेचकों के बाद गति को बढाकर जल्दी-जल्दी रेचक करते हुए जोर-जोर से श्वास को बाहर निकाले। ध्यान केवल श्वास के धक्के के साथ बाहर फेंकने पर ही रखें । प्रत्येक दो रेचकों के बीच पूरक तो अपने आप ही हो जाता हे। कपाल भाति करते समय बीच में रूकना नही चाहिए। लगातार एक के बाद एक रेचक करते हुए अन्त में श्वास को बाहर निकाल कर बाहा कुम्भक लगा लें। कुम्भक लगाकर जालन्धर बन्ध उड्डियान बन्ध ओर मूल बध लगाकर महा बध लगा लीजिए। जितनी देर तक सरलता पूर्वक रूक सकें। रूक कर पहले तीनों बधो को खोलिये ओर धीरे-धीरे पूरक की जिए। यह एक कपाल भाति प्राणायाम हुआ। आरम्भ में दो बार ही करें। धीरे-धीरे बढाकर पॉच बार तक कर सकते हे। एक बार में आरम्भ में दस-बाहर बार रेचक करें। धीरे-धीरे बढाकर पचार बात तक कर सकते हे।

महत्वपूर्ण तथ्य –

1 कपाल भाति प्राणायाम में रेचक करते समय पेट झटके के साथ अन्दर जाना चाहिए, क्योंकि वायु झटके के साथ बाहर निकलती है। पूरक करते समय पेट अपने आप अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जायेगा। कपाल भाति और भस्त्रिका प्राणायाम में केवल इतना ही अन्तर हे कि कपाल भाति मे रेचक जोर से किया जाता हे। आर भस्त्रिका में पूरक और रेचक दोनों ही जोर से किया जाता है।

2 बध का अर्थ बांधना है। बध तीन है।- जालन्धर बध उड्डियान बध और मूल बध। इन तीनों बधों के योग को महाबध कहत है। बध के अभ्यास से शारीरिक एव मानसिक शक्तियों के बाधने में सहायता मिलती हे।

3 जालन्धर बध – किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर सारे श्वास को बाहर निकाल दीजिए। अब श्वास को बाहर ही रोक करके पेट को अन्दर की ओर इतना पिचकाइये। कि वह कमर में जा लग। जितनी देर सरलता पूर्वक रूक सकते है। अन्त मे धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड दीजिए और श्वास को अन्दर जाने दीजए यह उड्डियान बध कहलाता है।

4 मूल बध - किसी भी सुखासन में बेठ कर गुदा (मलद्वार) को ऊपर की ओर खीच कर सकाचन करने को मूल बध कहते है।

5 महाबध - तीनों बधों के एक साथ लगाने को महाबध कहत है। क्रमश इस क्रिया को यथा शक्ति जल्दी-जल्दी भस्त्रिका प्राणायाम की तरह करते है इस क्रिया से नय पुराने , मस्तिष्क एव कफ सम्बन्धी सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हे।

व्युत्कर्म कपाल भति

दोनों नासिकओं से जल पीकर मुख से बाहर निकाल देने को व्युत्कर्म कपाल भाति कहते है।

शीतकर्म कपाल भाति

मुख में जल को भरकर दोनों नासिकाओ से बाहर निकाल देने को ही शीत कर्म कपाल भाति कहते है।

त्राटक -

त्राटक येाग की शोधन योग के अन्तर्गत छठी क्रियाँ के रूप में वर्णित की गयी है। इसमें किसी भी स्वाभाविक गति या बिन्दु पर अविचल सूक्ष्म अथवा स्थूल दृष्टि गडा देने या नेत्र को उसमें स्थिर करक एकटक (बिना पलक झपकाये) देखने को त्राटक कहते है। त्राटक क्रिया को करने से पहले यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पहले शरीर शोधन की पूर्व में वर्णित सभी क्रियाए नेति, धौति , वस्ति , नोलि शख प्रक्षालन आदि क्रियाओं के द्वारा शरीर शोधन खूब भली भाति कर लिया है। शरीर के समस्त विकार अथवा गन्दगा का निकल जाना अनिवार्य है।

त्राटक क्रिया से नेत्रों के समस्त रोग दूर हो जाते है। चचल मन को शान्त एव एकाग्र करने के लिए योग में यह क्रिया अद्वितीय हे। आध्यमित्मक उन्नति चाहने वालों को त्राटक क्रिया का अभ्यास करना बहुत जरूरी हे क्योंकि इस क्रिया के करने से स्वय में उत्पादक , अर्थात जो चाहे सो पायें; रक्षक एव सहारकारिणी शक्तियॉ स्वय आ जाती है।[1] किसी सुखासन में बेठकर धातु या पत्थर की बनी हुई नुकीली अथवा कागज पर काला बिन्दु बनाकर अथवा अगर बत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये बैठे रहना त्राटक है इससे नेत्र ज्योति की वृद्धि के साथ स्वास्थ्य में सुधार एव मन स्थिर होता है। चित्त शान्त और प्रसन्न होता है।[2]

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी याद रखना चाहिए कि त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता आ जाती है अत नेत्रों को त्रिफला हरण अथवा गुलाब के पानी से धेाना चाहिए और नेत्रों के व्यायाम अर्थात् शान्तिपूर्वक दृष्टि को दायें, बाये

नीचे, ऊपर धीरे-धीरे चलाने की क्रिया करनी चाहिए। आचार्यो के मत में यह मुख्य रूप से इसके तीन प्रकार बतलाये है

1 आन्तर त्राटक

2 मध्य त्राटक

3 बाहा त्राटक

1 आन्तर त्राटक

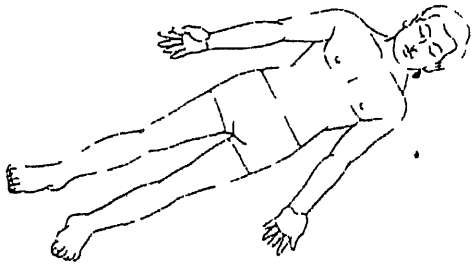

उपरोक्त चित्र की भाति शवासन में सर्वप्रथम पीठ के बल लेट् जाइये और श्वास सामान्य अवस्था में चलने दे। इसी प्रकार उसे किसी भी सुखासन में बैठकर के किया जा सकता है। अब भ्रूमध्य, अर्थात दोनो आँखों के मध्य आज्ञाचक्र में जहॉ महिलायें बिन्दी लगाती है पुरूष टीका लगाते है। हदय की धडकन , नाभि के स्पन्दन आदि

आन्तरिक स्थानों की स्वाभाविक क्रिया की गति को मानसिक भावना से देखने को आन्तर त्राटक कहते हें आन्तर त्राटक करने के पश्चात मत्र जाप या रूप दर्शन से ध्यान जल्दी सिद्ध हो जाता है।

यदि उच्च रक्त चाप , हदय रोग, अनिद्रा, गठिया एव स्नायुविक पीडा से ग्रस्त रोगी सुबह शाम कम से कम 20 मिनट इस आन्तर त्राटक के अभ्यास को करें तो उनके रोग शीघ्र नष्ट हो जायेगें।

2 मध्य त्राटक –

किसी धातु अथवा पत्थर की बनी हुई बस्ते जैसे थाल में पानी के बीच मे रखी शालिग्राम की काली बटिया अथवा काली स्याही से कागज पर बनागोला अथवा नासिका के अग्र भाग म भ्रूमध्य पर टकटकी लगाकर तागातार देखने

---

[1] याग द्वारा कायाकल्प पृष्ठ 77

2 पिश्व गुरू कल्पतरू पृष्ठ 520 कल्पतरू

रहना मध्य त्राटक कहलाता हैं यह ध्यान रखना चाहिए कि हमें करने से पहले नेत्रों के व्यायाम जलनेति रबर नेति आदि क्रियायें पहले कर लें तो ज्यादा फायदा मिलेगा।

एक फुट लम्बे तथा एक फुट चोडे बिल्कुल सफेद कागज के बीचों बीच एक अठन्नी या रूपये के बराबर बिल्कुल गोल चमकीले काले रग का गोला बनाय और उसे अपने सामने की दीवार पर इस तरह टाग दे कि वह गोला ऑखा के ठीक सामने पड अथवा किसी दीवार या तख्त पर जिसकी ऊँचाई नेत्रों के बराबर हो अर्थात ऑखों के ठीक सामने पडे ओर जहॉ हवा का झोंका अथवा तेज हवा न हो, घी का एक दीपक जला कर रखें । अब उस कागज या दीपक से एक मीटर की दूरी पर सिद्धासन या पद्मासन बेठ जाये।

अब पूर्ण खुले हुए दोनो नेत्रों मे कागज पर काले बिन्दु या उस दीपक की ज्योति को तब तक निरन्तर अपलक देखते रहें जब तक ऑखों में ऑसू न आ जाये। ऑसू गिरने या टपकने के पूर्व ही ऑखों को कसकर बद कर लें। इसी प्रकार कई बार इस क्रिया का अभ्यास करना चाहिए।

धीरे-धीरे इस क्रिया का अभ्यास हो जाने पर, उस बिन्दु पर एक उजाला सा प्रतीत होने लगेगा और इसके चारों ओर छोटी-छोटी प्रकाश की किरणें दिखाई पडने लगेंगी। इसमें अनेको प्रकार के रग भी दिखाई पडने लग सकते है । लेकिन हमें अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ही देखते रहना चाहिए। यदि कभी भ्रम वश या भूल से ऐसा हो जाय तो धैर्य खोना नहीं चाहिए । अपने लक्ष्य बिन्दु या ज्योति पर दृष्टि को पुन केन्द्रित कर देने पर पहले की भाति प्रकाश आ जायेगा। अब धीरे-धीरे मन नेत्रों में मिलाकर पूर्वोक्त प्रकाश की अपनी रूचि के अनुसार टिकाने का प्रयास करें। प्रारम्भ में इस प्रकाश की चचलता तो रहेगी । किन्तु 10-15 दिन के अभ्यास मे सकल्प के अनुसार प्रकाश ठहरने लगेगा। बस यही त्राटक की सिद्धि हे।

3 बाहा त्राटक

चन्द्रमा , प्रकाशित , नक्षत्र , प्रात काल उदय होता सूर्य अथवा अन्य दूरवर्ती लक्ष्य जैसे नदी या दरिया, हरी घास या हरे पेड़ पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाहा त्राटक कहते है।

षट्कर्म में भोजन सुधार एव उपवास

षटकर्म योग भोजन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। योगाभ्यासी को सयम व्रत का पालन करते हुए अपने आधार पर भी विशेष ध्यान देना पडता है। इसीलिय हमारे मनीषियों ने भोजन के सम्बन्ध में कुछ अनिवार्य नियमों के पालन की व्यवस्था की है जिससे कि याग साधना में कोई शरीर पर अनुचित प्रभाव न पड और शरीर शुद्धि के पाचन तन्त्र को आराम देने के दृष्टिकोण से उपवार पर भी ध्यान दिया है। आयुर्वेद में कहा गया हे कि जब हमारी ,ऑतो को भोजन नहीं मिलता है तब वह शरीर के दोषों का पाचन करती है। युक्ति युक्त उपवास के बारे में भी सक्षिप्त व्याख्या करूँगा क्योंकि उपवास का अर्थ भूखों मरना नहीं हे। बल्कि भोजन का फार्म बदला जाता है जिससे कि शरीर के अन्दर की निष्कासनात्मक व्यवस्था में हम सहयोग कर सकें। सर्वप्रथम भोजन के आवश्यक एव महत्वपूर्ण कुछ नियम निम्नवत है

1 शारीरिक श्रम या योगाभ्यास के पूर्व न कुछ खाये ,और न पियें केवल सादा पानी पी सकते है।

2 बिना भूख में कम भूख में कुछ भी खाना व पानी नहीं चाहिए। जब भूख खुलकर लगे तभी भोजन करना चाहिए। प्रथम किया हुआ भोजन ठीक से पच जाने के बाद दूसरा भोजन करने वाले के पास व्याधि नहीं आती हे।1

3 भूख से सदा थोडा कम खाना चाहिए और खूब चबाकर खाना चाहिए। दातो का काम आँतो से नहीं लेना चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि पानी को खाओ और भोजन को पियो।

4 भोजन के साथ पानी कम से कम पीना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहा गया हे कि अजीर्ण में पानी का सेवन औषधि का काम करता है। भोजन पच जाने

पर सेवन किया हुआ जल बलदायक होता हे भोजन पच जाने पर सेवन किया हुआ जल बलदायक होता है। भोजन में बीच में घॅट-घूॅट कर पिया गया जल अमृत के समान होता है और भाजन करके तुरन्त दिया गया जल विपमम होता है।2

5 अधिक पानी पीने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता ओर पानी न पीने से भी वही दोष होता हे। इसलिए जठराग्ति वर्धनार्थ मनुष्य बराबर थोडा-थाडा पानी पिया करें।3

6 ठोस अन्न से जठर का आधा भाग और जल (पेयों) से चौथाई भाग भर दिया जाय और वायु रूप दृष्यों के सचरण के लिए चौथाई भाग खाली रखा जाय। 1

7 भोजन करने पर एक मुहूर्त भर (42 मिनट) व्यायाम , मैथुन , दौडना जलयान, मल्लयुद्ध गाना और पढना ये कर्म न करें। 2

8 प्राय वसाय के जलपान में चाय के स्थान पर चने का सूप या सब्जी कर रस या फलों का रस पीजिए अथवा पाव भर गुनगुने जल में आधा नीबू कर रस व दो चम्मच शहर डालकर पीना चाहिए।

9 भोजन में सलाद व गेहूॅ की माात्रा अधिक से अधिक रखना चाहिए फुजले की पर्याप्त मात्रा भोजन में होने से पेट ठीक रहने लगता है। फुजला गेहूॅ के चोकर से तैयार किया जाता है। 100 ग्राम फुजले को 1किला आटे में मिलायें अधिक कब्ज में 200 ग्राम तक मितायें

10 शीघ्र स्वस्थ होने के लिए चीनी, चाट, लाल मिच गरम मसाला, नमक, खटाई , व तली चीजें न खाये। धनिया जीरा हल्दी, अदरक , हरी मिर्च , सेंधा नमक थोडा सा डाल सकते है।

11 भोजन के बाद पेशाब जरूर करना चाहिए। चाहे इच्छा न हा उसके बाद तत्काल कम से कम पाच मिनट वज्रासन में अवश्य बैठना चाहिए और यदि गैस की शिकायत रहती हो तेा एक छोटी हरड मुँह में डालकर चूसना चाहिए।

12 अण्डा, मास, मछली, शराब, बीडी सिगरट, तम्बाकू, पान मसाला, आदि अति अम्लीय एव नुकसान देय व्यसन हैं। इनका सेवन कदापि न करें । [102]

13 सप्ताह में एक दिन नवदुर्गा में नवदिन प्रात जलाहर दोपहर में रसाहार एव शाम को फलाहार पर रहना चाहिए। इससे पाचन क्रिया ठीक रहती हे।

उपवास के नियम

जिस प्रकार खूब थका हुआ व्यक्ति गहरी नीद सेाकर ताजा हो जाता हे उसी प्रकार आहार-विहार की गडबडी से उत्पन्न पेट के राग उपवास करने से दूर हा जाते है। यही कारण है कि अजीर्ण , मनदाग्नि एव आँतो की दुर्बलता दूर करने के लिए स्वास्थ्य प्रेमी उपवास का सहारा लेते है। किन्तु यदि उपवास की सही विधि न अपनाई जाय तो उपवास से लाभ नहीं होता, है। उपवास के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखा जाय तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो जायेगा। इसलिए उपवास के सम्बन्ध में सही विधि के लिए निम्नलिखित जानकारी पर्याप्त है।

1 उपवास का अर्थ भूखों मरना नहीं हे बल्कि कम भूख में या बिना भूख के खाना न खाना है

2 उपवास की शुरूआत तीव्र भूख या कम भूख के अभाव मु शुरू होती है। और तीव्र भूख लगने पर समाप्त होती है

---

[107] जीर्ण भोजिन व्याधिर्नोपसप्रति चाणक्यसूत्र वैद्यकाय सुशिक्षित साहित्यम् पृष्ठ 97 तृताय सस्करण वि0 स्वत 2040

2 अजीर्णे भेषज वारि जीर्णे वारि बल प्रदम् ।(19)

भाजने चामृत वारि भाजनान्त विषप्रदम्। वृद्धचाणक्य वैद्यकाय सुशिक्षित साहित्यम डॉ0 परशुराम वैद्य पृष्ठ67

3 क्षेय कुतुहल (20) वृद्धचारणक्य वैद्यकीय सुभाषित साहित्य डॉ0 परशुराम वैद्या पृष्ठ67

3 उपवास में ऐसे भोजन का चुनाव किया जाता है जिसमें उपवासी को उस भोजन के पचाने में शक्ति खर्च न हो या कम से कम हो।

4 रोटी, दाल, चावल के पचाने में शरीर को बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है। पूडी , पराठा, खीर, आदि क पचाने क लिए तो और अधिक शक्ति की आवश्यकता होती हे।

5 यही कारण है जानकार लोग उपवास के दिन उपरोक्त वस्तुयें नहीं खाते है। बल्कि सूप, जूस , फल , सब्जी का ही प्रयोग करते है।

6 उपवास के दिन कम से कम दिन भर चार-पॉच किलो जल के सेवन से ऑतो की धुलाई अच्छी एव शीध्र होती हे।

7 उपवास के दिन , दिन में तीन-चार बार नींबू ,शहर का गुनगुना शर्बत लाभकारी होती है। मात्रा -नीबू आधा एव शहँर दो चम्मच।

8 उपवास के दिन प्रात काल नेति क्रिया ,वस्ति क्रिया , कुञ्जर क्रिया , घषर्ण स्नान, एनिमा आदि के द्वारा शरीर की सफाई कर ली जाये तो उपवास का लाभ कई गुना बढ जाता है

9 उपवास के दिन कठोर श्रम या कठार व्यायाम न करके शवासन योग निद्रा एव ध्यान करना अधिक उपयोगी है

उपवास तोडते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता होती हे। अधिक या भारी भोजन से उपवास न तोडें।

आसन

महर्षि पतञ्जलि ने साधपाद में अष्टाग योग के अन्तर्गत आसन को तीसरा स्थान दिया है। शरीर को भिन्न-भिन्न स्थितियों में रखत हुये जिस किमी भी एक स्थिति विशेष रूप से सुखपूर्वक स्थिर रख सकें, उसे 'आँसन' कहत हे।[1] हर आसन का अपनी-अपनी स्थिति आर अपना-अपना स्वरूप है। योगासनों के द्वारा हम अपने

रोगों को दूरकर सकते हैं आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं और स्वस्थ रह सकते हे, आसन एक ऐसा सरल व्यायाम है, जिसम तनाव नहीं हे। योगासन का अभ्यास स्वस्थ एव मुखी जीवन जीने का सुन्दर साधन हे।

आसनों को साधने का अभ्यास बहुत धेर्यपूर्वक तथा सयम से करना चाहिए। धीरे-धीरे पहले एक आसन को आरम्भ करना चाहिए। यदि उस एक आसन के साधने में जल्दी की हो तो उससे तनाव बढने की आशका हो सकती है। तब पीडा से परेशानी भी हो सकती है अधीर होकर निराशा भी आ सकती है और आसना का अभ्यास बन्द करने की स्थिति भी आ सकती है। तब उन्नति की ओर बढने के स्थानपर पतन की ओर जा सकते है। इसलिए एक आसन को जल्दी जल्दी करना या अनेक आसनों को एक ही दिन में साधन का यत्न करना कदापि खते से खाली नहीं हे। ऐसे लोग, जो बहुत दुर्बल है हृदय रोग, गठिया, ब्लॉड प्रेशर, दमा, मोटापा जसे कष्टो से पीडित है या जिन्हें योगासन करने से तकलीफ बढ जाती है या जिनके शरीर की नाडियों में लचीलापर नहीं है ऐस लोगो को प्रारम्भ में अग व्यायाम का क्रम ही उपयोग हे। इन अग व्यायामों की सबसे बडी विशेषता हे कि ये शरीर को उन्नत श्रेणी के आसन एव मन को ध्यान के लिए तैयार करते है। इसक नियमित अभ्यास से शरीर की नाडियो एव मासपेशियों में लचीलापन आ जाता है। जोडो में एकत्र विकार शरीर मुक्ति के मार्गो से निकल जाते है। ये विकार सात रास्ता से होकर शरीर से बाहर निकलते हैं। 1 नासिका 2 ऑख 3 कान 4 मुँह 5 गुदाद्वार 6 जननेन्द्रिय 7 त्वचा द्वारा इन मार्गो से शरीर के मल मूत्र विकार पर्याप्त मात्रा में और नियमित रूप से शरीर से बाहर नहीं निकल पाते तभी अधिकाश रोग उत्पन्न हो जाते हैं। योगासन द्वारा ये विकार सातो मार्गो द्वारा पर्याप्त मात्रा में सरलता पूर्वक शरीर के बाहर निकलते रहते है। फलस्वरूप शरीर निरोगी रहता है।

योगासन शरीर के अन्तर्वाहय अगो को स्वस्थ रखने की क्रियाए है। जब तक हमारे शरीर के आन्तर्वाध्य अग स्वस्थ नहीं होते तब तक हम कोई भी कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकते। तन और मन का परस्पर बडा गहरा सम्बध हे। किसी एक की उपेक्षा करके दूसरे की देखभाल नहीं की जा सकती है। कहा भी गया है कि

---

1 स्थिर सुखमासनम्। या सू 2/46

'स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन' रहता है। आसना की सिद्धि करने स शीत, उष्ण, सुख दुख, मान, अपमान, हानि, लाभ, द्वन्दो का आघात नहीं होता है आसन सिद्ध होने से योगी का नाम जयासन हो जाता है।[1]

योगासन व्यायाम आज के अन्य व्यायामों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हे इसके निम्नलिखित कारण है -

1 अन्य पद्धतियों में शरीर के आन्तरिक अगो को योग्य व्यायाम नही मिल पाते जबकि योगासन से शरीर के आन्तरिक अगो को पर्याप्त मात्रा में व्यायाम मिल जाता है। फलस्वरूप योगासन से व्यक्ति अधिक समय तक स्वस्थ रह सकता है।

2 योगासन केलिए बहुत ही कम जगह और कम साधनों की आवश्यक होती हे।

3 व्यायाम की अन्य पद्धतियों की अपेक्षा योगासन का प्रभाव मन ओर इन्द्रियों पर अधिक मात्रा में पडता हे। इस कारण मन और इन्द्रियों को वश में रखने की व्यक्ति की तन मन की आन्तरिक शक्ति का विकास होता है।

4 योगासन में अधिक आहार की आवश्यकता नहीं पडती इसलिए विशेष खर्च नहीं करना पडता।

5 योगासनो के द्वारा मल ओर अन्य विकार भली भाति बाहर निकल सकते हे, जिससे शरीर को रोग प्रतिकारक शक्ति बढती है और शरीर रोग मुक्त बनता है।

6 योगासनों से शरीर लचीला बनता है। इससे शरीर में स्फूर्ति आती है, काम करने की शक्ति बढती है, व्यक्ति जवान लगता है और उसकी आयु बढती है।

7 भिन्न-भिन्न आसनो द्वारा शरीर को भिन्न-भिन्न कोशिकाओं का रक्त शीघ्रता से शुद्ध किया जा सकता है।

8 योगासनो और प्राणायाम से फेफडो के सकुचन और प्रसरण की शक्ति बढती है। फलस्वरूप रक्त अधिक मात्रा में शुद्ध होता है।

9 आयु, यौवन और स्वास्थ्य मेरूदण्ड के लचीलेपन पर निर्भर है। आसनो द्वारा मेरूदण्ड को लचीला रखा जा सकता है।

---

1 ततोद्वन्द्वानभिघात । पतञ्जलियोग (2-48)

10 आसन करते समय बहुत हो कम शक्ति का व्यय होता है। फलत थकाल कम लगती है। यही कारण है कि यागासनों को अहिसक क्रियाए कहा जाता है।

11 योगासना से व्यक्ति सच्चरित्र बनता ह।

12 योगासनों से मन शक्ति का अनुभव करता हे। इस कारण मानसिक शक्ति बढती है और बुद्धि का विकास होता हे।

13 योगासनों से शरीर की विभिन्न ग्रन्थियां को जाग्रत किया जा सकता हे जिससे उनमें अपेक्षित मात्रा मं रस उत्पन्न होता हे। यही रस रक्त में मिंताकर शरीर का सन्तुलित विकास करता हं।

14 योगासनों ओर प्राणायाम से कब्ज, वायु मधुमह, रक्तचाप, हार्निया मिरदर्द आदि रोग मिटाये जा सकते है।

15 योगासनो द्वारा शारीरिक और मानसिक विकास के साथ साथ बौद्धिक और आत्मिक विकास भी सम्भव है।

16 बडी उम्र के स्त्री पुरूष भी योगासन कर सकते है। यह पूर्णत भारतीय व्यायाम पद्धति है। हमारे ऋषि मुनियों ने हजारों वर्षो तक इस पद्धति को अपनाया था। फलस्वरूप वे लम्बे समय तक स्वस्थ रहा करते थे।

योगासन करते समय निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यों का ध्यान रखना आवश्यक है -

1 योगासन प्रात काल शोच क्रिया से निवृत्त होकर ही करना चाहिए। यदि स्नान करने केबाद योग का अभ्यास किया जाय तो और भी अच्छा है क्योंकि स्नान से शरीर हल्का फुल्का और स्फूर्ति युक्त बन जाता है। साथ ही योगासन सरलता से किये जा सकते है। सन्ध्या काल में भोजन से पूर्व भी योगाभ्यास किया जा सकता है।

2 आसन करने की जगह समतल, स्वच्छ ओर शान्त होनी चाहिए। भूमि पर दरी या कम्बल बिछाकर योग का अभ्यास करना चाहिए।

3 योगासन करते समय मौसम के अनुसार कपडे पहनने चाहिए। पुरूषों के लिए लगोट या जागिया तथा स्त्रियों के लिए सलवार कुर्ता विशेष अनुकूल रहता है।

4 आसन करते समय बातचीत न करें। आसन करने वाले व्यक्ति का ध्यान श्वास और शरीर के उन अगो पर केन्द्रित हाना चाहिए जिन पर आसन करने से जोर अधिक पडता है। यदि आसन एकाग्रता से किये जाय तो शारीरिक ओर मानसिक लाभ अधिक होते है।

5 आसन प्रारम्भ करने से पूर्व श्वासन करके श्वास, शरीर ओर मन का शान्त करना चाहिए।

6 योगासन अहिसक क्रिया है, इसलिए झटके क साथ या बल- प्रयोग करक काइ आसन न करें।

7 योगासनों का अभ्यास धीरे-धीरे बढाना चाहिए। ऐसा करने से शरीर मं लचीलापन उत्पन्न होगा ओर थाड ही समय में सरलता से आसन की पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकेगी।

8 योगासन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। उसका सम्बध शरीर के आन्तर्वाहय अगा स है। इसलिए योग प्रशिक्षण के निर्देशन मे सीखने के बाद ही योग का अभ्यास करना चाहिए।

9 आसन करने वाले व्यक्ति को यथा सम्भव हल्का भोजन करना, चाहिए, जिसस शरीर में हल्कापन रहे।

10 जटिल रोगो में या अधिक ज्वर में आसन नहीं करना चाहिए। महिलाओं को गर्भ धारण के चार महीनों के बाद, प्रसूति के बाद तीन महीनो तक ओर मासिक धर्म के समय आसन नहीं करना चाहि। जिस आसनो में पूरे शरीर का वजन हाथ के स्नायुओं पर उठाना पडता हो, ऐसे आसन महिलाओं को काफी अभ्यास के बाद ही करने चाहिए।

11 आसनों की सख्या और उनकी अवधि में धीरे-धीरे वृद्धि करना चाहिए। पहले ही दिन बहुत अधिक आसन नहीं करना चाहिए।

12 किसी भी आसन की प्रारभिक स्थिति से अन्तिम स्थिति तक जाते समय आर अन्तिम स्थिति से प्रारभिक स्थिति तक आते समय बिल्कुल जल्दबाजी नहीं करना चाहिए।

13 योगासन करने के बाद थोडे समय के लिए श्वासन अवश्य करना चाहिए श्वासन एक सम्पूर्ण आसन है। इस से शरीर की थकावट बहुत जल्द दूर हो जाती है और शरीर में शक्ति का सचार होता है।

14 आसन करने के बाद थकावट का अनुभव न हो, शरीर हल्का फुल्का महसूस हो ओर कार्य शक्ति बढती जाय तो समझना चाहिए कि योगासन भली भाति और लाभप्रद ढग से किये जा रह हे।

योग-साधन और भोजन

योग का अभ्यास करने वाले का भोजन पूर्णतया सात्विक ओर सन्तुलित हाना चाहिए। जिस भोजन से बल, स्वास्थ्य स्फूर्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह सात्विक हे। यह मधुर, शान्ति प्रद और शरीर के अनुकूलइ होता हे। राजसी प्रकृति के लोगों को बहुत खारे, कसैते चटपटे उष्ण, तीखे ओरर शुष्क भोजन प्रिय होते हे। बासी, सडे-गले अस्वाद और गन्देपदार्थ जिसस निद्रा, आलस्य, रोग आदि उत्पन्न हात है ये तामसिक वृत्ति के लोगों को पसन्द होते हे।

जैसा भोजन होता है, वैसे ही विचार बनते हे। भोजन का जो स्थूल अश होता है, वह मल बनकर मल द्वार से बाहर निकल जाता है। उसमें जो सूक्ष्म भाग होता हे, उससे रक्त, मॉस, मज्जा आदि बनते है और जो अति सूक्ष्म अश होता हे उससे मस्तिष्क बनता है। जैसे दही के मथने पर जो सूक्ष्म अश ऊपर आ जाता हे, वह मक्खन बन जाता है। इसी प्रकार भोजन पचने पर जो सूक्ष्म तत्व होता हे वह मस्तिष्क के तन्तु बनाता है इसलिए सात्विक मन के लिए सात्विक भोजन का बहुत महत्व है- 'छान्दोगयोपनिषद' में कहा हे कि - 'आहार की शुद्धि सत्व की शुद्धि होती हे सत्व की शुद्धि होने पर निश्चित स्मृति लाभ होता है ओर स्मृति लाभ हा जाने पर कैवल्य मोक्ष नितान्त सुलभ तथा सुगम हो जाता है।'[1] ध्यान साधना में भोजन केसम्बध में बहुत सचेत रहने की आवश्यकता होती है। भोजन पौष्टिक हल्का तथा शीघ्र पचने वाला सात्विक होना चाहिए परन्तु अधिक गरिष्ठ, उत्तेजक, आलस्य तथा भारीपन पैदा करने वाला भोजन योग के अभ्यास में बाधक होता है। तामसिक अथवा अधिक मात्रा में भोजन करने मे आलस्य अथवा उत्तेजना पैदा होती हे, उससे मन ध्यान मे नहीं लाता। चेतनता दूर हाकर नींद और शिथिलता आने लगती हे। शराब आदि नशे के पदार्थ पीने या खाने से मन उत्तेजित और अस्थिर हो जाता हे उस पर नियत्रण नहीं रह पाता है।

---

1 आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि सत्वशुद्धौध्रुवस्मृति।
स्मृतिलम्भ सर्वग्रन्थीना विप्रभोक्ष।। छान्दाग्य0 (7-26-3)

स्मरण रखना चाहिए कि कम खान स इतने आदमी नहीं मरते, जितन अधिक खाने से मरत हे। अधिक खाने से शरीर म अनेक रोग पेदा हो जाते हे। जेसे-जेस उम्र बढती जाय वैस वेसे भोजन का कम करत जाना चाहिए। जो शारीरिक श्रम नहीं करते है मात्र मानसिक श्रम करते हे उनका भोजन अधिक पोष्टिक परन्तु कम मात्रा में होना चाहिए। यह धारणा गलत हे कि अधिक घी खाने से से शरीर बलवान होता है। चिकनाहट की आवश्यकता शरीर को जितनी है, उतनी ही मिलनी चाहिए। अधिक चिकनाहट शरीर म अनेक रोग पैदा कर देती हे। भोजन कितना करे- इसक परिमाण वही हे कि शरीर आसानी से जितना भोजन पचा सकता है। यदि बिना पचा हुआ भोजन मल द्वार से जितना भोजन पचा सकता है। यदि बिना पचा हुआ भोजन मल द्वार से निकल जाय तो उसका लाभ तो नही होता, अपितु शरीर को हानि ही होती है। इससे पाचक अवयवों पर अधिक बोझ पडता हेऔर वे निर्बल हो जाते हे। जितने भोजन को ग्रहण न करता हो, वह शरीर को हानि कर होता हे। भोजन के साथ ही ज्यादा पानी पीना उचित नहीं हे। भोजन करने के एक घण्टे बाद समुचित पानी पीना चाहिए। प्रात काल खाली पेट पानी पीने से मल शुद्धि में सहायता मिलती है।

भोजन में कुछ चीजें काटने और चबाने वाली भी होती है। कुछ पेय हाती हे और कुछ चूसने वाली होती हैं। भोजन धीरे-धीरे चबा-चबाकर करना चाहिए, शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। भोजन का लक्ष्य शरीर को स्वस्थ रखना है और योगसाधाना के लिए स्वस्थ शरीर आवश्यक हे। दूध, मक्खन, अन्न, शहद, फलों के रस, सब्जी पत्तेदार साग, जैसे पालक तथा मेथी आदि - योग साधना के लिए उपयुक्त भोजन है। परन्तु यह समय पर तथा उपयुक्त परिमाण में ग्रहण करना चाहिए।

योगासनों का वर्गीकरण

योगासनों का सरलता से समझने आर उनका भली भाति क्रमबद्ध ढग से अभ्यास करने के लिए यह आवश्यक है कि योगासनों को समूहबद्ध किया जाय। जिससे उम्र के अनुसार एव आवश्यक उपचार की दृष्टि से अभ्यासी को आसानी हो जाय। योगासनो का वर्गीकरण निम्न प्रकार हे -

1 जागिग

2 योगासन करने से पूर्व तैयारी (वार्मअथ)

3 अग अग के व्यायाम (पैर की अगुतियों से लेकर ऑखो तक के अलग-अलग व्यायाम)

4 रीड के घुमावदार व्यायाम

5 खडे होकर किये जाने वाले योगासन

6 बैठकर करके किये जाने वाले योगासन

7 हाथ के बल किये जाने वाले योगासन

8 पीठ के बल लेटकर किये जाने वाले योगासन

9 पेट के बल लेटकर किये जाने वातो आसन

10 सूर्य नमस्कार

11 महत्वपूर्ण बारह आसन

<u>जागिग -</u>

जागिग अर्थात एक ही स्थान पर मन्द गति से दोडना। प्राकृतिक वातावरण व खुले मैदान में दौडना स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है किन्तु आधुनिक व्यस्त जीवन में सभी के लिए यह सम्भव नहीहै इसीलिए स्वास्थ्य प्रेमियों ने दौडन की इस क्रिया को जागिग के रूप में विकसित किया। यदि इस क्रिया को नियमित पॉच मिनट किया जाय। तो पॉच किलोमीटर दाड के बराबर लाभ होगा। प्रारम्भ में निम्न अकित चित्र के अनुसार

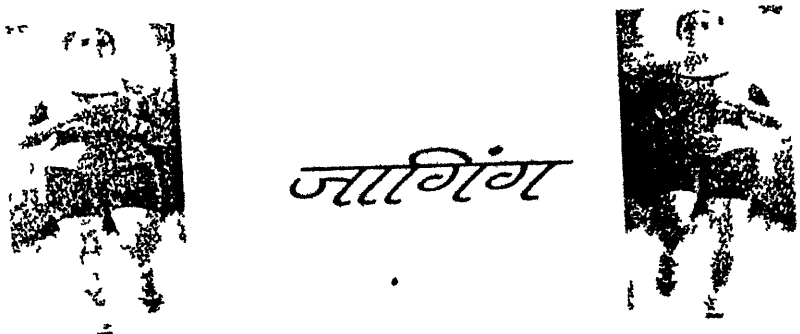

1 अपने स्थान पर केवल 6-6 इच पेरो को उठाकर दौडेंगे। यह क्रिया लगभग 2 मिनट तक करना चाहिए।

2 तत्पश्चात लगभग एक फुट पैरो को उठाकर सामने की तरफ सीधे रखते हुये दौडना हे इसे भी लगातार 2 मिनट तक करे।

3 पैरो को साइड में दोनो तरफ उदलते हुये फेंकना है। इसे भी 2 मिनट तक करे।

4 पैर की एडी को नितम्ब में घुमात हुय दौडना है।

5 जॉघो को पेट में स्पर्श करते हुये 2 मिनट तक अपनी ही जगह पर उदलना है।

6 अन्त में खडे होकर श्वासन करे।

7 किग एव क्वीन व्यायाम अवश्यक करे जिससे जागिका के कारण रीढ की कोई वर्टीवरा यदि आपस में निकट हो गयी हो तो अपने प्राकृतिक स्थान पर आ जाय।

8 जिन लोगों को कमर में दर्द हो सर्वायकल स्पाण्लायरिस या लम्बर स्पाण्डलायरिस हो तो उन्हें जागिग नहीं करना चाहिए।

9 जिन महिलाओं को यूटरस में कोई दर्द या तकलीफ हो उन्हें भी नहीं करना चाहिए।

10 जिन के पेट का आपरेशन हुआ हो उन्हें तीन महीने तक जागिग नहीं करना चाहिए।

11 जिनके पैरो का आपरेशन हुआ हो उन्हें 3 महीने तक जागिग नहीं करना चाहिए।

12 गर्भावस्था में महिलाओं को जागिग बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

योगासन करने से पूर्व तैयारी (वार्मअप)

योग आसन से सम्बन्धित अनेक पुस्तका का अध्ययन करने के बाद यह देखने में आया है किसी भी पुस्तक में योगासन करने से पहले व्यायामो को किया जाय जिससे शरीर गर्म हो जाय, किसी भी पुस्तक मे किसी भी आचार्य ने इसका वर्णन नहीं किया है सीधे आसन करने की बात की गयी है। परन्तु बिना शरीर को गर्म किये यदि योगासन करेंगे तो लाभ कम हानि ज्यादा होती हे। अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम योगासन व्यायाम के किमी भी समूह को करे पहले यह नितान्त जरूरी है कि शरीर को बर्म अवश्य कर लिया हे। शरीर को गर्म करने के लिए निम्न लिखित व्यायाम करने चाहिए जिससे शरीर गर्म होन के साथ-साथ जोड भी खुल जाय तदुपरान्त अन्य व्यायाम कर। वे इस प्रकार है -

1 जागिग करने के उपरात खडे होकर क दानो पेरो का लगभग 2 फीट तक दोनो फैलाकर कमर को गोल घुमाये। पहले दायें से बायें घुमाये फिर बायें स दायें गाल घुमाये। इसको करते समय शरीर का ऊपर का हिस्सा नही घूमना चाहि केवल कमर पर ही जोर देना चाहिए।

2 दोनो पैरो को 2 फिट की दूरी मे फलाकर सीधे खडे होकर के हाथों को ऊपर करे। तत्पश्चात श्वास लेते हुये पीछ की ओर जाय ओर श्वास निकालते हुये सामन झुकते हुये नीचे की ओर आयें। यह क्रम बार करना चाहिए। इसे भी कमर में दर्द होने पर तथा सरवायकल स्पाण्ड लायसिट के रोगी न करें।

3 दोनो पैरो को ज्यादा से ज्यादा फेलाकर सीधे खडे हो जाय। फिर दाहिने हाथ को धीरे-धीरे पसलियों से खिसकाते हुय। पेरो केपजो तक लाये तथा बायें हाथ को ऊपर की तरफ पसलियों की ओर तो जाये तथा पुन इसी का विपरीत करे। इसको भी कम से कम पॉच बार करे। इससे पसलियॉ लचीली हाती हे तथा कूल्हों के ऊपर की चर्बी कम होती हे। इस क्रिया का नाम साइड स्लिप है।

4 दोनो पेरो के बीच लगभग 6 इच दूरी करक सीधे खडे हो जाय। दाय हथेलियों को नितम्बो में सटाकर नीचे की ओर खिसकाते हुये घुटने क पाछ क भाग को छूने की कोशिश करे। श्वास लते हुये पीछे की ओर जाये तथा श्वास निकालते हुये सीधे खडे हो। यह कमर के दर्द मे बहुत लाभकारी क्रिया है इसे बैकस्लिप कहते हे।

5 दोनो पैरो को सीधा करके खडे हा जाये। फिर दाहिने पेर को आगे की ओर तीन फिर तक बढाये तथा हाथो को ऊपर की तरफ करके अब आगे वाले पैर पर बेठना शुरू करे तब तक बेठे जब तक पीछे वाले पैर की एडी न उठने लगे और जब एडी उठ जाय तब श्वास लेते हुये हाथों को पीछे की तरफ ले जाये और क्षमतानुसार रूक। फिर धीरे-धीरे श्वास निकालत हुये सीध वापस आयें और आगे वाले पैर को पुन अपनी जगह पर वापस लाये। अब दूसरे पैर को इसी प्रकार से आग की आर लाकर दाहराय। इस भी पॉच वार करे।

6 दोनो पेरा का फैलाकर खडे हो जाय। दाहिन हाथ को सिर के पीछे तथा वायें हाथ को कमर के पीछे की अरे करके दाहिन हाथ का बायीं ओर मोडत्रे तथा

बायें हाथ को दायी ओर मोडे इसी प्रकार वो भी हाथ को सिर क लगाकर दायें हाथ को कमर के पीछे लगाकर दोहरायें। अर्थात जिस प्रकार का डाइव करना हा।

7 दोना पेरा के बीच में दो फिट का फासला करके सीधे खडे हो जाये तथा हाथों को सामने की ओर सीधा करके दोनो हाथा की अगुलियों का निकट लाते हुये हाथ मोडकर लोटी की तरह सिर सामने की ओर रखते हुय सीन को दायी व बायी ओर घुमाये पहले पॉच बार धीरे-धीर फिर पॉच बार तज कर।

8 दोनो पेरो को सीधा करके दोनो पेरो के बीच दा फिर का अन्तर रखते हुय हाथों को सीधा करके, हाथो की अगुलिया को आपस में फसाकर पजा पटाट करके, दोनो हाथों को गोल घुमायें। पहल दायें से बायें तथा पुन बाये से दायें। इसे कम से कम पॉच बार कर।

9 प्रिन्सेज एक्सरसाइज

10 कन्धों के व्यायाम - दोना हाथो को नीचे की तरफ लटकाकर सीध खडे हा जाये। एक एक कन्धे को गोल घुमाय, दानो कन्धो को साथ साथ गाल घुमाये, दोनो कन्धों को साथ साथ ऊपर नीच करे तथा अन्त में एक ऊपर एक नीचे करके करे। प्रत्येक को कम से कम पॉच बार अवश्य करे।

अंग-अंग के व्यायाम

पैरो के व्यायाम

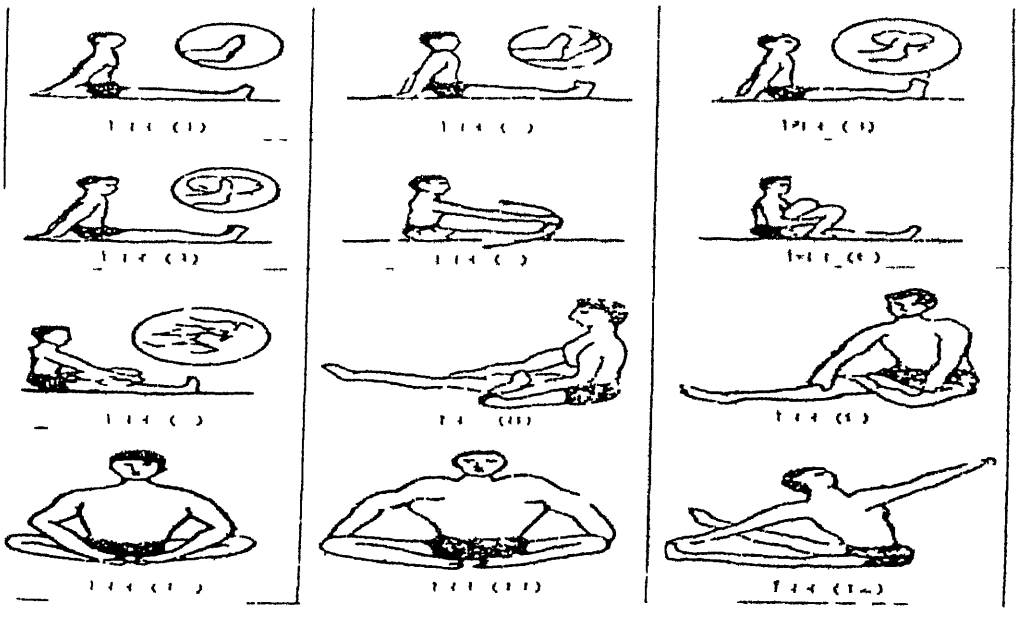

पैरों की अॅगुलियॉ मोडना

पैरो को शरीर की सीध में सामने फैलाकर बैठ जायें। रीढ की हड्डी सीधी रखते हुए हाथों के सहारे थोडा सा पीछे की ओर झुकें। हाथ सीधे रखें, कोहनी न मुडने पाये। पैरो की अॅगुलियों के प्रति जागरूक रहें। अब पजो को कडा रखते हुए अॅगुलियों को आगे पीछे मोडें।

यह व्यायाम कम से कम 5 बार अधिक से अधिक 10 बार करना चाहिए।

टखने गोडना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बेठकर चित्रानुसार टखने के जोडा से दोनो पजों को जितना सम्भव हो सके आगे पीछ करें। कम से कम 5 बार अधिक से अधिक 10 बार करना चाहिए।

टखने वृत्तकार घुमाना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बठकर पेरो को सीधा रखते हुय उनक बीच फासला कर लें। अब एडी को जमीन पर रखते हुए दाहिने पजे को पहतो दायी से बायी ओर फिर बायी से दायी ओर वृत्तकार घुमायें। इसी प्रकार बायें पजे से भी करें।

दोनों टखने एक साथ वृत्तकार घुमाना

दोनो पेरो के अगूठे व एडियॉ एक साथ मिलाकर व्यायाम सख्या तीन की तरह दायें से बायें घुमायें। 5 बार बायी से दायी आर ओर 5 बार दायी से बायी ओर घुमाये।

पैरो के अगूठे छूना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बेठकर हाथों को पेट (कोख) के सामने लेकर जल्दी-जल्दी अपनी ओर के अगूठे को हाथा से छुयें व चित्र में दिखाये तीन के निशान की दिशा में हाथ को ले जाकर पुन काख के सामने लायें।

घुटने मोडना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बेठकर दोनों हाथों को दाहिनी जाघ के नीचे आपस में फसाकर दाहिने पैर के घुटने से ऊपर की ओर धीरे-धीरे मोडते हुये दाहिने नितम्ब से लगाइये। अब पैर को धीरे-धीरे सीधा करें। लेकिन एडी को जमीन से स्पर्श न होने दें। लगातार पॉच बार करने के बाद एडी जमीन पर रखें, इसी प्रकार बायें पैर से करें।

पैर मोडकर टखने घुमाना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में आ जायें। बायें पैर को घुटने स मोडकर चित्रानुसार दायें घुटने पर रखें। अब दायें हाथ की सहायता से बायें पजे का 5 बार दायें से बायें वृत्तकारा घुमायें फिर बायें स दायं 5 बार घुमायें। इसी प्रकार पैर बदलकर दायें पजे से करें।

घुटने दबाना या अर्द्ध तितली आसन

मूल स्थिति में आ जाय। बायें पेर का मोडकर उसके तलवे का दायीं जाघ पर रखें। अब दोना हाथ से बायें पेर क घुटने को पकडकर क्रमश ऊपर व नीच हिलाये। (चित्र में घुटने को एक हाथ मे दबाते हुये दिखाया गया हे किन्तु दोनों हाथों से पकडना सुविधाजनक होता है।) इसी प्रकार दाहिने पैर से करें।

घुटने गोलाई में घुमाना

व्यायाम सख्या 8 की मूल स्थिति में बेठ हुये दायें घुटने को हाथ मे पकडकर पॉच बार बायें से दायें वृत्तकार घुमायें। इसी प्रकार पैर बदलकर करें।

दोनों घुटने एक साथ दबाना

मूल स्थिति में बैठकर दोनों पैरो के तलवे आपस में सटा लें ओर जितना सम्भव हो सके उन्हें शरीर के पास ले आयें। दोनों हाथों की अगुलियॉ एक दूसरे में फसाकर पजो को चित्रानुसार पकड लें। अब घुटनों को जमीन की ओर धीरे-धीरे दबाएँ और ऊपर उठाएँ।

विपरीत पैरो के अगूठे छूना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बेठकर दोनों पैरों के बीच आसानी से जितना फासला रख सकें, रखें। पैर घुटने से सीधे रहेंग। हाथो को कन्धों की सीध में फैलाये। रीढ को सीधा रखते हुये दाहिन हाथ को बायें पैर के अगूठे के पास लायें और बायें हाथ को पीछे की ओर ले जायें साथ ही गर्दन मोडकर बायें हाथ की अरे देखें। ध्यान रहें कि दोनो भुजाएँ एक दूसरे की सीध में रहेंगी। अब बायें हाथ को दायें पेर के अगूठे के पास लायें और दाहिनी भुजा पीछे की ओर फेलायें साथ ही गर्दन मोडकर दायें हाथ की ओर देखें। यह एक बार हुआ। कम से कम 5 बार अधिक से अधिक 10 बार करने के बाद विश्राम लें।

हाथों के व्यायाम

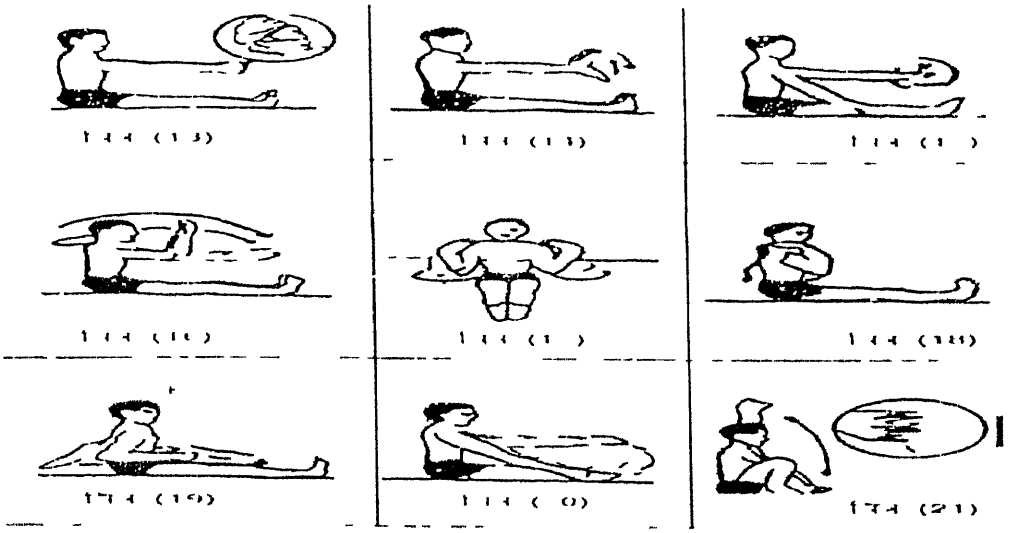

ताकत से मुटठी बाधना

पैरो को सामने की ओर फेलाकर बैठें, पीठ सीधे रहे। दोनो भुजाओं को जमीन के समानान्तर चित्रानुसार सामने की ओर फैला लें। अब दोनों हाथों की अगुलियों को खूब फैलाकर उनमें तनाव उत्पन्न करें ओर फिर अगूठे को अन्दर करते हुये ताकत से मुटठी बन्द करें। यह एक बार हुआ।

कलाई मोडना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में आ जाये। दानों हाथ की हथलिया का कलाई से इस प्रकार ऊपर की ओर से मोडे जेसे किस आप हथेलियों को दीवार से सटा रहे हों। अगुलियॉ न मुडने पायें अब हथलियों को कलाई से नीचे की ओर मोडे। यह एक बार हुआ।

मुटठी बन्द करके गोल घुमाना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में आ जाये। दायें हाथ को दाहिने पेर क घुटने पर रख लें। बायें हाथ को चित्रानुसार सीधा रखते हुए मुटठी बन्द करके उसे कलाई से कम से कम पाँच बार ओर अधिक से अधिक दस बार दायें स बायें ओर फिर बायें से दायें वृत्तकारा घुमायें। हाथों की स्थिति बदलकर इसी प्रकार दायें हाथ से करें। दोनों हाथों से एक साथ भी इसे कर सकते हे। कम से कम पॉच बार अधिक से अधिक दस बार करें।

कोहनी मोडना

व्यायाम सख्या एक की तरह से ही करत हे। अन्तर केवल इतना है कि हाथा को कधों की सीध से फैलाते हे।

कन्धे घुमाना

व्यायाम सख्या चार की स्थिति में ही उगतियों को कधों पर रखे हुए दोनों भुजाओं को (कधे के जोडों से) वृत्तकार दायें स बायें ओर फिर बायें से दायें घुमाये। कोहनियों से बनने वाले वृत्त का जितना सम्भव हो बडा बनाये और कोहनिया को सामने लाते समय सीने के सामने एक दूसरे से स्पर्श कराने का प्रयास कर।

नाव चलाना

दोनों पैरों को आपस में सटाकर सामने की ओर फेलाकर बेठ जायें। हाथों की मुटिठयॉ बन्द करके दोनों हाथों को एक साध नाव चलाने के अदाज में सचालित करें अर्थात जितना सम्भव हो शरीर को उतना आगे पीछे झुकाते हुये हाथों से घेरे का आकार बनाते जायें। दस बार करने के बाद हाथों को विपरीत दिशा में घुमाएँ जेसे कि आप विपरीत दिशा में नाव को चला रह हें। इसे भी दस बार करें।

चक्की चलाना

पैरो को व्यायाम सख्या एक की स्थिति में ही सामन की ओर फैलाए रखें। हाथों को सामने सीधा फैलाकर अगुलियों को एक दूसरे से फसा लें। अब यह कल्पना करते हुये कि जैसे आप चक्की चला रहे हें, हाथों को धीरे-धीरे दस बार दायें से बायें ओर फिर दस बार बायें से दायें वृत्तकार घुमायें।

लकडी चीरना

पजो क बल बेठ जाये। घुटने दूर-दूर रह। भुजाओं को घुटनों के बीच मे सामने की ओर सीधा फेलाकर हाथों की अगुलियों को एक-दूसरे में फसा ल ओर इस अन्दाज में ऊपर नीचे लायें जैसे कि कुल्हाडी से लकडी चीर रहे हो। हाथों ले जाते समय श्वास भरें और नीचे लाते समय श्वास छोडे। यदि पजो के बल बैठने में बहुत कठिनाई हो तो इस व्यायाम को खडे होकर भी कर सकते हे।

गर्दन के व्यायाम

गर्दन झुकना

किसी भी ध्यान आसन में बेठ जाइये। नये अभ्यासियों को सुखासन अर्थात पत्थी लगाना सुविधाजनक होता है रीढ की हडडी को सीधा रखें। दोनों हाथों के

चित्र 2

पजो को अपनी-अपनी ओर की जाघ पर रख लें। अब धीरे-धीरे सिर को आगे की ओर झुकायें और फिर पीछे की ओर ले जाए। यह एक बार हुआ। कम से कम पॉच बार अधिक से अधिक दस बार करें।

गर्दन मोडना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति म बठकर सिर को पहले दायें ओर ओर फिर बायी ओर चित्रानुसा घुमायें। यह एक बार हुआ। कम से कम पॉच बार आर अधिक से अधिक दस बार करें। इसके बाद विश्राम करें।

गर्दन घुमाना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बेठकर बिना किसी तनाव के जितना सम्भव हो सक उतने बडे घेरे में सिर को धीर-धीर घुमाएँ। पहले पाँच बार दायी से

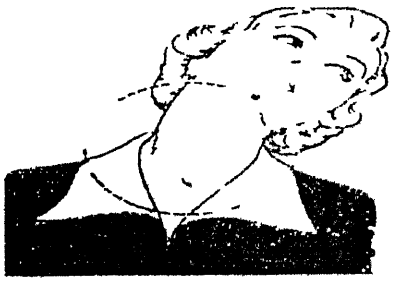

बायी ओर और फिर पॉच बार बायी से दायी ओर घुमायें, इसके बाद विश्राम करें।

गर्दन को दायें-बायें करना

व्यायाम सख्या एक की मूल स्थिति में बैठकर बिना किसी तनाव के पहले गर्दन को दायी तरफ झुकाते हुये दायें कान को दायें कधे से लगायें फिर सिर को

बीच में लायें और गर्दन को बायी ओर झुकाकर बायें कान को बायें कन्धे से लगाएं। यह एक बार हुआ। कम से कम पाँच बार अधिक से अधिक 10 बार करें। इसे पश्चात विश्राम करें।

दाँतो के व्यायाम

दाँतो को आपस में दबाना

ऊपर नीचे के दाँतों को आपस में मिलाकर मुटठी बन्द करते हुये आपस में दबाएँ। कुछ देर इसी स्थिति मे रूकने के बाद दाँतों को ढीला छोड़ दें, साथ ही मुटठी खोल दें। यह एक बार हुआ। इसी प्रकार कम से कम पाँच बार और अधिक से अधिक दस बार दबाएँ।

दाढ़ों को आपस में दबाना

ऊपर नीचे की दाढ़ों को क्रमशः दबायें और ढीला छोड़ें। कम से कम पाँच बार और अधिक से अधिक दस बार करें।

जबड़ों का व्यायाम

मुँह को फैलाना

सीधे बैठकर आँखे बन्द कर लें या खोले रखें। अब मुँह को यथासम्भव फैलाये, कुछ देर फैलाये रहें और फिर ढीला छोड़ दें। कम से कम दस बार अधिक से अधिक पच्चीस बार करें।

जबड़ा चलाना

निचले जबड़े को दायी तरफ ले जायें। कुछ देर रोकने के बाद बायी तरफ ले जाएं। इसी प्रकार कम से कम पाँच बार और अधिक से अधिक दस बार करें।

गालों का व्यायाम

गालों को फुलाना

मुँह बन्द करके गालों को खूब फुलाइये। इस स्थिति में 15 गितनी तक रहिये यह क्रिया कम से कम पन्द्रह बार दोहरायें।

जीभ के व्यायाम

जीभ को ठुड्ढी से लगाना

सीधे बैठ जाइये। पूरा मुँह खोलकर जीभ को बाहर निकालें और जीभ से ठुड्ढ़ी को छूने का प्रयास करें। कम से कम पाँच बार अधिक से अधिक दस बार करें।

कान के व्यायाम

कानों को नीचे की ओर खींचना

सीधे बैठकर दायें हाथ के अगूठे व तर्जनी अगुली से दायें कान को तथा बाएँ हाथ के अगूठे व तर्जनी उगली से बायें कान को नीचे से पकड लें। अब दोनों कानों को धीरे से नीचे खीचे और तुरन्त ढीला छोड दें। यह एक बार हुआ। इसी प्रकार पॉच बार करें।

कानों को ऊपर की ओर खींचना

अब कानों को अपनी-अपनी ओर के हाथ से ऊपर की ओर से पकडें ओर क्रमश ऊपर खींचे और तुरन्त ढीला छोड दें। यह एक बार हुआ। इस प्रकार पॉच बार करें।

कानो को पीछे की आरे खींचना

अब कानों को अपनी-अपनी ओर के हाथ से बीच की ओर से पकड कर क्रमश पीछे की ओर खींचे और तुरन्त ढीला छाड दें। यह एक बार हुआ। इस प्रकार पॉच बार करें।

कानों को आगे की ओर खींचना

अब अपनी-अपनी ओर के हाथ की तर्जनी अगुली की सहायता से दोनों कानों के सामने के उभरे भाग को, हल्के से आगे की ओर दबायें और तुरन्त ढीला छोड दें। यह एक बार हुआ इसी प्रकार पॉच बार करें।

कानों की मालिश करना

हथेली से कानों को ढक्कर दबाव डालते हुए अपनी-अपनी ओर के हाथों से तेजी से मालिश करना, इतना कि कान खूब लाल हो जाए।

नेत्रों के व्यायाम

सामने देखना

पूर्व तैयारी करके ऐसे बैठिये कि आपके दाए हाथ का अँगूठा आपकी ऑखों के ठीक सामने हो। अब दोनो ऑखों से अपने अगूठे के ऊपरी भाग को दखना आरम्भ कीजिए। जितनी देर आप सरलतापूर्वक बिना पलक झपके देख सकत हें, देखते रहिए। अन्त में ऑख बन्द कर लीजिए।

बायीं ओर देखना

अब अपनी बायीं भुजा को सामने की आर फेलाकर मुट्ठी बन्द कर लीजिए। अगूठ को खडा कर लीजिए। चेहरे को अपनी जगह रखत हुए अगूठे का धीरे-धीर अपनी बायीं आर ल जाना शुरू कीजिए। अन्त म अगूठे को बिना पलक झपके जितनी देर सरतानापूर्वक देख सकते है, दखतरहिय। न्त में देखते हुये ही अपने अगृठ को धीरे-धीर सामने की आर वापस ल आइये। अब अपनी ऑखं बन्द कर त जिए। अपन बायें हाथ का बायें घुटन पर रख तीजिए। कुछ क्षण आराम कीजिए।

दायीं ओर देखना

अपनी दायीं भुजा को सामने की ओर फेलाकर मुटठी बन्द कर लीजिए आर अगूठे को खडा कर लीजिए। अपने दाए अगूठे का देखना आरम्भ कीजिये। अब अपन अगृठे को धीरे-धीरे अपनी दायीं ओर त जाना शुरू कीजिये ओर दायीं ओर कधे के सामने ले जाकर रूक जाइये साथ ही चेहरे को अपनी जगह स्थिर रखिये।

दायीं तथा बायीं ओर देखना

अब दोनो भुजाओं को सामने फैला लीजिए। दोनों मुटिठयों को बन्द करक अगूठे को खडा कर लीजिये। चेहरे को अपनी जगह स्थिर रखतेहुए दाए अगूठे का दायीं ओर तथा बॉयें अगूठे को बायी ओर धीरे-धीरे ले जाना शुरू कीजिए। अन्त में दोनों भुजाओं को दोनों ओर सीधी फेलाकर दोनों अगूठों को बिना पलक झपके निरन्तर जितनी देर सरलतापूर्वक देख सकत है, दखते रहिये। अन्त में देखते हुए ही अपने अगूठे को धीरे-धीरे सामने की ओर वापस त जाइये। अब अपनी ऑखें बन्द कर लीजिए। दोनों हाथों को घुटनों पर रख लीजिए। कुछ क्षण आराम कोजिये।

सामने ओर दायीं ओर देखना

अब दोनो भुजाओं को सामने की ओर फेलाकर दोनों मुटिठयॉ बन्द कर लीजिए और दोनों अगूठो को खडा कर लीजिए। चेहरे को अपनी जगह पर स्थिर रखते हुए बाए अगूठे को भी अपनी जगह स्थिर रखिए। अब दाए अगूठे को धीरे-धीरे अपनी दायीं ओर ले जाना शुरू कीजिए और दायीं भुजा को सीधी फैला लीजिए। साथ ही दाए और बाए दोनों अगूठों को बिना पलक झपक जितनी देर सरलतापूर्वक दख सकत है निरन्तर देखते रहिए। अन्त में दोनों अगूठो का देखतहुए ही अपने दाए अगूठे का धीरे-धीरे वापस घुमाकर बाए अगूठे के निकट ल आइये। अब ऑखे बन्द कर लीजिए। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रख लीजिए। कुछ क्षण आराम कीजिए।

सामने और बायीं ओर देखना

अपनी दोनों भुजाओं को सामने की ओर फैलाकर मुटिठयॉ बन्द कर लीजिए और दोनों अगूठों को खडा कर लीजिए। चहर का अपनी जगह पर स्थिर रखते हुए दाए अगूठ का भी अपनी जगह रखिय। अब बाए अगूठ को धीरे धीर अपनी ओर ल। जाना शुरू कीजिए और बायीं भुजा का बायी ओर सीधा फला दीजिये। दोनों अगूठों को बिना पलक झपके जितनी देर सरलतापूर्वक देख सकते है निरन्तर देखतेरहिय। अन्त में दोनों अगूठो को देखते हुये ही अपने बॉये अगूठे को धीरे-धीरे वापस घुमाकर दॉये अगूठे क निकट ले आइये। अब अपनी ऑख बन्द कर लीजिये। दोना हाथों का घुटनों पर रख लीजिये। कुछ क्षण आराम कीजिये।

ऊपर की ओर देखना

दायीं भुजा को सामने की ओर फेलाकर मुटठी बन्द कर लीजिये ओर अगूठे को खडा कर लीजिये। चेहरे को अपनी जगह रिथर रखते हुये दाए अगूठ को धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाना आरम्भ कीजिये।

नीचे की आरे देखना

दायीं भुजा को सामने की ओर फलाकर मुटठी बन्द कर लीजिये। चहरे को अपनी जगह स्थिर रखते हुए दाए अगूठ को धीरे-धीरे नीचे की ओर ले जाना आरम्भ कीजिये। अगूठे को देखना शुरू कीजिए ओर बिना पलक झपके जितनी देर सरलतापूर्वक देख सकतेहै निरन्तर देखते रहिये। इसके बाद देखतेहुये ही धीरे-धीरे अगूठे को ऊपर की ओर लाते हुये अपने सामने कीजिए। ऑखें बन्द कीजिए। दाए हाथ का दाए घुटने पर रखिये। कुछ क्षण आराम कीजिये।

ऊपर तथा नीचे की ओर देखना

अब दोनो भुजाओं को सामने फैला लीजिये। दोनों मुटिठयों को बन्द करके दानों अगूठों को खडा कर लीजिये। चेहरे को अपनी जगह स्थिर रखते हुए दायें अँगूठे को ऊपर की ओर तथा बायें अगूठे को नीच की ओर धीरे-धीरे ले जाना आरम्भ कीजिए। दोनों अगूठों को बिना पलक झपके जितनी देर सरलतापूर्वक देख सकते है निरन्तर देखते रहिए। अन्त में देखते हुए ही दोनो अगूठों को धीरे-धीरे वापस लाकर

सामने की आर स्थिर कीजिए। ऑखें बन्द कर लीजिए। अब दोनों हाथा का घुटना पर रख लीजिए। कुछ क्षण आराम कीजिए।

ऑखों को गोलाकार घुमाना

दोनो हाथों को दोनो घुटनों पर रख तीजिये। अब अपने चेहरे को सामन की ओर स्थिर रखत हुए, ऑखो को गालाकार घुमाना आरम्भ कीजिये। पहले नीच दखिये फिर धीरे-धीरे बायीं ओर, फिर धीरे-धीरे ऊपर की ओर, फिर धीरे-धीरे दायीं आर तथा फिर नीच को ओर देखिये। इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाएगा। बि पलक झपके जितने चक्र सरलतापूर्वक लगा सकत हे, दानों हथलियों को अपनी ऑखों पर रख लीजिये। ऐसा तीन बार कीजिये। अन्त में ऑखे खोल दीजिए। ऑखें खोलने के पूर्व मन में तीन बोर दोहरायें। शान्ति , शान्ति , शान्ति ।

मेरूदण्ड का घुमावदार व्यायाम

करने की विधि – इन व्यायामों को नित्य खाली पेट सुबह या शाम (आवश्यकता समझें तो दोनों समय) जमीन या तख्त पर लेट कर करते हैं। दसवें एव बारहवें व्यायाम को छोडकर प्रत्येक व्यायाम में सिर की ठोडी दायीं आर के कधे से लगावें तो पेरों या घुटनों को बायीं ओर की जमीन म लगावें अर्थात "ठुड्डी दायें तो पेर बायें ओर ठुड्डी बायें तो पैर दाय" करत हे। हाथों को बाजू की साध में चित्रानुसार मुट्ठी बन्द करके रखते हैं। व्यायाम करत समय आखें बन्द करके ओर सास को पट में नाभी के नीच तक भरकर करना चाहिए। कमजोर रागी शुरू में श्वास न भरें।

ध्यान रखिए कि प्रत्येक व्यायाम को अधिक से अधिक 5 बार दायें 5 बार बायें एक बार में करना पर्याप्त है तथा प्रत्येक व्यायाम करने से पहले शरीर का कुछ क्षण के लिए ढीला (श्वासन) छोड दिया कर कमजोर रोगी प्रत्येक व्यायाम के अन्त में तथा साधारण अवरथा 4-4, 6-6 व्यायाम के बाद मत्स्य विश्राम करना न भूले।

व्यायाम स0 1

तैयारी -

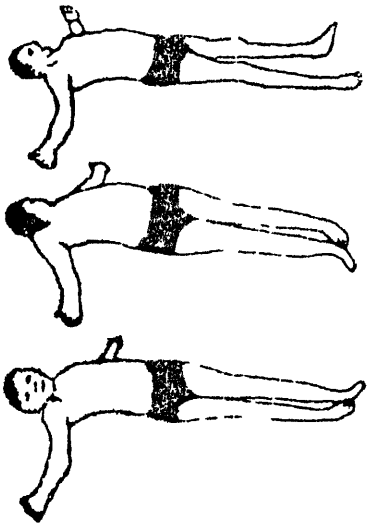

❖ दोनो पेरों का इतना अन्तर कि एक पैर की एडी दूसरे पैर का अगूठा मोडने पर छू सके।

❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमाय

❖ और पेर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 2

तैयारी -

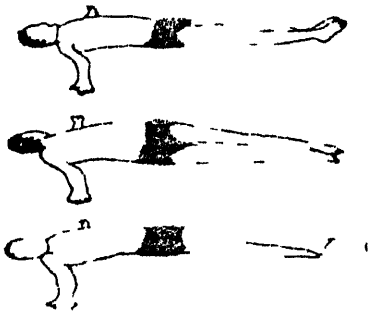

❖ दोनो पेरों की एडी और अगूठे आपस में चिपका कर तैयारी करें।

❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमायें

❖ और पैर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 3

तैयारी -

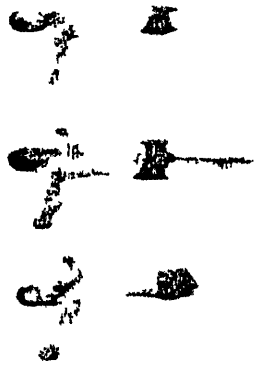

❖ पैर को आपस में कैंची की तरह फॅसाकर तेयारी करं।

❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमायें

❖ और पैर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

❖ इसी प्रकार पैर बदल कर करें।

व्यायाम स0 4

तैयारी -

❖ एक पेर के अगूठे के ऊपर दूसरे पेर की एडी रखकर तैयारी करें।

❖ अब सिर बायें, तो पेर दायें घुमायें

❖ और पेर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

❖ इसी प्रकार पैर बदल कर करें।

व्यायाम स0 5

तैयारी -

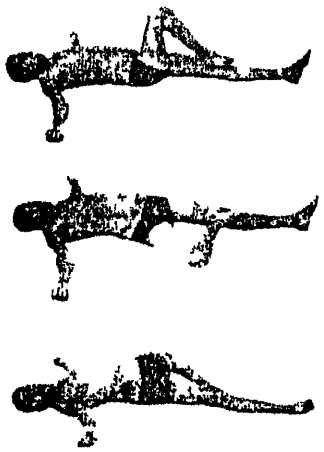

❖ एक पैर का तलुआ दूसरे फैले पेर के घुटने पर रखकर व्यायाम स 5 की तैयारी करें।

❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमायें

❖ और पैर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

❖ इसी प्रकार पैर बदल कर करें।

व्यायाम स0 6

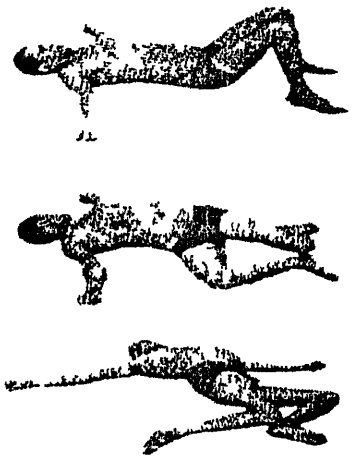

तैयारी -

- ❖ दोनों पेरों को घुटनों से मोडें। तलुय जमीन पर लगाये रखें। पैरों का आपस में इतना फासला करें कि मुडने पर एक पेर का घुटना दूसरे पैर की एडी लग जाये। इस प्रकार व्यायाम स 6 की तैयारी कर।
- ❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमार्य
- ❖ ओर पेर बायें तो सिर दायें
- ❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 7

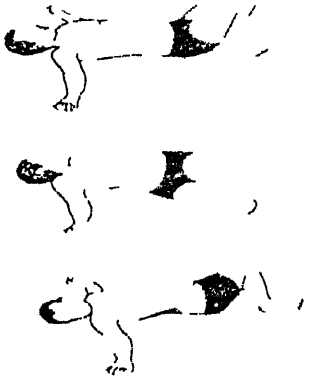

तैयारी -

- ❖ दोनो पेरों को घुटनों से मोडें। तलुये जमीन पर लगाये रखें। दोनों पैर के घुटनों एव एडियों का आपस में चिपकाकर व्यायाम स 7 की तैयारी करें।
- ❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमायें
- ❖ ओर पेर बायें तो सिर दायें
- ❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 8

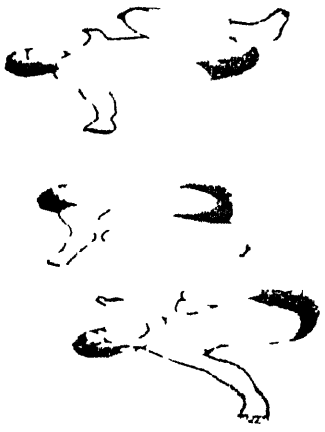

तैयारी -

❖ दोनो पेरों को घुटनो से मोडें। तलुये जमीन पर लगाये रखें। दोनों घुटनों को छाती के ऊपर रखकर श्वास रोक करके व्यायाम सख्या 8 की तेयारी।

❖ सिर बायें, तो पेर दायें घुमायें

❖ पेर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 9

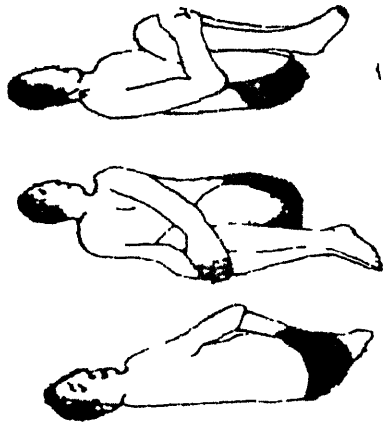

तैयारी -

❖ दोनो पैरों को घुटनो से मोडें। तलुये जमीन पर लगाये रखें। दोनो पैर के घुटनों को हाथों से आपस में पकडकर व्यायाम स 9 की तेयारी करें।

❖ अब सिर बायें, तो पैर दायें घुमायें

❖ और पैर बायें तो सिर दायें

❖ कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 10

तैयारी -

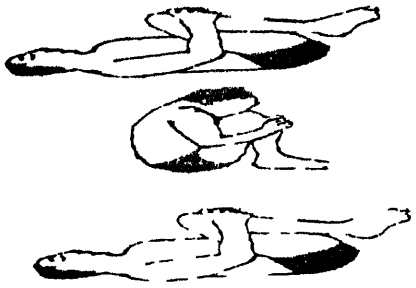

- दोनो पेरों को घुटनो से मोडें। तलुये जमीन पर लगाये रखें। दोनो पैर के घुटनो को हाथों स आपस में पकडकर
- झूले की तरह ऊपर-नीचे झूलना।
- कम से कम 5-5 से 10-10 बार करें।

व्यायाम स0 11

तैयारी -

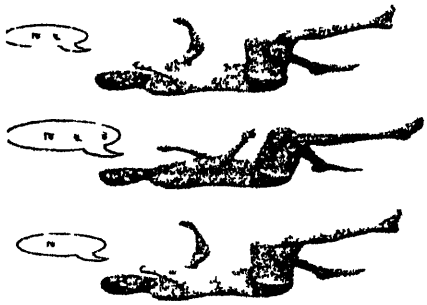

- छाटे बच्चों की तरह साइकिल चलाते हुए व्यायाम स 11 की तैयारी करें।
- हॅसना हा हा हि हि
  हुहु हे हे ।
- खूब हसे।

योग के सरल बारह आसन

क्रम सख्या 1

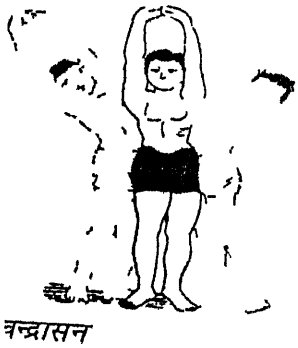

वज्रासन

11 त्रिकोणासन

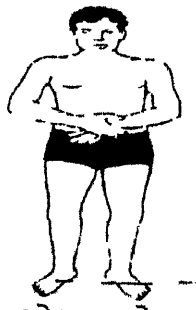

खडे होकर के-शवासन

क्रम सख्या 2

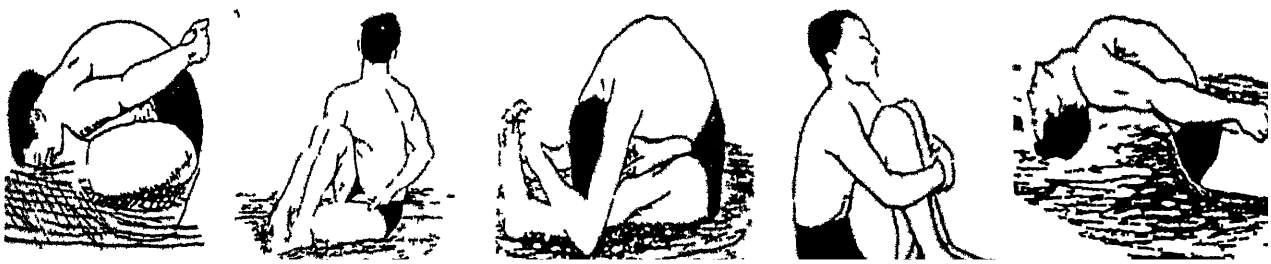

क्रम सख्या 3

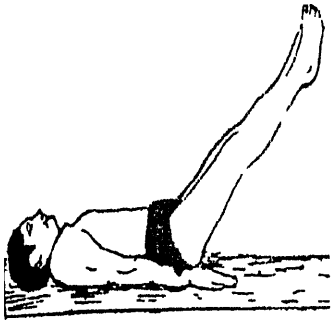

1 उत्थान-पादासन

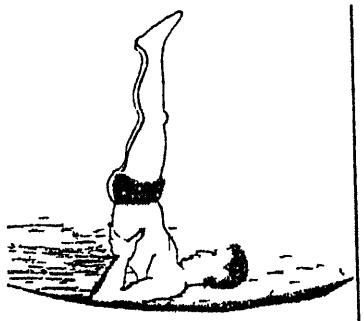

सर्वांगासन

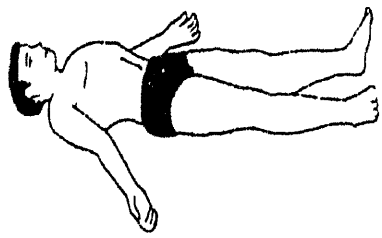

पीठ के बल-शवासन

क्रम सख्या 4

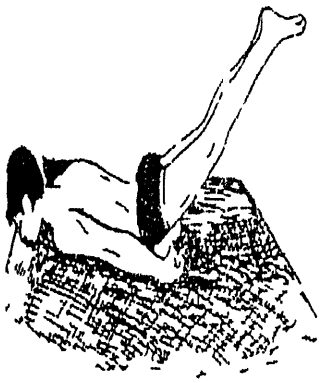

5. शलभासन

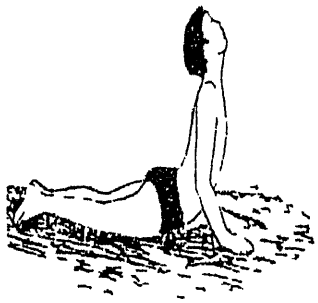

4 सर्पासन

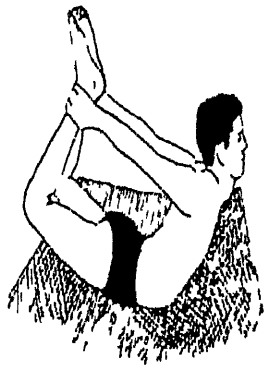

6 धनुरासन

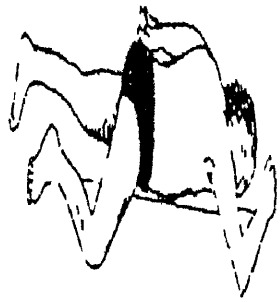

पेट के बल-शवासन

सूर्य- नमस्कार

सूर्य-नमस्कार अपने आप से एक स्वतत्र और पूर्ण व्यायाम है। इसमें भी रीढ के घुमावदार व्यायाम की भॉति बारह क्रियाएँ होती है। इसे बाहर आसनों को समुदाय कह सकते हे। बारह आसनों के लिए बारह ही मत्र भी है। हर एक क्रिया अथवा आसन के साथ एक-एक मत्र का मन ही मन जप करते जाए।

सूर्य-नमस्कार में महत्वपूर्ण और अति उपयोगी आसन है। इसे बच्चे, बूढे स्त्री, पुरूष, निर्बल, स्वस्थ, योगी, भोगी तथा रोगी सभी कर सकते हैं। इसे आरम्भ करते समय, पहले दिन, केवल तीन बार ही अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद प्रतिदिन एक-एक बार का अभ्यास बढाते जाएँ। इस प्रकार लगभग दस दिन में, पूरे नौ बार का अभ्यास पूरा करें। अर्थात् धीरे-धीरे एक-एक नमस्कार बढाकर, नौ तक बढा

सकते हैं। सूर्य-नमस्कार को नौ बार करने से एक माला पूरी हो जाती हे। एक माला में एक सो आठ मनके होते है। नो सूर्य-नमस्कारों में भी एक सो आठ क्रियाएँ पूरी हो जाती है। साथ ही एक सौ आठ बार ही मत्रों का जाप भी हो जाता हे। मत्र और उनका क्रम इस प्रकार है -

1) ओम् मित्राय नम अर्थात हे विश्व के मित्र सूर्य। तुझे नमस्कार हो।
2) ओम नवये नम अर्थात हे ससार में चहल-पहल लाने वाले सूर्य तुझ न मस्कार हो।
3) ओम् सूर्याय नम अर्थात हे ससार को जीवन देने वाले सूर्य। तुझे नमस्कार हो।
4) ओम् भानवे नम अर्थात हे प्रकाश-पुज। तुझे नमस्कार हो।
5) ओम् खगाय नम अर्थात हे आकाश में गति करने वाले देव।
6) ओम् पूष्णे नम अर्थात हे ससार के पोषक। तुझे नमस्कार हो।
7) ओम् हिरण्यगर्भाय नम अर्थात् हे ज्योतिर्मय। तुझे नमस्कार हो।
8) ओम् मरीचये नम अर्थात् हे किरणों के स्वामी। तुझे नमस्कार हो।
9) ओम् आदित्याय नम अर्थात् हे ससार के रक्षक। तुझे नमस्कार हो।
10) ओम् सवित्रे नम अर्थात हे विश्व को उत्पन्न करने वाले। तुझे नमस्कार हो।
11) ओम अर्काय नम अर्थात् हे अपवित्रता के शोधक। तुझे नमस्कार हो।
12) ओम् भास्कराय नम अर्थात् हे प्रकाश के करने वाले। तुझे नमस्कार हो।

सावधान · रक्तचाप, हृदयरोग और बुखार की स्थिति में सूर्य-नमस्कार नहीं करना चाहिए।

लाभ .- सूर्य-नमम्कार की बारह क्रियाओं के अभ्यास से सारे शरीर का व्यायाम हो सजाना है। शरीर के सभी अग लचीले, सुडोल और सशक्त हो जाते हैं। सूर्य-नमस्कार से सारे आसनों के लाभ मिल जाते है। कब्ज समाप्त हो जाता है। टट्टी खुलकर आती है। पाचन-शक्ति बढ जाता हे। भूख खूब लगती है। स्त्रियों का गर्भाशय सबल हो जाता है।

1 दक्षासन

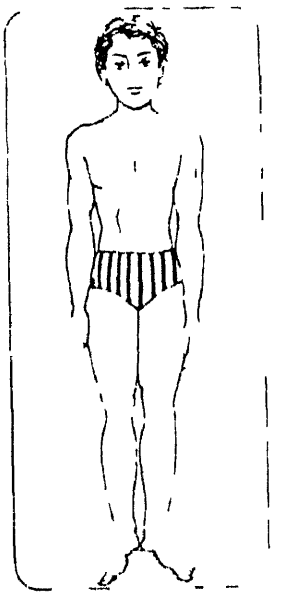

दक्षासन

पद्धति सूर्यनमस्कार की पहली अवस्था में एकाग्रचित से भगवान सूर्यनारायण का ध्यान लगाइए और ऐसी भावना कीजिए कि 'मे सबका मित्र हूँ ओर जगत के प्राणिमात्र से मेरा मित्रता है।' इसके बाद सिर गले ओर पूरे शरीर का तना हुआ रखिए। घुटने मिले हुए, बहादुर व्यक्ति की तरह सीना निकालकर सीधे खडे अर्थात सीधे खडे रहना। इसलिए प्रथम अवस्था को 'दक्षासन' कहा जाता है।

लाभ

1 त्वचा और कमर के राग दूर होते हैं। पीठ सशक्त बनती है ओर पेरों में नया जोश आ जाता है।

2 दृष्टि नासिकाग्र पर कन्द्रित होने से मन का निराध होता है।

3 चेहरा तेजस्वी बनता है।

4 विद्यार्थियों के लिए स्वास्थ्य-प्राप्ति ओर व्यक्तित्वविकास का यह एक अत्यन्त सरल उपाय है।

5 एकाग्र चित्त से ध्यान करने से आत्मविश्वास में वृद्धि हाती है।

2 नमस्कारासन

नमस्कारासन

पद्धति दोनो हाथ इस प्रकार जाडिए कि अँगूठे सीन का स्पर्शन करते रहें। सीना बाहर निकालिए और पेट को यथासभव भीतर की ओर खींचिए। फेफडे फुलाइए। दृष्टि सामन रखिए। शरीर, सिर ओर गर्दन एक सीधी रेखा में रहने चाहिए। मुँह बन्द करक कुभ्यक कीजिए साँस अन्दर खींचकर उसे रोके रहिए।

लाभ गले के राग मिटते है और स्वर अच्छा होता है। शरीर और मन स्वस्थ बनते है।

3 पर्वतासन

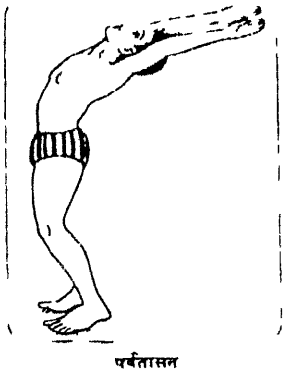
पर्वतासन

पद्धति हाथों को ऊपर उठाकर पूरे शरीर के पीछ की ओर खींचिए और ऑखे खुली रखकर आकाश की ओर देखिए। पीछ की ओर जितना झुक सके झुकिए। सीना फुलाइए आर बाहर की आर निकालिए।

लाभ दोनों कन्धों ओर अन्ननली का पोषण मिलता हे तथा उनस सम्बन्धि रोग मिटते ह। ऑख की वहनशक्ति बढती हे।

4 हस्तपादासन

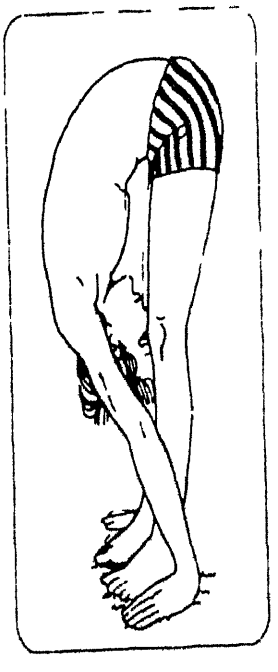
हस्तपादासन

पद्धति कुम्भक जारी रखकर घुटने झुकाए, बिना नीचे की आर झुकिए। दोनों हथेलियॉ इस प्रकार भूमि पर जमाइए कि जिसमे उँगलियाँ एक-दूसरे का स्पर्श करें। दोनों हाथें के अँगूठ पेरो क अगूठे की सीध में रखिए। इसके बाद नाक स अथवा ललाट स घुटनो को छूकर ध्वनियुक्त रचक कीजिए, (सॉस बाहर छोडिए)। साँस नाक से ही बाहर छोड, मुँह से नहीं। प्रारम्भ में यदि उँगलियाँ भूमि को थोडा भी स्पर्श करेंगी तब भी चलेगा। धीर-धीरे पूर्ण स्थिति आ जाएगी।

लाभ 1 पेट के रोगा को नाश करता है। सीने को बलिष्ठ बनाता है। हाथ भी बलिष्ठ बनते हे ओर शरीर सुन्दर और दर्शनीय बनता हे।

2 पैरो की उँगलियों के रोग मिटाकर अशक्तों को नई शक्ति प्रदान करता है।

5 एकपाद प्रसरणासन

पद्धति नाक से ध्वनियुक्त पूरक करके दायॉ पेर इस प्रकार पीछे की ओर लीजिए ताकि उस पेर का घुटना ओर उँगलियॉ भूमि का स्पर्श करें। बाए पेर का घुटना बाई बगल के आग लगाइए। पट अच्छी तरह दबाना चाहिए। सिर उठाकर जितना अधिक आप ऊपर की ओर देख सकें, देखिए। कम झुकाइए ओर मॉम राके रहिए।

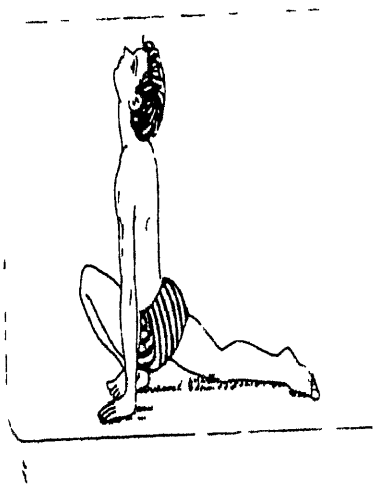

एकपाद प्रसरणासन

लाभ

1 इस स्थिति में छोटी ऑत पर जोर पडता हे ओर वीर्यवाहिनी नसं खिचती हे, अत कब्ज ओर जिगर क रोग मिटत हें।

2 धातुक्षीणता से लाभ हाता हे।

3 काकल जेसे गल के रोग मिटते हं।

6 भूधरासन

पद्धति कुभक जारी रखकर दूसरा पेर पीछे ल जाइए। अँगूठ, टखने और घुटने एक-दूसर का स्पर्श करें इस प्रकार दोनों पेरो को जमाइए। सिर, कर्म ओर शरीर का पिछला भाग तथा कुहनियॉ एक सीध में और तन हुए रखिए। पूरा शरीर दा हथलियों ओर दाना पेरां की उँगलियों पर रखिए।

भूधरासन

लाभ हाथ, पैर ओर विशषत घुटना का दद मिटता हे। माटी कमर को पतली बनाता ह। पेट के राग क लिए यह स्थिति रामबाण इलाज है।

7 अष्टाग प्राणिपातासन

पद्धति सॉस रोककर दाना घुटने भूमि पर रसिखए। सीन स भूमि का स्पर्श कीजिए। दाढी स गल के नीच का भाग का स्पर्श कीजिए। ललाट का ऊपरी हिस्सा भी इस प्रकार भूमि को लगाइए कि नाम भूमि का स्पर्श न करे। पेट का भीतर खीच लीजिए, वह भूमि का स्पर्श न कर इसकी सतर्कता रखिए। फिर पूर्ण रचक कीजिए। सीने का भाग दो हाथों क बीच म आना चाहिए।

अष्टाग प्रणिपातासन

लाभ 1 यह आसन हाथ का बलिष्ठ बनाता ह।

2 यदि स्त्रियाँ सगर्भावस्था क पूर्व यह व्यायाम कर तो पय पान करने वाले (दूध पीत) बच्चे रोगों से बच सकत हैं।

8 भुजगासन

पद्धति • पेर, घुटने ओर हथेलियॉ उसी स्थिति म रखकर हाथ सीधे कीजिए। साँस भीतर खींचिए आर सीना आगे कीजिए। कमर का गोलाकर में मोडकर यथासभव अधिक म अधिक ऊपर से पीछ की ओर दखिए। कुभक कीजिए।

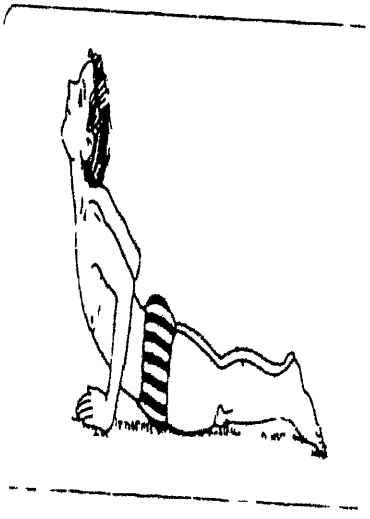

भुजगासन

लाभ 1 निस्तजस्विता दूर करके शरीर में लाली लाता हे ओर आँखों का तेज बढाता हे।

2 रज-वीर्य के सभी प्रकार के दोषों का मिटाता हे ओर स्त्रियों क मासिक धर्म की अनियमितता दूर करता ह।

3 रक्त-परिभ्रमण ठीक होने से मुख की काति आर शोभा म वृद्धि होती है।

9 भूधरासन

पद्धति कुभक जारी रखकर हथेलियॉ ओर पर्रा की उँगलियॉ हिलाए बिना कमर सीधी करके घुटना से झुक बगेर पीछ की अर झुक जाइए। दाढी से सीने का स्पर्श कीजिए। पट का भीतर खींचिए। यथासभव नितम्बों को ऊपर उठाइए। पेरों केतलव भूमि का पूर्णत छूने चाहिए।

भूधरासन

लाभ 1 सधिवात पक्षाघात तथा अधागवायु की बीमारी नही होती।

2 पेरों में अश्व के समान बल उत्पन्न हाता ह।

10 एकपाद प्रसरणासन

पद्धति दण्ड लम्बरेखा म लाकर बायॉ पर आग लीजिए। उस जगह से उठाया हा उसी जगह रखिए। घुटना बगल मं लाइए ओर पैर का तलवा पूर्णत भूमि पर रलिख। इस स्थिति मं पट अच्छी तरह दबाना चाहिए। गदन ओर सिर पीछ की ओर लीजिए ओर यथासभव पीछे देखिए।

एकपाद प्रसरणासन

लाभ पेरों में रक्त गतिशील बनता हे आर व्यक्ति के चलन की शक्ति बढती हे। मेरूदण्ड में लचीलापन आता ह।

11 हस्तपादासन

पद्धति दण्ड लम्बरखा में लाकर बायॉ पर आग लीजिए। उसे जगह से उठाया हा उमी जगह रखिए। घुटना बगरा में लाइए ओर पैर का तलवा पूर्णत भूमि पर रलिख। इस स्थिति म पट अच्छी तरह दबाना चाहिए। गर्दन और सिर पीछ की ओर लीजिए ओर यथासभव पीछे देखिए।

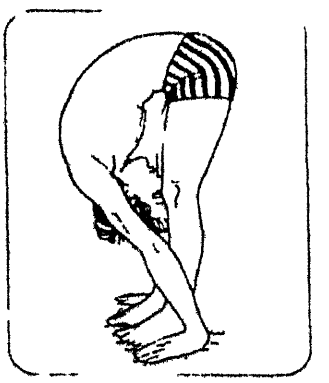

हस्तपादासन

लाभ पैरों में रक्त गतिशील बनता हे ओर व्यक्ति क चलन की शक्ति बढती हे। मरूदण्ड में लचीलापन आता हे।

12 नमस्कारासन

पद्धति ध्वनियुक्त पूरक करके दूसरी अवस्था के अनुसार तनकर खडे हो जाइऐ। पेर ओर घुटने एक दूसर स चिपक हुए आर पेर तने हुए होने चाहिए।

लाभ नमस्कारासन से होने वाले जिन लाभो का वर्णन हम पहल कर चुके हे वे सभी लाभ यहॉ भी समझ।

योगासन

1 तारासन

यह आसन करते समय तारे जैसी आकृति बनती है। इसलिए इसे 'तारासन' कहा जाता है। इस आसन को समझने के लिए नीचे इसकी तीन भिन्न-भिन्न स्थितियों के तीन चित्र दिय गए है।

पद्धति दोनो पैरों के बीच लगभग 45^0 का कोण बनाकर सीधे खडे रहिए। दोनों हाथ सामने रखिए ओर हथेलियों को ऊपर की ओर रखकर दोनों हाि कन्धों की सीध में सामने लाइए (देखिए चित्र 1)। इसके बाद हथेलियॉ नीचे भूमि की ओर रखकर दोनों हाथ बगल के कन्धों की सीध में लाइए (देखिए चित्र 2)। इसके बाद दोनों हाथ ऊपर की ओर ले जाइए और हथेलियॉ की भीतर की तरफ आमने-सामने रखिए (देखिए चित्र 3)। प्रत्येक स्थिति में आने के बाद लगभग दो सेकण्ड ठहरें।

तीसरी स्थिति के बाद मूल स्थिति में आइए। यह आसन तीन-चार बार करें। धीरे-धीरे अभ्यास होने पर छह बार तक कर मकते हं।

लाभ . 1 यह आसन फेफडो ओर सीने को मजबूत बनाता है। दमे केमरीजों के लिए तो यह आसन बडा ही लाभप्रद है।

2 यह आसन करने से श्वसनतत्र सक्रिय बनकर काम करने लगता है।

3 यह आसन सीने की चौडाई बढाता है और उसे सुडौल बनाता है।

4 यह आसन नियमित करने से कुछ अशो मं ऊँचाई भी बढाई जा सकती हे।

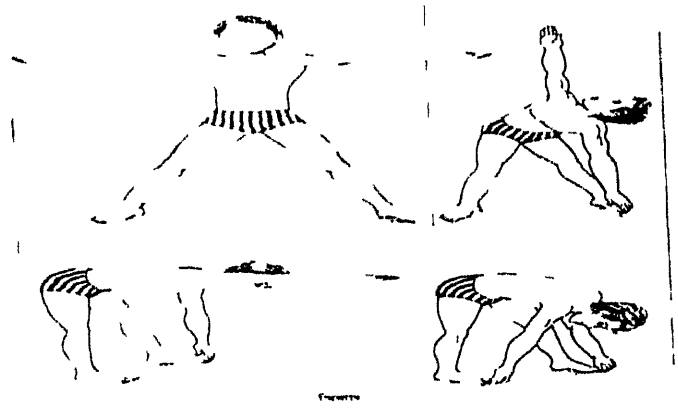

2 त्रिकोणासन

इस आसन में शरीर का आकार त्रिकोण जैसा बनता है। इसीलिए इसं 'त्रिकोणासन' कहा जाता है। इस आसन को भली-भाति समझने के लिए नीचे इसकी चार चित्र दिये गऐ हैं।

पद्धति दोनो पैरो के बीच लगभग 75 सेमी0 का अन्तर रखकर सीधे खडे रहिए। दोनों हाथ सीधे रखिए। फिर धीरे-धीरे दोनों हाथ कन्धे तक ऊपर उठाइए। हथेलियॉ नीचे की तरफ रखिए और सीधे खडे रहिए (देखिए चित्र 1)। फिर नीचे झुकिए और बाए हाथ से बाऍं पैर के पजे का स्पर्श करें। दायाँ हाथ ऊपर की ओर ले जाइए और सीधा रखिए। दृष्टि उसी हाथ की सीध म रलिख और बायॉ हाथ बाऍं पैर के अगूठे के पास लाइए (देखिए चित्र 2)। फिर नीचे की तरफ रखिए (देखिए चित्र 3)। इसके बाद दाऍं पैर के पजे का स्पर्श करें। त्रिकोणासन की यह अन्तिम स्थिति है (देखिए चित्र 4)। पॉच से दस सेकण्ड आराम करके दूसरी बार दायॉ हाथ नीचे और बायाँ हाथ ऊपर रखकर यह आसन कीजिए। प्रत्येक स्थिति में दो सेकण्ड ठहरिए। प्रतिदिन यह आसन चार-पाँच बार कीजिए।

लाभ .

1 जिन लोगों की गर्दन कडी हो जाती हे उन्हें इस आसन से बडा आराम मिलता हे।

2 यह आसन गर्दन और कन्धे के जोडों का दर्द मिटाता है। साथ ही मेरूदण्ड, कूल्हे, हाथ ओर उँगलियों को अच्छा व्यायाम होता हे।

3 इस आसन से रीढ लचीली बनती हे ओर मानसिक शक्ति बढती हे। ऑशो के तेज के लिए भी यह आसन लाभप्रद हे।

3 वृक्षासन

इस आसन में वृक्ष के समान आकृति होती है। इसीलिए इसे 'वृक्षासन' कहा जाता है।

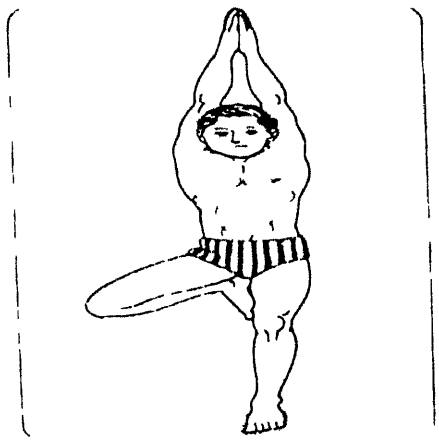

वृक्षासन

पद्धति किसी भी एक पैर पर खडे रहिए। यदि एक पैर पर शरीर का सन्तुलन बनाए रखने में कठिनाई का अनुभव हा तो दीवार का सहारा लिया जा सकता हे। दूसरे पैर को घुटने से मोडकर उसकी एडी को पहले पैर की जॉघ के मूल पर चित्र में बताए अनुसार रखिए। दोनों हाथों को बलग से सीधे सिर पर ले जाकर इस प्रकार रखिए कि उनकी हथेलियॉ एक-दूसरे से सटी हुई रहे। इस प्रक्रिया से स्थिति ऐसी होगी जैसे आप आकाश की ओर नमस्कार कर रहे हों। दोनों हाथों की कुहनियॉ सीधी रखिए। धीरे-धीरे साँस लीजिए। लगभग दस सेकण्ड तक इसी स्थिति में रहिए। फिर यही क्रिया दूसरे पैर पर करें। दिन में चार से छह बार यह क्रिया की जा सकती है।

लाभ :

1 यह आसन शरीर के प्रत्येक जोड को योग्य व्यायाम देता है।

2 यह आसन पैरों की उँगलियों, घुटनों, कुहनियां आदि की नाडियों में योग्य मात्रा में रक्त-सचय करता है।

3 इस आसन से हाथ-पैर लचीले बनते है और सीना सुडोल बनता हे।

4 गरूणासन

जब यह आसन किया जाता हे, उस शरीर का आकार गरूड पक्षी जैसा बनता है। इसीलिए इस आसन को 'गरूडासन' कहा जाता हे।

पद्धति . एकदम सीधे खडे रहिए। दायॉ पेर भूमि पर सीधा रहने दीजिए ओर बायॉ पैर उठाकर दाएँ पैर के आसपास लपेट दीजिए। जिस प्रकार नता वृक्ष के तने के चारों ओर लिपटकर चिपकी रहती हे इसी प्रकार बायॉ पैर दाएँ पैर के इर्दगिर्द लिपट जानाचाहिए। इसी प्रकार बाई जॉघ पर दाई जॉघ के लपेट आनी चाहिए। हाथों की भी परस्पर ऐसी ही लपेट बनाइऐ। हथेलियॉ एक-दूसरे को स्पर्श करनी चाहिए। उँगलियॉ गरूड के चोंच के समान बनाइए। हाथ को मुँह के बराबर सामने रखिए। स्वाभाविक श्वासोच्छवास जारी रखिए। हाथ और पैर क्रमश· बदलते रहिए। आठ से दस सेकण्ड तक यही स्थिति बनाए रखिए।

लाभ

1 इस आसन से पैर सशक्त बनते हे ओर एक पैर पर शरीर का सतुलन रखने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

2 इस आसन में हाथ और पैर की नसें खिचती है, इसलिए वे मजबूत बनती है।

3. इस आसन से वृष्ण की भीतरी पेशियों की सृजन दूर होती है।

4 इस आसन को करने वाले की ऊँचाई बढती है।

5 इस आसन से हाथ-पैर का रह्युमेटिज्म दूर होता है।

6 इस आसन स कूल्हे ओर पिडली का दर्द मिटता हे।

7 यह आसन मनोनिग्रह के लिए बडा ही सहायक बनता है।

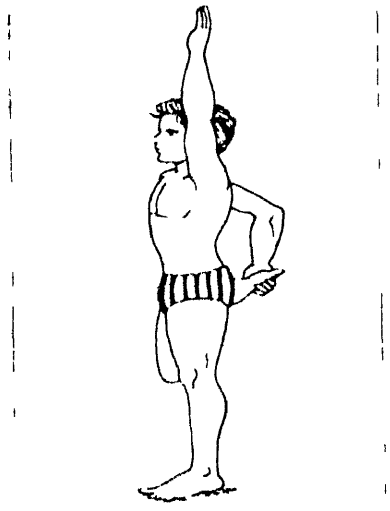

स [न रासन

5 सतुलासन

इस आसन में एक पैर पर शरीर का सतुलन बनाना पडता है। इसीलिए इसे 'सतुलनासन' कहा जाता है।

पद्धति भूमि पर सीधे खडे रहिए। शरीर का सीधा और तना हुआ रखिए। दृष्टि सामने ओर दोनों हाथ बगल में रखिए। फिर किसी एक पेर को इस तरह मोडिए कि घुटना नीचे की ओर रहे। इस पेर के पजे को उसी तरफ वाले हाथ से पकडिए। दूसरे हाथ को इस प्रकार सीधा ऊपर उठाइए कि वह कान को स्पर्श करे। यह स्थिति लगभग आठ-दस सेकण्ड तक बनाए रखिए। यही क्रिया दूसरे पैर से भी करें। प्रारभ में दिन में चार बोर और फिर छह बार यह आसन किया जा सकता है।

लाभ

1 इस आसन से शरीर के प्रत्येक जोड को उचित व्यायाम मिलता है।

2 इस आसन से जोडों को दर्द दूर होता है।

3 इस आसन से टखनों, घुटनों, कधों और हाि की उँगलियों को योग्य कसरत मिल जाती है। साथ ही एक पैर पर शरीर का सन्तुलन बनाए रखने का अभ्यास होता है।

6 वातायनासन

यह आसन अधखडी स्थिति म एक पैर के तलवे और दूसरे पेर के घुटने की सहायता के किया जाता हे। इस आसन में ऐसी आकृति बनती है मानो हम ईश्वर की स्तुति कर रहे हों।

पद्धति सीधे खडे रहिए। बाया पेर पकडिए और उसकी एडी को जॉघ अथवा ज्ञननेन्द्रिय के मूता के पास रखिए। धीरे से बाएँ घुटने का भूमि से स्पर्श करवाइए। दोनों हाथों की स्थिति पहले चित्र में बताए अनुसार रखिए। फिर दूसरे और तीसरे चित्र में बताए अनुसार गरूडासनवाली हाथों की लपेट लेकर नमस्कार की मुद्रा बनाइऐ। दृष्टि सामने की ओर रखिए। धीरे-धीरे सॉस लीजिए। मोडे हुए पैर का घुटना दाएँ पैर की एडी का स्पर्श करें ऐसी स्थिति बनाइऐ। फिर धीरे-धीरे खडे होकर दूसरे पैरे से यही क्रिया फिर कीजिए।

लाभ ·

1 इस आसन से पैर सशक्त बनते हैं। साथ ही टखनों और घुटनों का दर्द दूर होता हे।

2 ईश्वर की स्तुति करने केलिए इस आसन का उपयोग किया जा सकता है।

7 उत्कटासन

उत्कटासन उत्तम आसानी में से एक है। यह आसन करने से पैर की उँगलियाँ, टखनों मे उँगलियों तक की पैर की सधियाँ और स्नायु सशक्त बनते है। इस आसन के दो प्रकार हे। दोनों की जानकारी नीच दी गयी हे।

पद्धति 1 (पहला प्रकार) दोनों पैर मिलाकर खड़े रहिए। फिर पजो पर उठकर दोनों हाथ चित्र में बताए अनुसार नमस्कार की मुद्रा में सीधे सिर के ऊपर ले जाइए। फिर धीरे-धीरे शरीर के नीचे झुकाइए। इस आसन में अधिक ताकत की आवश्यकता नहीं पडती। साधक को केवल इतना समझ लेना है कि शरीर का सन्तुलन कैसे बनाए रखा जाए। पतला और सुदृढ डीलडौलवाला व्यक्ति यह आसन बहुत अच्छे ढग से कर सकता हे।

पद्धति 2 (दूसरा प्रकार) . हाथ सीधे रखकर खडे रहिए। फिर धीरे-धीरे शरीर को पॉच-सात सेमी0 ऊपर उठाकर पैर की उँगलियों पर सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न कीजिए। प्रारभ में धीमे-धीमे नीचे की ओर आइए और पजो पर बैठिए। इस स्थिति में पूरे शरीर का वजन केवल पजो पर ही रहेगा और कूल्हें एडियों को छुएँगे। आठ में दस सेकण्ड तक यह स्थिति बनाए रखिए। यह आसन बस्तिक्रिया में बडा उपयोगी है। क्रमश अभ्यास बढाते हुए अधिक से अधिक तीन मिनट तक यह आसन किया जा सकता हे।

लाभ :

1 इस आसन से हाथों की कलाइयॉ और पैरो के पजे मजबूत बनते है।

2 पीलपॉव के रोग में यह आसन बहुत उपयोगी है।

3 इस आसन से पैर के सभी जोडों और स्नायुओं को उचित व्यायाम मिलता है।

4 इस आसन में इडा-पिगला नाम की नाडियों के मार्ग बन्द हो जाते है और प्राण सुषुम्णा में सचरित होने लगते हैं।

5 इस आसन के निरतर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है।

6 यह आसन करने से भगदर, जलोदर, मलावरोध, उदररोग, रक्तविकार, चर्मरोग, अफरा, हृदय और फेफडों की निर्बलता, सधिवात आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

8 नटराजासन

इस आसन में नटराज जैसा आकार बनता हे। इसीलिए इसे 'नटराजासन' कहा जाता है। यह आसन 'आगे बढिए आर ओर काम कीजिए' का भाग करवाता है आर काम करने की प्रेरणा देता है।

पद्धति दोनो पेरों पर सीधे खडे रहिए। दोनों हाथ अपनी-अपनी जगह पर सीधे और दृष्टि सामने रखिए। कोई भी एक पैर सीधा तना हुआ रखकर दूसरा पेर पीछे की तरफ उठाइए। फिर उसी ओर के हाथ से उस पैर का पजा पकडिए ओर खींचिए। दूसरे हाथ को सामने की ओर खींचिए एव दृष्टि भी उसी ओर रखिए। लगभग आठ से दस सेकण्ड तक यह स्थिति बनाए रखिए। फिर यही क्रिया दूसरे पेर पर कीजिए। प्रारभ में दिन में चार बार और फिर छह बार यह आसन किया जा सकता है।

लाभ :

1 यह आसन शरीर के प्रत्येक जोड को उचित व्यायाम प्रदान करता है।

2 इस आसन से कन्धों, कूल्हों, घुटनों, टखनों, हथेलियों, उँगलियों और रीढ को अपेक्षित व्यायाम मिलता है।

3 यहआसन कमर के दर्द को कम करता है ओर कमर को लचीला बनता है।

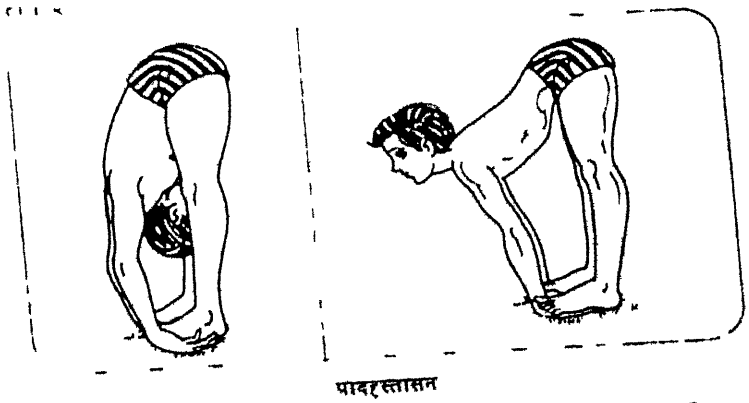

पादहस्तासन

9 पादहस्तासन

इस आसन और पश्चिमोत्तासन की स्थिति समान हे। फर्क केवल इतना है कि यह आसन खडे-खडे करना पडता हे। इमीलिए इसे 'स्थित पश्चिमोत्तासन' भी कहा जाता है। कई लोग इसे 'हस्तपाद मगासन' के नाम से भी जानते है।

पद्धति . सीधे खडे रहिए। दोनों हाथ अपनी-अपनी जगह पर लटकाते हुए रखिए। दोनों एडियाँ पास-पास रखिए। पजों के बीच थोडी जगह रखिए। फिर दानों हाथ ऊपर उठाइए। धीरे-धीरे शरीर को नीचे ओर झुकाइए। घुटने दृढ और कडे रखिए। घुटनों से पैरों को मुडने मत दीजिए। दोना हाथों को भी कुहनियों से मुडने मत दीजिए। दोनों हथेलियॉ चित्र में बताए अनुसार पैरो के नीचे रखिए। नीचे झुकते समय धीरे-धीरे सॉस वाहर छोडिए ओर पेट को भीतर खीचिए। ललाट को दोनों घुटनों के बीच ले जाइए। यदि जडता या पेट के अत्यधिक भेद के कारण झुकने में कठिनाई मालूम हो तो धीरे-धीरे प्रयत्न कीजिए किन्तु घुटनों को मोडे नहीं। इस स्थिति मं दो से दस सेकण्ड तक रहें।

लाभ :

1 इस आसन से अनावश्यक मेद दूर हो जाता हे और शरीर फूल की तरह हल्का-फुल्का हो जाता हे।

2 यह आसन अपानवायु को नीचे की ओर धकेलता है।

3 पश्चिमोत्तासन के सभी लाभ इस आसन से भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

4 पैर या जॉघ में फ्रैच्चर होने से पेर छोटा हो गया हो तो यह आसन लम्बे समय करने के बाद अच्छा लाभ हाता है।

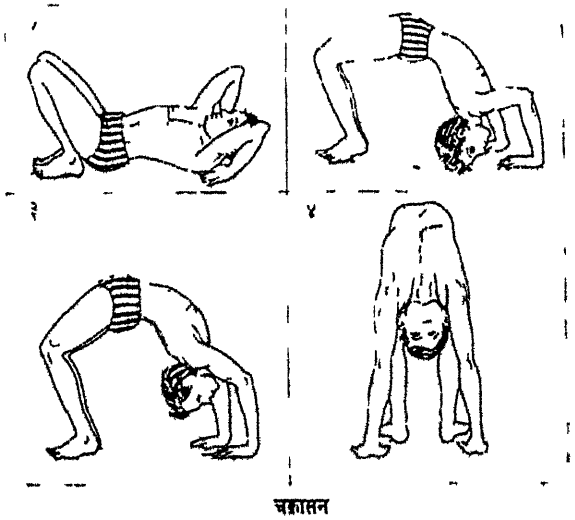

चक्रासन

10. चक्रासन

इस आसन में रीढ चक्र जैसा आकार धारण करती है। इसलिए इसे 'चक्रासन' कहा जाता है। वास्तव में तो यह आसन चक्र की अपेक्षा अर्द्धगोल अथवा मेघधुनष्य से अधिक मिलता-जुलता है।

पद्धति भूमि पर चित्त लेट जाइए। फिर दोनों पैरों को घुटनों से मोडकर नितम्ब के पास इस प्रकार रखिए कि जिससे पेर के तलवे भूमि का स्पर्श करते रहें। दोनों पैरो के बीच का अन्तर चार स छह इच के जितना रखिए। दोनों हाथों को कुहनियों से मोडकर मस्तक की दोनों भूमि पर रखिए।

इसके बाद चित्र 2 ओर चित्र 3 में निर्दिप्ट स्थिति में रहकर सॉस को भीतर खींचिए और कमर से मस्तक तक का शरीर का पीछे का भाग ऊपर की ओर उठाइए। श्वासोच्छवास जारी रखिए। मस्तक को यथासभव पीठ की ओर मोडिए। दोनों हाथ यथासभव सीधे रखिए। शरीर को स्थिर रखिए। हाथ-पैरों को अपनी जगह सेमत हटाइए। पीठ का भाग यथाशक्ति ऊपर की ओर उठाने का प्रयत्न कीजिए (देखिए चित्र 4)। लगभग 1 मिनट तक इस स्थिति में रहिए। नीचे उतरने के पहले सॉस को फेफडो में भरकर धीरे-धीरे शरीर को भूमि पर चित्त लेटी हुई स्थिति में ले आइए। फिर श्वासोच्छवास सामान्य गति से जारी रखिए।

लाभ

1 इस आसन से साधक अपनी रीढ को पर्याप्त स्थितिस्थापक बना सकता हे। रीढ की स्थितिस्थापकता अर्थात दीर्घ यौवन।

2 यह आसन सर्वांगासन का पूरक है। इसलिए यदि सर्वांगासन के अन्त में गर्दन या कन्धे में किसी भी प्रकार की पीडा हो तो फौरन कुछेक मिनटो के लिए यह आसन करें।

3 धनुरास, शलभासन और भुजगासन के सभी लाभ इस आसन से भी मिलते हैं।

11 मुर्गासन

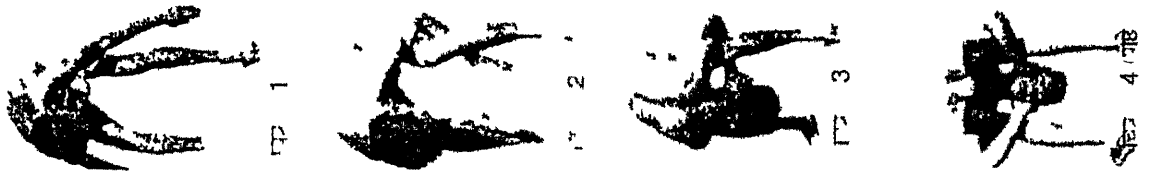

कैसे करें – हाथों को ऊपर की ओर करके खडे हो जायें। तत्पश्चात चित्र एक के अनुसार अन्य घुटनों को थोडा आगे मोड लें और कमर आगे की ओर ऊपर स झुककर हाथों को घुटनों से बाहर कर लें ओर सिर नीचे झुका लें। अब चित्र 2 के अनुसार हाथों को घुटनों के पीछे से डालकर हथेलियों को पिडली के पास कर लें। अब चित्र तीन के अनुसार कमर-प्रदेश को यथासभव आसमान की ओर उठाते हुए हाथों की अगुलियों से कानों के अग्रभाग का खीचते हुए पकडें।

प्रारम्भ में इस आसन का अभ्यास एक बार में अर्थात चित्र तीन की पूर्ण स्थिति में पाच से दस गिनती से अधिक में ठहरना ही मुश्किल होगा किन्तु नियमित अीया से एक माह में एक मिनट (साठ गिनती) तक का अभ्यास होने लगता हे। क्रमश धीरे-धीरे पाच मिनट से दस मिनट तक की पूर्ण स्थिति का अभ्यास करें। पूर्ण स्थिति न आने तक, अनेक बार मं पॉच-दस मिनट का समय पूरा करं अर्थात कान पकडे, पाच-दस गिनती में कें, फिर कान छोडें, पुन कान पकडत्रें, पाच-दस गिनती में रूकें, फिर कान छोडें। पुन कान पकडें, पाच दस गिनती में रूकें फिर कान ।

करने का समय – अन्य आसन-व्यायाम की भाति प्रात खाली पेट या ाम को भोजन के पूर्व करें।

सावधानियॉ –

1 हृदय रोगी एव उच्च रक्तचार के रोगी इस आसन को न करें। कमर दर्द के पुरागी रोगी या कठिन रोगी भी न करें।

2 घुटनों में सूजन या दर्द हो तो पहले स्थानीय भाप स्नान या चुम्बकीय चिकित्सा से सूजन या दर्द का इलाज करें। जब सूजन या दर्द समाप्त हो जाये तो इस मुर्गासन का अभ्यास शुरू कर दें।

3 महिलायें तीन माह के गर्भ के बाद एव मासिक धर्म का समय इसका अभ्यास न करें।

करने के समय की धारणा – 'विचार सृष्टि का बीज है' अर्थात आसन की पूर्ण स्थिति में धारणा करें कि 'मुर्गासन के कारण मेरे मस्तिष्क, कर्ण,नेत्र, कपोल, मस्तक आदि में रक्त एव प्राण का अतिरिक्त सचार हो रहा है। फलस्वरूप मेरी स्मरण शक्ति में वृद्धि हो रही है, कर्ण शक्ति में वृद्धि हो रही है।' मै ईश्वर का धन्यवाद करता हूँ/करती हूँ।

बैठ करके

पद्मासन

1 पदमासन

'पदम' अर्थात कमल। जब यह आसन किया जाता है उस समय वह कमल के समान दिखाई पडता है। इसीलिए इसे 'पदमासन' नाम दिया गया है। यह आसन 'कमलासन' के नाम से भी जाना जाता हे। ध्यान एव जप के लिए पदमासन मुख्य आसन है। यह आसन पुरूषों ओर स्त्रिया दानों के लिए अनुकूल है।

पद्धति . भूमि पर दोनों पैर फैलाकर सीधे बेठिए। फ्रि दायॉ पैर बाएँ पैर की जॉघ पर और बायॉ दाए पैर की जॉघ पर रखिए। कई लोगों को पहले दाई जॉघ पर बायाँ पैर ओर फिर बाई जॉघ पर दायॉ पेर रखने में सरलता लगती है। ऐसा भीकिया जा सकता है। फिर चित्र में बताए अनुसार दोनों हाथों के अॅगूठोंको तर्जनियों के साथ मिलाकर बायॉ हाथ बाएँ पैर के घुटने पर और दायॉ हाथ दाएँ पैर के घुटने पर रखिए। मेरूदण्ड और मस्तक सीधी रेखा में रखिए। आँखों को बन्द या खुला रखिए। कई व्यक्ति केवल एक पैर को ही जॉघ पर रख सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को भी प्रतिदिन उत्साहपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। थोडे ही समय में वे इस आसन को सरलता स कर सकेंगे। प्रारम्भ में यह आसन एक से दो मिनट तक करें और फिर धीरे-धीरे समय बढाएँ।

लाभ :

1 जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान एव समाधि के लिए इस आसन का उपयोग होता है।

2 इस आसन से अन्त स्रावी ग्रन्थियॉ कार्यक्षम बनती है।

3 यह आसन दमा, अनिद्रा, हिस्टीरिया जैसे रोग दूर करने में सहायक हें। अनिद्रा के रोगियों के लिए यह आसन अमोध साधन है।

4 यह आसन शरीर की स्थूलता कम करने में भी सहायक है। इस आसन से जीवनशक्ति की वृद्धि होती हे।

बद्ध पद्मासन

2 बद्ध पदमासन

यह भी पदमासन का एक ही प्रकार है। यह आसन ध्यान के लिए नहीं है किन्तु मुख्यत स्वास्थ्य के सुधार के लिए एव शरीर को सशक्त और सुदृढ बनाने के लिए हे। यह आसन श्रमसाध्य है। इसलिए जिनसे यह आसन प्रारम्भ में न हो सके, वे भी निराश न हो। धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहें।

पद्धति पैरो को एक-दूसरे पर चढाकर पदमासन कीजिए। पेट के नीचे वाले हिस्से को आपकी एडियों का स्पर्श होना चाहिए। फिर दाएँ-बाएँ दोनों हाथ पीठ के पीछे ले जाइए। दाएँ हाथ से दाएँ पैर का पजा ओर बाएँ हाथ से बाएँ पैर का पजा पकडिए। पेरों के अँगूठे पकडते समय कठिनाई पडती हो तो आगे की ओर झुककर अँगूठे पकडिए और अँगूठे पकडने के बाद फिर पूर्ववत सीधे हो जाइए। श्वासोच्छवास धीरे-धीरे चालू रखिए। एक-दो मिनट स प्रारम्भ करके क्रमश दस मिनट तक पहुँचा जा सकता है।

लाभ -

1 इस आसन में दोनों घुटनों और टखनों के जोडों पर वजन पडता है, जिससे पैरो के जोड सुदृढ बनते है।

2. इस आसन से दोनों पैरो की एडियों को सम्पूर्ण व्यायाम मिलता है।

3 यह आसन लगातार करने से हृदय, फेफडे, जठर, यकृत ओर मेरूदण्ड की अशक्ति धीरे-धीरे दूर होती है साथ ही घुटनों के जोडों की पीडा दूर हो जाती है।

4 यह आसन करने से अपच, अफरा, पेट का दर्द, अजीर्ण आदि रोग मिट जाते है।

5 इस आसन के द्वारा पदमासन के लाभ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किये जा सकते है।

गर्भासन

3 गर्भासन

जब यह आसन किया जाता है तब व्यक्ति का आकार गर्भस्थ शिशु क जेसा दिखाई देता है इसीलिए इस आसन को 'गर्भासन' कहा जाता है।

पद्धति : कुक्कुटासन की तरह दोनों हाथ जॉघ ओर पिडली के बीच डालिए। दोनों हाथों की कुहनियों तक का हिस्सा बाहर खींच लीजिए। धैय्रपूर्वक दाहिने हाथ से दाहिने कान की लोलकी और बाए हाथ से बाऍं कान की लोलकी पकडिए। इस स्थिति में अत्यन्त सावधानीपूर्वक आइए। अन्यथा आप पीछे की ओर लुढक जाएगे। धैर्यपूर्वक निरन्तर अभ्यास करते रहने से पुटठों के बल पर आप पूरे शरीर का सतुलन रख सकेंगे। यदि यह आसन करने में कठिनाई लगे तो पदमासन के बिना भी यह आसन किया जा सकता है। उस प्रकार यह आसन करते समय पेर नीचे की ओर लम्बे रखें। प्रारभ में 8 या 10 सेकण्ड से शुरू करें और फिर उम्र, शक्ति और लाभ के अनुसार एक मिनट तक यह आसन करें।

लाभ :

1 यह आसन करने पेट की एठन, अफरा, ऑतों की सूजन, जीर्णज्वर, मलावरोध आदि अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

2. इस आसन से पेट साफ होता है, पेट का वायुविकास दुर होता है और पाचरशक्ति बढती है।

3 इस आसन से पेट के अवयव, वक्षस्थल तथा हाथ-पैर के जोडों को पर्याप्त मात्रा में। आराम मिलता है ओर तत्सम्बन्धी तकलीफें दूर हो जाती है।

4 इस आसन से स्वाभाविक रूप से वीर्य-रक्षा होती है और चित्त आत्मा में स्थिर होने लगता है।

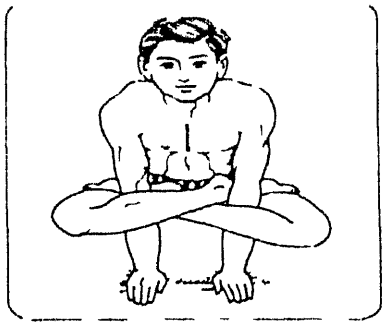

कुक्कुटासन

4 कुक्कुटासन

'कुक्कुट' सस्कृत शब्द हे और इसका अर्थ है 'मुर्गा'। इस आसन से मुर्गे जेसा आकार बनता है। इसीलिए इस आमन को 'कुक्कुटासन' कहा जाता है।

पद्धति सर्वप्रथम पदमासन की स्थिति में बैठिए। दोनों हाथ कुहनियों तक पिडलियों के बीच में डालिए। हथेलियॉ भूमि पर इस तरह टिकाइए, ताकि उँगलियाँ आगे की ओर रहें। फेफडों में सॉ भरकर शरीर का भूमि से ऊपर उठाइए। फिर सामान्य स्थिति में श्वासोच्छवास चालू रखिए। पैर कुहनियों तक भूमि से ऊपर उठने चाहिए। यदि पदमासन को किचित ऊपर उठाया जाए तो हाथ अत्यन्त सरलता से उसमें प्रविष्ट हो सकते हैं। स्थूल व्यक्तियों को पिडलियों और जॉघों के बीच हाथ डालना बडा मुश्किल पडेगा। प्रारम्भ में 10 सेकण्ड से शुरू करके अवस्था और शक्ति के अनुसार क्रमश 1 मिनट तक इस आसन में स्थिर रहें।

पद्धति सर्वप्रथम पदमासन की स्थिति में बैठिए। दोनों हाथ कुहनियों तक पिडलियों के बीच में डालिए। हथेलियॉ भूमि पर इस तरह टिकाइए, ताकि उँगलियॉ आगे की ओर रहें। फेफडों में सॉस भरकर शरीर को भूमि से ऊपर उठाइए। फिर सामान्य स्थिति में श्वासोच्छवास चालू रखिए। पैर कुहनियों तक भूमि से ऊपर उठने चाहिए। यदि पदमासन को किचित ऊपर उठाया जाए तो हाथ अत्यन्त सरलता से उसमें प्रविष्ठ

हो सकते हैं। स्थूल व्यक्तियों को पिडलियों ओर जॉघों के बीच हाथ डालना बडा मुश्किल पडेगा। प्रारी में 10 सेकण्ड से शुरू करके अवस्था और शक्ति के अनुसार क्रमश 1 मिनट तक इस आसन में स्थिर रहें।

लाभ .

1 उत्थित या लोलासन से मिलने वाले सभी लाभ इस आसन से भी मिलते हे। साथ ही उचित पदमासन से दूर होने वाले रोग इस आसन से भी मिट जात हे।

2 जिन्हें पेट में कूमि की शिकायत हो उनके लिए यह आसन लाभप्रद हे।

3 स्त्रियों को मासिक रजोदर्शन के समय होनेवाली बेचैनी, पुटठों का दर्द, भारीपन आदि तकलीफें इस आसन के अभ्यास से दूर हो जाती है।

4 इस आसन से हाथों को सम्पूर्ण व्यायाम मिलता है। इसलिए हाथ की तीन मुख्य सन्धियॉ- कलाई, कुहनी ओर कन्धे-सशक्त बनती है।

5 इस आसन से शरीर में स्फूर्ति ओर मन में प्रसन्नता होती है।

5 पश्चिमोत्तानासन

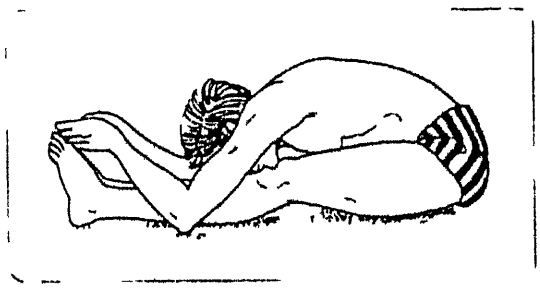

पश्चिमोत्तानासन

इस आसन को 'उग्रासन' भी कहा जाता हे। 'उग्र' शब्द का अर्थ 'शिव' होता है। भगवान शिव को सहारकर्ता माना जाता हें इसीलिए वे 'उग्र' अथवा 'भयकर' नामों से भी प्रसिद्ध है। यह आसन भी अतिशय कठिन होने से 'उग्रासन' के नाम से जाना जाता है।

पद्धति भूमि पर बैठकर पैरों को लकडी की तरह लम्बे कीजिए। पैर को हाथ के अँगूठे और पहली तथा बीच की उँगली से पकडिए। पैर पकडते समय शरीर को आगे की ओर मोडिए। उच्छ्वास छोडिए ओर धीरे-धीरे इतना नीचे झुकिए कि सिर घुटनों का स्पर्श करे। नीचे झुकते समय पेट भीतर की तरफ खींचिए, इससे आप

आसानी से झुक सकेंगे। घुटनों का स्पर्श करते समय सिर दोनों हाथों के बीच में रहेगा। स्थितिस्थापक मेरूदण्डवाले युवकों का सिर पहले प्रयत्न में ही घुटनां को छू सकेगा। मोटे आदमियों को अवश्य कुछ कठिनाई का अनुभव होगा। जिसका मेरूदण्ड जरठ हो गया हो ऐसे व्यक्ति को यह आसन करने में पखवाडा या महीना लग जाता है। पॉच सेकण्ड तक आसन की स्थिति मं रहिए। 30 सेकण्ड से शुरू करके धीरे-धीरे यह आसन दस मिनट तक किया जा सकता हे।

लाभ :

1 यह एक बडा ही अच्छा आसन हे। यह श्वास को ब्रह्मनाडी सुषुम्णा में से प्रवाहित करता है और जठराग्नि प्रदीप्ति करता हे।

2 इस आसन से पेट पर जमी हुई अतिरिक्त चर्बी कम होती हे।

3 इस आसन से मूत्राशय, जठर, पित्ताशय आदि पेट के अवयव क्रियाशील बनते हैं।

4 इस आसन से ऑतों की आकचन ओर सकुचन की क्रिया को गति मिलती ह जिससे भोजन ऑत एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचता हे।

5 यह आसन कब्ज, अजीर्ण, कलेजे के दर्द, मदाग्नि आदि को दूर करता हे।

6 यह आसन करने से जोडों में स्थितिस्थापकता आती है और कमर का दर्द दूर हो जाता है।

7 शरीर सुडौल और गठीला बनता हे।

8 पैर के स्नायु सशक्त बनते हें।

9 इस आसन से ऊर्ध्वश्वास (हिचकी) का रोग मिट जाता है।

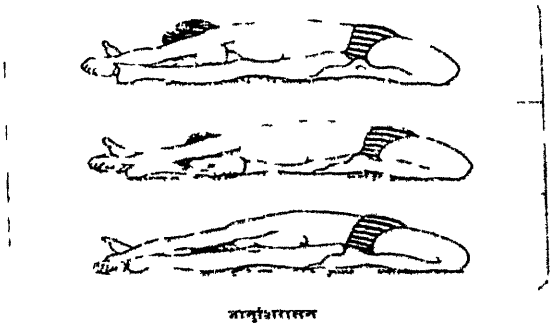

जानुशिरासन

6 जानुशिरासन

अमुक अशों में यह आसन पश्चिमोत्तानासन जैसा ही है। इस आसन में केवल एक पैर ही लम्बा किया जाता है।

पद्धति बैठक की स्थिति लीजिए। बाई एडी को वृषण और गुदा के बीच क भाग में जोर से दबाकर रखिए। दायॉ पैर लम्बा और सीधा रखिए। दोनो हाथों से दाएँ पेर का पजा पकडिए। श्वास छोडिए ओर पेट को भीतर की तरफ खींचिए। चित्र में बताए अनुसार धीरे-धीरे सिर को नीचे झुकाइए। मुँह और दाढी को घुटने पर टेकिए। पॉच से दस सेकण्ड तक इसी स्थिति में रहिए। धीरे-धीरे समय बढाइए। इसी प्रकार बायॉ पैर लम्बा कर के भी यह आसन किया जा सकता है। निरन्तर अभ्यास से यह आसन आधे घण्टे तक किया जा सकता हे। निरन्तर अभ्यास से यह आसन आधे घण्टे तक किया जा सकता हे। यह आसन दिनभर में पॉच-छह बार कीजिए। शौचक्रिया क बाद ही यह आसन कर। यह आसन करने वाला व्यक्ति पश्चिमोत्तानासन बडी सरलता से कर सकेगा।

लाभ .

1 इस आसन से जठराग्नि प्रदीप्ति हाती हे ओर पाचनक्रिया में सहायता मिलती हे।

2 यह आसन ब्रह्मचर्य के पालन में महायक हे।

3 इस आसन से मूत्र की सारी शिकायतें दूर हो जाती है।

4 यह आसन ऑतों की पीडा के लिए बहुत उपयोगी है।

5 इस आसन से कुण्डलिनी जाग्रत होती है और आलस्य तथा अशक्ति दूर होती हे।

6 पश्चिमोत्तानासन से प्राप्त होने वाले सभी लाभ इस आसन द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

7 अर्द्ध मत्येन्द्रासन

यह 'अर्द्ध' अर्थात आधा आसन है। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने हठयोग के साधकों को सर्वप्रथम यह आसन सिखाया था उन्हीं के नाम पर इस आसन का नामकरण हुआ है। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ भगवान शकर के शिष्य थे।

पद्धति : बाई एडी गुदा के पास वृषण के नीचे रखिए। वह सीवनी स्थान को छूनी चाहिए। इस जगह से एडी को हिलने न दें। (सीवनी स्थान गुदा और जननेन्द्रिय के

बीच में है।) दायॉ घुटना मोडिए आर दायॉ टखना बाऍं घुटने के बाहर की ओर रखिए। खडी स्थिति में मोडे हुए दाएँ घुटन पर बाई बगल टिकाइए। अब घुटनें को पीछे धकेलिए, ताकि वह बगल के पिछले हिस्से का स्पर्श करें। फिर बाऍं हाथ से दाऍं पैर का अगूझा पकडिए। इसके बाद बाए कन्धे के जोड पर दबाव डालकर धीमे से मेरूदण्ड को मरोडिए, और दाई तरफ जितना मोड सकें, मोडिए। चेहरे को भी दाई ओर जितना मोड सकें, उतना मोडिए। उसे दाऍं कन्धे की पक्ति में लाइए। दाऍं हाथ को पीठ के पीछे से ले जाकर बाई जॉघ पकडने का प्रयत्न कीजिए। इसी प्रकार मेरूदण्ड को बाई तरफ भी मोडा जा सकसता हे। यह आसन मेरूदण्ड के मोड को सम्पूर्ण बनाता है।

लाभ ·

1 यह आसन जठराग्नि प्रदीप्ति करके भूख को जाग्रत करता हे।

2 यह आसन कुण्डलिनी को जगाता हे ओर चन्द्रनाडी को स्थिर करता हे।

3 इस आसन मेरूदण्ड को स्थितिस्थापक बनाकर पेट के स्नायुओं और अवयवों को एक सुन्दर हल्का मसाज (मालिश) देता है।

4 यह आसन मेरूदण्ड की नाडियों के मूल ओर रक्त को खींचता हे।

5 यह आसन पश्चिमोत्तासन का सहायक हे।

8 पूर्ण मत्स्येन्द्रासन

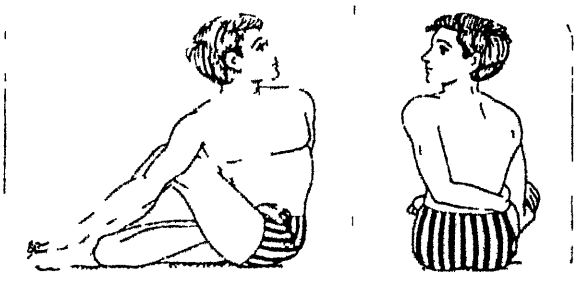

पूर्ण मत्स्येन्द्रासन (सामने का स्थिति)

पूर्ण मत्स्येन्द्रासन (पीछे का स्थिति)

जिन्होंने कुछ समय तक अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन किया हो, ऐसे व्यक्ति यह आसन सरलता से कर सकते हैं। अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा पूर्ण मत्स्येन्द्रासन कुछ कठिन है।

पद्धति · पैर लम्बे करके बैठिए। शरीर का ऊपरी हिस्सा और मस्तक एक सीधी रेखा में खींचिए। दायॉ पैर बाई के मूल में रखिए। दाई एडी को नाभि तक ले जाइए। बाऍं पैर का दाऍं घुटने के पास भूमि पर रखिए। दायॉ हाथ बाएँ घुटने से

बाहर निकालकर उसके अँगूठे और पहली उँगली के सहायता से बाएँ पैर का अँगूठा पकडिए। इस स्थिति में बायॉ पैर सख्त रहना चाहिए। बायॉ हाथ पीठ की तरफ पीछे घुमाइए और मुँह तथा शरीर बाई ओर पीछे घुमाकर रखिए। कमर को कुछ मरोडिए। नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित कीजिए। धीरे-धीरे श्वास खींचिए। यह स्थिति बीस सेकण्ड तक बनाए रखिए। पर्याप्त अभ्यास के बाद 2 से 3 मिनट तक यह स्थिति रखी जा सकती है। यह आसन क्रमश दाई-बाई दानों ओर करने से इससे उत्कृष्ट लाभ होगा।

लाभ

1 अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन से होने वाले सभी लाभ पूर्ण मत्स्येन्द्रासन से भी पूर्णत प्राप्त हो सकते हे।

2 इस आसन से रह्युमेटिज्म से होने वालो सभी प्रकार की गॉठें छूट जाती है।

3 यह आसन प्राणशक्ति जगाता हे ओर अनेक दर्द मिटाता है।

4 यह आसन प्राणनाडत्री का नया शुद्ध रक्त पहुँचता है। फलत कुण्डलिनी जाग्रत होती है और साधक मानसिक शान्ति का अनुभव करता है।

5 मधुप्रमेह के रोगियों के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है।

6 इस आसन से मेरूदण्ड लचीला बनता हे ओर नवयौवन के उत्साह का अनुभव होता हे।

अर्द्ध वक्रासन

9 अर्द्ध वक्रासन

इस आसन से शरीर का ऊपरी हिस्सा आधा वक्र (टेढा) अर्थात मुडता है। साथ ही मेरूदण्ड और पीठ के स्नायुओं को तनाव दिया जाता है।

पद्धति • भूमि पर दोनों पैर लम्बे करक बैठ जाइए। दोनों पैर समानान्तर रखिए। फिर दाएँ पैर को मोडकर बाएँ पैर के घुटन के पास रखिए। बाएँ हाथ को बाएँ पैर के घुटने पर रखिए। दायाँ हाथ पीठ पर रखिए। शरीर को सीधा रखकर कम से पीछे की तरफ मोडिए। इस स्थिति में छह से आठ सेकण्ड तक रहिए। धीरे-धीरे साँस

लीजिए। फिर मूल स्थिति में आकर दूसरे पेर की सहायता से दूसरी ओर यही क्रिया करें। यह आसन प्रतिदिन चार से छह बार कीजिए।

लाभ

1 इस आसन का मुख्य सप्रभाव कमर और पट पर पडता है।

2 इस आसन से पुरूषों की शुक्रग्रन्थि ओर स्त्रियों का रज पिण्ड कार्यक्षम बनता है।

3 यह आसन पेट और कमर की पीडा दूर करने में सहायक होता है।

4 इस आसन से कब्ज और पेट की अन्य तकलीफें दूर होती है।

10 वक्रासन

इस आसन से शरीर का ऊपरी हिस्सा पूरी तरह वक्र (टेढा) किया जाता हे और ऐसा करते हुए मेरूदण्ड तथा हाथ-पैर ओर पीठ क स्नायुओं को तनाव दिया जाता हे।

पद्धति दोनों पैर लम्बे करके बैठिए। फिर बायॉ पैर दाएँ पर के घुटने के पास रखिए और साथ-साथ बाएँ हाथ की हथेली पीछे की दिशा में रखिए। इसके बाद दाएँ हाथ से बाएँ पैर के घुटने दबाकर हथेली भूमि पर रखिऐ और कमर तनी हुई रखकर यथाशक्ति पीछे की ओर देखिए। यह आसन क्रमश बाई और दाई तरफ दिन में चार से छह बार किया जा सकता है। क्रमश बढते हुए पॉच मिनट तक पहुँचे।

लाभ

1 इस आसन से मेरूदण्ड सशक्त ओर ज्ञानतन्तु चपल बनते हैं।

2 यह आसन करने से सुषुम्णा का मुख खुल जाता है और कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामी बनती है।

3 इस आसन से कमर के स्नायु अत्यन्त चपल बनते है।

4 अर्द्ध वक्रासन से होने वाले लाभ पूर्ण वक्रासन से भी पूर्णत: मिल जाते हे।

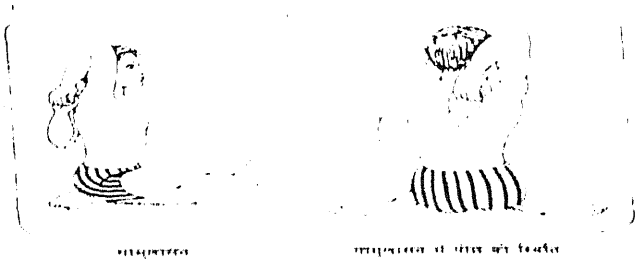

11. गोमुखासन

'गो' अर्थात 'गाय' और 'मुख' अर्थात 'मुँह'। यह आसन करते समय गाय के मुँह जैसा आकार बनता है। इसीलिए इसे 'गोमुखासन' कहा जाता है। यह आसन चौरासी आसनों में से एक है।

पद्धति : बाएँ पैर की एड़ी को गुदा के बाई तरफ नीचे रखिए। दाएँ पैर को इस प्रकार मोड़िए कि जिससे दायाँ घुटना बाएँ घुटने पर आ जाए और दाएँ पैर का तलवा बाई जाँघ के नीचे उसे स्पर्श करें। धीमे-धीमे अभ्यास करने से दाई एड़ी को बाई जाँघ तक लाया जा सकेगा। इसके बाद पहलें बाएँ हाथ को पीछे ले जाइए। बायाँ हाथ कुहनी से मोड़कर ऊपर की ओर ले जाइए। अब दायाँ हाथ ऊपर उठाइए और कुहनी से मोड़कर पीठ के पीछे ले जाइए। बाएँ हाथ की पहली और दूसरी उँगली ऊँची कीजिए। दाँए हाथ की पहली तथा दूसरी उँगली नीचे लाइए और बाएँ हाथ की उँगलियों को जोर से पकड़िए। यदि उँगलियाँ सरकने लगे तो फिर दुबारा दो मिनट तक प्रयत्न कीजिए। धीरे-धीरे साँस लीजिए। शरीर से ऊपरी हिस्से और मस्तक को सीधी रेखा में रखिए। हाथ और पैर को क्रमशः बदलिए। स्थूल व्यक्ति को यह आसन करने में कठिनाई होगी: किन्तु निरन्तर अभ्यास से यह आसन भलीभांति होने लगेगा। प्रथम सप्ताह में चार बार करें। फिर धीरे-धीरे बढ़ाते हुए छह बार तक ले जाएँ। क्रमशः आगे बढते हुए पन्द्रह मिनट तक पहुँचे।

लाभ :

1. इस आसन में तीनों बन्ध (जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध) दृढ़तापूर्व हो जाते हैं जिससे सुषुम्णा नाड़ी में स्वाभाविक रूप से प्राण का प्रवाह अधिक मात्रा में बहने लगता है। फलस्वरूप चित्तवृत्तियाँ स्वनियंण में आती जाती है।
2. इस आसन से बगल में होने वाली गाँठ मिट जाती है।

3 यह आसन पदमासन तथा सिद्धासन क स्तर का है। अत पदमासन और सिद्धासन से होने वाले लाभ इस आसन से भी प्राप्त किये जा सकते हे।

4 इस आसन से पैर का रह्युमंटिज्म (सधिवात) दूर हो जाता है और अर्श-मसे मिट जाते हे।

5 यह आसन कब्ज, मन्दाग्नि, अरूचि, पीठ का दर्द और हाथ की माच दूर करता है।

6 यह आसन ब्रह्मचर्य ओर अच्छे स्वास्थ्य के लिए सहायभूत है।

7 इस आसन में मूलबन्ध अनायास ही हो जाता हे। इसलिए यह आसन प्राणायाम के लिए बहुत ही योग्य है।

8 लम्बे समय तक ध्यानस्थ होने क लिए भी यह आसन उपयोगी है।

9 शरीर के छाटे-बडे जोडों पर यह आसन अच्छा प्रभाव डालता है। जोड लचीले बनत हैं और हड्डियॉ मजबूत होती हे।

10 इस आसन से सीना सुडौल बनता हे ओर फेफडों तथा हृदय की शक्ति में वृद्धि होती है।

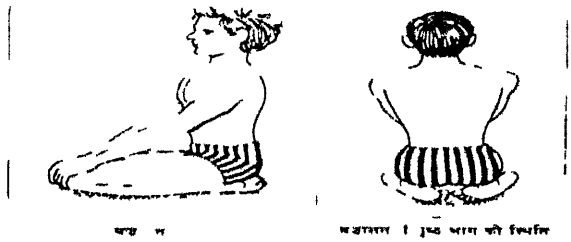

12 वज्रासन

इस आसन में बैठने वाला व्यक्ति दृढ और मजबूत स्थिति प्राप्त करता है। इस स्थिति में सरलता से हिला-डुला नहीं जा सकता। इसीलिए इसे वज्रासन कहा जाता है। सामान्यत योगी इस आसन में बेइा नहीं करते हैं।

पद्धति पैर के दोनों तलवों को गुदा के दोनों ओर इस प्रकार रखिए कि दोनों जाँघें पैरा पर और कूल्हे तलवों पर आएँ। टखनों से घुटनों तक का पैरों का भाग भूमि को छूना चाहिए। पूरे शरीर का वजन घुटनों और टखनों पर रखिए। इस आसन के अभ्यास के दौरान श्वासोच्छवास जारी रखिए। प्रारभ से सभवत. घुटनों और टखनों में दर्द होगा, किंतु बाद में यह दर्द बहुत जल्द अपने आप दूर हो जाएगा। दोनों हाथ सीधे करके घुटनों पर रखिए। दोनों घुटनोंको एकदम नजदीक रखिए। शरीर, गर्दन और

सिर एक सीध में रखकर बिल्कुल तनकर बेठिए। यह एक अत्यन्त सामान्य आसन हे। इस आसन में काफी लम्बे समय तक आराम से बेठा जा सकता है।

लाभ :

1 इस आसन से पाचक रस अधिक मात्रा में उत्पन्न होते है। जठर अच्छा कार्य करता है और गॅस का रोग मिटता है।

2 यह आसन निरतर करने से घुटनां, पेरों, पजो ओर जॉघों में होनेवाला दर्द दूर होता है।

3 गुदादार से लगभग तीस सेमी0 ऊपर की आर स्थित 72,000 नाडियों का केन्द्ररूप कदस्थान वज्रासन करने से प्रभावित होता है ओर स्थान सशक्त बनता है।

4 इस आसन का लम्बेसमय तक अभ्यास करने से रसग्रन्थियों अथवा प्लीहा, गले केकाकल, अस्थिमज्ज आदि रथानों में उत्पन्न होने वाले श्वेतकणों की सख्या में वृद्धि होने से स्वास्थ्य अधिक अच्छा बनता हे।

5 नियमित रूप से यह आसन करने वाला व्यक्ति ज्वर, कब्ज, मदाग्नि या अजीर्ण आदि छोटे-बडे किसी भी रोग से पीडित नहीं होता।

टिप्पणी यह एकमात्र आसन ऐसा हे जिसे भोजन के तुरत बाद करने से भोजन अच्छी तरह पच जाता है।

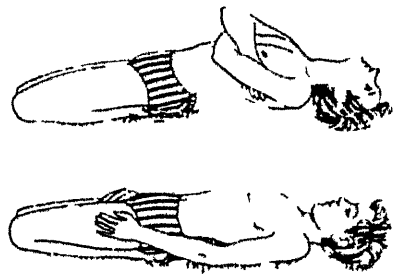

सुप्त वज्रासन (1 व)

13. सुप्तवज्रासन

इस आसन की स्थिति अर्द्ध श्वासन के समान है। यह आसन कुछ अशों में मत्स्यासन केवर्ग का माना जा सकता है। वज्रासन करने में निपुणता पाने के बाद ही यह आसन करें। यह आसन वज्रासन की अपेक्षा अधिक बल और तनाव देता है।

पद्धति सर्वप्रथम वज्रासन लगाइए। फिर धीरे-धीरे कुहनियों का सहारा लेकर भूमि पर चित्त लेट जाइए। ऐसी स्थिति ग्रहण करें जिससे पीठ का स्पर्श भूमि से हो। फिर दोनों हाथ बॉधकर सीने की पसलिया पर रखिए ओर सिर को यथासभव भीतर की ओर ले जाइए। आठ से दस सेकण्ड तक यह स्थिति बनाए रखिए। प्रारभ में पीठ का पूरा हिस्सा आसन अच्छी तरह हो सकेगा। यह आसन दिन में तीन-चार बार किया जा सकता है।

लाभ .

1 इस आसन में रीढ पीछे की ओर मुडती हे, इससे पीठ की कूबड (यदि हो तो) नष्ट हो जाती हे ओर रीढ स्थितिस्थापक बनती हे।

2 नियमित रूप से यह आसन करने से कुण्डलिनी शक्ति आसानी ऊध्र्वबमन करने लगती है।

3 इस आसन से सीना, रीढ, गर्दन अदि अगो को आवश्यक व्यायाम मिलता हे और उनकी कार्यक्षमता बढती हे।

4 इस आसन से पैरों के जोड ओर स्नायु सशक्त बनत है।

5 इस आसन से सभी अन्त स्त्रावी ग्रन्थियॉ सक्रिय बनती है। फलत आरोग्य आर आनन्द बने रहते हैं।

6 मधुप्रमेह से पीडित्रत लोगों को इस आसन से विशेष लाभ होता है, क्योंकि इस आसन से क्लोम (पेंक्रियास) के सभी कोषों में सक्रियता आती हे तथा उसमें रक्तपरिभ्रमण की वृद्धि होती हे। फलस्वरूप क्लोमग्रन्थि स्वाभाविक रूप से काम करने लगती है।

7 यह आसन पेट, ऑत, लीवर (यकृत), किडनी, प्लीहा और उदर के सभी भागों में रहने वाली गडबडियॉ सुधार कर उन अगों को सबल और सशक्त बनाता है।

8 अनपच, वायुविकार, कब्ज और अर्श के लिए यह आसन एक 'रामबाण दवा' का काम करता है।

भू नमन वज्रासन

14 भूनमन वज्रासन

यह आसन वज्रासन का ही एक प्रकार हे। यह आसन सुप्त वज्रासन की विपरीत दिशा में किया जाता है। इसे ही कई ताग 'योग मुद्रा' का एक प्रकार मानते है।

पद्धति वज्रासन लगाकर धीरे-धीरे आग की आर झुकते जाइऐ। साथ-साथ दोनों हाथ पीठ के पीछे ले जाकर बाऍं हाथ के पजे से दाऍं हाथ की कुहनी के नीचे का हिस्सा और दाऍं हाथ के पजे से बाऍं हाथ की कुहनी के नीचे का हिस्सा पकड लीजिए। इसके बाद दोनों नथुनों से फेफडों में सॉम भर लीजिए और फिर सॉस छोडते हुए गर्दन गर्दन लम्बी करके नाक से भूमि का स्पर्श कीजिए। धीमे-धीमे समय बढाइए और यह आसन दस सेकण्ड तक कीजिए।

लाभ :

1 इस आसन से ऑतो और जठर की निर्बलता, यकृत की विकृति तथा स्वादुपिण्ड की शिथिलता दूर होती हे।

2 इस आसन से रीढ की स्थितिस्थापकता बढती है। साथ ही पेट और सीने के सभी स्नायु बलवान बनते है।

3 मलावरोध दूर करने के लिए यह आसन एक अमोध साधन हे।

4 इस आसन से मधुप्रमेह, उदररोग, सर्दी, वातविकार, मदाग्नि, स्वप्नदोश, अनिद्रा, दम, पेचिश औरा अजीर्ण जैसे रोग दूर होते हे।

5 इस आसन के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्ति होती है।

उष्ट्रासन

15 उष्ट्रासन

यह आसन वज्रासन के ही वर्ग का है। वज्रासन करने के बाद यह आसन करना चाहिए। उष्ट्र अर्थात ऊँट। इस आमन में शरीर के लगभग सभी अगों को ऊँट के अगों की तरह मोडा जाता है। इसीलिए इसे 'उष्ट्रासन' कहा जाता हे।

पद्धति वज्रासन की भाति घुटनों के बल बेठ जाइए। दो घुटनों की बीच ओर दोना एडियों के बीच लगभग पन्द्रह सेमी0 का अन्तर रखिए। फिर फेफडों में सॉ स भरकर दाएव हाथ से दाएँ पेर की एडी को ओर बाएँ हाथ से बाएँ पेर की एडी को मजबूती के साथ पकड लें। दोनों हाथ सीधे कीजिए ओर गर्दन पीछे की ओर ले जाइए। स्वाभाविक ढग से सॉस लीजिए यह स्थिति छह से आठ सेकण्ड तक रखिए। यह आसन प्रतिदिन दो-तीन बार किया जा सकता हे।

लाभ

1 यह आसन श्वसनतत्र को पूर्ण रूप से कार्यशील बनाता है इसलिए दमे के रोगियों के बडा ही लाभप्रद है।

2 यदि रक्त में अशुद्धि हो, मास या धातु में विकृति आ गई हो तो शारीरिक दुर्बलता का रोग हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह आसन लाभप्रद हे।

3 वातज, कफज और पित्तज रोगों के निवारणार्थ यह आसन अत्युत्तम है।

4 इस आसन के अभ्यास से भगदर के समस्त प्रकार के और प्रदर तथा मधुप्रमेह के रोगों में भी शुभ परिणाम मिलते है।

5 यह आसन गर्दन, कन्धा और रीढ का दर्द दूर करता है।

6 ऑखों की रोशनी के लिए यह एक अच्छा आसन है।

7 यह आसन स्थायी सरदर्द को तथा स्वर ओर काकल की तकलीफ को दूर करने में सहायक होता हे।

8 इस आसन से सीने को योग्य व्यायाम मिलता है ओर वह सुडौल बनता है।

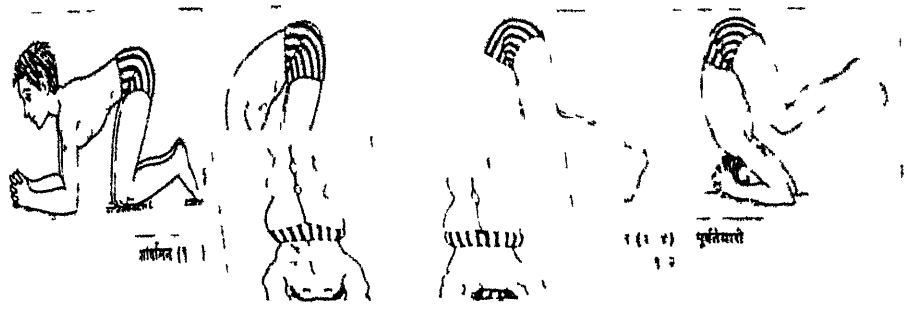

शीर्षासन

'शीर्ष' अर्थत 'सिर'। इस आसन मं पूरा शरीर सिर के आधार पर टिकाना होता है, इसीलिए इसे 'शीर्षासन' कहा जाता हे। इस आसन को 'सभी आसनों का राजा' का पद दिया गया है। इस आसन कोकपालि आसन, वृक्षासन ओर विपरीत

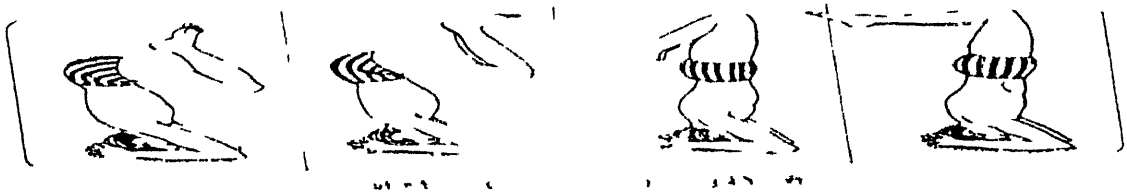

करणी भी कहा जाता है। यह आसन करने सरलता रहे इस हेतु से नीचे इसकी चार स्थितियों के चित्र दिये गए है।

पद्धति · पहली स्थिति · चार बार तहाया हुआ कम्बल या कोई कपडा दो-चार तहों में भूमि पर बिछाइए। दोनों घुटनों के बल बेठिए। दोनों हाथों की उँगलियॉ परस्पर फॅसाकर एक सॉकल-सी बनाकर उसे फर्श पर रखिए। **दूसरी स्थिति .** अब सिर को हाथ सॉकल के बीच में- कुहनियों केबीचोंबीच-रखिए। धीरे-धीरे पैर ऊपर उठाइए। आरम्भ में पॉच से पन्द्रह सकण्ड तक पेर ऊँचे रखिए। क्रमश प्रति सप्ताह 15 सेकण्ड का समय बढाकर आध घण्टे तक यह आसन करें।

चित्र में बताए अनुसार पैरों को ऊपर उठाए रखने का अभ्यास करें। जल्दबाजी न करें। पैरों के पजे आकाश की ओर तने हुए रखिए। स्वाभाविक रूप से श्वासोच्छवास जारी रखिए। फिर धीरे-धीरे पेर नीचे लाइए।

खाली पेट होने पर ही यह आसन करें। यदि समय मिले तो सुबह-शाम इस प्रकार दो बार यह आसन करें। आसन अत्यन्त धीरे-धीरे कीजिए। झटके न लगने दीजिए। जब आप सिर केबल उल्टे खड हुए हों, तब धीरे-धीरे सॉस लें। मुँह से कभी श्वासोच्छवास न करें। जब आप यह आसन सीखना शुरू करें तब किसी व्यक्ति का पैर स्थिर रखने में सहायता करने के लिए कहें या फिर किसी दीवार का सहारा लेकर आसन का प्रारभ करें।

ग्रीष्म ऋतु में यह आसन लम्बे समय तक न करें। हॉ, जाडे की ऋतु में आप इच्छानुसार यथासभव लम्बे समय तक यह आसन कर सकते है। ऑखे खुली या बन्द रख सकते है किन्तु लम्ब समय तक आसन करें तब उस समय आँखें अवश्यक बन्द रखिए। ऐसा करने से मन की एकाग्रता सिद्ध हो सकेगी। आसन पूरा करने के बोद

पॉच मिनट का पूर्ण विश्राम लें। फिर एक कप दूध लें या हल्का नाश्ता लें। शीर्षासन के बाद कुछ आहार लेना आवश्यक हे।

टिप्पणी शीर्षासन करने के बाद आराम करने के लिए शवासन करना अत्यावश्यक है।

लाभ

1 ब्रह्मचर्य के पालन में यह आसन बहुत सहायता करता है। यह शक्ति-सचय करता हे, शक्ति प्रदान करता हे आर शक्ति मं बढोत्तरी करता हे।

2 यह आसन स्वप्नदोष रोकता हे। अत वीर्यशक्ति ओजस शक्ति में परिणत हो जाती है।

3 यह आसन गुरूत्वाकर्ण-नियम क विपरीत हे। यह आसन करे से मस्तिष्क अतिशय मात्रा में प्राण और रक्त खींच सकता हे।

4 यह आसन मानसिक शक्ति में वृद्धि करता हे, स्मृति-शक्ति को विकसित करता हे ओर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करता हे।

5 यह आसन सर्व रोग हर्ता हे। सभी रोगों का एक रामबाण इलाज है। यह पाचक रसों में वृद्धि करके जठराग्नि प्रदीप्त करता हे और ऑख, नाक, सिर, गला आदि अगों के दर्द तथा मधुप्रमेह ओर दमा जैसे रोग ठीक करता है।

6 योगतत्व उपनिषद कहता है "जा व्यक्ति यह आसन तीन घण्टे तक करता है वह जगत को जीत लेता है।" सचमुच शीर्षासन अमृत है।

हाथों के बल किये जाने वाले आसन

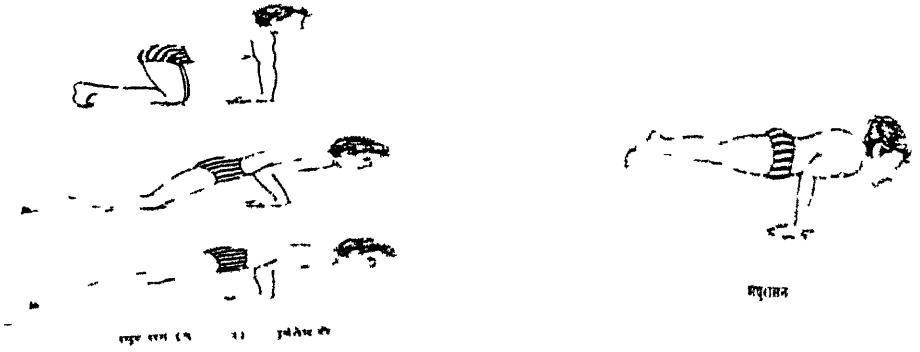

1. मयूरासन

सस्कृत में मोर को 'मयूर' कहा जाता हे। इस आसन में हाथों पर टिकेरहने से शरीर का आकार मोर जैसा बनता है, इसलिए इस आसन को 'मयूरासन' कहा जाता है। यह आसन अपेक्षाकृत कुछ कठिन हे। यह आसन करने केलिए योग्य मात्रा में शारीरिक क्षमता अपेक्षित है। व्यायामवीर इस बडी आसानी से कर सकते हैं।

पद्धति भूमि पर घुटनों के बल बैठिए। दोनों घुटनोंके बीच थोडी जगह रखिए। पैरों को पजो के बल रखिए। दोनों हाथों की हथलियों के बीच तीन-चार सेमी का अन्तर रखकर उन्हें दोनोंघुटनों बीज की जगह में रखिए। दोनों छिगुनी उँगलियॉ पास-पास में रहनी चाहिए और अँगूठे भूमि को छूने चाहिए। उँगलियॉ इस प्रकार जमाइए कि वे पैरों की दिशा बताएँ। दाना हाथ स्थिर ओर दृढ रखिए। दोनों कुहनिया को धीमे-धीमे पेट की ओर लाइए। कुहनी क आधार पर नाभि के अग्र भाग से शरीर का सराहा दीजिए। यह मयूरासन की प्रथम स्थिति हे।

अब पैर लम्बे कीजिए और एडत्री का ऊपर रखकर पेरों केपजो को भूमि के समानान्तर रखिए। यदि दोनों पैर एक साथ पीछे ले जाना कठिन लगे तो पहले धीरे-धीरे एक पेर पीछे ले जाइए ओर फिर दूसरा पेर उसके साथ मिला दीजिए। यदि आप शरीर के आगे का भाग सिर की ओर से कुछ झुकाने का प्रयत्न करेंगे तो पेर अपने आप भूमि से ऊपर उठ जाएँगे आर फलत आप अत्यन्त सरलतापूर्वक पेरों कोपीछे की ओर सीधे कर सकेंगे। जब आसन कोपूर्ण स्थिति प्राप्त हो जाएगी तब सिर, पीठ, कूल्ह, जॉघ, पैर और पजे भूमि के समानान्तर और एक सीध में रहेंगे। पैर लम्बे करते समय झटका न लगे इसका ध्यान रखें। पॉच से बीस सेकण्ड तक यह आसन करें। शरीर को उठाते समय सॉस रोकिए। इससे अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती। आसन पूरा होतेही उच्छवास छोडिए। मोट आदमियों को इस बात की सतर्कता बरतनी चाहिए कि वे गिर न पडे। अच्छी-खासी शारीरिक शक्तिवाले व्यक्ति यह आसन दो-तीन मिनट तक कर सकते हे।

लाभ .

1 यह आसन कुछ क्षणें में ही काफी व्यायाम देता है और शरीर को भी शीघ्रता से शक्ति प्रदान करता है। पाचनशक्ति विकसित करने की दृष्टि से यह एक अत्यन्त अदभुत आसन हे।

2. यह आसन वायु, पित्त ओर कफ बढने से होने वाले रोगों को दूर करता है ओर मधुप्रमेह तथा अर्श-बवासीर के कारण होने वाले रक्तस्राव को रोकता है।

3 यह आसन हाथ के स्नायुओं को मजबूत करता है, कुण्डलिनी जाग्रत करता है और कब्ज मिटाता है

4 यह आसन करने से इण्ट्राएब्डोमिनल दबाव बढता है, जिससे फेफडे और पेट के अवयवों को ताजगी मिलती है और जिगर की खराबियाँ दूर होती है।

5 इस आसन के अभ्यास से शरीर म रक्त-परिभ्रमण बढने से रक्तशुद्धि होती है और शरीर में तेज, कान्ति आर लावण्य उत्पन्न होते है।

6 यह आसन शरीर में स्थूलता नही आने देता।

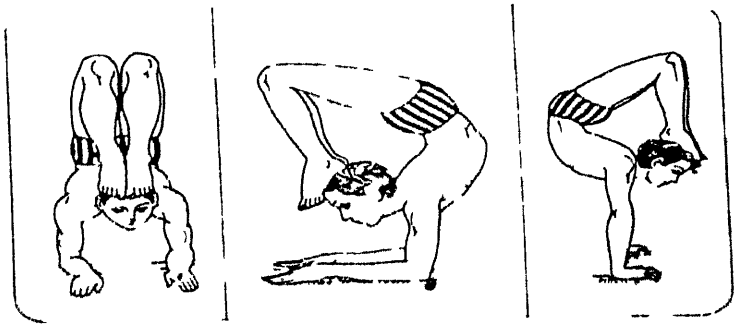

वृश्चिकासन

2 वृश्चिकासन

सस्कृत शब्द 'वृश्चिक' का अर्थ है 'बिच्छू'। इस आसन में शरीर का आकार बिच्छू जैसा बन जाता है, इसलिए यह आसन 'वृश्चिकासन' के नाम से जाना जाता हैं जो लोग लम्बे समय तक शीर्षासन अथवा हस्तवृक्षासन कर सकते हों वे यह आसन सरलता से कर सकेंगे।

पद्धति . प्रारभ में यह आसन दीवार का सहारा लेकर करें। पहले हाथ और कुहनी जमीन पर रखिए। फिर पैरों को दीवार की ओर फेंकिए। धीमे-धीमे पैरों का दीवार से पाँच सेमी दूर करके सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न करें। स्वाभाविक गति से श्वासोच्छवास जारी रखें। कुछ दिनों तक इस प्रक्रिया का अभ्यास करें। जब सरलता से सन्तुलन का निर्वाह होने लगे तब पैरों ओर घुटनों से मोडकर तलवों कोसिर पर रखने का प्रयत्न करें। अपेक्षित अभ्यास के बोद यह आसन केवल हाथ की हथेलियों पर सन्तुलन बनाकर भी किया जा सकता है।

लाभ :

1 यह आसन करने से हाथ ओर कन्ध मजबूत बनते है, साथ ही पेट के स्नायुओं को उचित मात्रा में व्यायाम मिलता है।

उत्थित द्विहस्तभुजासन

2 इस आसन में रीढ के पीछे की ओर मोडना पडता है, इसलिए उसमें लोच आती हे।

3 इस आसन से शीर्षासन, चक्रासन ओर धनुरासन के सभी लाभ पूर्णरूप से प्राप्त होते हे।

3 उत्थित द्विहस्तभुजासन

यह आसन तोलासन की ही कक्षा है। यह आसन अपेक्षाकृत कुछ कठिन हे। यह आसन करने के लिए हाथों को मजबूत होना आवश्यक हे।

पद्धति बाएँ ओर दाएँ हाथ उँगलिया फेलाकर उनसे सम्बन्धित भूमि-भाग पर इस प्रकार जमाएँ कि कन्धे नीचे वाला हिस्सा पिडली ओर जॉघ के बीच रहे। फिर हाथों के बल पर पूरे शरीर को उठाकर ऊपर स्थिर रखिए। इसके बाद दोनों पजो का एक-दूसरे में फॅसा लीजिए। सॉस रोके रखिए। क्रमश बढते हुए यह आसन अधिक से अधिक पॉच मिनट तक किया जा सकता हे।

लाभ

1 इस आसन से कुछ ही क्षणों में काफी व्यायाम मिल जाता है।

2 इस आसन से हाथ और पैर के स्नायु मजबूत बनते हैं।

3 उत्थित पदमाम्पन से मिटनेवाले सभी रोग इस आसन से भी दूर होते हैं। साथ ही, वकासन से होने वाले लाभ इस आसन से भी होते हैं।

कोणासन

4 कोणासन

इस आसन में दोनों हाथ और दोनों पेरों से शरीर का आकार कोण जैसा बनता है। इसलिए इसे 'कोणासन' कहा जाता हे। इस आसन में दोनों हाथ के पजों ओर पैरों की एडियों पर सतुलन रखना पडता हे।

पद्धति दोनों पैर साथ में जुडत्रे रखिए। दोनों हाथों के बीच कन्धे के जितना अन्तर रखकर हाथ और पैर लम्बे करें। इसके बाद सॉस खींचिए और हाथ की हथेलियों तथा पैर की एडियों की सहायता से शगीर को ऊपर की ओर ले जाइए। गर्दन को पीछे की ओर मोडिए। दोनों हाथ सीधा ओर सीना आसमान की तरफ रखिए। इस स्थिति में आठ-दस सेकण्ड तक रहिए। फिर धीम-धीम मूल में आइए। यह आसन चार से छह बार कर सकत हे।

लाभ

1 इस आसन स कन्धे मजबूत बनते हे ओर पट की तकलीफें दूर होती ह।

2 इस आसन से पेरों ओर रीढ को पर्याप्त मात्रा में व्यायाम मिलता हे।

3 यह आसन पश्चिमोत्तानासन का उप-आसन माना जाता है। इसलिए पश्चिमोत्तानासन के बाद करने से बहुत लाभ होता हे।

पीठ के बल किये जाने वाले आसन

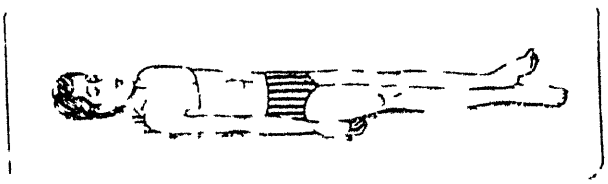

शवासन

1 शवासन

इस आसन का दूसरा नाम 'मृतासन' है। यह आसन ध्यान, प्राणायाम, जप इत्यादि के लिए अतिशय उपयोगी हे। यह आसन सभी आसनों के प्रारी में, मध्य में और अन्त में करना चाहिए। यह आसन सभी स्नायुओं, नाडियों आदि के आराम केलिए है। सबसे सरल लगने वाला यह आसन सिद्ध करना कठिन है। इसमें मन को शरीर से मुक्त करने का प्रयतन किया जाता है। कम स कम समय में अधिक से अधिक आराम प्राप्त करने की यह यौगिक पद्धति हे। आधुनिक युग में शिथिलीकरण अत्यन्त आवश्यक है। स्पर्धात्मक ओर आपाधापी वाले जीवन में तनावजन्य व्याधिकों के अमोध उपचार के रूप में श्वासन को स्वीकार किया गया है।

पद्धति पीठ के बल चित्त लेट जाइए। हाथों को दानों तरफ भूमि पर अनुकूलता के अनुसार आकाश की दिशा में शरीर स 10-15 सेमी दूर रखिए। मुट्टियॉ इस ढग से अधखुली या आधी बन्द रखिए ताकि उॅगलियॉ न बन्द रहें, न पूरी तरह खुली रहें। पैरों को एकदम सीधा लम्बा कीजिए। दोनां पेरों की एडियॉ एकदूसरे से मिली रहें और ऊपर के पजों के बीच अनुकूल अन्तर रहे ऐसी स्थिति बनाइए। फिर ऑखें बन्द कर लीजिए। सॉस बिल्कुल धीरे-धीरे 'लीजिए। सभी स्नायुसओं, नाडियों और अवयवों को अत्यन्त शिथिल कर दीजिए। अवयवों को शिथिल करने की शुरूआत पैरो के पजों से कीजिए। इसके बाद पीठ के स्नायुओं को ढीला कीजिए। सीना, भुजा, हाथ, उँगलियॉ, गर्दन, मुँह आदि क्रमानुसार धीरे-धीरे शिथिल करते जाइए। इसी प्रकार पेट के अवयव, हृदय, सीना और मस्तिष्क भी शिथिल हो यह ध्यान में रखिए। नाडी-समूह को भी शिथिल कर दीजिए। धीरे-धीरे गहरी सॉस लें ओर छोडें। साथ ही मन ही मन 'ॐकार' का रटन कीजिए। आत्मा का विचार कीजिए। परमात्मा का ध्यान धरिए। लगभग 10 से 15 मिनट तक ध्यान धरिए। इससे आपको एक ऐसी सपूर्ण शान्ति, आराम और सन्तोष का अनुभव होगा जिसका शब्दो में वर्णन नहीं हो सकता। जिन लागों को विशेष समानसिक सघर्ष या हृदयरोग आदि हो उन्हें नियमित रूप से प्रतिदिन केवल शवासन ही करना चाहिए।

लाभ

1 श्वासन से आसन और ध्यान दोनों का समन्वय सहोता है। इससे न केवल तन को, किन्तु मन और चित्त को भी शान्ति मिलती है।

2 इस आसन से शरीर के सभी स्नायुओं को राहत और आराम मिलते है।

3 जिस स्नायुओं को व्यायाम के द्वारा कठिन श्रम दिया गया हो, उन्हें शिथिलता और आराम की आवश्यकता पडती हे। इस आसन के द्वारा स्नायुओं को तात्कालिक और सम्पूर्ण शिथिलता तथा आराम निश्चित रूप से मिलते हैं।

4 जिन लोगों में शक्ति कम हो ओर जिन्हें शारीरिक तथा मानसिक थकावट विशेष लगती हो उन्हें इस आसन से नई शक्ति और नया उत्साह मिलते हैं।

5 अनिद्रा, न्यून या अधिक रक्तचाप, नाडित्रयों की दुर्बलता और गॅस जैसे रोग दूर करने में यह आसन सहायता करता है।

6 हृदय की तकलीफ और मानसिक रोगवाले व्यक्तियों को इस आसन से फौरन आराम मिलता है।

7 यह आसन करने से समग्र शरीर म शुद्ध रक्त का सचार होता है। शरीर में नवजीवन आ जाता है।

8 यह आसन निरतर करने से क्रोध शान्त होता हे।

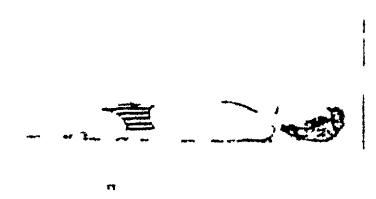

2 एकपाद उत्तानासन

इस आसन पेट के स्नायुओं को पर्याप्त मात्रा में व्यायाम देता हे। यह आसन क्रमश पैर बदलते हुए एक पेर पर करना हे।

पद्धति . पीठ के बल लेट जाइए। दोनों पेरों की एडियॉ मिलाकर रखिए। दोनों हाथ बगल में सटाकर रखिए। किसी भी एक पेर के पजे को आगे की ओर खींचिए। दूसरा पैर ढीला रखिए। धीरे स सॉस भीतर की ओर खींचिए। जब पैर मख्त हो जाए तो उसे धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाइए। सॉस रोके रखिए। छह से आठ सेकण्ड तक इस स्थिति को बनाए रखिए। फिर धीरे-धीरे पैर नीचे लाइए। सॉस को छोड दीजिए। छह सेस आठ सेकण्ड आराम करके यही क्रिया दूसरे पेर स कीजिए। प्रारभ में प्रत्येक पैर से चार बार और बराबर अभ्यास होने के पश्चात यह आसन छह बार कीजिए। यह आसन सरल होने से प्रत्येक योगाभ्यासी को नियमित रूप से करना चाहिए।

लाभ

1 इस आसन से पेट की सारी मासपशियों को आन्तर्बाह्य व्यायाम हो जाता है।

2 यह आसन कब्ज, अनपच, वायुविकार (गॅस) तथा आँतो की अव्यवस्था को दूर काता है।

3 यह आसन पेट की स्थूलता कम करता ह।

4 स्त्रियों की मासिक धर्म सम्बन्धी तकलीफें भी इस आसन से दूर होती है।

5 इस आसन के अभ्यास से पैरों की सूजन दूर हो जाती है, पैरों का रक्त-परिभ्रमण योग्य रूप से होने लगता हे और घुटने तथा नीचे के हिस्सों का दर्द मिट जाता है।

6 इस आसन से सीने पर भी अच्छा प्रभाव पडता हे और फेफडे सशक्त बनते है।

उत्तानपादासन

3 उत्तानपादासन

शरीर की स्थूलता दूर करने के लिए यह आसन बडा ही उपयोगी है। यह आसन एकपाद उत्तानासन जैसा ही हे, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि इसमें दोनों पैर एकसाथ मिलाकर रखने पडत है।

पद्धति पीठ के बल सीधे लेट जाइए। दोनों हाथ शरीर की दोना ओर रखिए। दोनों पैरों की एडियॉ और पजे साथ-साथ मिलाकर रखिए। धीरे से सॉस भीतर की ओर खींचिए। फिर धीरे-धीरे दोनों पैर ऊपर की ओर उइाइए। छह से आठ सेकण्ड तक यह स्थिति बनाए रखिए और इस दोरान सॉ को रोके रखिए। फिर धीमी गति से पैर नीचे की तरफ लाइए। सॉस छोड दीजिए। छह से आठ सेकण्ड के आराम के बाद फिर यही क्रिया कीजिए। प्रारभ में दिन मं चार बार और फिर पॉच-छह बार यह आसन करें।

लाभ

1 यह आसन पेट के प्रत्येक स्नायु को पर्याप्त व्यायाम देता हे। इससे पेट के स्नायु सशक्त बनते हैं ओर पाचनतत्र व्यवस्थित रूप से चलता है।

2 इस आसन से स्वादुपिण्ड बराबर कार्य करन लगता है। इससे कब्ज और अनपच जैसी तकलीफें दूर होती हे।

3 इस आसन से शरीर की स्थूलता कम होती हे।

4 पीठ का दर्द, कमर और नितम्ब की तकलीफें एव पेट में होने वाले कृमि दूर करने के लिए अथवा उसमें सुधार करने के लिए यह आसन लाभप्रद है।,

5 मेरूदण्ड को सशक्त बनाकर तथा आन्तरिक कोषों में शक्ति भरकर यह आसन स्नायुओं को सक्रिय बनाता हे।

6 अर्श-मसे की शुरूआत हो ता उसक निवारण के लिए यह आसन निस्म्दह अच्छा लाभ पहुँचाता हे।

7 हिचकी आना, जॉघा की पीडा बार-बार डकारा आना, थोडी-थाडी देर में मलविसर्जन की हाजत होना, अपानवायु का विकार आदि अनेक दोष इस आसन के अभ्यास से दूर हो जाते हे।

8 यह आसन सर्वांगासन की पूर्वभूमिका की पूर्ति करता हे।

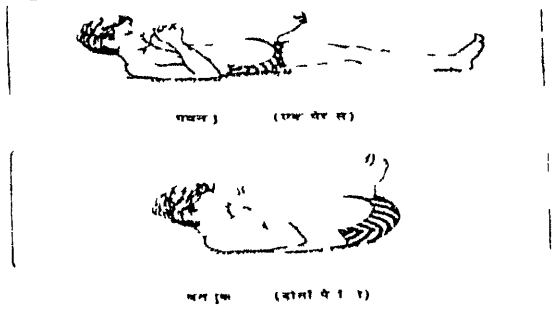

4 पवनमुक्तासन

इस आसन से पवन अर्थात गेस सरलता से मुक्त हो जाता है। इसीलिए इस आसन को 'पवनमुक्तासन' कहा जाता ह। यह आसन एक-एक पॉव से कमश अथवा एक साथ दोनों पैरों से भी किया जा सकता है।

पद्धति . पीठ के बल सीध लेट जाइए। दोनों परों की एडियों को मिलाकर रखिए। फिर सीने में सॉस को रोककर दायॉ घुटना भूमि से पेट की तरफ खींचिए और उसे दोनों हाथोंसे पकडकर रखिए। फिर सिर को जमीन से ऊपर उठाकर मुँह से घुटने का स्पर्श कीजिए। पैर को आगे की ओर तना हुआ रखिए। सॉस छोड दीजिए और दाई जाँघ से पेट का दाई ओर के स्नायुओं को दबाए रखिए। साँस को बाहर रोक सकें तब तक रोकिए और अनुकूलता के अनुसार पेट को दबाए रखिए। इस आसन को 'दक्षिण पवनमुक्तासन' कहा जाता हे। इसी प्रक्रार बाएँ पैर पर यह क्रिया की जाए तो उसे 'वाम पवनमुक्तासन' कहा जाता है। इसके बाद यही क्रिया दोनों पैरों को एकसाथ मिलाकर कीजिए। इस स्थिति में 'पूर्ण पवनमुक्तासन' हो जाएगा। दोनों हाथों से पैरों को पकडते समय सॉस को छोडकर बाहर ही रोकेरहिए। फिर धीरे-धीरे सॉस लेते हुए पैर लम्बे कीजिए। (स्त्रियों को गर्भाधान के बोद यह आसन नहीं करना चाहिए।)

लाभ .

1 इस आसन से अधोवायु सरलता स निकल जाता है।

2 इस आसन से शरीर की स्थूलता कम होती हे ओर पेट पर चढी हुई चर्बी की तहें दूर हो जाती हैं।

3 यह आसन हृदयरोग ओर फेफडे क रोगों को राकता हे।

4 गैस, मलावरोध, अनपच, गर्भाशय के रोग, पेडू की पीडा, कृमिरोग, आन्त्रवृद्धि, वातरोग, अर्श, रक्तविकार, अफारा आदि अनेक रोग इस आसन से दूर हो जाते हैं।

सेतु आसन

5 सेतुबधासन

इस आसन से सेतु अर्थात पुल के जैसा आकार बनता हे। इसीलिए इसे 'सेतुबन्धासन' कहा जाता हे। यह एक अत्यन्त सरल आसन हे। अत प्रत्येक उम्र के स्त्री-पुरूष यह आसन कर सकते हे।

पद्धति पीठ के बल लेट जाइए। दोनों घुटने मोड लीजिए। फिर कमर और पुटठों को ऊपर की आर उठाइए। कमर को हाथ का सहारा दीजिए। सिर, गर्दन और कन्धे जमीन पर रखिए। स्वाभाविक ढग से श्वासोच्छवास करते रहिए। इस स्थिति में छह से आठ सेकण्ड तक रहिए। थोडा आराम करके यही क्रिया फिर कीजिए। प्रारम्भ में प्रतिदिन चार बार और फिर छह बार यह आसन किया जा सकता है।

लाभ

1 यह आसन करने से कमर और पुटठे के रोग दूर होते हैं।

2 इस आसन से कन्धा, गर्दन, कुहनी और हाथ के पजे के जोडों का व्यायाम मिलता है और वे सशक्त बनते हैं।

3 इस आसन से गैस और अनपच जेसे राग मिट जात हे।

4 इस आसन से मेरूदण्ड में लचीलापन आता है और मेरूदण्ड कार्यक्षम बनता है।

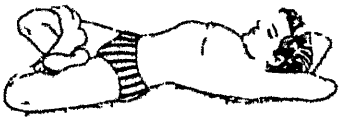

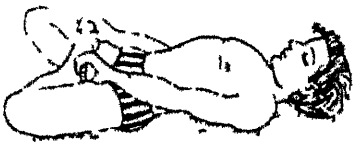

6 मत्स्यासन

इस आसन मे प्लाविनी प्राणायाम की महायता से पानी में मछली की तरह सरलता से तैरा जा सकता है। इसीलिए इसे 'म्त्स्यासन' कहा जाता हे। यह आमन विशेष कठिन नहीं हे इसलिए थाडे अभ्यास स सरलतापूर्वक किया जा सकता हे। यह आसन धारणा, ध्यान ओर समाधि क लिए बहुत उपयोगी हे। यह आसन तीन तरह से किया जा सकता हे।

पद्धति 1 (पहला प्रकार) भूमि पर चित्त लट जाइए। दायॉ पैर बाई जाघ पर और बायॉ पैर दाई जॉघ पर रहे, इस ढग से पदमासन कीजिए। फिर आमने-सामने हाथों की सॉकल बनाकर उस पर माथा टिकाइए। श्वासोच्छवास स्वाभाविक ढग से चाले रखिए। मत्स्यासन का यह पहला प्रकार हे।

पद्धति 2 (दूसरा प्रकार) पहले प्रकार की तरह पदमासन कीजिए ओर भूमि पर चित्त लेट जाइऐ। फिर दाएँ हाथ मे बाएँ पेर का ओर बाएँ हाथ से दाएँ पेर का अँगूठा पकडिए।

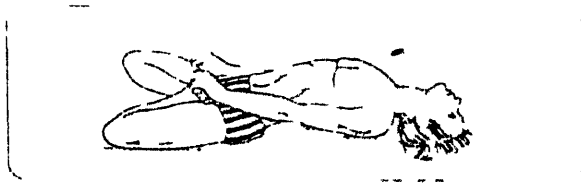

मत्स्यासन (२)

पद्धति 3 (तीसरा प्रकार) पहले प्रकार के अनुसार प्दमासन कीजिए और भूमि पर चित्त लेट जाइए। फिर सिर को पीछे की ओर इस प्रकार झुकाइए कि शरीर, माथे के ऊपरी हिस्से और पुटठों के बल पर रह। इस स्थिति मं पीठ की कमान का आकार पुल जैसा बन जाएगा। हाथ से पेर के पजे पकडिए। इसमें गर्दन को अच्छा-खासा मोड देकर झुकाना पडता हे। पहले दो प्रकारों की अपेक्षा यह प्रकार विशेष लाभप्रद है।

जिनके पेर के स्नायु बडे हों ऐस स्थूल व्यक्ति यदि पदमासन न कर सकें तो सामान्य बैठक में बैठकरि भी यह आसन कर सकने हैं। पहले पदमासन करने का अभ्यास करें। फिर मत्स्यासन करें। दस सकण्ड स आरम्भ कीजिए और अनुकूलता के अनुसार समय बढाते जाइए। आसन पूरा करते समय हाथ की सहायता से माथा शिथिल कीजिए और उठकर बैइ जाइए। इसके बाद पदमासन छोडिए।

लाभ

1 सर्वागासान के तुरत बाद यह आसन करना चाहिए ताकि सर्वागासन करने स उत्पन्न गर्दन की अकडन और ग्रीवामणि प्रदेश के स्नायुओं के तनाव से उत्पन्न जडता दूर हो जाती है। गर्दन ओर कन्धे से अकडत्रे हुए हिस्से को इस आसन स स्वाभाविक मालिश मित्ता जाती हे। पुनश्च, इस आसन मे सर्वागासन के अधिक से अधिक लाभ मित्रत हैं। इस प्रकार यह आसन मर्वागासन का पूर्तिरूप आसन है।

2 इस आसन में श्वासनलिका आर स्वरपेटी काफी खुले रहते हैं इसलिए गहरे श्वासोच्छवास के लिए यह अनुकूत्रा हे।

3 इस आसन से फेफडों को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध प्राणवायु मिलती हे और पाचक रस पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न होते हें।

4 दमे के रोगियों के लिए यह आमन अत्यन्त लाभप्रद हे। इससे सम्पूर्ण श्वसननत्र की अव्यवस्थाए दूर हो जाती हे।

5 इस आसन से मेरूदण्ड और पीठ की मासपेशियॉ सक्रिया होती है।

6 इस आसन से चेहरे के तन्तुआ पर अच्छा प्रभाव पडतास है और मुख की कान्ति बढती है।

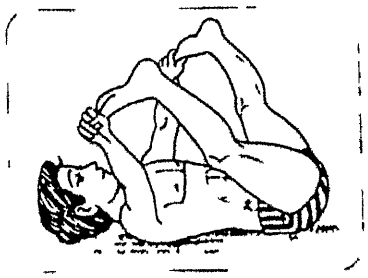

क्रोंच आसन

7 कटि आसन

कमर और पेट के लिए यह एक बहुत ही उपयोगी आसन है। यह आसन कुछ कठिन अवश्य हे, किन्तु निरन्तर अभ्यास से भली-भाँति किया जा सकता है।

पद्धति • पीठ के बल चित्त लेटकर दोनों पेर ऊपर उठाइऐ। फिर बाऍं हाथ से बाऍं पैर का अँगूठा और दाऍं हाथ से दाएँ पेर का अँगूठा पकड लीजिए। इसके बाद दोनों पैर सीधे कीजिए। सॉस भीतर की ओर खींचिए। इस स्थिति में कमर और सिर जमीन पर रहने चाहिए। लगभग दस सेकण्ड तक यह स्थिति बनाए रखिए फिर मूल

स्थिति में आ जाइए। प्रारभ में प्रतिदिन यह आसन चार बार कीजिए। फिर छह बार तक किया जा सकता है।

लाभ

1 कमर के सभी प्रकार के रोग इस आसन से दूरा होते है।

2 पेट के शूल के लिए तो यह आसन एक रामबाण है।

3 इस आसन से फेफडत्रे ओर कन्ध मजबूत बनते हे।

4 इस आसन से हृदय की कार्यक्षमता बढती हे ओर हृदयरोग पर रोक लगती हे।

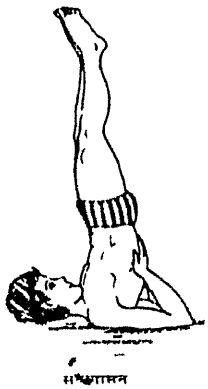

8 सर्वांगासन

यह एक महत्वपूर्ण आसन है ओर अदभुत लाभ देने वाला है। इस आसन को 'सर्व-अग-आसन' नाम दिया गया है, क्योंकि जब यह आसन किया जाता है, उस समय शरीर के सभी अग आसन करने में सक्रिय रहते हे।

पद्धति · पीठ के बल एकदम चित्त लेट जाइए। इसके बाद दोनों नथुनों से फेफडों में सॉस भरकर दोनों पैरों को एकसाथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर उइाइए। तत्पश्चात पैर, नितम्ब और पीठ की सीधी रेखा में उठाइए। दोनों ओर से दोनों हाथों द्वारा पीठ को सहारा दीजिए। कुहनियॉ भूमि पर, रखिए। कन्धे का हिस्सा ओर गर्दन भूमि कोठीक से छून दीजिए। शरीर इधर-उधर हिले-डुल नहीं इसका ध्यान रखिए। पैर सीधे रखिए। फिर स्वाभाविक ढग से श्वासोच्छवास लेत रहिए। दृष्टि सामने पैरों के अॅगूठों पर केन्द्रित रखिए। पैरों को सिर की ओर झुकाकर शरीर को शिथिल करतेक हुए भूमि कीतरफ लाइए। इस आसन से पूर शरीर का वजन कन्धों पर रहता है। गले की आगे की ओर नीचे के हिस्से में स्थित थाइरोइड ग्रन्थि पर चित्त एकाग्र कीजिए।

यह आसन सुबह-शाम दो बार किया जा सकता है। यह आसन करने के तुरत बाद मत्स्यासन करना चाहिए। इससे सर्वागासन के सभी लाभ प्राप्त होते हे। दो मिनट से प्रारभ करके धीरे-धीरे यह आसन आधे घण्टे तक किया जा सकता है।

लाभ

1 शरीर के सभी अगो का स्वास्थ्य थाइरोइड ग्रन्थि की स्वस्थता पर निर्भर होता है। इस आसन से थाइरोइड गन्थि को अच्छी मात्रा में पोषण मिलता है। फलस्वरूप रक्त-परिभ्रमण, श्वसन-क्रिया, पाचन-क्रिया, उत्सर्गक्रिया ओर नाडीतन्त्र व्यवस्थित ढग से कार्य करते ह।

2 यह एक अत्यन्त आदर्शन शक्तिप्रद आसन हे। यह आसन शरीर को निरोगी बनाकर स्फूर्ति प्रदान करता हे।

3 यह आसन करने से मेरूदण्ड की नाडियां क छारों को पर्याप्त मात्रा में रक्त प्राप्त हो जाता है।

4 यह आसन मेरूदण्ड की स्थितिस्थापकता बनाए रखता है। इस आसन से मेरूदण्ड में जडता नहीं आन पाती। फलस्वरूप यौवन दीर्घकाल तक सुरक्षित रहता है।

5 यह आसन स्वप्नदोष्ा को रोकने में बडा ही प्रभावशाली है और ब्रह्मचर्य क पालन में सहायक है। जननेन्द्रिय ओर गुदा के रोगों के लिए यह आसन एक रामबाण इलाज हे।

6 यह आसन नाडीतन्त्र ओर पाचनतत्र के लिए तात्कालिक उपलब्ध होने वाला एकमात्र टॉनिक है।

7 यह आसन मूत्राशय की बीमारियों में अत्यन्त उपयोगी है।

8 यह आसन के अभ्यास से पैरों के तलवों की पीडा, सूजन, जलन आदि विकार दूर हो जाते है।

9 पाण्डुरोग एव गलित कुष्ठ से पीडित व्यक्तियों के लिए यह आसन लाभप्रद है।

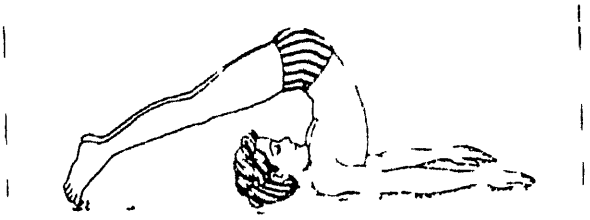

हलासन

9. हलासन

यह आसन करते समय शरीर की स्थिति हल जेसे दिखाई देती हे। इसीलिए इसे 'हलासन' कहा जाता हे।

पद्धति भूमि पर चित्त लेट जाइगे। हथेतियॉ भूमि की ओर रखकर दोनों हाथों को दोनों तरफ लम्बा कीजिए। दानों पेरों का मिला दीजिए ओर उन्हें एकदम सीधे रखिए। फिर सॉस लेते हुए एकदम धीमे से उन्हें ऊपर की ओर उठाइए। सॉस लेने ओर पैर उठाने की क्रियाएँ साथ-साथ होनी चाहिए। पेरों को मुडने या हाथों का उठने मत दीजिए। पीठ को भी न मोडं। जब आप बिल्कुल सीधी (सर्वांगासन की) स्थिति में आ जाएँ, तब सॉस छोडने ओर साथ ही पैरों को पीछे की ओर झुकाने की शुरूआत करें। धीमे-धीमे पेरों कोमस्तक की पिछली दिशा में नीचे की ओर लाइए। पैरों को तब तक शरीर क ऊपर मोडते जाइए जब तक पेरों की उँगलियाँ भूमि का स्पर्श न करें। घुटने सीधे ओर मिले हुए रखिए। पुटठे और पैर एक पैरो की उँगलियॉ भूमि का स्पर्श न करें। घुटने सीधे ओर मिले हुए रखिए। पुटठे और पैर एक सीधी रेखा में होने चाहिए। सॉस छोडने की क्रिया पूर्ण होते ही आसन पूर्ण हो जाता हे ओर लाभ तक तक स्वाभाविक गति से श्वासोच्छवास की प्रक्रिया जारी रखिए। मुँह से सॉस मत लीजिए। ऑखें बन्द या खुली रख सकते हें। पेर तनिक भी मुडत्रने न पाएँ इसका ध्यान रखिए। दाढी गले से सटी हुई रह यह आवश्यक हे। इस स्थिति में आठ से दस सेकण्ड तक रहिए। फिर धीमे-धीम पेरो को उठाकर, तनिक भी झटका न लगने पाए इस ढग से भूमि पर अपनी मूल स्थिति में लाइए।

लाभ

1 इस आसन से मेरूदण्ड की नाडियों, पीठ के स्नायुओं, मेरूदण्ड के मनकों और उन मनकों के दोनों ओर गुजरनेवाल मज्जातत्र को पोषण मिलता है।

2 इस आसन से मेरूदण्ड कोमल ओर स्थितिस्थापक रहता है। अत· नियमित रूप से हलासन करने वाला व्यक्ति त्वरित गतिशील, फुर्तीला और पूर्ण सशक्त रहता है।

3 विविध स्नायुओं को रह्युमेटिज्म, कटिशूल, माच, ज्ञानतन्तु की सूजन आदि से दूर हो जाते हैं।

4 स्थायी कब्ज, वायुगोला, यकृत आर प्लीहा के सकुचन-विस्तरण इस आसन से दूर हो जाते हैं।

5 तन्त्रयोग के अनुसार यौवन की चचलता और योन-शक्ति प्राप्त करने में यह आसन अत्यन्त सहायक सिद्ध होता हे।

6 इस आसन से पेट के स्नायु सशक्त बनत हे।

7 इस आसन का चेहरे पर भी बडा अच्छा प्रभाव पडता है। रक्त-परिभ्रमण अच्छी तरह होने से चेहरे के तन्तुआ में सक्रियता आती है फलस्वरूप चेहरे पर यौवन की चमक छा जाती हे।

10. वृत्तासन

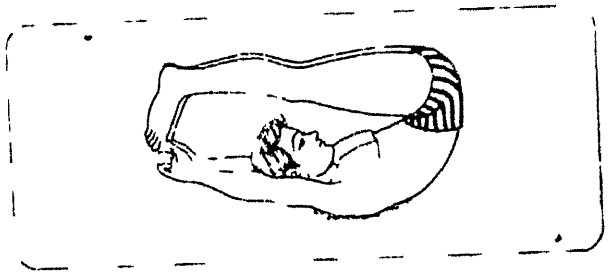

वृत्तासन

यह आसन हलासन का ही एक प्रकार हे। हलासन का भलीभाति अभ्यास हो जाने के बाद ही यह आसन करना चाहिए। इस आसन को करते समय शरीर की स्थिति वृत्तकार बनती है। इसीलिए इसे 'वृत्तासन' कहा जाता है।

पद्धति . सर्वप्रथम पीठ के बल लेटकर हलासन कीजिए। फिर धीमे-धीमे हाथ ऊपर उठाकर पैरो के अँगूठे पकड लीजिए। ध्यान रहे, ऐसा करते समय किसी प्रकार का झटका न लगने पाए। इस स्थिति लगभग आठ से दस सेकण्ड तक रहिए। फिर धीमे-धीमे पैरों को ऊपर उठाकर, तनिक भी झटका न लगे इस ढग से, उन्हें भूमि पर अपनी मूल स्थिति में ले आइए। इसके क्रमश तनी हुई स्थिति में ही दोनों हाथों को दोनों पुटठों से सटाकर रख दीजिए।

लाभ

1 इस आसन से यौन-शक्ति बढती है, क्योंकि इससे सभी यौन-ग्रन्थियाँ सशक्त बनती है। यह आसन नपसकता दूर करने में सहायक होता है।

2 इस आसन से कमर के आसपास का भेद कम होता है।

3 कन्धों के जोडत्रों को इस आसन से पयाप्त मात्रा में व्यायाम मिलता हे।

4 इस आसन से सर्वागासन क लाभा में वृद्धि होती ह।

5 हलासन के सभी लाभ यह आमन करने से भी प्राप्त हो जाते हैं।

पेट के बल किये जाने वाले आसन

अर्द्ध शलभासन

1. अर्द्ध शलभासन

'शलभ' अर्थात टिड्डी। इस आमन की मुद्रा टिड्डी क समान दिखती हे, इसीलिए इस आमन को 'शलभासन' कहा जाता हे। जब यह आसन एक पाँव पर किया जाता है तब उसे 'अर्द्ध शलभासन' कहा जाता है।

पद्धति भूमि पर मुँह नीचे की आर रखकर आधे घण्टे लेट जाइऐ। दोनों हाथ बगल में रखिए। मुट्ठियॉ बद रखिए। हाथ जॉघ के नीचे भी रखे जा सकते हे। थोडी सॉस लीजिए। जब तक यह आसन करें तब तक सॉस रोके रखिए। शरीर का तना हुआ रखकर किसी भी एक पैर को अनुमानत 30 सेमी ऊपर उठाइए। पैर को सरलता से जितना ऊपर तक उठा सकं उतना ही उठाए। पैर के तलवों को खींचिए। पॉच से तीस सेकण्ड तक इसी स्थिति में रहं। फिर पैर को धीमे-धीमे नीचे ओर लाइए। अब अत्यन्त धीमे से सॉस छाडिए। यही क्रिया दूसरे पैर से भी कीजिए। यह आसन छह से सात बार किया जा सकता हे।

लाभ

1 मेरूदण्ड मोडने में यह आसन पश्चिमोत्तानासन से विपरीत है। अर्थात यह आसन मेरूदण्ड के पीछे की ओर मोड देता हे।

2 भुजगासन से शरीर के ऊपर के आधे हिस्से का विकास होता है, जबकि शलभासन से शरीर के नीचे के आधे हिस्स का विकास होता है।

3 आँतों में एकचित्र मल कोबाहर निकालने में यह आसन बहुत सहायत होता है।

4 यह आसन कमर के दर्द को मिटाता है और घुटने, नितम्ब, कमर तथा पेट पर जमे अतिरिक्त भेद को कम करता है।

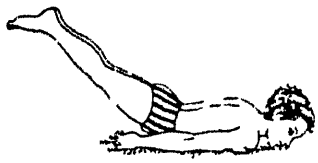

पूर्ण शलभासन (१)

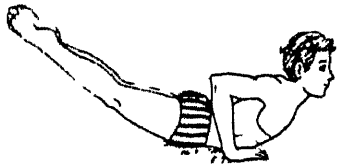

पूर्ण शलभासन (२)

2. पूर्ण शलभासन

दोनों पैरों को एकसाथ ऊपर उठाकर जो शलभासन किया जाता है उसे 'पूर्ण शलभासन' कहा जाता है। इस आसन के दो प्रकार है। नीचे दोनों प्रकारों की स्पष्टता की गई है।

पद्धति 1 (पहला प्रकार) मुँह नीचे की ओर रखकर भूमि पर आधे लेट जाइए। दोनों हाथ बाजू में सीधे रखिए। हथेली का अँगूठा ओर तर्जनी (अँगूठे के पासवाली उँगली) वाला भाग भूमि पर रखिए आर उसी अवस्था में दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध लीजिए। शरीर को तनी हुई स्थिति में रखकर दानों पेरों हो हवा में यथासभव अधिक से अधि अवकाश में ऊपर की ओर उठाइए। पेरों के तलवों को खींचिए। पेर, जाँघ और पेट के नीचे का हिस्सा उइाइए। पाँच से तीस सेकण्ड तक इस स्थिति में स्थिर रहिए ओर साँस रोके रहिए। इसके वाद पैंरों को धीमे-धीमे नीचे की ओर लाइए। अब अत्यन्त धीरे-धीरे उच्छवास बाहर निकालिए।

पद्धति 2 (दूसरा प्रकार) . प्रथम प्रकार के अनुसार शलभासन की स्थिति ग्रहण कीजिए। फिर सर उठाइए। हाथों को सीने के पास भूमि पर रखा जा सकता है। हाथ की हथेलियों को जमीन की आर रखें।

लाभ

1 इस आसन से पेट पर दबाव पडता है ओर पेट, जाँघ तथा पैर के स्नायु विकसित होते हैं।

2 यह आसन जठर, पित्तशय, प्लीहा, मूत्राशय आदि पेट के विविध अवयवों को 'टोन' देता है ओर ऑतों के रोगा को मिटाता है।

3 यह आसन जठराग्नि सतेज करता हे और मन्दाग्नि दूर करता है।

4 इस आसन से पैरों की सूजन मिटती हे।

5 इस आसन से वात, पित्त एव कफ से उत्पन्न गुल्मरोग नष्ट होते है।

6 इस आसन से गले में नई शक्ति का सचार होने लगता है।

7 इस आसन के अभ्यास से मूत्रकृच्छ, मधुप्रमह, मूत्राघात और बस्तिकुण्डल गेगों का निवारण होता हे।

8 स्त्रियों को रजोदश्रन के समय कन्दस्थान में होनेवाली वेदना इस आसन के अभ्यास से मिट जाती हे।

9 इस आसन से फेफडों के रोग दूर होते हे।

10 इससे जलोदर का रोग सदा क लिए मिट जाता है और भगदर की आरभिक स्थिति में हो तो इसका अच्छा पभाव पडता हे।

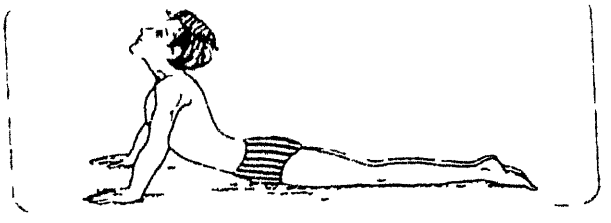

भुजगासन

3 भुजगासन

सस्कृत में सॉप को 'भुजग' कहा जाता ह। इस आसन में ऊपर की ओर उठे हुए सिर और नीचे स्थित घड से ऐसा लगता हे मानों सॉप फन फैलाकर बैठा हो। इसीलिए इसे 'भुजगासन' कहा जाता है।

पद्धति मुँह नीचे की ओर रखकर आधे लेट जाइए। शरीर के सभी स्नायुओं को शिथिल कर दीजिए। हथेलियों को कन्धों और कुहनियों के बीच के स्थान पर भूमि पर रखिए। नाभि से हाथ के पजों तक का शरीर का आगे का भाग धीमे-धीमे सॉप के फन की तरह ऊपर की ओर उठाइए। रीढ को पीछे की ओर मोडिए। पैरो की उँगलियों को पीछे की ओर इस प्रकार खिची हुई रखिए कि वे भूमि को छूती रहे। ऐसा करने से पीठ और कन्धे के बीच के भाग के स्नायु अच्छी तरह खिचे हुए रहेंगे। पेट पर दबाव भी पर्याप्त मात्रा म बढा हुआ लगेगा। साँस रोककर इस स्थिति में छह से आठ सेकण्ड तक स्थिर रहिए। इसक बोद सॉस छोडते हुए सिर का उसकी अपनी मूल स्थिति में ले जाइए। पहले जब आप नीचे लेटें तो दाढी को सीने

से सटाए रखिए। जब तक सिर ऊपर की ओर रहे तब तक सॉस रोके रखिए। फिर धीरे-धीरे साँस बाहर छोडिए। चार से छह बार यह आसन किया जा सकता हे।

लाभ

1 यह आसन करने से पीठ का दर्द ओर अन्य रोग दूर होते हैं।

2 यह आसन पेट के अन्दरूनी अवयवों पर दबाव डालकर अवरूद्ध मल को बडत्री ऑत और गुदों की आर धकेराना हे। फलस्वरूप कब्ज की शिकायत दूर होती हे और शारीरिक ऊष्णता बढती हे।

3 यह आसन मुख्यत स्त्रियों क बीजाशय एव गर्भाशय को पुष्टि देने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता हे आर मासिक धर्म सम्बन्धी तकलीफें दूर करता हे। यह आसन करने से गर्भाशय में रक्त-परिभ्रमण पर्याप्त मात्रा में होता हे फलस्वरूप प्रसूति अत्यन्त प्राकृतिक रूप स आर सरलता से होती है।

4 यह आसन रीढ को योग्य व्यायाम देता हे, पट के भीतरी अवयवों को सक्रिय करता हे ओर पेट का दर्द दूर करता हे।

5 यह आसन सीना, कन्धा, गर्दन आर सिर के भागों का विकसित करता हे और शरीर को सुडोल बनाता ह।

धनुरासन

4. धनुरासन

इस आसन से शरीर का आकार मनुष्य के समान हो जाता है। एक-दूसरे को खींचते हुए पैर और हाथ प्रत्यचा (डोरी) बन जात है। इसलिए इसे 'धनुरासन' कहा जाता है। यह आसन रीढत्रे को पीछे की ओर मोडता है। यह आसन भुजगासन ओर शलभासन का सयुक्त रूप है। भुजगासन, शलभासन और धनुरासन मिलकर अत्यन्त मूल्यवान समिश्रण बनता है। आसनों की यह त्रिपुटी रीढ को आगे की ओर मोडने वाले हलास और पश्चिमोत्तानासन के विपरीत कार्य करती है।

पद्धति : भूमि की ओर मुँह करके आधे लेट जाइए। स्नायुओं को शिथिल कर दीजिए। दोनों हाथ बगल से सटाकर रखिए। पैरों को उठाकर पीछे की ओर मोडिए।

हाथ ऊपर उठाइए और टखनों को भली-भॉति पकडिए। सीना और सिर ऊपर की ओर उठाइए। सीना फुलाइए। हाथ सीध ओर कडे बनाइए। पेरों को भी कडा बनाइए। इस प्रकार एक बढिया बहिर्गोल कमान बनेगी। पेरों को ऊपर खीचेगे तो माना भी ऊपर उठा सकेंगे। पर्याप्त आसानी से मॉस राक रहिए। फिर धीमे-धीमे सॉस बाहर छोडिए। दोनों घुटनों के साथ-साथि रखिए।

इस आसान में सारा शरीर पेट क बल पर टिका रहता है। इसलिए खाती पेट ही यह आसन करें। धनुष्याकार शरीर को धीरे-धीर आगे पीछे और दाएँ-बाएँ हिलाकर व्यायाम दिया जा सकता है। जितने समय तक आराम से यह आसन कर सकें उतने समय तक ही करें। यह आसन पॉच-छह बार किया जा सकता है।

लाभ

1 इस आसन से पेट को अच्छी मालिश मिल सकती हे। इसलिए दीर्घकालीन कब्ज, मन्दाग्नि और जठर के रोगों में यह अत्यन्त लाभप्रद है।

2 इस आसन से रीढ की कूबड ओर पैर, घुटने तथा हाथ का रह्युमेटिज्म दूर हो जाता हे।

3 यह आसन भेद कम करता हे, ऑतों को गति देकर पाचन-शक्ति बढाता है तो उदर-गुहा के प्रत्येक अवयव को रक्त पहुँचाकर उनका पोषण करता है।

4 गैस और ऑतों के मरीजो केलिए यह आसन आशीर्वाद स्वरूप है।

5 हलासन की तरह यह आसन रीढ को स्थितिस्थापक बनाता है, हड्डियों के अकाल वृद्धत्व को रोकता हे। यह आसन करने से स्वादुपिण्ड सक्रिय बनता है और उचित मात्रा में इन्स्यूलिन उत्पन्न होने लगता है।

6 जो व्यक्तिनियमित रूप से हलासन, मयूरासन और धनुरासन करता है वह कदापि आलसी नहीं बनता। वह व्यक्ति हमेशा फुर्तीला, कार्यशील औ शक्तिशाली रहता है।

7 स्त्रियों के लिए यह आसन बडा लाभप्रद हे, क्योंकि इससे मासिक धर्म की अनियमितत और प्रजननतत्र की तकलीफें दूर हो जाती है।

5 विपरीत मत्स्यासन

विपरीत मत्स्यासन

यह आसन मत्स्यासन की विपरीत दिशा में किया जाता है। इसलिए इसे 'विपरीत मत्स्यासन' कहा जाता हे। इम आमन को 'सुप्त पदमासन' भी कहा जाता है।

पद्धति · बाई करवट लेट जाइए। दानां पेरों को पदमासन की स्थिति मं ज़माइए। फिर इस ढग से आधे लेट जाइए कि सीना आर पेट भूमि का स्पर्श करें। गर्दन को पीठ की ओर झुकाकर ठोडी को भूमि पर टिकाइए। दोनों हाथों की तर्जनियों आर अँगूठों से पैरो क सम्बन्धित अँगूठे पकडिए। धीरे-धीर सॉस लीजिए। आठ से दस सेकण्ड तक इस स्थिति में रहिए। फिर क्रमश आगे बढते हुए दस मिनट तक पहुँचा जा सकता है।

लाभ

1 इस आसन से सीना चोडा होता हे ओर फेफडे सशक्त बनते हें। साथ ही रीढ कोकम श्रम में अधिक लाभ मिलता हे।

2 यह आसन नियमित रूप से करन से गर्दन के जोड और शरीर के अन्य छोटे-बडे जोड ओर स्नायुओं को व्यायाम मिलता है।

3 मलावरोध, गैस, मदाग्नि, अजीर्ण, सर्दी वातविकार, क्षय, दमा, पेचिश, सग्रहणी आदि कई रोग इस आसन से निर्मूल हो जात हैं।

प्राणायाम

महर्षि पतञ्जलि के अष्टाग योग मे प्राणायाम का क्रम चतुर्थ है। प्राणायाम से शरीर के श्वसन तत्र को बहुत लाभ होता है इसलिए बहुत से लोग इसे शरीर को अतिरिक्त आक्सीजन प्रदान करने वाला केवल फेफडों का व्यायाम समझते है। पर वास्तविकता यह है कि यह केवल श्वसन व्यायाम ही नहीं है, बल्कि सूक्ष्म रूप से श्वसन के माध्यम से प्राणमय कोश की नाडियों, नलिकाओं एव प्राण के प्रवाह पर प्रभाव डालता है। फलस्वरूप प्राणायाम अभ्यासी का अन्धकार का आवरण दूर होकर उसके मन की चचलता नष्ट होता है तथा मन पर भी उसका अधिकार हो जाता है। इस सबध में योगसूत्रकार कहते है कि श्वास -प्रश्वास की स्वाभाविक गति का विच्छिन होना 'प्राणायाम' है। प्राण-वायु का शरीर में प्रविष्ट होना 'श्वास' है तथा बाहन निकलना 'प्रश्वास' है। इस गमनागमन प्रक्रिया का बन्द हो जाना ही प्राणायाम है। योग साधना में इस क्रिया का विशेष महत्व है, शरीर में जितने भी मल एकत्र होते है, प्राणायाम के द्वारा सब भस्मीभूत हो जाते है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि प्राणायाम से बढकर कोई तप नहीं है, इससे सारे मल धुल जाते है एव ज्ञानरूपी दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।[2]

मन पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम साधना पर बहुत बल दिया है। प्राण और मन में परस्पर अभेद बताते हुए कहा है कि यदि प्राण पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो मनो निग्रह जैसा कठिन कार्य भी सरल बन जायेगा। जिसने प्राणवायु को जीता, उसने मन जीत लिया, जिसने मन जीता उसने प्राण जीत लिया। चित्त की चचलता के दो ही कारण हैं, एक वासना का दूसरा प्राणवायु का चचल होना। इनमें एक नष्ट हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।[3] प्राणवायु चलायमान रहने से बिन्दु चलायमान रहता है। प्राण निश्चल हो जाने से वीर्य भी निश्चल हो जाता है। समर्थ स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्राणायाम करना चाहिए ।[1] जिस प्रकार डेरी से बधा हुआ पक्षी घूम-घाम कर अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है, उसी तरह से सैम्य मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूम-घाम कर प्राण का आश्रय लेता है क्योंकि मन प्राण से ही बँधा हुआ है। विविध विचारों तर्कों और अध्ययन, भ्रमण आदि से चित्त का समाधान नहीं होता है। मनो निग्रह तो प्राणायाम से ही सम्भव है।

---

1 [107] तस्मिन । सति श्वासप्रश्वासयोर्गविच्छेद प्राणायाम ''यागशास्त्र (2-49)

2 तपे न परम् प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य। व्यासभाष्य

3 हठ योग-प्रदीपिका 4/21

इन्द्रिय विकास अनियमित वासना प्रवाह का कारण शारीरिक नहीं मानसिक ही होता है। इन्द्रियों पर मन का नियन्त्रण होता है इसलिए मन विकास ग्रस्त होगा तो इन्द्रियों की चचलता भी बढेगी और वे कुप्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होगी। यदि मन का नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। तो वासना पर अकुश स्वयमेव लग जाता है। प्राणायाम से मनोनिग्रह से वासनाजन्य विकारों की रोकथाम सम्भव होती है। असयम के लिए उत्तेजित करने वाले विकृत मन को कुमार्ग त्यागने के लिए सहमत करना प्राणायाम की सुनियोजित साधना पद्धति अपनाने से सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध में साधना विज्ञान का मन्तव्य इस प्रकार है कि प्राणायम की अग्नि पापरूपी ईधन को जलाकर नष्ट कर देती है और वह सेतु के समान ससार रूपी सागर से पार करने का मार्ग खोलता है।[2]

प्राचीन काल से प्रत्येक भारतीय इस जीवनदायिनी सुधामयी प्रक्रिया को प्रतिदिन सध्या समय विधिवत किया करते थे। किन्तु पाश्चात्य जगत की चकाचौंध और विलासितापूर्ण दिनचर्या में उसने अपने इस अमृतमयी विद्या को भुला दिया है। वस्तुत प्राण हमारे शरीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग है। इसी के आधार पर मन, बुद्धि , इन्द्रियों की क्रियाओं का सम्पादन होता है। अत प्राण ही जीवन है। प्राण के ही सयम से मनुष्य दीर्घायु एव अरोग्यता को प्राप्त कर सकता है। आचार्य शारगधर ने बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण करते हुए कहा हे कि नाभि स्थिति प्राणवायु हदय कमल का स्पर्श करते हुए कठ मार्ग से विष्णुपदामृत (शुद्ध वायु) का पान करने के लिए बाहर आती है तथा तीव्र वेग से अन्दर आती है, जिससे समग्र देह को प्रीडन (प्राण प्रदान) करती हुई जठराग्नि को पुष्ट करती है एव जीवन -दान देती है।[3]

प्राणायाम जानने से पूर्व 'प्राण' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में जान लेना आवश्यक है। सस्कृत में 'प्राण' शब्द ही निष्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'ण्यन्त अन प्राणने' धातु से ड अथवा अच् प्रत्यय लगाकर मानी जाती है और यह वायु का वाचक माना गया है।

प्राण और जीवन प्राय एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है। प्राण, शक्ति का मूल है। यह निर्जीव एव सजीव का भेद करता है। इसे जीवन का प्रतीक एव जीवनी शक्ति कह सकते है। वास्तव में प्राण, शक्ति का केवल एक रूपान्तर है। जिसको जीवात्मा अपने भौतिक विकास में धारण कर लेता है। जब तक जीवात्मा इसे अपने अधिकार में रखता है, शरीर सयोग बना रहता है और सब परिणाम जीवात्मा की

---

1 चले वाते चले बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवते्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ।।गो0 प0, 1/90

2 प्राणायामों भवदैव पातकेन्धन पावक। भवोदधिमहासेतु प्राच्यते योगिभि सदा ।। योग चूडामणि उ0प्र0(108/109)

3 विश्व गुरू कल्पतरू । पृ0 560

प्रेरणा से सगठित बने रहते है और जब जीवात्मा अपने वियोग समय में अपने अधिकार को त्यागता है तब प्राण उसी वृहद प्राणकोष में जा मिलता है, जहॉ से वह आया था अर्थात् प्राण आत्मा से उसी प्रकार से जुडा होता है जिस प्रकार मनुष्य के शरीर से उसकी परछाई।

शरीर में स्थिति प्राण रूपी शक्ति को सरलता से समझने के लिए इसे पॉच उप विभागों में बॉटा गया है -

1 प्राण-वायु

प्राण का क्षेत्र कण्ठ नली एव श्वास पटल है अर्थात् श्वसन् नली , वाणी सम्बन्धी अग, अन्न नलिका आदि से इसका सम्बन्ध है साथ ही इन्हें क्रियाशील बनाने वाली मॉस पेशियॉ इससे सम्बन्धित है। वास्तव में प्राण वह शक्ति है जिसके द्वारा श्वास नीचे की ओर खीची जाती है।

2 अपान-वायु

अपान का क्षेत्र नाभि प्रदेश के नीचे है। यह आत , गुदा द्वारा, गुर्दे एव जननेन्द्रिय को शक्ति देती है जिससे निष्कासन क्रिया सही रहे। यह शक्ति प्राण वायु को गुदा द्वारा तक खीचने का एव नासिका द्वारा गन्दी वायु के निष्कासन का भी कार्य करती है। स्त्रियों के शरीर में इसी वायु शक्ति के द्वारा प्रसव के समय शिशु बाहर निकलता है तथा मासिक धर्म के समय रज स्राव होता ह।

3 समान-वायु

समान का क्षेत्र छाती एव नाभि के मध्यवर्ती क्षेत्र से है। यह पाचन सस्थान, यकृत, छोटी आत, पैक्रियाज एव जठर तथा उनके रस स्राव को प्रेरित तथा नियत्रित करता है। दिल तथा रक्त सचार सस्थान को भी क्रियाशील बनाता है। भोज्य पदार्थो में अनुकूलता लाता है। समान वायु का एक कार्य यह भी है कि वह प्राण वायु तथा अपान वायु को सन्तुलित अवस्था में बनाये रखती है।

4 उदान वायु

उदान वायु द्वारा कण्ठ नली के ऊपर के अगो का नियन्त्रण होता है। नेत्र, नासिका , कान, सम्पूर्ण शरीर की इन्द्रियॉ तथा मस्तिष्क इसी वायु के द्वारा कार्य करती है। इसकी अनुपस्थिति में अथवा असन्तुलन में सोचने-समझने की शक्ति नहीं रहती है साथ ही बाहा जगत के प्रति चेतना भी नष्ट हो जाती है।

5 व्यान-वायु

---

1 प्राणेउपान दानित्यानौ च वाय । अमरकोश 1-63/64

व्यान वायु का क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यह वायुओं के मध्य में सहयोग स्थापित करता है। समस्त शरीर की गतिविधियों को नियमित तथा नियन्त्रित करता है, सभी शारीरिक अगों तथा उनसे सम्बन्धित मास-पेशियों, तन्तुओं, नाडियों एव सन्धियों में समरूपता लाता है तथा उन्हें क्रियाशील बनाता है। शरीर को लम्बवत रखने में यही शक्ति उत्तरदायी है। इसीलिए कहा गया है कि हदय मं अवस्थिति वायु को 'प्राण वायु' कहा जाता है। नाभि प्रदेश में जो वायु घनीभूत रहता है, उसे 'समान वायु' कहते है। कण्ठ प्रदेश की वायु को 'उदान वायु ' कहा गया है तथा समस्त शरीर की प्रणालियों में जो वायु अपने रहस्मय कार्यो को नियमबद्ध रखता है उसे ' व्यान-वायु' कहते है।'

उपप्राण

हमारे योगियों ने शरीर में केवल प्राण शक्ति का वर्गीकरण ही नहीं बल्कि उनका उपर्गीकरण भी किया है। वे क्रमश नाग, कर्म, किकर, देवदत्त तथा धनजय है। छींकना, जमुहाई लेना, खुजलाना, पलक झपकाना,हिचकी लेना आदि इनके छोटे-छोटे कार्य है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि स्वथ्य, सबल एव दीर्घ जीवी बनने के लिए पॉचों वायु को सतुलित रखना जरूरी है क्योंकि इन वायुओं के असतुलित एव कुपित हो जाने से क्रमश मनुष्य का शरीर एव मन बीमार रहने लगता है। जो किसी औषधि से नहीं बल्कि पट्कर्म योगासन एव प्राणायाम के उचित एव नियमित अभ्यास से ही पुन ठीक हो पाता है।

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ प्राण का आयाम करना है। आयाम का अर्थ विस्तृत होता है। अर्थात् जीवनी शक्ति का हमारे कोषों, में विस्तृत करना, फैलाना या वृद्धि करना है। ऐसी वृद्धि करने वाली विद्या को प्राणायाम कहते है। हठयोग आचार्य के मत से रेचक , पूरक और कुम्भक ये प्राणायाम के तीन भेद है।[1] किन्तु महर्षि पतज्जलि ने शून्यक नामक एक और भेद जोडते हुए इसे चतुर्विध प्रतिपादित किया है।[2]

1 रेचक अन्दर से बाहर वायु निकलने की किया को 'रेचक' कहते है।

2 पूरक बाहर से वायु अन्दर खींचने कि क्रिया को 'पूरक' कहते है।

---

1 प्रमाणायाम शरीस्य वयोस्तद्वन्निराधनम्।
आचार्याणा तु केषा चिद्रेचकपूरककुम्भकै ।। प्राणायाम की सही विधि पृ0 46
वाह्याभ्यन्तरस्तभ्य वृत्तिर्देशकालसख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म । पातज्जलयो 2/50

1 हृदि प्राणो गुदेऽपान समानोनाभिसस्थित ।
उदान कण्ठदेशे स्याद्, व्यान सर्वशरीरग ।। अमरकोष(1-63) पर रामाश्रयी टीका।

3 कुम्भक वायु अन्दर खींचने के बाद उसे रोक लेने की क्रिया को ' कुम्भक' कहते हैं।

4 शून्यक अन्दर से वायु बाहर निकालकर रोक लेने का 'शून्यक' कहते है। इसे 'केवल कुम्भक' भी कहा जाता है।

उपर्युक्त चारों प्राणायाम की साधना से (ज्ञान) प्रकाश को ढकने वाले अन्धकार (अज्ञान) का आवरण टूट जाता हे तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन में धारणा करने की योग्यता आती है।

प्राणायााम के सम्बन्ध में कुछ भी जानने से पहले हमें श्वास के रहस्य को जान लेना परम आवश्यक है क्योंकि हमारा जीवन पूर्णतय श्वॉस पर अवलम्बित है।(श्वॉस ही) जीवन कहा भी जाता है। वैसे भी शरीर की समस्त क्रियाओं में श्वॉस क्रिया प्रधान है क्योंकि भोजन के बिना मनुष्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है। परन्तु बिना श्वॉस क्रिया के हमारा जीवन कुछ क्षण चलना भी असभव है।

हमें स्वस्थ और दीर्घ जीवन के लिए श्वॉस प्रश्वॉस का सही तरीका जानना चाहिए क्योंकि अनियमित , उल्टा अथवा अधूरा श्वॉस लेने से फेफडों की शक्ति शीघ्र ही क्षीण होकर नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप शरीर में प्राण शक्ति के अभाव में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते है जैसे -सर्दी , जुकाम, खासी , दमा इत्यादि। अर्थात् अपूर्ण एव जल्दी-जल्दी श्वास लेने से मनुष्य सदैव बीमार रहता है। आधुनिक श्वॉस विज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि कर दी है कि मनुष्य प्राणायाम द्वारा प्राण का निरोध करके अपनी आयु को दुगनी, तिगुनी एव चौगुनी तक कर सकता है।

श्वॉस सदैव नाक से लेना चाहिए। यदि मुँह से श्वास लेने की आदत पड गई हो तो उस आदत को छोडने का प्रयत्न करना चाहिए। मुँह केवल बोलने एव भोजन करने के लिए है। मुँह से श्वास लेने से अनेको सक्रामक बीमारियॉ हो जाती हैं जुकाम और सर्दी का प्राय यही कारण है क्योंकि श्वॉस लेने वाले अग नाक में ही प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि -

1 शरीर तापक्रम से कम या अधिक वायु को शरीर के तापक्रम अनुसार बनाकर अन्दर जाने दें।

2 वायु के साथ आ रहे धूलि-कणों को नाक में ही रोक ले।

3 वातावरण के रोग उत्पादक कीटाणुओं को नष्ट कर दे। चूँकि मुँह में ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है, इसलिए ठडी या गरम वायु, धुलि के कण एव कीटाणु मुँह द्वारा

फेफडों में पहुँच जाते है। अतएव जिन लोगो को मुँह से श्वॉस लेने का अभ्यास हो गया है उन्हें चाहिए कि नाक द्वारा श्वॉस लेने का अभ्यास करें।

किसी-किसी को ऐसा अनुभव होता है कि श्वास अन्दर लेते है तो पेट अन्दर जाता है एव जब श्वाास बाहर फेंकते है तो पेट बाहर आता है। एसे लोग सदैव बीमार रहते है क्योंकि उनकी श्वॉस क्रिया ही उल्टी है। अत यह ध्यान रखना चाहिए । कि जब श्वॉस अन्दर आये तो पेट बाहर की ओर जाये तथा श्वॉस जब बाहर जाय तो पेट अन्दर की ओर जाये। यही श्वॉस लेने का सही तरीका है। अपूर्ण या अधूरा श्वॉस लेने से हमारे शरीर एव मस्तिष्क में पोषण की कमी हो जाती है। फेफडों के निम्न प्रदेश में अधिक समय तक गन्दी श्वास एकत्रित रह जाती है। वर्तमान में अनेक बीमारियों जैसे क्षयरोग आदि का एक यह भी कारण है। चुस्त कपडे विशेषकर स्त्रियों की चोलिया आदि दीर्घ श्वास क्रिया में बाधक है क्योंकि श्वॉस के बिना दीर्घ एव स्वस्थ जीवन नहीं प्राप्त कर सकते है।

सही श्वास लेने का तरीका यह हे कि बैठकर यह चित्त लेटकर एक हाथ को नाभि पर रखकर उदर द्वारा श्वसन स्वय करना चाहिए। अब दीर्घपूरक करना चाहिए। देखेगें कि पूरक के साथ उदर फूल जाता है। तथा हाथ ऊपर आता है । जितना पेट फूलेगा उतना ही अधिक श्वास का प्रवेश फेफडों में होगा। अब दीर्घ रेचक करें तो देखेंगे कि दीर्घ रेचक के साथ पेट अन्दर की ओर जा रहा है।पेट जितना अन्दर जाएगा उतना ही फेफडों से अधिकतम मात्रा में वायु का निष्कासन होगा। यह ध्यान रखना चाहिए । कि अभ्यास करते समय छाती और कन्धों में कोई हलचल नहीं होनी चाहिए।

छाती द्वारा श्वसन करने के लिए बैठ जायें या चित्त लेट जाए। अब छाती आर पसलियों का विस्तार करते हुए पूरक कीजिए। हम अनुभव करते है कि इस क्रिया से पसिलियॉ ऊपर बाहर की ओर उठ जाती है। अब रेचक करना चाहिए। इस क्रिया से पसलियो में उतार आ जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि छाती द्वारा श्वमन काल में पेट-प्रदेश में गति न होने दें।

उदर द्वारा श्वसन एव छाती द्वारा श्वसन दोनों ही के योग से फेफडों में पूरक द्वारा अधिकतम मात्रा में वायु का प्रवेश कराना रेचक द्वारा अधिकतम वायु का निष्कासन ही पूर्ण या यौगिक श्वसन कहलाता है। इस प्रकार की श्वसन क्रिया ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी हे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इसी विधि से श्वास प्रश्वास की क्रिया करनी चाहिए।

पहले उदर फिर छाती कर धीरे-धीरे विस्तार करते हुए फेफडों में अधिक से अधिक वायु का प्रवेश करना चाहिए जितना सम्भव हो सकें। फिर क्रमश

पहले छाती फिर उदर को शिथिल करते हुए रेचक करना चाहिए। अन्त में उदर के स्नायुओं के सकोचन पर बल डालना चाहिए ताकि फेफडों से अधिक से अधिक वायु का निष्कासन हो सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि उदर से छाती, छाती से उदर तक गति तरग की भाति हो, झटके से नहीं।

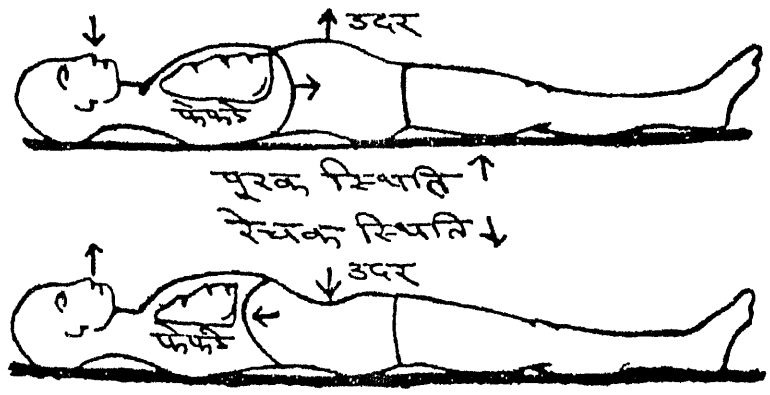

इस प्रकार क श्वसन से निम्नलिखित लाभ होते है -

1 यौगिक श्वसन के अभ्यास से कभी थकान का अनुभव नहीं होगा।
2 चिन्तन शक्ति का विकास होगा।
3 समान्यत चिन्ता, भय, तनाव एव निराशा का प्रभाव नहीं पडेगा।
4 सर्दी , जुकाम, खासी, टी0 वी0 दमा, प्ल्यूरसी आदि कष्ट नहीं होते है।
5 पाचन प्रणाली एव निष्कासन तन्त्र ठीक रहता है।
6 जीवन दीर्घ एव स्वस्थ रहता है।

प्राणायाम के अभ्यास में स्थान का विशेष महतव है। वैसे तो नदी के किनारे, पहाड़ों की तलहटी व गुफाओं, वृक्षो से हरे-भरे जगल अथवा स्वच्छ जलाशयों के पास ध्यानासन में बैठकर प्राणायाम श्रेयस्कर है। जहॉ पर ऐसी सुविधाए न हों वहा अपने खेतों व बगीचों में जाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए तथा शहर के लोगों को अपने निकट किसी साफ-सुथरे व हरे-भरे पाक्र या उद्यान में करना चाहिए। जिन लोगों के पास किसी परिस्थिति के कारण पाक्र में जाकर अभ्यास करने का समय नहीं है , उन्हें अपने घर के स्वच्छ, शान्त ऑगन या एकान्त कमरे में जिसकी खिडकियॉ खुली हों, वहाँ प्राणायाम करना चाहिए।

प्राणायाम के स्थान की वायु में गर्मी नहीं होना चाहिए। धूलि, धुँआ तथा मच्छर भी नहीं होना चाहिए । इसीलिए प्रात चार से आठ बजे तथा साय छ से आठ बजे तक की वायु प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम मानी गई है। प्राणायाम करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वायु सामने से न आकर पीछे से

आती हो या दायें अथवा बायें से आती हो प्रात पूरब की ओर मुँह करके व शाम को पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके प्राणायाम करना श्रेयस्कर हैं उत्तर दिशा की ओर प्रात एव शाम दोनो समय कर सकते है, लेकिन हवा का झोंका सामने से न आ रहा हो। दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके प्राणायाम करना शास्त्रों में वर्जित है। यदि वायु सुगन्धयुक्त, रोगनाशक, बलवर्धक , पुष्टिकारक हो तो अति उत्तम होता है। दुर्गन्ध युक्त पेट्रोल, डीजल, सिगरेट बीडी के धुँए से युक्त वायु हानिकारक है। हवन करके प्राणायाम करना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि हवन करने से जो परमाणु वायु में मिल जाते है प्राणायाम द्वारा शरीर में पहुँचकर शरीर के लिए विशेष लाभदायक है। चूँकि प्राणायाम के लिए ऐसा स्थान जरूरी है, जहाँ पर सूरज की किरणें दिन में पहुँचती हो और यदि किसी कारण से उस स्थान पर न पहुँचती हो तो हवन के द्वारा वायु शुद्ध करके प्राणायाम किया जा सकता है।

प्राणायाम अभ्यास के समय ऑखे बन्द रखनी चाहिए। मन को श्वास के अन्दर जाने तथा बाहर आने की प्रक्रिया को देखने में लगा रहना चाहिए। मानसिक चिन्तन यह करना चाहिए , जब श्वास अन्दर जाए तो ब्रहाण्ड की सारी शक्तियॉ अन्दर जा रही है। ऐसा अनुभव करते हुए , और जब श्वास बाहर निकल रही हो तब चिन्तन करें कि मै स्वस्थ हो रहा हूँ। ऑख खुली रहने से मन एकाग्र नहीं रहेगा, ऑ दर्द करेंगी, मच्छर व धूल ऑख में पड सकते है। प्रश्वास के समय निकलने वाली गरम वायु ऑख में पहुँचकर रोग पैदा कर सकती है।

प्राणायाम करने के लिए स्वर विज्ञान की जानकारी भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वर विद्या भारत की अति प्राचीन और मूर्धन्य विद्या है। इस विद्या के द्वारा योगी लोग त्रिकाल दर्शी बन जाते थे। आज से सौ वर्ष पूर्व इस विद्या के पर्याप्त ज्ञाता स्थान-स्थान पर मिल जाते थे किन्तु आधुनिक काल में यह रहस्यमयी विद्या एक कल्पना मात्र बनकर रह गयी। इस विद्या के माध्यम से प्राचीन समय में लोग अपने सासारिक कार्यो के शुभारम्भ का मुहूर्त निकालते थे। योगियों का यह दावा था कि स्वर विज्ञान के माध्यम से निकाले मुहूर्त कभी असफल व अनिष्टकारी नहीं हो सकते, ज्योतिष के द्वारा निकाले मुहूर्त से गलती हो सकती है।

नासिका द्वारा श्वास के अन्दर जाने और बाहर आने के समय अव्यक्त ध्वनि होती है उसी के स्वर कहते है। दाहिनी नासिका से निकलने वाले अव्यक्त स्वर का सूर्य स्वर और बॉयी नासिका से निकलने वाले को चन्द्र स्वर कहते है।

जब सूर्य स्वर चल रहा हो तो उस समय शरीर की शक्तियॉ दिन के समान जागृत रहती है और जब चन्द्र स्वर चलता है उस समय शारीरिक शक्तिया सुसुप्त अवस्था मे विश्राम कर रही होती है।

दिन और रात में मनुष्य का 21600 बार स्वाभाविक श्वास अन्दर जाता और बाहर आता है अर्थात एक घण्टे में 900 या एक मिनट में 15 बार श्वास का गमनागमन होता है। योग की मान्यता के अनुसार जीवों की आयु का परिणाम श्वास के गमनागमन की सख्या ही है। इस तरह आयु का घटाना या बढाना मनुष्य के स्वय की ऊपर निर्भर हे। जीवन के इस रहस्य से अपरिचित व्यक्ति अनियत्रित अथवा श्वास को जल्दी-जल्दी लेकर अपनी आयु को घटा लेता है। योगी लोग प्राणायाम द्वारा श्वास को नियत्रित करके न केवल मन को वश में कर लेते है, बल्कि श्वास का गमनागमन घटा कर उम्र को कई गुना बढा लेते है। सामान्यत चौबीस घण्टे में कम से कम स्वर का परिवर्तन पाँच बार होता है। दुर्बल और रोगी स्त्री, पुरूषों में स्वर की सख्या और भी बढ जाती है। बार-बार भोजन अथवा जलपान आदि करने से भी स्वर मे परिवर्तन की सख्या बढ जाती है। इससे हानि होती है।

स्वर का ज्ञान न होने की दशा में शरीर में अनेकों कठिन रोग उत्पन्न हो जाते है। और असमय मृत्यु का शिकार हो जाना पडता है। यही नहीं सन्तान का न होना अथवा बुद्धिहीन सन्तान होना, आकस्मिक विपत्तियों का आ जाना, काम में असफल होना आदि का यह भी एक कारण है। इस प्रकार ऐसे लाग बेकार में ही भाग्य को दोष देते है। वास्तव में स्वर विज्ञान के द्वारा मनुष्य दीर्घायु हो सकता है।प्रत्येक काम में सफल हो सकता है। मन चाही सन्तान प्राप्त कर सकता है।

जिस समय सूर्य स्वर चलता है, उस समय किये हुए भोजन का पाचन एव जिस समय चन्द्र स्वर चलता है उस समय युक्त अन्न के साराश से शरीर का सगठन होता है। इस प्रकार सूर्य स्वर से सृष्टि का कार्य और चन्द्र स्वर से लय का कार्य होता है। हमारा कौन सा स्वर चल रहा है। यह जानने के लिए किसी अॅगुली से एक नथुने को बन्द करके दूसरे से श्वास जल्दी-जल्दी लीजिए और छोडिए। जिस नथुने से श्वास सरलता से बाहर और भीतर आये जाये समझिए वही स्वर चल रहा है। यदि दोनो नथुनों से श्वास सरलता से बाहर और भीतर आये जाये तो समझ लेना चाहिए कि दोनो स्वर बराबर चल रहे है।

प्रत्येक स्वर को बारह घण्टे तक स्थायी रखने का नाम स्वर साधना है। स्वर साधक को सूर्योदय से सूर्यास्त तक चन्द्र स्वर चलाये रखना चाहिए और रात्रि में सूर्य स्वर।

सूर्य स्वर चल रहा हो और चन्द्र स्वर चलाने की आवश्यकता हो अथवा चन्द्र स्वर चल रहा हो और सूर्य स्वर चलाने की जरूरत हो तो निम्न प्रकार से स्वर बदलना चाहिए।

1. सूर्य स्वर या दायां स्वर चलाना हो तेा बायीं करवट लेटकर, सिर को थोड़ा ऊँचा करके बायीं हथेली पर दस-पन्द्रह मिनट रखिये, स्वर बदल जायेगा। इसी प्रकार चन्द्र स्वर चलाना हो तो दाहिनी करवट लेटकर ऐसे ही करें।

2.बैठकर या खड़े होकर स्वर बदलना पड़े तो जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत हाथ के बगल में धोती या पल्ला या अगौछे की तीन चार पर्त लपेट कर गेंद की तरह बनाकर दबा लें। दस-पन्द्रह मिनट में स्वर बदल जाएगा।

3.स्वर बदलने के लिए जो स्वर चल रहा हो उसी नासिका में रूई की ठोस गोली बनाकर लगाएं। दस-पन्द्रह मिनट मे स्वर बदल जाएगा।

स्वर साधना करने से जो लाभ हैं उनमें से कुछ इस प्रकार है :-

1. जैसे धूप की गर्मी से शान्ति पाने के लिए दस-पन्द्रह मिनट तक दाहिने करवट लेटकर बायां स्वर चला लेने से गर्मी दूर हो जाती है।
2. जो दिन में बायी नासिका से और रात में दाहिनी नासिका से श्वांस लेता है उसके शरीर में कोई पीड़ा नही होने पाती और वह दीर्घ जीवी होता है।
3. बुखार में दायें करवट लेटकर अथवा रूई की गोली से चन्द्र स्वर चलाएं और तब तक चलायें जब तक बुखार ठीक न हो जाय।
4. जब दमें का दौरा शुरू होने लगे और श्वांस फूल रहा हो तो जो स्वर चल रहा हो वह एक दम बन्द कर दें। ऐसा करने से दौरा निश्चित कम हो जायेगा।
5. जिन्हें सदैव जुकाम रहता हो वे लोग नेति और सूर्य भेदी प्राणायाम के साथ यदि रात को सूर्य स्वर चलायें तो बहुत जल्दी लाभ होता है।
6. द्रव पदार्थ जैसे दूध, लस्सी, फल रस आदि चन्द्र स्वर में पीने से इनकी पूरी , ऊर्जा शरीर को मिलती है।

प्राचीन योग मनीषियों ने आठ प्रकार के प्राणायाम की बात कही है-वे हैं

'' 1. सहित , 2 सूर्य भेदी , 3 उज्जायी, 4 शीतली भस्त्रिका ,6 भ्रामरी, 7. मूर्छा और 8. केवली ''

परन्तु आधुनिक योग के आचार्यो ने योग शास्त्रों के अध्ययन-मनन के बाद साधना एवं रोग निवारण के अनुसार बाहर प्रकार के प्राणायाम की बात कही है। वेइस प्रकार है। 1. अनुलोम विलोग प्राणायाम 2. सर्वांग प्राणायाम 3.

सूर्यभेदी प्राणायाम 4 चन्द्र भेदी प्राणायाम 5 भस्त्रिका प्राणायाम 6 उज्जायी प्राणायाम 7 भ्रामरी प्राणायाम 8 सीत्कारी प्राणायाम 9 शीतली प्राणायाम 10 मूर्छा प्राणायाम 11 प्लावती प्राणायाम 12 केवली प्राणायाम और[113] मैं अन्त में 13वें प्राणायाम के रूप में गहरी श्वास-प्राणायाम को जोडता हूँ क्योंकि कोई भी प्राणायाम करने से पहले यह आवश्यक होगा कि हम गहरी श्वास-प्राणायाम के द्वारा फेफडों के अन्दर की गन्दी वायु बाहर निकाल दे। तभी किसी भी प्राणायाम का अभ्यास लाभप्रद होगा।

उपर्युक्त बारहों प्राणायाम के सम्बन्ध में मेरा मत भिन्न है। मेरे मत में प्राणायाम का क्रम ऐसा होना चाहिए जिसे कि कोई भी व्यक्ति कर सके और सभी के हित के लिए वह क्रम लाभदायक हो। अत मेरे विचार से सबसे पहले गहरी श्वास प्राणायाम करना चाहिए फिर कपालभाति प्राणायाम करना चाहिए उसके बाद भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए। ये तीनों प्राणायाम करने से नासिका से लेकर फेफडो तक की गन्दी वायु और गन्दगी निकल जाती है। उसके बाद भ्रामरी प्राणायाम और गुञ्जायी प्राणायाम करना चाहिए। उसके बाद शेष प्राणायाम आवश्यकतानुसार करना चाहिए। अत इसी क्रम में आगे प्राणायामों के प्रकारों एव उनके करने की विधियों तथा लाभों का उल्लेख किया गया है।

अब इस प्रकार प्राणायाम का क्रम निम्न प्रकार है -

1 गहरी श्वास-प्राणायाम
2 कपाल भाति प्राणायाम
3 भस्त्रिका प्राणायाम
4 भ्रामरी प्राणायाम
5 गुञ्जायी प्राणायाम
6 अनुलोम-विलोम प्राणायाम
7 सर्वांग प्राणायाम
8 केवली प्राणायाम
9 सूर्यभेदी प्राणायाम
10 चन्द्र भेदी प्राणायाम
11 सीत्कारी प्राणायाम
12 शीतली प्राणायाम
13 मूर्छा प्राणायाम

सहित सूर्य भेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।।

1 भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भका ।। विश्वगुरू कल्पतरू पृ0 563

14 प्लावनी प्राणायाम

15 उज्जायी प्राणायाम

1 गहरी श्वास प्राणायाम

सर्व प्रथम नाभि के पोछे का भाग सीधा करके किसी भी ध्यानात्मक आसन अर्थात् सुखायन या पद्मासन या वज्रासन आदि में सुविधानुसर बैठ जायें। फिर से दोनों नासिकाओं से गहरी श्वास भरें।श्वास जब अन्दर जाये तो पेट बाहर की ओर आये और और श्वास जब बाहर आये तो पेट अन्दर की ओर जाये। यह क्रम कम से कम 10 बार को। जब श्वास अन्दर जाये और बाहर आये तो यह मानसिक अवधारणा होनी चाहिए कि मेरे अन्दर प्राण वायु का सचार हो रहा है और मेरी स्वास्थ्य दायिनी अखण्ड शक्ति बढ रही है और जब श्वास बाहर जाये तो यह सोंचना चाहिए कि मेरे अन्दर के समस्त विकार शरीर से बाहर निकल रहे है और मैं रोग मुक्त हो रहा हूँ। फिर उसके बाद बायी नासिका को बन्द करके केवल दायी नासिका से ही 10 बार श्वास प्रश्वास लें तथा फिर दायी नासिका को बन्द करके बायी नासिका से 10 बार श्वास प्रश्वास करे । ऐसा करने से अन्दर की गन्दी वायु शरीर से बाहर निकल जाती है और शरीर में ऊर्जा का सचार होने लगता है।

1 **कपाल भाति प्राणायाम**

कपाल भाति रेचक अवस्था में

कपाल भाति, पूरक अवस्था में

किसी भी सुखासन में बैठकर नाभि के पीछे का भाग सीधे करके पहले दायी नासिका से श्वास ले और बायी नासिका से निकालें यह क्रम 10 बार लगातार करें। श्वास जब अन्दर जायें तो पेट बाहर की ओर आये और श्वास जब बाहर आये तो पेट अन्दर की ओर जाये। श्वा बहुत तेजी से लेना चाहिए और तेजी से निकालना चाहिए। इसके बाद यही क्रिया बायी नासिका से श्वास

लेकर दायी नासिका से श्वास बाहर निकाले तेजी के साथ। बाद में दोनों नासिकाओं से 10 बार तेजी से श्वास ले और बाहर निकालें। इस क्रिया को करने से मस्तिष्क एकदम साफ हो जाता हे। स्मरण शक्ति बढती है और ऑखों की रोशनी बढती है। एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि प्राणायाम करने से पहले जलनेति रबर नेति करके नाक को ठीक से साफ करके तब प्राणायाम करना चाहिए जिससे कि अन्दर की समस्त गन्दगी बाहर निकल जाय।

3 भस्त्रिका प्राणायाम

लोहार की धौकनी जिस प्रकार से वेगपूर्वक वायु को अन्दर बाहर करती है। उसी प्रकार इस प्राणायाम में, बिना बन्ध, बिना कुम्भक के जल्दी पूरक व रेचक करते है।

क प्राणायाम की स्थिति में बैठ जाइये और हाथों के सामने की ओर सीधा कर लें। तत्पश्चात् गहरी श्वास भरें और हाथों की मुठ्ठी बाधते हुए हाथों को अन्दर की तरफ पूरी ताकत से बाहर निकाले। यह क्रम तेजी से लयबद्ध होकर 10 बार करें।

ख हाथों को ऊपर की ओर सीधा करें और गहरा पूरक करें तथा हाथों की मुठ्ठी बन्द करके हाथों को वापस कन्धे तक लायें तथा तेजी से रेचक करें। यह क्रिया भी लगभग 10 बार करें।

ग अब हाथो को कन्धे की सीध में 180 डिग्री में सीधा करें और गहरा पूरक करें तथा हाथों की मुठठी को बन्द करके हाथ वापस लायें और तेजी से रेचक करें। यह क्रम भी लयबद्ध होकर कम से कम 10 बार करें। प्रारम्भ में 10 बार करें बाद में धीरे-धीरे पचास-पचास बार तक बढाया जा सकता है।

लाभ जैसे लोहार की धौकनी से सारी गन्दगी जल जाती है उसी प्रकार भस्त्रिका प्राणायाम से शरीर के सम्पूर्ण विकार जल जाते है। कफ विकार जल जाते है। कफ विकार वालों के लिए यह प्राणायाम विशेष लाभदायक है।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 उच्च रक्त चाप, चक्कर या दिल की किसी बीमारी में भस्त्रिका प्राणायाम पूर्णत वर्जित है।
2 भस्त्रिका प्राणायाम करने से पहले जलनेति, रबर नेति, तेल नेति अवश्य कर लेना चाहिए।

3 बल पूर्वक रेचक न करें अन्यथा फेफडों में थकान हो जाती है। हदय शून्य रहने लगता है।

4 भ्रामरी प्राणायाम

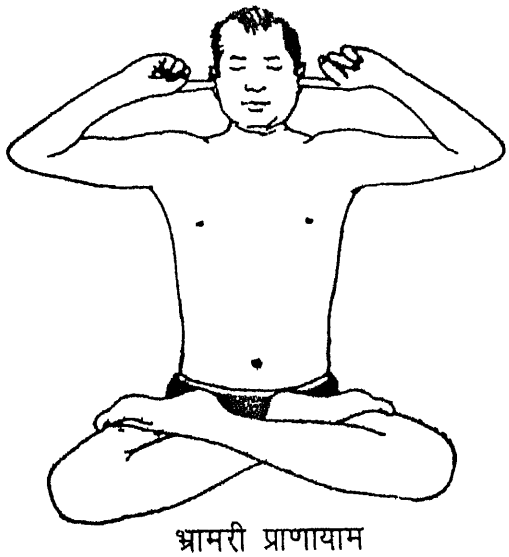

भ्रामरी प्राणायाम

भ्रामरी का अर्थ भौरा होता हे, भौरे के उडने में जिस प्रकार शब्द होता है, उसी तरह प्राणायाम में शब्द होता जाता है। इसलिए इसका नाम भ्रामरी प्राणायाम है।

विधि किसी भी ध्यानात्मक आसन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाइये। दोनों आँखें बन्द कर लें। अब दोनो नासिकाओं के साथ गहरा पूरक ओठ लगभग चिपकाकर तत्पश्चात भोरें की तरह अखण्ड गुञ्जार करते हुए लगातार लम्बा रेचक करें तथा ध्वनि करते समय मस्तिष्क में इसी प्रकार ध्वनि तरगो का अनुभव करना चाहिए । इसे कम से कम पाच बार और अधिक से अधिक बढते-बढते पन्द्रह तक ले जायें।

लाभ योगासाधक यदि क्रमश षटकर्म द्वारा शरीर शोधन करके योगासन व नाडी शोधन प्राणायाम करने के बाद इस प्राणायाम में बराबर शब्द सुनने का अभ्यास करे तो उसे कुछ दिनों में पहले झांगुर , फिर भौरा, फिर पक्षियों के चहचहाने जैसे शब्द सुनायी देने लगते हे। फिर क्रमश घुघरू, शख , घण्टा , ताल भेदी, मृदग नगाडे के सदृश शब्द सुनायी देते है और फिर इस प्रकार उन शब्दों को सुनते हुए 'ऊँ' शब्द का श्रवण होने लगता है। यही नाद योग सिद्धि है जिसमें साधक सदैव परमानन्द में रहता है।रक्त चाप में सुधार होता हे, मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध निराशा में कमी आती है, श्वास व गले के रोग में

कमी करने वाले को कभी पक्षाघात का रोग नहीं होता है और अगर हो गया है तो इसके करने से बहुत लाभ होता है।

5 गुज्जायी प्राणायाम.

सर्वप्रथम किसी ध्यानात्मक आसन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाइये। दोनों हाथों की तर्जनी अगुलियों से दोनों कानों के छिद्रों को अच्छी प्रकार से बन्द कर दे। अब गहरा पूरक करें तथा हल्का कुम्भक करें। तत्पश्चात् अँग्रेज के ' ओ' की आकृति के सदृश मुँह को बनावे और ' ओ ' की आवाज नाभि स्थान से निकालते हुए कण्ठ स्थान से होते हुए गुञ्जायमान करते हुए जितना तेज सम्भव हो सके आवाज निकालते हुए ओठ बन्द करे। जब आवाज निकल रही हो तो मानसिक धारणा यह होनी चाहिए कि मेरे अन्दर के समस्त विकार मेरे मुँह से बाहर निकल रहे है। इस प्राणायाम को करने से गले सम्बन्धी रोग , थायराइड ग्रन्थि से होने वाले रोग और मोटापा को कम करने में विशेष लाभ होता है।

6 उज्जायी प्राणायाम

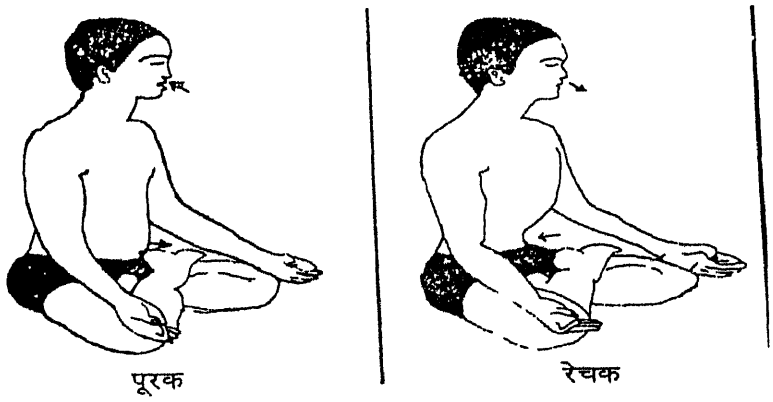

उज्जायी प्राणायाम

ऊपर अकित चित्र के अनुसार बेठ जाइये। मुख को थोडा सा नीचे कण्ठ की ओर झुकाकर दोनों नथुनों से पूरक कर, पूरक करते समय श्वास क्रिया गहरी, धीमी तथा श्वास में छोटे बच्चो के कोमल खर्राटे की भाति आवाज आनी चाहिए ।

इस समय ऐसा लगना चाहिए कि श्वास क्रिया नाक से नही बल्कि गले से हो रही है कुछ देर कुम्भक करने के बाद बायें नथुने से इसी प्रकार कण्ठ से हल्की आवास करते हुए रेचक करें। यह एक बार प्राणायाम हुआ। प्रारम्भ में पॉच बार करना चाहिए। धीरे-धीरे इसका अभ्यास एक घण्टे तक करना चाहिए। लेकिन लम्बे अभ्यास में कुम्भक नहीं करना चाहिए।

लाभ

1 अनिद्रा के रोगी यदि इसका अभ्यास शवासन में बिना कुम्भक के करें तो उन्हें नींद अच्छी आती है।

2 उच्च रक्त चाप के रोगी भी कष्ट के समय , अनिद्रा के रोगी की भाति , इसे करें तो रक्त चाप में कमी होती है।

3 दमा के रोगी भी शक्ति भर थोडा कुम्भक इस क्रिया से विशेष लाभ प्राप्त कर सकते है।

7 अनुलोम-विलोम प्राणायाम

अनुलोम-विलोम प्राणायाम अर्थात् उल्टा और सीधा प्राणायाम को नाडी शोधक प्राणायाम कहते है। सबसे महत्वपूर्ण यही प्राणायाम है क्योंकि इस प्राणायाम के विधिवत् अभ्यास से समस्त नाडियों से प्राणवायु का सचार बिना किसी बाधा के होने लगता है। इस प्राणायाम को करने से पहले गहरी श्वास प्राणायाम , भस्त्रिका , कपाल भाति, भ्रामरी , गुज्जायी आदि प्राणायाम करके ही इसे करने में वास्तविक और ज्यादा लाभ होता है यह मेरी व्यक्तिगत धारणा है क्योंकि उपरोक्त प्राणायामां के द्वारा पहले शरीर के अन्दर की समस्त गन्दी वायु एव गन्दगी निकल जाती है। ऐसा न करने से वही गन्दगी हमारे रकत में आक्सीजन के द्वारा मिल जायेगी और फायदे की जगह नुकसान होगा। यही कारण हे कि प्राणायाम के क्रम में इस प्राणायाम की उच्च अवस्था के अभ्यास के पूर्व योगाभ्यासी के लिए निम्न अवस्थाओं का क्रम से अभ्यास जरूरी है।

प्रथम अवस्था - प्राणायाम की स्थिति अर्थात पद्मासन , सिद्धासन स्वास्तिकासन अथवा किसी भी सुखासन में (केवल महत्वपूर्ण बात यह है कि नाभि के पीछे का भाग सीधा रहे) बैठकर बायें हाथ से घुटनों पर रखे। दाहिने हाथ के अँगूठे से दायी नाक को बन्द कर ल। तर्जनी अँगुली को निम्न चित्रानुसार भ्रू-मध्य अर्थात् दोनों भौहों के बीच रखें।

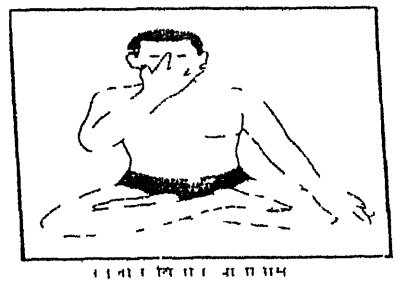

मध्य और उसके बगल वाली अनामिका अँगुलियों का आपस में चिपका लें जिसका उपयोग बायी नाक के छिद्र को बन्द करने में करेगें। अब बायी नासिका से पूरक करें। पूरक के तत्काल बाद उसी से रेचक करें। पूरक और रेचक दोनों में सास की गति बराबर रहेगी।कम से कम पॉच बार पूरक व पाच बार रेचक करें। अब बायी नासिका , बन्द कर दें। दाहिनी को खोल दें। पहले की तरह दाहिनी नासिका से पूरक एव रैचकसमान गति से पॉच-पाँच बार करें। यह बात भी ध्यान रखनी चाहिए कि श्वास प्रश्वास की क्रिया बलपूर्वकन करें तथा साथ ही पूरक एव रेचक के समय किसी प्रकार की श्वास ध्वनि न होने दें।[1]

द्वितीय अवस्था इस अवस्था में दाहिने छिद्र को बन्द करके बायें से पूरक करें फिर बायें छिद्र को बन्द करके बायें से रेचक करें अर्थात पूरक बायें से और रेचक दायें से इस प्रकार इस क्रिया को पॉच बार दोहरायें। इसके बाद बायें छिद्र को बन्द करके दाहिने से पूरक व बायें से रोचक करें अर्थात् पूरक दायें से व रेचक बायें से रोचक करें अर्थात पूरक दायें से व रेचक बायें से इसे भी पॉच बार दोहरायें।

तृतीय अवस्था प्रथम अवस्था की भाति दायें अँगूठे से नाक के दाये छिद्र को बन्द करके और बायें छिद्र से पूरक करें। अब बाये छिद्र को बन्द करके दायें से रेचक करें। दायें से रेचक करने के बाद इसी तरफ से छिद्र से फिर पूरक करें और बायें से रेचक करें। यह एक बार हुआ अर्थात् जिस नाम से श्वास भरें, उससे श्वास न निकालकर दूसरी तरफ से निकाले। अब जिस छिद्र से निकालें उसी से फिर भरकर दूसरी आर से बाहर निकलें। इसी प्रकार इसे पॉच बार दोहरायें।

प्राणायम की स्थिति में पूरक एव रेचक की लम्बाई की गणना बाये हाथ की अँगुली के पोरों से करना चाहिए। जैसे चार की गिनती में पूरक तो चार की गिनती में ही रेचक अर्थात् पूरक और रेचक का अनुपात 1 1 का हेागा। कुछ दिनों के पश्चात् पूरक एव रेचक की अवधि बढा सकते हे। उदाहरण के लिए पॉच की गिनती में रेचक 1 लेकिन अनुपात वहीं 1 1 का रहेगा। गिनती बढाने के लिए गणना की चाल से जल्दी नहीं करता। अच्छी प्रकार से अभ्यास हो जाने के बाद चौथी अवस्था का अभ्यास करें।

चतुर्थ अवस्था नाडी शोधक प्राणायाम की चौथी अवस्था में पूरक और रेचक का अनुपात 1 2 का रखा जाता है अर्थात् चार की गिनती में श्वास का भरना

---

1 प्राणायाम की सही विधि पृष्ठ 48

तो आठ की गिनती में श्वास का बाहर निकालना शेष विधि तीसरी अवस्था की भाति।

महत्वपूर्ण बात यह ध्यान रखना जरूरी है कि नाडी शोधक प्राणायाम की उच्च अवस्था का प्रारम्भ इसी चौथी अवस्था के बाद होता है। इसमें कुम्भक करना होता है। ऐसे योगाभ्यासी को जिन्हें काई विशेष रोग हो उन्हें कुशल योग प्रशिक्षक के निर्देशक के बिना नहीं करना चाहिए अन्यथा हानि की सम्भावना रहती है।

8 सर्वांग प्राणायाम(पाँचवी अवस्था)

चौथी अवस्था के कुछ दिनों बाद प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दाहिने नथुने को बन्द करें और बाय से पूरक करें। पूरक के बाद दोनों नथुनों को बन्द करे लें और कुछ देर श्वास को अन्दर रोकें फिर दाहिने नथुने से रेचक करें। पुन बायें नथुने को बन्दर रखते हुए दाहिन से पूरक करें फिर दोनों नथुनों को बन्द करके श्वास रोककर कुम्भक करें। इसक बाद दाहिने नथुने को बन्द रखते हुए, बाय नथुने से रेचक करें। यह एक बार हुआ।

इस प्राणायाम में पूरक , कुम्भक व रेचक का अनुपात 1 2 2 रखें अर्थात यदि चार की गिनती में श्वास भरे तो आठ की गिनती में श्वास रोकें और आठ की गिनती में ही श्वास को बाहर निकल दें। इसे कम से कम ग्यारह बार और अधिक से अधिक पच्चीस बार करें। कुछ दिनों के बाद पूरक , कुम्भक और रेचक का अनुपात 1 2 2 से बढाकर 1 3 2 और फिर 1 3 2 से बढाकर 1 4 2 तक ले जाये।

छठी अवस्था कुम्भक एव शून्यक के साथ

पाचवी अवस्था के कुछ दिन अभ्यास के बाद छठी अवस्था का अभ्यास करना चाहिए। इसमें बायें नथुने से पूरक कीजिए , पूरक करने के बाद कुम्भक करें , फिर कुम्भक के बाद दाहिने नथुने से रेचक करें। रेचक करने के बाद शून्यक अर्थात् श्वास को बाहर रोकें। अब दाहिने नथुने से पूरक कीजिए। पूरक कर लेने के बाद कुम्भक करें। फिर बायें नथुने से रेचक करें। रेचक के बाद शून्यक करे। यह एक बार हुआ। एक बार में कम से कम पॉच बार और अधिक से अधिक ग्यारह बार से ज्यादा न करे। पूरक, कुम्भक रेचक एव शून्यक का अनुपात 1 4 2 1 से प्रारम्भ करें अर्थात चार की गिनती में पूरक तो सोलह की गिनती में कुम्भक, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किसी रोग से पीडित रोगी भूलकर भी इस छठी अवस्था का अभ्यास न करें एव बिना षट्कर्म द्वारा शरीर को विकार रहित, किये कोई भी योगाभ्यासी पॉचवी व छठवी अवस्थाओं का अभ्यास न करें।

9 सूर्यभेदी प्राणायाम

प्राणायाम की स्थिति अर्थात् नाभि के पीछे का भाग सीधा करके किसी भी धयानात्मक आसन में बैठ जाइये। बायी नासिका को बन्द कर लें और दाहिने के खुला रहने दें। अब मूलबन्ध लगाकर आरामदायक स्थिति तक कुम्भक कीजिए। तत्पश्चात् पहले मूलबन्ध फिर जालन्धर बन्ध खोलकर दायें नासिका बन्द कर लीजिए और बायी नासिका को खोल
दीजिए। उड्डियान बन्ध लगाते हुए बायी नासिका से श्वास बाहर निकाल दीजिए। एक यह बार हुआ। प्रारम्भ में कम से कम पॉच बार से शुरू करें और अधिक से अधिक दस बार तक ले जायें। पूरक, कुम्भक ओर रेचक का अनुपात 1 1 2 अर्थात् चार की गिनती में पूरक, चार की गिनती तक कुम्भक व आठ की गिनती में रेचक करें। फिर अनुपात 1.2 2 कुछ दिनों के उपरान्त 1 3 2 तत्पश्चात 1 4 2 कर दें। अर्थात चार की गिनती में पूरक सोलह की गिनती में कुम्भक, आठ की गिनती में रेचक , इसमें यह ध्यान रखना चाहिए। कि दस प्राणायाम में केवल सूर्य स्वर अर्थात् दायें स्वर से ही पूरक और चन्द्र स्वर अर्थात बायें स्वर से रेचक किया जाता है।

लाभ :

1 भोजन के समय एव भोजन के उपरान्त दाहिना स्वर चलने से पाचन सही और जल्दी होता है। इसलिए समझदार लाग दाहिने स्वर के चलने पर भोजन करते है। यदि उन्हें भूख है और दाहिना स्वर बन्द है अर्थात् बाया स्वर चल रहा है तो इस सूर्यभेदी प्राणायाम से अपना दाया स्वर चलाकर भोजन करते है।
2 वायु विकार और कफ से उत्पन्न होने वाले रोग रक्त, दोष, स्वप्न दोष, उदर कृमि आदि नष्ट होते है। जठराग्नि बढती है ओर पाचन क्रिया ठीक से होती है।
3 यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता तथा पित्त की वृद्धि होती है। इसलिए गर्मी के दिनों में तथा पित्त प्रधान प्रकृति वाले लोगो के लिए हानिकारक हो सकता है।

10 चन्द्रभेदी प्राणायाम

चन्द्रभेदी प्राणायाम में सूर्यभेदी प्राणायाम से बिल्कुल उल्टा अर्थात चन्द्र स्वर बायी ओर से पूरक और सूर्य स्वर दायी ओर से रेचक करते है अर्थात चन्द्र भेदी प्राणायाम में सूर्य स्वर से पूरक और चन्द्र स्वर से रेचक नहीं करते है। चन्द्रभेदी प्राणायाम करने से थकावट व उष्णता दूर हो जाती है। यह शरीर को शीतलता प्रदान करता है।

11 सीत्कारी प्राणायाम :-

सीत्कारी प्राणायाम भी चन्द्रभेदी प्राणायाम की तरह शीतलता प्रदान करने वाला प्राणायाम है। इसीलिए इसका नाम सीत्कारी प्राणायाम रखा गया है।

प्राणायाम की स्थिति में बेठकर जीभ को होठों को थोडा बाहर कर निकाल कर दातो से उसे हल्का सा दबा दीजिए। अब सी-सी की आवाज उत्पन्न करते हुए बाहर की वायु को जोर से जीभ और दात के मिलाने में रह जाने वाले बीच के स्थान अर्थात् दोनो ओर के किनारों से खीचें। तत्पश्चात यथा शक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। अर्थात मुख से श्वास खीचें और नाक से बाहर निकालें। यह एक बार हुआ।

महत्वपूर्ण तथ्य

क प्रारम्भ में इसे केवल पॉच बार करना चाहिए ।

ख इसे सर्दियों में नही करना चाहिए कवल गर्मियों में ही करना चाहिए ।

ग इसमें यथाशक्ति कुम्भक आवश्यक नहीं है और आशिक कुम्भक में जालन्धर बन्ध भी लगा लें तो कोई हानि नहीं है।

घ इस प्राणायाम में पूरक करत समय मुख के सामने थोडी दूर पर हथेली लगा लें। हथेली का मुख की ओर रखें। ऐसा इसलिए करते है कि वायु के साथ उड रहे धूल के कण, छोटे-छोटे कीडे-मकोडे यथा सम्भव अन्दर जाने से रोका जा सके।

लाभ अजीर्ण, पित्त से उत्पन्न होने वाले रोग, रक्त पित्त , रक्त विकार, पेचिश अम्ल, पित्त प्लीहा तृष्णा आदि के रोगों में विशेष लाभदायक है। निरन्तर अभ्यास के बाद बालों का सफेद होना कम होने लगता है।

12 शीतली प्राणायाम

नीचे अकित चित्र के अनुसार प्राणायाम की स्थिति में बैठ जायें और

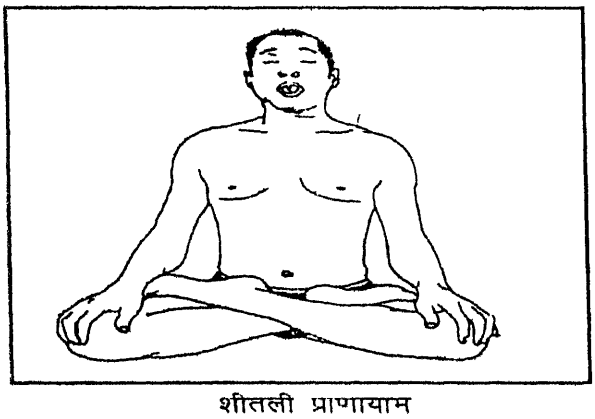

शीतली प्राणायाम

मुँह खोलकर कर ओठों को ' ओ ' की आकृति के समान बना लीजिए। अब जीभ को दोनों ओठों से बाहर पक्षी की चोच की तरह निकालकर जिहा के ही माध्यम से बाहर की वायु को धीरे-धीरे पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद दोनों

नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। शीतली प्राणायाम के लाभ व सावधानियॉ सीत्कारी प्राणायाम की तरह है।

13 मूर्छा प्राणायाम

इस प्राणायाम के अभ्यास से मन में मूर्छा व चित्त में एकाग्रता आती हे।

इसलिए इस प्राणायाम का नाम मूर्छा प्राणायाम है। निम्न चित्र के अनुसार -

मूर्छा प्राणायाम

नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाये।दोनों होथो के अँगूठे अपनी-अपनी ओर के कान पर तर्जनी, अँगुली से अपनी अपनी ओर से ऊपर वाले ओठ को तथा कनिष्ठका अँगुली से अपनी-अपनी ओर के नीचे के ओठ को बन्द कर लें। अब नासिकाओं से अँगुलियों का ढीला करके दोनों नाक से गहरा पूरक करें। जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् जालनधर बन्ध बिना खोले धीरे-धीरे दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। यह एक बार हुआ। चित्त की एकाग्रता से एिल यह प्राणायाम अत्यन्त उपयोगी हैं निरन्तर अभ्यास से साधक ध्यान और समाधि की ओर अग्रसर होता हैं तथा इसके अभ्यास से साधक को पच तत्वों के पॉच रगों का ज्ञान भी होता है। इसको उच्च रक्त चाप, चक्कर या मस्तिष्क खिचाव से पीडित रोगी इसे भूलकर भी न करें।

14 प्लावनी प्राणायाम

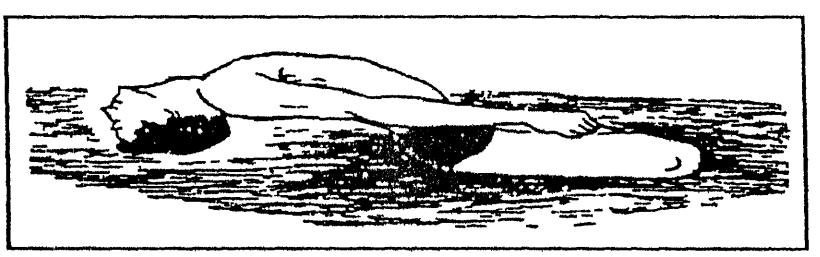

प्लावनी प्राणायाम

उपर्युक्त युक्त चित्र के अनुसार 'पद्मासन ' लगाकर फिर हाथों को छोडकर पल्थी जैसो स्थिति रखते हुए चित्त लेट जाइये। अब दोनों हाथ सिर के ऊपर

से लेकर बायें हाथ से दाहिनी भुजा को व बायें हाथ से बायी भुजा को पकडें। इस प्रकार से मत्स्यासन करके पूरक से पेट में भरपूर वायु भर ले और कुम्भक करें। कुम्भक करते हुए ऐसी कल्पना करें कि सारे शरीर की वायु पेट में एकत्र हो गयी है और शेष शरीर रूई की तरह हल्का हो रहा हे। यथा शक्ति कुम्भक के पश्चात दोनों पासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। यह एक बार हुआ। इसे भी पॉच बार से प्रारम्भ करें, धीरे-धीरे बढाएँ।

लाभ प्राण वायु पर पूर्ण अधिकार, पेट के सब प्रकार के रोग, अपान वायु की शुद्धि ,जठराग्नि की वृद्धि वीर्य एव रक्त की शुद्धि होती है। इसको करने से शरीर बहुत हल्का हो जाता है। शरीर का भारीपन समाप्त हो जाता है।

15 केवली प्राणायाम

केवली प्राणायाम एक प्रकार का सहज कुम्भक प्राणायाम है अर्थात जैसे सर्वांग प्राणायाम (पूरक, कुम्भक, रेचक एव शून्यक सहित) में कुम्भक के पूर्व पूरक एव पश्चात् रेचक किया जाता है। वैसा केवली प्राणायाम में नही करते बल्कि केवली प्राणायाम में श्वास को यथा शक्ति रोक लेते है और चक्कर , घबराहट , बेचैनी होने के पहले ही छोड देते है। इस प्राणायाम में यह आवश्यक नहीं है कि श्वास जाते समय रोकें या श्वास को निकालते समय रोकें, अर्थात प्राकृतिक स्थिति में श्वास लेते तथा छोडते समय कभी भी रोक सकते है।

लाभ मन की चचलता दूर करने के लिए , स्थिरता तथा स्मरण शक्ति बढाने के लिए यह प्राणायाम अत्यन्त लाभकारी हे।

अभी तक अलग-अलग प्राणायामों के करने के साथ ही उनके लाभों का वर्णन भी किया जाता है। परन्तु यहॉ पर कुछ सामान्य लाभ भी बताना आवश्यक है जो निम्न प्रकार से है।

1 प्राणायाम से फेफडों की शक्ति बढती है फलस्वरूप प्राणायाम अभ्यासी के फेफडों में व श्वास नली में कफ जमने का प्रश्न ही नही उठता यदि जमा होगा तो निकल जाता है और जब कफ ही नही रूकेगा तो जुकाम, खासी , दमा व टी0 वी0 जैसे रोग कभी नहीं हो सकते है।

2 प्राणायाम करने से रक्त शुद्ध होता है।इसीलिए प्राणायाम अभ्यासी को रक्त शोधक औषधियों को खाने की कभी जरूरत नही पडती क्योंकि रक्त शुद्ध होने से खुजली , सूजन , सुर्खी , कुष्ठ जलन आदि रोग नहीं होते है।

3 बाल्यावस्था में प्राणायाम करने से छाती विशाल होती है और पेट भी नहीं निकलने पाता है।

4 प्राणायाम करने से जठराग्नि तीव्र हाती है जिससे प्राणायाम अभ्यासी को अपच एव अजीर्ण के कप्ट नही होते। इसके नियमित अभ्यास से वही व्यक्ति जो साधारण सादा भोजन भी नहीं पचा पाता गरिष्ठ भोजन भी हजम करने की सामर्थ्य आ जाती है।

5 शरीर का बल बढता है साथ ही मानसिक एव आत्मिक बल भा बढता है। स्वच्छ शुद्ध वायु से प्राय एव सूर्यास्त के समय विधि विधान से प्राणायाम करने से मन में उत्साह इतना बढता है कि उसके बराबर कोई उत्साह वर्धक औषधि नहीं है।

6 शरीर के किसी भाग में बीमारी होने पर मन को प्रेरणा और प्रबल इच्छा द्वारा प्राणायाम की प्राण शक्ति को उस रूग्ण स्थान पर पहुॅचाने पर बीमारी शीघ्र दूर हो जाती है।

7 प्राणायाम से प्राणों का सयम होता हे फलारवरूप मन और चित्त वश में आने लगते है। मन और चित्त के वश में होने से शरीर की समस्त इन्द्रिया एव अवयव भी वश में हो जाते है।इन्द्रियों एव मन के वश में आने पर प्राणायाम अभ्यासी को ध्यान में बैठने की प्रबल इच्छा होने लगती है।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 प्राणायाम आसन करने के बाद अथवा ध्यान करने स पहले करना चाहिए।

2 प्राणायाम के समय शरीर अधिक से अधिक शिथिल करके रखना चाहिए।

3 शरीर पर तग व कसे हुए वस्त्र न होकर सूती ढीले वस्त्र पहनने चाहिए।

4 प्राणायाम अभ्यासी को प्राकृतिक चिकित्सा की भॉति लम्बे उपवास करना एव बहुत कम तथा रूखा भोजन नहीं करना चाहिए। यह हानिकारक होता है।

5 प्राणायाम से पहले स्नान करना श्रेप्ठ हे जो प्राणायाम के पूर्व किसी कारण स्नान नहीं कर सकते वे लोग कम से कम पन्द्रह मिनट से आधे घण्टे का अन्तर रखें।

6 प्रात पेट खुलकर साफ न हुआ हो तो वस्ति, गणेश क्रिया अथला लघु शखप्रक्षालन के द्वारा पेट साफ कर ले। कब्ज की दशा में प्राणायाम हानिकारक हो सकता हैं।

7 प्राणायाम के तुरन्त पहले पानी नहीं पीना चाहिए , प्यास हो तो आधा पाव से एक पाव तक पानी पिया जा सकता हे।

8 बुखार में प्राणायाम भूलकर भी न करे।

9 प्राणायाम की उच्च साधना करने वालो को प्राणायाम करने के बाद दूध पीना चाहिए या घी,मक्खन से बनी चीजें खायें तो उत्तम हे।

10 प्राणायाम अभ्यासी को श्वास लेने व छोडने में किसी भी प्रकार की ध्वनि नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।

11 किसी भी प्रकार के कठिन रोगी को योग्य योग चिकित्सक से पूछे बिना प्राणायाम करना पूर्णत वर्जित है।

12 टट्टी व पेशाब की आदत को कभी न रोके अर्थात् प्राणायाम करत समय यदि इनकी हाजत की अनुभव हो तो पहले पट्टी पेशाब से निवृत्त होना अति आवश्यक है।

12 06 2003

तप पूत तथा प्रज्ञाचक्षु ऋषि महार्षियों ने सस्कृत वाड्गमय की उस विद्या को दर्शन सज्ञा प्रदान की जिसका विपय था 'परम तत्व ' अथवा परमार्थ। दृश दर्शने धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने मे निप्पन्न ' दर्शन शब्द का अर्थ होता है ' देखने का साधन ' अत दर्शन शब्द का अर्थ हुआ देखने का साधनभूत चक्षुरूप ज्ञानेन्द्रिय। लोक में चक्षु (दर्शन) नामक ज्ञानेन्द्रिय का विषय सम्पूर्ण दृश्यमान जगत है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण दृश्यमान जगत का प्रत्यक्ष ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे 'दर्शन कहेंगे। इसी तरह जिस शास्त्र का विषय है।' परम तत्व ' या 'परमार्थ ' अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा परम तत्व का दर्शन अथवा ज्ञान कराया जाये उसे भी दर्शन कहेंगें। अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहते है या पाचों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में दर्शनेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वाधिक प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक जान पडता है। सम्भवत इसलिए परमतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाले शास्त्र का नाम दर्शन शास्त्र ही रखा गया है।

भारतीय दर्शन को दो भागो मे विभक्त किया गयाा 1 नास्तिक दर्शन 2 अस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन उनको कहा गया हे। जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानते । इसके अन्तर्ग चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते है। इनके विपरीत आस्तिक दर्शन वे है जो वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखते है। इनके अन्तर्गत न्याय आदि छ दर्शन आते हे जो इस प्रकार है।

1 न्याय दर्शन
2 वैशेषिक दर्शन
3 पूर्व मीसासा दर्शन
4. साख्य दर्शन
5 योग दर्शन
6 वेदान्त दर्शन (उत्तर मीसासा)

उक्त समस्त भारतीय दर्शनों का चरमलक्ष्य है प्राणियों को त्रिविध दु.खों से सदा के लिए छुटकारा दिलाना। दु खों की यह इस शाश्वतिक निवृत्ति को अलग-अलग

दर्शनों में मुक्ति मोक्ष, कैवल्प, अपवर्ग, नि श्रेयस , निर्वाण और परमपद इत्यादि पदों से अभिहित किया गया है।

उपर्युक्त षड्दर्शनों की परम्परा में योग दर्शन अन्यतम हैं। भारतीय दर्शनों में योग दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाभारत में श्री शुक्रदेव जी ने उचित ही कहा है कि '' न तु योगमृते प्राप्तु शक्या सा परमा गति।'' तत्व साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार के लिए योग साधना की आवश्यकता प्राय सभी दर्शनों तथा भारतीय धार्मिक सम्प्रदायां ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। वैदिक एव अवैदिक (जैन तथा बौद्ध) दर्शना में योग की उपादेयता निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। सहिता , आरण्यक ओर उपनिषद के योग की महनीयता का वर्णन उपलब्ध होता है।'

किन्तु योग दर्शन का व्यवस्थित रूप में विवेचन पजञ्जलि विरचित योग सूत्र में ही उपलब्ध होता है। इसीलिए योगदर्शन का दूसरा नाम पातञ्जल योग दर्शन भी है जिसमें पातञ्जल शब्द का अर्थ है। महर्षि पतञ्जलि से सम्बद्ध । यहा यह उल्लेखनीय है कि महर्षि पजञ्जलि ने योगदर्शन को सुव्यवस्थित दार्शनिक रूप अवश्य दिया है किन्तु ये योगदर्शन के आदि प्रवर्तक नहीं है। योगियाज्ञवल्क्य में हिरण्यगर्भ को योग दर्शन का प्रथम वक्ता या उपदेष्टा स्वीकार किया गया है। पतञ्जलि ने स्वय इस बात का सकेत प्रथम योग सूत्र ' अथयोगानुशासनम् ' में प्रयुक्त अनुशासन शब्द द्वारा किया है। ' अनुशासन ' और ' शास्त्रशब्द पर्यायवाची है। फिर भी बहुप्रचलित 'शास्त्र ' शब्द का प्रयोग न करके महर्षि पजञ्जलि ने अनुशासन शब्द को जो प्रयोग किया है उसका प्रयोजन यह है कि वे अनुशासन शब्द की इस व्यजना से 'शिष्टस्य शासनम् इत्यनुशासनम् ' अर्थात पहले से सिखाये गये विषय को सिखाने वाला शास्त्र अनुशासन है। यह प्रकट करना

चाहते है कि वे योग शास्त्र के आदिवक्ता नही है। तो प्रश्न उठता है कि योगशास्त्र का आदि वक्ता कौन है ?

योगियाज्ञावल्क्य स्मृति से ज्ञात होता है कि योगशास्त्र के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ है। योगसूत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय तक योग के अनेक सिद्धान्त विद्वतजनों के बीच प्रचलित थे। योग सबधी पूर्ववर्ती ग्रन्थो का यद्यपि पजञ्जलि ने न तो कही उल्लेख किया है और न ही किसी प्राचीन योगाचार्य का कहीं पर नाम लिया है। फिर भी अधिकाश प्रतिपाद्य विषयों को तर्को और प्रमाणों से सिद्ध करने का उनका प्रयास इस बात का प्रमाण है कि उन विषयों और सज्ञाओं का सामान्य बोध विद्वानों को पहले से रहा होगा । इन बातों से योगशास्त्र के आदि उपदेप्टा हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि ठहरते है।

उपनिषद और महाभारत में स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया गया है कि यह हिरण्यगर्भ आदि विद्वान परमर्षि कपिल से अभिन्न थे

1 कपिलोऽग्रज इतिपुराणवचनात कपिलोहिरण्यगर्मो वा व्यपदिश्यते-श्वे0 उप0 शाकरभाष्य

2 " कपिलोनाम विष्णोरवतार विशेप प्रसिद्ध
स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तरयापि शाख्ययोगप्राप्तिवेर्द श्रूयते सएवेश्वर आदि विद्वान कपिलो विष्णु· स्वयम्भूरिति भाव· ।" त0 वै0 1,25

3 विद्यासहायवन्तभादित्यस्थ समाहितम्।
कपिल प्राहुरार्चो साख्यनिश्चितनिश्चिता ।।

---

2 क " यस्मादृत न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीना यागमिन्वति ।। " ऋक्सहिता प्रथम मण्डल सूक्त 18 मन्त्र 7

ख " योग याग तवस्तर वाजे वाजे हवामह ।
सखाय इन्द्रमूर्तय ।। " ऋक्सहिता 1307 शुक्ल यजु0 114
साममव सहिता उत्तरार्चिक 12,111 पूर्वाचिक 1279
अर्थवेदसहिता 20,26 1

ग " युक्तेन मनसा वय दवस्य सवितु सव ।" यजुर्वेदसहिता 11,2

घ " अध्यात्मयोगेधिगमेन दव मत्वा धीरा हर्पशाकौजहाति" काठकोपनिषद् 1,2,21

ड " योगप्रवृत्ति प्रथमा वदन्ति ।" श्वेता उप 2,13

च ' न तस्य रोगा न जरा न मृत्यू प्राप्तस्य यागग्निमय शरीरम । " श्वेता उप 2,12

हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुस्तुत ।
सोउह योगरिर्तिब्रहान्। योगशारत्रेपु शब्दित ।। महा0 11/339/68-69

उल्लेखनीय है कि इन्ही महर्षि कपिल न सर्वप्रथम साख्ययोग का उपदेश किया था। साख्य तथा येाग एक ही दर्शन के सेद्धान्तिक तथा क्रियात्मक पहलू थे। दोनों पृथक दर्शन नहीं थे। गीता में साख्या और याग की एकता सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गयी है -

'' साख्य योगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता ।

एकमप्यास्थित सम्युगुभयोर्विन्देते फलम् ।। श्रीमद्भगवद्गीता ।5।4।
यत्साख्यै प्राप्यने स्थान तद्योगैरपि गम्यते।
एक साख्य च योग च य पश्यपि स पश्यति। । श्रीमद्भगवद्गीता ।5।5।

श्रीमद्भागवतपुराण में महर्षि कपिल को साख्योपदेष्टा तथा सिद्धेश कहा गया है।

'' पचमों कपिलो नाम सिद्धेश कालविप्लुतम्।
प्रोवाचारसुरये राख्य तत्वग्रामविनिश्चयम्। '' श्रीमद्भागवतपुराण 1,3,11

सिद्धेश का, अर्थ है योगिश्रेष्ठ अत स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार भी महर्षि कपिल साख्य आर योग दोनो के प्रवर्तक थे। महाभारत में तो स्पष्ट कहा गया है-

'' कपिल परमर्षि च य प्राहुर्यतय सदा।
अग्नि स कपिलो नाम साख्ययोग प्रवर्तक । '' 11/3/65

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हे कि कपिल अथवा हिरण्यगर्भ वैदिक काल क ऋषि थे क्योंकि सहिताओं तक में जिस योग की प्रशसा की गयी है उसके आदि उपदेष्टा कपिल है। '' हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन '' पक्ति भी इनसे पर्ववर्ती किसी अन्य योगशास्त्र व्याख्याता का स्पष्ट निषेध कहती है। कपिल नथा पजज्जलि के बीच कतिपय यागाचार्यो के केवल नाममात्र मिलते है, उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती।

---

3 ''नुहिरण्यगर्भो यागस्य वक्ता नान्य पुरातन '' इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृते कथ पतञ्जलेयोगशास्त्र वक्तृत्वमित्याशडक्य सूत्रकोरेणीक्तम् अनुशासनमिति शिष्टस्य शासनमनुशासनमित्यर्थ।'' तत्व वेशारदी पृष्ठ 6

4 क महाभारत 11,349,65

ख मनुस्मृति 1,88-89 ग भामती 2,1,3

3 The conclusion would be then that the Patanjali's were written at some time in the fourth or fifth century of ourera" Intioduction of Yoga system of Patanjali P XIV

4 योगसूत्र भाष्य सिद्धि पृष्ठ 12/13 लखक पा0 सुरश चन्द्र श्रावास्तव

पतञ्जलि का समय पाश्चात्य विद्वान जे एच बुडस महर्षि पजञ्जलि का जीवनकाल 300 ई-400 ई0 के मध्य मानते है?, प्रो0 जैकोबी तथा प्रो0 कीथ भी योगसूत्रकार पजञ्जलि को महाभाष्यकार पजञ्जलि से भिन्न मानते हुए योगसूत्रकार पतञ्जलि की स्थिति तीसरी और चौथी शताब्दी में[2]

मानते है। अपने मत की पुष्टि मे उन्होनें कुछ तक्र दिये जिनको प्रो0 श्रीवास्तव ने अपने योगसूत्रभाष्य सिद्धि में उल्लिखित किया है। अत वे वहीं दृष्टव्य है।

दूसरी ओर डा0 एस0 एन दास गुप्त श्री ज्वाला प्रसाद, रिचर्ड गार्वे महोदय आदि विद्वान उपर्युक्त मतों का खण्डन करते हुये एक प्राचीन भारतीय परम्परा के आधार पर योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पजञ्जलि को एक ही व्यक्ति मानते है। ऐसा मान लेने पर योग सूत्रकार का काल निश्चित करना सुकर हो जाता है क्योंकि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्ग वशीय राजा पुष्यमित्र के समसामयिक थे। दोनों पतञ्जलियों की एकता प्रतिपादित करने वाली जिस प्राचीन परम्परा का सहारा डॉ0 दास गुप्त इत्यादि ने लिया है। वह परम्परा यह है -छठी शताब्दी ई0 के वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ के ब्रहाकाण्ड में अधोलिखित श्लोक आया हुआ है।

कायावाग्बुद्धि विषया येमला समुस्थित ।
चिकित्सा लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषा विशुद्धय ।। 1।146।

जिसका अर्थ है कि शरीर, वाणी और बुद्धि विषयक जो मत है उनकी विशुद्धि चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और अध्यात्मक शास्त्र के द्वारा होती है। वाक्यपदीय के टीकाकर पुष्पराज की ऐसी धारणा हे कि उक्त श्लोक में पतञ्जलि की प्रशसा की गयी है। जिन्होनें इस त्रिविध मतों के शोधन के लिए 'चरक सहिता ' ' महाभाष्य ' और योग सूत्र' की रचना की है। पुष्यराज की इस धारणा का आधार उक्त श्लोक पर स्वय भर्तृहरि की ही अधोलिखित व्याख्या है।

'' यथैव हि शरीरे दोषशक्ति रत्रौपधादिषु च दोषप्रतीकारसामथर्य
दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्ध, रागदीश्च बुद्धेरूपप्लवानवगम्य
तदुपघातहेतु ज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि,
तथेदमपि साधूना वच सस्काराणा ज्ञापनार्थमपभ्रशाना चोपधाताना
त्यागर्थ लक्षणमारब्धम्।''

इस व्याख्या में प्रत्येक शास्त्र के कर्ता के अलग-अलग उल्लेख न होने से यही धारणा बनती है कि भर्तृहरि एक ही व्यक्ति को इन तीनों शास्त्रों का कर्ता मानते थे।

योगसूत्रों पर ' राजमार्तण्डवृत्ति' की रचना करने वाले भोजराज (11बी शताब्दी ई0) ने इस वृत्ति के मगलाचरण में स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ही बैद्यक शास्त्र(चरक सहिता) ओर योगसूत्रों के भी रचयिता थे।

शब्दानामनुशासन विद्धता पातञ्जले कुर्वत
वृत्तिराजमृगाङ्कसज्ञकमपि व्यातन्वता वेद्यके।
वाक्येतोवपुषा मल फणभृता भत्रेंव येनोद्धतस्।
तस्य श्री रणारङ्गमल्लनृपयेतर्वाचो नयन्त्युज्ज्वला ।।

उक्त श्लोकों का अर्थ है कि जिम प्रकार से सर्पो के राजा (शेषनाग के अवतार पजञ्जलि) ने शब्दानुशासन (महाभाष्य), योगसूत्र तथा वैद्याकशास्त्र की रचना करते हुए वाणी, चित्त तथा शरीर के मलों के शोधन किया था उसी प्रकार जिस रणरङ्गमल्ल राजा (भोज) ने व्याकरणशारत्र, पातञ्ज्ल-योगशास्त्र तथा वैद्यकशास्त्र राजमृगाङ्क नाम वृत्ति की रचना करते हुए उक्त तीनों प्रकार के मलों (दोषो) को दूर कर दिया है उनके उज्जवल वचन सर्वातिशायी है।

स्पष्ट है कि राजा भोज को महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि की अभिन्नता में कोई सन्देह नहीं है।

चरक सहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त (11 वी शताब्दी ई0) पतञ्जलि को इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता रूप में प्रमाण करते हे -

पाजञ्जलमहाभाष्यचरक प्रतिसस्कृतै ।
मनोवाक्कायदोषाणा हन्त्रेऽहिपतये नम ।।

वैयाकरणनागेश (16 वी शताब्दी ई0) अपने ग्रन्थ ' वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा ' में पतञ्जलि को उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता मानत है।

क '' तदुवक्त चरके पतञ्जलिना । सेन्द्रिय चेतन द्रव्य निरिन्द्रियमचतनम्।''
ख '' आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुत्वस्य कात्स्न्र्येन निश्चयवान्

' रागदिवशादपि नान्यथावादी य स इति चरके पतञ्जलि ''।
(वैययाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृ0 12)
ग योगसूत्रे पतञ्जल्युक्ते ' महाभाष्य पस्पशा उद्योत पृ0 58

रामभद्र दीक्षित (18 वी शताब्दी ई0) स्वरचित 'पतञ्जलिचरित ' में पजञ्जलि की वन्दना इस रूप में करते है -

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वेद्यकेन।
योऽपाकरोत्त प्रवर मुनीना पतञ्जलि प्राञ्जतिरानतोऽस्मि।।

प्राचीन शैली से पठन पाठन की परम्परा का अनुसरण करने वाली सस्थाओं में आज भी महाभाष्य का पाठ आरम्भ करने से पूर्व अधोलिखित मगलपाठ किया जाता है -

वाक्यकार वररूचि भाष्यकार पतञ्जलिम्।
पाणिनीं सूत्रकार च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम्।।
योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वेद्यकेन।
योऽपाकरोत प्रवर मुनीना पतञ्जलि प्राञ्जतिरानतोअस्मि।।

कहावत हे कि जनश्रुति निराधार नही हुआ करती " न ह्यमूला जनश्रुति " इसलिए ठोस बाधक प्रमाणों के अभाव में उक्त परम्परा की प्रमाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आधुनिक विद्वान डॉ0 एस0 एन दासगुप्ता तो जोरदार शब्दों में यह कहते है कि महाभाष्य के पर्यवेक्षण के पश्चात् उन्हें कोई भी ऐसा तथ्य या सकेत नहीं मिला जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि दोनों पतञ्जलि अभिन्न नही थे।

दोनों ग्रन्था के अन्त साक्ष्य से भी डॉ0 दासगुप्ता के उपर्युक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। महाभाष्य 4।1।3 में , गुणसिद्धान्त, 1।2।64 में सत्कार्यवाद 2।2।5 में कालविषयक सिद्धान्त तथा 3।10-11 में बुद्धिपरिणाम के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अश दर्शनीय हे।

दोनो ग्रन्थों के आरम्भ करने की शेली में भी अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है। महाभाष्य का आरम्भ ' अथ शब्दानुशासनम्' वाक्य 1।1।1 से होता है तो येागसूत्र का आरम्भ अथ शब्दानुशासनम् 1/1 सूत्र से किया जाता है। चॅकि ग्रन्थो का आरम्भ अथ शब्द से किया ही जाता है। इसलिए उक्त स्थलों में अथ शब्द का साम्य उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अनुशासनम् शब्द का साम्य । ऐसा लगता है कि योगसूत्रों के व्याख्याता भाष्यकार व्यास भी दोनों की अभिन्नता के समर्थक है क्योंकि अथ योगानुशासनम् में अथ शब्द की व्यासकृत व्याख्या महाभाष्यकारकृत ' अथ' शब्द की व्याख्या के वजन पर ही की गयी प्रतीत होती है। महाभाष्यकार कहते है- " अथेत्यय शब्दोऽधिकारर्थ प्रयुज्यते। शब्दानुशासन शास्त्रमीधकृत वेदितव्यम्।" महाभाष्कार कहते हैं - " अथेत्ययमधिकारार्थ योगानुशासन शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम्।" योगभाष्य पृ0 6

महाभाष्यकार पतज्जलि को शेपनाग का अवतार माना जाता है। इस सबध में किवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बार वे अपने शिष्यों के बीच पाणिनीय

सूत्रों पर प्रवचन कर रहे थे। स्वय पर्दे के पीछे बैठकर प्रवचन कर रहे थे और शिष्यों को आदेश दे रखा था कि वे पर्दे के पीछे नहीं देखगें। उत्सुकता और चपलता के वशीभूत एक छात्र ने पर्दा उठा दिया। आचार्य एक हजार मुखों से प्रवचन कर रहे थे। पर्दो उठने से सारे शिष्य भस्म हो गये । एक शिष्य जो लघुशका हेतु बिना आज्ञा चला गया था वही बचा रहा गया। आज्ञा के बिना ही जाने के कारण उसे दैत्य होने का शाप मिला। अन्त में उसके ऊपर दयालु होकर आचार्य ने उससे कहा कि तुम अमुक बरगद के पेड पर रहोगें। उधर से गुजरने वालों से तुम प्रश्न करोगे - ' पचे निप्ठाया कि रूपम्।'' जो भी सही उत्तर देगा उसे पाणिनीय सूत्रो का ज्ञान करा कर तुम शाप मुक्त हो जाओगें।'' वह शिष्य वैसा ही करता रहा किन्तु हर व्यक्ति का उत्तर होता था- 'पक्तम्' । अन्त में किसी व्यक्ति ने उसके प्रश्न का उत्तर 'पक्वम्' दिया । तब आचार्य के आदेशानुसार उसे बटपत्र पर लिख लिख कर पाणिनीय सूत्रों का ज्ञान कराकर वह शिष्य शाप-मुक्त हुआ।

योगसूत्रकार पतञ्जलि को भी प्राय सभी आचार्यो ने स्थल स्थल पर शेषावतार, फणिपति, अनन्त आदि कहा हे। मल्लिनाथ (13वीं शताब्दी ई0) ने भी अपने प्रसिद्ध श्लोक वाणी काणभुजी मजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्। अन्तस्तन्त्रमरस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्।'' में यागशास्त्र को पन्नगवीगुम्फ कहा है। पजञ्जलि नाम के व्यक्ति तेा अनेक हो सकते है किन्तु शेषवतार रूप में प्रसिद्ध पतञ्जलि के अनेक होने की सम्भावना कम ही बनती है। इस प्रकार दोनों पतञ्जलियों के सबध में शेषावतार से सबधित उक्त धारणा भी दोनों की अभिन्नता की ही परिचायक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में आ जाते है कि देानों ही पतञ्जलि -महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि एक तथा अभिन्न थे । महाभाष्य के पुप्ट अन्त साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकार इस सबध में एकमत है। कि महाभाष्यकार का समय द्वितीय शताब्दी ई0 पूर्व था। महाभाष्य में पतञ्जलि लिखते है।

' इह पुष्यमित्र याजयाम ', 'पुष्यमित्र यजामहे, इन उल्लेखों से इतिहासकार इस मत के है कि पतञ्जलि पुष्यमित्र शुग के पुरोहित थे। पुष्यमित्र शुग ने अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की उसके द्वारा सैन्य निरीक्षण के समय सेना के समक्ष हत्या कर के मौर्य साम्राज्य पर अधिकार किया था। पुष्यमित्र शुग का राज्यकाम द्वितोय शताब्दी ई0 पू0 स्वीकार किया जाता है। इसलिए उनके पुरोहित पतञ्जलि का स्थितिकाल भी द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 होना चाहिए। अपने इस मत

की पुष्टि में महाभाष्यकार के अधोलिखित प्रयोगों का भी सहारा इतिहासकार लेते हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि कहते है -

अरूणद्यवन साकेतम्। अरूणद्यवन माध्यमिकाम्।'

इतिहासकारों का कहना है कि यवनों का यह साकेत तथा मध्यदेश पर आक्रमण भी पुष्यमित्र शुग के ही जीवन काल में हुआ था।

इस प्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि महाभाष्यकार द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में हुए थे और उनके साथ अभिन्नता के आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि का भी सिद्ध होता है।

पतञ्जलि का स्थान महाभाष्य में कश्मीर के प्रति पतञ्जलि का विशेष झुकाव परिलक्षित होता है।

4 '' काश्मीरान् गमिष्यामो देवदत्त। तत्र सक्तून पास्याम। ''

5 '' अभिजानासि देवदत्त। यत् काश्मीरेषु वत्स्याम।''

6 '' समेता पुष्यकर्माणि पार्श्वे हिमवत शुभे।''

इस झुकाव को देखते हुए प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव इन्हें न केवल काश्मीर निवासी मानते है अपितु कुछ विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इनके गोर्नदीय (गोण्डावासी) होने का खण्डन भी करते है। अपने मत के समर्थन में उनका कहना है कि - '' पतञ्जलि ने कई स्थानों पर गोनर्दीय आचार्य का खण्डन भी किया है। ये मत कात्यायन के ही प्रतीत होते है। पाणिनीयसूत्र 1।1।5 पर वर्तिक है - सति त्वन्यस्मिन्।' इसका खण्डन करते हुए पतञ्जलि कहते है- '' गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति तु अन्यस्मिन् इति। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन ही गोनदीय थे न कि पतञ्जलि। इस मत को मानने वाले अन्य विद्वान हरिदीक्षित अर्वाचीन विद्वान सुब्रहाण्य शास्त्री और पण्डित दामोदर प्रसाद शर्मा शास्त्री वैद्य है।

योगसूत्रभाष्यकार व्यास व्यास ने पातञ्ल येागसूत्रों पर जिस भाष्य की रचना की वह योगसूत्रों से सम्बद्ध होने के कारण योगभाष्य, व्यासकृत होने के कारण व्यासभाष्य, पतञ्जलि के योगसूत्रों से सम्बद्ध होने के कारण पातञ्जल भाष्य तथा (योगदर्शन में) तत्वविचार की दृष्टि से साख्यशास्त्र का प्रकृष्ट रूप से निर्वचन करने के कारण साख्य प्रवचनभाष्य नामों से प्रसिद्धि है। पातञ्जलयोगदर्शन के सम्यक् ज्ञान के लिए व्यासभाष्य अपरिहार्य है इसलिए इस महत्वपूर्ण गन्थ का परिचय प्रस्तुत करना अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य जान पडता है।

---

1 योगसूत्रभाष्यसिद्धि पृ0 22

पातञ्जल योगदर्शन के मूर्धन्य विद्वान तथा योगसूत्रभाष्य के वरिष्ठ व्याख्याता इलाहाबाद विश्वविद्यालय क प्रो0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव का मन्तव्य है कि -

'' योगशास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि के पश्चात जिस कृति का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है, वे है व्यास । अध्येताओं की दृष्टि में योगसूत्रों की ही भाति योगभाष्य भी अतीव महत्वपूर्ण एव प्रमाणिक कृति है। योगदर्शन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक -उभयविध स्वरूपनिरूपण योगभाष्य के आधार पर ही किया जाता है।''[2119]

वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु आदि योग परम्परा के सभी आचार्य इस भाष्य के रचयिता के परम प्रशसक है विज्ञान भिक्षु कहते है

सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषित ।
योगभाष्यमिगेणातो मुमुक्षुरामिद गति ।
गगाद्या सरितो यद्वदब्धेर शेषु सस्थिता ।
साख्याद्यदर्शनान्येवमस्यैवाशेषु सस्थिता ।।

भाष्य की पुस्तिकाओं में कही भी व्यास का नाम नहीं मिलता है तथापि वाचस्पति मिश्र अपनी टीका तत्व वेशारदी के आरम्भ में इस भाष्य को वेदव्यास भाषित कहते है। योग वार्तिक के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्ष भी इस भाष्य को ' सर्ववेदार्थसार तथा 'वेदव्यासनेभाषित ' और 'रत्नाकर प्रवादाना भाष्य व्यासभिनिर्मितम् कहते है । इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन या अर्वाचीन सभी आचार्य व्यास मुनि नामक व्यक्ति को इस भाष्य का रचयिता मानते है। किन्तु यह व्यास कौन है- महाभारतकार परासर पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास? अथवा वेदान्तसूत्रों के रचयिता वादरायण व्यास या इन दोनों से भिन्न कोई अन्य व्याय ? इस प्रश्न को उठाकर साधक प्रमाणों के उपस्थापनापूर्वक प्रो0 श्रीवास्व इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि - '' बहुत सम्भावना यही है कि कृष्ण द्वैपायन तथा वादरायण दोनों से ही भिन्न किसी अन्य व्यास ने ही योगभाष्य की रचना की है। उनको वेदव्यास कहना ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना है।' योगभाष्य का रचनाकाल भी पर्याप्त विवादग्रस्त है किन्तु प्रो0 श्रीवास्तव इसका रचना काल दूसरी शताब्दी ईस्वी निर्धारित करते है।

व्यास कृत यह योग भाष्य पातञ्जल महाभाष्य, साबरभाष्य अथवा शाकरभाष्य के समान प्रौड तथा उच्चस्तरीय तो नहीं है किन्तु इतना निकृष्ट भी नही है कि इसे तृतीय श्रेणी का माना जाय । यह भाष्य विषय का सागोपाग निरूपण तो

---

1 योगसूत्रभाष्यसिद्धि पृ0 22

कर्ता ही है, सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करता है और प्रसिद्ध प्रमाणों द्वारा सूत्र के अर्थ की पुष्टि करता हे। भाष्य की शेली सुदृढ सक्षम तथा सारग्राहिणी है। विषयों का विवेचन सोपपत्ति प्रस्तुत किया गया है।

पातञ्जल योग दर्शन की परिवर्ती रचनायें।

3 **तत्व वैशारदी टीका** - इसके रचयिता वाचस्पति मिश्र है। इसे व्यास भाष्य पर प्रथम विश्वसनीय टीका होने का गौरव प्राप्त है। वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे जैसा कि वे स्वय लिखते है - ' तस्मिन् महीये कीर्तव श्रीमगृगेऽकारि मयानिबन्ध ।' उनकी इस उक्ति से यह भी स्पष्ट है कि वे मृग नामक किसी यशस्वी राजा के आश्रित विद्वान थे। सभी दर्शनों पर प्रौड टीकाए लिखने के कारण इन्हें 'द्वादशदर्शनकानानपचानन' तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र की उपाधि मिली हुई थी। उनकी तत्व वैशारदी टीका व्यास भाष्य के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला अद्वितीय व्याख्या है। इनका समय नवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है।

4 **राजमार्तण्डवृत्ति** - योगसूत्रों पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति के लेखक भोजराज (11बी शताब्दी ई0) का नाम योगशास्त्र के इतिहास में बडा महत्वपूर्ण है। विद्वानों के बीच उनकी इस कृति का बडा सम्मान है। स्पष्टता के साथ इसमें न तो अनावश्यक विस्तार है ओर न ही दुरूह विषयों को छोड देने की दुष्प्रवृत्ति।

3 **योगवार्तिक** इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य विज्ञानभिक्षु (16वी शताब्दी ई0) का पूर्वार्ध है। यह वार्तिक योगभाष्य के ऊपर लिखी गयी एक विशाल व्याख्या है। योगसूत्र भाष्य के रहस्यों को पूरी तरह स समझने तथा योग के महात्म्य के सही आकलन के लिए इस वार्तिक का अध्ययन अपरिहार्य है।

5 **अन्य कृतियॉ** योगसूत्रों पर भावागणेश (17 वी शताब्दी ई0) की वृत्ति, प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजीभट्ट (17 वीं शताब्दी ई0) की ' छाया ' नामक व्याख्या , रामानन्द यति (18 वी शताब्दी ई0) क ' मणिप्रभा ' और नारायण तीर्थ की (18 वीं शताब्दी ई0) की 'सूत्रार्थबोधिनी ' तथा 'योगदर्शन ' नामक व्याख्यायें भी प्रसिद्ध तथा उपयोगी है। अर्वाचीन सस्कृत टीकाओं में हरिहहरानन्द आरण्य की 'भास्वती' टीका भी विश्वसनीय तथा उपादेय है। आचार्य शकर द्वारा लिखी गयी 'विवरण ' नामक व्याख्या भी योगसूत्रों तथा व्यासभाष्य का अच्छा विवेचन प्ररतुत करती है। महामहोपाध्याय डॉ0 गगानाथ झा द्वारा लिखित अग्रेजी भी उपयोगी है।

---

1 योगसूत्रभाष्यसिद्धि, पृष्ठ 30

प्रत्याहार

प्राणायाम के द्वारा जब चित्तनिर्मल हो जाता हे तब साधक का अग्रिम सोपान में प्रवेश होता है प्रत्याहार-प्रत्याक्षर का अर्थ होता है पीछे हटना, विमुख होना, किससे विमुख होना-विषयों से अर्थात इन्द्रियों का विषयों के प्रति अनुराग न होना योग दर्शनकार पतञ्जलि जी कहते हैं- अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाता है वह प्रत्याहार है।[7] अर्थात् विष्यों से चित्त का असम्प्रयोग अथवा विच्छेद हाने के समय चित्त और इन्द्रिया एक रूप हो जाती है। चित्त का विषय से असम्प्रयोग होने का अर्थ है कि इन्द्रिया अपने भोजन (विषय) को ग्रहण करना बन्द कर दे। वैसे भी प्रत्याहार का सन्धि विच्छेद करके देखें तो प्रत्याहार के दो शब्द बनते हैं। वे शब्द है प्रति और आहर अर्थात् भोजन का अन्त। इन्द्रियों इन्द्रियों का भोजन है रूप (नेत्रों का), रस (जिह्मा का) शब्द (कानो का) और गन्ध (नासिका का) स्पर्श (त्वचा का) इन्द्रिया ये भोजन निरन्तर ग्रहण करती रहती है। वास्तव में इन्द्रियों का यन्त्र बनकर मन ही उन विषयों के साथ अपने का एक करता है। इसे चित्त का स्वरूपानुकार कहते हैं। जब मन विषय के साथ होता है, तो उसे विषय का ज्ञान नहीं रहता है। इस स्थिति को मन की बर्हिमुख स्थिति कहते है। प्रत्याहार वह क्रिया है जिसमें मन बहिर्मुखी स्थिति को छोडकर अन्तर्मुखी हो जाता है या यों कहिए कि मन का विष्यों से सबध टूट जाता है।

अर्थात प्रत्याहार वह क्रिया है जिसमें किसी भी इन्द्रिय के विषय का सामने रखकर उस का राग द्वेष से रहित होकर अर्थात् साक्षी भाव से ध्यान करने से धीरे-धीरे मन उस वस्तु या अनुभव को छोडकर अन्तर्मुखी हो जाता है यों कहिए मन से बाह्य वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान लुप्त हो जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि राग द्वेष रहित होकर सयोग में असयोग की प्राप्ति होती है।

वस्तुत साधना के मार्ग में इन्द्रिया बडी साधक हे जो अनेकों प्रकार के विषयों के सस्कार अन्त करण में पडे रहते हे जिससे प्रेरित इन्द्रिया विषयों की ओर प्रवृत्त होती है। और मन की चचलता तो सभी को प्रत्यक्ष हैं बस जहा भी विषयासक्त

---

121 स्वविष्या सम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार 'प्रत्याहार'।

8 वशे हि यस्यन्द्रियाणितस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। गीता (2-71) (2-61)

इन्द्रिय के साथ मन सलग्न हुआ योगी अपने पथ से विचलित हो जाता है एव विष्यानुरागी इन्द्रिया मानव को बन्धन में डाल देती हैं। अत इन्द्रियों की इस अराजकता का नियमन योग सिद्धि हेतु अनिवाय है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर कृष्ण अर्जुन से कहते हे कि जिस की इन्द्रिया वशीभूत होती है उसकी बुद्धि स्थिर होती है। एव बिना समाहित बुद्धि के सिद्धि कहा होती है।[8]

इसी सदर्भ में यह भी जान लेना आवश्यक है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है लेकिन करणों अर्थात् इन्द्रिया एव मन के सयोग से ही ज्ञान की प्रतीति होती है।[9] अत यदि इन्द्रिया को विषयों से हटाकर रखने का प्रयास किया जाय तो अवश्य ही साधक कुछ प्रगति पथ पर अग्रसर होगा। लेकिन अनुभव में ऐसा आया है कि इस प्रकोर के हठपूर्वक इन्द्रिय निग्रह से विपयों से भले ही निवृत्ति हो जाती है लेकिन मन के विषयों क सस्कोर ज्यों के त्यों बीज रूप में पडे रहते हैं। एव पुन फि, कभी-कभी अनुकूला परिस्थिति को पाकर पनप उठते हो उठती है क्योंकि घाम सूक्ष्य बीज रूप में तब भी विद्यमान थी जो अनुकूल वातावरण पाकर पुन पल्लवित हो उठी। ठीक उसी भाति जब तक अनत करण में विष्यों की वासना के सस्कार विद्यमान होंगे तब तक केवल इन्द्रिय निग्रह से पूर्ण लाभ नहीं हो पाता है। इसीलिए कृष्ण जी ने गीता में कहा है कि अर्जुन तू इस दुर्जेय काम को जीत। (रागरहित होकर)[10]

रागरहित का लक्षण क्या है। इस सबध में महर्षि पतञ्जलि कहते है कि देखे सुने हुये लौकिक एव पारलौकिक विष्यों में मन की तृष्णा रहित अवस्था का नाम वैराग्य है।[11] आत्म अनुसधान में प्रयत्नशील योगी का मन जब यम नियम आसन प्राणायाम आदि क्रियाओं से निर्मल हो जाता है तब उसकी बुद्धि भी विषयों से ऊपर उठ जाती है एव बुद्धि के ऊपर उठ जाने से इन्द्रियों क्ज्ञ यह व्यापार भी शान्त हो जाता है एव इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर बुद्धि विष्यानुराग को त्याग कर

---

9 आत्मा ज्ञै करणेर्योगात् ज्ञान तस्य प्रवर्त्तते।। गीता, विश्वगुरू, कल्पतरू, पृष्ठ 569

10 जहि शत्रु महाबाहो काम रूप दुरासदम्। (गीता 3-44)

11 दृष्टानु श्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसज्ञा वैराग्यम् योग0 (1-15)

12 तत परमावश्यतन्द्रियाणाम्।। पतञ्जलि साधनपाठ 55

13 यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय।। ध्यान क्या, क्यों ओर कैसे। पृष्ठ 75, डॉ0 ओम प्रकार आनद

14 देश बन्धश्चित्तस्य धारणा (विभूतिवाद - 2-1)

15 ध्यान कब? क्यो? कैसे ? पृष्ठ 78 डॉ0 ओम प्रकाश आनन्द

16 योगसाधन पृष्ठ 104 देवकी नन्दन विभव
चतुर्थ सस्करण 2001

R कठोपनिषद 1/3

आत्मानुसधान में लग जाती है। यही अवस्थान प्रत्याहार कहलाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा और अच्छी तरह समझ सकते है। सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके आखे बन्द करके बैठ जाये। आखे बद करते ही इन्द्रियों का बाह्य जगत से सबध टूट गया। अब कर्मेन्द्रिय पर ध्यान कीजिए। जो भी शब्द कान में आते जायें, साक्षी भाव से सुनते जाइये, सहज भाव से, द्रष्टा भाव से, समता भाव से शब्द मात्र सुनते रहिए उसके अर्थ और ज्ञान का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यदि विश्लेपण हाने लगे, तो उसे भी राग द्वेष से रहित होकर देखते रहिए। इस प्रकार के साक्षी भाव से धीरे-धीरे मन शब्द में लय होने लगेगा और अन्त में मन स्वय शब्द रूप हो जायेगा। किन्तु इसका पता हमें चलेगा नहीं क्योंकि इस अवस्था में मन को अपने अस्तित्व का ज्ञान रहता नहीं है। मन शब्द को न अलग से पहचानेगा और न ही ग्रहण करेगा। इस प्रकार के नियमित अभ्यास से धीरे-धीरे मन की चचलता क्षीण होकर वह आज्ञाकारी सेवक के समान कार्य करने लगेगा। फिर उसको जहा लगाना चाहें लगा सकते है।

मन को जहॉ जगाना चाहे, मन वहा लगे, यही एकाग्रता है। यही हर व्यक्ति चाहता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार के सबध में कहा है कि प्रत्याहार से इन्द्रियों पूर्ण वश में हो जाती है।[12] अब चिन्तन करें कि इन्द्रिया स्वय में क्या है? बिना मन के सयोग के इन्द्रिया जड है। वह स्वय कार्य करने में समर्थ हो नहीं सकती। इसलिए अब प्रत्याहार से मन वश में आता है या यों कहिए कि मन बाह्य जगत की चचलता समाप्त करके अन्तर्जगत में चला जाता है। फलस्वरूप मन का सबध विष्यों से करने वाली इन्द्रिया अपने कर्म से कुछ काल के लिए विश्राम ले लेती हैं। विश्राम के कारण इन्द्रिया थकान एव तनाव से मुक्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्याहार के लिए यह भी कहा जाता है कि मन जिन पाच ज्ञानेन्द्रियों से ससार का आस्वाद कर्त है पाच ज्ञानेन्द्रियों के किसी भी विषय को लेकर उस पर साक्षी भाव से ध्यान करने से वह एकाग्र हो जाता है।[13]

चाहे मन को वश में करना हो, चाहे एकाग्रता बढानी हो, चाहे चित्त को निर्मल करना हो, चाहे प्रज्ञा बुद्धि का जागरण करना हो, चाहे अन्दर की आख खोलना है, चाहे पतिकूल परिस्थितियों में सतुलन बनाये रखने की कला सीखनी हो या इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी हो। इन सबके लिए प्रत्याहार का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर योगी की इन्द्रिया सब प्रकार से साधक के वशीभूत हो जाती है। एव पुन इन्द्रियों के विजय केलिए अन्य किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती है। इस प्रकार साधना पथ का पथिक साधन क उच्च मण्डप से अधोगति में डालने वाली इन्द्रियों के सबल विषयाकर्षणों से सुरक्षित होकर योग के अग्रिम महत्वपूर्ण सोपान धारणा के लिए सक्षम हो जाता है।

धारणा

भौतिक ससार में सदा सुख एव शान्ति से रहने के लिए ध्यान योग की अन्तिम उपलब्धि समाधि की सिद्धि अनिवार्य है। चूकि समाधि ध्यान का फल है और ध्यान धारणा परिपक्व अवस्था ही है अर्थात समाधि सिद्धि के लिए धारणा की साधना को सिद्ध करना जरूरी है। किन्तु जैसा कि इसी प्रबन्ध के द्वितीय अभ्यास में हम देख चुके हैं कि महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त का किसी देश (स्थान) में ठहरना धारणा है।[14] चित्त के विचलित होने में इन्द्रिया महत्वपूर्ण भाग लेती है। लेकिन जब प्राणायाम द्वारा मन की निर्मलता एव प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है तब साधक जिस समय जहा अपने चित्त को स्थिर करना चाहे कर सकता है। जैसे शरीर के बाहर अपने किसी ईष्ट देव सूर्य चन्द्रमा अथवा किसी वस्तु में चित्त लगा सकते है इसके अतिरिक्त शरीर के अन्दर नाभि चक्र, हृदय कमल, आज्ञा चक्र आदि किसी स्थान में भी चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। यही अवस्था धारणा कहलाती है। दूसरे शब्दों में जब प्रत्याहार की अवस्था अभ्यासी मन को जब कोई विषय या स्थान निश्चित कर दिया जाता है और मन से मन को उस विषय पर ही चिन्तन या श्रवण अथवा दर्शन करने को कहता है जब दिये हुये विषय को वह ग्रहण करना सीख जाता है तो उसे धारणा कहते हैं। यदि धारणा के अभ्यास काल में बीज बीच में मन किसी विचार धारा या श्रवण अथवा दश्रन में चला जाय और जब स्मरण आवे कि मन धारणा से हट गया तो प्यार से मन को पुन धारणा के निर्धारित विषय पर लगा दें।

उदाहरण के लिए जब मन सहज अवस्था में आने जाने वाले श्वास के साथ लगा देते हैं तो बीच में यह मन धारणा के विषय श्वास प्रश्वास को छोडकर चला जाता है तब इसके जाने का क्षण तो हम जान नहीं पाते किन्तु जब यह लौटता है या यों कहिये कि हमें याद आती है कि हम धारणा से हट गये उस समय मन में किसी प्रकार का नकारात्मक चितन जैसे मन बार-बार भटक जाता है। धारणा तो बडी कठिन है, कहा तक मन को बार-बार धारणा में लगायें आदि वाक्यों को पोषण न देकर पुन प्यार से निर्धारित धारणा को विपय में लगा दें। ऐसा करते-करते मन धारणा पर टिकने लगता है अथवा निर्धारित धारणा को ग्रहण करना सीख जाता है। इसे धारणा की सिद्धि कहते हैं।

वैसे भी धारणा का शाब्दि अर्थ है 'धारण करना' जैसे माँ गर्भ के बच्चे को धारणा करती है। प्राचीन काल में राजा लोग सिर पर मुकुट धारण किये करते थे। उसी तरह मन को अपनी गोद या गर्भ में निर्धारित विषय को धारण करने की योग्यता उत्पन्न करते हैं। जिसे योग की भाषा में, मन का 'देश बन्द' हो जाना कहते

है चूकि चिन्त को उसी विषय में रहना पडता है इसलिए निश्चित विषय ही मन का प्रदेश बन जाता है। इस प्रकार चिन्त को किसी देश (स्थान) या धारणा (विषय) अथवा वैचारिक दर्शन में बाधना पतञ्जलि के अनुसार धारणा है।[15]

धारणा का अर्थ विकसित मानसिक शक्ति भी है। इसलिए मानसिक शक्ति विकास हेतु धारणा का अभ्यास किया जाता है। धारणा का एक अन्य पर्याय सयम भी है। सयम का अर्थ वस्तु विशेष का ध्यान रखना है। धारणा में मन का विचरण स्थान सीमित और निश्चित रहता हे। उपरोक्त प्रत्याहार एव धारणा के सम्बन्ध में चितन करने से निष्कर्ष यह निकला कि यह दोनो क्रियायें को एकाग्र करने के उपाय हैं।

चिन्त और मन में क्या अन्तर हे ? माइण्ड के अतिरिक्त एक और मस्तिष्क है, जिसे सुषुप्त मस्तिष्क कहते है। जब मस्तिष्क में बैठा मन सो जाता है, तब भी सुपुत्र मस्तिष्क काम करता रहता है। जो कुछ हम करते हैं, देखते है, वह सब इस सुपुत्र मस्तिष्क पटल पर सिनेमा की फिल्म की तरह अकित होता रहता है। इस तरह जन्म-जन्म के कार्यो के अनुभव इस पर अकित रहते हे। यह माना हुआ वैज्ञानिक तथ्य है कि मानसिक प्रक्रिया जिससे हमें ज्ञान प्राप्त होता है, वह जागृत अवस्था तक ही सीमित नही है, वह सुसुप्त अवस्था में भी काम करती है और यदि हम सुसुप्त मस्तिष्क्र से पूरा काम ले सकें तो हमारा ज्ञान भण्डार असीमित हो जाता है जब हम किसी समस्या का समाधान जागृत अवरथा में नहीं कर पाते हैं तो सुसुप्त मस्तिष्क इसका समाधान निकाल कर हमारे सामने रख देता है। यह सुसप्त मन हमारा बडा आज्ञाकारी अनुचर है। यदि हम उससे काम ले सकें तो वह हमारे बडे जटिल प्रश्न भी सुलझा सकता है। हमारे सामने कोई बडी जटिल समस्या है, हम सोते समय अपने सुसुप्त मन से कहें कि देखों यह अचूक पश्न हे, इसका उत्तर मै प्राप्त उठने तक चाहता हूँ। यदि ऑख खुल जाये तो कोई शक्ति कठिन परिस्थितियों के सुलझाने के लिये मार्ग इगित करती हुई दिखलाई देगी। हमें भी कई बार इसका अनुभव हुआ है। उठने के समय से पूर्व ही आखे खुल गई और ऐसा मालूम हुआ कि कोई आन्तरिक शक्ति आने वाले खतरे की ओर सकेत कर रही है और उससे बचने का मार्ग भी दिखला रही है। यदि मन को आदेश देने पर भी उत्तर न मिले, तो फिर सोते समय अपने आदेश को दृढ इच्छा शक्ति के साथ दोहराना चाहिए, आशा है दूसरे दिन उसका उत्तर मिल जायेगा। यदि जल्दी उठना हैतो मन में द्रढता से उसका निश्चय कर के सो जाये। ठीक समय पर नींद खुल जायेगी। अभ्यास करने पर घडी की तरह ठीक समय पर कोई जगा देगा।

हमारा जीवन परिस्थितियों का एक समूल है। हमारे विचार ही हमारे जीवन की परिस्थितिया बनाते है। हमारी दुनिया का जन्म ही हमारे विचारों में होता है हर एक

व्यक्ति अपने मस्तिष्क की उपज से अपनी एक नई दुनिया का निर्माण स्वय करता है और एक नई दुनिया लेकर चलता है। स्वर्ग-नरक, सुख-दुख, भला-बुरा, हित-अहित सबका आधार हमारे विचार हैं। यदि मनुष्य बचपन में बधा हुआ है तो अपने विचारो के कारण, और विचार ही उसे इस बधन से मुक्त करेंगे इसलिए विचारों का नियत्रण और परिशोधन हमारे जीवन का मुख्य कार्य है।[16]

विचारो का उदगम- स्थान हमारा मस्तिष्क हे, जहा मन निवास करता है। हमारी इन्द्रियों और उसके विषयों का समागम बिना मन के हो नहीं सकता। मन जब इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियोंसे जोडता है, तभी इन्द्रिय काम करती है। इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द है, जिनसे हमें इन्द्रिय जगत का ज्ञान होता है। जब तक मन उन्हें सयुक्त नही करता, वे पृथक रहते है तथा ज्ञान शून्य होते हैं। परन्तु मन भी स्वतत्र नहीं है। वह ज्ञातव्य विषय को बुद्धि के सामने निर्णय के लिए रखता है। इसके निर्णय पर ही उसका स्वरूप प्रकट होता है। अच्छे-बुरे, हित-अहित, के निर्णय में बुद्धि न्यायाधीश का काम करती है और उसका फैसला हो जाने पर ही मन उस फैसले को इन्द्रियों तक पहुॅचाता है, जिससे वह सक्रिय होती है। हमारे सब कार्यो का आधार यही मानसिक क्रिया है। मन की आपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ कहा गया है। परन्तु यदि मन ठीक तरह से काम न करे, तो बुद्धि रूपी न्यायाधीश का फैसला गलत हो जाता है। रथ में जुडे हुए दस घोडे इन्द्रिया हैं, मन लगामहै और सारथी बुद्धि है। बुद्धिरूपी सारथी ही इन्द्रियों के कार्यो को नियत्रित करता है परन्तु मन रूपरी लगाम के माध्यम से वह ऐसा करने में समर्थ होता है।[R]

मन की एकाग्रता से ही इन्द्रियों की चचलता दूर हो सकती हैं और हम मानसिक शक्तियों का भली प्रकार से उपयोग कर सकते है। मन की एकाग्रता के लिए यह आवश्यक कि आपका लक्ष्य स्पष्ट हो। जब तक आपके मानसिक पटल पर आपका इण्टर इस लिए इण्ट लक्ष्य का मानसिक पटल पर स्पष्ट हो जाना ही धारणा है ओर उस लक्ष्य की ओर अपनी मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करना ध्यान हैं जैसे कश्मीर के किसी सौन्दर्य पूर्ण प्राकृतिक दृश्य का ध्यान करते हैं, परन्तु उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह दृश्य अपने हृदय-पटल पर पूर्ण स्पष्टता से अकित कर लें। उसका केन्द्रीभूत चिन्तन ही ध्यान की प्रक्रिया है। जब यह प्रक्रिया सतत प्रवाहित होने लगती है और उस लक्ष्य अतिरिक्त सभी अन्य विषयों को, यही समाधि है, जिसमें साधक और साध्य की एक रूपता आ जाती है।

मन जितना ही एकाग्र होगा उतनी ही धारणा शक्ति बढेगी। हमारा मन जितना अधिक चचल और अस्थिर होता है हमारी क्षमता उतनी ही कम होती है क्षमता बढाने के लिए मन की चचलता और अस्थिरता को दूर करना आवश्यक है। यम, नियम,

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि सभी मन कि अरिथरता दूर कर उसे एकाग्र करने में सहायक होते हैं धारणा, ध्यान और समाधि में पहला क्रम मन कि एकाग्रता है।

यदि मन का किसी विषय में एकाग्र करना चाहतें है, तो सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि उस विषय में तीव्र रूचि पैदा करना पडत्रेगा' जिन वस्तुओं में हमारी अधिक रूचि होती है उन पर हमारा मन अधिक एकाग्र होता है। मन का स्वभाव ही यह है कि एक वस्तु कि ओर आकर्षित होने पर भी शीघ्र ही उसे छोडकर वह दूसरी आरे भागने लगता है फिर भी अभ्यास द्वारा हम मन कोउस वस्तु से अधिक समय तक एकाग्र कर सकतेहै। यह अभ्यास बढते-बढतेइस स्थिति तक पहुॅच जाता है कि हम घटों किसी एक वस्तु में ही मन को स्थिर कर सकतेहै जो समाधि की पूर्व भूमिका होती है।

इसका अभ्यास करने से पूर्व एक शान्तिपूर्ण स्थान से सुखपूर्वक बैठना चाहिए। शारीरिक या मानसिक तनाव हो, तो मस्तिष्क को ढीला छोड दें निर्भय हो कर बैठें, मन से आशकाए निकाल दे। अपने ईष्ट विष्ञय पर मन को एकाग्र करने की कोशिश करना चाहिए' परन्तु तरह तरह के विचार मस्तिष्क पर हमला आरम्भ कर देंगें मन बहुत दूर-दूर नक कि सैर करेगा। कभी-कभी बहुत गन्दे स्थान तक भी पहुॅच जायेगा। प्रथम बार एक घटे कि बैठक में शायद मन पचास बार उचटकर भागे। परन्तु अभ्यास से इसका क्रम कम होता जायेगा ज्यों-ज्यों अभ्यास बढेगा त्यों त्यों स्थिरता आने लगेगी। मन को इस विषय में आनन्द आने लगेगा। मस्तिष्क से परस्पर विरोधी विचार खाली होते जायेंगी। मस्तिष्क जब बुरे विचारों से खाली हो जाये, तो उसमे सुविचार आकर भरने लग जाते हैं परन्तु जब सुविचार से भी जब मस्तिष्क खाली होने लगता है तब उसमें केवल एक तत्व ही रह जाता है। यह निर्विचार समाधि की स्थिति है। परन्तु मस्तिष्क में अजीब-अजीब विचारोंकी जो नुमाइश लगी हुई है उन्हें निकाल कर फेंक कर सुविचारोंको स्थापित करना आवश्यक है। उसमें मस्तिष्क को केन्द्रित कर देना सुविचार समाधि है।[17]

मानसिक एकाग्रता की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ अवश्य होती है। कभी-कभी मन बुरी आदतों में एकाग्र हो जाता है वह दूसरी चीजें नहीं देखता। जैसे शतरज के खिलाडी का मन कभी-कभी इतना एकाग्र हो जाता है कि उसकी सब इन्द्रिया उसी आरे लग जाती है। पहले तो अपनी रूचियों को परिष्कृत करके अच्छे लक्ष्य में अपनी इस एकाग्र शक्ति को लगाना चाहिए और फिर उसे अधिकाधिक शक्तिशाली बनाना चाहिए। वह जिस ओर भाग रहा है, उसे उसकी नि सारता बताकर पुन अमिष्ठ स्थान पर लगाना चाहिए। यदि फिर भी मन दौडता हो तो उसे दौडने

दें। और उसके पीछे-पीछे चलें। एक स्थिति ऐसी आयेगी कि उसका आकर्षण धीरे धीरे उसमें कम होता जायेगा और वह शान्त होकर लौट आयेगा।

श्री कृष्ण ने गीता में मन, को दोनो भृकुटियों केबीच आज्ञा चक्र में दृष्टि लगाकर एकाग्र करने के लिए कहा है। थोडे ही अभ्यास से एक ज्योति प्रकट हो जायेगी। इसमें मन को एकाग्र करके लगा दें। जैसे-जैसे एकाग्रता बढती जायेगी, ज्योति अधिक जाज्वल्यमान होती जायेगी, जिससे धीरे-धीरे आध्यात्मिक तत्व स्पष्ट जायेंगे।

धारणा के प्रकार - सवेदना धारणा, नाद अनुसधान, रूप धारणा, अन्त मौन धारणा, अजपाजाप धारण, बिन्दु धारणा, बितराग धारणा, पचेद्रिय धारणा, जय धारणा, सर्कीतन धारणा, उपासना धारणा, शब्द गुण-धारणा, सकारात्मक चिन्तन धारणा धारणा के प्रकार है।

धारणा के अभ्यास

1 किसी भी सुखासन में नाभि के पीछे का भाग सीधा बैठ जाइये, आखे बन्द कर ले, अपने से एक फुट की दूरी पर रखी घडी की टिक-टिक पर मन लगा दें। यदि मन घडी की टिक-टिक से भाग जाता है तो याद आने पर उसे प्यार से पुन टिक-टिक एकाग्र करें। नित्य अभ्यास से धीरे-धीरे मन घडी की टिक-टिक पर लम्बे समय तक ठहरने लगेगा।

2 रात्रि में खुले आसमान के नीचे लेटकर चन्द्रमा पर मन को लगायें। जब जब मन भागने लगे तो उसे प्यार से चन्द्रमा के विम्ब पर ले आयें।

3 लेटे-लेटे आकाश में चमकते हुए असख्य तारों में से किसी एक तारे को चुन लें और मन के भागने पर प्यार से पुन उसी पर ले आयें।

4 अपने सामने एक जलती हुई मोमबत्ती रखें और उसकी लौ को मन पर एकाग्र करें जब ऐसा करते थक जायें, तब आखे बन्द कर लें और लौ का मानस दर्शन करें प्रारम्भ में इस अभ्यास को एक मिनट करना पर्याप्त है बाद में धीरे-धीरे दस मिनट तक बढाये।

5 आधुनिक युग में टेपरिकार्ड के इयरफोन के माध्यम से आख बन्द करके बासुरी, वायलिन, शख या कोई मधु ध्वनि को सुने।

6 ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठकर कान में उगली लगा कर ऊँ ध्वनि का उच्चारण करें एव उसे सुने। धीरे-धीरे ऊँ ध्वनि के सुनने का समय बढायें।

---

17 योग साधन पृष्ट 108

7 किसी विषय के विभिन्न पहलुओं पर विचार करें। मन को इसी विषय में केन्द्रित कर दें। मन दूसरी बातों की ओर न भागे। मस्तिष्क उस विषय में कुछ नये अन्वेषण करने में समर्थ होगा।

ध्यान

युगो से मानव की पाच समस्याए बनी हैं- शरीर में रोग, इन्द्रियों में कमजोरी व थकावट मन में चिन्ताए बुद्धि में भय एव निकट सबधियों के मरण इत्यादि का वियोग। इसीलिए उसकी पाच ही मौलिक मागे कही जा सकती है- शरीर में रोग की सभावना रहित अखण्ड स्वास्थ्य, इन्द्रियों में थकावट रहित अखण्ड शक्ति मन में चिन्ता रहित अखण्ड आनन्द, बुद्धि में भय रहित अखण्ड ज्ञान एव अहम् में द्वैत रहित अथवा वियोग रहित अखण्ड प्रेम। इन पाचों समस्याओं के कारण है- शरीर मे मल, इन्द्रियों में अम्ल, मन में आसक्ति, बुद्धि में अहकार एव अहम में मिथ्या अपनत्व। इसमें उत्तर में मुझे कहना हे कि अखण्ड स्वास्थ्य सतुलित आहार द्वारा ही हो सकता है। अखण्ड शक्ति युक्ति युक्त उपवास द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अखण्ड सुख अथवा अखण्ड आनन्द विधिवत् ध्यान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

ससार में ऐसा कोई भी व्यवहारिक या पारमार्थिक कार्य नहीं है जो बिना चित्त की एकाग्रता के निष्पन्न हो सके। चित्त की एकाग्रता की पराकाष्ठा में योग की सिद्धि होती है।

शुद्ध स्वरूपमात्र में अवस्थितिपुरूप पुरूष का होना या ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाना यह पुरूष काकैवल्य अर्थात मोक्ष कहा जाता है यह योग का पूर्ण लक्षण है और योग का अन्तिम फल भी यही है।

जब तक मन का इन्द्रियों के साथ सयोग नहीं होता, तब तक हमारा कोई भी कार्य पूरा नहीं होता। हमारे सामने से अनेक दृश्य और चीजें निकल जाती है, परन्तु यदि हमारा मन कहीं और हो तो वे हमें दिखाई नहीं देते। यदि हमारा मन कहीं और हो तो हमको भोजन का पता भी नही चलता कि हम क्या खा गये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध हमारी इन्द्रियों को तभी ग्राह्य होते हैं, जब हमारे मन का उनके साथ सयोग होता है। इसलिए हमारी सारी उपलब्धियों के लिए मन का बडा महत्व है। परन्तु योग साधना काल में उसका नियमन करना भी नितान्त आवश्यक है। मन से भी बडे महत्व का पदार्थ है- चित्त। हमारे जन्म जन्मान्तरों के कर्म सस्कार इसी चित्त में ही सचित रहते है और वे ही सस्कार हमारे नये जीवन के आरम्भक हुआ करते है। पतञ्जलि ने चित्त की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति नामक

पाच वृत्तिया बतायी है जिनका प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है।

हमें ससार में जो कुछ भी अनुभूति होती हे अथवा जो कुछ काम करते है उसके आधार में या मूल में चित्त वृत्तिया ही है। इसलिए बिना चित्त वृत्तियों का निरोध हुए हम अपने लक्ष्य को नहीं पहुच सकते।

श्रीकृष्ण और महर्षि पतञ्जलि दोनों ने ही चित्त की वृत्तियों का निरोध और मन का नियमन करने की आवश्यकता को स्वीकार करतेहुए उसके लिए जो मार्ग बतलाया है वह एक ही है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् आत्म स्थिति के लिए बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वृत्ति निरोध या चचल मन वश में होता है।[9] महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है कि चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य दो ही उपाय है।[2] इन दोनों की व्याख्या इस शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। अत वही द्रष्टव्य है।

धारणा की परिपक्व स्थिति ही ध्यान है। जब मन किसी ध्येय वस्तु को ग्रहण कर, उसमें सतत प्रवाहित होने लगता है, वही स्थिति ध्यान है। जिस ध्येय वस्तु को लक्ष्य बनाकर चित्त को लगाया जाय, उस ध्येय वस्तु मात्र में एक ही तरह चित्त की वृत्ति का लगातार चलना, उसके बीच ओर किसी प्रकार की दूसरी वस्तु का व्यवधान न होना ही ध्यान है, अर्थात एक ही विचार चलता रहे और दूसरे विषयों की ओर मन न भागे, तो उसे ध्यान कहा जाता है। इसकेलिए मन की एकाग्रता का परिपक्व होना नितान्त आवश्यक है। नदी के पानी के प्रवाह की तरह विचारो के प्रवाह की एकतानता जब प्राप्त हो जाती है, तब उसे मनुष्य ध्यान वाली स्थिति कहा जाता है।[3]

प्रत्याहार के अभ्यास से मन अन्तर्मुखी हो जाता है। उसकी चचलता समाप्त हो जाती है और धारणा के अभ्यास से मन मे एकाग्रता आने लगती है। जिसका जितना मन एकाग्र होगा उसकी बुद्धि उतनी ही सूक्ष्य होगी ओर सूक्ष्म बुद्धिवाला ही बडे-बडे आविष्कार या बडा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष अर्थात उत्थान और [123] पतन का मुख्य कारण है। एक ही मन के दो भेद हैं। 1 शुद्ध मन 2 अशुद्ध मन। कामी मन अशुद्ध और काम रहित मन शुद्ध है। युद्ध मन तो मोक्ष देने वाला है किन्तु विपरीत मन बन्धनकारी होता है।[1] जैसा कि हम प्रस्तुत

---

1 अभ्यासेन तु कोन्तेय वैराग्येण च गुह्येत। (गीता)

2 अभ्यास वैराग्याभ्यातन्निरोध (योग 1-12)

3 तत्र प्रत्येक तानता ध्यानम् (योगसूत्र 3/2)

1 मनो हि द्विविध प्रोक्त शुद्धञ्चाशुद्धमव च।
आशुद्ध काल सकल्प शुद्ध काम विवर्जितम्।।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में देख चुके है पतञ्जलि के अनुसार चित्त की पाच अवस्थाए होती है- 1 मूढ 2 क्षिप्त, 3 विक्षिप्त, 4 एकाग्र, 5 निरूद्ध।

1 क्षिप्तावस्था में रजोगुण प्रधान होता है चचलता तथा ससार के कार्यो में प्रवृत्ति होती है। यह स्थिति साधारण ससारी मनुष्यों की सी होती है।

2 मूढावस्था में तमोगुण प्रधान होता है। आलस्य निद्रा प्रमाद आदि होते है। यह स्थिति नीच प्रवृत्ति वाले मनुष्यों की है।

3 विक्षिप्तावस्था में सतोगुण प्रधान होकर सात्विक वृत्तियों उदित होती है किन्तु सात्विक वृत्तिया राजसी वृत्तियों से चलायमान होती रहती है।

4 एकाग्र अवस्था अभ्यास और वैराग्य द्वारा जब सर्वार्थता का निरोध होता है, तब तामस तथा राजस के दबने से सत्व के प्रकार में वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने वाली एकाग्रता उदित होती है।

5 निरूद्ध अवस्था- पर वैराग्य आसक्ति की निवृत्ति होने पर सभी वृत्तियों का निरोध रूप है। यह स्थिति ऊँचे योगियों की होती है।

ध्यान का प्रयत्न आरम्भ करने पर चार प्रकार के विघ्न उपस्थित होते है यथा 1 लय अर्थात निद्रा और 2 विक्षेप, अर्थात मन का ध्यानस्थ केन्द्र से बार-बार इधर-उधर भागना 3 कषाय 4 रसास्वाद।

1 लय साधक का शरीर जिस अनुपात में युक्तियुक्त उपवास द्वारा विकारो से रहित तथा सतुलित आहार द्वारा स्वस्थ हो जाता है, उसी अनुपात में ध्यान करते समय निद्रा का प्रहार नहीं होता। इससे बचने केलिए साधक को उतनी नींद भी आवश्यक ले लेनी चाहिए, जितने से उसके शरीर को वाञ्छित स्फूर्ति और शक्ति की प्राप्ति हो जाए, फिर भी यदि निद्रा का प्रहार हो तो ध्यान करने से पहले श्वसन द्वारा निष्क्रियता का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान के प्रारम्भ में ओऽम ध्वनि या अपने इष्ट के नाम का सकीर्तन अथवा स्वर सहित किसी भजन का गायन भी सहायक रहता है। इस प्रकार पुन ध्यान करते समय नींद का प्रहार नहीं होता।

प्रारम्भ में ध्यान एव लय के अन्त को स्प्ष्ट समझने में कठिनाई हो सकती है क्योंकि ध्यान और नींद की अवस्थाए लगभग समान होती है परन्तु सच यह है कि दोनों में बहुत अन्तर होता है। निद्रा जाग्रत अवस्था से विपरीत अवस्था है, जो ससार के समस्त प्राणियों को शारीरिक शक्ति की प्राप्ति के लिए समान रूप से प्राप्त है और जागृत अवस्था की क्रियाशीलता के लिए आवश्यक स्फूर्ति की प्राप्ति निद्रा से ही अपने अन्दर स्थित चेतना के केन्द्र के विषय में सभी प्राणियों को समान रूप ने अज्ञान बना रहा है। परन्तु ध्यान, जाग्रत अवस्था से महान ऊची

अवस्था है, जो केवल मनुष्य योनि में ही प्राप्त कीजा सकती है, अन्य योनियों में नहीं। अपनी चेतना के केन्द्र उसके उदगम स्रोत व उसकी शक्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है फिर इन केन्द्रों के विषय में कोई सशय का अवसन नही उठता। अतएव ध्यान में जब नींद आ जाती है, तब उससे जाग्रत होने पर किसी प्रकार की नव चेतना अथवा ज्ञान की अनुभूति नहीं होती, परन्तु यदि ध्यान में नींद नहीं आती और ध्यान की वास्तविक अवस्था प्राप्त है तो उससे व्युत्थान होने पर नवचेतना एव ज्ञान के प्रकाश की अनुभूति होती है। साधक, इस प्रकार नींद और ध्यान के अन्तर को स्पष्ट समझ सकता है।

2 विक्षेप मन को निर्धारित धारणा में लगाने पर उसका बार-बार भाग जाना विक्षेप कहलाता है। सामान्य भाषा में लोग कहतेहैं कि जब भी हम ध्यान करने बैठते हैं, हमारा मन भागता ही रहता है। हठयोगियों ने मन के विक्षेप को दूर करने के लिए योगासनों का अभ्यास करते समय मनोयोग से अभ्यास करना एव गिनती के साथ ईष्ट के नाम का मानसिक जप करने को कहा है।

मन को लय से मुक्त करने के बाद भी जब भी साधक ध्यान करना प्रारम्भ करता है उसी समय अनेक प्रकार के भीड उसके सामने आने लगती है। वैसे तो विचारो की भीड को क्षीड करने के लिए प्रत्याहार का अभ्यास स्वय में पर्याप्त सक्षम है। साधक को विचारो की भीड से अधीर नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा हमारे अचेतन मन के ऊपर पहले की वासनाओं, इच्छाओं और राग द्वेष जनित भावनाओं या सस्कारो की पर्तो की सतहों के जमे रहने के कारण ही है। जो ध्यान योग की साधना प्रारम्भ करते ही चेतना की सतह पर उभर कर निकलना चाहते हैं, और हमारे मन को शुद्ध एव निर्मल बनाना चाहते हैं, किन्तु भ्रम वश हम उन निकलते हुए विचारो को साक्षी भाव से न देखकर नकारात्मक चिन्तान करने लगते हैं जिससे वे विचार और दृढ हो जाते हैं। स्वप्न में भी तो यही होता है किन्तु वहा पर प्राकृतिक नियम के अनुसार हम स्वप्नों को उन दृश्यों अथवा विचारों को साक्षी भाव से देखने को मजबूर हैं। यही तो कारण है कि प्रात जब हम उठते है तो स्फूर्ति से भरे होते है। ध्यान करते समय यदि साक्षी भाव का अभ्यास हो जाय, तो न केवल शरीर को स्फूर्ति मिलती है बल्कि आन्तरिक ज्ञान चक्षु भी खुल जाता है। फलस्वरूप व्यवहार जगत, जड जगत एव ईश्वरीय जगत के सत एव असत की पहिचान हो जाती है और जीवन सुख, शान्ति एव आनन्द से भर जाता है।

3 कषाय लय और विक्षेप को दूर करके जब मन अन्तर्मुखी हो जाता है तब भी वह गहन ध्यान की स्थिति में प्रवेश नहीं करना चाहता। छिपी

हुई बलवती वासनाओं तथा उत्कृष्ट राग के प्रभाव के बस में होकर यह पदार्थो में आसक्त हो जाता है। तब यह दु ख में डूब जाता है। इस समय मन में किसी एक विचार बिन्दु पर एकाग्र होने की क्षमता तो रहतीहै किन्तु यह समाधि की स्थिति नहीं है। यही कषाय है। यह मनोराज्य है। इस स्थिति में मन हवाई किले बनाता रहता है। पत्नी, पुत्र, धन के बारे में मन यदि सोचता है तो साधना में मन इसे बाह्य राग कहते हैं और यदि भूत के बारे में चिन्तन करता है, तथा भविष्य के लिए योजना बनाता है तो इसे अन्तर राग कहते हैं। जो उपाय विक्षेप को दूर कर सकते हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बाह्य विषयाकार वृत्ति विक्षेप हे किन्तु जो वृत्ति अन्दर से राग के सस्कारों के प्रभाव से उत्पन्न होती हे उसे कपाय कहते है। साधक प्राय कषाय को समाधि समझने की भूल कर बैठते हैं।

4 रसास्वाद - विक्षेप के दूर होते ही सविकल्प समाधि का आनन्द प्रगट होने लगता है। यह रसास्वाद है। निर्विकल्प समाधि का परमानन्द प्राप्त करने में यह जैसा रसास्वाद एक बाधा है इस रसास्वाद का आनन्द उसी प्रकार का है जेसा कि कुली को अपने सिर का बोझा उतारने के बाद अथवा किसी गुप्त खजाने पर पहरा देने वाले सॉप को मार डालने पर मिलता है। परन्तु वास्तविक आनन्द तो तब ही प्राप्त होता है जब वह खजाने को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जब साधक निर्विकल्प-समाधि के परमानन्द का अनुभव करने लगता है तब अपनी साधना के चरम बिन्दु पर पहुच जाता है। साप को मारना विक्षेप को दूर करने के समान है। इसके अतिरिक्त अन्य बाधायें जैसे असभ्यक विचार अधीरता, आलस्य, भाग, प्रवृत्ति तथा अपवित्र• विचार, जिन्हें सभ्यक तथा विवेकपूर्ण विचारों के द्वारा दूर करना चाहिए। इसमें नियमित स्वाध्याय, सत्सग, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार तथा सात्वक सुपाच्य एव सतुलित भाजन आदि भी सहायक होते हैं।

ध्यान चितन मनन में सावधानी - जिस प्रकार दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब तब तक स्पष्ट नहीं देखा जा सकता जब तक कि दर्पण साफ न हो। इसी प्रकार जब तक बुद्धि का रतर साफ न हो, तक तक आत्मा का स्वरूप नहीं देखा जा सकता। जैसे अपनी छाया को दखकर कोई व्यक्ति उस छाया को अपने से भिन्न नहीं समझता है उसमें अपनी एकता देखता है, उसी प्रकार साधक ससार में प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति में ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखता है। उसमें अपनी एकता देखकर निरर्थक द्वैत जनित वादों में नही उलझता। चिडिया शीशे में अपनी ही छाया से लडकर अपनी

चोंच को घायल कर लेती है। साधक सदैव अपने प्रभु के रूप या नाम के स्मरण में निमग्न रहता है जैसे की नमक की डली पानी में घुलकर एकमेव हो जाती है, पत्थर की तरह अपना अलग अस्तित्व नहीं बनाये रखती है।

जिस प्रकार कपड़ा पानी में जाते ही अपने रेशे-रेश में पानी आकर्षित कर लेता है और पानी से बाहर आने के बाद भी यद्यपि वह सूख जाता है, परन्तु पानी के रंग का प्रभाव उस पर से नही छूटता, वह क्रमशः उसी रंग में रंग जाता है, जिस रंग का कि पानी होता है। कालान्तर में रंग इतना पक्का हो जाता है, कि छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसी प्रकार जिस चिन्तर में व्यक्ति डूबा रहता है, कालान्तर में उसकी चित्त वृत्ति भी उसी रंग की हो जाती है। तदनुकूल परमाणुओं के आकर्षण से वैसी ही परिस्थितियों का निर्माण हो जाता है। अतएव साधक को अपनी चिन्तन एवं मनन की धाराओं में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है।

ध्यान के साधन- ध्यान के साधनों को अपनाने के विषय में निम्न चार बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण है :-

1. ध्यान कब करें अर्थात कितने समय में करें। 2. ध्यान कहां करें अर्थात! किस स्थान पर करें। 3. ध्यान कैसे करें अर्थात किस विधि से करें। 4. ध्यान कितना करें अर्थात कितने समय तक करें।

ध्यान कब करें :- ध्यान का सबसे उपयुक्त समय प्रातः काल ही होता है। शय्या त्याग करने के बाद शौच, मुख प्रक्षालन आदि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होने के अनन्तर ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। स्नान में असुविधा होने पर वह बाद में किया जा सकता है। इस समय शरीर मल मूत्रादि विसर्जन हो जाने के कारण अन्य समय की अपेक्षा प्रायः हल्का होता है। मनः स्थिति ध्यान के लिए अनुकूल होता है। ध्यान में बाहरी वातावरण की भी पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। अतएव यदि इसका अभ्यास सूर्योदय से पहले कर लिया जाय तो और भी उत्तर रहता है। अभ्यास में आगे बढ़ जाने पर तो फिर चाहे जब अभ्यास किया जा सकता है। परन्तु प्रारम्भ में समय का ध्यान रखने से अभ्यास में पर्याप्त सहायता मिलती है और साधना में वांञ्छित प्रगति होती है।

2. ध्यान कहां करें :- ध्यान करने से पहले स्थान का भी विशेष महत्व होता है। अत्यन्त भीड़-भाड़ के स्थानों में प्रारम्भ में बाधा उपस्थित होती है। क्योंकि उस स्थान के वातावरण में उसी प्रकार के परमाणु व्याप्त रहते हैं। अतएव स्थान ऐसा चुनना चाहिए जो अपेक्षाकृत शान्त हो, अधिक भीड़ भाड़ न रहती हो और वहाँ पर अधिकांश में आध्यात्मिक चर्चा होती हो। किसी देवालय में उपयुक्त एकान्त स्थान, अथवा नदी का किनारा या अन्य कोई प्राकृतिक सील या किसी पार्क

का स्थान, जहा बहुत तेज हवा न हो ठीक रहता है। अपने घर में ध्यान के अभ्यास के लिए एक कमरा बनाया जा सकता है, जो खुला और हवादार हो। वहा ध्यान और सत्सग के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य न होता हो। कुछ समय बाद ऐसे स्थान में जाते ही सहज ध्यान होने लगता है। इस कमरे में ध्यान में सहायता करने वाले सन्तों, अवतारों और देवतासओं के चित्र भी लगा देने चाहिए। ऐसा अलग स्थान सम्भव न हो पाने की स्थिति में घर का कोई भी एकान्त और शान्त स्थल चुना जा सकता है। वातावरण में धूल और धुआ न हो। कोई सुगन्धित धूप या अगरबत्ती जला सकते है।

3 ध्यान कैसे करें - यह ध्यान का सबसे प्रमुख अग है। इसके लिए यह आसन दिशा, मुद्रा रीढ का महत्व और ध्यान का प्रारम्भ में पाच तथ्य समझना आवश्यक हे जो निम्न प्रकार हे।

अ आसन सबसे पहले बैठने के लिए उपयुक्त आसन का चुनाव करना चाहिए। सम्भव हो तो जमीन से थोडा ऊपर बैठने के लिए अपने नाप का कोई पटटा या चौकी या तख्त हो तो अच्छा रहता है, अन्यथा जमीन पर ही, कुशासन और उसके ऊपर कोई सूती, रेशमी या ऊनी वस्त्र बिछा लेना चाहिए जिसके छपर कुछ, सुविधापूर्वक बैठ सकें। कुशासन के अभाव में कोई चटाई, चादर, दरी या कम्बल का भी प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु वह शुद्ध होना चाहिए। यथा सम्भव उसको ध्यान के अतिरिक्त अन्य किसी काम में नहीं लाना चाहिए।

स दिशा बैठने के समय मुख पूर्व पश्चिम अथवा उत्तर की ओर होना चाहिए। सबसे उत्तम पूर्व या उत्तर की ओर रहता है। दक्षिण की ओर मुख कर के नहीं बैठना चाहिए। यदि किसी देवालय या कमरे में भगवान का चित्र या प्रतिमा हो तो दिशा का विचार न करके उस चित्र या प्रतिमा के सम्मुख भी बेठा जा सकता है।

स मुद्रा तत्पश्चात् किसी भी अनुकूल मुद्रा अथवा आसन, वज्रासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वास्तिकासन अथवा सुखपासन में बैठना चाहिए जिससे कि स्थिरता से या बिना हिले-डुले सुविधापूर्वक निश्चित समय तक बैठ सके और शरीर के किसी भी अग पर अनुचित दबाव, तनाव अथवा आधार न लगे। नत्र अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहे। न कसकर बन्द किये जाय न प्रयत्नपूर्वक खुले रखे जायें। स्वाभाविक रूप से जैसे अधमुदे रहे तो रहने दिये जाये।

(द) रीढ का महत्व

सबसे प्रमुख महत्व रीढ की हड्डी का है क्योंकि इसी के बीच सुषुम्ना स्थित है। जो गुदा स्थान (मूलाधार) से प्रारम्भ होकर मस्तिष्क (सहसार) तक जाती है। इसका ध्यान से सर्वाधित सम्बन्ध हे।

इसकी गति स्वाभाविक रूप से सीधी एव सम होनी चाहिए अर्थात न तो अस्वभाविक रूप से तनी हुयी ओर न किसी ओर की मुडी या झुकी हुयी। इसकी स्वाभाविक स्थिति फन मारकर खडे हुए सर्प के समान होती हे अतएव ध्यान के लिए बैठते समय रीढ को स्वाभाविक रूप से सम करके गर्दन को सीधा तनाव रहित रखना चाहिए।

(य) **ध्यान का आरम्भ**

इसके बाद अपने इष्ट के नाम या रूप के सहारे मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिए। प्रारम्भ में ऐसा करना सहज नहीं होता हैं तो नींद आने लगेगी जिसे लय कहते हैं अथवा मन इधर-उधर भागने लगेगा, जिसे विक्षेप कहते हैं। निरन्तर अभ्यास से ये परेशानिया धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है आर वृत्ति, नाम या रूप में स्थिर होने लगगी। इसी स्थिर अवस्था को एकाग्रता कहते हैं। ध्यान की यह एक प्रारम्भिक अवस्था है। इसमें अभी त्रिपुटी और अहकार बना हुआ है अर्थात ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला) ओर ध्येय का भान रहता है।

अभ्यास के आगे बढने के माथ-साथ जेसे-जैसे वह परिपक्व होने लगता है अर्थात वृत्तिया एकाग्र हो जाने पर जबकि न लय होता है और न विक्षेप तब वह बिन्दु भी हट जाता है, जिस पर कि वृत्तिया एकाग्र थी। उस समय त्रिपुटी समाप्त हो जाती है और अहकार का विलय हा जाता है। उस समय ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों हट जाते हैं तथा जीवात्मा की परमात्मा की ओर सन्तुखता होने लगती है। इस समय की समग्र चेतना युक्त अवस्था का वर्णन करना वाणी के लिए सम्भव नहीं है। इस अवस्था को प्राप्त करके, बुद्धि के ऊपर जो अहकार एव सस्कारों के आवरण एकत्र हैं उनका क्रमश क्षीण होना प्रारम्भ हो जाता हे। ये आवरण जितने जितने क्षीण होने लगते है उतने ही अनुपात में परमात्मा की सच्चिदानन्द शक्तियों का सचार जीवात्मा में होने लगता है जैसे आग के पास बेठने से गरमी का और बर्फ के पास बैठने से ठडक का स्वाभाविक ही सचार समीप बैठने वाले के अन्दर होने लगता है। परन्तु आग या बर्फ के बीच में यदि कोई पर्दा या आवरण हो तो समीप रहते हुए भी उसकी गरमी या ठडक का प्रभाव नहीं पड सकता जब तक कि वह आवरण न हटे। इसी प्रकार परमात्मा के समीप रहते हुए भी यदि अहम् का आवरण नहीहटता है, तो परमात्मा की शक्तियों का प्रभाव एव उनका प्राकट्य जीवात्मा में नहीं हो पाता। अतएव, इस आवरण को हटाने के लिए ही ध्यान केअभ्यास का उत्तरोत्तर

बढाते रहना चाहिए ताकि परमात्मा की शक्तियों का निर्विघ्न प्रवाह इच्छा अनुसार प्राप्त होता रहे।

इस अहकार केविलय की अवस्था प्रेम केअतिरेक में भी प्राप्त हो जाती है जिससे बुद्धि में अपूर्व प्रकाश का अनुभव होकर सहज ही द्वेत भावना मिट जाती है तब सर्व? एक ही सत्ता तथा सब में प्रभु के दर्शन होने लगते हैं। अहकार क विलय होने पर साधक को अपने अभिनासी आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है जिससे अपनी देह सम्बन्धी भ्रान्ति मिट जाती है तथा सर्वत्र उस प्रभु की लीला के दर्शन होने लगते हैं जिससे भय का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि साधन को स्पष्ट बोध हो जाता है मै विनाशी शरीर बल्कि आत्मा हूँ, जो कि न कभी उत्पन्न होती है और न कभी समाप्त। यह तो शरीर ही है जो पैदा होता है, बढता है और समाप्त होता है। आत्मा प्रत्येक दशा में एक सी रहती है जैसे वस्त्र बदलने से शरीर नहीं बदलता है, बल्कि वही रहता है, उसी प्रकार शरीर बदल जाने से भी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता।

धीरे-धीरे उक्त अवस्था प्राप्त करने के बाद, कर्मो के प्रति साधक की ये मान्यता भी उत्तरोततर क्षीण होने लगती है कि उक्त कर्मो का कर्ता वह है। इसके विपरीत यह भावना दृढ होने लगती है कि उसके द्वारा उक्त कर्म कराये जा रहे हैं अर्थात वह तो निमित्त मात्र है फिर उसके 'करने के स्थान पर', उसके द्वारा कर्म होने लगते हैं तथा साधक को स्पष्ट भान होने लगता हे कि किसी सत्ता द्वारा उसे निरन्तर कर्म करने को प्रेरित किया जा रहा हे ओर उसका कर्म कराने हेतु प्रयोग किया जा रहा है। इस अवस्था के परिपक्व होने पर उसका कर्म करने में भी अहकार का विलय होता चला जाता हे, जिससे उसका कर्तृत्व भी मिट जाता है। चूकि कर्तृत्व ही कर्म बन्धन का कारण होता है अतएव उसके कर्म बन्धन भी क्रमश समाप्त होने लगते हैं। इस प्रकार साधक का आवागमन के चक्कर से भी छुटकारा होने का माग्र प्रशस्त होने लगता है।

इस अवस्था को प्राप्त कर साधक के शरीर मं अथाह शक्ति व स्फूर्ति का सचार होता है, जिससे उसे स्प्ष्ट होता हे कि शक्ति का केन्द्र भगवान है न कि भोजन। मन में अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती हे, जिससे स्पष्ट बोध होता है कि आनन्द का केन्द्र ईश्वर है न कि भौतिक सुख। बुद्धि के अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे यह पता चलता है कि ज्ञान का केन्द्र ईश्वर है न कि पुस्तकें। ऐसा होने पर स्वभावत ही ईश्वर के प्रति साधक का विश्वास और अनुराग दृण होता चला जाता है और अखण्ड प्रेम की उपलब्धि होने लगती है जो कि मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है व मनाव व्यक्तित्व के विकास की चरण सीमा है।

(4) ध्यान कितना करें

वैसे तो यह प्रश्न ही गलत हे, क्योंकि ध्यान की प्रगाढ स्थिति में, अहकार का विलय होने के पश्चात समय के हिसाब रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु अभ्यास के प्रारम्भ में साधक का 15 मिनट मे 30 मिनट तक का प्रयास करना उचित रहसता है ईश्वर का ध्यान कैस किया जाये, यह अधिक महतवपूर्ण होगा कि हम क्या जाने कि ईश्वर क्या हे। इस सृष्टि म अनन्त तरह की शक्तिया पायी जाती है और ईश्वरीय तत्व इन समस्त शक्तियों का आधार है। ऐसे इस ईश्वरीय तत्व के भण्डार को जीवात्मा कहते हे और यह सारे शरीर में विराजमान है। जीवात्मा के क्षेत्र में, ईश्वरीय तत्व, जो कि ओर कुछ नहीं बल्कि ब्रह्म हे, निर्गुण-निराकार है और हमारे जन्म-जन्मान्तर के सस्कारों से ढका हे, जीवात्मा जो ईश्वरीय तत्व का भण्डार है, उसे यदि तुलनात्मक दृष्टि से सूर्य मान लिया जाय तो ईश्वरीय तत्व तत्व इस सूर्य की किरणां के समान होगा ओर सस्कार जिनसे यह सूर्य ढका हुआ है, बादल के समान होंगे। बाहर की दुनिया में अपना प्रभाव दिखाने के लिए यह ईश्वरीय तत्व सस्कारां से छनकर उसी तरह आते हे जेसे बाहर की दुनिया में सूर्य की रोशनी भी केवल बादलों से छनकर जमीन तक पहुँचती है। ईश्वरीय तत्व का जितना प्रभाव हमारे मन, बुद्धि, शरीर ओर वातावरण के अलग-अलग पहलुओं में हम सुख का भोग करने योग्य हो जाते हे दूसरे शब्दों में, बाहर के अलग-अलग दुखों का कारण तो केवल बाहर की दुनिया में ईश्वरीय तत्व के प्रभाव की कमी है। अस्तित्व को केवल आनन्द का है, दु ख का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है।

ध्यान में साधक अपने अस्तित्व को भूल जाता है उसे केवल इतना ज्ञान रहता है कि मै धारणा के साथ तदाकार हो गया हूँ। धारणा का तदाकार ही ध्यान है। यह स्मरण रखना चाहिए कि निर्धारित धारणा के अनुसार ही ध्यान योग्य के साधक में गुणों का प्रस्फुटन होता है जैसे चन्द्रमा के ध्यान से शरीर में शीतलता बढती है। सूर्य के ध्यान से शरीर में गर्मी बढती हे। इसी प्रकार जब साधक परमपिता परमेश्वर का नाम या रूप का ध्यान करता हे ता उसके अन्दर वेसे ही गुण उत्पन्न होने लगते है। चूकि ईश्वर सद चिद आनन्द है इसलिए उस योग साधक का चित्त, सात्विक गुणों वाला हो जाता है। और उसका जीवन आनन्द से भरने लगता है या भर जाता है।

ध्यान के प्रकार -

प्रत्येक धारणा सिद्ध हो जाने पर ध्यान बन जाता है अर्थात जितने प्रकार की धारणायें हो सकती है उतने ही प्रकार के ध्यान हो सकते हैं। किन्तु यहाँ पर जिस ध्यान की बात की जा रही है वह बाह्य जगत से सबधित नहीं है। उसका सबध तो अन्त जगत को आनन्दित बनाने वाले ईश्वरीय ध्यान मे है। वैसे तो ईश्वरीय ध्यान

की अनेकों विधिया है कि उन समस्त विधियों पर गहराई से चिन्तन करने पर उन्हें दो भाग में बाट सकते है।

1 स्थूल स्थान अर्थात सगुण ध्यान या साकार ध्यान।

2 ूक्ष्य ध्यान अर्थात निगुण ध्यान या निराकार ध्यान।

1 **स्थूल ध्यान** स्थूल ध्यान में साधक द्विारा अपने ईष्ट जैसे भगवान कृष्ण, राम, शिव, गायत्री, दुर्गा या सदगुरू जैसे स्वामी दयानन्द जी, स्वामी, विवेकानन्द, कबीरदास जी आदि अथवा अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक आदि के साकार रूप का आधार लिया जाता है।

साकार ध्यान की विधि – सर्वप्रथम किसी ध्यानात्मक आसन में बैठते है। तत्पश्चात् प्रत्याहार के द्वारा मन को अन्तर्मुखी कर के धारणा द्वारा मन की एकाग्रता बढाते है। अब अपने सामने रखे हुए इष्ट के चित्र अथवा मूर्ति को एकटक देखते रहे। इस समय नेत्रों के हावभाव को ऐसा रखते है जैसे नींद आ रही हो अर्थात आखें को न तो बन्द ही रखते है और न पूरा खुला रखते है। कहने का तात्पर्य यह है कि आखं इतनी खोले कि मात्र इष्ट का रूप हीं दिखाई पडे। कुछ देर देखने के बाद आखे बन्द कर लें और उस चित्र या मूर्ति को अन्दर की आखों से देखें। जब तक वह रूप या चित्र दिखे, देखते रहे। जब न दिखे तो पुन आधी आखे खोलकर उस मूर्ति या चित्र को एकटक देखें। कुछ देर के बाद पुन आखे बन्द करके पूर्ववेत अन्दर ही आखों को देखें। यह क्रम तब तक दोहराते रहें, जब तक यथावत् चित्र या मूर्ति चित्त में न समा जाय। यह स्मरण रहना चाहिए कि ध्यान में जिसका ध्यान करते हैं उसके गुण प्रस्फुटित होने लगते हे। साधकों का तो अनुभव है कि उनकेसकटकाल में उसका इष्ट उनकी तत्काल सहायता करता है। सिद्ध साधकों को तो यहा तक अनुभव है कि उनका इष्ट उन्हें हर क्षण, हर पल, उनका मार्ग दर्शन करता है।

सूक्ष्म ध्यान या निराकार ध्यान की विधि कहीं भी एकात में थोडा सा अधेरे में उस आसन में बेठ जायें जिसमें बिना किसी प्रयास के काफी समय तक बैठ सकें। अब अपने इष्ट देव का नाम लेकर एक बार मन में सोच लें और मन को आजाद छोड दें। ईश्वर केकिसी नाम या रूप में ध्यान लगायें। यदि बेठने में मन न लगे तो कुछ समय के अन्रत पर ऐसा बार-बार भी कर सकते हे। लेकिन यह जरूरी नहीं है। मन को आजाद छोडते ही हो सकता है कि अष्टाग के विचार आने लगे। इसे बुरा नहीं समझा चाहिए। न बाधा समझना चाहिए। क्योंकि बाधा को बाधा मानने से बाधा होती है और

बाधा न मानने से बाधा नहीं होती। हमें एक बार में कम से कम बीस पच्चीस मिनट बैठना है। यदि बीच में आख खुल जाय तो समय देख लें। यदि समय कम हुआ है तो आख बन्द कर लें। यदि ध्यान के समय किसी बाधा वश नेत्र खोलने पडें तो इसे भी बुरा नहीं मानना चाहिए। बल्कि पुन आख बन्द कर फिर बैठ जाना चाहिए। लेकिन कभी यह प्रयास नहीं करना चाहिए कि आवाज कानों में न आये' प्रयास का अर्थ है कि मन स्वतन्त्र अवस्था में नहीं है। यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि किसी तरह कोई प्रयास होगा तो ईश्वरीय क्षेत्र का सुख नहीं उभरेगा। दुसरे शब्दों में ईश्वर का ध्यान कभी भी ठीक नहीं चलेगा। कभी भी नगी जमीन पर बैठकर ध्यान नही करना चाहिए। किसी भी बिजली के कुचालक पर बैठ कर ध्यान करें। यदि किसी के पैरों में गठिया का रोग है तो वह कुसी या सोफा पर बैठकर भी ध्यान कर सकते हैं। लेकिन पैर नगी जमीन पर नहीं होने चाहिए। ध्यान के बोद थोडी देर शवासन अवश्य करना चाहिए।

साक्षी ध्यान किसी भी सुखासन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जायें। यदि किसी कष्ट के कारण प्रारम्भ में सीधे बैठने में कठिनाई हो तो श्वासन की स्थिति में लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं। ध्यान कुर्सी पर बैठकर भी किया जा सकता है। किन्तु ध्यान रहे कि शरीर का सीधा सबध पृथ्वी से न हो। अब आखे बन्द कर लें। आख बन्द करते ही मन या मस्तिष्क में जो भी जैसे भी विचार आ रहे हों, उन्हें चुपचाप साक्षी भाव से देखते रहे। अर्थात विचार कैसे भी हो, अच्छे या बुरे, प्रतिकूल या अनुकूल, कष्टकारी या कल्याणकारी सभी को साक्षी भाव से देखतेरहे। केवल देखते रहें। आने जाने वाले विचारों को न रोकना है, न पकडना है, न भागना है। बस एक मात्र साक्षी भाव से दृष्टाभाव से सहज भाव से देखना है। कुछ ही देर में विचारों की ऑधी स्वत शान्त हो जायेगी। इस शान्त स्थिति को कुछ देर तक साक्षी भाव से देखते रहें। इसे विचार दर्शन कहते हे।

अपने अपने मन को पेट पर लगायें और यह देखें कि जब श्वास अन्दर जा रहा है तो पेट बाहर आ रहा है। पेट अन्दर जा रहा है और श्वास बाहर आ रहा है। इस प्राकृतिक एव शाश्वत क्रिया को पूर्ववत साक्षी भाव से द्रष्टाभाव से सहज भाव से देखते रहें। जब तक सहज भाव से मन देखना चाहे, उसे देखने दीजिए। इसे श्वास प्रश्वास दर्शन कहते हैं।

अब मन की मात्र पेट के अन्दर बाहर होने वाली क्रिया को देखने में लगा दीजिए। पेट अन्दर जा रहा है, पेट बाहर आ रहा है। पेट के इस अन्दर बाहर होने की इस क्रिया को भी साक्षी भाव से देखें, द्रष्टा भाव से सहज

भाव से देखते रहें। यह ध्यान रखें कि नाभि का एक भी स्पन्दर बिना जानकारी के न हो। इसे पेट का स्पन्दर दर्शन कहते है।

इस बीच यदि मन किसी अन्य विचारों में चला जाय तो उसे ध्यान का टूटना या ध्यान में बाधा न मानें। क्योंकि बाधा को बाधा मानना ही बाधा है। इस स्थिति में यदि नींद आ जाये तो नींद को भी न रोकें। राकने से नींद अधिक आती है और तनाव भी पैदा करती हे। वैसे ही जैसे विचारों को रोकने से साक्षी भाव से, द्रष्टा भाव से, सहज भाव से, समता भाव से, तटस्था भाव से, अनित्य भाव से, देखने पर स्वत शान्त हो जाते हैं। उनके सस्कार कमजोर हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हे। फलस्वरूप धीरे-धीरे मन निर्मल हो जाता है। स्वच्छ हो जाता हे। सत्यम्-शिम् का अनुकरण करने लगता है। आत्मा का प्रकाश सीधे मन को प्राप्त होने लगता है। अर्थात 'आत्म साक्षात्कार' की साधना प्रारम्भ हो जाती हे। आनन्द का अनुभव होने लगता है।

यदि साक्षी ध्यान करते समय बाह्य बाधा भी आ जाय तो उसेस भी बाधा न माने जैसे ध्यान करते समय दूध वाला आ गया और घर में कोई दूसरा सदस्य नही हे तो ध्यान स उठकर दूध ले लें ओर पुन ध्यान आसन में बैठ जाये। इसी प्रकार से बाहर की आवाज सुनाई पडे तो उसे भी बाधा न मानें। साक्षी भाव से सुनें। कुछ देर में मन स्वत शान्त हा जायेगा।

कोई काम, कोई योजना, किसी समस्या का हल ध्यान करते समय आ रहा हो तो तुरन्त लिख लें। इसीलिए ध्यान करते समय पेन कागज लेकर बैठना चाहिए।

इस प्रकार प्रतिदिन साक्षी ध्यान से कम से कम पाच मिनट मे बीस मिनट तक के अभ्यास से तनाव, निराशाय, भय, उत्तेजनायें, अवसाद (डिप्रेशन) की भावनायें भी धीरे-धीरे स्वत ही नष्ट होती चली जाती है और इन भावनाओं के कारण उत्पन्न कष्ट जेसे जोडों के दर्द, अनिद्रा, रक्त चाप स्मरण शक्ति की कमजोरी, चिडचिडापन, क्रोध आदि शारीरिक एव मानसिक विकार शीघ्र दूर हो जाते है जो मात्र औषधियों से नही जाते। स्वस्थ अवस्था में भी साक्षी ध्यान को करने से सम्पूर्ण दिन तनाव रहित एव शान्ति से गुजरता है। रात में यह साक्षी ध्यान करके सोने से स्वप्न रहित नींद आती है। जिससे प्रात ब्रह्म बेला में स्वत ही नींद खुल जाती है।

इस प्रकार ध्यान से शरीर क स्नयुओं को लाभ होता है। रोगों का शमन होता है तथा मानसिक शक्तियों को बल मिलता है। इसका प्रभाव सूक्ष्म स्नायुओं तक पहुचता है। ध्यान के बाद अपने में एक प्रफुल्लता, मानसिक

शान्ति और नव जीवन का अनुभव होने लगता है। साधक को अपनी साधना का सफलता केलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह भय, क्रोध, उत्तेजना अनावश्यक सकल्प को प्रभावित नहीं कर सकेगी। साधक अपनी मानसिक वृत्तियों को बाहरी वस्तुओं से खींचकर भीतर ले जाने में समर्थ होंगे तथा अन्दर जो ब्रह्माण्ड है, उसमें लगा सकते हें। इसी अवस्था सको अन्तर्मुख भी कहते हैं। यदि इन्द्रियों के बाह्य गमन सेस उसके मानस में भय, क्रोध आदि वृत्तिया जाग्रत होती है तो उनका प्रभाव तत्काल उसके ध्यान पर पडता है। उस समय ध्यान जन्म उत्पन्न ज्योति भी धूमिल होकर लुप्त हो जाती है। इन वृत्तियों का निरोध ओर उनको शुद्ध सात्विक रखना ही योग है।

समाधि

प्रत्येक मानव जीवन में सुख का आकाक्षी है, अर्थात वह दुख कभी नहीं चाहता, परन्तु सुख अभीष्ट होते हुए भी या तो आता ही नहीं या आकार भाग जाता है। यह एक उसके सामने गम्भीर समस्या है जिसक निवारण हतु लाखों बुद्धिजीवियों ने अपनी आहुति कर दी किन्तु आशिक सफलता के अतिरिक्त उन्हें इस सभोतिक जगत में स्थायी सुख की उपलब्धि नहीं मिल सकी। फलस्वरूप भौतिकवाद से हटकर कुछ लोगों ने प्रकृति का अवलोकन किया और प्रकृति मा की गोद में रहकर प्राकृतिक नियमों के अनुसार चले तो उन्हें भौतिकवाद की अपेक्षा अधिक सुख मिला। उनमें से कुछ असतोषी प्रकृतिवादियों ने स्थायी सुख प्राप्त करने की खोज जारी रखी। फलस्वरूप अध्यात्म विज्ञान उनके हाथ लगा। इस अध्यात्म विज्ञान की क्रियापक्ष का नाम दिया गया। 'समाधि' जिसके अभ्यास से तमोगणी भी सतोगुणी हो जाते हैं।

वास्तव में समाधि का सामान्य अर्थ है चित्त का समाहित हो जाना। योग साधना में समाधि सिद्धि का फल है 'ज्ञान'। जिससे व्यवहार जगत, जड जगत एव ईश्वरीय जगत के पूर्ण सत्य का ज्ञान हो जाता है और वह साधक मान, अपमान, हर्ष-विवाद, लाभ-हानि, अनुकूलता प्रतिकूलता, सयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, यश अपयश दोनों ही की प्राप्ति में सम बना रहता है, तटस्थ रहता है। ऋषि पतञ्जलि ने समाधि क बारे में कहा है कि "जब अपने आपको भूलकर लक्षित लक्ष्य ही हमारे दर्शन का विषय रह जाता है, तो उसे समाधि कहते है।[1] समाधि काल में साधक ओर साध्य, विचारक और विचार देव और भक्त, कर्ता और कार्य दोनों एक हो जाते हे, उनका अन्त समाप्त हो जाता है। जो कुछ प्राप्त करने का है वह सब प्राप्त हो जाता है। कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। ध्यान से हमारे विचारों का सतत प्रवाह अपने लक्ष्य की ओर बहने लगता है, परन्तु लक्ष्य की ओर बहने लगता है, परन्तु लक्ष्य की ओर एकाग्रता होने पर भी हम अपनी स्थिति नही भूलते। अहम् का भान रहता है। जब हम अपने अस्तित्व को भूलकर लक्षित तथ्य में एकाकार हो जाते हैं, तो वह स्थिति समाधि की होती हे। यह समाधि चित्त की ऐसी सूक्ष्य

अवस्था है, जो पदार्थ के तत्वों को विश्लेषण करके पदार्थ के सूक्ष्य स्वरूप का साक्षात्कार करा देती है जिसके पीछे पदार्थ की वास्तविकता के विषय में पुन सन्देह, सशय, विपयर्य, विकल्प आदि अज्ञान या मिथ्याज्ञान के प्रवेश केलिए अवकाश ही नहीं रहता। इसी का दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते है कि वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल ध्येय मात्र भासता है ओर उसका (ध्यान का) स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है या यों कहिए कि जब मत ध्येय पदार्थ में पूर्णत लीन हो जाता है तो उसे समाधि कहते है। वास्तव में समाधि की अवस्था में मन ध्येय (जिसका ध्यान किया जाय। के साथ एक रूप हो जाता है। फिर न ध्यान रहता है ओर न ध्याता (ध्यान करने वाला) अर्थात समाधि में त्रिपुटी का क्षय हो जाता है। त्रिपुटी का अर्थ है धारणा, ध्यान में बदल जाये ओर ध्यान, समाधि में बदल जाय। अर्थात मन ध्येय के अनुसार हो जाता हे चूकि ध्यान का निमित्त मात्र बनने तक निमग्न बना रहता है। फलस्वरूप जब उसका मुख खुलता है तो वह बिना प्रयत्न के ईश्वर के शब्द बोलता है ओर जब उसका भौतिक जगत में पुरूषार्थ का कदम उठता है तो आश्चर्यमयी रचनात्मक कार्य करता है। उसके द्वारा उसके आसपास के वातावरण में सुख एव शान्ति की वृद्धि होती है। रजोगुण एव तमोगुण नष्ट होने लगता है। सतोगुण अवस्था है। धारणा ध्यान की परिपक्व अवस्था है और धारणा प्रत्याहार के माध्यम से पकता है।

आत्मा परमात्मा का ही अश है। जो गुण परमात्मा के ही गुणों का जीवन में प्रस्फुटन होने लगता हे। समाधि वह अवस्था है जहा आनन्द ही आनन्द है। जिसके बाद वह साधक जब भौतिक जगत में लौटता है तो उसके जीवन में चिन्ता, भय, तनाव, निराशा, अकर्मण्यता, विस्मृति, मानसिक विकार जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, परदोष दर्शन समाप्तस हो जाते हैं। वह पूर्ण कर्म योगी बन जाता है। फिर भी वह अपने को अकर्ता ही मानता है और उसके जीवन में सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, स्वाध्याय, सतोष, तपस्या, ईश्वर प्राणिधान, स्वाभाविक गुण बन जाते है।

समाधि सिद्धि का अनेक मार्ग है। अष्टाग योगी को चित्त वृत्ति 'निरोध द्वारा समाधि' भक्ति योगी को भगवत प्रेम द्वारा भाव समाधि, वेदान्ती को मिथ्यात्व बुद्धि और अन्वय की करीति से सच्चिदानन्द के चिन्तन द्वारा 'भेद समाधि' प्राप्त होती हे। इस प्रकार मे समाधिस्त योगियों को केवल उसका

---

1 तदेवार्थमात्रानिर्भासस्वरूपशून्यमिव समाधि। (यो सू 3-3)

शरीर हिलाकर या शख आदि ध्वनि बजाकर उसकी समाधि से उसे सामान्य चेतना में ला सकते है किन्तु हठयोगी के साथ यह यह व्यवहार नहीं सफल होता क्योंकि हठ योग का साधक सारे शरीर से प्राण को खींचकर ऊपर सिर के भाग सहस्रात चक्र ले जाता हे तब वह समाधि में प्रवेश करता है। हठयोगी समाधि में वर्षो तक पृथ्वी के नीचे दबे रहते है।

यदि ध्यान योग का अभ्यासी अपने मन को किसी एक वस्तु पर अथवा मूर्ति पर दस सेकेण्ड (ढाई श्वास-प्रश्वास) तक स्थिरता से एकाग्र कर यह धारणा होती है। ऐसी दस धारणाओं (पच्चीस श्वास-प्रश्वास) को ध्यान कहत हैं। दस ध्यान (दो सौ पचा श्वास प्रश्वास) से समाधि बनती है।

ईश्वरीय ज्ञान जब समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह चेतना खोकर ध्येय के साथ एकाकार हो जाता है। ईश्वरीय समाधि के फलस्वरूप रहस्यमयी ज्ञान की एक झलक मात्र से समस्त भौतिक जगत कीसत्ता का अन्त हो जाता हे और ससार स्मरण या सकीर्तन आदि आत्मा को बिल्कुल छोड देता है। जिससे उसके शरीर इन्द्रियों, मन एव बुद्धि को गहरा विश्राम मिल जाता है और ससार से पुन पूर्ववत वैसी ही शक्ति से भर जाता है। जैसे जब वह स्वप्न रहित प्रगाढ निद्रा के बाद अनुभव करते हैं किन्तु निद्रा की अवस्था में जितने विश्राम का अनुभव होता है उतने विश्राम का अनुभव समाधि में कुछ मिनटों में मिल जाता है। इसलिए योगी अल्प ही सोता हैया यों कहिए कि सामान्य व्यक्तियों की तरह वह सोने में समय नष्ट न करके समाधि के द्वारा अपने को तरोताजा किये रहता है।

समाधि दो प्रकार की होती है - सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि उच्च श्रेणी की समाधि नही है। सविकल्प समाधि के सस्कारों का पूर्ण क्षय नही होता हे। इस सविकल्प समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का पूर्ण एकत्व नही होता, पृथकत्व बना रहता है। इसमें मन के लिए एक आश्रम बना रहता है, परन्तु निर्विकल्प समाधि में यह त्रिविध स्वरूप नष्ट होकर केवल एकत्व अर्थात अद्वैत तत्व ही रह जाता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का अन्तर मिट जाता है। इसमें आत्मा का पूर्णानन्द प्राप्त हो जाता है।

समाधि के दो और भेद हे, जड समाधि और चैतन्य समाधि और चैतन्य अर्थात् ज्ञान पूर्वक समाधि। जड समाधि में कोई चैतन्य नही रहता, वह एक गहरी नींद के समान है। इसमें सस्कार और इच्छाओं का नाश नही होता। साधक को इसमें अन्त प्रज्ञा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। हठयोग में खेचरी मुद्रा से यह प्राप्त होता है। योगी प्राण को देह के किसी स्थान में विशेष में बाध देता है और शव की तरह उसका शरीर काम करना छोड देता है। यह विशेष में

बाध देता है और शव कीतरह उसका शरीर काम करना छोड देता है। यह निम्न श्रेणी की समाधि है। परन्तु सबसे श्रेष्ठ श्रेणी की चैतन्य समाधि है। इसमें दिव्य ज्ञान की स्थिति होती है और सब इन्द्रियां के दिव्य विषय प्रकट होने लगते हैं। चेतना व्यवस्था की चार स्थितिया हैं -

1 जाग्रत 2 स्वप्न 3 सुषुप्ति अथवा गहरी निद्रा की अवस्था और 4 तुरीया अवस्था अर्थात अपरिमेय जाग्रत अवस्था/ यह चैतन्य समाधि की स्थित है।

इससे आगे जब आत्मा की पृथक स्थिति नही रहती और वह ब्रह्म में समाहित हो जाती है तब उसे 'तुरीयातीत' स्थिति कहते हे। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उतावलापर नही करना चाहिए और वह यदि शीघ्र प्राप्त न हो, तो निराशा भी नहीं होना चाहिए। क्रम से बढते जाने पर अनायास सफलता मिल सकती है। उसके दृढ निश्चय होना नितान्त आवश्यक है।

सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के दो और मुख्य भेद किये है - सम्प्रज्ञात समाधि ओर असम्प्रज्ञात समाधि। पुन सम्प्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। 1 वितर्कानुगतसम्प्रज्ञात समाधि 2 विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि 3 आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि और 4 अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।[1] इनके अतिरिक्त वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के दो और भेद हैं - सवितर्क सम्प्रज्ञात और निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि। इसी प्रकार विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेद हैं - सविचार सम्प्रज्ञात समाधि औ निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि। इस प्रकार से सब मिलाकर सम्प्रज्ञात समाधि के आठ भेद हैं। असम्प्रज्ञात समाधि दो हैं - भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय समाधि। इस तरह से मिलाकर महर्षि पतञ्जलि ने समाधि की दस भूमिया प्रतिपादित की हैं। योगी को इन समाधि भूमियों को क्रमश पार करते हुए अन्तिम ब्राह्मी स्थिति को पार करना होता है। यही योग का अन्तिम लक्ष्य या ध्येय है। अब इस समाधि के प्रकारों का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

प्रारम्भिक अवस्था में जब साधक का चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है तथा ध्येय के अतिरिक्त बाह्य वृत्तिया शान्त हो जाती हे। उस समय साधक इन्द्रियों के स्थूल या सूक्ष्म विषयों को या अन्त करण और इन्द्रियों को अथवा बुद्धिस्थ पुरूप को जिसको भी ध्येय बनाकर अपने चित्त को उसमें भगातना है उस समय चित्त उस ध्येय वस्तु में स्थित होकर तदाकार हो जाता है। इस समय साधक को ध्येय वस्तु के स्वरूप का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान सशय रहित होता है। इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

---

1 ''वतर्क विचारानन्दास्मितानुगयात् सम्प्रज्ञात'' योग (1-17)

मन और इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं - 1 स्थूल और 2 सूक्ष्म। इनमे से किसी एक स्थूल पदार्थ को लक्ष्य बनाकर उसके स्वरूप को जानने के लिए जब योगी अपने चित्त को उसमें लगाता है तथा प्रारम्भ में वस्तु के अनुभव के साथ उसके नाम और रूप के विकल्प का मिश्रण भी साथ में हाता रहता है अर्थात उसके स्वरूप के साथ उसके नाम और प्रतीति की भी चित्त में स्फुरण रहती है उसे सविकल्प या सवितर्क समाधि कहा जाता है।

अभ्यास करते-करते जब साधक के चित्त में ध्येय वस्तु के नाम की स्मृति लुप्त हो जाती है और उसको विषय करने वाली चित्त वृत्ति का भी स्मरण नहीं रहता तब अपने स्वरूप का भी ध्यान न रहने के कारण चित्त के स्वरूप के अभाव की स्थिति हो जाती है एव उस समय सब प्रकार के विकल्पों का अभाव हो जाने के कारण केवल ध्येय पदार्थ के साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येय को प्रकाशित करता है इस अवस्था का नाम निर्वितर्क समाधि भी कहते है।

जिस प्रकार स्थूल पदार्थो की समाधि की जाती है उसी प्रकार सूक्ष्म पदार्थो की समाधि की दो अवस्थाए होती हैं अर्थात जब सूक्ष्य ध्येय पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए उसमें चित्त को स्थिर किया जाता है तब पहले उसके नाम रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिला हुआ अनुभव होता है वह स्थिति सविचार समाधि कहलाती हे एव जब नाम और ज्ञान का भी विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थ का ही अनुभव होता है, वह स्थिति निर्विचार समाधि का निर्विकल्प समाधि कहलाती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक योगी को सूक्ष्म बीजरूप से किसी न किसी ध्येय पदार्थ का विषय करने वाली चित्तवृत्ति का अस्तित्व सा रहता है तब ये सम्पूर्ण वृत्तियों का पूर्णतया निरोध न होने के कारण ये अवस्थाए सबीज समाधि कहलाती है। एव इनसे पुरूष को कैवल्य अर्थात मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

किन्तु निर्विचार समाधि के सतत् अभ्यास से जब योगी के चित्त की स्थिति सर्वथा परिपक्व हो सजाती है ओर उसकी समाधि स्थिति में किसी प्रकार को किचितमात्र भी दोष नहीं रहता उसी समय योगी की बुद्धि ऋृतम्भरा। प्रज्ञा कहलाती है एव उसे वस्तु के सत्य रूप को ग्रहण करने में कोई भ्रम नहीं रहता। इस प्रकार ऋृतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाने से साधक को वस्तु के स्वरूप का अग प्रत्यगों साहित पूर्व ज्ञान हो जाता है।

मनुष्य जिस किसी भी वस्तु का अनुभव करता है, जो कुछ भी किया करता है, उन सभी के सस्कार अन्त करण में एकत्र हुए रहते हैं। उन्हीं को योगशास्त्र में कर्माशय कहा गया है। इन्हीं के कारण मनुष्य का बार-बार जन्म-मरण होता है और जब तक कर्मो का पूर्णतया नाश नहीं होता तब जीवन आवागमन से मुक्त नहीं हो पाता लेकिन यथार्थ बुद्धि अर्थात ऋृतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हाने पर मनुष्य को प्रकृति के

यथार्थ रूप का भान हो जाता है और वह अपने आपको प्रकृति से पूर्णतया पृथक जान लेता है जिससे प्रकृति के कार्यो से स्वत वैराग्य हो जाता है एव इससे पूर्व इकटठे हुये सब प्रकार के सस्कार क्षीण हो जाते हैं। सस्कारों का अभाव हो जाता है तथा सस्कारों में आशक्ति न रहने से उसका पूर्णतया निरोध हो जाता है ओर सस्कारों की उत्पत्ति ही नहीं होती अर्थात सस्कारों की उत्पत्ति ही समाप्त हो जाती है। समाधि सकी यह अवस्था निर्बीज समाधि कहलाती ह। इस अवस्था को प्राप्त कर योगी मुक्त हो जाता है। तब उस दृष्टा कल निज स्वरूप में स्थिति हो जाती है।[1]

समाधि सिद्धि की विधि - किसी ध्यानात्मक आसन में बैठकर पहले कुछ दिन प्रत्याहार के द्वारा मन को अन्तर्मुखी करने का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात अपने ब्रह्मनिष्ठ गुरू केमार्गदर्शन में अपने चित्त के अनुसार धारणा का चुनाव करवाकर उसे पुष्ट बनावें क्योंकि धारणा ही ध्यान हो जाता है और फिर ध्यान ही धारणा के अनुसार समाधि में बदल जाता है।

ध्यान में सहायक श्वसन एव योग निद्रा -

योग निद्रा योग की ऐसी क्रिया है जिससे कोई भीस मानव, जो शारीरिक एव मानसिक थकान से पीडित हो अथवा जिसका सतुलन बिगड गया हो। अल्प समय में ही अपनी शारीरिक एव मानसिक थकान को मिटा सकता है तथा नियमित अभ्यास से भावनात्मक सतुलन प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार योग निद्रा सेमन को एकाग्र करने का अभ्यास भी किया जा सकता है। कुछ लोग इसलिए योग निद्रा को ध्यान कीएक पूर्व क्रिया भी कहते हैं।

यदि एक स्वस्थ व्यक्ति को भी कुछ नींद न लेने दे, तो उसके दिमाग को असतुलित होते देर न लगेगी बीमान व्यक्ति का मस्तिष्क स्वस्थ व्यक्ति के अनुपात में यदि और जलदी असतुलित हो जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए अर्थात स्वस्थ एव अस्वस्थ दोनों ही के लिए भोजन की तरह अच्छी नींद का आना भी आवश्यक है। लेकिन जिस प्रकार भोजन गडबडी से कोई भी मनुष्य स्वस्थ नहीं हो सकता उसी प्रकार यदि अच्छी नींद लेने की सही जानकारी नही हैतो अनिद्रा, रक्तचाप, कम्पन, घबराहट आदि स्नायु सबधी रोगो से बहुत दिनो तक नहीं बचा जा सकता। सही बात तो यह है कि ससार के सभी मनुष्य नींद लेते हैं परन्तु इसकी सही कला का ज्ञान बहुत कम लोगों को है। फलस्वरूप नींद से जितना आराम मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता और लोग जीवन की चिताओं तथा तनावों को बोझ लिए बिस्त पर लेट जाते हैं। इस प्रकार वह सोचते-सोचते थक जाते हैं तो अर्थ चेतना की अवस्था में ही सो

---

1 तदाद्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।। योग सूत्र (1/3)

जाते हैं। इस अवस्था में उन्हें स्वय भी पता नहीं लगता कि वह सोच रहा है कि सो रहा है। फलस्वरूप अर्थ नींद में मन की उलझनों को विविध दृश्यों तथा रूपों मं स्वप्न के रूप में देखता है। इस अवस्था में जबकि उसका शरीर कुछ भी नहीं कर रहा है, फिर भी मानसिक तनावों के कारण उसकी थकाल दूर नहीं हो पाती जिसस वह सुबह बिस्तर से उठने में सुस्ती, कमजोरी, दर्द और थकान का अनुभव करता है। लेकिन यदि कोई भी मनुष्य सोने से पहले योग निद्रा का अभ्यास करले और तब सोये तो सुबह जागने पर मनुष्य न केवल शारीरिक एव मानसिक थकान से मुक्ति का उसे अनुभव होगा बल्कि कुछ दिनों के पश्चात अपने भावनात्मक तनावों से भी छुटकारे का अनुभव करेगा। वैज्ञानिकों ने योग निद्रा पर बहुत प्रयोग किये है। जिसके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि एक घण्टे की योग निद्रा का अभ्यास रात्रि चार घण्टे की नींद के बराबर होती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को बीस-तीस मिनट तक नियमित अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए योग निद्रा सका अभ्यास बहुत सहायक होता है क्योंकि योग निद्रा में विचारों को केन्द्रित करके उन्हें मनचाही दिशा में मोडा जा सकता है। योगन्रिद न तो सोने की क्रिया है और न जागने की क्रिया है बल्कि सोने और जागने के बीच की अवस्था है। आधुनिक मनोचिकित्सकों ने भी सिद्ध कर दिया है कि इस बीच की अवस्था मे जो भी निर्देश चाहें वह स्वय ले अथवा कोई उसे दूसरा दे उसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसके तन मन पर आ जाता है। इसीलिए योग निद्रा में दिया निर्देशन अथवा दोहराया सकल्प अवश्य पूरा होता है।

योग निद्रा के अभ्यास से असाध्य कष्ट जैसे हृदय रोग, रक्तचाप, मधुमेह, दमा आदि के रोगियों को भी जल्दी लाभ पहुचाया जा सकता है। योग निद्रा का अभ्यास करने वालो के लिए सबसे पहले श्वसन अवश्य करना चाहिए।

श्वासन की विधि जमीन या तख्त पर कम्बल या दरी बिछाकर पीठ के बल लेट जाइऐ। बाहों को शरीर से कुछ दूर रहिखये, हथेली का मुह आसमान की ओर करके मुट्टी आधी खुली आधी बन्द रहना चाहिए। पैरों को आराम की स्थिति में आपस में थोडा दूर-दूर रखना चाहिए। अब आखें बन्द करके पूरे शरीर को ढीला छोड दीजिए शरीर का कोई भी अग हिलना नही चाहिए। मन को का श्वास-प्रश्वास की क्रिया को देखने में लगा देना चाहिए। कुछ देर ऐसा करने के बाद मन को नाभि के स्पन्दन को देखने में लगा देना चाहिए। इस प्रकार कुछ मिनटों तक पहले अपने श्वास के प्रति फिर नाभि के स्पन्दन के प्रति जागरूक रहने से शारीरिक तनाव से अपने को मुक्त कर लें। श्वासन के पश्चात् अब योग निद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

योग निद्रा का अभ्यास

पैरों से सिर तक हर अग का निम्न क्रम से चितन करना चाहिए। चिन्तर में स्वय ही स्वय को विश्वास एव मधुरता के साथ धीरे-धीरे आदेश देते हैं और आदेश का पालन हो रहा है यह अनुभव करें। तो अब योग निद्रा शुरू करें।

''मै बाया पैर नहीं हूँ। बायें पैर से भिन्न बायें पैर का साक्षी हूँ।''

यह आदेश देकर कुछ रूकें औ आदेश का पाल सम्पूर्ण बायें पैर को धीरे-धीरे हल्का होने के रूप में अनुभव करें। धीरे-धीरे जब सम्पूर्ण पैर हल्का हो जाये अर्थात् मन से बायें पैर का अस्तित्व ही समझ में न आये तब आगे बढें।

''मै दाया पेर नहीं हूँ। दायें पैर से भिन्न दायें पैरे का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष बायें पैर की तरह अनुभव करें।)

''मै बाया हाथ नहीं हूँ। बायें से भिन्न दायें बायें हाथ का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै पीठ नहीं हूँ। पीठ से भिन्न पीठ का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै छाती नहीं हूँ। छाती से भिन्न छाती का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै गर्दन नहीं हूँ। गर्दन से भिन्न गर्दन का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै बाया कान नहीं हूँ। बायें कान से भिन्न बाये कान का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै दाहिना कान नहीं हूँ। दाहिने कान से भिन्न दायें दाहिने कान का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै बायीं आँख नहीं हूँ। बायीं ऑख से भिन्न बायीं ऑख का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै दाहिनी ऑख नहीं हूँ। दाहिनी ऑख से भिन्न दाहिनी ऑख का साक्षी हूँ।'

यह आदेश (शेष ऊपर की नरह)

''मै बायी नाक नहीं हूँ। बायी नाक से भिन्न बायीं नाक का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेष ऊपर की तरह)

''मै दायी नाक नहीं हूँ। दायी नाक से भिन्न दायी नाक का साक्षी हूँ।''

यह आदेश (शेप ऊपर की तरह)

अब कुछ रूक कर धीरे से मन को श्वास के आने जाने के साथ लगा देना चाहिए। फिर कहें ''मै श्वास नरहीं हूँ। श्वास से भिन्न श्वास का साक्षी हूँ।'' इस

विध से जब अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में चले जाते हैं तब स्वय का भान नहीं रहता है।

योग निद्रा तोडने की विधि -

जैसे योगनिद्रा की तैयारी की गयी हे उसी प्रकार स योग निद्रा तोडने की विधि भी अपनायीस जाती है। अचानक योग निद्रा तोडने से अथवा विधि के साथ न तोडने से लाभ कम हो सकता है। अत योग निद्रा निम्न क्रम से तोडें-

1 सबसे पहले आसपास के वातावरण का स्मरण करना चाहिए।

2 फिर अपने आस पास की वस्तुओं का स्मरण करें।

3 उसके बाद अपना नाम याद करना चाहिए।

4 अपन को धीरे से श्वास के साथ लगायें, उसके अन्दर-बाहर जाने की प्रक्रिया को देखें, आठ-दस श्वास देखने के बाद मन को नाभि पर भगायें, उसके ऊपर, नीचे आने-जाने की क्रिया को देखें।

5 अब धीरे से अपने बाये पैरे को हल्के से अपने ही स्थान पर हिलाए। फिर अपना दाहिना पैर देखिए, हल्के से हिलायें। अपना बाया हाथ हल्के से हिलाए दाहिना हाथ, फिर पीठ, फिर गर्दन तथा बाद में अपने सम्पूर्ण शरीर को एक साथ हिलायें।

6 अन्त में अपने दोनों हाथों की हथेलियों को आपस में रगड कर आखो पर सेंक करना चाहिए। अब धीरे-धीरे आखे खोलना चाहिए और उठकर बैठ जायें। यही योग निद्रा है।

पंचम अध्याय

निष्कर्ष

निष्कर्ष

आज के वैज्ञानिक तथा सघर्ष बहुल युग में प्रशिक्षित तथा निर्विकार मस्तिष्क की महती आवश्यकता है। पातञ्जलि योगदर्शन एक स्वस्थ मस्तिष्क के सृजन हेतु एक विद्या प्रदान करता है। अत इस दर्शन का आज के युग में इस दर्शन का महत्व स्पष्ट है। आज याग ने विश्व को जितना चकाचौंध कर रखा है उतना शायद ही ज्ञान की किसी अन्य विद्या ने किया है। बात वास्तव में यह है कि दीर्घ ओर स्वस्थ जीवन हर समझदार व्यक्ति का अभीप्ट होता है। स्वस्थ जीवन की कुञ्जी प्रदान करने के कारण योग हर व्यक्ति का चाहे वह भोगी हो या फिर योगी - प्रिय बन गया है कहावत है Healthy mind in a healthy body ओर योग स्वस्थ शरीर में सही अर्थो में स्वस्थ मस्तिष्क का सृजन कर्ता है इसीलिए उसकी इतनी महिमा है। आयुर्वेद में समस्त चिकित्सा शास्त्र का उददेश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा अस्वस्थ अर्थात रोगग्रस्त शरीर को रोग मुक्त करना है। रोगग्रस्त शरीर को स्वस्थ करने के लिए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने बहुत ख्याति अर्जित की हे। औषधि युक्त चिकित्सा पद्धतियों में एलोपैथ, आयुर्वेद, यूनानी होमियोपैथ ादि प्रमुख है। जो कि दवाओं का सहारा लेकर शरीर को रोग मुक्त करते है। वही पर प्राकृतिक चिकित्सा योग द्वारा चिकित्सा, चुम्बकीय चिकित्सा आदि शरीर के रागो के मूल कारण भूत विकार को शरीर से बाहर निकालकर शमनात्मक एव दमनात्मक पद्धति के स्थान पर निष्कासनात्मक पद्धति को अपना कर शरीर को स्वस्थ रखने की बात करते है।

पूर्ण स्वस्थ वही हैजो कि शारीरिक रूप से, मानसिक रूप से आत्मिक रूप से, भावनात्मक रूप से एव सामाजिक रूप से स्वस्थ हो तभी कहा जायेगा कि वह पूर्ण स्वस्थ है।

महर्षि पतञ्जलि ने इन समस्त प्रकार के स्वास्थ्य लाभ को प्राप्त करने के लिए योगसूत्र में साधन पाद के अन्तर्गत 29वें सूत्र में अष्टाग योग का निरूपण किया हे वह आठ अग, ग्म, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि आदि है। जिसमें यम का पाल करने से व्यक्ति सामाजिक रूप से स्वस्थ रहता है। नियम का पालन करने से शरीर की आन्तरिक एव वाह्य शुद्धि करके विकार मुक्त रहता है। आसन करने से शरीर सुडौल गठीला मजबूत रहता है प्राणायाम से दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। प्रत्याहार धारणा एव ध्यान, समाधि आदि अन्तरग साधन हे। जिनके पालन से मनुष्य मानसिक और आत्मिक रूप से स्वस्थ रहता हे।

वस्तुत योगसूत्र की रचना के पीछे महर्पि पतञ्जलि का उददेश्य था- मनुष्य को उसके चतुर्थ पुरूषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति कराना। मोक्ष के सैद्धान्तिक पक्ष का पूर्ण विवेचन तो साख्य (जो योग से भिन्न नहीं हे) मे ही मिल जाता है किन्तु वह विवेकख्याति या मुक्ति अथवा कैवल्य साधक को किस प्रकार प्राप्त हो इस सम्बन्ध में साख्य सर्वथा मौन है जबकि योग का प्रधान लक्ष्य यही है कि वह साधक को कैवल्य तक पहुचने का मार्ग बताये। उसकी यही विशेपता उसे साख्य से अलग ओर ऊपर कर देती हे।

कैवल्य के साधको की महर्षि पतञ्जलि ने तीन कोटिया निर्धारित की है - प्रथम कोटि तो उन योगियों की है जिनको पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण धारणा ध्यान और समाधि (जो कि अष्टाग योग के अन्तरग उपाय है और जिनसे हर कोटि के साधक को गुजरना पडता है) सहज ही सिद्ध हो जाते हैं और फलस्वरूप वे सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात योग को सिद्ध करते हुये 'मुक्त' अथवा 'केवली' हो जाते है। दूसरे कोटि के योगी वे है जो तप स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान रूप 'क्रियायोग' के सहारे आत्म शुद्धि करते हुये धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धिकर कैवल्य लाभ

करते है। तृतीय कोटि के साधक वे है जो महर्षि पतञ्जलि द्वारा साधनपाद में उपदिष्ट यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का क्रम से विधिवत पालन किये बिना समाधि के अन्तग्ग धारणा, ध्यान और समाधि तक नही पहुच सकते। इन साधकों की ही सख्या अधिकतम हे। जो विविध प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकारों से ग्रसित है। स्पष्ट है कि इन्ही के लिए साधन में निर्दिष्ट अष्टाग योग की सर्वाधिक महत्ता है। अष्टाग योग के विधिवत पाल से ये साधक भले ही इस जन्म में माक्ष लाभ के अधिकारी न बन सके (क्योंकि मोक्ष तो अनेक जन्मो की सतत साधना का परिणाम है) लेकिन स्वस्थ शरीर और निर्विकार मस्तिष्क का लाभ करते हुये ये साधक एक स्वस्थ और हर प्रकार से सुखी, रोगविहीन जीवन यापन तो कर ही सकते है और देहपात के अनन्तर, दो चार जन्मों की साधना के पश्चात द्वितीय और प्रथम कोटि के साधकों की श्रेणी में पहुचकर अन्तत मोक्ष लाभ कर सकते है।

महर्षि पतञ्जलि का उददेश्य व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप में स्थित करके कैवल्य की प्राप्ति कराना था। परन्तु मेरा उद्देश्य इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से आज के कुत्सित वातावरण में जहॉ भौतिकता अप्राकृतिक जीवन विलासिता पूर्ण साधनों का सग्रह करने की होड लगी है नये-नये रोग हो रहे हैं मानसिक तनाव बढता जा रहा है, ऐसी परिस्थिति में महर्षि पतञ्जलि ने जो साधन बताये है उन साधनों का अर्थात साधन पाद के अन्तर्गत वर्णित अष्टाग योग का पालन करके मानव को एक स्वस्थ जीवन प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए साधन पाद को एक चिकित्मापद्धति के रूप में प्रस्तुत करना ही मेरा उददेश्य है।

---

1 चितेरप्रतिसक्रमायास्तदाकारापन्तो स्व बुद्धिसवेदनम्। या सू 4/21

2 दृष्ट दृश्योपरक्त चित्त सर्वार्थम्। य। सू 4/22

3 तदसख्येय वासनाभिश्चित्रमपि पदार्थ सहत्यकारित्वान्। यो सृ 4/23

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1	वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्	- डा0 परशुराम लक्ष्मण वैद्य तृतीय सस्करण वि0सम्वत 2040
2	प्राकृतिक आयुर्विज्ञान	आरोग्य सेवा प्रकाशन
3	पतञ्जलि योगसूत्र	- आचार्य रजनीश भाग एक, तीसरा सस्करण 2001
4	योगसमन्वय	- महर्षि अरविन्द, 1969 (श्री अरविन्द साहित्य खण्ड 3)
5	सरल योग चिकित्सा विधि भाग 4	- डा0 ओमप्रकाश आनन्द, प्रथम सस्करण
6	महर्षि सन्देश भाग 1	- आध्यात्मिक पुनरूथान आन्दोलन प्रथम सस्करण 1979
7	महर्षि सन्देश भाग 2	- आध्यात्मिक पुनरूथान आन्दोलन प्रथम सस्करण 1979
8	वैक और बाजार	- महेश योगी - तृती सस्करण
9	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	- प्रो0 सगत लाल पाण्डेय, द्वितीय सस्करण 1984
10	विश्व गुरू कल्पतरू	- श्री विश्वगुरू जी महाराज महामण्लेश्वर, अष्टम सस्करण 1994
11	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	- एम हिरियन्ना, पाचवा सस्करण 1985
12	पातञ्जल योगदर्शनम	- महर्षि व्यास देव तथा राजर्षि भोजदेव, द्वितीय सस्करण सम्वत 2018
13	पातञ्जल योग दर्शनम्	- आचार्य उदय वीर शास्त्री, प्रथम सस्करण 1978
14	कर्मयोग	- स्वामी विवेकानन्द, 21वा सस्करण
15	राजयोग	- स्वामी विवेकानन्द, 13वा सस्करण

16	भक्तियोग	स्वामी विवेकानन्द
17	प्रेमयाग	- स्वामी विवकानन्द
18	विवेकानन्द साहित्य भाग 4	- अद्वैत आश्रम प्रकाशन विभाग कलकत्ता
19	विवेकानन्द साहित्य भाग 7	अद्वैत आश्रम प्रकाशन विभाग कलकत्ता
20	योगसूत्र भाष्यसिद्धि	प्रो0 सुरश चन्द्र श्रीवास्तव, प्रथम सरकरण
21	YOGA MEDITATION AND GURU	- PURUSOTTAMA BILIMORIA 1993
22	YOGA SWAMI PRAKASH MUNIJI	- 2000
23	LIGHT ON YOGA	- BKS AYANGAR
24	LIGH ON PRAYANAYAN	- BKS AYANGAR
25	प्राणायाम की सही विधि	- डा0 ओम प्रकाश आनन्द, प्रथम सस्करण 2001
26	योग द्वारा कायाकल्प	- डा0 ओम प्रकाश आनन्द,पथम सस्करण 2001
27	भारतीय दर्शन	- श्री आर यादव
28	साख्य कारिका	- ब्रजमोहन चतुर्वेदी
29	भारतीय दर्शन सरल परिचय	- देवी प्रसाद चटटोपाध्याय
30	दर्शन स्वरूप और समस्याए	- देवराज
31	भारतीय दर्शन भाग एक व दो	- डा0 राधाकृष्णन
32	भारतीय दर्शन का सुगम परिचय	- डा0 शिव शकर
33	भारतीय दर्शन	डा0 ममता मिश्रा
34	भारतीय दशन	रूपाली श्रीवास्तव
35	साख्य योग दर्शन	रूपाली श्रीवास्तव
36	भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन	चन्द्रधर शर्मा

37	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	- हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
38	साख्य तत्व कोमुदी	आचार्य वाचस्पति मिश्र- चतुर्थ मस्करण 1967
39	योगदर्शन	- महर्षि पतञ्जलि सम्पादक श्री राम आचार्य तीसरा सरकरण 1969
40	साख्यकारिका	ईश्वर कृष्ण ह0कृ0चोक, काशी
41	साख्यसिद्धान्त	आचार्य उदयवीर शारत्री दिल्ती 1991
42	साख्य दर्शन का भाष्य	- "
43	योग दर्शन का भाष्य	- "
44	तत्व प्रदीपिका	- चित्सुखाचार्य, द्वितीय सस्करण 1937
45	भारतीय दर्शन	- चटर्जी एव दत्त, पुस्तक भण्डार, पटना
46	साख्य सूत्र भाष्य	- जीवानन्द - कलकत्ता
47	योगासन	- डा0 पी डी शर्मा
48	योग साधन	- देवकीनन्दन विभव - चतुर्थ सस्करण 2002
49	योगासन और प्राणायाम	- चन्द्रमाहन

श्रीयोगयाज्ञवल्क्य

Shri Yoga Yajnyavalkya

sanskritdocuments.org

March 3, 2019

Shri Yoga Yajnyavalkya

श्रीयोगयाज्ञवल्क्य

Sanskrit Document Information

Text title : yogayAjnyavalkya

File name : yogayAjnyavalkya.itx

Category : yoga

Location : doc_yoga

Author : Traditional

Transliterated by : DPD, Sunder Hattangadi, Shankara, Sowmya Ramkumara

Proofread by : DPD, Radim Navyan radimnavyan at gmail

Latest update : December 24, 2014, March 3, 2019

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

March 3, 2019

sanskritdocuments.org

श्रीयोगयाज्ञवल्क्य

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्यं मुनिश्रेष्ठं सर्वज्ञं ज्ञाननिर्मलम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सदा ध्यानपरायणम् ॥ १॥

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं योगेषु परिनिष्ठितम् ।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जिताहारं जितामयम् ॥ २॥

तपस्विनं जितामित्रं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम् ।
तपोवनगतं सौम्यं सन्ध्योपासनतत्परम् ॥ ३॥

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैश्च समावृतम् ।
सर्वभूतसमं शान्तं सत्यसन्धं गतक्लमम् ॥ ४॥

गुणज्ञं सर्वभूतेषु परार्थैकप्रयोजनम् ।
ब्रुवन्तं परमात्मानमृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ ५॥

तमेवं गुणसम्पन्नं नारीणामुत्तमा वधूः ।
मैत्रेयी च महाभागा गार्गी च ब्रह्मविद्वरा ॥ ६॥

सभामध्यगता चेयमृषीणामुग्रतेजसाम् ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ गार्ग्येतद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ७॥ var गर्गी तद्

गार्ग्युवाच -
भगवन्सर्वशास्त्रज्ञ सर्वभूतहिते रत ।
योगतत्त्वं मम ब्रूहि साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥ ८॥

एवं पृष्टः स भगवान्सभामध्ये स्त्रिया तया ।
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ॥ ९॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।

वक्ष्यामि योगसर्वस्वं ब्रह्मणा कीर्तितं पुरा ॥ १०॥

समाहितमना गार्गि शृणु त्वं गदतो मम ।
इत्युक्त्वा ब्रह्मविच्छ्रेष्ठो याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥ ११॥

नारायणं जगन्नाथं सर्वभूतहृदि स्थितम् ।
वासुदेवं जगद्योनिं योगिध्येयं निरञ्जनम् ॥ १२॥

आनन्दममृतं नित्यं परमात्मानमीश्वरम् ।
ध्यायन्हृदि हृषीकेशं मनसा सुसमाहितः ॥ १३॥

नेत्राभ्यां तां समालोक्य कृपया वाक्यमब्रवीत् ।
एह्येहि गार्गि सर्वज्ञे सर्वशास्त्रविशारदे ॥ १४॥

योगं वक्ष्यामि विधिवद्धात्रोक्तं परमेष्ठिना ।
मुनयः श्रूयतामत्र गार्ग्या सह समाहिताः ॥ १५॥

पद्मासने समासीनं चतुराननमव्ययम् ।
चराचराणां स्रष्टारं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ १६॥

कदाचित्तत्र गत्वाहं स्तुत्वा स्तोत्रैः प्रणम्य च ।
पृष्टवानिममेवार्थं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १७॥

देवदेव जगन्नाथ चतुर्मुख पितामह ।
येनाहं यामि निर्वाणं कर्मणा मोक्षमव्ययम् ॥ १८॥

ज्ञानं च परमं गुह्यं यथावद्ब्रूहि मे प्रभो ।
मयैवमुक्तो द्रुहिणः स्वयम्भूर्लोकनायकः ॥ १९॥

मामालोक्य प्रसन्नात्मा ज्ञानकर्माण्यभाषत ।
ज्ञानस्य द्विविधौ ज्ञेयौ पन्थानौ वेदचोदितौ ॥ २०॥

अनुष्ठितौ तौ विद्वद्भिः प्रवर्तकनिवर्तकौ ।
वर्णाश्रमोक्तं यत्कर्म कामसङ्कल्पपूर्वकम् ॥ २१॥

प्रवर्तकं भवेदेतत्पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
कर्तव्यमिति विध्युक्तं कर्म कामविवर्जितम् ॥ २२॥

येन यत्क्रियते सम्यक् ज्ञानयुक्तं निवर्तकम् ।
निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मनः ॥ २३॥

प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥ २४॥

विधिवत्कुर्वतस्तस्य मुक्तिर्गार्गि करे स्थिता ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विधिवत्कामपूर्वकम् ॥ २५॥

येन यत्क्रियते तस्य गर्भवासः करे स्थितः ।
संसारभीरुभिस्तस्मात्विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥ २६॥

विधिवत् कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ।
जाताश्च त्रिषु लोकेषु आनुलोम्येन मानवाः ॥ २७॥

ते देवानामृषीणां च पितृणामृणिनस्तथा ।
ऋषिभ्यो ब्रह्मचर्येण पितृभ्यश्च सुतैस्तथा ॥ २८॥

कुर्याद्यज्ञेन देवेभ्यः स्वाश्रमं धर्ममाचरन् ।
चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः ॥ २९॥

क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकौ वैश्यशूद्रयोः ।
अधीत्य वेदं वेदार्थं साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥ ३०॥

स्नायाद्विध्युक्तमार्गेण ब्रह्मचर्यव्रतं चरन् ।
संस्कृतायां सवर्णायां पुत्रमुत्पादयेत्ततः ॥ ३१॥

यजेदग्नौ तु विधिवत्भार्यया सह वा विना ।
कान्तारे विजने देशे फलमूलोदकान्विते ॥ ३२॥

तपश्चरन्वसेन्नित्यं साग्निहोत्रः समाहितः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सन्न्यसेद्विधिना ततः ॥ ३३॥

संन्यासाश्रमसंयुक्तो नित्यं कर्म समाचरन् ।
यावत्क्षेत्री भवेत्तावत् यजेदात्मानमात्मनि ॥ ३४॥

क्षत्रियश्च चरेदेवमासंन्यासाश्रमात्सदा ।
वानप्रस्थाश्रमादेवं चरेद्वैश्यः समाहितः ॥ ३५॥

शूद्रः शुश्रूषया नित्यं गृहस्थाश्रमं आचरेत् ।
शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं च मुनिभिः कैश्चिदिष्यते ॥ ३६॥

आनुलोम्यप्रसूतानां त्रयाणामाश्रमास्त्रयः ।
शूद्रवच्छूद्रजातानं आचारः कीर्तितो बुधैः ॥ ३७॥

चतुर्णामाश्रमस्थानामहन्यहनि नित्यशः ।
विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं कामसङ्कल्पवर्जितम् ॥ ३८॥

तस्मात्त्वमपि योगीन्द्र स्वाश्रमं धर्माचरन् ।
श्रद्धया विधिवत्सम्यक् ज्ञानकर्म समाचर ॥ ३९॥

इति मे कर्मसर्वस्वं योगरूपं च तत्त्वतः ।
उपदिश्य ततो ब्रह्मा योगनिष्ठोऽभवत्स्वयम् ॥ ४०॥

श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योक्तं वाक्यं गार्गी मुदान्विता ।
पुनः प्राह मुनिश्रेष्ठमृषीमध्ये वरानना ॥ ४१॥

गार्ग्युवाच -
ज्ञानेन सह योगीन्द्र विध्युक्तं कर्म कुर्वतः ।
त्वयोक्तं मुक्तिरस्तीति तयोर्ज्ञानं वद प्रभो ॥ ४२॥

भार्यया त्वेवमुक्तस्तु याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
तां समालोक्य कृपया ज्ञानरूपमभाषत ॥ ४३॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
ज्ञानं योगात्मकं विद्धि योगश्चाष्टाङ्गसंयुतः ।
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमत्मनोः ॥ ४४॥

वक्ष्याम्यङ्गानि ते सम्यग्यथा पूर्वं मया श्रुतम् ।
समाहितमना गार्गी ऋषिभिः सह संशृणु ॥ ४५॥

यमश्च नियमश्चैव आसनं च तथैव च ।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्यहारश्च धारणा ॥ ४६॥

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने ।
यमश्च नियमश्चैव दशधा सम्प्रकीर्तितः ॥ ४७॥

आसनान्युत्तमान्यष्टौ त्रयं तेषूत्तमोत्तमम् ।
प्रणायामस्त्रिधा प्रोक्तः प्रत्याहारश्च पञ्चधा ॥ ४८॥

धारणा पञ्चधा प्रोक्ता ध्यानं षोढा प्रकीर्तितम् ।
त्रयं तेषूत्तमं प्रोक्तं समाधिस्त्वेकरूपकः ॥ ४९॥

बहुधा केचिदिच्छन्ति विस्तरेण पृथक् शृणु ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥ ५०॥

क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ५१॥

अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसासात्वेन योगिभिः ।
विध्युक्तं चेदहिंसा स्यात्क्लेशजन्मैव जन्तुषु ॥ ५२॥

वेदेनोक्तेऽपि हिंसास्यादभिचारादि कर्म यत् ।
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नियतार्थाभिभाषणम् ॥ ५३॥

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा ।
अस्तेयमिति सा प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५४॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यगो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ ५५॥

ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्ठिकस्य च ।
ब्रह्मचर्यं तु तत्प्रोक्तं तथैवा रण्यवासिनाम् ॥ ५६॥

ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तु तत्प्रोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनम् ॥ ५७॥

राज्ञश्चैव गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।
विशां वृत्तवतां चैव केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ॥ ५८॥

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।
शुश्रूषा वा गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् ॥ ५९॥

गुरवः पञ्च सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः ।
माता पिता तथाचार्यो मातुलः श्वशुरस्तथा ॥ ६०॥

एषु मुख्यास्त्र्यः प्रोक्ता आचार्यः पितरौ तथा ।
एषु मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ॥ ६१॥

तमेवं ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं नित्यकर्मपरायणम् ।
शुश्रूषयार्चयेन्नित्यं तुष्टोऽभूद्येन वा गुरुः ॥ ६२॥

दया च सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः स्मृतः ।
विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ ६३॥

प्रवृतौ वा निवृतौ वा एकरूपत्वमार्जवम् ।
प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ॥ ६४॥

क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ।
अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगेष्वपि सम्पदाम् ॥ ६५॥

तयोः प्राप्तो च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ।
अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोदशारण्यवासिनम् ॥ ६६॥

द्वात्रिंशच्च गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ।
एषामयं मिताहारो ह्यन्येषामल्पभोजनम् ॥ ६७॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ ६८॥

मनःशुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविध्यया ।
आत्मविद्या च धर्मश्च पित्राचार्येण वानघे ॥ ६९॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु सर्वैर्निःश्रेयसार्थिभिः ।
गुरवः श्रुतसम्पन्ना मान्या वाङ्मनसादिभिः ॥ ७०॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥ १॥

एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान्पृथक् शृणु ।
विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥ २॥

शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ।
यदृच्छा लाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ॥ ३॥ ??
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ।
धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ४॥

न्यायार्जितं धनं चान्नमन्यद्वा यत्प्रदीयते ।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम् ॥ ५॥

यत्प्रसन्नत्वभावेन विष्णुं वाऽप्यन्यमेव वा ।
यथाशक्त्यर्चनं भक्त्या ह्येतदीश्वरपूजनम् ॥ ६॥

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥ ७॥

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः ।
द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तं सिद्धान्तश्रवणं बुधैः ॥ ८॥

विशां च केचिदिच्छन्ति शीलवृत्तवतां सताम् ।
शूद्राणां च स्त्रियैश्चैव स्वधर्मस्थतपस्विनाम् ॥ ९॥

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः ।
वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ॥ १०॥

तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्तिता ।
विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥ ११॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १२॥

अधीत्य वेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासिकम् ।
एतेष्वभ्यसनं यच्च तदभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १३॥

जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ।
वाचिक उपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ॥ १४॥

मानसो मननध्यानभेदाद् द्वैविध्यमास्थितः ।
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्च्यते ॥ १५॥

मानसस्तु तथोपांशोः सहस्रगुण उच्च्यते ।
मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुणमुच्यते ॥ १६॥

उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रुतो न चेत्सोऽपि श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ॥ १७॥

ऋषिं छन्दोऽधिदैवं ध्यायन्मन्त्रं च सर्वदा ।
यस्तु मन्त्रजपो गार्गि स एव हि फलप्रदः ॥ १८॥

प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टं त्वनुज्ञया ।
धर्मार्थमात्मसिद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् ॥ १९॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
आसनान्यधुना वक्ष्ये शृणु गार्गि तपोधने ।
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा ॥ १॥

भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ।
तथैतेषां वरारोहे पृथग्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २॥

जानोर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ३॥

सीवन्यास्त्वात्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु दक्षिणे दक्षिणेतरम् ॥ ४॥

एतच्च स्वस्तिकं प्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ॥ ५॥

दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ।
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ ६॥

ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्रे कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥ ७॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदाहृतम् ॥ ८॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ॥ ९॥

हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ १०॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ।
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ ११॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।

भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ १२॥

सम्पीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमितीरितम् ॥ १३॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य मुक्तासनमिदं तु वा ॥ १४॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयन्नाभिपार्श्वयोः ॥ १५॥

समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्योन्निसंस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १६॥

सर्वे चाभ्यन्तरा रोगा विनश्यन्ति विषाणि च ।
यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयुता ॥ १७॥

नाडीशुद्धिं च कृत्वा तु प्राणायामं ततः कुरु ॥ १८॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

श्रुत्वैतद्भाषितं वाक्यं याज्ञवल्क्यस्य धीमतः ।
पुनः प्राह महाभागा सभामध्ये तपस्विनी ॥ १॥

गार्ग्युवाच -
भगवन्ब्रूहि मे स्वामिन्नाडीशुद्धिं विधानतः ।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाडयः सर्वदेहिनाम् ॥ २॥

उत्पत्तिं चापि नाडीनां चारणं च यथाविधि ।
कन्दं च कीदृशं प्रोक्तं कति तिष्ठन्ति वायवः ॥ ३॥

स्थानानि चैव वायूनां कर्माणि च पृथक्पृथक् ।
विज्ञातव्यानि यान्यस्मिन्देहे देहभृतां वर ॥ ४॥

वक्तुमर्हसि तत्सर्वं त्वत्तो वेत्ता न विद्यते ।
इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक् तद्गतमानसः ॥ ५॥

गार्गीं तां सुसमालोक्य तत्सर्वं समभाषत ।

याज्ञवल्क्य उवाच -
शरीरं तावदेवं हि षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ॥ ६॥

विध्येतत्सर्वजन्तूनां स्वाङ्गुलीभिरिति प्रिये ।
शरीरादधिकः प्राणो द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ७॥

चतुर्दशाङ्गुलं केचिद्वदन्ति मुनिसत्तमाः ।
द्वादशाङ्गुल एवेति वदन्ति ज्ञानिनो नराः ॥ ८॥

आत्मस्थमनिलं विद्वानात्मस्थेनैव वह्निना ।
योगाभ्यासेन यः कुर्यात्समं वा न्यूनमेव वा ॥ ९॥

स एव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः स सम्पूज्यो नरोत्तमः ।
आत्मस्थवह्निनैव त्वं योगजेन द्विजोत्तमे ॥ १०॥

आत्मस्थं मातरिश्वानं योगाभ्यासेन निर्जय ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ ११॥

त्रिकोणं मनुजानां च चतुरस्रं चतुष्पदाम् ।
मण्डलं तत्पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १२॥

तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावकी ।
देहमध्यं च कुत्रेति श्रोतुमिच्छसि चेच्छृणु ॥ १३॥

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्राच्च द्व्यङ्गुलात् ।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुष्याणामितीरितम् ॥ १४॥

चतुष्पदां तु हृन्मध्यं तिरश्चां तुन्दमध्यमम् ।
द्विजानां तु वरारोहे तुन्दमध्यमितीरितम् ॥ १५॥

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्
चतुरङ्गुलमुत्सेधमायामश्च तथाविधः ॥ १६॥

अण्डाकृतिवदाकारं भूषितं तत्त्वगादिभिः ।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यमे ॥ १७॥

तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं नाभौ चक्रसमुद्भवः ।
द्वादशारयुतं तच्च तेन देहः प्रतिष्ठितः ॥ १८॥

चक्रेऽस्मिन्भ्रमते जीवः पापपुण्यप्रचोदितः ।
तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥ १९॥

जीवस्य मूलचक्रेऽस्मिन्नधः प्राणश्चरत्यसौ ।
प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ २०॥

तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ।
अष्टप्रकृतिरूपा सा अष्टधा कुण्डलीकृता ॥ २१॥

यथावद्वायुसञ्चारं जलान्नादीनि नित्यशः ।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुद्यैव सदा स्थिता ॥ २२॥

मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ।
योगकाले त्वपानेन प्रबोधं याति साग्निना ॥ २३॥

स्फुरन्ती हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ।
वायुर्वायुसखेनैव ततो याति सुषुम्णया ॥ २४॥

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्णेति प्रकीर्तिता ।
तिष्ठन्ति परितः सर्वाश्चक्रेऽस्मिन्नाडीसञ्ज्ञकाः ॥ २५॥

नाडीनामपि सर्वासां मुख्यास्त्वेताश्चतुर्दश ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च सरस्वती ॥ २६॥

वारुणी चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी ।
विश्वोदरा कुहूश्चैव शङ्खिनी च पयस्विनी ॥ २७॥

अलम्बुषा च गान्धारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश ।
आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ॥ २८॥

मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता विश्वधारिणी ।
कन्दस्य मध्यमे गार्गि सुषुम्णा सुप्रतिष्ठिता ॥ २९॥

पृष्ठमध्ये स्थिता नाडी सा हि मूर्ध्नि व्यवस्थिता॥

मुक्तिमार्गं सुषुम्णा सा ब्रह्मरन्ध्रेति कीर्तिता ॥ ३०॥

अव्यक्ता सैव विज्ञेया सूक्ष्मा वैष्णवी स्मृता ।
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्ये च दक्षिणे ॥ ३१॥

इडा तस्याः स्थिता सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
इडायां पिङ्गलायां च चरतश्चन्द्रभास्करौ ॥ ३२॥

इडायां चन्द्रमा ज्ञेयः पिङ्गलायां रविः स्मृतः ।
चन्द्रस्तामस इत्युक्तः सूर्यो राजस उच्यते ॥ ३३॥

विषभागो रवेर्भागः सोमभागोऽमृतं स्मृतम् ।
तावेव धत्तः सकलं कालं रात्रिदिवात्मकम् ॥ ३४॥

भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ।
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्णापार्श्वयोः स्थिते ॥ ३५॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपार्श्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरा स्थिता ॥ ३६॥

यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारुणी च प्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्ये पयस्विनी ॥ ३७॥

गान्धार्याश्च सरस्वत्याःस्थिता मध्ये च शङ्खिनी ।
अलम्बुषा च विप्रेन्द्रे कन्दमध्यादधः स्थिता ॥ ३८॥

पूर्वभागे सुषुम्णाया आमेढ्रान्ते कुहूः स्थिता ।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्या वारुणी सर्वगामिनी ॥ ३९॥

यशस्विनी च याम्यस्था पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।
पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्ये नासान्तं विद्धि मे प्रिये ॥ ४०॥

याम्ये पूषा च नेत्रान्तं पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः ।
पयस्विनी तथा गार्गि याम्यकर्णान्तमिष्यते ॥ ४१॥

सरस्वती तथा चोर्ध्वमाजिह्वायाः प्रतिष्ठिता ।
आसव्यकर्णाद्विप्रेन्द्रे शङ्खिनी चोर्ध्वगा मता ॥ ४२॥

गान्धारी सव्यनेत्रान्तमिडायाः पृष्ठतः स्थिता ।
इडा च सव्यनासान्तं सव्यभागे व्यवस्थिता ॥ ४३॥

हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।
विष्वोदरा तु या नाडी तुन्दमध्ये व्यवस्थिता ॥ ४४॥

अलम्बुषा महाभागे पायुमूलादधोगता ।
एतास्त्वन्याः समुत्पन्नाः शिराश्चान्याश्च तास्वपि ॥ ४५॥

यथाश्वत्थदले तद्वदब्जपत्रेषु वा शिराः ।
नाडीष्वेतासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधने ॥ ४६॥

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ४७॥

एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ।
एतेषु वायवः पञ्च मुख्याः प्राणादयः स्मृताः ॥ ४८॥

तेषु मुख्यतमावेतौ प्राणापानौ नरोत्तमे ।
प्राण एवैतयोर्मुख्यः सर्वप्राणभृतां सदा ॥ ४९॥

आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यमे ।
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्टेऽपि केचन ॥ ५०॥

अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः परीतः प्राणसञ्ज्ञकः ।
तिष्ठन्नेतेषु सर्वेषु प्रकाशयति दीपवत् ॥ ५१॥

अपाननिलयं केचिद् गुदमेढ्रोरुजानुषु ।
उदरे वृषणे कट्यां जङ्घे नाभौ वदन्ति हि ॥ ५२॥

गुदाग्न्यागारयोस्तिष्ठन्मध्येऽपानः प्रभञ्जनः ।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः प्रकाशयति दीपवत् ॥ ५३॥

व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकट्यां गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिजोर्देशे तिष्ठत्यत्र न संशयः ॥ ५४॥

उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वगात्रेषु सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ॥ ५५॥

भुक्तं सर्वरसं गात्रे व्यापयन्वह्निना सह ।
द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु सञ्चरेत् ॥ ५६॥

समानवायुरेवैकः साग्निर्व्याप्य व्यवस्थितः ।
अग्निभिः सह सर्वत्र साङ्गोपाङ्गकलेवरे ॥ ५७॥

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
तुन्दस्थे जलमन्नं च रसानि च समीकृतम् ॥ ५८॥

तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ।
पुनरग्नौ जलं स्थाप्य त्वन्नादीनि जलोपरि ॥ ५९॥

स्वयं ह्यपानं सम्प्राप्य तेनैव सह मारुतः ।

प्रवाति ज्वलनं तत्र देहमध्यगतं पुनः ॥ ६०॥

वायुना वातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः ।
तदा ज्वलति विप्रेन्द्रे स्वकुले देहमध्यमे ॥ ६१॥

ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरितस्ततः ।
जलमत्युष्णमकरोत्कोष्टमध्यगतं तदा ॥ ६२॥

अन्नं व्यञ्जनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितम्
ततः सुपक्वमकरोद्वह्निः सन्तप्तवारिणा ॥ ६३॥

स्वेदमूत्रे जलं स्यातां वीर्यरूपं रसो भवेत् ।
पूरीषमन्नं स्याद्वागिं प्राणः कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥ ६४॥

समानवायुना सार्धं रसं सर्वासु नाडीषु ।
व्यापयञ्चछ्वासरूपेण देहे चरति मारुतः ॥ ६५॥

व्योमरन्ध्रैश्च नवभिः विण्मूत्रादिविसर्जनम्
कुर्वन्ति वायवः सर्वे शरीरेषु निरन्तरम् ॥ ६६॥

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्यते ।
अपानवायोः कर्मैतद्विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥ ६७॥

हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत्प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥ ६८॥

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति कीर्त्यते ॥ ६९॥

निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्रे तन्द्रीकर्मेति कीर्तितम् ॥ ७०॥

धनञ्जयस्य शोफादि सर्वं कर्म प्रकीर्तितम्
ज्ञात्वैवं नाडीसंस्थानं वायूनां स्थानकर्मणी ॥ ७१॥

विधिनोक्तेन मार्गेण नाडीसंशोधनं कुरु ॥ ७२॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

गार्ग्युवाच -
भगवन्ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद ।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाड्यो मे त्वं वद प्रभो ॥ १॥

इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ।
तां समालोक्य कृपया नाडीशुद्धिमभाषत ॥ २॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसङ्कल्पवर्जितः ।
यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसङ्गविवर्जितः ॥ ३॥

कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः ।
गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥ ४॥

स्वाश्रमस्थः सदाचारः विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ।
तपोवनं सुसम्प्राप्य फलमूलोदकान्वितम् ॥ ५॥

तत्र रम्ये शुचौ देशे ब्रह्मघोषसमन्विते ।
स्वधर्मनिरतैः शान्तैर्ब्रह्मविद्भिः समावृते ॥ ६॥

वारिभिश्च सुसम्पूर्णे पुष्पैर्नानाविधैर्युते ।
फलमूलैश्च सम्पूर्णे सर्वकामफलप्रदे ॥ ७॥

देवालये वा नद्यां वा ग्रामे वा नगरेऽथवा ।
सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् ॥ ८॥

त्रिकालस्नानसंयुक्तः स्वधर्मनिरतः सदा ।
वेदान्तश्रवणं कुर्वंस्तस्मिन्योगं समभ्यसेत् ॥ ९॥

केचिद्वदन्ति मुनयस्तपःस्वाध्यायसंयुताः ।
स्वधर्मनिरताः शान्तास्तन्त्रेषु च सदा रताः ॥ १०॥

निर्जने निलये रम्ये वातातपविवर्जिते ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥ ११॥

मन्त्रैर्न्यस्ततनुर्धीरः सितभस्मधरः सदा ।
मृद्वासनोपरि कुशान्समास्तीर्य ततोऽजिनम् ॥ १२॥

विनायकं सुसम्पूज्य फलमूलोदकादिभिः ।
इष्टदेवं गुरुं नत्वा तत आरुह्य चासनम् ॥ १३॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि जितासनगतः स्वयम् ।
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १४॥

नासाग्रदृक् सदा सम्यक् सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बं ज्योत्स्नाजालवितानितम् ॥ १५॥

सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिन्दुसंयुतम् ।
स्रवन्तममृतं पश्यन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥ १६॥

इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायज्ज्वालावलीयुतम् ॥ १७॥

रेफं च बिन्दुसंयुक्तमग्निमण्डलसंस्थितम् ।
ध्यायन्विरेचयेत्पश्चान्मन्दं पिङ्गलया पुनः ॥ १८॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य प्राणं दक्षिणतः सुधीः ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडया तु शनैः शनैः ॥ १९॥

त्रिचतुर्वत्सरं वाथ त्रिचतुर्मासमेव वा ।
षड्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसन्धिषु ॥ २०॥

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिह्नोपलक्षिताम् ।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः ॥ २१॥

नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।
यावदेतानि सम्पश्येत्तावदेव समाचरेत् ॥ २२॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
प्राणायाममथादीनां प्रवक्ष्यामि विधानतः ।
समाहितमनास्त्वं च शृणु गार्गि वरानने ॥ १॥

प्राणापानसमायोगः "प्राणायामः" इतीरितः ।
"प्राणायामः" इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः ॥ २॥

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ ३॥

इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैर्कारं तत्र संस्मरेत् ॥ ४॥ ??
धारयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ठ्या तु मात्रया ।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ५॥ ??
यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम् ।
पूरितं रेचयेत् पश्चात्प्राणं बाह्यानिलान्वितम् ॥ ६॥

शनैः पिङ्गलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
मकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ७॥

प्राणायामो भवेदेषः पुनश्चैवं समभ्यसेत् ।
ततः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ॥ ८॥

उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्सुसमाहितः । ??
पूरितं धारयेत्प्राणं प्रणवं विंशतिद्वयम् ॥ ९॥

जपेदत्र स्मरन्मूर्तिं मकाराख्यं महेश्वरम् ।
यावद्वा शक्यते पश्चाद्रेचयेतिडयानिलम् ॥ १०॥ ??
एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य पूर्ववत् ।
नाड्या प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ ११॥

प्रणवेन सुसंयुक्तां व्याहृतीभिश्च संयुताम् ।
गायत्रीं च जपेद्विप्रः प्राणसम्यमने त्रयः ॥ १२॥

पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्यात्पुनश्चैव त्रिसन्धिषु ।
यद्वा समभ्यसेन्नित्यं वैदिकं लौकिकं तु वा ॥ १३॥

प्राणसंयमने विद्वान्जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ।
ब्राह्मणः श्रुतसम्पन्नः स्वधर्मनिरतः सदा ॥ १४॥

स वैदिकं जपेन्मन्त्रं लौकिकं न कदाचन ।
केचिद्भूतहितार्थाय जपमिच्छन्ति लौकिकम् ॥ १५॥

द्विजवत्क्षात्रस्योक्तः प्राणसंयमने जपः । ?? syoktashcha
वैश्यानां धर्मयुक्तानां स्त्रीशूद्राणां तपस्विनाम् ॥ १६॥

प्राणसंयमने गार्गि मन्त्रं प्रणववर्जितम् ।
नमोन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वेष्यते बुधैः ॥ १७॥

यद्वा समभ्यसेच्छूद्रो लौकिकं विधिपूर्वकम् ।
प्राणसंयमने स्त्री च जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ॥ १८॥

न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्च न कदाचन ।
स्वाश्रमस्थस्य वैश्यस्य केचिदिच्छन्ति वैदिकम् ॥ १९॥

सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं गायत्र्या प्रणवेन वा ।
प्राणसंयमनं कुर्यात् ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २०॥

नित्यमेव प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २१॥

ऋतुत्रयात्पुनन्त्येनं जन्मान्तरकृतादघात् ।
वत्सराद्ब्रह्महा शुद्ध्येत्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ॥ २२॥

योगाभ्यासरतास्त्वेवं स्वधर्मनिरताश्च ये ।
प्राणसंयमनेनैव सर्वे मुक्ता भवन्ति हि ॥ २३॥

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ॥ २४॥

बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ।
प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ॥ २५॥

कम्पको मध्यमः प्रोक्त उत्थानश्चोत्तमो भवेत् ।
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसम्भवः ॥ २६॥

सम्भवत्युत्तमे गार्गि प्राणायामे सुखी भवेत् ।
प्राणो लयति तेनैव देहस्यान्तस्ततोऽधिकः ॥ २७॥

देहश्चोत्तिष्ठते तेन कृतासनपरिग्रहा ।
निःश्वासोच्छ्वासकौ तस्य न विद्येते कथञ्चन ॥ २८॥

देहे यद्यपि तौ स्यातां स्वाभाविकगुणावुभौ॥

तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि ॥ २९॥

तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कर्तुं केवलकुम्भकम् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ३०॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
रेच्य चापूर्य यः कुर्यात्स वै सहितकुम्भकः ॥ ३१॥

सहितं केवलं चाथ कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावन्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ ३२॥

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरणवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ३३॥

मनोजवत्वं लभते पलितादि च नश्यति ।
मुक्तेरयं महामार्गो मकराख्यान्तरात्मनः ॥ ३४॥

नादं चोत्पादयत्येषः कुम्भकः प्राणसंयमः ।
प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणस्य धारणम् ॥ ३५॥

एषः प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ।
किञ्चित्प्राणजयोपायं तव वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ३६॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥ ३७॥

धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु सर्वदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ॥ ३८॥

नासाग्रे धारणं गार्गि वायोर्विजयकारणम् ।
सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात् ॥ ३९॥

शरीरं लघुतां याति पादाङ्गुष्ठे च धारणात् ।
रसनावायुमाकृष्य यःपिबेत्सततं नरः ॥ ४०॥

श्रमदाहौ न तस्यास्तां नश्यन्ति व्याधयस्तथा॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मकाले वा वायुमाकृष्य यः पिबेत् ॥ ४१॥

त्रिमासात्तस्य कल्याणि जग्यते वाक्सरस्वती ।
षण्मासाभ्यासयोगेन महारोगैः प्रभुच्यते ॥ ४२॥

आत्मन्यात्मानमारोप्य कुण्डल्यां यस्तु धारयेत् ।
क्षयरोगादयस्तस्य नश्यन्तीत्यपरे विदुः ॥ ४३॥

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयन् ।

यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते ॥ ४४॥

आत्मन्यात्मानमिडया समानीय भ्रुवोऽन्तरे । var भ्रुवोऽन्तरात्
पिबेद्यस्त्रिदशाहारं व्याधिभिः स विमुच्यते ॥ ४५॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ वा तुन्दपार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः सोऽभिमुच्यते ॥ ४६॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
पिबेद्यस्त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥ ४७॥

गुल्माष्ठीला प्लीहा चान्ये त्रिद्रोषजनितास्तथा ।
तुन्दमध्यगता रोगाः सर्वे नश्यन्ति तस्य वै ॥ ४८॥

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
बहुनोक्तेन किं गार्गि पलितादि च नश्यति ॥ ४९॥

एवं वायुजयोपायः प्राणस्य तु वरानने ।
शक्यमासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥ ५०॥

करणानि वशीकृत्य विषयेभ्यो बलात्सुधीः । ?? भ्यः
अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन समाहितः ॥ ५१॥

हस्ताभ्यां बन्धयेत्सम्यक्कर्णादि करणानि च ।
अङ्गुष्टाभ्यामुमे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां च चक्षुषी ॥ ५२॥

नासापुटौ मध्यमाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ।
आनन्दानुभवं यावत्तावन्मूर्द्धनि धारयेत् ॥ ५३॥

प्राणः प्रयात्यनेनैव ततस्त्वायुर्विघातकृत् ।
ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्णायां मृणालान्तरसूत्रवत् ॥ ५४॥

नादोत्पत्तिस्त्वनेनैव शुद्धस्फटिकसन्निभा ।
आमूर्ध्नो वर्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः ॥ ५५॥

शङ्खध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ।
व्योमरन्ध्रगते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा ॥ ५६॥

व्योमरन्ध्रगते वायौ चित्ते चात्मनि संस्थिते ।
तदानन्दी भवेद्देही वायुस्तेन जितो भवेत् ॥ ५७॥

योगिनस्त्वपरे ह्यत्र वदन्ति समचेतसः ।
प्राणायामपराः पूता रेचपूरणवर्जिताः ॥ ५८॥

दक्षिणेतरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत्शिराम्
अधस्ताद्दण्डयो सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणम् ॥ ५९॥ var दण्डवत्सूक्ष्मां
जङ्घोर्वोरन्तरं गार्गि निश्छिद्रं बन्धयेत्दृढम् ।
समग्रीवशिरस्कन्धः समपृष्ठः समोदरः ॥ ६०॥

नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं लोकयन्नुपरिस्थितम् ।
धारयन्मनसा सार्धं व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ॥ ६१॥

आसने नान्यधीरास्ते द्विजो रहसि नित्यशः ।
क्षत्रियश्च वरारोहे व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ॥ ६२॥

आसने नान्यधीरस्ते रहस्येव जितेन्द्रियः ।
वैश्याः शूद्राः स्त्रियश्चान्ये योगाभ्यासरताः नराः ॥ ६३॥

शैवं वा वैष्णवं वाथ व्याहरन्नन्यमेव वा ।
आसने नान्यधीरस्ते दीपं हस्ते विलोकयन् ॥ ६४॥

आयुर्विघातकृत्प्राणस्त्वनेनाग्निकुलं गतः ।
धूमध्वजजयं यावन्नान्यधीरेवमभ्यसेत् ॥ ६५॥

धारणं कुर्वतस्तस्य शक्तिं स्यादिष्टभोजने ।
देहश्च लघुतां याति जठराग्निश्च वर्धते ॥ ६६॥

दृष्टचिह्नस्ततस्तस्मान्मनसारोप्य मारुतम् ।
मन्त्रमुच्चारयन्दीर्घं नाभिमध्ये निरोधयेत् ॥ ६७॥

यावन्मनोलयत्यस्मिन्नाभौ सवितृमण्डले ।
तावत्समभ्यसेद्विद्वान्नियतो नियतासनः ॥ ६८॥

एतेन नाभिमध्यस्थधारणेनैव मारुतः ।
कुण्डलीं याति वह्निश्च दहत्यत्र न संशयः ॥ ६९॥

सन्तप्ता वह्निना तत्र वायुना चालिता स्वयम् ।
प्रसार्य फणभृद्भोगं प्रबोधं याति सा तदा ॥ ७०॥

प्रबुद्धे संसरत्यस्मिन्नाभिमूले तु चक्रिणि ।
ब्रह्मरन्ध्री सुषुम्णायां प्रयाति प्राणसञ्ज्ञकः ॥ ७१॥

सम्प्राप्ते मारुते तस्मिन्सुषुम्णायां वरानने ।
मन्त्रमुच्चार्य मनसा हृन्मध्ये धारयेत्पुनः ॥ ७२॥

हृदयात्कण्ठकूपे च भ्रुवोर्मध्ये च धारयेत् ।
तस्मादारोप्य मनसा साग्निं प्राणमनन्यधीः ॥ ७३॥

धारयेद्योग्नि विप्रेन्द्रे व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ।
वायुना पूरिते व्योम्नि साङ्गोपाङ्गे कलेवरे ॥ ७४॥

तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि विकर्तनः । var भजते
शरीरं विसिसृक्षुश्चेदेवं सम्यक् समाचरन् ॥ ७५॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म ध्यायन्प्रणवमीश्वरम् ।
सम्भिद्य मनसा मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रं सवायुना ॥ ७६॥

प्राणमुन्मोचयेत्पश्चान्महाप्राणे खमध्यमे॥

देहातीते जगत्प्राणे शून्ये नित्ये ध्रुवे पदे ॥ ७७॥

आकाशे परमानन्दे स्वात्मानं योजयेद्धिया ।
ब्रह्मैवासौ भवेद्गार्गि न पुनर्जन्मभाग्भवेत् ॥ ७८॥

तस्मात्त्वं च वरारोहे नित्यं कर्म समाचार ।
सन्ध्याकालेषु वा नित्यं प्राणसंयमनं कुरु ॥ ७९॥

प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः ।
प्राणायामविशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ८०॥

प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादमि ।
संसारार्णवमग्नानां तारकः प्राणसंयमः ॥ ८१॥

तस्मात् त्वं विधिमार्गेण नित्यं कर्म समाचर ।
विधिनोक्तेन मार्गेण प्राणसंयमनं कुरु ॥ ८२॥

नासाग्रे दृक् सदा सम्यक् सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे ज्योत्स्नाजालवितानके ॥ ८३॥

अम्बोमा सहितं शुभ्रं सोमसूर्याग्निलोचनम् ।
पञ्चवक्त्रं महादेवं चन्द्रशेखरमीश्वरम् ॥ ८४॥

नन्दिवाहनसंयुक्तं सर्वदेवसमन्वितम् ।

प्रसन्नं सर्ववरदं ध्यायेत्सर्वायुधं शिवम् ॥ ८५॥

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
अकारमूर्तिरेतेषां रक्ताङ्गी हंसवाहिनी ॥ ८६॥

दण्डहस्ता सती वाला गायत्रीत्यवधार्यताम् ।
उकारमूर्तिरेतेषां कृष्णाङ्गी वृषवाहनी ॥ ८७॥

चक्रहस्ता सती चैव सावित्रीत्यवधार्यताम् ।
मकारमूर्तिरेतेषां श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी ॥ ८८॥

शूलानन्दमयी वृद्धा सरस्वत्यवधार्यताम् ।
माहेश्वरीति सा प्राज्ञैः पश्चिमा परिकीर्तिता ॥ ८९॥

सृष्टिस्थित्यन्तकालाद्या मकारोऽप्यन्तकात्मकः ।
अक्षरत्रयमेवैतत्कारणत्रयमिष्यते ॥ ९०॥

त्रयाणां कारणं ब्रह्म सद्रूपं सर्वकारणम् ।
एकाक्षरं परं ज्योतिस्तमाहुः प्रणवं बुधाः ॥ ९१॥

एवं ज्ञात्वा विधानेन प्रणवेन समन्वितम् ।
प्राणायामं ततः कुर्याद्रेचपूरककुम्भकैः ॥ ९२॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
उक्तान्येतानि चत्वारि योगाङ्गानि द्विजोत्तमे ।
प्रत्याहारादि चत्वारि शृणुष्वाभ्यन्तराणि च ॥ १॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २॥

यद्यत्पश्यसि तत्सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि ।
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३॥

कर्माणि यानि नित्यानि विहितानि शरीरिणाम् ।
तेषामात्मन्यनुष्ठानं मनसा यद्बहिर्विना ॥ ४॥

प्रत्याहारो भवेत्सोऽपि योगसाधनमुत्तमम् ।
प्रत्याहारः प्रशस्तोऽयं सेवितो योगिभिः सदा ॥ ५॥

अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात्स्थानात्समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते ॥ ६॥

अश्विनौ च तथा ब्रूतां गार्गि देवभिषग्वरौ ।
मर्मस्थानानि सिद्ध्यर्थं शरीरे योगमोक्षयोः ॥ ७॥

तानि सर्वाणि वक्ष्यामि यथावच्छ्रुणु सुव्रते ।
पादाङ्गुष्ठौ च गुल्फौ च जङ्घामध्ये तथैव च ॥ ८॥

चित्योर्मूलं च जान्वोश्च मध्ये चोरुद्वयस्य च ।
पायुमूलं ततः पश्चाद्देहमध्यं च मेढ्रकम् ॥ ९॥

नाभिश्च हृदयं गार्गि कण्ठकूपस्तथैव च ।
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले ॥ १०॥

भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्धा च मुनिसत्तमे ।
मर्मस्थानानि चैतानि मानं तेषां पृथक् शृणु ॥ ११॥

पादान्मानं तु गुल्फस्य सार्धाङ्गुलचतुष्टयम् ।
गुल्फाज्जङ्घस्य मध्यं तु विज्ञेयं तद्दशाङ्गुलम् ॥ १२॥

जङ्घमध्याच्चित्योर्मूलं यत्तदेकादशाङ्गुलम्
चित्योर्मूलाद्वरारोहे जानुः स्यादङ्गुलिद्वयम् ॥ १३॥

जान्वोर्नवाङ्गुलं प्राहुरूरुमध्यं मुनीश्वराः ।
ऊरुमध्यात्तथा गार्गि पायुमूलं नवाङ्गुलम् ॥ १४॥

देहमध्यं तथा पायोर्मूलादर्धाङ्गुलद्वयम् ।
देहमध्यात्तथा मेढ्र तद्वत्सार्धाङ्गुलद्वयम् ॥ १५॥

मेढ्रान्नभिश्च विज्ञेया गार्गि सार्धदशाङ्गुलम् ।
चतुर्दशाङ्गुलं नाभेर्हृन्मध्यं च वरानने ॥ १६॥

षडङ्गुलं तु हृन्मध्यात्कण्ठकूपं तथैव च ।
कण्ठकूपाच्च जिह्वाया मूलं स्याच्चतुरङ्गुलम् ॥ १७॥

नासामूलं तु जिह्वाया मूलाच्च चतुरङ्गुलम् ।
नेत्रस्थानं तु तन्मूलादर्धाङ्गुलमितीष्यते ॥ १८॥

तस्मादर्धाङ्गुलं विद्धि भ्रुवोरन्तरमात्मनः ।
ललाटाख्यं भ्रुवोर्मध्यादूर्ध्वं स्यादङ्गुलद्वयम् ॥ १९॥

ललाटाद्व्योमसञ्ज्ञं स्यादङ्गुलित्रयमेव हि ।
स्थानेषु एतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ॥ २०॥

स्थानात्स्थानात्समाकृष्य प्रत्याहारं प्रकुर्वतः ।
सर्वे रोगा विनश्यन्ति योगाः सिध्यन्ति तस्य वै ॥ २१॥

वदन्ति योगिनः केचिद्योगेषु कुशला नराः ।
प्रत्याहारं वरारोहे शृणु त्वं तद्वदाम्यहम् ॥ २२॥

सम्पूर्णकुम्भवद्वायुमङ्गुष्ठान्मूर्धमध्यतः ।
धारयेदनिलं बुद्ध्या प्राणायामप्रचोदितः ॥ २३॥

व्योमरन्ध्रात्समाकृष्य ललाटे धारयेत्पुनः ।
ललाटाद्वाउमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ॥ २४॥

भ्रुवोर्मध्यात्समाकृष्य नेत्रमध्ये निरोधयेत् ।
नेत्रात्प्राणं समाकृष्य नासामूले निरोधयेत् ॥ २५॥

नासामूलात्तु जिह्वाया मूले प्राणं निरोधयेत् ।
जिह्वामूलात्समाकृष्य कण्ठमूले निरोधयेत् ॥ २६॥

कण्ठमूलात्तु हृन्मध्ये हृदयात् नाभिमध्यमे ।
नाभिमध्यात्पुनर्मेढ्रे मेढ्राद्वह्न्यालये ततः ॥ २७॥

देहमध्याद्वुदे गार्गि गुदादेवोरुमूलके ।
ऊरुमूलात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत् ॥ २८॥

चितिमूले ततस्तस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा ।
जङ्घामध्यात्समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत् ॥ २९॥

गुल्फादङ्गुष्ठयोर्गार्गि पादयोस्तन्निरोधयेत्॥

स्थानात्स्थानात्समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेत् सुधीः ॥ ३०॥

सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थमगस्त्येनापि कीर्तितम् ॥ ३१॥

प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः ।
नाडीभ्यां वायुमापूर्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ ३२॥

धारयेद्युगपत्सोऽपि भवरोगाद्विमुच्यते ।
पूर्ववद्वायुमारोप्य हृदयव्योम्नि धारयेत् ॥ ३३॥

सोऽपि याति वरारोहे परमात्मपदं नरः ।
व्याधयः किं पुनस्तस्य बाह्याभ्यन्तरवर्तिनः ॥ ३४॥

नासाभ्यां वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
भ्रुवोर्मध्यादृशोः पश्चात्समारोप्य समाहितः ॥ ३५॥

धारयेत्क्षणमात्रं वा सोऽपि याति परां गतिम् ।
किं पुनर्बहुनोक्तेन नित्यं कर्म समाचरन् ॥ ३६॥

आत्मनः प्राणमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये सुषुम्णया ।
यावन्मनोलयत्यस्मिन्स्तावत्संयमनं कुरु ॥ ३७॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि धारणा पञ्च तत्त्वतः ।
समाहितमनास्त्वं च शृणु गार्गि तपोधने ॥ १॥

यमादिगुणयुक्तस्य मनसः स्थितिरात्मनि ।
धारणेत्युच्यते सद्भिः शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ॥ २॥

अस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि यदिदं हृदयाम्बुजम् ।
तस्मिन्नेवान्तराकाशे यद्बाह्याकाशधारणम् ॥ ३॥

एषा च धारणेत्युक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।
तान्त्रिकैर्योगशास्त्रज्ञैर्विद्वद्भिश्च सुशिक्षितैः ॥ ४॥

धारणाः पञ्चधा प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः पृथक् शृणु॥

भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥ ५॥

एतेषु पञ्चदेवानां धारणं पञ्चधोच्यते ।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ॥ ६॥

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपायोर्हृदयान्तं यद्वह्निस्थानं तदुच्यते ॥ ७॥

आहृन्मध्याद्भ्रुवोर्मध्यं यावद्वायुकुलं स्मृतम् ।
आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशमिति चोच्यते ॥ ८॥

अत्र केचिद्वदन्त्यन्ये योगपण्डितमानिनः ।
आजानोर्नाभिपर्यन्तमपांस्थानमिति द्विजाः ॥ ९॥

नाभिमध्याद्गलान्तं यद्वह्निस्थानं तदुच्यते ।
आगलात्तु ललाटान्तं वायुस्थानमितीरितम् ॥ १०॥

ललाटाद्ब्रन्ध्रपर्यन्तमाकाशस्थानमुच्यते॥

अयुक्तमेतदित्युक्तं शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ॥ ११॥

यदि स्याज्ज्वलनस्थानं देहमध्ये वरानने ।
अयुक्ता कारणे वह्नौ कार्यरूपस्य संस्थितिः ॥ १२॥

कार्यकारणसंयोगे कार्यहानिः कथं भवेत् ।
दृष्टं तत्कार्यरूपेषु मृदात्मकघटादिषु ॥ १३॥

पृथिव्यां धारयेद्वार्गिं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
विष्णुमप्स्वनले रुद्रमीश्वरं वायुमण्डले ॥ १४॥

सदाशिवं तथा व्योम्नि धारयेत्सुसमाहितः ।
पृथिव्यां वायुमास्थाय लकारेण समन्वितम् ॥ १५॥

ध्यायन् चतुर्भुजाकारं ब्रह्माणं सृष्टिकारणम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ॥ १६॥

वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं सौम्यं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ १७॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वरोगैः प्रमुच्यते ॥ १८॥

वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमन्वितम् ।
त्र्यक्षं वरप्रदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ॥ १९॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः वह्निनासौ न दह्यते ॥ २०॥

मारुतं मारुतस्थाने यकारेण समन्वितम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः वायुवद्व्योमगो भवेत् ॥ २१॥

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शकरम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥ २२॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं बालेन्दुघृतमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥ २३॥

सर्वायुधोद्यतकरं सर्वाभरणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥ २४॥

मनसा चिन्तयनत्तु मुहूर्तमपि धारयेत् ।
स एव मुक्त इत्युक्तस्तान्त्रिकेषु सुशिक्षितैः ॥ २५॥

एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे सम्हृत्य कारणे ॥ २६॥

तस्मिन्सदाशिवे प्राणं चित्तं चानीय कारणे ।
युक्तचित्तस्तदात्मानं योजयेत्परमेश्वरे ॥ २७॥

अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः ।
प्रणवेनैव कार्याणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥ २८॥

प्रणवस्य तु नादान्ते परमानन्दविग्रहं ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ २९॥

चेतसा सम्प्रपश्यन्ति सन्तः संसारभेषजं
त्वं तस्मात् प्रणवेनैव प्राणायामैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ३०॥

ब्रह्मादि कार्यरूपाणि स्वे स्वे सम्हृत्य कारणे ।
विशुद्धचेतसा पश्य नादान्ते परमेश्वरम् ॥ ३१॥

अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः ।
भिषग्वरा वरारोहे योगेषु परिनिष्ठिताः ॥ ३२॥

शरीरं तावदेवं तु पञ्चभूतात्मकं खलु ।
तदेतत्तु वरारोहे वातपित्तकफात्मकम् ॥ ३३॥

वातात्मकानां सर्वेषां योगेष्वभिरतात्मनाम् ।
प्राणसंयमनेनैव शोषं याति कलेवरम् ॥ ३४॥

पित्तात्मकानां त्वचिरान्न शुष्यति कलेवरम् ।
कफात्मकानां कायश्च सम्पूर्णस्त्वचिराद्भवेत् ॥ ३५॥

धारणं कुर्वतस्त्वाग्नौ सर्वे नश्यन्ति वातजाः ।
पार्थिवांशे जलांशे च धारणं कुर्वतः सदा ॥ ३६॥

नश्यन्ति श्लेष्मजा रोगा वातजाश्चाचिरात्तथा ।
व्योमांशे मारुतांशे च धारणं कुर्वतः सदा ॥ ३७॥

त्रिदोषजनिता रोगा विनश्यन्ति न संशयः ।
अस्मिन्नर्थे तथा ब्रूतामश्विनौ च भिषग्वरौ ॥ ३८॥

प्राणसंयमनेनैव त्रिदोषशमनं नृणाम् ।
तस्मात्त्वं च वरारोहे नित्यं कर्म समाचर ॥ ३९॥

यमादिभिश्च सम्युक्ता विधिवद्धारणां कुरु ॥ ४०॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ अथ नवमोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु गार्गि वरानने ।
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ १॥

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
सगुणं निर्गुणं तच्च सगुणं बहुशः स्मृतम् ॥ २॥

पञ्चोत्तमानि तेष्वाहुर्वैदिकानि द्विजोत्तमाः ।
त्रीणि मुख्यतमान्येषामेकमेव हि निर्गुणम् ॥ ३॥

मर्मस्थानानि नाडीनां संस्थानं च पृथक्पृथक् ।
वायूनां स्थानकर्माणि ज्ञात्वा कुर्वात्मवेदनम् ॥ ४॥

एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवलुदम् ।
अव्यक्तमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ५॥

स्थूलं सूक्ष्ममनाकारमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनौपमम् ॥ ६॥

आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणम् ।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम् ॥ ७॥

अदृश्यं दृश्यमन्तःस्थं बहिर्स्थं सर्वतोमुखम् ।
सर्वदृक्सर्वतःपादं सर्वस्पृक् सर्वतःशिरः ॥ ८॥

ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत्॥

तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९॥

अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहम् ।
गुरूपदेशाद्विज्ञाय पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ १०॥

ब्रह्म ब्रह्मपुरे चास्मिन्दहराम्बुजमध्यमे॥

अभ्यासात्सम्प्रपश्यन्ति सन्तं संसारभेषजम् ॥ ११॥

हृत्पद्मेऽष्टदलोपेते कन्दमध्यात्समुत्थिते ।
द्वादशाङ्गुलनालेऽस्मिश्चतुरङ्गुलमुन्मुखे ॥ १२॥

प्राणायामैर्विकासिते केसरान्वितकर्णिके ।
वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ॥ १३॥

चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ १४॥

श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पद्मोदरदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥ १५॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमव्ययम् ॥ १६॥

प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ।
मनसालोक्य देवेशं सर्वभूतहृदि स्थितम् ॥ १७॥

सोऽहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते ।
हृत्सरोरुहमध्येऽस्मिन्प्रकृत्यात्मककर्णिके ॥ १८॥

अष्टैश्वर्यदलोपेते विद्याकेसरसंयुते ।
ज्ञाननाले बृहत्कन्दे प्राणायामप्रबोधिते ॥ १९॥

विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ।
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीश्वरम् ॥ २०॥

तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।
निर्वातदीपवत्तस्मिन्दीपितं हव्यवाहनम् ॥ २१॥

दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम् ।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥ २२॥

नीवारशूकवद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोऽहमात्मेति या मतिः ॥ २३॥

सगुणेषूत्तमं ह्येतद्ध्यानं योगविदो विदुः ।
वैश्वानरत्वं सम्प्राप्य मुक्तिं तेनैव गच्छति ॥ २४॥

अथवा मण्डले पश्येदादित्यस्य महाद्युतेः ।
आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ॥ २५॥

हिरण्यश्मश्रुकेशं च हिरण्यमयनखं हरिम् ।
कनकाम्बुजवद्वक्त्रं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥ २६॥

पद्मासनस्थितं सौम्यं प्रबुद्धाब्जनिभाननम् ।
पद्मोदरदलाभाक्षं सर्वलोकाभयप्रदम् ॥ २७॥

जानन्तं सर्वदा सर्वमुन्नयन्तं च धार्मिकान् ।
भासयन्तं जगत्सर्वं दृष्ट्वा लोकैकसाक्षिणम् ॥ २८॥

सोऽहमस्मीति या बुद्धिः स च ध्यानेषु शस्यते ।
एष एव तु मोक्षस्य महामार्गस्तपोधने ॥ २९॥

ध्यानेनानेन सौरेण मुक्तिं यास्यन्ति सूरयः ।
भ्रूवोर्मध्येऽन्तरात्मानं भारूपं सर्वकारणम् ॥ ३०॥

स्थाणुवन्मूर्धपर्यन्तं मध्यदेहात्मसमुत्थितम् ।
जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममितौजसम् ॥ ३१॥

मनसालोक्य सोऽहं स्यामित्येतध्यानमुत्तमम् ।
अथवा बद्धपर्यङ्के शितिलीकृतविग्रहे ॥ ३२॥

शिव एव स्वयं भूत्वा नासाग्रारोपितेक्षणः ।
निर्विकारं परं शान्तं परमात्मानमीश्वरम् ॥ ३३॥

भारूपममृतं ध्यायेद्भ्रुवोर्मध्ये वरानने ।
सोऽहमेवेति या बुद्धिः सा च ध्यानेषु शस्यते ॥ ३४॥

अथवाष्टदलोपेते कर्णिकाकेसरान्विते ।
उन्निद्रहृदयाम्भोजे सोममण्डलमध्यमे ॥ ३५॥

स्वात्मानमर्भकाकरं भोक्तृरूपिणमव्ययम् ।
सुधारसं विमुञ्चद्भिः शशिरश्मिभिरावृतम् ॥ ३६॥

षोडशच्छदसंयुक्ताशिरः पद्मादधोमुखात् ।
निर्गतामृतधाराभिः सहस्राभिः समन्ततः ॥ ३७॥

प्लावितं पुरुषं तत्र चिन्तयित्वा समाहितः ।
तेनामृतरसेनैव साङ्गोपाङ्गकलेवरे ॥ ३८॥

अहमेव परं ब्रह्म परमात्माहमव्ययः ।
एवं यद्वेदनं तच्च सगुणं ध्यानमुच्यते ॥ ३९॥

एवं घ्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ।
वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नेव न संशयः ॥ ४०॥

जीवन्मुक्तस्य न क्वापि दुःखावाप्तिः कथञ्चन ।
किं पुनर्नित्यमुक्तस्य मुक्तिरेव हि दुर्लभा ॥ ४१॥

तस्मात्त्वं च वरारोहे फलं त्यक्त्वेव नित्यशः ।
विधिवत्कर्म कुर्वाणा ध्यानमेव सदा कुरु ॥ ४२॥

अन्यानपि बहून्याहुर्ध्यानानि मुनिसत्तमाः ।
मुख्यान्युक्तानि चैतेभ्यो जघन्यानीतराणि तु ॥ ४३॥

सगुणं गुणहीनं वा विज्ञायात्मानमात्मनि ।
सन्तः समाधिं कुर्वन्ति त्वमप्येवं सदा कुरु ॥ ४४॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये नवमोऽध्यायः ॥

॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
समाधिमधुना वक्ष्ये भवपाशविनाशनम् ।
भवपाशनिबद्धस्य यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥ १॥

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ॥ २॥

ध्यायेद्यथा यथात्मानं तत्समाधिस्तथा तथा ।
ध्यायैवात्मनि संस्थाप्यो नान्यथात्मा यथा भवेत् ॥ ३॥

एवमेव तु सर्वत्र यत्प्रपन्नस्तु यो नरः ।
तदात्मा सोऽपि तत्रैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ ४॥

सारित्पतौ निविष्टाम्बु यथाभिन्नतयान्वियात् ।
तथात्माभिन्न एवात्र समाधिं समवाप्नुयात् ॥ ५॥

एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।
कर्मैव विधिवत्कुर्वन्कामसङ्कल्पवर्जितम् ॥ ६॥

वेदान्तेष्वर्थशास्त्रेषु सुशिक्षितमनाः सदा ।
गुरुणा तूपदिष्टार्थं युक्त्युपेतं वरानने ॥ ७॥

विद्वद्भिर्धर्मशास्त्रज्ञैर्विचार्य च पुनः पुनः ।
तस्मिन् सुनिश्चितार्थेषु सुशिक्षितमनाः सदा ॥ ८॥

योगमेवाभ्यसेन्नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
ततस्त्वाभ्यन्तरैस्चिह्नैर्बाह्यैर्वा कालसूचकैः ॥ ९॥

विनिश्चित्यात्मनः कालमन्यैर्वा परमार्थवित् ।
निर्भयः सुप्रसन्नात्मा मर्त्यस्तु विजितेन्द्रियः ॥ १०॥

स्वकर्मनिरतः शान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
प्रदाय विद्यां पुत्रस्य मन्त्रं च विधिपूर्वकम् ॥ ११॥

संस्कारमात्मनः सर्वमुपदिश्य तदानघे ।
पुण्यक्षेत्रे शुचौ देशे विद्वद्भिश्च समावृते ॥ १२॥

भूमौ कुशान्समास्तीर्य कृष्णाजिनमथापि वा ।
तस्मिन्सुबद्धपर्यङ्को मन्त्रैर्बद्धकलेवरः ॥ १३॥

आसने नान्यधीरास्ते प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नवद्वाराणि संयम्य गार्ग्यस्मिन्ब्रह्मणः पुरे ॥ १४॥

उन्निद्रहृदयाम्भोजे प्राणायामैः प्रबोधिते ।
व्योम्नि तस्मिन्प्रभारूपे स्वरूपे सर्वकारणे ॥ १५॥

मनोवृत्तिं सुसंयम्य परमात्मनि पण्डितः ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणं भ्रुवोर्मध्येऽथवानघे ॥ १६॥

कारणे परमानन्दे आस्थितो योगधारणाम् ।
ओमित्येकाक्षरं बुद्ध्या व्याहरन्सुसमाहितः ॥ १७॥

शरीरं सन्त्यजेद्विद्वानात्मैवाभून्नरोत्तमः ।
यस्मिन्समभ्यसेद्विद्वान्योगेनैवात्मदर्शनम् ॥ १८॥

तदेव संस्मरञ्विद्वांस्त्यजेदन्ते कलेवरम् ।
यं यं सम्यक्स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥ १९॥

तं तमेवैत्यसौ भावमिति योगविदो विदुः ।
त्वं चैवं योगमास्थाय ध्यायन्स्वात्मानमात्मनि ॥ २०॥

स्वधर्मनिरता शान्ता त्यजान्ते देहमात्मनः ।
ज्ञानेनैव सहैतेन नित्यकर्माणि कुर्वतः ॥ २१॥

निवृत्तफलसङ्गस्य मुक्तिर्गार्गि करे स्थिता ।
यदुक्तं ब्रह्मणा पूर्वं कर्मयोगसमुच्चयम् ॥ २२॥

तदेतत्कीर्तितं सर्वं साङ्गोपाङ्गं विधानतः ।
त्वं चैव योगमभ्यस्य यमाद्यष्टाङ्गसंयुतम् ॥ २३॥

निर्वाणं पदमासाद्य प्रपञ्चं सम्परित्यज ।

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये दशमोऽध्यायः ॥

॥ अथ एकादशोऽध्यायः ॥

इत्येवमुक्ता मुनिना याज्ञवल्क्येन धीमता ।
ऋषिमध्ये वरारोहा वाक्यमेतदभाषत ॥ १॥

गार्ग्युवाच -

योगयुक्तो नरः स्वामिन्सन्ध्ययोर्वाथवा सदा ।
वैधं कर्म कथं कुर्यान्निष्कृतिः का त्वकुर्वतः ॥ २॥

इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ।
तां समालोक्य भगवानिदमाह नरोत्तमः ॥ ३॥

याज्ञवल्क्य उवाच -
योगयुक्तमनुष्यस्य सन्ध्ययोर्वाथवा निशि ।
यत्कर्तव्यं वरारोहे योगेन खलु तत्कृतम् ॥ ४॥

आत्माग्निहोत्रवह्नौ तु प्राणायामैर्विवर्धिते ।
विशुद्धचित्तहविषा विध्युक्तं कर्म जुह्वतः ॥ ५॥

निष्कृतिस्तस्य किं बाले कृतकृत्यस्तदा खलु ।
वियोगे सति सम्प्राप्ते जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६॥

विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं ब्रह्मविद्भिश्च नित्यशः ।
वियोगकाले योगी च दुःखमित्येव यस्त्यजेत् ॥ ७॥

कर्माणि तस्य निलयः निरयः परिकीर्तितः ।
न देहिनां यतः शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ ८॥

तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिभिः सदा ।
त्वं चैव मात्यया गार्गि वैधं कर्म समाचर ॥ ९॥

योगेन परमात्मानं यजंस्त्यज कलेवरम् ।
इत्येवमुक्त्वा भगवान् याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥ १०॥

ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ।
सन्ध्यामुपास्य विधिवत्पश्चिमां सुसमाहिताः ॥ ११॥

गच्छन्तु साम्प्रतं सर्वे ऋषयः स्वाश्रमं प्रति ।
इत्येवमुक्ता मुनिना मुनयः संश्रितव्रताः ॥ १२॥

विश्वामित्रो वसिष्ठश्च गौतमश्चाङ्गिरास्तथा ।
अगस्त्यो नारदश्चैव वाल्मीकिर्बादरायणः ॥ १३॥

पैङ्गिर्दीर्घतमा व्यासः शौनकश्च तपोधनः ।
भार्गवः काश्यपश्चैव भरद्वाजस्तथैव च ॥ १४॥

तपस्विनस्तथा चान्ये वेदवेदाङ्गवेदिनः ।

याज्ञवल्क्यं सुसम्पूज्य गीर्भिराशीर्भिरुत्तमैः ॥ १५॥

ते यान्ति मुनयः सर्वे स्वाश्रमेषु यथागतम् ।
गतेषु स्वाश्रमेष्वेषु तापसेषु तपोधना ॥ १६॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ वाक्यमेतदभाषत ।

गार्ग्युवाच -
भगवन्सर्वशास्त्रज्ञ सर्वभूतहिते रत ॥ १७॥

भवमोक्षाय योगीन्द्र भवद्भिर्भाषितं तु यत् ।
यमाद्यष्टाङ्गसहितो योगो मुक्तेस्तु साधनम् ॥ १८॥

तदेतद्विस्मृतं सर्वं सर्वज्ञ तव सन्निधौ ।
योगं ममोपदिश्याद्य साङ्गं सङ्क्षेपरूपतः ॥ १९॥

त्रातुमर्हसि सर्वज्ञ जन्मसंसारसागरात् ।
इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ॥ २०॥

आलोक्य कृपया दीनां स्मितपूर्वमभाषत ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भूमौ गार्गि वरानने ॥ २१॥

वक्ष्यामि ते समासेन योगं सम्प्रति तं शृणु॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये एकादशोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वादशोऽध्यायः ॥

सव्येन गुल्फेन गुदं निपीड्य सव्येतरेणैव निपीड्य सन्धिम् ।
सव्येतरं न्यस्य करेतरेऽस्मिंशिखां समालोक्य पावकस्य ॥ १॥

आयुर्विघातकृत्प्राणो निरुद्धस्त्वासनेन वै ।
याति गार्गि तदापानात्कुलं वह्नेः शनैः शनैः ॥ २॥

वायुना वातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः
ततो ज्वलति सर्वेषां स्वकुले देहमध्यमे ॥ ३॥

प्रातःकाले प्रदोषे च निशीथे च समाहितः
मुहूर्तमभ्यसेदेवं यावत् पञ्चदिनद्वयम् ॥ ४॥

ततस्वात्मनि विप्रेन्दे प्रत्ययाश्च पृथक्पृथक् ।

सम्भवन्ति तदा तस्य जितो येन समीरणः ॥ ५॥

शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः ।
नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नान्यादौ भवन्ति हि ॥ ६॥

अल्पमूत्रपुरीषः स्यात्षण्मासे वत्सरेऽपि वा ।
आसने वाहने पश्चान्न भेतव्यं त्रिवत्सरात् ॥ ७॥

ततोऽनिलं वायुसखेन सार्धं धिया समारोप्य निरोधयेत्तम् ।
ध्यायन्सदा चक्रिणमप्रबुद्धं नाभौ सदा कुण्डलिनीनिविष्टम् ॥ ८॥

शिरां समावेष्ट्य मुखेन मध्यामन्याश्च भोगेन शिरास्तथैव ।
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक्पथश्च संयम्य मरुद्गणानाम् ॥ ९॥

प्रसुप्तनागेन्द्रवदुच्छ्वसन्ती सदा प्रबुद्धा प्रभया ज्वलन्ती ।
नाभौ सदा तिष्ठति कुण्डली सा तिर्यक्षु देहेषु तथेतरेषु ॥ १०॥

वायुना विहृतवह्निशिखाभिः कन्दमध्यगतनाडीषु संस्थाम् ।
कुण्डलीं दहति यस्त्वहिरूपां संस्मरन्नरवरस्तु स एव ॥ ११॥

सन्तप्ता वह्निना तत्र वायुना च प्रचालिता ।
प्रसार्य फणभृद्भोगं प्रबोधं याति सा तदा ॥ १२॥

बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये प्राणाः सुसम्भूय कलेवरेऽस्मिन् ।
चरन्ति सर्वे सह वह्निनैव यथा पटे तन्तुगतिस्तथैव ॥ १३॥

जित्वैवं चक्रिणः स्थानं सदा ध्यानपरायणः ।
ततो नयेदपानं तु नाभेरूर्ध्वमिदं स्मरन् ॥ १४॥

वायुर्यथा वायुसखेन सार्धं नाभिं त्वतिक्रम्य गतः शरीरे ।
रोगाश्च नश्यन्ति बलाभिवृद्धिः कान्तिस्तदानीमभवत्प्रबुद्धे ॥ १५॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः पावकेन सह यान्ति समूह्य ।
केनचिदिह वदामि तवाहं वीक्षणाद् हृदि सुदीपशिखायाः ॥ १६॥

निरोधितः स्याद् हृदि तेन वायुः मध्ये यदा वायुसखेन सार्धम् ।
सहस्रपत्रस्य मुखं प्रविश्य कुर्यात्पुनस्तूर्ध्वमुखं द्विजेन्द्रे ॥ १७॥

प्रबुद्धहृदयाम्भोजे गार्ग्यस्मिन्ब्रह्मणः पुरे ।
बालाकाश्रेणिवद्योन्नि विरराज समीरणः ॥ १८॥

हृन्मध्यात्तु सुषुम्नायां संस्थितो हुतभुक्तदा ।
सजलाम्बुदमालासु विद्युल्लेखेव राजते ॥ १९॥

प्रबुद्धहृत्पद्मनि संस्थितेऽग्नौ प्राणे च तस्मिन्विनिवेशिते च ।
चिह्नानि बाह्यानि तथान्तराणि दीपादि दृश्याणि भवन्ति तस्य ॥ २०॥

वायुमुन्नय ततस्तु सवह्निं व्याहरन्प्रणवमत्र सबिन्दुम् ।
बालचन्द्रसदृशे तु ललाटे बालचन्द्रमवलोकय बुद्ध्या ॥ २१॥

सवह्निं बायुमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये धिया तदा ।
ध्यायेदनन्यधीः पश्चादन्तरात्मानमन्तरे ॥ २२॥

मध्यमेऽपि हृदये च ललाटे स्थाणुवज्ज्वलति लिङ्गमदृश्यम् ।
अस्ति गार्गि परमार्थमिदं त्वं पश्य पश्य मनसा रुचिरूपम् ॥ २३॥

ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे च यः पश्यति ज्ञामयीं प्रभां तु ।
शक्तिं सदा दीपवदुज्ज्वलन्तीं स पश्यति ब्रह्मविदेकदृष्ट्या ॥ २४॥

मनोलयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम् ।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम् ॥ २५॥

कम्पनं च तथा मूर्ध्नः मनसैवात्मदर्शनम् ।
देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणि च चन्द्रमाः ।
ऋषयः सिद्धगन्धर्वाः प्रकाशं यान्ति योगिनाम् ॥ २६॥

भ्रुवोऽन्तरे विष्णुपदे ऋचौ तु मनोलयं यावदियात्प्रबुद्धे ।
तावत्समभ्यस्प पुनः खमध्ये सुखं सदा संस्मर पूर्णरूपम् ॥ २७॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे जीवे च तस्मिन्नमृते च संस्थे ।
तस्मिन्स्तदा याति मनोलयं चेन्मुक्तेः समीपं तदिति ब्रुवन्ति ॥ २८॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे विशुद्धबुद्धौ च तदात्मनिष्ठे ।
आनन्दमत्यद्भुतमस्ति सत्यं त्वं गार्गि पश्याद्य विशुद्धबुद्ध्या ॥ २९॥

एवं समभ्यस्य सूदीर्घकालं यमादिभिर्युक्ततनुर्मिताशी ।
आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टां मुक्तिं व्रज ब्रह्मपुरे पुनस्त्वम् ॥ ३०॥

भूतानि यस्मात्प्रभवन्ति गार्गि येनैव जीवन्ति चराचराणि ।
जातानि यस्मिन् विलयं प्रयान्ति तद्ब्रह्म विद्धीति वदन्ति सर्वे ॥ ३१॥

हृत्पङ्कजे व्योम्नि यदेकरूपं सत्यं सदानन्दमयं सुसूक्ष्मम् ।

तद्ब्रह्म निर्भासमयं गुहायामिति श्रुतिश्चेति समामनन्ति ॥ ३२॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्य विशुद्धबुद्ध्या प्रयाणकाले च विहीनशोकाः ॥ ३३॥

प्रभञ्जनं मूर्ध्निगतं सवह्निं धिया समासाद्य गुरूपदेशात् ।
मूर्धानमुद्भिद्य पुनः खमध्ये प्राणास्त्यजोङ्कारमनुस्मरंस्त्वम् ॥ ३४॥

ईप्सया यदि शरीरविसर्गं ज्ञातुमिच्छसि सखे तव वक्ष्ये ।
व्याहरन्प्रणवमुन्नय मूर्ध्नि भिद्य योजय तमात्मनि कायम् ॥ ३५॥

एतत्पवित्रं परमं योगमष्टाङ्गसंयुतम् ।
ज्ञानं गुह्यतमं पुण्यं कीर्तितं ते वरानने ॥ ३६॥

य इदं श्रणुयान्नित्यं योगाख्यानं नरोत्तमः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानी भविष्यति ॥ ३७॥

यस्त्वेतच्छ्रावयेद्विद्वान्नित्यं भक्तिसमन्वितः ।
एकजन्मकृतं पापं दिनेनैकेन नश्यति ॥ ३८॥

श्रृणुयाद्यः सकृद्वापि योगाख्यानमिदं नरः ।
अज्ञानजनितं पापं सर्वं तस्य प्रणश्यति ॥ ३९॥

अनुतिष्ठन्ति ये नित्यमात्मज्ञानसमन्वितम् ।
नित्यकर्माणि तान्दृष्ट्वा देवाश्च प्रणमन्ति हि ॥ ४०॥

तस्माज्ज्ञानेन देहान्तं नित्यं कर्म यथाविधि ।
कर्तव्यं देहिभिर्गार्गि योगश्च भवभीरुभिः ॥ ४१॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान्रहस्ये रहस्यजं मुक्तिकरं तु तस्याः ।
योगामृतं बन्धविनाशहेतुं समाधिमास्ते रहसि द्विजेन्द्रः ॥ ४२॥

सा तं तु सम्पूज्य मुनिं ब्रुवन्तं विद्यानिधिं ब्रह्मविदां वरिष्ठम् ।
गीर्भीः प्रणामैश्च सतां वरिष्ठं सदा मुदं प्राप वरां विशुद्धाम् ॥ ४३॥

योगं सुसङ्गृह्य तदा रहस्ये रहस्यजं मुक्तिकरं च जन्तोः ।
संसारमुत्सृज्य सदा मुदान्विता वने रहस्यावसथे विवेश ॥ ४४॥

येन प्रपञ्चं परिपूर्णमेतद्येनैव विश्वं प्रतिभाति सर्वम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं पश्यन्सदास्ते हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् ॥ ४५॥

यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं प्रपञ्चजन्मादिकृदप्रमेयम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्निजातं पश्यन्सदास्ते हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् ॥ ४६॥

॥ इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तमिदं योगशास्त्रम् ॥

The Yogayajnavalkya is also called YogayAjnavalkya gita

Encoded by DPD, Sunder Hattangadi, Shankara, Sowmya Ramkumar
Proofread by DPD, Radim Navyan radimnavyan at gmail

Shri Yoga Yajnyavalkya
pdf was typeset on March 3, 2019

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

B.B.R.A. SOCIETY MONOGRAPH No. 3

YOGA-YĀJÑAVALKYA

A TREATISE ON YOGA AS TAUGHT BY YOGĪ YĀJÑAVALKYA

EDITED By

Sri Prahlad C. Divanji, M.A., LL.M.,

Editor, *Siddhāntabindu* with English Translation, Notes, Introduction etc., and Author, *Critical Word-Index to the Bhagavadgītā.*

BOMBAY

1961

Reprinted from the Journal of the Bombay Branch Royal Asiatic Society,
Volumes XXVIII, and XXIX, Part 1.

CONTENTS

		Pages
Introduction		96
Analytical study of the text		107
Quotations from and references to this work in other works		113
Text of the Yoga Yājñavalkya with a critical apparatus ...		1-116
Chapter I.	Introductory stanzas and the Yamas ...	1
II.	The Niyamas	15
III.	The Āsanas	19
IV.	The Nāḍīs, Kanda and Vāyus and their respective functions	23
V.	Purification of the Nāḍīs ...	37
VI.	Prāṇāyāma and its varieties	42
VII.	Pratyāhāra and its varieties ...	63
VIII.	Dhāraṇā and its varieties	72
IX.	Dhyāna and its varieties ...	80
X.	Samādhi	90
XI.	Yoga and prescribed rites, departure of the other sages and Gārgī's request to summarise the Teaching	96
XII.	Secret teaching and concluding Remarks	102
Index of Stanzas		114
Glossary of unusual words		122
Corrigenda		127
Abbreviations		129

YOGA YĀJÑAVALKYA

INTRODUCTION

I. Critical Apparatus

The number of manuscripts made use of for the purpose of ascertaining the readings adopted in the text and their variants in the footnotes thereunder was 16. Besides them 5 previously printed editions were also referred to for the same purpose in the case of those units with reference to whose original wording no satisfactory inference could be drawn from the manuscript-evidence alone owing to a very wide and confounding divergence of the readings of the same syllables forming parts of a unit adopted by the scribes of the MSS. All these sources having been designated in the footnotes by abbreviations it is necessary to explain them. It is also necessary to furnish a short description of each of them for the purpose of the identification thereof by the learned scholars who read the book critically and assess its value.

2. The said 16 MSS. fall into 4 classes determined by the scripts in which they have been transcribed, namely (Deva-) Nāgarī, Grantha, Telugu and Kannaḍa. There are 8 MSS. of the first class, 6 of the second and one each of the third and the fourth. The abbreviation न has been used with the figures १ to ८ for those of the first class, ग with the figures, १ to ६ for those of the second, त for that of the third and क for that of the fourth.

3. Their detailed description so far as could be known is as follows :—

(A) *Nāgarī Class*

1. न१—MS. No. 91 of 1899/1915 at the Bhandarkar Oriental Institute, Poona, renumbered 22 ; Title, " Yogī Yāgñavalkya Smṛti "; No. of Folios, 17; No. of Lines on each side thereof, 14 ; Average No. of Words in each line, 39 ; Materials used, handmade paper and ink ; Size, 21″ × 16½″ ; Date, not mentioned but old in appearance ; Present Condition, folios damaged at the ends but writing unaffected ; Complete.

2. न२—MS. No. 388 of 1899/1915 at the same Institute, also renumbered 22; Title, "Yogī Yājñavalkya Smṛti"; No. of Folios, 13 ; No. of Lines on each side thereof, 17 ; Average No. of Words in each line, 44; Materials used, handmad

paper and ink; Size, $12\frac{1}{4}'' \times 6\frac{1}{4}''$; Date, not mentioned but old in appearance; Present condition similar to that of No. 1; Complete.

3. न३—MS. No.5414 at the Oriental Institute, Baroda; Title, "Yoga Yājñavalkyagītopaniṣadaḥ"; No. of Folios, 25; No. of Lines on each side thereof, 10; Average No. of Words in each line, 40; Materials used, handmade paper and ink; Size, $8'' \times 3\frac{1}{2}''$; Date, Fālgun Vadya 1st of Saṁvat 1684 (March 1628 A.D.); Name of the Scribe, "Nāthaka;" Name of the person for whose use transcribed, Bhārathī Śrī Rājendra; Present Condition, old but well-preserved; Complete except that stanzas VIII. 22/3-4 to IX. 5/1-2 are missing.

4. न४—MS. No. 4503 at the same Institute; Title, "Yoga Yājñavalkyagītopaniṣadaḥ"; No. of Folios, 35; No. of lines on each side thereof, 9; Average No. of Words in each line, 25; Materials used, handmade paper and ink; Size, $8'' \times 4''$; Date, Bhādrapad Kṛṣṇapakṣa 3rd of Saṁvat 1792 (September 1736 A.D.), Saturday; Name of the Scribe, Ātmārām, son of Upādhyāyadeva, an inhabitant of Vāṭoda-Saras (Surat district); Present Condition, slightly damaged at the edges but writing unaffected; Complete.

5. न५—MS. No. 1736 at the same Institute; Title, "Yājñavalkyagītopaniṣadaḥ"; No. of Folios, 29; No. of Lines on each side thereof, 8; Average No. of Words in each line, 45; Materials used, handmade paper and ink; Size, $9\frac{1}{2}'' \times 4''$; Present Condition, good and recent in appearance; Complete.

6. न६—MS. bearing Burnell No. 6391 at the Sarafoji Saraswati Mahal Palace Library, Tanjore; Title on the label, "Yoga Yājñavalkyopaniṣadaḥ" but in the chapter-colophones "Yoga Yājñavalkyagītā"; Other particulars not supplied.

7. न७—MS. No. Veda 71 at the Government Sanskrit College, Calcutta (No. 96 in Section X headed "Philosophy" in Rishikesh Sastri's Catalogue) Title, "Yājñavalkyagītopaniṣadaḥ"; No. of Folios 27; No. of Lines on each side thereof, 7; Average No. of Words in each line, 15; Materials used, machine-made paper and ink; Size, $12'' \times 4''$; Date, Saṁvat 1942 (1885/86 A.D.); Complete.

8. न८—MS. No. B 522 at the Oriental Research Institute, Mysore; Title, "Yoga Yājñavalkya"; No. of Folios, 76; No. of Lines on each side thereof, 14; Average No. of Words in each line, 18; Materials used, handmade paper and ink; Size, $8'' \times 6\frac{1}{2}''$; Date, unknown; Present Condition, good; Complete.

(B) *Grantha Class*

9. ग१—One of a group of MSS. stringed together and held in position by two pieces of wooden planks cut to size and polished, at the Oriental Manuscripts

Library, Adyar, Madras; Title, "Yoga Yājñavalkyagītā"; No. of Folios, 17 bearing Nos. 27 to 43 in the group; No. of Lines on each side thereof, 8 to 10; Average No. of Words in each line, 40; Materials used, palm-leaves and stencil; Size, 17″ × 1″ × 3″; Date not mentioned; Present Condition, very old in appearance but well-preserved; Stanzas 1 to 18 of Ch. I missing and No. of marked chapters, XI but the contents of Ch. XII included in the last.

10. ग२—MS. No. 4362 at the Government Oriental Manuscripts Library, Madras; Title, "Yoga Yājñavalkyagītā"; Materials used, palm-leaves and stencil; Complete; Other particulars not supplied.

11. ग३—MS. bearing No. 9716 at the Sarafoji Saraswati Mahal Palace Library, Tanjore; Title on the label, "Yājñavalkyopaniṣat" but in the chapter-colophones, "Yoga Yājñavalkyagītopaniṣadaḥ"; Other particulars not supplied.

12. ग४—MS. No. 3892 at the Vyankateśvara Research Institute, Tirupati, renumbered "T_2"; Title, "Yoga Yājñavālkya Smṛti"; No. of Folios, 56; No. of Lines on each side thereof, 7; Average No. of Words in each line 44; Materials used, palm-leaves and stencil; Size, $13\frac{3}{4}'' \times 1\frac{1}{4}''$; Apperance, old; Present Condition, good and well-preserved; Complete.

13. ग५—MS. No. 3857, renumbered "T_1" at the same Institute; Title, "Yoga Yājñavalkya Smṛti"; No. of Folios, 46; No. of Lines on each side thereof, 34; Average No. of Words in each line, 23; Materials used, handmade paper and ink and folios bound together in book-form; Size, $12\frac{1}{4}'' \times 7\frac{5}{8}''$; Date not mentioned; Present Condition, good; Complete.

14. ग६—MS. No. 6676(A) at the Oriental Institute, Baroda; Title, "Yoga Yājñavalkyaṁ"; No. of Folios, 28; No. of Lines on each side thereof, 9; Average No. of Words in each line, 39; Materials used, palm-leaves and stencil; Size, $13'' \times 1\frac{1}{2}''$; Chronogram; रक्ताक्षी नाम संवत्सरे वैयाशी शु. १० सोमवारं (!), दिवि २८ नाडिकायां लिखित्वा पूर्तिमगात्, which is not found capable of leading to any definite conclusion as to the date, month and year of completion of the transcript; Name of the Scribe, Venkaṭa Nārāyaṇan; Appearance, very old and damaged at places and writing grown faint at places owing to lapse of considerable time, though well-preserved in the Institute; Complete.

(C) *Telugu Class*

15 त—MS. No. 4364 at the Government Oriental Manuscripts Library, Madras; Title, "Yoga Yājñavalkyagītā"; Materials used, palm-leaves and stencil; Complete; Other particulars not supplied.

(D) *Kannada Class*

16. क—MS. No. A 604 at the Oriental Research Institute, Mysore ; Title, " Yoga Yājñavalkya "; No. of Folios, 42 ; No. of Lines on each side thereof, 16 ; Average No. of Words in each line, 16; Materials used, paper and ink ; but apparently a transcript from a very old palm-leaf MS. from which the leaves containing stanzas I.1-15, IV. 19-41, V.15/3-22/1-2, VI.1-40, 57-81, IX.15-44, X.1-16/1-2 and the whole of Ch. XII were missing. Date, not mentioned ; Present Condition, good.

Note :—There are 2 other MSS. at the G. O. M. Library, Madras, one in the Grantha and the other in the Telugu character, 2 others in the Nāgari character at the Institute at Baroda, 1 in the same character at the Raghunath Temple Library at Jammu and 1 in the Grantha character at the Institute at Mysore. A transcript of that at Jammu was not ordered out because the charges therefor were likely to be nearly 5 times those for similar ones called for from the libraries in the South of India and the rest were not called for because the scripts in which they had been written and the recensions of the work to which they were related had been sufficiently represented by those already secured.

The printed editions, the contents whereof have been occasionally utilised for ascertaining the readings of doubtful units, are 5 in number. The abbreviated signs by which they are cited in the footnotes and their short description are as under :—

(1) त्रि.मु.—Trivandrum Sanskrit Series No. CXXXIV entitled " Yoga Yājñavalkya " edited by Sri Sambha Siva Sastri, Curator of the Trivandum Sanskrit Library, in 1938, a copy whereof was obtained from the Library of the B.B.R.A. Society. This edition based on a single MS. obtained as a loan most probably represents the recension of the work in the Malayalam character. It contains gaps in the text left at several places, which, as explained in the Preface of the editor in English and Sanskrit, are due to the MS. written on palm-leaves on which it was based being very old and damaged in parts. He believed that the said MS. must be not less than 500 years old. The text, from which an important passage occurring in Ch. VIII is missing, is not accompanied by either a commentary, translation or notes in any language.

(2) मुं. मु.—A small book entitled " Yājñavalkya Saṁhitā," in the Nāgarī character printed by the Manager of the Gujarati Printing Press, Bombay in Saṁvat 1959 (1902/03 A.D.). This too has no commentary, translation or notes. But there are in it headings of chapters and sub-headings of the topics inside them apparently inserted by the editor. This too was most probably based on a single MS. Copies thereof are not available in the market or public libraries but I could take comparative notes from one of them in the possession of Sri Yogendra then residing at Navsari, on going there personally and while sitting at his house.

(3) न.पु.—A well-bound book entitled "Śrī Yājñavalkyasaṁhitopaniṣat" based on a single MS. in the Nāgarī character found in the collection of the Sanskrit scholar Prof. Manilal N. Dvivedi of Nadiad and published by his younger brother ("Anuja") named Madhavlal with an Introduction and a translation in Gujarati in the year 1901 A.D. The Introduction is not based on a comparative study of this and the other works on the Yoga technique but on a study of the text as printed and the text and translation are at places faulty. Copies of this edition too are not available in the market but I could get one from the library of the Forbes Gujarati Sabha, Bombay.

(4) मु. पु.—A printed copy of the same work but bearing the title "Yogī Yājñavalkya" printed and published at the Sanatan Dharma Press, Muradabad with a Hindi translation made by Pandit Ramachandra Sharma in the year 1938 A.D. The text and translation therein are liable to the same remarks as above. This is the only edition of which copies were available for money.

(5) A copy of a reprint made in the Bengali Saṁvat 1304 (A.D. 1897) of the earliest edition of the work named "Yogi Yājñavalkyaṁ" with a translation in Bengali made by Venimadhav Nyayaratna published in the Bengali character in the Bengali Saṁvat 1300 (A.D. 1893). I came to know of this edition and its reprint, as well as that of the Nadiad edition, from the *Catalogus Catalogorum* of Theodore Aufrecht and after having made some vain attempts to get any of them got one of the reprint through the courtesy of the Hon. Secretary of the Bangiya Sahitya Parisad, Calcutta on being introduced to him by Dr. Kalyani Devi Mallik, a Bengali scholar interested in the study and the practice of Yoga as followed by the Nātha Yogīs. The text as printed in this edition was found to agree very closely with that printed in the Muradabad edition at so many places that I was led to infer either that the MSS. on which they may have been based must have been copies of a common codex or that the latter must have been based upon the former earlier edition. The publisher of the latter being requested to let me know the materials on which that edition had been based did not comply with the request.

II. The New Method Devised for the Collation of Those Materials

4. It had become a problem with me how to collate and ascertain the correct readings of the portions of the text which read differently in the different groups of and even the individual MSS. and printed editions. The only known method, namely that adopted by Dr. Sukhtankar for collating the MSS. of the *Mahābhārata*, whose critical edition is being prepared and published by the B.O.R. Institute, Poona, was not found suitable, primarily because it required a fairly large staff of Śāstris employed for doing the mechanical work of noting down at the top of sheets of full-size foolscape paper each stanza as found printed in any edition of a work selected as a model and below it the same as found in the other sources selected for comparison, in squares formed by perpendicular lines crossed by hori-

zontal ones at such distances as to make the squares just so big as to enable the copyist to write in bold letters each syllable separately in each of them. If, further, the number of MSS. to be copied out was more than 10 to 12, as was the case with the Ādi and some other Parvans, one sheet could not have sufficed to bring together all the variant readings to be considered by the editor in connection with a single stanza. Lastly, the first task of the editor, of selecting the right readings and noting the variants thereof found in the different recensions and sub-recensions and in some unclassifiable MSS., could not have been performed satisfactorily without placing all the relevant sheets in a semi-circle before himself and reading over all of them carefully, and for performing his second task of finding out the family-relationships of the MSS. as a whole for mentioning in his Introductory Note how he believed the text to have been transmitted from the probable date of the archetype to those of the extant MSS. which could be ascertained, he must have been required to study his own critical apparatus together with the remarks columns of the collation sheets. I looked up Dr. Katre's *Introduction to Textual Criticism* and found that there too the above was the only method that had been recommended. I also searched for some other method in some of the works of English and American authors on the same subject but found that they had not discussed any method of doing such spade-work and had proceeded with the subjects of settling a text and tracing family-relationships between MSS., on assuming that collation-notes would be prepared as required on bearing in mind the general nature of the materials they have to deal with and the advice given by the authors in the introductory chapters of their works. I was therefore put to thinking as to how I could make such notes unaided by anybody with the least possible exertion and at the minimum possible cost. The following method, which I was able to hit upon, was found to satisfy that test.

5. Instead of one full stanza I have adopted one-quarter of it as a unit from the Trivandrum edition, which was the first source that had come into my hands, noted down first the numbers of the chapter, stanza and quarter as appearing therefrom and having assigned the letters of the Sanskrit alphabet, 'ka" to "ba" except " aṅga " and " yaṅ " to the 21 sources went on noting against the units copied out from the first source, the said letters only wherever the said unit was found in exactly the same words and such letters with only the variations in brackets beside them. Wherever the same units were found in diffeernt words I copied out all of them in a parallel line and marked the *sigla* of the MSS. or editions containing them and against them again such slight variations thereof as were found in some other sources. The result of this has been that the units which had absolutely no variants and those which had such as could be explained away on one ground or another and can therefore be reasonably be believed to have been transmitted for centuries in their original forms in the archetype can be spotted at a glance and the major and minor variations in the others are automatically marked out together with the groups of their sources constituting recensions and sub-recensions. The latter feature gives this advantage that at the time of ascertaining the groupings one can at a

glance find out from the notes as they are what must be the number of the original recensions, to which of them, if any, an extant MS. belongs and whether it had come to us in its original form or through any sub-group falling under it and which of the extant ones are derived from mixed codices based upon two or more of them. For a more detailed description of this method and comparative tables illustrating it and a pedigree made out from the notes the inquisitive reader may refer to my article on the subject published in 1952 at pp. 31-40 of Vol. II of the Journal of the Oriental Institute, Baroda.

III. Principles Followed in the Case of Doubtful Readings

6. The readings of all the units whose total number comes to approximately 1960 cannot be expected to be either uniform or capable of being rendered so by such a simple formula as the above. Nay, there was found to be a fairly large number of units of which 5 to 13 variations were found to exist in the extant MSS. For the purpose of ascertaining the true variations thereout I had studied the principles of the method by which that could be done scientifically from the following works, namely :—(1) *Prolegomena* to the Ādi-Parvan by V. S. Sukhtankar ; (2) *Introduction to Textual Criticism* by S. M. Katre ; (3) *Article on Textual Criticism* by J. P. Postgate *in the Ency. Brit.* Vol. 22 ; (4) *A History of Classical Scholarship* by J. J. Sandys ; (5) *A Companion to Greek Studies* by L. Whibley containing a chapter on Textual Criticism by Sir R. C. Jebb and (6) *Pancatantra Re-constructed* by Prof. Franklin Edgerton. Reflecting over them in the light of the peculiarities of the materials before me I had adopted some for my guidance and discussed them in an article on "Textual Criticism As a Branch of Indology" published in the issues of September and December 1951 of the aforesaid Journal at pp. 60–64 and 138–50. The following is their short summary :—

(1) Wherever the sources seemed to agree uniformly the common reading of the unit has been adopted in the text as the reading in the archetype and no foot-note has been made below it ;

(2) Where the majority of them seemed to agree the reading common to them was incorporated in the text and a foot-note giving the variants found in the remaing sources has been added below the line, the agreeing ones not being mentioned at all.

(3) The above majority rule has however been departed from in cases in which the sense of the unit as determined by the context in which it occurred or the general trend of the work as a whole or of the particular chapter in which the unit occurred was likely to be sacrificed. In such cases the reading preferred has been incorporated in the text and the other reading or readings have been mentioned in a foot-note.

(4) There are however cases in which even a full quarter-stanza could not be re-constructed from any single group of sources. In such cases the reading adopted

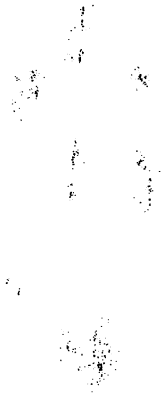

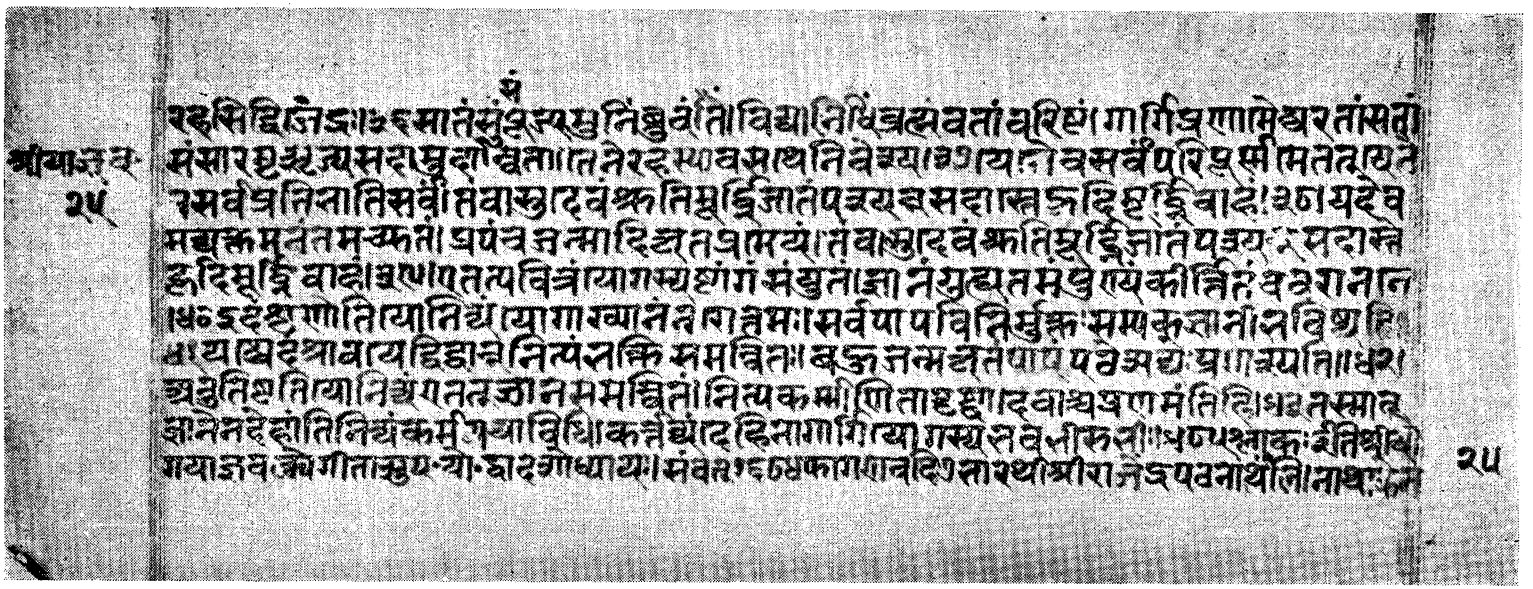

YOGA YĀJÑAVALKYA (Page 103)

in the text has been taken from one or two sources not necessarily forming part of a single group for the purpose of the chapter concerned and the variant readings from all the sources without exception have been given in the relative foot-note and the propriety of the selected reading and the other readings has been discussed therein. Such cases belong to the class of doubtful readings marked by wavy lines below them as in the Critical Edition of the *Mahābhārata*.

Explanation.—The word "source" in the first three principles means the MSS. only, which have been cited by reference to the scripts in which they had been written, not the original *sigla*, the letters of the Sanskrit alphabet. The said scripts are 4 in number, namely (Deva-nāgarī) indicated by the letter "Na," Grantha indicated by the letter "Ga," Telugu indicated by the letter "Ta," and Kannaḍa indicated by the letter "Ka." MSS. falling in the same group have been distinguished by marking the figures 1, 2 etc., as mentioned in the description of the Critical Apparatus herein-above. The same word in the 4th principle means either the said MSS. or the printed editions. The latter called "Pustakas" have been designated by reference to their places of publication, both being indicated by their initial letters *e.g.* "Ka. Pu," "Na. Pu" meaning Calcutta edition, Nadiad edition, and so on.

IV. The Work and its Date

7. There is complete uniformity between the MSS. and the printed editions as to (1) the work being in the form of dialogue between the sage Yājñavalkya and his wife Gārgī, whose other name was Maitreyī, (2) the subject-matter being Yoga as made up of its 8 constituents as known from the second Pāda of the *Pātañjala Yogadarśana*, (3) the exposition thereof by the former made at the request of the latter being of the nature of a summary of what he had learnt about the subject from Brahmā and its relation with the prescribed religious observances, which is of the nature of a "Samuccaya" (combination) of "Jñāna", explained here as being of the nature of "Yoga", and "Vaidhaṁ Karma," whose nature has not been explained anywhere in the work, (4) the work having been divided into 12 chapters and the exposition in the first 11 having been made in the presence of several other sages and that in the last, the Rahasya-chapter, on their being asked to leave the hermitage of Yājñavalkya and (5) as to the general treatment of the subject-matter of each chapter. The differences that exist relate to the numbers of stanzas, some MSS. having more than the others and some containing omissions of some of them found in all the rest.

8. Out of the 16 MSS. that have been utilised for this critical edition of the work, the earliest dated one is No. 3 in the list of the Devanāgarī MSS., obtained as a loan from the Oriental Institute, Baroda. The facsimile of the last page thereof reproduced herein shows clearly that it had been copied out from an older MS. in the Saṁvat year 1684 (AD. 1627/28). But some of the Grantha MSS. on palm-

10. As for the nature of the Yoga expounded in this work, although it is treated as made up of the 8 constituents, Yama etc., as in the Sādhana-pāda of the *Yogadarśana*, the two works differ considerably in the description of each of them. Similarly, although the recommendation of several varieties of "Prāṇāyāma" and "Vāyuvijaya" mark it out as a work on Haṭhayoga it differs considerably from the several *Yoga Upaniṣads* and the special treatises thereon composed by the Nātha Yogins of later dates by the absence therein of any reference to the Saṭcakras, by its description of the heart as an 8-petalled lotus etc. I cannot enter here into the details of the differences for the reason stated above. All that I can say here is that the work has been based upon the doctrine that the realisation of the complete identity of the individual soul with the Supreme Soul established in the Vedāntas cannot take place except by going through the simple course of Yoga expounded therein, that so long as it is not realised it is harmful to give up the performance of the prescribed acts, that the said realisation can take place when one is able to rouse the Kuṇḍalinī, which obstructs the passage of the vital breath, accompanied by the inherent heat having its seat in the triangular space between the two lower organs, into the Suṣumṇā Nāḍī extending from the Kaṅda (bulb) below the navel through the spinal cord to the opening at the root of the palate and the mind ceases to think of any physical or metaphysical object and becomes completely steady, for achieving which object there are various devices, and that once that realisation takes place it is optional for one whether to retain the connection of the vital breath with one's physical body or to sever it by a special process. There is no restriction in this Yoga as to caste, sex, station in life etc. It is in my view capable of being practised by any person who can make up his or her mind to do so and gets himself or herself acquainted with its technique. In other words, this is *the earliest available book on Haṭhayoga for the common man.*

VI. Acknowledgments

11. I take this opportunity to thank the authorities of the Oriental MSS. Libraries at several places, the other learned associations and individual scholars above-named for enabling me to collect together the valuable materials on which the Text and the Notes as to the variant readings are based and particularly Sri P. K. Gode, Curator of the Library at the B.O.R. Institute, Poona, through whom the authorities of most of the Oriental MSS. Libraries were required to be approched for co-operation in this my labour of love extending over a period of nearly 5 years and Sastri T. A. V. Dikshitar of the Sanskrit Pathashala, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, who was kind enough to prepare comparative notes for me from the Adyar MS. in the Grantha character for the mere love of learning.

ANALYTICAL STUDY OF THE TEXT

Chapter I

(1) Request of Gārgī, wife of Yājñavalkya, sitting in an assembly of sages, to communicate to her that knowledge by which she would attain Nirvāṇa and the latter's expression of willingness to do so on the basis of that which he had, on a former occasion, gathered from Brahmā as to the nature of the relation subsisting between the prescribed rites and the knowledge leading to final beatitude.—*Stanzas* 1-19/1 ; (2) Description of the two paths, prescribed by the Vedas, namely the Pravṛtti Mārga and the Nivṛtti Mārga, for being followed by the members of the four Varṇas and the four Āśramas and by women, and advice to perform all the acts without an aim to enjoy the fruits accruing therefrom.—*Stanzas* 19/2-40 ; (3) Definition of " Jñāna " as having Yoga as its essence, that of " Yoga " as the union of the individual and Supreme Souls and general idea of each of its eight " Aṅgas."—*Stanzas* 41-50/1 ; (4) Description of the ten Yamas.—*Stanzas* 50/2-70.

Chapter II

Description of the ten Niyamas.—*Stanzas* 1-19.

Chapter III

(1) Description of the eight Āsanas and the benefits derived from their practice.—*Stanzas* 1-17/1 ; (2) Relation between the Yamas, Niyamas and Āsanas on the one hand and the Nāḍīśuddhi and Prāṇāyāma on the other.—*Stanzas* 17/2-18.

Chapter IV

(1) Introductory remarks as to the necessity to know the anatomy and physiology of the human organism for one wishing to purify his arteries and acquire control over one's vital airs, and the benefits derived therefrom.—*Stanzas* 1-11/1 ; (2) Situation and description of the seat of the internal fire in the bodies of human beings, quadrupeds, amphibious animals and birds.—*Stanzas* 11/2-13 ; (3) Situation and description of the centre of the bodies of all the said creatures.—*Stanzas* 14-15 ; (4) Situation, shape and size of the Kaṅda (bulbous root of the arteries) and location of the navel and the principal vital air.—*Stanzas* 16-20 ; (5) Situation, shape, function etc., of the Kuṅḍalinī (coiled serpent-like artery).—*Stanzas* 21-24 ; (6) Names, situations etc., of the principal arteries.—*Stanzas* 25-46 ; (7) Names, situations and functions of the ten vital airs.—*Stanzas* 47-72.

Chapter V

(1) Principal mode of purifying the arteries.—*Stanzas* 1-9 ; (2) Alternative mode for doing the same.—*Stanzas* 10-20 ; (3) Tangible signs of their having been purified.—*Stanzas* 21-22.

Chapter VI

(1) Definition of " Prāṇāyāma " and the modes of doing it, for the members of the different castes and the female sex, and the general and special results flowing from them.—*Stanzas* 1-23 ; (2) Explanation of the three constituent parts, " Pūraka ", " Kumbhaka " and " Recaka ", of a " Prāṇāyāma " and the different modes of doing it with a view to achieve particular results.—*Stanzas* 24-29 ; (3) Two varieties of " Kumbhaka " and the utility of the " Kevala " thereout in making further progress for the attainment of " Yoga."—*Stanzas* 30-35 ; (4) Several special methods for acquiring control over the vital air and the particular results achieved by the attainment of perfection in each of them.—*Stanzas* 36-66 ; (5) Special method of holding the vital breath in the navel during " Kumbhaka " and its effect on the mind (surface consciousness) and the " Kuṇḍalinī " and on the motion of the breath upwards.—*Stanzas* 67-71 ; (6) Tangible sign of the vital breath having entered the principal and middle artery called the " Suṣumṇā " and further mode of exercise for the Objective Realisation of the Self like the sun in the sky.—*Stanzas* 72-75/1 ; (7) Final effort to be made for mixing the said breath with the cosmic air and its effects on the consciousness and the liability to metempsychosis.—*Stanzas* 75/2-82 ; (8) Appendix to this chapter.—*Stanzas* 1-10.

Chapter VII

(1) Point of distinction between the group of 4 Aṅgas of Yoga so far expounded and the one of the remaining 4 whose exposition is commenced from this chapter.—*Stanza* 1 ; (2) Definitions of 3 different varieties of " Prātyāhāra."—*Stanzas* 2-5 ; (3) Definition of a fourth variety thereof and an incidental enumeration of the 18 vital parts as determined by the Aśvins, the physicians of the gods, their relative positions and the effect of withdrawing vitality from each of them.—*Stanzas* 6-21 ; (4) Definition of a fifth variety thereof according to the opinion of some experts in the practice of Yoga and citation of the authority of the sage Agastya as to the results achieved by such a " Pratyāhāra."—*Stanzas* 22-32/1 ; (5) Description of some supernumerary varieties recommended as having special efficacies.—*Stanzas* 32/2-37.

Chapter VIII

(1) Exhortation to listen attentively to the exposition of the five traditional " Dhāraṇās ", definition of the term and the names of the five varieties.—*Stanzas* 1-5 ; (2) Mention of the parts of the human body in which the 5 subtle elements, on which attention is to be concentrated, are localised.—*Stanzas* 6-8 ; (3) Difference

of views with a rival school stated and refuted.—*Stanzas* 9-13 ; (4) Traditional modes of concentration on the 5 subtle elements and the results flowing from each stated individually.—*Stanzas* 14-25 ; (5) Special mode recommended for effecting the union of the individual with the Supreme Soul.—*Stanzas* 26-27 ; (6) Further details as to that mode and its spiritual effects according to the view of some Yogins who are the best of those who know Brahman.—*Stanzas* 28-31 ; (7) View of those of the same category, who were also experts in the science of medicine, as to the effect of concentration on the different kinds of physical constitutions of the Sādhakas.—*Stanzas* 32-39/1 ; (8) Advice of Yājñavalkya to observe the Yamas etc., while practising concentration.—*Stanzas* 39/2-40.

Chapter IX

(1) Introductory remark as to the benefit derived from the practice of " Dhyāna."—*Stanza* 1 ; (2) Definition of the term, its varieties and the principal ones from amongst them ; —*Stanzas* 2-3 ; (3) Necessity to know beforehand the vital points in the arteries, and their specific situations and those of the vital airs and the functions performed by each of them in the life of the body.—*Stanza* 4 ; (4) Mode of meditation on the Nirguṇa Brahman.—*Stanzas* 5-9 ; (5) Modes of meditation on the Saguṇa Brahman :—(*a*) In the form of Viṣṇu or Vāsudeva.—*Stanzas* 10-18/1 ; (*b*) In that of Vaiśvānara, the internal fire, recommended as very effective.—*Stanzas* 18/2-24 ; (*c*) In that of the Golden Puruṣa in the solar disc, extolled as the royal road to salvation.—*Stanzas* 25-29 ; (*d*) In that of the Inner Soul becoming manifest as a resplendent pillar of light when meditated upon or as the Supreme Being on identifying oneself with Lord Śiva while sitting in the Vīra posture and concentrating one's attention on the space between the eye-brows.—*Stanzas* 30-34 ; and (*e*) In that of the self seated on the full-blown heart-lotus in the form of a child, bathed all over by the rays of the moon showering nectarine juice in a thousand streams issuing from the lotus in the head having 16 petals, whose mouth is turned downwards, and endowed with the consciousness " I myself am the imperishable Paraṁ Brahman, the Supreme Self.—*Stanzas* 35-39 ; (6) Fruits accruing from meditation, if continued for 6 months and for 12 months.—*Stanzas* 40-41 ; (7) Advice of the sage to practice meditation always in one of the forms described, which are the principal ones, although there are several other minor ones, and as to the attainment of " Samādhi " being the aim to be kept in view while practising it after self-realisation.—*Stanzas* 42-44.

Chapter X

(1) Declaration of an intention to speak in this chapter about " Samādhi ," which is the remedy for breaking the noose of " Bhava " (world-mindedness), definition of the term, the method of attaining it and the effect it is likely to have on one's consciousness when attained.—*Stanzas* 1-5 ; (2) Essential conditions to be

fulfilled before one can forge a union between the individual soul and the Supreme Soul.—*Stanzas* 6-9/1 ; (3) Possible further step thereafter, voluntary severance of the connection between the soul and the body, the method of doing it, the result accruing from it and the advice of the sage to Gārgī to follow the same course —*Stanzas* 9/2-21/1 ; (4) Final advice of the sage as to how to put into practice the teaching which was on the line of combining knowledge with action as taught by Brahmā on a former occasion, to attain thereby the state of " Nirvāṇa " and to give up worldly life.—*Stanzas* 21/2-24.

Chapter XI

(1) Gārgī puts the question as to how one can do the prescribed acts while practising Yoga and what would atone for its neglect, should it occur.—*Stanzas* 1-3 ; (2) Reply of Yājñavalkya to the effect that there is no harm if they are not done during a state of union with the Supreme Soul, for in that case the Yoga itself does what is supposed to be done thereby but during the state of disunion even by a Brahmavit they must be done because it is impossible for an embodied being to give up all acts without exception in that state and consequently if a Yogī neglects them, believing that it is a calamity to do them, his fate is consignment to hell and that therefore the best advice is to continue to do such acts during a state of disunion even after self-realisation and feeling satisfied with the embodied state so long enjoyed, quit the body voluntarily while worshipping the Supreme Being by the practice of Yoga.—*Stanzas* 4-10/1 ; (3) At that stage Yājñavalkya reminds the other sages that it is time for them to perform their evening Saṅdhyā and advises them to repair to their respective Āśramas and they do so.—*Stanzas* 10/2-16/1 ; (4) Thereafter Gārgī prostrating herself before the sage implores him to recapitulate the teaching saying that she had forgotten it and the latter asks her to rise up, promising to accede to her request.—*Stanzas* 16/2-22.

Chapter XII

(1) While purporting to do so Yājñavalkya initiates her into a special course of Yoga by which Samādhi can be attained within a short period and which consists of seven stages, each of which has been graphically described in the manner following :—

First Stage.—To concentrate one's attention on the seat of the internal fire while sitting in a prescribed posture in which the organ of excretion and the perineum are pressed hard by the ankles of the left and the right foot respectively and the right palm is placed on the left one. This checks the downward flow of the Apāna Vāyu, makes it flow towards the seat of fire, fan it slowly and slowly and vitalise it so as to make it burn brightly in the form of a flame which is visualised by 10 days' practice and which makes other spiritual visions possible. The material effects of the rise of the flame are a shortening of the stature, an acceleration of the

heat in the stomach, a possibility of the hearing of sounds internally, a reduction of the quantities of urine and fæces discharged and a freedom from fear of falling from a horse-back, if the practice is continued for certain periods.—*Stanzas* 1-7.

Second Stage.—To concentrate one's attention on the Kuṅḍaliṇī lying so coiled in the Nābhicakra as to cover up the mouth of the Suṣumṇā Nāḍī with its own mouth in which its tail has been inserted and similarly those of the other Nāḍis by its hood and thereby to obstruct the passage of the vital airs into the said and other Nāḍis, with a view to wake up that sleeping serpent and clear up that passage. This happens when it is confounded by the flames constantly fanned by the concentrated air. When it is roused its coils become straightened and when that happens all the vital airs become collected together and begin to circulate throughout the body.—*Stanzas* 8-13.

Third Stage.—While thus circulating together with the fire, the vital airs, becoming thinner, are able to enter the mouth of the Suṣumṇā and a bright flame such as that of a lamp becomes visible in the heart. Thereby the vital airs, together with the fire, become confined in the heart, the serpent having entered the heart-lotus turns its face upwards and the vital air (henceforth treated as combined into one entity) shines resplendent there like the disc of the rising sun and the fire entering the Suṣumṇā shines like a range of clouds filled with water. When the fire has entered the heart-lotus and the vital air is deposited inside it, various external as well as internal signs begin to become manifest.—*Stanzas* 14-20.

Fourth Stage.—After the appearance of such signs one must actively raise up the vital air together with the fire repeating the "Praṇava" (Oṁkāra) together with the Biṁdu. This will enable one to visualise a small disc of the moon in the forehead.—*Stanza* 21.

Fifth Stage.—Thereafter one must deposit the vital air together with the fire in the space between the eye-brows and then meditate on the inner self. This will enable one to visualise mentally an imperceptible but nevertheless real Liṁga blazing like a pillar in the middle part of the body, the heart and the forehead, which is beautiful to look at. The knower of Brahman who sees the light of knowledge, the power of the self, ever shining resplendent as a lamp in the forehead and the heart-lotus, gazes at it unintermittently. When, while doing so, the mind of the Yogi sinks in the space between the eye-brows, nectar begins to flow from the root of the tongue and he visualises his self in the said space, his head shakes and he becomes mentally conscious of having visualised the self. Moreover beautiful celestial gardens, constellations, the moon, and figures of sages and of Siddha-Gandharvas become objectively visible to him.—*Stanzas* 22-26.

Sixth Stage.—After the mind becomes absorbed in the space between the eye-brows, the seat of Viṣṇu, one should meditate on Him in the sky at that place,

ever recollecting the bliss of the nature of perfection. When in that stage, one can be said to be in a state of near-release. There is truly the most wonderful joy in that state and one must realise this with the help of one's purified intellect.—*Stanzas* 27-29.

Seventh Stage.—It is after practising meditation thus for a long time while observing the restraints etc., and subsisting on moderate diet, that one reaches the self located in the cave called the "Brahmapura." It is smaller than the smallest and larger than the largest and is, according to all men of experience and the Vedas, identical with the Brahman which the Vedas speak of.—*Stanzas* 30-33.

(2) The only stage next after the above is that of the conscious abandonment of the vital air in the cosmic air on raising it up to and breaking open the hole in crown of the head under the advice of one's Guru, recollecting the sound "OṀ."—*Stanzas* 34-36.

(3) The usual Phalastuti and the sage's final advice to Gārgī.—*Stanzas* 37-41.

(4) Concluding remarks of the author to the effect that thereafter Yāñavalkya retired to a secluded place and took "Samādhi" and that Gārgī too, after having worshipped the sage joyfully, took up her abode in a secluded place and partook of the highest joy resulting from the realisation of that Vāsudeva who is spoken of by the Vedas and is the one immortal, imperishable, immutable, limitless, unmanifest Essence and the unprovable Cause of the Worldly Phenomena.—*Stanzas* 42-46.

QUOTATIONS FROM AND REFERENCES TO THIS WORK IN OTHER WORKS

1. Śankara's Bhāsya on the Śvetāśvatara Upaniṣad II-8 contains quotations which are identifiable with Y.Y.IV.48-49; V.12-15, 17-22; VI.2,-3, 5-8; VII.24/1-2. (Ānandaśram Sanskrit Series No. 17, pp. 28-29, 42-44).

2. Commentary of Mummaḍideva on Gauḍa Abhinanda's Abridgement of the Yogavāsiṣṭha VI.9.65, 71 corresponding with Y.Y.XII.1, IV.20-21, VII.10.

3. Sarvadarśanasaṁgraha of Sāyaṇa-Mādhava, Pātañjaladarśana, contains quotations at 4 places from a work of Yājñavalkya out of which the definition of Yoga is traceable to Y.Y.I., that of Samādhi to Y.Y.I., that of Tapas to Y.Y.II. and that of Padmāsana to Y.Y.III.

4. Haṭhayogapradīpikā II contains the definitions of Āsanas which agree with those in Y.Y. III.

5. Commentary by Ānandavardhana on the Bhagavadgītā known as Jñānakarmasamuccaya contains in its introductory remarks the names of the earlier authorities on the Jñānakarmasamuccaya-vāda, one of which is the Yoga Yājñavalkya.

6. Jābala Darśana Upaniṣad Chapters I-X contain numerous passages which are in many cases almost word to word the same as those in the corresponding portions of the Y.Y. I-X. They are too numerous to be cited in details. The Upanisad contains much additional matter also which reveals it to be a later composition.

7. Śāṇḍilya Upaniṣad (in prose only with occasional quotations in verse several of which can be traced to the Y.Y.III-VI) contains almost a paraphrase of the contents of Y.Y.I-IX. It has also such new matter which reveals it to be a later work. There are also 3-4 other Upaniṣads in which verses resembling those in the Y. Y. are found. (*See* Introduction para 8).

8. Above all the author of the Yājñavalkya Smṛti has in III·110 referred to a "Yogaśāstra promulgated by me", which can be none other than this (*See* Introduction para 8).

श्लोकसूचिः ॥

संज्ञाविवृतिः– अ = अधिकः श्लोकः॥

पा. टि. = पादटिप्पणी ॥

अ

अक्लेशजननं प्रोक्तं (१·५२)–११.
अज्ञानान्मलिनो भाति (५·२२ अ)–४१, पा. टि.
अणोरणीयान्महतो महीयान् (१२·३३)–११२.
अण्डाकृतिवदाकारं (४·१७)–२६.
अत्र केचिद्वदन्त्यन्ये (८·९)–७३.
अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि (९·१)–८०.
अथवा परमात्मानं (९·१०)८२.
अथवा मण्डले पश्येत् (९·२५)–८५.
अथवाष्टदलोपेते (९·३५)–८७.
अथवैतत्परित्यज्य (५·२२अ)–४१ पा.टि.
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि (८·१)७२.
अदृश्यं दृश्यमन्तस्थं (९·८)–८१.
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः (४·५१)–३२.
अधीत्य वेदं सूत्रं वा (२·१३)–१७.
अनुतिष्ठन्ति ये नित्यं (१२·४०)–११३.
अनुलोमविलोमाभ्यां (६·८अ)–४३ पा.टि.
अनुष्ठितौ तौ विद्वद्भिः (१·२१)–६.
अन्नं व्यञ्जनसंयुक्तं (४·६३)–३५.
अन्यानपि बहून्याहुः (९·४३)–८९.
अपाननिलयं केचित् (४·५२)–३२.
अम्बोमा सहितं शुभ्रं (६·३अ)–४२ पा.टि., ६१.
अलम्बुषा च गान्धारी (४·२८)–२८.
अलम्बुषा महाभागे (४·४५)–३१.
अल्पमूत्रपुरीषः स्यात् (१२·७)–१०४.
अवष्टभ्य धरां सम्यक् (३·१५)–२१.
अव्यक्ता चैव विज्ञेया (४·३१)–२८.
अश्विनौ च तथा ब्रूतां (७·७)–६४.
अष्टादशसु यद्वायोः (७·६)६४.
अष्टैश्वर्यदलोपेते (९·१९)–८४.
अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये (८·२८,३२)–७७–७८.
अस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि (८·३)–७२.
अहमेव परं ब्रह्म (९·३९)–८८.

आ

आकाशे परमानन्दे (६·७८)–५९.
आकाशे वायुमारोप्य (८·२२)–७६.
आजानोः पायुपर्यन्तं (८·७)–७३.
आत्मनः प्राणमारोप्य (७·३७)–७१.
आत्मन्यात्मानमारोप्य (६·४३)–५०.
आत्मन्यात्मानमिडया (६·४५)–५१.
आत्मशुद्धः समादानीयः (५·२२अ)–४१ पा.टि.
आत्मस्थमनिलं विद्वान् (४·९)–२४.
आत्मस्थं मातरिश्वानं (४·११)–२४.
आत्माग्निहोत्रवह्नौ तु (११·५)–९७.
आदौ मत्तालिमालां (१२·२२अ,)–१०८.
आनन्दमजरं नित्यं (९·७)–८१.
आनन्दममृतं नित्यं (१·१३)–५.
आनुलोम्यप्रसूतानां (१·३७)–९.
आयुर्विघातकृत्प्राणः (६·६५, १२·२)–५६, १०३.
आलोक्य कृपया दीनां (११·२१)–१०१.
आसनान्यधुना वक्ष्ये (३·१)–१९.
आसनान्युत्तमान्यष्टौ (१·४८)–१०.
आसने नान्यधीरास्ते (६·६२, ६३)–५५;
(१०·१४)–९३.
आसनं विजितं येन (३·१७अ)–२२ पा.टि.
आस्यनासिकयोर्मध्ये (४·५०)–३२.
आहृन्मध्याद्भ्रुवोर्मध्यं (८·८)–७३.

इ

इडया वायुमाकृष्य (६·३८अ)–५० पा.टि.
इडया वायुमारोप्य (५·१७)–४०; (६·४)–४२.
इडा तस्याः स्थिता सव्ये (४·३२)–२८.
इडायां चन्द्रमा ज्ञेयः (४·३३)–२९.
इति मे कर्मसर्वस्वं (१·४०)–९.
इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या (५·२)–३७; (११·३)–९६.
इत्येवमुक्ता मुनिना (११·१)–९६.
इत्येवमुक्त्वा भगवान्रहस्ये (१२·४२)–११४.
इन्द्रियाणां विचरतां (७·२)–६३.

ई

ईप्सया यदि शरीरविसर्गं (१२·३५)–११२.

उ

उकारमूर्तिमत्रापि (६·९)–४३.
उक्तान्येतानि चत्वारि (७·१)–६३.
उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां (२·१७)–१८.
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते (१·१०)–४.
उत्पत्तिं चापि नाडीनां (४·३)–२३.
उदानः सर्वसन्धिस्थः (४·५५)–३३.
उन्निद्रहृदयाम्भोजे (१०·१५)–९३.
उर्वोरुपरि विप्रेन्द्रे (३·७)–२०.

ऋ

ऋतावृतौ स्वदारेषु (१·५७)–१२.
ऋतुत्रयात्पुनस्त्येनं (६·२२)–४६.
ऋषिं छन्दोऽधिदैवं च (२·१८)–१८.
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां (११·११)–९९.

ए

एकाक्षरं परं ब्रह्म (६·७६)–५९.
एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं (९·५)–८१.
एकं पादमथैकस्मिन् (३·८)–२०.
एतच्च स्वस्तिकं प्रोक्तं (३·५)–१९.
एतत्पवित्रं परमं (१२·३६)–११२.
एतदुक्तं भवत्यत्र (८·२६)–७६;
(१०·६)–९१.
एते तु नियमाः प्रोक्ताः (२·२)–१५.
एते नाडीषु सर्वासु (४·४८)–३१.
एतेन नाभिमध्यस्थ–(६·६९)–५७.
एतेषु पंचदेवानां (८·६)–७३.
एवमेव तु सर्वत्र (१०·४)–९१.
एवमेव पुनः कुर्यात् (६·११)–४४.
एवं ज्ञात्वा विधानेन (६·३अ) ४२
पा. टि., ६२.
एवं ध्यानामृतं कुर्वन् (९·४०)–८८.
एवं पृष्टः स भगवान् (१·९)–४.
एवं वायुजयोपायः (६·५०)–५३.
एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं (१२·३०)–१११.
एषा च धारणेत्युक्ता (८·४)–७२.
एषु मुख्यास्त्रयः प्रोक्ताः (१·६१)–१३.
एषः प्राणजयोपायः (६·३६)–४९.

क

कण्ठमूलात्तु हृन्मध्ये (७·२७)–६९.
कदाचित्तत्र गत्वाहं (१·१७)–५.
कन्दमध्ये स्थिता नाडी (४·२५)–२७.
कन्दस्थानं मनुष्याणां (४·१६)–२५.
कम्पको मध्यमः प्रोक्तः (६·२६)–४७.
कम्पनं च तथा मूर्ध्नः (१२·२६)–१०९.
करणानि वशीकृत्य (६·५१)–५३.
कर्म कर्तव्यमित्येव (५·२२अ) ४१ पा. टि.
कर्मणा मनसा वाचा (१·५४–५५)–११-१२.
कर्माणि तस्य निलयः (११·८)–९८.
कर्माणि यानि नित्यानि (७·४)–६४.
कारणे परमानन्दे (१०·१७)–९३.
कार्यकारणसंयोगे (८·१३)–७४.
कुर्याद्यज्ञेन देवेभ्यः (१·२९)–७.
कृतविद्यो जितक्रोधः (५·४)–३७.
केचिद्वदन्ति मुनयः (५·१०)–३८.
केवले कुम्भके सिद्धे (६·३३)–४८.
क्षत्रियश्च चरेदेवं (१·३५)–८.
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ताः (१·३०)–७.
क्षमा धृतिर्मिताहारः (१·५१)–११.
क्षमा सैवेति विद्वद्भिः (१·६५)–१३.

ग

गच्छन्तु साम्प्रतं सव (११·१२)–९९.
गान्धारी सव्यनेत्रान्तं (४·४३)–३१.
गान्धारी हस्तिजिह्वा च (४·३६)–२९.
गान्धार्याश्च सरस्वत्याः (४·३८)–३०.
गार्गीं तां सुसमालोक्य (४·६)–२३.
गुणज्ञं सर्वभूतेषु (१·५)–३.
गुदाग्र्याधारयोस्तिष्ठन् (४·५३)–६३.
गुदात्तु द्वयंगुलादूर्ध्वं (४·१४)–२५.
गुरवः पंच सर्वेषां (१·६०)–१२.
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि (२·१२)–१७.
गुल्फादङ्गुष्टयोर्गांगि (७·३०)–७०.
गुल्फौ च वृषणस्याधः (३·९)–२०.
गुल्माष्ठीला प्लीहा चान्ये (६·४८)–५२.

च

चक्रहस्ता सती चैव (६·३अ)–४२ पा. टि., ६१.
चक्रेऽस्मिन्भ्रमते जीवः (४·१९)–२६.
चतुर्णामाश्रमस्थानां (१·३८)–९.
चतुर्दशाङ्गुलं केचित् (४·८)–२४.
चतुर्भुजमुदाराङ्गं (९·१४)–८३.
चतुष्पदां तु हृन्मध्यं (४·१५)–२५.
चितिमूले ततस्तस्मात् (७·२९)–६९.
चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं (१२·अ३)–१०२.
चित्योर्मूलं च जान्वोश्च (७·९)–६५.
चेतसा सम्प्रपश्यन्ति (८·३०)–७७.

ज

जङ्घमध्याच्चित्योर्मूलं (७·१३)–६६.
जङ्घोर्वोरन्तरं गार्गि (६·६०)–५५.
जपश्च द्विविधः प्रोक्तः (२·१४)–१७.
जपेदत्र स्मरन्मूर्तिं (६·१०)–४४.
जानन्तं सर्वदा सर्वं (९·२८)–८६.
जान्वोर्नवाङ्गुलं प्राहुः (७·१४)–६६.
जान्वोर्वोरन्तरे सम्यक् (३·३)–१९.
जित्वैवं चक्रिणः स्थानं (१२·१४)–१०६.
जिह्वया वायुमानीय (६·४४)–५१.
जीवन्मुक्तस्य न क्वापि (९·४१)–८९.
जीवस्य मूलचक्रेऽस्मिन् (४·२०)–२६.
ज्ञानं च परमं गुह्यं (१·१९)–६.
ज्ञानं योगात्मकं विद्धि (१·४४)–१०.
ज्ञानेन सह योगीन्द्र (१·४२)–९.
ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति (६·४९)–५२.
ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र (४·६२)–३४.

त

ततस्त्वात्मनि विप्रेन्द्रे (१२·५)–१०३.
ततोऽनिलं वायुसखेन सार्धं (१२·८)–१०४.
तत्र रम्ये शुचौ देशे (५·६)–३८.
तदात्मा राजते तत्र (६·७५)–५९.
तदेतत्कीर्तितं सर्वं (१०·२३)–९५.
तदेतद्विस्मृतं सर्वं (११·१९)–१०१.
तदेव संस्मरन्विद्वान् (१०·१९)–९४.
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी (४·१३)–२५.
तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं (४·१८)–२६.
तपश्चरन्वसेन्नित्यं (१·३३)–८.
तपःसंतोष आस्तिक्यं (२·१)–१५.
तपस्विनं जितामित्रं (१·३)–३.
तपस्विनस्तथा चान्ये (११·१५)–१००.
तमेवं गुणसंपन्नं (१·६)–४.
तमेवं ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं (१·६२)–१३.
तं तमेवेत्यसौ भावं (१०·२०)–९४.
तयोर्नाशे समर्थः स्यात् (६·३०)–४८.
तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र (१·६६)–१३.
तस्माज्ज्ञानेन देहान्तं (१२·४१)–११४.
तस्मात्त्वमपि योगीन्द्र (१·३९)–९.
तस्मात्त्वं च वरारोहे (६·७९)–५९ ;
(९·४२)–८९.
तस्मात्त्वं विधिमार्गेण (६·८२)–६०.
तस्मात्सर्वेषु कालेषु (१·७०)–१४.
तस्मादर्धाङ्गुलं विद्धि (७·१९)–६७.
तस्मादामरणाद्वैधं (१०·९)–९८.
तस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि (१२·२२अ)–१०८.
तस्मिन्भवति या लज्जा (२·११)–१७.
तस्मिन्सदाशिवे प्राणं (८·२७)–७७.

तस्मिन्सदाशिवे प्राणवायुं (८·३१अ)–७७.
तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं (४·२१)–२६.
तानि सर्वाणि वक्ष्यामि (७·८)–६४.
तापयन्तं स्वकं देहं (९·२१)–८४.
तिष्ठन्ति परितस्तस्य (४·३०अ)–२८ पा.टि.
तुन्दमध्यगतः प्राणः (४·५९)–३४.
ते देवानामृषीणां च (१·२८)–७.
तेषु मुख्यतमावेतौ (४·४९)–३२.
त्रयाणां कारणं ब्रह्म (६·३अ)–४२. पा.टि., ६१.
त्रातुमर्हसि सर्वज्ञ (११·२०)–१०१.
त्रिकालस्नानसंयुक्तः (५·९)–३८.
त्रिकोणं मनुजानां च (४·१२)–२५.
त्रिचतुर्वत्सरं वाथ (५·२०)–४१.
त्रिदोषजनिता रोगाः (८·३८)–७९.
त्रिमासात्तस्य कल्याणि (६·४२)–५०.

द

दक्षिणेऽपि तथा सव्यं (३·६)–१९.
दक्षिणेतर गुल्फेन (६·५९)–५५.
दण्डहस्ता सती बाला (६·३अ)–४२ पा.टि., ६१.
दया च सर्वभूतेषु (१·६३)–१३.
दुर्लभं जन्म मानुष्यं (१२·अ१)–१०२.
दृष्टचित्तस्ततस्तस्मात् (६·६७)–५६.
दृष्टवा तस्य शिखामध्ये (९·२२)–८४.
देव देव जगन्नाथ (१·१८)–५.
देवालये वा नद्यां वा (५·८)–३८.
देहमध्यं तथा पायोः (७·१५)–६६.
देहमध्याद्धृदे गार्गि (७·२८)–६९.
देहश्चोत्तिष्ठते तेन (६·२८)–४७.
देहे यद्यपि तौ स्यातां (६·२९)–४८.
द्वात्रिंशच्च गृहस्थानां (१·६७)–१४.
द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तः (६·१६)–४५.

ध

धनञ्जयस्य शोफादि (४·७१)–३६.
धारणं कुर्वतस्तस्य (६·६६)–५६.
धारणं कुर्वतस्त्वग्नौ (८·३६)–७८.
धारणा पंचधा प्रोक्ता (१·४९)–११.
धारणाः पंचधा प्रोक्ताः (८·५)–७२.
धारयेत्क्षणमात्रं वा (७·३६)–७१.
धारयेत्पूरितं पश्चात् (६·५)–४३.
धारयेन्मनसा प्राणं (६·३८)–४९.
धारयेद्युगपत्सोऽपि (७·३३)–७०.
धारयेद्व्योम्नि विप्रेन्द्रे (६·७४)–५८.
ध्यानमात्मस्वरूपस्य (९·२)–८०.
ध्यानेनानेन सौरेण (९·३०)–८६.
ध्यानं समाधिरेतानि (१·४७)–१०.
ध्यायेद्यथा यथात्मानं (१०·३)–९०.
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं (८·१६)–७५.

न

नन्दिवाहनसंयुक्तं (६·३अ)–४२ पा.टि., ६१.
न वैदिकं जपेच्छूद्रः (६·१९)–४६.
नश्यन्ति श्लेष्मजा रोगाः (८·३७)–७९.
नागादि वायवः पंच (४·५८)–३४.
नाडीनामपि सर्वासां (४·२६)–२७.
नाडीभ्यां वायुमारोप्य (६·४६)–५१.
नाडीशुद्धिमवाप्नोति (५·२१)–४१.
नाडीशुद्धिं च कृत्वा तु (३·१८)–२२.
नाडीषु वायुकर्माणि (४·७१अ)–३६ पा. टि.
नादाभिव्यक्तिरित्येते (५·२२)–४१.
नादोत्पत्तिस्त्वनेनैव (६·५५)–५४.
नादं चोत्पादयत्येषः (६·३५)–४९.
नाभिमध्याद्गलान्तं यत् (८·१०)–७३.
नाभिश्च हृदयं गार्गि (७·१०)–६५.
नारायणं जगन्नाथं (१·१२)–५.
नासाग्रदृक् सदा सम्यक् (५·१५)–३९.
नासाग्रे दृक् सदा सम्यक् (६·३अ)–४२ पा. टि., ६१.
नासाग्रे धारणं गार्गि (६·३९)–५०.
नासापुटौ मध्यमाभ्यां (६·५३)–५३.
नासाभ्यां वायुमारोप्य (७·३५)–७१.
नासामूलात्तु जिह्वायाः (७·२६)–६९.
नासामूलं तु जिह्वायाः (७·१८)–६७.
नित्यमेवं प्रकुर्वीत (६·२१)–४६.
निमीलनादि कूर्मस्य (४·७०)–३६.
निरोधितः स्याद् हृदि तेन वायुः (१२·१७)–१०६.
निर्जने निलये रम्ये (५·११)–३८.

निर्वाणं पदमासाद्य (१०·२४)–९५.
निवृत्तफलसङ्गस्य (१०·२२)–९५.
निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च (४·६७)–३५.
निष्कृतिस्तस्य किं बाले (११·६)–९७.
नीवारशुकवद्रूपं (९·२३)–८५.
नेत्राभ्यां तां समालोक्य (१·१४)–५.
नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं (६·६१)–५५.
न्यायार्जितं धनं चान्नं (२·५)–१५.

प

पंचोत्तमानि तेष्वाहुः (९·३)–८०.
पद्मासनस्थितं सौम्यं (९·२७)–८६.
पद्मासने समासीनं (१·१६))–५.
पादान्मानं तु गुल्फस्य (७·१२)–६६.
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां (३·१२)–२१.
पित्तात्मकानां त्वचिरात् (८·३५)–७८.
पुण्यक्षेत्रे विषयविरतिः (१२·अ२)–१०२.
पुनः पिङ्गलयापूर्य (५·१९)–४१.
पुनश्चैव त्रिभिः कुर्यात् (६·१३)–४४.
पूर्वभागे सुषुम्णायाः (४·३९)–३०.
पूषा यशस्विनी चैव (४·३६अ)–२९ पा. टि.
पृथिव्यां धारयेद्गार्गि (८·१४)–७४.
पृष्टमध्ये स्थिता नाडी (४·३०)–२८.
पृष्टमध्ये स्थिता नास्त्रा (४·३०अ)–२८ पा. टि.
पैङ्गिर्दीर्घतमा व्यासः (११·१४)–९९.
पोषणादि समानस्य (४·६९)–३६.
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ (११·१७)–१००.
प्रणवस्य तु नादान्ते (८·२९)–७७.
प्रणवेन सुसंयुक्तां (६·१२)–४४.
प्रत्याहारेषु सर्वेषु (७·३२)–७०.
प्रत्याहारो भवेत्सोऽपि (७·५)–६४.
प्रबुद्धहृत्पद्मनि संस्थितेऽग्नौ (१२·२०)–१०७.
प्रबुद्धहृदयाम्भोजे (१२·१८)–१०७.
प्रबुद्धे संसरत्यस्मिन् (६·७१)–५८.
प्रभञ्जनं मूर्ध्निगतं सर्वाङ्गं (१२·३४)–११२.
प्रभाभिर्भासयद्रूपं (९·१७)–८३.
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा (१·६४)–१३.
प्रवर्तकं भवेदेतत् (१·२२)–६.
प्रवर्तकं हि सर्वत्र (१·२४)–६.
प्रसन्नगुरुणा पूर्वं (२·१९)–१८.
प्रसुप्तनागेन्द्रवदुच्छ्वसन्ती (१२·१०)–१०५.
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि (५·१४)–३९.
प्राणमुन्मोचयेत्पश्चात् (६·७७)–५९.
प्राणसंयमने गार्गि (६·१७)–४५.
प्राणसंयमनेनैव (८·३९)–७९.
प्राणसंयमने विद्वान् (६·१४)–४५.
प्राणः प्रयात्यनेनैव (६·५४)–५४.
प्राणापानसमायोगः (६·२)–४२.
प्राणायामपराः सर्वे (६·८०)–६०.
प्राणायाममथेदानीं (६·१)–४२.
प्राणायामाद्दते नान्यत् (६·८१)–६०.
प्राणायामेन चित्तं तु (६·३अ)–४२ पा. टि.
प्राणायामैर्विकसिते (९·१३)–८३.
प्राणायामोऽयमित्युक्तः (६·३१)–४८.
प्राणायामो भवेदेषः (६·८)–४३.
प्राणोऽपानः समानश्च (४·४७)–३१.
प्रातःकाले प्रदोषे च (१२·४)–१०३.
प्लावितं पुरुषं तत्र (९·३८)–८८.

ब

बस्तिस्थाने निरुद्धयैनं (६·५१अ)–५३. पा.टि.
बहिर्यद्रेचनं वायोः (६·२५)–४७.
बहुधा केचिदिच्छन्ति (१·५०)–११.
बाह्यात्प्राणं समाकृष्य (६·३७)–४९.
बाह्यादापूरणं वायोः (६·२४)–४७.
बिन्दुमस्तकमालोक्य (५·१६अ)–४० पा.टि.
बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये (१२·१३)–१०५.
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां (१·५६)–१२.
ब्रह्म ब्रह्मपुरे चास्मिन् (९·११)–८२.
ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्याम् (९·९)–८२
ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः (१२·१६)–१०६.
ब्रह्मविद्भिर्महाभागैः (१·४)–३.
ब्रह्महत्यादिभिर्दोषैः (६·२१अ)–४६ पा.टि.
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि (८·३१)–७७.

भ

भगवन्ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ (५·१)–३७.
भगवन्ब्रूहि मे स्वामिन् (४·२)–२३.
भगवन्सर्वशास्त्रज्ञ (१·८)–४.
भद्रं मुक्तासनं चैव (३·२)–१९.
भवमोक्षाय योगीन्द्र (११·१८)–१००.
भस्मोध्दूलितसर्वाङ्गं (८·२०)–७५.
भारूपममृतं ध्यायेत् (९·३४)–८७.
भार्यया त्वेवमुक्तस्तु (१·४३)–१०.
भुक्तं सर्वरसं गात्रे (४·५६)–३३.
भूतानि यस्मात्प्रभवन्ति गार्गि (१२·३१)–१११.
भूमौ कुशान्समास्तीर्य (१०·१३)–९३.
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य (४·३५)–२९.
भ्रुवोन्तरे विष्णुपदे ऋचौ (?रुचौ) तु (१२·२७)–११०.
भ्रुवोर्मध्यात्समाकृष्य (७·२५) ६८.
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च (७·११)–३५.

म

मध्यमेऽपि हृदये च ललाटे (१२·२३)–१०३.
मनसा चिन्तयन्यस्तु (८·२५)–७६.
मनसालोक्य सोऽहं स्याम् (९·३२)–८७.
मनःशुद्धिश्च विज्ञेया (१·६९)–१४.
मनोजवत्वं लभते (६·३४)–४९.
मनो लयं यदा याति (१२·२५)–१०९.
मनोवृत्तिं सुसंयम्य (१०·१६)–९३.
मन्त्रैर्न्यस्ततनुर्धीरः (५·१२)–३९.
मर्मस्थानानि नाडीनां (९·४)–८०.
मानसस्तु तथोपांशोः (२·१६)–१७.
मानसो मननध्यान–(२–१५)–१७.
मामालोक्य प्रसन्नात्मा (१·२०)–६.
मारुतं मारुतस्थाने (८·२१)–७६.
मासमेकं त्रिसन्ध्यायां (६·४७)–५१.
मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता (४·२९)–२८.
मुखेनैव समावेष्टय (४·२३)–२७.
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य (३·१४)–२१.
मेढ्रान्नाभिश्च विज्ञेया (७·१६)–६७.

य

य इदं शृणायान्नित्यं (१२·३७)–११३.
यजेदग्नौ तु विधिवत् (१·३२)–८.
यत्प्रसन्नस्वभावेन (२·६)–१६.
यथावद्वायुसंचारं (४·२२)–२७.
यथाश्वत्थदले तद्वत् (४·४६)–३१.
यदि स्याज्ज्जलनस्थानं (८·१२)–७४.
यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं (१२·४६)–११५.
यद्यत्पश्यसि तत्सर्वं (७·३)–६४.
यद्वा समभ्यसेच्छूद्रः (६·१८)–४५.
यमश्च नियमश्चैव (१·४६)–१०.
यमादिगुणयुक्तस्य (८–२)–७२.
यमादिभिश्च संयुक्ता (८·४०)–७९.
यशस्विनी च याम्यस्य (४·४०)–३०.
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये (४·३७)–२९.
यस्त्वेतच्छ्रावयेद्विद्वान् (१२·३८)–११३.
याज्ञवल्क्यं मुनिश्रेष्ठं (१·१)–३.
या धीस्तामृषयः प्राहुः (२·४)–१५.
याम्ये पूषा च नेत्रान्तं (४·४१)–३०.
यावद्वा शक्यते तावत् (६·६)–४३.
यावन्मनो लयत्यस्मिन् (६·६८)–५७.
येन केन प्रकारेण (३·१७अ)–२२ पा.टि.
येन प्रपंचं परिपूर्णमेतत् (१२·४५)–११५.
येन यत्क्रियते तस्य (१·२६)–७.
येन यत्क्रियते सम्यक् (१·२३)–६.
योगमेवाभ्यसेन्नित्यं (१०·९)–९२.
योगयुक्तमनुष्यस्य (११·४)–९७.
योगयुक्तो नरः स्वामिन् (११·२)–९६.
योगाभ्यासरतास्त्वेवं (६·२३)–४६.
योगिनस्त्वपरे ह्यत्र (६·५८)–५४.
योगेन परमात्मानं (११·१०)–९८.
योगं वक्ष्यामि विधिवत् (१·१५)–५.
योगं सुसंगृह्य तदा रहस्ये (१२·४४)–११५.
योनिस्तारकमङ्घ्रिमूलघटितं (३·११अ)–२० पा.टि.
यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः (६·३अ)–४२ पा.टि., ६१.

र

रागाद्यपेतं हृदयं (२·७)–१६.
राज्ञश्चैव गृहस्थस्य (१·५८)–१२.
रेफं च बिन्दुसंयुक्तं (५·१८)–४०.

ल

ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे च (१२·२४)–१०९.
ललाटाद्रन्ध्रपर्यन्तं (८·११)–७४.
ललाटाद्व्योमसंज्ञं स्यात् (७·२०)–६७.

व

वक्तुमर्हसि तत्सर्वं (४·५)–२३.
वक्ष्याम्यङ्गानि ते सम्यक् (१·४५)–१०.
वक्ष्यामि ते समासेन (११·२२)–१०१.
वदन्ति योगिनः केचित् (७·२२)–६८.
वर्णत्रयात्मका ह्येते (६·३)–४२.
वह्निस्थाने निरुद्धचैनं (६·५१अ)–५३ पा. टि.
वह्नौ चानिलमारोप्य (८·१९)–७५.
वातात्मकानां सर्वेषां (८·३४)–७८.
वायुना वातितो वह्निः (४·६१)–३४; (१२·३)–१०३.
वायुना विहृतवह्निशिखाभिः (१२·११)–१०५.
वायुमुन्नय ततस्तु सर्वाङ्गं (१२·२१)–१०८.
वायुर्यथा वायुसखेन सार्धं (१२·१५)–१०६.
वारिभिश्च सुसम्पूर्णे (५·७)–३८.
वारुणी चैव पूषा च (४·२७)–२७.
वारुणे वायुमारोप्य (८·१७)–७५.
विद्वद्भिर्धर्मशास्त्रज्ञैः (१०·८)–९१.
विधिनोक्तेन मार्गेण (४·७२)–३६.
विधिवत्कर्म कर्तव्यं (१·२७)–७.
विधिवत्कुर्वतस्तस्य (१·२५)–७.
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः (५·३)–३७.
विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं (११·७)–९७.
विध्येतत्सर्वजन्तूनां (४·७)–२४.
विनायकं सुसम्पूज्य (५·१३)–३९.
विनिश्चित्यात्मनः कालं (१०·१०)–९२.
विशां च केचिदिच्छन्ति (२·९)–१६.
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च (११·१३)–९९.
विश्वार्चिषं महावह्निं (९·२०)–८४.
विषभागो रवेर्भागः (४·३४)–२९.
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं (१·२)–३.
वेदान्तेष्वथ शास्त्रेषु (१०·७)–९१.
वेदेनोक्तेऽपि हिंसा स्यात् (१·५३)–११.
व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च (४·५४)–३३.
व्योमरन्ध्रात्समाकृष्य (७·२४)–६८.
व्योमरन्ध्रे गते वायौ (६·५७)–५४.
व्योमरन्ध्रैश्च नवभिः (४·६६)–३५.

श

शनैः पिङ्गलया गार्गि (६·७)–४३.
शरीरलघुता दीप्तिः (१२·६)–१०४.
शरीरशोषणं प्राहुः (२·३)–१५.
शरीरं तावदेवं तु (८.३३)–७८.
शरीरं लघुतां याति (६·४०)–५०.
शरीरं संत्यजेद्विद्वान् (१०·१८)–९४.
शिरां समावेश्य मुखेन मध्यां (१२·९)–१०४.
शिव एव स्वयं भूत्वा (९·३३)–८७.
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससं–(८·१८)–७५; (९·१६)–८३.
शुद्धस्फटिकसङ्काशं बालेन्दुं–(८·२३)–७६.
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य (१·५९)–१२.
शूद्रः शुश्रूषया नित्यं (१·३६)–८.
शूलानन्दमयी वृद्धा (६·३अ)–४२ पा. टि., ६१.
शैवं वा वैष्णवं वाथ (६·६४)–५६.
शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं (१·६८)–१४.
शंखध्वनिनिभस्त्वादौ (६·५६)–५४.
शृणुयाद्यः सकृद्वापि (१२·३९)–११३.
श्रमदाहौ न तस्यास्तां (६·४१)–५०.
श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं (९·१५)–८३.
श्रुत्वैतद्भाषितं वाक्यं (४·१)–२३.
श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योक्तं (१·४१)–९.

ष

षडङ्गुलं तु हृन्मध्यात् (७·१७)–६७.
षडश्रं सर्पजन्मनाम् (४·१२अ)–२५ पा. टि.
षण्मासं वा वरारोहे (५·२०अ)–४१ पा. टि.
षोडशच्छदसंयुक्तं (९·३७)–८८.

स

स एव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः (४·१०)–२४.
स एव सर्वदा शुद्धः (५·२२अ)–४१ पा. टि.
सगुणेषूत्तमं ह्येतत् (९·२४)–८५.
सगुणं गुणहीनं वा (९·४४)–८९.
सदाशिवं तथा व्योम्नि (८·१५)–७४.
सन्तप्ता वह्निना तत्र (६·७०)–५७; (१२·१२)–१०५.
सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं (६·२०)–४६.
सन्न्यासाश्रमसंयुक्तः (१·३४)–८.
सप्तमस्य तु वर्गस्य (५·१६)–४०.
सप्तमस्य तु वर्णस्य (६·३अ)–४२ पा. टि.
सभामध्यगता चेयं (१·७)–४.
समाधिमधुना वक्ष्ये (१०·१)–९०.
समाधिः समतावस्था (१०·२)–९०.
समानवायुना सार्धं (४·६५)–३५.
समानवायुरेवैकः (४·५७)–३३.
समाहितमना गार्गि (१·११)–४.
समीरणे विष्णुपदे निविष्टे जीवे च (१२·२८)–११०
समीरणे विष्णुपदे निविष्टे विशुद्धबुद्धौ च (१२·२९)११०.
समुन्नतशिरःपादः (३·१६)–२१.
संपीड्य सीवनीं सूक्ष्मां (३·१३)–२१.
सम्पूर्णकुम्भवद्वायुं (७·२३)–६८.
सम्प्राप्ते मारुते तस्मिन् (६·७२)५८.
सम्भवत्युत्तमे गार्गि (६·२७)–४७.
संस्कारमात्मनःसर्वं (१०·१२)–९२.
सरस्वती तथा चोर्ध्वं (४·४२)–३०.
सरित्पतौ निविष्टाम्बु (१०·५)–९१.
सर्वपापविशुध्दात्मा (७·३१)–७०.
सर्वायुधोद्यतकरं (८·२४)–७६.
सर्वे चाभ्यन्तरा रोगाः (३·१७)–२२.
सर्वाङ्गे वायुमारोप्य (१२·२२)–१०८.
स वैदिकं जपेन्मन्त्रं (६·१५)–४५.
सव्येन गुल्फेन गुदं निपीड्य (१२·१)–१०२.
सशिरस्कां दोषहन्त्रीं (६·१२अ)–४४ पा.टि.
सहितं केवलं चाथ (६·३२) ४८.
सा तं तु सम्पूज्य मुनिं ब्रुवन्तं (१२·४३)–११४.
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं (२·८, १०)–१६.
सिंहासनं भवेदेतत् (३·११)–२०.
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां (३·११अ)–२० पा.टि.
सीवन्यास्त्वात्मनः पार्श्वे (३·४)–१९.
सुषुम्णा या मया प्रोक्ता (४·४६अ)–३१ पा.टि.
सृष्टिस्थित्यन्तकालाद्या (६·३अ)–४२ पा.टि., ६१.
सोऽपि याति वरारोहे (७·३४)–७०.
सोऽहमस्मीति या बुद्धिः (९·२९)–८६.
सोऽहमात्मेति विज्ञानं (९·१८)–८४.
स्कन्दपुराणादवतरणम् (५·२२अ)–४१ पा. टि. (६·३अ)–४२ पा. टि.
स्थाणुवन्मूर्धपर्यन्तं (९·३१)–८७.
स्थानात्स्थानात्समाकृष्य (७·२१)–६८.
स्थानानि चैव वायूनां (४·४)–२३.
स्थूलं सूक्ष्ममनाकारं (९·६)–८१.
स्नायाद्विध्युक्तमार्गेण (१·३१)–८.
स्फूरन्ती हृदयाकाशे (४·२४)–२७.
स्वकर्मनिरतः शान्तः (१०·११)–९२.
स्वधर्मनिरता शान्ता (१०·२१)–९४.
स्वयं ह्यपानं सम्प्राप्य (४·६०)–३४.
स्वात्मानमर्भकाकारं (९·३६)–८८.
स्वाश्रमस्थः सदाचारः (५·५)–३७.
स्वेदमूत्रे जलं स्यातां (४·६४)–३५.

ह

हस्ताभ्यां बन्धयेत्सम्यक् (६·५२)–५३.
हस्तिजिह्वा तथा सव्य–(४·४४)–३१.
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य (३·१०)–२०.
हानोपादानचेष्टादि (४·६८)–३५.
हिरण्यश्मश्रुकेशं च (९·२६)–८५.
हृत्पङ्कजे व्योम्नि यदेकरूपं (१२·३२)–१११.
हृत्पद्मेऽष्टदलोपेते (९·१२)–८२.
हृदयात्कण्ठकूपे च (६·७३)–५८.
हृन्मध्यात्तु सुषुम्णायां (१२·९१)–१०७.

GLOSSARY OF UNUSUAL WORDS

अध्यात्मविद्या—The science relating to the self of man.

अपान—The second of the five principal vital airs in a physical organism.

अभिचारादि कर्म—A religious rite such as a magical spell employed for a malevolent purpose.

अष्ठीला—A disease of the bladder appearing in any of its two forms.

आत्मन्—The self designated by the subjective consciousness in the form "I";—निकाय—One's own body.

आयाम—The horizontal measure; width.

आसन—A posture, one of the eight constituents of Yoga, which has several varieties, eight whereof have been described in Chapter III of this work.

इडा—The name of the artery in the left nostril through which the outer air is inhaled and the inner one exhaled.

उत्सेध—The perpendicular measure; height.

उपांशु—The middle one of the three ways in which the repetition of a Mantra is done without making a sound, though the organs of speech are made use of.

कन्द—The bulbous root below the navel from which the principal Nāḍīs (arteries) issue and extend to the different limbs in which they function.

कप्यास—The anus of a monkey.

कर्णिकांकेसरान्वित—That whose pericarp is invested with filaments.

कुण्डली—The serpent-like artery which, according to this work, has curled round eight times and is required to be roused by Prāṇāyāma and straightened in order that the vital airs can pass into the mouth of the Suṣumṇā and through it into the head for the purpose of self-realisation.

कुम्भक—The process of holding the breath after it is inhaled. It has two varieties "सहित" and "केवल" q.v.

केवल—The higher variety of Kumbhaka in which the inner breath is controlled without doing Recaka and Pūraka. (See VI.30).

कोष्ट—The stomach.

क्षेत्रिन्—A soul in an embodied state; also a (nominal) husband.

गुल्म—A disease of the spleen appearing in five different forms.

गुहा—A cave; here a cave-like cavity in the heart.

चक्र—A wheel, here a wheel-like entanglement of the arteries technically called a plexus. According to this work there is only this one wheel in the body, though according to the Hathāyogapradīpikā there are 6.

चक्रिन्—The one having a wheel *i.e.* the Jiva (individual soul), who is confined in the state of ignorance in the wheel at the navel and is tossed about hither and thither. (See IV.19).

चित्योमूल—The root of the Citis, the vital nerves connecting the thighs with the middle part of the trunk.

ज्ञान—Knowledge here defined as having Yoga as its esssence ; -कर्माणि—The acts constituting Yoga ; -नाल—the stalk (as of a lotus) consisting of knowledge.

तन्तुपञ्जर—A cobweb.

तन्त्र—Generally a science or doctrine also prescribing a practical method for realising the truth conveyed thereby and particularly the science relating to the theory and practice of the development of the divine powers inherent in man.

तारक—That which carries one across a stream ; here used metaphorically to denote a key-mantra for the attainment of salvation.

त्रिदशाहार—Lit. the food of the gods *i.e.* nectar.

त्रिदोष—A disease arising from the affection of all the three humours ; consumption.

द्रुहिण—The god Brahmā.

धारणा—Concentration ; the designation of the sixth of the eight constituents of Yoga dealt with in Chapter VIII of this work.

धूमध्वज—Lit. that which has smoke as its banner, hence fire.

ध्यान—Meditation, the seventh of the eight constituents of Yoga dealt with in Chapter IX of this work.

नाडी—Any tabular organ of the body such as an artery or a vein ; -शुद्धि—The purification of the 14 principal arteries issuing from the bulbous root below the navel. This subject has been dealt with in Chapter V of this work.

नाद—An internal sound. Several such sounds begin to be heard when a slight control is established over the inner breath.

नाल—The stalk of a lotus plant, used here metaphorically for the perpendicular artery on which is perched the eight-petalled heart-lotus.

नियम—A vow or a religious observance. 10 such are required to be observed in order to prepare the vital airs and the mind for the practice of Prāṇāyāma etc. Chapter II of this work is devoted to a detailed exposition thereof.

निर्भासमय—Full of light or lustre, or shining forth with its own light.

निर्वाण—A state of perfect peace of mind which can be attained while living.

निष्कृति—Atonement or expiation for any sinful act.

नीवारशूक—The sprout of a wild rice-plant.

नैष्टिक—An epithet applied to a celibate who observes celibacy till his death.

प्रणवाक्षर—The sacred syllable Oṁ which is uttered at the beginning of each Vedic Mantra.

प्रत्यय—Spiritual experience or vision.

प्रत्याहार—Withdrawal of the senses, from their respective objects. It is the name of the fifth Aṅga of Yoga which has been dealt with in Chapter VII of this work.

परमानन्द—The highest joy ;—विग्रह—That which has a body consisting of or becomes manifest as the highest joy.

पिङ्गला—The name of the artery in the right nostril through which the outer air is inhaled and the inner one exhaled.

पूरक—That which fills up. In the science of Yoga it is the name of the process by which the outer air is inhaled in a certain proportion, and which is the first of the three parts of the method of doing Prāṇāyāma.

प्राण—The general name of all the vital airs in the body mentioned and explained in Chapter IV of this work. It is also the specific name of the principal vital air; -आयाम—The control of the vital airs, the various possible methods for acquiring which have been explained at length in Chapter VI of this work.

प्लीहा—Enlargement of the spleen.

बद्धपर्यङ्क—One who has taken up the posture in which one sits on the hams, technically called Vīrāsana, for whose definition see III-8.

बिन्दु—Generally a point but here the Anusvāra placed over the crescent forming part of the Oṁkāra. It is also used to designate the human seed. Which is the sense in which the word is used in a line, is determined by a reference to context.

ब्रह्मण्य—Learned in the Vedas; pious.

ब्रह्मपुर—Lit. the city of Brahman or that which is filled up by Brahman; used as a designation of the heart-cave.

ब्रह्मरन्ध्र—Usually the hole in the crown of the head through which the light of Brahman enters the body at the birth-time of each individual, and leaves it at death-time in the case of a perfect Yogi only, but here used to designate the Suṣumṇā Nādī (Sec. IV-30).

ब्राह्मकाल—The last Muhūrta (a period of 3 hours) of a night or the one just preceding the sunrise on the next date.

मन्त्र—An incantation or a mystical formula for invoking by the repetition thereof with faith any deity of the Vaidic or Paurāṇic pantheon.

मर्मस्थान—A vital part in which a group of arteries have clustered together. There are 18 such according to the opinion of the divine physicians Aśvins, concentration on and the extraction of energy from which constitutes a special kind of "Pratyāhāra" as explained in Chapter VII of this work.

महाप्राण—The cosmic air.

मात्रा—A unit of measure for keeping up a balance between the times to be devoted to the processes of "Pūraka," "Kumbhaka" and "Recaka", which make up a "Prāṇāyāma," according to Chapter VI of this work. Each Mātrā is equal to the time required to utter one syllable.

मुक्तिमार्ग—Ordinarily the path leading to final beatitude but here the designation of the Suṣumṇā nāḍī, (See IV.29) which carries the vital air with fire to the top of the head.

यम—Restraint. Ten kinds of restraints are required to be observ-

ed in order to prepare the senses and the mind for the practice of "Prāṇāyāma" as explained in stanzas 42-70 of Chapter I of this work.

योग—Union generally but here a union of the individual soul with the Supreme Soul. This term is also used secondarily in compounds to designate a means for effecting that union such as "Jñāna-yoga," "Karma-yoga", "Bhakti-yoga," or a means for attaining any substantial result ultimately leading to the said union, such as "Haṭha-yoga," "Laya-yoga," "Mantra-yoga," "Rāja-yoga." In this work it is used in the middle sense only as defined in Ch. I. 44/2.

रहस्य—A secret doctrine or formula; -अवसथ—A secret or secluded place of residence.

रेच or रेचक—The process in "Prāṇāyāma" consisting of the exhalation of the inner air through a nostril or the mouth.

रेफ—A grating sound made by the pronunciation of the letter "र".

लूतिका—A spider.

वायु—Ordinarily the atmospheric air but in this work it has also been used to designate any of the vital airs individually with its specific name prefixed to it as Apāna Vāyu or Samāna Vāyu. When not so prefixed it means either the Prāṇa or Apāna or all the ten Vāyus combined together after the Kuṇḍalinī is aroused, as determined by the context; -सखा—Fire.

वासुदेव—The deity who resides in the body *i.e.* the Supreme Deity, who residing in the heart is its inner ruler. This was the name of the only deity of the Bhāgavatas of the old school, prior to the rise of the Pāñcharātra sect. Its synonym was "Bhagavat" because it was "Saguṇa" as well as "Nirguṇa."

वियोग—Disunion or separation; -काल —The time of disunion or separation (of the individual soul from the Supreme Being) *i.e.* any time other than those of "Samādhi" and "Suṣuptī."

वैधं कर्म—The religious acts or rites prescribed (by the Scripture).

वंक्षण—The thigh joint or groin.

व्याहृति—Ordinarily an utterance but in religious works the utterance of a word expressive of any of the seven worlds from the earth upwards such as "Bhūḥ," "Bhuvaḥ", preceded by the syllable "Oṁ."

व्योमरन्ध्र—The apertures in the human body through which one has communion with the cosmic space (IV.66); also particularly the one in the crown of the head (VI.56-57).

शिखिस्थान—The seat of fire (in the bodies of human beings, quadrupeds and birds) as described in Chapter IV-11-15. The same is spoken of by its synonyms अग्न्यागार (IV.53). वह्न्यालय (VII.27) etc., at other places.

शिरःपद्म—The lotus in the head said to have 16 petals (See IX.37).

शोफ—A morbid swelling; a tumour.

श्रीवत्सवक्षस्—One on whose chest there is a special auspicious mark called Śrī Vatsa, made by a curl of hair, *i.e.* Viṣṇu.

षोडशच्छदसंयुक्त—(A lotus) endowed with 16 petals. (See IX-37).

सन्धि—A joint; an articulation (of the body) used in XII.1 in the sense of the perineum or frenum of the prepuce. सीवनी is its synonym.

सप्तमवर्ग—The seventh class of consonants in the Sanskrit alphabet.

समाधि—Complete self-integration and concentration on one object to such an extent as to make one forget one's individual existence for the time being; the name of the 8th constituent of Yoga dealt with in Chapter X. of this work. Unlike Patañjali, this author says that this constituent has no variety (See I. 49/2).

सहित-कुम्भक—That kind of Kumbhaka which is accompanied by Recaka and Pūraka as distinguished from the Kevala Kumbhaka which is not accompanied by them (See VI. 30-31).

सिद्धि—The achievement of an object aimed at; hence also the attainment of some miraculous powers. This work does not speak of it in the latter sense.

सीवनी—The perineum. सन्धि is its synonym.

सुषुम्णा—The name of the principal one of the 14 Nāḍis specifically described in Chapter IV of this work, as it is deemed necessary to know their positions and functions. ब्रह्मरन्ध्र and मुक्तिमार्ग are the two other names by which it is designated in this work. (See IV. 29-31/1, 35/1).

स्फिच्—The buttocks or hips; -देश—The region of the buttocks or hips.

CORRIGENDA

Page	*Line*	*Misprint*	*Correction*
संज्ञा विवृत्तिः	६	मु. पु=मुम्बापुर्यां	मुं. पु=मुंबापुर्यां
१	४	एम.ए., एलएल.एम.	एम्.ए., एल्एल्.एम्.
९	१२	सहयोगीन्द्र	सह योगीन्द्र
११ टि.	१	टिप्पणी	टिप्पणीः
,, ,,	९	अहिंसात्वेव	अहिंसा त्वेव
१२ ,,	१३	ग२–राज्ञश्चचैवं	ग२–राज्ञश्चैवं
१४ ,,	५	मित भोजनम्	मितभोजनम्
,, ,,	१८	इद्रंशः	ईदृशः
१७ ,,	१६	वाचको तीवा (–तीव)	वाचको तीवा (ऽतीव)
१८ ,,	१५	कृतम्ं	कृतम्
१९ ,,	७	ऋजुकार्यः	ऋजुकायः
२० ,,	१७	क्षति पाठान्तराणिःच	क्षतिः पाठान्तराणि च
२५ ,,	१५	देह मध्ये	देहमध्ये
,, ,,	१९	मेढात्तु	मेढ्रात्तु
२८ ,,	३	तिसृष्वेकोत्तम	तिसृष्वेकोत्तमा
३२ —	७	गुदमेढोरुजानुषु	गुदमेढ्रोरुजानुषु
३३ —	१०	साङ्गोपांगकलेवरे	साङ्गोपाङ्गकलेवरे
,, टि.	१५	प्राणो (? घाणे)	प्राणो (? घ्राणे)
३४ ,,	२२	ग२–वह्निना	ग२–वह्निना
३५ ,,	९	जनस्यांतर(?)	जनस्यांतर् (?)
३७ —	८	सर्वसाङ्गविवर्जितः	सर्वसङ्गविवर्जितः
,, टि.	४	नाड च:	नाडच:
,, ,,	१२	(शुश्रूषणरत्तः)	शुश्रूषणरतः
३८ ,,	१५	न८–शास्त्रेगेषु	न८–शास्त्रेषु
३८ टि.	१७	धर्मसंयक्तः	धर्मसंयुक्तः
३९ ,,	१८	तत्ततादृशं तादृश	तत्तत्तादृशं तादृशं
४० ,,	२	—×××××× –त	—×××× –त
४१ ,,	७	षदकृत्वाचरेन्नित्यं	षट्कृत्वाचरेन्नित्यं
४२ ,,	२४	अत्राधिकाः श्लोकाः	न८–अत्राधिकाः श्लोकाः
४५ ,,	१७	चिन्तनीयाहौ	चिन्तनीयार्हौ
५१ ,,	३	ग्रन्थसन्दभ	ग्रन्थसन्दर्भे
५२ ,,	१२	"ष्ट" स्थान "ष्ठ"	"ष्ट" स्थाने "ष्ठ"

Page	*Line*	*Misprint*	*Correction*
५२ टि.	१६	ग्रणार्हो	ग्रहणार्हो
,, ,,	२०	दीर्घवर्तुलयाषाणविशेष इत्येके	दीर्घवर्तुलपाषाणविशेष इत्येके
,, ,,	२६	समीचीनो भवेन्	समीचीनो भवेत्
५६ ,,	१५	पाठभेदाः–(?) न२,५,७, त	पाठभेदाः–न२,५,७, त
५७ ,,	४	ग्रन्थसन्दर्भ	ग्रन्थसन्दर्भे
६१ —	१२	मकारमूतिरेतेषां	मकारमूर्तिरेतेषां
६८ टि.	१६	कर्णमले	कर्णमूले
७४ —	९	सदाशिव	सदाशिवं
८१ —	१	ज्योतिर्मय	ज्योतिर्मयं
८४ —	६	जगद्योनि	जगद्योनिं
११६ टि.	१४	६ लेखषु	६ लेखेषु

श्री योगयाज्ञवल्क्यः

Abbreviations

अत्रोपयुक्तानां संज्ञानां विवृतिः—

न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८=(देव–)नागरी-हस्तलेखाः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ ।

ग१, २, ३, ४, ५, ६,=ग्रन्थलिप्यां लिखिताः हस्तलेखाः १, २, ३, ४, ५, ६ ।

त=तेलुगुलिप्यां लिखितो हस्तलेखः ।

क=कन्नडलिप्यां लिखितो हस्तलेखः ।

त्रि.पु.=त्रिवेन्द्रम् नगरे मुद्रितं पुस्तकम् ।

मु.पु.=मुम्बापुर्यां मुद्रितं पुस्तकम् ।

न.पु.=नडीआदनगर्यां मुद्रितं पुस्तकम् ।

क.पु.=कलिकातायां मुद्रितं पुस्तकम् ।

मु.पु.=मुरादाबादनगरे मुद्रितं पुस्तकम् ।

× × × × =एतच्चरणं न विद्यते ।

× × × × × × × × =एषा पंक्तिर्न विद्यते ।

———— =यथापूर्वं ज्ञेयम् ।

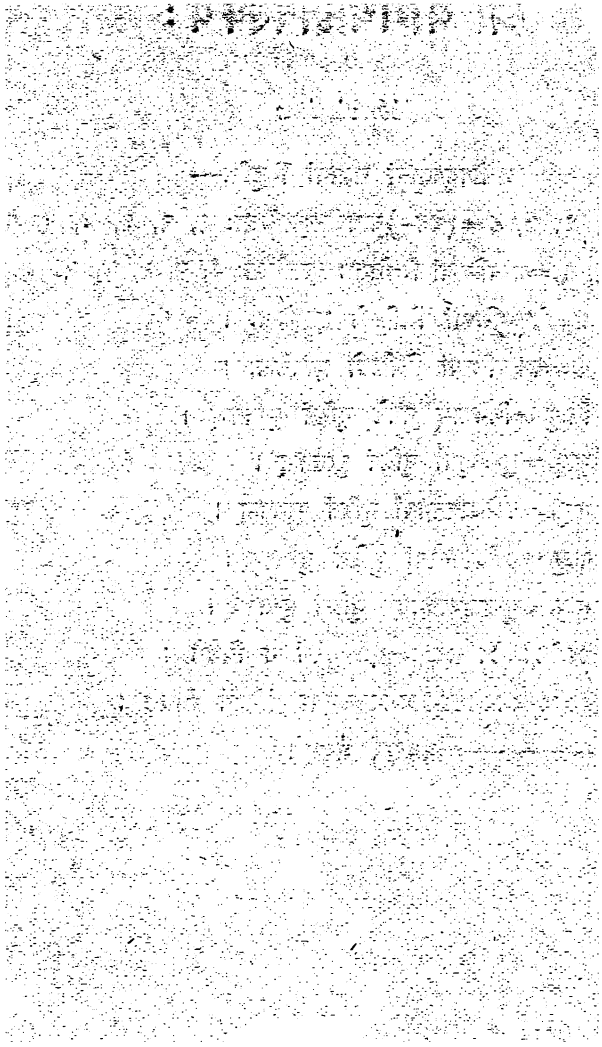

ॐ

श्री योगयाज्ञवल्क्यः॥

श्री प्रह्लाद चन्द्रशेखर दिवानजी एम. ए., एल एल. एम
इत्यनेन संशोध्य संपादितः॥

प्रथमोऽध्यायः॥

याज्ञवल्क्यं मुनिश्रेष्ठं सर्वज्ञं ज्ञाननिर्मलम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सदा ध्यानपरायणम् ॥१॥

वेदवेदांगतत्त्वज्ञं योगेषु परिनिष्ठितम् ।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जिताहारं जितामयम् ॥२॥

तपस्विनं जितामित्रं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम् ।
तपोवनगतं सौम्यं संध्योपासनतत्परम् ॥३॥

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैश्च समावृतम् ।
सर्वभूतसमं शान्तं सत्यसन्धं गतक्लमम् ॥४॥

गुणज्ञं सर्वभूतेषु परार्थैकप्रयोजनम् ।
ब्रुवन्तं परमात्मानमृषीणामुग्रतेजसाम् ॥५॥

१/१५/१-२–ग १, ५, ६, त, क लेखेष्विमे श्लोका न दृश्यन्ते । १/१-न १, २, ५, ७—याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं । १/२–ग२—कृष्णं हरिहरं प्रभुम् ; न ८– सर्ववेदविदं शुभम् । १/४–न ६–सदाध्यापनतत्परम् ; ग२–सदाध्ययनतत्परम् ; ग४—वेदेषु परिनिष्ठितम् ।

२/२–ग२-योगे च—; २/४–न३—जिताद्वारं (?) जिताश्रमम् ; न४, ८, ग४–जिताहारं जिताश्रमम् ; ग२–जिताहारं जिताश्रयम् ।

३/१–ग२–जितशास्त्रं जितामित्रं ; ग४–तपोवनगतं शान्तं । ३/२–न३–ब्रह्मस्थं ब्रह्मणप्रियं; ग४—सन्ध्यो-(सन्ध्यो-)पासनतत्परम् । ३/३–न६–तपोवनरतं—; न८–तपोवनगतं शान्तं ; न३–तपोवनंतरं सौम्यं ; ग४—ब्रह्मविद्भिर्महाभागं ।

४/१–ग४—ब्रह्मविद्भिर्महाभागं; न६–× × × × ; ४/३–न३–सर्वभूतशमं (?–समं) शान्तं; ग२—सर्वभूतहितं शान्तं । ४/४–न१, २, ४, ५, ७, ग३—त्रिसन्ध्यं गतकल्मषम् ; न३–ब्रह्मभूतमकल्मषम् ; ग२—मन्त्रसिद्धं गतक्लमम् ।

५/३–ग२—ब्रुवन्तं परमं योगं ; न६–(ब्रु-) वत परमात्माने(?); न७–ध्यायंतत्परमात्मानं (? स्तत्परमात्मानं) ।

तमेवं गुणसंपन्नं नारीणामुत्तमा वधूः ।
मैत्रेयी च महाभागा गार्गी च ब्रह्मविद्वरा ॥६॥

सभामध्यगता चेयमृषीणामुग्रतेजसाम् ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ गार्ग्येतद्वाक्यमब्रवीत् ॥७॥

*गार्ग्युवाच—

भगवन्सर्वशास्त्रज्ञ सर्वभूतहिते रत ।
योगतत्त्वं मम ब्रूहि साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥८॥

एवं पृष्टः स भगवान्सभामध्ये स्त्रिया तया ।
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ॥९॥

†याज्ञवल्क्य उवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।
वक्ष्यामि योगसर्वस्वं ब्रह्मणा कीर्तितं पुरा ॥१०॥

समाहितमना गार्गि शृणु त्वं गदतो मम ।

इत्युक्त्वा ब्रह्मविच्छ्रेष्ठो याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥११॥

६/१–न३—तमेव गुणसम्पन्नं ; न४—तमेवं गुणसंपूर्णं ; न७—तमेवं गुणसंपन्ना । ६/३–ग२—मेधावती महाभागा । ६/४–ग२–गार्गी च ब्रह्मविद्वरम् ; न३—गार्गी तु ब्रह्मविद्वरा ; न४—गार्गी ज्ञानपरायणा ।

७/१–न१, २, ५, ७–सभामध्यगता त्वेवं ; न८–सभामध्ये गते एतं (?); ग२—सभामध्यगतं चैनं; न३–सभामध्यगतं प्राप्ता ; न६–सभामध्यगता सा ते ; ग४–सभामध्यगतात्सेनं (?———गता त्वेनं) । ७/४–ग२, ३, न५, ६—गार्गी तद्वाक्यमब्रवीत् ।

*८–न७ × × × ×। ८/३–न.४—योगं त्वं च मम ब्रूहि; ग३—योगतत्त्वं मया ब्रूहि । ८/४–न३, ७, ८, ग३—साङ्गोपांगविधानतः ।

९/२–न१, २, ५, ७ ———— स्त्रिया तदा ; ग२–———— प्रियां ततः ; न४, ६ ——— स्त्रियानया ; ग३ ———— स्त्रिया अपि (?)। ९/३–न७, ग३–ऋषिरालोक्य । ९/४–ग४–वाक्यमेतदुवाच ताम् ; न४–वाक्यमेतदथाब्रवीत् । †न३–श्रीभगवानुवाच ; न६–भगवानुवाच । न७–भगवान् ।

१०/२–न३ ———— वरा । १०/३–मम योगं सर्ववरं (?) । १०/४–ग२, ४, न८–ब्रह्मणा कथितं पुरा ।

११/२–न१, ५, ७, ८, ग४—शृणु त्वं वदतो मम । ११/३–न५–इत्युक्तो———; ग३–इत्युक्तौ (?) × × ; ११/४–न२, ५, ७—याज्ञवल्क्यस्तपोधनः ।

नारायणं जगन्नाथं सर्वभूतहृदि स्थितम् ।
वासुदेवं जगद्योनिं योगिध्येयं निरञ्जनम् ॥१२॥

आनन्दममृतं नित्यं परमात्मानमीश्वरम् ।
ध्यायन्हृदि हृषीकेशं मनसा सुसमाहितः ॥१३॥

नेत्राभ्यां तां समालोक्य कृपया वाक्यमब्रवीत् ।

एह्येहि गार्गि सर्वज्ञे सर्वशास्त्रविशारदे ॥१४॥

योगं वक्ष्यामि विधिवद्धात्रोक्तं परमेष्ठिना ।
मुनयः श्रूयतामत्र गार्ग्या सह समाहिताः ॥१५॥

पद्मासने समासीनं चतुराननमव्ययम् ।
चराचराणां स्रष्टारं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥१६॥

कदाचित्तत्र गत्वाहं स्तुत्वा स्तोत्रैः प्रणम्य च ।
पृष्टवानिममेवार्थं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥१७॥

देवदेव जगन्नाथ चतुर्मुख पितामह ।
येनाहं यामि निर्वाणं कर्मणा मोक्षमव्ययम् ॥१८॥

१२/१–न१, २, ५, ७, ग३—नारायणं जगद्योनिं ; ग२–नारायणं जगद्व्याप्तं । १२/२–न६–सर्वभूतहिते रतम्; न८–जगतः कारणं परम् । १२/३– न१, २, ४, ५, ७, ग१, ३–वासुदेवं जगन्नाथं । १२/४–न४–योगिध्येयं निरन्तरम् ; ग४—जगतः कारणं परम् ।

१३/१–न८ ———— सत्यं । १३/२–न१, २, ४, ५, ६, ग२, ४—परमात्मानमव्ययम् ।

१४/३–न८—एह्येहि गार्गि सर्वत्र (?सर्वज्ञे) ।

१५/१–ग४, न८–योगं वक्ष्यामि तत्त्वेन । १५/२–न१–यथोक्तं परमेष्ठिना; ग२–संप्रोक्तं——; न३, ६—यथोक्तं ब्रह्मणा पुरा ; न४, ग३—प्रोक्तं मे परमेष्ठिना ; ग४, न८–निर्दिष्टं—। १५/३–४–"क" लेखे प्रथमा पंक्तिः । १५/३–न३, श्रूयतां सर्वे । १५/४–ग३—गार्ग्या सह समाश्रिताः।

१६/१–२–ग५, ६, त" लेखेषु प्रथमा पंक्तिः । १६/१–ग४—पद्मासीनं सुखासीनं ; न७–पद्मासने सुखासीनं; न२—पद्मासीनं समासीनं, न३–पद्मासीनसमासीनं । १६/२–न८–चतुरासन–(?चतुरानन–)मव्ययम् । १६/३–ग४, न८–चराचराणां भूतानां । १६/४–न३–ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ; ग४, न८–स्रष्टारं ——.

१७/२–न२–स्तुतिः स्तोत्रैः प्रणम्य च ; ग५–कृत्वा स्तोत्रं —— । १७/३– पृष्टवानमुमेवार्थं ; न५, ग५, ६, त—पृष्टवानिदमेवार्थं ; न८–पृष्टवान्श्रौतमेवार्थं ; क–पृष्टवानिदमेवाद्य । १७/४–ग५, ६, त—यद्यूयं परिपृच्छथ ; क–यद्ययं (?यद्यूयं) परिपृच्छथ ।

१८/१–ग६–देवदेव महादेव । १८/३–ग२–येनाहं नाम(?) —— । १८/४–न५, ग२, ५—कर्मणा मोक्षमक्षयम् ; न३—कर्मसाक्षिकमव्ययम् ; ग६–तज्ज्ञानं मोक्षमव्ययम् ; न८–कर्मणो मोक्षमव्ययम् ।

ज्ञानं च परमं गुह्यं यथावद्ब्रूहि मे प्रभो ।
मयैवमुक्तो द्रुहिणः स्वयंभूर्लोकनायकः ॥१९॥

मामालोक्य प्रसन्नात्मा ज्ञानकर्माण्यभाषत ।

ज्ञानस्य द्विविधौ ज्ञेयौ पन्थानौ वेदचोदितौ ॥२०॥

अनुष्ठितौ तौ विद्वद्भिः प्रवर्तकनिवर्तकौ ।
वर्णाश्रमोक्तं यत्कर्म कामसंकल्पपूर्वकम् ॥२१॥

प्रवर्तकं भवेदेतत्पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
कर्तव्यमिति विध्युक्तं कर्म कामविवर्जितम् ॥२२॥

येन यत्क्रियते सम्यक् ज्ञानयुक्तं निवर्तकम् ।
निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मतः ॥२३॥

प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥२४॥

१९/१–२–"ग१," लेखे प्रथमा पंक्तिः । १९/१–ग२—स्थानं च ———; न४–ज्ञानानां ——— ; ग३–यज्ञानां ——— । १९/३–ग४, ५, ६, क—मयैवमुक्तो दाक्षिण्यात् ; ग२—मयैवमुक्तो हृषितः । १९/४–न१, ८–स्वयंभूर्लोकभावनः ।

२०/१–न१, २, ६, ७—समालोक्य—। २०/२–न१, २, ५, ७—कर्मज्ञानमभाषत ; ग१–ज्ञानं सर्वमभाषत ; ग२—ज्ञानमर्मं प्रभाषत ; न४–त्यक्तु(?)कर्माण्यभाषत ; ग३—त्यक्त्वा कर्माण्यभाषत । २०/३–४–न४, ग३–× × × × । २०/३–न१, २, ७, ग१, २—जातस्य ——— । २०/४–ग६, त———श्रुतिचोदितौ ; ग२———श्रुतिवेदितौ ; न३ वेदनोदितौ ।

२१/१–न५, ७, ग५, ६ ——— च विद्वद्भिः ; ग२ ——— हि—; ग३——— तु———। २१/३–ग५, ६, क–वर्णाश्रमाणां यत्कर्म । २१/४–ग२–काम्य ——— ; ग६–कार–(?काम–) ———।

२२/३–४–न१, २— × × × × × × × ×।

२३–२७–"न१, २" लेखयोरेतेषु श्लोकेष्वतीव क्रमविपर्ययः सांकर्यं च दृश्येते । २३/१–न३, ४, ५, ६, ७, ८, ग३ ——— नित्यं ; ग५, ६, क— ——— कर्म : ग२–येन यत्क्षीयते सम्यक् । २३/४–न७—निवर्तयति जन्मना; ग१, २, ४, ५, ६, त——— जन्मनः ।

२४/१–ग२, ३, ४, न५, ६, ८, क–प्रवर्तकं तु सर्वत्र ; न४–प्रवर्तकं हि सर्वज्ञ (?); ग६–प्रवर्तयति सर्वत्र । २४/३–न६–वर्णाश्रमोक्तं सर्वत्र ; ग५, न८–वर्णाश्रमाणां कर्मैव ; क–वर्णाश्रमाणां कर्मैवं । २४/४–ग२– ——— काम्यवर्जितम् ; ग ४, ५—विधिवत्कामपूर्वकम् ; ग६–विध्युक्तं कामनार्जितम् ।

विधिवत्कुर्वतस्तस्य मुक्तिर्गार्गि करे स्थिता ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विधिवत्कामपूर्वकम् ॥२५॥

येन यत्क्रियते तस्य गर्भवासः करे स्थितः ।
संसारभीरुभिस्तस्माद्विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥२६॥

विधिवत्कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ।
जाताश्च त्रिषु लोकेषु आनुलोम्येन मानवाः ॥२७॥

ते देवानामृषीणां च पितृणामृणिनस्तथा ।
ऋषिभ्यो ब्रह्मचर्येण पितृभ्यश्च सुतैस्तथा ॥२८॥

कुर्याद्यज्ञेन देवेभ्यः स्वाश्रमं धर्ममाचरन् ।
चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः ॥२९॥

क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकौ वैश्यशूद्रयोः ।
अधीत्य वेदं वेदार्थं साङ्गोपांगं विधानतः ॥३०॥

२५/१–२–ग१, ४, ५, न४, त, क × × × × × × × ×। २५/१–ग२–विधिवृत्तवधस्तस्य(?); न३–विधिवत्कर्मतस्तस्य ; ग३–विधिवत्कर्मभिस्तस्य । २५/२–न३, ग२–मुक्तिमार्गः करे स्थितः ; ग३—मुक्ति गार्गि करोति सा; ग६–मुने मुक्तिः करे स्थिता । २५/३–४–ग४– × × × × × × × ×। २५/३–ग५, ६, त–वर्णाश्रमोक्तं यत्कर्म। २५/४–न४, ग५, क × × × × ।

२६/१–२—न४, क × × × × × × × ×। २६/२—ग२, ३—भववासः करे स्थितः; ग१–गर्भवासो न संशयः; ग४–गर्भवासकरं स्थितम्। २६/३–४–ग२, ५, ६, त, क × × × × × × × × × ×।

२७/२–न४– × × ने सह सर्वदा ; ग३—ज्ञानिनः सह ——— ; त–सह ज्ञानेन सर्वशः। २७/३–न१, ४, ५, ७, ८, ग४, ५, ६, क — ——————— वर्णेषु ; ग१—तत्र च त्रिषु वर्णेषु ; ग२–जातस्य ——— ; न३ ग३ ——— जातश्च ——— ; न६–धाराश्च(?)———। २७/४–न१, २, ३–त्वानुलोम्येन मानवाः ; न८–त्वानु ——— मानुषाः ; ग१–अनुलोमेषु ——— ; ग२, ५, ६, न७–चानुलोम्येन ——— ; न ६—आनुलोम्येन मानवैः ; ग४-त्वानुलोम्येन मानुषाः ।

२८/१–न८–तथैवाहमृषीणां च(?) । २८/२–न२–पितृणामृणिनस्तदा ; त—पितृणामनृणाः स्मृताः ; न३–पितृणां च(?) ऋणिनस्तथा ; ग४ न८, क—पितृणामृणिनः सदा ; ग६–पितृणामर्यमा स्थितः । २८/३–४—ग४– × × × × × × × ×। २८/४–ग५, ६, क—पितृभ्यः स्वधया तथा ; न८–पितृभ्यः स्वसुतैस्तथा ; ग१–पितृभ्यः पुत्रयोगतः।

२९/१–न१, २, ४, ७, ग३—मुच्येद्यज्ञेन ———; ग४–कुर्युर्यज्ञेन ———— । २९/२–न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ग२, ३, ४, ५, ६——— धर्ममाचरेत् । २९/४–ग२, ४, ५, ६, न८, क—स्वाश्रमाः श्रुतिचोदिताः ।

३०/२–ग४, ५, ६, न७, ८, क—द्वावेको ———— । ३०/३–ग२, ३, न६—अधीत्य वेदं वेदांगं । ३०/४–न३, ४, ७, ८, क–सांगोपांगविधानतः ; न६—सांगं सार्थं———।

स्नायाद्विध्युक्तमार्गेण ब्रह्मचर्यव्रतं चरन् ।
संस्कृतायां सवर्णायां पुत्रमुत्पादयेत्ततः ॥३१॥

यजेदग्नौ तु विधिवत्भार्यया सह वा विना ।
कान्तारे विजने देशे फलमूलोदकान्विते ॥३२॥

तपश्चरन्वसेन्नित्यं साग्निहोत्रः समाहितः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य संन्यसेद्विधिना ततः ॥३३॥

संन्यासाश्रमसंयुक्तो नित्यं कर्म समाचरन् ।
यावत्क्षेत्री भवेत्तावद्यजेदात्मानमात्मनि ॥३४॥

क्षत्रियश्च चरेदेवमासंन्यासाश्रमात्सदा ।
वानप्रस्थाश्रमादेवं चरेद्वैश्यः समाहितः ॥३५॥

शूद्रः शुश्रूषया नित्यं गृहस्थाश्रममाचरेत् ।
शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं च मुनिभिः कैश्चिदिष्यते ॥३६॥

३१/१–ग५–स्नात्वा विध्युक्तमार्गेण । ३१/२–न१, ३, ४, ग३—ब्रह्मचर्यं व्रतं चरेत् । ३१/३–त, क ———— स्ववर्णायां; न६—स्वीकृतायां ——— । ३१/३–४–न३— × × × × × × × × ×।

३२/१–ग४, न६—यजेदग्नौ तु विधिना ; ग५–क–यजेदसौ च—; न३—यजेदाग्नेय— ; ग६–यजेदाग्नि च ———; न८–यजन्नाग्नौ तु—। ३२/२–न१, ४, ७–भार्यया सह वासितः ; न२, ५———— वासिनः ; न६, ८, ग४, ६, क——— वासिना ; ग२—भार्यया सहसा विना। ३२/१–२–ग३– × × × × × × × ×। ३२/३–न३–कान्तारे निर्जने देशे । ३२/३-४–ग३– × × × × × × × × ×।

३३/१–ग१–तपश्चरेत्सपत्नीकः ; न६—तपश्चरन्निराहारः । ३३/२–न४–अग्निहोत्रसमन्वितः ; ग१–तां विना वा सहाग्निभिः ; न६–सर्वधर्मसमन्वितः ; न३–साग्निहोत्रसमन्वितः। ३३/१–२–ग३ × × × ×। ३३/३–न३, ग५–स्वात्मन्यग्नीन्समारोप्य । ३३/४–त–अभ्यसेद्विधिना ततः ३३/३–४–ग३– × × × × × × × ×।

३४/२–न३, ८, ग५, ६, क—नित्यं कर्म समाचरेत् ; न२ ———— समाचरे। ३४/१–२ ग३ × × × × × × ×। ३४/३–ग१–यावत्क्षेत्रं भवेत्तावत्; ग५, ६, त, क—यावत्क्षेमी —; न४–यावत्क्षेत्रे——; ग३–यावत्क्वेत्र (?त्क्षेत्र)———; न६–यावत्क्षेत्र × × ×। ३४/४–न१, २, ५, ७—यजेदात्मानमात्मना ।

३५/१–न३, ६, ग३———क्षत्रियस्तु चरेदेवं । ३५/२–ग१, २, ४, त–आसन्यासाश्रमात्तदा; न३, ६, ८–आसन्यासाश्रमं तथा; न४, ग३–आसन्यासाश्रमात्तथा; ग५, क–आसन्यासाश्रमं सदा; ग६–आसन्यासाश्रमं तदा । ३५/३–न३–वानप्रस्थाश्रमं नैवं ; ग३–वानप्रस्थाश्रमादेवं ; ग५, ६, न८, क–वानप्रस्थाश्रमात्पूर्वं ; त–वानप्रस्थाश्रमात्सर्वं ।

३६/१–ग१, ५—शूद्रः शुश्रूषयेन्नित्यं ; ग२–शूद्रः शुश्रूषयेदेवं ; न६–शूद्रः शुश्रूषते नित्यं ; न३–शुश्रूषय च तं नित्यं । ३६/२–ग२–गृहस्थाश्रममाचरन् । ३६/३–न६————ब्रह्मचर्यां तु ; ग३————ब्रह्मचर्ये च । ३६।४ ग२–मुनिभिः कैश्चिदीर्यते ; ग३————कैश्चिदुच्यते ।

आनुलोम्यप्रसूतानां त्रयाणामाश्रमास्त्रयः ।
शूद्रवच्छूद्रजातानामाचारः कीर्तितो बुधैः ॥३७॥

चतुर्णामाश्रमस्थानामहन्यहनि नित्यशः ।
विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं कामसंकल्पवर्जितम् ॥३८॥

तस्मात्त्वमपि योगीन्द्र स्वाश्रमं धर्ममाचरन् ।
श्रद्धया विधिवत्सम्यक् ज्ञानकर्म समाचर ॥३९॥

इति मे कर्मसर्वस्वं योगरूपं च तत्त्वतः ।
उपदिश्य ततो ब्रह्मा योगनिष्ठोऽभवत्स्वयम् ॥४०॥

श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योक्तं वाक्यं गार्गी मुदान्विता ।
पुनः प्राह मुनिश्रेष्ठमृषिमध्ये वराननना ॥४१॥

*गार्ग्युवाच--

ज्ञानेन सहयोगीन्द्र विध्युक्तं कर्म कुर्वतः ।
त्वयोक्तं मुक्तिरस्तीति तयोर्ज्ञानं वद प्रभो ॥४२॥

३७/१–२–न३, ६, ८–× × × × × × × ×। ३७/१ न१, २, ५, ७, ग२—अनुलोम–प्रसूतानां : ग३—अनन्तोमे प्रसूतानां (?)। ३७/२ न१, २, ४, ७, ग३—त्रयाणामाश्रमाश्च ये ; ग५ क–वर्णानामाश्रमास्त्रयः ; त–वर्णानामाश्रमाः स्मृताः । ३७/३–न४, ग३—नान्यस्तु शूद्रजातीनां ; ग५, ६, क—स्त्रीजातीनां शूद्रवद्वा ; त–स्त्रीजातीनां च सर्वेषां । ३७/४–न१, २, ५, ७–आश्रमाः कीर्तिता बुधैः ; ग२, ५, त, क–आचारः कीर्त्यते————; न४, ग३–आश्रम(?) कीर्तितो————; ग५–आचारः कथ्यते————। ३७/३–४न३, ६, ८— × × × × × × × ×।

३९/१–न७————————योगीन्द्रे ; न३, ५, ग४, ५, ६, क————————विप्रेन्द्र ;— ३९/२–न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ग२, ३, ६, त, क–स्वाश्रमं धर्ममाचर । ३९/४–न२, ५, ६, ७, ग२, त–ज्ञानकर्म समाचरन् ; ग५–ज्ञानं कर्म समाचर ; ग६—ज्ञात्वा कर्म समाचर ।

४०/१–ग२–एवं मे————; ग४, न८—— इति मे योगसर्वस्वं । ४०/२–ग४, न८–कर्मयोगं च तत्त्वतः । ४०।३–न२– ————————तदा—; ग५, क– ————————तथा——— । ४०/४ न३–योगयुक्तोऽभवत्स्वयम् ।

४१/१–ग२–श्रुत्वैवं—; न६–श्रुत्वैदं(?)——— । ४१/२–न७–गार्गी मुनिमुदान्विता । ४१/४–न६–ऋषिमध्ये वरांगना । *ग२, ३, त– × × × ×; ग४–गार्गी ; ग५–गार्गिः ।

४२/३–न४–यत्त्वयोक्तं मुक्तिरिति । ४२/४–ग१, ३—तस्माज्ज्ञानं वद प्रभो ; ग५, ६—वद ज्ञानं मम प्रभो; त–यदज्ञानं(?) मम प्रभो ; ग२–ततो ज्ञानं वद प्रभो ; न३, ६—तयोर्ज्ञानं वदस्व भो ; ग४–तथा ज्ञानं वद प्रभो ; न८–यथा ज्ञानं वद प्रभो ।

भार्यया त्वेवमुक्तस्तु याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
तां समालोक्य कृपया ज्ञानरूपमभाषत ॥४३॥

*याज्ञवल्क्य उवाच--

ज्ञानं योगात्मकं विद्धि योगश्चाष्टाङ्गसंयुतः ।
संयोगो योग उत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥४४॥

वक्ष्याम्यङ्गानि ते सम्यग्यथा पूर्वं मया श्रुतम् ।
समाहितमना गार्गि ऋषिभिः सह संशृणु ॥४५॥

यमश्च नियमश्चैव आसनं च तथैव च ।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा ॥४६॥

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने ।
यमश्च नियमश्चैव दशधा संप्रकीर्तितः ॥४७॥

आसनान्युत्तमान्यष्टौ त्रयं तेषूत्तमोत्तमम् ।
प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तः प्रत्याहारश्च पंचधा ॥४८॥

४३/१–न१, २, ६, ७, ग१, २, ३, ४, ६, त—भार्ययाप्येवमुक्तस्तु; न३–भार्यया त्वेव-मुक्तो हि ; ग५, क–भार्यया ह्येवमुक्तस्तु ; न८–भार्यया चैवमुक्तस्तु । ४३/२–ग२–याज्ञवल्क्यो महामुनिः । ४३/३–न५–स तामालोक्य कृपया ; क–त्वं समालोक्य विधिना(?) । ४३/४–ग१–ज्ञानजातमभाषत । *न१, ग१, २, ३, ४, त–भगवानुवाच ; न३, ६,–श्रीभगवानुवाच ; ग५, ६, न८– × × × ×।

४४/२–ग३, ४, ५—योगं चाष्टांगसंयुतम् ; क–योगं त्वष्टांगसंयुतम् ।

४५/३–ग४, न८–समाहितमना भूत्वा । ४५/४–त–मुनिभिः सहिता श्रृणु ; ग५, ६—मुनिभिः सह संश्रृणु ।

४६/२–न५–आसनानि————— । ४६/३–न१, ५, ८, ग१, २, ४, ५, क–प्राणायामा-स्तथा गार्गि ; न४–प्राणायामस्तथा प्रोक्तः । ४६/४–ग५—प्रत्याहारस्तु धारणा ।

४७/३–ग५—नियमश्च यमश्चैव । ४७/४–न६–दशधानुप्रकीर्तिताः ; ग४, ५–दशधानु-प्रकीर्तितः ; ग६–दशधा तु प्रकीर्तितौ ; न४–दशधा संप्रकीर्तितौ ; ग२, त—दशधा सुप्रकीर्तितः ; ग१–द्विधा संपरिकीर्तितौ ।

४८/२–ग१, ५, ६, न६–त्रयस्तेषूत्तमोत्तमाः ; न३, ४, ५, ७—त्रयमेतेषूत्तमोत्तमं ; ग४, न८, क–त्रयस्तेषूत्तमाः स्मृताः ; ग२–त्रीणि तेषूत्तमानि तु । ४८/३–ग१, २, ४, न५, ७–प्राणा-यामास्त्रिधा प्रोक्ताः ; ग३, ६—प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ताः । ४८/४-न ४, ५, ६, ७, ८, ग३, ४, ५, ६, क—प्रत्याहारस्तु पंचधा ; ग१, २–प्रत्याहारश्चतुर्विधः ।

धारणा पंचधा प्रोक्ता ध्यानं षोढा प्रकीर्तितम् ।
त्रयं तेषूत्तमं प्रोक्तं समाधिस्त्वेकरूपकः ॥४९॥

बहुधा केचिदिच्छन्ति विस्तरेण पृथक् शृणु ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥५०॥

क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ॥५१॥

अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।
विध्युक्तं चेदहिंसा स्यात्क्लेशजन्मैव जन्तुषु ॥५२॥

वेदेनोक्तेऽपि हिंसास्यादभिचारादि कर्म यत् ।
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम् ॥५३॥

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा ।
अस्तेयमिति सा प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥५४॥

४९/२–न४ ग३—ध्यानं च परिकीर्तितम् (न४–लेखकस्य टिप्पणी–ध्यानमपि पंचधेत्यर्थः ।) न५–ध्यानं षोढा च कीर्तितम् । ४९/३–ग१, ३, ४, ५, ६, न८, त, क–त्रयस्तेषूत्तमाः प्रोक्ताः ; ग२–त्रीणि तेषत्तमानि स्युः ; न४–त्रीणि तेषूत्तमान्याहुः । ४९/४–ग३, ४, न६, ८, त, क–समाधिस्त्वेकरूपतः ; ग२–समाधेस्त्वेकरूपता ।

५०/१–न४, ग३–मुनयः केचिदिच्छन्ति ; ग४ न८–बहुधा कैश्चिदुच्यन्ते (?)।

५१/२–न३, ग५, ६–शौचं चैते यमा दश ; क–शौचं चैते यमादयः न६, ८–शौचं चेति——। ५१/४–ग१—सर्वावस्थासु सर्वदा ।

५२/१–ग२–अक्लेशजनकं प्रोक्तं ; न३, ८, क–अक्लेशजननं प्रोक्ता । ५२/२–न६–अहिंसा गार्गि योगिभिः ; न१, २, ५, ६–अहिंसात्वेव योगिभिः ; न३–अहिंसा चैव योगिभिः । ५२/१–२–न४–× × × × × × × ×। ५२/३–त–विध्युक्ता चेदहिंसा स्यात् ; न५–विध्युक्तवेदहिंसा——; न४–अयुक्तं चेदहिंसा——; ग४–अयुक्ते————। ५२।४–न२–क्लेशं जन्मापि————; न१, २, ७–क्लेशजन्मापि————; ग५, ६, क–क्लेशगर्भैव——: त–क्लेशगर्भं च———; न६–क्लेशजन्मेव————। न८–केचिदिच्छन्ति——। ५२/३–४–न३– × × × × × × × ×।

५३/१–ग२–विधिनोक्तेन हिंसा स्यात् ; न६–चोदनोक्तेषु————; ग४–चोदनोक्तेष्वहिंसा——; ग५–चोदनोक्तोऽपि(?)————; ग६–चोदनोक्तापि————; न३, ग१ त—× × × × । ५३/२–ग२–अभिचारादिकर्मकृत् ; ग५, ६, क– ————कर्मवत् ; ग४, न८–आभिचारादि कर्मसु; न३, ग१, त–× × × ×। ५३/३–ग४–सत्यं परहितं प्रोक्तं ; न८———————भाति (?भूत–)हितं————। ५३/४–ग१, त–नियतार्थाभिभाषणम्; ग२–यथार्थं साभिभाषणम्; ग४–यथा न्यायाभिभाषणम्; न३–तद्यथार्थाभिभाषणम्; न८, क–स यथार्थाभिभाषणम् ।

५४/२–न१–परद्रव्येषु निःस्पृहम्; ग३–परद्रव्येषु नित्यदा ; न७, ग५———————— निःस्पृहः । ५४/१–२–ग२, न४– × × × × × × × × । ५४/३–ग६–अस्तेयमिति संप्रोक्तं ; न१, २, ५, ग३————तत्प्रोक्तं । ५४/४–ग४, न८, क—मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । ५४/३–४–न४– × × × × × × × × ।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥५५॥

ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्टिकस्य च ।
ब्रह्मचर्यं तु तत्प्रोक्तं तथैवारण्यवासिनाम् ॥५६॥

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तु तत्प्रोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥५७॥

राज्ञश्चैव गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।
विशां वृत्तवतां चैव केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ॥५८॥

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।
शुश्रूषा वा गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् ॥५९॥

गुरवः पंच सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः ।
माता पिता तथाचार्यो मातुलः श्वशुरस्तथा ॥६०॥

५५/१–४–त, न३– × × × × × × × ×। ५५/२–३–ग३–× × × × × × × ×। ५५/४–ग४–ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ।

५६/१–ग१–ब्रह्मचर्याश्रमस्थस्य । ५६/२–ग१–यतेरारण्यवासिनः ; न४ग३—यतीनां नैष्टिकं स्मृतं। ५६/३–न१, २, ४–ब्रह्मचर्यं तु सैवोक्ता; ग३, त, क–ब्रह्मचर्यं तु सा प्रोक्ता; न–३———सदैवोक्तं ; ग४, ६, न८– ———— तथैवोक्तं ; ग५————यथैवोक्तं ; न६—ब्रह्मचर्ये तु सैवोक्ता । ५६/४–ग१–गृहस्थाश्रमवासिनाम् ; न४–तथैवारण्यवासिनः ; न५, ७—सर्वेषां योगिनां तथा ; ग४–तथैवाश्रमवासिनाम् ।

५७/१–न८, क–ऋतावेव————— । ५७/२–न१–गमनं च विधानतः ; ग१–संगं कुर्यात्————; ग२–कुर्यात्संगं। ५७/३–न१, २, ४, ५, ६, ७, ग१, ३———ब्रह्मचर्यं तु सैवोक्ता ; न३————सदैवोक्तं ; ग४, न८– ————तथैवोक्तं ; ग५, ६, क————तु सा प्रोक्ता । ५७/३–४–त– × × × × × × × ×।

५८/१–२–ग१, त– × × × × × × × ×; ग६————गृहस्थानां ; ग५–राज्ञश्चैव गृहस्थानां ; न८–राज्ञां चैव गृहस्थस्य; ग२–राज्ञश्चचैवं गृहस्थस्य । ५८/२–ग५—ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् । ५८/३–न१, २, ५, ६, ७———विशां वृत्तिमतां चैव ; ग१–राज्ञश्चैवं वृत्तवतः; ग३—दिशां वृत्तवतां——; त–राज्ञश्चैवं नोतिवतां। ५८/४–ग१–विशश्चेच्छन्ति पण्डिताः।

५९/१–न३, ५, ग४—शुश्रूषैव च शूद्रस्य ; ग६–शुश्रूषा इति शूद्रस्य । ५९/१–२–न४, ग३– × × × × × × × ×। ५९/३–न१, ५–शुश्रूषावान्गुरोर्नित्यं ; न२, ७, ग६, त, क–शुश्रूषया गुरोर्नित्यं ; ग१–शुश्रूषा च——; ५९/४–न१, त–ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् । ५९/३–४–ग४– × × × × × × × ×।

६०/२–न१–श्रुतिप्रेरिताः ; न३, ४–श्रुतिनोदिताः । ६०/४–त–मातुलः स्वगुरुस्तथा ; न६—मातुलश्वसुरौ तथा । ६०।३–४–ग३–× × × × × × × ×।

एषु मुख्यास्त्रयः प्रोक्ता आचार्यः पितरौ तथा ।
एषु मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ॥६१॥

तमेवं ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं नित्यकर्मपरायणम् ।
शुश्रूषयार्चयेन्नित्यं तुष्टोऽभूद्येन वा गुरुः ॥६२॥

दया च सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः स्मृतः ।
विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥६३॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम् ।
प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ॥६४॥

क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ।
अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगेष्वपि सम्पदाम् ॥६५॥

तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ।
अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम् ॥६६॥

६१/१–न१, ५, ७–तेषां————————; ग२–एते————————;न४, ६, ८, ग३, ४, ५–एषां————; त–तेषु————। ६१/३–न१, ७–एषां मुख्यतमस्त्वेकः ; न६—एषां मुख्यतमस्त्वैकं (?); ग२, ४, त–तेषु————; ग३, न–८तेषां————; ग६, क–एषु मुख्यतमः प्रोक्तः ।

६२/१–न३, ५, ६————तमेव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं। ६२/२–न५, ६, ७–नित्यं कर्म-परायणम्; क–नित्यं कर्मपरायण:; ग५–नित्यकर्मपरायणः। ६२/३–न२, ७–शुश्रूषयाचरेन्नित्यं (?); ग५, ६, त, क—गुरुं शुश्रूषयेन्नित्यं ; न४, ग३–शुश्रूषयाश्रयेन्नित्यं ; ग४–शुश्रूषयार्चया(?) नित्यं ६२/४–ग५, ६, न६, क–तुष्टः स्याद्येन वा गुरुः ; ग१–(स वै) तुष्टेद्यथा——; ग२–तुष्टो हृष्टो यथा——; न३–तुष्टोऽभूद्देवता——; न७—तुष्टो भवेद्येन वा——।

६३/२–ग२–सर्वदानुग्रहात्स्मृतः ; ग४, न८—सर्वत्रानुग्रहो मतः ; न२–सर्वत्रानुग्रहे(?)स्मृतः ; ग५—सर्वत्रानुग्रहस्ततः । ६३/३–ग२–अहितेषु तदन्येषु ; न३–विहितेषु वदान्येषु ; न४, ग३–विहितेषु तथान्येषु । ६३/४–न१, २, ५, ७, ८, ग२, ४—मनोवाक्कायकर्मभिः ; न४, ग३–मनोवाक्कायकर्मणा ।

६४/१–न३–प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च । ६४/२–त–एक एवोक्तमार्जवम् । ६४/३–ग१–प्रियाप्रियेषु सर्वत्र । ६४/४–ग१–सहित्वं————————; ग३–समत्वे व्यवहारिणा ।

६५/१–ग५, ६–क्षमा सैवेह विद्वद्भिः ; न३–क्षमा सैवेति गदिता । ६५/२–न३, ८, क–विद्वद्भिर्वेदवादिभिः ; ग१, त–गदिता वेदवेदिभिः ; न१, २, ७–गदिता ब्रह्मवादिभिः ; ग२–गदितं वेदवित्तमैः ; न४–गदिता योगवादिभिः ; न६—गदितं वेदवेदिभिः ; ग४–गदितं योग–वेदिभिः ; । ६५/३–न६–अर्थहानौ च जन्तूनां। ६५/४–न१, २, ७—वियोगे च स्वसंपदि; ग१–वियोगे अथ संपदि ; न३, ५, ग४, ५, ६—वियोगेष्वपि संपदि ; न८, क–वियोगेष्वपि संसदि ; न६–वियोगेष्वपि संयति(?) ।

६६/१–ग१, न६, ८–भयप्राप्तौ च सर्वत्र; ग ४, ६—तेषां प्राप्तौ————— । ६६/२ न३–सचित्तस्थापनं— ; न४, ग३–चित्तस्य स्थापना धृतिः। ६६/३–न२, ग२–अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्यं; न१, ५, ७————मुनेः प्रोक्ताः । ६६/४–ग१, न८, क–षोडशारण्यवासिनः ।

द्वात्रिंशच्च गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ।
एषामयं मिताहारो ह्यन्येषामल्पभोजनम् ॥६७॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥६८॥

मनःशुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया ।
आत्मविद्या च धर्मश्च पित्राचार्येण वानघे ॥६९॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु सर्वैर्निःश्रेयसार्थिभिः ।
गुरवः श्रुतसम्पन्ना मान्या वाङ्मनसादिभिः ॥७०॥

*इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये प्रथमोऽध्यायः ॥†

६७/१–न१, २, ५, ८–द्वात्रिंशत्तु गृहस्थानाम् ; ग५–द्वात्रिंशतं(?)———; ग६, क–द्वात्रिंशतं————। ६७/२–ग१, ६, क–यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् । ६७/३–न३–एषामेव मिताहारः ; न४, ६–एषामेष मिताहारः ; ग३–एवमेव————; न८, क–एष एव मिताहारो ; ग४–विषमोऽयं————। ६७/४–त–सर्वेषां मितभोजनम् ; न३–अन्येषां स्वल्पभोजनम् ; न४, ग३–त्वन्येषां मित भोजनम् ; न६, ग५–त्वन्येषामल्पभोजनम्; ग४–त्वन्येषां स्वल्पभोजनम् ।

६८/१–न२, ३, ५, ग३–शौचं च द्विविधं प्रोक्तं । ६८/३–ग२–मृज्जलाभ्यां स्थितं बाह्यं । ६८–४–ग१, ४, त–मनःशुद्धिस्तथापरम्; ग२–अन्तःशुद्धिःखान्तरम्(?); ग५, क–मनः शुद्धिर्यदान्तरम्; न७–मनःशुद्धिस्तथोत्तरे ; ग६–मनःशुद्धिर्यदन्तरम् ।

६९/१ न३, ४, ६, ग३–मनःशुद्धिस्तथा ज्ञेया ; ग४, ५, ६, न८, क–मनःशुद्धिस्तु विज्ञेया। ६९/२–ग२–कर्मेणाध्यात्मविद्यया ; न३–धर्मेणैवात्मविद्यया ; न४–धर्मेणात्मात्मविद्यया(?) । ६९/३–ग१–आत्मविद्या चै धर्म्या च ; ग२–आत्मविद्यापि कर्मापि ; ग५–अध्यात्मविद्या धर्म च । ६९/४–ग५, ६, त, क–पित्राचार्येण वा भवेत् ; ग२–पित्राचार्येण भावयेत्; न३————मानघे(?) ; न८————————चानघे ; न६————————वा सखे ; ग ४————————त्रासयेत्(?) ।

७०/३–न२, ६, ८, क–गुरवः श्रुतिसम्पन्नाः ; त–स्वधर्मनिरताः पूज्याः ; ग२, ५, न८ (पाठान्तरत्वेन); ग६–स्वधर्मनिरतैःपूज्याः । ७०/४–न१, २, ५, ७––पूज्या वाङ्मनसादिभिः ; ग१–तोष्या————; ग२–सामान्यं (?सन्मान्या) वन्दनादिभिः ; न४, ग३–तोष्या वाक्कायमानसैः ; त–मान्यवो (?मान्या वा (ङ्) मनसादिभिः ।

*अत्र "न८" लेखे ७०/३–४ अनन्तरमधिकः श्लोकः, स इद्रशः–– गुरवः श्रुतिसम्पन्नाः विद्वांसश्च, तथाविधाः । स्वधर्मनिरताः पूज्याः सदा वाङ्मनसादिभिः ॥

†हस्तलेखेष्वध्यायपरिसमाप्तिलेखानान्तरं बाह्यं च वैविध्यमतीव दृश्यते । तल्लेखकानां बुध्दिविलासः एवेति मत्वा तेषां भेदा नास्मिन्ग्रन्थे प्रदर्शिताः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ॥

*याज्ञवल्क्य उवाच--

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥१॥

एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान्पृथक् शृणु ।
विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥२॥

शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ।
यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ॥३॥

या धीस्तामृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ।
धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥४॥

न्यायार्जितं धनं चान्नमन्यद्वा यत्प्रदीयते ।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम् ॥५॥

द्वितीयोऽध्यायः ॥

*न१, ४–याज्ञवल्क्य उवाच ; न२, ५, ७–श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच ; न८, क–याज्ञवल्क्यः ; न३–श्रीभगवान् । ; ग६–ओम् भगवान्–; ग१, २, ३, ४, ५, न६, त– × × × × । १/१–न२, ६,७, ८, ग१, २, ४, ५, ६, त, क–तपः संतोषमास्तिक्यं । १/३–ग२–सिद्धान्त-वेदान्तश्रवणं चैव(?) ।

२/१–न३, ४, ६, ८, ग३––एते च नियमाः प्रोक्ताः । २/२–न१–तं च————; त–सर्वांस्तांश्च पृथक् शृणु ; न५, ७–तांश्च श्रुत्वा————; ग४–तांस्तु सर्वान्पृथक्––। २/३–४–ग३– × × × × × × × × । २/४–क–कृच्छ्रचा × × × ।

३/१–२–ग३– × × × × × × × × । ३/२–ग५–तपसां तप उत्तमम् । ३/४–ग५–अलं पुंसां भवेदिति । ३/३–४–न४, ६, ग३— × × × × × × × × ।

४/१–२–ग३– × × × × × × × × । ४/१–ग५, ६, त, क–या धीस्तां मुनयः—; न८–या भीस्तां(?)————। ४/२- न१, २, ५–संतोषं शुभलक्षणम् ; ग१–संतोषस्य च लक्षणम् ; न३, ४, त––संतोषः सुखलक्षणम् । ४/३–ग५–विश्वासो यस्तदास्तिक्यं (पाठान्तरत्वेन) । ४/४– ग५–वेदोक्तेषु च कर्मसु(पाठान्तरत्वेन) ; ग१–यस्तदास्तिक्यमिष्यते । ४/३–४–क– × × × × × × × ×।

५/१ ग३, न६–न्यायार्जितं धनं वान्नं; ग४————धनं चान्यत् ; ग६, क————धनं-धान्यं ; त, न८– × × × × । ५/२–ग२–अन्यद्वा यः प्रयच्छति ; न३–वाक्य(?) यच्च प्रदीयते ; न४–वात्रेद्यया(?) यत्प्रदीयते ; ग४–अन्यस्मै————। ५/१–२–त, न८– × × × × × × × × । ५/३–ग३–अर्थित्वा श्रद्धया युक्तं ; ग४, न८–अक्षतं———— ; ग५, ६––अर्थिभ्यः श्रद्धया देयं ।

यत्प्रसन्नस्वभावेन विष्णुं वाऽप्यन्यमेव वा ।
यथाशक्त्यर्चनं भक्त्या ह्येतदीश्वरपूजनम् ॥६॥

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥७॥

* सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः ।
द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तं सिद्धान्तश्रवणं बुधैः ॥८॥

विशां च केचिदिच्छन्ति शीलवृत्तवतां सताम् ।
शूद्राणां च स्त्रियाश्चैव स्वधर्मस्थतपस्विनाम् ॥९॥

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः ।
वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ॥१०॥

६/१–ग१, २, ५, ६, न६–यत्प्रपन्नस्वभावेन ; न४–यत्प्रपन्नं स्वभावेन ; ग३–यत्प्रयत्नं——; त–यत्प्रसन्नत्वस्वभावेन । ६/२–न६–विष्णुं वा चान्यमेव वा ; न१–विप्लुषाप्यन्यमेव वा ; ग२, ४, ५, ६, न३–विष्णुं वा रुद्रमेव वा ; न४–बहु वाप्यल्पमेव वा ; ग३––बहु वा अल्पमेव वा ; त–विद्ययाथ धनेन वा । ६/३–न७, ८, ग४, क–यथाशक्तयर्चयेद्भक्त्या । ६/४–ग१–चैतदीश्वर-पूजनम् ; न३–त्वेतदीश्वरपूजनम् ।

७/१–न१, २, ५, ७, ग१–रागादपेतं हृदयं ; न८–रागादिरहितं चित्तं ७/२–ग३–मम द्रष्टा-नृतादिना(?) ग१–वागदुष्टानृतादिभिः ; न१, ५–वागदुष्टा व्रतादिना ; त– यथापृष्टं × × × ; न३–वागपे++नृतादिना ; न४–ममतादुष्टतादिना । ७/१–२–ग५, क–× × × × × × × × × । ७/३–त–हिंसादिरहितं यत्स्यात् । ७/४–ग१–चैतदीश्वरपूजनम् ; न४–तपईश्वरपूजनम् । *ग७, त–अत्रायमधिकः श्लोकः––येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि देहिनः । संतोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् । ७।३–४–ग५, क–× × × × × × × × ।

८/३–न३–द्विजे च क्षत्रियस्योक्तं ; न६–द्विजवत्क्षत्रिये प्रोक्तं ; ग३–द्विजवत्क्षत्रियप्रोक्तं । ८/४–न३–वेदान्तश्रवणं बुधैः ; त–सिद्धान्तश्रवणाद्वुधैः ; ग३–पुराणश्रवणं बुधैः ।

९/१–२–ग२, ३– × × × × × × × × । ९।२–न२–शीलवृत्तमतां सताम् ; न६–शीलवृत्तमतां तसा(?); ग५, ६, त–शीलवृत्तवतां सदा ; न३–शीस्तव्रत- (?शीलव्रत) वतां । ९/३–न२–शूद्राणां च स्त्रियश्चैव ; ग१–शूद्राणां च तथा स्त्रीणां ; न६, ८, ग५, क–शूद्राणां च स्त्रियां चैव । ९/४न१–स्वधर्मस्तु तपस्विनाम् ; न२, ५, ७–स्वधर्मस्तु तपः स्मृतम् ; ग५, ६, त, क–स्वधर्मवशवर्तिनाम् । ९/३–४–ग२, ३– × × × × × × × × ।

१०/१–न१–सिद्धान्तश्रवणे प्रोक्तं ; ग५, ६, त, क–पुराणश्रवणं प्रोक्तं । १०/२–ग५, त, क–वेदान्तश्रवणं बुधैः ; न३–पुराणश्रवणं बुधाः ; ग६–सिद्धान्तश्रवणं बुधैः । १०/१–२–ग३–– × × × × × × × × × । १०/३–ग३, न८, क–वेदे लौकिकमार्गेषु । १०/४–न४, ग३–कल्पितं(?) कर्म यद्भवेत् ।

तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्तिता ।
विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥११॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥१२॥

अधीत्य वेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् ।
एतेष्वभ्यसनं यच्च तदभ्यासो जपः स्मृतः ॥१३॥

जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ।
वाचिक उपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ॥१४॥

मानसो मननध्यानभेदाद् द्वैविध्यमास्थितः ।
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्त्रगुण उच्यते ॥१५॥

मानसस्तु तथोपांशोः सहस्त्रगुण उच्यते ।
मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्त्रगुणमुच्यते ॥१६॥

११/१–क–यद्भवति————। ११/२–त–ह्रीस्तु सैवेति कीर्तितम् ; न६–ह्रीस्तु सैव तु कीर्तिता ; ग४ न८, क–ह्रीश्च सैव तु कीर्तिता । ११/३–त–विहितेषु च कृत्येषु : ग२, ३, न४–विहितेषु च मार्गेषु । ११/४–न३, ८, ग४, क–श्रद्धया सा मतिर्भवेत् ; ग३–शुद्धा या सा——; ग५–श्रद्धा वा सा—।

१२/१–न१–गुरुणा चोपदिष्टेऽपि ; न३–गुरुणां चोपदिष्टोऽपि : ग५, ६, क–गुरुणा चोपदिष्टार्थो ; त————चोपदिष्टार्थं ; ग४–विधिना चोपदिष्टोऽपि। १२/४–ग२————— विधिः स्मृतः ।

१३/१–ग१–अधीत वेदसूत्रे वा ; न३, ४, ६, ८–अधीत वेदेष्वंगेषु ; त–अयं स्मृतो वा सूत्रे वा(?) ; ग२—आदौ स्मृतौ(?)वा सूत्रे वा ; ग६–अथ स्मृतौ——। १३/२–ग१, २, ६, न३, ४, ६, ८, त–पुराणे सेतिहासके। १३/१–२–ग३, ४, ५, क– × × × × × × × × । १३/३–न१–एतेष्वभ्यसनं तच्च ; न५–एतेष्वध्ययनं यच्च ; न२–एतेष्वभ्यसनं यच्च; न८–यद्यध्ययनं तच्च(?) न७————तच्च ; न४, ६–यदिहाध्ययनं तच्च ; ग२, ६–वेदेष्वध्ययनं पुंसां ; त–वेदस्याध्ययनं———। १३/४–न१, २, ५, ७–सदभ्यासो जपः स्मृतः ; ग१–तस्य त्वभ्यासो ;——न६, ८–मन्त्राभ्यासो————। १३।३–४–न३, ग३, ४, ५, क– × × × × × × × × ।

१४/१–ग५, क–जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो । १४/२–न८–मानसो वाचिकस्तथा । १४/३–न६–वाचिकोपांशुदन्तैश्च ; न३, ४, ५–वाचिको तीवा (–तीव) उच्चैश्च । १४/४–ग२– द्विविधो वाचकः (स्मृतः) ; ग४, न८–भेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ; न७, ग५, ६————वैविध्यमास्थितः ; ग३–त्रिविधः परिकीर्तितः ।

१५/१–न१, २–मानसो मानसध्यान—; ग२–मानसो मनसा ध्यानं ; न३, ४, ५, ६, ७, ग३———————ध्यान–। १५/२———ग२–द्वैविध्यमिष्यते ; ग४———द्वैविध्यमाश्रितः। १५/१–२–न८– × × × × × × × ×। १५/३–न३–उच्चैर्जप उपांशुश्च। १५/३–४–ग३– × × × × × × × ×।

१६/१–न५, ग१, ४, ६, क————मानसश्च तथोपांशोः ; न३–मानसश्च तथा चैव ; ग५–मननं च तथोपांशोः ; १६/१–२–ग३, न८– × × × × × × × ×। १६/३–ग४–मानसस्तु तथा ध्यानं ; ग५, ६–मननाच्च तथा————। १६/३–४–न३, ४, ६, ग३– × × × × × × × ×।

उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रुतो न चेत्सोऽपि श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ॥१७॥

ऋषिं छन्दोऽधिदैवं च ध्यायन्मन्त्रं च सर्वदा ।
यस्तु मन्त्रजपो गार्गि स एव हि फलप्रदः ॥१८॥

प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टं त्वनुज्ञया ।
धर्मार्थमात्मसिद्धयर्थमुपायग्रहणं व्रतम् ॥१९॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

१७/१–न१ २, ५, ७, ८, ग४, त, क–उच्चैर्जपश्च सर्वेषां । १७/२–ग५–यथोक्तं फलदो भवेत् । १७/३–न६–नीचैः श्रुतो न चेद्वापि ; ग२–नीचैः श्रुतो वचःसोऽपि । १७/४–न२, ५, ७–श्रुतश्च निष्फलो भवेत्; ग५ श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् । १७/३–४–न४– × × × × × × × ×।

१८/१–न२–ऋषिच्छन्दोऽधिदैवं च ; न३————ऽधिदैवत्यं ; ग४————देवताश्च ॥ १८/२–ग५, ६, त, क–ध्यानमर्चनमेव च ; न३–ध्यायन्मन्त्रं च सर्वशः ; न४, ६–ध्यानं मन्त्रश्च सर्वदा ; ग३–ध्यानं मन्त्रं च———। १८/३–न३, ६–यस्तु मन्त्रं जपो गार्गि ; ग३–यत्तु मन्त्रजपन्गार्गि ; ग४–यस्तु तत्र जपं—; ग६——मन्त्रजपे—; न१–यत्तन्मन्त्रे भवेद्गार्गि; न२, ५–यत्तन्मन्त्रो.————; ग२–स तु मन्त्रजपो——; न४–युक्तमन्त्रजपं————। १८/४–न६–स एव तु फलप्रदः ; न१, २, ५–सर्वकामफलप्रदः ; न४, ८, ग३, ४, ५, ६, क–तदेव हि फलप्रदम् ; ग२–सदृशैव फलप्रदः ; न३, ७–सर्ववद्भि(?)फलप्रदः ।

१९/१–न१, ७–व्रतं च गुरुणा पूर्वं ; न२–वृत्तं च———— ; न८, ग४–प्रसन्नगुरुणा-सार्धं । १९/२–न२–उपदिष्टं तदज्ञया(?) ; न५————तदनुज्ञया ; ग४–उपदिष्टे त्वनुज्ञया ; न३–उपतिष्टं————। १९/३–न१, २, ग३–धर्मार्थकामसिद्धयर्थं ; ग५, ६–धर्मार्थमर्थसिद्धयर्थं ; ग४–धर्मार्थकाममोक्षार्थं ; न८, क–धर्मार्थकाममोक्षाणां । १९/४–ग२–उपायग्रहणं हितम् ; न३–उपायग्रहणायते ; न६–उपांशुग्रहणं कृतम ।

तृतीयोऽध्यायः ॥

*याज्ञवल्क्य उवाच—

आसनान्यधुना वक्ष्ये शृणु गार्गि तपोधने ।
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा ॥१॥

भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ।
तथैतेषां वरारोहे पृथग्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२॥

जानोर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥३॥

सीवन्यास्त्वात्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु दक्षिणे दक्षिणेतरम् ॥४॥

एतच्च स्वस्तिकं प्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ॥५॥

दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ।
अंगुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥६॥

तृतीयोऽध्यायः ।

*न४, ५—याज्ञवल्क्य उवाच ; ग४, न८—याज्ञवल्क्यः; ग३—श्रीयाज्ञवल्क्यः ; न६—श्रीभगवानुवाच ; न३—श्रीभगवान् । ; न१, २, ७, ग१, २, ५, ६, त, क— × × × ×।

१/१—२—न२—× × × × × × × ×।

२/१—त————————दिव्यं । २/३—न२, ७—तथा चैषां————; ग२—अथ तेषां————; न६—तद्वै तेषां————;ग६, न८, क—तथैवैषां ————————।

३/१—न३, ८, क—जानूर्वोरन्तरे सम्यक् ; न४—जान्वोर्वोरन्तरे————। ३/३—न१, ३, ५—ऋजुकार्यः सुखासीनं ; ग३, ५, न६————————समासीनः । ३/४—न३—स्वस्तिकं च प्रचक्षते ; न६————————तु————; ग४————————नित्यमभ्यसेत् ।

४/१—ग५—सीवन्या वामतः पार्श्वे ; न१, २, ३, ५, ७—सीवन्याश्चात्मनः————; ग६—सीवन्या वर्त्मनः————; ग३—निविश्या(?)चात्मनः पार्श्वे । ४/२—ग५, ६—गुल्फौ निष्पीड्य पादयोः। ४/१—२—न४— × × × × × × × ×। ४/३—न४—सव्ये दक्षिणगुल्फौ तु; ग३—सव्यदक्षिणगुल्फौ तु । ४/४—न२, ६, ग४—दक्षिणे दक्षिणोत्तरम् ; न३—दक्षिणा दक्षिणेतरम् । ४/३—४—न५— × × × × × × × ×।

५/१—ग३—एतद्वा स्वस्तिकं प्रोक्तं। ५/१—२—न५— × × × × × × × ×। ५/३—न१, २, ग१, २, त—सव्ये दक्षिणपृष्टं तु ; ग३—सव्यदक्षिणगुल्फौ तु । ५/४—न३—पृष्टं तु विनिवेदयेत् ; न६, ग४, ५, क—पृष्टपार्श्वे (? र्श्वे) नियोजयेत्; न८—पृष्टपार्श्वे नियोजयेत् ; न७—पृष्टपार्श्वे निवेदयेत् ।

६/१—न४—दक्षिणे तु————; ग३—दक्षिणे तु तदा————। ६/२—ग३————गोमुखा यथा ; ग४————गोमुखं तथा ; ग२, त————गोमुखोपमम्; ग५—आसनं गोमुखं यथा । ६/३—न६, ग४—अंगुष्टं तु निबध्नीयात् ; न८—अंगुष्टे तु————; ग६—अंगुष्टेन————। ६/४—न४, ग३—हस्ताभ्यां व्युत्क्रमं तथा ।

उर्वोरुपरि विप्रेन्द्रे कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥७॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदाहृतम् ॥८॥

*गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ॥९॥

हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्च प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥१०॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ।
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥११॥

७/१–न३, ६, ७, ग३, ५––उर्वोरुपरि विप्रेन्द्र ; ग१————————विन्यसेत्(?) ; ग४, न८–उर्वोरुपरि मैत्रेयी ; न४–जंघोपरि तु विप्रेन्द्रे । ७/२–न३–कृत्वा पादतले शुभे । ७/३–न२–पद्मासनं भवेत्××। ७/४–न२++तेषामपि(?)पूजितम्; ग४, न८–पूजितं योगिभिः सदा ।

८/१–न१, ५–एकपादमप्येकस्मिन् ; न६–एकं पादं तदेकस्मिन् ; न७–एकं तु पादमेकस्मिन् । ८/२–न१, ५,–विन्यस्यस्योरुणि संस्थिते ; न४, ग३————————संस्थितः। ८/१–२–त–×××××××। ८/३–ग३–इतरस्मिंस्तदाचोरुं। ८/३–४–न६,त–×××××××××। "त, ग५" लेखयोः ९–१० श्लोकौ न विद्येते, "क" लेखे च ९/३–४,१०/१–४ एतत्पंक्तित्रयं नास्ति ।

९/१–न३–गुल्फौ+वृषणस्याधः ; ग४––गुल्फेऽल्प————————; न८–गुल्फे च———; ग६–तु वृषणस्याथ। गुल्फौ ९/३–ग२–दक्षिणं सव्यभागे च ; ग३————————सव्यगुल्फैश्च । ९/४–न४, ६, ८, ग४—दक्षिणेन तथोत्तरम् ।

१०/१–न१, २, ५–हस्तौ जानूपरि स्थाप्य ; न७–हस्तौ च———————— ; ग३––हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य । १०/२–न३, ८, ग६–स्वांगुली(:)संप्रसार्य च ; न४, ग३, ४–स्वांगुलीभिः प्रसार्य च । १०/३–न४–व्याघ्रवक्तो निरीक्षेत । १०/४–ग३––नासाग्रं तु समाहितः ।

११/१–२–ग५, क–×××××××। त–सिंहासनमिदमुर्व्यामासनानां विशेषतः; ग६–पूजितं सर्वयोगिभिः। "सिंहासनमिदमुर्व्यामासनं च विशेषतः" इति पाठान्तरत्वेन । *अत्र केषुचिल्लेखेष्वेको द्वौ वा श्लोकावधिकौ दृश्येते। तौ––ग५, त––

योनिंस्तारकमंघ्रिमूलघटितं[1] धृत्वासनं विन्यसे[2]न्मेढ्रे पादमथैवमेव हृदये[3] धृत्वासनं विग्रहम्[4]। स्थाणुर्यद हृदयेक्षमेदचलया[5] दृष्वा-भ्रुवोरन्तरं चेदं मोक्षकपाटभेदनकरं[6] सिद्धासनं प्रोच्यते[7] ॥ अयमेव श्लोको "ग६" लेखेऽपि दृश्यते

तथापि तत्र क्षति पाठान्तराणिः च विद्यन्ते, यथा––१. घटिता ; २. + + + + ; ३. मेढ्रे पादमथैकमेक हृदये ; ४. धृत्वा समं विग्रहम् ; ५. स्थानं यत्पदवेक्षयेदचलया ; ६. चेतन्मोक्षकपाटभेदनकरं ; ७. सिद्धासनं प्रेर्यते ॥ 'त' लेखेऽपि स अशुद्ध इव दृश्यते । "ग" ५ लेखे द्वितीयोऽप्यधिकः श्लोकोऽत्र विद्यतेः। स यथा––सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीडय व्युत्क्रमेण तु । प्रसार्य जानुनोर्हस्तौ आसनं सिंहपूर्वकम् ॥ ११/३–ग४, न८, क–गुल्फे च वृषणस्याधः ; ग५–गुल्फौ तु————————; ग६–गुल्फौ च वृषणस्याथ । ११/३–४– × × × × × × × ×।

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धवा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥१२॥

संपीडय सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमितीरितम् ॥१३॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य मुक्तासनमिदं तु वा ॥१४॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयन्नाभिपार्श्वयोः ॥१५॥

समुन्नतशिरःपादो दण्डवव्द्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ॥१६॥

१२/१–ग५, ६, त–पार्श्वपादौ तु पाणिभ्यां; न ६–पार्श्वे पादौ च————। १२/२–ग१–दृढं बद्धवा सुनिश्चलः । १२/४–न४–सर्वव्याधिविनाशनम् ; न७–सर्वव्याधिविषापहः ; ग६–पूजितं सर्व योगिभिः (पाठान्तरत्वेन "सर्वव्याधिविषापहम्" अप्यस्त्येव) ।

१३/१–ग२–संपीडय सीवनीं सर्वां; न३————————शुद्धां । १३/२–ग२–गुल्फेनैकेन सर्वतः ; न६–गुल्फेनैव सुसंवृतं । १३/४–ग१, न४, त–मुक्तासनमुदीरितम् ; ग२–मुक्तासनमिदं तु तत् ।

१४/१–ग१–मेढ्रस्योपरि निक्षिप्य ; ग५, ६, त–मेढ्रादुपरि विन्यस्य । १४/२–ग१, २, त–सव्यं गुल्फं ततोपरि ; । १४/३.–न१–गुल्फान्तरं तु निक्षिप्य ; न६–गुल्फान्तरं विनिक्षिप्य ; ग३––गुल्फान्तरे————; ग५–गुल्फान्तरं तु निक्षिप्तं । १४/४–न१, २, ४, ५, ७, ग३–मुक्तासनमिदं तथा ; न३, ६––मुक्तासनमितीरितम् ।

१५/२–न१, २, ५, ७–तलाभ्यां करयोर्द्वयोः ; ग१————चाथ हस्तयोः ; न३–कराभ्यां तु करद्वयोः(?); न४–कूर्पराभ्यां तु(?)करद्वयोः ; न६–कराभ्यांतः(?)करद्वयोः । १५/३–ग२–हस्तयोः कूर्पकाञ्चापि ; न६–हस्तद्वयोः (?) कूर्परौ वा ; ग३, ४, ५–हस्तयोः———वापि । १५/४–न५, ६, ७, ८, ग३, ४, ५, ६––स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ।

१६/१–न२, ७, ग१, ६, त–समुन्नतशिराःपादौ ; न३–समुन्नतशिरेःपादौ (?)। १६/२–ग१, ४, त––दण्डवद्व्योम्नि संस्थितम् । १६/३–ग२–मयूरमासनं प्रोक्तं ; ग६–मयूरासनमेतद्धि ; न३–मयूरासनमेतच्च ; न५––मयूरासनमेवैतत् ।

*सर्वे चाभ्यन्तरा रोगा विनश्यन्ति विषाणि च ।
यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयुता ॥१७॥

नाडीशुद्धिं च कृत्वा तु प्राणायामं ततः कुरु ॥१८॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये तृतीयोऽध्यायः ।

१७/१–न३————ह्याभ्यन्तरा रोगाः ; न४————आभ्यन्तरा—; १७/१–२–न६–× × × × × × × ×। *त–अत्र सार्धैकश्लोकोऽधिको दृश्यते । स च—

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं[1] च जायते ।
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तु समाचरेत्[2] ॥

आसनं विजितं येन[3] जितं तेन जगत्त्रयम् ॥

स एव "ग६" लेखेऽपि विद्यते किन्तु निम्नलिखिताशुद्धपाठान्तरैः—
१. धार्यं(?)च ; २. अधतस्तत्समाचरेत् ; ३. आसनं वर्णितं(?)येन । १७/३–न१, ५, ७, ८–यमैश्च नियमैश्चापि ; न४–यमं च नियमं चैव। १७/४–न२, ८, ग२, ३, ४, ५, ६, क–आसनैश्च सुसंयतः ; न३–आसनं तैश्च संयुता ; न४–आसनं च सुसंयतः(?) ; न६–आसनैश्च सुसंयुतं ; न७————तु संयता ।

१८/१–ग५, ६–नाडीशुद्धिं च कृत्वाथ ; न२————कृत्वा वै ; ग२————कृत्वादौ ; न८, क————कृत्वैव ; न३, ६————ततः कृत्वा ; ग४————श्रुत्वैव ; त– × × × × । १८/२–न३–प्राणायामं तथा कुरु ; न४, ग३————ततः परम् । त– × × × × ।

चतुर्थोऽध्यायः ॥

श्रुत्वैतद्भाषितं वाक्यं याज्ञवल्क्यस्य धीमतः ।
पुनः प्राह महाभागा सभामध्ये तपस्विनी ॥१॥

*गार्ग्युवाच––

भगवन्ब्रूहि मे स्वामिन्नाडीशुद्धिं विधानतः ।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाडयः सर्वदेहिनाम् ॥२॥

उत्पत्तिं चापि नाडीनां चारणं च यथाविधि ।
† कन्दं च कीदृशं प्रोक्तं कति तिष्ठन्ति वायवः ॥३॥

स्थानानि चैव वायूनां कर्माणि च पृथक्पृथक् ।
विज्ञातव्यानि यान्यस्मिन्देहे देहभृतां वर ॥४॥

वक्तुमर्हसि तत्सर्वं त्वत्तो वेत्ता न विद्यते ।

इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक् तद्गतमानसः ॥५॥

गार्गीं तां सुसमालोक्य तत्सर्वं समभाषत ।

चतुर्थोऽध्याय :

१/१–ग५, ६, क–श्रुत्वैतद्भाषितं गार्गी । १/३–न२,३ ५, ७–पुनः प्राह सभामध्ये । १/४–न२, ५, ७––महाभागा तपस्विनी ; न३–सभामध्ये यशस्विनी ; ग५, ६, क–ऋषिमध्ये तपस्विनी । *न२, ग१, २, ६, क– × × × × ————————।

२/१–ग५, ६, क–भगवन्ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ । २/४–ग६–नाड्यस्ताः सर्वदेहिनाम् ।

३/१–ग५, ६, न८, क–उत्पत्तिं चैव नाडीनां । ३/२–न१, २, ६, ७, ८, क–चरणं च यथाविधि ; ग२–चलनं च यथाविधि ; न४–सरणं च————; न५–धारणं च————————; ग३ वराणां च(?)————————; ग१–चलनं च तथाविधम् । † न१, २, ५, ७, ग१–अत्रेयमधिका पंक्तिः–विभागं च पृथग्ब्रूहि मुख्यामुख्यत्वमेव च । ३/३–न३, ६, ७, ग३––कन्दश्च कीदृशः प्रोक्तः ; न४–क्रमश्च———— । ३/४–न१, २, ५, ७–क्व तिष्ठन्ति च वायवः ; ग४, न८–कति तिष्ठन्ति नाडयः ।

४/३–ग४, न८–विज्ञातव्या मयान्यत्र । ४/४–ग४––देहि देहभृतां वर ।

५/१–न३–वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ ; न१, २, ५, ७————————मे सर्वं ; ग३———————— सर्वं त्वं । ५/२–ग४, ५, न८–त्वत्तो वक्ता न विद्यते ; ग६–त्वत्तो छेत्ता————————। ५/४–न६–सम्यक् हृद्गतमानसः ।

६/१–ग२–गार्गीं च तां समालोक्य ; न३–गार्गी गीतं————————; न४–गार्गीं तां च——; ग४, ५, न८, क–गार्गीं तां तु————————।

*याज्ञवल्क्य उवाच—

शरीरं तावदेवं हि षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ॥६॥

विद्धयेतत्सर्वजन्तूनां स्वाङ्गुलीभिरिति प्रिये ।
शरीरादधिकः प्राणो द्वादशाङ्गुलमानतः ॥७॥

चतुर्दशाङ्गुलं केचिद्वदन्ति मुनिसत्तमाः ।
द्वादशाङ्गुल एवेति वदन्ति ज्ञानिनो नराः ॥८॥

आत्मस्थमनिलं विद्वानात्मस्थेनैव वह्निना ।
योगाभ्यासेन यः कुर्यात्समं वा न्यूनमेव वा ॥९॥

स एव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः स सम्पूज्यो नरोत्तमः ।
आत्मस्थवह्निनैव त्वं योगजेन द्विजोत्तमे ॥१०॥

आत्मस्थं मातरिश्वानं योगाभ्यासेन निर्जय ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥११॥

---

* न३, ६—श्रीभगवानुवाच ; ग४, न८–याज्ञवल्क्यः ; ग२, ५, त, क– × × × ×।

६।३–ग२–शरीरं देहिनां तावत् ; न६————तावदेतत्तु । ६/४ न१, २–षण्णवत्यंगुलान्वितम्; ग२–षण्णवत्यंगुलायतम् ।

७/१–ग२–विश्वेन(?)सर्वजन्तूनां ; न६–विद्यात्तत्सर्वजन्तूनाम् । ७/३–ग३–शरीरादधिकं(?) प्राणः ; ग२–शरीरोदररन्ध्राणाम्(?) ।

८/१–ग४–चतुर्दशांगुलीः केचित् । ८/२–ग४, न८–वदन्ति ज्ञानिनो नराः ; न६–इच्छन्ति मुनिसत्तमाः । ८/३–न४, ८, ग४, ५, ६, क–द्वादशांगुलमेवेति । ८/२–३–ग२– × × × × × × × ×।

९/१–ग१, २, ४, ६, न६, त–आत्मस्थमनिलं विद्यात् ; ग३–आत्मस्थाननिलान्विद्वान् । ९/३–न३–योगाभ्यासेन तत्कुर्यात् ; ग३, ६————————यत्कुर्यात् । ९/४–न७—समं वा न्यूनमेव च ; न३–शर्वाश्रमयमेव(?) वा ।

१०/१–न८, क–स नरो ब्रह्मविच्छ्रेष्टः । १०/२–ग२, ४–सम्पूज्यश्च नरोत्तमः ; ग३–स पूज्यश्च————; ग१, न८, त, क–सम्पूज्यश्च नरोत्तमैः ; न३–सम्पूज्यः स नरोत्तमः ; न४–सम्पूज्यश्च नरोत्तमे ; न६–सम्पूज्यस्तु नरोत्तमः ; ग६–सुसंपूज्यो नरोत्तमः । १०/३–ग२–आत्मस्थ-वह्निना चैव ; ग३–आत्मस्थवह्निनैवालं । १०/४–ग२–योगाभ्यासाद् द्विजोत्तमे : ; ग५–योगस्थेन द्विजोत्तमे ; न७–योगजेन द्विजोत्तमः ; न३–योजयैनं द्विजोत्तमै(?) ।

११/१–न४–आत्मस्थं मातरिश्वानां(?) ; ग३–आत्मस्थमातरिश्वानां (?); ग५–आत्मस्थां (?स्थं) मातरिश्वानं ; न३–आत्मन्यं————। ११/२–न४, ग३–योगाभ्यासेन निर्जयः(?) ; न६————निर्जयं(?) । ११/३ ग२–देहमध्ये शिखास्थानं ; ग३, न६————शिव-स्थानं ; न३–देहमध्यं शिरस्थानं(?) ।

त्रिकोणं मनुजानां च चतुरस्रं चतुष्पदाम् ।
*मण्डलं तत्पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१२॥

तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावकी ।
देहमध्यं च कुत्रेति श्रोतुमिच्छसि चेच्छृणु ॥१३॥

गुदात्तु द्व्यंङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्राच्च द्व्यंङ्गुलात् ।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुष्याणामितीरितम् ॥१४॥

चतुष्पदां तु हृन्मध्यं तिरश्चां तुन्दमध्यमम् ।
द्विजानां तु वरारोहे तुन्दमध्यमितीरितम् ॥१५॥

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमुत्सेधमायामश्च तथाविधः ॥१६॥

१२/१–न३, ६, ८, ग२, ४, ५, क————————— तु। १२/२–न१–चतुरस्रं चतुर्दिशम्; न२–चतुरन्ध्रं चतुर्दलम् न७; चतुरस्रं चतुर्दृशाम्(?)। १२/३–ग२–मण्डलं तत्पतंगाढयं; ग३–मण्डलं तत्प्लवंगानाम्; न७————तु पतंगानाम्; ग१————च मृगानां तु; न१, २, ५————तत्पशूनां तु। *ग५–अत्रैषाधिका पंक्तिः–षडश्रं सर्पजन्मनाम्। अष्टाश्रं स्वेदजानां च। १२/४–ग२–सत्यमेतद्ब्रवीमि तत्; ग३—सत्य व † † द्ब्रवीमि ते(?)

१३/१–ग२————तु शिखास्तस्मिन्।(?); न८, क————तु शिवा-तन्वी; न६————च शिखा—; ग५, ६————तु शुभा———; न३————च शिखान्वीत्य(?)। १३/२–न१, ४, त–सदा तिष्ठति पावकः;(?) न२–शिवा————पावकः(?); ग१–शिवा————पावनी; ग२—शिवा———पावके; न३–सदा———पातकी(?); न६————पावक(?); ग५ ६, न८, क–शिखा———— पावकी। १३/३–ग२–देह मध्ये तु कुत्रेति; ग५–देह मध्यात्तु, ————; क–देहमध्यात्तु सुश्रोणि; ग६–देहमध्यं च सुश्रोणि। १३/४–न२, ३, ८, ग४, क–श्रोतुमिच्छसि तच्छृणु; न७–ज्ञातुमिच्छसि चेच्छृणु।

१४/१–न६–गुदाच्च————। १४/२–ग१–अधो मेढ्रं (च) द्व्यंगुलात्; ग२, ५, ६–मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः; न६, क–अथो(?अधो) मेढ्राच्च द्व्यंगुलात्। १४/३–न२, ३–देहमध्यं तयोर्मध्ये। १४/४–न४, ६, ग५—मनुष्याणामुदीरितम्; न५, त—मनुजानामितीरितम्; न७–जनुजानामितीरितम्(?)।

१५/१–न१, २, ३, ६, ८, ग६, क–चतुष्पदां तु हृन्मध्ये; न४–चतुष्पदां तु तन्मध्ये(?हृन्मध्ये); न५, ७–चतुष्पदां च हृन्मध्ये। १५/२–न१, २, ३, ५, ६, ७, ८, क–तिरश्चां तुन्द-मध्यमे; ग३————त † † मध्यमे; न४————तु सुमध्यमे; ग४———गुद-मध्यमम्; ग५————तुन्दमध्यकम्। १५/३–ग२–द्विजातीनां वरारोहे। १५/४–ग६–————मध्यमुदीरितम्; न४, ग३—गुदमध्यमितीरितम्; ग४—दन्तमध्यमितीरितम्। १५/३–४–न३– × × × × × × × ×।

१६/१–न३–कन्दस्थानां(?)मनुष्याणाम्; ग५–तुन्दस्थानं————; ग६–कुन्दस्थानं———; ग३–कन्दस्थानं मनुष्यादेः। १६/२–न१, २, ५, ग३—देहमध्ये नवांगुलम्। १६/३–ग२–चतुरंगुलमुच्चेदं; न४, ६, ग३, ५, ६———मुत्सेधः; न२, ७————मुत्सेधे; न३–चतुरंगुलसमुत्सेधि। १६/४–न१, २, ५, ग१, २, त–आयामं च तथाविधम्; न७–आयामं तु——ग४, न८, क–आयतं च————।

अण्डाकृतिवदाकारं भूषितं तत्त्वगादिभिः ।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यमे ॥१७॥

तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं नाभौ चक्रसमुद्भवः ।
द्वादशारयुतं तच्च तेन देहः प्रतिष्ठितः ॥१८॥

*चक्रेऽस्मिन्भ्रमते जीवः पापपुण्यप्रचोदितः ।
तन्तुपंजरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥१९॥

जीवस्य मूलचक्रेऽस्मिन्नघः प्राणश्चरत्यसौ ।
प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥२०॥

तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ।
अष्टप्रकृतिरूपा सा अष्टधा कुण्डलीकृता ॥२१॥

१७/१–ग२–अण्डाकृतिसमाकारं; न६–अंधौकृति–(?)–वदाकारं। १७/२–न३, ग२–भाषितं तत्त्ववादिभिः ; ग५, ६, न८–भावितं तत्त्ववेदिभिः; न४––पूरितं च त्वगादिभिः ; न६–––––––– तत्त्वगादिभिः ; ग४, न८, क–("न८" लेखे पाठान्तरत्वेन) भूषितं तु त्वगादिभिः। १७/३–न६–– चतुष्पदां तु हृन्मध्ये; ग३–चतुष्पादं तिरश्चांच । १७/४–ग२, ५, ६, क––द्विजानां तुन्दमध्यमम् ; न३–तिरश्चां तुंडमध्यमे ; न४ ग३–द्विजानां तु सुमध्यमे ; ग४, न८–––––गुदमध्यमम् ।

१८/१–न४, ६, १, ८, ग२–तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं; न३–तन्मध्य(?ध्यं)––––––––; ग५, क–तन्मध्ये नाभिरित्युक्ता ; ग६–तन्मध्ये नाभिरित्युक्तो (?क्ता) । १८/२–ग ५, ६–नाभौ चक्रस्य संभवः ; क–नाभौचक्रस्य सम्भवम् (?) ; त–नाभिचक्रसमुद्भवम् । १८/३–ग२, ३, न४–– द्वादशारयुतं चक्रं; ग५–द्वादशारयुतं चक्रः(?क्रं)। १८/४–न३, त–तेन देहं प्रतिष्ठितम् ; न१, २, ५––नरदेहं प्रतिष्ठितम् ; ग२–तेन देवाः प्रतिष्ठिताः ; ग३–देव देहः(?) प्रतिष्ठितः ; ग४–तत्र देहः –––––––– ; न७–येन देहः –––––––– ; ग५, ६, क–तेन जीवः–––––––– । *इतः प्रभृति ४१।४ पर्यन्तं "क" लेखे तालपत्रं गलितमिति टिप्पणीविद्यते ।

१९/२–ग२–पुण्यपापप्रबोधितः ; न३, ४, ग३––पुण्यपापप्रणोदितः ; न५–पुण्यपापप्रचोदितः; न७, ग५, ६–पुण्यापुण्यप्रचोदितः । १९/३–ग१, ३, ४, ६, न५, ६, ८–तन्तुपंजरमध्यस्थः; न१–तस्यां जरमध्यस्था (?) । १९/४–ग१, ४, ६, न६, ८–यथा भ्रमति लूतिकः; न५–यथा चरति लूतिकः ; न१, २, ७–यथा चरति लूतिका ; ग३–यथा भ्रमति यूतिका ; न४––––यूथिका ।

२०/१–ग२–जीवस्य मुनिचक्रे(?)ऽस्मिन्। २०/२–ग३, न६–अथ प्राणश्चरत्यसौ; न३–भ्रमत्प्राणे त्यरचासौ(?); ग४–पश्य प्राणश्चरत्यसौ । न८–वश्यः–– २०/३–न३–न३–प्राणरूपो भवेज्जीवः ; न६–प्राणाहारो––––––––––; ग३–प्राणारूठि(?)––––––; न१–प्राणारूठास्तु ता नाड्यः । २०/४–ग१–सर्वजोवेषु सर्वदा ; ग५, ६–सर्वदेहेषु––––––––––।

२१/१–ग५–तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं । २१/२–न६–नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वतः ; न१, २, ५–नाभेस्तिर्यगधो वृता ; ग५–नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वकम् ; न४, ग३–नाभेस्तिर्यगधोगतिः ; न७–नाभेस्तिर्यग-धोगतम् ; त–नाभेस्तिर्यगधोवृतम्(?) । २१/३–ग४, ५–अष्टप्रकृतिरूपासौ ; न४–अर्धप्रकृतिरूपा सा । २१/४–ग२–अष्टधा कुटिलाकृतिः ; न४, ग३–अष्टधा कुण्डली मता ; ग४–अष्टधा कुटिलीकृता ; न३–त्वष्टधा कुण्डलीकृता ।

यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि नित्यशः ।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुद्धयैव सदा स्थिता ॥२२॥

मुखेनैव समावेष्टय ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ।
योगकाले त्वपानेन प्रबोधं याति साग्निना ॥२३॥

स्फुरन्ती हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ।
वायुर्वायुसखेनैव ततो याति सुषुम्णया ॥२४॥

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्णेति प्रकीर्तिता ।
*तिष्ठन्ति परितः सर्वाश्चक्रेऽस्मिन्नाडीसंज्ञकाः ॥२५॥

नाडीनामपि सर्वासां मुख्यास्त्वेताश्चतुर्दश ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च सरस्वती ॥२६॥

वारुणी चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी ।
विश्वोदरा कुहूश्चैव शंखिनो च पयस्विनो ॥२७॥

२२/१–न१, २, ७, ८, ग१, ४–यथावद्वायुचारं च ; ग२–यथावद्वायुसंचारः ; न४–यथावद्वायुचारा च(?) ; ग३–यथावद्वायुचेलांश्च(?) । २२/२–न१, ५–जलान्यादीनि नित्यशः ; ग३–जलान्नावि (?दो-) न्य (?नि) नित्यशः ; न४– ज्वलनादीनि नित्यशः ; ग२–सर्वनाडीषु-नित्यशः । २२/३–न५, ग३, ४–परितः कन्दपार्श्वे तु ; न८–परितः कण्ठपार्श्वेषु(?) । २२/४–ग५–निरुद्धयैवं सदा स्थिता ; ग२–निरुद्धयैव व्यवस्थितः(?) ।

२३/१–न१, २, ३–मुखेनैव समाविश्य ; ग२–मुखेन स्वेन संवेष्टय; त–मूलेनैव समाविश्य ; न३, ४, ६, ग३––मुखेनैव सदा वेष्टय ; न७————————समावेश्य । २३/२–ग३–ब्रह्मरन्ध्रमुखं सदा ; ग ५ ब्रह्मरन्ध्रं मुखं तथा । २३/४–ग४–प्रबोधयति साग्निना ; ग५–प्रबोधं यान्ति(?) ————; न४–प्रबोधं यातु ——।

२४/१–त स्फुरन्त्या हृदयाकाशात् ; न१, ५, ग५–स्फुरन्त्या हृदयाकाशे ; न८–स्फुरन्त्या हृदयाकारे(?–हृदयाकाशे); न२, ६, ग५, ६–स्फुरन्त्या हृदयाकाशं ; न४, ग३–स्फुरन्ती हृदयान्तं सा । २४/२–ग५, ६–ज्ञानरूपा————; ग२–नवरूपा————————; न३– × × × × । २४/३–न४–वायुर्वापि सुखेनैव ; ग५–वाय्वग्निसखेनैव(?) ।

२५/१–२–न३– × × × × × × × × । न४, ग३–अत्र 'मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता' इत्यादिरधिकः श्लोको लिखितो दृश्यते तथापि न स उद्धृतोऽन्येषु लेखेषु स ४.२९ संख्यया आगत इति । एतयोरपि च स तत्रास्त्येव । २५/३–ग४, ५, ६, न६–तिष्ठन्ति परितः सर्वे(?सर्वाः) । २५/४ न१, २, ४, ७, ८, ग४, त–चक्रेऽस्मिन्नाडीसंज्ञिकाः ; ग५, ६————————नाडीसंज्ञिताः ; ग१———ऽस्मिन्नाडिकास्तथा ; ग२————————नाडीसंचये ।

२६/२–त, ग२–मुख्याश्चैताश्चतुर्दश; न३, ८, ग१–मुख्या गार्गि————— । २६/४–ग३–सुषुम्णा तु सरस्वती ।

२७/१–न१, २, ३, ५, ग३, ५, ६––वारुणा चैव पूषा च । २७/३–न२, ४, ५, ७, ८, ग४, त–विश्वोदरी कुहूश्चैव ; ग३– + + + कोहश्चैव(?कुहूश्चैव) । २७/४–ग१————————तपस्विनी ; न५————सरस्वती ।

अलम्बुषा च गान्धारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश ।
आसां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ॥२८॥

मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता सुषुम्णा विश्वधारिणी ।
कन्दस्य मध्यमे गार्गि सुषुम्णा सुप्रतिष्ठिता ॥२९॥

पृष्ठमध्ये स्थिता नाडी सा हि मूर्ध्नि व्यवस्थिता ।
*मुक्तिमार्गः सुषुम्णा सा ब्रह्मरन्ध्रेति कीर्तिता ॥३०॥

अव्यक्ता सैव विज्ञेया सूक्ष्मा सा वैष्णवी स्मृता ।
इडा च पिंगला चैव तस्याः सव्ये च दक्षिणे ॥३१॥

इडा तस्याः स्थिता सव्ये दक्षिणे पिंगला स्थिता ।
इडायां पिंगलायां च चरतश्चन्द्रभास्करौ ॥३२॥

२८/१–न३–अलंमुखा च————; ग३–अलंबुसूचि(?)——। २८/२–न४ मुख्याश्चैंव चतुर्दश ; ग५, ६—मुख्या एताश्चतुर्दश । २८/३–ग२–तासु मुख्यतमास्तिस्रः ; न३–एता——। २८/४–न१, ग१, ४, त–तिसृष्वेकोत्तम मता ; ग२–श्रेष्टितेका(?) + + + ।

२९/१–न३–मुक्तिमार्गेण(?)सा प्रोक्ता ; ग४, न८–मुक्तिमार्गे स्थिता सा तु ; न४, ग३ मुक्तिमार्गेऽपि———— । २९/३ न१, २, ५–कन्दस्था मध्यमे————।

३०/१–२–न१– × × × × × × × ×। ३०/१–ग१, ४, त–पृष्टमध्ये स्थिता नाम्ना ; ग५, ६————स्थिते नास्य(?) ; न८————स्थिते नासां ; न३, ६———— स्थिते नास्थना ; न४————ऽपि तेनासौ ; ग३————च तेन सा(?) । ३०/२–ग१, ४, ६, न८–सह मूर्ध्नि स्थिता सदा ; ग२–यासां मूर्ध्नि————; न३, ६, त–सहमूर्ध्नि व्यवस्थिता ; न४–स्वरमूर्ध्नि———; ग३–सर्वमूर्ध्नि————*न३–अस्मिल्लेखे द्वावधिकौ श्लोकौ दृश्येतेऽस्मिंस्थाने, तौ :—

तिष्ठन्ति परितस्तस्य नाडयो मुनिसत्तमे ।
द्विसप्तति सहस्त्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश ॥
पृष्टमध्ये स्थिता नाम्ना वीणादण्डेन सुव्रते ।
सहमस्तकपर्यंतं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥

३०/३–न२, ५, ६—मुक्तिमार्गे सुषुम्णा सा । ३०/४–न२, ५, ७–ब्रह्मरन्ध्रे प्रतिष्ठिता ; न३–ब्रह्मरन्ध्रप्रकीर्तिता (?); न४–ब्रह्मरन्ध्रेऽपि कीर्तिता ; ग२–ब्रह्मरन्ध्रमितीरितम् । ३०/३–४–न१ × × × × × × × ×।

३१/१–ग५, ६–अव्यक्ता सा तु विज्ञेया ; ग२–अव्यक्ता नैव———— ; न४, ६, ८, ग३ अव्यक्ता चैव————; ग४, न८–अभ्यासेनैव । ३१/२–न३, ६–सुषुम्णा वैष्णवी स्मृता ; न४, ग३–सूक्ष्मा सा वैष्णवी मता ।

३२/२–ग५–पिंगला दक्षिणे स्थिता; ग३————————तथा ; ग२–सव्यदक्षिण पिंगला (?); न३–दक्षिणे पिंगला स्मृता ।

इडायां चन्द्रमा ज्ञेयः पिंगलायां रविः स्मृतः ।
चन्द्रस्तामस इत्युक्तः सूर्यो राजस उच्यते ॥३३॥

विषभागो रवेर्भागः सोमभागोऽमृतं स्मृतम् ।
तावेव धत्तः सकलं कालं रात्रिदिवात्मकम् ॥३४॥

भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ।
सरस्वती कुहुश्चैव सुषुम्णापार्श्वयोः स्थिते ॥३५॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपार्श्वयोः ।
*कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरा स्थिता ॥३६॥

यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारुणी च प्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्ये पयस्विनी ॥३७॥

३३/२–ग१–पिंगलायां च भास्करः ; न४————रविः स्थितः । ३३/३–न८ चन्द्र स्तु मन इत्युक्तः ।

३४/१–त–विषभागो रविर्ज्ञेयः ; ग६————रवेर्गार्गि । ३४/२ न५, ७–सोमभागश्च चन्द्रमा ; ग२–सोमभागोऽमृतं भवेत् ; ग५, ६, न६, ८————ऽमृतं स्मृतः ; ग४————ऽमृतस्तथा(? मृतं तथा) । ३४/३–न२–तावाव(?वेव)धत्तः सकलं ; ग३––तावेव++सकलं ; ग३————सकल दत्तः(?)न३–तावै धत्तः सकलं ; ग२–उभौ विधत्तः सकलं । ३४/४–ग३–काल रात्रि (?कालं रात्रि–) दिवात्मकम् ; न४, ग३–काल रात्रिदिवात्मकम् ; ग६–कालं नक्तं———— ।

३५/१–न५ भोक्तृ————; ग३–भोक्त्रे————; ग५–गोप्त्री———— ३५/४ न३, ४————पार्श्वयोःस्थिता ; ग५, ६, न८————पृष्टपार्श्वयोः ।

३६/१–ग३–गान्धारा हस्तिजिह्वा च । ३६/२–न१, २, ५, ६–इडायाः पृष्टपूर्वयोः ; न४, ग३————पूर्वपृष्टयोः ; ग४————पार्श्वभागयोः । *न२, ३, ४–अत्रैषाधिका पंक्तिः-पूषा यशस्विनी चैव पिंगला पृष्टपार्श्वयोः । ३६/३–न२, ३, ५, ७, ग३–कुहूश्च हस्तिजिह्वायाः ; न४, ६, ग४,–कुहोश्च————; ग६–कुहाश्च(?कुहोश्च)————। ३६/४–न२, ३ ५, ७, ८, ग४, त–मध्ये विश्वोदरी स्थिता ; ग२————विश्वोदरस्थितः(?) ; ग३–————विश्वधरा————।

३७/१–न३, ७, ८, ग६–यशस्विनी कुहूमध्ये ; न१, २, ५–यशस्विनी कुहोर्मध्ये ; ग२–मध्ये कुहोर्यशस्विन्याः ; ग१–पयस्विन्याः कुहोर्मध्ये । ३७/२–ग२, ६–वारुणी सुप्रतिष्ठिता ; न१, २, ३, ५, ७, ग४–वारुणा च प्रतिष्ठिता ; न४–वारणा सुप्रतिष्ठिता ; ग१————च प्रतिष्ठिता । ३७/३–न१, २, ४, ५, ७, ग३, त–वारुणायाः सरस्वत्याः । ३७/४–ग२, ४, ५–स्थिता मध्ये यशस्विनी ; न२, ग१————तपस्विनी ; न४, ग३, क– × × × × ।

गान्धार्याश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्ये च शंखिनी ।
अलम्बुषा च विप्रेन्द्रे कन्दमध्यादधः स्थिता ॥३८॥

पूर्वभागे सुषुम्णाया आमेढ्रान्तं कुहूः स्थिता ।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्या वारुणी सर्वगामिनी ॥३९॥

यशस्विनी च याम्यस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।
पिंगला चोर्ध्वगा याम्ये नासान्तं विद्धि मे प्रिये ॥४०॥

याम्ये पूषा च नेत्रान्तं पिंगलायास्तु पृष्ठतः ।
पयस्विनी तथा गार्गि याम्यकर्णान्तमिष्यते ॥४१॥

सरस्वती तथा चोर्ध्वमाजिह्वायाः प्रतिष्ठिता ।
आसव्यकर्णाद्विप्रेन्द्रे शंङ्खिनी चोर्ध्वगा मता ॥४२॥

३८/१–न६, ८, ग१, २, ४–गान्धारायाः सरस्वत्याः ; न४, ग३– × × × × । ३८/२–ग५–स्थिते मध्ये तु शंखिनी ; न४– × × × ×। ३८/३–न१, ७–अलम्बुषा च विप्रेन्द्र; न३–अलंमुखा(?)च विप्रेन्द्रे । ३८/४–न२, ३, ग१, ४–कन्दमध्यादवस्थिता ; न१, ५, ७, त–कन्दमध्यादधोगता ; ग२–कन्दमध्यादधः शरा(?); न४–गुदमध्यादधोगता ; ग३—सुरमध्य(?) यथागता ।

३९/१–न२, ५–पूर्वभागे सुषुम्णायां । ३९/२–ग२–आमेढ्रान्तं कुहूः स्मृता ; न१, २, ४, ५, ७–मेढ्रान्तं च कुहूः स्थिता । ३९/३–न१, २, ३, ४, ५, ७, ग१, २, ३, ४, त–अधश्चोर्ध्वं च विज्ञेया ; न६–अतश्चोर्ध्वं च विज्ञेया । ३९/४–न१, २, ३, ५, ७, ग३, ६, त–वारुणा सर्व-गामिनी ; ग१–वारणा————; ग२–धारणा(?)————।

४०/१–ग४–यशस्विनी तु याम्यस्य ; न८–यशस्विनी तु याम्यस्था ; न१–+ + याम्यस्य ; न६————च याम्यस्था ; न४————यामीश्च(?); ग३————यं व्यंस्य (?च याम्यस्य) ; ग२–नाडी यशस्विनी याम्य ; ग५, ६—यशस्विनी च सौम्या च । ४०/२–न३–पादांगुष्टान्तरिष्यते । ४०/३–न१–पिंगला चोर्ध्वं याम्यात्य (?याम्यस्य) ; न२————चोर्ध्व–याम्यस्य ; न७————चोर्ध्वं याम्यस्य । ४०/३–४– ग२, ६– × × × × × × × ×।

४१/१–न५–याम्य (?याम्ये) पूषा च नेत्रान्तं ; न३–वामे————; ग३–याम्यपृष्टं च ————। ४१/२–न७, ग१, त–पिंगलायां तु————; ग५–पिंगलायाश्च पृष्टतः ; ग६–पिंगलायां च——४१/१–२–ग२– × × × × × × × ×। ४१/३–न१, ४, ५, ७, ८, ग३ –पयस्विनी तथा गार्गि ; ग१–तपस्विनी————। ४१/४–ग५, न८–याम्ये कर्णान्तमिष्यते ; ३—वामकर्णान्तमिष्यते । ४१।३–४–ग२, ४, न६– × × × × × × × × ।

४२/१–२–ग४– × × × × × × × ×। ग१–सरस्वती तथा चोर्ध्वगामिनी या प्रतिष्ठिता । ४२/२–ग२–आजिह्वान्तं————; ग४–आजिह्वायां————। ४२/३–न४–आस-व्यकर्ण विप्रेन्द्रे ; ग५–आसर्वकण्ठाद्विप्रेन्द्रे ; न६–नासान्तकर्णाद्विप्रेन्द्र । ४२/४–ग५, ६–शंखिनी चौर्ध्वगामिनी ; न३————चोर्ध्वगामिना (?–गामिनी) ।

गान्धारी सव्यनेत्रान्तमिडायाः पृष्ठतः स्थिता ।
इडा च सव्यनासान्तं सव्यभागे व्यवस्थिता ॥४३॥

*हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादांङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।
विश्वोदरा तु या नाडी तुन्दमध्ये व्यवस्थिता ॥४४॥

अलम्बुषा महाभागे पायुमूलादधोगता ।
एतास्त्वन्याः समुत्पन्नाः शिराश्चान्याश्च तास्वपि ॥४५॥

यथाश्वत्थदले तद्वदब्जपत्रेषु वा शिराः ।
नाडीष्वेतासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधने ॥४६॥

प्राणोऽपानःसमानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥४७॥

एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ।
एतेषु वायवः पंच मुख्याः प्राणादयः स्मृताः ॥४८॥

४३/१–न३, ग१–गान्धारा सव्यनेत्रान्ते ; ग६, न८, क–गान्धारी सव्यनेत्रान्ता ; न६, ग३, ४–गान्धारा सव्यनेत्रान्तं ; न४–गान्धारा सव्यनासान्तं । ४३/२–ग१–(नेत्रान्ते) चेडायाः पृष्टतः स्थिता ; ग२–इडायाः पृष्टतः स्थिरा । ४३/३–ग२–इडा च सव्यनेत्रान्तं । ४३/४–ग४–सर्वभागे व्यवस्थिता । ४३/३–४–ग५, ६, क– × × × × × × × ×।

*४४/१–४–न३, ग५, ६, क– × × × × । ४४/१–२–ग२–हस्तिजिह्वा सदा सव्य-पादांगुष्टान्तमिष्यते । ४४/३–न४, ५, ७, त––विश्वोदरी तु या नाडी (न७–नारी?) । ४४/४–ग२–कन्दमध्ये व्यवस्थिता ।

४५/१–ग३, ६–अलंबुसा महाभागा ; न३–अलंमुखा(?)महाभागे । ४५/२–ग४, ५, ६, क––पायुमूलादथोर्ध्वगा ; ग२–पायुमूलादधोमुखी ; न१–पायुमूलमधोगता ; ग४–पायुगुल्फादधोगता (?); न८–वायो–(?पायो–) मूलादधोगता । ४५/३–न१, २, ३, ५–एतास्वन्याः समुत्पन्नाः; न६–तास्त्वन्याश्च————; त–एतामुख्या(:)समुत्पन्नौ(?समुत्पन्नाः) । ४५/४–ग१, त–सिरा-स्वन्याश्च तास्वपि ; ग२, ३, ४, न६–शिरास्त्वन्याश्च———— ; न३–शिरास्वन्यासु तास्वपि ; ग५, ६––तास्वन्याश्चैव तास्वपि ।

४६/१–ग६–यथापद्मदले तद्वत् । ४६/२–न१, २, ५, ७–अब्जपत्रेऽथवा शिराः ; त–– ————यथा सिराः ; ग२, क–अब्जपत्रेषु याः शिरा ; न८–अब्जपत्रेषु वा स्थिताः (?शिराः) ; ग४–इक्षुपत्रेषु वा शिराः ; ग५–'अब्जपत्रेषु वा शिराः' इति प्रथमं लिखितं पादमपमृज्य 'सुषु-म्णा या मया प्रोक्ता यथा पत्रेषु वा शिरः' इत्यशुद्धा पंक्तिस्तत्स्थाने लिखिता दृश्यते । प्रथमः पादः 'यथाश्वत्थदले तद्वत्' इत्यपि तत्रास्त्येव । ४६/३–ग६–नाडीष्वन्यासु सर्वासु ; ग४–नातिष्ठितासु(?) ————। ४६/४–न३–विज्ञातव्यास्तपोनिधेः (?तपोनिधे) ; ग६–विज्ञातव्यं तपोधने ; ग२––ज्ञातव्या दितराः (?हीतराः) शिराः ।

४७/१–न३, ग३––प्राणापानः समानश्च । ४७/२–ग६–चोदानः व्यानः स एव च (?चोदानो-व्यान एव च) । ४७/३–न१, ५, ६, ग२––नागः कूर्मश्च कृकरः ; न३, ७– ———— कृकलः ; ग६————कृकरकः ; ग३–नागहर्मं ककरश्च(?नागः कूर्मः कृकरश्च) ।

४८/३–ग३–एते च वायवः पंच ।

तेषु मुख्यतमावेतौ प्राणापानौ नरोत्तमे ।
प्राण एवेतयोर्मुख्यः सर्वप्राणभृतां सदा ॥४९॥

आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यमे ।
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्टेऽपि केचन ॥५०॥

अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः परीतः प्राणसंज्ञकः ।
निष्ठन्नेतेषु चतुर्षु प्रकाशयति दीपवत् ॥५१॥

अपाननिलयं केचिद् गुदमेढोरुजानुषु ।
उदरे वृषणे कट्यां जङ्घेनाभौ वदन्ति हि ॥५२॥

४९/१–ग३–तेषु मुख्यतया चेतौ ; ग५–एतेषु मुख्यतमौ चेतौ ; ग६–एषु————————। ४९/२–न३–प्राणापानौ नरोत्तमौ (?नरोत्तमे) ; न१, २, ४, ५, ७, ग३, त————————तपोधने। ४९/३–न१, २, ६, ८, क–प्राण एव तयोर्मुख्यः न४, ग३–प्राणस्तु यस्तयोर्मुख्यः ; ग४, ६, न७–प्राणा (?प्राण) एव तयोर्मुख्यः । ४९/४–ग१, ४, न८–स सर्वप्राणभृत्सदा ; न१, २, ५, ७, त–सर्वेषां प्राणिनां तथा ; ग२–सर्व प्राणेषु (?प्राणिषु) सर्वदा ; न४, ग३–स सर्वप्राणिभिः सदा ; ग५, ६, क–सर्वप्राणभृतां वरे; न६–सर्वप्राणिषु सुहृद्यथा (?सर्वप्राणिषु हृद्यथा, अथवा सर्वप्राणि-सुहृद्यथा) ।

५०/१–त–अक्षिनासिकयोर्मध्ये । ५०/२–न४, ८–हृन्मध्ये नाडी. (?नाभि–) मध्यमे ; न३–हृन्मध्यं नाभिमध्यमं ; न१, २, ५, ६, ७, क–हृन्मध्ये तालुमध्यमे । ५०/३–ग५, ६, न६, क–प्राणालय इति प्रोक्तः ; न३, ४, ग३–प्राणालयमिति प्राहुः ; ग४–प्राणाद्वय (?प्राणालय) इति प्राहुः । ५०/४–न६–पादांगुष्टे च केचन ; ग५, ६–पादांगुष्टादिकेन च ।

५१/१–४–ग२– × × × × × × × ×। ५१/२– न१–परीत्य प्राणसंज्ञकः; ग६, क–परितः प्राणसंज्ञितः ; न८–परितः प्राणसंज्ञिकः । ५१/३–ग३–तिष्ठत्येतेषु चतुर्षु ; न७–तिष्ठते तेषु चतुर्षु ; न४–तिष्ठत्येतश्च (?–त्येतेषु) चतुरः ; ग१, त–तिष्ठन्नेतेषु चक्रेषु ; न३–तिष्ठन्नेतेषु तिसृषु ; ग४, न८, क–तिष्ठन्नेतेषु सर्वेषु ; न२–तिष्ठन्तेषु (?तिष्ठन्नेतेषु) सर्वेषु ; न६–तिष्ठते तासु सर्वासु । *अत्र "त" लेखे द्वावधिकौ पादौ विद्येते तौ :—"कृकटचां गुल्फयोरपि" इति चतुर्थः पादः ; "स्थानेष्वेतेषु सततं" इति पंचमः पादः ; "प्रकाशयति दीपवत्" इति य इतरेषु लेखेषु चतुर्थः सोऽस्मिल्लेखे षष्ठः। ५१/४–न४, ग३–प्रकाशं याति————।

५२/१–४–अयं श्लोकः "न३, ६, ८, ग४, ५, ६, क" लेखेषु "व्यानः" इत्यादि ५४ तमस्यानन्तरं, नात्र । ५२/१–ग३–अपाननियमं (?निलयं)————; ग४, ५–अपाननीयं (?अपान-निलयं)————; ग६—अपाननिलयाः————; न१, ३, ७–अपानमनिलं————; न५–अपानमनिले(?)————; न२–अपश्चोनमनिले(?)————; ग२–आधारनिलयं————; ५२/२–न४–गुदमेढ्रानुजानुषु (?गुदमेढ्रोरुजानुषु); न७–गुदे मेढ्रोरुजानुषु ; ग२, त–गुदा मेढ्रारु-जानुषु । ५२/३–ग१, २, न६–उदरे वंक्षणे कट्यां ; न१, २, ३, ५, ७————दक्षिणे ——। ५२/४–न१, २, ३, ५, ७, ग३, त–जङ्घा नाभौ————; न४–जङ्घा सूरौ(?)———— ; ग१, २–जघने तौ————।

गुदाग्न्यागारयोस्तिष्ठन्मध्येऽपानः प्रभञ्जनः।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः प्रकाशयति दीपवत् ॥५३॥

व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकटचां गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिजोर्देशे तिष्ठत्यत्र न संशयः ॥५४॥

उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वगात्रेषु सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ॥५५॥

भुक्तं सर्वरसं गात्रे व्यापयन्वह्निना सह ।
द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु संचरेत् ॥५६॥

समानवायुरेवैकः साग्निर्व्याप्य व्यवस्थितः ।
अग्निभिः सह सर्वत्र साङ्गोपांगकलेवरे ॥५७॥

५३/१–४–अयं श्लोकः १६ लेखेभ्यो १० लेखेषु पाठभेदैर्दृश्यते । ते लेखाः—न३, ४, ६, ८, ग१, ३, ४, ५, ६, क । तेभ्यो यस्मिन्स्वरूपे स ग्रन्थे स्वीकृतस्तस्मिन् "ग५, क" इति संज्ञितयोर्लेखयोरेव विद्यते । तस्य चतुष्टं चरणं सर्वत्र समानरूपम् । अन्यानि यैः पाठान्तरैर्युक्तानि विद्यन्ते तानि :—५३/१–ग६–गुदाग्न्याधारयोस्तिष्ठन् ; न३–गुद्रग्नोगारयोस्तिष्ठन् (?गुदाग्रागारयोस्तिष्ठन्); ग१–गुदाग्राधारयो————; ग३–गुदान्नागादयो————(?); न४–गुदात्तु देहमध्ये तु; ग४–गुदाद्गुल्फस्य जान्वोश्च ; न८–गुदादुद्भिद्य जान्वोश्च ; न६–गुदा + + + तयो(?); ग४– × × × ×। ५३/२–ग३– + + प्राणः प्रभजनः; ग४– + + + +। ५३/३–ग१, न८–स्थानेष्वेतेषु सर्वेषु ; ग४– + + + +। ५३/४–ग४– + + + +।

५४/१–न३–व्यानः श्रोत्र + + मध्ये च; न६, ८, ग६————मध्ये तु ; न४————श्रोत्रादि————च । ५४/२–न२–कृकद्यां————; ग३–ककुद्यां————; न६–कृकरो(?)————; न४, ग५–कटचां च————! ;त–हृत्कटचां————; न८–कक्षयोर्गुल्फयोरपि । ५४/१–२–ग२, ४— × × × × × × × ×। ५४/३–ग६———स्फिजोद्देशे (?स्फिजोर्देशे); न६————स्फिजे देशे ; ग५————स्थिचोद्देशे ; (?स्फिजोर्देशे)ग४, क————च स्फिग्देशे ; ग३————स्वजौ (?स्फिजोर्) देशे ; न४———शुधौ(?) देशे ; न३————ऽक्षिदेशे च; न८–प्राणो(?घाणे) गले च स्फिग्देशे । ५४/४–न३–तिष्ठत्येव न संशयः; ग३–निवृत्त्यत्र (?तिष्ठत्यत्र)———। ५४/३–४–ग२– × × × × × × × ×।

५५/१–४–ग१– × × × × × × × ×। ५५/३–न३–समानं सर्वगात्रेषु । ५५/४–न८, ग४, ५, क–सर्वव्यापि व्यवस्थितः ।

५६/१–न४, ६, ८, ग३, त, क–भुक्तसर्वरसं————। ५६/२–ग५–व्यापयन्नग्निना सह ; ग२, ६, क–व्यापयत्यग्निना———; न८–व्यापयन्वायुना——— । ५६/४–ग१, २, ३, ४, ५, ६, न३, ४, ६————————संचरन् ।

५७/१–न२, ४, ७, ग३–समानो वायुरेवैकः । ५७/२–ग३–साग्नि व्याप्य————; न१, २, ४, ५, ७, ग४, ५, ६–सोग्नि व्याप्य——; न७–सोग्निर्व्याप्य(?)————। ५७/३–न३, ६, ग५, ६–अग्निना सह सर्वत्र; ग३–अग्निभिश्च हि——; न४–प्रागुक्तैःसह————। ५७/४–न१, ८, ग१, २, ४, क–सांगोपांगकलेवरे ; न४, ग५, ६–सांगोपांगे————; न५–सांगोपांगकलेवरम् ।

नागादि वायवः पंच त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
तुन्दस्थं जलमन्नं च रसानि च समीकृतम् ॥५८॥

तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ।
पुनरग्नौ जलं स्थाप्य त्वन्नादीनि जलोपरि ॥५९॥

स्वयं ह्यपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः ।
प्रवाति ज्वलनं तत्र देहमध्यगतं पुनः ॥६०॥

वायुना वातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः ।
तदा ज्वलति विप्रेन्द्रे स्वकुले देहमध्यमे ॥६१॥

ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरितस्ततः ।
जलमत्युष्णमकरोत्कोष्टमध्यगतं तदा ॥६२॥

५८/३–ग४, ५, ६–तुन्दस्थजलमन्नं च ; न३–तुन्दस्थं जलमानं च(?) ; न२, ५–उदरस्थं जलमन्नं च ; ग३–गुदं जलं च मन्नं(?) । ५८/४–ग३–रसानि च समाकृतिः ; ग४–रसादीनि समं स्थितम् ; न३–रसादि च समीकृतम् ; न८–रसादीनि समीकृतम् ; न७————समीकृतः ; ग५ ६, क————च समीरितम् ; न४–रसानां च समासतः ।

५९/१–ग३–गुदमध्यगतः प्राणः । ५९/२–न१, २, ५, ७, त–स्थानं कुर्यात्पृथक्पृथक् ; न४, ग३––सर्वं————। ५९/३–न४, ५, ग ५, ६, क–उपर्यग्नेर्जलं स्थाप्य ; ग३–उपर्यग्नौ————; न१–उपर्यग्रे————; न७–उपर्यन्नं————; न२–उपर्यन्तं————; न६–उपर्यं निर्जलं (?उपर्यग्निर्जलं, उपर्यग्नेर्जलं वा)————। ५९/४–न३, ग६–अन्नादीनि जलोपरि ; ग५–चान्नादीनि————।

६०/१–न४, ग३, त–स्वयं ह्यपानः संप्राप्य ; न३–स्वयं तत्पान––(?त्वपानः)————; ग६–स्वयं त्वन्नं————; ग२–तोयं त्वपानं————। ६०/१–२–ग४– × × × × × × × ×। ६०/३–न३, ग२, ५, ६–प्रयाति ज्वलनं तत्र; क–प्रयन्ति(?)————। ६०/४–न३,–देहमध्यं गतः पुनः; ग३–देहमध्यगत :——। ६०/३–४–ग४– + + + + + + + +।

६१/१–ग१, ५, ६, क–वायुना पातितो (?) वह्निः ; ग३–वायुना पीडितो(?)————; न७–प्राणेनापातितो——; ग२–वायुनो चाशिरो (?)————; न२–जन्तुना वातितो————। ६१/१–२–ग४– × × × × × × × ×। ६१/३–न६–तथा ज्वलति विप्रेन्द्रे; न२, ७–ततो————; ग५, ६,–तत्रो(?)ज्वलति (?तत्रोज्ज्वलति)————; न३–ततो————विप्रेन्द्र (?) ; ग३–ततो————प्रस्पन्दे(?) । ६१/४–ग३–त्वकुति(?)देहमध्यगे । ६१/३–४–ग४–× × × × × × × ×।

६२/१–न१–ज्वालाभिस्तु ज्वलंस्तत्र ; न३–ज्वलति ज्वलनस्तत्र ; ग२–ज्वालाज्वलित-रूपेण । ६२/२–ग३–प्राणेन पूरितस्ततः ; न३–प्राणेन प्रेरितः स्थितः(?) ; ग५, क–प्राणेन प्रेरितस्तथा ; ग२–वह्निना परितापितः । ६२/१–२–ग४– × × × × × × × ×। ६२/३–न४–जलान्नमुष्णमकरोत् ; ग३–ज्वलन्नत्युष्णमकरोत् ; ग२–ज्वलत्युष्णं भवत्तत्र । ६२/४–न१, २, ६, ग५,–कोष्टमध्यगतं तथा । न८, क–काष्ट–(?कोष्ट–) मध्यगतं तथा ; ग६–कोष्टमध्यगतं यथा ; ग२–कोष्टमध्ये गतं ततः ; त–कोष्टमध्यगतः स्वयम् ; ग१–कोष्टमध्यगतस्तथा ; ग३–(कोष्ट–)मन्नमध्यगतस्तथा(?) । ६२/३–४–ग४– × × × × × × × ×।

अन्नं व्यञ्जनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितम् ।
ततः सुपक्वमकरोद्वह्निः सन्तप्तवारिणा ॥६३॥

स्वेदमूत्रे जलं स्यातां वीर्यरूपं रसो भवेत् ।
पूरीषमन्नं स्याद्गार्गि प्राणः कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥६४॥

समानवायुना सार्धं रसं सर्वासु नाडीषु ।
व्यापयञ्च्छ्वासरूपेण देहे चरति मारुतः ॥६५॥

व्योमरन्ध्रैश्च नवभिः विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।
कुर्वन्ति वायवः सर्वे शरीरेषु निरन्तरम् ॥६६॥

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्यते ।
अपानवायोः कर्मैतद्विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥६७॥

हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत्प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥६८॥

६३/१–४–ग४– × × × × × × × ×। ६३/१–न१, २, ५, ग१, २–अन्नव्यंजनसंयुक्तं। ६३/२–न३–जलोपरि समन्वितं ; ग३–————समर्पणम्(?) । ६३/३–न१, ३, ग१, त–ततः स पक्वमकरोत् ; न४–ततः स तप्तमकरोत् ; न६, ८, क–ततस्तत्पक्वमकरोत् ; ग३–ततस्त–त्यक्त–(?त्पक्व–)मकरोत् ; ग२–ततः सुपक्वंभवति । ६३/४–न३–वह्निःसन्त्यज्य(?सन्तप्त–) वारिणा ।

६४/१–न१–स्वेदमूत्रं रसं————; न५–स्वेदमूत्रे रसं——; त————रसे——; न३————जलस्यान्नं (?जलं स्यातां) ; न६–स्वेदमानं (?स्वेदमूत्रे) जले (?जलं)————; ग३–स्वेदमूत्रजलस्यान्तं (?स्वेदमूत्रे जलं स्यातां) ; ग५–स्वेदमूत्रे जलं मूत्रं(?) ; ग६, क—स्वेदमूत्रजलं रक्तं ; न४–स्वेदमूत्रं जनस्यांतर (?) । ६४/२–ग२–धातुरूपं रसो————; न१, २, ५, ग–वीर्यरूपं रसं भवेत् ; न४, ग३–वायुरूपं रसो————। ६४/३–ग२–पूरीषमन्य–द्भवति(?)। ६४/४–न४, ग३–सर्वं————। ६४/१–४–ग४– × × × × × × × ×।

६५/१–न६–समानं वायुना सार्धं । ६५/२–ग३–रसाः(?)————। ६५/३–न२, ५, ७—व्यापयंच्छवासमार्गेण ; ग२–व्यापयन्धातुरुपेण ; त–व्यापयंस्तासु नाडीषु ; न३———व्यापयन्सासुरूपेण (–श्वासरूपेण) ; ग३–व्यापयन्स्वं स्वरूपेण । ६५/४–ग२–देहो भवति संक्रमात् (?) ।

६६/१–ग६–व्योमरन्ध्रश्चमा + + भिः (?व्योमरन्ध्रैश्च नवभिः) ; न३–रोमरन्ध्रैश्चन + भिः; (—नवभिः) ; न४, ग१, ३, त–रोमरन्ध्रैश्च नवभिः ; ग२, ४–देहरन्ध्रैश्च————। न८– देहे रन्ध्रैश्च————। ६६/३–४–ग२, ४– × × × × × × × ×।

६७/१–४–ग२, ४– × × × × × × × ×। ६७/१–न३–निःश्वासोश्छवासकारश्च ; न४, ग५, ६—निः–श्वासोच्छवासकासश्च ; न५————कोसाश्च(?कासाश्च) । ६७/२–न३, ४, ग३–प्राणकर्मेति कीर्तितं ; न६, ८, ग१, त, क————कीर्तिताः ।

६८/१–ग५–हानोपानादि चेष्टादि ; न३–हानादानं च चेष्टादि । ६८/२–न१, २, ५–व्यानकर्मेति चोच्यते ; ग१, त———— कीर्त्यते ; न३————शिष्यते(?) ; ग२–विद्या–कर्मेति चोच्यते। ६८/३–न१–उदान कर्मेति प्रोक्तं ; ग५, ६–उदानकर्म यत्प्रोक्तं। ६८/४–ग४, ५, ६, क–देहस्योन्नयनादिषु ; ग१–देहस्योन्नयनादिकम् ; ग२–देहस्योन्नमनादिकम् ।

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति कीर्त्यते ॥६९॥

निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्रे तन्द्रीकर्मेति कीर्तितम् ॥७०॥

धनंजयस्य शोफादि सर्वं कर्म प्रकीर्तितम् ।
ज्ञात्वैवं नाडीसंस्थानं वायूनां स्थानकर्मणी ॥७१॥

*विधिनोक्तेन मार्गेण नाडीसंशोधनं कुरु ॥७२॥

इति श्री योगयाज्ञवल्क्ये चतुर्थोऽध्यायः ।

६९/२–न६–शरीरं (?शरीरे) कर्म कीर्तितम् । ६९/३–ग३–उद्गाराविणो (?उग्दारादि गुणो) यस्तु । ६९/४–ग१–नागकर्मेति चोच्यते ; न३, ग३————चेष्टितम् ; न४————चेरितम् ; न६————जीवितम्(?) ; ग५, ६–व्यानकर्मेति(?)कीर्तितम् ; ग४–नामकर्मेति(?)————।

७०/१–४–त– × × × ×। ७०/१–न२–निर्मलानादि (?निमीलनादि) कूर्मस्य ; न३–न मीलनादि (?निमीलनादि)—; न६–उन्मीलनादि————। ७०/२–न३, ६, ग३, ४–क्षुतं कृकरकस्य च ; न२–क्षुतं च कृकरस्य च ; ग२–क्षुदन्तु————; न४–क्षुतं तु कृकलस्य च ; न१–कृतं (?क्षुतं)च कृकरस्य च; न७–क्षुतं च कृकलस्य च; (पाठान्तरत्वेन) क्षुत्तृषे कृकलस्य च ;ग५–क्षुतकृत्कृकरस्य च(?); ग६–क्षत्रकृत्कृकरस्य च(?) ७०/४–न१, २, ५–तन्त्रीकर्मेति कीर्त्यते ; ग३–तन्त्रीकर्मेति कीर्तितम् ; ग२–तन्द्रीकर्मेति चोच्यते ; न७, ग६————कीर्त्यते ।

७१/१–ग२, ५, ६–धनंजयस्य शोषादि; न६——शोषाद्यं; न३————शोभादि (?शोषादि); न४————कासादि(?) । ७१/२–ग१, २, ६, न४, ६–सर्वकर्म प्रकीर्तितम् ; ग५–सर्वकर्मेति कीर्तितम् ; ग४–शरीरे कर्म कीर्तितम् । ७१/३–ग२–ज्ञात्वेदं नाडीसंस्थानं ; ग६–ज्ञात्वैनं————; न६–ज्ञात्वैतन्नाडीसंस्थानं ; न५, ७–ज्ञात्वैव————। ७१/४–न१, ४, ५ ६, ग३, ५, ६–वायूनां स्थानकर्म च ; ग१–वायूनां स्थानमेव च(?) ; त–वायुस्थानादि कर्म च; न२, ७–वायुस्थानं च कर्म च ; ग२–वायुस्थानं च यत्नतः । * ग२–अत्रैषाधिका पंक्तिः–नाडीषु वायुकर्माणि तयोर्व्याप्तिं ततः शृणु ।

७२/१–ग५, ६, न८, क–विधानोक्तेन मार्गेण ।

पंचमोऽध्यायः ॥

*गार्ग्युवाच–

भगवन्ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद ।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाडयो मे त्वं वद प्रभो ॥१॥

इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ।
तां समालोक्य कृपया नाडीशुद्धिमभाषत ॥२॥

†याज्ञवल्क्य उवाच–

विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ।
यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसाङ्गविवर्जितः ॥३॥

कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः ।
गुरुशुश्रुषणरतः पितृमातृपरायणः ॥४॥

स्वाश्रमस्थः सदाचारः विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ।
तपोवनं सुसम्प्राप्य फलमूलोदकान्वितम् ॥५॥

पंचमोऽध्यायः ।

*ग४, ५–गार्गी–; ग६–ओम्–गार्गी ; न१, ७, ८, ग१, क– × × × × ।

१/१–न८, क–भगवन्सर्वविच्छ्रेष्ठ । १/२–न३–सर्वशास्त्रविशारदः । १/३–न६–येनोपायेन । १/४–न२, ५, ७, ८–नाडयस्त्वं——; त–नाडयः स्वं वदस्व मे ; ग२–नाडयस्तु——; ग३–नाडचो मे तद्वदाशु मे ; ग५, ६, क–नाड यः सर्वदेहिनाम् ।

२/१–ग५–इत्युक्ते——; न३————ब्रह्मवादिना । २/२–ग१, ६, न६–ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तथा । २/४–ग२————मवोचत । †न३, ६, त–श्रीभगवानुवाच ; न१, ८, ग१, २, ४, ५, ६, क– × × × × ।

३/२–ग२–काम्य————; ग१, ५, न३————वर्जितम् । ३/३–४–न१, ८, ग२, ४, ५, क– × × × × × × × ×।

४/१–न६————जितः शान्तः ; ग३————जितश्वासः ; न१, २, ५, ६, त–————जितः श्रान्तः ; ग२————जितश्रान्तः ; ग१, ४, न३–श्रुतविद्यो जितश्रान्तः ; न८–श्रुतविद्यो जितः शान्तः । ४/३–न३——शिश्रूषणरतः (?शुश्रूषणरत्तः) ; ग३————शुश्रूषणं कर्त(?) ; न६–पितृशुश्रूषणरतः ।

५/१–न४–स्वाश्रमस्थो(–स्थः) सदाचारः । ५/३–न१, २, ५, ७, त, ग३————तु सम्प्राप्य । ५/४–ग२, न६, ७–फलमूलोदकान्वितः(?—न्वितम्) ।

तत्र रम्ये शुचौ देशे ब्रह्मघोषसमन्विते ।
स्वधर्मनिरतैः शान्तैर्ब्रह्मविद्भिः समावृते ॥६॥

वारिभिश्च सुसम्पूर्णे पुष्पैर्नानाविधैर्युते ।
फलमूलैश्च सम्पूर्णे, सर्वकामफलप्रदे ॥७॥

देवालये वा नद्यां वा ग्रामे वा नगरेऽथवा ।
*सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् ॥८॥

त्रिकालस्नानसंयुक्तः स्वधर्मनिरतः सदा ।
वेदान्तश्रवणं कुर्वंस्तस्मिन्योगं समभ्यसेत् ॥९॥

केचिद्वदन्ति मुनयस्तपःस्वाध्यायसंयुताः ।
स्वधर्मनिरताः शान्तास्तन्त्रेषु च सदा रताः ॥१०॥

निर्जने निलये रम्ये वातातपविवर्जिते ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥११॥

६/२–न३–ब्रह्मविद्भिः समन्विते ; क–ब्रह्मविद्भिः समावृते । ६/३–न१, ५, ७–स्वकर्म निरतैः——— । ६/४–न३————समावते(?) ; न८————सनातनैः ।

७/१–ग२–कुशाभिः(?)————। ७/२–न३, ग५, ६, क– × × × ×। ७/३–न३, ६, क– × × × × । ७/४–न३, ६– × × × ; ग५, ६–पुष्पैर्नानाविधैर्युते ।

८/१–ग३, न८–शिवालये वा————। ८/२–न६–ग्रामेषु———; न१, २, ७, ग४————नगरे तथा ; ग४, ५, न८–नगरेऽपिवा । *न१, २, ५, ७–अत्रैधिका पंक्तिः–सिद्धकूपे देवखाते तडागे सरसीषु वा । ८/३–भूशोधनं———। ८/४ न५–सुरज्ञा(?)च——; ग२————समन्वितः ; ग४, न८————समावृतम् ।

९/१–न७–त्रिकालं————; ग२————स्नानसंशुद्धः । ९/२–ग४, न८———————निरतस्तथा ; ग१–स्वधर्मं च समाश्रितः। ९/४–ग५, क–तत्र————————; ग६–तत्र योगं समारभेत् ।

१०/२–न३, ८————संयुतः(?) । १०/३–न३, ८, ग४, ६, क————निरतः शान्तः । १०/४–न३, ग६————रतः ; न१, २, ५, ७, त–योगतन्त्रविशारदाः ; न४, ग३–योगेषु च सदा रताः ; ग४, न८–शास्त्रेगेषु च विचक्षणः ; क–शास्त्रेषु च सदा रताः ।

११/१–न२, ८——विनये——— । ११/३–ग४————कुर्वन्यः ; न६–विध्युक्तं–—कुर्वीत ; न८–विध्युक्तं——कुर्वन्सन् ; क————धर्मसंयक्तः । ११/४–ग२–शुचिर्योगं समभ्यसेत् ।

मन्त्रैर्न्यस्ततनुर्धीरः सितभस्मधरः सदा ।
मृद्वासनोपरि कुशान्समास्तीर्य ततोऽजिनम् ॥१२॥

विनायकं सुसम्पूज्य फलमूलोदकादिभिः ।
इष्टदेवं गुरुं नत्वा तत आरुह्य चासनम् ॥१३॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि जितासनगतः स्वयम् ।
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥१४॥

नासाग्रदृक् सदा सम्यक् सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बं ज्योत्स्नाजालवितानितम् ॥१५॥

१२/१–ग२, ४, ६, न८, क–मन्त्रन्यस्त————; न६————तनुर्वीरः ; ग५–× × × × । १२/२–त————धरस्तथा ; ग४————रतः सदा ; ग६–————तनुः सदा ; ग२–सितभस्मावकुण्ठितः ; ग५–× × × × । १२/३–ग२–————कुशाः(?) ; न६–मृद्वासनोपविष्टः सन् । १२/४–ग२————शुभाजिने ; न १, २, ३, ४, ७, ग३, ५, ६, क————थवाजिनम् ; न६———— नवाजिनम् ; ग१–संस्तीर्य ह्यथवाजिनम् ।

१३/१–न२————ससंपूज्य ; ग५————तु संपूज्यः ग६–विष्वक्सेनं————; ग५– × × × × । १३/२–ग५– × × × × । १३/४–ग१, ५, न५, ८, त, क————आरभ्य चासनम् ; न४, ग३————आसनम् ; न३–तं तथारभ्य आसनम् ; ग२–ततो(ऽ)वष्टभ्य चासनम् ।

१४/१–त— ————भूत्वा ; न४————वा स्यात् । १४/२–न३———— गत(:) स्वयम् । १४/३–न१————शिराः कायः ; न३————शिरः काय(:) ।

१५/१–न५, ग५–नासा(ग्र)दृक्————; ग१–नासाग्रे न्यस्तदृक्———— ; ग३–————स वा(?)————; न३, त– × × × ×। १५/२–ग१, ५, ६–क———न्यस्योत्तरं—; न८–सव्ये सव्येतरं—; ग४–सव्यं————; न३, त– × × × × ; न१, २, ५, ६, ७, ग२, ३–अनन्यगतमानसः ; न४,–अनन्यगतभावनः । १५/३–४, १६/१–४ एतासां पंक्तीनां मूलं निश्चयपूर्वकं निर्णेतुमशक्यम् । तथापि पूर्वापरसम्बन्धमवलोक्य तन्निर्णीयोपरिष्ठाल्लिखितं, सर्वेषु लेखेषु च यद्यद्यादृशं यादृशं दृष्टं तत्तताद्दशंताद्दशमधस्तादवतीर्यते ।
१५/३–नासाग्रे शशभृद्बिम्बं–ग१, ३, ४, ५,† ६,† न४, ६, ८,† क. [†एतेषु लेखेषु द्वावपि पाठौ विद्येते ॥
————शशभृद्बिम्बे–ग२, ५,† ६,† न८,† त.
————शशिवद्बिलं–न३.
————सोम इत्युक्तं–न१, २, ५, ७.
१५/४–ज्योत्स्नाजालवितानितम्–ग१, ५,† ६.† [† एतेषु लेखेषु द्वावपि पाठौ विद्येते ॥
————जालं वितन्वता–न१, २, ५(—वितन्वतं).
ज्योत्स्नाजालविनिर्मितम्–ग४, न८.†
————विराजितम्–न७.
बिन्दुमध्ये तुरीयकम्–ग२, ३, न४.
बिन्दुमच्च————न३, ८, क, ग५ ६.
वीक्ष्यमध्ये————न६.
× × × × ————त.

सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिन्दुसंयुतम् ।
स्रवन्तममृतं पश्यन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥१६॥

*इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायन्ज्वालावलीयुतम् ॥१७॥

रेफं च बिन्दुसंयुक्तमग्निमण्डलसंस्थितम् ।
ध्यायन्त्विरेचयेत्पश्चान्मन्दं पिंगलया पुनः ॥१८॥

१६/१–२–सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिन्दुसंयुतम्–न१, २, ५, ७, ८, ग४, ५, ६.
———————— × × × × × × –त.
× × × × × × × × –न३, ४, ६, ग३, क.
,, ३–४–स्रवन्तममृतं पश्यन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः–न१, २.
————यस्य नेत्राभ्यां————–न४, ग३.
————पश्येन्नेत्राभ्यां———— –ग१, ५, ६, न३, ५, ६, ७, ८, त.
प्रवृत्तममृतं———— ———— –ग४.
सारयत्यमृतं तस्मिन्नेत्राभ्यां———— –ग२.
× × × × × × × × × –क

*अत्राधिकः श्लोकः केषुचिल्लेखेषु निम्नलिखितैः पाठान्तरैः सह दृश्यते ।

१–२–बिन्दुमस्तकमालोक्य नेत्राभ्यां मनसा सह–न१, ५, ७, ८.* *न८–द्वौ पाठौ विद्येते ।
मूर्ध्नि बिन्दुं समालोक्य————————न२.
बिन्दुमध्यस्थमालोक्य नेत्राभ्यां सुसमाहितः–ग४.
———————— बिन्दुमध्यस्थमालोक्य बिन्दुमच्चतुरीयकम्————न८.*
बिन्दुमात्रं समालोक्य × × × × ———त.
३–४–नासाग्रे शशभृद्बिम्बं बिन्दुमध्ये च दीपकम्–न१, २, ५, ७.

मुद्रितपुस्तकेषु ये ये पाठाः स्वीकृता दृश्यन्ते ते :—

१५/३——— मुं., पु., न, पु., मु. पु., क. पु.–नासाग्रे शशमृद्बिम्बं; त्रि. पु.–नासाग्रे शशभृ + +।
१५/४–मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.-ज्योत्स्नाजालविराजितम्; त्रि. पु.– + + + द्यु तुरीयकम्।

१६/१–२–मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु–सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिन्दुसंयुतम्; त्रि. पु.–× × × ×। १६/३–४–त्रि. पु., मुं. पु.–स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः; न. पु.——————पश्यन्नेत्राभ्यां सुसमाहितम्(?) ; मु. पु., क. पु.——स्रवन्तममृतं पश्यन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः।

१७/१–न१, २, ४, ५, ८, ग६–इडायां————; ग६, न८–इडया पूरयेद्वायुं (पाठान्तरत्वेन) । १७/२–न६–पूरयित्वोदरं स्थितः ; न८–पूरयित्वोदरं ततः ; त– बाह्याद् द्वादशमात्रकैः ; ग६, न८————————द्वादशमात्रकम् । १७/१–२–क– × × × × । १७/४–ग१–ध्यात्वा ज्वालावलीवृतम् ; ग२, ४, ५, न८–ध्यायेज्ज्वालावलीयुतम्। १७/३–४ क–× × × × × × × × ×।

१८/२–ग१, २, न८–अग्निमण्डलसंयुतम् ; क– × × × × × × × × ×। १८/३–ग५–ध्यायेद्वा रेचयेत्पश्चात् । १८/४–न४–अंगपिंगलया पुनः ।

पुनः पिंगलयापूर्य प्राणं दक्षिणतः सुधीः ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडया तु शनैः शनैः ॥१९॥

त्रिचतुर्वत्सरं वाथ त्रिचतुर्मासमेव वा ।
*षट्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसन्धिषु ॥२०॥

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षिताम् ।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्निर्जठरवर्तिनः ॥२१॥

नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नं तत्सिध्दिसूचकम् ।
†यावदेतानि सम्पश्येत्तावदेव समाचरेत् ॥२२॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये पंचमोऽध्यायः ।

१९/१–ग२–वायुं पिंगलयापूर्यं ; ग४–पुनः पिंगलया ध्यायन् ; न१, ३, ५, क– × × × ×। १९/२–ग३, न४–घ्राणं दक्षिणया————; ग२–प्राणं दक्षिणया————; ग४–पूर्य————; न१, ५, क– ××××। १९/३–न६–पुनर्विरेचयेत्पश्चात्; ग३–पुनर्वेदे + + + । १९/४–न३, ६, ग३, ५–इडच्या च————; ग६–इडायां(?)तु– १९/३–४–क– ××××××××।

२०/१–न३————यावत् ; न४————वापि ; ग५–त्रिचतुस्त्रिचतुःसप्त ; ग२, क– × × × × । २०/२–ग२, क– × × × । *अत्राधिका पंक्तिः–– ग४, न८––षण्मास वा वरारोहे प्राणायामं त्रिसन्धिषु । २०/३–न२, ५, ७, ८–षट्कृत्वाचरेन्नित्यं ; ग३–षटचत्वारि चरेन्नित्यं ; ग२, क– × × ×। २०/४–न३, ग५,–रहस्ये च————; न४, ग३, ६–रहस्यं च————; न५–रहस्येव————; न८–रहस्ये च विधानतः; ग२, ——क– × × × × ।

२१/१–ग२, क– × × × ×। २१/२–न२, ७, ८————लक्षितः; ग३–————लक्षिता; न५–चिह्नं तच्छुद्धिसूचकम् ; ग२, क– × × × ×। २१/३–ग३, क– × × × ×। २१/४–ग३– × × × जठरवर्त्तिनः ; क– × × × ×।

२२/१–न६–नादाभिवृद्धिरित्येते ;——क– × × × ×। २२/२–ग२–चिह्नं तस्य विबोधकम् ; ग३– आरोग्यं सिद्धिसूचकम्; ग४, न८–चिह्नं नाडयो (?चिह्नान्यादौ) भवन्ति हि; क– × × × × । २२/३–ग४–यावद्वै तानि————; न७–यावद्धयेतानि————; क– × × × × । २२/४–त, न३, ८, ग४, ५, ६–तावदेवं————; न१, ३, ४, ५, ७, ग१, २, ३, त– ————समभ्यसेत् ।

अत्र "न३" लेखे यत्किंचिदधिकं दृश्यते तन्न योगयाज्ञवल्क्यस्य कस्मिन्नपीतरहस्तलेखे न वा तस्य कस्मिन्नपि मुद्रिते संस्करणे । तथापि तदत्रोध्दृत्य दीयते ।

"स्कन्दे––अथवैतत्परित्यज्य स्वान्ध(?)-बुद्धिं समाचरेत् ॥२१॥ आत्मशुद्धः समादानीयः(?) सुखस्वरूपः स्वयं प्रभु(:) ॥२१॥ अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाद्बुध्दो विभात्ययं । अज्ञानपंकं यः-कश्चित्क्षालये(ज्)ज्ञानतो वतः (?नरः) ॥२२॥ स एव सर्वदा शुद्धो ज्ञानकर्मरतो द्विजः । न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ॥२३॥ कर्म कर्तव्यमित्येव नोधयेता(?)सुबुद्धितः ॥ इति श्री-याज्ञवल्कीये पंचमोऽध्यायः ॥"

"क" लेखे च १५ श्लोकानन्तरं लेखकस्य टिप्पणीर्वर्तते :–"तालपत्रं चतुष्टयं गलितमस्ति" इति ॥

षष्ठोऽध्यायः ॥

*याज्ञवल्क्य उवाच—

प्राणायाममथेदानीं प्रवक्ष्यामि विधानतः ।
समाहितमनास्त्वं च शृणु गार्गि वरानने ॥१॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥२॥

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचपूरककुम्भकाः ।
स (?य) एषः प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥३॥

*इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥४॥

षष्ठोऽध्यायः ।

*न३–श्रीभगवानु–॥ न१, २, ६, ७, ग१, २, त– × × × ×; न८–गार्गी–भगवन्ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद । प्राणायाम ममे(?–मथे–)दानीं प्रवदाशु समाहितः ॥ याज्ञवल्क्यः–; ग४–एवमेव, "प्राणायाममथेदानीं" इत्यादिस्तृतीयः पादः ; ग५–"याज्ञवल्क्यः" इत्येव । १/१–ग३ प्राणायामन्विवधा कि(?) ; क– × × × ×। १/२–ग४–प्रवदाशु समासतः ; क–× × × ×। १/३–न१–समाहितमना(स) त्वं च; न७————त्वं हि ; न६———— भद्रे ; ग५, ६————भूत्वा ; ग४, क– × × × ×। १/४–न१, २, ४, ७, ग३———— तपोधने ; ग४, क–× × × ×।

२/१–न१————समो योगः ; न३————समायोगे ; ग३———— समायोगात् ; क– × × × ×; न५–प्राणायामसमायोगः । २/२–न१————इतीरितम् ; क–× × × ×। २/३–ग२, ५, ६, न४–प्राणायामस्त्रिधा————; न८–प्राणायामस्त्रिधा चोक्तो ; क–× × × ×। २/४–न७————कुम्भकाः; न१, ५–रेचकुम्भकपूरकैः ; क–× × × × ।

३/१–न६–वर्णत्रयात्मके————; न२, ७, ग२, ६, क–× × × ×; त–एवं त्रयात्मका————। ३/२–ग३–केचित्पूरक————; न१————कुम्भकपूरकाः ; न२, ग२, ६, क–× × × ×। ३/३–न४, ग३–स एव————; न३–स एकः————; ग४–एतैश्च————; ग२–य एवं(?)प्रणवं प्रोक्तं(?) ; ग६, क–× × × ×। ३/४–ग६, क–× × × ×।

*न३–"स्कन्दे–प्राणायामेन चित्तं तु युक्तं भवति सुव्रते। चित्ते शुद्धे ततः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितम् ; न६–नासाग्रदृक् सदा सम्यक्चेले(?सव्ये) न्यस्ये(तरं)करम् । नासाग्रशशभृद्बिम्बं ज्योत्स्नाजालवितानितम् ॥ सप्तमस्य तु वर्णस्य (?वर्गस्य) चतुर्थं बिन्दुसंयुतम् । बिम्बमध्यस्थमालोक्य नेत्राभ्यां मनसा सह । न८, ग५, ६–एतेषु लेखेषु बहवोऽधिकाः श्लोकाः विद्यन्त इति ते षष्ठाध्यायस्यान्ते परिशिष्टे लिखिताः ।

४/१–न१, ६, ७, त–इडायां————; ग५, ६–आकृष्य श्वसनं बाह्यात् । क–× × × ×। ४/२–ग२–पूरयित्वोदरं ततः ; ग५, ६–पूरयन्निडयोदरं ; अत्राधिकाः श्लोकाः। (अध्यायान्ते परिशिष्टं पश्यताम्) । क–× × × ×। ४/३–क–× × × ×। ४/४– न४, त————संस्मरन् ; ग२–उकारं तत्र संस्मरन्; न३–उकारं तत्र संहरेत्(?); न६–उकारं तत्र संस्थितम् ; ग३–+कारं तत्र संस्मरेत् ; क–+ + + + ।

धारयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ठ्या तु मात्रया ।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥५॥

यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम् ।
पूरितं रेचयेत्पश्चात्प्राणं बाह्यानिलान्वितम् ॥६॥

शनैः पिंगलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
मकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥७॥

प्राणायामो भवेदेषः पुनश्चैवं समभ्यसेत् ।
*ततः पिंगलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ॥८॥

उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्सुसमाहितः ।
पूरितं धारयेत्प्राणं प्रणवं विंशतिद्वयम् ॥९॥

५/१–न३–धारयेत्प्रेरितं————; ग५–धारयेत्पूजिता(?)————; ग१, क–× × × × । ५/२–न३–चतुःषष्ठी(?)तु————; ग१, क– × × × × । ५/३–ग२–मकारमूर्ति————; ग४–अकारमूर्ति————; ग१, क–× × × ×। ५/४–ग४————न्प्रणवात्मकम् ; ग५–संस्मरेत्प्रणवं(?) जपेत् ; ग१, क– × × × ×।

६/१–ग१, क–× × × ×। ६/२–ग२–धारयेज्जप——; ग४, न८–धारयन्जप——; ग१, क–× × × ×। ६/३–ग४, न८–पूरितं रेचयेत्प्राणं ; ग१, क–× × × × । ६/४–न४, ग३————बाह्यानिलात्मकम् ; ग४, न८–पश्चाद्बाह्या————; ग१, क–× × × ×।

७/१–ग४, क– × × × ×। ७/२–ग४, क– × × × ×। ७/३–ग३–उकारमूर्ति–————; ग२–ध्यायन्नाडचक्षरं तत्र; ग६–ध्यायन्नन्त्याक्षरं तत्र ; ग१, ५, क–× × × ×। ७/४–न३, ६, ८, ग३, ४————सुसमाहितः ; ग२–रेचकः सुसमाहितः(?); ग१, ५, क–× × × ×।

८/१–ग२, क–× × × × । ८/२–ग१, ४, न४–पुनश्चैव————; ग२, क–× × × ×। *अत्राधिकः श्लोकः "न१, २, ५, ७" लेखेषु :—अनुलोमविलोमाभ्यां यथाशक्ति समाहितः । अकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं तथा ॥ 'त' लेखे चास्य प्रथमा पंक्तिरेव विद्यते ॥ ८/३–न६, ८, ग४–पुनः————; ग२, क–× × × ×। ८/४–ग२, क–× × × × ।

९/१–न५–उकारं (?उकार–)र्तिमत्रापि ; त–मकारमूर्ति———; न३, ४, ७, ८, ग६–अकार-मूर्ति———; ग२, क–× × × ×। ९/२–न३, ग५, ६–संस्मरेत्सुसमाहितः ; ग२, क– × × × × । ९/३–न४————————प्राणान् ; ग२–पूरितं धारयेत् जप्त्वा; क–× × × ×। ९/४–ग४–पूर्ववद्विंशतिद्वयम् ; न१, २, ५, ७————विंशतित्रयम्; क–× × × ×।

*जपेदत्र स्मरन्मूर्ति मकाराख्यं महेश्वरम् ।
यावद्वा शक्यते पश्चाद्रेचयेदिडयानिलम् ॥१०॥

†एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य पूर्ववत् ।
नाड्या प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥११॥

‡प्रणवेन सुसंयुक्तां व्याहृतीभिश्च संयुताम् ।
गायत्रीं च जपेद्विप्रः प्राणसंयमने त्रिशः ॥१२॥

पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्यात्पुनश्चैव त्रिसन्धिषु ।
यद्वा समभ्यसेन्नित्यं वैदिकं लौकिकं तु वा ॥१३॥

---

* इतः परं २३/१–२ पर्यन्तं 'ग२' लेखे ६.६५–७८।१।२ श्लोकाः पाठान्तरैर्युक्ता दृश्यन्ते ते श्लोकाश्च स्वस्थानेषु न सन्ति। इमे १०–२३/१–२ श्लोकाश्च तत्र समूलं कुत्राऽपि न सन्तीत्यवगम्यते।

१०/१–न१, २, ८, त————मूर्ध्नि; न७–जपेदेतत्स्मरेन्मूर्ध्नि; ग२, क–× × × ×। १०/२–ग३,–मकाराख्य महेश्वरी(?); ग४, ५–मकाराख्यां महेश्वरीम्; ग६–उकाराख्यं महेश्वरम्; न८–अकाराख्यं महेश्वरम् ग२, क–× × × ×। १०/३–न३————चैव; ग४, न८————तावत्; ग२, क–× × × ×। १०/४–न३–पश्चाद्रेचकयानिलम्(?); ग३–रेचते पिडयानिलम्; ग२, क–× × × ×।

†अत्र पाठान्तरत्वेन 'ग४' लेखे–अकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्पूर्वतत्तदा ॥
,, 'ग५, ६, न८' लेखेषु–मकार————तथा ॥

११/१–न६, ८–एवमेवं————; न३–एवमेतत्पुनः————; ग२, ४, क– × × × ×। ११/२–न१, ७, ग६————पूर्वपूर्ववत्; न४, ग३————पूर्वपूर्वतः; ग२, ४, क– × × × ×। ११/३–न६–यद्वा प्राप्यं(?)————; न१, २, ४, ५, ७, ग३–यथा————; त–यावत्प्राणं————; ग२, क– × × × ×। ११/४–ग५–पूरयित्वोदरे————; न३–पूरयंश्चोदरश्चितां(?); ग२, क–× × × ×।

१२/१–न२————सुसंयुक्तं(?); न४———— च संयुक्तं(?); न५, ग३, ६————तु संयुक्तां; न६————च संयुक्तां; न३————च संयुक्ता(?); न८————समायुक्तां; ग२, क–× × × ×। १२/२–न३, त————संयुता(?); न२, ४————संयुतम्; ग२, क–× × × ×। ‡ अत्राधिका पंक्तिः 'न८' लेखे–सशिरस्कां दोषहन्त्रीं सर्वार्थफलदायिनीम्। १२/३–न३–गायत्रीं वा————; ग५–————सशिरस्कां त्रिः; ग४, न८–गायत्रीं वा जपेदत्र; न४–मंत्रं वायोर्जपेद्विप्रः; ग३–वायुं(?) वायोर्जपेद्विप्रः; ग२, क– × × × ×। १२/४–न६, ८, ग४, ५————त्रयः; न३, ४, ग३, त————त्रयम्; ग१————त्रिभिः; ग६————जपेत्; ग२, क– × × × ×।

१३/१–न४, ५–पुनश्चैव——; ग६–पुनश्चैनं——; न३, ६————त्रिभिर्युक्तं; ग२, क– × × × ×। १३/२–न६, ७–पुनश्चैवं————; न३————त्रिसन्ध्ययोः(?); ग२, क– × × × ×। १३/३–ग१, न३, ६–यद्वा समभ्यसेन्मन्त्रं; ग५, ६–यावत्समभ्यसेन्नित्यं; ग२, क–× × × ×। १३/४–न३, ४, ६, ८, ग१, ३, ५————तथा; ग२, क– × × × ×।

प्राणसंयमने विद्वान्जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ।
ब्राह्मणः श्रुतसम्पन्नः स्वधर्मनिरतः सदा ॥१४॥

स वैदिकं जपेन्मन्त्रं लौकिकं न कदाचन ।
केचिद्भूतहितार्थाय जपमिच्छन्ति लौकिकम् ॥१५॥

द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तः प्राणसंयमने जपः ।
वैश्यानां धर्मयुक्तानां स्त्रीशूद्राणां तपस्विनाम् ॥१६॥

प्राणसंयमने गार्गि मन्त्रं प्रणववर्जितम् ।
*नमोन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वेष्यते बुधैः ॥१७॥

यद्वा समभ्यसेच्छूद्रो लौकिकं विधिपूर्वकम् ।
प्राणसंयमने स्त्री च जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ॥१८॥

१४/१–न४–प्राणसंयमनो(?)————; ग२, क– × × × ×। १४/२–न३–जपेत्तत्त्रिंशतद्वयम् ; ग२, क– × × × ×। १४/३–न१, ५, ६, ७, ८, ग५————श्रुतिसंपन्नः ; ग२, क– × × × ×। १४/४–ग२, क– × × × ×।

१५/१– न१, ५, ७–स्ववैदिकं————; न३–सा(?) वैदिकं————; ग३–न वैदिकं————; ग२, क– × × × ×। १५/२–न१, ७–लौकिकं च————; ग२, क– × × × × । १५/३–न७–केचिद्भूतिहितार्थाय ; ग२, क– × × × ×। १५/४–ग२, क– × × × ×।

१६/१–न३–द्विजस्य(?)क्षत्रियस्योक्तः ; ग२, क– × × × ×। १६/२–न१————————यमः ; ग३————————जसः(?); ग२, क–× × × × । १६/३–न८————युक्तधर्माणां ; ग२, क–× × × × । १६/४–ग४–शूद्राणां तु————; ग२, क–× × × ×।

१७/१–न३–प्राणसंयमनं——; ग२, क– × × × ×। १७/२–न३, ४, ६–मन्त्रः प्रणववर्जितः ; ग२, क–× × × × । *न४, ग३–अत्राधिका पंक्तिः–न वैदिकं भवेच्छूद्र-(?जपेच्छूद्रः) स्त्रियश्च न कदाचन । १७/३–ग३–नमोन्तं नाममात्रं वा ; न३–विध्युक्तः शिवमंत्रो वा ; ग२, क–× × × ×। १७/४–न१–वैष्णवैर्वा तथा—; न३–वैष्णवश्चेष्यते——; न५, ग३————वैष्णवं चेष्यते——; न६–वैष्णवं जप्यते——; ग५–वैष्णवं वा यदिष्यते; ग२, क– × × × ×।

१८/१–२–एतौ द्वौ पादावेकत्र चिन्तनीयाहौं । ग्रन्थे स्वीकृतः पाठः–'न१, २, ४, ५, ६, ग३, ६, त' लेखेषु विद्यते ; न३————समभ्यसन्शूद्रो————; ग१, ६, न७————च्छूद्रस्त्वार्षकं————; न८————च्छूद्रःस्वारिषं(?)————; ग४————समभ्यसेत्मन्त्रं त्वार्षं (तु)————; ग२, क– × × × × × × × ×। १८/३–ग५————स्त्रीवृत्(?) ; ग२, क– × × × ×। १८/४–न३–जपेत(?त्त–) द्विंशतिद्वयम् ; ग२, क–× × × ×।

न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्च न कदाचन ।
स्वाश्रमस्थस्य वैश्यस्य केचिदिच्छन्ति वैदिकम् ॥१९॥

सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं गायत्र्या प्रणवेन वा ।
प्राणसंयमनं कुर्याद्ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२०॥

नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥२१॥

*ऋतुत्रयात्पुनन्त्येनं जन्मान्तरकृतादघात् ।
वत्सराद्ब्रह्महा शुद्ध्येत्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ॥२२॥

योगाभ्यासरतास्त्वेवं स्वधर्मनिरताश्च ये ।
प्राणसंयमनेनैव सर्वे मुक्ता भवन्ति हि ॥२३॥

१९/१–ग२, क– × × × × । १९/२–ग२, क– × × × × । १९/१–२-एषैव पंक्तिः 'न४, ग३' लेखयोः किंचित्पाठान्तरेण १९/१–२, १९/३–४ पंक्तयोरन्तरालेऽपि विद्यते । १९/३–ग२, क– × × × × । १९/४–ग२, क– × × × × ×।

२०/१–ग२, क– × × × ×। २०/२–न२–गायत्री————; न४, ८———— प्रणवेन च ; न६————प्रणवेन ह ; ग२, क– × × × × । २०/३–ग३–प्राण-संयम सा——(?) ; ग२, न६, क– × × × ×। २०/४–ग२, न६, क– × × × ×।

२१/१–ग२, न६, क–× × × ×। २१/२–न३–प्राणायामांस्तु————; न५, ग३–प्राणायामस्तु————; ग२, न६, क– × × × × । २१/३–न८————भ्रूण-हतं(?-हनं)————; न३————भ्रूणहननं पापात् ; ग२, न६, क– × × × ×। २१ ४–ग३–पुनात्यहरहः (?पुनात्यहरहः)————; ग२, न६, क– × × × × । ———*'न३' लेखेऽत्राधिकः श्लोकः–ब्रह्महत्यादिभिर्दोषैर्मुच्यते मासमात्रतः । षण्मासाभ्यासतो विप्रो वेदनेच्छा–(?च्छा–)मवाप्नुयात् ।

२२/१–न१, २, ७, ८————त्पुनन्त्येव ; न५–तापत्रयात्पुनन्त्येव ; न४–पापत्रयात्पु-नन्त्येनं; ग४–ऋतुत्रयात्पुनन्त्येवं; ग२, न६, क– × × × ×। २२/२–न४———— कृताश्च वै; ग३————कृताश्च ये; ग४————कृता अपि; ग२, न६, क–× × × ×। २२/३–ग्रन्थे यः पाठः स्वीकृतः स 'न१, ५, ७, लेखेष्वेव विद्यते । अन्येषु लेखेषु यानि पाठान्तराणि दृष्यन्ते तानि :——त–वत्सरादब्रह्महा विद्वान् ; न४, ग३————द्ब्रह्महापि स्यात्; न२——————द्बहुधा शुद्धयेत् ; न३, ग६————द्ब्रह्मविद्वान्स्यात् ; ग१, ४, ५————द्ब्रम्हविद्वास्यात्; न८————द्ब्रह्मवित्तु स्यात्; ग२, न६, क– × × × × ×। २२/४–ग२, न६, क– × × × ×।

२३/१–न१, ४, ५, ७————रताश्चैव; न३————रताश्चेव (?श्चैव); ग५, न८————रताश्चैवं; न६, क– × × × ×। २३/२–न६, क–× × × ×। २३/३–न६, क– × × × ×। २३/४–ग३–सर्वे युक्ता——; ग५, ६–जीवनमुक्ता——; न६, क– × × × ×।

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ॥२४॥

*बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ।
प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ॥२५॥

कम्पको मध्यमः प्रोक्त उत्थानश्चोत्तमो भवेत् ।
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसम्भवः ॥२६॥

सम्भवत्युत्तमे गार्गि प्राणायामे सुखी भवेत् ।
प्राणो लयति तेनैव देहस्यान्तस्ततोऽधिकः ॥२७॥

देहश्चोत्तिष्ठते तेन कृतासनपरिग्रहः ।
निःश्वासोच्छ्वासकौ तस्य न विद्यते कथंचन ॥२८॥

२४/१–न४–बाह्यस्य वायोर्हृदये; क– × × × ×। २४/२–न३————पूरके (?) हि सः; न६————रुदरे पूरितो भवेत्; न४–पूरणात्पूरको हि सः; क– × × × ×। २४/३————कुंभ–(व–)द्वायो—; ग२————वत्कुक्षौ; न१————वद्वायुः—; ग५————कुम्भके वायो– ; न४–पूर्णकुंभो भवेद्वायो—; ग३–बाह्याद्वा पूरणं वायोः– ; क– × × × ×। २४/४–न८–धारणं कुम्भवद्भवेत् ; ग२–धारणे————; न४——र्धारणे————; न६———रुदरे————; ग३———र्धारणं————; न१–धारणं————; क– × × × ×। *न८–बहिर्यद्रेचनं वायोर्धारणं कुम्भको(?)भवेत्–इत्यधिका पंक्तिरत्र ।

२५/१–ग३–बहिर्यद्रेचनं——(?) ; न२–बहिर्विरेचनं————; क– × × × ×। २५/२–ग२—रुदरास्त्रिजकश्चन(?); न४———हृदयाद्रेचको हि सः ; ग३–उदरो(?)रेचको हि सः; ग४————रुदराद्रेचकं(?)ततः ; न२———रुद्गाराद्रेचकः————; क–× × × ×। २५/३–ग३————————जनको यस्स; ग२, क– × × × ×। २५/४–न२, ५, त–प्राणायामस्तु————; ग३– × × × सो × दः(?); ग२, क– × × × ×।

२६/१–न१, २, ४, ५, ७, त, ग४–कम्पनान्मध्यमः————; न३, ६, ग५, ६–कम्पनो————; न८–कम्पनं मध्यमः————; ग२, क– × × × ×। २६/२–न१, २, ४, ५, ७–उत्थानाच्चोत्तमो————;ग३———उत्थानाचो–(?च्चो–) त्तमो————; ग४, न८–उत्थानं चोत्तमो————; न३–उत्थितश्चोत्तमो————; ग२, क– × × × ×। २६/३–ग२, ३, क– × × × ×। २६/४–न५————सम्भवेत्(?) ; न६——संन्नमः(?) ; ग४————सम्भवम्(?) ; ग२, ३, क–× × × × ।

२७/१–ग३, क– × × × ×। २७/२–न४————सुखं——; न३——प्राणायामसुधीर्भवेत्(?); न३, क– × × × ×। २७/३–ग४–प्राणो लीयेत————; ग३–प्राणालयेति(?)————; न८–प्राणा लयन्ति————; क– × × × ×। २७/४–ग२, न३, ६, ग५, ६, त्रि. पु., मु. पु., क. पु.–देहस्यान्तस्ततोऽधिकः ; ग२, न८, मुं पु., न. पु.– देहस्यान्तस्ततोऽधिकम् ; न१, ४, ५–देहःस्यात्तपनाधिकः ; न२, ६, त————त्तापनाधिकः ; ग३–देहस्याभवनायक(?) ; क– × × × ×।

२८/१–न३–देहस्योत्तिष्ठते(?–श्चोत्तिष्टते)–; न६–देहस्य तिष्ठते(?)—; क– ××××। २८/२–ग२–त्यक्तासन(?)————; न२–कृतासनपरिग्रहात् ; क– × × × ×। २८/३–न३–निःश्वासोच्छवासको(?)तस्या(?); ग३–निःश्वासोच्छवासका(?)————; क–× × × ×। २८/४–ग६, न८——कदाचन ; न३–नि(?)विद्यते कथंचन ; क– × × ×।

देहे यद्यपि तौ स्यातां स्वाभाविकगुणावुभौ ।
तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि ॥२९॥

तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कर्तुं केवलकुम्भकम् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥३०॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
रेच्य चापूर्य यः कुर्यात्स वै सहितकुम्भकः ॥३१॥

सहितं केवलं चाथ कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥३२॥

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरणवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥३३॥

२९/१–क– × × × ×। २९/२–क– × × × ×। २९/३–न१———स्तस्य ; ग२–तथापि तस्य तौ न स्तः ; न३–तथापि न तपस्यास्ते(?); ग३–तथापि न × × त–(?); न५, क– × × × ×। २९/४–ग२———————तु ; ग३———स्तेन प्राणायमेन हि; ग४–प्राणायामोत्तमोत्तमे; न१, २, ७– प्राणायामैः स्वमेव हि; न५, क–× × × ×।

३०/१–न५–तयोर्नाशं(?)———; न३–तयोर्नाशं समर्थ(:)———;ग३-तयोर्नादः(?)समर्थस्य(?); ग५–तयोर्नान्यः———; न८———सुवृद्धः———; क– × × × ×। ३०/२–न३———केवलकुम्भकैः(?); ग३– + + केवल + +; क–× × × ×। ३०/३–न१———मत्त्वा(?) ; ग५———हित्वा(?); क– × × × ×। ३०/४–न३, ४, ग३, ६–यदस्मिन्वायुधारणम्; न१, २, ५, ७, ८, ग५–यदास्मिन्वायु———; ग४–ययास्मिन्वायु———; ग१–यत्स्थित्वा———; ग२–यत्तु स्याद्वायु———; न३–यस्मिन्वा वायु———; क– × × × ×।

३१/१–न३–प्राणायामो नित्ययुक्तः(?); ग२–प्राणायामस्य विध्युक्तः(?); क–× × × ×। ३१/२–न३–सर्वे———(?); न४–सर्वकेवलकुम्भकः(?); न८–सर्वैः———(?); ग२–तत्स्यात्केवल———; क– × × × ×। ३१/३–न१, २, ५, ७———चापूरयेत्कुंभान्; ग३———यः कुम्भः(?) न४———यः + +; न३–विरेच्यापूरये + + +; ग२, ५, ६, क– × × × ×। ३१/४–न३–सर्वे(?)———; त———विहित———; ग२, ५, ६, क– × × × ×।

३२/१–न१, २, ग१, २, त———वाथ ; न४, ग५, ६———वापि ; ग३–———बाह्यं(?); न३–आत्मन्यात्मानमारोप्य; क– × × × ×। ३२/२–ग४–कुम्भके———; क– × × × ×। ३२/३–न३———सिद्धि(:)———; क– × × × ×। ३२/४–ग६–तावदेवं समभ्यसेत्; क–× × × ×।

३३/१–न१, ५, ८, ग१–केवलं कुम्भके × ×; न३–केवलं कुम्भकं(?)——; ग२–केवलः कुम्भकः सिद्धो; क– × × × ×। ३३/२–ग३, ४, ६–रेचपूरक———; ग२–रेचपूरकवर्जितः ; क–× × × ×। ३३/३–४– क–× × × ×।

मनोजवत्वं लभते पलितादि च नश्यति ।
मुक्तेरयं महामार्गो मकाराख्यान्तरात्मनः ॥३४॥

नादं चोत्पादयत्येषः कुम्भकः प्राणसंयमः ।
प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणस्य धारणम् ॥३५॥

एषः प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ।
किंचित्प्राणजयोपायं तव वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥३६॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥३७॥

धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु सर्वदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ॥३८॥

३४/१–त–मनोजयत्वं————; क– × × × ×। ३४/२–न३, ५, ग५, ६———— विनश्यति ; न३–स्खलितादि च——(?); ग३–वदितादि च————(?); न८–पटुतादि च ————; क– × × × ×। ३४/३–न८, क–× × × ×। ३४/४–न१, २, ५, ग६–मकाराख्योऽन्तरात्मकः ; न३–भकाराक्षोंतरात्मकः(?) ; ग४–मकाराख्यो हठात्मकः(?) ; ग५–मकाराख्योऽन्तकात्मकः; न७–मकाराख्योंतरात्मकः(?) ; न८, क– × × × ×।

३५/१–त, ग२, न५————चोत्पादयत्येव ; न८–नादं च स्वादयत्येषः(?) ; ग१–ज्ञानं चोत्पादयत्येषः; क– × × × ×। ३५/२–त————प्राणसंयमात् ; न३———— प्राणसंयुतः; ग५, ६–ज्ञेयः केवलकुम्भकः; न८–कुम्भकः केवलो हि तः(?सः); क–× × × ×। ३५/३–ग५, ६–प्राणसंयमनो————; क– × × × ×। ३५/४–ग२–भवत्प्राणादि × × (?) ; ट————धारणी(?) ; क– × × × ×।

३६/१–न३, ५, ६, ७, ग४, ५–एष(:)————; ग६–एव————; ग३– विषप्राण——(?); क–× × × ×। ३६/२–न४–स स्यान्मृत्यूपघातकः(?); क– × × × ×। ३६/३–न१, ५––कंचित्प्राण————; ग६–कश्चित्प्राण————; न८–किं च————; ग२————जयोपायः ; न४————जयोपायः; क– × × × ×। ३६/४–ग२– ––स्तव———— ; न४————सत्वं(?)————; क– × × × ×।

३७/१–ग२–बाह्याद्वायुं————; न४–बाह्यं प्राणं————; ग३–बाह्यप्राणं————; न८––बाह्यप्राणान्समाकृष्य ; क– × × × ×। ३७/२–ग६–पूरयित्वोदरे स्थितः; क– × × × ×। ३७/३–क– × × × ×। ३७/४–न३–पादागुष्टेषु(?)————; क– × × × ×।

३८/१–ग३————मनसा साव्य(?); ग४–धारयन्मनसा——; क– × × × ×। ३८/२–न६, ७, ग५————वा सदा ; न५————वै सदा; न४, ग३———— वा तदा; क– × × × ×। ३८/३–४–न६–सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात्; न४–तदेव लिखितमासीत्तथापि पीतरंगेन विलोपितं दृश्यते तस्य स्थाने च न किंचिदन्यत्प्रतिनिधापितम् । ३८/३–ग२–सर्वदोषविनिर्मुक्तो ; क–× × × ×। ३८/४–ग४–जीवेद्दीर्घं————; न८– जीवे + र्षं गतश्रमः (?); क–× × × ×।

*नासाग्रे धारणं गार्गि वायोर्विजयकारणम् ।
सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात् ॥३९॥

शरीरं लघुतां याति पादाङ्गुष्ठे च धारणात् ।
रसनावायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः ॥४०॥

श्रमदाहौ न तस्यास्तां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ।
सन्ध्ययोर्ब्राह्मकाले वा वायुमाकृष्य यः पिबेत् ॥४१॥

त्रिमासात्तस्य कल्याणि जायते वाक्सरस्वती ।
षण्मासाभ्यासयोगेन महारोगैः प्रमुच्यते ॥४२॥

आत्मन्यात्मानमारोप्य कुण्डल्यां यस्तु धारयेत् ।
क्षयरोगादयस्तस्य नश्यन्तीत्यपरे विदुः ॥४३॥

---

*अत्र "न३" लेखे विशेषः श्लोकः–इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् (?–यन्) । यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥

३९/१–ग४, ५–नासाग्रधारणं————; क– × × × ×। ३९/२–क– × × × ×। ३९/३–४–न४–एषा पंक्तिर्लिखित्वा पीतरंगेनाच्छादिता दृश्यते । ३९/३–क– × × × ×। ३९/४–न३, ६, ग४, ६————तु धारणात्; क– × × × ×।

४०/१–न२, ग१–शरीरलघुतां————; ग३–शरीरलघुतां——; क– × × × ×। ४०/२–क– × × × ×। ४०/३–न५, ग३, त–रसनां वायु————; ग२–रसज्ञया समारोप्य ; न४–रसज्ञां तालुमारोप्य ; ग५, न८–रसनाद्वायुमाकृष्य ; न ७–अपः शरीरमारोप्य ; क– × × × ×। ४०/४–क– × × × ×।

४१/१–ग६, क————च न स्यातां ; ग४————न तस्यास्य(?) ; न८–श्रमदाहो न तस्यास्य(?) ; न४–श्रमदाहो न तस्यास्ति ; न१–श्रमदाहौ न तस्य स्तां ; ग१, ५, न४————न तस्य स्तो ; न७–श्रमो दाहो————; न३– × × × ×। ४१/२–न५–नश्येति(?)————; न३– × × × ×। ४१/३–न१,४, ६————ब्रह्मकाले वा ; ग६, क————ब्राम्हणः काले ; न८————बाह्मकाले च ; न३– × × × ×। ४१/४–ग४–वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः(?) ।

४२/१–न४, ग३————तस्य कल्याणं । ४२/४–न२, ३, ६, ७. ग१, ३, त, क–महारोगात्————।

४३/१–न४–आत्मानं स्थान————(?) ; ग४–आत्मन्यमुं समारोप्य। ४३/२–त, न३–कुण्डलिन्यां तु———— ; न४, ग३, ५, ६–कुण्डल्या————। ४३/४–ग२————————जगुः ; न८, क–नश्यन्तीत्यब्रुवन्विदः ।

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयन् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते ॥४४॥

आत्मन्यात्मानमिडया समानीय भ्रुवोन्तरे ।
पिबेद्यस्त्रिदशाहारं व्याधिभिः स विमुच्यते ॥४५॥

*नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ वा तुन्दपार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः सोऽभिमुच्यते ॥४६॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
†पिबेद्यस्त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥४७॥

४४/१–न२, ५, ७, ग३–जिह्वायां————; ग१– × × × × । ४४/२–अत्र स्वीकृतः पाठो 'ग४' लेख एव विद्यते, सर्वेष्वन्येषु लेखेषु सर्वेषु मुद्रितपुस्तकेषु तु————निरोधयेत्–इति पाठस्तथापि ग्रन्थसन्दभ स न समीचीन इति न स्वीकृतः। ग१– × × × × । ४४/३–ग२–स पीत्वामृतं————; ग४–पिबेत्तदमृतं————; ग१– × × × × । ४४/४–न३–त्रिकालं————; ग१– × × × × ।

४५/१–ग२–समीरमिडचापूर्य ; ग१– × × × × । ४५/२–न१, २, ४, ५, त–समानीयांतरे भ्रुवोः ; न३–समानीय भ्रुवोन्तरात् ; ग३–समानीयांतरे भ्रुवौ(?) ; न८–सहानीय भ्रुवोंतरे(?) ; ग५, ६–धारयित्वा भ्रुवोन्तरे ; ग२–संस्थाप्य भ्रूयुगान्तरे ; ग१– × × × × । ४५/३–न६————यस्त्रिदशाहारो(?) ; न३–यःपिबेदमृताहारं । ४५/४–न१, २, ३, ग१, त————सोऽपिमुच्यते; न४————सोऽभिमुच्यते ; न८, क–व्याधिभिः सुविमुच्यते ; न६–व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ; न५–विधिः(?)सोऽपि———— ।

*४६–४७ श्लोकान्तर्गतानां पंक्तीनामस्तित्वं पौर्वापर्यं च न निश्चयपूर्वकं निर्णेतुं शक्यते । तद्विषये लेखा द्विधा विभज्यन्ते । ४६/१–४ श्लोकः "न१, २, ५, ७, ग१, त" लेखेषु समूलो नास्ति, तस्य स्थाने च "न१,२,५, ७, ग१ लेखेषु ४७/१–२ अस्ति, तेभ्यश्च "न१, २, ग१" लेखेषु च तदनन्तरं "धारयेद्वत्सरार्धं वा तदर्धं वा प्रभंजनम्" इत्यधिका पंक्तिर्विद्यते ; "न३" लेखे तत्र प्रथमा पंक्तिर्नास्त्येव तथापि सा स्वस्थाने विद्यते तदनन्तरं च द्वितीयाऽप्यस्ति, "न४, ६, ग२, ३, ४, ५, ६, क" एतस्मिल्लेखगुच्छे च सा कुत्रापि नास्त्येव ; "न८" लेखे ४६/१–४ ; ४७/१–४ सन्ति तेनैव क्रमेण तदनन्तरं च "एडन्यस्तुन्दमध्ये वा (?) नाभौ वा पार्श्वयोस्तु वा" इत्यधिका पंक्तिस्तदनन्तरं च "धारयेद्वत्सरार्धं वा————————इत्यप्यस्ति । ४६/१–ग२————वायुमाकृष्य ; न८————वायुमापूर्य ; न१, २, ५, ७, ग१, त– × × × × । ४६/२–ग६————तुन्दस्य पार्श्वयोः ; न१, २, ५, ७, ग१, त– × × × × । ४६/३–न३–प्रपिबेंदों वदेद्यस्तु(?); न१, २, ५, ७, ग१, त–× × × × । ४६/४–ग३, ४, ५, ६, न८————स विमुच्यते ; न३————सोऽपि मुच्यते ; न१, २, ५, ७, ग१, त– × × × × ।

४७/१–ग२————तु त्रिसन्ध्यासु ; त– × × × ×। ४७/२–त– × × × ×। * न१, २, ३, ग१, २–अत्राधिका पंक्तिः–धारयेद्वत्सरार्धं वा तदर्धं वा प्रभंजनम् । ४७/३–न३–पिबेद्यस्तुंडमध्ये वा(?) ; न४, क– × × × × । ४७/४– न६–धारयंस्तुंदमध्यमे ;ग३–धारयेद्गुदमध्यमे ; न३–नाभौ वा पार्श्वयोस्तु वा ; न४, क– × × × ×।

गुल्माष्ठीला प्लीहा चान्ये त्रिदोषजनितास्तथा ।
तुन्दमध्यगता रोगाः सर्वे नश्यन्ति तस्य वै ॥४८॥

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
बहुनोक्तेन किं गार्गि पलितादि च नश्यति ॥४९॥

४८/१–अस्य चरणस्य पाठो यथोपरि स्वीकृतस्तथा न कस्मिन्नपि लेखे न वा मुद्रितपुस्तके विद्यते । मुद्रितपुस्तकेभ्यो त्रिवेन्द्रम्मुद्रिते "गुल्माषी वा प्लीहा चान्याः" इति यः स्वीकृतः पाठस्तत्र "गुल्माषी" इति शब्दोऽर्थहीन इव दृश्यते ; कोशे "अषी" "आषी" वा इति न कोऽपि शब्दो विद्यते, "अन्याः" शब्दे च व्याकरणदोषो दृश्यते। मुरादाबाद–कलिकातामुद्रितयोः "गुल्मप्लीहोदरं चान्ये" इति यः पाठः" सोऽपि दोषयुक्तः; "गुल्मप्लीहोदरं "इत्यत्र "उदरं" न कस्यापि रोगस्य नाम, समासान्ते नपुंसकलिंगस्यैकवचनप्रत्ययश्च न युक्तो ग्रन्थसन्दर्भे । मोहमय्यां मुद्रितपुस्तके "गुल्फप्लीहोदराश्चान्ये" इति यः पाठः सोऽपि न युक्तः, 'गुल्फम्' इत्यवयवस्य, न कस्यापि रोगस्य नाम ; 'उदरम्' इत्यपि न रोगस्य नाम । नडीआदपुस्तके 'गुल्मप्लीहोदराश्चान्ये' इति यस्तत्रापि समासान्ते "उदरम्" शब्दोऽस्त्येव। षोडश हस्तलेखेषु पंक्त्याः प्रथमषडक्षराणां १२ भिन्नभिन्न पाठाः; अन्त्याक्षरद्वयस्य च १० भिन्नभिन्न पाठाः दृश्यन्ते । तेषां समन्वये कृते सति किंचित्संशोधनेन च पंच पाठा आप्यन्ते, तेः–"ग१, ३, ४, ५, ६, न६, ८, त, क–गुल्माष्टीला प्लीहा ; न१, २, ५, ७–गुल्ममाला प्लीहा ; न३–गुल्मप्लीहा जरा ; न४–गुल्मादिनि लोम्नि वा ; ग२–गुल्फे निष्टावति, इति । तेभ्यः प्रथमः "ष्ट" स्थान "ष्ठ" निवेशनाद्यो लब्धः स स्वीकृतोऽत्र । अन्त्याक्षरद्वयस्यापि तथैव समन्वये कृते सति १० पाठा अवशिष्यन्ते, तेः–ग६–जन्यः; ग५–जान्य ; न१–वान्य ; ग३–वान्ये ; न७–वान्या ; न२ ५ वान्यान् ; ग१, त–चान्याः ; न३, ४, ८, ग४, क–चान्ये ; ग२–च यत् ; न६–हा वांता इति। तेभ्यः श्लोकस्य द्वितीयायां पंक्त्यां "रोगाः" शब्दो वर्तते इति स पाठो ग्रणार्हो भवति येन प्रथम चरणस्य द्वितीयेन सम्बन्धो युज्येत । तस्मात् "चान्ये" किं वा "वान्ये" पाठः समीचीनो भवति । तत्र "गुल्मः–" पंचप्रकारो रोगविशेषः ; "पंच गुल्मा इति वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः पंच प्लीहदोषाः इति गुल्मैर्व्याख्याताः" इति चरकसंहितायां १.१९.४ सूत्रे कथितत्वात् । "अष्ठीला", अपि द्विप्रकारो रोगविशेषः, "उत्तरापथे दीर्घवर्तुलग्रावाणविशेष इत्येके, चर्मकाराणां वर्तुलदीर्घा लौही भाण्डिरित्यपरे (डल्हणं)" इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने १.८७-८८ श्लोकयोरुपरि टीकाकारस्य वक्तव्ये। तस्याः प्रकारौ "वाताष्ठीला" (१.८७,) प्रत्यष्ठीला" (१.८८) चेति वर्णितौ सुश्रुतेन। "प्लीहा" शब्दस्यार्थो प्लीहाविवर्धनं नाम रोग इत्यपि भवतीति शब्दकोशेभ्यः प्रतीयते। एवं गुल्म, अष्ठीला, प्लीहा, रोगाः, अन्ये च त्रिदोषजनितास्तुन्दरोगाः अधस्तात्कथितेन प्राणनिरोधनाभ्यासेन नश्यन्तीत्यर्थफलदायको प्रथमचरणस्य पाठः "गुल्माष्ठीला प्लीहा चान्ये" इति संगृहीतोऽस्मिन्ग्रन्थे । "जन्याः" इति पाठो न कुत्रापि विद्यते। यद्यपि सोऽपि समीचीनो भवेन्, यदि "गुल्म", "अष्ठीला", "प्लीहा" शब्दाः शरीरावयववाचका भवेयुः। तेभ्यः "गुल्म", "प्लीहा" च शब्दौ तद्वाचकौ स्तस्तथापि तौ पर्यायशब्दौ भवतस्तेन पुनरुक्तिदोष आगच्छति । तस्मात् "ग६" लेखान्तर्गतः "जन्यः" इति पाठो "जन्याः" इति बहुवचनप्रत्ययान्वितस्य मूलशब्दस्य विकृतिरिति मत्त्वा न संगृहीतः ॥

४८/२–ग३–तुन्दमध्यगतो रोगो(?) ग४–तुन्दमध्ये महारोगाः । ४८/४–न१, २, ५, ७–सर्वे नश्यन्ति किल्बिषाः; ग२————————तत्क्षणात् ।

४९/१–ग५–रुजः————————; ग२–ज्वरानल्पा(?)———————— ; ग४————सर्वेऽपि नश्यन्ति । ४९/३–ग४–किमत्र बहुनोक्तेन । ४९/४–न१, २, ग१, २, त, न८, क–पलितानि च(?)————————; न३, ४————————विनश्यति ; ग५–पलितं च विनश्यति ; न५, ७ ग६–नश्यंति पलितानि च ; ग५–किं गार्गि फलितेन च ।

एवं वायुजयोपायः प्राणस्य तु वरानने ।

शक्यमासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥५०॥

करणानि वशीकृत्य विषयेभ्यो बलात्सुधीः ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन समाहितः ॥५१॥

*हस्ताभ्यां बन्धयेत्सम्यक्कर्णादि करणानि च ।
अङ्गुष्टाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां च चक्षुषी ॥५२॥

नासापुटौ मध्यमाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ।
आनन्दानुभवं यावत्तावन्मूर्द्धनि धारयेत् ॥५३॥

५०/१–न४, ग५, ६–एष वायोर्जयोपायः ; ग२–एवं वायुजयो यस्य(?) ; ग४–ध्रुवं वायोर्जयोपायः । ५०/२–ग६, क–प्राणस्य च————————; न५, ७–प्राणस्य तु समाहितः ; ग२–प्राणस्तस्य समाहितः । ५०/३–ग२–दिव्यमासन————; न६–स्वस्तिकासन————; न३–शक्यते मास(?)————; ग३– × × × × । ५०/४–न५, ७————मनस्तथा ; ग५, ६, क————मनाःसती ; न४————मनास्तदा ; ग४————मनाः सदा ; ग३– × × × × ।

५१/१–ग३– × × × × । ५१/२–ग४————बलात्सुखी; ग२———— क्रमात्सुधीः; ग३–× × × × । ५१/३–त–अपानमूर्ध्निमाकृष्य(?) ; न३–अपानमूर्द्धा————; ग४————————मूर्ध्नि————; ग३– × × × × । ५१/४–ग२–प्रणवे सुसमाहितः ; ग–६–प्राणं तत्रैव धारयेत् ; ग५–वायुमार्गविधानकम् ; क–वायुमार्गवितातकृत्(?) ; ग३– × × × × । *अत्र केषु लेखेष्वधिका पंक्तिः । सा च—न६, ग५, ६, त–वन्हिस्थाने निरुद्धयैनं प्राणं तत्रैव धारयेत् ; 'क, न८' लेखयोः सा विद्यत एव, तदुपरि च तस्याः पाठान्तरं–"बस्तिस्थाने निरुद्धयैनं प्राणं तत्र निरोधयेत्" इत्यपि दृश्यते ; : ।

५२/१–न३————धारयेत्सम्यक् ; ग३– × × × × । ५२/२–न१, ४, ५, ग२–शब्दादि————; ग३– × × × × । ५२/३–न५————————मुभौ श्रोत्रौ(?) न६, ८————मुखे(?)श्रोत्रे ; ग४————तथा श्रोत्रे । ५२/४–न३–तर्जनीभ्यां तु————— ।

५३/१–न१, २, ३, ७, ग२,–नासापुटे————; ग४, न८–नासापुटं————; ग१–————————वधान्याभ्यां ; त, ग२————च मध्याभ्यां ; न६————वधानाभ्यां(?); न३————तथा नाभ्यां। ५३/२–न८————करणानि च ; न३————————करणाद्य वै(?) । ५३/३–ग१, ३, ४, ६, न८–आनन्दाविर्भवं————; न१, २–आनन्दाप्तिर्भवेद्यावत्; त–आनन्दादि भवेद्यावत्; ग२–आनन्दाद्युद्भवो————; न३–आनन्दाविर्भवो————; न५–आनन्दानुभवेद्यावत् ; न६–अनादादिर्भवं(?)————। ५३/४–ग६–तावन्मूर्धनि रोधयेत् ; ग४–तावन्मूर्धनि चानयेत् ।

प्राणः प्रयात्यनेनैव ततस्त्वायुर्विघातकृत् ।
ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्णायां मृणालान्तरसूत्रवत् ॥५४॥

नादोत्पत्तिस्त्वनेनैव शुद्धस्फटिकसन्निभा ।
आमूर्ध्नो वर्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः ॥५५॥

शंखध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ।
व्योमरन्ध्रे गते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा ॥५६॥

व्योमरन्ध्रे गते वायौ चित्ते चात्मनि संस्थिते ।
तदानन्दी भवेद्देही वायुस्तेन जितो भवेत् ॥५७॥

योगिनस्त्वपरे ह्यत्र वदन्ति समचेतसः ।
प्राणायामपराः पूता रेचपूरणवर्जिताः ॥५८॥

५४/१–ग३–प्राणं(?)————; न५–प्राण(:)————। ५४/२–न१, २, ५, ग६–ततश्चायुर्विघातकृत् ; न३–तत आयु————; न६–ततस्यायु(?)————; न८–ततश्चायुर्विघातकः । ५४/४–न४, ग३–मृणालस्यांतसूत्रवत् ।

५५/१–"नालोत्पत्तिस्त्वनेनैव" इति पाठः, "त, ग२, ६," लेखेषु, शिष्टेषु सर्वेषु तु "नादोत्पत्ति————" इति; मुद्रितपुस्तकेभ्यो त्रिवेन्द्रम्पुस्तक एव प्रथमः, चतुःस्वीतरेषु च द्वितीयः। तयोः को मूल आसीदिति निर्णेतुं न शक्यते यतो यद्यपि द्वितीयायां पंक्त्यां ५६ तमे श्लोके च नादस्यैव वर्णनं विद्यते तथापि नादोत्पत्तिः "शुद्धस्फटिकसन्निभा" कथं भवेदिति न कल्पनाक्षमम् । द्वितीय चरणे ये पाठभेदास्तेऽपि न तत्करणे सहायभूताः । ५५/२–ग२————सन्निभम् ; न१, २, ४, ५, ६, ८, ग१, ३, ४, ६, क————सन्निभः । ५५/३–न१–आमूर्धो(?)————; ग५–आमूर्ध्नि————; ग३–आमूर्धा————; ग२–आमूलो वर्धते नाड्या(?) ; ग४–आमूर्ध्नो वतर्त धीरो ; न२————वर्धते————। ५५/४–ग२————दुत्थितम् ; ग६, क————समुत्थितः ; न८————समुद्भवः ; न६–वीणानादवदुत्थितः ; न४, ग३– × × × × ।

५६/१–न३————निभवन्नादो (?) ; न२————निभस्तादौ; ग६————————निभश्चादौ ; न४, ग३– × × × × । ५६/२–न४– × × × × –स्तथा ; ग५, ६————————भेरिध्वनिर्यथा ; ग३–मध्ये × × ×। ५६/३–न१, २, ग३, ६–व्योमरन्ध्रगतो नादो ; न४–व्योमरन्ध्रगता नादो(?) ; न३, ग५– × × × × । ५६/४–न२–गिरिप्रस्रवणे——; न४,–गिरिप्रस्रवणस्तथा(?) ; ग६–गिरिप्रस्रवणो यथा ; न३, ग५– × × × × ; त–चित्ते चात्मनि संस्थिते ।

५७/१–त————नादे ; क–ब्रम्हरन्ध्रे गते————। ५७/२–त–गिरिप्रस्रवणं यथा । ५७/३–न२, ७–तदानन्दी भवेद्योगी ; न४–तदानन्दो भवेद्योगी ; त–सदानन्दी भवेद्देही ; न३–तेनानन्दी————; न५–तदानन्दोद्भवो देही(?) ; न६————देवि; ग३–तदानादी भवेद्योगी ; ग४, न८–तदा नादो भवेद्देहे ; ग६–ततो नन्दी(?)भवेद्देही ; ५७/४–क–"एकं तालपत्रं गलितम् "इत्यत्र लेखकस्य टिप्पणी.।

५८/१–ग१, ४, ५, ६, न७————ऽन्यत्र ; ग२–योगिनस्त्वचले————; क– × × × ×। ५८/२–क– × × × ×। ५८/३————भूताः; न३————परोद्भुता ; न६————रताः पूर्वे ; क– × × × × । ५८/४–न३, ४, ८, ग३, ५, ६–रेचपूरक—; न६–रेचपूरविवर्जिताः(?) ; क– × × × × ।

दक्षिणेतरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत्शिराम् ।
अधस्तादण्डयोः सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणम् ॥५९॥

जंघोर्वोरन्तरं गार्गि निश्छिद्रं बन्धयेद्दृढम् ।
समग्रीवशिरस्कन्धः समपृष्ठः समोदरः ॥६०॥

नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं लोकयन्नुपरिस्थितम् ।
धारयन्मनसा सार्धं व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ॥६१॥

आसने नान्यधीरास्ते द्विजो रहसि नित्यशः ।
क्षत्रियश्च वरारोहे व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ॥६२॥

आसने नान्यधीरास्ते रहस्येव जितेन्द्रियः ।
वैश्याः शूद्राः स्त्रियश्चान्ये योगाभ्यासरताः नराः ॥६३॥

५९/१–न३–दक्षिणोत्तरगुल्फेन ; क– × × × × । ५९/२–त, न२, ४, ५, ७, ८–————स्थिराम् ; न३–शीवनीं पीडये स्थिता(?) ; न६, ग४–पीडयेत्सीवनीं सिराम् ; ग१ सीवनीं पूरयेत्शिराम् ; ग२–सीवनीं पीडय सुंचिराम्(?) ; क– × × × × । ५९/३–न१–अधस्तादण्डवत्सूक्ष्मां; न५, ६————सूक्ष्मं(?); न३–अधस्तान्निक्षिपेत्तद्वत्; क–× × × ×। ५९/४–न३, ७, ग५, ६————दक्षिणम् ; न२————दक्षिणे; क– × × × ×।

६०/१–न१, २, ५, ७, ग३, ५, ६–जंघोर्वोरन्तरे————; न६–जंघयोरन्तरे————; ग२–ग२–जंघेदारन्तरं(?)————; क– × × × × । ६०/२–ग६–अछिद्रं————; ग३–निश्चिनुं बन्धयोर्दृढाम्(?)——; क– × × × × । ६०/३–ग५, ६– × × शिरः कायः; न६, ग४————शिरस्कश्च । ६०/४–क– × × × × ।

६१/१–न१, २, ५, ७————दक्षिणे गुल्फे ; क– × × × ×। ६१/२–न१, २, ५, ७–लोकयन्नुपरि स्थितः(?) ; ग२–लोकयन्नुदरस्थिरम् ; ग३–लोकयाम परिस्थितम्(?) ; क– × × × ×। ६१/३–ग१, २, न६–भारत्या————; ग३–धारया मनसा(?)————; ग५–व्याहृत्य————; ग६–व्याहृत्या————; ग४————सिद्धं(?); न३, क– × × × ×। ६१/४–न३, क– × × × ×।

६२/१–न३, ६, ७, ८, ग३, ५, ६————नन्यधीरास्ते ; ग२–आसीतानन्यधीर्नित्यं ; क– × × × × । ६२/२–न३, ७–रहस्येव जितेन्द्रियः ; न६, ग३, ५–रहस्ये विजितेन्द्रियः ; ग६–रहस्ये विजितेन्द्रियाः(?) ; न१, २, ५, त–दीपं हस्ते विलोकयन् ; क– × × × ×। ६२/३–४–ग३, क– × × × × × × × × ।

६३/१–ग२–आसीतानन्यधीर्नित्यं ; ग३, ५, ६, क– × × × ×। ६३/२–न१, ५, ६–रहस्ये विजितेन्द्रियः ; न२, ३–दीपं हस्ते विलोकयन् ; ग२–द्विजो रहसि नित्यशः(?) ; ग३, ५, ६, क– × × × × । ६३/३–न२, क– × × × × । ६३/४–न३, ४, ६, ग३–————रताः सदा ; न२, क– × × × ×।

शैवं वा वैष्णवं वाथ व्याहरन्नन्यमेव वा ।
आसने नान्यधीरास्ते दीपं हस्ते विलोकयन् ॥६४॥

आयुर्विघातकृत्प्राणस्त्वनेनाग्निकुलं गतः ।
धूमध्वजजयं यावन्नान्यधीरेवमभ्यसेत् ॥६५॥

धारणं कुर्वतस्तस्य शक्तिः स्यादिष्टभोजने ।
देहश्च लघुतां याति जठराग्निश्च वर्धते ॥६६॥

दृष्टचिह्नस्ततस्तस्मान्मनसारोप्य मारुतम् ।
मन्त्रमुच्चारयन्दीर्घं नाभिमध्ये निरोधयेत् ॥६७॥

६४/१–न१, ४, ग३————वापि ; न८————वाथ ; ग२————वान्यं ; न————मन्त्रं ; न३–रौद्रं वा वैष्णवं वापि ; न२, क– × × × × । ६४/२–ग२–व्याहरन्मन्त्रमेव वा ; न४, ५, ७–व्याहरंतोऽन्यमेव वा ; ग५, ६–व्याहरन्नित्यमेव वा ; न८–मन्त्रं वाराहमेव वा ; न२, क– × × × ×। ६४/३–न३, ५, ६, ग३————नन्यधी————; न४————नन्यधीतयो(?) ; ग२–आधितः सुधियः कृत्या(?); क– × × × ×। ६४/४–ग२–हस्ते दीपं————; न३–दीपमग्नावलोकयन्; न६–दीपं हस्तेऽवलोकयन्; न४–दीपहस्ते इर्चं सुताः(?); क– × × × × । कलिकातामुद्रितपुस्तके 'दीपं हस्ते विलोकयेत्'।

६५/१–ग५, ६–आयुर्विघातकः————; ग२–आयुविपूतकृत्प्राणः(?); न४–आयुविधा+कृत्प्राणः ; ग३–आयं विद्यूतकृत्प्राणः (?); क– × × × ×। ६५/२–ग२————कुलं चतः न३————कुलं तपः(?) ; ग२–गच्छेद्गार्गि कुलं गतः(?ततः) ; क– × × × × । ६५/३–न२, ३, ६, ७, ग६–धूमध्वजजयो————; न१–धूमध्वनिर्जया————(?) ; न५–धूमध्वनिजयो————; क– × × × ×। ६५/४–तावद्धीरेव–(?)मभ्यसेत्; क– × × × ×।

६६/१–न३–धारणं कुकुतो रोप्य(?) ; ग२, क– × × × × । ६६/२–एतच्चरणं किंचित्संशयास्पदम् । तस्य हस्तलेखेषु पाठभेदाः–(?)न२, ५, ७, त–यथा ग्रन्थे स्वीकृतः ; (२) न१, ग१–शक्तिस्थाने प्रभंजनम् ; (३) न४–शक्ति——प्रभंजनः ; (४) ग४–शक्ति——शिखिभ्रमम् ; (५) न३, ८, ग५, ६–वह्निस्थाने प्रभंजनम् ; (६) न६, ग३–वह्नि————प्रभंजनः ; ग२, क– × × × × । मुद्रितपुस्तकेभ्यश्च नडीआदे, मुरादाबादे, कलिकातायां च मुद्रितेषु "वह्निस्थानं प्रभंजनम्" इति पाठो, यो न कस्मिन्नपि लेखे दृष्यते; मुंबापुर्यां च मुद्रिते "वह्निस्थाने प्रभंजनः" इति पाठो यः स "न६, ग३" लेखयोर्विद्यते; तथापि स न समीचीन इति मन्ये पूर्वापरसम्बन्धाभावात् । ग्रन्थे स्वीकृतः पाठस्तु सन्दर्भे युक्त इति मे मतिर्यतस्तेन द्वितीयचरणेनोक्तरीत्या प्राणधारणेन प्राणजयस्यैकस्य चिह्नस्य कथनं भवति, यथा द्वितीयतृतीययोः ३–४ चरणाभ्याम् । ६६/३–न१–देहस्तु————; ग२, क– × × × × । ६६/४–न२, ५–जठराग्नेश्च दीपनम् ; ग४, ५, ६–जाठराग्निश्च वर्धते ; न३–जठराग्निर्विवर्धितः(?) ; त–जाठराग्नेश्च दीपनम् ; ग२, क– × × × × ।

६७/१–एतच्चरणं द्विधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णितव्ये । तत्र प्रथमो विभागः "दृष्टचिह्न–" । तस्य ये पंच भेदा दृष्यन्ते तेः–न१, ३, ४, ६, ८, ग१, ४, ५, ६, त–दृष्टचिन्हः– ; न२, ५–दृष्टचिह्नं; ग३–दृष्टिचिह्नं ; न६–दृष्टवा चिह्नं; न७–दृष्टचिह्ने । द्वितीयो विभागः "ततस्तस्मात्" । तस्य त्रयः पाठभेदा दृष्यन्ते, ते :–न३, ४, ६, ८, ग३, ४, ५, ६–ततस्तस्मात् ; न१, ७–ततस्तस्मिन् ; न२, ५, ग१,

यावन्मनो लयत्यस्मिन्नाभौ सवितृमण्डले ।
तावत्समभ्यसेद्विद्वान्नियतो नियतासनः ॥६८॥

एतेन नाभिमध्यस्थधारणेनैव मारुतः ।
कुण्डलीं याति वह्निश्च दहत्यत्र न संशयः ॥६९॥

सन्तप्ता वह्निना तत्र वायुना चालिता स्वयम् ।
प्रसार्य फणभृद्भोगं प्रबोधं याति सा तदा ॥७०॥

त–ततः स्थानात्; ग२, क–समस्ता पंक्तिरेव नास्ति। मुद्रितपुस्तकेभ्यो "दृष्टचिह्नस्ततः स्थानात्" इति पाठः त्रिवेन्द्रम्पुस्तके, मुम्बापुर्यां, नडीआदे च मुद्रितेषु स्वीकृतो दृष्यते, मुरादाबादे, कलिकातायां च मुद्रितयोः "दृष्टचिह्नस्ततस्तस्मिन्" इति। तत्र "दृष्टचिह्नः" शब्दः सामान्यः, स च १० हस्तलेखेष्वपि विद्यते। "ततस्तस्मिन्", इत्येको, ततः स्थानात्" इति च द्वितीय एतौ पाठौः केषु केषु दृश्येते तथापि ग्रन्थसन्दभ तयोरेकोऽपि न समीचीनः; "ततस्तस्मात्"च न केवलं समीचीनः परं च ८ हस्तलेखेषु विद्यत इति "दृष्टचिह्नस्ततस्तस्मात्" इति चरणं स्वीकरणीयं भवति। ६७/२–ग२, क– × × × ×। ६७/३–ग१, ५, न३, ६————गार्गि; न१, ६, ८, ग४————मुच्चारयेद्गार्गि; ग२, क– × × × ×। ६७/४–ग४————निरोधयन्; ग२, क– × × × ×।

६८/१–न१, २, ३, ५, ७, ८–यावन्मनोलयस्तस्मिन्; ग३–यावन्मनः स्थितस्तस्मिन्(?); न४–यावन्मनो भवेत्तस्मिन्; ग६–यावन्निरोधयेत्तस्मिन्; ग२, क– × × × ×। ६८/२–ग१–नाभौ सावित्रमण्डले; ग२, क– × × ×। ६८/३–ग२, क– × × × ×। ६८/४–ग१, ४, ५, ६————नियताशनः; ग२, क– × × × ×।

६९/१–न१, २, ५, ७, ग१————नाभिमध्यस्थो; न३————नाभिमध्यस्थं(?) ग३————नाभिमध्यस्तु; ग४———नाभिमध्येन; ग२, क– × × × ×। ६९/२–ग३–वारणे नैव(?)———; न४–धारयेच्चैव मारुतम्; ग२, क– × × × ×। ६९/३–न३–कुंडलीं चाति(?)———; न८–कुंडलीं वाति——; ग५, ६–कुंडलीं वायु———; ग१–कुण्डली यत्र——(?)। ग२, क– × × × ×। ६९/४–ग३–देह्यन्यत्र(?)————; ग२, क– × × × ×।

७०/१–ग१, ४, न३, ४–सन्तप्तो————; न५, ८, ग३–सन्तप्तवह्निना———; न६–सन्तप्ते————; ग५, ६–सर्वतो————; ग२, क– × × × ×। ७०/२–त–————चारिता——; न६, ग४, ५, ६–वायुना च प्रवातितः; ग१————प्रवाहितः; न३, ४————प्रचालितः; ग३————अभिप्रचालितः; न८—तीव्र वातिता; ग२, क– × × × ×। ७०/३–न८–प्रसार्य फणिभृद्भोगं; ग२, क–× × ×। ७०/४–अस्मिश्चरणे पुनः साम्यवैषम्ये भवतस्तेन तं द्विधा विभज्य निश्चयो कर्तव्यः। तस्य द्वौ विभागौः—(१) प्रबोधं याति,(२) सा तदा चेति। तत्सम्बधिनो लेखभेदाः—(१)–न१, २, ३, ५, ७, ८, ग१, ४, ५, ६, त–प्रबोधं याति; तस्य विकृतयस्त्रयः—न४–प्रबाधं याति; न६– प्रबोधयति; ग३–अगाधं याति। (२) न२, ५, ७, त–सा तदा; न१, ४, ग१, ४–तत्तदा; न३, ६, ८, ग३, ५ ६–तत्तथा। ग२, क– × × ×। 'कुण्डली' (६९/३) शब्दस्य स्त्रीलिंगत्वात्तस्य गुणवाचकाः सर्वेऽपि शब्दाः स्त्रीलिंगप्रत्ययान्विता एव भवेयुरिति स्वीकृतपाठस्यौचित्यमवगन्तव्यम्।

प्रबुद्धे संसरत्यस्मिन्नाभिमूले तु चक्रिणि ।
ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्णायां प्रयाति प्राणसंज्ञकः ॥७१॥

सम्प्राप्ते मारुते तस्मिन्सुषुम्णायां वरानने ।
मन्त्रमुच्चार्य मनसा हृन्मध्ये धारयेत्पुनः ॥७२॥

हृदयात्कण्ठकूपे च भ्रुवोर्मध्ये च धारयेत् ।
तस्मादारोप्य मनसा साग्नि प्राणमनन्यधीः ॥७३॥

धारयेद्व्योम्नि विप्रेन्द्रे व्याहरन्प्रणवाक्षरम् ।
वायुना पूरिते व्योम्नि साङ्गोपाङ्गे कलेवरे ॥७४॥

७१/१–न१, २, ५, ७, त————संचरत्यस्मिन् ; न३, ग१, ३, ६————संस्मरत्यस्मिन् ; न४————प्रसृते ह्यस्मिन् ; ग५————च स्फुरत्यस्मिन् ; न६–प्रबुद्धच संस्फुरत्यस्मिन् ; ग४–प्रबुद्धः संस्मरत्यस्मिन् ; ग२, क– × × × ×। ७१/२–न१, २, ५, ७, त–नाभिमूले च————; ग३————च चाश्रणि(?); ग१–आदिमूले च चक्रिणि ; ग२, क– × × × ×। ७१/३–ग२, क– × × × ×। ७१/४–न२————प्राणसंज्ञिकम्(?) ; ग१, न७————प्राणसंज्ञकम्(?) ; ग३————प्राणसंक्रमः ; ग२, क– × × × ×।

७२/१–२–न४–एषा पंक्तिर्विद्यत एव तथापि सा न स्वस्थाने यथात्र, किन्तु ७२/३–४, ७३/१–४ अनन्तरम्। ७२/१–न२, ७, ग२, क– × × × ×; न६–खे प्राप्ते————। ७२/२–न२, ७, ग२, क– × × × ×। ७२/३–ग२, क– × × ×। ७२/४–न३, ग३————सुधीः ; ग४————धारयत्ततः ; न२, ७, ग२, क–× × × ×।

७३/१–ग५, ६–हृदयात्कण्ठमध्ये च ; न३–हृदये कण्ठकूपे(ऽ)थ ; न८–हृदयात्कन्दमुले च; न१, ४, ५, ग२, क–× × × ×। ७३/२–ग५————दक्षिणाम् ; न१, ४, ५, ग२ क– × × × ×। ७३/३–४–ग३–७१ श्लोकस्य पुनरुक्तित एषा पंक्तिर्विद्यत अत्र। ७३/३–न१, ग२, क– × × × ×। ७३/४–न२, ३, ६–साग्निप्राणमनन्यधीः ; ग२, क– × × × ×।

७४/१–अस्मिश्चरणे पुनस्तं द्विधा विभज्य साम्यवैषम्ये निश्चितव्ये । तौ विभागौः–(१) "धारयेद्व्योम्नि", (२) "विप्रेन्द्रे" । तत्सम्बन्धिनो लेखविभागाश्चः–(१) न२, ५, ६, ७, ८, ग३, ४, ५, ६–धारयेव्द्योम्नि ; न१, ३, ४, ग१, त–धारयेद्यो हि ; ग२, क– × × × ×। (२) न१, २, ४, ५, ६, ७, ८, ग३, ५, ६, त–विप्रेन्द्रे ; ग१, ४–विप्रेन्द्रो ; न३–विप्रेन्द्र ; ग२, क– × × × ×। ७४/२–ग२, क– × × × ×। ७४/३–न८————पूरयेव्द्योम्नि (?); न१, ३, ४————पूरितो————; न६————पूरितं————; ग२, क– × × × ×। ७४/४–न१, २, ३, ग१, ४, ५–सांगोपांगकलेवरे; न६–सांगोपांगं कलेबरम्; ग२, क– × × × ×।

तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि विकर्तनः ।

शरीरं विसुसूक्षुश्चेदेवं सम्यक् समाचरन् ॥७५॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म ध्यायन्प्रणवमीश्वरम् ।
संभिद्य मनसा मूर्ध्नि ब्रम्ह्ररन्ध्रं सवायुना ॥७६॥

प्राणमुन्मोचयेत्पश्चान्महाप्राणे खमध्यमे ।
देहातीते जगत्प्राणे शून्ये नित्ये ध्रुवे पदे ॥७७॥

आकाशे परमानन्दे स्वात्मानं योजयेद्धिया ।
ब्रह्मैवासौ भवेद्गार्गि न पुनर्जन्मभाग्भवेत् ॥७८॥

तस्मात्त्वं च वरारोहे नित्यं कर्म समाचर ।
सन्ध्याकालेषु वा नित्यं प्राणसंयमनं कुरु ॥७९॥

७५/१–न३–––––रतिते(?)––––; ग३–तथात्मा––––––; न१–तदा तु–––––––; ग४–तथा विराजते––––––; न७, त–तदात्मा राजते तस्य ; न५–तदा तु––– तस्य ; ग२, क–× × × ×। ७५/२–न५––––––––––विवर्तिनः ; न३–तथा––––– ––विकर्तनः; ग२, क– × × × ×। ७५/३–ग३–शरीरं मेवशि सूक्ष्मं चेत्(?); ग६–शरीरमपि सूक्ष्मं चेत् ; ग२, क– × × × ×। ७५/४–न२, ३, ४, ६, ७, ८, ग४– –––––– समाचरेत् ; ग५, ६– ––––समभ्यसेत्; ग३– ––––सर्म्य(?) समाचरेत् ; ग२, क– × × × ×।

७६/१–न१, २, ५––––––ब्रह्म ध्यायन् ; न४, ग३–एकाकारं परं ब्रह्म; ग१, २, क– × × × ×। ७६/२–न१, २, ५–प्रणवमीश्वरं सदा; ग१, २, क– × × × ×। ७६/३–न८–संभेद्य––––––––; न३–संरुध्य––––––––; ग१–संक्षिप्य(?)––––––––; ग२, क– × × × ×। ७६/४–ग५, ६–ब्रह्मरन्ध्रस्य वायुना ; ग४–ब्रह्मरन्ध्रस्व(?) वायुना; न५–ब्रह्मरन्ध्रसचायुना(?) ; न३–ब्रह्मरन्ध्रसमाधिना; ग२, क– × × × ×।

७७/१–ग३, ६–प्राणानुन्मोचयेत्पश्चात्; न४–प्राणांस्तु मोचयेत्पश्चात् ; न६–प्राणं हि मोचयेत्पश्चात् ; ग४, न८–प्राणं च मोचयेत्पश्चात्; ग१–प्राणं विमोचयेत्पश्चात्; ग२, क– × × × ×। ७७/२–न१, २, ४, ग३––––––––सुमध्यमे ; न३, ५, ७, ग६–महाप्राणेषु मध्यमे ; ग१–महाप्राणे च––––––––; ग४–महाप्राणश्च(?)––––––––; न८–महाप्राणौघ––––––––; ग२, क– × × × ×। ७७/३–न३–देहातीते ततो योगी; ग३–चेहातीतजगत्प्राणे(?); न६––––––––––––जयत्प्राणे(?); ग२, क– × × × ×। ७७/४–न३, ४, ७––––––नित्यध्रुवे ––––––––; ग३–शून्ये सत्ये––––; ग२, क– × × × ×।

७८/१–न३–आकाशेयोपमानन्दे ; ग२, क– × × × ×। ७८/२–न१, २, ४, ५, ७, ग३, त––––––––––सुधीः ; न६––––––––––तदा ; ग२, क– × × × ×। ७८/३–न३, ग५–ब्रह्मैव स भवेद्गार्गि ; न४–ब्रह्मैव संभवेद्गार्गि; ग४–ब्रह्मैवानुभवेद्गार्गि ; ग३–ब्रह्मैव संभवेद्योगी ; ग२, क– × × × ×। ७८/४–ग२, क– × × × ×।

७९/१–ग३–तस्मात्पंच––––; न३, ग२, क– × × × ×। ७९/२–ग१, ३, ४–नित्यकर्म––––––; न६––––––––समाचरेः; न३, ग२, क– × × × ×। ७९/३–४–न३, क– × × × × × × × ×।

प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः ।
प्राणायामविशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥८०॥

प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादपि ।
संसारार्णवमग्नानां तारकः प्राणसंयमः ॥८१॥

तस्मात्त्वं विधिमार्गेण नित्यं कर्म समाचर (न्)।
विधिनोक्तेन मार्गेण प्राणसंयमनं कुरु ॥८२॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये षष्ठोऽध्यायः ॥

८०/१–क– × × × ×। ८०/२–न४–"ब्रह्मविष्णुशिवादयः"———प्रथमं लिखितं यथा-स्वीकृतं चरणं पिधाय ; क– × × × ×। ८०/३–न४, ६, ग४, ५, ६–प्राणायामैर्विशुद्धा ये ; क– × × × ×। ८०/४–क– × × × ×।

८१/१–२–ग२–प्राणायामातारं + + त्तारं नरकादपि(?) ; न६, क– × × × × × × × ×। ८१/१–न५–प्राणायामादृतं————। ८१/२–न५, ७————नरकादिषु ; न२, त–तारको नरकादिषु(?) । ८१/३–न६, क– × × × ×। ८१/४–ग३–तारकं प्राणसंयमम्(?) ; न६, क– × × × ×।

८२/१–ग४–तस्मात्त्वं च वरारोहे; क– × × × ×। ८२/२–न१, २, ४, ६, ग१ ३–नित्यकर्म————; ग२–नित्यं संयममाचर ; क– × × × ×। ८२/३–न३–विधिनो-क्तेन मार्ग्रेण(?)म.ग्रेण ; ग २, ४, क– × × × ×। ८२/४–न३–प्राणसंय(-म-)नं———; ग२ ४, क– × × × ×।

परिशिष्टम्

षष्ठाध्यायस्य ४।२ अनन्तरं + इति संज्ञितायां पादटिप्पण्यामुल्लिखिता अधिकाः श्लोकाः ॥

न८—नासाग्रे दृक् सदा सम्यक् सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे ज्योत्स्नाजालवितानके ॥(१)॥

अम्बोमा(?) सहितं शुभ्रं सोमसूर्याग्निलोचनम् ।
पंचवक्त्रं महादेवं चन्द्रशेखरमीश्वरम् ॥२॥

नन्दिवाहनसंयुक्तं सर्वदेवसमन्वितम् ।
प्रसन्नं सर्ववरदं ध्यायेत्सर्वायुधं शिवम् ॥३॥

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
अकारमूर्तिरेतेषां रक्तांगी हंसवाहिनी ॥४॥

दण्डहस्ता सती बाला गायत्रीत्यवधार्यताम् ।
अकारमूर्तिरेषां कृष्णांगी वृषवाहनी ॥५॥

चक्रहस्ता सती चैव सावित्रीत्यवधार्यताम् ।
मकारमूर्तिरेतेषां श्वेतांगी तार्क्ष्यवाहिनी ॥६॥

शूलानन्दमयी वृद्धा सरस्वत्यवधार्यताम् ।
माहेश्वरीति सा प्राज्ञैः पश्चिमा परिकीर्तिता ॥७॥

सृष्ठिस्थित्यन्तकालाद्या मकारोऽप्यन्तकात्मकः ।
अक्षरत्रयमेवैतत्कारणत्रयमिष्यते ॥८॥

त्रयाणां कारणं ब्रह्म सद्रूपं सर्वकारणम् ।
एकाक्षरं परं ज्योतिस्तमाहुः प्रणवं बुधाः ॥९॥

ग५—एभ्यः १, ४–१० श्लोका अस्मिन्नपि लेखे सन्ति निम्नलिखितैः पाठान्तरैः—

१/१—नासाग्रदृक्————। १/३;—नासाग्रशशभृद्बिम्ब——। १/४—ज्योत्स्नाजालविता-नितम् । २–३– × × × × । ४/१—यद्वेदादौ————। ५/३—उकारमूर्तिरेतेषां । ५/४—श्वेतांगी तार्क्ष्यवाहिनी । ६/४—कृष्णांगी बृषवाहिनी । ७/१—त्रिशूलानन्दमयी । ७/३—माहेश्वरीति सा प्राज्ञी । ८/१—सृष्टिस्थितिकृत्वाद्यौ(?) । ८/३—अक्षरत्रयमेतत्तु । ९/१—यात्राणां(?)————। ९/२—भारूपं————।

ग६—ये श्लोकाः (१, ४–१०) ग५ लेखे त एवास्मिन्नपि लेखे सन्ति तथापि तस्मिन्कानि विशिष्टानि पाठान्तराणि दृश्यन्ते, तानिः—

एवं ज्ञात्वा विधानेन प्रणवेन समन्वितम् ।
प्राणायामं ततः कुर्याद्रेचपूरककुम्भकैः ॥१०॥

१/१–नासाग्रदृक्————————। १/३–नासाग्रशशभृद्बिम्बं । १/४–ज्योत्स्नाजालविता-नितम् । २–३– + + + + । ४/१–यद्वेदादौ————————। ५/३–उकारमूर्तिरेतेषां । ५/४–श्वेतांगी तार्क्ष्यवाहिनी । ६/४–कृष्णांगी वृषवाहिनी । ७/१–त्रिशूलं दधती————————। ८/१–सृष्ठिस्थित्यात्मकावाद्यौ । ८/२–मकारो त्यन्त–(?)–कारकः । ८/३–अक्षरत्रयमेतत्तु । ९/२–भारूपं————————।

विशेषा टिप्पणीः–एभ्यो टिप्पणीभ्यो स्पष्टमेव प्रतीयते यत् "ग५, ६" लेखावेकस्यैव मूललेखस्य प्रतिलेखाविति, "न८" लेखश्च तस्यैव मूललेखस्य तृतीयप्रतिलेखस्य प्रप्रतिलेख इति ।

सप्तमोऽध्यायः ॥

*याज्ञवल्क्य उवाच--

उक्तान्येतानि चत्वारि योगाङ्गानि द्विजोत्तमे ।
प्रत्याहारादि चत्वारि शृणुष्वाभ्यन्तराणि च ॥१॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥२॥

यद्यत्पश्यसि तत्सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि ।
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥३॥

कर्माणि यानि नित्यानि विहितानि शरीरिणाम् ।
तेषामात्मन्यनुष्ठानं मनसा यद्बहिर्विना ॥४॥

सप्तमोऽध्यायः ॥

*न४, ५–श्री याज्ञवल्क्य उवाच ; न८–याज्ञवल्क्यः—; न३-श्री भगवानु ॥ न६–भगवानुवाच ; ग६–ओम् भगवान्– ; न१, २, ७, ग१, २, ५, त, क––× × × × ।

१/२–न५, ७, ८, ग५, त— ----------वरानने । १/३–न१, २, ३, ५, ६, ८, ग२, ३, ४, ५, ६, त–प्रत्याहाराणि--------- ।

२/१–न३, ६– ----------हि चरेतां(?)'; ग५– ----------हि चरतां ; ग३– ----------विचरतां । २/३–ग२–बलोदाहरणं(?)------।

३/१–न४–यद्यत्पश्यति—; न३–यच्च पश्यति------; ग३–यदु + + + + ति-----। ३/२–न१, २, ३, ४, ५, ६, ग१, ४–पश्येदात्मानमात्मनि ; ग२–पश्येदात्मानमात्मना । ३/३–ग६– ----------स वै------। ३/४–न६–योगिविद्भिर्महात्मभिः(?) ।

४/१–ग३–कर्मणो निधित्यानि(?) । ४/२–ग३–विदितानि----------। ४/४–न३–मनसो यद्बहिर्विना ; ग३–मनसा युद्धविर्विना(?) ; ग१–मनसा यत्प्रकल्पितम् ।

प्रत्याहारो भवेत्सोऽपि योगसाधनमुत्तमम् ।
प्रत्याहारः प्रशस्तोऽयं सेवितो योगिभिः सदा ॥५॥

अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात्स्थानात्समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते ॥६॥

अश्विनौ च तथा ब्रूतां गार्गि देवभिषग्वरौ ।
†मर्मस्थानानि सिद्धचर्थं शरीरे योगमोक्षयोः ॥७॥

तानि सर्वाणि वक्ष्यामि यथावच्छ्रुणु सुव्रते ।
पादाङ्गुष्टौ च गुल्फौ च जङ्घामध्ये तथैव च ॥८॥

चित्योर्मूलं च जान्वोश्च मध्ये चोरुद्वयस्य च ।
पायुमूलं ततः पश्चाद्देहमध्यं च मेढ्रकम् ॥९॥

५/१–२––न४, ग३–– × × × × × × × ×। ५/३–न५, ८, ग१, ५, ६, क–प्रत्याहारे प्रशस्तं तत् ; न१, ४, ७, ग४–प्रत्याहारं प्रशस्तं तत् ; ग२–प्रत्याहारं प्रशस्तं तं ; न४, ग३–प्रत्याहार(?) प्रशस्तं तत् ; न३–प्रत्याहारं प्रशंसन्ति । ५/४–न१, ४, ५, ६, ७, ८, ग१, ३, ५, ६, क–सेवितं————————; ग२–सेवन्ते योगिनः सदा ; ग४–योगिभिः सेवितं सदा ; न३–स वेत्ति(?सेवितं) योगिभिः सदा ।

६/१–न६–अष्टादशस्तु(?)——— ————। ६/२–न३– ————————धारयेत् ; न७– ————————धारणे(?) । ६/३–त, न४, ग४, ५, ६–स्थानात्स्थानं————; न३–स्थानस्थानं(?)———————— ।

७/१–ग१– ————————तु यथाऽब्रूतां ; न४– ————————च तदाब्रूतां ; ग२– ———— तत्र तौ ब्रूतां ; न१, २, ५, ७, ८– ————————तथा ख्यातां । ७/३–न६– ———————— सिध्दचर्थे । ७/४–ग४, ५, क– ————————भोगमोक्षयोः ; न८– ————————स्वर्गमोक्षयोः ; ग२– ————————योगभोगयोः । † अत्र "न६" लेखे "मध्यमेऽपि हृदये च————————मनसो-रुचिरूपम्" इति श्लोको वर्तते । सो नाधिकः किन्तु द्वादशाध्यायान्तर्गतो २३ तमः श्लोको लेखकस्य भ्रमेनात्र प्रविष्ट इति नासावुद्धृतोऽस्यां टिप्पण्याम् ।

८/२–ग४– ————————सांप्रतम् ; ग५– ————————सादरम् ; ग६– ———— संप्रति । ८/३– ग१, २, त–पादाङ्गुष्टे च । गुल्फे च(?) ८/४–न१, ग५, ६–जङ्घमध्ये——; ग२–जङ्घामध्यं——; न४, ७, ग३–जङ्घामध्यौ(?)————————; ग४–जङ्घामेढ्रौ————————।

९/१-२–अत्र दृश्यमाणानां पाठभेदानां वैशिष्ट्याद्द्वावपि चरणावेकत्र विचारणीयौ भवतः । ताभ्यां भूतां समस्तां प्रथमां पंक्तिं च चतुर्धा विभज्य लेखानां साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । ते च विभागाः–(१) चित्योर्मूले च ; (२) जान्वोश्च ; (३) मध्ये ; (४) चोरूद्वयस्य च । तत्सम्बन्धिनो लेखानां विभागाश्चेदृशाः–(१) ग३, ४ न३–चित्योर्मूले च; न७–स्फिजोर्मूलं च; न२–स्फिचोर्मूलं च ; न८–स्फिग्जोमूर्ते(?)च ; ग५, ६, क–स्फिजोर्मूले च ; न१, ४, ५, ६, ग१, त–चित्योर्मूलं च; ग२–

नाभिश्च हृदयं गार्गि कण्ठकूपस्तथैव च।
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले ॥१०॥

भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्धा च मुनिसत्तमे ।
मर्मस्थानानि चैतानि मानं तेषां पृथक् शृणु ॥११॥

पादान्मानं तु गुल्फस्य सार्धाङ्गुलचतुष्टयम् ।
गुल्फाज्जङ्घस्य मध्यं तु विज्ञेयं तद्दशाङ्गुलम् ॥१२॥

तयोर्मूलं च; (२) न१, २, ७, ग४, ५, ६, त, क–जान्वोश्च ; ग१, २, ३, न३–जानू च; न६–जानौ च ; न४–जानु(–मध्यं); क–जानोश्च; न८–बाह्वोश्च; (३) न१, २, ५, ७, ८, ग१, २, ४, ५, ६, त, क–मध्ये ; न३, ग३–मध्यात् ; न४, ६–मध्यं ; (४) न३, ४, ६, ८, ग१, २, ३, ४, ५, ६, त, क–चोरूद्वयस्य च ; न१, २, ५, ७–चोरूभयस्य च। ९/३-४–अस्याः पंक्तेरपि तयैव रीत्या लेखानां साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । तस्याश्चतुर्विभागाः–(१) पायुमूलं ; (२) ततः पश्चात् ; (३) देहमध्यं च ; (४) मेढ्रकम् । तत्सम्बन्धिनो लेखविभागाः––(१)न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ग२, ४, ५, ६, त, क–पायुमूलं ; न८–वायुमूलं ; ग१–पादमूले : ; ग३– × × ; (२) ग३– × ×; सर्वेष्वन्येषु–ततः पश्चात् : (३) ग२–देहमध्यं च ; न१–मध्यदेहं च ; न२, ५, ७, त–मध्यदेहश्च ; न३, ग१–मध्ये देहं च ; न६, ग६, क–मध्ये देहस्य ; ग५, न८–मध्यं देहस्य ; ग३– × × × ; (४) ग३– × × × ; सर्वेष्वन्येषु–मेढ्रकम् ।

१०/१–ग१–नाभिं च(?)–––––––; ग३–× × × ×। १०/२–न२, ६, ७–कण्ठकूपं––––; न ६–कण्ठकूपा(?)–––––; ग१–कृष्णकूपस्तथैव च(?); ग३–× × × ×। १०/३–त–तालु-मूले च––––––; न८, क–तालवोमूलं च(?)–––––; न२–तालुमलं(?–मूलं) च नासाग्रं ; न७–––––––––– नासाग्र (-मूलं)(?) ––––––––; न३– ––––––––––च नासा च । १०/४–न६–चाक्षोश्च (?)––––; ग५, ६– ––––––––––––मण्डलम् ; न३– (नासा च) मूमनक्ष्णोश्च(?)––––––।

११/१–ग५, ६–भ्रुमध्यं च––––––; न७–भ्रुवोर्मध्ये(?)––––––––––। ११/२–इदं चरणं द्विधा विभज्य लेखानां साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । तस्य विभागौ :–(१) मूर्धा च ; (२) मुनिसत्तमे । तत्सम्बन्धिनो लेखविभागाः––(१) त, न३, ४, ६, ७, ८, ग१, २, ३, ४, ५, ६-क–मूर्धा च ; न१–मूर्ध्नश्च(?) ; न२, ५––मूर्धं च(?): (२) न१, ग१–मुनिपुंगवि। ११/३–ग४–ब्रह्मस्थानानि–––––––; न१, ग२ मर्मस्थानानि वै तेषां ; न८– ––––––––––नैतानि(?) । ११/४–न१, त–मानं चाथ––––––––; ग२–मानं चैषां––––––––––; ग५, ६–मानमेषां––––––––।

१२/१–इदमपि द्विधा विभज्य पाठभेदा निर्णेतव्याः। तस्य विभागौ :–(१) पादान्मानं तु ; (२) गुल्फस्य। तत्सम्बन्धिनो लेखविभागाः– ––––(१) ग४, न८–पादान्मानं तु ; न१, ३, ग१–पादात्मानं तु ; न४, ६, ग३–पादमानं तु ; ग५, ६, क–पादमूलं च ; न२, त–पादात्स्थानं तु ; ग२–पादांगुष्टे च ; (२) न२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ग१, ३, ४, ५, ६ त, क–गुल्फस्य ; ग२– गुल्फान्ते; न१– गुल्फाय । १२/२–न३–सार्धांगुलि––––––। १२/३–न८–गुल्फात्तु––––––; न४–गुल्फाच्च जंघमानं तु ; ग३–गुल्फाज्जंघस्य मानं तु ; न३–गुल्फजंघस्य मध्ये तु ; न५–गुल्फाज्जंघस्य मध्ये तु ; जंघयोर्गुल्फयोर्मध्यं । १२/४–न१, ३, ४, ५, ६, ७, ग१, ३,–विज्ञेयं तु––।

जङ्घमध्याच्चित्योर्मूलं यत्तदेकादशाङ्गुलम् ।
चित्योर्मूलाद्वरारोहे जानुः स्यादङ्गुलिद्वयम् ॥१३॥

जान्वोर्नवाङ्गुलं प्राहुरूरुमध्यं मुनीश्वराः ।
ऊरुमध्यात्तथा गार्गि पायुमूलं नवाङ्गुलम् ॥१४॥

देहमध्यं तथा पायोर्मूलादर्धाङ्गुलद्वयम् ।
देहमध्यात्तथा मेढ्रं तद्वत्सार्धाङ्गुलद्वयम् ॥१५॥

मेढ्रान्नाभिश्च विज्ञेया गार्गि सार्धदशाङ्गुलम् ।
चतुर्दशाङ्गुलं नाभेर्हृन्मध्यं च वरानने ॥१६॥

१३/१–अस्य चरणस्य द्वौ विभागौ पृथक्चिन्तनीयौ । तौ :—(१) जङ्घामध्यात् ; (२) चित्योर्मूलं । तयोः पाठान्तराणि–(१) ग२, ३, ५, ६, न६, ८—जङ्घामध्यात् ; न३, क– ×× । (२) न१, २, ४, ६, ७, ग१, त–चितेर्मूलं ; न५– चितिमूलं ; ग४–च तन्मूलं(?) ; ग३–इति मध्यं(?) ; ग२–तु भित्तिश्च । १३/२–ग२–यत्तदेशे दशांगुलम्(?) न३, क– × × । १३/३–अस्य द्वयोर्विभागयोः पाठभेदाः–(१) चित्योर्मूलात् ; न२, ५, ७–चित्योर्मूलात्; ग१, ३, ४, न३, ४, ६, त—चितिमूलात् ; न१–चित्योर्मूलं ; न८, ग५, ६–स्फिजोर्मूलात् ; ग२–भित्तिमूलात्; (२) वरारोहे–ग१, ३, ४, ५, ६, न३, ४–वरारोहे ; ग२, न६–मुनिश्रेष्ठे ; न१, २, ५, ७–जानुमध्यं; (१-२)–क– ×××× । १३/४–तथैवास्य द्वयोर्विभागयोः पाठभेदा :—(१) जानुःस्यात्—ग१, ३, ५, ६ न४, ६, ८, त–जानुःस्यात् ; न३–जानुत्पाद–(?) ; ग४–जानुभ्याम्(?) ; ग२,–जानुन्याम्(?); न१, २, ५, ७–विज्ञेयं : (२) अंगुलिद्वयम्–ग४, ५, ६, न६, ८, त–अंगुलिद्वयम् ; ग२, न३,–अंगुलद्वयम् ; न१, २, ७–द्वितयांगुलम् ; न५–हि तथांगुलम्(?) : (१-२)–क– ×××× ।

१४/१–ग१, न३–जानोर्नवांगुलं———; ग५–जान्वोः स्थानादूरुमध्यं; ग३–भासोर्नवांगुलं (?)———। ग६– ×××× । १४/२–ग३– ————————मुनीश्वरे ; ग५– नवांगुलमुदाहृतम् ; ग६– × × × × । १४/३–न१–ऊरुमूलं तथा———; ग३–ऊरुमध्यं तथा ———; ग५–ऊरुमध्यात्पायुमूलं ; ग६– × × × × । १४/४–न३–पायोर्मुलं————; ग३, न८, क–वायुमूलं तथांगुलम्(?) ; ग५–नवांगुलमितं भवेत् ; ग६– ×××× ।

१५/१–न३–देहमध्यं तता पायो(?) ; ग५– ————ततस्तस्मात् ; न३–देहमध्यस्थिताद्वायो–(?) ; न८– ————वायो–(?) । ; ग१–पायोमूर्लाच्छिश्नमध्यं(?) ग६–×××× । १५/२–न२, ३, ४, ५, ७– ———साधांगुलद्वयम् ; ग५, न८– —साधांगुलिद्वयम् ; ग६–स्यादंगुलिद्वयम् ; न३–देहस्यांगुलिमध्यकम्(?) ; ग६– ×××× । १५/३–ग२– ————— त्तथा मेढ्रात्(?); न६– ————त्पुनर्मेढ्रं ; ग४– ————त्तनोर्मेढ्रं ; न८–×××× । १५/४–ग४–तथा————; ग६– तद्वदर्धांगुलिद्वयम् ; न३–तद्द्वशार्धांगुलद्वयम्(?) ; न५–तद्वत्सार्धांगुलत्रयम् ; न४–तत्स्यात्सार्धांगुलत्रयम् ; न७–तस्य सार्धांगुलत्रयम् ; न८–×××× ।

१६/१–न८, ग३, ६– ————विज्ञेयो(?) ; ग२–मेढ्रान्नाभेश्च(?)———; न३, ४–मेढ्रं नाभेश्च विज्ञेयौ(?) । १६/२–न१, २, ५, ७–सार्धं गार्गि————; न६–सार्धं(?) गार्गि———। १६/३—न३–चतुर्दशांगुलां नाभे(?) ; न५–चतुर्दशांगुलो नाभे(?) ; न६–चतुर्दशांगुलं नाभि–(?) । १६/४–न४, ६, ग३– ————द्विजोत्तमे ; ग२–हृन्मध्याच्च वरानने(?) ; न३–हृन्मध्यस्य द्विजोत्तमे ।

षडङ्गुलं तु हृन्मध्यात्कण्ठकूपं तथैव च ।
कण्ठकूपाच्च जिह्वाया मूलं स्याच्चतुरङ्गुलम् ॥१७॥

नासामूलं तु जिह्वाया मूलाच्च चतुरङ्गुलम् ।
नेत्रस्थानं तु तन्मूलादर्धाङ्गुलमितीष्यते ॥१८॥

तस्मादर्धाङ्गुलं विद्धि भ्रुवोरन्तरमात्मनः ।
ललाटाख्यं भ्रुवोर्मध्यादूर्ध्वं स्यादङ्गुलद्वयम् ॥१९॥

ललाटाद्व्योमसंज्ञं स्यादङ्गुलित्रयमेव हि ।
स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ॥२०॥

स्थानात्स्थानात्समाकृष्य प्रत्याहारं प्रकुर्वतः ।
सर्वे रोगा विनश्यन्ति योगाः सिद्धयन्ति तस्य वै ॥२१॥

१७/१–न२–षडंगुलं च–––––––; ग२––षडंगुलस्तु–––––––––; न३–षडंगुलस्तु हृदयात् । १७/२–न१, ३, ४, ग१, २. ४, ५–कण्ठकूपस्तथैव च(?) । १७/३–ग२– ––––––––जिह्वायां (?);। न६–कण्ठकूपाश्च(?)–––––––; क–कण्ठमूलाच्च–––––––। ग५–कण्ठकूपात्तालुमूलं । १७/४–ग२–मूलान्तं ––––––––; ग३–मूलं (स्याच्च–) तुरंगुलम् ; ग५–षडंगुलमुदाहृतम् ।

१८/१–२–क–× × × × × × × × । ग५–तालुमूलाच्च नासाया मूलं स्याच्चतुरंगुलम् । १८/१–––––जिह्वायां (?) । १८/२–ग२, ३, न५– मूलं तु(?)–––––––––; न६–मुलात्तच्चतुरंगुलम् ; ग४, न८–मूलात्स्याच्चतुरंगुलम् । १८/३–४–ग२–नासामूलाच्च नेत्राच्च चतुर्थांगुलमिष्यते(?) । १८/३–क– ––––––––––तन्मूलं(?) । १८/४–ग६, क–तदर्धाङ्गुलमिष्यते; न७–गार्ग्यर्धांगुलमिष्यते ।

१९/१– न६–तस्मादर्धांगुलाद्विद्धि ; ग२–तस्मादर्धाङ्गुलं गार्गि । १९/२– न२–भ्रुवोरन्तरमात्मभूः ; ग२–त्वया जित(?)ततो भवेत् । १९/३–४–ग२–आललाटं भ्रुवोर्मध्यादूर्ध्वं स्याद्दङ्गुलत्रयम् ; १९/३– न३–लटाटं तु––––––; न६–ललाटाख्यां(?)––––––१९/४–न५– ––– –दङ्गुलत्रयम् ; न६, ७, ग४– ––––– –दंगुलित्रयम् ।

२०/१–अस्मिश्चरणे ९ विकल्पा दृश्यन्ते । ते :–न१, २, ५, ७, क–ललाटाव्योमसंज्ञं स्यात् ; ग१, ४, ५, त– ––––––––––संज्ञं तु; न६– ––––––––––संज्ञातं; न४–ललाटे व्योमसंज्ञातं ; न३–ललाटव्योमसंज्ञं तत् ; ग३–ललाटं व्योमसंज्ञा तु(?) ; ग६–ललाटाव्योमसंक्रान्तं ; न८–ललाटाख्याव्योमसंज्ञं ; ग२–ललाटाव्योमरन्ध्रा(?)स्यात् । २०/२–न३, ५, ७, क–अंगुलत्रयमेव हि ; ग२–अंगुलत्रयमेव च ; ग१, ४, ५, न४, त–अंगुलद्वयमेव हि ; ग६–अंगुलिद्वयमिष्यते । अत्र वास्तविकं मानं किमिति शंकास्पदम् । २०/३–ग२–स्थानेष्वेतानि(?)––––; न३–कालेष्वेतेषु(?) ––––––––; ग५–× × × × । २०।४–ग५–× × × × ।

२१/१–ग४, ५, ६–स्थानात्स्थानं––––––––; त–स्थानात्स्थं(?)––––––––; न१, ५–स्थानात्स्थानीयमुत्कृष्य । २१/२–ग४– ––––––––––प्रकुर्वते ; ग३– ––––––––––प्रकुर्वता ; ग२– ––––––––––प्रवर्तयेत्(?) । २१/३–न१, २, ५, ७, ८, त, ग४– –––––रोगाश्च नश्यन्ति ; ग२,–– ––––––––प्रणश्यन्ति । २१/४–न४, ग४– योगः सिद्धयति––––; न३– योगसिद्धस्य––––––––; ग५–आयुः सिद्धयति––––––।।

वदन्ति योगिनः केचिद्योगेषु कुशला नराः ।
प्रत्याहारं वरारोहे शृणु त्वं तद्वदाम्यहम् ॥२२॥

सम्पूर्णकुम्भवद्वायुमङ्गुष्ठान्मूर्धमध्यतः ।
धारयेदनिलं बुद्धया प्राणायामप्रचोदितः ॥२३॥

व्योमरन्ध्रात्समाकृष्य ललाटे धारयेत्पुनः ।
ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ॥२४॥

भ्रुवोर्मध्यात्समाकृष्य नेत्रमध्ये निरोधयेत् ।
*नेत्रात्प्राणं समाकृष्य नासामूले निरोधयेत् ॥२५॥

नासामूलात्तु जिह्वाया मूले प्राणं निरोधयेत् ।
जिह्वामूलात्समाकृष्य कण्ठमूले निरोधयेत् ॥२६॥

२२/१–ग५–स्तुवन्ति(?)————————। २२/२–ग३– ————————कुशला नरः(?); ग२–योगे कुशलबुद्धयः। २२/३–क–प्रत्यारोहं————————। २२/४–ग२–शृणु तद्वद्वदाम्यहम्(?); न३– ————त्वं तं वदाम्यहम् ।

२३/१–न५– ————————कुम्भवद्वायोः ; ग२–आरोप्य पादयोर्वायुः ; ग३– ———————— कुम्भकत्वात्तैः। (?) २३/२———— ग१, २, ४, ६, न३, ४, ६, ८– ————————न्मूर्धिन————————; ग५–अङ्गुष्टादूर्ध्वमध्यतः ; ग३–अंगुष्टा + + मध्यतः । २३/३–त– ————————विद्वान् ; न३– ————————बद्धवा(?) ग२, न७– + + + + । २३/४–ग५, ६– ————————प्रचोदितम् ; न८– प्राणायामः प्रचोदितः(?); न४––प्राणायामप्रणोदितम् ; ग२– + + + +; न७–धारयेन्मनः (?) + + + + ।

२४/१–न३–व्योमरन्ध्रा(त्) समाकृष्य ; ग४, न७– × × × ×। २४/२–न८–ललाटाद्वारयेत्पुनः ; न२– ————————धारयेन्मनः ; न४–नेत्रमध्ये निरोधयेत् ; ग४, न७– × × × ×। २४।३–४–ग४– × × × × × × × × ।

२५/१–न१,–भ्रुवोर्मध्ये————————; ग१-भ्रुवोर्मध्ये तु जिह्वाया ; ग४– × × × ×। २५/२–न१– ————————निरोधने ; न७, ८– ————————निरोधनं ; क-नेत्रे वायुं निरोधयेत् ; ग१–मूले प्राणं————————; न६–नेत्रमूले————————; ग५–कर्णमूले————————; न८, ग६–कर्णमले निवेशयेत् । * "न८" लेखे २५/१ पुर्नलिखित्वा "कर्णमूले निवेशयेत्" इति २५/२ चरणं लिखितमस्ति ; न४–ललाटे धारयेत्पुनः ; ग२, ४– × × × ×। अत्राधिका पंक्तिर्लेखत्रये । सा–ग५, ६, न८–कर्णमूलात्समाकृष्य नेत्रे वायुं निरोधयेत् । २५/३–ग१–मूले प्राणं निरोधयेत् ; ग२, ४– × × × × । २५।४–न२, ७–नासाग्रे सन्निरोधयेत् ; ग३–नासामूले विलोकयेत् ; न३–नेत्रमध्ये निरोधयेत् ; ग२, ४– × × × × ।

२६/१–न८, ग६–नासाच्च जिह्वामूले च; ग५–नसश्च(?)जिह्वामूले च; क–नासा च(?) जिह्वामूले च ; न२–नासामूले तु जिह्वायाः ; न६–नासामूलं तु————————; ग२, ४– × × × ×। २६/२–न१––मूले च ; न२–नासामूले तु जिह्वायाः ; न६–नासामूलं तु————————; ग२, ४– × × × × । २६/२–न१–मूलं———— ————————; न६–मूलं प्राणान्निरोधयेत् ; न८–मूलात्प्राणं————————;

कण्ठमूलात्तु हृन्मध्ये हृदयान्नाभिमध्यमे ।
नाभिमध्यात्पुनर्मेढ्रे मेढ्राद्वह्न्यालये ततः ॥२७॥

देहमध्याद्गुदे गार्गि गुदादेवोरुमूलके ।
*ऊरुमूलात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत् ॥२८॥

†चितिमूले ततस्तस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा ।
जङ्घामध्यात्समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत् ॥२९॥

गुल्फादङ्गुष्ठयोर्गार्गि पादयोस्तन्निरोधयेत् ।
स्थानात्स्थानात्समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेत्सुधीः ॥३०॥

न७– ————————नियोजयेत् ; ग५, ६, क–प्राणं नित्यं निरोधयेत् ; ग२, ४–× × × ×। २६/३–ग२, ४–× × × × । २६/४–न१, २, ४, ५, ग३, त–कण्ठकूपे——— ; ग६,–कण्ठकूपे निवेशयेत् ; ग४–× × × ×।

२७/१–न१, २, ४, ५, ६, ७, ग२, ३, त–कण्ठकूपात्तु————; ग५, ६, न८–कण्ठमूलाच्च————; ग४, क– × × × × । २७/२–ग४, क– × × × × । २७/३–न१, ४– ————————पुनर्मेढ्रं ; ग२–नाभिमध्यान्नयन्मेढ्रं ; ग४, त– × × × × । २७/४–ग३–मेढ्राद्वह्न्यालयात्ततः(?) ; ग२– मेढ्राद्देहस्य मध्यमम् ; न४–मेढ्राद्देहस्य मध्यतः ; न६–मेढ्राद्गुदालये ततः ; ग४, त–× × × ×।

२८/१–ग२–देहमध्याद्गुदं———; ग३–देवं(?) मध्याद्गुदे———। २८/२–ग२, ५, ६, न८, क–गुदात्तत्रोरुमूलके; न१, २, ७–गुदान्तादुरुमूलके ; न३–गुदाद्वावुरुमूलके (?) न५–गुदात्तु ऊरुमूलके ; ग३–गुदतश्चोरुमूलके ; न४–गुदतो रौसमूलके(?) ; न६–गुदाद्वै जानुमूलके ; त, ग४–× × × × । *अत्रैकाधिका पंक्ति– न१, २, ५, ७–वह्न्यालयात्पायुमूले पायुमूलादुरुद्वये। २८/३–न१, २, ५, ७–उरुमूलात्तथा गार्गि ; त–उरुमध्याच्च जान्वोश्च ; न६–जानुमूलात्तयोर्मध्ये ; न७–उरुमूलाज्जानुमूले ; ग६–उरुमूलात्स्फिजोर्मध्ये ; ग४–× × × × । २८/४–न५–जान्वोर्मूले ————; न८–तस्माद्वै जानुमूलके ; त–तस्मिन्वायुं————; न७–समाकृष्य————।

† अत्रैकाधिका पंक्तिः–न८–जानुमूलात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत्। एषान्यस्मात्संस्करणादुद्धृता २८/३-४ चरणस्य पाठान्तर इव दृश्यते ।

२९/१–ग१–चितिमूलं————; न३–चित्तमूले————; ग२–भित्तिमूलात्ततस्तस्मात् ; ग५, ६, क–जान्वोर्मूलात्ततस्तस्मात् ; ग४–× × × × । २९/२–न२, ३, ५, ७–————ततः ग४–× × × × । २९/३–ग१, न६–जंघातस्तं————; न२, ग२–जंघामूलात्समाकृष्य ; न८–जंघात्ततः———; न४–जंघास्थानात्समाकृष्य ; त–जंघद्वयं समाकृष्ये(?ष्य) न५, ग४–× × × × । २९/४––न१–गुल्फमध्ये————; ग२, ३, न४, ६, त–गुल्फमूले ————; न५, ग४– × × × × ।

३०/१–ग३–गुल्फादंगुष्टयोर्मध्ये ; ग६–गुल्फादंगुलयोर्गार्गि ; न५, ग४–× × × × । ३०/२–न५, ग४– × × × × । ३०/३–न४, ८–स्थानात्स्थानं————; न३, ६, ७, ग३, ५, ६, क–स्थानं स्थानं– ————————; न५, ग४–× × × × । ३०/४–न३, ६, ७, ८–————धारयेद्धिया ; ग५, ६, क– ————धारयेन्नरः ; ग४–× × × × ।

सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
एतत्तु योगसिध्द्यर्थमगस्त्येनापि कीर्तितम् ॥३१॥

प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः ।

नाडीभ्यां वायुमापूर्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥३२॥

धारयेद्युगपत्सोऽपि भवरोगाद्विमुच्यते ।

पूर्ववद्वायुमारोप्य हृदयव्योम्नि धारयेत् ॥३३॥

सोऽपि याति वरारोहे परमात्मपदं नरः ।
व्याधयः किं पुनस्तस्य बाह्याभ्यन्तरवर्तिनः ॥३४॥

नासाभ्यां वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
भ्रुवोर्मध्याद्दृशोः पश्चात्समारोप्य समाहितः ॥३५॥

३१/१–ग५–स च पापैर्विशुद्धात्मा ; क–स च पापविशुद्धात्मा; ग४– × × × × । ३१/२–ग४– × × × × । ३१/३–न६,—एतद्योगविशुद्धचर्थं (?); न३–एवं तु योगसिद्धयर्थं ; ग४– × × × × । ३१/४–ग५– अगस्त्येनाभिभाषितम् ; ग२–अगस्त्येनाभिकीर्तितम् ; न५–अगस्त्येन प्रकीर्तितम् ; ग४– × × × × ।

३२/१–ग२–प्रत्याहारे त्विदं प्रोक्तं ; ग४– × × × × । ३२/२–न८–प्रशस्तमिति कीर्तितम् ; ग४– × × × × । ३२/३–न८, ग५, ६– ———वायुमाकृष्य ; ग४– × × × ×। ३२/४–न६, ग५, ६– ————पार्श्वयोर्नरः ; न८–कुण्डलीपार्श्वयोर्नरः ; ग४– × × × × ।

३३/१–न८, ग५, ६–धारयेद्युगपद्योगी ; ग३–धारयेद्योगिवित्सोऽपि (?–द्योगवित्सोऽपि) ; ग४– × × × × । ३३/२–ग४– × × × × । ३३/३–ग४– × × × ×। ३३/४–ग१, ३, ५, न६, त, क–हृदये व्योम्नि———; न८–हृदयाद्व्योम्नि———; ग२–धारयेद्हृदयाम्बरे; ग४– × × × × ।

३४/१–न५, ७, ८, ग२, ५, ६, क–स प्रयाति———; ग४–संप्रयाति——— । ३४/२–ग५–परमं धाम वा नरः ; ग६, क–परमात्माथवा(?)नरः ; ग४, न८–परमात्मानमव्ययम् । ३४/३–न३– ————किन्तु नस्तस्य (?किं पुनस्तस्य) ; ग५, ६, क–वायवः (?व्याधयः)———————— । ३४/४–ग५, ६, क–बाह्याभ्यन्तरवह्नयः ।

३५/१–ग३–नासायां————— । ३५/२–ग५–पूरयित्वोदरे स्थितम् । ३५/३–एतस्य चरणस्य ८ भिन्नभिन्नाः पाठा विद्यमानलेखेषु दृश्यन्ते । ते च :—(१)ग१, ६, न४, ६, ८, क–भ्रुवोर्मध्याद्दृशोः पश्चात् ; ग३–भ्रुवोर्मध्यात्पुनः————; ग४– ————कृषेः(?)———; ग५–भ्रुवोर्मध्ये दिशः(?)———; न३–भ्रु– ———ध्ये दशा(?)———; न२ त– ————ततः ———; न१, ५, ७–भ्रु———ध्यं ततः———; ग२–भ्रु– ———ध्ये च कुचयोः । ३५/४–न४, ग३–संरोप्य सुसमाहितः ।

धारयेत्क्षणमात्रं वा सोऽपि याति परां गतिम् ।
किं पुनर्बहुनोक्तेन नित्यं कर्म समाचरन् ॥३६॥

आत्मनः प्राणमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये सुषुम्णया ।
यावन्मनो लयत्यस्मिंस्तावत्संयमनं कुरु ॥३७॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

३६/१–न४– ————क्षणमात्रं तु ; न२, ५, ७, त– ————स्थितिमात्रेण । ३६/२–न१, ५, ग१, २, ५, ६, त, क– ————परं पदम् ; ग३–न (?स) याति परमं पदम् । ३६/४–इदं चरणं द्विधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । तस्य विभागौ :–(१) नित्यं कर्म ; (२) समाचरन् । तयोर्ये ये पाठा लेखेषु दृश्यन्ते तेः–(१) न६, ७, ८, ग४, ५, ६, क–नित्यं कर्म ; न१, २, ४, ग१, ३, त–नित्यकर्म ; ग२–नित्यमेवं ; न३–निजकर्म, (२) न१, ५, ग१–समाचरन् ; न२, ४, ७, ग२, ३, ४, ५, ६, त–समाचर ; न३, ६, ८, क–समाचरेत् ।

३७/१–त–आत्मनि————; ग२, ६–आत्मानं————; ग५– × × × × । ३७/२–न४–भ्रुवोर्मध्यं————; ग२–भ्रूमध्यान्तं————; न६, ग४–आभ्रूमध्यात्सुषुम्णया ; न८–अभ्र–(?आभ्रू–) मध्यात्सुषुम्णया; ग५– × × × × । ३७/३–ग१, २, न५, ६– ———— –न्मनोलयस्तस्मिन् ; ग४, न८– ———मनोलयेत्तस्मिन् ; ग५, ६, क–यावन्नादो भवत्यस्मिन् । ३७/४–ग३–तावत्सलयं मनं(?)कुरु ।

अष्टमोऽध्यायः ॥

*याज्ञवल्क्य उवाच—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि धारणाः पंच तत्त्वतः ।
समाहितमनास्त्वं च शृणु गार्गि तपोधने ॥१॥

यमादिगुणयुक्तस्य मनसः स्थितिरात्मनि ।
धारणेत्युच्यते सद्भिः शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ॥२॥

अस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि यदिदं हृदयाम्बुजम् ।
तस्मिन्नेवान्तराकाशे यद्बाह्याकाशधारणम् ॥३॥

एषा च धारणेत्युक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।
तान्त्रिकैर्योगशास्त्रज्ञैर्विद्वद्भिश्च सुशिक्षितैः ॥४॥

धारणाः पंचधा प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः पृथक् शृणु ।
भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥५॥

अष्टमोऽध्यायः ॥

*न४, ५–श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच ; ग४– भगवानुवाच ; न१, २, ८, ग१, २, क–श्रीभगवानुवाच ; ग६–ओम । ; न३, ६, ७, ग५– × × × × ।

१/२–ग६–धारणात्पंच(?)———; ग२–धारणामन्त्रतत्त्वतः । १/३–न३–समाहितमना भूत्वा ; न६–समाहितमनास्ताश्च ; ग६–समाहितमनाः सत्त्वं(?) ग१– × × × × । १/४–न३, ६, ८, ग६– ————वरानने ; ग१–× × × × ।

२/१–न२–शमादिगुणयुक्तस्य । २/२–न३, ग१– ————स्थैर्यमात्मनि ; न४, ५–मनसा स्थितिरात्मनि ; न६–मानसस्थिति————; ग३–मननस्थितिः(?)———। २/३–न३–धारणान्मुच्यते–(?)———। २/४–न३–शास्त्रतात्पर्यवादिभिः ।

३/२–न२–यत्पदं————; त, न६, ग३, ४, ५, ६– यदिदं दहराम्बुजम् ; न७–यत्पदहृदयाम्बुजे(?) ; न८–यदिदं दहरायुजम्(?) । ३/३–ग३–तस्मिन्नेवान्तराकाले(?) ; ग५, ६, क–तस्मिन्वै दहराकाशे; ग२–तस्मिन्नेकान्तवासेन ; क–दहराम्बुजमध्ये च । ३/४–न४–यद्वात्याकाशधारणे(?) ; ग२–बाह्ये वा धारणान्तरा(?) ; क–व्योम्नि यद्बाह्यधारणम् ।

४/१– ————धारणेत्युक्तौ(?) ; न३–एषा ते धारणेत्युक्ता ; क–एतच्च धारणेत्युक्तं । ४/२–न३–योगशास्त्रविशारदे ; न१, २, ४, ७, ग३–शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ; न५–योगशास्त्रतात्पर्यवेदिभिः(?) । ४/३–४–ग२–तत्त्वज्ञैर्योगशास्त्रज्ञैर्विद्वभिश्च सुशिक्षितैः ; ग६– × × × × ।

५/१–न६– ————पंच संप्रोक्ताः । केषुचिल्लेखेषु विसर्गलोप एव दृश्यते तल्लेखकस्य प्रमादजन्य एवेति मत्वावगणितः । ५/४–न१, २, ४, ६, ग२, ३, ६–वायुराकाश एव च ।

एतेषु पंचदेवानां धारणं पंचधोच्यते ।
पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ॥६॥

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपायोर्हृदयान्तं यद्वह्निस्थानं तदुच्यते ॥७॥

आहृन्मध्याद्भ्रुवोर्मध्यं यावद्वायुकुलं स्मृतम् ।
आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशमिति चोच्यते ॥८॥

अत्र केचिद्वदन्त्यन्ये योगपण्डितमानिनः ।
आजानोर्नाभिपर्यन्तमपांस्थानमिति द्विजाः ॥९॥

नाभिमध्याद्गलान्तं यद्वह्निस्थानं तदुच्यते ।
*आगलात्तु ललाटान्तं वायुस्थानमितीरितम् ॥१०॥

६/१–न८–एतेषां––––––––––; क–एषु पञ्चसु देवानां । ६/२–न१, ३, ४, ६, ७, ग२, ३, ४, त– –––––पञ्चधेष्यते ; न८– ––––––––पञ्च चेष्यते । ६।३–न७– ––––––– जानुपर्यन्तैः(?) ; न८,क– –––––जानोः पर्यन्तं ।

७/१–न३, ४, ७, ८, ग३, ४, क–आजान्वोः –––––; ग२–जान्वादि नाभिपर्यन्तं । ७/२–ग२–आपस्थानं––––––––। ७/३–न१, २, ३, ग५, ६, क–आपायोर्हृदयान्तं च ; न६–आपायुहृदयान्तं यद्– ; न३, ७–आपायोर्हृदयांते च ; न४–आपायोर्हृदयं यावद्–; ग२–नाभ्यादि हृदि पर्यन्तं । ७/४–ग२, ५, ६, क– ––––––––––प्रकीर्तितम् ।

८/१–ग१–हृन्मध्यात्तु––––––; ग२–हृन्मध्याच्च––––––––––। ८/२–ग२–तावद्वायुस्थलं––––; न४–तावद्वायुकुलं––––––––; ग५–वायुस्थानं प्रकीर्तितम् । ८/१–२–न३–× × × × × × × × । ८/३–ग१, ४–आभ्रूमध्यात्तदूर्ध्वान्तं ; ग२–भ्रुवोर्मध्याच्च मूर्धान्तं ; न७–श्रोत्राभ्र मध्यान्मूर्धांतं । ८/४–ग४–आकाश इति– ––––––––; ग५, ६, क–आकाश इति कीर्तितम् ; ग२–आकाशस्थानमिष्यते । ८/३–४– न३–× × × × × × × × ।

९/१–न८, ग४– तत्र––––––––––; ग२– ––––––––– –द्वदन्त्यस्मिन् । ९/२–ग२–योगे पण्डितमानसः(?) ; न३–योगपण्डितमानितः(?) ; क–लोकपण्डितमानिनः । ९/३–४, ७, ८ ग३, ४–आजान्वोर्नाभिपर्यन्तं । ९/४–न३, ४, ८, ग३, ४–अपां स्थानं प्रकीर्तितम् ; ग६–अपां स्थानं द्विजोत्तमे ; क, ग५– ––––––––––द्विजोत्तमाः ।

१०/१–न३, ग५, ६, क––––––––गलान्तं च ; न६– –––––गलान्तं यद् ; ग४–नाभिमध्यादागलान्तं । १०/२–न८– ––––––––तथोच्यते ; ग५, ६––––तेजसः स्थानमुच्यते ; क–तेजसां स्थानमच्यते । १०/३–ग१, २–आगलाद्भ्रूललाटान्तं ; ग३–आगलान्तं ललाटान्तं ; ग५, ६––––गलाद्भ्रूमध्यपर्यन्तं ; १०/४–ग५, ६–वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ; क–पवनस्थानमुच्यते ; न८–यावद्वायुकुलं स्मृतम् । *अत्र "ग५" लेखे द्वावधिकौ श्लोकौ । यद्यपि तयोरस्मिन्स्थाने योग्यताहीनत्वं स्पष्टमेव तथापि कौतूहलवारणाय तावत्रोद्धृतौः–चतुरस्रं चार्धचन्द्रं त्रिकोणं च षडश्रकम् । संवृत्तं च पृथिव्यादि मण्डलाकृतयः क्रमात् ॥१०/१॥ पीतं शुक्लं तथा रक्तं कृष्णं धूम्रं च वर्णकम् । लवादैरथ वर्णं च हकारं चाक्षरक्रमम् ॥१०/२॥

ललाटाद्रन्ध्रपर्यन्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
अयुक्तमेतदित्युक्तं शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ॥११॥

यदि स्याज्ज्वलनस्थानं देहमध्ये वरानने ।
अयुक्ता कारणे वह्नौ कार्यरूपस्य संस्थितिः ॥१२॥

कार्यकारणसंयोगे कार्यहानिः कथं भवेत् ।
दृष्टं तत्कार्यरूपेषु मृदात्मकघटादिषु ॥१३॥

*

पृथिव्यां धारयेद्गार्गि ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
विष्णुमप्स्वनले रुद्रमीश्वरं वायुमण्डले ॥१४॥

सदाशिव तथा व्योम्नि धारयेत्सुसमाहितः ।
पृथिव्यां वायुमास्थाय लकारेण समन्वितम् ॥१५॥

११/१–न३–ललाटं रन्ध्रपर्यन्तं ; न४–ललाटान्मूर्ध्निपर्यन्तं ; ग४–ललाटाकाशपर्यन्तं । ११/१-२–न१, २, ५, ७, ग२, ५, ६, त, क–× × × × × × × × । ११/४–ग६–शास्त्रतत्त्वार्थयोगिभिः(?) । ११/३-४–ग५, क–× × × × × × × × ।

१२/१–न६–यदि स्याज्जलसंस्थानं(?) । १२।२–ग६–देहमध्यं––––––––––। १२/१-२–ग५, क––× × × × × × × × । १२/३–न१, ग१, २–अमुक्तकारणे––––––; न२, ७, ८, ग४, ६–अयुक्तकारणे––––; न४–अयुक्तकारणे चाह्नौ । १२/४–न३–कार्यरूपमिति स्थितिः ; ग३–कार्यारूपस्य संस्थितः(?) ; न६–कार्यरूप + संस्थितेः । १२।३-४–ग५, क–× × × × × × × ×।

१३/१-२–ग२, ६–कार्यकारणसंयोगात्कार्यं चापि दृढं भवेत् ; ग१–कार्यकारणसंयोगात्कार्यहानिर्दृढा भवेत् ; ग५, क– × × × × × × × × । १३/३–ग१–दृष्टान्तः––––––; न३–इष्टं तत्कार्यरूपेण ; ग६–दृष्टार्थं कार्यरूपेण । १३/४–ग२–मृदादिभ्यां घटादिकम् ; न३–मृदादिव घटादिषु ; ग६–मृदादिभ्यो घटादिकम् ॥ १३।३-४–ग५, क– × × × × × × × × ।

*यौ श्लोकौ "ग५" लेखे १०-११ श्लोकयोरन्तराले तावेव "ग६" लेखे १३-१४ श्लोकयोरन्तराले । तयोः पुनरुक्त्या न काचिदर्थसिद्धिरिति सा न कृतात्र ।

१४/१–ग३– ––––––––धारणं गार्गि ; ग६– ––––––धारये(?)––––––। १४/२–ग३–ब्राह्मणं––––––––; न४–ब्रह्माणमुदकेषु च(?) । १४।१-२–ग१, ५, क– × × × × × × × × । १४/३–न६–विष्णुमप्यनले––––– ; ग३––विष्णुमत्स्वनले––––(?) ; ग६–विष्णुमप्सु गळे––––(?) ; न४–विष्णुं विद्धचनले––––––। १४/४-न४–मारुतं वायुमण्डले १४।३-४–ग१, ४, ५, क–× × × × × × × × ।

१५/२–न३–धारये(त्)––––––; ग६–धारयेस्सु –(?त्सु–) समाहितः । १५/१–२–ग१, ४, ५, क–× × × × × × × × । १५/३–न१, २, ग२– ––––––वायुमास्थाप्य ; ग५ ६–पार्थिवे वायुमारोप्य । १५/४–न४, ग३–लकारेण समाहितः(?) । १५/३-४–ग१, ४, क–× × × × × × × × ।

ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं ब्रह्माणं सृष्टिकारणम् ।
धारयेत्पंच घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ॥१६॥

वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं सौम्यं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥१७॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पंच घटिकाः सर्वरोगैः प्रमुच्यते ॥१८॥

वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमन्वितम् ।
त्र्यक्षं वरप्रदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ॥१९॥

भस्मोध्दूलितसर्वांगं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ।
धारयेत्पंच घटिकाः वह्निनासौ न दह्यते ॥२०॥

१६/१–न३–ध्यायन्चतुर्भुजाकारं ; ग५, ६,–ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं; ग२–ध्यायन्चतुर्मुखाकारं ; न८–ध्यायन्वेदादिकर्तारं ; न१, २–ध्यायेच्चतुर्मुखाकारं ; न५–धारयेच्चतुर्भु + + ×; ग४–चतुर्भुज-मुखाम्भोज– । १६/२–ग३–ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ; ग४–हंसायितसरस्वतीम् ; ग५, ६, न८–चतुर्वक्त्रं हिरण्मयं ; न५– × × × × । १६/१-२–ग१, क– × × × × × × × × । १६/३–न४, ग३, ४–––धारयन्पञ्च घटिकाः; ग१–धारयेत्घटिकास्तिस्रः; त–"धारयेत्पंच्च घटिकाः", "पृथिव्यां वायुमारोप्य" इति द्वौ पाठौ । १६/४–न३–पृथिवी वायुमाप्नुयात् ; ग५, क–सर्वान्कामा-नवाप्नुयात् ; त–"सर्वरोगैः प्रमुच्यते", पृथिवीजयमाप्नुयात्" इति द्वौ पाठौ ।

१७/१–न३–वारुणो वायुमारोप्य(?) ; न१, २, ५, ७––––अप्स्वेवं––––––––। १७/२–न१–सकारेण–––––––; –न६, ग३–वकारेण समन्विते । १७/१-२–ग१, त, क– × × × × × × × × । १७/३–ग५, न७, क–स्मरन्नारायणं देवं ; त–स्मरेन्नारायणं देवं ; ग६–परं नारा-यणं देवं ; न३, ४, ग३–तस्मिन्नारायणं सौम्यं ; न६–अस्मिन्नारायणं सौम्यं । १७/४–न५, ६, ८–ग५, क– ––––––––––शुचिस्मितम् । १७/३-४–ग१– × × × × × × × × ।

१८/२–न३–पीतवाससमच्युतम् (?–तम्) । ग३–पीतवाससमुच्यते(?) । १८/३–न४, ग३–धारयन्पंच घटिकाः ; ग१– × × × × । १८/४–न५, ग५, ६, त, क–सर्वपापैः––––––; न८, ग४––महारोगैः––––––––; न१, ७–भवरोगैर्विमुच्यते–ग१– × × × × । ; न६–अपां विजय-माप्नुयात् ।

१९/१–न३, ८–वह्नावनिलमारोप्य ; ग१– × × × × । १९/२–न३, ६– ––––––––––––समन्विते ; न१, २, ४, ७–रेफान्तरसमन्वितम् ; त–एकाक्षरसमन्वितम् । १९/३–न१, २, ५– त्र्यक्षं च वरदं––––न७–अक्षं च वरदं––––; न४–त्र्यम्बकं वरदं––––––; ग२–त्रिनेत्रं––––––––––; न३–अक्षरं वर+ ––––; त–अभयं वरदं––––; ग३–अम्बिकावरदं ––––––; ग१– × × × ×। १९/४–न३–तरुणादित्यसंभवम्(?) ; ग१– × × × ×।

२०/१-२–ग१– × × × × × × × × । २०/२–न१, २, ३, ५, ६, ७, ८, ग४, क–––– –मनुस्मरेत् । २०/३-४–ग१– × × × × × × × × । २०/३–न३, ४, ग३–धारयेद् घटिकाः पञ्च ; न५–धारयेत्पञ्च घटिकां ।

मारुतं मारुतस्थाने यकारेण समन्वितम् ।
धारयेत्पंच घटिकाः वायुवद्व्योमगो भवेत् ॥२१॥

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शकरम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥२२॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं बालेन्दुधृतमौलिनम् ।
पंच वक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥२३॥

सर्वायुधोद्यतकरं सर्वाभरणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥२४॥

मनसा चिन्तयन्यस्तु मुहूर्तमपि धारयेत् ।
स एव मुक्त इत्युक्तस्तान्त्रिकेषु सुशिक्षितैः ॥२५॥

एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥२६॥

२१/१-२–ग१– × × × × × × × × । २१/१-न३, ४, ५-मारुतं मारुते स्थाने ; ग५, ६–मारुतं मरुतां स्थाने ; ग३–मरुतं मारुतस्थाने ; ग२–मारुतस्तन्मरुत्स्थाने । २१/२–ग२–वकारेण ————————; न६– ————————समन्विते; न३, ४, ५–सर्वदेवसमन्वितम् । २१/३–न५–धारयेत्पञ्च घटिकां ; ग१, २– × × × × । २१/४–न१, ५, ७–युगपद्(?)व्योमगो भवेत् ; ग१–वायुमध्ये ततो भवेत्(?) ; ग२– × × × × ।

२२/१–ग१, २– × × × × । २२/२–न३, ग१-२– × × × × । २२/३–४–न३, ग१– × × × × × × × × । २२/३–न७- ————महादेहं(?–देवं) ।

२३/१-२–न३– × × × × × × × × । २३/२–ग२– ——— –शेखरम् ; न६– ——— –मौळिकम्(?) ; न८– ————युतमौलिनम् ; ग५, क–धृतबालेन्दु————। २३/३-४–न३, ग१– × × × × × × × × । २३/३–न१, ५, ७, त–पञ्चवक्त्रयुतं शान्तं ; ग३–पञ्चवक्त्रं + + + युतं(?) ।

२४/१-२–न३, ग१– × × × × × × × × । २४/१–ग५, ६, क–सर्वायुधैर्धृताकारं । २४/२–ग५, ६, क–सर्वभूषणभूषितम् । २४/३-४–न३, ग१– × × × × × × × ×। २४/३–उमार्ध– ——न६–उमार्धदेहं(?) । २४/४–ग२–सर्वकार्यादिकारणम् ।

२५/१-२–न३, ग१– × × × × × × × ×। २५/१–न२, ७–मनसा चिन्तयेद्यस्तु ; ग२–चिन्तयन्मान्यचित्तस्तु ; ग५–चिन्तया चिन्तयन्यस्तु ; ग६, क–चित्ते यश्चिन्तयेद्विद्वान् । २५/२–ग५–मुहूर्तमपि धारयन् ; ग३–महान्तमपि(?) धारयेत् । २५/३-४–न३, ग१– × × × × × × × × । २५/३–न१, २, ५, ७–स एवमुक्तास्तु पञ्चेमाः, ग३–स विमुक्त इत्युक्तौ (?) । २५/४–न६–तान्त्रिकेष्वपि शिक्षितैः ; न२–तान्त्रिकैरपि———; न४–तान्त्रिकैश्च सुशिक्षितैः ; ग३ तान्त्रिकैश्च सुशोभितम्(?) ; न१, ५, ७, त–तान्त्रिकैरर्थशिक्षितैः ; ग२–त्रिलोकज्ञसुनिश्चितः(?) ।

२६/१-२–न३– × × × × × × × × । २६/१–न८, ग४, क– ————भवत्यस्मिन् । २६/३-४– न३– × × × × × × × × । २६/४– न६–स्वे स्वे संभृत्य———।

*तस्मिन्सदाशिवे प्राणं चित्तं चानीय कारणे ।
†युक्तचित्तस्तदात्मानं योजयेत्परमेश्वरे ॥२७॥

अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः ।
प्रणवेनैव कार्याणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥२८॥

प्रणवस्य तु नादान्ते परमानन्दविग्रहम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम् ॥२९॥

चेतसा संप्रपश्यन्ति सन्तः संसारभेषजम् ।
त्वं तस्मात्प्रणवेनैव प्राणायामैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥३०॥

†ब्रह्मादि कार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ।
विशुद्धचेतसा पश्य नादान्ते परमेश्वरम् ॥३१॥

---

*अत्र "न८" लेखे "प्रणवस्य तु नादान्ते परमानन्दविग्रहम्" इति पंक्तिर्वर्तते सा तु नाधिका किन्तु २९।१-२– अस्थाने लिखितास्ति ।

२७/१-२–न३, ४, ग४–× × × × × × × × । २७।१-न२–तस्मिन्महाशिवे प्राणं ; ग२–तस्मिन्महाशिवे प्राण (–वायुं) ; त–तस्मिन्महाशिवे प्रोतं ; न१, ग१–तस्मिन्महाशिवे प्राणान् ; ग५–तस्मिन्शुभाश्रये प्राणं । २७/२–न६, ग३–चित्तं च निजकारणे ; न६, ग३–चित्तं वा निजकारणे; ग२–वायुं सर्वस्य कारणे ; न१, ग१, त–सृष्ठिस्थित्यन्तकारिणे । †"अत्र "न४, ५, ७" लेखेषु "विशुद्धमनसा पश्य नादान्ते परमेश्वरम्" इति पंक्तिर्वर्तते सा तु नाधिका किन्तु यान्येषु लेखेषु ३१/३-४ स्थाने वर्तते सैव । २७/३-४–न३, ४, ग३, ४, ५–× × × × × × × × । २७/३–ग६–युक्तं च तस्य चात्मानं । २७/४–त, न८, क–युयोज————; न६–संयोज्य———।

२८/१-२–न३, ग४, ५, ६– × × × × × × × × । २८/३-४–न३, ग४, ५, ६– × × × × × × × × । २८/४–ग२– ———संगृह्य———।

२९/१-२–न३– × × × × × × × × । २९/१–न६– ————नादान्तं । २९/२-न१, २, ४, ७– ————विग्रहे ; ग१– ——— –मीश्वरम् । २९/३-४–न३, ग२– × × × × × × × × । २९/३–न८–इदं सत्यं————।

३०/१-२–न३, ग२– × × × × × × × × । ३०/२–न७– ————+++ भेषजम् ; त– ————भेषजः । ३०/३-४–न३, ग२– × × × × × × × × । ३०/३–न५–तत्तस्मात्प्रणवेनैव ; न८–तं तस्मात्प्रणवेनैव ।

३१/१-२———न३, ग२– × × × × × × × × । †अत्र "ग६"लेखेपक्तित्रयम् :– "तस्मिन्सदाशिवे प्राणवायुं सर्वस्य कारणे । वायुरेव शिवो वायुः वायुधारि सदाशिवः ॥ युक्तं च तस्य चात्मानं योजयेत्परमेश्वरम् ॥ "एभ्यः प्रथमा या "ग२" लेखे २७/१-२ स्थाने विद्यते सैवास्ति । तृतीयाऽपि २७/३-४ पंक्त्यास्तस्मिन्नेव लेखे या पाठान्तरत्वेन वर्तते सैव । द्वितीयास्मिन्संदर्भे असम्बद्धा इव दृश्यते । ३१/३-४–न३– × × × × × × × × । ३१/३–त– ————पश्येत् ; न८———पश्यन् ; ग५ क– ———चेंतसाविश्य ; ग२ – ———स्थाप्य ; ३१/४–ग२– ———परमात्मनि; न६– ———कारणंशिवम् ; क–नानान्ते (?) परमेश्वरम् ।

अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः ।
भिषग्वरा वरारोहे योगेषु परिनिष्ठिताः ॥३२॥

शरीरं तावदेवं तु पंचभूतात्मकं खलु ।
तदेतत्तु वरारोहे वातपित्तकफात्मकम् ॥३३॥

वातात्मकानां सर्वेषां योगेष्वभिरतात्मनाम् ।
प्राणसंयमनेनैव शोषं याति कलेवरम् ॥३४॥

पित्तात्मकानां त्वचिरान्न शुष्यति कलेवरम् ।
कफात्मकानां कायश्च सम्पूर्णस्त्वचिराद्भवेत् ॥३५॥

धारणं कुर्वतस्त्वग्नौ सर्वे नश्यन्ति वातजाः ।
पार्थिवांशे जलांशे च धारणं कुर्वतः सदा ॥३६॥

३२/१-२- न३- × × × × × × × × । ३२/१-ग-२ तस्मिन्नर्थे————— । ३२/२-न१, २, ७, ग५, ६,क-ब्रह्मवादिनः । ३२/३-४- न३- × × × × × × × × । ३२/३-न१, २,-दिव्या भिषग्वरा ह्येते ; त-दैवे भिषग्वरारोहे(?) ; ग३-भिषस्वरो वरारोहे (?); न४-तदेव तु वरारोहे(?) । ३२/४-ग६-योगेषु परिनिष्ठितौ ; न४-× × × ×। ३२/१-४-अस्मिन्श्लोके ये ये आयुर्वेदज्ञातारो योगिनस्तेषां मतमवलम्बितं, ३८ तमे श्लोके त्वश्विनयोर्देवभिषग्वरयोरेवेति विवेकः ॥

३३/१-२-न३, ४- × × × × × × × × । ३३/१-ग५, ६- ————————हि ; ग२- ————तावदेव त्वं ; न२, ६, ग१- ————तावदेतत्तु ; ग३- ————————तावदेतन्तु । ३३/२- न१, २, ५, त- ————————शृणु । ३३/३-४-न३, ४-× × × × × × × ×। ३३/३- ग३-तदेव तु- ————; ग५-तदा तत्र————; न५, ७-तद्वदेतद्वरारोहे ; न६-तदेतं+वरारोहे । ३३/४-ग३————तदापित्तकफात्मकम्(?) ।

३४/१-२-न३- × × × × × × × × । ३४/२-न५-योगेष्वभिरतां नृणाम् ; ग४-योगेष्वपि रतात्मनाम् ; न१-योगेष्वभिरतं नृणाम् (?); ग२-योगेषु चरतां नृणाम् ; ग५, ६-योगेषु निरतात्मनाम् ; न६-योगे धीरवतां नृणाम् । ३४/३-४-न३- × × × × × × × × । ३४/३-न२-प्राणसंयमने चैव । ३४/४-ग५, ६, क- ————————शरीरकम् ।

३५/१-२-न३, ग२- × × × × × × × × । ३५/१-न१, २, ४, ७, ग३, त-————————सर्वेषां ; ग४, न८, क- ———— -मचिरात् ; न६- ———— -मचिरं । ३५/२-न८, ग४, क-विशुष्यति————; ग३-स शुष्यति(?)————। ३५/३-४-न३- × × × × । ३५/३- ग१, ४, ६, न६, क- ————————कायस्तु ; ग५- ———— ————सर्वेषां ; ग३- ———— -रौयस्थं(?) ; ग२-कफात्मस्य(?)संपूर्ण । ३५/४-न४, ५, ग१, ३, ४, ५, ६, त-सम्पूर्णमचिराद्भवेत् ; न६-सम्पूर्णमचिरं————; ग२-संपूर्ण-शरीरं हृद्युक्षरो(?)————; न८-संशोषमचिराद्भवेत् ।

३६/१-२-न३- × × × × × × × × । ३६/१-न४- ———— -स्त्वग्नेः ; न७-————————सर्वे ; ग२- ———— -स्तस्याः । ३६/२-न७-न पश्यति(?)वातजाः । ३६/३-४-न३- × × × × × × × × । ३६/३-न४- ————————वा ; ग१, ३, ४, ५, ६, न६, ७, ८, क-पार्थिवे च————। ३६/४-न६-धारणां————————; ग१, ४, ५, ६, न८, क- ————कुर्वतस्तदा ।

नश्यन्ति श्लेष्मजा रोगा वातजाश्चाचिरात्तथा ।
व्योमांशे मारुतांशे च धारणं कुर्वतः सदा ॥३७॥

त्रिदोषजनिता रोगा विनश्यन्ति न संशयः ।
अस्मिन्नर्थे तथाब्रूतामश्विनौ च भिषग्वरौ ॥३८॥

प्राणसंयमनेनैव त्रिदोषशमनं नृणाम् ।
तस्मात्त्वं च वरारोहे नित्यं कर्म समाचर ॥३९॥

यमादिभिश्च संयुक्ता विधिवद्धारणं कुरु ॥४०॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये अष्टमोऽध्यायः ।

३७/१-२–न३– × × × × × × × × । ३७/१– ग३–श्लेष्मजा वातजाश्चैव । ३७/२–न६–वातजाश्चाचिरं तथा ; न७-वातजास्त्वाचिरात्तथा ; ग६–वातजाश्चापि पित्तजाः ; ग४–पैत्ताश्चैवाचिरात्तथा ; न८, क–वैद्याश्चैवाचिरात्तथा (?); ग१, ५–विनश्यन्ति न संशयः ; ग३–नश्यन्त्यत्र न संशयः ; न४–सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३७/३-४–ग१, ३, ५, न३, ४, क– × × × × × × × × । ३७/३–न६–व्यामांशे (?व्योमांशे)————। ३७/४–न१, ६, ग४, ६–धारणां————।

३८/१-२–न३, ४, ग१, ३– × × × × × × × × । ३८/२– –– ग५, ६, क–विनश्यन्ति विषाणि च ; न६–नश्यन्त्यत्र न संशयः । ३८/३-४–न३– × × × × × × × × । ३८/३–ग२–अस्मिन्नर्थे ब्रुवाते तौ ; न४–अस्मिन्नर्थे तु तौ ततोऽब्रूताम्(?) । ३८/४–ग२–अश्विनौ च————।

३९/१-२–न३– × × × × × × × × । ३९/२–ग२–त्रिदोषशमनं भवेत् । ३९/३-४–न३, ७– × × × × × × × × । ३९/४–न२, ग३–नित्यकर्म————।

४०/१-२–न३, ७– × × × × × × × × । ४०/१–न२, ४, ६, ग३– ————— संयुक्तां(?) ; ग३–आ यस्माभिश्च संयुक्तां(?) ; न५– ————संयुक्तं । ४०/२–ग२, ६, न४, ६– ————धारणां———; ग४–विविधां धारणां कुरु ।

नवमोऽध्यायः ।।

*याज्ञवल्क्य उवाच--

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु गार्गि वरानने ।
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ।।१।।

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
सगुणं निर्गुणं तच्च सगुणं बहुशः स्मृतम् ।।२।।

पंचोत्तमानि तेष्वाहुर्वैदिकानि द्विजोत्तमाः ।
त्रीणि मुख्यतमान्येषामेकमेव हि निर्गुणम् ।।३।।

मर्मस्थानानि नाडीनां संस्थानं च पृथक्पृथक् ।
वायूनां स्थानकर्माणि ज्ञात्वा कुर्वात्मवेदनम् ।।४।।

नवमोऽध्यायः ।।

*न५–श्रीयाज्ञवल्क्य उवाच ; त–भगवानुवाच ; न६, ८, ग४, क–श्री भगवानुवाच ; न१, २, ३, ७, ग१, २, ५, ६–× × × × ।

१/१–न१, २, ५, ७–ध्यानं ततः————; ग१, न४, त–ध्यानं सम्प्रति वक्ष्यामि ; न६, ग४–ध्यानं ते संप्रवक्ष्यामि ; न३– × × × × । १/२–ग२, न८, क– ————तपोधने । १/३–ग१–ज्ञानमेव हि———; ग४–ज्ञानमेकं हि———; ग५, ६, क–ध्यानमेव हि सर्वेषां ; न३– × × × × ।

२/१–न८–ध्यानमात्रस्वरूपस्य(?) ; न३– × × × × । २/२–न६–मनसा वेदनं———; न८–वन्दनं(?) मनसा———; न३– × × × × । २/३–न४, ग३, ५, ६ क– ———— चैव ; न६–सुगुणं(?)———चैव ; न३– × × × × । २/४–न१, २– ———बहुशः श्रुतम् ; ग२– ————बहुलं स्मृतम् ; ग५– ———बहुधा श्रुतम् ; ग६, क– ———— बहुधा स्मृतम् ; न६– ———वेदनं(?)———; न४, ग३–द्विविधं वेदसम्मतम् ; न३– × × × × ।

३/१–न३– × × × × । ३/२–न४, ६, ८, ग३, ५– ————द्विजोत्तमे ; न७– ————द्विजोत्तम ; न३– × × × × । ३/३–ग२–तेषु च त्रीणि मुख्यानि ; ग१, ३–एषां त्रीण्येव मुख्यानि ; ज–एषु मुख्यतमास्तिस्रः ; न६–एषु त्रीण्येव मुख्यानि ; ग५–एषु मुख्यानि हि त्रीणि ; ग६, न८, क–एषु मुख्यानि च त्रीणि ; न३– × × × × । ३/४–ग२–एक एव च निर्गुणः(?) ; न३– × × × × ।

४/१–न३– × × × × । ४/२–ग१, २, ४, त–संधानं च————; न६–संस्थानानि (?)————; न३– × × × × । ४/३–न२–चत्तुना(?)————; न७– चतुर्णां(?)————; ग१, ५, न३– × × × × । ४/४––त———कर्मात्म-वेदनम्(?) ; ग३–जित्वा————; न८———तस्मात्कुर्यात्तु वेदनम्; न३– × × × × ।

एक ज्योतिर्मय शुद्धं सर्वगं व्योमवद्दृढम् ।
अव्यक्तमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥५॥

स्थूलं सूक्ष्ममनाकारमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनौपमम् ॥६॥

आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणम् ।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम् ॥७॥

अदृश्यं दृश्यमन्तःस्थं बहिःस्थं सर्वतोमुखम् ।
सर्वदृक्सर्वतःपादं सर्वस्पृक् सर्वतःशिरः ॥८॥

५/१–न८– ——————सिद्धं ; ग२–एवं——————; ग३–एतज्ज्योतिर्मयं ——; न३– × × × × । ५/२–ग१–सर्वांगं————; ग२–सर्वांगं व्योममध्य(–म–)म् ; न१, २, त–तत्सर्वं व्योमवद्दृढम् ; न३– × × × × । ५/३–अत्र पाठभेदानां बाहुल्यान्मूले च तेभ्यः कः स्यादिति निश्चयपूर्वकं निर्णेतुमशक्यत्वाद्य एको पञ्च लेखसमूहे विद्यते स स्वीकृतो ग्रन्थे, सर्वे च पाठा अत्र दीयन्तेः––न१, २, ५, ७, त–अव्यक्तमचलं नित्यं ; ग२, न४–अत्युच्चममलं ——; ग १, ५, क–अत्यच्छममलं————; ग४–अत्यच्छमकलं————; न८–अत्यच्छमचलं————; ग३–अत्युच्चमचलं————; ग६–अत्यन्तनिर्मलं————; न३, ६–प्रत्यक्षमचलं————।

६/१–ग६– ——— –मनाकाशं ; न१, ५–– ——— –मना सम्यक्(?) ; न२, ७– ——— –मनाशक्यं(?) ; ग५, ६, न८, क–अस्थूलं सूक्ष्ममाकाशं(?) । ६/२–न८–असंवृत्य (?)————; न१, २, ७–असंस्पर्श————; त–असंस्पर्श्य————; न५–समस्पर्श–————। ६/३–न१, ६, ७, ८, ग४, त– ————गन्धाढ्यं ; ग६– × × × × । ६/४–न३, ४, ६, ग४–अप्रमेयमनूपमम् ; न७– ——— –मनौपदम्(?) ; न२–अप्रमेयं मनोमयम् ; न५, ग३, त– ——— –मनोपमम् ; न८– ——— –महोपमम् ; ग६– × × × × ।

७/१–ग५, क–आनन्दममलं————; ग२–आनन्दमचलं————; न३–आनन्दमक्षरं————; न६–अनन्तमजरं————; ग१, ६– × × × × । ७/२–न८–सदा-(?सद–) सत्सर्व————; न३–सर्वव (?सदसत्) सर्व——; ग१, ६– × × × × । ७/३–ग४–सर्वाकारं————; ग२–सर्वाधारं जगद्व्याप्तं ; ग१, ६– × × × × । ७/४–ग४–अमूर्ति————; न२–अमूर्तिमजमच्युतम् ; न५, ७–अमूर्तमजमच्युतम् ; न८–अमूर्तमय-(?-मज-) मव्ययम् ; ग१, ६– × × × × ; ग२–उत्तमं शिवमच्युतम् ।

८/१–न२, ७, ग५, ६, क– ———— –मध्यस्थं ; न३–सदृशं(?)————। ८/२–न१, ६, ८, ग१, २, ४, ५, ६, त––– बहिष्ठं————; क–बहिष्ठं विश्वतोमुखम् । ८/३–ग१, २–सर्वगं————; न६–सर्व दिक्– ————। ८/४–ग१, २–सर्वाक्षिः————; ग३, ६–सर्वदृक्————; ग४, न८–सर्वगं————; न४–सर्वस्पृक् सर्वतं(?)शिवम् ।

ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत् ।
तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥९॥

*अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहम् ।
†गुरूपदेशाद्विज्ञाय पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥१०॥

ब्रह्म ब्रह्मपुरे चास्मिन्दहराम्बुजमध्यमे ।
अभ्यासात्सम्प्रपश्यन्ति सन्तः संसारभेषजम् ॥११॥

हृत्पद्मेऽष्टदलोपेते कन्दमध्यात्समुत्थिते ।
द्वादशाङ्गुलनालेऽस्मिंश्चतुरङ्गुलमुन्मुखे ॥१२॥

९/१-४–"ग५, ६" लेखयोरस्मिन्श्लोके पंक्तयोः क्रमविपर्ययो दृश्यते । ९/१–ग२– ———— ————यस्यां(?) । ९/२–न२, ग३–इति तद्वेदनं————; न३–इति यद्विदं(?)——; ग५–इति यद्वेदनं धिया । ९/३–ग४, ६– ——— –न्निर्गुणध्यानं ; न३–तदेव निर्गुणध्यानं ; न५–तदेतत्त्रिगुणं ध्यानं । ९/४–न१, २, ६, ७, ८, त– ————योगविदो विदुः ; न५–परमानंद-विदो————।

*अत्र "न३" लेखे "अयं पंथा मुनिः श्रेष्ठ सांख्या संसारनाशनः।" इत्यशुद्धासम्बद्धा च पंक्तिः । "ग५, ६, क" इति लेखत्रयेऽप्यधिकाः पंक्तयः । ताः–ग५–ब्रह्म ब्रह्मपुरे चास्मिन्दहराब्दे[1] खमध्यमे । सत्यामृते[2] परानन्दे निर्गुणे परमात्मनि[3] ॥ तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥ अन्ययोर्लेखयोस्तस्य पाठान्तराणिः––(१) ग६, क–दहराब्जे ; (२)-ग६, क–सत्येऽमृते ; (३) ग६, क–अत्रैकाधिका पंक्तिः । सा––"अदृश्ये दृश्यरूपेऽस्मिन्वेदनं परमं भवेत्" इति । तेन "ग५" लेखे त्रयः पंक्तयः, "ग६, क" लेखयोश्च चतुः पंक्तयोऽधिका अत्र ।

१०/१–न३–अपाय चमात्मानं(?) । १०/३–न६, ८–गुरूपदेशाद्विज्ञेयं । १०/४–न४, ग३–प्रकृतं————। †अत्रैकाधिका पंक्तिः– न८, ग४–ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महाद्युतिम् ।

११/१–ग१, ५, न३, त– ————वास्मिन् ; न८, ग४– ————गार्गि । ११/२–अस्य पादस्य ९ पाठभेदाः हस्तलेखेषु, ४ च मुद्रितपुस्तकेषु दृश्यन्ते । तेभ्यः ग१, ३, न३, ४–दहराम्बुजमध्यमे ; न१, ५, ८, त–दहराख्यस्य मध्यमे ; ग४–दहराब्जस्य मध्यमे ; ग६, क– दह-राब्जे खमध्यमे ; न६–दहराकाशमध्यमे-इति पंच शुद्धाः । शेषेभ्यः ग२–दहराख्यक(?ख–) मध्यमे ; ग५–दहराब्दे(?-ब्जे) खमध्यमे; न७–हृत्सख्यस्य तु (?हृदाख्यस्य तु) मध्यमम् (?मध्यमे) ; न२–हृत्सख्यस्य (हृदाख्यस्य) मध्यमम् (?मध्यमे)–एते हस्तलेखान्तर्गताः ; मु. पु, क. पु–देहराजे(?) सुमध्यमे ; मु. पु–दहराख्ये स्व–(?ख–) मध्यमे ; न. पु.–देह बाह्ये(?) सुमध्यमे ; त्रि. पु.–देहे रुन्धन्खमध्यमे(?)–एते मुद्रितपुस्तकान्तर्गताः; एवमष्ट विकृतियुक्ताः । ११/३–ग२–अभ्यासात्तं ————; ग१–स्वधिया सं————; न३–चेतसा सं————। ११/४–ग१, ३, न८, क–सन्तस्त्वं च तथा कुरु ; ग५–सन्तस्त्वं तत्तथा कुरु ; ग६–सन्त————सदा––; न४, ग३–मनस्त्वं च तथा————।

१२/१– न१–हृत्पद्मेऽष्टदलोपेतं(?) ; न८–हृन्मध्ये————; न७–हृत्यग्रे(?)–ग३– हृत्पदाष्टतलोपेत(?) । १२/३–ग१, ४, न८– ————मानेऽस्मिन् ; न७– ———— ————माले(?)————; ग६, क– ————नाभे(?)————। १२/४–न१, ६, त– ———— –सम्मुखे ; न२, ५– ——— –सन्मुखे ; न३– ——— –सम्मिते ; ग२– ——— –मुन्नते ; ग३– ——— –विस्तृते ।

प्राणायामैर्विकसिते केसरान्वितकर्णिके ।
वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ॥१३॥

चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥१४॥

श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पद्मोदरदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥१५॥

*

शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमव्ययम् ॥१६॥

प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ।
मनसालोक्य देवेशं सर्वभूतहृदि स्थितम् ॥१७॥

१३/२–ग५, ६, क–वैराग्यान्वितकर्णिके । १३/३–न१, ५– ----------जगद्योनिं ; न७–× × × × । १३/४–न१, ५, ग२, ५, त, क– ----------विभुम् ; न४, ग३–नारायणमनामयम् ।

१४/१–त– चतुर्भुजमहापद्मं ; १४/३–ग५–किरीटहारकुयूरं(?) ; क–किक्कटाहारकेयूरं । १४/४–ग५, ६, क–पद्मपत्रायतेक्षणम् ।

१५/१–न१, २, ५, ७, त– ----------देवं; ग२– ----------श्रीदं; १५/१-२–क–× × × × × × × × । १५/३–न३– ---------- –दलं भोष्ठं(?); न८– ------ –दलाभाक्षं ; न१, २– ----------करांभोजं ; ग२–पद्मोत्पलदशां यासं(?) ; क–× × × × । १५/४–ग५–सूर्यकोटिसमप्रभम् ; क–× × × × ।

* अत्रैषाधिका पंक्तिः केषुचिल्लेखेषुः–न३, ४, ६, ग३, ५, ६–कौस्तुभोद्भासितोरस्कं वनमालाविभूषितम् ;. स एव "ग१"– ----------वनमालाविराजितम् ।

१६/२–न४–पीतवासःसमन्वितम् ; ग३–पीतवाससमन्वितम् ; ग५, ६–सूर्यकोटिसमप्रभम् । १६/१-२– क–× × × × × × × × × । १६/३–न२, ५, ७–पद्मोपमपदद्वन्द्वं ; ग६–पद्माचिन्य(?)–पदद्वन्द्वं ; क–× × × × । १६/४– ग१, ३, ५, ६– ---------- –मीश्वरम् ; न३, ६–परमानन्दमीश्वरम् ; क–× × × × ।

१७/१–ग५, ६–प्रभाभिर्भाविसद्रूपम् ; ग४, न८–प्रभाभिर्भ्रामयद्रूपं(?); न६– ------ –र्भासियद्रूपं(?) ; ग३– ------र्भसियद्भूत्यं(?) ; क–× × × × ; न३–सुप्रभाभिर्भासयन्तं । १७/२–ग३, क–× × × × । १७/३–ग५, ६– ----------भूतेशं ; न६– ------देवदेवेशं ; न३–समस्तलोकदेवेशं ; ग३, क–× × × × । १७/४–ग३, क–× × × × ।

सोऽहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते ।

हृत्सरोरुहमध्येऽस्मिन्प्रकृत्यात्मककर्णिके ॥१८॥

अष्टैश्वर्यदलोपेते विद्याकेसरसंयुते ।
ज्ञाननाले बृहत्कन्दे प्राणायामप्रबोधिते ॥१९॥

विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ।
वैश्वानरं जगद्योनि शिखातन्विनमीश्वरम् ॥२०॥

तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।
निर्वातदीपवत्तस्मिन्दीपितं हव्यवाहनम् ॥२१॥

दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम् ।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥२२॥

१८/१–ग५, ६–सोऽहमेवेति यद्ध्यानं ; ग३, क–× × × × । १८/२–न८–सगुणध्यान-मुच्यते ; ग३, क–× × × × । १८/३–ग३, क–× × × × । १८/४–ग६–प्रकृत्याकार–————; न३, ४–प्रकृत्यात्मनि––––––; न ६–प्रकृत्यान्वित––––; ग२–धर्मकर्मसमुत्थिते ; ग३, क × × × × ।

१९/१–ग५–ऐश्वर्याष्टदलोपेते ; ग३, क–× × × × । १९/२–न१, २, ५, ७–विकारै-र्केसरैर्युते ; ग३–कर्णिकाकेसरैर्युते ; ग२–कर्णिकाकेररै-(?–केसरै-) र्युते ; न४–कर्णिकाया रसैर्युते ; क–× × × × । १९/३–ग४, ५, ६, न८– ————————महत्कन्दे ; न३, ग१– ———————— महाकन्दे; न६–× × × × दे; क–× × × ×; ग३————————बृहत्संद–(?बृहत्कन्दे); ग२–प्राणनाले प्रभाभिज्ञे । १९/४–ग५, ६–प्राणायामैः————————; न३, ६–प्रणवेन––––––; न४; ग३–प्राणायामप्रणोदिते ; क × × × × ।

२०/१–न३–विश्वा + ÷ वह्निरूपं ; क–× × × × । २०/२–ग१, न६– ———————— सर्वतोमुखम् ; क–× × × × । २०/३–क–× × × × । २०/४–न१, २, ३, ४, ७–शिखातन्वित––––––; त– ————————लम्बित––––; ग२–शिखाभिर्युत––––––; क–× × × ×।

२१/१–न१–तावयन्तं————————; ग२–दीपयन्तं————————; न३, क–× × × × । २१/२–न३, क–× × × × । २१/३–ग१, ४, ५, ६, न६, ८–निवातदीप————————; न३, क–× × × ×; ग३–पवतस्यां (?) × × × × । २१/४–ग३–देवितं(?)————————; न३, क–× × × × ।

२२/१–न४, ग३– ————————शिखावह्नेः(?) ; क–× × × ×। २२/२–न३, ४, ग१, ३, ६– ———————— –मीश्वरम् ; क–× × × × । २२।३–न४, ८, ग५– ———————— मध्यस्थं(?) ; न१, २, ७–नीलोत्पलस्य मध्यस्थं(?) ; न५–नीलोत्पल × × मध्यस्थं(?); क–× × × ×। २२/४–न२–विद्युल्लेखेवमीश्वरम्(?) ; त– ————————राजते ; न३–विद्युद्वि-क्षेपभास्करम्(?) ; ग१, क–× × × × ।

नीवारशूकवद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोऽहमात्मेति या मतिः ॥२३॥

सगुणेषूत्तमं ह्येतद्ध्यानं योगविदो विदुः ।
वैश्वानरत्वं सम्प्राप्य मुक्तिं तेनैव गच्छति ॥२४॥

अथवा मण्डले पश्येदादित्यस्य महाद्युतेः ।
आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ॥२५॥

हिरण्यश्मश्रुकेशं च हिरण्मयनखं हरिम् ।
कप्यासस्य समं वक्त्रं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥२६॥

२३/१–ग१, न४, क–× × × × । २३/२–न३–पीताङ्गं————; ग१–पीतं भास्वदणूपमम् ; ग३–पीताभास्वत्यणूपमम्(?पीतं भास्वदणूपमम्) ; न४, क–× × × × । २३/३–ग४, न८–ध्यात्वा————; क–× × × × । २३/४–ग१, ४, न३–सोऽहमेवेति———; न६–सोऽहमित्येव———; क–× × × × ।

२४/१–ग१– ————ह्यत्र ; न६– ————चैतत् ; ग४, न८–सगुणादुत्तमं ह्येतत्(?) ; न१, २, ५, ७–सगुणेषूत्तमेष्वेतत्(?) ; ग३–सगुणोत्तमं ह्येतत् ; क–× × × × । २४/२–क × × × × । २४/३-४–क–× × × × × × × × ।

२५/१–न१, २– ————पश्यत् ; त– ————पश्यन् ; न३, ६– ————ह्यस्मिन् ; ग५, ६– ———मण्डलं———; ग२– ————मण्डलं तस्य(?); क–× × × × । २५/२–न१, ३– ————महाद्युतिः(?); न२, ७– ————महाद्युतिम् ; न५– ————महाद्युतं ; न६– ————महाद्भुते(?) ; ग३– ————महच्च्युते(?) ; क–× × × × । २५/३–ग५, ६– न८– ————सर्वजगतां ; ग४– ————हेमजगतं(?) ; क–× × × × । २५/४–ग३– ————प्रेमरूपिणम् ; न३– ————देहरूपिणम् ; न६– ————हंसरूपिणम् ; क–× × × × ।

२६/१–न४–हिरण्यकेशश्मश्रुश्च ; न३–हिरण्यश्रवणं देवं ; क–× × × × । २६/२–न३–हिरण्यपुरुषं हरिम् ; न७–हिरण्यनयनं हरिम् ; क–× × × × । २६/३–अस्मिंश्चरणे बहुशो वैकल्पिकाः पाठा लेखेषु मुद्रितपुस्तकेषु च दृश्यन्ते । तेभ्यो यः सान्वर्थः स ग्रन्थे स्वीकृतस्तथापि स एव मूलग्रन्थे स्यान्नवेति निश्चयपूर्वकं कथयितुं न शक्यते । तस्मात्सर्वेऽपि त इहोद्धृता विदुषां विमर्शनाय स्वतन्त्रनिर्णयकरणाय च । ग१, २, त–कप्यासस्य समं वक्त्रं (कपेः गुदस्य समं वक्त्रं यस्य तमित्यर्थः); न१, ७–कप्यासनवद्दृष्टिं; न२–कपाशामनवद्दृष्टिः (?); न५–कर्व्याशासनवद्दृष्टिं(?) ; न६–कप्यास्यासनवद्युक्तं ; ग४, न८–कनकाम्बुजवद्वक्त्रं ; न४–कैलासहिमवद्वक्त्रं (?) ; ग३–कैलासपोतवद्वक्त्रं(?); न३–रथासनं चन्द्रवक्त्रं ; ग५, ६–विकासिपद्मवदनं; क–× × × × इति लेखेषु ; त्रि. पु.–कप्यास्यासनमन्वक्त्रं ; मुं. पु–कप्यासनं चतुर्वक्त्रं ; न. पु–यथासनं (?रथासन-) समंवक्त्रं; मु. पु–रथासनं चतुर्वक्त्रं–इति मुद्रितपुस्तकेषु । २६/४–न१, २, ५, ७, ८, ग१, ३, त– ————कारिणम् ; ग२–सृष्टिसंहारकारणम् ; क–× × × × ।

पद्मासनस्थितं सौम्यं प्रबुद्धाब्जनिभाननम् ।
पद्मोदरदलाभाक्षं सर्वलोकभयप्रदम् ॥२७॥

जानन्तं सर्वदा सर्वमुन्नयन्तं च धार्मिकान् ।
भासयन्तं जगत्सर्वं दृष्ट्वा लोकैकसाक्षिणम् ॥२८॥

सोऽहमस्मीति या बुद्धिः सा च ध्यानेषु शस्यते ।
एष एव तु मोक्षस्य महामार्गस्तपोधने ॥२९॥

ध्यानेनानेन सौरेण मुक्तिं यास्यन्ति सूरयः ।

भ्रुवोर्मध्येऽन्तरात्मानं भारूपं सर्वकारणम् ॥३०॥

२७/१–ग३, न७–पद्मासने स्थितं–––; न८–पद्मासनस्थं सौम्यं च ; न३–पद्मासनगतं सौम्यं ; त, क–× × × × । २७/२–ग१–प्रफुल्लाब्ज––––––––; ग२–प्रफुल्लकमलेक्षणम् ; न३–प्रबुद्धाब्जनिभेक्षणम् ; न६–प्रसिद्धाब्जनिभाननम् ; त, क–× × × × । २७/३–न१, २, ३, ४ ५, ७, ग१–पद्मोदरदलाभासं ; ग५, ६, न८–पद्मोत्पलविशालाक्षं ; त, क– × × × × ।, २७/४–अस्मिश्चरणे पाठभेदास्त्रय एव । तथापि "सर्वलोक" शब्दात्पश्चात् "भय" शब्दो "अभय" शब्दो वा वास्तविक इति निश्चयपूर्वकं निर्णेतुं पूर्वापरसन्दर्भादि न किमपि चिह्नं सहायकारी । तेनोपलब्धसाधनानि कथं विभक्तानीत्यत्र प्रदर्श्यते:––न१, २, ग१, २, ३, ४, ५, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु.,–सर्वलोकभयप्रदम् ; न४, ५, ६, ७, ८, ग६, मु. पु. क. पु.–सर्वलोकाभयप्रदम् ; न३–सर्वलोकभयावहम् ; त, क– × × × × ।

२८/१–ग१, ५, ६, त–विजानन्तं सदा सर्वं; ग२–विजानन्ति(?)सदा सर्वं ; ग४–विजानन्तु(?) ––––––––; ग३–जानन्तः सर्वदा सर्वं ; क– × × × ; न१, २, ५, ७–सदा सर्वनिजानन्दं । २८/२–अस्मिश्चरणे पाठभेदानां बाहुल्यं परस्परविसंगतता च लेखेषु दृश्येते । तेन सर्वेऽपि भेदा अत्र प्रदर्श्यन्ते। न १, ५, ७, ग१, ३, त–उन्नयन्तं च धार्मिकान्; न१–प्रणयन्तं च––––––; न४–अनुयंतंच––––––––; ग२–मुनयस्तं च धार्मिकाः ; मु. पु., क. पु.–स एव स्वीकृतः पाठः ; त्रि. पु.– × × × धार्मिकाः ; मुं पु; न, पु.–अनन्तं चैव धार्मिकाः ; न३, ग४, ६–उन्नयन्तं च धार्मिकम् ; ग५–आनयन्तं च धार्मिकम्, न८–ऋङ्नयंतं(?)च धार्मिकम् ; न६, क– × × × × । २८/३–न६, क– × × × × । २८/४–न८– ––––––––––साक्षिकम् ; क– × × × × ।

२९/१–ग२, ३, ६, न५– ––––मात्मेति––––––––; क–× × × × । २९/२–ग२– ––––––––––कथ्यते(?) ; न१,–साऽपि––––––––शक्यते(?) ; न२, ७–साऽपि––––––शस्यते ; ग५–सात(?सा च)––––––––––; ग१– ––––––ज्ञानेषु शस्यते ; ग३– ––––––––––धन्येषु(?) ––––––––; ग४–सर्वप्राणिषु––––––; न८–सर्वप्राणेषु (?–प्राणिषु)––––––; ग६–एतद्ध्यानेषु ––––––; क–× × × × । २९।३–ग३– ––––––––––मुक्तस्य ; न६–एक एव तु––––––; ग५, ६–एषोपायस्तु––––––; क–× × × × । २९।४–न२, ७–सम्यग्मार्ग––––––––; न१, ५–मार्गः प्रोक्त––––––––––; क–× × × × ।

३०/१–ग२– ––––––––––यान्ति हि । ३०/१-२–क–× × × × × × × × ; ग५, ६–अभ्यासेनैव सौरेण मुक्तिं यास्यन्ति योगिनः । ३०/३–न१, २–उच्चैर्मध्येऽन्तरात्मानं ; क–× × × × । ३०/४–ग३–भास्वद्रूपं नकारिणाम्(?) ; ग५–ओजोरूपिणमीश्वरम् ; ग६–महोरूपिणमीश्वरम् ; क– × × × × ।

स्थाणुवन्मूर्धपर्यन्तं मध्यदेहात्समुत्थितम् ।
जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममितौजसम् ॥३१॥

मनसालोक्य सोऽहं स्यामित्येतद्ध्यानमुत्तमम् ।

अथवा बद्धपर्यङ्के शिथिलीकृतविग्रहे ॥३२॥

शिव एव स्वयं भूत्वा नासाग्रारोपितेक्षणः ।
निर्विकारं परं शान्तं परमात्मानमीश्वरम् ॥३३॥

भारूपममृतं ध्यायेद्भ्रुवोर्मध्ये वरानने ।
सोऽहमेवेति या बुद्धिः सा च ध्यानेषु शस्यते ॥३४॥

अथवाष्टदलोपेते कर्णिकाकेसरान्विते ।
उन्निद्रहृदयाम्भोजे सोममण्डलमध्यमे ॥३५॥

३१/१–ग१, ३, न३, ४, ५– ——— –न्मूर्ध्नि———; ग६–स्थाणुं चामूर्ध————; ग२–स्थाणु वा सर्वपर्यन्तं(?) ; क–× × × ×। ३१/२–न३,–मध्ये देहात्समुत्थितम् ; ग३–मध्ये देहे————; ग६–देहमध्ये————; क–× × ××; न८–धारयेदचलं स्थिरम् । ३१/३––ग२–जगत्कारणमध्यस्थं ; क–× × × × । ३१/४–न३–ज्वलन्तममितोजसम् ; ग५–ज्वलन्तमिव तेजसा ; ग६–ज्वलन्तमिव तेजसम् ; न१, क–× × × × ।

३२/१–न१, क–× × × × । ३२/२–ग२, ३– ——— –ज्ञानमुत्तमम् ; न५–आदित्ये ध्यानमुत्तमम् । ३२/३–न३– ————पर्यंकः ; न४, ग१, ३, त– ————पर्यङ्कं ; ग२– ————पर्यङ्कात् ; न६– ———फणिपर्यङ्कं ; क–× × × ×। ३२/४–न३, न६– ————विग्रहः ; ग१, ३, ५, ६, न४, त– ————विग्रहम् ; ग२–अशिनीकृत–विग्रहः(?) ; क–× × × × ।

३३/१–ग२–नाडीद्वयं निगृह्यम्बं(?); न६–हरिरेव स्वयं भूत्वा; न८–शिकटीन(?)———; क–× × × × । ३३/२–न१, २, ३, ४, ५, ग१, ३––नासाग्रे रोपितेक्षणः ; न६– ——— रुपितेक्षणः;(?) ; ग२– ————रोपितेक्षणम् ; ग४–नासाग्रन्यस्तलोचनः ; न८–नासाग्रन्य-स्तलोचने ; क × × × × । ३३/३–न६–निर्विकारपदं————; ग३–निराकारं परं——; क– × ×× × । ३३।४–न१, ५, ७–परमात्मानमच्युतम् ; ग२–परमात्मानमव्ययम् ; क–×× ×× ।

३४/१-२–न१, २, ५, ७, क–× × × × × × × × । ३४।१–ग६–भावयन्नत्र तद्ध्या-येत् ; न६–भारूपमच्युतं ध्यायेत् । ३४।३–४–न१, २, ५, ७, क– × × × × × × × × । ३४।४–न८–सा ध्यानेषु प्रशस्यते ; ग२–सा च ध्यानेन कथ्यते(?) ; ग६–सा तद्ध्यानेषु शस्यते ।

३५/१-२–क–× × ×× × ×× × । ३५/१–न६– ———षोडशोपेते ; ग४–———त्मदलोपेते ; ग३–× × ×ष्टदलोपेते । ३५/२–न३, ७– ———केशरान्विते । ३५/३–४–क–× × × × × × × ×। ३५/३–न३, ८, ग२, त–उन्निद्रहृदयाम्भोजे ; ग३–उन्मील्य———; न२–उंत्रिदे(?उन्निद्रे) हृदयांभोगे (?–भोजे) । ३५/४–न१, ४, ६, ग२–————मध्यगे ; ग५, ६–साग्निमण्डलमध्यमे ।

स्वात्मानमर्भकाकारं भोक्तृरूपिणमव्ययम् ।
सुधारसं विमुञ्चद्भिः शशिरश्मिभिरावृतम् ॥३६॥

षोडशच्छदसंयुक्तशिरःपद्मादधोमुखात् ।
निर्गतामृतधाराभिः सहस्राभिः समन्ततः ॥३७॥

प्लावितं पुरुषं तत्र चिन्तयित्वा समाहितः ।
तेनामृतरसेनैव साङ्गोपाङ्गकलेवरे ॥३८॥

अहमेव परं ब्रह्म परमात्माहमव्ययः ।
एवं यद्वेदनं तच्च सगुणं ध्यानमुच्यते ॥३९॥

एवं ध्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ।
वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नेव न संशयः ॥४०॥

३६/१-२-क-× × × × × × × × । ३६/१-न६-आत्मान----------; ग१-स्वात्मानममलाकारं ; ग४, न८- स्वात्मानं विहगाकारं ; ग६- -------- -मक्षयाकारं । ३६/२-ग१, ४, त, न८- ------- -मक्षरम् ; ग५, ६- ------- -मक्षयम् ; ग२-हेमरूपिणमक्षरम् ; न४-कृष्णरूपिणमव्ययम् । ३६/३-न२, ७, त-सुधासारं-------; न३, ४-सुधारसं विमुंचन्तं ; ग३- ---------विमलवत्(?) । ३६/४-ग१-सितराजिभिरावृतम् ; न४-शशिरश्मिकराकृति (?) ।

३७/१-२-न३, क-× × × × × × × × । ३७/१-न१, २, ४, ५, ७, ग१, २, त-षोडशच्छदसंयुक्तं ; ग४, ५-षोडशस्वरसंयुक्तात् ; ग६-षोडशस्वरसंयुक्तं । ३७/२-ग२-शिरः सितपदोपमम् ; न४-करे पद्ममधोमुखम् । ३७/३-४-क-× × × × × × × × । ३७/।३-ग२-निर्वातामृत-(?निर्गतामृत-)------। ३७/४-ग५, ६-समृद्धाभिः---------।

३८/१-२-क-× × × × × × × × । ३८/१-ग२-प्रापितं पुरुषं-------। ३८/२-न२- ---------समाहितम् । ३८/३-४-क-× × × × × × × × । ३८/४-न५- ---------कलेवरम् ; न८, ग२, त-साङ्गोपाङ्गे कलेवरे ; न४-साङ्गोपाङ्गकलेवरः ; न२, ३, ६, ग१, ३, ५-साङ्गोपांङ्गकलेवरे ।

३९/१-२-क-× × × × × × × × । ३९/२-न३, ४, ग३-परमात्माहमव्ययम्(?) ; न६-परमात्मानमव्ययम्(?) ; ग५-परमात्माकमव्ययम्(?) । ३९/३-४-क- × × × × × × × × । ३९/३-न५-७- ----------तत्र । ३९/४-न२, ५, ७, ग१, ४, ५-सगुण-ध्यान-------; ग३-सुगुणं(?)----------।

४०/१-२-क-× × × × × × × × । ४०/१-न३- ------ध्यानमतं(?)---; न४-------ध्याने मतं-------; न६-एतद्ध्यानामृतं-------; ग५, ६, न८-एवं ध्यानमिदं------। ४०/२-ग३-वर्ण(?) × × × -द्भवेत् । ४०/३-४-क- × × × × × × × × । ४०/३-न६-वत्सरान्मृत्युदेवस्या × (?) ; ग१-संसारान्मुक्त-------। ४०/४-न२-जीवंस्तेन----------; न७-जीवस्तेन(?)----------।

जीवन्मुक्तस्य न क्वापि दुःखावाप्तिः कथंचन ।
किं पुनर्नित्यमुक्तस्य मुक्तिरेव हि दुर्लभा ॥४१॥

तस्मात्त्वं च वरारोहे फलं त्यक्त्वैव नित्यशः ।
विधिवत्कर्म कुर्वाणा ध्यानमेव सदा कुरु ॥४२॥

अन्यानपि बहून्याहुर्ध्यानानि मुनिसत्तमाः ।
मुख्यान्युक्तानि चैतेभ्यो जघन्यानीतराणि तु ॥४३॥

सगुणं गुणहीनं वा विज्ञायात्मानमात्मनि ।
सन्तः समाधिं कुर्वन्ति त्वमप्येवं सदा कुरु ॥४४॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये नवमोऽध्यायः ॥

४१/१-२–ग१, क– × × × × × × × × । ४१/१-न३-जीवन्मुक्तौ न वै क्वापि । ४१/३-४–ग१, क–× × × × × × × × । ४१/३–ग४– ———नित्ययुक्तस्य । ४१/४–न८–मुक्तिरेव ह्यदुर्लभा(?); ग५, ६–मुक्तिरेव न दुर्लभा ; न१, २, ५–योगिनो विदितात्मनः; न७–योगिनो विहितात्मनः(?) ।

४२/१-२–न२, ५, ७, ग१, क– × × × × × × × × । ४२/२–न३– ———— त्यक्त्वा च———; ग५– ———त्यक्त्वेह———; ग२– ———तत्रैव(?त्यक्त्वैव) निश्चला । ४२/३-४–ग१, क– × × × × × × × × । ४२/३–न१, २, ५, ग२, त–कर्माणि विधिवत्कृत्वा ; ग४, न८–कर्माणि विधिवत्कुर्यात् । ४२/४–न७–ध्यानमेवं————।

४३/१-२–ग१, क–× × × × × × × × । ४३/२–न३– ————मुनिसत्तमा(:); न४, ग३– ————मुनिसत्तमे ; ग५, ६–मर्त्यानां मुनिसत्तमाः । अस्य मुद्रितपुस्तकेषु दृश्यमाणाः पाठा अपि विचारार्हा इति मत्वात्र दीयन्तेः–त्रि. पु.– ————मुनिसत्तमाः ; मु. पु., न. पु.– ————मुनिपुङ्गवाः ; मु. पु., क. पु.–वैदिकानि द्विजोत्तमाः । ४३।३-४–ग१, क– × × × × × × × × । ४३/३–न६, ग५– ————वै तेभ्यो ; न३–मुख्यान्मुक्तानि (?–न्युक्तानि) चैतेभ्यो ; न१, २, ७–मुख्यान्युक्तानि चैतानि ; न५– ———— चेतानि ; ग२–मुक्तानि (?मुख्यान्युक्तानि) चैतानि । ४३/४–न२, ४, ५, ६, ७, ग४, ५– ————————तु ; न८–बह्वन्यानीतराणि तु ।

४४/१-२–ग१, क–× × × × × × × × । ४४/१–न२, ७– ————च ; न१–सगुणे————च ; न८–सगुणं निर्गुणमपि ; ग४–सगुणं निर्गुणं वापि । ४४/२–ग४–विज्ञेयात्मानमात्मनि । ४४/३-४–ग१, क– × × × × × × × × । ४४/३–न१, २, ७–मनयः————। ४४/४–न३– ————समा कुरु ; ग५– ————तथा कुरु ।

दशमोऽध्यायः

*याज्ञवल्क्य उवाच---

समाधिमधुना वक्ष्ये भवपाशविनाशनम् ।
भवपाशनिबद्धस्य यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥१॥

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ॥२॥

ध्यायेद्यथा यथात्मानं तत्समाधिस्तथा तथा ।
ध्यात्वैवात्मनि संस्थाप्यो नान्यथात्मा यथा भवेत् ॥३॥

दशमोऽध्याय : ॥

* न५–श्री याज्ञवल्क्य उवाच ; ग४–श्री भगवान्याज्ञवल्क्यः ; न६, ८–श्री भगवानुवाच ; ग६–ओम् भगवान् ; न१, २, ३, ७, ग१, २, ५, त, क–× × × × ।

१/१-२–क– × × × × × × × × । १/१–ग२– -------विधिना----; न१, ५–-------ते प्रवक्ष्यामि ; न२, ७– ------ –मथ वक्ष्यामि । १/२–न३– -------विमोचनम् ; न४– ----------विनाशनम् ; ग२– -----पापप्रणाशनम् ; ग१, त– -----पापविनाशनम् ; ग६–श्रृणु पापविनाशनम् ; न१, २, ५, ७–× × × × । १/३-४–क–× × × × × × × × । १/३–ग२–भवपाशविनाशाय ;–न१, २, ५, ७–× × × × । १/४–न१–यथावच्छ्रोतुमिच्छसि (?) ; ग५–यथावज्ज्ञातुमर्हसि ।

२/१-२–क– × × × × × × × × । २/१–न१, २, ७, ग५, ६–समाधिस्तु समावस्था । २/३-४–क–× × × × × × × × । २/३–न४, ६, ७, ग३– ----------स्थितिर्वा सा ; ग५, ६–ब्रह्मण्यवस्थितिर्या सा ; ग४–ब्रह्मणा अस्तिति–(?ब्रह्मण्यवस्थिति-) र्या सा ।

३/१-२–न१, क–× × × × × × × × । ३/१–न३–ध्यायद्यथा----; न२, ४, ५, ६, ७, ८, ग१, २, ३, ४, ५,, ६, त–ध्यायन्यथा-------। एवं लेखेषु । मुद्रितपुस्तकेषु तु–त्रि. पु., मुं. पु. मु. पु.–ध्यायन्यथा-----; क. पु.–ध्यायद्यथा– ----; न. पु.–ध्यायेद्यथा------- इति स्थितिः । तेभ्य अन्तिम एव ग्रन्थसन्दर्भे युक्त इति मत्वा सः स्वीकृतः । ३।२–न४–समाधिस्तु तथा तथा ; ग६–तत्समाधिस्तु तत्तथा । ३/३-४–क–× × × × × × × × । ३/३–ग१, ३, ४, ६, न५, ८, त– ----------संस्थाप्य(?प्यो) ; न३–ध्यात्मा(?ध्यात्वा) चात्मनि संस्थाप्य (?प्यो) ; न४–ध्यात्वात्मनि सुसंस्थाप्यो ; न१–ध्यात्वैवमात्मनि स्थाप्यो ; ग५–ध्यात्वेवा-(?ध्यात्वैवा-)त्मनि सुस्थाप्य (प्यो) ; न२, ७–ध्यात्वैवात्मनि स्थंयो (?संस्थाप्यो) । ३/४–न३–तान्यथात्मा (?नान्यथात्मा) ;-------न४–नन्यथात्मा (?नान्यथात्मा) यज्ञो(?)यतो; ग५–नान्यथात्मा यतो----; ग६–नान्यथात्मा ह्यतो----; ग४–नियतात्मा यथा----; न८–नियतात्मा यतो----; ग२–नान्यथात्मा वशो----; न२–नान्यथात्मा यथा भवत् (?भवेत्) ।

एवमेव तु सर्वत्र यत्प्रपन्नस्तु यो नरः ।
तदात्मा सोऽपि तत्रैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥४॥

सरित्पतौ निविष्टाम्बु यथाभिन्नतयान्वियात् ।
तथात्माभिन्न एवात्र समाधिं समवाप्नुयात् ॥५॥

एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि ब्रह्मविदां वरे ।
कर्मैव विधिवत्कुर्वन्कामसंकल्पवर्जितम् ॥६॥

वेदान्तेष्वथ शास्त्रेषु सुशिक्षितमनाः सदा ।
गुरुणा तूपदिष्टार्थं युक्त्युपेतं वरानने ॥७॥

विद्वद्भिर्धर्मशास्त्रज्ञैर्विचार्य च पुनः पुनः ।
तस्मिन्सुनिश्चितार्थेषु सुशिक्षितमनाः सदा ॥८॥

४/१-२–क– × × × × × × × × । ४/२–न१, २, ४, ५, ७, ग३, त–यथारूपस्तु ———; ग६–यः प्रपन्नस्तु–––; न६–यत्प्रसन्नस्तु––––; ग१–यत्प्रयत्नस्तु————। ४/३-४–क– × × × × × × × × । ४/३–न१, ६, ग३–तथात्मा—————; ग४–तदात्मनोऽपि ———।

५/१-२–न१, ५, त, क– × × × × × × × × । ५/१–ग२–सरित्पतो—————; ग५–सरित्पतौ निविष्टात्तु ; न३–स × × × तौ निविष्टात्तु ; ग१–सरित्पतौ निविष्टाम्भः ; न८–सरिद्वरनिविष्टाम्बु ; ग३–सरित्पतौ विशिष्टाम्बु(?) ; न४–सरित्पतौ गतं तोयं । ५/२–अत्र मूललेखे कः पाठो भवेदिति निर्णेतुमशक्यत्वात् सर्वे दृश्यमाणाः पाठा दीयन्ते । न६,, ८–यथा भिन्न-तयान्वियात् ; न४– —————भवेत् ; ग३–यथाभिन्नालयस्त्वया(?) ; ग२–यथाभिन्नं फलं त्वियात् ; न२, ७, ग४– —————लयं––––; ग१, ५, ६, न३–यथा लवणतामियात् ; त्रि. पु.–यथाभिन्नं फलं त्वियात् ; मुं. पु., न. पु.– —————लयं–––; मु. पु–यथाभिन्नत्वमाप्नुयात् ; क. पु.– × × × ×। ५/३-४–न५, त, क– × × × × × × × ×। ५/३–ग१, न७, ८–तथात्म-(?तथात्मा-) भिन्न––––; न१–तथात्म-(?तथात्मा-) भिन्न तत्रैव ; न३–तथात्माभ्यन्न (?-भिन्न) एवात्र ; ग२–तथात्वभिन्न एवात्र ; ग५–तथाभिन्न(?)एवात्र ।

६/१-२–क– × × × × × × × × । ६/१–त– —————भवेदत्र ; न८– ———————भवत्यग्रे । ६/२–ग३– —————यने(?) । ६/३-४–क– × × × × × × × ×। ६/३–ग५, ६–कर्मैवं—————; न८–कर्तैव(?कर्मैवं)—————; न३, ग४–कर्मैव विधिवत्कुर्यात् ।

७/१-२–क– × × × × × × × × । ७/१–ग१, ४–वेदान्तेष्वर्थशास्त्रेषु ; न३, ४, ६, ग३–वेदान्ते सर्वशास्त्रेषु(?) न८–वेदान्तेषु च शास्त्रेषु ; ग६–वेदार्थेष्वर्थशास्त्रेषु । ७/३-४–क– × × × × × × × × । ७/३–न१,, ४, ग४, ६, ८– —————चोपदिष्टार्थं ; न३–———चोपदिष्टार्थो ; ग५– ————चोपदिष्टं यत् ; ग२– ————नोपदिष्टार्थं (?)। ७/४–ग६–युक्त्यापेतं(?)———; ग२–युक्तं ह्यतद्वरानने ; न३–मुक्तिमेति वरानने ।

८/१-२–क– × × × × × × × × । ८/१–न१, ३, ४, ५, ७, त–विद्वद्भिः सर्व-शास्त्रज्ञैः ; ग२–विद्वद्भिर्वेदशास्त्रज्ञैः । ८/२–न२–विचार्यैवं—————। ८/३–४–क– × × × × × × × × । ८/३–न१, २, ५–तस्मिन्विनिश्चितार्थे तु ; त–तस्माद्विनिश्चितार्थेषु ; न३–तस्मिन्सुनियतार्थे तु ; ग१, ३, ६, न६–तस्मिन्सुशिक्षितार्थेषु ; ग २–निश्चितार्थेषु तेष्वेव ।

योगमेवाभ्यसेन्नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।

ततस्त्वाभ्यन्तरैश्चिन्हैर्बाह्यैर्वा कालसूचकैः ॥९॥

विनिश्चित्यात्मनः कालमन्यैर्वा परमार्थवित् ।
निर्भयः सुप्रसन्नात्मा मर्त्यस्तु विजितेन्द्रियः ॥१०॥

स्वकर्मनिरतः शान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
प्रदाय विद्यां पुत्रस्य मन्त्रं च विधिपूर्वकम् ॥११॥

संस्कारमात्मनः सर्वमुपदिश्य तदानघे ।
पुण्यक्षेत्रे शुचौ देशे विद्वद्भिश्च समावृते ॥१२॥

९/१-२–क– × × × × × × × × । ९/१–ग४, न८–तस्मिन्नेवाभ्यसेदैक्यं । ९/२–त–जीवात्मपरमात्मवित् ।

१०/१-२–त, क– × × × × × × × × । १०/१–ग२– ————————कालः(?) ; न३– ————————कामं(?); न६–विनिश्चितात्मधीः(?)————; ग३–विनिश्चितात्मनः(?) कालं । १०/२–ग२–अन्ये वा(?)————; न३–निवार्णपरमार्थवित् । १०/३–४–क– × × × × × × × × । १०/३–ग३–निर्भयस्तु प्रसन्नात्मा । १०/४–अस्मिश्चरणे बहवः पाठभेदाः हस्तलेखेषु दृश्यन्ते। मुद्रितपुस्तकेष्वपि त्रयः सन्ति। तेभ्य एक ८ हस्तलेखेष्वस्ति तथापि तेन वाक्यात्सम्यगर्थबोधो न भवतीति मन्ये। तेन द्वाभ्यां हस्तलेखाभ्यां प्राप्तः पाठोऽत्र स्वीकृतः समीचीनत्वहेतुमवलम्ब्य, सर्वे च भेदा अत्र प्रदर्श्यन्ते । न१, २–मर्त्यस्तु————; ग१, ४, ५, ६, न३, ७, ८ त–मृत्योस्तु————; त्रि. पु.–मृत्योस्तु————; ग२–भूत्या तु(?)————; न४, ग३–कुर्वीत————; न६–कुर्वति (?कुर्वीत)————; न५–ह्यर्थविच्च जितेन्द्रियः ; मुं. पु., न. पु–भूतेषु विजितेन्द्रियः ; मु. पु., क. पु.–भूत्वा तु————।

११/१-२–क– × × × × × × × × । ११/१–ग१, ५, ६, न४, ६, ८–स्वधर्मनिरतः ————; न२–स्वकर्मनिरतः शान्तं(?) । ११/३–४–क– × × × × × × × × । ११/३–ग५, ६– ————योगं————। ११/४–ग२–समन्त्रं– ————।

१२/१-२–क– × × × × × × × × । अत्र यद्यपि ७ हस्तलेखेषु त्रि. पु. च दृश्यमाणः पाठः स्वीकृतः समीचीनत्वदृष्टया तथापि सर्वेऽपि पाठभेदा अत्र दीयन्ते । १२/१–न१, २, ५, ७, ८, ग४, त, त्रि. पु.–संस्कारमात्मनः सर्वं ; ग१– ————————कार्यं ; न३–संस्काराद्यात्मनः कार्यं ; न६–संस्काराद्यात्मनः सर्वं ; ग५, ६–संस्कारान्वा तथा सर्वान् ; ग३–संस्कारेणात्मनः सर्वं(?) ; न४–संस्कारेणात्मनं(?)सर्वं; मुं पु.–संस्कारानात्मनः सर्वान् ; न. पु.–संस्काराण्यात्मनः सर्वाणि(?) ; मुं. पु., क. पु.–संस्काराण्यात्मनः सर्वं(?) ; ग२–संस्कारस्यात्मनः पूर्वं । १२/२–न२, ३– ————तदानघे ; ग१, २, त्रि. पु.————तदानघ ; न६–तदानधः ; ग४–————तथानधः ; ग५– ————तथानध(?) ; न१, ५, ७, ८, ग६, न. पु., मुं. पु. मु. पु., क. पु.–तथानघे ; न४, ग३– ————यथाविधि । १२/३-४–क– × × × × × × × × । १२/४–ग१, ५–विद्वद्भिः सुसमावृते ।

भूमौ कुशान्समास्तीर्य कृष्णाजिनमथापि वा ।
तस्मिन्सुबद्धपर्यङ्को मन्त्रैर्बद्धकलेवरः ॥१३॥

आसने नान्यधीरास्ते प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नवद्वाराणि संयम्य गार्ग्यस्मिन्ब्रह्मणः पुरे ॥१४॥

उन्निद्रहृदयाम्भोजे प्राणायामैः प्रबोधिते ।
व्योम्नि तस्मिन्प्रभारूपे स्वरूपे सर्वकारणे ॥१५॥

मनोवृत्तिं सुसंयम्य परमात्मनि पण्डितः ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणं भ्रुवोर्मध्येऽथवानघे ॥१६॥

कारणे परमानन्दे आस्थितो योगधारणाम् ।
ओमित्येकाक्षरं बुद्ध्या व्याहरन्सुसमाहितः ॥१७॥

१३/१-२–क– × × × × × × × ×। १३/१–ग३–भौमाकाशान्समास्तीर्य(?) । १३/३-४–क–× × × × × × × × × । १३/३–न१, २, ५, ७, ग२–तस्मिंस्तु बद्धपर्यङ्के ; ग१, ३, ४, ५, ६, त–तस्मिंस्तु बद्धपर्यङ्को । १३/४–न३, ग६–मन्त्रैर्बद्धकलेवरं(?) ; न४–मन्त्रैर्बध्द्वा कलेवरं । † न१, २, ५, ७, ग२–मन्त्रैर्न्यस्तकलेवरे ।

१४/१-२–क–× × × × × × × × × । १४/१–न१, २, ४, ५, ६, ग३– ———— ऽनन्यधीरास्ते ; न७– ———ननाधीरास्ते(?) ; ग२–आसीनः स्वस्थचित्तस्तु ; ग५, ६–आसने ह्यधिरुह्यास्ते । १४/२–न७– ————वा उदङ्मुखः (?उदङ्मुखः) । १४/३-४–क–× × × × × × × × । १४/३–ग१–पुनर्द्वाराणि———।

१५/१-२–क–× × × × × × × × × । १५/१–ग३–उन्मिब्र–(?)————; न२–उभ्दिदृ(?)———। १५/२–त–प्राणायामैर्विबोधिते ; ग१, न७, ८–प्राणायामप्रबोधिते ; ग२–प्राणेन प्रतिबोधिते ; न१, ५–प्राणेनैव प्रबोधिते ; न२, ४–प्रणवेन प्रबोधिते ; न६–प्रणवेन प्रचोदिते ; ग३–प्रणवेन सुबोधिते । १५/३-४–क– × × × × × × × × । १५/४–न१, ७ ग४, ५–त्वरूपे (?त्वंरूपे)———; न३–त्वंरूपे———; न८–व्यरूपे(?)————।

१६/१-२–क–× × × × × × × × × । १६/१–न१, २, ५, ७–मनोवृत्तीः———; न३–मनोवृत्तं———; न४–मनो हृदि———। १६/२–ग१, ३,– ————पण्डिते । १६/३-४–क– × × × × × × × × । १६/३–ग१– ————प्राणान् । १६/४–ग४, ६, न८– ————वरानने ; न३– ————तथानघे ; ग२– ————ऽथवा भवेत् ; न४, ग३– ————ऽथवा नयेत् ।

१७/१-२–न१, २, ग१, २, ४, त, क– × × × × × × × × । १७/१–न४–कारणं परमानन्दं(?) ; ग३–कारणं (?कारणे) परमानन्दे । १७/२–ग३– ————योगधारणे । १७/३-४–क– × × × × × × × × । १७/३––न१, ३, ४, ८, ग५, ६– ————— ————ब्रह्म । १७/४–न४, ग३–व्याहरन्मुनिसत्तमे ।

शरीरं संत्यजेद्विद्वानात्मैवाभून्नरोत्तमः ।
यस्मिन्समभ्यसेद्विद्वान्योगेनैवात्मदर्शनम् ॥१८॥

तदेव संस्मरन्विद्वांस्त्यजेदन्ते कलेवरम् ।
यं यं सम्यक्स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥१९॥

तं तमेवैत्यसौ भावमिति योगविदो विदुः ।
त्वं चैवं योगमास्थाय ध्यायन्स्वात्मानमात्मनि ॥२०॥

स्वधर्मनिरता शान्ता त्यजान्ते देहमात्मनः ।
ज्ञानेनैव सहैतेन नित्यकर्माणि कुर्वतः ॥२१॥

१८/१-२–क– × × × × × × × × । १८/१–ग५– ————संत्यजेद्धीमान् । १८/२-न१, २, ५, ७–आत्मवांस्तु——; ग५, ६–आत्मैवायं————; ग२–आत्मनैव———; न८–आत्मैव स्यान्नसंशयः । १८/३-४–क–× × × × × × × × । १८/३–ग५– ———— समभ्यसेद्धीमान् ; न४, ग३–यद्वा————————। १८/४–न६–त्यजेदन्त्ये (?) कलेवरम्; ग३– × × × ×. ।

१९/१-२–क– × × × × × × × × । १९/१––न१, २, ३, ४, ५, ७, ग१, ४–तदेव संस्मरेद्विद्वान् ; न८–तदेव संस्मरन्वापि ; ग५, ६–यदेव संस्मरेद्विद्वान् ; ग ३– × × × × । १९/२–न२–त्यजत्यन्ते(?)——; न५–त्यजन्नन्ते———। १९/३-४–न१, ५, ग५, ६, क– × × × × × × × × । १९/३–न२, ३, ६, ७, ८, ग३, ४, त–यं यं वापि————; न४–यं यं चापि————।

२०/१-२–क–× × × × × × × × । २०/१–न३– ————व्रजेद्भावं ; न४, ग३– ————भवेद्भावं(?) ; न१, २, ५, ६, ७, ८, ग१, ४, ५, ६, त– ————भजेद्भावं (?) । २०/२–ग४, न८–इति वेदविदो——। २०/३-४–क– × × × × × × × × । २०/३–न४, ५, ६, ७, ८, ग३, ४, ५, ६–त्वं चैव————; न३–त्वं चैव योगमभ्यस्य । २०/४-अत्र दृश्यमाणेभ्यो पाठेभ्यो य समीचीनो मतः सो यद्यपि स्वीकृतस्तथापि सर्वेऽपि पाठभेदा यथा तथा दीयन्ते । न३, ६, ८, ग४–ध्यायन्स्वात्मानमात्मनि ; न५–ध्यायन्स्वात्मानमात्मना ; न४, ग३–ध्यायन्नात्मानमात्मना ; न२, त–ध्यायन्त्यात्मानमात्मनः(?) ; न१, ७, ग१, २, ५, ६–ध्यायन्त्यात्मानमात्मना (?) ; मुं. पु., न. पु., मु. पु.–ध्यायन्त्यात्मानमात्मनि ; क. पु.–ध्यायन्नात्मानमात्मनि ।

२१/१-२–क– × × × × × × × × । २१/१–न१, ७– ——निरता त्वं च ; न५– ————निरतत्वं च (?निरता त्वं च) ; न२, ग२, त–स्वकर्मनिरता शान्ता । २१/२–ग१-त्यजस्व– ————; ग२, न४, ६, ८–त्यजन्ते(?त्यजान्ते)————; ग४–त्यजान्ते देह-मात्मना(?) । २१/३-४–क– × × × × × × × × । २१/३–त, ग४, न८–ध्यानेनैव(?) ————; न१, २, ५–ज्ञानेनैव सहितेन । २१/४–ग२–नित्यं————————।

निवृत्तफलसङ्गस्य मुक्तिर्गार्गि करे स्थिता ।

यदुक्तं ब्रह्मणा पूर्वं कर्मयोगसमुच्चयम् ॥२२॥

तदेतत्कीर्तितं सर्वं साङ्गोपाङ्गं विधानतः ।
त्वं चैव योगमभ्यस्य यमाद्यष्टाङ्गसंयुतम् ॥२३॥

निर्वाणं पदमासाद्य प्रपंचं संपरित्यज ॥२४॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये दशमोऽध्यायः ॥

२२/१-२–क–× × × × × × × × । २२/१–ग३– ————————संगम्य(?) ; न३–निवृत्तिफलसंगम्य(?) । २२/२–न१– ————————करे स्थिते। २२/३–ग१, क–× × × × । २२/४–न३– ————————समुच्चयः(?) ; क–+ + + + समुच्चयम् ; ग६– ————————समन्वयम् ; न४–सर्वयोगसमुच्चयम् ।

२३/१–ग३–तत्ते–(?तदे–) तत्कीर्तितं––; न६–तवैतत्कीर्तितं––; ग५–तदेतत्कीर्तिदं————; ग१, न४–तदेतत्कथितं————; न३–स एषः कीर्तिः(?) सर्वत्र। २३/२–न३, ४, ५, ८; ग३, क–साङ्गोपाङ्गविधानतः। २३/३–न१, २, ८, ग५, ६, क–त्वं चैवं————————; न४, ग३–त्वं चैव योगमास्थाय ; ग१–× × ×× । २३/४–ग३– ————————संयुता; न७– ————————संपुटं ; ग२–योगाष्टाङ्गैः सुसंयुतम् ; ग१–× × × × ।

२४/१–ग३– ————————परमासाद्य ; क– ————————पदमास्थाय ; न३, ५, ६, ग५–निर्वाणपदमासाद्य ; ग२–सर्वासां पदमासाद्य(?) ; ग१–× × × ×। २४/१-२–ग१–× × × × × × × ×। २४/२–ग२–तं व्रतं च परित्यज ; न४–त्यजांते च कलेवरम् ; ग३–त्यजस्वान्ते कलेवरम् ; न१, २, ५, ६, ७, ८, ग४, ५, ६, त, क–सप्रपंचं परित्यज ।

एकादशोऽध्याय : ॥

इत्येवमुक्ता मुनिना याज्ञवल्क्येन धीमता ।
ऋषिमध्ये वरारोहा वाक्यमेतदभाषत ॥१॥

*गार्ग्युवाच--

योगयुक्तो नरः स्वामिन्सन्ध्ययोर्वाथवा सदा ।
वैधं कर्म कथं कुर्यान्निष्कृतिः का त्वकुर्वतः ॥२॥

इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ।
तां समालोक्य भगवानिदमाह नरोत्तमः ॥३॥

एकादशोऽध्याय : ॥

१/१–न८–इत्येवमुक्तं-------; ग१– ----------विधिना ; न३– ×××× । १/२–न३–×××× । १/३–ग१, २, न४–ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां ; न३– ×××× । १/४–ग१, २, न४–वाक्यमेतदुवाच ह , न३– ×××× ।

*ग४, न८, क–गार्गी । ; न२, ७– ×××× ।

२/१–न१, २, ५, ७, त–योगयुक्तो नरः स्वामिन् ; ग१–योगयुक्तनरस्यास्य ; ग२–योगयुक्तं(?) मनुष्यस्य । २/२–न३– ---------वाप्यवा(?) सदा ; ग५, ६– --------- वापि वा------; ग३– ----------वा न वा सदा; न४– -------वा यथा सदा । २/३–ग२–यत्कर्तव्यं मुनिश्रेष्ठ । २/४–अत्र पाठभेदानामतीव बाहुल्याच्चरणं द्विधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः ; सर्वेऽपि भेदाश्चोल्लिख्यन्ते । स्वीकृतस्य पाठस्य मूलग्रन्थेऽस्तित्वविषये न शङ्कायै स्थानं वर्तते । तस्य द्वौ विभागौ :--(१) निष्कृतिः ; (२) का त्वकुर्वतः । प्रमाणग्रन्थेषु तु (१) न१, ३, ७, ग५, ६, त, क, त्रि. मुं. न. मु. पुस्तकानि–निष्कृतिः ; न२, ५, ग१, न. पु.–निःकृति : (?निष्कृतिः) ; न४, ६–निकृतिः (?निष्कृतिः) ; ग४, न८–निष्कृति(?) ; ग३–निवृत्ति(?) ; ग२– तत्सर्वं; (२) न२, ४, ६, ७, ८, ग३, ४, क, त्रि. पु.–का त्वकुर्वतः ; मुं. पु.------ह्यकुर्वतः ; न. पु.–का च तत्वतः; ग२–वद तत्त्वतः; न१–का च कुर्वतः(?) ! ; त, मु. पु., क. पु.– का न कुर्वतः ; न३–कात्र कुर्वतः; ग१–का तु कुर्वतः(?) ; न५–कालकुर्वतः(?) ; ग५, ६–किमकुर्वतः ।

३/१–न२, ग१, त–इत्युक्ते---------; न७– ----------+++। ३/२–न६–----------स्तथा ; ग५, ६, क–ब्रह्मविद्ब्राह्मणप्रियः । ३/३–न३, ८, ग२, ४– --------- कृपया ; ग५, ६, क– ----------नेत्राभ्यां। ३/४–ग३– +++रोत्तमः ; ग२– ------- महामतिः ।

†याज्ञवल्क्य उवाच–

योगयुक्तमनुष्यस्य सन्ध्ययोर्वाथवा निशि ।
यत्कर्तव्यं वरारोहे योगेन खलु तत्कृतम् ॥४॥

आत्माग्निहोत्रवह्नौ तु प्राणायामैर्विवर्धिते ।
विशुद्धचित्तहविषा विध्युक्तं कर्म जुह्वतः ॥५॥

निष्कृतिस्तस्य किं बाले कृतकृत्यस्तदा खलु ।
वियोगे सति सम्प्राप्ते जीवात्मपरमात्मनोः ॥६॥

विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं ब्रह्मविद्भिश्च नित्यशः ।
वियोगकाले योगी च दुःखमित्येव यस्त्यजेत् ॥७॥

---

† ग५, ६, क–याज्ञवल्क्यः ; न३, ६, ८, ग२, त–श्रीभगवानुवाच; न१, २, ५, ७, ग१– × × × × । ४/१–न४–योगयुक्तो मनुष्यस्तु ; ग५, ६, क–योगयुक्तस्य मर्त्यस्य । ४/२– न२, ३, ६, ग१, ४, क– ————————वा निशम् ; न५– ———————दिवा निशम् ; ग५, ६————वापि वा सदा । ४/३–ग४, न८–न कर्तव्यं————; ग५, ६, क–किं कर्तव्यं———————। ४/४–न१, २, ७–योगतः ————————————।

५/१–ग५, ६– ————————————वह्नौ च । ५/२–न३, ४, ६, ग३– ———————विदीपिते ; न१, ग१– प्राणयज्ञैर्विधीयते ; न२–प्राणयज्ञैर्विवर्धिते ; ग४–प्राणायामो विवद्यते ; न८–विध्युक्तं कर्म जुह्वतः । ५/३–ग५–विशुद्धचित्तवपुषा ; न६–विशुद्धशुद्धहविषो(?) ; न८–विशुद्धचित्ते विषय– । ५/४–न१, २, ३, ५, ७, ग१, २, ५, ६, क– ———————कुर्वतः ; न६–विशुद्धं कर्म कुर्वतः ; न४–विध्युक्तं कर्म तु कुतः ; न८– ———प्राणायामो विवक्ष्यते ।

६/१–न३– ————————किं पाले (?बाले); न७– ———————किं वास्ते(?); न८– ————————किं वाते(?) ; न५– ————————किं चांते। ६/२–न२, ६, ७, ८, ग१, ६, क– ————————तथा खलु ; ग४–कृतरन्ध्रस्तथा खलु । ६/३–ग६–वियोगे खलु———————। मुद्रित–पुस्तकेभ्यो, त्रि. पु., मुं. पु.–वियोगे सति————; न. पु.–संयोगे————————; मु. पु., क. पु.–प्रयोगकाले———————। ६/४–न५–जीवात्मपरमात्मनः(?) ।

७/१–ग१–विध्युक्तमेवं———————; ग५–विध्युक्तमेव———————। ७/२– न ८————————— निश्चितः (?नित्यशः) ; न३, ४, ६, ग३–योगविद्भिश्च————। ७/३–ग३– ———————— योगाच्च ; ग२–विशुद्धकाले गार्ग्येतत् ; ग६, क–कालेनैव पुनर्योगी ; ग५–कामेनैव पुनर्योगं(?) ; न४– × × × × । ७/४–न१, २, ५, ७, ग१, २, ४, त– ————————यत्त्यजेत् ; न६– ———————यद्व्रजेत् ; न३– ———————यस्य यत् ; न४– × × × × ।

कर्माणि तस्य निलयः निरयः परिकीर्तितः ।
न देहिनां यतः शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥८॥

तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिभिः सदा ।
त्वं चैव मात्यया गार्गि वैधं कर्म समाचर ॥९॥

योगेन परमात्मानं यजंस्त्यज कलेवरम् ।

इत्येव मुक्त्वा भगवान्याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥१०॥

८/१–ग५, ६, क– ————————वै गार्गि ; न१, ५, ७– ————————निरये(?) ; न२– ————————नीरूपे(?); ग१– ————————निलयं ; –न८–कर्मणा————; ग२–कर्मणस्तस्य निलय:; न४, ग३–कर्मयोगस्य निलयो । ८/२–न४, ग३–निलयः————; न१–निलयं परिकीर्तितम् ; न२–निलये परिकीर्तितम् ; ग१–निरयं परिकीर्तितम् ; ग२–विलयः परिकीर्तितः ; ग५, ६–निष्क्रियः (?) परिकीर्तितः । क–निष्क्रयः परिकीर्तितः । ८/३–ग५– ————ततः शक्यं ; न१, ३, ६, ग६–न देहिना————; न८, क–न देहिना यत्तच्छक्यं ; न४, ग३–न देहिनाऽपि यच्छक्यं ; न२, ७–नो देहेन यतः शक्यं । ८/४–न८–त्यक्तु कर्माण्यदोषतः(?) ।

९/१–क–तस्मादामरणाद्गार्गि ; न६–तस्मादामरणाच्चैवं ; ग२–तस्मादाहरणं चैव । ९/२–न१, २, ५, ६, ७, त– ————योगिना——; ग५– ————योगिनां———। ९/३–अस्मिश्चरणे पुनः पाठानामतीव वैविध्यं दृश्यते । तेन तत्त्रिधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते विभागाः–(१) त्वं चैव ; (२) मात्ययाः ; (३) गार्गि । तेभ्यो "गार्गि" शब्दोऽन्ते सर्वत्रैव वर्तते । प्रथमद्वयोर्विभागयो : पाठास्तुः–(१)–न१, २, ३, ४, ५, ७, ८, ग१, ३, ४, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु. क. पु.–त्वं चैव ; मु. पु.– त्वं सं————; न६–पंचैव; ग२, ५, ६, क–तस्मात् : (२)–न३–मात्ययाः ; ग१, न४, त्रि. पु., मुं. पु.–मात्ययात्(?) ; ग४, न८–मा त्यजेत्; न६–मात्रया(?) ; ग३–मात्राया (?); न१, २, ५, ७, त–आत्मतया; न. पु.–(त्वं चैव) संत्यजन्; क. पु.–(त्वं चैव) संत्यजन्तीह ; मु. पु.–(त्वं) संत्यजन्ती(वै) ; ग२–(तस्मात्) आहरणं ; ग५, क–(तस्मात्) आमरणात् ; ग६–(तस्मात्) आरम्भणात् । ९/४–ग३–वैदि(?) कर्म———; ग२–सर्वं कर्म————; ग१–वैधं कर्म समाचरेः ; न७– ——————समाचार(?) ।

१०/२–अत्र पुनः पाठानामतीव वैविध्यं दृश्यते । तेन चरणं द्विधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । तौ विभागौः–(१) यजंस्त्यज ; (२) कलेवरम् । प्रमाणग्रन्थेषु तुः–(१)–ग१, ४, त्रि. पु., मुं. पु.–यजंस्त्यज ; क. पु.–युञ्जंस्त्यज ; न. पु.–युज्यत्त्यज ; न३, ५, ६–यज त्यज ; ग४–यजत्त्यज ; मु. पु.–युञ्जन्ती त्यज(?); न२–योजयित्वा ; ग२–यजेदन्ते(?त्यजेदन्ते); न१, ४–यज स्थित्वा ; ग३–यजा(?) स्थित्वा ; न७–पूजयित्वा(?); ग५, ६, क, न८–जय त्वं च; (२)–ग१, २, ३, ४, ५, ६, न१, ३, ५, ६, ८, त, क, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु. मु. पु., क. पु.––कलेवरम् ; न२, ४, ७–कलेवरे । १०/३–न१–इत्युक्त्वा स भगवान् ; न५– इत्येवमुक्त्वा स भगवान् । १०/४–ग५–याज्ञवल्क्यस्तपोधनः ।

ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ।
सन्ध्यामुपास्य विधिवत्पश्चिमां सुसमाहिताः ॥११॥

गच्छन्तु साम्प्रतं सर्वे ऋषयः स्वाश्रमं प्रति ।

इत्येवमुक्ता मुनिना मुनयः संश्रितव्रताः ॥१२॥

विश्वामित्रो वसिष्ठश्च गौतमश्चाङ्गिरास्तथा ।
अगस्त्यो नारदश्चैव वाल्मीकिर्बादरायणिः ॥१३॥

पैङ्गिर्दीर्घतमा व्यासः शौनकश्च तपोधनः ।
भार्गवः काश्यपश्चैव भरद्वाजस्तथैव च ॥१४॥

११/१–न६– ————————भगवान् । ११/३–न६–सन्ध्यामुपास्ते(?)————। ११/४–न१, २, ३, ५, ६, ग३– ————————सुसमाहितः(?) ; न८– ————तु समाहितः(?) ; ग५– ————————तु समाहिताः ।

१२/२–न६– ——— –श्चाश्रमं———; ग२– ———स्वाश्रमान्स्वकान्; न३, ८, ग४, क–मुनयः स्वाश्रमं———। १२/३–ग५, ६, क–इत्युक्तो(?) मुनिना तेन ।

१३/२–न३–गौतमश्चाङ्गिरस्तथा ; ग६–गौतमाङ्गिरसोस्तथा (?) ; न८–गौतमाश्चाङ्गिरास्तथा । १३/४–न३, ५, ग१, ४, ५–वाल्मीकिर्बादरायणः ।

१४/१–अस्मिश्चरणे पुनः पाठानां क्षोभोत्पादकं वैविध्यं दृश्यते। तेन तं त्रिधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते विभागाः–(१) पैङ्गिः ; (२) दीर्घतमा (३) व्यासः । तेभ्यो "व्यासः" शब्द सर्वसामान्यः । प्रथमविभागद्वयसम्बधिनाः पाठाश्चेदृशाः––(१)– न१, ८, ग१, ४, क, त्रि. पु., मुं. पु.–पैङ्गिः ; न. पु.–पैली(?) ; ग६–पंगीक(श्च) ; ग५–अङ्गिरा(श्च) ; न२, ५, ७–गार्ग्यः ; त, न६, मु. पु., क. पु.–योगी ; ग२–मुनिः ; ग३–गर्गः ; न३–ऐंद्रा; न४– × × ; (२)––न१, ५, ग१, ३, ४, त, त्रि. पु.–दीर्घतमा ; न२, ३, ७, ८, ग२, ३, क, मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–दीर्घतपा ; ग५–(अंगिरा–)श्चतपा(?) ; ग६–(पंगीक-) श्चतपो(?) ; न४– × × × × । १४/२–न३– ————तपोनिधिः ; न६– ————महानिधिः(?) ; न४– × × × × । १४/३–न२, ५, ७, ८, ग३, क– ————कश्यपश्चैव; त– ——— –श्च्यवनश्चैव; ग२, न४– × × × × । १४/४–न६–भारद्वाजस्तथैव च ; ग१, ४, न८, त–भरद्वाजस्तपोधनः; ग५, ६, क–भरद्वाजस्तपोनिधिः ; न१, २, ५, ७–भारद्वाजस्तपोधनः ; ग२– × × × × ।

तपस्विनस्तथा चान्ये वेदवेदाङ्गवेदिनः ।
याज्ञवल्क्यं सुसम्पूज्य गीर्भिराशीर्भिरुत्तमैः ॥१५॥

ते यान्ति मुनयः सर्वे स्वाश्रमेषु यथागतम् ।

गतेषु स्वाश्रमेष्वेषु तापसेषु तपोधना ॥१६॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ वाक्यमेतदभाषत ।

*गार्ग्युवाच--

भगवन्सर्वशास्त्रज्ञ सर्वभूतहिते रत ॥१७॥

भवमोक्षाय योगीन्द्र भवद्भिर्भाषितं तु यत् ।

१५/१–न४–तपस्विनस्तथा+ + । १५/२–न४, ग३– ------- –वादिनः ; न८, क– -------वेदान्तवेदिनः ; त–× × × × । १५/३–ग१– ---------समभ्यर्च्य ; ग४–नमस्कृत्य---------; त–× × × × । १५/४–इदं चरणं त्रिधा विभज्य पाठो निश्चित :। ते विभागाः–(१)गीर्भिः ; (२) आशीर्भिः ; (३) उत्तमैः । यथा स्वीकृतं चरणं "न८, क" लेखयोरेव लभ्यते । तदन्तर्गताः शब्दास्तु विशेषेषु दृश्यन्ते। सर्वेऽपि पाठभेदा विभागश अत्र प्रदर्श्यन्तेः– (१) न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ग१, ३, ४, ५, क, त्रि. पु., मुं. पु., मु. पु., क. पु.–– गीर्भिः ; ग२–वाग्भिः ; ग६–गंभी–(रग्ग्राभिः(?) ; न. पु.–गार्गी(?) ; त–× ×। (२) न३, ६, ८, क, न. पु.–आशीर्भिः ; न१, २, ५, ७–आप्ताभिः ; ग१, ३, ४, न४, मु. पु.–अग्ग्राभिः ; ग५, क. पु.–अन्याभिः ; ग६–(गंभी-) रग्ग्राभिः; ग२–अर्थ्याभिः; त्रि. पु., मुं. पु.–पुण्याभिः ; त–× × ×। (३) ग२, न८, क–उत्तमैः ; न१, २, ३, ४, ५, ६, ७,ग१, ३, ५, ६, मु. पु. क. पु.–उत्तमम् ; न. पु.–उत्तमाम्(?) ; त्रि. पु., मुं. पु.–उत्तमाः(?) ; त–× × ; ग४–– तपोधनम् ।

१६/१–न१, ४–ते याताः------; न२, ७–ते ययु.---; ग२–ते गताः-------; ग५, ६, क– तेनैव--------; त–× × × ×। १६/२–ग२–स्वाश्रमांस्तु-----; ग४–स्वाश्रमं तु------; न७–स्वाश्रमेषु यथायथम्; त–× × × ×। १६/३–त–गतेषु ते स्वाश्रमेषु; ग३, न३, ४– -------स्वाश्रमे तेषु । १६/४–न५–तपसिषु (?तापसेषु)––; न१–स्वाश्रमेषु-------; न३–तापसेषु तपोनिधौ(?) ; न८– -------तपोधनाः (?तपोधना); ग४–स्वरूपेषु तपोधनम्(?) (?) ; ग५, क–स्वाश्रमे सा तपोधना ; ग६–स्वाश्रमे वा तपोधनम्(?) ।

१७/१–न३– ------- –दभाषतः (?–द्भाषत); ग३– ----- –दुवाच ह; त–तमेतदभिभाषत । *न४–श्रीगार्ग्युवाच; ग५, ६–गार्गी–; ग४, न८– × × × × ।

१८/१–ग५, ६, क–भवमोक्षाय योगीन्द्र; न४, ५, ६, ७, ८, ग१, २, त–योगं----------; न१,–यन्मे---------; न३–योगो विज्ञाय(?)-------; ग४–भोगमोक्षाय(?)-------; ग३–योग मुक्षाय गार्गि(?) ।

यमाद्यष्टाङ्गसहितो योगो मुक्तेस्तु साधनम् ॥१८॥

तदेतद्विस्मृतं सर्वं सर्वज्ञ तव सन्निधौ ।
योगं ममोपदिश्याद्य साङ्गं संक्षेपरूपतः ॥१९॥

त्रातुमर्हसि सर्वज्ञ जन्मसंसारसागरात् ।

इत्युक्तो ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद्ब्राह्मणस्तदा ॥२०॥

आलोक्य कृपया दीनां स्मितपूर्वमभाषत ।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भूमौ गार्गि वरानने ॥२१॥

वक्ष्यामि ते समासेन योगं सम्प्रति तं शृणु ॥२२॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये एकादशोऽध्यायः ॥

१८/२–न१, २, ४, ५, ६, ७, ८, ग१, ३, ४, ५, ६, त, क–भवद्भिर्भाषितं तु यत् ; न३, ग२–भवता भाषितस्तु यः । १८/३–ग१, ५, ६, न५–यमाद्यष्टांगसंयुक्त (:); न१, ४, ६, ८, ग४, क– ————————सहितं (?); ग३–यद्यदृष्टांगसहितं(?) । १८/४–न३, ८————————कारणम्; न१, ४, ६, ग१, क–योगं मुक्तेस्तु साधनम्; न५–योगमुक्तिस्तु————; ग३–योगयुक्तस्तु————; न७–योगस्तु मुक्तिसाधनम् ।

१९/१–ग४–तदेतेन स्मृतं सर्वं(?) ; न३–स एव विस्मृतः सर्वैः (?) ; ग२–तदेतच्च स्मृतं ++ । १९/२–न३– ————————तदसंनिधौ (?तव संनिधौ) ; ग२–यज्ज्ञानं तव सन्निधौ (?) । १९/३–न१, २, ग१, त– ––योगं ममोपदिश्यात्र ; ग४– ———मे चोपदिश्याद्य ; ग६, क–योगं ममाद्योपदिश; ग२– ———मे योगशास्त्रं त्वं(?); न३– ———(म–) मोपदिश्याद्य त्वं (?) ; ग३– ————तु नोपदिश्याद्य(?) । १९/४–ग५, ६, क–सर्वं————————; न३– ————संज्ञेयरूपतः ; ग१– ————संक्षेपतः पुनः ; ग२–ब्रूहि संक्षेपतो यतः ।

२०/१–ग६–श्रोतुमर्हसि(?)————। २०/२–ग२–यन्मां————————। २०/४–ग४– ———————— –स्तथा ; ग६– ———————— –स्त्वया(?) ; ग१–याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।

२१/१–ग३– ———————— –दिनां (?दीनां); न१, २, ३, ५, ६, ७, ८, ग१, ४, त–क– ————कृपणां————। २१/२–न१, २, ५, ७, ८, ग१, ४, त– ———————— –मथाब्रवीत्; न३–तेन पूर्वमभाषत । २१/३–न२, ५, ७, ग१– ———— किं शेते(?) । २१/४–ग५, ६, क–गार्गि भूमौ————।

२२/१–न१, २, ५– ————तं————; न६–वक्ष्यामीति————————; ग३– वक्ष्यामि त(?ते)————। २२/२– न१, २, ५, ७, ८, ग३, ४, ५, ६, क– ————————तच्छृणु ; ग२– ————स्थिरमना————।

द्वादशोऽध्याय :

*याज्ञवल्क्य उवाच--

सव्येन गुल्फेन गुदं निपीड्य सव्येतरेणैव निपीड्य सन्धिम् ।
सव्येतरं न्यस्य करेतरस्मिन्शिखां समालोकय पावकस्य ॥१॥

द्वादशोऽध्याय : ॥

*ग५, ६, न८–याज्ञवल्क्यः ; न१, २, ३, ५, ६, ७–श्रीभगवानुवाच ; ग१, २, त–× × × × । "क" लेखः एकादशाध्यायान्ते समाप्यते । तेनास्मिन्नध्याये १५ भ्य एव हस्तलेखेभ्यो टिप्पण्यो भविष्यन्ति । "ग१" लेखे यद्यपि द्वादशाध्यायो न कुत्राप्यङ्कितस्तथापि तत्स्थाः श्लोकास्तस्मिन्नेकादशाध्याये वर्तन्त एव । ग२", "ग६" लेखयोरध्यायान्तर्गतानां श्लोकानामारम्भात्पूर्वं ३ अधिका विसङ्गताः श्लोका विद्यन्ते ते :—

ग२–दुर्लभं जन्म मानुष्यं, विवेकमतिदुर्लभम् ।
दुर्लभा देवमुक्तिस्तु[1] ज्ञानं त्रैलोक्यदुर्लभम् ॥१॥

पुण्यक्षेत्रे[2]विषयविरतिःसत्तपः[3]सत्यवाक्यम्
दाना[4] वाक्यं परुषरहितं[5] व्याप्य+++श्च योगः[6] ।
धर्मो जन्तुष्वगतिषु तया[7] जन्मने पापशुद्धिः[8]
सत्यज्ञानं[9] भवभयहरं तुष्टिरिष्टं विभूतिः[10] ॥२॥

चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं[11] चित्ते नष्टे धातवो[12]यान्ति नाशम् ।
तस्माच्चित्तं यत्नना[13] रक्षणीयं[14] स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥३॥

"ग६" लेखे पाठन्तराणि–१. देवभक्तिश्च ; २. पुण्यक्षेत्रं ; ३. संतपः ; ४. दानं ; ५. पुरुषरहितं ; ६. प्राणिहिंसावियोगः ; ७, धर्मो जीवेष्वगतिषु दया ; ८. जान्हवी पापशुद्धिः ; ९. सम्यग्ज्ञानं ; १०. तुष्टियिष्टा विभूतिः ; ११. पातु सर्वं शरीरं ; १२. यातवो ; १३. यत्नतः ; १४. चिक्षणीयं । द्वयोरपि लेखयोरशुद्धयो दृश्यन्ते तथापि प्रस्तुतग्रन्थविसङ्गता इमे श्लोका इति तेषां शुद्धपाठनिर्णये यत्नो न क्रियते ।

१/१–न१, ५, ७– ————निबध्द्य; ग१– ————निरस्य ; न२– ———— निबध्द्वा । १/२–ग२– ————शक्तिम्(?) ; न४– ————दण्डम् (?) ग४– ————सव्यम्; न३– ————सन्धिम् ; न५, ७–सव्ये करेणैव(?)————; ग६–सव्ये तले न्यस्य तथेतरश्च(?) । १/३–इदं चरणं त्रिधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये । ते विभागाः–(१)सव्येतरं ; (२) न्यस्य ; (३) करेतरस्मिन् । लेखादिविभागाः–(१)–ग१,

आयुर्विघातकृत्प्राणो निरुद्धस्त्वासनेन वै।
याति गार्गि तदापानात्कुलं वह्नेः शनैः शनैः ॥२॥

वायुना वातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः।
ततो ज्वलति सर्वेषां स्वकुले देहमध्यमे ॥३॥

प्रातःकाले प्रदोषे च निशीथे च समाहितः।
मुहूर्तमभ्यसेदेवं यावत्पंचदिनद्वयम् ॥४॥

ततस्त्वात्मनि विप्रेन्द्रे प्रत्ययाश्च पृथक्पृथक्।
सम्भवन्ति तदा तस्य जितो येन समीरणः ॥५॥

४, त, त्रि. पु., मुं. पु., मु. पु., क. पु.–सव्येतरं ; न३, ४, ८, ग२, ३–सव्येतरे ; ग५, ६–सव्ये तले; न१, २, ५, ७–सव्ये करे ; (२)–ग१, ४, न८, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–न्यस्य; न२, ३, ४, ५, ७, ग२, ३, ५, ६–न्यस्त ; न१–अभ्यस्त(?) ; न६–स्वस्त्य ; (३)–न. पु.–करेतरस्मिन् ; ग१ २, न१, २, ३, ५, ७, त्रि. पु., मुं. पु., क. पु.––करेतरेऽ-(?करेतर–)स्मिन् ; न६–करे परेऽस्मिन् ; न४, ग३–करेतरस्तु(?) ; ग४–करं करेतरे ; त, मु. पु.–कलेवरेऽस्मिन् ; ग५, न८–तथेतरं च ; ग६– तथेतरश्च । १/४–ग३– ——————पावनस्य(?) ; न३–शिलां(?)————; ग२–शिखां समालोक्य च ।

२/१–न३–आयुर्विघातकप्राणः ; ग५–आयुर्विघातकः——; ग३–आयुविध्यांत कृत्प्राणः (?); ग२–आयुर्निपूतकणे(?)+++। २/२–ग१, ६– ——————तु ; न५–निरुद्धः श्वसनेन वै ; न४–रुद्धयस्व स्वासनेन वै ; ग२–निरुद्धय स्वां(?) शनैः शनैः । २/३–न६– ———— तथापानात् ; न१——————तदापाने(?) ; न२, ७– ——————तदापानं(?) ; ग२–——————सदापानात् ; ग५, ६, न८––तथापानः(?) ; न४, ग३– ———तदादौ च ; ग४–×××× । २/४–ग३– ——वह्नि शनैः शनैः (१) ; न१–कुले वह्नेः————; न२–कुम्भं(?)————; ग२–तत्कुलं वह्निना——; ग४–×××× ।

३/१–न४, ग३– ———पातितो(?)——; त– ———चालितो–; ग२– ——— वासिरो(?)——; न३– ———वर्धितो——; ग४–×××× । ३/२–न३–तस्पानेन(?) ———; ग४–×××× । ३/३–ग५– ——ज्वरति(?)——; ग४,—××××। ३/४–न१, २, ५, ७, ग६–स्वकुलं———; ग२–भास्वरे———; ग३–नकुशे(?)————; ग५– ————हेममध्यमे(?) ; ग४, क. पु.–××××।

४/१–न४–प्राप्तकाले(?)————; ग४–×××× । ४/२–न१, त– ———— समाहिता ; न३–निशीथाभ्यां———; ग४–×× ×× । ४/४–ग४, न८– ———— दिनत्रयम् ; न१– ———दिने द्वयम्(?)।

५/१–न६, ८– ——— –श्चात्मनि——; न२, ४, ७– ———स्वात्मनि——; ग५, ६– —— –स्त्वेतानि—; ग३–स्वात्मनि विप्रेन्द्र(?) ; न३–तपः(?) स्वात्मनि विप्रेन्द्र(?) । ५/२–न६, ग१, ५, ६––प्रत्ययानि(?)———; ग४, न८–प्रत्यङ्गानि(?)———। ५/३–न६, ८– ——————तथा तस्य ; न४– ———तदास्यांतर् ; ग३– ———सदा स्वांतर् ; न१–संभवति(?)———; ग५, ६– ————सदा तस्य । ५/४–ग१, न१, ५– ——— यस्य ; न८–जितेन न सजारणः(?) ।

शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः ।
नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नान्यादौ भवन्ति हि ॥६॥

अल्पमूत्रपुरीषः स्यात्षण्मासे वत्सरेऽपि वा ।
आसने वाहने पश्चान्न भेतव्यं त्रिवत्सरात् ॥७॥

*ततोऽनिलं वायुसखेन सार्धं धिया समारोप्य निरोधयेत्तम् ।
ध्यायन्सदा चक्रिणमप्रबुद्धं नाभौ सदा कुण्डलिनीनिविष्टम् ॥८॥

शिरां समावेष्य मुखेन मध्यामन्याश्च भोगेन शिरास्तथैव ।
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक्पथश्च संयम्य मरुद्गणानाम् ॥९॥

६/१–न५– ————दीतिः(?) ; न४, ग३–शरीरे————। ६/२–ग४–वह्नेर्जाठर-वर्तिनः(?) ; ग३–वह्निजठर———(?) । ६/३–न४– ———— –रित्येतत्(?) ; न१– ———— –रित्येव ; न५, ७– ———— –रित्येवं । ६/४–न३–प्रत्ययाः संभवन्ति हि ।

७/१–न१, २, ३, ५, ७, ग२, ३, ६, त– ———मूत्रपुरीषं———। ७/२–न१, २, ३, ४, ५, ७, ग१, ३, ४, त– ————वत्सरे तथा; न८–षण्मासाद्वत्सरेण वा ; ग२–षण्मासे वत्सरे तव (?ऽथवा) । ७/३–न४–प्रासने वाहने———; न८–आसनेन भवेत्पश्चात्(?) ; ग२–आहारं बहुभोजत्वं(?) ; ग६–"आहारं बहुभोजित्वं" इत्यधिकायां पंक्त्याम् । ७/४–ग५–न भेत्तव्यं (?भेतव्यं) ————; ग६–"न भोक्तव्यं त्रिवत्सरात्" इत्यधिकायां पंक्त्याम् ; न१, २, ४, ५, ७, ग३, त–न गन्तव्यं————; ग२, ६–लघुत्वं वत्सराद्ध्रुवम् ; न८–लभेदेवं त्रिवत्सरात् ।

*अत्र "न१, २, ५, ७" लेखेषु त्रयः श्लोकाः "दृष्टचिन्हस्ततस्तस्मिन्" इत्याद्याः "दहत्यत्र न संशयः" इत्यन्ताः । ते नाधिकाः किन्तु ६. ६७–६९ एवेति नात्रोद्धृताः ।

८/१–न३–ततो बिलं(?)————; न७–सतो बिलं———सम्यक्; न२–ततोऽनिलं———— सम्यक् ; न४– ————वायुमुखेन(?)सार्धं । ८/२–न४– ———— निरोधय त्वम्; ग३– ————निरोधयित्वा ; ग४–धिया समासाद्य निरोधयेत्तम् । ८/३–न२, ३, ६–ध्यायेत्सदा ————; ग५, ६, न८–ध्यायन्सदा चक्रिणमप्रमेयम् । ८/४–ग२, ४, न८– ———— कुण्डलीसंनिविष्टम् ; न६– ————कुण्डलीसंप्रविष्टम् ; ग५, ६– ————कुण्डलिनं प्रविष्टम् ; न२, ३, ५, ग१— ————कुण्डलिनं निविष्टम् ; न४– ————कुण्डलिनीं प्रविष्टाम्(?) ; ग३–+ + + + + कुण्डलिनीं प्रतिष्ठाम् ।

९/१–इदं चरणं चतुर्धा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते च विभागाः–(१) शिरां ; (२) समावेष्टच ; (३) मुखेन ; (४) मध्यां । तेभ्यो "मुखेन" शब्दः सर्वसमानः । १, २, ४ शब्दानां च विषये पाठभेदा अत्र दृश्यन्तेः–(१)–न३, ६, ८, ग१, ४, ५, ६, ५ मुद्रितानि पुस्तकानि–शिरां; न४–शिरः ; ग३–मुखं ; न१, २, ५, ७, ग२, त–द्वारं; (२)–न२, ३, ४, ६, ८, ग१, २, ४, ६, मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.—समावेष्टच ; त्रि. पु.–× × ; न१, ५, ग३, त–समावेश्य ; न७–समावेक्ष्य ; ग५–सुषुम्णां च ; (४) न६, ग१, ४, ५, त्रि. पु.– मध्यां ; न४, ८, ग३–मध्यात् ; न१, २, ७, ग२, त–मध्यमं ; न५–मध्यं ; न५–मध्यं ; न३, मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–मध्ये; ग६–बद्धौ(?) ९/२–ग२–त्वन्येन————; न१, ५–अन्यानुभोगेन शिरस्तथैव ; न२–अन्येन भोगेन शिरा—; न७–अन्येन योगेन शिरा———; ग३, न८, त–अन्यांश्च भोगेन शिरांस्तथैव। ९/३–न१–स्वपुछ–(?–पुच्छ) मासेन (?मास्येन)———; न८–स्वपुच्छमन्येन(?)————; ग३– ————निगूह्य———; ग५–स्वच्छन्दमास्येन————। ९/४–न६–प+श्च ————; ग४– ———संस्मृत्य(?)———; न८–पथं च(?)————।

प्रसुप्तनागेन्द्रवदुच्छ्वसन्ती सदा प्रबुध्दा प्रभया ज्वलन्ती ।
नाभौ सदा तिष्ठति कुण्डली सा तिर्यक्सु देहेषु तथेतरेषु ॥१०॥

वायुना विहृतवह्निशिखाभिः कन्दमध्यगतनाडिषु संस्थाम् ।
कुण्डलीं दहति यस्त्वहिरूपां संस्मरन्नरवरस्तु स एव ॥११॥

सन्तप्ता वह्निना तत्र वायुना च प्रचालिता ।
प्रसार्य फणभृद्भोगं प्रबोधं याति सा तदा ॥१२॥

बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये प्राणाः सुसम्भूय कलेवरेऽस्मिन् ।
चरन्ति सर्वे सह वह्निनैव यथा पटे तन्तुगतिस्तथैव ॥१३॥

१०/१–त–प्रसुप्तनागेन्द्र इवोच्छ्वसन्ती; ग३–प्रबुद्ध————————; न२–प्रबुद्धनागेन्द्र-बहुं (-वदु-) च्छ्वसन्ती ; ग५, ६–सुषुप्तनागेन्द्र इव श्वसन्ती । १०/२–ग४–सदा प्रबुद्धप्रभया ————; ग३–सदा प्रबुद्धा प्रलये(?)————; ग१, न४–सदा प्रबुद्धा प्रभया————; न२, ५, ७–तदा प्रबुद्धा प्रभया————; न१–हृदात्प्रबुद्धा————; ग५, ६, न८–सदा प्रबुद्धाग्निरिव————। १०/३–ग६– ————————सदा । १०/४–न४, ग३–तिर्यक्सु देहेषु + + + +; न३–तिर्यक् स्वदेहेषु– ————।

११/१–न३– ————विगत————; ग४, ५, ६– ————विधृत————; न७–————वितत————; न१, २, ५– ————वाततो वह्नि————(?) ; न८–वायुना विधृतो वह्निः ; (अनुष्टुप् छन्दोऽस्मिल्लेखे); न४, ग३–× × × ×। ११/२–न२, ३– ————————संस्था (?संस्थाम्); त– ————नाडीभिः संस्था(?) ; ग५, ६–तुन्दमध्यगतवह्निषु संस्थाम्(?) ; न४, ग३–+ + +सुपूर्य संस्थाम् ; न८–शिरोभिः कन्दमध्यगः (अनुष्टुप् छन्दः) । ११/३–ग३, न२, ३–कुण्डली (?कुण्डलीं————————; ग४–कुण्डला (?कुण्डलीं)————————; न८– ————यमस्त्वहिरूपां (?यस्त्वहिरूपां) ; न४–× × × ×। ११/४–ग४– ———— – न्नरवरः स स एव; न२–संस्मरनेह(?)वरस्तु ; न३–संस्तुत + + + + + एव; ग३–संस्मरन्नर-वरस्तु + + + ; न४–× × × × × ×; त–सो भवेद्गिरिधरस्तु न वान्यः ।

१२/१–न७– ————वायुना(?)————; न१, ५–सन्तप्तवह्निना;—— ग१, ४, न६–सन्तप्तो————; ग५, ६–सन्तप्तो वह्निना यस्तु –; न४– ग३–× × × ×। १२/२–न३– ————प्रवातिता ; न८– ————प्रपातिता ; न६, ग४– ————प्रवाततः ; ग६– ————प्रचोदितः ; ग५– ————प्रचोदिता ; ग२– ————प्रबोधिता ; न४, ग३–× × × ×। १२/३–न२, ७, ग२– ————फणिवद्भोगं ; न५– ————फणवद्भोगं ; न३– ————फलवद्भोगं ; न१– ————पूर्णवद्भोगं(?) ; न४, ग३–× × × ×। १२/४–न२, ५, ७, ग२– प्रबोधं याति सा तदा ; ग६–भ्रुवोर्धं (?प्रबोधं) याति सा तदा ; न३, ६, ८, ग१, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु.– ————तत्तथा(?) ; न. पु., मु. पु., क. पु.– ———— यात्यसौ तदा ; ग४–प्रबोधयति(?) तत्तदा ; न४, ग३–× × × ×।

१३/१–न३–बोधं गति (?गते)————; न१, ५, ग४–बोधं गता कुण्डली————; न८–बोधं गतां कुण्डली————(?) ; न२–बोधं गता कुण्डलिनी च नाभिं(?) ; न७–बोधं गता कुण्डलिनी च मध्ये ; त, न४, ग३–× × × × × ×। १३/२–न८–प्राणान्(?)————; न५–प्राणास्तु संभूय————; न१, २–प्राणस्तु(?) संभूय————; ग५–प्राणः सुसम्भूय(?)————; न७–प्राणोस्तु (?प्राणास्तु)————; न३–+ + + + +कलेवरेऽस्मिन् ; त, न४, ग३–× × × × × ×। १३/३–न७–चरन्ति सर्वं (?सर्वे)————; ग५–चलन्ति————; त, न४, ग३–× × × × × ×। १३/४–न३– ————तंतुगतस्तथैव(?) ; न६– ———— ————तंतुततिस्तथैव ; न८–यथा पटास्तन्तुगतास्तथैव ; त, न४, ग३–× × × × × ×।

जित्वैवं चक्रिणः स्थानं सदा ध्यानपरायणः ।
ततो नयेदपानं तु नाभेरूर्ध्वमिदं स्मरन् ॥१४॥

वायुर्यथा वायुसखेन सार्धं नाभि त्वतिक्रम्य गतः शरीरे ।
रोगाश्च नश्यन्ति बलाभिवृद्धिः कान्तिस्तदानीमभवत्प्रबुद्धे ॥१५॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः पावकेन सह यान्ति समूह्य ।
केनचिदिह वदामि तवाहं वीक्षणाद्हृदि सुदीपशिखायाः ॥१६॥

निरोधितः स्याद्हृदि तेन वायुः मध्ये यदा वायुसखेन सार्धम् ।
सहस्रपत्रस्य मुखं प्रविश्य कुर्यात्पुनस्तूर्ध्वमुखं द्विजिह्वः ॥१७॥

१४/१–न३–जित्वेव (?जित्वैव)————; ग४–जित्वैव————; ग२–इत्ये (जित्वैवं————) ; त–बोधं गते चक्रिणि स्थानं(?) ; न४, ग३–× × × ×। **१४/२**–न५, ७– ———— –परायणाः ; न४, ६, ग३–× × × ×। **१४/३**– ——नयेतदानात्तु (?नयेदपानात्तु) ; न४, ग३–× × × ×। **१४/४**–न६, ग५, ६– ——— –मनुस्मरन् ; न३– ———— –मनुस्मरेत् ; न४, ग३–× × × ×।

१५/१–न३– ————वायुगते सार्धं(?) ; न२, ४, ५, ६, ग५–वायुर्यदा वायुसखेन सार्धं । **१५/२**–ग२– ————गतिं (?गतः)——; न२, त——नाभेस्त्वतिक्रम्य——; न३–नाभि–(नाभि) त्वतिक्रम्यवान्शरीरे(?) । **१५/३**–न१, २, ५, ७, त–रोगास्तु————; न३–रोगाः प्रणश्यन्ति ; ग५, ६–रोगा विनश्यन्ति । **१५/४**–ग३– ———— –मभवत्प्रबुद्धा ; न२, ६– ——— –मभवत्प्रमुग्धे ; न५, ७– ———भवति प्रमुग्धे ; न३, ४–. ——— ———भवति प्रबुद्धा ।

१६/१–न४– ————मुखमेव——; ग३– ————मुखमाद्रवायुव(?) ; ग२– ————मुखमेत्य स वायुः ; ग५– ———मुखमन्तिमवायौ(?) । **१६/२**–न५——— ———समूहम् न७– ————स्वमध्ये ; न३– ————सह्यके (?) ; न२– ————समध्ये(?) ; न४– ————तदैव ; न८– ———— समाप्य(?) ; ग५– ————याति समुह्य(?) ; ग६– ————याति समुहे(?) **१६/३**–ग३– ————तदाहं ; न२, ५–केनचित्त्विह———तथाहं ; न७–केनचित्त्विह——— तवाहं ; ग५–तेन चिदिह(?)वदामि तवाहं ; ग६–तेन चेतिह (?) ———; न४–× × × ×। **१६/४**–इदं चरणं द्विधा विभज्य तस्मित्पाठभेदानां साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । तौ विभागौ :–(१) वीक्षणात् ; (२) हृदि सुदीपशिखायाः । तयोर्विषये च पाठभेदाल्लेखादिविभागाः–(१) न१, ६, ग४, ५, ६–वीक्षणात् ; ग१, ३, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु.–वीक्षणं ; न३, ७, ८–मु. पु. क. पु.–वीक्षणा ; न२–वीरुणा(?) ; न५–वीक्षणां ; ग२–वीक्षणार्थं ; न४–× × × ×। (२)–न१, २, ५, ६, ग१, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु.– ————हृदि सुदीपशिखायाः ; न३, ७, मु. पु., क. पु.–तु हृदि दीपशिखायाः ; ग३– ——दृढि (?)सुदीपशिखायाः ; न८–धृतिषु दीपशिखायाः ; ग२–सुखदीपशिखायाम् (?) ; ग४–हृदि सुदीपशिखायाम् ; न४–× × × ×।

१७/१–**इदं** चरणं त्रिधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते विभागाः–(१) निरोधितः स्यात् ; (२) हृदि तेन ; (३) वायुः । तेभ्यः "वायुः" शब्दः "ग१, २" लेखयोरपवादेन सर्वत्र दृश्यते । तयोस्तु "सार्धं" इत्यन्तिमः शब्दः । प्रथमद्वयोर्विभागयोर्विषये पाठवैविध्यमीदृशम् :–(१)–न४–निरोधितस्तु ; न८–निरोधितस्या(-र्ध-) ; ग५–तिरोहितः स्यात् ; अन्येषु सर्वेषु–निरोधितः स्यात् ; (२)–ग३, त्रि. पु., मुं. पु.–हृदयेन ; न२–वदि (?हृदि) तेन ; ग६–स्याद् धृति (?स्याद् हृदि) तेन ; ग४–अथ तेन ; न८–(स्या-)र्धसितेन (?); इतरत्र सर्वत्र-हृदि तेन । **१७/२**–न२–वध्यं ददा (?) वायु

प्रबुद्धहृदयाम्भोजे गार्ग्यस्मिन्ब्रह्मणः पुरे ।
बालार्कश्रेणिवद्व्योम्नि विरराज समीरणः ॥१८॥

हृन्मध्यात्तु सुषुम्णायां संस्थितो हुतभुक्तदा ।
सजलाम्बुदमालासु विद्युल्लेखेव राजते ॥१९॥

प्रबुद्धहृत्पद्मनि संस्थितेऽग्नौ प्राणे च तस्मिन्विनिवेशिते च ।
चिह्नानि बाह्यानि तथान्तराणि दीपादि दृश्याणि भवन्ति तस्य ॥२०॥

– ———; ग१, ६, न३, ४, ६, ७, ८–मध्ये तदा————; ग५–मध्ये सदा————————। १७/३–त–सहस्त्रापत्रान्तु (?) ———; न१, २–सहस्त्रचक्रस्य मुखं———। १७/४–अस्य चरणस्य त्रयो विभागाः–(१) कुर्यात् ; (२) पुनस्तूर्ध्वमुखं ; (३) द्विजिह्वः । तेभ्यः "कुर्यात्" शब्दः सर्वसामान्यः । २-३ विभागौ विभिन्नस्वरूपैर्दृश्येते । तानीदृशानिः– (१)–ग२, ३, ४, ५, ६, न५, ७, ८, त्रि. पु., मुं. पु. न. पु.–पुनस्तूर्ध्वमुखं ; न४, ६–पुनश्चोर्ध्वमुखं ; न२–पुनरूर्ध्वमुखं ; ग१–पुनस्तूर्ध्वगतं ; न३–ततस्तूर्ध्वमुखं ; न१–फणामूर्ध्वमुखंः(२)–न१, २–द्विजिह्व : ग१, २, ३, ५, ६, न३, ४, ५, ७, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–द्विजेन्द्रे ; न६–द्विजेन्द्रैः ; ग४, न८–नरेन्द्रे ।

१८/१–ग२, ५, ६, न५, ७–प्रबुद्धे————; न१–प्रबुद्धहृदयाम्भोजं(?) । १८/२–ग१–केसरान्वितकर्णिके । १८/३–ग४, न८–बलाकश्रेणि–(?)————————; ग१, न३, ४–बलाकाश्रेणि————; न७–बालार्कं(?)श्रेणि————————; न४–बालार्कशोणिते व्योम्नि । १८/४–ग३–द्वि+राज–––; न२, ७–विराजंति (?विराजति)————; न५–विरायंति (?विराजति)–––; न१, ४, ८, ग२, ५–विराजति———; ग४–विचरन्ति(?) ———।

१९/१–न२–द्वन्मध्यात्तु (?हृन्मध्यात्तु)–––; ग२, न८–आहुर्मध्यात्सु–––––(?आहृन्मध्यात्सु –––––) ; ग१, ३, ४, ६, न३, ४, ६–आभ्रूमध्यात्————————; ग५–आभ्रूमध्यात्सुषुम्णायाः। १९/२–न३, ४, ८, ग४– ————————सदा ; ग३–संस्थिते———तदा ; ग५–संस्थितो भूपवाहन(?) ; ग६–संस्थितो हव्यवाहनः ; ग२–सुस्थिरा बहुभुक्त तथा(?) । १९/३–न८–सुबलाम्बुद———; न१, २, ४, ५, ७–सजलाम्बुदमालाभिः ; ग४–सजलाम्बुदमध्यस्था । १९/४–ग३– ————राजिते (?राजते) ।

२०/१–न८– ————————संस्थिते च ; ग४– ————————संस्थितेन(?) ; न७– ———हृत्पद्म(–नि)संस्थितेऽग्नौ ; न२– ———हृत्पद्मे च————; ग५– ———— हृत्पङ्कज————; त– ———हृत्पद्मनिभं स्थिते च(?)। २०/२–न३–प्राणे च (?प्राणेषु) ———विनिवेशितेषु ; ग५, ६–प्राणेषु————विनिवेशितेषु ; न८–प्राणे च————————विनिवेशितं च (?) ; ग१, २, ४, न५, ६, ७– ————————प्रविवेशिते तु । २०/३–ग१, २, ३, ५– ————तथान्तरेऽपि ; ग४– ————————तथान्तरे च । २०/४–इदं चरणं त्रिधा विभज्य लेखान्तर्गतानां पाठभेदानां साम्यवैषम्ये प्रदृश्येते । (१) न४–दिव्यानि दृश्याणि ; न३–द्वीपानि (?दीपानि)–––; अन्येषु १३ लेखेषु–दीपादि दृश्यानि ; (२) "भवन्ति" शब्दः सर्वसामान्यः ; (३) न२, ३, ५, ७–तानि ; न१, ग१, २, त–सद्यः ; ग३–तस्याः ; न४,६, ७, ग४, ५, ६–तस्य ।

वायुमुन्नय ततस्तु सवह्निं व्याहरन्प्रणवमत्र सबिन्दुम् ।
बालचन्द्रसदृशे तु ललाटे बालचन्द्रमवलोकय बुद्धया ॥२१॥

सवह्निं वायुमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये धिया तदा ।
*ध्यायेदनन्यधीः पश्चादन्तरात्मानमन्तरे ॥२२॥

२१/१–ग१, २,– ————तत्र सवह्निना ; न१, २, ७– वायुमुन्नयति दीप्तवह्निना ; न५–वायुमुन्नयति दीप्ति–(?-दीप्त-) वह्निना ; न४, ग३–वायु————सह वह्निं ; ग४–वायु———— ————यत्र सवह्निं ; न३–वायुर्मुनति (?वायुमुन्नयति) यः सह वह्निं ; न८–वायुर्नयति यत्र सवह्निं । २१/२–न८– ——————सबिन्दुः (?सबिन्दुं) ; ग३, ४– ———— –न्प्रणवमन्त्रसबिन्दुम् ; न६– ————श्रणवमुद्रस्त (?प्रणवमन्त्र-) सबिन्दुम् ; ग६– ————प्रणवात्म–(?प्रणवमन्त्रं) सबिन्दुम् । २१/३–न१, २, ५, ७– ————सदृशी तु (?सदृशे तु)————; ग५, ६– ———— सदृशेऽपि————; न३– ————सहरे (?सदृशे) – ————; न६–बालचं+++++। २१/४– न३– ———— –मिव लोक्यन्बुधाः ।

२२/१–न१, ३, ४–सवह्निवायुमारोप्य ; ग६–वह्निनामायुरोप्य(?) । २२/२– ग२———— ————धिया सदा ; न६, ८, ग५– ——————धिया तथा ; न१– ————धियात्तदा (?धिया तदा) । २२/३–ग४, न८–ध्यायेत नान्यधीः————; ग२–ध्यायेदनन्यधीः शान्तात्(?) । २२/४–न१–अन्तरात्मानमात्मना ; त– ———— –मात्मनि ; न३– —————— –मंतरो (?मंतरे) ; ग२–आत्मानं मनसोऽन्तरे ।

*अत्र "ग६" लेख अधिकः श्लोकः । **सः त्रिपुरसारसमुच्चयादुद्धृत इव दृश्यते ।** तीवाशुद्धः पाठान्तरैर्युक्तश्च "ग२" लेखेऽपि दृश्यते । सोऽयं श्लोकः—

आदौ मत्तालिमालां गलपदविगलत्तारझंकारहारी
नादोऽसौ वांशिकस्यानलभरितलसद्वंशनिःसाणतुल्यः ।
घण्टानादानुकारी तदनुजलनिधिर्ध्यानधीरो गभीरः
गर्जत्पर्जन्यघोषापर इव कुहरे ब्रह्मनाड्या शुषुम्नाम् ॥

अयं श्लोकोऽत्रातीव विसंगत इति तस्य शोधने यत्नो न कृतः । न. पु., मु. पु., क. पु.,–षु चान्य एवाधिकः श्लोकः । सः—

तस्मिन्ब्रह्मपुरे गार्गि ब्रह्मौवाज्ञानमोहिते ।
भ्रान्त्यारूढः स जीवः स्यादाच्छन्नो महदादिभिः ॥

अयमप्यशुद्धियुक्तः ।

मध्यमेऽपि हृदये च ललाटे स्थाणुवज्ज्वलति लिङ्गमदृश्यम् ।
अस्ति गार्गि परमार्थमिदं त्वं पश्य पश्य मनसा रुचिरूपम् ॥२३॥

ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे च यः पश्यति ज्ञानमयीं प्रभां तु ।
शक्तिं सदा दीपवदुज्ज्वलन्तीं स पश्यति ब्रह्मविदेकदृष्ट्या ॥२४॥

मनो लयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम् ।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम् ॥२५॥

कम्पनं च तथा मूर्ध्नो मनसैवात्मदर्शनम् ।
देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणि च चन्द्रमाः ॥
ऋषयः सिद्धगन्धर्वाः प्रकाशं यान्ति योगिनाम् ॥२६॥

२३/१– ग१, ३, ४, न४, ७, ८–मध्यमेऽपि हृदयेऽपि——; ग२– ———च हृदयेऽपि———। २३/२–न२, ग१, त–स्थाणुवज्ज्वलित———; न३–स्थाणुवज्ज्वलितलिङ्गमदवोश्शं (?लिङ्गमदृश्यम्); न१, ५–स्थाणुवज्ज्वलितलिङ्गसदृश्यम् (?–मदृश्यम्) ग२–स्थाणवच्छुरित(?)———; ग४–स्थाणुवत्स्व-ललितंगमदृश्यम् (?स्थाणुवत्, ज्वलित, लिंगमदृश्यम्); न८–स्थाणुवत्कलित (?ज्ज्वलित-)———। २३/३–न५– ——————परमार्थमिदं++; न२, ७, त– ——————मिदं हि ; ग३– ——————मिदं तु ; न. पु., क. पु.– ——————–मिदं तं ; ग१, त्रि. पु., मुं. पु.– ————परमात्ममिदं त्वं ; ग५–अस्तु– ——————; न१– ———— –मिदं तत् ; ग४, न८– ——————परमार्थविदां त्वं । २३/४–न४– ——————रुचिपुंजम् ; न१, २, ७– ——————शिवरूपम् ; न५–पश्य++++शिवरूपम् ; ग२– ——— ———मनसा च विरूपम्(?) ; त– ———मनसा विधिरूपम् ; ग३– ————रुचिरं वपुः ; न३– ——————हृदियुक्तम् ।

२४/१–न३– ——————वा । २४/२–ग२, ५– ——————प्रभां ताम् ; न४– ——————प्रभाते ; न६–प्रपश्यति——————; ग३–यः श्रुतिज्ञानमतिप्रभाते(?) २४/३–न१, २, ४, ५, ग३, न७– ———तदा————; न८–शक्तिः(?)सदा दीर्घवदुज्ज-वलन्ती(?) । २४/४–ग१, ४, त–सम्पश्यति————; न३– ———ब्रह्मवदेव शिष्टा(?) ; ग५– ——————ब्रह्मवदेकदृश्याम्(?) न८–पश्यन्ति ते(?) ब्रह्मविवेकदृष्ट्या ।

२५/१–ग३– ——————यथा याति ; न६– ———लयं याति यथा । २५/२–न७– ———योगिनोमृण (?योगिनां नृणाम्) ; न३–भ्रुवात्मध्ये(?)———। २५/३–न१– —— –स्रा———स्रावं(?) ; ग४, न८– ———ऽमृते स्रावे ; न३–जिह्वामूलामृतस्वादो ; न४, ग३– जिव्हामूलामृतस्रावात् । २५/४–न३, ५, ७– ——— –त्वात्मदर्शनम् ।

२६/१–न३– ——————मूर्ध्नि ; त–कथनं च(?)———मूर्ध्नो ; न१, २, ५, ७–दीपनं च तथा मूर्छा ; न८–सम्पन्नं च(?) तथा मूर्ध्नो ; ग२–×××× । २६/२–ग३– मनसं (?मनसा) वात–(?वात्म-) दर्शनम्; न६– मनसा मातरिश्वनम्(?); ग२–×××× । २६/३-न४–नवोद्यानानि———; ग३–दिव्योद्यान्नममाणानां(?) । २६/४–न१, ५, ७, त– ———ग्रहाश्रये(?) ; न२– ———ग्रहाणि च(?) । २६/५–ग३– ———पितरः सिद्धाः ; न२, ७– तापसाः सिद्धगन्धर्वाः । २६/६–ग२–प्रणाशं(?) यान्ति योगिनः ; ग१, ४, न४–प्रकाशन्ति च योगिनाम् ।

भ्रुवोन्तरे विष्णुपदे ऋचौ (?रुचौ)तु मनो लयं यावदियात्प्रबुद्धे ।
तावत्समभ्यस्य पुनः खमध्ये सुखं सदा संस्मर पूर्णरूपम् ॥२७॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे जीवे च तस्मिन्नमृते च संस्थे ।
तस्मिंस्तदा याति मनो लयं चेन्मुक्तेः समीपं तदिति ब्रुवन्ति ॥२८॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे विशुद्धबुद्धौ च तदात्मनिष्ठे ।
आनन्दमत्यद्भुतमस्ति सत्यं त्वं गार्गि पश्याद्य विशुद्धबुद्धया ॥२९॥

२७/१–न१, ४, ५, ७, ग१, ३, त, त्रि. पु., मुं. पु.– ——————ऋचौ तु ; ग४, न८– ——————ऋचौ च ; न२– ——————विष्णुपदं निविष्टं ; न३, न. पु., मु. पु., क. पु.– ——————विष्णुपदे च नाभौ ; ग२– भ्रुवोर्मध्ये विष्णुपदे खमध्ये । स्वीकृतादन्याः पाठा अस्वीकारणीयाः । "ऋचि" इति शब्दो न कस्मिन्नपि कोशे । "रूचि" शब्दस्य प्रभा, भाः, गभस्तिरादि पर्यायाः ; स चात्र समीचीनो दृश्यते, "भ्रुवोन्तरे विष्णुपदे रुचौ प्रभायां यावन्मनो लयमियात् हे प्रबुद्धे" इति योजना । २७/२–न४– ——————प्रबुद्धेः(?) ; न२, ५, ६ ७– ——————प्रमुग्धे ; ग५, ६–मनो लयं याति यदा प्रबुद्धे ; न३– ——————यावदिदं प्रयाति ; न३– ——————यान्ति ययः(?) प्रमुग्धे । २७/३ –न८– —————— पुनः खमध्ये ; न४, ग३, ४– ——————पुनश्च मध्ये । २७/४–ग१, न३, ४, ६–सोमं————————; न१, २, ५, ७, ग३–हंसं——————; त–तेजः——————; ग२–जीवन्मुखे——————; ग४, न८–भावं——————; ग५–ईशं स्मर त्वं परिपूर्णरूपम् ; ग६–ईशः पुनस्त्वं परिपूर्णरूपम् ।

२८/१–४–श्लोकोऽयं "न१, २, ४, ५, ६, ७, ग३" लेखेषु नास्ति । २८/१–ग४, न८–——————ऋचौ च ; ग५, ६– ——————व्योमगते सवह्नौ । २८/२–न३–जीवेषु तस्मिन्नमृतेषु————; ग५–जीवेषु– ————सुसंस्थे ; ग६–जीवे च——————सुसंस्थे ; न८–जीवेन——————सुसंस्थे ; ग२–जीवे च– ————तथा च । २८/३–न३– —————— लयं च ; ग५, ६– ————यदा————लयं च ; ग४–तस्मिन्सदा——————लयं च ; ग२–————यथा——————लयं चेत् ; न८– ————यदा——————लयश्चेत्(?) । २८/४–ग२– ——————तदुदीरयन्ति ; न३– ————तदिति ध्रुवंते(?) ।

२९/१–न६, ग३– ——————प्रविष्टे ; न१, २, ५– ——————विष्णुपदं निविष्टे ; ग५, ६– ——————वह्निपदे————। २९/२–न४, ग३–विशुद्धबुद्धया च————; न६–विशुद्धबुद्धया च तथात्मनि स्थिते ; न१–विशुद्धबुद्धौ(च) तथात्मनिष्ठे ; न५– ——————तथात्मनिष्ठां(?) ; न७– ——————तथात्मनिष्ठे ; न३–वि+++++ तथात्मनिस्थे ; ग२–——————तदात्मरूपम् । २९/३–न१, २, ५– ——————मत्यद्भुतमात्र (?-मत्र) सत्यं ; न७– ——————मत्यद्भुतमत्र सत्यं ; ग३– ————मत्यद्भुत++++ । २९/४–न१, ५– ——————पश्येह————; न६– ——————पश्याथ——————; न८– —————— पश्चाच्च(?)————; त– ——————पश्चाद्यदि शुद्धबुद्धया ।

एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं यमादिभिर्युक्ततनुर्मिताशीः ।
*आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टं मुक्ति व्रज ब्रह्मपुरे पुनस्त्वम् ॥३०॥

भूतानि यस्मात्प्रभवन्ति गार्गि येनैव जीवन्ति चराचराणि।
जातानि यस्मिन्विलयं प्रयान्ति तद्ब्रह्म विद्धीति वदन्ति सर्वे ॥३१॥

हृत्पङ्कजे व्योम्नि यदेकरूपं सत्यं सदानन्दमयं सुसूक्ष्मम् ।
तद्ब्रह्म निर्भासमयं गुहायामिति श्रुतिश्चेति समामनन्ति ॥३२॥

३०/१–ग३–यदा––––––––––––; न७–एष समभ्यस्य(?)––––––––; न३–एवं ––––––सुदीर्घकाले। ३०/२–न१, २, ५, ७–शमादिभिर्युक्त––––––––; न६–यामादि (?यभादि–) भिर्युक्त––––––; ग५– ––––––र्युक्ततनुं(?)–––––––; न३–यमादिभिर्यस्तु तनुमिनाशः(?) ; ग३–× × × × × ×। *अत्र "न६" लेखे "समीरणे विष्णुपदे" इत्यादिः, "मुक्तेः समीपं तदिति ब्रुवन्ति" इत्यन्तः श्लोकः । स तु १२.२८ एव दुःस्थाने । ३०/३–ग१, ४– –––––––––– प्रविष्टां (?प्रविष्टं) ; न६– ––––––––––प्रविष्टा (?प्रविष्टं) ; ग३–++ गुहे प्रविष्टे(?) । ३०/४–न३, ग४– ––––––––––पुनश्च ; न६– ––––ब्रह्मपदे––––; न८–मुक्तिं व्रजेद्ब्रह्मपदं पुनस्त्वम् ; ग२–मुक्तेः पदे ब्रह्मपुरे पुनस्त्वम् ।

३१/१–ग१, २, त्रि. पु., मुं. पु.– ––––––––––––––गार्गि ; न. पु.– –––––––––– साध्वि ; त– ––––––––––––नित्यं ; न४– ––––––––––––––यानि ; न३– ––––––– –––––––सर्वाणि(?) ; न७– ––––––––––सर्गे ; न३, ५, ८, ग४, ५, ६– ––––––––– –––––––सर्वे ; न१–यस्माच्च भूतानि भवन्ति सर्वे ; न२–भूतानि यस्माच्च भवन्ति सर्वे । ३१/२–ग२– ––––––––––––पदे प्रणष्टम्(?) ; न८–ये चैव––––––––––चराचराणि। ३१/३–त–ज्ञानानि(?)––––––––––; न४–जातास्तु(?)––––––––––––; न६–जातानि गार्गि––––; ग४, न८– –––––यस्मिन्प्रलयं––––; ग२– ––––यस्यां प्रलयं प्रयाति(?)। ३१/४ –ग५, ६–तद्ब्रह्म विद्येति(?)––––––––––।

३२/१–अस्य चरणस्य पुनर्विभागीकरणं प्राप्यते। तस्य विभागाः–(१) हृत्पङ्कजे ; (२) व्योम्नि ; (३) यदेकरूपम्। तेषां विषये च पाठभेदाल्लेखादिविभागाः–(१)-न१, २, ३, ५, ६, ७, ८, ग१, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–हृत्पङ्कजे ; न४, ग३–हृत्पङ्कजं ; ग२–हृत्पद्मनि; (२) न१, २, ३, ४, ५, ६, ८, ग१, ३, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–व्योम्नि ; ग२–व्याम्नि (?व्योम्नि) ; न७–मोनि (?व्योम्नि); (३) न१, २, ५, ६, ७, ८, ग१, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., मु. पु., क. पु–यदेकरूपम् ; ग३–तदैकरूपम् ; न४–तथैवरूपम् ; न३–सदेवरूपम् ; न. पु.–सदैकरूपम्; ग२–अनेकरूपम्। ३२/२–न३– ––––यदानन्दमयं ससूक्ष्मम्; ग६–सम्यक्सदानन्द––––। ३२/३–न१, २– ––––––––––वदन्ति; ग१, त– –––––––निर्भासमयो(?)––––; ग२–तद्ब्रह्म विज्ञानमयं––––; न८–यद्ब्रह्म विज्ञानमयो(?)––––; ग४–यद्ब्रह्म विज्ञानमतो(?)––––; न३, ४, ६–तद्ब्रह्मविद्भ्रावयते––––; ग३–तद्ब्रह्मविद्भ्रावयते सुहायाम् (?गुहायाम्); ग५, ६–प्रत्यक्सदाभासमयं गुहायाम्। ३२/४ –ग५, ६– ––– श्रुतिश्चेति समामनन्ति ; न४, ५, ६, ८–इति श्रुतिश्चापि(?)––––––––; ग३– ––––श्रुती(?) चापि––––––––––; ग१, २, त्रि. पु., मुं. पु.– ––––श्रुतेश्चापि––––––––––; न१, २, ७, ग४, त– ––––––श्रुति––––––––––; न३– ––––श्रुतिज्ञाश्च––––––––––; न. पु., मु. पु., क. पु.– इति श्रुतेश्चापि समाप्नुवन्ति(?) ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्य विशुद्धबुद्धया प्रयाणकाले च विहीनशोका ॥३३॥

प्रभंजनं मूर्ध्निगतं सर्वाङ्गे धिया समासाद्य गुरूपदेशात् ।
मूर्धानमुद्भिद्य पुनः खमध्ये प्राणांस्त्यजोङ्कारमनुस्मरंस्त्वम् ॥३४॥

ईप्सया यदि शरीरविसर्गं ज्ञातुमिच्छसि सखे तव वक्ष्ये ।
व्याहरन्प्रणवमुन्नय मूर्ध्नि भिद्य योजय तमात्मनिकायम् ॥३५॥

एतत्पवित्रं परमं योगमष्टाङ्गसंयुतम् ।
ज्ञानं गुह्यतमं पुण्यं कीर्तितं ते वरानने ॥३६॥

३३/१–ग३–× × × × । ३३/२–न७, ८– ————————निहितस्य (?निहितोऽस्य)————; ग३–× × × × । ३३/३–ग२–तमक्षरं————————; न१–तमक्रमं————————; न५–तमक्रमे————————; न३–तमद्भुतं————————; त–तमद्भुतं पश्यति शुद्धबुद्धया ; न४–तमक्रतुं पश्यति शुद्धबुद्धया ; ग१– ————————वीतशोकः ; ग३–× × × × × × । ३३/४–न१, २, ५, ६ ७, ग२, ४, ५, ६, त–प्रयाणकालेऽपि ————————; न३– ————————च विहिनशोकाः ; न४– ————————च विहीनशोकः ; ग५–तेनैव कालेन विहीनशोकाः ; न८–तथैव कालेन विहीनशोकः ; ग१–धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ; ग३–× × × × × × ।

३४/१–ग३–× × × × । ३४/२–ग३– + + ————————; ग२– ———— समारोप्य————। ३४/३–न६–मूर्ध्ना समुद्भिद्य(?)————————; न३– ———————— पुनः स्वमध्ये ; न४–मूर्धानमुद्भिन्नवपुः(?)————————; न८–मूर्धानमुत्पद्य(?)पुनः————————। ३४/४–इदं चरणं त्रिधा विभज्य साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते विभागाः–(१) प्राणांस्त्यज ; (२) ओंकारम् ; (३) अनुस्मरंस्त्वम् । तेषां पाठभेदाः–(१) न१, ५, ८, ग३, ४, ५, ६, मु. पु. क. पु.–प्राणांस्त्यज ; न२, ३, ४, ६, ७, ग१, २, त, त्रि. पु., मुं. पु.–प्राणं त्यज ; (२) "न८" लेखं विना सर्वत्र "ओंकारम्" शब्दः समानः ; न८–स ओंकारम्; (३) ग३, न७–न. पु., मु. पु.–अनुस्मरंस्त्वम् ; न१, २, ३, ४, ५, ६, ग१, ५, ६, त, क. पु.–अनुस्मर त्वम् ; ग२, ४–अनुस्मरन्ति(?) ; न८–अनुस्मरन्ती ।

३५/१–न१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ग३, ६–इच्छया————————; ग४–× × × × × । ३५/२–ग६–ज्ञातुमर्हसि————————; ग४–× × × × । ३५/३–ग१–व्याहर प्रणव————————; न३–व्याहरन्प्रणव————————मूर्ध्ना(?) ; न१– ———————— ———— –मुन्नतमूर्ध्नि ; न२– ————————मुन्नतमूर्ध्नो ; ग२– ————————मुन्नतमूर्ध्ना ; न७– ————————मुन्नतमूर्धो(?) ; न८– ———————— –मुन्नय बुद्धया ; ग५, ६–व्याहर प्रणवमुन्नय बुद्धया ; ग३, ४–× × × × । ३५/४–ग५, न८– ———— तदात्मनिकायम् ; ग१, न३, ४, त– ————————सृजात्मनिकायम् ; न१–भेदनं कुरु सृजात्मनिकायम् ; न२–भेदनं कुरु त्यजात्मनिकायम् ; ग२–विद्ययोर्भय जयात्मनिकायम्(?) ; ग३, ४–× × × × ।

३६/१–न१, २, ७, त–एवं पवित्रं————————; न५–एनं पवित्रं————————; ग४, न८–ततः पवित्रं————————। ३६/३–ग१, २, ४, ५, ६, न८– ————पुण्यतमं गुह्यं । ३६/४–न३, ५– ————च————; न७– ————————वै————————।

य इदं शृणुयान्नित्यं योगाख्यानं नरोत्तमः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानी भविष्यति ॥३७॥

यस्त्वेतच्छ्रावयेद्विद्वान्नित्यं भक्तिसमन्वितः ।
एकजन्मकृतं पापं दिनेनैकेन नश्यति ॥३८॥

शृणुयाद्यः सकृद्वापि योगाख्यानमिदं नरः ।
अज्ञानजनितं पापं सर्वं तस्य प्रणश्यति ॥३९॥

अनुतिष्ठन्ति ये नित्यमात्मज्ञानसमन्वितम् ।
नित्यकर्मणि तान्दृष्ट्वा देवाश्च प्रणमन्ति हि ॥४०॥

३७/१–न३–इदं श्रृणोति यो नित्यं ; ग३– ++ श्रृणुयान्नित्यं; ग२–× × × × । ३७/२–ग३– ————————नरोत्तमे ; ग४– ——— –मनुत्तमम् ; ग२–× × × × । ३७/३–ग३– ————————विनिर्मुक्ता(?) ; न७– ————————विनिमुक्ताः (?) ; ग२–× × × × । ३७/४–न२, ४, ५–सम्यग्ज्ञानं(?)————; न७–सम्यग्ज्ञानो(?–ज्ञानी)——; ग५, ६–सर्वज्ञः स भविष्यति ; ग२– ++++ ।

३८/१–न१, २, ५–यस्त्वेवं————; न६–यश्चैवं————; ग१–य इदं————; न४–यदिदं————; ग२–इत्येतच्छ्रुणुयान्नित्यं ; ग५, ६, न८–× × × × । ३८/२–ग२–विद्वान्भक्तिसमन्वितः ; ग५, ६, न८ × × × × । ३८/३–न१, २, ५, ७, त–अनेकजन्मजं————; ग२–अज्ञानजनितं——; न३, ४, ग३–बहुजन्मकृतं————; ग५, ६, न८–× × × × । ३८/४–न१, २, त, ग२–सर्वं सद्यो विनश्यति ; न३–पठे सद्यः(?) प्रणश्यति ; ग५, ६, न८–× × × × ।

३९/१–ग४, न८–श्रृणुयाद्यः स वै मुक्तः ; न१, ३, ग२, ३, ५, ६–× × × × । ३९/२–न८–योगाभ्यासमिदं नरः ; न१, ३, ग२, ३, ५, ६–× × × × । ३९/३–न१, ३, ग२, ३, ५, ६–× × × × । ३९/४–ग४– ————————विनश्यति ; न२, ५, ६, ७, ८– ——सद्यः प्रणश्यति ; न४–दिनेनैकेन नश्यति ; न१, ३, ग२, ३, ५, ६–× × × × ।

४०/१– न१, २, ३, ५, ७, ८, ग४, त–अनुतिष्ठति यो नित्यं ; न४, ग५, ६–× × × ×। ४०/२–न१, २, ३, ५, ७, ग३, त–एतज्ज्ञानसमन्वितः(?) ; न६–एतज्ज्ञानसमन्विताः; ग४– अन्तर्ज्ञानसमन्वितः ; ग२–एवं योगं समाहिताः; न८–आत्मज्ञासमन्वितम्; न४, ग५, ६–× × × ×। ४०/३–न५————तं——; न७–नित्यं कर्माणि (?कर्मणि)तं दृष्टवा; ग२–नित्यं कर्मरता विप्राः ; ग४, न८–नित्यकर्मरतान्दृष्टवा ; न४, ग५, ६–× × × × । ४०/४–ग३– ——प्रशसन्ति हि ; न१–देवास्तं प्रणमन्ति हि ; ग२–ते यान्ति परमां गतिम् ; न४, ग५, ६–× × × × ।

तस्माज्ज्ञानेन देहान्तं नित्यं कर्म यथाविधि ।
कर्तव्यं देहिभिर्गार्गि योगश्च भवभीरुभिः ॥४१॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान्रहस्ये रहस्यजं मुक्तिकरं तु तस्याः ।
योगामृतं बन्धविनाशहेतुं समाधिमास्ते रहसि द्विजेन्द्रः ॥४२॥

सा तं तु सम्पूज्य मुनिं ब्रुवन्तं विद्यानिधिं ब्रह्मविदां वरिष्ठम् ।
गीर्भिः प्रणामैश्च सतां वरिष्ठं सदा मुदं प्राप वरां विशुद्धाम् ॥४३॥

४१/१–न२– ——————देहान्ते ; न३– ——————देहांति(?देहांते) ; न४, ग१, ३–तस्य ज्ञानेन देहान्तं ; ग५, ६–× × × × । ४१/२–ग१, २, ३, न३, ४, ५, ६, ७, त–नित्य–कर्म——————; न८–नित्यं कर्म यथा तथा ; ग४–नित्यकर्म यथा तथा । ४१/३–ग१, २, ३, न३, ६– ——————देहिना गार्गि ; न४, त————देहिनां————; ग४–कर्तव्यो(?) देहि-भिर्गार्गि; ग५, ६–× × × × । ४१/४–न४, ग३–योगं च(?योगश्च) भवभीरुभिः; ग२–योगे च भवभीरुणा ; न६–योगस्य(?योगश्च) भवभीरुभिः ; ग५, ६– ————× × × × ।

४२/१–न१, २, ५– ——————भगवान्प्रहस्य ; न४– ——————भगवान्मुनीशः ; ग२–——————भगवान्स सिद्धया ; ग३–× × × × । ४२/२–ग२– ——————मुक्ति-करं च साध्वी ; न४– ——————तु तस्यै ; न६– ——————च सा च ; न८–रहस्यमुक्ति मधुरं तु तस्याः(?) ; ग३–× × × × । ४२/३–ग३– ++++ विनाशयेतुं(?) ; ग२–× × × × । ४२/४–न४, ग३– ——————द्विजेन्द्रे(?) ; ग४–समाधि-मान्स्वे रहसि द्विजेन्द्रे ; न८–समाधिमान्खे रहसि द्विजेन्द्रः ; न३–समाधिनास्ते——————।

४३/१–इदं चरणं त्रिधा विभज्य लेखानां मुद्रितपुस्तकानां च साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । ते विभागाः–(१) सा तं; (२) तु सम्पूज्य; (३) मुनिं ब्रुवन्तं । तेषां विषये च पाठभेदाल्लेखादिविभागाः– ——— (१)–न१, २, ३, ५, ८, ग१, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., मु. पु., क. पु. –सा तं ; न४, ग३–शांतं ; न६–सारं(?); न. पु.–ज्ञातं; ग२, न७–× × × × ; (२)–न१, २, ५, ग१, ३, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु.–तु सम्पूज्य ; न३, ४, ६, ८, न. पु., मु. पु., क. पु.–सुसम्पूज्य ; ग२, न७–× × × × ; (३)–न३, ४, ६, ८, ग३, ४, ५, ६, त, न. पु., मु. पु., क. पु.–मुनिं ब्रुवन्तं ; न१, २, ५, ग१, त्रि. पु., मुं पु.–मुनिं महान्तं ; ग२, न७–× × × × । ४३/२–न३– ——————ब्रह्मवतां (?ब्रह्मविदां)———— ; न४, ग१, ५, ६–विद्यामृतं——————; ग२, न७–× × × × । ४३/३–न१– ——————वरां वरिष्ठं(?) ; ग३– ——————सती वरिष्टं ; न४– ——————असति(?) वरिष्ठं ; ग१, ४, न५–सतां वरिष्ठा ; न३–गार्गि प्रणामैश्चरतां सतां(?) ; ग२– ++++। ४३/४–इदं चरणमपि त्रिधा विभज्य लेखानां मुद्रितपुस्तकानां च साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवद्भः । ते विभागाः–(१) सदा मुदं ; (२) प्राप ; (३) वरां विशुद्धाम् । तेषां पाठभेदाल्लेखादिविभागाः– (१) न१, २, ५, ६, ७, ग१, ५, ६, त्रि. पु.–सदा मुदं ; न८, ग४, त, न. पु., मु. पु., क. पु.–तदा मुदं ; न४–सदमृतं(?) ; ग३–सदामृतं ; ग२, न३–× × × × ; (२) न१, २, ६, ७, ८, ग१, ४, ६, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–प्राप ; न४, ५, ग५, त–प्राप्य (?) ; ग२, ३, न३–× × × × ; (३) न१, ग१, त्रि. पु., मुं. पु.–वरां विशुद्धाम्; ग५–वरा वरिष्ठम् ; न२, ७–वरं वरिष्ठम्; न५–वरं वरिष्ठाम्(?) ; न६–वरं सुशुद्धिम् (?); ग६–परं वरिष्ठा(?) ; न४–परां सुशुद्धिम् ; ग३–परानुबुद्धम् (?) ; न८, ग४–पदारविन्दे ; न. पु. सदा सुशुद्धा ; ग४–सदानुबुद्धया(?) ; मु. पु., क. पु.–सदाशु बुद्धया ।

योगं सुसंगृह्य तदा रहस्ये रहस्यजं मुक्तिकरं च जन्तोः ।
संसारमुत्सृज्य सदा मुदान्विता वने रहस्यावसथे विवेश ॥४४॥

येन प्रपञ्चं परिपूर्णमेतद्येनैव विश्वं प्रतिभाति सर्वम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं पश्यन्सदास्ते हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् ॥४५॥

यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं प्रपञ्चजन्मादिकृदप्रमेयम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं पश्यन्सदास्ते हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् ॥४६॥

इति श्रीयोगयाज्ञवल्क्ये द्वादशोऽध्यायः ॥
समाप्तमिदं योगशास्त्रम् ॥

४४/१–ग३ ————————तथा————; न६– ++++ । तदा————; न३, ग४– ++++ । ४४/२–न१, २, ५, ग२– ————————च सा च ; ग१, न६– ————————तु सा च ; त– ————————तु जन्तोः ; ग५, ६, न८– ————————च गार्गी(?) ; न३, ग४– × × × × । ४४/३–इदं चरणं द्विधा विभज्य लेखानां मुद्रित-पुस्तकानां च साम्यवैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः । तौ विभागौः––(१) संसारमुत्सृज्य ; (२) सदा मुदान्विता । तयोर्लेखादीषु पाठाः–(१) न१, २, ३, ५, ६, ७, ८, ग१, २, ४, ५, ६, त, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु., मु. पु., क. पु.–संसारमुत्सृज्य ; न४–संसारमुत्पुष्ट(?) ; ग३–संसारमदृष्ट(?) ; (२) न४, ५, ६, ग१, ३, ४–सदा मुदान्विता ; न२, ३, ७, ग२, त, मुं. पु., न. पु., मु. पु. क. पु.–तदा मुदान्विता ; न१–तदा मुदा चिता (?मुदान्विता) ; ग५, ६, न८–मुदान्विता सा ; त्रि. पु.– ++++। ४४/४–न४– ————————निवेश्य(?) ग३–वसे (?वने) रहस्येऽवसथे विवेश; न६, ग६–वने रहस्यावसथं——; ग४– ——रहस्येऽन्वथ(?)सा——; ग५, न८–परे रहस्ये च तदा——; ग२–तावन्महस्यास्समभाविवेश(?); न३–तेने(?) रहस्यावसथे निवेश्य(?) ।

४५/१–न६–येन प्रपञ्चं परि–++++ । न३–येनैव सर्वं परिपूर्णमेतत् ; ग४– × × × × । ४५/२–त– ————————————प्रतिभाति साध्वी(?) ; न३–येनैव सर्वं (?विश्वं) प्रतिभाति सर्वम् ; ग२, ४, न६– × × × × । ४५/३–ग५– ————————————श्रुतिमूर्ध-चाहम्(?) ; ग६– ————श्रुतिमूर्ध्वं नित्यं (?); न८–तं वामदेवं प्रतिमार्धजातं ; ग२, ४, न६– × × × × । ४५/४–अस्य चरणस्य पुनर्द्वौ विभागौ कृत्वा लेखादीनां साम्यवैषम्ये निर्णे-तव्ये भवतः । तौ विभागौः–(१) पश्यन्सदास्ते ; (२) हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् । तयोर्लेखादीषु पाठाः————(१) न१, २, ३, ४, ग१, त्रि. पु., मुं. पु.–पश्यन्समास्ते ; न३, ७, ग३, त, मु. पु., क. पु.–पश्यन्सदास्ते ; न. पु.–पश्चात्सदास्ते ; न६, ग२, ४– × × × × ; ग५, ६, न८–नमामि मोक्ष——; (२) न१, ५–हृदि मूर्ध्नि चान्वहम् ; न२, ७– ————वान्वहम् ; न४, ६, ग३, त्रि. पु., मुं. पु.– ————————चाहम् ; न३– ————————वाहम् ; त, न. पु., मु. पु., क. पु.– ————————जातम् ; ग१, ——वीतशोका ; ग५, ६, न८– (मोक्ष-) प्रदमादि-देवम्; ग२, ४– × × ×।

४६/१–ग५, ६, न८– ———————— –मनन्तरूपं ; त– ———————— –मचिन्त्यमच्यु-तम् ; न१, २, ५, ७, ग२, ४– × × × × । ४६/२–न३, ६– ———————— ––कृत-प्रमेयम् (?–कृदप्रमेयम्) ; न४– ————————हृदि प्रमेयम् ; त– ————————हरं त्वमेयम् ; ग३–प्रपंचजन्मा हृदयप्रमेयम् ; ग५, ६, न८–प्रपंचजन्मातिगमप्रमेयम् ; न१, २, ५, ७, ग२, ४, ५, ७ – × × × × । ४६/३–न६– ————————चाहं ; न४– ————हृदि मूर्ध्नि जातम् ; ग५, ६– ————————श्रुतिमूलभूतं ; न८–तं वामदेवं श्रुतिमूलभूतं ; न१, २, ५, ७,

---

ग२, ४–× × × ×। ४६/४–इदं चरणं पुनर्द्विधा विभज्य लेखानां पुस्तकानां च साम्य-वैषम्ये निर्णेतव्ये भवतः। तौ विभागौः–(१) पश्यन्सदास्ते ; (२) हृदि मूर्ध्नि चान्वहम्। तयो-र्लेखादिषु पाठाः–न३, ४, ६, ग३, मु. पु., क. पु.–पश्यन्सदास्ते ; ग१, त–पश्यन्समास्ते ; न. पु.–पश्चात्सदास्ते ; न८–दृष्वा सदा खे ; न१, २, ५, ७, ग२, ४–× × × ×; ग५, ६–नमामि मोक्ष—— ; (२) त–हृदि मर्ध्नि चान्वहम् ; न४, ६, ग३, त्रि. पु., मुं. पु., न. पु.–——चाहम् ; न३– ————————वाहम् ; क. पु.– ————————जातम् ; मु. पु.– ——————जातः (?) ; न८– ————————चैव ; ग१–हृदि वीतशोका ; ग५, ६– (मोक्ष-) प्रदमादिदेवम् ; न१, २, ५, ७, ग२, ४–× × × ×।

३६-४६ श्लोकांना क्रमो यथोपरि निर्णीतस्तथा न कस्मिन्नपि हस्तलेखे न वा कस्मिन्नपि मुद्रितपुस्तके। "न१, २, ४, ५, ७, ग१, २, ३, त," लेखेषु सर्वेषु च मुद्रितपुस्तकेषु प्रथमं ४२-४६ श्लोकाः, ३६-४१ श्लोकाश्च तेषां पश्चाद्वर्तन्ते ; "न४, ग३" लेखयोश्च "वाजपेयाश्वमेधैश्च" इत्याद्यत्यन्तो विसंगतः श्लोकोऽधिकोऽन्ते वर्तते। परं च ४४ तमे गार्गि "रहस्यावसथे विवेश" इति कथनानन्तरं ४१ तमान्तर्गता याज्ञवल्क्योक्तिः "कर्तव्यं देहिभिर्गार्गि" इत्ययुक्ता दृश्यते। द्वादशोऽध्यायः "क" लेखे नास्त्येव; शिष्टेषु ६ लेखेषु च भिन्नभिन्नः क्रमविपर्यासः श्लोकव्यावृत्तिश्च दृश्येते निम्नलिखितप्रकारेण :—न३–४२-४५, ४६, ३६-३९; ४०-४१ न स्तः॥ न६–४१/१-२, ४६, ३७, ३८, ४१/३-४, ४३, ४४ (त्रूटियुक्तः), ४५/१-२, ४६/१-२, ४६–३-४, ३६-४०॥ न८–४२-४३, ३६-३८, ३९/३-४, ४०/१-२, ४१, ४४-४६॥ ग४–४१-४२, ४६, ३७, ३९-४०, ४१ (पुनः), ४४-४६, ३८॥ ग५–४६, ३६, ४२-४५, ४०, ४० (पुनः पाठान्तरैःसहितः); ३७-३९ न विद्यन्ते॥ ग६–३६-३७, ४२-४६; ३८-४१ न विद्यन्ते॥ अतः पूर्वापरसम्बन्धमवलोक्य ३६-४६ श्लोकानां सोपपत्तिकः पौर्वापर्यक्रमो निश्चित्य स्वीकृतोऽस्मि-न्ग्रन्थ इत्योम्॥

INDOLOG. INSTITUT
UNIVERSITÄT WIEN
IND 3590-B
Ph I 4:21

SANSKRIT SERIES
XXXIV.
Śrī Citrodayamañjarī
XXIII.

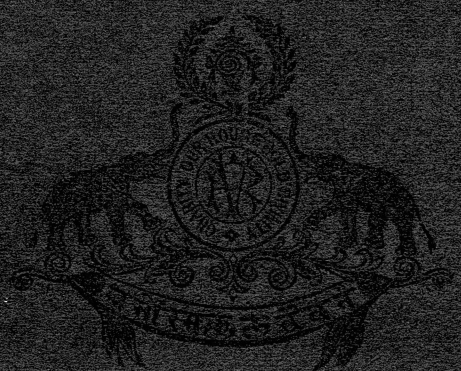

योगयाज्ञवल्क्यम् ।

YOGAYĀJÑAVALKYA

EDITED BY
K. SAMBASIVA SASTRI,
Curator of the Department for the Publication of Oriental Manuscripts, Trivandrum.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF TRAVANCORE.

TRIVANDRUM: PRINTED AT THE SUPERINTENDENT, GOVERNMENT PRESS. 1938.

TRIVANDRUM SANSKRIT SERIES
No. CXXXIV.
Śrī Citrodayamañjarī
No. XXIII.

THE
YOGAYĀJÑAVALKYA

EDITED BY
K. SĀMBAŚIVA ŚĀSTRĪ,
Curator of the Department for the Publication of Oriental Manuscripts, Trivandrum.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF TRAVANCORE.

TRIVANDRUM:
PRINTED BY THE SUPERINTENDENT, GOVERNMENT PRESS,
1938.

(*All Rights Reserved.*)

॥ श्रीः ॥

श्रीमूलावनिपालमौलिमणिना सङ्कल्पितश्रीरिव
श्रीमूलात्मजनिस्तथा सहजया लक्ष्म्या च सम्भावितः।
स्वातिज्योतिरिवादितः समुदितश्चित्रावतारः स्वयं
मार्ताण्डाग्रसरो विराजति महाराजः स रामाभिधः ॥

भास्वद्वर्णमणिः प्रवालमृदुला श्रुत्याद्यलङ्कारिणी
श्रीमद्भ्रिवसुन्धरानवयशोराशिप्रकाशात्मिका।
उत्फुल्लत्सुकृतिप्रसाधनधृतामोदोन्नदद्भिण्डिमा
श्रीचित्रोदयमञ्जरी सुमनसां सर्वस्वमुज्जृम्भताम् ॥

के. साम्बशिवशास्त्री.

PREFACE.

Yogayājñavalkya, the present treatise, dealing with ıe Yoga system of philosophy, comprises the teachings of 'ājñavalkya imparted to his wife Gārgi, a revered Brāhmin ıdy. It has been the source and authority for all the later ninent works on Yoga philosophy and is the whole- ›me outcome of his personal realisation. The following erses:

"भार्यायाप्येवमुक्तस्तु याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
तां समालोक्य कृपया ज्ञानरूपमभाषत ॥
(पृ० ५. श्लो० ४२.)

"इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक् तद्गतमानसः ।
गार्गीं तां सुसमालोक्य तत्सर्वं समभाषत ॥"
(पृ० ११. श्लो० ५.)

ıd the forms of nominative address like:

'प्रिये !' (पृ० १२. श्लो० ७.)
'द्विजोत्तमे !' (पृ० १२. श्लो० १०.)
'विप्रेन्द्रे !' (पृ० १४. श्लो० ३८.)

'equently used bear ample testimony to the truth of the bove statement. To a student of the work, it is easily evi- ent at every step that Yājñavalkya, the son of Brahma, in- ructs the simple-minded Gārgi, in the most lucid style, in ıe practice of Yama, Niyama, Āsana, Prāṇāyāma, Pratyā- āra, Dhāraṇa, Dhyāna and Samādhi, as revealed by rahma. The words of address like:

'ब्रह्मविदां वरे !' (पृ० २. श्लो० १०.)
'सर्वज्ञे ! सर्वशास्त्रविशारदे' (पृ० २. श्लो० १४.)
'पण्डिते !' (पृ० ३८. श्लो० १६.)

ear out the high standard of instruction imparted to women ı times of yore. Again when Gārgi, as an attentive disciple rays as follows:

"तदेतद्विस्मृतं सर्वं सर्वज्ञ! तव सन्निधौ ।
योगं ममोपदिश्यात्र साङ्गं संक्षेपरूपकम् ॥
त्रातुमर्हसि सर्वज्ञ ! जन्मसंसारसागरात् ।"
(पृ० ४०. श्लो० १९, २०.)

'ājñavalkya, full of sympathy and consideration for the ir sex, explains the most difficult subject as many times as necessary and consoles her thus:

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भूमौ गार्गि ! वरानने ! ।
वक्ष्यामि ते समासेन योगं सम्प्रति तच्छृणु ॥"

(पृ० ४०. श्लो० २१.)

The title of the work. From the colophon :

'इति योगयाज्ञवल्क्ये द्वादशोऽध्यायः ॥'

the title of the work is known to be Yogayājñavalkya. The colophons at the close of chapters 6—12 also indicate the same, while those at the close of chapters 1—5 read :

"इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः ।"

It is therefore presumable that the work is also styled "Yājñavalkya Gītā". In view of the occurrence of the former colophon in most of the chapters, the title Yogayājñavalkya is herein preferred.

Author. It is well known that the author of this precious work is the great sage Yājñavalkya of immemorable past, the consort of Gārgi and the President of the Assembly of Ṛṣis — the celebrated authorities on the various branches of Śāstras. The lines noted below lend support to this view :

"इत्येवमुक्त्वा भगवान् याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ॥

सन्ध्यामुपास्य विधिवत् पश्चिमां सुसमाहिताः ।
गच्छन्तु साम्प्रतं सर्वे ऋषयः स्वाश्रमं प्रति ॥

इत्येवमुक्ता मुनिना मुनयः संशितव्रताः ।
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च गौतमश्चाङ्गिरास्तथा ॥

अगस्त्यो नारदश्चैव वाल्मीकिर्बादरायणः ।
पैङ्गिर्दीर्घतपा व्यासः शौनकश्च तपोधनः ॥

भार्गवश्चैव + + + भरद्वाजस्तपोधनः ।
तपस्विनस्तथा चान्ये वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥

याज्ञवल्क्यं समभ्यर्च्य गीर्भिः पुण्याभिरुत्तमाः ॥

(पृ० ३९. श्लो० १०—१५.)

From the chapter on Saguṇadhyānanirūpaṇa and many other portions, we learn that the ancient Ṛṣi, unsurpassed in greatness, was a devotee of Viṣṇu. Eg.

"वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ।
चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥

किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥

पद्मोदरदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ॥

पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमीश्वरम् ।
प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ॥

(पृ० ३३. श्लो० १३—१७.)

"येन प्रपञ्चं परिपूर्णमेतद्
येनैव विश्वं प्रतिभाति सर्वम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं
पश्यन् समासे हृदि मूर्ध्नि चाहम् ॥

यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं
प्रपञ्चजन्मादिकृदप्रमेयम् ।"

(पृ० ४६. श्लो० ३९, ४०.)

The following lines which echo the ideas found in Śruti, Gītā etc., are worthy of attention :

"यं यं सम्यक् स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेव भजेद् भावमिति योगविदो विदुः ॥"

(पृ० ३८. श्लो० १९.)

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥"

(गीता. अ० ८. श्लो० ६.)

"दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम् ।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥
नीवारशूकवद् रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।"

(पृ० ३४. श्लो० २२, २३.)

"ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।"

(पृ० ३१. श्लो० १३)

"नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥"

(श्रुतिः)

"आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ।
हिरण्यश्मश्रुकेशं हिरण्मयनखं हरिः ॥
कप्यासन ... ... ॥"

(पृ० ३४. श्लो० २५,२६.)

"अथ एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः
आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः यथा कप्यासं पुण्डरीकम् ।"

(श्रुतिः)

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ॥"

(पृ० ५. श्लो० ४९.)

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।"

(पातञ्ज० पृ० १०२. पा० २. सू० ३०)

The principles of physiology which form the source of many later works on the subject are also dealt with in it as is evident from,

"ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरितस्ततः ।
जलमत्युष्णमकरोत् कोष्ठमध्ये गतस्तथा ॥
अन्नव्यञ्जनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितम् ।
ततः स पक्वमकरोद् वह्निः सन्तप्तवारिणा ॥
स्वेदमूत्रे जलं स्यातां वीर्यरूपं रसो भवेत् ।
पुरीषमन्नं स्याद् गार्गि ! प्राणः कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥"

(पृ० १६. श्लो० ६१—६३.)

The manuscript, which forms the basis of this publication, belongs to Brahmaśrī Nārāyaṇan Parameśvaran Mūssatu of Cīraṭṭamaṇ Illam and is about 500 years old. Expressing our deep indebtedness to the generous owner of the manuscript, we place this work before the enlightened pnblic.

Trivandrum,
31-11-1112.

K. SĀMBAŚIVA ŚĀSTRĪ.

॥ श्रीः ॥

निवेदना ।

इदं योगयाज्ञवल्क्यं याज्ञवल्क्येन स्वभार्यायै गार्ग्यै उपदेशपरः कोऽपि योगग्रन्थः प्रहततरबहुप्रमाणमूलभूतः स्वानुभूतिसाक्षी ।

"भार्ययाप्येवमुक्तस्तु याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
तां समालोक्य कृपया ज्ञानरूपमभाषत ॥"

(पृ० ५. श्लो० ४२.)

"इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक् तद्गतमानसः ।
गार्गीं तां सुसमालोक्य तत्सर्वं समभाषत ॥"

(पृ० ११. श्लो० ५.)

इति, 'प्रिये!' (पृ० १२. श्लो० ७.) 'द्विजोत्तमे!' (पृ० १२. श्लो० १०.) 'विप्रेन्द्रे!' (पृ० १४. श्लो० ३८.) इत्यादिभिश्च प्रियायै कस्यैचिदुत्तमब्राह्मण्यै कथनं स्पष्टम् । ब्रह्मपुत्रेण याज्ञवल्क्येन ब्रह्मोपदेशमनु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधीनां प्रायोगिकीं सरणिमुपदर्श्य लब्ध्या प्रक्रियया ललितमतये गार्ग्यै समुचितमाख्यानं क्रियत इति पदेपदे परिशीलयतामपरोक्षम् । 'ब्रह्मविदां वरे!' (पृ० २. श्लो० १०.) 'सर्वज्ञे! सर्वशास्त्रविशारदे!' (पृ० २. श्लो० १४.) 'पण्डिते!' (पृ० ३८. श्लो० १६.) इत्यादिसम्बोधनैः सम्यगिदं प्रतीयते, स्त्रीणां पुराकालेषु समन्ततो विद्याभ्यासः परिनिष्ठा च महती प्रबलावभूतामिति । विशिष्य शिष्यभूयं प्रतिपद्य पृच्छन्त्या गार्ग्याः

"तदेतद्विस्मृतं सर्वं सर्वज्ञ! तव सन्निधौ ।
योगं ममोपदिश्यात्र साङ्गं संक्षेपरूपकम् ॥
त्रातुमर्हसि सर्वज्ञ! जन्मसंसारसागरात् ।"

(पृ० ४०. श्लो० १९, २०.)

इति प्रार्थनया याज्ञवल्क्यस्य —

"उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भूमौ गार्गि! वरानने! ।
वक्ष्यामि ते समासेन योगं सम्प्रति तच्छृणु ॥"

(पृ० ४०. श्लो० २१.)

इति सान्त्वनेन च दुर्ग्रहेऽपि विषये स्त्रीणामाभिमुख्येक्लेशसहने गुरोः पुनः पुनरुपदेशश्रद्धा च प्रकटमुक्तानि ।

ग्रन्थनामधेयम् ।

अस्याः कृतेर्योगयाज्ञवल्क्यमिति नामधेयम् 'इति योगयाज्ञवल्क्ये द्वादशोऽध्यायः' इति ग्रन्थान्तिमवाक्यादवसीयते । अस्यां द्वादशाध्याय्याम् आषष्ठादाद्वादशमिदमेवान्तिमवाक्यं यद्यपि, प्रथमादारभ्यापञ्चममन्यैव पद्धतिरन्तिमवाक्यगुम्फने दृष्टा, या — 'इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः' इत्यादिः । अतः शक्यमिदमनुमातुं याज्ञवल्क्यगीतेत्यभिधान्तरमप्यस्याः । किन्तु भूयोंशन्यापितयास्माभिः पूर्वोक्तमेवाभ्युपेतम् ।

कर्ता ।

अस्या गीताया द्रष्टा च महानुभावो गार्गीपतिर्महर्षिर्याज्ञवल्क्यः प्रामाणिकबहुमहर्षिसभाध्यक्षः प्राचीनप्रकाण्डमिति सुविदितम् । तदत्राप्येव समुट्टङ्क्यते —

"इत्येवमुक्त्वा भगवान् याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ॥
सन्ध्यामुपास्य विधिवत् पश्चिमां सुसमाहिताः ।
गच्छन्तु साम्प्रतं सर्वे ऋषयः स्वाश्रमं प्रति ॥
इत्येवमुक्ता मुनिना मुनयः संशितव्रताः ।
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च गौतमश्चाङ्गिरास्तथा ॥
अगस्त्यो नारदश्चैव वाल्मीकिर्बादरायणः ।
पैङ्गिर्दीर्घतपा व्यासः शौनकश्च तपोधनः ॥
भार्गवश्चैव + + + भरद्वाजस्तपोधनः ।
तपस्विनस्तथा चान्ये वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥
याज्ञवल्क्यं समभ्यर्च्य गीर्भिः पुण्याभिरुत्तमाः ।"
(पृ० ३९. श्लो० १०—१५.)

इति ।

अस्य च तत्तादृशमहिम्नः प्राचीनतमस्य याज्ञवल्क्यस्य विष्णुरेव परमोपास्या देवतेति सगुणध्याननिरूपणप्रकरणादन्यतोऽन्यतश्च प्रतीयते —

"वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ।
चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥

पद्मोदरदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ॥
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमीश्वरम् ।
प्रभाभिर्भासयद् रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ॥"

(पृ० ३३. श्लो० १३—१७.)

"येन प्रपञ्चं परिपूर्णमेतद् येनैव विश्वं प्रतिभाति सर्वम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं पश्यन् समास्ते हृदि मूर्ध्नि चाहम् ॥
यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं प्रपञ्चजन्मादिकृदप्रमेयम् ।"

(पृ० ४६. श्लो० ३९, ४०.)

श्रुति-गीतादिषु स्थितानामर्थानाम् अनुकारिण इमे भागा विशिष्य श्रद्धामर्हन्ति —

"यं यं सम्यक् स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेव भजेद् भावमिति योगविदो विदुः ॥"

(पृ० ३८. श्लो० १९.)

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥"

(गीता. अ० ८. श्लो० ६.)

"दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम् ।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥
नीवारशूकवद् रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।"

(पृ० ३४. श्लो० २२, २३.)

"ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।"

(पृ० ३१. श्लो० १३.)

"नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥"

(श्रुतिः)

"आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ।
हिरण्यश्मश्रुकेशं हिरण्मयनखं हरिम् ॥
कप्यासन .... ।"

(पृ० ३४. श्लो० २५, २६.)

"अथ एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः यथा कप्यासं पुण्डरीकम् ।"

(श्रुतिः)

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ॥"

(पृ० ५. श्लो० १९.)

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।"

(पातञ्ज० पृ० १०२. पा० २. सू० ३०.)

शारीरकमपि तत्त्वमत्र यथावन्निरूप्यते यद् वैद्यकविदामादर्शः—

"ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरितस्ततः ।
जलमत्युष्णमकरोत् कोष्ठमध्ये गतस्तथा ॥
अन्नव्यञ्जनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितम् ।
ततः स पक्वमकरोद् वह्निः सन्तप्तवारिणा ॥
स्वेदमूत्रे जलं स्यातां वीर्यरूपं रसो भवेत् ।
पुरीषमन्नं स्याद् गार्गि! प्राणः कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥"

(पृ० १६. श्लो० ६१ — ६३.)

इति ।

एतादृशमहिम्नोऽस्य ग्रन्थस्य प्रसाधनायाधारभूत आदर्शः प्रायः पञ्चशतवत्सरीपर्युषितः ब्रह्मश्री **चीरट्टमण् इल्लं नारायणन् परमेश्वरन्मूस्**-महाशयेन समर्पित इति तेषु महतीं कृतज्ञतामनुस्मरन् सद्योऽमुं महाजनसमक्षमवतारयामि धन्यः ॥

अनन्तशयनम्
३१-११-११२.

के. साम्बशिवशास्त्री ।

विषयानुक्रमणिका ।

विषयः.	पृष्ठम्.
तपोवने तत्त्वशुश्रूषया महर्षिभिः परिवृतं याज्ञवल्क्यं प्रति योगतत्त्वमधिकृत्य गार्ग्यः प्रश्नः	१
याज्ञवल्क्याय ब्रह्मणोपदिष्टस्य योगतत्त्वस्यानुवर्णनम्	२
तत्र मुक्तिसाधनत्वेन निरूपितस्य प्रवर्तकनिवर्तकात्मक-मार्गद्वयस्य प्रतिपादनम्	३
उक्तयोर्मार्गयोः प्रवर्तके प्रवृत्तानां वर्णानां चर्याविशेषाः	,,
निवर्तके मार्गे ज्ञानोपस्कृतस्यैव कर्मणो मुक्तिसाधनत्व-मिति श्रुत्वा ज्ञानस्वरूपसंवेदनाय गार्ग्यः प्रश्नः	४
तत्र ज्ञानं योगात्मकमिति योगस्वरूपप्रदर्शनम्	५
यमादीन्यष्ट योगाङ्गानि	,,
तेषु अहिंसादयो दश यमाः	५,६
तपआदयो दश नियमाः	७–९
स्वस्तिकादीन्यष्टावासनानि	९–११
यमादिभिस्त्रिभिरङ्गैर्नाडीशुद्धिर्विधातव्येत्युपश्रुत्य नाडी-शुद्धिमनु गार्ग्यः प्रश्नः	११
नाडीशुद्धिविधानौपयिकत्वेन शरीरस्य प्राणस्य च प्रमा-णादिकथनम्	१२
प्राणजीवकुण्डलिनीनां परस्परसम्बन्धप्रतिपादनपूर्वकं तासां स्थाननिर्देशः	१३
नाभिकन्दस्य मध्ये परितश्चावस्थितानां चतुर्दशप्रधान-नाडीनां नामानि	,,
पृथक् पृथक् तासां स्वरूपनिरूपणम्	१४, १५
आसु यथायथं चरन्तः प्राणादयो दश वायवः	१५
तेषु मुख्यतमौ द्वौ वायू	,,

विषयः.	पृष्ठम्.
तयोरप्युत्कृष्टस्य प्राणस्य सञ्चरणस्थानानि कृत्यं च	१५
इतरेषां वायूनां ,,	१६, १७
पुनर्नाडीशुद्ध्युपायं प्रति गार्ग्यः प्रश्ने तदुपायतया मोक्ष-साधनत्वेन च विवृता प्राणायामपरिपाटी	१८–२७
योगाङ्गेषु क्रमप्राप्तस्य प्रत्याहारस्य प्रतिपादनम्	२७–३०
धारणायाः ,,	३०–३२
ध्यानस्य ,,	३२–३६
समाधेः ,,	३६–३८
अथ सदा योगयुक्तस्य वैधकर्मपरित्यागसम्भवात् प्रत्यवाय-माशङ्क्य तत्र का निष्कृतिरिति गार्ग्यः प्रश्नः	३९
तस्य सोपपत्तिकं याज्ञवल्क्यसमाधानम्	,,
उपदेशान्ते याज्ञवल्क्येनानुमतानाम् ऋषीणां स्वस्वाश्रमं प्रति गमनम्	,,
गतेषु तेषु रहसि पुनरपि गार्ग्यः संक्षेपतो योगतत्त्वश्रव-णाभ्यर्थना	४०
तस्यै तथा याज्ञवल्क्येनोपदिष्टो योगाभ्यासः	४१–४५
तदनुसन्धानदार्ढ्यादचिन्तितोपनतो याज्ञवल्क्यस्य समाधिः	४६
उक्तविधया समाधिपरिग्रहेण गार्ग्यः स्वरूपसाक्षात्कारः	,,
प्रकृतग्रन्थश्रवणमननफलम्	४७

॥ श्रीः ॥

योगयाज्ञवल्क्यम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं सर्वज्ञं ज्ञाननिर्मलम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सदा ध्यानपरायणम् ॥ १ ॥
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं योगेषु परिनिष्ठितम् ।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जिताहारं जितश्रमम् ॥ २ ॥
तपस्विनं जितामित्रं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम् ।
तपोवनगतं सौम्यं सन्ध्योपासनतत्परम् ॥ ३ ॥
ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैश्च समावृतम् ।
सर्वभूतसमं शान्तं सत्यसन्धं गतक्लमम् ॥ ४ ॥
गुणज्ञं सर्वभूतेषु परार्थैकप्रयोजनम् ।
ब्रुवन्तं परमात्मानमृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ ५ ॥
तमेवंगुणसम्पन्नं नारीणामुत्तमा वधूः ।
मैत्रेयी च महाभागा गार्गी च ब्रह्मविद्वरा ॥ ६ ॥
सभामध्यं गते सङ्घे ऋषीणामुग्रतेजसाम् ।
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ गार्गी तद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

गार्ग्युवाच —

भगवन्! सर्वशास्त्रज्ञ! सर्वभूतहिते रत! ।
योगतत्त्वं मम ब्रूहि साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥ ८ ॥

एवं पृष्टः स भगवान् सभामध्ये स्त्रिया तया ।
ऋषिरालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदुवाच ताम् ॥ ९ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गार्गि ! ब्रह्मविदां वरे ! ।
वक्ष्यामि योगसर्वस्वं ब्रह्मणा कीर्त्तितं पुरा ॥ १० ॥
समाहितमना गार्गि ! शृणु त्वं गदतो मम ।
इत्युक्त्वा ब्रह्मविच्छ्रेष्ठो याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥ ११ ॥
नारायणं जगन्नाथं सर्वभूतहृदि स्थितम् ।
वासुदेवं जगद्योनिं योगिध्येयं निरञ्जनम् ॥ १२ ॥
आनन्दममृतं नित्यं परमात्मानमीश्वरम् ।
ध्यायन् हृदि हृषीकेशं मनसा सुसमाहितः ॥ १३ ॥
नेत्राभ्यां तां समालोक्य कृपया वाक्यमब्रवीत् ।
एह्येहि गार्गि ! सर्वज्ञे ! सर्वशास्त्रविशारदे ! ॥ १४ ॥
योगं वक्ष्यामि विधिवद् धात्रोक्तं परमेष्ठिना ।
मुनयः ! श्रूयतामत्र गार्ग्या सह समाहिताः ॥ १५ ॥
पद्मासनं सुखासीनं चतुराननमव्ययम् ।
चराचराणां स्रष्टारं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ १६ ॥
कदाचित् तत्र गत्वाहं स्तुत्वा स्तोत्रैः प्रणम्य च ।
पृष्टवानिममेवार्थं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १७ ॥
देवदेव ! जगन्नाथ ! चतुर्मुख ! पितामह ! ।
येनाहं यामि निर्वाणं कर्मणा मोक्षमक्षयम् ॥ १८ ॥
ज्ञानं च परमं गुह्यं यथावद् ब्रूहि मे प्रभो ! ।
एवमुक्तो मया ब्रह्मा स्वयंभूर्लोकनायकः ॥ १९ ॥

मामालोक्य प्रसन्नात्मा ज्ञानकर्माण्यभाषत ।

ब्रह्मोवाच —

जातस्य द्विविधौ ज्ञेयौ पन्थानौ वेदचोदितौ ॥ २० ॥
अनुष्ठितौ तौ विद्वद्भिः प्रवर्तकनिवर्तकौ ।
वर्णाश्रमोक्तं यत् कर्म कामसङ्कल्पपूर्वकम् ॥ २१ ॥
प्रवर्तकं भवेदेतत् पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
कर्तव्यमिति विध्युक्तं कर्म कामविवर्जितम् ॥ २२ ॥
येन यत् क्रियते सम्यग् ज्ञानयुक्तं निवर्तकम् ।
निवर्तकं हि पुरुषं निवर्त्तयति जन्मनः ॥ २३ ॥
प्रवर्त्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकम् ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥ २४ ॥
विधिवत् कुर्वतस्तस्य मुक्तिर्गार्गि ! करे स्थिता ।
वर्णाश्रमोक्तं कर्मैव विधिवत् कामपूर्वकम् ॥ २५ ॥
येन यत् क्रियते तस्य भववासः करे स्थितः ।
संसारभीरुभिस्तस्माद् विध्युक्तं कामवर्जितम् ॥ २६ ॥
विधिवत् कर्म कर्तव्यं + + + + + + + + ।
+ + + + + + + + + + काम्येषु मानुषाः ॥ २७ ॥
ते देवानामृषीणां च पितॄणामृणिनस्तथा ।
ऋषिभ्यो ब्रह्मचर्येण पितृभ्यश्च सुतैस्तथा ॥ २८ ॥
कुर्याद् यज्ञेन देवेभ्यः स्वाश्रमं धर्ममाचरन् ।
चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः ॥ २९ ॥
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ।
अधीत्य वेदं वेदार्थं साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥ ३० ॥

स्नायाद् विध्युक्तमार्गेण ब्रह्मचर्यव्रतं चरन् ।
संस्कृतायां सवर्णायां पुत्रमुत्पादयेत् ततः ॥ ३१ ॥
यजेदग्नौ तु विधिवद् भार्यया सह वा विना ।
कान्तारे विजने देशे फलमूलोदकान्विते ॥ ३२ ॥
तपश्चरन् वसेन्नित्यं साग्निहोत्रः समाहितः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यसेद् विधिना ततः ॥ ३३ ॥
संन्यासाश्रमसंयुक्तो नित्यं कर्म समाचरन् ।
यावत् क्षेत्री भवेत् तावद् यजेदात्मानमात्मनि ॥ ३४ ॥
क्षत्रियश्च चरेदेवमा संन्यासाश्रमात् तदा ।
वानप्रस्थाश्रमादेवं चरेद् वैश्यः समाहितः ॥ ३५ ॥
शूद्रः शुश्रूषया नित्यं गृहस्थाश्रममाचरेत् ।
शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं च मुनिभिः कैश्चिदिष्यते ॥ ३६ ॥
चतुर्णामाश्रमस्थानामहन्यहनि नित्यशः ।
विध्युक्तं कर्म कर्तव्यं कामसङ्कल्पवर्जितम् ॥ ३७ ॥
तस्मात् त्वमपि विप्रेन्द्र ! स्वाश्रमं धर्ममाचरेः ।
श्रद्धया विधिवत् सम्यग् ज्ञानकर्म समाचर ॥ ३८ ॥
इति मे कर्मसर्वस्वं योगरूपं च तत्त्वतः ।
उपदिश्य ततो ब्रह्मा योगनिष्ठोऽभवत् स्वयम् ॥ ३९ ॥
श्रुत्वैतद् याज्ञवल्क्योक्तं वाक्यं गार्गी मुदान्विता ।
पुनः प्राह मुनिश्रेष्ठमृषिमध्ये वरानना ॥ ४० ॥

गार्ग्युवाच —

ज्ञानेन सह योगीन्द्र ! विध्युक्तं कर्म कुर्वतः ।
त्वयोक्तं मुक्तिरस्तीति तस्माद् ज्ञानं वद प्रभो ! ॥ ४१ ॥

भार्ययाप्येवमुक्तस्तु याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ।
तां समालोक्य कृपया ज्ञानरूपमभाषत ॥ ४२ ॥

भगवानुवाच —

ज्ञानं योगात्मकं विद्धि योगश्चाष्टाङ्गसंयुतः ।
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ४३ ॥
वक्ष्याम्यङ्गानि ते सम्यग् यथा पूर्वं मया श्रुतम् ।
समाहितमना गार्गि! ऋषिभिः सह संशृणु ॥ ४४ ॥
यमश्च नियमश्चैव आसनं च तथैव च ।
प्राणायामास्तथा गार्गि! प्रत्याहारश्च धारणा ॥ ४५ ॥
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने! ।
यमश्च नियमश्चैव दशधानुप्रकीर्त्तितौ ॥ ४६ ॥
आसनान्युत्तमान्यष्टौ त्रयस्तेषूत्तमोत्तमाः ।
प्राणायामास्त्रिधा प्रोक्ताः प्रत्याहारस्तु पञ्चधा ॥ ४७ ॥
धारणा पञ्चधा प्रोक्ता ध्यानं षोढा प्रकीर्त्तितम् ।
त्रयस्तेषूत्तमाः प्रोक्ताः समाधिस्त्वेकरूपतः ॥ ४८ ॥
बहुधा केचिदिच्छन्ति विस्तरेण पृथक्च्छृणु ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥ ४९ ॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश ।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ५० ॥
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।
विध्युक्तं चेदहिंसा स्यात् क्लेशजन्मैव जन्तुषु ॥ ५१ ॥
सत्यं भूताहितं प्रोक्तं नियतार्थाभिभाषणम् ।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा ॥ ५२ ॥

अस्तेयमिति सा प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५३ ॥
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्ठिकस्य च ॥ ५४ ॥
ब्रह्मचर्यं तु सैवोक्ता तथैवारण्यवासिनाम् ।
ऋतावृतौ स्वदारेषु गमनं च विधानतः॥ ५५ ॥
ब्रह्मचर्यं तु सैवोक्ता गृहस्थाश्रमवासिनाम् ।
राज्ञश्चैव गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्त्तितम ॥ ५६ ॥
विशां वृत्तवतां चैव केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ ५७ ॥
शुश्रूषा वा गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् ।
गुरवः पञ्च सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः ॥ ५८ ॥
माता पिता तथाचार्यो मातुलः श्वशुरस्तथा ।
एषु मुख्यास्त्रयः प्रोक्ता आचार्यः पितरौ तथा ॥
एषु मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ।
तमेवं ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं नित्यकर्मपरायणम् ॥ ६० ॥
शुश्रूषयार्चयेन्नित्यं तुष्टोऽभूद्येन वा गुरुः ।
दया च सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः स्मृतः ॥ ६१ ॥
विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम् ॥ ६२ ॥
प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवेदिभिः ॥ ६३ ॥

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगेष्वपि सम्पदाम् ।
तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ॥
अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्यं षोडशारण्यवासिनाम् ।
द्वात्रिंशच्च गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥ ६५ ॥
एषामयं मिताहारस्त्वन्येषामल्पभोजनम् ।
शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ॥ ६६ ॥
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनश्शुद्धिरथापरम् ।
मनःशुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया ॥ ६७ ॥
आत्मविद्या च धर्मश्च पित्राचार्येण वानघे ! ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु सर्वैर्निःश्रेयसार्थिभिः ॥ ६८ ॥
गुरवः श्रुतसम्पन्ना मान्या वाङ्मनसादिभिः ॥ ६८$\frac{1}{2}$ ॥

इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु
प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच —

तपस्सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥ १ ॥
एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान् पृथक् शृणु ।
विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥ २ ॥
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ।
यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ॥ ३ ॥
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ।
धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ४ ॥

न्यायार्जितं धनं चान्नमन्यद्वा यत् प्रदीयते ।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम् ॥ ५ ॥
यत् प्रपन्नः स्वभावेन विष्णुं वाप्यन्यमेव वा ।
यथाशक्त्यर्चनं भक्त्या एतदीश्वरपूजनम् ॥ ६ ॥
(सदावदातं हृदयं) वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥ ७ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदार्थश्रवणं बुधैः ।
द्विजवत् क्षत्रियस्योक्तं सिद्धान्तश्रवणं बुधैः ॥ ८ ॥
विशां च केचिदिच्छन्ति शीलवृत्तवतां सताम् ।
शूद्राणां च स्त्रियाश्चैव स्वधर्मः स्वतपस्विनाम् ॥ ९ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः ।
वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद् भवेत् ॥ १० ॥
तस्मिन् भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्त्तिता ।
विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥ ११ ॥
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १२ ॥
अधीतवेदसूत्रे वा पुराणे सेतिहासके ।
यदेष्वध्ययनं तच्च तदभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १३ ॥
जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ।
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥ १४ ॥
मानसो मानसध्यानभेदाद् द्वैविध्यमास्थितः ।
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते ॥ १५ ॥

मानसस्तु तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ।
मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुणमुच्यते ॥ १६ ॥
उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रुतो न चेत् सोऽपि श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ॥ १७ ॥
ऋषिं छन्दोऽधिदेवञ्च ध्यायन् मन्त्रं च सर्वदा ।
यत्तु मन्त्रजपं गार्गि ! तदेव हि फलप्रदम् ॥ १८ ॥
प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टं त्वनुज्ञया ।
धर्मार्थमात्मसिद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् ॥ १९ ॥

इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु
द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच —

आसनान्युत्तमान्यष्टौ त्रयस्तेषूत्तमोत्तमाः ।
आसनान्यधुना वक्ष्ये शृणु गार्गि ! तपोधने ! ॥ १ ॥
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा ।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ॥ २ ॥
तथैतेषां वरारोहे ! पृथग् वक्ष्यामि लक्षणम् ।
जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥ ३ ॥
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ।
सीवन्यास्त्वात्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः ॥ ४ ॥
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु दक्षिणे दक्षिणेतरम् ।
एतच्च स्वस्तिकं प्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥

सव्ये दक्षिणपृष्ठं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखोपमम् ॥ ६ ॥
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्रे! कृत्वा पादतले उभे ॥ ७ ॥
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ।
एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम् ॥ ८ ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदाहृतम् ।
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ ९ ॥
दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥ १० ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ॥ ११ ॥
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ॥ १२ ॥
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ।
सम्पीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ॥ १३ ॥
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि ॥ १४ ॥
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य मुक्तासनमिदं तु वा ।
अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ॥ १५ ॥
हस्तयोः कोर्परौ चापि स्थापयन् नाभिपार्श्वयोः ।
समुन्नतशिराः पादौ दण्डवद्योनिसंस्थितम् ॥ १६ ॥

मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ।
सर्वे चाभ्यन्तरा रोगा विनश्यन्ति विषाणि च ॥ १७ ॥
यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयुता ।
नाडीशुद्धिं च कृत्वा तु प्राणायामं ततः कुरु ॥ १८ ॥

इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु
तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रुत्वैतद् भाषितं वाक्यं याज्ञवल्क्यस्य धीमतः ।
पुनः प्राह महाभागा सभामध्ये तपस्विनी ॥ १ ॥

गार्ग्युवाच —

भगवन्! ब्रूहि मे स्वामिन्! नाडीशुद्धिं विधानतः ।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाडयः सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥
उत्पत्तिं चापि नाडीनां चारणं च यथाविधि ।
कन्दं च कीदृशं प्रोक्तं कति तिष्ठन्ति वायवः ॥ ३ ॥
स्थानानि चैव वायूनां कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
विज्ञातव्यानि यान्यस्मिन् देहे देहभृतां वर! ॥ ४ ॥
वक्तुमर्हसि तत्सर्वं त्वत्तो वेत्ता न विद्यते ।
इत्युक्तो भार्यया तत्र सम्यक् तद्गतमानसः ॥ ५ ॥
गार्गीं तां सुसमालोक्य तत्सर्वं समभाषत ।

भगवानुवाच —

शरीरं तावदेवं हि षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ॥ ६ ॥

विद्ध्येतत् सर्वजन्तूनां स्वाङ्गुलीभिरिति प्रिये! ।
शरीरादधिकः प्राणो द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ७ ॥

चतुर्दशाङ्गुलं केचिद् वदन्ति मुनिसत्तमाः ।
द्वादशाङ्गुल एवेति वदन्ति ज्ञानिनो नराः ॥ ८ ॥

आत्मस्थमनिलं विद्यादात्मस्थेनैव वह्निना ।
योगाभ्यासेन यः कुर्यात् समं वा न्यूनमेव वा ॥ ९ ॥

स एव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सम्पूज्यश्च नरोत्तमः ।
आत्मस्थवह्निनैव त्वं योगजेन द्विजोत्तमे! ॥ १० ॥

आत्मस्थं मातरिश्वानं योगाभ्यासेन निर्जय ।
देह(मध्ये) शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ ११ ॥

त्रिकोणं मनुजानां तु चतुरश्रं चतुष्पदाम् ।
वर्त्तुलं तत् तिरश्चां तु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥

तन्मध्ये तु शिखा तन्वी शिवा तिष्ठति पावकी ।
देहमध्यं च कुत्रेति श्रोतुमिच्छसि चेच्छृणु ॥ १३ ॥

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्राच्च द्व्यङ्गुलात् ।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुष्याणामितीरितम् ॥ १४ ॥

चतुष्पदां तु हृन्मध्यं तिरश्चां तुन्दमध्यमम् ।
द्विजानां तु वरारोहे! तुन्दमध्यमितीरितम् ॥ १५ ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमुत्सेधमायामं च तथाविधम् ॥ १६ ॥

अण्डाकृतिवदाकारं भूषितं तत् त्वगादिभिः ।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यमे ॥ १७ ॥

तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं नाभौ (कन्द)समुद्भवः ।
द्वादशारयुतं तच्च तेन देहः प्रतिष्ठितः ॥ १८ ॥
चक्रेऽस्मिन् भ्रमते जीवः पुण्यपापप्रचोदितः ।
तन्तुपञ्जरमध्यस्थो यथा भ्रमति लूतिकः ॥ १९ ॥
जीवस्य मूले चक्रेऽस्मिन्नधः प्राणश्चरत्यसौ ।
प्राणारूढो भवेज्जीवः सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ २० ॥
तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ।
अष्टप्रकृतिरूपा सा अष्टधा कुण्डलीकृता ॥ २१ ॥
यथावद् वायुचारं च जलान्नादीनि नित्यशः ।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता ॥ २२ ॥
मुखेनैव समावेष्टय ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ।
योगकाले त्वपानेन प्रबोधं याति साग्निना ॥ २३ ॥
स्फुरन्ती हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ।
वायुर्वायुसखेनैव ततो याति सुषुम्नया ॥ २४ ॥
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्त्तिता ।
तिष्ठन्ति परितः सर्वाश्चक्रेऽस्मिन् नाडिसंज्ञकाः ॥ २५ ॥
नाडीनामपि सर्वासां मुख्या गार्गि ! चतुर्दश ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च सरस्वती ॥ २६ ॥
वारणा चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी ।
विश्वोदरा कुहूश्चैव शङ्खिनी च तपस्विनी ॥ २७ ॥
अलम्बुषा च गान्धारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश ।
आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमा मता ॥ २८ ॥
मुक्तिमार्गेति सा प्रोक्ता सुषुम्ना विश्वधारिणी ।
कन्दस्य मध्यमे गार्गि ! सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥ २९ ॥

पृष्ठमध्ये स्थिता नाम्ना सह मूर्ध्नि स्थिता सदा ।
मुक्तिमार्गः सुषुम्ना सा ब्रह्मरन्ध्रेति कीर्त्तिता ॥ ३० ॥
अव्यक्ता सैव विज्ञेया सूक्ष्मा सा वैष्णवी स्मृता ।
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्ये च दक्षिणे ॥ ३१ ॥
इडा तस्याः स्थिता सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
इडायां पिङ्गलायां च चरतश्चन्द्रभास्करौ ॥ ३२ ॥
इडायां चन्द्रमा ज्ञेयः पिङ्गलायां रविः स्मृतः ।
चन्द्रस्तामस इत्युक्तः सूर्यो राजस उच्यते ॥ ३३ ॥
विषभागो रवेर्भागः सोमभागोऽमृतं स्मृतम् ।
तावेव धत्तः सकलं कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ॥ ३४ ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ।
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ॥ ३५ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरा स्थिता ॥ ३६ ॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारणा च प्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्याः स्थिता मध्ये तपस्विनी ॥ ३७ ॥
गान्धारायाः सरस्वत्याः स्थिता मध्ये च शङ्खिनी ।
अलम्बुषा च विप्रेन्द्रे! कन्दमध्यादवस्थिता ॥ ३८ ॥
पूर्वभागे सुषुम्नायास्त्वामेढ्रान्तं कुहूः स्थिता ।
अधश्चोर्ध्वं च विज्ञेया वारणा सर्वगामिनी ॥ ३९ ॥
यशस्विनी च याम्यस्य पादाङ्गुष्ठान्तामिष्यते ।
पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्ये नासान्तं विद्धि मे प्रिये! ॥ ४० ॥

याम्ये पूषा च नेत्रान्तं पिङ्गलायां तु पृष्ठतः ।
तपस्विनी तथा गार्गि ! याम्यकर्णा(न्तामिष्य)ते ॥ ४१ ॥
सरस्वती तथा चोर्ध्वमाजिह्वायाः प्रतिष्ठिता ।
आ सव्यकर्णाद् विप्रेन्द्रे ! शङ्खिनी चोर्ध्वगा मता ॥४२॥
गान्धारा सव्यनेत्रान्ता इडायाः पृष्ठतः स्थिता ।
इडा च सव्यनासान्तं सव्यभागे व्यवस्थिता ॥ ४३ ॥
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।
विश्वोदरा तु या नाडी तुन्दमध्ये व्यवस्थिता ॥ ४४ ॥
अलम्बुषा महाभागे ! पायुमूलादधोगता ।
एतास्वन्याः समुत्पन्नाः सिरास्वन्याश्च तास्वपि ॥ ४५ ॥
यथा ह्याखुबिले तद्वदब्जपत्रेषु वा सिराः ।
नाडीष्वेतासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधने ! ॥ ४६ ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ४७ ॥
एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ।
एतेषु वायवः पञ्च मुख्याः प्राणादयः स्मृताः ॥ ४८ ॥
तेषु मुख्यतमावेतौ प्राणापानौ नरोत्तमे ! ।
प्राण एवैतयोर्मुख्यः स सर्वप्राणभृत् सदा ॥ ४९ ॥
आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यमे ।
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन ॥ ५० ॥
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः परीत्य प्राणसंज्ञकः ।
तिष्ठन्नेतेषु चक्रेषु प्रकाशयति दीपवत् ॥ ५१ ॥

व्यानः (श्रोत्रा)क्षिमध्ये च कृकट्यां गुल्फयोरपि ।
घ्राणे गले स्फिजोदेशे तिष्ठत्यत्र न संशयः ॥ ५२ ॥
अपाननिलये केचिद् गुदमेढ्रोरुजानुषु ।
उदरे वंक्षणे कट्यां जघने तौ वदन्ति हि ॥ ५३ ॥
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वगात्रेषु सर्वं प्राप्य व्यवस्थितः ॥ ५४ ॥
भुक्तसर्वरसं गात्रे व्यापयन् वह्निना सह ।
द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु सञ्चरन् ॥ ५५ ॥
समानवायुरेवैकः साग्निर्व्याप्य व्यवस्थितः ।
अग्निभिः सह सर्वत्र साङ्गोपाङ्गकलेबरे ॥ ५६ ॥
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
तुन्दस्थं जलमन्नं च रसानि च समीकृतम् ॥ ५७ ॥
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात् पृथक् पृथक् ।
पुनरग्नौ जलं स्थाप्यं त्वन्नादीनि जलोपरि ॥ ५८ ॥
स्वयं च पात्रं सम्प्राप्य तेनैव सह मारुतः ।
प्रज्वलति ज्वलनं तत्र देहमध्यगतं पुनः ॥ ५९ ॥
वायुना पातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः ।
तदा ज्वलति विप्रेन्द्र ! स्वकुले देहमध्यमे ॥ ६० ॥
ज्वालाभिर्ज्वलनस्तत्र प्राणेन प्रेरितस्ततः ।
जलमत्युष्णमकरोत् कोष्ठमध्ये गतस्तथा ॥ ६१ ॥
अन्नव्यञ्जनसंयुक्तं जलोपरि समर्पितम् ।
ततः स पक्वमकरोद् वह्निः सन्तप्तवारिणा ॥ ६२ ॥

स्वेदमूत्रे जलं स्यातां वीर्यरूपं रसो भवेत् ।
पुरीषमन्नं स्याद् गार्गि! प्राणः कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥ ६३ ॥
समानवायुना सार्धं रसं सर्वासु नाडिषु ।
व्यापयन् श्वासरूपेण देहे चरति मारुतः ॥ ६४ ॥
रोमरन्ध्रैश्च नवभिर्विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।
कुर्वन्ति वायवः सर्वे शरीरेषु निरन्तरम् ॥ ६५ ॥
निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः ।
अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥ ६६ ॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥ ६७ ॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम् ।
उद्गारादिगुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ॥ ६८ ॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्रे! तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम् ॥ ६९ ॥
धनञ्जयस्य शोफादिसर्वकर्म प्रकीर्त्तितम् ।
ज्ञात्वैवं नाडिसंस्थानं वायूनां स्थानकर्मणी ॥ ७० ॥
विधिनोक्तेन मार्गेण नाडीसंशोधनं कुरु ॥ ७०½ ॥

इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु
चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

गार्गी—

भगवन्! ब्रह्मविच्छ्रेष्ठ! सर्वशास्त्रविशारद!।
केनोपायेन शुद्धाः स्युर्नाड्यो मे तं वद प्रभो! ॥ १ ॥

इत्युक्तो ब्रह्मवेदिन्या ब्रह्मविद् ब्राह्मणस्तथा ।
तां समालोक्य कृपया नाडीशुद्धिमभाषत ॥ २ ॥
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसङ्कल्पवर्जितः ।
श्रुतविद्यो जितश्रान्तः सत्यधर्मपरायणः ॥ ३ ॥
गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ।
स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ॥ ४ ॥
तपोवनं सुसम्प्राप्य फलमूलोदकान्वितम् ।
तत्र रम्ये शुचौ देशे ब्रह्मघोषसमन्विते ॥ ५ ॥
स्वधर्मनिरतैः शान्तैर्ब्रह्मविद्भिः समावृते ।
वारिभिश्च सुसम्पूर्णे पुष्पैर्नानाविधैर्युते ॥ ६ ॥
फलमूलैश्च सम्पूर्णे सर्वकामफलप्रदे ।
देवालये वा नद्यां वा ग्रामे वा नगरेऽथवा ॥ ७ ॥
सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् ।
त्रिकालस्नानसंयुक्तः स्वधर्मनिरतः सदा ॥ ८ ॥
वेदान्तश्रवणं कुर्वंस्तस्मिन् योगं समभ्यसेत् ।
केचिद् वदन्ति मुनयस्तपस्स्वाध्यायसंयुताः ॥ ९ ॥
स्वधर्मनिरताः शान्तास्तन्त्रेषु च सदारताः ।
निर्जने निलये रम्ये वातातपविवर्जिते ॥ १० ॥
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
मन्त्रैर्न्यस्ततनुर्धीरः सितभस्मधरः सदा ॥ ११ ॥
मृद्वासनोपरि कुशान् संस्तीर्य ह्यथवाजिनम् ।
विनायकं सुसम्पूज्य फलमूलोदकादिभिः ॥ १२ ॥

इष्टदेवं गुरुं नत्वा तत आरभ्य चासनम् ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो भूत्वा जितासनगतः स्वयम् ॥ १३ ॥
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे शशभृत् ख.... .... द्युतुरीयकम् ॥ १४ ॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ १५ ॥
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायन् ज्वालावलीयुतम् ।
रेफं च बिन्दुसंयुक्तमग्निमण्डलसंस्थितम् ॥ १६ ॥
ध्यायन् विरेचयेत् पश्चान्मन्दं पिङ्गलया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य घ्राणं दक्षिणतः सुधीः ॥ १७ ॥
पुनर्विरेचयेद् धीमानिडया तु शनैः शनैः ।
त्रिचतुर्वत्सरं वाऽथ त्रिचतुर्मासमेव वा ॥ १८ ॥
षट्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसन्धिषु ।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिह्नोपलक्षितम् ॥ १९ ॥
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्त्तिनः ।
नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ॥ २० ॥
यावदेतानि सम्पश्येत् तावदेव समाचरेत् ॥ २०½ ॥

इति याज्ञवल्क्यगीतासूपनिषत्सु
पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

प्राणायाममथेदानीं प्रवक्ष्यामि विधानतः ।
समाहितमनास्त्वं च शृणु गार्गि! वरानने ॥ १ ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम(इति ? स्त्रिधा) प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥ २ ॥
वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ ३ ॥
इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरन् ॥ ४ ॥
धारयेत् पूरितं पश्चाच्चतुष्षष्ट्या तु मात्रया ।
मकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत् ॥ ५ ॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम् ।
पूरितं रेचयेत् पश्चात् प्राणं बाह्यानिलान्वितम् ॥ ६ ॥
शनैः पिङ्गलया गार्गि ! द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
प्राणायामो भवेदेष पुनश्चैव समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ततः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ।
उकारमूर्त्तिमत्रापि संस्मरन् सुसमाहितः ॥ ८ ॥
पूरितं धारयेत् प्राणं प्रणवं विंशतिद्वयम् ।
जपेदत्र स्मरन् मूर्त्तिं मकाराख्यां महेश्वरीम् ॥ ९ ॥
यावद्वा शक्यते पश्चाद् रेचयेदिडयानिलम् ।
एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य पूर्ववत् ॥ १० ॥
नाड्या प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
प्रणवेन सुसंयुक्तां व्याहृतीभिश्च संयुताम् ॥ ११ ॥
गायत्रीं वा जपेद् विप्रः प्राणसंयमने त्रयः ।
पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्यात् पुनश्चैव त्रिसन्धिषु ॥ १२ ॥

यद्वा समभ्यसेन्नित्यं वैदिकं लौकिकं तथा ।
प्राणसंयमने विद्वान् जपेत् तद्द्विशतिद्वयम् ॥ १३ ॥
ब्राह्मणः श्रुतसम्पन्नः स्वधर्मनिरतः सदा ।
स वैदिकं जपेन्मन्त्रं लौकिकं न कदाचन ॥ १४ ॥
केचिद् भूताहितार्थाय जपमिच्छन्ति लौकिकम् ।
द्विजवत् क्षत्रियस्योक्तः प्राणसंयमने जपः ॥ १५ ॥
वैश्यानां धर्मयुक्तानां स्त्रीशूद्राणां तपस्विनाम् ।
प्राणसंयमने गार्गि! मन्त्रं प्रणववर्जितम् ॥ १६ ॥
नमोन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वेष्यते बुधैः ।
यद्वा समभ्यसेच्छूद्रस्त्वार्षकं विधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
प्राणसंयमने स्त्री च जपेत् तद्द्विशतिद्वयम् ।
न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्च न कदाचन ॥ १८ ॥
स्वाश्रमस्थस्य वैश्यस्य केचिदिच्छन्ति वैदिकम् ।
सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं गायत्र्या प्रणवेन वा ॥ १९ ॥
प्राणसंयमनं कुर्याद् ब्राह्मणो वेदपारगः ।
नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ॥ २० ॥
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ।
ऋतुत्रयात् पुनन्त्येनं जन्मान्तरकृतादघात् ॥ २१ ॥
वत्सराद् ब्रह्मविद्वा स्यात् तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ।
योगाभ्यासरतास्त्वेवं स्वधर्मनिरताश्च ये ॥ २२ ॥
प्राणसंयमनेनैव सर्वे मुक्ता भवन्ति हि ।
बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥ २३ ॥

सम्पूर्णकुम्भवद् वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।
बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥ २४ ॥
प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।
कम्पको मध्यमः प्रोक्त उत्थानं चोत्तमोत्तमः ॥ २५ ॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसम्भवम् ।
सम्भवत्युत्तमे गार्गि! प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ २६ ॥
प्राणे लयति तेनैव देहस्यान्तस्ततोऽधिकः ।
देहश्चोत्तिष्ठते तेन कृतासनपरिग्रहः ॥ २७ ॥
निःश्वासोच्छ्वासकौ तस्य न विद्येते कथञ्चन ।
देहे यद्यपि तौ .....विककृतावुभौ (?)॥ २८ ॥
तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि ।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्त्तुं केवलकुम्भकम् ॥ २९ ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा यत् स्थित्वा वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥ ३० ॥
रेच्य चापूरयत् कुर्यात् स वै सहित(कुम्भकः) ।
सहितं केवलं वाथ कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥ ३१ ॥
यावत् केवलसिद्धिः स्यात् तावत् सहितमभ्यसेत् ।
केवलं कुम्भके सिद्धे रेचपूरणवर्जिते ॥ ३२ ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
मनोजवत्वं लभते पलितादि च नश्यति ॥ ३३ ॥
मुक्तेरयं महामार्गो मकराख्योत्तरात्मनः ।
ज्ञानं चोत्पादयत्येव कुम्भकप्राणसंयमः ॥ ३४ ॥

प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणादिधारणम् ।
एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥ ३५ ॥
किञ्चित् प्राणजयोपायं तव वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ ३६ ॥
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ।
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु सर्वदा ॥ ३७ ॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद् योगी गतक्लमः ।
नासाग्रे धारणं गार्गि ! वायोर्विजयकारणम् ॥ ३८ ॥
सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात् ।
शरीरं लघुतां याति पादाङ्गुष्ठे च धारणात् ॥ ३९ ॥
रसनावायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।
श्रमदाहौ न तस्य स्तो नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥ ४० ॥
सन्ध्ययोर्ब्राह्मकाले वा वायुमाकृष्य यः पिबेत् ।
त्रिमासात् तस्य कल्याणि ! जायते वा सरस्वती ॥ ४१ ॥
षण्मासाभ्यासयोगेन महारोगात् प्रमुच्यते ।
आत्मन्यात्मानमारोप्य कुण्डल्यां यस्तु धारयेत् ॥ ४२ ॥
क्षयरोगादयस्तस्य नश्यन्तीत्यपरे विदुः ।
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ॥ ४३ ॥
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ।
आत्मन्यात्मानमिडया समानीय भ्रुवोऽन्तरात् ॥ ४४ ॥
पिबेद् यस्त्रिदशाहारं व्याधिभिः सोऽभिमुच्यते ।
नाडिभ्यां वायुमारोप्य नाभौ वा तुन्दपार्श्वयोः ॥ ४५ ॥

घटिकैकां वहेद् यस्तु व्याधिभिः सोऽभिमुच्यते ।
मासमेकं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ॥ ४६ ॥
पिबेद् यस्त्रिदशाहारं धारयेत् तुन्दमध्यमे ।
गुल्माषी वा प्लिहा चान्या त्रिदोषजनितास्तथा ॥ ४७ ॥
तुन्दमध्यगता रोगाः सर्वे नश्यन्ति तस्य वै ।
ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ॥ ४८ ॥
बहुनोक्तेन किं गार्गि! पलिता(नि?दि) च नश्यति ।
एवञ्च विजयोपायं प्राणस्य तु वरानने! ॥ ४९ ॥
शक्यमासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ।
करणानि वशीकृत्य विषयेभ्यो बलात् सुधीः ॥ ५० ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन समाहितः ।
हस्ताभ्यां बन्धयेत् सम्यक् कर्णादिकरणानि च ॥ ५१ ॥
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी ।
नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥ ५२ ॥
आनन्दानुभवं यावत् तावन्मूर्धनि धारयेत् ।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ततस्त्वायुर्विघातकृत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्नायां मृणालान्तरसूत्रवत् ।
नालोत्पत्तिस्त्वनेनैव शुद्धस्फटिकसन्निभा ॥ ५४ ॥
आमूर्ध्नो वर्त्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः ।
शङ्खध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥ ५५ ॥
व्योमरन्ध्रगते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा ।
व्योमरन्ध्रगते वायौ चित्ते चात्मनि संस्थिते ॥ ५६ ॥

सदानन्दी भवेद्देही वायुस्तेन जितो भवेत् ।
योगिनस्त्वपरेऽन्यत्र वदन्ति समचेतसः ॥ ५७ ॥
प्राणायामपराः पूता रेचपूरणवर्जिताः ।
दक्षिणेतरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत् सिराम् ॥ ५८ ॥
अधस्ताद्दण्डवत्सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणाम् ।
जङ्घोर्वोरन्तरं गार्गि ! निश्छिद्रं बन्धयेद् दृढम् ॥ ५९ ॥
समग्रीवशिरस्कश्च समपृष्ठः समोदरः ।
नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं लोकयन्नुपरिस्थितम् ॥ ६० ॥
भारत्या मनसा सार्धं व्याहरन् प्रणवाक्षरम् ।
आसने नान्यधीरास्ते रहस्ये विजितेन्द्रियः ॥ ६१ ॥
वैश्याः शूद्राः स्त्रियश्चान्ये योगाभ्यासरता नराः ।
शैवं वा वैष्णवं वाथ व्याहरन्नन्यमेव वा ॥ ६२ ॥
आसने नान्यधीरास्ते दीपं हस्तेऽवलोकयन् ।
आयुर्विघातकृत्प्राणस्त्वनेनाग्निकुलं गतः ॥ ६३ ॥
धूमध्वजजयं यावन्नान्यधीरेवमभ्यसेत् ।
धारणं कुर्वतस्तस्य शक्तिस्थाने प्रभञ्जनम् ॥ ६४ ॥
देहश्च लघुतां याति जठराग्निश्च वर्धते ।
दृष्टचिह्नस्ततः स्थानान्मनसारोप्य मारुतम् ॥ ६५ ॥
मन्त्रमुच्चारयेद् गार्गि ! नाभिमध्ये निरोधयेत् ।
यावन्मनो लयत्यस्मिन्नाभौ सवितृमण्डले ॥ ६६ ॥
तावत् समभ्यसेद् विद्वानिन्धनेदिन्धनाशनम् ।
एतेन नाभिमध्येन धारणेनैव मारुतः ॥ ६७ ॥

कुण्डलीवास्ति वह्निश्च दहत्यत्र न संशयः ।
सन्तप्तो वह्निना तत्र वायुना च प्रवातितः ॥ ६८ ॥
प्रसार्य फणहद्भोगं प्रबोधं याति तत्त्वदा ।
प्रबुद्धे संस्मरत्यस्मिन्नादिमूले + + क्रिणि ॥ ६९ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्नायां प्रयाति प्राणसंज्ञकम् ।
सम्प्राप्ते मारुते तस्मिन् सुषुम्नायां वरानने ! ॥ ७० ॥
मन्त्रमुच्चार्य मनसा हृन्मध्ये धारयेत् पुनः ।
हृदयात् कण्ठकूपे च भ्रुवोर्मध्ये च धारयेत् ॥ ७१ ॥
तस्मादारोप्य मनसा साग्निं प्राणमनन्यधीः ।
धारयेद् यो हि विप्रेन्द्रो व्याहरन् प्रणवाक्षरम् ॥ ७२ ॥
वायुना पूरिते व्योम्नि साङ्गोपाङ्गकलेबरे ।
तदात्मा भजते तत्र यथा व्योम्नि निवर्तनः ॥ ७३ ॥
शरीरं विसिसृक्षुश्चेदेवं सम्यक् समाचरन् ।
एकाक्षरं परं ब्रह्म ध्यायन् प्रणवमीश्वरम् ॥ ७४ ॥
संभिद्य मनसा मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रं स वायुना ।
प्राणमुन्मूलयेत् पश्चान्महाप्राणे खमध्यमे ॥ ७५ ॥
देहातीते जगत्प्राणे शून्ये नित्ये ध्रुवे पदे ।
आकाशे परमानन्दे स्वात्मानं योजयेद् धिया ॥ ७६ ॥
ब्रह्मैवासौ भवेद् गार्गि ! न पुनर्जन्मभाग् भवेत् ।
तस्मात् त्वं च वरारोहे ! नित्यकर्म समाचर ॥ ७७ ॥
सन्ध्याकालेषु वा नित्यं प्राणसंयमनं कुरु ।
प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः ॥ ७८ ॥

प्राणायामविशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ।
प्राणायामाद्दते नान्यत् तारकं नरकादपि ॥ ७९ ॥
संसारार्णवमग्नानां तारकः प्रा संयमः ।
तस्मात् त्वं विधिमार्गेण नित्यकर्म समाचर ॥ ८० ॥
विधिनोक्तेन मार्गेण प्राणसंयमनं कुरु ॥ ८०½ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

याज्ञवल्क्यः —

उक्तान्येतानि चत्वारि योगाङ्गानि द्विजोत्तमे ! ।
प्रत्याहाराणि चत्वारि शृणुष्वाभ्यन्तराणि च ॥ १ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २ ॥
यद्यत् पश्यति तत् सर्वं पश्येदात्मवदात्मनि ।
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥
कर्माणि यानि नित्यानि विहितानि शरीरिणाम् ।
तेषामात्मन्यनुष्ठानं मनसा यत् + + + + ॥ ४ ॥
तानि सर्वाणि वक्ष्यामि यथावच्छृणु + + + ।
पादाङ्गुष्ठौ च गुल्फौ तु + + + + तथैव च ॥ ५ ॥
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले ।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटश्च मूर्धा च मुनिसत्तमे ! ॥ ६ ॥

मर्मस्थानानि वै तेषां मानं चाथ पृथक् शृणु ।
पादमानं तु गुल्फस्य सार्धाङ्गुलचतुष्टयम् ॥ ७ ॥
गुल्फाज्जङ्घस्य मध्यं तु विज्ञेयं तु दशाङ्गुलम् ।
जङ्घमध्याच्चितेर्मूलं यत्तदेकशताङ्गुलम् ॥ ८ ॥
चितिमूलाद् वरारोहे ! जानुः स्यादङ्गुलद्वयम् ।
जानोर्नवाङ्गुलं प्राहुरूरुमध्यं मही(श्व ? सु)रे ! ॥ ९ ॥
ऊरुमध्यात् तथा गार्गि ! पायुमूलं नवाङ्गुलम् ।
देहमध्यं तथा पायोर्मूलादर्धाङ्गुलद्वयम् ॥ १० ॥
देहमध्यात् तथा मेढ्रं तद्वत् सार्धाङ्गुलद्वयम् ।
मेढ्रान्नाभिश्च विज्ञेया गार्गि ! (सा)र्ध + + ङ्गुलम् ॥ ११ ॥
चतुर्दशाङ्गुलं नाभेर्हृन्मध्यं च वरानने ! ।
षडङ्गुलं तु हृन्मध्यात् कण्ठकूपं तथैव च ॥ १२ ॥
कण्ठकूपाच्च जिह्वाया मूलं स्याच्चतुरङ्गुलम् ।
नासामूलं तु जिह्वाया मूलाच्च चतुरङ्गुलम् ॥ १३ ॥
चतुरङ्गुलमाने तु मूलार्धाङ्गुलमिष्यते ।
तस्मादर्धाङ्गुलं गार्गि ! भ्रुवोरन्तरमात्मनः ॥ १४ ॥
ललाटाद्(र्धो ? व्यो)मसंज्ञं तदङ्गुलद्वयमेव हि ।
स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ॥ १५ ॥
स्थानात् स्थानात समाकृष्य प्रत्याहारं प्रकुर्वतः ।
सर्वरोगा विनश्यन्ति योगाः सिध्यन्ति तस्य वै ॥ १६ ॥
वदन्ति योगिनः केचिद् योगेषु कुशला नराः ।
प्रत्याहारं वरारोहे ! शृणु त्वं तद्वदाम्यहम् ॥ १७ ॥

सम्पूर्णकुम्भकाद् वायुमङ्गुष्ठान्मूर्ध्नि मध्यतः ।
धारयत्यनिलं बुद्ध्य प्राणायामप्रचोदितः ॥ १८ ॥
व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः ।
ललाटाद् वायुमाकृष्य कण्ठकूपे निरोधयेत् ॥ १९ ॥
कण्ठकूपात्तु हृन्मध्ये हृन्मध्यान्नाभिमध्यमे ।
नाभिमध्यात् पुनर्मेढ्रे मेढ्राद्वह्न्यालये ततः ॥ २० ॥
देहमध्याद् गुदे गार्गि! गुदात्तत्रोरुमूलतः ।
ऊरुमूलात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत् ॥ २१ ॥
चितिमूलं ततस्तस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा ।
जङ्घातस्तं समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत् ॥ २२ ॥
गुल्फादङ्गुलयोर्गार्गि! पादयोस्तं निरोधयेत् ।
स्थानात्स्थानात् समाकृष्य यस्मेबन्ध (?) ॥ २३ ॥
यावत् पापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारं प्रकीर्तितम् ॥ २४ ॥
प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः ।
नाडीभ्यां वायुमापूर्य कुण्डल्याः पार्श्वयोर्नरः ॥ २५ ॥
धारयेद् युगपत् सोऽपि भवरोगाद्विमुच्यते ।
पूर्ववद् यानि रोप्य(?) हृदये व्योम्नि धारयेत् ॥ २६ ॥
सोऽपि याति वरारोहे! परमात्मपदं नरः ।
व्याधयः किंपुनस्तस्य बाह्याभ्यान्तरवर्त्तिनः ॥ २७ ॥
नासाभ्यां वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
भ्रुवोर्मध्याद् दृशोः पार्श्वात् समारोप्य समाहितः ॥ २८ ॥

धारयेत् क्षणमात्रं वा सोऽपि याति परा गतिम् ।
आभ्रूमध्यात् सुषुम्नायां मनो + + + + + + + ॥ २९ ॥
किंपुनर्बहुनोक्तेन नित्यं कर्म समाचर(म् ?)।
यावन्मनो लयत्यस्मिन् ततः संयमनं कुरु ॥ ३० ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि धारणा(वव ? मपि) तत्त्वतः ।
यमादिगुणयुक्तस्य मनसः स्थितिरात्मनि ॥ १ ॥
धारणेत्युच्यते सद्भिः शास्त्रतात्पर्यवेदिभिः ।
अस्मिन् ब्रह्मपुरे गार्गि ! यदिदं हृदयाम्बुजम् ॥ २ ॥
तस्मिन्नवान्तराकाशे यद् बाह्याकाशकारणम् ।
एषा च धारणेत्युक्ता योगशास्त्रसुशिक्षितैः ॥ ३ ॥
धारणाः पञ्चधा प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः पृथक्शृणु ।
भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥ ४ ॥
एतेषु पञ्चदेवानां धारणं पञ्चधोच्यते ।
पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ॥ ५ ॥
आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्त्तितम् ।
आपायोर्हृदयान्तं यद् वह्निस्थानं तदुच्यते ॥ ६ ॥
हृदयात् तु भ्रुवोर्मध्यं यावद् वायुकुलं स्मृतम् ।
आभ्रूमध्यात तदूर्ध्वान्तमाकाशमिति चोच्यते ॥ ७ ॥

अत्र केचिद् वदन्त्यन्ये योगपण्डितमानिनः।
आजानोर्नाभिपर्यन्तमपांस्थानमिति द्विजाः ॥ ८ ॥
नाभिमध्याद् गळान्तं यद् वह्निस्थानं तदुच्यते।
आगळाद् भ्रूलला* .... ॥ ९ ॥
एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि ब्रह्मविदां वरे।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥ १० ॥
तस्मिन् सदाशिवे प्राणान् सृष्टिस्थित्यन्तकारिणे।
युक्तचित्तस्तदात्मानं योजयेत् परमेश्वरे ॥ ११ ॥
अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः।
प्रणवेनैव कार्याणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥ १२ ॥
प्रणवस्य तु नादान्ते परमानन्दविग्रहम्।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ १३ ॥
चेतसा संप्रपश्यन्ति सन्तः साधारभेषजः।
त्वं तस्मात् प्रणवेनैव प्राणायामैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १४ ॥
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे।
विशुद्धचेतसा पश्य नादान्ते परमेश्वरम् ॥ १५ ॥
अस्मिन्नर्थे वदन्त्यन्ये योगिनो ब्रह्मविद्वराः।
भिषग्वरा वरारोहे! योगेषु परिनिष्ठिताः ॥ १६ ॥
शरीरं तावदेतत्तु पञ्चभूतात्मकं खलु।
तदेतत्तु वरारोहे! वातपित्तकफात्मनाम् ॥ १७ ॥
वातात्मकानां सर्वेषां योगेष्वभिरतात्मनाम्।
प्राणसंयमनेनैव शोषं याति कलेबरम् ॥ १८ ॥

* अत्र ग्रन्थांशो मातृकायां लुप्तः।

पित्तात्मकानां त्वचिरान्न शुष्यति कलेबरम् ।
कफात्मकानां कायस्तु सम्पूर्णमचिराद् भवेत् ॥ १९ ॥
धारणं कुर्वतस्त्वग्नौ सर्वे नश्यन्ति वातजाः ।
पार्थिवे च जलांशे च धारणं कुर्वतस्तदा ॥ २० ॥
नश्यन्ति श्लेष्मजा रोगा विनश्यन्ति न संशयः ।
अस्मिन्नर्थे तथा ब्रूतामश्विनौ च भिषग्वरौ ॥ २१ ॥
प्राणसंयमनेनैव त्रिदोषशमनं नृणाम् ।
तस्मात् त्वं च वरारोहे! नित्यं कर्म समाचर ॥ २२ ॥
यमादिभिश्च संयुक्ता विधिवद् धारणं कुरु ॥ २२½ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये अष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

भगवानुवाच —

ध्यानं सम्प्रति वक्ष्यामि शृणु गार्गि! वरानने! ।
ज्ञानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ १ ॥
ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
सगुणं निर्गुणं तच्च सगुणं बहुशः स्मृतम् ॥ २ ॥
पञ्चोत्तमानि तेष्वाहुर्वैदिकानि द्विजोत्तमाः ।
एषु मुख्यतमास्तिस्रो एकमेव हि निर्गुणम् ॥ ३ ॥
मर्मस्थानानि नाडीनां सन्धानं च पृथक् पृथक् ।
वायुस्थानानि मर्माणि ज्ञात्वा कुर्वात्मवेदनम् ॥ ४ ॥
एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं तत्सर्वं व्योमवद् दृढम् ।
अत्यच्छममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ५ ॥

स्थूलं सूक्ष्ममनाकाशं + + + श्यमचक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनौपमम् ॥ ६ ॥
आनन्दमजरं सत्यं सदसत्सर्वकारणम् ।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम् ॥ ७ ॥
अदृश्यं दृश्यमन्तःस्थं बहिष्ठं सर्वतोमुखम् ।
सर्वगं सर्वतःपादं सर्व(क्त ?)सर्वतश्शिरः ॥ ८ ॥
ब्रह्मब्रह्ममयोऽहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत् ।
तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९ ॥
अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहम् ।
गुरूपदेशाद्विज्ञाय पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ १० ॥
ब्रह्म ब्रह्मपुरे वाऽस्मिन् देहे रुन्धन् खमध्यमे ।
अत्ययात् सम्प्रपश्यन्ति सन्तस्त्वं च तथा कुरु ॥ ११ ॥
हृत्पद्मेऽष्टदळे पत्रे कन्दमध्यात् समुत्थिते ।
द्वादशाङ्गुलनाळेऽस्मिंश्चतुरङ्गुलवन्मुखे ॥ १२ ॥
प्राणायामैर्विकसिते केसरान्वितकर्णिके ।
वासुदेवं जगन्नाथं नारायणमजं हरिम् ॥ १३ ॥
चतुर्भुजमुदाराङ्गं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ १४ ॥
श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
पद्मोदरदळाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥ १५ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
पद्मच्छविपदद्वन्द्वं परमात्मानमीश्वरम् ॥ १६ ॥

प्रभाभिर्भासयद् रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ।
मनसालोक्य देवेशं सर्वभूतहृदि स्थितम् ॥ १७ ॥
सोऽहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते ।
हृत्सरोरुहमध्येऽस्मिन् प्रकृत्यात्मककर्णिके ॥ १८ ॥
अष्टैश्वर्यदलोपेते विद्याकेसरसंयुते ।
ज्ञाननाळे महाकन्दे प्राणा(नेन ? याम)प्रबोधिते ॥ १९ ॥
विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् ।
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीरश्वम् ॥ २० ॥
तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।
निवातदीपवत् तस्मिन् दीपितं हव्यवाहनम् ॥ २१ ॥
दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम् ।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥ २२ ॥
नीवारशूकवद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोऽहमेवेति या मतिः ॥ २३ ॥
सगुणेषूत्तमं ह्यत्र ध्यानं योगविदो विदुः ।
वैश्वानरत्वं सम्प्राप्य मूर्त्तिं तेनैव गच्छति ॥ २४ ॥
अथवा मण्डले पश्यन्नादित्यस्य महाद्युतेः ।
आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ॥ २५ ॥
हिरण्यश्मश्रुकेशं हिरण्मयनखं हरिम् ।
कप्यास्यासनमन्वक्त्रं(?) सृष्टिस्थित्यन्तकारिणम् ॥ २६ ॥
पद्मासनस्थितं सौम्यं प्रबुद्धाब्जनिभाननम् ।
पद्मोदरदलाभाक्षं सर्वलोकाभयप्रदम् ॥ २७ ॥

जनकं सर्वदा सर्वं + + + + + धार्मिकाः ।
भासयन्तं जगत्सर्वं दृष्ट्वा लोकैकसाक्षिणम् ॥ २८ ॥
सोऽहमस्मीति या बुद्धिः सा च (ज्ञा ? ध्याने)षु शस्यते ।
एष एव तु मोक्षस्य महामार्गस्तपोधने ! ॥ २९ ॥
ध्यानेनानेन सौरेण मुक्तिं यान्ति हि सूरयः ।
भ्रुवोर्मध्येऽन्तरात्मानं भारूपं सर्वकारणम् ॥ ३० ॥
स्थाणुवन्मूर्ध्नि पर्यन्तं मध्यदेहात् समुत्थितम् ।
जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममितौजसम् ३१ ॥
मनसालोक्य सोऽहं स्यामादित्ये ध्यानमुत्तमम् ।
अथवा बद्धपर्यङ्कः शिथिलीकृतविग्रहः ॥ ३२ ॥
शिव एव स्वयं भूत्वा नासाग्रे रोपितेक्षणः ।
निर्विकारः परं शान्तं परमात्मानमीश्वरम् ॥ ३३ ॥
भारूपममृतं ध्यायेद् भ्रुवोर्मध्ये वरानने ! ।
सोऽहमेवेति या बुद्धिः सा च ध्यानेन शस्यते ॥ ३४ ॥
अथवाष्टदलोपेते कर्णिकाकेसरान्विते ।
उन्निद्रहृदयाम्भोजे सोममण्डलमध्यमे ॥ ३५ ॥
स्वात्मानमच्छकाकारं भोक्तृरूपिणमव्ययम् ।
सुधा(रिणं ? रसं) विमुञ्चद्भिः शशिरश्मिभिरावृतम् ॥ ३६ ॥
षोडशच्छदसंयुक्तं शिरःपद्मादधोमुखात् ।
निर्गतामृतधाराभिः सहस्राभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
प्लावितं पुरुषं तत्र चिन्तयित्वा समाहितः ।
तेनामृतरसेनैव साङ्गोपाङ्गकलेबरम् ॥ ३८ ॥

अहमेव परं ब्रह्म परमात्माहमव्ययः ।
एवं यद्वेदनं तच्च सगुणध्यानमुच्यते ॥ ३९ ॥
एवं ध्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान्मृत्युजिद् भवेत् ।
वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नेव न संशयः ॥ ४० ॥
जीवन्मुक्तस्य न क्वापि दुःखावाप्तिः कथञ्चन ।
किं पुनर्नित्यमुक्तस्य मुक्तिरेव हि दुर्लभा ॥ ४१ ॥
तस्मात् त्वं च वरारोहे! फलं त्यक्त्वैव नित्यशः ।
विधिवत् कर्म कुर्वाणा ध्यानमेव सदा कुरु ॥ ४२ ॥
अन्यान्यपि बहून्याहुर्ध्यानानि मुनिसत्तमाः ।
मुख्यान्युक्तानि चैतेभ्यो जघन्यानीतराणि च ॥ ४३ ॥
सगुणं गुणहीनं वा विज्ञायात्मानमात्मनि ।
सन्तः समाधिं कुर्वन्ति त्वमप्येवं सदा कुरु ॥ ४४ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

भगवानुवाच —

समाधिमधुना वक्ष्ये भवपापविनाशनम् ।
भवपाशनिबद्धस्य यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥ १ ॥
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्वा सा समाधिः प्रत्यगात्मनः ॥ २ ॥
ध्यायन् यथा यथात्मान तत्समाधिस्तथा तथा ।
ध्यात्वैवात्मनि संस्थाप्य नान्यथात्मा यथा भवेत् ॥ ३ ॥

एवमेव हि सर्वत्र यत्प्रपन्नस्तु यो नरः ।
तदात्मा सोऽपि तत्रैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ ४ ॥
सरित्पतौ निविष्टाम्बु यथा भिन्नं फलं त्वियात् ।
तदात्मभिन्न एवात्र समाधिं समवाप्नुयात् ॥ ५ ॥
एतदुक्तं भवत्यत्र गार्गि! ब्रह्मविदां वरे! ।
कर्मैव विधिवत्कुर्वन् कामसङ्कल्पवर्जितम् ॥ ६ ॥
वेदान्तेष्वर्थशास्त्रेषु सुशिक्षितमनाः सदा ।
गुरुणा नोपदिष्टार्थं युक्त्युपेतं वरानने! ॥ ७ ॥
विद्वद्भिर्धर्मशास्त्रज्ञैर्विचार्य च पुनः पुनः ।
तस्मिन् सुशिक्षितार्थेषु सुशिक्षितमनाः सदा ॥ ८ ॥
योगमेवाभ्यसेन्नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
ततस्त्वाभ्यन्तरैश्चिह्नैर्बाह्यैर्वा कालसूचकैः ॥ ९ ॥
विनिश्चित्यात्मनः कालमन्यैर्वा परमार्थवित् ।
निर्भयः सुप्रसन्नात्मा मृत्योस्तु विजितेन्द्रियः ॥ १० ॥
स्वकर्मनिरतः शान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
प्रदाय विद्यां पुत्रस्य मन्त्रं च विधिपूर्वकम् ॥ ११ ॥
संस्कारं ह्यात्मनः सर्वमुपदिश्य तदानघ ।
पुण्यक्षेत्रे शुचौ देशे विद्वद्भिः सुसमावृते ॥ १२ ॥
भूमौ कुशान् समास्तीर्य कृष्णाजिनमथापि वा ।
तस्मिंस्तु बद्धपर्यङ्को मन्त्रैर्बद्धकलेबरः ॥ १३ ॥
आसने नान्यधीरास्ते प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
पुनर्द्वाराणि संयम्य गार्ग्यस्मिन् ब्रह्मणः पुरे ॥ १४ ॥

उन्निद्रहृदयाम्भोजे (प्राणायामप्र)बोधिते ।
व्योम्नि तस्मिन् प्रभारूपे त्वद्रूपे सर्वकारणे ॥ १५ ॥
नमोवृत्तिं सुसंयम्य परमात्मनि पण्डिते! ।
मूर्ध्न्यर्धायात्मनः प्राणं भ्रुवोर्मध्येऽथवानघे! ॥ १६ ॥
ओमित्येकाक्षरं बुद्ध्या व्याहरन् सुसमाहितः ।
शरीरं सन्त्यजेद्विप्रे! आत्मैवाभून्नरोत्तमः ॥ १७ ॥
तस्मिन् समभ्यसेद् विद्वान् योगेनैवात्मदर्शनम् ।
तदेव संस्मरन् विद्वांस्त्यजेदन्ते कलेबरम् ॥ १८ ॥
यं यं सम्यक् स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेव भजेद्भावमिति योगविदो विदुः ॥ १९ ॥
त्वं चैवं योगमास्थाय ध्यायन्त्यात्मानमात्मना ।
स्वधर्मनिरता शान्ता त्यज ते देहमात्मनः ॥ २० ॥
केनैवज्ञा सहैतेन (?) नित्यकर्माणि कुर्वतः ।
निवृत्तफलसङ्गस्य मुक्तिर्गार्गि! करे स्थिता ॥ २१ ॥
यदुक्तं ब्रह्मणा पूर्वं कर्मयोगसमुच्चयम् ।
तदेतत्कथितं सर्वं साङ्गोपाङ्गं विधानतः ॥ २२ ॥
त्वं चैवं योगमभ्यस्य यमाद्यष्टाङ्गसंयुतम् ।
निर्वाणं पदमासाद्य सप्रपञ्चं परित्यज ॥ २३ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

इत्येवमुक्ता विधिना याज्ञवल्क्येन धीमता ।
ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

गार्ग्युवाच —

योगयुक्तनरस्यास्य सन्ध्ययोर्वाथवा सदा ।
वैधं कर्म कथं कुर्यान्निष्कृतिः का त्वकुर्वतः ॥ २ ॥

इत्युक्ते ब्रह्मवादिन्या ब्रह्मविद् ब्राह्मणस्तदा ।
तां समालोक्य भगवानिदमाह नरोत्तमः ॥ ३ ॥

योगयुक्तमनुष्यस्य सन्ध्ययोर्वाथवा निशि ।
यत्कर्त्तव्यं वरारोहे ! योगेन खलु तत्कृतम् ॥ ४ ॥

आत्माग्निहोत्रवह्नौ तु प्राणयज्ञैर्विधीयते ।
विशुद्धचित्तहविषा विध्युक्तं कर्म कुर्वतः ॥ ५ ॥

निष्कृतिस्तस्य किं बाले ! कृतकृत्यस्तथा खलु ।
वियोगे सति सम्प्राप्ते जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६ ॥

(विध्यु)क्तमेवं कर्त्तव्यं ब्रह्मविद्भिश्च नित्यशः ।
वियोगकाले योगी च दुःखमित्येव यस्त्यजेत् ॥ ७ ॥

कर्माणि तस्य निलयो निलयं परिकीर्त्तितः ।
तद्देहिनां यतः शक्यास्त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ ८ ॥

तस्मादामरणान्तं तत् कर्त्तव्यं योगिनां सदा ।
त्वं चैव मात्ययाद् गार्गि ! वैधं कर्म समाचरेः ॥ ९ ॥

योगेन परमात्मानं यजंस्त्यज कलेबरम् ।
इत्येवमुक्त्वा भगवान् याज्ञवल्क्यस्तपोनिधिः ॥ १० ॥

ऋषीनालोक्य नेत्राभ्यां वाक्यमेतदभाषत ।
सन्ध्यामुपास्य विधिवत् पश्चिमां सुसमाहिताः ॥ ११ ॥

गच्छन्तु साम्प्रतं सर्वे ऋषयः स्वाश्रमं प्रति ।
इत्येवमुक्ता मुनिना मुनयः संशितव्रताः ॥ १२ ॥
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च गौतमश्चाङ्गिरास्तथा ।
अगस्त्यो नारदश्चैव वाल्मीकिर्बादरायणः ॥ १३ ॥
पैङ्गिर्दीर्घतमा व्यासः शौनकश्च तपोधनः ।
भार्गवश्चैव + + + भरद्वाजस्तपोधनः ॥ १४ ॥
तपस्विनस्तथाचान्ये वेदवेदाङ्गवेदिनः ।
याज्ञवल्क्यं समभ्यर्च्य गीर्भिः पुण्याभिरुत्तमाः ॥ १५ ॥
ते यान्ति मुनयः सर्वे स्वाश्रमेषु यथागतम् ।
गतेषु स्वाश्रमं तेषु तापसेषु तपोधना ॥ १६ ॥
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ वाक्यमेतदभाषत ।

गार्ग्युवाच —

भगवन् ! सर्वशास्त्रज्ञ ! सर्वभूतहिते रत ! ॥ १७ ॥
योगं मोक्षाय योगीन्द्र ! भवद्भिर्भाषितं तु यत् ।
यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तयोगयुक्तेस्तु साधनम् ॥ १८ ॥
तदेतद्विस्मृतं सर्वं सर्वज्ञ ! तव सन्निधौ ।
योगं ममोपदिश्यात्र साङ्गं संक्षेपरूपकम् ॥ १९ ॥
(श्रो ? त्रा)तुमर्हति सर्वज्ञ ! जन्मसंसारसागरात् ।
इत्युक्तो ब्रह्मवा + + + + + + + + + दा ॥ २० ॥
आलोक्य कृपणां दीनां स्मितपूर्वमभाषत ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेते भूमौ गार्गि ! वरानने ! ॥ २१ ॥
वक्ष्यामि ते समासेन योगं सम्प्रति तच्छृणु ॥ २१½ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये एकादशोऽध्यायः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

याज्ञवल्क्य उवाच —

सव्येन गुल्फेन गुदं निरुध्य
सव्येतरेणैव निपीड्य सन्धिम् ।
सव्येतरं न्यस्य करेतरेऽस्मिन्
शिखां समालोकय पावकस्य ॥ १ ॥

आयुर्विघातकृत् प्राणो निरुद्धस्त्वासनेन तु ।
याति गार्गि ! तदापानात् कुलं वह्नेः शनैश्शनैः ॥ २ ॥
वायुना वातितो वह्निरपानेन शनैः शनैः ।
ततो ज्वलति सर्वेषां स्वकुले देहमध्यमे ॥ ३ ॥
प्रातःकाले प्रदोषे च निशीथे च समाहितः ।
मुहूर्त्तमभ्यसेदेवं यावत्पञ्चादिनद्वयम् ॥ ४ ॥
ततस्त्वात्मनि विप्रेन्द्रे ! प्रत्ययानि पृथक् पृथक् ।
सम्भवन्ति तदा तस्य जितो यस्य समीरणः ॥ ५ ॥
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्त्तिनः ।
नादाभिव्यक्तिरित्येते चिह्नान्यादौ भवन्ति हि ॥ ६ ॥
अल्पमूत्रपुरीषः स्यात् षण्मासे वत्सरे तथा ।
आसने वाहने पश्चान्न भेतव्यं त्रिवत्सरात् ॥ ७ ॥
ततोऽनिलं वायुसखेन सार्धं
धिया समारोप्य निरोधयेत् तम् ।
ध्यायन् सदा चक्रिणमप्रबुद्धं
नाभौ सदा कुण्डलिनीनिविष्टम् ॥ ८ ॥

सिरां समावेष्टय + + + ध्या-
मन्याश्च भोगेन सिरास्तथैव ।
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक्
पथश्च संयम्य मरुद्गणानाम् ॥ ९ ॥
प्रसुप्तनागेन्द्रवदुच्छ्वसन्ती
सदा प्रबुद्धा प्रभया ज्वलन्ती ।
नाभौ सदा तिष्ठति कुण्डली सा
तिर्यक्षु देहेषु तथेतरेषु ॥ १० ॥
वायुना विहृतवह्निशिखाभिः
कन्दमध्यगतनाडिषु संस्थाम् ।
कुण्डलीं दहति यस्त्वहिरूपां
संस्मरन् नरवरस्तु स एव ॥ ११ ॥
सन्तप्तो वह्निना तत्र वायुना च प्रचोदितः ।
प्रसार्य फणभृद्भोगं प्रबोधं याति तत्तथा ॥ १२ ॥
बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये
प्राणाः सुसम्भूय कलेबरेऽस्मिन् ।
चरन्ति सर्वे सहवह्निनैव
यथा पटे तन्तुगतिस्तथैव ॥ १३ ॥
जित्वैवं चक्रिणः स्थानं सदा ध्यानपरायणः ।
ततो नयेदपानं तु नाभेरूर्ध्वमिदं स्मरन् ॥ १४ ॥
वायुर्यथा वायुसखेन सार्धं
नाभिं त्वतिक्रम्य गतः शरीरे ।

रोगाश्च नश्यन्ति बलाभिवृद्धिः
कान्तिस्तदानीमभवत् प्रबुद्धे ॥ १५ ॥
ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः
पावकेन सह यान्ति समूह्य ।
केन चेदिह वदामि तवाहं
वीक्षणं हृदि सुदीपशिखायाः ॥ १६ ॥
निरोधितः स्याद्धृदयेन सार्धं
मध्ये तदा वायुसखेन वायुः ।
सहस्रपत्रस्य मुखं प्रविश्य
कुर्यात् पुनस्तूर्ध्वमुखं द्विजेन्द्रे ! ॥ १७ ॥
प्रबुद्धहृदयाम्भोजे + + + + + + ।
बलाकाश्रेणिवद् व्योम्नि विरराज समीरणः ॥ १८ ॥
आभ्रूमध्यात् सुषुम्नायां संस्थितो हुतभुक् तदा ।
सजलाम्बुदमालासु विद्युल्लेखेव राजते ॥ १९ ॥
प्रबुद्धहृत्पद्मनि संस्थितेऽग्नौ
प्राणे च तस्मिन् प्रविवेशिते तु ।
चिह्नानि बाह्यानि तथान्तरेऽपि
दीपानि दृश्यानि भवन्ति सद्यः ॥ २० ॥
वायुमुन्नय तत्र सवह्निं
व्याहरन् प्रणवमत्र सबिन्दुम् ।
बालचन्द्रसदृशे तु ललाटे
बालचन्द्रमवलोकय बुद्ध्या ॥ २१ ॥

सवह्निं वायुमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये धिया तदा ।
ध्यायेदनन्यधीः पश्चादन्तरात्मानमन्तरे ॥ २२ ॥

मध्यमेऽपि हृदयेऽपि ललाटे
स्थाणुवज्ज्वलितलिङ्गमदृश्यम् ।
अस्ति गार्गि ! परमात्ममिदं त्वं
पश्य पश्य मनसा रुचिरूपम् ॥ २३ ॥

ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे च
यः पश्यति प्राणमयीं प्रभां तु ।
शङ्कित सदा दीपवदुज्ज्वलन्तीं
सम्पश्यति ब्रह्मविदेकदृष्ट्या ॥ २४ ॥

मनो लयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम् ।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावं भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम् ॥ २५ ॥

कम्पनं च तथा मूर्ध्नो मनसैवात्मदर्शनम् ।
देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणि च चन्द्रमाः ॥ २६ ॥

ऋषयः सिद्धगन्धर्वाः प्रकाशन्ति च योगिनाम् ।
भ्रुवोऽन्तरे विष्णुपदे रुचौ तु
मनो लयं यावदियात् प्रबुद्धे ।
तावत् समभ्यस्य मुखस्य मध्ये
सुखं सदा संस्मर पूर्णरूपम् ॥ २७ ॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे
जीवे च तस्मिन्नमृते च संस्थे ।
तस्मिंस्तदा याति मनो लयं चे-
न्मुक्तेः समीपं तदिति ब्रुवन्ति ॥ २८ ॥

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे
विशुद्धबुद्धौ च तदात्मनिष्ठे ।
आनन्दमय्य + + + स्मि सत्यं
त्वं गार्गि! पश्याऽद्य विशुद्धबुद्ध्या ॥ २९ ॥

एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं
यमादिभिर्युक्ततरं मिताशी ।
आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टां
मुक्तिं व्रज ब्रह्मपुरे पुनस्त्वम् ॥ ३० ॥

भूतानि यस्मात् प्रभवन्ति गार्गि!
येनैव जीवन्ति चराचराणि ।
जातानि यस्मिन् विलयं प्रयान्ति
तद् ब्रह्म विद्धीति वदन्ति सर्वे ॥ ३१ ॥

हृत्पङ्कजे व्योम्नि यदेकरूपं
सत्यं सदानन्दमयं सुसूक्ष्मम् ।
तद् ब्रह्म निर्भासमयो गुहाया-
मिति श्रुतेश्चापि समामनन्ति ॥ ३२ ॥

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्य विशुद्धबुद्ध्या
प्रयाणकाले च विहीनशोका ॥ ३३ ॥

प्रभञ्जनं मूर्ध्निगतं सवह्निं
धिया समासाद्य गुरूपदेशात् ।

मूर्धानमुद्भिद्य पुनः खमध्ये
प्राणं त्यजोङ्कारमनुस्मर त्वम् ॥ ३४ ॥
ईप्सया यदि शरीरविसर्गं
ज्ञातुमिच्छ(ति ?सि) सखे! तव वक्ष्ये ।
व्याहर प्रणवमुन्नय मूर्ध्नि
भिद्य योजय सृजात्मनि कायम् ॥ ३५ ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवान् रहस्ये
रहस्यजं मुक्तिकरं तु तस्याः ।
योगामृतं बन्धविनाशहेतुं
समाधिमास्ते रहसि द्विजेन्द्रः ॥ ३६ ॥
सा तं सुसम्पूज्य मुनिं महान्तं
विद्यामृतं ब्रह्मविदां वरिष्ठम् ।
गीर्भिः प्रणामैश्च सतां वरिष्ठा
सदा मुदं प्राप वरां विशुद्धाम् ॥ ३७ ॥
योगं सुसंगृह्य तदा रहस्ये
रहस्यजं मुक्तिकरं तु सा च ।
संसार + + + + दा मुदान्विता
वने रहस्यावसथे विवेश ॥ ३८ ॥
येन प्रपञ्चं परिपूर्णमेतद्
यैनैव विश्वं प्रतिभाति सर्वम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्नि जातं
पश्यन् समास्ते हृदि मूर्ध्नि चाहम् ॥ ३९ ॥

यदेकमव्यक्तमनन्तमच्युतं
प्रपञ्चजन्मादिकृदप्रमेयम् ।
तं वासुदेवं श्रुतिमूर्ध्निजातं
पश्यन् समास्ते हृदि मूर्ध्नि चाहम् ॥ ४० ॥

एतत् पवित्रं परमं योगमष्टाङ्गसंयुतम् ॥ ४१ ॥
ज्ञानं पुण्यतमं गुह्यं कीर्तितं ते वरानने ।
य इदं शृणुयान्नित्यं योगाख्यानं नरोत्तमः ॥ ४२ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यक् ज्ञानी भविष्यति ।
यस्त्वेतच्छ्रावयेद् विद्वान्नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥ ४३ ॥
एकजन्मकृत पापं दिनेनैकेन नश्यति ।
शृणुयाद् यः सकृद्वापि योगाख्यानं नरोत्तमः ॥ ४४ ॥
अज्ञानजनितं पापं सर्वं तस्य प्रणश्यति ।
अनुतिष्ठन्ति ये नित्यमेतज्ज्ञानमतन्द्रिताः ॥ ४५ ॥
नित्यकर्माणि तं दृष्ट्वा देवाश्च प्रणमन्ति हि ।
तस्माद् ज्ञानेन देहान्तं नित्यकर्म यथाविधि ॥ ४६ ॥
कर्तव्यं देहिनां गार्गि! योगश्च भवभीरुणा ॥ ४६½ ॥

इति योगयाज्ञवल्क्ये द्वादशोऽध्यायः ॥
समाप्तमिदं योगशास्त्रम् ॥

शुभं भूयात् ।

LIST OF SANSKRIT PUBLICATIONS FOR SALE.

	Rs.	As.	P.
भक्तिमञ्जरी Bhaktimanjari (Stuti) by H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārāja.	1	0	0
स्यानन्दूरपुरवर्णनप्रबन्धः Syanandurapuravarnana-prabandha (Kāvya) by H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārāja, with the commentary Sundarī of Rājarāja Varma Koil Tampurān.	2	0	0

Trivandrum Sanskrit Series.

No. 1—**दैवम् Daiva** (Vyākaraṇa) by Deva with Puruṣakāra of Kṛṣṇalīlāśukamuni (*out of stock*).	1	0	0
No. 2—**अभिनवकौस्तुभमाला-दक्षिणामूर्त्तिस्तवौ Abhinavakaustubhamala and Daksinamurtistava** by Kṛṣṇalīlāśukamuni (*out of stock*).	0	2	0
No. 3—**नलाभ्युदयः Nalabhyudaya** (Kāvya) by Vāmana Bhaṭṭa Bāṇa (*second edition*).	0	4	0
No. 4—**शिवलीलार्णवः Sivalilarnava** (Kāvya) by Nīlakaṇṭa Dīkṣita (*out of stock*).	2	0	0
No. 5—**व्यक्तिविवेकः Vyaktiviveka** (Alaṅkāra) by Mahima-Bhaṭṭa with commentary (*out of stock*).	2	12	0
No. 6—**दुर्घटवृत्तिः Durghatavrtti** (Vyākaraṇa) by Śaraṇadeva (*out of stock*).	2	0	0
No 7—**ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका Brahmatattvaprakasika** (Vedānta) by Sadāśivendrasarasvatī (*out of stock*).	2	4	0
No. 8—**प्रद्युम्नाभ्युदयम् Pradyumnabhyudaya** (Nāṭaka) by Ravi Varma Bhūpa (*out of stock*).	1	0	0

	RS.	AS.	P.
No. 9—विरूपाक्षपञ्चाशिका **Virupaksapancasika** (Vedānta) by Virūpākṣanātha with the commentary of Vidyācakravartin (*out of stock*).	0	8	0
No. 10—मातङ्गलीला **Matangalila** (Gajalakṣaṇa) by Nīlakaṇṭha (*out of stock*).	0	8	0
No. 11—तपतीसंवरणम् **Tapatisamvarana** (Nāṭaka) by Kulaśekhara Varma with the commentary of Śivarāma (*out of stock*).	2	4	0
No. 12—परमार्थसारम् **Paramarthasara** (Vedānta) by Ādiśeṣa with the commentary of Rāghavānanda (*out of stock*).	0	8	0
No. 13—सुभद्राधनञ्जयम् **Subhadradhananjaya** (Nāṭaka) by Kulaśekhara Varma with the commentary of Śivarāma (*out of stock*).	2	0	0
No. 14—नीतिसारः **Nitisara** (Nīti) by Kāmandaka, with the commentary of Śankarārya (*out of stock*).	3	8	0
No. 15—स्वप्नवासवदत्तम् **Svapnavasavadatta** (Nāṭaka) by Bhāsa (*second edition*).	1	8	0
No. 16—प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् **Pratijnayaugandharayana** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*).	1	8	0
No. 17—पञ्चरात्रम् **Pancaratra** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*).	1	0	0
No. 18—नारायणीयम् **Narayaniya** (Stuti) by Nārāyaṇa Bhaṭṭa with the commentary of Deśamaṇgalavārya (*second edition*).	4	0	0
No. 19—मानमेयोदयः **Manameyodaya** (Mīmāmsā) by Nārāyaṇa Bhaṭṭa and Nārāyaṇa Paṇḍita (*out of stock*).	1	4	0
No. 20—अविमारकम् **Avimaraka** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*).	1	8	0
No. 21—बालचरितम् **Balacarita** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*)	1	0	0

	Rs.	As.	P.
No. 22—**मध्यमव्यायोग-दूतवाक्य-दूतघटोत्कच-कर्णभारो-रुभङ्गानि Madhyamavyayoga-Duta-vakya-Dutaghatotkaca-Karna-bhara and Urubhanga** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*).	1	8	0
No. 23—**नानार्थार्णवसंक्षेपः Nanartharnavasam-ksepa** (Kośa) by Keśavasvāmin (Part I, 1st and 2nd Kāṇḍas). (*out of stock*).	1	12	0
No. 24—**जानकीपरिणयः Janakiparinaya** (Kāvya) by Cakra Kavi (*out of stock*).	1	0	0
No. 25—**काणादसिद्धान्तचन्द्रिका Kanadasiddhanta-candrika** (Nyāya) by Gaṅgādhara-sūri (*out of stock*).	0	12	0
No. 26—**अभिषेकनाटकम् Abhisekanataka** by Bhāsa (*out of stock*).	0	12	0
No. 27—**कुमारसम्भवः Kumarasambhava** (Kāvya) by Kāḷidāsa with the two commentaries, Prakāśikā of Aruṇagirinātha and Vivaraṇa of Nārāyaṇa Paṇḍita (Part I, 1st and 2nd Sargas) (*out of stock*).	1	12	0
No. 28—**वैखानसधर्मप्रश्नः Vaikhanasadharmaprasna** (Dharmasūtra) by Vikhanas (*out of stock*).	0	8	0
No. 29—**नानार्थार्णवसंक्षेपः Nanartharnavasam-ksepa** (Kośa) by Keśavasvāmin (Part II, 3rd Kāṇḍa) (*out of stock*).	2	4	0
No. 30—**वास्तुविद्या Vastuvidya** (Śilpa) (*out of stock*).	0	12	0
No. 31—**नानार्थार्णवसंक्षेपः Nanartharnavasam-ksepa** (Kośa) by Keśavasvāmin (Part III, 4th, 5th and 6th Kāṇḍas).	1	0	0
No. 32—**कुमारसम्भवः Kumarasambhava** (Kāvya) by Kāḷidāsa with the two commentaries, Prakāśikā of Aruṇagirinātha and Vivaraṇa of Nārāyaṇa Paṇḍita (Part II, 3rd, 4th and 5th Sargas) (*out of stock*).	2	8	0

	RS.	AS.	P.
No. 33—**वाररुचसंग्रहः Vararucasangraha** (Vyākaraṇa) with the commentary Dīpaprabhā of Nārāyaṇa (*out of stock*).	0	8	0
No. 34—**मणिदर्पणः Manidarpana** (Nyāya) by Rājacūḍāmaṇimakhin.	1	4	0
No. 35—**मणिसारः Manisara** (Nyāya) by Gopīnātha.	1	8	0
No. 36—**कुमारसम्भवः Kumarasambhava** (Kāvya) by Kāḷidāsa with the two commentaries, Prakāśikā of Aruṇagirināṭha and Vivaraṇa of Nārāyaṇa Paṇḍita (Part III, 6th, 7th and 8th Sargas).	3	0	0
No. 37—**आशौचाष्टकम् Asaucastaka** (Smṛti) by Vararuci with commentary.	0	4	0
No. 38—**नामलिङ्गानुशासनम् Namalinganusasana** (Kośa) by Amarasimha with the commentary Tīkāsarvasva of Vandyaghaṭīya Sarvānanda (Part I, 1st Kāṇḍa).	2	0	0
No. 39—**चारुदत्तम् Carudatta** (Nāṭaka) by Bhāsa (*out of stock*).	0	12	0
No. 40—**अलङ्कारसूत्रम् Alankarasutra** by Rājānaka Ruyyaka with the Alaṅkārasarvasva of Mankhūka and its commentary by Samudrabandha (*second edition*).	2	8	0
No. 41—**अध्यात्मपटलम् Adhyatmapatala** (Vedānta) by Āpastamba with Vivaraṇa of Śrī Śaṅkara-Bhagavat-Pāda (*out of stock*).	0	4	0
No. 42—**प्रतिमानाटकम् Pratimanataka** by Bhāsa (*out of stock*).	1	8	0
No. 43—**नामलिङ्गानुशासनम् Namalinganusasana** (Kośa) by Amarasimha with the two commentaries, Amarakośodghāṭana of Kṣīrasvāmin and Tīkāsarvasva of Vandyaghaṭīya Sarvānanda (Part II, 2nd Kanda, 1-6 vargas).	2	8	0
No. 44—**तन्त्रशुद्धम् Tantrasuddha** by Bhaṭṭāraka Vedottama (*out of stock*).	0	4	0

	RS.	AS.	P.
No. 45—**प्रपञ्चहृदयम् Prapancahrdaya.**	1	0	0
No. 46—**परिभाषावृत्तिः Paribhasavrtti** (Vyâkaraṇa) by Nîlakaṇṭa Dîkṣita.	0	8	0
No. 47—**सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् Siddhantasiddhanjana** (Vedânta) by Kṛṣṇânanda Sarasvatî (Part I.)	1	12	0
No. 48—**सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम्** Do. Do. (Part II).	2	0	0
No. 49—**गोलदीपिका Goladipika** (Jyotiṣa) by Parameśvara.	0	4	0
No. 50—**रसार्णवसुधाकरः Rasarnavasudhakara** (Alaṅkâra) by Siṅga Bhûpâla.	3	0	0
No. 51—**नामलिङ्गानुशासनम् Namalinganusasana** (Kośa) by Amarasimha with the two commentaries, Amarakośodghâṭana of Kṣîrasvâmin and Tîkâsarvasva of Vandyaghaṭîya Sarvânanda (Part III, 2nd Kanda, 7-10 vargas).	2	0	0
No. 52—**नामलिङ्गानुशासनम् Namalinganusasana** (Kośa) by Amarasimha with the commentary Tîkâsarvasva of Vandyaghaṭîya Sarvânanda (Part IV, 3rd Kâṇḍa).	1	8	0
No. 53—**शाब्दनिर्णयः Sabdanirnaya** (Vedânta) by Prakâśâtmayatîndra.	0	12	0
No. 54—**स्फोटसिद्धिन्यायविचारः Sphotasiddhinyayavicara** (Vyâkaraṇa).	0	4	0
No. 55—**मत्तविलासप्रहसनम् Mattavilasaprahasana** (Nâṭaka) by Mahendravikramavarman. (*out of stock*).	0	8	0
No. 56—**मनुष्यालयचन्द्रिका Manusyalayacandrika** (Śilpa) (*out of stock*).	0	8	0
No. 57—**रघुवीरचरितम् Raghuviracarita** (Kâvya).	1	4	0
No. 58—**सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् Siddhantasiddhanjana** (Vedânta) by Kṛṣṇânanda Sarasvatî (Part III).	2	0	0

	RS.	AS.	P.
No. 59—नागानन्दम् **Nagananda** (Nâṭaka) by Harṣadeva with the commentary Vimarśinī of Śivarâma (*out of stock*).	3	4	0
No. 60—लघुस्तुतिः **Laghustuti** by Laghubhaṭṭâraka with the commentary of Râghavânanda.	0	8	0
No. 61—सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् **Siddhantasiddhanjana** (Vedânta) by Kṛṣṇânanda Sarasvatī (Part IV).	1	4	0
No. 62—सर्वमतसंग्रहः **Sarvamatasangraha.** (*out of stock*).	0	8	0
No. 63—किरातार्जुनीयम् **Kiratarjuniya** (Kâvya) by Bhāravî with the commentary Śabdârthadīpika of Citrabhânu (1, 2 and 3 Sargas).	2	8	0
No. 64—मेघसन्देशः **Meghasandesa** by Kâlidāsa with the commentary Pradīpa of Dakṣiṇâvartanātha.	0	12	0
No. 65—मयमतम् **Mayamata** (Śilpa) by Mayamuni (*out of stock*).	3	4	0
No. 66—महार्थमञ्जरी **Maharthamanjari** (Darśana) with the commentary Parimala of Maheśvarânanda.	2	4	0
No. 67—तन्त्रसमुच्चयः **Tantrasamuccaya** (Tantra) by Nârâyaṇa with the commentary Vimarśinī of Śaṅkara (Part I, 1–6 Paṭalās) (*out of stock*).	3	4	0
No. 68—तत्त्वप्रकाशः **Tattvaprakasa** (Āgama) by Śrī Bhojadeva with the commentary Tâtparyadīpikā of Śrī Kumāra	1	12	0
No. 69—ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः **Isanasivagurudevapaddhati** (Tantra) by Īśânaśivagurudevamiśra Part I, Sâmānyapâda).	1	8	0
No. 70—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पः **Aryamanjusrimulakalpa** (Part I).	2	8	0

	RS.	AS.	P.
No. 71—तन्त्रसमुच्चय: **Tantrasamuccaya**(Tantra) by Nârâyaṇa with the commentary Vimarśinî of Śaṅkara(Part II, 7—12 Paṭalās) (*out of stock*).	3	8	0
No. 72—ईशानशिवगुरुदेवपद्धति: **Isanasivagurudevapaddhati** (Tantra) by Îśānaśivagurudevamiśra (Part II, Mantrapāda),	4	0	0
No. 73—ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश: **Isvarapratipattiprakasa** (Vedânta) by Madhusūdanasarasvatî.	0	4	0
No. 74—याज्ञवल्क्यस्मृति: **Yajnavalkyasmrti** with the commentary Bâlakrîḍâ of Viśvarûpâcârya. (Part I — Âcâra and Vyavahâra Adhyâyās).	3	4	0
No. 75—शिल्परत्नम् **Silparatna** (Śilpa) by Śrîkumâra (Part I).	2	12	0
No. 76—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प: **Aryamanjusrimulakalpa** (Part II).	3	0	0
No. 77—ईशानशिवगुरुदेवपद्धति: **Isanasivagurudevapaddhati** (Tantra) by Îśānaśivagurudevamiśra (Part III, Kriyāpāda 1—30 Paṭalās).	3	0	0
No. 78—आश्वलायनगृह्यसूत्रम् **Asvalayanagrhyasutra** with the commentary Anāvilā of Haradattācārya.	2	6	0
No. 79—अर्थशास्त्रम् **Arthasastra** of Kauṭalya with commentary by Mahāmahopādhyāya T. Gaṇapati Śāstri (Part I, 1 & 2 Adhikaraṇās).	3	12	0
No. 80—अर्थशास्त्रम् **Do.** Do. (Part II, 3—7 Adhikaraṇās).	4	0	0
No. 81—याज्ञवल्क्यस्मृति: **Yajnavalkyasmrti** with the commentary Bâlakrīḍa of Viśvarūpācārya (Part II. Prâyaścittâdhyâya).	2	0	0
No. 82—अर्थशास्त्रम् **Arthasastra** of Kauṭalya with commentary by Mahāmahopādhyāya T. Gaṇapati Śāstri (Part III, 8—15 Adhikaraṇās).	3	4	0

	RS.	AS.	P.
No. 83—ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः **Isanasivagurudevapaddhati** (Tantra) by Īśānaśivagurudevamiśra (Part IV, Kriyāpāda 31–64 Paṭalās and Yogapāda).	3	8	0
No. 84—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पः **Aryamanjusrimulakalpa** (Part III).	2	0	0
No 85—विष्णुसंहिता **Visnusamhita** (Tantra).	2	8	0
No. 86—भरतचरितम् **Bharatacarita** (Kâvya) by Kṛṣṇakavi.	1	8	0
No. 87—सङ्गीतसमयसारः **Sangitasamayasara** (Saṅgīta) of Saṅgītâkara Pârśvadeva.	1	2	0
No. 88—काव्यप्रकाशः **Kavyaprakasa** (Alaṅkâra) of Mammaṭabhaṭṭa with the two commentaries the Sampradāyaprakāśinī of Śrī Vidyācakravartin and the Sâhityacûdâmaṇi of Bhaṭṭagopâla (Part I, 1–5 Ullâsās).	3	0	0
No. 89—स्फोटसिद्धिः **Sphotasiddhi** (Vyākaraṇa) by Bharatamiśra.	0	8	0
No. 90—मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम् **Mimamsaslokavartika** with the commentary Kāśikā of Sucaritamiśra (Part I).	2	8	0
No. 91—होराशास्त्रम् **Horasastra** of Varāhamihirācārya with the Vivaraṇa of Rudra.	3	0	0
No. 92—रसोपनिषत् **Rasopanisat.**	2	0	0
No. 93—वेदान्तपरिभाषा **Vedantaparibhasa** (Vedānta) of Dharmarājādhvarīndra with the commentary Prakāśika of Peddādīkṣita.	1	8	0
No. 94—बृहद्देशी **Brihaddesi** (Saṅgīta) of Mataṅgamuni.	1	8	0
No. 95—रणदीपिका **Ranadipika** (Jyotiṣa) of Kumāragaṇaka.	0	4	0

	RS.	AS.	P.
No. 96—ऋक्संहिता **Rksamhita** with the Bhāṣya of Skandasvāmin and the commentary of Veṅkaṭamādhavārya (Part I, 1st Adhyāya in 1st Aṣṭaka).	1	8	0
No. 97—नारदीयमनुसंहिता **Naradiyamanusamhita** (Smṛti) with Bhāṣya of Bhavasvāmin.	2	0	0
No. 98—शिल्परत्नम् **Silparatna** (Śilpa) by Śrīkumāra. (Part II)	2	8	0
No. 99—मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम् **Mimamsaslokavartika** (Mīmāmsā) with the commentary Kāśikā of Sucaritamiśra (Part II).	2	0	0
No. 100—काव्यप्रकाशः **Kavyaprakasa** (Alaṅkāra) of Mammaṭabhaṭṭa with the two commentaries, Sampradāyaprakāśinī of Śrīvidyācakravartin and Sāhityacūḍāmaṇi of Bhaṭṭagopāla. (Part II, 6–10 Ullāsās).	5	0	0
No. 101—आर्यभटीयम् **Aryabhatīya** (Jyotiṣa) of Āryabhaṭācārya with the Bhāṣya of Nīlakaṇṭhasomasutvan (Part I. Gaṇitapāda).	2	8	0
No. 102—दत्तिलम् **Dattila** (Saṅgīta) of Dattilamuni.	0	4	0
No. 103—हंससन्देशः **Hamsasandesa** (Vedānta) with commentary.	0	8	0
No. 104—साम्बपञ्चाशिका **Sambapancasika** (Stuti) with commentary.	1	0	0
No. 105—निधिप्रदीपः **Nidhipradipa** of Siddhaśrikaṇṭhaśambhu.	0	4	0
No. 106—प्रक्रियासर्वस्वम् **Prakriyasarvasva** (Vyākaraṇa) of Śrī Nārāyaṇa Bhatta with commentary (Part I.)	1	0	0

	Rs.	As.	P.
No. 107—काव्यरत्नम् **Kavyaratna** (Kāvya) of Arhaddāsa	0	12	0
No. 108—बालमार्तण्डविजयम् **Balamartanda-vijaya** (Nāṭaka) of Devarājakavi.	1	8	0
No. 109—न्यायसारः **Nyayasara** with the commentary of Vāsudevasūri.	1	8	0
No. 110—आर्यभटीयम् **Aryabhaṭiya** (Jyotiṣā) of Āryabhaṭācārya with the Bhāṣya of Nīlakaṇṭhasomasutvan.(Part II. Kālakriyāpāda)	1	0	0
No. 111—हृदयप्रियः **Hridayapriya** (Vaidyaka) by Parameśvara,	3	0	0
No. 112—कुचेलोपाख्यानम् अजामिलोपाख्यानं च । **Kucelopakhyana and Ajamilo-pakhyana** (Saṅgīta) by H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārāja.	0	4	0
No. 113—सङ्गीतकृतयः **Sangitakrtis** (Gāna) of H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārāja.	1	0	0
No. 114—साहित्यमीमांसा **Sahityamimamsa** (Alaṅkāra)	1	0	0
No. 115—ऋक्संहिता **Rksamhita** (with the Bhāṣya of Skandasvāmin and the commentary of Veṅkaṭamādha-vārya) (Part II 2nd Adhyāya in Ist Aṣṭaka.)	1	8	0
No. 116—वाक्यपदीयम् **Vakyapadiya** (Vyākaraṇa) with the commentary Prakīrṇaka-prakāśa oy Helarāja son of Bhūtirāja. (Part I).	1	8	0

	Rs.	As.	P.
No. 117—**सरस्वतीकण्ठाभरणम् Sarasvatikanta-bharana** (Vyākaraṇa) by Bhojadeva with the commentary of Śrī Nārāyaṇa Daṇḍanātha. (Part I).	1	8	0
No. 118—**बालरामभरतम् Balaramabharata** (Nāṭya) by Bālarāma Varma Vanci Māhāraja.	2	8	0
No. 119—**विवेकमार्तण्डः Vivekamarthanda** (Vedānta) of Viśvarūpadeva	0	8	0
No. 120—**शौनकीयम् Saunakiya.** (Smṛti)	0	8	0
No 121—**वैखानसागमः Vaikhanasagama** (Tantra) of Marīci.	2	0	0
No. 122—**प्रबोधचन्द्रोदयम् Prabodhacandrodaya** (Nāṭaka) by Kṛṣṇamiśrayati with the commentary Nāṭakā-bharaṇa of Śrī Govindāmṛta-bhagavān.	2	0	0
No. 123—**सङ्गामविजयोदयः Sangramavijayo-daya**(Jyotiṣa).	2	0	0
No. 124—**हरमेखला Haramekhala** (Vaidyaka) of Māhuka with commentary (Part I. chapters 2, 3 & 4)	1	8	0
No. 125—**कोकसन्देशः Kokasandesa** (Kāvya) by Viṣṇutrātā.	0	8	0
No. 126—**करणपद्धतिः Karanapaddhati** (Jyotiṣa).	0	4	0
No. 127—**सरस्वतीकण्ठाभरणम् Sarasvatikanta-bharana** (Vyākaraṇa) by Bhojadeva with the commentary of Śrī Nārāyaṇa Daṇḍanātha. (Part II).	1	8	0
No. 128—**भृङ्गसन्देशः Bhringasandesa** (Kāvya) by Vāsudeva.	0	6	0
No. 129—**हंससन्देशः Hamsasandesa** (Kāvya)	0	4	0

	Rs.	As.	P.
No. 130—**महानयप्रकाशः Mahanayaprakasa** (Vedānta) by Abhinavaguptācārya.	0	8	0
No. 131—**वृत्तवार्तिकम् Vrttavartika** (Chandas) by Rāmapāṇivāda.	1	8	0
No. 132—**तन्त्रोपाख्यानम् Tantropakhyana** (Kāvya)	0	6	0
No. 133—**उदयवर्मचरितम् Udayavarmacarita.**	1	0	0
No. 134—**योगयाज्ञवल्क्यम् । Yogayajnavalkya**	0	4	0

Apply to:—

The Superintendent,
Government Press,
Trivandrum.

योगीराज पू. श्री. स्वामी सीतारामदासजी महाराजकृत

अष्टांग-योग

४०५

सम्पादक

रा. मो. बेलूरकर, ग्रामगीताचार्य

Scanned by CamScanner

ग्रंथार्पण

श्री श्री १००८ भगवान योगीश्वर
राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराज

आप जिनपर आत्मवत् प्रेम करते थे। मेरा भगवान। मेरा सखा। मेरे राम कहते थे। एवं वह भी 'दोऊँ नाही' कहते थे। योग शिरोमणी तत्वमसी के सही प्रयोगी। जनता में जनार्दन देखनेवाला महान द्रष्टा, मानवता, एकात्मता और विश्व शांतीके उद्‌गाता, सच्चा जीवनयोगी, योगीश्वर, राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराजजी के चरणारबिंद में समर्पण!

—संपादक

Scanned by CamScanner

।। पूज्यं श्री स्वामीजी प्रसन्न।।

प्रकाशक का हृदगत

योग यह शब्द युज धातु से निर्माण हुआ है। और उसका अर्थ है ऐक्य या संयोग प्राप्त करना। जिव–शिव का मीलन होना। योगसाधना भारतवर्ष का सबसे बडा धन है। योग यह विषय सागर के समान है। किंतु हमारे भगवान पूज्य श्री स्वामीजी का यह 'अष्टांग योग 'गागर में सागर' है। बृहद् विषय थोडे में समा लेते है वह महापुरूष होते है। संत होते है। और छोटे से विषय को बडा बनाने की कोशिश करते है वह पंडित होते है। पूज्य स्वामीजी भारत वर्ष का वैभव है। आप भक्ति योग के अधिकारी थे। हमारा परमभाग्य है की ऐसे महापुरूषों का हमें दर्शन हुआ।

मिलना कठीन है संत का, बडे भाग से पाते कही।
गर पा गये संजोग से, तो संगती मिलती नही।।
सतसंग जिनको पा गया, तो जन्म का साफल्य है।
अधिकार उनका क्या कहूँ, वह शहनशहा के तुल्य है।।

यह अष्टांग योग १९७० में प्रकाशित हुआ था। आज दस साल पूर्व ही प्रथमावृत्ति समाप्त हो चुकी थी। प्रेमियों की दिनदिन मांग बढ रही वह देखकर हमारे पिताश्री ने इनका पुनर्मुद्रण करने का निश्चित किया। आज की महंगाई देखकर किताब छपवाना बडा कठीन हुआ है। वही कारण ग्रंथ का मूल्य बढाना पडा, तदर्थ वाचकवृंद, प्रेमी या परिवार के लोक क्षमा करेंगे। जयगुरू!

वरूड,
दि. १५/३/९८

आपका
–माणिकदास रा. बेलूरकर

Scanned by CamScanner

श्री गुरुदेव इलेक्ट्रॉनिक्स

सम्पादकीय

श्री श्री १००८ भगवान, योगीराज, पूज्य स्वामी सितारामदासजी महाराज योग मार्तंड थे। योग शास्त्र मे तो वे साक्षात महर्षि पातंजलि के ही अवतार थे। आप जितासनी एवं दीर्घासनी थे। आपने खेचरी मुद्रा साध्य की थी। सन १८५७ के पूर्व से आप भारत देखते आये दीर्घायू महापुरूष थे। पूज्य स्वामीजीही एक स्वयं चमत्कार थे। पुरे भारतवर्ष में आपको सब 'स्वामीजी' ही कहते थे। आपकी अलौकिक शक्ति थी। यह शताब्दी में समुचे विश्व में ऐसा योगी महापुरूष निर्माण नहीं हुआ। आपका योगाभ्यास एवं दिनचर्या जिनको ज्ञात है वह हमारी यह वाणी को सत्य मानेगा। झाँसी की रानी का ब्याह, युद्ध हमने नजदिक से देखा। रामकृष्ण परमहंस को छोटी उमरमें ही देखा। मैं घुमता था तब भारत की परिस्थिती ऐसी थी। आदि भारत के इतिहास का चित्र कभी कभी स्वामीजी की मुखरविंद से निकल जाता था। तो पता चलता था की पूज्य स्वामीजी की उमर कितने साल की है। स्वामीजी का जीवन उच्च कोटी का था। ऐसे ही महापुरूष विश्व के सच्चे आधारस्तंभ होते है। जगत कल्याण के हेतु ही ऐसे महामानव का अवतार होता है। आपके सखा राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराज आपके योगाभ्यास और अधिकार की साक्ष देते है।

यह योगी अति निर्भय प्रिय है, राम उपासक भाई।
अष्ट प्रहर अभ्यास समाधि, ध्यान मगन गुण गाई।।

Scanned by CamScanner

सतयुगसी आयु है, जिनकी, समझत नाही दिखाई।
मेरे परम हृदय के बन्धु, कहे तुकड्या दोऊँ नाही।।

आपकी भाषा स्वतंत्र थी। इस ग्रंथ में 'ताते, जवन, तवन, तीस ऐसे शब्द आये है वह हमने वैसे ही रखे है। यह ग्रंथ को स्वामीजीने जैसा लिखा है वैसा ही रखा है। आपका भाषण, प्रवचन अलगही था। सिद्धांत, दृष्टांत स्वतंत्रही थे। आपने जो न सुना हो वह पूज्य स्वामीजी के सत्संग में मिलता था। और वह सब था स्वानुभव।

पूज्य स्वामीजी स्वानुभूति के भंडार थे। रामायणपर आप बोलते समय आप प्रभु श्रीरामजी के साथ थे ऐसा महसूस होता था। १६० वर्ष की उम्र होते हुए भी आप रात को देड-दो बजे जागते थे। सारी रात योगाभ्यास एवं अपने प्यारे की याद में व्यतित होती थी। आपकी दिनचर्या बडी ही कठोर थी। उसमें पल का भी फर्क नही पडता था। आप सिर्फ योगाभ्यास में ही लगे नहीं रहते थे तो आपने पहाडों में उत्तम खेती की। लाखों लोगों को सन्मार्ग दिलाया। आत्मरत अवस्था होते हुए भी आप समाज को भुले नही। आपका त्याग एवं जन सेवा बहोत ही बडी है। आपके छह, सात ग्रंथ प्रकाशित है। भारत वर्ष में आपके छह, सात आदर्श आश्रम भी है।

हमें पूज्य श्री स्वामीजी की प्रत्यक्ष सेवा करने का या सेवा में रहने का कईबार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप ने वज्रेली या खेचरी की थी, किन्तु आप अखंड-खंडन-मंडन योग भी करते थे। योगशास्त्र में खेचरी सबसे कठीन क्रिया है। आप ही वह क्रिया की साक्ष अपने काव्य में प्रकट करते है।

Scanned by CamScanner

लगा के पदम् आसन को, पवन सब पेट में भर के।
चढाई जिभ उपर को, रैन कारी अंधारी है।।
मजल है दूर दो दल की, करी हम सैर जा कर के।
तमाशा देख मन मोहा, अक्ल कुछ काम ना आये।।

आप का शरीर बडा ही कोमल तेज पूंज था। आप अजानबाहू थे। दैवी लक्षणों से युक्त आपके हाथ, पैर या शरीर था। यह देश के गणमान्य ज्ञानी, पंडित, योगी, संत, महात्मा या नेताओं ने आपको माना है।

आखीर पूज्य श्री स्वामीजी ने दि. २०.८.६९ को

संमत सोलह सो असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ल सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।।

गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के महानिर्वाण के सुमुहूर्तपर नर्मदाजी के तटपर, हनुमान घाट पर मंडल आश्रम में महासमाधी ली।

यह ग्रंथ की बडी लंबी कहानी है। यह ग्रंथ के पन्ने देखकर ऐसा महसूस होता था की आज से यह ग्रंथ सौ साल पूर्व लिखा हो। यह ग्रंथ पूज्य स्वामीजी के ही हस्ताक्षर में था। यह ग्रंथ प्रथम पूज्य स्वामीजी के प्राणसखा भ. तुकडोजी महाराज को प्राप्त हुआ। 'अच्छी चीज बिगडती नहीं'। यह वचन के अनुसार राष्ट्रसंतजीने यह धरोहर सन १९४३ तक संभाली और तत्पश्चात के विट्ठलराव वाडीभस्मेजी के सुपूर्द की और कहा बेटा उचित समय आया तब इसका उपयोग करना। तबसे हमने यह ग्रंथरूपी गुरू धन पूज्य भ. स्वामीजी को बताया, तो स्वामीजी बोले भगवान (राष्ट्रसंत) के तरफ ले जाओ। राष्ट्रसंत जी के

Scanned by CamScanner

तरफ गये तो वे बोले करेंगे। उसी अवसर में दोनों ही ब्रम्हलीन हो गये।

'संत वचन मिथ्या नहीं होता।' यह सत्य है। इसके अनुसार महाबाहो श्रीसंत दामोदरदासजी महाराजजी की प्रस्तावना लेकर ग्रंथ प्रकाशित किया। आज वह दोनों भी यह ग्रंथरत्न देखने को स्थूल शरीर से उपस्थित नहीं अपितु सुक्ष्म शरीर से वह आज हमारे यह कार्य को देख रहे है। वही फल है कि ग्रंथ प्रकाशित हो रहा।

यह ग्रंथ के लिए जिन महापुरूषों ने अपनी सेवा प्रदान की, वे सर्व श्री बाबासाहब पन्नाले, यशवंतराव लांजेवार, वैसे ही देवीदासजी डहाके, अक्षरमुद्रा के मालिक आपने बडा ही सहयोग प्रदान किया है। इन सब भाईयों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते है।

इस ग्रंथ में कुछ मुद्रण दोष हो तो पाठक गण हमें क्षमा करेंगे। इति। पुरी जानकारी के लिए 'चार महर्षि' ग्रंथ को पढें।

पूज्य स्वामीजी का सच्चा जीवन राष्ट्रसंतजी के शब्दों में है।

विश्व योग इसका, विश्वात्मा देव इसका।।

– रा. मो. बेलूरकर

ग्रामगीताचार्य

Scanned by CamScanner

।। श्री गुरूदेव ।।

मैने परमयोगी यहँ पाया

पूजनीय स्वामी श्री सीतारामदासजी महाराज ऐसे ही विश्व हितैषी महात्मा है। जिन्होने महान तपस्या के बाद अपनी डेढ सौ वर्ष की आयु संसार के कल्याण कार्य में ही व्यतीत की है।

साधु संत एक परिवारी होते है। धर्म के किसान होते है। उनका कर्तव्य ही नही, स्वभाव होता है कि अपने मानव–परिवार का सुधार कैसे हो? इसकी चिंता करते हुए हमेशा यत्नशील रहते है। वे समाज को अपनेसे अलग नहीं समझते। 'सोऽहं' का अनुभव कर वे भगवान से कहते है की "जो मै हूँ वहीं तू है।" और यहँ अभेद भावना भगवान के संसार में भी स्थापित कर देते है। ऐसे है मेरे स्वामीजी!

सियाराम मय सब जग जानि।
करहुँ प्रणाम जोर जुग पानि।।

गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के इस वचनानुसार सबको भगवत् स्वरूप समझते है।

Scanned by CamScanner

भारत में आज लाखों साधू है लेकीन अध्यात्म का वह असली अभेदत्व ठीक तौर से समझकर उसे अमल में कौन ला रहा है? स्वयं रामरूप बनकर रामराज्य के निर्माण में कौन हाथ बँटा रहा है? स्वामी सीतारामदासजी महाराज जैसे बिरलेही महात्मा होंगे की जो ऐसा उँचा अनुभव प्राप्त कर राष्ट्र को उँचा उठाने में अपनी शक्ती लगा रहे है।

मित्रों! पूज्य स्वामीजी को जब तुम गुरू मानते हो। पूज्य समझते हो तो तुम्हारा यहँ प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि उनकी आज्ञा का पालन करो और उनके आदर्श को अमल में लाने की कोशिश करो। इसे उन्हे भी संतोष होगा। गुरूदेव को हड्डी मांस से नही देखा जाता है। न वो पूजा से प्रसन्न होते है। या पैर पडने से राजी रहते है। उनको आनंद होता है उनके शब्दों का पालन करने से। बताये हुए मार्ग का आचरण करनेसे। इसी में वहँ संतोष या पूजा मानते है। चमत्कार का बखान या स्तुति करने से वे प्रसन्न नहीं रहते।

आदरणीय स्वामीजी किसी विशेष पंथ या प्रांत के नही, वे सब के है। हम उन्हे 'योगी' कहते है। लेकीन यह शब्द उनके लिए बहुत छोटा पडता है। आज कल तो ऐरे गैरे योगियों का धंदा ही बडा तेज

Scanned by CamScanner

चल रहा है। अमरिका जैसे बडे राष्ट्र में भी योग का मामूली सामान त्राटक या पद्मासन आदि के नाम बताकर बडे थाटबाट से बेचा जा रहा है। लेकिन जिस योग से भगवान के साथ संयोग न हो उसकी किमत ही क्या?

स्वामीजी तो एक महान योगी है और साथ–साथ ज्ञानी भक्त है। कई योगी बिच में लटके रहे है। मगर स्वामीजी योग के आखरी पहूँच कर खेचरी आदी करके राजयोग में उन्ही का लय हो गया है। यहँ मैं अनुभव से कहता हूँ। किसी देहात में गरीब की झोपडी में भी वे रहे तो भी वे रात को डेढ बजे उठकर नित्य नियमानुसार भगवान का पूजा–पाठ, आरती–प्रार्थना आदि अवश्य करते है और आसन, प्राणायामादि योगाभ्यासी में लगे रहते है।

मित्रों! संतों का प्रभाव सारे देशपर पडता है। काया–वाचा–मन से वे संसार का कल्याण ही करते है। उसके लिए बारबार जन्म भी लेते है। उनकी आयु केवल १५०साल की ही है ऐसा मैं नहीं मानता। मैं तो उन्हे कम से कम पाँच सौ, सात सौ साल का पुराना पुरूष समझता हूँ।

यहँ कागभुशुंडिजी के परंपरा के है। मेरा उनका

Scanned by CamScanner

तीन जनम से साथ रहा है। और दो जनम बाकी आगे है। गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी का सच्चा प्रचार करनेवाला यह महात्मा उन्ही के तुल्य है। ऐसा मैं मानता हूँ। समझता हूँ।

वास्तव में संतो की आयु ही नही होती, वहँ तो भगवान की तरह अनादि और अनंत होते है।

स्वामीजी का यह अष्टांगयोग ग्रंथ उनके अनुभूति का भंडार है। खजाना है। भारत मेरा परिवार है और अपने परिवार का कोई भी बिगडने न पाये इसी कारण उन्होंने यह ग्रंथ लिखा। ग्रंथ की किंमत उनको आचार में लाना है।

आशा है पाठक गण यहँ अमूल्य ग्रंथ का लाभ उठायेंगे। जय गुरूदेव!

Scanned by CamScanner

।। श्री गुरूरामजी प्रसन्न ।।

भावांजलि

मेरे प्यारे राम!

श्री श्री १००८ पूज्य श्री स्वामीजी को मैं तो मेरे गुरूदेवही समझता हूँ। आपके यहँ दास पर बडे उपकार है। पूज्य स्वामीजी जैसे परमश्रेष्ठ योगी जीवन भर में पूरे देश में अभी तक कहीं देखे नही। वहँ अभ्यास करते करते परमहंस स्थिती को, चिन्मय अवस्था को, पूर्ण बिंदु को पहुँचे थे। वहँ अखंड योग समाधी में रहा करते थे। आप पांचों मुद्रा साधकर आत्मा को प्रत्यक्ष परमात्मा के स्वरूप में गुरूदेव की दया से देखा करते थे। श्रीगुरूदेव भगवानदासजी महाराज और श्री कौसल्यादासजी महाराज की दयार्द्र कृपा से, गुरू चरण की हवासे वहँ रात–दिन अपने आप में मस्त रहा करते थे। उनकी वृत्ति अंतर्मुख हो गयी थी। यहँ दासने उनको उस स्थिती में कई बार देखा है। आप की वज्रेली तो बडे गजबसे होती थी।

यहँ दास आपके लिए क्या कह सकता है? आपने अपने जीवन में अन्य आपत्तियाँ झेली। कष्ट सह लिये। सत्जुगका योग साधन कलजुगमें किया।

भगवान संत श्री तुकडोजी महाराज पर आपका बडा स्नेह था। आपके प्रेम का और योग शक्ति का प्रभाव उनके बिमारी में बताकर स्वामीजी ने अपना आदर्श दुनिया को बता दिया है। यह जाहीर है।

Scanned by CamScanner

वहँ मुझपर भी पुत्रवत् प्रेम करते थे। मै उन्हीं के चरण की धूल मस्तक को लगा लूँ और पावन हो जाऊँ यहीं मेरी अंत तक उनके प्रति सद्भावना रही है। मैं तो दासोऽहं की भाव से आप के चरणों के पास रहा हूँ। आपसे उऋण होने के लिए अगर मैं शरीर की खाल उतारकर आप के पाँव में दे दूँ तो भी पूरा नहीं हो सकता।

बस आखिर यहँ कहता हूँ कि यहँ सेवकों ने चि. रामकृष्ण बेलूरकर और चि. सेवक विट्ठलदास वाडीभस्मे ने श्री समर्थ भ. तुकडोजी महाराजजी से यहँ ग्रंथ प्राप्त कर दुनिया के योग जिज्ञासू लोगो पर बडा ही उपकार किया है। आशा है यहँ ग्रंथ योग के विषय की त्रुटी भरकर निकालेंगा। क्योकि, स्वामीजी योगानुभवके भगीरथ ही थे।

वाचक वृंद, इस अमूल्य ग्रंथ का सावधानी से अभ्यास कर निजी जीवन को सफल बनाने का लाभ उठावें।

भ. पूज्य स्वामीजी! तथा भगवान तुकडोजी बाबा! हम बालकों पर मेहर नजर रखें और सदैव संत सेवा का शुभ अवसर दे, यहीं शुभ प्रार्थना!

नागपुर, दासानुदास

दि. २८/३/७० —दामोदरदास

Scanned by CamScanner

कहे तुकड्या दोऊँ नाही!

(ध्वनि–पायोजी मैंने रामरतन .....)

गुरू! बिन ग्यान न होई।
समझ मन, गुरूबिन ग्यान न होई।।टेक।।

स्वामी सीतारामदासने! बार बार समझाँई।।
स्वामीजी मेंरे ।। बार० ।।१।।

यह योगी अति निर्भय प्रिय है। राम उपासक भाई।।
स्वामीजी मेरे ।। राम० ।।२।।

अष्ट प्रहर अभ्यास समाधि। ध्यान मगन गुण गाई।।
स्वामीजी मेरे ।। ध्यान० ।।३।।

नित्य करे एकांत मनन को। जन–गन बोध कराई।।
स्वामीजी मेरे ।। जन० ।।४।।

सत्युगसी आयु है जिनकी। समझत नाही दिखाई।।
स्वामीजी मेरे ।। सम० ।।५।।

मेरे परम हृदय के बंधू। कहे तुकड्या दोऊँ नाही।।
स्वामीजी मेरे ।। कहे० ।।६।।

–वं. राष्ट्रसंत **श्री तुकडोजी महाराज**

Scanned by CamScanner

मैने परम प्रेमी वह पाया!

(तर्ज : उठा गड्या अरूणोदय झाला ...)

स्वामी सीतारामदासने, योग भक्ति की जोड भरी।
जन सेवा और गुरू सेवा में, मुद्रा ली खेचरी ।।टेक।।

गुरू की परंपरा को माना, सब को भक्ति दिया।
अखंड यात्रा की जनता में, जीवन ही बहा दिया।।१।।

त्याग दिया सब मोह, अटल भंडार भेट सब किया।
मंडल के तट का भी आश्रम, मेरे स्वाधीन किया।।२।।

जाहीर करके भक्त लोग को, बचन सभी से लिया।
निर्मल स्थान बना के, रेवा तट की शोभा किया।।३।।

सदा जोगी का भेख पहनकर, भारतभर घूम लिया।
रामटेक, बंगाल सभी में, आश्रम स्थापन किया।।४।।

श्री कौसल्यादास कृपा से, अंतरंग सध लिया।
गोस्वामी तुलसीदास का ही, मार्ग सभी को दिया।।५।।

मैने परम–प्रेमी वह पाया, जब मैं मिलने गया।
तुकड्यादास कहे स्वामीने नाम अमर कर लिया।।६।।

–वं. राष्ट्रसंत **श्री तुकडोजी महाराज**

Scanned by CamScanner

पू. स्वामीजी खेचरी करते हुये।
तालू में जिव्हा ले जाकर अमृत पान कर रहे है।

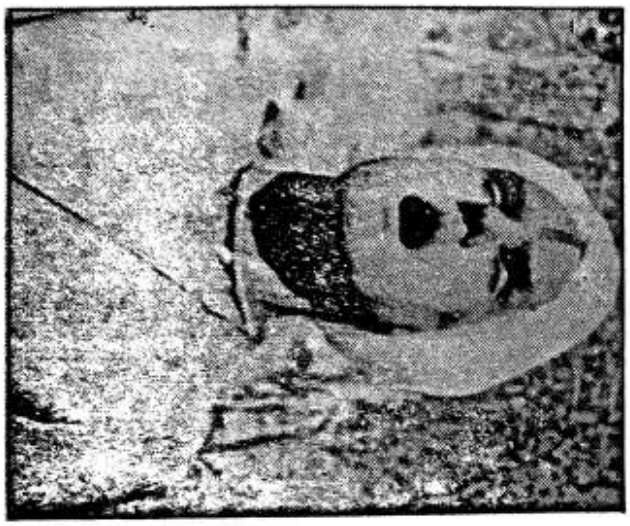

पू. स्वामीजी नौली करते हुये।

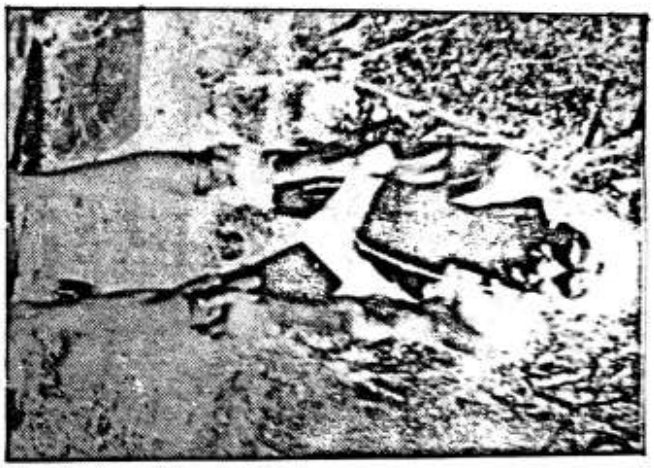

Scanned by CamScanner

पू. स्वामीजी भस्त्रिका प्राणायाम करते हुये।

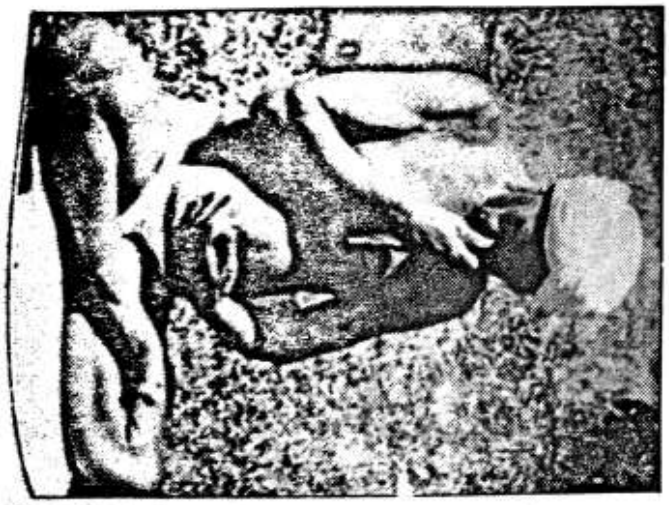

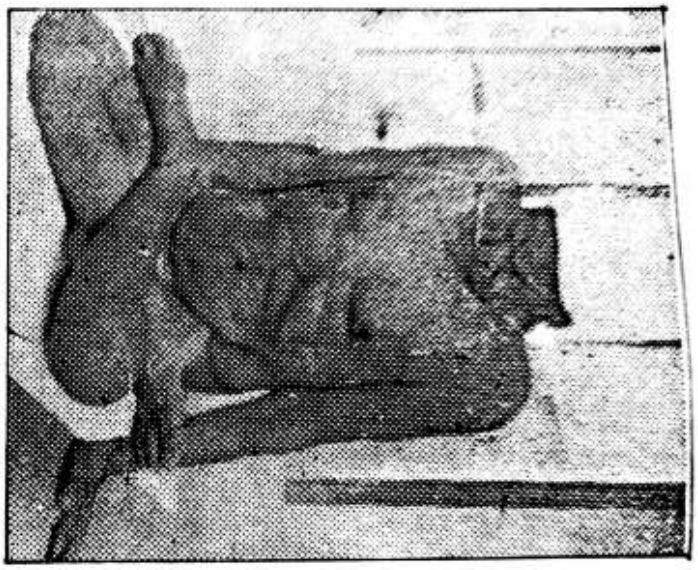

पू. स्वामीजी उड्डियान बन्ध करते हुये।

Scanned by CamScanner

।। श्रीगुरू रामजी समर्थ ।।

अष्टांग-योग

आरंभ

समस्त योगीयों के योग दाता करूणाकर श्रीराम जी को व गुरूदेव को बार–बार साष्टांग प्रणाम करके और अपने गुरू श्रीराम जी के पावन–पवित्र चरण कमलों में नमस्कार करके और श्री पातंजली श्री याज्ञवल्क्य आदि सर्व महान पुरूषों को नमस्कार करके और सर्वलोक हितार्थ युक्ति, मुक्ति, मोक्ष व भक्ति पद की सिद्धी के लिये अष्टांग–योग विद्या का निरूपण करता हूँ। इति।

जाते प्राण और अपानका एकता होता है, चित्त और आत्मा का मेल होता है, जीव और प्रभु की एकी होती है, ऐसा यह अष्टांग है। तिसका आप अपने इस लोक और पर लोक के लिये प्राणपणसे श्रीगुरू रामाज्ञानुसार सर्वदाकाल अभ्यास करो। इति।

संसार सागरसे पार होने के लिए अनेक तरह के जप, तप, पंचाग्नी, तीर्थ, ज्ञानादिक जो स्थूल क्रीया

Scanned by CamScanner

रोमके समुह साधन है। सो मुक्ति के लिए साक्षात् समर्थ नही होते है। अथवा तिनसे तुरन्त मुक्ति नही। अनेक जन्मान्तर में होवें 'शायद' ताके विचारमान पुरूषों को चाहिए की, संसार के सर्व बन्धनों को दुःखों से छुटकर मुक्ति के लिए केवल योग के ही अभ्यास में रत रहना योग्य है। इति।

तत्वज्ञान से भी कैवल्य, मोक्ष होता है। पर वह भी योग से ही होता है। बिना योगाभ्यास से कैवल्यभक्ति या मोक्ष नही! बिना योगाभ्यास के सुक्ष्म ज्ञान है, सो मुक्ति–भक्ति का कारण नही है। जिस योगाभ्यास करके अनिमा, महिमा आदिक सिद्धीयों के सहारे काल को जीत करके जीवनमुक्त तथा योगी स्वतंत्र जगत में विचरते हुए जगत के दुःखी जीव के दुःखों को दमन करते रहते है। ताके तुमने अवश्य करके योगाभ्यास की ही शरण लेना योग्य है। और शास्त्रों के सुक्ष्म विवादों में विचारवान पुरूष को अपने अमूल्य जीवन की सब आयु व्यतीत नही करनी चाहिए। क्योंकि केवल दीपक की बाती से अंधःकार का नाश नहीं होता है। तैसे ही केवल शास्त्रों के वार्ता करते रहने से ही संसार बन्धन से निवृत्ती नही होगी और इंद्रियों के विषयों में आसक्त और शरीर में अभ्यासवाले आलस्य करके क्षीण भई बुद्धीवाले जो प्राणि है सो अष्टांग–योग

Scanned by CamScanner

साधन का परिश्रम नही कर सकता है। ताके वे तीन पुरूषों के लिये है केवल शास्त्र का अवलंबन है। इति।

ताते विचारवान पुरूष को प्रथम शास्त्रों का विवेचन कर पीछे योग का अभ्यास करें। जैसे की, वसिष्ठादिक और पहले के ऋषि, मुनि व सन्त भी करते आये है। और शैव, वैष्णव, शाक्त आदिक सब मत–मतांतरों में सर्वत्र योग का विधान आदर से किया है। ताके आप भी श्रीगुरू आज्ञानुसार इस योग का अभ्यास करना योग्य है। सब योगशास्त्र के सार और अपनी अनुभव की अनुसार श्री गुरू आज्ञानुसार योग के साधन की जो विधि है ताके संक्षेप से सार–सार कहते है। तहाँपर योग के चार मार्ग जानना चाहिए। जो कि श्री गुरू रामकृपा बिना हर एक प्राणि को मिलना अति कठिन है। ताते प्रथम श्रीगुरू रामजी में पूर्ण ब्रह्म भावसे प्रेम और प्राणपणसे भक्ति होना। प्रथम तो स्त्री आदिक विषयों का परित्याग करना। और दूसरे सब प्रकार से योग साधन की सामग्री की अनुकूलता होना। और तिसरे श्रीगुरू रामकृपा से योग विद्या के जाननेवाले गुरू का समागम और सेवा होना। और चौथा अपने इष्ट प्रभु की आराधना करना। यह योग के सन्तो ने चार मार्ग निरूपण किये है। क्योंकि इनके बिना कोटी जन्मो से भी योग की सिद्धी नहीं हो सकती है। योग के आठ अंग साधक पुरूषों को जानना

Scanned by CamScanner

चाहिए। जिसके जाननेसे और प्राणपणसे साधन करने से यह जीव कैवल्य, भक्ति व मोक्ष पद को पाता है।

(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि। यह योग के आठ अंग है। यह योगी लोगों ने निरूपण किये है। अब क्रम से यह–आठ अंगो के पातंजलि, याज्ञवल्क्य आदिक मुनि लोग संतों के मत के नुसार श्रीगुरू रामकृपा से भिन्न रूप से निरूपण करते है। इति।

✦ युक्त आहार व युक्त विहार में अपना शरीर अपने काबू में रखने का अभ्यास करने से ही अपना मन कुछ दिन के बाद प्रसन्न रहता है।

✦ विषय प्राप्ति का आनंद अल्प व क्षणिक है, परन्तु आत्म प्राप्ति का आनंद अमर्याद व अखंड रहता है।

✦ आदमी के छह लक्षण होना चाहिये।

१) परायी नारी–माता, २) पराया धन–माटी, ३) पराया दुख, सुख–अपने समान, ४) ईश्वर कौन है? ५) मै कौन हूँ? और ६) यह जगत क्या है?

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

यम

श्री गुरू रामाज्ञानुसार अब जो योग का प्रथम अंग यम है जिसे संक्षेप में निरूपण करते है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम के पाँच भेद है। उसमें भी मन से, वाणी से और शरीर से किसी भी प्राणी को दुःख नही देता तिसे अहिंसा कहते है। सब जीवों का हित होता है ऐसा प्रिय बोलना इसको सत्य कहते है। किसी की चीज बिना आज्ञा के नही लेना इसको अस्तेय कहते है। सर्व प्रकार के मैथुनों का त्याग करना इसको ब्रह्मचर्य कहते है। आवश्यक चीजों के सिवाय अधिक संग्रह न करना इसको श्रीगुरू सन्तों ने अपरिग्रह कहा है।

अहिंसा पालन करने से सब प्राणीयों से मित्रता की, सत्य बोलने से अमोघ वाणी की, अस्तेय से अनेक प्रकार के इच्छित पदार्थों की पूर्ति की व ब्रह्मचर्य पालन करने से मानसिक शक्ति की और अपरिग्रह पालन करने से अध्यात्म धारा की प्राप्ति होती है। इति।

✦ जिस आश्रम में दरवाजा (किवाड) नहीं रहता वह आश्रम सिद्धों का है ऐसा समझना।

✦ बडे–बडे ऋषि, मुनी, देवता, राजे, महाराजे, विद्वान, पंडीत इनका अधःपतन हुआ है सो अहंकार से।

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

नियम

श्री गुरू रामजी के असिम कृपा से अब नियम का भी थोडे में निरूपण करते है। तिसे मेरे प्रिय साधकों ने समझ लेना चाहिए।

शौच, संतोष, तप, जप और प्यारे प्रभु का चिंतवन, यह पाँच नियम के प्रकार है। शरीर और मन की शुद्धी को शौच कहा है। अपने संस्कार के अनुसार जो कुछ मिल जावे उसमें आनंद मानना उसको संतोष कहा है।

चान्द्रायणादिक व्रत आदि भलि प्रकार से करना उसको तप कहते है। प्यारे भगवान के पवित्र नाम का बार–बार उच्चारण करना इसको जप कहते है। प्रेम भाव से आदर के साथ सर्वकाल मन के साथ 'मेरा प्रभू सब में है' ऐसा जो स्मरण करके ध्यान करते है उसको प्यारे प्रभु का चिंतवन कहते है।

शौच का पालन करने से अपने व पराये शरीर को मलीन देखकर ग्लानि या उपरामता होती है। सन्तोष से शान्ति का सुख मिलता है। तप करने से अनिमा आदि सिद्धी प्राप्त होती है। जप करने से प्यारे भगवान का समागम होता है और चिंतवन आराधना करने से समाधि प्राप्त होती है। इति।

Scanned by CamScanner

आस१

अब नाना प्रकार के प्राणियों के बैठने के अनुसार पूर्वक सन्त मुनी जनोंने लोक हितार्थ बहुत प्रकार के आसनों का निरूपण किये है। तो तिनमें से सार चार आसन लेकर यहाँ पर श्री गुरू रामाज्ञानुसार कहते है। तिनमें पहला सिद्धासन, (२) पद्मासन (३) स्वस्तिकासान और (४) विरासन कहा है। तिनमें सिद्धासन को तुम प्राण को चढाने के समय करो। पद्मासन को ध्यान के समय करो। स्वस्तिकासन 'जप और प्राणायाम के समय करो। और बिरासन साधारण सर्वदा काल सुख में बैठने के समय करो। गुदा और अंडकोश के बिच में सीवनी में बाँये पाद की एडी को लगाकर दाहिने पाद का अगला भाग वाम जंघा से अन्दर स्थापना करो। दोनो हाथ सम्पुटकर सामने गोद में रखना। यह सिद्धासन तुम्हारे कुंडलिनीको शीघ्र जगानेवाले और समाधि चढाने में परम हितकर होगा। श्रीगुरू सन्त जनों का यह आदेश है। वाम उरूकेपर दाहिने पाद को रखकर तिसके उपर दाहिने उरूपर वाम पाद रखकर और अपने अंग में दोनों हाथों को सम्पुटित कर रक्खे और नासा के अग्रभाग में निश्चित मनसे अपनी दृष्टी जमावें। सो यह शीघ्र ही योग को देनेवाला पद्मासन कहा है।

Scanned by CamScanner

दाहिनी जंघा के बीच में वाम पाद को और वाम जंघा के बीच में दाहिने पाद को स्थापन करें। इसे स्वस्तिकासन कहते है। दाहिने उरू के निचे में वाम पाद को रखकर के दाहिना पाद वाम उरू पर रखो इसको योगी लोगों ने वीरासन कहा है। और सब आसनों मे यह चार आसन मुख्य जान लो।

तुम्हारे योग सिद्धी के लिये तुमने श्रीगुरू रामाज्ञानुसार आलस से रहित हो करके तुम निरन्तर इनका सेवन अभ्यास को करो और जिसका आसन स्थिर है सो हि योग का साधन कर सकते है। क्योंकि शरीर की अचलता के बिना मन कभी स्थिर नही हो सकता है। ताके अभ्यास को निरालय होकर करना तुम्हें योग्य हैं और आसन को एकदम अधिक देर करने से शरीर में परिश्रम होगा। इसिलिये श्रीगुरू रामकृपा से धीरे–धीरे अभ्यास को बढाते रहो जब तुम्हारा आसन एक प्रहर पर्यन्त एकही आसन स्थीर हो जावे तब तुम आसन को योग के साधना में योग्य समझो।

अब आसन का फल ऐसा होगा की, अब आसन की स्थिरता होगी। तो उस समय तुम्हारा निश्चय करके मन भी स्थिर हो जावेगा। और साथ हि में तुम्हारे प्राणवायु की गती भी स्थिर होगी। इसिलिये

Scanned by CamScanner

आसन के स्थिरता होने से तुम्हारे इंद्रियों की जो स्वाभाविक चंचलता है सो भी शान्त हो जावेगी। इसलिए मन, प्राण के स्थिरता हो जाने से बहुत जल्दी से तुम्हारा योग सिद्ध होगा। इसलिए तुमने भली प्रकार से समझकर प्रथम आसन का अभ्यास करना योग्य है। और योगाभ्यासी को तीर्थ या यात्रा में भ्रमण नहीं करना चाहिए। इसलिए योगसिद्धी होते तक सर्वदाकाल तुम एक ही स्थान पर रहो। एक ही आश्रम पर निवास करते हुए योगाभ्यास का साधन बहुत ही अच्छा होगा। श्रीगुरू रामजी शरणं। इति।

✦ अष्टांग–योग का अभ्यास करनेवाले पुरूष को महासुख अर्थात ब्रह्मसुख प्राप्त होता है।

✦ प्राण का हृदय में, अपान का गुदा में, समान का नाभि में, उदान का कंठ में व व्यान कां सर्व शरीर में वास रहता है।

✦ जिसने मन को जित लिया वह ही शूर है।

✦ तप का नाश क्रोध से, लक्ष्मी का नाश मत्सर से, विद्या का नाश मानपान से और आत्मा का नाश प्रमाद से होता है।

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

प्राणायम

श्रीगुरू राम इच्छानुसार प्राणायाम की विधि संक्षेप में निरूपण करते है। जिसके जानने से योगी पुरूष योग पात्र होता है। पहले के मुनि, सन्तो ने योग के ग्रंथों में प्राणायाम में अनेक प्रकार के भेद निरूपण किये है। तिनमें तीन प्राणायाम के सब भेदों मे से चन्द्रभेदन करना चाहिये, और श्रीगुरूकृपा से योगाभ्यास करने में भश्रिका प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा विचारमान सत्पुरूषों को जानना चाहिए।

अब प्रथम चन्द्रभेदन की रितिका निरूपण करते है। पहले चन्द्रमा के मार्ग से वामनासापुटसे प्राण का पूरक करें। तिस पूरक लिए हुए प्राण को पेट में भलि प्रकार से अपनी शक्तिनुसार रोक के पीछे सूर्य दाहिने नासापुटसे रेचन कर देना। इसी प्रकार एक प्राणायाम करके फिर दूसरी बार दाहिने नासापुट (पिंगला) से प्राण को पूरक करें और यथाशक्ति पेट में कुम्भक करके पीछे युक्ति से धीरे–धीरे वामनासापुटसे रेचक कर दो और प्राण के कुम्भक काल में मन से 'ॐ' का, या 'ॐकार' का अथवा गायत्री मंत्र का एकान्त में बैठकर जाप करो। इसको चन्द्रभेदन प्राणायाम कहते है। और स्वास के साथ राम का जप करो।

Scanned by CamScanner

बुद्धीमान साधक व योगीयोने ॐ का जप (मन से चिंतवन रौं बीज का जप) सारे विघ्नों का नाश करता है। और इसे खाते, पीते, सोते, चलते करना चाहिए। और स्वास के साथ जो शब्द निकलता है वह उपर को सौं और निचे को हंम ये शब्द निकलते है। इसिको अजपाजप कहते है। इसिसे वृत्ति अन्तरंगी होती है। और परमानन्द की प्राप्ति होती है। व पराभक्ति प्राप्त होती है। इति।

इसका अभ्यास, जैसे अग्नि के लगने से घाँस जलकर खाँक या भस्म हो जाती है वैसे ही दीर्ध काल तक अभ्यास करने से साधक के दुर्गुण भस्म हो जाते है। इति।

अब श्रीगुरू राम! इच्छा से भस्त्रिका, प्राणायाम की रितिका निरूपण कहते है। सो जवन है तवन ऐसा है की पहले वामनासापुटसे प्राण को रेचन करें और उसिसे तुरन्त जल्दी से पी जाना और फिर तिसको जल्दी से नासापुटसे रेचक कर देना। तथा फिर उसी पुटसे पी कर वाम नासा पुटसे रेचन कर दो। और फिर वाम पुटसे पी करके दाहिने नाकसे रेचन कर दो। इसीप्रकार से जैसी लोहार की धोकनी चलती है तैसे

Scanned by CamScanner

ही चतुर पुरूष शीघ्र–शीघ्र दोनों नासापुटसे बारी–बारी थोडी देर तक रेचक और पूरक करें। पीछे सम्पूर्ण पेटके प्राणवायु को वाम नासापुटसे रेचन कर दो। और किंचित काल तिसको बाहर रोककर फिर उसी वामनासापुटसे पूरक कर लो और तीस पूरक किये हुए प्राण को धिरज से अपनी शक्तिनुसार कुम्भक करके और पीछे धीरे दाहिने नासापुटसे रेचन कर दो। इसी प्रकार से एक प्राणायाम करके फिर दूसरी बार पहिले के नाई–नाई थोडी देर भश्रिका करके दाहिने नासिका से प्राण को रेचन करो और किंचित काल तिस को बाहर रोककर फिर दाहिने नासापुटसे पूरक कर लो और यथाशक्ति पेट में कुम्भक करके फिर वामनासापुटसे शनैः शनैः रेचन कर दो। इसी प्रकार से मुक्ति के साथ वामनासापुटसे और दाहिने नासापुटसे बराबर क्रम करके प्राणायाम का अभ्यास करों। अथवा पहला प्राणायाम वामनासापुटसे करो और दूसरा दाहिने से करों।

उपर लिखे अनुसार बराबर से करो। इसी प्राणायाम को भश्रिका अपितु कुम्भक कहते है। इसी के अभ्यास करने से बहुत जल्दी से प्राण का जय होता

Scanned by CamScanner

है। और कुंडलिनी शक्ति का चक्र सरल हो जाता है। और कफ, पित्त, वात ये तीनों दोषों की बराबर शान्ति औरसे शान्ति हो जाती है। और जो दूसरे शीतली शीतकार आदिक प्राणायाम में है। तवन सब यहाँ भश्रिका के अन्तरगत आपही रहते है। श्रेष्ठ साधकों के लिए इस भश्रिका प्राणायाम का ही सर्वदा अभ्यास श्रेष्ठ है। योग्य है। विचारमान पुरूषों को चाहिए की कुम्भक के बिच में एक बार अथवा दो बार नासाद्वारा बाहर से प्राणवायु को पी जाया करो। तो कुम्भक को विशेष रूप से ठहरना होता है। और योगी को चाहिए की कुम्भक काल में अपनी नाभी के चक्र में तेजोमय सूरज के मंडल का ध्यान करो तो तिस करके मन की वृत्तियाँ अंतर्मुख हो जाती है। ताते प्राण का चिरकाल तक निरोध होता है। अब युक्ति से प्रातः तथा सायंकाल तीन घटिकातक श्रीगुरू रामकृपा से नित्यही पथ्य पूर्वक साधक को एकाग्र चित्त से प्राणायाम का अभ्यास करना श्रेष्ठ है। या खट्टा और निमक विशेष क्षार मिरचादि दाहकारक व निंबु आदि कटु पदार्थ का त्याग करके गेहूँ, मुंग अथवा चावल को सेवन करना अच्छा होता है। और ताजा घृत का अभ्यास काल से सेवन करो। और पाते हो तो थोडा रोज सेंधानमक किंचित और मीठा रस थोडा पाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

श्री गुरू राम इच्छा से यह योगी के लिए पथ्य है। योगी को अपथ्य भूलकर भी नही सेवन करना चाहिए। क्योंकि पथ्य को नही पालन करने से अभ्यासी के शरीर में नाना प्रकार के ज्वरादी रोगो की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से युक्ति के साथ दो या तीन मास तक प्राणायाम करो। जब तक तुम्हारे कुम्भक की मात्रा पाँच सौ तक अनायास हो जाये और कुम्भक काल में एक, दो, तीन, चार और पाँच इस रीतिसे न तो जल्दी और न तो धीरे हो। जो मन में गिनती करनी है, ताको मात्रा कहते है। और जिस काल में मात्राओं की पाँच सौ से अधिक संख्या हो जाती है, तो तिस समय में कुंडलिनी को जगाने में हेतु योग्य समझना है।

अब पहले नाडियों की गति और कुंडलिनी रहने का आश्रम भलि प्रकार से समझ लो। फिर युक्ति से उसे जगाना। अब नाभि के नीचे शरीर के बिच में कन्दका आश्रम है। और मुर्गो के अंडे के समान जिसका आकार है और सर्व शरीर के नाडियों का निवासस्थान है। तिस कन्दसे उपर नीचे और तिरछी या सर्व नाडियाँ निकली है। जैसे पृथ्वी मंडल में नदियाँ व्यापक हो रही

Scanned by CamScanner

है। तैसे हि सो नाडियाँ नीचे और उपर की एडवेड तिरछी सर्व शरीर में व्यापक हो रही है। तीन सर्व नाडियों में ईडा, पिंगला और सुषुम्ना यह तीन नाडियाँ योगी लोगो ने मानी है। तामे ईडा नाम की नाडी वाम भाग में है। और 'पिंगला' को दाहिने भाग जानो। और सुषुम्ना दोनों के बिच में जानो। सो जन है तवन सुषुम्नाही योग के लिए योग्य सार है। सो सुषुम्ना कन्द से निकलकर मेरूदंड से मिली हुई शरीर के पिछे से ब्रह्मरंध्रमें जाती है। और ब्रह्मरंध्र से निकल के फेरी लगाते हुए शरीर के आगे से नीचे को भ्रूमध्य में, कंठ इत्यादी चक्रों में क्रम से होती हुई नाभी के नीचे कन्द में फिर जा मिलता है। कन्द के उपरी भाग में कुंडलिनी शक्ति का रहने का स्थान है। और साडे तीन बेलन से आकार में सर्प के समान कुंडलाकार है।

सो कुंडलि शक्ति अति सूक्ष्म बिजली के समान प्रकाशरूप, और जीवात्मा का आधारभूत है। तथा मूल प्रकृति स्वरूप है। और सर्व प्राणधारी जीवों के शरीर में रहती है। तीस कुंडलिसे प्राण उपर को बहता है। और अपान नीचे को बहता है और दोनों के बिच में सो प्रभु की शक्तिरूप ब्रह्मकुंडलि बीज रूप से स्थित है। अब

Scanned by CamScanner

जिस मार्ग से योगी का प्राण उपर से मस्तक में जाता है तवन द्वार को अपने मुख से रोक कर के तवन कुंडलि सो जाती है। जब ताइ कुंडलिनी शरीर में सो जाती है तब ताई योग की योग्यता कुशल नहीं।

ताते उसे जगाने की सर्व प्रकार से युक्ति श्रीराम कृपा से निरूपण करता हूँ। प्रथम तो मूलबन्ध दूसरा उड्डियान बन्ध, तीसरा जालंधर बन्ध। यह तीन प्रकार के बन्ध ब्रह्मकुंडलिनी को जगाने में हेतु है। सिद्धासन पर बैठकर के आधार चक्र को आकुंचन करके जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खेंचे। इसको मूलबन्ध कहते है। पेट की नाभी को बार–बार पीठ की तरफ को जोर से तानने से जालंधर बन्ध होता है।

ये तीन प्रकार के बनध योगाभ्यास में योग्य श्री संत गुरूजनों ने निरूपण किया है और कुंडलिको शीघ्र ही जगाकर प्राणों को ब्रह्मरंध्र में पहुंचाती है। अब इन बन्धों को भलिप्रकारसे जानने से ताके पिछे तुम कुंडलिनी को जागृत करो। जिसके जगाने से षट्चक्रों का तथा मेरूदंड की सर्व गांठी का बन्धन कट जाता है।

Scanned by CamScanner

अब पहले के रित से थोडासा भस्त्रिका करके प्राणवायु को रेचन करो और उड्डियान करने के मोकामें जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खिंचो। और तुरन्त ही बाहिरवाले प्राण को पूरक कर लो और अपनी शक्तिनुसार रोक, कुम्भक करके फिर रेचन कर दो। इसी तरह से चतुर पुरूष ने सिद्धासन पर बैठकर सायंकाल और प्रातःकाल में बराबर क्रम से वाम नासापुट और दक्षिण नासापुटसे चार घटिका तक साधक पुरूष को नित्य अभ्यास करना चाहिए। ये अब उड्डियान बन्ध को करने से मूलबन्ध स्वतः आप ही हो जाता है। क्योंकि जैसे मूलबन्ध से अपान का उपर को आकर्षण होता है तैसे ही उड्डियान बन्ध में नाभी के तरफ तानने में अपान का आकर्षण होता है। सो जिससे अपान वायु उपर को प्राण के घर में जाता है और फिर प्राण का पूरक करके कुम्भक करने से प्राण वायु नीचे को अपान के घर में जाता है। इसी प्रकार से प्राण और अपान दोनों के रगडने से शरीर के मध्य रहनेवाली अग्नी की वृद्धि होती है। और तवने अग्नी के तापसे और प्राणों के रगडने से जैसे दंड लगाने से सर्पिणी अपनी कुंडल छोडकर सीधी हो जाती है। तैसे जागी भई कुंडली

Scanned by CamScanner

शक्ति अपने निद्रा को छोडकर सीधी होकर ब्रह्मरंध्र के मार्ग को छोड देती है। और तिस काल में सुषुम्ना के उपर में प्राण का प्रवेश निश्चय करके हो जाता है। अब सुषुम्ना में प्रवेश होने काल में पीछे प्राण का प्रथम हृदय कमल में गमन करना है। सो तुम्ने जान लेना की हृदय में प्राण वायु के अन्दर से स्पर्श होने से आपको मालूम हो जावेगा की अब तिसके पिछे बराबर अभ्यास करते रहो। धीरे–धीरे तुम्हारे हृदय से कंठ में प्राणों का गमन होता है। और कंठ से भ्रूमध्य में गमन होता है। फिर भ्रूमध्य में से ब्रह्मरंध्र में प्राणों का प्रवेश होता है। अब जैसे जैसे श्रीगुरू रामकृपा से आधारादि षड्चक्रों के उल्लंघन करके तुम्हारी प्राणवायू शिर में पहूँच जायेगी। तो तीस समय में तुमने तीस प्राणवायु को तहाँपर श्रीगुरू आज्ञानुसार ब्रह्मरंध्र में चन्द्रमंडल का ध्यान करके रोक रहो।

श्रीगुरू रामकृपा से इस प्रकार से षड्चक्रों के जरिये अपने प्राणों को ब्रह्मरंध्र ले जाने को योग विद्या के जानने वाले श्रीगुरू रामजी मुनिश्वर लोगों ने सुषुम्ना का पूर्वमार्ग कहा है। और कोई–कोई इसे बंकनाल मार्ग भी कहते है। इस मार्ग से अन्तकाल में प्राणों को

Scanned by CamScanner

छोडने से योगी लोग जन्म मरण से, संसार बन्धनों से मुक्त हो जाते है।

अब श्रीगुरू रामकृपा से सुषुम्ना का जवन दुसरा मार्ग है। तवन को पश्चिम मार्ग कहते है। तिसको खोलने की विधि निरूपण करते है। जिस करके मेरूदंडमें प्राण प्रवेश होते हुए ब्रह्मरंध्र में जाकर लीन होते है।

अब पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भश्रिका करके प्राणवायु को एक नासापुटसे रेचन करो और तिसको बाहर ही रोक करके जल्दी से उड्डियान बन्ध करो। अब उड्डियान बंध करने के साथ नाभी को ऐसा जोर से पीछे को तानों, जिसमें नाभी और मेरूदंड एक हो जावें। फिर जल्दी से बाहर के प्राण को पूरक करके कुम्भक करो और तिस काल में मन से भी चिंतवन करो की यह प्राण मेंरूदंड में चढ रहा है। कुछ दिन तक ऐसा ही अभ्यास करते रहने से योगी के प्राण मेरूदंड में गमन कर जाते है। जैसे की बाहर के छिद्र में वायु प्रवेश करती है। फिर दिन–दिन क्रम पूर्वक अभ्यास करने से मेरूदंड में मार्ग की गांठों की ग्रंथीयों के समुह को साफ करता हुआ प्राण उपर को गमन करता है। फिर

Scanned by CamScanner

दिन-दिन क्रम से अभ्यास करने से योगी के मेरूदंड मे मार्ग की सब गाँठो को साफ करता हुआ उपर--उपर को गमन कर रहे है। जिस काल में चींटी के चालसे शरीर पर चढने से स्पर्श मालूम हो तब जानना की उपर को चढ रहा है। जिस काल में मेरूदंड में प्राण ब्रह्मरंध्र में पहूँच जावे तो फिर आप निरन्तर अभ्यास के बल से तिसको तहाँपर पूर्ण करो और अभ्यास करने में आलस मत करो।

श्रीगुरू रामकृपा से आज्ञानुसार अभ्यास को खुब सावधानी से अधिक--अधिक बढाते जावो। अब तिस काल में भस्त्रिका त्याग करके केवल कुम्भक ही करो। जिस करके अधिक--अधिक प्राणों को पश्चिम मार्ग में सरलता से गमन होवे। अब युक्ति के साथ अभ्यास के अधिक बढाने से और अत्यन्त अल्पाहार करने से तुम्हारे नासिका से आना--जाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्र में जाकर स्थिर हो जावेगा। और प्राणों के साथ तुम्हारा मन भी लिन हो जावेगा। (यदि आलस न करोगे तो) ताते बराबर अभ्यास और प्राणों को चढाने में आलस न करों। यह तुम्हारा जीवन दुर्लभ है।

Scanned by CamScanner

श्री गुरुदेव इलेक्ट्रॉनिक्स
सिन रोड, मेरठ

यह जीवन प्रभू भजन और अभ्यास करने में ही श्रेय है। तुम्हारे जीवन की अनमोल किमत है। केवल बातों में ही न भूलो। तुम प्राण के साथ मन और मन के साथ एक स्वभाव तादात्म्यरूप करो। जीवन की यही सफलता है। अब जिस काल में प्राणवायु तुम्हारे मस्तक में पहूँच जावेगा तो तिस काल में योगी को सुन्दर अनहद नाद की ध्वनि सुनाई देती है। और तुम्हारे मुख से, तालु से अमृत टपकेगा, और तिस काल में तुमको श्रीगुरू रामजी का परम आनन्द का अनुभव होगा। सो तिस आनन्द को सो योगी आप ही जानता है। मेरे राम तिस आनन्द को नही कह सकता हूँ। और तिस आनन्द को विषय आसक्त पुरूष नही जान सकते है और केवल शास्त्र, वेद के पाठ–पठण करनेवाले वाचक, ज्ञानी भी नहीं जान सकते है। जिस आनन्द का समाधि काल में योगी लोग अनुभव करते है। अब पूर्वोक्त प्राण को चढाने, उतारने की सब क्रीया मन की एकान्तता के साथ करो, क्योंकि मन के चंचल होने से प्राण की बराबर स्थिरता नही होती है। इति।

Scanned by CamScanner

प्रत्याहार

अब योग का जो प्रत्याहार है। तिसको तुम भली प्रकार से जानो। अथवा पहले के मुनि और सन्तों के आज्ञानुसार कहते है की, जिस प्रत्याहार के साधन से योगीपुरूषोंने निर्विघ्न रूप से योग का पालन किया है। अब श्रोत्रादिक इन्द्रियाँ और शब्दादिक विषयों में स्वभाव से ही सदा विचरती है। तिनको जतन से जो विषयों की तरफ से वृत्ति रोकना है, सोई प्रत्याहार करता है। इंद्रियों को नही जीत करके जो तुम योग का अभ्यास करते हो सो फुटे घडे के जल के समान तुम्हारा योग निरंतर झरता जावेगा।

विषयों में फँसा हुआ पुरूष योगाभ्यास को ठीक से नही कर सकता है। ताते चतुर योगी लोगों को विषयों का परित्याग करना पडेगा। यहँ परम हितकारी वचन है।

अब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जगत में यहँ पाँच प्रकार के विषय है। सो यहँ पाँचों ही प्रभू भजन के बाधक है। ताते यह जीव के बन्धन के कारण है। अब पांच विषयों में जो स्त्री नामक विषय है उसे तो तुमको त्यागना ही पडेगा। क्योंकि यह योगाभ्यासी योगीओं को साधन में बाधा देनेवाली है।

Scanned by CamScanner

ताते श्रीगुरू रामप्यारे! योगाभ्यासी योगी, गृहस्थी हो तो उस अभ्यास काल में अवश्य वर्जन करें। किंचित योगाभ्यास में प्रवृत्त भये योगीओं को देवताओं के प्रेरित भय व विघ्न करनेवाले विषय पदार्थ आप स्वयं आकर प्राप्त होते है। तिनसे भी सावधान हो, सो संसार के मान, पूजादिकों में भी योगी का मन और चित्त बलात्कार, विषयासक्त हो जाने का भय रहता है। क्योंकि उस मान, पूजा पाकर फिर धीरे–धीरे योगाभ्यास छोडकर केवल वाचकज्ञानी बन बैठता है। ताते इसी मान, पूजा से भी सावधान रहो। ताते योगियों को चाहिए की केवल योगाभ्यास के पुरती वस्तुओं के सिवाय और सर्व पदार्थ का परित्याग करके सबसे असंग होकर एकान्त स्थल में श्रीगुरू रामाज्ञानुसार सर्वदा काल में श्रीगुरू रामजी का भजन, स्मरण और केवल योगाभ्यास प्राणपंणसे निरन्तर करना चाहिए। क्योंकि शब्द स्पर्शादिक जो विषय है सो तो पशु, पक्षी आदिक सब योनियों में सुलभ है। परन्तु यह तुम्हारा मनुष्य का शरीर मिलना जीव को बडा दुर्लभ है। ताते ऐसा समझकर के विषयों में आसक्त नही होना चाहिए। जैसे की घृत की आहुति डालने से अग्नि की ज्वाला अधिक बढते जाती है, तैसे ही विषयों का सेवन करने से जीवन की नित्यप्रति तृष्णा अधिक–अधिक बढते ही जाती है।

Scanned by CamScanner

अब प्रत्याहार का फल कहते है। की जिस पुरूषों ने अपनी इंद्रियाँ जिती है। तिसने मानो सारा जगत् जीत लिया। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् जिन इंद्रियों के ही वशिभूत हो रहा है। तथा जितेन्द्रिय पुरूष का चित्त स्वभाव से ही स्वतः शान्त रहता है। उसे कोई हिला नही सकता है। तथा जब उसकी स्वाभाविक चित्त शान्ति रहने से श्रीगुरू रामकृपा से उसका योग सरल से ही साध्य हो जाता है। ताते तुम धैर्ययुक्त होकर प्राणपनसे अपनी सब इंद्रियों को विषयों से निवृत्त हो करके निरन्तरही योग के ही अभ्यास में तत्पर रहो। इति।

✦ योगी लोगो ने विसर्जन किये हुए मल को सूकर स्पर्श नहीं करते।

✦ प्राण, अपान की एकी होती है और संकल्प में विकल्प नही होता उसको 'निर्विकल्प सहज समाधि' कहते है।

✦ अजपा जाप वह है जो चोबिस घंटे श्वास के साथ होता रहे। इसका अभ्यास करते करते रोम–रोम से रँ रँ कार राम शब्द निकलता है।

– श्री पूज्य स्वामीजी

Scanned by CamScanner

धारणा

अब धारणा जो योग का छँटा अंग है, तिसको भली प्रकार से निरूपण करते है। जिस धारणा के अभ्यास से योगी लोग अणिमादिक सर्व सिद्धीयों के अधिकारी भये है। अब संसार के सर्व बाह्य पदार्थो से रोक करके चित्त को किसी एक स्थान में बार–बार प्रयत्न से जो निरोध करना है सो धारणा कहना है।

तिस धारणा करने का स्थान गुरूजनों से अनेक प्रकार से विदित होता है। सो अपने शरीर में अथवा बाहर के किसी पदार्थ में जहाँ चित्त की रूचि होवे तहाँ पर धारणा करना। दोनो भुवों के मध्यभाग में नासिका के अग्र भाग में और नाभिचक्र में, और हृदय कमल में इन स्थानों में से किसी एक स्थान में एकान्त बैठकर स्थिर चित्त से अपने शरीर में धारणा करो। चन्द्रमा के मण्डल में, धृवादि किसी तारा में, अथवा पर्वत के शिखर वा किसी वृक्ष की शाखा पर वा देवता की प्रतिमा में। इन स्थानों से किसी एक स्थान में दृष्टि जमाकर शरीर के बाहर चित्त को धारण करो। धारणा करने के काल में स्वभाव से चंचल जो चित्त है सो जहाँ–जहाँ पदार्थों में जावें तहाँ–तहाँ से निरोध करके तिस चित्त को धारणा के स्थानों में लाना चाहिए। और

Scanned by CamScanner

इसी प्रकार यत्न करते हुए योगी की जिस काल में धारणा दृढ हो जाती है, तब तिस समय में सो सब कर्मों के बन्धनों से मुक्त भया सो निश्चय करके सिद्धी को पाता है। अब नासिका के अग्रभाग में और विशेष करके भ्रूमध्य में धारणा करने से योगी को चिन्मय ब्रह्म का—ज्योति का दर्शन होता है। और जिस समय में योगी पुरूष नाभीचक्र में धारणा करता है, उस काल में अपने शरीर के अन्दर की सब रचना को प्रत्यक्ष में देख लेता है। और जब सूर्य मण्डल में योगी चित्त का धारणा करता है, उस काल में तिस को तो भूवन तीनों लोगों के सर्व पदार्थ अपने सामने देखता है। और चर्भ चन्द्रमा के मंडल के बिच में योगी धारणा करे है, तब तिसको सबनकी भिन्न गति को प्रत्यक्ष देखता है। और जब धृव तारों में योगी धारणा करता है, उस काल में सब ताराओं की नाना प्रकारे गति को जान लेता है। अब किसी वृक्ष की शाखा में अथवा पर्वत के शिखर में (शिर में) योगी धारणा करता है। तब अपने स्थूल शरीर से उस काल में बहिरंग मन निकलकर सूक्ष्म शरीर के आकाश में गमन करें है। या जहाँ उसी की इच्छानुसार विचरता है। अब योगी पृथ्वी में अचार धारणा करता है। तब उस काल में योगी तन्मय भाव को पाता है। ताते जमिन में जहाँ जो कुछ पदार्थ गडे हुए है।

Scanned by CamScanner

या जहाँ जो कुछ जमिन में है सो सब कुछ देखता है। और इच्छा हुयी तो पाताल में भी चला जाता है। उसे श्रीगुरू रामकृपा से पृथ्वी भी मार्ग देती है। जब जल में तन्मय रूप से योगी धारणा करता है उस काल में जल के गति का स्तम्भन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। जैसे मीन, कच्छपादिक जल के जन्तुएँ जल में विचरते है। अब वह योगी अग्नी की तन्मय धारणा करता है। उस काल में उसकी शरीर को अग्नी जला नही सकता है। और उसकी इच्छा भई तो अपने स्थूल शरीर को भस्म करके अपने सूक्ष्म शरीर से जहाँ चाहे वहाँ विचरता है। वह श्रीगुरू रामकृपा से उस काल में इच्छाचारी हो जाता है। इसी दशा को सन्तो ने स्वराज्य देही कहा है। यही सन्त में स्वराज्य पद है।

अब योगी वायु की तन्मय धारणा करता है। तब उस काल में वायुमय होकर आकाश में विचरता है। और उस काल में सब जगा सूक्ष्म छिद्रों में भी बिना रोक टोक के प्रवेश कर जाते है। और जब आकाश की तन्मय धारणा करता है उस काल में सो योगी आकाश की भाँति सर्व जगत में व्यापक हो जाता है। और सर्व जगत को अपने आप में देखता है। इसी प्रकार से और भी धारणा करने के हजारों स्थान है। जहाँ जैसी

Scanned by CamScanner

कार्यानुसार धारणा कर लेनी चाहिये। जिस क्रम से धारणा करनी हो तो वैसे ही योगी पुरूष को तिस काल में व अपने बुद्धी के अनुसार विचार से धारणा कर लेनी चाहिए। और प्रभू सेवा, भजन, अभ्यांस करते–करते योगी का सर्व पाप क्षीण हो गया है। और सर्वदा काल श्रीगुरू रामाज्ञानुसार उत्कृष्ट इच्छासे प्राणपर बडे प्रेम से किसी भी प्रकार से कोई चमत्कार, महात्मापना, साधूपना बताने में से बचते हुए जो योगी का श्रीगुरू रामाज्ञानुसार अभ्यास में प्रेम है और सर्वदा काल में एकान्तस्थान में निवासी है, और जिनका खानपानादिक व्यवहार सब योगाभ्यास के सर्वदा अनुकूल है तिनको ही धारणा की सुलभता है। इति।

✦ अपनी स्वयं उन्नति हुए बिगर अपनी परमार्थिक उन्नति हो ही नही सकती।

✦ जिस मनुष्य को कुछ भी आशा नही, जो अपने मनसे पूर्ण उपराम हो गया है उसकी आँखे उदास–भकास व बहोत गहरे याने गढ्ढे में गई हुई दिखती है।

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

ध्यानम्

श्रीगुरू रामकृपा से योग का सातवाँ जो अंग है सो है 'ध्यान'। ताते निरूपण करते है। सो प्राणि को ध्यान ही तीर्थ के समान श्रेष्ठ, साधन है। जो ध्यान के करने से यह जीव, प्राणी, जन्म–मृत्यु से मुक्त हो जाता है। और जब तक साधक अपने इष्ट राम का साक्षात्कार न कर लेवेगा तब तक बराबर श्रीगुरू राम आज्ञा से प्राणपणसे सेवा, पूजा, अर्चा में लगा ही रहे। और जैसे पपिहा बारह मास स्वातिके जल के लिया पीहा... पीहा मिलने को उत्कृष्ट प्रेम पुकार करते ही रहता है, पर तालाब तथा नदी, नाले आदि में चाहे कितना ही जल भरा हो, तो भी स्वाति के जल के सामने उसे नही चाहता है। तैसे ही दासों को अपने स्वामी से इतर संसार की कोई भी वस्तु की चाह न होते हुए अपने स्वामी के लिये प्रेम की पुकार करते रहो।

राम नाम रटते रहो, मन में राखो धीर।
कबहुँ तो दीनदयाल को, खबर परेगी पीर।।

अब ध्यान को श्रवण करो। सो ध्यान सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार का होता है। ऐसा सत्गुरू--सन्तो ने निरूपण किया है। तामे व्यक्तिगत

Scanned by CamScanner

युक्त ध्यान को सगुण जानो और अव्यक्त ध्यान को निगुर्ण जानो।

अब प्रथम ध्यान की पद्धत श्रवण करो। अपने हृदय के बीच में बारह दल का कमल फूलों की कल्पना कर और चित्त को स्थिरदत्त होकर पूर्ण चन्द्रमंडल का चिंतवन करो। फिर उसपर चन्द्रमंडल के बिचोंबिच में नाना प्रकार के रत्नजडीत और शोभायमान ऐसे सिंहासन का चिंतवन करो। उस सिंहासन पर श्रीभगवान विराजमान है। और कोटि सूर्य के समान जिनका प्रकाश है। और दोनों भूजा में सुंदर धनुष्यबाण धारण किये है। और शरद ऋतु के आकाश सा जिसकी शरीर का निर्मल शाम रंग है। और सुंदर पिताम्बर धारण किए है। और दोनों कानों में मकरावृत्त कुंडल शोभायमान है, और माथे पर सुंदर मणिमय मुकूट झिलमिल रहा है व मन्द—मन्द गम्भीर हास्य है और प्रसन्न मुखारबिन्द है व सर्व प्रकार से मनवांछित कामना या वरदान देनेवाले है। सर्व जगत् के इस अविनाशी स्वरूप और सर्वसत् सर्व शक्तिमत्वादि गुणो से युक्त है। इसी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर चरणों से लेकर मस्तक पर्यंत और अष्टस्थिरदत्तचित्त, स्वस्तिक आसनपर बैठकर लिये लिखे हुए चौपाई के अर्थोंयति प्रकार से

स्मरण करते हुए श्रीगुरू रामजी परमात्मा की प्रार्थना प्रेम से, ध्यान के साथ करो।

दोहा–

सुनो सेवक सुरतरू सुरधेनु।
बिधि हरी हर पद बिन्दु तरेनु।।
सेवक सुलभ सकल सुखदायक।
प्रणतपाल सचराचर नायक।।
जो स्वरूप बसै शिवमनमाही।
जेहि कारण मुनिजतन कराही।।
जो भुशुंडि मन मानस हंसा।
सगुण अगुण तेही निगम प्रशंसा।।
देखही सोई स्वरूप भरी लोचन।
कृपा करहूँ प्रणतारति मोचन।।

नील सरोरूह नील मणि, नील नील घनश्याम।
लाजहिं तन शोभा निरखी, कोटि कोटि शतकाम।।

हे जगत के स्वामी! आप सर्व शक्तिमान है। अनाथों के नाथ, हे केशव, अच्युत, श्रीगुरू रामजी! यहँ आपही का दास, पतित आपके चरण आया है। आप अशरण के शरण है। दीन–गरीबों के आप दाता है।

Scanned by CamScanner

पतिता के उद्धारक है। और दीनों के आप सुखकारी है। हमारे पिछे अनेक जन्मों से बडे–बडे षड्रिपु, चोर, और ठग लगे है। आप रहते हुए भी यह मुझे क्यों सताते है? मेरा सर्वस्व लुट लिए है। मै सब प्रकार से मारा गया हूँ। मै अनाथ ही रह गया हूँ। मैं बहुत से बडे–बडे लोगों के शरण गया लेकिन मुझे किसीने भी शरण नही दिया। क्योंकि तू बडा पातकी व अधम से अधम कुटिल है। इस दरबार के तू योग्य नही है। अब मै लखचौऱ्याशी फेराही लगा रहा हूँ। तेरे द्वारपर आकर आर्त होकर पुकार–प्रार्थना करता हूँ, की हे प्रभो! जो स्वरूप शिवजी के मन में बसा है। वही स्वरूप शौनकादि मुनिजन जतन कर रहे है। भुशुंडि के भ्रमस्वरूपी सरोवर में हंस हो रहा है। और जिसको निर्गुण, सगुण करके बार–बार वेदोंने निगम–अगम करके गाया है। हे, दयालु केशव! सोई स्वरूप के दर्शन यहँ नेत्र चाहते है।

हे प्रभु! आप सेवकों के लिए कल्पवृक्ष है व कामधेनु है। और विधी जो ब्रह्मा है व हरि जो विष्णु व हर जो शिव है, सोई आपके चरण कमल रज की बार–बार वन्दना करते है। व वे भी पार नही पाते है।

सेवक सुलभ सकल सुखदायक।

Scanned by CamScanner

सेवक के लिए आप सुलभ और सब प्रकार से अपने सेवकों को सुख देने वाले हैं।

हे नाथ! आप सर्व चराचर प्राणि के अन्तर्यामी हो। सबके पालन करते हो। व अपने ब्रीद को रखनेवाले हो। अथवा आप योगी के व शिवजी के इष्ट देवता हो। साधकों! अपने हृदय कमल में पूर्वोक्त सिंहासन पर स्थिर चित्त से श्री शिवजी का ध्यान करो। जैसे की सिंहासन पर श्री शंकरजी विराजमान है। जिनका कोटी चन्द्रमा के समान शरीर का तेज है। कर्पुर के समान वर्ण है। निर्मल श्वेत का, अंग का झलझलता हुआ रंग है। सब अंगों में भस्मी धारे है। भूजा और गले में नागों के भूषण शोभा दे रहे है। व्याघ्र का चर्म धारे व माथे पर जटाजुट है। चार हाथ है और प्रसन्न मुख है। माथे के बीच में चन्द्रमा है। और तीन नेत्र है। चारों हाथों में मृग, त्रिशुल, बरदान और समयदान धारण किये है। वे माथे के जटासे श्रीगंगाजी की धारा निकल रही है। कानों में कुंडल शोभा दे रहे है। और सर्वज्ञ सर्व जगत् के ईश्वर, सर्व कामनाओं के देनेवाले है।

इसी तरह से भलिभाँति के साथ स्थिर चित्त होकर श्रीगुरू शंकरजी के चरणो से लेकर मस्तक पर्यंत सर्वांग सम्पूर्ण ध्यान करो। इसी तरह से

Scanned by CamScanner

विष्णु, कृष्ण और योगियों ने भी ध्यान किये है। इसमें भेदभाव नहीं।

श्रीगुरू राम इच्छा से श्रीगुरू रामजी के निर्गुण ध्यान का निरूपण करते है। सो चित्त देकर श्रवण करो।

✦ परिस्थितीनुसार समाज को नई दृष्टी देने का काम ऋषि–मुनि या सन्त ही किया करते है।

✦ संसार में वो ही पुरूष उपदेश देता और कार्य करता है की जिसके हरेक हड्डी का टुकडा–टुकडा हो गया है।

✦ जगत से (याने जगत के हरेक वस्तु से) पूर्ण उपराम हुये बिगर एकान्त की मजा नहीं आती।

✦ साधक को तो मरने के समय भी हँसने का अभ्यास करना चाहिए।

✦ यह मनुष्य की पांच वस्तु पांचों को खाती है। १) चिन्ता उमर को, २) कृपणता रोजी को, ३) निद्रा भजन को, ४) त्याग पाप को, और ५) उदारता बला को।

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

ध्यान २

पहले पद्मासन से बैठकर देह को स्थिर और सीधा करके और दोनों नेत्रों को बन्द करके अंदर से मन की वृत्तियों से अथवा बाहरी इंद्रियों से दोनों नेत्रों के बिच में भुवयों के मध्य भाग में भली प्रकार से निरन्तर देखो। अब श्रीगुरू रामकृपा से प्रथम अभ्यास में तुमको केवल काले–काले रंग का आकाश दिखेगा और पिछे कुछ रोज के बाद अच्छी तरह अभ्यास होने पर कुछ दिनों के बाद रात के समान कभी कभी तेज प्रकाश तुम्हारे नजर में आएगा। और उसके बाद नाना तरह के रंगों से भरा हुआ चमचम झिलमिलाता तेज तुम्हारे दृष्टी के सामने भासेगा और उस काल में तुम्हारे शरीर में जो तत्व चलता होगा उसी तत्व का तेज के साथ तुमको दिखेगा। उसे तुम पंहचान करते जाना। फिर तुमको पाँचों तत्वों की पहचान बराबर तोर से होगी। और उसके बाद आधे चन्द्र की ज्योति तुम्हारे नजर में आति है। और उसके बाद चौफेर तेज व बीच में खाली चक्र के सा दिखेगा और उसके बाद कुछ दिन अभ्यास अधिक होने से पुरे–पुरे चन्द्रमा के सा तेज नजर में आयेगा और उसके बाद साक्षात् सूर्यमंडल

Scanned by CamScanner

के समान ब्रह्मरूप परमानन्दमय श्रीगुरूदेव की राघवजी की छबी ज्योतिस्वरूप तुमको दिखेगी व वही तेज स्वरूप क्षणमात्र दृष्टीगोचर होकर फिर लीन हो जावेगा।

इसी तरह कुछ दिन तक गुप्त और प्रगट बिजली सी चमक प्रतित होती रहेगी। बाद जब अभ्यास ठीक तरह से पुष्ट हो जाने पर वहँ तेजोमय स्वरूप तुम्हारे सामने आकाशवत् स्थीर हो जावेगा। अब यम, नियमों के साथ निर्विघ्न रूप से अभ्यास के अधिक बढ जाने के बाद वहँ परम महाज्योति क्रम से विस्तार के साथ तुम्हारे सामने तुमको प्यार करेगी। अथवा तुमको आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, परमानन्द, प्रेमानन्द, पराप्रेमानन्द और पराभक्तिका प्रदान करेंगी।

आप जब श्रीरामजी का दीर्घ कालतक ध्यान का अभ्यास करोंगे तो बराबर तेजोमय ज्योति का विस्तार होने लग जायेगा। पहले घर के अंदर की जो वस्तु है वह सब तुमको सामने दिखेगी और फिर बाहर की वस्तु तुमको नजर में आयेगी व फिर दूर की सब वस्तु तुमको दिखेगी। ताके पिछे बहुत योजनी प्रमाण दूरके पदार्थ तुम्हारे सामने दिखेंगे। और नाना प्रकार के शोभायमान, रमनीय बन व निर्मल तालाब, (सरोवर)

Scanned by CamScanner

दिखेगा व धीरे–धीरे यम, नियमों के साथ श्रीगुरू रामाज्ञानुसार क्रम से योगाभ्यास से ही योगी को तिनों लोकों को दिखानेवाली दिव्यदृष्टी श्रीगुरू रामकृपा देती है। ताते यहँ योगी ज्योतिस्वरूप श्रीरामजी के ध्यान से, अपने इच्छा से अभी तो आप परमज्योति स्वरूप रामजी से विलिन हो जावेंगे। यह है ज्योतिस्वरूप श्रीगुरू रामजी का ध्यान। इति।

✦ सत्पुरूषों का वचन कभी मिथ्या नहीं जाता।

✦ जब भूख की आग प्रज्वलित हो रही है। और उस समय आहार न मिले तो प्राणियों के शरीर में मणिपूर चकक्र में पित्त का प्रकोप होता है।

✦ तप के बिना भगवान, दान के बिना लाभ, एकान्त में प्रेम बिना हित, कौन बता सकता है।

✦ पाच पदार्थ जगत में दुर्लभ है –

१) सुमति, २) सतगुरू, ३) हितोपदेश देनेवाला मित्र, ४) प्रभु धर्म–शिक्षक माता पिता और ५) नितीमान राजा। हे श्रीरामजी के प्यारे मना यह पांच बडे भाग्य से मिलते है।

–पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

समाधि

श्रीगुरू रामजी के कृपा से अब योग का जो आठवाँ अंग समाधि है। उसको तुम भलि प्रकार से श्रवण करो व चित्त की जिसमें समाधान, स्थीर व शान्त अवस्था है ता को सन्तोने समाधि कहा है। सो श्रीगुरू राम इच्छा से दोनो तरह से भलि प्रकार से विधि का निरूपण करते है। तिसको प्रथम राम इच्छा से हटयोग समाधि को विधिवत् कहते है। सो चित्त लगाकर श्रवण करो।

गुदा और लिंग के बिच में सिवनी के मध्यभाग में अथवा दो अंगुल गुदा के तरफ और दो अंगुल लिंग के तरफ छोडकर के बराबर बिच के भाग में बाँये पैर की एडी को भली तरह से जमाकर सिद्धासन से बराबर विधि के साथ रूई के गादीपर कोमलासनपर बैठे, जिसमें डिगने नही पावें सिवनी और एडी का सम्बंध अचल और मजबूत करके बैठो। क्योंकि एडीके ढिली होने से अपानकी गति अथवा चाल उपर के तरफ ठीक–ठीक नही चलती है। साथ ही में पृष्ठ के मेरूदंड को सीधा रखकर जिव्हा के अलग भाग को अगले दांतों से थोडासा दबाकर अब दोनों भ्रुवों के बिच के भाग में स्थीर चित्त से ध्याम करो। यहँ प्रकार से

Scanned by CamScanner

मूलबन्ध से रोका हुआ नीचे की चाल को रोक जानेसे अपान वायु धीरे–धीरे उलटकर उपर के तरफ को सुखसे चढने को लग जाती है। ताते अपान वायू पहिले मूलाधार चक्रसे उलट करके स्वाधिष्ठान चक्र को भेदकर के फिर उपर को चढे। फिर नाभि चक्र के नीचे सर्व तरफ से इकट्ठा होता है। ताके पिछे कुंडलिनी शक्ति को जगाकर के धीरे–धीरे क्रम–क्रमसे उपर को चढती है। तिसको कही दोनों में अभ्यास बलवान होने पर सो प्राण का अपान वायु नाभिचक्र को लांघकर के उपर हृदय चक्र में गमन करता है। इसी तरह से मूलबन्ध के अभ्यास से जब अपने प्राणवायू को साधते हुए कंठ में आता है। तब वहाँ से योग विद्या को जाननेवाला योगी श्रीगुरूकृपा से उस प्राण को ध्यान के बलसे भ्रूमध्य ले जाना और भ्रूमध्य से भली प्रकार ध्यान से उसके उपर ब्रह्मरंध्र ले जाकर तहाँ ब्रह्मरंध्र में धारणा करके प्राण को स्थीर रोक दे और अपनी पूर्ण शक्तिनुसार रोककर ब्रह्मरंध्र में प्राणों को स्थीर करो व पीछे फिर भ्रूमध्य में ध्यान करके धीरे–धीरे प्राण को निचे को उतार लो, और फिर भ्रूमध्य से कंठ में, कंठ से हृदय में, हृदय से नाभी में, और नाभी से आधार चक्र में और यहँ आधार चक्र से उतारकरके अब सर्व शरीर में जहाँ का तहाँ प्राण को प्रवेश करके स्थापन कर दो। इसी क्रम से

Scanned by CamScanner

युक्त रीतिसे मूलबन्ध के जरिये तुमने निरालस होकर श्रीगुरू रामकृपासे नित्य प्राणों को चढाने का अभ्यास करो की जिससे तुम्हारे सर्व शरीर का प्राण खिंचा हुआ मस्तक में बराबर से रोकठोक से चढ जावें।

यह स्मरण रखने की बात है की जिस समय प्राणों को चढाने के अभ्यास काल में अनाज, व्यसनादि इनका परित्याग कर देना पडेगा। योगी पुरूषोंने उस काल में केवल दूध का ही सेवन करना। क्योकी अनाज का भोजन करने से शरीर हलका नहीं रहता है और सर्व शरीर से प्राणों का आकर्षण अच्छे तरह से नहीं हो सकता है।

अब नित्य अभ्यास करने से प्राण के उपर चढाने के समय योगी अभ्यासी को शरीर में चार प्रकार की प्राण की क्रम से चलने की गति का अनुभव होगा। प्रथम अभ्यास में चिटी जैसी उपर को चल रही है। फिर कुछ दिनों में मेंढक जैसा कुदता है। जैसे की मेंढक कुद–कुदके चलता है। तैसा ही प्राण एक चक्र से दूसरे में और दूसरे से तिसरें में चलता है। उसके पीछे सर्प की चालके साथ प्राण की गति होती है। जैसे की सर्प लम्बा होकर चला है। इसी प्रकार से प्राण या अपान से सर्व चक्रों से एकाकार होकर उपर को चढता

Scanned by CamScanner

है। और तिसके अन्दर हंस की चाल प्राण की गति होती है। जैसे हंस पक्षी अपने पैर को उठा–उठाकर चलता है वैसा ही प्राणनाथ! शरीर के नीचे के भाग से उठकर बहुत जल्दी से उपर मस्तक में चढ जाते है। जो समय में अभ्यास करके क्रम से प्राण की हंस की चाल होती है उस काल में शरीर से प्राणों का भली प्रकार से ठीक–ठीक आकर्षण होता हुआ अनुभव होगा। जब शरीर के सब अंगों सें खींचा हुआ प्राणवायु संपूर्ण मस्तक में चढ जाता है सो उस समय समाधि हो जावेगी। ताते सर्व शरीर प्राणों से रहित शून्य हो जावेगा। और सर्व बाहरी प्रपंच का विस्मरण हो जावेगा। उस समय योगी की मनोवृत्ती स्वयं प्रकाशरूप, परमानन्दरूप ब्रह्म में लीन हो जायेगी। तिस आनन्दस्वरूप समुद्र में तन्मय होकर विमनस्क व्यथा योगी को बहुत काल बीत जाने पर भी उसे एक क्षण मात्र का अनुभव करता है। फिर जब समाधि उतरती है तब प्राणों को उतारने की युक्ति को जाननेवाला जो कोई शिष्य पास में हो, सो कानों में उँचे–उँचे शब्द बोलने से अथवा शरीर में हाथ की हथेलियों से थपथपाने से शीर में थोडा गरम जल डालकर योगी को समाधिसे जगाना। और समाधिसे प्राणों का नीचे उतारना

Scanned by CamScanner

आदि क्रम जब बहुत दिन का अभ्यास हो जाने से समाधान के साथ शिष्य के बिना आप ही आप उतार सकते है। युक्ति के साथ शिष्य के जरिये या अपने आप ब्रह्मरंध्र में से प्राणों को नीचे उतारकर तिनको सर्व शरीर में अपने–अपने स्थानों में योग्यता पूर्वक स्थीर कर दे। जब शरीर स्वस्थ हो जायँ तब फिर अपनी मर्जी के साथ उठो, बैठो, आराम करो। इति।

✦ भक्तिवान मनुष्य का अंग स्वाभाविक ही कोमल रहता है। उसके हाथ, पैर के सब जोड ढिले हो जाते है।

✦ सत्य, ज्ञान व सन्त समागम द्वारा ही अपने स्वरूप की पहचान हो सकती है।

✦ सिद्धी प्राप्त करने में अहंकार आता है। परन्तु नित्य नियम से की हुई उपासना से एक महान शक्ति निर्माण होती है, मगर अहंकार नहीं रहता।

– पूज्य श्री स्वामीजी

Scanned by CamScanner

हटयोग

दूसरा हटयोग समाधि प्रकरण का निरूपण करते है। सो पूर्व प्राणायाम के प्रकरण जो सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग खोलने को विधान कही है। उस विधी से केवल कुम्भक का ही नित्य प्रति अभ्यास करके पश्चिम मार्ग मेरूदंड से प्राणों को उपर चलावो।

अब पश्चिम मार्ग के अभ्यास में बाहर से पूरक करके कुम्भक किया हुआ प्राण वायु पहले थोडा–थोडा मस्तक में चलता है और जब पिछे कुम्भक का अभ्यास भली प्रकार से हो जावें तब संपूर्ण प्राण की गति उपर ब्रह्मरंध्र में चढ जाती है। जिस वक्त प्राण के कुम्भक करने से फिर रेचन नही होता है। जब की प्राण की गति अंदर के अंदर ही समाय जाती है। तब पृष्ठ मार्ग से उपर को चढ जाता है। सो उस काल में पश्चिम मार्ग से समाधि हो जाती है। इसी प्रकार से समाधि का अभ्यास कुछ काल तक करने से सर्व शरीर का प्राण, योगी के वश में हो जाता है। ताते सो योगी किसी भी काल में जहाँ इच्छानुसार प्राण को ले जाना चाहता है उसी स्थान पर अपने सर्व शरीर का प्राण खींचकर तुरन्त जाता है।

Scanned by CamScanner

उस काल में निश्चय करके योगी के शरीर में नाना प्रकार के विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होते है। अब अपने शरीर में बारह दीपक, तारा, मणि, वृक्ष, शाखादि देश में योगी चिरकाल तक धारण करता है। तब उस वक्त शरीर को छोडकर के प्राण बाहर निकल जाता है। अब प्राण के बाहर निकल जाने से योगी का शरीर मुर्दे जैसा हो जाता है। और ताते सो योगी वायु के समान सूक्ष्म हो जाते है। और देह रूपि बन्धन से मुक्त भया परम स्वतंत्र भाव को पाता है।

श्रीगुरू रामकृपा से अणु के समान सूक्ष्मरूप होकर सो योगी तीनों भूवन में विचरते है। श्रीगुरू रामजी के परा प्रेम का अनुभव तुरन्त आता है। इसी सूक्ष्म शरीर की गति को सिद्ध लोग अणिमा सिद्धी कहते है। और ब्रह्म ऋषि, सनकादिक चारो भाई जग बालक व्यासादिक सब इसी सुक्ष्म रूप में विचरते है। और यह सब स्वतंत्र है।

ताते इसी प्रकार से बाहर निकलकर योगी फिर अपने शरीर में अथवा और किसी के शरीर से जिते हुए शरीर में अथवा किसी मृतक के शरीर में जहाँ अन्दर प्रवेश करना चाहे उसमें तुरन्त निश्चय करके गमन

Scanned by CamScanner

करता है। अथवा राजा आदिक धनी लोगों के शरीर में बिना रोक ठोक के प्रवेश कर और सारे कार्यो को करके फिर अपनी देह में प्रवेश कर जाते है।

अथवा आकाश में रहनेवाले सर्व पदार्थ समुह को तुरन्त देखकर के फिर अपनी शरीर में प्रवेश कर जाते है। परन्तु एक स्मरण रहे की जाने के समय अपनी शरीर की परम्परा, इन्तजाम, रक्षा करके जाना चाहिए। जिससे कोई मुरदा समझकर जला न दे और कोई जीव न खा जावे। ताते रक्षा करके जाना योग्य–उचित है।

समस्त योगीयों के योगदाता, करूणाकर श्री शिवजी को बार–बार प्रणाम करके और अपने श्रीगुरू रामजी के पावन पवित्र चरण कमलों में नमस्कार करके और पातंजलि, श्री याज्ञवल्क्य आदिक तीन सर्व महान पुरूषों को नमस्कार करके और सर्व लोक हितार्थ भुक्ति, मुक्ति, युक्ति, मुक्त, मोक्ष और भक्ति पद की सिद्धी के अर्थो का अष्टांग–योग विद्या का निरूपण करता हूँ।

ताते प्राण और अपान एकता होता है। चित्त

Scanned by CamScanner

और आत्मा का मेल होता है। जिव और प्रभु का एकता होता है। ऐसा यह अष्टांग–योग है। तिसका आप अपने इस लोक और परलोक के लिए प्राणपणसे श्रीगुरू रामाज्ञानुसार सर्वदाकाल अभ्यास करो। संसार सागर पार होने के लिए अनेक तरह के मार्ग है। जप, तप, ध्यान, धारणा, नेम, पूजा, पाठ आदि स्थूल क्रीया के समुह साधन है। सो मुक्ति के लिए साक्षात समर्थ होते है।

अपने जन्म जन्मान्तर के लिए कुछ साध्य हो। ताते विचारमान पुरूषों को चाहिए की संसार के सर्व बन्धनों व दुःखों से छुटकर मुक्ति के लिए केवल योग के ही अभ्यास मे रत रहना योग्य है। तत्वज्ञान से भी कैवल्य मोक्ष होता है। पर वह भी योग से ही होता है। ताते बिना योगाभ्यास के ज्ञान शुष्क है, सो मुक्ति, भक्ति का कारण नही है। जिस योगाभ्यास करके अणिमा, महिमा आदिक सिद्धीयोग के सहारे काल को जीतकर जीवनमुक्त तथा योगी स्वतंत्र जगत में विचरते है।

ताते तुमने अवश्य करके योगाभ्यासका ही शरण लेना योग्य है। और शास्त्रों की शुष्क वार्ता करने में ही

Scanned by CamScanner

विचारमान पुरूषों ने अपनी अमूल्य जीवनकी सर्व आयुष्य व्यतित नही करनी चाहिए। क्योंकि केवल दीपक की ज्योति से अंधःकार का नाश नही होता है। तैसे ही शास्त्रों की बातचित करते रहने से ही संसार बन्धन से निवृत्ति नहीं हो सकती है।

जीस श्रीगुरू रामजी परमात्मा के स्फुरण रूपसे माया प्रत्येक में एकेक क्षण मैं असंख्य कोटी ब्रह्मांड की स्वाभाविक उत्पत्ति हो जाती है और आपकी स्फुरण रूप से माया के लय ही में क्षण में असंख्य ब्रह्मांड की विलीनता आप में हो जाती। ऐसे आप अखड, शान्त और दासों पर अति दयालु हो व अपने ब्रीद को रखनेवाले बोध की मूर्ति ईश्वर, गुरूरामजी के अन्दर चीटि बराबर शरण हूँ। जय गुरूदेव!

इस दुख भंजन, अलख, अगोचर, अज, निरंजन, अन्तर्यामी व सब घटव्यापी, सबके तुमही प्रतिपाल हो। अटल, अजर, अमर, जग कर्ता हो। व चेतन हो व आप परब्रह्म, परमेश्वर, स्वामी, घटघट व्यापी व अन्तर्यामी हो। और निर्गुण, सगुण गुरूदेव अनन्त! आप मुझे भक्तिदान कीजिए। और दर्शन दीजिए। भगवन्ता! आप सिताराम हो!

अष्टांग–योग अनुभव रचा, करें जगत कल्याण।
धर्म, अर्थ, चित, भक्ति ले, हुकुम किया गुरूनाथ।।

।। इति ।।

श्रीसद्गुरूनाथ महाराज की जय हो!

पूज्य श्रीस्वामी सीतारामदासजी महाराज, विरचित

अष्टांग–योग

समाप्त

श्री गुरुदेव [illegible] निकस,
[illegible] रोड, [illegible]

Scanned by CamScanner

प्राणायाम

महर्षि पतञ्जलि के अष्टाग योग मे प्राणायाम का क्रम चतुर्थ है। प्राणायाम से शरीर के श्वसन तत्र को बहुत लाभ होता है इसलिए बहुत से लोग इसे शरीर को अतिरिक्त आक्सीजन प्रदान करने वाला केवल फेफडों का व्यायाम समझते है। पर वास्तविकता यह है कि यह केवल श्वसन व्यायाम ही नहीं है, बल्कि सूक्ष्म रूप से श्वसन के माध्यम से प्राणमय कोश की नाडियों, नलिकाओं एव प्राण के प्रवाह पर प्रभाव डालता है। फलस्वरूप प्राणायाम अभ्यासी का अन्धकार का आवरण दूर होकर उसके मन की चचलता नष्ट होता है तथा मन पर भी उसका अधिकार हो जाता है। इस सबध में योगसूत्रकार कहते है कि श्वास -प्रश्वास की स्वाभाविक गति का विच्छिन होना 'प्राणायाम' है। प्राण-वायु का शरीर में प्रविष्ट होना 'श्वास' है तथा बाहन निकलना 'प्रश्वास' है। इस गमनागमन प्रक्रिया का बन्द हो जाना ही प्राणायाम है। योग साधना में इस क्रिया का विशेष महत्व है, शरीर में जितने भी मल एकत्र होते है, प्राणायाम के द्वारा सब भस्मीभूत हो जाते है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि प्राणायाम से बढकर कोई तप नहीं है, इससे सारे मल धुल जाते है एव ज्ञानरूपी दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।[2]

मन पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम साधना पर बहुत बल दिया है। प्राण और मन में परस्पर अभेद बताते हुए कहा है कि यदि प्राण पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो मनो निग्रह जैसा कठिन कार्य भी सरल बन जायेगा। जिसने प्राणवायु को जीता, उसने मन जीत लिया, जिसने मन जीता उसने प्राण जीत लिया। चित्त की चचलता के दो ही कारण हैं, एक वासना का दूसरा प्राणवायु का चचल होना। इनमें एक नष्ट हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।[3] प्राणवायु चलायमान रहने से बिन्दु चलायमान रहता है। प्राण निश्चल हो जाने से वीर्य भी निश्चल हो जाता है। समर्थ स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्राणायाम करना चाहिए ।[1] जिस प्रकार डेरी से बधा हुआ पक्षी घूम-घाम कर अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है, उसी तरह से सैम्य मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूम-घाम कर प्राण का आश्रय लेता है क्योंकि मन प्राण से ही बँधा हुआ है। विविध विचारों तर्कों और अध्ययन, भ्रमण आदि से चित्त का समाधान नहीं होता है। मनो निग्रह तो प्राणायाम से ही सम्भव है।

---

1 [107] तस्मिन । सति श्वासप्रश्वासयोर्गविच्छेद प्राणायाम ''यागशास्त्र (2-49)

2 तपे न परम् प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य। व्यासभाष्य

3 हठ योग-प्रदीपिका 4/21

इन्द्रिय विकास अनियमित वासना प्रवाह का कारण शारीरिक नहीं मानसिक ही होता है। इन्द्रियों पर मन का नियन्त्रण होता है इसलिए मन विकास ग्रस्त होगा तो इन्द्रियों की चचलता भी बढेगी और वे कुप्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होगी। यदि मन का नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। तो वासना पर अकुश स्वयमेव लग जाता है। प्राणायाम से मनोनिग्रह से वासनाजन्य विकारों की रोकथाम सम्भव होती है। असयम के लिए उत्तेजित करने वाले विकृत मन को कुमार्ग त्यागने के लिए सहमत करना प्राणायाम की सुनियोजित साधना पद्धति अपनाने से सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध में साधना विज्ञान का मन्तव्य इस प्रकार है कि प्राणायम की अग्नि पापरूपी ईधन को जलाकर नष्ट कर देती है और वह सेतु के समान ससार रूपी सागर से पार करने का मार्ग खोलता है।[2]

प्राचीन काल से प्रत्येक भारतीय इस जीवनदायिनी सुधामयी प्रक्रिया को प्रतिदिन सध्या समय विधिवत किया करते थे। किन्तु पाश्चात्य जगत की चकाचौंध और विलासितापूर्ण दिनचर्या में उसने अपने इस अमृतमयी विद्या को भुला दिया है। वस्तुत प्राण हमारे शरीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग है। इसी के आधार पर मन, बुद्धि , इन्द्रियों की क्रियाओं का सम्पादन होता है। अत प्राण ही जीवन है। प्राण के ही सयम से मनुष्य दीर्घायु एव अरोग्यता को प्राप्त कर सकता है। आचार्य शारगधर ने बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण करते हुए कहा हे कि नाभि स्थिति प्राणवायु हदय कमल का स्पर्श करते हुए कठ मार्ग से विष्णुपदामृत (शुद्ध वायु) का पान करने के लिए बाहर आती है तथा तीव्र वेग से अन्दर आती है, जिससे समग्र देह को प्रीडन (प्राण प्रदान) करती हुई जठराग्नि को पुष्ट करती है एव जीवन -दान देती है।[3]

प्राणायाम जानने से पूर्व 'प्राण' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में जान लेना आवश्यक है। सस्कृत में 'प्राण' शब्द ही निष्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'ण्यन्त अन प्राणने' धातु से ड अथवा अच् प्रत्यय लगाकर मानी जाती है और यह वायु का वाचक माना गया है।

प्राण और जीवन प्राय एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है। प्राण, शक्ति का मूल है। यह निर्जीव एव सजीव का भेद करता है। इसे जीवन का प्रतीक एव जीवनी शक्ति कह सकते है। वास्तव में प्राण, शक्ति का केवल एक रूपान्तर है। जिसको जीवात्मा अपने भौतिक विकास में धारण कर लेता है। जब तक जीवात्मा इसे अपने अधिकार में रखता है, शरीर सयोग बना रहता है और सब परिणाम जीवात्मा की

---

1 चले वाते चले बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवते्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ।।गो0 प0, 1/90

2 प्राणायामों भवदैव पातकेन्धन पावक। भवोदधिमहासेतु प्राच्यते योगिभि सदा ।। योग चूडामणि उ0प्र0(108/109)

3 विश्व गुरू कल्पतरू । पृ0 560

प्रेरणा से सगठित बने रहते है और जब जीवात्मा अपने वियोग समय में अपने अधिकार को त्यागता है तब प्राण उसी वृहद प्राणकोष में जा मिलता है, जहॉ से वह आया था अर्थात् प्राण आत्मा से उसी प्रकार से जुडा होता है जिस प्रकार मनुष्य के शरीर से उसकी परछाई।

शरीर में स्थिति प्राण रूपी शक्ति को सरलता से समझने के लिए इसे पॉच उप विभागों में बॉटा गया है -

1 प्राण-वायु

प्राण का क्षेत्र कण्ठ नली एव श्वास पटल है अर्थात् श्वसन् नली , वाणी सम्बन्धी अग, अन्न नलिका आदि से इसका सम्बन्ध है साथ ही इन्हें क्रियाशील बनाने वाली मॉस पेशियॉ इससे सम्बन्धित है। वास्तव में प्राण वह शक्ति है जिसके द्वारा श्वास नीचे की ओर खीची जाती है।

2 अपान-वायु

अपान का क्षेत्र नाभि प्रदेश के नीचे है। यह आत , गुदा द्वारा, गुर्दे एव जननेन्द्रिय को शक्ति देती है जिससे निष्कासन क्रिया सही रहे। यह शक्ति प्राण वायु को गुदा द्वारा तक खीचने का एव नासिका द्वारा गन्दी वायु के निष्कासन का भी कार्य करती है। स्त्रियों के शरीर में इसी वायु शक्ति के द्वारा प्रसव के समय शिशु बाहर निकलता है तथा मासिक धर्म के समय रज स्राव होता ह।

3 समान-वायु

समान का क्षेत्र छाती एव नाभि के मध्यवर्ती क्षेत्र से है। यह पाचन सस्थान, यकृत, छोटी आत, पैक्रियाज एव जठर तथा उनके रस स्राव को प्रेरित तथा नियत्रित करता है। दिल तथा रक्त सचार सस्थान को भी क्रियाशील बनाता है। भोज्य पदार्थो में अनुकूलता लाता है। समान वायु का एक कार्य यह भी है कि वह प्राण वायु तथा अपान वायु को सन्तुलित अवस्था में बनाये रखती है।

4 उदान वायु

उदान वायु द्वारा कण्ठ नली के ऊपर के अगो का नियन्त्रण होता है। नेत्र, नासिका , कान, सम्पूर्ण शरीर की इन्द्रियॉ तथा मस्तिष्क इसी वायु के द्वारा कार्य करती है। इसकी अनुपस्थिति में अथवा असन्तुलन में सोचने-समझने की शक्ति नहीं रहती है साथ ही बाहा जगत के प्रति चेतना भी नष्ट हो जाती है।

5 व्यान-वायु

---

1 प्राणेउपान दानित्यानौ च वाय । अमरकोश 1-63/64

व्यान वायु का क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यह वायुओं के मध्य में सहयोग स्थापित करता है। समस्त शरीर की गतिविधियों को नियमित तथा नियन्त्रित करता है, सभी शारीरिक अगों तथा उनसे सम्बन्धित मास-पेशियों, तन्तुओं, नाडियों एव सन्धियों में समरूपता लाता है तथा उन्हें क्रियाशील बनाता है। शरीर को लम्बवत रखने में यही शक्ति उत्तरदायी है। इसीलिए कहा गया है कि हदय मं अवस्थिति वायु को 'प्राण वायु' कहा जाता है। नाभि प्रदेश में जो वायु घनीभूत रहता है, उसे 'समान वायु' कहते है। कण्ठ प्रदेश की वायु को 'उदान वायु ' कहा गया है तथा समस्त शरीर की प्रणालियों में जो वायु अपने रहस्मय कार्यो को नियमबद्ध रखता है उसे ' व्यान-वायु' कहते है।'

उपप्राण

हमारे योगियों ने शरीर में केवल प्राण शक्ति का वर्गीकरण ही नहीं बल्कि उनका उपर्गीकरण भी किया है। वे क्रमश नाग, कर्म, किकर, देवदत्त तथा धनजय है। छींकना, जमुहाई लेना, खुजलाना, पलक झपकाना,हिचकी लेना आदि इनके छोटे-छोटे कार्य है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि स्वथ्य, सबल एव दीर्घ जीवी बनने के लिए पॉचों वायु को सतुलित रखना जरूरी है क्योंकि इन वायुओं के असतुलित एव कुपित हो जाने से क्रमश मनुष्य का शरीर एव मन बीमार रहने लगता है। जो किसी औषधि से नहीं बल्कि पट्कर्म योगासन एव प्राणायाम के उचित एव नियमित अभ्यास से ही पुन ठीक हो पाता है।

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ प्राण का आयाम करना है। आयाम का अर्थ विस्तृत होता है। अर्थात् जीवनी शक्ति का हमारे कोषों, में विस्तृत करना, फैलाना या वृद्धि करना है। ऐसी वृद्धि करने वाली विद्या को प्राणायाम कहते है। हठयोग आचार्य के मत से रेचक , पूरक और कुम्भक ये प्राणायाम के तीन भेद है।[1] किन्तु महर्षि पतज्जलि ने शून्यक नामक एक और भेद जोडते हुए इसे चतुर्विध प्रतिपादित किया है।[2]

1 रेचक अन्दर से बाहर वायु निकलने की किया को 'रेचक' कहते है।

2 पूरक बाहर से वायु अन्दर खींचने कि क्रिया को 'पूरक' कहते है।

---

1 प्रमाणायाम शरीस्य वयोस्तद्वन्निराधनम्।
आचार्याणा तु केषा चिद्रेचकपूरककुम्भकै ।। प्राणायाम की सही विधि पृ0 46
वाह्याभ्यन्तरस्तभ्य वृत्तिर्देशकालसख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म । पातज्जलयो 2/50

1 हृदि प्राणो गुदेऽपान समानोनाभिसस्थित ।
उदान कण्ठदेशे स्याद्, व्यान सर्वशरीरग ।। अमरकोष(1-63) पर रामाश्रयी टीका।

3 कुम्भक वायु अन्दर खींचने के बाद उसे रोक लेने की क्रिया को ' कुम्भक' कहते हैं।

4 शून्यक अन्दर से वायु बाहर निकालकर रोक लेने का 'शून्यक' कहते है। इसे 'केवल कुम्भक' भी कहा जाता है।

उपर्युक्त चारों प्राणायाम की साधना से (ज्ञान) प्रकाश को ढकने वाले अन्धकार (अज्ञान) का आवरण टूट जाता हे तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन में धारणा करने की योग्यता आती है।

प्राणायााम के सम्बन्ध में कुछ भी जानने से पहले हमें श्वास के रहस्य को जान लेना परम आवश्यक है क्योंकि हमारा जीवन पूर्णतय श्वॉस पर अवलम्बित है।(श्वॉस ही) जीवन कहा भी जाता है। वैसे भी शरीर की समस्त क्रियाओं में श्वॉस क्रिया प्रधान है क्योंकि भोजन के बिना मनुष्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है। परन्तु बिना श्वॉस क्रिया के हमारा जीवन कुछ क्षण चलना भी असभव है।

हमें स्वस्थ और दीर्घ जीवन के लिए श्वॉस प्रश्वॉस का सही तरीका जानना चाहिए क्योंकि अनियमित , उल्टा अथवा अधूरा श्वॉस लेने से फेफडों की शक्ति शीघ्र ही क्षीण होकर नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप शरीर में प्राण शक्ति के अभाव में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते है जैसे -सर्दी , जुकाम, खासी , दमा इत्यादि। अर्थात् अपूर्ण एव जल्दी-जल्दी श्वास लेने से मनुष्य सदैव बीमार रहता है। आधुनिक श्वॉस विज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि कर दी है कि मनुष्य प्राणायाम द्वारा प्राण का निरोध करके अपनी आयु को दुगनी, तिगुनी एव चौगुनी तक कर सकता है।

श्वॉस सदैव नाक से लेना चाहिए। यदि मुँह से श्वास लेने की आदत पड गई हो तो उस आदत को छोडने का प्रयत्न करना चाहिए। मुँह केवल बोलने एव भोजन करने के लिए है। मुँह से श्वास लेने से अनेको सक्रामक बीमारियॉ हो जाती हैं जुकाम और सर्दी का प्राय यही कारण है क्योंकि श्वॉस लेने वाले अग नाक में ही प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि -

1 शरीर तापक्रम से कम या अधिक वायु को शरीर के तापक्रम अनुसार बनाकर अन्दर जाने दें।

2 वायु के साथ आ रहे धूलि-कणों को नाक में ही रोक ले।

3 वातावरण के रोग उत्पादक कीटाणुओं को नष्ट कर दे। चूँकि मुँह में ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है, इसलिए ठडी या गरम वायु, धुलि के कण एव कीटाणु मुँह द्वारा

फेफडों में पहुँच जाते है। अतएव जिन लोगो को मुँह से श्वॉस लेने का अभ्यास हो गया है उन्हें चाहिए कि नाक द्वारा श्वॉस लेने का अभ्यास करें।

किसी-किसी को ऐसा अनुभव होता है कि श्वास अन्दर लेते है तो पेट अन्दर जाता है एव जब श्वाास बाहर फेंकते है तो पेट बाहर आता है। एसे लोग सदैव बीमार रहते है क्योंकि उनकी श्वॉस क्रिया ही उल्टी है। अत यह ध्यान रखना चाहिए । कि जब श्वॉस अन्दर आये तो पेट बाहर की ओर जाये तथा श्वॉस जब बाहर जाय तो पेट अन्दर की ओर जाये। यही श्वॉस लेने का सही तरीका है। अपूर्ण या अधूरा श्वॉस लेने से हमारे शरीर एव मस्तिष्क में पोषण की कमी हो जाती है। फेफडों के निम्न प्रदेश में अधिक समय तक गन्दी श्वास एकत्रित रह जाती है। वर्तमान में अनेक बीमारियों जैसे क्षयरोग आदि का एक यह भी कारण है। चुस्त कपडे विशेषकर स्त्रियों की चोलिया आदि दीर्घ श्वास क्रिया में बाधक है क्योंकि श्वॉस के बिना दीर्घ एव स्वस्थ जीवन नहीं प्राप्त कर सकते है।

सही श्वास लेने का तरीका यह हे कि बैठकर यह चित्त लेटकर एक हाथ को नाभि पर रखकर उदर द्वारा श्वसन स्वय करना चाहिए। अब दीर्घपूरक करना चाहिए। देखेगें कि पूरक के साथ उदर फूल जाता है। तथा हाथ ऊपर आता है । जितना पेट फूलेगा उतना ही अधिक श्वास का प्रवेश फेफडों में होगा। अब दीर्घ रेचक करें तो देखेंगे कि दीर्घ रेचक के साथ पेट अन्दर की ओर जा रहा है।पेट जितना अन्दर जाएगा उतना ही फेफडों से अधिकतम मात्रा में वायु का निष्कासन होगा। यह ध्यान रखना चाहिए । कि अभ्यास करते समय छाती और कन्धों में कोई हलचल नहीं होनी चाहिए।

छाती द्वारा श्वसन करने के लिए बैठ जायें या चित्त लेट जाए। अब छाती आर पसलियों का विस्तार करते हुए पूरक कीजिए। हम अनुभव करते है कि इस क्रिया से पसिलियॉ ऊपर बाहर की ओर उठ जाती है। अब रेचक करना चाहिए। इस क्रिया से पसलियो में उतार आ जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि छाती द्वारा श्वमन काल में पेट-प्रदेश में गति न होने दें।

उदर द्वारा श्वसन एव छाती द्वारा श्वसन दोनों ही के योग से फेफडों में पूरक द्वारा अधिकतम मात्रा में वायु का प्रवेश कराना रेचक द्वारा अधिकतम वायु का निष्कासन ही पूर्ण या यौगिक श्वसन कहलाता है। इस प्रकार की श्वसन क्रिया ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी हे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इसी विधि से श्वास प्रश्वास की क्रिया करनी चाहिए।

पहले उदर फिर छाती कर धीरे-धीरे विस्तार करते हुए फेफडों में अधिक से अधिक वायु का प्रवेश करना चाहिए जितना सम्भव हो सकें। फिर क्रमश

पहले छाती फिर उदर को शिथिल करते हुए रेचक करना चाहिए। अन्त में उदर के स्नायुओं के सकोचन पर बल डालना चाहिए ताकि फेफडों से अधिक से अधिक वायु का निष्कासन हो सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि उदर से छाती, छाती से उदर तक गति तरग की भाति हो, झटके से नहीं।

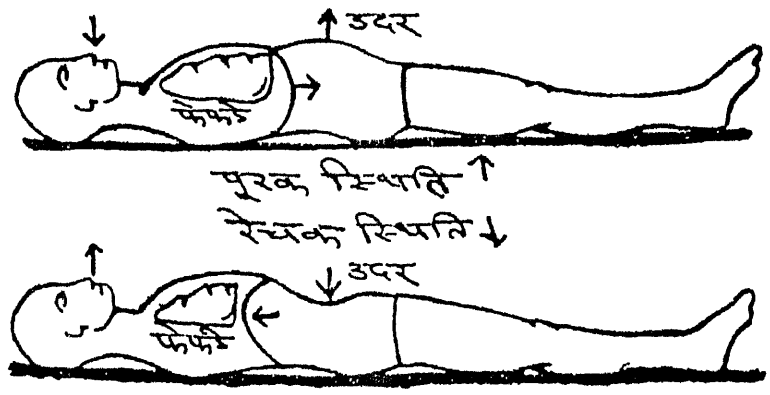

इस प्रकार क श्वसन से निम्नलिखित लाभ होते है -

1 यौगिक श्वसन के अभ्यास से कभी थकान का अनुभव नहीं होगा।
2 चिन्तन शक्ति का विकास होगा।
3 समान्यत चिन्ता, भय, तनाव एव निराशा का प्रभाव नहीं पडेगा।
4 सर्दी , जुकाम, खासी, टी0 वी0 दमा, प्ल्यूरसी आदि कष्ट नहीं होते है।
5 पाचन प्रणाली एव निष्कासन तन्त्र ठीक रहता है।
6 जीवन दीर्घ एव स्वस्थ रहता है।

प्राणायाम के अभ्यास में स्थान का विशेष महतव है। वैसे तो नदी के किनारे, पहाड़ों की तलहटी व गुफाओं, वृक्षो से हरे-भरे जगल अथवा स्वच्छ जलाशयों के पास ध्यानासन में बैठकर प्राणायाम श्रेयस्कर है। जहॉ पर ऐसी सुविधाए न हों वहा अपने खेतों व बगीचों में जाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए तथा शहर के लोगों को अपने निकट किसी साफ-सुथरे व हरे-भरे पाक्र या उद्यान में करना चाहिए। जिन लोगों के पास किसी परिस्थिति के कारण पाक्र में जाकर अभ्यास करने का समय नहीं है , उन्हें अपने घर के स्वच्छ, शान्त ऑगन या एकान्त कमरे में जिसकी खिडकियॉ खुली हों, वहाँ प्राणायाम करना चाहिए।

प्राणायाम के स्थान की वायु में गर्मी नहीं होना चाहिए। धूलि, धुँआ तथा मच्छर भी नहीं होना चाहिए । इसीलिए प्रात चार से आठ बजे तथा साय छ से आठ बजे तक की वायु प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम मानी गई है। प्राणायाम करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वायु सामने से न आकर पीछे से

आती हो या दायें अथवा बायें से आती हो प्रात पूरब की ओर मुँह करके व शाम को पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके प्राणायाम करना श्रेयस्कर हैं उत्तर दिशा की ओर प्रात एव शाम दोनो समय कर सकते है, लेकिन हवा का झोंका सामने से न आ रहा हो। दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके प्राणायाम करना शास्त्रों में वर्जित है। यदि वायु सुगन्धयुक्त, रोगनाशक, बलवर्धक , पुष्टिकारक हो तो अति उत्तम होता है। दुर्गन्ध युक्त पेट्रोल, डीजल, सिगरेट बीडी के धुँए से युक्त वायु हानिकारक है। हवन करके प्राणायाम करना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि हवन करने से जो परमाणु वायु में मिल जाते है प्राणायाम द्वारा शरीर में पहुँचकर शरीर के लिए विशेष लाभदायक है। चूँकि प्राणायाम के लिए ऐसा स्थान जरूरी है, जहाँ पर सूरज की किरणें दिन में पहुँचती हो और यदि किसी कारण से उस स्थान पर न पहुँचती हो तो हवन के द्वारा वायु शुद्ध करके प्राणायाम किया जा सकता है।

प्राणायाम अभ्यास के समय ऑखे बन्द रखनी चाहिए। मन को श्वास के अन्दर जाने तथा बाहर आने की प्रक्रिया को देखने में लगा रहना चाहिए। मानसिक चिन्तन यह करना चाहिए , जब श्वास अन्दर जाए तो ब्रहाण्ड की सारी शक्तियॉ अन्दर जा रही है। ऐसा अनुभव करते हुए , और जब श्वास बाहर निकल रही हो तब चिन्तन करें कि मै स्वस्थ हो रहा हूँ। ऑख खुली रहने से मन एकाग्र नहीं रहेगा, ऑ दर्द करेंगी, मच्छर व धूल ऑख में पड सकते है। प्रश्वास के समय निकलने वाली गरम वायु ऑख में पहुँचकर रोग पैदा कर सकती है।

प्राणायाम करने के लिए स्वर विज्ञान की जानकारी भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वर विद्या भारत की अति प्राचीन और मूर्धन्य विद्या है। इस विद्या के द्वारा योगी लोग त्रिकाल दर्शी बन जाते थे। आज से सौ वर्ष पूर्व इस विद्या के पर्याप्त ज्ञाता स्थान-स्थान पर मिल जाते थे किन्तु आधुनिक काल में यह रहस्यमयी विद्या एक कल्पना मात्र बनकर रह गयी। इस विद्या के माध्यम से प्राचीन समय में लोग अपने सासारिक कार्यो के शुभारम्भ का मुहूर्त निकालते थे। योगियों का यह दावा था कि स्वर विज्ञान के माध्यम से निकाले मुहूर्त कभी असफल व अनिष्टकारी नहीं हो सकते, ज्योतिष के द्वारा निकाले मुहूर्त से गलती हो सकती है।

नासिका द्वारा श्वास के अन्दर जाने और बाहर आने के समय अव्यक्त ध्वनि होती है उसी के स्वर कहते है। दाहिनी नासिका से निकलने वाले अव्यक्त स्वर का सूर्य स्वर और बॉयी नासिका से निकलने वाले को चन्द्र स्वर कहते है।

जब सूर्य स्वर चल रहा हो तो उस समय शरीर की शक्तियॉ दिन के समान जागृत रहती है और जब चन्द्र स्वर चलता है उस समय शारीरिक शक्तिया सुसुप्त अवस्था मे विश्राम कर रही होती है।

दिन और रात में मनुष्य का 21600 बार स्वाभाविक श्वास अन्दर जाता और बाहर आता है अर्थात एक घण्टे में 900 या एक मिनट में 15 बार श्वास का गमनागमन होता है। योग की मान्यता के अनुसार जीवों की आयु का परिणाम श्वास के गमनागमन की सख्या ही है। इस तरह आयु का घटाना या बढाना मनुष्य के स्वय की ऊपर निर्भर हे। जीवन के इस रहस्य से अपरिचित व्यक्ति अनियत्रित अथवा श्वास को जल्दी-जल्दी लेकर अपनी आयु को घटा लेता है। योगी लोग प्राणायाम द्वारा श्वास को नियत्रित करके न केवल मन को वश में कर लेते है, बल्कि श्वास का गमनागमन घटा कर उम्र को कई गुना बढा लेते है। सामान्यत चौबीस घण्टे में कम से कम स्वर का परिवर्तन पाँच बार होता है। दुर्बल और रोगी स्त्री, पुरूषों में स्वर की सख्या और भी बढ जाती है। बार-बार भोजन अथवा जलपान आदि करने से भी स्वर मे परिवर्तन की सख्या बढ जाती है। इससे हानि होती है।

स्वर का ज्ञान न होने की दशा में शरीर में अनेकों कठिन रोग उत्पन्न हो जाते है। और असमय मृत्यु का शिकार हो जाना पडता है। यही नहीं सन्तान का न होना अथवा बुद्धिहीन सन्तान होना, आकस्मिक विपत्तियों का आ जाना, काम में असफल होना आदि का यह भी एक कारण है। इस प्रकार ऐसे लाग बेकार में ही भाग्य को दोष देते है। वास्तव में स्वर विज्ञान के द्वारा मनुष्य दीर्घायु हो सकता है।प्रत्येक काम में सफल हो सकता है। मन चाही सन्तान प्राप्त कर सकता है।

जिस समय सूर्य स्वर चलता है, उस समय किये हुए भोजन का पाचन एव जिस समय चन्द्र स्वर चलता है उस समय युक्त अन्न के साराश से शरीर का सगठन होता है। इस प्रकार सूर्य स्वर से सृष्टि का कार्य और चन्द्र स्वर से लय का कार्य होता है। हमारा कौन सा स्वर चल रहा है। यह जानने के लिए किसी अॅगुली से एक नथुने को बन्द करके दूसरे से श्वास जल्दी-जल्दी लीजिए और छोडिए। जिस नथुने से श्वास सरलता से बाहर और भीतर आये जाये समझिए वही स्वर चल रहा है। यदि दोनो नथुनों से श्वास सरलता से बाहर और भीतर आये जाये तो समझ लेना चाहिए कि दोनो स्वर बराबर चल रहे है।

प्रत्येक स्वर को बारह घण्टे तक स्थायी रखने का नाम स्वर साधना है। स्वर साधक को सूर्योदय से सूर्यास्त तक चन्द्र स्वर चलाये रखना चाहिए और रात्रि में सूर्य स्वर।

सूर्य स्वर चल रहा हो और चन्द्र स्वर चलाने की आवश्यकता हो अथवा चन्द्र स्वर चल रहा हो और सूर्य स्वर चलाने की जरूरत हो तो निम्न प्रकार से स्वर बदलना चाहिए।

1. सूर्य स्वर या दायां स्वर चलाना हो तेा बायीं करवट लेटकर, सिर को थोड़ा ऊँचा करके बायीं हथेली पर दस-पन्द्रह मिनट रखिये, स्वर बदल जायेगा। इसी प्रकार चन्द्र स्वर चलाना हो तो दाहिनी करवट लेटकर ऐसे ही करें।

2.बैठकर या खड़े होकर स्वर बदलना पड़े तो जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत हाथ के बगल में धोती या पल्ला या अगौछे की तीन चार पर्त लपेट कर गेंद की तरह बनाकर दबा लें। दस-पन्द्रह मिनट में स्वर बदल जाएगा।

3.स्वर बदलने के लिए जो स्वर चल रहा हो उसी नासिका में रूई की ठोस गोली बनाकर लगाएं। दस-पन्द्रह मिनट मे स्वर बदल जाएगा।

स्वर साधना करने से जो लाभ हैं उनमें से कुछ इस प्रकार है :-

1. जैसे धूप की गर्मी से शान्ति पाने के लिए दस-पन्द्रह मिनट तक दाहिने करवट लेटकर बायां स्वर चला लेने से गर्मी दूर हो जाती है।
2. जो दिन में बायी नासिका से और रात में दाहिनी नासिका से श्वांस लेता है उसके शरीर में कोई पीड़ा नही होने पाती और वह दीर्घ जीवी होता है।
3. बुखार में दायें करवट लेटकर अथवा रूई की गोली से चन्द्र स्वर चलाएं और तब तक चलायें जब तक बुखार ठीक न हो जाय।
4. जब दमें का दौरा शुरू होने लगे और श्वांस फूल रहा हो तो जो स्वर चल रहा हो वह एक दम बन्द कर दें। ऐसा करने से दौरा निश्चित कम हो जायेगा।
5. जिन्हें सदैव जुकाम रहता हो वे लोग नेति और सूर्य भेदी प्राणायाम के साथ यदि रात को सूर्य स्वर चलायें तो बहुत जल्दी लाभ होता है।
6. द्रव पदार्थ जैसे दूध, लस्सी, फल रस आदि चन्द्र स्वर में पीने से इनकी पूरी , ऊर्जा शरीर को मिलती है।

प्राचीन योग मनीषियों ने आठ प्रकार के प्राणायाम की बात कही है-वे हैं

'' 1. सहित , 2 सूर्य भेदी , 3 उज्जायी, 4 शीतली भस्त्रिका ,6 भ्रामरी, 7. मूर्छा और 8. केवली ''

परन्तु आधुनिक योग के आचार्यो ने योग शास्त्रों के अध्ययन-मनन के बाद साधना एवं रोग निवारण के अनुसार बाहर प्रकार के प्राणायाम की बात कही है। वेइस प्रकार है। 1. अनुलोम विलोग प्राणायाम 2. सर्वांग प्राणायाम 3.

सूर्यभेदी प्राणायाम 4 चन्द्र भेदी प्राणायाम 5 भस्त्रिका प्राणायाम 6 उज्जायी प्राणायाम 7 भ्रामरी प्राणायाम 8 सीत्कारी प्राणायाम 9 शीतली प्राणायाम 10 मूर्छा प्राणायाम 11 प्लावती प्राणायाम 12 केवली प्राणायाम और[113] मैं अन्त में 13वें प्राणायाम के रूप में गहरी श्वास-प्राणायाम को जोडता हूँ क्योंकि कोई भी प्राणायाम करने से पहले यह आवश्यक होगा कि हम गहरी श्वास-प्राणायाम के द्वारा फेफडों के अन्दर की गन्दी वायु बाहर निकाल दे। तभी किसी भी प्राणायाम का अभ्यास लाभप्रद होगा।

उपर्युक्त बारहों प्राणायाम के सम्बन्ध में मेरा मत भिन्न है। मेरे मत में प्राणायाम का क्रम ऐसा होना चाहिए जिसे कि कोई भी व्यक्ति कर सके और सभी के हित के लिए वह क्रम लाभदायक हो। अत मेरे विचार से सबसे पहले गहरी श्वास प्राणायाम करना चाहिए फिर कपालभाति प्राणायाम करना चाहिए उसके बाद भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए। ये तीनों प्राणायाम करने से नासिका से लेकर फेफडो तक की गन्दी वायु और गन्दगी निकल जाती है। उसके बाद भ्रामरी प्राणायाम और गुञ्जायी प्राणायाम करना चाहिए। उसके बाद शेष प्राणायाम आवश्यकतानुसार करना चाहिए। अत इसी क्रम में आगे प्राणायामों के प्रकारों एव उनके करने की विधियों तथा लाभों का उल्लेख किया गया है।

अब इस प्रकार प्राणायाम का क्रम निम्न प्रकार है -

1 गहरी श्वास-प्राणायाम
2 कपाल भाति प्राणायाम
3 भस्त्रिका प्राणायाम
4 भ्रामरी प्राणायाम
5 गुञ्जायी प्राणायाम
6 अनुलोम-विलोम प्राणायाम
7 सर्वांग प्राणायाम
8 केवली प्राणायाम
9 सूर्यभेदी प्राणायाम
10 चन्द्र भेदी प्राणायाम
11 सीत्कारी प्राणायाम
12 शीतली प्राणायाम
13 मूर्छा प्राणायाम

सहित सूर्य भेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।।

1 भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भका ।। विश्वगुरू कल्पतरू पृ0 563

14 प्लावनी प्राणायाम

15 उज्जायी प्राणायाम

1 गहरी श्वास प्राणायाम

सर्व प्रथम नाभि के पोछे का भाग सीधा करके किसी भी ध्यानात्मक आसन अर्थात् सुखायन या पद्मासन या वज्रासन आदि में सुविधानुसर बैठ जायें। फिर से दोनों नासिकाओं से गहरी श्वास भरें।श्वास जब अन्दर जाये तो पेट बाहर की ओर आये और और श्वास जब बाहर आये तो पेट अन्दर की ओर जाये। यह क्रम कम से कम 10 बार को। जब श्वास अन्दर जाये और बाहर आये तो यह मानसिक अवधारणा होनी चाहिए कि मेरे अन्दर प्राण वायु का सचार हो रहा है और मेरी स्वास्थ्य दायिनी अखण्ड शक्ति बढ रही है और जब श्वास बाहर जाये तो यह सोंचना चाहिए कि मेरे अन्दर के समस्त विकार शरीर से बाहर निकल रहे है और मैं रोग मुक्त हो रहा हूँ। फिर उसके बाद बायी नासिका को बन्द करके केवल दायी नासिका से ही 10 बार श्वास प्रश्वास लें तथा फिर दायी नासिका को बन्द करके बायी नासिका से 10 बार श्वास प्रश्वास करे । ऐसा करने से अन्दर की गन्दी वायु शरीर से बाहर निकल जाती है और शरीर में ऊर्जा का सचार होने लगता है।

1 **कपाल भाति प्राणायाम**

कपाल भाति रेचक अवस्था में

कपाल भाति, पूरक अवस्था में

किसी भी सुखासन में बैठकर नाभि के पीछे का भाग सीधे करके पहले दायी नासिका से श्वास ले और बायी नासिका से निकालें यह क्रम 10 बार लगातार करें। श्वास जब अन्दर जायें तो पेट बाहर की ओर आये और श्वास जब बाहर आये तो पेट अन्दर की ओर जाये। श्वा बहुत तेजी से लेना चाहिए और तेजी से निकालना चाहिए। इसके बाद यही क्रिया बायी नासिका से श्वास

लेकर दायी नासिका से श्वास बाहर निकाले तेजी के साथ। बाद में दोनों नासिकाओं से 10 बार तेजी से श्वास ले और बाहर निकालें। इस क्रिया को करने से मस्तिष्क एकदम साफ हो जाता हे। स्मरण शक्ति बढती है और ऑखों की रोशनी बढती है। एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि प्राणायाम करने से पहले जलनेति रबर नेति करके नाक को ठीक से साफ करके तब प्राणायाम करना चाहिए जिससे कि अन्दर की समस्त गन्दगी बाहर निकल जाय।

3 भस्त्रिका प्राणायाम

लोहार की धौकनी जिस प्रकार से वेगपूर्वक वायु को अन्दर बाहर करती है। उसी प्रकार इस प्राणायाम में, बिना बन्ध, बिना कुम्भक के जल्दी पूरक व रेचक करते है।

क प्राणायाम की स्थिति में बैठ जाइये और हाथों के सामने की ओर सीधा कर लें। तत्पश्चात् गहरी श्वास भरें और हाथों की मुठ्ठी बाधते हुए हाथों को अन्दर की तरफ पूरी ताकत से बाहर निकाले। यह क्रम तेजी से लयबद्ध होकर 10 बार करें।

ख हाथों को ऊपर की ओर सीधा करें और गहरा पूरक करें तथा हाथों की मुठ्ठी बन्द करके हाथों को वापस कन्धे तक लायें तथा तेजी से रेचक करें। यह क्रिया भी लगभग 10 बार करें।

ग अब हाथो को कन्धे की सीध में 180 डिग्री में सीधा करें और गहरा पूरक करें तथा हाथों की मुठठी को बन्द करके हाथ वापस लायें और तेजी से रेचक करें। यह क्रम भी लयबद्ध होकर कम से कम 10 बार करें। प्रारम्भ में 10 बार करें बाद में धीरे-धीरे पचास-पचास बार तक बढाया जा सकता है।

लाभ जैसे लोहार की धौकनी से सारी गन्दगी जल जाती है उसी प्रकार भस्त्रिका प्राणायाम से शरीर के सम्पूर्ण विकार जल जाते है। कफ विकार जल जाते है। कफ विकार वालों के लिए यह प्राणायाम विशेष लाभदायक है।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 उच्च रक्त चाप, चक्कर या दिल की किसी बीमारी में भस्त्रिका प्राणायाम पूर्णत वर्जित है।
2 भस्त्रिका प्राणायाम करने से पहले जलनेति, रबर नेति, तेल नेति अवश्य कर लेना चाहिए।

3 बल पूर्वक रेचक न करें अन्यथा फेफडों में थकान हो जाती है। हदय शून्य रहने लगता है।

4 भ्रामरी प्राणायाम

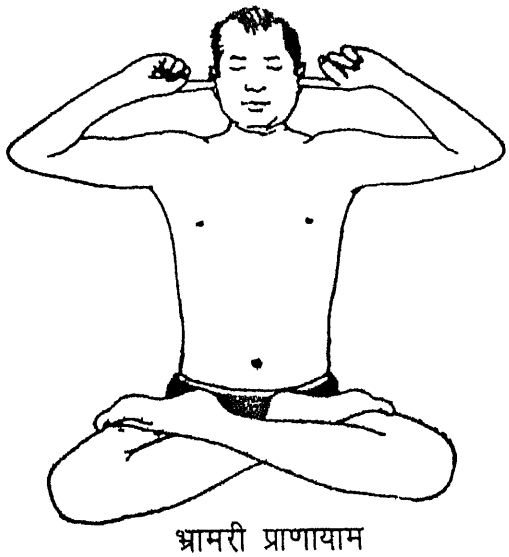

भ्रामरी प्राणायाम

भ्रामरी का अर्थ भौरा होता हे, भौरे के उडने में जिस प्रकार शब्द होता है, उसी तरह प्राणायाम में शब्द होता जाता है। इसलिए इसका नाम भ्रामरी प्राणायाम है।

विधि किसी भी ध्यानात्मक आसन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाइये। दोनों आँखें बन्द कर लें। अब दोनो नासिकाओं के साथ गहरा पूरक ओठ लगभग चिपकाकर तत्पश्चात भोरें की तरह अखण्ड गुञ्जार करते हुए लगातार लम्बा रेचक करें तथा ध्वनि करते समय मस्तिष्क में इसी प्रकार ध्वनि तरगो का अनुभव करना चाहिए । इसे कम से कम पाच बार और अधिक से अधिक बढते-बढते पन्द्रह तक ले जायें।

लाभ योगासाधक यदि क्रमश षटकर्म द्वारा शरीर शोधन करके योगासन व नाडी शोधन प्राणायाम करने के बाद इस प्राणायाम में बराबर शब्द सुनने का अभ्यास करे तो उसे कुछ दिनों में पहले झांगुर , फिर भौरा, फिर पक्षियों के चहचहाने जैसे शब्द सुनायी देने लगते हे। फिर क्रमश घुघरू, शख , घण्टा , ताल भेदी, मृदग नगाडे के सदृश शब्द सुनायी देते है और फिर इस प्रकार उन शब्दों को सुनते हुए 'ऊँ' शब्द का श्रवण होने लगता है। यही नाद योग सिद्धि है जिसमें साधक सदैव परमानन्द में रहता है।रक्त चाप में सुधार होता हे, मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध निराशा में कमी आती है, श्वास व गले के रोग में

कमी करने वाले को कभी पक्षाघात का रोग नहीं होता है और अगर हो गया है तो इसके करने से बहुत लाभ होता है।

5 गुज्जायी प्राणायाम.

सर्वप्रथम किसी ध्यानात्मक आसन में नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाइये। दोनों हाथों की तर्जनी अगुलियों से दोनों कानों के छिद्रों को अच्छी प्रकार से बन्द कर दे। अब गहरा पूरक करें तथा हल्का कुम्भक करें। तत्पश्चात् अँग्रेज के ' ओ' की आकृति के सदृश मुँह को बनावे और ' ओ ' की आवाज नाभि स्थान से निकालते हुए कण्ठ स्थान से होते हुए गुञ्जायमान करते हुए जितना तेज सम्भव हो सके आवाज निकालते हुए ओठ बन्द करे। जब आवाज निकल रही हो तो मानसिक धारणा यह होनी चाहिए कि मेरे अन्दर के समस्त विकार मेरे मुँह से बाहर निकल रहे है। इस प्राणायाम को करने से गले सम्बन्धी रोग , थायराइड ग्रन्थि से होने वाले रोग और मोटापा को कम करने में विशेष लाभ होता है।

6 उज्जायी प्राणायाम

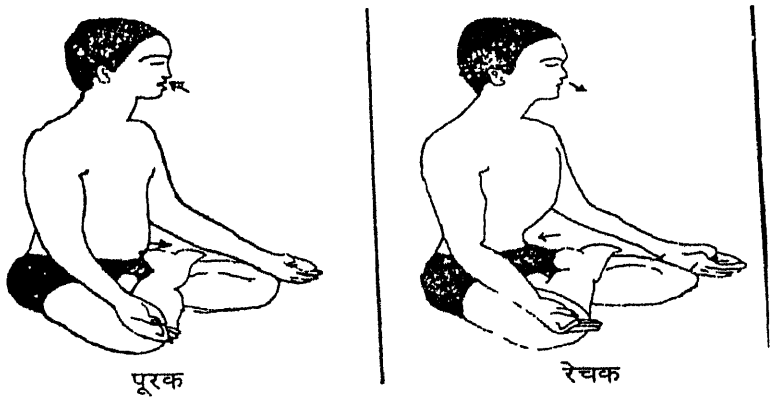

उज्जायी प्राणायाम

ऊपर अकित चित्र के अनुसार बेठ जाइये। मुख को थोडा सा नीचे कण्ठ की ओर झुकाकर दोनों नथुनों से पूरक कर, पूरक करते समय श्वास क्रिया गहरी, धीमी तथा श्वास में छोटे बच्चो के कोमल खर्राटे की भाति आवाज आनी चाहिए ।

इस समय ऐसा लगना चाहिए कि श्वास क्रिया नाक से नही बल्कि गले से हो रही है कुछ देर कुम्भक करने के बाद बायें नथुने से इसी प्रकार कण्ठ से हल्की आवास करते हुए रेचक करें। यह एक बार प्राणायाम हुआ। प्रारम्भ में पॉच बार करना चाहिए। धीरे-धीरे इसका अभ्यास एक घण्टे तक करना चाहिए। लेकिन लम्बे अभ्यास में कुम्भक नहीं करना चाहिए।

लाभ

1 अनिद्रा के रोगी यदि इसका अभ्यास शवासन में बिना कुम्भक के करें तो उन्हें नींद अच्छी आती है।

2 उच्च रक्त चाप के रोगी भी कष्ट के समय , अनिद्रा के रोगी की भाति , इसे करें तो रक्त चाप में कमी होती है।

3 दमा के रोगी भी शक्ति भर थोडा कुम्भक इस क्रिया से विशेष लाभ प्राप्त कर सकते है।

7 अनुलोम-विलोम प्राणायाम

अनुलोम-विलोम प्राणायाम अर्थात् उल्टा और सीधा प्राणायाम को नाडी शोधक प्राणायाम कहते है। सबसे महत्वपूर्ण यही प्राणायाम है क्योंकि इस प्राणायाम के विधिवत् अभ्यास से समस्त नाडियों से प्राणवायु का सचार बिना किसी बाधा के होने लगता है। इस प्राणायाम को करने से पहले गहरी श्वास प्राणायाम , भस्त्रिका , कपाल भाति, भ्रामरी , गुज्जायी आदि प्राणायाम करके ही इसे करने में वास्तविक और ज्यादा लाभ होता है यह मेरी व्यक्तिगत धारणा है क्योंकि उपरोक्त प्राणायामां के द्वारा पहले शरीर के अन्दर की समस्त गन्दी वायु एव गन्दगी निकल जाती है। ऐसा न करने से वही गन्दगी हमारे रकत में आक्सीजन के द्वारा मिल जायेगी और फायदे की जगह नुकसान होगा। यही कारण हे कि प्राणायाम के क्रम में इस प्राणायाम की उच्च अवस्था के अभ्यास के पूर्व योगाभ्यासी के लिए निम्न अवस्थाओं का क्रम से अभ्यास जरूरी है।

प्रथम अवस्था - प्राणायाम की स्थिति अर्थात पद्मासन , सिद्धासन स्वास्तिकासन अथवा किसी भी सुखासन में (केवल महत्वपूर्ण बात यह है कि नाभि के पीछे का भाग सीधा रहे) बैठकर बायें हाथ से घुटनों पर रखे। दाहिने हाथ के अँगूठे से दायी नाक को बन्द कर ल। तर्जनी अँगुली को निम्न चित्रानुसार भ्रू-मध्य अर्थात् दोनों भौहों के बीच रखें।

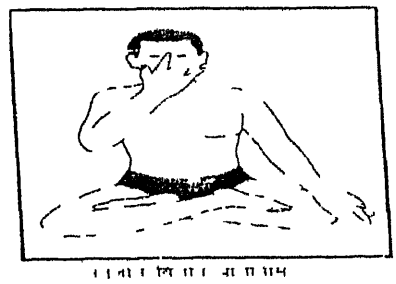

मध्य और उसके बगल वाली अनामिका अँगुलियों का आपस में चिपका लें जिसका उपयोग बायी नाक के छिद्र को बन्द करने में करेगें। अब बायी नासिका से पूरक करें। पूरक के तत्काल बाद उसी से रेचक करें। पूरक और रेचक दोनों में सास की गति बराबर रहेगी।कम से कम पॉच बार पूरक व पाच बार रेचक करें। अब बायी नासिका , बन्द कर दें। दाहिनी को खोल दें। पहले की तरह दाहिनी नासिका से पूरक एव रैचकसमान गति से पॉच-पाँच बार करें। यह बात भी ध्यान रखनी चाहिए कि श्वास प्रश्वास की क्रिया बलपूर्वकन करें तथा साथ ही पूरक एव रेचक के समय किसी प्रकार की श्वास ध्वनि न होने दें।[1]

द्वितीय अवस्था इस अवस्था में दाहिने छिद्र को बन्द करके बायें से पूरक करें फिर बायें छिद्र को बन्द करके बायें से रेचक करें अर्थात पूरक बायें से और रेचक दायें से इस प्रकार इस क्रिया को पॉच बार दोहरायें। इसके बाद बायें छिद्र को बन्द करके दाहिने से पूरक व बायें से रोचक करें अर्थात् पूरक दायें से व रेचक बायें से रोचक करें अर्थात पूरक दायें से व रेचक बायें से इसे भी पॉच बार दोहरायें।

तृतीय अवस्था प्रथम अवस्था की भाति दायें अँगूठे से नाक के दाये छिद्र को बन्द करके और बायें छिद्र से पूरक करें। अब बाये छिद्र को बन्द करके दायें से रेचक करें। दायें से रेचक करने के बाद इसी तरफ से छिद्र से फिर पूरक करें और बायें से रेचक करें। यह एक बार हुआ अर्थात् जिस नाम से श्वास भरें, उससे श्वास न निकालकर दूसरी तरफ से निकाले। अब जिस छिद्र से निकालें उसी से फिर भरकर दूसरी आर से बाहर निकलें। इसी प्रकार इसे पॉच बार दोहरायें।

प्राणायम की स्थिति में पूरक एव रेचक की लम्बाई की गणना बाये हाथ की अँगुली के पोरों से करना चाहिए। जैसे चार की गिनती में पूरक तो चार की गिनती में ही रेचक अर्थात् पूरक और रेचक का अनुपात 1 1 का हेागा। कुछ दिनों के पश्चात् पूरक एव रेचक की अवधि बढा सकते हे। उदाहरण के लिए पॉच की गिनती में रेचक 1 लेकिन अनुपात वहीं 1 1 का रहेगा। गिनती बढाने के लिए गणना की चाल से जल्दी नहीं करता। अच्छी प्रकार से अभ्यास हो जाने के बाद चौथी अवस्था का अभ्यास करें।

चतुर्थ अवस्था नाडी शोधक प्राणायाम की चौथी अवस्था में पूरक और रेचक का अनुपात 1 2 का रखा जाता है अर्थात् चार की गिनती में श्वास का भरना

---

1 प्राणायाम की सही विधि पृष्ठ 48

तो आठ की गिनती में श्वास का बाहर निकालना शेष विधि तीसरी अवस्था की भाति।

महत्वपूर्ण बात यह ध्यान रखना जरूरी है कि नाडी शोधक प्राणायाम की उच्च अवस्था का प्रारम्भ इसी चौथी अवस्था के बाद होता है। इसमें कुम्भक करना होता है। ऐसे योगाभ्यासी को जिन्हें काई विशेष रोग हो उन्हें कुशल योग प्रशिक्षक के निर्देशक के बिना नहीं करना चाहिए अन्यथा हानि की सम्भावना रहती है।

8 सर्वांग प्राणायाम(पाँचवी अवस्था)

चौथी अवस्था के कुछ दिनों बाद प्राणायाम की स्थिति में बैठकर दाहिने नथुने को बन्द करें और बाय से पूरक करें। पूरक के बाद दोनों नथुनों को बन्द करे लें और कुछ देर श्वास को अन्दर रोकें फिर दाहिने नथुने से रेचक करें। पुन बायें नथुने को बन्दर रखते हुए दाहिन से पूरक करें फिर दोनों नथुनों को बन्द करके श्वास रोककर कुम्भक करें। इसक बाद दाहिने नथुने को बन्द रखते हुए, बाय नथुने से रेचक करें। यह एक बार हुआ।

इस प्राणायाम में पूरक , कुम्भक व रेचक का अनुपात 1 2 2 रखें अर्थात यदि चार की गिनती में श्वास भरे तो आठ की गिनती में श्वास रोकें और आठ की गिनती में ही श्वास को बाहर निकल दें। इसे कम से कम ग्यारह बार और अधिक से अधिक पच्चीस बार करें। कुछ दिनों के बाद पूरक , कुम्भक और रेचक का अनुपात 1 2 2 से बढाकर 1 3 2 और फिर 1 3 2 से बढाकर 1 4 2 तक ले जाये।

छठी अवस्था कुम्भक एव शून्यक के साथ

पाचवी अवस्था के कुछ दिन अभ्यास के बाद छठी अवस्था का अभ्यास करना चाहिए। इसमें बायें नथुने से पूरक कीजिए , पूरक करने के बाद कुम्भक करें , फिर कुम्भक के बाद दाहिने नथुने से रेचक करें। रेचक करने के बाद शून्यक अर्थात् श्वास को बाहर रोकें। अब दाहिने नथुने से पूरक कीजिए। पूरक कर लेने के बाद कुम्भक करें। फिर बायें नथुने से रेचक करें। रेचक के बाद शून्यक करे। यह एक बार हुआ। एक बार में कम से कम पॉच बार और अधिक से अधिक ग्यारह बार से ज्यादा न करे। पूरक, कुम्भक रेचक एव शून्यक का अनुपात 1 4 2 1 से प्रारम्भ करें अर्थात चार की गिनती में पूरक तो सोलह की गिनती में कुम्भक, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किसी रोग से पीडित रोगी भूलकर भी इस छठी अवस्था का अभ्यास न करें एव बिना षट्कर्म द्वारा शरीर को विकार रहित, किये कोई भी योगाभ्यासी पॉचवी व छठवी अवस्थाओं का अभ्यास न करें।

9 सूर्यभेदी प्राणायाम

प्राणायाम की स्थिति अर्थात् नाभि के पीछे का भाग सीधा करके किसी भी धयानात्मक आसन में बैठ जाइये। बायी नासिका को बन्द कर लें और दाहिने के खुला रहने दें। अब मूलबन्ध लगाकर आरामदायक स्थिति तक कुम्भक कीजिए। तत्पश्चात् पहले मूलबन्ध फिर जालन्धर बन्ध खोलकर दायें नासिका बन्द कर लीजिए और बायी नासिका को खोल
दीजिए। उड्डियान बन्ध लगाते हुए बायी नासिका से श्वास बाहर निकाल दीजिए। एक यह बार हुआ। प्रारम्भ में कम से कम पॉच बार से शुरू करें और अधिक से अधिक दस बार तक ले जायें। पूरक, कुम्भक ओर रेचक का अनुपात 1 1 2 अर्थात् चार की गिनती में पूरक, चार की गिनती तक कुम्भक व आठ की गिनती में रेचक करें। फिर अनुपात 1.2 2 कुछ दिनों के उपरान्त 1 3 2 तत्पश्चात 1 4 2 कर दें। अर्थात चार की गिनती में पूरक सोलह की गिनती में कुम्भक, आठ की गिनती में रेचक , इसमें यह ध्यान रखना चाहिए। कि दस प्राणायाम में केवल सूर्य स्वर अर्थात् दायें स्वर से ही पूरक और चन्द्र स्वर अर्थात बायें स्वर से रेचक किया जाता है।

लाभ :

1 भोजन के समय एव भोजन के उपरान्त दाहिना स्वर चलने से पाचन सही और जल्दी होता है। इसलिए समझदार लाग दाहिने स्वर के चलने पर भोजन करते है। यदि उन्हें भूख है और दाहिना स्वर बन्द है अर्थात् बाया स्वर चल रहा है तो इस सूर्यभेदी प्राणायाम से अपना दाया स्वर चलाकर भोजन करते है।
2 वायु विकार और कफ से उत्पन्न होने वाले रोग रक्त, दोष, स्वप्न दोष, उदर कृमि आदि नष्ट होते है। जठराग्नि बढती है ओर पाचन क्रिया ठीक से होती है।
3 यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता तथा पित्त की वृद्धि होती है। इसलिए गर्मी के दिनों में तथा पित्त प्रधान प्रकृति वाले लोगो के लिए हानिकारक हो सकता है।

10 चन्द्रभेदी प्राणायाम

चन्द्रभेदी प्राणायाम में सूर्यभेदी प्राणायाम से बिल्कुल उल्टा अर्थात चन्द्र स्वर बायी ओर से पूरक और सूर्य स्वर दायी ओर से रेचक करते है अर्थात चन्द्र भेदी प्राणायाम में सूर्य स्वर से पूरक और चन्द्र स्वर से रेचक नहीं करते है। चन्द्रभेदी प्राणायाम करने से थकावट व उष्णता दूर हो जाती है। यह शरीर को शीतलता प्रदान करता है।

11 सीत्कारी प्राणायाम :-

सीत्कारी प्राणायाम भी चन्द्रभेदी प्राणायाम की तरह शीतलता प्रदान करने वाला प्राणायाम है। इसीलिए इसका नाम सीत्कारी प्राणायाम रखा गया है।

प्राणायाम की स्थिति में बेठकर जीभ को होठों को थोडा बाहर कर निकाल कर दातो से उसे हल्का सा दबा दीजिए। अब सी-सी की आवाज उत्पन्न करते हुए बाहर की वायु को जोर से जीभ और दात के मिलाने में रह जाने वाले बीच के स्थान अर्थात् दोनो ओर के किनारों से खीचें। तत्पश्चात यथा शक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। अर्थात मुख से श्वास खीचें और नाक से बाहर निकालें। यह एक बार हुआ।

महत्वपूर्ण तथ्य

क प्रारम्भ में इसे केवल पॉच बार करना चाहिए ।

ख इसे सर्दियों में नही करना चाहिए कवल गर्मियों में ही करना चाहिए ।

ग इसमें यथाशक्ति कुम्भक आवश्यक नहीं है और आशिक कुम्भक में जालन्धर बन्ध भी लगा लें तो कोई हानि नहीं है।

घ इस प्राणायाम में पूरक करत समय मुख के सामने थोडी दूर पर हथेली लगा लें। हथेली का मुख की ओर रखें। ऐसा इसलिए करते है कि वायु के साथ उड रहे धूल के कण, छोटे-छोटे कीडे-मकोडे यथा सम्भव अन्दर जाने से रोका जा सके।

लाभ अजीर्ण, पित्त से उत्पन्न होने वाले रोग, रक्त पित्त , रक्त विकार, पेचिश अम्ल, पित्त प्लीहा तृष्णा आदि के रोगों में विशेष लाभदायक है। निरन्तर अभ्यास के बाद बालों का सफेद होना कम होने लगता है।

12 शीतली प्राणायाम

नीचे अकित चित्र के अनुसार प्राणायाम की स्थिति में बैठ जायें और

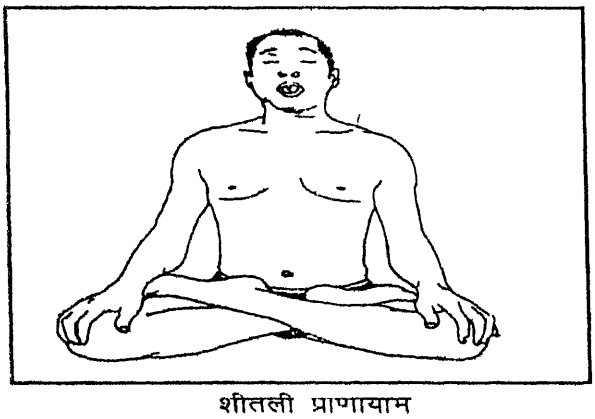

शीतली प्राणायाम

मुँह खोलकर कर ओठों को ' ओ ' की आकृति के समान बना लीजिए। अब जीभ को दोनों ओठों से बाहर पक्षी की चोच की तरह निकालकर जिहा के ही माध्यम से बाहर की वायु को धीरे-धीरे पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद दोनों

नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। शीतली प्राणायाम के लाभ व सावधानियॉ सीत्कारी प्राणायाम की तरह है।

13 मूर्छा प्राणायाम

इस प्राणायाम के अभ्यास से मन में मूर्छा व चित्त में एकाग्रता आती हे।

इसलिए इस प्राणायाम का नाम मूर्छा प्राणायाम है। निम्न चित्र के अनुसार -

मूर्छा प्राणायाम

नाभि के पीछे का भाग सीधा करके बैठ जाये।दोनों होथो के अँगूठे अपनी-अपनी ओर के कान पर तर्जनी, अँगुली से अपनी अपनी ओर से ऊपर वाले ओठ को तथा कनिष्ठका अँगुली से अपनी-अपनी ओर के नीचे के ओठ को बन्द कर लें। अब नासिकाओं से अँगुलियों का ढीला करके दोनों नाक से गहरा पूरक करें। जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् जालनधर बन्ध बिना खोले धीरे-धीरे दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। यह एक बार हुआ। चित्त की एकाग्रता से एिल यह प्राणायाम अत्यन्त उपयोगी हैं निरन्तर अभ्यास से साधक ध्यान और समाधि की ओर अग्रसर होता हैं तथा इसके अभ्यास से साधक को पच तत्वों के पॉच रगों का ज्ञान भी होता है। इसको उच्च रक्त चाप, चक्कर या मस्तिष्क खिचाव से पीडित रोगी इसे भूलकर भी न करें।

14 प्लावनी प्राणायाम

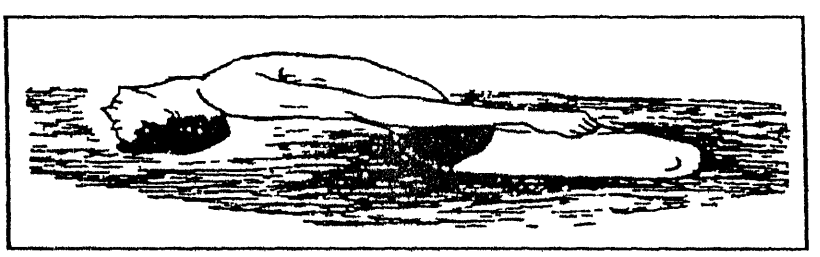

प्लावनी प्राणायाम

उपर्युक्त युक्त चित्र के अनुसार 'पद्मासन ' लगाकर फिर हाथों को छोडकर पल्थी जैसो स्थिति रखते हुए चित्त लेट जाइये। अब दोनों हाथ सिर के ऊपर

से लेकर बायें हाथ से दाहिनी भुजा को व बायें हाथ से बायी भुजा को पकडें। इस प्रकार से मत्स्यासन करके पूरक से पेट में भरपूर वायु भर ले और कुम्भक करें। कुम्भक करते हुए ऐसी कल्पना करें कि सारे शरीर की वायु पेट में एकत्र हो गयी है और शेष शरीर रूई की तरह हल्का हो रहा हे। यथा शक्ति कुम्भक के पश्चात दोनों पासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करें। यह एक बार हुआ। इसे भी पॉच बार से प्रारम्भ करें, धीरे-धीरे बढाएँ।

लाभ प्राण वायु पर पूर्ण अधिकार, पेट के सब प्रकार के रोग, अपान वायु की शुद्धि ,जठराग्नि की वृद्धि वीर्य एव रक्त की शुद्धि होती है। इसको करने से शरीर बहुत हल्का हो जाता है। शरीर का भारीपन समाप्त हो जाता है।

15 केवली प्राणायाम

केवली प्राणायाम एक प्रकार का सहज कुम्भक प्राणायाम है अर्थात जैसे सर्वांग प्राणायाम (पूरक, कुम्भक, रेचक एव शून्यक सहित) में कुम्भक के पूर्व पूरक एव पश्चात् रेचक किया जाता है। वैसा केवली प्राणायाम में नही करते बल्कि केवली प्राणायाम में श्वास को यथा शक्ति रोक लेते है और चक्कर , घबराहट , बेचैनी होने के पहले ही छोड देते है। इस प्राणायाम में यह आवश्यक नहीं है कि श्वास जाते समय रोकें या श्वास को निकालते समय रोकें, अर्थात प्राकृतिक स्थिति में श्वास लेते तथा छोडते समय कभी भी रोक सकते है।

लाभ मन की चचलता दूर करने के लिए , स्थिरता तथा स्मरण शक्ति बढाने के लिए यह प्राणायाम अत्यन्त लाभकारी हे।

अभी तक अलग-अलग प्राणायामों के करने के साथ ही उनके लाभों का वर्णन भी किया जाता है। परन्तु यहॉ पर कुछ सामान्य लाभ भी बताना आवश्यक है जो निम्न प्रकार से है।

1 प्राणायाम से फेफडों की शक्ति बढती है फलस्वरूप प्राणायाम अभ्यासी के फेफडों में व श्वास नली में कफ जमने का प्रश्न ही नही उठता यदि जमा होगा तो निकल जाता है और जब कफ ही नही रूकेगा तो जुकाम, खासी , दमा व टी0 वी0 जैसे रोग कभी नहीं हो सकते है।

2 प्राणायाम करने से रक्त शुद्ध होता है।इसीलिए प्राणायाम अभ्यासी को रक्त शोधक औषधियों को खाने की कभी जरूरत नही पडती क्योंकि रक्त शुद्ध होने से खुजली , सूजन , सुर्खी , कुष्ठ जलन आदि रोग नहीं होते है।

3 बाल्यावस्था में प्राणायाम करने से छाती विशाल होती है और पेट भी नहीं निकलने पाता है।

4 प्राणायाम करने से जठराग्नि तीव्र हाती है जिससे प्राणायाम अभ्यासी को अपच एव अजीर्ण के कप्ट नही होते। इसके नियमित अभ्यास से वही व्यक्ति जो साधारण सादा भोजन भी नहीं पचा पाता गरिष्ठ भोजन भी हजम करने की सामर्थ्य आ जाती है।

5 शरीर का बल बढता है साथ ही मानसिक एव आत्मिक बल भा बढता है। स्वच्छ शुद्ध वायु से प्राय एव सूर्यास्त के समय विधि विधान से प्राणायाम करने से मन में उत्साह इतना बढता है कि उसके बराबर कोई उत्साह वर्धक औषधि नहीं है।

6 शरीर के किसी भाग में बीमारी होने पर मन को प्रेरणा और प्रबल इच्छा द्वारा प्राणायाम की प्राण शक्ति को उस रूग्ण स्थान पर पहुॅचाने पर बीमारी शीघ्र दूर हो जाती है।

7 प्राणायाम से प्राणों का सयम होता हे फलारवरूप मन और चित्त वश में आने लगते है। मन और चित्त के वश में होने से शरीर की समस्त इन्द्रिया एव अवयव भी वश में हो जाते है।इन्द्रियों एव मन के वश में आने पर प्राणायाम अभ्यासी को ध्यान में बैठने की प्रबल इच्छा होने लगती है।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 प्राणायाम आसन करने के बाद अथवा ध्यान करने स पहले करना चाहिए।

2 प्राणायाम के समय शरीर अधिक से अधिक शिथिल करके रखना चाहिए।

3 शरीर पर तग व कसे हुए वस्त्र न होकर सूती ढीले वस्त्र पहनने चाहिए।

4 प्राणायाम अभ्यासी को प्राकृतिक चिकित्सा की भॉति लम्बे उपवास करना एव बहुत कम तथा रूखा भोजन नहीं करना चाहिए। यह हानिकारक होता है।

5 प्राणायाम से पहले स्नान करना श्रेप्ठ हे जो प्राणायाम के पूर्व किसी कारण स्नान नहीं कर सकते वे लोग कम से कम पन्द्रह मिनट से आधे घण्टे का अन्तर रखें।

6 प्रात पेट खुलकर साफ न हुआ हो तो वस्ति, गणेश क्रिया अथला लघु शखप्रक्षालन के द्वारा पेट साफ कर ले। कब्ज की दशा में प्राणायाम हानिकारक हो सकता हैं।

7 प्राणायाम के तुरन्त पहले पानी नहीं पीना चाहिए , प्यास हो तो आधा पाव से एक पाव तक पानी पिया जा सकता हे।

8 बुखार में प्राणायाम भूलकर भी न करे।

9 प्राणायाम की उच्च साधना करने वालो को प्राणायाम करने के बाद दूध पीना चाहिए या घी,मक्खन से बनी चीजें खायें तो उत्तम हे।

10 प्राणायाम अभ्यासी को श्वास लेने व छोडने में किसी भी प्रकार की ध्वनि नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।

11 किसी भी प्रकार के कठिन रोगी को योग्य योग चिकित्सक से पूछे बिना प्राणायाम करना पूर्णत वर्जित है।

12 टट्टी व पेशाब की आदत को कभी न रोके अर्थात् प्राणायाम करत समय यदि इनकी हाजत की अनुभव हो तो पहले पट्टी पेशाब से निवृत्त होना अति आवश्यक है।

12 06 2003

तप पूत तथा प्रज्ञाचक्षु ऋषि महार्षियों ने सस्कृत वाड्गमय की उस विद्या को दर्शन सज्ञा प्रदान की जिसका विपय था 'परम तत्व ' अथवा परमार्थ। दृश दर्शने धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने मे निप्पन्न ' दर्शन शब्द का अर्थ होता है ' देखने का साधन ' अत दर्शन शब्द का अर्थ हुआ देखने का साधनभूत चक्षुरूप ज्ञानेन्द्रिय। लोक में चक्षु (दर्शन) नामक ज्ञानेन्द्रिय का विषय सम्पूर्ण दृश्यमान जगत है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण दृश्यमान जगत का प्रत्यक्ष ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे 'दर्शन कहेंगे। इसी तरह जिस शास्त्र का विषय है।' परम तत्व ' या 'परमार्थ ' अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा परम तत्व का दर्शन अथवा ज्ञान कराया जाये उसे भी दर्शन कहेंगें। अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्यजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहते है या पाचों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में दर्शनेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वाधिक प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक जान पडता है। सम्भवत इसलिए परमतत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाले शास्त्र का नाम दर्शन शास्त्र ही रखा गया है।

भारतीय दर्शन को दो भागो मे विभक्त किया गयाा 1 नास्तिक दर्शन 2 अस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन उनको कहा गया हे। जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानते । इसके अन्तर्ग चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते है। इनके विपरीत आस्तिक दर्शन वे है जो वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखते है। इनके अन्तर्गत न्याय आदि छ दर्शन आते हे जो इस प्रकार है।

1 न्याय दर्शन
2 वैशेषिक दर्शन
3 पूर्व मीसासा दर्शन
4. साख्य दर्शन
5 योग दर्शन
6 वेदान्त दर्शन (उत्तर मीसासा)

उक्त समस्त भारतीय दर्शनों का चरमलक्ष्य है प्राणियों को त्रिविध दु.खों से सदा के लिए छुटकारा दिलाना। दु खों की यह इस शाश्वतिक निवृत्ति को अलग-अलग

चतुर्थ अध्याय

योगसाधना तथा उसका मानवीय कल्याण में प्रयोग

योग साधना तथा उसका मानवीय कल्याण में प्रयोग

मनुष्य जीवन का सर्वापरि उद्दश्य धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। इन चारों को पाने का वास्तविक साधन पूर्ण स्वास्थ्य हे। क्योकि अस्वस्थ मनुष्य न तो धर्म का यथावत पालन कर सकता है और न ही उसके लिए काम का आनन्द भोगना ही सम्भव हैं माक्ष की तो कामना ही व्यथ हे । इसीलिए कहा गया है -
शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्।

बहुत लोग भारी भरकम शरीर को भी स्वस्थ मान लेते है। तो कुछ लोग सोंचते है कि शरीर में किसी रोग के कीटाण न हों वही स्वस्थ है। किन्तु ये दोनों बाते पूर्ण स्वास्थ्य की परिभाषा में नहीं आती हे। आयुर्वेद में पूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण इस प्रकार कह गय हे वही मनुष्य पूर्ण स्वस्थ है जिसके शरीर में तीनों दोष अर्थात्वात, पित्त, कफ, सम हो जिसकी अग्नि सम हो अर्थात् मदाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, समस्त धातुए रस रक्त मोक्ष भद, अस्थि, मज्जा , वार्य सम हो, मल अर्थात, टट्टी पेशाब, पसीना , श्वास निकलाने वाली प्रणाली सही कार्य करती हो और मन, इन्द्रिया तथा आत्मा सदा प्रसन्न रहे। [1]

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगसूत्र में वर्णित अष्टाग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि का साधन पाद के अन्तर्गत विधान किया हे जिसको साधना धैर्य युक्त मन निर्यामतता से करने वाले साधक को पूर्ण स्वास्थ्य निश्चित प्राप्त हो जाता हे। किन्तु वर्तमान भोतिकवादी युग में प्रकृति से विमुखता भोगवाद का बढावा एव दिन प्रतिदिन दमनात्मक चिकित्सा की औषधियों के प्रचार एव प्रसार के कारण आदर्श स्वास्थ्य से न केवल लोग वचित होते जा रहे है, बल्कि दिन प्रतिदिन अनेक प्रकार के रोगो से ग्रसित होते जा रहे है। इन समस्त रोगों से छुटकारा पाने का सही उपाय हे। रोगों के मूल कारणों की खोज करना, उन्हें दूर करते हुए उत्पन्न हुए विचारों का निकलना क्योंकि कारण को हटाये बिना कारण फल नहीं मिटता हे। हमारे शरीर की प्रकृति में जब विकार उत्पन्न हो जाते है तो शरीर रोग ग्रस्त हो जाता हे। ये विकार पॉच प्रकार के होते है- 1 मल विकार 2 रक्त विकार 3 नाडी विकार 4 मन विकार 5 वृद्धि विकार ।

---

1 सम दोष समाग्निश्च समधातु मलक्रिया ।

प्रसन्नात्मन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधपत ।। (सुश्रुत) वैद्यकाय सुभाषितमाहित्यम् पृष्ठ23

इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय योगियों ने अपने चिन्तन एव अनुभव के द्वारा '' शोधन याग '' की खोज की जिसके अन्तर्गत उन्होनें षट्कर्म का विधान किया। इस शोधन योग के द्वारा इसका लक्ष्य था केवल्य प्राप्ति किन्तु आधुनिक भौतिकवादी वेज्ञानिक विकासशील समाज मे शोधन योग को एक चिकित्सा पद्धति के रूप में अपनाया गया जिसके अन्तर्गत षट्कर्म चिकित्सा को एक साधन के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। ये षटकर्म निम्नलिखित है।

1 नेति2 2 वस्ती 3 धोति 4 नालि 5 त्राटक 6 कपाल भाति

(क) षट्कर्म

1 नेति हमारे शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अक हमारा जिसके अन्तर्गत मस्तिष्क, कान, आँख , दाँत जिह्वा आदि अग आते हे। इन अगो में कफ आदि विकार जब एकत्र हो जाते है तो इन अगो की क्रियाओं को सुचारू रूप से कार्य करने में बाधा उत्पन्न हो जाती ह। जिससे अनकों प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हे। इन अगों को विकार मुक्त करने के लिए नेति क्रिया अत्यन्त अद्वितीय ह। यह तीन प्रकार की होती है-[2]

1 धृत नेति या तेल नेति

2 रबर नेति

3 जल नेति या प्रसारण

किन्तु अभ्यास द्वारा प्रस्तुत नतियों का उपर्युक्त क्रम हमारी दृष्टि मे उचित नहीं जान पडता क्योंकि जलनेति द्वारा पहले नासिका की सफाई के करने के पश्चात तेल नेति द्वारा नासिका में चिकनाई हो जाती है जो कि रबर नेति क्रिया से पहले आवश्यक हे तथा जलनेति क्रिया में जल के दुष्प्रभाव को भी समाप्त कर देती है।

हमारे विचार से वेज्ञानिक रूप से सर्वप्रथम जलनेति, तेल नेति पुनश्च रबर नेति करना अधिक लाभप्रद होगा। अत. हम उसी क्रम में इन नेतियों की व्याख्या क्रमश करेगें।

1 **जल नेति** - जिस प्रकार मनुष्य के जीवित रहने के लिए भोजन अत्यन्त आवश्यक हे उसी प्रकार स्वस्थ रहने के लिए अच्छी नींद का आना अत्यन्त आवश्यक हे क्योंकि नींद ठीक से न आने की वजह से शरीर में भारीपन रक्त चाप का उतर चढाव मानसिक उलझन आदि होने से दिनचर्या अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसके विपरित रात की अच्छी नींद से शरीर के

---

1 धौतिर्वस्तिनस्तथा नति नालिस्त्राटक स्तथा।
कपाल भातिरचतानि षट् कर्माणि समाचरेत ।। (गोरक्ष सहिता)

2 योग द्वारा रोगो का उपचार डॉ0 ओम प्रकाश आर्य पृ0 39

सम्पूर्ण स्नायु शक्ति एव आनन्द से भर जाते है। आज मनुष्य जितना भोतिक सुख सुविधाओ एव विलासितापूर्ण जीवन से युक्त होता जा रहा है वह उतना ही अधिक अच्छी नींद या शान्ति से दूर होता जा रहा है। वस्तुत वह जब धीरे-धीरे अनिद्रा का शिकार होता जाता है तो सही मार्ग दर्शन के अभाव में नीद के लिए वह अनेक प्रकार के दुर्व्यसनो, स्मैक, चरस , गाजा, अफीम, शराब आदि का शिकार हो जाता है। इनका सेवन तनाव के लिए हानिकार हे यह सर्वविदित है योग चिकित्सा में अच्छी नींद के लिए जल नेति एक अद्वितीय क्रिया है जिसका नियमित प्राय एव साय अभ्यास करने से निम्नलिखित लाभ होते है।

1 अच्छी नींद आने लागती है।
2 नेत्रों की ज्योति बढ जाती है तथा चश्मा से छुटकारा पाने में अत्यन्त सहायक है।
3 नासिका मार्ग का श्लेष्मा (कफ) साफ हो जाता है ।
4 स्मरण शक्ति बढ जातो हे।
5 बाल का झडना रूक जाता हे।
6 बाल काले बने रहते हे।
7 समस्त प्रकार के दुर्व्यसन जैसे धूर्मपान सिगरेट बीडी शराब आदि से छुटकारा दिलाने में उस क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान है।

जलनेति की पूर्व तैयारी -

जल नेति क्रिया को करने के लिए एक विशेष प्रकार का प्लास्टिक का लोटा आता हे यह लोटा स्टील या पीतल की धातु का भी हो सकता है। परन्तु प्लास्टिक का विशेष लोटा जो कि बहुत वैज्ञानिक ढग से बनाया गया है उसे ही हम प्राथमिकता देते है क्योंकि उसे दो जगह से खोला जा सकता है। उसकी सफाई ज्यादा अच्छी तरह से की जा सकती है जो कि अन्य धातु निर्मित लोटो की नही की जा सकती हे या करने में कठिनाई होती हैं मेरा अनुभव यह बताता है कि योग की क्रियाओं को यदि सावधानी पूर्वक ठीक से न किया गया तो लाभ की जगह हानि होने की सम्भावना बढ जाती है। अतः परम्पराओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक शोध का सहारा लेते हैं जिससे कि वर्तमान समय में उनका ठीक से प्रयोग कर सकें ।अब लोटे के अतिरिक्त नमकीन गुनगुना पानी चाहिए। पानी का तापमान शरीर के सामान्य तापमान से कुछ अधिक होना चाहिए। मेरे विचार से 40 डिग्री तक

तापमान ज्यादा उचित रहेगा। क्योंकि यदि पानी ठण्डा रहेगा तो नाक के अन्दर पानी लगेगा और उलझन व परेशानी होगी तथा गरम होने पर नाक के अन्दर से जला जाने का खतरा भी बढ जायेगा जिससे और ज्यादा परेशानी बढ जायेगी। नाक में उलझन या परेशानी न हो तथा ठीक से नाक की सफाई हो सके उसके लिए आवश्यक है कि गुनगुने पानी में थोडा नमक अवश्य मिला दें। एक किलो पानी में लगभग दो छोटे चम्मच नमक की मात्रा पर्याप्त रहती है यह साधारण खाने का नमक या सेंधा नमक कोई हो सकता है।

जलनेति करने की विधि -

जल नेति करने से पहले हम अपने नासिका के स्वरों के ऊपर विचार करते है, कि हमारा कोन सा स्वर चल रहा है। स्वर दो होते है 1 सूर्य स्वर 2 चन्द्र स्वर। सूर्य स्वर दायें स्वर को कहते हे तथा बायें को चन्द्र कहते है। मान लीजिए आपकी दायें नासिका से सरलता पूर्वक श्वास चल रहा हे तो उपर्युक्त ढग से तैयार गुनगुना नमकीन पानी भरें टोटीदार लोटे को निम्न चित्र के अनुसार पकड लें। तथा 'वाश बेसिन ' के सामने खडे जो जायें या नाली के पास या किसी चबूतरे में बैठ जायें अथवा नाक से निकालने वाले पानी को

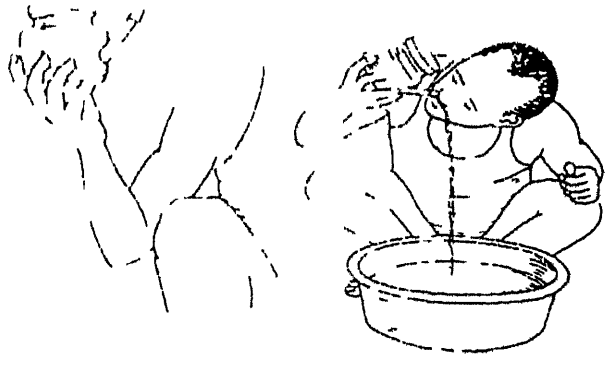

गिरने के लिए अपने सामने एक बर्तन रखें। अब गर्दन को थोडा सा घुमाकर सिर को थोडा बायी और झुकायें और दायें छिद्र से सटाकर जल अन्दर हाने दें। कुछ ही छडों में जल स्वत: बायी नासिका से बाहर निकलने लगेगा। इसी प्रकार से दूसरी ओर गर्दन घुमाकर बायी नासिका में टोटी लगाकर दायी नासिका से जल बाहर निकालिए।

सावधानियाँ

जल नेति क्रिया करने से पहले निम्नलिखित सावधानियॉ बरतनी चाहिए जो इस प्रकार है -

1 जल नेति प्रात कुल्ला दातुन के पश्चान या शाम के भोजन के पहले करना चाहिए किन्तु अनिद्रा के कष्ट में सोने के पहले भी क्रिया जा सकता है।

2 प्रारम्भ में आधे लोटे के जता से दायी नाक से जल नेति करनी चाहिए तथा लोटे के शप जल से बायी नाक से क्रमश धीरे-धीरे दोनों एक ओर नाक से एक-एक लोटा जल से जल नेति करनी चाहिए।

3 जल नेति करते समय आरम्भ में कभी-कभी नाक के छिद्र से ऊपर की तरफ चढता हुआ, नाक के ऊपर से पीछे की ओर बढता हुआ दर्द महसूस होता है। कई बार यह दर्द थोडा असहनीय भी हो जाता है ऐसी दशा में जल नेति बन्द करके 'कपाल भाति' प्राणायाम करने से थोडी देर में भी दर्द निकल जाता हे। ऐसा सायनस में कफ जमाव के कारण होता है। नित्य सुबह शाम नाक में दो चार बूँद कडुआ तेल या घी या ओट्रोबिन नोजल ड्रॉप डालने से तथा भस्त्रिका प्राणायाम करने से जेसे-जेसे सायनस का कफ हटता जायेगा जल नेति में उत्पन्न दर्द धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा।

4 इसी प्रकार से जल नेति का प्रभाव ऑखों की ओर बढता है तब ऑखे गरम हो जाती हे तथा ऑखों से पानी भी गिरने लगता है। इससे घबराये नहीं। कुछ दिन नियमित अभ्यास करने ऑखों का पानी गिरना बन्द हो जायेगा तथा ऑखों की रोशनी भी बढ जायगी।

5 यह भी ध्यान रखने योग्य बात हे कि जिन लोगों को गर्दन में तीव्र दर्द या सरवायकल स्पाडलायटिस का तीव्र दर्द होने की दशो में जल नेति न करें क्योंकि इस तकलीफ में गर्दन को दायी ओर बायी ओर झुकाने में कष्ट बढ जाता है चूँकि जलनेति गर्दन को बिना झुकाये नहीं हो सकती है।

6 जब चुकाम ज्यादा हो और कफ जम गया हो तो जलनेति नहीं करना चाहिए। पहले तेल नेति या रबड नेति से कफ को साफ करने के बाद ही जलनेति करे ऐसा न करने या नाक बन्द होने के कारण पानी नहीं निकलेगा।

7 जलनेति करने के पश्चात् नाक की सफाई विशेष तौर से ठीक ढग से करना चाहिए क्याकि जल से जहॉ इतने फायदे हैं वही पर नाक में पानी रह जाने से रोग बढ जाने की भी सम्भावना भी रहती है अत नाक को खूब अच्छी प्रकार से चारो दिशाओं में गर्दन मोड कर तेजी से हवा निकालते हुए करना चाहिए। तथा बाद में भस्त्रिका प्राणायाम दस-दस बार करना चाहिए। भस्त्रिका प्राणायाम करने से गर्मी उत्पन्न होती है जो कि नाक को एक दम सुखा देता है और बाद में तेल नेति अवश्य करना चाहिए।

नाक की सफाई निम्न चित्र के अनुसार करें।

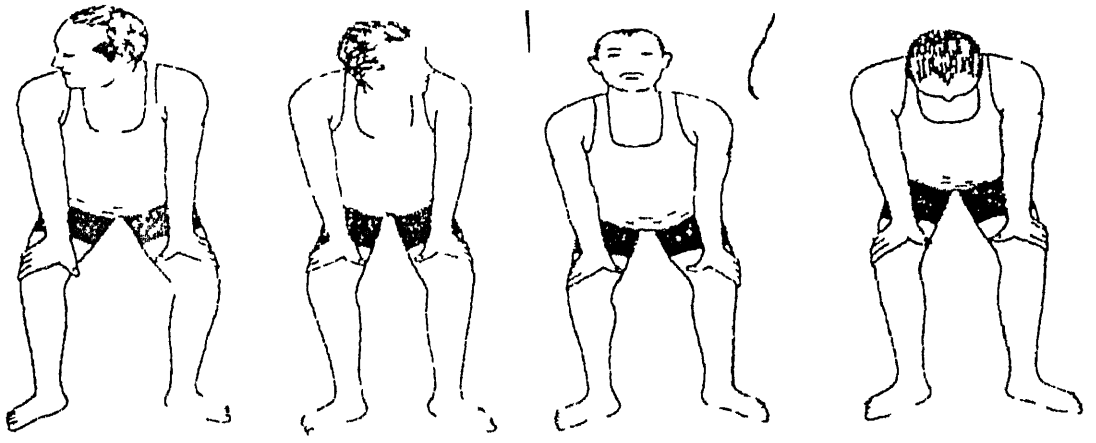

नासायान भी जलनेति के लाटे से ही किया जाता है। आजकल देखने में आ रहा कि छोटे छोटे बच्चों स लेकर वृद्धों तक में ऑख की रोशनी में कमी ओर कम उम्र में चश्मा चढ जा रहा हे। इसके अनेक कारण है। किन्तु काग्ण जान लेने पर भी पुन ऑखों की रोशनी पूर्ववत वापस लाने का कोई भी उपाय किसी ओषधि चिकित्सा पद्धति में नही हैं। आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने चश्मा की खोज करके इस समस्या को दूर करने का प्रयास तो किया है किन्तु यदि चश्मा एक बार लग गया तो वह उतरता तो कभी है ही नही, हाँ उसका नम्बर जरूर बढता चला जाता है और यदि चश्मा बचपन या किशोरावस्था में ही लग गया तो यौवन व प्रौढ अवस्था तक आँखों की रोशनी अति दयनीय हो जाती है। आँखों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए ऋषि वाणभट्ट ने कहा हे कि " जब तक जीते रहने की इच्छा हो, मनुष्य को अपनी आँखों की रक्षा का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए क्योंकि धन होने पर भी अधे मनुष्य के लिए रात दिन एक से होते है और ससार उसके लिए व्यर्थ होता है।1नासापान करने से चश्मे से छुटकारा पाया जा सकता है। स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। बालो का झडना भी रूक जाता है।

नासापान की पूर्व तैयारी .

जल नेति की तरह नासापान के लिए एक टोटीदार लोटा चाहिए। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें गुनगुने नमक युक्त पानी के स्थान पर सादा ताजा जल या गाडे का पानी अधिक उपयुक्त होता है।

नासापान की विधि

नाक से जल पीने को नासापान कहते है। नासापान करने मे पहले यह देख लें कि नासिका के किस छिद्र स मास आ जा रहा हे। अब जिस छिद्र से सास आ जा रही हो, उसी नाक स छिद्र में जल भरे टोटीदार लोटे को चित्र क अनुसार लगा दें।

ऐसा करते ही जल नाक व गल से होते हुए पेट में स्वय जाने लगता है। यह ध्यान रखना आवश्यक हे कि नासापान करते समय मुँह बन्द रखते हे।

॥२॥पा॰।

ओर जिस नाक से पानी पीत हे उसके दूसरी ओर से छिद्र को अँगूठे से बन्द कर लते हे जितना पानी पीना हो पी लें। इसके बाद इसी प्रकार से दूसरी नाक से जल पीते हे। नासापान मं जल के स्थान पर गाय का दूध भी प्रयोग कर सकते है। दूध का नासापान करने से मस्तिष्क को ताकत मिलती है। और तरोताजगी उत्पन्न होती है। नासापान करने के बाद जलनेति की ही भाति नाक की सफाई कपालभाति एव भस्त्रिका प्राणायाम के द्वारा करना अति आवश्यक होता हे। नासापान करते समय कुछ सावधानियॉ बरतनी आवश्यक होती हे जिसका वर्णन निम्न प्रकार से हे-

सावधानियॉ -

1 नासापान के पूर्व थोडे जल स जलनेति करना न भूलें। इससे नासिका मार्ग का कफ व श्लेष्मा बाहर निकल जाता है

2 प्रारम्भ में चोथाई-चोथाई लोटा या थोडा-थोडा जल पियें। कुछ दिनों के पश्चता धीरे-धीरे एक लोटा जल पी सकते है।

3 नासापान करते समय , न नाक से सास लेते है और न ही मुँह से अत कुछ देर बाद लाटे की टोटी को नासिका छिद्र से हटा लेत हे और दो चार श्वास-प्रश्वास के बाद पुन नासापान करने लगते है ऐसा अनेक बार बीच-बीच में करते हुए नासापान की क्रिया पूर्ण करते है।

4 नासापान में जल के स्थान पर गाय का दूध पीने से नेत्रों की ज्याति बढाने में विशप शीघ्रता होती ह। नासापान के लिए गाय का कच्चा दूध ही उपयुक्त हाता हे किन्तु बिना मीठा, चीनी या गुड मिलाये ही पीना चाहिए। यदि कच्चे दूध की इच्छा न हा ता दूध का बहुत ही हल्का गर्म कर लें। किन्तु मलाई की परत न पड इसलिए एक बार उबाल करके ठण्डा करके छान ल तब दूध नासापान क काम म लें।

5 तीव्र गा जीर्ण जुकाम के रोगियों का नासापान नहीं करना चाहिए उन्हें पहले नित्य नेलनेति, रबड नेति, जलनेति द्वारा जुकाम से छुटकारा पा लेने क बाद ही नासापान करना चाहिए।

2 रबड नेति

मोसम परिवर्तन होने पर तो देखा जाता हे कि जुकाम होने पर गले में खटास आदि हो जाती हे परन्तु आज के धूम्रयुक्त वातावरणया प्रदुषित वातावरण में जुकाम होना एक स्वाभाविक बात हो जा रही हे। सच दखा जाय ता जुकाम स्वय में कोई रोग नहीं होता है बल्कि जब शरीर क अन्दर हमारे श्वास नली एव फेफडो में विकार उत्पन्न हो जाते हे तो उन विकारों को शरीर से बाहर निकालने की शरीर की स्वाभाविक प्रकृति की एकमात्र प्रक्रिया होती हे जिस जुकाम का नाम दिया जाता हे यदि हम शरीर क विकारों को निकालने में शरीर के अन्दर के तन्त्र का सहायता करें ता वह विकार अतिशीघ्र निकला जायेगा और शरीर रोगयुक्त हा जायेगा। जुकाम द्वारा भी शरीर के विकार बाहर निकलते है हम विकार का बाहर निकलने में जिस प्रक्रिया का सहारा लेते है उसमें रबर नेति या सूत्र नेति का प्रधान स्थान हे। प्राचीन काल मे सूत्र नेति का प्रचलन था। एक फीट लम्बे दस पन्द्रह मुलायम सूतों को गॉठकर उसे एक नासिका से अन्दर डालकर मुख के बाहर निकालते की विधि को सिद्ध योगी सूत्र नेती कहते हैं।[1] सूत्र इतना मोटा हो कि आसानी से नासिका छिद्र में जा सकें। सूत्र का एक सिरा नासिका मं डालिए , दूसरी नासिका को अँगूठे मे बन्द करें तब खुली नासिका से पूरक करें ओर मुँह स रेचक । उसी प्रकार बार-बार करने से सूत्र मुख क अन्दर प्रवश करेगा तब सूत्र से दूसरे सिर को पकड लीजिए और दोनों हाथों स दानों सूत्रों को आगे पीछे खीचिए। इसी प्रकार दूसरी नासिका से दुहराईये यह क्रिया द्वारा दोनों नासिकाओं में उत्पन्न अवरोध दूर किये जात ह । जिसमे प्राण वायु के आवागमन में

---

[1] सूत्र वितस्तिसुस्निग्ध नासानाले प्रवशयत्।
मुखान्निगमियच्चैषा भति सिद्धोनिधित ।। 2/19 हठयागप्रदीपिका

सुविधा होती हे परन्तु यह उपरोक्त विधि जा हठयेाग प्रदीपिका में बतायी गयी हे वह कठिन हे सूत्र क स्थान पर अब रबर की टयूब या जिस केथेडर कहते हे जो किसी भी आपण, विक्रता की दुकान में आसानी से उपलब्ध हो जाती है। य कई साइज की हाती है आप मोटी पतली जैसी चाह तो लें। परन्तु प्रारम्भ में 4 5 6 नम्बर की कैथेडर ज्यादा उपयुक्त होती हे बाद में धीरे-धीरे बढायी चाहिए। यह रबर टयूब बहुत उययोगी हे । इसकी सफाई आसानी स की जा सकती हे। सूत नेति करने के लिए सबस अच्छी स्थिति उकड़ू बठना हे परन्तु इसे खडे होकर भी इमका अभ्यास किया जा सकता हे।

करने विधि - रबड नेति यदि ठोस वाली हे तो किसी भी सिरे से कितु यदि केथेडर हे तो पतल वाले सिर को नासिका के दाये छिद्र में डालकर धीरे-धीर बढाते जाईये। आग बढाते-बढाते जब वह सिरा गले तक पहुँच जाये तो दायें हाथ की तर्जनी ओर मध्यमा अँगुलियों को गले तक डालकर अँगुलियों से रबर नेति के सिरे को पकडकर के तथा बायें हाथ से रबड नेति को धीरे-धीर अन्दर सरकाते जाइये और दाये हाथ की अँगुलियों से पकडे हुए उस सिरे को धीरे-धीरे मुँह से बाहर खीचिए अब मुँह से बाहर निकाले सिरे को दाये हाथ से पकडिये और नाक से बाहर निकले सिरे को बाये हाथ से पकडियें। अब बहुत धीरे-धीरे दाय हाथ ओर बायें हाथ से बारी-बारी से खीचकर हल्क-हल्के मठ्ठे की तरह बिलोयें । प्रारम्भ में दस-बीस बार कीजिए। धीरे-धीरे बढाते हुए हु0 50-50 से 100-100 बार तक कर सकत हे। अब रबर नेति को मुँह के रास्ते से अथवा नासिका के रास्ते से खीचकर बाहर निकल लीजिए। इसी प्रकार बायी नासिका के छिद्र को रबड नेति डालकर करें। रबड नेति करत समय मुँह को नीचे की ओर करक खोले रखें जिससे लार, कफ तथा गन्दगी बराबर गिरती रहे। नाक की दीवारों में रगड नही पैदा होगी और लाभ जल्दी हागा।

खास ध्यान देने की बार यह भी हे कि रबड नेति करने से पहल नाक में दा चार बॅद कडुआ तेल अवश्य डाल दें तथा रबड में भी लगा दें जिससे रबड आसानी से अन्दर जायेगी। निम्न चित्र को ध्यान से देखें

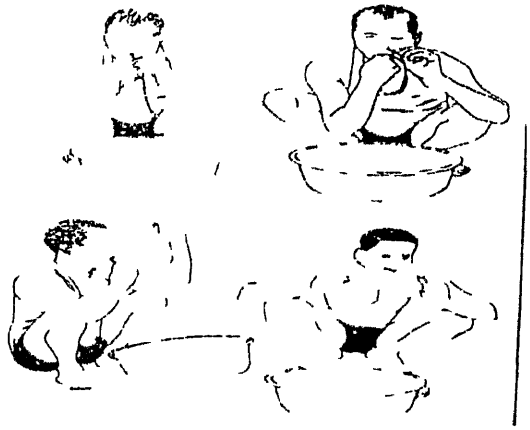

सावधानियाँ

1 कभी-कभी रबडनेति गले म चिपक जाती हे जिससे पकडन में नही आती ह। ऐसे में गल से ख ख शब्द का उच्चारण करने स नेति पकड में आ जाती है।

2 रबड नेति की शुरूआत 4 नम्बर कैथेडर से करनी चाहिए । यदि न 4 की रवड नेति जाने में कठिनाइ कर रही हो तेा न 3 से प्रारम्भ करें। फिर धीरे-धीर न 5 व 6 तक बढायें किन्तु नम्बर बढाना आवश्यक नही है।

3 रबड नेति करते समय यदि खासी आने लगे तो इसको हिलाना बन्द कर दें। घबरायें नहीं, खासी रूक जाने पर फिर उसी प्रकार धीरे-धीरे हिलायें।

4 रबड नेति करते समय नकली दॉत व चश्मा अवश्य उतार देना चाहिए।

5 महिलायें मासिक धर्म में पॉच दिन तक एक तीन माह के गर्भ के बाद रबड नेति न करें।

6 किसी भी प्रकार के बड आप्रेशन के 6 माह बाद तक बिना योग चिकित्सक के पूछे रबड नेति न करें।

7 रबड नेति करते समय शुरू में यदि दो चार बॅ खून आ जाय तो घबराये नहीं तुरन्त तेल नेति करके ठीक हो जायेगा।

8 यदि नाक में सूजन हो या मवाद अथवा किसी कारण घाव हेा तो कुछ दिन तक पहले इन कष्टों की चिकित्सा करें। जब से कष्ट ठीक हो जाय तब रबड नेति करें।

9 रबड नेति करने वाले रात को सेाते समय धृत नेति या तेल नेति अवश्य करें।

10 रबड नेति के बाद छिडक-छिडक कर खूब नाक साफ करें तथा भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा भी सफाई कर। अधिक कष्ट में प्राय खाली पेट के अतिरिक्त शाम को भोजन क पूर्व भी रबड नेति कर सकते है।

रबड नेति से लाभ -

1 जुकाम एव दमा तथा कफ के विकारों को शरीर से निकालने में यह अद्वितीय क्रिया हे।

2 नेत्रा की ज्योति बढ जाती हे। अधिक नम्बर या चश्मा कम हो जाता है। कम नम्पर का चश्मा छूट जाता ह। भविष्य में मोतियाविन्द क! सभ्भावना समाप्त हो जाती है।

3 नाक का बढा मास घट जाता हे। सायनस के कप्ट ठीक हो जाते हे।

4 मस्तिष्क शुद्ध हो जाता ह , सिर की खुजली तथा गर्मी शान्त हो जाती है। बाल झडना रूक जाते हे, बाता सफेद नहीं होते है तथा स्मरण शक्ति बढ जाती है।

5 प्रारम्भिक कान का बहरापन एव साय-साय की आवाज भी ठीक हो जाती हे।

6 खासा स्नाफीलिया , ब्राइकाइटिस, माइग्रेन, सबल वायु, अनिद्रा, अवसाद, उत्तेजना तथा टी0 वी0 जैसे रागा में रबड नेति बहुत ही उपयोगी क्रिया है।

7 शरीर को धीरे-धीरे खोखला बनाने वाले ओर कैसर तक ले जाने वाले व्यसन जैसे चाय, तम्बाकू, बीडी सिगरेट , गाजा , भाग , अफीम इत्यादि की आदत नियमित रबड नेति या जलेनति करने वाले की स्वय छूट जाती है।

8 ताम्बे अभ्यास क बाद झझलाहट एव गुस्सा भी नहीं आता ह

धृत नेति या तेल नेति

जल नेति, रबड नेति क्रिया क बाद धृत नति या तेल नेति का विधान किया गया ह। क्योंकि जलनेति करन क बाद नासिका की ठीक स सफाइ करन क बाद तरा नेति अवश्य करनी चाहिए। जिसस कि यदि किसी वजह स नाक के अन्दर पानी रह गया हा तो उसका दुष्प्रभाव न पडे। रबड नति करने के पूर्व तल नेति करना चाहिए कि रवड आसानी से नासिका द्वारा से चली जाय ओर बाद में भी ठीक मे सफाई करन के बाद भी तेल नेति करनी चाहिए। तेल नेति का आयुर्वेद पचकर्म विज्ञान में नस्य क्रिया के अन्तर्गत विधान किया गया हे। वास्तव में सिर विकारों या रोगों से शीघ्र छुटकारा पाने क लिए धृत नति या तेल नति विशेष उपयोगी सिद्ध हुई ह। क्योंकि

नासिका का सिर का द्वार समझा जाता है ओर द्वारों से जब धृत या तेल प्रवेश करते हैं तो सम्पूर्ण सिर में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता हे। और सिर क्षेत्र के विकार निष्कासित हो जाते हे। फलस्वरूप कुपित कफ के कारण उत्पन्न जुकाम, सिर दर्द, सूजन, गिरती स्मरण शक्ति, बालों का सफेद होना आदि रोग धीरे-धीरे नष्ट हो जात हे ओर नित्य करने वालो को उपरोक्त रोग होते ही नहीं नाक में गाय का घी डालने को घृत नेति कहते है। बादाम का तेल, सरसों को तल आदि डालन को तेल नेति कहते है।

करने की विधि -

उपरोक्त चित्र की भाति किसी तख्त या चारपायी पर पीठ के बल लेट जाइये अथवा कुर्सी पर सिर ऊपर की तरफ उठाकर बैठ जाइयें। ध्यान रहे कि गर्दन नीचे की तरफ उठाकर बेठ जाइये। ध्यान रहे कि गर्दन नीचे की तरफ लटकी रहे तब नाक में घी या तेल डालें। घी या तेल डालने के बाद दो-चार बार श्वास को जोर जोर से अन्दर की ओर खींचें। गले या नाक में चिपका हुआ कफ छुट जाता हे अत उस खखार कर बाहर निकाल दें। एसा भी हो सकता है कि धृत नति या तल नेति क कारण दिन में अनक बार कफ निकले। इसलिए परेशान न हो। धृत नात में घी जाड में पिघलाकर डालना चाहिए।

ध्यान दें

1 तीव्र कफ क रोगिया को सरसों या लाही के तल के नति अधिक लाभकारी होगी।

2 नकसीर के रोगियों का चारतल की नेति अधिक लाभकारी होगी।

3 स्मरण शक्ति बटान क लिए एव अनिद्रा के रोगी गाय के घी या बादाम क तेल क नति अधिक लाभाकारी होगी

4 जीर्ण कफ के रोगियों को षटबिन्दु तेल की पेति अधिक लाभकारी होगी।

5 जिन लोगों का सरसों या लाही क तेल स एलर्जी हो उन्हें बादाम का तेल प्रयाग करना चाहिए।

विशेष - कडुवे तेल का ऑख के पास लगाकर देख लेना चाहिए यदि चिरमिराहट अधिक हो तो पहल मो ग्राम तेता में दो-चार बॅद नीबू का रस मिलाकर धीमी ऑच में रखकर पका ल। आग समाप्त होने पर छानकर रख लें। एसा करने स चिरमिराहट दूर हो जायेगी।

धौति - शरीर शोध के निमित्त पटकर्म के अन्तर्गत नेति क्रिया पहल आती हे। जिसके द्वारा सिर के समस्त अगों का प्रक्षालन करने के पश्चात गले से

लेकर आमाशय तक का भाग आता ह । आमाशय शरीर का वह अक है जिसमें खाय हुए भोजन का पाचन होता हे तभी अगों से उसका पोषण होता है। आमाशय की उपमा हम रसोईघर के पतीले से कर सकते है। जैसे पतीले को भोजन बनाने के पूर्व स्वच्छ रखना जरूरी हे। अन्यथा भोजन विकार युक्त हो जाता ह। उसी प्रकार स आभाशय का कुपित कफ पित्त आदि से मुक्त रहना आवश्यक हे। धोति आमाशय की गन्दगी को स्वच्छ करने में अद्वितीय हे क्योंकि आमाशय की सफाई के बाद ही हमारी छोटी-बडी ऑतों की सफाई का क्रम आता है। अत वस्ति क्रिया धोति क्रिया के बाद करने की आवश्यकता होती है। धौति क्रिया के बाद सम्पूर्ण आतों की सफाई के लिए शख प्रक्षालन एक अद्वितीय क्रिया है जो कि मुख से लगाकर गुदा माग तक की सफाई एक साथ करती हे। वर्ष में दो वार या चार बार धौति क्रिया अवश्य करनी चाहिए ।1 धोति क्रिया तीन प्रकार की होती है -

1 जल धौति या कुजल क्रिया । इसे गजकरणी भी कहत हे।
2 दण्ड धोति
3 वस्त्र धौति
4 **जल धौति**

जल धोति को कुल या वमन क्रिया भी कहत ह । सम्भवन कुजल कुजर (हाथी) शब्द से बना हे क्योंकि जेसे हाथी खूब पानी पीन के वाद मुख से ही सारा पानी निकाल देता है, उसी प्रकार इस क्रिया में योगाभ्यासी भी पानी पीकर निकाल देता है। इस क्रिया को गजकरणी भी कहते हे।

करने की विधि.

निम्न चित्र के अनुसार उकडू बैठकर पानी पीना चाहिए।

[1]पंच कर्म विज्ञान। योग द्वारा कायाकल्प डा0 आम प्रका
[1] विश्वकुरू कल्पतरू पृष्ठ 510, योगसम्राट कल्पत

सर्वप्रथम पीने लायक गुनगुना पानी लगभग 4 से 5 किलो तक पानी कपडे से छान कर तैयार कर लें। ज्यादा अच्छा होगा यदि पहले पानी को ठीक से उबाल जें और पीने लायक होने तक ठडा होने दे तथा पानी को छान लें तो ज्यादा उचित होगा। प्राय सादे पानी से लोगों को सफेद नमक के स्थान पर यदि सेंधा नमक डाला जाय तो ज्यादा उपयुक्त होगा। वैसे यदि कुजल बिना नमक के करें ता ज्यादा अच्छा है।

पुनश्च अब पीठ और छाती के चारों आर कोई पतली चादर या कपडा कम से कम दो या तीन बाद लपेट कर ऊपर से नारियल या सूत की डोरी से चादर को छाती से कसवा लें। किन्तु ध्यान यह रखें कि कसाव इतना अधिक न हो कि दम घुटने लगे। परन्तु इतना ढीला भी न हो। कि कोई दबाव हो न पडें। यदि कोई विशेष परेशानी न हो तो इस प्रकार से कपडा बाधने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुन तलुओं के बल बैठकर गिलास से उपरोक्त चित्रानुसार जल्दी-जल्दी पानी पीते चले जाय। जब तक पेट खूब भर न जाय अर्थात पानी पीते-पीते उल्टी या वमन न होने लगे। यह ध्यान सदेव बना रहे कि घुटने यथा सम्भव छाती से लगे रहें।

खूब डटकर पानी पी लेने के पश्चात जब उल्टी की तीव्र इच्छा होने लगे तो निम्न चित्रानुसार

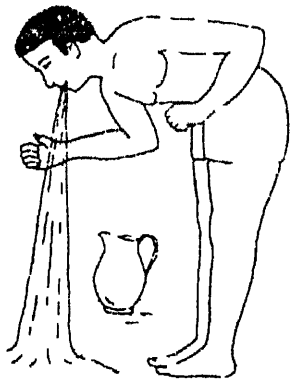

यथा सम्भव नाभि व कमर पर 90 अश का कोण बनाते हुए आगे की ओर झुक इस प्रकार खडे हो कि दोनो पैर आपस में मिले रहे ततपश्चात बायें हाथ को पेट पर रखते हुए दाहिने हाथ की तीन अँगुलिया(तर्जनी मध्यमा और अनामिका) को मिलाकर मुख के भीतर गले तक डाले और जहॉ छोटी सी जीभ को तरह कौआ या घण्टी लटकती रहती हे, उसी छोटी जीभ या कौआ पर मध्यमा अगुली को धीर-धीरे सावधानी के साथ घुमाने या केवल छूने से उल्टी होने लगेगी, लेकिन जब पानी बाहर निकलने लगे तब अगुलियों को मुख

से बाहर हटा लें। पानी निकालना बन्द होते ही पुन उसी प्रकार तोनों अगुलियो को भीतर ले जाकर छोटी जीभ या कौआ को पहले की तरह छूयें। बार-बार ऐसा करने से पेट का सारा पानी बाहर निकल जायेगा। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यदि नमक युक्त पानी पीकर कुज्जल कर रहे है। तो बाद मे सादे पानी अर्थात बिना नमक वाल पानी को पीकर एक या दो बार कुज्जल अवश्य करें क्योंकि यदि नमक युक्त पानी अन्दर रह जायगा तो दस्त आने की सम्भावना बढ जाता है। तथा नमक युक्त पानी गुद्रे के लिए हानिकारक भी होता है।

सावधानियॉ -

1 दाहिने हाथ के नाखून पूर्णतया कटे होने चाहिए अन्यथ। गले में नाखून लग सकता हे।

2 अगुलियें को मुख में गले तक डालने पर पानी पेट से बाहर न निकले, केवल मचली या उबकाई आवे तो समझना चाहिए कि पेट का सारा पानी निकल चुका हे या आमाशय के आगे बढ गया है।

3 यदि कभी ऐसा मालूम पडे कि कुछ पानी पट में रह गया हे तथा निकल नही रहा हे ता पुन दो-चार गिलास पानी पीकर कुञ्जल क्रिया दाहरायें। वेसे भी कम स कम दो या तीन बार पानी पीकर 'कुञ्जल' क्रिया करें।

4 अन्त में खट्टा या कडुआ पानी (पित्त) निकले तो एक या दो गिलास कुञ्जल का पानी ओर पीकर पुन कुञ्जल करें।

5 कुञ्जल समाप्ति क वाद छाती से कपडा खोलकर सिर को ठण्डे पानी से दा मिनट तक अच्छी तरह धायें। विशष कर तालू धोयें तथा दा-तीन घॅट (अधिक नहीं) पानी पिये।

6 कुञ्जल क्रिया प्रारम्भ करन से पहले शौच पेशाब आदि से भली भॉति निवृत्त हा जाये। यदि एनीमा या वस्ति करनी हो तो कुञ्जल से पहल ही कर लें।

7 कभी-कभी कुञ्जल से पूरा पानी नहीं निकल पाता । इसलिए कुछ समय बाद या तुरन्त पाखाना लग सकता हे। पाखाना दो-तीन बार भी हो सकता हे। इससे घबराने की कोई बात नहीं है।

8 कुञ्जल के बाद पाच-दस मिनट के लिए शवासन में लेटना आवश्यक है ताकि पेट के अवयव में उत्पन्न हलचल शान्त हो जाये।

9 किसी -किसी को कुञ्जल होता ही नही चाहे जितना प्रयास करें ऐसे लोगो को दण्ड धोति से कुञ्जल करना चाहिए।

लाभ -

जिस बर्तन में खाना पकाया जाय उसे अन्दर से प्रतिदिन साफ न किया जाय तो उसकी अन्दर की दीवारों से पकवान का अश चिपकता चला जायेगा। और कुछ दिनों में उसमें सडन पैदा हो जायेगी। पुन उसमें कितना ही पौष्टिक व सुन्दर विधि से भोजन क्यों न पकाया जाय भोजन अस्वाददार व नुकसानदेह ही हेागा। वैसे ही आमाशय को स्वच्छ एव स्वस्थ बनाये रखने के लिए हमारे भारतीय योग मनीषियों ने षट्कर्म में कुञ्जल क्रिया का विकास किया है। कुञ्जल मुँह पर फोडे, फुन्सियों, दात, जीभ व ऑख के रोग, रक्त विकार , हदय व छाती के रोग, पित्त कफ के प्रकोप मन्दाग्नि आदि को जड से दूर करने में विशेष सहायता करती है।

महत्वपूर्ण तथ्य

सामान्य स्वस्थ अवरथा में सप्ताह में एक बार कुञ्जल करना पर्याप्त होगा। उपवास के दिन अथवा भाजन सम्बन्धी गडबडी के कारण उत्पन्न अजीर्ण कष्ट में कुञ्जल बहुत ही लाभकारी क्रिया हे। चिकित्सा के दौरान लगातार तीन चार दिन वस्ति क्रिया क बाद कुञ्जल करने से रोगो को उसके कष्ट में चमत्कारी लाभ होता हे। तत्पश्चात् सप्ताह में एक दिन कुञ्जल पर्याप्त होगा। छाती में जलन (एसिडिटी) के कप्ट में कुञ्जल करके रेागी तुरन्त लाभ प्राप्त कर सकता है। किन्तु किसी विशेप प्रकार के अल्सर (आन्तरिक घाव) के कष्ट में उच्च रक्त चाप में कुञ्जल नही करना चाहिए।

दण्ड धौति -

दण्ड धाति भी कुञ्जल के समान ही हे। जो लोग हाथ से उल्टी नही कर पाते है, वे लोग दण्ड टयूब जा कि बारह नम्बर का एक केथेडर होता है। से सरलता से उल्टी करने में सफता हा जाते हे। इसलिए इसका नाम 'दण्ड धौति' है।

दण्ड धौति की पुरानी विधि

निम्न चित्र के अनुसार

छोटी अगुली के बगल वाली अगुली (अनामिका) के बराबर मोटी तीन लरों वाली कच्चे सूत की रस्सी बनावें, जो लगभग 30 इच लम्बी हो। उसके अन्तिम छोर से करीब चौथाई इच पहले एक धागा इस प्रकार बॉधे कि रस्सी का वह सिरा फूल के समान खिल जाय। तब समूची रस्सी को गर्म जल के पात्र में कुछ समय के लिए डुबो ले।

दण्ड धौति की नई विधि -

आजकल इस रस्सी के स्थान पर रबर की बनी इसी गोलाई की टयूब भी आती है। जो अन्दर से खोखली होती हे, जिससे दण्ड धौति करने में आसानी होती है।

करने की विधि - अब कुञ्जल की तरह सहने योग्य गरम पानी यथासभव अधिक से अधिक पिये। तत्पश्चात कुञ्जल करने की स्थिति से कुछ ऊँचें खडें होकर उपर्युक्त दण्ड धौति की रवर टयूब को मुँह द्वारा धीर-धीरे भीतर डालें और निकालें यदि बार-बार भीतर स पानी निकले ता निकालन द। दा-चार दिन के अभ्यास क बाद टयूब यथा जरूरत अन्दर ल जान में काई कठिनाई नहीं होगी।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 टयूब का चार अगुला दूसरा सिरा मुख क बाहर ही रख

2 उपरोक्त बाहर निकल सिरे की रस्सी पकडकर रस्सी या टयूब हिलाने से भीतर का पानी काफी मात्रा में बाहर निकलेगा।

3 यह क्रिया बिना अनुभवी योग्य प्रशिक्षक क निर्देशन क न करे। योग्य निर्देशन के बाद इस क्रिया का अभ्यास कुञ्जल क्रिया से भी ज्यादा आसान हो जाता है।

4 यदि गले मे घाव हो, सूजन हा ता दण्ड ट्यूब न करें।

वस्त्र धौति - वस्त्र धौति वह क्रिया है जिसम चार अगुल चोडा ओर पॉच से पन्द्रह-बीस हाथ लम्बा महीन, सूती एव सफेद कपडा मुख से आमाशय में डाला जाता है।

लाभ - इस क्रिया के अभ्यास से प्लीहा, गुल्म ज्वर, कण्ठ, कफ पित्त दूर होते है तथा मनुष्य निराग एव बतावान होता हे।1 इसके अतिरिक्त मैनें यह अनुभव किया है कि वस्त्र धौति जुकाम, खासी, दमा, टी0 वी0, अपच, मन्दाग्नि व किसी भी असाध्य रोग में बहुत लाभकारी हे।

तैयारी - चार अँगुल चोडी, पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी महीन, सूती सफेद मलमल की पट्टी तैयार करे। यदि किसी चौडे मं से फाडकर बनावें तो किनारे के दो-दो धोगे अवश्य निकाल दें। तत्पश्चात साबुन से भली भाति साफ करके उस कपड को गरम पानी मं कम से कम पॉच मिनट तक उबाल लें। फिर उसे निचोडकर ऐसी जगह में सुखायें जहॉ मक्खी वगैरह उसमें न बैठं। रात में पट्टी सुखाने में मक्खियों नहीं बेठेगी। अच्छी तरह सुखाने के बाद उसका गोला बनावें और अब वस्त्र धौति करने बेठ तो एक रवच्छ कटोरे में 250 ग्राम दूध में 250 ग्राम पानी लं तथा कपडें को डाल दें।

करने की विधि

निम्न चित्रानुसार

तुलओं के बल बैठकर वस्त्र धौति के कपडे के एक सिरे को खोलकर बहुत छोटी से गोली बना लें और दाहिने हाथ की तर्जनी व मध्यमा दानों अँगुलियों के आगे के भाग के बीच उस गोली को इस प्रकार से रखें कि मुख के भीतर छोटी जीभ(गोली) तक ले जाकर रखने में कोई कठिनाई न हो। इसके

---

1 प्लीहा गुल्म ज्वर कुण्ठ कफ पित्त विनाशयति ।

आरोग्य बल पुश्टिश्च भवेतस्य दिने-दिने ।। 'योगशास्त्र'

बाद दोनों अँगुलियों को इस सावधानी के साथ बाहर निकालें, कि भीतर डाला हुआ वस्त्र बाहर न आवे। तत्पश्चात जीभ से धीरे-धीरे वस्त्र धौति का भीत गले के नीचे उतारें। जिस प्रकार भाजन करते समय जीभ पर पडा हुआ कोर निगलते हे।

ध्यान रहे कि वस्त्र धौति का कपडा तालू में न लगने पावे। बल्कि जीभ पर ही रहे। इसलिए कटोरे में भरा पानी मिला दूध घूँट-घूँट कर इस प्रकार पियें कि गले के नीचे घूँट के साथ वस्त्र धौति भी बढती जाय। साथ ही साथ मुख इस प्रकार चलावें जेसे कोई चीज खा रहे हों ओर उस चबी चीज को निगल रहे हों। ऐसा करने से वस्त्र धोति भीतर चली जायेगी।

प्रथम दिन एक-डेढ हाथ से अधिक वस्त्र नहीं निगलना चाहिए। निगलते समय जी मचलाने तो दात बैठाकर मुख का बन्द करके , मनोबल से रोकना चाहिए, किन्तु यदि उल्टी आय तो रोके नही, जल्दबाजी न करें। धीरे-धीरे दस-पन्द्रह हाथ धौति आसानी से चली जायेगी।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 पूरी वस्त्र धौति कभी न निगलें। करीब एक फुट या एक बालिस (9इच वस्त्र मुख के बाहर अवश्य बची रहें।

2 जिन्हें कफ की शिकायत हो, व लोग पानी से यह क्रिया कर, दूध न मिलावें। लेकिन यदि कफ की शिकायत न हो पित्त की ही अधिकता हो या पित्त बिगडा हा तो पानी के स्थान पर गुनगुने दूध से वस्त्र धौति करें।

3 यदि वस्त्र को निगलने में जी मचलाये या उबकाई आये तो वस्त्र के अगले भाग पर शहद लगा लें।

4 कुछ लोग वस्त्र धौति का पेट में ले जाने के बाद नौलिक्रिया करते है, ऐसा करना नुकसान देता हे।

5 वस्त्र धौति के बाहर बचे भाग को पकडकर धीर-धीर वस्त्र को बाहर खीचें। जब तक यह आसानी स बाहर निकलती जाय, निकालत जाइये, किन्तु यदि रूके तो तुरन्त खीचना वन्द कर दें आर पहले की तरह फिर से वस्त्र को निगले। दा-तीन ग्रास निगलने के बाद पुन मुख को पूरा फैलाकर पूर्ववत वस्त्र का खीचना शुरू करें।

6 यदि किसी कारण वस्त्र धोति बाहर न आवे तो जितना जल पी सकें, पी लें और कुञ्जल की तरह खडें होकर मुख में अँगुली डालकर वमन करें। ऐसी आवश्यकता शायद ही किसी को पडें। फिर भी जानकारी जरूरी है।

7 अच्छी प्रकार से कुञ्जल एव दण्ड धोति के अभ्यास के बाद ही वस्त्र धौति करना चाहिए।

8 वस्त्र धौति के बाद कुञ्जल अवश्य करें।

9 वस्त्र धौति तब तक करना चाहिए, जब तक आमाशय स्वच्छ न हो जाय। इसकी पहचान यह हे कि कुछ दिनों के बाद वस्त्र में कोई कफ या चिकनाहट नहीं मिलती।

वस्ति क्रिया -

महर्षि पतञ्जल द्वारा प्रणीत योग सूत्र में साधनवाद के अन्तर्गत शोधन योग की चौथी क्रिया वस्ति क्रिया हे। प्राचीन योगियों ने शाधन योग क अन्तर्गत षटकर्म की क्रियाओं मे वस्ति क्रिया को दूसरे स्थान पर रखा हे। परन्तु मेरामत कुछ भिन्न हे। मै इसे शोधन की क्रियाओं में तीसरे स्थान पर रखता हूँ क्योंकि योग एक विज्ञान है, के अन्तर्गत योग की वैज्ञानिकता एव प्रमाणिकता की प्रासगिकता पर जोर दे रहा हूँ चूँकि नेति क्रिया के द्वारा मस्तिष्ट, धौति क्रिया के द्वारा आमाशय की सफाई के बाद बडी ऑत की सफाई का नम्बर आता है। इस प्रकार वस्ति क्रिया मेरे मत से तीसरे स्थान पर ज्यादा तक्र सगत एव उचित है।

बडी ऑत शरीर का वह अग हे जिससे खाये भोजन का पचना एव पाषक के बाद अवशेष मल एकत्र हो जाता है यदि वह मल अपने प्राकृतिक समय पर नहीं निकलता तो अनेको प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते है। आजकल कब्ज की समस्या बहुत ज्यादा देखा को मिलती है। शारीरिक रोगों की जड में कोष्ठबद्धताया क्रब्ज ही मूल कारण के रूप में होता ै ओर किसी भी चिकित्सा पद्धति से एक सीमा के बाद या कुछ दिनों के बाद लाभ न मिलने के कारण कब्ज का दूर न करना या होना। कारण स्पष्ट है कि कब्ज के कारण ऑतो में मल रूक जाता ह ओर वह जब सडता हे तो दूषित वायु उत्पन्न हाती हे अर वह दूपित वायु शरीर के किसी भी भाग में पहुँच कर दर्द या उसके स्वाभाविक क्रिया में बाधा उत्पन्न करती हे। मरे अनुभव में आया है कि कब्ज का पहला प्रभाव पाचन एव दूसरा पापण की कमजोरी के रूप में पडता हे। इस प्रकार धीरे-धीर पोषक एव निष्कामक अगों में कमचोरी इतनी हो जाती हे। कि मदाग्नि एव अर्जीर्ण के कष्ट रहन लगते है। मदाग्नि व अजीर्ण के सम्बन्ध में आयुर्वेद का कहना है कि सब रोग मल सचय और मदाग्नि से होते है। सब विकारों का आदि सम्बन्ध उदर(ऑतो) से है। अजीर्ण मदाग्नि का कारण होता हे ओर वह अजीर्ण मलिनता (कोष्ठबद्धता) के कारण होता है। ।

हमारी आतो में खाद्य पदार्था का रस चूसने का कार्य अविराम गति से चलता रहता हे पर जब उन्हीं आतो में मल जमा होकर सडने लगता हे तब हमारी आते उस जमा हुये मल से उसक विप को चूसती हे ओर चूसकर उस विष को रक्त में मिला देती हे जिससे रक्त विपाक्त हो जाता ह जा अनेकों प्रकार के रोगों का कारण होता हे।[3] कब्ज क अनकों कारण हे परन्तु मै। उनमें प्रमुख कारणेा को ज्यादा महत्व देता हूँ

95

वे कारण इस प्रकार है -शौच के वेग को रोकना , शौच में जल्दबाजी एव जोर लगाना, शौचालय की गन्दगी , भोजन में अनियमितता, बिना भूख या कम भूख में खाना भर पेट या भरपेट से अधिक खाना, चोकर निकले आटे की रोटी एव छिलका निकली दालों का सेवन, मात्रा से अधिक खाना , दिन भर में तीन किलों से कम पानी पीना, भोजन जल्दी-जल्दी व बिना खूब चबाये खाना, शारीरिक श्रम या उदर शक्ति विकासक व्यायाम की उपेक्षा, मानसिक तनाव की अधिकता एव मानसिक विश्राम का अभाव , रात्रि दर में साना एव प्रात देर से जागना, नाभि का हट जाना, नशीली गोलियों आदि का सेवन , अपानवायु का न खुलना उत्तेजक व दस्तावार औषाधियों का सेवन अनुचित विधि से उपवास या व्रत करना।

इस कब्ज को दूर करने के लिये एनीमा का सहारा लेते हे क्योकि एनीमा से रूका हुआ मल निकल जाता हे। फलस्वरूप रूके मल के कारण उत्पन्न कष्ट, गर्मी व गैस शान्त हो जाती है और रोगी को तुरन्त सुख का अनुभव होता हे।

एनीमा की भाति प्राचीन काल से ही वस्ति क्रिया के द्वारा योग साधक अपनी आतो की गन्दगी साफ करते थे। जिससे योगाभ्यासी विशेष नाप एव गोलाई (बॉस) की नली गुदा में डालकर नाभि तक जल में खड होकर आतों में पानी भर लेते थ। तत्पश्चात पानी से बाहर आकर मल को निकाल देत थे। लेकिन यह क्रिया न केवल सीखना ही कठिन है बल्कि वर्तमान समय में करना भी अव्यावहारिक है।

वस्ति युवावस्था को बनाये रखती हे, अयोग्य , आयु बल, अग्नि, मधा, बुद्धि तथा वर्ण को सुन्दर करती है। इसलिए वस्ति क्रिया को चरक सहिता में समस्त चिकित्सा का आधार कहा गया है। वस्ति कर्म से वायु गोला, तिल्ली उदर ओर

---

[1] रोगा सर्वोऽपि मदऽनो सुतरामुदरणजिच।

2 हैण्ड बुक आफ फिजिग्रालॉजी पृष्ठ 407 डब्लू0 ए0 हली वटन एम0 डा0

वात, पित्त ,कफ से पैदा[96] हुए सम्पूर्ण रोग नप्ट हो जाते है।1 मेरा स्वय का अनुभव है कि वस्ति क्रिया से तत्काल आतों को सफाई को जाती हे, कब्ज टूट जाता हे। जिससे गैस नहीं बनती है। मल की सडान मिट जाती हे। जिसके कारण सम्भवत सभी रोगों में जल्दी लाभ मिलता हे।

वस्ति क्रिया के प्रकार

1 गणेश वस्ति
2 सेल्फ वस्ति
3 डायरेक्ट वस्ति
4 लेट करके वस्ति
5 बच्चेा की वस्ति

1 गणेश वस्ति (गणेश क्रिया)

गणेश वस्ति या गणेश क्रिया शौचालय में ही शौच के बाद की जाती हे। किसी कारण यदि शौच खुलकर न हो रहा हो अथवा ऐसा लग कि अभी मल और हे जिसे निकल जाना चाहिए तो तुरन्त गणेश क्रिया करें। कब्ज, गैस, बवासीर, चक्कर, रक्तचाप, हदय कप्ट जेसे कठिन रोगियों को शोच के बाद नियमित गणेश क्रिया अवश्य करनी चाहिए। यह क्रिया करने वाले आसानी से बीमार नहीं पडते । मेरी राय यह है कि बीमार न भी हों तो भी गणेश क्रिया नियमित करनी चाहिए।

मै यह भी बताना चाहूँगा कि इसे गणेश क्रिया क्यों कहा जाता हे। हमारे रीड-रज्जु में चक्र स्थित है जिनमें मूलाधार चक्र का स्थान प्रथम हे और वह हमारी रीड के अग्रिम छोर अर्थात हमारे गुदा मार्ग में ही स्थित है और मूलाधार चक्र के देवता गणेश जी कहे जाते हे । अत उन्हीं के नाम से इस क्रिया को गणेश क्रिया कहा जाता है। **गणेश क्रिया की विधि** - इस क्रिया को शौचालय के स्वभाविक शौच के बाद करते है। जिसमें पहले बाये हाथ के अँगूठे के बगल वाली उगली ओर फिर बीच वाली उ ाली में अण्डी, गरी या सरसों का तेल लगाया जाता हे। फिर छोटी उगली को आगे

---

[96] गुल्म प्लीहोदर चापि बात पित्त कलादभाग ।
वस्ति कर्म पप्रभावन क्षीयन्त सकलाभया ।। चरकसहिता

[97] गुल्म प्लीहादर चापि बात पित्त कलादभाग ।
वस्ति कर्म पप्रभावन क्षीयन्त सकला ाया ।। चरकसहिता

की ओर से गुदा के अन्दर धीरे से डालकर धीर-धीरे चारों आर घुमायों। इसके बाद इस उगली को निकाता कर दूसरी अर्थात केवल बीच वाली उगली को उसी प्रकार गुदा के अन्दर डालकर गालाई से धुमायें। उगली मे चढाने के लिए एक विशेष प्रकार की रबर फिगर आती है। शुरू में रबर फिगर चढाकर करना ज्यादा अच्छा है। उगलियां के नाखून कटे होने चाहिए। सुविधा के लिए शोचालय में ही किसी चोडे मुँह की शीशी मे तेल भर कर रख लें। किसी कारण तेल की सुविधा न होन पर उगलियों को पानी में डुबाकर गणेश क्रिया का बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। लेकिन बवासीर, भगन्दर , कॉच एव कब्ज के जीर्ण रोगियों को तेल, रबर फिगर दोनों चीजों का प्रयोग करना अनिवार्य हे। तलों मे केस्टर आयल (अण्डी का तेल) सबसे अच्छा होता हे।

सेल्फ वस्ति क्रिया (बैठ करके)

सेल्फ वस्ति क्रिया के लिए , एक विशप प्रकार का यत्र होता हे जिसे सेल्फ एनीमा सिरीज कहते है। इसमे दो सिरे होते हे। एक सिरा नुकीला होता है जिसमें आउटर वाल्व होता हे अर्थात इस बाल्व से पानी अन्दर नहींआ सकता । दूसरा सिरा चोडे मुँह का हेाता है जिसमें इनर वाल्व होता है। इसमें पानी बाहर से अन्दर ही जा सकता है। इस यत्र के बीच में गेंद की तरह गोलाई होती है, जिसक माध्यम से पानी भरते और निकालते है।

यदि ऐसा लगे कि शोच खुलकर नहीं हुआ है अथवा नहीं होगा या किसी कठिन रोग से पीडित हे तो इस क्रिया को उस दिन अवश्य करें। रात को सोते समय वस्ति क्रिया करने से बहुत लाभ होता है।

सेल्फ वस्ति क्रिया करने की विधि सेल्फ एनीमा के चौड सिरे को पानी भरे लोटे में डालकर बीच वाले गुब्बारे को चित्र के अनुसार धीरे-धीर दबाइये और जब दूसरे सिरे से पानी की धारा निकलना शुरू हो जाय ।

तो इस सिरे में तेल लगाकर धीरे से डेढ मे ढाई इच गुदा के अन्दर करके

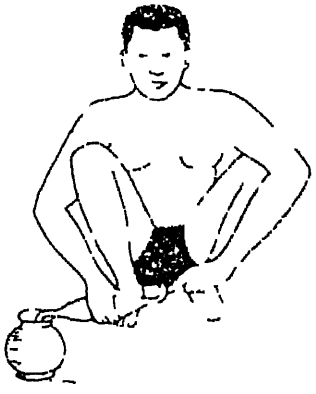

उपरोक्त चित्रानुसार धीरे-धीरे बीच के भाग को दबा -दबा कर आधा पाव या पाव भर पानी चढा ले। शोच का अनुभव होने पर गुदा के अन्दर का प्रवेशित सिरा बाहर निकाल तें। फतारवरूप पानी के साथ बडी आत का मल तुरन्त बाहर निकल जायगा। अब पुन गुदा क अन्दर पहतो की तरह पानी भरना शुरू करें। यह ध्यान रखना जरूरी है। कि जब पानी ओर मल स्वय निकलने की कोशिश करें तो गुदा के अन्दर का प्रवेशित सिरा हटा द। इस प्रकार पानी के साथ ऑत का रूका या पुराना मल धीर-धीरे निकल जाता है। बवासीर भगन्दर के रागी वस्ति यत्र मं किसी प्रकार की चिकनाहट अवश्य लगा दें। सभी लोग लगायें तो ओर भी अच्छी बात हे।

यदि इस क्रिया के बाद गणेश क्रिया से मलाशय में तेल की चिकनाहट कर दी जाय तो ओर जल्दी जाभ होता हे। जिनकी नोलि क्रिया चलती हो वे पानी भरकर अपने स्थान पर खडे हो जाय और कुछ देर तक नौलि चलाए नौलि न चलने पर उपनोलि चलायें तो विशेप लाभ होगा।

वस्ति क्रिया के लिए पानी - जेसे पानी नल अथवा कूँए से निकल वही पानी वस्ति क्रिया के लिए ठीक हे। किसी विशेष रोग की अवस्था में पानी में स्वमूत्र, गौ-मूत्र, चिरायता , कुटकी का पानी आदि मिला सकते हे। बहुत ठडे मौसम तथा पहाडों में जहॉ पानी बहुत ठण्डा हो तो पानी को थोडा गुनगुना कर लेना चाहिए। यदि पहले या दूसरे दिन भी सन्तोषजनक मल न निकले तो परेशान न हा। जब मल फूलेगा तो स्वय निकलेगा।

डायरेक्ट वस्ति क्रिया -

डायरेक्ट वस्ति क्रिया में एक लम्बी रबर की टयूब का प्रयोग होता है जिसे एनीमा टयूब अथवा एनीमा केन कहकर प्राप्त कर सकते है। इसके दोनों सिरे एक से होते है। सेल्फ वस्ति की ही भॉति इसे भी शौचालय में करते है।

विधि - निम्न चित्र के अनुसार एक हाथ से एक सिरा पकडकर टोटी

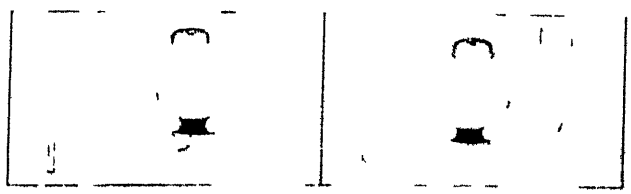

खेालदें और दूसरे हाथ से टयूब को नीचे पकड लें। अब नल की टोटी खोल दें आर पानी की धार की ऊँचाई कम से कम छ इच कर लें। अब इस सिरे को गुदा के अन्दर धीरे से प्रवेश करा दे। इस विधि से गुदा

के माध्यम से नल या पानी बड़ी आँत में स्वयं जाने लगता है। कुछ देर बाद गुदा का द्वारा अपने आप फैल जायेगा या खुल जायेगा। गुदा के फैलने से पानी के साथ -साथ रूका हुआ मल अपने आप बाहर अपने लगेगा। इस प्रकार पानी बड़ी आँत में जायेगा और साथ ही पानी व मल बाहर निकलेगा। जब पानी व मल निकलने लगे तब दायें हाथ से गुदा के अन्दर प्रेवशित टयूब को अवश्य पकड़े रहें जिससे टयूब बाहर न निकले। यह क्रिया दो-चार मिनट करना ही पर्याप्त होगा।

लेट करके वस्ति क्रिया:- इस विधि के लिए सेल्फ एनीमा या एनीमा केन या एक डिब्बा जिमें एक लम्बा लगभग दो मीटर लम्बा टयूब लगा होता है जिसे लगभग जमीन से एक मीटर की ऊँचाई पर पानी भर कर रख देते है। यहाँ पर दो उपकरण सेल्फ एनीमा टयूब व एनीमा केन दोनों के चित्र निम्नवत है। सुविधानुसार वस्ति क्रिया करें।

करने की तैयारी :-

1. इस विधि में वस्ति लेने वाले को पीठ के बल लेटना होता है।

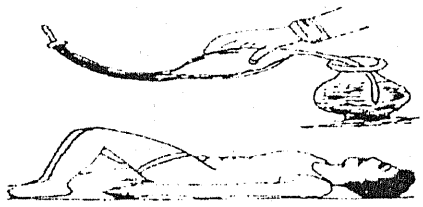

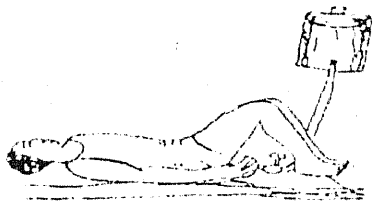

अत: इसके लिए अलग कमरा या बड़े बाथरूम की जरूरत होती है।

2. लगभग एक दो लीटर गुदगुना पानी।
3. चार बड़े नीबू का रस।
4. एक चम्मच नमक साधारण।
5. सेल्फ वस्ति यंत्र या एनीमा केन टयूब युक्त
6. कमर के नीचे लगाने के लिए तकिया।

सर्वप्रथम कमरे या बाथरूम में पीठ के बल लेट जाइये। दोनों पैरों को 45 डिग्री में मोड़ दें। कमर के नीचे के कपड़े उतार दें या ढीले करके घुटने के नीचे तक खिसका दीजिए। गुनगुने पानी का बड़ मुंह वाला लोटा दाहिनी जाँघ के निकट इस प्रकार से रखें कि सेल्फ एनीमा के चौड़े सिरे को जब इसमें डाले तो दूसरे सिरे को गुदा के अन्दर डालकर पम्प करके आंतों में पानी भरने में कोई कठिनाई न हो। पानी भरते समय यदि चौड़ा सिरा यदि लोटे के बाहर आ जाता है तो किसी रस्सी के इस सिरे को गांठ लगाकर लोहे के मुंह पर लपेटकर बांध दे। इससे वह सिरा लोटे से बाहर नही

निकलेगा। अब सेल्फ एनीमा के बीच वाली गेंद को कई बार दबाए, जब नुकीले सिरे से पानी की धारा निकलन लगे तो इस सिरे को गुदा के अन्दर प्रवेश करा दें । यदि कोई कठिनाई हो तेा इस सिरे को गुदा के अन्दर प्रवेश करा दें। यदि कोई कठिनाई हो तो इस सिरे को किसी तल जेस गरी, सरसों, या अण्डी के तेल से चिकना कर लें। अब बराबर पम्प करते जाये। और धीरे-धीरे आधा लीटर तक पानी चढा लें। बीच में यदि शोच जाने की इच्छा हो तो कुछ समय के लिए पानी भरने की क्रिया रोक दें। पर्याप्त पानी चढाने के बाद नुकीले सिर को गुदा स बाहर निकाल लें। इस अवस्था में कुछ देर लेटे रहें ओर लेट-लट ही पेट की हल्की मालिश बायें से ऊपर फिर ऊपर से दायी ओर की दिशा में करें। थेाडी -थोडी देर में करवट बदलें एव पैर सिकोडकर पेट म हाथ से दबायें व मालिस करं। तथा जब पानी रूक जाये तो किग एव क्वीन" व्यायाम करें। पुन जाघों को पेट में सटाकर हाथों से पैर दबायें ओर जब पानी रूक जाये तो खडे होकर नौलि क्रिया का अभ्यास करे। इस प्रकार दस पन्द्रह मिनट तक यदि पानी रोका जा सके और फिर शौच जाया जाय तो बहुत सा मल निकल जाता है यदि पानी चढाने के तत्काल बाद शौच जायेंगे तो मल ज्यादा फूलेगा नहीं ओर ज्यादा नहीं निकलेगा। अत एनीमा के पानी में नीबू का रस और नमक मिला दने से मल जल्दी फूल जाता हे तथा आतो में चिपका मल शीघ्र छूट जाता है और ज्यादा से ज्यादा पेट साफ होता हे । मे अपने अनुभव से सेल्फ एनीमा के स्थान पर एनीमा पाट को ज्यादा महत्व दॅगा। इसमें केवल पानी भर कर दीवार में कील गाडकर डिब्बे को लटका देते है तथा रबर में नोजल से पानी निकलने पर गुदा मार्ग में प्रवेश करा देते है। इसमे पानी स्वत अन्दर जाने लगता है। यह ज्यादा आसान होता है वस्ति क्रिया करने के पहले निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यों का क्रमबद्ध ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

महत्वपूर्ण तथ्य –

1 पानी में साबुन का भाग भूलकर भी न मिलाये।

2 यदि पेट में कीडे हो ऑव हो तो पानी में अधिक स अधिक अपना ही पेशाब जो कि प्रात काल का हो मिला लें।

3 उपवास के दिन प्रात ही यदि इस क्रिया से ऑत साफ कर ली जाय तो उपवास का लाभ कई गुना बढ जाता हे।

4 शरीर के किसी भी तीव्र कष्ट जस ज्वर, चुकाम, दस्त या अम्ल दर्द गस आदि से वस्ति क्रिया क करने से तत्काल लाभ मिलता ह।

5 वस्ति क्रिया के एक घन्टे तक कुछ नही खाया जाय, यदि आवश्यकता हेा तो गरम पानी मं आधा नीबू का रस, दो चम्मच शहद मिलाकर पियें अथवा सब्जियों का सूप या फलों का रस पी सकते हे।

6 स्वस्थ व्यक्ति सप्ताह में वस्ति क्रिया से यदि एक बार ऑते साफ कर लिया कर ता शायद ही कभी कोई बीमार पडे। इसलिए मेरी राय है कि परिवार के सभी सदरय चाहे बडे हो या बच्च, स्वस्थ हा या बीमार, स्त्री या पुरूप काई भी सप्ताह में एक बार वस्ति क्रिया करके आजीवन अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता हे।

यह वस्ति क्रिया योग की अनूठी क्रिया है। अपने अनुभव के आधार पर तो मैं इस बात को दावे से कहता हूँ कि यदि वस्ति क्रिया की उपरोक्त नवीन विधियॉ एव उपयोगिता का सही -सही प्रचार करा दिया जाय ता लोगों का बहुत सा चिकित्सकीय खर्च बच जायेगा। योगियों का अनुभव हे कि यदि रोगी की टट्टी नियमित ओर सही होने लागे तो रोगी जल्दी स्वरथ हो जायेगा।

वस्ति क्रिया आतों में रूका मल बिना जोर लगाये निकालने में सहायता करती है। कमजोर आतेा को शक्तिशाली बनाने में सहायता करती हे। इसी प्रकार जब बच्चे बीमार होते हे तो उन्हें भी टट्टी की गडबडी हो जाती हे। इसलिए छोटे बच्चे चाहे वे एक महीने के हो या चार साल के वस्ति क्रिया उन्हें भी उतनी ही लाभपाद हे जितनी जवानों एव वृद्धों को।

छोटे बच्चों की वस्ति क्रिया -

इसके लिए एक प्रकार की पिचकारी हाती हे। जिसे ग्लीसरीन सिरींज कहते हे । यह पिचकारी की तरह होता है।

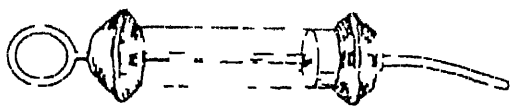

करने की विधि

सर्वप्रथम ग्लीसरीन सिरीज में नीबू नमक युक्त हल्का गुनगुना पानी भर ले। पानी भरत समय यह देख ले कि पानी क अन्दर एक भी बुलबुला न हो यदि हो तेा पलट कर अर्थात नुकीला सिरा आसमान की ओर करके नीचे मे दबाव डालकर हवा का निकाल दें। जैसे चिकित्सक इजक्शन लगाने से पहले करते हे। अब बच्चे को लिटाकर धीरे-धीरे पानी भरें। सिरिज क

नुकीले सिरे में चिकनाई अवश्य लगा देना चाहिए। एक बार मं यदि पर्याप्त पानी न भर पाये तो पुन इसी प्रकार पानी भर दें ।

अब बच्चे को पानी को रोकन की प्रेरणा दें या उसके नितम्ब आपस म चिपका कर पकड लें ओर उसके पट में मुलायमियत से मालिश करें। शौच लगने पर शौच जाने दें।

छ महीने की उम्र तक बच्चे की ऑत में 100 ग्राम से 200 ग्राम तक पानी एक वर्ष से लेकर छ वर्प तक के बच्चे की ऑत में 200 ग्राम स 500 ग्राम तक पानी चढाते है। छ वर्प से लेकर 12 वर्प तक के बच्चे की ऑत में एक किलो तक पानी और उससे बडी उम्र वाले लोगों को एक किलो से लकर दो किलो तक पानी चढाते हे।

वस्ति के बारे में भ्रम

कुछ लोगों को वस्ति क्रिया के बारे में यह भ्रम हो जाता हे कि इसके करने से इसकी आदत पडत जाती हे परन्तु यह बात नितान्त सही नही हे। सही बात तो यह है कि लोगों की ऑते जब कमजोर होती हे अथवा आहार विहार में अनियमितता बरतते है तो स्थायी कब्ज की शिकायत होती है ओर जब वस्ति क्रिया करते हे तो मल आसानी से निकल जाता है। चूकि जो काम विरेचक पूर्ण इत्यादि कठिनता से नहीं कर पाते है, वस्ति सरलता से दो-चार मिनट मे कर देती है। जब उसका कब्ज जड से दूर हो जाता तो मल स्वय समय पर होने लगता है। तब वस्ति की कोई जरूरत नहीं पडती है। अत वस्ति के बारे में भ्रमित न हो।

नौलि क्रिया

अष्टाग योग में साधनपाद के अन्तर्गत शरीर शोधन की क्रियाओं नेति, धौति वस्ति क्रियाओं के उपरान्त नौलि क्रिया का क्रम आता है। नौलि क्रिया से पेट के अन्दर के समस्त विकार स्वत. दूर हो जाते है। पेट के अन्तर्गत आमाशय, यकृत , प्लीहा छोटी ऑत व बडी ऑत आदि आते है इसमें मल चर्बी अथवा शक्तिहीनता आ जाने से अनेको प्रकार के रोग रहन लगते है। इन अगो में रूके विकार निकालने के लिए एव उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए नौलि क्रिया अद्वितीय हे। योग शास्त्र में नौलिक्रिया को सभी क्रियाओं का मुकुटमणि कहा जाता है । योगाभ्यासी को नौलि क्रिया सिद्ध करना इसलिए आवश्यक है कि इससे बढा हुआ पेट सामान्य हो जाता हे। गोला

तिल्ली, मन्दाग्नि , वात पित, कफ आदि दोप एक साथ दूर हो जाते हे। 1 कब्ज, गैस , ऑव का पुराने से पुराना कष्ट धीरे-धीरे दूर हो जाता हे।

पेट को बायें से दायें से बाये , ऊपर से नीचे , नीचे से ऊपर इस प्रकार से घुमाया जैसे बाजीगर के हाथ में दो गेंद घूमती हे अथवा जल की भँवरी घूमती है। इस प्रकार पेट के अन्दर बडी ऑत को घुमाने की क्रिया को नौलि क्रिया कहते हे।

सर्वप्रथम पुरूष कपडे उतारकर शीशे के सामने खडे जो जाय। महिलाए धोती पहने हो तो काघ लगा ले। अब एडियों का आपसी अन्तर छ इच और अँगूठों का अन्तर नौ इच कर लें। नाभि से लँगोटा , चढ्ढी अथवा धोती नाभि से तीन चार इच नीचे खिसका ले। अब घुटनों को थोडा आगे झुकायें और घुटनों के ऊपर हाथो को इस प्रकार रखें कि अँगूठा अन्दर की ओर, चारों अँगूलिया आपस में अच्छी तरह सटी हुई बाहर की ओर रहें। झुकते समय हाथों को घुटने के ऊपर रखें नौलि क्रिया सिद्ध करने की यह पहली तैयारी हे अब नये अभ्यासी पहले नौलि क्रिया न करके 20-100 बार उपनौलि करें और उपनौलि के बाद देर तक उडिडयान बन्ध लगाने का अभ्यास करें। जितना अच्छा और जितना देर तक उड्डियान बन्ध होगा, उतनी ही अच्छी नौलि होगी। नौलि की यह दूसरी तेयारी है। अब नौलि जल्दी सिद्ध हो इसके लिए घुटनों से जाँघों तक आगे की तरफ थोडा कडुआ तेल चुपड ले जिससे हाथों को चलाने में कठिनाई न हो और जिनकी जाँघों में घने बाल हो तो टूटे नहीं नौलि की यह तीसरी और अन्तिम तैयारी है।

उपनौलि क्रिया की विधि

सर्वप्रथम पेट को धीरे-धीरे पहल अन्दर की ओर सिकोडिये और फिर बाहर की ओर छोडिये। यथाशक्ति इस क्रिया को पहले धीरे-धीरे फिर जल्दी -जल्दी करना ही उपनौलि है। इस क्रिया को करते समय श्वास बाहर निकाल दें। यह क्रिया कम से कम 50 बार या सौ बार अवश्य करनी चाहिए। [98]

उडिडयान बन्ध की विधि सर्वप्रथम सीधे खडे जो जाइये। हाथों को कमर क ऊपर इस प्रकार रखिये कि चारों अँगुलियाँ आपस में सटी हुई बाहर तथा अँगूठे पीछ

[98] विश्वगुरूकल्पतरू पृष्ठ 520 कल्पतरू महाराज

की ओर रहें। अब ठुडडी को ऊपर करते हुए गहरा श्वास नाक से भरकर तुरन्त कमर के आगे की ओर झुकते हुए श्वास का मुँह से यथासम्भव बाहर निकाले। अधिक से अधिक श्वास तभी निकल सकेगा जब जिह्वा की आकृति कोये की चांच की तरह बनाकर निकालेगें। अब श्वास बाहर निकाल कर बाहर ही रोक द । और पेट को अन्दर की ओर खींच कर पीठ से चिपका कर सीधे खडे हो जाये और लगभग 30 सेकेण्ड तक रोंकें। कम से कम इस क्रिया को पॉच बार दोहरायें।

नौलिक्रिया के प्रकार इसके तीन प्रकार हे।

1 दक्षिण वाम नौलि

2 मध्य नौलि

3 गोल नौलि

1 दक्षिण वाम नौलि

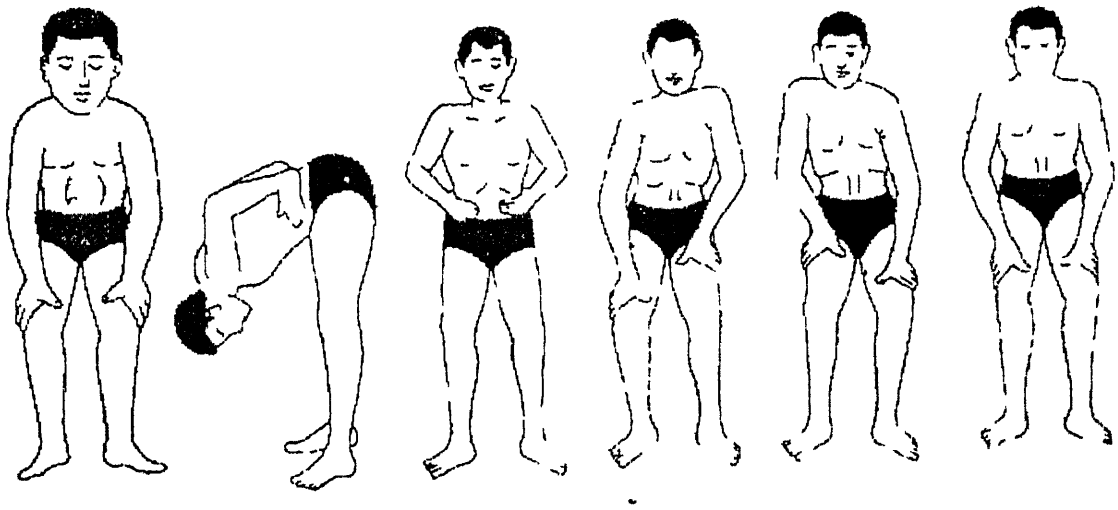

उपनौलि

पूर्ण तैयारी के बाद श्वास को नाक से भरिये, मुह को चोंच की तरह बनाकर श्वास को यथासम्भव बाहर निकालिए। बाहर निकालकर श्वास को बाहर रोक दीजिए। अब निम्न चित्रानुसार घुटनों को आगे की ओर झुका लीजिए और तेल लगी जॉघों में मालिश शुरू कर दीजिए । मालिश करत समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अब थाडा जोर लगाते हुए हाथों से ऊपर स नीचे की ओर ल जाये, जब बायें हाथ बिना जोर स नीचे से उ र की ओर ल जायें और जव बायें हाथ को जोर लगाते हुए ऊपर स नीच ले जायें तब दायें हाथ स वि ा जोर लगाये नीचे से ऊपर ले जाये। इसी क्रम को जव• तक सरलता से श्वाम बाहर रोक सकें, धीरे-धीरे केर ओर फिर उड्डियान बन्द करके उपराक्त क्रम में मालिश करें । यही दक्षिण वाम नौलि हे। दक्षिण वाम नौलि इसे इसलिए कहते है।

क्योंकि जब दाये हाथ की हथेली से दायी जाघ की मालिश करते है तो पेट का दाया हिस्सा नल की तरह बाहर आ जाता हे और बाया हिस्सा और अन्दर की आर चला जाता है । इसी प्रकार जब बायी हथेली से बायी जाघ पर मालिश करते है तो पेट का बाया हिस्सा नल पाइप की तरह आगे की ओर जा जाता हे और दाया हिस्सा ओर अन्दर की ओर चला जाता हे । इसी क्रिया को जल्दी जल्दी करने से भवरी या बाजीगर की गंदों की तरह पेट घूमता हुआ नजर आता है।

2 **मध्य नौलि** –

दक्षिण वाम नौलि के बाद मध्य नौल करनी चाहिए। दक्षिण वाम नौलि एव मध्य नोलि में केवल इतना ही अन्तर हे कि दक्षिण वाम नौलि में जब दायी जाघ की मालिश करते है तो बायी जाघ की नहीं करते और जब बायी जाघ की मालिश करते है। तो बायी जाघ की नहीं करते और जब बायी जाघ की मालिश करते है। तो दायी जाघ की नहीं करते। लेकिन मध्य नोलि में दोनों हाथों से एक साथ ऊपर से नीचे की ओर लेकिन नीचे से ऊपर की ओर नहीं करते जिससे पेट के बीच का हिस्सा मोटे नल की तरह आगे की ओर आ जाता है। और जब बिना रगडे हथेलियों को नीचे से ऊपर की ओर ले जाते है। तो पेट अन्दर की ओर चला जाता है।

3 **गोल नौलि** –

दक्षिण वाम नौलि और मध्य नौलि जब अच्छी तरह से सिद्ध हो जाय तब गोल नौलि का अभ्यास करना चाहिए। इसमें हथेलियों से जाघों पर मालिश नहीं करते बल्कि जाघ के मध्य में अपनी-अपनी तरफ की हथेलियॉ अच्छी प्रकार से चिपकाकर रख देते हे ओर

1 पहले दायी हथेली से दायी जाघ पर जोर दे तो बायी हथेली को बिल्कुल ढीला छोड दें। और फिर बायी हथेली से बायी जाघ पर जोर दे तो दायी हथेली को बिल्कुल ढीला छोड दें। कुल समय तक इसी प्रकार करना चाहिए।

2 दोनों हाथ से दोनो जाघों पर दबाव डालते हुए दोनों हाथेलियो को एक ही दिशा में अपनी जगह पर गोल घुमायें। पहले दायें से बायें, कुछ दे बाद बाये से दाये। इस क्रिया के फलस्वरूप पेट इस प्रकार घूमत. नजर आता है जैसे तेजी से चल रहा गोल झूला। जब श्वास न रूके तो पुन उड्डियान बन्दर करके उपरोक्त नौलि चलाये। यह क्रम कम से कम 10 बार अवश्य करना चाहिए।

महत्वपूर्ण तथ्य

1 अति दुर्बल , कमजोर, अल्सर इत्यादि के रोगी बिना चिकित्सक के परामर्श के नौलि न करें।

2 नौलि जल्दी सिद्ध करने के लिए तीन चार दिन रसाहार या फलाहार पर रहें।

3 यदि कुछ दिन वस्ति से बडी ऑत की सफाई कर डालें तो नोलि सिद्ध करने मं कोई कठिनाई न होगी।

4 नौलि प्रात शौच के बादखाली पट का जाती है। तथा शाम को भोजन करने के पहले करना चाहिए।

5 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चे यह क्रिया न करें।

6 शख प्रक्षालन क्रिया के बाद नोलि क्रिया अतिशीघ्र सिद्ध हो जाती है।

शख प्रक्षालन -

महर्षि पातञ्जल एव गोरक्ष सहिता मं षट्कर्मो का विधान शरीर शोधन के निमित्त धौति वस्ति नेति नौलि से लगाकर कपाल भाति तक किया गया है परन्तु शोधन की जिन क्रियाओं का प्रयोग किया गया है वे सब क्रियाए अलग-अलग अगों की सफाई अलग-अलग समय करती है। परन्तु परवर्ती योगियों ने एक ऐसी प्रक्रिया की खोज की जिसकै द्वारा मुख से लगाकर गुदा मार्ग तक सफाई एक साथ एक ही समय में हो जाती है। इस क्रिया का नाम शख प्रक्षालन दिया गया। आज आधुनिक योगाचार्य प्राचीन विधियों के स्थान पर नयी विधियों का सहारा लेते है। मैं स्वय कम समय में मात्र दो व्यायामों के द्वारा ही इस क्रिया को सम्पादित करता व करवाता हूँ मेरे दृष्टिकोण में यह क्रिया शोधन योग की एक अद्वितीय क्रिया है। इस क्रिया को यदि माह में एक बार कर लिया जाय तो पेट के समस्त विकरों से शरीर सदैव मुक्त रहेगा। अब मै इस क्रिया की विस्तृत विवचना करूँगा जिससे नयी एव पुरानी विधियों का समन्वयात्मक अध्ययन सम्भव हागा।

इस क्रिया से आमाशय की बीमारियॉ, कफ बनाना , भोजन का सही पाचन न हाना, अम्लता की परेशानी , मन्दाग्नि आदि के कष्ट , छोटा ऑत एव बडी ऑत चिपका पुराना मल, ऑव , कृमि गैस आदि के रोग तथा गुदा द्वारा से सम्बन्धित रोग जैसे बवासीर आदि सदा के लिए ठीक हो जाते ह ।योगशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया को कायाकल्प भी कहते है।

इस क्रिया को करने से पूर्वकम से कम तीन दिन का उपवास कर लेना चाहिए। उपवास के पहले दिन सुबह शाम हरी सब्जी मिली खिचडी दूसरे दिन केवल सब्जी तथा तीसरे दिन , दिन में रसाहार आर रात्रि के भोजन के समय एकपाव या आधा लीटर पाचन शक्ति के अनुसार गुनगुना मीठा दुध पीते हे।

मीठे के लिए मैं गुड को प्रमुखता दूँगा। चौथे दिन के आधा घण्टे पहले पुन एक पाव मीठा गुनगुना दूध जरूर पीते है। इसके बाद लगभग चार या पॉच लीटर पानी गरम करके पीने योग्य बना लेते है। प्राचीन योगी गुनगुने पानी मं और नीबू मिला देते थे परन्तु आज कल नमक के स्थान मेग्नीशियम सल्फेट का चूर्ण पॉच लीटर पानी में लगभग 100 ग्राम मिला दिया जाता है। यह चूर्ण ऑतों की स्पन्दन क्रिया को बढा देता हे। जिससे शख प्रक्षालन की क्रिया आसानी से होती है। दूसरे नमक शरीर के गुर्दे के लिए हानिकारक हाता हे तथा उच्च रक्तचाप के रोगियों का भी नुकसान दह होता हे।

अब उकडू बैठकर कुज्जल की भाति दो गिलास पानी पीते हे। पानी पीने के पश्चात पाच मिनट तक टहलते हे। टहलने के बाद किग एव क्वीन व्यायाम पच्चीस-पच्चीस बार करते है। करने के पश्चात मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि पिया हुआ पानी आमाशय की धुलाई करते हुए छोटी आत म पहुच जाता है। अब पुन पूर्ववत पानी पीकर उपरोक्त क्रियाए दोहराते हे। अब यहा पर किग एव क्वीन व्यायाम की प्रक्रिया की जानकारी देना ज्यादा महत्वपूर्ण होगा तथा बाद में आगे की प्रक्रिया के बारे में बताएगें।

किग एव क्वीन व्यायाम -

इन दोनां व्यायामों की खोज स्वामी देवमूर्ति जी महाराज ने की है। इस व्यायाम की रोगी निरोगी, बालक , वृद्ध , स्त्री-पुरूष सभी लोग सरलता से कर सकत है। इस एक मात्र व्यायाम से एक साथ इतने लाभ है कि सम्भवत उतने लाभ अन्य किसी व्यायाम या आसन से शायद ही हो। इसलिए इस व्यायाम का नाम पडा किग एक्सरसाइज या योगासनों का राजा ।

करने की विधि -

तख्त या जमीन पर कम्बर या दरी बिछाकर पीठ के बल लेट जाये। हाथों को कधों की सीध में 180 डिग्री में फेलाकर सीधा कर लें तथा अगूठा अन्दर रखते हुए मुटठी बन्द कर लें। पैरों को चित्र के अनुसार घुटनों स

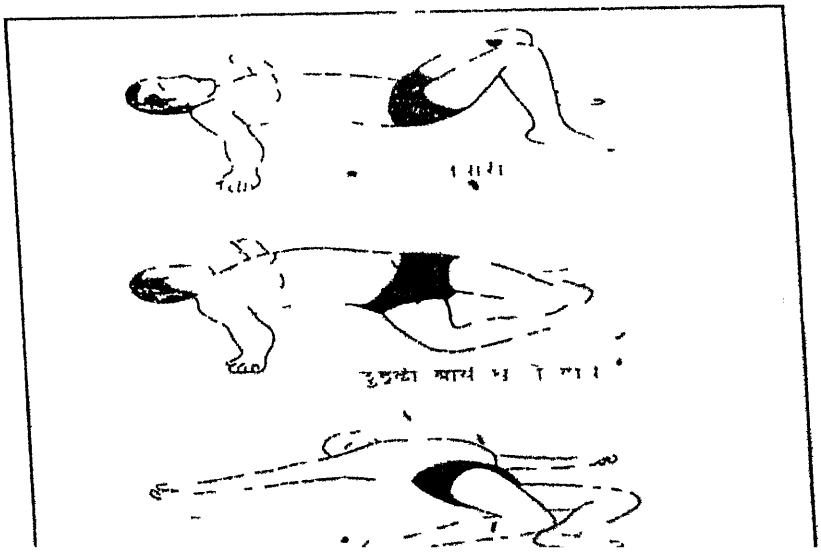

मोडकर आपस में इतना फासला करें जिससे कि जब घुटनों को दायी ओर की जमीन से लगाये तो एक पेर का घुटना दूसरे पेर की एडी से ठीक-ठीक लगें। उपरोक्त चित्र 2 एव 3 के अनुसार । अब ठोडी को बायें कध से लगाये और दोनों घुटनों को दायी ओर इस प्रकार झुकाये जिससे बाये पैर का घुटना दायें पैर की एडी से ठीक-ठीक लगे। चित्र दा के अनुसार स्थिति में कुछ देर रूके। इसके बाद अब ठोडी का दाये कन्धे से लगाये। चित्र 3 के अनुसार इस प्रकार ठोडी बाये तो घुटना दाये।, घुटना बायें तो ठोढी दायें।' प्रारम्भ के कम से कम 10 बार ओर क्रमश 15-15 बार तक बढाते हुए 50-50 बार तक कर सकते है।

महत्वपूर्ण तथ्य -

1 भोजन करने के एक घण्टे बाद तक यह व्यायाम न करें। हॉ इस व्यायाम के तुरन्त बाद भोजन किंया जा सकता है।

2 जिन व्यक्तियों के शरीर में बहुत लोच नहीं है। वह लोग प्रारम्भ में घुटने को एडी से बलपूर्वक लगाने का प्रयास न करे।

3 महिलायें मासिक धर्म के समय एव गर्भावस्था के तीन माह बाद इसे न करें।

4 जिन लोगो का हाल में कोई आप्रेशन हुआ हो या पेट या रीढ की नाडियों मे सूजन हो वे लोग भी किसी अनुभवी प्रशिक्षक के बिना इसे न करें।

क्वीन व्यायाम -

जिस प्रकार आसानों के विपरीतया पूरक आसन अनिवार्य रूप से करना पडता है। जिससे योगाभ्यासी को अधिक और पूरा लाभ हेागा। जिस प्रकार सर्वागासन के बाद मत्स्यासन , सर्पासन व शलामासन के बाद पीठ के बल का नौकासन, धनुरासन के बाद पश्चिमोतासन आदि वैसे ही योग महर्षिस्वामी देवमूर्ति जी द्वारा अन्वेषित किग एक्सरसाइज के बाद क्वीन एक्सरसाइज अवश्य करना चाहिए। तभी पूरा लाभ मिलेता है।

करने को विधि -

उपरोक्त चित्र के अनुसार ठोढी को बाये कन्धें से लगाये ओर दोनों

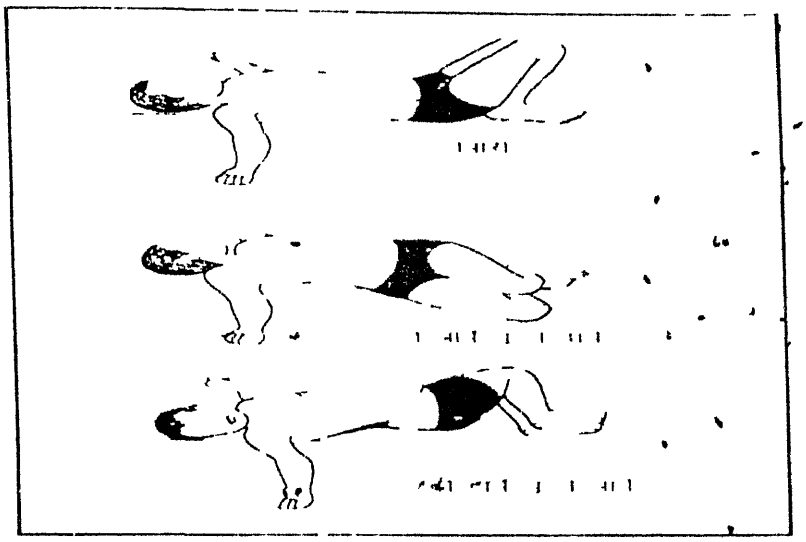

घुटनों अँगूठों एव एडियों को आपस में भली प्रकार चिपकाए हुए दायी ओर की जमीन से लगाये। इस स्थिति में कुछ क्षण रूके। इसके बाद ठोढी को दायें कन्धे से लगाये ओर पूर्ववत दोनों घुटनों , एडियों एव अँगूठों को आपस में चिपकाए हुए बायी ओर की जमीन से लगाये।

इस प्रकार किग्र एक्सरसाइज की तरह ही " ठोढी बाये तो घुटना दाये " घुटने बायें तो ठोढी दाये ।" प्रारम्भ में कम से कम दस बार। बाद में धीरे-धीरे बढाते हुए 50-50 बार तक करने की कोशिश करें।

विशेष -

1 इन दोनों व्यायामों के सुबह शाम अभ्यास से या करने से न केवल हटी नाभि बैठ जाती है बल्कि वायु विकार की तकलीफों में भी नियमित प्रात शौच के पूर्व एव शाम को भोजन के पूर्व करने से बहुत लाभ होता हे।
2 शरीर की थकान मिटाने में ये व्यायाम अद्वितीय लाभकारी हैं। दिन भर भकान से चूर होने के बाद इन व्यायामों को धीरे-धीरे करने स कुछ ही समय में पुन थकान से मुक्ति एव चुस्ती का अनुभव होने लगता है।
3 अनिद्रा के रोगी इन व्यायामों को कुछ देर सोने के पूर्व करें। तत्पश्चात शवासन में लेटकर यदि साँक्षी भाव से श्वास को आने जाने को देखने का अभ्यास करे तो उन्हें प्रथम दिन से ही नीद की गोलियों के खाने की आदत छूट जाती है।

4 रीढ सम्बन्धी कष्ट जैसे कमर दर्द, रीढ की हड्डी का टेढा होना उभरी याधसी होना आदि, इन व्यायामों के नियमित अभ्यास स निश्चित ठीक हो जाते है।

5 पहलवानी देशी व्यायाम , जिम्नास्टिक , ऊची कूद, लम्बी दोड , जागिग या किसी झटके के कारण डिस्क स्लिप जैसी तकलीफों में भी इस व्यायाम से बहुत लाभ होता है।

6 जिस पुरूष या महिला की कमर चौडी हाती जा रही हो अथवा पेट की चर्बी न घटती हेा इन व्यायामों से बहुत लाभ होता है।

7 जिन बच्चों की लम्बाई बढती हो उसके लिए किग एव क्वीन व्यायाम बहुत लाभकारी सिद्ध हुई।

8 जेा ध्यानाभ्यासी ध्यान में लम्बे समय तक स्थिर होकर नहीं बेठ पाते उन्हें इन व्यायामों को ध्यान के पहले अवश्य करना चाहिए।

अब किग एव क्वीन क्रियाओं की विस्तृत जानकारी हो जाने के बाद पुन शख प्रक्षाखन की क्रियाविधि को आगे कैसे बढाते है। इस पर पुन विचार करते हुए मुझ यह कहना हे कि पानी पीने से दूसरे क्रम के पश्चात अनुभव के अनुसार पहले पिया हुआ पानी बडी ऑत में ऑत में ओर नया पिया हुआ पानी छोटी ऑत में पहुँच चुका होता है। फलस्वरूप शौच की अनुभूति होती है। शौच को टालते नहीं बल्कि शौच क्रिया क लिए चल जाते है शौच के पश्चात गुनगुने पानी से हाथ धोकर पुन इच्छानुसार पानी पीकर पूर्ववत टहलने के बाद उपरोक्त आसन दुहराते हे। यदि शौच की अनुभूति हो, तो शोचालय चले जाते है। किसी किसी को इतना पानी पीने के बाद भी शोच नहीं आता हेअत घबराना नहीं चाहिए बल्कि चौथी बार पानी पीकर उपरोक्त क्रम को दुहराते है ओर साथ में यदि आवश्यकता अनुभव करे तो वस्ति क्रिया भी कर लेते है। वस्ति क्रिया के कारण बडी ऑत के अन्तिम भाग में फसी मूल की गाठे निकल जाती है। और बार-बार शौच लगना प्रारम्भ हो जाता है। शोच में नया पुराना मल, आव कृमि इत्यादि निकलने लगते है। 1 महत्वपूर्ण बात यह है कि यह क्रम पानी पीने तथा व्यायाम करने का क्रम तब तक जारी रखते है। जब तक दस्त में एकदम साफ पानी अर्थात जैसा पानी पीते है वैसा ही पानी न आने लगें।[2]

प्राचीन विधि के आसन

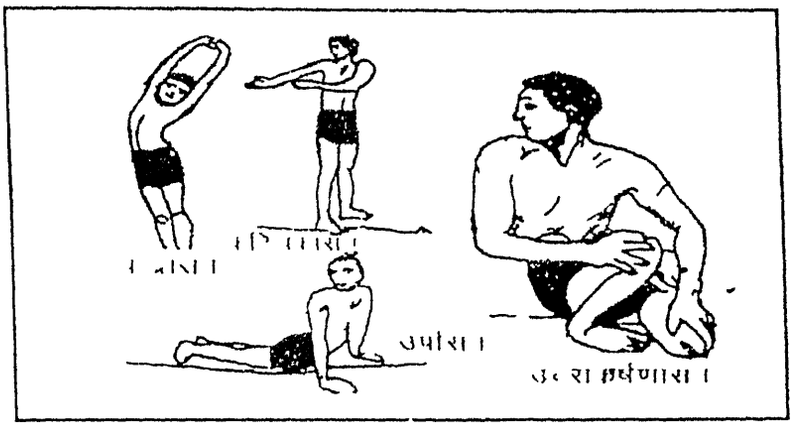

शख प्रक्षालन क्रिया की प्राचीन विधि के प्रचलित चार आसन

उपरोक्त चारों आसन चित्रानुसार क्रम से दोनों ओर जल्दी - जल्दी चार -चार बार प्रत्येक बार 2 -2 गिलास शख प्रक्षाखल का पानी पीने के बाद किये जाते है।

जैसा मैने अनुभव किया हे कि आजकल प्राचीन काल के चारों आसनों की जगह योग महर्षि स्वामी देवमूर्ति जी महाराज के किंग एव क्वीन आसन व्यायाम अधिक उपयोगी है।

जब यथावत पानी शौच मल के स्थान पर आने लगे और फिर पानी आना भी बन्द हो जाये तब 10-15 मिनट का श्वासन और उसके पश्चात बन्द जगह में ताजे पानी से स्नान करते है। उसके बाद दलिया या चावल, मॅग और उसमें घी 50 ग्राम से 100 ग्राम तक डाल कर खाते हे खाने के बाद नींद लगे तो सो जाते है ।फिर उस दिन शाम को कुछ नही खाते। यदि बहुत भूख लगे तेा पुन घी पडी खिचडी खा सकते है। अगले दिन दोपहर में भी खिचडी खाते हे तथा शाम को दो रोटी सब्जी के साथ ले सकते है। शख प्रक्षालन के बाद अगर प्यास लगती है तो सादा गुनगुना पानी पिया जा सकता है।

महत्वपूर्ण तथ्य.-

1 शख प्रक्षालन अकेले स्वय नहीं करना चाहिए किसी अनुभवी योग प्रशिक्षक के निर्देशन में करना चाहिए।

2 खिचडी के साथ पत्तीदार सब्जियॉ, खटाई, लाल मिर्च, गरम मसाले व अचार का प्रयोग न करें। खिचडी में धनिया, हल्दी और जीरा मिलाया जा सकता है। नमक की मात्रा कम रखें।

3 खिचडी को स्वादिप्ट एव पाचक बनाने के लिए पत्तीदार सब्जियां के अलावा मौसम की सभी मब्जियॉ डालकर बनाना चाहिए तथा जो जो दालें सम्भव हों जैस मूग , मसूर मूगफली आदि भी मिला सकते हे।

4 जिनके पेट में कृमि या कीडे हो उन्हे शख प्रक्षालन मं पिय जाने वाले पानी के साथ एक गिलास चिरायता कुटकी का गुनगुना काढा भी लेना चाहिए

कपाल भांति

प्रतिदिन योगियों द्वारा प्रतिपादित शोधन याग की छठी क्रिया कपाल भाति है। जिमे शोधन के लिए 5वी क्रिया के रूप मे प्रतिपादित करना चाहूँगा क्योंकि पॉचवी क्रिया त्राटक हे। त्राटक चॅकि मस्तिष्क की एकाग्रता की क्रिया ह अत पहले यह ज्यादा आवश्यक होगा मस्तिष्क शोधन में जा पहले नेति क्रिया का विवेचन किया गया हे उन क्रियाओं के उपरान्त भी कुछ गन्दगी शेप रह जाती हे जिसे हम कपाल भाति की क्रिया द्वारा पूर्णरूपेण साफ करके मस्तिप्क का अधिक से अधिक स्वच्छ कर लेते है। जिससे त्राटक को करने में आसानी हो तथा उसके दुष्प्रभावों से भी बचा जा सकें। अतएव मेरे मत में त्राटक जो कि प्राचीन योगियों ने 5वें स्थान पर रखा है मैं उसे छठे स्थान पर रखने में सहमत हूँ ओर उससे पहले कपाल भाति को प्रथम वरीयता देता हूँ ओर इसी क्रम में कपाल भाति का विवेचन अब करने जा रहा हूँ

कपाल अर्थात मस्तिप्क शरीर का ऐसा अग है जिनकी बराबरी में मनुष्य के पास कोई भी दूसरा महत्वपूर्ण अवयव नहीं है। मस्तिष्क ही परमात्मा को जानने एव ससार की प्रत्येक वस्तु के पाने का एकमात्र साधन है जैसा कि यह सभी जानते हैं कि हाथ पैर के कटने से ऑख, कान आदि के बिगड जाने से तो मनुष्य जिन्दा रह सकता है। किन्तु मस्तिष्क के कट जाने पर मनुष्य का जीवित रह सकना असम्भव है। मोक्ष के सबध मे तो समालोचना ही नहीं की जा सकती है। योगियों ने इसका ही नाम ब्रहास्ध्र रखा हे। मनुष्य के जीवन की अमूल्य वस्तु को शुद्ध व पवित्र करने वाली योग क्रिया का नाम 'कपाल भाति ' है। यह क्रिया तीन प्रकार से होती है।

1 वातकर्म कपाल भाति

2 व्युत कर्म कपाल भाति

3 शीतकर्म कपाल भाति

इसके अभ्यास से मस्तिष्क के सभी रोग नष्ट हो जाते हे। इसमें आराग्यता का विकास होता है। विचार धारायें मलिनता को त्याग कर स्वच्छता की ओर बहने लगती है। ये विचारधारायं ही मनुष्य के मस्तिष्क को विकास में बदल सकती है।

आधुनिक विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया हे कि मनुष्य का पतन उसके अपने विचारों से हाता है और वह उन्नति के शिखर पर अपने विचारों से ही पहुँचता है। तभी तो हमारे उपनिपदों में कहा गया हे कि मनुष्य विचारों का ही बना हुआ है। गीता में भी महात्मा कृष्ण कहत हे कि हे अर्जुन जो कुछ भी तेरे पास हे वह तुझे श्रद्धाजलि से ही मिला है। आगे तू जैसी श्रद्धा करेगा वैसा ही तू बन जायेगा। विचारों के कारण ही आज नवयुवक वीर्य दोष से परेशान है और विचारों को शुद्ध करके ही इस कष्ट से मुक्ति पा सकता है।

मस्तिष्क गन्दा तो विचार गन्दे, मस्तिष्क स्वच्छ तो विचार स्वच्छ, बस यही जीवन कर सार है।

1 वात कर्म कपाल भाति

प्राचीन विधि – सर्वप्रथम पद्मासन या सुखासन में बैठकर बायीं नासिका से श्वास भरना फिर दायी नासिका से बाहर निकालना इसी प्रकार दायी से भरकर बायीं से निकालना और बायी से भरका दायी से निष्कालना । इस प्रकार पूरक रेचक करने को वातकर्म कपाल भाति कहते है। प्रारम्भ में पूरक रेचक बहुत गहरे करने चाहिए। अर्थात् लम्बा श्वास खींचना चाहिए।

सशोधित विधि .-

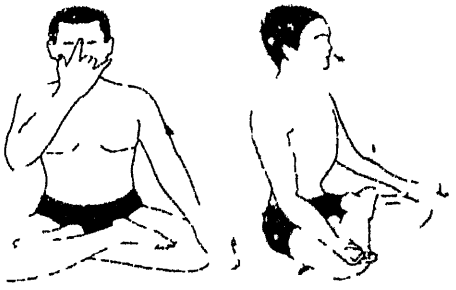

उपरोक्त चित्रानुसार दरी या कम्बल पर पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठ जाये। कमर पीठ तथा गर्दन सीधी रहनी चाहिए। दोनों हाथों को दोनों

---

[100] अथ कुतुमय पुरूप (उपरिषद)

घुटनों पर रखियें अब ऑख बन्द करके शान्त भाव से बैठ जाना चाहिए। फिर नासिका के दोनो छिद्रों द्वारा जोर स धक्का देकर श्वास को बाहर फेंकिये। बाहर फेंकने अर्थात रेचक करने के बाद पूरक करने की चिन्ता या प्रयास नही करना चाहिए। पूरक स्वत हो जायगा। शुरू में थोडा धीर-धीरे रचक करें। चार पॉच रेचकों के बाद गति को बढाकर जल्दी-जल्दी रेचक करते हुए जोर-जोर से श्वास को बाहर निकाले। ध्यान केवल श्वास के धक्के के साथ बाहर फेंकने पर ही रखें । प्रत्येक दो रेचकों के बीच पूरक तो अपने आप ही हो जाता हे। कपाल भाति करते समय बीच में रूकना नही चाहिए। लगातार एक के बाद एक रेचक करते हुए अन्त में श्वास को बाहर निकाल कर बाहा कुम्भक लगा लें। कुम्भक लगाकर जालन्धर बन्ध उड्डियान बन्ध ओर मूल बध लगाकर महा बध लगा लीजिए। जितनी देर तक सरलता पूर्वक रूक सकें। रूक कर पहले तीनों बधो को खोलिये ओर धीरे-धीरे पूरक की जिए। यह एक कपाल भाति प्राणायाम हुआ। आरम्भ में दो बार ही करें। धीरे-धीरे बढाकर पॉच बार तक कर सकते हे। एक बार में आरम्भ में दस-बाहर बार रेचक करें। धीरे-धीरे बढाकर पचार बात तक कर सकते हे।

महत्वपूर्ण तथ्य –

1 कपाल भाति प्राणायाम में रेचक करते समय पेट झटके के साथ अन्दर जाना चाहिए, क्योंकि वायु झटके के साथ बाहर निकलती है। पूरक करते समय पेट अपने आप अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जायेगा। कपाल भाति और भस्त्रिका प्राणायाम में केवल इतना ही अन्तर हे कि कपाल भाति मे रेचक जोर से किया जाता हे। आर भस्त्रिका में पूरक और रेचक दोनों ही जोर से किया जाता है।

2 बध का अर्थ बांधना है। बध तीन है।- जालन्धर बध उड्डियान बध और मूल बध। इन तीनों बधों के योग को महाबध कहत है। बध के अभ्यास से शारीरिक एव मानसिक शक्तियों के बाधने में सहायता मिलती हे।

3 जालन्धर बध – किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर सारे श्वास को बाहर निकाल दीजिए। अब श्वास को बाहर ही रोक करके पेट को अन्दर की ओर इतना पिचकाइये। कि वह कमर में जा लग। जितनी देर सरलता पूर्वक रूक सकते है। अन्त मे धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड दीजिए और श्वास को अन्दर जाने दीजए यह उड्डियान बध कहलाता है।

4 मूल बध - किसी भी सुखासन में बेठ कर गुदा (मलद्वार) को ऊपर की ओर खीच कर सकाचन करने को मूल बध कहते है।

5 महाबध - तीनों बधों के एक साथ लगाने को महाबध कहत है। क्रमश इस क्रिया को यथा शक्ति जल्दी-जल्दी भस्त्रिका प्राणायाम की तरह करते है इस क्रिया से नय पुराने , मस्तिष्क एव कफ सम्बन्धी सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हे।

व्युत्कर्म कपाल भति

दोनों नासिकओं से जल पीकर मुख से बाहर निकाल देने को व्युत्कर्म कपाल भाति कहते है।

शीतकर्म कपाल भाति

मुख में जल को भरकर दोनों नासिकाओ से बाहर निकाल देने को ही शीत कर्म कपाल भाति कहते है।

त्राटक -

त्राटक येाग की शोधन योग के अन्तर्गत छठी क्रियाँ के रूप में वर्णित की गयी है। इसमें किसी भी स्वाभाविक गति या बिन्दु पर अविचल सूक्ष्म अथवा स्थूल दृष्टि गडा देने या नेत्र को उसमें स्थिर करक एकटक (बिना पलक झपकाये) देखने को त्राटक कहते है। त्राटक क्रिया को करने से पहले यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पहले शरीर शोधन की पूर्व में वर्णित सभी क्रियाए नेति, धौति , वस्ति , नोलि शख प्रक्षालन आदि क्रियाओं के द्वारा शरीर शोधन खूब भली भाति कर लिया है। शरीर के समस्त विकार अथवा गन्दगा का निकल जाना अनिवार्य है।

त्राटक क्रिया से नेत्रों के समस्त रोग दूर हो जाते है। चचल मन को शान्त एव एकाग्र करने के लिए योग में यह क्रिया अद्वितीय हे। आध्यमित्मक उन्नति चाहने वालों को त्राटक क्रिया का अभ्यास करना बहुत जरूरी हे क्योंकि इस क्रिया के करने से स्वय में उत्पादक , अर्थात जो चाहे सो पायें; रक्षक एव सहारकारिणी शक्तियॉ स्वय आ जाती है।[1] किसी सुखासन में बेठकर धातु या पत्थर की बनी हुई नुकीली अथवा कागज पर काला बिन्दु बनाकर अथवा अगर बत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये बैठे रहना त्राटक है इससे नेत्र ज्योति की वृद्धि के साथ स्वास्थ्य में सुधार एव मन स्थिर होता है। चित्त शान्त और प्रसन्न होता है।[2]

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी याद रखना चाहिए कि त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता आ जाती है अत नेत्रों को त्रिफला हरण अथवा गुलाब के पानी से धेाना चाहिए और नेत्रों के व्यायाम अर्थात् शान्तिपूर्वक दृष्टि को दायें, बाये

नीचे, ऊपर धीरे-धीरे चलाने की क्रिया करनी चाहिए। आचार्यो के मत में यह मुख्य रूप से इसके तीन प्रकार बतलाये है

1 आन्तर त्राटक

2 मध्य त्राटक

3 बाहा त्राटक

1 आन्तर त्राटक

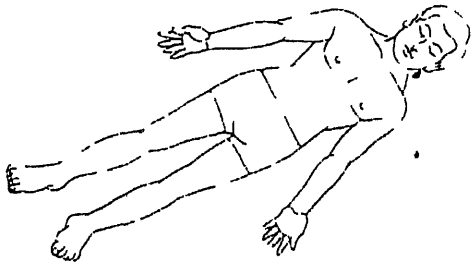

उपरोक्त चित्र की भाति शवासन में सर्वप्रथम पीठ के बल लेट् जाइये और श्वास सामान्य अवस्था में चलने दे। इसी प्रकार उसे किसी भी सुखासन में बैठकर के किया जा सकता है। अब भ्रूमध्य, अर्थात दोनो आँखों के मध्य आज्ञाचक्र में जहॉ महिलायें बिन्दी लगाती है पुरूष टीका लगाते है। हदय की धडकन , नाभि के स्पन्दन आदि

आन्तरिक स्थानों की स्वाभाविक क्रिया की गति को मानसिक भावना से देखने को आन्तर त्राटक कहते हें आन्तर त्राटक करने के पश्चात मत्र जाप या रूप दर्शन से ध्यान जल्दी सिद्ध हो जाता है।

यदि उच्च रक्त चाप , हदय रोग, अनिद्रा, गठिया एव स्नायुविक पीडा से ग्रस्त रोगी सुबह शाम कम से कम 20 मिनट इस आन्तर त्राटक के अभ्यास को करें तो उनके रोग शीघ्र नष्ट हो जायेगें।

2 मध्य त्राटक –

किसी धातु अथवा पत्थर की बनी हुई बस्ते जैसे थाल में पानी के बीच मे रखी शालिग्राम की काली बटिया अथवा काली स्याही से कागज पर बनागोला अथवा नासिका के अग्र भाग म भ्रूमध्य पर टकटकी लगाकर तागातार देखने

---

[1] याग द्वारा कायाकल्प पृष्ठ 77

2 पिश्व गुरू कल्पतरू पृष्ठ 520 कल्पतरू

रहना मध्य त्राटक कहलाता हैं यह ध्यान रखना चाहिए कि हमें करने से पहले नेत्रों के व्यायाम जलनेति रबर नेति आदि क्रियायें पहले कर लें तो ज्यादा फायदा मिलेगा।

एक फुट लम्बे तथा एक फुट चोडे बिल्कुल सफेद कागज के बीचों बीच एक अठन्नी या रूपये के बराबर बिल्कुल गोल चमकीले काले रग का गोला बनाय और उसे अपने सामने की दीवार पर इस तरह टाग दे कि वह गोला ऑखा के ठीक सामने पड अथवा किसी दीवार या तख्त पर जिसकी ऊँचाई नेत्रों के बराबर हो अर्थात ऑखों के ठीक सामने पडे ओर जहॉ हवा का झोंका अथवा तेज हवा न हो, घी का एक दीपक जला कर रखें । अब उस कागज या दीपक से एक मीटर की दूरी पर सिद्धासन या पद्मासन बेठ जाये।

अब पूर्ण खुले हुए दोनो नेत्रों मे कागज पर काले बिन्दु या उस दीपक की ज्योति को तब तक निरन्तर अपलक देखते रहें जब तक ऑखों में ऑसू न आ जाये। ऑसू गिरने या टपकने के पूर्व ही ऑखों को कसकर बद कर लें। इसी प्रकार कई बार इस क्रिया का अभ्यास करना चाहिए।

धीरे-धीरे इस क्रिया का अभ्यास हो जाने पर उस बिन्दु पर एक उजाला सा प्रतीत होने लगेगा और इसके चारों ओर छोटी-छोटी प्रकाश की किरणें दिखाई पडने लगेंगी। इसमें अनेको प्रकार के रग भी दिखाई पडने लग सकते है । लेकिन हमें अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ही देखते रहना चाहिए। यदि कभी भ्रम वश या भूल से ऐसा हो जाय तो धैर्य खोना नहीं चाहिए । अपने लक्ष्य बिन्दु या ज्योति पर दृष्टि को पुन केन्द्रित कर देने पर पहले की भाति प्रकाश आ जायेगा। अब धीरे-धीरे मन नेत्रों में मिलाकर पूर्वोक्त प्रकाश की अपनी रूचि के अनुसार टिकाने का प्रयास करें। प्रारम्भ में इस प्रकाश की चचलता तो रहेगी । किन्तु 10-15 दिन के अभ्यास मे सकल्प के अनुसार प्रकाश ठहरने लगेगा। बस यही त्राटक की सिद्धि हे।

3 बाहा त्राटक

चन्द्रमा , प्रकाशित , नक्षत्र , प्रात काल उदय होता सूर्य अथवा अन्य दूरवर्ती लक्ष्य जैसे नदी या दरिया, हरी घास या हरे पेड़ पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाहा त्राटक कहते है।

षट्कर्म में भोजन सुधार एव उपवास

षटकर्म योग भोजन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। योगाभ्यासी को सयम व्रत का पालन करते हुए अपने आधार पर भी विशेष ध्यान देना पडता है। इसीलिय हमारे मनीषियों ने भोजन के सम्बन्ध में कुछ अनिवार्य नियमों के पालन की व्यवस्था की है जिससे कि याग साधना में कोई शरीर पर अनुचित प्रभाव न पड और शरीर शुद्धि के पाचन तन्त्र को आराम देने के दृष्टिकोण से उपवार पर भी ध्यान दिया है। आयुर्वेद में कहा गया हे कि जब हमारी ,ऑतो को भोजन नहीं मिलता है तब वह शरीर के दोषों का पाचन करती है। युक्ति युक्त उपवास के बारे में भी सक्षिप्त व्याख्या करूँगा क्योंकि उपवास का अर्थ भूखों मरना नहीं हे। बल्कि भोजन का फार्म बदला जाता है जिससे कि शरीर के अन्दर की निष्कासनात्मक व्यवस्था में हम सहयोग कर सकें। सर्वप्रथम भोजन के आवश्यक एव महत्वपूर्ण कुछ नियम निम्नवत है

1 शारीरिक श्रम या योगाभ्यास के पूर्व न कुछ खाये ,और न पियें केवल सादा पानी पी सकते है।

2 बिना भूख में कम भूख में कुछ भी खाना व पानी नहीं चाहिए। जब भूख खुलकर लगे तभी भोजन करना चाहिए। प्रथम किया हुआ भोजन ठीक से पच जाने के बाद दूसरा भोजन करने वाले के पास व्याधि नहीं आती हे।1

3 भूख से सदा थोडा कम खाना चाहिए और खूब चबाकर खाना चाहिए। दातो का काम आँतो से नहीं लेना चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि पानी को खाओ और भोजन को पियो।

4 भोजन के साथ पानी कम से कम पीना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहा गया हे कि अजीर्ण में पानी का सेवन औषधि का काम करता है। भोजन पच जाने

पर सेवन किया हुआ जल बलदायक होता हे भोजन पच जाने पर सेवन किया हुआ जल बलदायक होता है। भोजन में बीच में घॅट-घूॅट कर पिया गया जल अमृत के समान होता है और भाजन करके तुरन्त दिया गया जल विपमम होता है।2

5 अधिक पानी पीने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता ओर पानी न पीने से भी वही दोष होता हे। इसलिए जठराग्ति वर्धनार्थ मनुष्य बराबर थोडा-थाडा पानी पिया करें।3

6 ठोस अन्न से जठर का आधा भाग और जल (पेयों) से चौथाई भाग भर दिया जाय और वायु रूप दृष्यों के सचरण के लिए चौथाई भाग खाली रखा जाय। 1

7 भोजन करने पर एक मुहूर्त भर (42 मिनट) व्यायाम , मैथुन , दौडना जलयान, मल्लयुद्ध गाना और पढना ये कर्म न करें। 2

8 प्राय वसाय के जलपान में चाय के स्थान पर चने का सूप या सब्जी कर रस या फलों का रस पीजिए अथवा पाव भर गुनगुने जल में आधा नीबू कर रस व दो चम्मच शहर डालकर पीना चाहिए।

9 भोजन में सलाद व गेहूॅ की माात्रा अधिक से अधिक रखना चाहिए फुजले की पर्याप्त मात्रा भोजन में होने से पेट ठीक रहने लगता है। फुजला गेहूॅ के चोकर से तैयार किया जाता है। 100 ग्राम फुजले को 1किला आटे में मिलायें अधिक कब्ज में 200 ग्राम तक मितायें

10 शीघ्र स्वस्थ होने के लिए चीनी, चाट, लाल मिच गरम मसाला, नमक, खटाई , व तली चीजें न खाये। धनिया जीरा हल्दी, अदरक , हरी मिर्च , सेंधा नमक थोडा सा डाल सकते है।

11 भोजन के बाद पेशाब जरूर करना चाहिए। चाहे इच्छा न हा उसके बाद तत्काल कम से कम पाच मिनट वज्रासन में अवश्य बैठना चाहिए और यदि गैस की शिकायत रहती हो तेा एक छोटी हरड मुँह में डालकर चूसना चाहिए।

12 अण्डा, मास, मछली, शराब, बीडी सिगरट, तम्बाकू, पान मसाला, आदि अति अम्लीय एव नुकसान देय व्यसन हैं। इनका सेवन कदापि न करें । [102]

13 सप्ताह में एक दिन नवदुर्गा में नवदिन प्रात जलाहर दोपहर में रसाहार एव शाम को फलाहार पर रहना चाहिए। इससे पाचन क्रिया ठीक रहती हे।

उपवास के नियम

जिस प्रकार खूब थका हुआ व्यक्ति गहरी नीद सेाकर ताजा हो जाता हे उसी प्रकार आहार-विहार की गडबडी से उत्पन्न पेट के राग उपवास करने से दूर हा जाते है। यही कारण है कि अजीर्ण , मनदाग्नि एव आँतो की दुर्बलता दूर करने के लिए स्वास्थ्य प्रेमी उपवास का सहारा लेते है। किन्तु यदि उपवास की सही विधि न अपनाई जाय तो उपवास से लाभ नहीं होता, है। उपवास के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखा जाय तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो जायेगा। इसलिए उपवास के सम्बन्ध में सही विधि के लिए निम्नलिखित जानकारी पर्याप्त है।

1 उपवास का अर्थ भूखों मरना नहीं हे बल्कि कम भूख में या बिना भूख के खाना न खाना है

2 उपवास की शुरूआत तीव्र भूख या कम भूख के अभाव मु शुरू होती है। और तीव्र भूख लगने पर समाप्त होती है

---

[107] जीर्ण भोजिन व्याधिर्नोपसप्रति चाणक्यसूत्र वैद्यकाय सुशिक्षित साहित्यम् पृष्ठ 97 तृताय सस्करण वि0 स्वत 2040

2 अजीर्णे भेषज वारि जीर्णे वारि बल प्रदम् ।(19)

भाजने चामृत वारि भाजनान्त विषप्रदम्। वृद्धचाणक्य वैद्यकाय सुशिक्षित साहित्यम डॉ0 परशुराम वैद्य पृष्ठ67

3 क्षेय कुतुहल (20) वृद्धचारणक्य वैद्यकीय सुभाषित साहित्य डॉ0 परशुराम वैद्या पृष्ठ67

3 उपवास में ऐसे भोजन का चुनाव किया जाता है जिसमें उपवासी को उस भोजन के पचाने में शक्ति खर्च न हो या कम से कम हो।

4 रोटी, दाल, चावल के पचाने में शरीर को बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है। पूडी , पराठा, खीर, आदि क पचाने क लिए तो और अधिक शक्ति की आवश्यकता होती हे।

5 यही कारण है जानकार लोग उपवास के दिन उपरोक्त वस्तुयें नहीं खाते है। बल्कि सूप, जूस , फल , सब्जी का ही प्रयोग करते है।

6 उपवास के दिन कम से कम दिन भर चार-पॉच किलो जल के सेवन से ऑतो की धुलाई अच्छी एव शीध्र होती हे।

7 उपवास के दिन , दिन में तीन-चार बार नींबू ,शहर का गुनगुना शर्बत लाभकारी होती है। मात्रा -नीबू आधा एव शहँर दो चम्मच।

8 उपवास के दिन प्रात काल नेति क्रिया ,वस्ति क्रिया , कुञ्जर क्रिया , घषर्ण स्नान, एनिमा आदि के द्वारा शरीर की सफाई कर ली जाये तो उपवास का लाभ कई गुना बढ जाता है

9 उपवास के दिन कठोर श्रम या कठार व्यायाम न करके शवासन योग निद्रा एव ध्यान करना अधिक उपयोगी है

उपवास तोडते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता होती हे। अधिक या भारी भोजन से उपवास न तोडें।

आसन

महर्षि पतञ्जलि ने साधपाद में अष्टाग योग के अन्तर्गत आसन को तीसरा स्थान दिया है। शरीर को भिन्न-भिन्न स्थितियों में रखत हुये जिस किमी भी एक स्थिति विशेष रूप से सुखपूर्वक स्थिर रख सकें, उसे 'आँसन' कहत हे।[1] हर आसन का अपनी-अपनी स्थिति आर अपना-अपना स्वरूप है। योगासनों के द्वारा हम अपने

"शाण्डिल्योपनिषद् और योग"

(Shandilyaupanisada Aur Yoga)

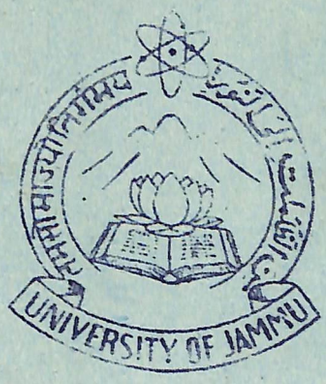

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की
एम. फिल्. की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु-शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ0 जगीर सिंह
प्राध्यापक
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू तवी - 180006

शोध छात्रा
रामो देवी
एम.ए. (संस्कृत)
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

नवम्बर-2006

Index

forwarded

30/11/16

Head of P.G. Deptt. of Sanskrit
University of Jammu.

"शाण्डिल्योपनिषद् और योग"

(Shandilyaupanisada Aur Yoga)

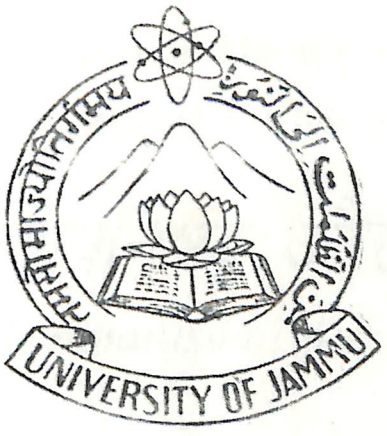

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की
एम्. फिल्. की उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत
लघु-शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ0 जगीर सिंह
प्राध्यापक
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू तवी - 180006

शोध छात्रा
रामो देवी
एम.ए. (संस्कृत)
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

नवम्बर-2006

CERTIFICATE

It is to certify that ***Miss. RAMO DEVI*** has worked under my supervision and that work done by her is worthy of consideration for the award of Degree of Master of Philosophy in Sanskrit. The title of her dissertation is –

"शाण्डिल्योपनिषद् और योग"

(Shandilyaupanisada Aur Yoga)

It is further certified that :-

a) This dissertation is the original research work of the candidate herself.

b) The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by statutes of Jammu University;

c) The Topic has been duly approved by the M.Phil (Sanskrit) Committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.

d) The candidate has put her attendance and attended the Seminars in the Sanskrit Department under rule.

e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research period.

(Dr. Jagir Singh)
Supervisor,
Reader
P.G. Deptt. of Sanskrit,
Jammu University of Jammu
Tawi (J &K)

Dated :- Nov. 2016.

विषयानुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
A)	विषयानुक्रमणिका	अ - व
B)	शब्द संङ्केत सूची	क - ख
C)	प्राक्कथन	i - iii
1.	प्रथम अध्याय -	1 - 26
	1) शाण्डिल्य ऋषि और उपनिषद् परिचय	
	2) योग और ब्रह्म	
2.	द्वितीय अध्याय -	27 - 52
	क) योग से अभिप्राय, योग की आवश्यकता,	
	ख) योग के अंग और प्रकार	
	यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,	
	ध्यान और समाधि	
3.	तृतीय अध्याय -	53 - 79
	प्रमुख आसन प्रक्रिया तथा रोग-उपचार	
	1. स्वस्तिक आसन	
	2. गोमुख आसन	
	3. पद्म आसन	
	4. वीर आसन	
	5. सिंह आसन	
	6. भद्र आसन	

7. मुक्त आसन

8. मयूर आसन

4. चतुर्थ अध्याय – 80 – 85

नाड़ियाँ, उनकी शुद्धि, संख्या एवं उनमें वायु संख्या, स्थान और शरीर में कार्य।

5. पञ्चम अध्याय – 86 – 91

आधुनिक युग में योग एवं योगासनों की उपयोगिता

6. उपसंहार 92 – 95

7. ग्रन्थ सूची 96 – 98

शब्द संङ्केत सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
1. अम0 को0	–	अमरकोष
2. अथ0 वे0	–	अथर्ववेद
3. कठो0 उप0	–	कठोपनिषद्
4. कठो0 उप0	–	कठोपनिषद्
5. कु0 यो0 त0	–	कुण्डलिनीयोग तत्त्व
6. च0 सं0	–	चरकसंहिता
7. ज0 यो0 प्र0	–	जयेन्द्रयोग प्रयोग
8. तेजो0 बि0 उप0	–	तेजोबिन्दुपनिषद
9. नि0 उप0	–	निर्गुणोपनिषद्
10. पा0 यो0 द0	–	पातञ्जलयोगदर्शन
11. पा0 या0 सू0	–	पातञ्जलयोगसूत्र
12. प0 पु0	–	पद्मपुराण
13. भा0 ब्रा0 गो0	–	भारतीय ब्राह्मणों की गोत्रावली
14. भ0 गी0	–	भगवद्गीता
15. भा0 म0 पु0	–	भागवद्महापुराण
16. म0 उप0	–	मण्डलोब्रह्मणोपनिषद्
17. यो0 आ0	–	योग और आयुर्वेद
18. यो0 ध्या0 क्रि0	–	योगासन और ध्यान क्रियाएं

19.	यो0 सा0 सं0	–	योगसारसंग्रह
20.	लिं0 पु0	–	लिंगपुराण
21.	शा0 उप0	–	शाण्डिल्योपनिषद्
22.	श्वे0 उप0	–	श्वेताश्वत्तरोपनिषद्
23.	शु0 यजु0	–	शुक्लयजुर्वेद
24.	श्री0 मद0 गी0	–	श्रीमदभगभद्गीता
25.	स0 द0 सं0	–	सर्वदर्शन संग्रह
26.	सा0 व0	–	सारावली
27.	सु0 सं0	–	सुश्रुतसंहिता
28.	हठ0 यो0 प्र0	–	हठयोगप्रदीपिका

प्राक्कथन

मेरा जन्म धार्मिक विचारधारा रखने वाले परिवार में होने के कारण मेरी अभिरुचि प्राथमिक अध्ययन के समय से ही देववाणी संस्कृत में हुई ।

मैंने उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की परीक्षा सुन्दरबनी से प्राप्त की। तभी मैंने एक विषय संस्कृत का भी लिया। 10+2 की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् गाँधी नगर महाविद्यालय से स्नातक उपाधि प्राप्त की ।

तदोपरान्त उच्चशिक्षा हेतु जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश लिया और प्रथम श्रेणी में संस्कृत स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से मैंने एम. फिल्. में प्रवेश लिया। जब मैंने इस विभाग में प्रवेश लिया तो हमारे विभाग में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक **डॉ0 जगीर सिंह जी** के स्वभाव से मैं तभी से अत्यधिक प्रभावित रही । मैंने अपने निर्देशक डॉ0 जगीर सिंह को पहले से ही अवगत करवा दिया कि मैं 'योग' पर शोध करना चाहती हूँ। मेरी रुचि को देखकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। उनके परामर्श और उनके सुझाव और प्रेरणापूर्वक शब्दों से **"शाण्डिल्योपनिषद् और योग"** लघु शोध प्रबन्ध का विषय चयन किया ।

इस लघु शोध प्रबन्ध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है :-

प्रथम अध्याय में शाण्डिल्य ऋषि, उपनिषद् परिचय, योग और ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत रूप से वर्णन किया है ।

द्वितीय अध्याय में योग से अभिप्राय और योग की आवश्यकता, योग के अंग और प्रकार का वर्णन किया है ।

आसन प्रक्रिया तथा रोग-उपचार नामक तृतीय अध्याय में शाण्डिल्य ऋषि द्वारा

वर्णित आठ आसनों का विस्तृत विवेचन किया है।

चतुर्थ अध्याय में नाड़ियाँ, उन की शुद्धि, संख्या एवं उन में वायु संख्या, स्थान और शरीर में कार्यों का वर्णन है।

पञ्चम अध्याय में आधुनिक युग में योग एवं योगासनों की उपयोगिता की जानकारी दी है ।

सर्वप्रथम जगत्पिता परमेश्वर को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम जिनकी कृपादृष्टि से मेरा यह लघु शोध-कार्य सम्पूर्ण हुआ ।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का सर्वाधिक श्रेय महानुभाव **डॉ0 जगीर सिंह जी** को जाता है, जिन्होंने इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरी समय-समय पर सहायता की तथा अपने ज्ञानपूर्ण निर्देशन से शोधकार्य में आने वाली कठिनाईयों को दूर किया तथा मुझे प्रेरणा देकर इस शोध-कार्य को चरम सीमा तक पहुँचाने में मेरी सहायता की।

मैं अपने विभाग की अध्यक्षा **डॉ0 रमणिका जलाली** तथा अन्य प्राध्यापकों का हार्दिक धन्यवाद करती हुँ, जिन्होंने मुझे सम्पूर्ण सहयोग दिया ।

मैं अपनी कक्षा के शोध-छात्रों के साथ-साथ **पं0 तीर्थराम शास्त्री** तथा **पं0 नरेश शास्त्री** का भी हार्दिक धन्यवाद करती हुँ, जिन्होंने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरी सहायता की है।

संस्कृत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्षा **श्रीमति विजय कौल** तथा **जतिन शर्मा** का भी धन्यवाद करती हुँ, जिन्होंने मुझे सामग्री-संकलन में सहायता की है।

मैं रघुनाथ पुस्तकालय के अध्यक्ष **डॉ0 धनी राम शास्त्री** एवं बलदेव राज का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने मुझे अपने पुस्तकालय से सामग्री संकलन में सहायता

की है।

मैं अपने **माता-पिता तथा भाई-बहनों** के प्रति अभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद तथा प्रेम से ही मेरा एम. फिल्. का शोधकार्य सम्पूर्ण हो पाया ।

मैं अपनी कक्षा के शोध छात्र **पुशविन्दर** तथा **राधेश्याम** के साथ-साथ अपनी प्रिय सहेली **शिशु खजूरिया** की भी अभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से सौख्यभावरूप में मेरी सहायता की है।

इस लघु शोध प्रबन्ध के सुन्दर टंकण के लिए मैं **श्री अशोक कुमार रैणा** को भी धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने सुन्दर टंकणकर शोध प्रबन्ध को सुन्दर रूप प्रदान किया।

अन्त में मैं पुनः उस ईश्वर को कोटि-कोटि प्रणाम करती हुँ और उनकी बहुत आभारी हूँ, जिनकी असीम कृपा और आर्शीवाद से मैं आज इस शोध कार्य को पूर्ण कर रही हुँ ।

शोधछात्रा
रामो देवी
रामो देवी

तिथि : नवम्बर - 2006

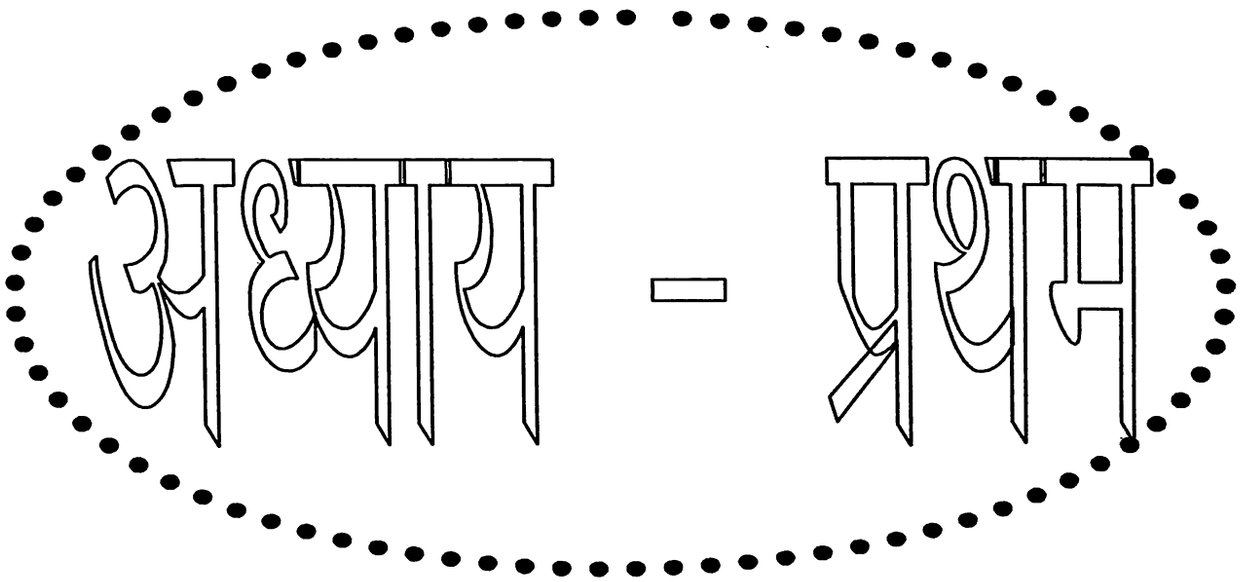
अध्याय - प्रथम

प्रथम अध्याय

क) शाण्डिल्य ऋषि

ख) उपनिषद् परिचय एवं संख्या

ग) योग और ब्रह्म

क) शाण्डिल्य ऋषि -

ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आरम्भ में प्रथम मानसपुत्र मरीचि को उत्पन्न किया, तदन्नतर अत्रि को, फिर अंगिरा को तत्पश्चात् पुलस्य को, उस के बाद पुलह को, उस के बाद कृत को, फिर प्रचेता को, उसके बाद वसिष्ठ को, फिर भृगु को, तदन्नतर नारद को उत्पन्न किया, उस का क्रम भी इस प्रकार प्रमाणित है। दाहिने नेत्र से अत्रि को मुख से, अंगिरा को और रूचि को दाहिने पार्श्व से और दक्ष को बाएं पार्श्व से भृगु को स्कन्ध से, मरीचि को गले से, अपान्तर-तमा को जिह्व से वसिष्ठ को निम्न होठ से प्रचेता को उत्पन्न किया ।

भृगु की पत्नी का नाम ख्याति था, भृगु ने भृगुसंहिता बनाई जो आज भी प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है, शिव जी की पत्नी सती थी जिन्होंने निज स्वामी की निंदा सुनते ही प्राण त्याग दिए। मरीचि की सम्भूति स्त्री थी, मरीचि ने भी धर्मशास्त्रों की रचना की । अंगिरा की पत्नी का नाम स्मृति था, अंगिरा ने अंगिरा संहिता बनाई। पुलस्य की प्रीति स्त्री थी, पुलह की पत्नी का नाम कीलमा, कश्तु की पत्नी सन्तति, अत्रि की पत्नी का नाम अनुसूइया था, अत्रि ने अत्रि संहिता नामक ग्रंथ की रचना की। वसिष्ठ की ऊर्जा व अरून्धती नामक दो पत्नियाँ थी, अग्नि की स्वाहा स्त्री थी, पितर की स्वधा नामक पत्नी थी ।

मरीचि के पुत्र कश्चप की अदिति, दिति केन्दु विनिता नामक पत्नियाँ थीं, इनके पुत्र काश्यप हुए जिस से उनके अग्रिम वंशज अनुयामी काश्यप कहलाए, काश्यप के वत्सार व असित नामक दो पुत्र हुए, वत्सार के नैध्रुव व रैम्य दो पुत्र हुए। असित का हिमालय की पुत्री एकपर्णा से विवाह हुआ, नैध्रुव की पत्नी सुमेधा थी, जो च्यवन की पुत्री थी । असित के देवल व शाण्डिल्य नामक दो पुत्र हुए, शाण्डिल्य ने अथर्ववेदोपनिषद् की रचना की, परन्तु स्वयं सामवेद ग्रहण किया, इसलिए शाण्डिल्य गोत्रीय सामदेवी माने जाते हैं।

लिंग पुराण में लिखा है कि ब्रह्मा का पुत्र रूचि हुआ, ब्रह्मा खण्ड के अनुसार रूचि के पुत्र शाण्डिल्य हुए, कृपण खण्ड में लिखा है कि असित प्रचेता का पुत्र था। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में अत्युष्टकर पुत्र देवल था। इन पुराणों में इस प्रकार वर्णित मिलता है, यद्यपि सब पुराणों के लेखों में भिन्नता अवश्य है तथापि यह सिद्ध होता है कि यह ऋषिवंश एक ही वृक्ष की अलग-अलग शाखायें हैं। इन सभी के नाम से गोत्रप्रवर विख्यात हुए। पुराणों में भिन्न-भिन्न मतभेद होने पर भी यही सिद्ध होता है कि मनु-अत्रि विष्णुवृद्धि, याज्ञवल्क्य, शुक्र, अंगिरा, अंगिरस, आपस्ताव, समर्त, कात्यान, बृहस्पति, पराशर, गौतम, शान्तामय, वसिष्ठ, हरित प्रचेता, देवल, जगदगनि, नारद, बोधायन, च्यवन, मरीचि, कश्चप शाण्डिल्य आदि सभी ऋषि वंश के प्रमुख गोत्रकर्ता अथवा प्रवरों में माने जाते हैं।

शाण्डिल्य गोत्र के प्रवर्तक शाण्डिल्य ऋषि की वंशोत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है। इन्हीं शाण्डिल्य ऋषि के अग्रिम वंशज शाण्डिल्य गोत्रीय कहलाए ।

ब्रह्मा जी के पुत्र मरीचि, मरीचि के कश्यप के यज्ञ करने से अग्निकुण्ड से शाण्डिल्य ऋषि हुए। इनसे शाण्डिल्य गोत्र चला, अग्नि का नाम हुताशन भी है और अग्नि का गोत्र शाण्डिल्य कहा जाता है। शाण्डिल्य वंश में एक पुरुष महाप्रतापी

हुताशन हुआ, हुताशन के वंश में बहुत काल पीछे मनोरथ तिवारी हुए, इन्होंने बुन्देलखण्ड के राजा को पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, इन राजा का नाम अमरसिंह था और राजपुराहित का नाम विश्वनाथ था। विश्वनाथ ने मनोरथ तिवारी को अपनी कन्या ब्याह दी, पीछे दतिया, उडैसा और मदावर को राजाओं ने इनको बुलाया, और तीनों शिष्य हुए, कुछ काल पीछे हमीरपुर के राजपुराहित गंगाराम की कन्या से दूसरा विवाह किया और उस समय से वह तिवारी से मिश्र कहलाये, इनकी निवास भूमि धतुरा थी, इस कारण ये धतुरा के मित्र कहलाये। इनकी पहली स्त्री से कमलनाभि पुत्र हुए, वह माता समेत मऊग्राम में रहे इससे मऊ के मिश्र कहलाये। दूसरी पत्नी से पद्यनाभ व देवनाभ दो पुत्र हुए। यह हमीरपुर के कहलाये, पद्यनाभ के पुत्र हरिहर हमीरपुर के उपाध्याय कहलाये। देवनाभ के पुत्र शारंगधर हमीरपुर के मिश्र कहलाये। हरिहर के गंगाराम, वंशधर, जगन्नाथ यह तीन हमीरपुर के उपाध्याय मिश्र कहलाये। शारंगधर के त्रिपुर और गदाधर दो पुत्र हुए, त्रिपुर कपिला के मिश्र कहलाये। त्रिपुर के बाबू खेमकरण और हेमनाथ तीन पुत्र हुए, बाबू खानीपुर के मिश्र। खेमकरण भोजपुर के मिश्र। हेमनाथ हमीरपुर के मिश्र कहलाये। गदाधर के गंगाधर और श्री हर्ष यह दो पुत्र हुए, गंगाधर भोजपुर में रहे, और वहां के दीक्षित कहलाये। श्रीहर्ष खानीपुर में रहने से वहां के मिश्र कहलाये, खेमकरण के पुत्र दारौअसनी में रहने से असनी के शुक्ल कहलाये। गंगाधर की एक पत्नी से बाबू, बलरामा, वीरेश्वर और उमादत्त यह चार पुत्र हुए, बाबू और बलराम अंठेर में रहने से वहां के दीक्षित कहलाये। वीरेश्वर और उमादत्त वटपुर में रहने से अपने नाम से दीक्षित कहलाये। गंगाराम की दूसरी पत्नी घेतली से गोपी और हंसराम दो पुत्र हुए, गोपी अपनी माता के सहित नौ गांव में बसे, इससे वहां के मिश्र कहलाये, हंसराम अंटेरी में रहे और दीक्षित कहलाये। श्रीहर्ष के परशु, हिमकर, ललकर और गोपीनाथ यह पुत्र हुए, परशु, खानीपुर के

मिश्र। हिमकर भटेउरा के मिश्र। ललकर और गोपीनाथ असनी के मिश्र कहलाये। बाबू के विद्याधर बनवारी और रघुनंदन यह तीन पुत्र हुए और अंटेरी में रहने से अंटेर के दीक्षित कहलाये। बलिराम के कुंगबू समाधान, वासी और चतुरी नामक चार पुत्र हुए, कुगू वटपुर में रहने से वहां की दीक्षित कहलाये। शुगु तीनो अंटेर में रहने से वहां के दीक्षित कहलाये। क्रम से वीरेश्वर के मुरली, गिरिधारी, नित्यानन्द, शिरामणि, जगजीवन यह पाँच पुत्र हुए यह सब वटरपुर में रहे, और वीरेश्वक दीक्षित कहलाये। जगजीवन के उमादत्त, बुधकेशव, यादव और गोबिन्द यह चार पुत्र हुए और बटपुर में रहकर उमादत्त के दीक्षित कहलाये। परशु के पंद्याणि, कमलपाणि, चक्रपाणि और वंशीधर यह चार पुत्र हुए और चारों खानीपुर वाले परशु के मिश्र कहलाये। हिमकर के शंकर, क्षेमराज जयभद्र तीन पुत्र हुए, शंकर ने भटोउरा में निवास किया। क्षेमराज ने असनी में निवास किया। जयभद्र ने गंगासों में निवास किया। यह तीनों हिमकरक मिश्र कहलाये, गोपीनाथ के मथुरानाथ, प्रभाकर, श्रीधर तीन पुत्र हुए। यह तीनों कन्नौज में बसे, मथुरानाथ प्रभाकर, गोपीनाथी कन्नौज के मिश्र कहाये। श्रीधर गोपीनाथी धोबिया मिश्र कहलाये। कुंगबू के श्रद्धा, पुरुषोत्तम, माधवराम, भट्टचार्य ये चार पुत्र हुए, यह चार वटेश्वर में रहे और कुगू के दीक्षित कहलाये। समाधानक चार पुत्र हुए, उनके नाम इन्द्र मुकुन्द, आगे और बदले हुए, यह चार वटपुर में समाधानक दीक्षित कहलाये, मुरली के लच्छू बिरजू और मोहन तथा दिवऊ यह चार पुत्र हुए, यह चारों वटरपुर वाले वीरेश्वर के दीक्षित कहलाये। जगजीवन के धर्मू और शर्मू दो पुत्र हुए यह वटरपुर वाले वीरेश्वर के दीक्षित कहलाये। कमलपाणिक, लालमणि, लोकनाथ, विश्वनाथ, चतुर्भुज, यह चारों असनी वाले परशु के मिश्र कहलाये। जयद्रथ के लछनू और बछनू दो पुत्र हुए यह दोनों गंगासों वाले हिमकर के मिश्र कहाये। प्रभाकर के श्रीकुठ और माधव यह दो पुत्र हुए और गोपालपुर में बसे गोपीनाथी मिश्र कहलाये।

श्रीधर के एक पुत्र चतुर्भुज हुए, यह असनी के गोपीनाथी धोबिया मिश्र कहलाये। श्रद्धा के चक्रपाणि, शेखर और श्रीचन्द यह तीन पुत्र हुए, यह वटरपुर में रहे और कुगू के दीक्षित कहलाये। इनमें चक्रपाणि और शेखर के और श्री चन्दक हैं। धर्म के पुत्र जयकुष्ण वटरपुर वाले वीरेश्वर के दीक्षित कहलाये। चतुर्भुज के शुक्ले, मुन्ने, बुद्धा और दीप यह चार पुत्र हुए, यह चारों पुत्र मीरा की सरायवाले परशु के मिश्र कहलाये। श्रीकंठ के प्राणनाथ, केशवराम, हरिनन्दन यह तीन पुत्र हुए। मोजावाद के गोपीनाथी मिश्र कहलाये। जयकृष्ण के यज्ञपति, गृहपति, धीरेश्वर, यज्ञदत क्षेमकरण यह पांच वटपुर वाले वीरेश्वर के दीक्षित कहलाये। शुक्ले के ग्राम और प्राथम यह दो पुत्र हुए, यह दोनों मीरा की सराय वाले परशु के मिश्र रामपुरी कहलाये। प्राणनाथ के गदापर और लक्ष्मण यह दो पुत्र हुए, और खानीपुर के मिश्र कहलाये। क्षेमकरण के रूपनारायण, सूर्यमणि और दीनानाथ यह तीन पुत्र हुए और वटरपुर वाले वीरेश्वर के दीक्षित कहलाये। दीनानाथ के गोकुल, आदि-आदि । इस गोत्र में १७ पीढ़ी में ३० पुरुष वंशकर्ता हुए।

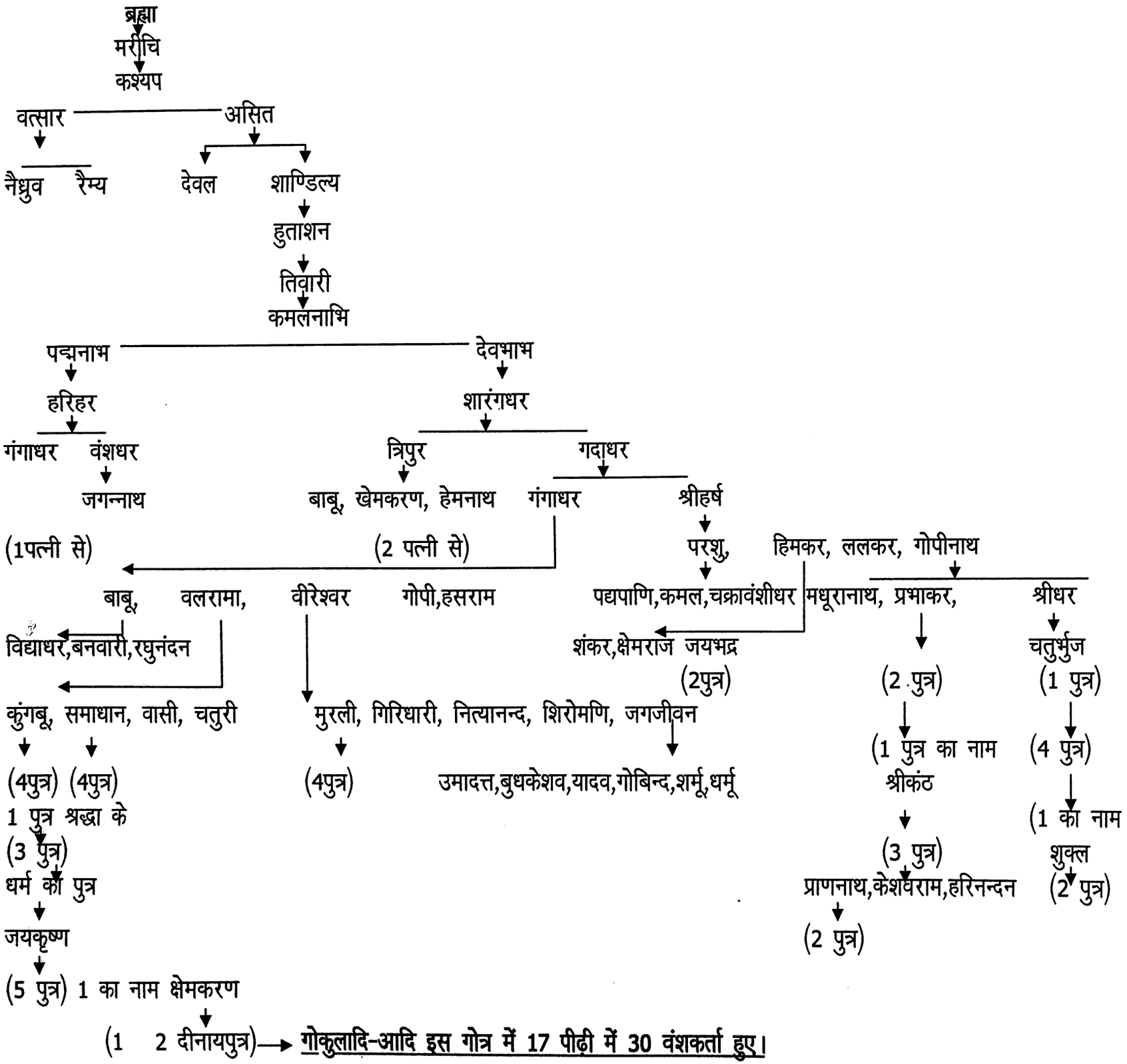

गोकुलादि-आदि इस गोत्र में 17 पीढ़ी में 30 वंशकर्ता हुए।

ख) उपनिषद् परिचय -

वैदिक शिक्षाओं का साररूप उपनिषदें मानी जाती हैं। इनकी नींव के ऊपर ही बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशाखाओं और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक ज्ञान का मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न नदियाँ निकलकर इस पुण्य स्थल में मानवमात्र के कल्याण और मंगल की कामना से बहती हैं।

उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार किया गया है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, जैसे - अग्नि-कण अग्नि के अंश हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे पहली बार समस्त ब्रह्माण्ड तथा इसमें निवास करने वाले असंख्य जीव-जन्तुओं पर व्यापक रूप से विचार करना प्रारम्भ किया। उपनिषदीय ऋषियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष आज तक अकाट्य हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक महत्त्व है।

उपनिषदों का आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने में उतना ही समर्थ है, जितना कि प्राचीन समय में था। यह समस्त दर्शनों का मूलग्रन्थ है और जैन और बौद्ध दर्शनों की आधारशिला भी है। इनके अध्ययन से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है। भारतीय संस्कृति से इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

उपनिषद् से तात्पर्य -

आत्मा-परमात्मा के ज्ञान-विषयक मुख्य रूप से प्रतिपादित शास्त्र 'उपनिषद्' कहे जाते हैं। "उपनिषद्" शब्द विषयक विभिन्न मत इस प्रकार माने जाते हैं -

व्याकरणपरक मत :-

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षद्लृ 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निष्पन्न होती है। षद्लृ धातु तीन अर्थों से प्रयुक्त होती है - (1) विशरण या शिथिल करना (2) गति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना (3) अवसादन नाश करना

उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है - उप और निषद् के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ समीप अर्थात् निकट है और 'निषद्' का अर्थ बैठनेवाला है। इस तरह जो परम तत्त्व (ब्रह्म) के समीप पहुँचाकर बैठनेवाला ज्ञान है, उसे उपनिषद् कहते हैं। 'समीप पहुँचाने' का अर्थ है ब्रह्म में विलीन करना और 'बैठनेवाला' का अभिप्राय है सदा स्थिर रहने वाला। तात्पर्य यह है कि आत्मा को ब्रह्म-रूप से प्रतिष्ठित करने वाले स्थिर ज्ञान को 'उपनिषद्' कहा जाता है ।

वेदपरक मत :-

वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहा जाता है। 'रहस्य' भी उपनिषद् शब्द का पर्यायवाची शब्द है क्योंकि उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' और 'इति गुह्यम्' शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, जीवन और जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। उपनिषदों का प्रमुख विषय ब्रह्म का वर्णन करना है। इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्मविद्या' ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है। उपनिषद् का अर्थ विद्या भी है, वह विद्या जो ब्रह्म के समीप ले जाने वाली है।

वेदान्तपरक अर्थ :-

वेद शब्द विद् (ज्ञान) धातु से निष्पन्न होने वाले 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और प्रत्येक वेद के

चार-चार भाग हैं - मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है। वेदों का यह भाग ज्ञानपरक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों से सम्बन्धित अर्थात् केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या उपलब्ध होती है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने चिन्तन-मनन और अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मसाक्षात्कार किया है।

बृहद् बैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का क्रम आता है उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या भी कहा जाता है ।

दार्शनिक मत :-

दार्शनिक मत के अनुसार उप+वास और उप+निषद् का एक ही अध्यात्मपरक अर्थ निकलता है। उपनिषदें आत्मा परमात्मा के समीप बैठाने अर्थात् ज्ञान कराने का माध्यम है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि प्रायः अज्ञानी जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते। इसलिए संसार चक्र में पड़े रहते हैं। अतः मोक्ष अथवा परमानन्द प्राप्ति के लिए आत्मा के समीप (उप) बैठना (निषद्) चाहिए ।

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है ।

जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके वह उपनिषद् कहलाती है।[1] उपनिषदों में ब्रह्म ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रधानता से विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है, जिससे उपनिषद् को 'अध्यात्मविद्या' भी कहते है।। ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में होने से ये 'वेदान्त' या 'उत्तरमीमांसा' भी कही जाती है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या - ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । वेद के

---

1. उपनिषद्यते - प्राप्यते ब्रह्मत्मभावोऽनयचा इति उपनिषद् ।

अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक में से ही ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक भागों को प्रथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अमरकोषकारों के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।[1]

उपनिषदों की संख्या -

उपनिषदों की बड़ी महिमा है। वैदिक वाङ्मय का शीर्षस्थान उपनिषद् है - इस कथनमात्र से ही उपनिषदों की लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीनकाल में औपनिषद् ज्ञान का बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्या में पारंगत होते थे । वैदिक काल से उपनिषदों के स्वाध्याय की परम्परा प्रचलित हुई । अतः कुछ उपनिषद् तो वेद के ही अंश विशेष हैं कुछ ब्राह्मभाग और आरण्यकों के अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी आज से बहुत प्राचीन काल के हैं। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन - सभी ज्ञानप्रधान हैं। सबका आविर्भाव किसी-न-किसी गूढ़ तत्त्व या रहस्य का प्रकाशन करने के लिए ही हुआ है। अतः इनके स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि ही होती है। मुक्तिकोपनिषद् में से एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास 'अडियार लाइब्रेरी' से भी उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागों से विभक्त है। उसमें लगभग २७९ उपनिषदों का प्रकाशन हो गया है। इन सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं। प्राचीन काल से ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान की अपरिमित ग्रन्थराशि का होना आश्चर्य की बात नहीं है। भारत पर एक-एक करके अनेक बार

---

1. 'धर्मे रहस्यूपनिषत स्यात्'

विदेशी दस्युओं के आक्रमण हुए और अनेक द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयों को भस्मावशेष कर दिया गया। इतने पर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजों की ज्ञान-ज्योति अब भी इस देश में प्रकाशित हो सकती है। यहाँ २२० उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है -

1. अक्षमालोपनिषद्
2. अक्षि-उपनिषद्
3. अथर्वशिखोपनिषद्
4. अथर्वशिर उपनिषद्
5. अद्वयतारकोपनिषद्
6. अद्वैतोपनिषद्
7. अद्वैतभावनोपनिषद्
8. अध्यात्मोपनिषद्
9. अनुभवसारोपनिषद्
10. अन्नपूर्णोपनिषद्
11. अमनस्कोपनिषद्
12. अमृतनादोपनिषद्
13. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)
14. अरुणोपनिषद्
15. अल्लोपनिषद्
16. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
17. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)

18. अव्यक्तोपनिषद्

19. आचमनोपनिषद्

20. आत्मपूजोपनिषद

21. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)

22. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)

23. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)

24. आथर्वणद्वितीयोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

25. आयुर्वेदोपनिषद्

26. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)

27. आषेयोपनिषद्

28. आश्रमोपनिषद्

29. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

30. ईशावास्योपनिषद् उपनिषस्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध)

31. ऊर्ध्वपुण्डोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

32. एकाक्षरोपनिषद्

33. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

34. ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)

35. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

36. कठरुद्रोपनिषद् (कण्डोपनिषद्)

37. कठोपनिषद्

38. कठश्रुत्युपनिषद्

39. कलिसतरणोपनिषद्(हरिनामोपनिषद्)

40. कात्यायनोपनिषद्
41. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
42. कालाग्निरुद्रोपनिषद्
43. कालिकोपनिषद्
44. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्
45. कुण्डिकोपनिषद्
46. कृष्णोपनिषद्
47. केनोपनिषद्
48. कैवल्योपनिषद्
49. कौलोपनिषद्
50. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
51. क्षुरिकोपनिषद्
52. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
53. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)
54. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)
55. गर्भोपनिषद्
56. गान्धर्वोपनिषद्
57. गायत्र्युपनिषद्
58. गायत्रीरहस्योपनिषद्
59. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मंत्रात्मक)
60. गुह्यकाल्युपनिषद्
61. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्

62. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
63. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
64. गोपीचन्दनोपनिषद्
65. चतुर्वेदोपनिषद्
66. चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
67. चित्त्युपनिषद्
68. छागलेयोपनिषद्
69. छान्दोग्योपनिषद्
70. जाबालदर्शनोपनिषद्
71. जाबालोपनिषद्
72. जाबाल्युपनिषद्
73. तारसारोपनिषद्
74. तारोपनिषद्
75. तुरीयातीतोपनिषद् (तीताबधूतो0)
76. तुरीयोपनिषद्
77. तुलस्युपनिषद्
78. तेजोबिन्दूपनिषद्
79. तैत्तिरीयोपनिषद्
80. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
81. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
82. त्रिपुरोपनिषद्
83. त्रिपुरामहोपनिषद्

84. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

85. त्रिसुपर्णोपनिषद्

86. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

87. दत्तात्रेयोपनिषद्

88. दत्तोपनिषद्

89. दुर्वासोपनिषद्

90. (1) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

(2) देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत अनुपलब्ध)

91. द्वयोपनिषद्

92. ध्यानबिन्दूपनिषद्

93. नादबिन्दूपनिषद्

94. नारदपरिव्राजकोपनिषद्

95. नारदोपनिषद्

96. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्

97. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्

98. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)

99. निरालम्बोपनिषद्

100. निरुक्तोपनिषद्

101. निर्वाणोपनिषद्

102. नीलरुद्रोपनिषद्

103. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्

104. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्

105. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्

106. पञ्चब्रह्मोपनिषद्

107. परब्रह्मोपनिषद्

108. परहंसपरिव्राजकोपनिषद्

109. परमहंसोपनिषद्

110. पारमात्मिकोपनिषद्

111. पारायणोपनिषद्

112. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

113. पिण्डोपनिषद्

114. पीताम्बरोपनिषद्

115. पुरुषसूक्तोपनिषद्

116. पैङ्गलोपनिषद्

117. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)

118. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)

119. प्रश्नोपनिषद्

120. प्रणाग्निहोत्रोपनिषद्

121. बटुकोपनिषद् (बटुकोपनिषद्)

122. बह्वृचोपनिषद्

123. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्

124. विल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

125. विल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)

126. बृहज्जाबालोपनिषद्

127. बृहदारण्यकोपनिषद्

128. ब्रह्मविद्योपनिषद्

129. ब्रह्मोपनिषद्

130. भगवद्गीतोपनिषद्

131. भवसतरणोपनिषद्

132. भस्मजाबालोपनिषद्

133. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)

134. भिक्षुकोपनिषद्

135. मठाम्नायोपनिषद्

136. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

137. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)

138. मल्लायुपनिषद्

139. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नाराणोपनिषद्, उत्तरनाराणोपनिषद्)

140. महावाक्योपनिषद्

141. महोपनिषद्

142. माण्डूक्योपनिषत्कारिका

143. माण्डूक्योपनिषद

(क) आगम

(ख) अलातशान्ति

(ग) वैतथ्य

(घ) अद्वैत

144. मुक्तिकोपनिषद्

145. मुण्डकोपनिषद्

146. मुद्गलोपनिषद्

147. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्

148. मैत्रायण्युपनिषद्

149. मैत्रेय्युपनिषद्

150. यज्ञोपवीतोपनिषद्

151. याज्ञवल्क्योपनिषद्

152. योगकुण्डल्युपनिषद्

153. योगचूड़ामण्युपनिषद्

154. (1) योगतत्त्वोपनिषद्

155. (2) योगतत्त्वोपनिषद्

156. योगराजोपनिषद्

157. योगोपनिषद्

158. योगोपनिषद्

159. राजश्यामलारहस्योपनिषद्

160. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)

161. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)

162. रामपूर्वतापिन्युपनिषद

163. रामरहस्योपनिषद्

164. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्

165. रुद्रहृदयोपनिषद्

166. रुद्राक्षजाबोलोपनिषद्

167. रुद्रोपनिषद्

168. लक्ष्म्युपनिषद्

169. लाङ्गलोपनिषद्

170. लिङ्गोपनिषद्

171. वज्रसूचिकोपनिषद्

172. वज्रसूचिकोपनिषद्

173. वनदुर्गोपनिषद्

174. वराहोपनिषद्

175. वासुदेवोपनिषद्

176. विश्रामोपनिषद्

177. विष्णुहृदयोपनिषदृ

178. शरभापनिषद्

179. शाट्यायनीयोपनिषद्

180. शाण्डिल्योपनिषद्

181. शारीरकोपनिषद्

182. (1) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

183. (2) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

184. शिवोपनिषद्

185. शुकरहस्योपनिषद्

186. शौनकोपनिषद्

187. श्यामोपनिषद्

188. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

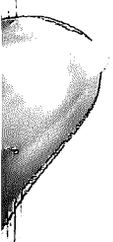

189. श्रीचक्रोपनिषद्

190. श्रीविद्यातारकोपनिषद्

191. श्रीसूक्तम्

192. श्वेताश्वतरोपनिषद्

193. षोढोपनिषद्

194. सङ्कर्षणोपनिषद्

195. सदानन्दोपनिषद्

196. सन्ध्योपनिषद्

197. सन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)

198. सन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)

199. सरस्वतीरहस्योपनिषद्

200. सोंपनिषद्

201. स ह वै उपनिषद्

202. सहितोपनिषद्

203. सामरहस्योपनिषद्

204. साविव्युपनिषद्

205. सिद्धान्तविध्लोपनिषद्

206. सिद्धान्तशिखोपनिषद्

207. सिद्धान्तसारोपनिषद्

208. सीतोपनिषद्

209. सुदर्शनोपनिषद्

210. सुबालोपनिषद्

211. सुमुख्युपनिषद्

212. सूर्यतापिन्युपनिषद्

213. सूर्योपनिषद्

214. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

215. स्कन्दोपनिषद्

216. स्वसंवेद्योपनिषद्

217. हयग्रीवोपनिषद्

218. हसषोढोपनिषद्

219. हंसोपनिषद्

220. हेरम्बोपनिषद्

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। उपनिषदों की संख्या १०८ से लेकर २२० तक मानी जाती है । इनमें ११ उपनिषदें प्रमुख मानी जाती हैं। उनके नाम हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर । इन प्रमाणिक उपनिषदों पर ही शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखा है। श्री ह्यूम ने जिन प्रमुख १३ उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है, उनमें इन ११ के अतिरिक्त कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषदें हैं। [1] मुक्तिक उपनिषद् में श्वेताश्वतर को छोड़कर शेष १० को ही प्रमुख उपनिषदें माना है । [2] इन १० उपनिषदों का नाम इस प्रकार है - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक। [3]

---

1. The Thirteen Principal Upanishads by Robert Ernest Hume
2. दशोपनिषद् पठ (मूक० उप० १-२७)
3. ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड, माण्डूक्य-तित्तिर।
   ऐतरेय च छान्दोग्य बृहदारण्यक तथा । (मुक० उप० १-३०)

ग) <u>योग और ब्रह्म</u> -

योग का सामान्य अर्थ है - समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध करना । मनुष्य अपने सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार की सिद्धि के लिए क्षोत्र - त्वक् - चक्षु - रसना - घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक् - हस्त - पाद - पायु - उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों का उपयोग करता है। मनुष्य के व्यवहार या आचरण का साधन होने से इन इन्द्रियों को करण भी कहा जाता है। इनका सम्बन्ध शरीर के बाह्य क्रियाकलाप से है, अतः ये बाह्यकरण कहलाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने आभ्यन्तरिक व्यवहार या आचरण की सिद्धि के लिए मन बुद्धि, अहंकार इन तीन साधनों का उपयोग करता है। ये तीनों साधन अन्तःकरण कहलाते हैं। इन सभी साधनों में मन प्रमुख है। यही मन सभी बाह्य करणों का नियन्त्रक व प्रेरक है। योगदर्शन में मन को 'चित्त' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है, और उस मन के सम्पूर्ण व्यापार को चित्तवृत्ति कहा गया है। इन सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का मन की एकाग्रतापूर्वक निग्रह किया जा सकता है। अर्थात जब मन की एकाग्रता होती है, तब सभी (दसों) इन्द्रियों का सम्पूर्ण व्यापार अवरूद्ध हो जाता है। यही 'चित्तवृत्ति निरोध' कहलाता है। इसी का नाम 'योग है जब मन (चित्त) विविध विषयों में अपने प्रवृतिरूप कार्यों का न करते हुए शान्त, व्यवस्थित, निश्चल और एकाग्र स्थिति में होता है, उस अवस्था का नाम अथवा ऐसा करने की प्रक्रिया का नाम 'योग' है।

जब मनुष्य की शारीरिक मानसिक और आत्मिक स्थिति असंतुलित या अस्त व्यस्त हो जाती है, तब मनुष्य स्वयं को अशान्त और दुःखी अनुभव करता हुआ चिन्तायुक्त हो जाता है। इस प्रकार मन का अशान्त होना दुःख या रोग का कारण बन जाता है। अतः दुःख और रोगों से 'मन की अशान्ति' के निराकरण का नाम ही

'योग' है। जब मन की अशान्ति का निवारण होता है, तो मन में समस्थिति, समताभाव, साम्यावस्था या व्यवस्थीकरण होता है, इसे ही 'योग' कहा जाता है। गीता में भी समत्वभाव को योग कहा गया है।[1]

चित्त की वृत्तियों के कारण ही संसार में कर्मबन्धन होता है और कर्मबन्धन के कारण प्राणियों के शरीर में स्थित यह जीवात्मा संसार की विभिन्न (84 लाख) योनियों में परिभ्रमित होता हुआ विविध क्लेशों को सहन करता है। मानव चित्त की वृत्तियों के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से युक्त हो जाता है चित्तवृत्तियों के निरोध से क्लेशों का नाश हो कर जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आत्मिक) के भिन्न तत्त्वों के नियन्त्रण द्वारा पूर्णता प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही 'योग' है।

संसार के समस्त शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति का मूल कारण मन है। मनुष्य का मन स्वभावतः चञ्चल होता है। मन की चञ्चलता के कारण ही बड़े-बड़े दृढ़ वृत्तियों, महातपस्वियों, योगियों और सन्यासियों को अपने ब्रत, तप, साधना, योग आदि में भ्रष्ट होते हुए देखा गया है अर्थात् जो मन को वश में कर लेता है, वही अपनी साधना में पूर्णता प्राप्त कर लक्ष्य-सिद्धि में सफल होता है । 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से अर्थात् भिन्नार्थ में प्रतिपादित की गई है। परन्तु सब का अर्थ समान भाव से मिलता है -जोड़ना, मिलाना, समभाव, समस्थिति समताभाव व्यवस्थीकरण इत्यादि। महाभारत में योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, किन्तु वे सब जिस धातु से निष्पन्न हुए हैं उस का अर्थ 'जोड़ना' या 'मिलाना'। कठोपनिषद् में योग शब्द का

---

1. सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। (भग0 गी0 २/४७)

प्रयोग ''इन्द्रियों'' को वश में करना के अर्थ में हुआ है।[1] गीता में भी यद्यपि योग शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ है तथापि उन सबका सम्बन्ध जोड़ना अर्थ से ही हुआ है। मनु ने योग शब्द का अर्थ ''वश में करना'' किया जो सम्भवतः ''युज् संयमने'' धातु से सम्बन्धित है। पाली भाषा में भी योग शब्द का प्रयोग 'जोड़ना', वश में करना या प्रत्यन करना के अर्थ में किया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'योग' के विभिन्न अर्थ होने पर भी उस का एक ही भाव सिद्ध होता है कि योग द्वारा मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त कर परमात्म तत्त्व में मिल जाता है।

ब्रह्म -

ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जिस से सारा जगत् ओत-प्रोत है। उसी से यह सारा संसार उत्पन्न होता है और पुनः उसी में विलीन (अस्त) हो जाता है। वह हाथ-पैर रहित, चक्षु रहित, कान रहित, जीभ रहित, शरीर रहित, ग्रहण न कर सकने योग्य और बताये न जा सकने योग्य है। उसे केवल ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है। वह अद्वितीय है, आकाश के समान सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरञ्जन निष्क्रिय, मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य और आनन्दरूप, एक रस वाला, मंगलमय, अति शान्त और अमर है। वह परब्रह्म है। वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सब प्राणियों का अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवासकर्ता, भूतों में गुप्त, भूतों का मूल उत्पत्ति स्थान, वही परब्रह्म है। वही विश्व की सृष्टि करता है, विश्व की रक्षा करता है, विश्व का संहार करता है। वही आत्मा है। अर्थात् तीनों काल (भूत, वर्तमान, भविष्य)उसी ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित

---

1. स्थिराम इन्द्रियधारणाम् योगं उच्चते । (कठो0उप0 अ0 २/११)
योगो ही प्रभवात्यषौ।।

होते हैं। वही ब्रह्म, विष्णु और महेशरूप है।[1]

परब्रह्म क्रियारहित और अक्षर है तो भी इस परब्रह्म के तीन स्वरूप हैं - सकल, निष्कल और सकल-निष्कल । जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, क्रियाशून्य, निरञ्जन, सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, सब ओर मुख वाला, बता सकने में असम्भव और अमर है, वह निष्कल रूप है। इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या मूल प्रकृति और माया है, वह लाल, श्वेत और काली है उस (माया) की सहायता से यह देव समस्त सृष्टि का नियन्ता होता है। यह इसका 'सकल-निष्कल' रूप है । यही परब्रह्म अनेक रूपों में व्याप्त है। यही सब प्राणियों के हृदय में रहने वाला है। वही ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, इन्द्र और समस्त देव, समस्त भूतों के रूप में विद्यमान होता है। वही आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण, नीचे-ऊपर सब जगह व्याप्त है वही अपनी इच्छानुसार नाना रूपों में अवतरित होता है। परब्रह्म के स्वरूप को केवल 'योग' द्वारा ही जाना या प्राप्त किया जा सकता है।[2]

चित्तवृत्तियों के (व्यापार) से मनुष्य नाना प्रकार के क्लेशों में पड़कर (84 लाख) योनियों में आवागमन करता रहता है और नाना प्रकार के कष्टों को भोगता है। इसलिए चित्तवृत्तियों का निरोध करना परमावश्यक है । योग द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध कर मन को वश में किया जा सकता है । मन के वश में रहकर मनुष्य प्रकृति और पुरूष को अपना स्वरूप समझ लेता है और सांसारिक भोगों को भोग करता रहता है। इस अज्ञान को दूर करने का एकमात्र साधन योग है । योगभ्यास से मन को वश में किया जा सकता है। योगदर्शन में विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं,

---

1. सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म.....
   सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः । (शा0 उप0 अ0 २/१)
2. परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति -
   स एव दक्षिणतः स एताधस्तात् स एवोपरिष्टात् स एव सर्वम्। (शा0 उप0 अ0 ३/१)

जिन्हें अपनाकर जिनका निरन्तर अभ्यास कर योगभ्यासी किसी भी पद को सरलता से प्राप्त कर सकता है। इन आसनों के निरन्तर और विधिपूर्वक अभ्यास से योगी अपनी नाड़ी शुद्धि कर परमपद को प्राप्त करता है। अतः स्पष्ट है कि योग का अर्थ ही है मिलाना, जोड़ना । योग द्वारा योगी परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

अतः परमब्रह्म से मिलने या प्राप्त करने का एकमात्र सरल और सूक्ष्म साधन योग ही है ।

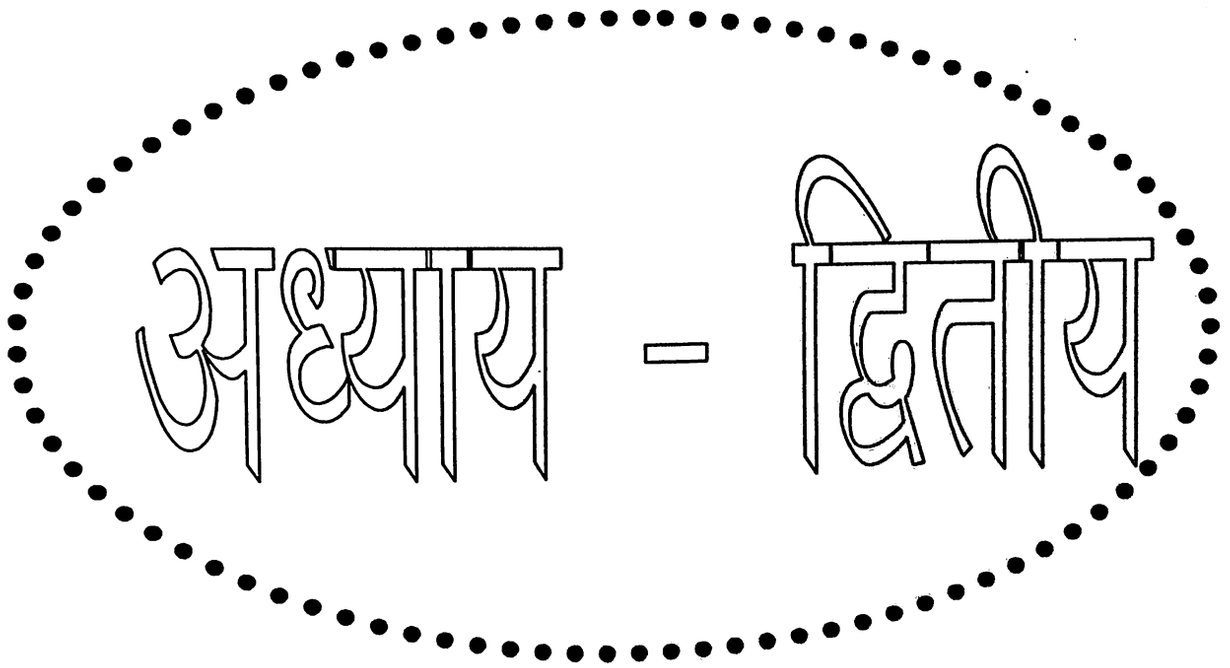
अध्याय - द्वितीय

द्वितीय अध्याय

(क) योग से अभिप्राय

योग शब्द को जर्मन भाषा में 'जाश', लैटिन भाषा में 'इंगून', अरबी में 'सूलक' कहते हैं। 'योग' पद धातु के अनुसार 'युजिर् योगे' तथा 'युज्समाधौ दो प्रकार से निष्पन्न माना जाता है। योग का इतिहास अति प्राचीन है। 'योग' शब्द अनेकार्थक है। 'गणित' के आधार पर दो संख्यों के जोड़ को योग कहा जाता है। 'ज्योतिष' के अनुसार 32 योग बताये गये हैं। [1] इन्हीं के आधार पर जातक के शुभ अशुभ फल का वर्णन किया जाता है। सामान्य लोक व्यवहार में 'योग का अर्थ काला जादु (Black Magic) आदि अर्थ में लिया जाता है। 'अमरकोश' के अनुसार योग का अभिप्राय अनेक प्रकार से है जैसे - कवच, सामदाम भेद दण्ड नीति आदि उपाय, ध्यान, संगति, युक्ति। [2] 'लिंग पुराण' के अनुसार योग का अभिप्राय अष्टांगयोग से है, इस के द्वारा परम पद प्राप्त होता है।[3] अर्थात् महेश पद प्राप्त होता है।

'मुण्डकोपनिषद्' में योग से अभिप्राय उपाय एवं बारम्बार प्रयत्न से है जिस से परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है न कि बल, प्रभाव, तप या प्रमाद से प्राप्त किया जा सकता है। [4]

---

1. नौच्छत्रकूट कार्मुक शृंगाटक वज्र दामनी पाशाः ।
   वीणासरोजमुसलावापीहलशरसमुद्रचक्राणि ।।
   माला सर्पार्द्धेन्दू यवकेदारौ गदाविहगयूपा।
   युग शकट शूल दण्डा रज्जुः शक्तिस्तथा नलो गोलः ।। (सा0 व0 अ0 २१, श0 २ - ३)
2. योगः सनंहनोपायध्यान संगीतध्यानयुक्तिषु, इत्यमरः (अ0 को0 पृ0 ५४८)
3. योग शब्देन निर्वानं माहेशंपदमुच्यते
   साधनानि चाष्टधा चास्या कथ्तिानाहि सिद्धये।। (लि0 पु पृ0 ८८/८९)
4. नायमात्मा बलहीनने लभ्यो म च प्रमादातपसो वाप्यलिंगात
   एतैरूपायैर्यतते यस्तु विद्धां स्तस्यैषआत्माविशते ब्रह्म धाम मुण्डकोपनिषद् (मु0 उप0)

गीता में योग से अभिप्राय समत्वयोग एवं स्थिर समाधि है, जबकि कर्म योग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की तो गीता में सर्वत्र संस्तुति की गई है । [1]

'भगवत महापुराण' के अनुसार योग से अभिप्राय ज्ञानयोग एवं कर्मयोग रहा है, जबकि भक्तियोग के साथ-साथ क्रिया योग भी दृष्टिगोचर होता है। [2]

योग एक सच्ची विद्या है जिस का फल प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन समस्त दुःखों से निवृत होना एवं परमानन्द की प्राप्ति है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग सूत्रों में इस का सम्यक् प्रतिपादन किया है। उनका योग दर्शन चार पादों में विभक्त है - समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य। यद्यपि भारत में योग साहित्य पर अनेक भाषाओं में योग विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिन में योग का मानव जीवन में कितना महत्त्व है इस विषय पर सविस्तार बताया गया है ।

योग विषय अनन्त तथा असीम है। अनेक आचार्यों ने इस की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। योग दर्शन एक अति प्राचीन दर्शन रहा है। महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है :-

चित्त् की वृत्तियों का निरोध योग कहा जाता है अर्थात् चित्त् की वृत्तियों को रोक देना ही योग है। [3]

वाचस्पति मिश्र 'चित्त्' से तात्पर्य अन्तःकरण को मानते हैं। योग प्राप्ति में चित्त का महत्वपूर्ण योगदान होने से सर्वप्रथम चित्त् विषयक यथासम्भव परिचय आवश्यक है,

---

1. योगाास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयों विविधत्सया ।
   ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽप्ति कुशचित्त ।। (भा0 गी0)
2. निर्ष्णिानां ज्ञानयोगोंन्यासिनामिह कर्मसु ।
   तेषर्निावष्ठचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।। (भा0 म0 पु0)
3. 'योगशिचतवृत्तिनिरोधः' - (पा0 यो0 सू0 १/२)

वह क्या है ? उसके क्या-क्या रूप हैं ? कौन सी वृत्तियाँ अथवा भूमियाँ होती हैं ? कौन से कलेश होते हैं ? चित्त वृत्तियों से सर्वथा निवृत होने के लिये कौन से उपाय हैं ?

'चित्' -

योग दर्शन में 'चित्त' के विविध स्वरूपों का विवेचन है। योग आत्मसाक्षात्कार और ज्ञान को महत्व देता है। इन दोनों में चित्त का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। क्योंकि चित्त ही मानव जीवन की समग्र क्रिया प्रतिक्रियाओं का मूल आधार है। इसलिए योग दर्शन की मूल प्रतिज्ञा चित्त की वृत्तियों का नियन्त्रण है। पतञ्जलि के योग दर्शन के अनुसार चित्तवृत्तियों के निरोध को दृष्टि में रखते हुए बुद्धि, मन एवं अहंकार में से किसी एक को चित्त पद से अभिप्रेत नहीं माना जाना चाहिए । योग दर्शन का उद्देश्य साधक के व्यवहार को पूर्णरूप से नियन्त्रित करते हुए निरूद्ध करना है। अतः बुद्धि, मन और अहंकार इन तीनों को ही अन्तःकरण मानते हुए चित्त पद से अभिप्रेत मानना चाहिए। चित्त से तात्पर्य है अन्तःकरण, जो कि बुद्धि का उपलक्षक है। चित्त यद्यपि सत्त्व प्रधान होता है, तथापि उस में तीनों गुणों का सद्भाव रहता है।

पातञ्जलि योग सूत्रों के व्यासभाष्य अनुसार चित्त मुख्य रूप से सत्त्व, रज एवं तामस स्वभाव वाला होने के कारण त्रिगुणात्मक है, यद्यपि चित्त एक है, तथापि त्रिगुण निर्मित होने से, गुणों की विषमत्ता से एवं एक दूसरे के विमर्दन की विचित्रता से विचित्र परिणाम को प्राप्त होता हुआ अनेक अवस्था वाला हो जाता है। सात्विक रूप चित्त ज्ञान स्वरूप है और जब वह रज, तम से सम्बद्ध हो जाता है, उस समय ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का प्रेमी हो जाता है। और जब वही चित्त सत्त्वगुण और रजोगुण की न्यूनता होने पर तमोगुण से युक्त हो जाता है, उस समय वह अधर्म,

अज्ञान, अवैराग्य अनैश्वर्य तथा निद्रा आदि में मग्न हो जाता है। पहली अवस्था में चित्त ऐश्वर्य और विषयों को केवल चाहता है, किन्तु ये उसे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वह रज और तम से सम्प्रक्त रहता है, फिर भी सात्त्विक गुण की अधिकता के कारण ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है। लेकिन जब चित्त में रज का लेश भी नहीं रहता, तब सत्त्वप्रधान चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति पुरूष की अन्यथा ख्याति अथवा विवेक प्राप्त कर लेता है। आशय यह है कि इन तीनों गुणों के कारण एक ही चित्त नानास्थितियों को प्राप्त होता है।

चित्तवृत्तियाँ - प्रकृति में सत्त्व, रज, तम रूप तीन गुण रहते हैं। उन में लाघव तथा प्रकाश स्वभाव वाला सत्त्व गुण है, उस का परिणाम विशेष चित्त कहा जाता है। उस चित्त की असंख्य वृत्तियाँ होने पर भी वक्ष्यमाण प्रमाणादि पाँच रूप से संकलित हैं। अर्थात् अनन्त होने पर भी वे पाँच प्रकार की मानी गई हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति ये चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं।

प्रमाण - प्रमाकरणं प्रमाणं - अर्थात् प्रमा का जो करण है वह प्रमाण कहा जाता है। प्रमाणवृत्ति प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम भेद से तीन प्रकार की है। इन्द्रिय द्वारा जो बुद्धि की यथार्थ वृत्ति होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। नदी के गंदे पानी को देखकर पिछले दिन हुई वर्षा का अनुमान लगाना अनुमान प्रमाण है, शब्द द्वारा उत्पन्न होने वाली वृत्ति शब्द प्रमाण है।

विपर्यय - वस्तु विशेष के मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जो वस्तु जिस रूप में है उसे उस रूप में न समझना मिथ्याज्ञान है। जैसे - सीपी में चांदी, रस्सी में सर्प।

विकल्प - शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला किन्तु वस्तु शून्य अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

निद्रा - किसी वस्तु के अभाव ज्ञान को आलम्बन करने वाली वृत्ति "निद्रा" कही जाती है। इस वृत्ति में जाग्रत और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है किन्तु निद्रा में ज्ञान का अभाव नहीं है। क्योंकि इतने पर व्यक्ति जाग्रत अवस्थाओं में - "मैं नीद में प्रर्याप्त सोया" 'मेरा मन शान्त है' आदि की अनुभूति होती है। अतः यह भी एक वृत्ति है और इस वृत्ति का नाम निद्रा है।

स्मृति - अनुभूत विषयों का ठीक-ठीक उसी रूप में स्मरण रहना स्मृति है। यह वृत्तियाँ कार्य उत्पन्न कर हमारे अन्तःकरण में संस्कार रूप में विद्यमान रहती हैं। सादृष्य आदि के कारण समय-समय पर संस्कार वृत्तियां का रूप धारण कर लेते हैं और संसार चक्र चलता रहता है अतः उनका निरोध परम आवश्यक है। यह वृत्तियाँ सुख-दुख मोहात्मक है अतः क्लेश रूप है।

चित्त की भूमियाँ - चित्त की पाँच भूमियाँ मानी गई हैं - (1) क्षिप्त (2) मूढ (3) विक्षिप्त (4) एकाग्र (5) निरूद्ध ।

क्षिप्त - रजोगुण के शब्दादि विषयों में निरन्तर भ्रमण करने वाला चित्त 'क्षिप्त' कहलाता है। यह प्रायः राक्षसों का माना जाता है।

मूढ - तमोगुण की प्राबल्य वाली चित्त की अवस्था को 'मूढ' भूमि कहते हैं। अर्थात् तमोगुण की अधिकता और बुद्धि से कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के विचार से रहित कर्म करने वाला चित्त 'मूढ' कहलाता है। ऐसा चित्त प्रायः पिशाचों का होता है।

विक्षिप्त - यह क्षिप्त की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ सात्त्विक गुण के अविर्भाव से कभी-कभी स्थिरता प्राप्त करने वाला चित्त है। यह चित्त मानवों तथा देवताओं का होता है। क्षिप्त दशा में विक्षिप्त की स्थिति विशिष्ट है, क्योंकि क्षिप्त में चित्त चंचल रहता है और विक्षिप्त में मन स्थिरता प्राप्त करने लगता है।

एकाग्र - वर्हिवृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त 'एकाग्र' कहलाता है। सत्त्वगुण की प्रधानता में ही चित्त एकाग्र होता है। ऐसा चित्त प्रायः योग के जिज्ञासुओं अथवा योग की प्रारम्भिक अवस्था वालों का होता है।

निरूद्ध - चित्त की वह अवस्था जिस में केवल संस्कर ही शेष रहते हैं। समग्र वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त निरूद्ध कहा जाता है। यह स्थिति अन्तिम भूमिका वाले सिद्ध योगी के चित्त की होती है।

चित्तकलेश - चित्त के पाँच प्रकार के कलेश माने गये हैं - (1) अविद्या (2) अस्मिता (3) राग (4) द्वेष (5) अभिनिवेश

चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकार से दो प्रकार की हैं। जिस स्मरण से मनुष्य का भोगों में वैराग्य होता है तथा जो योग साधनों में श्रद्धा और उत्साह बढ़ाने वाला एवं आत्मज्ञान में सहायक है, वह तो अक्लिष्ट है अर्थात् जिस में सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है वह अक्लिष्ट वृत्ति है। और जिस में रजोगुण और तमोगुण प्रधान होने से भोगों में रागद्वेष बढ़ता है वह क्लिष्ट है। चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय बताये गये हैं। [1]

चित्त वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत् संस्कारों के बल से सांसारिक भागों की ओर चल रहा है, उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।

योग की आवश्यकता -

आधुनिक युग में जितनी आवश्यकता विज्ञान की है उतनी ही अधिक

---

1. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। (पा0 यो0 दा0)

आवश्यकता योग की सिद्ध होती है। आधुनिक युग में मानव ने विकास तो किया है, परन्तु वह अपने से बहुत दूर होता चला जा रहा है। आज के मानव के पास सुख के सभी साधन उपलब्ध होने पर भी उस के भीतर कुछ कमी है, जिसे पाने के लिए वह सर्वदा प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति पथ पर अग्रसर होते हुये विकसित हो रहा है, व्यक्ति भी उतना ही भौतिकवादी बन गया है तथा व्यक्ति अधिक से अधिक भौतिक सुख साधनों के प्रति आकृष्ट होता जा रहा है। जिस के परिणाम स्वरूप मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक क्षमता दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। यही कारण है कि उस को विभिन्न प्रकार की व्याधियों ने घेर लिया है तथा मानव का जीवन अशान्त एवं भयावह हो गया है। जिन से मुक्ति दिलाने एवं सुलभ उपाय है - योग । आज चारों ओर फैले हुए आतंक ने जहाँ मनुष्य की मानसिक शान्ति को भंग कर दिया है, वहीं दूसरी ओर रोगों ने घेर रखा है - ऐसे समय में योग मानव-जीवन के लिए रामबाण औषधि सिद्ध हो सकता है।

प्राचीन युग में शारीरिक, मानसिक स्वस्थता के क्षेत्र में आयुर्वेद प्रद्धति का एकाधिकार था। जिस का स्थान बदलते हुये परिदृश्य में एलोपैथिक पद्धति ने ग्रहण कर लिया और आयुर्वेद पद्धति सीमित हो कर रह गई। परन्तु सत्य तो सत्य ही होता है, जिस का निराकरण कर पाना कठिन ही नहीं, अपितु सदा सर्वदा असम्भव भी होता है।

ऐसे ही आज पुनः समय की पुकार ने आयुर्वेद की महत्ता को अनुभव किया है और विश्व भर में इस की प्रक्रिया को अपनाने पर बल दिया जा रहा है। ऐसे ही योग के साथ भी हुआ। लोग इस की महत्ता को भूल गये और अन्धाधुन्ध विज्ञान का अनुकरण करने लगे । परन्तु आज विश्वभर में योग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। चाहे वो शरीरिक क्षेत्र में हो, सामाजिक हो या पर्यावरण की ही क्यों न हो।

सर्वत्र समभाव बनाये रखने में योग मुख्य भूमिका निभा सकता है, यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के लिए एवं रहस्यों को जानने के लिए इस की परमावश्यकता तो है ही, परन्तु इन्हीं के साथ भ्रष्ट सामाजिक रूप को सुधारने में योग की भी उतनी ही आवश्यकता है जिस प्रकार देह के लिए प्राण परमावश्यक है, ठीक उसी प्रकार एक स्वच्छ शरीर, स्वच्छ समाज एवं स्वच्छ पर्यावरण को बनाये रखने के लिए योगभ्यास भी परमावश्यक है।

भारतीय योग विश्व के जनमानस का अभिलाषित मनोरथ पूर्ण करने में पूर्णतया समर्थ है। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में योग के प्रति विशेष अभिरूचि देखी जा रही है। केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी योगप्रशिक्षण केन्द्र खुल रहे हैं। योग जीवन को सार्थक बनाने वाले साधनों में से उत्तम साधन हैं। यह मनुष्य को सभी प्रकार के आवरणों और विक्षेपों से सदा के लिए मुक्त कर विशुद्ध अन्तःकरण वाला बना देता है और परमात्मा से उस का अभिन्न सम्बन्ध अपने आप स्थापित हो जाता है।

भगवान् श्री कृष्ण का कथन है - 'योग से युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा-शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतों में अपने आत्मा को देखने वाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित पुरूष लोक संग्रह के लिए कर्म करता हुआ भी उन से लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मों से नहीं बंधता।[1] योग तन को सुगठित, मन को नियन्त्रित और आत्मा को उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानों का सब से मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धि का अक्षुण्ण स्रोत है। इस के नियमित अभ्यास से मनुष्य के सारे संशय दूर हो जाते हैं । अपनी ऊँचाई के चरम बिन्दु पर पहुँचकर योग आत्मा और परमात्मा के मिलन का अप्रतिम माध्यम बन जाता है। तत्त्वदर्शी महर्षियों ने परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही

बताया है योग के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने उद्धवजी को यही समझाया था कि-प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारिभेद से तीन प्रकार के योगों - ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्तियोग का उपदेश दिया है। मनुष्य के परम कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है।[1] योग का यह वैशिष्ट्य है कि उस की साधना की ज्योति में आत्मत्तत्व द्वारा परब्रह्म परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उस के सामने किसी प्रकार का बन्धन नहीं रह जाता। योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूप में विकसित होने लगती है। इन्द्रियों को जड़ता से ऊपर उठाने वाला अनुपम तत्त्व योग ही है। योगाभ्यास से एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा - आलस्य, त्याग, आत्मबल, विस्तार, भय, संशय, निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वावस्थ्य लाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहारपरक विद्या है। इसलिए साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस के अभ्यास से असाधारण लाभ उठा सकता है। अनेक योगासन हैं जिन्हें अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है, क्योंकि शरीर और मन के स्वस्थ रहने पर ही मनुष्य कठिन से कठिन कार्यों को सम्पन्न कर लेता है। जैसे कहा भी जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास रहता है। संसार को भयंकर रोगों से मुक्त करना अथवा उन से बचे रहने का मार्ग दर्शन करना योगविद्या की महान्देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रों में विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है। शारीरिक और मानसिक इन द्विविध रोगों के निवारण के लिए योग में दो प्रकार की साधनाएं निर्धारित की गई हैं - बहिरंग और अन्तरंग। अष्टांगयोग के प्रथम पाँच अंग अर्थात्

---

1. योगयुक्तो विशुद्धात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। (भा0 गी0, 5/7)

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार बहिरंग साधन हैं तथा अन्तिम तीन धारणा-ध्यान-समाधि अन्तरंग साधन कहे गए हैं। शरीर की स्वस्थता के लिए बहिरंग साधन और मानसिक स्वस्थता के लिए अन्तरंग साधन विशेष रूप से उपयोगी हैं। योग-साधना का प्रत्येक अंग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। योग-साधन ऐसा है कि इस का थोड़ा सा अनुष्ठान करने से ही उचित लाभ हो सकता है। इसलिए कहा जाता है कि-सम्पूर्ण शास्त्रों में यह योग शास्त्र ही प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र है।

योग के सम्यक् अभ्यास से तो रोग और जरा-जन्य कलेश का परिहार होता ही है, साधक को इच्छामृत्यु की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है। अर्थात् योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस योगी के शरीर में न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उस की मृत्यु ही होती है।[1] यह योग का ही प्रभाव है कि मनुष्य का शरीर काल के निकष पर खरा उतरकर तप्त कञ्चन की भांति दमकता रहता है और प्राणवायु पर अधिकार कर लेने से उस का मन भी सदा के लिए परिशुद्ध हो जाता है।[2]

इस प्रकार मनुष्य के सर्वांगीण विकास में योग-तत्त्व चरित्र-निर्माण, चिकित्सा-विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व-कल्याण की भावना को विकसित करने से लेकर परमात्म साक्षात्कार तक पहुचने में योग अप्रतिम साधन है। योग ज्ञान के बिना मन को नियन्त्रित कर पाना बड़ा कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। जिस के कारण स्वरूप समाज में प्राणिमात्र ही नहीं, बल्कि पूर्ण समाज अनियन्त्रित-सा होने लगता है। जिसके परिणाम स्वरूप राजा औरा प्रजा दोनों ही एक

---

1. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
   प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् । (शा०उप0 २/१०)
2. मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योग्निः ।
   वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वैमलम् ।। (भा0 प्र0 ३/२८/१०)

दूसरे के अनुकूल व्यवहार न करके प्रतिकूल व्यवहार करने लगते हैं। फलतः समाज में भ्रष्टाचार फैलने लगता है। जो समाज मन को वश में नहीं रख सकता, धीरे-धीरे वह समाज पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। जैसे कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है - जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और मन को वश में नहीं रखता, उस की इन्द्रियाँ असावधान सारथि के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहने वाली हो जाती है।[1]

योग को मनोज्ञान भी कहा गया है। ऐसा इसलिए कहा गया है, क्योंकि योग भड़कते हुए मन को नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है। योग में ऐसी अनेक क्रियायें हैं, अनेक ऐसे मार्ग हैं, जिन्हें अपनाकर मन पर विजय पायी जा सकती है। जैसे कबीर दास जी ने अपने दोहों में कहा है कि मन के हार जाने पर मनुष्य सब कुछ हार जाता है, और मन को जीत लेने से जीत लेता है।[2] अर्थात मन को वश में करना परमावश्यक है। कहने का अभिप्राय यह है कि निरन्तर योगाभ्यास से मन को वश में कर मनुष्य शांति प्राप्त कर सकता है। शरीर और मन के साथ-साथ सुस्वस्थ समाज की स्थापना में भी योग का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हमें योग से स्पष्ट आदेश प्राप्त होते हैं कि यदि आप अपने समाज को अर्थात् विश्व में शान्ति की इच्छा रखते हो तो मन, वाणी, कर्म से योग में निर्दिष्ट किये गये धर्मों का पालन करने लगेंगे तो न ही कोई पराया लगेगा और न भ्रष्टाचार उत्पन्न हो पायेगा। फलतः सब ओर प्रेम का वातावरण बनेगा, जिस से धनी एवं निर्धन के बीच की जो दूरीयाँ हैं, वह भी दूर होंगी अर्थात् द्वैतभाव की जो भावना है, वह अद्वैतभाव बदल जाएगी, जिस से पृथिवी पुनः स्वर्गधाम बन सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि योग समाज

---

1. यस्त्वविज्ञानवान भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
   तस्येन्द्रियाणि अश्वयानि दुष्टाश्चा इव सारथेः ।। (कठो0उप0 १/३)
2. मन के हारे हार है, मन के जीते जीत - कबीर
   कह कबीर पुनी पाइए, मन के ही परतीत ।। (स0 भा0 दो0 १५)

को जोड़ता है तोड़ता नहीं, क्योंकि योग का अर्थ ही जोड़ना है।

योग का पर्यावरण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। योग अहिंसा का प्रसार करते हुये कहते है कि समाज में सर्वत्र अहिंसामय वातावरण रहना चाहिए और सभी प्राणी एक समान हैं और अहिंसा सब पर एक जैसे लागू होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी अहिंसा को परम धर्म बताया है। योग के माध्यम से शारीरिक पर्यावरण भी दो प्रकार का माना गया है प्रथम शारीरिक, द्वितीय मानसिक शरीरिक पर्यावरण को व्यायाम से तथा मानसिक पर्यावरण को बनाये रखने के लिए शास्त्र चिन्तन, गुरु आज्ञा एवं सत्यधर्मों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। मानसिक एवं शारीरिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ मित्र या साथी योग ही रहा है, जिसे अपनाकर मनुष्य इस विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि कौन सा द्रव्य उस के लिए उपयुक्त है और कौन सा अनुपयुक्त है। इस बात के ज्ञान के लिए मन-बुद्धि का एक होना परमावश्यक होता है, जिन्हें योगाभ्यास से एकाग्र किया जा सकता है। मन क्षण भर में वस्तु के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है और बुद्धि उसे अपने नियन्त्रण में रखकर उस से सभी कार्य करवाती है। योग की यही विशेषता है जो यह भड़कते हुये मन को कुछ यम नियमों से, तो शेष को षड् अंग योग से नियन्त्रण पा लेता है। जिस से शारीरिक एवं मानसिक पर्यावरण संतुलित रह सकता है।

संसार में जो भी वस्तु द्रव्य या क्रिया उत्पन्न होती है, उस से समस्त समाज लाभ पाता है। परन्तु लाभ के साथ ही साथ हानि का भी सम्बन्ध रहा है। जैसे पुण्य के साथ पाप का, ज्ञान से अज्ञान का, धर्म से अधर्म का सम्बन्ध समाज में स्थित है। वैसे योग से लाभ अधिक, हानि कम है। योग दर्शन समाज को निष्काम कर्म मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है और शिक्षा देता है कि जात-पात से ऊपर उठकर विश्व के उत्थान के लिए काम करो । मनुष्य को कर्त्तव्यपरायण होकर काम करना

और फल की इच्छा न रखना ही योग की शिक्षा है। योग का मानना है कि जो व्यक्ति जिस काम को कपटकारी समझकर त्याग देता है, वह वास्तव में उसे कर सकता है। बस आवश्यकता है तो प्रेरणा की और योग उस की प्रेरणा का एकमात्र स्रोत है। अर्थात् निरन्तर योगाभ्यास से व्यक्ति हर प्रकार का लाभ प्राप्त कर सकता है। योगाभ्यास करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि योग की शिक्षा देने वाला प्रशिक्षक बहुमुखी प्रतिभा का धनी हो, जो सम्यक् योग की शिक्षा प्रदान कर सके। उसे योग की विभिन्न-विभिन्न श्रेणियों का ज्ञान होना चाहिए, जिस से शारीरिक बल की अनावश्यक बृद्धि न हो और न ही अनावश्यक ह्रास हो, यदि ऐसा करने में प्रशिक्षक विफल रहता है, तब योग की हानि का भय भी रहता है। इसलिए शुक्ल यजुर्वेद में कहा गया है कि राजा को "योग के लिए एक योगवेत्ता की नियुक्ति करनी चाहिए।" [1]

(ख) योग के अंग और प्रकार

योग के आठ अंग होते हैं। आठ अंगों के कारण यह अष्टाँगयोग कहलाता है। योग के आठ अंगों के विषय में योगदर्शनकार का कथन निम्न प्रकार से है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धरणा, ध्यान और समाधि। ये योग के आठ अंग बताए गए हैं । [2]

महर्षि पतञ्जलि ने जीवों के कल्याण के लिए नाना प्रकार के शास्त्रों में वर्णित एवं आप्त-पुरूषों द्वारा व्यवहृत योग सम्बन्धी सारतत्त्व को अष्टांगयोग के रूप में प्रतिपादित किया है। जीव के बन्धन अथवा दुःख का मूल कारण अज्ञान है । वह प्रकृति से अलग है, परन्तु भ्रान्ति से उस को अपना रूप समझता है। यह भ्रान्ति

---

1. "योगााय युक्तारम्" - (शु0 यजु0, अ0 ३, मं0 १४) -
2. "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगीना" - (यो0 सू0 २/२९)

अथवा अज्ञान जब तक दूर नहीं होता, तब तक आवागमन के दुःखमय चक्कर से छुटकारा नहीं हो सकता। इस अज्ञान की निवृत्ति के लिए योग अथवा समाधि उत्कृष्ट साधन माना गया है।

योग के आठ अंगों से योगी को क्या लाभ होता है, इस विषय में महर्षि पतञ्जलि का कथन है - योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से चित्त के मल का अभाव होकर वह सवर्था निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है।[1]

योग के उपर्युक्त आठ अंग सम्पूर्ण मानव जीवन के अन्तः शुद्धिकरण के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दोषों का जिस प्रकार निराकरण होकर निर्मलभाव उत्पन्न होता है, वही वास्तव में मानव जीवन के उच्चादर्शों का द्योतक है।

वर्तमान में स्वार्थ, परिग्रह और दुराचार की प्रवृत्ति ने मानव जीवन में प्रवेश करके जीवन की आस्थाओं, नैतिक मूल्यों और उच्च आदर्शों को जिस प्रकार गिरा दिया है और जीवन को यथार्थ से विमुख कर कृत्रिमता, आडम्बर तथा भौतिकवाद की ओर तीव्रता से उन्मुख किया है, उस से निश्चय ही पौर्वात्य संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों की नींव हिलने लगी है। वैज्ञानिक और प्रगतिशील कहे जाने वाले वर्तमान युग में जिस रूप में भौतिकवाद का साम्राज्य छाया हुआ है, उस से प्राचीन सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों पर भीषण कुठाराघात हुआ है। योग के द्वारा मनुष्य को एक ऐसा सुदृढ़ नैतिक आधार प्राप्त होता है, जिस से वह अपने अन्तःकरण की सम्पूर्ण शक्तियों का विकास कर हीन और तुच्छ विचारों से बहुत अधिक ऊपर उठ जाता है। इस से

---

1. "योगांगनुष्ठानायशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।" (पा0 मो0 द0)

मनुष्य का जीवन सीधा, सरल और सात्विक बन जाता है। वह विघटनकारी प्रवृत्तियों से विमुख होकर केवल निर्माण और विकास में सुख का अनुभव करता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि - बुद्धिमान् पुरूष नित्य-निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करे, केवल नियमों का नहीं। जो यमों का पालन न करके, केवल नियमों का पालन करते हैं, वह साधन-पथ से गिर जाते हैं।[1] इन का साधन किये बिना ध्यान और समाधि की सिद्धि होनी कठिन है। अतः योग सिद्धि चाहने वाले पुरूष को यम-नियमों का साधन अवश्य ही करना चाहिए । इन के पालन से चोरी, झूठ, कपट आदि दुराचारों का और काम, क्रोध, लाभ, मोह आदि दुर्गुणों का नाश होकर, अन्तःकरण की पवित्रता होती है। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनों में बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधि की इच्छा करने वाले साधकों को दोषों का नाश करने के लिये प्रथम यम-नियमों का पालन करके ही योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करना चाहिए। जो पुरूष योग के आठों अंगों का अच्छी प्रकार से साधन कर लेता है, उस का अन्तःकरण पवित्र होने पर ज्ञान की अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहने वाले पुरूष कलेश और कर्मों से छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं।

जीव और शिव का मिलना योग है। शिव और शक्ति का मिलना योग है। भक्त और भगवान् का मिलना योग है, चित्तवृत्ति का भगवदाकार होना योग है। वृत्ति का आत्माकार होना योग है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योगांगों की संख्या आठ है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।[1] 'शिव पुराण'

---

1. यमान् सेवत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। (मनु० स्म० ४/२०४)

1.क) यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि। (पा० यो० द०)

ख) शि० पु० वायुसं० अ० ३७, आखिरी श्लोक।

में भी ये ही आठ अंग माने गए हैं। 'गरूड पुराण' में भी यही आठ अंग बताये गये हैं। इन अंगों की दो भूमिकाएँ हैं - (1) बहिरंग (2) अनतरंग।

बहिरंग - यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन्हें बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहर की क्रियाओं से ही सम्बन्ध होता है। धारणा, ध्यान तथा समाधि ये अन्तरंग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से होने के कारण इनको अन्तरंग कहते हैं।

शडिल्योपनिषद् में भी ''आत्मा की प्राप्ति के उपाय रूप अष्टांग योग का कथन है। इन आठ में प्रथम 'यम' दस हैं 'नियम' भी दस हैं, 'आसन' आठ हैं, 'प्राणायाम' तीन हैं, 'प्रत्याहार' पाँच हैं, 'धारणा' भी पाँच हैं, 'ध्यान' दो प्रकार का होता है और समाधि एक प्रकार की है।[1]

इन आठ अंगों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :-

1. <u>यम</u> :-

यम का अर्थ है मन एवं इन्द्रियों का नियमन करना। विभिन्न उपनिषदों जिन में त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, शाडिल्योपनिषद् में दस यम प्रतिपादित किए गए हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा मिताहार और शौच से दश यम होते हैं ।[2]

(क) अहिंसा - मन, वचन, काया और कर्म द्वारा सर्व प्राणियों को सदैव दुःख न देना ही अहिंसा है।

---

1. यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाध्योपटाङ्गानि।
तत्रा दश यमाः । तथानियमाः । आयनान्यष्टौ। त्रिः प्राणायामः।
पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणाः द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः । (शा0 उप0 अ0 १/१)

2.क) अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं ययार्जवम् ।
क्षमाधृतिमिताहारः शौचं चेति यमा दशः ।। (शा0 उप0 १ अ0 १)

ख) त्रिशि ब0 उप0 ३२-३३/१)

(ख) सत्य - अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया हो, हित की भावना से, कपटरहित, प्रिय वचनों में वैसा-का-वैसा ही प्रकट करना अर्थात् प्राणियों का हितकारक जो हो वैसा ही बोलना सत्य है।

(ग) अस्तेय - असतेय का सामान्य अर्थ है - चोरी नहीं करना। दूसरे के धन में मन, वचन, शरीर और कर्म द्वारा लिप्सा न होना ही अस्तेय है।

(घ) ब्रह्मचर्य - सर्व अवस्थाओं में मन, वचन, काया और कर्म द्वारा सब प्रकार के मैथुनत्याग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है - ब्रह्म-आत्मा और चर्या-रमण करना अर्थात् अपने शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

(ङ) दया - दया के अर्थ हैं - कृपा, सुकुमारता, करूण, अनुकम्पा। सभी भूतों में अनुग्रह का भाव दया है। दीनों पर अनुकम्पा करना दया है। दूसरों के साथ, अपने बन्धुओं के साथ, द्वेषियों या मित्रों के साथ सदैव एक जैसा व्यवहार करना दया है।[1]

(च) आर्जत - आर्जत के अर्थ हैं - सादगी, विनम्रता, सरलता, स्पष्टवादिता, सद्वर्ताव, खरापन, ईमानदारी, निष्कपटता उदार व दया होना। अर्थात मन, वचन, काया और कर्म के रूप में अपनी तरफ से लोग शास्त्रीय-अशास्त्रीय आचरण में प्रवृति करें या निवृति करें, तो भी उन सब में समानभाव रखना ही आर्जव है।

(छ) क्षमा - क्षमा का अर्थ है - धैर्य, सहिष्णुता, माफी। सदैव प्रिय तथा अप्रिय में, अपमान अथवा पूजन में बुद्धि को समभाव रखकर सहन करना क्षमा है।

(ज) धृति - धृति शब्द का अर्थ है - लेना, पकड़ना, हसतगत करना, रखना, अधिकृत करना, स्थापित रखना, सहारा देना, दृढ़ता, स्थिरता, स्थैर्य, धैर्य, स्फूर्ति,

---

1. परेवावन्धुवर्गे च मित्रे द्विषादि वा सदा ।
आत्मवद्वत्तितव्यंहि दयैषा परिकीर्त्तिता।। (प० पु०)

दृढ़संकल्प, आत्म संयम, सन्तोष, तृप्ति, सुख, प्रसन्नता, खुशी, हर्ष, यज्ञ, साहित्यशास्त्र में वर्णित - ३३ व्यभिचारी भाव में 'सन्तोष' के अन्तर्गत इस की गिनती की गई है।

अर्थहानि, इष्टबन्धुओं का वियोग अथवा संयोग हो, इन दोनों की प्राप्ति में सर्वत्र चित्त में समत्वभावना को धृति कहते हैं।

(झ) मिताहार - पेट में चौथा भाग खाली रखना तथा उत्तम घी-दूध वाले मधुर पदार्थों का आहार करना ही मिताहार है।

(ञ) शौच - शौच का अर्थ पवित्रता, स्वच्छता से है। जिस के दो प्रकार माने गये हैं - (1) बाह्य और (2) आभ्यन्तर । बाह्यशुद्धि मिट्टी, साबुन, जलादि से की जा सकती है। आन्तरिक शुद्धि मन की शुद्धि है जिसके लिए आध्यात्मविद्या का अभ्यास आवश्यक है। शरीर की शुद्धि जल द्वारा तथा मन की शुद्धि सत्य से होती है। विद्या एवं तपोबल से समस्त प्रकार का अज्ञान दूर होकर बुद्धि शुद्ध होती है।

2. <u>नियम</u> :-

इन्द्रियों को निगृहीत करना नियम है।[1] तेजोबिन्दुपनिषद् में नियम की व्याख्या इस प्रकार की गई है। घट पटादि की विजातीय वृत्तियों का निरोध करते हुए अखण्ड चिन्मात्र की सजातीय वृत्तियों का प्रवाह जो परम आनन्द दायक होता है उस को नियम कहते हैं।[2] उपनिषदों में यमों की भाँति नियमों की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है, जो विशेषतः शाडिल्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड एवं दर्शनोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में मिलती है।

तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप और

---

1. नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः । (निर्गु0 उप0)
2. सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृति ।
   नियमो हि परानन्दो नियमात्त्रियते बुधैः ।। (तेजो0 वि0 उप0 १/१८)

ब्रत - ये दस नियम हैं [1] इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकर है -

(क) तप - अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म अनुशीलन और पालन करना तथा उसके पालन में जो शारीरिक और मानसिक कष्ट हों, उन्हें निर्विकारभाव से सहर्ष सहन करना 'तप' कहलाता है।

(ख) सन्तोष - सन्तोष का अर्थ -शान्ति, परितुष्टि, प्रसन्नता, खुशी, हर्ष, जितना प्राप्त हो उतने में सन्तुष्टि मान लेना सन्तोष माना गया है। [2]

(ग) आस्तिक्य - अस्तित्व को स्वीकार करना आस्तिक्य है। आस्तिक शब्द का अर्थ है, ईश्वर तथा परलोक में विश्वास रखने वाला, अपनी धर्म परम्परा में विश्वास रखने वाला, श्रद्धालु, पवित्रात्मा, भक्त ।

(घ) दान - दान का अर्थ है - देना, अध्यापन, सोचना, समर्पण करना, उपहार, उदारता, न्यायपूर्वक कमाये हुए धन तथा श्रद्धापूर्वक योग्य देश, काल, पात्र को दिया हुआ धन दान कहलाता है।

(ङ) ईश्वरपूजन - "विश्वं विभुः" विश्वरूप परमात्मा को सेवा करना ईश्वर पूजन है। तथा प्रसन्न स्वभाव से यथाशक्ति विष्णु, रूद्र आदि विभूतियों की प्रतिमाओं में व्यापकत्व भावना रखकर षोडशोपचार या पंचोपचार से पूजन करना भी ईश्वर पूजन है।

(च) सिद्धान्त श्रवण - वेदान्त के अर्थ का विचार करना 'सिद्धान्तश्रवण' है। परमात्मा सत्य स्वरूप, अनन्त, ज्ञान, परमानन्दस्वरूप, नित्य, अचल है। ऐसा जान लेना वेदान्त श्रवण माना गया है।

(छ) ह्री - वेदमार्ग में और लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कर्मों को करने में लज्जा का अनुभव करना। शाण्डिल्योपनिषद् में वैदिक तथा लौकिक मार्ग में कुत्सित

---

1. तपः सन्ऽतोषाास्तिक्ययानेश्वरपूजनद्धिान्तश्रवण ह्रीमतिजपव्रतानि दशनियमाः ।
2. सन्तोषो नाम यदृच्छलाभसन्तुष्टिः । (शा0 उप0 १/२/)

कर्मों में आगत लज्जा को ही लज्जा कहा गया है। श्रीमद्भागवत में कर्मों को करने में जो जुगुप्सा है, उसे लज्जा कहा गया है। साहित्यदर्पण में किसी के सामने कर्म करने में झिझक को जुगुप्सा कहते हैं। इस प्रकार ह्री का अर्थ, गुरुजनों के सामने लौकिक, वौदिक मार्ग का पालन लज्जा के साथ करने के भाव से है।

(ज) मति - वेदोक्त कर्म में श्रद्धा रखना। योग में मति का अर्थ ज्ञान तथा श्रद्धा से ग्राह्य है।

(झ) जप - गुरुपरम्परा से विधिवत् गुरु द्वारा दी गई विधि के द्वारा आत्म-साक्षात्कार का विषय बार-बार मनन करने को जप कहा जाता है। योग में जप का अर्थ, योगविधि का अभ्यास करना है। जप दो प्रकार के बताये गये हैं - वाचिक और मानिसिक । इस में मानसिक तो मन के द्वारा ध्यानयुक्त होने से होता है और वाचिक दो प्रकार से होता है - ऊँचे स्वर से और मन्द स्वर से । ऊँचे स्वर से जप करने से जितना कहा जाये, उतना ही फल मिलता है, पर मन्द स्वर से जप करने से हजार गुणाफल मिलता है और मानसिक जप का फल तो करोड़ गुणा मिलता है।

(ञ) व्रत - वेद-पुराणों में लौकिक या वैदिक विधि-निषेधमय अनुष्ठानों के नियमों को व्रत कहा गया है।

3. <u>आसन</u> :-

आसन शब्द का सामान्य अर्थ है - बैठना लोक व्यवहार में उस चौकोर या गोल वस्त्र या कम्बल के टुकड़े को भी आसन कहा जाता है। सुखपूर्वक स्थिरता से बहुत काल तक बैठने का नाम आसन है।[1] विभिन्न विद्वानों ने आसनों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। परन्तु शाडल्योपनिषद् में आठ आसनों विवरण है, जो इस

---

1. स्थिरसुखमासनम् । (यो0 द0 २/४६)

प्रकार से हैं - स्वस्तिक, गोमुख, पदम, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूरासन ।[1]

4. <u>प्राणायाम</u> :-

प्राणायाम का अर्थ है - श्वास का नियन्त्रण अर्थात् प्राण और अपान को इकट्ठा कर देना, प्राणायाम है। श्वास और प्रश्वास को गति नासिका छिद्रों द्वारा श्वास यन्त्रों के संकुचन और औकुंचन से होती है। प्राणायाम से शरीर में विश्वशक्ति का संचय होता है।

प्राणायाम के तीन भेद हैं - (1) रेचक (2) पूरक (3) कुम्भक ।

1. रेचक - प्रश्वास को नासिका छिद्रों द्वारा शरीर से धीरे-धीरे बिल्कुल बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। वेग से रेचक करने से बल की हानि होती है तथा रोग उत्पन्न होते हैं।

2. पूरक - श्वास को नासिका छिद्रों द्वारा शरीर के अन्दर धीरे-धीरे भरपूर भरने को पूरक कहते हैं।

3. कुम्भक - श्वास जो कि पूरक द्वारा शरीर के अन्दर भरपूर भरा है, सब द्वारों को बन्द कर प्रश्वास को रोकने को कुम्भक कहते हैं, अथवा प्राण की क्रिया है श्वास और अपान की क्रिया है प्रश्वास और इन दोनों की गति का अवरूद्ध होना कुम्भक है। कुम्भक के आठ भेद हैं जैसे - (1) सूर्यभेदि (2) उज्जायी (3) शीतकारी (4) शीतली (5) भस्त्रिका (6) भ्रामरी (7) मूर्छा (8) प्लावनी । यह दो प्रकार का है - (1) सहित कुम्भक (2) केवल कुम्भक ।

---

1. स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यारसनान्यष्टौ । (शा0 उप0 अ0 १/२/१)

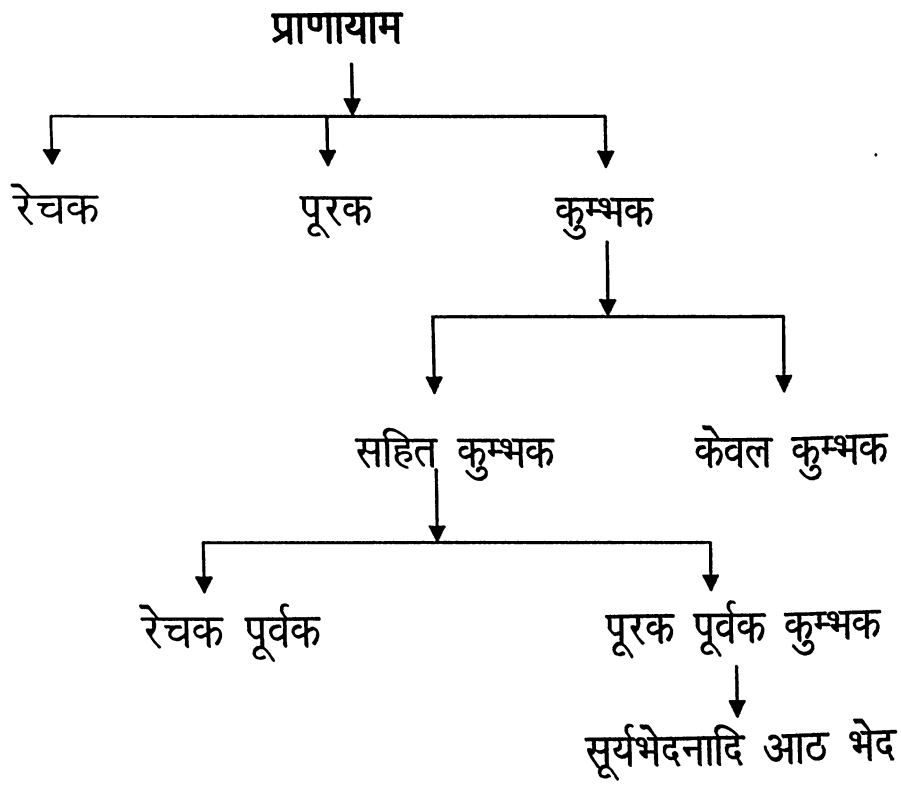

5. <u>प्रत्याहार</u> :-

प्रत्याहार योग का पाँचवा अंग है। पतञ्जलि के अनुसार अपने विषयों से सम्पर्क न होने पर इन्द्रियों द्वारा चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने का नाम प्रत्याहार है । वेदान्तसार में भी प्रत्याहार का लक्षण इसी प्रकार दिया गया है। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निवृत कर लेना प्रत्याहार है।[1] इन्द्रियों को रोकने वाला चित्त ही है । चित्त के रूक जाने से ये इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। ये पाँचों अंग योग के बहिरंग साधन हैं, क्योंकि चित्त को स्थिर करने के बाद क्रमशः समाधि तक पहुँचा जा सकता है। धारणा, ध्यान और समाधि चूँकि समाधि के स्वरूप की निष्पत्ति करते हैं, अतः अन्तरंग साधन कहलाते हैं। प्रत्याहार के द्वारा जब मन निरुद्ध हो जाता है, तो समस्त इन्द्रियाँ अपने आप ही निरुद्ध हो जाती हैं और चित्त में ही उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। फिर पृथक् से इन्द्रियों को जीतने के लिए किसी अन्य

---

1. इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेश्यः प्रत्याहरण प्रत्याहारः ।। (वेदा० सा० पृ० १४६/२०४)

उपाय की आवश्यकता नहीं रहती।

शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार के पाँच भेद गिनाये गये हैं।

1. विषयों में घूमती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेने को प्रत्याहार कहते हैं।
2. जो-जो देखता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना प्रत्याहार है।
3. नित्य किये कर्मों के फल का त्याग प्रत्याहार कहलाता है।
4. सभी विषयों से विमुख होने का नाम प्रत्याहार है।
5. अठारह मर्म स्थलों में क्रम से धारणा करना प्रत्याहार है।[1] पैर का अँगूठा, गुल्फ, जंघा, जानु, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नाक, आँख, भौंहों का मध्य, ललाट और मस्तक - इन १८ मर्म स्थनों में चढ़ाव-उतार के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए।

6. <u>धारणा</u> :-

'धारणा' योग का अन्तरंग साधन है। धारणा से ध्यान और समाधि होती है। यह योग का छठा अंग है। चित्त को किसी एक देशविशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है।[2] अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना 'धारणा' कहलाती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण का प्रवेश सुषुम्ना में हो जाने पर चित्त को पञ्च धारणा करनी चाहिए। भूमि-जल-वायु-आकाशादि पञ्च महाभूत सहित इनके देवताओं सहित पाँच धारणायें कही गयी हैं। प्रत्याहार से जब विषयों का व्यावर्तन हो जाता है, उस समय चित्त में चैतन्यता आती है। उस चैतन्यता की धारणा शक्ति को धारणा कहते हैं।

---

1. विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः । नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः सर्व विषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानलेषु कमाद्धारणं प्रत्याहारः । (शा0 उप0 अ0 १/८/८)
2. तत्र देश्बन्धीश्चत्तस्य धारणा - (यो0 द0 पा0 ३/१)

पाँच धारणायें - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

1. पृथ्वी धारणा -

आकार	-	स्थान	-	देवता	-	वर्ण	-	बीज
चोकोट	-	हृदय	-	ब्रह्म	-	पीत	-	लं

2. जल धारणा

आकार	-	स्थान	-	देवता	-	वर्ण	-	बीज
चन्द्राकार	-	कण्ठ	-	विष्णु	-	श्वेत	-	वं

3. अग्नि धारणा

आकार	-	स्थान	-	देवता	-	वर्ण	-	बीज
त्रिकोण	-	तालु	-	स्द्र	-	रक्त	-	रं

4. वायु धारणा

आकार	-	स्थान	-	देवता	-	वर्ण	-	बीज
षटकोण	-	भ्रूमध्य	-	शिव	-	मेघ	-	यं

5. आकाश

आकार	-	स्थान	-	देवता	-	वर्ण	-	बीज
वृताकार	-	कपाल	-	ब्रह्म	-	श्याम	-	हं

भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलायी गई है - (1) स्थूल तथा (2) सूक्ष्म। 'शाण्डिल्योपनिषत्' में तीन प्रकार धारणा बतलायी गई हैं। आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बाहर के आकाश की धारणा और पृथ्वी, जल तेज, वायु तथा आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा।[1]

---

1. आत्मानि मनोधारणं दहराकोशे बाह्याकाशधारणं
पृथिव्यप्तेजोवायवाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारण।। (शा0 उप0 १, अ0 ८, खण्ड २१.९)

7. ध्यान :-

धारणा में चित्त की किसी एक स्थान पर स्थित किया जाता है। जब वह उस में स्थिर रहकर निरन्तर उसी में एकतार चलता रहता है, उसी को 'ध्यान' कहते हैं।[1] साधना के क्षेत्र में ध्यान का महत्त्व सर्वोपरि है। योग दर्शन में भी एक स्वतन्त्र अंग के के रूप में इस का महत्त्व स्वीकृत है। महात्मा बुद्ध ने भी ध्यान को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। 'ध्यान' हमारी चेतना की ही एक अवस्था विशेष है, वह अध्यात्म विद्या का प्राण और साधना का प्रमुख अंग है। ध्यान के बिना न केवल साधना पद्धति, अपितु समग्र अध्यात्म विद्या अपूर्ण है, पंगु है। ध्यान आत्मज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन है, अतः वह आत्मा का परम हितैषी तत्त्व है, क्योंकि इसके माध्यम से ही मनुष्य अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। ध्यान के प्रभाव से योगी की जीवात्मा जीव संज्ञा को त्याग कर परमात्मा में मिल जाती है।

ध्यान दो प्रकार का कहा गया है - सगुण और निर्गुण। मुर्ति का ध्यान करना 'सगुण' ध्यान कहा जाता है। और आत्मा के स्वरूप का ध्यान करने को निर्गुण ध्यान कहते हैं।[2] ध्यान से तात्पर्य वस्तुतः परमब्रह्म निर्विकार, अद्वितीय, शुद्ध, चैतन्यमय, सत् आनन्दमय परमात्मा के अनुस्मरण में स्वयं की निरन्तर स्थिति का ही नाम है।

8. समाधि -

समाधि शब्द सम् + धि = से बना माना जाता है, जिसका तात्पर्य समत्व बुद्धि लिया जाता है। जैसा कि गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया है कि समत्व ही योग है।[3] इसी प्रकार सम् + आधि से भी समाधि शब्द का विश्लेषण किया जाता है जहाँ सम् का अर्थ 'सम्यक्' और 'आदि' का अर्थ आधीमते अर्थात्

---

1. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (योग0 द0 पा0 ३, सूत्र २)
2. तद्द्विविधं सगुणंनिर्गुणं चेति।
   सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ।। (शा0 उप0 ख0 ८ अ0 १, श्लो0 १०)
3. समत्वं योग उच्यते - (भा0 गी0 अ0 २/४७)

आक्षिप्यते चित्तं अस्मिन् इति। तात्पर्य है, जिस अवस्था में चित्त भली प्रकार विलीन हो जाता है, उसे समाधि कहते हैं। भावचिन्तन करके किसी एक विषय पर केन्द्रित करना, अथवा ब्रह्म चिन्तन में चित्त की पूर्णलीनता होना समाधि कहा जाता है। यह योग की आठवीं और अन्तिम अवस्था है। आष्टांग योग में समाधि का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधना की यह चरम अवस्था है, जिसमें समाधिस्थ योगी का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है, जिस में योगी चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

धारणा और ध्यान में कोई स्थान या वस्तु विशेष होती है, जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। किन्तु यह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु के आकार में स्थिर हो जाये, न ध्यान रहे न ध्याता, तब उसे 'समाधि' कहते हैं। ध्यानावस्था में ध्यानक्रिया, ध्यान करने वाले तथा ध्येय वस्तु की भी प्रतीति होती है। किन्तु अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर तीनों जब एकाकार होकर ध्येय के स्वरूप में प्रतीत होने लगे, तब उस अवस्था को 'समाधि' कहा जाता है।

जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की त्रिपुटी राहित, परमानन्द स्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय अवस्था का नाम 'समाधि'[1] है।

जिस प्रकार पानी में नमक मिल जाता है, उसी प्रकार योग द्वारा आत्मा और मन का एक हो जाना 'समाधि अवस्था' कही जाती है।

योगांगों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि योग के अंग यम-नियमादि का पालन करते हुए योगी समाधि की अवस्था तक पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

---

1. जीवात्मपरमात्मैक्यावस्थः त्रिपुटीरहिता
परमानन्दस्वरूपा शुद्ध चैतन्यात्मिका भवति।। (अ0 १, ख0 ८, शा0 उप0 श्लो0 ११)

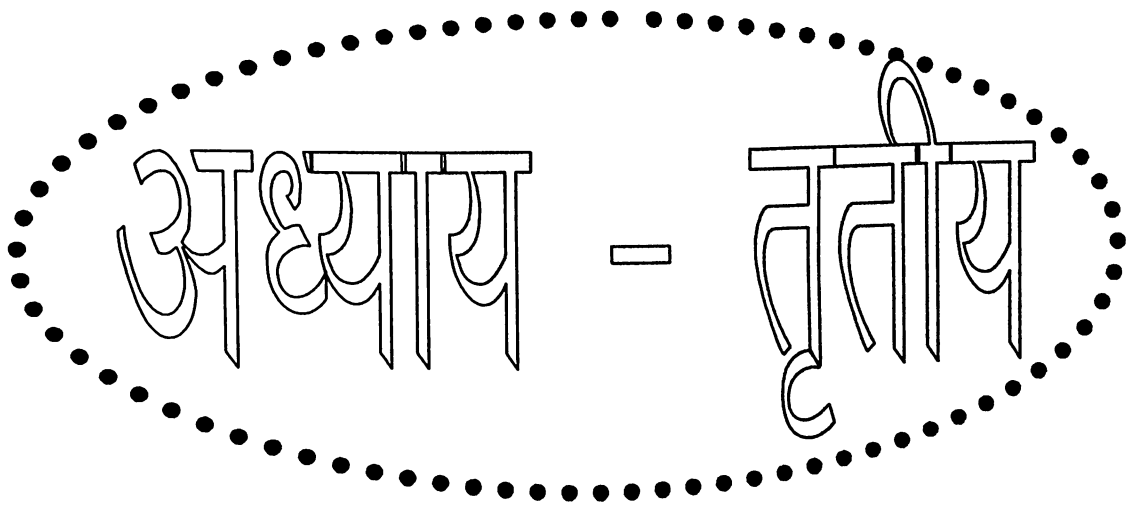
अध्याय - तृतीय

तृतीय अध्याय

प्रमुख आसन, प्रक्रिया तथा रोग उपचार :

आसन

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। शरीर की स्वस्थता के कारण ही मनुष्य की धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में प्रवृति होती है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही ईश्वर की आराधना और लौकिक कर्मों का सम्पादन होता है। शरीर की पुष्टि, अंगों की दृढ़ता, जठराग्नि की प्रदीप्तता, मन और इन्द्रियों की प्रसन्नता तथा शरीर की निरोगता - ये कुछ ऐसे लक्षण हैं, जो स्वस्थ शरीर के परिचायक हैं। उन लक्षणों की सम्पूर्ति हेतु तथा इस के माध्यम से अन्त में परमब्रह्म का साक्षात्कार कर उस से तादात्म्य भाव स्थापित करने हेतु महर्षि पतञ्जलि ने योगांगों के अन्तर्गत 'आसन' का कथन किया है। महर्षि पतञ्जलि ने 'यम' और 'नियम' के पश्चात् तीसरे अंग के रूप में 'आसन' का कथन किया है, किन्तु कतिपय अन्य विद्वानों ने आसन को प्रथमांग के रूप में ही स्वीकार किया है। योगांगों में प्रथमांग के रूप में आसन का कथन करना उस के महत्त्व का परिचायक है। हठयोग में भी आसन को प्रथमांग कह कर उस का प्रतिपादन इस प्रकार से किया है -

हठयोग का प्रथम अंग होने से आसन (के गुण और उसकी विधि) को प्रथम कहते हैं। आसन (शरीर तथा मन में) स्थैर्य, आरोग्य और शरीर के विभिन्न अंगों में लाघव उत्पन्न करते हैं। [1]

इस के अतिरिक्त हठयोग के अभ्यास क्रम में भी आसन प्रथम ही होता है।

---

1. "हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ।।" (हठ0 यो0 १/१७)

हठयोग में आसन, कुम्भक, चित्र, मुद्राख्यकरण, नाद और अनुसन्धान का क्रमानुसार अभ्यास करना चाहिए ।[1] उपनिषदों में जहाँ पञ्चादशांग योग का वर्णन किया गया है वहाँ आसन को सातवाँ और जहाँ अष्टांग योग प्रतिपादित है, वहाँ आसन को तीसरा अंग माना गया है। ध्यान बिन्दु और योग चूड़ामणि उपनिषदों में यम और नियम को आध्यात्मिक साधना की आधारशिला होने के कारण पूर्व गृहीत मान कर उनका स्वतन्त्र योगांग के रूप में उल्लेख न कर षडंग योग का प्रतिपादन करते हुए आसन को प्रथम योगांग बतलाया गया है। अमृतनादोपनिषद् में यम नियम की ही भाँति आसन को भी योग साधना के लिए आवश्यक मानने के कारण उस का स्वतन्त्र योगांग के रूप में उल्लेख न करते हुए भी पद्मासन, स्वस्तिकासन या भद्रासन में बैठकर षडंगयोग की साधना करने का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से आसन की उपयोगिता और महत्त्व सुस्पष्ट हैं। हठयोग के आचार्यों ने आसन का कथन प्रथमतः करके उस की उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया है। इस का अभिप्राय यह हुआ कि आसनों का अभ्यास किए बिना योग में सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। यम और नियम योगी के आचरण की शुद्धि और मनोगत विकारों को निर्मूल करने के लिए उपयोगी होते हैं। किन्तु आसन का अभ्यास एक ऐसी क्रियाविधि है, जो ब्रह्म-साक्षात्कार कराने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

'आसन' शब्द का सामान्य अर्थ है-बैठना । लोक व्यवहार में उस चौकोर या गोल वस्त्र खण्ड या कम्बल के टुकड़े को भी आसन कहा जाता है जो बैठने के काम आता है। इस के अतिरिक्त बैठने के लिए लकड़ी, चमड़ा, कुश या पत्तियों से बनाए गए चौकोर खण्ड की भी 'आसन' संज्ञा है। अतः सामान्य व्यवहार में बैठने के लिए

---

1. आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यकरणं तथा ।
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।। - तदैव

प्रयोग किया जाने वाला उपयोगी साधन 'आसन' कहलाता है। शास्त्रीय सन्दर्भ विशेषतः योग के सन्दर्भ में शरीर और उस के षडंगों की विशिष्ट स्थिति को 'आसन' कहते हैं। जब शरीर को सामान्य स्थिति की अपेक्षा हाथ-पैर को संकुचित कर उन्हें ऊपर या नीचे कर शरीर झुकाकर या तानकर किसी विशेष स्थिति में रखा जाता है, तो वह 'आसन' कहलाता है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में आसन के निरूपण के प्रसंग में कहा गया है कि आसन ऐसा होना चाहिये कि जिस में व्यक्ति सुखपूर्वक अधिक देर तक बैठ सके। [1]

जो साधक या योगी अपनी योग्यता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना किसी प्रकार की पीड़ा के देर तक बैठ सके, वही आसन उस के लिए उपयुक्त होता है। अन्य शास्त्रों में भी आसन का यही भाव प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार तेजोबिन्दूपनिषद् में प्राप्त विवरण के अनुसार आसन वस्तुतः वह स्थिति है, जिस में सुखपूर्वक चिरकाल तक बैठकर निरन्तर ब्रह्म चिन्तन किया जा सके। ऐसी स्थिति से भिनन अन्य स्थितियाँ केवल सुख का नाश करने की साधन मात्र हैं। [2]

इसलिये जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरन्तर परमब्रह्म का चिन्तन किया जा सके, उसे ही आसन समझना चाहिए। सुख का विनाश करने वाली अन्य स्थिति आसन नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी आसन की ऐसी ही परिभाषा बतलाई है। स्थिर और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है। [3] इस प्रकार शरीर और उसके षडंगों की विशेष

---

1. "सुखासनवृतिश्चिरणसश्चैवमासननियमो भवति।" (म0 ब्रा0 उप0 १/१/५)
2. "सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
   आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ।। (तेजो0 वि0 उप0)
3. स्थिरसुखमासनम् (यो0 सू0 २/४६)

स्थिति चाहे वह बैठने की हो, खड़े होने की हो, शरीर को मोड़ने की या सीधा रखने की हो उस को आसन कहा जाता है। कुछ लोग आसन का अर्थ केवल बैठना लगाते हैं। उनके अनुसार सुखपूर्वक बैठना मात्र ही 'आसन' है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। योगशास्त्र में जो आसन बतलाए गए हैं, उनमें अनेक ऐसे हैं जो खड़े हो कर, विभिन्न प्रकार से लेटकर, सिर को नीचा और पैरों को ऊपर कर किए जाते हैं। अतः केवल बैठना ही आसन का ज्ञापक नहीं है।

आसन और व्यायाम :

आसन योग का अंग होने से उन्हें "योगिक व्यायाम' भी कहा जाता है। वैद्यकीय दृष्टि से आसन और सूर्य नमस्कार आदर्श व्यायाम हैं। सूर्य नमस्कार में व्यायाम के अतिरिक्त भगवान् सूर्य की आराधना पूजा, नमस्कार तीर्थ सेवन इत्यादि दैवीकर्म होने से उसे "दैवी व्यायाम" कह सकते हैं। अधिक संख्य सामान्य व्यायाम केवल शरीर बलबर्धक होते हैं। अतः वे शारीरिक व्यायाम कहलाते हैं। शारीरिक व्यायामों की अपेक्षा यौगिक व्यायाम (आसन) और दैवी व्यायाम (सूर्य नमस्कार) अधिक श्रेयस्कर होते हैं, क्योंकि उन में शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा भी अनुबंधित रहते हैं।

आसन और व्यायाम का निकटत्तम सम्बन्ध है। आयुर्वेद शास्त्र में व्यायाम की परिभाषा निम्न प्रकार से बतलाई गई है। शरीर की वह चेष्टा जो शरीर की स्थिरता के लिए की जाती है और जो शरीर के बल को बढ़ाने वाली होती है व्यायाम कहलाती है। उसे मात्रापूर्वक करना चाहिए ।[1]

---

1. "शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवधिनी ।
देहव्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ।।" - (च0 सं0 सू0 ७/३१)

इस के अनुसार आसन भी व्यायाम परिधि में आ जाते हैं। क्योंकि योगशास्त्र में वर्णित सभी आसन शारीरिक चेष्टा है और उन से शरीर की स्थिरता होती है तथा शरीर में बल की वृद्धि होती है। आसनों के द्वारा शरीर के अवयव पुष्ट, दृढ़ और स्थिर होते हैं आसनों से शरीर में रक्त संचार व्यवस्थित होता है तथा शरीर के अनेक रोगों का उपशम होता है। आसनों का सतत अभ्यास करते रहने से शरीर को वे गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं, जो व्यायाम के द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः आसन व्यायाम क अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

शारीरिक स्थिरता, बल की वृद्धि शारीरिक आरोग्य तथा अन्य भौतिक से आसन और व्यायाम में जहाँ निकटता और समानता है, वहाँ अनेक दृष्टि से दोनों में भिन्नता भी है। व्यायाम के द्वारा केवल देहसिद्धि ही होती है, जबकि आसन के द्वारा देह सिद्धि के अतिरिक्त मोक्षसिद्धि भी होती है। इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन का क्षेत्र अधिक व्यापक है। आसन जहाँ आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति के साधन हैं, व्यायाम वहाँ मात्र भौतिक उपलब्धि तक ही सीमित हैं। कुछ लोग आसनों का सम्बन्ध शक्तिशाली शारीरिक व्यायाम या शरीर को मांसल व पुष्ट बनाने वाली प्रक्रियायों से जोड़ते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। आसनों का उपदेश न तो शरीर को झटके के साथ हिलाने डुलाने के लिए किया गया है और न मांसपेशियों को अनावश्यक रूप से बढ़ाने व पुष्ट करने के लिए ही उनकी रचना है। 'आसन' तो वस्तुतः शरीर की वह स्थिति है, जिस में आसन अभ्यासी या योगी अपने शरीर और मन के साथ शांत, स्थिर और सुखपूर्वक स्थित हो सके। क्योंकि अपनी अन्तरात्मा के साथ एकाकार होने का अनुभव ही 'योग' है और इस अनुभव की उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन 'आसन' है।

आसन के द्वारा स्वास्थ्य लाभ तो अनायास ही हो जाता है। अनेक रोगों के उपचार के लिए भी विभिन्न आसनों का अभ्यास किया जा सकता है। अनेक रोगों में कतिपय आसन अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध हुए हैं। कई बार विभिन्न रोगों के उपचार के लिए योगासनों की उपयोगिता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हुई। जो व्यक्ति अपनी दैनिकचर्या में से प्रतिदिन नियमित रूप से थोड़ा सा समय भी आसनों के लिए निकालता है, उसे कभी भी बीमारी के लिए अपना कीमती समय बर्बाद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता एक प्रसिद्ध विद्वान् का यह कथन - ''जिसे व्यायाम के लिए समय नहीं मिलता, उसे बीमारी के लिए समय निकालना पड़ेगा'' कितना सार्थक, महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है ? यह कथन यद्यपि व्यायाम के लिए कहा गया है, तथापि आसन के लिए भी पूर्णता चरितार्थ होता है।

चाहे धर्म का आचरण करना हो या अर्थ की प्राप्ति, चाहे काम के निमित्त मनुष्य प्रेरित हो या मोक्ष साधन में लगा हुआ हो, शारीरिक आरोग्यता उस के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। [1] शारीरिक स्वास्थ्य के बिना चारों पुरूषार्थों में से किसी भी पुरूषार्थ की प्राप्ति या साधन सम्भव नहीं है। आसनों का अभ्यास करते हुए जब योगी आध्यात्मिक उद्धेश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तो आसनों के अभ्यास के माध्यम से वह धार्मिक आचरण में तो तत्पर रहता ही है, उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर भी उन आसनों का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक आसन किसी न किसी रूप से शरीर के आभ्यन्तरिक अव्यवों और उनकी क्रियाओं को अवश्य ही प्रभावित करते हैं, जिस से सभी अवयवों की क्रियाएं प्राकृत रूप से सम्पन्न होती हैं। इस का प्रभाव यह होता है कि शरीर पर अकस्मात् रोग का आक्रमण नहीं हो पाता और जो रोग पहले से शरीर में विद्यमान है, उस का नाश हो जाता है। अतः शरीर स्वस्थ हो जाता

---

1. ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' - कालिदास

है। इस प्रकार मोक्ष साधन में सहायक आसन पहले ही आरोग्य लाभ उत्पन्न करा देते हैं, जिस से मूल उद्धेश्य की प्राप्ति में कोई बाधा न हो। आसनों के द्वारा आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आई हुई बाधाओं का निराकरण होता है और स्वस्थ शरीर उस के लिए पूर्ण सहायक एवं तत्पर रहता है।

आसन और व्यायामों में एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास में आसनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है, जबकि व्यायामों का प्रभाव केवल शारीरिक स्वास्थ्य, शारीरिक संगठन, शरीर की मांस पेशियों की पुष्टता एवं अथियों की दृढ़ता तक ही सीमित रहता है।

व्यायाम और आसन की क्रिया विधि में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अधिकांश व्यायाम प्रायः भारी, शीघ्रतापूर्वक किए जाने वाले और अधिक या त्वरित् श्वास-प्रश्वास की क्रिया वाले होते हैं। इस प्रकार के श्रमसाध्य व्यायाम, भारी वजन उठाने वाले अभ्यास और शारीरिक गठन को लक्ष्यकर की जाने वाली विविध विधियाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी होती हैं। कृशकाय दुर्बल व्यक्ति किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति, वृद्ध पुरूष, बालक और स्त्रियां उन व्यायामों का अभ्यास करने में असमर्थ रहती हैं। इन लोगों के लिए व्यायाम को पूर्णतः निषेध माना गया है। इस के विपरीत आसन सरल होते हैं, उन्हें धीरे-धीरे किया जाता है, उन की क्रियाविधि में कोई दुरूहता, श्रमसाध्यता और त्वरित् या अधिक श्वास प्रश्वास की अपेक्षा नहीं रहती है। आसनों की क्रियाविधि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके अभ्यास से चित्त में एकाग्रता आती है। आसनों का अभ्यास बालक, वृद्ध, युवा, स्वस्थ, अस्वस्थ स्त्रियों, रोगियों आदि सभी के लिए हितकारी, उपयोगी एवं लाभदायक हैं। इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन अधिक सरल और उपयोगी होते हैं। आसनों का क्षेत्र प्रत्येक दृष्टि से व्यायाम की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आसनों का प्रभाव व्यायाम की अपेक्षा

चिरस्थायी और अधिक व्यापक होता है। आसनों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व है। वे व्यायाम की अपेक्षा अधिक उपयोगी हौर उत्कृष्ट होते हैं। मनुष्य मात्र के लिए उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आसनों की संख्या एवं प्रकार :

आसनों की संख्या और प्रकार (भेद) के विषय में शास्त्रों, शास्त्रकारों एवं विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उपनिषदों में इस विषय में भिन्न-भिन्न मत देखने को मिलते हैं। योग चूड़माव्युपनिषद् में सिद्धासन और कमलासन बतलाए गए हैं, जबकि योगकुण्डल्युपनिषद् में पद्म एवं वज्र इन दो आसनों का प्रतिपादन किया गया है। अमृतनादोपनिषद् में तीन आसनों-पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रक-का उल्लेख है। ध्यानबिन्दुपनिषद् एवं योगतत्त्वोपनिषद् में -सिद्ध, पद्म, सिंह एवं भद्र - इन चार आसनों को सभी आसनों में मुख्य बतलाया गया है। दर्शनोपनिषद् के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में निम्न नव आसनों का उल्लेख मिलता है - स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रसन, मुक्तासन और सुखासन। वराहोपनिषद् में योगियों के लिए चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन, और गोमुखासन इन आसनों का प्रतिपादन करते हुए चक्रासन का स्वरूप बतालाया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में सत्रह आसनों का उल्लेख विवरण सहित मिलता है, जिन में उपर्युक्त ग्यारह आसनों के अतिरिक्त योगासन, बद्धपद्मसन, उत्तानकूर्मासन, मयूरासन, धनुरासन और पश्चिमोत्तानासन इन छह आसनों का विवरण अधिकता से प्रतिपादित किया गया है।

प्राचीनकाल में योगियों ने पशु पक्षियों के बैठने के ढंग तथा उनकी विशेषताओं का अध्ययन सूक्ष्मता से किया। उन्होंने देखा कि पशु - पक्षियों के बैठने के ढंग अलग-अलग प्रकार के हैं और वे किसी न किसी रूप में मनुष्य के लिए उपयोगी हैं।

इसलिए योगियों ने उन पशु - पक्षियों के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए आसन के रूप में उन्हें अपनाया और उन से लाभ उठाया। जिस पशु या पक्षी के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए मनुष्य को विशेषलाभ या सुख का अनुभव हुआ, मनुष्य ने उसे अपनाकर के उस प्रकार विशेष का नामकरण उसी पशु या पक्षी विशेष के नाम के साथ जोड़ दिया । जैसे - मयूरासन, कुक्कटासन, मत्स्यासन, मकरासन आदि। इस के अतिरिक्त योगियों ने पर्वत, वृक्ष, चक्र, धनुष आदि स्थावर द्रव्यों की स्थितियों के अनुकरण के आधार पर साधक के बैठने, खड़े होने आदि की स्थिति की कल्पना की। उस स्थिति में रहकर तज्जनित हानि-लाभ की विवेचना की तथा जिन स्थितियों में उसे अनुकूलता प्रतीत हुई और लाभ का अनुभव हुआ उस स्थिति को आसन के रूप में अपनाकर उसके आधार पर आसन का नामकरण किया। इस से आसन के अनेक प्रकार हो गए और संख्या अनन्त हो गई। 84 आसनों के विषय में कोई सर्वसम्मत राय वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। योगीजन या विद्वज्जन अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न आसनों का निर्धारण स्वतः ही कर लेते हैं, जिससे आसनों में तो भिन्नता प्रतीत होती ही है, उनकी संख्या में भी पर्याप्त भिन्नता लक्षित होती है, वर्तमान में विभिन्न योगियों, योगशास्त्र के ज्ञाताओं और विद्वानों के जो मत उपलब्ध होते हैं, उनमें अनेक आसनों के नामों और उनकी संख्या में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। अतः सर्वसम्मत 84 आसनों के नाम यहाँ लिखना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रचलित सभी आसनों को संकलितकर उनमें से 84 आसनों का नाम-निर्देश यहाँ किया जा रहा है, जो सर्वसम्मत तो नहीं है, किन्तु अधिक संख्य सम्मत हो सकता है। 84 आसनों के नाम इस प्रकार हैं -

1. पद्मासन	2. सिद्धासन	3. स्वस्तिकासन
4. सुखासन	5. वीरासन	6. भद्रासन

7. वज्रासन
8. नौकासन
9. शवासन
10. अर्द्धासन
11. ज्येष्टिकासन
12. मकरासन
13. सिद्धायोनिआसन
14. उत्कटासन
15. शशाँकासन
16. मार्जरिआसन
17. मृगासन
18. उष्ट्रासन
19. प्रणामासन
20. सूर्यनमस्कारासन
21. सुमेरूआसन
22. व्याघ्रासन
23. नाभिआसन
24. कटिचक्रासन
25. ताड़ासन
26. लोलासन
27. मेरुपृष्ठासन
28. उत्तानासन
29. कोणासन
30. दोलासन
31. मत्स्यासन
32. पवनमुक्तासन
33. कुक्कुटासन
34. हृदयस्तम्भासन
35. तोलांगुलासन
36. भुजंगासन
37. शलभासन
38. धनुरासन
39. ग्रीवासन
40. कंधरासन
41. सेतु आसन
42. शीर्षपादासन
43. अर्धन्द्रासन
44. पृष्ठासन
45. गोमुखासन
46. मेरुवक्रासन
47. कपालिआसन
48. शीर्षासन
49. सर्वाङ्गासन
50. गरूड़ासन
51. वकासन
52. पर्वतासन
53. मेरुदण्डासन
54. वशिष्ठासन
55. नटवरासन
56. पूर्णमत्स्येन्द्रासन
57. नटराजासन
58. कूर्मासन
59. धनुराकर्षणासन
60. वृश्चिकासन
61. मयूरासन
62. हनुमानासन
63. ब्रह्मचर्यासन
64. मूलबंधासन
65. गोरक्षासन
66. अष्टवक्रासन
67. हलासन
68. योगमुद्रासन
69. खगासन
70. ध्रुवासन
71. तुलासन
72. मण्डूकासन

73. शुतुरमुर्गासन 74. हंसासन 75. जानुशिरासन

76. हस्तपादगुप्तासन 77. योगासन 78. लता आसन

79. पादतलसंयुक्त मूर्द्धा स्पर्शासन 80. कन्दपीड़ासन 81. समकोणासन

82. नाभिपीड़ासन 83. द्विकोणासन 84. त्रिकोणासन

उपर्युक्त गिनाए गए चौरासी आसनों में से कुछ आसन ऐसे भी हैं, जिनके दो तीन या अधिक भेद होते हैं। जैसे - सूर्य नमस्कार दस क्रियाओं में सम्पन्न होता है। इन चौरासी आसनों की संख्या सौ से भी अधिक हो सकती है । अतः जहाँ प्रमुख आसनों के नाम ही गिनाए गए हैं, अन्य आसनों को छोड़ दिया गया है। किन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकता एवं सुविधा के अनुसार उनका भी अभ्यास कर सकता है।

हठयोग प्रदीपिकाकार श्री स्वात्माराम योगी ने अष्टाँग कथन के अन्तर्गत आसन का कथन सर्वप्रथम किया है। आसन के अन्तर्गत उन्होंने कुछ प्रमुख निम्न आसनों का उल्लेख वर्णनपूर्वक भी किया है। जैसे - स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुम्कुटासन, उत्तनासन, कूर्मासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तन आसन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, सिंहासन और भद्रासन। इन आसनों में से अंतिम चार आसनों को वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं - सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन - ये चार आसन सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें से भी योगी सिद्धासन में सुखपूर्वक बैठ सकता है।[1]

यद्यपि हठयोग प्रदीपिका में केवल पन्द्रह आसनों का वर्णन है, किन्तु कुल आसनों की संख्या उन्हें भी ८४ ही अभीष्ट है। वे ८४ आसनों में से उपर्युक्त चार आसनों को श्रेष्ट मानते हैं। हठयोग में चार आसनों को सर्वश्रेष्ठ एवं विशेष उपयोगी

---

1. सिद्धं पद्म तथा सिंह भद्र चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ।। (हठ० यो० १/३६)

बतलाया गया है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सवकता है कि इन चतुर्विध आसनों में योगी स्थिरता एवं सुखपूर्वक बैठ सकता है। योगियों को अभीष्ट सिद्धि अर्थात् परम ब्रह्म साक्षात्कार कराने में भी ये आसन ही अधिक उपयोगी होते हैं। योगियों के अतिरिक्त अन्य महा-पुरूष भी अधिकांशतः इन्हीं चार आसनों में से किसी एक आसन का आलम्बन लेकर अपनी साधना में तत्पर हुए और अन्त में कार्य सिद्धि में समर्थ हुए।

वर्तमान में सामान्यतः आसनों की संख्या ८४ है। योगशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में आसनों की संख्या ८४ लाख बतलाई गई है। इस संख्या का आधार सम्भवतः शास्त्रोक्त यह परिकल्पना है कि संसार में प्रत्येक योनि के जीव का आसन भिन्न होने से और शास्त्रों में जीव योनि की संख्या ८४ लाख होने से आसनों की कुल संख्या ८४ लाख होती है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि शिव जी ने प्रत्येक लक्ष योनि के आसनों में से एक-एक आसन छांटकर अभ्यास के लिए उन की संख्या 84 निर्धारित की। अतः प्रत्येक आसन एक-एक लाख योनि के जीवों का प्रतिनिधित्व करता है। शास्त्रों में इनका इतिहास ऐसा मिलता है। इस प्रकार आसनों की संख्या 84 है।

इन आसनों के दो प्रकार हैं - शरीर संवर्धनात्मक और ध्यान धारणात्मक। इन में शरीर संवर्धनात्मक आसन बैठने के नहीं होते। उन की अंतिम स्थिति में पहुँचने के लिए पृष्ठवंश तथा शरीर के षडंगों को मोड़ने और सीधा तानने की आवश्यकता होती है। इसलिए न को सिद्ध करने में तथा सिद्ध करने पर दीर्घकाल तक धारण करने में बहुत कष्ट होता है। इस प्रकार के आसन के अन्तर्गत शीर्षासन, शलभासन, सर्वांगासन, भुजंगासन, मयूरासन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, हलासन आदि आसनों का समावेश है। ये आसन शरीरसंर्वधनात्मक प्रकार के सुपरिचित उदाहरण हैं।

द्वितीय प्रकार के आसन ध्यानधारणात्मक होते हैं। ये आसन दीर्घकाल तक ध्यान धारणा करने के लिए होने से सरल और सुखप्रद हुआ करते हैं। ये आसन थोड़े अभ्यास से ही दीर्घकाल तक धारण किये जा सकते हैं। सिद्धासन और स्वस्तिकासन प्रमुख ध्यान धारणात्मक आसन हैं।

कहीं-कहीं तीन प्रकार से आसनों का अभ्यास किए जाने का उल्लेख मिलता है। खड़े होकर, बेठकर और लेटकर। तदनुसार सभी चौरासी आसनों को इन तीन प्रकारों में वर्गीकृत या विभाजित किया जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों अथवा तीनों ही प्रकार के आसनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आसनों का अभ्यास व्यायाम के रूप में केवल शरीर के संवर्धन और पुष्टि के लिए तथा बलाधनार्थ करना चाहते हैं, उन्हें शरीरसंवर्धनात्मक आसनों का ही अभ्यास करना चाहिए। ये आसन शरीर के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

आसनाभ्यास से पूर्व कुछ आवश्यक बातें एवं निर्देश :

आसनों का अभ्यास करने से पूर्व कुछ आचरणीय बातों का ध्यान रखना भी परमावश्यक है, अन्यथा आसनों का पूर्ण लाभ और फल प्राप्त करना सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में आसनों का अभ्यास निरर्थक एवं अनुपयोगी सिद्ध होगा। वस्तुतः आसन हमारे लिए उपयोगी, प्रभावशाली और लाभकारी तब ही हो सकते हैं जब उनका विधिपूर्वक समुचित ढंग से यथावश्यक निर्देशों को ध्यान में रखते हुए और तत्सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए अभ्यास किया जाए। आसनों का अभ्यास चाहे योग साधना के लिए किया जाये अथवा स्वास्थ्य लाभ एवं रोग-मुक्ति के लिए किया जाए, आवश्यक निर्देशों और तत्सम्बन्धी नियमों का पालन करना परमावश्यक है। आसनाभ्यास करने से पूर्व एवं अभ्यास करते समय कुछ मुख्य बातों का ध्यान रखना आसनाभ्यासी के लिए आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है -

1. आसनों का अभ्यास करने से पूर्व मूत्राशय, मलाशय और आंतों को खाली कर लेना आवश्यक है। आसनाभ्यास के समय विबन्ध (कब्ज) की स्थिति होना ठीक नहीं है। प्रतिदिन आसनाभ्यास से पूर्व मलत्याग का एक निश्चित् समय निर्धारित कर लेना चाहिए । ऐसा करने से कुछ दिनों बाद निर्धारत समय पर स्वतः ही मलत्याग की इच्छा होने लगेगी। मल प्रवृति के लिए यथा सम्भव आँतों पर जोर न डाला जाये अपितु सम्पूर्ण शरीर को यूंही ढीला छोड़ देना चाहिए। शरीर को शिथिल करने से आंतों में स्वभावतः आकुञ्चन-प्रसारण की क्रिया होने लगेगी और कुछ सप्ताह पश्चात् आंतें स्वयं ही प्रतिदिन निश्चित् समय पर मलप्रवृति करने लगेंगी।

2. विबन्ध (मलावरोध या कब्ज) की स्थिति होने पर तीक्ष्ण विरेचक औषधियों के प्रयोग से बचना चाहिए। आसनों के अभ्यास के द्वारा ही विबन्ध को दूर करना चाहिए। इस के लिए दो तीन गिलास हल्का नमकीन पानी पीकर तिर्यक्, ताड़ासन, कटि चक्रासन तिर्यक्-भुजंगासन, उदराकर्षणासन आदि का अभ्यास अपनी सुविधानुसार करना चाहिए । इस से निश्चय ही कब्ज में राहत मिलेगी। इन आसनों के अभ्यास से यदि कोई विशेष लाभ लक्षित न हो तो पवनमुक्तासनों के अभ्यास का क्रम अपनाना चाहिए। यह अवश्य ही विबन्ध को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा।

3. आसनाभ्यास करते समय पेट (आमाशय) का खाली रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि भोजन करने के लगभग चार घंटे बाद तक आसनाभ्यास नहीं करना चाहिए। प्रातःकाल शौच आदि आवश्यक क्रियाओं से निवृत होने के बाद आसनाभ्यास करना सब से अधिक अच्छा माना गया

है, क्योंकि उस समय पेट भी खाली रहता है और आंते भी खाली हो जाती हैं

4. आसनाभ्यास के समय केवल नासिका के द्वारा ही श्वासोच्छ्वास किया जाना चाहिए। यदि किसी आसन विशेष में इसके विपरीत निर्देश दिया गया हो तो तदनुसार ही अभ्यास करना चाहिए।

5. आसनों का अभ्यास ऐसे खुले हुए हवादार कमरे में करना चाहिए, जहाँ का वातावरण स्वच्छ, शांत और उपयुक्त हो। कमरे में निर्बाध रूप से शुद्ध और ताजी वायु का आवागमन रहना चाहिए, ताकि श्वास के लिए पर्याप्त रूप से प्राणवायु प्राप्त हो सके। कमरे में यथावश्यक प्रकाश-किरणें भी पड़ती हुई होनी चाहिए, ताकि वहाँ के वातावरण में जीवाणु संक्रमण की सम्भावना न हो। साथ ही, यथासम्भव कमरा पूर्णतः खाली होना चाहिए, जिस से अभ्यास करने में असुविधा या बाधा उत्पन्न न हो।

6. अभ्यास के समय कमरे में एकान्त होना आवश्यक है। ऐसा होने से अभ्यासी या योगी व्यक्ति दत्तचित्त होकर आसनों का अभ्यास कर सकता है।

7. आसनों का अभ्यास घर से बाहर किसी खुले हुए स्थान में भी किया जा सकता है। किन्तु वह स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ किसी प्रकार की गन्दगी, धुँआ या दूषित वायु का प्रवेश न हो। वह स्थान कोलाहल से रहित पूर्णतः एकान्त और शान्त होना चाहिए। इस दृष्टि से कोई सुन्दर बाग-बगीचा एक उपयुक्त स्थान है।

8. अभ्यास के समय भूमि पर अच्छा सा आसन विछा लेना चाहि जो पर्याप्त लम्बा-चौड़ा हो। अथवा कम्बल को चार पर्तों में मोड़कर भी आसन की

जगह विछाकर प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु मुलायम गद्देदार या हवा भरे हुए विछावन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

9. अभ्यास करते समय किसी भी आसन के लिए जोर लगाना उचित नहीं है। सदैव तनाव की स्थिति से बचना चाहिए और मस्तिष्क चिन्ता से मुक्त होना चाहिए। अभ्यास के समय मानसिक शांति एवं स्थिरता भी अत्यन्त आवश्यक है।

10. आसनाभ्यास करने के लिए 'ब्रह्ममुहूर्त' का समय सर्वाधिक उपयोगी होता है। जो व्यक्ति किसी कारणवश ब्रह्ममुहूर्त में आसनाभ्यास न कर सकें उन्हें प्रातः 6 बजे से 7 बजे तक अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा भोजन करने के बाद चार घंटे छोड़कर किसी भी समय अभ्यास किया जा सकता है।

प्रमुख आसन :

शाडिल्योपनिषद् में प्रमुख आठ आसनों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार से हैं।

1. स्वस्तिक आसन
2. गोमुख आसन
3. पद्मासन
4. वीर आसन
5. सिंह आसन
6. भद्र आसन
7. मुक्त आसन
8. मयूर आसन

1. स्वस्तिक आसन :-

इस आसन का आकार विश्व प्रसिद्ध शुभ चिन्ह स्वस्तिक के समान होता है, इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वस्तिक का अर्थ है - सीधा । क्योंकि इस आसन में सीधा बैठा जाता है इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं।

विधि :- भूमि पर बैठकर दोनों पैर मोड़कर जंघा और पिण्डलियों के बीच दोनों पंजों को इस प्रकार रखा जाये कि दोनों पंजे दोनों घुटनों के बीच आ जायें, तत्पश्चात् दोनों

हाथों को जंघाओं के अन्त में घुटनों के पास रखकर मेरुदण्ड सहित सम्पूर्ण शरीर को सीधा रखें। इस बात का ध्यान रखें कि घुटने भूमि से उठने न पायें। श्वास सामान्य होना चाहिए। [1]

स्वस्तिक आसन से लाभ -

यह अत्यन्त सरल आसन है। इस में काफी देर तक आराम से बैठा जा सकता है। इसलिए ध्यान आदि के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त आसन है। इस के अतिरिक्त जिन व्यक्तियों के पैर बहुत ठंडे या गर्म रहते हों, पसीना अधिक आता हो, उन्हें इस आसन का नित्य अभ्यास करने से बहुत लाभ मिलता है।

2. गोमुख आसन :-

इस आसन में दोनों मुड़े हुए घुटने जो एक दूसरे पर चढ़े हुए होते हैं, गाय के मुख के समान और दोनों पैर गाय के कानों के समान दिखते हैं, इसलिए इस आसन को 'गोमुख' आसन कहते हैं। [2]

विधि :- भूमि पर एड़ी पंजों को मिलाकर आगे की ओर पैर फैलाकर बैठ जायें, फिर बायें पैर की एड़ी को दाहिनी जांघ के नितम्ब भाग के मूल में गुदा के पास लगाया जाये, अब दाहिनी जांघ को बाँयें पैर की पिंडली के ऊपर भार देते हुए घुटनों को मोड़कर बाँई जांघ के मूल से दाहिनी एड़ी को सटाकर लगाया जाये। इस बात का ध्यान रहे कि दोनों पैर के पंजे सीधे होकर जमीन से लगे रहें। इस अवस्था में दोनों पैर गाय के कानों के समान दिखाई देंगे, और घुटना, दूसरे के ठीक ऊपर होगा जो गाय के मुख के समान दिखाई देगा। फिर दाहिने हाथ को सीधे ऊपर उठाया जाये

---

1. "जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।" - शा0 उप0 १/२/१

2. "सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुख यथा तत्प्रचक्षते ।।" - शा0 उप0 १/३/२

और कोहिनी मोड़कर पीठ पर हाथ को रखा जाये। बायें हाथ को नीचे से मोड़कर दाहिने हाथ के पास लाया जाये और दोनों हाथों की उंगलियों को 'हुक' बनाते हुए जकड़ लिया जाये। रीड एवं गर्दन को सीधा रखें, इस में दृष्टि नासाग्र रहेगी अर्थात् दृष्टि को सामने रखें, स्वाभाविक व सामान्य रूप से श्वास लेते रहें। दो मिनट बाद पैर व हाथ दोनों की स्थिति को बदल लें।

गोमुख आसन से लाभ -

इस आसन के निरन्तराभ्यास करने से पांव, घुटने, कमर आदि को असीमबल की प्राप्ति होती है, जिससे इन अंगों से सम्बन्धित रोग नहीं होते। इस आसन से क्षयरोग में भी फैफड़ों का व्यायाम होने से लाभ मिलता है। फैफड़ों की सफाई होने से नाड़ीशोधन में सहयोग मिलता है। इस आसन से आक्सीजन अधिक मात्रा में खींचा जा सकता है। इस प्रकार यह आसन फैफड़ों के अनेकशः छिद्र जो बन्द पड़े रहते हैं, उन्हें खोल देता है जिस से कुम्भक प्राणायाम में बहुत सहायता मिलती है। अतः योगियों के लिए यह बहुत उपयोगी आसन माना गया है। टी0 बी0 जैसी बीमारी से मुक्ति के लिए अच्छा आसन है। जिन्हें नींद नहीं आने की बीमारी हो उन्हें सोने से पूर्व यह आसन करना चाहिए।

3. पद्मासन :-

इस आसन में शरीर की आकृति कमल के फूल जैसी हो जाती है, अतः इसे कमलासन भी कहते हैं।

विधि :- भूमि पर दोनों पैर फैलाकर बैठना चाहिए, फिर बायें पैर की एड़ी को दाईं जंघा पर रखें कि एड़ी नाभि के पास आ जाये। इस के बाद दायें पैर को उठाकर इस प्रकार रखें कि दोनों ऐड़ियाँ नाभि के पास आपस में मिल जायें। इस बात का ध्यान रहे कि दोनों घुटने जमीन से उठने न पायें। मेरूदण्ड सहित कमर से ऊपर का

शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखें। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर हथेली के बल अथवा हथेली (पंजा) चित्त पर करके तर्जनी अंगुली और अंगूठे को मिलाकर छल्ले की तरह बनाया जाये अथवा हथेलियों को जोड़ करके एक दूसरे के ऊपर गोद में रखें। दोनों हाथों को घुटनों पर रखने से गरिमा शक्ति की बृद्धि होती है, अर्थात् शरीर भारी होता है। दोनों हाथों को गोद में रखने से लघिमाशक्ति की वृद्धि होती है। [1] अर्थात् शरीर हल्का होता है। 2 - 2 मिनट कर पैरों को बदलकर अभ्यास करना चाहिए।

इस आसन में नासिका के द्वारा धीरे-धीरे पूर्ण पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए, पश्चात् रेचक करना चाहिए। कम से कम 5 बार यह क्रिया करके पैर की स्थिति बदलनी चाहिए, पुनः यही क्रिया दोहरायें।

पद्मासन से लाभ -

इस आसन का अभ्यास करने से सब प्रकार की व्याधियाँ दूर हरोती हैं। क्योंकि यह आसन कफ, पित्त और वायु को समावस्था में लाता है, जिस से पाचन शक्ति बढ़ती है, जांघ और घुटने की मांसपेशियों पर तनाव पड़ने से इनमें शक्ति आती है, रीढ़ की हड्डी यदि ढेड़ी हो तो धीरे-धीरे सीधी हो जाती है। आंतरिक अवयव हृदय, फेफड़े, आमाशय, प्लीहा, यकृत्, आन्त्र आदि स्वस्थ रहते हैं। अन्तःस्रावी ग्रान्थियां जैसे थाईराइड एवं पैराथाईराइड आदि ठीक से काम करती है। प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि के लिए यह आसन सर्वोत्तम है।

1.क) वामोरूपरिदक्षिणं चरणं संस्थाप्यवामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाये चिबुकं नाग्रमालोकये -
देतद्व्याधिकवनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते।। - हठ0 यो0 १/४४

ख) ऊर्वोरूपरि शण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे। तदैव
पद्मासन भवेदेतत्सर्वेषामीप पूजितम् ।। - श0 उप0 १/३/३

इसके अतिरिक्त इस आसन का निरन्तराभ्यास करने से पैरों का सुन्न होना, पैरों का दुखना, पैरों में मोच आना, जंघा पृष्ठ मूल की नाड़ी सायटिका की विकृति के कारण होने वाली तीव्र वेदना आदि में लाभ होता है।

4. वीरआसन :-

एक जाँघ को एक पैर से मिलाकर दूसरी जांघ को दूसरे पैर से मिलाकर बैठना वीरासन कहलाता है।[1] यद्यपि यह आसन उक्त ग्रन्थों में सरल ढंग से वर्णित पाया जाता है, परन्तु जिस वीरासन को हनुमान जी ने अपनाया उसे केचन् विद्वान हनुमान-आसन भी कहते हैं उस का वर्णन इस प्रकार है -

विधि :- भूमि का आश्रय लेते हुए एड़ी पंजे मिलाकर सीधे खड़े हों। दोनों अंगूठों का अन्दर ले जाते हुए मुट्ठी बन्ध रखें तथा दायें हाथ को सामने सीधा रखें तथा बाँयें हाथे को 60^0 कोण बनाते हुए मोड़े जो हाथ मोड़ा हुआ है वही पैर का पंजा पीछे की ओर खींचते हुये पीछे फैला लें और जो हाथ सीधा है वह हाथ मोड़कर रखें। और अपने शरीर पर तनाव लाते हुये वीरभाव धारण करते हुये, पीछे की ओर मुड़ें। यह आसन दोनों पैर बदलकर करें।

वीरासन से लाभ -

इस आसन के निरन्तराभ्यास के साहस, धैर्य और शक्ति का आगमन होकर अनिद्रा तथा अतिनिद्रा जैसे रोगों से मुक्ति मिलती है। लक्ष्मणजी ने वनगत राम की सुरक्षा हेतु यह आसन लगाया था। यह आसन धनुर्विद्या तथा शिकार करने वालों के लिये भी उपयोगी माना जाता है।

---

1. एकं पादमथैकमिन विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
   इतरस्मिस्तथा चोरूं वीरासनमुदीरितम् ।। - शा0 उप0 १/३/४
2. एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरूणि स्थितम् । तदैव
   इतरस्मिंस्तथा चोरूं वीरासनमितीरिम् ।। - हठ0 यो0 १/२१

5. सिंह आसन :-

दाहिने गुल्फ के साथ बांये गुल्फ को और बांये गुल्फ के साथ दांये गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों जानुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाये रखना। फिर भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख से नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखना, इसे सिंहासन कहते हैं। और योगीजन सदा इस की प्रशंसा करते हैं। [1]

सिंहासन से लाभ -

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से ब्रह्मचर्यरक्षण में सहयोग मिलता है। मुख, दांत, जिह्वा, जबड़ा और गले, पैरों की पिण्डलियों पर जोर पड़ने के कारण इन अंगों से सम्बन्धित रोगों से मुक्ति मिलने में सहयोग मिलता है। सिंह-भावना आती है अर्थात् जिस से हृदय में वीरता एवं बल का सुयोग आकर डर भाग जाता है। इस आसन में मूलबन्ध, जालन्धर एवं उड्डिानबन्ध स्वयमेव लग जाते हैं जिस से आसन लाभकारी माना गया है।

6. भद्रासन :-

लिंग के नीचे की सीवन पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढ़तापूर्वक पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठने से भद्रासन होता है जो

1.क) दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्यं च ।।
वयक्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ।। (शा0 उप0 ३/५/६)

ख) गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ।।
हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।।
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिप्रंगवैः ।
वंधत्रितयसंधान कुरूते चासनोत्तमम् ।। (हठ0 यो0 प्र0 का0 १/५०-५२)

सभी रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है। [1]

भद्रासन से लाभ -

भद्रासन कई बीमारियों में लाभप्रद सिद्ध हुआ है। विशेषकर इसके अभ्यास से जंघा, घुटने, एड़ी, पिण्डलियों, पदपंजों को असीम बल मिलता है। मेरुदण्ड सीधे करने में बहुत सहायता मिलती है। फेफड़ों के लिये भी आसन लाभदायक है। क्षय से सम्बन्धित रोग इस आसन के निरन्तराभ्यास से नष्ट होते हैं। मानसिक एकाग्रता के लिये यह आसन लाभप्रद है। इस में दृष्टि भ्रुमध्य रहती है।

हठयोग प्रदीपिका में इस भद्रासन का दूसरा नाम योगियों द्वारा गोरक्षासन भी स्वीकार किया गया है। सिद्ध योगीपुरुष इसी आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसन को बाँधने से श्रम नष्ट हो जाता है। नाड़ीशुद्धि की इच्छावाला साधक मुद्रादि के द्वारा वायु का अभ्यास करे। आसन, विभिन्न कुम्भक तथा मुद्रा नामक करण का भी साधन करें। [2]

7. मुक्तासन :-

बाँयें पाँव की एड़ी को गुदा के पास लगाकर दाँयें-पाँव को बाँए पाँव पर इस प्रकार रखें कि बाँयें पाँव की एड़ी अण्डकोष के नीचे ही रहे। शरीर को भी सीधा रखते हुये दोनों हाथों को गोद या घुटनों पर रख सकते हैं। अर्थात् सूक्ष्म सीवन को

1.क) गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढ़ं बद्ध सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषाापहम् ।। (शा0 उप0 १/३१८)

ख) गुल्फौ च बृणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपत्रे ।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ।। - तदैव
पार्श्वपादौ च पाणिभयां दृढ़ं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रानं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।। (हठ0 यो0 १/५३-५४)

2. गोरक्षासन मित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।
एवमासनबन्धेषु योगिन्द्रो विगतश्रमः ।।
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धि मुद्रातिपवन क्रियाम् ।
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करण तथा।। (हठ0 यो0 १/५५-५६)

दायी तरफ से गुल्फ द्वारा दबाकर दाँयें गुल्फ से दबा कर रखना 'मुक्तासन' कहलाता है।[1]

मुक्तासन से लाभ -

इस आसन का निरन्तराभ्यास करने से वे समस्त लाभ प्राप्त होते हैं जो सिद्धासन से होते हैं। जिन का सिद्धासन न लग सके तो वे मुक्तासन से भी लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

8. मयूरासन :-

इस आसन में मनुष्य की स्थिति मयूर के समान होती है, इसलिए इसे मयूरासन कहते हैं। इस आसन में हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों तरफ दबाकर बैठना, फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना मयूरासन है जो सर्व पापों का नाश करने वाला है।[2]

विधि :- पहले एड़ियों के बल भूमि पर बैठ जायें। फिर दोनों घुटने आगे झुकाकर भुमि पर टिकायें तथा दोनों हाथ भूमि पर इस तरह से रखें कि दोनों पंजे मिले हुए पीछे की ओर रहें। घुटनों की ओर अंगुलियाँ करके घुटनों से हथेलियाँ एक हाथ अन्तर भूमि पर रखें। दोनों कोहनियों को मिलाकर नाभि के पास लगाया जाये तथा आगे की ओर झुकते हुए दोनों को मिलाते हुए पीछे की ओर ताना जाये एवं छाती

---

1. सम्पीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
   सव्यं दक्षिपाणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ।। (शा0 उप0 ३/९)
2. अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
   हस्तयोः कूपरौ चापि स्थापेन्नाभिपार्श्वयोः ।।
   समुन्नतशिरः पादौ दण्डवद् व्योम्नि संस्थितः।
   मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशेनम् ।।
   शरीरान्तर्गता सर्वरोगा विनश्यन्ति ।
   विषाणि जीर्यन्ते । (शा0 उप0 ३/१०-११)

तथा सिर पर जोर डालते हुए पैरों को धीरे-धीरे भूमि से ऊपर उठाने का प्रयास करें। इस से उदर पर दबाव पड़ेगा और सम्पूर्ण शरीर का भार कोहनियों पर आ पड़ेगा। जब पैर कोहिनियों के बराबर आ जाएं तब सिर और छाती को सीधा किया जाये अर्थात् सम्पूर्ण शरीर हाथों की कोहनियों पर साध कर स्थिर रखें। शरीर भूमि के समानान्तर हो दृष्टि सामने रहे, कई बार शरीर का भार न सम्भलने के कारण मुँह को चोट लग सकती है। अतः इस आसन का अभ्यास सावधानीपूर्वक करना चाहिए। इस आसन का अभ्यास करते समय ठोड़ी के नीचे नर्म तकिया रखा जा सकता है।

मयूरासन से लाभ -

यह आसन गुल्म, उदररोगादि सभी रोगों को नष्ट करता है। अधिक खाये गये अन्न को भस्म करने तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने में कालकूट के समान है।[1]

बदहजमी, कब्ज, वायु, गुल्मादि पेट सम्बन्धी रोग पाचन क्रिया सम्बन्धी बीमारियाँ, प्लीहा, यकृत, नेत्रविकार, दमा, बात, पित्त, कफ आदि रोगों से मुक्ति मिलती है। इस आसन के अभ्यास से विष तक पाचन करने की शक्ति मिल जाती है।

विभिन्न व्याधियों में उपयोगी आसन :-

क्रमांक	व्याधियाँ	आसन
1.	मन्दाग्नि के लिए उपयुक्त आसन इस प्रकार से हैं -	उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तासन, शीर्षासन और धनुरासन।
2.	'विबन्ध' के लिये उपयुक्त आसन -	उत्तानपादासन, सर्वांगासन हलासन, पश्चिमोत्तनासन, भुजंगासन, धनुरासन, मयूरासन और शीर्षासन।

1. हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभि भवति च दोषाानासनं श्रीहमयूरम्
बहु कदशनभुक्त भस्म कुर्यादशेषं, जनयति जठराग्निं जारयेटकालकूटम् ।। (हठ0 यो0 १/३१)

3.	'अजीर्ण' के लिए उपयुक्त आसन	पवनमुक्तासन, सर्वांगासन, हलासन, उत्तानपादासन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, सुप्तवज्रासन और शीर्षासन।
4	'जठराग्नि' में उपयुक्त आसन -	सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन, मत्स्यासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन, मयूरासन और मत्स्येन्द्रासन।
5	पेट की बीमारियों में उपयोगी आसन-	उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, वज्रासन, योगमुद्रासन, भुजंगासन और मत्स्यासन ।
6	'गैस' की बीमारियों में उपयोगी आसन -	पवनमुक्तासन, जानुशिरासन, खगासन, योगमुद्रासन और वज्रासन।
7.	'अर्श' की बीमारियों में उपयोगी आसन -	उत्तनासन, सर्वांगासन, मयूरासन, शीर्षासन और यानासन।
8.	'स्वप्नदोष' -	पादांगुष्ठासन, गोरक्षासन, लोलासन, कन्दपीडनासन, शीर्षासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन और सर्वांगासन।
9.	आन्त्रपुच्छशोथ -	उत्तानपादासन, सर्वांगासन और शीर्षासन ।
10.	शीत या श्लेष्म विकास -	मत्स्यासन, सर्वांगासन, हलासन, कपालभाति, (प्रतिश्याय) उड्डियानबंध और गजकरणी।
11.	फुफ्फुस विकृति -	वज्रासन, मत्स्यासन और सर्वांगासन।
12.	श्वासरोग (दमा) -	एक नासिका घर्षण, मत्स्यासन, सर्वांगासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, शीर्षासन, उड्डियानबंध, गजकरनी और धौति।
13.	कुष्टरोग -	धौतिासन, गजकरणी, शीर्षासन और महामुद्रासन।

14.	आन्त्रच्युति -	शीर्षासन, सर्वांगासन और कपालभाति ।
15.	रक्तविकास और त्वक् रोग -	गजकरणी सर्वांगासन और कपालभाति।
16.	आमवात (गंठिया) -	सर्वांगासन, पवनमुक्तासन, पद्मासन, मत्स्यासन, उष्ट्रासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन और पश्चिमोत्तानासन।
17.	रजोविकृति -	भुजंगासन, शलभासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तानासन। (गर्भावस्था और ऋतुकाल में आसनाभ्यास वर्जित है)
18.	योषापस्माट और अनिद्रा -	शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तनासन, उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, हलासन, भुजंगासन, शलभासन और मयूरासन।
19.	मधुमेह -	सर्वांगासन, मयूरासन, नौकासन, वज्रासन, भुजंगासन, हलासन पश्चिमोत्तनासन, शीर्षासन और उड्डियानबंध।
20.	वीर्य दोष -	सर्वांगासन, वज्रासन, योगमुद्रासन ।
21.	सिर की बीमारियों में -	सर्वांगासन, शीर्षासन और चन्द्रासन ।
22.	गले की बीमारियों में -	सुप्तवज्रासन, भुजंगासन और चन्द्रासन ।
23.	आँख की बीमारी में -	सर्वांगासन, शीर्षासन और भुजंगासन ।
24.	नाभि विकृति -	धनुरासन, नाभिआसन और भुजंगासन ।
25.	गर्भाशय विकृति -	उत्तानासन, भुंगासन, सर्वांगासन, ताड़ासन, चन्द्रनमस्कारासन।

26.	कटि शूल -	हलासन, चक्रासन, धनुरासन और भुजंगासन।
27.	यकृत् विकृति -	लता आसन, पवनमुक्तासन और यानासन ।
28.	भगंदरादि में -	उत्तनापादसन, सर्वांगासन, यानासन, जानुशिरासन, और नमस्कारासन ।

सभी रोगों में सामान्य आसन - पद्मासन, शीर्षासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तनासन।

स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य के लिए उपयुक्तासन - पद्मासन, शीर्षासन और पश्चिमोत्तानासन ।

यौवन रक्षा हेतु उपयोगी आसन - सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन, पश्चिमोत्तनासन और मत्स्यासन।

'मेद्याशक्ति' - सर्वांगासन, शीर्षासन, मत्स्यासन, पद्मासन, प्राणायाम और ध्यान ।

ज्ञान तन्तुओं की क्षमता बढ़ाने वाले उपयोगी आसन - सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन, शलभासन और धनुरासन ।

'शिथिलीकरण' - शवासन ।

अध्याय - चतुर्थ

चतुर्थ अध्याय

नाड़ियाँ, संख्या, उन की शुद्धि एवं उनमें वायु संख्या स्थान और शरीर में कार्य :

मानव शरीर माता-पिता के और से निर्मित माना जाता है जिसमें पञ्च स्थूलभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) पञ्च प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) की प्रधानता रहती है। मानव शरीर के कंकाल में सुश्रुतमतानुसार ३०० हड्डियाँ और चरकमतानुसार तीन सौ छः हड्डियाँ हैं। इन हड्डियों में खोपड़ी और मेरुदण्ड या पीठ के रीढ़ की २६ टुकड़ों वाली हड्डी मुख्य है। मेरुदण्ड या रीढ़ की २६ हड्डियों का अंश कुछ खोखला है जो कि नाड़ी द्वारा बंधा रहता है।

मानव शरीर की समस्त नाड़ियाँ सम्बद्ध होकर शरीर में फैली हैं । जीवरस के आश्रित नाड़ियाँ मानसिक तथा कर्म शक्ति का वहन करती हैं - जैसे प्राण शरीर की रक्षा करता है, उसी तरह हरे, नीले, लाल और श्वेत रंग की नाड़ियाँ, रक्त से पूर्ण हो, प्रक्षेप-विक्षेप से विकसित एवं संकुचित होकर शरीर की रक्षा करती हैं।

ये नाड़ियाँ जाल की तरह ऊपर नीचे तिरछी हो कर मनुष्य के सर्वांग में व्याप्त हैं। अथर्ववेद में इन नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है। इन ७२०० नाड़ियों में से ७२ नाड़ियाँ मुख्य बताई गई हैं। इसी प्रकार कठोपनिषद् में मनुष्य के हृदय स्थल में नाड़ियों की संख्या १०१ बताई गई हैं उन में एक (सुषुम्णा) सिर की ओर (ब्रह्मन्ध्र की ओर) निकली हुई हैं उस से ऊपर जाता हुआ (जीवमुक्त होकर) अमरता को प्राप्त होता है। अन्य नाड़ियाँ प्राणों के निकलते समय चारों ओर भिन्न-भिन्न मार्गों से जाती हैं। [1]

---

1. शतं चैका च हृदयस्य नाड़यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ऽन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।। (कठो0 उप0 अ0 २ म0 १६)

इस शरीर में जीव प्राण के ऊपर आरूढ़ हुआ है तात्पर्य यह है कि बिना प्राण के शरीर का कोई अस्तित्व नहीं। मानव शरीर में नाभि की बगल में नीचे-ऊपर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति रूप और आठ प्रकार से कुण्डल किये हुये हैं। केन्द्र में रहने वाली कुण्डलिनी का आश्रय लेकर चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा और गांधारी ये चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। 'शाडिल्योपनिषद्' में प्राणतरंग का (Impulse) वहन करने वाली केवल चौदह मुख्य नाड़ियों के नाम गिनाये गये हैं।[1]

1. इड़ा नाड़ी (Left gangliated chord) यह मेरुदण्ड के बाहर, अन्त में नीचे वायीं तरफ (मूलाधार चक्र के त्रिकोण की बायीं तरफ) से प्रारम्भ होकर बायीं नाक में समाप्त हो जाती है तथा इस का प्रवाह ऊपर को है।

2. पिङ्गला नाड़ी (Right gangliated chord) यह मेरुदण्ड के बाहर नीचे दाहिनी तरफ (मूलाधार चक्र के त्रिकोण की दाहिनी तरफ) से प्रारम्भ होकर दाहिनी नाक में समाप्त हो जाती है तथा इसका प्रवाह ऊपर की तरफ रहता है।

3. सुषुम्णा नाड़ी (Spinal chord) यह मेरुदण्ड को पिरोये उस के मध्य से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क के अन्दर) पर्यन्त मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म और ज्वाला सी उज्जवल प्रकाशमान परा नाडी है और इसी के अन्दर षट्चक्र है, जिन के द्वारा अखण्ड ब्रह्मानन्द पद मिलता है। ये तीन नाड़ियाँ (1) इड़ा (2) पिङ्गला (3) सुषुम्णा मूलाधार में जो अण्डक त्रिकोण है, उसी में से प्रारम्भ होती हैं और इन्हीं में से प्राण की तरंगों का मार्ग है।

---

1. इड़ा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा
हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरा कूहूः शंखिनी
पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाडयचतुर्दश भवन्ति। (शा0 उप0 अ0 1 4/9)

इसी सुषुम्णा नाड़ी को पृथक्-पृथक् योग ग्रन्थों में शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्री, महापथी, शाम्भवी, शमशानी इत्यादि नाम से कहा है। योगशिखोपनिषद् में सुषुम्णा के विषय में कहा गया है कि सुषुम्णा ही परम तीर्थ है, सुषुम्णा ही परा जप है, सुषुम्णा ही परम ध्यान है और सुषुम्णा ही से परागति होती है। इसी सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर वज्रा नाड़ी है। वज्रा, चित्रा तथा ब्रह्म नाड़ियाँ मृत्यु होने पर अदृश्य हो जाती हैं।

सुषुम्णा के पीछे की तरफ सरस्वती नाड़ी है और पार्श्व में कुहू नाड़ी है (Pubic Nerve) यशस्विनी (Left acoustic nerve) और कुहू के मध्य वारुणी नाड़ी रहती है। पूषा (Right acoustic nerve) और सरस्वती के बीच पयस्विनी नाड़ी है। गाँधारी नाड़ी (Left ocular motor nerve) और सरस्वती के बीच यशस्विनी नाड़ी है। कन्द के मध्य में अलम्बुसा (Pharyngeal nerve) है सुषुम्णा के पूर्व भाग में लिंग तक कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अंगूठे तक गई है। पिंगला के पीछे बाँयी आँख तक पूषा नाड़ी है। यशस्विनी नाड़ी बायें में है। जीभ के ऊपर के भाग तक सरस्वती नाड़ी है। बायें कान तक ऊपर जाने वाली शंखिनी नाड़ी है। इड़ा के पिछले भाग में बायें नेत्र तक जाने वाली गांधारी है। गुदा के मूल से नीचे-ऊँचे जाने वाली अलम्बुसा है।

इन चौदह नाड़ियों में अन्य नाड़ियाँ भी हैं। उन में भी अन्य ऐसी बहुत सी नाड़ियाँ हैं, जैसे पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से व्याप्त होते हैं वैसे ही शरीर भी नाड़ियों से व्याप्त है।

नाड़ियों में वायु संख्या, स्थान एवं कार्य -

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाली नाड़ियों में घूमने वाली वायु की संख्या दस है, जिनके नाम स्थान एवं कार्य निम्न प्रकार से हैं - प्राण, अपान, समान, उदान,

व्यान, नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय - ये दश वायु सब नाड़ियों में घुमती है।[1]

दश वायु (प्राणों) का स्थान एवं प्रमुख कार्य -

	नाम	स्थान	कार्य
1.	प्राण	मुख से हृदय तक	रक्त संचार, भूख प्यास आदि।
2.	अपान	नाभि से पैरों तक	रोगोत्पादक दूषित वायु को बाहर करना, कटि से पैरों तक के अंगों को गति देना ।
3.	समान	हृदय से नाभि तक (7200 नाड़ियों के मार्ग में चलता है)	भोजन से प्राप्त रस को यथावत् वितरित करना,नाड़ी मण्डल एवं मस्तिष्क का पोषण ।
4.	उदान	कण्ठ से शिर तक	शरीर को उठाए रखना, मरण काल में शरीर से उत्क्रमण में सहायता करना।
5.	व्यान	सम्पूर्ण शरीर	ज्ञानवाहक स्थूल - सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाना।
6.	नाग	मुख में	डकार, वमन एवं हिचकी लेना।
7.	कूर्म	पलकों में	नेत्र खोलना तथा झपकना।
8.	कृकल	कण्ठ	भूख-प्यास जनक ।
9.	देवदत्त	नासिका	जम्भाई, छींक लाना।
10.	धनञ्जय	समस्त शरीर	गमनागमन में सहायक

---

1. प्राणापानसमानोदानयाना नागकूर्मकृकलदेवदत्त धनञ्जया -- । (शा0 उप0 अ0 १ ४/११)

<u>नाड़ि शुद्धि</u> :- सम्पूर्ण रूप से विद्याभ्यास करने वाले पुरूष को यम-नियम से युक्त होकर सर्वसंग का त्याग कर सत्धर्म में तत्पर रहना चाहिए। क्रोध को जीतकर

गुरुसेवा में तत्पर रहकर और माता-पिता की आज्ञा की अवहेलना न करके, उत्तम सदाचार को जानने वाले गुरु के पास से शिक्षा प्राप्त करके फल, मूल और जल वाले तपोवन में निवास करना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरूष को योगाभ्यास आरम्भ करना चाहिए। योगाभ्यास के लिये बनाया गया आसन न तो बहुत ऊँचा हो, न नीचा, न बहुत लम्बा हो, न चौड़ा। उस आसन पर बैठकर योगाभ्यासी को गर्दन तथा मस्तक को सीधा रखकर नासाग्र पर दृष्टि रखनी चाहिए, फिर वारह मात्रा से वायु इड़ा नाड़ी द्वारा खींचकर उसे पेट के भीतर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त रेफ और बिन्दु सहित ऐसे अग्नि मण्डल के साथ संयुक्त कर ध्यान करना चाहिए। फिर पिंगला नाड़ी द्वारा वायु को बाहर निकालना, फिर, पिंगला से वायु भरकर कुम्भक करके इड़ा से बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार सात, तीन या चार महीनों तक तीनो सन्ध्या समय तीन-तीन या चार-चार बार और उनके मध्य में छः बार अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है।

योगी को आसन पर दृढ़ होकर जितेन्द्रिय बनकर तथा हितकारी मिताहारी बनकर सुषुम्णा नाड़ी में रहने वाले मल को सुखाने के लिए योग करना चाहिए । उस समय प्रथम इड़ा नाड़ी से प्राण को भरकर कुम्भक करके दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करना चाहिए । फिर पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा से रेचक करना चाहिए। इस विधि से सूर्य-चन्द्र की नाड़ी द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से योगी की समस्त नाड़ी तीन महीने में शुद्ध हो जाती है। जिस प्रकार सिंह, हाथी या बाँध को धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार वायु की धीरे-धीरे साधना करने से वह वश में आ जाती है। उल्टी रीति से चलने पर वही वायु साधक का नाश कर

देती है।

इस प्रकार शक्तिअनुसार रेचक कुम्भक करने से ही लाभ मिलता है। क्योंकि यथेष्ट शक्ति के अनुसार वायु का कुम्भक करने से अग्नि प्रदीप्त होती है और नाड़ियाँ शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है तथा आरोग्यता मिलती है। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से नाड़ियों का समूह शुद्ध होता है।

सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी से बाहर का वायु खींचकर केश से लेकर पैर के नख की नोंक तक में रोककर (कुम्भक करके) बांयी नाड़ी से बाहर निकालना अर्थात् (रेचक करना) इस प्रकार के अभ्यास से कपालशुद्धि होती है। और वायु की नाड़ियों में रहने वाले सब रोगों का पूर्णतः नाश होता है। कुम्भक दो प्रकार का है - सहित और केवल । जो कुम्भक रेचक और पूरक से युक्त हो वह सहित कुम्भक है और उन से रहित केवल कुम्भक है। जबतक 'केवल' सिद्ध हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाने पर योगी के लिए तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं रहता। 'केवल' कुम्भक के अभ्यास से कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत होती है, जिस के फलस्वरूप योगी पतले शरीर वाला, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्र वाला, नाद श्रवण करने वाला, सभी रोगों से रहित बिन्दु को जीतने वाला और प्रज्जवलित जठराग्नि वाला होता है।

योगाभ्यासी को नाड़ी स्थान, वायु स्थान तथा उनके कार्यों को भली प्रकार समझकर नाड़ी की शुद्धि करनी चाहिए। अन्यथा का इस का विपरीत परिणाम हो सकता है।

अध्याय - पंचम

पञ्चम अध्याय

आधुनिक युग में योग एवं योगासनों की उपयोगिता :

आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में भारतवासियों का जीवन द्रुतगति से विलासिता की ओर बढ़ता जा रहा है। विभिन्न प्रकार के श्रमसाधनों से हटकर मशीनों तथा अन्य भौतिक साधनों पर हमारा जीवन अधिक निर्भर होता जा रहा है। कृत्रिमता आज हमारे जीवन में इस तरह से व्याप्त हो गई है कि हमारे रहन-सहन का ढंग, हमारा आचरण, हमारा व्यवहार, हमारे खाने पीने की आदतें, सब कुछ कृत्रिम हो गई हैं। इस प्रकार वर्तमान युग में हमारा जीवन प्रकृति से हटकर कृत्रिम होता जा रहा है। जीवन का नैसार्गिक सौन्दर्य एक प्रकार से नष्ट हो गया है। हमारे दैनिक भोजन में प्राकृतिक तत्त्वों का स्थान कृत्रिम रसायनों और तज्जनित मिश्रणों ने ले लिया है, जिस का दूषित और घातक प्रभाव हमारे शरीर, मन और मस्तिष्क को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। भौतिकवाद की चकाचौंध में हम अपने हिताहित को भी खो बैठे हैं और आँख बंद कर मीठे जहर को आत्मसात् करते जा रहे हैं। इसके दूरगामी और कालान्तर भावी अनेक परिणाम हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। किन्तु फिर भी विलासिता के क्षणिक सुखों में डूबा हुआ हमारा जीवन वेसुध है। श्रम विहीन, आलस्य पूर्ण विविध विधियाँ आज हमारे जीवन की मुख्य अंग बनी हुई हैं। ऐसी स्थिति में योग की क्या उपयोगिता है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या योग के द्वारा हमारे आधुनिक विलासितापूर्ण जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है ? इस का सीधा सा उत्तर है कि योग हमारे शरीर, मन और मस्तिष्क को प्रत्यक्षतः प्रभावित करता है। अतः योग द्वारा निश्चित् ही जीवन की वर्तमान धारा को बदला जा सकता है और जीवन में प्राकृतिक स्वास्थ्य और सौंदर्य का सुखमय प्रवाह प्रवाहित किया

जा सकता है।

योगासनों की उपयोगिता -

वर्तमान समय में अनेक प्रकार की सुख सुविधाएं विभिन्न प्रकार की भौतिक साधन-सामग्री होते हुए भी आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक रोगग्रस्त है। आज मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक धन एवं चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है, फिर भी विभिन्न प्रकार के रोग उसे घेरे हुए हैं। इसका मूल कारण है हमारा आधुनिक विलासिता पूर्ण जीवन और हमारे दैनिक भोजन में प्राकृतिक तत्त्वों का ह्रास या अभाव। यदि योगासनों का अभ्यास निरन्तर किया जाये तो उन दोनों ही कारणों का निवारण स्वतः ही हो जाता है। योगासन मानसिक तनाव को दूर करने का एक अपूर्व साधन है। कुण्ठा और निराशा से आपूरित का मानव जीवन के लिए योगासन अमुल्य वरदान की भाँति हैं।

योगासनों के सतत अभ्यास के आधुनिक सभ्य जीवन के कब्ज, गंठिया, जकड़न, हृद्रोय, तनाव, दुश्चिन्ता, कुण्ठा, निराश, स्नायु शैथिल्य, वायु विकार (गैस) आदि अनेक रोगों से सहज ही मुक्ति पा सकता है। वह अपने शरीर में अधिक शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव कर सकता है। योगासनों का सतत अभ्यास करने वाला मनुष्य अधिक सतर्कतापूर्वक जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकता है और अधिक सक्षमतापूर्वक शारीरिक एवं मानसिक समस्या का हल करने में समर्थ हो सकता है।

वर्तमान समय में मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन में जिस तीव्रता से मादक द्रव्यों का सेवन करने की प्रवृति बढ़ रही है, वह भारी चिन्ता का विषय है। मादक द्रव्यों का प्रयोग जहाँ मानसिक संतुलन को विगाड़ देता है, वहाँ शरीर और मस्तिष्क के लिए भी उन की हानिकर सम्भावनायें अत्यधिक हैं।

योगासनों के अभ्यास के द्वारा मानव जीवन की नीरसता को दूर कर उसे सरस बनाया जा सकता है। यौगिक क्रियाओं के परिणाम कई बार दैवी शक्ति की भाँति प्रतीत होत हैं। यौगिक आसनों के द्वारा शरीर-मन-आत्मा और मस्तिष्क में ऐसा संतुलन स्थापित होता है कि जीवन निर्वाह अबाधगति से होता जाता है। हृदय में सात्विक भावों का उदय होता है और ईर्ष्या, भय, द्वेष, क्रोध आदि वैकारिक भावों का क्रमशः शमन होकर मानसिक भावों में निर्मलता आती है। अतः आधुनिक युग के तनावपूर्ण वातावरण में मनुष्य को शान्ति और सुख प्रदान करने के लिए योगासनों का अभ्यास अपरिहार्य रूप से करना चाहिए । ये आसन जीवन की अनेक विषमताओं को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। आसनों का अभ्यास करने वाले मनुष्य को जीवन की यथार्थता का अनुभव होता है और वह जीवन के वास्तविक आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है।

आज अनेक लोग ऐसे हैं, जिनके पास धन-दौलत की कमी नहीं है और वे भौतिक विलासितापूर्ण जीवन में डूबे हुए हैं। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो उनके जीवन में क्षणभर के लिए भी सुख और शान्ति नहीं है। ऐसे लोग जीवन की वास्तविकता से काफी दूर रहते हैं। उनके पास सब कुछ होते हुए भी वे अपने जीवन की नीरस गाड़ी को खींचते जाते हैं। उनको होश तब आता है जब वे जीवन के सुनहरे क्षणों को कई बसन्तों के रूप में व्यतीत कर चुके होते हैं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन निर्वाह के इस नीरस और निर्जीव ढंग को आसनों के द्वारा ठीक किया जा सकता है। जीवन पद्धति को व्यवस्थित करने के लिए योगासन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है उस में जीवन का वह वास्तविक आनन्द छुपा हुआ है जिसके लिए मनुष्य इधर-उधर भटकता है। आध्यात्मिकता के सोपान के रूप में आसन जीवन निर्वाह के लिए सही मार्ग प्रशस्त करते हैं । अतः निःसन्देह वे आधुनिक युग में

प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। कुछ लोग योगासनों की दुरूहता की शिकायत करते हैं। किन्तु यह बात सही नहीं है। कुछ प्रारम्भिक आसन तो इतने सरल हैं कि सहज ही उनका अभ्यास किया जा सकता है। अतः नवाभ्यासी को पहले सरल आसनों का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से कठिन आसन भी धीरे-धीरे सरल हो जाते हैं और मनुष्य उनका अभ्यस्त हो जात है। इसके अतिरिक्त किसी भी नवीन वस्तु को नए ढंग से सीखने में कुछ कठिनता का अनुभव तो होता ही है। मनुष्य में यदि रूचि, लग्न और उत्साह हो तो वह कठिन कार्य को भी करने में समर्थ हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह आसनों का अभ्यास भी प्रयत्नपूर्वक करे। आसनों के अभ्यास से निश्चय ही मानव जीवन में सरसता और यथार्थता का संचार होगा। वह जीवन में सच्चे सुख और सफलता का अनुभव करेगा ।

आसनाभ्यास से लाभ -

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यौगिक आसन शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, उपयोगी एवं लाभदायक हैं। इस का मुख्य कारण यह है कि आसनों का निरन्तर अभ्यास करने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। शारीरिक आसन मुख्य रूप से शरीर और उसके समस्त बाह्य-आभ्यन्तरिक अवयवों को प्रभावित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर के रुग्ण अवयव भी क्रियाशील हो जाते हैं और प्राकृत रूप से अपना कार्य करने लगते हैं। शारीरिक आसनों का एक प्रभाव यह होता है कि शरीर में स्थिति अन्तःस्रावी ग्रंन्थियाँ अपना कार्य सुचारू रूप से करने लगती हैं और सम्पूर्ण अन्तःस्रावी ग्रंन्थि प्रणाली नियन्त्रित व सुव्यवस्थित हो जाती है। फलस्वरूप सभी ग्रंथियों से उचित मात्रा में रस का स्राव होता है जो विभिन्न दृष्टि से शारीरिक विकास के लिए उपयोगी एवं आवश्यक है।

आसनों का नियमित अभ्यास सभी आन्तरिक अवयवों को क्रियाशील बनाने में सहायक होता है। शरीर की माँसपेशियाँ स्वस्थ और क्रियाशील हो जाती हैं। आमाशय, ग्रहणी, आंत, यकृत्, प्लीहा, वृक्क हृदय आदि अवयव अपना कार्य सुचारू रूप से करते हैं। आसन के द्वारा श्वासोच्छ्वास की नियन्त्रित गति और सतत रूप से प्राणवायु का ग्रहण होते रहने से फुफ्फुस स्वस्थ एवं क्रियाशील रहते हैं। शरीर में रक्तशुद्धि और रक्त प्रवाह यथोचित रूप से होता है। इस से हृदय को शक्ति एवं गति मिलती है। शरीर में रक्त संचार ठीक रहने से अनेक रक्त सम्बन्धी व्याधियाँ नहीं हो पातीं और रक्तचाप भी सामान्य और नियन्त्रित रहता है। रक्त के द्वारा सभी अवयवों को सामान्य रूप से पोषण प्राप्त होता रहता है। शरीर के सभी संस्थान, जैसे रक्तवह संस्थान, श्वासवह संस्थान आदि प्राकृत रूप से अपना कार्य सम्पादित करते हैं और शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाए रखते हैं। सभी संस्थानों, अवयवों आदि के द्वारा प्राकृत रूप से अपना कार्य करने के कारण शरीर पर अकस्मात् रोगाक्रमण नहीं होता और शरीर रोगों से बचा रहता है। इस प्रकार आसनों के अभ्यास का प्रभाव शरीर के बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों संस्थानों एवं सम्बन्धित अवयवों पर पड़ता है, जिससे स्नायुमण्डल, अंतस्रावी ग्रंथियाँ, माँसपेशियाँ संधियां और अन्यान्य आन्तरिक अंग सुचारू रूप से अपना कार्य करते हैं।

आसनों के अभ्यास का जितना प्रभाव शरीर पर पड़ता है उतना ही प्रभाव मन पर भी पड़ता है। आसनों के अभ्यास से मन की चञ्चलता धीरे-धीरे दूर होकर मन में स्थिरता और शांति आती है। आसनों के दीर्घकालीन अभ्यास के आधार पर यह अनुभव किया गया है कि इससे अनेक प्रकार के मानसिक विकारों और व्याधियों के अपशमन में बड़ी सहायता मिलती है। आसनों का प्रत्यक्ष प्रभाव स्नायुमण्डल पर पड़ता है जिससे तनाव और उत्तेजना की स्थिति का निर्माण नहीं हो पाता और मानसिक

सन्तुलन बना रहता है। मन में उत्पन्न होने वाले विविध भावों पर आसनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ऐसे भाव जो मानसिक विकृति को उत्पन्न करने वाले होते हैं वे भी आसनों के द्वारा प्रभावित और नियन्त्रित होते हैं। आसनों से मन की दृढ़ता और एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है। अन्य मानसिक शक्तियाँ भी विकसित होती हैं। स्नायुमण्डल की शिथिलता से होने वाले विकारों के होने की सम्भावना भी निर्मूल हो जाती है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए आसनों का अभ्यास उपयोगी है।

आसनों के द्वारा मस्तिष्क सम्बन्धी विभिन्न शक्तियाँ भी विकसित होती हैं। मस्तिष्क शक्तिशाली बनता है मस्तिष्क का संतुलन बना रहता है, जिससे यह सदैव स्फूर्त, क्रियाशील, सजग और स्वस्थ बना रहता है कुछ विशिष्ट आसन ऐसे भी हैं जो केवल मस्तिष्क को प्रभावित कर उसे न केवल स्वस्थ बनाते हैं, अपितु उस का अन्यान्य शक्तियों का विकास भी करते हैं।

आसनों में कुछ आसन ऐसे भी हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसे आसन राजयोग के लिए साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस दृष्टि से उन आसनों का कार्य समाधि की ओर अग्रसर करने वाले उच्च यौगिक अभ्यास, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि के लिए शरीर को स्थिर बनाना है।

इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से आसनों की उपयोगिता निर्विवाद है। वे सभी वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से हितकारी हैं। अतः हमारे लिए आवश्यक है कि इनका अध्ययनकर समुचित रूप से ज्ञान प्राप्त करें और योग्य गुरु के मार्ग निर्देशन में इनका विधिपूर्वक अभ्यास करते हुए इनसे होने वाले लाभ अर्जित करें।

उपसंहार

योगदर्शन अथवा योगशास्त्र भारतीय संस्कृति के सुदृढ़ आधार स्तम्भों में से एक है। योग के द्वारा जहाँ भारतीय संस्कृति के दार्शनिक पक्ष की पुष्टि हुई है और उस की चिन्तनधारा में परिपक्वता आई है, वहाँ उस के द्वारा लोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ है। योगदर्शन ने लोगों को निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की प्रेरणा दी है। निवृत्ति को साध्य या लक्ष्य मानकर प्रवृत्ति की प्रेरणा या निर्देश देना योगशास्त्र की मौलिक विशेषता है। योगदर्शन एक ऐसा दर्शन रहा है, ~~सिको~~ जिसको सभी नास्तिक और आस्तिक दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। इस विषय में सभी का मत एक ही है कि इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाला प्राणी किसी न किसी दुःख से पीड़ित है। अतः जन्म को दुःखों का कारण माना जाता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। इन दुःखों से निवृत्ति केवल योग द्वारा ही हो सकती है। अतः इन की निवृत्ति के लिए योग का ज्ञान होना परमावश्यक है।

आधुनिक युग में जितनी अधिक महत्ता विज्ञान की सिद्ध होती है, उतनी ही योग की। वर्तमान समय में आधुनिक एवं कृत्रिमतापूर्ण भौतिकवादी जीवन के कारण तीव्रतापूर्वक योग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। योग सर्वत्र सम्भाव बनाये रखने में मुख्य भुमिका निभाता है। चाहे वह शारीरिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो या पर्यावरण सम्बन्धी हो।

आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास के लिए योग की परमावश्यकता सिद्ध तो होती है, परन्तु इस के साथ समाज के भ्रष्ट रूप को सुधारने में भी योग महत्त्पूर्ण भूमिका निभाता है। पिछले कुछ समय से विद्वानों, चिन्तकों, विचारकों वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों

का ध्यान योग की ओर आकृष्ट हुआ है। शासन तंत्र भी इस ओर उन्मुख हुआ है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में योग को पर्याप्त स्थान दिये जाने हेतु लगातार प्रयत्न किए जा रहे हैं सम्भवतः इस का कारण यह है कि आधुनिक घुटनभरे, तनावपूर्ण, कुण्ठायुक्त वातावरण में जहाँ मनुष्य शांति की तीव्र अभिलाषा के साथ जीवन की सार्थकता हेतु प्रयत्नशील हैं, वहाँ उसे केवल योग के द्वारा ही कुछ राहत मिल सकती है। आधुनिक युग में विज्ञान ने मनुष्य को जितनी तीव्रता से भौतिकवाद और विलासिता की ओर अग्रसर किया है, उस से सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य को अनेक विषमताओं, समस्याओं और कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है जिसके कारण भीषण रूप से वह मानसिक अशान्ति का शिकार बना हुआ है। इसके अतिरिक्त कृत्रिमता और आडम्बरपूर्ण जीवन यापन के कारण आज विश्व में अनेक प्राणघातक रोगों का प्रादुर्भाव हो गया है, जिस का मानसिक अशाँति से निकटतम सम्बन्ध है। इसका निराकरण और पुनः मानसिक शान्ति की स्थापना योग द्वारा की जा सकती है। यही कारण है कि वैज्ञानिक चिकित्सक योग की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं। अतः मानसिक व्याधियों, हृदय रोग जैसे प्राणघातक भीषण रोगों तथा अनय विकारों के उपचार के लिए योग एवं यौगिक क्रियाओं का वैज्ञानिक रीति से प्रयोग कर समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

मनुष्य के सर्वांगीण विकास में चरित्र-निर्माण चिकित्सा-विज्ञान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्वकल्याण की भावना को विकसित करने से लेकर परमात्मसाक्षात्कार तक योग अप्रतिम साधन है।

योगदर्शन में सर्वप्रथम मन को वश में करने की बात कही गई है। मन को वश में करने के लिये इस की वृत्तियों का निरोध परमावश्यक है और चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए योग का ज्ञान होना अनिवार्य है। योग के ज्ञान के बिना मन को नियन्त्रित कर

पाना बहुत ही कठिन है। चूँकि मन स्वभाव से ही चञ्चल है, इस में रजोगुण का प्राबल्य रहता है, जिस के कारण इस का एक विषय पर स्थिर रहना कठिन है।

योग को मनोज्ञान भी कहा गया है। ऐसा इसलिए कहा गया है, क्योंकि योग भटकते हुए मन को नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है। शरीर और मन के साथ-साथ सुस्वस्थ समाज की स्थापना में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग के द्वारा व्यक्ति, समाज एवं विश्व में शांति की स्थापना हो सकती है। अतः सब को मन, वाणी, कर्म द्वारा योग के नियमों का पालन करना चाहिए। योग दर्शन में यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि - ये आठ अंग बताये गए हैं। इन अंगों के विधिपूर्वक पालन से मनुष्य सब प्रकार से रोगों और दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

योगशास्त्र में यम-नियम के पश्चात् 'आसन' नामक तृतीय अंग का विवेचन किया गया है। आसन के विषय में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण योग का मूल आधार है। आसन का प्रभाव साधक के शरीर, मन-इन्द्रियों और आत्मा पर संयुक्त रूप से पड़ता है, जिस से साधना के लिए आधारभूत सुदृढ़ भूमि का निर्माण होता है। तात्पर्य यह है कि आसन के द्वारा शरीर और मन में इतनी सहृदयता आ जाती है कि उस से साधक की साधना में शारीरिक या मानसिक व्यवधान नहीं आता। शरीर पर आसन का जो प्रभाव पड़ता है, उस से शरीर स्वस्थ एवं निरोग बना रहता है। शरीर के सम्पूर्ण अवयव अंगोपांग और उनकी सभी प्रकार की क्रियाएँ नियन्त्रित होती हैं, जिस से स्वास्थ्य की रक्षा तो होती ही है, अनेक प्रकार के रोगों का शमन भी होता है। अनेक आसन तो ऐसे हैं जो रोग या रोग की अवस्था विशेष में अत्यनत लाभकारी होते हैं। अतः रोगोपशमन या रोगों की चिकित्सा के लिए योग अपूर्व साधन है।

इस प्रकार योगाासनो के द्वारा यहाँ स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है वहाँ विकारग्रस्त अवस्था में रोगों का उपशमन भी होता है। आयुर्वेद का मूल प्रयोजन भी यही है-स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी मनुष्यों के रोगों का शमन करना। आयुर्वेद भी व्यक्ति के स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन की पुष्टि करता है। । (A sound mind in a sound body) अर्थात् स्वस्थ तन में ही स्वस्थ मन का निवास माना गया है। अनेक रोगों का नाश करने में जहाँ औषधियाँ असफल रही हैं वहीं योग के द्वारा उन रोगों का सफल उपचार हुआ है।

इस प्रकार श्राामिक, किसान, निर्धन व्यक्ति, स्त्री-पुरूष, बूढ़ा बच्चा, स्वस्थ शरीर के बिना किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। इसलिए महापुरूषों ने यह वचन कहे हैं कि शरीर को स्वस्थ रखना ही मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। इस प्रकार भौतिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि योग शरीर एवं मन को स्वस्थ रखने में अचूक औषधि है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक या सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1. अमरकोश	अमरसिंह	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी	1970
2. अथर्ववेद	निगम	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी	1969
3. कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
4. कठोपनिषद्	निगम	रतिराम शास्त्री सुभाष वाज़ार	1984
5. कुण्डलिनीयोग तत्व	दीवानगोकुलचन्द्र कपूर	मोती लाल बनारसीदास चौखम्बा संस्कृत संस्थान	1976
6. चरक संहिता	महामुनि चरक	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली (वाराणसी)	1986
7. जयेन्द्रयोग-प्रयोग	डॉ0 रमेश कुमार	वाराणसी पटना मेघ प्रकाशन दिल्ली	1982
8. तेजोबिन्दुपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	-
9. निर्गुणोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	-
10. पातञ्जलयोग दर्शन	पतञ्जलि	चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी	1994
11. पातञ्जलयोगदर्शन	रघुवीर वेदालङ्कार	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली	2003
12. पातञ्जलयोगसूत्र	डॉ0 पवनकुमारीगुप्ता	”	1979
13. पद्मपुराण	पण्डित पन्नालाल	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	1944

14.	भारतीयब्राह्मणों की गोत्रावली	लक्ष्मी नारायण शर्मा	विशन स्वरूप कालोनी - पानीपत	2005
15.	भगवद्गीता	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1995
16.	भागवद्महापुराण	महर्षि व्यास	गीताप्रेस गोरखपुर	1995
17.	मण्डलोब्रह्मणोपषिद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	-
18.	मुण्डकोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस गोरखपुर	2051
19.	योग और आयुर्वेद	आ. आचार्य राजकुमार जैन	प्राणाशय जैनायुर्वेद शोध संस्थान (दिल्ली)	1997
20.	योगासन और ध्यान क्रियाएँ	मुनि किशनलाल	राजा पाकेट बक्स दिल्ली	2002
21.	योगसार संग्रह	डॉ0 पवनकुमारी	ईस्टर्न बक लिंकर्स दिल्ली	1981
22.	लिंगपुराण	महर्षि व्यास - पó राम शर्मा	राष्ट्रीय प्रेस मथुरा	1969
23.	वेदान्तसार	सदानन्दयोगीन्द्र	रतिराम शास्त्री प्रिंटिंग प्रेस - मेरठ	1973
24.	शण्डिल्योपनिषद्	निगम	संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली ।	1969
25.	श्वेताश्वत्तरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
26.	शुक्ल यजुर्वेद	निगम	वसन्तश्रीपादसातक्लेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी जि0 बेलसाड़	1918

27.	श्रीमदभगवद्गीता	जयदयाल गोचन्दका	गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर	2004
28.	सर्वदर्शनसंग्रह	माध्वाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1984
29.	सर्वदर्शन संग्रह	माध्वाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1987
30.	सारावली	डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना	1977 - 1981
31.	सरसभारती	श्रीमतिवीणा जेरथ	नरेन्द्र पब्लिशिंग हाऊस जालन्धर	1986
32.	सुश्रुत संहिता	आचार्य सुश्रुत	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, वाराणसी	1975
33.	हठयोगप्रदीपिका	स्वात्माराम योगीन्द्र	लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम्प्रेस बंबई ।	1992

महेश्वर योग

(श्वेताश्वतरोपनिषत् और प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

MAHESHWARA YOGA

(On the basis of Shvetashvataropanishat & Pratyabhijnahridayam)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्.
उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ. जगीर सिंह
एम.ए., एम.फिल्., पी.एच.डी.
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :
सुजाता मंगोत्रा

जुलाई, 2003

II

...एम.फिल्.

...धु शोधप्रबन्ध

Forwarded
Balaji
24/07/03

...ह

...म.फिल्., पी.एच.डी.

...,

शोध छात्रा :
सुजाता मंगोत्रा

...नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

जुलाई, 2003

महेश्वर योग

(श्वेताश्वत्तरोपनिषत् और प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

MAHESHWARA YOGA

(On the basis of Shvetashvataropanishat & Pratyabhijnahridayam)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्.
उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ. जगीर सिंह
एम.ए., एम.फिल्., पी.एच.डी.
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :
सुजाता मंगोत्रा

जुलाई, 2003

Certificate

It is to certify that **Miss Sujata Mangotra** *has worked under my supervision and guidance on the topic entitled "Maheshwara Yoga" (on the basis of Shvetashvataropanishat and Pratyabhijnahridayam) for the degree of M.Phil. (Sanskrit) University of Jammu.*

It is further certified that :–

1. *This dissertation is the original research work of the candidate herself.*
2. *The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by the statute of Jammu University.*
3. *The topic has been duly approved by the M.Phil. (Sanskrit) committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.*
4. *The candidate has put her attendance and attended the seminars etc. in the Sanskrit Department under rule.*
5. *The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research work.*

July 24, 2013.

Supervisor :
Dr. Jagir Singh (Reader)
M.A., M.Phil., Ph.D.
P.G. Deptt. of Sanskrit
Jammu University,
Jammu.

6. **चतुर्थ अध्याय : क्षेमराज का जीवन परिचय एवं कृतियाँ** 80-97

(क) क्षेमराज का जीवन परिचय

(ख) क्षेमराज की कृतियाँ

7. **पञ्चम अध्याय : प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति (परमसत्ता), पशुप्रमाता (जीव) एवं योग** 98-117

(क) चित्ति एवं जीव

(ख) योग

8. **उपसंहार** 118-121

संकेत-सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
अ० प्र० सि०	—	अजडप्रभातृसिद्धि
अथ० वे०	—	अथर्ववेद
अभि० शा०	—	अभिज्ञान शाकुन्तम्
अभि० मा०	—	अभिधावृत्तिमातृका
अमन० यो०	—	अमनस्क योग
अम० को०	—	अमर कोष
आ० वि०	—	आत्मविलास
ई० प्र० का०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका
ई० उप०	—	ईशावास्योपनिषद्
उ० रा० च०	—	उत्तररामचरित
ऋ० सू० स०	—	ऋक्सूक्तसंग्रह
ऋ० वे०	—	ऋग्वेद
ऐत० उप०	—	ऐतरेय उपनिषद्
कठ० उप०	—	कठोपनिषद्
केन० उप०	—	केनोपनिषद्
च० सं०	—	चरक संहिता
छां० उप०	—	छान्दोग्योपनिषद्
तै० उप०	—	तैत्तिरीय उपनिषद्
त्रि० उप०	—	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
तं० आ० आह०	—	तन्त्रालोक आह्निक
तं० सा०	—	तन्त्रसार

संकेत		ग्रन्थ का नाम
द० स्मृ०	—	दक्षस्मृति
दु० स०	—	दुर्गासप्तशती
नृ० उप०	—	नृसिंहोपनिषद्
प० सा० का०	—	परमार्थसार कारिका
परा० त्रिं०	—	परात्रिंशिका
परा० प्रा०	—	पराप्रावेशिका
पा० टि०	—	पादटिप्पणी
पा० यो० सू०	—	पातञ्जलयोग सूत्र
प्र० हृ०	—	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्र० उप०	—	प्रश्नोपनिषद्
ब्र० वि० उप०	—	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र० सू० शां० भा०	—	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
बृ० उप०	—	बृहदारण्यकोपनिषद्
भ० गी०	—	भगवद् गीता
भा० पु०	—	भागवद् पुराण
भ० द० ब० उपा०	—	भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय
मा० वि० उ० तं०	—	मालिनीविजयउत्तरतन्त्रम्
मा० वि० वा०	—	मालिनीविजयवार्तिकम्
रघु०	—	रघुवंशम्
वा० सं०	—	वाजसनेयी संहिता
वे० सा०	—	वेदान्तसार
वि० भै० वि०	—	विज्ञानभैरवविवृत्ति

संकेत		ग्रन्थ का नाम
श्वे० उप०	—	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्वे० उप० दी०	—	श्वेताश्वतरोपनिषद् दीपिका
शत० ब्रा०	—	शतपथ ब्राह्मण
श० ति०	—	शारदा तिलक
शि० दृ०	—	शिव दृष्टि
शि० स्तो०	—	शिवस्तोत्रावली
शि० सू० वि०	—	शिवसूत्र विमर्शिनी
शं० स्मृ०	—	शंख स्मृति
स्त० चि०	—	स्तोत्र चिन्तामणि
स्प० का०	—	स्पन्दकारिका
स्प० नि०	—	स्पन्दनिर्णय
स्व० तं०	—	स्वच्छन्दतन्त्रम्
सर्व० सं०	—	सर्वदर्शन संग्रह
सां० का० गौ० पा० भा०	—	सांख्य कारिका गौड़ पाद भाष्य
सौ० ल०	—	सौन्दर्यलहरी
हा० स्मृ०	—	हारीत स्मृति

प्राक्कथन

मेरा जन्म धार्मिक विचारधारा रखने वाले परिवार में होने एवं माता-पिता की अभिरुचि देववाणी संस्कृत में होने के कारण मेरी भी अभिरुचि देववाणी संस्कृत में हुई।

मैंने भद्रवाह महाविद्यालय से स्नातक उपाधि प्राप्त की। स्नातक कक्षा में प्रवेश करते समय पूर्व में विज्ञान की छात्रा होने के कारण मुझे संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान नहीं था, बस थोड़ी सी मन में इच्छा हुई कि मैं एक विषय संस्कृत का भी लूँ, अतः मैंने अन्य विषयों के साथ संस्कृत को चुना।

तदोपरान्त उच्चशिक्षा हेतु जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश किया और प्रथम श्रेणी में संस्कृत स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से मैंने एम.फिल्. में प्रवेश लिया। जब मैंने इस विभाग में प्रवेश लिया तो हमारे विभाग में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक डॉ. जगीर सिंह जी के स्वभाव से मैं तभी से अत्यधिक प्रभावित रही हूँ। मैंने अपने निर्देशक डॉ. जगीर सिंह को पहले से ही अवगत करवा दिया कि मैं 'योग दर्शन' पर शोध करना चाहती हूँ तो मेरी रुचि को देखकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। उनके परमार्श और उनके सुझाव और प्रेरणापूर्वक शब्दों से 'महेश्वर योग-श्वेताश्वतरोपनिषद् और प्रत्यभिज्ञा के आधार पर' लघु शोध प्रबन्ध का विषय चयन किया। इस लघु शोध प्रबन्ध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है :-

'उपनिषदों एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय' नामक प्रथम अध्याय में

मैंने उपनिषदों की संख्या एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का विस्तृत रूप में वर्णन किया है।

'योग की अवधारणा' नामक द्वितीय अध्याय में योग का अभिप्राय, महत्ता और अंगों का वर्णन किया है। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, महाकाव्यों एवं पुराणों आदि में योग की अवधारणा प्रस्तुत की है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद् के परिपेक्ष्य में जीव-ब्रह्म एवं योगोपलब्धि' नामक तृतीय अध्याय में जीव-ब्रह्म एवं योगोपलब्धि का विस्तार रूप से वर्णन किया है।

'क्षेमराज का जीवन परिचय एवं कृतियाँ' नामक चतुर्थ अध्याय में क्षेमराज का जीवन परिचय एवं इनकी कृतियों के विषय में विवेचन किया है।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति, जीव एवं योग' नामक पंचम अध्याय में मैंने चित्ति, जीव एवं योग सम्बन्धी जानकारी दी है।

सर्वप्रथम उस जगत् परमपिता परमात्मा को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम जिनकी असीम कृपादृष्टि रहने से मेरा यह लघु शोध-प्रबन्ध सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का प्रमुख श्रेय महानुभाव डॉ. जगीर सिंह जी को जाता है जो समय-समय पर इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरे सहायक हुए तथा ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा मृदुल व्यवहार से शोधकार्य में आने वाली कठिनाईयों को दूर किया तथा मुझे प्रेरणा देकर इस शोध-कार्य को चरम-सीमा तक पहुँचाने में मेरी सहायता की।

मैं अपने विभाग की अध्यक्षा डॉ. रमणिका जलाली तथा अन्य प्राध्यापकों विशेषतया

डॉ. राम बहादुर शुक्ल जी का हार्दिक धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मेरा सम्पूर्ण सहयोग दिया इसलिए मैं इनकी आभारी हूँ।

संस्कृत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री बड़ियाल जी तथा जतिन शर्मा का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने मुझे सामग्री - संकलन में सहायता की है।

मैं रघुनाथ पुस्तकालय के अध्यक्ष डॉ. धनीराम शास्त्री एवं बलदेव राज का भी धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मुझे अपने पुस्तकालय से सामग्री संकलन में सहायता की है।

मैं अपने माता - पिता तथा भाईयों के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद तथा प्रेम से ही मेरा एम.फिल्. का शोधकार्य सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ। मेरे माता - पिता ने सदैव मुझे प्रोत्साहित किया तथा अनुदान सहायता भी की।

मैं संगणक (कम्प्यूटर) लिपिक **कोहली जे.के.** का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने उचित समय पर मेरे शोध कार्य को लिपिटंकित किया।

अन्त में पुन: मैं विशेषकर उस ईश्वर को कोटि - कोटि प्रणाम करती हूँ और उनकी बहुत आभारी हूँ जिनकी कृपा से मैं आज इस शोध कार्य को समाप्त कर रही हूँ।

सुजाता मंगोत्रा
शोधछात्रा
सुजाता मंगोत्रा

तिथि : 24 July 2003

प्रथम अध्याय

उपनिषदों एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय

(क) उपनिषदों से तात्पर्य (ख) उपनिषदों की संख्या

(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद् का नामकरण (घ) श्वेताश्वतरोपनिषद् का रचनाकाल

(ङ) श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय

उपनिषद् से तात्पर्य

वैदिक शिक्षाओं का साररूप उपनिषदें मानी जाती हैं। इनकी नींव के ऊपर ही बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशाखाओं और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषद् वस्तुत: वह आध्यात्मिक ज्ञान का मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न नदियाँ निकलकर इस पुण्य स्थल में मानवमात्र के कल्याण और मंगल की कामना से बहती हैं।

उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार किया गया है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, जैसे – अग्नि-कण अग्नि के अंश हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे पहली बार समस्त ब्रह्माण्ड तथा इसमें निवास करने वाले असंख्य जीव-जन्तुओं पर व्यापक रूप से विचार करना प्रारम्भ किया। उपनिषदीय ऋषियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष आज तक अकाट्य हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक महत्त्व है।

उपनिषदों का आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने में उतना ही समर्थ है, जितना कि प्राचीन समय में था। यह समस्त दर्शनों का मूलग्रन्थ है और जैन और बौद्ध दर्शनों की आधारशिला भी है। इनके अध्ययन से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है। भारतीय संस्कृति से इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

उपनिषद् से तात्पर्य :–

आत्मा - परमात्मा के ज्ञान - विषयक मुख्य रूप से प्रतिपादित शास्त्र 'उपनिषद्' कहे जाते हैं। "उपनिषद्" शब्द विषयक विभिन्न मत इस प्रकार माने जाते हैं :– –

व्याकरणपरक मत :–

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षद्लृ 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निष्पन्न होती है। षद्लृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है – 1. विशरण या शिथिल करना, 2. गति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना, 3. अवसादन अर्थात् नाश करना।

उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है – उप और निषद् के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ समीप अर्थात् निकट है और 'निषद्' का अर्थ बैठनेवाला है। इस तरह जो परम तत्त्व (ब्रह्म) के समीप पहुँचाकर बैठनेवाला ज्ञान है, उसे उपनिषद् कहते हैं। 'समीप पहुँचाने' का अर्थ है ब्रह्म में विलीन करना और 'बैठनेवाला' का अभिप्राय है सदा स्थिर रहने वाला। तात्पर्य यह है कि आत्मा को ब्रह्म - रूप से प्रतिष्ठित करने वाले स्थिर ज्ञान को 'उपनिषद्' कहा जाता है।

वेदपरक मत :–

वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहा जाता हैं। 'रहस्य' भी उपनिषद् शब्द का पर्यायवाची शब्द है क्योंकि उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' और 'इति

गुह्यम्' शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, जीव और जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। उपनिषदों का प्रमुख विषय ब्रह्म का वर्णन करना है। इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्मविद्या' ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है। उपनिषद् का अर्थ विद्या भी है, वह विद्या जो ब्रह्म के समीप ले जाने वाली है।

वेदान्तपरक अर्थ :-

वेद शब्द विद् (ज्ञान) धातु से निष्पन्न होने वाले 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और प्रत्येक वेद के चार-चार भाग हैं - मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है। वेदों का यह भाग ज्ञानपरक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों से सम्बन्धित अर्थात् केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या उपलब्ध होती है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने चिन्तन-मनन और अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मसाक्षात्कार किया है।

बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का क्रम आता है उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

दार्शनिक मत :–

दार्शनिक मत के अनुसार उप+वास और उप+निषद् का एक ही अध्यात्मपरक अर्थ निकलता है। उपनिषदें आत्मा अथवा परमात्मा के समीप बैठाने अर्थात् ज्ञान कराने का माध्यम है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि प्राय: अज्ञानी जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते। इसलिए संसार चक्र में पड़े रहते हैं। अत: मोक्ष अथवा परमानन्द प्राप्ति के लिए आत्मा के समीप (उप) बैठना (निषद्) चाहिए।

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है।

जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके वह उपनिषद् कहलाती है।[1] उपनिषदों में ब्रह्म ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रधानता से विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है, जिससे उपनिषद् को 'अध्यात्मविद्या' भी कहते हैं। ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में होने से ये 'वेदान्त' या 'उत्तरमीमांसा' भी कही जाती है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या – ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वेद के अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक में से ही ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक भागों को पृथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अमरकोषकारों के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होना है।[2]

---

1. 'उपनिषद्यते – प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।'
2. 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की बड़ी महिमा है। वैदिक वाङ्मय का शीर्षस्थान उपनिषद् है – इस कथनमात्र से ही उपनिषदों की लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीनकाल में औपनिषद् ज्ञान का बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्या में पारंगत होते थे। वैदिक काल से ही उपनिषदों के स्वाध्याय की परम्परा प्रचलित हुई है। अत: कुछ उपनिषद् तो वेद के ही अंश विशेष हैं। कुछ ब्राह्मभाग और आरण्यकों के अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी आज से बहुत प्राचीन काल के हैं। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन – सभी ज्ञानप्रधान हैं। सबका आविर्भाव किसी-न-किसी गूढ़ तत्त्व या रहस्य का प्रकाशन करने के लिए ही हुआ है। अत: इनके स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि ही होती है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास 'अडियार लाइब्रेरी' से भी उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागों में विभक्त है। उसमें लगभग 279 उपनिषदों का प्रकाशन हो गया है। इस पर सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग 220 उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकनी हैं। प्राचीन काल से ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान की अपरिमित ग्रन्थराशि का होना आश्चर्य

की बात नहीं है। भारत पर एक-एक करके अनेक बार विदेशी दस्युओं के आक्रमण हुए और अनेक द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयों को भस्मावशेष कर दिया गया। इनने पर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजों की ज्ञान-ज्योति अब भी इस देश में प्रकाशित हो सकती है। यहाँ 220 उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है :-

1. अक्षमालोपनिषद्
2. अक्षि-उपनिषद्
3. अथर्वशिखोपनिषद्
4. अथर्वशिर उपनिषद्
5. अद्वयतारकोपनिषद्
6. अद्वैतोपनिषद्
7. अद्वैतभावनोपनिषद्
8. अध्यात्मोपनिषद्
9. अनुभवसारोपनिषद्
10. अन्नपूर्णोपनिषद्
11. अमनस्कोपनिषद्

12. अमृतनादोपनिषद्

13. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

14. अरुणोपनिषद्

15. अल्लोपनिषद्

16. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

17. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)

18. अव्यक्तोपनिषद्

19. आचमनोपनिषद्

20. आत्मपूजोपनिषद्

21. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)

22. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)

23. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)

24. आथर्वणद्वितीयोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

25. आयुर्वेदोपनिषद्

26. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)

27. आषेयोपनिषद्

28. आश्रमोपनिषद्

29. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

30. ईशावास्योपनिषद् उपनिषस्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध)

31. ऊर्ध्वपुण्डोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

32. एकाक्षरोपनिषद्

33. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

34. ऐतरेयोपनिषद (खण्डात्मक)

35. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

36. कठरुद्रोपनिषद् (कण्डोपनिषद्)

37. कठोपनिषद्

38. कठश्रुत्युपनिषद्

39. कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)

40. कात्यायनोपनिषद्

41. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्

42. कालाग्निरुद्रोपनिषद्

43. कालिकोपनिषद्

44. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्

45. कुण्डिकोपनिषद्

46. कृष्णोपनिषद्

47. केनोपनिषद्

48. कैवल्योपनिषद्

49. कौलोपनिषद्

50. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

51. क्षुरिकोपनिषद्

52. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्

53. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)

54. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)

55. गर्भोपनिषद्

56. गान्धर्वोपनिषद्

57. गायत्र्युपनिषद्

58. गायत्रीरहस्योपनिषद्

59. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मंत्रात्मक)

60. गुह्यकाल्युपनिषद्

61. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्

62. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्

63. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्

64. गोपीचन्दनोपनिषद्

65. चतुर्वेदोपनिषद्

66. चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)

67. चित्त्युपनिषद्

68. छागलेयोपनिषद्

69. छान्दोग्योपनिषद्

70. जाबालदर्शनोपनिषद्

71. जाबालोपनिषद्

72. जाबाल्युपनिषद्

73. तारसारोपनिषद्

74. तारोपनिषद्

75. तुरीयातीतोपनिषद् (तीताबधूतो०)

76. तुरीयोपनिषद्

77. तुलस्युपनिषद्

78. तेजोबिन्दूपनिषद्

79. तैत्तिरीयोपनिषद्

80. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

81. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्

82. त्रिपुरोपनिषद्

83. त्रिपुरामहोपनिषद्

84. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

85. त्रिसुपर्णोपनिषद्

86. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

87. दत्तात्रेयोपनिषद्

88. दत्तोपनिषद्

89. दुर्वासोपनिषद्

90. (1) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

(2) देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत अनुपलब्ध)

91. द्वयोपनिषद्

92. ध्यानबिन्दूपनिषद्

93. नादबिन्दूपनिषद्

94. नारदपरिव्राजकोपनिषद्

95. नारदोपनिषद्

96. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्

97. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्

98. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)

99. निरालम्बोपनिषद्

100. निरुक्तोपनिषद्

101. निर्वाणोपनिषद्

102. नीलरुद्रोपनिषद्

103. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्

104. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्

105. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्

106. पञ्चब्रह्मोपनिषद्

107. परब्रह्मोपनिषद्

108. परहंसपरिव्राजकोपनिषद्

109. परमहंसोपनिषद्

110. पारमात्मिकोपनिषद्

111. पारायणोपनिषद्

112. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

113. पिण्डोपनिषद्

114. पीताम्बरोपनिषद्

115. पुरुषसूक्तोपनिषद्

116. पैङ्गलोपनिषद्

117. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)

118. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)

119. प्रश्नोपनिषद्

120. प्रणाग्निहोत्रोपनिषद्

121. बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)

122. बह्वृचोपनिषद्

123. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्

124. विल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

125. विल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)

126. बृहज्जाबालोपनिषद्

127. बृहदारण्यकोपनिषद्

128. ब्रह्मविद्योपनिषद्

129 ब्रह्मोपनिषद्

130. भगवद्गीतोपनिषद्

131. भवसंतरणोपनिषद्

132. भस्मजाबालोपनिषद्

133. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)

134. भिक्षुकोपनिषद्

135. मठाम्नायोपनिषद्

136. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

137. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)

138. मल्लायुपनिषद्

139. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नाराणोपनिषद्, उत्तरनाराणोपनिषद्)

140 महावाक्योपनिषद्

141. महोपनिषद्

142. माण्डूक्योपनिषत्कारिका

143. माण्डूक्योपनिषद्

(क) आगम

(ख) अलातशान्ति

(ग) वैतथ्य

(घ) अद्वैत

144. मुक्तिकोपनिषद्

145. मुण्डकोपनिषद्

146. मुद्गलोपनिषद्

147. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्

148. मैत्रायण्युपनिषद्

149. मैत्रेय्युपनिषद्

150. यज्ञोपवीतोपनिषद्

151. याज्ञवल्क्योपनिषद्

152. योगकुण्डल्युपनिषद्

153. योगचूडामण्युपनिषद्

154. (1) योगतत्त्वोपनिषद्

155. (2) योगतत्त्वोपनिषद्

156. योगराजोपनिषद्

157. योगशिखोपनिषद्

158. योगोपनिषद्

159. राजश्यामलारहस्योपनिषद्

160. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)

161. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)

162. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्

163. रामरहस्योपनिषद्

164. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्

165. रुद्रहृदयोपनिषद्

166. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्

167 रुद्रोपनिषद्

168. लक्ष्म्युपनिषद्

169 लाङ्गलोपनिषद्

170. लिङ्गोपनिषद्

171. वज्रपञ्जरोपनिषद्

172. वज्रसूचिकोपनिषद्

173. वनदुर्गोपनिषद्

174. वराहोपनिषद्

175. वासुदेवोपनिषद्

176. विश्रामोपनिषद्

177. विष्णुहृदयोपनिषद्

178. शरभोपनिषद्

179. शाट्यायनीयोपनिषद्

180. शाण्डिल्योपनिषद्

181. शारीरकोपनिषद्

182. (1) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

183. (2) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

184. शिवोपनिषद्

185. शुकरहस्योपनिषद्

186. शौनकोपनिषद्

187. श्यामोपनिषद्

188. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

189. श्रीचक्रोपनिषद्

190. श्रीविद्यातारकोपनिषद्

191. श्रीसूक्तम्

192. श्वेताश्वतरोपनिषद्

193. षोढोपनिषद्

194. सङ्कर्षणोपनिषद्

195. सदानन्दोपनिषद्

196. सन्ध्योपनिषद्

197. सन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)

198. सन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)

199. सरस्वतीरहस्योपनिषद्

200. सर्वोपनिषद्

201. स ह वै उपनिषद्

202 सांहितोपनिषद्

203. सामरहस्योपनिषद्

204. साविव्युपनिषद्

205. सिद्धान्तविध्लोपनिषद्

206. सिद्धान्तशिखोपनिषद्

207. सिद्धान्तसारोपनिषद्

208. सीतोपनिषद्

209. सुदर्शनोपनिषद्

210. सुबालोपनिषद्

211. सुमुख्युपनिषद्

212. सूर्यतापिन्युपनिषद्

213. सूर्योपनिषद्

214. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

215. स्कन्दोपनिषद्

216. स्वसंवेद्योपनिषद्

217. हयग्रीवोपनिषद्

218. हंसषोढोपनिषद्

219. हंसोपनिषद्

220. हेरम्बोपनिषद्

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। उपनिषदों की संख्या 108 से लेकर 220 तक मानी जाती है। इनमें 11 उपनिषदें प्रमुख मानी जाती हैं। उनके नाम हैं – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इन प्रामाणिक उपनिषदों पर ही शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखा है। श्री ह्यूम ने जिन प्रमुख 13 उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है, उनमें इन 11 के अतिरिक्त कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषदें हैं।[1] मुक्तिक उपनिषद् में श्वेताश्वतर को छोड़कर शेष 10 को ही प्रमुख उपनिषदें माना है।[2] इन 10 उपनिषदों का नाम इस प्रकार है – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।[3]

---

1. The Thirteen Principal Upanisads by Robert Ernest Hume.
2. दशोपनिषद् पठ (मुक्त०उप० 1–27)
3. ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्ड, माण्डूक्य–तित्तिरि।
   ऐतरेय च छान्दोग्य बृहदारण्यकं तथा। (मुक्त० उप० 1–30)

उपनिषदों को काल-क्रम के अनुसार निम्न प्रकार से बाँटा जा सकता है। इनकी रचना भिन्न कालों में हुई थी।

प्राचीनतम उपनिषदें (700 ई. पू.)	–	ईश, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।
द्वितीय काल की उपनिषदें (600 ई. पू.)	–	ऐतरेय, तैत्तिरीय
तृतीय काल की उपनिषदें (500 ई. पू. से 400 ई. पू.)	–	प्रश्न, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य
चतुर्थ काल की उपनिषदें (300 से 100 ई. पू.)	–	कौषीतकि, मैत्री, श्वेताश्वतर

उपनिषदों का वेदों के अनुसार वर्गीकरण :–

प्रत्येक उपनिषद् का किसी न किसी वेद से सम्बन्ध माना जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि उस उपनिषद् में उस वेद से सम्बद्ध विषयों का ही वर्णन हो। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषद् की संख्या, उनके नाम एवं उनके शान्ति-पाठ का विस्तृत वर्णन मुक्तिक उपनिषदों[1] में प्राप्त होता है। इनकी संख्या 108 है। संक्षेप में प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषदें इस प्रकार हैं :–

1. अष्टाविंशत्युपनिषद् :, निर्णय सागर प्रेस, 1930, पृ० 363 – 364

1.	ऋग्वेदीय	–	ऐतरेय, कौषीतकि आदि 10 उपनिषदें
2.	शुक्ल यजुर्वेदीय	–	ईश, बृहदारण्यक आदि 19
3.	कृष्ण यजुर्वेदीय	–	कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कैवल्य आदि 32
4.	सामवेदीय	–	केन, छान्दोग्य, मैत्रायणि आदि 16
5.	अथर्ववेदीय	–	प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, महानारायण आदि 31

उपनिषदें

उपनिषदों का विषयानुसार वर्गीकरण :–

108 उपनिषदों को विषयानुसार 6 भागों में बाँटा जा सकता है :–

1.	वेदान्त के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	24
2.	योग के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	20
3.	सांख्य के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	17
4.	वैष्णव – सिद्धान्तों पर निर्भर	–	14
5.	शैव – सिद्धान्तों पर निर्भर	–	15
6.	शाक्त तथा अन्य सिद्धान्तों पर निर्भर	–	18[1]

विभिन्न विषयों पर इतनी संख्या में छोटी – बड़ी उपनिषदों के होने का यह कारण है कि सभी धर्मों और मतों के अनुयायियों का यह प्रयत्न रहा है कि उनके मन्तव्य का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई न कोई उपनिषद् हो।

1. वरदाचार्य – संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी) पृ० 42

श्वेताश्वतरोपनिषद् : नामकरण

उपनिषदों के नामकरण का भी अपना ही एक ढंग है। किसी उपनिषद् का नाम पहले मन्त्र के पहले शब्द से पड़ गया, तो किसी का नाम उनके ऋषि के नाम पर पड़ गया। श्वेताश्वतरोपनिषद् का नाम भी इसके अपने ऋषि के नाम पर पड़ा हुआ है। स्वयं इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय[1] (6.21) के इक्कीसवें मन्त्र में यह बतलाया गया है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव तथा परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना था और परमहंस संन्यासियों को इसका उपदेश दिया था। इस मन्त्र में केवल यह कहा गया है कि कोई श्वेताश्वतर नामक ऋषि थे। शंकरानन्द[2] नामक टीकाकार ने इसके नाम पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि श्वेताश्वतर वह ऋषि है जिसकी इन्द्रियाँ हमेशा ही दमित तथा अन्तर्मुखी हैं, विपरीत प्रवृत्तियों से रहित हैं या जिसका अश्व अत्यधिक रूप से श्वेत है, या जो अष्टांग योग में संलग्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरानन्द की यह व्याख्या प्रतीकात्मक है। अश्वतर का अर्थ है – खच्चर। इसका एक आशय यह हो सकता है कि एक ऐसा ऋषि जिसका खच्चर सफेद रंग का है। प्राचीनकाल में खच्चरों का काफी प्रयोग होता था और वह एक उपयोगी यातायात का साधन भी माना

---

1. तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्।। (श्० उप० 6.3)
2. श्वेता अवदाताः सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिता अश्वा इन्द्रियाणि यस्य स श्वेताश्वः।
अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टांगयोगनिरत इत्यर्थः (दीपिका) पृ० 142

जाता था। श्वेताश्व जैसे अर्जुन के नाम का एक पर्याय है उसी प्रकार श्वेताश्वतर एक ऋषि का नाम भी है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् : रचनाकाल

श्वेताश्वतरोपनिषद् के रचना-काल के विषय में कुछ निश्चित् मत प्रकट करना दुष्कर कार्य है। इस उपनिषद् के विषय में विद्वानों की एक धारणा है कि यह उपनिषद् उस काल की रचना है जब सांख्य, योग तथा वेदान्त स्वतन्त्र रूप में दार्शनिक विचारधारा के रूप में स्वीकृत नहीं हो पाए थे। संभवत: यह इसलिए कहा गया है कि इस उपनिषद् में इन तीनों दार्शनिक विचारधाराओं के अंकुर उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों का कहनाहै कि साम्प्रदायिक उपनिषदों की परम्परा में यह उपनिषद् सबसे पहला उपनिषद् है क्योंकि इसका सम्बन्ध रुद्र-शिव से है। इस उपनिषद् के निर्माण के पश्चात् शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपनिषदों की एक सुदृढ़ परम्परा प्रारम्भ हो गई और इसी परम्परा में सामान्य वेदान्त, योग और संन्यास से सम्बन्धित विषयों पर भी उपनिषदों की रचना शुरू हो गई।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के काल के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। इ. डब्ल्यू हॉपकिन्स[1] के अनुसार इस उपनिषद् का काल ई. पू. चतुर्थ शताब्दी है। कीथ[2] ने हॉपकिन्स द्वारा सुझाए गए समय पर आपत्ति की है परन्तु वे स्वयं कोई काल निर्धारित नहीं कर सके। आर.जी. भण्डारकर[1] का सुझाव है कि यह उपनिषद् भक्ति काल की

1. जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, वाल्यूम 22 पृ० 336 (फु०नो० 1)
2. रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्, पृ० 502-503
3. वैष्णाविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजीयस सिस्टम्स पृ० 110

प्रारम्भिक रचना है। डॉ. राधाकृष्णन[1] का कहना है कि यह उपनिषद् बुद्ध से पूर्ववर्ती है क्योंकि इसमें सांख्य तथा योग के पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय[2] में भक्ति की ओर एक हल्का-सा संकेत किया गया है। इसको देखकर यह कहा जा सकता है कि भक्ति सूत्रों तथा गीता में जो भक्ति की सुदृढ़ परम्परा मिलती है यह संकेत निश्चित ही उस परम्परा से काफी पुराना है। जहाँ तक इस परम्परा के विकास का सम्बन्ध है, निश्चित ही उस हल्के संकेत से गीता की भक्ति तक की लम्बी यात्रा में लगभग दो सौ वर्षों का समय अवश्य लगा होगा। आजकल यह माना जाता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा के पश्चात् तृतीय शताब्दी तक अवश्य पूर्ण हो गया होगा। इस प्रकार इसमें से दो सौ वर्षों का अन्तर करने के पश्चात् ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी ही श्वेताश्वरोपनिषद् का संभावित काल प्रतीत होता है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसको ईसा पूर्व चतुर्थ या पाँचवीं शताब्दी में भी रखने का प्रयत्न किया है।

---

1. इंडियन फिलासफी, वाल्यूम I, पृ० 511
2. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथितां ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः।। (श्०उप० 6.23)

श्वेताश्वरोपनिषद् का सामान्य परिचय

सम्पूर्ण उपनिषद् छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सर्वप्रथम सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय विषयक प्रश्नों को उठाया गया है इसके अनन्तर यह प्रतिपादित किया गया है कि 'देवात्मशक्ति' ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा सृष्टि का निर्माण किया गया है।[1] इसके चक्र तथा नदी रूपी प्रतीकों के माध्यम से संसार के प्रपञ्च का निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर भोक्ता, भोग्य और नियन्ता से युक्त त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।[2] पहले अध्याय के अन्त में उद्घोष किया गया है कि अपने शरीर तथा प्रणय पर निरन्तर चिन्तन करने से निगूढ़ आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे[3] का मत है कि श्वेताश्वरोपनिषद् का स्वाभाविक अन्त इसके पहले अध्याय में ही हो जाता है जैसा कि अन्त में शब्दों की पुनरावृत्ति से प्रतीत होता है तथा शेष अध्याय किसी परवर्ती युग के क्षेपक हैं। दूसरे अध्याय के प्रारम्भिक पाँच मन्त्रों में सूर्य देवता का वर्णन है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वह हमारे मन एवं बुद्धि को तत्त्व-चिन्तन में लगाए।[4]

---

1. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
   यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। (श्०उप० 1-3)
2. उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
   अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्त। (श्०उप० 1.7)
3. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० 21, जयपुर 1871
4. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
   अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत (श्०उप० 2.1)

इसके पश्चात् योग का विशद वर्णन दिया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस उपनिषद् का उद्देश्य योग को एक शास्त्र रूप में प्रतिपादित करना नहीं है जैसा कि पातञ्जल योगसूत्र में दृष्टिगोचर होता है, यहाँ पर केवल यौगिक प्रक्रिया का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। तीसरे अध्याय में रुद्र - शिव के माहात्म्य का विशद वर्णन किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि रुद्र की संसार ही उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का मात्र एक कारण है।[1] चौथे अध्याय में परमात्मा तथा जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है। जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा जीवात्मा का मात्र दर्शन करता है।[2] यह सारा संसार उस परमात्मा की माया है और वह महेश्वर स्वयं मायावी है। यह सारा संसार उसके अवयवों से व्याप्त है। वह परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति के अत्यधिक गहन क्षणों में भी विद्यमान रहता है ओर वही सारे लोकों का रक्षक भी है। अन्त में रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों का विनाश न करें।[3] पाँचवां अध्याय इस उद्घोष से प्रारम्भ होता है कि उस परमात्मा में विद्या और अविद्या अन्तर्निहित है और जो विद्या और अविद्या का भी नियमन करता है वह तो कोई अन्य ही

---

1. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
   प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः (श्०उप० 3.2)
2. (क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (श्०उप० 4.6)
   (ख) ऋ० वे०, 1.164.20
3. मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
   वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे (श्०उप० 4.22)

है।[1] इसके पश्चात् सांख्य सूत्रों के प्रणेता कपिल मुनि का संकेत किया गया है। इस अध्याय में कुछ अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम अध्याय में शुद्ध सगुण ईश्वर का निरूपण तथा गुरु-भक्ति और ईश्वर भक्ति का आदेश है।

---

1. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः (श्०उप० 5.1)

द्वितीय अध्याय

योग की अवधारणा

(क) योग से अभिप्राय

(ख) योग की महत्ता

(ग) योग के अंग

योग से अभिप्राय

'योग' भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का अभिन्न अंग है। योग का इतिहास अति प्राचीन है। इसका मूल रूप वैदिक संहिताओं में सूत्ररूप में उपनिबद्ध है। अध्यात्मपरम्परा एवं संस्कृत वाङ्मय के आस्तिक दर्शनों में भी योग का स्थान अप्रतिमरूप से स्वीकार किया गया है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन काल में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान था। योग भारतवर्ष की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसकी सुदूर अतीत काल से अविच्छिन्न रूप से गुरुपरम्परा चली आ रही है।

योग यथार्थतः एक दर्शन है, वैदिक षड्दर्शनों में इसकी गणना होती है। इस दर्शन के प्रवर्तक 'महर्षि पतञ्जलि' हैं। उनका यह योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नामक चार पादों में विभक्त है। महर्षि पतञ्जलि के योग-दर्शन पर भी अनेकों व्याख्याएँ, भाष्य, विवरण आदि हैं। ये सभी योग के प्रशंसापरक और परमात्म-प्राप्ति में अत्यन्त सहायक हैं।

यद्यपि भारतवर्ष में सभी भाषाओं में योग-साहित्य पर अपार सामग्री है और केवल योग पर ही विभिन्न भाषाओं में अनेकों ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनकी विस्तृत सूची आफ्रेक्ट तथा कुन्हन राजा और बी. राघवन (B. Raghvan) आदि के कैटेलग्स कैटेलग्रम (बृहत् संस्कृत ग्रन्थ-सूची) आदि में देखी जा सकती है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक,

ब्राह्मण - ग्रन्थ - इतिहास - पुराण सभी योग की व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते हैं। योगवासिष्ठ में योग पर बत्तीस हज़ार (32000) श्लोक हैं।

योग एक सच्ची विद्या है जिसका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। मनुष्य - शरीर का परम प्रयोजन सकल दु:खनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति है। केनोपनिषद् में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि इस मानव - शरीर में यदि परमतत्त्व का बोध हो गया तो मानव - शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। ऐसा होने पर चौरासी लाख योनियों के चक्र में पुन: जाना पड़ेगा।[1]

योग एक स्वतन्त्र दर्शन होते हुए भी ऐसी सार्वभौम साधन - सामग्री प्रस्तुत करता है, जिसका उपयोग सभी दर्शनों, धर्मों एवं मतमतान्तरों में भी खुल्लम - खुल्ला हुआ है। यह आत्मा - परमात्मा का मेल ही नहीं करवाता है, अपितु तत्त्व - साक्षात्कार एवं स्वास्थ्य - लाभ भी करवाता है। यही कारण है कि इसकी महत्ता, उपादेयता एवं व्यावहारिकता उतनी ही आधुनिक समय में भी है, जितनी कि इसके प्रस्थापकों के प्राचीन युग में थी।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से हुई है। याज्ञवल्क्य 'युजिर् योगे' ऐसी व्युत्पत्ति मानते हुए जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को 'योग' की अभिधा प्रदान करते हैं।[2]

---

1. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि: (के०उप० 2.5)
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनो: (स० द० सं० पृ० 574)

बलदेव उपाध्याय के अनुसार सभी विक्षेपों को हटाकर मन का एकाग्र होना योग है।[1] जैसे स्वयं पतञ्जलि जी ने कहा है कि योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं।[2]

अमरकोश के अनुसार योग का अभिप्राय अनेक प्रकार से है जैसे – कवच, सामदामभेददण्डनीति आदि उपाय, ध्यान, संगति, युक्ति।[3]

योग दर्शन का मुख्य सिद्धान्त – उन उपायों की शिक्षा देना है, जिनके द्वारा मानव आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा में मिल जाए और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति हो जाए उसी मार्ग का नाम योग है। वाचस्पत्य नामक शास्त्र से ऐसा भाव उपलब्ध होता है।[4]

रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालिदास लिखते हैं कि योग के द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिए।[5]

शंखस्मृति कहती है कि सभी का हित सोचने वाला, मैत्री भाव रखने वाला, पत्थर एवं सोने को समान जानने वाला ध्यान योग में निरत योगी परमगति को प्राप्त होता है।[6]

---

1. सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनोयंत्र त सं समाधिः (भा० द० ब० उपा० पृ० 303
2. योगश्चित वृत्ति निरोधः (पा० यो० द० स० 1.2)
3. योगः -- संनहनो पायध्यान संगीत युक्तिषु इत्यमरः (अ०को० पृ० 548)
4. वाचस्पत्यम् शास्त्र – योगस्य व्याव्या
5. योगेनान्ते तनुत्यजाम् (रघु० 1/8)
6. सर्वभूतहितो मैत्र समलोष्ट्राश्म काञ्चनः।
   ध्यानयोगरतोनित्यं भिक्षुर्यायात् परां गतिम्।। (शं० स्मृ० अ० 7 श्लो० 8)

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में योग से अभिप्राय – जोड़ना, मिलाना, मिलाप, संगम, मिश्रण है।[1]

कठोपनिषद् के मतानुसार मन का वशीकरण ही योग है मन को वश में करते हुए इन्द्रियों को लौकिक विषयों से हटाकर परमार्थ तत्त्व में लगाना ही योग है जिसके फलस्वरूप पौनपुन्येण मनुष्य को जन्म नहीं लेना पड़ता।

जो मनुष्य विवेकशील बुद्धि रूपी सारथी से सम्पन्न मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला है, वह संसार मार्ग को चीरता हुआ पार पहुँचकर सर्वव्यापी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के सुप्रसिद्ध परम पद को प्राप्त हो जाता है। यही परागति है।[2]

गीता में योग का अर्थ समदर्शी होना पाया गया है।[3]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आत्मज्ञान एवं परमात्म तत्त्व के मार्ग का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो एक नित्य चेतन (परमात्मा) बहुत से कर्मफल भोगों का विधान करता है उस भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप

---

1. युजभावादौ घञ् कुत्वं – उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।।
(अ० शाकु० 7/22)

2. यस्तु विज्ञानवान भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।
विज्ञानसारथिर्यस्त, मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोत तद्विष्णोः परमं पदम्।। (कठ० उप० अ० 1, व० 3 मं० 8/9)

3. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः।। (भ० गी० अ० 5, श्लो० 18)

परमदेव परमात्मा को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः योग से अभिप्राय यहाँ मोक्ष बताया गया है।[1]

चरक-संहिता में शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन का सम बने रहना ही सुखमय योग है ऐसा पाठ मिलता है अर्थात् जीवन का सुखमय बना रहना ही योग है ऐसा चरक का मत है।[2]

मन को वृत्तिहीन करके जीवात्मा को परमात्मा में लगाना। आत्मा को परमात्मा में विलीन कर विमुक्त होना ही योगाभिप्राय है।[3]

हारीत स्मृति के अनुसार सभी प्रकार के पातकों का नाशक योग है जिससे प्रवृत्ति धर्म रूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और निवृत्ति प्राप्त होती है।[4]

वस्तुतः योग एक संस्कृत शब्द है, जिसका भाव यह है कि जो आप अपने को समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्त्वतः जो आप हैं, उससे संयुक्त करने वाली साधना का नाम योग है। आप सम्पूर्ण विश्व की मूल शक्ति हैं न कि इस सीमित शरीर में

---

1. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श० उप० 6/13)
2. शरीर सत्वसंज्ञ च व्याधीनामाश्रयोमतः।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः।। (च०सं० अ० 1, श्लो० 55)
3. वृत्तिहीनं मन कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि एकीकृत्य
विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते। (द०स्० अ० 7, श्लो०)
4. योगाभ्यास बलेनैव नश्येयु सर्वपातकान्।
तस्माद्योगपरोभूत्वा ध्यायेन्नित्यं क्रियापरः।। (हा० स्मृ० अ० 7, श्लो० 3, पृ० 314)

रहने वाले सामान्य व्यक्ति। अपने हृदय के एकान्त मूल भाग में जो स्थित है, वही आप हैं। विश्व के सभी धर्मों ने उस तत्त्व को विभिन्न भाषा एवं शैलियों में समझाने का प्रयास किया है। बाईबल के अनुसार – 'परमात्मा ने मनुष्य को अपने ही आकार-प्रकार के अनुरूप निर्मित किया, स्वर्ग का साम्राज्य उसके हृदय में ही है।' मुसलमानों के पवित्र ग्रन्थ कुरान की यह घोषणा है कि – 'मनुष्य परमात्मा की ही एक ज्योतिर्मय किरण है।' उपनिषदें भी 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम वही परमात्मा हो' – यह कहकर इसी तथ्य को प्रतिपादित करती हैं। यही विश्व के सभी धर्मों की आधारभूत मान्यता है।

ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, राम, कृष्ण, मूसा और मोहम्मद आदि सभी ने मस्तिष्क की संकीर्णता से ऊपर उठकर उदार एवं गम्भीर चिन्तन का और समस्त विश्व के साथ आत्मभाव करने का निर्देश दिया है और इस प्रकार सभी प्राणियों तथा परमात्मा के साथ तादात्म्य संस्थापित करने का उपदेश दिया है। यही योग का मुख्य लक्ष्य है अर्थात् आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार ही मनुष्य के जीवन का मूल लक्ष्य है।

योग विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्यों ने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं। योग जैसे गहन और दुरुह विषय में पूर्वाचार्यों के अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकार से समीक्षण किया जाना भी एक प्रकार से उसके महत्त्व का सूचक है। 'योग' शब्द प्रसंगाधीन अनेक अर्थों में पाया जाता है। अतः

उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योग का अर्थ समाधि करता है तो किसी के मत में अष्टांगयोग द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योग का अर्थ सहकार करने हैं तो किसी के मत में 'योग' नाम दो भावों के संयोग या मिलाप का है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करने से पता चलता है कि योग का अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत - अभीष्ट के मिलाप के लिए हो या स्वतन्त्र हो किन्तु योग का अर्थ 'त्याग' करना युक्तियुक्त एवं हेतुपूर्ण है। लोक में भी योग का अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे – अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसार से योग ही लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्कामकर्मयोग आदि शब्दों से ऐसी प्रतीती होती है कि योग शब्द त्यागमात्र में पर्यवसित है।

योग की महत्ता

आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव ने विकास तो किया है, परन्तु वह अपने से बहुत दूर होता चला जा रहा है। हर प्रकार के सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होने पर भी उसके भीतर कहीं कुछ कमी है, जिसे पाने के लिए वह सर्वदा प्रयत्नशील है। यदि कहा जाए कि वह कमी किसी भौतिक वस्तु की है, तो यह कहना युक्ति संगत न होगा, क्योंकि फिर तो विकसित देशों में जो आज अशान्ति दिखलाई पड़ रही है, वह नहीं होनी चाहिए थी। जबकि ऐसा आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः हर प्रकार की सुख-सुविधा के साथ-साथ मन की शान्ति का होना अत्यन्त अनिवार्य है और मन की शान्ति तभी संभव है जब मन को चारों ओर से अर्थात् बाह्य जगत् से हटाकर आन्तरिक जगत् में एकाग्र किया जाए और मन को एकार्ग कैसे किया जाए – इस तथ्य को जानना भी आवश्यक है और इसे जानने का सुलभ एवं सरलतम उपाय है – योग। आज के इस अशान्त वातावरण में, जबकि चारों ओर फैले हुए आतंक ने मनुष्य की मानसिक स्थिति को हिलाकर रख दिया है, तो दूसरी ओर भयावह रोगों ने घेर रखा है – ऐसे समय में योग मानव-जीवन के लिए रामबाण औषधि सिद्ध हो सकता है।

इस समय सम्पूर्ण विश्व का जनमानस अशान्ति से बुरी तरह त्रस्त है, उसे किसी ऐसी विद्या की खोज है, जिससे कि शान्ति प्राप्त हो सके। इस कार्य के लिए यह कहना अनुचित

न होगा कि – भारतीय योग विश्व के जनमानस का अभिलषित मनोरथ पूर्ण करने में पूर्णतया समर्थ है। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में योग के प्रति विशेष अभिरुचि देखी जा रही है। केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी योग-प्रशिक्षण केन्द्र खुल रहे हैं।

योग जीवन को सार्थक बनाने वाले साधनों में उत्तम साधन है। इसका महत्त्व तो इसी से जाना जा सकता है कि यह मनुष्य को सभी प्रकार के आवरणों और विक्षेपों से सदा के लिए मुक्त करता हुआ ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला बना देता है कि परमात्मा से उसका अभिन्न सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है– 'योग से युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा – शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतों में अपने आत्मा को देखने वाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित पुरुष लोकसंग्रह के लिए कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मों से नहीं बंधता'।[1]

योग तन को सुगठित, मन को नियन्त्रित और आत्मा को उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानों का सबसे मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धि का अक्षुण्ण स्रोत है। इसके नियमित अभ्यास से मनुष्य के सारे संशय दूर हो जाते हैं। अपनी ऊँचाई के चरम बिन्दु पर

---

1. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। (भ० गी०, 5/7)

पहुँचकर योग आत्मा और परमात्मा के मिलन का अप्रतिम माध्यम बन जाता है।[1]

तत्त्वदर्शी महर्षियों ने परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही बताया है।[2]

योग के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को यही समझाया था कि – प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारिभेद से तीन प्रकार के योगों – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का उपदेश दिया है। मनुष्य के परम कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है।[3]

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्ष का मूल कारण है।[4] ऐसी स्थिति में आवश्यकता है मन को अनुरूपता प्रदान करने की, जिससे भटकाव की स्थिति उत्पन्न ही न हो। तात्पर्य यह है कि योग-साधना द्वारा मन को निरन्तर ईश्वरोन्मुख करने का ही प्रयत्न वांछनीय है।

योग का यह वैशिष्ट्य है कि उसकी साधना की ज्योति में आत्मतत्त्व द्वारा परब्रह्म

---

1. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
   अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशानम्।। (कठ० उप० 2.3.15)
2. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।। (श्०उप० 1/14)
3. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
   ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।। (भ० गी० 11/10/6)
4. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। (भ० गी०)

परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उसके सामने किसी प्रकार के बन्धन के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूप में विकसित होने लगती है। इन्द्रियों को जड़ता से ऊपर उठानेवाला अनुपम तत्त्व योग ही है। भारतीय चिकित्साशास्त्र[1] में भी यही सिद्धान्त निरूपित है।

तत्त्वतः योगाभ्यास से एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा – आलस्य-त्याग, आत्मबल-विस्तार, भय-संशय-निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहार-परक विद्या है। इसलिए साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इसके अभ्यास से असाधारण लाभ उठा सकता है।

अनेक योगासन ऐसे हैं, जिन्हें अति सरलता से अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है, क्योंकि शरीर और मन के स्वस्थ रहने पर मनुष्य असम्भव-से-असम्भव कार्यों को भी सम्पन्न कर लेता है।

संसार को भयंकर रोगों से मुक्त करना अथवा उनसे बचे रहने का मार्ग-दर्शन करना योगविद्या की महान् देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रों में विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है। शारीरिक और मानसिक इन द्विविध रोगों के निवारण के लिए योग में दो प्रकार की साधनाएं निर्धारित की गई हैं – बहिरंग और

---

1. सेन्द्रियचेतनद्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्। (आचार्य चरक)

अन्तरग। अष्टागयोग के प्रथम पाँच अग अर्थात् यम - नियम - आसन - प्राणायाम - प्रत्याहार बहिरग साधन ह तथा अन्तिम तीन धारणा - ध्यान - समाधि अन्तरंग साधन कहे गए हैं। शरीर की स्वस्थता के लिए बहिरंग साधन और मानसिक स्वस्थता के लिए अन्तरंग साधन विशेष रूप से उपयोगी हैं। योग - साधना का प्रत्येक अंग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह योग - साधन ऐसा है कि इसका थोड़ा - सा अनुष्ठान करने से ही उचित लाभ हो सकता है। इसीलिए कहा जाता है कि – सम्पूर्ण शास्त्रों में यह योग शास्त्र ही प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र है।

योग के सम्यक् अभ्यास से तो रोग और जरा - जन्य क्लेश का परिहार होता ही है, साधक को इच्छामृत्यु की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है अर्थात् योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस योगी के शरीर में न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।[1]

यह योग का ही प्रभाव है कि मनुष्य का शरीर काल के निकष पर खरा उतरकर तप्त कञ्चन की भाँति दमकता रहता है और प्राणवायु पर अधिकार कर लेने से उसका मन भी सदा के लिए परिशुद्ध हो जाता है।[2]

---

1. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
   प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम। (श्०उप० 2/12
2. मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
   वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम।। (भा० पु० 3/28/10)

इस प्रकार मनुष्य के सर्वांगीण विकास में योग की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह योग - तत्त्व चरित्र - निर्माण, चिकित्सा - विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व - कल्याण की भावना को विकसित करने से लेकर परमात्मसाक्षात्कार तक की अप्रतिम साधन है।

अष्टांग योग

महर्षि पतंजलि ने जीवों के कल्याण के लिए नाना प्रकार के शास्त्रों में वर्णित एवं आप्त-पुरुषों द्वारा व्यवहृत योग सम्बन्धी सार-तत्त्व को अष्टांग योग के रूप में प्रतिपादित किया है। जीव के बन्धन अथवा दुःख का मूल कारण अज्ञान है। वह प्रकृति से पृथक् है परन्तु भ्रान्ति से उसको अपना रूप समझता है। यह भ्रान्ति अथवा अज्ञान जब तक दूर नहीं होता तब तक आवागमन के दुःखमय चक्कर से छुटकारा नहीं हो सकता, इस अज्ञान की निवृत्ति के लिए योग अथवा समाधि उत्कृष्ट साधन माना गया है।

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधि की सिद्धि के लिए यम-नियमों के पालन की विशेष आवश्यकता है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार की वृत्तियों के नष्ट हुए बिना चित्त का एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। अतः शरीर, मन, इन्द्रियों एवं बुद्धि की शुद्धि के लिए ही साधनों का निर्माण किया जाता है। जिससे द्रष्टा एवं दृश्य की भेदकता समाप्त हो सके अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार हो सके।

दक्ष स्मृति में कहा गया है कि –

"किसी राजा ने सम्पूर्ण विश्व को क्यों न जीत लिया हो, वह विश्वजीत उपाधि से

चाहे विभूषित क्यों न हो। परन्तु वह वास्तविक रूपेण विश्व-विजेता नहीं हो सकता है विश्वविजयी वही हो सकता है जिसने मन को जीत लिया हो।[1]"

तभी तो कहावत है कि 'मन के जीत जीत है, मन के हारे हार।' योगोपलब्धि के लिए मन को जीतना ही महान उपलब्धि है।

वैसे तो समाधि की इच्छावाले पुरुषों को योग के आठों ही अंगों का साधन करना चाहिए, किन्तु यम और नियमों का पालन तो अवश्य ही करना चाहिए। जैसे नींव के बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमों का पालन किये बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमों में भी जो पुरुष यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन करना चाहता है, उससे नियमों का पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

मनुस्मृति में कहा गया है कि – 'बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करे, केवल नियमों का नहीं। जो यमों का पालन न करके, केवल नियमों का पालन करते हैं वह साधन-पथ से गिर जाते हैं।[2]' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधि की सिद्धि होनी कठिन है। अतः योग की सिद्धि चाहने वाले

---

1. बलेन परराष्ट्राणि गृहणन् शूरस्तु नोच्यते।
   जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः।। (द०स्०, अ० 7, श्० 18)
2. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
   यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।। (मन० स्० 4/204)

पुरुष को यम - नियमों का साधन अवश्य ही करना चाहिए। इनके पालन से चोरी, झूठ, कपट आदि दुराचारों का और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों का नाश होकर, अन्तःकरण की पवित्रता होती है और उसमे उत्तम गुणों का समावेश होकर साधक जो चाहता है वही हो सकता है। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनों में बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधि की इच्छा करने वाले साधकों को दोषों का नाश करने के लिये प्रथम यम - नियमों का पालन करके ही योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करना चाहिए। जो पुरुष योग के आठों अंगों का अच्छी प्रकार से साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होने पर ज्ञान की अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहने वाला पुरुष तो क्लेश और कर्मों से छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योग और योगांग

जीव और शिव का मिलना योग है। शिव और शक्ति का मिलना योग है। भक्त और भगवान् का मिलना योग है। वृत्ति का भगवदाकार होना योग है। वृत्ति का आत्माकार होना योग है। ऐसा होने पर भी चित्तवृत्ति का विषयाकार होना भोग है। महर्षि पातंजलि अनुसार योगांगों की संख्या आठ हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। शिव पुराण में भी ये ही आठ अंग माने गए हैं।[1]

---

1. (क) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
(पा०यो०द० अ० 2, सू० 29)
(ख) शि० पु० वायु सं० अ० 37, अन्तिम श्लोक

इन आठ अंगों की दो भूमिकाएँ हैं – (1) बहिरंग, (2) अन्तरंग। उपर्युक्त आठ अंगों में से पहले पाँच को बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहर की क्रियाओं से ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से होने के कारण इनको अन्तरंग कहते हैं।

योग के आठों अंगों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :–

1. **यम :–**

यम का अर्थ है मन एवं इन्द्रियों का नियमन करना। यह पाँच प्रकार का होता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। जो मनसा, वाचा, कर्मना करणीय है –

(क) **अहिंसा –** किसी प्राणी को या अपने को (अनुचित कष्ट) भी मन, वाणी, शरीर द्वारा कभी किसी प्रकार, किञ्चिमात्र भी कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। चाहे धार्मिक हिंसा ही क्यों न हो महर्षि पातंजलि अनुसार तर्क - वितर्क से उससे बचे रहना में ही श्रेयस्कर है।

(ख) **सत्य –** अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया हो, हित की भावना से, कपटरहित प्रिय शब्दों में वैसा - का - वैसा ही प्रकट करने का नाम सत्य है।

---

1. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (यो॰द॰ 2/30)

(ग) **अस्तेय** – मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) **ब्रह्मचर्य** – वीर्य पर विजय प्राप्त करना (तेजस को प्राप्त करना) ही ब्रह्मचर्य है।

(ङ) **अपरिग्रह** – कभी भी किसी भी प्रकार किसी भी विकट परिस्थिति में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न रखना एव अपनी आवश्यकता से अधिक धन - अन्न सञ्चय न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमों का सभी जाति, देशकाल में पालन होने से एवं किसी भी निमित्त से इनके विपरीत हिंसादि दोषों के न घटने से इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जाति, देश, काल और निमित्त से अनवच्छिन्न यम का सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।[1]

सार्वभौम के निम्नलिखित प्रकार हैं :–

1. जातिगत सार्वभौम
2. देशगत सार्वभौम
3. कालगत सार्वभौम
4. समयगत सार्वभौम।

1. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (यो० द० 2/31)

2. नियम

कुछ कर्त्तव्य कर्मों को नियम कहते हैं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर - प्राणिधान – ये पाँच नियम माने गए हैं।[1] साधक की आत्मशुद्धि के लिए नियमों का पालन आवश्यक है।

(क) **शौच** – से तात्पर्य है – पवित्रता। यह दो प्रकार की होती है (1) बाहरी और (2) भीतरी। जल - मिट्टी से शरीर की पवित्रता होती है, स्वार्थ - त्याग से व्यवहार और आचरण की तथा न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्विक पदार्थों के पवित्रतापूर्वक सेवन से आहार की जो पवित्रता होती है यह बाहरी पवित्रता होती है। अहंता, भय, ममता, राग - द्वेष, ईर्ष्या और काम - क्रोधादि भीतरी दुर्गुणों के त्याग से भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) **संतोष** – से तात्पर्य है – सम्यक तुष्टि। सुख - दुःख, लाभ - हानि, यश - अपयश, सिद्धि - असिद्धि, अनुकूलता - प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा - सर्वदा संतुष्ट - प्रसन्नचित्त रहने का नाम संतोष है।

(ग) **तप** – मन और इन्द्रियों के संयमरूप धर्म - पालन करने के लिए कष्ट सहने का और तितिक्षा एवं व्रतादि का नाम तप है।

---

1. शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (यो० द० 2/32)

(घ) **स्वाध्याय** – कल्याणप्रद शास्त्रों का अध्ययन और इष्टदेव के नाम का जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करने का नाम स्वाध्याय है।

(ङ) **ईश्वर-प्रणिधान** – ईश्वर की भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीर द्वारा ईश्वर के लिए, ईश्वर के अनुकूल ही चेष्टा करने का नाम ईश्वर-प्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और निमयों के पालन में बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियों के नाश के लिए महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं – हिंसादि वितर्कों से बाधा होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।[1]

यम-नियमों के पालन का महान् फल

अहिंसारूपी महाव्रत के पूर्ण पालन होने पर उस योगी के समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखने वाले) प्राणी भी वैर का अर्थात् हिंसावृत्ति का त्याग कर देते हैं।[2]

सत्य के अच्छी प्रकार पालन से उस सत्यवादी की वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।[3]

चोरी की वृत्ति का सर्वथा त्याग हो जाने पर उसे सब रत्नों की उपस्थिति हो जाती

1.
2. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (यो० द० 2/33)
3. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। (यो० द० 2/35)
   सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (यो० द० 2/36)

है, अर्थात् समस्त रत्न उसको दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूप से विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्य का अच्छी प्रकार से पालन होने पर शरीर, मन और इन्द्रियों में अत्यन्त सामर्थ्य की प्राप्ति हो जाती है।[2]

अपरिग्रह के स्थिर होने पर यानी विषय-भोग-पदार्थों के संग्रह का भली-भाँति त्याग होने पर, वैराग्य और उपरति होकर मन का संयम होता है और मनः संयम से भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मों का और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है।[3]

अन्तःकरण की पवित्रता से मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मा के साक्षात् दर्शन करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।[4]

संतोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।[5]

तप से मलदोष अर्थात् पापों का नाश हो जाने पर अणिमादि अष्ट काया की सिद्धियाँ और दूर से देखना-सुनना आदि इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।[6]

अपने इष्ट देव के नाम का जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदि के पठन-पाठन, श्रवण-मननरूप स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात् दर्शन हो जाता है।[7]

1.
2. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (यो० द० 2/37)
3. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (यो० द० 2/38)
4. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (यो० द० 2/39)
5. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। (यो० द० 2/41)
6. संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (यो० द० 2/42)
7. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (यो० द० 2/43)
   स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० द० 2/44)

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।[1]

3. आसन –

जिसके द्वारा बैठा जाए वह आसन कहलाता है।[2] जिस आसन से जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिए उत्तम आसन है। सुखपूर्वक स्थिरता से बहुत काल तक बैठने का नाम आसन है।[3]

विभिन्न विद्वानों ने आसनों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। परन्तु पतंजलि ने इस विषय में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया है।

व्यासभाष्यकार ने आसनों की संख्या एकादश (11) दर्शायी है – (1) पद्मासन (2) वीरासन (3) भद्रासन (4) स्वतिक (5) दण्डासन (6) सोपाश्रय (7) पर्यङ्क (8) क्रौञ्च निषदनम् (9) हस्तिनिषदनम् (10) उष्ट्रनिषदनम् (11) समसंस्थान।[4]

सर्वदर्शन संग्रह में दस आसनों का वर्णन है –

पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थानम्। इनमें हस्तिनिषदनम् ग्रहण नहीं किया गया है।[5]

---

1. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० द० 2/45)
2. आस्यतेऽननति आसनम् (पा० यो० द० भो० वृ०, पृ० 255)
3. स्थिरसुखमासनम्। (यो० द० 2/46)
4. तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनम् हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि।। (व्या० भा० यो० द० पृ० 255)
5. पद्मासनभद्रासन वीरासन स्वस्तिकासन दण्डासन सोपाश्रय पर्यङ्क क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्र निषदनम्, समसंस्थानम् भेदाद्दशविधम्।। (सर्व० द० स० पृ० 614)

आसन विभिन्न प्रकार के हैं। उनमें से आत्मसंयम चाहने वाले पुरुष के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्तस्तिकासन – ये तीन बहुत उपयोगी माने गए हैं।

प्रारम्भ में अधिक समय तक ध्यान लगाए रखना साधक के लिए कठिन होता है अतः ध्यान लगाने के लिए शरीर को स्थिर रखना चाहिए और आसनों का अभ्यास करने से ही अंगों में शिथिलता आती है और आसन सिद्ध होते हैं।[1] हलचल, सुख-दुःख, शीतोष्ण, जय-विजय आदि द्वंद्वों से तभी बचा जा सकता है जब आसन विजयी हो जाए।[2] साधक की योग-साधना में आसनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु आज आसनों का महत्त्व सामान्य जन के लिए उससे भी कहीं अधिक प्रतीत होता है।

4. **प्राणायाम –**

अष्टांग योग का चतुर्थ अंग प्राणायाम है। प्राणायाम सिद्धि के लिए साधक को आसनों का अभ्यासी होना अत्यन्त अनिवार्य है। यदि वह आसनों को करने में असमर्थ है, तो वह प्राणायाम नहीं कर सकता। यही कारण है कि प्राणायाम को आसन के पश्चात् रखा गया है।[3]

प्राणायाम यह समस्त पद 'प्राण' एवं 'आयाम' इन दो पदों से बना है, जिसका अर्थ है– श्वास-प्रश्वास का नियन्त्रण।

---

1. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। (यो० द० 2/47)
2. ततो द्वन्द्वानभिघातः। (यो० द० 2/48)
3. सत्यासनजये ..... प्राणायामः। (व्या० भा० पृ० 263)

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकलना प्रश्वास है इन दोनों के रुकने का नाम प्राणायाम है।[1]

प्राणायाम का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[2] में मिलता है। इसके विषय में वेदों से लेकर योगदर्शन तक क्रमशः बहुत-सा साहित्य उपलब्ध होता है। जिनमें प्राणायाम विधि एवं प्राणायाम को अपनाने पर बल दिया गया है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे मनुष्यो सुनो। जैसे अतिप्रशंसनीय बुद्धि वाली विद्या पुरुषार्थों से युक्त विद्वानजन वायु आदि पदार्थों से युक्त सकाश से दृढ़ निश्चल बहुत से सुखों को भोगता है, तुम भी इस प्राणायाम विद्या को प्राप्त होकर आनन्द को भोगो।[3]

हारीत स्मृति कहती है कि प्राणायाम से वचन (वाणी) पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।[4]

अन्य स्मृतियों और पुराणों में लिखा है कि प्राणायाम के सेवन से वचन पर नियन्त्रण पाया जा सकता है एवं वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक विकारों को भी दग्ध किया जा सकता है।

1.
2. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (यो० द० 2/49)
   प्रनू सः मर्त्तः शवंसा जनां अतितस्थौ वे ऊती मरुतो यमावत
3. अर्वद्विर्वाजं भरते धना नृभिरा पृच्छयं क्रतुमा क्षति पुष्यति।
   नूष्ठिर मरुतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्यासु धत्त।
   सहसिणं शतिनं शूशुवांस प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्।।
4. (ऋ० वे० अ० 11, सू० 64 मं० 13/14)
   प्राणायामेन् वचनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
   धारणाभिवशे कृत्वा दुर्घषणं मनः। (हा० स्मृ० अ० 7, श्लो० 4)

योगसूत्रकार ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए हैं –

(1) बाह्यवृत्तिक (2) आभ्यन्तरवृत्तिक (3) स्तम्भवृत्तिक[1] तथा (4) वह प्राणायाम, जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के विषयों का अतिक्रमण कर दिया जाता है।[2] इन्हें क्रमशः रेचक, पूरक एवं कुम्भक नाम से भी जाना जाता है। शिवपुराण[3] में प्राणायाम दो प्रकार का बताया गया है – सगर्भ और अगर्भ।

प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान को आवृत्त करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है।[4] तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओं के योग्य सामर्थ्य हो जाती है।[5]

5. प्रत्याहार –

बलपूर्वक इन्द्रियों को हरने वाली प्रक्रिया का नाम प्रत्याहार है। इन्द्रियों (बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों) में राजा चित्त है। जैसे लोक में राजा का अनुगमन प्रजा करती है, ऐसे ही शरीर में स्वामी चित्त का अनुगमन शेष दस इन्द्रियाँ करती हैं जो सांसारिकों के लिए अवगमन एवं योगियों के पक्ष में अपने-अपने विषयों लोक सुखों का त्याग करते हुए अपने स्वामी चित्त के अनुरूप होकर नियम में बंधने को विवश हो जाती है इसी को प्रत्याहार

1. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः (यो० सू० 2/50)
2. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (यो० सू० 2/51)
3. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो दिधा स्मृतः। (शि० पु०)
4. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (यो० द० 2/52)
5. धारणासु च योग्यता मनसः (यो० द० 2/53)

कहते हैं।[1] प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।[2]

इन्द्रियाँ योगी के अधीन होकर रह जाती हैं जिनको मुमुक्षु योगी कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाता है। इन्हीं इन्द्रियों को वश में कर लेने से मुमुक्षु को इन्द्रियजय की संज्ञा प्राप्त होती है।

इन पाँच बहिरंग साधनों के संदर्भ में जो भाव वार्त्तिककारों में गणमान्य भोज वृत्तिकार के हैं वे इस प्रकार के हैं कि वह योग यम नियमादि के द्वारा बीज भाव को प्राप्त हुआ, आसन एवं प्राणायाम से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुष्पित हुआ तथा धारणा, ध्यान एवं समाधि से फल देता है यह साधना पाद में कहा गया है।[3]

6. धारणा –

योग के आठ अंगों में पाँच बहिरंग साधनों के वर्णन के पश्चात् अब शेष तीन अन्तरंग साधनों का वर्णन किया जा रहा है। इनमें प्रथम धारणा का लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणा से ध्यान और समाधि होती है। यह योग का छठा अंग है।

1.
2. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो० द० 2/54)
3. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। (यो० द० 2/55)
   तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्त बीजभावः।
   आसन प्राणायामरङ्कुरितः प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यान धारणा समाधिभिः फलपिति, इति साध्नापादः (यो० द० भो० वृ० पृ० 272)

चित्त को किसी एक देशविशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल - सूक्ष्म या बाह्य - आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाती है।

धारणा = धार्यते इति धारणा। महर्षि पतंजली के अनुसार धारणा का अर्थ – सबीज एवं निर्बीज किसी स्थूल से सूक्ष्म में बुद्धि को निश्चयात्मक एवं विश्वसनीय बनाकर इन्द्रियों एवं मन को निरुद्ध कर लगाना है। ऐसा करने से मन एक देश का आलम्बन लेकर ध्यान एवं समाधि की दिशा में अग्रसर होता है।[1]

महर्षि पतंजली जी ने केवल किसी भी योग योग्य देश में चित्त लगाकर उसे स्थिर करने का निर्देश किया है। उन्होंने किसी विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है जिससे पता चलता है कि साधक को जो भी शास्त्र सम्मत है उसी में योग धारणा को निश्चित करना शोभायमान एवं साधक का लक्ष्य बेधक है। जबकि अन्यत्र इसका सूक्ष्म विवेचन मिलता है। चित्त शक्ति से मुक्ति (कैवल्य) प्राप्त की जा सकती है। चित्त का समस्त भटकाव समाप्त कर वह पालतू पशु की भाँति साधक के पूर्ण नियन्त्रण में आ जाता है। इस चित्त को किसी भी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार केन्द्रित किया जा सकता है। वह स्थान नाभि, कण्ठ, हृदय, भृकुटि, नासिकाग्र भाग आदि शरीर के भीतर के स्थान हो सकते हैं

---

[1] तत्र देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो० द० पा० 3, सू० 1)

अथवा सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुवतारा, देवालय, पर्वतादि बाह्य स्थान भी हो सकते हैं। इन भिन्न-भिन्न स्थानों पर चित्त के ठहराने को ही 'धारणा' कहते हैं। धारणा से मन की शुद्धि होती है तथा उसका भटकाव मिट जाता है।

7. **ध्यान –**

धारणा में चित्त को किसी एक स्थान पर स्थित किया जाता है। जब वह उसमें स्थिर रहकर निरन्तर उसी में एकतार चलता रहता है तो उसी को 'ध्यान' कहते हैं।[1] धारणा (Concentration) और ध्यान (Meditation) में यही अन्तर है। 'ध्यान' में विचारों का प्रवाह बन्द हो जाता है तथा वृत्ति का प्रवाह केवल ध्येय मात्र की तरह ही हो जाता है। अन्य कोई वृत्ति नहीं उठती। धारणा से जहाँ मन की शुद्धि होती है वहाँ ध्यान से अस्मिता ('मैं' पन) का सुधार होता है। ध्यान के स्थिर होने पर साधक का अहंकार गिर जाता है तथा केवल 'हूँ' ही शेष रह जाता है जिसका लय समाधि में होता है।

ध्यान के अभ्यास से साधक का परमतत्त्व श्री हरि में प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्ति भाव से द्रवित हो जाता है, शरीर में आनन्द अतिरेक के कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठा जनित प्रेमाश्रुओं की धारा में बारम्बार स्वदेह को नहलाता है और मछली पकड़ने के कांटे के समान श्री हरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप अपने

---

1. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो० द० पा० 3, सू० 2)

चित्त को भी धीरे - धीरे ध्येय वस्तु से हटा लेना है इसी को वास्तव में महर्षि पतंजली के अनुसार धारणा के पश्चात् विश्वास से परिपूर्ण होकर एकतत्त्व का चिन्तन करने को कहा है।

8. **समाधि –**

धारणा और ध्यान में कोई स्थान या वस्तु होती है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा 'चित्त' का प्रवाह उसी ओर निरन्तर चलता रहता है किन्तु इसमें अधिक समय तक स्थिर रहने पर जिसका ध्यान किया जा रहा है उसका स्वरूप शून्य हो जाता है, उसका आभास ही मिट जाता है तथा केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है इस अवस्था को 'समाधि' कहते हैं।[1] ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधि में केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येय वस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय – इन तीनों की एकता - सी हो जानी है।

ऐसी समाधि जब स्थूल पदार्थ में होती है, तब उसे 'निवितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थ में होनी है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थों में होने से तो सिद्धिप्रद होनी है, जो कि अध्यात्मविषय में हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होने से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहने वाले पुरुषों को अपने इष्टदेव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए।

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० द० 3/3)

समाधि परमानन्द है ध्यान रूपी मन्जिल पर चढ़कर बिना विमान के ऊर्ध्व गमन अर्थात् आकाश में स्वच्छन्द विचरण कराने वाली सिद्धि है। जब जहाँ कहीं योगी जाना चाहे इसी पर चढ़कर पहुँच सकता है अर्थात् योग का परम लक्ष्य वेधिका यादि कोई है तो वह समाधि ही है। जिसका फल कैवल्य है।

उपर्युक्त योग के आठों अंगों के भली-भाँति अनुष्ठान से मल और आवरणादि दोषों के क्षय होने पर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है।[1] और उस विवेक से अविद्या का नाश होकर कैवल्यपद की प्राप्ति अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

1. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (यो० 2/28)

तृतीय अध्याय

श्वेताश्वतरोपनिषद् के परिपेक्ष्य में जीव ब्रह्म एवं योगोपलब्धि

(क) जीव-ब्रह्म

(ख) योगोपलब्धि

श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित जीव – ब्रह्म

प्राणी स्वभाव से सुख को चाहते हैं कोई भी दुःख, क्लेश, चिन्ता, अशान्ति अथवा प्रतिकूलता को नहीं चाहता है परन्तु फिर भी इस संसार में वैचित्र्य ही अथवा विषमता ही दृष्टिगोचर होती है कि इस संसार को चलाने वाली कोई एक परमार्थ सत्ता है।[1] महाभारतादि के अनुसार काल ही जगत् का कारण है।[2] इसी प्रकार चार्वाक मत अवलम्बियों अनुसार स्वभाव ही जगत् का कारण है।[3] कुछ मतावलम्बियों के अनुसार नियति ही विश्व का कारण है क्योंकि सभी पदार्थ किसी नियम के अधीन ही नियमित होकर व्यवहृत हो रहे हैं। जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर ही समुद्र में ज्वारभाटा का आना, वायु का तिर्यक् गति से बहना। पुण्य और पाप का, कर्म का तदनुरूप फल प्राप्त होना आदि। विज्ञानभगवान्[4] एवं उपनिषद् ब्रह्मयोगी निरीश्वरवादियों का मत देते हुए कहते हैं कि किसी आकस्मिक घटना

1. (क) जन्माद्यस्य यतः (ब्र० स०, 1.1.2)
   (ख) एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन (त्रिपा० उप० 3.3)
   (ग) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
   यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। (तै० उप० 3.1.1)
2. कालः पचति भूतानि, कालः संहरत जगत्।
3. कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।। (श्वे० उप० पृ० 35)
   अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते –
   'केन शुक्लीकृता हंसा, मयूरा केन चित्रिता'। स्वभावनैव – इति
4. (सां० का० गौ० पा० भा० 61)
   पूर्वपूर्वकल्पेषु जीवैः संचितपुण्यापुण्यानुगुणतया जगत्सर्वज्ञेनेश्वरेणोत्तर कल्पादौ न
   सृज्यते किंतु बुद्धिमत्कर्तकत्वमन्तरेण यदृच्छया जायत इति निरीश्वराः
   (श्वे० उप० टी० पा० टि० 2 पृ० 36)

से लाभ अथवा हानि हो जाना, जन्म अथवा मृत्यु हो जाना यदृच्छा है। इनके मतानुसार पूर्व-पूर्व जन्मों में कृत शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर अथवा दैव उसका फल नहीं देता है अपितु बुद्धि और कर्त्ता के बिना ही यदृच्छा के द्वारा जन्म होता है। 'विज्ञानभगवान्' एवं 'उपनिषद्ब्रह्मयोगी' प्रकृतिवादी शाक्त प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं।[1] भागवत् गीता[2] में भी भगवान् श्री कृष्ण ऐसा ही मत अभिव्यक्त करते हैं। कुछ दार्शनिक जीव को ही जगत् का कारण मानते हैं क्योंकि जीव के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही तदनुरूप उसके फल-भोग का निर्माण होता हैं जैसा कि उपनिषद् में भी कहा गया है – 'यथा कामः तथा चारी'। प्रायः उपनिषदों के अनुसार अथवा ईश्वरवादियों के अनुसार पुरुष अथवा ईश्वर को ही ऐसा माना जाता है।[3]

इन सभी तथ्यों के परिपेक्ष्य में रहस्य को जानने के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार ऋषि-मुनियों ने गहन ध्यान-योग का आश्रय लिया और अनुभव किया कि इन सभी (काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, प्रकृति, पुरुष, जीव, योनि) कारणों के संयोग का

1. योनिः प्रकृतिः कारणमिति प्रकृतिवादिनः शाक्ताः।
2. (ख) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
   जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। (भ० गी० 7.6)
   (ख) मम योनिर्महद्ब्रह्म (तदेव 14.3)
3. (क) अज्ञो जन्तरनाशोऽयमात्मनः सुखदःखयोः।
   ईऽवरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं, नरकमेव वा।। (सां० का० गौ० पा० भा० 61)
   (ख) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
   संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनाशः सुखदुःखहेतोः।। (श्व० उप० 1/2)

कारण एवं नियंत्रक एक ही दैवी सत्ता है जिसको ब्रह्म कहते हैं, वह देव अपनी आत्मशक्ति को अपने गुणों द्वारा इस सकल शक्ति को आच्छादित किए हुए हैं।[1] हम कहाँ से आए? कैसे जीते है? और हमारी सत्ता का कौन आश्रय है। सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग इत्यादि किसके द्वारा नियमित होते हैं। इन सबका कारण ब्रह्म को ही माना गया है।[2]

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि यह ब्रह्म क्या है? इसकी सत्ता में क्या प्रमाण है? इसकी क्या सामर्थ्य है? यह सगुण है या निर्गुण, साकार है अथवा निराकार, एक है अथवा अनेक है। इसके प्रत्युत्तर में उपनिषदों में बहुत से प्रामाणित तथ्यों को व्यक्त किया गया है। जिनमें से श्वेताश्वरोपनिषद् में विशेष करके ब्रह्म, जीव एवं माया पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अन्य शास्त्रों में भी इसकी प्रबल पुष्टि मिली है।

उपनिषदों के अनुसार कहा गया है कि जिससे इस संसार की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होकर स्थित होती है एवं नाश की अवस्था में, जिसमें सब समाहित हो जाते हैं, वह परमार्थ सत्ता ही ब्रह्म है।[3] यह परम सत्ता स्वतः सिद्ध है, अजर, अमर, अभय, शुद्ध, सत्त,

---

1. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
2. यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। (श्वे० उप० 1.3)
   किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु (श्वे० उप० मं० 1.1)
3. (क) एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।
   नानास्ति किञ्चन (त्रिपा० उप० 3.3) (क० उप० 4.11, बृ० उप० 4.4.19)
   (ख) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यकिञ्चन मिषत्।
   स ईक्षत लोकान्न सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत् (ऐत० उप० 1.1.1)
   (ग) सा ईक्षांचक्रे स प्राणमसृजत (प्र० उप० 6.3)
   (घ) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। (भ० गी० 7.6)

चित्त, आनन्द रूप है। देशकाल और आकार इसी की सत्ता से भासित होते हैं, इसलिए यह उनसे परिछिन्न नहीं हो सकता अथवा नापा नहीं जा सकता। सभी की सत्ता अथवा प्रकाशन इसी से होता है।[1] प्रमाण स्वयं अपनी सत्ता के लिए प्रमाता पर निर्भर होता है और यह सदा अभिनवअर्थ का ही प्रकाशन करता है। जैसे सिर की छाया को पांव से नहीं लांघा जा सकता उसी प्रकार ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता।[2] यह मन, वाणी और काय की पहुँच से परे है।[3] शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र महाभाष्य में बताते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा ही कहा है।[4] आत्मा का अस्तित्व ही ब्रह्म के होने का साक्षात् प्रमाण है। सभी को अपने आत्म-अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास होता है। कि 'मैं हूँ' कोई भी ऐसा नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ'।[5] जो कोई भी इसका निराकरण करता है,

---

1. (क) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेपा विधतो भान्ति कुतोऽयमग्नि तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (श्वे० उप० 6.14)
   (ख) द्रष्टव्य कठ० उप० 2.2.15 एवं भ० गी० 15.6
2. (क) अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुमयुक्तम् उत्पन्नं वा। (प्र० ह० टी० 1)
   (ख) यतः चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः तत एव सत्साधनाय प्रमाणादि वराकम् अनुपयुक्तमः। तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्। (शि० सूत्र वि० 1.1)
   (ग) स्वपदा स्वशिरश्छायां यदृल्लङ्घि पादोद्देश शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला।। (प्र० ह० टी०, पृ० 10)
3. अखण्डं सच्चिदानन्दभवाङ्मनसगोचरम्।
   आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।। (वे० सा० 1)
   (क) आत्मा च ब्रह्म (ब्र० सू० शां० भा० 1.1.1)
   (ख) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (भ० गी० 15.7)
   (ग) अयमात्मा ब्रह्म (बृ० उप० 2.5.19)
5. (घ) दृश्यते जलचन्द्रवत् (ब्र० बि० उप० मं० 12)
   सर्वस्य आत्म प्रत्येति न नाहम (ब्र० सू० शं० भा० 1.1.1)

यह उसका भी स्वरूप है।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि मैत्रेयी के पूछने पर ब्रह्म ऋषि याज्ञवल्क्य बतलाते हैं कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म ही है आत्मा ही है। सभी आनन्दों का यही मूल स्रोत है अतएव इसी आत्मा का दर्शन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए।[2]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा इस संसार में क्यों विचरण करती है? जब व्यक्ति अपने आपको पृथक् मानता है ओर उस परमात्मा सर्वशक्तिमान् तथा परमेश्वर को पृथक् मानता है तब संसार में बार-बार विचरण करता है।[3] उपनिषद् के अनुसार उसमें भेद दृष्टि ही दुःख का कारण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् बार-बार प्रतिपादित करता है कि भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (संसार) तथा प्रेरित (परमात्मा) इन तीनों का समन्वय ही ब्रह्म है।[4] शंकराचार्य भी यही मानते हैं कि जो ईश्वर और जीव में भेद का दर्शन करता है ऐसा व्यक्ति संसार में भ्रमण करता रहता है। जैसे तिलों मे तेल विद्यमान रहता है और वह तेल यन्त्रनिष्पीड़न द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा भी उसी प्रकार सबमें विद्यमान है और

---

1. (क) यः कः अस्य निराकर्त्ता तत्स्यापि स्वरूपम् अस्ति (बृ० उप०)
2. (ख) द्रष्टव्य (आ० वि० 1)
   आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन
3. श्रवणेन मत्या विज्ञाने नेदं सर्व विदितम् (बृ० उप० 2.4.5)
   राम कबीरा एक है चीन्है बिरला कोय।
4. अन्तर तातो भरम की ताते देखै दोय।। (संत कबीर)
   एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
   भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं वा मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधिं ब्रह्ममेतत्।। (श्वे० उप० 1.12)

उसकी अभिव्यक्ति भी एक विशेष क्रमबद्ध तपस्या द्वारा ही होती है।[1] आत्मा सर्वव्यापी है वह स्वयं प्रकाश और चिदानन्द स्वरूप है। सभी में वह तत्त्व विगदतम रूप में अन्तर्निहित है लेकिन सत्य तथा तप के बिना उसे देखना असम्भव है जैसे दूध में घी सदैव अन्तर्निहित रहता है परन्तु दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान रहती है।[2]

परमात्मा अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा सारे लोकों का शासन करता है। यह उत्पत्ति के समय अकेला और प्रादुर्भाव के समय भी अद्वितीय ही रहता है जो यह जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[3] माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में भासता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् बाधित हो जाता है और अविद्याजनित कष्टों की शान्ति हो जाती है।[4] संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी है। उस मायावी परमेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है महेश्वर माया का अधिष्ठाता है उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है।[5] संसार सागर को पार करने

1. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
   एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति (तदेव 1.15)
2. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
   आत्मविधातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्।। (तदेव 1.16)
3. (क) य एको जालवाननीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
   य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (श्वे० उप० 3.1)
   (ख) सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-एकोऽहं बहुस्याम्
   (छा० उप० 6.12.4)
4. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः क्षीणैः क्लशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। (श्वे० उप० 1.11)
5. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्
   तस्यावयवगतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। (श्वे० उप० 4.10)

उसकी अभिव्यक्ति भी एक विशेष क्रमबद्ध तपस्या द्वारा ही होती है।[1] आत्मा सर्वव्यापी है वह स्वयं प्रकाश और चिदानन्द स्वरूप है। सभी में वह तत्त्व विगदतम रूप में अन्तर्निहित है लेकिन सत्य तथा तप के बिना उसे देखना असम्भव है जैसे दूध में घी सदैव अन्तर्निहित रहता है परन्तु दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान रहती है।[2]

परमात्मा अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा सारे लोकों का शासन करता है। यह उत्पत्ति के समय अकेला और प्रादुर्भाव के समय भी अद्वितीय ही रहता है जो यह जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[3] माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में भासता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् बाधित हो जाता है और अविद्याजनित कष्टों की शान्ति हो जाती है।[4] संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी है। उस मायावी परमेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है महेश्वर माया का अधिष्ठाता है उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है।[5] संसार सागर को पार करने

1. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
2. एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति (तदेव 1.15)
   सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
3. आत्मविधातपोमूलं तदब्रह्मोपनिषत्परम्।। (तदेव 1.16)
   (क) य एको जालवाननीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
   य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (श्वे० उप० 3.1)
   (ख) सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-एकोऽहं बहुस्याम्
4. (छा० उप० 6.12.4)
5. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः क्षीणैः क्लशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। (श्वे० उप० 1.11)
   मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्
   तस्यावयवगतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। (श्वे० उप० 4.10)

के लिए उस परमब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। उसको जानने पर मनुष्य जन्म-मृत्यु के जाल से सदा के लिए छूट जाता है। सृष्टि के पूर्व एवं पश्चात् केवल उसी का अस्तित्व रहता है।[1] जैसे धधकती हुई अग्नि से चारों ओर चिंगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।[2] वही एक आत्मा के रूप में सभी जीवों में व्याप्त है।[3] परमात्मा सर्वव्यापक है।[4] उस परमात्मा को सभी स्थानों पर देखा जा सकता है। संसार में जितने भी मुख, सिर तथा ग्रीवाएं हैं वे सभी उसी परमात्मा की हैं और वह सभी प्राणियों की हृदय रूपी गुफा में विद्यमान है।[5] परमात्मा शिव अर्थात् मंगल स्वरूप भी हैं क्योंकि वह परमात्मा छः (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म-यश तथा श्री) प्रकार के गुणों के कारण स्वयंप्रकाश, आनन्दरूप तथा मंगलकारी है।[6] सभी में उस परमात्मा का रूप दिखाई देता है

---

1. सदेव सोम्येदमग्र आसांदेकमेवाद्वितीयम् (छा० उप० 6.2.1)
2. (क) यथा सुदीप्तात् पावकाद विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरुपाः
   तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यंन्ति। (मु० उप० 2.1.1)
   (ख) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् (ई० उप० मं० 1)
3. (ग) आत्मकृते परिणामात् (ब्र० सू० 1.4.26)
   (क) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्मव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
   कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वे० उप० 6.11)
4. (ख) आत्मैवेदं सर्वम् (छा० उप० 7.25.2)
   (क) ब्रह्मैवेद सर्वम् (नृ० सिं० उप० 7.3)
5. (ख) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उप० 3.14.1)
   सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः
6. सर्वव्यापी स भगवांस्तस्भात्सर्वगतः शिवः (श्वे० उप० 3.11)
   (क) रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तै० उप० 2.7)
   (ख) आनन्दो ब्रहोति व्यजानात् (तै० उप० 3.6.1)

स्त्री-पुरुष, कुमार, कुमारी और वृद्ध सभी उस परमात्मा में विद्यमान है। स्त्री-पुरुष आदि के भेद स्वरूप में परमात्मा ही स्थित है। अपनी माया शक्ति से नाना रूप धारण करके जन्म ग्रहण करते दिखलाई पड़ते हैं।[1] सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जिस प्रकार मृत्तिका से बने बर्तन में केवलमात्र नाम के ही भेद हैं और मृत्तिका ही सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में परमात्मा तथा जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है। जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा जीवात्मा का मात्र दर्शन करता है।[3] गीता में भी ऐसा वर्णन मिलता है। जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर केवल लीला के लिए ही प्रवृत्त होता है जैसे आप्तकाम राजा क्रीड़ा-बिहार में विनोदमात्र के लिए तत्पर होता है।[4] जैसे एक ही पृथ्वी अनेक प्रकार के पत्थरों को उत्पन्न करती है, जिनमें अमूल्य हीरे-जवाहरात भी हैं और सामान्य पत्थर भी हैं, इसी तरह एक ही ईश्वर से नानाविध जीवों एवं कार्यों की सृष्टि होती है। शंकरभाष्य में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है।[5]

1. त्वं स्त्रीत्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
   त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः (श्वे० उप० 4.3)
2. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्थात्
   वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० उप० 6.1.4)
3. (क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
   (श्वे० उप० 4.6 ऋ० वे० 1.164.20)
   (ख) द्रष्टव्य (मु० उप० 3.1.1)
4. शा० भा० 2 – 1, 33
5. (क) तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता। (मु० उप० 2.1.7)
   (ख) द्रष्टव्य (शां० भा० 2.1, 23)

वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[1]

परमात्मा की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है उसके नेत्र सभी दिशाओं में विद्यमान हैं, मुख सब ओर है, उसकी भुजाएँ सभी दिशाओं में विद्यमान हैं तथा उसके चरण सब दिशाओं में विद्यमान है उस परमात्मा की शक्ति से ही आकाश और भूमि की उत्पत्ति होती है इसके अतिरिक्त वह पक्षियों को परवों से युक्त करता है।[2] वह परमात्मा अनन्त सिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त चरणों वाला है। वह परमात्मा परिपूर्ण है। परमात्मा का ही रूप सारे संसार में व्याप्त है। पृथ्वी के दस अङ्गुल ऊपर स्थित है। अर्थात् ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए हैं।[3]

परमात्मा के हाथ, पाँव, सिर, मुख और कान सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् संसार में जितने भी हाथ, पाँव, आँखें, सिर, मुख और कान हैं वे सभी उस परमात्मा के हैं, वह सभी वस्तुओं में ओत - प्रोत है सभी अच्छी वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त है।[4] गीता में भी ऐसा भाव प्रकट हुआ है। परब्रह्म परमात्मा चलता भी है तथा नहीं भी चलता है, अति दूर भी है

1.
2. सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। (तै० उप० 2.1.2)
   (क) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वोमुखी विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
   सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वे० उप० 3.3)
3. (ख) द्रष्टव्य भ० गी० 13 – 13
   सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
4. स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (श्वे० उप० 3.14) (ऋ० सू० पु० सू० 1)
   (क) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
   सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति (श्वे० उप० 3.16)
   (ख) यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
   तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् (भ० गी० 10.41)

तथा अति निकट भी है वह इस सम्पूर्ण चराचर संसार के भीतर परिपूर्ण रूप से विद्यमान है और सम्पूर्ण चराचर स्थावर जंगमादि जगत् के बाहिर भी विद्यमान है।[1] मुण्डकोपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन है कि परब्रह्म हर दिशा में विद्यमान है।[2]

योगोपलब्धि

I. योग की आवश्यकता :-

उपनिषद् की विचारधारा के अनुसार यह तथ्य एकदम स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक रूप से कोई भेद नहीं है। जीव माया के कारण अथवा अज्ञान के प्रभाव से अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता। जैसे कि एक सिंह-शावक भेड़ों के झुण्ड में पड़ जाने से स्वयं को भेड़ समझते हुए तद्वत भीरु स्वभाव को अपना लेता है। कुत्ते, बिल्ली अथवा किसी भी हिंसक जानवर से उनकी तरह ही डरता है, भागता है अथवा महाकष्ट का अनुभव करता है। परन्तु यदि दैववश उसका किसी शेर से सामना हो जाता है और वह उसकी दयनीय स्थिति को भांपकर उसे पकड़कर नदी के किनारे ले जाता है ओर उसको अपना और उसका प्रतिबिम्ब दिखाता है और इस प्रकार उसे बोध करवाता है कि उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है केवल भ्रान्ति के कारण भेड़ों की संगतिवश अपने ऐश्वर्य

---

1. तदेजति तन्नैजति तददूरे तद्वन्तिके। (ई० उप० मं० 5)
2. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (मु० उप० 2.3.11)
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।

एवं सामर्थ्य को भूलकर कष्ट पा रहा था। इस प्रकार वह सिंह शावक पुनः अपने ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य के साथ-साथ स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इसी प्रकार जीव भी अविद्या के चंगुल में फंसकर अपने पारमार्थिक स्वरूप जो कि - सच्चिदानन्दघन रूप है, शुद्ध-बुद्ध मुक्त है, चैतन्य स्वरूप है, आवागमन एवं जरामरण के बन्धन से रहित है, अजर, अमर तथा अभय है। - को भूलकर कष्ट पाता है। इसलिए इस बात की परम आवश्यकता रहती है कि वह अपने यथार्थ स्वरूप को किस प्रकार पुनः अनुभव कर सकता है। जन्म-मरण के एवं अभावों, क्लेशों, चिन्ताओं एवं त्रिविध तापों से मुक्ति पा सकता है। हमारे पूर्वज महान् एवं विद्वान दार्शनिक ऋषि-मुनियों ने इस समस्या पर गूढ़ चिन्तन किया। अपने तप, योग एवं ईश्वर भक्ति के प्रभाव से इस रहस्य का उद्घाटन किया और जाना कि ब्रह्म-स्वरूप की पहचान का योग उत्तम एवं सरल मार्ग है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस दिव्य योग के सम्बन्ध में बतलाया है कि यह सनातन योग है और ऐसी बात नहीं है कि आज कुछ नवीन बताया जा रहा है। केवल काल, वातावरण एवं परिस्थिति के प्रभाववश इसका लोप एवं अविर्भाव होता रहता है।[1] सबसे पहले उन्होंने इस योग को सूर्य भगवान् को प्रदान किया उनकी परम्परा से आगे मनु

1. स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।। (भ० गी० 4-2/3)

एवं राजर्षियों ने इसको जाना। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी परम तथ्य को बड़े ही सरल एवं तर्कसंगत ढंग से प्रकट किया गया है।[1]

II. योग का वातावरण :-

सर्वप्रथम साधक को अपने मन, वाणी एवं काय की शुद्धि करके अपने मन को उस दिव्य-ज्योति परब्रह्म परमेश्वर में एकाग्र करना चाहिए।[2] जिससे उस सविता की सद्प्रेरणा से अज्ञानरूपी अंधकार छंट जाए और परमार्थ चिन्तन में मन लगे। पातंजल योग में भी दो प्रकार के योगियों का उल्लेख मिलता है। एक "युञ्जान" और दूसरा "युक्त"। "युञ्जान" वह योगी होता है जो अभी संसार बन्धनों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता और ईश्वर के चिन्तन में मन लगाता है। यह योग की प्रारम्भिक अवस्था मानी जाती है, जिसमें एक तरफ अज्ञानतम दूर होता है और दूसरी ओर आत्मप्रकट की ओर मन अग्रसर हो रहा होता है। दूसरी ओर "युक्त" उस योगी को कहते हैं जो ब्रह्म के साथ सहजतया ऐकात्म्य का अनुभव कर रहा होता है। इस प्रकार योग की प्रथम सीढ़ी युञ्जान की अवस्था ही है

1.
(क) इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। (श्वे० उप० दी० पृ० 156)
(ख) द्रष्टव्य (भ० गी० 4.1)

2. (क) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।। (श्वे० उप० 2.4)
(ख) युजे वां ब्रह्म.... (श्वे० उप० 2.5)

जिसकी ओर श्वेनाश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट संकेत मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त यही वर्णन ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में भी आया है।

प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने इसकी दीपिका में कहा है कि सूर्य देवता की अग्नि के आधार चक्र में स्थित त्रिकोणस्य ज्योति के तेज का अवलोकन कर अर्थात् वायु के अवरोध द्वारा पैरों और घुटनों से लेकर उत्तरोत्तर पंचमहाभूतों को स्थापन करना अर्थात् उनको ऊर्ध्वमुखी करना तथा पुनः वायु के द्वारा अग्नि को प्रदीप्त कर कुण्डलिनी का अवरोध करना योग का प्रथम सोपान है।[2]

पुनः युक्त योगी के सम्बन्ध में कहा गया है कि सविता (प्रेरक, ब्रह्म अथवा सद्गुरु) के अनुग्रह से प्रेरित हुआ योगी सम्यक् दर्शन द्वारा अपने मन को ब्रह्म में लगाता है।[3] और इस प्रकार सविता की प्रेरणा से शुभकर्म करता हुआ एवं मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके योग शक्ति से युक्त योगी परमात्मा की प्राप्ति करता है।[4]

---

1. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत।। (श्वे० उप० 2.1)
द्रष्टव्य (ऋ० वे० 10.13.1, तै० उप० 4.1.1.5, वाज० सं० 11.5
अथ० वे० 18.3.39, शत० ब्रा० 6.3.1.13)
2. श्वे० उप० दी० पृ० 155
3. युक्त्वायेति मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्। (श्वे० उप० 2.3)
4. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या। (श्वे० उप० 2.2)

इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वरप्राप्ति के लिए योग-साधना करने वाले साधक को सर्वप्रथम बहिर्मुखता से अन्तर्मुखी होना चाहिए।[1] धर्मराज ने नचिकेता को आत्मयोग का वर्णन करते हुए इसी तथ्य का प्रकटीकरण किया है।[2]

उपनिषदों में मन को वश में करने का उपदेश दिया गया है जैसे कि कहावत भी है – "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत"।[3] योग-प्राप्ति के लिए मन को वश में करना अनिवार्य है जैसे कि पातंजल-योग में भी कहा गया है कि चित्त (मन) की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना (निरोध) 'योग' है।[4] गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को मन को वश में करने के लिए बल देते हैं उनका मानना है कि जिस प्रकार सारथी पर नियन्त्रण ढीला होने से रथवान् कभी भी धोखा खा सकता है क्योंकि सारथी के अनियन्त्रित रहने से घोड़े बेरोक-टोक मार्ग में भटक सकते हैं उसी प्रकार बुद्धिरूपी रथवान् का मनरूपी सारथी पर नियन्त्रण न रहने से इन्द्रिय रूपी घोड़े विषयरूपी भोगों में भटक सकते हैं जिससे अपने परमार्थ स्वरूप से गिरकर जीव संसाररूपी भंवर में फंस जाता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्

---

1. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
2. तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वतिशोकः। (श्वे० उप० 2.14)
   पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मापराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
3. कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। (कंठ० उप० 2.1.1)
4. संत गुरुनानक
   योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (पां० यो० द० 1.2)

में भी मन के सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण की ओर संकेत किया गया है।[1] इस मन के नियन्त्रण के लिए जैसे गीता में अभ्यास और वैराग्य के करने की बात कही गई है।[2] इसी प्रकार महर्षि पातंजलि ने भी चित्त को अभ्यास और वैराग्य से वश में करने की बात कही है।[3]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार मूलाधार में प्रसुप्त सर्पवत् ज्योतिष स्वरूप कुण्डलनीय शक्ति के विमर्शन से अज्ञानरूपी तम दूर होने पर मन सम्यक् प्रकार से वश में हो जाता है और आत्म-स्वरूप आलौकिक हो जाता है। गीता[4] में भी इसी प्रकार का मत मिलता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से वायु का नियन्त्रण होने से भी चित्त नियन्त्रित हो जाता है ओर इस प्रकार आत्मस्वरूप के अनुभव के विमर्शन से अमृतरूपी सोमरस की अनुभूति का आनन्द लेने से मन संयमित हो जाता है अर्थात् विषय-वासना की ओर नहीं भागता।[5]

---

1. (क) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (भ० गी० 2.61)
(ख) दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वानन्मनोधारयेताप्रमत्तः। (श्वे० उप० 2.9)
2. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (भ० गी० 6-35)
3. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पां० यो० द० 1.12)
4. अहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेनभास्वता। (गी० 10.11)
5. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः।। (श्वे० उप० 2.6)

III. **योग – स्थान : –**

योग - प्राप्ति के लिए बाह्य माध्यम के रूप में बतलाते हैं कि योग की साधना ऐसे स्थान पर करनी चाहिए जो समतल हो, पवित्र एवं शुद्ध हो, कंकर, पत्थर एवं अग्नि तथा वायु के प्रकोप से रहित होना चाहिए इसी प्रकार कोलाहल इत्यादि वहाँ नहीं होना चाहिए, जल आदि के भय से रहित होना चाहिए। देखने में सर्वथा प्राकृत सौन्दर्य से सम्पन्न एवं मन के अनुकूल होना चाहिए। अर्थात् जहाँ मन को शान्ति मिले, आँखों को किसी प्रकार पीड़ा देने वाला नहीं होना चाहिए, वह स्थान वायु से रहित होना चाहिए और ऐसा स्थान पर्वत आदि की गुफा, नदी किनारे में सुरक्षित स्थल अथवा कोई भी हिंसक पशुओं अथवा सर्प, चींटी इत्यादि के आतंक से रहित, सरम्य स्थान होना चाहिए।[1] गीता[2] में भी ऐसा वर्णन मिलता है।

IV. **योग – साधना : –**

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि साधक को शरीर को समतल रखते हुए सिर, गर्दन तथा वक्षःस्थल को एक साथ सीधा रखना चाहिए इसके पश्चात् इन्द्रियों सहित मन को हृदय में समाविष्ट करके औंकार रूपी नौका का आश्रयण करते हुए सभी प्रकार के

---

1. समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
2. मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।। (श्वे० उप० 2.10)
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। (भ० गी० 6 – 11)

भयावह भव - क्लेशरूपी जल - प्रवाहों को पार करना चाहिए। तात्पर्य है कि जिस प्रकार असीम सागर को पार करने के लिए बिना नौका के और सफल नाभिक के बिना काम नहीं चलता, उसी प्रकार अनन्त प्रवाह एवं विविध क्लेशों से युक्त संसार की मोह, माया, ममता से पार उतरने के लिए ब्रह्म के मन्त्र अर्थात प्रणव (ओ३म्) का जप अत्यन्त आवश्यक है।[1]

इस योग - साधना के मध्य में आहार एवं विहार युक्त (सम्यक्) रहना चाहिए। गीता में भी भगवान् अर्जुन को यही समझाते हैं कि जिस साधक का आहार एवं विहार सम्यक् हो, सम्यक् चेष्टाएँ एवं सम्यक् कर्म करने वाला हो वही योग की प्राप्ति करता है एवं क्लेशों से छुटकारा पाता है।[2] साधक को प्राणायाम करने से जब प्राण क्षीण हो जाए तो उन्हें नासिका के द्वारा बाहर निकालना चाहिए इस प्रकार दुष्ट अश्व से युक्त रथ के समान सावधानी से मन का नियन्त्रण करना चाहिए[3] अर्थात् पूर्व के माध्यम से प्राणवायु को बाईं नासिका (इड़ा, चन्द्रमुखी) से अन्दर खींचना चाहिए और कुम्भक के माध्यम से नासिका पुटों में रोककर क्षीण करना चाहिए तत्पश्चात् रेचक् के माध्यम से दाईं नासिका पुट

1. (क) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि। (श्वे० उप० 2.8)
(ख) सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (भ० गी० 8-12/13)
2. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्पप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (भ० गी० 6.17)
3. प्राणा-प्रपोडयेह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छवसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः (श्वे० उप० 2.9)

(पिंगला, सूर्य नाड़ी) से प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए इस प्रकार बार-बार अभ्यास से प्राणवायु का अवरोध होने से मन का नियन्त्रण हो जाता है और इस प्रकार अभ्यास से योग-सिद्धि हो जाती है।

V. योग का वातावरण :-

योग-अभ्यास में सर्वप्रथम कुहरे की अनुभूति होती है इसके पश्चात् धुआँ दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् देदीप्यमान सूर्य की अनुभूति होती है और पुनः वायु का अनुभव होता है। तत्पश्चात् अग्नि, जुगनू एवं विद्युत क्रमशः प्रतीत होते हैं। इन प्रारम्भिक अनुभूतियों के पश्चात् ही आत्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है।[1] इसी **प्रकार योग**-साधना के मध्य में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों के योग-गुणों के प्रकट होने पर साधक को रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु से छुटकारा प्राप्त हो जाता है और उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है।[2] शंकराचार्य के अनुसार योग-गुण प्रवृत्ति से योगी को गन्धवती पृथ्वी के गुण-गन्ध का अनुभव होता है तथा उसको जल से रस की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् योग की चार प्रवृत्तियाँ कही गई हैं -

---

1. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
2. एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मव्यभिव्यक्तिकराणि योगे। (श्वे० उप० 2.11)
   पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मक योगगुणे प्रवृत्ते।
   न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्। (श्वे० उप० 2.12)

ज्योतिषमती, स्पर्शवती और रसवती तथा गन्धवती। इन योग प्रवृत्तियों में से यदि एक की भी प्रवृत्ति हो जाए तो योगिजन उस साधक को योग में प्रवृत्त हुआ बतलाते हैं। पातंजल योगसूत्रों में भी ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

योग-साधना के द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है परन्तु कुछ आवश्यक तत्त्वों के बिना यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार किसी चाँदी, सोने या किसी देदीप्यमान पदार्थ में मिट्टी लगी होती है तो उसका वास्तविक रूप दिखलाई नहीं पड़ता है, उसी प्रकार अविद्या आदि के विनाश के पश्चात् जब साधक आत्मतत्त्व का दर्शन करता है तब वह कृतार्थ होकर शोक को भी पार कर लेता है।[2]

ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करने का साधन आत्मतत्त्व ही है और जब आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाशमान दीपक के समान भासित होने लगता है तब ब्रह्मतत्त्व को भी भली-भाँति देखा जा सकता है। जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकार के किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी स्वयं

---

1. (क) ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः।।
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः।। (श्वे० उप० पृ० 107)
(ख) विषयवती वा प्रवृतिरूत्पन्ना मनसाः स्थिति निबन्धनी। (पा० यो० सू० 1.35)
2. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः। (श्वे० प० 2.14)

प्रकाशमान है। परमात्मा को मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता अपितु आत्मा के माध्यम से ही जाना जा सकता है। उस देव को जानकर जीव अविद्यादि समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[1]

1. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वे० उप० 2.15)

चतुर्थ अध्याय

क्षेमराज का जीवन परिचय एवं कृतियाँ

(क) क्षेमराज का जीवन परिचय

(ख) क्षेमराज की कृतियाँ

राजानक क्षेमराजाचार्य

जीवन परिचय :-

कश्मीर ऋषि-मुनि एवं पीर-पैगम्बरों की धरती मानी जाती है यहाँ के नदी, पर्वत, घाटी, वातावरण, प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी ही छटा लिए हुए है जिससे इसे धरती का स्वर्ग कहा जाता है। यहाँ का विविध प्रकार का आधिकारिक एवं विशद साहित्य जगत् प्रसिद्ध रहा है विशेषकर कश्मीर शैव दर्शन का साहित्य एवं उसके लेखक अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। इन्हीं दार्शनिकों, लेखकों एवं टीकाकारों में राजानक क्षेमराज का नाम अद्वितीय है।

इन्होंने अपने जीवन अथवा वंश परम्परा के सम्बन्ध में किसी भी अपनी कृति में कोई भी संकेत नहीं दिया है। अपना नाम "क्षेम" अथवा राजानक "क्षेमराज" के रूप में सम्बोधित करते हैं और माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य बतलाते हैं।[1] बहुत सम्भव है कि इन्होंने अपने शिव के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण इन सांसारिक सम्बन्धों के विषय में कुछ लिखना रूचिकर न समझा हो। वैसे इस दर्शन के प्रायः बहुत से आचार्यों ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं दी है, परन्तु इसे एक प्रथा कहने की अपेक्षा उच्च

---

1. (क) कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिवनवगुप्तपादपद् मोपजीविनः श्रीमतो राजानक क्षेमराजाचार्यस्य। (प्र०ह०, अन्तेः)
   (ख) शाङ्करोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः।
   क्षेमेणोद्धियते सारः संसारविषशान्तये।। (प्र०ह० मं० श्लो० 2)

आध्यात्मिक दृष्टिकोण सम्पन्नता निःस्वार्थता और एक परमार्थ सत्य के निरूपण में ही संलग्नता कहना उचित प्रतीत होता है अभिनवगुप्त ने अपनी वंश-परम्परा के वर्णन में अपने परम विद्वान और भक्त चाचा "वामनगुप्त" का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः इनके गुरुओं में से भी एक थे।[1] उनके पुत्र ओर इनके चचेरे भाई क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रम और पद्मगुप्त थे।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यही "क्षेम" क्षेमराज के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले और अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य थे, क्योंकि इन्होंने अपने सभी चचेरे भाईयों को शिव-भक्त और विद्वान् बतलाया हैं। इस प्रकार आचार्य क्षेमराज के पिता का नाम "वामनगुप्त" था। इसके अतिरिक्त इनकी वंशावली वही रही होगी, जो "अभिनवगुप्त" की? सम्भवतया अभिनवगुप्त द्वारा इसके पहले ही कहे जाने के कारण इन्होंने पुनरुक्ति करनी अच्छी न मानी हो। अपनी विद्वत्ता, योग्यता और शिवशक्ति-परायणता सिद्धि के प्रभाव से ही यह अभिनवगुप्त के उत्तराधिकारी और त्र्यम्बक मठिका के गुरु पद से सुशोभित हुये थे।[3] इनके योग्य शिष्यों में योगराज और केरल देश निवासी वरदराज का नाम

---

1. तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकोतराणि चरितानि न लोक एव, सम्मन्यत यदि किमत्र बदाम नाम। यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्य तेन, पाश्वोंपपीऽमिह को न विजाहसीति। (अभि०मा०भा० 1, 297)
2. अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्तिशुभाः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः
   ते सम्पदं तुपमलतं शुम्भुसेवासम्पूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्त।।
   (तं०आ०आह० 37, श्लो० 67, भा० 12)
3. श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्।
   लक्ष्मणमभिनवगुप्तं बन्दे श्री क्षेमराजं च।। (शा०ति०टी०, श्लो० 3, पृ० 7)

मुख्य रूप से आना है। योगराज अनुसार क्षेमराज ने महेश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त की थी।[1] योगराज सम्भवतया कश्मीर का ही निवासी था। यह एक विरक्त तपस्वी, पूर्णाद्वैती था, जो झेहलम के किनारे कुटिया में निवास करता हुआ शिव भक्ति में निमग्न रहता था।[2]

क्षेमराज ने अपने एक शिष्य "शूर" का भी नाम लिया है, जिसकी प्रार्थना पर इन्होंने "स्पन्दनिर्णय" की रचना की थी।[3] इनके शिष्य भी इनके समान ही योग्य और विद्वान् थे। क्षेमराज न केवल एक उच्चकोटि के अद्वैतशैवी साधक थे, प्रत्युत् एक धुरन्धर लेखक भी थे। अपने गुरु की ही भाँति इनको भी सभी धर्मों, मतों एवं आचार्यों की शिक्षाओं का पूर्ण ज्ञान था। इन्होंने अन्य मतों के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाया था[4] और केवल उनके अमान्य अथवा तर्कहीन तथ्यों का ही खण्डन किया। परन्तु ऐसा करते हुये भी उनकी निम्न स्थितियों के क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करने पर पूर्ण अद्वैतमयी अवस्था में परशक्तिपात से स्थित होना माना है। तात्पर्य यह है कि उनके मत में समस्त दर्शनों की स्थितियां आत्मा की नट की तरह स्वेच्छा से अवगृहीत विविध कृत्रिम भूमिकायें मात्र हैं। उनके कथनानुसार चार्वाक चैतन्य से संयुक्त "शरीर" को ही आत्मा मानते हैं

1. श्रीमतः क्षेमराजस्य सदगुवाम्नायशालिनः।
2. साक्षात्कृतमहेशस्य तस्यान्तेवासिना मया।। (प०सा०वि०, अन्ते)
3. श्रीवितस्तापुरीधाम्ना विरक्तेन तपस्विना।
4. विवृतिर्योगनाम्नेयं पूर्णाद्वयमयी कृता।। (प०सा०वि०, पृ० 199)
   शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनाप्तिरसेन तत्।
   निर्णीतं क्षेमराजेन स्फारान्निजगुरोर्गुरोः।। (स्प०नि०, श्लो० 4, पृ० 77)
   तदभूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। (प्र०ह०सू० 8)

न्याय - वैशेषिक ज्ञानादि गुण समूहों के प्रतिपादकप्राय: "बुद्धि को जीवित और मृत्यु की दशा में उसके अभाव से शून्य प्रामय को ही आत्मा मानते हैं। अहंभाव की प्रतीति से अनुभूत होने वाले और सुख - दु:खादि सीमित उपाधियों से आच्छादित होने वाले इस प्रकार के बुद्धि तत्त्व को ही मीमांसक भी आत्मा मानते हैं। ज्ञान के सतत प्रवाह को ही आत्मा मानने वाले सौगत भी बुद्धि व्यापार तक ही सीमित होते हैं। कुछ वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं। कुछ वेदान्ती सृष्टि पूर्व सब कुछ असत् मानने से 'अभाव' को ही ब्रह्म मानने से शून्य दशा में ही अवस्थित हैं माध्यामिक बौद्ध भी ऐसे ही विचार रखने से शून्य को ही ब्रह्म मानने वाले हैं। "भगवान् वासुदेव को ही उत्कृष्ट प्रकृति एवं जीव को उसकी चिन्गारी मानने वाले पाञ्चरात्र इस प्रकार जीव को परा प्रकृति का परिणाम मानने से "अव्यक्त तन्त्व" में ही ठहरे हुये हैं। सांख्य - योग प्राय: कर्तृत्वहीन और बोधरूपमात्र आत्म तत्त्व मानने से विज्ञानाकाल दशा में स्थित होते हैं। पूर्व में सत् का ही अस्तित्व मानने वाले कुछ वेदान्ती ज्ञान प्रधानता वाले ईश्वरतत्त्व को ही सर्वोच्च मानते हैं। शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती रूप को आत्मा मानने वाले वैयाकरण इच्छाप्रधान सदाशिव दशा में ही अवस्थित हैं, क्योंकि पश्यन्ती इच्छा की भाँति अव्यक्त शब्द का उन्मेषमात्र होती है। इसी प्रकार अन्य दर्शन भी त्रिक् दर्शन के एक ही अंश में स्थित अनुमानित हो सकते हैं। तान्त्रिक विश्वात्तीर्ण और कुलादि आत्माओं में विश्वमय को आत्म तत्त्व मानते हैं। परन्तु त्रिकादि दर्शनविद्

आत्मतन्त्र को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों वाला मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में अद्वैत शैव दर्शन ही पूर्ण है। अर्थात् आत्मा के यथार्थ ज्ञान का एकदम सीधा प्रतिपादक है। दूसरे क्रमशः विकसित होते हुये साधक को निम्न स्तर से उच्चतम स्तर पर पहुँचाने वाले विविध विश्रान्ति स्थल हैं, क्योंकि शरीरादि भी आत्मा के ही स्वेचछा से गृहीत संकुचित रूपमात्र होते हैं। आत्मा के विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूप का पूर्णज्ञान परशक्तिपात से ही सम्भव है।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्षेमराज आध्यात्मिकता की अत्युत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। उन्होंने जो भी कुछ लिखा उसमें आत्मानुभूति, सतर्क, शास्त्र ज्ञान एवं गुरु कृपा का सम्मिश्रण था। इसलिये उनकी कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह शास्त्रकार और भाष्कार भी थे। परन्तु दोनों रूपों में इनका लक्ष्य अद्वैतशैव के गूढ़ रहस्यों का सरलीकरण ही रहा है, भले ही वे तथ्य शास्त्र प्रतिपादित हो अथवा गुरुज्ञान की परम्परा से प्राप्त हो।[2] सर्वजन कल्याण, संसार के द्वैतभाव की शान्ति और मान्यवर

---

1. [illegible] चार्वाकादिदर्शनाना स्थितयः सिद्धान्ताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्यव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा भूमिका..... एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्यपच्छादनोन्मीलनतारेतम्भेदिताः। अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा। देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वपमातृव्याप्तिसारता प्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्ति परंशक्तिपातं बिना न लभन्ते। (प्र०ह०, पृ० 99)

2. (क) इह ये सुकुमारमतयो कृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषित् पारमेश्वरसमावेशाभिलौषिणः कतिचित् भक्ति भाजः तेषाम् ईश्वर प्रत्यभिज्ञोपदेशतत्वं मनाक् उन्मील्यते। (प्र०ह०, पृ० 66)

(ख) येषां वृतश्शङ्करशक्तिपातो ये नम्यासात् तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः। शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रतयभिज्ञामुक्तस्तेषामेष तत्वोपदेशः।। (प्र०ह०, पृ० 116)

गुरुओं के यथार्थज्ञान को सुगम बनाकर बोधगम्य बनाना – फलतः इस सिद्ध मत का प्रचार-प्रसार करना इनकी मुख्य विशेषतायें रही हैं, जिनको माध्यम से इन्होंने एक आत्म-परमेश्वर के प्रत्यभिज्ञान पर बल दिया है। यह न केवल प्रत्यभिज्ञा, अपितु क्रम, कौल, स्पन्द आदि अन्य अद्वैत शैवी मतों को भी प्रतिपादक रहे हैं। इनका महान् व्यक्तित्व न केवल शैवी साधनाओं का ही सम्यक् विज्ञाता, प्रत्युत् सर्वशास्त्र विशारद भी था। यह शिव की उत्कृष्टता के व्याख्याता होने पर भी और शक्ति को इनसे अभिन्न मानते हुये भी, पराशक्ति की स्वातन्त्रय महिमा से अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी कृतियों में शक्ति का ही अधिक प्रभाव झलकता है।[1]

इन्होंने तन्त्रों को भी अद्वैत परक व्याख्या की है। साहित्य में इनकी रुचि दिखाई नहीं देती है, इनका मुख्य कारण शिवरस में ही रसित रहना प्रतीत होता है। ऐसे महान् योगी का स्थिति काल उल्लासित न होने पर भी इनके गुरु अभिनवगुप्त के समयानुसार 925-1025 ई०पू० के समीप अनुमानतः किया जा सकता है। यह एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न सिद्ध महापुरुष थे, जिनकी रचनाएँ भी अद्वितीय स्थान रखती हैं।

---

1. (क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०ह०, सू० 1)
   (ख) देहप्राण्सुखादिभिः प्रतिकूलं संरुध्यमानो जनः। पूर्णानन्दधनामिमां न चिनुते महोश्वरीं स्वां चितिम्। मध्येबोध्क्षुधाब्धि विश्वमभितस्तन्फेन पिण्डोपमं। यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एक शिवः।। (प्र०ह०, 143)

क्षेमराज की कृतियाँ :-

क्षेमराज की कृतियों को निम्नलिखित वर्गीकरण के आधार पर बांटा जा सकता है:-

1. प्रत्यभिज्ञापरक रचनाएँ :-

(क) प्रत्यभिज्ञाहृदयम् :-

क्षेमराज के इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता सर्वमान्य है। जिस प्रकार शंकर अद्वैतशैवदर्शन में सदानन्द के वेदान्तसार का महत्त्व है, उसी प्रकार काश्मीर अद्वैतशैवदर्शन में क्षेमराज की प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का महत्त्व है। स्वयं क्षेमराज ने इस पर वृत्ति भी लिखी है। धर्म एवं दर्शन के अद्भुत सामञ्जस्य की स्थापना इस ग्रन्थ में हुई है। बीस कारिकाओं में स्वातन्त्र्य तथा विश्व नानात्व के सिद्धान्त की चर्चा हुई है। यह कृति प्रत्यभिज्ञादर्शन के सारभूत ग्रन्थ के रूप में ग्राह्य है। आगम शास्त्र के सारभूत प्रत्यभिज्ञारूपी महासमुद्र का सार रूप यह ग्रन्थ भव[illegible]विष को शान्त करने वाला है।[1]

शक्तिपात को प्राप्त करने वाले किन्तु अभ्यास के अभाव के कारण प्रखर कार्तिक चिन्तन में असमर्थ एवं ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा में अशक्त जनों के लिए इसमें तत्त्व का उपदेश मिलता है।[2]

---

1. शाङ्करोपनिषत्सार प्रत्यभिज्ञा महोदधेः।
   क्षेमेणोद्धियतेसारः संसारविषशान्तये।। (प्र०हृ०, श्लो० 2)
2. येषां वृत्तः शांकरः शक्तिपातो, येउनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्व योग्याः।
   शक्ता ज्ञातुं नश्वरप्रत्यभिज्ञा, मुक्तंस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः।। (प्र०हृ०, पु०)

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पंचकृत्यकारी चिदानन्द धनस्वरूप शिव के प्रति नमस्रोक्ति है।[1] शिव चिति यथा ही का स्वातन्त्र्य ही विश्व की सिद्धि में हेतु है।[2]

चिति में विश्व का उन्मीलन दर्पण में नगर के समान माना गया है।[3] चिति संकोच ही विश्वात्मक चेतन के संकोच में हेतु है।[4] खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी आदि के रूप में चिति का स्फुरण होता है।[5]

विश्व का ग्रसन करने से चिति वह्नि सदृश है।[6] चितिलाभ होने पर चिति विश्व को आत्मसात् कर लेती है।[7] तुरीया चितशक्ति की अवस्था में स्वाधिष्ठित वस्तुएँ आत्मसात् हो जाती हैं।[8] ग्राह्यग्राहक में भेद का अभाव है तथा परमशिव का ही अभिनवरूप में विश्वरूप में स्फुरण होता है।[9] शिव भट्टारक की ही द्विरूपता, त्रिभयता, चतुरात्मकता तथा सप्तपंचक स्वभावरूपता बतलाई गई है।[10] सभी दार्शनिक सिद्धान्त में एक आत्मा की ही

---

1. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने।
   चिदानन्दधनस्वात्मपरमार्थ वाभसिनं।। (प्र०ह०, श्लो० 1)
2. चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः। (प्र०ह०, श्लो० 1)
3. विश्वं दर्पणे नागरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। (प्र०ह०, श्लो० 2 व्याख्या)
4. चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि सकुचितविश्वमयः। (प्र०ह०, श्लो० 4)
5. किंच चितिरेव भगवती विश्वमनात् ससारवामाचारख्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खो चरी – गो चरी – दिक्चरी – भू चतीरूपैः अशेषैः प्रमातृअन्तः कारण – बह्निष्करण – भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती।। (प्र०ह०, श्लो० 12 व्याख्या)
6. चितिरेव विश्वग्रसनशीलत्वात् वह्निः। (प्र०ह०, श्लो० 14 व्याख्या)
7. "बल्लाभे" विश्वम् आत्मसात् करोति। (प्र०ह०, श्लो० 15)
8. स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः। (प्र०ह०, श्लो० 19 व्याख्या)
9. श्री मत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण..... शिवदिधरण्यन्तम अखिलम् अभेदेनैव स्फुरित। (प्र०ह०, श्लो० 3)
10. स चैको द्विरूपरिस्त्रमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभातः। (प्र०ह०, श्लो० 7)

विविध भूमिकाएँ हैं।[1] भेदप्राय से जीव का मल से आवृत्त होने का संसरण होता है।[2]

शक्ति संकोच संसरण का तथा शक्ति विकास ही शिवात्मकता का द्योतक है।[3] पञ्चकृत्यों के ज्ञान के अभाव में शक्ति व्यामोह एवं संसरण होता है।[4]

पशु दशा भेदात्मकता तथा पति दशा अभेदात्मकता वाली होती है।[5] स्वरूप ज्ञान से बंधनमुक्त होकर देहधारण काल में ही जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। मध्यनाड़ी के विकास के बाद चिदानन्द की प्राप्ति होती है। तथा तदनन्तर जीवन्मुक्ति होती है।[6]

विश्व की प्रक्रिया में चिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए साररूपेण यह तथ्य प्रतिपादित है कि समस्त प्रतीयमान जगत् शिवरूप ही है।[7] शिवोपलब्धि ही लक्ष्य है और सब की शिवमयता है।[8] यह जगत् फेन पिण्ड तुल्य है और ज्ञान अमृत का सागर है। इस विवेक का अनुभावक साक्षात् शिव ही होता है।[9]

---

1. तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। (प्र०ह०, श्लो० 8)
2. चिद्वत्तच्छाक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०ह०, श्लो० 9)
3. शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव। (प्र०ह०, श्लो० 9 व्याख्या)
4. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।
   एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।। (प्र०ह०, श्लो० 12)
5. ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिति..... पतिदशायां तु भेदे संहारम्, अभेदे च सगोस्थिती प्रकटयन्त्यः। (प्र०ह०, श्लो० 12 व्याख्या)
6. ब्रह्मनाडी विकसति, तदा तद्विकासात् चिदानन्दस्य उक्तरूपस्य लाभः प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः।
7. यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत् सर्वं शिवम्। (प्र०ह०, श्लो० 20 व्याख्या)
8. शिवप्राप्तिहेतुत्वात्, शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव इति शिवम्। (प्र०ह०, श्लो० 20 व्याख्या)
9. मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तफेनपिण्डोपमं, यः पश्येदुपदे।
   शतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः। (प्र०ह०, पुष्पिका)

(ख) बोध – विलास :–

यह इनकी मूल कृति है। इस कृति की भी शारदालिपि में निबद्ध एक हस्तलिखित प्रति मिलती है। इसमें व्यालीस पद्य हैं। इसमें चिति से सम्बन्धित व्याख्या उपलब्ध होती हैं चिति को स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त मानकर उसे संसार का कारण स्वीकार किया गया है।

2. आगमपरक रचनाएँ :–

(क) शिवसूत्रविमर्शिनी :–

यह 'शिवसूत्रों' पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य इसमें शिवसूत्रों की विस्तृत एवं सम्यग् व्याख्या की गई है। शिवसूत्र दैवीज्ञान से सम्बन्धित हैं। साक्षात् शिव ने इनका ज्ञान वसुगुप्त को जगत् – कल्याणार्थ दिया था। इसके पहले भी शिवसूत्रों पर बहुत से भाष्य थे, लेकिन उनमें असामंजसता थी, उनको दूर करके इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही इन्होंने इस पर विमर्शिनी लिखी है।

(ख) स्वच्छन्दनय :–

दुर्भाग्य से क्षेमराज की यह रचना भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके नाम से ही विदित होता है कि इसमें भगवान् शिव के स्वच्छन्दरूप का प्रतिपादन युक्तिपूर्वक किया गया होगा।

---

1. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु। (प्र०ह०, श्लो० 1, पृ० 42)

3. स्वच्छन्दोद्योत :-

स्वच्छन्दतन्त्र को भैरव तन्त्रों में प्रधान माना गया है। यह शैवदीक्षा का सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र है। इसका वर्ण्य-विषय उपासना और क्रिया है। स्वच्छन्द नाम ही काश्मीर शैवदर्शन में भैरव का पर्याय है। अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के मध्य हुए दार्शनिक संवाद से हुआ है।[1] 'स्वच्छन्दोद्योत' स्वच्छन्दतन्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें क्षेमराज ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा स्वच्छन्दतन्त्र की प्राचीन रचना को खोजकर उसकी अशुद्धियों को दूर किया है, और अद्वैतपरक तर्कसंगत व्याख्या लिखी है।

4. नेत्रोद्योत :-

'नेत्रतन्त्र' काश्मीर शैवागम के साधना पक्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है। भैरव और भैरवी के संवाद के रूप में इस ग्रन्थ की अवतारणा की गई है। भैरवी की जिज्ञासा का समाधान करते हुये प्रथम अध्याय में भैरव अपने सर्वात्कम अभेद स्वरूप को प्रकट करता है, और शेष अध्यायों में मोक्ष तथा सिद्धिप्रद मन्त्रोद्धार, यजनविधि, भुक्ति-भुक्ति-फलप्रदा दीक्षा, साधन विधि, सूक्ष्मध्याननिरूपण आदि साधनात्मक पक्षों का सविस्तार वर्णन किया गया है। 'नेत्रोद्योत' नेत्रतन्त्र पर टीका है। इसमें शैवसिद्धान्तों का सफल प्रतिपादन किया

1. मुदितं भैरवं दृष्टवा देवी वचनमब्रवीत।। (स्व०तं० 1/4-7)

गया है। इस ग्रन्थ के बाईस अधिकार और दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पन्द्रह तथा द्वितीय खण्ड में सात अधिकार हैं। इसको मृत्युञ्जयतन्त्र भी कहते हैं।

विज्ञानभैरवविवृति :-

'विज्ञानभैरव' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर क्षेमराज के अतिरिक्त भट्टानन्द और शिवोपाध्याय ने भी भाष्य लिखे हैं। यह शिव द्वारा शक्ति के माध्यम से जगत - कल्याणार्थ उक्त रचना है। इसमें 112 धारणाओं (योग साधनाओं) का वर्णन किया गया है, जिससे जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

स्तोत्रपरक रचनाएँ :-

(क) स्तवचिन्तामणि टीका :-

भट्टनारायण कण्ठ की 'स्तवचिन्तामणि' पर क्षेमराज द्वारा इस पर रचित विवृति ही 'स्तवचिन्तामणिटीका' नाम से विख्यात है। क्षेमराज की बहुमुखी प्रतिभा का बोध कराने वाली यह विवृति शिव आराधनापरक है।[1]

(ख) उत्पलस्तोत्रावलीटीका[2] :-

आचार्य उत्पलदेव द्वारा रचित 'स्तोत्रावली' पर क्षेमराज ने भाष्य लिखा है, ताकि यह

1. श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृतिरित्येषा किमर्थेति मा सन्तश्चेतसि कृध्वमस्ति विवृतौ कोऽपि प्रकषोऽत्र यत। तेनार्थिप्रणयाद्धिनैस्त्रियतुरैर्या क्षेमराजो व्याधात क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाराधना।। (स्त०चि०म०, पृ० 130 श्लो० 2)

2. श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिबन्धाभिधानोत्पलदेवाचार्यविरचिते चर्वणाभिधाने विंशे स्तोत्रे महामाहेश्वर श्रीक्षेमराजविरचिताविवृत्तिः।। (शि०स्त्रो०वि०, पृ० 355)

सर्वजन सुलभ हो जाए और यही भाष्य 'उत्पलस्तोत्रावलीटीका' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने भगवान् शिव की स्तुति की है। यह रचना शिवभक्ति रस से ओतप्रोत है। इस पर क्षेमराज ने विवृति लिखी है, जिसमें शिव की स्तुति के माध्यम से शैवदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

(ग) भैरवानुकरणस्तोत्र :–

यह क्षेमराज की मूल रचना है। इसकी शारदालिपि में निबद्ध हस्तलिखित प्रति उपलब्ध होती है।[1] इसमें अढ़तालीस पद्यों में चिद्भैरव की स्तुति की गई है।

(घ) स्तोत्र :–

इसके विषय में हमें निम्नांकित उल्लेख इन्हीं की 'स्तवचिन्तामणिटीका' में उपलब्ध होता है :–

"तदुक्तं मयापि स्वस्तोत्रे"

इससे सिद्ध होता है कि इन्होंने कोई स्तोत्रपरक स्वतन्त्र रचना लिखी होगी। परन्तु अभी तक यह उपलब्ध नहीं हुई है।

5. स्पन्दशास्त्रपरक रचनाएँ :–

(क) स्पन्दसन्दोह :–

वसुगुप्त की 'स्पन्दकारिका' की प्रथम कारिका के नाम पर 'स्पन्दसन्दोह' नाम की

---

1. संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट सैक्शन, काश्मीर विश्वविद्यालय, न० 823

कृति लिखी है।[1] इसमें स्पन्दतत्त्व का अति विशद् और महत्त्वपूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है।

(ख) **स्पन्दनिर्णय :-**

क्षेमराज ने 'स्पन्दकारिका' पर जो टीका लिखी है, वही 'स्पन्दनिर्णय' के नाम से विख्यात है। इसमें सम्पूर्ण स्पन्दकारिका की व्याख्या उपलब्ध होती है। काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्दतत्त्व के ज्ञान के लिए यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2] इसकी रचना इन्होंने अपने शिष्य शूर के प्रार्थना करने पर अपने गुरु आचार्य अभिनवगुप्त से उपदेश ग्रहण करके की है।[3]

स्पन्दनिलय :-

जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है कि इसमें स्पन्दज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा की गई होगी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह कृति भी अनुपलब्ध है।

---

1. तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते। (स्प०स०, पृ० 3)
2. तीक्ष्णां युक्तितर्कथामुपायघटनां स्पष्टार्थसन्धाकृतिम्। ज्ञातुं वाञ्छथचेच्छिवोपनिषदं श्रीस्पन्दशास्त्रस्य तद्वृन्तावत्र धियं निधत्त सुधियः स्पन्दश्रियं प्राप्नुतः।। (स्प०नि०श्लो० 3, पृ० 1)
3. (क) शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन। (स्प०नि०, श्लो० 4)
(ख) महामाहेश्वराचार्यश्रीमद्भिनवगुप्तनाथदत्तोपदेशस्य श्रीक्षेमराजस्येति।।
(स्प०नि०, पृ० 76)

6. काव्यसाहित्यपरक रचनाएँ :-

(क) ध्वन्यालोक लोचनोद्योत :-

यह आचार्य अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' पर क्षेमराज की टीका है। इसका मात्र हमें नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है। अभी तक दुर्भाग्यवश इसकी उपलब्धि नहीं हो सकी है। यदि इसकी उपलब्धि हो जाती तो यह पाठकगणों के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती।

7. क्रमपरक रचनाएँ :-

(क) क्रमस्तोत्रटीका :-

प्रस्तुत रचना आचार्य अभिनवगुप्त के 'क्रमस्तोत्र' पर भाष्य है। इसके विषय में माहेश्वरानन्द ने अपनी 'महार्थमञ्जरी' की व्याख्या में निम्नलिखित विवरण दिया है।

"यदुक्तं श्रीक्रमसूत्रेषु.....यथा च व्याख्यातं श्रीमत्क्षेमराजेन"।।

8. वामशास्त्रपरक रचनाएँ :-

(क) वामोदय :-

'वामोदय' क्षेमराज की मूल रचना है। किन्तु दुर्भाग्यवश इनकी यह रचना भी अनुपलब्ध है।

9. विविध रचनाएँ :-

(क) पराप्रावेशिका :-

यह क्षेमराज की लघुतम रचना है।[1] इनकी यह रचना काश्मीर शैवदर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें महेश्वर की स्तुति की गई है। उसे प्रकाश, विमर्श और इच्छाशक्ति से युक्त सिद्ध किया गया है। वह विमर्श के अभाव में अनीश्वर सम्भावित है। चित्, चैतन्य, परावाक, स्वातन्त्र्य ईश्वरीय वैभव, कर्तृत्व, स्फुरण, स्पन्द आदि विमर्श के पर्याय कहे गये हैं।[2] इसमें छत्तीस तत्त्वों का भी वर्णन किया गया है। जगत् की ईश्वर से अभिन्नता स्वीकार की गई है एवं शक्ति के माध्यम से ही परमशिव जगत् में स्फुरित होते हैं।

(ख) षट्त्रिंशत्तावसन्दोह :-

इस पर भट्टानन्द ने भी भाष्य लिखा है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित है कि इसमें छत्तीस तत्त्वों का व्याख्यान किया गया है। विश्व सृष्टि में प्रथम-स्पन्द 'शिव' तत्त्व है और इच्छाशक्ति सारे विश्व का मूल कारण है। जगत् का आच्छादक अनुग्राही सदाशिव

---

1. (क) अथ पराप्रावेशिका श्रीमन्महामहेश्वराचार्यवर्यक्षेमराजविरचिता।। (परा०प्र०, पृ० 1)
   (ख) क्षेमराज विरचित पराप्रावेशिका समाप्त।। (परा०प्रा०, पृ० 12)
2. स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं कर्तृत्वं, स्फुरता, सारः हृदयं, स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्घोष्यते।। (प०सा०, पृ० 2)

है और 'शुद्धविद्या' ही जगत् में एकता का आभास है। भेदप्रथा की हेतु माया है। संकुचित कर्तृत्व 'कला' है। परिमित, रागात्मक एवं परिच्छेदात्मक शक्ति 'कालतत्त्व' है। स्वतन्त्रशक्ति संकोचशालिनी एवं नियामक है। गुणों की साम्यावस्था तथा स्वरूपचित्तात्मक शक्ति 'प्रकृति' है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया यह शक्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं। संकुचित देहधारी देव पञ्चविध है।

(ग) साम्बपञ्चाशिकाविवरण :-

यह क्षेमराज का एक व्याख्या ग्रन्थ है।[1] 'साम्बपञ्चाशिका' ग्रन्थ के पचाय श्लोकों में चिद् भानु की स्तुति है, जिसकी क्षेमराज ने सौ पद्यों में व्याख्या की है। 'साम्बपञ्चाशिकाविवरण' निःसन्देह सज्जनों द्वारा दर्शनीय है।[2]

(घ) परमार्थसंग्रहविवृति :-

यह आचार्य अभिनवगुप्त की रचना 'परमार्थसंग्रह' पर क्षेमराज द्वारा रचित टीका है। इसमें परमशिव को अनादि स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि परमशिव शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथिवी नामक अण्डचतुष्टय को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के टुकड़े अनेकों प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार परमशिव

---

1. श्रीसाम्बपंचाशिका विवरणम् समाप्तम्-कृर्तिमहामाहेश्वराचार्य शिरोमणिगण श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनोराजानक श्रीक्षेमराजस्येति। (सा०पं०विव०, व्याख्या-समाप्ति भाग, पृ० 38)
2. दर्शनीयं ही सद्भिः इति श्री साम्बपञ्चाशिकाविवरणं समाप्तम्।। (सा०पं०, श्लो० 1, पृ० 1)

स्वच्छन्दर्पण में देवता, मनुष्य, पशु इत्यादि अनेक पदार्थों के रूपों को अपने से अभिन्न धारण करते हैं।[1] एवं परमेश्वर के अनुग्रह से मल आदि आवरणों का क्षय होने पर ही आत्मा का प्रकाशन होता है।[2]

इस प्रकार इनकी कृतियों के महान् जाल को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने महान गुरु की भाँति इन्होंने ने भी अपनी लेखनी व्याख्याओं के क्षेत्र में ही अधिक चलाई। इनकी सभी कृतियों में इनकी सरलता, पवित्रता एवं शिवाद्वयवाद के क्षेत्र में इनके पाण्डित्य का परिचय भी मिलता है। यद्यपि क्षेमराज को अधिकांशतः हम एक टीकाकार के रूप में जानते हैं किन्तु यह कहना नितान्त भूल होगी कि उनकी कृतियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। उनकी कृतियों में परिलक्षित उनका कर्तृत्व इस बात का सबल प्रमाण है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद की धारणा को आगे बढ़ाने में इन्होंने विशेष योगदान दिया है।

---

1. नानाविधवर्णानां रूपंधत्ते यथाऽमलः स्फटिकः। सुरमानषपशपादपरूपत्वं तददीशोऽपि। (प०सा०, श्लो० 6)
2. नैव तथाणवमायाकर्मविमुक्तौ भवाङ्कुरंह्यात्मा।। (प०सा०, श्लो० 57)

पञ्चम अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति (परमसत्ता), पशु प्रमाता (जीव) एवं योग

(क) चित्ति एवं जीव

(ख) योग

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति एवं जीव

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के मत में परमशिव, परमसत्ता, परासंवित्, चित्ति, पराचित्ति, परावाक्, पराशक्ति ही एक पारमार्थिक सत्य है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो भी चराचर प्रमाता-प्रमाण प्रमेयरूप प्रपञ्च दृश्यादृश्यरूप में विद्यमान है एवं समस्त भुवन-भाव आदि भी, उसी की अभिव्यक्ति होने से सत्य है अर्थात् आकाश-पुष्प की तरह कल्पनामात्र नहीं।[1] वह पूर्ण चिद्रूप है, इसीलिए उसे चित्ति कहा जाता है और चित्ति ही परासंवित् है।[2] इसी को आत्मा नाम से अभिहित किया जाता है।[3] शिव से लेकर पृथ्वी तक समस्त तत्त्वों की इसी आत्मा में अवस्थिति मानी गई है।[4] परन्तु यह आत्मा प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् और समस्त विश्व में सामूहिक रूप से विद्यमान होते हुए भी अविभक्त एवं असीमित रहते हुए समय, देश और रूपादि से अप्रभावित ही रहती है। इससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है, इसीलिए इसे परासंवित, अनुत्तर, परतत्त्व आदि कहा जाता है।[5] वास्तव में

---

1. (क) इह हि सर्वत्र अप्रतिहतशक्ति परमेश्वर एव तथाबुभूषुस्तथाभवति, न तु अन्यः कश्चित् परमार्थतः अस्ति इति असकृदुक्तम्। (प्र०वि०भा० 2 पृ० 233)
   (ख) चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदन-तजगदात्मना स्फुरतीत्तेयावत् परमार्थोऽयं कार्यारणभावः। (प्र०ह०, पृ० 22)
2. [illegible]स्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्। (तं०आ०भा० 3, पृ० 404)
3. चैतन्यमात्मा (शि०सू० 1-1)
4. यत् परातत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्। (प०सा०का० 11)
5. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम् (परा०त्रिं०वि०, पृ० 2)

पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (बन्धन) उसी परमसत्ता के भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से परिगृहीत चित्र हैं। परन्तु यह व्यावहारिक द्वैतमात्र का आभास है, यथार्थ में तो अम्बु, बुदबुद् आवर्त, तरंग आदि जल के विकारों की भाँति एकमात्र अद्वय वस्तु वह ही है।[1]

परमशिव को सभी वस्तुओं में रहने से विश्वमय और उनसे सीमित न होने से विश्वोत्तीर्ण भी कहते हैं। परन्तु वह विश्वमय होते हुए ही विश्वोत्तीर्ण भी है।[2] विश्वरूप से अपने विमर्श का अवभासन करके भी आत्मा अपने अनुत्तर रूप से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होती।[3] परन्तु विश्वरूप में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरे को आज्ञा या प्रेरणा से तत्पर नहीं होती, प्रत्युत् अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से ऐसा करती है।[4] उसे ऐसा करने के लिए किसी बाह्य उत्पादन आदि कारण या आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु अपनी ही इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का निर्माण करती है।[5] वह अपने भीतर ही बीजरूप में स्थित विश्व को दर्पण-नगर की तरह अभिन्न होते हुए भी भिन्न की तरह उद्भासित करती है।[6] दर्पण में तो बाह्य प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, परन्तु इसमें इसकी अपनी ही

1. आवर्तबुदबुदतरंगमयान्विकारान् अम्बो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्। (उ०र०च० 3 – 47)
2. अतएव अयं विश्वमयत्वेऽ पि विश्वोत्तर्णस्तदुतीर्णत्वेऽपि तन्मयः। (तं०आ०भा० 1, पृ० 105)
3. विश्वमयत्वेऽ प्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः। (तं०आ०भा०, पृ० 104)
4. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०ह० सू० 1)
5. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। (प्र०ह०, सू० 2)
6. विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। (प्र०ह०, पृ० 26)

शक्तियों के उल्टे क्रम से प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, बाह्य प्रमेय आदि वाञ्छनीय नहीं होता। परमशिव प्रकाशरूप और विमर्शस्वभाव है। क्षेमराज कहते हैं कि स्वाभाविक 'अहं' प्रतीती ही विमर्श है। यदि परमतत्त्व प्रकाशमात्र होता और विमर्श स्वभाव न होता, तो निरीश्वर और हीरे आदि की भाँति जड़ होता।[1] यह प्रकाश और विमर्श में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है।[2] वास्तव में यह विमर्श ही शिव की अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है।[3] इसे शिव का विशुद्ध 'अहं' कहा जाता है।[4]

शिव ही प्रकाश है और शक्ति ही विमर्श है तथा शिव और शक्ति का सतत नित्य सामरस्य ही परमशिव या पराशक्ति है। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता एवं जल से शीतलता व्यतिरिक्त नहीं की जा सकती[5], उसी प्रकार शिव से शक्ति पृथक नहीं हो सकती। शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता, अपितु इससे युक्त ही समस्त सृष्टि आदि का कार्य सतत चलाता रहता है – ऐसा आदि शंकराचार्य का भी मत है।[6] यह विमर्शरूप शक्ति का ही समस्त खेल है ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है।[7] आचार्य

1. विमर्शो – अकृत्रिमाहं विस्फुरणम्, यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत। (ई॰प्र॰ वि॰ भा॰ पृ॰ 2)
2. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्। स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्। (वि॰भै॰वि॰, पृ॰ 122)
3. स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः। (ई॰प्र॰, भा॰ 1)
4. या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्। (अ॰प्र॰सि॰, श्लो॰ 15)
5. (क) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। (शि॰दृ॰ 3 – 2)
   (ख) न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत्। (शि॰दृ॰ 3 – 7)
6. शिवः शकत्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
   न चेदेवं देवो न खलु कुशलाः स्पन्दितुमपि। (सौ॰ल॰ 1)
7. विमर्शो सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति। उभयम् स्वीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः। (ई॰प्र॰वि॰ भा॰ 1, पृ॰ 205)

अमृतवाग्भव का भी ऐसा ही मत है।[1]

क्षेमराज ने परमशिव से अभिन्नरूप पराशक्ति का "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" में ऐसा सुन्दर विशद चित्रण खींचा है, जिससे प्रतीत होता है कि समस्त लीला-प्रपञ्च उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर ही अवलम्बित है। स्वतन्त्ररूपा चित्ति शक्ति से सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समस्त तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, जो पर-पर की अपेक्षा प्रधान और विशुद्ध होते हैं तथा मुख्य तत्त्व होते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि समस्त विश्व उन्हीं का शक्ति स्फार है।[2] महामन्त्ररूप परावाक् शक्ति विश्व में अपने को पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी विभिन्न शक्तियों द्वारा विकसित करके समस्त शब्द जाल में अपने को विविक्त करती हैं। ये वे तत्त्व हैं, जिनसे संसार का व्यवहार चलता है।[3] पराशक्ति अपने को विभिन्न शक्तियों में विविक्त करके संसार को नियन्त्रित करती है। संसार में जो शुभ-अशुभ चक्र चलता है, वह पराशक्ति की सहायक बाह्य आदि शक्तियों द्वारा ही चलायमान है। वे ही खेचरी,

---

1. **शाकः** काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा।
   यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते।। (श्रीसि०, रा० का० 20)
2. (क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०ह०, सू० 1, पृ० 20)
   (ख) विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ - पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः। (प्र०ह०, पृ० 20-21)
   (ग) अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति। (प्र०ह०, पृ० 21)
3. चित्प्रकाशात् अण्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहविमर्शमयी येयं परावाक्छक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। (प्र०ह०, पृ० 57-58)

गोचरी, दिक्चरी एवं भूचरी आदि रूप से पति और पाश एवं पशु दशा का संचालन करती है। यह सारा पराशक्ति का ही आनन्द विलास होता है।[1] अतः अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से शिव ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण बनता है। परन्तु यह चित्ति जोकि समष्टि चैतन्य है, परावाक् जो नित्य शब्द है तथा पराशक्ति जो मूलशक्ति है, परस्पर और परमशिव से भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही है और एक ही क्रीड़ा को चलाने के लिए स्वेच्छा से भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में अभिव्यक्त होकर उसकी पूर्ति करती है। तात्पर्य यह है कि एक परमशिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से सर्वत्र स्फुरित हो रहा है।[2] वह ही परमकारण है।[3] यह विमर्शरूपता ही स्पन्द, स्वातन्त्र्य, चित्, परावाक्, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि नामों से अभिहित की गई है।[4] महाकवि कालिदास शिव और शक्ति को शब्द और अर्थ की तरह परस्पर ओत-प्रोत मानते थे।[5] श्री दुर्गासप्तशती में भी शिव शक्ति एक ही तत्त्व को कहा गया है।[6] शक्ति के भी असंख्य विविध रूप हैं, जिनमें पाँच मुख्य और मूल माने जाते हैं

---

1. चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात्..... चकास्ति। (प्र०ह०, पृ० 60)
2. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः। एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा। (शि०दृ०, आ० 4.5)
3. शिवः परम कारणम्। (तं०आ०आ० 1-88)
4. एष एव च विमर्शः चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते। (परा० प्रा०, पृ० 2)
5. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। (रघु० 1-4)
6. "दधती शिवशक्तिरूपां कामेश्वरी हृदि भजामि"- "एकैव अहं जगत्मत्र" तथा "अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।" (दु०श०, अ० 10, ध्यान तथा श्लो० 5, 8)

तथा उनमें से भी तीन प्रसिद्ध हैं – इच्छा, ज्ञान और क्रिया।[1] पाँचों शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) का संक्षिप्त विवरण इस तरह है –

1. **चित्शक्ति :–**

यह प्रकाशरूप अवभासनात्मक शिव की शक्ति है[2] जिससे वे स्वयं सतत प्रकाशित रहते हैं, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है।[3] प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाश रूप ही है।[4]

2. **आनन्दशक्ति :–**

परमशिव की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य-शक्ति आनन्द-शक्ति है[5], जो सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त है एवं किसी की भी अपेक्षा नहीं रखती।[6]

3. **इच्छाशक्ति :–**

यह सर्वसामर्थ्यसम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है, जिसे दैवी चमत्कार भी कहते हैं तथा जिससे करने, न करने का ईश्वरीय निश्चय होता है।[7]

---

1. (क) शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः (तं०सा०आह० 4, पृ० 28)
   (ख) इत्येवं मुख्याभिः (पञ्चभिः) शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियुक्तः-शिवरूपः। (तं०सा०आह० 4, पृ० 6)
2. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। (तं०सा०आह० 1, पृ० 6)
3. प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति। (ई०प्र०वि० 3-1-4)
4. प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो। (ई०प्र०भा० 1, 1-15-3)
5. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। (तं०सा०आह० 1, पृ० 6)
6. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः। (ई०प्र०वि०भा० 1, पृ० 207)
7. तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। (तं०सा०आह० 1, पृ० 6)

4. **ज्ञानशक्ति :-**

यह वह शक्ति है, जिससे अपने प्रति और परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञेय का ज्ञान होता है।[1] इसे चिदात्मा की तनिक-सी वेद्योन्मुखता भी कहते हैं।[2]

5. **क्रियाशक्ति :-**

प्रत्येक प्रकार का, कोई भी रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को क्रियाशक्ति कहते हैं।[3] यह समस्त विश्वस्फार क्रियाशक्ति का ही रूप है।[4]

अपनी शक्ति की इन प्रमुख शक्तियों, जोकि वास्तव में असंख्य और असीमित हैं, के द्वारा परमशिव विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है अर्थात् विश्व के रूप में अपनी शक्ति को प्रकट करता है। असंख्य विश्वों की सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह क्रिया को वह सतत करता ही रहता है।[5] यह क्रमशः इस प्रकार है :-

1. **सृष्टि :-**

बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नील इत्यादि विषयों को नियत देश, काल इत्यादि

---

1. एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
   ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते। (मा०वि०उ०तं०अधि० 3, 6-7)
2. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। (तं०सा०आह० 1, पृ० 6)
3. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। (तं०सा०, आह०, पृ० 6)
4. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। (ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 42)
5. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने। (प्र०ह्र०, पृ० 19)

से आभासित करते हैं, तब नियत देश, काल आदि में जो आभासित हो रहा है, यह उनकी सृष्टि क्रिया कहलाती है। इसमें अव्यक्त रूप को व्यक्त किया जाता है, न कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाती है।[1]

2. **स्थिति :–**

नील इत्यादि के आभास का बना रहना उनकी स्थिति क्रिया है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना।[2]

3. **संहार :–**

विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है। अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में ले जाना, न कि किसी वस्तु का नाश करना।[3]

4. **विलय :–**

भेद से आभासित होना उनकी विलय क्रिया है अर्थात् अपने को छुपाना – माया के कारण अपने को जीव रूप में समझना और जगत् को अपने से भिन्नरूप में जानना।[4]

5. **अनुग्रह :–**

विषयों का चित्प्रकाश के ऐक्य से प्रकाशित होना उनकी अनुग्रह क्रिया है। अर्थात्

---

1. चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्यस्रष्ट्रता। (प्र०ह०, पृ० 51–52)
2. नीलाद्याभासांशे स्थापकता। (प्र०ह०, पृ० 52)
3. अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता। (प्र०ह०, पृ० 52)
4. भेदेन आभासांशे विलयकारिता। (प्र०ह०, पृ० 52)

शक्तिपात, गुरु, शास्त्र या स्वयं द्वारा अनुग्रह करके स्वस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर शिवरूप में स्थित होना।[1]

यह कार्य उनका जीवदशा में भी प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन और विलापन[2] भेद से सतत चलता रहता है।[3] यह जीवरूपता चित्स्वरूप में शक्ति संकोच के कारण मल से ढकने के कारण है[4], जोकि अपने यथार्थ स्वरूप का अज्ञान ही होता है।[5] इस विश्व-लीला का आदि अन्त नहीं है। जगत् की सृष्टि के समय को उदय, उन्मेष या अवभासन कहते हैं और संहार के समय को, जबकि विश्व को अपने में बीज (शक्ति[6]) रूप में रखती है, निमेष, प्रलय आदि कहते है[7] तथा इसके पूर्ण चक्र को एक कल्प कहते हैं।

वास्तव में यह सब व्यावहारिक भेद हैं, पारमार्थिक रूप से तो समस्त रूपों में एक

---

1. प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। (प्र०ह, पृ० 52)
2. आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि। (प्र०ह०, सू० 11)
3. तथापि तदवत् पञ्चकृत्यानि करोति (प्र०ह०, सू० 10)
4. (क) स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः। (ई०प्र०, भा० 2, 4-1.4)
   (ख) चिदवत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०ह०, सू० 9)
5. (ग) शिवशक्त्यात्मकं जीवं यः पश्यति स वैष्णवः। (गा०तं० 147)
   तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्। (प्र०ह०, सू० 12 तथा टीका, पृ० 56)
6. बीजावस्थापन। (प्र०ह०, सू० 11, पृ० 53)
7. अस्यां हि चिति प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति-निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।
   (प्र०ह०, पृ० 21 टी०)

शिवभट्टारक ही व्याप्त हो रहा है, अन्य कुछ नहीं है। यह मुक्ति, बन्धन, माया, आणव, कर्म, प्रमाता, प्रमेय, चर, अचर, सभी उसकी ही स्वेच्छा से अभिव्यक्तियाँ परिगृहीत की हुई हैं। अतः सब कुछ शिव ही है।[1]

जीव :-

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि जीव अथवा पशु विकल्प प्रधान होता है और विकल्पन क्रिया चित्त से होती है इस प्रकार चित्त के रहने पर जीव की जीवात्मकता कैसे सम्भव है? इसके प्रत्युत्तर में प्रत्यभिज्ञाहृदम में क्षेमराज अद्वैत शैव दर्शन का सर्वमान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वास्तव में चित्ति ही चेतन पद से अवरोहण लीला में प्रमेयों (विषयों) के अनुरूप संकुचित होकर चित्त बन जाती है। अतः चित्त कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु पराभगवती का ही रूप है।[2] जीव की अवस्था में अन्तःकरण की ही प्रधानता होती है जिससे वह सीमित रूप में ज्ञान, मनन एवं अभिमान सहित ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेंद्रियों के द्वारा सीमित रूप में श्रवणादि कार्यों को करता है। पति अथवा चित्ति की अवस्था में सभी विषयों को अभिन्न रूप से अनुभव करता है और असीमित ज्ञान, क्रिया,

---

1. (क) स चैको द्विरूपत्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।
(प्र०ह०, सू० 7 तथा टीका पृ० 38)
(ख) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया संयुनक्तु।। (श्वे०उप० 4.1)
2. चितिरेव चेतन पदादवरुढा चेतयसंकोचिनी चित्तम्।
न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपितु सैव भगवती तत्। (प्र०ह०, सू० 5)

माया, शक्ति के असीमित ऐश्वर्य से युक्त होता है परन्तु वही पशु (जीव) की अवस्था में अपने से वस्तुओं को भिन्न समझता है और उसकी ज्ञान क्रिया एवं माया शक्तियाँ क्षीण होकर क्रमशः सत्त्व, रज और तम गुणों का रूप धारण कर लेती है।[1] इस प्रकार चित्त ही माया परमात्मा का रूप होता है।[2] जीव अवस्था में चित्त और आनन्द स्वात्म स्वरूप इच्छा आदि शक्तियों में भी संकोच होने से मल (अज्ञान) से आवृत्त हो जाता है और इस प्रकार संसारी (संसरणशील) हो जाता है।[3] इच्छा शक्ति का संकोच होने पर अपूर्ण मन्यता रूप आणव मल, ज्ञानशक्ति का संकोच होने पर भेद का मनन करने वाला अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) और सीमित साम्थर्य वाली ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत, त्वक्, चक्षु, रस और घ्राण) से मायीयमल और क्रियाशक्ति के संकोच से सीमित साम्थर्य वाली कर्मेंद्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) का रूप धारण करके कारणमल से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार चित्ति की अवस्था की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ भी संकोच ग्रहण करके यथाक्रम कला (किञ्चत कर्तृत्व), विद्या (किञ्चत ज्ञातत्व), राग (किञ्चत आशक्ति), काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) और नियति (विशेष कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति) का रूप धारण कर लेती हैं इस प्रकार शक्तियों के संकोच से संसारी बन

---

1. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः।। (प्र०ह०टी० पृ० 22)
2. चित्तमेव तु मायाप्रमातः स्वरूपम् – इत्याह तन्मयो माया प्रमाता। (प्र०ह० सू० 6)
3. चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०ह० सू० 9)

जाता है। शक्ति-विकास में तो शिव (चित्ति) ही होता है।[1] इस जीव (सांसारिक) की अवस्था में भी शिव की अवस्था वाले पाँच कृत्यों की तरह पाँच कृत्य करता है।[2]

योगरूप उपायों के अनुसरण से शक्तियों का विकास होने पर और अपने परमार्थ स्वरूप का प्रत्यविज्ञान होने पर चित्त अन्तर्मुखी भाव से चेतन पद पर आरोहण करके चित्ति बन जाता है।

(ख) **योग :-**

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव वास्तव में शिवरूप ही है, लेकिन माया के आवरण के कारण आणव, मायीय एवं कार्ममल के पाश से बंधकर तथा कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पाँच कञ्चुकों के शिकंजे में फंसकर पशु बन जाता है। इस प्रकार अपने स्वातन्त्र्य एवं सार्वभौम अस्तित्व की अनुभूति से हीन होकर परतन्त्र हो जाता है। अच्छे-बुरे कर्म करके अच्छी-बुरी योनियों में भ्रमण करता है। इस भवचक्र से छुटकारे के लिए और अपने परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिए योग अथवा समावेश सर्वोत्तम माना गया है। योग से तात्पर्य है जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व।[3] गीता में भी समत्व को ही योग

---

1. तथा विधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते; स्वशक्ति विकासे तु शिव एव। (प्र०ह०टी० सू० 9)
2. (क) तथापि तद्वत पञ्च कृत्यानि करोति (प्र०ह०, सू० 10)
   (ख) आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन विलापनस्तानि। (प्र०ह०, सू० 11)
3. योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। (मा०वि० त० 4-4)

कहा गया है।[1] समावेश से तात्पर्य है जीव भाव को भूलाकर शिव भाव की अनुभूति होना।[2]

जप, तप, ध्यान, पूजादि सभी आन्तर एवं बाह्य उपाय माया क्षेत्रवर्ती ही होते हैं और आत्मा से ही आभासित होने के कारण घट की भाँति शुद्ध प्रकाशरूप सूर्य-चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।[3] परन्तु मलावरण का प्रक्षालण करने से शुद्ध संवित् के चमकने से व्यवहार में यही मुक्ति के उपाय अभिहित होते हैं। इन उपायों से योग अथवा समावेश[4] लाभ होकर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठान हो जाता है।[5]

योग के लिए विभिन्न उपाय हैं, परन्तु उनमें से प्रमुख चार हैं – अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय।

अनुपाय :–

इसमें साधक को कोई उपाय नहीं करना पड़ता है अथवा सीमित उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। इसीलिए इसको सहजोपाय, आनन्दोपाय एवं सर्वोत्कृष्ट होने से अनुत्तरोपाय भी कहते हैं। बिना किसी तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान

---

1. समत्वं योग उच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्। (भ०गी० 2–48, 50)
2. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्तपि च चिदात्मनः।
   शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।। (ई०प्र०वि० 3.2.12)
3. उपायैर्न शिवो भान्ति भान्ति ते तत्प्रसादतः। (तं०आ०वि०, भा० 1 आह० 2, पृ० 3 एवं तं० सा० पृ० 9)
4. मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
   शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्। (ई०प्र०का० 3–23)
5. क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः।
   (क्रमसूत्रेषु प्र०ह०, पृ० 91)

कराने का सबसे सरल उपाय यही है।[1] जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे में स्पर्शमात्र से संक्रान्त हो जाती है, इसी प्रकार किसी सिद्ध पुरुष आदि के कथन, स्पर्श, दर्शन, चारु-भक्षण अथवा अनुग्रह करने की इच्छामात्र से स्वयं शिव के शक्तिपात करने से शिवता की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही रूप समझता है।[2]

शाम्भवोपाय :–

इसमें चित्त को सर्वथा सभी मानसिक व्यापारों से शान्त कर, उसकी स्थिरता का अभ्यास किया जाता है।[3] चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुए दीपक की प्रथा की भाँति स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहा जाता है।[4] अभ्यास के दृढ़ हो जाने से बिना इच्छा के ही शिवभाव समावेश होने लगता है। इसे इच्छोपाय अथवा अभेदोपाय भी कहते हैं।[5]

---

1. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एकमेव शिवाभासः तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (शि०स्तो० 1–1)

2. दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततादभवसागरात्।
तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः।। (शि०सू०वि०, पृ० 192)

3. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। (वि०भै०वि०, पृ० 19)

4. (क) निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने। (वि०भै०, 108 एवं भ०गी० 6.19)

(ख) द्रष्टव्य अमन० यो० (1–40)

5. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्। (तं०अ० आह० 1–230)

शाक्तोपाय : –

इस योग में ज्ञान एवं भावना की ही प्रधानता होती है, अतः इसे ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय भी कहते हैं। शरीरादि के बन्धन में कारण, अहन्ता-ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर – "मैं परमशिव ही हूँ", "सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है" – ऐसे शुद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[1] शुद्ध ज्ञान प्राप्ति में याग, होम, जप, व्रत और योग प्रसिद्ध है।[2] जिनके विकल्प ज्ञान के दर्पण में अपने संकल्पविकल्पात्मक रूप को पुनः पुनः भैरवभाव से देखते हुए शिवैक्य स्थापित हो जाने से मुक्त हो जाता है।[3] अभिनवगुप्त का कथन है कि अशुद्ध विकल्प के प्रभाव से ही जीव अपने को बद्ध मानते हैं और ऐसा अभिमान ही संसार के प्रतिबन्ध (आवागमन) का हेतु होता है। अतः प्रतिद्वन्द्विरूप शुद्ध विकल्प उदित होने से संसार हेतु अशुद्ध विकल्प नष्ट हो जाता है। शुद्ध विकल्प से वह अपने को समस्त भावों से उत्तीर्ण समझकर अपरिच्छिन्न-संविन्मात्र परमार्थ में अहन्ता करता हुआ विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का अनुभव करता है। यद्यपि परमतत्त्व सर्वत्र सर्वरूपता से प्रकाशमय होने से विकल्प द्वारा खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। अतः शिवात्मा स्वस्वभाव में अभ्यास असम्भव है,

---

3. (क) सर्वमहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमशरूपः शाक्तः। (वि०भै०वि०, पृ० 19)
   (ख) द्रष्टव्य (तं०सा०, पृ० 21)
4. तं० सा०, पृ० 25
5. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
   आत्मानं भैरवं पश्यन् न चिरात्तन्मयी भवेत। (तं०आ०, आह० 8–208, 209)

तथापि शुद्ध विकल्प द्वैतभाव को नष्ट करता है, जो स्वरूप की अख्यातिमात्र होता है। अतः विकल्प द्वारा द्वैतापासन किया जाता है।[1] मन्त्र, शक्ति, सत्तर्क और शुद्ध विद्या से भी ऐसा समावेश होता है।

आणवोपाय :-

शाम्भवोपाय में तो चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता, प्रत्युत् चित्त-क्रिया शान्त हो जाती है। शाक्तोपाय में चित्त परमतत्त्व के प्रत्यवमर्श में सहायक होता है, किसी वस्तु पर नियत नहीं किया जाता। परन्तु आणवोपाय में अणु अपने अनुरूप ही बुद्धि, प्राण, शरीर अथवा बाह्य प्रमेयादि सीमित तत्त्वों को अपनी यौगिक क्रियाओं का आधार बनाता है। अतः इसमें चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उनको आत्म-परमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है।[2] यह कल्याणरूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य है। इसीलिए इसे क्रियोपाय एवं भेदोपाय भी कहते हैं। अभ्यास दृढ़ होने पर स्वरूप पहचानकर शिवरूपता की प्राप्ति हो जाती है। मालिनी विजय में कहा गया है कि उच्चार (विशेष प्राण-प्राणापानादि), करण (देह पर की जाने वाली

---

1. विकल्पबलात् एव जन्तवो बद्धम् आत्मानम्अभिमन्यन्ते..... स्वरूपाख्यातिमात्रं तत्। अतो द्वैतापासनं विकल्पेन क्रियते। (तं०सा०, पृ० 21 तः 24)
2. यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन गृहणन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति। (तं०सा०, पृ० 35)

योगिक प्रक्रिया), ध्यान (लय या दाह भावना), वर्ण (सामान्य प्राण-अनाहत नाद) और स्थान प्रकल्पना (शरीर, प्राणवायु और बाह्यमूर्ति आदि) से प्राप्त होने वाला समावेश आणव कहा जाता है।[1]

क्षेमराज के अनुसार इन आगमोक्त प्रमुख उपायों के अतिरिक्त अन्य भी उपाय हैं जिनका उन्होंने विशेषकर उल्लेख किया है जिनके अनुसरण से परमार्थ लाभ होता है अर्थात् आत्म-महेश्वर की अभिव्यक्ति होती है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि बहुत से उपाय बताने से अपनी रुचि के अनुसार साधक उनमें से किसी एक को योग का माध्यम बना सकता है। वह योग के उपाय इस प्रकार हैं :-

विकल्पक्षय :-

अपने हृदय में चित्त को स्थापित करके, अपनी यथार्थ स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्प को, बिना अन्य किसी चिन्तन को रोककर, निर्विकल्प होकर, देहादि के प्रति दूषित तादात्म्य को त्यागकर अपनी पारमार्थिक चेतना के प्रमाता होने का अभ्यास करने से शीघ्र ही विकास की ओर उन्मुख हुई तुर्य-तुर्यातीत-समावेश दशा को प्राप्त कर लिया जाता है।[2] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, स्पन्दशास्त्र एवं श्रीज्ञानगर्भ में

1. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   यो भवेत्तु समावेशः सम्यगाणव उच्यते। (मा०वि० 2.21)
2. हृदयनिहितचित्तः ..... समावेशदशां आसादयति। (प्र०ह०, सू० 18, पृ० 75)

भी ऐसा ही मत मिलता है।[1]

शक्ति संकोच :–

इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर जाती हुई शक्ति को सिमटकर प्रत्यगात्मा की ओर लगाना ही शक्तिसंकोच है।[2] इन्द्रियों की बाहर फैली हुई शक्ति को चारों ओर से संग्रहित करके, जैसे कछुआ भय के समय अपने अंगों को सिकोड़कर भीतर की ओर पलट देता है, प्रत्यग् आत्मा की ओर लगाना भी शक्तिसंकोच कहा जाता है। उसके पलटने से नित्योदित की स्थिति प्राप्त हो जाती है।[3] कठोपनिषद् में धर्मराज नचिकेता को भी ऐसा ही उपदेश देते हैं।

शक्तिविकास :–

भीतर छिपी हुई शक्तियों का एक साथ ही सब इन्द्रियों के प्रसार द्वारा शक्ति का विकास होता है। अर्थात् लक्ष्य तो भीतर रहे एवं दृष्टि बिना बन्द या खोले हुए एकटक बाहर की ओर रहे – भट्टश्रीकल्लट का भी ऐसा ही मत है। चित्त के भीतर अनुप्रवेश के साथ

---

1. (क) विकल्पहाननैकाग्र्यात्क्रमेणेश्वरतापदम्। (ई०प्र०का० 4.1.11)
   (ख) यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्। (स्प०का०नि० 1.9)
   (ग) विहाय सकलाः क्रिया..... नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी। (श्री ज्ञान गर्भे)
2. शक्तेः संकोच–इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एवाकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम्। (प्र०ह०, पृ० 78)
3. प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत्..... नित्योदित स्थितिः। (प्र०ह०, पृ० 78)

इन्द्रियों का बाहर फैलाव भैरवी मुद्रा कहलाता है।[1]

शक्ति का विकास – ऊर्ध्वकुण्डलिनी में फैलाव और रुकाव दशा का मानसिक अभ्यास है, जो दशा सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा भौहों के बीच के प्राण के निरोध से क्रमशः प्राप्त होती है और जो सूक्ष्म प्राणशक्ति नाक के भीतर के नियमन से विकसित होती है। शक्ति का संकोच – षष्ठवक्त्ररूपी मेढ्रकन्द में विद्यमान अधः कुण्डलिनी में, प्राणशक्ति को पुटकर, अधः कुण्डलिनी के मूल, मध्य और अग्रभाग में समावेश है।[2]

वाहच्छेद :–

दोनों वायु अर्थात् प्राण और अपान, जिनमें प्राण सुषुम्ना के दाईं ओर तथा अपान बाईं ओर चलता है, को हृदय में पहले रोककर अनच्क (स्वररहित) ककार, हकार इत्यादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद करना वाहच्छेद है।[3]

आद्यन्तकोटिनिभालन :–

इससे तात्पर्य है – हृदय और द्वादशान्त में प्राण के उमड़ने (उदय) और समाप्त (अस्त) होने के अवसर पर चित्त को लगाने का अभ्यास करना।[4]

---

1. (क) शक्तेर्विकासः – अन्तर्निगूढ़ाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन अन्तर्लक्ष्याबहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जितः इति भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम्। (प्र०ह०, पृ० 79)
   (ख) रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः। (श्रीभट्टकल्लटेन उक्तम्)
2. शक्तेश्च संकोचविकासौ..... आवेशः। (प्र०ह०, पृ० 80–81)
3. वाहयो वामदक्षिणगतयोः..... विच्छेदनम्। (प्र०ह०, पृ० 81–82)
4. आदिकोटि हृदयम्..... परिशीलनम्। (प्र०ह०, पृ० 82–83)

इस प्रकार के अन्य भी उपायों से मध्यविकास होने से चिदानन्द लाभ होता है। इसी को परमयोगी की समाधि, समापत्ति, समावेश आदि कहते हैं। जहाँ-जहाँ भी मन को आनन्द मिले, उसके वहीं लगाकर ध्यान करने से उसमें ही परमानन्द के स्वरूप का भान (प्रकाश, अनुभव) होगा।[1]

शैव दर्शन में चित्त के रोकने को भयावह माना गया है।[2] इसीलिए विषयानन्द, आस्वाद (खान-पान के आस्वाद), शब्द (संगीत से प्राप्त), मनस्तुष्टि (जहाँ कहीं मन को प्रसन्नता मिले) आदि की धारणा से भी परमानन्द लाभ होना अभिव्यक्त किया गया है।[3]

---

1. यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
   तत्र तत्र परानन्दस्वरूपः संप्रकाशते। (श्री वि०भै०, श्लो० 73)
2. (क) स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धतो।
   तेषां तत् खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।। (मा०वि०वा०, 2-109.110)
   (ख) यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।
   अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते।। (अमन०यो० 2-73)
3. शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
   यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्यतत्सुखं स्वाक्यमुच्यते।।
   जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भनात्।
   भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्।।
   गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकताम्मनः।
   योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरुढेस्तदात्मता।।
   यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
   तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते।। (वि०भै० 69 तः 74)

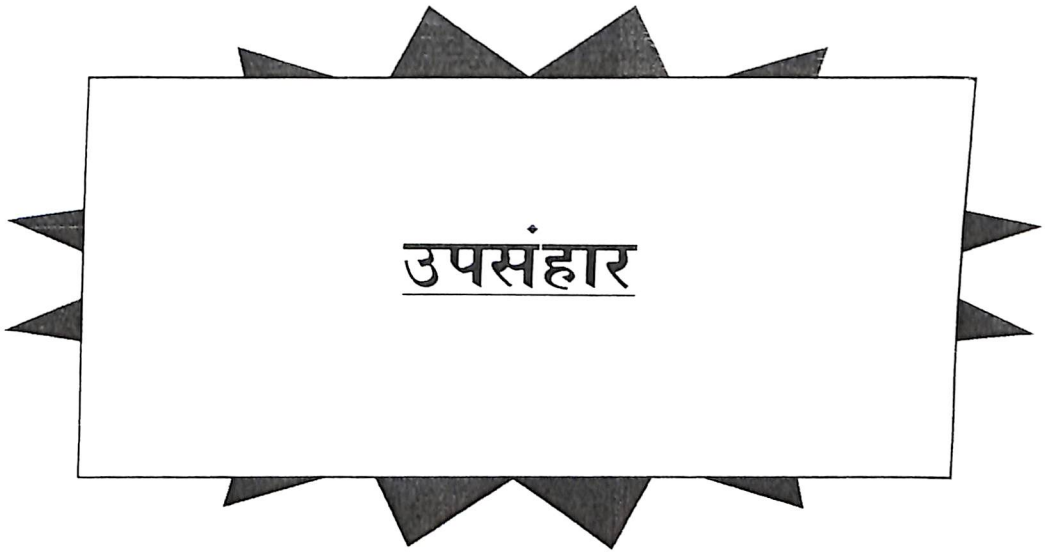
उपसंहार

उपसंहार

योगदर्शन एक ऐसा दर्शन रहा है, जो सभी दार्शनिकों को किसी न किसी रूप में स्वीकार्य या मान्य रहा है चाहे वह नास्तिक मतावलम्बी हो या आस्तिक मतावलम्बी हो। सभी दार्शनिकों का इस विषय में एक मत है कि जन्म दुःखों का कारण है। जो भी प्राणी जन्म लेता है, वह किसी न किसी क्लेश से ग्रसित होता है, जिन्हें सांख्य मत में सम्यक् रूपेण त्रिविध - आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःख माना गया है और इसकी निवृत्ति के लिए ज्ञान - योग एवं योग - ज्ञान का होना परमावश्यक है।

आधुनिक युग में योग की भी उतनी ही अधिक महत्ता सिद्ध होती है, जितनी कि विज्ञान की लोग योग की महत्ता को भूल गए हैं और विज्ञान का अत्यधिक अनुकरण करने लगे हैं। परन्तु आज विश्व भर में योग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, चाहे वह शारीरिक क्षेत्र में हो, सामाजिक हो या पर्यावरण की ही न हो? सर्वत्र समभाव बनाए रखने में योग मुख्य भूमिका निभा सकता हैं।

यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के लिए इसकी परमावश्यकता तो है ही, परन्तु इन्हीं के साथ भ्रष्ट सामाजिक रूप को सुधारने में भी इसकी उतनी ही उपादेयता है, जितनी कि देह की स्थिरता में प्राणों की आवश्यकता रहती है।

योग अहिंसा का प्रसार करते हुए कहता है कि समाज में सर्वत्र अहिंसामय वातावरण

रहना चाहिए और सभी प्राणी एक समान हैं और अहिंसा देश, काल, रूप, रंग, वर्ण, भाषा, धर्मादि की अवपेक्षा से सब पर एक जैसी लागू होती है। जिस समाज के अन्दर अहिंसा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वहाँ कोई किसी का वैरी नहीं होता।[1] सर्वत्र दैहिक, दैविक एवं भौतिक शान्ति रहती हैं। इसका समर्थन दुर्गासप्तशती भी करती हुई उपदेश देती है – जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है वह सब में बराबर है चाहे वो – "जानवर है या मनुष्य" यदि अन्तर है तो केवल इतना कि मनुष्य ज्ञान बोध रखता है सद् असद् रखता है जिससे वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों को दग्ध कर विमुक्त हो जाता है।[2]

योग के अनुसरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति, समाज एवं विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। अतः सभी व्यक्तियों को मन, वाणी एवं कर्म से योग के नियमों का पालन करना चाहिए। जब विश्व के सभी प्राणी इन अहिंसादि धर्मों का पालन करने लगेंगे, तो न ही कोई पराया लगेगा और न ही भ्रष्टाचार ही उत्पन्न हो पाएगा। जिससे सर्वत्र प्रेम एवं सौहार्द का वातावरण बनेगा और धनी एवं निर्धनता की जो खाईयां हैं, वह भी दूर होंगी और सामान्य व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे की वेदना को जानते हुए वेदना को दूर कर सकेगा जिससे पृथ्वी पुनः स्वर्ग-धाम बन सकती है।

---

1. अहिंसा प्रतिष्ठायाम् नितत्सन्निधो वैरत्यागः। (पा०यो०द०सा०पा० 35)
2. ज्ञान मस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
   विषयश्चमहाभागयति चैवं पृथक् पृथक्। (दु०सप्त०अ० 1 श्लो० 47/48)

आज विज्ञान का युग है और प्राणी भौतिक चकाचौंध में अधिक विश्वास करते हैं, परन्तु यथार्थतः यह है कि कोई व्यक्ति कितना भी धनी क्यों न हो, कैसी भी उच्च पदवी पर विद्यमान क्यों न हो, नेता हो या डाक्टर, इंजीनियर अथवा किसी आश्रम का महन्त ही क्यों न हो वह किसी न किसी प्रकार की चिन्ता अथवा शारीरिक अक्षमता को अनुभव करता हुआ देखा जाता है। इन सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी उसके क्लेश का कारण शरीर का, मन का, स्वस्थ न रहना ही है। आयुर्वेद भी व्यक्ति के स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन के लिए पुष्टि करता है जैसे कि कहावत है – "Sound mind in a sound body". इनका भी यही मानना है कि औषधियों की अपेक्षा योग का आश्रयण करने से शरीर सब प्रकार की बिमारियों से दूर रहता है और इस प्रकार हर्ष से प्रफुल्लित मन से सुखमय जीवन यापन कर सकता है। इसी प्रकार किसान, श्रमिक अथवा कोई भी निर्धन व्यक्ति, बच्चा, बूढ़ा, स्त्री, पुरुष बिना स्वस्थ शरीर के अपने-अपने विविध क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकता इसीलिए महापुरुषों ने कहा है कि – शरीर को स्वस्थ रखना ही मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।[1] इस प्रकार भौतिक दृष्टि से देखने पर भी यहाँ स्पष्ट हो जाना है कि योग शरीर एवं मन को स्वस्थ रखने में अचूक औषधी है।

---

1. महाकवि कालिदास

अध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि आगम एवं निगम परम्परा यह मानती है कि जीव मूलत: ब्रह्म एवं शिवरूप है और अज्ञान के कारण वह अपने परमार्थ स्वरूप को सिंह शावक की तरह स्वरूप भूलकर भेड़ों के झुण्ड में अभाव प्रतीत कर लेता है और इस भवसागर में भटकता रहता है। अज्ञानवश ही अच्छे-बुरे कर्म करके, अच्छी-बुरी योनियों में भटकता रहता है। उसका कल्याण तभी सम्भव है यदि वह अपने आत्मस्वरूप को पहचाने तभी याावल्क्य-स्मृति में ऋषि याज्ञवल्क्य सभी प्राणियों के कल्याण के लिए स्पष्ट शिक्षा देते हैं कि मानव का सबसे परम धर्म यही है कि वह योग के माध्यम से आत्मस्वरूप या परमात्म-स्वरूप का अनुभव करे।[1]

योग के अनुसरण से अध्यात्म-लाभ तो होता ही है, मानसिक शान्ति एवं बलवीर्य तेजयुक्त सुन्दर अङ्गयष्टि का निर्माण होने से जीवन आनन्दमय हो जाता है।

आनन्दमय जीवन वाला ही निरोग व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के लिए परम हितकारी हो सकता है। मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति ही कुविचार, कुकर्म, भ्रष्टाचार, आतंकवाद आदि हीन भावनाओं से युक्त होते हैं। अतएव स्वच्छ समाज एवं राष्ट्र के लिए स्वच्छ चित्त वाला मनुष्य अभीष्ट है, जो योगयुक्त ही हो सकता है। वही आनन्दयुक्त भी होता है। जैसे पुष्प ही सुगन्ध देता है, काँटे नहीं; उसी प्रकार आनन्दी योगी ही आनन्द दे सकता है। परमात्मा भी आनन्दरूप है।[2]

---

1. अयमेव परमो धर्मः यत् योगेन आत्मदर्शनम्। (य०स्०)
2. रसो वै सः। रस ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तै० उप० 2.7)

ग्रन्थ-सूची

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अथर्ववेद	निगम	वैदिक पुस्तकाल अजमेर	2019 सं.
2.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी	1966
3.	अमनस्क योग	गोरखनाथ	सिद्धसाहित्य प्रकाशन मण्डल पूना	1950
4.	अमरकोष	अमरसिंह	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी	1970
5.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
6.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर (यू.पी.)	2051 सं.
7.	ऋक्सूक्तसंग्रह	निगम	साहित्य भण्डार मेरठ	2000
8.	ऋग्वेद	निगम	वैदिक पुस्तकालय अजमेर	2019 सं.
9.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
10.	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
11.	कल्याण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस गोरखपुर	1918
12.	केनोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1918
13.	चरकसंहिता	चरक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़	1994
14.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
15.	तैत्तिरीयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
16.	त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
17.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1938
18.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1963
19.	दक्षस्मृति	सं. पं. श्रीरामाचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1969
20.	दुर्गासप्तशती	सं. हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	1969
21.	नृसिंहोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
22.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1931
23.	परात्रिंशिका विवरण	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
24.	परा प्रावेशिका	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1958
25.	पातञ्जल योग सूत्र	नन्दलाल दशोरा	रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार	1999
26.	पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	चौखम्बा संसकृत संस्थान वाराणसी	1994
27.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1978
28.	प्रश्नोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
29.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
30.	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	शङ्कराचार्य	मोतीलाल बनारसी दास पटना	—
31.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
32.	भगवद् गीता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
33.	भागवद् महापुराण	महर्षिव्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
34.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरियन्टरलिया	—
35.	मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
36.	मालिनीविजयवार्तिकम्	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
37.	रघुवंशम्	कालिदास	निर्णसागर प्रेस बम्बई	—
38.	वाजसनेयी संहिता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	—
39.	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी	—
40.	विज्ञानवैरभविवृत्ति	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
41.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
42.	श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका	डॉ. तुलसी राम शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली	—
43.	शतपथ ब्राह्मण	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
44.	शारदा तिलक	लक्ष्मणेन्द्र	चौखम्बा ओरियन्टलिया	1947
45.	शिवदृष्टि वृत्ति	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1934
46.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1964
47.	शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1911

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
48.	शंख स्मृति	सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1966
49.	स्पन्दकारिका विवृत्ति	श्रीरामकण्ठ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
50.	स्पन्दनिर्णय	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1983
51.	स्वच्छन्दतन्त्र उद्योत	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1947
52.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी	1978
53.	सांख्य कारिका (गौड़पाद-तत्व कौमुदी सहित)	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1974
54.	सौन्दर्यलहरी	श्री शङ्कराचार्य	प्राच्यविद्या संशोधनालय मैसूर विश्वविद्यालय	1940
55.	हारीत स्मृति	सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1966

ENGLISH BOOKS

1. Indian Philosophy. DR. S.R KRISHANAN RAJKAMAL PRAKASHAN -- 1965. DELHI
2. Religion and Philosophy of the Veda and the Upnishada. A.B KEETH- MLBD-1969
3. Journal of American Oriental Society Vol. 22.
4. Vaishwavism, Shaivism and Religious System. R.G BHANDARKAR — 1956
5. The Thirteen Principle Upnishadas. R.E HUME OXFORD UNIVERSITY PRESS. 1965

योग–विज्ञान

[प्रथम भाग]

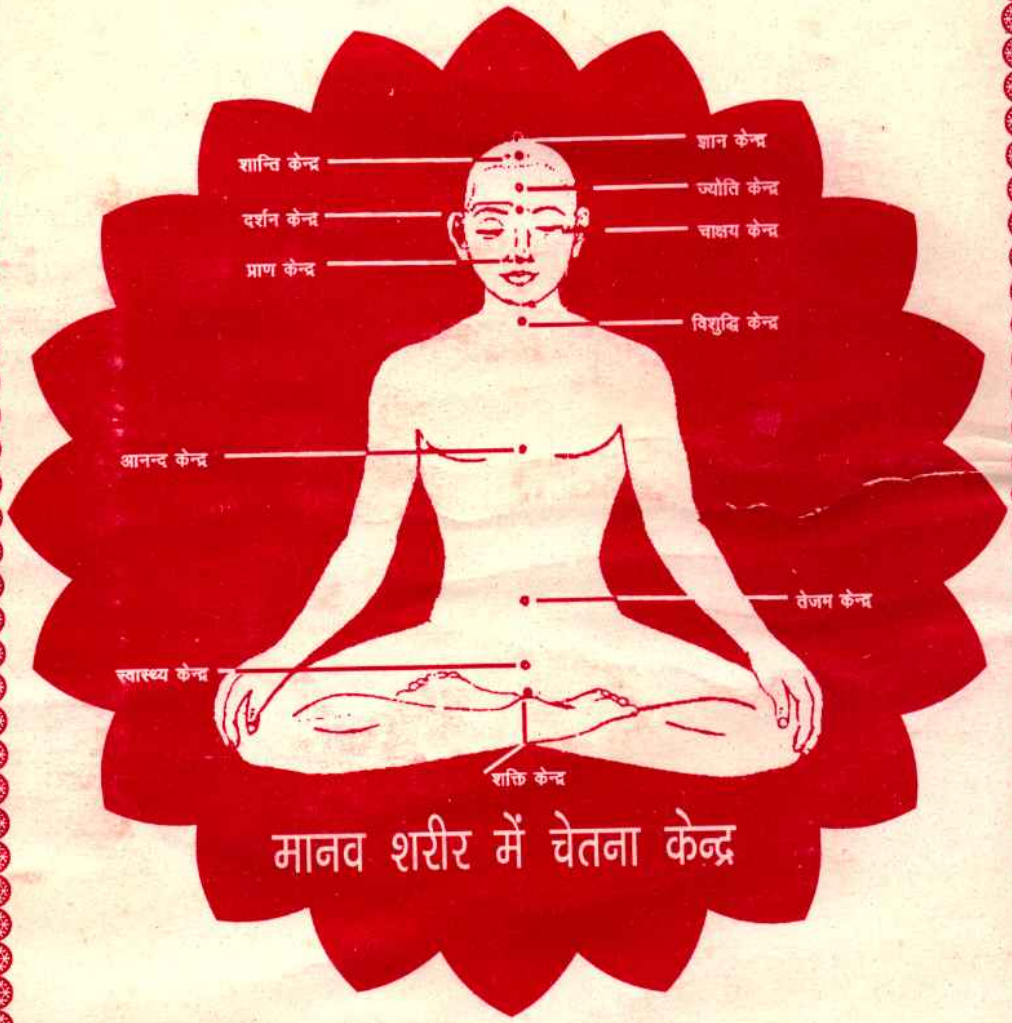

मानव शरीर में चेतना केन्द्र

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्,
दतिया (म. प्र.)

योग-विज्ञान

(प्रथम भाग)

लेखक

अज्ञात

श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्

दतिया, मध्य प्रदेश

प्रकाशक

श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद,

दतिया (म.प्र.)

फोन : ०७५२२/२३३९६०

कॉपीराइट : श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्, दतिया म.प्र.

❖

३००० प्रतियाँ तृतीय संस्करण

संवत् २०६१ (सन् २००५)

❖

मूल्य : ८०.०० रुपये

मुद्रक:शिवशक्ति प्रेस प्रा. लि., ग्वालियर रोड, झाँसी उ.प्र. फोन-२४४१०९२

Yogvijnan (Volume :One) - Anonimous (Yoga)

ब्रह्मलीन

श्री पीताम्बरा पीठाधीश्वर राष्ट्रगुरु परमपूज्य श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज, वनखण्डेश्वर, दतिया (म०प्र०)

प्रकाशकीय

साधना क्षेत्र में अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति में दो ही साधन प्रणालियाँ महर्षियों के अनुभव द्वारा सिद्ध हैं - योग एवं तन्त्र। प्रस्तुत प्रकाशन योग का विशद विवेचन एवं उसके क्रियात्मक स्वरूप का पूर्ण विवरण जो कि योग के अनेक ग्रन्थों द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकेगा, उसे पूर्ण करने में सक्षम है।

तन्त्र विज्ञान का पूरक योग है और योग का तन्त्र। दोनों को मिलाकर साधना पथ का निर्माण विद्वान् एवं योगी का ही कार्य है। यह ग्रन्थ किसी ऐसे ही अनुभवी विद्वान् आचार्य की अनुभवपूर्ण कृति-है। यह ग्रन्थ रत्न हमें श्री रामनारायणजी शर्मा, प्रधान संचालक, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, झाँसी द्वारा प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ की महत्ता और उपयोगिता को देखते हुए परिषद् पूज्य आचार्य चरण की आज्ञानुसार इसे सहर्ष प्रकाशित करने जा रही है। ग्रन्थ की मुद्रणार्ह प्रतिलिपि श्री विष्णुकान्तजी मुडिया (शास्त्री) ने की है। ग्रन्थ का व्यय-भार ग्रन्थ प्रदाता ने स्वयं वहन किया है, तदर्थ साभार धन्यवाद।

आशा है साधक-गण इसके द्वारा अपनी साधना में अग्रसर होंगे।

ब्रजनन्दन शास्त्री , साहित्याचार्य

मंत्री

श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्

दतिया (म.प्र.)

सं. २०३४

शारदीय नवरात्र

प्रार्थना

आनन्द रूप भगवन्! किस भाँति तुमको पाऊँ?
तेरे समीप स्वामिन् ! मैं किस तरह से आऊँ।।

अनुपम परम छवीले बिन रूप रंग रसीले।
कंटक लगा है फुलवा क्या तेरे सर चढ़ाऊँ।।

सुख मूल मुक्त रूपम् मङ्गल कुशल स्वरूपम्।
घड़ियाल शङ्ख को क्या सन्मुख तेरे बजाऊँ।।

गङ्गा है तेरी दासी सेवक है इन्द्र तेरा।
तेरे शरीर पर क्या दो चुल्लू जल चढ़ाऊँ।।

नभ पर हैं दास तेरे रवि चंद्र और तारे।
करते हैं जग उजाला घृत दीप क्या जलाऊँ।।

लक्ष्मी है तेरी निशदिन चरन की चेरी।
ताँबे का एक पैसा मैं नाथ क्या चढ़ाऊँ।।

आनन्दरूप भगवन्! किस भाँति तुमको पाऊँ।
गुण तेरा गा रहे हैं क्या गाके मैं सुनाऊँ।।

कोटानिकोट भूमि जिस पर असंख्य प्राणी।
जगदीश अपना नम्बर मैं कौन सा गिनाऊँ।।

विनती किशोर की है निशदिन यही दयामय।
हृदय में लौ हो तेरी आँखो में तुझको पाऊँ।।

नोट : गाते समय प्रत्येक लड़ी दो बार कहना चाहिए पहली दो लड़ियों के उपरांत व हर दो लड़ियों के पश्चात् पहली दो लड़ी कहना चाहिए।

मेरी भावना

(नित्य पाठ)

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते।
उसने सब जग जीत लिया।।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया।
राम, कृष्ण, नारायण व हरि ॐ का जाप किया।।

भक्ति भाव से प्रेरित होकर चित्त उन्हीं में लीन किया।
विषयों की नहीं इच्छा जिसको, मोह माया का त्याग किया।।
परहित साधन में जो निशदिन तत्पर रहता है।
ऐसा ज्ञानी साधु जगत् में विरला ही कोई मिलता है।।

रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उन जैसी दिनचर्या में चित्त सदा अनुरक्त रहे।।
नहीं सताएँ किसी जीव को झूँठ कभी नहीं कहा करूँ।
परधन समझूँ तृण समान संतोषामृत को पिया करूँ।

अहँकार का भाव न रखूँ नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को कभी न ईर्ष्या द्वेष करूँ।।
रहे भावना ऐसी मेरी सदा सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार करूँ।।

प्रेम भाव जगत् में अपना सब जीवों पर सदा रखूँ।
दीन दुःखी जीवों पर उर से दयापूर्ण व्यवहार करूँ।।

दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर क्रोध नहीं आने दें।
साम्यभाव रखूँ सब पर ही ऐसा विचार सदैव रहे।।

भक्तजनों को देख हृदय में फ़ौरन प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उसकी सेवा करके यह मन सुख पावे।।

होंऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं ईर्ष्या द्वेष न उर आवे।
गुण ग्राहकता का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे।।

कोई बुरा कहे या अच्छा दिल में न हर्ष विषाद आवे।
चाहे जब तक जिऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।।

न्याय मार्ग से कदापि न मेरा पद डिगने पावे।
पाकर सुख में फूल न उठूँ दुःख में कभी न घबड़ाऊँ।।

पर्वत, वन, श्मशान भयानक स्थानों में कभी न भय खाऊँ।
रहे सदा मेरा मन स्थिर दृढ़प्रतिज्ञ मैं बन जाऊँ।।

इष्ट वियोग अनिष्टयोग में सहनशीलता दिखलाऊँ।
सुखी रहें सब जीव जगत् में तब मन में मैं सुख पाऊँ।।

प्रार्थना

ॐ जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।

भक्त जनन के संकट, क्षण में दूर करे ।।ओ३म्।।

जो ध्यावे फल पावे, दु:ख विनशे मन का।

सुख सम्पति घर आवे, कष्ट मिटे तन का।।ओ३म्।।

मात पिता तुम मेरे , शरण गहूँ किसकी।

तुम बिन और न दूजा, आस करूँ जिसकी।।ओ३म्।।

तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तर्यामी।

पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी।।ओ३म्।।

तुम करूणा के सागर, तुम पालन कर्ता।

दीन दयालु कृपालु, कृपा करो भर्ता।।ओ३म्।।

तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति।

किस विधि मिलूँ दयामय, तुमसे मैं कुमती।।ओ३म्।।

दीनबन्धु दु:ख हर्ता, तुम रक्षक मेरे।

करूणा हस्त बढ़ाओ, शरण पड़ा तेरे।।ओ३म्।।

विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।

श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा।।ओ३म्।।

प्रार्थना

पितु मातु सहायक स्वामि सखा।

तुम्ही एक नाथ हमारे हो।।

जिनके और अधार नहीं।

तिनके तुम्हीं रखवारे हो।।

प्रतिपाल करो सिगरे जग का।

अतिशय करूणा उरधारे हो।

उपकारन को कुछ अन्त नहीं।

क्षण ही क्षण जो विस्तारे हो।।

महाराज ! महा महिमा तुम्हरी।

समझें विरले बुधवारे हो।।

शुभ कान्ति निकेतन प्रेम निधे।

मन मन्दिर के उज्यारे हो।।

यह जीवन के तुम जीवन हो।

इन प्राणन के तुम प्यारे हो।।

तुमकों प्रभु पाय 'प्रताप' हरी।

केहि को अब और सहारे हो।।

नोट :- गाते समय प्रत्येक लड़ी को दो दफ़ा कहना चाहिए और पहली दो लड़ियों के पश्चात् हर दो लड़ियों के उपरान्त पहली दो लड़ियाँ एक-एक मर्तवा कहना चाहिए।

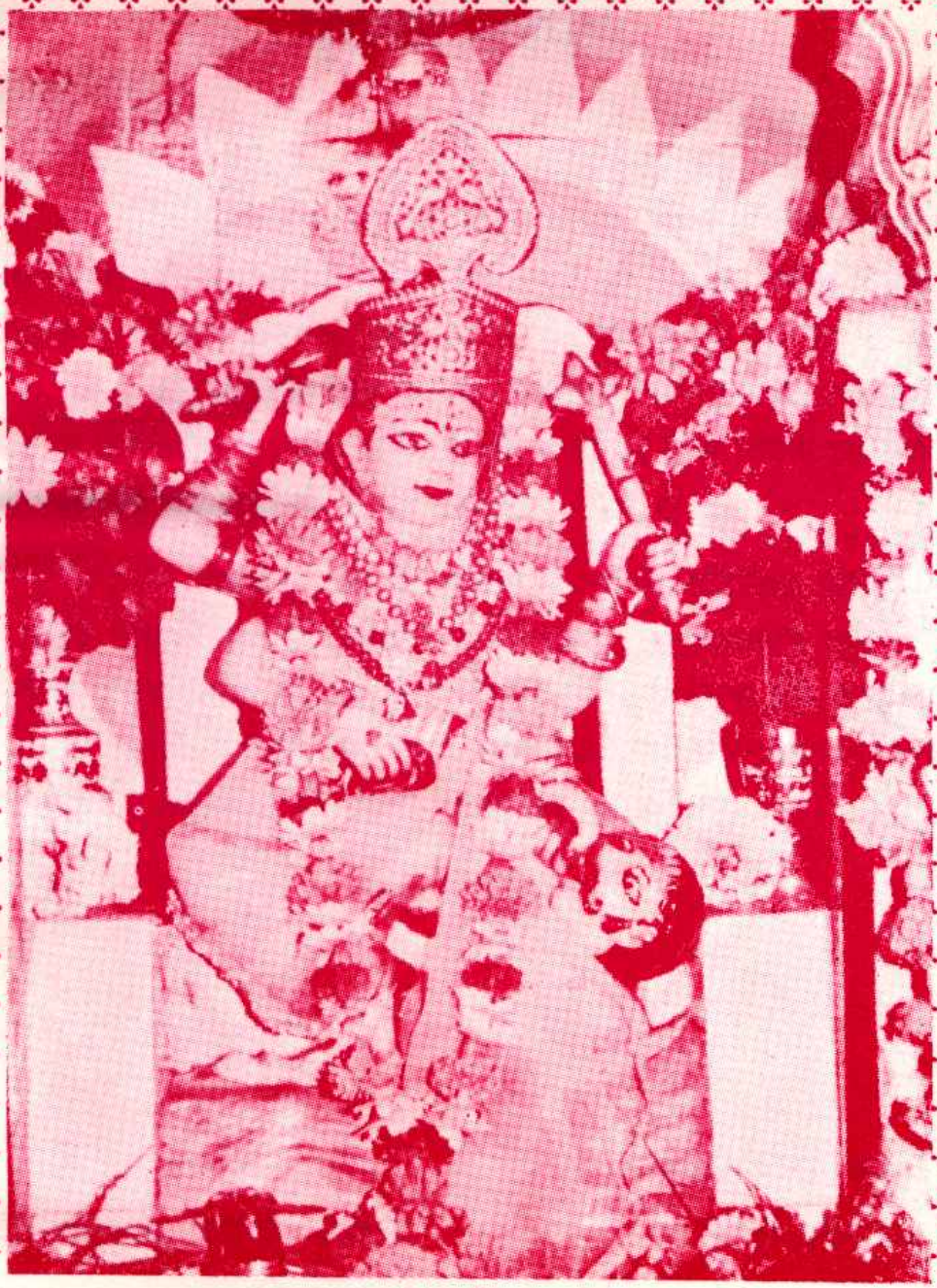

मूल कुण्डलिनी ब्रह्मस्वरुपा
ब्रह्मविद्या श्री बगला

पुस्तक समर्पण

❖

आदि गुरु होने के कारण मैं प्रथम उन योगेश्वर भगवान् शंकरजी के श्री चरणों में बारम्बार प्रणाम करना अपना मुख्य धर्म व कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने प्रथम श्री पार्वतीजी को हठ योग व राज योग का उपदेश दिया, साथ ही सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमपिता परमात्मा को भी हाथ जोड़कर अनेकानेक नमस्कार करता हूँ और उन्हीं की कृपा स्वरूप इस ग्रन्थ को उन्हीं के चरणारविन्दों में सादर समर्पित करता हूँ।

भगवान् शंकर व परब्रह्मपरमात्मा के अतिरिक्त योगशास्त्र के आदि लेखक महाराज पतंजलि, मत्स्येन्द्रजी, गुरु गोरखनाथ तथा उन ऋषियों-मुनियों आदि को जिन्होंने इस विद्या का प्रचार किया और उन योग विद्या के गुरूओं, योगियों और उसके साधकों को भी आदरपूर्वक नमस्कार करता हूँ जो आजकल भी इसका प्रचार कर रहे हैं।

हरिः ॐतत्सत्
ॐ शांतिः

२० मई, सन् १९६२
बाग नानाभाऊ, बड़ागाँव दरवाज़ा,
झाँसी

लक्ष्मणराव क़दम
भूतपूर्व एम.एल.ए.

प्रकाशकीय

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भर्वाजुन।।

– गीता ६/४९

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को भी योगी बनने को कहा, योग केवल हठ योग, राज योग, लय योग ही नहीं है। मन जिस प्रकार एकाग्र हो, वह सब योग ही है। ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध: पातञ्जल योग सूत्र है, चित्त की सभी वृत्तियों को रोकना भी योग है। प्रस्तुत 'योग विज्ञान' ग्रन्थ में आपको वह सभी योग पद्धतियाँ मिल जाएँगी जो प्रचलन में हैं और जो नहीं हैं, यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। अनन्तश्री विभूषित पूज्यपादश्री स्वामीजी महाराज ने, साधना में सहायता प्राप्त हो, साधकों का कल्याण हो, अनुग्रहपूर्वक ग्रन्थ-प्रकाशन किया है। योग विज्ञान के प्रथम भाग का तृतीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। साधक जगत को अधिकाधिक लाभ हो, यही संस्कृत परिषद् का उद्देश्य है।

मंत्री

वसन्त पञ्चमी संवत् २०६१ श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्
ईस्वी सन् २००५ दतिया (म.प्र.)

योग-विज्ञान

(प्रथम भाग)

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय		पृष्ठ क्र.
१.	भूमिका	-	१
२.	गुरु की आवश्यकता	-	९
३.	गुरु महिमा	-	११-१३
४.	मन का नियन्त्रण	-	१५
५.	उपयोगी उपचार	-	३९
६.	विभिन्न योग	-	४४
७.	योग साधन	-	६३
८.	योगी की पहचान	-	६७
९.	योग शक्ति	-	७०
१०.	हठयोग के प्रवर्तक	-	७४
११.	हठयोगी व राजयोगी की पहचान	-	८१
१२.	राज योग	-	८२
१३.	लय योग	-	८८
१४.	ध्यान योग	-	१०४
१५.	कर्मयोग	-	१०८
१६.	भक्तियोग	-	११०
१७.	मन्त्रयोग	-	१२७
१८.	ज्ञान योग	-	१३५
१९.	सिद्ध योग	-	१४१
२०.	जपयोग	-	१४३
२१.	पूर्ण योग	-	१४८
२२.	योग के चमत्कार	-	१५५
२३.	कर्मबन्ध का निरोध	-	१६०
२४.	योग के विघ्न	-	१६४
२५.	योग सम्बन्धी पुस्तकें	-	१६८

क्र.	विषय		पृष्ठ क्र.
२६.	योग सम्बन्धी तालिका	–	१७०
२७.	अष्टांग योग	–	१७८
२८.	योग साधक का दैनिक कार्यक्रम व नियम	–	१७८
२९.	योग व आसन सम्बन्धी कार्यक्रम	–	१८६
३०.	योगाभ्यासी की प्रार्थना	–	१९१
३१.	सन्ध्योपासना विधि	–	१९४
३२.	योग संबंधी नियम	–	१९७
३३.	अष्टांग योग	–	१९९
३४.	चौरासी आसनें व उनका संक्षिप्त विवरण	–	२१४
३५.	आसन सम्बन्धी आवश्यक बातें	–	२१९
३६.	आसन और उनके लाभ	–	२७५
३७.	मुद्रायें	–	२७८
३८.	षट्कर्म	–	२९५
३९.	प्राणायाम क्या है?	–	३०६
४०.	प्राण क्या है?	–	३०८
४१.	प्राणायाम की व्याख्या	–	३१३
४२.	प्राणायाम का महत्व	–	३१७
४३.	प्राणायाम से लाभ	–	३२४
४४.	प्राणायाम के भेद	–	३२५
४५.	प्राणायाम विधि	–	३२९
४६.	नाड़ियां	–	३३२
४७.	मुख्य नाड़ियां	–	३३५
४८.	प्राणायाम सम्बन्धी आवश्यक बातें	–	३३७
४९.	प्राणायाम सम्बन्धी नियम	–	३४३
५०.	प्राणायाम के अंग	–	३४९
५१.	प्राणायाम का समय	–	३५१
५२.	प्राणायाम का अनुपात	–	३५३
५३.	प्राणायाम के प्रकार	–	३५५
५४.	गृहस्थों की नित्य नैमित्तिक साधना	–	३७३

भूमिका

योग के जन्मदाता

योग विद्या का प्रादुर्भाव वेदों के पहले हुआ है और उसके जन्मदाता हिरण्यगर्भजी महाराज थे, जिनके सम्बन्ध में (ऋ. वेद १०/१२१/(१)) व श्रीमद्भागवत् (५/१९/१३) में लिखा है कि यह हिरण्यगर्भ महाराज वही थे जिन्होंने कि वेद विद्या के पहले ही योग विद्या का प्रादुर्भाव किया था। वेदों के विकास के पहले ही योग विद्या तरुण हो चुकी थी बल्कि योग विद्या के गर्भ से ही वेद विद्या का जन्म हुआ है।

योग का जन्म

सृष्टि के आरम्भकाल में उक्त हिरण्यगर्भजी महाराज से अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा आदि चार महर्षियों ने इसे पढ़ा और उक्त चारों ऋषियों से महर्षि पतंजलि ने सीखकर 'योग दर्शन' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकट किया जो कि इस सम्बन्ध में सभी ग्रन्थों में प्रधान व मान्य माना जाता है।

योग के अर्थ

योग शब्द का एक अर्थ है जोड़ना और दूसरा अर्थ है उपाय, अर्थात् महर्षि पतंजलि के मतानुसार चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है। माया के कारण जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं।। अद्वैत सिद्धांत के अनुसार जिस ज्ञान व क्रिया से जीवात्मा को परमात्मा स्वरूप का ज्ञान हो उसी को योग कहते हैं। माया से बढ़कर संसार में कोई दूसरा बन्धन नहीं है अतएव उसी बन्धन को काटने वाला साधन ही योग कहलाता है। यही महाराज पतंजलि की योग के सम्बन्ध में व्याख्या है।

योग शब्द के अर्थ कोई यह न समझे कि योग की शिक्षा केवल योगियों के लिए ही है, सर्व साधारण के लिए नहीं। योगी शब्द के व्यापक अर्थ हैं जो कोई संसार में सदाचार से रहकर जीवन को सफल करना चाहता है, वही योगी है और सभी धर्म इस बात की पुष्टि करते हैं कि सदाचार ही स्वर्ग का सुगम मार्ग है। योग में सदाचार का अर्थ केवल शिष्टाचार नहीं है, बल्कि आहार विहार का नियम भी है संक्षेप में यौगिक जीवन का अर्थ हैं शरीर का युक्त व्यायाम, सात्त्विक आहार और ब्रह्म विद्या का अध्ययन, सभी हिन्दु शास्त्र बतलाते हैं कि योग के सिवाय मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतएव जो लोग यह समझते हैं कि योग साधन केवल विरक्त ही कर सकते हैं और गृहस्थ लोगों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं, यह धारणा भ्रमपूर्ण है राजा जनक व भगवान् कृष्ण इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वे गृहंस्थी में रहते हुए भी पूर्ण योगी माने गए हैं।

योग का महत्त्व

योगशिखोपनिषद् में योग मार्ग का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है।

आरम्भ काल में हिरण्यगर्भ ने श्री महेश्वर से प्रश्न किया कि हे शंकर! इस दु:खमय संसार में सब जीव पड़े हैं और अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, इनकी मुक्ति किस प्रकार से हो सकती है, कृपया इसका कोई सरल उपाय बतलाइए। शंकरजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि कर्मबन्धन से मुक्त होने के उपाय को ही कोई ज्ञान और कोई योग कहते हैं; परन्तु मेरा मत तो यह है कि योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं हो सकता अतएव मुमुक्षु को दृढ़ता के साथ दोनों का ही अभ्यास करना चाहिए ।

योगाभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है व उसी ज्ञान से जीवात्मा की मुक्ति होती है। वह मुक्ति परम

ज्ञानयोग के सिवा केवल शास्त्र पढ़ने से नहीं हो सकती। भगवान् शंकरजी ने यह भी कहा है कि सैकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढ़कर मनुष्य शास्त्र जाल में फँसकर केवल विमोहित हो जाते हैं। वास्तव में प्रकृतिज्ञान योगाभ्यास के बिना नहीं होता।'

(योगबीज ८)

योगेन रक्षते धर्मो विद्या योगेन रक्षते (विदुरनीति) ।

अर्थात् योग से धर्म और विद्या दोनों की रक्षा होती है।

शास्त्र में लिखा है कि व्यासजी के पुत्र श्री शुकदेवजी ने एक वृक्ष की शाखा में छिपकर भगवान शंकर के मुँह से निकला हुआ योगोपदेश श्रवण किया और उसी से पक्षी योनि से उद्धार पाकर दूसरे जन्म में वह परमयोगी हो गए। योगोपदेश के सुनने मात्र से जब इतना लाभ होता है तब उसकी साधना से ब्रह्मानन्द तथा सब सिद्धियाँ प्राप्त होने में भला क्या सन्देह है।

महादेवजी ने योग की श्रेष्ठता बतलाते हुए एक मर्तबा श्री पार्वतीजी को उपदेश दिया था कि हे परमेश्वरी! योग विहीन ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता। हे प्रिये! ज्ञानवान, संसार विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय होने से ही मुक्ति नहीं मिलती। मोक्ष के लिए तो देवताओं तक को भी योग साधन करना पड़ता है।

भगवान शंकर ने कहा है कि :-

ज्ञान निष्टो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
बिना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

(भगवान् शंकर)

अर्थात् कोई मनुष्य चाहे जितना ज्ञानी, विरक्त, धर्मिष्ट और

जितेन्द्रिय क्यों न हो पर बिना योग, मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता।

महाभारत के समय जिस वक्त अर्जुन ने भगवान् श्री कृष्ण से पूछा कि हे मनमोहन! जो अनन्य प्रेमी भक्तजन- निरंतर आपके भजन ध्यान में लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वर को, अति श्रेष्ठ भाव से उपासते हैं और जो अविनाशी, सच्चिदानन्दघन, निराकार को ही उपासते हैं, उन दोनों प्रकार के भक्तों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन है?

(भगवद्गीता १२-१)

अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मुझे भजते हैं वे मेरे मन में सबसे उत्तम योगी हैं।

(भगवद्गीता १२-२)

इसके सिवाय भगवान् कृष्ण ने इस सम्बन्ध में अर्जुन को उपदेश देते हुए (भगवद्गीता ६-४६) यह भी कहा था कि योगी तपस्वियों, ज्ञानियों व सकाम कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ हैं अतएव हे अर्जुन! तू योगी हो ।

योग साधन

मनुष्य चार प्रकार के होते है कर्म प्रधान, योग प्रधान, भक्ति प्रधान और दार्शनिक अर्थात् बुद्धि प्रधान। उनकी प्रकृति के अनुसार मार्ग भी चार ही हैं यद्यपि उनका लक्ष्य एक ही परमतत्त्व की उपलब्धि हैं। इस परमतत्त्व को उपर्युक्त चार प्रकार के मनुष्यों की भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उपलब्ध करने के जो चार मार्ग बतलाए गए है उन्हीं को कर्म योग, भक्ति योग, राज योग, और ज्ञान योग कहते है। यह चारों मार्ग परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के सहायक ही

हैं। कुछ कुछ लोगों का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं; परन्तु ऐसा कहना भूल है। पूर्णज्ञान ही प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही ज्ञान है। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मुझमें निरन्तर मन लगाकर प्रेम से मेरा भजन करते हैं, उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेते हैं। (भगवद्गीता १०-१०) कर्मयोग से मल का नाश होता है, चित्त की शुद्धि होती है और हाथों में कुशलता आती है। भक्तियोग से विक्षेप दूर होता है। ज्ञानयोग से अज्ञान का आवरण हटकर बुद्धि का विकास होता है, आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है और राजयोग द्वारा मन पर विजय पाकर प्रकृति के समस्त व्यापारों पर शासन किया जा सकता है व ब्रह्म, ईश्वर या विराट् रूप अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का दर्शन करके या ध्यान भूमि की पराकाष्ठा में पहुँचा जा सकता है। अतएव साधक को चारों योगों का साधन करना चाहिए ।

प्राचीन ऋषियों मुनियों द्वारा जो धर्म मानव जाति के उद्धार के लिए प्रकाशित किया गया उसमें 'योग शास्त्र' को प्रथम स्थान प्राप्त है। यदि मानव धर्म से योग साधन को हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्व की बात ही नहीं रह जाती है। योग शास्त्र ही संसार में एक ऐसा शास्त्र है।

योग के अलौकिक प्रभाव

योगियों ने योगबल से मन स्थिर करके, शरीर के अन्दर कहाँ क्या है, यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओं का पूर्ण रूप से विचार कर, मंत्र, तंत्र और यंत्रों के रहस्य का आविष्कार किया है। उनके मतानुसार शरीर के हर एक चक्र में, प्रत्येक स्नायविक केन्द्र में एक-एक प्रकार की अलौकिक शक्ति निहित है। उन निद्रित शक्तियों को प्राणवायु और ध्यान की सहायता से जागृत करके साधक दूरदर्शन, दूर श्रवण, परचित्त विज्ञान, परकाया प्रवेश,आकाश रोहण, योगबल से

देह त्याग नाना प्रकार की सिद्धियाँ व अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है।

चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद कहीं दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त होती है और यही एक योनि है जिसमें जो सुविधा मनुष्य को प्राप्त है, उससे स्त्रियाँ भी वंचित नहीं हैं। अतएव नर तन पाकर भी जिसने संसार के दु:खों से मुक्ति व ईश्वर प्राप्ति का उपाय नहीं किया उसके सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय वह भी थोड़ा है। यह बात अवश्य है कि योग का मार्ग सरल न होकर बहुत ही दुर्गम और कष्टप्रद है, परन्तु सत्य संकल्प और दृढ़ प्रतिज्ञा के सामने कोई व कैसी भी बाधा टिक नहीं सकती, एक दो नहीं बल्कि दस बार असफल होने पर आप निश्चय पर अटल रहेंगे तो सफलता को एक न एक दिन अपने आगे हाथ जोड़े हुए खड़ी पाएँगे।

योग प्रचार की आवश्यकता

समय के परिवर्तन के साथ-साथ सभी बातों में स्वाभाविक ही विकृति आ गई है।

आजकल बहुत से लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए लेख व पुस्तकें लिखकर, व्याख्यान देकर, कितने ही ठग जटाजूट बढ़ाकर, भभूत रमाकर, तरह-तरह की आसनें दिखलाकर, गाँजा, चरस, भाँग आदि नशीली चीज़ों से आँखें चढ़ाकर, तपस्या व योग की कुछ क्रियाएँ दिखाकर जनता को ठगते फिरते हैं, ऐसे लोगों से सावधान रहने व वास्तविक योग के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है।

संसार में सबसे अधिक मननशील लोग प्राचीनकाल के हिन्दू ही थे। जीवन के सभी क्षेत्रों का पूर्ण विचार करके उन्होंने प्रत्येक के सम्बन्ध में उचित सिद्धांत निश्चित किए। इस लोक व परलोक में भी सुख तथा शांति प्राप्त करना ही उनका बराबर लक्ष्य रहा है। उन्होंने

जीवन के ऐसे उद्देश्य बनाए थे जिनसे न केवल उनका बल्कि उनके पड़ोसियों, सम्बन्धियों और सारे संसार का कल्याण हो। उनकी दिनचर्या ऐसी थी कि जिसके द्वारा प्रातःकाल से सायंकाल तक विविध प्रकार के ऐसे कार्य हुआ करते थे जिनसे सभी को सुख,शांति व आनन्द प्राप्त होता रहता था, परन्तु देश और काल के परिवर्तन के साथ-साथ सभी बातों में स्वाभाविक कुछ न कुछ विकृति आ गई है, जबकि योग साधन प्रणाली में सुन्दर-सुन्दर तत्त्व निहित हैं, उसकी सहायता से जब स्वास्थ्य लाभ, एकाग्रता, शांति, आनन्द व उन्नति प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवद् प्राप्ति, जीव का कल्याण, सहज, सुन्दर और स्वाभाविक रूप में होता है। अतएव इस योग साधन प्रणाली का पुनरुद्धार, उन्नति तथा सर्व साधारण के सामने इस उच्च आदर्श तथा वास्तविक योग के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है।

केवल पुस्तक पढ़ लेने, निष्काम कर्म योग सुन लेने, ज्ञान योग समझ लेने व हठ योग की कुछ क्रियाएँ सीख लेने, भक्ति योग के अनुसार पूजा पाठ कर लेने से भगवत् प्राप्ति नहीं होती, संसार के सब साधन, आचार विचार, आहार, त्याग, वैराग्य, पूजा पाठ, कीर्तन, जप,सत्संग प्राणायाम, आसनें आदि इसलिए हैं कि विचार पुष्ट हों। यदि विचार पुष्ट न हुए तो कोई भी साधन भला कैसे हो सकता है। जब नींव ही पक्की नहीं तो भला इमारत कैसे उठ सकेगी, किसी अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए केवल रास्ता जान लेने से ही काम नहीं चल सकता। मंज़िल पर पहुँचने के लिए तो चलकर ही रास्ता तय करना पड़ेगा। यही नहीं बल्कि रास्ते में आने वाली सारी विघ्न बाधाओं को भी पार करना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में सबसे पहले आवश्यकता है विचारों के पुष्ट होने की। विचारों के पुष्ट होने का अर्थ है विचारों में अपने स्वरूप के जानने की शक्ति आ जाय। 'अहं' का नाश, विस्तार व समर्पण करने की शक्ति आ जाय ताकि जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर सके, अपने वास्तविक स्वरूप में मिल जाय और दिव्य

अन्तर प्रवाह के लिए जीवात्मा का द्वार खोल दे, जिससे कि वह पूर्ण होकर अपने आत्मा में मिलकर परमात्मा हो जाय ।

हठ योग शरीर को आरोग्य रखकर विचार शक्ति बढ़ाने के लिए ही है। यम, नियम , आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि सभी चित्त की एकाग्रता व विचार शक्ति बढ़ाने के लिए ही हैं। सारांश यह कि यदि आपके विचार अच्छे और पक्के है। तभी सब साधनाएँ सफल हो सकती हैं अन्यथा सभी व्यर्थ हैं, निष्फल और निस्सार हैं। प्रश्न यह नहीं है कि आपने क्या पढ़ा, क्या सुना व क्या सीखा है ? बल्कि यह है कि आपने क्या किया है? बाहरी बातें तो मनुष्य देखता है परन्तु परमात्मा हृदय टटोलता है। यदि आपने सारे धर्मग्रन्थ पढ़ डाले और दार्शनिकों की सूक्तियाँ भी याद कर लीं तो लाभ क्या हुआ यदि आप परमात्मा के प्रेम से वंचित रहे। अतएव 'मैं' को या तो क्षीण कर दीजिए या उसे सर्वव्यापी में लीन कर दीजिए। अर्थात् भगवान् चरणारविन्दों में पूर्ण रूप से आत्म समर्पण कर दीजिए, परमात्मा बड़े दयालु हैं। उनकी दया पर विश्वास रखिए, उनको निरन्तर अपने साथ रहने का अनुभव करिए, संसार में एक ऐसे यात्री की तरह रहिए जिसका दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं, दुनिया में जिसका कुछ भी नहीं।

संसार से आप जितने दूर रहेंगे उतने ही परमात्मा के समीप पहुँचेंगे। जितना ही आप सांसारिक सुखों को छोड़ेंगे उतना ही ईश्वरीय सुख प्राप्त करेंगे । पानी में कूदकर जो मनुष्य जितना नीचे जाता है, वह उतना ही ऊपर उठता है, जिस समय आप भगवान् के सामने पूर्ण रूप से प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक आत्म समर्पण कर देंगे, उनके चरणों पर अपने को भेंट कर देंगे, उसी क्षण वे आपको उठा लेंगे, बस परमात्मा की साधना उनकी प्राप्ति तथा उनके दर्शन करने का यही साधन है, यही गुर है यही गूढ़ रहस्य है।

गुरु की आवश्यकता

संसार का कोई भी कार्य बिना अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शक के सफल नहीं होता, केवल पुस्तकों के पढ़ने से ही काम नहीं चलता। जो मनुष्य जिस काम को करके सफल हो चुका है उस कार्य में उसी के आदेश की आवश्यकता होती है। यदि कार्य कठिन हो तो कुछ दिन उसी के पास रहकर उसकी सेवा व विनय द्वारा उसको प्रसन्न करके उस कार्य को सीखना पड़ता है, अन्यथा हानि होने की सम्भावना रहती है। गुरु ही शिष्य की आँखें खोलकर व उसको ठीक मार्ग बतलाकर लक्ष्य स्थान पर सुखपूर्वक पहुँचा देता है। यही कारण है कि हिन्दू समाज में गुरु की बड़ी महिमा व गुरु का पद बहुत ऊँचा है। गुरु और ईश्वर में कोई भेद नहीं माना जाता, बल्कि शिष्य के लिए गुरु ईश्वर से भी बढ़कर है।

सच्चे गुरु पहले भी बड़ी कठिनाई व भाग्य ही से मिलते थे; परन्तु आजकल तो उनका मिलना और भी कठिन हो गया है, आजकल बहुत से लोभी, लालची व कामी और कपटी लोग गुरु बन गए हैं अतएव बहुत ही सावधानी से किसी को गुरु बनाना चाहिए। गुरु में यह गुण होना आवश्यक हैं -

स्वभाव शुद्ध, जितेन्द्रिय, त्यागी, परोपकारी, शास्त्र व नीति का ज्ञाता, दयालु, सत्यवादी, शांतिप्रिय, योगी, शिष्य के पापों को नाश करने की शक्ति रखने वाला, ईश्वरभक्त, स्त्रियों से अनासक्त, क्षमावान्, धैर्यशाली, चतुर, अव्यसनी, प्रियभाषी, निष्कपट, निर्भय, सदाचारी, धर्म प्रेमी, सादा रहन-सहन वाला व शिष्यों को पुत्रों से अधिक प्रेम करनेवाला हो, मंत्र, जप, पूजा, संध्या आदि साधन करता हो। पूर्ण विरक्त व त्यागी, सन्यासी हो ।

स्त्रियों का पति ही गुरु के समान है अतएव उनको किसी अन्य पुरुष से दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। पति ही स्त्री को दीक्षा दे सकता है। विधवा स्त्री ईश्वर को ही अपना गुरु मानकर उनकी ही सेवा पूजा करें।

जिस प्रकार वैद्य रोगी की नाड़ी आदि द्वारा रोग का वास्तविक कारण जानकर रोगी को उपयुक्त औषधि देकर उसे स्वस्थ कर देता है, उसी प्रकार योग्य गुरु जिज्ञासु या शिष्य की योग्यता आदि का विचार करके उसे उपयुक्त साधन, मंत्र व उसमें अपनी शक्ति का संचार करके सिद्धि प्राप्त करा देते हैं।

गुरु महिमा

श्रीमद्भागवत् में लिखा है कि गुरु के उपदेशानुसार हृदय में ध्यान करने से नारदजी को भगवान् के दर्शन हुए ।

जगद्गुरु श्री शिवजी की कृपा से साधक को अपने अदृश्य सद्गुरु के हृदय में ही दर्शन होते हैं और उनके तेज़ के प्रकाश से अन्तर में उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

श्री सद्गुरु योग की यथार्थ उच्चदीक्षा द्वारा साधक का दैवी प्रकृति के प्रकाश के साथ सम्बन्ध करा देते हैं, जिस प्रकाश की सहायता से श्री सद्गुरु साधक को अविद्यान्धकार से पार करके इष्टदेव में उसे समर्पित और मुक्त कर देते हैं। यह सद्गुरु की कृपा के बिना कदापि सम्भव नहीं।

श्री सद्गुरु

श्री शिवजी का सद्गुरु होना तो सबको विदित ही है। गुरु गीता आदि में गुरु का वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधक को ज्ञानचर्चा देकर अज्ञानान्धकार को दूर करके उसे ब्रह्म का साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्म के रूप हैं। इस वर्णन से त्रिकालदर्शी महर्षियों और सिद्धों से तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुग में अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोक में ही वर्तमान हैं। ऋषि और सिद्धगण प्रायःशरीर त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंग पुराण के सातवें अध्याय में उन सद्गुरुओं का वर्णन योगाचार्य के रूप में आया है और उसमें उनके शिष्यों का भी उल्लेख है । उसमें कहा गया है कि उन लोगों का वासस्थान हिमालय और सुमेरु पर्वत में सिद्धाश्रम नाम से कहा जाता है। यह सब जगद्गुरु श्री शिवजी के शिष्य पुत्र के समान हैं।

श्री भागवत् के १२वें स्कंध के ३७ वें श्लोक में लिखा है कि श्री देवर्षि और श्री मरु जिनका आश्रम कलापग्राम में है, कलियुग में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करेंगे। श्री सनकादि चारों कुमारों का आश्रम उत्तर में है और श्री अगस्त्य दक्षिण में हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मंत्र के एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन उनके पूर्व नामोच्चारण द्वारा कवच अथवा स्तोत्र में किया जाता है। इसका भाव यह है कि इन ऋषियों की कृपा के बिना मंत्रसिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उस मंत्र के यथार्थ आविष्कारक वही हैं। सारांश यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योगादि का लोगों मे प्रचार करना ही एक मात्र कार्य है, इसी कारण इस ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिए प्रतिदिन ऋषियज्ञ करना नित्यकर्म का एक प्रधान अंग माना गया है ।

गुरु महिमा

यह लोग अदृश्यभाव से सब जिज्ञासुओं की सहायता उनकी योग्यतानुसार करते हैं और उपयुक्त समय पर प्रत्यक्ष दर्शन देकर योग दीक्षा देते हैं, इसमें पहले बतलाए हुए दो ऋषि श्री देवर्षि और श्री मरु विशेष कार्य कर रहे हैं, क्योंकि आगामी युग में उनमें से एक व्यास और एक मनु होंगे । अतएव यह लोग योग्य साधकों को चुनकर अपने भावी कार्य के लिए तैयार कर रहे हैं। भगवान् कृष्ण ने प्रस्थान करने के पहले श्री उद्धव को इन्हीं दोनों ऋषियों से अथवा श्री मरु से उपदेश लेने को कहा था। जो लोग इनको गुरु मानकर इनमें श्रद्धा और भक्ति रखते हुए उनके पाद-पद्मों का ध्यान करेंगे उनका इनकी कृपा से बड़ा उपकार होगा। आजकल भी ऐसे साधक वर्तमान हैं जिन्होंने श्री देवर्षि और श्री मरु से सम्बन्ध स्थापित किया है तथा उनके दर्शन किए हैं।

अधिकांश साधकों को कुछ दिन साधना करने के बाद, यदि वह शैव हों तो स्वप्न में शिवमूर्ति, शिवलिंग शिव पूजादि के दर्शन होने लगते हैं, जिसका भाव यही है कि अब उनको अपने इष्ट के साथ-साथ श्री शिवजी की भी उपासना जगद्गुरु के रूप में करना चाहिए, जिसमें उनकी कृपा से इष्ट की प्राप्ति हो।

शास्त्र और ऋषि मुनियों ने एक स्वर से गुरु को ब्रह्म स्वरूप ही माना है। महात्मा कबीर ने कहा है कि:-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविन्द दियो लखाय॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

अर्थात् गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही महेश्वर है और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म है, ऐसे गुरुदेव को बार-बार प्रणाम है।

गुरु में ऐसे गुण होना चाहिए, यद्यपि वैसे गुरु का मिलना कठिन है परन्तु जिसको ज्ञान की वास्तविक जिज्ञासा है, जो सद्गुरु को पाने के लिए सचमुच व्याकुल है उसके लिए उपयुक्त गुरु का मिलना भी दुर्लभ नहीं। यदि आप सच्चे जिज्ञासु हैं, वास्तविक मुमुक्षु हैं तो आपको गुरु को खोजने की आवश्यकता नहीं। यदि आप दृढ़ श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान् का भजन, आराधना, जप, तप आदि साधना करते जावेंगे तो आप गुरु को अपने पास स्वयं उपस्थित पायेंगें, परन्तु पहले आपको निम्नलिखित षट् साधन सम्पत्ति प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है ।

(१) **शम**– आन्तर इन्द्रियों (मन-बुद्धि आदि)को वशीभूत करना।

(२) **दम**– बाह्य इन्द्रियों का निरोध करना ।

(3) **उपरति**– विषयों से चित्त का हट जाना। अर्थात् कर्म सन्यास या भगवत्-कथा व स्मरण में रुचि होना ।

(४) **तितिक्षा**– इन्द्रिय सहिष्णुता अर्थात् सुख, दुख, हानि, लाभ, शीत, उष्ण इन सबको समान भाव से ग्रहण करना ।

(5) **श्रद्धा**– गुरु और वेदान्त वाक्यों पर अटल विश्वास ।

(6) **समाधान**– भगवान् में एकाग्रता ।

इन बातों के पूरा हो जाने पर गुरु ही क्या पीछे-पीछे हरि फिरत रहत। कबीर कबीर की तरह अपने पीछे भगवान् तक को फिरता हुआ पा सकते हैं ।

मन का नियंत्रण

मन की चंचलता

कोई भी कार्य चाहे वह किसी प्रकार का भी क्यों न हो उसको करते समय मन की एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता होती है, क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल है । अर्जुन ऐसे धीर वीर ने भी मनः संयम के प्रसंग में गीता में कहा है कि यह मन बड़ा चंचल, बड़ा बलवान्, दृढ़ और मथने वाला है, इसको रोककर स्थिर करना वायु की गति को रोकने के समान अत्यन्त कठिन है।

मन का स्वभाव बन्दर की तरह है। बात की बात में वह चारों धाम की यात्रा और सारे भूमंडल की परिक्रमा कर लेता है। यह इतना बलवान् है कि सैकड़ों हाथियों के पाँवो में जंजीर डाल देना, सैकड़ों सिंहों को पिजड़ों में बन्द कर देना आसान है, परन्तु इस मन को स्थिर करना सरल नहीं है। मन ही ने काशीपति श्री विश्वनाथ की समाधि भंग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्त जैसे तपस्वियों को धराशायी कर दिया था, देवर्षि नारद को मोहनास्त्र से बाँध लिया था और भगवान् रामचन्द्रजी तक को सीताजी के वियोग में रुला दिया था। वह सब इन्द्रियों को अपने अधीन करके सारे शरीर में खलबली मचा देता है। इसे लक्ष्मणजी जैसे मति, हनुमान्जी जैसे योद्धा और भीष्म पितामह जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। इसी के निरोध करने को योग कहते हैं। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। शास्त्रों और महान् पुरुषों ने इसको स्थिर करने के कई उपाय बतलाए हैं, परन्तु बड़े भाग्य, पुण्य-प्रताप और उपाय से ही मन स्थिर होता है। इसको स्थिर करने के कुछ नियम नीचे लिखे जाते हैं।

मन को स्थिर करने के उपाय

(१) आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य या ॐ कोई भी एक नाम लीजिए और उसे सौ तक गिनिए। अब सौ से उलटे लौट कर गिनते हुए एक पर आइए। इस तरह अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते हज़ार तक गिनिए । आप अपने मन को बहुत कुछ शांत पाएँगें। अब दूसरी मंज़िल पर चढ़िए और दो हज़ार तक गिनिए। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठवीं, सातवीं, आठवीं, नवीं, और दसवीं, मंज़िल तक चढ़िए और उतरिए अर्थात् दस हज़ार तक गिनिए। इस साधन से आपको विलक्षण शांति मिलेगी और जप भी होगा।

(२) प्राणायाम करते हुए कुम्भक की क्रिया में जहाँ प्राण रुकेगा वहाँ मन भी स्थिर होगा। यह निश्चित बात है। मन: साधन की गिनती करते हुए जब आप एक हज़ार तक पहुँचें तब वहीं चुप होकर बैठ जावें। मन को इधर उधर न जानें दें। इसके बाद लौटकर आ जाएँ तब भी चुप होकर मन को भीतर ही रोक रखें और कुछ देर तक हृदय और नाभि चक्र का ध्यान करें। इस अभ्यास से यह मन कुछ दिनों में शांत व स्थिर होगा। साथ ही आपको बड़ा आनन्द व आत्मानुभव होने लगेगा।

(३) पलंग या चारपाई आदि पर बग़ैर तकिए के सीधे लेट कर बदन व कपड़ों को ढीला कर देना चाहिए। पश्चात् प्राण को उल्टा खींच कर पेट में ले आवें, फिर छाती तक लावें और फिर पेट में नाभि तक घुमावें। ऐसा करने से आपका नाभि सूर्य प्रकाशित होगा, कुछ दिन इस प्रकार करने से व मन को इसी में लगाने से मन को बड़ी शांति व स्थिरता प्राप्त होगी।

(४) किसी मैदान में खड़े होकर शरीर को ढीला छोड़ दो, हाथों को नीचे लटका कर प्राण को आकाश में फेंक दो, फिर प्राण को भीतर खींचते हुए मन से यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक

शक्ति को खींचकर अपने अन्दर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करने पर आप में उस शक्ति का प्रवेश होगा। हमारे पूर्व पुरुष मन और प्राण की शक्तियों से जो चाहते थे, कर सकते थे।

पाँच शक्तियों में से मन और प्राण शक्ति का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। क्रिया, भावना और बुद्धि शक्तियाँ इन्हीं दो के अन्तर्गत आ जाती हैं। जो लोग इन दो शक्तियों का शोधन कर लेंगे उनको इनके अलौकिक गुणों का स्वयं ही अनुभव होगा।

मन का नियंत्रण और भी दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो उसकी गति का मार्ग परिवर्तन करने से दूसरा उसे गतिहीन कर देने से। वासना और कामना से लिप्त चित्त को वृत्ति कहते हैं। योग सूत्र में वृत्तिहीन अवस्था ही योगाभ्यास का लक्ष्य बतलाया हैं। 'योगश्चित्त: वृत्तिनिरोध: तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्'। जहाँ चित्तवृत्ति का निवारण हुआ कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति निश्चित ही है। इसलिए पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,,धारणा और ध्यान द्वारा मन की गति एक तरफ़ लगाई जा सकती है। यह सब साधन हमें सविकल्प समाधि तक पहुँचाते हैं, निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञान के अनुसार मन को गतिहीन करना सम्भव नहीं; परन्तु हम उसको एक तरफ़ से रोककर दूसरी ओर अवश्य लगा सकते हैं। मन सदैव कुछ न कुछ करता ही रहता है इसलिए उसे कुछ न कुछ कार्य देते ही रहना चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण ही भगवान् कृष्ण ने गीता में इसलिए कर्मयोग और भक्तियोग को ही मन को वश में करने के लिए श्रेष्ठ उपाय बतलाया है।

मन को शून्यता में विलीन करना भी सम्भव नहीं। मन जब तक मन के रूप में है। वह गतिशील ही रहेगा। अध्यात्म दृष्टि से मन अविद्या का कार्य है। द्वैत बुद्धि ही अविद्या है इस द्वैत बुद्धि का निवारण ज्ञान से होता है। द्वैत बुद्धि का नाश हो जाने पर मन अपने

आप ही विलीन हो जाता है। अर्थात् जब तक हमें अद्वैत तत्त्व का ज्ञान नही हो जाता, मन का अवरोध करना उसे काष्ट को लोष्टवत् बनाने की चेष्टा करना है। जब तक शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती मन का इधर उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तव में मन की इस दौड़-धूप का अन्तिम प्रयोजन आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द प्राप्त करना ही है। मन सूक्ष्म होकर जिन कारणों को छोड़कर व सांसारिक वासनाओं को त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर लगना, मन की सत्ता और आत्मा की सत्ता पर बार बार विचार करना, संसार के पदार्थों की असत्ता का दृढ़ निश्चय हो जाना, परमतत्त्व में चित्त का सामान्य रूप से स्थिर होना आदि।

बिना उचित उपाय के मन का नियंत्रण करना कठिन है। जो लोग ठीक युक्तियों को छोड़कर दृढ़तापूर्वक मन को जीतना चाहते हैं उनको अनेक क्लेश व भय प्राप्त होते हैं। मन का निरोध करने की कुछ युक्तियाँ आगे लिखीं जाती हैं।

ज्ञान की प्राप्ति

(१) ज्ञान द्वारा मन का निरोध करना आँखें बन्द करने या फूल को मसल देने से भी सरल है। मन की सत्ता ही अज्ञान के कारण है और वह ज्ञान द्वारा इस प्रकार सरलता से नष्ट की जा सकती है जैसे रस्सी में साँप की सत्ता। जो वस्तु अज्ञानजन्य है वह ज्ञान होने पर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं और मन भी असत् है।

संकल्प त्याग

(२) संकल्प मन का बन्धन है और संकल्प का त्याग मन की मुक्ति है। संकल्प न रहने पर मन का नाश हो जाता है। संकल्प के शांत हो जाने पर संसार के सब दुःख मूल सहित नष्ट हो जाते हैं और मुक्ति का उदय हो जाता है।

भोगों से विरक्ति

(३) जब तक संसार का नाश करने वाली भोगों से विरक्ति का उदय नहीं होता तब तक दु:खों पर विजय पाने वाली परम निवृत्ति का अनुभव नहीं होता। संसार रूपी गड्ढे में पड़े हुए लोग तभी तक दु:खों में भ्रमण करते रहते हैं जब तक उनको विषयों से वैराग्य नहीं होता। विषयों से विरक्त होने से मन सूक्ष्म होकर आत्म भाव को प्राप्त होता है ।

वासना का त्याग

(४) मन (चित्त) का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं। वह मनुष्य जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गईं हैं, जीवन मुक्त हो जाता है। बन्धन में पड़े हुए लोगों को उसका अनुभव नहीं हो सकता। वासना त्याग की सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओं से रहित होकर केवल एक चित्तमात्रावस्था को प्राप्त होने की वासना को मन में रहने दें। तन, मन और बुद्धि सहित उस वासना का भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यान में स्थिर रहें। इस प्रकार जिस भावना द्वारा दूसरी वासनाओं का भी त्याग किया जाय उसको भी त्याग देना-चाहिए। उस ज्ञानवान् पुरुष के मन में, जिसने उस भावना से कि 'ब्रह्म सत्यं' अर्थात् केवल ब्रह्म ही सत्य और सब कुछ है, अपना अज्ञान नष्ट ही कर लिया है, कभी वासना का उदय नहीं होता । जिस प्रकार दीपक से अन्धेरा नष्ट होकर प्रकाश का उदय हो जाता है उसी प्रकार 'ब्रह्म' के ज्ञान से वासना समूल नष्ट होकर शांति का अनुभव होता है।

अहंभाव

(५) अहंभाव के उदय के साथ ही संसार के भ्रम का भी उदय होता है और अहंभाव के क्षीण होने पर उस स्वभाव में स्थिर

हो जाता है जिसमें कि निरंतर शान्ति ही शान्ति है। अहंभाव रूपी मेघ के छिन्न भिन्न होने से चिदाकाश के निर्मल हो जाने पर ही आत्मानुभव रूपी सूर्य का प्रचंड प्रकाश होता है और यह भान होने लगता है कि यह सब संसार इंद्रजाल की तरह मिथ्या है, इसलिए इसमें राग रखने से क्या? और द्वेष रखने से क्या? इस प्रकार निरंतर विचार करते रहने से अहंभाव नष्ट हो जाता है। जब यह ज्ञान हो कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँ पर कोई भी वस्तु त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्त में समता का प्रकाश हो जाता है तब फिर भला अहंभाव कैसे रह सकता है?

असंग भाव

(६) जिसके हृदय में संसार की वस्तुओं का संग है वही मनुष्य संसार सागर में डूबा हुआ है और जिसका मन असंग अर्थात् संग से रहित है, वही संसार से मुक्त है। संसार रहित मनुष्य वह है जो न कर्मों के त्याग से प्रसन्न होता है और न कर्मों में अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्म का फल नहीं चाहता और जो सब अवस्थाओं में समान रहता है। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है, अतएव किस वस्तु का त्याग करूँ? और किसका ग्रहण? इस भाव का नाम असंग है। जीवनमुक्त दशा में यही अवस्था होती है।

कर्तृत्व भाव का त्याग

(७) जब स्पन्दात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है। जिस तरह अग्नि उष्णता की सदा ऐक्यता है वैसे ही मन् और कर्म की सदा ऐक्यता है। दोनों में से एक का भी नाश हो जाने से दोनों का ही नाश हो जाता है। कर्म का (बीज) कारण आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ संकल्प है। संकल्प करना ही बन्धन का कारण है, इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिए। संवेदन और सम्बन्ध दोनों को छोड़कर वासना रहित शांत होकर रहने का नाम कर्मयोग है।

सर्व त्याग

(८) जब तक सब कुछ त्यागा नहीं जाता तब तक आत्म लाभ नहीं हो सकता। सब अवस्थाओं का त्याग करने के पश्चात् जो शेष रहता है वही आत्मा है। शुद्ध सर्व त्याग को ही सर्व दुःखों का अन्त करने वाली चिन्तामणि समझना चाहिये और शुद्ध बुद्धि से उसी की ही साधना करना चाहिए। जो सब कुछ है जिससे सब कुछ है और जो सबका आदि कारण है, उसी में सर्व त्याग कर देने से सर्व सिद्धि होती है। तीनों कालों में रहने वाले जगज्जाल को जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे मोती के भीतर धागा, उसने सब कुछ देख लिया है। जिसने बुद्धि द्वारा सब शंकाओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयों का त्याग कर दिया है वही महात्यागी कहलाता है।

समाधि का अभ्यास

(९) यदि निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्ति के समान आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। समाधि चुप रहने का नाम नहीं है। सब आशारूपी ऋणों को भस्म करने वाली तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि का नाम समाधि है। समाधि उस प्रज्ञा या स्थिति का नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थों के वास्तविक रूप का ज्ञान हो। विषयों के किसी रूप में भी न रहने का नाम ही समाधि है।

लय क्रिया

(१०) देह, मन बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं उनका ज्ञान प्राप्त करके उनमें इनको लय कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। इस रीति से पहले अपने आपको विराट् में स्थित करो, फिर अव्याकृत में और फिर परम कारण में। शरीर के पार्थिव भाग मांसादि

का पृथ्वी तत्त्व में विचार द्वारा लय करो, रक्तादि का जल तत्त्व में, तेजस भाग का अग्नि तत्त्व में, नाभस भाग का वायु तत्त्व में, नाभस भाग को आकाश तत्त्व में, इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय को उसके कारण तत्त्व में लय करो। श्रोत्र को दिक में, त्वक् को वायु में, चक्षु को सूर्य में, जिह्वा को जल में, घ्राण को पृथ्वी में, पैरों को विष्णु में, वायु को मित्र में उपस्थ को कश्यप में, मन को चन्द्रमा में, बुद्धि को ब्रह्मा में, इस प्रकार समस्त देह को उसके कारण तत्त्वों में लय करके अपने आपको विराट् समझो। अब पृथ्वी तत्त्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को महाकाश में जो कि सबका उत्पत्ति कारण है , लय करो। वहाँ पर योगी लिंग शरीर द्वारा क्षण भर स्थिर होकर और ब्रह्मांड के बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करें कि मैं आत्मा हूँ। लिंग शरीर को सूक्ष्म अव्याकृत में जो कि ब्रह्म से पूर्व की अवस्था का नाम है लीन करना चाहिए। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया, कोई परमाणु समूह, कोई नर्क से भ्रांत चित्त वाले इसको अविद्या कहते हैं, उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्त रूप से वर्तमान रहते है।। इन तीनों अवस्थाओं (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्ति के लिए, उसका ध्यान करके कारण शरीर को उसमें लय करना चाहिए।

प्राण निरोध

जिस प्रकार हिलना बन्द होते ही हवा का चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणों की गति रुक जाने पर मन भी शांत हो जाता है, प्राण का स्पंदन रुकने से मन शांत हो जाता है और मन के शांत होने पर संसार का लय हो जाता है। अतएव पहले प्राणों को ही जय करना चाहिए, तब मिताहार होकर आसन साधन और फिर शक्ति चालू न करे।

प्राण क्या है? प्राणों की प्रगति किस प्रकार होती है प्राणायाम किस प्रकार किया जाता है। इस विषय की योगवाशिष्ठ में बहुत

विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। परम कारण का ध्यान, व्यसन क्षय, निरोध की विशेष युक्ति, परमार्थ ज्ञान, शास्त्र और सज्जनों का संग, वैराग्य और अभ्यास, दु:ख हरण वाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामों का गहरा अभ्यास, एकांत में ध्यान, ॐकार का उच्चारण करते-करते शब्द तत्त्व की भावना, संविद् को सुषुप्ति में लाना, रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाश पर्यन्त विस्तृत करना, पूरक के अभ्यास से मेरु के समान स्थिर हो जाना, कुम्भक के अभ्यास से प्राणों का स्तम्भित करना, तालू मूल पर स्थित घंटी की जिह्वा से यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरंध्र में प्राण ले जाना, संविद् को शून्याकाश में, जहाँ पर कोई कल्पना नहीं है वहाँ ले जाकर शांत करना, नासाग्र से द्वादश अँगुल बाहर शुद्ध आकाश से संविद् को लीन करना, भ्रुवों के बीच में दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतन में स्थित होना, उर्ध्वरंध्र में प्राण ले जाकर तालू से बारह अँगुल ऊपर प्राण को शांत करना, जिसमें ज्ञान का उदय हो जाय ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भाव से निश्चित होना और किसी भी विकल्प से विचलित न होना, चिरकाल तक जिस पदार्थ की भावना रही हो उसकी शून्य भावना से मन को वासना रहित करके क्षीण करना और शुद्ध संविद् में ध्यान लगाना। इनके सिवाय प्राण निरोध की और भी अनेक युक्तियाँ हैं। इस प्रकार प्राण निरोध के अभ्यास से प्राण के लय होने पर मन की सारी क्रियाएँ शांत हो जाती हैं और निर्वाण पद ही शेष रह जाता है।

भगवान् पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध के निम्नलिखित आठ उपाय बतलाये हैं।

(१) अभ्यास और वैराग्य।

(२) प्रणव जप और प्रणव का अर्थ चिंतन।

(३) प्राणायाम।

(४) नासाग्र के अग्रभाग में संयम करने से दिव्य गंध का प्रत्यक्ष होता है। किसी एक अभिमत लक्ष्य में धारणा, ध्यान व समाधि का नाम संयम है। जिह्वा में सयंम के परिपाक से दिव्य रस का, तालू में संयम से दिव्य रूप का, जिह्वा के मध्य में संयम से दिव्य स्पर्श का, जिह्वा के मूल में संयम से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। इन गंधादि प्रत्यक्षों का नाम विषयवती प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्तनिरोध द्वारा समाधि में उपयोगी होती है।

(५) हृदय कमल में संयम करने से चित्त का प्रत्यक्ष होता है। अस्मिता में संयम करने से अस्मिता का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष से भी साधक का चित्तनिरोध होता है।

(६) बीतराग पुरूषों के चरित्र के अनुकूल चलने से भी चित्त का निरोध होता है।

(७) भगवान् की मूर्ति में संयम करने से चित्तवृत्ति निरोध रूप योग की सिद्धि होती है।

(८) इष्ट देवतादि का ध्यान करने से भी चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है।

मानस शास्त्र का यह नियम है कि अपने को जो जैसा समझता है वह वैसा ही बन जाता है। सुनने में तो यह बात आश्चर्यजनक सी मालूम होती है परन्तु वास्तव में है बिल्कुल सत्य।

योरोपीय महान् मनोविज्ञानाचार्य एमीलो का कथन है कि रात्रि को सोते समय अन्तर्मन में जिस भावना का चिन्तन करते हुए हम निद्रा में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार हमारे जीवन का निर्माण होता है। इस सिद्धांत के अनुसार भावनाओं का प्रभाव हमारे मन, विचार, प्रवृत्ति शरीरिक संगठन तथा उसके कार्यो पर पड़ता है।

आनन्द, सुख, शांति, आरोग्य, उत्साह श्रद्धा, सामर्थ्य, बल, आदि

की भावना अन्तर्मन में भरी जा सकती है और यही भावनाएँ सत्य होकर हमारे जीवन को उच्च बना सकती हैं।

जो आपकी इच्छा और आवश्यकता हो वही भावना रात्रि को सोते समय बार-बार दोहराया करो! उदाहरणार्थ मेरी इच्छा शक्ति बलवती हैं, मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं अवश्य करूँगा, मैं दुःख और विपत्ति से कभी नहीं डरता। शरीर और मन पर मेरा पूर्ण अधिकार है आदि-आदि।

इस अभ्यास से थोड़े ही दिनों में आपके मन और शरीर में आश्चर्यमय उन्नति होगी। आपका मन और स्वभाव आपके वश में हो जाएगा।

नाभि में दृष्टि और मन स्थिर करने से वह जल्दी स्थिर हो जाऐंगे। यह बहुत ही सरल उपाय है।

त्राटकयोग से भी मन स्थिर होता है परन्तु कमज़ोर दृष्टि वालों की आँखें ख़राब हो जाने का भय रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनका मन वश में नहीं उनके लिये योग का प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परन्तु मन को वश में किए हुए प्रयत्नशील पुरुष साधन द्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं। (गीता ६/३६)

भगवान् श्रीकृष्ण के उपर्युक्त वचनों के अनुसार सिद्ध है कि मन को वश में किए बिना परमात्मा की प्राप्ति रूप योग दुष्प्राप्त है। अतएव दुःखों की निवृत्ति और आनन्दमय परमात्मा की प्राप्ति के जिज्ञासु को मन वश में करना ही पड़ेगा इसके सिवा ओर कोई दूसरा उपाय ही नहीं है, परन्तु मन स्वभाव से ही बड़ा चंचल और बलवान् है इसलिए उसे वश में करना कोई साधारण बात नहीं है सारे साधन इसी को वश में करने के लिए किए जाते हैं। इस पर विजय मिलते ही मानो

विश्व पर विजय प्राप्त हो गई। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि **'जितं जगत् केन, मनो हि येन'**, अर्थात् जगत् को किसने जीता? जिसने मन को जीत लिया।

अर्जुन ने भी मन को वश में करना कठिन समझकर भगवान् कृष्ण से कहा था कि 'हे भगवान् ! यह मन बड़ा ही चंचल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे वश में करना मैं तो वायु को रोकने के समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।' गीता (६/३४)

जो बात अर्जुन के लिए कठिन थी वह हम लोंगें के लिये भला कैसे सहज हो सकती है। मन को जीतना कठिन है इस बात को मानते हुये भगवान् ने कहा कि 'हे अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि इस चंचल मन का निग्रह करना बड़ा कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मन का वश में करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है, और इसको वश में किए बिना दुःखों की निवृत्ति भी नहीं हो सकती, अतएव इसे वश में करना ही चाहिये। गीता (६/३५)

ध्यान की एकाग्रता के लिए मन को स्थिर रखना अत्यन्त आवश्यक है इसलिए पहले इसे वश में करना चाहिए। दृढ़ निश्चय के साथ सतत प्रयत्न करने पर भला ऐसा कौन सा कार्य है जो नहीं हो सकता। विश्वामित्र जी ने असफल होने पर भी हताश न होकर बराबर उद्योग करके बह्म ऋषि के पद को प्राप्त कर ही लिया था।

मन का स्वरूप

मन क्या वस्तु है ? यह आत्म और अनात्म पदार्थ के बीच में रहने वाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड़ है परन्तु बंध और मोक्ष इसी के अधीन है।

मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं, मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प विकल्प करना है। यह जिस पदार्थ को भली भाँति ग्रहण करता है, उसमें स्वयं भी तदाकार हो जाता है। यह राग के साथ ही चलता है, सारे अनर्थो की उत्पत्ति राग से होती है, राग न हो तो मन प्रपंचों की तरफ़ ही न जाय। किसी भी विषय में गुण और सौंन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसी से मन उस विषय में प्रवृत्त होता है, परन्तु जिस विषय में इसे दु:ख और दोष दिखलाई पड़ते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता यदि भूलकर हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेष से तुरन्त लौट आता है। वास्तव में द्वेष वाले विषय से भी इसकी प्रवृत्ति राग से ही होती है। साधारणत: यही मन का स्वरूप और स्वभाव है। अब विचार करने की बात यह है कि यह वश में कैसे हो? इसके लिए भगवान् ने जो उपाय बतलाए है वह हैं- अभ्यास और वैराग्य। महर्षि पतंजलि ने भी योगदर्शन में यही उपाय बतलाए हैं। अतएव इसी का विचार करना है।

(१) भोगों से वैराग्य

जब तक संसार की वस्तुयें सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं तब तक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दु:खप्रद दिखने लगें (जैसे कि वह वास्तव में हैं) तो मन उनमें कदापि न लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आएगा। इसलिए संसार के सारे पदार्थो में (चाहे वह लौकिक हों या पारलौकिक) दु:ख और दोष की प्रत्यक्ष धारणा करना चाहिए। ऐसा दृढ़ विचार करना कि इन पदार्थों में क़ेवल दोष और दु:ख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दिखने वाली वस्तुओं में ही मन लगता है, यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयों से हटकर परमात्मा में दिखलाई देने लगे (जैसा कि वास्तव में है) तो यही मन तुरन्त विषयों से हटकर परमात्मा में लग जाएगा। यही वैराग्य का साध न है और वैराग्य ही एक मात्र मन जीतने का सर्वोत्तम उपाय है। सच्चा

वैराग्य तो ससांर के इस दिखने वाले स्वरूप का सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्मा का नित्य भाव प्रतीत होने में ही है, परन्तु आरम्भ में नये साधक को मन अपने वश में करने के लिए इस लोक और परलोक के समस्त पदार्थों में दोष और दु:ख देखना चाहिए, जिसमें मन का अनुराग उनसे हटे। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि--

'इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में वैराग्य, अहंकार का त्याग, इस शरीर में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि दु:ख और दोष देखना चाहिए।' (गीता १३/८)

इस प्रकार वैराग्य की भावना से मन वश में हो सकता है। यह तो वैराग्य का संक्षिप्त साधन हुआ, अब आगे अभ्यास दिए जाते हैं।

(२) नियम से रहना

मन को वश में करने के लिए नियम से रहने से बड़ी सहायता मिलती है। सब ठीक समय पर नियमानुसार करना चाहिए। दिन भर के कार्य की प्रात: काल उठते ही एक नियमित दिनचार्य बना लेना चाहिए जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने आप स्वभावत: ही उस समय उसी कार्य में लग जाय। अपने जिस इष्टदेव के ध्यान के लिए प्रतिदिन जिस स्थान, जिस आसन पर, जिस आसन से जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी बिल्कुल ही असमर्थ न हो जाने के सिवाय चूकना न चाहिए। थोड़ी भी नियमित साधना अनियमित अधिक साधना से उत्तम है। अनियमित साधन से कभी सफलता नहीं मिल सकती। स्थान, आसन, समय, इष्ट और मंत्र को जहाँ तक हो सके बार-बार नहीं बदलना चाहिए। नियमितता से ही मन स्थिर होता है। बल्कि नियमों का पालन तो प्रतिदिन के कार्य, खाने, पीने, सोने आदि सभी कामों में अत्यन्त आवश्यक है। नियम अपनी सुविधा व शास्त्रानुसार बना लेना चाहिए।

(३) मन की क्रियाओं पर विचार

प्रतिदिन रात को सोते समय मन से प्रत्येक कार्य पर जो-जो आ सकें उसका विचार करना चाहिए और सात्विक विचारों व कार्यों के लिये उसकी प्रशंसा और राजसिक तथा तामसिक के लिये उसे धिक्कारना चाहिए। प्रतिदिन इस प्रकार के अभ्यास से मन पर सत्कार्य करने और असत्कार्य छोड़ने के संस्कार जमने लगेंगे व कुछ दिनों में मन बुराइयों से बचकर अच्छें कामों में लग जाएगा। इस तरह पहले वह भले कार्यवाला होने से उसे वश में करने में सुगमता होगी। विषय आदि चिन्तन करने वाले मन को एक साथ विषय रहित करना कठिन है, इसलिए पहले उसे बुरें विचारों से बचाना चाहिए, तब वह शुभ चिन्तन करने लगेगा और फिर उसको वश में करने में कठिनता न होगी।

(४) मन के कहने में चलना

मन जब तक अपने वश में न हो तब तक उसे अपना शत्रु समझना चाहिए और शत्रु की तरह उसके हर एक कार्य की कड़ी निगरानी रखना चाहिए। जब वह कोई अनुचित विचार व कार्य करने लगे उसी वक़्त उसे धिक्कारना चाहिए। उसकी ख़ातिर व लिहाज़ भूलकर भी नहीं करना चाहिए। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना पड़ेगा, परन्तु साहस नहीं छोड़ना चाहिए। जो साहस व दृढ़ निश्चय के साथ कोई कार्य करता है वह अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होता है। यह मन बड़ा चतुर भी है अतएव कभी यह डरावेगा, लालच देगा, अनेक रंग बतलावेगा परन्तु कभी इसके धोखे में न आना चाहिए। इस प्रकार कुछ दिनों में उसका साहस टूट कर सीधा-साधा आपकी आज्ञा पालन करने वाला विश्वासी सेवक बन जाएगा।

(५) मन को सत्कार्य में संलग्न रखना

मन कभी बेकार नहीं रह सकता, उसको कुछ न कुछ काम

मिलना ही चाहिए, इसलिये उसे हमेशा काम में लगाए ही रहना चाहिए। बेकार रहने से ही ख़राब बातें सूझती है अतएव जब तक सो न जाय उस वक़्त तक अच्छे कार्यों व विचारों में इसे लगाए रखना चाहिए। जागृत समय के सत्कार्यों के चित्र ही स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए भी बराबर अच्छे विचार ही करते रहना चाहिए।

(६) मन को परमात्मा में लगाना

भगवान् ने कहा है कि --

'यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ दौड़कर जाय वहाँ-वहाँ से इसे लौटाकर परमात्मा में ही लगाना चाहिए। (गीता ६/२६)

मन को वश में करने का अभ्यास करने पर पहले तो वह इतना ज़ोर दिखलाता है कि अपनी चंचलता व शक्ति से ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदय में निराशा सी छा जाती है, परन्तु साधक को अधीर नहीं होना चाहिए बल्कि दृढ़ता और धैर्य रखना चाहिए। मन का यह स्वभाव ही है इसलिए घबड़ाना नहीं चाहिये। साहस और धैर्य रखने से वह धीरे-धीरे एक दिन वश में हो जाएगा। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि :-

धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को परमात्मा में स्थिर करके और किसी भी विचार को मन में न आने दें। (गीता ६/२५)

इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए कि किसी प्रकार भी वृथा व अनुचित विचार तथा मिथ्या संकल्पों को मन में नहीं आने दिया जाएगा। बड़ी चेष्टाओं और दृढ़ता रखने पर भी मन साधक की चेष्टाओं को कई बार व्यर्थ कर देता है। साधक जब कोई साधना करना चाहता है उस वक़्त मन उसका अभ्यस्त न होने के कारण वह उन दृश्यों को जो कि संस्कार रूप से उस पर अंकित हैं सिनेमा की तरह क्षण-क्षण में एक के बाद दूसरी फिल्म उपस्थित करने लगता है। उस समय ऐसी-ऐसी बातें व दृश्य उपस्थित होते हैं जो सांसरिक

कार्यों के समय कभी याद नहीं आते थे, परन्तु इनसे चिन्तित नहीं होना चाहिए। जब अभ्यास का बल बढ़ेगा तब मन को संसार से फ़ुरसत मिलती है वह परमात्मा में लग जाएगा। जिस तरह वह अन्य बातों से हटाये नहीं हटता उसी तरह अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वह परमात्मा के ध्यान से भी हटाये नहीं हटेगा। वास्तव में वह सुख चाहता है जब तक इसे विषयों में सुख मिलता है तब तक वह उनमें लगा रहता है परन्तु जब इसे विषयों में दु:ख और परमात्मा में सुख प्रतीत होने लगेगा तब वह स्वयं ही विषयों को छोड़कर परमात्मा की तरफ़ दौड़ेगा। अतएव जब तक ऐसा न हो उस वक़्त तक निरन्तर अभ्यास करते ही रहना चाहिए। जिस-जिस कारण से मन सांसरिक बातों में जाय उस-उस कारण से उसे रोककर परमात्मा में स्थिर करे। उसके पीछे ऐसा पहरा लगा दे कि वह भाग ही न सके। यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर उसे भागने की पूरी स्वतन्त्रता दे दें, परन्तु जहाँ कहीं वह जाय वहीं परमात्मा की भावना की जाय, वहीं इसे परमात्मा के स्वरूप में लगाया जाय, इस उपाय से भी वह स्थिर हो जाता है।

(७) एक तत्व का अभ्यास

महर्षि पतंजलि योगदर्शन में लिखते हैं कि चित्त का विक्षेप दूर करने के लिए पाँच तत्त्वों में से एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए अथवा एक वस्तु या किसी एक मूर्ति की तरफ़ एक दृष्टि से उस वक़्त तक देखना चाहिए जब तक आँखों की पलकें न गिरें या आँखों में जल न आ जाय। धीरे-धीरे चिन्ह को छोटा करते जाना चाहिए ओर अन्त में उसे बिल्कुल ही हटा देना चाहिए और फिर बग़ैर चिन्ह के दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास क़रना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन कम से कम आधा घंटा अभ्यास करने से दृष्टि स्थिर हो जाने पर मन की चंचलता जाती रहेगी। दोनों भ्रूमध्य के बीच में भी दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास किया जा सकता है। इसको त्राटक कहते हैं।

(८) नाभि या नासिकाग्र में दृष्टि स्थापन

पद्मासन या सुखासन से बैठकर नाभि या नासिकाग्र पर इसी प्रकार एक मन से दृष्टि जमाकर उस वक़्त तक देखते रहने से जब तक पलक न गिरें या आँखों में पानी न आ जाय देखते रहने से भी मन स्थिर होता है व ज्योति के दर्शन भी होते हैं।

(९) नाद श्रवण

कानों में अँगुली देकर शब्द सुनने का अभ्यास करना चाहिए। इसमें पहले भँवरों की गुँजार, पक्षियों के चुहचुहाने के शब्द, फिर क्रमशः घुँघरू, शंख, घंटा, ताल, मुरली, भेरी, मृदंग, नफीरी और सिंह गर्जन के दृश्य शब्द सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार के शब्द सुनाई पड़ने के बाद दिव्य ॐ शब्द का श्रवण होता है जिससे साधक समाधि को प्राप्त हो जाता है। यह मन के स्थिर करने का उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानस पूजा

सब जगह भगवान् के किसी नाम को लिखा हुआ समझकर बारम्बार उस नाम के ध्यान में मन लगाना चाहिए अथवा भगवान् के किसी स्वरूप विशेष की अन्तरिक्ष में मन से कल्पना कर उसकी पूजा करना चाहिए। पहले भगवान् की मूर्ति के एक-एक अंग का अलग-अलग ध्यान करे फिर पूरी मूर्ति का ध्यान करना व उसी में मन को अच्छी तरह स्थिर करना चाहिए। मूर्ति के ध्यान में इतना तन्मय हो जाना चाहिए कि संसार का भान ही न रहे। फिर कल्पना रूपी सामग्रियों से भगवान् की मानसिक पूजा करना चाहिए। प्रेमपूर्वक नियमित रूप से इस मानसिक ध्यान व पूजा से मन को स्थिर करने में बड़ी सहायता मिलती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा का व्यवहार

महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन में मन को स्थिर करने के लिए आगे लिखे उपाय भी बतलाए है।

सुखी मनुष्यों से प्रेम, दु:खियों के प्रति दया, पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता और पापियों के प्रति उदासीनता की भावना से चित्त प्रसन्न होता है अतएव --

(१) ससांर के सारे सुखी जीवों के साथ प्रेम करने से चित्त का ईर्षामल दूर होता है व दाह की आग बुझती है, इससे दूसरों को सुखी देखकर जलन पैदा करने वाली वृत्ति का नाश होता जाएगा।

(२) दु:खी प्राणियों के प्रति दया करने से पर अपकार रूप चित्त मल नष्ट हो जाता है। दु:ख पीड़ित लोगों के दु:ख दूर करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की प्रबल भावना से मन सदा प्रसन्न रह सकता है।

(३) धार्मिकों को देखकर हर्षित होने से दोषारोप नामक मन का असूया नामक मल नष्ट होता है व धाार्मिक पुरुष की भाँति चित्त में धार्मिक वृत्ति जागृत हो उठती है। असूया के नाश से चित्त शांत होता है।

(४) पापियों के प्रति उपेक्षा करने से चित्त का क्रोध रूप मल नष्ट होता है। पापों के चिन्तन न होने से उनके संस्कार अन्त:करण पर नहीं पड़ते। किसी से भी घृणा न होने से चित्त शांत रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावों के बारम्बार अनुशीलन से चित्त की राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्विक भावों का उदय होता है और चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्र होता है।

(१२) सद्ग्रन्थों का अध्ययन

भगवान् के उपदेश तथा चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों में अर्थात् उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत्, रामायण, आदि का अर्थ सहित अनुशीलन करने से वृत्तियाँ तदाकार होकर मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

मनु महाराज ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि से तपाये जाने पर धातु का मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायु के निग्रह (प्राणायाम) से इन्द्रियों के सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।

प्राणों को रोकने से ही मन रुकता है। मन सवार है तो प्राण वाहन है। मन को रोकने से दोनों रुक सकते हैं।

समाधि से भी मन रुकता है। प्राणायाम समाधि के साधनों का एक मुख्य अंग है।

(१४) श्वास के द्वारा नाम जप

मन को रोककर परमात्मा में लगाने का एक और भी अत्यंत सरल उपाय है जिसको सभी लोग कर सकते हैं। वह है श्वास प्रश्वास की गति पर ध्यान रखकर श्वास के द्वारा श्री भगवान् के नाम का जप करना। यह अभ्यास उठते, बैठते, खाते, पीते, चलते-फिरते प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। श्वास के साथ जप करते समय चित्त में अत्यन्त प्रसन्नता व आनन्द होना चाहिए। इसके साथ ही भगवान् को अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूप का ध्यान भी करते रहना चाहिए। इस भाव से संसार की सुध भुलाकर मन को परमात्मा में लगाना चाहिए।

(१५) मन के कार्यों को देखना

मन को वश में करने का एक बड़ा उत्तम साधान है मन से अलग होकर निरतंर मन के कार्यों को देखते रहना। जब तक हम मन के साथ मिले हुए हैं तभी तक मन में इतनी चंचलता है। जिस समय हम उसके दृष्टा बन जाते हैं उसी समय मन की चंचलता मिट जाती है। वास्तव में तो मन से हम सर्वथा भिन्न ही हैं। जिस समय मन में कोई नया संकल्प होता है, उसका पूरा पता हमें रहता है। यदि साधक अपने को

निरन्तर अलग रखकर मन की क्रियाओं का दृष्टा बनकर देखने का अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र संकल्प रहित हो जाता है।

(१६) भगवन्नाम कीर्तन

भगवान् चैतन्यदेव ने बतलाया है कि मग्न होकर उच्च स्वर से परमात्मा का नाम और गुण कीर्तन करने से भी मन परमात्मा में स्थिर हो सकता है। भक्त जब प्रभु का नाम कीर्तन करते-करते गद्‌गद् कंठ, रोमांचित और अश्रुपूर्ण नेत्रों में प्रेमावेश में अपने आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमिक परमात्मा के रूप में तन्मयता प्राप्त कर लेता है तब भला मन को जीतने में और कौन-सी बात बाक़ी रह जाती है। अतएव भगवान् का प्रेमपूर्वक नाम कीर्तन करना मन पर विजय पाने का एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकार मन को रोककर परमात्मा में लगाने के अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमें से या अन्य किसी भी युक्ति से किसी प्रकार से भी मन को विषयों से हटाकर परमात्मा में लगाने की पूरी चेष्टा करना चाहिए। मन को स्थिर किये बिना कोई भी साधन नहीं हो सकता। अतएव प्राणायम से मन को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अब तक जो इस मन को स्थिर कर सके हैं वे ही आत्मा व भगवान् श्याम सुन्दर के दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं।

यही योग साधन का चरम फल है अथवा यही परम योग है।

मनोलय

योगवाशिष्ठ के अनुसार मन ही संसार को उत्पन्न करने वाला व चलाने वाला है। मन के शांत हो जाने पर जीवन में परम शांति आ जाती है व संसार का समस्त अनुभव क्षीण हो जाता है। मन के शांत हो जाने पर जीवन ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त हो जाता है और प्राणों का

स्पन्दन रुक जाता है। मन संसार रूपी माया चक्र की नाभि है। इस चक्र को बल और बुद्धि द्वारा रोक लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है। मन के लीन हो जाने पर द्वैत और अद्वैत दोनों भावनाओं का लय होकर परम शांत आत्म तत्त्व का ही अनुभव रह जाता है। संसार रूपी दुःख के मुक्त होने का उपाय केवल मन को निग्रह करना है।

मन ही स्थिर होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म व विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणों द्वारा मन स्थूलता को प्राप्त होकर दुःख भोगता है वह यह हैं। अनात्म वस्तु को आत्मभाव, स्थूल देह में आस्था, स्त्री पुत्र और कुटुम्ब में ममता, मेरा तेरापन, बुढ़ापे और मौत से डर, संसार से सुख की आशा, किसी वस्तु की प्राप्ति व त्याग का फल व भोगों की तृष्णा और विषय में आसक्ति आदि।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणों से ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है वह यह हैं। भोगों में सुख की कल्पना को छोड़कर सांसारिक वासनाओं को त्याग कर परम शुद्ध आत्म तत्त्व की ओर लगाना, मन की असत्ता और आत्मा की सत्ता पर बार-बार विचार करना, संसार के पदार्थों की असक्ता का दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्व में चित्त सामान्य रूप से स्थिर करना।

महर्षि व्यास जी ने अपने पुत्र श्री शुकदेव जी को इस सम्बन्ध में उपदेश देते हुए कहा था कि बेटा ! जिसने मन को वश में कर लिया है, वही अजन्मा, पुरातन, अजर, अमर, सनातन, नित्य युक्त, अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा का दर्शन कर सकता है। वेद का सार है सत्य, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, इंद्रियों के संयम का सार है दान, दान का सार है तपस्या, तपस्या का सार त्याग, त्याग का सार सुख, सुख का सार मनोनिग्रह और मनोनिग्रह का सार है स्वर्ग। मनुष्य को संतोषपूर्वक रहकर शांति के उत्तम उपाय सत्वगुण को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए, सत्वगुण मन की तृष्णा, शोक और संकल्प को जला कर नष्ट करने वाला है।

योगवाशिष्ठ में

योगवाशिष्ठ आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत ही उच्च कोटि का ग्रंथ है। इसमें वशिष्ठ जी द्वारा श्री रामचंद्र जी को दिए गए आध्यात्मिक उपदेशों का अत्यंत मनोहर वर्णन है। इसके दार्शनिक सिद्धांत बहुत ही सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदांत के अनेक पंडितों ने इन सिद्धातों का बहुत ही प्रतिपादन किया है।

योग शब्द का अर्थ

योगवाशिष्ठ में योग शब्द का अर्थ है, संसार सागर से पार होने की युक्ति।

योग का आदर्श

योग द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानंद का अनुभव कर लेता है। योग का ध्येय बहुतुरीय नामक परम आत्मा में स्थिति है जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी का भी भान न हो ओर न इसके आगामी अनुभव का बीज ही रहे व जिसमें परम आनंद का निरंतर अनुभव होता रहे।

योग की तीन रीतियाँ

योग साधन की तीन रीतियाँ हैं (१) एक तत्त्व की दृढ़भावनी (२) मन की शांति (३) प्राणों के स्पन्दन का निरोध। इन तीनों में से किसी एक की साधना से तीनों की सिद्धि हो जाती है। किसी को ज्ञान का अभ्यास, किसी को प्राण का निरोध और किसी को मन को शांत करना सरल होता है। प्राणों के निरोध की अपेक्षा मन को शांत करना अथवा एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है।

एक तत्त्व का अभ्यास

एक तत्त्व की दृढ़ भावना से मन शांत होकर विलीन हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है। एक तत्त्व का अभ्यास तीन विधियों से होता है।

(१) ब्रह्म भावना

पहले विचार द्वारा यह निश्चय होना चाहिए कि संसार केवल एक ही अनन्त आत्म तत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्व के नाना नामरूप है। इसके पश्चात् मन को तन्मय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणों की गति भी स्वयं रुक जाती है क्योंकि यह नियम है कि जो जिस विषय की दृढ़ भावना करता है वह उसमें तद्रूप हो जाता है। दूसरी विधि है।

(२) अभाव भावना

इसका अर्थ है समस्त पदार्थों को नितान्त असत् समझ कर उनमें पारमार्थिक अभाव की दृढ़ भावना करना। जब कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत् में और कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम रूप और भिन्न सत्ता वाले समझना केवल भ्रम है। अतएव यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि कोई पदार्थ है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चय के अभ्यास का नाम ब्रह्म भावना है। ऐसा करने से मन शांत हो जाता है और अहंभाव व जगत् का अनुभव दोनों का लोप होकर आत्मभाव में स्थित हो जाता है।

(३) केवली भाव

केवली भाव उस निश्चय के अभ्यास का नाम है जिसमें केवल एक ही आत्मतत्त्व की स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थों के

असत्य होने की दृढ़ भावना होने के कारण अपने दृष्टा होने को भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूप में स्थित हो जाय जिसमें द्वैत का कोई भान नहीं है।

❖ ❖ ❖

उपयोगी उपचार

सर्व प्रकार के साधन और तपस्या का मूल स्वस्थ शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ न हुआ तो कोई भी कर्म, साधना या तपस्या नहीं हो सकती। इसीलिये हमारे ऋषियों मुनियों ने औषधियों का प्रयोग किए बग़ैर ही शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ऐसे यम नियम व सरल उपचार बतलाए हैं जिसको प्रत्येक मनुष्य सरलता पूर्वक कर सकता है। इसी प्रकार के कुछ उपचार नीचे दिए जाते है।

पुराना अपचन

दूर करने के लिए रोज दस पन्द्रह मिनिट पद्मासन बैठकर नाभि पर दृष्टि स्थिर करने से अपचन शीघ्र ही दूर होता है।

दाँतो की बीमारियाँ

टट्टी व पेशाब करते समय दाँतों की दोनों पंक्तियों को एक दूसरे से ज़ोर से दबाने से दाँतों से सम्बन्ध रखने वाली बीमारियाँ दूर होकर दाँत मज़बूत होते है।

गर्मी व थकावट दूर करना

धूप की गर्मी व परिश्रम से उत्पन्न थकावट दूर करने के लिए दाहिनी करवट लेटने से लाभ होता है।

सिर के रोग

भोजन करने के पश्चात् बाल ओंछने से (रबड़ की कंघी से नहीं) सिर के रोग व वात रोग दूर होते हैं व बाल जल्दी नहीं पकते और बवासीर आदि नहीं होती। भोजन के बाद १५ मिनट वीरासन (दोनों पैर पीछे) मोड़कर बैठने से पुराना वात अच्छा हो जाता है। गहरी नींद आवेगी व स्वप्न दोष न होगा।

पेट सम्बन्धी रोग

पद्मासन से आधा घण्टा बैठकर दाँतों की जड़ों से जीभ का अग्र भाग जमाए रहने से पेट सम्बन्धी शिकायतें दूर होती है और कोई रोग न होकर स्वास्थ अच्छा रहता है।

कफ वायु निरोध

प्रातःकाल निद्रा त्याग के समय व भोजनोपरांत दोनों समय हाथ के अँगूठे के निचले भाग से दो तीन बार माथा घिसने से दमकाश्रित वायु और श्लेष्मा का दोष नष्ट होता है।

स्वप्न दोष निवारण

रोज़ाना आध घंटा सिद्धासन से बैठकर नाभि पर दृष्टि जमाए रखने से स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। छः मास तक लगातार अभ्यास करने से पुराना भयंकर स्वप्न दोष सर्वथा नष्ट हो जाता है।

अजीर्ण निवारण

जिनको अजीर्ण अधिक रहता हो वे प्रातः निहार मुँह पान के पत्ते में दस काली मिर्चे चबा-चबा कर खाएँ। कुछ दिनों में अजीर्ण सर्वथा दूर हो जाएगा। स्थिरता के साथ बैठकर नाभि मण्डल में दृष्टि जमाकर नाभिकंद का ध्यान करने से भी अजीर्ण आदि रोग दूर हो जाते है।

ख़ून की ख़राबी

ख़ून ख़राब होने अथवा ख़ून के विकार से फोड़ा फुंसी होने पर कुछ शीतली कुम्भक (प्राणायाम) करने से रक्त साफ़ होकर चर्म रोग नष्ट हो जावेंगे।

स्मरण शक्ति बढ़ाना

मस्तक पर एक लकड़ी की कील रखकर एक लकड़ी के ही छोटे टुकड़े से धीरे-धीरे ठोकने पर स्मरण शक्ति कुछ दिनों में बढ़ जाती है।

कुष्ठरोग व दीर्घ आयु

मस्तक के ऊपर पूर्ण चन्द्र के समान ज्योति का ध्यान करने से आयु बढ़ती है व कुष्ठादि रोग दूर होते हैं।

वृद्धावस्था रोकना

दृष्टि के आगे सदा पीतवर्ण उज्ज्वल ज्योति का ध्यान करने से सब तरह के रोग अच्छे होते हैं व मनुष्य वृद्धावस्था के लक्षणों से बच जाता है।

प्यास व शीतोष्ण निवारण

प्यास से व्याकुल होने पर जीभ के ऊपर खट्टी चीज़, शरीर में साधारण तथा गर्मी मालूम होने पर ठंडी चीज़ और शीत मालूम होने पर गर्म चीज़ का ध्यान करना चाहिए।

पुराना व भीतरी ज्वर

प्रातः काल और तीसरे पहर कागदी नीबू का पत्ता सूघने से पुराना और भीतरी ज्वर दूर होता है।

शरीर के विकार

प्रतिदिन एकाग्र, चित्त होकर श्वेत, कृष्ण व रक्त वर्णों का ध्यान करने से शरीर के सब विकार नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु व महेश नित्य ध्येय हैं। हमारे पूर्वजों ने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ही सन्ध्या वन्दन करना परम आवश्यक बतलाया है क्योंकि उस समय श्वेत, रक्त व श्याम वर्णों का ध्यान करने से वायु, पित्त और कफ़ साम्य तथा शरीर स्वस्थ दीर्घजीवी होता है।

शरीर की स्वस्थता

प्रातः काल शिर स्थित श्वेत कमल में श्वेत वर्ण गुरुदेव और रक्त वर्ण उनकी शक्ति का ध्यान करने से शरीर स्वस्थ रहता है तथा विष्णु, शिव व गुरु और उनकी शक्ति व श्वेत, रक्त और श्याम वर्ण का ध्यान करने से आशातीत लाभ होता है। इसकी अवश्य परीक्षा कीजिए।

शरीर पुष्ट व रक्त शुद्ध

प्रतिदिन एक तोला घी में दस काली मिर्चे तलकर घी को पीने से शरीर पुष्ट व रक्त शुद्ध होता है।

बुखार

सिन्दूरवार की जड़ रोगी के हाथ में बाँध देने से सब प्रकार के बुखार जाते रहते हैं।

एकतरा

श्वेत अपराजिता अथवा पलाश के कुछ पत्तों को हाथ से मलकर कपड़े में एक पोटली बनाकर जिस दिन पारी हो उस दिन सबेरे ही उसे सूँघने से एकतरा चला जाएगा।

कफ़ाश्रित वायु व श्लेष्मा

प्रात: काल निद्रा त्याग व भोजनोपरान्त दोनों समय हाथ के अँगुष्ठ के निचले भाग से दो तीन बार कपाल घिसने से कफ़ाश्रित वायु व श्लेष्मा दोष नष्ट होते हैं। इसे कपालमाथी कहते हैं।

आधा सीसी

सिर में जिस तरफ़ दर्द होता हो उसी तरफ़ की कहुनी में ज़ोर से रस्सी बाँध देने से आराम हो जाएगा।

सिर दर्द

सुबह उठते ही नाक से ठंड़ा पानी पीने से मस्तक ठंडा रहेगा, सिर भारी नहीं होगा न सर्दी लगेगी।

नेत्र रोग

सुबह उठते ही मुँह में ख़ूब पानी भर कर दूसरे पानी से आँखों में बीस बार छींटे मारें। भोजन के बाद हर मर्तबा सात-सात बार कम से कम आँखों में छीटे मारें। जितनी बार मुँह में पानी डाले उतनी ही बार आँखों और मुँह को धोना चाहिए। नहाते वक़्त पैर के अँगूठों के नाख़ूनों में तेल भर देना चाहिए। इन क्रियाए से नेत्र रोग दूर होकर दृष्टि तेज़ होती है आँखें स्निग्ध रहती हैं।

जल

भोजन करने के आधा घंटा पहले जल पीने से पेट और ज़ठर धुलता है व पाचक रस निकलने लगता है जो अन्न को पचाने के काम आता है। भोजन करते समय जल न पीकर कम से कम आधा घन्टे बाद पीना चाहिए क्योंकि अन्न और जल एक हो जाने से पाचक रस कम और देर में निकलता है।

पाचन शक्ति बढ़ाना

सुबह उठकर नाभि के दाहिनी ओर से बायीं ओर आँतों के मालिश करने व उठने के पहले कुछ देर पेट के बल लेटने से पेट की पाचन सम्बन्धी शिकायतें दूर हो जाती हैं।

गर्मी व लू

कड़ी धूप में बाहर जाने पर कानों को बाँध लेने से गर्मी व लू न सतावेगी।

कर्ण रोग

प्रातः व संध्या समय तर्जनी-अँगुली कान में धसाने से कान के रोग नहीं होने पाते व नष्ट हो जाते हैं। इसे कर्णमाथी कहते हैं।

विभिन्न योग

योग का जन्म तथा जन्मदाता

योग के जन्मदाता तथा वक्ता हिरण्यगर्भ जी महाराज थे, जिनके सम्बन्ध में महाभारत (१२/३४२/९६) में लिखा है कि 'यह हिरण्यगर्भ द्युतिमान वही है जिसकी वेद में स्तुति की गई है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसार में इनको विभु कहते हैं।' श्रीमद्भागवत् (५/१९/१३) में भी लिखा है कि 'हे योगेश्वर! यह योग कौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था। वायु पुराण (४-७८) में लिखा है कि हिरण्यगर्भ महाराज चतुर्मुख रूप से प्रकट हुए। जिनकी वेदों ने स्तुति की है, जो योगीजनों से पूजित हैं। वेदों में जो विभु, विरंचि, अज, चतुर्मुख, जगदात्मा इत्यादि विशेषणों से उपश्लोकित हुए

हैं। बस इन्हीं की **'महानिति च योगेषु'** है। इसी की टीका करते हुए प्रसिद्ध टीकाकार श्री नीलकंठ जी कहते हैं- **'योगेषु एवं महा-निति प्रथमं कार्यम्'**। अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही 'महान् निति' है। कि आपने वेदों से भी पहले योग विद्या (परा विद्या) का प्रादुर्भाव किया। (ऋ. वेद १०/१२१/(१) में लिखा है। 'हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतों के एक पति थे।। उन्होंने इस पृथ्वी और स्वर्गलोक को धारण किया। उन अनिर्वचनीय देव की हम पूजा करते हैं। वेदों के विकास के पहले योग विद्या तरुण हो चुकी थी बल्कि योग विद्या के गर्भ से ही वेद विद्या का जन्म हुआ है, मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही लिखा है कि **'ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संवभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता'**। अर्थात् देवताओं के पहले ब्रह्मा हुए जो विश्व के कर्ता व भुवन के गोप्ता हैं, परन्तु विश्व रचना के लिए उनके पास सामग्री न होने के कारण योगात्मा पूर्ण ब्रह्म का जो उपदेश मिला (श्रीमद्भा. २/९/६) अर्थात् (प्रलयकाल के) एक दिन जिस समय ब्रह्माजी सृष्टि रचने के सम्बन्ध में निमग्न थे उस समय दो अक्षरों वाले जिस शब्द का उच्चारण हुआ उसका पहला अक्षर 'त' व दूसरा 'प' था अर्थात् 'तप'।

योग काल का आरम्भ

चित्त की चंचलता, मन एकाग्रता और बुद्धि की स्थिरता करके जीवात्मा को परमात्मा में मिलाने की जो योग विधि है उसे वेदों द्वारा सृष्टि के आरम्भ में चार ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा) द्वारा प्रकट किया गया। ऋषियों मुनियों ने योग विद्या सीखी। उनसे महर्षि पतञ्जलि ने इसे पढ़कर व उसका अभ्यास करके **'योग दर्शन'** नाम से प्रसिद्ध किया जो सब ग्रन्थों में मान्य माना जाता है। कितने ही भाष्यकारों का मत है कि हिरण्यगर्भ महाराज के हेरण्य गर्भ सूत्रों का योगदर्शन में अनुशासन कर **'योग दर्शन'** का प्रादुर्भाव हुआ है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन से

प्राचीन कोई भी इस विषय का दर्शन संसार में नहीं है।

योग क्या है?

युज धातु से योग शब्द सिद्ध होता है। योग के वैसे तो अनेक अर्थ हैं परन्तु मुख्य दो हैं। एक जोड़ना, दूसरा उपाय। अर्थात् योग के द्वारा साधक मन अन्तर्यामी के साथ जोड़ा जाता है। महर्षि पतंजलि के आदेशानुसार चित्त की वृत्तियों को रोक देने को योग कहते हैं। योग वाशिष्ठ के अनुसार योग के अर्थ हैं- संसार सागर से पार होने की युक्ति। योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास जी ने **'योगस्समाधि'** कहकर योग को समाधि बतलाया है। जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार व एकीकरण करना ही योग है। चित्त की एकाग्रता द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक हुए आत्मा का साक्षात्कार करना योग का लक्षण है। अद्वैत सिद्धांतानुसार उस ज्ञान या विज्ञान जिससे जीवात्मा को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान व सम्मिलन हो उसे योग कहते हैं।

योग का उद्देश्य

महाराज वेदव्यास जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि योग का उद्देश्य **'कायाकल्प'** अर्थात् केवल शरीर को दृढ़ बनाना ही नहीं है बल्कि उसका मुख्य ध्येय परमात्मा में चित्त को स्थिर करना अर्थात भगवत् परायण होना है। जो लोग शरीर को दृढ़, उसका कल्प और विभूतियों अर्थात् सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करते हैं उनका प्रयास एक न एक दिन विफल होगा क्योंकि यह शरीर नाशवान् है। श्रीमद् भागवत् के अनुसार योग साधन के सम्बन्ध में यही सिद्धांत निश्चित होता है कि ब्रह्म प्राप्ति के लिए योग मार्ग के सिवाय और कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। क्योंकि साधन के द्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्द का अनुभव कर लेता है। योग का ध्येय

है वह तुरीय नाम परम आत्मा में स्थित जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति किसी का भी अनुभव न हो न इनके आगामी अनुभव का बीज ही रहे व सदा परमानन्द का निरन्तर अनुभव होता रहे।

जीवन और प्राणों की वृद्धि योगाभ्यास से ही की जा सकती है आहार विहार में यथा योग संयम करने से व स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करने से हमारी जीवन शक्ति बढ़ती है। इन क्रियाओं को सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है।

योग का अर्थ

योग का यथार्थ अर्थ व अभिप्राय है 'श्री भगवान् के साथ युक्त हो जाना', भगवान् को प्राप्त कर लेना या भगवत् रूप हो जाना। यही जीव का परम ध्येय है। जब तक जीव इस स्थिति में नहीं पहुँच जाता है तब तक न तो उसका आवागमन बंद होगा और न किसी पूर्ण नित्य, सनातन, आनन्द रूप तत्त्व के संयोग की अतृप्ति और प्रच्छन्न आकांक्षा की पूर्ति और न तृप्ति होगी। इस पूर्ण के संयोग का नाम ही योग है। इस पूर्ण की प्राप्ति का प्रयत्न जिस क्रिया के साथ जुड़ता है वही योग बन जाता है। जैसे कर्म योग, ज्ञान-योग, राज-योग, लय-योग इत्यादि-इत्यादि, परन्तु यह याद रखो कि जो कर्म ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मंत्र, लय या हठ की क्रिया भगवन्मुखी नही है वह योग नहीं है कुयोग है और उससे प्रायः पतन ही होता है।

इसके सिवाय यह भी ध्यान रहे कि जिन योगों में मन का संयोग होने पर भी (जैसे नेति, धौति, षटकर्म, बंध, मुद्रा, प्राणायाम, कुंडलिनी जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता है अथवा मंत्र तन्त्रादि, से देव विशेष की पूजा पद्धति मुख्य है उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होने से लाभ की अपेक्षा हानि होती है। भाँति-भाँति के कष्ट साध्य व असाध्य, शारीरिक व मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगों की अपेक्षा भक्तियोग निष्काम कर्मयोग,

ज्ञान योग आदि उत्तम, अपेक्षाकृत और बहुत ही निरापद हैं। इनमें भी अनुभव शून्य लोगों की देखादेखी अविधि पूर्वक करने से हानि हो सकती है। अतएव अनुभवी गुरु की सभी योगों में अत्यंत आवश्यकता है।

सर्वचिन्ता परित्यागी निश्चिन्तो योग उच्यते

(योगशास्त्र)

अर्थात् जिस समय मनुष्य सब चिन्ताओं का परित्याग कर देता है, उस समय उसके मन की उस लयावस्था को योग कहते हैं। इसी सम्बन्ध में श्री पतंजलि जी ने अपने 'पातंजलि समाधिपाद २' में कहा है कि --

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

अर्थात् 'चित्त की सभी वृत्तियों को रोकने का नाम योग है। कामना और वासना से लिप्त चित्त को वृत्ति कहा है। इस वृत्ति का प्रवाह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- इन तीनों अवस्थाओं में मनुष्य के हृदय पर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्था को पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहता है, किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसकी बाहर निकलने की प्रवृत्ति को निवृत्त करके उसे फिर पीछे घुमाकर चिद्धन पुरुष के पास पहुँचने वाले पथ में ले जाने का नाम ही योग है। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुष को क्यों नहीं देख पाते ? कारण यही है कि हमारा चित्त हिंसा आदि पापों से मैला और आशा आदि वृत्तियों से आन्दोलित हो रहा है। यम, नियम आदि की साधना से चित्त का मैल छुड़ाकर चित्त वृत्ति का नाम योग है।

पतंजलि योग का आदर्श है, वह चरम कोटि का मार्ग जिसमें मन और शरीर के समस्त व्यापार सर्वथा बन्द हो जाते हैं। योगी को इस प्रकार की

स्थिति में रहने का अभ्यास डालना चाहिए जिसमें वह बिना अन्न जल के एक दो नहीं बल्कि महीनों और वर्षों रह सके और सब प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक व्यापारों को बन्द रखे। अतएव समस्त कामनाओं और रोगों को निर्मूल करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए व मन का कड़ा पहरा रखना चाहिए कि उसके अन्दर कोई नये ऐन्द्रिक विषय, प्रत्यक्षगोचर पदार्थ, कामनाऐं अथवा विचार अप्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष रूप से न आने पावें। साथ ही चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों पर एकाग्र व स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए, ऐसा करने से सूक्ष्म मन क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार एक ओर तो मन को नये ऐन्द्रिक विषय, संकल्प, कामना आदि के रूप में भोजन न देकर सुखाना चाहिए और दूसरी ओर उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों पर एकाग्र स्थिर करने के अभ्यास द्वारा अर्थात् धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ मन से सारे संकल्पों को निकाल बाहर करने से अल्प विषयक बनाना चाहिए। ऐसा करने से मन बिल्कुल खाली हो जाएगा और सूक्ष्म मन जिसमें पहले के ग्रहण किए हुए संस्कार जमा रहते हैं, सर्वथा नष्ट हो जाएँगे। इस प्रकार महर्षि पतंजलि द्वारा बतलाया हुआ योग का ध्येय प्राप्त हो जाता है।

पतंजलि योगदर्शन जो योग शास्त्रों में प्रधान ग्रन्थ माना जाता है उसके मतानुसार योग शब्द की परिभाषा जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध का नाम ही योग है अतएव चित्त के निरोध को जानने के लिये चित्त की पाँच अवस्थाओं का जानना आवश्यक है, क्यों कि योग के शास्त्रकार चित्त की निरुद्धावस्था को ही योग मानते हैं। योग भूमि में अन्य अवस्थाओं को अंगीकार नहीं किया गया है परन्तु योग साधन को जो चतुर्थ अवस्था अर्थात् एकाग्र अवस्था है केवल उसी को लिया गया है शेष साधन के योग्य न होने के कारण छोड़ दी गई हैं।

चित्तवृत्ति की पाँच अवस्थायें

(१) मूढ़ (२) क्षिप्त (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५)निरुद्ध।

(१) मूढ़ अवस्था का स्वरूप

तमोगुण प्रधान, पूर्वा पर, हानि लाभ के विचार से रहित, अपने तुच्छ भोग के लिए पर पीड़न और हिंसापूर्ण काम, क्रोध आदि दुराचार से पूर्णवृत्ति । यह स्वरूप नीच पापी पुरुषों का होता है।

(२) क्षिप्त अवस्था

रज और तम प्रधान केवल स्वार्थ भोग की वृत्ति जैसी साधारण भोगी संसारी पुरुषों की होती है।

(३) विक्षिप्त अवस्था

रजोगुण प्रधान संसारी पुरुषों का चित्त कभी विषयों की तरफ़ दौड़ता है तो कभी परमार्थ की तरफ़, चित्त अव्यवस्थित और चंचल रहता है। यह अवस्था जिज्ञासुओं की होती है।

(४) एकाग्र अवस्था

सत्वगुण प्रधान साधक पुरुषों की होती है, जिनकी चंचलता नष्ट हो गई है व साधन में चित्त लगा हुआ है।

(५) निरुद्ध अवस्था

सम्पूर्ण चित्त वृत्तियों का पूर्णतया शांत हो जाना, इस प्रकार की निरुद्धावस्था को 'योग' कहते हैं।

भगवान् कृष्ण ने गीता में भी कहा है कि 'सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष ही योगारूढ़ कहा जाता है, और चित्तवृत्ति के निरोध के बिना योग की प्राप्ति नहीं हो सकती'। मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साध न करने से प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।

इसी हेतु के कारण, योग का अभिप्राय चित्तवृत्तियों का निरोध कहा है।

महर्षि व्यास जी ने अपने पुत्र श्री शुकदेव जी को योग के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए कहा था, बेटा! सुनो-इन्द्रिय, मन और बुद्धि की वृत्तियों को रोककर व्यापक आत्मा के साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्र के मत में उत्तम ज्ञान है। इसे प्राप्त करने के लिए योगी को शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होना चाहिए। अध्यात्म शास्त्र का चिन्तन करें, आत्मा में ही अनुराग रखें, शास्त्रों का तत्त्व जाने और शास्त्रविहित कर्मों का निष्काम भाव से अनुष्ठान करें। काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न यह योग के पाँच दोष है। इनका विच्छेद करके, अपने को अधिकारी बनावें व गुरु के मुख से ज्ञान का उपदेश ग्रहण करें।

उक्त पाँचों दोषों के जीतने का उपाय यह है कि मन को वश में करने से क्रोध को और संकल्प को त्याग करने से काम को जीता जा सकता है। सत्त्वगुण का आश्रय लेने से निद्रा पर विजय प्राप्त हो सकती है। धैर्य का सहारा लेकर विषयभोग और भोजन की चिन्ता दूर करना चाहिये। नेत्रों की सहायता से हाथ पैरों की, मन के द्वारा नेत्र और कानों की तथा कर्म के द्वारा मन और वाणी की रक्षा करना चाहिए। साधना के द्वारा भय का और विद्वानों की सेवा से दम्भ का परित्याग करना चाहिए।

साधक मन और इन्द्रियों को एकाग्र करके रात के पहले और पिछले पहर में ध्यानस्थ होकर मन को आत्मा में लगावे। जैसे पानी के बर्तन में एक जगह भी छेद हो जाने पर पानी बह जाता है, उसी प्रकार यदि पाँचों इन्द्रियों में से एक भी विषय की ओर प्रवृत्ति हुई तो साधक का सारा साधन व ज्ञान लुप्त हो जाता है। इसलिए पहले अपने मन को वश में करें उसके पश्चात् कान, आँख, जिह्वा व नासिका आदि इन्द्रियों का निग्रह करें। पाँचों इन्द्रियों को मन में स्थापित करके इन्द्रियों सहित मन को बुद्धि में लीन करें, इससे इन्द्रियों की मलिनता दूर होकर उनमें निर्मलता आ जाती है। साधक अपने अन्तःकरण में

धूम्र रहित अग्नि, दीप्तमान सूर्य तथा आकाश में चमकती हुई बिजली के समान आत्मा का दर्शन करता है। वह सब आत्मा में और सब में आत्मा को स्थित देखता है। जो योगी एकांत में बैठकर इन तीक्ष्ण नियमों का पालन करते हुए इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह थोड़े ही समय में अक्षर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

योग साधन में अग्रसर होने पर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं, दिव्य सुगन्ध आती है, दिव्य रूपों के दर्शन होते हैं, नाना प्रकार के अद्‌भुत रस और स्पर्श का अनुभव होता है, इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी अनुभव होती है, हवा की तरह आकाश में चलने-फिरने में शक्ति आ जाती है, प्रतिभा बढ़ जाती है और दिव्य पदार्थ अपने आप आकर उपस्थित होने लगते हैं, इन सब सिद्धियों को पाकर भी योगी उनकी उपेक्षा कर दे और मन को उनकी ओर से लौटाकर आत्मा में ही एकाग्र करे, नियम के साथ रहे और पहाड़ की चोटी, शून्य ग्रह या देव मन्दिर अथवा वृक्षों के आसपास बैठकर तीन समय प्रातःकाल, रात के पहले अथवा पिछले पहर में योगाभ्यास करे।

धन चाहने वाले मनुष्य को जिस तरह उसको प्राप्त करने की सदा चिन्ता लगी रहती है, उसी तरह योग के साधक इन्द्रियों का संयम करके हृदय-कमल में स्थित आत्मा का एकाग्रभाव से चिन्तन करे। मन की चंचलता को रोककर कभी उद्विग्न न हो और साधना से कभी विचलित न हो। साधक मन,वाणी या क्रिया से भी कहीं आसक्त न हो, सबकी ओर से उपेक्षा का भाव रखे। प्रशंसा व निन्दा, हानि लाभ में समान रहे। सब प्राणियों को समान समझे। वायु के समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असंग रहे, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वही अजन्मा, पुरातन, अजर, अमर, सनातन, नित्य युक्त अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा का दर्शन कर सकता है।

इस प्रकार स्वस्थ चित्त और समदर्शी रहकर छः माह तक नित्य योगाभ्यास करने वाले साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

योगाभ्यास करने का संकल्प के समय सूर्य, चन्द्र आकाश, पृथ्वी, चराचर आदि सम्पूर्ण जगत् को साक्षी बना योग साधन का व्रत लेना चाहिए और उसके उपरांत अभ्यास आरम्भ करना चाहिए।

जो पुरुष द्रव्य के लिये अंधा, स्त्री के लिये निसंग व निंदा के लिए बहरा व मूक है वही योग का सच्चा साधक है।

सच्चा योगी सभी वस्तुओं में सर्वत्र आत्मा को और आत्मा में ही सब वस्तुओं को देखता है। इस प्रकार वह समस्त जगत् के नाम और मूल में 'एकाग्रता' परमतत्त्व को जान लेता है और इसी कारण वह समस्त अज्ञान से मुक्त हो जाता है।

प्राचीन भारत में जितने सम्प्रदाय थे उनमें जो लोग तप, साधन, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान रूप क्रिया योग के द्वारा आत्म साक्षात्कार करते थे, उन्हीं लोगों का सम्प्रदाय योग सम्प्रदाय कहलाता था। इस योग के आदि वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ, ब्रह्माजी, शिवजी हैं। पतंजलि मुनि इस योग दर्शन के रचयिता हैं। समस्त दर्शन शास्त्रों में योग दर्शन प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस योग के द्वारा समस्त तत्त्वों का ज्ञान जिस प्रकार सूक्ष्मतम रूप में स्फुटित होता है उसी प्रकार अन्य किसी साधना द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त का संयम करने से जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उस एकाग्रता का अभाव होने पर हम जगत् के किसी पदार्थ या विषय का भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। आत्म साक्षात्कार ही साधना का मुख्य उद्देश्य है, क्योंकि उसके अतिरिक्त दु:ख निवृत्ति का कोई दूसरा सुगम उपाय ही नहीं है। योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्म है।

हमारे समस्त दु:खों का मूल चित्त की अस्थिरता है। चित्त के स्थिर होने पर दु:ख की निवृत्ति हो जाती है अन्यथा लाख पढ़े, विचार करें, श्रवण व मनन आदि करें उससे कुछ भी नहीं होता। इसी कारण समस्त देशों और सम्प्रदायों की साधन प्रणालियों में न्यूनाधिक मात्रा

में चित्त को स्थिर करने का उपदेश दिया गया है। वास्तव में चित्त को स्थिर किए बिना दु:ख से छुटकारा अथवा आत्म साक्षात्कार व मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसीलिए चित्त के स्थिर करने का जो परम साधन समाधि है उसके बिना त्रिताप ज्वाला की पूर्ण शांति नहीं होती। इन्द्रिय जनित हमारा जो ज्ञान है वह शुद्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि अस्थिर चित्त में जो ज्ञान प्राप्त है उससे आत्मदर्शन नहीं होता। समाधि जनित ज्ञान के बिना कोई आत्मज्ञान अथवा आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता कठोपनिषद् में कहा है कि :-

नाविरतों दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहिता।

नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

अर्थात् 'जो व्यक्ति पाप से निवृत्त नहीं हुआ है, अथवा जो इन्द्रिय परायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रतारहित, चंचल चित्त है, वह कभी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, अथवा जो अशान्त मन वाला अर्थात् फल कामना में आसक्त चित्तवाला है, वह केवल विचार के द्वारा आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

उपनिषद् में आत्मा की प्राप्ति के विषय में कहा है।

एषः सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

अर्थात् 'समस्त भूतों के अन्दर आत्म चैतन्य गुप्त रूप से निहित है, वह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता, किन्तु स्थिर ध्यान सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शियों को यह आत्मा दिखाई देता है व उनके सामने प्रकट होता है।

आत्मदर्शन के लिए बुद्धि को अत्यंत सूक्ष्म करना पड़ता है। विषय व व्यापार में संलग्न चित्त अत्यंत स्थूल व चंचल होता है। स्थूल चित्त में सूक्ष्मतम आत्मा का दर्शन होना दुर्लभ है। इसलिए चित्त को इतना

स्थिर करना पड़ता है कि उसकी सारी चंचलता नष्ट हो जाय। इस अवस्था का वर्णन उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है कि :-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमागतिम्॥
ता योगपिभिमन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययो॥

अर्थात् जिस अवस्था में पंच ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ स्थित रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ वहिर्विषयों को त्यागकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और बुद्धि भी चंचल नहीं रहती अर्थात् विषय चिन्तन का उसमें स्पर्श भी नहीं होता, योगी उस इन्द्रिय मनोबुद्धि की स्थिरता को आत्मज्ञान प्राप्त करने की श्रेष्ठ साधना कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणा को अर्थात् स्थिरता को योग कहते हैं।

जिस वस्तु के प्रति चित्त का आकर्षण होता है उसी वस्तु की ओर चित्त की स्वाभाविक गति होती है। चित्त जब बार-बार उस वस्तु का भोग करता है तब उससे संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार से वासना का उदय होता है और वासना बढ़ते-बढ़ते संसार की रचना कर डालती है। यदि उन सब वासनाओं व भोगादि के परिणाम तथा निस्सारता का विचार किया जाय तो उनके पाने की अभिलाषा मन में रहती है तब तक उस चित्त को मलयुक्त कहते हैं और मलयुक्त चित्त भगवत् चिन्तन का बाधक होता है, इसीलिए साधकों ने सभी काल में भगवत् भावना के विरोधी विषय, वासना व भोगादि को हेय बतलाते हुए पूर्ण तिरस्कार करने के लिए विशेष आग्रह किया है।

बहुत कुछ सुनने समझने व अनुभव करने के उपरांत भी हमारे अन्दर वैराग्य बुद्धि का उदय क्यों नहीं होता। वैराग्य के उदय होने पर

विषय वासनाओं की ओर चित्त आकर्षित नहीं होता और मन सहज ही स्थिर होकर आत्मानुसंधान में प्रवृत्त हो जाता है। वैराग्य अनायास ही उत्पन्न नहीं होता। अन्तःकरण के अन्दर जो अंश चित्त के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें जीव के जन्म जन्मातर कें संस्कार एकत्रित रहते हैं, अतएव जब तक यह चित्त क्षीण नहीं हो जाता उस वक़्त तक अनादि संसार वासना नष्ट नहीं होती। सैकड़ों जन्मों के संस्कारों से चित्त संलग्न रहता है, इसलिए चित्त को जीतना सरल नहीं है। चित्त के मूल दो कारण है :-

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना व समीरणः।

अर्थात् 'चित्त के अन्दर वृत्ति प्रवाह के केवल दो हेतु हैं। एक तो वासना अर्थात् भावनामय संस्कार और दूसरा है 'प्राण प्रवाह'। प्राण के अन्दर वासना का बीज और संस्कार ग्रन्थित रहते हैं। प्राण के स्पन्दन से मन स्पन्दित होने पर वृत्ति प्रवाह रूप उत्ताल तरंगमाला उठना आरम्भ होती है। इसीलिए प्राण और मन के स्पन्दन का नाश करने की व्यवस्था योगशास्त्र में बार-बार दी गई है निरन्तर नाड़ियों से होकर प्राणधारा जीव शरीर में प्रवाहित हो रही है वही श्वास के रूप में स्थूलता दिखाई देती है। यह श्वास ही जीव का जीवन है, परन्तु श्वास की इस प्रकार की गति को योगी लोग संसार वासना का मूल कारण समझते हैं। इसीलिए योगियों के द्वारा श्वास के निरोध की चेष्टा की गई है। क्योंकि---

पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।

अर्थात् 'प्राणवायु स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है,' और मन स्थिर होने पर प्राण भी अवश्य ही स्थिर हो जाता है। इसीलिए योगियों के एक सम्प्रदाय ने प्राण का, दूसरे ने मन का निरोध करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। इन्द्रिय विकारादि दोष समूह प्राण निग्रह के द्वारा

दूर होते हैं यह बात मनु महाराज ने भी कही है।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तपेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।

अर्थात् 'अग्नि के द्वारा उत्पन्न होने पर धातु के मल जिस प्रकार जल जाते है उसी प्रकार प्राणवायु के निग्रह के द्वारा इन्द्रियों के समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं'।

योगदर्शन में लिखा है, महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा जब प्रकाशशील सत्व ढक जाता है तब अन्य गुण कार्यशील होकर अकार्य में नियुक्त करते हैं। उस प्रकाश को ढकने वाले कर्म प्राणायाम के द्वारा नष्ट होते हैं। जब तक रज-तम के कार्य होते रहते हैं तब तक बुद्धि का विकार नष्ट नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पंच क्लेश के कारण स्त्रोत को उत्पन्न कर कर्म विपाक की सृष्टि करते हैं। इसीलिए समाधि साधन द्वारा बुद्धि स्थिर करने और सब 'क्लेश' क्षीण करने के लिये योगी लोग क्रियायोग का अनुष्ठान करते है। क्योंकि जब तक सब 'क्लेश' क्षीण नहीं हो जाते तब तक वे अप्रसवधर्मा नहीं होते। 'क्लेश' की प्रबल अवस्था रहने पर अशुद्धि दूर नहीं होती, परन्तु क्रियायोग (प्राणायामादि क्रिया) के द्वारा अशुद्धि दूर होने पर सब क्लेश भी दूर हो जाते हैं। सब क्लेशों के क्षीण हुए बिना अशुद्ध वृत्तियों को नष्ट करना सम्भव नहीं। अतएव पहले सब 'क्लेश' क्षीण करने की आवश्यकता है। 'क्लेश' समूह के क्षीण हो जाने पर 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा का उदय होता है और क्लेश समूह की फिर वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करती है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी

नासिका से चलती है तब संसार वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वास प्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है, अतएव संसार वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगी लोग यह चेष्टा करते है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन का पथ इड़ा ओर पिंगला नाड़ी है। इसीलिए योगी लोग इड़ा और पिंगला नाड़ियों का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते है, अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाड़ी पथ से होता है। ब्रह्म ज्ञान भी नाड़ी पथ से ही होता है। वह बह्म ज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना होगा। योगशास्त्र मे कहा है।

विधिवत्प्राणसंभामैर्नाडी चक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

अर्थात् 'विधिवत् प्राण संयम के द्वारा नाड़ी चक्र के विशुद्ध होने पर सुषुम्ना का मुख खुल जाता है और उसके अन्दर प्राण वायु सहज ही प्रवेश कर जाती है। मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना के अन्दर प्राण वायु संचालित होने पर मन को जो स्थिर भाव प्राप्त होता है उसी स्थिरावस्था का नाम 'उन्मनी' अवस्था है। इस उन्मनी अवस्था को प्राप्त योगी देवताओं को भी पूजनीय होते हैं। इस योगाभ्यास के द्वारा काल को भी जीता जा सकता है। बोधसार ग्रन्थ में लिखा है कि:-

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगः प्रसादतः।
वंचयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डेविचरन्ति हि॥

अर्थात् 'गोरक्षनाथ, चर्पट प्रभूति योगी हठयोग के अनुष्ठान द्वारा सिद्धि प्राप्त कर, मृत्यु को जीतकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं।

कितने ही लोग हठयोग से घृणा और राजयोग का आदर करते हैं, परन्तु योगशास्त्र में कहा है कि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग किसी को भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकता। वास्तव में सब योगों के अन्दर एक प्रकार की एकता और परस्पर सापेक्षता है। जो इस बात को नहीं जानता वह योगी नहीं है। बोधसार ग्रन्थ मे लिखा है कि :--

षये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्यते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः॥

'अपयोग, मंत्रयोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग और भक्तियोग, इन सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी है, उन सब बुधों ने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है।'

हठिनामाधिकस्त्वेकः प्राणायाम परिश्रमः।

'हठयोग का मुख्य साधन है श्रमसाध्य प्राणायाम। यह अन्यान्य योगियों की साधना से अधिक है। प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर चित्तस्थिर हो जाता है, यह कौन नहीं स्वीकार करेगा?

प्राण की क्रिया है निःश्वास और अपान की क्रिया है प्रश्वास, इन दोनों क्रियाओं के निरोध को कुम्भक कहते हैं। इस प्रकार निगृहीत प्राण वायु में समस्त इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। जो विधिवत् प्राणायाम का अभ्यास करते हैं उनके श्वास की उर्ध्व व अधःगति का शेष हो जाता है। उस समय प्राण सुषुम्ना मध्य से होकर मस्तक में जाकर स्थित हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा जब सुषम्ना में प्राण की गति होती है तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार स्वरूप में स्थित हो जाती है इसीलिए योगियों ने चित्त की स्थिरता के लिए प्राणायाम को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

गुरु गोरक्षनाथ जी का कहना है कि जब तक प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश नहीं करता उस वक़्त तक मौखिक ज्ञान की बात कहना दम्भ है। सुषुम्ना के अन्दर प्राण वेग संचारित होने पर मन शून्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् निरालम्ब होकर स्थिर हो जाता है, उस समय योगी के सब कर्म निर्मूल हो जाते हैं। यद्यपि सुषुम्ना के अन्दर प्राण की स्थिति नित्य है, तथापि इड़ा पिंगला के अन्दर जो प्राण का प्रवाह चल रहा है, वह बन्द हुए बिना उसका अनुभव नहीं होता, इसीलिए इड़ा पिंगला के प्रवाह का अवरोध करने की आवश्यकता है। गुरु गोरक्षनाथ ने कहा है कि:-

सुषुम्नायां सदैवायं बहेत् प्राण समीरणः।

एतद्विज्ञान मात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थात् 'यह प्राणवासु सुषुम्ना नाड़ी में सर्वदा ही प्रवाहित होता है। जो योगी इसे जान सकते हैं वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं।

प्राण की चंचलता के कारण ही जीव संसार चक्र में भ्रमण करता है, अतएव सब प्रकार से इस प्राणों को ही स्थिर करना आवश्यक है। प्राण स्थिर हो जाने पर कामादि रिपुगण फिर नाड़ियों को दूषित नहीं कर पाते। पहले बतलाया जा चुका है कि हमें समस्त ज्ञान नाड़ियों द्वारा ही होता है अर्थात् मन में कोई विचार (अच्छा या बुरा) आने के पहले नाड़ी प्रवाहिका के अन्दर कम्पन होता है और वह वही संकल्प विकल्प आदि के रूप में ऊपर उठता है। उस अवस्था को ही मन कहते हैं। अतएव नाड़ी का शोधन अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि:-

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राण धारणे॥
तत एवाखिला नाड़ी विरुद्धा चाष्टवेष्टनम् ।
इयं कुण्डलिनी शक्ति रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥

अर्थात् 'प्राणवायु के कारण ही जीव समूह इस संसार चक्र में निरन्तर भ्रमण करता है। योगी लोग दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए इस वायु को स्थिर करते हैं। इसके अभ्यास से नाड़ियाँ पुनः कामादि अष्ट दोष से दूषित नहीं हो पाती। नाड़ी विशुद्ध हो जाने पर कुण्डलिनी शक्ति अपने रंध्र को छोड़ देती है, अन्यथा नहीं छोड़ती।' वह रन्ध्रमूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान है, योगसाधन द्वारा कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना विवर से होकर जब ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होती है उस वक़्त शिवशक्ति संयोग रूप परम योग प्राप्त होता है।

मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त छः पद्म हैं। इनमें से प्रत्येक के ध्यान से अतुल फल प्राप्त होता है। इन पद्मों का वर्णन अन्यत्र दिया गया है। केवल आज्ञा चक्र के ही ध्यान से योगी के समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो सकते हैं। योग शास्त्र में कहा हैं।

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगण किन्नराः।

सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः॥

अर्थात् जो इस आज्ञाचक्र का ध्यान करता है, उस साधक के चरण युगल की यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर अनवरत सेवा करते हैं और वे सब उस साधक के वश में रहते हैं।

महर्षि वशिष्ठ जी ने योग साधन विधि के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए, राजा जनक से कहा था कि हे राजन! योग का मुख्य कर्तव्य है ध्यान और यही योगियों का परम बल है। योग के विद्वान् मन की एकाग्रता और प्राणायाम यह ध्यान के दो भेद बतलाते है। प्राणायाम भी सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार का है। मल और मूत्र त्याग व भोजन इन तीन कालों को छोड़कर शेष समय में योगाभ्यास करना चाहिए। मन के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटाकर शुद्ध भाव से परमात्मा का ध्यान करे। सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग कर मिताहरी और जितेन्द्रिय होना चाहिए तथा रात्रि के पहले और पिछले

भाग में मन को आत्मा में एकाग्र करना चाहिए। जब साधक मन के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों को और बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करके पत्थर की भाँति अविचल हो जाय, सूखे काठ की भाँति निष्कम्प और पर्वत की भाँति स्थिर रहे तभी वह योगयुक्त कहलाता है। जिस समय उसे सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, देखने और स्पर्श करने का ज्ञान नहीं रहता, जब मन में किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठता तथा काष्ठ की भाँति स्थित होकर वह किसी भी वस्तु का भान या सुधबुध नहीं रखता, उसी दशा में उसे अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त एवं योग युक्त कहते हैं। उस अवस्था में वह वायु रहित स्थान में बिना हिले डुले जलने वाले दीपक की भाँति निश्चल भाव से प्रकाशित होता है। लिंग शरीर से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहता। ऐसे योग सिद्ध पुरूष के ऊपर नीचे अथवा मध्य में कहीं भी गति नहीं होती। ध्यान निष्ठ योगी को अपने हृदय में धूम रहित अग्नि, किरण मालाओं से मंडित सूर्य और बिजली के समान तेजस्वी आत्मा का साक्षात्कार होता है। धैर्यवान्, मनीषी, वेदवेत्ता और महात्मा ब्राह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृत स्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर पाते हैं। यही योगियों का योग है। इसके सिवा योग का और भला क्या लक्षण हो सकता है। इस प्रकार साधना करने वाले योगी सबके दृष्टा, अजर, अमर परमात्मा के दर्शन करते हैं ।

योग के मुख्य दो मार्ग

वेद, उपनिषद्, पुराण व धर्मशास्त्रों के अनुसार साधना जगत् में साधक को मुक्ति प्रदान करने वाले दो मार्ग हैं। उनमें एक का नाम है पिपीलिका मार्ग व दूसरे का नाम है विहङ्गम् मार्ग। इसमें बालविरक्त आत्मज्ञानी शुकदेवजी द्वारा उपदिष्ट मार्ग को विहङ्गम् मार्ग व वामदेव जी द्वारा उपदिष्ट मार्ग को पिपीलिका मार्ग कहते हैं। दोनों ही मार्गो का अनुसरण करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, परन्तु विहङ्गम् मार्ग का अनुसरण करने वाला सांख्ययोग समाधि द्वारा अपने हृदय कमल में चिरज्योतिष्मान् स्वरूप को जानकर ब्रह्मानंद, परमानंद परमपद मोक्ष

साम्राज्य को प्राप्त करता है और वामदेव मार्ग का अनुगामी यम, नियम, आसनादि, अष्टांग योग का अभ्यास कर अणिमादि अष्ट सिद्धियों को प्राप्त करता हुआ कभी ऊर्ध्वगामी, कभी अध:पतित होता हुआ नाना जीव सङ्कुल, मर्त्य धाम को पुन:लौटकर पार्थिव सुखैश्वर्य को प्राप्त होता है, अथवा अणिमादि अष्टसिद्धि रूप फल को बिना प्राप्त किए सत्कुल मे जन्म लेकर, पूर्वाभ्यास द्वारा पुन:योगाभ्यास करते-करते ज्ञानोदय होने पर मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। अर्थात् वामदेव मार्ग का अनुसरण करने वाला जीव उत्थान-पतन में पड़कर अनेक जन्मों के अन्त में परमपद लाभ करने में समर्थ होता है, परन्तु शुकदेव जी के मार्ग द्वारा जीव केवल भक्तिरस में अपने हृदय को महावाक्य विचार द्वारा, सांख्ययोग अथवा अस्त अज्ञात समाधि में स्थित होकर मन को शांतकर, षड्रिपुओं का दमन, इन्द्रियों के मार्ग का अवरोध, मिथ्या आडम्बर को त्याग व निर्लिप्त चित्त होकर अपने हृदय कमल में भक्ति देवी के प्रसाद से मुक्ति लाभ करता है। अतएव दोनों ही मार्ग ब्रह्म प्राप्ति कराने वाले व मंगलजनक होते हुए भी इनमें विशेषता यह है कि शुकदेव मार्ग का अनुसरण करने वाला आत्म कल्याण में निरत होकर शीघ्र ही अभीष्ट लाभ करने में समर्थ होता है, और वामदेव मार्ग का अनुसरण करने वाला जीव एक जन्म में समर्थ नहीं होता बल्कि कई जन्मों में योगाभ्यास व ज्ञान के विकास से अभीष्ट लाभ करने में समर्थ होता है। यद्यपि दोनों मार्ग कल्याणप्रद हैं।

❖ ❖ ❖

योग साधन

वेद तीन काण्डों में विभक्त है। (१)कर्मकाण्ड (२) उपासना काण्ड और (३) ज्ञानकाण्ड।

वेद के कर्मकाण्ड के अनुसार 'कर्म सुकौशलं' को योग कहते हैं। वेद के उपासना कांड के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं और वेद के ज्ञान काण्ड के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के एकीकरण को योग कहते है ।

कर्मकाण्ड का अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है । कर्म करते हुए कर्म बन्धन से मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसका विस्तृत वर्णन है।

उपासना काण्ड का अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरण की वृत्तियों को साधन के द्वारा निरुद्ध कर परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करना है। जिस तरह तरंग रहित जलाशय में मनुष्य अपना मुँह देख लेता है, उसी तरह चित्त की वृत्तियों का निरोध होते ही परमात्मा का स्वरूप अन्तःकरण में दिखाई देने लगता हैं।

ज्ञान काण्ड का अन्तिम लक्ष्य अविद्या जनित अज्ञान को विद्या द्वारा दूरकर आत्म ज्ञान को प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्मा के भेद का जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैत सिद्धि करना है।

वेद के तीनों काण्डों के अनुसार योग के सिद्धान्तों का यही रहस्य है।

भगवान् की सान्निध्य प्राप्ति के साधनों को उपासना कहते हैं। उपासना का प्राण भक्ति है और शरीर योग है। शरीर में प्राण के न रहने से जैसे शरीर की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्ति हीन योग खिलवाड़ मात्र हो जाता है। शरीर के अभाव में न तो प्राण के रहने का कोई स्थान ही है और न उसका अस्तित्व ही सम्भव रहता है। जब शरीर स्वस्थ और उसका अस्तित्व ही न रहेगा तब भला कोई साधन कैसे हो सकेगा? इसी सिद्धांत के अनुसार भक्ति और योग का उपासना काण्ड के सब साधनों में अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। यही कारण है कि योग तत्त्व वेत्ताओं व पूज्यपाद

महर्षियों ने योग साधन की मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग नामक चार श्रेणियों व यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,धारणा, ध्यान और समाधि नामक योग की आठ पौढ़ियों के साधन का उपदेश दिया है। सूक्ष्म तथा त्रिकालदर्शी महर्षियों ने योग विज्ञान को उक्त चार श्रेणियों और आठ पौढ़ियों में इस प्रकार विभक्त किया है कि सब प्रकार के साधन मार्गो के सभी अंग और प्रत्यंग उनमें आ जाते हैं ।

(१) मंत्रयोग

मंत्रयोग का सिद्धान्त यह है कि यह संसार नामरूपात्मक है। नाम रूप से ही जीव अविद्या में फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमि पर गिरता है उसी के अवलम्बन से वह उठ सकता है, अतएव नाम और रूप के अवलम्बन से ही जब वह फँसता है तो नाम रूप के अवलम्बन से ही तब वह मुक्त भी हो सकता है। मंत्रयोग के आचार्यों ने मंत्रयोग के साधना को सोलह अंगो में विभक्त किया है, जैसे मंत्र ज़प, न्यासादिक शुद्धि, स्थान शुद्धि, आदि।

मंत्रयोग के ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पंच सगुणोपासना और अवतारोपासना के अनुसार कई प्रकार का होता है, इसकी समाधि को महाभाव समाधि कहते हैं।

(२) हठयोग

हठयोग का सिद्धान्त यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर एक ही भाव में गुम्फित है व एक का प्रभाव दूसरे पर पूर्णरूप से बना रहता है। स्थूल शरीर को अपने अधीन कर सूक्ष्म शरीर को अधीन करते हुए योग की प्राप्ति करने को हठयोग कहते हैं। योगाचार्यो ने हठयोग को सात अंगों में विभक्त किया है। नेति, धौति आदि षट्कर्म व आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि। इसके ध्यान को ज्योतिर्ध्यान और प्राण के निरोध से होने वाली समाधि को महाबोध समाधि कहते हैं।

(३) लय योग

लय योग का सिद्धांत यह है कि ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति मानव पिण्ड है! ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति का विलास जैसा ब्रह्माण्ड में है वैसा ही मानव पिण्ड में भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदि के पीठ मानव पिण्ड में भी हैं। पंचकोषों का आवरण शिथिल होने पर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोक से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, इसी विज्ञान के अनुसार मनुष्य पिण्ड के आधार पद्म में कुल कुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्या के प्रभाव से सृष्टि क्रिया करती है। रजोबीर्य जनित वैसी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्य शरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तक में स्थित सहस्रदल में जिस योग द्वारा कुल कुण्डलिनी शक्ति को ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिव के साथ मिला दिया जाता है, उस शिव में शक्ति का लय कर मुक्ति प्राप्त करने के साधन का नाम लय योग है। इसके आठ अंग हैं। इसके ध्यान को बिन्दु ध्यान और इसकी समाधि को महालय समाधि कहते हैं।

(४) राजयोग

राजयोग उक्त तीन योगों की चरम सीमा है, उसका सिद्धांत यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से संचलित अन्तःकरण ही जीव के बन्धन और मुक्ति का भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीव को नीचे गिराता है, शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रिय परायण बुद्धि जीव को बन्धन में जकड़ती है और ब्रह्म परायण बुद्धि जीव को मुक्ति भूमि में पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धि की सहायता से तत्त्वज्ञान का लाभ करके अन्त में राजयोगी जीव और ब्रह्म के अभेद का कारण समझ कर ज्ञान से अज्ञान का नाश करते हुए जीव और ब्रह्म की अद्वैत सिद्धि के द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोग के सोलह अंग हैं। इसके ध्यान को ब्रह्म ध्यान और इसकी समाधि को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। जिसका फल जीवन मुक्ति है।

इन चारों योग शैलियों का मूल भगवद्भक्ति युक्त अष्टांग योग का साधन क्रम है। अष्टांगयोग के आठों अंग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं।

वहिरिन्द्रियों पर आधिपत्य जमाने के साधनों को यम, तथा अन्तरिन्द्रियों पर आधिपत्य जमाने के साधनों को नियम कहते हैं। स्थूल शरीर को योग के लिए उपयोगी बनाने को आसन और शरीरस्थ प्राण को योगोपयोगी बनाने के साधनो को प्राणायाम कहते हैं। यह चारों बहिरंग साधन हैं।

बहिर्मुख मन को अन्तमुर्ख करने के साधन को प्रत्याहार कहते हैं। इसीसे अन्तरंग का साधन आरम्भ होता है। अन्तर्जगत् में ले जाकर मन को एक स्थान में ले जाकर मन को एक स्थान में ठहराने के साधनों को धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत् में ठहरने का अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणरूप, चाहे ज्योतिर्मयरूप, चाहे बिन्दुमय रूप और चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हों, केवल उसी इष्टदेव को ध्येय बनाकर जगत् को भूल जाने को ध्येय कहते हैं। अपने जीव भाव को परमात्मा में मिला देने को समाधि कहते हैं। समाधि ही सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की होती है। निर्विकल्प समाधि ही सब साधनों का अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीव हितकारी, सब सम्प्रदायों के अनुयायियों, सब प्रकार के उपासकों और सभी प्रकार के साधकों के लिये परम हितकर योग साधन का संक्षिप्त विवरण है।

योगी की पहचान

योगी की परख उसकी बातों से नहीं होती बल्कि उसकी परख होती है अन्तर्दृष्टि और ज्ञान से। वास्तविक बात यह है कि योगी बहुत कम बोलता है, वह तो सदा चैतन्य समाधि में स्थित रहता है। वही

सच्चा मुनि है जो मौनी है।(गीता१२,१६,१७,१९)। उसका मौन स्वाभाविक होता है। साधारण लोगों का मौन साधने का कारण कृत्रिम होता है।

गीता के दसवें अध्याय के श्लोक ३८ में कहा है कि ब्रह्म मौन है। उपनिषदों में कहा है **'निःशब्दं ब्रह्म उच्यते'** अर्थात् ब्रह्म निःशब्द मौन है। मौनी भक्त भगवान् की ओर खिंचता है और भगवान् उसकी ओर। जगत्गुरु शंकराचार्य ने ब्रह्मज्ञ पुरुष का जो वर्णन किया है उसका सर राधाकृष्णन ने 'इण्डियन फिलासाफी' नामक ग्रन्थ में अनुवाद करते हुए लिखा है कि जीवनमुक्त पुरुष ऐसे चलता है जैसे अंधा, गूँगा व बहरा हो और जिसे कोई ज्ञान न हो। गुह्य ज्ञानियों का कहना है कि ईश्वर का ध्यान करने वाले को मूक और बहरा रहना चाहिए। जैसे निर्वात स्थान में दीप शिखा स्थिर रहती है वैसे ही योग क्रिया करने वाले योगी की आत्मा शांत और स्थिर रहती है। उसका श्वास सुषुम्ना से सूक्ष्म रूप में चलता है। शास्त्र में लिखा है कि योगी की पलक नहीं गिरती, श्वास-प्रश्वास बाहर नहीं निकलता और उसका मन स्थिर रहता है।

आजकल देखने में आता है कि कुछ योगी योग का पूरा ज्ञान रखते हुए भी अध्यात्म विद्या व योग का प्रचार करते हुए लोगों को ठगते फिरते हैं। संघादि और चेले बनाकर उसके अधिष्ठाता बन जाते हैं। योगी लोग संघ नहीं बनाते क्योंकि इसमें अनधिकारी लोग घुस कर उसे बदनाम कर देते हैं और न वे कोई भक्तों या शिष्यों का संगठन करते हैं क्योंकि उससे भ्रष्टाचार का भय रहता है। ऐसी संस्था आदि से साम्प्रदायिकता व लोंगो से घनिष्टता बढ़ती है। सच्चे योगी न तो सार्वजनिक व्याख्यान देते फिरते हैं और न वे लेखादि लिखकर ही अपने को प्रसिद्ध करके पुजवाना चाहते हैं। वे न तो शिष्य बनाते फिरते हैं और न मठ आदि बनाकर एक स्थान पर ही रहते हैं। जिनको वे उपदेश का अधिकारी जान लेते हैं उन्हीं को उपदेश देते हैं और ऐसे

ही लोग उनके पास पहुँच सकते हैं। प्रसिद्धि से आध्यात्मिक उन्नति में बड़ी बाधा पहुँचती है व साधना नष्ट होती है अतएव वह एकांत में ही रहते हैं। यह सच्चे योगी के लक्षण हैं।

योगी कौन है?

जिस तरह दो वस्तुओं के परस्पर मिलने को योग कहते हैं उसी तरह उनके विच्छेद को वियोग कहते हैं। संसार इसी योग वियोग ही का रूप है। माता पिता का पुत्र के साथ,भाई का भाई व बहिन के साथ, स्त्री का पति के साथ धन सम्पत्ति आदि का मनुष्य के साथ जो योग है उसके साथ ही वियोग भी लगा हुआ है। जिस योग के पीछे वियोग लगा हुआ है,वह योग नहीं और जिस योग के पीछे वियोग नहीं रहता, जिस मिलन के पीछे विच्छेद नहीं रहता वास्तव में वही सच्चा योग व मिलन है। जो चीज़ क्षणिक है, जिसका मिलन व योग अस्थाई नहीं उसके साथ मिलन व योग भी क्षणिक ही होगा। उससे किसी न किसी दिन वियोग व विच्छेद होना ही है अर्थात् ऐसे योग के पीछे सदा वियोग लगा ही रहेगा परन्तु जो चिरस्थाई अर्थात् नश्वर नहीं है उसके साथ होने वाला योग व मिलन भी अस्थाई नहीं होता है। उसके साथ मिलन व योग होने पर वियोग या विच्छेद होने का भय व आशंका नहीं होती। इन बातों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार में एक मात्र परमात्मा ही ऐसे हैं जो चिरस्थाई हैं और संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, अतएव भगवान् के साथ जीवन का जो मिलन होता है वही वास्तविक योग है। इसी योग का जो लोग अभ्यास व साधना करते हैं वे ही योगी कहलाते हैं। इसलिए यदि आप परमात्मा का मिलन चाहते हैं तो आप को भी योग मार्ग पर ही चलना पड़ेगा।

योग पथ कौन-सा है, उस पर किस प्रकार चलना चाहिए यह सब बातें अन्यत्र बतलाई गई हैं।

योग शक्ति

हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियों द्वारा प्रकट होने वाले ईश्वर के ज्ञानरूप वेद को हम पूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। जो वेदों में है वही न्यूनाधिक सर्वत्र मिलता है और जो उसमें नहीं है उसका अस्तित्व कहीं भी नहीं हैं। वेद में जो जड़ चेतन, लोक परलोक, स्वर्ग नर्क, पाप पुण्य, कर्म अकर्म आदि लौकिक अलौकिक विषयों का वर्णन किया गया है, उनके यथार्थ रूप को देखने वाला योगी ही है। गूढ़ वैदिक तत्त्वों को प्रत्यक्ष कराने वाला योगाभ्यास ही है।

हम योग से परमात्मा के वास्वविक स्वरूप का अवलोन कर सकते हैं, हम प्रकृति और उसके विकारों को यथार्थरूप में देखने योग्य बन सकते हैं। हम पहले क्या और कहाँ थे? आगे क्या और कहाँ होगें? आदि अनेक जन्मों का पता लगा सकते हैं। पाप और पुण्यजनक कर्मों का निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्य का कर्तव्य क्या है और उसमें क्या शक्ति है? इसका पता भी योग से ही लगता है। योगी सब वस्तुओं को यथार्थ रूप में देख लेता है। योग प्रकृति पुरुष के भेद को प्रत्यक्ष दिखलाकर माया के सारे बन्धनों को तोड़कर जीव या पुरुष को उससे मुक्त कर देता है। योग का प्रधान उद्देश्य यही है कि वह प्रत्येक वस्तु के यथार्थ रूप को प्रत्यक्ष कर दे।

मनुष्य, मनुष्य के ख़ून का प्यासा क्यों है? उसके लिए समान भाग में दी गई ईश्वर प्रदत्त भूमि, जल व इनसे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं पर कुछ लोगों ने अपना अधिकार करके व दूसरों को उससे

वंचित करके मनुष्य क्यों अनधिकार चेष्टा किया करता है। मनुष्य के वस्तु स्थित अर्थात् पदार्थों के वास्तविक रूप को न जानने के कारण ही यह सब उपद्रव खड़े होते हैं। यदि उनके ठीक-ठीक व सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष करा दिया जाय तो सारे झंझट व बखेड़े खुदही मिट जायें और राजा, प्रजा, छोटे-बड़े ऊँच का विवाद फ़ौरन ही मिट जाय। इन भेदों व इन सब बातों के कारण होने वाले सर्वनाश का ज्ञान कराने वाला एक मात्र योग ही है। योगियों के आश्रमो में तो सिंह, मृग, वाघ, बकरी, बिल्ली, चूहों, तक का भेद मिट जाता है तब मनुष्य तो समझदार है।

यौगिक ज्ञान से भेद अभेद मिटकर आत्मानुभव होता है, अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति का ज्ञान होता है, विषय वासना नष्ट हो जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, माया का अनुभव हो जाने से लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि पास नहीं आते, जीव मात्र के प्रति प्रेम और दया उत्पन्न होकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त हो जाता है ।

परन्तु बिना अधिकारी हुए किसी को कोई वस्तु नहीं मिलती, योग का अधिकारी वही हो सकता है जिसकी आत्मा, परलोक, शुभाशुभ कर्मों, वेद व आचार्यों आदि में दृढ़ विश्वास व श्रद्धा हो।

योगशास्त्र के अनुसार उसके चार विभाग मंत्र योग, लय योग, हठ योग और राज योग हैं। भगवद्गीता के अनुसार मंत्र योग, भक्ति योग, ज्ञान योग और हठ योग चार विभाग हैं। सम्मोहन तंत्र के अनुसार ज्ञान योग, राज योग, लय योग, हठ योग, व मंत्र योग पाँच हैं। इनके सिवाय और भी अन्य प्रकार के योग हैं, परन्तु विस्तार भय से उन सबका ब्योरा देना कठिन है अतएव हम उनमें से केवल मुख्य-मुख्य योगों का ही विवरण आगे दे रहे हैं।

(१) हठ योग (२) राज योग (३) अष्टांग योग (४) लय योग (५)ध्यान योग (६)कर्म योग (७) भक्ति योग (८) सांख्य योग (९) मंत्र योग (१०) ज्ञान योग ।

(१) हठ योग

'ह' से सूर्य और 'ठ' से चन्द्रमा अर्थात् दाहिने और बायें नासारंध्रो में बहने वाली इड़ा व पिंगला नाड़ी। इन दोनों के संयोग से सुषुम्ना नाड़ी के उत्थान तथा षट्चक्रों के भेदन करने को हठ योग कहते हैं। कुछ लोग हठ योग और राज योग को भिन्न-भिन्न मानते हैं परन्तु गीता, हठ योग प्रदीपिका व गोरक्ष संहिता आदि में हठ योग को राज योग की नीव बतलाया है।

(२) राज योग

किसी स्थिर आसन व शाम्भवी आदि किसी मुद्रा द्वारा चित्त एकाग्र करके सुखपूर्वक आत्म सत्ता का अभाव होने व केवल एक परमात्मभाव के रह जाने तथा इसी अभ्यास से अर्थात् मनोनिरोध से प्राणों के निरोध होने को राज योग कहते हैं।

(३) अष्टांग योग

इन्द्रियों को रोककर,मन को हृदय में स्थिर कर,प्राणों को मस्तक में स्थापन करके योग धारणा में स्थित होना तथा अपान वायु में प्राण वायु, प्राण वायु में अपान वायु को हवन करते है और प्राण व अपान दोनों ही की गति को रोक कर प्राणायाम में पारायण होने को अष्टांग योग कहते हैं।

(४) लय योग

स्थिर आसन बैठकर षण्मुखी मुद्रा में मन को अनहद शब्द व नाद श्रवण, दिव्य प्रकाश या मूर्ति विशेष में लय करने अर्थात् प्राण शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, मन की वृत्तियाँ इन सब के लय को लय योग कहते हैं।

(५) ध्यान योग

एकाग्र चित्त द्वारा शुद्ध, पवित्र और एकाग्र स्थान में योग्य आसन पर बैठकर संसार के चिन्तन का सर्वथा अभाव करके एक मात्र ईश्वर का ही चिन्तन करना इसे ध्यान योग कहते हैं।

(६) कर्म योग

फल और आसक्ति को त्याग कर व कर्तव्य बुद्धि से समत्वभाव रखते हुए विहित कर्मों को करना अर्थात् निष्काम कर्म करने को कर्म योग कहते हैं।

(७) भक्ति योग

साकार भगवान् को स्वामी समझ कर अनन्य श्रद्धा से युक्त होकर चित्त को उनमें तन्मय करने को भक्ति योग कहते हैं।

(८) सांख्य योग

अहंता व ममता को नष्ट करके सर्वव्यापी परमात्मा में एकीभाव से स्थित होने को सांख्य योग कहते हैं।

(९) मंत्र योग

मंत्र जाप द्वारा मन के लय करने को मंत्र योग कहते हैं।

(१०) ज्ञान योग

यम, नियम, हठयोग राजयोग का साधन करते-करते समाधि द्वारा पूर्ण ज्ञान करने को ज्ञान योग कहते हैं।

कुछ महानुभाव हठ योग, लय योग और राज योग को कर्म योग, ज्ञान योग व भक्ति योग के ही अन्तर्गत समझते हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि अष्टांग योग एवं मंत्र योग,

जप योग आदि पावन योग प्रणाली इस त्रिविध योग के अन्तर्गत हैं। उपर्युक्त मुख्य-मुख्य योगों के सिवाय सिद्ध योग, जप योग व पूर्ण योग भी आगे दिये जाते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कृत योग दर्शन, महर्षि भरद्वाज कृत कर्म मीमांसा दर्शन, मंत्र योग संहिता, हठ योग संहिता, लय योग संहिता, राज योग संहिता, महर्षि वशिष्ठ कृत योग वाशिष्ठ, याज्ञवल्क्य संहिता तथा पुराणों व तंत्रो में योग साधन का रहस्य विस्तृत रूप से वर्णित है।

जो लोग हठ योग के अर्थ व उद्देश्य को नहीं जानते वे लोग हठ योग के मतलब को समझ लें हठपूर्वक किया जाने वाला योग और कुछ नामधारी साधुओं को कीलोंदार तख़्तों पर लेटे रहने, हाथ पैर उठाये रखकर उनकी मांस पेशियाँ सुखाने तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं के करने के कारण उनकी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है परन्तु वास्तव में शरीर पर अधिकार हो जाने पर मन चंचल नहीं रह सकता अतएव पहले हठ योग का साधन आवश्यक है।

हठ योग के प्रवर्तक

हमारे आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रों की प्रथम प्रवृत्ति परमात्मा से होती है इसलिये हठ योग भी ईश्वर प्रोक्त है। हठयोगियों का कहना है कि आदिनाथ श्री शिवजी इसके आदि प्रवर्तक हैं और उनसे मार्कण्डेय ऋषि ने इसे प्राप्त किया था। मत्स्येन्द्र गोरक्षनाथ, चर्पटि, जलंधर, कनेडी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि आचार्यों ने संसार में इसका प्रचार किया। इस सम्प्रदाय के इतिहास तथा शास्त्र के अवलोकन करने पर हठ विज्ञान की बहुत-सी आवश्यक व जानने योग्य बातें मालूम हो सकती है। गोरक्ष शतक, गोरक्ष संहिता, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, अमनस्क, योग बीज, हठ योग प्रदीपिका, हठ तत्त्व कौमुदी, घेरंड संहिता, निरंजन पुराण आदि इस विषय के बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं।

हठ योग का उद्देश्य

नाड़ियों की शुद्धि व स्वास्थ्य की रक्षा हठ योग का अव्यवहित उद्देश्य है। धेंरड संहिता का मत है कि हठ शास्त्रोक्त देह शुद्धि धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि व कपाल भांति द्वारा होती है। हठयोगी शारीरिक क्रियाओं की ओर विशेष दृष्टि रखकर देह को बलिष्ठ, दृढ़ और स्थिर, आसन और मुद्रा के अभ्यास से करता है। प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा ध्यान और समाधि के द्वारा क्रमशः देहिकधीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। आसन के विधिवत् अभ्यास से देह की स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है व दीर्घकाल तक के अभ्यास से रजोगुण जनित देह की चंचलता और मन की अस्थिरता दूर होती है व रोगों की निवृत्ति भी होती है। शरीर का भारीपन, तमोगुण दूर होकर देह हल्की होती है। सात्विक तेज़ की वृद्धि होती है, परन्तु नाड़ी चक्र नाना प्रकार से आच्छन्न होते रहने के कारण वायु सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश नहीं कर पाती इसलिये प्राणायाम आरम्भ के पहले नाड़ी शोधन करना अत्यन्त आवश्क है। नाड़ी शुद्ध हुए बिना उन्मनी भाव व मनोनिवृत्ति की कोई आशा नहीं रहती। इसीलिए शांडिल्य उपनिषद् के मतानुसार नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास कई महीने तक दिन में प्रातः व सायँकाल दो बार करना चाहिए। देह की कृशता, कांति, इच्छानुसार वायु धारण करने का सामर्थ्य, अग्नि वृद्धि, नारकी अभिव्यक्ति और आरोग्यता यह सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जायें तब समझना चाहिए कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गई हैं। मुद्रा साधन से ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना मुख से निद्रिता कुल कुंडलिनी जागृत होकर ऊपर उठती है, कुंडलिनी के जागने पर चक्रों व ग्रन्थियों आदि का भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्ना में प्रवेश करता है। चित्त निरालम्ब होता है व मृत्यु भय छूट जाता है। आधार शक्ति कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यास का मूल अवलम्ब है।

हठ योग का अर्थ

'ह' माने 'सूर्य' 'ठ' से चन्द्रमा अर्थात दाहिने और बाएँ नासाग्र में बहने वाली इडा व पिंगला नाड़ी। इनके संयोग से सुषुम्ना नाड़ी के उत्थान का साधन तथा मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत व आज्ञा आदि षट चक्रों का भेदन करने को हठ योग कहते हैं।

'ह' माने सूर्य-पिंगला दाहिनी ओर की वायु और 'ठ' माने चन्द्र इडा बाएँ ओर की वायु। वायु को अन्दर खींचना है 'ह' और बाहर छोड़ना 'ठ' सूर्य (दक्षिण स्वर) चन्द्र वाम स्वर दोनों की समता का नाम हठ योग है। नासिका के अग्रभाग से आता है, यह प्राण वायु बारह अँगुल पर्यंत बाहर जाता है पुनः लौटकर आता है, नाभि में की यह स्वाभाविक गति है। प्राणायाम के बल से साधक प्राण वायु की गति को एक-एक दो-दो अँगुल क्रमशः घटावे, जब द्वादश अँगुल बाहर की गति बन्द हो जाय और केवल नासिका के भीतर ही दोनों स्वर सम होकर सुषुम्ना नाड़ी में जिस अवस्था में प्राण चलें उस अवस्था का नाम हठ है, अर्थात् प्राण निरोध द्वारा मन का निरोध हठ योग है।

हठ योग के सात अंग

आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि हठ योग के यह सात अंग हैं। इन सब अंगों के क्रमानुसार साधन द्वारा क्या-क्या फल प्राप्त होते हैं उसका योगशास्त्र में इस प्रकार वर्णन है। हठ योग में खेचरी मुद्रा का बड़ा महत्त्व है। यथार्थ में खेचरी हठ योग की चीज़ है।

षट् कर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन के द्वारा दृढ़ता, मुद्रा के द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार के द्वारा धीरता, प्राणायाम द्वारा लाघव, ध्यान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष, धारणा द्वारा चित्तवृत्तियों की स्थिरता और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्ति लाभ अवश्य होता है। इन सब मानसिक

और आध्यात्मिक लाभों के सिवाय हठ योग के प्रत्येक अंग और उपांग के साधन द्वारा शरीरिक स्वास्थ्य विषयक विशेष लाभ भी होता है जो कि योगिराज गुरुदेव से जानने योग्य है।

धौति, बार्दत, नेति, नौलि, त्राटक और कपाल भाति यह छः क्रियायें षट् कर्म कहलाती हैं। हठ योग के अनुसार बैठकर साधन करने के कुल तैतीस आसन माने गए हैं तथा सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, शीतकारी, मस्तिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली आदि आठ प्रकार के प्राणायाम बतलाए गए हैं। इसी प्रकार हठ योग में पच्चीस मुद्रा साधन की विधि पाई जाती है। प्रत्याहार में भी यह मुद्रायें सहायता करती है तथा ध्यान सिद्धि और समाधि में भी सहायक होती हैं जो हठ योग का अन्तिम साधन है। त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् में लिखा है कि यम नियम व आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम यथार्थ रूप से नहीं किया जा सकता। अतएव उस दिशा में नाड़ी शुद्धि की चेष्टा करना अनुचित है। हठ योगाचार्यो का कहना है कि वायु, पित्त, कफ़ इन तीनों दोषों में से एक या दो की अधिकता होने पर षट् कर्मों की सहायता लेना आवश्यक है। आचार्य याज्ञवल्क्य जी कहते हैं एक मात्र प्राणायाम के अभ्यास से ही समस्त मल की निवृत्ति हो जाती है तब षट् कर्म की विशेष आवश्यकता नहीं।

अष्टांग योग

जैसे मंत्र योग के साधनों में नाम रूप के अवलम्बन से साधन की विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूल शरीर के अधिक अवलम्बन से चित्तवृत्ति निरोध करके योग्य साधन की प्रणाली हठ योग बतलाई गई हैं। महर्षि पतंजलि कृत योग दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा श्री भगवान् के निकट पहुँचने के लिए साधन की आठ पौढ़ियाँ बतलाई गई है। यह उत्तरोत्तर एक दूसरे से ऊँची हैं। बहिरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को 'यम' अन्तरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को नियम कहते हैं। योगसाधन के

योग्य शरीर बनाने को 'आसन' कहते हैं। प्राण व अपान वायु पर प्रभाव डालकर उनको साधनोपयोगी बनाने को 'प्राणायाम' कहते है। मन को बाहर से खींचकर भीतर की ओर लाने को ''प्रत्याहार'' कहते हैं। मन को भीतर ठहरा रखने को 'धारणा' कहते है। इष्टदेव या इष्ट ध्येय में मन लगाने को 'ध्यान' कहते हैं। और इष्ट में मन को लीन करके अपने आपको भूल जाने को समाधि कहते है। यही अष्टांग योग का सार है।

इसके चार अङ्ग. बाहर के है और चार भीतर के हैं। इन आठों का बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारों में मंत्र, हठ, लय, और राज योग आदि इन चार श्रेणियों के साधनों में इन आठों अंगों में से किसी में किसी अंग पर अधिक ध्यान दिया है। शास्त्रों में लिखा है कि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदि की कृपा से इस कल्प में हठ योग का विस्तार हुआ है जब देखा जाता है कि सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्मों के भोग का आश्रयरूपी जीव का स्थूल शरीर बनता है अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संगठन होता है तथा सूक्ष्म शरीर सम्बन्ध युक्त होकर रहते है।, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारी विशेष के लिये स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ स्थूल शरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इसी प्रणाली को हठ योग कहते हैं।

मंत्र योग-जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यान की विधि है, हठ योग में वैसे ही ज्योतिः कल्पना रूप ज्योतिर्ध्यान करने की विधि रखी गई है। अन्तर्जगत् के पवित्र भावों को आश्रय करके जिस

प्रकार नाना देव देवियों के ध्यान के लिए मंत्र योग में उपदेश है उसी प्रकार परमात्मा को सब ज्योतियों का ज्योति स्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूप की कल्पना करके ध्यान का अभ्यास करने की व्यवस्था हठ योग में है। मंत्र योग समाधि में नाना रूपों की सहायता से समाधि लाभ करने की साधन प्रणाली वर्णित है और हठ योग में वायु निरोध के द्वारा मन का निरोध करके समाधि लाभ की विधि है। मंत्र योग समाधि को 'महा भाव' और हठ योग समाधि को 'महा बोध' समाधि कहा जाता है।

हठ योग व राज योग

हठ योग का सम्बन्ध स्थूल शरीर व प्राण वायु के निग्रह से है। राज योग का सम्बन्ध मन से है। राज योग व हठ योग अन्योन्याश्रित हैं। वे एक दूसरे के आवश्यक व सहकारी अंग हैं। दोनों का पूर्ण अभ्यास जहाँ समाप्त होता है वहीं से राज योग प्रारम्भ होता है। हठ योग की साधना शरीर और प्राण से और राज योग की साधना मन से आरम्भ होती है, हठ योगी प्राण और अपान वायु को संयुक्त करके उनको भिन्न-भिन्न चक्रों में ले जाता है तब उसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। हठ योग का सिद्धान्त है कि राज योग ही हठ योग का लक्ष्य है व हठ योग के ग्रन्थ का कथन है कि हठ योग के बिना राज योग की प्राप्ति नहीं होती और हठ योग भी राज योग के बिना व्यर्थ है, परन्तु राज योग का सिद्धान्त है कि हठ योग राज योग की प्राप्ति के लिये आवश्यक नहीं बल्कि किंचित् बाधक है केवल हठ योग के अभ्यास में यह दोष है कि इसके सब साधनों के स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखने के कारण स्थूल शरीर में जो अज्ञान के कारण आत्माभिमान है, उसकी कमी न होकर पुष्टि होती है, जो अध्यात्म पथ में बड़ा प्रतिबन्धक है। राज योग में तो स्थूल शरीर को केवल घोरमायिक मानकर और आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं

दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल मनोमय कोष से अभ्यास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोष हठ योग में यह बतलाया जाता है कि इसके अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीर सम्बन्धी होने के कारण इसका जो परिणाम होता है वह मृत्यु के समय स्थूल शरीर छोड़ देने पर बेकार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता, परन्तु राज योग की मानसिक क्रिया का परिणाम जन्म जन्मान्तर तक बना रहता है, क्योंकि मृत्यु के साथ अन्त:करण का नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीर के नाश हो जाने पर भी जीव रूप से वर्तमान रहता है।

हठ योगी का ज़ोर आसन, बंध, मुद्रा और प्राणायाम पर अधिक रहता है। उसे शरीर में निम्न भाग में स्थित मूलाधार चक्र के अन्दर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसे शेष पाँच चक्रों के मार्ग से सहस्रार चक्र में ले जाने की उत्सुकता रहती है। यहाँ कुण्डलिनी शक्ति का शिव के साथ योग हो जाता है। तब योगी निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर मुक्ति एवं भक्ति अर्थात् अध्यात्मिक आनन्द दोनों प्राप्त कर लेता है। प्राणायाम का अभ्यास करते समय उसे चार अवस्थाओं का अनुभव होता है जिन्हें (१)-'आरम्भावस्था' (२) घट-'अवस्था' (३) 'परिच्छाया-अवस्था' और (४) 'निष्पत्ति अवस्था' कहते है।

हठ योग की अपेक्षा राज योग सब प्रकार से श्रेष्ठ है। हठ योग से शरीर अवश्य दृढ़ रहता है परन्तु हठ योगी मृत्यु को नहीं जीत सकता। राज योगी समाधि में मृत्युञ्जय का सहयोग पाकर इच्छा मृत्यु होकर मृत्यु को जीत लेता है। हठ योगी नीरस और भक्ति शून्य हो सकता है परन्तु राज योगी आनन्दमय और भक्तिमान् होता है। हठ योगी अद्‌भुत शक्ति शारीरिक शक्ति द्वारा मनुष्यों को आश्चर्य चकित कर सकता है और राज योगी भक्ति द्वारा भगवान् तक को वशीभूत कर लेता है। फिर भी पहले हठ योग का अभ्यास कर लेने से राज योग

सफल होता है। राज योग को जीवन का उद्देश्य बनाकर ही जो हठ योग द्वारा राज योग प्राप्त करने के लिए अभ्यास करते हैं वे ही वास्तविक साधक हैं, परन्तु जो दोनों का साधन करते हैं उनके सामने मनुष्य ही नहीं बल्कि देवता भी नतमस्तक होते हैं।

हठ योगी व राज योगी की पहचान

हठ योगी व राज योगी की पहचान उनके शरीर देखने से ही हो जाती है। हठ योगी की देह कांतिहीन होती है और राज योगी की देह कान्तिमान् है। जगत् में भगवान् ही सबसे अधिक सुन्दर व दिव्य स्वरूप है। उन्हीं भगवान् का ध्यान करते-करते राज योगी का शरीर सुन्दर और लावण्यमय हो जाता है। जो जिसका सच्चे हृदय से ध्यान करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है। राज योगी सदा आनन्द रूप भगवान् का ध्यान करता है इसलिए उसे वैसा ही रूप प्राप्त हो जाता है।

हठ योगियों को शरीर के संसर्ग में रहते-रहते उसमें आसक्ति आ जाती है अतएव वे ऐसे ही साधनों में लगे रहने के कारण जीवन के वास्तविक उद्देश्य की तरफ़ अधिक ध्यान नहीं देते। यद्यपि शरीर की उसी हद तक सेवा व साधना करना चाहिए जिसमें वह नैसर्गिक व्याधियों से मुक्त रहे परन्तु शरीर की स्वस्थता ही जीवन का लक्ष्य न बन जाना चाहिए। हठ योगी को हठ योग की क्रियाओं के सिवाय आध्यात्मिक साधन करते हुए सूक्ष्म जगत् से ऊपर उठकर निर्वाण व निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचने का प्रयत्न करते रहना चाहिए जहाँ से मनुष्य फिर इस भौतिक जगत् में नहीं लौटता और वहाँ शाश्वत् शान्ति व सुख का उपभोग करता है। उसके जीवन का यही परम ध्येय होना चाहिए।

राज योग

राज योग का अधार भूत ग्रन्थ है पातंजलि योग सूत्र। इसमें चार पाद् वर्णित है। (१) समाधि पाद् (२) साधन पाद् (३) सिद्धि पाद् और (४) कैवल्य पाद्। अष्टांग योग साधन करके शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में मन को संयम करें। इस संयम से भुवन ज्ञान, ताराव्यूह ज्ञान, काम व्यूह ज्ञान, क्षुत्पिपासा निवृत्ति, सिद्ध दर्शन और अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ईशित्व, वशित्व आदि आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यह सिद्धियाँ आत्मस्थिति में अन्तराय हैं। इसलिए विवेक ख्याति करके निर्विकल्प, समाधि सुख लाभ करना चाहिए यही परम उद्देश्य है। राज योग प्राणायाम है इसमें जो प्राणायाम बतलाया गया है उसको करते हुए, पूरक के समय बाह्य जगत् को अपने भीतर आकर्षण करें और कुम्भक करने में उसे अपने अन्दर धारण करें व रेचक के समय मन की सब द्वैत कल्पनाओं को निकाल बाहर करें। राज योगी देहत्व और मनस्तत्व तथा आत्मत्व को सम्यक् रूप से जानकर स्वरूप प्रतिष्ठा, 'स्वेमहिम्नि अवस्थित होकर अन्तर्न्द्रिय, बहिर्न्द्रिय और देह के ऊपर अधिकार प्राप्त करके, इन सब मन्त्रों को अपने-अपने कार्य में, भगवद् इच्छा पूरी करने में नियुक्त कर मुक्त राजा के समान विराजमान् होते हैं।

हठ योगी मृत्यु को नहीं जीत सकता लेकिन राज योगी समाधि में मृत्युंजय का संग पाकर मृत्यु को जीतकर इच्छा मृत्यु हो जाता है। हठ योगी नीरस और भक्ति शून्य हो सकता है परन्तु राज योगी आनन्दमय और भक्तिमान् होता है। हठ योगी अद्भुत शक्ति के शारीरिक चमत्कारों द्वारा मनुष्यों को चकित कर सकता है लेकिन राज योगी भक्ति द्वारा त्रिभुवन की तो गिनती ही क्या भगवान् तक को वशीभूत कर सकता है। इस प्रकार हठ योग निकृष्ट होने पर भी हठ योग के अभ्यास से राज योग में सहायता मिलती है। राज योग को जीवन का उद्देश्य बनाकर उसकी सिद्धि के लिए जो हठ योग का

अभ्यास करते हैं वे धन्य हैं। इसके अभ्यासी को पथ-पथ पर बाधाएँ आती हैं क्योंकि यम नियम के अभ्यास से नाना प्रकार की विभूतियों का विकास होता है जो साधक के पतन का कारण बन जाती हैं और इसीलिए समाधि सिद्धि में बाधा पड़ती है।

स्मृति शास्त्र में राज योग और उसके साधन क्रम के विषय में ऐसा कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्त:करण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको राज योग कहते हैं। (१) मन, (२) बुद्धि (३) चित्त और (४)अहंकार यह अन्त:करण के चार भेद हैं। अन्त:करण दृश्य और आत्मा दृष्टा है। अन्त:करण रूपी कारण दृश्य से जगद्रूपी कार्य दृश्य का कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्य से दृष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्तवृत्ति का चांचल्य ही इसका कारण है। वृतिजय पूर्वक स्व:स्वरूप का प्रकाश करना राज योग कहलाता है। राज योग साधन में विचार बुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राज योग का साधन होता है। राज योग के ध्यान को ब्रह्म ध्यान कहते हैं। राज योग की समाधि को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। राज योग में सिद्धि प्राप्त महात्मा को 'जीवन मुक्त' कहते हैं।

महाभाव (मंत्र योग की समाधि) प्राप्त होगी, महाबोध (हठ योग की समाधि) प्राप्त होगी व महालय (लय योग की समाधि) प्राप्त होगी। तत्त्व ज्ञान की सहायता से राज योग-भूमि में अग्रसर होते हैं। भजन, कर्म और ध्यान इसके भेद हैं, भजन का अभिप्राय यह है कि मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सप्तलोक व्याप्त प्रकाश रूप एक दंड है, उसमें जलज , उद्रिज, जारज, देव, दानव व मानव सब एक पर एक अपने तेजोरूप दंड में रहते हुए समाविष्ट हैं, इस प्रकार की भावना करें। कर्म का अभिप्राय है कि मैं ब्रह्म शक्ति सम्पन्न हूँ, ऐसा जप करें, ध्यान का अभिप्राय है।

शुद्धमात्मामखिलं शुद्ध ज्ञान तपोमयम्।
शुद्धेन्द्रिय गुणोपेतं परं तत्त्वं विभावये॥

यह कहते हुए भूमध्य में शुभ कमल के मित्र परम पुरूष का ध्यान करें। राज योग सब साधनों में श्रेष्ठ है और साधन की चरम सीमा है इसीलिए ही इसे राज योग कहते है।

षोड़श कला से पूर्ण राज योग के षोड़श अङ्ग. है। राज योग के साधनों को शास्त्रों में सोलह अङ्गों में विभक्त करके वर्णन किया गया है जो कि आगे लिखे अनुसार है। सप्तज्ञान भूमिकाओं के अनुसार इसके सात अङ्ग है। यह सब विचार प्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकार के हैं। धारणा के अङ्ग दो हैं। एक प्रकृति धारणा, दूसरी ब्रह्म धारणा। ध्यान के तीन अङ्ग हैं, विराट् ध्यान, ईश ध्यान और ब्रह्म ध्यान। ब्रह्म ध्यान में ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधि के चार अङ्ग हैं। दो सविचार और दो निर्विचार । इस प्रकार राज योग षोड़श अङ्गों के साधन द्वारा राज योगी कृत कृत्य होता है। मंत्र योग, हठ योग, लय योग इन तीनों में सिद्धि लाभ के अनन्तर अथवा किसी एक में सिद्धि लाभ करने के पश्चात् साधक को राज योग का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

राज योग संहिता में लिखा है कि राज योग का साधन प्रथम अवस्था में धारणा और ध्यान भूमि से आरम्भ होता है और राज योग की साधन भूमि प्रधानत: समाधि भूमि ही है। समाधि में पहले वितर्क रहता है, तदनन्तर अग्रसर होने पर विचार रहता है। उसके आगे की अवस्था का नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे भी आगे की अवस्था का नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेष लिंग, अविशेष लिंग, लिंग और अलिंग। यह चार भेद दृश्य के हैं। अलिंग तक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ यह भाव भी निर्विकल्प समाधि में नहीं रहता। जब कोई द्वैतभाव व कोई विकल्प शेष न रहे वही तुरीया अवस्था है।

समाधि भूमि का साधन क्रम शक्ति में ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है ऐसे जीवन युक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।

राज योग के साधन क्रम की समालोचना करने से यही सिद्ध होता है कि प्रथम परम भाग्यवान् राज योगी, दर्शनोक्त सप्तज्ञान भूमि को, एक के बाद दूसरे को, इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपान द्वारा छत पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञान भूमियों का रहस्य समझ जाता है। यही राज योग सोलह अङ्गों में से प्रथम सप्तांग का साधन क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृति- पुरुषात्मक दो राज्य के दर्शन करके उनकी धारणा से अनन्तर रूपमय प्रपञ्च की विस्मृति सम्पादन करने में समर्थ होता है।

यही राज योग के अष्टम और नवम अङ्ग का साधन क्रम है, उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृति के स्वरूप को सम्पूर्ण रूप से जानकर ब्रह्म ईश या विराट् रूप में अद्वितीय ब्रह्म सत्ता का दर्शन करके ध्यान भूमि की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है। यही राज योग सोलह अङ्गों में से दशम, एकादश, द्वादश अङ्ग का साधन क्रम है। उसके पश्चात् परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञान युक्त (यह चारों समाधि की दशायें पूर्व कथित मंत्र, हठ व लय योग युक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधि से विभिन्न हैं) समाधि दशाओं का अतिक्रमण करते हुए स्व स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशा को जीवन मुक्त दशा कहते हैं, यही सब प्रकार के योग साधनों का अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना राज योग की परिधि और यही वेदांत का चरम सिद्धान्त है।

मंत्र योग, लय योग व हठ योग का फल राज योग है। कर्म योग, भक्ति योग और ध्यान योग भी राज योग के अंग हैं। सब योग

साधनों में यह श्रेष्ठ है इसीलिए इसे सब योगों का राजा अर्थात् राज योग कहते हैं।

योग के क्रियात्मक भाग की सभी शाखाओं में 'राज योग' का सम्बन्ध केवल मन: शक्ति से है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते है। इसका उद्देश्य है सभी प्रकार की मानसिक बाधाओं को हटाकर मन को पूर्ण तथा स्वस्थ संयमी बनाना। इसके अभ्यास का अभिप्राय है इच्छा शक्ति को जगाना तथा उसे बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा शक्ति को जागृत करके राज योग के साधक को ध्यान और धारणा के द्वारा सभी धर्मों के चरम उद्देश्य की प्राप्ति करा देना। राज योग की शिक्षा यह है कि संसार की सर्वोपरि शक्ति मन है। यदि मन की शक्तियों को पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तु की वास्तविक सत्ता प्रकट हो जायेगी। यदि हम एक बिन्दु पर अपनी समग्र मन:शक्ति को एकाग्र कर सकें तो हम सहज ही उस वस्तु विशेष की, जिस पर हमने अपनी वृत्तियों को एकाग्र किया है, सारी विशेषताएँ जान जाएँगे चाहे वह वस्तु भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक हो। राज योग की साधना का उद्देश्य आत्मा के रहस्य का उद्घाटन करना व प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर छिपी हुई शक्तियों को जागृत करना है। राज योग के अभ्यास से वह शक्ति प्राप्त होती है जो संसार की अन्य सभी शक्तियों का नियंत्रण करने वाली है। राज योग का सारांश यह है कि जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली वह प्रकृति के समस्त व्यापारों पर शासन कर सकता है। योग की इस साधन प्रणाली को राज योग अथवा सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं। धारणा शक्ति और इच्छा शक्ति सभी प्रकार की भौतिक शक्तियों से श्रेष्ठ है। यही कारण है कि यूरोप के बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है।

राज योगियों के चार प्रकार

योगी भी चार प्रकार के होते हैं (१) प्रथम कल्पित (२)मधु

भूमिक (३) प्रज्ञाज्योतिः (४) अतिक्रान्तभणनीय।

(१) प्रथम कल्पित

यह बिल्कुल नौसिखुए होते हैं। इनमें प्रकाश की झलक मात्र दिखाई देती है। इनको सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होती। ये लोग सवितर्क समाधि का अभ्यास करते हैं।

(२) मधु भूमिक

ये लोग निर्वितर्क समाधि में प्रवेश कर ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त किये हुए रहते हैं। इस भूमिका को मधुमती भूमिका कहते हैं। इसके अन्दर वह ज्ञान प्राप्त होता है जो मधु के समान आनन्द दायक व तृप्तिकारी होता है।

(३) प्रज्ञाज्योति

ये पंच महभूतों और इन्द्रियों को जीते हुए रहते हैं। ये लोग देवताओं के प्रलोभन में भी नहीं आते। इस अवस्था का नाम मधु प्रतीक है।

(४) अतिक्रान्तभणनीय

यह योगी 'विशोका' और 'संस्कार शेषा' नामक भूमिकाओं पर आरूढ़ होते हैं। यह कैवल्यपद को प्राप्त होते हैं।

राज योगी बिना संयम किए ही प्रतिभा से सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। उच्चतम ज्ञान का नाम 'प्रसंख्यान' है। जो विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान से उत्पन्न होता है।

इस ज्ञान के प्राप्त हुए योगी के अन्दर अब 'धर्म मेघ' समाधि का उदय होता है। उस पर वैराग्य की प्राप्ति होती है। वह सब प्रकार की सिद्धियों से, यहाँ तक कि सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तित्त्व आदि से भी मुँह मोड़ लेता है, क्योंकि वह जानता है कि यह सारी सिद्धियाँ

सर्वोच्च समाधि की प्राप्ति में अन्तराय रूप ही है। तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिसमें जन्म मृत्यु के कारण भूत सारे संस्कार नि:शेष रूप से दग्ध हो जाते हैं।

इस स्थिति को प्राप्त योगी बिना नेत्रों के देखता है, बिना जिह्वा के रस स्वाद करता है, बिना कानों के सुनता है, बिना नाक के सूँघता है और बिना त्वचा के स्पर्श करता है। वह संकल्प मात्र से अगणित चमत्कार कर सकता है। उसकी इच्छा मात्र ही से सब कुछ हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन तैत्तिरीय आरण्यक (१/२५) में है।

मन के शांत होने पर प्राण भी शांत हो जाता है, परन्तु प्राण का निरोध करने पर भी मन की चंचलता पूर्ण रूप से दूर नहीं होती इसीलिये राज योग में प्राण का निग्रह न करके सीधे मन का निरोध किया जाता है जिससे प्राण का निरोध हठ के बिना ही हो जाता है। हठ योग का प्राणायाम रेचक, पूरक, कुम्भक है परन्तु राज योग प्राणायाम केवल कुम्भक है। हठ योग का प्राणायाम सर्वत्र प्रचलित है परन्तु राज योग के प्राणायाम का प्रचार नहीं है। हठ योग की समाधि जड़ कहलाती है और राज योग की चैतन्य । जड़ समाधि से विशेष लाभ नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता अ0 ६/४६ ४७ व अ. १८/५१, ५४ में राज योग का ही उपदेश दिया है।

लय योग

समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा संकल्प-विकल्प के जाल से मुक्त होकर, चित्त को वृत्ति शून्य बनाकर शांत अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा करने को लय योग कहते हैं। लय योगियों का विश्वास है कि स्वयं प्रकाश,आत्मतत्त्व शुद्ध, शांत चित्त में स्वयं स्फुरित होता है।

सृष्टि के आरम्भ में स्वयं प्रकाश, अखंड, एक रस, एक ही अद्वैत ब्रह्म था, उसके सिवा दूसरा कोई भी न था, 'स्पन्दन' और 'अस्पन्दन' नामक दो शक्तियाँ शिवरूप इस बह्म में निगूढ़ थीं। प्राणियों के कर्मविपाक के द्वारा लय के बाद सृजन होता ही हैं। इस नियम के अनुसार ब्रह्मा में स्वभावत: संकल्प स्फुरित हुआ 'बहुस्यां प्रजायेय', बहुत होऊँ, सृष्टि करूँ। संकल्प की स्फुरणा मात्र से ही, ईक्षणा मात्र से ही, स्पन्दन और अस्पन्दन शक्तियों का संयोग हुआ और एक महाशक्ति उत्पन्न हुई, गुणत्रय की साम्यावस्था रूप जड़ चेतन विभागमयी वह महाशक्ति ही प्रकृति है। दर्पण में जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही चिदात्मा के प्रकृति में प्रतिबिम्ब होते ही, प्रकृति के दो रूप हो गए। स्पन्दनांशमय प्रकृति का जड़ अंश 'परा प्रकृति' कहलाया और अस्पन्दनांश चेतन अंश के रूप में 'परा प्रकृति' माना गया। शास्त्रीय परिभाषा में प्रकृति अस्पन्दनांश को 'पर प्रणव' और अस्पन्दनांश को 'अपर प्रणव' कहते हैं। पर प्रणव वाच्य और अपर प्रणव वाचक है। वाच्य प्रणव अपवाद रूप है और वाचक प्रणव अध्यारोप रूप है। इस वाच्य और वाचक प्रणव के संयोग से एक महाशक्ति उत्पन्न होती है जो विवृच्छक्ति कहलाती है।

यह विवृच्छक्ति जगत् की उत्पत्ति का कारण है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति जगत् का महा कारण है। ईक्षणाशक्ति द्वारा ही विवृच्छक्ति प्रेरित होती है और सृष्टि संकल्प करती है। सृष्टि संकल्प की इस विधि का शास्त्रीय नाम पर्यालोचना है।

पर प्रणव की संज्ञामात्र से अर्थात् पर प्रकृति की सन्निधि से अपर प्रणव अर्थात् अपरा प्रकृति में संकल्पनिवृत्ति प्रारम्भ हुई और वह अकार, उकार और मकार के तीन रूपों में विभक्त हो गई।

सूर्य एक होते हुए भी अनेक स्थलों में प्रतिबिम्बित हो सकता है उसी प्रकार परब्रह्म अद्वय होते हुए भी प्रकृति जन्य विभक्ति के द्वारा

तीन महा शक्तियों के रूप में भासमान् होता है। ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी शक्ति के रूप में यह तीनों महा शक्तियाँ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बनीं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर यह इन तीनों शक्तियों के अधिष्ठाता देव हैं। यह तीनों महाशक्तियाँ 'सृष्टि संकल्प शक्तय:' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें से प्रत्येक शक्ति में परब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रवृत्त हुई विवृच्छक्ति की प्रेरणा से कितने ही विशिष्ट प्रकार के संक्षोभ होने लगे इस संक्षोभ के परिणाम से अकार में से एक सूक्ष्म शब्द उत्पन्न हुआ, उकार में से एक स्थूल शब्द उत्पन्न हुआ और मकार में से एक अत्यन्त स्थूल शब्द उत्पन्न हुआ। इस शब्द को यौगिक विज्ञान में 'नाद' नाम से पुकारा जाता है।

प्रवण के अ-उ-म् इन अङ्गों से उद्भूत इन महा शक्तियों से क्रमश: मनो बीच, प्राण बीच और अहं बीच रूप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण बीज प्रकट हुए। सूक्ष्म शब्द शक्ति को सृष्टि बीच कहा जाता है और नादशास्त्र की परिभाषा में मनो बिन्दु कहते हैं। स्थूल शब्द प्राण बिन्दु है। प्राण बिन्दु ही सृष्टि का स्थित बीज है। अत्यन्त स्थूल शब्द को शास्त्र में अहं बिन्दु कहा है। अहं बिन्दु ही सृष्टि का लय बीज है।

सूक्ष्म शब्द ब्रह्म है, इस शब्द में रहने वाली सूक्ष्म नाद शक्ति ब्राह्मी शक्ति है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति द्वारा विवृच्छक्ति में यह ब्राह्मी शक्ति सूक्ष्म नाद रूप में प्रकट होती है। यही शक्ति विश्व सृजन का कारण है।

स्थूल शब्द शक्ति में वैष्णवी शक्ति विराजमान है। उसका अधिष्ठाता विष्णु है। यही वैष्णवी शक्ति प्राण बिन्दु की उत्पति का आदि कारण है। प्राण को विष्णुयपदामृत कहा गया है। परब्रह्म की ईक्षणा शक्ति के प्रभाव से विवृत् शक्ति में जो स्थूल नाद उत्पन्न होता

है वही वैष्णवी शक्ति का प्राण है, यही शक्ति अखिल विश्व की स्थिति का कारण है।

अत्यन्त स्थूल शब्द में रहने वाली लय शक्ति का अभिमानी देवता महेश्वर हैं। परब्रह्म की ईक्षणा के परम प्रभाव से विवृच्छक्ति में जो अत्यन्त स्थूल नाद प्रकट होता है वही माहेश्वरी शक्ति का प्राण है। यही शक्ति विश्व प्रलय का महा कारण है।

मनो बीज, प्राण बीज और लय बीज प्रत्येक के आदि कारण रूप में निगूढ़ रहने वाली निनाद शक्ति का यौगिक विज्ञान में क्रमशः अ, उ, म् रूप सांकेतिक परिभाषा में वर्णन किया जाता है। इसी कारण प्रणव को परब्रह्म की सृष्टि संकल्प शक्तियों के समुच्चय के रूप में माना जाता है। परब्रह्म की इस त्रिमूर्ति रूप विभूति को ही ईश्वर कहते हैं, इसी कारण प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा जाता है।

प्रणव का जप उसके अर्थ की भावना के साथ करना चाहिए। इस भावना में ध्यान की एकाग्रता आवश्यक है। यह एकाग्रता नादानुसन्धान से सहज ही सिद्ध हो सकती है।

जिस प्रकार वटवृक्ष के एक छोटे से बीज से वट का एक महावृक्ष उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार मनोबिन्दु रूपी सृष्टि गर्भ से अन्न और अन्नाद रूप में चित्र विचित्र नाम रूपात्मक स्वरूपों में विश्व की उत्पत्ति हुई है।

इस मनो बिन्दु अथवा सृष्टि बीज गर्भ को स्थूल शब्द या प्राण बीज अपनी शक्ति से अपने में आकर्षण कर उसी में तद्रूप होकर स्वयं ही पुनः स्वयं कल्पित सृष्टि के उपभोग द्वारा तत्त्व सम्बन्ध जन्य सुख दुःखादि का अनुभव करने लगा।

अत्यन्त स्थूल शब्द अथवा अहंबिन्दु सूक्ष्म शब्द जनित और स्थूल शब्द में प्रत्युत्पन्न इस प्रकार दोनों ही प्रकार की सृष्टि के साथ सूक्ष्म और स्थूल शब्द बीजों को अपने तेज़ से अपने में आकर्षित करके प्राण बिन्दु ज्योति में संलीन होकर उपभोग करने लगा।

प्राण बिन्दु को अपनी वृत्ति के साथ इस प्रकार उपभोग करता हुआ उसमें विराजमान जीवात्मा (चिदाभास) पर प्रणव के आश्रय से पूर्वानुभव के द्वारा ब्रह्म संस्पर्श का अनुभव करने जाता है, परन्तु वृत्ति के आवरण के कारण स्वरूप सत्य का भान उसे नहीं होता।

पूर्व जन्म के कर्मों का परिपाक पूर्ण हो जाने पर प्राण बिन्दु में रहने वाले स्थूल में क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् वह अपने अंश रूप वृत्ति का संचालन कर उसको अपने में खींच लेता है, इस समय चिदाभास के साथ वर्तमान वृत्ति पुनः शब्द में प्रवेश करती है।

चिदाभास के सान्निध्य मात्र से वह शब्द स्थूल में से अति स्थूल और उसमें से सूक्ष्म स्वभाव को पूर्ववत् प्राप्त होता है। यही उन्मनी अवस्था का मार्ग है। यही जीवात्मा के मोक्ष का (स्वरूप स्थिति का) क्रम है। लय योग का यही रहस्य है।

अपने स्वरूप में स्थित होना ही लय योग का परम रहस्य है। लय योग का मार्ग हठ योग की अपेक्षा सहज और भय रहित है। नाद बिन्दु, अमृत बिन्दु (ब्रह्म बिन्दु), ध्यान बिन्दु, तेजो बिन्दु आदि वैष्णव, शैव शक्ति मतानुसारी अनेकों उपनिषदों में इस योग का महत्व बतलाया गया है। सब का सार यह है कि मनो बिन्दु, प्राण बिन्दु, अहं बिन्दु, प्रभृति बिन्दु मात्र का स्वरूपानुसंधान पूर्वक संहार कर अर्थात् 'नाद' मय सारी भूमिकाओं का त्याग कर स्वरूप में स्थित कर उसी में लीन हो जाना लय योग अर्थात् नाद और बिन्दु का रहस्य है तभी साधक अपनी महिमा में स्वयं स्थित होकर स्वयं प्रकाशित होता है।

चिदाकाश में 'एकोऽहं बहुस्याम्' रूप स्पन्द हुआ। स्पन्द से नाद उत्पन्न हुआ । नाद उत्पन्न होने के लिये गति को उत्पन्न होना पड़ता है। विद्युत्प्रकाश होने के समय विद्युत्कण विलक्षण वेग से घूमा करते हैं। उनकी गति का वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्व

को प्राप्त होते हैं। वक्रगति और सरल गति से घूमने वाले विद्युत्कण ही शब्द रूप गति हैं। यह शब्द सामान्य मनुष्य के श्रवणेन्द्रिय को गोचर नहीं होता। जिनकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग्रत हो चुकी है वे उस शब्द को सुन सकते हैं। यही क्यों बल्कि हमारी यह ग्रहमाला जिस विशिष्ट गति से अपने चारों ओर तथा सूर्य के चारों ओर घूमती है, उस गति से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म ध्वनियाँ भी उस पुरूष को अनुभूत होती हैं जिसकी श्रवणशक्ति जाग उठी है।

ऐसी ध्वनियाँ दो प्रकार की होती है। एक अनाहत ध्वनि और दूसरी आहत ध्वनि। यों ही उत्पन्न होने वाली आहत ध्वनि से कोई अर्थोत्पत्ति नहीं होती। अनाहत ध्वनि का अर्थ है 'सोऽहम्' ध्वनि यह ध्वनि पहले अव्यक्त रूप से आज्ञा चक्र में मनोऽनुभूत हुई, अनन्तर अनाहत चक्र में जाकर श्रवणेन्द्रिय का द्योतक हुई, परन्तु मात्रोत्पत्ति अनाहत चक्र पर अवलम्बित नहीं है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व स्फोट हुआ अर्थात् महानाद उत्पन्न हुआ। परब्रह्म की इच्छा शक्ति ही स्फोट है और महानाद उसकी क्रिया शक्ति है। नाद के उत्पन्न होने के लिए गति का होना आवश्यक है और गति के होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णता के बिना गति उत्पन्न नहीं होती । उष्णता, नाद, और गति तीनों परस्पर सावेक्ष हैं जहाँ उष्णता होगी वहीं गति होगी और जहाँ गति होगी वहीं नाद होगा। उष्णता का दृश्य रूप प्रकाश है। महा नाद के साथ अक्षरोत्पत्ति हुई। परम शिव के डमरू से 'अ इ उ ण्' उत्पन्न हुए। अक्षर ही मातृकाएँ है। जो ब्रह्माण्ड में हैं। वही पिण्ड में हैं। इस न्याय से जीव की उत्पत्ति के साथ नाद, अक्षर और प्रकाश उत्पन्न हुए। मातृकाओं अथवा अक्षरों के साथ प्रकाश का साहचर्य अनिवार्य है। **'पंच-पंच ऊषः'** काल में नियत मानस होकर मध्यमा वाणी से नाम स्मरण करके, जिस नाड़ी से

योगश्वास चल रहा हो उस ओर अर्धोन्मीलित दृष्टि से ध्यान लगाने या छः महीने अभ्यास करने वाले को अपनी श्वास गति के साथ आने वाली प्रकाश किरणों का साक्षात्कार होता है। इसका अनुभव अभ्यास व एकाग्रता साधे बिना नहीं होता। यह प्रकाश कहीं कोटि सूर्य और कहीं कोटि चन्द्र के प्रकाश के सामन होता है। दाहिने नासारंध्र अर्थात् इड़ा (सूर्य नाड़ी) या बायें नासारंध्र पिंगला (चन्द्र नाड़ी) जिससे भी साधक अभ्यास करेगा, वैसा ही उसे अनुभव होगा।

साधक नाड़ी शोधन व प्राणायाम के झंझट में न पड़कर नाद साधन विधि से ही आत्मलीन होने का प्रयत्न करें। यह मार्ग सबसे सरल तथा विपद् शून्य है। इससे भी सुगमता के साथ दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वैसे तो नाद साधन के कई प्रकार हैं परन्तु उनमें चार मुख्य हैं । (1) शाम्भवी मुद्रा से ध्यान लगाना (2) खेचरी मुद्रा से रस स्वादन करना (3) भ्रामरी मुद्रा से नाद सुनना और (4) योग मुद्रा से आनन्द भोग करना। इन चार प्रकार के उपायों से लय योग की सिद्धि होती है।

योगियों ने लय योग में नादानुसन्धान, आत्म ज्योति दर्शन और कुण्डलिनी उत्थापन इन्हीं तीन प्रकार की क्रियाओं को श्रेष्ठ और सुख साध्य बतलाया है। इसमें कुण्डलिनी उत्थापन कुछ कठिन है। क्रिया विशेष का अवलम्बन कर मूलाधार को सिकोड़ कर जागती हुई कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर उठाया जाता है। यह विषय किसी योग्य गुरु से ही सीखना चाहिए। आत्म ज्योति दर्शन व नादानुसंधान बहुत सरल है। कमज़ोर दिमाग़ वाले को आत्म ज्योति दर्शन का अभ्यास नहीं करना चाहिए। नाद साधन ही सबसे सुगम और विपद् शून्य है। इसके आविष्कर्ता परम योगी जगदगुरु भगवान् शिव हैं। जप से सौगुना अधिक फल ध्यान में व ध्यान की अपेक्षा कई गुना फल योग से होता है।

लय योग की सरल विधि

साधक को नियम से शुरू होकर योग साधन के स्थान पर उत्तर की दिशा की ओर मुँह करके आसन जमा कर बैठना चाहिए। जिनको निर्वाण मुक्ति की इच्छा हो उनको पूर्व दिशा की ओर मुँह करना चाहिए। जिस-जिस आसन का अभ्यास हो उसे वही आसन लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदर को बराबर सीधा रखकर अपने शरीर को सीधा करके बैठना चाहिए। तत्पश्चात् नाभि मंडल में दृष्टि जमाकर कुछ देर तक पलक नहीं मारना चाहिए। नाभि मंडल में दृष्टि व मन लगाने से निश्वास धीरे-धीरे जितना कम होता जाएगा मन भी उतना ही स्थिर होता जाएगा। मन को स्थिर करने का ऐसा सरल उपाय दूसरा नहीं है। त्राटक योग से भी मन स्थिर होता है परन्तु अनियम से आँखें ख़राब होने का भय रहता है।

ऊपर लिखी विधि के समय यदि थोड़ी-थोड़ी वायु भी धारण की जाय तो नाद ध्वनि शीघ्र ही सुनाई पड़ती है। नाद की साधना करने पर ध्वनि सुनाई पड़ेगी। ऐसी ध्वनियाँ सुनते-सुनते कभी रोमांच हो जाता है, कभी सिर में चक्कर आने लगता है कभी कंठकूप जल से पूर्ण हो जाता है लेकिन साधक को इस ओर ध्यान न देकर अपना क्रम जारी रखना चाहिए और नाद की ध्वनि में मोहित न होकर शब्द सुनते-सुनते चित्त को लय कर देना चाहिए।

आत्म ज्योति दर्शन

इस प्रकार अभ्यास करते- करते हृदय के भीतर से अभूत पूर्व शब्द और उससे द्रुत प्रति शब्द सुनाई देगा। उस समय साधक को आँख बन्द करके अनाहत पद्म में स्थित वाण लिंग शिव के मस्तक पर निर्यात निष्कम्प दीप शिखा की भाँति ज्योति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार ध्यान लगाते-लगाते अनाहत मध्यस्थ प्रति ध्वनि के भीतर ज्योति दर्शन होगा। उस लौ के आकार में ज्योतिर्मय ब्रह्म में

साधक का मन संयुक्त होकर ब्रह्म रूपी विष्णु के परम पद में लीन हो जाएगा। उस समय शब्द बन्द हो जाएगा तथा मन आत्म तत्त्व में डूब जाएगा। साधक सर्व व्याधि से मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्द का उपभोग करेगा। उस समय का वह भाव अनिर्वचनीय, अवर्णनीय व उल्लेखनीय है।

नित्य नियमित रूप से इसी तरह नाभि स्थान में वायु धारण करने से अग्नि स्थान में गमन करती है उस समय अपान वायु द्वारा शरीरस्थ अग्नि क्रमशः उद्दीप्त हो उठती है। जिसकी पाचन शक्ति कम हो गई हो अगर वह इस क्रिया को ठीक विधि से करे तो कुछ ही दिन में शरीर का शोधन होकर पाचन शक्ति बढ़ जायेगी और पेट भी साफ़ हो जाएगा। इस नाद ध्वनि की साधना करते-करते अन्त में जो ॐकार ध्वनि सुनने में आती है वह ध्वनि जब तक साधक जीवन धारण करता है कभी बन्द नहीं होती। सदा सर्वावस्था में अर्थात् जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति में भी नाद ध्वनि चलती ही रहती है। शिव संहिता में भी मन को लय करने के लिए उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है।

मन को लय करने के अनेक साधन है परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तम है। यदि वायु प्रकृति वाला साधक परमात्मा के नाम का सद्गुरु के बतलाए हुए मार्ग से साढ़े तीन करोड़ जप कर ले तो अनहद नाद प्रकट हो जाता है। जिसकी पित्त की प्रकृति होती है उसकी नाड़ियाँ शीघ्र शुरू होने के कारण सवा करोड़ जप करने से नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकार का होता है। अभ्यास करते-करते जब दसवाँ नाद जो कि कुछ लोगों के मतानुसार बादल की गर्जना के तुल्य होता है प्रकट हो तब नौ नादों को छोड़ कर दसवाँ ही सुनते रहना चाहिए। दसवें नाद की कंप अवस्था में प्राण वायु और मन दोनों ही लय हो जावेंगे। मन पवन के लय हो जाने पर शेष ब्रह्म पद ही है। ब्रह्म नाड़ी जिसे सुषुम्ना कहते हैं उसके भीतर प्राण वायु के प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना आरम्भ होता है। धीरे-धीरे

अनहद को सुरत के बल से दाहिने कान से सुनते जाना चाहिए। अभ्यास की कंप अवस्था में फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ब्रह्म ज्ञान भी करा देगी और अन्त में वह भी ब्रह्म में लय हो जाएगी। जीव दशा नष्ट होकर ब्रह्म पद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जाग कर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रूद्र ग्रन्थि को भेद कर अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है। योगाभ्यासी को सद्गुरु की शरण लेकर ही कुण्डलिनी जाग्रत करना चाहिए।

सन्त समाज का एक बड़ा भारी भाग अनाहत या अनहद नाद का उपासक है, कबीरदास जी, रैदास जी, नानक जी और राधास्वामी जी ने केवल अनहद योग का प्रचार किया है।

विराट् में छत्तीस मंडल हैं और सबका एक-एक शब्द है, परन्तु केवल इसका शब्द प्रकट स्वर में चालू है और शेष छब्बीस के शब्द स्वरूप से गुप्त आवाज़ में चालू रहते हैं इसलिए उनका स्वर केवल अनुभव के कान से सुनाई पड़ता है।

(१) अगर मृत्यु के समय किसी नाद को पकड़ लिया जाय तो मृतक की आत्मा उसी मंडल में जा पहुँचेगी।

(२) नाद के साधक को यमदूत नहीं पकड़ सकते क्योंकि यह मंडल यमलोक से ऊँचे है।

(३) नाद के अभ्यासी की बुद्धि विकसित होती रहती है उसकी समझ में सत्य का प्रकाश आने लगता है।

(४) नाद के अभ्यासी को एकदम किसी न किसी स्वर्ग के मंडल में स्थान मिल जाता है। जिस स्वर को रूह पकड़ेगी उसी मंडल की सरकार में वह जा पहुँचेगी और पुण्य क्षीण होने पर पाप भोगने के लिए वह इसी भूमि पर उतार दिया जाएगा।

(५) नाद के अभ्यासी पर कामादि पाँचों शैतानी तत्त्व अपना प्रभाव कम डाल पाते हैं।

नाद का अभ्यास

प्रात: काल शौचादि से निवृत्त होकर किसी एकांत स्थान में चले जाओ। वहाँ शवासन में यानी सीधे लेट जाइए। हाथ के दोनों अँगूठों से दोनों कान पूरी तौर से बन्द करिए। अपने ही घर में शब्द सुनाई पड़ने लगेगा दाहिनी ओर के शब्द सुनना चाहिए बाईं ओर के शब्द माया के होने के कारण त्याज्य है।

अनाहद नाद

नं.	मंडल का नाम	स्वर है या शब्द	शब्द की उपमा
१	संहार देव का लोक	शब्द	पायजेब कैसी झंकार
२.	पालक देव का लोक	शब्द	सागर कैसी लहर
३.	सृजक देव का लोक	शब्द	मृदंग ध्वनि
४	सहस्रदल कमल	शब्द	शंख ध्वनि
५	आनन्द मंडल	शब्द	तुरही ध्वनि
६	चिदानंद मंडल	शब्द	मुरली ध्वनि
७	सच्चिदानंद मंडल	शब्द	बीन की ध्वनि
८	अखंड अर्द्ध मात्रा	शब्द	सिंह गर्जन ध्वनि
९	अगम मंडल	शब्द	नफीरी की ध्वनि
१०	अलख मंडल	शब्द	बुलबुल की ध्वनि

उपर्युक्त १० मंडल अपरा के और शेष २६ मंडल परा के इलाके में हैं।

कान बन्द कर लेने पर जो दस प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते है, वे सूक्ष्म आकाश तरंगों के शब्द अथवा भुवलोक के शब्द हैं। यह भौतिक व भुवलौकिक हैं, यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द या परम नाद नहीं है। इन शब्दों के सुनने से किसी-किसी मस्तिष्क में गर्मी आ जाती है और किसी-किसी का अपने ऊपर से प्रभुत्व जाता रहता

है और वह भुवलोक के माया जाल में फँस जाता है। अतएव किसी अनुभवी पुरूष के तत्वावधान में इसका अभ्यास करना चाहिए।

अंगिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतंजलि, वशिष्ठ, कश्यप और वेद व्यास आदि महर्षियों की कृपा से परम मंगलकारी तथा मन और वाणी से अगोचर ब्रह्मपद प्राप्ति के कारण लय योग का सिद्धांत संसार में प्रकट हुआ।

प्रकृति पुरूष श्रृंगार से उत्पन्न हुए, ब्रह्मांड और पिंड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध के ब्रह्मांड और पिंड एकत्व सम्बन्ध से युक्त हैं। अतः देवता, ऋषि, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति पुरूष सबका स्थान समान रूप से ब्रह्मांड और पिंड में है।

पिंड ज्ञान से ब्रह्मांड ज्ञान होता है। श्री गुरुदेव द्वारा शक्ति सहित पिंड का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर सुकौशल पूर्ण क्रिया द्वारा प्रकृति को पुरूष में लय करने से लय योग कहलाता है। पुरुष का स्थान सहस्रार में है और कुल कुण्डलिनी नाभि महाशक्ति आधार पद्म में सुषुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहने से ही वहिर्मुखी सृष्टि क्रिया होती है। योगाभ्यास द्वार उसको जाग्रत करके पुरुष के पास ले जाकर लय कर देने पर योगी कृतकृत्य होता है। इसी का नाम लय योग है।

योग तत्त्वज्ञ महर्षियों ने लय योग के नौ अंग बतलाये हैं। (१) यम (२) नियम (३) स्थूल क्रिया (४) सूक्ष्म क्रिया (५) लय क्रिया (६) प्रत्याहार (७) धारणा (८) ध्यान (९) समाधि।

स्थूल शरीर प्रधान क्रिया को 'स्थूल क्रिया' और वायु प्रधान क्रिया को 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति, पुरूषात्मक ध्यान को 'बिन्दु ध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लय योग का परम सहायक है। लय योगानुकूल अति सूक्ष्म व सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन मुक्त योगियों के ही उपदेश से प्राप्त होती है। वह 'लय क्रिया' कहलाती है। लय क्रिया के साधन द्वारा प्रसुप्त कुल कुंडलिनी नाम महाशक्ति

प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन होती है। इनकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त होता है। लय क्रिया की सिद्धि से महालय रूपी समाधि की उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

बहिरिन्द्रियों को वश में करने के साधन को 'यम' व अन्तरिन्द्रियों को वश में करने के साधन को 'नियम' कहते हैं। हठ योग की तरह तैतीस आसनों में से कुछ आसनों, पच्चीस मुद्राओं में से कुछ मुद्राओं का साधन यह सब लय योग की 'स्थूल क्रिया' कहलाती है। इसी प्रकार हठ योग के आठ प्राणायामों में से कुछ प्राणायाम और स्वरोदय आदि की क्रियाएँ लय योग के अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती है। सूक्ष्म क्रिया के साथ स्वरोदय साधन का, प्रत्याहार के साथ नादानुसंधान का और धारणा के साथ षट्चक्र भेदन का सम्बन्ध है।।

स्वरोदय के द्वारा बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। लय योग का पंचम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मन की सहायता से किया जाता है। प्रत्याहार की सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नाद का सुनना प्रारम्भ कर देता है। लय योग के आठवें अङ्ग में योगी शरीर के अन्दर के षट्चक्रों को जानता है और उनकी सहायता से साधन का अभ्यास करता है, योगाचारियों का मत है कि मेरुदंड से लेकर मस्तक तक सात ऐसे स्थान हैं जिनकी सहायता से योगी प्रकृति शक्ति को नीचे से ले जाकर ऊपर सातवें सहस्र दल के स्थान में शिवशक्ति का संयोग करके मुक्ति प्राप्त करता है। यह साधन धारणा-साधन प्रारम्भ होकर समाधि सिद्ध तक सहायता करता है, लय योग के ध्यान का स्थान 'बिन्दु स्थान' है। इसका साधन करते-करते योगी प्रकृति के सूक्ष्म रूप का बिन्दु रूप में दर्शन करता है। उसी का ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लय योग की कुछ और भी क्रियाएँ जो श्री गुरुमुख से प्राप्त होती है, उनका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधि को प्राप्त कर लेता है। लय योग की समाधि को महालय कहते हैं। लय योग की विशेषता के सम्बन्ध में स्वरोदय की क्रियाएँ, षट्चक्र के भेदन की

क्रियाएँ और अन्यान्य क्रियाएँ जैसे व्योम जपी, सुरभि जपी, अज्या आदि हैं, जिनके विषय में लय योग संहिता में निम्नलिखित वर्णन है।

जो सूक्ष्म योग क्रियाएँ ध्यान की सिद्धि कराकर साधक की समाधि सिद्धि में सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओं का महर्षियों ने लय क्रिया के नाम से वर्णन किया है। लय क्रिया ही लय योग का प्राण है और समाधि सिद्धि का कारण है। षट्चक्र, षोडश आधार से अतीत व्योम पंचम और उनचास पीठ इनको जानने से लय योग में सिद्धि प्राप्त होती है। लय क्रिया के द्वारा ध्यान सिद्धि, समाधि सिद्धि और आत्म साक्षात्कार होता है। मंत्र योग में जैसे रूप कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है लय योग में वैसी कल्पना नहीं की जाती। लय योग का योगी, योग साधन के द्वारा अन्तर्जगत् में एक अलौकिक बिन्दु का दर्शन करता है। उसी को स्थिर रखकर उसी में परमात्मा के ध्यान करने को 'बिन्दु ध्यान' कहते हैं। यही लय योग की विशेषता है। लय योग की दूसरी विशेषता यह है कि लय योगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्मांड को अपने शरीर में देख सकता है क्योंकि लय योग सिद्धांत के अनुसार समष्टि रूपी ब्रह्मांड का व्यष्टि रूपी मनुष्य पिंड पूरा नमूना है। लय योग की सहायता से ही प्राचीन काल के महर्षिगण इस मृत्युलोक में बैठकर ब्रह्मांड का पता लगा लेते थे।

अनाहद शब्द

इसमें पद्मासन या सिद्धासन व सुखासन में बैठकर षण्मुखी (वैष्णवी) मुद्रा का साधन किया जाता है व दाहिने कान से अनाहत शब्द सुना जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण और प्राण का स्वामी मन का लय है। मन का लय नाद के श्रवण से होता है अर्थात् षण्मुखी मुद्रा में अपने दोनों अँगूठों से कान, दोनों

तर्जनियों से आँख, दोनों मध्यमाओं से नाक व बाकी अँगुलियों से मुँह बन्द करके आधी रात्रि के बाद आन्तट् शब्द में मन को लगाना मन को लय करना है। योगवाशिष्ट व हठ योग प्रदीपिका में लय योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

कानों को उँगलियों या मोम से बन्द करके भी अनाहत शब्द सुनने का अभ्यास किया जाता है। अभ्यास करने पर पहले समुद्र व मेघ गर्जन व अग्नि जलने का शब्द सुनाई देगा, फिर आरती की घंटी। इस तरह दस प्रकार के शब्द सुनाई देंगे। फिर विराम अर्थात् ठहरो, फिर सिंह नाद, फिर धीमा और दूर पर बंशी नाद फिर समीप सुनाई देगा, किन्तु इस बंशी ध्वनि को अधिक नहीं सुनना चाहिए क्योंकि इसमें लय होने की सम्भावना है। पीछे सोऽहं शब्द बहुत धीमे फिर सी-सी जैसा शब्द और अन्त में ॐका शब्द सुनाई देगा। इसके बाद पवित्र ज्योति दिखलाई पड़ेगी जिसमें सिद्ध महात्मा गण दिखेंगे, फिर रक्त हंस दिखाई देगा, तत्पश्चात् आत्म दर्शन होगा। अन्त में शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास को करने वाला साधक कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद दस बारह घंटे तक बीमार पड़ेगा जिसमें ज्वर, दस्त व कम्प होते हैं इससे भय नहीं करें। बीमारी स्वयं चली जाती है।

पायु गुदा से दो अँगुल ऊपर और उपस्थ जननेन्द्रिय से दो अँगुल नीचे चतुरङ्गुल विस्तृत समस्त नाड़ियों का मूल स्वरूप पक्षी के अंडे की तरह एक कंद है जिसे मूलाधार कहते हैं, विद्यमान है। जिसमें वे बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीर में व्याप्त हैं। जिसमें से इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना मुख्य हैं। मूल से उपस्थित इड़ा और पिंगला मेरुदंड के वाम और दक्षिण भाग में समस्त पद्मों को वेष्टन करके आज्ञाचक्र पर्यंत धनुषाकार से जाकर भ्रू मध्य से ऊपर ब्रह्मरंध्र मुख में संगत हो नासारंध्र में प्रवेश करती हैं। भ्रू मध्य में जहाँ इड़ा और पिंगला मिलती हैं वहीं पर मेरु मध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है। इसीलिए यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है क्योंकि शास्त्रों में इन तीनों नाड़ियों को

गंगा,यमुना और सरस्वती कहा है।

इड़ा भोगवती गंगा, पिंगला यमुना नदी।
इड़ा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इस त्रिवेणी में योगबल से योगी अपनी आत्मा को स्नान करा सकता है।

त्रिवेणी योगःसा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलं।

इस शास्त्रीय वचन के अनुसार उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रणवाकृति सुषुम्ना, धनुषाकार इड़ा और पिंगला के बीच में से मेरुदंड के अन्त तक जाकर उससे पृथक् हो चक्राकार को धारण करके भ्रू युगल के ऊपर इड़ा और पिंडला के साथ ब्रह्मरंध्र मुख में संगता हो ब्रह्मरंध पर्यंत आती है। पिंगला के समान सुषुम्ना भी मूलकंद से निर्गत हो ब्रह्मरंध्र पर्यंत गया है।

इस प्रकार मूलकंद से लेकर ब्रह्मरंध्र पर्यंत विस्तृत सुषुम्ना नाड़ी की छःग्रन्थियाँ हैं जो षट्चक्र कहलाती हैं। योग क्रिया द्वारा मूलाधार स्थित निद्रित कुल कुण्डलिनी को जागृत करके इन छः चक्रों के द्वारा सुषुम्ना पथ में प्रवाहित करके ब्रह्मरंध के ऊपर सहस्रदल कमल स्थित परम शिव में लय कर देना ही लय योग का उद्देश्य है।

इस सम्प्रदाय में यह बतलाया गया है कि सहस्रार चक्र में कामेश्वरी और कामेश्वर का ध्यान करें। यह आद्यगुरु हैं इसलिए इनका स्थान सहस्रार के अन्त में श्री गुरुपादुका ही बताया है। लय योग में कुण्डलिनी का जागना केवल गुरु कृपा से ही होता है। इसलिए इस सम्प्रदाय में गुरु ही मुख्य देवता माने गये हैं। श्री गुरु ही स्पर्श दीक्षा और फिर दिव्य दीक्षा शिष्य को देते हैं। दीक्षा होने पर एक क्षण में ही शिष्य की कुण्डलिनी जाग उठती है। उसके जागने पर मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत् रूप से

कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

❖ ❖ ❖

ध्यान योग

कुछ साधकों ने ध्यान द्वारा ईश्वर साक्षात्कार करने के लिए एक साधना बतलाई है जो कि निम्न प्रकार है।

अपने सामने एक आदर्श या आइना रखें और उसके सामने एक घी का दिया इस तरह रखें कि उसकी ज्योति आइना के मध्य भाग पर प्रतिबिम्बित हो। दर्पण के मध्य भाग में एक बूंद सुगन्धित तेल डाल दें। दर्पण के मुख्य भाग मे जहाँ ज्योति दिख रही हो, वहाँ उस ज्योति की शखांकृति पर दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास करें। इस अभ्यास के समय मौन रहें। मन में कोई विचार न आने दें और केसर, इलायची व जायफल बराबर-बराबर लेकर उनको बारीक़ पीसने के बाद कपड़े से छान लें व रेशमी कपड़े के टुकड़े में रखकर उसकी पोटली बनाकर इस तरह सियें कि कानों में उसका डाट लगाया जा सके। डाट लगाने के बाद उस पर मोम लगा दे ताकि बाहर का कोई शब्द न सुनाई पड़े। यह कर्ण मुद्रा लगाने के बाद दर्पण में ज्योति के प्रतिबिम्ब की शंखाकृति पर दृष्टि स्थिर करें। आरम्भ में आँखों से गरम पानी आएगा, उसे आने दें और अभ्यास बन्द न करें। अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाते जाए लगभग एक सप्ताह में आँख में पानी आना बन्द हो जाएगा। पानी से अगर आँखें बीच में ही बन्द हो जाये तो उनको पोंछकर अभ्यास करते रहे। चित्तवृत्ति को स्थिर करके, बिना पलक गिराये जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जा सके उतना ही अधिक लाभप्रद है। पहले दिन दस या पन्द्रह मिनट ही अभ्यास करें बाद मे क्रमशःधीरे -धीरे घंटा सवा घंटा तक बढ़ाते ले जाय । जब आध घंटे तक चित्त को स्थिर रखकर बिना पलक गिराये एकाग्र दृष्टि

से देखने का अभ्यास हो जाता है तब इष्ट देवता के दर्शन होते हैं। उनसे सम्भाषण होता है और भूत,भविष्य वर्तमान का ज्ञान आदि अनेक विविध चमत्कार दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इन चमत्कारों में न फँसकर साधक भगवत्स्वरूप की भावना को दृढ़ रखकर उसका प्रत्यक्ष होते ही उससे तन्मय हो जाय और इस प्रकार कृतार्थ लाभ करें।

जिसकी आँखों में किसी तरह की कोई शिकायत हो या दृष्टि कमजोर हो उनको इतने समय तक दृष्टि स्थिर रखने के सम्बन्ध में किसी योग्य डाक्टर से परामर्श कर लेना चाहिए।

ध्यान योग के सम्बन्ध में श्री शुकदेव जी को उपदेश देते हुए महर्षि व्यास जी ने बतलाया था कि ध्यान योग के साधक को चाहिए कि वह हृदय के दोषों को दूर कर पापों से मुक्त हो योग में सहायता पहुँचाने वाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन इन बारह उपायों का आश्रय लें।

ध्यान योग के साधक को ऐसे स्थान पर आसन लगाना चाहिए जो समतल और पवित्र हो। जहाँ रेत, कंकड़ पत्थर और आग आदि न हों, कानों में किसी तरह की आवाज़ न आती हो, दूसरों के रहने का घर, सार्वजनिक कुआँ, तालाब, बावड़ी व नदी घाट आदि न हो। जो नेत्रों को भला मालूम हो, जहाँ मन लगे और हवा का ज़ोर न हो। गुफा या ऐसा ही कोई एकांत स्थान ही ध्यान के लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थान पर आसन लगाने को देश योग कहते हैं। आहार, विहार, चेष्टा, सोना और जागना यह सब परिमित व नियमानुकूल होना चाहिए। यह कर्म योग है। सदाचारी शिष्य को अपनी सेवा और सहायता के लिए रखना अनुराग योग कहलाता है। आवश्यक सामग्री संग्रह को अर्थ योग कहते हैं। ध्यानोपयोगी आसन से बैठना उपाय योग है। संसार के विषयों और सगे सम्बन्धियों से आसक्ति तथा ममता हटा लेने को अपाय योग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्र के वचनों पर विश्वास रखने का नाम निश्चय योग है। चक्षु आदि इन्द्रियों को वश में रखना

चक्षु:योग है। शुद्ध सात्विक भोजन का नाम आहार योग है। विषयों की ओर होने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकना संहार योग है। मन के संकल्प, विकल्प को शांत करने का प्रयत्न मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोगादि होने के समय जो महान दु:ख होता है उस पर विचार करके संसार से विरक्त होने का नाम दर्शन योग है। जिसे योग के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना हो, उसे इन बारह योगों को अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिए।

प्रसिद्ध योगी स्वामी नारायण ने एक ऐसी युक्ति बतलाई है जिस ध्यान से साधक सिद्ध दशा को प्राप्त हो गए। इसके समान और कोई ध्यान नहीं है। साधक अपने दाहिने नेत्र में सूर्य का ध्यान करे ओर बायें नेत्र में चन्द्रमा का। इस प्रकार ध्यान करते- करते सूर्य व चन्द्रमा आकाश की तरह जब नेत्रो में ध्यान करें दिखने लगें तब दाहिना नेत्र तपने लगेगा व बायाँ नेत्र शीतल होने लगेगा। इसके बाद सूर्य की धारणा बाएँ में और चन्द्रमा की दाहिने में करें। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्रमा को आन्तर दृष्टि करे हृदयाकाश में देखते रहना और दृष्टा जो जीव है उसके स्वरूप को भी देखना और जीव के स्वरूप में परमात्मा का ध्यान करना। इसके पश्चात् ध्याता का जो वासना युक्त लिंग देह है वह चक्र के समान आकाश में घूमता हुआ भास होने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते- करते उसको भगवान् के विश्व रूप का दर्शन होता है। उसमें चौदह लोकों की रचना दिखाई पड़ती है तथा समग्र ब्रह्मांडादि पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। तत्पश्चात् अणिमादि सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं और सूर्य चन्द्र की किरणें जहाँ तक पहुँचती हैं वहाँ तक उस ध्याता की दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियाँ मिलने पर भी भगवद्भक्त साधक उन सिद्धियों का उपयोग नहीं करता तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेव जी के समान सिद्ध दशा को प्राप्त होता है। सिद्ध दशा को प्राप्त करने का यह बहुत ही उत्तम उपाय है।

ध्यान में विघ्न

ध्यान में बाधा डालने वाले चार प्रकार के विघ्न तथा उनसे बचने के उपाय इस प्रकार हैं।

(१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय और (४) रसास्वाद।

(१) लय

आलस और निद्रा से वृत्ति के अभाव को लय कहते हैं। निद्रा व आलस्य को आँखो में जल कपूर लगाकर रोके।

(२)विक्षेप

वृत्ति के बहिर्मुख होकर पुनः अनात्म पदार्थो में लग जाने को विक्षेप कहते हैं। अतःवृत्ति के अन्तर्मुख होने पर जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे उस वक़्त तक बाह्य पदार्थों में दोष भावना करता रहे, वृत्ति को बहिर्मुख न होने दें किन्तु अन्तर्मुखता का ही ध्यान करें।

(३) कषाय

रागद्वेषादि के संस्कारों को कषाय कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं। एक बाह्य दूसरा आन्तर् । पुत्र धनादि के प्रति, रागद्वेष, मोहादिक बाह्य हैं। भूत और भविष्य का चिन्तन रूप मनोराज्य आन्तर् है। सत्य संकल्प से इनका निरोध करना चाहिए।

(४) रसास्वाद

सविकल्प समाधि से होने वाले आनन्द को रसास्वाद कहते हैं। यदि साधक सविकल्प समाधि से होने वाले आनन्द में ही अलंबुद्धि कर ले तो वह निर्विकल्प समाधि के आनन्द से वंचित रह जाएगा। अतः रसास्वाद में ही साधक अपने को कृतकृत्य न मान ले वरन् असंग होकर वैराग्य के अभ्यास से निर्विकल्प समाधि के लिए अवश्य

प्रयत्न करें।

कर्मयोग

जो हठ योग व राज योग का अभ्यास नहीं कर सकता उसके लिए गीता में दिए हुए उपदेश के अनुसार भगवान् कृष्ण ने कर्म योग की व्यवस्था की है। भगवान् ने ऐसे साधकों व भक्तों के लिए 'निष्काम कर्म' का आदेश दिया है। योगत्रयानन्द श्री शिवराम किंकर जी ने उसकी इस प्रकार व्याख्या की है। निष्काम शब्द का अर्थ हैं 'निर्गत हुई विषय कामना जिससे अर्थात् जिस काम में विषय वासना नहीं है। केवल भगवत् चरण प्राप्त करने की कामना है उसी कर्म को यहाँ निष्काम कर्म कहा गया है। यह निष्काम कर्म है भगवान् के साथ युक्त होने के लिए एक प्रकार का योगाभ्यास । प्रातःकाल से सायँकाल और सायँकाल से प्रातःकाल तक जो कुछ भी कर्म करें वह सब इस भाव से करना चाहिए कि हे! विश्वपति, यह सारा विश्व ब्रह्मांड आपका एक भारी कारख़ाना है और मै उसमें एक क्षुद्र कर्मचारी हूँ, अतएव मैं जो कुछ काम करता हूँ वह आप ही का काम करता हूँ। मैं इसके द्वारा आप ही की सेवा करता हूँ। हे दयामय ! आप इस काम के द्वारा मेरे ऊपर प्रसन्न होइये। इस प्रकार कर्म करते-करते वह कर्म द्वारा ही भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। भगवान् जब प्रसन्न रहेंगे तब वह वेद विहित कर्म के लिए सुमति, ज्ञान, भक्ति और दर्शन देंगे। इसलिए कर्म योग ही ज्ञान और भक्ति का मूल है। बुद्धिमान् मनुष्य एक ही जन्म में ज्ञानी और भक्त बनकर भगवान् के साथ युक्त हो कर जीवन सफल कर सकता है। इसलिए ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग में कर्म योग ही प्रधान है।

पूर्व लिखे ज्ञान के आधार पर शरीर के प्रति अहंता और पदार्थों के प्रति ममता का त्याग कर सब प्रकार के कर्मो को श्री भगवान् व

इष्टदेव के कर्म समझकर केवल उन्हीं के निमित्त नि:स्वार्थ व निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए और उन कर्मों को भगवान् श्री कृष्ण के गीता में दिए हुए उपदेशानुसार भगवान् के ही चरणों पर अर्पित कर देना चाहिए। काम करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हों,कोई ऐसा कर्म कदापि न हो जो भगवान् के गुण, वचन व इच्छा के विरूद्ध हो। अपने सांसरिक व्यवहारिक कर्म भी भगवान् व इष्टदेव के कार्य समझकर उन्हीं के निमित्त निष्काम भाव से करना चाहिए।

उपर्युक्त कहे गये ज्ञान, भाव और कर्म के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह और शुद्धि, मन का संयम तथा चित्त की शुद्धि करके अहंकार, ममता और स्वार्थ को भली-भाँति त्याग देना चाहिए, दूसरों के द्वारा किए गए अपमान, अपकारादि को धैर्यपूर्वक सहते हुए जन जनार्दन अर्थात् सब प्राणियों को भगवद्रूप जानकर उनके हित साधन को ही निष्काम भाव से करना चाहिए ओर विशेषकर सदाचार, ज्ञान और भक्ति भाव का सब प्रकार से अपने आचरण द्वारा प्रचार करना चाहिए।

भगवान् के जिस सगुण व साकार भाव के प्रति हृदय का स्वाभाविक झुकाव हो, उसी के प्रति अनुरक्त होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूप का कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदि के द्वारा निस्वार्थ प्रेम के साथ नित्य उपासना करना चाहिए और उसी में चित्त को निरंतर लगाना चाहिए। परमात्मा के उसी दिव्य नाम का निरंतर मानसिक जप करते हुए शरीर से अन्य काम भी करते रहना चाहिए।

कुछ लोग कर्म योग को छोटा समझते हैं परन्तु ऐसी बात नहीं है। अनेक जन्मों में कर्म करते-करते लोगों में भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। ज्ञान और भक्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य ज्ञानी और भक्त बनकर भगवान् के साथ युक्त होकर मनुष्य जीवन सफल कर सकता है। अतएव कर्म योग को साधारण योग न समझकर मुख्य योग

समझना चाहिए। निष्काम कर्म करते हुए किसी साधन के करने पर ही वास्तविक सफलता प्राप्त होती है। भगवान् श्री कृष्ण ने भी गीता के तीसरे अध्याय में कर्म योग का ही उपदेश दिया है।

भक्तियोग

जो भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन रूप आगे लिखी हुई नवधा भक्ति का अभ्यास करता है, वह अपनी रूचि, प्रकृति साधन की योग्यता तथा स्थिति के अनुसार शान्त, हास्य, सख्य वात्सल्य और माधुर्य इन पाँच भावों में से किसी एक भाव का साधन करता है और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करता है। भक्त आत्म समर्पण के द्वारा भगवद् कृपा को प्राप्त कर सारे ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है।

उसकी इस प्रकार की मुक्ति क्रम मुक्ति कहलाती है। इस क्रम मुक्ति को प्राप्त भक्त ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ महा प्रलय तक ब्रह्मा के समीप रहता है और पश्चात् ईश्वर के साथ ही निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाता है।

संसार में मनुष्य जन्म का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यह पूर्व जन्म के संचित कर्मों द्वारा सौभाग्य से प्राप्त होता है। अतएव ईश्वर भक्ति द्वारा इसी योनि से ही मनुष्य भवसागर से पार होकर आवागमन से रहित तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि:-

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥

(श्रीमद्भा११।२०।१७)

अर्थात् निरतिशय श्रेय: साधन के उपयुक्त और अत्यन्त दुर्लभ दृढ़

नौकारूप मनुष्य शरीर पाकर, जिसका कर्णधार सद्गुरु है और जो अनुकूल पवन रूप मुक्त संचालित नहीं करता है वह आत्मघाती है।

सांख्य योग, ज्ञान योग आदि विभिन्न होने पर भी किसी एक का भी पूर्ण रूप से यथावत् साधन करने से साध्य पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है किन्तु सभी साधन अत्यन्त गहन होने के कारण कठिन और दु:साध्य हैं। इनके सिवा भगवत् भक्ति एक ऐसा साधन है जिसकी साधना अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत ही सुगम होते हुए भी लगभग उतनी ही फल प्रद है और इसके उदाहरण कितने ही भक्त हैं?

पानेन ते देव कथा सुधाया:, प्रबुद्ध भक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्य सारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोगवलेन, जित्वा प्रकृति वलिष्ठाम्।
त्वामेव धीरा: पुरूषं विशन्ति, तेषां श्रम: स्यान्न तु सेव्या ते॥

(श्रीमद्भाग0 ३/६/४५/४६)

हिरण्यकशिपु के पूछने पर कि प्रह्लाद गुरु ने क्या सिखाया- प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि :-

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भाग0 ७/५५/२३)

अर्थात् (१)श्रवण (२)कीर्तन (३)स्मरण (४) पाद सेवन (५) अर्चन (६)वन्दन (७)दास्य (८)सख्य और (९)आत्म निवेदन ये ही नवधा भक्ति है।

(१) श्रवण भक्ति

भगवान् की अलौकिक लीलाओं को श्रद्धा और प्रेम के साथ सुनना। जब तक भगवान् के चरित्रों की कथाओं को श्रवण नहीं किया

जांता तब तक मनुष्य के हृदय में भगवान् के चरण कमलों के प्रति प्रेम और भक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

अर्थात्-- 'हे देव! आपके कथामृत के पान से बढ़ी हुई भक्ति द्वारा शुद्धान्त:करण हो जाने वालों को जिस प्रकार वैराग्य का सार भूत ज्ञान प्राप्त होकर अनायास वैकुण्ठ पद प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि समाधि जन्य योगबल से बलवती प्रकृति को जीतने वालों को भी आपकी प्राप्ति होती है किन्तु इन दोनों में यह बड़ा भरी भेद है कि योगिजनों को जो स्थान घोर परिश्रम से प्राप्त हो सकता है वह आपके भक्त को केवल श्रवण भक्ति द्वारा अनायास ही मिल जाता है।

श्रवण भक्ति का मूल एक मात्र सत्संग है। अतएव श्रवण भक्ति को प्रथम कथन का तात्पर्य 'सत्संग' का सर्वोपरि महत्व प्रदर्शित करना भी है। सत्संग के बिना श्रवण भक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

राजा परीक्षित को सम्पूर्ण भागवत सुनाने के बाद श्री शुकदेव जी ने अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा -

'अनेक प्रकार के दु:खरूप दावानल से तापित होकर संसार समुद्र से उत्तीर्ण होने की इच्छा वाले पुरूष को भगवान् पुरुषोत्तम की लीलाओं के कथामृत सेवन के सिवा अन्य कोई पार उतारने की नौका नहीं है।'

(२) कीर्तन भक्ति

भगवान् की मंगलमय लीलाओं के महत्वसूचक चरित्रों का कीर्तन, भगवत्चरित्रों की कथाओं का पाठ अथवा भगवान् के नामों का कीर्तन और जप आदि 'कीर्तन भक्ति' है।

भक्ति के अंगो में श्रवण, कीर्तन और स्मरण यह तीन अंग मुख्य हैं।

इन तीनों में भी कीर्तन प्रधान है। इसका तात्पर्य श्रवण और स्मरण

की न्यूनता बताने का नहीं है किन्तु बात यह है कि श्रवण और स्मरण में चित्त की एकाग्रता होना परम आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता के बिना श्रवण और स्मरण(ध्यान) यथावत् नहीं हो सकता परन्तु नाम कीर्तन के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा गया है कि :-

जान में या अनजान में उत्तम श्लोक, भगवान् का नाम कीर्तन करने वाले पुरूष के पाप तत्काल वैसे ही नष्ट हो जाते है जैसे अग्नि में ईंधन। इसी से कीर्तन भक्ति को प्रधानता दी जाती है। कीर्तन द्वारा भक्ति प्राप्त होती है। (श्रीमद्भाग0 ६/२/१८)

कीर्तन भक्ति के भी तीन भेद है। भगवान् की लीलाओं का, गुणों का और नामों का कीर्तन। इन तीनों में नाम कीर्तन मुख्य है।

ब्रह्मा जी ने देवर्षि नारद जी से कहा है।

जो मनुष्य प्राणांत के समय विवश होकर भी भगवान् के नाम का उच्चारण करता है उनके जन्म-जन्मान्तरों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वे मोक्षद्वार में सीधे चले जाते है। (श्रीमद्भाग0 ३/९/१५)

कलियुग में तो विशेषकर भगवन्नाम कीर्तन से ही बेड़ा पार हो सकता है। (श्रीमद्भाग0 १२/३/५१-५२)

कलियुग में नारदीय भक्ति ही सार है। ईश्वर का गुणगान करने ओर व्याकुल चित्त से प्रार्थना करने पर परमात्मा की अवश्य प्राप्ति होती है। (श्री राम कृष्ण परमहंस)

भगवान् ने एक मर्तबा देवर्षि नारद के पूछने पर अपने मिलने का पता बताते हुए कहा था कि :-

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गाायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

अर्थत् 'वैकुण्ठ में चाहे मैं न रहूँ, योगियों के हृदय में चाहे मेरा

पता न लगे परन्तु जहाँ पर मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणों का गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य ही मिलता हूँ।

(३) स्मरण भक्ति

भगवान् के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदि के किए गए कथामृत के श्रवण अथवा कीर्तन का मनन करना और भगवान् की लोकोत्तर लावण्यमयी श्री मूर्ति का ध्यान करना स्मरण भक्ति है। स्मरण भक्ति को भी पराभक्ति का साधन बताया गया है। 'भगवान् श्री कृष्ण के चरणारविन्दों का स्मरण(ध्यान) समग्र अमंगलों का नाश और शांति का विस्तार करता है, एवं सत्व की शुद्धि, परमात्मा की भक्ति और वैराग्य सहित विज्ञान का विस्तार करता है। (श्रीमद्भाग0 १२।१२।५४)

श्री शुकदेव जी ने कहा कि अन्त:करण की शुद्धि का सर्वोपरि साधन भगवत् स्मरण (ध्यान) ही है।

'विद्या(शास्त्राध्ययन), तप(अनशन आदि), प्राणायामादि योग क्रिया, मैत्री (अहिंसा आदि), तीर्थ स्थान,व्रत (एकादशी) आदि दान, जप आदि से अन्त:करण की वैसी शुद्धि नहीं होती जैसी अनंत भगवान् हरि को हृदय में स्थापित करने से होती है।

(श्रीमद्भाग0 १२।३।४८)

गीता में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण जी कहते है कि:-

ज्ञानी जनों की अव्यक्तोपासना को अधिक दु:साध्य बतलाकर भगवान् कहते हैं कि 'हे पार्थ! जो मेरे परायण रहने वाले सगुणोपासक भक्तजन अपने सम्पूर्ण कर्मों को युक्त सुगुणरूप वासुदेव को अर्पण करके अनन्यभक्ति योग के द्वारा मेरा ध्यान करते हैं उन, मुझ में चित्त लगाने वाले भक्तों को मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार- समुद्र से पार करता हूँ।(श्रीमद्भाग0 १२।६-७)

(४) पाद सेवन

पाद सेवन भक्ति एक तो भगवान् की साक्षात् पाद सेवा है और दूसरा भगवान् के पाद-पद्मों का भजन। इसमें प्रथम प्रकार की पाद सेवा बड़ी दुर्लभ है जिसके लिए ब्रह्मा जी भी लालायित होकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि :-

'हे नाथ। इस जन्म में अथवा आगे जहाँ कही भी कर्मवश प्राप्त होने वाले पशु पक्षी आदि किसी भी तिर्यक् योनि के जन्म में मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हो जिसमें मैं भी आपके भक्तजनों में से एक होकर आपके पाद पल्लवों की सेवा करूँ।

ब्रह्मा जी ने भगवान् के साक्षात् पाद सेवन की प्राप्ति को अति दुर्लभ समझकर फिर भगवान् से प्रिय ब्रजवासियों के चरण- रज की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की है कि :-

'यह मेरा परम सौभाग्य होगा कि यदि मनुष्य लोक में विशेषतया गोकुल या ब्रज के किसी वन में, किसी भी पशु, पक्षी,कीट, पतंग और वृक्ष आदि योनि में मेरा जन्म हो, जिससे भगवान् मुकुन्द ही जिनके सर्वस्व हैं ऐसे ब्रजवासियों की चरण रज का मेरे माथे पर अभिषेक होता रहे, जिस चरण रज को श्रुति भी अनादि काल से ढूँढ रही है किन्तु प्राप्त न कर सकी।' (श्रीमद्भाग0 १०।१४।३४)

साक्षात् पाद सेवन भक्ति तो भगवान् के निरन्तर समीपवर्ती श्री सीता जी, लक्ष्मी जी, रूक्मिणी जी, राधिका जी आदि तथा ब्रज के बाल गोपालों और ब्रजांगनाओं को तथा उद्धव जी आदि अनन्य भक्तों को ही प्राप्त हुई है फिर भी वे भगवान् के पाद सेवन की सदा अभिलाषा करते ही रहते हैं।

श्री रुक्मिणी जी भगवान् से कहती हैं कि:-

'आप तो निजानन्द में रमण करने वाले हैं, अत: आप मुझ पर उपेक्षा दृष्टि रखते हैं। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे आपके चरणों

में अनुराग (पाद सेवा)प्राप्त हो'। (श्रीमद्भाग0 १०।६०।४६)

भगवान् की साक्षात् पाद सेवन भक्ति तो साध्य भक्ति के अन्तर्गत ही कही जा सकती है। साधन भक्ति के अन्तर्गत तो भगवान् के पादपद्मों के भजन रूप पाद सेवन भक्ति ही है।

इस प्रकार भगवान् के चरण कमलों की सेवा करने वाले भक्त को भगवद्भक्ति, वैराग्य और भगवद् विषयक ज्ञान - वह सब एक साथ ही प्राप्त हो जाता है और उसके बाद वह आत्यन्तिक क्षेत्र को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पाद सेवन भक्ति को पराभक्ति का साधन कहा है।

(५) अर्चन भक्ति

बाह्य सामग्रियों के द्वारा अथवा मन के द्वारा कल्पित सामग्रियों से भगवान् का श्रद्धापूर्वक पूजन करना 'अर्चन' भक्ति है।

स्वयं भगवान् ने अपने पूजन के अधिष्ठान (आश्रय) प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल,हृदय, गौ और ब्राह्मण आदि बतलाए है।

इसमें पूर्व की अशक्यता में उत्तरोत्तर का विधान है।
प्रतिमा आठ प्रकार की बतलाई गई है।

'पाषाणमयी, काष्ठमयी, सुवर्ण आदि धातुमयी, चंदन आदि द्वारा लेपन की हुई, चित्रमयी, मृत्तिकामयी, मनोमयी (मन द्वारा कल्पित) और रत्नमयी। इनकी पूजा के उपचार अधिष्ठानभेद से भिन्न-भिन्न हैं।

भगवान् की पूजन विधि श्रीमद्भागवत में कई प्रसंगो मे वर्णन की गई है, परन्तु, भगवान् के अर्चन में श्रद्धा ही मुख्य है। स्वयं भगवान् ने कहा:-

'श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, श्रद्धा रहित अर्पण हुई अमूल्य वस्तु भी मेरे लिए सन्तोषप्रद नहीं हो सकती।(श्रीमद्भाग0 ११।२७।१७।१८)

अर्चन भक्ति भी परा भक्ति का साधन स्वयं भगवान् ने कहा है: (श्रीमद्भाग0 ११।२७।५३)

गृहस्थों के लिए तो विशेषकर अर्चन भक्ति ही साधन और कर्तव्य है, किन्तु जो मनुष्य भगवान् की अर्चन भक्ति सांसारिक कामनाओं के लिए करते हैं उनके विषय में ध्रुव जी ने कहा है कि:-

'निश्चय ही उन लोगों की बुद्धि आपकी माया से मोहित है,जो जन्म मरण से छुटकारा करने वाले कल्पवृक्ष रूप आपकी पूजा तुच्छ सांसारिक विषय भोगादि के लिए करते हैं, जो नारकीय जनों को भी प्राप्त है। ((श्रीमद्भाग ४।९।९)

(६) वन्दन भक्ति

वन्दन का अर्थ है प्रणाम दंडवत। भगवान् के श्री चरणों में श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनन्यभाव से प्रणाम करना वन्दन भक्ति है।

प्रणाम करने की विधि स्वयं भगवान् ने इस प्रकार बतलाई है।

अनेक प्रकार के वेदोक्त, पुराणोक्त, तंत्रोक्त और प्राकृत स्तोत्रों से स्तुति करके यह निवेदन करें कि 'हे भगवान् ! आप प्रसन्न हों। पृथ्वी पर दंड की भाँति गिरकर इस प्रकार प्रणाम करें, सिर को मेरे चरणों में रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करें कि- हे प्रभो! इस संसार सागर के मृत्युरूप ग्रह से मुझे उबारिए'।

(श्रीमद्भाग११।२७।४५-४६)

ब्रह्माजी ने श्रीमद्भागवत् में कहा है कि :-

'इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए अपने कर्मों के फल को भोगते हुए एवं शरीर,वाणी और मन से आपकी वन्दन भक्ति करते हुए जो जीवित रहते हैं, वे मुक्ति पद के अधिकारी हो जाते है, अर्थात् उनकी मुक्ति सुलभ हो जाती है। (श्रीमद्भाग० १०।१४।८)

(७) दास्य भक्ति

भगवान् की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्यभाव से सेवा करना दास्य भक्ति है, दास भक्ति के लिए भगवान् ने स्वयं आज्ञा दी है कि :-

भगवान् के मन्दिर का मार्जन, लेपन, सिंचन, मंडल आदि की रचना (चौक पूरना, स्वास्तिक बनाना आदि) निष्कपट भाव से दास की भाँति करना चाहिए।

भगवान् का दास्य भाव प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है, भगवान् के पूर्ण कृपापात्र भक्त भी दास्य सेवा के लिए उत्कंठित रहते हैं। भक्त प्रह्लाद जी ने भगवान् श्री नृसिंहजी से प्रार्थना की थी कि:-

'हे भूमन्! प्रिय और अप्रिय पदार्थो के संयोग और वियोग से उत्पन्न होने वाले अग्नि से सब योनियों में तापित होकर मैंने जो--जो औषधि की, उससे शान्ति न मिलकर यद्यपि उल्टा दु:ख ही मिलता रहा है, परन्तु उनको मैं दु:ख न समझकर भ्रम में सुख समझकर इस संसार में भ्रमता रहा हूँ। अतएव अब आप अपनी दास्ययोग रूप अमोघ औषधि मुझे प्रदान कीजिए जिससे सदा के लिए उस ताप का नाश होकर मुझे शांति प्राप्त हो। (श्रीमद्भाग ७/९/१७)

जो मनुष्य भगवान् की सेवा स्वार्थ सिद्धि के लिए करता है उसमें वह दास्यभाव नहीं हो सकता। वह तो लेन देन करने वाले व्यापारी के समान है। (श्रीमद्भाग० ७/१०/४)

(८) सख्य भक्ति

भगवान् में मित्र भाव से प्रेम करना सख्य भक्ति है। भगवान् में सख्य भाव भगवान् की पूर्ण कृपा द्वारा हो सकता है। अत:सख्य भक्ति का अधिकार तो भगवान् की इच्छा पर ही निर्भर है। यह सौभाग्य तो श्री रामावतार में कपिराज सुग्रीव, विभीषण तथा कृष्णावतार में ब्रज के गोपी -गोपिकाओं, उद्धव एवं अर्जुन आदि सौभाग्यशालियों को ही प्राप्त हो सका है।

सख्य -भक्ति प्राप्त भक्तों को भगवान् में अनन्य श्रद्धा एवं पूज्यभाव रखते हुए भी वे भगवान् के साथ मित्रों के समान व्यवहार करते हैं और उनके प्रति कठोर शब्द भी कह उठते हैं।

भगवान् ने सख्य भाव यहाँ तक निभाया है कि ब्रजवासियों को अपनी पीठ और कंधों पर तक चढ़ाया है।

'अहो! नन्दादि ब्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य हैं जिनके सुहृद् परमानन्द पूर्ण ब्रह्म आप हैं।

(९) आत्म निवेदन

अहंकार रहित अपने तन, मन, धन और परिजन सहित अपने आपको तथा सर्वस्व को अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान् को समर्पण कर देना आत्म निवेदन भक्ति है। श्री निमि योगेश्वर ने कहा है कि:-

'यज्ञ,दान,तप,जप,अनुष्ठान,स्त्री,पुत्र,घर और प्राणादि सर्वस्व भगवान् को अर्पण करें। श्रीमद्भाग(११/३/२८)

आत्म निवेदन करने वाले भगवान् के अनन्य भक्त होते हैं। वे केवल चक्रवर्ती व रसातल का राज्य, योग द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ ही नहीं, ब्रह्मपद, इन्द्रपद ही नहीं किन्तु भगवान् के सिवा वे कैवल्य मोक्ष तक की इच्छा नहीं करते क्योंकि ऐसे भक्तों को कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में रूक्मिणी जी का उदाहारण हमारे सामने है। वह भगवान् कृष्ण को अपना पतिवरण करते हुए पत्र में लिखती हैं कि हे कमल लोचन! यदि आपकी कृपा मुझ पर न होगी तो मैं इन प्राणों को त्याग दूँगी यह प्राण पहले ही 'व्रतकृशान' है। आपकी प्राप्ति के लिए जो नाना व्रत किए हैं उनके कारण वह पहले ही इतने दुर्बल हो गए हैं कि उनके जाने में देर ही क्या लगेगी। आप यह न समझें कि मेरा यह हृदय समर्पण केवल इसी जन्म के लिए ही है। नहीं! नहीं! यदि आपका अनुग्रह इस जन्म में न हुआ तो दूसरे

जन्म में भी आपके अनुग्रह की लालसा निरंतर यों ही बनी रहेगी। इस प्रकार चाहे मेरे अनन्त जन्म ही क्यों न व्यतीत हो जाएँ परन्तु मैं आपका अनुग्रह प्राप्त किए बिना नहीं रह सकती। इसको सच्चा आत्म निवेदन कहते हैं।

शरणागत भक्त के रक्षक स्वयं भगवान् ही होते हैं। राजा अम्बरीष के प्रसंग में महर्षि दुर्वासा से भगवान् ने कहा है कि :-

'जो स्त्री,पुत्र,घर, कुटुम्ब, धन सबसे अधिक प्राण, यह लोक और परलोक सभी को त्यागकर मेरी शरण में आ गए हैं, उनकी उपेक्षा भला मैं किस प्रकार कर सकता हूँ। श्रीमद्भाग ९/४/६५

शरणागत के विषय में भगवान् रामचन्द्रजी ने भी प्रतिज्ञा के रूप मे ऐसा ही कहा है कि :-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतनृे मम॥

(वाल्मीकि रामायाण)

अर्थात् 'जो एक बार भी मेरी शरण मे आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार की प्रार्थना करता है, उसको मैं अभयदान देता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है'।

फिर भला अनन्य भाव से जो भक्त शरणागत होता है उसकी तो बात ही क्या है। यदि कोई यह शंका करें कि शरण में आया हुआ दूषित और पापी हो तो फिर भगवान् उसे कैसे शरण मे लेगें, परन्तु नहीं, भगवान् इस शंका का स्वयं निवारण करते हैं।

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतायेन दडार्हितम् ॥
आनमैनं हरिश्रेष्ठदत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीवः यदि वा रावण स्वयम्॥

जब भगवान् महा पति की रावण के भी शरणागत होने पर उसके ग्रहण और रक्षण की प्रतिज्ञा करते हैं तब फिर भला यह शंका ही कैसे की जा सकती है।

इस विषय में श्रीमद्भागवत में बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस लेख में तो पाठकों की जानकारी के लिए बहुत ही संक्षेप मे लिखा गया है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज अपने ज्ञानेश्वरी नामक ग्रन्थ के द्वादशाध्याय में भगवान् के भक्त प्रेम का वर्णन करते हुए लिखते हैं। भगवान् कहते हैं कि :-

'हे अर्जुन! मैं अपने भक्तों के पीछे कितना पागल हो जाता हूँ, यह कहाँ तक बतलाऊँ। मैं उनको अपने सर पर लेकर नाचता हूँ।' 'अर्जुन पूछते हैं कि वह ऐसा कौन सा भक्त है? भगवान् उत्तर देते हैं मुक्ति नाम की जो चौथी पुरुषार्थ सिद्धि है, उसे अपने हाथ में रखे भक्ति मार्ग पर चलने वाले भोले-भाले भावुकों को जो बाँटता फिरता हैं, कैवल्य मोक्ष का मानो जो स्वामी है, इतने बड़े ऐश्वर्य का स्वामी होकर भी जो सदा जल के समान नम्र, निरभिमान रहता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, उसे मुकुट बनाकर अपने मस्तक पर धारण करता हूँ, उसके चरण निरंतर अपने हृदय में धारण रखता हूँ। उसके गुण मेरे अलंकार बनकर उनसे मैं अलंकृत होता हूँ। अपने कानों से मैं उनकी कीर्ति सुना करता हूँ। हे अर्जुन ! मेरा जो अरूप स्वरूप है, उसमें चक्षुरादि इन्द्रियाँ कहाँ है? परन्तु अपने भक्तों को आँखें भरकर देखने के लिए मैं आँखें बना लेता हूँ। मैने अपने दो और दो चार हाथ अपने भक्तों के आलिंगन के लिए ही बना लिए हैं। मेरे हाथ में जो कमल है वह अपने सूंघने के लिए नहीं बल्कि जहाँ कहीं भी मेरा भक्त मिल जाय तुरन्त ही उसे चढ़ाने के लिये रखा हूँ। भक्तों के सत्संग के लिए विदेह होकर भी मुझे देह धारण करना पड़ता है । अधिक कहाँ तक कहूँ? भक्त से मेरा प्रेम है उसकी कोई उपमा ही नहीं।

मेरा भक्त किसी भी जाति का हो, उसका कुछ भी आचरण हो, पापियों में सबसे बड़ा पापी भी क्यों न हो, उसने जब अपना जीवन भक्ति की वेदी पर चढ़ा दिया तब उसे मेरा स्वरूप प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता। पहले वह कितना ही बड़ा दुराचारी क्यों न रहा हो फिर भी यदि अन्त में उसने अपने दुराचारों का त्याग कर अपना जीवन भक्ति में लगा दिया तो उस भक्ति से उसके सारे पाप नष्ट होकर वह मुझमें आ मिलता है।'

शरण में आया हुआ सदोष हो अथवा निर्दोष, वह अवश्य ही शरण्य के द्वारा रक्षणीय है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में बतलाया गया है। अन्यथा शरण्य के लिये बड़ा दोष होगा।

एवं दोषो महास्तत्र प्रपन्नानाम् रक्षणे ।

अस्र्वाण चापशस्यं च बलवीर्यं विनाशनम्॥

(बा.रा. ल.का.)

अर्थात् शरणागत के दोष शरण्य के लिए सर्वदा ही उपेक्षणीय है। शरणागत होने के पहले उसने जो अपराध किए हैं वे सर्वदा उपेक्षीय हैं ही बल्कि उसके अनेक जन्मों के पाप भी नष्ट हो जाते है।

अधिकारी, अनाधिकारी सब के लिए भक्तियोग प्रशस्त, निरुपद्रव और मुक्ति का देने वाला है। भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। तप से, ज्ञान से व कर्म से भी श्री हरि चाहे न मिलें परन्तु वह भक्ति से अवश्य ही मिलते हैं, इसका प्रमाण गोपी, गोपिकाएँ हैं। कलिकाल में केवल भक्ति ही से भगवान् सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं।

भगवान् की ओर किचिंत् भी आकर्षण हो, उनके चरणों में लेश मात्र भी भक्ति हो तो इसे भगवान् की बड़ी कृपा ही समझना चाहिए। इस प्रसाद का अच्छी तरह रक्षण, पोषण व संवर्धन करना

चाहिए। इसका साधन सत्संग करने और दुस्संग छोड़ने से होता है।

साधुसंग व सत्संग अत्यन्त दुर्लभ है। यह जहाँ और जब मिले उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिए। जहाँ वह प्राप्त न हो वहाँ सद्ग्रन्थों का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

भगवान् की शरण में जो कोई भी जाता है अभय हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते है कि 'जो कोई भी दीन होकर मुझें पुकारता है और कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।'

भगवान् का अगर किसी से कोई नाता या सम्बन्ध है तो वह केवल एक प्रेम का ही है। यह प्रेम बिना अनुराग के प्राप्त नहीं होता। अर्थात् भगवान बिना अनुराग के नहीं मिलते चाहे कोई साधक कितना ही जप, तप, ध्यान और योग का अभ्यास करे।

रामहिं केवल प्रेम पियारा, जान लेय जो जानन हारा।

सांख्य शास्त्र

सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिलाचार्य ने अपने सूत्रों में मनोविज्ञान का जो सुन्दर निरूपण किया है उसके लिए सभी भारतीय दर्शन शास्त्र उनके ऋणी हैं। महर्षि कपिलदेव कहते हैं कि किसी बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष करने के लिए निम्नलिखित कारणों की अपेक्षा होती है।

पहले बाह्य विषय, दूसरे इन्द्रिय, तीसरे इन दोनों से सम्बन्धित मन, चौथे बुद्धि और पाँचवें पुरुष अर्थात् आत्मा। मन, बुद्धि और अहंकार की समाष्टि को 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। विचार की धाराओं का नाम वृत्ति है। जगत् का प्रत्येक

पदार्थ स्वभावत: अज्ञात एवं अज्ञेय है। ऊपर बताए हुए कारणों के साथ सम्पर्क में आने पर ही उसे ज्ञेयता प्राप्त होती है अथवा वह ज्ञान या प्रत्यक्ष का विषय होता है। जिस प्रकार किसी सरोवर में पत्थर आदि फेंकने से उसमें लहरें और तरंगें उठने लगती हैं, उसी प्रकार बाह्य विषयों का इन्द्रियों तथा मन के साथ संयोग होने पर विचारों की अनेक लहरें उठने लगती हैं। मन उन अनन्त वृत्तियों तथा प्रवाहों का ख़ज़ाना है जो हमारे चित्त की सूक्ष्म अवस्था में समूहित होते हैं, बनते है तथा रक्षित रहते हैं। अतएव जब इन वृत्तियों को व्यक्त होने का उचित अवसर मिलता है उस समय यह लहरें बनती है। बाहर से तथा भीतर से आने वाले संकेत ही इन लहरों के बनने के कारण होते हैं।

इस योग में स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और फिर अति महाकारण देह तक सब देहों की, पंचीकरण की दृष्टि से तथा व्यतिरेक और अन्वय से आत्मा से भिन्नता सिद्ध करते हैं और चित्तवृत्ति का लय करते हुए ज्ञान की जो सात भूमिकाएँ पार करनी पड़ती है वह इस प्रकार हैं। (१) शुभेच्छा अर्थात् विवेक वैराग्य की स्थिति (२) विचारणा अर्थात् श्रवण मनन की अवस्था (इन दो भूमिकाओं को पार करने के पश्चात् मुमुक्षु पद पर आता है) (३)तनुमानसा अर्थात् अनेक अर्थों में यही एक अर्थ ग्रहण करना कि पंच भूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है। (४)सत्वापत्ति अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस धारणा को दृढ़ करना (५)असंसक्ति अर्थात् नानाविधि सिद्धियों की ओर से अनासक्ति (६)पदार्थभावनी 'अहंब्रह्मास्मि' भी तो एक अहंवृत्ति ही है अत: इसका भी लय करना (७)तुर्यगा अर्थात् आत्मस्वरूप से न उठना। इन सात भूमिकाओं को पार करते हुए विक्षिप्तता, गतावता, संश्लिष्टता, और सुलीनता इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार विघ्नों को लाँघकर केवल निरालम्ब स्थिति में तल्लीन होकर रहना। अहंता व ममता को नष्ट करके परमात्मा में एकीभाव से स्थित होना ही सांख्य योग है।

महर्षि वशिष्ठ ने राजा जनक को उपदेश देते हुए सांख्य का इस प्रकार वर्णन किया है कि यह विचार प्रधान दर्शन है। हे राजन्! प्रकृतिवादी विद्वान् मूल प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं, जिससे दूसरा तत्त्व प्रकट हुआ उसे महत्तत्व कहते हैं, महत्तत्व से अहंकार नामक तीसरे तत्त्व की उत्पत्ति हुई, अहंकार से सूक्ष्म भूतों की पाँच तन्मात्राऐं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) प्रकट हुई हैं। इन आठों को प्रकृति कहते हैं। इनसे सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें विकार या विकृति कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन और पांच स्थूल भूत यह ही सोलह विकार हैं। सांख्य शास्त्र के विद्वानों का कहना है कि यह प्रकृति और उसके विकार ही सांख्य शास्त्र के चौबीस तत्त्व हैं जो तत्त्व जिससे उत्पन्न होता है उसका उसी में लय भी होता है। प्रकृति परमात्मा के सन्निधान से अनुलोम क्रम के अनुसार तत्त्वों की रचना करती है (अर्थात् प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से सूक्ष्म भूत आदि के क्रम से सृष्टि होती है) परन्तु उनका संहार विलोम क्रम से होता है (अर्थात् पृथ्वी का जल में, जल का तेज़ में, तेज़ का वायु में लय होता है, इसी तरह सभी तत्त्व अपने-अपने कारण में लीन होते हैं) जैसे समुद्र में उठी लहरें फिर उसी में शांत हो जाती है, उसी तरह सम्पूर्ण तत्त्व अनुलोम क्रम से उत्पन्न होकर विलोम क्रम से लीन हो जाते है। इस प्रकार प्रकृति से ही जगत् की उत्पत्ति और उसी में उसका लय हो जाता है, इतना ही सृष्टि और प्रलय का विषय है। तत्त्ववेत्ता पुरुष को इसी प्रकार प्रकृति के एक तत्त्व और नाना तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (प्रलय काल में तो वह एक रूप में रहती है और सृष्टि के समय नाना रूप धारण कर लेती है) इसी तरह पुरुष भी प्रलय काल में एक ही रूप में रहता है, किन्तु सृष्टि के साथ प्रकृति को प्रेरित करने के कारण उसकी ही अनेकता से वह स्वयं भी अनेक-सा प्रतीत होता है। परमात्मा ही प्रकृति को नाना रूपों में परिणित करता है। प्रकृति और उसके विकार को क्षेत्र कहते हैं। चौबीस तत्त्वों से भिन्न जो पच्चीसवाँ

तत्त्व महान् आत्मा है, वह क्षेत्र में अधिष्ठाता रूप से निवास करता है। समस्त क्षेत्रों का अधिष्ठान होने के कारण ही उसे अधिष्ठाता कहते हैं। यह अव्यक्तसंज्ञक सम्पूर्ण क्षेत्रों को जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है और प्रकृति शरीर में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट है, अतएव पुरुष का नाम धारण करता है, वास्तव में क्षेत्र अन्य वस्तु है और क्षेत्रज्ञ अन्य। क्षेत्र अव्यक्त (प्रकृति) है और क्षेत्रज्ञ उसका ज्ञाता पच्चीसवाँ तत्त्व आत्मा है। यही सांख्यदर्शन है। सांख्यवादी प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं और इनके चौबीस तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं फिर उससे भिन्न जो पच्चीसवाँ तत्त्व आत्मा है, उसका ज्ञान होता है। जिस समय पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न जान लेता है, उस समय वह केवल ब्रह्म रूप में स्थित हो जाता है जो इसे इस प्रकार जान लेते हैं वह समत्व रूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। इसके अनुसार ज्ञान प्राप्त करने वालों की इस संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती, वे अविनाशी अक्षर भाव को प्राप्त होते हैं। जिनकी बुद्धि नानातत्त्व का दर्शन करती है वे सम्यग् (सांख्य) ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसे लोगों को बारम्बार शरीर धारण करना पड़ता है। सम्पूर्ण जगत् को अव्यक्त कहते हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व आत्मा उससे भिन्न है, जो उसे जानते हैं उनको आवागमन का भय नहीं रहता।

बृद्धिमान् पुरुष जब यह जान लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब प्रकृति का त्याग कर देने के कारण वह अपने शुद्ध रूप में स्थित होता है। उस समय वह प्रकृति से मिला हुआ प्रतीत होने पर भी वास्तव में उससे भिन्न देखा जाता है। जब वह प्राकृत गुण समुदाय पर प्रीति नहीं रखता, उस समय दृष्टाँ के रूप में स्थित होकर परमात्मा के दर्शन पा जाता है और फिर उसका त्याग नहीं करता। जिस समय जीवात्मा को यह विवेक हो जाता है उस समय वह यों पश्चात्ताप करने लगता है कि अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर इतने समय तक मैं इस आसक्तिमयी जड़ प्रकृति के साथ रमता

रहा। इसने इस तरह वश में कर लिया था कि मुझे आज तक ज्ञान ही न हुआ। मैनें बड़ा धोखा खाया और उसके साथ नाना प्रकार की योनियों में भटकता फिरा। अब मैं इसकी चाल समझकर ममता और अहंकार से अलग हो गया हूँ। परमात्मा के साथ एकता होने में ही मेरा कल्याण है। हे राजन् ! मैंने सांख्य और योग का अलग-अलग वर्णन किया है परन्तु वास्तव में दोनों एक ही है।

❖ ❖ ❖

मंत्र योग

मंत्र योग का यह सिद्धांत है कि परमात्मा से भाव,भाव के नाम रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है, इसलिए जिस क्रम से सृष्टि हुई है उसके विपरीत मार्ग ही से लय होगा, यह निश्चय है, अर्थात् जब परमात्मा से भाव और भाव से नाम रूप द्वारा सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव बंधन में आ गये हैं, तब यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नाम रूप का आश्रय लेकर, नाम रूप से भाव में और भाव से भावरूपी परमात्मा में चित्तवृत्ति के लय होने से मुक्ति होगी। नारद आदि महर्षियों ने इसीलिए नाम रूप के अवलम्बन से साधन की जो विधियाँ बतलाई हैं इसी का नाम मंत्र योग है। मंत्र योग में ध्यान व भक्ति योग भी आ जाते हैं। इसमें प्राणायाम को छोड़कर सात अङ्ग हैं और चक्रों में मूलाधार, मणिपूर व आज्ञा सहित तीन चक्र हैं।

हिन्दू जाति की मूर्ति पूजा और पीठ विज्ञान मंत्र योग के अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मंत्र योग के ग्रन्थों के अनुसार उसके निम्नलिखित मुख्य अङ्ग आगे बतलाये जाते हैं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं की तरह मंत्र योग भी आगे लिखे सोलह अङ्गों से पूर्ण है।

(१)भक्ति (२) शुद्धि (३) आसन (४) पंचांग सेवन (५)

आचार (६)धारणा (७) दिव्यदेश सेवन (८) प्राण क्रिया (९) मुद्रा (१०) तर्पण (११) हवन (१२) बलि (१३) यज्ञ (१४) जप (१५) ध्यान (१६) समाधि।

भक्ति का विस्तार तो सभी शास्त्रों में पाया जाता है, शुद्धि के अनेक भेद हैं। किस दिशा में मुख करके साधन करना चाहिए यह दिशा शुद्धि है। कैसे स्थान पर साधन करना चाहिए यह स्थान शुद्धि है। स्नान आदि द्वारा शरीर शुद्धि और प्राणायाम द्वारा मन शुद्धि होती है। कैसे आसन पर बैठना चाहिए जैसे चैलासन,मृगचर्मासन, कुशासन आदि यह आसन शुद्धि है। अपने इष्टदेव की गीता, सहस्रनाम, स्तवन, कवच और हृदय यह पाँचों पंचांग कहलाते है। मन को बाहर मूर्ति आदि में लगाने से अथवा शरीर के भीतर स्थान विशेषों में स्थिर करने को धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकार के स्थानों में पीठ बनाकर पूजा की जाती है उनको दिव्यदेश कहते हैं जैसे मूर्धास्थान,हृदय स्थान नाभि, घट, पट, पाषाणादि की मूर्तियाँ, स्थंडिल यंत्र आदि। मंत्रशास्त्र में प्राणायामों के अतिरिक्त शरीर के नाना स्थानों में प्राण को ले जाकर साधन करने की आज्ञा है। यह सब प्राण क्रिया कहलाती हैं। व्यास आदि इसी के अन्तर्गत हैं। मंत्रयोग में अपने-अपने इष्ट देवों को प्रसन्न करने की जो चेष्टाएँ हैं वे मुद्रा कहलाती है। पदार्थ विशेष द्वारा इष्टदेव का तर्पण किया जाता है। अग्नि में आहुति देने को हवन कहते हैं। बलि तीन प्रकार की होती है। आत्मबलि, अहंकारादि, इन्द्रियों व कामक्रोधादि की बलि अन्तरबलि है। बहिर्बलि में सात्विक बलि फलादि की और राजस -तामसिक बलि पशु की होती है। अपने इष्ट के नाम के जप को जप कहते हैं। जप भी वाचिक, उपांशु और मानसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। इष्ट के रूप का ध्यान मन के द्वारा करने से जो साधन होता है उसे 'ध्यान' कहते है। इष्ट के रूप का ध्यान करते -करते अपने को भूल जाने से जो एक अवस्था प्राप्त होती है उसे मंत्र योग मे 'महाबोध समाधि' कहते हैं। यही मंत्र

समाधि है।

जो पुरूष प्रतिदिन गायत्री मंत्र का जप तीन वर्ष पर्यंत नियम से करता है वह परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। मंत्र योग से सुषुम्ना का भी दर्शन होता है सोऽहम् आदि मंत्र के जप करने से चित्तवृत्ति का निरोध होता है और इसी का नाम मंत्र योग है। मंत्र योग के मन्त्राक्षरों का तेजोरूप में दिखाई देना ही मंत्र सिद्धि है।

श्री भगवती मंत्रमयी और प्रकाशमयी हैं। मंत्रमयी भगवती का ध्यान करते रहने से वह प्रसन्न होती है और साधक से सब क्रियाएँ करा लेती है । श्री रामकृष्ण परमहंस के पास एक योगिनी को भेजकर भगवती ने ही उनसे सब यौगिक क्रियाएँ करा दी थीं।

मंत्र योग में शुद्धि एक आवश्यक अंग है। शुद्धि दो प्रकार की होती हैं (१) बाह्य शुद्धि (२) अन्तर् शुद्धि।

(१) बाह्य शुद्धि

बाह्य शुद्धि के भी तीन अंग है। (१)शरीर शुद्धि (२)स्थान शुद्धि (३) दिशा शुद्धि ।

(१) शरीर शुद्धि

शरीर शुद्धि स्नान से होती है जो कि सात प्रकार का होता है। (१) मंत्र स्नान-- नहाते समय 'गंगे च यमुने च' कहते हुए जल डालने से होता है। (२) भौम स्नान-गमछे से अंग पोंछने से। (३)आग्नेय स्नान-भस्म लगाने से। (४)मागव्य स्नान-गोरज स्पर्श से। (५) दिव्य स्नान-सूर्य दर्शन होते हुए वर्षा में स्नान करने से । (६) वारुण्य स्नान-नदी तालाब आदि में गोता लगाने से। (७) मानस स्नान-भगवान् के रूप का ध्यान करने से।

(२) स्थान शुद्धि

गोमय से, बरगद, पीपल, अशोक, बिल्ब, आँवले के वृक्ष पंचवटी के नीचे बैठकर साधना पूजा करने से स्थान शुद्धि होती है।

(३) दिशा शुद्धि

दिन में पूर्व या उत्तर मुख व रात्रि में उत्तर मुख बैठकर जप व पूजा आदि करने से दिशा शुद्धि होती है।

अन्तर् शुद्धि का अंग मन की शुद्धि है जो कि मंत्र योग में परम आवश्यक है।

मन की शुद्धि दैवी सम्पत्ति के अभ्यास से होती है। अर्थात् इन्द्रिय संयम, भयशून्यता, चित्त प्रसन्नता, दान, यज्ञ, वेद पाठ, मंत्र सम्मत शास्त्र पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, निर्लोभ व अहंकार, कुकर्म चंचलता का त्याग, चित्त की शान्ति, अविरोध, धैर्य, शौच, क्षमा इत्यादि भावों के अभ्यास से होती है।

शुद्धि का फल

बाहर की शुद्धि से आरोग्यता, आत्मप्रसाद व इष्टदेव की कृपा तथा मन की शुद्धि से इष्टदेव का दर्शन और समाधि प्राप्त होती है।

शुद्धि नित्य कर्म का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग होने के कारण केवल उसी का विवरण यहाँ दिया जा रहा है। स्थानाभाव के कारण अन्य अङ्गों का विस्तृत विवरण न देकर संक्षिप्त विवरण आरम्भ में दे दिया गया है।

मंत्र का अर्थ है गुप्त परामर्श। यह गुरुदेव की कृपा से ही प्राप्त होता है। मंत्र प्राप्त होने पर भी यदि उसका अनुष्ठान न किया जाय, सविधि पुरश्चरण न किया जाय तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना कि होना चाहिए। श्रद्धा, भक्ति और विधि के संयोग से जब

मंत्रो के अक्षर अन्तर्देश में प्रवेश करके एक दिव्य प्रभाव उत्पन्न करने लगते हैं तो उससे जन्म -जन्मान्तर के पाप तापों के संस्कार धुल जाते हैं और जीव की प्रस्तुत चेतनता जीवन्त, ज्वलंत एवं जाग्रत रूप में प्रदीप्त हो उठती है। मंत्रो के अनुष्ठान में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। यम और नियम ही आन्तरिक व बाह्य शांति के मूल हैं। इस सम्बन्ध में कुछ नियम संक्षिप्त रूप में आगे दिये जाते हैं।

(१) मंत्रानुष्ठान स्वयं ही करना चाहिए और यदि श्री गुरुदेव कृपा कर दें तो बहुत ही उत्तम है। यदि यह दोनों असम्भव हों तो किसी परोपकारी, प्रेमी, शास्त्रवेत्ता व सदाचारी ब्राह्मण से भी कराया जा सकता है, अनुष्ठान किसी पुण्य क्षेत्र, नदी तट, पर्वत, तीर्थ संगम, जंगल, एकांत, उद्यान, पीपल या आँवले के वृक्ष के नीचे पानी या अपने घर के पवित्र व स्वच्छ स्थान,सूर्य, अग्नि, गुरु चन्द्रमा, दीपक, मन्दिर, जल, ब्राह्मण और गौओं के सामने तथा अन्य उपयुक्त स्थान में बैठकर करना चाहिए।

(२) भोजन, शुद्ध, सात्विक, पवित्र व स्वल्प करना चाहिए।

(३) स्त्री संसर्ग, उनकी चर्चा जहाँ वह रहती हों वह स्थान छोड़ देना चाहिए। स्त्री साधकाओं को यही बात मनुष्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। यथाशक्ति तीनों अथवा दो अन्यथा एक समय स्नान करना चाहिए। बग़ैर स्नान, तर्पण, अपवित्र हाथ, नग्न और सर पर वस्त्र रखकर जप न करना चाहिए। बीच में बातचीत न करना चाहिए, जप करते समय यदि कोई बात मुँह से निकल जाय तो एक बार प्रणव का उच्चारण कर लेना चाहिए और अगर बहुत बातचीत की हो तो आचमन अङ्गन्यास करके पुन:जप आरम्भ करना चाहिए। जप के समय यदि शौच या लघुशंका आदि मालूम हो तो उसका निरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे ध्यान बँटता है। मलिन वस्त्र, मुख, केस से जप करना उचित नहीं। जप के समय आलस्य, जंभाई, नींद छींक,

थूकना,डरना, अपवित्र अङ्गों का स्पर्श व क्रोध आदि निषिद्ध हैं। जप न बहुत जल्दी, न बहुत देर में करना चाहिए। गाकर, सिर हिलाकर, लिखा हुआ पढ़ना, अर्थ न जानना, बीच-बीच में भूल जाना, मंत्र सिद्धि के लिये प्रतिबंधक हैं। जप के समय यह चिन्तन करना चाहिए कि इष्ट देवता, मंत्र और गुरु एक ही है।

(४)पहले दिन जितने जप का संकल्प किया जाय उतना ही प्रतिदिन करें, घटाये बढ़ाये नहीं। मंत्र सिद्ध करने के बारह नियम हैं। (१) भूमि शयन (२)ब्रह्मचर्य (३)मौन (४)गुरु सेवन (५)त्रिकाल स्नान (६)पाप कर्म परित्याग (७)नित्य पूजा (८)नित्य दान (९)देवता की स्तुति व कीर्तन (१०) नैमित्तिक पूजा (११)इष्टदेव और गुरु में विश्वास (१२) जप निष्ठा। इनका पालन करने पर मंत्र सिद्ध ही समझना चाहिए। चित्त की व्याकुलता, क्षोभ भ्राँति, भूख, शरीर में पीड़ा, अशुद्ध स्थान आदि में जप नहीं करना चाहिए, अनुष्ठान आरंभ कर देने पर मरण, शौच या जनना शौच (सन्तान उत्पत्ति)होने पर भी अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए। यह नियम मानस जप के लिये नहीं है। शास्त्रकारों ने कहा है कि मंत्र के रहस्य को जानने वाला जो साधक एक मात्र मंत्र की ही शरण हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र सब समय चलते फिरते, उठते बैठते सोते जागते व खाते पीते मंत्र का अभ्यास कर सकता है। मानस जप में कोई भी समय व अवस्था को दोषयुक्त नहीं समझा जाता है।

जो लोग आधिदैविक जगत् का रहस्य जानते हैं वे भली भाँति इस बात को मानते हैं कि एक- एक वस्तु के अलग-अलग देवता हैं और वे जगा लिए जाने पर अनेक प्रकार की सिद्धियाँ देते हैं। केवल परमार्थ ही नहीं बल्कि उनके द्वारा अपना स्वार्थ भी सिद्ध होता है। इन देवताओं में अनेक प्रकार की चमत्कारिक शक्तियाँ होती हैं अतएव उनकी कृपा से अर्थ, धर्म एवं कामोपभोग पूर्ण रूप से किए जा सकते हैं। कुछ लोग भले ही इन बातों को न मानें परन्तु यह सिद्धियाँ आज

भी सम्भव हैं। मंत्रो में ऐसी शक्ति है कि जो चाहे वह जप करके देख लें।

जप के भेद व श्रेष्ठता

सब यज्ञों की अपेक्षा जप को श्रेष्ठ बतलाया है। पद्म और नारदीय पुराण में समस्त यज्ञ वाचिक जप की तुलना में सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है। वाचिक जप से सौगुना उपांशु और सौगुना मानस जप का फल होता है। मानस जप में अर्थ का चिंतन करते हुए मन से ही मंत्र के वर्ण,स्वर और पदों की बार-बार आवृत्ति की जाती है। उपांशु में कुछ-कुछ जीभ और ओंठ चलते हैं व अपने कानों तक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है। वाचिक जप वाणी के द्वारा उच्चारण है। तीनों में ही मन के द्वारा इष्ट का चिन्तन होना चाहिए। मानसिक स्तोत्र पाठ और ज़ोर-ज़ोर से उच्चारण करके मंत्र जप दोनों ही निष्फल हैं। पहले ऐसी भावना करना चाहिए कि मंत्र एक-एक अक्षर इच्छा शक्ति से ओतप्रोत है और परम अमृत स्वरूप चिदाकाश में उसकी स्थित है, ऐसी भावना करते हुए जप करने से पूजा, होम आदि के बिना ही मंत्र अपनी शक्ति प्रकाशित कर देते हैं। मंत्र जप करने की यही विधि है कि प्राण बुद्धि से सुषुम्णा के मूल देश में स्थिति जीवरूप से मंत्र का चिन्तन करके मंत्रार्थ और मंत्र चेतन के ज्ञानपूर्वक उनका जप किया जाय। भगवान् शंकर ने कहा है कि मन एक जगह, शिव दूसरी जगह, शक्ति तीसरी जगह, ऐसी स्थिति मे मंत्र सिद्धि की क्या सम्भावना हो सकती है। इसलिए इन सबका एकत्र चिन्तन करते हुए ही जप करना चाहिए।

मंत्र सिद्ध के साधन

मंत्र में दो प्रकार के सूतक होते हैं। एक जात सूतक और दूसरा मृत सूतक। इन दोनों अशौचों का भंग किए बिना मंत्र सिद्ध

नहीं होते। इसके भंग करने की विधि यह है कि जप के आरम्भ में एक सौ आठ बार, असमर्थ होने पर सात बार ओंकार से पुटित करके अपने इष्ट मंत्र का जप कर लेना चाहिए। उनके साथ ही योनि मुद्रा का अनुष्ठान करना भी आवश्यक है। उसके विकल्प में भूतलिपि का विधान होता है, उससे अनुलोम-विलोम पुटित करके मंत्र जप करने से बहुत ही शीघ्र मंत्र सिद्ध होता है। भूत लिप का क्रम निम्नलिखित है।

अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य र व ल ङ क ख घ ग ञ च छ झ ज ण ट ठ ढ ड न त थ ध द म प फ भ व श ष स (इसके बाद इष्ट मंत्र फिर) स ष श व भ फ प म द ध थ त न ड ढ ठ ट ण ज झ छ च ञ ग घ ख क ङ ल व र य ह औ ओ ऐ ए लृ ऋ उ इ अ ।

इस प्रकार एक महीने तक एक हज़ार जप करना चाहिए। ऐसा करने से मंत्र जाग्रत होता है। तीन प्राणायाम पहले व तीन पीछे कर लेना चाहिए। प्राणायाम चार मंत्र से पूरक, सोलह से कुम्भक और आठ से रेचक करके करें। जप पूरा होने पर उसको तेज स्वरूप ध्यान करके इष्ट देवता के दाहिने और यदि देवी का मंत्र हो तो बाएँ हाथ में समर्पण करना चाहिए। प्रतिदिन अनुष्ठान के अन्त में जप का दशांश हवन, हवन का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश अभिषेक और ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए।

होम तर्पण आदि में जो अङ्ग पूरा न किया जा सके उसके लिए और भी जप करना चाहिए। होम न कर सकने पर ब्राह्मणों के लिए होम की संख्या का चौगुना, क्षत्रियों के लिए छः गुना व वैश्यों के लिए अठगुना जप करने का विधान है। स्त्रियों के लिए तो ब्राह्मण भोजन की उतनी आवश्यकता नहीं। उनको न्यास, ध्यान और पूजा की भी छूट है। केवल जप मात्र से ही इनके मंत्र सिद्ध हो जाते है। अनुष्ठान में दीक्षायुक्त ब्राह्मणों को ही भोजन करावें।

अनुष्ठान पूरा होने पर गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी अथवा वंशजों को दक्षिणा देना चाहिए।

मुख शोधन

मंत्र शास्त्रियों का कहना है कि मंत्र जप करने के पहले मुख की शुद्धि आवश्यक है क्योंकि जिह्वा पर झूठ बोलने, कलह व भोजनादि का मल रहता है। जप करने के पहले उस देवता के अनुसार मंत्र का दस बार जप कर लेना चाहिए। मंत्र यज्ञ है और वह ईश्वर विभूति है। यज्ञ का अधिकार दीक्षाविधि से ही प्राप्त होता है। अतएव किसी योग्य व अधिकारी पुरुष से मंत्र की दीक्षा लेकर ही जप करना चाहिए।

मंत्रों का उच्चार पहले मध्यमा और पश्चात् वैखरी से रामचन्द्र जी का नाम पहले ले अर्थात् पहले कंठ में अस्पष्ट उच्चार करे पश्चात् वैखरी से स्पष्ट शब्द उच्चारें।

❖ ❖ ❖

ज्ञान योग

हठ योग व राज योग के साथ-साथ ज्ञान योग भी आवश्यक है क्योंकि ज्ञान पथ अन्त में भक्ति पथ में मिल जाता है। जो ज्ञान पथ के पथिक होते हैं वे अन्त में महान् भक्त हो जाते हैं। जगद्गुरू स्वामी शंकराचार्य इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। पिपीलिका (चींटी) जिस तरह थोड़ा-थोड़ा करके अपना खाद्य संचय करती है उसी तरह साधक यम, नियम, हठ योग व राज योग का साधन करते-करते समाधि द्वारा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान योग का साधक मुक्ति के चार साधनों-विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और

मुमुक्षत्व को बढ़ाता है तदनन्तर वह श्रुतियों को सुनता है, फिर मनन करता है और अन्त में निदिध्यासन करता है, वह प्रणव के साथ जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक 'तत्त्व मसि' वाक्य के वास्तविक अर्थ का ध्यान करता है। इस साधन को अन्तरंग साधन कहते हैं। तब उसे आत्म साक्षात्कार अथवा आत्मा अनुभव होता है।

प्रारम्भ में उसे सविकल्प श्रेणी की शब्दानुविद्ध एवं दृश्यानुविद्ध समाधि प्राप्त होती है। फिर वह अद्वैत भावनारूप (वृत्ति सहित) समाधि में प्रवेश करता है और अन्त में अद्वैतावस्थानुरूप (वृत्ति रहित) समाधि को प्राप्त होता है।

इस योग में स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और अति महाकारण देह तक सब देहों की, पंचीकरण की दृष्टि से तथा व्यतिरेक और अन्वय से, आत्मा से भिन्नता सिद्ध करते हैं और चित्तवृत्ति का लय करते हुए ज्ञान के आगे लिखी सात भूमिकाएँ याद करनी पड़ती हैं।

संसार सागर को पार करके परमानन्द का अनुभव प्राप्त करने तथा मुक्ति लाभ करने के लिए योगवाशिष्ठ के अनुसार ज्ञान योग की निम्न लिखित सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समय में पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते उनको जन्म-जन्मांतर लग जाते हैं। इन भूमिकाओं का वर्णन योगवाशिष्ठ में कई स्थानों पर है परन्तु एक स्थान पर उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

(१) शुभेच्छा (२) विचारणा (३)तनुमानसा (४) सत्वापत्ति (५) असंसक्ति (६) पदार्थभावनी और (७) तुर्यगा। इन सातों के अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेने पर कोई दुःख नहीं रहता ।

(१) **शुभेच्छा**- संसार से वैराग्य हो जाने पर जब मनुष्य अपने को अज्ञानी समझकर शास्त्र अध्ययन और सत्संगति करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है, इस विवेक वैराग्य की अवस्था का नाम शुभेच्छा है।

(२) **विचारणा**- शास्त्र और सत्संग के सम्पर्क से वैराग्य और अभ्यास से सदाचार में जब प्रवृत्ति होती है, उस श्रवण मनन की अवस्था का नाम विचारणा है।

(३) **तनुमानसा**- शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों में पूर्णतया असक्तता हो जाने पर मन के सूक्ष्म हो जाने का नाम तनुमानसा है। अर्थात् अनेक अर्थो में से एक यही अर्थ ग्रहण करना कि पंचभूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है।

(४) **सत्वापत्ति**- पूर्व तीनों भूमिकाओ के अभ्यास से और चित्त के विषयों से पूर्णतया विरक्त हो जाने पर सत्य आत्मा में स्थिति हो जाने का नाम सत्वापत्ति है। अर्थात 'अहंब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस धारणा को दृढ़ करना ।

(५) **असंसक्ति** - ऊपर लिखी चारों भूमिकाओं के परिपक्व हो जाने पर जब मन में पूर्णतया आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्म तत्त्व में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है, उस अवस्था का नाम असंसक्ति है। अर्थात् नानाविधि सिद्धियों की ओर से अनासक्ति।

(६) **पदार्थ भावनी**- पूर्व पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास से और आत्मा में निश्चल स्थिति हो जाने से जब अन्तर् और बाह्य वस्तुओं के अभाव की दृढ़ भावना हो जाती है उस स्थिति का नाम पदार्थ भावनी है इसकी सिद्धि तब होती है जब परमात्मा की सत्ता और पदार्थ की असत्ता का बहुत दिनों तक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय। अर्थात् 'अहंब्रह्मास्मि' भी तो एक अहंवृति ही है अतएव इसका भी लय होना।

(७) **तुर्यगा**- पूर्व छः भूमिकाओं के अभ्यास से और पदार्थों के अनुभव न होने से अपने असली स्वरूप में निरंतर स्थित रहने का नाम तुर्यगा अवस्था है। अर्थात् आत्मस्वरूप से न उठना। जीवन मुक्त महापुरूषों को इस अवस्था का अनुभव होता है। विदेह मुक्त इस अवस्था से परे हैं।

इन सात भूमिकाओं को पार करते हुए विक्षिप्तता, गतापाता, संश्लिष्टता और सुलीनता इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार विघ्नों को लाँघकर केवल निरालम्ब स्थिति में तल्लीन होकर रहने को कहा गया है।

ज्ञानी सद्योमुक्ति अथवा आत्यन्तिक प्रलय को प्राप्त होता है। वह किसी लोक विशेष में नहीं जाता। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। स्थूल शरीर का पतन होते ही वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति का भेद

ज्ञानी को जीवित अवस्था में ही विदेह मुक्ति मिल जाती है। ज्ञानी जब सत्वापत्ति नामक चतुर्थ भूमिका को आरूढ़ होता है उसी समय वह जीवन मुक्त हो जाता है। जब उसके अन्दर देहाभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता तब उसे विदेह मुक्त कहते हैं। तुरीय अवस्था को प्राप्त होने पर ज्ञानी जीवन मुक्त कहलाता है। वही जब तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे विदेह मुक्त कहते है। ज्ञानी को जब जाग्रत अवस्था स्वप्नवत भासने लगती है तब वह जीवन मुक्त कहलाता है। यही जाग्रत अवस्था जब उसे सुषुप्ति के समान हो जाती है तब उसकी विदेह मुक्त अवस्था कहलाती है। जिस अवस्था में चित्त का अरूप नाश होता है, उस अवस्था को जीवन मुक्त कहते हैं। जिस अवस्था में स्वरूप नाश हो जाता है उसे विदेह मुक्त कहते हैं। जीवन मुक्त संसार में रहकर उसका काम कर सकता है। भगवान् शंकराचार्य जीवन

मुक्त थे। भगवान् दत्तात्रेय और जड़ भरत विदेह मुक्त थे। वास्तव में इसकी आभ्यन्तरिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं है।

ज्ञानी व भक्त योगी

ज्ञानी आत्मनियंता व आत्मबल का आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्म समर्पण द्वारा भगवान् का साक्षात्कार करता है। ज्ञानी अपने स्वरूप को पहचान कर अपने अहंकार का विस्तार कर देता है और भक्त अपने को भगवान् के अर्पण कर देता है। भक्त अमृत का स्वाद लेना चाहता है परन्तु 'ज्ञानी स्वयं अमृत बन जाना चाहता है। भक्त को क्रम मुक्ति मिलती है और ज्ञानी को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। भक्त बिल्ली के बच्चे की तरह असहाय होकर भगवान् को पुकारता है परन्तु ज्ञानी बन्दरिया के बच्चे की भाँति दृढ़तापूर्वक अपनी माता की छाती से चिपट जाता है। चार प्रकार के भक्तों में केवल 'ज्ञानी भक्त' ही पराभक्ति का अधिकारी होता है।

ज्ञानी व योगी

ज्ञानी चलते फिरते,खाते पीते व बातचीत करते हुए भी अपना साधन कर सकता है। उसे किसी एकांत या कोठरी में बैठ कर आसन लगाने की आवश्यकता नहीं। राज योगी को भी एकांत और आसन की आवश्यकता है। ज्ञानी सदा समाधि (सहज अवस्था) में स्थित रहता है। उसकी नित्य दृष्टि होने से वह माया के वशीभूत नहीं होता। ज्ञानी के लिए 'समाधि' व 'व्युत्थान' अवस्थायें नहीं होती, परन्तु जब योगी समाधि से नीचे उतरता है तब उसे माया फिर घेर लेती है। राज योगी अपनी चित्तवृत्तियों को किसी पात्र में किसी वस्तु के बन्द करने की तरह ढक देता है, जिससे उसके अन्दर उनका आना जाना बन्द हो जाता है परन्तु ज्ञानी अपनी वृत्तियों का इस प्रकार निरोध

न करके वह उनका साक्षी बन जाता है। वह अपने सात्विक अन्त:करण से आकार वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानी अपने सत्संकल्प द्वारा सिद्धियों को प्रकट करता है, राज योगी धारणा, ध्यान व समाधि के समुदायरूप संयम के द्वारा ऐसा करता है। राज योगी की साधना मन से आरम्भ होती है। ज्ञानी अपना अभ्यास बुद्धि और इच्छाशक्ति के आधार पर करता है।

जब तक समाधि द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता तब तक पूर्ण शांति उत्पन्न नहीं होती, अतएव ज्ञान पथ के पथिक को ज्ञान प्राप्ति के लिए समाधि का आश्रय लेना चाहिए।

समाधिर्विदुषां स्नानं समाधिर्विदुषां जपः।

समाधिर्विदुषां यज्ञः समाधिर्विदुषां तपः॥

(राम गीता ।४६)

अर्थात् ज्ञानियों का समाधि ही स्नान, समाधि ही जप, समाधि ही यज्ञ और समाधि ही तप है। सारांश समाधि ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है।

जहं-जहं जाऊ सोई परिक्रमा जो-जो करूं सो पूजा।

सहज समाधि सदा उर राखूं भाव मिटा दूं दूजा॥

ज्ञान योग में बतलाया है कि **'येनात्मैवात्मनाजितः'** आत्मा से आत्मा को जीते अर्थात् मन से ही मन को जीते। पंचीकृत शरीर नाशवान् है, केवल आत्मा ही अविनाशी है, ऐसा विचार करके जीवात्मा अपनी अनेक आवर्णों में व्याप्त जीव दशा को व्यतिरेक से नष्ट करके **'अहंब्रह्मास्मि'** की वृत्ति को अनवरत बना रखने का अभ्यास करें। 'वृत्ति जिधर जाय उधर आप न जाय, पीछे साक्षी होकर खड़े-खड़े देखता रहे तो निज स्वरूप से भेंट हो जाती है। 'अर्थात् वृत्ति की ओर देखते रहने से वह आप ही अन्दर विलीन हो जाती हैं। पीछे रह जाता है केवल

उर्वरित वस्तु चैतन्यघन आप। इसका यही अभ्यास है। ऐसे चैतन्य घनानन्द में निमग्न रहने से देखना, सुनना, बोलना, चालना, चलना, फिरना आदि सब कर्म होते हुए भी आप निज स्वरूप में ही लीन रहता है और सब कामों को तटस्थवत् देखता है। ऐसी सहज स्थिति को पहुँचा हुआ साधक ऐहिक पारलौकिक सभी भोगों को तुच्छ समझता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इस ज्ञान योग में **'गुरुदेव परम्, गुरुदेव परम्'** इस प्रकार गुरु की बड़ी महिमा है।

सिद्ध योग

जिस पथ से बिना कष्ट के योग प्राप्त होता है उसको सिद्ध मार्ग कहते हैं। योग रूप सिद्धि को प्राप्त करने का पथ सुषुम्ना नाड़ी है। जब इस नाड़ी से प्राण वायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरंध में स्थित होता है तब साधक को जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान रूप योग प्राप्त होता है। गुरु द्वारा शक्ति का संचार होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। उसके पश्चात् क्रमोन्नति द्वारा योग लाभ होता है। इस सम्बन्ध की आवश्यक बातें आगे दी जाती हैं।

(१)बाह्य और आन्तर् शुद्ध होना चाहिए (२) आहार - विहार नियमित व शुद्ध हो (३) मस्तिष्क में क्षोभ पैदा करने वाले कोई कार्य न करना चाहिए (४) ईश्वर अथवा इष्ट में पूर्ण भक्ति हो (५)आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय व गुरु पर पूर्ण श्रद्धा (६) साधना का स्थान नीरव, एकांत, स्वच्छ और शुद्ध वायु युक्त हो (७) साधना प्रायः सायंकाल व अर्ध रात्रि में अवश्य करना चाहिए। आधी रात्रि का समय ध्यान और जप के लिए श्रेष्ठ है (८) इन्द्रियों व जिह्वादि का पूर्ण संयम करें (९) मन-बुद्धि से किसी का अहित न सोचना बल्कि प्राणी मात्र से हित की भावना करना (१०) प्रत्येक दशा में ब्रह्मशक्ति का स्वरूप समझते हुए अपनी आत्मा को अजर,

अमर व अजेय और सब शक्तियों को केन्द्र स्थान समझना (११) स्त्री जाति को जगदम्बा का स्वरूप समझकर कभी भोग वस्तु न समझना बल्कि सदैव माता के रूप में उनको देखना।

इस योग में साधक को परिश्रम करके सब योगों की आधार स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिये योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा, प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभविक ढंग से करने की आवश्यकता नहीं, केवल गुरु शक्ति के प्रभाव से ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाने से स्वाभविक रूप में योग मार्ग प्राप्त हो जाता है। इसी को 'सहज कर्म' कहते हैं। जो स्वभाव से होता है वही वास्तव में सहज है।

स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेद से योग पथ दो प्रकार का है। जो अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्ट साध्य व विध्न युक्त होते है। जो स्वाभविक हैं वह स्वभावत: ही होता है, वही साध्य और सुखद होता है और उसमें किसी तरह के कष्ट व विपत्ति की आशंका नहीं होती। जो कार्य स्वभाव से होता है उसमें आनन्द और सुख मालूम होता है और जो आग्रह या हठपूर्वक किया जाता है उसमें कष्ट-अप्रसन्नता आदि प्रतीत होने के कारण अनिष्ट कारक होता है। स्वभाव से जो होता है उसमें बाधा डालने पर भी हानि होने की सम्भावना रहती है। अतएव गुरु शक्ति के प्रभाव से स्वभावत: जो आसन, मुद्रा और प्राणायामादि नाना प्रकार के अङ्ग संचालन करने की जो इच्छा होती है उसमें आनन्द, स्फूर्ति व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जिस तरह शरीर में कोई रोग हो जाने पर वैद्य रोगी की नाड़ी आदि द्वारा उसका वास्तविक कारण जानकर उसी के अनुसार औषधि देता है उसी प्रकार गुरु भी साधक की योग्यता आदि का विचार करके उसमें शक्ति संचार के द्वारा सिद्ध मार्ग प्राप्त होने पर एक मात्र गुरुपदिष्ट मंत्र, जप या ध्यान द्वारा ही स्वभावत: आसन, मुद्रा, प्राणायाम,ध्यानादि सब योगांक शिष्य को अनायास ही आश्रित हो जाते हैं अधिक परिश्रम नहीं

करना पड़ता है बल्कि उसे गुरु से इन सब प्रकार के साधनों आदि का स्वतन्त्र रूप से उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह शक्ति सम्पन्न गुरु की कृपा प्राप्त होने पर ही सम्भव है।

इसी पथ से क्रमशः अग्रसर होते -होते साधक शीघ्र ही योग सिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। इसी उपाय से स्वभावतः योगादि साधन क्रम से जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान अथवा अखंड चैतन्यानुभूति होती है। इसी को सिद्ध मार्ग का सिद्ध योग कहते हैं।

जपयोग

महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में मंत्र सिद्धि मानते हुए लिखा है कि इष्ट मंत्र के जप से इष्टदेव के दर्शन प्राप्त होते हैं। प्रणव मुख्य मंत्र है और प्रणव के पश्चात् गायत्री मंत्र का महत्व है । मनु महाराज ने भी इसकी पुष्टि की है। जपयोग में भी सब साधन व योग आ जाते हैं मुख्य प्रकार के जपों का विवरण आगे दिया जाता है।

(१) नित्य (२) नैमित्तिक (३)काम्य (४)निषिद्ध (५) प्रायश्चित्त (६) अचल (७) चल (८)वाचिक (९) उपांशु (१०) भ्रमर (११)मानस (१२) अखंड (१३) अजपा (१४) प्रदक्षिणा ।

(१) **नित्य जप**- प्रातः व सायँकाल गुरुमंत्र का नित्य नियमित रूप से जप किया जाता है। यह नित्य व हर एक अवस्था में करना चाहिए। आपातकाल, यात्रा, बीमारी तथा स्नान न कर सकने पर हाथ, पैर व मुँह धोकर कुछ जप तो अवश्य कर लेना चाहिए। इससे नित्य दोष दूर होते हैं, अभ्यास, आनन्द तथा ईश्वर की समीपता बढ़ती है। उपवास के दिन, दिन में न सोना और रात्रि को जागरण व जप करना चाहिए।

(२) **नैमित्तिक जप**- किसी निमित्त से जो जप होता है वह

नैमित्तिक जप है। अपने उपास्य देव से सम्बन्ध रखने वाले दिन जैसे शिवरात्रि, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि व एकादशी, पूर्णमासी, अमावस्या आदि दिनों व पर्वो में एकांत मे बैठकर जप करना चाहिए इससे पुण्य का उदय व पाप का नाश होता है। जिसको उद्देश्य करके जप किया जाता है वह उसी को प्राप्त होता है।

(३) **काम्य जप**- किसी कामना की सिद्धि के लिए जो जप किया जाता है। उसे काम्य जप कहते हैं। यह मोक्ष के लिए नहीं बल्कि आर्त, अर्थार्थी, काम व कामी लोगों के लिए उपयोगी है। उसके साधन में पवित्रता, नियमों का पालन, धैर्य, मन व इन्द्रिय निग्रह, मिताहार व ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। योग्य गुरु से योग्य मंत्र का विधिपूर्वक जप हो। दक्षिणा दें, भोजन करावें। हवन करावें, इस तरह के अनुष्ठान से कामना अवश्य पूर्ण होती है।

(४) **निषिद्ध जप**- मनमाने ढंग से अविधि व अनियम जप करने को निषिद्ध जप कहते हैं। मंत्र का शुद्ध न होना, अयोग्य व अपवित्र मनुष्य से मंत्र लेना, देवता और मंत्र व अनेक मंत्रों को एक साथ अविधि पूर्वक जपना, मंत्र का अर्थ और विधि न जानना,श्रद्धा न होना, संयम न रखना यह निषिद्ध जप कहलाता है। इसलिए ऐसा कोई न करे। इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है।

(५) **प्रायश्चित्त जप**- किसी दोष या प्रमाद के दुरित नाश के लिए जो जप किया जाता है उसे प्रायश्चित्त जप कहते हैं। मनुष्य के मन की गति अधोगति की ओर है इसलिए उससे अनेक प्रमाद हो जाते हैं। यदि उन दोषों का परिमार्जन न किया जाय तो अशुभ कर्म संचित होने से अनेक दु:ख भोगने पड़ते हैं और वह प्रारब्ध बनकर भावी दु:खों की सृष्टि करते हैं इसलिए संकल्प पूर्वक जप करने से मनुष्य वियतात्मा बन सकता है मनुष्य से नित्य ही अनेक दोष हो जाते हैं इसलिए उनका नित्य ही नष्ट करना आवश्यक है। अल्प के लिए अल्प और अधिक के लिए अधिक जप करना चाहिए। नित्य न हो

तो हफ़्ते में एक बार अवश्य ही वह जप करना चाहिए। प्रातःकाल पहले गौमूत्र प्राशन करे, गंगाजी या जो तीर्थ आदि हों उसमें स्नान करे। यह भी न हो तो **'गंगा गंगेति'** मंत्र कहकर स्नान करें, भस्म, चन्दन आदि लगाकर देव, गुरु, द्विज आदि के दर्शन व परिक्रमा करें। दोष के हिसाब से जप संख्या निश्चित करके उसे पूरा करें।

(६) **अचल जप**- इसके लिए आसन,गोमुखी आदि सामग्री होना चाहिए। इसका उपयोग परोपकार में किया जाता है। इसमें व्याघ्राम्बर, मृगाजिन, माला व गोमुखी होना चाहिए। स्नानादि व देशकाल का स्मरण करके नित्य नियत संख्या में जप करना चाहिए। आहार विहार नियमित रखे ताकि बीच में जप खंडित न हो। देवता को वश तथा प्रसन्न करना इसका लक्ष्य है। भस्म व जल अभिमंत्रित करके देने से वह उपकारी होगा ।

(७) **चल जप**- यह जप नाम स्मरण ऐसा है। केवल भगवान् के नाम के स्थान पर मंत्र को जप करना है। इसमें कोई बंधन या नियम नही हैं। अन्य जप करने वाले भी इसे कर सकते हैं। जप करने वाला कठोर व मिथ्या भाषण न करें। इससे समय सार्थक होता है व जप करने वाला सुरक्षित, सुखपूर्वक रहकर परमार्थ को प्राप्त होता है व उत्तम गति पाकर कर्मबंध से छूट जाता है। इसके लिए माला व सुमिरनी रखने से विस्मरण नहीं हो पाता। सुमिरनी से सुभीता भी रहता है क्योंकि वह जेब आदि में रह सकती है और बग़ैर प्रकट हुए बराबर जप हो सकता है।

(८) **वाचिक जप**- जिस जप का जोर से उच्चारण हो उसे वाचिक जप कहते हैं। इससे वाक् सिद्धि होती है।

(९) **उपांशु जप** - इस जप में मुँह तो हिलता है परन्तु उच्चारण मुँह में ही होता है किसी को सुनाई नहीं देता। इसमें दृष्टि अर्धोन्मिलित रहती है। इससे साधक स्थूल शरीर से सूक्ष्म में प्रवेश करता है।

(१०) **भ्रमर जप**- भ्रमर की तरह गुनगुनाते हुए यह जप होता है इसलिए इसे भ्रमर जप कहते हैं। इसमें ओंठ नही हिलते आँखें झपी रहना चाहिए। यह जप बड़े महत्व के हैं। इसमें कुम्भक होने लगता है। पूरक जल्दी व रेचक धीरे-धीरे होता है। आधार चक्र से आज्ञा चक्र तक उनका कार्य अल्पाधिक रूप से क्रमशः होने लगता है व जाग्रत हो जाते हैं, चित्त एकाग्र होता है। दिव्य व इष्ट दर्शन होते हैं।

(११) **मानस जप**- यह जप का प्राण ही है। इसमें मंत्र का उच्चारण करके मन में ही मंत्र वृत्ति करनी पड़ती है। नेत्र बन्द रहते है। मंत्रार्थ का चिन्तन ही इसमें मुख्य है। मनु महाराज के कथनानुसार विविध यज्ञ की अपेक्षा यह जप हज़ार गुना श्रेष्ठ है पहले इष्ट देव का सगुण ध्यान करके यह जप किया जाता है पश्चात् निर्गुण स्वरूप का ज्ञान होता है तब उसका ध्यान करके जप किया जाता है। नादानुसन्धान के साथ यह जप करने से बहुत उपकारी होता है।

(१२) **अखंड जप**- यह विशेषकर त्यागियों के लिए है। आहार आदि का आवश्यक समय छोड़कर शेष समय जप करना चाहिए। लगातार जप करने से मन उचटने पर कुछ समय ध्यान लगावें, तत्त्व चिन्तन और फिर जप करें। जप करते-करते थकने पर ध्यान करें और ध्यान करते-करते थकने पर जप व दोनों से थकने पर आत्म तत्त्व का विचार करें। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इस योग सूत्र के अनुसार मंत्रार्थ का विचार करके उस भावना के साथ मन्त्रावृत्ति करें। तब जप बन्द करके स्वरूप वाचक 'अजो नित्यः आदि शब्दों का विचार करते हुए स्वरूप का ध्यान करें। तब ध्यान बन्द करके तत्त्व चिन्तन करें। आत्मविचार में ज्ञान विषयक ग्रन्थावलोकन भी आ जाते हैं। जैसे गीता, उपनिषद्, योगवाशिष्ठादि। सतत् बारह वर्ष ऐसा जप होने पर उसे तप कहते हैं।

(१३) **अजपा जप**- किसी भी तरह यह जप किया जा सकता

है। इसके लिए माला आवश्यक नहीं। श्वासोच्छवास की क्रिया के बारम्बार होने के साथ ही मंत्रावृत्ति की जा सकती है। यह जप सावधान रहने वालों से ही बनता है। यह सहज जप है।

(१४) **प्रदक्षिणा जप**- इसमें हाथ में रुद्राक्ष या तुलसी की माला लेकर वट, ओदुम्बर, पीपल अथवा ज्योतिर्लिंगादि के मंदिर या किसी सिद्ध पुरुष की मन में ब्रह्म भावना करके मंत्र कहते हुए परिक्रमा करना होती है। इससे सिद्धि प्राप्त व मनोरथ पूर्ण होता है।

योग के आठों अङ्ग जप में आ जाते हैं। (१) **यम**- बाह्येन्द्रियों का निग्रह अर्थात् यम है। आसन पर बैठना, दृष्टि को स्थिर करना सब यम ही हैं। (२) **नियम**- अन्तरिन्द्रियों का निग्रह अर्थात् 'शम' है। मन को एकाग्र करना इत्यादि से इसका साधन इसमें होता है। (३) **आसन**- स्थिरता से सुखपूर्वक विशिष्ट रीति से बैठने को आसन कहते हैं। जप में पद्मासन आदि लगाना पड़ते हैं। (४) **प्राणायाम**- विशिष्ट रीति से श्वासोच्छ्वास की क्रिया करना प्राणायाम है, जप में यह करना ही पड़ता है। (५) **प्रत्याहार**- शब्दादि विषयों की तरफ़ से मन को लौटा कर अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है यह भी इसमें करना पड़ता है। (६) **धारणा**- एक ही स्थान में दृष्टि को स्थिर करना जप में आवश्यक ही है। (७) **ध्यान**- ध्येय पर चित्त की एकाग्रता जप में होना ही चाहिए। (८) **समाधि**- ध्येय के साथ तदाकारता जप में रखे बिना उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि अष्टांग योग जप में आ जाता है इसलिए इसे जप योग कहते हैं। कर्म, उपासना, ज्ञान और योग के मुख्य-मुख्य अङ्ग जप योग में है इसलिए यह मुख्य साधन है। यह योग सदा सर्वत्र सब के लिए है।

मंत्र जप यज्ञ है और वह ईश्वर की विभूति है। यज्ञ का अधिकार दीक्षा विधि ही से होता है, यह वैदिक नियम है। इसलिए किसी अधिकारी पुरूष या महात्मा से मंत्र की दीक्षा लेकर जप करना चाहिए। गायत्री मंत्र भी दीक्षा विधि से लिया जाता है।

श्री गुरु से मंत्र की दीक्षा लेकर साधन मंत्र का जप आरम्भ करें। सुविधा हो तो किसी एकांत, पवित्र, रम्य स्थान, नदी किनारे या मन्दिर में जप करें। ऐसा न हो तो घर ही में कोई अलहदा स्थान बना लें और उसमें देवताओं व साधू महात्माओं के चित्र रखें। स्नान करने के बाद चन्दन व भस्म आदि लगाकर कुशा अथवा ऊन की आसन पर पूर्व या उत्तर को मुँह करके बैठे। इष्टदेव की मूर्ति या चित्र की पूजा करें फूल माला चढ़ाकर होम धूप देवें। आसन पर स्वास्तिक, पद्म या सिद्धासन सें बैठे। प्राणायाम करें पश्चात् माला से जितना जप नियत कर लें उतना प्रतिदिन इष्टदेव को अर्पण कर दें अर्थात् कहें **'ॐब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम'** अथवा **'कृष्णार्पणमस्तु'** तात्पर्य यह आहुति आदि ब्रह्म व कृष्ण भगवान् के अर्पण है इसका फल मैं नहीं चाहता। किसी धर्मग्रन्थ गीता, भागवत व रामायण आदि का पाठ करे और भोग या तीर्थ प्रसाद लेकर उठे।

❖ ❖ ❖

पूर्ण योग

योग मार्ग में पदार्पण करने वाले जिज्ञासु जब धर्म ग्रन्थों व योग सम्बन्धी पुस्तकों में भक्ति योग, कर्म योग, ज्ञान योग, हठ योग, लय योग, ध्यान योग आदि कई प्रकार के योगों के नाम व उनकी व्याख्या पढ़ते हैं तो सहसा उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या यह सब योग एक दूसरे से भिन्न हैं? और क्या उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नही हैं? और इसके कारण भी हैं क्यों कि हठ योगी कहते हैं कि हम आसन-प्राणायाम द्वारा प्राण स्थिर और चित्त को एकाग्र करते हैं, ज्ञान योगी कहते हैं कि हम मननादि साधन से स्थिरता का साधन करते हैं, कर्म योगी कहते हैं कि हम कर्म करने में ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, भक्त लोग कहते हैं कि हम नाम स्मरण आदि करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक साधक अपने मार्ग को दूसरे से

पृथक् बतलाया है। इनमें से एक शरीर का आश्रय लेता है, दूसरा प्राण पर निर्भर करता है, तीसरा मन का उपयोग करता है, चौथा कर्मेन्द्रियों का सहारा लेता है और पाँचवाँ स्मरणशक्ति का आश्रय लेता हैं। इस प्रकार इनमें से एक भी सम्पूर्ण मानव शक्तियों का उपयोग नहीं करता। हर एक प्रकार का साधक एक-एक शक्ति का उपयोग करता है और इसीलिए वह अपने आपको दूसरे से पृथक् समझता है और इसी पृथक्त्व में उसे अपूर्णता का भी अनुभव होता है।

मनुष्य के शरीर में आत्मा, बुद्धि, मन , प्राण, इन्द्रियाँ, पंचभूत, आदि अनेक शक्तियाँ हैं। इन सब का एक साथ योग होने पर ही योग पूर्ण हो सकता है। जो साधक यह कहते है कि हम केवल प्राणों का साधन करते हैं, अथवा केवल अपनी आत्मा का ही परमात्मा के साथ एकीकरण करते हैं वे एक ही अंश का योग करते हैं, उनके सम्पूर्ण अङ्गों के साथ योग नहीं होता। अतः वे अपूर्ण योग करते है और इसलिए वे पृथक्त्व का अनुभव करते हैं।

वास्तव में आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय पंचभूतादि सब का उपयोग किए बिना किसी भी योग का साधन नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक योग में सब साधनों का न्यूनाधिक उपयोग होता ही है। परन्तु साधक यह अनुभव नहीं करता बल्कि वह यह मानता है कि मेरा साधन मार्ग दूसरे मार्गो से भिन्न है। जो यह मानते हैं। वे पूर्ण योग के लाभ से वंचित रहने के साथ ही उनका साधन भी अपूर्ण रह जाता हैं।

बहुत से साधक तो यह समझते है कि योग की सिद्ध आत्मा को परमात्मा के साथ मिला देने से ही हो जाती है, साथ ही यह भी समझते हैं कि मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय तथा पंचभूतों का परमात्मा के साथ योग नहीं होता अतएव वे उनको विशेष महत्व नहीं देते। यही अपूर्ण योग है या पूर्ण योग का अपूर्ण ज्ञान है। हमारे ऋषि मुनियों ने

तो हमें पूर्ण साधन दिया है परन्तु हम एक ही अंश साधन के कारण पूर्ण योग के लाभ से वंचित हो रहे है।

अब यह प्रश्न उठता है कि पूर्णयोग क्या है? उसके लक्षण क्या हैं? और उसका किस प्रकार साधन करना चाहिए। जिस योग में एक ही साथ सम्पूर्ण मानव शक्तियों का योग परमात्मा की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ होता है वही पूर्ण योग है और वह ज्ञान स्वरूप ज्ञान होने के बाद ही हो सकता है। अतएव यह जानना आवश्यक है कि परमात्मा और जीवात्मा की कौन-कौन सी शक्तियाँ हैं? गीता में भगवान् कृष्ण कहते है कि :-

पृथ्वी, जल, तेज़, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति और नवीं जीवरूपी परा प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकार की ईश्वर की प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकार की प्रकृति मनुष्य के पास नहीं है? क्या पंचभूत, मन, बुद्धि व अहंकार आदि मनुष्य के पास नहीं है? अवश्य हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो नौ शक्तियाँ ईश्वर के पास हैं, वे ही मनुष्यों के पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्ति का योग क्यों करता है? परमात्मा की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का योग क्यों नही करता? विचार करने पर यह मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। तब फिर इस तरह के पूर्ण योग का साधन कैसे किया जाय, केवल यही एक प्रश्न पर विचार करना शेष रह जाता है ।

साधक को पहले यह विचार करना चाहिए कि ईश्वर की प्रकृति में जो नौ तत्त्व हैं, वे ही हमारे अन्दर भी हैं। ईश्वर की प्रकृति इस समूचे विश्व में पूर्णतया व्याप्त है, कोई भी स्थान उससे रिक्त नहीं है। इसी कारण ईश्वर को 'सर्व' 'विश्व' कहते हैं। (**विश्वं विष्णु 'पुरुष एवेदं सर्वम्'**) जब परमेश्वर 'सर्व' है तब यह सर्वरूप उसी का रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी है इस तरह साधक को अपने आपको महासागर के अन्दर के एक जल बिन्दु के समान समझना

चाहिए। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागर में है वही एक जल बिन्दु में भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश प्रकृति में है, वे ही साधक की प्रकृति में भी हैं और ईश्वर की महान् प्रकृति में साधक की अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसी का एक बिन्दु रूप है। इस भावना में साधक को स्थिर होकर विचार करना चाहिए कि अपने पृथ्वी तत्त्व के साथ ईश्वर की प्रकृति का पृथ्वी तत्त्व मिला है या नहीं, गंध से पृथ्वी तत्त्व का ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान जहाँ गंध न हो? अपने शरीर में गंधवती पृथ्वी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व में भी है। क्या अपने शरीर की गंधवती पृथ्वी विश्वरूपी ब्रह्मांड की ईश प्रकृति से पृथक है? पृथक कहाँ से हो सकती है? गंध में गंध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीर के जल, तेज़, वायु, आकाश आदि तत्त्वों के साथ प्रकृति के यह तत्त्व कैसे मिले हुए हैं, इसका अनुभव करें। विवेक पूर्वक यह निश्चय करना चाहिए और उसका यह अनुभव करना चाहिए कि ईश्वर के विश्व व्यापक शरीर से मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कि कपड़े में सूत का भाग है वैसे ही उस प्रभु में मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जब तक मन में ऐसा निश्चय न हो जाय तब तक बार-बार विचार करके ऐसा अनुभव करने की चेष्टा करना चाहिए और यह बात जानना चाहिए कि किस तरह अपनी प्रकृति ईश्वर की प्रकृति के साथ मिली हुई है। जब यह अनुभूति होगी तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृति का सम्पूर्ण योग परमात्म प्रकृति के साथ सदा सर्वदा है। यही पूर्ण योग के अभ्यास का प्रथम पाठ है।

इस योग में यह भावना कि, 'मैं प्रभू के साथ सर्वदा संयुक्त हूँ' सदा जागृत रहना चाहिए। 'मै अलग हूँ और वह अलग है' -- यह भाव यहाँ है ही नहीं। अपनी सब शक्तियाँ उसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं। यही अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

इसके आगे दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यह पंच महाभूत पृथक्

सत्ताधारी है अथवा एक सत्तत्व के, यह पाँच गुण हमारी पाँचों इन्द्रियों को पाँच अनुभव दिला रहे हैं।

एक सत्तत्व के साथ जब आँख काम करती है तब उसे उसका रूप दिखता है और जब कान कार्य करता है तो उसे शब्द सुनाई पड़ता है। यही पृथक्, अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा की निजी आंतरिक घटना के कारण होता है। वस्तुतः जिसके यह गुण अनुभव में आते हैं, वह तत्त्व एक ही है, उस तत्त्व में पृथक्-पृथक् भाव नहीं है। जैसे आँख आम का पीला रंग देखती है, उसका स्पर्श हाथ करता है, उसका स्वाद जिह्वा लेती है, उसका शब्द कान सुनता है, और उसकी गंध नाक लेती है परन्तु आम तो एक ही है, आम वैसे ही मूल सत्तत्व एक ही है, किन्तु उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से होने पर, पृथक् गुण अनुभूत होते हैं। एक ही सत्तत्व के अनेक गुण प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार विचार द्वारा एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। पहले अभ्यास से यह ज्ञान हुआ कि अपनी प्रकृति के पंचतत्त्वों के साथ प्रकृति के पंचतत्त्व मिले हैं। इस अभ्यास से यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिव में एक ही तत्त्व है और वह सब परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य बिल्कुल नहीं है। यह पूर्ण योग का दूसरा पाठ हैं।

पंचतत्त्वों का एकीकरण इस तरह प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकता है। यह केवल कल्पना की बात नहीं है। साधक विचार करें और अपने शरीर के पंचतत्त्व विश्वव्यापी पंचतत्त्वों के साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करें अथवा जिस एक तत्त्व के पाँच गुण पाँच इन्द्रियों द्वारा प्रतीत होते हैं, वह एक तत्त्व के पाँच गुण इन्द्रियों द्वारा प्रतीत होते हैं वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीर में है वैसा ही सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, इस बात को विचार करके जान लें। यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का पूर्ण योग विश्व व्यापक शक्तियों के साथ हो जाता है और **'नेह नानास्ति किंचन'** का अनुभव होता है। यही अखंड एकता का अनुभव है।

जब पंच महाभूतों का योग हो गया तब उसके बाद मन का विचार करना चाहिए। मन क्या करता है? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है। साधक अगर विचार करेंगे तो उसको पता लगेंगा कि मन द्वारा तीन प्रकार के अनुभव होते हैं (१) 'यह सब है', (२) 'यह मुझे प्रतीत होता है', (३) ' यह मुझे प्रिय है'। इन्ही अनुभवों का संक्षिप्त नाम --'सत्, चित्त, आनन्द' अस्ति, भाति, प्रियत्व भी इनको कहते हैं। देखने वाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् में यह तीन अनुभव करता है। यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्व में यह तीन अनुभव लेने का यत्न करेगा तो इस तरह भी उसका 'पूर्ण योग' सिद्ध होगा और पार्थक्य का ज्ञान कराने वाला मन भी इस तरह विश्व रूप के साथ एक हो जायगा।

प्रथम पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पंचभूतों का ज्ञान हुआ। वह अब जाता रहा और एक ही वस्तु के तीन पहलुओं का ज्ञान हुआ। जो वस्तु (अस्ति) है वही (भाति) प्रतीत होती है और वही (प्रिय) प्रेमरूप है। अणु - रेणु को इन तीन भावों से देखिए, उसमें अपने आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटाने का प्रयत्न कीजिए। इस तरह के अभ्यास से यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब वस्तु एक ही है। यह पूर्ण योग का तीसरा पाठ है। इसमें पंचतत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन ही भाव रह जाते हैं।

इसके बाद अब बुद्धि आती है, यह कहती है कि यहाँ न तो पंचतत्त्व ही हैं, न तीन भाव ही हैं, केवल जड़ और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्व में कुछ जड़ और कुछ चेतन दिखाई पड़ता है। ऐसा दिखता भी है और अनुभव में भी आता है जो जड़ है वह चैतन्य नहीं है और जो चैतन्य है वह जड़ नहीं हैं। अतएव बुद्धि द्वारा केवल यह दो पदार्थ ही निश्चित होते हैं। इन्द्रियों के सम्बन्ध से हमने पाँच पदार्थ निश्चित किये थे, मन के द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धि के द्वारा केवल दो

ही निश्चित होते हैं। जड़ और चैतन्य। विश्व में जड़ भी है चैतन्य भी हैं। साधक में शरीर जड़ है और जीव चैतन्य। अतएव जो जड़-चैतन्य विश्व भर में है वे ही साधक में भी हैं। ऐसा विचार कर साधक को अपना जड़ भाग विश्व के जड़ के साथ, अपना चैतन्य विश्व व्यापक चैतन्य के साथ मिला देना चाहिए। अब हम किस रूप में अलग रहे? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गए हैं-- एक जड़ और एक चैतन्य शेष पंच महाभूत अस्ति, भाति, प्रियत्व अथवा सत्व, रज, तम सब उसी जड़-चैतन्य के अन्तर्गत आ गए।

अब साधक अलग कहाँ रहा? वह तो विश्व व्यापी जड़-चैतन्य में ही मिल चुका है अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड़ और चैतन्य पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ आत्मा को साक्षी रूप में देखना चाहिए। जागृति में जब वह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड़ है या चैतन्य और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह दृष्टा सो जाय और जागे ही नहीं तो कौन किसको जड़ कहेगा और कौन किसको चैतन्य। अत: इस दृष्टा का ज्ञान ही यह सब होता है, दृष्टा का स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्व में परिणित होता है, फिर दृष्टा से भिन्न कौन सा पदार्थ रहा? जड़ और चैतन्यरूप में जो भेद है वह इसी के निज रूप का भेद है।

अब साधक इस चतुर्थ पाठ के समय स्वयं ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि तब यह सब है, नहीं तो नहीं है। अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ। मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह पूर्ण योग का अन्तिम पाठ है। इसी बात की निम्न श्रुतिवाक्य ने भी पृष्टि की है।

'मैं ही नीचे' ऊपर, आगे पीछे, दाहिनी और बाँई ओर हूँ, और मैं सब कुछ हूँ', (छान्दों ७/२५)

यही पूर्ण योग की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा शास्त्र में यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योग के अंग प्रत्यंग है और यह सब अपूर्ण योग है। यही सर्वांग पूर्ण योग है। साधक इसी का निरंतर मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णता में दु:ख और पूर्णता में सुख है। साधक इसी प्रकार आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

योग के चमत्कार

भारतवर्ष में योग का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण अधिकारी बनाने के लिये योग का साधन परम आवश्यक है क्योंकि उससे मन स्थिर व उन्नत तथा शरीर स्वस्थ होकर आध्यात्म मार्ग पर चलने के योग्य होता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से लेकर योग की क्रियाएँ आज तक यहाँ पर किसी न किसी रूप में वर्तमान है।

पतंजलि महाराज के योग सूत्रों में लिखा है कि योग क्रियाओं के फलस्वरूप ऐसी-ऐसी अद्‌भुत व अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होतीं हैं कि साधारण मनुष्य उन पर सहसा विश्वास ही नहीं कर सकता। योगियों के सम्बन्ध में बड़ी आश्चर्यजनक बातें सुनने में आती है। आजकल भी ऐसे योगी लोग हैं जो असम्भव बातों को सम्भव करके दिखला सकते हैं। वास्तव में योगी अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त करके सब कुछ कर सकते हैं। सिद्धियों की बात जाने दीजिए योग के प्रथम व आरम्भिक साधन यम, नियम आदि के साधन द्वारा ही मनुष्य बहुत कुछ कर सकते हैं। जैसे **'अहिंसा प्रतिष्ठायाँ तत्सन्निधौ सर्व वैर त्याग:'**।

अर्थात् अपने अन्त:करण में अहिंसा धारण करने से उससे सब प्रकार के जीवधारी बैरभाव (हिंसा भाव) को त्याग देते हैं। इसी

प्रकार **'अस्तेय प्रतिष्ठायाँ तत्सन्निधौ सर्वरत्नोपस्थितः'** अर्थात् अस्तेय को स्थापित करने से साधक के समीप सभी प्रकार के वैभव उपस्थित होते हैं।

सिद्धियों के द्वारा वह बड़े-बड़े काम कर सकता है। बग़ैर तार और रेडिओ के दूर-दूर के समाचार जानना एक साधारण सी बात है। योगी लाहिड़ी जिनकी समाधि बनारस में है उनके सम्बन्ध में वहाँ के प्रतिष्ठित लोग जानते हैं कि उन्होंने ध्यान द्वारा एक अंग्रेज़ अफ़सर की स्त्री का समाचार उसके पति को ज्यों का त्यों थोड़ी देर ही ध्यान लगाकर बतला दिया था।

बनारस के तैलंग स्वामी जिन्होंने कि २८० वर्ष की आयु में शरीर छोड़ा उनके अनेक अद्‌भुत चमत्कारों को भी बनारस के लोग भली भाँति जानते हैं।

जिन बीमारियों में अच्छे-अच्छे डाक्टर व उनकी दवाएँ व इन्जेक्शन फेल हो जाते हैं उनको योगी केवल झाड़ फूकादि द्वारा बात की बात में अच्छा कर देते हैं।

पूना के योगेश्वर ज्ञानदेव जी के केवल छू देने से ही एक भैस वेदों की ऋचायें आदि कहने लगी थी और दीवाल चलने लगी थी। उन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था में जो गीता की व्याख्या ज्ञानेश्वरी में की है उसी से उनकी अलौकिक शक्ति का पता लगता है। बाईस वर्ष की अवस्था में तो उन्होने समाधि ही ले ली थी।

आज भी भारतवर्ष के पहाड़ों व जंगलों में ऐसे-ऐसे योगी मौजूद हैं जिनमें इस प्रकार की चमत्कार पूर्ण शक्तियाँ हैं। योगी काकभुषुण्ड चिरंजीवी कहे जाते हैं।

पुरुष ही क्या बल्कि यहाँ की महिलाएं भी कितनी योगिनी होती थीं इसकी एक कथा का महाभारत में वर्णन है कि एक ऋषि पत्नी को जब यह ज्ञान हुआ कि वह शीघ्र ही विधवा हो जायगी तब उस

सती ने जो धारणा की उससे सूर्यदेव का उदय होना ही रुक गया। सूर्योदय का समय निकले चौदह घन्टे बीत गये परन्तु सूर्य भगवान् के दर्शन नहीं हुए। तब महर्षि वशिष्ठ जी ने आकर उनसे कहा कि सूर्योदय होना क्यों रोकती हो? हम तुम्हारे मृत पति को संजीवन मंत्र से पुनः जीवित कर देंगे। अतएव सूर्यदेव को उदय होने दो, तब उस सती ने मनः संयम को छोड़ा।

अपने पूज्य पति भगवान् शंकर जी का अपने पिता प्रजापति दक्ष द्वारा अपमान किए जाने पर सती जी ने अपने शरीर से योगाग्नि प्रज्वलित कर अपना शरीर त्याग दिया था।

भक्त योगिनी मीराबाई को राणा ने जहर पिलाकर व सर्पों से कटवाकर (दंश) उनके मारने के अनेक प्रयत्न किए परन्तु वह उनका बाल भी बाँका न कर सका था।

ईश्वरीय कृपा, सद्गुरू के आशीर्वाद व पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण जिन साधकों को योग साधन में सफलता प्राप्त हो जाती है उनको अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिनको लोग चमत्कार कहते हैं, जिनको अपने धार्मिक ग्रन्थ तथा ऋषियों, मुनियों व महान् पुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि योगाभ्यास के द्वारा हमारे पूर्वजों को ऐसी-ऐसी शक्तियाँ प्राप्त थी जिनकी आजकल लोग कल्पना भी नहीं कर सकते।

आजकल लोग रेडियो, बे तार के तार, हवाई जहाज, एक्स-रे आदि को देखकर इसे आविष्कारों का ज़माना अथवा उन्नति का युग कहते हैं, परन्तु या तो उनका इस बात का पता नहीं या वह इस बात को भूल जाते हैं कि हमारे पूर्वजों ने जो-जो अद्भुत, विलक्षण, आश्चर्यजनक तथा अलौकिक आविष्कार किए थे उनके मुक़ाबले में आजकल के आविष्कार केवल छाया मात्र है, जिनको विदेशी लोगों ने भारतवासियों की उदारता, पराधीनता व समय परिर्वतन के कारण

अनभिज्ञता या उदासीनता अथवा छल कपट आदि द्वारा किसी न किसी प्रकार प्राप्त करके उन्हीं को दूसरे रूप में हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

हमारे पूर्वजों का ध्यान अपनी शक्तियों का विकास, सांसारिक वस्तुओं अर्थात् नये-नये कल कारख़ाने तथा अन्य आविष्कारों द्वारा लाखों करोड़ों व्यक्तियों के स्वतन्त्र धन्धें छीनकर व उनको उनमें काम करने के लिए बाध्य करके इनेगिने आदमियों को फ़ायदा पहुँचाने की अपेक्षा आत्मोन्नति व ईश्वर प्राप्ति में ही रहता था।

पुरानी बातों को जाने दीजिये जगद्गुरू शंकराचार्य को ही ले लीजिये। जिस समय उनके साथ शास्त्रार्थ करने में श्री मंडन मिश्र हार गये उस समय उनकी धर्मपत्नी के यह कहने पर कि वह मिश्र जी की अर्धांगिनी हैं अतएव जब तक उनको भी शास्त्रार्थ में न हरा दिया जायेगा उस वक़्त तक मिश्र जी को हारा हुआ नहीं माना जा सकता। इस बात को मान लेने पर जब मिश्र जी की धर्मपत्नी स्वामी जी से कोकशास्त्र पर विवाद करने लगीं तब बाल ब्रह्मचारी होने के कारण इस विषय का कुछ भी ज्ञान न होने से राजा सुधन्वा की रानी से जो कि इस विषय में बड़ी प्रवीण थी यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने राजा सुधन्वा के मृतक शरीर में परकाय प्रवेश क्रिया द्वारा प्रवेश किया था और रानी से ज्ञान प्राप्त करने के बाद वह मिश्र जी के घर में आकाश मार्ग से गये थे। इसके अलावा उन्होंने एक मर्तबा नर्मदा जी के जल का बहना रोक दिया था।

भगवान् बुद्धदेव को अलौकिक यौगिक ऋद्धि सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके शिष्य श्री पिंडोल भारद्वाज व मौदगल्यायन आदि के यौगिक चमत्कारों के सम्बन्ध में बौद्धिक ग्रन्थों में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। धम्मपद के १८० (१४-२) श्लोक में पिंडोल भारद्वाज के आकाशगमन व पहाड़ फटने पर उसमें से प्रकट होने आदि के कई वृतांत दिये हैं।

धम्मपद में (श्लोक १७५-१३/९) में लिखा है कि तीस भिक्षु जो कि विदेश से नेतवन में भगवान् बुद्ध के दर्शन करने के लिये आकाश मार्ग से आए थे और वार्तालाप करके उसी तरह शून्यपथ से चले गए थे। बुद्ध जी के आनन्द नामक शिष्य जो कि बाहर इस प्रतीक्षा में थे कि जब वे लोग बुद्ध जी से बातचीत करके बाहर आवें तब वह बुद्ध जी के पास जावें परन्तु अधिक समय बीत जाने पर भी जब वे लोग बाहर न निकले तब आनन्द जी को अन्दर जाकर उनको वहाँ न देख बुद्धदेव जी से पूछने पर मालूम हुआ कि वे लोग शून्य पथ से चले गए। बुद्धदेवजी ने बतलाया कि 'जो लोग चतुर्विध ऋद्धि' का विकास करते हैं वे हंस की तरह शून्य मार्ग से जा सकते हैं।

नाथ सम्प्रदाय के योगियों की अनेक आश्चर्यजनक कक्षाएँ है, जो कि हिन्दी भाषा में लिखी हुई है। गुरू गोरखनाथ, मीननाथ लुईपाद, कान्हपाद आदि की भी कथाएँ बंगला साहित्य में मिलती हैं। इनमें से श्री हरप्रसाद शास्त्री कृत **'बौद्ध गान औ दौहा'** नामक पुस्तक बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित की गई है।

यद्यपि योगियों को ऐसे चमत्कारों को सर्व साधारण को बतलाने के लिए उनके गुरूओं आदि की आज्ञा नहीं होती, साथ ही उनको दिखलाने से उनकी शक्ति का अपव्यय होता तथा लोगों से संसर्ग आदि बढ़ता है अतएव विशेष अवसरों के सिवाय वह अपनी शक्ति और सिद्धियों का उपयोग नहीं करते।

पहले की बातें जाने दीजिए आजकल भी हिमालय आदि पर्वतों पर ऐसे त्रिकालज्ञ महात्मा व योगी मौजूद है जो भूत, भविष्य और वर्तमान की बातें अक्षरशः बतला देते है। वे लोग योग बल से बर्फ़ की चट्टानों पर पड़े रहते हैं, नदियों व झरनों के बर्फ़ सदृश्य पानी से बराबर स्नान करते है। बिना अन्न जल ग्रहण किए ब्रह्मरंध्र से स्राव होने वाले अमृत बिन्दु से सदैव तृप्त रहते हैं। उनका सुंन्दर व सुडौल

शरीर देखकर लोग आश्चर्य चकित रह जाते हैं।

खेचरी मुद्रा द्वारा योगी हवा में उड़ सकता है। योग की गुटका द्वारा योगी पलक मारते ही कहीं भी पहुँच सकता है। हम अपने दूरस्थ सम्बन्धियों का समाचार जानने के लिए तार व पत्र भेजते हैं परन्तु योगियों को यह सिद्धि प्राप्त होती है कि वे ध्यान द्वारा बात की बात में संसार के किसी भी स्थान का हाल बतला सकते है और भयानक से भयानक रोग जहाँ बड़े-बड़े डाक्टरों की दवाएँ, इन्जेक्शन व दिमाग़ काम नहीं देते, योगी लोग दृष्टि, स्पर्श व मंत्र से दूर कर देते है। रोगी ही क्या वे मरे आदमी को ज़िन्दा कर सकते हैं। आज भी भारतवर्ष में ऐसे कितने ही योगी मौजूद हैं जिनको इस तरह की सिद्धियाँ प्राप्त हैं।

ऋद्धियों सिद्धियों के सम्बन्ध में स्वा0 शंकराचार्य और सुरेश्वर जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि **'वास्तव में सर्वात्मा या पूर्णाहंत्ता ही महा विभूति हैं'** बौद्धाचार्यों का कहना है कि स्रोतआपन्न, सकृदागामी और अन्तर्गामी अवस्था के बाद जब अर्हद् भाव का आविर्भाव होता है तब अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान वृद्धि, दिव्य श्रोत्र, पर चित्त ज्ञान, अपने व दूसरों के परजन्म की स्मृति और दिव्य दृष्टि का उदय होता है 'यौगावतारोपदेश' नामक ग्रन्थ के श्लोक ७ में लिखा है कि 'संज्ञा वेदित निरोध' अवस्था प्राप्त होने पर योगी में उपर्युक्त अभिज्ञाओं का आविर्भाव होता है। इनका ज्ञान होने के कारण ही बुद्ध जी को 'षड़भिज्ञ' भी कहते थे। पातंजलि दर्शन में भी इस सम्बन्ध में अनेकों बातें दी गई हैं।

कर्मबन्ध का निरोध

योग के अर्थ है एक वस्तु का दूसरे से मिलना। आत्मिक जगत् में इसके दो स्वरूप है। (१) आत्मा का अनात्मीय पदार्थो से

सम्बन्ध और (२) आत्मा का आत्मा में लीन होना। अनात्मिक वस्तुएँ अनेक है, परस्पर विषमता लिए हुए हैं, परिवर्तनशील हैं, और आत्मा से विजातीय हैं। इनमें लीन होने की इच्छा का परिणाम सतत अतृप्ति और दु:ख है, अतएव इनमें लीनता हो ही नहीं सकती। अत: आत्मा का आत्मा में लीन होना ही वास्तविक योग है। यही स्वाभाविक और चिरस्थाई भी है। इसके भी दो अङ्ग है। (१) विजातीय पदार्थो से रुचि हटाना, उनसे वियोग करना अर्थात् अनात्मीय पदार्थो से रुचि हटाना और (२) आत्मा से योग करना।

योग के लिए आत्मा और अनात्मा का भेद, प्रकृति अर्थात् कर्म का आत्मा के प्रति आकर्षण और उससे सम्बन्ध, नवीन कर्म सम्बन्ध का निरोध तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होकर आत्यन्तिक युक्ति की उपलब्धि, इन विषयों का ठीक तथा प्रतीतयुक्त ज्ञान होना आवश्यक है।

देहरूपी प्राणियों में जो विषमताएँ और जो दु:ख-सुख, ज्ञानशक्ति आदि की अल्पता और स्वरूप भ्राँति आदि दिखलाई पड़ते हैं वे आत्मा के निजी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनकी अल्पाधिकता होती रहती है तथा उनका आत्यान्तिक अभाव भी सम्भव है। अत: आत्मा के ये भाव किसी अनात्मीय पदार्थ के निमित्त से हैं यह पदार्थ है कर्म। जीव के वर्तमान कर्मों के फलों को भविष्य में भोगने से भी कर्म की सिद्धि होती है, क्योंकि कर्म और उसके फल के समय में अन्तर रहने से, कार्यकारण की दृष्टि से, कोई ऐसा तत्काल कर्मजन्य कार्य मानना पड़ता है जो कि समय पर फलोत्पति कर सके।

आत्मा का देह से सम्बन्ध होना, आत्मा के मानसिक भावों और इच्छाओं का भौतिक पदार्थों पर प्रभाव पड़ना, यथा क्रोध से आँखें लाल हो जाना आदि से विदित होता है कि उनका कारण भी भौतिक हैं, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होता है।

जिस प्रकार तप्त लोहा जल में पड़ने से चारों और से जल

खींचता है उसी तरह मन, वचन, काम की शुभ व अशुभ क्रियाओं से आत्मा में हलचल होने से एक विशेष जाति के सूक्ष्म परमाणु कर्मरूप होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। यह कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) घातिया (२) अघातिया। घातिया कर्म भी चार प्रकार के होते हैं। (१) ज्ञान का आवरण करने वाले, (२) दर्शन का आवरण करने वाले, (३) आत्मा को मोहने वाले अर्थात् उसको आत्मश्रद्धान और स्वरूपाचरण से बेभान कर देने वाले, (४) दान, लाभ, भोगोपभोग और शक्ति में विघ्न करने वाले, अघातिया कर्म भी चार ही तरह के होते है, उनके कार्य (१) आयु (२) शरीर (३) गोत्र और (४) सुख-दुःख की वेदना है। सामान्यतः तीव्र कषायों से शुभ कर्मों की फलदान शक्ति और स्थिति कम और अशुभ कर्मों की अधिक होती है व मंद कषाय का फल इसके विपरीत होता है। कुछ काल तक अनुदयरूप रहकर यह कर्म फिर उदय होते है, अर्थात् अपना फल देने लगते हैं और पूरे होने पर झड़ जाते हैं। फल भोगने के समय आत्मा कषायभाव से फिर नये कर्म बाँध लेता है। तपस्या व साधना आदि के द्वारा कर्म अपने समय से पहले भी उदय होकर फल देने लगते हैं। कई पूर्वबद्ध कर्मों में वर्तमान क्रियाओं से भी परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि कर्म भिन्न-भिन्न स्थितियों के होते हैं। अतः प्रत्येक क्षण कषाय सहित आत्मा के साथ नवीन कर्म बँधते रहते हैं। बहुत से पूर्व कर्म उदय होकर झड़ते रहते हैं, और बहुत से पूर्व कर्म फल देने का समय न आने के कारण सत्तारूप में सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रकार आत्मा और कर्म का यह सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है, परन्तु प्रत्येक कर्मबन्ध सादि और सान्त है। आत्मज्ञान पाकर कषायों को नष्ट कर देने से नवीन कर्म बन्धन न होने पर और पुरातन कर्मों के समय पाकर या तपस्या से असमय ही झड़ जाने पर आत्मा सदा के लिये कर्मों से मुक्ति पा जाता है, और निज स्वाभाविक, स्वाधीन, पूर्णानन्द, ज्ञान, शक्ति आदि को भोगने लगता है। इसी को स्वस्वरूप में लीन होना कहते हैं।

कर्मबन्ध को रोकने के उपाय बन्ध के कारणों से विपरीत गुण है। यथा प्रतीति सहित स्व स्वरूप का सम्यक् ज्ञान आत्मज्ञानी अन्तर्मुखी हो जाता है, और कर्मफल भोगते हुए भी उसकी यातनायें मन्द हो जाती है तथा प्रति क्षण अधिक-अधिक मन्द होती जाती हैं।

साधक को चाहिए कि वह अपने कर्मों के बन्ध से छुटकारा पाने के लिये अपने अन्तः स्थित ज्ञानमय गुरु चरण की भगवान् की शरण ले और रोते हुए कहे कि प्रभो! इन असुरों की पीड़ा से मुझे बचाइये, ये मुझे आपके समीप तक पहुँचने नहीं देते। इन संचित कर्मों के विपरीत आकर्षण से मेरी रक्षा कीजिए। आप ही मेरे :-

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

स्वामी, रक्षक तथा सब कुछ हैं, मैं आपकी शरण में आया हूँ।

पूर्व जन्म के पापों का विशेष संचय न हो, भगवत् कृपा हो, किसी प्रकार से भी सही हृदय में श्रद्धा के भाव हों, तो ऐसे पुरुष के उद्धार में देर नहीं लगती। साधु सत्संग होते ही बड़े-बड़े दुराचारी दुष्कर्मों का परित्याग करके परम भक्त बन गए। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि :-

भगवान् श्रीकृष्ण जी अपने परम भक्त उद्धव से कहते हैं कि:-

'हे उद्धव! जिस तरह सुप्रदीप्त अग्नि काष्ठ समूह को भस्मीभूत कर देती है उसी तरह प्रेमरूपा भक्ति सब प्रकार के पाप कर्मों का विनाश कर देती है'। अर्थात् यह केवल संचित और क्रियमाणरूप अप्रारब्ध पाप कर्मों को ही विनिष्ट करती है, सो बात नहीं, वह प्रारब्ध कर्मों को भी नष्ट करती है।

पद्म पुराण में भी यही बात कही गई है कि :-

'जो लोग हरि भक्ति में अनन्य भाव से अनुरक्त हो जाते हैं, उनके अप्रारब्ध फल, कूट, बीज और फलोन्मुख-- यह चारों प्रकार के पाप कर्म नाश को प्राप्त हो जाते हैं'।

कर्मबन्ध रोकने का एक बहुत बड़ा उपाय तप भी है। यह पूर्व संचित कर्मो को भी अपने समय से पहले झड़ा देता है। यह (१)वाह्य और (२) अभ्यन्तर दो प्रकार का है।

(१) वाह्य तप

शक्ति के अनुसार उपवास, एक समय भोजन, युक्ताहार, युक्ताहार में घर, पदार्थ आदि की सीमा निश्चित करना, रसों का त्याग, एकान्तसेवक और समताभाव से काय क्लेश आदि करना।

(२) अभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त, गुरुओं व साधुओं की सेवा व विनय, ज्ञानाभ्यास, वाह्य पदार्थों का और तत्सम्बन्धी ममता और वासना का त्याग, चित्त शुद्धि और ध्यान आदि अन्तरंग तप हैं। इनमें ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। ध्यान के बिना आत्मसिद्धि नहीं होती। ध्यानी ही सच्चा योगी है।

❖ ❖ ❖

योग के विघ्न

जिस प्रकार प्रत्येक शुभ कार्य में विघ्न बाधाएँ आती हैं उसी प्रकार साधक के मार्ग में भी नाना प्रकार के विघ्न और बाधाएँ आती हैं और उसे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों, कष्टों तथा प्रलोभनों का भी सामना करना पड़ता है। जैसा कि सिद्धि प्रकरण में लिखा गया है कि योग साधन से तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अतएव साधक को उनके प्रलोभन में न आकर अपनी साधना में दृढ़ता के साथ लगे रहना चाहिए, अन्यथा पारमार्थिक हानि के सिवाय साधक उद्देश्य भ्रष्ट हो

जाता है। पतंजलि ऋषि ने योगियों की निम्नलिखित चार श्रेणियाँ बतलाई हैं।

(१) अष्टांग योग समाप्त करके जो साधक योग भूमि में प्रवेश करते हैं वे स्थूल समाधि सिद्ध हैं। अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण अन्तर्ज्योति का स्फुरण होना आरम्भ हो जाता है।

(२) पहली अवस्था के बाद साधक योग 'मधुमती' भूमि में पदार्पण करता है। इस समय उसका चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है, इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि व अप्सरा आदि उसके पास उपस्थित होकर उसे नाना प्रकार के अलौकिक प्रलोभनों द्वारा मार्गच्युत करने की चेष्टा करते है। अतएव गुणातीत आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने को उद्यत होने वाले ऐसी अवस्था में प्रलोभनों में आसक्ति और अहंकार में न आकर संयत रूप से चित्त में बल का संचय करके साधन पथ पर अग्रसर होने में इन सब प्रलोभन और भय से छुटकारा पा सकते हैं। मधुमती ही योगियों की परीक्षा की अवस्था है।

(३) तृतीय अवस्था में समस्त प्रलोभन की वस्तुएँ योगियों के अपने संकल्प के द्वारा निर्मित हो सकती है और योगी साधक स्वयं दिव्य भावापन्न होते हैं, इसलिए उनको विशेष आशंका की सम्भावना नहीं रहती। इस अवस्था में योगी प्रज्ञा ज्योति के द्वारा पंचभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं के ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं, भूतजयी होने पर योगी वज्र के समान सिद्ध देह प्राप्त कर लेते हैं और अणिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, योगशास्त्रों में इन सब सिद्धियों का वर्णन 'मधु प्रतीय' नाम से किया गया है। विशेषकर पंचभूत व पंचेन्द्रिय पर अधिकार होने के कारण उनको सृष्टि, स्थिति व संहार

करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। उन्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता, जिसके लिए उनके किसी प्रलोभन में पड़ने की सम्भावना हो।

(४) इस प्रकार साधना क्रम से जब योगी भूतेन्द्रिय को अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वह सर्वज्ञ हो जाते हैं। योगशास्त्र की भाषा में इसी का नाम **'विशोका सिद्धि'** है। यही वास्तविक जीवन मुक्त योगियों की अवस्था है। इसके बाद वैराग्य के साथ-साथ त्रिगुण का राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी दृश्य व चिंतनीय पदार्थों की सीमा पार करके अव्यक्त परम पद में स्थित हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ही के मतानुसार योग के नौ अंतराय और पाँच उपांतराय विघ्न और भी है।

१- अन्तराय विघ्न - (१) व्याधि (रोग), (२) शिथिलता (३) संशय (४) प्रमाद (जान बूझकर योगांगों की साधना न करना) (५) आलस्य (६) अविरति (विषयों में रुचि) (७) भ्राँति दर्शन (विपरीत निश्चय) (८) अलब्ध भूमिकत्व (योगांगों का अनुष्ठान करने पर भी मधुमती, मधुप्रती आदि समाधि भूमि विशेष का लाभ न होना) (९) अनन स्थितत्व (भूमि विशेष का लाभ होने पर भी चित्त का स्थिर न रहना) यह नौ विक्षेपकारी योग व समाधि के अन्तराय विघातक हैं। इन्हीं को योगमल, योग प्रतिपक्ष व योग विघ्न कहते हैं।

२ - उपांतराय विघ्न - (१) दुःख (२) दौर्मनस्य (इच्छा के पूर्ण न होने पर मन का क्षुब्ध होना) (३) अंगयेजयत्व (अंग बंधना) (४) श्वास (वाह्य वायु को भीतर ले जाना) (५) प्रश्वास (भीतर की वायु को बाहर निकालना)

अष्टांग योग प्रकरण में लिखे गए यम नियमों का पालन करने के सिवाय योगाभ्यासी का आहार विहार भी बहुत ही नियमित होना चाहिए अन्यथा साधन में धातु, वात, पित्त, कफ़, अजीर्ण, नींद की खुमारी व अति परिश्रम से साधन में बाधा पड़ती है। इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'जो अधिक भोजन करता है, जो बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता अथवा जागता है, हे अर्जुन! वह योगी नहीं हो सकता। जो नियम पूर्वक भोजन करता, नियमित विहार करता, जागता और सोता है तथा कर्म करता है उसके लिए योग दु:ख का नाश करने वाला होता है।'

योग साधन का उद्देश्य है शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना। इसके लिए सबसे प्रथम कर्तव्य है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि षड् रिपुओं का नाश करना।

(१) काम - स्त्री भोगादि की अभिलाषा काम है।

(२) क्रोध - प्राणियों को दु:ख पहुँचाना।

(३) लोभ - धनादि की अतिशय आकांक्षा ।

(४) मोह - तत्त्वज्ञान का अभाव ।

(५) मद - मैं सुखी हूँ, मै पंडित हूँ, मैं धनवान् हूँ आदि गर्व करना।

(६) मत्सर - दूसरों के सौभाग्य तथा उन्नति को देखकर दु:खी होना।

यह आत्मरूप का विचार करने में बाधक व सब दु:खों के कारण हैं इसीलिए इनका दमन करने के वास्ते अष्टांग योग का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है।

योग सम्बन्धी पुस्तकें

1. राजयोग संहिता
2. योग वाशिष्ठ ले. भीखनलाल त्रिवेदी, एम. ए. डी.लिट्
३. योग वाशिष्ठ दर्शनम्,,
४. योग वाशिष्ठ और उसके सिद्धांत
५. कर्म मीमांसा दर्शन महर्षि भरद्वाज कृत
६. मंत्र योग महर्षि पतंजलि कृत
७. हठ योग
८. लय योग
९. राज योग संहिता
१०. योग सुधाकर ले. स्वा. सदाशिवेन्द्र
११. पातंजल दर्शन
१२. रसेश्वर दर्शन
१३. महानिर्वाण सूत्र
१४. विनय पटिक
१५. ममता पुराण
१६. शाक्त तंत्र
१७. शाक्तानन्द तरंगिणी
१८. गुप्त भारत की खोज लीडर प्रेस
१९. भक्ति सागर
२०. योग सागर
२१. मत्स्येन्द्र संहिता
२२. गोरक्ष शतक
23. गोरक्ष संहिता
२४. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह
२५. विवेक मार्तण्ड
२६. पवन विजय स्वरोदय
२७. नाद विन्दूपनिषद्
२८. ग्रहथरे योगशिक्षा (बंगला)
२९. राजमार्तंड धार नरेशकृत
३०. योग वार्तिक विज्ञानभिक्षु कृत
३१. विश्वकोष
३२. घेरंड संहिता
३३. अनुभव प्रकाश
३४. सूर्य सिद्धांत
३५. सूर्य विज्ञान
३६. हरि लीला कल्पतरू
३७. योग तारावलि
३८. सत्संग भूषण
३९. सत्संगी जीवन स्वा. नारायण कृत (स्वामीजीयौगिक क्रियाओं के लिये बड़े प्रसिद्ध थे)
४०. शिव स्वरोदय (भगवान शंकर का स्वशास्त्र ग्रन्थहै)
४१. योग चूड़ामणि
४२. ज्वालोपनिषद्
४३. योग तत्वोपनिषद्
४४. योग स्मृति

४५. योग शिखोपनिषद्
४६. योगी गुरु
४७. ज्ञानी गुरु (सारस्वत मठ पो. कोविलामुख जोरहाट आसाम)
४८. प्रबोध सुधाकर
४९. याज्ञवल्क्य संहिता
५०. दत्तात्रेय संहिता
५१. पातंजल योग दर्शन
५२. योगी याज्ञवल्क्य
५३. शिव संहिता भगवान् शंकर कृत्
५४. योग तारावली स्वामी शंकराचार्य कृत
५५. हठतत्व कौमुदी
५६. निरंजन पुराण
५७. योग शिखोपनिषद्
५८. हठ योग प्रदीपिका
५९. शुकोक्ति सुधा सागर अर्थात् भागवत ले. रूपनारायण पांडे निर्णय सागर प्रेस २३ कोलभाट लेन बम्बई
६०. गीत गोविन्द ले. पं. राज जयदेव
६१. सांख्य शास्त्र ले.कपिलाचार्य
६२. गुह्य समाजतंत्र
६३. साधन ग्रन्थों का संग्रह (गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थ माला वरौदा)
६४. श्री हरि लीला कल्पतरु
६५. सत्संग भूषण ले. नारायण स्वामी
६६. सत्संग जीवनी " "
६७. शारीरिक उपचार ले. रामदास गौड़ भारतवासी प्रेस दारागंज प्रयाग
६८. सिद्धसिद्धांत पद्धति
६९. सिद्धसिद्धांत संग्रह
७०. अमत्सक
७१. योग बीज
७२. शाण्डिल्य उपनिषद् (नाड़ी शोध प्राणायाम)

1. Yog as the system of physical culture & how to dify diseases, old age & death by Prakash Deo Hindi Vidyarthi Bhawan Lahore.
2. Yog vashistha & its philosophy.
3. Yog vashistha & modern thoughts.
4. Philosophy of Yog vashistha.

5. Yog vashistha & some of the minor up-nishadas.
6. Yog mimansa (quarterly magazine Kaivalya Dham Lonavala Bombay.
7. Asan " "
8. Pranayam " "

योग सम्बन्धी तालिका

१. **योग** - कर्म योग, ज्ञान रोग, राज योग, हठ योग, लय योग, भक्ति योग, मंत्र योग।

२. **द्विधा निष्ठा** - सांख्य योग और कर्म योग।

३. **द्विधा प्रकृति** - परा और अपरा।

४. **त्रिविध पुरूष** - क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव व भगवान्)

५. **वेदांत के चार महावाक्य** - अहंब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म व अयमात्मा ब्रह्म।

६. **सप्तज्ञान भूमिका** - शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति असंसक्ति, पदार्थ भावनी, तुर्यगा।

७. **साधान चतुष्टय** - नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (सम, दम, तितिक्षा, उपरित, श्रद्धा व समाधान) मुमुक्षत्व।

८. **त्रिविध नर्कद्वार** - काम क्रोध और लोभ।

९. **त्रिविध ज्ञान द्वार** - श्रद्धा, तत्परता व इन्द्रिय संयम।

१०. **भक्ति के चार महावाक्य** - कृष्णस्तु भगवान् स्वयं अतः परतं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं ब्रज।

११. **द्विधा भक्ति**- अपरा या गौणी, परा या रागानुरागा।

१२. **नवधा भक्ति**- श्रवण, कीर्तन,स्मरण पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, व आत्म निवेदन।

१३. **पंच भाव** - शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य व मधुर।

१४. **अष्ट सात्विक भाव** - स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य अश्रु और प्रल्य।

१५. **प्रेम की तीन अवस्थाएँ** - पूर्वराग, मिलन और वियोग।

१६. **त्रिविध विरह** - भूत, वर्तमान और भावी।

१७. **विरह की दश दशाएँ** - चिंता,जागरण, उद्वेग, कृशता,मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि मोह और मृत्यु।

१८. **चतुर्विध भाव** - भावोदय, भावसंधि, भावशावल्य व भावशांति।

१९. **द्विविध महाभाव** - रूढ़ और अधिरूढ़।

२०. **द्विविध अधिरूढ़ महाभाव** - मोदन और मादन (मोहन)।

२१. **आसन**- एक सौ आठ, मुख्य चौरासी तथा प्रमुख ३२ और प्रधान तीन पद्मासन, सिद्धासन व स्वास्तिकासन।

२२. **मुद्रा व बँध** - अनेक हैं परन्तु मुख्य पच्चीस ये हैं।
महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियायन, जालंधर, मूल, महाबधं, खेचरी, विपरीत करणी, योनि, बज्रोली, शक्ति चालनी, तड़ागी, मांडवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आभ्यसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)

२३. **षट्कर्म** - नौलि, धौति, वस्ति, नेति, गजकरणी, कपाल भांति व त्राटक सहित सात।

२४. **प्राणयाम** - पूरक, कुम्भक व रेचक।

२५. **प्राणायाम** - चतुर्विध (पातंज लोक्त) आभ्यन्तर, वाह्य और दो प्रकार के केवल प्राणायाम।

२६. **प्राणायाम** - अष्ट विधि- सूर्यभेदन, उज्जायी, सीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रमरी, मूर्च्छा और प्लावनी। अनुलोम, विलोम मिलाकर नौ प्रकार के होते हैं।

२७. **दैनिक श्वास** - २१६००

२८. **तीन प्रधान नाड़ियाँ** - इडा, पिंगला और सुषुम्ना ।

२९. **दस वायु** - प्राण, अपान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धंनजय।

३०. **योग के षट्चक्र** - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

३१. **योग के सप्तचक्र** - उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्त्रार।

३२. **योग के नौ चक्र** - उपर्युक सात आठवाँ तालू में ललनाचक्र और नवा ब्रह्मरंध्र में गुरुचक्र।

३३. **षोड़श आधार** - दाहिने पैर का अँगूठा, गुल्फ, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठकूप, तालूमूल जिह्वामूल, दंतमूल, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, नेत्र मंडल, ललाट, मस्तक व सहस्रार।

३४. **तीन ग्रन्थि** - ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

३५. **त्रिमार्ग** - पिपीलिका मार्ग दादुर मार्ग, और विहंगम मार्ग।

३६. **त्रिशक्ति** - ऊर्ध्वशक्ति (कंठ में),अधः शक्ति (गुदा में)मध्य -शक्ति (नाभि में)।

३७. **पंचभूत** - पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

३८. **पंचाकाश**- आकाश महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

३९. **वर्ण** - पचास ('अ से ह' तक)।

४०. **चतुर्विधि वाणी**- परा,पश्यंती मध्यमा, वैखरी।

४१. **आठ अङ्ग** - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

४२. **त्रिविध मंत्र** - पुं, स्त्री, क्लीव।

४३. **यम** - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह।

४४. **नियम** - शौच,संतोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

४५. **संयम** - धारणा,ध्यान और समाधि।

४६. **क्रिया योग** - तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

४७. **द्विविध ध्यान** - भेदभाव से और अभेदभाव से।

४८. **द्विविध समाधि** - सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

४९. **सप्त समाधि** - महर्षि पतंजलि के मतानुसार समाधि सात प्रकार की हैं। सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सस्मिता, सानन्द व असम्प्रज्ञात प्रथम छ:सविकल्प और सातवीं निर्विकल्प।

५०. **असम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद**- विचारानुगम, वितर्कानुगम ! आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

५१. **असम्प्रज्ञात के दो भेद**- भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय।

५२. **मन की वृत्ति**- प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति।

५३. **पंच क्लेश**- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

५४. **सप्त साधन** - शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

५५. **योग के विध्न** - व्याधि,स्त्यान,संक्षय, प्रमाद, आलस्य, विषय, तृष्णा, भ्राँति, फल में सन्देह, चित्त की अस्थिरता दु:ख, देह की ख़राबी, मन की चंचलता, अनियमित श्वास, प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार व निद्रा, ब्रह्मचर्य का नाश,नकली

गुरु का शिष्यत्व, सच्चे गुरु में अश्रद्धा, भगवान् में अविश्वास, सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा। अल्प सिद्धि में ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, अपनी पूजा करवाना, गुरु बनना व दंभ करना ।

५६. **अष्ट महासिद्धि**- अणिमा,महिमा, लघिमा, प्राप्ति,प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायित्व कुछ गरिमा जोड़कर नौ मानते हैं।

५७. **चतुर्विध साधक**- मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रात्म।

५८. **चार अवस्थाएँ** - जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

५९. **ज्ञान योग सोपान की सातसीढ़ियाँ**- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी और तुरीया।

शुभेच्छा - संसार सागर से पार होकर आत्मज्ञान करने की समुचित इच्छा है।

विचारणा- ब्रह्म के स्वरूप का अनुसन्धान।

तनुमानसा- मन का सूक्ष्म होना तनुमानसा है।

सत्वापत्ति- विशुद्धता को कहते हैं।

असंसक्ति- असंग अनासक्ति को कहते हैं।

पदार्थ भावनी- तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का मनन व निदिध्यासन पदार्थ भावनी है।

तुरीया- परम बोध को कहते हैं।

६०. **योग की भूमिकाएँ**- तमस्, भ्रम, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध।

६१. **राज योग की प्रभृति भूमिकाएँ**- मधुमती, मधुप्रतीक, विशोका और संस्कार शेष।

६२. **वेदांत की छः अवस्थाएँ**- शुद्ध श्रवण, मनन, निदिध्यासन, एकीभाव और लय।

६३. **राज योग में मन की भूमिकाएँ**- श्रश्त्रा पंचवृत्ति, क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरोध।

६४. **वेदांत की समाधियाँ**- शब्दाननुविद्ध, दृश्यानुविद्ध, दृश्याननुविद्ध ब्रह्मनिर्विकल्प, आन्तर। निर्विकल्प, अद्वैत भवनारूप व अद्वैतवस्थानुरूप। पहली चार सविकल्प, और चार निर्विकल्प।

६५. **पंचकोष** - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय,विज्ञानमय तथा आनन्दमय।

६६. **धर्म ध्यान के चार भेद** - पिंडस्थ (शरीरस्थ निज आत्मा का ध्यान), पदस्थ (मंत्राक्षरों का ध्यान),रूपस्थ(शरीर सहित परमैश्वर्य युक्त सर्वज्ञ वीतरागी आत्मा का ध्यान) और रूपातीत (अरूपी, देहमुक्त, सच्चिदानन्द आत्मा का ध्यान)।

६७. **पिण्डस्थ ध्यान की पाँच धारणाएँ**- पार्थवी,आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्विक।

६८. **योग के षट् रिपु** - काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर।

अष्टांग योग

श्रुति वाक्य है:-

'मुक्तियोगात्तथा योगात् सम्यग्ज्ञानं महीपते'।

तपस्विम्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपियतोऽधिकः।

अर्थात् योग साक्षात् मोक्ष का कारण न होते हुए भी मोक्ष कारण ज्ञान का कारण है। अतएव जब तक साधक योगशास्त्र के अनुसार

अभ्यास करके योगी नहीं हो जाता तब तक उसको ज्ञान प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि जिस तरह मुक्त होने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, उसी तरह ज्ञानी होने के लिए योग की भी आवश्कता है। शास्त्रों में लिखा है:-

निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योग संगतिः।

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते॥

अर्थात् 'ममत्व' दुःख का और निर्ममत्व ही अत्यन्त निर्वृत्ति (सुख) का मूल है। निर्ममत्व से वैराग्य, वैराग्य से योग, योग से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। अतएव यह स्पष्ट है कि जिज्ञासु के लिए योग का साधन कितना आवश्यक है। अब हमें यह विचार करना है कि योग का क्या स्वरूप है? व उसके क्या लक्षण हैं? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में भगवान् पतंजलि ने योग सूत्र में कहा है कि :-

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (यो. १/२)

अर्थात् 'चित्त की वृत्तियों का रोकना योग कहलाता है' शास्त्रों में चित्त की पाँच अवस्थाएँ वर्णित है। (१) क्षिप्तावस्था (२) मूढ़ावस्था (३) विक्षिप्तावस्था (४) एकाग्रावस्था और (५) निरोधावस्था चित्त में (१) सत्व (२) रजस् और (३) तमस् आदि तीन गुण हैं। इन गुणों के धर्म भी उसी में रहते हैं।

चित्त सत्व गुण प्रधान होकर भी अप्रधान रजो और तमो गुणों से संयुक्त रहने के कारण अणिमादि आठ ऐश्वर्यों और शब्द आदि पाँच विषयों में जब अनुरक्त होता है, तब उसकी क्षिप्तावस्था होती है। दैत्य और दानवों का चित्त इसी अवस्था में रहता है। वही सत्व प्रधान चित्त जब रजोगुण को तिरस्कृत करके तमोगुण में संयुक्त रहता है और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य व निद्रा आदि चाहने लगता है, तब उसकी मूढ़ावस्था होती है। पिशाच और राक्षसों का चित्त इसी अवस्था

में रहता है। वही सत्वप्रधान चित्त जब तमोगुण को छोड़कर रजोगुण से सम्बद्ध हो जाने के कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्रिय समझने लगता है तब उसको विक्षिप्त अवस्था कहते हैं महान् पुरुषों व देवताओं का चित्त इसी अवस्था में रहता है। जब चित्त में रजोगुण और तमोगुण अंशमात्र भी नहीं रहते, केवल सत्व गुण ही रहता है, उस समय चित्त अपनी वास्तविक दशा में रहता है। यही चित्त की एकाग्रावस्था है और इसी को सम्प्रज्ञान समाधि कहते हैं। विवेक ख्याति भी योगशास्त्र में इसी की संज्ञा है। जब चित्त यह समझकर कि चित्त शक्ति अपरिणामिनी, शुद्ध और अनन्त है और विवेक ख्याति को भी रोक देता है, तब चित्त की निरोधावस्था हो जाती है। इसमें चित्त का स्वरूप कुछ भी नहीं रहता। इसलिये योगी लोग इसे निर्जीव समाधि कहते हैं। इन पाँचों चित्त की अवथाओं में से अन्तिम दो अवस्थाओं में ही अपेक्षित चित्तवृति निरोध होता है, शेष तीन अवस्थाओं में नहीं होता अतःउक्त दो अवस्थाएँ ही योग की प्रवृत्तिनिमित्ता हैं। उक्त तीन चित्तावस्थाओं के प्रतिकिंचित् चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर भी क्लेश और कर्म का परिपन्थी नहीं है, उनमें अविद्या, अस्मिता आदि पाँच क्लेश और कर्म वर्तमान ही रहते हैं, अतः उनमें यह लक्षण नहीं आ सकता। अतएव हमें योग की यही परिभाषा समझना चाहिए कि :-

'क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तनिरोधत्वं योग लक्षणम्'।

अर्थात् क्लेश कर्मादि का निवारक चित्तवृत्ति निरोध ही योग है।

ऊपर लिखे अनुसार योग के स्वरूप की तो विवेचना हो चुकी , अब उसके प्राप्ति के उपायों का विचार करना है।

पतंजलि महाराज ने अपने पातंजल योग दर्शन में योग प्राप्ति के लिए तीन तरह के साधन बतलाएँ हैं।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'(यो. १/१२)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त का निरोध होता है।

(१) 'ईश्वर प्रणिधानाद्ध' (यो. १/२३)

अर्थात् 'ईश्वरार्पण बुद्धि रखने से।

(२) 'तपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योग'।(यो २/१)

अर्थात् तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ही क्रिया योग है।

(३) यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,ध्यान समाध योऽष्टांगानि।

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि अष्टांग योग है।

कोई भी मनुष्य प्राथमिक साधनों का साधन न करके प्रथम व दूसरे साधन का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव योग की प्राप्ति के सम्बन्ध में आगे प्राथमिक साधन अर्थात् अष्टांग योग का विवेचन किया जा रहा है।

अष्टांग योग के साधन से चित्त की अशुद्धता नष्ट होकर ज्ञान का विकास होता है और अन्त में विवेक ख्याति की प्रप्ति हो जाती है।

❖ ❖ ❖

योग साधक का दैनिक कार्यक्रम व नियम

प्रातःकाल

(१) सुबह चार बजे उठकर बिस्तर पर सुखासन से बैठे और कानों के छेदों को बन्द करके दोनों आँखों की पलकों को उँगलियों

से दबाते हुए पैतालीस बार ॐ का उच्चारण करें। इसके बाद तीन चार मिनिट सर्वांग आसन करें। इसके उपरान्त दस मिनिट तक ताड़ासन अर्थात् ताड़ के वृक्ष की तरह खड़े होकर एक-एक हाथ को बारी बारी से ऊपर नीचे करें। मल द्वार को ऊपर खींचे रहे और शरीर का सारा भार पंजों पर रखे। बाद में पैरों के पंजों के बल तीन सौ क़दम चले।

प्रात:काल आधा सेर तक ताज़ा पानी छानकर एक नकुए को बन्द कर दूसरे से पीने का अभ्यास करें। पहले थोड़े जल से आरंभ करें। इससे नाक के स्वर, गला साफ़ रहेगा और आँख की ज्योति बढ़ेगी।

(२) मल मूत्र त्याग

दिन को उत्तर और रात को दक्षिण की तरफ़ मल मूत्र त्याग करना चाहिए। मल त्यागते समय दाहिनी तरफ़ की दाढ़ों को एक दूसरे से दबावे और साँस नीचे की तरफ़ करें। शरीर का कुल भार दाहिने पैर के ऊपर और बाएँ अङ्ग का भार बाएँ पैर के पंजे पर रहे। दोनों हाथों की कुहनियाँ दोनों जांघों और पेट की कोखों के बीच में रखे। ऐसा करने से टट्टी साफ़ होगी व दाँत मजबूत होंगे। मल मूत्र साथ-साथ न त्यागें। मल त्यागने के बाद गणेश क्रिया (अर्थात् बाएँ हाथ की बीच की उँगली में तेल या साबुन लगाकर मल द्वार के अन्दर डालकर अच्छी तरह उसे साफ़ करें) ऐसा करने से मल द्वार सम्बन्धी रोग बवासीर आदि नहीं होंगे। टट्टी होने के पहले व बाद में मूत्रेन्द्रिय पर बारीक़ धार से जल छोड़ने से स्वप्न दोष, धातु की गर्मी तथा प्रमेह आदि दूर होते हैं।

दाहिना स्वर चलते समय टट्टी व बायाँ चलते समय पेशाब करना चाहिये। मूत्र त्याग करते समय भी दाँत नीचे दबाये रहने से पेशाब साफ़ होगा और मूत्र सम्बन्धी कोई बीमारी न होगी।

(३) मुंह धोना

सुबह नीम या बबूल की दातून करे। मुह में खूब पानी भर कर दोनों आँखें में कम से कम पच्चीस-पच्चीस बार छींटे मारे। इस प्रकार आँखों को जब भी मुँह धोवे उस वक़्त छीटे मारने से आँखे साफ़ रहती है तथा उनकी रोशनी बढ़ती है।

(४) स्नान

सूर्योदय के पहले ताज़े जल से स्नान करें। यदि ऐसा न हो सके तो बाद में नहावे। नहाते वक़्त ठंडा जल सर से और गर्म पैरों से डालना प्रारम्भ करें। यौगिक अभ्यास के पहले नहा लेना लाभदायक है, जल चिकित्सा वालों को कुछ देर पहले या पीछे (तत्काल ही नहीं) नहाना चाहिए। प्राणायाम आदि के डेढ़ घंटे बाद नहाया जा सकता है। नहाते समय **'ॐ ह्रीं गंगायै ॐ ह्रीं स्वाहा'** जप करने से कहीं भी स्नान करने पर गंगा स्नान का फल प्राप्त होता है। सूर्योदय के पहले स्नान करने से वायु, पित्त व कफ़ की समता रहती है और दस बजे बाद नहाने से वह कुपित होते हैं।

(५) भोजन

भोजन के पहले हाथ, पैर व मुँह आदि धोने से जठराग्नि बढ़ती है। थाली बैठने के स्थान से कुछ ऊँची होनी चाहिए। भोग लगाकर अथवा ॐ का उच्चारण करते हुए भोजन करें। भोजन आरम्भ करने की एक यह विधि है कि पहले पाँच ग्रास खाते समय इस प्रकार कहते जावें (१) **ॐ प्राणाय स्वाहाः** (२) **ॐ अपानाय स्वाहाः।** (२) **ॐ व्यानाय स्वाहाः** (४) **ॐ उदानाय स्वाहाः** (५) **ॐ समानाय स्वाहाः।** भोजन में यदि मीठी चीज़ हो तो उसी से आरम्भ करें। नियमित भोजन करें। भोजन का अनुपात इस प्रकार है। दो हिस्सा भोजन करें और एक हिस्सा पानी व एक हिस्सा हवा के लिए स्थान

रहने दें। भोजन के समय ज्यादा पानी न पियें। यदि आवश्यकता हो तो बीच में दो चार घूँट पी ले। पेट की वायु के नाश के लिए भोजन के समय पहले ग्रास के साथ चार आने भर हिंग्वाष्टक चूर्ण घी के साथ मिलाकर अथवा लवण भास्कर चूर्ण ठंडे जल के साथ खाना चाहिए। भोजन के बाद मुँह में पानी भर कर पच्चीस-पच्चीस बार आंखों में छींटे मारने से दृष्टि तेज़ होती है।

जो पदार्थ अपने स्वास्थ्य के अनुकूल हो वही खाना चाहिए। प्रत्येक ग्रास को बीस पच्चीस बार ख़ूब चबाकर खाना चाहिए। पाचन शक्ति कमज़ोर होने पर हल्के पदार्थ खाना चाहिए और वह भी केवल दो मर्तबा। यदि एक ही मर्तबा खाये तो और भी अच्छा है। दूसरे समय दूध अथवा हल्का व अल्पाहार करें। मंदाग्नि, कोष्ठबद्धता व मूत्राशय के रोग होने पर किसी प्रकार की दाल व आलू, बैगन, अर्बी (घुइँयाँ) काशी फल आदि बादी चीज़ों का साग तथा प्याज न खाना चाहिए।

भोजन के पश्चात् वीर या सुखासन से पाँच मिनिट बैठे अथवा चित्त लेटकर आठ बार गहरी साँस ले। इसी प्रकार फिर दाहिनी करवट पश्चात् बायीं करवट लेटकर क्रमशः सोलह और बत्तीस बार साँसे ले। पश्चात् कुछ देर सम्भव हो तो आराम करें।

योग साधना करने वाले को ताज़े, सात्विक व शीघ्र पचने वाले पदार्थ ही खाना चाहिए। तेल, गुड़, लाल मिर्च, दही, मसाले, खटाई, अचार, प्याज, लहसुन, रूखा, तीक्ष्ण, लवण, सरसों, राई, कड़वी व बासी वस्तु नहीं खाना चाहिए। पहले पतले फिर कड़े व बाद में फिर पतले पदार्थ खावे। यदि हो सके तो भोजन की समाप्ति दूध से करें। अन्त में दही न खायें। बीच में आवश्यकता पड़ने पर थोड़ा-थोड़ा पानी पीना बलकारक व बार-बार व बाद में तथा ज्यादा पानी विष तुल्य है। भोजन के डेढ़-दो घंटे बाद जल या दूध पीना लाभदायक है। फलाहार उत्तम है। गौ दुग्ध व घृत का इस्तेमाल करें।

सात्विक भोजन करने से निद्रा पर जय प्राप्त होती है। लधु आहार के द्वारा ब्रह्म पद के लिए प्रयास करना चाहिए। गाढ़े पदार्थों का अल्पाहार व पतले पदार्थ पेट भर खाने के बाद डेढ़ घटें तक और पेट भर खाने के बाद चार घन्टे तक कोई अभ्यास न करे। पेट नहीं भारी हो तो अभ्यास सुखकारी । गरिष्ठ भोजन से अग्नि मन्द पड़ जाती है।

प्राणायाम के पहले किसी फल का एक प्याला रस व दूध पिया जा सकता है और बाद में भी पन्द्रह बीस मिनिट पश्चात् एक प्याला दूध व हल्का नाश्ता किया जा सकता है।

भोजन नियत समय पर करें। दोपहर बारह बजे व शाम को ७ बजे के पहले। दो मर्तबा भोजन व एक या दो मर्तबा हल्का नाश्ता या फल खाये जा सकते हैं। भोजन के समय सदा प्रसन्न चित्त रहें।

पिंगला अर्थात् सूर्य स्वर चलने से उष्णता बढ़ती है तभी भोजन ठीक से पचता है। अतएव दाहिना स्वर चलते समय भोजन करें। भोजन के लिए स्वर बदलना उचित नहीं। बार-बार भोजन करने से बार-बार स्वर बदलते हैं और स्वरों की अव्यवस्था के कारण दु:साध्य रोग उत्पन्न होते हैं। दूध व जल बायें स्वर चलते समय पियें।

दूध गर्म किया हो परन्तु अधिक न उबाला जाय । योगाभ्यासियों के लिए दूध व फल उत्तम आहार है।

जौ, गेहूँ, बादाम, मक्खन, ईख, शहद, सोंठ, मूँग की दाल, शाक, सब्जी, आलू, किसमिस, खजूर, मुनक्का, अन्य सूखे फल, पतली खिचड़ी, लौकी, परवल आदि खाना चाहिए।

उड़द की दाल, खट्टी चीज़ें, टमाटर, कटहल, गाजर, बासी भोजन, कषाय, जले, गरिष्ठ, अधपके व अधिक फल आदि भी नहीं खाना चाहिए। निम्बू रक्त को शुद्ध करता है तथा बढ़ाता है।

नमक न खाने से काम वासना, जिह्वा की लोलुपता, मन की चंचलता वशीभूत होकर आत्मशक्ति की वृद्धि व स्वास्थ्य अच्छा होता है। ज्यादा मीठा भी नहीं खाना चाहिए।

भोजनोपरांत **'अगस्ताय नमः अगस्ताय नमः'** कहते हुए पेट पर हाथ फेरने से भोजन शीघ्र व ठीक तौर से हज़म होता है।

वर्षा ऋतु में भोजन की मात्रा विशेष कर रात के समय कम व सर्दियों के दिनों कुछ अधिक रखना चाहिए। रात में सागपात खाने से पित्त कुपित होता है।

व्यायाम

व्यायाम करते समय वायु के ठंडे झोकों से शरीर को बचाना चाहिए। जिस इमारत में अभ्यास किया जाय वह बहुत ही साफ़ और काफ़ी हवादार होना चाहिए।

जिनके ख़ून का दबाव १५० डिग्री से अधिक व १०० से कम रहता है उसे बग़ैर किसी योगानुभवी के परामर्श के किसी प्रकार का भी यौगिक व्यायाम नहीं करना चाहिए।

व्यायाम की मात्रा

सब क्रियाओं के लगातार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। बीच में थोड़ा-थोड़ा ठहरने पर भी लाभ होगा परन्तु विश्राम लेकर व्यायाम इतना अधिक भी न करना चाहिए जिससे सारे व्यायाम का शरीर पर बुरा व अधिक प्रभाव पड़े। व्यायाम अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही करना व बढ़ाना चाहिए। अभ्यास बीच में अधिक दिनों के लिये छूट जाने पर फिर थोड़े से ही आरम्भ करना चाहिए। ऐसा ही बीमारी के बाद भी करना चाहिये।

पूर्व की अथवा वायु जिस तरफ़ चल रही हो उधर मुँह करके उसका सेवन नहीं करना चाहिए।

सोने के समय की क्रिया

रात को दस बजे सो जावे। सोने के पहले वीर्याकर्षक प्राणायाम करें (एक नकुए को उँगली से दबाकर दूसरे नकुए से वायु को उदर में भरे और जितनी देर हो सके दूसरे नकुए से धीरे- धीरे निकाल कर सुखपूर्वक बाहर रोके रहे। इसी प्रकार दूसरे नकुए से भी ऐसा ही करे) यह प्राणायाम सात-सात बार करें। उस समय मल द्वार को ऊपर खींचे रहें। दिन में सोना और रात को देर तक जागना नहीं चाहिए और न थका देने वाला मानसिक परिश्रम करना चाहिए। सोने के पहले कोई धार्मिक ग्रन्थ अथवा कुछ भजन आदि करना चाहिए व हाथ पैर व तालू धो लें। रोगियों व बच्चों के सिवाय दिन में सोने वालों की आयु घटती है। सोते समय मुँह पूर्व या दक्षिण दिशा की तरफ़ व बायां स्वर चालू रखना चाहिए। नाभि में मन स्थिर करके बायीं करवट सोने से शीघ्र व गहरी नींद आवेगी तथा स्वप्नदोष भी न होगा, कुछ दिन बाद स्वप्न भी नहीं दिखाई देंगे।

यौगिक अभ्यास व व्यायाम

यौगिक व्यायामों के साथ अन्य व बल बढ़ाने वाले व्यायाम भी किये जा सकते हैं परन्तु साथ- साथ न करके कम से कम बीस पच्चीस मिनिट के अन्तर से करें । सात्विक शांति के अभिलाषी को यौगिक व्यायाम अन्त में करना चाहिए और राजसिक उत्साह चाहने वालों को पहले। दोनों के पश्चात् कुछ टहला जा सकता है। शुद्ध सरसों के तेल की मालिश से भी शरीर की धातुएँ बढ़ती हैं। सर में असली आँवले का तेल भी मला जा सकता है। बहुत घूमना उचित नहीं।

अभ्यास क्रम

सुबह व शाम पहले आसन व योग मुद्रा आदि करे और बाद में प्राणायाम। जप और ध्यान के पहले प्राणायाम करने में ध्यान अच्छा लगता है उससे शरीर हल्का हो जाता है।

प्रतिदिन अभ्यास और साधन निश्चित समय पर व नियत समय तक करने में यथाशक्ति कभी नहीं चूकना चाहिए।

अग्नि पूजा, स्त्री सम्भाषण, अति पर्यटन, सूर्योदय के समय स्नान, उपवास से क्षीण काय होना आदि छोड़ देना चाहिए।

पहले आसन करें, फिर मुद्रा तथा प्राणायाम और ध्यान करें। प्रात:काल का समय ध्यान के लिए उत्तम होता है अतएव पहले जप, फिर ध्यान, आसन, मुद्रा और अन्त में प्राणायाम करें अन्यथा जो कार्यक्रम अपनी सुविधा आदि के उपयुक्त हो उसी के अनुसार अभ्यास करें।

सर्दी का ख़्याल रखते हुए प्रात:काल नहा धोकर स्वच्छ होकर अभ्यास किया जाना उचित होगा। स्वास्थ आदि के कारण स्नान न कर सकने पर हाथ-पैर धोकर कपड़े बदल लें।

बाल्यावस्था से बच्चों में अध्यात्म विषय का बीज बो देना चाहिए। उनके ब्रह्मचर्य पालन करने का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

योगाभ्यासियों का दैनिक कार्यक्रम एक-सा होना चाहिए जब तक किसी विशेष कारण से कोई परिवर्तन न करना पड़े। ध्यान, जप, प्राणायाम व आसन का समय धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए।

प्रात:काल बिस्तर से उठते ही शौच जावे। यदि न मालूम हो तो बाद में जा सकते हो। यदि उस समय नहा न सको तो ध्यान और योगाभ्यास करके बाद में नहा सकते हो।

रात में कीर्तन के समय अपने घर-पड़ोसियों को सम्मिलित कर लें। कीर्तन के अन्त में कुछ प्रसाद बाँट दें।

निष्काम कर्म में रोगियों की सेवा-उपचार, विद्यार्थियों को पढ़ाना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य किये जा सकते हैं।

आसन व प्राणायाम सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया व विधि को ध्यान पूर्वक बार-बार पढ़कर व अच्छी तरह समझ कर ही **उस**का अभ्यास करना चाहिए।

जप, पाठ व ध्यानादि उत्तर व पूर्व दिशा की तरफ़ मुँह करके करें।

प्रत्येक क्रिया अभ्यास को, अपने गुरु तथा इष्टदेव का स्मरण करके आरम्भ करना चाहिए और अन्त में कृष्णार्पणमस्तु कह कर समाप्त करना चाहिए।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मंत्र को उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय जपते रहिये।

योग व आसन सम्बन्धी कार्यक्रम

योग तथा आसन अभ्यासियों को उपने अभ्यास के लिए कुछ योगिक क्रियाएँ तथा कुछ आसन चुनकर एक कार्यक्रम बना लेना चाहिए और नियमित रूप से उसी के अनुसार अभ्यास करना चाहिए। उनकी जानकारी के लिए उदाहर्णार्थ कुछ कार्यक्रम आगे दिए जाते हैं। इनमें अपनी शक्ति, उन्नति, रुचि व सुविधानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

गृहस्थ व कामकाजी अभ्यासी

प्रातःकाल

कार्यक्रम नं. १

(१) शौच व मुँह धोना आदि ४बजे से ४-३०बजे तक आधा घंटा
(२) ध्यान व जप ४-३०से ५-३०,, ,, १ ,,
(३) व्यायाम व घूमना ५-३०से ६-३०,, ,, ,, ,,
(४) आसन ६-३० बजे से ७ बजे तक आधा घंटा
(५) प्राणायाम ७ बजे से ,, ७-३० ,, ,, ,,
(६) स्वाध्याय व नाश्ता आदि ७-३० ,, से ८-०० ,, ,, ,,

प्रातःकाल

कार्यक्रम नं. २

(१) शौच, मुँह धोना व स्नान ४ बजे से ५ बजे तक १ घंटा
(२) आसन ५ बजे से ५-३० तक आधा घंटा
(३) प्राणायाम ५-३० से ६ तक आधा घंटा
(४) ध्यान व जप ६ से ६-३० तक आधा घंटा
(५) व्यायाम व घूमना ६-३० से ७-३० तक १ घंटा
(६) स्वाध्याय व नाश्ता ७-३०से ८ तक आधा घंटा

प्रातःकाल

कार्यक्रम नं. ३

(१) आसन ४ बजे से ४-३० बजे तक आधा घंटा
(२) प्राणायाम ४-३० बजे से ५ बजे तक आधा घंटा
(३) ध्यान व जप ५ बजे से ६ बजे तक एक घंटा

(४) शौच, व्यायाम व घूमना ६ बजे से ७ बजे तक एक घंटा
(५) स्वाध्याय ७ बजे से ७-४५ बजे तक ४५ मिनिट
(६) नाश्ता ७-४५बजे से ८ बजे तक १५मिनिट

सायंकाल

कार्यक्रम नं. १

(१) आसन ६ बजे से ६-३० बजे तक आधा घंटा
(२) प्राणायाम ६-३० बजे से ७ बजे तक आधा घंटा
(३) ध्यान व जप ७ बजे से ७-३० बजे तक आधा घंटा
(४) अन्य कार्य ७-३०बजे से ८.३०बजे तक एक घंटा
(५) भोजन ८-३० बजे से ९ बजे तक आधा घंटा
(६) स्वाध्याय व भजन आदि ९ बजे से १० बजे तक १ घंटा

सायंकाल

कार्यक्रम नं. २

(१) आसन ५.३० बजे से ६ बजे तक आधा घंटा
(२) भोजन ६ बजे से ६-३० बजे तक आधा घंटा
(३) घूमना व अन्य कार्य ६-३० बजे से ८ बजे तक १.३० घंटा
(४) ध्यान व जप ८ बजे से ९ बजे तक एक घंटा
(५) प्राणायाम ९ बजे से ९-३० बजे तक आधा घंटा
(६) स्वाध्याय ९.३० बजे से १० बजे तक आधा घंटा

सायंकाल

कार्यक्रम नं. ३

(१) संध्या व आसन ५ बजे से ५.३० बजे तक आधा घंटा
(२) भोजन ५.३० बजे से ६ बजे तक आधा घंटा
(३) घूमना व अन्य कार्य ६ बजे से ८.०० बजे तक दो घंटा
(४) प्राणायाम ८ बजे से ८.३० बजे तक आधा घंटा
(५) आसन ८.३० बजे से ९ बजे तक आधा घंटा
(६) स्वाध्याय ९ बजे से १० बजे तक १ घंटा

उन्नत अभ्यासी व कम कामकाजी

प्रातःकाल

कार्यक्रम नं. १

(१)ध्यान व जप	३-३० बजे से ५बजे तक १-३० घंटा
(२)शौचादि	५ बजे से ५-३० बजे तक आधा घंटा
(३)आसन	५-३० बजे से ६-३० बजे तक १घंटा
(४)प्राणायाम	६-३० बजे से ७-३० बजे तक १घंटा
(५)स्वाध्याय व अन्य व्यायाम व नाश्ता	७-३०बजे से ८-३० बजे तक १घंटा

प्रातः काल

कार्यक्रम नं. २

(१)शौच, मुँह धोना व स्नानादि	३-३० बजे से ४-३० बजे तक १घंटा
(२) ध्यान व जप	४-३० बजे से ६बजे तक १-३० घंटा
(३) घूमना व व्यायाम आदि	६ बजे से ७ बजे तक १ घंटा
(४) आसन	७ बजे से ८ बजे तक १ घंटा
(५) प्राणायाम	८ बजे से ९ बजे तक १ घंटा
(६) स्वाध्याय व नाश्ता	९ बजे से १० बजे तक १ घंटा

सायंकाल

कार्यक्रम नं०१

(१) आसन	५ बजे से ६ बजे तक १ घंटा
(२) संध्या	६ बजे से ६-३० बजे तक आधा घंटा
(३) प्राणायाम	६-३० बजे से ७-३० बजे तक १घंटा
(४) ध्यान व जप	७-३० बजे से ८-३० बजे तक १ घंटा
(५) अन्य कार्य व भोजन	८-३० बजे से ९-३० बजे तक १ घंटा
(६) स्वाध्याय	९-३० बजे से १०-३०बजे तक१ घंटा

सायंकाल

कार्यक्रम नं. २

(१) भोजन	५ बजे से ५-३० बजे तक आधा घंटा
(२) घूमना आदि	५-३० बजे से ६-३० बजे तक १ घंटा
(३) संध्या	६-३० बजे से ७ बजे तक आधा घंटा
(४) ध्यान	७ बजे से ८ बजे तक १ घंटा
(५) प्राणायाम	८ बजे से ९ बजे तक एक घंटा
(६) आसन	९ बजे से १० बजे तक १ घंटा
(७) स्वाध्याय	१० बजे से १०-३०बजे तक आधा घंटा

पूर्ण अभ्यासियों व वृद्धों के लिए

प्रातःकाल

कार्यक्रम नं.१

(१) ध्यान व जप	३बजे से ६-३० बजे तक ३-३० घंटा
(२) शौचादि	६-३० बजे से ७-३० बजे तक १ घंटा
(३) आसन	७-३० बजे से ८-३० बजे तक १ घंटा
(४) प्राणायाम	८-३० बजे से ९-३० बजे तक १ घंटा
(५) स्वाध्याय	९-३० बजे से १० बजे तक आधा घंटा

प्रातः काल

कार्यक्रम नं. २

(१) शौच, स्नानादि	३ बजे से ४ बजे तक १ घंटा
(२) आसन	४ बजे से ५ बजे तक १ घंटा
(३) ध्यान व जप	५ बजे से ८-३० बजे तक ३-३० घंटा
(४) प्राणायाम	८-३० बजे से ९-३० बजे तक १ घंटा
(५) स्वाध्याय	९-३० बजे से १०-३० बजे तक १घंटा

दोपहर

कार्यक्रम नं.३

(१) प्राणायाम	**२ बजे से ३ बजे तक १ घंटा**
(२) स्वाध्याय	**३ बजे से ४ बजे तक १ घंटा**

सायंकाल

कार्यक्रम नं.४

(१) आसन	**५ बजे से ६ बजे तक १ घंटा**
(४) प्राणायाम, संध्या आदि	**६ बजे से ७ बजे तक १ घंटा**

रात्रि

कार्यक्रम नं.५

(१) प्राणायाम	**८ बजे से ९ बजे तक**
(२) ध्यान	**९ बजे से १० बजे जक**

नोट - ध्यान व जप भी किसी आसन में बैठकर करना चाहिए। साथ ही प्राणायाम के पूर्व व पश्चात् थोड़ा दूध अथवा हल्का नाश्ता किया जा सकता है। पूर्ण अभ्यासियों को नित्य पाँच बार में **३२०** प्राणायाम तक करना चाहिए।

योगाभ्यासी की प्रार्थना

योगाभ्यासी को प्रतिदिन नीचे लिखी प्रार्थना करनी चाहिए।

ॐअष्टाविंशति शिवानि शम्मानि सहयोगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमञ्च क्षेमं प्रपद्ये योगंच नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

(अथर्व. ७ का १९ अनु १ व ०८ मं0 २)

अर्थात् -- हे करुणामय परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को सिद्ध योगयुक्त उपासना योग प्राप्त हो, तथा उससे हमें सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल इन अट्ठाईस मंगल कारक तत्त्वों से बने हमारे शरीर कल्याणमय कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होकर योग का सदा सेवन करें तथा हम भी उस योग के द्वारा रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं, इसलिए हम लोग रात दिन आपको नमस्कार करते हैं।

ॐ प्राणश्च येऽपानश्च ये व्यानश्च येऽसुश्च ये चित्तं च ये अधीतं च ये। वाक् च ये मनश्च ये चक्षुश्च ये श्रोत्रं च ये दक्षश्च ये बलं च ये यज्ञेन कल्पन्ताम्! (१ यजु अ0 १८ मं0 २)

अर्थात् -- मेरा हृदयस्थ जीवनमूल और कंठ देश में रहने वाला पवन (प्राण वायु तथा उदान वायु) मेरा नाभि से नीचे को जाने और नाभि में ठहरने वाला पवन (अपान वायु) मेरे शरीर की संधियों में व्याप्त और धनञ्जय, जो शरीर के रुधिरादि को बढ़ाता है, वह पवन (व्यान वायु और धनञ्जय वायु) और मेरा असु आदि प्राण का भेद और अन्य पवन, मेरी स्मृति और बुद्धि , मेरा अच्छे प्रकार निश्चित किया हुआ ज्ञान, मेरी वाणी, मेरी संकल्प विकल्परूप अन्त:करण की वृत्ति, मेरे चक्षु मेरे कान, मेरी चतुराई मेरा बल, यह सब 'यज्ञेन कल्पताम्' धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हो।

उपर्युक्त वैदिक प्रार्थना करके खड़े होकर तार स्वर से श्रीमदमृतवामभ्वाचार्य कृत निम्नलिखित एक श्लोकी प्रार्थना को भी तीन बार पढ़कर फिर दृढ़ चित्त से सुखासन पूर्वक अभ्यास में लग जाना चाहिए।

प्रभो शम्भो दीनं विहित शरणं त्वच्चरणयो --

र्भवरण्यादस्माद्विषय विषपाशी विषवृतात्।

समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादर धरं,

दयादृष्ट्या पशयन्निजतनयमात्मी कुरु शिव ॥

(प्रे सोलन नरेशाश्रित मार्तंडपंचाङ्ग. कर्ता)

भगवान् की मूर्ति का ध्यान करते हुए शरणागत होकर रोते हुए कहो कि हे भगवन् मुझे पूर्व व इस जन्म के कुसंस्कारों से बचाइए, यह मुझे आप तक पहुँचने देंगे। दया कर इनके विपरीत आकर्षण व प्रभाव से मेरी रक्षा कीजिए। आप ही एक मात्र मेरे रक्षक है।

योग सिद्धि के लिये प्रार्थना

विघ्नोपविघ्नों का निराकरण और चतुर्विध योगानुष्ठान का फल समाधि -लाभ तभी होगा जब साधक ईश्वर का अनुकम्पा-पात्र हो। अतः योगाभ्यास के सम्बन्ध में आने वाली विघ्न-बाधाओं का निराकरण, निर्विघ्न चतुर्विध योग की सिद्धि के निमित्त सच्चे हृदय, विनीत भाव से जगदीश्वर की प्रार्थना का वह मंत्र जिसके द्वारा साधक भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, नीचे दिया जाता है।

'योगे २ तवस्तरंम बाजे २ हवा महे। सखाय इन्द्रमूर्तये॥

अर्थात् प्रत्येक योग में, प्रत्येक संकट संग्राम में हम (साधक लोग) बलवान् इन्द्र को बुलाते हैं।

वेद का निम्न निर्दिष्ट मंत्र भी, इसी भाव को प्रकट करता है।
'सद्यानो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम्! गमद वाजे भिरा स नः'॥

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधि के निमित्त अभिमुख हो अर्थात् उसकी दया से समाधि, विवेक ख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा का

हमें लाभ हो। वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियों सहित हमारी ओर आगमन करे अर्थात् अणिमादि सिद्धियाँ भी भगवत् कृपा से चरण सेविकाओं के समान हमारी सेवा के लिए प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें।

मंत्र योगादि भेद से चार प्रकार के हैं। उक्त सब प्रकार के योग में प्रवृत्त हुए मित्र के समान अति प्रिय हम साधक सर्व शक्तियाँ परमात्मा को विघ्न व्याध्यादि, दु:ख, दौर्मनस्यादि उपविघ्न तथा काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, राजस, तामस, जो समाधि के प्रबल शत्रु हैं, उनके द्वारा जब-जब समाधि विघात की चेष्टा रूपी संग्राम उपस्थित हो, उस समय रक्षा के लिए कहीं प्रबल शत्रुओं द्वारा समाधि का विघात न हो, इस अभिप्राय से उन प्रबल शत्रुओं के दमन पूर्वक समाधि को सुरक्षित बनाये रखने के लिए आह्वान करते हैं अर्थात् प्रार्थना करते है।

तात्पर्य-- प्रार्थना से आकृष्ट ईश्वर की दया से चतुर्विध योग जिसका मैं अनुष्ठान कर रहा हूँ, वह निर्विघ्न सम्पन्न हो।

संध्योपासन विधि

आत्मिक उन्नति के लिए प्रतिदिन संध्या करना हरएक व्यक्ति का धार्मिक व मुख्य कर्तव्य है। जिस प्रकार भोजन शरीर को दृढ़ और बलवान् बनाये रखता है उसी प्रकार प्रतिदिन की संध्या आत्मा को निर्मल बनाकर पुष्ट करती है।

समय-संध्या करने का समय प्रात:काल सूर्योदय के दो घड़ी पहले से दो घड़ी दिन चढ़े तक, और सांयकाल दिन डूबने से दो घड़ी पहले से दो घड़ी बाद तक होता है।

निम्नलिखित गायत्री मंत्र का पाठ करते हुए शिखा में गाँठ लगा ले, जिससे मन अस्थिर न हो सके और न बाल आदि गिर सकें।

(१) गायत्री मंत्र

ॐ भूर्भूवः स्वः तत्सवितुर्व रेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

अर्थ- परमात्मा जो सब प्राणों का सहारा, सब दुःखों को दूर करने वाला, तथा सब सुखों का देने वाला और समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाला है, उस जगदीश्वर के सबसे उत्तम ध्यान करने योग्य शुद्ध स्वरूप को हम हृदय में धारण करें जिससे वह परमेश्वर हमारी बुद्धियों को अच्छे गुण कर्म और स्वभावों में लगावें। प्रणव के बाद बड़े महत्व का गायत्री मंत्र है। यह वैदिक मंत्र है। सभी ने इसकी महिमा गाई है। यह मंत्र सभी सिद्धियों का देने वाला और द्विज मात्र को इसके जप का अधिकार है। यह मंत्र दीक्षा विधि से लिया जाता है। मनु महाराज कहते हैं कि जो पुरुष नित्य प्रणव व्याहृति के सहित गायत्री मंत्र का जप तीन वर्ष तक नियम से करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है।

ईश्वर को अपने समीप जीवन ज्योति जानते हुए प्रार्थना करके तीन आचमन करे जिससे कंठ का कफ़ आदि निवृत्त होकर शांति और चेतन्यता आवे।

(२) इन्द्रिय स्पर्श मंत्र

इन्द्रियों को बलिष्ठ करने के विचार तथा उनमें चेतना और शांति के लिये मध्यमा और अनामिका दोनों उँगलियों के अग्र भाग से जल लेकर उनसे स्पर्श करें।

ओउम् वाक् वाक्। ओउम् प्राणः प्राणः। ओउम् चक्षुः चक्षुः। ओउम् श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओउम् नाभिः। ओउम् हृदयम्। ओउम् कण्ठः। ओउम् शिरः। ओउम् वाहुभ्यां यशो बलम्। ओउम् करतल कर पृष्ठे।

अर्थ- हे प्रभो! मैं सत्य और पवित्र वेद वाणी बोलूं, मेरे प्राण सत्य ज्ञान के अर्पण हों, मेरे दोनों नेत्र शुद्ध समभाव से देखें, मेरे दोनों कान सत्य और शुद्ध ज्ञान को ग्रहण करें। मेरी नाभि बलिष्ठ हो, मेरे हृदय में सत्यता का बल प्राप्त हो, मेरा कंठ सत्य के लिए खुला हो, मेरा शिर सत्य ज्ञान से परिपूर्ण हो और मेरी भुजायें सत्य की रक्षार्थ व असत्य का नाश करके बल तथा यश प्राप्त करें और मेरे हाथ की हथेलीं व पृष्ठ सत्य तथा शुभ कर्म के निमित्त हों।

(३) मार्जन मंत्र

आगे लिखे मंत्रों को कहते हुए अङ्गों को इस विचार से जल के छींटे दे कि मैं सब अङ्गों को दृढ़ बनाऊँ और परमात्मा मेरे सब अङ्गों को पवित्रता, तथा दृढ़ता प्रदान करें जिस अङ्ग का नाम आवे उसी पर मनोवृत्ति लगाने से मानसिक व्यायाम और संकल्प शक्ति प्रबल होती है।

ओउम् पुनातु शिरसि। ओम्भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओउम् स्वः पुनातु कण्ठे। ओउम् महः पुनातु हृदये। ओउम् स्वः पुनातु नाभ्याम्। ओउम् तपःपुनातु पादयोः। ओउम् सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। ओउम् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

अर्थात्- जगज्जीवन व प्राणों का प्राण ईश्वर हमारे शिर को पवित्र करें, सर्व सुखकारी प्रभु दोनों नेत्रों में शुद्ध भाव प्रदान करें, सर्व व्यापक सुख स्वरूप ईश्वर कंठ में पवित्रता करें, दुष्टों का सन्तापकारी ईश हमारे पैरों को शुद्ध करें, अविनाशी परमेश्वर हमारे मस्तिष्क में शुद्धता प्रदान करें, आकाशवत् व्यापक ब्रह्म हमारे सभी अङ्गों व प्रत्यागों की शुद्धि करें।

(४) प्राणायाम

अब निम्नलिखित मंत्र हृदय में जप करते हुए कम से कम तीन प्राणायाम अवश्य करें।

संध्या करते समय श्वेत, कृष्ण और रक्त वर्णों का ध्यान करने से वायु, पित्त और कफ़ आदि तीनों धातुएँ समान रहती हैं। शरीर स्वस्थ रहता है। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर नित्य ध्येय हैं।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐतपः ॐसत्यं ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ आपो ज्योति रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोऽम्॥

योग सम्बन्धी नियम

(१) अपने को पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में ले जाकर और **'श्रीरामः शरणं मम' श्रीकृष्णः शरणं मम'** कहते हुए अपने हृदय में सदैव यह भावना रखो कि हे भगवान् ! मैं तेरा हूँ। सर्वस्व तेरा है।

(२) सदा अपनी मृत्यु को सर पर आया हुआ समझ कर अपने नित्य धार्मिक कृत्य करने में कभी न चूको।

(३) काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या व द्वेष, मद, मत्सर आदि से सदैव बचते रहो।

(४) सदा सत्य, अहिंसा, सन्तोष, दया व प्रेम का पालन करो।

(५) बुरी संगत से बचकर सदैव सत्संग व धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा ब्रह्म-चिन्तन करते रहो।

(६) शुद्ध, सात्विक, नियमित व मिताहारी बनो।

(७) हर समय, हर एक स्थान पर ईश्वर को प्रत्यक्ष व हर एक काम को ईश्वर का ही जानकर करो और कृष्णार्पण कहकर उसके फल को उसी को अर्पित कर दो।

(८) किसी प्रकार के मादक पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए।

दिन में सोना, रात में देर तक जागना, अधिक मात्रा में मल -मूत्र का होना, अरुचिकर भोजन, थका देने वाला प्राण का मानसिक परिश्रम योग के विघ्न हैं।

जो योगाभ्यासी ध्यान करने में अधिक समय देते हैं उनको बहुत कम भोजन की आवश्यकता होती है। उनको डेढ़ दो सेर दूध व कुछ फल पर्याप्त हो जाते हैं। भोजन के बिल्कुल न पच जाने से बद्धकोष्ठता हो जाती है इसलिए भोजन में कुछ छिलके, फाकेदार या रेशे वाले पदार्थ अथवा साग आदि रहना आवश्यक है जिससे मल बन कर निकल जाय। पाचन क्रिया के समय पानी पीने से पाचन रस पतला व हाजमा कमज़ोर हो जावेगा।

भिक्षा पर निर्भर रहने वाले साधु-सन्यासियों को सतगुणी भोजन नहीं मिलते अतएव वे अभ्यास व यौगिक क्रियाओं द्वारा उसे अनुरूप बना लेते हैं और उनके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं हो पाता।

कभी-कभी हल्का उपवास करने से बड़ा लाभ होता है। उदर और आँतों को आराम मिलकर जमा हुआ अन्न पच जाता है परन्तु निर्बलता उत्पन्न होने के कारण योगाभ्यासियों के लिए उपवासों का निषेध है। उनके लिये दूध व फल उत्तम है।

भोजन से शरीर में बल व स्फूर्ति आती है। यदि इसी शक्ति को आप इच्छा शक्ति अथवा यौगिक कौशल द्वारा प्राण के भंडार हिरण्यगर्भ से प्राण लेकर पूरा कर लो तो बग़ैर भोजन के भी रह सकते हो। योगी लोग इसी प्रकार काया-सिद्धि करते हैं।

● ● ●

अष्टांग योग

कुछ साधक लोग पर्याप्त साधना किए बिना ही ध्यान और समाधि लगाने का प्रयत्न करने लगते है, परन्तु उनको सफलता नहीं मिलती। इसका विशेष कारण यह है कि ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए यम-नियमों के पालन की विशेष आवश्यकता है। यम-नियमों के पालन किए बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी,व्यभिचार आदि दुराचार की वृत्तियों के नष्ट हुए बिना चित्त एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं लग सकती। वैसे तो समाधि सिद्धि के साधक को योग के आठों ही अङ्गों की साधना करनी चाहिए, किन्तु यम नियमों का पालन तो अवश्य करना चाहिए। जैसे बिना नींव के मकान नहीं ठहर सकता, उसी तरह यम-नियम का पालन किए बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव है। यम नियमों में भी जो साधक यमों का पालन न करके केवल नियमों का ही पालन करना चाहता है, उससे नियमों का पालन भी भली-भाँति नहीं हो सकता।

मनुस्मृति (४/२०४) मे लिखा है कि 'बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करे, केवल नियमों का ही नहीं, जो यमों का पालन न करके केवल नियमों का ही पालन करता है वह साधन-पथ से गिर जाता हैं। अतएव योग में सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधक को यम-नियमों का साधन नितांत आवश्यक है। इनके पालन से चोरी, जारी, झूठ, कपट,काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा आदि दुर्गुणों का नाश होकर अन्तःकरण पवित्र होता है और उसमें उत्तम गुणों का समावेश होकर आत्मा तथा इष्टदेव का साक्षात्कार व दर्शन व साधक जो चाहता है वही हो सकता है, परन्तु यम -नियमों का पालन किए बिना, ध्यान और समाधि की बात तो दूर रही, अच्छी प्रकार प्राणायाम का होना

भी कठिन है।

बहुत से लोग प्राणायाम का अभ्यास करने का यत्न करते हैं, किन्तु सफल नहीं हो पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, दुराचारदि दुर्गुण प्राणायाम विषयक सफलता में भी प्रधान बाधक है। यम-नियमों के पालन से उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणों का नाश हो जाता है। अतएव प्राणायाम का साधन करने वालों को भी पहले यम-नियमों का पालन करना चाहिए। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधानों में बाधक है। अतएव ध्यान और समाधि के इच्छुकों को दोषों का नाश करने के लिए सर्व प्रथम यम-नियमों का पालन करके ही, योग के अन्य अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए।

जो साधक योग के आठों अङ्गों का भली प्रकार साधन कर लेता है, उसका अन्त:करण पवित्र होकर उसे अपार ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहने वाला साधक तो क्लेश और कर्मो से छूटकर शीघ्र ही आत्म साक्षात्कार व इष्टदेव के दर्शन प्राप्त कर लेता है।

योग के निम्नलिखित आठ अङ्ग है जो कि अष्टांग योग के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

इन आठ अङ्गों की दो भूमिकाएँ है (१) बहिरंग (२) अन्तरंग। उपर्युक्त आठ अङ्गों में पहले पाँच बहिरंग कहलाते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध बाहर की क्रियाओं से है। शेष तीन अन्तरंग हैं। उनका सम्बन्ध अन्त:करण से होने से इनकों अन्तरंग कहते है। महर्षि पतंजलि ने इन तीनों को एक साथ 'संयम' भी कहा है।

यम

यम के अर्थ है उपरति अर्थात् कामादि से निवृत्ति व आत्म

-निग्रह। शांतिपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने को भी यम कहते है, क्यों कि बिना इसकें कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। इसकें पाँच अङ्ग हैं जिनमें शांति पूर्ण वातावरण उत्पन्न करने का विधान बतलाया गया है। (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह।

(१) अहिंसा

किसी भी प्राणी व स्वयं को भी किसी काल में किसी प्रकार भी मारने व सताने का विचार तथा द्रोह तक न करना अर्थात् मन, वाणी व शरीर द्वारा कभी किसी प्रकार का भी कष्ट न पहुँचाना। जिसे महाव्रत अहिंसा सिद्ध हो जाता है उससे परस्पर विरोधी जीव-जन्तु भी विरोध छोड़ देते हैं। अहिंसा का साधन किये बिना अगले अन्य साधनों का अनुष्ठान करना निष्फल है।

(२) सत्य

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से अर्थात् अन्तःकरण व इन्द्रियों द्वारा जिन-जिन बातों का जिस-जिस प्रकार निश्चय हुआ हो उन-उन बातों, उस-उस निश्चयानुसार श्रोताओं से अनुद्वेग करने वाले, प्रिय लगने वाले, परिणाम में हित की भावना से कपट रहित, निभ्रांत वचनों द्वारा यथार्थ कहना और आत्मा के सिवाय किसी वस्तु को सत्य न मानना व ब्रह्म को लक्ष्य करके उसके सत्य को जानना सत्य है। इसके सिद्ध होने पर साधक की वाणी क्रिया तथा फल का आश्रय हो जाती है अर्थात् जो कुछ वह कह देता है वही हो जाता है।

(३) अस्तेय

मन, वाणी व शरीर द्वारा निषिद्ध रीति अथवा किसी प्रकार भी दूसरों का द्रव्य व तृण तक न चुराना, न लेना और छीनना अर्थात् कोई भी वस्तु उसके स्वामी की अनुमति के बिना न लेना और दृष्ट सांसरिक विषय और पदार्थों का सेवन न करना तथा किसी पदार्थ व विषय की इच्छा न रखना। इसके सिद्ध होने पर चारों दिशाओं में होने

वाले रत्नादि सम्पूर्ण पदार्थ स्वयमेव प्राप्त होते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य

मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले काम विकार के सर्वथा अभाव को बह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्म-आत्मा, धर्म-आचरण अर्थात् ब्रह्म (आत्मा) में आचरण करने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। उपेन्द्रिय (लिंग) यथार्थ संयम के साथ युक्ताहार विहार, युक्ताचार-विचार व युक्त क्रिया कर्म, निद्रादि का व्यवहार करके **'नायमात्मा बलहीने न लभ्यः'** अर्थात् आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होती। अतएव शरीरिक बल बढ़ाकर ब्रह्मचर्य-आत्मचर्य आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है, आठों प्रकार के मैथुन अर्थात् (1) बुरी भावना से किसी स्त्री का स्मरण करना (2) कथन या बातचीत करना (3) हँसी-मज़ाक या खेलना (4) छिपकर बातें करना (5) राग पूर्वक देखना (6) उसे प्राप्त करने की चेष्टा करना (7) बुरी भावना से अङ्ग स्पर्श करना (8) सहवास।

उक्त प्रकार के मैथुनों का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने पर अतुल पराक्रम की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य और योग

योग भारतवर्ष की एक बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्ष के लिए महान् गौरव और मान की वस्तु है। इस योग की महान् सिद्धि के लिए हमारे पूर्वजों ने अनेकों वर्षो तक कितनी कठिन साधनाएँ की हैं जिनका वर्णन करना असम्भव है।

सब विघ्नबाधाओं तथा कष्टों आदि को झेलकर साधना करने वाला साधक ही योग के तत्त्वों को जान सकता है। योग साधन के परम लक्ष्य परमात्मा को देखने और प्राप्त करने वाली सिद्धि को वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'संसार सत्य है' की भावना को मिटाकर योग-साधना में लगा करते हैं। जो संसार को सत्य मानकर

उसकी पुष्टि (भोग-प्राप्ति) के लिए योग में लगा करते हैं, उन्हीं को व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न आदि सताया करते हैं। सच तो यह हैं कि भोगियों के लिए योग में लगना रोग और मृत्यु को पाना और भोगवासना को भस्म करने के लिए योग में लगना भगवान् को पा जाना है। यही योग-साधन का मंत्र या सिद्धांत-बिन्दु है।

ब्रह्मचर्य

योग की महत्ता, दिव्यता, गहनता, कठिनता, कठोरता और क्रूरता जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वर की ज्योति में भी समा सकता है व मृत्यु कलेवा भी बन सकता है, उस योग को यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्य का पालन कीजिए। ब्रह्मचर्य के बिना योग की सफलता का अंकुर वैसे ही नहीं उग सकता है जैसे बिना जल के बीज। ब्रह्मचर्य के बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाश के बिना सूर्य और प्राण के बग़ैर प्राणी। ब्रह्मचर्य की निष्ठा के बग़ैर योग को छूना अपनी मौत को अपने हाथ निमंत्रण देना है। अतएव योग के जिज्ञासु का ब्रह्मचारी होना उतना ही अधिक आवश्यक है जितना कि जीवन के इच्छुक को प्राणी होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से युक्त साधक के प्राण स्वभाव से ही स्थिर रहते हैं। यही बात योगशास्त्र में भी कही गई है कि **'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः'** वीर्य के स्थिर हो जाने से ही प्राण भी स्थिर हो जाते हैं। महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं कि :-

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले

हे पार्वती! बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर ऐसी कौन सी सिद्धि है जो साधक को प्राप्त न हो सके?

पातंजल योग-दर्शन में कहा है कि **'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायाँ वीर्य लाभः'** अर्थात् ब्रह्मचर्य की निष्ठा से वीर्य बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति का लाभ प्राप्त होता है । शिव-संहिता में महादेव जी कहते

हैं कि:-

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्

अर्थात् बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु का धारण ही जीवन है। महादेव जी ने पार्वती जी से ब्रह्मचर्य की महानता को बतलाते हुए कहा है कि पार्वति! मैं बिन्दु-जय से ही शिवपद को प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दु के धारण ही से तो ॐकार ईशत्व प्राप्त हो गया। उसके मस्तक पर से बिन्दु को हटाकर देखिए कि फिर उसका क्या महत्व रह जाता है। बिन्दु के हटते ही वह ईशत्व से च्युत हो जाता है। बिन्दु धारण करने के कारण ही वह ईशत्व पद प्राप्त किए हुए है। अतएव जय योग के जन्मदाता शिवजी व ईश्वर के प्रथम नाम ॐ के ओमत्व का कारण बिन्दु धारणा ही है तो फिर भला साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योग-सिद्धि को प्राप्त कर सकता है यह नितांत असम्भव है। असम्भव ही नहीं बल्कि अपनी मौत को न्योता देना है। ब्रह्मचर्य के साधन के बिना योगाभ्यास करना अपने आप को रोग और मौत के मुँह में भेजना है। इस बात को कदापि न भूलना चाहिए। यही योग शब्द का सच्चा तत्त्वार्थ है। इस मुख्य तत्त्व को सदा ध्यान में रखते हुए योग-साधन में लगने वाला साधक ही योग मार्ग की कठिनाइयों व बाधाओं को पार कर सकता है।

ब्रह्मचर्य शब्द का तत्त्वार्थ

ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ समझना बड़ा कठिन है। बहुत से लोग बह्मचर्य का अर्थ आजन्म कुँवारा रहना या जटा-जूट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र ही मान लेते हैं। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध न तो कुँवारेपन से है और न किसी वेषभूषा से। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ वीर्य निरोध या काम-दमन से ही है, परन्तु इतना ही समझ लेने से भी ब्रह्मचर्य का अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्य का पूरा अर्थ होता है वीर्य को रोकना, वेद-ज्ञान को प्राप्त करना, सत्चित् आनन्द ब्रह्म में लीन हो जाना। वीर्य

एक दिव्य तेज़ का नाम है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है **'वीर्य वै भर्गः'** अर्थात् वीर्य ही तेज़ आभा व प्रकाश है। इस वीर्यरूप बह्म के दीपन से ही ब्रह्म वेद के तत्त्वज्ञान का दर्शन और वेदतत्त्व के ब्रह्म-दीपक से ही सत्चित् आनन्द ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह ब्रह्मत्रय संगत ही ब्रह्मचर्य का पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्मत्रिवेणी का स्नाता ही योग का सच्चा अधिकारी होता है।

ब्रह्मचर्य की श्रेणी

हमारे शास्त्रों में वीर्य के बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज़, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कांति, बिन्दु व भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्य को ही सृष्टि का उत्पादक, पालक व संहारक भी कहा है, परन्तु योगशास्त्र में वीर्य को ब्रह्मबिन्दु ब्रह्मबीज तक कहा है। महादेव जी ने योग शास्त्र में कहा है कि **'अहं बिन्दु रजः शक्तिः-'** अर्थात् मैं (महादेव) बिन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योग शास्त्र में कहा है कि साधक के नाभि स्थान में रज और मस्तक के मध्य केन्द्र में वीर्य-बिन्दु रहता है। रज का सिन्दूर वर्ण और वीर्य श्वेत वर्ण है। रज रूप पार्वती को नाभि से उठाकर मस्तक में मिला देना ही योग-सिद्धि का सफल रहस्य है। इस कथन में बहुत ही बारीक़ वैज्ञानिक तत्त्व छिपा है। ब्रह्मचर्य का ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्म के अभेद्य सम्बन्ध को प्रकट कर रहा है। इस अभेद्य सम्बन्ध को अभेद्य रखने वाला साधक ही प्रथम श्रेणी का ब्रह्मचारी होता है। ब्रह्मचारियों को यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओं में संसार से सम्बन्ध रखने वाला भी कोई वीर्य रूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्म-बिन्दु सब तरह के कम्पनों से रहित सदा स्थिर रहा करता है।

दूसरी श्रेणी के ब्रह्मचर्य वाले साधक के ब्रह्म-बिन्दु में कम्पन तो अवश्य उठा करता है, परन्तु वह अपने कठोर संयम, बल अरौर भीष्म प्रतिज्ञा द्वारा ब्रह्म-बिन्दु के उन कंपनों को ब्रह्म बिन्दु की ओर ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधक के लिए बहुत ही कठिन कसौटी है।

तीसरी श्रेणी के ब्रह्मचर्य वाले ब्रह्मचारी (साधक) के ब्रह्म-बिन्दु में जो सृजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वर की सृष्टि-सृजन आदेश समझ कर सन्तान उत्पत्ति में बदल दिया करता है। वह इस सृजन के ध्येय से ही गृह कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्म भी उस ब्रह्म बिन्दु में होने वाली **'एकोऽहं बहुस्याम्'** की सांकेतिक सूक्ष्मांतर दिव्य वाणी को सुना करता है जो उससे कहती है कि चल तू भी मेरे बहुत होने के कार्य में सम्मिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञा का पालन और विषयाशक्ति से रहित यह साधक भी ब्रह्मचारी ही माना जाता है।

उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्म के उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मस्मिन् ब्रह्मस्थित व ब्रह्मरूप कहा जाता है, दूसरा योगी होता है और तीसरा भगवान् का परम प्रिय भक्त कहलाता है।

आध्यात्मिक साधना में उन्नति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य के विशेष रूप से पालन करने का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मचर्य का पालन किए बिना शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक बल संचित नहीं होता और ब्रह्मचर्य का अर्थ है अष्टांग मैथुन का त्याग। गणित शास्त्र में जो स्थान बिन्दु को है वही महत्व बिन्दु का शरीर में भी है इसी कारण इसे अमृत-बिन्दु कहते हैं। हठयोगियों का कहना है कि बिन्दु के स्थिर होने पर मन, मन के स्थिर होने पर प्राण स्थिर होते हैं, बिन्दु शुद्ध होने पर ही सब स्थिर होते हैं। स्थिर बिन्दु को किसी अलौकिक क्रिया द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो वह स्वभावत: ही उर्ध्व दिशा में संचरणशील हो जाता है। यह उर्ध्वगति कुंडलिनी के सहस्त्रार के आकषर्ण से उर्ध्व प्रवाह का नामांतर है। ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा बिन्दु को विषम जगत् से पृथक् करके उसे पवित्र बनाकर ब्रह्म मार्ग में लगाना ही मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है। बिन्दु के विक्षुब्ध होकर उर्ध्व की ओर संचरण करने पर ही नाद का विकास होता है। अतएव नाभिचक्र से ऊपर स्वाभाविक खेल नाद

एवं ज्योति के रूप में अनुभूत होता है। यही शब्द ब्रह्म के संचार ही अवस्था है। इसके बाद नाद ज्योति इत्यादि की पूर्णता से जिस परमभाव का उदय होता है वही निजबोध रूप आत्मज्ञान का विकास है। सारांश यह कि ब्रह्मचर्य योग की पूर्णावस्था प्राप्त करना योगाभ्यासी के लिए नितांत आवश्यक है।।

एक मन भोजन से दो तोला वीर्य बनता है। एक मनुष्य कितने दिन मे इतना भोजन कर सकता है इसका पता प्रत्येक मनुष्य अपने भोजन से स्वयं ही लगााकर फिर वीर्य तथा ब्रह्मचर्य के महत्व पर विचार करे तभी उसको उसकी महिमा का अनुभव हो सकता है।

ब्रह्मचर्य के कारण ही भीष्म पितामह की आज्ञा न मिलने तक मृत्यु उनके पास जाने का साहस तक न कर सकी। हनुमान् जी ने समुद्र लाँघकर लंका जाने व सुमेरु पर्वतादि लाने के जो अद्‌भुत पराक्रम दिखलाए थे उसका कारण ब्रह्मचर्य ही था। ब्रह्मचर्य की मर्यादा दिखलाते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने मेघनाद का वध स्वयं न करके बाल ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी से ही कराया था।

ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होकर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जितने भी उपचार किए जाएँगे वह सब व्यर्थ ही जावेंगे। वीर्य शरीर का राजा है, राजा के नाश हो जाने पर शरीर की अङ्गरूपी प्रजा भला कैसे सुरक्षित रह सकती। मनन और ज्ञान-बल का आधार शरीर-बल ही है।

वीर्य का पतन केवल सहवास या अप्राकृतिक कार्यों से ही नहीं बल्कि विचार से भी होता है। स्वप्नदोष क्या है? यह विषय चिन्तन का ही दुष्परिणाम है। स्वप्नदोष व अप्राकृतिक क्रियाओं द्वारा वीर्यपात और भी बहुत हानिकारक है। अतएव हमारे लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि हम मन, वचन और कर्म से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें।

उक्त तीनों नियमों का पालन करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम सदैव सत्संग व अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन करें और कभी बेकार न बैठें।

ब्रह्मचर्य के दृढ़ पालन से ही हम अपने सारे प्रयत्नो में सफल हो सकते हैं अन्यथा प्रत्येक कार्य के लिए किए जाने वाले हमारे प्रयत्न निष्फल व व्यर्थ हो जावेंगे।

(५) अपरिग्रह

शब्द स्पर्श,रूप, रस,गंध आदि किसी भी योग सामग्री का संग्रह न करना अपरिग्रह है अर्थात् पदार्थों का संग्रह करके उनके संवर्धन में, रक्षण में एवं प्रचार में आसक्त होकर चित्त का विक्षेप करके मूढ़ विक्षिप्त न बनना और आलस्य, प्रमाद तथा संशय को न बढ़ाना। इसके सिद्ध होने पर कंथभाव का ज्ञान होता है। (कंथता-संबोध अर्थात् मनुष्य जन्म किस प्रकार सफल हो सकता है और उसके लिए किस प्रकार के योगक्षेम की आवश्यकता है व थी अथवा होगी। अर्थात् विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा आदि दोष देखकर उनको सर्वथा त्याग देना। उक्त पाँचों यमों का सब जाति, सब देश और सब काल में पालन करने से एवं किसी भी निमित्त से इनके विपरीत हिंसादि दोषों के न घटने से इनकी सत्ता महाव्रत हो जाती है)।

उक्त पाँचों यमों के अन्तर्गत पाँच निम्नलिखित नियम भी हैं। १) दया २) आर्जव ३) क्षमा ४) धृति ५) मिताहार ।

(१) **दया**-- प्राणिमात्र के दु:ख निवृत्ति के लिए चेष्टा करना।

(२) **आर्जव**-- प्राणिमात्र के साथ मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो व्यवहार किया जाता है उसमें कुटिलता के अभाव को आर्जव कहते हैं।

(३) **क्षमा**-- अपकार करने वाले के साथ भी मित्रता का व्यवहार करना।

(४) **धृति**-- इष्ट वस्तु की प्राप्ति में जो दुश्चिन्ता होती है उसको धृति कहते हैं।

(५) **मिताहार**-- शरीर धारण रखने मात्र के लिए जो भोजन किया जाय उसे मिताहार कहते हैं।

(२) नियम

नियम के अभ्यास से योगाभ्यासी की चित्तवृत्ति शुद्ध होती है। मैत्री, करूणा और मुदिता को बढ़ाने से घृणा, ईर्ष्या, हृदय की कठोरता का नाश होकर मन को शांति मिलती हैं। जन्म के हेतु भूत कायधर्म से निवृत्ति कराकर मोक्ष के हेतु निष्काम धर्म में प्रेरणा कराने वाले तपादि नियम कहलाते हैं। कितने ही सिद्धों के मत से एकांतवास, नि:संगता, औदासीन्य, यथा-प्राप्त में संतोष, विषय में निरसता और गुरु के प्रति दृढ़ अनुराग द्वारा मनोवृत्ति को नियम में लाना। अपने कर्मों के फल से दु:खी न होना पड़े इसलिए नियमों का पालन करना आवश्यक है।

नियम भी पाँच प्रकार के हैं। (१) पवित्रता (शौच) (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्रणिधान।

(१) **शौच**- अन्दर बाहर शरीर की शुद्धता, स्वच्छता जिससे शुद्धाचरण में सहायता मिले और रोगादि का निवारण होकर पर संसर्ग का निवारण होकर शरीर के द्वारा आत्मा का प्रकाश फैलाना। शौच दो प्रकार के होते हैं।

(१) बाह्य शौच (२) आभ्यत्तर शौच।

बाह्यशौच- के पालन से अपने शरीर में ग्लानि तथा दूसरों के साथ असम्बन्ध होता है। स्थूल शरीर को मृत्तिका व जल से धोये, स्वार्थ त्याग से व्यवहार व आचरण करे, न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्विक पदार्थो और गोमूत्र तथा गोमय आदि शुद्ध सात्विक पदार्थ खाने व उपवास करने से होता है।

आभ्यंतर शौच-- से सत्व (बुद्धि) की शुद्धि, सौमनस्य, चित्त को अपने वास्तविक रूप में लाना, उसे निर्मल करना। इससे एकाग्रता, इन्द्रिय, जप और आत्म- दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। सत्व स्वभाव, चित्त के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर, आदि को मैत्री व करुणा आदि से दूर करना, अर्थात् अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम- क्रोधादि भीतरी दुर्गुण के त्याग से भीतरी पवित्रता होती है।

(२) **संतोष**- प्रारब्ध कर्मानुसार जो अन्न वस्त्रादि शास्त्रोक्त भोग प्राप्त हों, उनमें ही तृप्ति रखना और स्वास्थ्य, शांति, चित्त में समाधान रखना। तृष्णा का लय होकर पूर्ण काम एवं निज में ईश्वर का दर्शन करना सन्तोष है। जीवन निर्वाहोपयुक्त वस्तुओं के सिवाय किसी भी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा न रखना सन्तोष है। इसके सिद्ध होने पर अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा सन्तुष्ट व प्रसन्न रहने को सन्तोष कहते हैं।

(३) **तप**- शीतोष्ण, भूख-प्यास, सुख-दु:खादि द्वन्द सहन करते हुए नियमित और संयमित जीवन व्यतीत करना तथा मंत्र-जप, अनुष्ठान व मन और इन्द्रियों के संयमरूप धर्म पालन करने के लिए कष्ट सहने व तितिक्षा एवं व्रतादिक तथा उपासनादि द्वारा अशुद्धि का नाश करना तप है। ज्येष्ठ, पूज्य, गुरु, प्राज्ञ का सत्कार और सेवा तथा शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य व अहिंसा का पालन शारीरिक तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन तथा आत्म-निग्रह मानस तप है।

उद्वेग रहित, सत्य, प्रिय,मित भाषण और स्वाध्याय का अभ्यास वाङ्मय तप है। इन तीनों को आचरण में लाकर सिद्धि-लाभ करना तप है। इसके सिद्ध होने से अशुद्धि क्षय के पश्चात् योगी को शरीर

तथा इन्द्रिय सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसके लिए चान्द्रायण, कृच्छ चान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रत शास्त्रों में बतलाए गए हैं।

(४) **स्वाध्याय**- मोक्ष तथा कल्याणप्रद शास्त्रों का पठन-पाठन, श्रवण-निदिध्यासन, प्रणव मंत्र व भगवन्नाम के जप द्वारा परमात्मा का गुणानुवाद च साक्षात्कार प्राप्त करना, सब जड़ चेतन पदार्थ मात्र वर्णक्रमानुक्रम में ग्रथित हैं, अतएव नियमित वर्णों के उच्चारण में विद्युच्छक्ति उत्पन्न करके उनका आकर्षण कर लेना अभ्यास द्वारा परापरा विद्याओं का सम्पादन स्वाध्याय है। इसके सिद्ध होने पर इष्टदेव व परमात्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं।

(५) **ईश्वर प्रणिधान**- ईश्वर की भक्ति अर्थात् मन, वाणी व शरीर द्वारा ईश्वर के लिए, ईश्वर के अनुकूल ही चेष्टा करना। (ईश्वरार्पण) सब कर्म और उनके फल ईश्वर को अर्पण करके निष्काम होना, कर्मवीर बनकर कर्मक्षेत्र में निज का प्रणिधान कर लेना, शारीरिक, मानसिक सब व्यापार ईश्वर को समर्पित करके समाधिस्थ हो जाना, ईश्वर प्रणिधान है। इसके सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धि होती है।। ईश्वर भक्त को चाहिए कि भगवान् को अर्पण किए बिना जल भी ग्रहण न करे।

ऊपर लिखे पाँचों अङ्गों के अन्तर्गत आगे लिखे अनुसार आठ उपनियम भी है।

(१) दान (२) देवपूजा (३) सिद्धान्त- श्रवण (४) ह्री (५) भीति (६) होम (७) आस्तिक्य (८) जप।

(१) **दान**- यथा- विहित अनिब्ध उपाय से कमाए हुए धन को शक्ति के अनुसार देव, पितर और मनुष्यों आदि के हेतु व्यय करना।

(२) **देव पूजा**- अपने इष्टदेव की उपासना, देव-पूजा करना।

(३) **सिद्धांत श्रवण**- वेदोपनिषद् तथा इसी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना सिद्धांत- श्रवण कहलाता है।

(४) **ह्री**- कुत्सित आचरण के कारण मन में जो कष्ट होता है उसको ह्री कहते हैं।

(५) **भीति**- शब्द का अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणों की सहायता से सुने हुए उपदेशों का अनुशीलन करना।

(६) **होम**- अग्निहोत्रादि होम को होम कहते हैं।

(७) **आस्तिक्य**- श्रुति प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार परलोक के अस्तित्व में जो विश्वास है वही आस्तिक्य कहलाता है।

(८) **जप**- अपने इष्टदेव या मंत्र का मालादि द्वारा निरन्तर स्मरण करना ।

(३) आसन

हमारे ऋषियों ने सर्व साधारण के लिए अधिकार भेद के अनुसार ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, मंत्र योग, राज योग, हठ योग, लय योग आदि कई प्रकार के योग बतलाए हैं और इन सब योगों में हठ योग के आसन आदि साधनों का किसी न किसी रूप में साधन करना ही पड़ता है। अतएव हठ योग सब प्रकार के साधनों व योगों का आधार है। इसलिए हठ योग की विवेचना करना आवश्यक हो जाती है।

हठ योग के चार अंग है। (१) आसन (२) प्राणायाम (३) मुद्रा (४) नादानुसंधान। आसनों के अभ्यास से नाड़ी समूह की मृदुता, सहनशीलता की वृद्धि, शरीर की लघुता, मन की एकाग्रता और प्राणतत्त्व का उर्ध्वगमन तथा शरीर के अनेक रोगों की निवृत्ति होती है। साधक की प्रकृति के अनुकूल जो आसन हो उसे मुख्य और दूसरों को गौण समझना चाहिए। मुख्य आसनों का अभ्यास सदैव गौण और

आसन मलादि दोषों की निवृत्ति के लिए किसी अवधि विशेष तक ही किया जाता हैं, परन्तु यदि प्राणायामादि के द्वारा राजयोग में प्रवेश करना हो तो इस दशा में आसनों के अधिकारी केवल मुमुक्ष ही हो सकते हैं।

शरीर के बग़ैर हिले डुले दुःख व चिन्ता में बिना उद्वेग के बैठने को आसन कहते हैं। योग के ग्रन्थों में अनेक प्रकार के आसन दिए हैं। (१) हठ योग प्रदीपिका में चौदह प्रकार के (२) योग प्रदीप में २१ प्रकार के (३) घेरंड संहिता में ३५ प्रकार के (४) विश्व कोष में ३३ प्रकार के और (५) अनुभव प्रकाश में ५० प्रकार के आसन लिखे हैं। आजकल जिन योगाचार्यों ने आसन सम्बन्धी पुस्तकें लिखी है उनमें से अधिकतर में आधुनिक समय के अनुकूल पचास आसन बतलाये हैं। योगी गोरखनाथ ने आसनों की पूरी संख्या २४ निश्चय की है। पूर्व काल में भगवान् शिव जी ने ८४ लाख आसन नियत किए थे जो सम्पूर्ण प्राणियों के स्वरूप थे, परन्तु समय और व्यवहारिकता के विचार से सब लुप्त होकर अब केवल ८४ ही रह गए। उनमें से भी अब लगभग ४० मर्त्यलोक में मंगलजनक हैं और अधिकतर अब उन्हीं का अभ्यास किया जाता है।

हठ योग प्रदीपिका में सिद्धासन,पद्मासन, सिंहासन व भद्रासन को प्रधान और सिद्धासन को सब आसनों में श्रेष्ठ माना गया है।

सम्पूर्ण आसनों में (१) पद्मासन (२) सिद्धासन (३) भद्रासन तथा (४) सिंहासन अधिक महत्त्व के हैं। अतएव अधिकतर अभ्यासी लोग इन्हीं का अभ्यास करते हैं।

यह तो एक निर्विवाद बात है कि जब तक शरीर स्वस्थ न हो उस वक़्त तक कोई भी कार्य सुचारु व नियमित रूप से तथा सफलता पूर्वक नहीं हो सकता। जिस प्रकार यह बात सत्य है उसी प्रकार यह भी सत्य है कि सारे शरीर का आधार-केन्द्र पेट है और शरीर का

स्वस्थ रहना नितांत उसी पर निर्भर है। सारांश यह कि पेट की क्रिया ठीक रहने पर ही शरीर व उसके सब अवयव ठीक तौर से काम करते हैं और तभी मानसिक व शरीर की अन्य शक्तियों का विकास होता हैं।

पेट का केवल इतना ही महत्त्व नहीं है कि वह शरीर की सब आँतों का संचालन व उनका विकास करता है बल्कि शरीर का जीवन और मृत्यु ही उस पर निर्भर है। शरीर के सब अङ्गों के भिन्न-भिन्न देवता माने गए हैं। जिस प्रकार पैर के देवता विष्णु, हाथ के इन्द्र हैं वैसे ही पेट के देवता यम हैं, अतएव यदि हम यम से अर्थात् मृत्यु से बचना चाहते हैं तो हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पेट को मज़बूत और ठीक दशा में रखें। इसके लिए आसन ही सर्वोत्तम उपाय हैं।

चौरासी आसन व उनका संक्षिप्त विवरण

१. **सिद्धासन**- से सब नाड़ियाँ शुद्ध होकर उनमें नवीन रक्त का संचार होता है व ईश्वर-चिन्तन में मन लगता है तथा मोक्ष प्राप्ति होती है।

२. **प्रसिद्ध सिद्धासन**- से सब रोग दूर होते हैं व विनम्रता बढ़ती हैं।

३. **पद्मासन**- से सब प्रकार की इष्ट-सिद्धि होती हैं व परमात्मा में मन लगता है।

४. **वद्धासन**- से शांति मिलती है।

५. **उत्थितासन**- से दिव्य दृष्टि होती है, हृदयकमल खिलता है, श्वासव्याधि मिटती है।

६. **ऊर्ध्वासन**- से मेरुदंड मज़बूत होता है व शरीर में रक्त का संचार होता है।

७. **सुप्तासन**- से उदर रोग दूर होते हैं।

८. **भद्रासन**- से सब कामों में मन लगता है।

९. **स्वस्तिकासन**- यथा नाम तथा गुण है।

१०. **योगासन**- से चित्त स्थिर होता है,निद्रा रोग दूर होकर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

११. **प्राणासन या प्राणायामासन**- से मन, रक्त और नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।

१२. **मुक्तासन**- से सिद्धि प्राप्त होती है।

१३. **पवन मुक्तासन**- से अधोवायु निकलता है।

१४. **सूर्यासन**- से अग्नि बढ़ती है।

१५. **सूर्यभेदनासन** - से नेत्ररोग दूर होते हैं।

१६. **मस्तिकासन** - से ज्वर मिटते हैं, पाचन शक्ति बढ़ती है व रुधिर शुद्ध होता है।

१७. **सावित्री समाधि आसन** - से ओज, तेज व मेधा की वृद्धि होती है।

१८. **अचिन्तनीयासन** - से चेतनता होती है।

१९. **ब्रह्म जरांकुशासन** - से बीमारी मिटती है।

२०. **उद्धारकासन** - से गुह्य स्थान सबल होते हैं।

२१. **मृत्युभंजकासन** - से वायु शांत होती हैं।

२२. **आत्मारामासन** - से चिन्ता मिटती है। अलोप व अध्यात्म आसन भी इसी को कहते हैं।

२३. **भैरवासन** - से कुंडलिनी व्याकुल होती है, कमल खिलता है। ताप, तिल्ली, जिगर वायुगोला अच्छा होता है।

२४. **गरुड़ासन** - ये मनुष्य गमनशील होता हैं।

२५. **गोमुखासन** - से मुखरोग मिटते हैं।

२६. **वातायकासन** - से प्रगति होती है।

२७. **सिद्ध मुक्तावली** - से हर्ष उत्पन्न होती है।

२८. **नेति आसन** - से मनुष्य निर्मल होता है।

२९. **पूर्वासन** - से प्राचीन स्मृति प्राप्त होती है।

३०. **पश्चिमोत्तानासन**- से पेट के कीड़े मरते हैं,वायु बदल जाती है।

३१. **महामुद्रा** - से रस-विष पथ्यापथ्य पच जाते हैं, क्षय, कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त मिटते हैं। मृत्यु के क्लेशक्षय होते हैं।

३२. **वज्रासन** - से क्षुद्र व्याधियाँ मिटती हैं व आयु बढ़ती है।

३३. **चक्रासन** - से कुण्डलिनी कुंठित होती है।

३४. **गर्भासन** - से कष्ट सहने की शक्ति बढ़ती है।

३५. **शीर्षासन** - से स्वास्थ्य, सुन्दरता,बल, वीर्य व महाशक्ति बढ़ती है।

३६. **हस्ताधार शीर्षासन** - से मस्तिष्क मज़बूत होता है।

३७. **उर्ध्व सर्वांगांसन** - ये स्वाधीनता आती है।

३८. **हस्तपदांगुष्ठासन** - से कमर, गर्दन, नासिका व उदर में बल बढ़ता है।

३९. **पादांगुष्ठासन** - से दृष्टि तेज़ होती है।

४०. **उत्तानपादासन** - से प्राण वायु शुद्ध होती है।

४१. **जानुलान हस्तासन** - से उदर शुद्ध होता है।

४२. **एकपाद शिरासन** - से शरीर निर्दोष होता है।

४३. **द्विपाद शिरासन** - से सुख प्राप्त होता है।

४४. **एकहस्तासन** - से पार्श्वशूल नहीं होती।

४५. **पाद हस्तासन** - से बल बढ़ता है।
४६. **कर्णपीड मूलासन** - से जठराग्नि बढ़ती है।
४७. **कोणासन** - से उदर शुद्ध होता है।
४८. **त्रिकोणासन** - से कटि-पीड़ा मिटती है।
४९. **चतुष्कोणासन** - से बुद्धि बढ़ती है।
५०. **कन्द पीड़ासन** - से मज्जाग्रन्थि खुल जाती है।
५१. **तुलितासन** - से स्थिरता होती है।
५२. **लोल, ताड़ या वृक्षासन** - से स्नायु सबल होते हैं।
५३. **धनुषासन** - से वीरता बढ़ती है, त्राटक का अभ्यास होता है व आलस्य मिटता है।
५४. **वियोगासन** - से ताप तिल्ली मिटती है।
५५. **विलोमासन** - से दीर्घ रोग दूर होते हैं।
५६. **योन्यासन** - से मूत्र-द्वार शुद्ध होता है।
५७. **गुप्तांगासन** - से प्रच्छन्न रोग मिटते हैं।
५८. **उत्कटासन** - से पाँवों में बल बढता है।
५९. **शोकासन** - से मृगी दूर होती है।
६०. **संकटासन** - से कमर दर्द दूर होता है।
६१. **अंधासन** - से राज्यवंधादि रोग मिटते है।
६२. **संडासन** - से निर्भयता बढ़ती हैं।
६३. **शवासन** - से अधोवायु खुल जाता है।
६४. **गोपुच्छासन** - से पाप मिटते हैं।
६५. **उष्ट्रासन** - से शीतोष्ण सहे जा सकते हैं।,
६६. **वृक्षासन** - से वीर्य-स्तंभन होता है।
६७. **मर्कटासन** - से नाभि की नाड़ी ठीक होती है।
६८. **मत्स्यासन** - से स्थिरता होती है।
६९. **मत्स्येन्द्रासन** - से वीर्य बढ़ता है।
७०. **मकरासन** - से शक्ति बढ़ती है।
७१. **कच्छपासन** - से मन स्थिर होता है।

७२. **मंडूकासन** - से शरीर सूक्ष्म हो सकता है।

७३. **उत्तान मंडूकासन** - से तरण शक्ति बढ़ती हैं।

७४. **हंसासन** - से शांति बढ़ती है।

७५. **चक्रासन** - जलाघात सहा जा सकता है।

७६. **मयूरासन** - से गुल्म, प्लीहा व उदर -व्याधि मिटती है तथा दूर श्रवण बढ़ता है।

७७. **कुक्कुटासन** - से काम इच्छा कम होती है।

७८. **फोद्यासन** - से रक्तपित्त व पिस्ती दूर होती है।

७९. **शल्यासन** - से वायु-बल बढ़ता है।

८०. **वृश्चिकासन** - से उग्रता आती है।

८१. **हस्तासन** - से मनुष्य बलवान् होता है।

८२. **सूर्यासन** - से मंदाग्नि मिटती है।

८३. **वीरासन** - से धैर्य बढ़ता है।

८४. **शान्तिप्रियासन** - से सब प्रकार के सुख होते हैं।

वैसे तो पूर्व लिखे अनुसार आसन चौरासी हैं वर्तमान योगाचार्यो के मतानुसार मुख्य-मुख्य आसन जिनका कि आजकल अधिक प्रचार है व जिनका अधिकतर लोग अभ्यास करते हैं वह इस प्रकार है।

१. पद्मासन (उसके अन्य प्रकार)
   १. अर्द्ध पद्मासन
   २. पर्वतासन
   ३. वीरासन
   ४. समासन
   ५. वद्ध पद्मासन
   ६. ऊर्ध्व पद्मासन

२. सिद्धासन (उसके अन्य प्रकार)

३.सर्वांगासन

४. इलासन

५. मत्स्यासन

६. पश्चिमोत्तानासन

७. मयूरासन

८. अर्ध मत्स्येन्द्रासन

९. शलभासन

१०. भुजंगासन

११. धनुरासन
आकर्षण धनुरासन

१२. गोमुखासन
१३. वज्रासन
१४. पाद हस्तासन
१५. चक्रासन
१६. गरुड़ासन
१७. जानुशिरासन
१८. गर्भासन
१९. कुक्कुटासन
२०. कंदपीड़नासन
२१. शीर्षासन
२२. वृश्चिकासन
२३. द्विपाद शिरासन
२४. वकासन
२५. पवन मुक्तासन
२६. द्विहस्त भुजासन
२७. वातापनासन
२८. गुल्फ जंघासन
२९. गुप्तासन
३०. स्वस्तिकासन
३१. सुखासन
३२.काम दहनासन
३३. त्रिकोणासन
३४. योगासन
३५. शवासन
३६. लोलासन

आसन सम्बन्धी आवश्यक बातें

आसनों के साधन से शरीर स्थिर और दृढ़ होता है व आसन सिद्ध होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों का प्रतिकूल प्रभाव नहीं हो पाता। जिस आसन से जो सुख-पूर्वक अधिक समय तक बैठ सके उसके लिए वही आसन उत्तम है।

कम से कम तीन घंटा छत्तीस मिनट और अधिक से अधिक चार घंटा अड़तालीस मिनिट एक-एक आसन से सुख-पूर्वक व अचल (बिना हिले डुले) बैठने पर आसन-सिद्धि होती है। आसन सिद्ध होने पर ही ध्यान, जप, प्राणायाम सफलता पूर्वक हो सकेगा तथा मन और शरीर स्थिर हो जाता है। सर्दी, गर्मी भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता।

आसन के समय मेरुदंड, मस्तक व गर्दन सीधी, दृष्टि बन्द, नासिकाग्र, हृदयकमल, नाभि, भृकुटी के मध्य अथवा साधन के स्थान पर रहना चाहिए।

आसनों के लिए प्रात:काल की अपेक्षा संध्या का समय अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि चलने-फिरने आदि के कारण उस समय शरीर के स्नायु अधिक नर्म होते हैं।

अधिक से अधिक समय तक आसन लगाने का अभ्यास करना चाहिए। पैरों में दर्द होने पर आसन खोलकर व पैरों को पाँच सात मिनिट मलकर फिर आसन लगाए। कडुवा तेल में नमक मिलाकर मलना अधिक उपयुक्त होगा।

साधक को रमणीक व निरापद स्थान, पुष्ट व परिमित भोजन, एकांत, कम बोलना, वैराग्य व साहस आदि साधन में अधिक सहायक हैं।

(१) योगशास्त्र में अनेक आसन हैं, परन्तु जीवन -मुक्त महापुरूष व सिद्धयोगी सिद्धासन, स्वस्तिक, सुखासन व विशेषकर पद्मासन के लिए ही अधिक अनुरोध करते हैं। पद्मासन में शरीर का संतुलन रहता है अतएव समाधि के यकायक लग जाने पर गिरने का भय नहीं रहता इसीलिए अन्य आसनों की अपेक्षा ध्यान व जपादि करने वालों को पद्मासन का अभ्यास पहले करना चाहिए।

(२) जिस स्थिति व आसन में मन एकाग्र होकर ब्रह्म-चिन्तन कर रहा हो उसको न बदले क्योंकि ऐसा करने से एकाग्रता का आनन्द नष्ट हो जाता है।

अभ्यास सुबह व शाम दोनों समय करना चाहिए।

प्रत्येक आसन के बाद उसके विपरीत आसन भी करें। जैसे पद्मासन एक बार दाहिना पैर नीचे रखकर करें तो दूसरी बार बायाँ पैर नीचे रखें जिससे एक ही अङ्ग पर ज़ोर न पड़कर दोनों अङ्गों का संतुलन रहे। सर्वांग आसन के पश्चात् मत्स्य या चक्रासन का अच्छा जोड़ है।

अधिक समय न हो तो शीर्ष, पश्चिमोत्तान व सर्वांग आसन ही करें ।

आसनों के साथ इष्टदेव के नाम का जप करते रहने से दुहरा लाभ होगा।

त्रिकाल संध्या व रात्रि संध्या (१२बजे रात्रि)अर्थात् चार बार तक लगातार तीन घंटे आसन लगाने से छः महीने में आसन सिद्ध होती है। जब कष्ट न मालूम होकर आनन्द प्रतीत होने लगे तभी आसन सिद्ध समझना चाहिए।

जिस स्थान में आसन की जावे वह स्वच्छ और हवादार होना चाहिए वहाँ किसी को आने-जाने नहीं देना चाहिए।

शेषनाग जी पर चित्त लगाने से आसन शीघ्र सिद्ध हो जाती है।

जप और ध्यान जिस भी आसन से किया जाय उसको बदलना उचित नहीं। जो भी आसन उपयुक्त बैठे उसी को सिद्ध करना चाहिए। आसन जितनी दृढ़ व अधिक समय तक हो सकेगी उतना ही मन व ध्यान एकाग्र होगा।

आसन पर बैठते समय बराबर यह भावना रखे कि मैं पहाड़ की तरह अचल हूँ, मुझे कोई डिगा नहीं सकता। आसन के समय हिलने-डुलने से एकाग्रता व ध्यान भंग होने से सारा आनन्द नष्ट हो जाता है।

पहले आसन के पश्चात् प्राणायाम और उसके उपरांत जप व ध्यान करने से मन शीघ्र एकाग्र होता है व ध्यान भी अच्छा होता है।

प्रात:काल पहले यदि ध्यान और भजन ही करना हो तो उसके बाद आसन करे।

यदि प्रात:काल उठते ही टट्टी न मालूम हो तो आसन और ध्यान करने के बाद टट्टी भी साफ़ होगी।

आसन खाली पेट अथवा भोजन के तीन घंटे बाद करें।

कान, आँख, निर्बल हृदय, छाती में दर्द वालों व जिनकी नाक हमेशा बन्द रहती हो उनको शीर्षासन नहीं करना चाहिए।

जिनकी पचेन्द्रिय (मेदा) बहुत कमज़ोर हो, तिल्ली बड़ी हो उनको भुजंगासन, शलभासन व धनुरासन नहीं करना चाहिए।

जिनको कब्ज रहता हो उनको पश्चिमोत्तानासन देर तक नहीं करना चाहिए।

आसन धीरे-धीरे सावधानी से, अपनी शक्ति के अनुसार विधि -पूर्वक व चित्र को अच्छी तरह समझकर करना चाहिए। समय भी धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। यदि आरंभ मे किसी योगी अथवा आसन जानने वाले के तत्वावधान में अभ्यास किया जाय तो उत्तम होगा।

आसनों के साथ-साथ जप व प्राणायाम भी करने से ही वास्तविक लाभ व उनका पूरा-पूरा उपयोग होता है।

हर एक आसन का करना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही हैं अतएव अपनी शक्ति, स्वभाव व सुविधा के अनुसार कुछ आसनों को चुन लेना चाहिए।

जप और ध्यान के लिए पद्म, सिद्ध स्वस्तिक व सुखासन उपयुक्त है।

आसनों के समय कभी चश्मा नहीं लगाना चाहिए।

आठ दस वर्ष की अवस्था से आसनों का अभ्यास किया जा सकता है।

वृद्ध लोगों को शीर्षासन नहीं करना चाहिए।

आसन कम्बल के ऊपर उसके आसनों के अनुसार लम्बे चौड़े-अर्थात् दोहरे व चारपर्त करके अथवा काफी मोटे कपड़े पर करना चाहिए। शीर्षासन के लिए तो सर के नीचे विशेषकर काफ़ी गुदगुदी आसन होना चाहिए।

आसन के समय कुम्भक करने से बल व जीवन -शक्ति बढ़ती है।

स्त्रियाँ भी आसनों का अभ्यास कर सकतीं हैं। इनके लिए निर्धारित आसनों के अभ्यास से उनके स्वास्थ्य में भी बहुत उन्नति हो सकती है तथा उनकी अनेक बीमारियाँ दूर होकर उत्तम संतान पैदा करने में सहायक हो सकती हैं, परन्तु मासिक धर्म व गर्भावस्था में उनको आसन नहीं करना चाहिए।

प्राण-शक्ति का क्षय, ख़ून में विकार तथा मल और विषों के जमा हो जाने से अर्थात् इन्हीं कारणों से तरह-तरह के रोग उत्पन्न होकर अल्प आयु में ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। आसनों से यह सब विकार दूर होकर मनुष्य स्वस्थ व दीर्घजीवी होता है।

अजीर्ण से कोष्ठबद्धता हो जाती है व दस्त साफ़ नहीं होता अतएव शीर्ष, मयूर, मत्स्य, सर्वांग, उर्ध्व सर्वांग, पश्चिमोत्तान, जानुशिरासन व पद्मासन करें।

दन्तरोग में शीर्षासन लाभकारी है।

स्वप्नदोष वालों को शीर्ष, सर्वांग, जानुशिरासन लाभकारी हैं। कुछ योगी लोग साधारणतया वज्रासन से बैठे रहते हैं।

निम्नलिखित आसनों का अच्छा मेल है। (१) शीर्ष (२) सर्वांग (३) हलासन (४) मत्स्य (५) पश्चिमोत्तान (६) मयूर (७) शलभ (८) धनुष् (९) पदम् व वद्धपद्म (१०) त्रिकोण (११) पाद हस्त (१२) शवासन।

यदि आसनों के साथ कुछ षट्कर्म व बन्ध भी किए जाए जैसे नेति, वस्ति, योग व ज्ञानमुद्रा, उड्डियान तो बहुत शीघ्र व अधिक लाभ होता है।

आसन और व्यायाम

योग आसनों के साथ कुछ व्यायाम भी किया जा सकता है परन्तु आसन करने वाले को अधिक व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं। कारण-शरीर की मांस पेशियों पर मांस चढ़ने से वह मोटी अवश्य हो जाती हैं और शरीर भी सुडौल, गठीला व सुन्दर हो जाता है परन्तु व्यायाम में श्वास (प्राण-शक्ति) छत्तीस अँगुल से अधिक प्रमाण में बाहर निकलने से आयु घटती है। इसके विपरीत आसनों से वह शरीर में आती है। आसनों से शरीर के सभी अङ्गों स्नायुओं व नस-नाड़ियों आदि का व्यायाम हो जाने के कारण शरीर और मस्तिष्क स्वस्थ,फुर्तीला व दृढ़ होकर आयु बढ़ती है। जबकि व्यायाम करने वाला मस्तिष्क का काम अधिक नहीं कर सकता और उसे आलस्य भी बहुत आता है।

आसनों से शरीर भले ही उतना मोटा न हो परन्तु उनसे सभी स्नायु, मांस-पेशियाँ तथा शरीर दृढ़ और रक्त व वायु आदि शुद्ध होने से शरीर स्वस्थ, सुन्दर, कांतिमान् व दीर्घायु होता है। अच्छे-अच्छे पहलवान जो काम नहीं कर सकते वह काम प्रो. राममूर्ति आसनों और प्राणायाम के द्वारा ही करते थे।

आसन केवल व्यायाम ही नहीं बल्कि उसका दर्जा व्यायाम से कहीं बहुत ऊँचा है क्योंकि उसका आधार केवल शारीरिक शक्ति ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक व आत्म शक्ति है। उससे शरीर, बुद्धि व मन पर नियन्त्रण रहता है।

इसके अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम चाहे कितना भी अधिक और चाहे जितने दिनों तक ही क्यों न किया जाय परन्तु उससे कुंडलिनी जाग्रत नहीं होती। मगर आसनों के कुछ ही दिनों के अभ्यास से कुंडलिनी देवी जिससे न केवल शक्ति व आनन्द ही प्राप्त होता है बल्कि उससे सिद्ध होने वाली समाधि और समाधि द्वारा आत्मानुभव व परम पिता परमात्मा के दर्शन भी प्राप्त होते हैं।

(१) पद्मासन अथवा कमलासन

पद्मासन में आसन की आकृति कमल के समान हो जाने से इसको कमलासन भी कहते हैं। घेरंड तथा शाण्डिल्य आदि ऋषियों ने इस आसन की बड़ी प्रशंसा की है। गृहस्थों के लिए भी यह आसन बहुत ही अनुकूल है। स्त्रियाँ व दुबले आदमी तथा बच्चे भी इसका अभ्यास कर सकते हैं।

विधि

पहले दोनों पैर फैलाकर बैठ जाइए फिर धीरे से दाहिना पैर उठाकर धीरे से बाएँ पैर की जाँघ पर रखिए और इसी तरह बायाँ पैर उठाकर दाहिने पैर की जाँघ पर रखिए। घुटने बिलकुल ज़मीन से मिले रहें। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर हथेली के बल अथवा हथेली (पंजा) चित करके तर्जनी अँगुली और अँगूठा को मिलाकर छल्ले की तरह बना लीजिए अथवा हथेलियों को चित एक दूसरे पर बराबर

रखकर गोद में रख सकते हैं। कभी दाहिने पैर को बायीं जाँघ पर और कभी बाएँ पैर को दाहिनी जाँघ पर रखकर अर्थात् पैर अदल-बदल करना चहिये ताकि दोनों पैरों का संतुलन रहे और एक पैर पर ज़ोर न पड़े।

इस आसन में दोनों हाथ ऊँचे करके पूरक करे, कुम्भक के समय सिर से लगाकर प्लावनी प्राणायाम करे और फिर पदमासन से ही रेचक करने से जल पर कमल तुल्य तैरने की शक्ति आती है।

पद्मासन के प्रकार

(१) **अर्धपद्मासन**- आरम्भ में यदि पद्मासन न लगाया जा सके तो केवल एक ही पैर को दूसरी जाँघ पर रखने का अभ्यास करना चाहिए। एक पैर दूसरी जाँघ पर रखकर जो आसन की जाती है उसे अर्धपद्मासन कहते हैं।

(२) **पर्वतासन**- पद्मासन बैठने के पश्चात् घुटनों के बल खड़े होकर दोनों हाथ सीधे खड़े रखने को पर्वतासन कहते हैं। इस आसन को मोटे कम्बल या गद्दे पर करना चाहिए ताकि घुटनों में चोट न आवे। आरम्भ में एक स्टूल या तिपाई आदि के सहारे करें। कुछ दिन में बिना सहारे होने लगेगी। कुछ लोग वीरासन से बैठकर भी इसे करते हैं।

(३) **वीरासन** - आराम से बैठकर एक पैर को दूसरी जाँघ के ऊपर रखे और दूसरा पैर दूसरी जाँघ के नीचे रखे। इसे वीरासन कहते हैं। गौरांग महाप्रभु इसी आसन को करते थे।

(४) **समासन**- बाएँ पैर की एड़ी दाहिनी जाँघ पर और दाहिने पैर की एड़ी को बायीं जाँघ पर रखकर बग़ैर दाहिने बाएँ झुके आराम से बैठने को समासन कहते हैं।

(५) **बद्ध पद्मासन अथवा कर्मुक्षासन**- साधारण पद्मासन को बैठकर एड़ी पेट के नीचे के हिस्से को छूती रहे तब पहले दाहिने हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर दाहिने पैर का अँगूठा पकड़े। फिर इसी तरह बाँए पैर का अँगूठा पकड़े। ठुड्डी को छाती में लगावे और नाक के अग्रभाग को दृष्टि रखकर धीरे-धीरे साँस ले।

आरम्भ में दोनों पैरों के अँगूठे न पकड़े जा सकें तो पहले एक ही पैर का अँगूठा पकड़कर कुछ दिनों अर्द्ध वद्ध पद्मासन का अभ्यास करें। अर्द्ध बद्ध पद्मासन भी पहले दाहिनी पश्चात् बायीं ओर करें। एक अँगूठा पकड़ने के बाद शरीर को कुछ आगे व बगल में झुकाने से दूसरा अँगूठा पकड़ने में सुविधा होगी।

(६) **ऊर्ध्व पद्मासन**- पहले शीर्षासन करे फिर धीरे से दाहिना पैर मोड़कर बायीं जाँघ पर व बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखे। जब दस पन्द्रह मिनट तक शीर्षासन का अभ्यास हो जाय तब इस आसन को सावधानी से करें। इस आसन के समय साँस नाक से लेवे। आरम्भ में पाँच सात मिनिट करने के पश्चात् बढ़ाना चाहिए। दीवाल के सहारे भी इसका अभ्यास किया जा सकता है। शिर के नीचे कम्बल के कई पर्त करके या कोई गदिया रखना चाहिए। इसमें भी पैर बदलते रहना चाहिए।

लाभ

पद्मासन- इस आसन के अभ्यास के सब प्रकार के अभीष्ट सिद्ध होते हैं। जप और ध्यान के लिए जिन चार मुख्य आसनों का उल्लेख किया गया है उनमें यह भी एक मुख्य आसन है। अन्य आसनों में यदि कुछ भूल हो जाय तो प्राण तक संकट में पड़ सकते हैं, परन्तु इसमें किसी तरह का भय नहीं । इससे सब रोगों का नाश व बहत्तर हज़ार नाड़ियों का मल साफ़ होता है। जप और ध्यान प्राणायामादि के लिए यह आसन बहुत ही उत्तम है। समाधि भी इसी

आसन में लगाई जाती है। इस आसन के समय दाँतों की जड़ों में जीभ की नोंक लगाने से सब बीमारियाँ दूर होती है। यह योग विद्या का सर्वाधार अङ्ग तथा मुक्ति दोनों को देने वाला है।

इस आसन में पैरों के स्नायुओं के तनने से पैरों की समस्त नाड़ियाँ शुद्ध होती है। रक्त का प्रवाह शुद्ध होता है व शरीर सीधा रहता है। पेट को ऊपर खींचने से पेट के विकार दूर होकर पाचन शक्ति बढ़ती है। इससे वीर्य रक्षा, पेट व पीठ के स्नायु मज़बूत, बुद्धि तीव्र होती है आँतों के रोग, दृष्टि दोष, मेदा रोग के लिए भी लाभकारी है।

नियम से प्रतिदिन जो लोग यह आसन करते समय हृदय कमल में भगवान् का ध्यान करते हैं उनको मोक्ष मिलने में सन्देह नहीं। इस आसन के करने वालों को गठिया नहीं होता और उनके शरीर में वात, पित्त व कफ़ तीनों सामन रूप से काम करते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।

उर्ध्व पद्मासन- इस आसन से वे ही लाभ हैं जो शीर्षासन से होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि शीर्षासन में रक्त प्रवाह पैर के पंजों से ही सीधा विपरीत होता है। इसमें घुटनों से ठसमें रूकावट होती है। बलवर्धन के लिए यह विशेष लाभकारी है। इस आसन से पद्मासन व शीर्षासन दोनों हो जाते हैं इसलिए इस विचार से दोनों को छोड़कर केवल इसी को करना उचित नहीं। हर एक आसन के अलग अलग गुण व लाभ हैं अतएव अलग अलग ही करना चाहिए। शीर्षासन की तरह इसको भी अधिक समय तक करना हानिकारक है।

बद्ध पद्मासन- ध्यान की दृष्टि से पद्मासन, परन्तु केवल आरोग्य लाभ के लिए यह आसन उत्तम है। इससे पीठ का ठेढ़ापन दूर होकर सीधापन व सरलता आती है। तिल्ली व यकृत् को लाभ होता है। पेट के समस्त विकार, अरूचि, बदहज़मी, कोष्ठबद्धता, पेट का दर्द, आमवात, खट्टी मीठीं डकारें, आँतों, पाडु व मेद-रोग दूर

होते हैं। इस आसन के समय यदि लिंग और गुदा की नसें ऊपर को खींचकर रखी जाये तो उनके रोग दूर होते हैं व स्वप्नदोष बन्द होता है। यदि प्राणायाम के साथ इसे किया जाय तो आरम्भ का क्षय रोग दूर हो जाता है। आसन के समय दाँतों की जड़ों में जीभ की नोंक लगाने से सब बीमारियाँ दूर होती है।

इसका अभ्यास निश्चित रूप से कम से कम छः मास तक करना चाहिए तभी लाभ हो सकता है। कम से कम आधा घंटा अभ्यास करें। घंटा डेढ़ घंटा करने से निःसन्देह पूर्ण लाभ हो सकता है। नाभि के पीछे सूर्य चक्र पर इसका प्रभाव पड़ता है और बहुत अधिक शक्ति प्राप्त होती है। पेट को ऊपर नीचे खींचे व ॐ का जप करे तथा कल्पना करे कि वीर्य ओज-शक्ति के रूप में संचित होने के लिये मस्तिष्क की तरफ़ बह रहा है। ऐसा करने से स्वप्नदोष रुक जायेगा।

समय- पहले अर्ध पद्मासन से आरम्भ करना चाहिए फिर धीरे-धीरे पद्मासन, ऊर्ध्व व बद्ध पद्मासन का अभ्यास करना चाहिए। पाँच दस मिनिट से आरम्भ करके धीरे-धीरे समय बढ़ाना चाहिए। पिंडलियों व घुटनों में दर्द होने लगे तो उनको धीरे धीरे मल देने से ठीक हो जाएगा। प्रातः व सायंकाल के समय इसका अभ्यास किया जा सकता है।

(२) सिद्धासन

पद्मासन के बाद सिद्धासन का दूसरा स्थान है। कुछ योगी लोग इसे प्रथम स्थान देते हैं। उनकी राय में ध्यान की दृष्टि से यह आसन सभी आसनों से श्रेष्ठ है। इस आसन के सिद्ध हो जाने से बहुत सी सिद्धियाँ मिलती हैं। इसीलिए प्राचीन सिद्ध लोग इसी आसन का

अभ्यास करते थे। सिद्धों का आसन होने से ही इसका नाम सिद्धासन पड़ा है। मोटी जाँघों वाले भी इसका अभ्यास कर सकते हैं।

विधि

पहले दोनों पैर फैलाकर बैठ जाइए। फिर एक (बाएँ) पैर को मोड़कर उसकी एडी अंडकोष और गुदा के बीच में सीवन पर मज़बूती से जमाइए। तलुआ जाँघ से लगा रहे। अब दूसरे पैर को मोड़कर उसकी एड़ी लिंग के बिल्कुल ऊपर हड्डी पर अच्छी तरह जमा दीजिए। तलुआ दूसरे पैर की जाँघ से सटा रहे और पंजा जाँघ व पिंडली के बीच में दबा रहे। इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि एड़ियाँ लिंग के ठीक ऊपर व नीचे हड्डियों पर मजबूती से जमी रहें। इसके पश्चात् ठोढ़ी को कंठ के नीचे मज़बूती से लगाकर जीभ को तालू में लगा दे व पलकों और आँखों को न हिलाकर दृष्टि भ्रू मध्य में रखना चाहिए। गुदा को सिकोड़कर अर्थात् मूल व उड्डियान बंध लगाकर भी यह आसन की जाती है। हाथों को पद्मासन की तरह रखे, परन्तु कुछ आगे की तरफ़ झुककर दोनों घुटनों पर ज़ोर देकर दोनों हाथों के पंजो को रखना अधिक उपयुक्त होगा। एड़ी और पंजों के बीच की गाँठें एक दूसरे पर रहनी चाहिए। इस आसन से सुषुम्ना नाड़ी जाग्रत होती है व प्राण तत्त्व उर्ध्व गति को प्राप्त होने लगता है।

इस आसन को सरल न समझना चाहिए और न इसके करने में जल्दी ही करनी चाहिए बल्कि बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। किसी अनुभवी के तत्वावधान में इसें करना अधिक उपयुक्त होगा। कुछ लोगों के मतानुसार बाएँ पैर की एड़ी गुदा पर रखनी चाहिए। गुदा पर रखने से मूलबंध दृढ़ हो जाता है।

गोरक्ष संहिता अध्याय ११ में बाएँ पैर को योनि स्थान पर ही रखने के लिए लिखा है।

समय

पहले आठ दस मिनिट से आरम्भ करके धीरे धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिए। बढ़ाते-बढ़ाते एक वर्ष में बारह घन्टे तक बैठने का अभ्यास किया जा सकता है। प्रातः और सायंकाल दोनों समय इस आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ

वीर्य रक्षा के लिए तो यह आसन सर्वोत्तम है। इसकें अभ्यास से मूत्रेन्द्रिय की नसें दबते-दबते निर्बल हो जाती हैं अतएव इसे गृहस्थ लोगों को न करके ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासियों को ही विशेष रूप से करना चाहिए। इस आसन में लिंग, गुदा, तोंदी और आसपास की नस नाड़ियों को ऊपर खींचने से वीर्य स्थिर होता है। स्वप्नदोष नहीं होता। इसमें ठोड़ी छाती में लगाने से दिमाग़ी ताक़त बढ़ती है। पेट के सब विकारों को दूर करने और ब्रह्मचर्य से अधिक आयु बिताने की इच्छा रखने वाले को यह आसन अवश्य करना चाहिए। इस आसन से कुण्डलिनी व सुषुम्ना जाग्रत होती है। प्राणायाम की क्रिया नियमित हो जाती है व नाड़ियों के मल का शोधन होता है प्राण तत्त्व उर्ध्व गति को प्राप्त होने लगता है। फेफड़े व हृदय बलवान् होते हैं। पाचन क्रिया नियमित हो जाती है। खांसी, श्वास, जुकाम, हृदय रोग, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, पेचिस, शुक्र निर्बलता, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छू आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। इसकी पक्व अवस्था में अपान प्राण में मिल जाएगा। योनि के पीड़न से अग्नि प्रदीप्त होगी। मूलबन्ध, उड्डियान व जालंधर व खेचरी मुद्रा करने से वायु प्राण में मिल जाएगा। इससे ईश्वर चिन्तन में मन लगता है व मोक्ष प्राप्त होता है। इस आसन से किसी प्रकार के अनिष्ट का भय नहीं है।

इस आसन द्वारा बहुत शीघ्र योग-सिद्धि प्राप्त होने का कारण यह है कि लिंग मूल में जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। इससे वायु का पथ सरल हो जाता है। योगशास्त्र के अनुसार सिद्धासन मुक्ति के दरवाज़ें खोल देता है।

(३) सर्वांगासन

यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आसन है जिसके अभ्यास से आश्चर्यजनक लाभ होते हैं। इस आसन में शरीर के सभी अङ्गों का व्यायाम हो जाता है इसीलिए इसको सर्वांगासन कहते हैं। कुछ लोग इसे विपरीतकरणी मुद्रा व ऊर्ध्व सर्वांगासन भी कहते हैं।

विधि

एक मोटे कम्बल पर चित्त लेट जाइए ओर शरीर को बिल्कुल ढीला कर लीजिए। दोनों हाथ ज़मीन (आसन) से चिपके रहना चाहिए। घुटने सीधे कड़े करके दोनों पैर मिलाकर धीरे-धीरे ऊपर उठाकर उनको वृक्ष की तरह बिल्कुल सीधे तानिए। दोनों हाथों से कमर को पीछे से सहारा देकर कुहनियों को ज़मीन पर टेक कर थामे रहिये। पीठ का कुछ भाग, कंधे और गर्दन ज़मीन पर लगे रहेंगे। शरीर हिलने न पावे और बिलकुल सीधा रहना चाहिए। समय पूरा होने पर धीरे-धीरे बग़ैर झटके के नीचे लाईए। इसमें सारा भार कंधों व कुहनियों पर पड़ता है। गर्दन पर ज़ोर नहीं पड़ना चाहिए। ठोड़ी छाती पर जालंधर बंध की तरह लगाना चाहिए। गर्दन के नीचे की स्नायु ग्रन्थि पर ध्यान जमाना चाहिए। मूल बंध लगाए रहना चाहिए व जब तक साँस रोकी जा सके रोके और न रोक सकने पर धीरे-धीरे नाक से निकाल दे।

यह आसन प्रातः व सांयकाल दोनों समय की जा सकती है। इसको करने के पश्चात् ही मत्स्यासन करना चाहिए ताकि गर्दन पर यदि ज़ोर पड़ा हो तो ठीक हो जाय।

समय

इस आसन को दो मिनिट से आरम्भ कर क्रमशः आधे घन्टे तक बढ़ाना चाहिए। प्रारम्भ में पूरी आसन तीन-चार दिन में करना चाहिए। एक दम करने से गर्दन आदि में झटका लगने व मोच आ जाने का भय रहता है।

लाभ

इस आसन से पेट के सभी रोग दूर होकर भूख अच्छी तरह लगती है। मिर्गी, वीर्य रक्षा, गठिया, गलित कोढ़, रक्त संचार, गर्दन व मस्तिष्क, गुर्दा आदि के लिए अत्यंत लाभकारी है। शीर्षासन की तरह यह भी लाभकारी है। इस आसन से शरीर में ताज़गी व स्फूर्ति आती है, मेरुदंड स्थित स्नायुओं में रक्त पहुँचता है और वह लचीला रहता है जिससे युवा अवस्था सदा क़ायम रहती है। स्वप्न दोष नहीं होते। नपुंसकता नष्ट हो जाती है। इस आसन से सरल अन्य साधन नहीं है जिससे रक्त-स्नायुविकार तथा मंदाग्नि आदि रोगों को जड़ से अच्छा किया जा सके। यदि आसनों के लिए समय न हो तो इस आसन को नित्य नियम पूर्वक करना चाहिए।

(४) हलासन

इस आसन के समय शरीर की आकृति हल की तरह हो जाती है।

विधि

आसन पर चित लेट जाइए। दोनों हाथ सीधे व हाथों की हथेलियाँ ज़मीन से चिपकी रहें। घुटने कड़े करकें दोनों पैर आपस में सटाकर धीरे-धीरे ऊपर उठाइए व सर के ऊपर से पीछे ले जाकर इतने झुकाइये कि पैर की उँगलियाँ ज़मीन से लग जाएँ। धड़ न झुके और पैर कडे रहें। ठोड़ी छाती से लगी रहे व साँस धीरे-धीरे नाक से लेते रहे।

इसकी दूसरी विधि यह है कि उपरोक्त प्रकार से आसन करने के पश्चात् हाथों को धीरे-धीरे अपनी जगह से हटाकर उनसे पैरों के अँगूठों को पकड़े। यह पहली विधि से अच्छी समझी जाती है समय हो जाने पर पैर धीरे-धीरे पूर्व स्थिति में ले आवे।

लाभ

हठ योग में मेरूदंड की बड़ी महिमा बतलाई गई है, क्योंकि सारा शरीर इसी पर स्थित है। इस आसन से मेरूदंड के स्नायु, पीठ की मांस पेशियाँ, रीढ़ की हड्डियाँ और मेरूदंड के दोनों तरफ जो ज्ञानतन्तु मंडल है वह उत्तेजित हो उठते है। सर्वांगासन के सभी गुण इसमें है।

(५) मत्स्यासन

मत्स्य मछली को कहते हैं। इस आसन को करने वाला जल पर मछली की तरह तैरता रह सकता है इसलिए इस आसन का नाम मत्स्यासन पड़ा है। जल पर तैरते रहने के लिए इस आसन के साथ प्लाविनी प्राणायाम करना पड़ता है।

विधि

आसन पर बैठकर या लेटकर पद्मासन लगाइए। दोनों बाहों को एक दूसरे से मिलाकर गुफनी सी बनाकर उस पर सर रखिए।

दूसरी विधि यह है कि सर को पीछे ले जाकर तालु को आसन से लगाइए और दूसरी तरफ़ नितम्ब (चूतड़) आसन से लगे रहें। इस प्रकार सर और नितम्बों के बीच का भाग पुल की डाट की तरह हो जाएगा, अब हाथों से या तो पैरों के अँगूठें पकड़ लीजिए या जाँघों पर रख दीजिए। घुटने आसन से न उठने पाएँ। पेट और कमर को जितना हो सके उतना ऊपर उठाकर स्थिर रखें।

पहले की अपेक्षा दूसरी विधि बहुत ही अधिक लाभकारी है।

इस आसन के करने के पहले पद्मासन का अभ्यास कर लेना चाहिए। आसन कर लेने के बाद सर को धीरे-धीरे दोनों तरफ़ हाथों के सहारे ढीला करके आसन खोलें।

सर्वांग आसन के बाद इस आसन का अभ्यास करना चाहिए ताकि सर्वांगासन के अभ्यास से जो गर्दन व अन्य अङ्ग कड़े पड़ जाते हैं वह इससे ठीक हो जाते हैं व सर्वांगासन का पूरा लाभ मिलता है।

इस आसन को बड़ी सावधानी से करना चाहिए क्योंकि जल्दी करने से गर्दन में मोच आ जाने का भय रहता है।

लाभ

इस आसन से मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है व दस्त साफ़ होता है। पेट के विकार दूर होते हैं। जल में तैरते-तैरते थक जाने पर इस आसन को लगाने से न तो हाथ पैर चलाने पड़ते हैं और न डूबने

का भय रहता है। दस-बारह मिनट में ही थकावट दूर होकर पहली शक्ति आ जायगी। इससे अजीर्ण व पांडु रोग, बद्धकोष्ठता नष्ट होती है। पुराना मल बाहर निकल जाता है। दमा, राजयक्षमा, पुरानी खाँसी आदि गहरी साँस लेने से अच्छे हो जाते हैं। इस आसन के करने से फेफड़े की जड़ तक प्राण वायु पहुँचता है। श्वास नलिकाएँ विकसित होने से खूब गहरी श्वास आने जाने लगती है जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

समय

दो-तीन मिनिट से आरम्भ करके धीरे-धीरे पन्द्रह मिनिट तक किया जा सकता है।

(६) पश्चिमोत्तानासन

विधि

आसन पर बैठकर सामने दोनों पैर लम्बें फैलाकर एक दूसरे से सटाकर कड़े रखिए। इसके पश्चात् साँस को निकाल आगे झुक कर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़िए। धीरे-धीरे अभ्यास करने से माथा घुटनों में लगने व चेहरा घुटनों के बीच में जाने लगेगा। धड़ को झुकाते समय पेट को अन्दर खींचना चाहिए, कुछ दिन पश्चात् हाथ की कुहनियाँ ज़मीन से लगने लगेंगी। साँस को उस समय तक रोके रहना चाहिए जब तक सीधा न बैठ जायें।

जो लोग मुटाई आदि के कारण इसे न कर सकें उनको पहले अर्ध पश्चिमोत्तानासन करना चाहिए। इसमें एक पैर फैलाकर दोनों हाथों से उस पैर का अँगूठा पकड़कर माथे को घुटने से लगाना चाहिए। एक पैंर के बाद दूसरे पैर का, पश्चात् दोनों पैरों का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ

इस आसन से पेट और पैरों के स्नायुओं का ख़ूब खिंचाव होता है और वे फैलते हैं जिससे पेट के विकार, कोष्ठबद्धता नहीं रहती। बढ़ा हुआ पेट पिचक जाता है। लम्बेंगो (पीठ कड़ी पड़ जाने वाला रोग) अर्थात् माँसपेशियों का गठिया दूर हो जाता है। बवासीर, बहुमूत्र मेदारोग, पांडुरोग, ताप, तिल्ली, कृमि, श्वास, खाँसी कमर दर्द व आँतों के रोग दूर होते हैं।

समय

पन्द्रह-बीस सैकिन्ड से आरम्भ करके धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। शारीरिक लाभ के लिए पाँच-सात मिनिट का अभ्यास काफ़ी है।

(७) मयूरासन

संस्कृत में मयूर मोर को कहते हैं। इस आसन को करते समय करने वाले की आकृति मोर की तरह हो जाती है। इस आसन को करनें के लिए शरीर में बल चाहिए। जिमनास्टिक् करने वाले इसे सरलता से कर सकते हैं।

विधि

पहले घुटनों के सहारे आसन पर बैठ जाइए फिर दोनों हाथ ज़मीन पर ऐसे रखिए कि पंजे मिले हुए पीछे की ओर रहें। इसके पश्चात् दोनों हाथों को एक दूसरे से मिलाकर मज़बूती से ज़मीन पर टेके रहिए ओर पेट को कुहनियों के पास ले जाइए। अब ज़मीन की तरफ़ झुककर दोनों पैरों को जोड़कर पीछे की तरफ़ अँगूठों के बल रखिए और दोनों हाथों की कुहनियों को पेट के दोनों तरफ़ लगाकर,

छाती और सिर को आगे की तरफ़ दबाते हुए पैंरो को ऊपर उठाने का प्रयत्न कीजिए। जब पैर उठकर कुहनियों के बराबर आ जाए तब सिर और छाती को सीधा कर दीजिए अर्थात सारा शरीर हाथों की कुहनियों पर तराजू की तरह बराबर सीधा तुल जाय। दृष्टि सामने और साँस रोके रहना चाहिए। आसन कर चुकने पर साँस धीरे-धीरे निकालें।

आरम्भ में एक गद्दी सामने रख लेना चाहिए क्योंकि शरीर न सधने पर मुँह के बल गिरने और नाक आदि में चोट आने की सम्भावना रहती है। शरीर न सधने पर बजाय मुँह के, बगल के बल गिरना चाहिए। पहले दोनों पैर एक साथ न फैल सकें, तो एक -एक फैलावें, ज़रा आगे बढ़कर सिर झुकाने पर पैर अपने आप ही उठ जावेंगे तब पैरों को फैलाकर धीरे-धीरे सिर की सीध में ले जाना चाहिए।

लाभ

इस आसन से पेट के बहुत से रोग नष्ट हो जाते हैं। इससे थोडी ही देर में पूरी कसरत हो जाती है। पाचन शक्ति बढ़ती है। बुरे भोजनों का असर नहीं होता बल्कि विष तक पच जाता है और कोई असर नहीं होता। तिल्ली व जिगर ठीक होते हैं। कुंडलिनी जागृत होती है। पेट में वायु उत्पन्न नहीं हो पाती व निकल जाती है। पित्त व कफ़ समान हो जाते हैं। हाथ मज़बूत होते हैं।

समय

पाँच सेकिन्ड से पन्द्रह-बीस सेकिन्ड तक इसका अभ्यास क्रमशः बढ़ाना चाहिए। बाक़ी अभ्यास व शरीर बलिष्ठ होने पर दो तीन मिनिट तक की जा सकती है।

(८) मत्स्येन्द्रासन

मत्स्येन्द्र ऋषि इस आसन को किया करते थे इसलिये उनके नाम से इस आसन का नाम पड़ा। योगी मत्स्येन्द्र शिवजी के शिष्य थे। कहा जाता है कि एक बार शिवजी एक द्वीप के किनारे पार्वती जी को योग आसनों का रहस्य समझा रहे थे। वहाँ एक मछली ने शिवजी का उपदेश सुन लिया। शिवजी को यह बात मालूम होने पर उन्होंने मछली को जल के छींटे मारे जिससे वह मछली योगी हो गई। इसी कारण उन योगी का नाम मत्स्येन्द्र पड़ा।

पश्चिमोत्तानासन और हलासन से रीढ़ आगे व धनुर, भुजंग और शल्भासन में पीछे मुड़ती है। रीढ़ को केवल आगे व पीछे मोड़ना ही पर्याप्त नहीं है और न इससे पूरा लाभ ही होता है। उसको दोनों बगलों की तरफ़ मोड़ना भी आवश्यक है। ताकि मेरुदंड लचीला हो सकता है। मत्स्येन्द्र आसन से इस कमी की पूर्ति हो जाती है।

विधि

पहले आसन पर पैर फैलाकर सीधे बैठ जाइए फिर बाएँ पैर का पंजा उठाकर दाहिनी जाँघ की जड़ में रखिए। पंजे का तलुआ पेट से मूत्रेन्द्रिय के ऊपर या पेट से मिलाकर रखें। अब दाहिने पैर को बाएँ घुटने पर इस तरह रखिए कि पैर खड़ा रहे और उसका पंजा घुटने के सहारे बाहर की ओर ज़मीन पर जमा रहे। इसके बाद बाएँ हाथ को दाहिने पैर के घुटने के बाहर से ले जाकर उसका अँगूठा मज़बूती से पकड़े। दाहिना पैर दृढ़ रहे। अब दाहिने हाथ को पीठ की तरफ़ घुमाकर ले जाए और बायीं एड़ी को पकड़ें जिससे मुँह और शरीर दाहिनी बगल पीठ की तरफ़ घूम जाते हैं। रीढ़ को मरोड़ों और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाओं। छाती और गर्दन आगे की तरफ़

नहीं झुकना चाहिए। सीधें तने रहकर दूसरे अङ्ग पीछे की तरफ़ जितने घुमाए जा सकें, उतना घुमाए तथा साँस धीरे-धीरे लें।

यह आसन बारी-बारी से दाहिने बाएँ करना चाहिए। पहले अर्ध मत्स्येन्द्रासन करने से इसे करने में सरलता होगी। आरम्भ में शरीर साधने में कठिनाई हो तो हाथ पीठ की तरफ़ घुमाने की बजाय हथेलियों को ज़मीन पर रख सकते हो। इससे सहारा मिलेगा व सरलता होगी।

लाभ

इस आसन से मेरुदंड का पूरा व्यायाम हो जाता है। वह पूरी तरह घूम जाता है। मस्तिष्क से प्राण नाड़ी निकलती है वह गले के पीछे से जाकर मेरुदंड से मिलती है। मेरुदंड इसी तरह लगभग 32 मणियों को मिलाकर साइकिल की चेन की तरह एक दूसरे में फँसती चली जाती है। इसलिए हम मेरुदंड को सब तरफ़ घुमा लेते हैं। इस आसन से पूरा मेरुदंड शुद्ध और कार्यशील रहता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि मस्तिष्क तेज़ और चैतन्य रहता है। इसके सिवाय पेट, पीठ, हाथ-पैर आदि सब शरीर के स्नायु खिंचने से रक्त शुद्ध और सब निर्मल हो जाते हैं। इस आसन से जठराग्नि प्रबल, पेट व आँतों के अङ्ग रोग, आमवात, कमर दर्द, कृमिरोग आदि नष्ट हो जाते है। जोड़ गतिशील हो जाते हैं। गठिया दूर हो जाता है। मूत्रेन्द्रिय पर एड़ी के दवाब से रक्त का दौरा पीछे की तरफ़ होने लगता है जिससे पीठ की सभी व प्राणवाहक नाड़ियाँ पुष्ट होती है। कुंडलिनी जागृत होती है।

समय

दो तीन सेकिन्ड से आरम्भ करके क्रमशः बढ़ाकर तीन मिनिट तक बढ़ाया जा सकता है।

(९) अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन

प्रारम्भ में पूर्ण मत्स्येन्द्रासन के करने में कठिनता होगी इसलिए पहले इस आसन को करना चाहिए।

विधि

आसन पर सीधे बैठकर बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में सीवन पर रखिए। एड़ी ऐसी मज़बूती से रखिए कि वहाँ से हट न सके। इसके पश्चात् दाहिने पैर की पिंडली को बाएँ पैर की जाँघ पर इस तरह रखे कि दाहिना पैर कमर के पास ज़मीन से छूता रहे। फिर दाहिने पैर के खड़े घुटने पर बाएँ हाथ की कुँहनी सीधी रखे। अब घुटने को पीठ की तरफ थोड़ा सा घुमावें जिससे वह कांख के पिछले भाग को स्पर्श करे। बाएँ घुटने को बाएँ हाथ से पकड़े और बाएँ कंधे के जोड़ पर ज़ोर देकर रीढ़ को धीरे-धीरे घुमावे व दाहिनी ओर अच्छी तरह घुमावे। अपना मुँह भी दाहिनी तरफ़ जहाँ तक हो सके घुमावे। इसे दाहिने कंधे के सीध में लावे। दाहिने हाथ को पीठ के पीछे जाकर उससे बायीं जाँघ को पकडे। इसी प्रकार दाहिनी ओर भी करे। इसमें आगे को झुकना नहीं चाहिए।

लाभ

इस आसन से जठराग्नि व भूख बढ़ती है। भयंकर बीमारियाँ दूर होती हैं। कुंडलिनी को जागृत करती है। तालु मूल में चन्द्र का निवास है, उससे जो अमृत स्रावित होता है वह जठराग्नि में मिलने से नष्ट हो जाता है, परन्तु इस आसन से वह रुकता है। पूर्ण मत्स्येन्द्रासन के लगभग सभी लाभ इसमें हैं।

समय

दो-तीन सेकिण्ड से आरम्भ करके क्रमशः दस सेकिण्ड तक

इसका अभ्यास बढ़ाइए।

(१०) शल्भासन

इस आसन में शरीर का आकार शल्भ (पतिंगे, टिड्डे) जैसा हो जाता है इसलिए इसे शल्भासन कहते हैं।

(१) विधि

आसन पर पेट के बल लेट जाइए। दोनों हाथों को दोनों तरफ़ आसन पर पीछे की तरफ़ सीधे व हथेली उल्टी रखिए। अब हाथों का सहारा लेते हुए पैरों को जाँघ तक ऊपर उठाइए परन्तु घुटने न मुड़ने पावें बल्कि सीधे तने हुए रहें। इसके पश्चात् सर, गर्दन, छाती और पेट को भी ऊपर उठाइए। इस आसन में शरीर कुछ हाथों और कुछ पेट के चारों और के चार-पाँच अँगुल हिस्से के सहारे साधना पड़ता है।

(२) विधि

हाथों को पंजो के बल सीने की बगल में जमाकर शेष क्रिया अर्थात् आगे व पीछे का हिस्सा ऊपर लिखी विधि के अनुसार ही उठाया जा सकता है।

दोनों प्रकार के अभ्यासों में धीरे-धीरे साँस खींचे (पूरक करे) और आसन होने तक उसे रोके रहे, पश्चात् धीरे-धीरे छोड़े, सारे बदन को कड़ा रखे। पैरों को ज़मीन से एक हाथ ऊपर उठावे। जाँघ, पैर व अँगूठा एक सीध में रहें। जाँघ और पेट का निचला हिस्सा भी कुछ उठा रहे। आसन समाप्त करते समय धीरे-धीरे फिर ज्यों का त्यों हो जाय। एक समय में तीन बार से धीरे-धीरे बढ़ाकर सात बार तक की

जा सकती है।

समय

पाँच-सात सेकिण्ड से आरम्भ करके एक मिनिट तक की जा सकती है।

लाभ

इस आसन से जाँघ, छाती, पैर, पेट के स्नायु तनते हैं व उक्त अङ्गों के सारे विकार दूर होते हैं। पश्चिमोत्तानासन, हलासन, सर्वांगासन जो कि रीढ़ को आगे की तरफ़ मोड़ते हैं उनके विपरीत यह पीछे की और मोड़ता है। मयूरासन की तरह यह पेट पर भी दबाव डालता है। यह आसन मलावरोध दूर करता है व गुदा को पुष्ट करता है।

(११) भुजंग या सर्पासन

सर और छाती ऊँची उठाने से इस आसन की आकृति फन उठाए हुये सर्प की तरह हो जाती है इसलिए इसे भुजंग या सर्पासन कहते हैं।

विधि

आसन पर पेट के बल लेट जाइए। नीचे के आधे धड़ को आसन से बिलकुल चिपकाए रखिए। हथेलियों को ठीक कंधों और कुहनियों के नीचे मज़बूती से जमा कर क्रम से सिर, गर्दन, छाती और पेट को धीरे-धीरे ज़मीन से उठाते हुए जहाँ तक ताना जा सके ऊपर तानिए। दृष्टि सामने रखिए, शरीर साँप के फन की तरह तना-खड़ा हो व नाभि के पास तक का भाग उठा रहे। रीढ़ पीछे की तरफ़ मुड़ी रहे। यह इन चार प्रकारों से की जाती है। आसन की पहली अवस्था में

शरीर के अङ्गों को ऊपर उठाते हुए साँस भीतर रोके। दूसरी आसन की अवस्था में हाथ ज़मीन से उठाकर पीठ पर लगा ले और साँस रोके। तीसरी अवस्था में दोनों घुटने भी ऊपर उठा ले और साँस रोके। चौथी अवस्था में केवल तोंदी के पास पेट के सहारे रहकर हाथ और घुटने दोनों ऊपर उठाले और साँस रोके। चारों क्रियाएँ कर चुकने पर साँस धीरे-धीरे छोड़े। इस प्रकार चारों क्रियाएँ करने में पाँच छः मिनिट लगेंगे।

लाभ

दो-तीन महीने नियम पूर्वक प्राणायाम के साथ इस आसन के करने से स्वप्नदोष कदापि नहीं होगा। प्राण-शक्ति बढ़ेगी। प्रारम्भिक क्षय-रोग नष्ट हो जाएगा और मन्दाग्नि व कोष्ठबद्धता जाती रहेगी। जमा हुआ मल निकल जाता है। पीठ व कमर का दर्द व पीठ की पेशियों का गठिया दूर हो जाता है। अग्नि को बढ़ाता व कुण्डलिनी को जागृत करता है।

यह आसन स्त्रियों के लिए भी अत्यन्त लाभकारी है। उनकी जननेन्द्रिय व गर्भाशय पुष्ट करने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इससे मासिक धर्म का न होना, मासिक धर्म के समय कष्ट होना व प्रदर आदि व गर्भाशय तथा जननेन्द्रिय सम्बन्धी अनेक रोग दूर हो जाते हैं। उन अङ्गों में रक्त का संचालन नियमित रूप से होने लगता है। इस सम्बन्ध में यह क्रिया उत्तम से उत्तम औषधियों से भी अधिक लाभदायक है। इससे सन्तानोत्पति नियमित रूप से होती रहेगी व प्रसव पीड़ा भी अधिक न होगी। गर्भावस्था में इसे न करना चाहिए।

समय

यह आसन कठिन नहीं है अस्तु धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाकर इसे दो-तीन मिनिट क्रमशः पन्द्रह मिनिट तक की जा सकती है।

(१२) धनुरासन

इस आसन में पीठ पीछे की तरफ़ मुड़ने व धनुष की प्रत्यंचा की तरह दोनों हाथों से पीछे की तरफ़ दोनों पैर पकड़ने से शरीर का आकार धनुष की तरह हो जाता है इसलिए इसे धनुरासन कहते हैं। यह भुजंगासन का सहायक व पूरक आसन है। भुजंग, शल्भ व धनुरासन लगभग एक सी ही हैं। यह आसन हलासन व पश्चिमोत्तानासन की पूरक है जो रीढ़ को आगे मोड़ती है।

विधि

आसन पर छाती के बल लेट जाइए। दोनों हाथ पीछे की तरफ़ रखिए। दोनों पैरों को पीछे की तरफ़ मोड़कर एड़ी की गाँठों की जगह दोनों हाथों से पकड़िए। धीरे-धीरे छाती और सर को ऊपर की तरफ तानिए। आगे व पीछे शरीर को धीरे-धीरे इतना उठाइए कि केवल पेट व पेडू ज़मीन पर लगी रहे। शेष भाग ऊपर खिंचकर धनुष की तरह हो जाय। दृष्टि सामने, सीना उठा हुआ रहे। साँस को रोक धीरे-धीरे छोड़िए। इसे दो, चार, छः जितनी बार आसानी से हो सके, करें। आसन के समय आगे -पीछे व दाएँ-बाएँ हिलने से पेट की मालिश हो जाती है।

लाभ

इस आसन से सीना चौड़ा होता है, पीठ का टेढ़ापन व पेट के रोग नष्ट होते हैं। पैरों व घुटनों की गठिया व दर्द दूर होता है। भूख बढ़ती है। आँतों के विकार नष्ट होते हैं व शरीर में स्फूर्ति आती है।

समय

पाँच मिनिट से पन्द्रह-बीस मिनिट तक धीरे-धीरे इसका अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

(१३) आकर्षक धनुरासन

यह आसन भी धनुरासन ही की तरह है। इसमें केवल अंतर यह है कि यह बैठकर की जाती है।

विधि

आसन पर बैठकर दोनों पैर सामने सीधे फैला दीजिए। दाहिने हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे व बाएँ हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़िए। इसके पश्चात् दाहिने पैर को भीतर की तरफ़ मोड़कर ठुड्डी व कान तक धनुष की तरह लाइए और बाएँ पैर को ज्यों का त्यों अँगूठा पकड़े हुए रहने दीजिए। घुटना, काँख के व जाँघ, पेट के नजदीक आ जाएगी, इसी प्रकार दूसरे पैर से भी करे, एकदम ही कान आदि छूने का प्रयत्न न करके धीरे-धीरे अभ्यास करना चाहिए।

लाभ

इस आसन से हाथ-पैरों के स्नायु खिंचने के कारण निर्मल हो जाते हैं व घुटनों, जाँघ आदि के दोष दूर होकर मज़बूत हो जाते हैं। पहले प्रकार से यह अधिक लाभदायक है।

समय

एक मिनिट से क्रमशः आठ-दस मिनिट तक इसका अभ्यास किया जा सकता है।

(१४) गोमुखासन

इस आसन के समय गाय के मुँह की तरह आकार बन जाता है इसलिये इसे गोमुखासन कहते हैं।

विधि

यह आसन दो प्रकार से किया जाता है।

(१) बाएँ पाँव का घुटना दाहिने पैर पर रखकर दाहिने पैर की एड़ी की गाँठ बाएँ चूतड़ के नीचे गुदा के बाएँ भाग की तरफ़ बैंठते हैं। धीरे-धीरे दाहिनी एड़ी को दाहिनी चूतड़ से सटाना चाहिए। शेष क्रिया नीचे लिखे अनुसार ही की जाती है।

(२) आसन पर सीधे बैठकर पैरों को घुटनों तक पीछे मोड़े और उनके बल बैठकर बाएँ पैर की एड़ी को गुदा के बाएँ भाग के नीचे और इसी तरह दाहिने पैर को दाहिनी ओर रखे। दोनों घुटने आपस में मिले रहें। शरीर का भार एड़ियों पर रहे। अब बायाँ हाथ उठाकर पीठ की तरफ़ मोड़े और दाहिना हाथ पीठ के पीछे ले जाकर कोहनी के ऊपर को उठावे व बाएँ हाथ की उँगलियों को दाहिनी उँगलियों से पकड़े। शरीर तना हुआ रहे। हाथ बदल-बदल कर अभ्यास करें। उँगलियाँ पकड़ने के लिये जल्दी न करे। धीरे-धीरे अभ्यास करने पर कुछ दिन में उँगलियाँ पकड़ में आने लगेंगी।

लाभ

इस आसन में छाती, हाथ और पैरों के स्नायु तनने से वह मज़बूत होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिये लाभप्रद है। अपान वायु को नीचे नहीं जाने देता। मूलबंध का अभ्यास हो जाने से प्राणायाम में सहायक होता है। टाँगों और जाँघों में ख़ून की अधिकता व जमाव मालूम हो तो आसन समाप्त करके उनको हाथ से मल दें।

(१५) वज्रासन

इस आसन के करने से शरीर वज्र के समान मज़बूत हो जाता है इसलिये इसका नाम वज्रासन पड़ा।

विधि

यह आसन मुसलमान जिस तरह नमाज पढ़ने बैठते हैं उससे बिल्कुल मिलता जुलता है। आसन के ऊपर दोनों पिंडलियों को पीछे की तरफ़ मोड़कर इस तरह बैठिए कि चूतड़ पैरों पर रहे, पैरों के तलुए खुले रहें व घुटने आपस में जुड़े रहें। शरीर और गर्दन सीधी व नज़र सामने रहे। दोनों हाथ घुटनों पर रखे रहे। पिंडलियों का जितना भाग ज़मीन से छूता रहेगा उतना ही लाभ होगा, शरीर का सारा बोझ घुटनों और टखनों पर रहे। आरम्भ में पैरों में दर्द मालूम होगा परन्तु मल देने से व कुछ दिन के अभ्यास से ठीक हो जाएगा। योगी प्राय: साधारणतया भी इसी आसन से बैठे रहते हैं। कुछ लोग एड़ियाँ बिल्कुल अलग व गुदा और चूतड़ दोनों एड़ियों के बीच में तथा पैर जाँघों के बगल में रखते हैं।

लाभ

इस आसन से नाभि पर जहाँ से सब नाड़ियाँ निकलती है बहुत ही लाभप्रद प्रभाव पड़ता है। वायु गोले की शिकायत दूर होती है। भोजन के पश्चात् आध घन्टे तक इस आसन से बैठने से भोजन खूब अच्छी तरह पचता है। पैर व जाँघों के स्नायु तनने से रक्त का संचालन अच्छी तरह होता है व वह सुडौल बन जाती है। आमाशय खूब काम करता है।

समय

एक मिनिट से आरम्भ करके आधे घण्टे तक बढ़ाई जा सकती है। यह आसन सरल है अतएव विशेष तौर से अभ्यास करने के सिवाय भी इस आसन से बराबर बैठा जा सकता है।

(१६) पाद हस्तासन

इस आसन में खड़े होकर हाथों से पैर पकड़े जाते हैं इसलिए इसे पाद हस्तासन कहते हैं। इसे खड़े होकर पश्चिमोत्तानासन भी कह सकते हैं।

विधि

यह आसन पश्चिमोत्तानासन की तरह खड़े होकर किया जाता है। पहले सीधे खड़े हो जाइए और हाथों को ऊपर की तरफ़ खडे करके धीरे-धीरे ऊपर के धड़ सहित नीचे झुकाइए। दोनों पैर सटे व कड़े रखिए। पैर के अँगूठों को हाथ से पकड़िए। झुकते समय सांस धीरे-धीरे बाहर निकालिए व पेट को पीछे खींचिए। माथे को घुटनों के बीच में लगाएँ। मुँह घुटनों की दराज में घुसा रहे। पेट की पेशियों व गुदा को सिकोड़े रहें। अँगूठे पकड़ने में कठिनाई हो तो घुटनों को जरा झुकाकर अँगूठा पकड़ लेने पर फिर सीधे कर दीजिए। आरम्भ में विशेषकर मोटे आदमियों को कठिनाई होती है परन्तु कुछ दिन में अभ्यास हो जाता है। पहले अँगूठे पकड़ने के पश्चात् सिर घुटनों में लगाने का अभ्यास करें।

लाभ

इस आसन से पेट की चर्बी व तोंद छँट जाती है अर्थात् वादीपन दूर हो जाती है। नमक के साथ कडुये तेल की मालिश करने से पैर कुछ लम्बे हो जावेंगे। अपान वायु को नीचे जाने में सहायता मिलती है। पश्चिमोत्तानासन के सब लाभ इससे भी होते हैं।

समय

एक मिनिट से आरम्भ करके दस मिनिट तक करना पर्याप्त होगा।

(१७) चक्रासन

इस आसन में शरीर का आकार चक्र की तरह हो जाता है इसलिए इसका नाम चक्रासन पड़ा।

विधि

बचपन में यह आसन बड़ी सरलता से हो जाता है। बड़े हो जाने पर मेरुदंड के कड़े हो जाने से कठिनाई पड़ती है।

आसन पर ऊपर की तरफ हाथ उठाकर सीधे खड़े हो जावें और हाथ व ऊपर का धड़ धीरे-धीरे पीछे झुकावें। जब हाथ चूतडों के पास पहुँच जावें तब पैरों को घुटनों के पास धीरे-धीरे झुकाने से पीछे अधिक झुकने व हाथों से ज़मीन छूने में सरलता होगी। जल्दी करके ज्यादा झुकने की अपेक्षा धीरे-धीरे थोड़ा झुक कर अभ्यास करिये अन्यथा गिरने व नुकसान पहुँचने का भय है। प्रारम्भ में यह दीवाल के सहारे भी की जा सकती है।

इसकी दूसरी विधि यह है कि आसन पर चित्त लेट जाइए। दोनों हथेलियाँ सिर के बगल में और दोनों पैर जहाँ तक हो सके पीछे की तरफ़ जमाकर शरीर को ऊपर की तरफ़ उठाकर तानिये व महराव की तरह बनाइए इसमें गिरने का डर नहीं रहता। पश्चात् धीरे-धीरे हाथों

और पैरों को एक दूसरों के पास लगाने का प्रयत्न कीजिए। निगाह सामने रहे। कुछ दिन में एड़ियों को हाथ से पकड़ने का अभ्यास हो जायेगा।

अभ्यास करने पर ज़मीन पर केवल हाथ टेककर शरीर को पीछे की तरफ़ उछालकर यह आसन की जा सकती है और उसी प्रकार शरीर को दूसरी तरफ़ उछालकर पूर्वावस्था में लाया जाता है। स्कूल के विद्यार्थी व नट लोग इसे बड़ी आसानी व सफ़ाई से करते हैं।

लाभ

पेट और कमर के सब अङ्गों को इस आसन से पूरा लाभ पहुँचता है। कमर टेढ़ी नहीं होती। शरीर फुर्तीला होता है। सर्वांग आसन के बाद अगर बदन में दर्द मालूम हो तो इसे किया जा सकता है। धनुर, शल्भ व भुजंगासन के सब लाभ इससे प्राप्त होते हैं। सर्वांग आसन के विपरीत आसन का काम देती है।

समय

एक मिनिट से आरम्भ करके इसका आठ-दस मिनिट तक अभ्यास बढ़ाया जा सकता है।

(१८) गरुड़ासन

इस आसन के समय शरीर का आकार गरुड़ की तरह हो जाता है इसलिए इसे गरुड़ासन कहते हैं।

विधि

आसन पर सीधे खड़े हो जाइए और दाहिने पैर में बायाँ पैर बेल की तरह ऐसे लपेटिए जिसमें बाएँ पैर का घुटना दाहिने पैर के घुटने

पर रहे व इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि बाएँ पैर का पंजा दाहिने पैर के पंजे से छू जाए। लपेट में यदि दाहिने पैर का घुटना कुछ मुड़ जाय तो कोई हानि नहीं। शेष धड़ को बिल्कुल सीधा रखिए और दोनों हाथों को मुँह के सामने लाकर पैरों की तरह ही एक दूसरे में लपेटिए और दोनों हथेलियों को मिलाकर गरुड़ की चोंच की शक्ल बनाइए। बारी-बारी से हाथों व पैरों को बदलते रहे। इसके पश्चात् झुककर लिपटे हुए पैर के अँगूठे से ज़मीन छूने का प्रयत्न करे। इससे आसन का पूरा लाभ मिलेगा। झुकते समय कुछ सहारा लिया जा सकता है। ऐसा करते वक़्त दोनों पैरों को झुकाना पड़ेगा। इस आसन के समय वस्ति की जा सकती है।

लाभ

इस आसन से हाथ पैर मज़बूत व सुडौल होते हैं तथा उनकी नाड़ियाँ और हड्डियाँ दृढ़ होती हैं। हाथ और पैर लम्बे होते हैं। पोतों का बढ़ना अच्छा होता है।

समय

यह आसन कुछ कठिन है अतएव थोड़े समय से आरम्भ करके क्रमशः पाँच-दस मिनिट तक अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

(११) जानुशिरासन

इस आसन में सिर जानु में लगाया जाता है इसलिए इसको जानुशिरासन कहते हैं।

विधि

आसन पर बैठकर पैरों को सामने लम्बा फैला दीजिए फिर बाएँ पैर को मोड़कर पैर का तलुआ जाँघ की जड़ में चिपका दीजिए।

एड़ी तोंदी के सामने रहे। अब फैले हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़कर उसी के घुटने पर सिर रखिए। कुछ देर पश्चात् बायाँ पैर फैलाकर दाहिने पैर से भी वैसा ही कीजिए।

दूसरी विधि के अनुसार मोड़े हुए पैर की एड़ी गुदा जननेन्द्रिय के बीच में सीवन पद दबाकर लगाना चाहिए, शेष क्रिया पूर्ववत् ही होगी।

आसन करते समय साँस बाहर फेंके व पेट को भीतर करे, सिर को धीरे-धीरे झुकाकर माथे को सीधे पैर के घुटने में लगाए। यथा शक्ति करने के बाद कुछ देर ठहरकर फिर दूसरी तरफ़ करे अथवा पैर बदलते रहे। आसन के समय जितनी देर हो सके साँस रोके व गुदा को ऊपर खींचे रहे। मन में भावना करे कि ओजस शक्ति के रूप में वीर्य मस्तिष्क की तरफ़ जा रहा है। जल्दी ही सिर घुटने में लगाने का प्रयत्न न करे। धीरे-धीरे अभ्यास करने से कुछ ही दिन में सिर लगने लगेगा। एक ही समय में शक्ति के अनुसार चार-छः दफ़ा करे।

लाभ

इस आसन से आँतों के समस्त रोग अच्छे होते हैं। पेट के सब विकार दूर होकर पाचन शक्ति बढ़ती है व भूख ख़ूब लगती है। ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। वीर्य स्थित रहता है। पश्चिमोत्तानासन के सभी लाभ इसमें हैं। जीर्ण ज्वर, खाँसी, पांडुरोग, कमर दर्द, सिर का भारीपन, अरुचि,आँखों की जलन व मूत्रेन्द्रिय के दोष दूर होते हैं।

समय

पाँच सैकिण्ड से आरम्भ करके क्रमशः धीरे-धीरे समय बढ़ाकर आधे घंटे तक किया जा सकता है। दो चार मिनट में ज़्यादा लाभ नहीं हो सकता ।

(२०) गर्भासन

इस आसन में शरीर का आकार गर्भ के बच्चे की तरह हो जाता है इसलिए इसे गर्भासन कहते हैं। इसे उत्तान कूर्मासन भी कहते हैं।

विधि

आसन पर बैठकर पद्मासन लगाने के पश्चात् जैसे कि कुक्कुटासन में बतलाया है दोनों हाथों को जाँघों और पिंडलियों की संधि में इतना डालिए कि वे कुहनियों तक बाहर निकल आवें। फिर शरीर का सारा भार केवल नितम्बों पर रखकर दोनों कानों को दोनों हाथों से पकड़िए। अभ्यास करने पर कुछ दिन बाद हाथों को और ऊपर बढ़ाकर कानों के बजाय गले के पीछे उँगलियों को एक दूसरे में कैची बनाकर गले में हाथों की माला सी पहननी चाहिए।

कान व गर्दन पकड़ने की क्रिया सावधानी से करे क्योंकि शरीर के लुढ़कने की सम्भावना रहती है और हाथों का सहारा नहीं लिया जा सकता। कुछ दिन के अभ्यास से शरीर नितम्बों पर सधने लगता है।

अभ्यास के लिए प्रारम्भ में पद्मासन में न बैठकर पहले हाथों को जाँघों के पीछे से डालकर कान पकड़ने का अभ्यास करे। इस प्रकार पैर नीचे रहने से गिरने का भय न रहेगा। इस तरह ऊपर की विधि के अनुसार अभ्यास करने में कुछ दिन में सरलता हो जायगी।

लाभ

इस आसन से पहले प्रकार में हाथ पाँवों व दूसरे में गले के स्नायुओं पर ज़ोर पड़ने से वह मज़बूत होते हैं। शौच साफ़ होने से पेट

साफ़ रहता है आँखों के अनेक रोग दूर होते हैं।

समय

कुछ सेकिण्डों से आरम्भ करके दस मिनिट तक यह आसन दोनों प्रकार से किया जा सकता है।

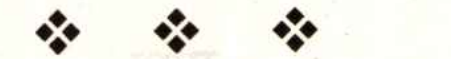

(२१) कुक्कुटासन

इस आसन के करते समय शरीर का आकार कुक्कुट (मुर्गे) की तरह हो जाता है इसलिए इसका नाम कुक्कुटासन पड़ा।

विधि

पद्मासन लगाकर आसन पर बैठ जाइए। पैरों को यथाशक्ति कमर की तरफ़ खींचे रहिए। पश्चात् दोनों जाँघों और पिंडलियों के बीच में दोनों हाथ डालिए। पहले दाहिना और फिर बायाँ हाथ डालिए फिर दोनों हाथों के पंजो को सामने बराबरी में जमा दीजिए। उँगलियाँ आगे की तरफ़ रहें। अब शरीर को धीरे-धीरे उठाते हुए पंजों के बल तौलिये। हाथ कुछ मुड़ जायेंगे व शरीर भी कुछ झुक जायगा। इस प्रकार बिल्कुल हाथों के आधार पर स्थिर होकर पीठ को जितना हो सके सीधी कर दीजिए। पद्मासन ढीली रखने से हाथ डालने में सुविधा होगी।

आरम्भ में जिनका शरीर स्थूल हो वह उकड़ूँ बैठकर दोनों हाथ सामने आसन पर बराबरी पर जमा दें। हाथ घुटनों के भीतर रहें। इसके पश्चात् छाती आगे झुकाकर शरीर का बोझ हाथों पर रखे और एक-एक करके दोनों पैर ज़मीन से उठावें।

लाभ

पद्मासन के सब लाभों के सिवाय इस आसन से हाथ विशेष रूप से मज़बूत होते हैं। गर्दन व छाती दृढ़ तथा चौड़ी होती है। हाथ लम्बे होते हैं। उँगलियों में कभी लर्जे(कंपने) का रोग नहीं होगा।

समय

इस आसन की दोनों विधि कठिन है इसलिए धीरे-धीरे करना चाहिए। जब शरीर सधने लगे तो आधे मिनिट से आठ-दस मिनिट तक की जा सकती है।

(२२) कंद पीड़नासन

इस आसन में कंद अर्थात् शक्ति का वह स्थान जहाँ से सब नाड़ियाँ निकलती है और जो कि जननेन्द्रिय व गुदा के बीच में होती है उन पर दबाव पड़ने के कारण इसे कंद पीड़नासन कहते हैं।

(१) विधि

आसन पर पैर फैलाकर बैठ जाइए और दोनों पैरों को मोड़ कर उनके पंजे आपस मे मिलाकर व दोनों हाथों से उनको पकड़ कर मूत्रेन्द्रिय के आगे इस तरह लाकर रखिए कि एड़ियाँ आगे रहें और मिले हुए अँगूठे नीचे ज़मीन पर। इसके पश्चात् अँगूठों को हाथ से आहिस्ता-आहिस्ता इस तरह खींचिए कि एड़ियाँ ज़मीन में लग जाएँ, दोनों घुटने दोनों ओर खिंचे रहें और पैर उलट कर उन पर बैठ जाइए। हाथ घुटनों पर रहें व बदन तना रहे। अर्थात् पैरों को धीरे-धीरे मरोड़कर एड़ियों को मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा के मध्य में व अँगूठों को पीछे

की ओर गुदा से लगावें। इस प्रकार सारा शरीर दोनों एड़ियों और पैरों के किनारों पर ठहर जायगा।

(२) विधि

पैर फैलाकर बैठनें के पश्चात् एक पैर को हाथ से घुमाकर धीरे-धीरे पेट के ऊपर उठा ले जाए, इसी तरह दूसरे पैर का पंजा भी उठा ले जाए और दोनों के पंजे आपस में मिला दें। पैरों के तलवे अगल-बगल बाहर की तरफ़ निकले रहें, शरीर तना व घुटने ज़मीन पर जमे और जुड़े रहें ।

यह आसन मोटी जाँघ और पैर वालों के लिए ही नहीं बल्कि दूसरों के लिए भी कठिन है क्योंकि इसमें पैरों को विपरीत घुमाना पड़ता है। इसलिए इसे बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। पहले कितने ही दिनों तक केवल पैरों के घुमाने का ही अभ्यास करना चाहिए। जब पैर बग़ैर कष्ट के घुमने लगें तब उनकी एड़ियाँ और पंजे उलट कर पेट तक ले जाने या नीचे दबाने का प्रयत्न करना चाहिए।

लाभ

इस आसन में कंद के स्नायुओं पर पूरा दबाव पड़ने से कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है जो कि योगसाधन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

समय

यह आसन बहुत ही कठिन है लगभग दो तीन महीने में पूर्ण रूप से हो सकेगा। इसका अभ्यास एक मिनिट से पाँच मिनिट तक किया जाय।

(२३) शीर्षासन

यह आसन सिर के बल किया जाता है इसलिए इसे शीर्षासन कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों से जिस विपरीतकर्णी मुद्रा को बहुत महत्त्व दिया गया है उसकी क्रियाओं से यह निश्चय होता है कि यह आसन ही विपरीतकर्णी है व इसे ही कपालासन भी कहते हैं।

विधि

इस आसन के करते समय आसन बहुत ही गुदगुदा होना चाहिए। यदि कोई गद्दी सम्भव न हो तो कम्बल के चौकोर आठ पर्त करके व उस पर और कोई कपड़ा बिछाकर या गेंडुरी बनाकर यह आसन करे ताकि मस्तिष्क पर आसन कड़े होने से हानिकारक प्रभाव न पड़ सके। इस आसन के समय तो विशेषकर लंगोट के सिवाय कोई कपड़ा न पहने बल्कि वह भी ढीला रखे।

आरम्भ में घुटने आसन पर टेक कर बैठ जाइए फिर दोनों हाथों की उँगलियाँ एक दूसरे में फँसाकर दोनों हाथ कुहनियों तक आसन पर घुटनों के सामने जमाकर रखिए अब अपना सिर दोनों फँसी हुई हथेलियों पर रखकर दोनों पैरों को धीरे धीरे ऊपर उठाने का प्रयत्न करिए। हाथ केवल सिर को इधर-उधर से सहारा देकर शरीर को संभालने के लिए रखे जाते हैं। शरीर का भार इन पर न रहकर सिर पर ही रहना चाहिए। जब पैर कमर तक पहुँच जावें तब पैरों को घुटने से पीछे की तरफ़ मोड़े रहिए। इस तरह जब शरीर सध जाय तब फिर पैरों को ऊपर धीरे-धीरे सीधे फैला दीजिए।

जब शरीर बिलकुल सीधा हो जाय तब आसन पूर्ण हुई समझना चाहिए। इस समय अपनी दृष्टि भृकुटी के बीच में या नासिका के अग्रभाग पर जमाकर ध्यान करना चाहिए। घुटने, पंजे व एड़ियाँ आपस में मिली रहें व शरीर हिले-डुले नही, आँखे ख़ूब खुली रहें, साँस

धीरे-धीरे नाक से लेवें और मुँह बन्द रखें। आरम्भ में किसी आदमी या दीवाल के सहारे पैर उठाए जा सकते हैं। अभ्यास करने के दस मिनिट बाद एक प्याला दूध व हलका जलपान व दूध पीना अत्यन्त आवश्यक है। गर्मी के दिनों में अधिक समय न करें। इस आसन को बहुत ही सावधानी व धीरे से करना चाहिए ताकि गर्दन में झटका न लगने पावे और खाली पेट करें। समय मिलने पर प्रातः व सायंकाल दोनों समय की जा सकती है। आसन करके हाथों को ऊपर उठावे व गर्दन पीछे झुकावे तथा आगे झुककर समाप्त करने पर कुछ समय तक सीधे खड़े होकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े। यह क्रिया पाँच बार करें। साथ ही पाँच पूरक-रेचक प्राणायाम पहले व बाद में करने से विशेष लाभ होगा।

इसके और भी कई प्रकार हैं। हाथों पर ज़ोर देकर सिर भी उठाया जा सकता है। हाथों की उँगलियाँ खोल कर पंजे फैलाकर हथेलियों के सहारे बाहुओं के बल शरीर को ज्यों का त्यों खड़ा रखा जा सकता है। इसके सिवाय हाथों को हटाकर केवल सिर के बल ही खड़ा हुआ जाता है। सर से हाथ हटाकर सामने इधर-उधर फैलाए, छाती लगा के व पैर मोड़कर नितम्बों से बारी-बारी से व साथ-साथ लगाए जा सकते हैं तथा पद्मासन भी लगाया जा सकता है और पैरों को ऊपर न मिलाकर अगल-बगल व आगे-पीछे फैलाया जा सकता है। चंचल चित्त वालों को इसमें आनन्द आता है, परन्तु ध्यान के विचार से पहली विधि ही उत्तम है।

आरम्भ में दीवाल या किसी मनुष्य का सहारा लेकर व बड़ी सावधानी से करें क्योंकि जल्दबाजी व इधर-उधर झोंका खाने या गिरने से सिर, गर्दन अथवा अन्य अङ्गों में चोट या मोच आ जाने का भय रहता है।

लाभ

कितने ही ऋषि, मुनि, योग तथा आसन के अभ्यासी लोगों ने इस आसन की बड़ी प्रशंसा की है और इसे बहुत ही महत्व पूर्ण व तत्काल फल देने वाला बतलाया है। इसीलिए इसका अधिक प्रचार है।

घेरंड संहिता में इस आसन को मृत्यु और बुढ़ापे से रक्षा करने वाला बतलाया है। मानव शरीर में ऊपर के अङ्ग बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। सब का राजा वीर्य हृदय में रहता है। रक्त शरीर की कांतिवान् जीवन प्रद और स्वस्थ रखने में समर्थ है अतएव उसे सारे शरीर में प्रवाहित व शुद्ध रखने की कितनी आवश्यकता है। साधारणत: शरीर का भार पैरो पर रहने के कारण रक्त का प्रवाह भी उसी तरफ़ रहता है अतएव सारे शरीर का रक्त पूर्ण रूप से प्रवाहित करने की पूर्ति इस आसन से हो जाती है।

मस्तिष्क में शुद्ध रक्त पहुँचने से बुद्धि तीव्र व स्मरण शक्ति बढ़ती है। वीर्य की ऊर्ध्वगति होने से मनुष्य कांतिवान् हो जाता है। वीर्यदोष व स्वप्नदोष नष्ट होकर उसका स्तंभन होता है। असमय में सफ़ेद होने वाले बाल एक वर्ष के निरंतर अभ्यास से काले हो जाते हैं। पेट के विकार दृष्टि-दोष दूर होते हैं। शरीर में रक्त पहुँचाने का कार्य हृदय करता है। अतएव ऊपर के अङ्गों में रक्त पहुँचाने में उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। इस आसन में हृदय को विश्राम मिलने से वह अधिक दिनों तक कार्य करने में समर्थ होता है। फलत: मनुष्य की आयु बढ़ती है। सारे शरीर में वेग से शुद्ध रक्त का संचार होने से शरीर बलवान्, छाती, गले, सिर, पैर पेट व मुँह आदि के सब रोग, झुर्रियाँ आदि दूर होते हैं व आनन्द का अनुभव होता है। दिमाग़ी काम करने वालों के लिए यह बहुत ही लाभप्रद है। इसके अभ्यास से स्मरणशक्ति बढ़ती है। इससे प्राणायाम व समाधि के लिए अलहदा अभ्यास की आवश्यकता नहीं, इससे कुण्डलिनी भी जागृत होती है।

इस आसन के बाद बैठकर ध्यान लगाने से बड़ा लाभ होता है। अनाहत शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगते हैं। इस आसन से बहरापन, सुजाक, बहुमूत्र, अर्श, श्वास, यक्ष्मा, पायोरिया, गर्मी, बवासीर आदि अनेक प्रकार के रोग नष्ट होते हैं। सारांश यह कि यह समस्त रोगों की रामबाण दवा व अमृत है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

स्त्रियों के लिए यह आसन बहुत ही हितकारी व आशाप्रद है। इससे गर्भाशय व जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोग दूर होकर बाँझपन गायब हो जाता है। मासिक धर्म व गर्भ के स्थित होने पर आसन नहीं करना चाहिए।

कुछ लोगों का मत है कि यह आसन योग-साधन के अनुकूल नहीं है क्योंकि इसके बाद प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाएँ, पूजा, मंत्र व जपादि नहीं किए जा सकते। अनेक योगाभ्यासी लोगों का कहना है कि इससे न तो शरीर बलिष्ट होता है और न चित्त ही लय होकर आनन्द प्राप्त करता है।

इस आसन का अभ्यास करते समय मनुष्य को यह धारणा करते रहना चाहिए कि उसका वीर्य ओज बनता हुआ मस्तिष्क में जमा हो रहा है। यह आसन गर्मियों मे ज़्यादा देर तक न करें।

समय

आरम्भ में इस आसन को पन्द्रह-बीस सेकिण्ड करें। प्रति सप्ताह एक-दो मिनट बढ़ाते हुए पन्द्रह मिनिट तक करें। छः महीने बाद आधे घन्टे तक व एक साल बाद एक घन्टे तक का अभ्यास बढ़ाया जाय। योगतत्त्व में लिखा है कि इस आसन को जो नित्य निरंतर तीन घंटे तक करते है वे काल को जीत लेते है। संध्या समय चार बजे से छः बजे के बीच या भोजन के दो घंटे पहले करें।

(२४) वृश्चिकासन

संस्कृत में वृश्चिक बिच्छू को कहते हैं। इस आसन में शरीर का आकार बिच्छू की तरह हो जाता है इसलिये इसका नाम वृश्चिकासन पड़ा है।

विधि

आसन पर बैठकर पहले दोनों हाथ कुहनियों तक ज़मीन पर जमाइए, पंजे खुले रहें। इसके पश्चात् पैरों को धीरे से उठाकर घुटनों तक मोड़कर सिर पर रखने का प्रयत्न कीजिए। प्रारम्भ में इसे दीवाल के सहारे करे। पहले पैरों को दीवाल से टेक दे और फिर पैरों को दीवाल से दो-तीन इंच दूर कर शरीर को स्थिर रखने का अभ्यास करे। शरीर जब स्थिर होने लगे तब धीरे-धीरे पैरों को घुटनों व कमर को पीछे सिर की तरफ़ मोड़ने व पैर की उँगलियों व तलुओं को सिर पर रखने का प्रयत्न करे। जो लोग वृक्षासन व शीर्षसन देर तक कर सकते है वे इसे शीघ्र ही कर सकते हैं।

लाभ

इस आसन में प्राय: सभी ओर विशेषकर पेट, हाथों व कमर के स्नायु तनने में सब अङ्ग. शुद्ध और मज़बूत होते है। शरीर हल्का होकर मेदारोग, तिल्ली, पांडु, कृमि, आमवात व अजीर्ण नष्ट होते है।

समय

यह आसन भी कठिन है अतएव आसानी से जितने समय तक हो सके, करें।

(२५) द्विपाद शिरासन

इस आसन में दोनों पैर कंधों पर रखे जाते हैं इसीलिए इसे

द्विपादशिरासन कहते हैं।

विधि

आसन पर पालथी मारकर बैठ जाइए पश्चात् एक पैर उठा कर दोनों या एक हाथ से उसके पंजे को पकड़कर धीरे-धीरे सिर के पीछे से दूसरे कंधे की तरफ़ गर्दन पर रखिए, फिर इसी तरह दूसरे पैर को भी दूसरी तरफ़ रखने का प्रयत्न कीजिए। पैर रखते समय गर्दन को कुछ झुकाने से सरलता होगी, हाथों को सामने प्रार्थना की तरह जोड़िए। पूरा शरीर नितम्बों के बल रहेगा। यह आसन कठिन है अतएव पैर जल्दी ही गर्दन पर रखने का प्रयत्न न करके धीरे-धीरे अभ्यास कीजिए।

लाभ

इस आसन में पैरों, जाँघों व गर्दन के स्नायुओं पर ज़ोर पड़ता है अतएव ये अङ्ग बहुत ही मज़बूत हो जाते हैं। पैर, पीठ व हाथ -पैरों के रोग दूर होते हैं।

समय

गर्दन पर जब पैर रखने का अभ्यास हो जाय तब शक्ति के अनुसार पन्द्रह-बीस सेकिण्ड से पाँच मिनिट तक कर सकते हैं।

(२६) वकासन

इस आसन में शरीर का आकार बगुले की तरह हो जाता है इसलिए इसे वकासन कहते हैं।

विधि

आसन पर पंजों के बल बैठकर दोनों हाथ सामने पंजों के

बल मज़बूती से जमा दीजिए और दोनों हाथों के पास सटाकर धीरे-धीरे उनके घुटने कुहनियों पर चढ़ाकर शरीर के सब भार को हाथों के पंजों पर संभालिए। पैरों के पंजे मिले रहें। घुटने हाथों के बाहर व भीतर भी रखे जा सकते हैं।

लाभ

इससे विशेषकर हाथ व पंजे मज़बूत होते हैं और उँगलियों में कभी लर्जे (कँपने) की शिकायत नहीं होती।

समय

अभ्यास हो जाने पर इसे आधे घंटे तक किया जा सकता है।

(२७) पवन मुक्तासन

इस आसन से पेट की वायु निकल जाती है इसलिए इसे पवन मुक्तासन कहते हैं।

विधि

आसन पर चित लेट कर एक पैंर को घुटने से मोड़कर छाती के पास लाइए और दोनों हाथों की गुफनी बनाकर उस पैर को पेट की तरफ़ खूब ज़ोर से दबाइए। इसके पश्चात् उस पैर को सीधा करके दूसरे पैर को भी इसी तरह दबाइए। दोनों पैरों को भी एक साथ दबाकर भी किया जा सकता है। साथ ही नीचे लिखे अनुसार भी इसे किया जा सकता है।

(१) **पवन मुक्तासन**- पैरों के बल एड़ियाँ मिलाकर बैठ जाइए और दोनों घुटनों को छाती से लगाकर दोनों हाथों की गुफनी बनाकर छाती की तरफ़ दबाइए।

(२) **वाम पवन मुक्तासन**- दाहिने पैर को ज़मीन पर सीधा फैलाकर दूसरे पैर को ऊपर लिखे अनुसार मोड़कर हाथों से छाती की तरफ़ दबाइए।

(३) **दक्षिण पवन मुक्तासन**- इस आसन में बाएँ पैर को ज़मीन पर फैलाकर दाहिने को मोड़कर ऊपर लिखे अनुसार दबाया जाता है।

लाभ

इस आसन में पेट की अपान वायु के दबकर निकलने से पेट शुद्ध होता है। सुबह उठते ही थोड़ा-सा पानी पीकर लेटे-लेटे ही यदि यह आसन किया जाय और उसके बाद ही टट्टी जावे तो दस्त साफ़ और जल्दी होता है। जिसके पेट की वायु बिगड़ी व अधिक पैदा होती हो उसको यह आसन अवश्य करना चाहिए। इससे वायु शुद्ध व कम पैदा होती है।

समय

इस आसन को सुबह-शाम तीन मिनिट से दस-पन्द्रह मिनिट तक करना चाहिए।

(२८) द्विहस्त भुजासन

इस आसन को दोनों हाथों व भुजाओं से किया जाता है इसलिए इसे द्विहस्त भुजासन कहते हैं। जिन लोगों को द्विपाद शिरासन करने में कठिनाई हो उनको इस आसन के करने में सुविधा होगी और लाभ लगभग वही होगा।

विधि

आसन पर पालथी मारकर बैठ जाइए और एक-एक करके दोनों

पैरों को दोनों बाँहों पर रखिए। इसके पश्चात् बाहुओं को ऊपर करते हुए दोनों पैर कंधों पर रख दीजिए, साथ ही दोनों हाथों की उँगलियाँ आपस में फँसाकर गले में माला की तरह डालिए। आरम्भ में दोनों पैर कंधों पर रखने में कठिनाई होगी इस लिए पहले एक पैर रखने का अभ्यास कीजिए, पश्चात् दोनों पैरों के रखने का प्रयत्न कीजिए।

लाभ

इस आसन से द्विपाद शिरासन की तरह हाथ पैर मज़बूत होते हैं। इस आसन में भी हाथ, पाँव व गले के स्नायु तनने से उनका रक्त शुद्ध व प्रवाहित होता है।

समय

एक मिनिट से दस मिनिट तक इसका अभ्यास किया जा सकता है। पहले आधे मिनट से आरम्भ करें।

(२९) वातायनासन

इस आसन में वायु निकलने के लिए मार्ग खुला रहता है इसलिए इसे वातायनासन कहते हैं।

विधि

आसन पर सीधे खड़े हो जाइए और दोनों हाथों से दाहिना पैर ऊपर उठाकर उसे बायीं जाँघ पर रखिए। पैर का पंजा जाँघ से और एड़ी तोंदी के नीचे मिली रहे, अब बाएँ पैर को बायीं ओर इस तरह मोड़िए कि दाहिने पैर का घुटना बाएँ पैर की एड़ी के

टखने से लग जाय। इस आसन को पैर बदल-बदल कर करना चाहिए। दोनों हाथ प्रार्थना की तरह जोड़कर छाती के सामने रखे। शरीर सीधा व दृष्टि सामने रहे।

लाभ

इस आसन से पैरों के स्नायु खिंचकर रक्त शुद्ध होता है व पैरों में मज़बूती आती है।

समय

शक्ति के अनुसार इसे एक मिनिट से पाँच मिनिट तक किया जा सकता है।

(३०) गुल्फ जँघासन

इस आसन में पैरो का आकार गुल्फ की तरह हो जाता है इसीलिए इसे गुल्फ जँघासन कहते हैं।

विधि

आसन पर पैर सीधे फैला कर बैठ जाइए और बाएँ पैर को घुटने से मोड़कर उसकी एड़ी बायीं जाँघ के मूल में लगाइए और पंजा सामने सीधा रखिए। फिर दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर उसकी एड़ी दाहिनी जाँघ के मूल में लगाइए और पंजे को बाएँ पैर के पंजे के ऊपर रखिए। अब दोनों घुटनों को सीध में खूब तान दीजिए ताकि वे एक लाइन में हो जावें। इसके पश्चात् हाथों को सीधा करके घुटनों पर इस तरह रखिए कि हाथों की उँगलियाँ घुटने के बाहर ज़मीन से छूती रहें। शरीर सीधा व दृष्टि सामने रहे।

लाभ

इस आसन से कमर और जाँघों के स्नायु खिंचने से बड़ा लाभ होता है और उनमें शुद्ध रक्त का प्रवाह होता है। जननेन्द्रिय को लाभ व मज़बूती प्राप्त होती है।

समय

शक्ति के अनुसार पाँच मिनिट से आधे घंटे तक यह आसन किया जा सकता है।

(३१) गुप्तासन

इस आसन में जननेन्द्रिय गुप्त रहती है इसलिए इसे गुप्तासन कहते हैं।

विधि

आसन पर सीधे पालथी मारकर बैठ कर दोनों पैरों की एड़ियों को जननेन्द्रिय पर रखिए। दोनों पैरों के टखने आपस में सटे रहें और दाहिने पैर का अँगूठा बाएँ पैर की जाँघ व पिंडली के बीच में तथा बाएँ पैर का अँगूठा उसी तरह दाहिनी जाँघ और पिंडली के अंदर घुसा रहेगा।

लाभ

इस आसन से ब्रह्मचर्य की रक्षा व स्वप्नदोष बन्द हो जाते हैं, पैर व जँघाएँ मज़बूत होती है। धातु सम्बन्धी अन्य विकार भी दूर होते हैं।

समय

यह आसन कुछ कठिन नहीं है अतएव पाँच मिनिट से आधे घंटे

तक सरलता से की जा सकती है। गृहस्थ लोगों को अधिक समय तक नहीं करना चाहिए।

(३२) स्वस्तिकासन

स्वस्तिक का अर्थ है सीधा। इस आसन में सीधा बैठा जाता है इसलिए इसे स्वस्तिकासन कहते हैं।

विधि

आसन पर सीधे बैठकर बाएँ पैर को मोड़कर दाहिनी जाँघ पर व दाहिने को बायीं पर रखिए। इस प्रकार दोनों पैर जाँघों और पिंडलियों के बीच में रहेंगे। मेरुदंड सीधा रहना चाहिए।

लाभ

यह बिल्कुल सरल आसन है। इसमें काफ़ी समय तक आराम से बैठा जा सकता है। इसीलिए यह ध्यान आदि के लिए अत्यन्त उपयुक्त आसन है।

समय

इस आसन का विशेषकर ध्यान आदि के लिए उपयोग किया जाता है अतएव कोई समय निश्चित करना आवश्यक नहीं है। ध्यान व भजन पूजन आदि के समय के अनुसार इस आसन से बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

(३३) सुखासन

इस आसन से भी काफ़ी समय तक आराम से बैठा जा सकता है इसलिये इसे सुखासन कहते हैं। जो लोग तीस-चालीस से अधिक अवस्था हो जाने के कारण जप व ध्यान आदि के लिए पद्म, सिद्ध व स्वस्तिकासन से अधिक समय तक नहीं बैठ सकते उनके लिए यह आसन अत्यन्त उपयुक्त है। इससे वृद्ध लोग भी आराम से देर तक बैठ सकते हैं। युवक लोगों को इसे करने की आवश्यकता नहीं है।

विधि

आसन पर आराम से पैरों के बल उकड़ूँ बैठकर दाहिने पैर को बाएँ पैर की पिंडली से मिलाकर इस तरह रखिए कि दोनों घुटने अन्दर उठे रहें व तलुए ज़मीन पर रहें। अर्थात् नितम्ब और पंजों के बल बैठिए। इसके सिवा एक ढाई गज लम्बे कपड़े को शरीर के चारों तरफ़ अर्थात् कमर में घुटनों के नीचे इस तरह लपेटिए कि घुटने नीचे न गिरने पावें। दोनों हाथ भी दोनों पैरों से मिलाकर कपड़े के फैंटे के अन्दर रखिए।

लाभ

यह आसन शारीरिक उन्नति के लिए नहीं है, बल्कि अन्य आसनों से न बैठ सकने वालों के लिए, ध्यान, जप आदि के लिए अधिक समय तक बैठ सकने के लिये यह बहुत ही उपयुक्त और सहायक है।

समय

अपनी सुविधा, जप और ध्यान आदि के अनुसार इस आसन से किसी भी समय तक बैठा जा सकता है।

(३४) काम दहनासन

यह आसन काम सम्बन्धी उत्तेजना दबाने के लिए किया जाता है इसलिए इसे काम दहन आसन कहते हैं।

विधि

बज्रासन लगाकर अपने घुटनों को धीरे-धीरे उठावे और केवल पैरों के अँगूठों के बल खड़े रहे। हाथों का योगदंड, स्टूल या बेंच पर रखा जा सकता है ताकि आसन करने में सुविधा हो और देर तक बैठा जा सके।

लाभ

इस आसन के करने से काम सम्बन्धी उत्तेजना कम होती है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह आसन बहुत ही उपयोगी है।

समय

पाँच सेकिण्ड से आरम्भ करके आठ-दस मिनिट तक इसका अभ्यास किया जा सकता है।

(३५) त्रिकोणासन

इस आसन में शरीर का आकार त्रिकोण हो जाता है इसलिए इसका नाम त्रिकोणासन पड़ा ।

विधि

सीधे खड़े होकर दोनों पैरों को एक दूसरे से दो फीट के फासले पर रखिए। दोनों हाथों को बगल में सीधे चिपकाए रहिए। इसके पश्चात् बाएँ पैर की तरफ़ उसी बगल में धीरे-धीरे झुकिए और उसी

तरफ़ के हाथ को ज़मीन से लगाइए। दाहिना हाथ ऊपर को सीधा उठाइए व पैरों को कड़ा रखिए। इस आसन में केवल कमर तक का हिस्सा झुकेगा। निगाह दाहिने हाथ की तरफ़ करिए।

लाभ

इस आसन से रीढ़ में दोनों तरफ़ झुकाव व लचीलापन आता है। योगी के लिए रीढ़ अथवा मेरुदंड बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका सम्बन्ध समस्त स्नायु मंडल व नालिका से है। नालिका में ही मुख्य नाड़ी सुषुम्ना रहती है जिसका कुण्डलिनी चक्र से विशेष सम्बन्ध है। यह आसन मेरुदंड व पेट के अङ्गों को दृढ़ करता है। मलावरोध दूर करके शरीर को हल्का करता है। इससे मनुष्य का कद बढ़ सकता है।

समय

दो मिनिट से पन्द्रह-बीस मिनिट तक इस आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

❖ ❖ ❖

(३६) योगासन

इस आसन को प्रायःयोगी लोग करते हैं इसलिए इसे योगासन कहते है।

विधि

इस आसन में दाएँ पैर को बाएँ घुटने पर और बाएँ को दाहिने घुटने पर रखिए। तलवे ऊपर की तरफ़ रहें। हथेलियों को ऊपर उठाए हुए दोनों तरफ़ बगल में ज़मीन पर रखिये। दृष्टि सामने रखें।

लाभ

यह आसन जप और ध्यान आदि के विचार से योगियों के लिए उत्तम है।

समय

शक्ति, जप व ध्यान के अनुसार ही इसका अभ्यास किया जा सकता है।

(३७) शवासन

इस आसन में शरीर को बगैर हिलाए डुलाए बिल्कुल मुर्दे की अवस्था में रखने के कारण इसे शवासन कहते हैं।

विधि

आसन पर चित लेटकर हाथों को बिलकुल सीधा फैला दीजिये। सब अङ्गों को शिथिल कर दीजिए, धीरे-धीरे साँस लीजिए। जिस स्थिति में भी हाथ पैरों को रखने में आराम मिले उसी तरह उनको रखिए और यह ध्यान करिए कि हमारे सारे अङ्ग पेट, छाती मस्तिष्क, नेत्र, शरीर की नसें बिल्कुल ढीली पड़ गई है। ॐ का जप व आत्मा या भगवान् का ध्यान करिए। सो न जाइए। सब आसनों के करने के बाद इस आसन को अवश्य करें।

लाभ

इस आसन से शरीर और मस्तिष्क को विश्राम, शांति व आनन्द

प्राप्त होता है। आसनों आदि के करने से जो थकावट हो जाती है वह इस आसन से तुरन्त ही दूर हो जाती है।

समय

जितनी देर आसन आदि की हो उसी के अनुसार इस आसन का भी समय रखा जा सकता है। साधारणतया आठ-दस मिनिट करना उचित होगा।

(३८) लोलासन

मयूरासन के अभ्यास में पद्मासन लगाकर दोनों हथेलियों के सहारे सारे शरीर को उठावें। इससे सारा शरीर हिल उठेगा।

शरीर का शिथिली करण

शरीर की मांस पेशियों को शिथिल करने का अभ्यास करने से शरीर और मस्तिष्क दोनों को विश्राम मिलेगा और आसन आदि से होने वाला तनाव ठीक हो जाएगा। जो लोग शिथिली करण विज्ञान को जानते हैं उनकी शक्ति का कभी क्षय नहीं होता।

कुछ गहरी-गहरी साँसें लेकर शवासन से चित लेट जाइए। सिर से पैरों तक सब मांस पेशियों को बिल्कुल शिथिल कर दीजिए। फिर एक करवट, फिर दूसरी करवट लेटकर सब अङ्गों को बिल्कुल ढीला कर दीजिए। शरीर के विशेष अङ्गों के भिन्न-भिन्न अभ्यास हैं। इस प्रकार सिर, आँख, कंधे, हाथ, उँगलियाँ, पेट, कमर, जाँघें, टाँगें आदि सभी ढीले किए जा सकते हैं। इस अभ्यास के समय मन को शांत और दृढ़ रखें।

मन का शिथिली करण

इसी प्रकार मन को भी शिथिल किया जा सकता है। क्रोध और चिन्ता के भावों को नष्ट कर देने से बड़ी मानसिक शांति मिलती है। चिन्ता और क्रोध के मूल में भय की स्थिति है। चिन्तित रहने से मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है। अतएव चिन्ता, क्रोध व भय से मुक्त होने के लिए मन के शिथिली करण का अभ्यास करना चाहिए। शरीर के शिथिल होने से मन भी शिथिल हो जाता है।

शरीर को शिथिल करके आराम के साथ आँखें मूँद कर चित लेट जाइए और सब तरह के विचार हृदय से निकाल कर मन को स्थिर कीजिए। ऐसा विचार कीजिए कि शरीर एक तरह का पात्र है और आप शरीर से अलग हो। सर्व व्यापक आत्मा के साथ अपना एकीकरण कीजिए और ऐसा विचार कीजिए कि, सारे संसार का जीवन आपके द्वारा संचारित हो रहा है। इसके पश्चात् आँख खोलने पर आप अपने में महान् मानसिक शक्ति, स्फूर्ति व बल का अनुभव करेंगे।

❖ ❖ ❖

आसन और उनके लाभ

नाम आसन	लाभ
१-पद्म, सिद्ध, स्वास्तिक व सुखासन	ध्यान, जप व स्वाध्याय।
२-शीर्ष, सिद्ध, भुजंग व मत्स्य, सर्वांगासन	ब्रहाचर्य, कुण्डलिनी जागरण, क्षय,दमा, स्मरण शक्ति, प्रमेह, बांझपन, स्वप्नदोष, मूत्राशय रोग, शूल, गठिया, मधुमेह, पायोरिया, नाक, आँख, कान के रोग, आतशक, अजीर्ण

	बद्धकोष्ठता दूर होती है।
३–शवासन	थकावट मिटती है।
४–पश्चिमोत्तान, बज्र, सर्वांग व बद्ध पद्मासन	पाचन बढ़ता है।
५–चक्र, मयूर, शीर्ष व सर्वांगासन	जीर्ण ज्वर जाता रहता है।
६–पश्चिमोत्तान, शीर्ष, वृश्चिक व सर्वांग	गठिया दूर होता है
७– शीर्ष व सर्वांग	सिर दर्द ठीक होता है।
८– सर्वांग, शीर्ष, पश्चिमोत्तान व पद्मासन	दीर्घ आयु व सर्व रोग नाशक है।
९– शीर्ष, उर्ध्व व पूर्ण सर्वांगासन	रक्त दोष नहीं होता।
१०– पद्म, गोमुख, कुक्कुट,महामुद्रा	बवासीर जाती रहती है।
११– शीर्ष व उर्ध्व सर्वांगासन	बालों के रोग, बाल सफ़ेद से काले।
१२– मत्स्य, धनुर् पादहस्त,हल व मयूर	मन्दाग्नि दूर होती है।
१३– शीर्ष, उर्ध्व, सर्वांग पद्म व मयूरासन	दिमाग़ की कमज़ोरी व अशक्तता मिटती है।
१४– बद्ध पद्मासन व कुक्कुटासन	आँव बन्द हो जाती है।
१५– शीर्षासन	मिर्गी ठीक हो जाती है।
१६– शल्भ, भुजंग, सर्वांग व पश्चिमोत्तानासन	जननेंद्रिय व गर्भाशय के रोग, मासिक-धर्म के विकार न होना तथा प्रदर दूर होते हैं।
१७– शल्भ व मत्स्येन्द्रासन	श्वास रोग जाता रहता है।
१८– त्रिकोण, गरुड़ व उत्कटासन	फील पाँव, हाथ व पोते बढ़ना बन्द हो जाता है।
१९– बद्ध पद्मासन,मयूर,सर्वांग व	यकृत् व प्लीहावृद्धि रुक

हलासन	जाती है।
२०- महामुद्रा, शीर्षासन व सर्वांगासन	कुष्ठ मिट जाता है।
२१- शीर्ष व मयूरासन	उदरशूल चला जाता है।
२२- शीर्ष,सर्वांग,चक्र व जानुशिरासन	कृमिरोग ठीक होता है।
२३- शीर्ष, सर्वांग व जानुशिरासन	खाँसी व श्वास रोग नहीं रहते।
२४- सर्वांग, जानुशिरासन व पश्चिमोत्तानासन	कमर दर्द जाता रहता है।
२५- शीर्ष, चक्र सर्वांग, वृश्चिक व मत्स्येन्द्रासन	ताप, तिल्ली ठीक होती है।
२६- शीर्ष, ऊर्ध्व, सर्वांग, पश्चिमोत्तान व जानुशिरासन	जोड़ व घुटनों का दर्द जाता रहता है।

नोट-- इन आसनों के साथ प्राणायाम, जप भी करना चाहिए। शीघ्र लाभ न हो तो घबड़ाना न चाहिए और विश्वास व दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते रहना चाहिए। यदि नियमानुसार करने पर भी कोई विपरीत प्रभाव होता हो तो उस आसन को छोड़कर दूसरा करना चाहिए। मासिक धर्म व गर्भ के समय स्त्रियों को अभ्यास स्थगित कर देना चाहिए।

जिस प्रकार प्रणायाम का अभ्यास आरम्भ करने के पहले आसन सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है, उसी प्रकार मुद्राओं व बंधों का अभ्यास कर लेना भी अनिवार्य है।

मुद्राएँ

तान्त्रिक साधना में मुद्रा सबसे श्रेष्ठ है। मुद्राएँ, आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान आदि सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं। मुद्राओं की सहायता से साधक सर्व शक्तिवान् होकर शिव की पदवी प्राप्त कर सकता है।

घेरंड, शिव व दत्तात्रेय आदि संहिताओं में मुद्राओं का वर्णन है, परन्तु उनको किसी अनुभवी गुरु से ही सीखना चाहिये। गुरु व महान् पुरुष की कृपा से आसन, मुद्राएँ व प्राणायाम आदि सहज ही में आ जाता है।

घेरंड, संहिता के अनुसार आगे लिखे अनुसार २५ प्रकार की मुद्राएँ हैं।

(१) महामुद्रा(२) नभोमुद्रा(३)महाबंध (४)महावेध (५)खेचरी (६) विपरीत करणी(७)योनि (८)बज्रोली (९)शक्ति चालनी (१०) ताड़गी (११)मांडवी (१२)शाम्भवी(१३)अधोधारणा(१४)आम्भसी धारणा (१५)वैश्वानरी धारणा (१६)वायवी धारणा(१७)नभो धारणा (१८)अश्विनी (१९) पाशिनी (२०) काकी (२१) मातंगी (२२) भुर्जंगिनी (२३) मूलबंध (२४) उड्डियानबंध (२५)जालंधर बंध।

शिव संहिता के अनुसार आगे लिखी हुई दस प्रकार की मुद्राएँ हैं।

(१)महामुद्रा (२)महाबंध (३) महाभेद (४)विपरीत करणी (५) बज्रोली (६) शक्ति चालन (७) खेचरी (८) मूलबंध (९) उड्डियान बधं (१०)जालंधर बंध।

उपर्युक्त मुद्राओं के अलावा योनि, शाम्भवी, योग, अगोचरी, भूचरी, चाचरी व ज्ञान मुद्रा व षड्मुखी मुद्रा का विवरण भी आगे दिया जा रहा है।

इन सब मुद्राओं का एक मात्र आधार कुण्डलिनी शक्ति है सुषम्ना

मुख से इस शक्ति के जाग्रत होने पर षट्चक्रों-ग्रन्थियों का भेद हो जाता है और सुषुम्ना के मार्ग से प्राणवायु सुखपूर्वक आने जाने लगती हैं। बिना किसी अवलम्ब के चित्त स्थिर हो जाने पर काल को वंचित किया जा सकता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अतएव चित्त शक्ति को स्थिर करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करने की विशेष आवश्यकता है उनके अभ्यास से शीघ्र ही समाधि प्राप्त होती है व जरा अवस्था दूर रहती है। ये मुद्राएँ सिद्धों व योगियों को बड़ी प्रिय हैं।

यहाँ पर विस्तार भय से पूर्व लिखित सब मुद्राओं का लिखना कठिन है अतएव योगी व सिद्ध लोग जिन मुद्राओं का अधिकतर अभ्यास करते हैं उनमें से कुछ विशेष मुद्राओं का विवरण आगे दिया जाता है।

महामुद्रा, महाबंध और शक्ति चालनी मुद्रा करने से अर्थात् गुदाद्वार और मूत्रद्वार के बीच में दो अंगुल मध्यस्थान को एड़ी से दबाने से प्राण वायु व कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) महामुद्रा

(१) बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में सीवन पर अच्छी तरह दबाकर रखें और दाहिने पैर को पूरा फैला कर उसके अँगूठे को ज़ोर से दोनों हाथों से पकड़े। नवों द्वारों को संयम करने के पश्चात् पूरक,जालंधर व उड्डियान बंध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक कर दे। देखने में यह जानुशिरासन की तरह मालूम होती है।

प्राणायाम की जितनी संख्या दाहिना पैर फैलाकर करे उतनी ही व उसी तरह बायाँ पैर फैलाकर करे। दृष्टि भ्रूमध्य में रखें।

इसके करने से बड़े-बड़े कष्ट दूर हो जाते हैं किसी तरह के रोग नहीं होते। क्षय, बवासीर, प्लीहा,अपच,कुष्ठ व मलावरोध नष्ट होकर

आयु बढ़ती है,बुढ़ापे का आक्रमण नहीं हो पाता तथा शरीर पर लावण्य आ जाता है। मनोवांछित फल व सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इसका अभ्यास बहुत गुप्त रूप से करना चाहिए।

(२) बाएँ पैर की एड़ी सीवन (गुदा व अंडकोष के मध्य) में लगाकर दाहिना पैर लम्बा करके और दोनों हाथ, एक नासिका के ऊपर दूसरा घुटने के पास रखकर दोनों नासिकाओं से पाँच घर्षण करे। फिर बायीं नासिका से पूरक करे, कुंभक के समय लम्बे किए हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़े रहें और सिर को घुटने पर लगाने का प्रयत्न करे तथा मन में यह भावना करे कि मेरी कुंडलिनी शक्ति जागृत हो रही है और मैं इसे ब्रह्मरंध्र में ले जाता हूँ। यथाशक्ति कुम्भक करके नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। इस प्रकार बायीं अङ्ग से जितनी मुद्रा करने का विचार हो, इकट्ठी कर लें, फिर दाहिने पैर से भी विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्रा करे जितनी बाएँ से की थी, परन्तु दाहिने अङ्ग में पूरक दाहिनी नाक से और रेचक बायीं से करे तथा दाहिने पैर की एड़ी सीवन में लगाई जाय। यह मुद्रा कपिल मुनि ने की थी।

इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता (सूक्ष्म अहंकार),राग द्वेष, अभिनिवेष (मरणभय) यह पंच क्लेश, क्षय, गुल्म, भगन्दर,प्रमेह और कोढ़ का नाश होता है तथा अष्ट प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(२) महाबंध

(१) सिद्धासन से बैठकर मूलबन्ध को बराबर दृढ़ता से लगाकर दोनों हाथ चूतडों के पास रखकर पाँच घर्षण करें, फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे। कुम्भक के समय "मैं कुंडलियनी को जागृत करता हूँ" ऐसी भावना करे और स्थिरासन सहित ऊपर उठ उठकर कंद स्थान को रगड़े। यथाशक्ति कुम्भक करके नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे रेचक करे।

(२) पद्मासन से बैठकर बायीं नाक से पाँच घर्षण करे। फिर उसी नाक से पूरक करे। कुम्भक के समय लोलासन से स्थित हो और यह भावना करे कि "मैं कुंडलिनी को जागृत कर रहा हूँ" यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नाक से धीरे-धीरे रेचक करे। इस प्रकार बाएँ अङ्ग में भी जितनी मुद्राएँ करनी हो उतनी करके दाहिने अङ्ग में उसके विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्राएँ करें ।

(३) बाएँ पैर की एड़ी से गुदा और अंडकोष के बीच का भाग कसकर दबाए और बायीं जाँघ पर दाहिना पैर रखकर रीढ़ को सीधा करके बैठे, फिर गुदा को सिकोड़ते हुए पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और अन्त में जालंधर बंध करके ठोड़ी को छाती में लगा दे व योनि स्थान (सीवन) का आकुंचन कर मन को सुषुम्ना में प्रविष्ट करे और यह भावना करे कि मैं कुंडलिनी शक्ति को जागृत करके ब्रह्मरन्ध्र में ले जा रहा हूँ। यथा-शक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक करे। कुम्भक के समय दोनों हाथों को तान कर दाहिने पैर के घुटने को पकड़े रहे और फिर दाहिने पैर की एड़ी सीवन पर लगाकर बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखकर पहले की तरह फिर प्राणायाम करे व कुम्भक के समय दोनों हाथों को फैलाकर बाएँ पैर के घुटने को पकड़े रहे। दोनों अभ्यासों की संख्या बराबर रहे। इस अभ्यास से इड़ा व पिंगला का संगम भ्रूमध्य से होता है जहाँ से ब्रह्मरंध्र की राह गई है। इसका भी महामुद्रा जैसा फल होता है।

योगी लोग साधारणतया महामुद्रा, महाबंध व महावेध करते हैं। इन तीनों का अच्छा मेल है। इन तीनों के अभ्यास से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

(३) महावेध

इसका अभ्यास करते समय दोनों तरफ़ हथेलियों को अपने दोनों तरफ़ पृथ्वी पर जमा दे और फिर धीरे-धीरे चूतड़ों को ऊपर उठावे। इस तरह धीरे-धीरे उठाने से प्राणवायु इड़ा व पिंगला छोड़कर सुषुम्ना में प्रवेश करने लगेगा। महावेध किए बिना महामुद्रा और महाबंध करना निष्फल है। इसको प्रहर-प्रहर में करना उचित है। इसके अभ्यास से वायु ताड़न के कारण छहों चक्रों के मध्य में रहने वाले देवता काँप उठते हैं। और कुण्डलिनी के लिए राह खुल जाती है जिससे वह ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करने लगती है।

इस मुद्रा से खाल का सिकुड़ना, बालों की सफ़ेदी व सिर का हिलना तथा पाप नष्ट हो जाते हैं।

(४) विपरीतकरणी

(१) पृथ्वी पर चित लेटकर पीठ (कंधों की तरफ़) का कुछ हिस्सा व सिर पृथ्वी पर रखकर शेष धड़ सीधा ऊपर को उठावे और नितम्बों को हाथों से साधे, यह सर्वांगासन की तरह ही है। अन्तर यह है कि इसमें नितम्ब साधे जाते हैं सर्वांग में कमर। इसका अभ्यास प्रातःकाल करे।

इसके अभ्यास करने पर दूध का सेवन अच्छी तरह करे। इससे जठराग्नि तीव्र व जरा और मृत्यु दूर रहते हैं। एक मिनिट से आरम्भ कर धीरे-धीरे तीन घंटे तक बढ़ाइए।

(२) दोनों पैरों को लम्बे फैलाकर हाथों को घुटनों पर रख कर पाँच घर्षण करे। फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भक के समय महाबंध में बतलाई हुई भावना करे। फिर पूर्व स्थिति में आकर नासिका के दोनों छिद्रों से

धीरे-धीरे रेचक करे।

नाभि के मूल में सूर्य नाड़ी है और तालु के मध्य में चन्द्र नाडी है। सहस्रार कमल से निकली हुई अमृतधारा का नाभि स्थिति सूर्य नाड़ी पान किया करती हैं। इसी से मनुष्य को मृत्यु के वश में होना पड़ता है। यदि तालु के मूल में स्थित चन्द्र नाड़ी के द्वारा योगी उस सुधा धारा को पी सके तो उसे मृत्यु के वश में नहीं होना पड़ता। अतएव योग के द्वारा सूर्य नाड़ी को ऊपर और चन्द्र को नीचे ले आना चाहिए। इसका उपाय यह है कि मस्तक को पृथ्वी पर रखकर दोनों हाथ उसके नीचे दोनों ओर लगा दे और दोनों पैरों को सीधे ऊपर उठाकर कुम्भक करे।

इस मुद्रा को प्रथम प्रत्येक सीढ़ी पर दो-दो सेकिण्ड ठहरते हुए करे। पश्चात् पूर्ण मुद्रा को दो बार आरम्भ करके प्रत्येक पक्ष में एक-एक बढ़ाते हुए पाँच बार तक ले जावे तथा प्रत्येक बार दस सेकिण्ड तक स्थिर रखे।

छः मास में चेहरे की झुर्रियाँ व सफ़ेद बालों का लोप हो जायेगा। मृत्युजंय देर तक अभ्यास करने के बाद हल्का नाश्ता या दूध पीना चाहिए।

(५) बज्रोली

योग शास्त्र में यह मुद्रा अत्यन्त कठिन मानी जाती है। जो इसे जानता है वह अन्य यौगिक क्रियाओं के बिना किये ही अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है।

अभ्यासी पहले मूत्रेन्द्रिय में एक चाँदी की नली डालकर उसके द्वारा पहले पानी भीतर की ओर बारह इंच तक चढ़ाते हैं फिर दूध, तेल व शहद और अन्त में पारा चढ़ाते हैं। पश्चात् बिना नली के ही यह पदार्थ चढ़ाये जाते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह क्रिया बड़ी ही सहायक व लाभदायक है। पहले दिन नली को केवल एक इंच

ही भीतर चढ़ाना चाहिए, एक इंच के डालने में सरलता व अभ्यास होने पर दो इंच, फिर तीन इंच, इसी प्रकार क्रमशः बारह इंच तक भीतर ले जाने का अभ्यास करना चाहिये।

जो इस क्रिया को करता है उसका एक बूंद भी वीर्य बाहर नहीं जा सकता। यदि बाहर जावे भी तो वह इस मुद्रा से उसे भीतर ही रख सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींचकर उसे सुरक्षित रख सकता है। वह मृत्यु पर विजयी हो सकता है। उसके शरीर से सुगंध निकलती है।

भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे। यही कारण है कि गोपियों के बीच रहने पर भी वे नित्य ब्रह्मचारी कहे जाते हैं।

यह हठयोग की एक आवश्यक यौगिक क्रिया है। इसमें सफलता प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इस क्रिया के जानने वाले योगी बहुत कम मिलेंगे। इसका अभ्यास जानकार गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए।

(६) शक्ति चालन

(१) एकांत कमरे में सिद्धासन से बैठे-बैठे बलपूर्वक पूरक द्वारा वायु खींचे और उसे अपान वायु में मिला दे। जब तक वायु सुषुम्ना में प्रवेश न करे मूलबंध किए रहे। वायु को रोके रहने से कुण्डलिनी दम घुटने का अनुभव कर जागृत होती है और सुषुम्ना द्वारा ब्रह्मरंध में पहुँचती है।

(२) सिद्धासन से बैठे व टखने के पास पैर को पकड़े और पैर से धीरे-धीरे नितम्ब को पीटे, परन्तु यह ताड़न क्रिया है। इस साधन से भी कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसके अभ्यास से साधक सिद्ध हो जाता है।

यह बज्रोली मुद्राएँ अत्यन्त गोपनीय और सर्व साधारण के लिए ज्ञातव्य भी नहीं है। इसलिए केवल किताबों में पढ़कर ही कोई इनको

न करे बल्कि किसी अनुभवी गुरु के तत्वावधान में उनके आदेशानुसार ही करे।

पतंजलि योग दर्शन के पढ़ने से योग सम्बन्धी बहुत-सी बातों का ज्ञान हो सकता है।

(७) खेचरी

जीभ को उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करके भ्रूमध्य में स्थिर करे। कपाल कुहर में जब जीभ लगने लगे तब पहले नमकीन फिर मिर्च, खट्टा, दूध का, शहद का पश्चात् घी का स्वाद मालूम होता है। घी का स्वाद मालूम होने पर इस मुद्रा का सिद्ध हुआ समझना चाहिए। दोहन से जब जीभ इतनी लम्बी हो जाय कि नासाग्र को छूने लगे तब उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कर सकती है।

जीभ के निचले भाग में जिह्वामूल और जीभ के साथ जो नाड़ी जुड़ी है उसे काटकर जीभ के उस निचले भाग पर, जीभ के अग्रभाग को सदा चलाते रहना चाहिए और मक्खन से जीभ को दोहन करके लोहे की शलाका से उसे खींचना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से जीभ लम्बी हो जाती है। जीभ को इतनी लम्बी कर लेना चाहिए कि वह भौहों के बीच के स्थान को छूने लगे। जीभ को क्रम-क्रम से तालु के बीच में ले जाना चाहिए। तालु के बीच में जो गड्ढा है जिसे कपाल कुहर कहते हैं उसमें जीभ को ऊपर की ओर उल्टाकर घुसा देना चाहिए और दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि जमाना चाहिए।

'ख' का अर्थ है आकाश और 'चर' का अर्थ है चलना। योगी आकाश में चलता है। इसलिए इसे खेचरी कहते हैं। गुरु की संरक्षता में ही इसका अभ्यास करना चाहिए। इस मुद्रा व योग गुटिका द्वारा मनुष्य हवा में उड़कर कहीं भी जा सकता है।

इस मुद्रा द्वारा ब्रह्मरंध्र से बहने वाली सोमधारा को पान करने से

अमृत समान नशा होता है। सिर घूमता है, नेत्र स्वयं अधमुन्दे और स्थिर रहते हैं व भूख-प्यास जाती रहती है तब यह मुद्रा सिद्ध होती है। इसके साधन से ब्रह्मरंध्र से सोमधारा झरती है वह साधक के सारे शरीर को अमृत से प्लावित करती है। इससे साधक शिथिलता, जरा आदि से रहित होकर दृढ़काय, पराक्रमी व कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है। नाना रसों के स्वाद मिलते हैं। दूध का स्वाद अनुभूत होने पर रोग नष्ट हो जाते हैं और घी का स्वाद मिलने पर अमरत्व प्राप्त होने लगता है।

वास्तविक रूप में इस मुद्रा के साधन से साधक सब रोगों से मुक्त हो जाता है। क्षीणता, तन्द्रा, भूख, प्यास व मूर्च्छा के आक्रमण नहीं होते ओर न किसी कर्म-बंधन में फँसने पाता है तथा न काल का भय ही सताता है। काया-सिद्धि प्राप्त होती है। यह सब मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं। राजा भर्तृहरि इसे बड़ी कुशलता से करते थे।

खेचरी सिद्ध करने के लिए जिह्वा छेद बतलाया गया है। छेदन के पश्चात् दोहन है। जिह्वा तीन प्रकार की होती हैं।(१) नाग, (२) हस्ति (३) धेनु जिह्वा। नाग जिह्वा स्वत: लम्बी होती है। शेष दोनों छेदन योग्य होती हैं। जिनकी जिह्वा नासिका अग्रभाग में लग जाती है, उनको छेदन की आवश्यकता नहीं, केवल दोहन की है। दोहन के लिये पहले बच (उग्रगंधा) के चर्ण से जिह्व को मलना पड़ता है। इससे कफ़ादि दोष नष्ट हो जाते हैं। बहेड़ा चूर्ण से दोहन करे और सेंधा नमक से जिह्वा का छिदा भाग घिसे। छेदन गुरु के समीप रहकर ही करे। डाक्टर द्वारा छेदन कराने से वाचा शक्ति नष्ट हो जाती है। खेचरी सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम करके खेचरी करे। इसका अभ्यास होने पर प्राण शक्ति सिद्ध करने के लिए शक्ति चालनी मुद्रा बतलाई है। इस मुद्रा से कुण्डलिनी मणिपुर चक्र तक आती है। बाद में जालंधर बंध से रुद्र ग्रंथि का भेदन होता है और प्राण शक्ति उड्डियान बंध के सहारे विशुद्ध

चक्र से मणिपुर चक्र तक आकर कुंडलिनी को ऊपर ले जाती है। इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्र से ललना चक्र मनश्चक्र और सोमचक्र से होकर सहस्त्रार में पहुँचती है।

गुरु जीभ की निचली संयोजक शिरा को तेज चाकू से प्रति सप्ताह थोड़ा-थोड़ा काट देगा। नमक व हल्दी का चूर्ण छिड़क देने से कटे हुये किनारे फिर नहीं जुडेंगे। जीभ ताज़े मक्खन से रगड़े और बाहर निकाले, उँगलियों से पकड़कर इधर-उधर हिलावे। जिस प्रकार ग्वाला गाय के थन को दुहता है उसी प्रकार जीभ को पकड़कर दुहो। सप्ताह में एक बार जीभ के निचले सिरे को काटते जाने का क्रम छः मास तक नियमित रूप से जारी रखना चाहिए इस प्रकार जीभ ललाट तक पहुँचने लगेंगी। यह प्रारंभिक अंश है।

(८) योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर दोनों अँगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुँह बन्द कर लेना चाहिए। काफ़ी मुद्रा के द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिला देना चाहिए। देहस्थित छहों चक्रों का ध्यान करके 'हुं' और 'हंस' इन दो मंत्रों के द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी देवी को जगाना चाहिए और जीवात्मा के साथ मुक्त कुंडलिनी शक्ति को सहस्त्रदल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं स्वयम् शक्तिमय होकर शिवजी के साथ नाना प्रकार के विहार कर रहा हूँ। फिर दृढ़ चित्त से ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिवशक्ति के संयोग से आनन्द स्वरूप होकर मैं ही ब्रह्म स्वरूप में स्थित हूँ। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ व गोपनीय है। इसके साधन करने से सिद्धि-प्राप्त व समाधि लगने लगती है। इसके अभ्यास के समय बहुत ही

सावधानी रखे व पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहे ।

(९) शाम्भवी मुद्रा

(१) मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके दृष्टि को सम स्थल में अधिक से अधिक दो हाथ और कम से कम एक बालिस्त के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में केन्द्रित रखकर स्थिर करना,अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते व काम करते समय अपने में अपना लक्ष्य रखकर अलक्ष्य का लक्ष्य करना। परा का स्फुरण यशवंती बनकर मध्यमा वैखरी के अर्थ शब्दों की एकता करता है या नहीं इसी का निरीक्षण करना ही अन्तर लक्ष्य है। इसी मुद्रा के करने के कारण शिवजी का नाम शाम्भवी पड़ा।

(२) नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाना चाहिए। इसका यह भाव है कि यदि साधक नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा और सर्वथा बंद रखने पर आलस्य से चित्त का लय होगा। अतएव भृकुटी के मध्य (अन्तर तत्त्व) में लक्ष्य रखें। अर्थात् नेत्रों को किंचित् खुला रखे जिससे चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहे। दृष्टि बाहर की ओर अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं किन्तु बाह्य पदार्थ दिखाई नहीं देते। यह सम्पूर्ण शास्त्रों में गुप्त 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।

(३) दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि जमाकर स्थिर मन से ध्यान के द्वारा परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। यह मुद्रा सभी तंत्रों में गोपनीय है। जिसको इस मुद्रा का पूर्णरूप से साधन हो जाता है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। महादेव जी ने इस बात को तीन बार सत्य कहकर निरूपण किया है।

(१०) योगमुद्रा

पद्मासन से बैठकर हथेलियों को एड़ियों पर रखिए। धीरे-धीरे साँस बाहर निकालकर व आगे झुककर माथे को ज़मीन से लगाइए।

यदि अधिक समय तक अभ्यास करना हो तो साधारण ढंग से व पहली अवस्था में आकर साँस ले। हाथों को एड़ियों पर न रखकर पीठ पर भी रखा जा सकता है। बायीं कलाई को दाहिनी कलाई से पकड़े। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं।

(११) अगोचरी

नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़ता पूर्वक स्थित करने को अगोचरी मुद्रा कहते हैं।

(१२)भूचरी

नासिका के अग्रभाग से चार अँगुल दूर आकाश में मन को पूर्ण रूप से स्थिर करने को भूचरी मुद्रा कहते हैं।

(१३) चाचरी

आज्ञाचक्र में मन को स्थिर करना। पक्षान्तर में इसे चाचरी मुद्रा भी कहते हैं।

(१४) ज्ञानमुद्रा

पद्म-सिद्ध अथवा अन्य किसी ऐसे ही आसन से बैठकर दोनों हाथों के पंजे घुटनों पर खोलकर रखे फिर तर्जनी अँगुलियों को अँगूठों के बीच में इस तरह लगावे कि गोल छल्ला सा बन जावे। इस मुद्रा से ध्यान जमता है।

(१५) षड्मुखी मुद्रा

अँगूठों से दोनों कान बंद करना, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिका से नासारंध्र को बन्द करके ध्यान लगाने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

जिनको कब्ज रहता हो उनको योग मुद्रा बहुत देर तक नहीं करनी चाहिए। हृदय की साधारण निर्बलता वालों को उड्डियान व कपालभाति नहीं करना चाहिए तथा जिनके फेफड़े कमज़ोर हों उनको कपालभाति, भस्त्रिका व उज्जाई कुम्भक करना उचित नहीं, किन्तु केवल रेचक व पूरक उज्जाई करने में हानि नहीं।

उड्डियान, कपालभाति, भस्त्रिका और उज्जाई प्रातःकाल करना चाहिए । कपालभाति, भस्त्रिका व उज्जाई करने के पहले शौच हो लेना चाहिए। इसका अभ्यास पद्म व सिद्धासन से सुगमता से होता है। कपालभाति व भस्त्रिका के लिए तो पद्मासन ही अधिक लाभदायक है।

योगमुद्रा, उज्जाई व कपालभाति शाम को भी की जा सकती है।

प्राणायाम में पूर्ण सफलता बंधों की सहायता के बिना नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव पहले उनका अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। बिना बंध के प्राणायाम कदापि न करना चाहिए अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावना रहती है।

बंध तीन प्रकार के होते हैं। (१) मूलबंध (२) जालंधर बंध (३) उड्डियान बंध।

मूलबंध आरम्भ से अन्त तक रहता है। शेष दोनों समयानुसार खोले व बंद किए जाते हैं। प्रत्येक प्रकार पूरक, कुम्भक व रेचक के साथ दो बंध रहते हैं। पूरक के साथ मूलबंध, कुम्भक के साथ मूल व जालंधर ओर रेचक के समय मूल व उड्डियान बंध अवश्य लगाए रहना चाहिए। पूरक समाप्त करते ही कुम्भक के साथ-साथ जालंधर बंध व रेचक के साथ ही उड्डियान बंध लगाना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) मूलबंध

गुदा को दृढ़तापूर्वक ऊपर को सिकोड़कर व अपान वायु को ऊपर

खींचने को मूलबंध कहते हैं। प्राणायाम के समय मूलबंध आरम्भ से अन्त तक दृढ़तापूर्वक लगा रहना चाहिए। इस बंध के दृढ़ होने से मलमूत्र का त्याग नियमित रूप से होगा। मलावरोध न होगा। रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनने से नाद खुल जावेंगे। कुण्डलिनी जाग्रत होगी। इसके दृढ़ न होने से फुफ्फुस निर्बल हो जावेंगे। मलावरोध होकर मल बकरी की मेंगनी सा हो जायेगा।

इस बंध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की रक्षा व धातु पुष्ट होती है। कोष्ठ बद्धता दूर होकर जठराग्नि बढ़ती है। वृद्ध लोगों को भी युवा अवस्था प्राप्त होती है। बाल कभी सफ़ेद नहीं होते। जिसने इसे पक्का कर लिया उसके सब विघ्न मिट जाते हैं।

अपान वायु जो मल को बाहर लाती है उसका नीचे की ओर जाने का स्वभाव होता है। इसके अभ्यास में गुदा के सिकोड़ने ओर अपान वायु के बलपूर्वक ऊपर खींचने से वह ऊपर की ओर जाती है। प्राण वायु का अपान वायु से संयोग होकर संयुक्त अपान व प्राण वायु को सुषुम्ना नाड़ी में ले जाती है। तब योगी को योग में पूर्णता प्राप्त होती है। यह योग का एक महत्वपूर्ण रहस्य है। उस अवस्था में योगी संसार के लिए मृतवत् होकर अमरत्व प्राप्त करता है। वह सहस्रार में शिव पद और सभी दैवी विभूतियाँ तथा ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

अपान का प्राण से संयोग होने पर अनहद व अन्य अनेक नाद स्पष्ट सुनाई देते हैं। समाधि लग जाती है तथा प्राण, अपान, नाद व बिन्दु का संयोग हो जाता है और योगी को योग में पूर्णता प्राप्त हो जाती है। अग्नि की दीप्ति से मल-मूत्र कम हो जाता है।

(२) जालंधर बंध

गले को आगे झुकाकर ठुड्डी को छाती से कंठकूप की जगह दृढ़तापूर्वक लगाने को ही जालंधर बंध कहते है वायु की उर्ध्वगति को रोकना इस बंध का काम है। इससे सोलह आधारों का बंधन होता है।

इस बंध को भी पूरक के अन्त व कुम्भक के पहले किया जाता है। उक्त क्रिया द्वारा प्राण ब्रह्म नाड़ी से होकर जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। सरस्वती नाड़ी को जाग्रत करके प्राण को वश में कर लेना चाहिए। पहले दिन चार बार, दूसरे दिन दस बार और फिर पाँच बार अतिरिक्त कुम्भक करे। तीसरे दिन बीस बार करना पर्याप्त होगा। इसके उपरांत फिर अन्य बंधों के साथ प्रतिदिन पाँच बार बढ़ाते हुए करे।

इस बंध के अभ्यास से प्राण की गति ठीक मार्ग से होती है। उसका अपान से संयोग हो जाता है। इड़ा पिंगला नाड़ी बन्द हो जाती है। जठराग्नि जिसका निवास नाभि प्रदेश है, उस अमृत का पान करती है जो तालुरंध्र द्वारा सहस्रार के बाहर स्रवित होता है। इस प्रकार नष्ट होते हुए अमृत को रोकने के लिए योगी को इस बंध का अभ्यास करना चाहिए। इससे योगी अमृत का पान करता हुआ अमरत्व प्राप्त करता है। जालंधर बंध और महामुद्रा यह दोनों मृत्यु को हटाने वाले हैं।

पूरक के पश्चात् तुरन्त ही इसे लगाना चाहिए। इससे दृढ़ होने से कुम्भक के समय फुप्फुसों में से वायु उछलकर घण्टिका के ऊपर के भाग में आघात नहीं करती। इस बंध से शरीर के समस्त ज्ञानतन्तु बलवान् होते हैं। क्योंकि उस बंध(विशुद्ध चक्र) का सम्बन्ध पादांगुष्ठ, गुल्फ, जानु (घुटने), उरू(जँघा), सीवनी, नाभि,हृदय, ग्रीवा, विशुद्ध चक्र के नीचे का भाग,कंठदेश (विशुद्ध चक्र के ऊपर का भाग) लम्बिका (घण्टिका),नासिका, भ्रू, कपाल, मूर्द्धा (कान के पीछे का भाग) और ब्रह्मरंध्र इन सोलह आधारों से है। प्राणायाम के समय मस्तिष्क को वायु के आधातों से बचाना इसी बंध पर निर्भर करता है। उसके दृढ़ होने से मस्तिष्क व समस्त ज्ञानतन्तु का रक्षण होता है। इसके दूषित होने से नासिका, नेत्र, मस्तिष्क और कंठ स्थान में विकार व प्रकोपजन्य व्याधि भी हो जाती है।

(३) उड्डियान बंध

पेट को नाभि के नीचे और ऊपर के भाग को रीढ़ अर्थात् मेरुदंड की तरफ़ बलपूर्वक खींचने व ढीला छोड़ देने को उड्डियान बंध कहते हैं। इस बंध को दिन में चार बार करने से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाभि चक्र तथा सब नाड़ियाँ शुद्ध रहती हैं। यह क्रिया बैठे-बैठे, घुटनों पर हाथ रखकर खड़े-खड़े व दीवार के सहारे की जाती है।

प्राणायाम करते समय कुम्भक के बाद रेचक करते समय उड्डियान बंध खोल देना चाहिए।

उड्डियान बैठकर

पद्मासन से बैठकर हाथ घुटनों पर रखे तथा कुछ आगे झुक कर व पेट को आगे की तरफ़ सिकोड़कर तथा ज़ोर से रेचक करके पेट बिलकुल खाली करने के पश्चात् कुम्भक करे। उसके उपरान्त साँस न लेते हुए अन्दर लेने के समान ही पसलियों को ऊपर उठावें और पेट की नसों को ढीला छोड़ दे। आँतों और नाभि को सिकोड़ कर पीछे की तरफ़ खींचने से पेट ऊपर की ओर उठकर पीठ से सट जाएगा। इस प्रकार पेट पाँच की संख्या की तरह अन्दर-अन्दर की ओर सिकुड़ कर गोलाकर हो जाएगा। अर्थात् नाभि पीछे खिंचकर मेरुदंड से मिल जायगी, इससे फुफ्फुस बलवान् होते हैं।

खड़े होकर

दोनों पैरों के बीच में कुछ अन्तर छोड़ते हुए खड़े होकर कुछ आगे झुकिए व घुटनों को मोड़िए तथा हाथ जाँघों या घुटनों पर रखे व पेट की नसों को पूरी तौर पर अन्दर की तरफ़ सिकोड़ कर पूर्ण रेचक करिए और बाह्य कुम्भक करके साँस बाहर ही रोकिए। जिस प्रकार पूरक करते समय पसलियाँ ऊपर उठती है व पेट की नसें शिथिल

हो जाती हैं उसी तरह साँस अन्दर न लेते हुए पसलियों को ऊपर उठाइए व पेट की नसों को ढीला छोड़ दीजिए। इस प्रकार पेट अन्दर की तरफ़ सिकुड़कर गोलाकार हो जाएगा।

उड्डियान बंध का निरंतर अभ्यास करने से अभ्यासी युवा होकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सभी बंध कुंडलिनी जागृत करते हैं। यह बंध कुंभक के अन्त और रेचक के आरम्भ में किया जाता है, क्योंकि प्राण इस बंध में उड्डियान करता हुआ उड़कर सुषुम्ना में पहुँचता है। यह मानव जाति के लिए एक बहुत ही उत्तम (सुखप्रद) क्रिया है। इसके अभ्यास से सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, बल और जीवन शक्ति प्राप्त होती है। जब इसका नौली क्रिया से संयोग हो जाता है जिसमें पेट को मथा जाता है तो यह पेट और आँतों को मुलायम करने मे बहुत ही उपयोगी होता है। पाचन प्रणाली के आमाशय रस और आँतों के विकारों व दुर्बलता, कोष्ठबद्धता दूर करने के लिए योगियों के पास यह दो बड़े शक्तिशाली अस्त्र हैं। इन दो अभ्यासों द्वारा ही पेट के सम्पूर्ण आंतरिक यंत्रों की मालिश व पुष्टि होकर सब विकार दूर हो जाते हैं।

जो लोग नौली का अभ्यास करना चाहें उनको आरम्भ में इस बंध का अभ्यास करना चाहिए। पेट के पूर्व व पश्चात् व्यायामों में इस बंध व नौली का मुक़ाबला कोई भी व्यायाम नहीं कर सकता।

अपान वायु जिसकी स्वाभाविक गति नीचे की ओर रहती है, शरीर को नीचे झुकाकर उर्ध्वगति कर दी जाती है, ऐसा करने पर जब अपान वायु अग्नि स्थान में पहुँचता है तो अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, पश्चात् अग्नि और अपान का प्राण की उष्णावस्था से मेल हो जाता है। इस अग्नि से एक प्रकार की ज्वाला निकलती है जो सुषुम्ना व कुंडलिनी को जगा देती है। उस समय कुंडलिनी चोट खाये हुए सर्प की भाँति फुफकार मारती हुई ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्ना) के रंध्र में प्रवेश करती है।

पूर्व लिखे अभ्यास के पश्चात् बज्रासन में बैठकर तथा दोनों पैर के अँगूठों को पकड़कर सरस्वती नाड़ी की गति को धीरे-धीरे पहले हृदय तब गर्दन की ओर ले जाना चाहिए। सरस्वती नाड़ी का स्थान पेट के पश्चिमी भाग में नाभि के ऊपर है। जब प्राण नाभि के संधि स्थान पर पहुँचता है तब वह नाभि सम्बन्धी सभी रोगों को दूर कर देता है। अतएव इस बंध का पूरा अभ्यास व उपयोग किया जाना चाहिए, इसे प्राणायाम के समय के सिवाय साधारणतया भी करना चाहिए। इससे त्रिधातु से उत्पन्न होने वाले सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसे शास्त्रकारों ने "मृत्यु मातंगकेसरी" अर्थात् मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने वाला केसरीसिंह बतलाया है। इसके दोषयुक्त होने से फुफ्फुस व आमाशय निर्बल हो जाते हैं।

❖ ❖ ❖

षट्कर्म

नाड़ी शुद्धि के उपाय

मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होने के कारण प्राणी मात्र के शरीर वात, पित्त व कफ़ इन त्रिधातुओं के नाना प्रकार के रूपान्तरों से सम्मिश्रण हैं। अतः कुछ शरीर वात प्रधान, कुछ पित्त प्रधान और कुछ कफ़ प्रधान होते हैं और आहार-विहार, देशकाल व जलवायु का उक्त धातुओं पर अच्छा बुरा प्रभाव पड़ता है। इन त्रिधातुओं से मल कुपित होने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन व्याधियों को उत्पन्न न होने देने व हो गये हों तो उनको दूर करके देह को पूर्ववत् स्वस्थ बनाने के लिए जैसे आयुर्वेदाचार्यों ने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन व बस्ति यह पंच कर्म बतलाए हैं वैसे ही हठयोग प्रवर्तक महर्षियों ने साधकों के शरीर की शुद्धि के लिए षट्कर्म निश्चित किए है। यह

सब साधकों को करना ही चाहिए ऐसा उनका आग्रह नहीं है। षट्कर्म से होने वाले लाभ प्राणायाम से भी होते हैं, अन्तर केवल समय का है। शरीर के मल को शीघ्र ही दूर करने के लिए षट्कर्मो की आवश्यकता है। समय और अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि प्राणायाम से जितने समय में मल दूर किया जाता है उससे कहीं कम समय में षट्कार्मो से किया जा सकता है। त्रिधातुओं के सम होने पर इन षट्कर्मो को करने की आवश्यकता नहीं है।

षट्कर्म की छः क्रियाएँ नित्य नहीं तो सप्ताह में एक या दो बार करने से पूर्ण शुद्धता होगी ।

षट्कर्म

(१) धौति (२) बस्ति (३) नेति (४) नैलि(५) कपाल भाति(घर्षण) व (६) त्राटक। भक्ति सागर के रचयिता श्री चरणदास जी के कपाल भाति के स्थान पर गजकर्म बतलाया है और फिर कपाल भाति, धौंकनी, वाघी और शंख परवाल को षट्कर्मो के अन्तर्गत कर दिया है।

(१) धौति

चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा साफ़ उम्दा मलमल का कपड़ा लेकर कपड़े की किनारें अच्छी तरह सिल लेना चाहिए जिससे उसके धागे इधर-उधर न निकलें। इस कपड़े को अभ्यास करते समय गर्म पानी में भिगोकर निचोड़ लेने के बाद उसे धीरे-धीरे चबाते हुए पेट के अन्दर पहुँचाकर फिर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। पहले दिन फुट भर बाद में धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। उसे निगलने के पहले काफ़ी पानी पी लेना चाहिए। आरम्भ में उबकाई आती है परन्तु दो-चार दिन बाद फिर नहीं आती। आठ-दस दिन में पूरा कपड़ा निगलने का अभ्यास हो जाता है। कम

से कम एक हाथ कपड़ा मुँह के बाहर अवश्य निकला रहना चाहिए।

सूत की चढ़ाव उतार अर्थात् क्रमशः पतली व मोटी रस्सी से भी यह क्रिया की जाती है। जैसे-जैसे उसे निगलते हैं वैसे-वैसे ही जल बाहर आने लगता है और रस्सी के अन्दर जाने में सुविधा होती है।

इस क्रिया के अभ्यास से गुल्म, उदर के रोग जैसे कुपच, पित्त की कै, घटिका, कंठ नालिका, वमन, आमाशय में शोथ, ग्रहणी अतिसार, मुँह से रक्त गिरना, कफ़, ज्वर, लम्बगो, दमा, तिल्ली, कुष्ठ, चर्म रोग व कफ़ और पित्त से उत्पन्न होने वाले रोग अच्छे होते हैं। इस क्रिया को रोज़ न करे तो कोई हानि नहीं। सप्ताह में एक दिन कर लेना यथेष्ट है। कपड़े को साबुन से धोकर बिल्कुल साफ़ कर लेना चाहिए। क्रिया के करने के बाद ही कुछ दूध पी लेना चाहिए अन्यथा बड़ी खुश्की होती है।

(२) बस्ति

बस्ति दो प्रकार की होती है (१) पवन बस्ति (२) जल बस्ति। नौलि द्वारा अपान वायु को ऊपर खींचकर पुनः मयूरासन से त्यागने को बस्ति कहते हैं। पवनबस्ति सध जाने पर जल बस्ति सुगम हो जाती है क्योंकि जल को खींचने का कारण पवन ही है। जब जल में डूबे हुये पेट से नौलि हो जाय तब नौलि से जल ऊपर खिंच जाएगा।

इस क्रिया का अभ्यास बाँस या सरकंडा की छः अँगुल लम्बी पुल्ली (जिसमें कनिष्ठिका अँगुली जा सके) अथवा बिना पुल्ली के भी हो सकता है, परन्तु पुल्ली का होना अधिक अच्छा है। साफ़ पानी से भरे हुये टब में उत्कटासन से बैठे। इस प्रकार बैठने से बदन का सारा बोझ पैरों के पंजों पर रहेगा और एड़ियों को खड़ी रखकर उन पर चूतड़ रहेंगे। पुल्ली में वैसलिन, अंडी का तेल या साबुन लगाकर गुदा के अन्दर धीरे-धीरे चार अँगुल डाले और दो अँगुल बाहर रखे तथा गुदा को सिकोड़े पानी धीरे-धीरे गुदा के अन्दर पुल्ली में से जाने लगेगा। पानी के अन्दर पहुँच जाने पर पेट को ख़ूब हिलाने के बाद पानी को बाहर निकाल दे।

इस क्रिया के करने के बाद शीघ्र ही खिचड़ी आदि हल्का भोजन कर लेना चाहिए अन्यथा हानि होने की सम्भावना रहती है। बग़ैर पुल्ली के यह क्रिया करने से भी हानि का भय रहता है। पानी के कीड़े पेट में न जा सकें इसलिये पुल्ली में नीचे की तरफ़ बारीक़ कपड़ा लगा देना चाहिए और पानी पेट से निकालते समय उस कपड़े को हटाकर खड़ा पश्चिमोत्तान आासन करना चाहिए। नदी और तालाबों में इस क्रिया के करने में कीड़ों के जाने का डर रहता है। इस क्रिया को ज्यादा ठंडे पानी में नहीं करना चाहिए। अतएव टब या किसी बड़े बर्तन में शुद्ध और सहन करने योग्य पानी में करना ही उचित होगा। इस क्रिया को करने के पहले धौति और नेति करना चाहिए इसको रोज़ाना न करें।

क्षय, संग्रहणी, भगन्दर, मलाशय, सन्तत ज्वर, मोतीझरा, श्वास प्रकोप वालों आदि को न करना चाहिए।

इस क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, मूत्ररोग, जलोदर,पाचन सम्बन्धी विकार, तिल्ली और आँतों के रोग, वायु पित्त और कफ़ के विकार, लिंग व गुदा के रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इस क्रिया को सुबह खाली पेट करना चाहिए और क्रिया के बाद एक प्याला दूध पीना या कुछ खा लेना चाहिए। योग सागर में पुराने गुड़, त्रिफला व चीते की छाल के रस से बनी गोली देकर अपान वायु को वश में करके बस्ति का अभ्यास करना चाहिए।

(३) नेति

नेति दो प्रकार की होती है। (१)जल (२) सूत्र ।

(१) **जलनेति**- पहले करना चाहिए। प्रातःकाल मुँह धोने के बाद जो साँस चलती हो (जिस नकुए से) उसी से चुल्लू में जल लेकर और दूसरा नकुआ बन्द कर जल नाक द्वारा खींचे। जल मुख में चला

जाएगा और सिर के पिछले सारे हिस्से में जहाँ मस्तिष्क का स्थान है, गुदगुदाहट, सनसनाहट आदि उत्पन्न होगी। अभ्यास बढ़ने पर यह बन्द हो जाएगी। कुछ लोग नासिका के एक छिद्र से जल खींचकर दूसरे छिद्र से निकालने की क्रिया को जल नेति कहते हैं। एक समय में आध सेर से लेकर एक सेर तक जल जो अधिक ठंडा न हो, एक नासापुट से चढ़ाकर दूसरे से निकाला जा सकता है। एक मर्तबा एक तरफ़ से तो दूसरे समय दूसरी तरफ़ से चढ़ाना चाहिए। इस क्रिया से नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। स्कूल व कालेज के विद्यार्थियों के लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्र रोग अम्ल पित्त और नये ज्वर की दशा में इसे नहीं करना चाहिए। कुछ लोग रोज़ सुबह नासापुट से जल पीते हैं। यह हितकर नहीं, क्योकि जो दोष नाक में होते हैं वह आमाशय में चले जावेंगे। अतएव ऊषापान मुँह से ही करना चाहिए। जल नेति के अभ्यास के अनन्तर सूत्र नेति करना चाहिए।

(२) **सूत्रनेति**- महीन सूत की दस पन्द्रह तार की एक हाथ लम्बी बिना बटी डोर जिसका छः सात इंच लम्बा एक सिरा बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो। पिघले हुए मोम से चिकना करके जल में भिगो लेना चाहिए। फिर स्निग्ध भाग को भी उसी रीति से कुछ मोड़कर जिस नकुए से श्वास चलती हो उस छिद्र में लगाकर ओर नाक का दूसरा छेद अँगुली से बन्द करके ख़ूब ज़ोर से बार-बार पूरक करने से सूत का भाग मुँह में आ जाता है। उसे तर्जनी और अँगूठे से पकड़कर बाहर निकाल लें। पुनःनेति को धोकर दूसरे छिद्र में डालकर मुँह में से निकालें। कुछ दिन के अभ्यास के बाद एक हाथ से सूत को मुँह से खींचकर और दूसरे नाक वाला हिस्सा पकड़कर धीर-धीरे चालन करे। इसको घर्षण नेति कहते हैं। इसी प्रकार नाक के दूसरे रंध्र से भी, जब वायु उस रंध्र से चल रहा हो, अभ्यास करें इससे भीतर लगा हुआ कफ़ पृथक् होकर नेति के साथ बाहर आ जाता है। नाक के एक छिद्र से दूसरे छिद्र में भी सूत चला जाता है। कुछ

लोग इसे दोष युक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत्र नाक के एक छिद्र से पूरक द्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुख द्वारा न कर दूसरे रंध्र द्वारा करना चाहिए। इस प्रकार सूत एक छिद्र में आ जाता है इस क्रिया के करने में किसी प्रकार का भय नहीं है। क्रिया सध जाने पर हर तीसरे दिन करना चाहिए। जल नेति रोज़ाना की जा सकती है। नेति डालने से किसी-किसी को छीकें आने लगती हैं, इसलिए एक दो सेकिण्ड ठहर कर नेति डालना चाहिए, डोर बारह अँगुल लम्बी बगैर गाँठ की होनी चाहिए।

इस क्रिया से ललाट शुद्ध होती है, दिव्य दृष्टि होती है। स्कंध, भुजा और सिर की संधि के ऊपर के सारे रोगों को नेति नष्ट करती है। कफ़ से या नेति के कारण नासिका के ऊपर के भाग में दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गौघृत दिन में दो तीन बार सूँघे।

पीलिया, कामला, अम्ल पित्त, उर्ध्व रक्त पित्त, पित्त, ज्वर, नासिका में दाह, नेत्र दाह, नेत्रों की लाली, मस्तिष्क दाह, पित्त प्रकोप जन्य रोगों में से कोई रोग हो तो नेति का अभ्यास न करें। पित्त प्रकोप के समय जल नेति का उपयोग हितकर है।

(४) नौलि

(१) पेडू की पेशियों की सहायता से उदर को मथने को नौलि कहते हैं। सिर को नीचे झुकावे, पेट के अन्दर से मुँह के द्वारा जितनी हो सके श्वास बाहर निकाल कर व उसे बाहर ही रोक कर बग़ैर शरीर हिलाए, पेट पीठ की तरफ़ अन्दर खींचे और दाहिने-बाएँ चलावे।

(२) पद्मासन,सिद्धासन अथवा उत्कटासन लगाकर जब शौचादि से निवृत्त हो जाने पर पेट हलका हो जाय तब अभ्यास आरम्भ करे। पेट की हवा मुँह के द्वारा बाहर निकाल दे और पेट को अन्दर पीठ की तरफ सटावे। ऐसा करने से पेट के बीच में दोनों तरफ़ दो नल जुटकर मूलाधार से हृदय तक खम्भे की तरह खड़े हो जाने व बंध जाने पर नौलि सुगम हो जाती है और प्रयत्न करने पर दाहिने-बाएँ

घूमने लगती है। इसी प्रकार अभ्यास करने पर नौलि सिद्ध हो जाती है। इसके आरम्भ करने के पहले पश्चिमोत्तानासन और मयूरासन का कुछ अभ्यास कर लेने से यह जल्दी सिद्ध होती है। जब तक आँत पीठ के अवयवों से भली भाँति पृथक् न हो जाय तब तक आँत उठाने की क्रिया सावधानी से करे अन्यथा आँतें निर्बल हो जाने से रोग उत्पन्न होने का भय रहता है। इस क्रिया को शांतिपूर्वक करना चाहिए।

हृदय की साधारण निर्बलता वालों को नौलि नहीं करना चाहिए।

इस क्रिया से मंदाग्नि का भली प्रकार दीपन,अन्न का पाचन होकर वातादि रोग दूर हो जाते हैं। यह हठ योग की सारी क्रियाओं में श्रेष्ठ है क्योंकि इसके हो जाने पर तीनों बंध सुगम हो जाते हैं, इसलिए प्राणायाम की यह सीढ़ी है।

आँतों में शोथ, क्षतादि दोष, पित्तप्रकोप, पेचिस, संग्रहणी आदि के रोगी को यह क्रिया हानिकारक है।

(५) कपाल भाति

(१)लोहार की भस्त्रा(भाति) के समान अत्यन्त शीघ्रता से क्रमशः रेचक पूरक प्राणायाम को शांतिपूर्वक करना कफ़-दोष का नाशक है। इसी को कपाल भाति कहते हैं। जब सुषुम्ना से अथवा फुफ्फुस से श्वास नलिका द्वारा कफ़-बार-बार ऊपर आता हो अथवा जुकाम हो गया हो तब सूत्र नेति और धौति क्रिया से इच्छित शोधन नहीं होता तब यह कपाल भाति लाभदायक है। इस क्रिया से फुफ्फुस और समस्त कफ़ वहा नाड़ियों में जमा हुआ कफ़ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेद द्वारा बाहर निकल जाता हैं। जिससे फुफ्फुस दोषों की शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होकर पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है। इस क्रिया को न तो वेग से और न शक्ति से अधिक करना चाहिए। इस क्रिया से आमाशय में जमा संगृहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष

रहा हुआ आहार रस और विकृत श्लेष्म जल में मिश्रित होकर वमन के साथ बाहर आ जाते हैं। इस क्रिया के करने वालों को भोजन में खिचड़ी या दूध भात खाना हितकर है।

अजीर्ण, धूप में भ्रमण से पित्त वृद्धि, पित्त प्रकोप अन्य रोग, जीर्ण कफ़ व्याधि, कृमि, रक्त विकार व त्वचा रोगादि को दूर करने के लिए यह क्रिया हितकारी है।

उर:क्षत, हृदय की निर्बलता, वमन रोग, उबाक, हिक्का, स्वरभंग, मन की भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, उर्ध्व रक्त पित्त, अम्ल पित्त इत्यादि दोषों में, यात्रा में जिस वक़्त वर्षा हो रही हो उस समय यह क्रिया न करे। इस क्रिया को न तो वेग से और न शक्ति से अधिक करना चाहिए।

आवश्यकता न होने पर इस क्रिया को रोज़ न करे। शरद् ऋतु में स्वाभाविक पित्त वृद्ध रहती है उस समय आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

(२) इस क्रिया से साधक भस्त्रिका प्राणायाम के लिए तैयार होता है। पद्मासन से बैठकर हाथ घुटनों पर रखे। लुहार की धौकनी की तरह पूरक और रेचक तीव्र गति से व ज़ोर से करे। इससे शरीर पसीने से तर हो जायेगा। इसमें कुम्भक नहीं है। तीव्र अनुक्रम से एक प्रश्वास के बाद दूसरा बाहर निकाला जाता है। यह शक्तिशाली अभ्यास है। इससे सभी मांस तन्तु कोष, रस, अस्थि-मास, संयोजक शिराएँ और परमाणु काँपने लगते हैं। आरम्भ में प्रति सेकिण्ड एक प्रश्वास की गति रखे और प्रात:काल दस प्रश्वास का एक चक्र करे। दूसरे सप्ताह में एक चक्र सुबह व एक शाम को करे। तीसरे सप्ताह में दो सुबह व दो शाम को, चौथे में तीन सुबह व तीन शाम को करे। एक चक्र के बाद कुछ देर विश्राम कर ले। बाद में प्रत्येक चक्र में दस प्रश्वास बढ़ाते हुए प्रत्येक चक्र में एक सौ बीस प्रश्वास फेंकने लगे।

इसका अभ्यास खोपड़ी,श्वास प्रणाली और नासिका रंध्रों को शुद्ध करता है। कफ़ के रोग दूर करता है। श्वास की नाली के मरोड़ को दूर करने से दमा अच्छा होता है। फेफड़ों की नलिकाओं में अधिक मात्रा में प्राणप्रद वायु के पहुँचने से क्षय के कीटाणु नहीं ठहर सकते, फलतः क्षय का निवारण होता है। रक्त शुद्ध व उसके विकार दूर होते हैं। हृदय ठीक काम करता है। रक्त, श्वास और पाचन प्रणालियों की अत्यधिक पुष्टि होती है।

इसको प्राणायाम का ही एक अंग समझना चाहिए।

(६) गजकर्म अथवा गजकर्णी

हाथी जैसे सूँड़ से जल खीचकर फेंक देता है, उसी तरह यह क्रिया की जाती है। इसीलिए इसे गजकर्म या गजकर्णी कहते हैं। यह क्रिया भोजन से पहले करना चाहिए। विषयुक्त या दूषित भोजन करने में आ गया हो तो बाद में भी की जा सकती है। रोज दंत धावन के बाद इच्छा भर जल पीकर मुँह में उँगली डालकर उल्टी कर दे। क्रमशः अभ्यास बढ़ जाने पर इच्छा मात्र से जल बाहर निकल आवेगा। पिये हुए जल को नौलि कर्म से भ्रमाकर बाहर निकाल देना अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आने लगे तब समझना चाहिए कि अब मैल मुँह की राह में नहीं है।

(७) त्राटक

बिना पलक गिराये छोटी-सी वस्तु या बिन्दु को एकाग्र चित्त से उस वक़्त तक देखें जब तक आँखों से आँसू न गिरने लगें। इससे आँखों के सब रोग अच्छे हो जाते हैं। मन की चंचलता नष्ट होकर शाम्भवी सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इच्छा शक्ति बढ़ती है व नेत्र रोगों का नाश होता है। शक्ति उत्पन्न होती है। सफ़ेद दीवाल या काग़ज़ पर सरसों बराबर काला चिन्ह (बिन्दु) बनाकर उसी पर दृष्टि स्थिर

करते-करते चित्त समाहित और दृष्टि शक्ति सम्पन्न होती है।

उपनिषदों में त्राटक के तीन भेद किए है (१)आन्तर(२) बाह्य (३) मध्य। हठयोग में भेद नहीं है। हृदय व भ्रूमध्य में नेत्र बन्द कर एकाग्रतापूर्वक चक्षुवृत्ति की भावना करने को 'आन्तर त्राटक' चन्द्र नक्षत्र,पर्वत शिखर व दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थित करने की क्रिया को 'बाह्य त्राटक' कहते हैं। सूर्य पर त्राटक वर्जित है। काली स्याही से सफ़ेद काग़ज़ पर लिखे ॐ, बिन्दु, किसी देव की मूर्ति, चित्र, नासिकाग्र या समीपवर्ती अन्य लक्ष्य पर दृष्टि स्थित करने को 'मध्य त्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्य की क्रिया को प्रारम्भ में अधिक न करे। त्राटक का अभ्यास करने के पहले कुछ समय तक दीप शिखा की ओर एकटक देखना चाहिए। सफ़ेद पत्थर व स्फटिक के शिवलिंग के अग्रभाग को देखने की पद्धति है। जब दृष्टि स्थिर होने लगे तब एकाग्रता के साथ नासापुट को देखना चाहिए। उससे दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है और नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़ने पर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता । त्राटक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर पहले आँखें बन्द करके ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार साधन करने पर ध्यान-सिद्ध प्राप्त होती है और इसी का दूसरा नाम ध्यान-योग है। किसी जड़ या कल्पित मूर्ति का ध्यान सिद्ध हो जाने पर फिर सच्चिदानन्द का ध्यान भी हो सकता है। निवातस्थ दीप-ज्योति की ओर त्राटक करने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

जिनका पित्त प्रधान हो, मस्तिष्क, नेत्र, नाक व हृदय में दाह रहता हो, नेत्रों में जाला, फूला या अन्य रोग हों वे केवल आन्तर त्राटक करें उनको बाह्य त्राटक से हानि होगी। जिनकी दूर की दृष्टि कमज़ोर हो, वात प्रधान हो, शुक्र की निर्बलता हो वे समीप का त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्य पर त्राटक करे। दोष रहित, त्रिधातु सम, कफ़ प्रधान, नेत्रों की ज्योति पूर्ण वाले मध्य त्राटक करें। गर्मी, सुजाक अम्ल

पित्त, जीर्ण ज्वार, विषम ज्वर, पित्ताशय आदि से पीड़ित, तम्बाकू गाँजा आदि मादक पदार्थ के व्यसनी किसी प्रकार का त्राटक न करें। मानसिक चिन्ता, क्रोध शोक, अध्ययन, सूर्यताप आँच का सेवन करने वाले भी यह अभ्यास न करें। आसनों के अभ्यास के परिपक्व काल में यह अभ्यास करना अधिक लाभदायक है। प्रातःकाल दृष्टि को धीरे-धीरे दाएँ बाएँ, नीचे व ऊपर चलाने से आँखों की नसें दृढ़ होती है। त्राटक के अभ्यास से नेत्र और दिमाग़ में उष्णता बढ़ती है। रोज़ सुबह त्रिफला के या गुलाब जल से नेत्रों को धोवे। कब्ज़ करने वाले पदार्थ न खावे। आँसू आ जाने पर फिर अभ्यास न करे। अभ्यास के लिए रात को दो बजे से पाँच बजे तक का समय उपयुक्त है। एक साल करने से साधक के संकल्प सिद्ध होने लगते हैं। दूसरे मनुष्यों के हृदय के भाव व दूर स्थान के पदार्थ तथा घटना चक्र तक का बोध होने लगता है।

नौलि मध्यम

(१) खड़े होकर आगे उड्डियान में बतलाई अवस्था में ही तत्काल जँघा स्थित के ऊपरी भाग को (पेट के निचले हिस्से को) नीचे दबा व आगे ले जाने वाला इस प्रकार का धक्का दो जिससे कि पेट के आसपास के स्नायु अन्दर सिकुड़कर मध्य के स्नायु अर्थात् नल बाहर निकल आवें इसी समय हाथों से घुटनों पर ज़ोर दे । इस तरह पेट के नल इकट्ठे होकर आसपास के स्नायुओं से अलग हुए दिखेंगे ।

(२) कमर से झुककर दोनो घुटनों पर दोनों हाथ रखें, पेट अन्दर की ओर खींच कर पीठ के नल नीचे की तरफ़ ढकेलने से पेट के नल आप ही आगे आ जाते हैं। स्थूल शरीर वालों से बिना पेट

पिचकाए यह क्रिया नहीं हो सकती। पेट पिचकाने के लिए यह उड्डियान नितांत आवश्यक है।

दक्षिण नौलि

मध्यम नौलि की अवस्था में ही सब शरीर को दाहिनी तरफ़ अधिक परिमाण में आगे फेरकर दाहिने हाथ से दाहिनी जाँघ पर अधिक ज़ोर डाले, पेट के बाएँ भाग को ढीला छोंड दे । ऐसा करने से पेट का दाहिना स्नायु अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा दाहिनी ओर के कोने में चला जायगा तथा पेट का बायाँ स्नायु अर्थात् नल ढीला पड़ जाएगा। यही दक्षिण नौलि है ।

वाम नौलि

(१) मध्यम नौलि की अवस्था ही में सारे शरीर को बायीं ओर अधिक परिणाम में आगें फेरकर बाएँ हाथ से बायीं जाँघ पर अधिक ज़ोर डाले तथा उसी समय पेट के दाहिने भाग को ढीला छोड़ दे। ऐसा करने से पेट का बायाँ नल सिकुड़कर आगे तथा बायीं तरफ़ के कोने में चला जाएगा और दाहिना नल ढीला पड़ जाएगा।

(२) दाहिनी ओर का पेट अन्दर खींचकर मध्यम व दक्षिण नौलि में बतलाई गई क्रिया के अनुसार वे ही जल दाहिनी ओर से बायीं ओर कुछ देर तक एक रंग चलावे जैसे मथानी चलाई जाती है। इसी प्रकार फिर बायीं ओर से दाहिनी ओर चलावे । जो नौलि करना जानता है उसे पेट का कोई रोग कभी नही हो सकता और जो रोग पहले ही से हो वे भी दो चार महीनों मे ही इस क्रिया से बिना औषधि के दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण अनुभविक सत्य है।

प्राणायाम क्या है ?

हमारे धर्मग्रन्थों में लिखा है कि प्राणयाम के साधक के इस जन्म

के ही क्या पूर्व जन्मों तक के पाप नष्ट हो जाते हैं । अतएव इसका अभ्यास करने के पहले यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि 'प्राणायाम' क्या है । भगवान् पिप्पलाद के एक शिष्य ने उनसे एक मर्तबा यह प्रश्न किया था कि महाराज ! **'कुतः एवं प्राणो जायते'** अर्थात् यह प्राण कहाँ से उत्पत्र होते हैं। तब उन्होंने शिष्य को उत्तर देते हुए समझाया था कि **'आत्मन एव प्राणो जायते'** अर्थात् आत्मा ही से प्राण पैदा होते हैं।

प्राण का इतिहास वर्णन करते हुए उन्होने बतलाया था कि सबसे पहले प्रजापति ने 'रवि' एंव 'प्राण' को उत्पन्न किया । रवि ही प्राण है एवं चन्द्रमा ही रवि (भोग पात्र) है । उन्होंने सब कुछ मूर्त एंव अमूर्त को प्राणरूपी सूर्य के तेज़ का लक्ष्य बताया है ।

उन्होने कहा कि 'जो तप से, श्रद्धा एंव ज्ञान द्वारा आत्मा को ढूंढकर सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं वे पुनः जन्म धारण नही करते । कारण कि सूर्य ही प्राणों का आश्रय है, वही मोक्ष है, वही अभय पद है। इसलिए कर्म करने वालों को यह परमाश्रय मिला हुआ है। 'सारांश यह कि प्राण ही सूर्य का रूप है। सूर्य जब अपने आप को खींच लेता है तब प्राणी रूप आदि विभिन्न गुणों से हीन होकर मुक्त हो जाता है क्योंकि प्राणों के द्वारा ही शरीर का सम्बन्ध है। अतएव प्राणों का आश्रय सूर्य इनको खींचकर प्राणी को मुक्त कर देता है।

प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए हमारे महान् पुरूषों ने लिखा है कि 'प्राण अग्निरूप से तपता है, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, रवि (चन्द्रमा का भोग) यही है, सत् एवं असत् भी यही है एवं यही अमृत है।

यह प्राण ही विराट् रूप होकर गर्भ में रहता है, उत्पन्न होता है एंव अन्य प्राणों से स्थित रहता है। देवों आदि को बल प्राण ही पहुँचाता

है, प्राण ही इंद्र है, तेज़स्वी होने के कारण प्राण ही रुद्र है, यही रक्षक है, यही सूर्य का रूप धारण किए हुए आकाश में विचरता है, नक्षत्रों का पति है व मेघ रूप होकर वर्षा करता है तथा प्रजा के प्राणों की रक्षा करता है ।

इसी प्राण के नियंत्रण का नाम प्राणायाम है । प्राणायाम करते समय सप्त व्याहृति (१)भूः (२)भुबः (३)स्वः (४)महः(५) जनः(६) तपः(७)सत्यम् सहित गायत्री मंत्र का मन से चिन्तन करता हुआ नेत्रों को बन्द करके पूरक करें व पश्चात् उपर्युक्त मंत्र की तीन आवृत्ति करता हुआ कुम्भक करे, इसके बाद एक बार स्मरण करता हुआ रेचक करे। लेकिन कुछ योगाचार्यों का कहना है कि उक्त मंत्र का ध्यान असम्भव है । अतएव प्रणव का जाप करने से ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। प्रणव की संख्या निश्चित करके उससे पूरक करे, उससे चार गुना प्रणव का जप करते हुए कुम्भक करे और पूरक की दुगनी संख्या में रेचक करे । इस अभ्यास से यम, नियम, आसन, धारणा और ध्यान स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। इसके उपरांत समाधि प्राप्त हो जाती है व समाधि के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है ।

प्राण पूजा स्वात्म पूजा है अतः परमात्मा की एवं चेतन की पूजा है। इस पूजा में ज़रा भी मन लगाने वाला संसार से पार हो सकता है क्योंकि प्राणवायु ही पंचमहावायुओं में मुख्य होने के कारण मुक्ति को प्रदान करने वाली है। अतएव जो पुरूष प्रणव मंत्र ॐका जप करते हुए प्राणायाम करता है वह सूर्य में निवास करता है और पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में वास करता हुआ परमात्मा में लीन हो जाता है ।

❖ ❖ ❖

प्राण क्या है?

श्रीमद्भगवत् गीता महात्म्य में भी लिखा है कि प्राणायाम परायण

पुरुष के इस जन्म के ही क्या पूर्व जन्म तक के पाप नहीं रहते, यही कारण है कि सभी लोग इसे जानने को उत्सुक रहते हैं। अतएव पहले यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है कि प्राण क्या है ? अस्तु यदि प्राण शब्द की व्याख्या कर दी जाय तो प्राणायाम के अर्थ शीघ्र ही समझ में आ जावेंगे ।

उपनिषद् की कथा है कि एक बार शरीर के सभी अभिमानी देवताओं ने अपने-अपने वश की हुई इन्द्रियों द्वारा विचार कराया कि उन सब में कौन श्रेष्ठ है? आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वाणी, मन, चक्षु व श्रोत्र ने अपनी-अपनी महिमा वर्णन करते हुए कहा कि हम ही इस शरीर को धारण किये हैं । तब प्राण ने कहा अरे मूर्खों! आत्मा के लिये पाँच रूप में विभक्त होकर मैं ही इस शरीर को धारण किये हूँ, परन्तु उनके विश्वास न करने पर जब प्राण शरीर छोड़कर जाने लगा तब सब इन्द्रियाँ नष्ट होने लगीं । अतएव जब सभी ने प्राणों को विनय करके रोका तब सब स्थित रह सके। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को 'व्रात्य' कहा है। 'व्रात्य' का अर्थ है जिसके परे कोई न हो। प्राणों के सम्बन्ध में उसमें आगे यह भी कहा है- **'प्राणस्वेदं वशे सर्वं त्रिदिवेयत्प्रतिष्ठितं मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति'** अर्थात् यह सब प्राण के वश में है और स्वर्ग में जो कुछ है वह हे प्राण! तेरे वश में है। हे प्राण! माता के समान पुत्रों का पालन कर। लक्ष्मी एवं सरस्वती व श्री एवं प्रज्ञा को हमें दे। इसी प्राण के नियंत्रण को प्राणायम कहते हैं।

जैसे सम्राट् अपने अधीन राजाओं का शासन बाँट देता है इसी प्रकार यह प्राण दूसरे प्राणों को अलग-अलग उपदेश देता है। उपनिषद् में अपान आदि वायु भी प्राण के नाम से पुकारे जाते है। उसमें लिखा है कि मुँह व नाक में प्राण वायु रहता है। इस प्राण को सप्तार्चिष कहा है क्योंकि दो कान, दो नेत्र, दो नासारंध्र व एक मुँह। यह प्राण की

सात अग्नि स्वरूप ज्योतियाँ हैं।

श्रुति का यह महत्वपूर्ण वाक्य है कि जिसने प्राण तत्त्व को जान लिया उसने वेद को जान लिया। इसी कारण वेदान्त सूत्रों में भी यह लिखा है कि श्वास प्रश्वास ही परब्रह्म है। क्योंकि उसी की सहायता से हम सब काम करते हैं। इस ब्रह्मांड में जो कुछ भी शक्ति है प्राण उसका मूल तत्त्व है। प्रकृति की सारी शक्तियों का आधार प्राण ही है अर्थात् मनुष्य व अन्य सब प्रकार की गुप्त व प्रकट शक्तियों का आधार प्राण ही है। प्राण का सम्बन्ध परमात्मा से है। यदि मन के द्वारा कार्य करने वाली प्राण की साधारण क्रियाओं को अपने वश में कर लें तो हम प्राण के भेद को भली भाँति सीख लेंगे। जो योगी इस भेद को अच्छी तरह जान जाता है वह किसी भी शक्ति से नहीं डरता क्योंकि उसे विश्व की प्रत्येक शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। प्रलय के समय यह प्राण सूक्ष्म रूप में पड़ा रहता है और प्रलय के पश्चात् आकाश में कार्य करना आरम्भ कर देता है जिसके फलस्वरूप तमाम वस्तुओं का निर्माण होता है। प्राण और पदार्थ के मिश्रण से ही ब्रह्मांड और पिंड बनते हैं।

इच्छा शक्ति के अधिकार में विचारों को करके उनके अनुसार श्वास लेने से एक अपूर्व शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस शक्ति द्वारा आत्मोन्नति, अपने तथा दूसरों के असाध्य रोग और दुःख दूर किये जा सकते हैं। अपने जीवन में इसका बड़ी सुगमता से प्रयोग किया जा सकता है। कितने ही महात्माओं ने व योगियों ने इसका प्रयोग किया है व कर रहे हैं। प्राणायाम व श्वास सम्बन्धी अन्य क्रियाओं को करके आप भी वैसा कर सकते हैं। प्राणायाम के करते समय प्राण की अदृश्य शक्तियों का अपने अन्दर अनुभव कीजिए। योगी बनकर अपने चारों ओर प्रसन्नता, प्रकाश व शक्ति का अनुभव कीजिए।

प्राण का महत्त्व

महर्षि पिप्पलाद ने भरद्वाज ऋषि से कहा था कि यह प्राणादि जिससे उत्पन्न हुए हैं वह आत्मा इसी शरीर में अंगुष्ठ मात्र होकर हृत्कमल में निवास करता है। सृष्टि के विषय में उसने बिचार किया कि सबका आश्रय तो मैं हूँ मेरा आश्रय क्या होगा, तब उसने प्राण की उत्पत्ति की। प्राण से श्रद्धा उत्पन्न की, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, दशों इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म एवं लोक प्रसिद्ध नामादि रचे। जो इस महाप्राण व इसके महत्त्व को जानता है वह अमर हो जाता है

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः

ऋ०वे०१/१६४/३१/१०/१७७/३

इस मंत्र के दृष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैनें प्राण को देखा है, साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियों का गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट होने वाला नहीं है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियों के द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिका के द्वारा क्षण-क्षण यह शरीर में आता है और फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीर में अध्यात्म रूप में, वायु के रूप में है, परन्तु अधिदैवत रूप में सूर्य हैं।

इस समस्त विश्व के देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राण वायु के द्वारा व्याप्त हैं। प्राण अमृतरूप है। जब तक इसका देह में वास है, यह शरीर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

यह प्राण शरीर में स्वधा-अन्न के द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादि के निकालने के लिए अधोभाग में जाया करता है। तथा साँस के लिए मुखादि उर्ध्व भाग में संचरण किया करता है। अर्थात् वह अपान तथा प्राण के रूप में शरीर में सर्वदा संचार किया करता है। प्राण अमर्त्य

है-अर्थात् मृत्यु रहित है, परन्तु वह मरण धर्म वाले शरीर के साथ सदा एक स्थान पर निवास करता है। यह प्राण और शरीर विविध व्यापार सम्पन्न हैं तथा आपस में विरूद्ध हैं। क्योंकि मृत्यु हो जाने पर शरीर पृथ्वी पर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर लोकान्तर में चला जाता है। इन दोनों में देह को मनुष्य अन्नपान के द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राण को अन्न और पान से कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

प्राण का स्थान

अन्त:करण ही प्राण का स्थान है। यद्यपि अन्त:करण भी एक ही है फिर भी उसके भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार चार रूप माने जाते हैं। (१) मानस (२)बुद्धि (३) चित्त (४) अहंकार।

वायु दस प्रकार की होती हैं।(१)प्राण (२) अपान,(३) व्यान (४) उदान (५) समान (६)नाग (७) कूर्म (८)कृकल (९) देवदत्त (१०) धनंजय।

प्राण वायु का आधार अपान वायु है, अपान, व्यान के अधीन है, व्यान, उदान पर अवलम्बित है और उदान का नैसर्गिक सम्बन्ध समान वायु से है। समान वायु की समानता, एकरसता, अखंड रूप से बनी रहे बस इसी में आनन्द, कल्याण और शांति है। उसके असमान होने पर ही काल प्राणी पर अपना अधिकार जमा लेता है।

यद्यपि प्राण एक ही है फिर भी इसके भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार आगे लिखे पाँच रूप माने जाते है।

(१) प्राण (२) उदान (३)व्यान (४)समान और (५) अपान। इसे वृत्त भेद व प्रधान प्राण को मुख्य प्राण कहते हैं। प्राण के रहने का स्थान अन्त:करण है। उपर्युक्त वायुओं के भिन्न-भिन्न स्थान व कार्य आगे लिखे जाते हैं।

(१) प्राण वायु का स्थान शिर है। हृदय के ऊपर के कार्य प्राण वायु द्वारा होते हैं। थूकना, छींकना, डकार, श्वास को छोड़ना, अन्न प्रवेश आदि इसके कार्य हैं। याद रहे कि श्वास-प्रश्वास प्राण वायु नहीं बल्कि वह प्राण है।

(२) उदान वायु का प्रधान स्थान वक्ष,विचरण स्थान कंठ, नाभि, नासिका व गला हैं। प्रवृत्ति, स्मृति, बल, पराक्रम, सुमति, वरण, वाणी व प्रयत्न आदि इसके कार्य हैं।

(३) व्यान का प्रधान स्थान हृदय है। इसका सब अङ्ग में संचार रहता है। बड़ा वेग वाला, नीचे ऊपर को फेंकना, गति, निमेष व उन्मेष आदि इसके कार्य हैं।

(४) समान का स्थान अन्याशय के समीप है। कोष्ठ अर्थात् आमाशय से गुदा तक विचरण करता है। अन्न को ग्रहण, पाचन व अलहदा करता व फेंकना इसका कार्य है।

(५) अपान वायु का स्थान गुदा है। कंठ, वस्ति, मूत्रेन्द्रिय, जानु व योनि में विचरण करता है। वीर्य, मासिक धर्म, मल, मूत्र व गर्भ बाहर निकालना इसके कार्य हैं।

श्वास की गति

मनुष्य के शरीर में आने-जाने वाली श्वास की गति का प्रमाण व उसके निरोध से होने वाले लाभ अलहदा प्रकरण में दिए गए हैं।

प्राणायाम की व्याख्या

पातंजल योग का सूत्र है- **'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'**

यह श्वासायाम योग है प्राणायाम नहीं। श्वास की अपेक्षा प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है इसलिए सूत्र का अभिप्राय यह मालूम होता है कि श्वासायाम साधने से पीछे प्राणायाम स्वत: होने लगेगा। पातञ्जल योग सूत्र के अध्याय २ सूत्र ४८ की व्याख्या के अनुसार इच्छानुसार श्वाँस लेने और छोड़ने की क्रिया पर अधिकार प्राप्त करने का नाम प्राणायाम है, जो कि आसन सिद्ध होने पर ही प्राप्त होती है।

प्राणायाम एक पूर्ण वैज्ञानिक विद्या है। नासिका द्वारा अन्दर ली जाने वाली साँस को 'श्वास' और नसिका ही से बाहर जाने वाली श्वास को 'प्रश्वास' कहते हैं। श्वास जीवनदाता प्राण का बाह्य तथा स्थूल रूप है। स्थूल श्वास के सूक्ष्म रूप को ही प्राण कहते हैं। स्थूल श्वास के ऊपर नियंत्रण करने से सूक्ष्म प्राण के ऊपर भी नियंत्रण किया जा सकता है। प्राण के ऊपर नियंत्रण होने से मन पर नियंत्रण हो जाता है। प्राण की सहायता बिना मन काम ही नहीं कर सकता। प्राण की गति से ही मन मे चंचलता उत्पन्न होती है। यह सूक्ष्म प्राण ही है जिसका मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्वास शरीर के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि इंजन का वह पहिया जिसके चलाने से वह चलता और रुक जाता है। जिस तरह ड्राइवर द्वारा उस पहिये के रोकने ही से इंजन के सब कल पुर्जों का काम करना रुक जाता है उसी तरह योगी के श्वास रोकते ही शरीर के सब अंङ्ग काम करना बन्द कर देते हैं। इसी प्रकार यदि आप स्थूल श्वास पर अधिकार कर सकते हैं तो जीवन दाता प्राण पर भी सफलता पूर्वक पूर्ण अधिकार हो जाएगा। जिस उपास से श्वास और प्रश्वास की गति पर नियंत्रण किया जाता है अर्थात प्राणों के आयाम को प्राणायाम कहते हैं।

गीता अध्याय ४ श्लोक २९ में लिखा है कि अपान वायु में प्राण वायु का तथा प्राण वायु में अपान वायु का प्रवेश करे और फिर प्राण व अपान दोनों की गति को रोके। इसी क्रिया का नाम प्राणायाम है।

योगिराज काकभुशुण्डि जी ने वशिष्ठ जी को बतलाया था कि १६ मात्रा काल बाहर जाने की तरह यादि प्राण १६ मात्रा ही भीतर भी लिया जाय तो वह प्राण शरीर के लिए बहुत लाभदायक हो, परन्तु स्वाभाविक रीति से १२ मात्रा ही प्राण श्वास के साथ अन्दर जाता है। जो लोग अभ्यास के द्वारा श्वास और प्रश्वास में आने जाने वाले प्राण की मात्रा बराबर कर लेते हैं वे अमर सुख भोगते हैं।

जो प्राण वायु भीतर १२ मात्रा तक रोका जा सके उसे पूरक वायु कहते हैं। जब अपान वायु बाहर से शरीर में बिना किसी परिश्रम के प्रवेश करता है उसे भी पूरक कहते हैं। जब अपान वायु भीतर जाकर लोप हो जाता है और प्राण वायु हृदय में परिपूर्ण हो जाता है इतने समय को कुम्भक कहते हैं। इन सब का अनुभव योगी लोग करते रहते हैं। शरीर में जब प्राण वायु हृदय के बाहर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है और मस्तिष्क को बिना कष्ट पहुँचाए बाहर निकलता है तो उसे रेचक कहते हैं। जब बाहर से प्राण वायु नासिका में प्रवेश करता है और वही नासिका की जड़ में रुका रहता है तब उसे बाह्य पूरक कहते है। जब वह वहाँ से चलता है तो १२मात्रा तक नीचे चला जाता है। तब भी वह बाह्य पूरक कहलाता है। जब यह प्राण वायु बाहर आकर रोक दिया जाता है और अपान भीतर प्रवेश करता है तथा रोका जाता है तब उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं। जब अपान वायु शरीर में उर्ध्व गति की ओर चलता है तब यह बाह्य रेचक कहा जाता है। यही सब अभ्यास मोक्ष के साधन हैं। अतः इन पर सदा विचार करना चाहिए। जिन्होंने इनको समझ लिया है और बाह्य तथा अभ्यन्तर कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास कर लिया है, वे लोग आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

ऊपर लिखे मेरे बताए हुए आठों उपयों का अभ्यास करने से मोक्ष प्राप्त होती है। इनका रात दिन अभ्यास करना चाहिए। जो लोग शान्तिपूर्वक इनका अभ्यास करते हैं तथा अपने मन को वश में करके

स्थिर कर लेते हैं उनको कुछ समय में निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है। इसका अभ्यास करने वाले चाहे वे चलते हों, खड़े हों, जागते-सोते सदा अभ्यास करते रहते हैं।

बाहर गया हुआ प्राण १२ मात्रा काल में फिर लौटकर हृदय में प्रवेश करता है। इसी तरह बाहर निकला हुआ अपान वायु भी १२मात्रा काल में हृदय में लौट आता है। अपान चन्द्र(इड़ा नाड़ी का संचारी) होने से अपने संचार काल में सारे शरीर को शीतल रखता है, परन्तु प्राण वायु की सूर्य संज्ञा होने से उसके संचार के समय शरीर में गर्मी पैदा होती है और इस समय पेट की हरएक चीज़ पक कर पच जाती है। उस मनुष्य के शरीर में जो ऐसी उच्चावस्था में पहुँच चुका है जहाँ प्राण(सूर्य) अपान(चन्द्रमा)की कलाओं को अपने में लीन करता रहता है, तथा जिस अवस्था में प्राण (सूर्य)की कलाओं का पान अपान (चन्द्रमा) करता है,क्या ऐसी अवस्था में सुख लूटने वाले का पृथ्वी पर फिर जन्म होगा? इस सम अवस्था मे पहुँचकर जहाँ प्राण अपान का (सूर्य चन्द्रमा)और अपान प्राण का (चन्द्र सूर्य का)परस्पर पान करते हैं, जीव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राण और अपान एक दूसरे में लीन होते रहते हैं ऐसी समानावस्था का निरन्तर आनन्द लेने वाली आत्मा (साधक) धन्य है। जहाँ प्राण और अपान दोनों जाकर लीन होते हैं। ऐसे नासाग्र पर आकाश विहारी चिदात्मा का वास है, जिनका साधक निरन्तर ध्यान करता है। इसी तरह प्राणों पर अधिकार प्राप्त करने के उपाय द्वारा साधक सर्वोच्च, विशुद्ध तथा सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित तत्त्व को पाता है।

प्राणायाम का महत्त्व

भारतवर्ष में प्राणायाम का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रातःकाल, दोपहर व सायंकाल प्रत्येक मनुष्य के लिए पूजा, संध्या व प्राणायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दुओं के सभी धार्मिक कार्य प्राणायाम से ही आरम्भ होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणायाम से मन के उसी कार्य में लग जाने से सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

संसार में प्रत्येक वस्तु का संचालन जीवनशक्ति करती है और जो मानसिक संसार में विचार के रूप में रहती है उसी का नाम प्राण है। मनुष्य के स्नायुओं से निरन्तर निकलने वाली जीवन शक्ति को अधिकार में लाने की क्रिया को प्राणयाम कहते हैं। यही प्राणशक्ति मांस पेशियों का चालन करती है और बाह्य जगत् का अनुभव कराती है व इसी से आभ्यन्तरिक विचार उत्पन्न होते हैं। इसी शक्ति को हम पाशविक शरीर का शक्तिसार कह सकते हैं। प्राणायाम द्वारा इसी शक्ति पर अधिकार करना योगियों का लक्ष्य होता है। जो इस शक्ति पर अधिकार कर लेता है वह स्थूल और सूक्ष्म जगत् में अपनी स्थिति पर ही नहीं बल्कि सारे विश्व पर विजय प्राप्त कर लेता हैं। प्राण ही विश्व जीवन का सार है, इसी के सूक्ष्म सिद्धान्त पर सारे ब्रह्मांड का रूप प्रस्तुत हुआ है और यही दैवी शक्ति विश्व को अन्तिम लक्ष्य तक ले जाती है। सारा विश्व ही योगी का शरीर है। जिन पदार्थो से उसका शरीर बना है उसी से विश्व की उत्पत्ति हुई। अर्थात् जिस महाशक्ति के द्वारा सारे विश्व का संचालन हो रहा है उससे उसके शरीर को संचालन करने वाली शक्ति भिन्न नहीं है। अतएव शरीर के ऊपर विजय प्राप्त करने के अर्थ हैं प्रकृति की शक्ति के ऊपर अधिकार करना।

प्रकृति की सारी शक्तियाँ विश्व प्राण के ही भिन्न रूप में हैं। प्राण

से ही यह विभिन्न नामधारी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और प्राणों में ही लीन हो जाती है। सारांश यह कि इस विश्व की सब तरह की शारीरिक व मानसिक शक्तियों का आधार यही मूल प्राण शक्ति है। किसी भी पदार्थ में इन दोनों के सिवाय और कोई तीसरी चीज़ नहीं होती। योग के अनुसार प्राणायाम का वास्तविक अर्थ है वह साधन जिससे हम जीवन शक्ति प्राण के रहस्य का ज्ञान और उस पर अधिकार प्राप्त करें।

उक्त प्राण पर जिसने अपना अधिकार कर लिया उसने विश्व जीवन के मर्म को जान लिया। जिसने इस पर अपना नियन्त्रण कर लिया उसने केवल अपने शरीर पर ही नहीं बल्कि विश्व के सब आकारवान् जीवों और वस्तुओं पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार प्राणायाम, जिसके अर्थ हैं प्राण पर अधिकार, वह साधन है जिसके द्वारा योगी अपने शरीर में विश्व जीवन का अनुभव और विश्व की सारी शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर पूर्णता प्राप्त करता है।

प्राणायाम के अभ्यास के आरम्भ में पसीना आने लगता है फिर पद्मासन से बैठा हुआ योगी मेढ़क की तरह उछल कर आगे बढ़ने लगता है। कुछ और अधिक अभ्यास करने पर वह भूमि से ऊपर उठने व पश्चात् अन्य अद्भुत कार्य करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। कैसा ही कम या अधिक दर्द का उसके शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योगी मानसिक तथा शारीरिक विकारों से परे हो जाता है। थोड़ा और अधिक अभ्यास करने से उसमें भूचर ऐसी महत्त्वपूर्ण सिद्धि प्राप्त करने की शक्ति आ जाती है जिससे कि वह समस्त प्राणियों को अपने वश में कर सकता है। योगी का शरीर कामदेव की भाँति अत्यन्त सुन्दर हो जाता है और वीर्य धारण करने से उसके शरीर से सुगन्ध निकलने लगती है।

शरीर कुछ दुबला परन्तु बलवान् और स्वस्थ हो जाता है। चेहरे पर

तेज़ आ जाता है। आँखों में हीरे जैसी ज्योति चमकने लगती है। शरीर सुन्दर, वाणी मधुर व सुरीली हो जाती है। सर्व प्रकार के रोगों से छुटकारा पा जाता है। ब्रह्मचर्य स्थिर हो जाता है। अप्सराओं के आलिंगन करने पर भी वह ब्रह्मचर्य से नहीं डिगता। अनहत शब्द सुनाई देने लगता है। रजोगुण व तमोगुण का नाश हो जाता है। मन धारणा और ध्यान के उपयुक्त हो जाता है। मल त्याग कम होता है। दृढ़ अभ्यास से दिव्य ज्योति जगती है।

प्राणायाम के अभ्यास से संसार को स्थाई बनाने वाला राग, रूप, मोह शनै-शनैः नष्ट हो जाता है और धारणा ध्यान के लिए सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। मनु महाराज ने कहा है कि:-

दहन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दहन्ते दोषाः प्राणस्य संक्षयात्॥

अर्थात् जिस तरह सुवर्ण आदि धातु अग्नि में तपाने से उनका मैल दूर हो जाता है, उसी तरह प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति'

अर्थात् प्राणायाम के बराबर दूसरा कोई तप नहीं है, इससे दोषों की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है। यह बड़ा ही उत्तम साधन है इसके सिद्ध होने से विवेक ज्ञान को आवृत करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है तथा मन स्थिर होकर धारण के योग्य हो जाता है।

प्राणायाम के समय प्रणव का उच्चारण अ,उ,म्(ओउम्)तीनों मात्राओं के साथ करने से पूर्व जन्म के पापों का नाश हो जाता है। प्रणव मंत्र सभी पापों और बाधाओं को नष्ट कर देता है। इसका अभ्यास करने से योगी आरम्भावस्था को प्राप्त करता है। योगी के

शरीर से पसीना निकलने लगता है, जब पसीने से शरीर तर हो जावे तो योगी को चाहिए कि वह हाथों को मल ले। शरीर में कपकपी होने लगती है व कभी-कभी शरीर मेंढ़क की भाँति उछलने लगता है।

घटावस्था

श्वास को निरन्तर दबाने से दूसरी घटावस्था प्राप्त होती है। जब प्राण अपान का, मन और बुद्धि का या जीवात्मा और परमात्मा का बिना किसी विरोध के पूर्ण मिलाप हो जाता है तभी घटावस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था को प्राप्त योगी पहले बतलाए हुए समय के चतुर्थांश काल तक ही अभ्यास कर सकता है, दिन भर में तीन घंटे तक ही अभ्यास हो जाना चाहिए। दिन भर में एक बार कुम्भक का भी अभ्यास होना उचित है। श्वाँस निरोध के समय इन्द्रियों को पूर्ण रीति से इन्द्रिय सुख पदार्थो से हटाना ही प्रत्याहार कहा जाता है। सभी जगह वह आत्मा का ही रूप आत्मा का ही शब्द सुनता है व आत्मा के रूप में ही स्पर्श करता है। तभी योगी भिन्न-भिन्न प्रकार की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त कर लेता है और तभी वह क्षण में सैकड़ों कोस दूर जा सकता है, अद्‌भुत भाषण शक्ति प्राप्त कर लेता है, अदृश्य भी हो सकता है तथा लोहे को सोना बनाने आदि की शक्ति प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसे इन शक्तियों का प्रयोग न कर तथा अज्ञानियों की भाँति रहकर अपनी शक्तियाँ गुप्त रखना चाहिए, जो कोई इन कार्यो में लग जाता है वह योगाभ्यास भूल जाता है। अतः गुरु के वचनों का स्मरण करते हुए सिवाय निरन्तर योगाभ्यास के और कोई अभ्यास न करना चाहिए। इस प्रकार योगी घटावस्था को भी पार कर लेता है।

परिचयास्था

इसी प्रकार अभ्यास करने से परिचयावस्था प्राप्त होती है। कठिन अभ्यास से वायु, अग्नि के साथ विचार बुद्धि से कुंडलिनी को

बेधता हुआ सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करता है। प्राण के साथ चित्त सुषुम्ना में प्रवेश करता है तो वह कपाल में सर्वोच्च स्थान पर पहुँचता है। जब योगी योगाभ्यास से क्रिया शक्ति प्राप्त कर लेता है ओर षट्चक्रों को बेधता हुआ परिचयावस्था में पहुँचता है तब वह कर्मफल के तीनों रूपों को भली-भाँति समझ लेता है। उस समय योगी प्रणव (ॐ)की सहायता से कर्म के अनेकत्व को मिटा दे। "कायव्यूह"की पूर्ति करे। "कायव्यूह" वह रहस्यमय अवस्था है जिसमें शारीरिक बंधों द्वारा अनेक शरीर धारण करते हुए पूर्व कर्मो को पूनर्जन्म की आवश्यकता के बिना नि:शेष कर दिया जाता है। उस समय महायोगी पाँच प्रकार की धारणाओं का अभ्यास करे अर्थात् ध्यान के वे रूप जिससे कि पंचतत्त्वों पर अधिकार प्राप्त होता है ओर फिर हानि का भय नहीं रहता। पंचतत्त्वों पर अधिकार प्राप्त करने के अभ्यास की विधि 'पंचतत्त्वों की धारणा' शीर्षक प्रकरण में दी गई है।

निष्पत्ति अवस्था

यह प्राणायाम की चौथी अवस्था है। धीरे-धीरे अभ्यास करने से योगी इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसमें योगी अपने सभी कर्म बीजों का नाश करके अमरत्व रूपी अमृत का पान करता है। उसे भूख, प्यास, निद्रा आदि नहीं सताते। वह बिल्कुल स्वाधीन होकर कहीं भी बिना रोक टोक के जा सकता है। उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। वह सभी रोगों व शरीर के वृद्धत्व व नाश से मुक्त हो जाता है तथा समाधि के आनन्द का उपभोग करता है। उसे फिर योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती, वह जिह्वाग्र से वायु पान कर सकता है और प्राण व अपान की क्रियाओं व नियमों को जानकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

योग का धीर अभ्यासी जैसे-जैसे नियमानुकूल अभ्यास में उन्नति करता है वैसे-वैसे वह स्वभावत: सभी अवस्थाओं का अनुभव करने लगता है। अधीर अभ्यासी शीघ्रता व अनियमितता के कारण किसी

भी अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाता।

प्राणायाम का मन्त्र

प्राणायाम करने के समय का मंत्र ईश्वर गीता में बतलाया गया है। कुम्भक के समय का अभ्यासी आरम्भ में सप्त व्याहृतियों के साथ तीन बार गायत्री का जप करे और अन्त में शिरस और आदि व अन्त में प्रणव (ॐ) कहे। इसी को श्वास प्राणायाम का नियंत्रण कहते हैं। प्राणायाम के पूरक, कुम्भक व रेचक तीनों अङ्ग प्रवण के तीनों अक्षरों से मेल खाते है अतएव प्रणव ही को प्राणयाम कहा गया है।

योगी याज्ञवल्क्य जी के मतानुसार 'प्राण और अपान' वायुओं को प्राणयाम द्वारा रोक कर अर्थात् कुम्भक के समय प्रणव का जप करना चाहिए।

स्मृतियों की आज्ञा है कि पूरक, कुम्भक व रेचक करते समय क्रम से नाभि, हृदय और ललाट में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव का ध्यान करते हुए उक्त स्थानों पर मन को केन्द्रीभूत करे। परमहंसों के लिए सब अवस्थाओं में केवल ब्रह्म के ध्यान करने की व्यवस्था है। श्रुति की आज्ञा है कि जितेन्द्रिय सन्यासी प्रणव का जप करता हुआ ब्रह्म का ध्यान करे।

प्राणायाम करते समय पद्मासन से बैठकर नासाग्र पर लाल मुख, कोटि चन्द्रमाओं के समान प्रभावाली, गदा लिए हुए हंस पर सवार गायत्री देवी का ध्यान करना चाहिए। ओंकार के 'अकार' की गायत्री देवी साक्षात् प्रतिमा है। ओंकार का 'उ' सावित्री देवी का रूप है, जो गौर वर्ण बालिका के रूप में चक्र धारण किये गरूड़ पर सवार है। ओंकार का 'म' सरस्वती का रूप है जो श्याम वर्ण की प्रौढ़ा

महिला के रूप में है। वे त्रिशूल लिए हुए सांड पर सवार हैं। प्राणायाम का अभ्यास करने वाला पूर्ण ओंकार का जो सर्व श्रेष्ठ प्रभावाला और तीनों अ+उ+म् से युक्त है ध्यान करे। गायत्री मंत्र के साथ भी प्राणायाम किया जाता है जो कि अन्यत्र संध्या विधि के साथ दैनिक कार्यक्रम में दिया गया है। पूरक के समय ओंकार के 'अ' का, कुम्भक के समय 'उ' का और रेचक के समय 'म्' का ध्यान करना चाहिए।

प्रणव के समान महत्त्व और किसी अक्षर व बीज मंत्र को नहीं मिला है वे प्रणव (ॐ) की जो मात्राएँ (१) अ, (२) उ, (३) म् (ओउम्) हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेदों के अनुसार त्रिमात्र हैं अतएव प्राणायाम परायण पुरूष यदि एक मात्रा वाले प्रणव का ध्यान करता है ('अ') अक्षर की उपासना करता है, तो वह निश्चय करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं मृत्यु के उपरांत तुरन्त ही संसार में मानुषी जन्म धारण करता है, पूर्व संस्कारों से उसकी बुद्धि प्राणायाम विषय में प्रवृत्त होती है। उसे ऋग्वेद द्वारा मनुष्ययोनि मिलती है संस्कारवश वह पुरुष तपस्या और ब्रह्मचर्य से श्रद्धापूर्ण होकर ऐश्वर्य का अनुभव करता है।

यदि कोई दो मात्रा वाले प्रणव से (अ, उ इन दो मात्राओं से) मन में प्रणव को धारण करता है वह यजुर्वेद के मंत्रों से अन्तरिक्ष में चन्द्रलोक को प्राप्त करता है। वह वहाँ ऐश्वर्य भोग करके पुण्य क्षीण होने पर फिर इस लोक में जन्म लेकर कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है।

जो पुरुष तीन मात्रा वाले पूर्ण प्रणव ॐ अक्षर से उस परम पुरूष की प्राणायाम परायण होकर उपासना करता है वह तेज स्वरूप सूर्य में निवास करता है और जैसे साँप पुरानी केचुली से स्वतः मुक्त हो जाता है उसी प्रकार वह पाप से मुक्त होकर सामवेद मंत्रों से ब्रह्मलोक व परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ॐकार की अलग-अलग एक

एक-एक मात्रा आवागमन के बंधन को नष्ट नहीं कर सकती।

इस प्रकार साधक ऋग्वेद से मनुष्य लोक को, यजुर्वेद से चन्द्रलोक को जाता है किन्तु जो साधक ऋषियों के जाने हुए सामवेद के मंत्रों से ब्रह्मलोक ले जाया जाता है ऐसा विद्वान् साधक प्रणव प्राणायाम के द्वारा ही वृद्धावस्था (मृत्यु) से रहित हो जाता है। (मृत्यु से रहित का अर्थ यह है कि शरीर के नाश हो जाने पर ज्ञान व स्वप्रकाश विभूति की विस्मृति नहीं होती) अर्थात् शान्ति को पाता हुआ परमात्मा को प्राप्त करके उसी में लीन हो जाता है।

❖ ❖ ❖

प्राणायाम से लाभ

प्राणायाम करते समय मस्तिष्क, नाभिमूल, नासिकाग्र और पैरों के अँगूठों में प्राणों का केन्द्रीयकरण करने का ध्यान करते हुए पेट में श्वास भरे, ऐसा करने से साधक सब तरह की थकावट और रोगों से मुक्त हो जाता है। नासिकाग्र पर केन्द्रित करने का ध्यान रखते हुए करने से वायु तत्त्व पर अधिकार होता है। नाभिमूल पर केन्द्रित करने का ध्यान रखते हुए करने से सब तरह के रोगों का नाश होता है। पैर के अँगूठे पर ध्यान करने से शरीर हल्का होता है। जीभ से वायु पान करने वाले के सब रोग व थकावट और प्यासादि नष्ट होती है। दोनों संध्याओं अर्थात् प्रातःकाल व सायंकाल व दोपहर के समय जो वायुपान करते हैं उनकी जिह्वा पर सरस्वती वास करती है। वह वृहस्पति के समान चतुर वक्ता होता है। ऐसा करने से मनुष्य सम्पूर्ण रोगों से मुक्त हो जाता है।

पातंजल योग दर्शन में बतलाया है कि प्राणायाम के समय नासिका के अग्रभाग पर चित्तवृत्ति के संयम करने से दिव्य गन्ध का, जिह्वा में करने से दिव्य रस का, तालू में करने से दिव्य रूप का,

जिह्वा के मध्य में दिव्य स्पर्श का, जिह्वा के मूल में दिव्य शब्द का, हृदय कमल में चित्त के प्रत्यक्ष का, अस्मिता का तथा इष्टदेव का संयम करने से चित्तवृत्ति का निरोध होता है।

सिद्ध योगियों का मत है कि प्राणायाम द्वारा शरीर स्वस्थ रहने व आत्म ज्ञान प्राप्त होने में सहायता मिलती है।

अनियमित प्राणायाम से हानि

प्राणायाम में यदि नियमों का ठीक ठीक पालन न हुआ तो नाना प्रकार की व्याधियाँ हो सकती है। दूषित वायु पैदा होकर बार-बार डकारें आने पर प्राणायाम बन्द करके आसनों का अभ्यास करना चाहिए।

मैले कुचेले, वायु बिगड़े, वृक्ष के नीचे, मिट्टी के तेल के लेम्प आदि जलाकर, बदहज़मी की दशा में प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार नियमपूर्वक प्राणायाम करने से सर्व रोग मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार अनियमित रूप से करने से हिचकी, दमा, खाँसी, आँख कान, नाक, सिर आदि की नाना प्रकार की बीमारियाँ हो जाती है।

प्राणायाम के भेद

पातंजल योग के अध्याय २ सूत्र ५० के अनुसार प्राणायाम की सूक्ष्मता व दीर्घता उसके तीनों अङ्गों से ज्ञात होती है जो क्रम से बाह्य आन्तरिक और स्थिर है। स्थिरता का निरूपण देश, काल व संख्या से निश्चित होता है।

श्वास निकालना अर्थात् रेचक प्राणायाम का प्रथम अङ्ग है। श्वास का अन्दर लेना अर्थात् पूरक प्राणायाम का द्वितीय अङ्ग है। प्राण को

(श्वास को रोकना) अर्थात् कुम्भक प्राणायाम का तृतीय अङ्ग है। कुम्भक के अभ्यास से मनुष्य की आयु व आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति, श्रोत्र और जीवनी शक्ति भी बढ़ती है। श्वास लेकर उसे एक मिनिट रोकने से भी आयु में वृद्धि होती है। योगी लोग ब्रह्मरंध्र में श्वास चढ़ाकर मृत्यु देवता तक को भी पराजित कर देते हैं और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं।

रेचक, पूरक और कुम्भक देश, काल और संख्या से नियमित होते हैं। देश का यहाँ अर्थ है शरीर के बाहर या भीतर श्वास की लम्बाई चौड़ाई व वह विशेष अङ्ग जहाँ प्राण केन्द्रीत किया जाय। भिन्न भिन्न व्यक्तियों में बाहर जाने वाली श्वांस की लम्बाई भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न होती है। चालू तत्त्वों के अनुसार आने जाने वाली श्वांस की लम्बाई में अन्तर होता जाता है। पृथ्वी, जल, तेज़, वायु व आकाश तत्त्वों के अनुसार श्वांस की लम्बाई क्रम से १२, १६, ४, २ व ० अँगुल होती है। तत्त्वों के अनुसार श्वास का आकार आने और जाने वाली श्वास दोनों में एक सा रहता है।

प्रत्येक तत्त्व के अस्तित्व के समय को काल कहते हैं जिसकी गणना मात्रा से भी की जाती है। एक मात्रा एक सेकिण्ड के बराबर होती है। मात्रा एक तरह का माप है। काल का अर्थ यह भी है कि कितने समय तक किसी अङ्ग में प्राण को रोकना चाहिए।

संख्या का अर्थ है कि कितनी बार प्राणायाम किया गया। योग के अभ्यासियों को क्रमशः प्राणायामों की संख्या बढ़ाकर ८० तक ले जाना चाहिए। प्रातःकाल, दोपहर, संध्या व अर्धरात्रि अर्थात् चार बार में ३२० प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम का फल समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का उदय, सोती हुई कुंडलिनी को जगाना और मुख्य उद्देश्य प्राण और अपान का संयोग करके सम्मिलित प्राण और अपान को

ब्रह्मांड तक ले जाना।

अभ्यास के समयानुसार प्राणायाम अल्प या दीर्घ होता है। प्रथम प्रयत्न का नाप ३६ मात्रा होता है इसे कोमल प्रयत्न कहते हैं। द्वितीय प्रयत्न इसका दूना मध्यमावस्था वाला कहा जाता है। तीसरा प्रयत्न बड़ा उग्र होता है और वह प्राणायाम है जिसका नियंत्रण संख्या से होता है।

रेचक अर्थात् निकलने वाली श्वास का स्थान नासाग्र के आगे 12 अँगुल तक माना गया है। इसका निर्णय एक सींक में रूई लगाकर होता है। पूरक अन्दर आने वाली श्वास का स्थान सर से लगा कर पैर के तलवों तक माना गया है। इस का निर्णय चींटी की चाल का सा अनुभव होने लगने से होता है। रेचक और पूरक दोनों को लेकर कुम्भक का सम्बन्ध बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर रुकने की योग्यता पर है। इसका निश्चय उपरोक्त दोनों क्रियाओं की अनुपस्थिति से होता है जिसका सम्बन्ध रेचक और पूरक से है।

काल, संख्या व स्थान के अनुसार उपरोक्त तीनों प्रकार के प्राणायाम के नियमों पर चलना अपनी-अपनी इच्छा पर है। इसका यह अर्थ नहीं है कि तीनों नियमों का पालन एक साथ करना चाहिए क्योंकि अनेक स्मृतियों के अपने नियम अलग-अलग हैं। कोई समय को, कोई स्थान को और कोई संख्या को अधिक महत्त्व देते हैं।

योग सूत्र के अध्याय ४ के अनुसार चौथी प्रणाली है प्राण को बाहरी या भीतरी स्थान विशेष पर केन्द्रीभूत करना।

योग सूत्रों के ५०वें सूत्र के अनुसार तीसरे तरह के प्राणायाम का अभ्यास उद्‌भाता की प्राप्ति तक ही करना चाहिए। इसके बाद चौथी तरह के प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ होता है। इस प्राणायाम में प्राण को भिन्न-भिन्न चक्रों में केन्द्रीभूत करके धीरे-धीरे अन्त में कपाल

स्थित सहस्रार नामक चक्र में ले जाना होता है जहाँ प्राण को ले जाने से समाधि लग जाती है। यह आन्तरिक क्रिया है। आभ्यन्तरिक प्राणायाम में समयानुसार रहने वाले तत्त्व के अनुसार श्वास के आकार को रखने का साधन करना पड़ता है। प्राण भीतर और बाहर सभी जगह चालन किया जा सकता है।

आरम्भिक तीनों प्रकार के प्राणायामों पर अभ्यास का अधिकार प्राप्त करने के उपरांत चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम का आरम्भ करना चाहिए। तीसरे प्रकार के प्राणायाम में वातावरण का ध्यान नहीं रखा जाता। एक ही प्रयत्न में श्वास रोक दी जाती है और स्थान, काल तथा संख्या के अनुसार उसे नाप कर दीर्घ तथा सूक्ष्म बनाते हैं। चौथे प्रकार में पूरक और रेचक के वातावरण का निश्चय होता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर धीरे-धीरे अधिकार होता है। तीसरे प्रकार की तरह सहसा ही चौथे प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए। प्राणायाम में जैसे-जैसे अभ्यास किया जाता है वैसे-वैसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की पूर्णता प्राप्त होती जाती है। एक अवस्था की पूर्णता प्राप्त करने के बाद ही दूसरी अवस्था का अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिए। इस तरह एक के बाद दूसरे का अभ्यास होता रहता है। तीसरे प्रकार के प्राणायाम के पहले नाप जानने की आवश्यकता नहीं है और एक ही प्रयत्न से उसका अभ्यास हो जाता है, परन्तु चौथे का अभ्यास बिना नाप जाने नहीं हो सकता। चौथे प्रकार के प्राणायाम में कठिन अभ्यास करना पड़ता है। तीसरे और चौथे में यही बड़ा भेद है। इस प्राणायाम में भी काल, स्थान और संख्या के भेद लागू हैं। सफलता की प्रत्येक अवस्था के अनुसार अध्यात्मिक शक्तियों का विकास भी होता रहता है।

अधम, मध्यम और उत्तम नाम से प्राणायाम के तीन भेद माने गए हैं। जिनकी मात्राएँ व काल अन्यत्र दिया गया है। आरम्भ में एक महीने तक अधम का अभ्यास करना चाहिए। फिर मध्यम का अभ्यास तीन महीने तक करने के पश्चात् उत्तम प्रकार का अभ्यास आरम्भ करना चाहिए।

साधन के अभ्यास की मात्रानुसार ही प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त होती है। परम उत्साह, साहस व दृढ़ता वाला अभ्यासी छः महीने में ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। आलसी दस वर्ष में भी कुछ न कर सकेगा। धैर्य, भक्ति, दृढ़ विश्वास और लगन के साथ अभ्यास करने पर अवश्य सफलता मिलेगी। निरंतर अभ्यास करते रहिये। हतोत्साहित होने का कोई कारण नहीं है।

❖ ❖ ❖

प्राणायाम विधि

हठयोग के चार अंग हैं। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसंधान और प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अङ्ग है। आसनों द्वारा नाड़ियाँ मुलायम होती हैं और शरीर के रोगों की निवृत्ति होती है । पश्चात् प्राणयाम द्वारा अङ्गों की साधना का अभ्यास किया जाता है।

ब्रह्मचारी, नियमित आहार-विहार वाले, मितभाषी, सत्यवादी श्रद्धालु, अक्रोधी, धीर, तमाखू, भाँग, गाँजा, चरस, शराब आदि मादक वस्तुओं का सेवन न करने वाले मुमुक्षु ही प्राणायाम के अधिकारी है। उनकी सद्गुरु की संरक्षणता में रहकर अभ्यास करना चाहिए। ब्रह्मचर्यहीन, व्यवहार में अधिक व्यस्त रहने वाले, सूर्य के ताप में अधिक भ्रमण करने वाले, अग्नि सेवी, अधिक श्रम करने वाले, अधिक पठन-पाठन करने वाले, यम नियम का पालन करने वाले, जन्म रोगी, दुर्बल, हृदय वाले प्राणायाम के अधिकारी नहीं हो सकते। जो बालक और युवक (सात से चालीस साल तक की आयु

वाले) हैं, जिनके शरीर में रक्ताभिसरण की क्रिया बलवती है और जिनके हृदय, फेफड़े आदि अवयवों में जन्मगत कोई न्यूनता नहीं है, वे ही प्राणायाम के अधिकारी है।

प्रणायाम का अभ्यास आरम्भ करने के पहले जब तक पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासनादि मुख्य आसनों में से कोई एक आसन से लगातार दो तीन घंटे तक अचल न बैठा जा सके उस वक़्त तक आसनों का ही अभ्यास बढ़ावे। आसन दृढ़ होने पर प्राणायाम आरम्भ करे। आरम्भ करने के लिए बसन्त और शरद्ऋतु अनुकूल है। जिस देशकाल में कफ़ की वृद्धि होती हो उसमें योगाभ्यास न करे।

प्राचीन ग्रंथकारों ने प्राणायाम का अभ्यास दिन में चार-बार प्रातः काल, मध्यान्ह, सायंकाल और अर्धरात्रि के समय नियमपूर्वक करने की आज्ञा दी है। एक-एक बार में दस प्राणायाम से आरम्भ करके अस्सी तक बढ़ावे अर्थात् एक दिन में तीन सौ बीस प्राणायाम करे, परन्तु समय और परिश्रम का विचार करते हुए यह संख्या बहुत अधिक है इसलिए उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने पर एक बार में केवल पच्चीस करे। यदि किसी दिन थकावट मालमू हो तो उस दिन आधा या चौथाई ही करे।

प्राणायाम का अभ्यास प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर सूर्योदय के पहले करे और संध्या को सूर्यास्त के दो घंटे बाद। गर्मी के दिनों में संध्या समय अथवा कुछ और देर में करे और दोपहर के समय न करे। प्रकृति दोष अजीर्ण, थकावट के समय रात का अभ्यास थोड़ा करें। अभ्यास करते वक़्त पूरक रेचक धीरे-धीरे करे व पूरक, कुम्भक व रेचक अनुपात के अनुसार ही करे और न्यूनाधिक कदापि न होने दे।

नित्य प्रातः व सायंकाल एक मिनिट से क्रमशः बढ़ाकर दस मिनिट तक शीर्षासन करे। लोम, विलोम (प्राणायाम जिसमें कुम्भक न करे केवल पूरक व रेचक ही साथ ही साथ किया जाता है) व आसन सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम करे। प्राणायाम में पूरक व रेचक

सदा धीरे धीरे ही करे। पूरक, कुम्भक व रेचक के समय "ॐ" का उच्चारण करते हुए उँगलियों के पोरों पर गिनती करता जाय ताकि तीनों के समय के अनुपात का ज्ञान रहे। एक समय में बीस प्राणायाम से अधिक न बढ़ाना चाहिए। वायु का विशुद्धतम अंश ही प्राणवायु कहलाता है और इसका सम्बन्ध ग्रहों व विशेषकर सूर्य ज्योति से है। सूर्य से ही ससांर में जागृति फैलती है। जिस तरह बाहर सूर्य है उसी तरह हमारे शरीर में भी सूर्य केन्द्र है। इसका स्थान नाभि के पास है। पुराणों में इस शक्ति स्थान को मणिपुर चक्र कहा है। (इसी प्रकार विष्णु का कुंठ व शिव का कैलाश भी मनुष्य के शरीर में है, जो कि ज्ञान से जाना जा सकता है) अतः प्राणायाम द्वारा मणिपुर चित्त शक्ति बढ़ाकर मणिपुर चक्र को जगाया जाता है और जैसे जैसे वह जगने लगता है वैसे ही वैसे साधक का भी तेज चमकने लगता है, व वह शक्तिमान् होने लगता है। मस्तिष्क ही ज्ञान रज्जु के रूप में मेरू दंड के भीतर नीचे तक समस्त स्नायु तन्तुओं के रूप में फैला हुआ है। वायु से दो अंगुल ऊपर, उपस्थ से चार अंगुल नीचे ज्ञान-रज्जु मेरुदंड के बाहर चार अंगुल-विस्तृत कन्द के रूप में प्रकट हुई है। इसी कन्द से बहत्तर हज़ार नाड़ियों का सम्बन्ध है। इन नाड़ियों में मुख्य इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। हमारा उद्देश्य प्राणायाम द्वारा केवल उस कन्द को पुष्ट करके शरीर को ही पुष्ट करना न होना चाहिए। शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा ही बल्कि हमारा लक्ष्य होना चाहिए। ब्रह्मानन्द प्राप्ति व शिवशक्ति सम्मिलन। जब हमारी अन्तर्मुख शक्ति सिद्ध होगी तब हमारा सम्बन्ध सुषुम्ना से होगा क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी कन्द से होती हुई मस्तिष्क तक जाती है और जीवात्मा से विशेष सम्बन्ध रखती है अतएव इसी सुषुम्ना द्वारा योगी केवल भावना व प्राणायाम से संचित शक्ति को ठोकर लगाकर कुंडलिनी शक्ति को जगा कर उर्ध्वगामिनी करने में समर्थ होते हैं और अमृत पद प्राप्त करते हैं। कृष्ण भक्त लोग इस कुल कुंडलिनी रूपी राधिका का कृष्ण ब्रह्म के साथ (बंशीवट के निकट) मस्तिष्क के पास रास विलास देखते हैं और आधुनिक संत सुरति शब्द कह कर गदगद होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है।

सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुंडलिनी के जागरण पर शरीर में एक प्रकार का कम्प पैदा होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वयं निकलने लगती है तथा अनेक प्रकार के स्वर निकलने लगते हैं। यह ओंकार जगदम्बा का उद्‌गार है और काम, क्रोध, लोभ, मोह का नाश ही शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड व मुंड का नाश है।

❖ ❖ ❖

नाड़ियाँ

मानव शरीर में तीन लाख पचास हज़ार नाड़ियाँ होती है। इनमें सत्तरह नाड़िया प्रधान हैं। (१)सुषुम्ना (२) इड़ा (३) पिंगला (४) गांधारी (५) हस्तिजिह्वा (६) कुहू (७)सरस्वती (८) पूषा (९) शंखिनी (१०) पयस्विनी (११) वारूणी (१२) अलम्बुषा (१३) विश्वोदरा (१४) यशस्विनी (१५) वज्रा (१६) चित्रा (१७) ब्रह्म। इनमें सुषुम्ना, इड़ा व पिंगला सर्व प्रधान हैं। योगसाधन में यही अधिक उपयोगी है। अन्यान्य समस्त नाड़ियाँ सुषुम्ना के आश्रय से रहती हैं। इस सुषुम्ना के मध्यगत चित्रा के मध्य सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरंध है। यह ब्रह्मरंध्र ही दिव्य मार्ग व अमृत तथा आनन्ददायक है। कुंडलिनी शक्ति इसी ब्रह्मरंध्र द्वारा मूलाधार से सहस्रार में जाती है और परमशिव में मिल जाती है। इसी कारण ब्रह्मरंध्र को दिव्य मार्ग कहते है।

इड़ा और पिंगला। शिवसंहिता के अनुसार इड़ा और पिंगला दो नाड़ियाँ गुदा के पास कुंडलिनी से मेरुदंड (पीठ की रीढ़) को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक लपेटे हुए सुषुम्ना से मिलकर व त्रिवंध बनाकर जिसे त्रिवेणी भी कहते है सर में होती हुई माथे के भ्रूमध्य स्थान में सुषुम्ना से अलहदा-अलहदा बाएँ नकुएँ में इड़ा और दाहिने में पिंगला समाप्त हो जाती है। इड़ा और पिंगला नामक दोनों नाड़ियों के मध्य में जो सुषुम्ना नाड़ी है उनकी छः ग्रन्थियों में पद्‌माकार के

छः चक्र संलग्न है। गुह्य स्थान में, लिंगमूल में, नाभिदेश में, हृदय में, कंठ में और दोनों भ्रू के बीच में इन छः स्थानों में छः चक्र विद्यमान है। यह छः चक्र सुषुम्ना नाम की छः ग्रन्थियों के रूप में प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थियों का भेद करके जीवात्मा को परमात्मा के साथ संयोग करना पड़ता है। इसी को प्रकृति योग कहते हैं।

इड़ा नाड़ी बाम भाग में स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ी को प्रत्येक चक्र में घेरती हुई दक्षिण नासापुट से और पिंगला नाड़ी दक्षिण भाग में स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ी को प्रत्येक चक्र में परिवेष्ठित करती हुई वाम नासापुट से आज्ञा चक्र में मिलती है। इड़ा और पिंगला के बीच-बीच में सुषुम्ना नाड़ी के छः स्थानों में छः पद्म और छः शक्तियाँ निहित है। कुंडलिनी देवी ने अष्टधा कुंडलित होकर सुषुम्ना नाड़ी के समस्त अंशों को घेर रखा है तथा अपने मुख में अपनी पूँछ को डालकर साढ़े तीन घेरे दिए हुए स्वयं भू को वेष्टन करके ब्रह्म द्वार का अवरोध कर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग में स्थित है।

❖ ❖ ❖

नाड़ी

इड़ा नाड़ी बाएँ नासारंध्र से चलने वाली चन्द्र नाड़ी है। उसका वर्ण शुभ्र है और पिंगला दाहिने नासारंध्र से चलने वाली सूर्य नाड़ी रक्त वर्ण है। इड़ा को अमृत विग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका भी कहते हैं। यह दोनों नाड़ियाँ काल स्वरूप दिखाती है। यह दोनों जब समगति से चलती है तब सुषुम्ना नाड़ी में उनका लय होता है। इसी अवस्था में नाड़ी में कुंडलिनी प्रवेश करती है। मूलाधार से जहाँ यह तीनों निकलती है उसे मुक्त त्रिवेणी और आज्ञाचक्र के समीप जहाँ यह मिलती हैं उसे युक्त त्रिवेणी कहते हैं।

मेरुदंड के बाई और कुहू नाडी है। बायीं आँख से बाएँ पैर के

अँगूठे तक चलने वाली गांधारी नाड़ी है। दाहिनी आँख से दाहिने पैर के अँगूठे तक हस्तिजिह्वा नाड़ी है। सुषुम्ना के दाहिनी ओर सरस्वती नाड़ी है जो कि जिह्वा के पास आकर मिली है। दाहिनी आँख से पेट तक पूषा नाड़ी है। गांधारी और सरस्वती के बीच से शंखिनी नाड़ी है। पूषा और सरस्वती के बीच में पयस्विनी नाड़ी है। दाहिने हाथ के अँगूठे से बाएँ पैर तक यशस्विनीनाड़ी है। कुहू और यशस्विनी के बीच में वारूणी नाड़ी है और उसकी व्याप्ति शरीर के नीचे के भाग में है। कुहू और हस्तिजिह्वा के बीच में विश्वोदरा नाड़ी है, वह भी वारूणी नाड़ी के समान शरीर के निचले भाग में फैली है। सुषुम्ना के मध्य भाग में वज्रा नाड़ी है और वज्रा के मध्य में चित्रा है व चित्रा के मध्य भाग में ब्रह्म नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी अग्नि स्वरूपा है और वज्रा सूर्य रूपा है व चित्रिणी पूर्ण चन्द्र मंडल रूपा है। शब्द ब्रह्म के यह तीन प्रकार हैं। शब्द ब्रह्मरूपा कुंडलिनी जब ऊर्ध्व गामिनी होती है तब इन तीन नाड़ियों को स्पर्श करती हुई चलती है। इसलिए इन तीनों नाड़ियों को शब्द ब्रह्म रूप कहा है। चित्रा नाड़ी को ब्रह्म द्वार कहते हैं, क्योंकि इसी नाड़ी के पास से कुंडलिनी ऊर्ध्व गामिनी होती है।

शंखिनी नाड़ी के आभ्यन्तर जो नाड़ी है उसके अन्तर्गत पुरीरित नाड़ी है। मन के पुरीरित नाड़ी में प्रवेश करने पर सुषुप्ति हो जाती है, उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरोरित नाड़ी जिस मेध्या नाड़ी द्वारा आवृत्त है उसमें मन के संयोग होने से निद्रा और निद्रा में स्वप्न-दर्शनादि का ज्ञान होता है। मन का गांधारी के साथ संयोग होने पर वाम चक्षु और हस्ति जिह्वा के संयोग से दाहिने चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पूषा में मन का संयोग होने से दक्षिण कर्ण द्वारा और यशस्विनी में संयोग होने से वाम कर्ण द्वारा श्रवण प्रत्यक्ष होता है। अलम्बुजा के उर्ध्व देश में मन के सयोंग से घ्राणज और मध्य देश में संयोग होने से रसास्वादन का ग्रहण अर्थात् रसना प्रत्यक्ष होता है।

कुहू में मन का संयोग सुख का हेतु होता है। सुषुम्ना में मन संयोग योगारंभ व सुषुम्ना मध्य स्थित चित्रिणी प्रभृति नाड़ी में शांत मन का गाढ़ संयोग समाधि है।

सुषुम्ना के अतिरिक्त अन्य सब नाड़ियों में मन का संयोग विविध प्रकार के यत्न इच्छा, द्वेष, शरीरिक चेष्टा व विविध विषयों के भोग के लिए उपयोगी होता है। इड़ा, पिंगला के साथ मन का संयोग जीवन, योनि, यत्न प्रभृति का उत्पादक है। पातंजलोक्त, चित्तवृत्ति निरोध, सुषुम्नान्तर्गत नाड़ी में मन के संयोग से होता है।

मुख्य नाड़ियाँ

प्राणायाम से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य नाड़ियों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

इड़ा पिंगला व सुषुम्ना

मेरुदंड (पीठ की रीढ़) के दोनों तरफ एक स्नायु प्रणाली है। बायीं स्नायु प्रणाली को इड़ा और दाहिनी को पिंगला कहते हैं। यह प्राणवाहक नाड़ियाँ है। इड़ा में चन्द्र का और पिंगला में सूर्य का वास है। इसी कारण इड़ा शीतल और पिंगला उष्ण है। इड़ा नासिका के वाम और पिंगला दाहिने रंध्र से चलती है। इनमें से प्रत्येक ढाई-ढाई घड़ी चलती है उन्हीं के अनुसार स्वर बदलते रहते हैं। उक्त दोनों नाड़ियों के चलते रहने पर मनुष्य सांसरिक कामों में लगा रहता है।

नाड़ी मंडल में सुषुम्ना सबसे महत्त्वपूर्ण है। सारा ब्रह्मांड इसी पर स्थित है और यही मोक्ष का मार्ग है यह गुदा मार्ग के पिछले भाग में स्थित मेरूदंड से लगी हुई सर में स्थित ब्रह्मरंध्र तक चली गई है। इसके दाहिने तरफ़ पिंगला और बायीं तरफ़ इड़ा स्थित है। इसके जागृत होते ही योगी का वास्तविक कार्य होने लगता है। उसकी समाधि लगने लगती है और वह संसार से विमुख हो जाता है। योगी लोग सुषुम्ना में प्रवेश करके महाप्रयाण का समय बदल देते हैं।

इसीलिए कहते हैं कि सुषुम्ना नाड़ी कालभक्षक या काल रोधक है। इसी कारण योगी लोग सदा अपने प्राण को सुषुम्ना में जिसे ब्रह्म नाड़ी भी कहते हैं चलाने का प्रयत्न करते हैं। यह बहत्तर हज़ार नाड़ियों को भेदकर सब को व्याप्त कर रहती है।

यह तीनों नाड़ियाँ प्राण वाहक नाड़ियाँ है और चन्द्रमा, सूर्य व अग्नि क्रम से उनके देवता है। सुषुम्ना के समय ध्यान अच्छा लगता है। सुषुम्ना के चलते समय ध्यान का अभ्यास करते-करते कुंडलिनी जागृत हो जाती है और वह सुषुम्ना में होती हुई षट्चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर चढ़ने लगती है। उस समय योगी को अनेक प्रकार के अनुभव शक्तियाँ और आनन्द प्राप्त होने लगते हैं। इस नाड़ी को स्थिर करके प्राणायाम करने से वह शीघ्र सिद्ध होता है।

कुंडलिनी व षट्चक्रों का विवरण अलग प्रकरण में दिया गया है।

भगवान् शंकर महादेव के ग्रन्थ शिव स्वरोदय में भिन्न-भिन्न कार्य के लिए भिन्न-भिन्न नाड़ियों का चलना आवश्यक बतलाया गया है। अमुक कार्य के लिए अमुक नाड़ी ही चले ऐसा विधान है। इसका विवरण स्वरशास्त्र प्रकरण में दिया गया है।

फेफड़े

हमारे शरीर में श्वास लेने के दो फेफड़े छाती के अन्दर दोनों तरफ़ होते हैं उन दोनों को जोड़ती हुई श्वास नलिका नाक तक चली गई है। दोनों फेफड़ों के बीच में हृदय है जहाँ रक्त जमा होता है और उसी के पास बड़ी-बड़ी श्वास नाड़ियाँ हैं शरीर में फेफड़े मुख्य अङ्ग हैं प्राणायाम के अभ्यास के फेफड़े पुष्ट होते हैं इसी कारण प्राणायाम करने वालों का स्वर गम्भीर मधुर व आकर्षक होता है।

अब ज़रा विचारिए कि वह कौन-सी शक्ति है जिसने इस आश्चर्यजनक शरीर को बनाया और शरीर के सारे अङ्गों को गतिशील कौन करती है? उस सर्व शक्तिमान परमात्मा के सिवाय भला और कौन-सी दूसरी शक्ति हो सकती है? वही ईश्वरीय शक्ति इसी प्रकार

अप्रगट रूप से सारे संसार का संचालन करती है अतएव उन्हीं जगदीश्वर का अपने शरीर और सभी सांसारिक वस्तुओं में अस्तित्व अनुभव करिए। उन्हीं भगवान् की प्रार्थना करते हुए उनके गुणानुवाद गाइए तथा सदा उन्हीं का ध्यान करिए।

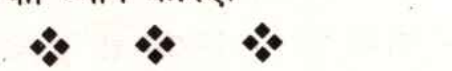

प्राणायाम

प्राणायाम सम्बन्धी आवश्यक बातें

प्राणायाम सम्बन्धी ग्रन्थों व योगियों के आदेशानुसार प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल व अर्धरात्रि के समय अर्थात् प्रतिदिन नियमपूर्वक चार बार प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्येक बार में १० प्राणायाम से आरम्भ करके और प्रतिदिन पाँच-पाँच बढ़ाकर पन्द्रह दिन के पश्चात् अस्सी-अस्सी प्राणायाम प्रतिबार करते हुए दिन भर में ३२० प्राणायाम करें। उत्तम प्रकार के इतने प्राणायामों के करने में कम से कम छः घन्टे का समय लगेगा। इतना समय और परिश्रम हर एक साधक के लिए बिल्कुल ही असम्भव है। अतएव साधारण स्थिति के साधकों को अपनी शक्ति और सुविधानुसार करना चाहिए। सम्भव हो तो दस से आरम्भ करके चालीस तक बढ़ावे अर्थात् प्रतिदिन १६० प्राणायाम करे। कुम्भक के समय को क्रमशः बढ़ावे अथवा हानि होने का भय रहता है। अभ्यास करते समय जल्दी न करके बहुत ही शांति और धैर्यपूर्वक करना चाहिए। यदि किसी दिन थकावट मालूम हो तो उस दिन संख्या कम कर दे या फेफड़ों को पूरा विश्राम दे दे। यदि सुविधापूर्वक अभ्यास चार बार न कर सके तो प्रातः व सायंकाल दो बार ही करे। गर्मियों के दिनों में सायंकाल का अभ्यास कुछ देर में ठंडक हो जाने पर करे।

प्राणायाम करते समय फुफ्फसों (फेफड़ों) को शिथिल रखे ताकि वह अधिक वायु को ग्रहण कर सकें व कुम्भक अधिक समय तक हो सके। फुफ्फस कड़े रहने से पूरक भी अधिक मात्रा में न हो सकेगा

और न वायु के प्रभाव से वे निर्बल भी हो जाएँगे जिससे वायु फुप्फसों में भरा रहेगा और दूषित होकर डकारों के रूप में बराबर निकलता रहेगा। यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो तो अभ्यास बन्द कर देना चाहिए और कुछ दिनों तक केवल आसनों का ही अभ्यास करे। उक्त दशा में शीर्षासन के अभ्यास से फुप्फस बलवान् हो जावेंगे। दो-तीन महीने बाद फिर प्राणायाम का अभ्यास करने पर यदि उक्त दशा ही मालूम पड़े तो राजयोग का मार्ग ग्रहण करें। प्राणायाम न करें।

प्राणायाम के अभ्यास के समय मूलबंध तो आरम्भ से अन्त तक बहुत दृढ़ रखना चाहिए। मूलबंध दृढ़ रहने से मलावरोध न होकर मलमूत्र नियमित रूप से निकलता रहेगा। मल दोष न रहने से नाड़ियाँ शुद्ध हो जावेंगी और रक्त संचालन ठीक होने से नाद भी खुल जावेंगे तथा अपान तत्त्व प्राणतत्त्व से मिलकर मस्तिष्क में जाने लगेगा व कुंडलिनी जागृत होगी। मूलबंध दृढ़ न होने से फुप्फस वायु के आघातों से कमजोर हो जावेंगे और मलावरोध होकर जल्दी थकावट मालूम होने लगेगी।

पूरक करने के पश्चात् तुरन्त ही जालंधर बंध लगाना चाहिए। सिर को आगे झुकाकर ठोड़ी को कंठ और छाती के संधि स्थान कंठकूप में दृढ़तापूर्वक लगावे जिससे उस स्थान पर स्थित विशुद्ध चक्र पर दबाब पड़े। इससे कंठस्थित श्वासमार्ग का निरोध होता है और फुप्फसों से वायु उछलकर घण्टिका के ऊपर के भाग में आघात नहीं करती। इस बंध से समस्त शरीर के ज्ञानतन्तु बलवान् होते हैं क्यों कि जालंधर बंध (विशुद्ध चक्र) का सम्बन्ध पादांगुष्ठ, गुल्फ जानु (घुटने) उरु, (जाँघ) सविनी का मूत्रेन्द्रिय, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लम्बिका (घण्टिका), नासिका भ्रू, कपाल, मूर्द्धा (कान के पीछे का भाग) और ब्रह्मरंध्र आदि सोलह आधार स्थानों से हैं। ज्ञानतंन्तु का स्थान मस्तिष्क है फिर भी नीचे के अवयवों का नियमन केन्द्र स्थान के अनुकूल करना और उनका सन्देश ऊपर केन्द्र स्थान में भेजना यह दोनों कार्य विशुद्ध चक्र करता है। अतएव

प्राणायाम के समय मस्तिष्क पर वायु का आघात न पहुँचने देना इसी बंध पर निर्भर है और इसके दृढ़ होने से मस्तिष्क व सब ज्ञान तन्तुओं का रक्षण होता है। इसके ठीक न होने से अनेक स्थानों में विकृति होने लगती है विशेषकर नाक, नेत्र और मस्तिष्क में विकार व वात प्रकोप जन्य व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

जालंधर बंध का अभ्यास पाँच मिनिट से आरम्भ करके क्रमशः समय बढ़ावे। गर्दन में दर्द मालूम होने पर तेल मालिश कर देने या दो एक दिन विश्राम लेने से ठीक हो जाएगा।

रेचक के समय धीरे-धीरे उस वक़्त तक उड्डीयान बंध लगाया जाय और जालंधर बंध खोला जाय जब तक वायु पूर्ण रूप से न निकल जाय। इसके पूर्ण रीति से करने से त्रिधातुओं के विकार से उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं और त्रिधातु सम अवस्था में हो जाते है व सुषुम्ना मार्ग शुद्ध होकर प्राण तत्त्व उर्ध्वगमन करता है। इस बंध को 'मृत्युमातंग केसरी' अर्थात् मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने वाला सिंह कहते हैं। इसी कारण यह सबसे उत्तम बंध माना जाता है। इसके करने से फुफ्फस और आमाशय निर्बल हो जाते हैं।

प्राणायाम का अभ्यास करने के पहले तीनों बंधों का अभ्यास कर लेना चाहिए।

कुम्भक इतना ही करे जितने में रेचक धीरे धीरे हो सके। पूरक भी इसी प्रकार धीरे-धीरे करे। पूरक जल्दी करने से एक तो फुफ्फुस कोषों को आघात पहुँचता है, दूसरे कुम्भक देर तक नहीं होता। रेचक जल्दी करने से फुफ्फुस व नाड़ियों में क्षोभ उत्पन्न होकर फुफ्फुस, हृदय, नासिका, नेत्र, कर्ण, मस्तिष्क आदि अवयवों को हानि पहुँचती है। अतएव रेचक आन्तरिक बल से बहुत धीरे धीरे करना चाहिए। इसके बाद एक दो सेकिण्ड कुम्भक करके फिर पूरक करना चाहिए। बाह्य कुम्भक से फुफ्फुस कोष अधिक बलवान् होते हैं।

उत्तम प्राणायाम में कुंभक पचास सेकिण्ड, मध्यम में तेंतील और

कनिष्ठ में सोलह सेकिण्ड होना चाहिए। पूरक से दुगुना समय रेचक में और रेचक से दुगुनासमय कुंभक का होना चाहिए। उत्तम प्राणायाम में प्रवेश करने पर भस्रा प्राणायाम के अभ्यास से कुंभक का समय बढने व रेचक का समय कुछ घटने लगता है पाँच मिनिट से अधिक हो जाने पर दो बार पूरक किया जा सकता है।

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश करने पर भस्रा प्राणायाम के अभ्यास से कुम्भक का समय शीघ्र बढ़ने लगता है व रेचक का समय कुछ कम हो जाता है। क्योंकि फुफ्फुस का कुछ वायु प्राण तत्त्व में रूपान्तरित हो जाता है। कुम्भक का अभ्यास पाँच मिनिट हो जाने पर दो बार पूरक द्वारा करने के बाद रेचक करना चाहिए। प्राणायाम में पूरक जो वायु ग्रहण किया जाता है वह शरीर के अन्य भागों में न जाकर फुफ्फुस में जाता है और दूषित वायु जो आमाशय में उत्पन्न होती है वह डकार द्वारा तथा आँतों में उत्पन्न होने वाली गुदा द्वारा निकल जाती है। जो पाँच प्रकार के वायु शास्त्रकारों ने बतलाएँ है वह सब प्राण तत्त्व हैं। प्राण तत्त्व और वायु में अन्तर है। प्राण तत्त्व वायु का रूपान्तर है। इस प्राण तत्त्व का दूसरा भेद अपानतत्व प्राण तत्त्व के साथ मिलकर सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ता है। जब वह पूर्व मार्ग से चढ़ता है तब नेत्र से भ्रू स्थान में प्रकाश मालूम होने लगता है। नीले, लाल, सफ़ेद, पीले आदि तरह-तरह के रंग दिखाई पड़ते हैं। इस रीति से प्राणों की उर्ध्वगति करने की क्रिया को ही कुंडलिनी जागृति कहते हैं। यही अवस्था आगे बढ़ने पर उन्मनी अवस्था और समाधि कहलाती है।

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने के बाद प्राण तत्त्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ में वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिणाम में ऊपर चढ़ता है। उपरांत तीनों ग्रन्थिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेंढक की गति से कूद कर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्रा प्राणायाम द्वारा कुम्भक बढ़ने से ग्रन्थियों के भेद न होने पर विहंगम (पक्षी) की तरह

उड़कर शीघ्र प्राण तत्त्व सहस्रदल कमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्क में जाने लगता है उस समय मस्तिष्क में भारीपन मालूम होता है। कुछ दिनों में मस्तिष्क का शोधन होकर सहनशीलता बढ़ जाती है, जिससे कष्ट नहीं मालूम होता। एकाध वर्ष के बाद जब प्राण तत्त्व अधिक वेग से गति करने लगता है तब मन की एकाग्रता होकर आनन्द का अनुभव होने लगता है।

प्राणायाम के अभ्यास के बाद शांति के लिए शवासन व नादानुसन्धान करना चाहिए। आसन और विपरीत करणी मुद्रा करनी हो तो प्राणायाम को पहले सुबह करे। संध्या समय न करे। विपरीत करणी रात्रि को हानिकर है। कुछ देर विश्राम के पश्चात् गुनगुने जल से स्नान करके संध्या वन्दन करे। अभ्यास के बाद आवश्यकतानुसार गरम किया हुआ दूध ठंडा करके पिये।

उत्तम प्राणायाम का अभ्यास हो जाने पर खेचरी का अभ्यास किया जा सकता है। कोई-कोई आचार्य चालीस प्राणायाम का अभ्यास हो जाने पर महाबंध और महावेध का अभ्यास कराते हैं, परन्तु यह निर्बलों के लिए हानिकारक है।

आसन और विपरीत करणी मुद्रा करनी हो तो प्राणायाम से पहले सुबह करे। शाम को व रात्रि को विपरीत करणी हानिकारक मानी गई है।

अभ्यास के आरम्भ में भोजन घी और दूध का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए ताकि प्राणायाम से उत्पन्न गर्मी शरीर को कष्ट न पहुँचा सके।

प्राणायाम से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तर्नाद सुनाई देने लगता है व स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाता है। निरन्तर अभ्यास से जब नाड़ी चक्र शुद्ध हो जाते हैं, तब धीरे-धीरे श्वास सुषुम्ना नाड़ी में भी प्रवेश करने लगता है। कुम्भक के समय गर्दन की और गुदा की मांस पेशियों के आकुंचन से प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है और उसके

इस नाड़ी में प्रवेश करते ही साधक संसार से मृत होकर समाधि की अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

अपान वायु को ऊपर खींचने और प्राणवायु का गले की सहायता से नीचे दबाने का अभ्यास करते करते योगी जरावस्था से मुक्त होकर बिल्कुल युवा हो जाता है। नाड़ियों के शुद्ध होते ही साधक के शरीर पर विशेष चिन्ह प्रकट होने लगते है। शरीर का हल्का होना, चेहरे पर तेज का बढ़ना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, शरीर दुबला होना, सुस्ती का नष्ट होना आदि नाड़ी शुद्धि के लक्षण हैं।

जो रोग किसी भी प्रकार के इलाज से अच्छे नहीं होते वे प्राणायाम के अभ्यास से जड़ से अच्छे हो जाते हैं।

प्राणायाम करने के लिए किसी न किसी आसन से बैठना पड़ता है अतएव प्राणायाम आरम्भ करने के पहले पद्म, स्वस्तिक, सुखासन, सिद्धासन आदि किसी न किसी आसन का अभ्यास कर लेना चाहिए। आसन सिद्ध कर लेने से प्राणायाम करने में सुविधा होती है।

जिस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने के पहले आसन सिद्ध कर लेना अनिवार्य है उसी तरह षट्कर्म भी है। सम्पूर्ण नाड़ी मंडल शुद्ध होने के उपरान्त ही योगी में प्राण वायु रोकने की शक्ति आती है। जिसके शरीर में चर्बी और कफ़ अधिक हो उसे षट् क्रिया अच्छी तरह करनी चाहिए, जिसमें यह दोष न हो वह षट् कर्म न करे।

चार अङ्गों की पूर्ति

आसनों व षट्कर्मो के सिवाय प्राणायाम के अभ्यासी को आगे लिखे चार अङ्गों की पूर्ति करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(१) ब्रह्मचर्य (२) सिद्ध योगी के तत्वावधान में रहना (३) अनुकूल संगति (४) हितकारी भोजन अर्थात् अधिक नमकीन,

अधिक मीठा, कोई खट्टी, नशीली व कड़वी चीज़ न खाये पिये।

इन नियमों के पालन न करने से भयंकर हानि, उन्माद, हृदय व श्वास आदि रोग हो सकते हैं।

प्राणायाम सम्बन्धी नियम

(१) ध्यान या प्राणायाम के आरम्भ करने के पहले अपने गुरु इष्ट देव की मूर्ति अथवा चित्र की मानसिक पूजा या ध्यान करना चाहिये तथा ॐ श्री गणेशाय नमः कहकर अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिए।

(२) बैठने के स्थान को यदि सम्भव हो तो धूप या अगरबत्ती आदि जलाकर व जल छिड़क कर शुद्ध कर लेना चाहिए।

(३) आसन के लिए कम्बल को चौपर्त करके उस पर एक साफ़ कपड़ा बिछा ले और उत्तर की तरफ़ मुँह करके बैठे।

(४)प्राणायाम के लिए नीचे लिखी पाँच वस्तुएँ आवश्यक है।

(१) उत्तम स्थान (२) उचित समय (३) साधारण हल्का एवं पुष्टकारी भोजन (४) उत्साह, शुद्ध चित्त व धैर्य के साथ लगातार अभ्यास (५) नाड़ी शुद्धि। नाड़ी शुद्ध होने पर योग की प्रथम अवस्था प्राप्त हो जाती है।

(५) एक बार में लगभग डेढ़ घन्टे तक श्वास को रोकने का अभ्यास हो जोने से अद्‌भुत् शक्तियाँ प्राप्त होती है। यह अभ्यास प्राणायाम जानने वाले गुरु की अध्यक्षता में करना चाहिए।

(६) तीन मिनिट तक बिना किसी सहायता के श्वास रोकने से नाड़िया काफ़ी शुद्ध होकर चित्त स्थिरता को व शरीर स्वस्थता को प्राप्त हो जाता है।

(७) प्राणायाम के अभ्यास के लिए जहाँ तक सम्भव हो एकांत, सुन्दर, रमणीक व शांत स्थान होना चाहिए। जहाँ जल दूध व खाद्य पदार्थों की सुविधा हो।

(८) प्राणायाम का अभ्यास बसंत या शरद् ऋतु से अर्थात् मार्च-अप्रैल या सितम्बर-अक्टूबर से आरम्भ करे।

(९) योगशास्त्र के निपुण और कुशलता प्राप्त गुरु की शरण में जाकर तथा उनकी सेवा करके श्रद्धा के साथ शिक्षा ग्रहण व शंकाओं का समाधान करे।

(१०) प्राणायाम के अभ्यासी को सदैव वैराग्य, धर्म, श्रद्धा, भक्ति आदि की वृद्धि व पुष्टि तथा उसे सदा प्रत्येक के साथ प्रिय, मधुर व सत्यता का व्यवहार करना चाहिए।

(११) आध घण्टे से एक घण्टे तक एक आसन पर लगातार बैठ सकने पर भी प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है।

(१२) प्राणायाम के अभ्यास का उपयुक्त समय प्रातः ४ बजे १० बजे दिन, ५बजे शाम (गर्मियों में ७-८) रात में १० बजे से १२ बजे तक। अभ्यास के अनुसार संख्या बढ़ते-बढ़ते ३२० तक हो जायगी।

(१३) प्राणायाम के अभ्यास के पहले नाक अच्छी तरह साफ़ कर लेनी चाहिए। अभ्यास के बाद यदि नहाना हो तो आधा घंटा ठहर कर नहावे।

(१४) जब कभी किसी तरह की उदासी, घबराहट व सुस्ती मालूम हो, तो प्राणायाम से उसी समय शरीर में उत्साह, स्फूर्ति व चैतन्यता आ जावेगी व आनन्द प्राप्त होगा तथा लिखने पढ़ने में मन लग जाएगा।

(१५) प्राणायाम के आरम्भ में उन्नति के विचार से समय और मात्रा का ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। अभ्यास करते करते बाद में स्वयं ही इसका अनुभव होने लगता है। फेफड़े स्वयं इसकी सूचना देते हैं। प्राणायाम के समय सीना तना रहना चाहिए।

(१६) इतना अधिक प्राणायाम न करे कि थक जाय बल्कि

उतना करे जिसमें चित्त प्रसन्न और उत्साहित रहे, बहुत से नियमों के भी बन्धन ठीक नहीं।

(१७) श्वास हमेशा बहुत धीरे-धीरे लेनी व छोड़नी चाहिए, भस्त्रिका, कपाल भाँति, शीतली व शीतकारी प्राणायाम में बहुत धीमा शब्द होना चाहिए। किसी भी अवस्था में दम घुटने का कष्ट न प्रतीत हो। रेचक के पश्चात् कुछ देर ठहर कर फिर करें।

(१८) नित्य के अभ्यास के लिए एक दो रुचिकर प्राणायाम चुन ले। भस्त्रिका, कपाल भाँति व सुख साध्य प्राणायाम का नित्य अभ्यास करते हुये शीतली व शीतकारी का कभी-कभी अभ्यास दूसरी बार करे।

(१९) कुम्भक वह अवस्था है जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों क्रियाएँ बन्द रहती है व शरीर निश्चल रहता है। उस अवस्था में अभ्यासी प्रज्ञाचक्षु से देखता, बहिरों की तरह सुनता और शरीर को लकड़ी की तरह अनुभव करता है। कुम्भक की पूर्णता का यही लक्ष्ण है।

(२०) भय, क्रोध, आलस्य न अधिक सोना, न अधिक जागना, न अधिक भोजन, न अधिक उपवास आदि नियमों का पालन नित्य प्रति कठोरता से करने पर योगाभ्यासी को तीन महीने में आत्म ज्ञान, चार महीने में देव दर्शन, पाँच महीने में ब्रह्मनिष्ठ और छः महीन में कैवल्य पद प्राप्त हो सकता है इसमें संदेह नहीं।

(२१) नये अभ्यासियों को पहले पूरक व रेचक का ही अभ्यास करना चाहिए। बैठे-बैठे चलते-फिरते भी अभ्यास करने से लाभ होता है।

(२२) कुम्भक का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाकर पहले सप्ताह में ४ सेकिण्ड दूसरे में ८ व तीसरे में १२ करे तथा इसी प्रकार अपनी शक्ति भर आराम के साथ रोकने का अभ्यास करे।

(२३) अपने अभ्यास में युक्ति से काम लें। यदि कोई अभ्यास उपयुक्त न बैठे तो उसके कारणों का विचार करे, गुरु या किसी

अनुभवी से सम्मति लेकर परिवर्तन कर दे।

(२४) गर्मियों में प्रातःकाल एक बार ही अभ्यास करना चाहिए। सिर में गर्मी मालूम होने पर आँवले का तेल या मक्खन लगाए।

(२५) अभ्यास के नियम पहले आदि से अन्त तक पढ़कर अच्छी तरह समझ लीजिए। कहीं संदेह हो या जो समझ में न आता हो उसे गुरु व किसी अनुभवी से समझ लेना चाहिए।

(२६) सूर्य भेद, उज्जायी से शरीर में गर्मी, शीतकारी व शीतली से ठंडक पैदा होती है तथा भस्त्रिका से शरीर का तापमान स्थिर रहता है। सूर्यभेद से वायु का अधिक नष्ट, उज्जायी से कफ़ और श्लेष्मा, शीतली व शीतकारी से पित्त तथा भस्त्रिका से वात, पित्त और कफ़ तीनों प्रकार के विकार शांत होते हैं।

(२७) सूर्य भेद व उज्जायी का अभ्यास जाड़ों में, शीतली व शीतकारी का गर्मी में तथा भस्त्रिका का अभ्यास हर समय किया जा सकता है। अपनी प्रकृति के अनुसार इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है।

(२८) आध्यात्मिक सफलता आसन, प्राणायाम, जप, ध्यान, ब्रह्मविचार, सत्संग, एकांतवास, मौन, निष्काम, कर्म, सत्य, अहिंसा व ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। हठ योग के अभ्यास बिना राज योग कठिनता से सफल होता है। कुम्भक के अन्त में मन को सब पदार्थों से हटा लेने के अभ्यास ही से राज योग में प्रवेश हो जाएगा।

(२९) वेदान्त का अध्ययन करने वाले प्राणायाम पर अधिक ध्यान नहीं देते परन्तु जब तक वे साधन चतुष्टय अर्थात् शमदमादि की षट् सम्पत्ति में निष्णात न हो जावें उस समय तक उनको आसन व प्राणायामादि का अभ्यास करते रहना चाहिए।

(३०) अभ्यास करने में कभी संकोच न करे और न कभी ऐसे गुरु के पाने की ही प्रतीक्षा करे जो सदैव पास बराबर बैठकर अपने सामने अभ्यास कराता रहे। यदि लगन सच्ची है, अभ्यास- विधि व नियम ठीक है और यदि इस पुस्तक में बतलाई हुई विधियों के

अनुसार सावधानी से अभ्यास किया जाय तो किसी प्रकार का कष्ट न होगा तथा अवश्य सफलता मिलेगी। आरंभिक कठिनाईयों, विघ्न बाधाओं से घबड़ाकर अभ्यास न छोड़कर धैर्य, युक्ति व सावधानी से काम लेने पर अन्तरात्मा, ज्ञानशक्ति किसी न किसी प्रकार मार्ग-प्रदर्शन करेगी और आप सच्चे योगी हो जायेंगे।

(३१) प्राणायाम खाली पेट ही अच्छा होता है। अन्यथा श्वास की मात्रा में कमी हो जाती है।

(३२) जीवन का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार करना है, यदि आपकी लगन सच्ची है और आप उपयुक्त लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं तो सांसारिक जीवन में आने वाली विघ्न बाधाओं को दूर करने के लिए बिना हिचकिचाहट व निष्ठुर होकर साहस के साथ विरक्त होकर ईश्वर पर विश्वास करके अभ्यास व साधना कीजिए। परमात्मा आपकी अवश्य सहायता करेंगे।

(३३) समय व संख्या की मात्रा जानने के लिए अभ्यास के समय ॐ का उच्चारण करते रहना चाहिए। बल्कि ॐ का उच्चारण आसनों व दूसरे व्यायामों के साथ भी करने से संख्या जप दोनों काम हो जाते हैं।

(३४) प्राणायाम के समय छाती को ऊपर की तरफ ऊँची व चौड़ी और कमर सीधी व पेट ढीला रखे।

(३५) पूरक व रेचक करते समय साधारणतया कोई ज़ोर का शब्द नहीं होना चाहिए। विशुद्ध पूरक व रेचक वही है जिसमें शब्द न हो।

(३६) रेचक करते समय पसलियों और धड़ का सारा ऊपरी भाग साँस निकालने के साथ-साथ धीरे-धीरे सिकुड़ता जाय और नीचे वाली पसलियाँ और पेड़ू ऊपर खिंचते आवें।

(३७) शरीर व छाती को आगे बहुत कम झुकने दें। धड़ गर्दन एक सीध में रहना चाहिए।

(३८) साँस लेने वाली मांस पेशियों को ढीला करने से और छाती के स्वयं बैठने से श्वास भी स्वत: निकलने लगती है।

(३९) आरम्भ में श्वास लेने के पश्चात् ही उसे रोकने का प्रयत्न न करे बल्कि श्वास लेने के बाद ही उसे निकालना शुरू कर दे। जब इसका अच्छी तरह अभ्यास हो जाय तब पाँच सेकिण्ड से कुम्भक का अभ्यास आरम्भ करके धीरे धीरे बढ़ावे।

(४०) एक आवृत्ति करने के पश्चात् कुछ ठहर कर अर्थात् दो चार मिनिट विश्राम ले लेना चाहिए।

(४१) सूर्योदय और सूर्यास्त यह दो संध्याकाल हैं। इन दोनों संधि कालों के समय दोनों श्वास दो तीन मिनिट तक बराबर साथ-साथ चलते हैं अर्थात् उस समय सुषुम्ना नाड़ी चलती है। यह प्राणायाम अन्य साधनाओं के लिए अत्यन्त उपयुक्त समय है। यही कारण है कि संध्या उक्त दोनों संधियों के समय ही की जाती है। इसलिए उसे संध्या कहते हैं।

प्राणायाम करते समय निम्नलिखित स्थानों में दृष्टि स्थिर करना चाहिए तथा किन-किन स्थानों में दृष्टि स्थिर करने से क्या क्या लाभ होते हैं इसका विवरण इस प्रकार है।

(१) पैरों के अँगूठों पर दृष्टि करने से शरीर हल्का होता है।

(२) नाभि मूल पर दृष्टि स्थिर करने से सर्व रोगों का नाश होता है।

(३) नासाग्र पर दृष्टि स्थित करते हुए प्राणायाम करने से वायु पर अधिकार होता है। प्राणायाम के समय नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करने का उद्देश्य यह है कि नेत्रों के अधिक खोलने से क्षय होगा

और बिल्कुल बन्द करने से आलस्य से चित्त लय होगा। उस समय शाम्भवी मुद्रा की तरह नेत्र किंचित् खुले रखना चाहिए।

(४) भृकुटी मध्या जो कि द्विदल कमल है और शिवजी का निवास स्थान है। यहाँ महाकाल रूद्र लेटे हैं। जगदम्बा कुंडलिनी जागृत होकर इसी स्थान पर ठोकर लगाती है और उनके वक्षस्थल पर नृत्य करके उनमें जीवन का संचार करती हुई सहस्रदल पद्म में विहार करती है, तथा यहीं पर प्राणायाम सम्बन्धी इड़ा, पिंगला व सुषम्ना नाड़ियों का सम्बन्ध होता है।

❖ ❖ ❖

प्राणायाम के अङ्ग

इड़ा-पिंगला

प्राणायाम दोनों नासारंध्रो व मुँह से भी किया जाता है। इन दोनों नासांरध्रों में वाम को चन्द्र स्वर अर्थात् इड़ा व दाहिने को सूर्य स्वर अर्थात् पिंगला कहते हैं।

पूरक, कुम्भक व रेचक

जिन क्रियाओं द्वारा प्राणायाम किया जाता है उनको (१) पूरक (२) कुम्भक और (३) रेचक कहते हैं।

(१) **पूरक** - आकाशस्थ वायु को खींचकर पेट भरने को पूरक कहते हैं। इसे सदा धीरे-धीरे करना चाहिए क्योंकि शीघ्रता से किया गया पूरक हानि करता है। पूरक करते समय यह अनुभव करे कि दैवी शक्ति, कृपा, प्रेम, दया, सत्य, अहिंसा व ब्रह्मचर्य आदि मेरी अन्तरात्मा में प्रवेश कर रहे हैं।

(२) **कुम्भक**- पेट में भरे हुए वायु को अन्दर व बाहर के वायु को बाहर ही रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। कुम्भक दो प्रकार के होते हैं। (१) आन्तर कुम्भक (२) वाह्य कुम्भक।

(१) **आन्तर कुम्भक**- बाहर से खींचकर भरे हुए श्वास को अन्दर ही रोक रहने को कहते हैं।

(२) **वाह्य कुम्भक** - श्वास को बाहर निकाल कर फिर न लेना अर्थात् उसे फिर वहीं रोके रहने को कहते हैं।

कुम्भक

इसके और भी कई भेद हैं।

(१) **वाह्य कुम्भक** - आठ प्रणव (ॐ) के उच्चारण से रेचक करके सोलह से वाह्य कुम्भक करना और फिर चार से पूरक करना वाह्य कुम्भक है।

(२) **आभ्यन्तर कुम्भक**- बाहर के वायु को चार प्रणव से पूरक, सोलह से कुम्भक और आठ से रेचक करना आभ्यन्तर कुम्भक है।

प्रयत्नपूर्वक स्थिर किया हुआ कुम्भक बल वर्धक व लाभदायक होता है। कुम्भक में शिथिलता करना हानिकारक हैं। कुम्भक सदा उतना ही करे जिसमें रेचक धीरे-धीरे हो सके। रेचक के पश्चात् दो तीन सेकिण्ड कुम्भक करके फिर पूरक करें।

कुम्भक चलते, फिरते व खड़े होते किसी भी अवस्था में किया जा सकता है।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कुम्भक करने योग्य हैं। जिस मात्रा में आभ्यन्तर किया जाता है उसी में बाह्य भी किया जाना चाहिए। आरम्भ में अभ्यास करते समय कुछ कठिनाई मालूम होती है परन्तु धीरे-धीरे सरलता से होने लगता है और साथ ही में किया जा सकता है। बाह्य कुम्भक रेचक के पश्चात् किया जाता है और उसके पश्चात् ही फिर पूरक से आरम्भ किया जाता है अर्थात् पहले पूरक फिर अभ्यान्तर कुम्भक रेचक के उपरांत बाह्य

कुम्भक। इसी प्रकार चक्र चलता है।

(३) **रेचक**- पेट में रोके हुये वायु को बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। रेचक भी किसी विशेष क्रिया के सिवाय कभी भी शीघ्रता से नहीं करना चाहिए अन्यथा बल की हानि होती है। रेचक के समय यह अनुभव करे कि लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मद व मत्सर आदि आसुरी वृत्तियाँ मेरे शरीर से बाहर निकल रही है।

जिस नासिका से पूरक किया गया हो उससे कभी रेचक न करे परन्तु दोनों नासिकाओं से पूरक करने पर यथा कथित एक या दोनों से रेचक किया जा सकता है।

पूरक करते समय जो नाभि तक श्वास खींचता है उसे रेचक के सोलह अँगुल, जो हृदय तक खींचता है वह आठ अँगुल और जो नासिका के अन्दर ऊपरी अन्तिम भाग तक हीं खींचता है उसे चार अँगुल तक ही छोड़े।

मुँह-मुँह से जहाँ जैसा करने का आदेश हो उसके सिवाय मुँह से पूरक व रेचक न करें। मुँह से रेचक करना तो कभी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उससे बल का बहुत क्षय होता है।

प्राणायाम वाम नासारंध्र से आरम्भ करके क्रमशः दाहिने बाएँ से करें।

प्राणायाम का समय

प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए सूर्योदय के एक पहर पहले शौचादि से निवृत्त होकर स्नान संध्यादि करने के पश्चात् गुरु, इष्टदेव व सहस्रमुख वाले शेषनाग जो और उन पर लेटे हुए भगवान् लक्ष्मीनारायण का ध्यान करे। फिर रीढ़ सीधा करके जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके उसे लगाकर एकाग्र चित्त से अभ्यास आरम्भ करे।

धूप, अगरबत्ती आदि द्वारा वायु को शुद्ध कर ले।

संभव हो तो दिन रात में चार बार अर्थात सूर्योदय के पूर्व, मध्यान्ह, सायंकाल और अर्धरात्रि में दस से बारह बजे तक प्राणायाम का अभ्यास करे। यदि ऐसा न कर सके तो प्रातः मध्यान्ह और शाम को करे। यह भी न कर सकने पर प्रातः व सांयकाल ही करे।

गर्मियों में सुबह केवल एक चक्र का अभ्यास करे।

प्रणायाम के भेद (प्रकार)

प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं। (१) आभ्यन्तर वृत्ति (२)स्तम्भ वृत्ति (३) वाह्य वृत्ति

(१) **आभ्यन्तर वृत्ति**- चार प्रणव से पूरक, सोलह से आभ्यन्तर कुम्भक आठ से रेचक करने को कहते हैं।

(२) **स्तम्भ वृत्ति**- चार प्रणव से पूरक, आठ से रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं भी प्राणों को रोकने को कहते हैं।

(३) **वाह्य वृत्ति**- आठ प्रणव से रेचक, सोलह से वाह्य कुम्भक और चार से पूरक करने को कहते हैं। प्राणयाम के और भी कई भेद है जैसे (१) अगर्भ अर्थात अबीज और (२) सगर्भ अर्थात सबीज।

अगर्भ अर्थात अबीज- बीज (मंत्र) का उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसे कहते हैं।

सगर्भ अर्थात सबीज- ध्यान और मानस जप करते हुए जो प्राणायाम किया जाता है उसे कहते हैं।

प्राणायाम के समय चित्त को स्थिर करने के स्थानों को देश कहते हैं, यह भी दो प्रकार के होते हैं। (१)आभ्यन्तर देश(२) बाह्य देश।

आभ्यन्तर देश- प्राणवायु का नाभि, हृदय, कंठ या नासिका के भीतरी भाग तक को कहते हैं।

बाह्य देश- नासिका से बाहर सोलह अँगुल तक बाह्य देश कहलाता है।

प्राणायाम का अनुपात

प्राणायाम में संख्या और काल का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है अतएव इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि इनमें न्यूनाधिकता न होने पावे। इस सम्बन्ध में प्राणायामों के अनुसार पूरक, कुम्भक व रेचक के अनुपात का विवरण आगे दिया जाता है।

प्राणायाम	पूरक	कुम्भक	रेचक	बाह्य कुम्भक
(१) निकृष्ट	४	१६	८	१ सेकिन्ड
(२) मध्यम	६,८	२४,३२	१२,१२	२ "
(३) उत्तम	८,१६,३२	१६,६४,१२८	१६,३२,१२८	३,४,५"

ऊपर लिखे अनुपात के सिवाय द्वादश मात्रा में पूरक वाला प्राणायाम अधम होता है, इसके अभ्यास से शरीर में पसीना आता है। चौबीस मात्रा में पूरक वाला मध्यम होता है, उससे शरीर में कम्पन होता है और बत्तीस में पूरक वाला उत्तम होता है इससे वायु ब्रह्मरंध्र में ठहरती है।

जितनी संख्या और काल में पूरक किया जाय उतनी ही संख्या और काल रेचक व कुम्भक में भी लगाया जा सकता है अर्थात् पूरक, कुम्भक व रेचक का अनुपात क्रमशः १,४,२ है।

प्रत्येक बार कम से कम दस प्राणायाम करना चाहिए।

बारह प्राणायामों की एक आकृति व प्रत्याहार कहलाता है। १२X१२ अर्थात् १४४ की एक धारणा होती है। १२X१२X१२ अर्थात् १७२८ का एक ध्यान होता है व १२X१२X१२X१२ अर्थात् २०७३६ प्राणायामों की एक समाधि होती है। इतने प्राणायाम एक ही बैठक में करने होते हैं। अन्तिम साधन केवल अभ्यस्त योगी ही सात दिन तक अहोरात्र सतत उसी में लगाकर कर सकता है।

प्राणायाम की संख्या व अनुपात क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। इसमें जल्दी नहीं करनी चाहिए अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावना रहती है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाकर प्रत्येक समय अस्सी के अनुपात से चार बार (प्रातः, दोपहर, सायंकाल व रात्रि) में ३२० मर्तबा तक किया जा सकता हैं।

आरम्भ अवस्था में शरीर से पसीना निकलता है। प्राणायाम करते करते जब शरीर में कम्प होने लगे तो उसे मध्यमावस्था कहते हैं। जब शरीर ज़मीन से उठकर अधर अवस्था में ठहरने लगता है तब उसे अन्तिम अवस्था कहते हैं।

पसीना आने पर शरीर को हाथ से खूब रगड़ने से शरीर हल्का और बलवान् होता है।

प्राणायाम के प्रकार

नाड़ी शोधक प्राणायाम

(१) अनुलोम-विलोम (२) नाड़ी-शोधक (३) अभ्यासिक ।

अन्य प्राणायाम

(१) सूर्यभेदी (२) उज्जायी (३) शीतकारी (४) शीतली (५) भस्त्रा अथवा, भस्त्रिका (६) भ्रमरी (७) मूर्च्छा (८) प्लावनी (९) कपालभाति (१०) तालयुक्त (११) कुण्डलिनी जागृत करने वाला (१२) सुखसाध्य (१३) चलते-फिरते में प्राणायाम (१४) शवासन में प्राणायाम (१५) केवल कुम्भक (१६) सूर्यचक्र पर ध्यान लगाने वाला प्राणायाम।

नेति, धौन्नि, कपालभाति आदि क्रियाओं द्वारा नाड़ी शोधन किया जाता है परन्तु प्रत्येक विशेषकर दुर्बल मनुष्यों के लिए यह सम्भव और सुलभ नहीं है क्योंकि यदि उक्त क्रियाएँ उचित रीति से न की गई तो दु:साध्य व्याधियों से नाना प्रकार के कष्ट भोगना तथा यमराज का मेहमान बनना पड़ता है।

वर्तमान काल का विचार करके जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य ने नाड़ी शोधन की आगे लिखी अनुलोम-विलोम नामक अत्यन्त सरल विधि बतलाई है, जिसके द्वारा नाड़ी शोधन की क्रिया दो तीन महीने में सिद्ध हो जाती है और उसमें किसी प्रकार की हानि का भी भय नहीं ।

आसन सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम आरम्भ करने के पहले नाड़ी शोधन की क्रिया आरम्भ करे।

अनुलोम-विलोम

(१)

स्थिर भाव से किसी आसन में सुख से बैठकर दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका को बन्द कर बायीं नासिका से पूरक करे और वायु को ज़रा देर भी न रोककर अनामिका व कनिष्ठिका अँगुलियों से बायीं नासिका को बन्द करके दाहिनी नासिका से धीरे-धीरे रेचक कर दे। इसी प्रकार दाहिनी नासिका से पूरक करके बायीं से रेचक करे। इस प्रकार प्रथम तीन बार, पश्चात् क्रमशः पाँच, सात व अधिक संख्या बढ़ावे। इसको किसी भी ऋतु में किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रातः, दोपहर, सायंकाल व अर्धरात्रि के समय अर्थात् चार बार नियमपूर्वक अभ्यास करने से यह क्रिया सिद्ध हो जाएगी। अभ्यास करते करते कभी-कभी मन प्रफुल्ल हो उठता है व नाक में सुगन्ध मालूम होने लगती है। यह लक्षण जब प्रकट होने लगे तब इस क्रिया को सिद्ध समझना चाहिए।

(२)

सुखासन अथवा पद्मासन आदि किसी आसन से सुख पूर्वक बैठकर नीचे लिखे अनुसार अभ्यास करे।

(१) बायीं नासिका को अँगूठे से बन्द कर दाहिनी नासिका से ज़ोर से श्वास लेकर ज़ोर से छोड़ दे।

(२) दाहिनी नासिका को बन्द करके बायीं नासिका से उसी तरह ज़ोर से श्वास लेकर ज़ोर से छोड़ दे।

(३) दोनों नासिकाओं से श्वास लेकर बाएँ से और बाएँ से लेकर दाहिनी से धीरे-धीरे छोड़े।

उक्त तीनों अभ्यास लगातार साथ-साथ नहीं बल्कि एक ही समय क्रमशः जितनी-जितनी भी संख्या में हो सके करे। संख्या धीरे-धीरे बढ़ावें।

❖ ❖ ❖

नाड़ी शोधक प्राणायाम

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि नाड़ियों में जब तक मल भरा रहता है तब तक वायु सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश नही कर पाता। अतएव प्राणायाम का अभ्यास करने के पहले नाड़ियों की सफ़ाई कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। समानु और निर्मानु नामक दो उपायों से भी नाड़ी शुद्ध होती है। समानु उपाय में बीज मंत्र के जप द्वारा और निर्मानु उपाय में षट्कर्मों द्वारा नाड़ी शुद्ध की जाती है।

विधि

(१) पद्मासन से बैठकर धूम्रवर्ण के वायु बीज वं का ध्यान करिए। बायीं नासिका से श्वास लेकर पूरक करते समय सोलह बार वायु बीजाक्षर को मन में जपिए। इसी प्रकार मन में चौसट बार उसी बीजाक्षर का जप करते हुए कुम्भक करिए और बत्तीस बार बीज मंत्र के जप में दाहिनी नासिका से रेचक करिए।

(२) नाभि में अग्नि तत्त्व का स्थान है। अग्नि तत्त्व का ध्यान करते हुए दक्षिण नासिका से अग्नि बीज रं का सोलह बार मानसिक जप के साथ पूरक करिए। पश्चात् चौसठ बार उसी बीज का जप करते हुए कुम्भक और बत्तीस बार जप करते हुए बायीं नासिका से रेचक करिए।

(३) चन्द्रमा (भ्रूमध्य) पर अपनी दृष्टि स्थिर करिए और वाम

नासिका द्वारा सोलह बार व बीज का मानसिक जप करते हुए पूरक करिए।

पश्चात् चौसठ बार उसी का जप करते हुए कुम्भक करके बत्तीस बार पृथ्वी बीज लं का जप करते हुए दक्षिण नासिका से रेचक करिए। कुम्भक के समय ऐसा ध्यान करिए कि चन्द्रमा से प्रवाहित होने वाला अमृत सारे शरीर की रग-रग में बह कर नाड़ी शुद्ध कर रहा है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्राणायामों में किसी का भी अभ्यास करने से नाड़ियाँ शुद्व हो जाती हैं। इसके उपरांत अपने नित्य के अभ्यास. वाले आसन पर बैठकर साधारण प्राणायाम का अभ्यास करिए।

शांडिल्य उपनिषद् के मतानुसार नाड़ी शोधक प्राणायाम लगातार कई महीनों तक नित्य कम से कम दो बार करना चाहिए, देह की कृशता, कान्ति इच्छानुसार वायु धाारण करने की सामर्थ्य, अग्नि वृद्धि, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्यता आदि लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जाए तब समझना चाहिए कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गई।

अभ्यास नं. 1

पद्मासन या सिद्धासन से बैठकर तथा मूलबंध लगाकर वाम नासापुट से थोड़ा रेचक करके परूक करना चाहिए। पश्चात् जालंधर बंध लगाकर कुम्भक करना चाहिए, अन्त में जालंधर बंध को खोलकर और उड्डियान बंध लगाकर दक्षिण नासापुट से धीरे-धीरे रेचक करना चाहिए। पुनः एक सेकिण्ड बाह्य कुम्भक करके दक्षिण पुट से पूरक करना चाहिए। फिर आन्तरिक बल के अनुसार कुम्भक करके वाम स्वर से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं। पुनः एक सेकिण्ड वाह्य कुम्भक करके पूर्वानुसार आवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार एक साथ दस प्राणायाम करना चाहिए फिर

प्रतिदिन पाँच-पाँच प्राणायाम बढ़ाकर एक सप्ताह में उसकी संख्या चालीस कर देनी चाहिए।

अभ्यास नं. 2

मूलबंध लगाकर सिद्धासन, पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन से बैठकर पहले शरीरस्थ समस्त अशुद्ध वायु को नासिका द्वारों से निकाल दे (ऐसा करने से पेट खाली हो जाने के कारण स्वभावत: अन्दर चला जाएगा उसे उसी दशा में रोकते हुए) फिर बायीं नासिका से क्रमश: ४,८,१६ मात्राओं से पूरक करे और जालंधर बंध लगाकर क्रमश: १६, ६४,३२, मात्राओं तक कुम्भक करें। पश्चात् जालंधर बंध हटाकर क्रमश: ८,३२,१६ मात्रा में दाहिनी नासिका से रेचक करे। रेचक करने से पेट पुन: अन्दर चला जाएगा। उसको कुछ देर उसी स्थिति में रखे।

इसी प्रकार दाहिनी नासिका से आरम्भ करे और बायीं से रेचक करे यह एक प्राणायाम हुआ। आरम्भ में १०-२० प्राणायाम करे। इसके अभ्यास से भी तीन मास में समस्त नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है।

यह प्राणायाम समशीतोष्ण होने से बारहों मास किया जा सकता है।

अभ्यास नं. 3

किसी आसन से सुखपूर्वक एकाग्रचित बैठे और रीढ़ को सीधा रखे। दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका को बंद करे और वाम नासारंध्र से धीरे-धीरे पूरक करे। साँस खीचतें समय मूलबंध करते हुए क्रम से गर्दन को झुकावे जिससे पूरक के अन्त तक ठोड़ी छाती से लगकर जालंधर बंध लग जावे। अब कनिष्ठिका और अनामिका उँगलियों से वाम नासारंध्र बंद करके पूरक में जितना समय लगा हो उससे चौगुने समय तक कुम्भक करें। उसके उपरांत अँगूठा हठा दक्षिण नासारंध्र खोलकर पूरक के दुगुने समय में धीरे-धीरे रेचक

करे। उस समय नाभि के आधे भाग को धीरे-धीरे दबाते जाय और गर्दन को उठाते जाय। रेचक के बाद बगैर श्वास टूटे दक्षिण नासारंध्र से वायु निकाल दें। इसे कम से कम दस से आरम्भ करे और धीरे-धीरे शक्ति के अनुसार बढ़ाते जाय।

(१) सूर्य भेदी

पद्मासन या सिद्धासन से बैठकर दाहिनी अनामिका व कनिष्ठिका उँगलियों से बायाँ नासारंध्र बंन्द करके दाहिने नासारंध्र से जब तक हो सके धीरे-धीरे पूरक करने के बाद दाहिने अँगूठे से ही दाहिना नासारंध्र भी बन्द कर ले तथा जालंधर बंध लगाकर नेत्र बन्द रखे। जब तक बालों और नखों तक रुका हुआ वायु न पहुँच जाय व बदन में पसीना न आ जाय उस वक़्त तक कुम्भक करके दाहिना नासारंध्र बन्द रखते हुये बाएँ सें धीरे-धीरे रेचक करे। कुम्भक का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए।

दाहिने नासारंध्र से ही पूरक करने के कारण इसे सूर्य भेदी प्राणायाम कहते हैं। परन्तु कुछ योगाचार्यों के मतानुसार यह दोनों नासारंध्रों से किया जा सकता है।

इसके अभ्यास से मस्तक के सब व ८० प्रकार के वात रोग तथा उदर के कीड़े नष्ट हो जाते हैं। सिर, कृमि आदि के रोग व ८४ प्रकार के वात रोग दूर होते हैं।

(२) पहले थोड़ा रेचक करके दाहिने नासारंध्र से पूरक फिर जालंधर बंध के साथ कुम्भक करके बाएँ नासारंध्र से रेचक कर दे।

इसके अभ्यास के कपाल देश में जमा श्लेष्म, वातवाह्य

नाड़ियों के विकार, रक्त व त्वचा दोष, उदर व प्रस्वेद व कुष्ठादि से उत्पन्न कृमि, नष्ट हो जाते हैं। यह मन को शुद्ध और वायु प्रकोप के चार रोग व आँतों के विकारों को दूर करता है। गाठिया, नाक व सिर के रोग तथा नसों की पीड़ा का निवारण करता है। कुंडलिनी जाग्रत होती है।

आरम्भ में दोनों प्रकार के अभ्यासों को १० से २० तक करे। इनसे शरीर में उष्णता बढ़ती है अतएव इनको सर्दियों में करे।

(२) उज्जायी

(१) इसमें मुँह बन्द करके दोनों नासारंध्रों से इस तरह पूरक करे कि कंठ से हृदय तक हल्के घर्राटे का शब्द होता रहे। सूर्य भेदी की तरह अधिक से अधिक देर तक कुम्भक करे व दाहिने अँगूठे से दाहिने नासारंध्र को बन्द करके बाएँ धीरे-धीरे रेचक करे। आरम्भ में १०-२० तक करे। इससे कंठ के कफ़ का दोष नष्ट होता है। जठराग्नि प्रदीप्त, दमा, क्षय, गुल्म व जालंधर आदि रोग नष्ट होकर आयुवृद्धि होती है।

यह प्राणायाम भी उष्ण है अतएव इसे भी शरद् ऋतु में ही करें।

(२) मुँह को कुछ आगे झुकाकर कंठ से हृदय पर्यंत शब्द करते हुए वायु को फुफ्फुस (फेफड़ों) में प्रविष्ट करें इस प्रकार दोनों नासापुटों से अल्प परिणाम में वायु को खींचकर व चार पाँच सैकिण्ड कुम्भक करके दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासारंध्र को बन्द करके बाएँ से धीरे धीरे रेचक करे। इसमें पूरक, रेचक व कुम्भक परिमाण में ही किये जाते हैं और किसी बंध के लगाने की आवश्यकता नहीं। इसका अभ्यास चलते-फिरते, उठते-बैठते भी

किया जा सकता है।

शरीर की अस्वस्थता के कारण जब दूसरे प्राणायाम न कर सके व समय अनुकूल न हो तो एक घंटे या शक्ति के अनुसार इसे करें।

इसके अभ्यास से कफ़ दोष, पेचिस, उदर रोग, जलोदर, शोथ, मन्दाग्नि, अजीर्ण, मेदादि धातुओं के विकार, मलावरोध जनित समस्त रोग, दमा, क्षय आदि दूर होते व अग्नि प्रदीप्त होती है।

इसको सात बार से आरम्भ करके प्रति सप्ताह तीन तीन बढ़ाते हुए इक्कीस तक बढ़ावे।

(३) शीतकारी

(१) दोनों नासारंध्रों को बन्द करके जिह्वा को दोनों ओठों के बीच में लगाकर या मोड़कर उसका सिरा तालु से लगाकर सिसकारी भरते हुये पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासारंध्रों से धीरे-धीरे रेचक करे।

इसके अभ्यास से कामदेव की तरह शरीर हो जाता है। यह शीतल है अतएव इसे गर्मियों में करे। तीन वर्ष तक निरन्तर सौ-सौ संख्या में प्रतिदिन के अभ्यास से युवावस्था प्राप्त होती है, सफ़ेद बाल काले हो जाते हैं।

(२) ओठों को फुलाकर व दाँतों के बीच से जीभ को ओठों तक निकाल कर मुँह से सीत्कार करते हुए वायु को खींचकर अन्दर प्रवेश करके दोनों नासारंध्रों को बन्द कर ले। चार, पाँच सेकिण्ड या यथाशक्ति जिह्वामूल में कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासारंध्रों से धीरे-धीरे रेचक करें। देर तक करना हो तो बंध लगावे, अन्यथा नहीं।

इससे क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य, तन्द्रा नष्ट व पित्त कोप कम होकर शरीर तेज़स्वी होकर स्फूर्ति आती है। किसी चोट का असर न होकर इसका अभ्यासी इन्द्र के समान बलवान् व योगेन्द्र तथा छः महीने के अभ्यास से सब रोगों से मुक्त हो जाता है।

प्रातः दोपहर व संध्या समय जो मुख से वायुपान करता है उसकी जिह्वा पर सरस्वती का वास व वह वृहस्पति के समान विद्वान् व चतुर वक्ता हो जाता है।

(४) शीतली

(१) दोनों नासारंध्रों को बन्द कर ओठों को बाहर पक्षी की चोंच की तरह बल देकर अर्थात् नली से बनाकर व थोड़ी सी जीभ निकाल कर धीरे-धीरे स़ीटी सी बजाते हुए यथाशक्ति पूरक करे और कुम्भक करने के उपरान्त दोनों नासारंध्रों से धीरे-धीरे रेचक कर दे। आरम्भ में दस से बीस तक करे।

(२) जीभ को ओठों से एक अँगुल बाहर पक्षी की चोंच की आकृति बनाकर बाहर से वायु खीचें। कुछ देर कुम्भक करने के बाद दोनों नासारंध्रों से धीर-धीरे रेचक करे। इसका अभ्यास प्रातः व सांयकाल आधे घंटे तक पदम या सिद्धासन से अथवा चलते फिरते करे।

इन दोनों अभ्यासों से रक्त शुद्ध, भूख-प्यास शांत, शरीर शीतल, गुल्म प्लीहा, ज्वर, रेतक्षय, शूल छाती, पेट का किसी प्रकार का दर्द दूर हो जाता है। जलन, वात, पित्त, कफ़ की समानता होने से कोई व्याधि नहीं हो पाती। बिच्छू व सर्प का विष नही चढ़ता, रूप लावण्य की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम गर्म कोठे वालों के लिए लाभदायक

है। इससे रक्त स्वच्छ होकर शरीर कामदेव की तरह तेज़ होता है।

कुंडलिनी का ध्यान करते हुए दोनों संध्याओं के समय जो इस प्राणायाम को करता है उसका क्षय-रोग नष्ट होता है।, उसे दूर की वस्तु दिखाई देती है, अन्न, जल व वायु का कष्ट सरलता पूर्वक सहा जा सकता है।

यह शीतल है अतएव इसे गर्मियों में करे। प्रतिदिन, दो तीन, चार बार पाँच-सात मिनिट प्रति बार अथवा जितना अधिक हो सके करे उतना ही लाभ होगा।

इससे कभी अजीर्ण, कफ़ पित्तादि व चर्मरोग नहीं होते। इसका फल दीर्घ काल तक रहता है।

इससे शरीर विशेष स्वस्थ रहता है अतएव योगी लोग प्रायः इसी को करते है।

(५) भस्त्रा अथवा भस्त्रिका

यह प्राणायाम आगे लिखी किसी भी विधि से किया जा सकता है।

(१) इसका अभ्यास करने वाले को पद्मासन से बैठकर नासारंध्रों से ही पूरक रेचक करना चाहिए। रेचक व पूरक फुफकार के साथ इस तरह करे कि हृदय, कंठ व कपाल तक वायु पहुँचने लगे। कुछ देर धीरे-धीरे करके फिर लुहार की धौंकनी की तरह वेग से शब्द पूर्वक रेचक-पूरक करे, यह रेचक पूरक बीस बार या तब तक करे जब तक कि शरीर थक न जाय। जब थक जाय तब धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से यथाशक्ति पूरक व यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे बाएँ नासारंध्र से रेचक करे। इसी प्रकार बाम

नासारंध्र से पूरक और दक्षिण से रेचक करे। प्रातः व सायंकाल बीस-बीस की एक से तीन आवृत्तियाँ करे।

(२) बायीं नासिका से कम से कम दस घर्षण (वेग पूर्वक पूरक व रेचक) करके ग्यारहवीं बार उसी नासिका से पूरक करे। यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। फिर दाहिनी नासिका से इसी प्रकार पूरक करके बायीं से रेचक करे। आरम्भ में पाँच से दस प्राणायाम तक करे।

(३) दाहिनी नासिका से बायीं नासिका की तरफ़ कम से कम दस घर्षण करके दाहिनी नासिका से ही पूरक करे और यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे बायीं नासिका से रेचक कर दे। फिर विपरीत क्रम से भी ऐसा ही करे।

यह शीतोष्ण है इसलिए इसको बारहों मास किया जा सकता है। इसके छः मास तक दस-दस की संख्या के प्रतिदिन अभ्यास करने से कुंडलिनी जागृत होती है व छः हों चक्रों का भेदन होकर प्राण ब्रह्मरंध्र में जाने लगता है।

कपालभाति और उज्जाई के संयोग का नाम भी भस्त्रिका है इसके अभ्यास के पहले कपालभाति व उज्जाई का अभ्यास कर लेना चाहिए। यह अत्यन्त बलशाली प्राणायाम है। अभ्यास करते समय यदि घिग्घी बंधने लगे तो कुछ ठहर कर चित्त ठिकाने आ जाने पर फिर करे। जाड़ों में सुबह व शाम, गर्मियों में केवल सुबह की करे।

इसके अभ्यास से गले की सूजन, कफ़ का विकार नष्ट होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। सुषुम्ना (ब्रह्म नाड़ी) के द्वार को बन्द रखने वाला कफ़ नष्ट हो जाता है। वात, पित्त व कफ़ से उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। शरीर में गर्मी आती है, नाड़ी शुद्ध होती है। सर्दी लगने पर इसका अभ्यास करने से शरीर में गर्मी आ जाती है।

इसका कुम्भक सर्व श्रेष्ठ माना गया है अतएव उसका विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिए। उसके अभ्यास से सुषुम्नाश्रित तीनों ग्रन्थियाँ खुल जाती है। कुंडलिनी शीघ्र जाग्रत होती है, इसके अभ्यासी को कभी कोई रोग नहीं होता।

(६) भ्रामरी

(१) पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठे और पूरक व रेचक दोनों रंध्रो से जल्दी जल्दी इस तरह का शब्द करते हुए करना चाहिए जैसे शहद की मक्खियाँ करती हैं। पूरक व रेचक तब तक करना चाहिए जब तक शरीर से पसीना न निकलने लगे। अन्त में दोनों नासारंध्रों से एक खूब गहरी साँस लेकर उसे यथाशक्ति रोके और अन्त में धीरे-धीरे नासरंध्रों से रेचक कर दे।

यह लोम-विलोम की तरह भी किया जाता है। भेद केवल इतना है कि बायीं नासिका से पूरक करते समय भ्रामरी जैसा नाद स्वर में उत्पन्न करे और दाहिनी से रेचक करते समय भ्रामरी जैसा नाद करें।

(२) सिद्धासन पर बैठकर नेत्र बन्द करके भ्रू में लक्ष्य करे और जालंधर बंध लगावे फिर नासिकाओं से भ्रमर की गुजांर की तरह स्वर सहित प्राणायाम करे। तीन सेकिण्ड कुम्भक करके धीरे-धीरे आवाज़ सहित रेचक करे। इस प्रकार १४४ प्राणायाम करे।

इस प्राणायाम से मन की शीघ्र एकाग्रता होती है व नाद बहुत ज़ोर से उठता है, समाधि शीघ्र व अच्छी तरह लगती है व आनन्द प्राप्त होता है। इसमें जो आनन्द आता है वह वर्णन नहीं हो सकता। अभ्यास करते समय कुछ गर्मी बढ़ती है परन्तु शीघ्र ही शांत हो जाती है।

(७) मूर्च्छा

इसको षड़मुखी मुद्रा भी कहते हैं। यह प्राणायाम पाँच भूतों के पाँच रंग है। पृथ्वी का पीला, जल का सफ़ेद, तेज़ का लाल, वायु का हरा और आकाश का नीला उसको जानने के लिए हैं।

(१) पद्मासन आदि से बैठकर पूरक करे व जालंधर बंध लगावे और श्वास उस वक़्त तक रोके रहे जब तक कि बेहोशी न मालूम हो। बेहोशी मालूम होने पर धीरे-धीरे रेचक कर दे। इसी कारण इसका नाम मूर्च्छा पड़ा है।

यह क्रिया विशेष प्रकार के साधक के लिए है हर एक के लिए नहीं।

(२) दोनों हाथों के अँगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आँखों पर, दोनों मध्यमा नासिकाओं पर और अनामिका व कनिष्ठिकाओं को मुँह पर रखे। मूलबंध व जालंधर बंध को आरम्भ से अन्त तक स्थिर रखकर बायीं नासिका से पूरक व यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे।

(३) भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास पूरा होने पर सिद्धासन से बैठकर दोनों नासाग्र से पूरक करके जालंधर बंध लगावे पश्चात् कान, नेत्र, दोनों नासिकाओं और मुँह पर क्रमशः तर्जनी, मध्यमा, अनामिका व कनिष्ठिका को रखकर छः सेकिण्ड कुम्भक करे पश्चात् नासाग्र पर से अनामिका को शिथिल कर जालंधर बंध रखते हुए धीरे-धीरे दोनों नासिकाओं से रेचक करे। दूसरे प्राणायामों के साथ प्राणायाम करने से कुम्भक अधिक होता है परन्तु रेचक दोनों नासिकाओं से किया जाता है। अधिक कुम्भक के लिए उड्डियान बंध लगाया जाता है और रेचक के वक़्त जालंधर बंध खोल दिया जाता है।

इस प्राणायाम से पित्त का निरोध समाधि में चित्त की एकाग्रता होती है।

(८) प्लावनी

पद्मासन से बैठकर दोनों हाथों को ऊपर की ओर लम्ब तथा सीधे रखे, दोनों नासिकाओं से पूरक करके लेट जाय, लेटते वक़्त मत्स्यासन की तरह दोनों हाथों को समेट कर तकिए की तरह सिर के नीचे रखें और जहाँ तक कुम्भक ठहरे वहाँ तक ऐसी भावना करे कि मेरा शरीर रूई के समान हल्का है फिर पूर्व स्थिति में बैठकर दोनों नासाग्र से धीरे धीरे रेचक करे।

इसके निरन्तर अभ्यास से बारह-बारह घंटे बल्कि और भी समय तक जल पर तैरने व चलने की शक्ति आती है। बिना भोजन किए साधक केवल वायुपान करके कई दिन तक रह सकता है, साधकवायु को पानी की तरह धीरे-धीरे पीता है जिससे पेट कुछ फूला-सा होने लगता है और बजाने से वायु का शब्द होता है। धीरे धीरे इसका अभ्यास किया जाता है। धीरे धीरे डकार या उड्डीयान बंध द्वारा सब वायु बाहर निकाली जाती है इसके लिए साधक में कौशल की आवश्यकता है।

(९) कपालभाति

संस्कृत में कपाल के अर्थ है खोपड़ी और भाति के अर्थ हैं प्रकाशित होना अर्थात् इसके अभ्यास से खोपड़ी के विकार दूर होकर चमकने लगती है। पृष्ठयोग के प्रसिद्ध षट्कर्मों में यह भी एक क्रिया है।

पद्मासन से बैठकर व हाथों को घुटनों पर रखकर तथा आँखें बन्द

कर जल्दी जल्दी पूरक व रेचक करिए। इस प्रकार काफ़ी व्यायाम होने से पसीना निकलने लगेगा। इससे कुम्भक नहीं होता। रेचक ही इसका मुख्य अङ्ग है। पूरक दीर्घ, कोमल व धीर-धीरे करे, परन्तु रेचक जल्दी व पेडू की मांस पेशियों को पीछे की तरफ़ खींचते हुए करना चाहिए उनको ढीला कर देना चाहिए। धड़ और सिर को न झुकाकर सीधा रखना चाहिए। आरम्भ में प्रति सेकिण्ड एक व अभ्यास बढ़ने पर दो रेचक करे साथ ही पहले सप्ताह में प्रातःकाल १० रेचकों की एक आवृत्ति करे। दूसरे सप्ताह में सायंकाल भी १० रेचकों की एक आवृत्ति करे। तीसरे सप्ताह में दो आवृत्तियाँ सुबह व दो शाम को करे। इस प्रकार धीरे धीरे प्रति सप्ताह सुबह व शाम एक एक आवृत्ति बढ़ाकर एक बार में १२० रेचक तक करे। इसका अभ्यास हो जाने से भस्त्रिका प्राणायाम सरलता से हो जाता है।

इसके अभ्यास से नासामार्ग और श्वास यंत्रों की सफ़ाई होकर श्वास नलिका की रुकावटें दूर हो जाती हैं। दमा ऐसा भयंकर रोग कुछ ही दिनों में अच्छा हो जाता हैं। प्राण फेफड़ों की जड़ों तक पहुँचने लगते है जिससे क्षय के कीटाणु न ठहर सकने व फेफड़े पुष्ट हो जाने के कारण उक्त रोग नष्ट हो जाता है। रोगोत्पादक विषैली वायु बड़ी मात्रा में निकल जाती है और रक्त शुद्ध हो जाता है। शरीर के रग रेशों को अधिक मात्रा में शुद्ध वायु पान करने से स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है व हृदय ठीक-ठीक काम करने लगता है।

अभ्यास करते समय सभी मांस तन्तु, कोष रगें, शिरायें व परमाणु काँपने लगते हैं।

(१०) तालयुक्त प्राणायाम

हम लोग बहुत ही अनियमित रूप से श्वास लेते हैं। इसी कारण हम लोंगों को नाना प्रकार की बीमारियाँ व कष्ट होते रहते हैं। अतएव हमें अपनी श्वास को नियमित रखने का अभ्यास करना चाहिए।

(१) श्वास १६ मात्रा में बाहर और १२ मात्रा में अन्दर जाता है। इस प्रकार ४ मात्रा की कमी रहती है। यदि आप १६ मात्रा में ही श्वास खींच भी सकें तो वह तालयुक्त प्राणायाम हो जाएगा। इसके अभ्यास से आनन्द की प्राप्ति, कुण्डलिनी जाग्रत, श्वास-प्रश्वास के केन्द्र पर अधिकार, स्नायु शांत तथा मन को स्थिर कर सकते हैं और बीमारियों से भी बच सकते हैं।

(२) ६ बार ॐ कहते हुए पूरक करके ६ बार ही ॐ कहकर रेचक करने से एक नियमबद्ध व तालयुक्त प्राणायाम हो जाएगा। इसके अभ्यास से श्रमित नसों को आराम मिलता है व आनन्द और शांति प्राप्त होती है।

(३) चार बार ॐ कहते हुए दोनों नासारंध्रों से पूरक, आठ बार ॐ कहते हुए कुम्भक (आभ्यान्तरिक) और चार बार ॐ कहते हुए रेचक तथा आठ बार ॐ कहते हुए श्वास बाहर रोंके (वाह्य कुम्भक करें) अपनी शक्ति के अनुसार इसी क्रम से मात्रा बढ़ाई जा सकती है। परन्तु तब तक शक्ति के अनुसार इसी क्रम से मात्रा बढ़ाई जा सकती है परन्तु जब तक शक्ति का निश्चय न हो जाय कभी संख्या न बढ़ाओं। ताल पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि संख्या की अपेक्षा उसका अधिक महत्त्व है, सारा शरीर तालमय हो जाएगा और शान्ति व दृढ़ता प्राप्त होगी।

❖ ❖ ❖

(११) कुंडलिनी जाग्रत करने वाला प्राणायाम

दाहिने अँगूठे से दक्षिण नासारन्ध्र को बन्द करके धीरे धीरे तीन बार ॐ कहते हुए वाम नासारन्ध्र से पूरक करिए और ध्यान करिए कि ऊर्ध्व वायु से प्राण खींच रहे हो। पश्चात् दाहिने हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियों से बाम नासा रन्ध्र भी बन्द कर दीजिए। बारह बार ॐ कहते हुए श्वास स्थिर रखिए और मूलाधार

चक्र में श्वास को रीढ़ से पहुँचाइए। ध्यान करिए कि श्वासधारा मूलाधार चक्र छूती व कुण्डलिनी जाग्रत करती है। छः बार ॐ कहते हुए दक्षिण नासारंध्र से धीरे धीरे रेचक करिए। इसी प्रकार फिर दक्षिण नासारंध्र से करिए। इस क्रिया को तीन बार प्रातः व तीन बार सायंकाल करिए। अपनी शक्ति व योग्यता के अनुसार संख्या व समय को धीरे धीरे बढ़ाइए। इस प्राणायाम में मूलाधार चक्र पर ध्यान एकाग्र करना अत्यंत आवश्यक है। उक्त चक्र पर पूर्ण रीति से ध्यान एकाग्र करने व नित्य नियमपूर्वक उक्त प्राणायाम करने से कुण्डलिनी बहुत शीघ्र जाग्रत होती है।

उक्त चक्र गुदा के ऊपर व लिंगमूल के नीचे स्थित है।

(१२) सुखसाध्य प्राणायाम

अपने इष्ट देवता का ध्यान करके या चित्र रखकर पद्मासन या सिद्धासन से बैठ जाइए। दाहिने अँगूठे से दाहिने नासारन्ध्र को बन्दकर बाम से धीरे धीरे पूरक करे। पश्चात् दाहिने हाथ की छोटी व पास वाली अँगुली से बाम नासारन्ध्र को बन्द करिए। जब तक सुख से श्वास रोकी जा सके रोक कर अँगूठा हठा ले व दक्षिण नासारन्ध्र से श्वास को बाहर फेंक दे। यह आधी क्रिया हुई। फिर दक्षिण नासारन्ध्र से श्वास लेकर व पूर्ववत् रोककर बाएँ से बाहर फेंके। इस प्रकार यह एक प्राणायाम हुआ। इस तरह बीस प्रातः व बीस सायंकाल करे व धीरे-धीरे संख्या बढ़ावे। पूरक करते समय दया, प्रेम, क्षमा, शांति, आनन्द आदि देवी वृत्तियों के शरीर के अन्दर प्रवेश करने तथा रेचक के समय, काम , क्रोध, लोभ व मोह आदि आसुरी वृत्तियों के बाहर निकलने का विचार करे। साथ ही पूरक, कुम्भक व रेचक के समय ॐ या गायत्री का जप करे। कठिन परिश्रम करने वाला साधक एक आसन में अस्सी के हिसाब से प्रतिदिन चार बार में तीन सौ बीस कर सकता है।

यह प्राणायाम क्षय रोग को दूर, नाड़ियों को शुद्ध, मन को एकाग्र करता, भूख व पाचन शक्ति बढ़ाकर ब्रह्मचर्य की रक्षा व तत्क्षण नाड़ी शुद्धि तथा कुण्डलिनी को जगाता है इसके अभ्यास से मनुष्य ऊपर उठने लगता है।

(१३) चलते फिरते प्राणायाम

(१) सिर को ऊपर, कंधों को पीछे और छाती को चौड़ी कर के चलिए। दोनों नासारन्ध्रों से तीन बार (प्रत्येक पग पर एक बार) ॐ कहते हुए पूरक कर बारह बार ॐ कहने तक रोके रहिए और छः बार ॐ कहते हुए धीरे धीरे रेचक करिए। पश्चात् बारह बार ॐ कहने तक विश्राम करिए। यदि पग के अनुसार ॐ न कह सके तो वैसे ही कहे।

(२) इसी प्रकार चलते चलते कपाल भाति भी किया जा सकता है। जो लोग कार्यों में अधिक व्यस्त रहते हैं वे प्रातः व सायंकाल घूमते समय यह प्राणायाम कर सकते हैं। मैदान व शीतल वायु के चलते समय प्राणायाम से बड़ा आनन्द प्राप्त होता है स्फूर्ति और बल शीघ्र बढ़ता है।

ॐ कहते हुए तेज़ी से चलने पर प्राणायाम बिना परिश्रम व स्वयं हो जाता है।

(१४) शवासन में प्राणायाम

आराम से आसन पर लेटकर दोनों हाथों और पैरों को सीधा तथा घुटनों को पास रखिए। पसलियों व नसों को ढीला कर दीजिए। दोनों नासारन्ध्रों से बिना शब्द के धीरे धीरे पूरक करके जब तक हो सके कुम्भक करके दोनों ही नासारन्ध्रों से रेचक कर दीजिए। इस क्रिया को १२ बार प्रातः और १२ बार सांयकाल ॐ कहते हुए करे।

आसन, प्राणायाम, ध्यान व विश्राम सभी इस अभ्यास में हो जाते हैं यह शरीर के साथ मन को भी शान्ति, सुख और आनन्द पहुँचाता है।

यह कमज़ोर व वृद्ध पुरूषों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

गृहस्थों की नित्य- नैमित्तक साधना

(१) सूर्योदय से पहले उठना चाहिए।

(२) उठते ही भगवान् का स्मरण व प्रार्थना करनी चाहिए।

(३) गुरु, माता, पिता आदि बड़ों को प्रणाम करना चाहिए।

(४) शौच स्नानादि से निवृत्त होकर भगवान् अथवा इष्टदेव की उपासना, संध्या व तर्पणादि करना चाहिए।

(५) अपने धन्धे या व्यापारादि में छल, कपट, चोरी असत्य और बेईमानी का त्याग करके सच्चाई और ईमानदारी से काम करो। अपने कारोबार में आलस्य त्याग कर पूर्ण परिश्रम से काम करो।

(६) अपना धन उपयोगी व आवश्यक कार्यों में ही व्यय करो। विलासिता व अपव्यय (फिजूल ख़र्ची) से बचो।

(७) अपनी सामर्थ्य के अनुसार योग्य व्यक्तियों की धनादि से सहायता करो।

(८) इन्द्रियों के आधीन न होकर उनको अपने वश में रखो।

(९) अपने प्रत्येक कार्य में सत्य, ईमानदारी व प्रेम का व्यवहार क़रो।

(१०) किसी का तिरस्कार, अपमान व अहित न करो। कभी किसी से कटु वचन न बोलो और न किसी से ईर्ष्या व द्वेष रखो।

(११) मन, वचन और शरीर से पवित्र, विनयशील व परोपकारी बनो।

(१२) अपने कुटुम्बी, सम्बन्धी, मित्र, पड़ोसी आदि से सदा प्रेम का व्यवहार रखो।

(१३) सभी उपयुक्त कर्मो को ईश्वर के कार्य समझकर अपने मन में कर्ता होने का अभिमान न करके तथा फल की इच्छा छोड़कर ईश्वर अर्पण करते हुए करो।

(१४) अपना भार दूसरों पर न डालकर सदा स्वावलम्बी बनो।

(१५) बुरी संगत से बचकर सदैव सत्संग करो।

(१६) अपना समय कभी व्यर्थ नष्ट न करके उसका पूरा-पूरा सद् उपयोग करो। कभी बेकार अथवा आलस्य में अपना समय न गँवाओ।

(१७) सदा शुद्ध और सात्विक भोजन करो व नियम से रहो।

(१८) अपने कार्य में असफल होने पर निराश व दु:खी न होकर अधिक उत्साह से काम करो।

(१९) सच्चाई, ईमानदारी व पूर्ण परिश्रम के साथ जो प्राप्त हो जाया करे, उसी पर सन्तोष करो।

(२०) अपनी मृत्यु को लक्ष्य में रखते हुये ईश्वर को उपस्थित समझकर ही सब काम करो और सदैव भगवत्प्राप्ति ही अपना मुख्य उद्देश्य समझो।

श्री पीताम्बरा पीठ
ह्रीं
दतिया(म.प्र.)

योग–विज्ञान

[द्वितीय भाग]

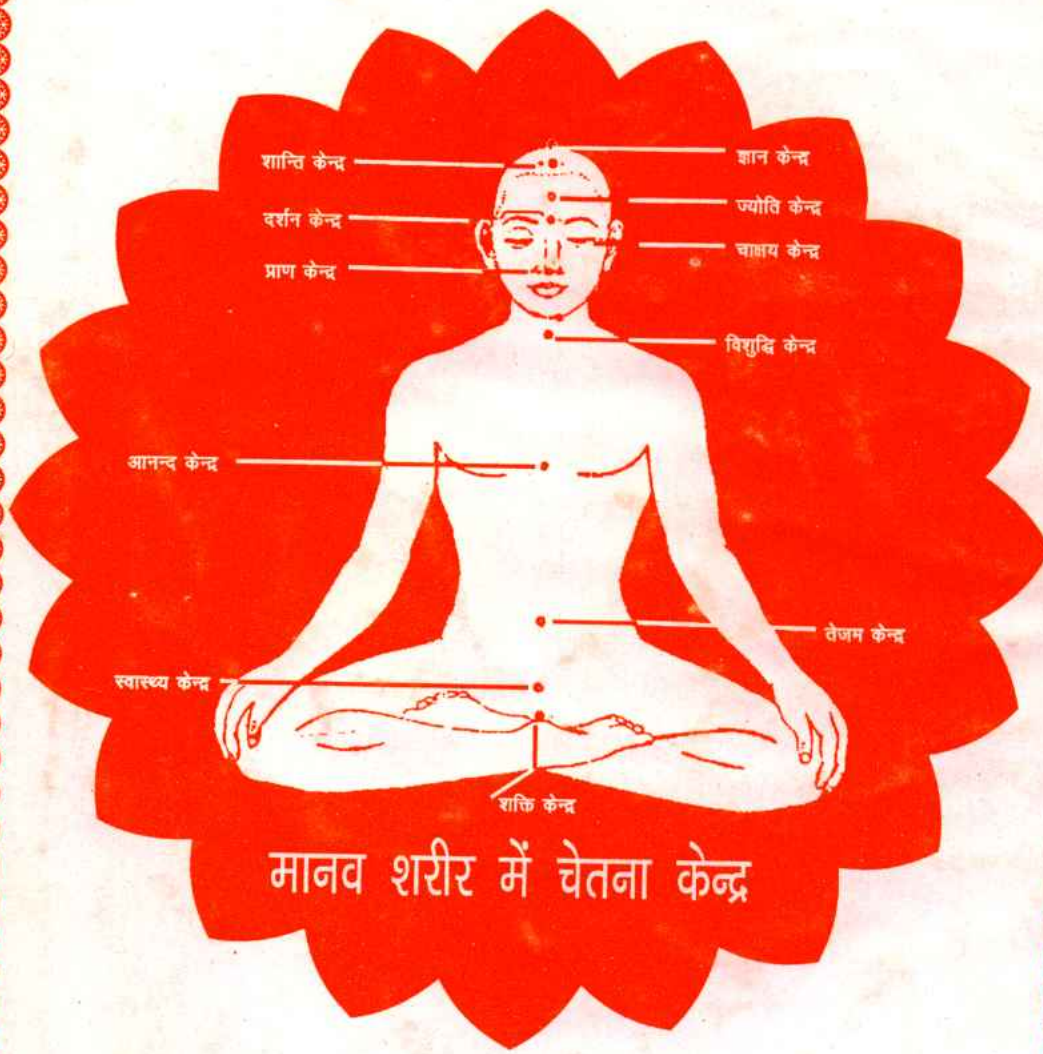

मानव शरीर में चेतना केन्द्र

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरापीठ दतिया (म. प्र.)

योग विज्ञान

(द्वितीय भाग)

लेखक :– अज्ञात

मूल्य – **50.00** रु.

प्रकाशक :
श्री पीताम्बरा पीठ
तिया (म०प्र०)

प्रकाशक :

श्री पीताम्बरा पीठ

दतिया (म० प्र०)

फोन–07522–233960, 234960

प्रथमावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०३५ (सन् १९७८)

द्वितीयावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०४२ (सन् १९८५)

तृतीयावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०५७ (सन् २०००)

चतुर्थावृत्ति द्वितीय भाग संवत् २०६८ (जुलाई २०११)

मुद्रक :

शिवशक्ति प्रेस प्रा.लि.

ग्वालियर रोड

झाँसी (उ.प्र.)

फोन–0510–2441092

प्रकाशकीय

'योग विज्ञान' के प्रथम भाग में योग एवं तन्त्र का विशद विवेचन एवं उसके क्रियात्मक स्वरूप का पूर्ण विवरण दिया जा चुका है।

प्रस्तुत गन्थ में योग से ही सम्बन्धित अन्य अनेक एवं अनूठे, अछूते तथा महत्वपूर्ण उपयोगी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से न केवल योग–विज्ञान की विशद जानकारी प्राप्त हो जाती है अपितु मानव जीवन से संबंधित अन्य गूढ़ विषयें का भी वृहद् ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिन्हें विद्वान लेखक ने भली–भांति प्रतिपादित किया है।

द्वितीय खण्ड के व्यय आदि का भार श्री वैद्य पं. रामनारायण जी शर्मा प्रधान संचालक श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा. लि. झाँसी ने सहर्ष वहन किया है। एतदर्थ उनके लिये धन्यवाद! इस अवसर पर श्री विष्णुकान्त शास्त्री (मुडिया) का स्मरण भी आवश्यक है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिलिपि की है।

आशा है कि इस ग्रन्थ 'योग विज्ञान' के द्वितीय खण्ड से, जिज्ञासु पाठकों एवं साधकों को आशातीत लाभ होगा।

दीपावली
सं. २०३५

ब्रजनन्दन शास्त्री साहित्याचार्य
मंत्री
श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

प्रकाशकीय

योग आत्मा के बोध को उत्पन्न कराने वाला है यह मनुष्य के विवेक के द्वार खोलने के लिए चाबी है। योग संसार के बन्धन से मुक्ति भी दिलाता है।

'योग विज्ञान' के द्वितीय भाग का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित कर पीठ गौरव का अनुभव कर रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में योग से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषय जैसे **स्वरशास्त्र, अष्टांङ्ग योग, ग्रन्थित्रय भेदन, कुण्डलिनी शक्ति** का जागरण, साधकों के दैनिक कृत्य पञ्च महायज्ञ, पञ्च देवोपासना, न्यास एवं उसका महत्त्व तथा तत्त्वसाधना आदि पहलुओं पर विद्वान लेखक ने जानकारी दी है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जीवनोपयोगी कई गूढ़ विषयों का भी ज्ञान हो जाता है।

आशा है, 'योग विज्ञान' के द्वितीय भाग से जिज्ञासु पाठक एवं साधक लाभान्वित होंगे।

गुरुपूर्णिमा,
१५ जुलाई २०११
विक्रम संवत्–२०६८

रेणु शर्मा
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्री अनन्तश्री स्वामी जी महाराज
पीताम्बरा पीठ, दतिया (म०प्र०)

विषय सूची

विभिन्न योग और उनकी साधनायें

१–	केवल कुम्भक प्राणायाम	१
२–	प्राणायाम सूर्यचक्र	२
३–	प्राण चिकित्सा	३
४–	स्वर शास्त्र	४
५–	श्वास की गति का प्रमाण तथा उसके निरोध से लाभ	११
६–	श्वास सम्बन्धी उपचार	१३
७–	यात्रा विचार	१४
८–	मृत्यु ज्ञान	१५
९–	अष्टांग योग के अन्तर्गत प्रत्याहार	१७
१०–	धारणा	१९
११–	ध्यान	२१
१२–	समाधि	२२
१३–	षट् चक्र साधन	४३
१४–	सहस्रार	५६
१५–	नवचक्र साधना एवं षोडशाधार	६१
१६–	सप्त पद्मों का ध्यान	६४
१७–	ग्रन्थि भेदन में ब्रह्म ग्रन्थि	६८
१८–	विष्णु ग्रन्थि	७५
१९–	रुद्र ग्रन्थि	७९
२०–	वर्णमाला चक्र एवं कुण्डलिनी	८६
२१–	कुण्डलिनी का असमय जागरण	९०
२२–	प्राण शक्ति योग एवं परकाय प्रवेश	९४
२३–	खेचरी सिद्धि (यंत्र प्रक्रिया)	९४
२४–	योग व दिव्य चक्षु	१०१

२५– सिद्धियाँ और उनका उपयोग १०३
२६– योगाभ्यास में प्रलोभन १०७
२७– अष्ट महासिद्धियाँ १०९
२८– विभिन्न सिद्धियाँ ११२
२९– साधना १२१
३०– साधक, साधना एवं सद्गुरु १२५
३१– साधकों के दैनिक कृत्य १२९
३२– साधन १३४
३३– साधु संन्यासियों की नैमित्तिक साधना १३६
३४– मुक्ति का एक मात्र साधन १३८
३५– पंच महायज्ञ १३८
३६– ईश्वर व देवताओं की आराधना १४२
३७– अभेद ध्यान १४५
३८– स्थूल ध्यान १४९
३९– ज्योतिर्ध्यान १५१
४०– सूक्ष्म ध्यान १५१
४१– ईश्वर दर्शन का ध्यान १५२
४२– पंच कोष १५३
४३– पंच देवों की साधना १५५
४४– नाम साधना १५८
४५– शैव साधना १५९
४६– शक्ति साधना १६०
४७– ईश्वर व देवताओं की आराधना १६२
४८– विभिन्न देवताओं के मंत्र १६४
४९– प्रणवोपासना १६६
५०– आत्मा का रूप १६७
५१– न्यास और उसका महत्व १७०
५२– तत्वों की साधना १७९

योग-विज्ञान

खण्ड-२

विभिन्न योग और उनकी साधनायें

केवल कुम्भक प्राणायाम

सहित और केवल नाम से कुम्भक के दो भेद होते है। पूरक और रेचक के संयोग वाले कुम्भक को 'सहित' और दोनों क्रियाओं से रहित कुम्भक को 'केवल' कहते है।

सहित कुम्भक का पूर्ण अभ्यास होने से ही केवल कुम्भक का अभ्यास किया जा सकता है। जब अधिक अभ्यास के बाद सहित कुम्भक महीनों और वर्षो बहुत स्थानों में बगैर पूरक रेचक के स्थान, काल और संख्या से रहित होकर रहने लगती है तभी उस कुम्भक को विशुद्ध केवल कुम्भक अर्थात् प्राणायाम का चतुर्थ प्रकार कहते है। वशिष्ठ संहिता में लिखा है 'जब पूरक रेचक किये बिना ही अभ्यास कर्ता आराम से स्वाँस रोके रहे, तभी इस कुम्भक को 'केवल' कहते है। इस प्राणायाम में बिना पूरक रेचक किये साँस सहसा रोक ली जाती है। इस कुम्भक द्वारा अभ्यासी अपनी इच्छानुसार साँस देर तक रोके रह सकता है। तब वह राजयोगी हो जाता है। इसका अभ्यास दिन में तीन मर्तवा किया जा सकता है। सच्चा योगी वही है जिसे प्राणायाम व केवल कुम्भक का पूर्ण ज्ञान हो।

इस कुम्भक के अभ्यास से अभ्यासी को कोई रोग नहीं होता, आयु बढ़ती है व अद्‌भुत रूप से आकाश में भ्रमण कर सकता हैं।

इस अन्तिम प्राणायाम को जिसने सिद्ध कर लिया वह तीनों लोकों

में चाहे जो कुछ कर सकता है।

प्राणायाम

सूर्य चक्र पर ध्यान लगाने वाला प्राणायाम :-

सूर्य चक्र जिसे उदर मस्तक (मस्तिष्क) कहते हैं, एक महत्वपूर्ण स्नायु केन्द्र है जिसका सम्बन्ध सहानुभूति स्नायु मंडल से है। इसका स्थान जठर प्रदेश हैं जो कि पेट तली के पास मेरुदंड के दोनों तरफ स्थित है। मनुष्य के मुख्य–मुख्य आभ्यन्तरिक अंग यहीं से परिचालित होते हैं। हमारे भावों को व्यक्त करने तथा अन्य अनेक अंगों के परिचालन में काम देता है। यह मस्तिष्क की तरह भूरे पदार्थ का बना होता है। शरीर के मुख्य मार्मिक अंगों में से एक हैं। शरीर का यह पावर हाऊस है। शरीर के १६ आधारों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार है। इस सूर्य चक्र पर पूरी चोट पड़ने से आदमी मर जाता है। सारे स्नायु मंडल का सूर्य होने के कारण जब तक यह ठीक–ठीक चमकता रहता है। सारा शरीर अपना ठीक–ठीक काम करता है। इसी से सारे शरीर के अंगों को बल व स्फूर्ति मिलती है। प्राणायाम द्वारा जब विचार और प्राण इस चक्र पर केन्द्रित किये जाते है। तब इस चक्र का गुप्त प्रकाश प्रस्फुटित होता है। पद्मासन या सिद्धासन लगाकर आँखें बन्द करके सीधे बैठ जाइये, वाम नासारन्ध्र से पूरक करिये व दाहिने नासारन्ध्र को दाहिने अंगूँठे से बंद रखिये।

कुम्भक के समय अपना ध्यान इसी चक्र पर एकाग्र रखिये और प्राण का संचार उसमें करिये। साथ ही यह विचार करिये कि मैं साँस के साथ प्राण, आनँद, सुख, बल स्फूर्ति और प्रेम प्राप्त कर रहा हूँ। कुम्भक के पश्चात् दाहिने नासारन्ध्र से धीरे–धीरे रेचक करिये। इस तरह बारह प्राणायाम प्रातः काल करिये। इससे भय, उदासी, कमजोरी व अनावश्यक भावनायें जो आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं नष्ट हो जावेंगी।

प्राण चिकित्सा

जो लोग प्राणायाम करते हैं। वे अपने प्राण के द्वारा बड़े–बड़े रोगों को अच्छा कर सकते हैं। रोगी अंगों में प्राण का संचार करने के उपरान्त कुम्भक के अभ्यास द्वारा प्राण की कमी को पूरा कर सकता है। अपने प्राणों से दूसरों को लाभ पहुँचाने का मतलब यह नहीं है कि आप में प्राण की कमी हो जावेगी जितना अधिक प्राण आप दूसरों को देंगे उतनी ही अधिक मात्रा में प्राण के अनन्त भंडार हिरण्यगर्भ से तुम्हारे शरीर में प्राण का संचार होगा। यह प्रकृति का नियम है अतः इस काम में कंजूसी करने की आवश्यकता नहीं है।

गठिया के एक रोगी के रुग्ण पैरों को हाथ से सहलाइये। सहलाते समय कुम्भक करिये और विचार करिये कि प्राण आप के हाथों से होकर रोगी के पैरों में जा रहा है। हिरण्यगर्भ अर्थात् प्राण के अनन्त भण्डार से अपना सम्बन्ध विचार द्वारा लगाये रहिये और विचार करिये कि हिरण्यगर्भ से प्राण की अनन्त धारा आपके शरीर में आकर हाथों द्वारा रोगी के शरीर में प्रवेश कर रही है। रोगी को तुरन्त लाभ होगा और वह सबल हो उठेगा। सरदर्द, पेट पीड़ा व अन्य तात्कालिक व्याधियाँ आप के चुम्बक जैसे हाथों के लगने व सहलाते–सहलाते अच्छे हो जायेंगे।

प्लीहा

तिल्ली, उदर आदि शरीर के अंगों को सहलाते समय उन रोगान्तक अंग विशेषों को सम्बोधन करके कहते जाइये कि –हे रोगी अंग मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम रोग से मुक्त होकर अपने कर्तव्य का ठीक–ठीक पालन करो। वे अंग आपकी आज्ञा का पालन करेंगे क्योंकि अंगों में भी ज्ञान होता है। प्राण संचार करते समय प्रणव का उच्चारण करते रहिये। आरम्भ में कुछ रोगियों पर इसको अजमाइये जब आपको सफलता मिलने लगें एवं आप चिकित्सा करने लगें। कुछ दिन में आप कुशल हो

जावेंगे। आप विच्छू के काटे को तुरंत अच्छा कर सकते हैं। धीरे–धीरे सहलाकर उस अंग से आप जहर उतार सकते हैं। प्राणायाम के नित्य अभ्यास करने से अद्‌भुत ध्यान, दृढ़ इच्छाशक्ति, सुन्दर स्वस्थ तथा बल प्राप्त हो सकता है। आप को रुग्ण अंग में प्राण का संचार करना होगा। मान लीजिये कि आप का प्लीहा ठीक काम नहीं करता, पद्‌मासन लगाकर बैठ जाइये व आंखें बन्द कर लीजिये। जितनी देर में तीन बार प्रणव का उच्चारण हो सके धीरे–धीरे पूरक कीजिये व छः प्रणव कहने तक कुम्भक कीजिये' अब प्लीहा पर प्राण का संचार करिये और अपना ध्यान वहीं जमाये रहिये। मन उस स्थान से हटने न पाये।

स्वरशास्त्र

हमारे ऋषियों मुनियों ने लोक कल्याणार्थ जिन–जिन चमत्कार पूर्ण शास्त्रों का निर्माण किया था उनमें एक स्वरशास्त्र भी है। नाड़ी ज्ञान के लिये आदिनाथ भगवान शंकर ने पार्वती जी को शिव स्वरोदय ग्रंथ सुनाया। शिव स्वरोदय स्वर शास्त्र का स्वतन्त्र ग्रंथ है।

जीव के शरीर धारण करते ही उसमें नासापुटों में से श्वास का आवागमन आरम्भ हो जाता है। इसे प्राण वायु कहते है और देह रूपी नगर में राजा के समान है। वायु ग्रहण करने को निःश्वास और त्याग करने को प्रश्वास कहते हैं। जीव के जन्म से मृत्यु पर्यन्त इन दोनों की क्रिया होती ही रहती है और निःश्वास नासिका के दोनों छेदों में से कभी दाहिने और कभी बायें से चलती है। बायें नासापुट से चलने को इडा में अर्थात् चन्द्रस्वर चलना व दाहिने में चलने को पिंगला में अर्थात् सूर्यस्वर में चलना और दोनों में बराबर साथ–साथ चलने को सुषुम्ना में चलना कहते हैं। एक नासापुट को दबाकर दूसरे से श्वांस को बाहर निकालने पर यह पता लग जाता है कि एक नासापुट से वह सरलता से निकल रहा है और दूसरा बंद है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई–ढाई घड़ी के हिसाब से एक–एक नासिका से अर्थात्

प्रत्येक स्वर से २ घंटा २४ मिनट क्रमशः श्वास चलती है। इस प्रकार रात दिन में पाँच बार बाँयी और पाँच बार दाहिनी नासिका से क्रमानुसार श्वास बदलती है। किस दिन पहले किस नासिका से श्वास चलती है उसका विवरण पवन विजय स्वरोदय के अनुसार आगे दिया जाता है। इस शास्त्र को पूर्ण रूप से जान लेने व उसका अनुसरण करने से कभी किसी भी कार्य में असफलता व दुःख नहीं हो सकता।

दोनों स्वरों को नियमित रूप से वर्तमान रखने को ही स्वर साधन कहते हैं।

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३ से १५ श्वास प्रश्वास लेता है। इस प्रकार रात दिन २४ घंटों में कुल संख्या २१६०० तक होती है। यह संख्या प्रति मिनट जिसकी जितनी कम होगी उसकी उतनी ही आयु अधिक होगी। अतएव श्वास–प्रश्वास की संख्या पर नियंत्रण रखने से आयु बढ़ाई जा सकती है।

'स्वरों की गति'

श्वास क्रमशः निश्चित समयानुसार दोनों नासिका छिद्रों से चलती है। एक का समय पूरा हो जाने पर वह दूसरे से चलने लगती है। श्वास–प्रश्वास की इस गति का ही नाम स्वर है और इस गति का एक नासिका से दूसरे में जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे ऋषियों मुनियों ने इन स्वरों के चलने के नियम, उनके जानने की विधि, उनके चलने की अवधि, उनके बदलने की रीति, उनसे सम्बन्ध रखने वाले पंचतत्त्व कौन कार्य किस स्वर के चलने के समय में करना लाभ व हानिकारक होता है तथा पुरुष व स्त्री के स्वरों में क्या भेद है आदि विषयों पर भी भली–भाँति विचार किया है, जों कि संक्षिप्त रूप से आगे दिया जाता है।

(स्वर चलने के नियम)

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन की बारी से चन्द्र नाड़ी अर्थात् बाएं व कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन की बारी से सूर्य नाड़ी अर्थात् दाहिने नासिका से पहले श्वास निकलती है। अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, इन नौ दिनों में प्रातःकाल सूर्योदय के समय पहले बायीं नासिका से तथा चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, इन छः दिनों में प्रातःकाल दाहिने नासिका से श्वास का चलना आरम्भ होता है और ढ़ाई घड़ी तक रहती है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुदर्शी अमावस्या इन नौ दिनों में सूर्योदय के समय पहले दाहिनी नासिका से इसके बाद दूसरे नकुएं (नासिका) से चलना आरम्भ होता है। चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी इन छः दिनों में सूर्य के उदयकाल से पहले बाँयी नासिका से श्वास आरम्भ होती है और ढ़ाई घड़ी के बाद दूसरी नासिका से चलती हैं यहीं मनुष्य जीवन में श्वास की गति का स्वाभाविक नियम है।

प्रतिदिन, रात दिन की साठ घड़ियों में ढ़ाई–ढ़ाई घड़ी के हिसाब से एक–एक नासिका से निर्दिष्ट क्रम से श्वास चलने के समय क्रमशः पंच तत्वों का उदय होता है। इस श्वास प्रश्वास की गति को समझकर कार्य करने पर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है व सब कार्यों में सफलता मिलने के कारण जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है।

सोमवार, शुक्रवार, बुधवार को प्रातःकाल बाँयी श्वास चलते समय निद्रा भंग होने से यह दिन सुख से ही बीतेगा और दाहिनी श्वास चलने पर विघ्न व चिन्ता होगी। रवि, मंगल, गुरु व शनिवार को प्रातःदाहिनी श्वास चलते समय निद्रा भंग होने से यह दिन सुख से बीतेगा, बाँयी

श्वास चलने से विपरीत फल होगा।

वाम नासिका का श्वास फल

जिस समय बाँयी नासिका अर्थात् इड़ा नाड़ी से श्वास चलती हो उस समय स्थिर कार्यों को करना चाहिये जैसे दूर की यात्रा, आश्रम प्रवेश, इमारत बनाना, द्रव्य ग्रहण करना, कुआँ तालाब आदि बनवाना, यात्रा, दान विवाह, नया कपड़ा पहनना, औषधि सेवन, प्रभुदर्शन आदि शुभ कर्म करना चाहिये। परन्तु वायु, अग्नि और आकाशतत्त्व के उदय के समय उक्त कार्य नहीं करना चाहिये।

दक्षिण नासिका का श्वास फल

जिस समय पिंगला नाड़ी अर्थात् दाहिना स्वर चलता हो उस वक्त कठिन क्रूर कार्य जैसे :– अध्ययन, संगीत अभ्यास, समीप यात्रा, व्यायाम, षट्कर्म, औषधि, उपासना, दान पुण्य, स्नान, भोजन, जलपान, सवारी, भूतादि साधन, राजदर्शन, खरीद फरोख्त, तांत्रिक साधना, स्त्रीगमन, शास्त्राभ्यास आदि करना चाहिये।

सूर्य स्वर के समय पाचन क्रिया होती है इसलिये सूर्य स्वर के समय भोजन करना चाहिये और चन्द्र स्वर के समय शरीर संगठन का कार्य होता है।

पन्द्रह दिन तक यदि किसी की सूर्य नाड़ी चलती हो तो यह समझना चाहिए कि उसकी एक महीने में मृत्यु हो जायेगी। योगाभ्यासियों को सूर्योदय से अस्त तक सूर्य अथवा चन्द्र एक ही नाड़ी के चलते रहने का अभ्यास करना चाहिये। बारह घंटा एक ही नाड़ी का चलना सिद्ध होने पर नाड़ी में उदय होने वाले पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश तत्वों का उदयास्त समझने के लिए विशिष्ट गति की मर्यादा बताई है। प्रातः या सायंकाल ४ घंटा ४८ मिनट आकाश तत्व ही स्थिर रहता है। आकाश तत्व के उदय के समय अथवा पृथ्वी तत्व के उदय के समय,

२ या ३ मिनिट समस्वर रहते हैं अर्थात् दोनों स्वर चलते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी है। इसको ऐसे ही स्थिर रखकर यदि प्राणायाम किया जाए तो वह शीघ्र सिद्ध होता है।

सुषुम्ना का श्वास फल

दोनों स्वरों से श्वांस चलने पर कोई भी शुभ या अशुभ कार्य न करना चाहिये क्योंकि उसमें सफलता न होगी।उस समय योग साधन व भगवान का भजन ध्यान धारणादि करना चाहिये। इस श्वास के चलते समय किसी को श्राप या वरदान देने पर वह सफल होता है।

रोगोत्पत्ति व उसका उपचार

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन दिन के अन्तर से सूर्योदय के समय पहले बाँयी नासिका से और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन–तीन दिन के अन्तर से सूर्योदय के समय पहले दाहिनी नासिका से निःश्वास प्रवाहित होने का स्वाभाविक नियम है। परन्तु न हो तो समझना चाहिये कि कुछ अमंगल होने वाला है।

शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को यदि प्रातःकाल सूर्योदय के समय विपरीत स्वर चलने का पता लगने पर उस स्वर को पूरी तौर पर कई दिन तक बंद रखने पर रोग उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार दिन रात भोजन व स्नान का समय छोड़कर श्वास बंद रखने से उक्त दिनों में कोई रोग न होगा।

नाड़ी जय व स्वर बदलने का उपाय

स्वर बदलने के लिए पुरानी साफ रुई, साफ बारीक कपड़े में लपेट कर नासिक छिद्र के बराबर पोटली बनाकर इस प्रकार उस नासिका में जिसे बंद करना हो, लगाना चाहिये जिसमें उससे बिल्कुल

हवा न निकल सके और उसी के स्वर बैठना चाहिये ताकि उसी अंग पर जोर पड़े जिसको सरदर्द या और कोई सर का दर्द हो वह सिर्फ साफ पतले कपड़े की पोटली इस्तेमाल कर सकते हैं। जितने दिन या समय स्वर बंद रखना हो तो अधिक परिश्रम या धूम्रपान न करें। यदि धूम्रपान के बगैर न रह सकें तो उतने समय के लिए पोटली निकाल लें।

कार्य के अनुकूल स्वर चलने तक ठहरे रहना अत्यंत कठिन है इसलिये इच्छानुसार स्वर बदलने के लिए क्रिया सीखना अत्यंत आवश्यक है। यह क्रिया बहुत ही सरल होने के कारण इसके द्वारा आसानी से स्वर बदला जा सकता है। जिस नासिका से स्वर चलता हो उसके विपरीत दूसरी नासिका को अंगूठे से दबा लें और जिससे श्वास चलती हो उससे वायु को खींचना चाहिये। फिर उसे दबाकर दूसरे से निकालना चाहिए। कुछ देर तक इसी तरह करने से श्वास बदल जायेगी इसके अलावा जिस नासिका से श्वास चलती हो उसी करवट लेटकर उसी तरफ का हाथ सर के नीचे तकिये की तरह रखने से कुछ देर में स्वर बदल जाता है। छः महीने अभ्यास करने से नाड़ी जय, अर्थात स्वर साधन हो जाता है और फिर वह सरलता से बदल जाता है। नाड़ी जय होने पर आकाश तत्त्व जब नाड़ी में बह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी साधन करें।

जो अपनी इच्छानुसार श्वास को रोक व निकाल सकता है वह वायु पर विजय प्राप्त कर सकता हैं।

स्वर साधन

स्त्री के ऋतु स्थान के चौथे दिन से सोलहवें दिन तक रात्रि के समय पुरुष के सूर्य व स्त्री के चन्द्रस्वर चलने के समय सहवास करने पर पुत्रोत्पति होती है। स्त्री पुरुष के एक ही स्वर चलने के समय सहवास से गर्भ नहीं रहता। जल तत्व के उदय होने के समय गर्भाधान से धनी, सुखी व कीर्तिवान सन्तान होती है। पृथ्वी तत्व के समय

गर्भाधान से सन्तान अति दुःखी, धनी और सौभाग्य शाली होती है। पृथ्वीतत्व के समय (गर्भाधान) गर्भ रहने से पुत्र और जल तत्व के समय गर्भ रहने से कन्या उत्पन्न होती है। अग्नि, वायु और आकाश तत्व के समय गर्भ रहने से या तो गर्भपात हो जाता है, अथवा सन्तान की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

यदि किसी कार्य सिद्धि के लिए किसी के पास जाना हो तो जिस नासिका से स्वर चलता हो उसी ओर का पैर पहले आगे रखकर जाना चाहिये व जिस आदमी से काम हो उसको उसी स्वर की ओर रखकर बात करें इसी नियम के अनुसार मुकदमे नौकरी आदि के लिए जाना चाहिए।

---

(11)

श्वास की गति का प्रमाण तथा उसके निरोध से लाभ

नासिका से जो श्वास चलती है वह यदि नियत समय व तिथि के अनुसार न चले तो शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जब शरीर में गल्ती से रोग उत्पन्न हो जायें तो स्वरों को ठीक–ठीक चलाने से वे दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में श्वास की गति का प्रमाण तथा उसके निरोध आदि से क्या–क्या लाभ होते हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं।

श्वास की साधारण गति का प्रमाण बाहर जाते हुए बारह अंगुल तथा अंदर आते हुए दस अंगुल है। श्वास को एक बार अंदर जाकर बाहर आने तक साधारण अवस्था में कुल चार सैकेण्ड लगते हैं। इस समय व गति के कम और अधिक होने से आयु घटती बढ़ती है। मनुष्य की भिन्न–भिन्न क्रियाओं में उसकी श्वास की गति का जो प्रमाण रहता हे, वह इस प्रकार है।

क्रिया	श्वास की गति का प्रमाण
(१) गाते समय	१६ अंगुल तक
(२) खाते समय	२० अंगुल तक
(३) चलते समय	२४ अंगुल तक
(४) सोते समय	३० अंगुल तक
(५) मैथुन के समय	३६ अंगुल तक
(६) व्यायाम के समय	इससे भी अधिक

जो मनुष्य अपनी श्वास की गति को जितना अधिक घटा सकता है, वह अपनी आयु को बढ़ा सकता है, अतएव शांति के साथ गहरी श्वास लेना अत्यन्त लाभकारी है। इस संबंध में एक विशेष तालिका नीचे लिखी जाती है।

(१) श्वास की स्वाभाविक गति को १२ अंगुल से घटाकर ११ अंगुल कर लेता है उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।

(२) श्वास की स्वाभाविक गति को जो ११ अंगुल से १० कर लेता है उसे महाआनन्द प्राप्त होता है।

(३) श्वास की गति को जो १० से ९ अंगुल कर लेता है, उसमें कवित्व शक्ति आ जातीी है।

(४) श्वास की गति को जो ९ से ८ अंगुल कर लेता हे, उसे वाक् सिद्धि हो जाती है।

(५) श्वास की गति को जो ८ से ७ अंगुल कर लेता है, उसे दूर दृष्टि प्राप्त होती है।

(६) श्वास की गति को जो ७ से ६ अंगुल कर लेता है, वह आकाश में उड़ जाता है।

(७) श्वास की गति को जो ६ से ५ अंगुल कर लेता है, उसमें प्रचंड वेग आ जाता है।

(८) श्वास की गति को जो ५ से ४ अंगुल कर देता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(९) श्वास की गति को जो ४ से ३ अंगुल कर लेता है, उसे नव निधियाँ प्राप्त होती हैं।

(१०) श्वास की गति को जो ३ से २ अंगुल कर देता है, वह अनेक रूप धारण कर सकता है।

(११) श्वास की गति को जो २ से १ अंगुल कर लेता है वह अदृश्य हो जाता है।

(१२) श्वास की गति को जो १ अंगुल से बिंदु तक कर लेता है जब प्राण की गति प्रमाण केवल नखाग्र जितना रह जाता है तब वह अमर हो जाता है।

श्वास सम्बन्धी उपचार

(१) बुखार - जिस वक्त शरीर में साधारण रूप से हरारत मालूम हो उस वक्त जो स्वर चल रहा हो उसे जितने दिन शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ न प्रतीत हो उतनें दिन बन्द रखना चाहिए। नकुये (नासिका) में नर्म रुई रख देने अथवा जो स्वर चल रहा हो उसी करवट लेटने और उसी तरफ को हाथ मोंड़कर सरहाने की तरफ सर के नीचे कुछ देर तक रखने से स्वर बदल जाता है।

(२) अजीर्ण व कब्ज - जिनको रहता हो वह सदा दक्षिण स्वर की उपस्थिति में भोजन व जलपानादि क्रिया करें। भोजन के पश्चात् पन्द्रह बीस मिनिट तक लेटे रहने से भी लाभ होता है।

(३) दर्द - छाती, पीठ, कमर व पेट आदि में कहीं भी अकस्मात् दर्द होने पर उस समय जो स्वर चलता हो उसे बंद कर देने से कैसा भी दर्द हो शीध्र ही बंद हो जायेगा।

(४) दमा - जब दमे का दौरा आरम्भ और श्वास फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो उसे एकदम बंद कर दें। दस ही पन्द्रह मिनिट में आराम मालूम होगा। इस रोग का जड़ से नाश करने के लिए लगातार एक महीने तक प्रतिदिन चलते हुए स्वर को बंद करके दूसरे को चलाने का अभ्यास जितना अधिक हो सके करने से दमा नष्ट हो जाता है। इस सम्बंध में जितना ही अधिक स्वर बदलने का अभ्यास किया जाएगा उतना ही अधिक और शीध्र लाभ होगा।

(५) इच्छा पूर्ण - सुबह आँख खुलते ही जिस ओर का स्वर चल रहा हो उस तरफ की हथेली मुखपर रखकर उसी ओर का पैर प्रथम जमीन पर रखने से इच्छा पूरी होती है।

(६) युवावस्था प्राप्त करना - इसके लिए इच्छानुसार स्वर बदलने का अभ्यास करना चाहिये। दिन में जब समय मिले उस वक्त जो स्वर चल रहा हो उसे बदलने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया से युवा अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसके साथ–साथ सुबह शाम

विपरीत करणी मुद्रा करने से अकथनीय लाभ होता है।

(७) **दीर्घायु प्राप्त करना** - श्वास की साधारण गति जो कि पहले लिखी जा चुकी है। उसकी गति व प्रमाण को कम करने से मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातु की दौर्बल्यता आदि बीमारी वालों की श्वास की गति का प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है उसको भी इससे लाभ हो सकता है। जो मनुष्य अपनी श्वास की गति को जितना जितना कम कर सकता है वह उतनी ही अपनी आयु को बढ़ा सकता है।

(८) **निरोगावस्था** - जो दिन में बायीं ओर रात में दाहिनी नासिका से श्वास लेता है उसके शरीर में कोई रोग नहीं होता, आलस्य दूर होता है और चैतन्यता बढ़ती है। दस पन्द्रह दिन तक दिन को दाहिनी व रात को बाँयी नासिका में रुई भरकर स्वर बंद करने से इच्छा तथा ऊपर लिखे अनुसार स्वर चलने लगेंगे।

(९) **चिरयौवन प्राप्ति** - जिस समय जिस अंग में, जिस नाड़ी से श्वास चलती है उस समय उस नाड़ी का निरोध करना होगा। जो बार–बार श्वास निरोध और मोचन करने में समर्थ है। वह दीर्घ जीवन और चिरयौवन प्राप्त कर सकता है। योगी विपरीत करणी मुद्रा द्वारा कौशल से झरते हुए अमृत की सूर्य मंडल में ग्रसित होने से रक्षा करते हैं जिससे उनकी देह वली–पलित और जरा इत्यादि से रहित और दीर्घ काल तक स्थाई होती है। खेचरी मुद्रा से भी सहज ही उस अमृत की रक्षा की जा सकती है।

स्वरोदय ज्ञान के साथ–साथ पंचतत्व का ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि उसके ज्ञान बिना स्वरोदय की बहुत सी क्रियाओं का न तो पता चलता है न वह पूर्ण रूप से सिद्ध ही हो सकती है। स्वरोदय के साथ–साथ पंचतत्वों का भी उदय हुआ करता है। यह बात विशेष जानने योग्य है। पंचतत्वों का विवरण अलहदा प्रकरण में दिया गया है।

यात्रा विचार

जिस ओर का स्वर चलता हो पहले उसी ओर का पैर बढ़ाकर

यात्रा करने से शुभ फल होगा। बायें स्वर के समय पूर्व व उत्तर व दाहिने स्वर के समय दक्षिण और पश्चिम की ओर यात्रा नहीं करनी चाहिये। अन्यथा विघ्न की सम्भावना रहती है। यदि कार्य से शीघ्र गमन करना आवश्यक हो तो दाहिने स्वर के समय यात्रा करने से सफलता होती है। साथ ही उस समय जो स्वर चलता हो उसी ओर का पैर पहले आगे बढ़ाकर उस समय यदि चन्द्र स्वर चलता चलता हो तो चार बार और सूर्य चलता हो तो पांच बार जमीन पर पैर पटककर यात्रा करनी चाहिये। ऐसा करने से आपत्ति की संभावना नहीं रहती यह शिव वाक्य है। स्वरोदय के अनुसार दूर की यात्रा चन्द्र व समीप की यात्रा सूर्य स्वर के समय करने से सिद्धि होती है।

श्वास निरोध से लाभ

भोजन या जलपानादि दाहिने स्वर के चलने के समय करना चाहिये ऐसा करने से वह जल्दी पच जायेगा और कभी अजीर्ण न होगा। जिनको अजीर्ण रहता है उनका इस क्रिया के पालन से अजीर्ण दूर हो जायेगा। भोजन के बाद कुछ देर बाँयी करवट लेटने व सोने से भी भोजन जल्दी हजम हो जाता है। जो ऐसा न कर सके उनको भोजन के पश्चात कुछ देर तक अर्थात् दस पन्द्रह मिनिट तक बाँयी नाक बंद करके दाहिनी नाक से श्वास जारी रखनी चाहिये।

मृत्यु का ज्ञान

यदि आठ पहर तक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो तीन वर्ष के बाद मृत्यु होगी।

यदि सोलह पहर तक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो दो वर्ष के बाद मृत्यु होगी।

यदि तीन दिन तीन रात्रि दक्षिण स्वर चलता रहे तो १ वर्ष बाद मृत्यु होगी।

यदि दिन में सूर्य और रात्रि में चन्द्र एक मास तक बिना बदले

चलता रहे तो ६ मास में मृत्यु होगी।

यदि बीस अहोरात्रि केवल दक्षिण स्वर चलता रहे तो तीन मास में मृत्यु हो जाती है।

यदि पांच घड़ी तक सुषुम्ना चलकर न बदले तो उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है।

स्नान के बाद जिसके पैर, हृदय व कपाल फौरन ही सूख जाते है उसकी तीन मास में मृत्यु हो जाती है।

जो व्यक्ति अपनी नाक न देख सकता हो उसकी तीन दिन में मृत्यु हो जाती है।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर नाक के ठीक सामने कपाल पर रखकर नीचे की तरफ उसी हाथ की कुहनी तक देखने से हाथ बहुत ही पतला नजर आता है।इस प्रकार देखने से जिस दिन हाथ की कलाई नजर न आये और हाथ से मुट्ठी अलहदा प्रतीत होने लगे उस दिन से यह निश्चय समझना चाहिये कि आयु क़ेवल छः मास रह गई है।

आँखें बंद करके अँगुली से आंख का एक किनारा दबाने से आंख के भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयेगा। जिस दिन यह तारा दिखाई देना बंद हो जाये उस दिन से दस दिन में मृत्यु हो सकती है।

प्राण चिकित्सा

ऐसा विचार करिये कि प्राण रुग्ण प्लीहा के रेशे रेशे में भिदकर रोग को दूर कर रहा है। अस्वस्थ अंगों में प्राण का संचार करते समय, ध्यान, विश्वास और मन का संयम उस अंग को अच्छा करने में महत्वपूर्ण काम करते हैं। अब धीरे–धीरे रेचक द्वारा सांस निकाल दीजिये। रेचक करते समय विचार करिये कि प्लीहा का रोग और अशुद्धताएं बाहर निकल रही है। यह क्रिया बारह बारह बार प्रातः और इतनी ही बार सायंकाल को करनी चाहिए। कुछ दिनों में प्लीहा की सुस्ती दूर हो जायेगी। यह सच्ची प्राकृतिक चिकित्सा है। तात्कालिक या प्राचीन

कैसा भी रोग क्यों न हो प्राणायाम करते समय शरीर के किसी भी अंग में तुम प्राण का संचार करके उसे अच्छा कर सकते हो। एक दो बार पहले स्वयं अपनी चिकित्सा करने से आप को अनुभव और विश्वास हो जायेगा।

अभ्यास और ध्यान की उन्नति होने पर केवल स्पर्श मात्र ही से आप बहुत से रोग अच्छे कर सकेंगे और भी अधिक उच्चावस्था प्राप्त होने पर केवल इच्छा शक्ति से ही रोग अच्छे हो सकते हैं।

आप दूरवर्ती देश में रहने वाले किसी मनुष्य की भी इसी प्रकार चिकित्सा कर सकते हैं। आप आकाश द्वारा अपनी प्राण शक्ति कहीं भी भेज सकते हैं। परन्तु उसकी मनोवृत्ति भी ग्राहक होना चाहिये, जिस मनुष्य की चिकित्सा करनी हो उसके साथ आपका सीधा सम्बंध रहना चाहिये। पत्र व्यवहार द्वारा उसके साथ अपना समय नियत कर लेना चाहिये। उनको पत्र द्वारा सूचना दे देना चाहिये कि 'अमुक समय तैयार रहना और अपनी मनोवृत्ति ग्राहक रखकर आँखें बंद कर लेटे रहना। हम उक्त समय प्राण भेजेंगे। नियत समय पर रोगी को सम्बोधित करके कहिये। उस समय तालपूर्ण सांस लीजिये। मन में ऐसा विचार करिये कि रेचक करते समय प्राण उक्त रोगी के शरीर में प्रविष्ट हो रहा है। बेतार अर्थात् रेडियो की लहर की तरह बिजली की गति से आकाश से प्राण जाता है। प्राण भेजने के बाद कुम्भक करके आप फिर शरीर में प्राण का संचार कर सकते है। इस तरह चिकित्सा करने के लिए लम्बे, स्थिर और संयम पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता है।

अष्टांग योग

(५) प्रत्याहार - अपने अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इन्द्रियों का चित्त के रूप में अव्यवस्थित हो जाने अर्थात् इधर–उधर दौड़ने वाली सब इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति व निग्रह को प्रत्याहार कहते है।

पद्मासन से बैठकर केवल कुम्भक द्वारा श्वासोच्छवास की गति

रोकने से, सिद्धासन से बैठकर त्रिपुटी अथवा नासाग्र पर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थिर करने से मूर्च्छा प्राणायाम के अभ्यास से शान्तचित्त से बारह हजार प्रणव के जप करने से विपरीत कर्णी मुद्रा के अभ्यास से और मनोवृत्ति को श्वासोच्छवास लयोद्भव के स्थान में स्थिर करने से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

इसके साधन से साधक को मनोबल व मानसिक शांति मिलती है तथा इन्द्रियों की अत्यंत वश्यता, मन की निर्बलता, लय की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर की आरोग्यता और समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त होती है। इसके सिद्ध होने पर प्रत्याहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान नहीं रहता। व्यवहार के समय बाह्य ज्ञान होता है, क्योंकि व्यवहार के समय साधक शरीर यात्रा के हेतु से प्रत्याहार को काम में नहीं लाता। प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यंत वश में हो जाती हैं अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण विषयों में आत्मदृष्टि करने से जो चित्त को संतोष और शांति होती है वही प्रत्याहार है और यही प्रत्याहार योगी द्वारा अभ्यास करने योग्य है।

इन्द्रियां चित्त की अपेक्षा रखती हैं। जिन–जिन कामों में चित्त प्रवृत्त होता है उन्हीं में इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं। जिस तरह मक्खियाँ भ्रमराज के पीछे जहां वह जाता है वहीं जाती हैं यही दशा इन्द्रियों और मन की है। जितेन्द्रिय 'मनुष्य की इन्द्रियां चित्त के पीछे दीवानी होकर उसीमें अपना अस्तित्व तक अंत में नष्ट कर देती हैं। अजितेन्द्रियों की इन्द्रियाँ अंत में चित्त को अपना अनुकरण करने के लिये विवश कर देती है। इन्द्रियों का चित्तानुकरण प्रत्याहार कहलाता है। इसके साधन से इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं।

विष्णु पुराण में प्रत्याहार का इस प्रकार वर्णन है।

'शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहार परायणः।।

वश्यता परमात्मने जायते निष्कलात्मनाम्।

इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योग साधनः।।

अर्थात् 'योग को जानने वाला मनुष्य प्रत्याहार परायण होकर शब्दादि विषयों में लगी हुई इन्द्रियों को रोककर उनको चित्तानुकारिणी बना ले, इससे जितेन्द्रियता में दृढ़ता आ जाती है। इस दृढ़ता के बिना कोई भी योग साधक योगी नहीं हो सकता।' जितेन्द्रिय न होने के कारण ही कई योगियों को योगभ्रष्ट होना पड़ा है।

भगवान कृष्ण ने भी गीता के अध्याय–२, श्लोक ६१ में उपदेश देते हुये कहा है कि 'सब इन्द्रियों को वश में करके एकाग्रचित्त होकर मेरे परायण हो जाओ। जिसके इन्द्रियां वश में हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है। उसी को स्थित प्रज्ञ कहते हैं।'

(६) धारणा

चित्त को किसी एक देश–विशेष में स्थिर करना अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म या बाह्य–आभ्यन्तर किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बांध देना, लगा देना अर्थात् स्थिर कर देना 'धारणा कहलाती है।

मन को एकाग्र करने तथा अपने इष्टदेव को हृदय कमल में ध्यान करने को धारणा कहते हैं। इससे इन्द्रियों का निग्रंह भी होता है। इसका दीर्घकाल तक अभ्यास करने से चमत्कार पूर्ण पांच प्रकार के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। पहली अवस्था में मृगतृष्णा का चिन्ह चित्ताकाश के सामने प्रकट होता है। दूसरे में धुएं का चिन्ह, तीसरी में जुगनू इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिन्ह प्रकाश नजर आता है और अन्त में निरभ्र गगन के सदृश प्रकाश दिखाई देता है।

धारणा तीन प्रकार की होती है।

(१) आध्यात्मिक।

(२) अधि दैविक और।

(३) आधिभौतिक।

तीनों प्रकार देशों में से किसी योग्य ध्येय व देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। इसके अभ्यास से चित्त की वृत्तियां स्थिर हो जाती है।

पैर की एड़ी से आरम्भ करने सहस्रार पद्म के नीचे द्वादश कमल तक सोलह स्थानों में प्राणवायु को धारण करना चाहिए। धारणा सिद्धि के लिए आगे लिखी मुद्राओं का अभ्यास श्रेष्ठप्रद है।

(१) अगोचरी (२) भूचरी, (३) चाचरी (४) शाम्भवी।

श्रीमद्भागवत व पुराणों में दो प्रकार की धारणायें है। भगवान के दो रूप है। (१) स्थूल (२) सूक्ष्म, विष्णु पुराण में (१) 'मूर्त' अथवा 'विश्व' तथा (२) 'अमूर्त' अथवा 'सत्' बतलाया गया है। भागवत के अनुसार धारण के दो भेद है :–

(१) वैराज धारणा अर्थात् मूर्तिमान।

(२) अन्तर्यामि धारणा अर्थात अमूर्त धारणा।

जो स्थान ध्येय का आश्रय भूत है, उस स्थान पर चित्त को एकाग्र करके लगा लेना धारणा है। 'देशवन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो.द.३/१) अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार स्थान पर लगा लेना धारणा हैं।

(१) वैराज धारणा अर्थात् मूर्तिमान धारण :-

पहले भगवान के स्थूल रूप में ही धारण तथा ध्यान लगावे, अर्थात् पहले भगवान के विराट रूप की धारणा करें। भागवत के दूसरे स्कन्द में भगवान के विराट् रूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। स्थूल होने के कारण मूर्तरूप में मन सरलता से लगाया जा सकता है। इसी को वैराज धारणा कहते हैं।

(२) अन्तर्यामि (अमूर्त) धारणा :-

जब वैराज धारणा सध जाय तब अमूर्त धारणा का साधन करना चाहिये। इसका भी भागवत के दूसरे अध्याय तीसरे स्कन्द के अट्ठाइसवें अध्याय ग्यारहवें स्कन्द के चौदहवें अध्याय में वर्णन है। अर्थात् अपने

शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल वाले अधोमुख हृत पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख विकसित अष्टदल वाला तथा कर्णिका युक्त ध्यान करे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मंडल को रक्खें। इस अग्नि के अन्दर भगवान श्री कृष्ण की मनमोहनी मूरत का ध्यान करे। इस रूप की धारणा का ध्यान उस वक्त तक करें जब तक मन निश्चल न हो जाय।

जहां कहीं मन जाय वहां–वहां ब्रह्मदर्शन करना, यहीं उत्तम धारणा है। धारणा दस प्रकार की है।

आरम्भ में धारणा नाभि में पश्चात् क्रमशः हृदय, वक्षस्थल, कंठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र भ्रूमध्य व मूर्धस्थान एवं परात्परतर आदि दस धारणायें हैं।

(७) ध्यान

ध्यान कहते है इष्टदेव अथवा किसी वस्तु विशेष के निरंतर चिन्तन को या उस पर चित्त को स्थिर करना, धारणा के देश में चित्तवृत्ति का तैलधारा वत् अखंड प्रवाह तथा मन का निर्विषय होना ध्यान कहलाता है।

पांच ध्यान बुद्धों द्वारा अधिष्ठित सत्ता के पांच अवयवों अर्थात रूप संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान पर मन को एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।

प्रत्यय की एकतानता को भी ध्यान कहते हैं। भागवत में इसका भी वर्णन है। जब हृत कर्णिका में भगवान के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा स्थिर हो जाय तब प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिये। अंगों का क्रम इस प्रकार है। चरणों से लेकर हंसते हुए मुखतक इनका वर्णन भागवत के तीसरे स्कन्द के अट्ठाइसवें अध्याय में देखने योग्य है। भगवान के चरणारविन्द से आरम्भ करके ऊपर बढ़ता जाय और अंत में मुखारविन्द की मंद मुस्कान पर अपना ध्यान जमावे। भगवान के उन चरणकमलों का ध्यान करना जिसमें वज्र, अंकुश, ध्वजा तथा कमल के चिन्ह बने हैं। जिनमें ऊंचे उठे हुए लाल लाल नखों की ज्योत्सना ने

सत्पुरूषों के हृदय के अंधकार को दूर कर दिया है। हृदय में रहने वाले भगवान के उस ध्यानापन्न स्वरूप हास्य का जिसमें नीचे के होठ की लालिमा भीतर की कुन्दन कली भी दन्तपंक्ति की अरुणा आभा प्रदान कर रही है। इसी प्रकार के स्वरूप का पूर्ण प्रेम व भक्ति भाव से एकाग्र व स्थिर चित्त से ध्यान करें।

(८) समाधि

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है और अपने स्वरूप के भान का अभाव सा रहता है। ध्यान करते–करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार को प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येय में तन्मय हो जाता है, ध्येय से भिन्न अपने आप का ज्ञान उसे नहीं सा रह जाता है, उस स्थिति का नाम समाधि है।

योग शब्द 'युज्' धातु के बाद करण और भाववाच्य में घञ् लगा देने से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ है समाधि अतएव योग शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए 'समाधि' शब्द का भी वास्तविक अर्थ समझना होगा, समाधि शब्द के अर्थ हैं सम्यक रूप से भगवान में मिल जाना। जीव की कामना, वासना, आसक्ति में संस्कार आदि सब प्रकार की मलिनता को दूर कर स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर भगवान में युक्त हो जाना। योग शब्द के अंदर भी हम इन्हीं दो शब्दों को निहित देखते हैं अर्थात् योग शब्द का अर्थ भी जीव और ब्रह्म का पूर्ण रूप से मिलना यानी जीव और ब्रह्म का एकत्व प्राप्त करना।

तुर्या अवस्था तथा जीवात्मा और परमात्मा के निरंतर एक्य चिन्तन को समाधि कहते है। ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय आनन्द से रोमांचित होकर उत्कण्ठा से आंसुओं की धारायें बहाने वाला भगवत् भक्त अपने चित्त को भी ध्येय पदार्थ से उसी भांति अलग कर देता है जैसा मछुआ मछली को कांटे से अर्थात् उस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुह प्रवाह से रहित होकर लय प्राप्त कर लेता है, ब्रह्माकार में परिणित हो जाता है।

इस प्रकार भगवान में जिसका पूर्ण प्रभाव हो गया हो, जो प्रेमानन्द से पुलकित होकर वारंवार अश्रुधारा में नहाता रहता है, जिसने संसार का आश्रय छोड़ दिया है और पूर्ण विरक्त हो गया हो वह बत्ती जल जाने पर दीपशिखा की महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त हो जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि इनके युगवत् अभ्यास का नाम संयम है। इन्द्रिय, अहंकार, मन आदि पर संयम करने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

नींद की तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रावस्था में 'मै' का भान होता है, परन्तु समाधि में नहीं। समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्ति की तरह सुस्थिर जड़ की तरह अचल होता है। वृक्ष के साथ मनोयोग होने पर श्वास प्रश्वास बंद हो जाती है और ब्रह्म से वियोग होने पर वह फिर चलने लगती है। शरीर का सुन्न हो जाना, किसी के द्वारा शरीर को छूने पर भी बोध न होना समाधि अर्थात् ब्रह्म कृपा का एक प्रमाण है। इसे योग निद्रा भी कहते है। ध्येय वस्तु को प्राप्त हुआ मन जब अपने ध्यान का परित्याग करके और संकल्प विकल्प से रहित होकर केवल ध्येय वस्तु के स्वरूप में स्थित होता है तब उसकी उस अवस्था को योगी जन समाधि कहते हैं। ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग–अलग ज्ञान रहता है परन्तु समाधि में इनका पृथक्–पृथक् भान नहीं रहता केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। ध्यान और समाधि में यही विभिन्नता है।

(१) समप्रज्ञात् अर्थात सविकल्प समाधि :

जिसमें ज्ञाता और ज्ञानादि के विकल्प लय अनपेक्षा हो और अद्वितीय ब्रह्म के आकार की आकारता हो, वह चित्तवृत्ति का अवस्थान है। इसमें चित्त की वृत्ति का ब्रह्म में लय कर देना होता है और इसका कुछ विचार नहीं रहता कि ज्ञाता और ज्ञान में भेद है या नहीं। जैसे मिट्टी के हाथी में मिट्टी का ही भान होता है। उसी तरह द्वैत में भी अद्वैत का भान होता है।

इसमें किसी न किसी एक अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। इसमें प्रज्ञा (समाधि) के संस्कार भी रह जाते हैं। यह समाधि चित्त की एकाग्र अवस्था में होती हैं।

(२) असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि :

इसमें बुद्धि व वृत्ति का अद्वितीय ब्रह्म में उसी का आकार बनकर एक भाव से अवस्थान हो जाता है। इसमें ज्ञाता व ज्ञानादि के भेद को कोई अपेक्षा नहीं रहती। जेसे लवण जल में मिलकर जलरूप ही हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में चित्तवृत्ति के लीन हो जाने से ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता।

इसमें कोई अवलम्बन नहीं रहता सब वृत्तियां लीन हो जाती है। यह चित्त की निरुद्धावस्था में होता है और पर वैराग्य इसका कारण है। इसमें प्रज्ञा (समाधि) के संस्कार भी नहीं रहते। इसके अंत में चित्त का विनाश हो जाता है तब धर्म मेघ समाधि होती है। इसी अवस्था को आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। यही जीव का अंतिम लक्ष्य है जिससे वह कृत्य कृत्य हो जाता है।

'मैं ही ब्रह्म हूँ' 'परब्रह्म मैं हूँ' इस सम्यक् स्थिति को समाधि कहते है। इसमें कोई भी वृत्ति नहीं रहती।

सोया हुआ सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाण पद का आश्रय करके कैवल्य पद प्राप्त करता है।

योग समाधि में नाभिस्थित योगाग्नि की शिखा शिर (सर) में पहुंच कर ब्रह्मरन्ध्र स्थित अमृत को गला देती है। इस अमृत को योगी–बड़े प्रेम से पीता है। केवल इसी योगामृत को पीकर वह महीनों बिना खाये–पिये जीवित रह सकता है।

जो योगी पूर्ण रूप से चैतन्य हीन हो जाता है, जिसको इतना भी ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं हूं' वहीं योगी योग निद्रित है। उस योगी में सर्वगुण और क्रिया शक्ति वर्तमान रहने पर भी वह पूर्णरूप से निर्गुण और निष्क्रिय हैं।

निद्रावस्था में 'मैं हूं' इसका ज्ञान न रहने पर भी 'मैं रहता है, मृत्यु होने पर 'मैं हूं' इसका ज्ञान न रहने पर भी 'मैं' रहता है, परन्तु योग निद्रा में 'मैं' नहीं रहता बल्कि योग निद्रा भंग होने पर ही 'मैं' का ज्ञान होता है।

जिस तरह इच्छा करने पर नींद नहीं आती उसी तरह समाधि भी इच्छा करते ही नहीं लग जाती। जिस तरह नींद स्वभावतः आती है उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है, निद्रा अभ्यास से या आँखें बन्द कर लेने से नहीं आती। उसी तरह आसन लगाकर व आँखें बंद करके बैठ जाने से ही कोई समाधिस्थ नहीं हो जाता।

समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्ति की तरह सुस्थिर व जड़ की तरह अचल होता है।

समाधि में ब्रह्म के साथ मनोयोग होने पर श्वास प्रश्वास बंद हो जाती है, उस समय रेचक व पूरक दोनों नहीं होते। समाधि में एक प्रकार से योगी की मृत्यु हो जाती है और ब्रह्म से उसका वियोग होने पर श्वास प्रश्वास फिर चलने लगती है। इस प्रकार समाधि की स्थिति ब्रह्म कृपा का एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

समाधि के समय लकवा लग जाने की तरह शरीर सुन्न हो जाता है। किसी स्पर्श आदि करने पर उसे उसका बोध नहीं होता। उस समय किसी प्रकार के कष्ट का भी अनुभव नहीं होता, वह अवस्था सुख दुःखादि से परे होती है।

जिनको निर्विकल्प समाधि होती है उनको आहार के सम्बंध में कोई विधि निषेध नहीं रहती उनको किसी प्रकार की आसन व मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह सदानन्द व जीवन मुक्त पुरुष हैं।

निर्विकल्प समाधि में कंठ व नाभि श्वास बंद हो जाती है। बल्कि नाड़ी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्ति की तरह सब अंग ठंडे पड़ जाते है। उसे विदेह व कैवल्यावस्था कहते हैं, उस अवस्था में देह में रहने पर भी देह के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में उनकी देह जला देने या टुकड़े–टुकड़े कर देने पर भी उनको कोई कष्ट नहीं होता।

समाधि की आवश्यकता

पदार्थों के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को जानने के लिए समाधि की आवश्यकता है। अतएव हमें गुरु की सेवा में बैठकर योगाभ्यास करना चाहिये। पहले हठयोग के द्वारा शरीर को शक्तिशाली बनाकर फिर राजयोग का अभ्यास करना चाहिये। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान अर्थात् योग के इन पाँचों अंगों का धीरे–धीरे अभ्यास करते हुए ध्यान समाधि में अग्रसर होना चाहिये। साधना करते–करते जब साधक समाधि अवस्था में पहुँच जाता है तब वह पदार्थों के आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को देख पाता हैं तभी उसे आत्म दर्शन होता है।

अन्तर बाह्य विषयों से चित्त को बाँध रखना तथा अन्य विषयों से निवृत्त कर किसी एक विषय में चित्त और स्थिर करने का नाम 'धारणा' हैं। धारणा का परिणाम 'ध्यान' है। किसी विषय में चित्त का धृत होना, स्थिर होना, उस विषय में प्रत्यय या चित्तवृत्ति की एकतानता होना, ध्येय आलम्बन से भिन्न अन्य विषय में चित्तवृत्ति का न जाना, ध्येयाकार में चित्तवृत्ति का एक तान प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है और ध्यान–परिणाम समाधि है। ध्यान ही जब ध्येयाकार में भासमान होकर प्रत्यात्मक वृत्तिस्वरूप ज्ञान को त्याग कर अवभासित होता है तब उसे 'समाधि' कहते है।

समाधि का प्रयोजन

मनुष्य क्या चाहता है? इस प्रश्न का सरल उत्तर है–आनन्द, सत्ता, चित्त व ज्ञान। इसके साथ ही वह यह सब बातें न्यून मात्रा में नहीं बल्कि अधिक मात्रा में चाहता है। तभी उसकी तृप्ति होती है। अतएव अब प्रश्न उठता है कि वे कहाँ और कैसे मिलते हैं? हमारा स्वयं का अनुभव ही हमें यह बतलाता है कि संसार में तो यह मिलते नहीं। यदि संसार में हम इन बातों का अनुभव करते हैं तो यह हमारी नितान्त अज्ञानता ही है, क्योंकि संसार के जितने पदार्थ हैं वह सब क्षणिक और मायिक है,

स्थायी और वास्तविक नहीं अतएव हमें क्षणिक लाभ त्यागकर स्थायी लाभ प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। वह हमें किस प्रकार मिल सकता है? इसका उत्तर हम अपनी तरफ से न देकर भगवान याज्ञवल्क्य के शब्दों में ही देते हैं, उन्होंने कहा कि 'अयं तु परमो धर्मोयद्योगेनात्मदर्शनम्' अर्थात समाधि द्वारा मनुष्य अपने सब प्रकार के अभीष्ट करने में समर्थ है। भगवान पतन्जलि ने भी अपने ग्रन्थ विभूतिपाद में लिखा है कि 'समाधि द्वारा ही आनन्द' ऐश्वर्य की चरमावस्था प्राप्त हो सकती है'। श्रुति कहती है कि समाधि द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

पातन्जलि योग दर्शन के अनुसार समाधि के मुख्यतया दो प्रकार है। (१) सम्प्रज्ञात (२) असम्प्रज्ञातः– असम्प्रज्ञात की अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरंग है।

यह (संयम रूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधि की अपेक्षा वहिरंग ही है। इस असम्प्रज्ञात योग को ही निर्वीज समाधि, कैवल्य चित्तशक्ति रूप स्वरूप प्रतिष्ठा आदि नामों से पातन्जलि योगशास्त्र में कहा है और उस योगी की सदा के लिये अपने चिन्मय स्वरूप में स्थिति हो जाती है, तथा किसी के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। उस अवस्था में संसार के बीज का अत्यन्त अभाव हो जाता है इसीलिये यह निर्वीज नाम से प्रसिद्ध है।

सम्प्रज्ञात योग के मुख्य ४ भेद है :

(१) वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम 'वितर्कानुगम'

(२) विचार के संबंध से होने वाली का नाम 'विचारानुगम'।

(३) आनन्द के सम्बंध सें होने वाली का नाम 'आनन्दानुगम'।

(४) अस्मिता के संबंध से होने वाली को 'अस्मितानुगम' समाधि कहते है।

(१) वितर्कानुगम :

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी यह पांच स्थूल भूत और शब्द स्पर्श, रूप, रस व गंध यह पांच स्थूल विषय हैं इन पदार्थों में होने वाली समाधि को 'वितर्कानुगम' समाधि कहते हैं। इसमें केवल पांच भौतिक स्थूल शरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड के अंतर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधि के भी दो भेद हैं। (१) सवितर्क और (२) निर्वितर्क

(१) सवितर्क या सविकल्प :

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ व ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त सभापति का नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्य में समाधि लगाता है तो उसमें सूर्य का नाम सूर्य का रूप और सूर्य का ज्ञान, यह तीनों प्रकार की कल्पना रहती है अर्थात् जिस पदार्थ में योगी समाधि लगाता है उस पदार्थ के वाचक या नाम को तो शब्द, तथा वाच्य अर्थात् स्वरूप को अर्थ और जिससे शब्द अर्थ के सम्बंध का बोध होता है उसको ज्ञान कहते हैं जैसे सूर्य, यह शब्द तो सूर्यदेव का वाचक है, सारे विश्व को प्रकाशित करने वाला आकाश में जो सूर्य मंडल दिखाई देता है वह सूर्य शब्द का वाच्य है और उस मंडल को देखकर यह सूर्य है, ऐसा जो बोध होता है उसका नाम ज्ञान है।

इसलिये इसे 'सवितर्क या सविकल्प' समाधि कहते हैं।

(२) निर्वितर्क या निर्विकल्प :

स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति भलीभांति रहित होने पर, जिसमें साधक को अपने ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थ अर्थात् ध्येय मात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' सभापति (समाधि) है। जैसे सूर्य का ध्यान करने वाला पुरुष मानों अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है और उसको केवल सूर्य का स्वरूप मात्र ही प्रतीत होता है

इसका नाम 'निर्वितर्क' समाधि है। इसमें विकल्पों का अभाव होने के कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) विचारानुगम :

शब्द, स्पर्श, रूप रस व गंध आदि सूक्ष्म तन्मात्रायें, मन बुद्धि, अहंकार और मूल प्रकृति एवं दश इन्द्रियां, इनमें होने वाली समाधि का नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कुछ लोग इन्द्रियों में होने वाली समाधि को 'आनन्दानुगम' समाधि मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना युक्त संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि महर्षि पतंजलि कहते हैं कि इस सवितर्क और निर्वितर्क के भेद के अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधि की व्याख्या समझना चाहिये। सूक्ष्म विषय की मर्यादा, स्थूल पंच भूतों को और स्थूल विषयों को छोड़कर मूल प्रकृति पर्यन्त बतलाई गयी है। इससे सूक्ष्म विषय की व्याख्या के अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ आदि आ जाते हैं तथा सूक्ष्म विषयता की सीमा अलिंग अर्थात् मूल प्रकृति तक है। मूल प्रकृति तक होने से दृश्य का सारा सूक्ष्म विषय 'विचारानुगम समाधि' के अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधि के भी दो भेद हैं (१) सविचार (२) निर्विचार।

(१) सविचार - स्थूल पदार्थों को छोड़कर शेष मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रह और ग्राह्यों के नाम (शब्द) रूप (अर्थ) ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त सभापति (समाधि) का नाम सविचार समाधि है। तीनों प्रकार के विकल्पों से युक्त होने के कारण, इस सविचार समाधि को सविकल्प भी कहते हैं अर्थात् ध्यान में जो ध्याता, ध्यान ध्येय की त्रिपुटी रहती है और सवितर्क व सविचार समाधि में केवल ध्येय विषयक ही शब्द अर्थ ज्ञान से मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधि में केवल ध्येय, मात्र का स्वरूप मात्र ही रह जाता है इसीलिये यह समाधि, ध्यान से उत्तर एवं समाधि की पूर्वावस्था हैं। इसे तटस्थ समाधि भी कहते हैं।

(२) निर्विचार - जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थों को छोड़कर शेष

मूल प्रकृति पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्यों में स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति के भलीप्रकार रहित होने पर जिसमें योगी को अपने स्वरूप के ज्ञान का अभाव सा होकर केवल अर्थमात्र की ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्विचार तथा निर्विकल्प' समाधि है।

ग्रहण तेरह है - पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि व अहंकार ग्राह्य पदार्थों के ग्रहण करने के द्वारा होने के कारण इनको 'ग्रहण' कहते हैं।

इनके सिवाय स्थूल, सूक्ष्म व समस्त जड़ दृश्य वर्ग ग्राह्य हैं। यह उपर्युक्त तेरह ग्रहणों के द्वारा पकड़े जाने वाले होने से इनको 'ग्राह्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि दृश्य मात्र जड़ हैं और इस जड़ में होने वाली समाधि का नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

कार्य सहित प्रकृति जो दृश्य वर्ग है, उसी का नाम बीज है, इसलिये उसको लेकर होने वाली समाधि का नाम सबीज समाधि है।

(३) आनन्दानुगम :

अन्तःकरण की स्वच्छता से उत्पन्न होने वाले आह्लाद अर्थात् प्रियं, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियों में जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार यह दोनों समाधियां तो केवल जड़ में अर्थात् दृश्यपदार्थों में हैं, परन्तु यह केवल जड़ में नहीं है, क्योंकि आनन्द की उत्पत्ति जड़ और चेतन के सम्बन्ध से होती है। इस आनन्द में आत्मा की भावना करने से विवेक ख्याति द्वारा आत्मा का साक्षात्कार भी होता है। अर्थात् सत्व और पुरुष की ख्याति मात्र से सब पदार्थों पर स्वामित्व और ज्ञातृत्व की प्राप्ति होती है और उसमें वैराग्य होने से संशय विपर्यय से रहित निर्मल विवेक ख्याति होती है, इसीको 'सर्वथा–विवेक ख्याति' भी कहते हैं। इससे धर्ममेघ' समाधि लाभ और

क्लेश कर्म की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती हैं।

यह 'धर्ममेघ' समाधि सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग 'निर्वीज समाधि' की पूर्वावस्था है क्योंकि इससे समस्त क्लेश कर्मो की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति है।

यह धर्ममेघ समाधि सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग निर्वीज समाधि की पूर्वावस्था है क्योंकि इससे समस्त कलेश कर्मो की निवृत्ति होकर कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

(४) अस्मितानुगम

चेतन दृष्टा की चिन्मय शक्ति एवं बुद्धि शक्ति इन दोनों की जो एकता सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

पुरुष और बुद्धि की एकरूपता की सी प्रतीति होना 'अस्मिता' है अर्थात् 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि के जैसे 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' तथा 'सविचार व निर्विचार दो दो भेद होते है। वैसे ही 'आनन्द' और 'अस्मिता' के दो–दो भेद किये जा सकते हैं। इसलिये बुद्धवृत्ति और पुरुष की चेतन शक्ति के एकता के से स्वरूप में जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतन पुरुष और बुद्धि के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले आह्लाद में होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धि की एकात्मा की सी स्थिति में होती है। इस समाधि से पुरुष और प्रकृति का पृथक–पृथक रूप से ज्ञान हो जाता है। उस सत्व पुरुष के पृथक–पृथक ज्ञान मात्र से समस्त पदार्थो के स्वामित्व ज्ञातृत्व की प्राप्ति होती है।

फिर इन सब में वैराग्य होने पर, क्लेश कर्म के मूलभूत अविद्या रूप दोष की निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

'असम्प्रज्ञात योग' अर्थात् निर्वीज समाधि तो संकल्पों का अत्यन्त अभाव होने के कारण 'निर्विकल्प' है ही किन्तु 'सम्प्रज्ञात योग' में 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार' आदि सबीज समाधियां भी विकल्पों के अभाव

होने के कारण 'निर्विकल्प' हैं।

'ग्रहण' और ग्राह्यों में तथा आनन्द और बुद्धि सहित ग्रहीता में होने वाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतन रूप ग्रहीता के स्वरूप में होने वाली समाधि का नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्य के अभाव से, दृष्टा की अपने स्वरूप में समाधि होती है।

चित्तवृत्तियों के अभाव के अभ्यास से उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्त निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्त निरोध के ही संस्कार रह जाते हैं।

गुण और गुणों के कार्य में अत्यन्त वैराग्य होने से समस्त दृश्य का आलम्बन चित्त से छूट जाता है, दृश्य से सदा अत्यन्त उपरामता होकर चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। क्लेश कार्यों का नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मों का नाश हो जाने से, उस योगी का चित्त के साथ संबंध अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम, गुणमयी प्रकृति उस योगी को मुक्ति देकर कृतार्थ हो जाती है। यह योगी की कैवल्य अवस्था अथवा चित्त शक्ति रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है। इसी को 'निर्बीज' समाधि कहते हैं।

संप्रज्ञात योग में जिस पदार्थ का आलंबन किया जाता हैं उस पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होकर योगी को भूमियो में वृद्धि होते होते शेष में प्रकृति पुरुष तक का यथार्थ में ज्ञान हो जाता है और उसमें वैराग्य होने से कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योग में तो शुरू से ही दृश्य के आलम्बन का त्याग किया जाता है जिससे दृश्य अत्यंत अभाव होकर, त्याग करने वाला केवल चेतन पुरुष ही बचा रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' का प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसी को ध्येय बनाकर अर्थात् किसी को आलम्बन करके किया जाता है। यहां आलम्बन ही बीज हैं। इसलिये किसी को आलम्बन बनाकर उसमें समाधि होती है। उसका नाम सबीज समाधि हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात योग में आलम्बन का

अभाव है। आलम्बन का अभाव करते–करते अभाव करने वाली वृत्तियों का भी अभाव होने पर जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्बन होने के कारण इसको निर्वीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बतलाये हुए असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि दो प्रकार से होती है। जिनमें एक का नाम 'भवप्रत्यय' और दूसरे का नाम 'उपाय प्रत्यय' है। जो पूर्व जन्म में विदेह और प्रकृति लय तक पहुंच चुके थे वे ही योग भ्रष्ट पुरुष इस जन्म में 'भव प्रत्यय' के अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य 'उपाय प्रत्यय' के अधिकारी हैं उनमें 'भव प्रत्यय' यह है। विदेही और प्रकृतिलयों को भव प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्म का और प्रत्यय नाम है प्रतीति प्रकट होने का। जन्म से ही जिसकी प्रतीति होती है। अर्थात् जोजन्म से ही प्रकट होता है, उसे 'भव प्रत्यय' कहते हैं। अथवा भवात् प्रत्ययः भव प्रत्ययः। भवात् नाम जन्म से, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्म से ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का, उसका नाम है 'भव प्रत्यय' सारांश यह है कि विदेही और प्रकृति लय योगियों को।

प्रकृति लय

उनको कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधि द्वारा प्रकृति पर्यन्त संयम करने की योग्यता हो गई हो। इस प्रकार के योगियों को आध्यात्म प्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती हैं।

निर्विचार समाधि में वैशारद्य अर्थात् प्रवीणता होने पर, आध्यात्म प्रसाद होता है, रज, तमरूप मल और आवरण का क्षय होकर, प्रकाश स्वरूप बुद्धि का स्वच्छ प्रवाह निरंतर बहता रहता है, इसी का नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृति के सारे .पदार्थों का संशय विपर्यय रहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इसका नाम 'आध्यात्म प्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योग की निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियों का विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्यों के लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करने के लिए 'उपाय प्रत्यय' कहते हैं।

जो विदेह और प्रकृति लय नहीं है। उन पुरुषों को श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम प्रत्यय के अभ्यास द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

(१) **श्रद्धा** - योग की प्राप्ति के लिए अभिरुचि या उत्कृष्ट इच्छा को उत्पन्न करने वाले विश्वास का नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्तःकरण जितना शुद्ध अर्थात् मलदोष से रहित होता है, उतनी ही उसमें जन्म से ही, असम्प्रज्ञात होग की प्राप्ति विषयक ज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्व जन्म में हो चुका है। इसलिये पूर्व जन्म के संस्कार बल से उनको पर वैराग्य होकर विराम प्रत्यय के अभ्यास पूर्वक अर्थात चित्तवृत्तियों के अभाव के अभ्यास अर्थात् दृश्य रूप आलम्बन के अभाव के अभ्यास से असम्प्रज्ञात अर्थात 'निर्बीज' समाधि हो जाती है।

भगवान श्री कृष्ण नें श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय ६/४३/४४ में कहा है कि 'योगभ्रष्ट मनुष्य पूर्वजन्म में साधन किए हुए वृद्धि के संयोग को अनायास ही प्राप्त हो जाता हैं उसके प्रभाव से फिर अच्छी प्रकार यत्न करता है।

(२) **वीर्य** - योग की प्राप्ति के लिये साधन की तत्परता उत्पन्न करने वाले उत्साह का नाम वीर्य है क्योंकि श्रद्धा के अनुसार उत्साह और उत्साह के अनुसार ही साधना में तत्परता होती और उस तत्परता से मन व इन्द्रियों के संयम की भी सामर्थ्य हो जाती है।

(३) **स्मृति** - अनुभूति विषय का न भूलना अर्थात् उसके निरंतर स्मरण रहने का नाम 'स्मृति' है। इसलिये यहाँ आध्यात्मिक बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म विषय में जो चित्त की एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात स्थिर स्थित है, उसको 'स्मृति' कहते हैं।

(४) **समाधि** - फिर उसी में अपने स्वरूप का अभाव सा होकर, जहां केवल अर्थ मात्र ध्येय वस्तु का ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है।

(५) प्रज्ञा - ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञानाम से कथित हुई है। उपर्युक्त समाधि फल स्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगी को प्राप्त होतीहै। ऋत सत्य का नाम है। उसको धारण करने वाली बुद्धि का नाम ऋतम्भरा है। विशेष अर्थवाली होने से यह प्रज्ञा श्रुत और अनुमान जन्य प्रज्ञा से अन्य विषय वाली है अर्थात श्रुति, स्मृति द्वारा सुने हुए, और अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा अनुमान किये हुए विषयों से भी इस बुद्धि के द्वारा विशेष अर्थ का अर्थात् यथार्थ का अनुभव होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से संसार के पदार्थों में वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधन में आने वाले विषयों का अभाव हो जाता है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान रूप संस्कार अन्य दृश्य जन्य संस्कारों का बाधक है इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञा के संस्कारों द्वारा विराम प्रत्यय का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् विषय सहित चित्त की समस्त वृत्तियों के विस्मरण का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करते–करते दृश्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्य का अत्यन्त अभाव होने पर, दृश्य का अभाव करने वाली बुद्धि वृत्ति का भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसका निरोध होने पर निर्बीज समाधि हो जाती है। यही इस योगी स्वरूप में स्थित है या यों कहये कि कैवल्य पद की प्राप्ति है।

भगवान श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अध्याय ४/३९ में कहा हैं कि जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवद् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

सारांश यह है कि अन्तःकरण की स्वच्छता से श्रद्धा होती है। श्रद्धा से साधन में तत्परता होती है, तत्परता से मन और इन्द्रियों का निरोध होकर परमात्मा स्वरूप में निरन्तर ध्यान होता हैं, इस ध्यान से परमात्मा के तत्व का यथार्थ ज्ञान होता है और ज्ञान से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। इसी को भगवत् प्राप्ति, परम धाम की प्राप्ति आदि नामों से गीता में बतलाया गया है। और यहां इस प्रकरण में इसी को 'निर्बीज' समाधि या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहते हैं।

प्रकृति–विकृति रहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वयं प्रकाश चैतन्य ज्योतिः स्वरूप शुद्ध असंग प्रत्याभिन्न ब्रह्म विषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिज्ञासु का कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधि वाले योगी के भी यदि विषय वासना शेष रह गयी हो तो प्रत्येक चेतन का साक्षात्कार नहीं होता, किंतु वासना के अनुसार उत्तम लोकों की ही प्राप्ति होती है। जब तक अणु मात्र भी विषय वासना रहेगी तब तक आवरण भंग नहीं होगा। अतएव स्वामी गौड़पाद कहते हैं कि इस चैतन्य समाधि का नाम ही अस्पर्श योग है, यह समाधि द्वैत दृष्टि वाले योगियों को प्राप्त होना दुर्लभ है। समाधि दो प्रकार की होती है। (१) सविकल्प (२) निर्विकल्प।

(१) सविकल्प समाधि

व्युत्थान–संस्कारों का तिरस्कार और निरोध संस्कारों के प्रकट होने पर अन्तःकरण का एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेयरूप त्रिपुटी मानसहित अद्वितीय वृत्त विषयक अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि भी दो प्रकार की है। (१) शब्दानुविद्ध (२) शब्दाननुविद्ध 'अहं ब्रह्मास्मि' – इस शब्द भान के सहित होने से समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द मान से रहित शब्दाननुविद्ध कही जाती है त्रिपुटी भान सहित अखंड ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकार समाधि के दो भेद हैं। इनमें सविकल्प साधन है। और निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटी रूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत ब्रह्म रूप से ही प्रतीत होते है। जैसे मृत्तिका के विचार घटादि विवेकी को प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिका रूप से ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधि में विवेकी को त्रिपुटी द्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधि में भी सविकल्प समाधि की तरह त्रिपुटी द्वैत विद्यमान है, तथापि त्रिपुटी द्वैत की प्रतीति नहीं होती। जैसे जल में नमक डालने पर वहाँ नमक मौजूद है, परन्तु नेत्रों से दिखाई नहीं देता (पड़ता) अतएव सविकल्प और

निर्विकल्प समाधियों का यह भेद स्पष्ट हो गया कि सविकल्प समाधि में ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है। और निर्विकल्प में द्वैत की प्रतीति नहीं होती।

(२) सुषुप्ति निर्विकल्प समाधि

सुषुप्ति में ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प में अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती ही है, परन्तु वृत्ति का भान नहीं रहता। सुषुप्ति में बैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधि में नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधि में अन्तःकरण की वृत्ति रहती है। समाधि से उठने पर ब्रह्माकार वृत्ति की प्रतीति है, इससे भी निर्विकल्प समाधि में अनावृत्ति की अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधि में प्रयत्न नहीं है। तथापि प्रथम के प्रबल प्रयत्न से निर्विकल्प समाधि में ब्रह्माकार वृत्ति का प्रवाह अवश्य रहता है, इसके अतिरिक्त सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय अज्ञान में होता है और निर्विकल्प समाधि में जल प्रक्षिप्त नमक की तरह चैतन्य में अन्तःकरण का लय होता है। सुषुप्ति में आवरण रहता है, आत्म विषयक निर्विकल्प में आवरण नहीं रहता। सुषुप्ति में आवृत्त आनन्द का अनुभव होता है, निर्विकल्प में निरावरण आनन्द स्वरूप का अनुभव होता है। यम नियमादि प्रयत्न के विना चित्त का लय निद्रा है, यम नियमादि प्रयत्न पूर्वक चित्त का लय समाधि हैं।

निर्विकल्प समाधि के दो प्रकार

एक अद्वैतभावना रूप निर्विकल्प समाधि होती है। दूसरी अद्वैत अवस्थान रूप होती है। जो अद्वैत ब्रह्माकार अन्तःकरण की अज्ञात वृत्ति सहित हो वह अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्यास से जब अन्तःकरण की वृत्ति शांत हो जाती है तब वृत्ति रहित अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे गरम लोहे पर जल की बूंद गिरी हुई गरम लोहे में प्रवेश करती है, तद्वत् अद्वैतभावना रूप समाधि के दृढ़ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म में वृत्ति का लय होता है।

यहां यह रहस्य है कि यद्यपि अवस्थान रूप समाधि में रज, तम का तिरोधान हो चुका है।

तथापि शुद्ध सत्व गुण विद्यमान है एवं शुद्ध सत्वगुण रूप उपादान में ही वृत्ति के लय का सम्भव है, निर्विकार वृत्त प्रकाश में नहीं। गरम लोहे पर जल बिन्दु का जो दृष्टान्त कहा है, वहाँ भी विचार दृष्टि से पार्थिव लोहे में जल बिन्दु का लय नहीं होता किन्तु जल का उपादान जो अग्नि है उसी में जल बिन्दु का लय होता है, तप्त लोहे में उपचार मात्र है। तथापि ब्रह्म प्रकाश में मानरूप निमित्त से वृत्ति का लय हुआ है। अतः उपचार से ब्रह्म प्रकाश में लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्म विद्वद्वरिष्ठ की दृष्टि से गुणादिक हैं ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्म का विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाश रूप ब्रह्म में वृत्ति का लय कहा हैं।

निर्विकल्प समाधि के विघ्न

निर्विकल्प समाधि के चार विघ्न हैं। (१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय (४) रसास्वाद।

(१) लय - आलस्य और निद्रा से वृत्ति के अभाव को लय कहते हैं। लय से सुषुप्ति के समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्द का भान नहीं होता। अतः निद्रा आलस्यादिक निमित्त से जब वृत्ति का लय होता मालूम हो तब साधक को सावधान होकर वृत्ति को जमावे, आँखों में जल और कपूर लगा लेवें।

(२) विक्षेप - अनात्म पदार्थों को दुःख का हेतु जानकर अद्वैतानन्द के विषय–करने के लिए अन्तर्मुर्ख हुई वृत्ति को कुछ काल स्थित के बिना चैतन्य स्वरूप आनन्द का लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्ति का विषय चेतन अति सूक्ष्म हैं। अतः वृत्ति बहिर्मुख होकर पुनः अनात्म पदार्थों में लग जाती है। इस रीति से बहिर्मुख वृत्ति को विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्ति के अन्तर्मुख होने पर जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तब तक वाह्य

पदार्थों में दोष भावना ही करें। वृत्ति को बहिर्मुख न होने दे किन्तु अन्तर्मुख ही स्थापन करें।

(३) कषाय - रागादिक दोषों को कषाय कहते हैं। राग दो प्रकार का होता है। (१) आन्तर (२) बाह्य। भूत और भावी का चिन्तन रूप मनोराज्य आन्तर है, पुत्र–धनादि के प्रति वर्तमान विषयक राग, द्वेष मोहादिक बाह्य हैं: इन से अन्तःकरण क्षिप्त होता है। ओर क्षिप्त अन्तःकरण का योग में अधिकार ही नहीं है। यह समाधि के भी विरोधी हैं। साधक को चाहिये कि वह इनको साधन द्वारा दबा दें।

(४) रसास्वाद - साधक की वृत्ति जब लय, विक्षेप और कषाय के न होने से अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म साक्षात्कार के पहले विक्षेप की निवृत्ति से वैसा ही आनन्दभास होता है जैसे बोझा ढोने वाले मनुष्य को बोझ के उतर जाने से होता है। जिस तरह मनुष्य दुःख की निवृत्ति से आनन्दित होता हे। उसी तरह साधक समाधि में इन विघ्नों की निवृत्ति से परमानंदित होता है।

यदि योगी सविकल्प समाधि से होने वाले आनन्द ही में सन्तोष मान ले तो वह निर्विकल्प समाधि के आनन्द से वंचित रह जायगा इसलिये साधक असंग होकर पूर्ण वैराग्य के अभ्यास से निर्विकल्प समाधि के लिए ही प्रयत्न करें।

श्री स्वामी गौड़पाद जी ने लिखा है कि 'सर्व बाह्य शब्दादि व्यवहार सम्बन्ध सर्व प्रपंच चिन्ताओं व क्लेशों से रहित, सदा स्वयं प्रकाशमान, ज्योतिः स्वरूप, अचल, भयादि तथा द्वैत रहित स्वरूप का नाम ही समाधि है।

षट् समाधि

समाधि नीचे लिखे अनुसार छः प्रकार की होती हैं

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(२) अन्तःशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि (इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त)

(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि (इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त)

(६) बाह्य निर्विकल्प समाधि – वृत्ति अन्तरंग और बहिरंग, दो प्रकार की होती है वृत्ति जब अन्तर्मुख होती है अर्थात् भीतर की ओर प्रविष्ट होती है। तब उपर्युक्त त्रिविध अन्तरंग समाधियों का अभ्यास करें, और वृत्ति जब बहिर्मुख होकर बाह्य दृश्य में क्रीड़ा करनें लगती है तब उपर्युक्त त्रिविध बहिरंग समाधियों का अभ्यास करें। इससे जहाँ भी मन जाय वहीं समाधि कर ली' इस प्रकार अखंड़ समाधि प्राप्त होती है। इन समाधियों का अभ्यास कैसे करना चाहिये यह आगे लिखा जाता है।

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि

अन्तर में काम, क्रोधादि जो वृत्तियां हें वे ही 'दृश्य' हैं। इन दृश्यों के भावाभाव का साक्षी शुद्ध चेतन रूप मैं हूँ इस प्रकार चिन्तन करना–वृत्ति को साक्ष्याकार करना अर्थात् साक्षी में लीन करना ही 'अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।'

(२) अन्तःशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि

'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति के श्रवण और चिन्तन से स्वयं प्रकश रूप आत्माकार वृत्ति करना ही 'अन्तशब्दानुविद्ध सविकल्प' समाधि है।

अन्तर्दृश्यानुविद्ध और अन्तःशब्दानुविद्ध समाधियों के अभ्यास से होने वाली।

(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि

इसमें चित्त की स्थिति 'अचल दीपवत्' अर्थात दृश्य और शब्द दोनों सम्बन्ध छूट जाते हैं और अचल दीप शिखा की तरह साक्ष्याकार वृत्ति होती है।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि

बाहर जगत के पदार्थों को देखकर होने वाली नामरूपाकार

वृत्ति को त्यागकर अर्थात नाम और रूपगण मायांश को त्यागकर उसके अस्ति भाँति प्रियरूप ब्रह्मांश का अनुसंधान करना 'वाह्वदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि

'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' "सदैव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि तत्पर निर्देश करने वाले वाक्यों से चराचर जगत का ब्रह्मरूप का चिंतन करना 'वाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है'

(६) बाह्य निर्विकल्प समाधि

बाह्यदृश्यानुविद्ध और बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियों के अभ्यास से जो स्थिति होती है। वह 'बाह्य निर्विकल्प समाधि' है।

जिसमें नाम रूपों को देखते हुए अस्ति–भाँति प्रियरूप की ओर ध्यान बंधता है, वृत्तिनिस्तरंग होकर ब्रह्माकार होती है। उस स्थिति को 'बाह्य निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। वह 'निस्तरंग मुद्रवत्' अथवा 'कल्पाम्बुनीरवत्' होती है।

आत्म साक्षात्कार और जगन्मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी जीवन्युक्त को नामरूपाकार जगत् की प्रतीति होती ही है। अभ्यास की दृढ़ता से जगत का मिथ्याभास नहीं रह जाता। ऐसी समाधि उपर्युक्त षट् समाधियों के अभ्यास से प्राप्त होती है, उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। यह समाधि सप्त भूमिका की छठी भूमिका है।

उत्थान और अनुत्थान में भी, अप्रमत्त और जितेन्द्रिय होकर यत्न शील साधक इस समाधि षट् का अभ्यास करें। मायाजनित 'आवरण' और विक्षेप' जब तक सर्वथा नष्ट नहीं होते अर्थात् आत्मा के ऊपर तद्विपरीत जमी हुई अनात्मबुद्धि (ब्रह्म में होने वाली जगत् बुद्धि) जब तक समूल नहीं उखड़ जाती तब तक इस समाधि का निरंतर अभ्यास करना चाहिये। इसमें कभी प्रमाद न हों' मोक्ष की इच्छा करने वाला विद्वान् (श्री शंकाराचार्य) इस अभ्यास में कदापि प्रमाद (भूलगफलत व आलस्य) न होने दें। कारण सूर्यास्त काल में जैसे अंधकार, वैसे ही प्रमाद में माया का उद्भव होता है। वे तत्वज्ञानी पुरुष स्वानुभूति छोड़कर एक क्षण भी नहीं रहते, कारण यह जानते हैं कि स्वानुभूति में प्रमाद का होना ही

ज्ञानियों की मृत्यु है, यम मृत्यु नहीं।

इन षट् समाधियों में पहली तीन समाधियां अपने भीतर साधने की है और आगे की तीन समाधियां सम्पूर्ण द्वैतनिवृत्ति के लिये बाहरी दृश्य जगत् में साधने की हैं।

समाधि सिद्ध होने का उपाय :

प्रसिद्ध योगिराज श्री भार्गव किंकर योगत्रयान के स्वामी का कहना है कि कोटि जन्म पर्यन्त कच्छ साधन द्वारा योगाभ्यास करने पर भी समाधि सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि भगवान में दृढ़ व सच्ची श्रद्धा भक्ति न होगी, भक्तिमान की समाधि बात की बात में सिद्ध हो जाती है। अतएव जो समाधि सिद्ध करना चाहते हों उनको भगवान के प्रति पूर्ण रूप से आत्म समर्पण करना चाहिये।

'समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्' (पतंजलि)

अर्थात ईश्वर को आत्म समर्पण करने पर ही समाधि सिद्ध होती है। योग साधन में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि होती है। इनके करने से विशुद्ध, अनाहत और मूलाधार इन तीन चक्रों में जो तीन ग्रन्थियां है उनका भेदन होकर कुण्डली जाग उठती है और सहस्रार में पहुंचती है। वहां शिव और शक्ति का संयोग होता है यही समाधि, योग की चरम सीमा है। योगी तब सब दुःखों और दोषों से मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करता है। उस समय का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वर्ग और पृथ्वी के नष्ट होने पर भी वह काकभुंशुंड़ि की तरह रह सकता है वह अपना जरा और जीर्ण शरीर स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ता है। यदि वह चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे किसी काल तक भी रख सकता हैं। वह जीर्ण अंगों व शरीर को नया कर सकता है। गृहस्थ योगी तो नियत समय पर शरीर छोड़ देते हैं। परन्तु विरक्त योगी सैकड़ों वर्षो तक पहाड़ों व जंगलों में रहते हैं।

'ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु सदेवा न तु मानुषः'

अर्थात् योगी मनुष्य ईश्वर सदृश हो जाता है। वह चाहे जो कुछ कर सकता है। उसमें सृष्टि, स्थिति संहार करने की शक्ति आ जाती है।

षट् चक्र साधन

इस संसार में जितने प्रकार के साधन हैं उनमें चार प्रकार के साधन ही श्रेष्ठ हैं।

(१) वेद विहित साधन चतुष्टय।

(२) सांख्य प्रदर्शित साधन त्रय।

(३) योग शास्त्रोक्त साधन।

(४) तन्त्र शास्त्रोक्त साधन।

परन्तु कलिकाल में तन्त्र शास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धि प्रद हैं। यही शास्त्र की उक्ति है। महानिर्वाण तन्त्र में कहा गया है कि कलिकाल में मनुष्य तप से हीन, वेद पाठ से रहित और अल्पायु होंगे, वे दुर्बलता के कारण उस प्रकार के क्लेश और परिश्रम के सहने में समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार से सम्भव हो सकता है। कलिकाल में गृहस्थ लोग केवल आगमोक्त विधानों के अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरी प्रकार की विधियों से अर्थात वैदिक, पौराणिक, औरस्मार्त समस्त विधियों का अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करने से सिद्धि लाभ करने में कदापि समर्थ न होंगे।

चित्र नं. (१) में भ्रूमध्य हं ळं क्षं 'सोऽहं' मंत्र के दो बीज दिखायें हैं। इनके अन्तर्गत, अँकार बीज से पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे व्यंजनोत्पत्ति हुई। भ्रूमध्यगत आज्ञा चक्र के नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार चक्रों में क्रम से इस वर्णोत्पत्ति का क्रम दिखाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन चक्रों से ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई है। इसी कारण ही हिन्दी (संस्कृत) को देव भाषा कहते हैं।

इस चित्र में यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्र के समीप रुद्र ग्रन्थि, मणिपुर के पास विष्णु ग्रन्थि और मूलाधार के पास ब्रह्म ग्रन्थि है। इन मातृकाओं के स्थान शरीर में आगे दिये अनुसार है।

अ, आ, क, वर्ग ह	कंठ स्थान
इ, ई च वर्ग	तालु स्थान
ऋ ॠ, र वर्ग	मूर्धा स्थान
लृ, ॡ, त वर्ग ल, स,	दन्त स्थान
उ, ऊ, प वर्ग	ओष्ट स्थान

इन उत्पत्ति स्थानों को बतलाते हुये मूलाधार, मणिपुर, अनाहत व विशुद्ध नाम नहीं दिये गये हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, व वैखरी इन चार वाणियों के स्थान मूलाधार से बतलाये जाते है, शब्दोत्पति के स्थान बताये जाने पर भी अनुभव भिन्न है।

वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण का मूल स्थान परावाणी है। शब्द पहले वाणी से उठता है। पहले मन में वृत्ति उठती है, तब वृत्ति सदृश विचार उत्पन्न होते हैं। विचार प्रकट करने का मूल स्थान परा वाणी है। विचार जब सूक्ष्म शब्द में आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं, पश्यन्ती वाणी के शब्द नेत्रों को दिखाई देने लगते हैं। यह शब्द जब अर्धवाक् और रसना की क्रिया तक आते हैं तब वह मध्यमा वाणी है और स्पष्ट शब्दोच्चार होने पर वह वैखरी वाणी हैं।

सहस्त्रार के नीचे षोड़शदल सोमचक्र है। उसके नीचे द्वादश दल सूर्य चक्र है। उसी में विचार उत्पन्न होने का स्थान है। वह मूर्धा स्थान के ऊपर है। यह चक्र सर्व मान्य योग मार्ग के श्रीहर, गोल्लार और त्रिकूट चक्रों के समीप ही है, मनश्चक्र की नाड़ी मनोवहाया अज्ञावहा नलिका है। श्रवणेन्द्रिय गोलक शब्द वह नाड़ी, नेत्रेंन्द्रिय गोलक रूपवहा नाड़ी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाड़ी, प्राणेन्द्रिय गोलक गन्धवहा नाड़ी और स्पर्शेन्द्रिय गोलक स्पर्शवहा नाड़ी है। यह सब नाड़ियाँ सहस्रार चक्र के आसपास हैं, अर्थात इनके स्थान मूलाधारः, स्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्त्रार के समीप ही है।

आज्ञा चक्र के 'सोहं' ध्वनि में जो ऊँकार है उस से स्वर और व्यंजन उत्पन्न हुए। इन्हीं को वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं। अक्षरों से पद,

पदों से वाक्य, और वाक्यों के समुदाय से भाषा बनी। अर्थात् शब्द अक्षर अविनाशी हैं। शब्दोच्चार के पूर्व वह थे, शब्दोच्चार के होते हुए भी वह हैं और उच्चार हो चुकने पर भी हैं। जैसे अंधेरे में रखी हुई वस्तु प्रकाश के पूर्व भी है, प्रकाश होने पर भी है और प्रकाश हो जाने पर भी हैं।

सहस्रार चक्र ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर चार अंगुल फैला हुआ है। जिनकी दिव्य दृष्टि हो चुकी है वे ही इन चक्रों के नाना प्रकाश रूपी मातृकाओं का अनुभव करते हैं, अन्य लोग दृढ़भावना के साथ तत्तचक्र की मातृकाओं, उनके वर्णो और तथ्यों का प्रकाश रूप में ध्यान कर सकते हैं।

षट्चक्र निरुपण में बतलाया है कि 'इह स्थाने लीने सुमुख सदने चेतसिं पुरं निरालम्बंवद्ध्वा पुरं बदध्वा' पुःमाने योनिमुद्रा और षण्मुखी मुद्रा अथवा पुरं अर्थात खेचरी मुद्रा, सिद्ध करे। प्रणव का ध्यान भ्रूमध्य में करें। 'प्रणव चारी दिशानाम' होने से अन्तःकरण के अन्तरिक्ष में 'पवन सुहृदां वहिकणान् ज्योतिः पश्यति, इस प्रकार साक्षात्कार होता है।

तांत्रिक साधन - दो प्रकार के हैं। (१) बहिर्याग (२) अर्न्तयाग।

बहिर्याग में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि द्वारा पूजा की जाती है। अर्न्तयाग में इन सब वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। इसमें पृथ्वी तत्व को गंध, आकाश तत्व को पुष्प वायु तत्व को धूप, तेजस (अग्नि) तत्व को दीप, रसात्मक जल तत्व को नैवेद्य रूप में कल्पना करके उसे पंचोपचार द्वारा पूजा करनी पड़ती है। षट्चक्रों का भेद ही इस अर्न्तयाग का प्रधान अंग है।

षट्चक्र

षट्चक्रों का अभ्यास हुये बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष हुए बिना मन का संदेह नहीं जाता, फलतः वास्तविक ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होने का उपाय है, षट्चक्र साधन।

वायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे चतरंगुल विस्तृत समस्त नाड़ियों का मूल स्वरूप पक्षी के अण्डे की तरह एक कंद

विद्यमान है। (पायु)

(गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) के मध्य के स्थान को कंद या मूलाधार कहते है, जिसमें से बहत्तर हजार नाड़ियां निकल कर सारे शरीर में व्याप्त हुई हैं। इनमें योगशास्त्र के अनुसार इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं।

इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना

चन्द्ररूपिणी इड़ा मेरूदण्ड के वाम भाग में, सूर्य रूपिणी पिंगला मेरूदण्ड के दक्षिण भाग में और चन्द्र–सूर्याग्नि रूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना मध्य भाग में विराजमान रहती है। मूल से उपस्थित इड़ा और पिंगला मेरूदण्ड के बायें और दक्षिण भाग में समस्त पद्मों को वेष्टित करके आज्ञा चक्र पर्यन्त धनुषाकार से जाकर भ्रूमध्य के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र मुख में संगत हो नासारन्ध्र में प्रवेश करती है। इन दोनों के मध्य में जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसकी छः ग्रन्थियों में पद्माकार के छः चक्र संलग्न हैं। गुह्य स्थान में, लिंगमूल में नाभिदेश में, हृदय में, कण्ठ में और दोनों भ्रूमध्य के मध्य में, इन छः स्थानों में छः चक्र विद्यमान है। यह छः सुषुम्ना नाल की छः ग्रन्थियों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भ्रूमध्य के ऊपर जहां पर इड़ा और पिंगला मिलती हैं वहां पर मेरु मध्य स्थित सुषुम्ना भी इड़ा, पिंगला से जा मिलती है। इसीलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है क्योंकि शास्त्रों में इन तीनों नाड़ियों को गंगा, यमुना और सरस्वती कहा है।

इड़ा भोगवती गंगा, पिंगला यमुना नदी।

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये, सुषुम्ना च सरस्वती।।

इस त्रिवेणी में योगवल से जो योगी अपनी आत्मा को स्नान करा सकता है।

त्रिवेणी योगः सा प्रोक्ता तत्र स्नाने महाफलं।

इस शास्त्रीय वचनं के अनुसार उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऊपर लिखी छः ग्रन्थियों का भेदन करके जीवात्मा को परमात्मा के साथ संयोग करना पड़ता है। इसी को प्राकृत योग कहते हैं।

कुण्डलिनी

योग क्रिया के द्वारा मूलाधार स्थित निद्रित कुल कुंडलिनी को जाग्रत करके ऊपर लिखे छः चक्रों के द्वारा सुषुम्ना पथ में प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्र दल पद्म स्थित परम शिव में लय कर देना ही लय योग का उद्देश्य है।

चक्रों के नाम (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपुर (४) अनाहत (५) विशुद्ध और (६) आज्ञाचक्र। यह चक्र शरीर में किस स्थान पर हैं और उनका क्या महत्व है। इसका संक्षिप्त विवरण आगे लिखा जा रहा है। इन चक्रों को कुछ लोग पद्म भी कहते हैं। यद्यपि यह षट्चक्र ही कहलाते हैं लेकिन सहस्रार सहित इनकी संख्या सात हो जाती है। इसे आधार चक्र तथा चतुर्दल पद्म भी कहते हैं।

(१) मूलाधार

यह गुदा के ऊपर और लिंगमूल के नीचे सुषुम्ना के मुख से संलग्न है, अर्थात् कंद और सुषुम्ना के सन्धि स्थल में इसकी स्थिति है इसके वं, शं, षं, संवर्ण तथा चार दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी डाकिनी हैं। आधार पद्म की कर्णिकाओं के गव्हर में वज्रा नाड़ी के मुख में त्रिपुर सुन्दरी का निवास स्थान तक त्रिकोण पीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत् के समान तेज पुंज हैं। उसमें कंदर्प नामक वायु का निवास है, यह वायु जीव धारक बंधुजीव पुष्प के समान विशेष रक्त वर्ण तथा कोटि सूर्य के समान प्रकाशशाली है। उक्त त्रिकोण शक्ति पीठ में स्वयंभू लिंग विराजमान हैं। जो पश्चिम, मुख, तप्त कांचन तुल्य कोमल ज्ञान और ध्यान का प्रकाशक है। इस स्वयंभू लिंग के ऊपर मृणाल अर्थात कमल की डंडी के तन्तु के सदृश सूक्ष्म शंख

वेष्टन युक्ता और साढ़े तीन वलयों के आकार की सर्पतुल्य कुंड़लाकृति नवीन विद्युत माला के समान प्रकाश शालिनी कुल कुण्डलिनी निज मुख से उस स्वयंभू लिंग के मुख को आवृत्त करके निद्रिता रहती है इसके प्रबोध की क्रियायें अति कठिन, गोप्य व गुरू प्रसोदेफलम् हैं। जिस स्थान में योगी मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग का चिन्तन करता है। उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्र में ध्वंस हो जाती है तथा मन ही मन वह जिस वस्तु की कामना करता है उसकी प्राप्ति होती है। इस साधना को निरंतर करने से साधक उस मुक्ति दाता के रूप का दर्शन करता है।

स्थान–योनि। दलों के अक्षर–बं, शं, षं सं,। देव–ब्रह्मा दल–चतु। नाम तत्व–पृथ्वी,। देवशक्ति–डाकिनी,। वर्ण–रक्त,। तत्व बीज–लं। यंत्र–चतुष्कोण लोक–भू। बीजाकावाहन–ऐरावत। ज्ञानेन्द्रिय–नासिका। संलग्ननाड़ी–सुषुम्ना। गुण–गन्ध। कार्मेन्द्रिय–गुदा वज्रा, चित्रिणी व ब्रह्मा।

ध्यानफल – मनुष्यों में श्रेष्ठ, सर्व विद्या, विनोदी, अरोग्य–आनन्द–चित्त, वक्ता व काव्य, प्रबन्ध में समर्थ होता है।

इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है।

लाल वर्ण, चौकोण–चतुर्दल के मध्य में पूर्ण चन्द्राकांर गोला उसके बीच में पीला चौकोर यंत्र उसके मध्य में लं बीज, बीज के बीच में दाहिनी तरफ चतुर्मुखी ब्रह्म, बाई तरफ एक मुखी, त्रिशूल सहित डाकिनी देवी, मध्य में लाल रंग का छोटा सा त्रिकोण यंत्र, त्रिकोण के बीच में कुल कुण्डलिनी, 'कुण्डलिनी के ३ १/२ कोंडेलो के महाप्रकृति देवी, नीचे की तरफ स्फटिक की तरह सफेद स्वयंभू (शिव) लिंग व लिंग के नीचे ऐरावत हाथी। बाई तरफ 'सं' वर्ण और दाहिनी तरफ 'शं' वर्ण से काल धमिनी नाड़ियां निकली हैं।

(२) स्वाधिष्ठान - (षड्दल पद्म)

मूलाधार चक्र के ऊपर लिंगमूल में विद्युदवर्ण षड्दल विशिष्ट

स्वाधिष्ठान नामक पद्म है। बं, भं, मं, यं, रं, लं, यह छः वर्ण उसके दल हैं। इसमें वालाख्य सिद्ध की स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी (है) अवस्थान करती है। जो साधक सर्वदा इस स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करते हैं वे संदेह विरहित चित्त से बहुतेरे अश्रुत शास्त्रों की व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतो भावेन रोग रहित होकर सर्वत्र निर्भय विचरते हैं इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणों से युक्त परम सिद्धि प्राप्त होती है। स्थान– पेडू दलों के अक्षर बं, भं, मं, यं, रं लं, देव–विष्णु दल–षट्, नामतत्व–जल, देवशक्ति–राकिणी वर्ण–सिन्दूर, तत्व बीज–बं, यंत्र–चंद्राकार लोक–भुवः, बीज का वाहन–मगर, ज्ञानेन्द्रिय–रसना संलग्न नाड़ी–१ 'सुषुम्ना २–वज्रा, गुण–रस, कर्मेन्द्रिय लिंग ३– चित्रिणी, ४– वृत्त

ध्यान फल

अहंकारादि विकार नाश, योगियों में श्रेष्ठ, मोह रहित, गद्य–पद्य रचना में समर्थ।

'' इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है''

छः दल पद्म, रंग सिन्दूर व पद्म के बीच में, पूर्ण चन्द्राकार गोला मध्य में 'वं' वर्ण वं के ऊपर चन्द्रमा की तरह वरूण चक्र, बीच में दाहिनी तरफ विष्णु भगवान, बाई तरफ दो मुखी राकिणी देवी और उनके नीचे मगर 'रं' वर्ण से शंखिनी व सूत्रा और 'भं' वर्ण से विश्वा और दवन्तिका नाड़िया संलग्न हैं।

मणिपूर चक्र (नाभि पद्म)

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि मूल में मेघवर्ण मणिपूरक नामक दस सुवर्णमय वर्ण दश दल पद्म हैं। पद्म में सर्व मंगलदायक रूद्र नामक सिद्ध लिंग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती हैं। जो योगी इस चक्र में सर्वदा ध्यान करते हैं उनकी इस लोक में कामना सिद्धि, दुःख निवृत्ति और रोग शांति होती है। इसके द्वारा वह

परदेह में भी प्रवेश कर सकता है तथा कालसे भी बचने में समर्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त सुवर्णादि बनाने, सिद्ध पुरुषों के दर्शन करने, भूतल में औषधि तथा भूगर्भ में निधि के दर्शन करने (की) में समर्थ होते हैं व पालन एवं संहार जैसे कार्य कर सकता है। जिस प्रकार सूर्य से सारा संसार संचालित होता है उसी प्रकार मणिपूरक चक्रं का स्थान नाभि हैं।

स्थान–नाभि, दलों के अक्षर–डं,ढ़ं, णं, तं देव–वृद्ध रूद्र (थं, दं, धं, नं, पं, फं,)

दल–दश, नाम तत्व–अग्नि, देवशक्ति–लाकिनी वर्ण–नील, तत्व बीज–रं, यंत्र–त्रिकोण लोक–स्वः, बीज का वाहन–मेष, ज्ञानेन्द्रिय–चक्षु, संलग्न नाड़ी–सुषुम्ना नाड़ी (१– तारका, कर्मेन्द्रिय–चरण, वज्रा चित्रणी, वृप्रा) २– माधवी ३– तारका, ४– इल्तिका, ५– शुक्रा, ६–तारा ७–काली, ८–विजोलिका, ९–इल्ता १०–अतीता व ११–तारा।

ध्यान फल-संहार पालन, करने में समर्थ, वचन रचना में चतुर इसकी जिह्वा पर सरस्वती नाच करती हैं।

इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार हैं।

नीले रंग के दश दल पद्म के बीच गुलाबी त्रिकोणाकार स्वस्तिक चिन्ह उसके बीच में लाल रंग का (रं) बीज रंकार बीज अग्नि दाई तरफ त्रिमुखी लाकिनी देवी और बाई तरफ रुद्रव नीचे मेष (मेढ़ा) है।

(४) अनाहत चक्र (द्वादश दल पद्म)

मणिपूरक चक्र के ऊपर हृदय स्थल में अनाहत नामक द्वादश दल रक्त वर्ण पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के बीच में विष्णुप्रभा से युक्त धूमवर्ण पवन देव अवस्थित है। तथा इस षट्कोण वायुमंडल में 'यं' बीज के ऊपर ईशान नामक शिव, काकिनी देवी के साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगों के मतानुसार इनको त्रिनयनी शक्ति के साथ वाण लिंग कहा जाता है। इस वाण लिंग के स्मरण मात्र से दृष्टा, दृष्ट, दोनों वस्तुऐं प्राप्त

हो जाती है। इस चक्र में पिनाकी नामक सिद्ध लिंग और काकिनी शक्ति रहती है, जिसका ध्यान करने से इहलोक और परलोक में शुभ फल की प्राप्ति होती है। इस पद्म के ध्यान की महिमा वर्णन नहीं की जा सकती। ब्रह्म प्रभृति समस्त देवगण बहुत यत्नपूर्वक इसको गुप्त रखते हैं।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृददेशेऽर्जुन तिष्ठति'

इस गीतोंक्ति के अनुसार अथवाः–

हृत्पुण्डरीक मध्यस्थां प्राप्तः सूर्य समप्रभाम्।

पाशाङ्कुश धरां सौम्यां वरदाभय हस्तकाम्।।

इस यंत्र के अनुसार अपने इष्टदेव का ध्यान अपने दृतचक्र में करते हैं। इस कमल के समीप कल्पतरु और मणिपीठ हैं। विश्वसार तन्त्र में कहा है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही भगवान् सदाशिव हैं। त्रिगुणमय ऊँकार इसी स्थान में व्यक्त होता है। इसी स्थान में वाण लिंग है। निर्वात स्थान की दीप ज्योति के समान जीवात्मा इसी स्थान में है। दृश्य जगत् के पदार्थ मेरे और यह शरीर ही 'मैं', इस प्रकार को देहात्मवादियों की जो विचार पद्धति है वही हृदय ग्रन्थि है और गुरु कृपा से वह टूट जाती है। इसी हृदय ग्रन्थि में जीवात्मा उलझा रहता है। वित्तैषणा और पुत्रैषणा के नष्ट हो जाने पर भी साधक लौकैषणा में अटक जाता है किसी से पूछिये कि इस बड़े काम को करने वाले देवदत्त कौन हैं? तो वह अपनी छाती (हृदय) पर हाथ रखकर ही अपने को देवदत्त होने का परिचय देता है। इसके लिये वह कभी मस्तक का स्पर्श नहीं करता और न आधार चक्र को ही स्पर्श करके अपना परिचय देता है। तात्पर्य यह कि जीवात्मा का वास स्थान हृदय ही है।

स्थान–हृदय, नामतत्व–वायु, देव–ईशान रूद्र, दल–द्वादश, तत्वबीज–यं, देवशक्ति–काकिनी, वर्ण–अरूण, बीज का वाहन–मृग, यन्त्र–षट्कोण, लोक–महः गुण–स्पर्श ज्ञानेन्द्रिय–त्वचा, नाड़ी–सुषम्ना, वज्रा चित्रणी व ब्रह्म दलों के अक्षर–कं, खं, गं, घं, डं, चं, छं, जं, झं, त्रं, टं, ठं कर्मेन्द्रिय–कर,

ध्यानफल – वचन रचना में समर्थ ईशित्व, सिद्धि प्राप्त योगीश्वर, ज्ञान वान, इन्द्रियजित, काव्य शक्तिवाला, परकाया प्रवेश में समर्थ।

'इस पद्म की आकृति नीचे अनुसार है'

अरुण रंग के वरदल पद्म के बीच में षट्कोण, छः कोनों का दाखी रंग का यंत्र, यंत्र के बीच में 'यं' बीज यं के बीच में दाहिनी तरफ वाण बीच में त्रिकोण (देवी का चित्र) बाई तरफ एक मुखी शिवजी, दाहिनी तरफ चतुर्मुखी काकिनी देवी, नीचे मृग पीले रंग का इस पद्म में पीता, नीला, शारदा व वन्दा नाड़ी संलग्न है।

(५) विशुद्ध षोडश दल पद्म

यह अनाहत चक्र के ऊपर होता है। इसका स्थान (कंठ) मूल में है। यह पद्म पद्माकार षोडशदल युक्त है और धूम्रवर्ण है और इसका रंग सुन्दर स्वर्ण की तरह है। इसकी कर्णिका के बीच में गोलाकार आकाश मंडल है। इस मंडल में श्वेत हाथी पर आरुढ़ आकाश 'हं' बीज के साथ विराजित है। इसकी गोद में अर्द्ध नारीश्वर शिवमूर्ति है! इन नरेश्वर का अर्द्धांग शुभ्र और अर्द्धांग सुवर्णमय है। इसे हर गौरी भी कहते हैं। इस शिव की गोद में पीतवर्ण चतुर्भुजा शाकिनी देवी (शक्ति) विराजमान है। इस चक्र में पंच स्थूल भूतों के आदि भूत महाकाल का स्थान है। इस आकाश मंडल से ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्र रूप में उत्पन्न हुए हैं अर्थात् आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुए है। इस चक्र में छगलान्ड नामक शिवलिंग है, और शाकिनी नामक शक्ति अर्धदेवता के रूप में विराजित है। जो प्रतिदिन इस चक्र का ध्यान करते हैं उनके लिये दूसरी साधना की आवश्यकता नहीं होती। यह विशुद्ध नामक षोड़श दल कमल ही ज्ञान रूप अमूल्य रत्नों की खान हैं। क्योंकि इसी से रहस्य सहित चतुर्वेद प्रकाशित होते हैं। विशुद्धि चक्र इसे इसलिये कहते हैं कि जीव यहां भ्रूमध्य स्थित परमेश्वर को देखकर वासना जाल से मुक्त होता है। यही मोक्ष द्वार है।

स्थान–कंठ, नामतत्व–आकाश, देव–पंच अर्धनारीश्वर, दल–षोडश तत्व बीज–हं देवशक्ति–शाकिनी, वर्ण–धूम्र, बीज का वाहन–हाथी, यन्त्र–शून्य चक्र (गोलाकार) लोक–जन, गुण–शब्द, ज्ञानेंद्रिय–कर्ण, नाड़ी (सुषुम्ना–वज्रा, चित्रणी व ब्रह्मा), दलों के अक्षर अं आं इं, ई उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओ औं अं अः) कर्मेन्द्रिय–वाक्।

'इसकी आकृति नीचे लिखे अनुसार है'

दाखी रंग के १६ दल पद्य के बीच में आकाश पूर्ण चन्द्र के बीच में 'ह' कार बीज, लाल रंग का (हं) के बीच में दाई तरफ पंच मूर्ति सदाशिव, बाईं तरफ पंचमुखी डाकिनी देवी उनके नीचे हाथी।

दलों में एश मारिका, माचिका, तिक्रा, वाला, सरस्वती, अमृता, श्रीखती, शिवा, सीला व कुमारिका नाड़ियाँ संलग्न हैं।

ध्यान का फल – साधक वाक्य रचना में समर्थ, ज्ञानवान्, उत्तम वक्ता, शांत चित्त, त्रिकालज्ञ, अर्थात् त्रिलोक दर्शी, सर्व हितकारी, आरोग्य, चिरंजीवी, और तेजस्वी होता है।

इस विशुद्धाख्य चक्र के ऊपर और आज्ञा चक्र के नीचे एक चक्र और है जिसे ललना चक्र या कला चक्र कहते हैं इसके बारह दल हैं। उसकी वृत्तियाँ–श्रद्धा, संतोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, वैराग्य, मनोद्वेग, क्षुधातृषा हैं। इसी चक्र के पास ब्रह्मग्रन्थि है।

(६) आज्ञा चक्र (द्विदल पद्म)

इसका नाम आज्ञा चक्र इसलिये है कि सहस्रार स्थित श्री गुरु से इसी स्थान में आज्ञा मिलती है। विशुद्ध चक्र के ऊपर ललाट मंडल के भ्रूमध्य में इसका स्थान है। इसको चन्द्रवत्श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहते हैं। इस चक्र में महाकाल नामक सिद्ध लिंग और हाकिनी शक्ति देवी अधिष्ठित हैं। इस स्थान में शरद् कालीन चंद के समान प्रकाशमय अक्षर बीज (प्रणव) देदीप्यमान है। यही परम हंस पुरुष है। जो इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे किसी भी कारण से दुःखी या शोक ताप से अभिभूत

नहीं होते।

सुषुम्ना नाड़ी की अंतिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह नाड़ी मेरुदंड के आश्रय से उठी हुई है। इडानाड़ी इस सुषुम्ना नाड़ी से ही लौटकर (उत्तर वाहिनी होकर) आज्ञा पथ की दाहिनी ओर से होकर वाम नासापुट में गमन करती है। इस चक्र में पिंगला नाड़ी भी उसी रीति से बाईं ओर से घूमकर दक्षिण नासापुट में गई है। इडानाड़ी वरणा नदी के नाम से और पिंगला असी नदी के नाम से अभिहित होती है इन दोनों नदियों के बीच में वाराणसी धाम और विश्वनाथ शिव शोभायमान हैं।

योगी लोग कहते हैं कि आज्ञा चक्र के ऊपर तीन पीठ स्थान हैं उनका नाम हैं विन्दु पीठ, नादपीठ और शक्ति पीठ। ये तीनों पीठ कपाल देश में रहते हैं। शक्ति पीठ का अर्थ हैं ब्रह्म बीज ॐकार, ॐकार के नीचे निरालम्ब पुरी तथा उसके नीचे षोडश दल युक्त सोम चक्र है। उसके नीचे एक गुप्त दल पद्म है जिसे ज्ञानचक्र कहते हैं। इसके एक–एक दल से क्रमशः रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और स्वप्न ज्ञान (उत्पन्न) होते हैं। इसी के नीचे आज्ञाचक्र का स्थान है। इसके नीचे तालुमूल में एक गुप्त चक्र है। इस चक्र को द्वादश दल युक्त रक्त वर्ण पद्म कहा जाता है।

आज्ञाचक्र में योनि त्रिकोण हैं और उसमें कहते हैं कि इतर लिंग अथवा पाताल लिंग है। अग्नि, सूर्य, और चन्द्र इस त्रिकोण में एकत्र होते हैं। महतत्व और प्रकृत तत्व इसी स्थान में हैं। महतत्व के बुद्धि, चित्त, अहंकार और संकल्प विकल्पात्मक मन ये चार भेद हैं अव्यक्त प्रणव रूप आत्मा का यही स्थान है। इसी स्थान में प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगी लोग यहां प्रयाण के समय 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्, इस वचन के अनुसार पुराण पुरुष में प्रवेश करते हैं। आज्ञा चक्र के समीप मनश्चक्र हैं, उसके छः दल हैं। इनमें छठे दल से स्वप्नगत अनुभव और समप्रभगत ज्ञान प्राप्त होता है।

मनश्चक्र के ऊपर सोमचक्र है। उसके सोलह दल है। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्था में रहने का स्थान है। इसी स्थान में

योगी जन तेजोमय ब्रह्म का अनुभव करते हैं।

इस आज्ञाचक्र के समीप कारण शरीर रूप सप्त कोष हैं इन कोषों के नाम (१) इन्दु (२) बोधिनी (३) नाद (४) अर्धचन्द्रिका (५) महानाद (६) कला (सोमसूर्याग्नि रूपिणी) (७) उन्मनी। इस उन्मनी कोष में पहुंचने पर जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात स्वेच्छा से या परमेश्वरी इच्छा से देह धारण करने में आत्मस्वरूप की स्मृति बनी रहती है। इन कोषों के ऊपर, सहस्रार के नीचे बारह दलों का अधोन्मुख कमल है। इसके नीचे सभी चक्र इसी प्रकार के अधोन्मुखी ही है। कुंडलिनी का जब उत्थान होता है तभी उर्ध्वोन्मुख होते हैं।

मूलाधार से आज्ञाचक्र तक पचास मातृकायें और पचास दल हैं। यह मातृकायें लोम विलोम मिलाकर सौ होती है।

इस पद्म में पंच सूक्ष्म भूतों के पंचीकरण द्वारा पंच स्थूल भूतों का प्रादुर्भाव होता है। इस चक्र के नीचे विशुद्ध चक्र का स्थान है।

इस पद्म के ऊपर ब्रह्मरंन्ध्र में जहां इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम होता है। उसे योगी लोग तीर्थराज प्रयाग कहते हैं। इसमें स्नान करने से साधक मुक्तिपद को प्राप्त होता है।

स्थान – भ्रूमध्य, दलों के अक्षर हं, क्षं, देव–लिंग, दल–द्विदल, नाम–तत्व–महतत्व, देवशक्ति–हाकिनी, वर्ण–श्वेत, तत्वबीज–ॐ, यंन्त्र–लिंगकार नाड़ी–सुषुम्ना वज्रा, चित्रिणी, व ब्रह्मा, बीज का वाहन–नाद, लोक–तपः।

ध्यान फल– वाक्य सिद्धि प्राप्त होती है।

' इस चक्र की आकृति नीचे लिखे अनुसार है'

दोनों तरफ अर्ध व बीच में गोल सफेद रंग का पद्म, गोला के बीच में ॐ प्रणव बीज के बीच में एतराख्यं लिंग, अर्धांग शिवजी ऊपर, अर्धचन्द्र, दाहिनी तरफ षट्मुखी हाकिनी देवी। बाई तरफ हस्ति जिव्हा व दाहिनी तरफ गान्धारी नाड़ियाँ हैं।

सहस्रार (सहस्र दल पद्म)

आज्ञा चक्र के ऊपर अर्थात् शरीर के सर्वोच्च स्थान मस्तक में सहस्रार कमल है। इसी स्थान में विवर सहित सुषुम्ना का मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थान से सुषुम्ना नाड़ी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अंतिम सीमा मूलाधार स्थित योनि मंडल है।

सहस्रार शुभ्र वर्ण है, तरुण सूर्य के सदृश रक्तवर्ण केशर के द्वारा रंजित और अधोमुखी है। इसके पचास दलों में अकार से लेकर क्षकार तक सबिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षर कर्णिका के बीच में गोलाकार चन्द्र मंडल है। यह चंद्र मंडल छत्राकार में एक ऊर्ध्वमुखी द्वादश दल कमल को आवृत्त किये हैं। इस कमल की कर्णिका में विद्युत सदृश अकथादि त्रिकोण यंत्र है। उक्त यन्त्र के चारों ओर सुधा सागर होने के कारण यह यन्त्र मणि द्वीप के आकार का हो गया है। इस द्वीप के मध्य स्थल में मणि पीठ है, उसके बीच में नाद बिन्दु के ऊपर हंस पीठ का स्थान है। हंस पीठ के ऊपर गुरु पादुका है। इसी स्थान में गुरुदेव के चरण कमलों का ध्यान करना पड़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्र दल कमल में चन्द्र मंडल हैं, उसकी गोद में अमर कला नाम की षोड़शी कला है, तथा उसकी गोद में निर्वाण कला है। इस निर्वाण कला की गोद में निर्वाण शक्ति रूपा मूल प्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्ति के साथ परम शिव को वेष्टन किये हुए है। इसके ध्यान से साधक निर्वाण मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

सहस्र दल स्थित परम शिव शक्ति को वेदान्त मत से परम ब्रह्म और माया कहते हैं तथा पद्म को आनन्दमय कोष कहते हैं। सांख्य मत से परम शिव शक्ति को प्रकृति पुरुष कहा जाता है। इसी को पौराणिक मत से लक्ष्मीनारायण, राधाकृष्ण तथा तंत्र–मंत्र से परम शिव और परम शक्ति कहते हैं।

इस चक्र में जो एक हजार दल बतलाये जाते हैं उनमें सौ तो मातृकायें और दस इन्द्रियों के दस दस गुण अथवा दस दस न्यास हैं इस हिसाब से सहस्र दल होते हैं।

देव शक्ति और असुर शक्ति मन के दो भाव हैं। नाभि मणिपुर चक्र से नीचे असुरों का क्षेत्र है और उसके ऊपर देव क्षेत्र है। नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है। मन का जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्म योनि है, उसे आगे कर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिव के शरणापन्न हुये हैं। विष्णु प्राण शक्ति हैं। इनका स्थान हृदय पद्म है शिव ज्ञान शक्ति है, इनका स्थान ललाट (है) या ज्ञान चक्र है। सद्गुरु हृदय कमल से साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णु की आराधना कराकर धीरे–धीरे ललाट कमल तक पहुंचाते हैं। जीव का निवास साधन से पूर्व मूलाधार या पृथ्वी चक्र में होता है उसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र) है। इन तीन के ऊपर हृदय कमल तक बड़ी ऊंची सीढ़ियाँ हैं। समर्थ गुरु साधक को अपने हाथ से चौथी सीढ़ी पर बैठा देता है। इससे ऊपर की सीढ़ियाँ कम ऊँची और चौड़ी है इसलिये उन पर से फिसलने का अधिक भय नहीं रहता।

कुछ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस चक्र में बीस विवर हैं। इनमें पचास 'पंचास मातृकाएँ गिनी जायें तो भी एक हजार दल होते हैं।

ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्र दल कमल स्थित है, इस स्थान को कैलास भी कहते हैं। यहां देवादि देव महादेव जी सदा विराजमान हैं और यही महेश्वर नामक परम शिव हैं। इनको नकुल भी कहते हैं। वह सदा एक रूप ही है। इस सहस्र दल पद्म में जो साधक अपनी चित्तवृत्ति को निश्चल रूप से लीन करता है वह अखंड ज्ञानरूपी निरंजन परमात्मा स्वरूपता को लाभ करता है अर्थात मुक्त हो जाता है। इस पद्म से निर्गत पीयूषधारा को जो योगी पान करता है वह अपनी मृत्यु पर विजय पाकर चिरंजीवी होता है। इसी दल में कुण्डलिनी महाशक्ति का लय होने पर चतुर्विध सृष्टि का भी परमात्मा में लय हो जाता है। मूलाधार में इस अवस्था में कुंडलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थान को त्याग कर क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करके सहस्र दल पद्म में जाकर लय को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में वह योगी अखंड रूपी निरंजन परमात्मा के रूप को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

स्थान–मस्तक, नाम तत्व–तत्वातीत, दल–सहस्र, तत्वबीज–विसर्ग

दलों के अक्षर–अ से क्ष तक, बीज का वाहन–बिन्दु, लोक–सत्यः, देव–परम ब्रह्म, शक्ति–महाशक्ति।

ध्यानफल

अमर, मुक्त, उत्पत्ति पालन में समर्थ, आकाश गामी व समाधि युक्त।

चक्र की आकृति

मस्तक पर दो बिन्दु उनके नीचे पूर्णचंद्र, जिसके बीच में पूर्णचंद्र निराकार व चंद्र में परमशिव तथा उनके दोनों तरफ दो देवियाँ विराजमान है।

ज्ञान बिन्दु

आंख बंद करके भ्रूमध्य में बिना आँख को दाबे ध्यान करना चाहिये। कुछ दिनों तक ध्यान करने पर तीन या पांच बिन्दु दिखाई देंगे, जिनमें एक काला और शेष श्वेत हैं ऐसी भावना करनी चाहिये। बिन्दु के भीतर प्रवेश करने पर भीतर का भूताकाश दिखाई देगा। उसके बाद तृतीय नेत्र प्रकट होगा जो ज्योति से घिरा होगा। उस ज्योति में वर्ण दिखाई देगा, उसमें गुहा, गुहा के भीतर चन्द्रमा और तारे दिखाई देंगे। उसके बाद अंधकार पूर्ण अपने भीतर स्वयं ले जायेंगी। उसके भीतर महाकाश है जिनमें हिरण्य वर्ण के सूर्य हैं। वहां की सब वस्तुएं 'सोऽहम्' उच्चारण करती हुई मालूम होंगी उसके बाद दूध के समान हंस और उसके बाद त्रिकोण दिखाई पड़ेगा। जिसके मध्य के भीतर ब्रह्म बिन्दु होगा ध्यान से बिन्दु का लय हो जाएगा यही यथार्थ अंतिम योग का ध्यान बिन्दु है।

अमृत कला

सहस्र दल कमल के मध्य में जो सिंहासन है उसके नीचे दो कलाओं के दो केन्द्र हैं। एक का नाम है अमृत कला और दूसरी का नाम मृत्यु कला।

एक तत्व तो सहस्र दल कमल की शाही से नीचे की तरफ उतरता रहता है उसका रंग जुगनू जैसा है। उस तत्व को देखते ही शहद से

भी सौ मधुर–मधुर सुगंधित स्वाद अपने आप आने लगता है। अगर उसे पीलो, तो फिर क्या बात है। उसी तत्व को अर्थात् उसी 'शाही श्रोत' को अमृत कला कहते हैं। उसको जानने वाला सदा व सर्वथा सोलह वर्ष का रहता है। इसलिये इस अमृत कला में 'षोड़शी' नामक शक्ति निवास करती है।

सहस्र दल पदम के 'शिव–शक्ति संयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहीं से अमृत कला का तत्व अर्थात् पाणी श्रोत जारी है जो सद्गुरु का लाडला लड़का उस श्रोत का 'अमृत' पीने लगता है, वह खुद षोड़शी बन जाता है। षोड़शी की शक्ति ही सहस्र दल कमल के परमात्मा की आत्मा है।

यहां कैवल्य से केवल अमृत कला ही है। परन्तु जीवन के उस चंद्र की जो चांदनी वहां फैली है, उसे मृत्यु का घोर अंधकार जकड़े हुए है। अतएव यहां मृत्यु का भी केन्द्र है। एक होकर भी यहां दो है। चाँदनी रूपी जीवन है, अंधकार रूप मरण है। यहां दोनों महातत्व रहते हैं। सिंहासन के नीचे दो घटाऐं हैं। एक अमृतमयी और दूसरी मृत्युमयी है।

अमृत कला के काम

(१) अपने साधक को दीर्घ जीवन देती हुई जीवन मरण की शिक्षा देती है।

(२) अपने साधक को बुढ़ापा और मृत्यु से बचाये रहती है।

(३) अपने साधकों को ऐसे महात्माओं से मिलाती रहती है जो बहुत दिनों से उसके विद्यार्थी हैं जिससे उनका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत कला के स्रोत

अमृत कला का स्रोत कुंडलिनी के भीतर होता है। जिनकी कुंडलिनी जाग्रत नहीं हुई, उनको अमृत कला का परिचय नहीं हो सकता। उनके लिए अमृत स्रोत होने पर भी नहीं है क्योंकि सहस्रदल कमल कला वह अमृत वर्षण कुंडलिनी की नागिन ही पी जाती है,

जीवात्मा को पीने के लिए यह प्राप्त नहीं हो पाता है। संसार में ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्होंने सद्गुरु कृपा से कुंडलिनी को जाग्रत करके अमृत कला प्राप्त की है।

(१) अमृत कला का एक स्रोत प्रत्येक स्त्री में मौजूद रहता है। किसी स्त्री को दाहिनी आँख में और किसी की बाई आँख में होकर एक स्रोत नीचे की तरफ उतरता है। जिस नेत्र में गुलाबी रंगत छाई हुई हो समझ लो कि उसी तरफ से अमृत कला का (सूत्र) स्रोत आ रहा है। स्त्री को सीधा लिटा देना चाहिये और उसी नस को हाथ के अंगूठे से रगड़ना चाहिये, जो अमृत वाहिनी नस है। इस साधन से अमृत प्राप्त होता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानी में मिलता नहीं है। उसका रंग हिंगुल सा सुर्ख व शहद सा गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरी जैसी खुशबू होती है। किसी चीज में मिलता नहीं है। पारे की तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीने में अत्यंत मधुर होता है और संसार की सारी मधुरता उसके सामने मात है। कम से कम एक छटाँक पीने में अमृततत्व प्राप्त होता है।

(२) हिमाचल प्रदेश में संजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अंधेरी रात में उसका हर एक पत्ता जुगनू की तरह चमकता है। लक्ष्मण जी को इसी बूटी ने अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषों में बहुतेरे इसी संजीवनी द्वारा दीर्घजीवी हो चुके है।

(३) जैसा कि खेचरी मुद्रा में बतलाया गया है कि जानकार योगी से ही जीभ का जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है उसको कटवा देना चाहिये और मक्खन के सहारे जीभ को खींच–खींच कर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षासन लगाना चाहिये। कानों को दोनों अंगूठों से बंद करें व नेत्रों को भी बंद रखे तथा तालू की तरफ जीभ को बढ़ाना चाहिये। अमृत कला को जो अमृत घट में प्रकट होता है, उसको इस साधन द्वारा जीभ से पीना चाहिये। इस साधन द्वारा कुंडलिनी का कपट हार जाता है।

अमर कला वाला सदा जीवित रहेगा, यह बात नहीं है। वह जब मरना चाहे मर सकता हैं, क्योंकि अमर कला वालों की मृत्यु उसी के

अधिकार से हो जाती है। अपना जीवन मरण अपने हाथ में कर लेना ही अमृत कला का लक्ष्य है।

जीवन के तीन दर्जे हैं

(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ साल के अन्दर मर जाते हैं उनको 'मर' कहते हैं। जो लोग अपनी मृत्यु अपने हाथ में रखते हैं उनको 'अमर' कहते हैं। वे या तो स्वयं मरते हैं या कोई दोष हो जाने से कोई 'अविनाशी' उनको मार डालता है। रावण अमर था। भगवान् रामचन्द्रजी अविनाशी थे। रावण ने अपना काल अपने पलंग से बांध रखा था, उसने जानबूझकर अविनाशी रामचन्द्र से लड़ाई ठानकर अपनी मृत्यु स्वयं बुलाई। अमृत कला द्वारा सभी को दीर्घ जीवन प्राप्त करने का अधिकार है।

नवचक्र साधन

कुछ आचार्यों के मतानुसार निम्नलिखित नौ प्रकार के चक्र होते हैं, उनके मत से जो साधक षोड़शाधार इन नौ चक्रों और त्रिलक्ष्य व पांच प्रकार के व्योम नहीं जानता वह केवल नामधारी योगी है।

नवचक्र :- (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्धि (६) आज्ञा (७) तालु (ब्रह्मरन्ध्र) (६) सहस्रार।

षोड़शाधार :- (१) अंगुष्ठ (२) पादमूल (३) गुहदेश (४) लिंगमूल (५) जठर (६) नाभि (७) हृदय (८) कंठ (६) जिह्वाग्र (१०) तालु (११) जिह्वामूल (१२) दंत (१३) नासिक (१४) नासापुर (१५) भ्रूमध्य (१६) नेत्र।

त्रिलक्ष्य :- (१) स्वयं भू लिंग (२) वाण लिंग (३) ज्योतिर्लिंग।

पंचव्योम :- (१) आकाश (२) महाकाश (३) पराकाश (४) तत्वाकाश (५) सूर्याकाश।

सोलह आधार में दृष्टि

यह सोलह आधार पैर से लेकर सहस्रार तक है। साधक को

प्रत्येक का पृथक्–पृथक् चिन्तन करते हुए यह धारणा करनी चाहिये कि प्राण वायु पैर के अंगूठे से लेकर हर एक आधार को स्पर्श करती हुई सहस्रार तक पहुंची और वहाँ से लौटकर ऊपर के आधारों को फिर क्रमशः स्पर्श करती हुई पैर के अंगूठे तक आयी। इस प्रकार यथा साध्य कई बार चिंतन करना चाहिये। इस अभ्यास से उत्तम परिणाम यह होगा कि सत्यादि सद्भाव के अभ्यास से सद्गुणों की वृद्धि होगी और मृत्यु के समय प्राणवायु से ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा निकल कर प्राण के प्रयाण करने से जीवात्मा ऊर्ध्व लोक में जाता है। सोलह आधार इस प्रकार हैं। (१) पैर के अंगूठे (२) गुल्फ (३) जानु (४) जंघा (५) उरू (६) नितम्ब (७) मूलाधार (८) स्वाधिष्ठान (९) मणिपुर (१०) अनाहत (११) विशुद्ध (१२) आज्ञा (१३) तालु के ऊपर ललना नाड़ी (१४) हंस चक्र जो गुरु पीठ हैं। (१५) द्विदल कमल (१६) सहस्रार।

यह साकार उपासना हुई। परंतु जो निर्गुण उपासना करना चाहते हैं। उनको आगे लिखी उपासना (साधना) करनी चाहिये। सगुणोपासक भी इसे कर सकते हैं।

नाभि और दृष्टि पूजा :- नाभि के बाहरी भाग में दृष्टि जमाकर सौ बार इष्ट मंत्र जपें। संख्या ठीक रखने के लिए जप के साथ गिनती–गिनते जाना चाहिये। उसके बाद नाभि के सामने मेरूदंड के बाहरी भाग में दृष्टि जमाकर पच्चीस बार मंत्र जपना चाहिये। इसके बाद नाभि के भीतर सौ बार और भीतर भाग के सामने मेरूदंड के अंदर जहां मणिपुर चक्र है वहां पच्चीस बार जपना चाहिये। इस साधना से पाक शक्ति की भी वृद्धि होती है।

नवचक्र वर्णन

(१) मूलाधार :- यह चक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवृत्ति हैं। यह स्थान अपान वायु का मूल देश है। कंदमूल के ऊपर अग्नि शिखा के समान तेजस्वी व इसका कामबीज 'क्ली' है। इस स्थान में स्वयंभू लिंग है। इस लिंग को तेज रूपा कुंडलिनी साढ़े तीन बार गोलाकार

लपेटे हुए अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी कुंडलिनी को जीवरूप में ध्यान करके उसमें चित्त को लय करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

(२) **स्वाधिष्ठान** - यह प्रवालांकुर के समान पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उड्डियान पीठ के ऊपर कुंडलिनी शक्ति का ध्यान करने से जगत् को आकर्षण करने की शक्ति उत्पन होती है।

(३) **मणिपुर** - यह नाभि चक्र है। यह पंच आवृत्त से विशिष्ट विद्युतवर्ण है। चित्तस्वरूपा मध्यशक्ति भुजंगावस्था में रहती है। इसका ध्यान करने से योगी निश्चय पूर्वक सिद्धियों का पात्र हो जाता है।

(४) **अनाहत** - यह चक्र हृदय देश में अवस्थित है। इसके बीच में ज्योतिः स्वरूप 'हंस' का यत्न पूर्वक ध्यान करके उसमें चित्त लय करने से समस्त जगत् वश में होता है इसमें संदेह नहीं।

(५) **विशुद्ध** - यह काल चक्र कंठ देश में स्थित है। इसके वाम भाग में इड़ा, दाहिने में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। इस चक्र में निर्मल ज्योति का ध्यान करके चित्तलय करने से योगी सर्व सिद्धि प्राप्त करता है।

(६) **आज्ञा** - भ्रूमध्य में यह चक्र है। इसको बिन्दु स्थान भी कहते हैं। इसमें वर्तुलाकार ज्योति का ध्यान करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

(७) **तालु** - यह ललना या तालु चक्र है। इसको घटिका स्थान व दशम द्वार मार्ग कहते हैं। इसके शून्य स्थान में मनोलय करने से लय योगी को मुक्ति प्राप्त होती है।

(८) **ब्रह्मरन्ध्र** - यह चक्र निर्वाण प्रदान करने वाला है इस चक्र में सूचिका अग्रभाग के समान धूम्राकार जालन्धर नामक स्थान में ध्यान करके चित्त लय करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(९) **सहस्रार** - यह ब्रह्म चक्र है इसमें सद्चित रूपा अर्ध शक्ति प्रतिष्ठित है। इसमें पूर्ण चिन्मयी शक्ति का ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इन नौ चक्रों में एक–एक चक्र का ध्यान करने वाले योगी के लिये सिद्धि और मुक्ति करतलगत हो जाती है क्योंकि वे ज्ञान के द्वारा कोदंड द्वय के मध्य कदम्ब के समान गोलाकार ब्रह्मलोक का दर्शन करते हैं और अंत में ब्रह्मलोक को गमन करते हैं।

सप्त पद्मों का ध्यान

(१) सब स्त्री पुरुषों के मस्तक के भीतर ब्रह्मरन्ध्र विशिष्ट जो सरसीरुह अधोमुखी सहस्रदल कमल हैं, उसके बीच में अर्थात् अधोमुखी सहस्रार की कर्णिका में नित्य लग्न सर्वदा मिलित श्वेत, निर्मल और अत्यंत, अद्भुत, कुल कुंडलिनी के ऊपर जाने के लिये पथरूप सूक्ष्म छिद्रयुक्त जो काण्ड अथवा नली या चित्रिणी नाड़ी है, उस चित्रिणी नाड़ी से अलंकृत जो ऊर्ध्वमुखी द्वादश वर्ण पद्म है, उस सहस्रदल कमल से संलग्न द्वादश कमल का मैं भजन करता हूं।

अधोमुखी सहस्रदल कमल के नीचे ऊर्ध्वमुखी द्वादशदल कमल है। 'हं व सः' ये दो पद्म के दल है। इन दोनों की छः बार आवृत्ति होने से बारह वर्ण होते हैं पद्म के द्वादश वर्ण होने से दलों की संख्या भी बारह ही है। अवदात निर्मल शुक्ल वर्ण कुंडली विवर कांडमण्डित–सहस्रार कमल में स्थित शिव के पास कुंडलिनी के जाने का मार्गरूप जो छिद्र है वह चित्रिणी नाड़ी द्वारा अलंकृत है। जिस तरह मृणाल के ऊपर कमल स्थित रहता है उसी तरह चित्रिणी नाड़ी रूप मृणाल शोभायमान है।

(२) त्रिकोण के अन्दर श्री गुरु का ध्यान किया जाता है। इस कारण त्रिकोण का निरूपण किया जाता है। सहस्र दल कमल और द्वादश कमल जहां पर मिले हैं उसी कर्णिका के आधार भूत स्थान में अ–क–थादि रेखाओं से चिन्हित रेखा विशिष्ट जो त्रिकोण है, उस त्रिकोण में सामने, दाहिने और बायें कोण के ह,ल,क्ष वर्णों से घिरी हुई जो अबला अर्थात शक्ति अवस्थित है। उसका काम कला रूप जो आलय है, मैं उस शक्ति स्थान का भजन करता हूं। इस अवलालय के

संबंध में 'मामल' कहते हैं कि :–

पद्मों का ध्यान

अकारादि षोडश वर्णों से वामा रेखा, ककारादि षोड़श वर्णों से ज्येष्ठा रेखा तथा थकारादि षोड़श वर्णों से रौद्री रेखा बनी है। इन तीन रेखाओं से क्लृप्त अर्थात् चिन्हिता रेखा जहाँ है, वहीं अवलालय है।

उक्त त्रिकोण के अंतराल में अर्थात् सन्मुख, दक्षिण और वाम कोण में लक्षित अर्थात् प्रकाशित ह,ल,क्ष वर्णों द्वारा घिरे हुये स्थान रूप में जिसे लक्ष्य किया जाता है अर्थात् उस रूप में जिसको जाना जाता है।

(३) सहस्रार और द्वादश दल पद्म जहां मिलते हैं, उस कर्णिका में त्रिकोण है। इसी त्रिकोण के मध्य में मणिपीठ है, उसके ऊपर श्री गुरु हैं। इस मणिपीठ में तत्पुटे, त्रिकोण के मध्य में त्रिकोण के अन्दर नीचे शुभ्र नाद, ऊपर रक्तवर्ण बिन्दु और उनके बीच में मणिपीठ है। त्रिकोण के मध्य में अवस्थित नादबिन्दु सहित इस मणिपीठ मंडल का ध्यान किया जाता है।

यह मणिपीठ प्रज्वलित विद्युत समूह के द्वारा प्रकाशित और दीप्तमान मणि समूह के द्वारा गुलाबी रंग को प्राप्त हुआ है। मणिपीठ का सर्वाङ्ग मणिमय है। नाद बिन्दु से युक्त यह मणिपीठ मंडल चिन्मय ज्ञानमय है। रजताचल (कैलाश) के साथ निज गुरु का नित्य इसी नाद बिन्दु के अन्दर उज्जवल सिंहासन पर ध्यान किया जाता है। सहस्रदल कमल के अन्दर स्थित अन्तरात्मा ही मूर्ति धारण किये हुए निज गुरु हैं।

(४) संयुक्त पद्म कर्णिका में त्रिकोण है। त्रिकोण के अंदर नीचे नाद, ऊपर बिन्दु और बीच में मणिपीठ है। मणिपीठ के ऊपर तीन अभिशिखायें हैं। इन तीन शिखाओं के प्रकाश में मणिपीठ प्रकाशित है। ऐसे मणिपीठ का ध्यान करना चाहिये।

विश्वभक्षिका विश्वसंहारिका महादीप्त शालिनी महाचिति सबसे अधिक उत्कृष्ट उस महाशक्ति का भी ध्यान करना पड़ता है। तत्पश्चात् मणिपीठ के नीचे अर्थात् जिसके ऊपर मणिपीठ है, वह है आदि हंस

युगल। यह हंस प्रकृति पुरुष रूप है।

ब्रह्मा, विष्णु शिव हैं रेखात्रय और सूर्य, चन्द्र, अग्नि है बिन्दुत्रय। विद्युत सम्पन्न त्रिकोण के मध्य में गुरु है। आदि हंस युगल को परमात्मा कहा गया है, यह दीप कलिकाकार जीवात्मा रूप हंस नहीं है।

जिस पीठ में श्री गुरु चरणारविन्द का ध्यान करना चाहिये, उसका निश्चय करके ध्यान किस तरह करना चाहिये यह आगे लिखा जाता है।

(५) श्री गुरू का चरणारविन्द कुंकुमासव अर्थात् लाक्षारस (महावर) की आभा से युक्त परमामृत की झरी अर्थात् निर्झर रूप मकरन्द के समान है। जिस तरह चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों से ताप का नाश होता है उसी तरह चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों के समान शीतल गुरुपद पद्य मकरन्द के सेवन से संसार कोलाहल शांत हो जाता है।

यह मंगल मनोरथ सिद्धि का स्थान है। उन गुरु चरणों में मन लगा सकने पर सब अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

(६) मैं मस्तक में पूर्वोक्त पीठ के ऊपर स्थित श्री गुरू पाद पद्म का ध्यान करता हूं। यह पाद पद्म कैसा है पाद पद्म से संलग्न जो मणिमय पादुका है, जिस पादुका के मणिपीठ इत्यादि का पांच स्थानों के रूप में वर्णन किया गया है उस मणि पादुका का ध्यान करने से संसार के पाप कोलाहल से सदा के लिए निवृत्ति हो जाती है। जो लोग संसार के पाप कोलाहल से अत्यंत व्यथित हैं, उनके लिये परित्राण का एकमात्र उपाय है इस महावर सृदश श्री गुरुपाद पद्म का ध्यान करना।

पंचपादुका का ध्यान करने में उनके ऊपर श्री गुरु चरण का ध्यान करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। यह गुरुपाद कमल नवजात पल्लव के समूह की तरह रक्तवर्ण है व अत्यंत कोमल है। उन चरण कमलों के नखसमूह निर्मल प्रकाशमान चन्द्रमा के समान हैं। वह परमामृत पूर्ण सरोवर में खिले हुए पद्म के समान निर्मल प्रकाशमय है। इसी से कहा गया है कि श्री गुरु के चरण कमलों से निरन्तर अमृत झरा करता है। और इस श्रेष्ठ सरोवर में स्थिति गुरु चरण पद्म के समान शोभायमान हैं।

इस पाद पद्म का बार–बार ध्यान करना चाहिये। ऊपर कमल

है नीचे कमल है। नित्य कर्णिका में त्रिकोण (त्रिकोण) के नीचे चन्द्रभा, ऊपर सूर्य और बीच में मणिपीठ है। मणिपीठ में गुरु पाद पद्म हैं।

(७) पंचवक्त्र महादेव के मुखारविंद से पादुका पंचक स्तोत्र निकला हैं। शिवोक्त सब स्तोत्रों को षड़ाम्नाय कहते हैं क्योंकि यह षड़मुख द्वारा कहे गये हैं। इन सब स्तोत्रों के द्वारा प्राप्त मंत्र निर्धारित कर्मफल होते हैं। किन्तु इस माया रचित संसार में यह अत्यंत कष्ट से प्राप्त होता है।जन्म जन्मान्तर के पुण्य के फल से इसकी प्राप्ति होती है।

पादुका पंचक स्तोत्रम–पद्म, अकआदि त्रिकोण; नादबिंदु मणिपीठ मंडलम्–नीचे हंस एवं पीठ के ऊपर त्रिकोण–यह सब मिलकर पांच हैं।

शिवजी के पांच मुख हैं। पश्चिम में सद्योजात, उत्तर में वामदेव, दक्षिण में अघोर, पूर्व में तत्पुरुष और मध्य में ईशान, इनका भक्ति पूर्वक ध्यान किया जाता है।

पूर्वोक्त षडमुख है छठा मुख पंच मुख के नीचे, यह गुप्त तामस मुख है।

चक्र भेदन

यह भेदन चिन्तन द्वारा होता है। सबसे पहले प्रथम चक्र मूलाधार में जो मेरूदंड के नीचे लिंग और गुदा के बीच में भीतर है अन्तर्दृष्टि करना चाहिये और एकाय नमः या एक का उच्चारण करना चाहिये। फिर दूसरे चक्र का स्वाधिष्ठान में जो लिंग के सामने भीतर मेरूदंड में है उसी तरह अंर्तदृष्टि रखकर 'द्वितीयाय नमः' अथवा दो कहे। इसी प्रकार नाभि के सामने मणिपुर चक्र में 'तृतीयाय नमः' हृदय के सामने अनाहत चक्र में 'चतुर्थाय नमः' कंठ के सामने विशुद्धि चक्र में पंचमाय नमः' भ्रूमध्य के भीतर आज्ञा चक्र में 'षष्ठाय नमः फिर यहां से नीचे को लौटे और फिर आज्ञा चक्र में ही 'सप्तमाय नमः' विशुद्धि में 'अष्टमाय नमः' अनाहत में 'नवमाय नमः' मणिपुर में दशमाय नमः' स्वाधिष्ठान में 'एकादशाय नमः' और मूलाधार में 'द्वादशाय नमः' कहना चाहिये। इस प्रकार जितनी बार इच्छा हो चिन्तन और इष्ट मंत्र के साथ संख्या का

उच्चारण करते हुए ऐसी धारणा करें कि चक्र भेदन हो गया, कुछ दिनों में मेरुदंड फूटेगा और चीटी के चलन के समान अनुभव होगा और वायु चक्रों को वेधकर ऊपर उठेगी और आनन्द का अनुभव होगा।

ग्रन्थि भेदन

ग्रन्थि भेदन विधि जानने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि ग्रंथियाँ क्या हैं और योग साधन में उनका क्या महत्व हैं।

ग्रन्थि तीन प्रकार की होती हैं-

(१) ब्रह्म ग्रंथि (२) विष्णु ग्रंथि (३) रुद्र ग्रंथि मूलाधार, विष्णु ग्रंथि मणिपुर और रूद्र ग्रंथि विशुद्धाख्य चक्र के पास हैं।

(१) ब्रह्म ग्रन्थि

उपनिषद में आगामी कार्यों का नाम ब्रह्मग्रंथि, चण्डी में मधु कैटभ और तंत्र में कुण्डलिनी है। विराट मन, प्राण और ज्ञान ही ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर है। उनको प्राप्त करने के लिये जीवभाव वाले मन, प्राण और ज्ञान की खोज करना आवश्यक है। जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर छिपे हुए जल प्रवाह को प्राप्त करने के लिए कुआ खोदना पड़ता है, उसी प्रकार विराट समष्टि को पाने के लिये अपने भीतर सदा अनुभूति होने वाली व्यष्टि सत्ता का आश्रय लेना पड़ता है। पश्चात सद्गुरु के आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्व से मनुत्व प्राप्त करना और फिर जगत की प्रत्येक वस्तु में सत्यप्रतिष्ठा कर सबको गुरु समझने की दृढ़ भावना करना चाहिये। 'शिष्यस्तेहं सन्धि मां त्वां प्रपन्नम्' यह मंत्र चैतन्य हो जाने से जीव मनुजत्व की संकीर्णता रूप सीमा से बाहर निकलने को व्याकुल हो जाता है। भगवान मनु मनुष्य जाति के पिता और ब्रह्मा पितामह हैं। मनु ही ब्रह्मा की पहली सृष्टि है। जब मनुष्य साधन बल से मनुत्व प्राप्त कर लेता है, तभी वह 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहता हुआ अमृतमय अनंत ज्योति की लहर में निमग्न होकर तन्मय हो जाता है। जब आप 'तत्तेपूषन्नपाऽवृणु सत्यधर्माय दृष्टये' कहते हुए, सूर्य

में सत्य प्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियों की भांति महासत्य की आभास तरंग से संवेदित होंगे, जब आप योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि' कहते हुए वैदिक युग के ऋषियों की भांति सूर्य में सत्य और प्राणप्रतिष्ठित होकर जीवभाव बिलकुल भूल जायेंगे, तब मनुत्व के अधिकारी होंगे। ब्रह्म दर्शी ऋषि ऐसा सरल मार्ग बतला गये हैं कि उस पर धीरे–धीरे चलते हुए मनुष्य मात्र इसे प्राप्त कर सकता है।

प्रथम मनुजत्व से मनुत्व और फिर मनुत्व से ब्रह्मत्व, यह तीन अवस्थायें क्रमशः सद्गुरु कृपा से साधक के सम्मुख स्वयम् आती जाती हैं। उस समय जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिता की गोद में निर्भय आनन्द पूर्वक सरल शिशु की तरह बैठा हुआ हैं। जब हर घड़ी यही अनुभव करता है तब मृत्यु लोक में रहकर भी वह अमरता के आस्वाद में मुग्ध रहता है और साधारण जनों के लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसी को वह आनन्द रूप से भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति को पाता है। मनुत्व प्राप्त होने से अणिमा महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ हो जाती हैं और घृणा लज्जा आदि अष्टबन्धनों से जीव मुक्त हो जाता है।

हमारे हृदय पटल पर जन्म जन्मान्तर के संचित भाव अंकित हैं, वह हमारे अनुभव में नहीं आते, परंतु जब हम मनुत्व प्राप्त कर मन्वन्तर के अधिपति होंगे तब अपने तथा दूसरों के पाप, पुण्य, जन्म जाति, आयु–भोग इत्यादि सब अनुभव करेंगे (कर सकेंगे) मनुत्व आंशिक फल प्राप्त कर लेने वाले साधक लोगों के विचार बिना कहे जान लेते हैं और बतला देते हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति स्थिति, लय, 'मनु' के इशारे पर ही निर्भर है। वह प्रत्येक मनुष्य के सूक्ष्म और कारण देह तथा मन के भाव प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

मनुत्व का कुछ अंश प्राप्त कर लेने पर साधक सद्गुरु से दीक्षित होने पर अपनी इच्छा शक्ति द्वारा मन की गति उलट देते हैं। मन के दो मुख है, एक नीचे की ओर दूसरा ऊपर की ओर। नीचे का मुख प्रवृत्ति की ओर प्रवाहित रहता है व ऊपर का बंद रहता है। सद्गुरु के सत्संग

व उनकी कृपा से ऊर्ध्वमुख निवृत्ति मार्ग प्रवाहित होने लगता है और अधोमुख सूक्ष्म हो जाता हैं। बोधक्षेत्र में पहुंच हो जाने पर ब्रह्मग्रंथि शिथिल हो जाती है। साधक जब अंतः शरीर में प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमय से आनन्दमय कोषंतक। पांचों कोण वर्म संस्कारों से परिछिन्न हैं। जब तक जीव आत्मस्नेह में मुग्ध नहीं होता तब तक वैद्य कर्मों के संस्कार उसे बहुत ही सताते हैं, इसी कारण वह नित्यानंद के विधायक प्रबल शत्रु हैं। स्थूल वृत्तियाँ आत्म राज्य में उतनी विध्न कारक नहीं है जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (संस्कार) बाधक हैं। यहीं पर जीव को विषाद योग होता है, उसके पश्चात् फिर साधक को विषाद युक्त नहीं होना पड़ता।

पहले तो साधक संयम, योग, ध्यान, सिद्धि शक्ति आदि को चाहता है, परंतु–जब अनेक बार विफल मनोरथ होता है तब यथार्थ आत्मा (मां) की खोज उसके प्राणों में उदित होती हैं, तब वह एकांकी इन्द्रिय रूपी अश्व पर सवार होकर विषयारण्य में ही आत्मानुसन्धान करने लगता है, जब साधक अपना चित्त बाह्य विषयों से रोककर व्याकुल होता हैं तब स्नेहमयी (मां) आत्मा उसे सरल मार्ग पर ले जाता है। अस्तु जब तक आत्म दर्शन नहीं होता तब तक यथार्थ ग्रन्थि भेदन नहीं होता। आत्म जिज्ञासु जब अन्तर्राज्य में कोना–कोना ढूंढ़ने पर भी आत्मा का पता नहीं पाता तब विवश होकर फिर इन्द्रिय ग्राह्य विषयों के समीप आता है। पहले तो वह इन विषयों को नाशवान् और मिथ्या कहकर विषवत् त्याग कर अन्तर्राज्य में प्रविष्ट हुआ था, अब फिर लौटकर उसी विषयारण्य में प्रवेश करता हैं। परंतु अब इसमें भेद इतना हैं कि पहले विषय समझकर ही विषय भोगता था परंतु अब आत्मानुसंधान के निमित्त भोगता है। पहले पहले प्रत्येक विषय में 'सत्य' कल्पना करते–करते ही आत्मानुसंधान जाग्रत होने लगता है। क्योंकि साधक पहले विचारता हैं कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं हैं, विषय क्षुद्र है। आत्मा अनन्त है, विषय भावों की घनीभूत अवस्था है, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञान मात्र है, आत्मा ज्ञानमय है। अतएव विषयों में विचर कर क्या विरुद्ध

आत्मा का पता लगाना सम्भव है? परंतु जब अन्तर्राज्य में पता नहीं चला तब बहिःराज्य में पता लगाने में हानि ही क्या है। बस यही से आत्म प्राप्ति का श्री गणेश होने लगता है।

साधक को चाहिये कि जो भी पदार्थ उसके सामने आवे उसी को 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण करे। आंखें कोई भी रूप सामने उपस्थित कर दें उसे ही आत्मा का रूप समझे, कान से जो कुछ भी शब्द सुने, उसे आत्मा के कंठ के शब्द माने, गंध को आत्मा के अंग का सौरभ समझे, रसना से जो रस अनुभव करे उनको 'रसो वै सः–' कहकर अमृतायमान होवे। कोमल स्पर्श से रोमांचित हो तो आत्मा का ही का स्पर्श समझे अर्थात इस प्रकार आठों पहर जो कुछ भी करे उसे यही समझे कि 'यत करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्' अर्थात् जो कुछ भी मैं करूँ हे जगद्माता। (आत्मा) वह सब तेरा ही पूजन हैं। परंतु इसके केवल मुंह से कहने से कोई फल न होगा बल्कि इसे रोम–रोम से अनुभव कीजिये। हे साधक! आप अनेक जन्मजन्मान्तर से 'जगद्भाव' का अभ्यास करते हुए उसी में मोहित रहे हैं। आप जो कुछ भी करें, जो कुछ भी देखें वह समझें सब छद्मवेशधारिणी आत्मा की ही मूर्ति समझें। यही आप की बुद्धि में दिन–रात विकसित होता रहे। यही बुद्धि योग है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यही मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाला पथ है। समस्त वेद, दर्शन व शास्त्र बस यही एक बात कहते हैं 'ईशावास्य मिदं' सर्वम्' सर्व खल्विदं ब्रह्म' भगवान सर्व व्यापी है, इस बात को तो प्रायः सभी मनुष्य भी जानते हैं, परंतु इसे व्यवहार में लाने वाले तत्वतः जानने वाले विरले ही हैं।

उक्त साधन में न तो आपको कोई नई बात पढ़ना, जानना और न सीखना ही है बल्कि आपने जो कुछ भी पढ़ा जाना और सीखा है उसे ही कार्यरूप में परिणित करना मात्र है। यही बुद्धि योग मन की चंचलता दूर करने का अमोघ अस्त्र है। जब आपका मन कहे कि सामने यह वृक्ष है तब आप भी जोर देकर कहें कि नहीं, यह वृक्ष रूप में 'मां' आत्मा है। पहले पहले यह बातें कुछ अद्भुत सी मालूम होती हैं। हमारा अविश्वासी मन इन बातों को स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दृश्य रूप जगत्

के रूप में सर्वत्र भगवान ही विराजमान हैं। परन्तु मन की चंचलता, इन्द्रियों की धूर्तता से आप धोखे में न आइये। जब बुद्धि बल से सर्वत्र इस सत्य का अनुभव करेंगे तब आप इसके मधुमय परिणाम को प्राप्त कर सकेंगे भगवद्गीता में कहा है कि –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (६/२६)
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (६/३०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। (६/३१)

हे अर्जुन! सर्व व्यापी अनन्त चेतन की एकी भाव से स्थित रूप योग से मुक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में बर्फ से जल के सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है, अर्थात जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न के संसार को अपने अंतर्गत संकल्प के आधार देखता है वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतना आत्मा के अंतर्गत संकल्प के आधार देखता है। (६/२६)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अंतर्गत देखता है उसके लिये में अदृश्य नहीं होता हूं और न वह मेरे लिये अदृश्य होता हें, क्योंकि वह मुझ में एकीभाव से स्थित है। (६/३०)

इस प्रकार जो पुरुष एकीभाव से स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानंद घन वासुदेव को भजता है, वह योगी इस प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। (६/३१)

तात्पर्य यह है कि साधक को भगवान की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको इसी रूप में देखें और उसके साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करें मानो

वास्तव में इष्टदेव ही मिल गये हैं। ऐसा करते--करते वह यथार्थ पद पर पहुंच जाएगा। पलक बंद कर खोलने में तो देर भी लगती है परंतु भगवान के पाने में कुछ भी विलंब नहीं लगता। आवश्यकता तो केवल सच्ची लगन की है। यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो वह आत्मा है। (भगवान) है, परन्तु इस बात में विश्वास दुर्लभ है। जो कुछ आयोजन प्रयोजन साधन और कठनाई है वह केवल इसी विश्वास को दृढ़ करने की ही है।

बुद्धि योग का रहस्य न जानने के कारण ही लोग श्वास रोककर प्राणायाम द्वारा चित्त स्थिर करने की चेष्टा करतें हैं, परंतु आत्मा को नहीं पाते। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य ने अपने ग्रंथ अपरोक्षानुभूति के सर्ग ११२--१२० में प्राणायाम की निम्नलिखित व्याख्या की है।

सर्वत्र ईश्वर होने की धारणा का अभ्यास करके सम्पूर्ण जीवन शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करने को प्राणायाम कहते हैं। 'अहं--ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूं की धारणा का अभ्यास पूरक व संसार को मिथ्या मानना ही रेचक प्राणायाम है। अहं ब्रह्मास्मि की स्थायी धारणा ही कुम्भक प्राणायाम है। ज्ञानियों की यही प्राणायाम विधि है।

नाक दवा कर किया जाने वाला प्राणायाम तो अज्ञानियों के लिये है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि 'मनो ब्रह्मइत्युपासीत' अर्थात मन की ब्रह्म रूप से उपासना करना ही सत्य प्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मन का भाव है। जगत की उपासना ही मन की उपासना हैं। बुद्धिर्महतत्व में चैतन्य का सबसे प्रथम प्रकाश होता है। मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है। इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अंश बुद्धि द्वारा ही शीघ्र मिल सकता है। इन्द्रियां मन से रुकती हैं, मन बुद्धि से रुकता है अतएव पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिए बुद्धि योग का गुण बड़ा विचित्र है। इसका जरा सा भी अनुष्ठान महान् भय से त्राण कर देता है। बुद्धि योग की सहायता से एक अपूर्व चिदाकाश प्रकाशित होता है। उसके दर्शन मात्र से प्राण अमृत रस में निमग्न हो जाते हैं। चंचल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योति में मुग्ध हो जाता है और हृदय का सारा

संताप मिट जाता है। पहले यह चिदाकाश कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण दिखाई देता है, फिर सत्य प्रतिष्ठा में अभ्यास बढ़ने पर क्रमशः निर्मल, श्वेत, देर तक ठहरने व इच्छा मात्र में दिखाई देने लगता है। इसी का नाम अरण्य में राजा सुरथ को मेधस् मुनि का प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि शिष्योपशोभित आश्रम दर्शन होता है। मेधस् अर्थात मेधा, स्मृत शक्ति पाना। इसमें मोह नष्ट हो जाता हैं। यही ब्रह्मज्ञान का प्रवेश द्वार है। सुषुम्ना प्रवाह प्रकाशित होने पर इस स्थान पर सहज ही में पहुंच सकते हैं। साथ ही कुल कुंडलिनी जागरण होने पर जीव की ब्रह्मग्रंथि शिथिल हो जाती है अर्थात उसका भेदन हो जाता है।

साधक के बुद्धिमय क्षेत्र में पहुंचने पर विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमें चंचलता नहीं रहती, काम क्रोधादि सताना भूल जाते हैं। साधना जगत् जब तक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तब तक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन पथ पर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधन में जब पग–पग पर कुछ न कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधन सरस और मधुर होगी। मंत्र चैतन्य इसमें परम सहायक होता है। जीव मात्र साधक है, कर्ममात्र साधन है प्रकृति गुरु है, पुरुष इष्टदेव लक्ष्य हैं। साधना सजीव होने से अवश्य सिद्ध होगी, साधन में जाति भेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं हैं,साधक (अधिकारी) (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योति में साधक आरम्भ में अधिक देर तक नहीं ठहर सकता, वह शीघ्र ही देह बुद्धि में उतर आता है, क्योंकि नीचे की ओर मन बंधा रहा है इस मन को भगवान के चरणों में अर्पण कर देने पर ही जीवत्व का अंत हो जाता है और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधि से भेंट होती हैं। जो भक्तिधन से धनवान्, गुरुकृपा से ज्ञानवान्, सत्यप्रतिष्ठा की शक्ति से वीर्यवान् और चिन्मय ज्योति से प्रकाशमान् है उसी को समाधि का साक्षात्कार होता है। आत्मा ब्रह्म के दर्शन का उपाय है उसके दर्शन की इच्छा का होना। ब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित रहने पर भी जीव की दर्शन करने की इच्छा हुए बिना, दृष्टि गोचर नहीं होता, जैसे आखें सबको देख सकती हैं परंतु स्वयं को नहीं

देख (सकती) पड़ती हैं। जीव की ब्रह्म दर्शन की इच्छा होने पर प्रथम वह सद्गुरु रूप से दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होने पर जब साधक अपना देह, मन प्राण सर्वस्व श्री गुरु चरणों में अर्पण करने को उद्यत होता है तब क्रम से गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। उनका जीव भावीय कर्तृत्व बोध शिथिल हो जाता है। कोई भी कर्म क्यों न हो उसमें यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं' करता हूं। वह अपने को दृष्टा मात्र समझने लगता है। शरीर मंत्र है आत्मा मंत्री है। इसी ज्ञान से उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमें अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्म के बीज रूप (बंधन) से परिणत नहीं होते। सांसारिक कर्मों में जितनी आसक्ति कम होती जाती है उतनी ही हृदय पर गुरु पर साधक की आसक्ति बढ़ती जाती है और फिर क्रम से उसमें आत्म समर्पण कर साधन निश्चित हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु' व आत्मा एवं मां' एक ही के नाम हैं। वही अंतर में रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं, साधक को कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता।

ब्रह्म ग्रन्थि भेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णु ग्रन्थि भेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रंथि भेद आनन्द प्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब आनन्द प्रतिष्ठा अपने आप हो जाती है, केवल आत्मा मां के होने का विश्वास घनीभूत होने से ही होता है जीव भावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है और आगामी कर्मों का फल ध्वंस हो जाता है, इसी को ब्रह्म ग्रंन्थि भेद या मधु कैटभ वध कहते हैं। यह हो जाने पर जीवत्व की एक जड़ कट जाती है।

(२) विष्णु-ग्रन्थि

महिषासुर वध या प्राण प्रतिष्ठा

ब्रह्म ग्रन्थि भेद होने से मधु कैटभ वध व आगामी कर्मों का बीज नष्ट हो जाता है। साधक अब नित्य नई–नई आशा आकांक्षा लेकर कर्म में प्रवृत्त न हों। कर्म क्षेत्र (शरीर) में रहने से बाध्य होकर कर्म तो किये ही जावेंगे, परंतु अब आसक्त होकर कर्म करने पड़ेंगे। उनकी सफलता

और निष्फलता में हर्ष शोक न हो। विज्ञानमय गुरु मेधस् की कृपा से ज्ञान नेत्र जैसे जैसे खुलते जाते हैं वैसे ही क्रम से अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है। साधक पहले 'स्त्री–पुत्रादि' गृहस्थ बंधन को ही परमात्मा प्राप्ति में बंधन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परंतु अब गुरु ने अनुभव करा दिया कि यह ही बंधन नहीं हैं, बल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण के संस्कार ही यथार्थ बंधन हैं जो अनेक जन्मों के साथ चले आ रहे हैं। संसार आप के ही अन्दर है। आप किसी भी एकान्त स्थान या पर्वत कन्दरा में क्यों न चले जावें, परन्तु संस्कार आप के साथ ही जावेंगे (रहेंगे) अब साधक भली–भांति यह अनुभव कर संसार का मूलोत्पादन करना चाहता है तब सत्य प्रतिष्ठा के फल और सद्गुरु कृपा से सोती हुई प्राण शक्ति जाग्रत होकर आगामी कर्मों के बीज रूप मधु कैटभ का प्रथम निधन करती है।

साधन क्षेत्र में प्राण का नाम है विष्णु'। विष्णु का और एक विशेषण है (प्रभु) अर्थात स्वाधीन, जो स्वतंत्र रूप में इच्छा शक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगत् व्यापी प्राण 'शेषमास्तीर्य' अर्थात् भविष्य जगत् के बीजों को शय्यारुप कल्पित कर 'अधःकृत' अपने में लीन कर योग निद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्म मिलन भाव, उस समय जगद्भाव सुप्त रहने के कारण व्यवहार में वह निद्रातुल्य है। योग सिद्ध होने पर जगद्भाव मेंसुप्त भाव होगा ही, इस दशा में विष्णु की फिर स्वतंत्रता नहीं रहती, योग निद्रा स्वरूपिणी मातृ सत्ता विद्यमान रहती है। विष्णु का अर्थ व्यापक चिदाकाश (विष्णु व्यापक,) आकाश शब्द गुणात्मक है, शब्द कान से ही सुनाई देता है। मल का अर्थ है आवरक–आवरण करने वाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाश को आवरण करे वह मधु–कैटभ है। मधु का अर्थ है आनन्द, कैटभ का अर्थ है बहुत्व।

संचित कर्म बीज छोटे–छोटे कीड़ों के समूह की तरह एक साथ अनेक भावों को दर्शाते हैं, अतएव अनेकता का बीज ही कैटभ है। जब मधु कैटभ मारे गये तब मानो संसार महा महीरुह की एक जड़ कट गई, परंतु अभी दो जड़ें बड़ी दृढ़ता से जमी हुई हैं। वह सहज में नहीं उखड़ती। संचित कर्म जो तुमने बहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्त

क्षेत्र में उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाश हुए बिना–महिषासुर वध हुए बिना भूयः सुख की प्राप्ति की आशा नहीं। परंतु चिंता नहीं, मैं तुम्हारी 'मां, हूं, मैंने गुरु रूप से प्रकाश किया है, मैं स्वयं खड्गपाणि होकर समराङ्गण में अवतीर्ण हो तुम्हारे सब संचित संस्कार विलय कर दूंगी। जब तुमने आर्त होकर मुझे 'मां' कहकर पुकारा हैं, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब बंधन काट दूँगी। तुम मेरी स्नेहमयी गोद में अवस्थान करो।

जीव अनेक जनम में अनेक प्रकार के कर्मो के अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति ज्ञान के अनुशीलन से परमात्म विषयक संचित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन, बुद्धि इन्द्रियों की जो परमात्मा मुखी गति या मिलन प्रयास है उसी का नाम देव शक्ति है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर हैं। यह देवासुर–संग्राम जीव देह में सदा ही चला करता है। अस्तु जो गुण महिषासुर है 'क्रोधञ्च महिषं दद्यात्' अर्थात् क्रोध रूप महिष का, देवी के प्रति, बलि देना कहा हैं, परंतु क्रोध रजो गुण से उत्पन्न है। कामना और वासनाएं रजो गुण के ही स्थूल विकास मात्र हैं महिषासुर इनका अधिपति है।

एक तरफ भोग की लालसा–वासना, दूसरी ओर मोक्ष का आकर्षण। यह संग्राम परमाणु मात्र में हर समय चला करता है। परंतु जीव जब मनुष्य शरीर में पहुंचता है तब आत्मबोध होने पर विज्ञानमय कोष में साधकों के अनुभव में आता है, तभी उसका मनुष्य जीवन सफल होता है। तुम्हारे संचित संस्कार आसुरी शक्ति बल से तुम्हें पराजित करते हैं। (अपवर्ग में पहुंचने की तुम्हारी राह को रोकते हैं)। हमारा जीवन कहने योग्य यथार्थ जीवन नहीं है। क्योंकि वास्तविक जीवन वह है जो गतिशील व शक्तिशाली हो, जिसमें हम उन्नति करें, देवासुर संग्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्य–जीवन व्यापी देवासुर संग्राम का अंतर में अनुभव नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ गया।

देव शक्ति और असुर शक्ति दोनों ही मन के भाव हैं। नाभि या मणिपुर चक्र के नीचे असुरों का क्षेत्र है, और उसके ऊपर देव क्षेत्र है। नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है, मन का जो अंश परमात्माभिमुखी

हुआ है वह पद्म योनि है, देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) और विष्णु शरणापन्न हुए। विष्णु प्राण शक्ति है। उनका स्थान हृदय कमल शिव ज्ञान शक्ति है। उनका स्थान ललाट या आज्ञा चक्र है। सद्गुरु हृदय कमल से साधन कराकर धीरे–धीरे ललाट कमल तक पहुंचाते हैं। जीव का निवास साधन से पूर्व मूलाधार या पृथ्वी चक्र में होता है, उसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जल चक्र) फिर मणिपुर (अग्निचक्र) इन तीनों के ऊपर हृदय कमल तक बड़ी ऊँची सीढ़ियां हैं, समर्थ गुरु साधक शिष्य को गोद में ले अपने हाथ से चौथी सीढ़ी पर पहुंचा देते हैं। इससे ऊपर की सीढ़ियां कम ऊंची और चौड़ी हैं इसलिए ऊपर से फिसलने का डर नहीं फिर भी सद्गुरु उसे देखते व साधे रहते हैं।

ब्रह्मा ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञान की सत्ता बिना मेरी सत्ता है ही नही, यही शरणागति है। जीव जब तक अहंता को जोर से पकड़े रहता है तब तक उसका अभिमान से उठा हुआ सर किसी प्रकार झुकना नही चाहता और न तब तक शरणागत भाव आता है। शरणागत हुए या आत्म निवेदन हुए बिना साधन का आरम्भ और आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव हे जीव! अब तुम इधर भटकना छोड़कर अपने अंतःस्थित ज्ञानमय गुरु चरण की शरण लो। वे साक्षात हरि हैं। उनके शरणागत होते हुए कहो, प्राणमय गुरु इन असुरों की पीड़ा से बचाइये, यह मुझे आप के समीप नहीं आने देते। दया करो, इन संचित कर्मो के विपरीत आकर्षण से मेरी रक्षा कीजिये आप ही मेरे सब कुछ हैं मेरी जड़ता दूर कीजिये।

अपने प्राण को ब्रह्म–आत्मा 'मां समझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थ को प्राणरूप अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावों का रोना सदा के लिए बंद हो जायेगा 'मां' राज राजेश्वरी मूर्ति से हृदय में प्रकाशित होंगी। अपने अभीष्ट देवता के दर्शन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी विष्णु ग्रन्थि खुल जायेगी। इस प्राण को 'मां' समझ लेने से प्राण का पता नहीं लगता। जब तक तुम अपने प्राण को विश्व प्राण रूप न समझोगे तब तक विष्णु ग्रंथि का भेदन न होगा। तुम्हारे जीव भावीय संस्कार प्राण

में अवस्थित है, उन्हें तुमने संकीर्ण बना रखा है। इसीलिये तुम्हारी विष्णु ग्रंथि नहीं खुलती। विक्षेप आवरणादि असुर वृत्तियां प्राण प्रतिष्ठा होने पर प्राणमयी हो गई, भेद ज्ञान दूर हो गया, संचित संस्कार दग्ध वीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रंथि खुल गई, अब संचित संस्कारों का फल (बिना भोगे ही) या भोगे बिना ही जीव मां की गोद में आरोहण कर सकेंगे, विष्णु ग्रंथि का यही विशेष फल है। अब समझ में आया कि 'मां–गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूप से प्रकाशित हैं। विषय मात्र ही मानों प्राण मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है। अब विषयों पर जो ममता, अनुराग या विद्वेष था वह भी दूर हो गया। तुम प्राण या चैतन्य पर प्रतिष्ठित हुए हो। अब संसार वृक्ष की दूसरी जड़ भी कट गई। रजोगुण रूप महिषासुर का वध हुआ, संचित कर्म दग्ध हो गये। परंतु अभी सबसे अधिक मजबूत प्रारब्ध भोग रूप मोटी जड़ शेष रह गई हैं, यह रुद्र ग्रंथि भेद होने पर 'मां' समर्थ गुरु की कृपा से एक ही शरीर से अनेक जन्मों का फल भोग (कराकर) स्वयं काट देगी।

(३) 'रुद्र ग्रन्थि'

शुम्भवध-आनन्द प्रतिष्ठा

साधक अब रुद्र ग्रन्थि के पास पहुंच जाता है। यद्यपि कहा है 'प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः' अर्थात् प्रारब्ध कर्मों का भोगने से ही क्षय होता है। तथापि भगवान श्री कृष्ण जी का उपदेश है कि 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' अर्थात ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। प्रारब्ध जीवरूप का अंतिम बंधन है। मां की कृपा से यह करते ही अज्ञानान्धकार बिल्कुल दूर हो जायेगा, जीव का जो यथार्थ रूप है वह प्रकट होने लगेगा। स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर जो अभिमान था वह दूर हो गया। अब इस संग्राम के लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं उनका दृढ़ता पूर्वक उपयोग करना होगा।

(१) 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नही। इस पर दृढ़ विश्वास पहला अस्त्र है।

(२) बुद्धि तत्व में अवस्थान कर स्वयं प्रकाशित चित्तशक्ति की ओर बार–बार लक्ष्य स्वयं करने का अभ्यास ही दूसरा अस्त्र है।

(३) युक्ति की सहायता से दृश्य पदार्थों में व्यावहारिक सत्ता दृढ़ करना, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है।

(४) शास्त्रीय प्रमाणों की सहायता से 'तत्वमसि' अर्थात ब्रह्म ही तत्व है। 'एकमेवा द्वितीयम्' अर्थात् एक है दूसरा कोई नहीं हैं। 'नेह नान्यस्ति किंचन' अर्थात अन्य कुछ नहीं है इत्यादि की सहायता से अद्वयस्वरूप परिग्रह करने का प्रयास करना चौथा अस्त्र है।

(५) मां की विशिष्ट कृपा पाने के लिए कातर स्वर में विनय आदि से अंत तक कृपा रखने की प्रार्थना करना। कृपा ही शरणागत भाव का अवश्यम्भावी फल है। आत्मप्राप्ति के पक्ष में आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन हैं, कृपा प्राप्त होने से सब अनायास ही प्राप्त हो जाता है। यह व्यतिक्रम के फल देते हैं। सबसे पहले मां की कृपा का अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ़ होता है। फिर शास्त्र वाक्य का अर्थ प्रतीत होता है। पश्चात् युक्ति विचार की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अंत में अनुभूति को लक्ष्य का अभिन्न स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की योग्यता होती है।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीर का अभिमान भी दूर हो जायेगा और तुम आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाओगे व रूद्र ग्रन्थि भेदन हो जायेगा। अतः एक स्वर से मां को प्रणाम कर आगे बढ़ो और जिसने इस दुर्जय असुर की पीड़ा से परित्राण कर आनन्दमय मंदिर में पहुंचाया है, उसके चरणों पर नत मस्तक हो। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतम और निष्कपट होगा वह उतना ही शीघ्र और सहज में अपना अभीष्ट प्राप्त कर शांत चित्त होता है।

निर्गुण निरंजन स्वरूप के ऊपर आत्मा (मां) का दो प्रकार का महत्व प्रकाशित होता है। एक ईश्वरत्व दूसरा जीवत्व। आनन्द से ही इन भूतों की उत्पत्ति–आनंद ही में उनका अवस्थान और आनन्द ही में प्रलय स्थान है। निर्गुण का अर्थ है। अभिन्न गुण ब्रह्म की यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा है। क्योंकि प्रकाश–अंधकार,

ज्ञान–अज्ञान, विद्या–अविद्या, सगुण–निर्गुण, सुख, दुःख इत्यादि परस्पर अत्यंत विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्म में ही वर्तमान हैं, तो भी उसके निरञ्जन स्वरूप में कुछ व्याघात नहीं होता।.केवल आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपना निरञ्जन स्वरूप सर्वथा अखंड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीव रूप से प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्म का ब्रह्मतत्व है। यह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दन में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द है, वही प्रथम स्पन्दन में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द है, वही प्रथम स्पन्द में सत् या सत्वगुण, द्वितीय स्पन्दन में चित् या रजोगुण–आनन्द की अनुभव शक्ति और तृतीय स्पन्दन में आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य भोग्य भाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'मां' कुछ भी रखिये यह ज्ञान स्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधन के लिये जीवत्व का बंधन अनादि काल से लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षा के लिए ('आत्मार्थे पृथ्वी त्यजते') (सब पृथ्वी त्यागना कहा है)। पृथ्वी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए बिना आत्मराज्य में पहुंच नहीं हो सकती वह आत्मा कितना घन आनन्द स्वरूप है, क्या मुख से उसका वर्णन किया जा सकता है?

सारांश यह है कि हजार बार सगुण होने पर भी उसकी निर्गुणता में कुछ विकार नहीं होता, जैसे नाना प्रकार के आभूषण बना लेने पर भी सुवर्ण का सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता ब्रह्म में गुणातीत व गुणमय दोनों भाव एक साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा अपने आप को बहुधा विभाजित कर भोगता है या भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब वह उस समष्टि ईश्वरानन्द को व्यष्टि रूप से भोगता है। तब वही जीव है। जैसे समुद्र का जल, जल की लहरें और जल की बूदें इनमें कुछ भेद नहीं, इसी प्रकार कैवलानन्दमयी, सर्वकारिणी ईश्वरानन्दमयी, और फिर सर्वरूपिणी जीवनानन्दमयी 'मां' है। साधक अब विचार कीजिए आप कहां पहुंच गये। अब आपकी देह का प्रत्येक परमाणु आनन्द के सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निर्मित, आनन्द ही उपादान व आनन्द ही स्वरूप है। आपके चारों ओर आनन्द

ही आनन्द है। जड़ पत्थर तक सभी आपके पारिवारिक जन आदि, घन सत्ता हैं। फिर भी आप नेत्रहीन की तरह खोजते हो आनन्द कहां हैं? एक बार 'मां' की झांकी की ओर देखो तो सही, आपको कहीं भी आनन्द का अभाव न रहेगा, आप आनन्द समुद्र में मग्न हो जायेंगे। यह संसार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भोग की वासनायें बिल्कुल नष्ट हो जायेंगी।

इस प्रकार माया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति लज्जा, शान्ति, श्रद्धा कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा–मां के ही तो रूप हैं, सबका प्रमाण जब इतना दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृप नंदन कहलाने का अधिकारी हो जाता है, इस अवस्था में साधक का चित्त आर्द्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं यही गंगाजल है, इससे स्नान करने 'मां' आती हैं। संतान के परम पवित्र प्रेमाश्रु बिना 'उमा का स्थान–अभिषेक नहीं होता। मातृ वक्ष को शीतल–शान्त करने के लिये संतान के आकुल आर्तनाद विक्षोभित निष्कपट प्रेमाश्रुओं की ही आवश्यकता है। उक्त दशा में 'मां' पूछेगी कि अरे! क्या बात है। बस यहीं अस्मिता रूप शुम्भ दैत्य का निधन होगा। एक बार अद्वय तत्व का साक्षात्कार हो जाने पर साधक की भेद भ्रान्ति बंधन, भय, मृत्युभय दूर होकर वह अभय हो जाता है। इसके बाद अब स्थूल देह रहती है, तब तक साधक, प्रारब्ध संस्कार क्षय करता हुआ अंत में कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहने तक शुम्भ वध या रुद्र ग्रंथि भेद (यथार्थ अद्वैत तत्व प्रकाश) नहीं होता। यहां तक तो साधक का ममता क्षय (निशुम्भ वध) हुआ। जब तक साधक यथार्थ अहं के दर्शन नहीं कर सकता, तब तक उसका मिथ्या अहं दूर नहीं होता, मां के दर्शन होते ही ब्रह्मशक्ति पुरुष निरहंकार हो जाते हैं। सच्चे संत का लक्षण निरहंकार होना ही है।

प्रबल प्रारब्ध संस्कार क्षीण होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी को साधन की भाषा में रुद्र ग्रन्थि भेद कहे हैं। इस जगत में देह आदि की प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत की सत्ता त्रिकाल में नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान हैं, आत्मा नित्य शुद्ध निरञ्जन

है। उसमें जो अत्यंत अनुराग है वही अहैतु की भक्ति है। अस्मिता नष्ट होने पर सर्वत्र प्रसन्नता दिखाई पड़ती है। आत्म प्राप्ति के पश्चात् साधक के शब्द मधुर उच्चारित होते है कंठ में आकर्षण भाव आ जाता है। रोग शोक में भी यह स्वरूपानंद विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्य का पुरुष, वेदान्त का ब्रह्म, उपनिषद की आत्मा, गीता के कृष्ण, देवी माहात्म्य की चण्डिका और साधक की 'मां–उमा है।

'मां' की आराधना करने से पहले वह ब्रह्मग्रन्थि भेद करेगी उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग अपने आप आकर उपस्थित होंगे। यही मां की प्रथम देन है, दूसरी मूर्ति से विष्णु ग्रन्थि भेद करेगी, उसके फल से विश्वमय प्रियतम प्राणसत्ता के दर्शन कर तुम स्वर्ग सुख भोग के अधिकारी होगे और तीसरी मूर्ति से वह रुद्रग्रन्थि भेदकर तुम्हें विशुद्धबोध स्वरूप (आत्मध्यान) में उपनीत करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।

तीनों स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय) क्षेत्र में उपासना करने से प्रसन्न होकर जगद्धात्री मां के चंडिका रूप से आविर्भूत होने पर साधक का तीनों ग्रन्थि भेद हो जाता है। सुरथ और समाधि की उपासना प्रणाली क्रमशः साधन रीति अथवा योग कर्म का कौशल है। इस प्रकार साधकों की सब बाधायें दूर कर या उनको अपने में लीन कर लेती है। तब सारा जगत ब्रह्ममय दिखने लगता है। (इति रुद्रग्रन्थि)

योग शास्त्र के अनेक विषयों में कुण्डलिनी शक्ति एक बहुत ही गूढ़तम विषय है। योग शास्त्र के प्रथम सोपान से अंतिम सोपान तक चढ़ जाने के पश्चात् ही इस शक्ति का अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है। समष्टि सृष्टि की 'कुण्डलिनी को महाकुण्डलिनी कहते हैं और उसी के व्यष्टि–व्यक्ति में व्यक्त होने पर उसे कुण्डलिनी कहते हैं। समस्त जगत को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टि रूप जीव चलाने वाली व्यष्टि कुण्डलिनी है। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है।

यह नाग के समान सोई हुई देवी अपने ही प्रकाश से दीप्त है।

यह सूर्य के समान सन्धि में रहती है, तथा वाग्देवी के बीज के नाम से विख्यात है। जिस प्रकार सूर्य से सारा संसार संचालित होता है। इसके जाग्रत होने से ही साधक के सारे शरीर में तेज चमकने लगता है व शक्तिमान हो उठता है। इसको जाग्रत करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इसे विष्णु की शक्ति जानना चाहिये। यह स्वर्ण के समान आभावाली है तथा, सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों का आदि स्थान है। सारांश यह कि वह सर्व शक्तियों की मूल शक्ति है अतएव इसका जगाना साधक का मुख्य कर्तव्य हैं क्योंकि इसके जगने से बड़ी–बड़ी शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

गुदा के दो अंगुल ऊपर और जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे मूलाधार चक्र है। यहीं पर श्रेष्ठतम देवी कुण्डलिनी अवस्थित रहती है। इसमें सर्प की भांति साढ़े तीन गेंडुरी होती हैं। इसीलिये इसे 'सर्प शक्ति' भी कहते हैं। यह अधोमुख किये हुए, मेरुदंड के पेंदे में मूलाधार चक्र में स्थित तथा सुषुम्ना नाड़ी के मुख से सिर नीचे किये हुए है। यह विश्व की सृजनात्मक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है और सृजन कार्य में सतत् व्यस्त रहती है। इसकी तीनों गेंडुरियां प्रकृति के तीनों गुण सत् रज और तम को व्यक्त करती हैं। आधी गेंडुरी विकृति अर्थात प्रकृति के रूपान्तरी कारण को व्यक्त करतीहै। कुण्डलिनी के जागरण और सहस्रार चक्र में इसके सम्मिलन से समाधि को अवस्था तथा मोक्ष को प्राप्ति हो सकती है। इसके जागरण से अष्ट मुख्य सिद्धियां और बत्तीस गौण सिद्धियां प्राप्त होती हैं व योगी मनोवांछित काल तक जीवित रह सकता है। प्राणायाम में कुम्भक करने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। जिससे कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी में होती हुई ऊपर चढ़ने लगती है व धीरे–धीरे छः चक्रों को भेदती हुई कपाल स्थित सहस्रार में वास करने वाली श्री हरि से मिल जाती है। इसी समय योगी को निर्विकल्प समाधि लगती है और वह मुक्तावस्था को प्राप्त करते हुए दैवीय ऐश्वर्यो का भोग करता है। मणिपुर चक्र तक चढ़ी हुई कुण्डलिनी फिर गिरकर मूलाधार चक्र में आ जाती है, अतएव इसको फिर उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। कुण्डलिनी सूत की तरह पतली होती है और

जगाने पर डंडा मारे हुए सर्प की तरफ फुफकार मारती हुई सुषुम्ना नाड़ी रूपी बिल में घुस जाती है। इसके पश्चात जब यह एक के बाद एक चक्र को क्रमशः भेदन करती हुई आगे बढ़ती है तो मस्तिष्क की तहें धीरे–धीरे खुलती जाती हैं और तभी योगी को अनेक दैवी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मेरुदण्ड (पीठ की रीढ़) के वाम भाग में बहने वाली चन्द्र रूपिणी इड़ा और दाहिने भाग में बहने वाली सूर्य रूपिणी पिंगला और इन दोनों के बीच में जिसका प्रवाह हैं वह है चन्द्र सूर्याग्नि, रूपिणी, त्रिगुणमयी सुषुम्ना। इस सुषुम्ना नाड़ी के अंतर्गत और भी नाड़ियां हैं, जिसमें एक चित्रिणी नाम की नाड़ी है। इसी चित्रिणी नाड़ी में होकर कुण्डलिनी शक्ति का रास्ता है। इसलिये इस सुषुम्ना नाड़ी के दोनों तरफ से बहने वाली उपर्युक्त दोनों नाड़ियां इड़ा व पिंगला पहले दो कुण्डल हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त होने के साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता हैं उसको नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता हैं और प्रकाश का व्यक्त रूप महाबिन्दु हैं। नाद के तीन भेद हैं। महानाद, नादान्त और निरोधिनी। बिन्दु के भी तीन भेद है, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, सूर्य चन्द्र और अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव सृष्टि में होने वाला जो नाद है वही ॐकार है, उसी को शब्द ब्रह्म कहते है। ॐकार से बावन मातृकाएं उत्पन्न हुई हैं इनमें पचास अक्षर मय और इक्यावनवीं प्रकाशरूप है व बावनवीं प्रकाश का प्रवाह है। इसी बाबनवीं मात्रा को सत्तरहवीं जीवन कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएं लोम और विलोम रूप से होती है। वह ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलों को धारण की हुई मातृकामयी कुण्डलिनी है। इसी कुण्डलिनी शक्ति से चैतन्यमय जीव देहेन्द्रिय आदि युक्त जीव रूप धारण किये हुए प्राण शक्ति को साथ किये हुए स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष का स्वामी होता है।

इस जीव को जीवत्व की चेतना सहस्रार चक्र से अनाहत में अर्थात् हृत् चक्र मे आने पर होता है। सहस्रार चक्र में अव्यक्त नाद है। यही

आज्ञाचक्र में आकर ॐकार से उत्पन्न होने वाली पचास मातृकाओं की अव्यक्त स्थित का स्थान सहस्रार चक्र है। इस स्थान को अकुल स्थान कहते हैं। यही श्री शिव का स्थान है। शिव शक्ति अर्धनारी नटेश्वर हैं। शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थान से उत्पन्न होने वाली जो जो मातृकाएं जिस–जिस स्थान से व्यक्त हुई हैं उन–उन मातृकाओं और उनके उन–उन स्थानों को लोम विलोम रूप में आगे बतलाया है। इसके सिवाय और भी बहुत सी नाडियाँ व चक्र आदि हैं जिनका कि यहाँ विस्तार के भय से लिखना असम्भव है।

-: अथ वर्ण माला चक्रः-

क्षं

अं	अकुल	ळं	औं	लम्बिका	पं
आं	महाबिन्दु	हं	अं	विशुद्धि	नं
इं	उन्मना	सं	अः	अंतराल	घं
ई	समना	षं	कं	अनाहत	दं
उं	व्यापिका	शं	खं	अंतराल	थं
ऊं	शक्ति	वं	गं	अंतराल	तं
ऋं	नादान्त	लं	घं	मणिपुर	णं
ॠं	नाद	रं	ङं	स्वाधिष्ठान	ढं
ऌं	रोधिनी	यं	चं	आधार	डं
ॡं	अर्धचन्द्रिका	मं	छं	विभुव	ठं
एं	बिन्दू	भं	जं	कुलपद्म	टं
ऐं	आज्ञा	वं	झं	कुला	जं
ओं	अंतराल	फं			

इस नक्शे में लिखे हुए पच्चीस स्थानों के संबंध में लोम विलोमनात्मक श्लोक नीचे दिये जाते हैं।

यह एक माला ही है। यह माला फेरते हुए जप करने से वृत्ति का इधर उधर भटकना असंभव हो जाता है।

लोम श्लोक

आधार नाद सूत्रेण ध्यायते वर्ण मणीन् क्रमात्।
अकुलं च महाबिन्दुः उन्मना समना तथा।।
व्यापिका शक्ति नादान्त नादरोधिनी अर्ध चन्द्रिका।
विन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बिकाय विशुद्धिका।।
एकं ततोऽनाहत द्वे मणिपूरं तथैव च।
स्वाधिष्ठानाधारके विष्णुः संज्ञं कुलं तथा।।
कुलाय चेति स्थानां पंच विंशति संख्यका इति।।

विलोम श्लोक

कुलाथ कुल पद्मं च
विभुवाधार संज्ञकम्
स्वाधिष्ठानं मणिपुर
मन्तराल द्वयं तथा।।
अनाहतं चान्तरालं
विशुद्धिश्चाथ लम्बिका।
अन्तरालाज्ञा च विन्दु
अर्धचन्द्रा व रोधिनी।।
नादोनादान्त शक्तिश्च
व्यापिका समना तथा।।

उन्मना च महाविन्दुर
कुलं च विलोमतः।।

कुण्डलिनी शक्ति और प्राण शक्ति को साथ लेकर जीव इस लोक की यात्रा करने के लिए माता की कोख में आता है। प्रारब्ध कर्म को भोगने के उपयुक्त अथवा प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीव अन्धत्व–मूकत्व दोष भी संग लेकर आता है। छः महीने तक जो जीव माता के आसपास ही घूमा करता है पश्चात् जीवेश्वर अपनी संगिनी कुण्डलिनी और प्राण शक्ति के साथ मातृ गर्भ में प्रवेश करता है। प्रवेश करते हुए कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे षट् चक्रों में तथा अन्यान्य सब रन्ध्रों और कुहरों में प्राणशक्ति के साथ प्रवेश करती है, और अंत में स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन लपेटों में लपेट कर और लिपट कर बैठ जाती है या सो जाती है और सो रहती है अथवा साम्यावस्था में रहती है। जब इड़ा और पिंगला नाड़ियां समगति से चलती हैं उस समय उनका सुषुम्ना नाड़ी में लय हो जाता है। इस अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी प्रवेश करती है। कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके व सहस्रार में पहुंच कर जब वहां शांत होती है। तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं। योगी जब इस समाधि स्थिति में होते हैं तब उनके शरीर विकार रहित अर्थात् वर्धते, विपरिणमते

नश्यतीति विकारों से रहित हो जाते है। उनके नख केशादि नहीं बढ़ते। प्राण क्रिया बंद होने से नाड़ी का चलना और हृदय का आकुञ्चन–प्रसारण बंद हो जाता है। इसीलिये ऐसे योगी को कालभक्षक अथवा कालान्तक योगी कहते हैं। यही कारण हैं कि योगी सैकड़ों वर्षो तक जीवित रह सकते हैं। आजकल भी हिमालय में दो–दो सौ तीन–तीन सौ वर्ष के योगी लोग वर्तमान हैं।

सभी जीव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं तुरीय का ज्ञान केवल योगियों को ही होता है। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी की स्थिति साम्यावस्था में होती है और उसके कारण शरीर धारण का कार्य होता है। अव्यक्त सोऽहं ही कुण्डलिनी की

साम्यावस्था है। इस सोऽहं शब्द की अनुभूति आज्ञा चक्र में होती हैं और वही सोऽहं शब्द प्राणवायु के द्वारा अनाहत चक्र में पहुंचकर अनाहत चक्र की प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर 'कोह' शब्द में परिणित होता है। आज्ञाचक्र को अनुभव करने वाला जीव आत्म स्वरूप को नहीं भूलता परंतु नीचे उतरने पर नाना प्रकार के विषयों में लोलुप होकर 'सोहं' के बदले 'कोऽहं' कहने लगता है और आसपास के लोगों के साहचर्य से विकृत ज्ञान होकर 'देहोऽहं' कहने लगता है अर्थात् देहात्मवादी बन जाता है। इसके बाद सहस्रार चक्र के नीचे आकर अनाहत में, अनाहत से मणिपुर में, फिर स्वाधिष्ठान में और वहां से मूलाधार में आकर प्राणशक्ति के सहारे पूर्ण जीवत्व को प्राप्त होता है। यही जीव स्वयम्भू लिंग को लपेटी हुई कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके ऊर्ध्व गामी होकर देवत्व को प्राप्त अर्थात् देवरूप होता है।

'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव ब्रह्म रूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्मण्ड में है वहीं पिण्ड में है। कुण्डलिनी शक्ति जैसे ब्रह्माण्ड में है वैसे ही पिण्ड में है। पिण्ड से पिण्ड 'ग्रास' करना यह है कि कुण्डलिनी रूप पिंड देहरूप पिंड का ग्रास करे। कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब वह देह गत सब त्याज्य पदार्थ, कफ, पित्तादि दोष नष्ट कर देती है और जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देह के चलन वलनादि व्यापार बंद हो जाते हैं। केवल इतना ही नही बल्कि हृदय का आकुञ्चन प्रसारण और नाड़ी की गति भी बंद हो जाती है, अंत में कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार स्थित परम शिव से जा मिलती है। उस दशा में जीव अपना जीवत्व पीछे छोड़कर शिव पदवी को प्राप्त हो जाता है।

यह कुण्डलिनी सहस्रार में प्रकाशरूप में स्थित है। जीव को जीवत्व देने के लिए यह शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर छिद्रों में प्रवेश करके, सूक्ष्म नाड़ी जो सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रा से भी सूक्ष्म चित्रणी, चित्रणी से भी सूक्ष्म ब्रह्म नाड़ी में होकर प्रवाहित होती है। इसे मृणाल तंतु की उपमा दी गई है। यह प्रकाशमय है। अब कुण्डलिनी का महत्व सूक्ष्म रूप से प्रकट हो गया।

कुण्डलिनी का असमय जागरण

मन और इन्द्रिय का दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत और षट्चक्र भेद करने से बड़ी हानि होती है। भुवलोक के राजसिक, तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकार के माया जाल रचकर असत्य भाषण व दृश्य के द्वारा साधक के दोषों को बढ़ाकर तथा उसे भ्रम में डालकर उसका अधःपतन करा देते हैं। यदि साधक इन से बच भी जाय तो भी वह उस जन्म में योगोन्नति नहीं कर सकता क्योंकि उसके अंग उस तरह निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं जैसे किसी फूल की कली को तोड़कर उसे खिलाने का यत्न करने पर भी मुर्झा जाती है। कुण्डलिनी जागृत होने पर सम्पूर्ण मेरुदण्ड स्वाधिष्ठान से लेकर भ्रूमध्य तक ज्वाला से भर जाती है। यही कुण्डलिनी के जाग्रत होने का चिन्ह है और कुण्डलिनी के उत्थान की यह उत्तम प्रकार की दीक्षा है जो सद्गुरु द्वारा प्राप्त होती है न कि भौतिक क्रिया द्वारा।

सहस्रार के नीचे सभी चक्र अधोन्मुखी ही है। जब कुण्डलिनी का उत्थान होता है तो यह उर्ध्वोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति का जाग उठना दो प्रकार से होता है। एक तो हठयोग से दूसरा भावना योग से। हठ या भावना योग करते हुये आसन भी उपयुक्त होना चाहिये। हर एक आसन से यह सफलता नहीं हो सकती। कोई साधक यदि चाहे कि मैं कोई साधारण आसन करके कुण्डलिनी को जाग्रत व चक्रों को ऊर्ध्वोन्मुख कर लूंगा तो यह असंभव है। पद्मासन, वज्रासन अथवा सिंद्धासन द्वारा ही यह महत्वपूर्ण कार्य का सफलता पूर्वक सम्पादन हो सकता है।

कुण्डलिनी शक्तियोग में साधक को षट् चक्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये कि कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से सहस्रार तक चलती है और कृष्णपक्ष में ऐसी भावना करना चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रार से चलकर मूलाधार में आती है।

षट्चक्र निरूपण में बतलाया है कि योगी षण्मुखी (षण्मुखी) अथवा खेचरी मुद्रा सिद्ध करें। प्रणव का ध्यान भ्रूमध्य में करें। अंतःकरण

के अंतरिक्ष में 'पवन' सुह्रदां वन्हिकणान् ज्योतिः पश्यति' इस प्रकार उसे प्रकाश साक्षात्कार होता है।

श्री भगवती की कृपा से भी कुण्डलिनी जाग्रत होती है। श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर सब यौगिक क्रियायें करा दीं थीं।

कुण्डलिनी का उत्थापन होने से सब चक्र अपने वर्णों के साथ प्रकाशित देख पड़ते हैं। भावना से और क्रमशः इष्टदेव के प्रसाद तथा गुरु कृपा से कुण्डलिनी योग सिद्ध होता है। भावना से जो अनुभव प्राप्त होता है वहीं अनुभव हठयोग से भी साधन करने पर होता है। हठयोग से कुण्डलिनी उत्थान हो जाये तो भी इष्ट देव के प्रसाद से दिग्बंध का होना तो आवश्यक ही हैं, नहीं तो पिशाचादि अनिष्ट भूतसङ्ग द्वारा प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेव के प्रसन्न होने पर इष्टदेव ही मानव रूप धारण करके साधक को योग की सब क्रियायें करा देते हैं।

तंत्रमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्य के भ्रूमध्य और विशुद्धाख्य में स्पर्श करके प्रकाश का अनुभव करा देते हैं। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी उत्थान कराने वाले गुरु बहुत ही कम मिलते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति योगी निर्भय और आनन्दनिमग्न रहता है और श्री भगवती की उस पर पूर्ण कृपा होती है और वह सदा भगवती के संग रहता है। साधक को चाहिये कि वह संसार के तुच्छ सुखों से मुख मोड़कर कुण्डलिनी शक्ति योग के दुर्लभ आनन्द को प्राप्त करें। भगवती की कृपा का अनुभव उसे समय–समय पर होता रहता है। उसके कानों में यह दिव्य संदेश की ध्वनि गूंजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूं।

योग साधन के साथ कुंडलिनी जागरण करना विशेष महत्व रखने के कारण अत्यंत आवश्यक है। साधारण मनुष्यों में यह सोई रहती है योगाभ्यासी लोग इसे योग क्रियाओं के द्वारा जाग्रत करके षट्चक्र भेदन करते हुए मस्तिष्क स्थित सहस्रार में ले जाकर योग सिद्धि प्राप्त करते हैं।

उपनिषदों में कुण्डलिनी को 'नाचिकेति' कहते हैं। जो जो साधक इसे जाग्रत कर लेते हैं वे जन्म–मृत्यु रहित हो जाते हैं तथा उनका शरीर, जरा, व्याधि और मृत्यु के पार हो जाते हैं। यूरोपियन महिला

'ब्लेवट्सकी' इसको विश्व व्यापी विद्युत शक्ति कहती थीं। वास्तव में बात भी ऐसी ही है, क्योंकि प्रकाश के चलने की रफ्तार तो प्रति सेकिन्ड १८५०० मील है लेकिन कुण्डलिनी शक्ति की चाल ३४५००० मील प्रति सेकिन्ड बतलाई हैं।

असावधानी के साथ बगैर गुरु की संरक्षणता के इस शक्ति को जाग्रत करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये अन्यथा कुण्डलिनी नीचे की ओर प्रवृत्त होकर भोगवासना और जननेन्द्रिय की प्रवृत्ति को बहुत बढ़ा सकती है। इसको जाग्रत करने के पहले अष्टांग योग अर्थात यम, नियम आदि का पूर्णरूप से पालन करना परम आवश्यक है। बड़े भारी प्रारब्ध का उदय होने पर ही साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररंध्र मार्ग से निकलकर ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल में परिभ्रमण करती है। साधक शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ कुण्डलिनी का ध्यान करें। इसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अति गोपनीय है। स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है और ज्योतिर्ध्यान से यह सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इस दुर्लभ ध्यान योग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है। और ध्यान सिद्धि प्राप्त होती है, यह घेरंड ऋषि का मत है।

जिनको शास्त्र ज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषय की कुछ भी जानकारी नहीं रखते हैं, वे जानते हैं, कि जीव की स्थूल शरीर की तरह एक सूक्ष्म शरीर भी होता है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीर के साथ इतनी धनिष्ठता के साथ संलग्न रहता है कि दीर्घकाल तक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीर से पृथक नहीं कर सकता परंतु अलग न कर सकने पर भी वह अनेक कारणों से सहज ही उसके पृथक होने का अनुभव कर सकता है। स्वप्नादि में अथवा जीवित दशा में किसी–किसी अनुभूति में, और सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभव में सूक्ष्म शरीर की पृथक सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह कोल्हू में तिल पेरकर तेल निकाला जाता है। उसी तरह प्रक्रिया विशेष द्वारा स्थूल शरीर से भी सूक्ष्म शरीर को अलग किया जा सकता है संपूर्ण रूप में न सही

आंशिक रूप में प्रायः सभी अभ्यास करने वाले इसे कर सकते है इस अवस्था में स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् पड़ा रहता है और सूक्ष्म उससे बाहर निकल कर नाना स्थानों में घूम फिर कर पुनः जब स्थूल शरीर में घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहले की तरह ज्ञान और क्रिया का संचार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरण के द्वारा प्रतिरूद्ध नहीं होता और नस्थूल जगत् का कोई भी नियम विशेष रूप से इस पर प्रभाव डाल सकता है। कोई–कोई योगी घर के अंदर बंद रहकर और स्थूल शरीर को जहां का तहां रखकर भी, सूक्ष्म शरीर के द्वारा दीवाल आदि आवरणात्मक घेरे को भेदकर बहिर्जगत् भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्था में उनका स्थूल शरीर घर में निष्क्रिय अवस्था में आवद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा इस स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घर में आवद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है। और जो निकल कर इधर–उधर जाता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होने पर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोग मार्ग द्वारा उपलब्ध होता हैं परंतु एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाताहै कि वह पूर्व लिखित देह स्थूल है या सूक्ष्म, क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घर के अंदर बंद रहकर जब घर के बाहर निकले तब घर में पहले के समान स्थूल शरीर आसन पर नहीं रहा, अर्थात् वह समस्त शरीर को लेकर बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे व किसी को दिखाई भी पड़े। जिस शरीर से वह घर से निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था यह कहना न होगा क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात–धर्म विशिष्ट दीवाल आदि को भेदकर जाने में समर्थ नहीं होता। साथ ही वह सूक्ष्म शरीर भी नहीं है। यह भी निश्चित है, क्योंकि यदि वह सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रिय रूप से आसन पर मौजूद होना चाहिए था। योगी लोग ऐसी देह को सिद्ध देह कहते हैं। यह सिद्ध देह स्थूल और सूक्ष्म दोनों के परस्पर अत्यंत घन संश्लेषण से उत्पन्न होती है।

इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों के धर्म दृष्टिगोचर होते है। अतएव इसे स्थूल व सूक्ष्म दोनों ही कह सकते हैं। परन्तु वह वास्तव में दोनों

नहीं है। यह अवस्था योग मार्ग से ही प्राप्त होती है। सर्वारम्भ में इस प्रकार का योग संभव नहीं पहले वियोग मार्ग की साधना के द्वारा मिश्र सत्ता के अंदर वर्तमान दोनो सत्ताओं को पृथक् करना होता हैं और उसके बाद योग मार्ग की साधना के द्वारा उन दोनों को मिलाकर एक कर लेना होता है।

प्राण शक्तियोग और परकाय प्रवेश

प्राचीन पद्धति में प्राणमय शरीर के उद्‌गमन का अभ्यास किसी अनुभवी गुरु की संरक्षता में ही किया जा सकता है। पतंजलि योग सूत्र में इस के योगिक उपाय बतलाये हैं। यंत्र, मंत्र और तंत्र के ग्रंथों में भी प्राणमय शरीर के उद्‌गमन अर्थात परकाय प्रवेश के साधन मौजूद हैं।

(१) जगद्‌गुरु शंकराचार्य जी ने लिखा है कि श्री पतंजलि महामुनि के 'यथाभिमत ध्यानाद्वा' इस सूत्र के अनुसार ध्यान करने से परकाय प्रवेश सिद्ध होता है। श्री शंकराचार्य जी ने इस विद्या साधन के लिये एक मंत्र भी बतलाया है जिसके साथ 'सौंदर्य लहरी' एक यंत्र भी है। उसके साथ 'सौंदर्य लहरी' के एक श्लोक का पाठ भी करना पड़ता है। वह श्लोक वह मंत्र और यंत्र प्रक्रिया सहित नीचे दिया जाता है।

(२) हिमानी हन्तव्यं हिमगिरिनिवासैक चतुरो।
निशायां निद्राणं निशिचरम भागे च विशदो।।
वरं लक्ष्मी पात्रं श्रियमति सृजन्तो सममितां।
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिहकिम्।।

यंत्र प्रक्रिया

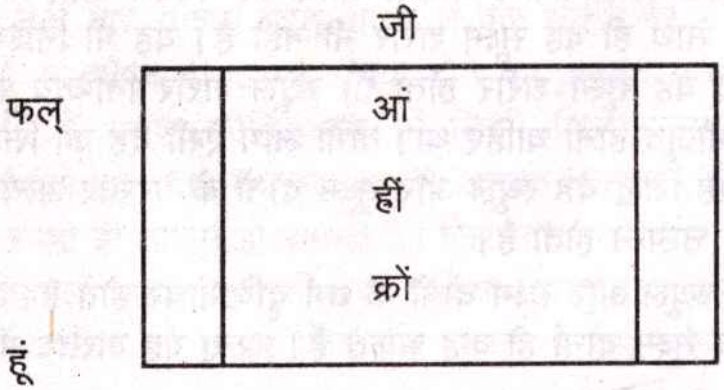

विधि

यह यंत्र सोने के पत्ते पर लिखकर इक्कीस दिन तक इसे मधु चित्रान्न और पायस का भोग लगावें।

उपर्युक्त श्लोक नित्य सहस्रवार जपे और इस मंत्र को सहस्रवार हल्दी विधे हुए किसी पीढ़े पर लिखे। इससे परकाय प्रवेश की विद्या सफल होती है।

(३) हठयोग की खेचरी मुद्रा से भी परकाय प्रवेश का सिद्ध होना हठयोग के ग्रंथ में लिखा है। परंतु शारीरिक उपायों से खेचरी सिद्ध करने के पूर्व खेचरी सिद्ध के लिए योगकुण्डल्युपनिषद् में नीचे लिखा मंत्र बतलाया है।

मंत्र :– ॐ ह्रीं रं सं मं फं लं अं म् ख् फ्रें ग् स्म लों

यंत्र प्रक्रिया

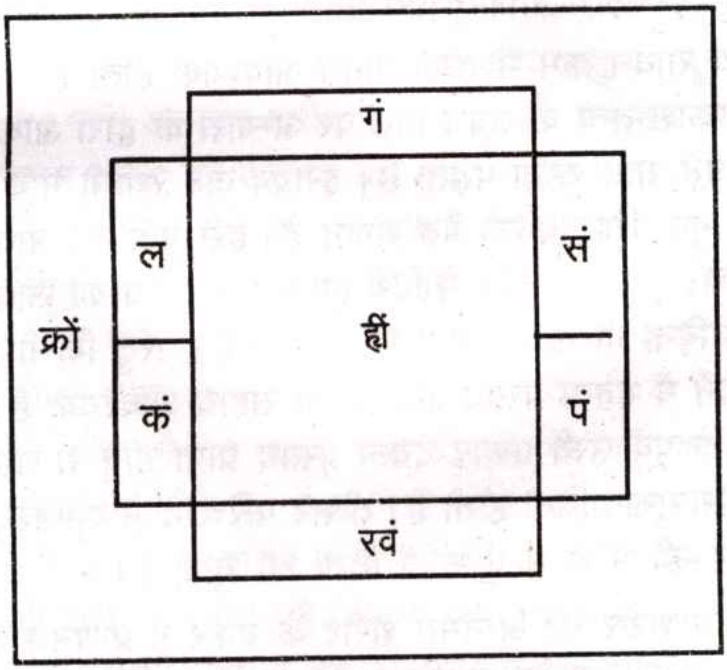

श्लोक :- *सोमांशतवकं वर्ण प्रतिलोभेन चोद्धरेत्।*
तस्मात त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।।

तस्मादप्यष्टमं वर्ण विलोमेन परं मुने।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पंचमी।।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽपं परकीर्तितः।
तस्य खेचरी सिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।।
योग कुण्डल्युपनिषद।मेलन मंत्र राजयुद्धरति–खेचरति।

ख वाचकतया चरतीति खेचरः हकारः आवरुथमिति धारणा शक्ति रीकारः रेति वहिः अम्बुमण्डल मिति विन्दुः। एतत्सर्व मिलित्वा भूषितं ह्रीमिति खेचरी बीज–माख्यातम्। तेनैव लम्बिका योगः प्रसिद्धयति। शिष्ट बीज षट्कमप्यम्बुमण्डल भूषितमिति ज्ञेयम। सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवरुं वर्ण उद्धरेदभमिति। तस्माद् भकारादनुलोमेन त्रयशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति। तस्माद सकाराद् विलोमेन अपरमष्टयं वर्णयुद्धरेदभमिति। तथा मकराद् विलोमेन अपरं पञ्चवर्णभमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च बीजं संमेल्योद्धरेत्। बहुभिःककार षकार बिन्दुभिः युक्ता यं कूटः क्षमिति। आहत्य बीजानिसप्त ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं इति।

प्राच्य साधन क्रम में तत्व साधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाश तत्व के उदय होने पर अभ्यास के द्वारा आकाश तत्व को बारह घंटे साधे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता हे, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्रा का साधन करते हुए पहले ओर दूसरे परिच्छेद में दिये हुए मंत्र ओर यंत्र को साधना होता है। यंत्र के बिना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परंतु किसी भी कार्य के सिद्ध होने में देवता प्रसाद और देवता सहाय आवश्यक है। खेचरी सिद्ध होने के पूर्व उसी प्रकार देवता प्रसाद प्राप्त होने से वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। तीसरे परिच्छेद में कुण्डल्युपनिषद का मंत्रोद्धार–ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं दिया जा चुका है।

प्राणमय शरीर को अन्नमय शरीर के बाहर व प्राणमय शरीर में जागने पर अन्नमय शरीर से निकलने की क्रिया मि. मुलडोन द्वारा लिखित 'प्राणमय शरीर उद्गमन' नामक ग्रंथ के निर्देशानुसार किया जा सकता है। पुस्तक मिलने का पता –

Mr. Muldone's Projection of Astral Body Publisher-Messers Rider & Co. Paternaster Row London & Co.

इस ग्रंथ में दिये हुए प्राण शरीरोद्गमन प्रयोग गुरु के बिना भी प्रयोग किये जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आत्मसंयम की आवश्यकता होतीहै। कम से कम दो महिना लगातार किसी एकान्त स्थान में रहना पड़ेगा और आहार बिहार नियमित रखना पड़ेगा। ऐसा करने से मि. मुलड़ोन को जो अनुभव हुए हैं वह चाहे जो अभ्यासी कर सकेगा।

इसी प्रकार अन्नमय शरीर से प्राणमय शरीर को बाहर लिवा ला सकते हैं और जब यह प्रतीत होता है कि अन्नमय शरीर को छोड़ने पर हम हर तरह से जागते हुए रहते हैं। तब एक प्रकार का विलक्षण आनन्द आता है। यह आनन्द अपने अमरत्व की प्रतीति का है। यह अमरत्व केवल औपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोग सिद्ध है। इस अमरत्व को लाभ करना ही मृत्यु को जीतना है। मृत्यु की क्रिया केवल अन्नमय शरीर के साथ प्राणमय शरीर को बांधने वाले जीव तन्तु को दूर कर अलग होना ही है। परंतु अन्नमय शरीर में रहते हुए ही जब हम इस जीव तन्तु और प्राणमय शरीर को अनुभव कर लेते हैं तब उस जीवतन्तु के अन्नमय शरीर को छोड़ देने पर भी साधक को मृत्यु का भय नहीं होता। श्री शंकराचार्य ने राजा सुधन्वा के मृत शरीर में प्रवेश किया था। राजा के गुरु और मंत्री को यह निश्चय हो गया था कि परकाय प्रवेश की क्रिया से किसी महापुरुष ने राजा के शरीर में प्रवेश किया है। इसलिये उन्होंने अपने राज्य में यह आज्ञा करा दी थी कि जहां कहीं भी कोई मृतक मानव शरीर मिले वह जला दिया जाये, ताकि महापुरुष के शरीर जला देने से उस स्थूल शरीर से जीवन तंतु दूर जावे और महापुरुष को राजा के ही शरीर में रहना पड़े। मनुष्य जब इस लोक से प्रयाण करता है तब उसका यह जीवन तन्तु दूर जाता है। इसे तोड़ना कभी–कभी इस स्थूल देहधारी जीव के हाथ में होता है।

प्राणमय शरीर के उद्गमन की दो क्रियायें हैं। एक विज्ञात

उद्‌गमन की ओर दूसरी अज्ञात। अज्ञात उद्‌गमन निद्रावस्था का एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है। कि जागृत अवस्था में शरीर व्यापार चलाने में प्राणशक्ति का जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्‌गमन होता है।

विज्ञात उद्‌गमन दो प्रकार का है। एक प्राचीन योगशास्त्र की क्रिया से सिद्ध होने वाला दूसरा पाश्चात्य प्रयोग अर्थात् स्वप्नावस्थित नियंत्रण से सिद्ध होने वाला।

'बंधकारण शैथिल्यात प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य पर शरीर प्रवेशः–
(पतञ्जलि यौग सूत्र तृ. ता सूत्र ३८)

कर्मानुसार प्राप्त होने वाले शरीर भोगों का भोक्ता जो जीव है उसे भोग से जो अवस्था प्राप्त होती है उसे बंध कहते हैं। जब सुख, दुःख पाप पुण्यादि के विषय में साधक को कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन द्वन्द्वों को उसकी चित्तवृत्ति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका बंधन विलीन हो जाता हैं, तब साधक चित्तवहा नाड़ी में प्रवेश करता है। यह चित्तवहा नाड़ी प्राणवहा नाड़ी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। इसमें प्रवेश करने पर साधक को अपने अंदर की तथा दूसरों के अंदर की चित्तवहा नाड़ी के प्रचार का ज्ञान होता है और वह किसी चेतन अचेतन प्राणी के शरीर में प्रवेश कर सकता है। तब मधु मक्खियों की रानी के पीछे–पीछे जैसे अन्य मधु मक्खियां चलती हैं वैसे ही उस साधक की चित्तवहा नाड़ी के पीछे–पीछे उसकी अन्य इन्द्रियां भी उस शरीर में प्रवेश करती है। इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीर से दूसरे के स्थूल शरीर में रहकर सब काम करता है। विधि ऊपर लिखी जा चुकी है।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति–यह पांच वृत्तियां हैं। इनमें जो निद्रावृत्ति हैं उसके निरोध से परकाय प्रवेश की क्रिया सिद्ध होती है। स्मृति वृत्ति के निरोध के लिए साधक को अपने मनोमय शरीर में अन्तर्हित होना पड़ता है। चन्द्रनाड़ी वायें नासारन्ध्र से बहने वाली श्वास को कहते हैं। परन्तु यहां चन्द्रनाड़ी का अभिप्राय उस चन्द्रनाड़ी

से नहीं है। यह नाड़ियाँ अनेक हैं और शरीर के अभ्यन्तर भाग में हैं। पाचक रस का उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थ में से सारभाग निकाल लेना, रक्ताभिसरण की क्रिया का होना और श्वास–प्रश्वास का चलना यह सब कार्य चन्द्र नाड़ियों में प्रवाहित होने वाली प्राणशक्ति से हुआ करते हैं। पहले तत्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सायंकाल चन्द्रस्वर को २ घंटा २४ मिनिट स्थिर रखकर उस समय खेचरी मुद्रा सिद्ध करके उस समता को यदि स्थिर रक्खा जाये तो चन्द्रनाड़ी का निरोध होता है और उससे हृदय क्रिया बन्द होती है व नाड़ियों में होने वाला रक्त प्रवाह बंद हो जाता है। उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर में बहने लगता है, अर्थात बाहर निकलकर स्वच्छन्दगामी होता हे। ऐसे समय में अन्नमय शरीर स्फटिक मणि सा उज्जवल दिखाई पड़ता है। उस समय प्रकाश साक्षात्कार होता है। दूर शब्द श्रवण, दूर दर्शन आदि क्रियायें सिद्ध होती है। यही स्मृति वृत्ति का निरोध है। अन्नमय शरीर में लौटते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल शरीर में मानो सहस्रों जल धारायें एक साथ प्रवाहित हो रही हैं और इससे स्थूल शरीर में एक विलक्षण महान आनन्द अनुभूत होता है।

निद्रावृत्ति के निरोध के लिए वरणा नाड़ी का निरोध आवश्यक है। वरणा नाड़ी मनोमय शरीर में नादविन्दु–कला और आज्ञ चक्र तक फैली हुई है। चन्द्रनाड़ी की अपेक्षा यह नाड़ी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाड़ी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के कंद में अर्थात् सहस्रार के अंदर अतिशय आभ्यंतर में इस नाड़ी का होना अनुभूत होता है। चन्द्र नाड़ी के निरोध से इसका निरोध होता है और इसके निरोध से निद्रावृत्ति का निरोध होता है। वरना नाड़ी के निरोध से पूर्वजन्म की स्मृति प्राप्त होती है। चन्द्र नाड़ी के निरोध से प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर के साथ अन्नमय शरीर के बाहर निकाल लिया जाता है। यही परकाय प्रवेश के लिए उपयुक्त परिस्थिति है।

पाश्चात्य लोगों के प्राणमय शरीरोद्गमन की क्रिया स्वप्नास्थित नियंत्रण है। हम लोगों का निद्रावृत्ति निरोध और उन लोगों का स्वप्नास्थित

नियंत्रण दोनों क्रियायें प्रायः एक ही हैं। साधक को चाहिये कि पहले स्वप्नास्थित नियंत्रण का अभ्यास करें। स्वप्न का नियंत्रण यह है कि आज रात को अमुक प्रकार का स्वप्न ही हम देखेंगे यह निश्चय करके हम सो जावें, इस प्रकार के अभ्यास से जब स्वप्नास्थित का नियंत्रण हो जायेगा, तब ऐसी भावना करना आरम्भ करे कि आज की स्वप्नास्थित में हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर के बाहर अमुक स्थानों में जाये। ऐसी दृढ़ भावना करके सोने का अभ्यास करे। इस अभ्यास से यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर संकल्प के अनुसार तत्तत् स्थानों में पहुंचता हैं, अभ्यासी यह अनुभव दूसरों को भी करा सकते हैं। प्रबल संकल्प बल से स्थूल पदार्थ भी स्पर्श शक्ति से हिलाये जा सकते हैं।

मि. मुलडोन ने अन्नमय शरीर के उद्‌गमन की विधि इस प्रकार है। मत्स्य, मांस और उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करें। जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा है। कम से कम प्यास बनी रहे उसे न बुझावे। (हृदय की बीमारी व जल्दी डरने वालों को यह क्रिया न करनी चाहिये) – प्रयोग दिन में न करे और उस वक्त दीपक भी न हो। चारपाई पर पीठ के बल लेट जावे। दोनों आंखों की पुतलियों को भ्रूमध्य की ओर ले जाकर स्थिर करें और यह भावना करे कि हम विन्दु के समीप हैं। अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर विन्दु से बाहर निकल रहा है। इस क्रिया से आखें दुखेंगी परंतु यह क्रिया बहुत ही कार्यक्षम है।

एक दूसरी क्रिया यह है कि रात को जल्द सो जाये और लगभग दो बजे रात को उठे। इस समय ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीर को बाहर ले जाना है ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाज में बैठे या लिफ्ट में खड़े ऊपर चले जा रहे हैं, इस भावना के साथ सो जाये अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सरोवर में तैरते हुए या चक्राकार गति से ऊपर जा रहे हैं। आगे पीछे अगल बगल चलने वाले वायु की ओर हम देख रहे हैं। अथवा शंक्वाकार किसी महान शंकु से बाहर निकल रहे हैं। अथवा यह भावना करें कि अग्निज्वाला सामने हैं और उसमें हम मिल गये हैं अथवा विमान में बैठे ऊपर जा रहे हैं।

प्रयोगवाले दिन पानी बिल्कुल न पियें। अगर न रहा जाये तो नमक डालकर एक घूंट पानी पीले, इससे प्यास बढ़ जायेगी। जलवाले घर में लोटा या पानी का गिलास जल भरकर रखे और उस पर दृष्टि गढ़ाकर सो जाये और सोने वाले कमरे से वहां तक का रास्ता ध्यान में ले आवे। इससे नींद लगते ही प्राणमय शरीर जल से भरे उस गिलास के पास पहुंचेगा। जिस दिन जहां इस प्रकार जाने की इच्छा हो, उसी को दिन भर सोचता रहे और यह भी निश्चय कर ले कि वहां जाकर अमुक मनुष्य से मिलना है। कुछ दिन पहले ही से समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समय की प्रतीक्षा करता रहे। भावना दृढ़ होने से उस दिन उस समय उस स्थान में उसके पास पहुंचे यह उस व्यक्ति को अनुभव होगा।

नोट – खेचरी सिद्ध करने का साधन लूनावाला (बम्बई) के स्वामी कुवल्यानंद या स्वा. अभ्यानंद या वीरभद्र पो. ऋषीकेश के स्वा. सत्यानंद के पास जाने से सुगमता से हो सकता है।

योग व दिव्य चक्षु

प्रत्येक जीवात्मा के सिर में तीन नेत्र होते हैं एक बंद और दो खुले रहते हैं। अर्थात् एक गुप्त और दो प्रकट होते हैं। इस गुप्त नेत्र को दिव्य चक्षु कहते हैं। इसी नेत्र को योगी लोग शिव नेत्र कहते हैं। अतएव शिवनेत्र केवल शंकरजी के शरीर में हैं यह भ्रम है। योग विद्या बतलाती है कि तीसरा नेत्र सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे वह भगवान शंकर की तरह उन्मीलन कर सकता हे। चाहे उससे आग निकाली जाये या पानी आदि, क्योंकि वहां पंचतत्वों का एक केन्द्र है।

शिव नेत्र में ब्रह्म का, दाहिने नेत्र में काल का और बायें नेत्र में शक्ति का निवास रहता है। इन तीनों अंशों की संयुक्त अवस्था ही ईश्वर का रूप है। शिव नेत्र का संबंध ब्रह्म मण्डल से है, दाहिने का सूर्य मंडल से और बाएं का चन्द्रमंडल से है। शिव नेत्र से विचार, दाहिने से इच्छा और बाएं से क्रिया उत्पन्न होती है।

प्रत्येक घट में दिव्य चक्षु होने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि सोने के समय दोनों बाहरी नेत्र बंद हो जाते हैं अतएव मनुष्य स्वप्न में जो बातें देखता हैं वह उसी नेत्र के द्वारा देखता है। दिव्य चक्षु का प्रकाश बाहरी दुनियां में उस वक्त तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका उन्मीलन न किया जाये। परंतु दिव्य चक्षु का प्रकाश भीतरी दुनियां में (सूक्ष्म, कारण और आत्म जगत् में) स्वयं पूर्णरूप से रहता है। इसी कारण स्वप्न में जो कुछ होता है, वह उसे ही दिखलाई पड़ता है। स्वप्न में मन नहीं देखता, क्योंकि मन में देखने की शक्ति नहीं होती। यदि मन ही देखता होता तो उसे अपना आकार क्यों दिखता? स्वप्न में अपना मन आकार धारण कर लेता है और स्वप्न देखने वाले की सूरत बना लेता है। यदि मन ही देखता होता तो आप अपने मन को धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते थे? स्वप्न में आप सहित सभी बातें दिखलाई दिया करती है। शिवनेत्र ही का प्रकाश आपके मन का आकार आपको दिखलाता है। अतएव स्वप्नों का न देखना मन की शक्ति के अंतर्गत नहीं उसी दिव्य चक्षु के अंतर्गत है।

सिनेमा के पर्दे पर जो खेल होता है। वह फिल्म रूपी मन की लीला अवश्य है, परंतु उस लीला को प्रकाशित करने का श्रेय उस रोशनी को है, जो ऊपर से आकर उस पर्दे पर पड़ रही है।

चक्षु के उन्मीलन की विधि पद्मासन से बैठकर नेत्र बंद करे, जीभ को तालु से लगावे, अपने ध्यान को दोनों भ्रकुटियों के मध्य में अर्थात् नाक, की जड़ से दो अंगुल ऊपर जमावे। यह ध्यान सर के बाहरी भाग पर न करके भीतरी भाग पर करना चाहिये। ध्यान के समय शिव मंत्र का जप मन से करना चाहिये।

जिसका दिव्य चक्षु खुल गया उसको ज्ञान और शक्ति से काम लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। उसको सब स्थानों की घटनायें दिखलाई पड़ने लगती है। उसका मन धीरे–धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और दूसरों के भविष्य का हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देव दर्शन प्राप्त होते है और स्वास्थ्य ठीक रहता है।

सिद्धियाँ और उनका उपयोग

योग का अभ्यास करते समय तपस्या, संयम, ध्यान अहिंसा अचौर्य, मैत्री आदि की भावना आदि के फल से कर्मों के अल्पाधिक क्षम्योपशम होने पर कई अद्‌भुत शक्तियां अल्पाधिक अंशों में प्रकट होती है। यह कुछ तो ज्ञान संबंधी होती हैं, कुछ अद्‌भुत बुद्धि, स्मृति, अद्‌भुत इन्द्रिय शक्ति, देशकाल की सीमा के लिए भूत, भविष्य, वर्तमान काल के दूरस्थ और समीपस्थ पौत्तलिक पदार्थों को जानना तथा स्व और पर के पूर्व और आगामी जन्मों को जानना (अवधि ज्ञान) मनः पर्य अर्थात् दूसरों के मन में रहे हुए पदार्थों को जानना आदि, कुछ तप और संयम संबंधी होती हैं, यथा कठोर तप करने की शक्ति, शरीर को तनिक भी निर्बल किये बिना दीर्घ कालीन और अनेक उपवास कर सकना, जल, थल, आकाश में और वनस्पति आदि पर बिना किसी जीव को बाधा पहुंचाये विहार कर सकना आदि तथा कुछ शरीर संबंधी और अन्य तरह की होती हैं, यथा सर्वौषधि ऋद्धि (दृष्टि या वचन से या शरीर के स्पर्श से, या शरीर के मल या स्वेद से, अथवा शरीर स्पर्शी रज, पवन आदि से असाध्य रोग विष आदि का दूर हो जाना) बल वृद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, बिना थके हुए एक मुहूर्त के भीतर समस्त शास्त्रों का चिन्तन या उच्चारण कर सकना) आदि, रस ऋद्धि (क्रुद्ध होने पर दृष्टि या वचन से दूसरे को विषाभिभूत् करके मार सकना, कर स्पर्श से नीरस आहार का भी स्वादिष्ट रस संयुक्त हेा जाना अथवा वचन से ही दूसरों को अमृत भोजन किये जैसा तृप्त कर देना आदि) अक्षीण महान् सिद्धि (योगी को जिस पात्र से या जिस वस्तु का आहार दिया जाये वह अत्यल्प होने पर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियों को खिला देने पर भी उस दिन के लिए उसका अक्षय होना) विक्रिया ऋद्धि जो दो तरह की होती है, पृथक (अपने ही शरीर के सिवा दूसरे शरीरादि बना सकना और अपृथक अपने ही शरीर के अनेक आकार रूप बना सकना और उसको अति भारी अति हलका, अति सूक्ष्म, सुमेरु से भी महान, अति दीर्घ, अति लघु आदि कर सकना, भूमि पर बैठे–बैठे मेरू

के शिखर को या सूर्य को छू सकना, अंतर्ध्यान हो सकना, पहाड़ में भी आकाश के समान गमनागमन कर सकना, थल में जल के समान और जल में थल समान संचार करना) ('कर सकना' सर्व वशीकरण) आदि। क्षेत्र ऋद्धि (योगी के जरा सा ठहरने का स्थान होने पर भी उसमें अपरिमित मनुष्यों का सुख से समा सकना) आहारक शरीर (तीर्थ दर्शन के लिये या संदेह के निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी केवली या श्रुत केवली के पास जाने के लिये मुनि के मस्तक से रसादि धातु रहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका समान श्वेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामों से उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजन तक के प्रदेश में दुर्भिक्ष, महामारी आदि को दूर करता हैं, और तीव्र अशुभ रौद्र परिणामों से उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजन तक के प्रदेश के सर्व वनस्पति प्राणी आदि को भस्म कर देता है। विद्या–देवताओं या मंत्र देवताओं की कृपा से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योगी की अद्‌भुत शक्तियां प्रकृति के नियमों के विरूद्ध नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ के अनंत गुण हैं परंतु साधारण मनुष्यों का ज्ञान अत्यल्प है।

योगी की विभूतियों में से बहुत सी आत्मज्ञानी योगी को ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियों को भी तप संयम आदि से मिल जाती हैं, जो आत्मज्ञान से रहित हैं या मोह विमूढ़ हैं वे इनमें मोहित होकर तप से भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियों का सांसारिक अर्थों के लिए उपयोग करने लगते हैं जिसके फल स्वरूप वे आत्मोन्नति में बाधा डालकर आत्मा को पतित कर कर्म वन्ध से इन शक्तियों को ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियों के अधिकारी हो जाते हैं और जन्म मरण के चक्कर में फंसे रहते हैं परंतु जो आत्मवेत्ता होते हैं, जिसको आत्मा की पूर्ण अनन्त शक्ति में श्रद्धा है वे इनको पराधीन, अपूर्ण, अस्थिर और पूर्ण आत्मशक्ति का एक किरणांशमात्र समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्मा की पूर्णोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्षि इन सिद्धियों को तुच्छ

समझकर उनका उपयोग नहीं करते थे फिर जब हम उन्हें प्राप्त न कर लें और कोरी डींग मारने लगें कि 'सिद्धियां विघ्न स्वरूप है' तो इससे हम में वह शक्ति व प्रतिष्ठा नहीं आ सकती जो हमारे पूर्वजों में थी। आजकल आप को ऐसे कितने ही नामधारी योगी मिलेंगे जिनसे यदि आप पूछें, महाराज! आप को कौन सी सिद्धि प्राप्त है तो वह चट से यह उत्तर देंगे कि सिद्धियां तो योग मार्ग में विघ्न हैं। मतलब यह कि वह उनसे कोरे हैं। परंतु फिर भी अपने आप को योगी ही कहते हैं। जो योग संबंधी कुछ भी ज्ञान रखते हैं (रखता होगा वह ऐसे लोगों को कभी योगी नहीं मानेगा (मान सकता है) योग मार्ग में सिद्धियाँ वैसे ही अनिवार्य हैं जैसे कि पढ़ने से ज्ञान का होना। किसी वस्तु के होने पर उसे त्याग देना महानता है। परंतु किसी वस्तु के प्राप्त न होने पर उसे खराब कह देना तो 'अंगूर खट्टे हैं' वाली मिसाल ही होगी।

सिद्धियों की सच्चाई को भारतवासी अति प्राचीन काल से मानते आये हैं। पातंजलि योग तथा बौद्धमत में योग उस भाग का जिसका संबंध सिद्धियों से हैं, क्या स्थान हैं? उसी बात का विचार संक्षेप रूप से नीचे किया गया है। योग सूत्र में दो जगह, अर्थात 'विभूतपाद' नामक तीसरे पाद के सैंतीसवें और पचासवें सूत्रों में सिद्धियों के गुण दोष का निरूपण किया गया है। सैंतीसवां सूत्र इस प्रकार है।

"ते समाधादुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः"

अर्थात् यह सिद्धियां समाधि में विघ्न रूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत) अवस्था में सिद्धियां हैं। इस सूत्र के पूर्वार्ध में सिद्धियों की जो विघ्न रूप से हेयता बतलाई गई है उसके संबंध में यदि किसी को कुछ शंका हो तो उसका पचासवें सूत्र से निराकरण हो जाता है जो कि इस प्रकार हैं –

'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्'

अर्थात् इन सिद्धियों से भी वैराग्य कर लेने पर (मन हर लेने पर) दोषों का बीज नाश होकर कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन आलौकिक शक्तियों का

उपयोग करना तो दूर रहा। उनकी ओर आंख उठाकर देखेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस बात को जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उल्टा उसके पतन के कारण हो सकती हैं, क्योंकि वह उन्हीं को परम लक्ष्य मानकर संतोष कर बैठता है।

परन्तु इस पर यह शंका होती है कि सिद्धियों की जो प्रशंसा की गई है, उसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि जो योगी नहीं हैं उन्हींने सिद्धियों की इस प्रकार प्रशंसा की हो। बल्कि इसका अर्थ यह है कि वे योगियों के लिये भी समाधि सिद्धि में उसके सिद्ध न होने तक किसी न किसी रूप में सहायक होती हैं। यहां पर अब यह प्रश्न उठता है कि तब फिर साधन मार्ग पर चलने वाले योगी को किस भूमिका पर पहुंचने पर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपाद में अंतिम सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार महर्षि व्यास जी सिद्धियों को समाधि से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है। जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३/३७) में आया हैं, क्योंकि यदि ये सिद्धियां उसी समाधि से उत्पन्न होने वाली हों, जिसके मार्ग में वह विघ्न रूप हैं तो वे केवल उसका आनुसंगिक फल ही मानी जायेंगी जिसका परिणाम अशुभ के सिवा कभी शुभ नही हो सकता।

प्राचीन बौद्धयोग में जो कि पातंजलि योग से बहुत मिला जुलता हैं, भगवान बुद्धदेव ने जो कि महान योगी थे समाधि और सिद्धि दोनों का उपदेश दिया है। परंतु सिद्धियों का उल्लेख न तो उसके 'महाबोध' नामक ग्रंथ में और न उनके परिनिर्वाण प्रसंग में ही मिलता है। सिद्धियों के प्रति भगवान बुद्ध देव की आदर बुद्धि नहीं थी। हां यह बात अवश्य है कि वे अपने शिष्य महायोगानल को ऋद्धिसिद्ध प्राप्त पुरुषों में अग्रगण्य, अनिरुद्ध को दूर दृष्टि सम्पन्न पुरुषों में श्रेष्ठ एवं पन्थक को बहुकाया निर्माण में प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा किया करते थे, किंतु इसके साथ ही उन्होंने पिन्ड़ोल भरद्वाज की इसलिये बड़ी–कड़ी भर्त्सना की थी कि वह किसी गृहस्थ के कहने पर हवा में उड़ गया था। इसी वर्ग के ग्रंथों में इस प्रकार के आख्यान भी मिलते हैं कि भगवान बुद्धदेव के शिष्य मिलिन्दवच्छ ने महाराज बिम्बिसार के महल को सोने का कर

दिया था। प्रायः लोग बार–बार स्वयं उनसे अपने धर्म का विस्तार करने के लिए अपनी सिद्धियों का प्रयोग करने के लिए कहा करते थे परंतु वे सदा विरोध किया करते थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने विनय नामक आचार ग्रंथ में भिक्षुओं को यह आज्ञा दी है कि वे गृहस्थों के सामने कभी अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन न करें।

योगाभ्यास में प्रलोभन

मनुष्य केवल इसी लोक का ही नागरिक नहीं है बल्कि अनेक लोकों का है अतएव उसे इसी में नहीं तो दूसरे लोकों में भी संकरों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि योगशास्त्र में इस बात पर विशेष जोर दिया है कि योगाभ्यास आरम्भ करने के पहिले साधक प्रथम अपने आप को शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियों को वश में कर ले, अपनी इच्छाओं को त्याग दे और यम नियम का पूर्णरूप से पालन करने लगे तब मूलाधार में निद्रित कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की चेष्टा करे। आसन, बंध, मुद्रा और प्राणायाम आदि के द्वारा चित्त को शुद्ध करने के पहिले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाये तो अन्य लोगों के प्रलोभन उसके सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं और उनका परिहार कर सकने की उसमें सामर्थ्य न होने के कारण उसका बहुत ही बुरा पतन होता है।

इसके अलावा साधक लोग योग की कुछ सीढ़ियों तक पहुँचकर वहीं रूक जाते हैं। स्वर्ग, गंधर्वलोक आदि उच्च लोकों के अधिवासी अनेक प्रकार से साधकों कों लुभाते हैं। वे साधक से कहते हैं कि हम तुम्हारे तप, वैराग्य और गुणों से बहुत ही प्रसन्न हुए हैं यह लोक जहाँ तुम अपने तपोबल से आये हो तुम्हारा विश्राम स्थान है, हम तुम्हारे दास है, जो आज्ञा करोगे हम उसी का पालन करेंगे। यह स्वर्ग का दिव्य रथ तुम्हारी सवारी के लिये हैं, यह अप्सरायें तुम्हारीं सेवा करेंगी, यह कल्पवृक्ष तुम्हारी सब इच्छायें पूरी करेगा। इस सुवर्ण पात्र में जो स्वर्ग का सोम रस है उसे तुम पान करो आदि।

देवों की इन मधुर लुभायमान बातों से असावधान योगी इस मिथ्यातुष्टि से ही संतुष्ट हो जाता है। वह समझता है कि हम योग की पराकाष्ठा तक पहुँच गयें हैं, अतएव वह इन प्रलोभनों में फँस कर अपने वास्तविक पथ से भ्रष्ट हो जाता हैं। ज्यों ही उसका पुण्य व योग बल समाप्त हो जाता है। त्यों ही उसे फिर इस मृत्यु लोक में ढकेल दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि योग साधन की जिस ऊंची सीढ़ी पर वह इतने अधिक कष्ट और साधना के बाद गिरने के पहले कहीं पहुंच पाया था कि फिर उस तक पहुँचने में उसको और भी अधिक समय व कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है। इसी कारण ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि :–

येन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्ष यानिनः सत्वयस्त भावाद् विशुद्ध बुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत्ः पतन्त्यधोऽं नाहाभुष्यदङघ्रयः।

अर्थात् 'हे कमल नयन! तुम्हारे प्रति भक्तिभाव अस्त होने के कारण जिन की बुद्धि अशुद्ध हो गई है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनता से परम पद तक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दों का आदर नहीं किया है।

पूर्ण विरक्त योगी जिसका विवेक सुदृढ़ हैं, वह देवताओं की इन मीठी–मीठी बातों का टका सा जबाव दे देता है और धीरता व दृढ़ता के साथ अपने अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है और जब तक योग साधन की अंतिम सीढ़ी या ज्ञान पर्वत के उच्चतम शिखर तक अर्थात् निर्विकल्प समाधि तक नहीं पहुंचता यानी परमात्म–मिलन के द्वारा परमानंद को नहीं पहुंच पाता उस वक्त तक कहीं भी नहीं रुकता, क्योंकि वह अच्छी तरह से समझता है कि स्वर्ग में भी भोग मायिक क्षणिक, और निःसार है। इस लोक के भोगों से उनका किंचित् भी अधिक मूल्य नहीं। उनके संबंध में भी ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है।

तथा न वै माधव तावकाः क्वचिद्–भृश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्ध सौहृदाः।
तवाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकमपिमूर्द्धसु प्रभो।।

अर्थात् हे प्रभो! आपके जिन भक्तों का प्रेम आप में लगा हुआ है, वे उक्त प्रकार के मुक्ताभिमानी मनुष्यों की तरह अपने मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते, वे तो आप के द्वारा रक्षित होकर विघ्नकारियों के अधिपतियों के मस्तक पर (पैर रखकर) निर्भय विचरते हैं।

अष्ट महासिद्धियाँ

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वपार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजया

(पा.यो. ३/४४)

इस सूत्र में अणिमादि अष्ट महासिद्धियों का पूर्वरूप भूत जय का वर्णन है। ऋषियों और योगियों का कहना है कि 'भूतजय' होने पर अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है और काय सम्पत् प्राप्त होती है। उन महासिद्धियों के नाम इस प्रकार है।

(१) अणिमा (२) लघिमा (३) महिमा (४) प्राप्ति (५) प्राकाम्य (६) वशित्व (७) ईशित्व (८) यत्रकामावसायित्व व कुछ लोगों के मतानुसार नवी (९) गरिमा है।

(१) अणिमा :- अपने को अणु के समान सूक्ष्म बना लेना।

अत्यंत सूक्ष्मत्व, अणुशब्द का अर्थ है, सूक्ष्मत्व, आकाशी भाव। इस सूक्ष्मत्व की जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे सूक्ष्म वस्तु कोई हो ही नहीं सकती। स्थूल देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म है। इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है ओर बुद्धि से भी सूक्ष्म आत्मा है। आत्मा ही सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहने से केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूं, परम सूक्ष्म मुझ में ही विद्यमान है, अभिन्न सत्ता मात्र स्वरूप 'मैं' ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसी का नाम अणिमाविभूति का प्रादुर्भाव है। शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेने मात्र से यह विभूति रहस्य, साधन बिना, हृदयङ्गम करना असंभव है। आत्ममहत्व दर्शन का नाम विभूति है। अणिमादि रूप से आत्म सत्ता का अनुभव साधक का परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्ति की अति सन्निहित अवस्था

है। साधक यहाँ आकर जीवन धन्य करता है।

(२) **लघिमा** :- अपने शरीर को रूई के समान हल्का बना लेना। लघु शब्द का अर्थ है हल्का। पक्षी के रोम या रूई आदि हल्की वस्तु से इसका दृष्टान्त दिया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकार का बोध मात्र है। यह जब पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। अर्थात् जिससे लघु और कोई विषय हो ही नहीं सकता है, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्र स्वरूप आत्मा में ही विद्यमान हैं। में ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुझ में ही नित्य विराजमान है ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसी का नाम लघिमा विभूति है।

(३) **महिमा** :- अपने को पर्वत के सामन विशाल काय बना लेना। महत्व की जो पराकाष्ठा हे, जिनसे और महत् कुछ ही हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महान वस्तु है, वह भी बुद्धि का महत्तत्व दृश्य ग्राह्यरूप से अवस्थित हैं– अतएव महत्तत्व देश काल की अपेक्षा भी महत्तर हैं फिर यह महत्तत्व स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित है, आत्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है, महत्तत्व से भी आत्मा महत्तम है। महिमा परमात्मा का ही अन्य नाम है। देश काल का जो महत्व अर्थात् व्यापकता है वह विजातीय भेदरूप से गृहीत होती है। बुद्धि का महत्व या महत्तत्व की व्यापकता स्वगत भेद रूप से गृहीत होती है। और अभिन्न सत्ता मात्र स्वरूप आत्मा का महतत्व सर्वभेदातीत रूप से नित्य विद्यमान है। आत्मा की सत्ता बिना महत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकता, इस कारण परम महत्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्व मुझ में ही नित्य विराजता हैं, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसी को 'महिमा' विभूति का आविर्भाव कहा जाता है।

(४) **प्राप्ति** :- सर्वथा सब पदार्थों की प्राप्ति ही प्राप्ति नाम की विभूति है। सत्ता स्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहां जो कुछ 'है' रूप से प्रतीत होता हैं वह सभी आत्मा द्वारा (प्राप्त) सर्वथा प्राप्त है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव का नाम प्राप्ति है। मैं जब तक सत्ता स्फूर्ति प्रदान न करूं, तब तक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञान से वंचित

रहने के कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकार के अभाव अभियोगों को प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्म दर्शन के फल से प्राप्ति नामक विभूति को पाकर धन्य होते और सब अभाव अभियोगों से ऊपर चले जाते हैं।

(५) प्राकाम्य :- सब प्रकार की इच्छाओं का पूर्ण हो जाना। प्राकाम्य शब्द का अर्थ है– इच्छा का अनभिघात भूत जयी योगी देखता है कि इच्छा एक मात्र परमेश्वर की है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अधीश्वर है, जो आत्मा है जो मैं रूप से प्रकाशित है वही इच्छारूपिणी महती शक्ति है। इस महती इच्छा सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वर प्रणिधान करने के फल से जीव भावीय इच्छा कहने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता (रहता) है इस अवस्था में पहुंचने पर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्य सिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्था में योगी के चित्त में जो इच्छा उदय होती है वह इस महती इच्छा से भिन्न न होने के कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी–छोटी इच्छायें भी महती इच्छा में मिला दे सकने से साधक इस प्राकाम्य या इच्छा की अनविघात रूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

(६) वशित्व :- सब पर शासन करने तथा पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति। भूत–भौतिकवश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत या भौतिक रूप से जो कुछ भी प्रकाश हो रहा है वह सब आत्मा की मेरी सत्ता से सत्तावान् ओर मेरे प्रकाश से प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूं और वह सब आश्रित या आश्रेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही वशित्व नामक विभूति है।

(७) ईशित्व :- सृष्टि उत्पन्न करने की विधि स्थूल, सूक्ष्म, और कारण, ग्राह्य वस्तु मात्र को यह तीन तरह की अवस्थायें दिख पड़ती हैं। इन अवस्थाओं को ठीक–ठीक रूप से सुनिश्चित करने का जो सामर्थ्य है उसे ईशित्व कहते हैं। पूर्वोक्त वशित्व विभूति से ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादिकों का नियन्ता हूँ। 'मेरे मन से सूर्य उदय होते हैं, मेरे शासन से वायु प्रवाहित होती है, मेरे भय से अग्नि

ताप देती है। मैं इस विश्व ब्रह्मण्ड की स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओं को भली–भांति नियमित रखता हूँ, ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव का नाम ईशित्व प्राप्ति हैं।

(८) **यत्रकामावसायित्व** :- कामनाओं का बिल्कुल अंत हो जाने का नाम 'यंत्र कामावसायित्व' है। इसको पूर्ण कामत्व भी कहा जाता है। 'पूर्णकामोस्मि संवृत्तः' मैं पूर्ण काम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पाने को कुछ भी बाकी नहीं हैं। मैंने अपने स्वरूप का पता पाया है। इसके बाद और ज्ञातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रहा (रह सकता) इस अनुभूति के उदय होने से समझा जा सकता हैं कि योगी 'यत्रकामावसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञान से सब कामनाओं का अंत हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्र स्वरूप आत्मा का पता पाने से इन आठों सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं।

(९) **गरिमा** :- अपने शरीर को लोहे के पर्वत जैसा भारी बना लेना।

विभिन्न सिद्धियाँ

योगाभ्यास करने वाले जिन साधकों को योग की विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ लोगों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। लेकिन यहाँ यह बात बतला देना भी अत्यंत आवश्यक है कि बिना स्थूल देह का अभ्यास दूर किये अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करने पर ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अधिभौतिकता को विलीन करने और सूक्ष्म शरीर प्राप्त करने के लिये एक ऐसा साधन निश्चित किया गया है कि उस एक साधन ही से विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। सम्पूर्ण सिद्धियाँ जिस साधन से प्राप्त होती हैं उसका नाम 'संयम' है। जिस साधक ने पूर्ण रूप से संयम कर लिया उसने मानो सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं। धारणा ध्यान और समाधि इन तीन साधन क्रियाओं से जब साधक एक ही पदार्थ विशेष में युक्त हो जाता है तब साधक की उस अवस्था विशेष को 'संयम' कहते हैं। यह संयम

क्रिया सविकल्प समाधि में हुआ करती है। यही वह संयम शक्ति है जिसके द्वारा हमारे पूर्वजों ने शरीर विज्ञान, ज्योतिष व अन्य तरह–तरह के अलौकिक चमत्कारों का आविष्कार किया जाता था।

सिद्धियाँ

(१) धर्म, लक्षण और अवस्था तीनों परिणामों में संयम करने से भूत भविष्य का ज्ञान होता है।

(२) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से साधक को पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। जैसे तस्वीर उतारने वाले मनुष्य, मूर्ति को कागज पर खींच देते हैं वैसे ही संस्कारों में संयम करने से संस्कार के कारण रूप कार्यों का योगी को यथावत् ज्ञान हो सकता है।

(३) शब्द, अर्थ, और ज्ञान के एक दूसरे में घनिष्ट मेल हैं, उनके विभागों में संयम करने से सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता हैं।

(४) ज्ञान में संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

किसी जीव विशेष के अन्तःकरण का हाल जानना हो तो उसके ज्ञान की पर्यालोचना करके उसके मन का हाल जाना जाता हैं व सब हाल जान सकते हैं।

(५) कायागत रूप से संयम करने से उसकी ग्राह्य शक्ति का स्तम्भन हो जाता है और शक्ति का स्तम्भन होने से दूसरे के नेत्र के प्रकाश का योगी शरीर के साथ संयोग नहीं होता तब योगी के शरीर का अन्तर्ध्यान हो जाता हे। जैसे रूप विषयक संयम करने से योगी के शरीर के रूप को कोई नहीं देख सकता उसी प्रकार शब्दादि पाँचों के विषय में संयम करने से योगी के शरीर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को, पास में उपस्थित पुरुष भी नहीं जान सकता।

(६) जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी अवस्था का नाम 'सोपक्रम' है जैसे जल से भीगे हुए कपड़े को निचोड़ देने से वह जल्दी सूख जाता हैं निरूपक्रम कर्म विपाक की मंदता के कारण विलम्ब से फलदायक कर्म की अवस्था का नाम 'निरूपक्रम' है।

जैसे बिना निचोड़ा कपड़ा देर से सूखता हें। इन दो प्रकार के कर्मो में जो योगी संयम करता हे उसको मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

(७) मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदि में संयम करने से तत्सम्बन्धी बल की प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षा बल की प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरण को इन्द्रियों में न गिरने देकर नियमित रूप से आत्म स्वरूप की ओर खींचती रहती है उसी को आत्मबल या तेज कहते हैं।

(८) बल में संयम करने से योगी को हाथी के बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकार के होते हैं, एक आत्मबल और दूसरा शारीरिक बल प्रकृति विभिन्न होने से बल में स्वतंत्रता है। जैसे हाथी शेर खेचर व पक्षियों का ओर जलचरों का बल जिस प्रकार के बल की आवश्यकता हो उसी प्रकार के बलशाली जीवों के बल में संयम करने से उसी तरह के बल की प्राप्ति होती हैं।

(९) ज्योतिष्मति प्रकृति के प्रकाश को सूक्ष्मादि वस्तुओं में न्यस्त करके उन पर संयम करने से योगी को सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान होता है। लययोगी और अन्तर्राज्य में शरीर के द्विदल स्थान में शुद्ध तेज पूर्ण बिन्दु का दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मति प्रवृत्ति बिन्दु रूप से आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब वहीं बिन्दु ध्यान की अवस्था है। उसी बिन्दु के विस्तार से योगी संयम शक्ति की सहायता और ज्योतिष्मति प्रकृति की सहयोगिता से अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वी गर्भस्थित समस्त द्रव्य समूह के देखने में समर्थ हो सकता है।

(१०) सूर्य नारायण में संयम करने से योगी को यथाक्रम सूक्ष्म और स्थूल लोकों का ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानता यही मृत्यु लोक हैं, सात स्वर्ग तथा सप्त पाताल यह सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्मण्डों का ज्ञान लाभ करना भी सूक्ष्म लोक से सम्बन्ध युक्त ज्ञान है।

(११) चन्द्रमा में संयम करने से नक्षत्र व्यूह का ज्ञान होता है। ज्योतिष् का सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सब में चन्द्र एक राशि पर सबसे बहुत ही कम समय तक रहता है। इसके प्रत्येक तारा व्यूह रूपी राशि की आकर्षण विकर्षण शक्ति के साथ चंद्रमा का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्ति के अवलम्बन से नक्षत्रों का पता लगाने में चन्द्र की सहायता सुविधाजनक हैं।

(१२) ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का पूर्ण ज्ञान होता है।

(१३) नाभि चक्र में संयम करने पर योगी को शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है। शरीर के सात स्थानों में सात चक्र है, उनमें छः चक्रों में साधन करके सिद्धि प्राप्त करने पर या होने पर सातवें चक्र में पहुंचने पर मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रों में नाभि के पास जो तीसरा चक्र है। उसमें संयम करने से शरीर में किस प्रकार का पदार्थ किस प्रकार से है, वात, पित्त और कफ यह तीन दोष किस प्रकार से हैं, चर्म, रुधिर, मांस, हाड़, चर्बी, वीर्य और नख यह सात वस्तुएं किस रीति सेहैं, नाड़ी आदि कैसी कैसी हैं इन सब का ज्ञान हो जाता है।

(१४) कंठ के कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाता है। मुख के भीतर उदर में वायु और आहारादि जाने के लिए जो कंठ छिद्र हैं उसी को कंठ कूप कहते हैं। यहीं पर पांचवा चक्र स्थित है इसी से क्षुत्पिपासा की क्रिया का घनिष्ठ संबंध है।

(१५) 'कर्म' नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कंठ कूप में कच्छप आकृति की एक नाड़ी है। उसको कूर्म नाड़ी कहते हैं। उस नाड़ी से शरीर की गति का विशेष संबंध है। इसी से वहां संयम करने पर शरीर स्थिरता को प्राप्त होता है। योगी का मन इस नाड़ी में प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़ देता है।

(१६) कपाल की ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्ध गणों के दर्शन होते हैं। मस्तक के भीत कपाल के नीचे एक छिद्र है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्र में मन को ले जाने से एक ज्योति प्रकाश

नजर आता है, उसमें संयम करने से योगी को सिद्ध महात्माओं के दर्शन होते हैं, जीवकोटि से उपराम होकर दृष्टि के कल्याणार्थ ऐसी शक्तियों को धारण करके एक लोक से लोकान्तर में विचरण करने वालों को ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनों में ही विराजते हैं।

(१७) 'प्रातिम' संयम करने से योगी को सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधन करते–करते योगियों को एक तेजोमय तारा, ध्यानावस्था में दिखलाई पड़ता है। उसी का नाम 'प्रातिम' है। चंचल बुद्धि वाले मनुष्य उस तारा का दर्शन नहीं कर सकते। योगी की बुद्धि जब शुद्ध होकर स्थिर होने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगी को प्रातिम के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिम को स्थिर कर उसमें संयम करने से योगी ज्ञान राज्य की सब सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

(१८) हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्र का नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरण का एक विलक्षण संबंध है। चित्त में नये पुराने सभी प्रकार के संस्कार रहते हैं, चित्त के नचाने से ही मन नाचता है। चित्त का पूर्ण स्वरूप महामाया की माया से जीव पर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमल में संयम करता है तब वह अपने चित्त पूर्ण का ज्ञाता बन जाता है।

(१९) बुद्धि पुरुष से अत्यंत पृथक है। इन दोनों के अभिन्न ज्ञान से भोग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है। उससे भिन्न स्वार्थ है उसमें अर्थात् अहंकार शून्य चित्त प्रतिबिम्ब में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है बुद्धि पुरुष का जो परस्पर प्रतिबिम्ब–संबंध से अभेद ज्ञान है वही पुरुष निष्ठ योगी कहलाता है। बुद्धि दृश्य होने से उसका पर भोग रूप प्रत्यय पदार्थ यानी पुरुष के लिये ही है। इस पदार्थ से अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय हैं यानि जो बुद्धि प्रतिबिम्बित चित्त सत्ता को अवलम्बन करके चिन्मात्र रूप है उसमें संयम करने से योगी को नित्य, शुद्ध, बुद्ध युक्त स्वभाव पुरुष का ज्ञान हो जाता है। बुद्धि के मलिनभाव से रहित शुद्धभाव भय, जब अहंकार से शून्य, आत्मज्ञान से भरी हुई जो चिद्भाव की दशा है, उसी को जानकार उसमें जब योगी संयम करता है तब

उसको पुरुष के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस परा सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी को 'प्रातिम' श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता, नामक षट्सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

'षट् सिद्धियों का फल'

'प्रातिम सिद्धि' से योगी को अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। 'श्रावण सिद्धि' से योगी को दिव्य श्रावण ज्ञान की पूर्णता अर्थात् प्रणवध्वनि का अनुभव होता है। 'वेदन सिद्धि' से योगी को दिव्य स्पर्शज्ञान की पूर्णता होती है। 'आदर्श–सिद्धि' से दिव्य दर्शन की पूर्णता 'आस्वादसिद्धि' में दिव्य रसज्ञान की पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। यह सब समाधि में विघ्नकारक है परन्तु व्युत्थान दशा के लिये सिद्धियाँ हैं।

(२०) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल हो जाने से और संयम द्वारा चित्त को प्रवेश निर्गम मार्ग नाड़ी के ज्ञान से चित्त दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। चंचलता को प्राप्ति हुए, अस्थिर मन का शरीर में द्वन्द तथा आसक्ति जन्य बन्धन है, समाधि प्राप्ति से क्रमशः स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयम की सहायता से चित्त के गमनागमन मार्गीय नाड़ी ज्ञान से स्वतः सूक्ष्म शरीर को कहीं पहुंचा देने का नाम प्रवेश क्रिया है। और पुनः उस सूक्ष्म शरीर को ले आने का नाम निर्गम क्रिया है। इन दोनों का जब योगी को बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीर से निकलकर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है।

(२१) उदान वायु के जीतने से जल, कीचड़ और कंटक आदि पदार्थ का योगी को स्पर्श नहीं होता ओर मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है। ऊर्ध्वगमनकारी कंठ से लेकर सिर तक व्यापक जो वायु है वही 'उदान वायु कहलाता है। वह ऊर्ध्वगमनकारी होने से उसमें संयम करने वाले योगी का शरीर जल, पंङ्क और कंटक आदि से नष्ट नहीं होता। उदानवायु से सब स्नायुओं की क्रियायें नियमित रहती है। मस्तिष्क का

स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतन की क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायु से सब स्नायुओं की क्रियायें नियमित रहती हैं। इसके अतिरिक्त उदानवायु से प्राणमय कोष सहित 'सूक्ष्म शरीर' पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायु के जय से योगी इच्छानुसार शरीर के प्राणों तक ....., इच्छा मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामह ने उत्तरायण सूर्य आ जाने पर ही शरीर का त्याग किया था।

(२२) समान वायु को वश में करने से योगी का शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभि के चारों ओर दूर तक व्यापक रहकर समता को प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रिया को साम्यावस्था में रखता है उस वायु को समान वायु कहते हैं। इस शरीर की समानता का इस वायु से प्रधान संबंध है। शारीरिक तेज शक्ति ही जीवनी क्रिया को साम्यावस्था में रखती है। इसीलिये समानवायु के संयम से जीत लेने से योगी तेज 'पुञ्ज हो जाता है।

(२३) कर्म इन्द्रिय और आकाश के आश्रयाश्रयिरूप संबंध में संयम करने से योगी दिव्य श्रवण को प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दों के आधार आकाश है। जब तक कान के साथ आकाश का संबंध रखा जाता है तब तक शब्द सुनाई पड़ते हैं। अन्यथा नहीं। इसमें कान और आकाश का आश्रयाश्रयिरूप संबंध हैं उसमें संयम करने से योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म छिपे हुए से अति छिपे हुए, दूरवर्ती से दूरवर्ती और नाना प्रकार के दिव्य शब्दों को श्रवण कर सकता है।

(२४) शरीर और आकाश के संबंध में संयम करने से और लघु अर्थात हल्की रूई जैसे पदार्थ की धारणा से आकाश में गमन हो सकता है। आकाश और शरीर का व्यापक और व्याप्य रूप से संबंध है। आकाश सब भूतों से हल्का और सर्वव्यापी है, इसलिये जब योगी आकाश और शरीर के सबंध में संयम करता है और उस समय लघुता के विचार से रुई आदि हल्के पदार्थों की धारणा भी करता है, तब इस क्रिया से उसमें हल्केपन की सिद्धि हो जाती है।

(२५) शरीर के बाहर मन की जो स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम

'महाविदेहधारणा' है, उसके द्वारा प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है। स्थूल शरीर से बाहर शरीर के आश्रयी की अपेक्षा न रखने वाली जो मन की वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते है उसी से ही अहंकार का वेग दूर होता है। उस वृत्ति में जो योगी संयम करता है उससे प्रकाश का ढ़कना दूर हो जाता है। जब तक शरीर का अहंकार रहता है तब तक मन की ब्रह्य वृत्ति रहती है, परन्तु जब शारीरिक अहंकार को त्यागकर स्वतंत्र भाव से मन की वृत्ति बाहर रहती है तभी योगी का अन्तःकरण मलरहित और निःसंग रहता है। शरीर से लगी हुई मन की जो ब्रह्य वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीर की अपेक्षा न रखकर देहाध्यास से रहित जो मन की स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पिता को छोड़कर अकल्पिता जो महाविदेह वृत्ति का साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होने पर प्रकाश स्वरूप वृद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकार से उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके संबंध से साधक मुक्त हो जाता है। तथा रज, तम का आवरण हट जाता है। जिससे योगी अपने अन्तःकरण को यथेच्छ ले जाने की सिद्धि को प्राप्त करता है।

(२६) 'पंचतत्वों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्व यह पांच अवस्था विशेष है। इनमें संयम करने से भूतों पर जय लाभ होता है। भूतों की 'स्थूल अवस्था' वह है जो दृष्टि गोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है, जो स्थूल में गुण रूप से अदृष्ट हो जैसे तेज में उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओं की है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्व, रज, तमोगण की है और पंचम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पंच भूतों की इन अवस्थाओं में संयम द्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। या अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने आप ही अपने बच्चे को दूध पिलाती रहती है वैसे ही पंचभूत के लय से प्रकृति वशीभूत हो जायें पर वह प्रकृति माता अपने आप ही उस योगी की सेवा में तत्पर हो जाती है।

(२७) ग्रहण स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थतत्व नाम इन्द्रियों की पांच वृत्तियों में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। सामान्य

और विशेष रूप से शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्म कहलाते हैं। उन ग्रहण करने योग्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति जाती है उस वृत्ति को 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीति से जब बिना विचारे विषय जब अकस्मात् ग्रहीत हो जाते हैं, तब मन का उसमें प्रथम विचार ही, 'स्वरूप वृत्ति' है। उस अवस्था में जो अहंकार का विषय रहता है। वह अहंकार मिश्रित भाव ही 'अस्मिता वृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धि द्वारा उस स्वरूप के विचार को यानी जब बुद्धि सत्यासत्य समान और विशेष का विचार करने लगती है तब उस वृत्ति को 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयों को प्रकाश करने वाली स्थितशील, अहंकार के साथ सब इन्द्रियों में व्याप्त हुई जो वृत्ति है वही पंचम 'अर्थतत्त्व वृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियों की पांचों वृत्तियों में संयम करके इन को अपने अधीन कर लेने से इन्द्रिय गण का पूर्ण जय होता है।

इन्द्रिय जय का फल

इन्द्रिय जय के अंतर्गत मनोजयित्व, विकरणभाव और प्रधान जय की सिद्धियाँ योगी को स्वतः प्राप्त होती जाती हैं। मन की गति के समान शरीर की उत्तम गति की प्राप्ति को 'मनोजयित्व' कहते हैं, अर्थात मन की तरह शीघ्र ही अनेक योजन व्यवहित देश में गमन करने की शरीर में सामर्थ्य होने का नाम 'मनोजयित्व' है। शरीर के संबंध को त्यागकर जो इन्द्रियों की वृत्ति को प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं अर्थात् जिस देश या काल या विषयों में अभिलाषा हो, शरीर के बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियों से गति प्राप्त होने का नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृति के विकारों के मूल कारण को जय करने का नाम 'प्रधान जयत्व' है जिससे सर्व वशित्व प्राप्त होता है। यह सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

(२८) बुद्धि और पुरुष में पार्थक्य ज्ञान सम्पन्न योगी को सर्वभावाधिष्ठा तत्त्व और सर्व ज्ञातृत्व प्राप्त होता है। जब अन्तःकरण की ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने आप परमात्मा का शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगी को बुद्धिरूप दृश्य और पुरुष रूप दृष्टा में जो तात्विक भेद है वह स्पष्ट होने लगता है, और ऐसी

परिस्थिति में योगी अखिल भावों का स्वामी और सकल विषयों का ज्ञाता बन जाता है।

(२६) जितने काल में एक परमाणु पल्टा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाह को क्रम कहते हैं। उसमें संयम करने से विवेक यानी अनुभव सिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग को 'परमाणु' कहते है। जिस काल से कम भाग में काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल भाग को 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओं की गति अर्थात् प्रवाह का जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षण से भी जाना जाता है। भूत क्षण का परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षण का परिणाम भविष्यत क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि क्रिया एक ही क्षण का परिणाम है। इस योग बुद्धि से क्षण और क्रम में संयम करके उनका साक्षात् ज्ञान लाभ करने से अभ्रांत और पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषय को देखता है उसका यथार्थ पूर्णरूप ही देख लेता है वही योगी की त्रिकाल दर्शी अवस्था है।

(३०) 'परासिद्धि' उपर्युक्त अपरा सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर योगी को विवेकाख्यातिजनित कारण दोषों के बीज नाश हो जाने पर 'कैवल्यप्राप्ति' होती है। सिद्धियाँ दो प्रकार की है। एक पर और अन्य अपरा। विषय संवर्धनीय सब प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ, 'अपरासिद्धि' कहलाती हैं। यह सिद्धियाँ मुमुक्ष योगी के लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभव के उपयोगी सिद्धियां है वह योगिराज के लिए उपादेय परा सिद्धियाँ हैं।

साधना

किसी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है उसी को साधना कहते हैं। संसार में सभी जीव सुख और आनन्द की इच्छा करते हैं। सुख और आनन्द ही सबका साध्य है। सुख और आनन्द भी वह जो सबसे बढ़कर जिसमें जरा सी न्यूनता न हो, जो चिरस्थायी हो,

कभी कम न होकर बढ़ता ही रहे सारांश वह कि जो अनन्त, असीम, नित्य और पूर्ण हो। परन्तु ऐसा सुख और आनन्द इस परिवर्तनशील ओर विनाशी संसार की किसी वस्तु में भला कैसे हो सकता है। यहां अनन्त, असीम, अखंड नित्य और पूर्ण तो कुछ भी नहीं है। नित्य, सत्य, सनातन, सम, एकरस, अनंत, असीम, अखंड और पूर्ण तो केवल एक मात्र तो भगवान ही है। अतएव वही पूर्ण सुख व आनन्द रूप है और वही सब के वास्तविक साध्य हैं। मनुष्य अज्ञानता व अनुभवहीनता के कारण इस बात को भले ही न समझे या अनुभव न करे परन्तु वह वास्तव में चाहता है, पूर्ण ही को अर्थात् 'भगवान' के अतिरिक्त, संसार में उसको कहीं भी पूर्णता, शान्ति सुख व आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता वह बड़े से बड़ा सम्राट् व इन्द्र बन जाने पर भी किसी न किसी चीज का अभाव या अपूर्णता को ही अनुभव करता है। उसके हृदय में सदैव कोई न कोई कमी खटकती ही रहती है। अतएव वह प्रत्येक स्थिति में हमेशा अतृप्त, असंतुष्ट और चिंतित रहता है व दूसरी स्थिति का इच्छुक रहने के कारण उसी की खोज में रहता है। परन्तु वह मोह व माया के वश में रहने के कारण भगवान की ओर न जाकर दुख और अतृप्ति उत्पन्न करने वाले, अभावपूर्ण विषयों में ही सुख मानकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। यही कारण है कि वह वास्तविक सुख व आनन्द से वंचित रहता है वह करता है सुख की साधना पर मिलता है उसे दुःख, असफलता, अशान्ति और अतृप्ति। अतएव सांसारिक वस्तुओं के निमित्त किये जाने वाला प्रयत्न यथार्थ में साधना नहीं बल्कि साधना शब्द की वास्तविक सार्थकता है परमानंद स्वरूप भगवान की आराधना। इसलिये पहले निश्चय करो कि हमारे साध्य है भगवान और साधना है भगवान की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले हमारे प्रयत्न।

साधना दो प्रकार की होती है

(१) दैवी (२) आसुरी। इनको शास्त्रों में दक्षिण और वाम मार्ग भी कहते हैं। दक्षिण मार्ग में विधि ठीक न होने के कारण लाभ भले ही न हो परन्तु हानि होने का भय नहीं रहता लेकिन वाम मार्ग में लाभ न होने

के अलावा हानि होने की बहुत संभावना रहती है। हां यह बात अवश्य है कि दक्षिण मार्ग में लाभ उसी समय नहीं मालूम पड़ता व धीरे–धीरे होता है परन्तु वाम मार्ग की साधना में लाभ हानि तत्काल होती है। दोनों में ही अक्रोध, शौच और ब्रह्मचर्य आदि का पालन आवश्यक है। इसका पालन न करने पर वाम मार्ग में बहुत हानि हो जाती है। कभी–कभी तो प्राणों पर बीतती है। जरा चूके कि बलिदान होने में देर नहीं लगती। इस प्रकार की घटनायें हम लोग प्रायः सुनते है, कि अमुक देवता की साधना में अमुक डर गया,अमुक पागल हो गया ओर अमुक मर गया है।

जैसे देवता होते हैं वैसी ही उनकी साधना करनी पड़ती है। उग्र देवता की साधना उग्र फल के लिये बहुत बार अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है। और मंदिर, नदी, पर्वत, श्मशान आदि स्थानों में तथा किसी महापर्व, ग्रहण, अर्द्धरात्रि, कालरात्रि, दिवाली, दशहरा आदि की सप्तमी, अष्टमी व नवमी आदि के दिनों में साधना करनी पड़ती है।

यह बात अवश्य है कि किसी भी साधना के बिना कोई पुरुष महान् नहीं बन सकता। हमारे कितने ही ऋषि मुनियों व महान् पुरुषों के पास एक न एक सिद्धि अवश्य ऐसी थी जिसके कारण ही वे महान् पुरुष हुए। इसलिये हमें भी ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये। लेकिन किसी उग्र और आसुरी व स्वार्थ पूर्ण साधना की अपेक्षा दैवी पारमार्थिक साधना करना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि वाम मार्गी साधना का फल क्षणिक होता है परन्तु दक्षिण मार्ग का फल चिर स्थायी, सुख और शांतिदायक होता है।

जगद्गुरु भगवान शंकराचार्य ने 'साधना पंचक' नामक एक ग्रन्थ रचा हे। उसमें उन्होंने सब प्रकार की साधनाओं का वर्णन कुशलता से किया है। विस्तार भय से हम उन श्लोकों को न लिखकर यहां केवल उनका अर्थ ही लिख रहे हैं।

(१) नित्य वेदाध्ययन करो, सम्यक् प्रकार के वेदोक्त कर्मों का आचरण करो, उस कर्माचरण से भगवान की पूजा करो और काम्य कर्मो की वासना छोड़ दो सब प्रकार के पाप पुञ्जों का नाश कर दो,

सांसारिक सुखों को दोष दृष्टि से देखो, परमात्मा की इच्छा का अनुसरण करो, और शीघ्र ही अपने घर बार को छोड़ दो।

(२) सत्पुरुषों का संग करो भगवान में सुदृढ़ अनुराग रखो शम दमादि का पूर्ण पालन करो, काम्य कर्मों को छोड़ दो तथा सच्चे संतों के समीप जाकर नित्य उनके चरणों की सेवा करो, ओर उन के एकाक्षर ब्रह्म प्रणव का अर्थ कराओं तथा वेदान्त वाक्यों का श्रवण करो।

(३) उन वेदान्त वाक्यों के अर्थ का विचार करो, औपनिषद सिद्धान्तों का आश्रय लो, कुतर्क से दूर रहो, श्रुति सम्मत युक्तियों का अनुसंधान करो, मैं ब्रह्म हूं ऐसी भावना करो, अभिमान को नित्य प्रति छोड़ते जाओ, देह में से अहं बुद्धि निकाल दो और बोधवानों के साथ वाद–विवाद करना छोड़ दो।

(४) भूख को व्याधि समझकर उसके लिए प्रतिदिन भिक्षारूप औषधि का सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत मांगो दैवयोग से जो कुछ मिल जाए उसी पर संतुष्ट रहो, सर्दी गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करो, वृथा मत बोलो, उदासीनता की प्रवृत्ति रखो तथा अन्य लोगों के प्रति कृपा और कठोरता को छोड़ दो।

(५) एकान्त में शान्ति से बैठो और ब्रह्म में चित्त को लीन करो। सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म का अनुभव करो और इस जगत् को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व सिंचित कर्मों का चिदात्मा के आश्रय से बांध कर दो, भावी कर्मों से असंग रहो तथा प्रारब्ध का इसी जन्म में भोग कर लो (इसी प्रकार कर्म बंधन से छूटकर) फिर परब्रह्म रूप से स्थित हो जाओ।

उपर्युक्त पांच श्लोकों में जगद्गुरु ने जिस साधना पद्धति का वर्णन किया है वह विशेषकर विरक्ताश्रमियों के लिये है तथापि उनमें जिन, शम, दम, तितिक्षा, समाधान व वैराग्यादि के अभ्यास पर जोर दिया गया है वे तो सभी कल्याण कामियों के लिए परमावश्यक है अतएव इन उपदेशों से सभी श्रेणी और आश्रमों के साधक लाभ उठा सकते हैं।

साधक और साधना

जन्म–जन्म के सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्था को प्राप्त होते है कि उन पर आकर्षण के रूप में भगवत्कृपा का प्रभाव पड़ सके, तब मनुष्य के अन्तःकरण में यह लालसा उत्पन्न होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त करने के लिये साधना करनी चाहिये। सत्संग, सद्विचार सच्छास्त्र के आधार पर इस अभिलाषा को उदीप्त करना चाहिये। कहीं असत्कर्मो के संस्कार द्वारा इस विचार को दबा न ले इसलिये हमें सम्पूर्ण शक्ति साधना में लगा देनी चाहिये।

ऐसे अवसर पर कितने ही साधक किसी भी साधन की प्रशंसा सुनकर उसे करने लगते हैं परन्तु उस पर दृढ़ विश्वास न होने के कारण जब वे कहीं दूसरे साधन की प्रशंसा सुनते हैं तो पहली को छोड़कर दूसरी करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि पहले किये कराये पर पानी फिर जाता है और साधक फिर आरम्भ–अवस्था में पहुंच जाता है। यह केवल विडम्बना मात्र है। साधन के लिये ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जो आकाश के समान विशाल समुद्र के समान गंभीर और सुमेरु पर्वत के समान दृढ़, अचल और कठोर हो।

साधना पर ऐसा विश्वास–सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। गुरुदेव के नाम श्रवण, दर्शन स्मरण मात्र ही से हृदय में अंधकार के स्थान पर प्रकाश, अशान्ति के स्थान पर शान्ति, और अविश्वास के स्थान पर विश्वास उत्पन्न होकर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है।

मंत्रदान के समय अथवा उसके पश्चात् जो गुरु की मनुष्य के रूप में प्रतीति होती है, यह तो शिष्य की एक कल्पना है। वास्तव में परमात्मा ही गुरु की शरण और उनकी छत्रछाया में शिष्य धन्य–धन्य हो जाता है।

जो आदिनाथ महाकाल अर्थात् भगवान शिव हैं। वही शैव, शक्ति व वैष्णवादि सभी मंत्रों के एक मात्र गुरु हैं उनके अतिरिक्त और कोई

मंत्रदाता हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न उठता है ऐसे–गुरु की प्राप्ति कैसे हो, और उनको पहचाना कैसे जाय? आजकल नाना रूपधारी कितने ही लोग ऐसे मिलेंगे जो तरह–तरह की बातें बनाकर आडम्बर दिखलाकर व तरह–तरह की क्रियायें और चमत्कार तथा ऋद्धियों–सिद्धियों का अपने आप को ज्ञान बतलाकर भोले–भाले श्रद्धालु लोगों को ठगते–फिरते हैं।

भगवान ही गुरु और गुरु ही भगवान होतेहैं, यह केवल भाव ही नहीं हे, क्योंकि परमार्थ सत्य वस्तु को उनके सिवाय और कौन दिखा सकता है। इसीलिये बहुतकाल तक बल्कि कई जन्मों तक भटकने के बाद जब कहीं अन्तःकरण शुद्ध होकर उनके दर्शन करने के योग्य हो पाता है तब कहीं सद्गुरु के दर्शन प्राप्त होते हैं। साधक को सत्य स्वरूप का ज्ञान कराकर स्वपद पर पहुंचाने वाले गुरु ही हैं। शिष्य गुरु का उत्तराधिकारी होता है अर्थात् गुरु का ज्ञान ही शिष्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। ज्ञान की दृष्टि से परमात्मा, गुरु व शिष्य एक ही हैं। गुरु के बिना शेष दो की प्राप्ति असंभव है। इस एकत्व बोध में ही शिष्य की पूर्णता है। तभी तो शास्त्र के यह वाक्य सार्थक हो सकते हैं। कि 'गुरुःसाक्षात् पर ब्रह्म' इसी दशा में शिष्य उनको पकड़ नहीं सकता बल्कि वह स्वयं ही उत्तराधिकारी शिष्य के सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। शिष्य अधिकार हीन होने पर भी यदि सद्गुरु की शरण में पहुंच जाय तो वह उसे अपनी शक्ति के बल से अधिकारी बना लेते हैं और जिस तरह पारस लोहे के स्पर्श मात्र ही से स्वर्ण बना देता है, उसी तरह यह शिष्य का भी उद्धार कर देते हैं। अतएव जिस किसी के भी हृदय में भगवद् प्राप्ति की अभिलाषा हो और जो वास्तव में साधना करना चाहता हो उसके लिए श्री गुरुदेव की शरण में जाना सबसे प्रथम व मुख्य कर्तव्य है। महात्मा कबीर कहते हैं।

गुरु गोविंद दोनों, खड़े, काके लाँगू पांय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविंद दिये लखाय।।

गुरु के बिना कोई ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु

की महिमा महान है। भगवान ने स्वयं अपने आप से भी गुरु की महानता दी है। गुरु के आशीर्वाद ही से सब प्रकार की सिद्धि होती है व सब प्रकार के बन्धन कट जाते हैं जिस प्रकार जन्मांध को रूप का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार बगैर सद्गुरु के किसी मुमुक्षु को सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। जिसके गुरु न हों अथवा जिनको अपने कुल गुरु में विश्वास न हो, उनको आगे दिये हुए मंत्र के मध्य में चित्त लगाकर ध्यान करने से शुद्ध चित्त में गुरु की मूर्ति दिखाई देगी तब संशय रहित होकर उनहीं को गुरु मानकर उनकी आज्ञानुसार चलना चाहिये। कुछ पुस्तकें देखकर और अपने मन से ही कुछ साधनायें पसंद करके तथा कुछ स्तोत्रों व मंत्रों का संग्रह करके कभी किसी देवता का ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। सिद्ध महापुरुष या गुरु से मंत्र ग्रहण करने पर उस मंत्र का पुरश्चरण नहीं करना पड़ता क्योंकि मंत्र के साथ ही उस महापुरुष व गुरु की शक्ति शिष्य के शरीर में प्रवेश कर जाती है, अन्यथा मंत्रों के तन्त्रोक्त नियमों के द्वारा शोधन करके पुरश्चरण करना पड़ता है। सिद्ध पुरुष या गुरु के सिवाय अन्य किसी के द्वारा मंत्रों के दिये जाने पर उनका फल प्राप्त नहीं होता। इसलिये गुरु को खोजना परम आवश्यक है। उनसे मंत्र ग्रहण करने पर सब विध्न दूर हो जाते हैं। शरीर के रोगी होने पर योग या मंत्र जप के द्वारा शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। जो कुछ भी न करके या गायत्री मंत्र का जप किये बिना ही साधना करने लगते हैं उनके शरीर में नाना प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होकर साधना में विध्न डाल देती हैं। इसीलिये व्याधि नाश के लिए गायत्री या प्रणव का जप करना होता है।

साधना को आरम्भ करने के पहले साधनार्थी को प्रतिदिन तीन हजार गायत्री का जप तथा आगे लिखा मंत्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इस उपाय से उत्तम श्रद्धालु साधक को एक वर्ष और मध्यम को तीन वर्ष में गुरु की प्राप्ति हो जायेगी। शास्त्रों में गुरु प्राप्ति को भी एक सिद्धि ही कहा गया है। गुरु के प्राप्त होते ही यह समझ

लेना चाहिये कि भव सागर पार करने के लिए नौका मिल गयी। अतएव गुरु के प्राप्त होते ही अपने को उनके चरणों में अर्पण करके जैसी वह आज्ञा दें उसका अटल श्रद्धा के साथ पालन करना चाहिये। परन्तु किसी पाखण्डी वेषधारी की बातों में आकर उसे ही गुरु बना लेने की मूर्खता न करके किसी निष्काम निःस्पृह और सिद्ध महात्मा को ही गुरु बनाना चाहिये।

रक्षोघ्नं मृत्युतारकम् सुदर्शनं महाचक्रम्

साधकों के दैनिक कृत्य

- ब्रह्म मुहूर्त में निद्रा त्याग-

रात्रि का चौथा भाग साधकों के लिए बड़ा ही उत्तम है उस समय शांति का साम्राज्य रहता है और शरीर तथा इन्द्रियों को आवश्यक आराम मिल जाने के कारण वह बाहरी शाँति अनुकूल परिस्थिति और वातावरण के कारण मन शीध्र व सरलता से एकाग्र हो सकता है। इसी कारण प्राचीन काल से यह समय ब्रह्म मुहूर्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय साधक उठकर, हाथ पैर और मुंह धोकर अलहदा आसन पर बैठकर पहले श्री गुरु का ध्यान करें। गुरुदेव शिव रूप हैं और अपनी शक्ति के साथ मस्तक स्थित सहस्रदल कमल पर विराजमान हैं वह प्राण और शरीर में शक्ति का संचार कर रहे हैं। गुरुदेव का चिंतन करने के पश्चात् इष्टदेव का ध्यान करने के लिए उनसे प्रार्थना करके अपनी साधना के अनुसार इष्टदेव की मूर्ति व कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करें। मन को इधर–उधर जाने से रोककर बार–बार इष्टदेव के चरणों, भ्रूमध्य, नासिकाग्र, हृदय अथवा नाभि पर स्थिर करना चाहिये। प्रातःकाल होने पर भगवान के स्तोत्र जागरण के मंगल गान, पवित्र नामों का कीर्तन, प्रभाती व हृदय स्पर्शी प्रार्थना तथा उनकी कीर्ति स्मरण करे।

स्नान विधि

किसी नदी झरना, स्वच्छ तालाब बावड़ी अथवा कुआं के जल से स्नान करें। नहाने के पहले जल के देवताओं को प्रणाम करके व अपने ऊपर जल छिड़क कर 'ॐ अद्येत्यादि अमुक गोत्र नाम भगवत्प्रीत्यै अमुक तीर्थे स्नानं करिष्ये' कहकर स्नान करें। स्नान कर लेने के बाद नीचे लिखे मंत्र से अंगन्यास करें।

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु।।

उपर्युक्त मंत्र कहने के बाद यह भावना करे कि सूर्य मंडल से अधिष्ठात्री देवता उतर रहे हैं, 'वं' इस अमृत बीज का उच्चारण व धेनु मुद्रा करते हुए ऐसी भावना करनी चाहिये कि वह जल अमृत हो गया है और ग्यारह बार इष्टमंत्र का जप करें। पश्चात् सूर्य नारायण को बारह अंजलि जल चढ़ाकर यह भावना करें कि मेरे इष्ट देव के चरणों से ही यह जल निकला है। इसलिये परम पवित्र है। फिर अपने मस्तक पर तीन बार अभिषेक करके संध्या–वंदन, तर्पण आदि व नैमित्तक कर्म करें। स्नान गंगा जी में करें या अन्यंत्र गंगा जी का ध्यान व मंत्र जप अवश्य कर लेना चाहिये। परन्तु एक तीर्थ में दूसरे तीर्थ का ध्यान न करें। गंगा जी का मंत्र है ॐ हीं गंगायै ॐ हीं स्वाहा' गंगा जी का ध्यान व इस मंत्र को जपते हुए भी स्नान करें, गंगा स्नान का फल मिलता है।

सात प्रकार के स्नान -

स्नान सात प्रकार के होते हैं। (१) मंत्र (२) भौम (३) आग्नेय (४) वायव्य (५) दिव्य (६) वारुण (७) मानस।

'आपोहिष्ठा' इत्यादि मंत्रों से जो मार्जन होता है उसको मंत्र स्नान कहते हैं। शरीर में मिट्टी लगाने को भौम, भस्म लगाने को आग्नेय, गायों के चरणों की धूलि वायु द्वारा उड़कर आती है इसीलिये उस धूलि से निमित्त कारण वायु के नाम से वायव्य स्नान, धूप में होने वाली वर्षा में स्नान को दिव्य, मानस स्नान अपने इष्टदेव के अनुसार होता है।

वैष्णव आभ्यन्तर स्नान

वैष्णव आभ्यन्तर स्नान में साधक को यह चिंतन करना चाहिये कि मेरे सामने ऊपर आकाश में द्वादश कमल पर जिसके प्रत्येक दल पर द्वादशाक्षर मंत्र का एक एक अक्षर अंकित है, शंख चक्र गदाधारी चतुर्भुज भगवान विष्णु विराजमान है। वे वनमाला पहने हुए कमल नेत्रों से आशीर्वाद और प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उनके मुख मण्डल से कोटि–कोटि सूर्य के समान चारों ओर प्रकाश की किरणें फैल रही हैं। उनके चरण

कमलों से अमृत की धारा निकलकर मेरे सर पर गिर रही है और मेरे ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा मेरे शरीर में प्रवेश कर रही है। ऐसी भावना से जो स्नान किया जाता है शास्त्रों में उसे मंत्र स्नान से भी हजार गुना उत्तम कहा है।

शैव आभ्यन्तर स्नान

अपने इष्टमंत्र से प्राणायाम करके मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक शक्ति का उत्थान और गमन सम्पन्न करके सहस्रार स्थित परम शिव के साथ उसका संगम करावें। उन दोनों के सम्मिलन से प्रकट अमृतधारा में स्नान कर रहा हूं, ऐसी भावना करें। इसी प्रकार अन्य देवताओं का भी स्नान होता है।

जिसका मन तीर्थ सेवी हो गया है, वह समस्त बंधनों से छुटकारा पा जाता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के हृदय में पुष्कर तीर्थ है, शिरा भाग में बिन्दु तीर्थ है, सुषुम्ना में शिव तीर्थ है, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मस्तक में जहां समागम होता है वहां त्रिवेणी तीर्थराज है, भ्रूमध्य के बीच में वाराणसी है। इसी प्रकार छः चक्रों में विशेष दो तीर्थ हैं। उनमें जो स्नान करता है, वह स्नान मात्र ही से समस्त पापों से मुक्त एवं भगवान प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

वस्त्र शुद्धि

यदि जल के अंदर ही नित्य कर्म करना हो तो गीले वस्त्र ही से कर लेना चाहिये। अन्यथा पहनने के सूती कपड़े शुद्ध होना चाहिये। ऊनी, कपड़े अग्नि, ताप, वायु व सूर्य की किरणों से शुद्ध हो जाते हैं इसीलिये उनको रोजाना धोने की आवश्यकता नहीं।

तिलक व भस्म

पूर्व अथवा उत्तरमुख बैठकर श्वेत, रक्त, गोपी, चन्दन, कुमकुम, भस्म आदि से अपने सम्प्रदाय के अनुसार तिलक लगावें। कुछ न हो तो

जल से ही तिलक कर लें। तिलक देखकर लोग उसके अनुसार अभिवादन व नाम स्मरण करते हैं।

संध्या

संध्या की विधि इतनी उत्तम और पवित्र है, कि पाप नष्ट करने, चित्त को एकाग्र करने व परमात्मा में शीघ्र स्थित करने में बहुत ही सहायक होती है। संध्या की विशेषःता दस क्रियायें व उनके पृथक–पृथक मंत्र हैं। (१) आसन शुद्धि (२) मार्जन (३) आचमन (४) प्राणायाम (५) अघमर्षण (६) अर्ध्यदान (७) सूर्योपस्थान (८) न्यास (९) ध्यान (१०) और जप। अर्थात पवित्र स्नान जैसे नदी तट, मन्दिर अथवा ऐसी ही दूसरी जगह हो शास्त्रीय आसन अर्थात् पद्म सिद्धादि, आसन से बैठे इनसे पवित्रता व एकाग्रता होती है। उस समय जो मंत्र पढ़ा जाता है। उसका अर्थ यह है कि 'हे पृथ्वी माता! तुम्हें विष्णु ने धारण किया है और तुमने लोगों को।' 'मां' तुम मुझे भी धारण करो और यह आसन पवित्र कर दो।' मार्जन से शरीर में शीतलता आती हे, जल के अधिष्ठात्री देवता आलस्य आदि दृष्टियों को नष्ट करके शुद्ध शांत व सात्विक भावों की धारा प्रवाहित करते हैं। आचमन का अर्थ यह है कि सूर्य अग्निदेवता मुझे पापों से बचावें। और अब तक के किये हुए पाप उनके अमृत स्वरूप में हवन करता हूं। प्राणायाम से लाभ व महिमा को सभी जानते हैं। अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही है। यह भी अत्यंत लाभदायक है। अर्ध्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही सूर्य भगवान की उपासना है। न्यास से अभिप्राय है शरीर के प्रत्येक अंग में जब मंत्र और देवता का स्थापन हो जाता है, तब संपूर्ण शरीर मंत्र और देवमय हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' के अनुसार वास्तव में तभी देव पूजा का अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान और जप अपने इष्टदेव व गुरु के आदेशानुसार करें।

यहां पर संध्या का महत्व संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। गायत्री सब की पृथक्–पृथक् है इसलिये मंत्र आदि व विस्तार पूर्वक विधि अलहदा पुस्तक में देख लेनी चाहिये।

संध्या से लाभ

जिसका मन तीर्थ सेवी हो गया है, वह समस्त बंधनों से छुटकारा पा जाता है। यह सब वर्णन पहले ही दिया जा चुका है। संध्या करने से निम्न तरह के लाभ होता है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने सद्भाव को स्थिर करने के लिये संधि के समय संध्या करने का महत्व बतलाया है। (१) प्रातः काल की संधि (२) माध्यान्ह काल की संधि। (३) सांयकाल की संधि। इन तीनों कालों में मनुष्य दत्तचित्त होकर जिस सद्भाव को अन्तःस्थल में धारण करेगा वही जाग्रत रहेगा और उसी का प्रभाव दिन भर प्रवाहित रहेगा। संधि के समय जिस प्रकार के भाव पैदा हो जाते हैं उनका प्रभाव प्रधान रूप से अगली संधि तक रहता है। इसीलिये जप, ध्यान धारणादि क्रिया करने के लिये संधि काल का इतना महत्व बतलाया है।

जो लोग इस समय एकान्त में अपने अन्तर के एक राग को विश्व के महान राग से सम्बद्ध करते हैं। वे बाहरी भीतरी दोनों प्रकार की एकाग्रता सम्पादन व आश्चर्यजनक उन्नति प्राप्त करते हैं। उस समय अपने मन से सब प्रकार के विचार त्याग कर यह चिंतन करना चाहिये कि 'मैं चैतन्य स्वरूप हूं' मैं जीवन तत्व में परिपूर्ण हूं। परमात्मा जीवन से आरोग्य, शांति, पूर्णता का मेरे शरीर के अणु–अणु में संचार हो रहा है।

मैं परमात्म तत्व में लीन हो रहा हूं। मैं सर्व दुःखों, दोषों, व्याधि से अन्तर बाह्य मुक्त हो गया हूं। इस प्रकार हमारी आत्मा परमात्मा के अधिक से अधिक निकट संबंध में आने लगती है और हमारा शरीर, मन व आत्मा सब परमात्माकार हो जाते हैं और दुःख स्वरूप संसार के स्थान पर सुख का महासागर रूप संसार दिखाई देता है।

केवल शरीर पर जल छिड़कने अथवा मंत्रोच्चारण कर लेने से संध्या नहीं होती। जिस अवस्था में परात्पर तत्व से एकता हो जाय महान पुरुषों ने उसी को संध्या कहा है। प्रणव के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण मंत्र गायत्री ही है।

साधन

(१) **मौन** - अधिक नहीं तो कम से कम दो चार घंटा पूजा पाठ के समय मौन धारण करना चाहिये।

(२) **कम बोलना** - बातचीत पर नियंत्रण रखकर आवश्यक बातचीत ही करना चाहिये।

(३) **एकान्त सेवन** - लोगों से आवश्यकतानुसार ही मिलना घर पर भी अलहदा घर में उठना बैठना, धार्मिक पुस्तकें व जगत् की असत्यता पर विचार करना।

(४) **पश्चाताप व संकल्प** - रात को सोते समय अपने दिन भर के कार्यों पर विचार करके अनुचित कार्यों के लिये पश्चाताप करना व भविष्य में उनके न करने का संकल्प करना।

(५) **सत्य बोलना** - मजाक में भी झूठ न बोलना चाहिये।

(६) **योगाभ्यास** - नित्य नियम से योगाभ्यास करना।

(७) **भजन करना** - नित्य माला अथवा बिना माला के भजन करना चाहिए। दिन रात में २१६०० श्वास चलती हैं अतएव कम से कम इतना ही भजन करना चाहिये। यह संख्या दो सौ माला फेरने से पूरी हो सकती है। दो घंटे सुबह व दो घंटे शाम अथवा सुविधानुसार माला फेरे। सुमरनी या माला पास रखे और समय मिलने पर अथवा चलते–फिरते भजन करो और समय का सदुपयोग हो सके।

(८) **अजपा जप** - नीचे लिखे अनुसार किया जाता है।

(१) जीभ से नाम का उच्चार करें, कुछ आवाज भी निकलती रहे जिससे सुमरन बंद न हो और ध्यान भी लगा रहे। (२) कंठ (३) हृदय से (४) नाभि से श्वास के साथ (५) जीभ से।

यह अजपा जप जीभ से एक साल, कंठ से दो साल, हृदय से दो साल और नाभि से सात साल अर्थात् बारह वर्ष करने से मनुष्य मोक्ष रूप हो जाता है। उसे प्रभु का साक्षात्कार अर्थात् जाग्रत अवस्था में भगवान

के दर्शन व सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

अजपा के जप के नियम - (१) भोजन अल्प (२) थोड़ी नींद (३) एकान्त वास (४) गद्दा व तकियों का त्याग (५) मौन (६) सात्विक भोजन अर्थात् चावल, दही, खटाई, तेल ज्यादा मिर्च मसाले व अन्य राजसी, तामसी व वायु उत्पन्न करने वाले पदार्थों का त्याग। एक समय भोजन और रात को आधा शेर से दूध काफी है। मीठा व नमक बहुत कम खाना चाहिये। नींद कम करने का उपाय है कि रात को जगने के समय दस बजे से एक घंटा हर महिना बढ़ता जाय। इस तरह चार बजे तक जागने का अभ्यास करें। चार बजे से छः बजे तक सोवे। इतना समय काफी न हो तो चार घंटे तक सोवे, अधिक नहीं। फिर भी नींद मालूम होने पर धीरे–धीरे टहलें, मुंह धो लें इस प्रकार कुछ दिनों में अभ्यास हो जायेगा।

(६) रात को कमरे में जहां कोई दूसरा न हो जिसे देखकर नींद आये।

(१०) कुश तथा ऊन या चर्मासन हो। रोशनी हो तो उसे तेज रखें।

(११) रात को एकान्त स्थान पर भगवान का ध्यान व स्मरण करें। विकल होकर रोने से प्रेम बढ़ता है। मीराबाई के भजन करते समय अश्रुधारा बहती रहती थी। जब तक ऐसा न हो प्रेम नहीं कहा जा सकता। यही भक्ति का खास अंग है।

(१२) जीव मात्र पर दया रखना व दुःखियों की सहायता करना।

(१३) यथाशक्ति दान करना।

(१४) कथा वार्ता करना कराना।

(१५) मन को इधर उधर जाने से रोक कर भगवान के चरणों में लगाना।

(१६) **ब्रह्मचर्य** - मनसा, वाचा, कर्मणा, से ब्रह्मचर्य रहना।

(१७) **उपवास** - एकादशी, पूर्णमासी अथवा अन्य दिनों में उपवास करना।

(१८) **भगवद्भक्ति** - भगवान के दर्शनों के सिवाय ओर कोई

इच्छा न रखना।

(१६) साधना के स्थान पर मिट्टी का तेल न जलावे।

(२०) निशाकाल तथा ब्रह्ममुहूर्त ४ बजे प्रातःकाल साधना करने से महापुरुष व देवी देवता साधक की सहायता करते हैं। स्थान व स्वयं पवित्र होना चाहिये। शुद्ध भाव से साधना करने पर कुछ महीनों बाद जीवन युक्त पुरुष व देवी देवता की अनुकम्पा का अनुभव होने लगेगा यह बात ध्रुव सत्य है।

(२१) साधना शुद्ध होकर, सुविधा हो तो स्नान करके या हाथ पैर धोकर, कपड़े बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर साधना के स्थान में जावे।

(२२) साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो विशेष लाभ होगा क्योंकि तामसिक व राजसिक व्यक्ति के हाथ के भोजन से वृत्ति पर उसी के अनुसार प्रभाव पड़ता है।

साधक को नीचे लिखी हुई चार बातें सदैव स्मरण रखना चाहिये।

(१) अपना स्वरूप – मैं ईश्वर का अंश हुं देहादि नहीं हूं।

(२) ध्येय का साध्य का स्वरूप – मेरा इष्ट देव सच्चिदानंद स्वरूप है।

(३) साधना का फल – इष्टदेव के प्रति आत्यान्तिक अनुराग ही साधना का प्रधान फल है।

(४) साधना के विघ्न – इष्टदेव के सिवाय सम्पूर्ण प्रपंच ही विघ्न है। साधक के चार प्रकार के सहायक होते हैं। (१) गुरु (२) शास्त्र (३) उत्साह (४) काल।

साधु सन्यासियों की नित्य नैमित्तिक साधना -

(१) स्त्री, कुटुम्ब धन व सम्पत्ति आदि का त्याग करके ही मनुष्य साधु या सन्यासी होता है। यदि उसका इनसे किसी प्रकार का संबंध बना रहा तो फिर उन्होंने त्याग ही क्या किया और साधु सन्यासी ही क्यों हुआ? उसे तो सदा विरक्त व निःसंग ही रहना चाहिये।

(२) विरक्त को दो एक कोपीन, जलपात्र तथा झोली व अन्य एक दो वस्त्रादि के सिवाय और कोई वस्तु नहीं रखना चाहिये। अन्यथा वह अपने आश्रम से पतित होजायेगा या हो जाता है। विरक्त का भूषण तो त्याग और निःसंगता ही है।

(३) संसारी लोगों का सम्पर्क न रह सके इसीलिये शास्त्रों ने यज्ञ, भंडारा, मठ निर्माणादि को त्यागकर केवल एकांत सेवन का विधान लिखा है।

(४) साधु को पैसा मांगना या किसी वस्तु का संग्रह करना पाप है। उसे गृहस्थों से साधारण भोजन के सिवाय और किसी वस्तु का भार नहीं डालना चाहिये।

(५) विरक्त की शीतोष्ण हर एक परिस्थिति को सहन करने का ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि कहीं भी पड़ा रहे। उसे जाड़ों में सर्दी और गर्मियों में गर्मी का भान न रहे या न हो।

(६) अपनी इन्द्रियों को वश में रखने के लिए इच्छाओं व वासनाओं को नष्ट करके आंखों से अंधे, कानों से बहरे, जिह्वा से मूक तथा उपस्थ से नपुंसक की तरह रहना चाहिये।

(७) साधु को अपना काम दूसरे से न कराकर स्वयं ही करना चाहिये।

(८) किसी के कटुवचन व अपमानित करने पर भी क्रोधित नहीं होना चाहिये और न मन, वचन, कर्म, से किसी प्रकार की हिंसा करनी चाहिये।

(९) गृहस्थों से साधारण भोजन व वस्त्र के सिवाय और किसी वस्तु की इच्छा न करो और जहां दूसरा साधु भिक्षा मांग रहा हो वहां न जाओ। शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के यहां ही भिक्षा लेने का विधान है। अन्त्यजों की भिक्षा, तेज, उत्साह, उपासना आदि को नष्ट करने वाली होने के कारण वर्जित है, उक्त तीनों वर्णों के यहां जो कुछ मिल जाय उसी को 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर संतोष पूर्वक पा लेना चाहिये।

(१०) दिन रात ईश्वर चिंतन व सद्ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिये।

मुक्ति का एक मात्र साधन

मुक्ति का केवल एक ही मार्ग हे और वह यह है कि धीर पुरुष क्रोध को क्षमा से, इच्छाओं का संकल्पों के निरोध के द्वारा नष्ट करे और सत्व गुण का आश्रय लेकर अति निद्रा को दूर करे। सावधानी द्वारा भय, आत्म, चिंतन, श्वास पर विजय प्राप्त करे तथा धैर्य से इच्छा, द्वेष और काम को दूर करे। भ्रम, अज्ञान ओर संशय को तत्व के अभ्यास से तथा लय और विक्षेप को ज्ञानाभ्यास से नष्ट करें। शारीरिक उपद्रव और रोगों को हितकारी, सुपाच्य और परिमित आहार से लोभ, और मोह को संतोष से तथा विषयों को उनके अनित्यत्वादि स्वरूप का विचार करके दूर करे। अधर्म को दया के द्वारा और धर्म को अनुष्ठान के द्वारा वश में करें, आशा को उसके परिणाम का विचार करके नष्ट करे तथा आसक्ति को त्याग के द्वारा दूर करें स्नेह और उसके अनित्यत्व पर दृष्टि रखकर, क्षुधा को प्राणों का निरोध करके, मान कोकारुण्य से और तृष्णा को संतोष से निवृत्त करें। उद्योग के द्वारा आलस्य को, निश्चय के द्वारा संदेह को, मौन के द्वारा अतिभाषण को और शूरवीरता द्वारा भय को दूर करे। वागादि इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में लीन करे, तथा बुद्धि को ज्ञान दृष्टि के (शुद्धत्व पदार्थ के बोध) द्वारा निवृत्त करे और उस आत्माबोध रूप वृत्ति ज्ञान को शुद्ध चित्तस्वरूप आत्मा में लीन करे। जो पवित्र कर्म करने वाला शांति चित्त मुनि है उसे इस मोक्ष मार्ग पर दृष्टि रखना चाहिये।

पंच महायज्ञ

जिस प्रकार पंचदेवों की साधना व तीनों कर्म (नित्य, नैमित्तिक व काम्य) करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है उसी प्रकार नित्य प्रति पंचमहायज्ञ करना भी उसका एक अत्यंत आवश्यक धर्म और कर्तव्य है।

पंचमहायज्ञ करने से आत्मोन्नति आदि फल की प्राप्ति होने पर भी 'पंच सूना' दोषों से बचने के लिए शास्त्रकारों की आज्ञा है कि 'सर्वगृहस्थैः पंचमहायज्ञः अहरहः कर्तव्यः'। अर्थात् गृहस्थ को प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना चाहिये।

सूना का अर्थ है कसाई खाना। भगवान मनु कहते है कि चूल्हा चक्की, झाड़ू, ओखली, जलपात्र सचमुच में हरएक गृहस्थ के यहां यह कसाई खाने हैं। हम लोगों से सहज ही चलते फिरते ही जीव भोजन, श्वास आदि के द्वारा हिंसा होती रहती है। अतएव इन पापों से मुक्त होने के लिये ही हमारे ऋषि महर्षियों ने पंच महायज्ञ का विधान बनाया है।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। (१) यज्ञ (२) महायज्ञ। महर्षि भारद्वाज ने उनकी विशेषता का इस प्रकार वर्णन किया है कि 'कुशलता पूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' पश्चात समष्टि संबंध होने से उसी को 'महायज्ञ' कहते हैं। इस बात को महर्षि अंगिरा ने भी कहा कि व्यष्टि समष्टि संबंध से यज्ञ महायज्ञ कहे जाते हैं।

यज्ञ का फल आत्मोन्नति व आत्म–कल्याण है उसमें व्यष्टि का संबंध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती है। (यही उनकी न्यूनता है)।

महायज्ञ का फल जगत का कल्याण उसका समष्टि से संबंध होने के कारण उसमें निःस्वार्थता की प्रधानता रहती है। यही उसकी विशेषता है। जिस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से जीव की क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि का नाश होता है वह परमात्मा के साथ एकाग्रता को प्राप्त होता है। उस अनुष्ठान का महत्व सर्वमान्य है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

पंचमहायज्ञों का वर्णन प्रायः सभी ऋषि, मुनियों ने अपने धर्म ग्रन्थों में किया है। मनु महाराज ने मनुस्मृति में लिखा है कि 'जो मनुष्य पंच यज्ञ के द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, मित्रवर्ग और आत्मा इन पांचों को अन्नादि नहीं देते वे जीते हुए भी मरे के समान हैं। अर्थात् उसका जीवन निष्फल है। जो गृहस्थ शक्ति के अनुसार नित्य पंचयज्ञ करते हैं वे सूना जनित पाप के भागी नहीं होते। साथ ही अन्नादि की शुद्धि और पापों

का क्षय होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता के अध्याय ३ श्लोक १३ में कहा है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष पंच हत्या जनित समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो अपने लिये ही पाक बनाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं। अतएव पंचमहायज्ञ के महत्व को जानते हुए प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह नित्य पंचयज्ञ अवश्य करे, जिससे उनको धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति हो।

पांचों यज्ञों के नाम इस प्रकार हैं। (१) ब्रह्म यज्ञ, (२) देव यज्ञ (३) पितृ यज्ञ (४) भूत यज्ञ (५) नृयज्ञ।

वानप्रस्थियों व शूद्रों के लिये यह विशिष्ट प्रकार के हैं। (मनु. ६/५ और यज्ञावल्क्य १/१२१)

(१) ब्रह्मयज्ञ - वेदों के पठन पाठन को ब्रह्म यज्ञ कहते हैं। वेद में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड में ज्ञान की ही प्रधानता है व परमावश्यक बतलाई गई है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य देह उत्तम मानी गयी है। शास्त्रोक्त सदाचार व धर्मानुष्ठान में तत्पर रहना ही मनुष्यता है और वही वास्तविक मनुष्यत्व का अधिकारी माना जाता है। इसके पश्चात् कर्मकाण्ड द्वारा अंतःकरण की शुद्धि हो जाने पर मनुष्य उपासना काण्ड का अधिकारी बनता है। इसके उपरान्त भगवत्कृपा से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्यों का सामान्य उन्नति क्रम है, इसमें ज्ञान का प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओं में ज्ञान की आवश्यकता है अतएव वेद, शास्त्रों को निर्हेतु पढ़ना और जानना चाहिये। इस प्रकार की प्रचलित रूढ़ि यह है कि नित्य प्रातः व संध्या काल तीनों वेदों का एक एक मंत्र उच्चारित किया जाता है। गायत्री का विशेष जप कर लेने से वे वेदाध्ययन का कार्य हो जाता है। भगवान मनु कहते हैं कि –

अपां समीपे नियतो नैत्यिंकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।।

(मनु.स्मृ २/१०४)

अर्थात नित्य के अवश्य अध्येय वेदाध्ययन के लिए कम से कम इतना तो अवश्य ही करना चाहिये कि अरण्य में जलाशय के पास बैठ समाहित होकर सावित्री का जप करे।

(२) देवयज्ञ - सूर्य, अग्नि सोमादि देवताओं के प्रति नित्य का होम है। होमाग्नि में घृत की जो आहुति दी जाती है। उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय समझते हैं। परन्तु दूरदर्शी महर्षि इसके महत्व को जानते हैं। और हम लोगों को इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे वातावरण शुद्ध होकर आरोग्यता की प्राप्ति तथा धान्य की वृद्धि होती है। यही दो वस्तुएं हैं जो प्राणी मात्र के लिए आवश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'अग्नि में दी जाने वाली आहुति आदित्य में पहुंचती है और आदित्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न और प्राणी उत्पन्न होते हैं और जीते हैं। (मनु. स्मृ ३/७६) भगवान कृष्ण ने भी गीता के अध्याय ३ श्लोक ६ से १५ तक ऐसा ही उपेदश दिया है। चरक के विमान स्थान अ. ३ में चरक महाराज ने लिखा है कि पृथ्वी जल व वायु के दूषित हो जाने से ही देश की उजाड़ देने वाली महामारी आदि रोग फैलते हैं।

(३) पितृयज्ञ - नित्य पितरों को तिलोदक देकर तर्पण पिंडदान करना और एक ब्राह्मण को उनके निमित्त भोजन कराकर उनका श्राद्ध करना। (मनु. ३–८३) बहुत से लोग समझते हैं कि पितृ तर्पण केवल पितृपक्ष में ही किया जाता है परन्तु यथार्थ में पितरों का तर्पण नित्य के पंचयज्ञों में एक महायज्ञ है, पितृ यज्ञ से मनुष्य ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थों को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। पितरों की तृप्ति, सम्मान व कृतज्ञता तथा उनके उऋण होने के लिए 'पितृयज्ञ' करना आवश्यक है।

(४) भूतयज्ञ - सब प्रकार के जीवों अंत्यज, अपाहिज, कृमि, कीट, पतंग, पशु व पक्षी आदि को खिलाने को भूतयज्ञ कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य श्वास–निश्वास, भोजन, पान व विहारादि में अगणित जीवों की हिंसा कर देता है आमिष भोजियों की तो बात ही क्या है। अतः भूतों से उऋण होने के लिए भूतयज्ञ करना चाहिये। 'देवयज्ञ' से बचे हुए अन्न को भूमि

पर डाल देना और उसे पशु, पक्षी एवं गौ आदि को दे देना चाहिये। (या. स्मृ.)

(५) नृयज्ञ - (मनुष्य यज्ञ) क्षुधा से पीड़ित मनुष्य के व अतिथि के घर आने पर चाहे वह किसी जाति, धर्म या सम्प्रदाय का हो उसे खिलाना पिलाना नृयज्ञ है। हमारे पूर्व पुरुष अतिथि अभ्यागत के आने की प्रतीक्षा किया करते थे और किसी दिन न आने पर अपने को अभागा समझते थे। कम से कम एक अतिथि को भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थ अपना धर्म व कर्तव्य समझता था। अतिथि को भोजन कराने के पश्चात् गृहस्थ व उनकी पत्नी भोजन करते थे। मनुष्य यज्ञ से धन, आयु, यश व स्वार्गादि की प्राप्ति करते हैं। ऊपर लिखे यज्ञों द्वारा मनुष्य, ब्रह्म, देव, पितृ व अन्य जीवों की सेवा करके यश, पुण्य, आनंद और मुक्ति प्राप्त करता था।

'ईश्वर व देवताओं की आराधना'

भेद और अभेद दोनों प्रकार की निष्ठाओं में ध्यान सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। भगवान कृष्ण ने गीता में ध्यान की बड़ी महिमा वर्णन की है। उन्होंने अपने परम भक्त अर्जुन को अपने मन को उनमें (भगवान में) लगाने का उपदेश दिया है। योग साधन में तो ध्यान का स्थान बहुत ही ऊंचा है। साधक को अपनी रुचि, भावना और अधिकार के अनुसार तथा अभ्यास की सुगमता देखकर किसी एक प्रकार से आराधना करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि सगुण साकार और निगुर्ण निराकार भगवान वास्तव में एक ही है, एक ही परमात्मा के अनेक दिव्य स्वरूप हैं। भगवान के परम भाव को लक्ष्य में रखकर किसी भी प्रकार से उनका ध्यान किया जाय अंत में उसकी प्राप्ति इष्टदेव की ही होतीहै।

भगवद् गीता के छठवें अध्याय के ग्यारहवें व तेरहवें श्लोक के अनुसार एकांत, पवित्र और शांतिदायक स्थान में सिद्ध, पद्म व स्वस्तिक तथा अन्य सुख साध्य आसन से बैठकर नींद की संभावना न हो तो नेत्र

बंद करके अन्यथा दृष्टि को भगवान की मूर्ति पर लगाकर या नासिका के अग्र भाग पर जमा कर प्रतिदिन कम से कम तीन, दो एक घंटा अथवा जितना भी समय मिल सके सावधानी के साथ लय, विक्षेप, कषाय, रसस्वाद, आलस्य, प्रमाद आदि दोषों से बचकर अत्यंत श्रद्धा व भक्ति पूर्वक तत्परता के साथ अपने इष्टदेव की आराधना करनी चाहिये। उस समय शरीर, गला व मस्तक तथा रीड की हड्डी बिल्कुल सीधी रहनी चाहिये। गुरु और शास्त्रों में प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधन में तत्परता, इन्द्रिय तथा मन को उनके इच्छित सांसारिक विषयों से हटाना, तन मन से अहिंसा, सत्य, चोरी का अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप–स्वाध्याय, भगवत स्तुति–प्रार्थना, एकान्तवास, विषयों से विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओं का सर्वथा त्याग, अन्न, वस्त्र, स्नान, आदि आवश्यक वस्तुओं का भी यथा साध्य कम से कम संग्रह अपने ध्येय संबंधी ग्रन्थों के सिवाय अन्य ग्रन्थों का सुनना, व ध्येय के विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना, घर परिवार में ममता का त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, सभा समितियों से अलहदा रहना, प्रसिद्धि से बचना, परिचर्या न करना, परदोष न देखना, चिंता न करना, न कहना, प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना यथा साध्य मौन रहना या कम बोलना, चित्त के विषय, अहंकार, ईर्श्या, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिंतन और दुष्ट भावों से बचना, मान–सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्री के संग से (स्त्री साधकों को पुरुष संसर्ग से) बचना, ध्येय में प्रेम उत्पन्न करने वाले ग्रन्थों का स्वध्याय करना, इष्ट मंत्र का विधि पूर्वक जप, इष्ट के गुण, प्रभाव व रहस्य का बारंबार चिंतन करते रहना, उनकी कृपा व दयालुता पर विश्वास रखना, ध्येय की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखना, साधना के स्थान वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति व अन्य सामग्रियों को बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना न दूसरो को करने देना, अपने को किसी से ऊंचा न समझना, अभिमान व क्रोध न करना किसी से छूने पर वे सामग्री अपवित्र होंगी ऐसा न मानकर साधक के वातावरण में विकृति होगी ऐसा न मानना और दूसरों को नम्रता, प्रेम, आदर व विनय के साथ साधन संबंधी नियम समझाकर उनको साधन सामग्री से

पृथक् रखना। न अधिक खाना न सोना, मादक वस्तुओं तम्बाकू, गांजा, चरस उत्तेजक, गरम, खट्टी अधिक मीठी, उड़द, लालमिर्च, लहसुन, प्याज, गर्म मसाले, दही, कटहल गाजर आदि तामसी, वायु उत्पन्न करने वाले व देर से हजम होने वाले पदार्थ न खाना चाहिये।

नियत स्थान पर, नियत समय, नियत काल तक, नियत आसन से, नियत संख्या में, नियत इष्टमंत्र का जप करते हुए नियत इष्ट स्वरूप का ध्यान करना साधक के लिये परमावश्यक है।

ध्यान अनेक प्रकार के हैं, साधक को अपने अधिकार, रूचि, और सुगमता के अनुसार किसी भी एक ही प्रकार के अभ्यास को करना चाहिये हृदय में यह दृढ़ निश्चय व विश्वास रखना चाहिये कि जिस साधन को वह करता है। उसमें उसे अवश्य सफलता मिलेगी क्योंकि भक्त जिस प्रकार से भी अपने इष्टदेव को प्राप्त करना चाहता है वह अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हीं के रूप हैं। श्री विष्णु, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, राम, कृष्ण। आदि सभी एक ही है। मार्ग भिन्न–भिन्न होते हुए भी सबके अन्त में प्राप्त होने वाले एक ही हैं। अतएव साधक को न अपना इष्ट छोड़ना चाहिये न दूसरों के इष्ट को अल्प समझना चाहिये।

ध्यान भेद, अभेद, द्वैत, अद्वैत दोनों भावों से किया जाता है। अभेद में भगवान के ध्यान के निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार यह चार भेद हैं। इस प्रकार भेद में भी भगवान के ध्यान के निर्गुण निराकार सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार यह चार भेद हैं।

निर्गुण निराकार - अनिर्वचनीय अचिन्त्य्, अवाङ्मनस् गोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार - अज, अविनाशी, सर्व लोक महेश्वर, मायापति, सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार - अज, अविनाशी, गुणातीत, मायातीत, दिव्य

विग्रह, भगवान।

सगुण साकार - अज, अविनाशी, लीला बिहारी अपनी दिव्य प्रकृति के साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान का विराट् विश्व स्वरूप परमात्मा। द्वेत या भेद।

निर्गुण निराकार -जीवों पर दया करने वाले सर्वशक्तिमान, न्यायकारी निगुर्ण परमात्मा।

सगुण निराकार - जीव जगत् का संचालन करने वाले, सर्वलोक महेश्वर विश्वरूप, विश्वकर्ता विश्वभर्ता, व विश्व संचालक प्रभु।

निगुर्ण साकार - भक्तों की सुधि लेने के लिए माया रूपधारी वस्तुतः स्व स्वरूप से सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार - भक्तों के साथ लीला करने वाले समस्त गुण निधि लीलामय भगवान्।

इन सब रूपों में एक ही सत्य तत्व वर्तमान है और वह सब में, सब जगह सब भांति, परिपूर्ण है। बुद्धिमान् साधक अपने भावों के अनुसार किसी एक रूप में उनका ध्यान करता है।

अब द्वैत अद्वैत, दोनों प्रकारों के ध्यानों के कुछ रूप आगे दिये जाते हैं।

अभेद ध्यान

(१) आंखें बंद करके या नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर साधक चित्त की ओर देखे और उसमें जो कुछ भी प्रतीत हो, उसी को कल्पना मात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्त में आने वाली वस्तु का त्याग करते–करते शरीर इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सत्ता भी न रहने दे। सबका अभाव करते–करते कुछ काल में जब सारे दृश्य पदार्थ चित्तवृत्ति से निकल जाते हैं। हावभाव सब के अभाव का निश्चय करने वाली एकमात्र वृत्ति ही रह जाती है। यही शुभ और शुद्ध चित्त है। सब दृश्य प्रपंच का अभाव करने के बाद वह स्वयं भी शांत हो जाता है। फिर त्याग, त्यागी, त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाती है। इसके

बाद जो कुछ भी बचा रहता है वही चेतन धन परमात्मा है। इस प्रकार विचार पूर्वक दृश्य प्रपंच का अभाव करके, अभाव करने वाली वृत्ति का भी परमात्मा में लय कर देना चाहिये।

(२) आंखें बन्द करके इन्द्रियों के कार्य को रोककर साधक मन के द्वारा पुनः–पुनः परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करे। जो कुछ भी स्फुरणा मन में आये उसी में परमात्मा का भाव करे ऐसा करते–करते स्फुरणायें बन्द हो जायेंगी। परन्तु सावधान एक ही स्फुरणा परमात्मा के भाव से अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बचे रहेंगे, उस परमात्मा के साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात्चित्त में यह वृत्ति जाग्रत रहे कि मैं परमात्मा का ध्यान कर रहा हूं तो इस वृत्ति को भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्मा की सर्व व्यापक सत्ता में मिल जायेगी, तब केवल एक परमात्मा का बोध ही रह जायेगा।

(३) आंखें बन्द करे या नासिकाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे जैसे कमरे में रखे हुए घड़े का आकाश कमरे से भिन्न नहीं है। और कमरे का आकाश जिस खुले आकाश में मकान बना है उससे अलग नहीं है। उस खुले आकाश में ही सब कमरे बने हैं। उन्हीं में से एक कमरे में घड़ा है अतएव सब जगह वही एक आकाश है, कमरे और घड़े की उपाधि से अनेक आकाश दिखाई देते हैं। घड़े का आकाश अपनी अल्प सीमा को त्याग कर महान् आकाश में स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है। यदि उस महान की दृष्टि से देखें तो उसका पता लगेगा कि सब कुछ उसी में ही कल्पित है और सब कुछ में सत्य रूप से वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़े का निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारण से हुआ है। उस उपादान और निमित्त का कारण का भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पंचभूतों में सबसे पहले आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीर में से अपने मैं पन को निकालकर विश्वरूप भगवान की समष्टि में स्थिर करे ओर समष्टि के नेत्रों से समस्त विश्व को अपने शरीर सहित उसी में कल्पित देखें। जैसे यशोदा जी ने भगवान के श्री मुख के अन्दर विश्व ओर उस विश्व में ब्रज

के एक गांव में अपना घर और उसमें श्री बालकृष्ण को ओर हाथ में लकुटी लिये अपने को देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकार को समष्टि में लय करके फिर उस समष्टि को भी अचिन्त्य परमात्मा में लय कर दे।

(४) आंखे बन्द कर इस प्रकार विचार करो कि इस पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनों में जो कुछ देखने, सुनने या देखने में आता है वह सब एक मात्र परमात्मा ही है। वही विश्वरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत उनहीं से निकलता हैं, उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में लय हो जाता है। यह सृष्टि, स्थिति और संहार की लीला उनके अपने ही अन्दर उन्हीं के द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीला का एक खिलौना मात्र हूं और जैसे सारी लीला वही है वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते–करते अपने सहित संसार और संसार के पदार्थों को एकमात्र परमात्मा के स्वरूप में लीन करके फिर ऐसा निश्चय करने वाली बुद्धि को भी परमात्मा में विलीन कर दे।

(५) आंखें बन्द करके नासिका पर दृष्टि स्थिर करके यह निश्चय करे कि सत्, चित और आनन्द से परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूं। इतने में ही उसने आकर मुझको अपने अन्दर ले लिया और मैं उसमें डूब गया एवं उसमें गलकर घुल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व नहीं रहा। बस अब वह केवल चेतन का अथाह आनन्द का समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपने को परमात्मा में लीन कर दें।

(६) आंखें बंद कर या नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करें कि ये जो कुछ देख, सुन और जान रहा था वह सब केवल स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, आकाश, दिशा, काल, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, दिन, रात देश, वेश, आदि सब कुछ स्वप्न ही स्वप्न है। और मेरे ही अन्दर मेरे ही संकल्प के आधार पर स्थित थे। यह सब मेरी ही कल्पना थी। अब मुझे ज्ञान हो गया है। अतएव यह सब अब कुछ नहीं रहे केवल मैं ही मैं बच रहा हूं मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूं, परमात्मा ही अपने

संकल्प से यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार विचार द्वारा चित्त को परमात्मा में लीन कर दें।

(७) शरीर के सभी मर्म स्थानों की भिन्न–भिन्न नाड़ियों के पृथक्–पृथक् स्थान और कौन सा वायु कहां रहता है। तथा क्या करता है, इस शरीर विज्ञान को क्रिया रूप में भलीभांति ज़ानकर तब आंखें बन्द कर ध्यान के लिए बैठे और ज्योर्तिमय, निर्मल आकाशवत् सर्वव्यापी दृढ़, अत्यंत अचल, नित्य आदि मध्य और अंत रहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, अवकाश रहित, स्पर्श रहित, चक्षु से अगोचर, रस ओर गंध हीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य, प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आंखें, सब और पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्श वाले सर्वव्यापी ब्रह्म का ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है। ऐसा अनुभव करे।

(८) आंखें बन्द कर अपने अन्दर इस प्रकार देखें कि कंद से निकले हुए बारह अंगुल नली वाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशर युक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायाम, द्वारा विकसित, आठ दल वाले हृदय कमल पर, सब प्राणियों के हृदय में रहने वाले, पुरुषोत्तम देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति, भगवान विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओं में, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान के अंग केयूर, और कुण्डल तथा अन्य आभूषणों से सुशोभित है।

उनके वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिन्ह है। पद्मोदर सदृश ओष्ठ है। प्रसन्न वदन है। मंद, मंद, निर्मल, हंसी हंस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिक के समान वर्ण है। पीताम्बर पहने हुए है ओर अपने दिव्य प्रकाश से प्रकाशित हैं। या प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके वह देखें कि मैं उन्हीं में विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझ से भिन्न नहीं रहे।

(९) आंखें बन्द कर व अभ्यास हो जाने पर प्रत्यक्ष सूर्य मंडल में देखें कि दिव्य रथ के अन्दर पद्मासन पर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमल सदृश मुख मंडल वाले हिरण्यवर्ण है। पुरूष विराजित

है उनके केश, मूछें और नखं भी हिरण्यवर्ण मय है। उनका दर्शन पापों को नाश करने वाला है। वे सब लोगों को अभय देने वाले है। उनके ललाट की आभा पद्म के गर्भ पत्र के समान लाल है। वे समस्त जगत् के प्रकाशक और सब लोगों के अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और साधन कर रहे हैं। ऐसे भगवान आदित्य का दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चय के साथ ही अपने को उनमें चित्तवृत्ति द्वारा लीन कर दे।

(१०) कर्णिका और केशर युक्त अष्टदल हृदय कमल में चन्द्रमण्डल के मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्मा को देखे ओर ऐसा निश्चय करे कि वह आत्मा मैं ही हूं। और वह आत्मारूप मैं अमृत वर्षा करने वाली चन्द्रकिरणों से घिरा हुआ हूं, शिर में स्थित अधोमुखी षोडश दल कमल से गल–गल कर अमृत की धारायें हजारों प्रकार मेरे चारों ओर बह रही हैं वह अव्यय परमात्मा पर ब्रह्म मैं ही हूं।

ध्यान विधि

ध्यान तीन प्रकार का है। स्थूल, ज्योति, और सूक्ष्म ध्यान, जिसमें मूर्तिमान देवता या गुरु का ध्यान किया जाता है उसे स्थूल ध्यान, जिसमें तेजोमय ब्रह्म या प्रकृति की भावना को ज्योतिर्ध्यान व बिन्दुमय ब्रह्म एवं कुण्डलिनी शक्ति का दर्शन लाभ हो उसे सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

(१) स्थूल ध्यान

साधक नेत्र बन्द करके ऐसा ध्यान करे कि एक अति उत्तम अमृत सागर बह रहा है। समुद्र के बीच में एक रत्नमय द्वीप है। वह द्वीप रत्नमयी बालुका वाला होने के कारण चारों ओर शोभा दे रहा है। इस रत्नद्वीप के चारों ओर चमेली, मालती, केशर, चम्पा, पारिजात, पद्म और स्थल पद्मों के बहुत से वृक्ष उस द्वीप की खाई के समान लगे हैं। इन सब वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से सब दिशायें सुगन्धित हो रही है।

साधक मन में इस प्रकार चिंतन करें कि इस कानन के मध्य भाग

में मनोहर कल्प वृक्ष शोभायमान है। उसकी चार शाखायें हैं। वे चारों शाखायें चतुर्वेदमय है। और वे शाखायें तत्काल उत्पन्न हुये पुष्प और फूलों फलों से लद रही हैं। उन शाखाओं पर भौंरे गुञ्जार करते हुये मंडरा रहे हैं। और कोकिलायें उन पर बैठी हुई कुहू, कुहू, शब्द करके मन को हर रही हैं। फिर साधक इस प्रकार चिंतन करे कि इस कल्पतरु के नीचे महामणियों से उज्जवलित एक रत्न मंडप अत्यंत शोभा दे रहा है। उस मंडप के बीच में मनोहर पलंग बिछा हुआ है। और उस पर अपने अभीष्ट देव विराजमान हैं। गुरुदेव ने जैसा–जैसा अभीष्ट देव का ध्यान, रूप, भूषण, वाहन आदि का उपदेश दिया हो साधक उसी प्रकार ध्यान करे।

(१) ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार नामक एक सहस्रदल महापद्म है, इस कमल के मध्य में और एक बारह दल वाला श्वेत कमल है जो परम तेज सम्पन्न है उस कमल के बारह पत्तों में क्रमशः ह,स,क्ष,म,ल,व,र,यूं,ह,स,ख,फें, यह बारह बीज लिखे हैं। उस कमल की कर्णिका में 'ॐ' बना हुआ है, फिर साधक ऐसा चिंतन करे कि इस स्थान पर सुमनोहर नाद बिन्दु मय एक पीठ विराजमान है। इस पीठ सिंहासन पर दो हंस खड़े हैं। तीन नेत्र हैं और वे शुक्ल वस्त्रों से सुशोभित हैं। उनके शरीर पर शुभ्र चन्दन लगा हुआ है, कंठ में श्वेत वर्ण के प्रसिद्ध पुष्पों की माला पड़ी है, उनके वाम पार्श्व में रक्तवर्ण शक्ति (गुरु पत्नी) शोभा दे रही है। इस प्रकार गुरु का ध्यान करने से स्थूल ध्यान सिद्ध होता है।

(२) विश्वसार तंत्र में लिखा है कि मस्तक में जो शुभ्र वर्ण का कमल है, साधक प्रभात काल में उस पद्म में गुरु का ध्यान करे, कि वह शान्त त्रिनेत्र, द्विभुज है। और उनके हाथों में वर और अभय मुद्रा है। इस प्रकार का ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है।

(३) जिस सहस्र दल कमल में प्रदीप्त अन्तरात्मा अधिष्ठित है, उसके ऊपर नाद बिन्दु के मध्य में एक उज्वल सिंहासन विद्यमान है, उसी पर इष्टदेव विराजमान हैं। वे वीरासन से बैठे हैं। उनका शरीर चांद के समान श्वेत है। वे नाना प्रकार के आभूषणों से विभूषित है और

शुभ्र माला, पुष्प और वस्त्र धारण किये हैं। उनके हाथों में वर और अभय मुद्रा है। उनके वाम अंग पर शक्ति विराजमान है। गुरुदेव करुण दृष्टि से चारों ओर देख रहे हैं। उनकी प्रियतमा शक्ति दाहिने हाथ से उनके मनोहर शरीर का स्पर्श कर रही है। शक्ति के वाम कर में रक्त पद्म है और वे रक्त वर्ण के आभूषणों से विभूषित है। इस प्रकार उन ज्ञान सहायुक्त गुरु का नाम स्मरण पूर्वक ध्यान करे यह भी स्थूल ध्यान है।

(२) ज्योतिर्ध्यान

मूलाधार अर्थात् गुह्य प्रदेश और लिंग मूल के मध्यगत स्थान में कुण्डलिनी सर्पाकार में विद्यमान है। इस स्थान में जीवात्मा दीपशिखा के समान अवस्थित है। इस स्थान पर ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान करो इसको ज्योतिर्ध्यान अथवा तेजोध्यान कहते हैं।

(१) एक दूसरे प्रकार का तेजोध्यान है जो कि भृकुटि के मध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में जो 'ॐ कारमय और शिखामाला समन्वित ज्योति विद्यमान है, उस ज्योति का ध्यान करे 'इस ध्यान से योग सिद्धि आत्म प्रत्यक्षता सिद्ध होती है।

(३) सूक्ष्म ध्यान

बड़े भारी प्रारब्ध व पुण्य का उदय होने से साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर, आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध्र मार्ग से होकर ऊर्ध्वभागस्थ, राजमार्ग नामक स्थल में परिभ्रमण करती है। भ्रमण करते समय सूक्ष्म और चंचलता के कारण ज्ञान योग में कुण्डलिनी का देखना कठिन होता है, साधक शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करते हुए कुण्डलिनी का ध्यान करे, इसी का नाम सूक्ष्य ध्यान है। यह ध्यान अति गोपनीय है और यह कठिनता से प्राप्त होता है।

स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्याने सौ गुना, और ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इन ध्यानों द्वारा आत्म साक्षात्कार और ध्यान सिद्धि प्राप्त होती है।

नोट–शाम्भवी मुद्रा अन्य मुद्राओं के साथ देखिये।

ध्यान विधि

आंखों को बंद करके भ्रूमध्य में बिना आंखों को दाबे ध्यान करना चाहिये। कुछ दिनों तक ध्यान करने पर तीन अथवा, पांच बिन्दु दिखाई देंगे, जिनमें एक कृष्ण और शेष श्वेत दिखाई देंगे, ऐसी भावना करना चाहिये। बिन्दु के भीतर प्रवेश करने पर भीतर का भूताकाश दिखाई देगा। उसके बाद तृतीय नेत्र प्रकट होगा, जो ज्योति से घिरा होगा। यह ज्योति मकड़ी के जाल के समान होती है और कांपती रहती है फिर उस ज्योति में वर्ण दिखाई देगा, उसमें गुहा और गुहा के भीतर चन्द्रमा व तारे दिखाई देंगे। उसके बाद अंधकार पूर्ण गुहा अपने भीतर स्वतः ले जायेगी। उसके भीतर महाकाश है जिसमें हिरण्यवर्ण के सूर्य है। यहां पर ईश्वर प्रेम स्वरूप है और सर्वत्र प्रेम व्याप्त है। उसके बाद चिदाकाश है, जिसमें आत्म दर्शन होता है। वहां की सब वस्तुऐं 'सोऽहं' उच्चारण करती हुई मिलेंगी या प्रतीत होगी। उसके बाद दूध के समान हंस और उसके बाद त्रिकोण दिखाई देगा जिसके मध्य में भीतर ब्रह्म बिन्दु होगा। ध्यान से बिन्दु का लय हो जायेगा। यही यथार्थ अन्तिम योग का ध्यान बिन्दु है।

ईश्वर दर्शन का ध्यान

समस्त शक्तियों का भंडार व केन्द्र, समस्त विश्व का संचालक, तथा समस्त ऐश्वर्य का श्रोत है। इस सत्य को मान लेने, इसी पर ध्यान करने से तुम्हारे और उसके बीच में जितने भी पर्दे है, वह सब एक–एक करके हट जायेंगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य है।

दूसरा सत्य है आत्मा। आत्मा का वाचक 'मैं' है। इस 'मैं' के अंदर ही प्रथम सत्य को प्राप्त कर लेने की शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्य में ही पहला सत्य छिपा है।

पहले उक्त दोनों सत्य समझने की आवश्यकता है। वह और मैं

(ईश्वर और जीव) इसी को द्वैतवाद कहते हैं। फिर जैसे ध्यान का अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे ही द्वैत की भावना क्षीण होती जायेगी। व 'मै' विस्मरण होता जायेगा। जिस समय 'मैं' बिल्कुल विस्मरण होकर इसके परे की अवस्था में स्थित हो जाती है, उसी अवस्था को अद्वैत अवस्था कहते हैं। यही सबसे ऊंची अवस्था है। यहां पहुंचने वाले को प्रेम, जीवन शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता आदि सब कुछ प्राप्त हो जाते हैं। पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष के यही लक्षण हैं। दुःखी पुरुषों के दुःखों को मिटाने में ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियों का प्रयोग करते हैं।

सब मनुष्यों में परमात्मा है और परमात्मा सब शक्तियों का भंडार है। उसके पास पहुंचने का मार्ग ध्यान है। ध्यान के द्वारा मनुष्यों की सभी इच्छायें पूरी हो सकती हैं। यह पाश्चात्य मनोविज्ञान का तत्व है।

पंच कोष

प्राच्य प्रणाली के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए पहले निम्नलिखत पंचकोषों का ज्ञान आवश्यक हे। तदन्तर उसमें ध्यान द्वारा प्रवेश करना चाहिए।

(१) अन्नमय (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) विज्ञानमय (५) आनन्दमय कोष इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

(१) अन्नमय कोष

पहले शुचि होकर एकान्त में बैठकर विश्व में बिखरी हुई वृत्तियों को खींचकर अपने स्थूल शरीर पर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है? रस, रक्त, मां, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र का बना हुआ एक पुतला। यह सातों धातु अन्न से बनी है। इसीलिये इस पुतले का नाम अन्नमय कोष है।

(२) प्राणमय कोष

अब अन्नमय कोष के भीतर प्रवेश करिये। वहां प्राणमय कोष है।

प्राण दस है। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इन्हीं दस प्राणों के द्वारा शरीर और मन के व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करने को प्राणमय कोष में प्रवेश करना कहते हैं। इसके आगे मनोमय कोष है।

(३) मनोमय कोष

इसमें मन के साथ पंच कर्मेन्द्रियां हैं। हाथ, पैर, गुदा मूत्रेन्द्रिय व मुख। इसके आगे विज्ञानमय कोष है।

(४) विज्ञानमय कोष

इसमें बुद्धि के साथ पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। कान, नाक, आंख, जिह्वा एवं त्वचा। इसके आगे आनन्दमय कोष है।

(५) आनन्दमय कोष

इसमें पहुंचने पर आनन्द क्या है? इसका अनुभव होता है ओर आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने हृदय में अंगुष्ठ परिणाम हृदयाकाश में अणु परिमाणलिंग शरीर को ध्यान करे। यह लिंग शरीर सत्रह तत्वों का बना हुआ है। पांच ज्ञान, पांच कर्म, पांच तन्मात्राएं, मन और बुद्धि इसी लिंग शरीर के भीतर वह जीवात्मा रहता है। जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मै' कहते हैं। वह इसी लिंग शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यान द्वारा पहुंच जाता है। अर्थात् अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसका बाह्य भाग बिल्कुल नष्ट हो जाताहै। यही उसकी पहचान है।

जैसे हम, जीवात्मा इस स्थूल शरीर में रहते हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी हमारे भीतर रहता है। इसलिये परमात्मा के दर्शनाभिलाषियों को पहले इन पांच कोषों के ध्यान क्रम से जीवात्मा तक पहुंचना चाहिये। इसी स्थान व अवस्था में उस परमपिता परमात्मा के दर्शन प्राप्त होते

हैं, या हो सकते हैं।

यह विषय बड़ा ही गूढ़ और गहन है इसीलिये इसको मनन् और निदिध्यासन् करना और किसी योग्य व अनुभवी महात्मा द्वारा इसे समझना अत्यंत आवश्यक है।

पंचदेवों की साधना

वेद, पुराण और धर्मशास्त्रों में वेदपूजा का महान फल लिखा है। देवता कौन कौन और कितने हैं? इसमें मतभेद हैं। वेदान्ती केवल ब्रह्म को ही देवता मानते हैं। यास्क ने दान और दीपन करने वाले 'द्यौः' नामक स्थान में रहते हैं। उनको देवता बतलाया है अथवा सृष्टि में जो भी प्रकाशमान है, वे सब देवता हैं। प्राचीन काल में सूर्य, चन्द्र, अग्नि इन्द्र और तारागणों से संसार के अनेक कार्य व उपकार होते देखकर उन्हीं को देवता माना गया है। कात्यायन के कथनानुसार जिसकी कथा या वाक्य है। वे ऋषि है जिनका विषय उन्हीं से ज्ञान होता है। वे देवता हैं, ओर ऋषि, छन्द तथा देवता, इनसे वेद बने हैं। संख्या की दृष्टि से वेदान्तानुसार केवल एक ब्रह्म है जनता प्रकृति और पुरुष दो जानती हैं। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु व महेश तीन हैं। ऋग्वेद में इन्द्र मित्र, वरुण और वह्नि चार हैं। आह्निक तत्व में विष्णु, रुद्र, गणेश सूर्य और शक्ति पांच है। ब्रह्मवैवर्त में गणेश, महेश, दिनेश व अग्नि, विष्णु और उमा छः हैं। शतपथ में ८ वसु, ११ रुद्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र, और १ प्रजापति–३३ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ११ स्वर्ग के ११ पृथ्वी के और ११ अंतरिक्ष के –३३ हैं। दूसरी जगह अग्नि, वायु, इन्द्र और मित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूनृता, इला और इन्द्राणी १२ देवियों के नाम हैं। तीसरी जगह ३३३६ देवता लिखे हैं ऐतरेय में ३३ सोमप ओर ३३ असोमप कुल ६६ बतलाये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य 'सोमप' (अमृत पीने वाले) हैं ओर ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'असोमप' अमतेतर पेय पीने वाले हैं। उनकी तृप्ति गंध पुष्पादि से और इनकी यज्ञादि के पशुओं से होती है। अग्नि पुराण के अनुसार १४६ देवी और आदित्य पुराण के अनुसार २०० देवता है। हिन्दू संसार में ३३ देवता

विख्यात हैं। और पद्म पुराण में भी यहीं संख्या निर्दिष्ट की गई है।

देव पूजा, में मनुष्य को सुख शान्ति और संतोष प्राप्त होता है। उत्तम विचारों का उदय होकर आलौकिक शक्ति आती है तथा कल्याण होता है। इसी कारण लोग अपनी रुचि व उद्देश्यानुसार किसी न किसी देवता को पूजते हैं। कोई किसी को भी पूजे परन्तु पूजा एक ही ब्रह्म की होती है क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाश के अगणित तारों पर ब्रह्म के प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्य नारायण का जब प्रकाश पड़ता है। तभी वह प्रकाशित होते हैं, यदि प्रकाश न पड़े तो दिखाई नहीं दे सकता, उसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक प्राणी, पदार्थ व देवादि में ब्रह्म ही का अंश विद्यमान रहता है तभी वह अमुकामुक माने जाते हैं। अन्यथा यह दिख नहीं सकते। अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादि की साधना, उपासना या आराधना में ब्रह्म ही का ध्यान होता है और वही इष्टदेव में प्रविष्ट होकर अभीष्ट फल देते हैं।

सभी देवता ब्रह्म के अंश प्रसूत है परन्तु पंचदेव ब्रह्म के प्रतिरूप है। ब्रह्म, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप व अशरीरी है। वे सर्व गत होने पर भी जाने नहीं जाते। उनको वही जान सकता है जो संसारी बंधनों से मुक्त लोक व्यवहारों से विमुक्त और फलाशाओं से सर्वथा उन्मुक्त है। परन्तु साधारण मनुष्य से ऐसा नहीं हो सकता। जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादि को देखा नहीं वह उसके रूप को भला कैसे, हृदयांकित कर सकता है? अतएव अमूर्त ब्रह्म को हृदयस्थ करने के लिये 'मूर्तब्रम्ह' 'पंचदेव' (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति) की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेयस्कर है और इसीलिये उनका परिचय आगे दिया जाता है।

यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि जब देवता अनेक हैं तब उनकी अपेक्षा पंचदेवों की साधना क्यों की जाय? इस शंका का समाधान दो प्रकार से हो सकता है।

एक तो यह कि 'पंचदेव' पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश के अधिष्ठाता या तन्मय ओर पंचतत्व ब्रह्म के स्वरूप हैं। अतएव अशरीरतत्त्व

ब्रह्म की उपासना सशरीर पंचदेव के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। कपिल तंत्र में लिखा है।

'आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः'

अर्थात 'विष्णु आकाश के, सूर्य, वायु के, शक्ति अग्नि की, गणेश जल के और शिव पृथ्वी के अधिपति हैं।'

दूसरा यह व्याकरण के नियमानुसार अन्य देवों की अपेक्षा पंचदेव के धात्वर्थक नाम ही ऐसे हैं जिनसे उनका ब्रह्म होना द्योतित होता है। क्योंकि 'विष्णु' (सब में व्याप्त) 'शिव' (कल्याणकारी) 'गणेश' (विश्वगत सर्व गणों के ईश) 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य) इन नामों का पूर्ण अर्थ ब्रह्म ही में घटता है। अतएव अन्य देवताओं कीअपेक्षा इनकी साधना ही हितकर है।

उक्त पंचदेवों कीपूजा उसी तरह आवश्यक है जैसे ब्राह्मणों के लिए नित्य स्नान। यदि यह न किया जाय तो प्रत्यवाय होता है। पूजा तीन प्रकार की होती है। (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य।

जो प्रतिदिन की जाय 'नित्य' जो महोत्सव व विशेष अवसरों पर की जाय वह 'नैमित्तिक' और जो सुख–सम्पत्ति और संतान आदि की प्राप्ति के लिए की जाय वह 'काम्य' कहलाती है।

भारत में पंचदेवों की सामूहिक पृथक्–पृथक् अथवा उनमें से किसी एक ही की पूजा करने वालों की ही संख्या अधिक है। तंत्रसार के अनुसार ब्रह्म के उपासक 'ब्राह्म' विष्णु के उपासक 'वैष्णव' सूर्य के उपासक 'सौर्य' और शक्ति के उपासक 'शाक्त', शिव के उपासक शैव, गणिपति के उपासक गाणपत्य कहलाते हैं। इनमें शैव, वैष्णव ओर शक्ति के उपासक विशेष विख्यात है और भारत भर में आप सर्वत्र इन्हीं के मंदिर पायेंगे तथा लोगों के बारे में घर–घर इन्हीं की मूर्तियों की साधना करते हुए देखेंगे।

मन्दिरों व घरों में चाहे विष्णु, श्रीकृष्ण जी, रामचन्द्र जी, लक्ष्मी

नारायण जी, गोविंद, बालमुकुंद, शिवजी, गणेश जी, सूर्यनारायण, काली, हनुमान जी, दुर्गा, भवानी, सरस्वती जी, लक्ष्मी जी, भैरव जी आदि की ही मूर्तियां हो परन्तु वह सब हैं उसी ब्रह्म की सत्ता ओर पंचदेव के ही नामान्तर व रूपान्तर अतएव प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य व धर्म हे कि वह पूजाविधि के अनुसार पंचदेव की सामुदायिक, पृथक–पृथक अथवा जो इष्ट हो उनकी नित्य साधना करें। उनकी शरण में जाने से उसकी सब कामनायें अवश्य पूर्ण होगी यह ध्रुव सत्य है।

नाम साधना

नाम की महिमा अपार है, उसकी आलौकिक शक्ति का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। देवता व ऋषि मुनि लोग इसकी जो कुछ महिमा गाते हैं वहीं हम लोगों के लिए आधार है।

नाम संकीर्तन लेशमात्र भी पाप नहीं रहने देता। यमदमादि इसके सामने फीके पड़ जाते हैं, तीर्थ स्थान छोड़ देते हैं। यमलोक का रास्ता बंद हो जाता है। यम कहते हैं हम किसको यातना दें, दम कहते हैं हम किसका दमन करें और तीर्थ कहते हैं हम क्या खायें? भगवान के नाम संकीर्तन कीमहिमा ही ऐसी है। संकीर्तन करने वाले बिना अमृत के जिला देते हैं और बिना योग साधन आदि के भगवान को प्रत्यक्ष करा देते हैं भगवान कहते हैं कि हे नारद!

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।

मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

मैं न तो वैकुंण्ठ में ओर न योगियों के हृदय में रहता हूं, मैं तो वहीं रहता हूँ जहां भक्त लोग मेरा संकीर्तन करते हैं।

तुकाराम जी महाराज ने कहा है कि उठते, बैठते, खाते, पीते, चलते, फिरते, सोते, जागते भगवान का नाम लेने से संसार के दुःख छूट जाते हैं। नाम से बढ़कर कोई साधन नहीं है। कंठ से नाम उच्चारिये और मन में उनका ध्यान करिये। भगवान सामने उपस्थित हैं। पुराणों, वेदशास्त्रों, योगशास्त्रों आदि में सिवाय भगवान के नाम के और कुछ

नहीं है। सब झंझट छोड़ो, क्या इतने कष्ट उठा रहे हो? सार वस्तु को ग्रहण करो पूर्ण विश्वास के साथ भगवान के नाम का अखंड स्मरण करो। बस यही सार है और इसी में मुक्ति आदि सब कुछ है।

पांच वर्ष के बालक, ध्रुव, नारद जी द्वारा बतलाये हुए, 'ॐ नमो नारायणाय, भगवते वासुदेवाय' का जप करने से महान पद को प्राप्त हो गये। नाम की महिमा का कहां तक वर्णन किया जाय क्योंकि आप सभी लोग अच्छी प्रकार जानते हैं कि –

उल्टा नाम जपा जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।

शैव साधना

भगवान एक ही है, लीला भेद से उन्हीं के अनेकों नाम और दिव्य रूप हैं। साधक अपनी–अपनी प्रकृति रुचि के अनुसार किसी भी नाम रूप की उपासना करके भगवान् को प्राप्त कर सकता है। ऋषियों मुनियों ने जैसे भगवान विष्णु की आराधना की है। वैसे ही भगवान शिव की है और यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही परमतत्व इन दो रूपों में प्रकाशित है। जैसे भगवान विष्णु परमात्मा, परब्रह्म, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता साकार व सगुण भगवान हैं वैसे ही भगवान शिव हैं। कल्पभेद से कभी विष्णु की प्रधानता होती है तो कभी शिवरूप की वे आप ही एक रूप से सृष्टा बनते हैं, दूसरे से सृष्टि, एक से उपासक दूसरे से उपास्य। आप ही पूजते हैं आप ही पुजवाते हैं। यह उनकी सारी लीला बड़ी रहस्यमयी है।

यजुर्वेद की माध्यन्दिनीय शाखा के १६ वें अध्याय में शिवजी के निराकार साकार रूप का स्पष्ट वर्णन है। कैवल्योपनिषद् में कहा है कि– 'वे आदि, मध्य, अन्तहीन, निराकार, एक विभु, चिदानन्द, स्वामी, उमा के साथ रहने वाले, त्रिनेत्र और नीलकंठ हैं। इसमें भी भगवान शिव के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया है। श्वेताश्वतर (६/७) में लिखा है कि 'वे ईश्वरों के भी परम महेश्वर, देवताओं के भी परम देवता, परम पूज्य और भुवनेश्वर हैं।

इन्हीं की शक्ति माया प्रकृति है और यह माया के अधिपति महेश्वर हैं इनकी माया से ही यह अखिल विश्व है। वे ही इसके परम

आधार है और कारण भी हैं। इन्हीं परमपुरुष भगवान का नाम सृष्टयुन्मुखी होने पर 'अनादि लिंग' है और इनको आधार देने वाली इन्हीं की अनादि शक्ति देवी का नाम योनि है, यही दोनों अखिल ब्रह्माण्ड चराचर के परम कारण हैं। इनके साकार रूप लीला भेद से अनेक प्रकार के हैं। सभी पूज्य व उपास्य है। इनका पंचमुख रूप प्रसिद्ध है। पांच मुख इस प्रकार है।

(१) ईशान (२) घोर (३) तत्पुरुष (४) वामदेव (सद्योजात) यहां तीन स्वरूपों के ध्यान व मंत्र लिखे जाते हैं।

(१) भगवान नीलकण्ठ - दस हजार बाल सूर्यों के समान तेजस्वी, सिर पर जटाजूट, ललाट पर अर्धचन्द्र और मस्तक पर सर्पो का मुकुट धारण किये हैं, चारों हाथों में जयमाला, शूल नरकपाल और खट्वाङ्ग मुद्रा है। तीन नेत्र, पांच मुख, सुन्दर विग्रह, व्याघ्राम्बर पहने और पद्म पर विराजित है। इनका मंत्र प्रों. श्रीं ठः।

(२) शंकर जी का शरीर नीलमणी और प्रवाल के समान सुन्दर, तीन नेत्र, चारों हाथों में पाश, लाल कमल, कपाल और शूल है आधे अंग में अम्बिका जी और आधे में महादेव जी हैं दोनों अलग–अलग श्रृंगारों से शोभित, ललाट पर अर्ध चन्द्र और मस्तक पर मुकुट शोभायमान है। इनका मंत्र है। **रं क्षं मं, यं औं ॐ।**

(३) त्रयम्बक भगवान शिव का शरीर अत्यंत निर्मल है वे सुन्दर कमल पर विराजित हैं। आठ हाथ हैं। दो हाथों में अमृत के घड़े हैं। दो हाथों में मृगमुद्रा और अक्षमाला है, दो हाथों में अमृत से भरे घड़े हैं और दो हाथों से उन अमृत के सिर में स्थित चन्द्र कला पर उड़ेल रहे हैं। इनका मंत्र है, 'ॐ ह्रौं, जूं, सः भुभुर्व स्वः ॐ त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम् ऊर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात हौं ॐ जूं सः ॐ भूभूर्वः स्वः।

शक्ति साधना

जिस प्रकार विष्णु और शिव एक हैं उसी प्रकार शक्ति भी उनसे अभिन्न है। यह एक ही परम तत्व के विभिन्न नाम हैं।

देवी, विष्णु और शिव आदि में एकत्व ही देखना चाहिये। जो इनमें भेद करता है वह निःसंदेह नरक में जाता है। (मुंडमाला तंत्र)

जिस प्रकार शिव विष्णु को विभिन्न शास्त्रों में परब्रह्म, परमात्मा, सृष्टिकर्ता व सर्वव्यापी बतलाया है उसी प्रकार शक्ति को भी बतलाया है।

एक बार देवताओं ने भगवती से पूछा कि –'कासि त्वं महादेवी' अर्थात् हे महादेवी! आप कौन हैं? भगवती जी ने उत्तर दिया। 'अहं ब्रह्म स्वरूपिणी, मतः प्रकृति पुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्' (श्रुति) अर्थात मैं ब्रह्म रूपिणी हूं, यह पुरुषात्मक जगत् मुझ ही से उत्पन्न हुआ है।

इसी तरह के और बहुत से प्रमाण हैं। जिनसे भगवती का निर्गुण पर ब्रह्मस्वरूप और निर्गुण निराकार सृष्टिकर्ता स्वरूप सिद्ध है। भगवती के अनेक रूप हैं। इनमें नव दुर्गा दश महाविद्या आदि प्रसिद्ध है। नव दुर्गा (१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चन्द्रघंटा (४) कूषमाण्डा (५) स्कन्दमाता (६) कात्यायनी (७) कालरात्री (८) महागौरी और (९) सिद्धदात्री।

दशमहाविद्या - (१) काली (२) तारा (३) षोड़शी त्रिपुर सुन्दरी (४) भुवनेश्वरी (५) छिन्नमस्ता (६) भैरवी (त्रिपुर भैरवी) (७) धूमावती (अलक्ष्मी) (८) बगलामुखी (९) मातङ्गी और (१०) कमला (लक्ष्मी) ये दश महाविद्या हैं। इनमें काली के शिव हैं महाकाल, तारा के अक्षोभ्य षोडशी के पंचवक्त्र, भुवनेश्वरी के त्रयम्बक, छिन्नमस्ता के कवन्ध, भैरवी के दक्षिणा मूर्ति, बगला के एक मुख महारुद्र, मातंगी के मातंग और कमला के सदाशिव विष्णु, धूमावती विधवा मानी गई है।

इन सब के अलग ध्यान मंत्र, यंत्र व कवच आदि भी हैं।

प्रधान महादेवियां तीन हैं। (१) महाकाली (२) महालक्ष्मी (३) महासरस्वती। इनका मंत्र ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' यही प्रसिद्ध नवार्ण मंत्र है। मार्कण्डेय पुराण के तेरहवें अध्याय की दुर्गा सप्तशती है जिसमें भगवती शक्ति के स्वरूप, चरित्र, उपासना और साधनाओं का सुन्दर वर्णन है। विधि पूर्वक दुर्गा सप्तशती का पाठ, नवार्ण मंत्र का जप, पंचांग पुरश्चरण सहित करने से सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। भगवती की कृपा से अचला भक्ति और परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

श्री भगवती तंत्रमयी, मंत्रमयी, और प्रकाशमयी है। मंत्रमयी ध्यान से प्रसन्न होती है। भगवती 'श्री' की साधना किसी अनुभवी महापुरुष से जानकर ही करनी चाहिये वह प्रसन्न होकर साधक से सब क्रियायें पूर्ण करा देती हैं। और श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर उनसे सब योगिक क्रियायें सिद्ध करा दी थीं। भगवती की कृपा से साधक सर्व गुण सम्पन्न हो सकता है। सब सिद्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

ईश्वर व देवताओं की आराधना

भगवान श्री रामचन्द्र जी की आराधना-

भगवान श्री रामचन्द्र जी नवनील नीरद दूर्वा के अग्रभाग के समान हरित आभा युक्त सुन्दर श्याम वर्ण है। किशोर अवस्था है। धनुष बाण और तर्कस धारण किये हुए हैं। कमर में सुन्दर पीताम्बर पहने हुए है विशाल व अतुल बलधारीभुजायें हैं। अति सुन्दर चिबुक और नासिका है। कानों में सुवर्ण कुण्डल शोभायमान हैं। सुन्दर अरुणिमा युक्त कपोल है लाल लाल अधर हैं। कमल रूपी नेत्र और चितवन कामदेव को हरने वाली हैं। तिरछीं भोंहें हैं, काली अलकें भौंरों की पंक्तियों को लजाती हैं। मस्तक पर सुवर्ण रत्न जड़ित मुकुट सुशोभित है उनकी दया व प्रेमपूर्ण श्रोत से चारों ओर आनन्द की वर्षा हो रही है।

भगवान श्री कृष्ण जी

भगवान के चरणार बिन्द बड़े ही मनोहर हैं। चरणों में बजने वाले रत्न जटित नूपूर हैं। सुन्दर पैर व कदली फल के खम्भ की तरह जंघायें हैं। मेघश्याम नीलवर्ण शरीर पर पीताम्बर सुशोभित हैं। कमर में रत्न जटित करधनी पहने हैं। सुन्दर चार लंबी भुजायें हैं। ऊपर दाहिने हाथ में अत्यंत उज्जवल तीव्र किरणों से युक्त सुदर्शन चक्र है ओर नीचे के हाथ में कौमोद की गदा है। बायें ऊपर के हाथ में विजयी पाञ्चजन्य शंख व नीचे के हाथ में रक्तवर्ण कमल शोभायमान है। भुजाओं में बाजूबन्द व कड़े धारण किये हैं हाथों की अंगुलियों में रत्नजड़ित

अंगूठियां पहने हैं। भगवान का वक्षस्थल परमसुन्दर है ओर उसमें भृगु ऋषि के पद चिन्ह धारण किये हैं। गले में वनमाला, वैजयन्ती माला व तुलसीयुक्त सुगन्धित पुष्प तथा मुक्तमाल व रत्नों का हार विभूषित है। मनोहर चिबुक, लाल लाल ओष्ठ व सफेद अनार के दानों के समान दंत पंक्ति है। भगवान मंद–मंद मुस्करा रहे हैं। नासिका अति सुन्दर दोनों कानों में मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे हैं। कमल के समान नेत्र हैं, धनुष कमान की तरह भृकुटी हैं। विशाल और प्रकाशमान मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड लाल तिलक के समान सुशोभित है। भंवर काले व घुंघराले मनोहर केश हैं। सर पर परम देदीप्यमान दिव्य रत्नजटित मोर मुकुट शोभायमान है।

भगवान के सभी अंग परमसुन्दर हैं और चित्ताकर्षक है। भगवान के मुखारबिन्द के चारों ओर अत्यंत सूर्यो सा प्रकाश फैल रहा है और अनन्त दया व आनन्द की वर्षा हो रही है।

सूर्य भगवान

सूर्य ग्रहों के राजा हैं। जपा कुसुम के समान उनका वर्ण है। दोनों हाथों में कमल लिये हैं। सिन्दूर के समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हैं। जगमगाते हीरे, चन्द्रमा और अग्नि को प्रकाशित करने वाला तेज, त्रिलोक के अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश। सात घोड़ों के एक चक्र रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरू की प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाश के समुद्र भगवान सूर्य का ध्यान करना चाहिये। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधि देवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और वाह्य पूजा के अनन्तर मंत्र जप करना चाहिये। सूर्य देव के अनेकों मंत्रों में से एक मंत्र यह भी है – 'ॐ ह्रीं ह्रौं सूर्याय नमः'

भगवान शंकर

सुन्दर कैलाश पर्वत पर भगवान शंकर जी विराजमान हैं सुन्दर कैलाश पर्वत पर मृगछाल बिछी हुई है। उस पर वह आसीन है चार

श्री भगवती तंत्रमयी, मंत्रमयी, और प्रकाशमयी है। मंत्रमयी ध्यान से प्रसन्न होती है। भगवती 'श्री' की साधना किसी अनुभवी महापुरुष से जानकर ही करनी चाहिये वह प्रसन्न होकर साधक से सब क्रियायें पूर्ण करा देती हैं। और श्री रामकृष्ण परमहंस के पास उन्होंने एक योगिनी भेजकर उनसे सब योगिक क्रियायें सिद्ध करा दी थीं। भगवती की कृपा से साधक सर्व गुण सम्पन्न हो सकता है। सब सिद्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

ईश्वर व देवताओं की आराधना

भगवान श्री रामचन्द्र जी की आराधना-

भगवान श्री रामचन्द्र जी नवनील नीरद दूर्वा के अग्रभाग के समान हरित आभा युक्त सुन्दर श्याम वर्ण है। किशोर अवस्था है। धनुष बाण और तर्कस धारण किये हुए हैं। कमर में सुन्दर पीताम्बर पहने हुए है विशाल व अतुल बलधारीभुजायें हैं। अति सुन्दर चिबुक और नासिका है। कानों में सुवर्ण कुण्डल शोभायमान हैं। सुन्दर अरुणिमा युक्त कपोल है लाल लाल अधर हैं। कमल रूपी नेत्र और चितवन कामदेव को हरने वाली हैं। तिरछीं भोंहें हैं, काली अलकें भौंरों की पंक्तियों को लजाती हैं। मस्तक पर सुवर्ण रत्न जड़ित मुकुट सुशोभित है उनकी दया व प्रेमपूर्ण श्रोत से चारों ओर आनन्द की वर्षा हो रही है।

भगवान श्री कृष्ण जी

भगवान के चरणार बिन्द बड़े ही मनोहर हैं। चरणों में बजने वाले रत्न जटित नूपूर हैं। सुन्दर पैर व कदली फल के खम्भ की तरह जंघायें हैं। मेघश्याम नीलवर्ण शरीर पर पीताम्बर सुशोभित हैं। कमर में रत्न जटित करधनी पहने हैं। सुन्दर चार लंबी भुजायें हैं। ऊपर दाहिने हाथ में अत्यंत उज्जवल तीव्र किरणों से युक्त सुदर्शन चक्र है ओर नीचे के हाथ में कौमोद की गदा है। बायें ऊपर के हाथ में विजयी पाञ्चजन्य शंख व नीचे के हाथ में रक्तवर्ण कमल शोभायमान है। भुजाओं में बाजूबन्द व कड़े धारण किये हैं हाथों की अंगुलियों में रत्नजड़ित

अंगूठियां पहने हैं। भगवान का वक्षस्थल परमसुन्दर है ओर उसमें भृगु ऋषि के पद चिन्ह धारण किये हैं। गले में वनमाला, वैजयन्ती माला व तुलसीयुक्त सुगन्धित पुष्प तथा मुक्तमाल व रत्नों का हार विभूषित है। मनोहर चिबुक, लाल लाल ओष्ठ व सफेद अनार के दानों के समान दंत पंक्ति है। भगवान मंद–मंद मुस्करा रहे हैं। नासिका अति सुन्दर दोनों कानों में मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे हैं। कमल के समान नेत्र हैं, धनुष कमान की तरह भृकुटी हैं। विशाल और प्रकाशमान मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड लाल तिलक के समान सुशोभित है। भंवर काले व घुंघराले मनोहर केश हैं। सर पर परम देदीप्यमान दिव्य रत्नजटित मोर मुकुट शोभायमान है।

भगवान के सभी अंग परमसुन्दर हैं और चित्ताकर्षक है। भगवान के मुखारबिन्द के चारों ओर अत्यंत सूर्यो सा प्रकाश फैल रहा है और अनन्त दया व आनन्द की वर्षा हो रही है।

सूर्य भगवान

सूर्य ग्रहों के राजा हैं। जपा कुसुम के समान उनका वर्ण है। दोनों हाथों में कमल लिये हैं। सिन्दूर के समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हैं। जगमगाते हीरे, चन्द्रमा और अग्नि को प्रकाशित करने वाला तेज, त्रिलोक के अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश। सात घोड़ों के एक चक्र रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरू की प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाश के समुद्र भगवान सूर्य का ध्यान करना चाहिये। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधि देवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और वाह्य पूजा के अनन्तर मंत्र जप करना चाहिये। सूर्य देव के अनेकों मंत्रों में से एक मंत्र यह भी है – 'ॐ ह्रीं ह्रौं सूर्याय नमः'

भगवान शंकर

सुन्दर कैलाश पर्वत पर भगवान शंकर जी विराजमान हैं सुन्दर कैलाश पर्वत पर मृगछाल बिछी हुई है। उस पर वह आसीन है चार

भुजायें हैं। ऊपर के दाहिने हाथ में ज्ञान मुद्रा है। नीचे के हाथ में फरसा है, ऊपर के बायें हाथ में मृग मुद्रा से सुशोभित है। नीचे का हाथ जानु पर रखा है। गले में रुद्राक्ष की माला है। सांप लिपटे हुए हैं। कानों में कुण्डल सुशोभित है। ललाट पर त्रिपुंड शोभा पा रहा है। सुन्दर तीन नेत्र हैं। नेत्रों की दृष्टि नासिका पर लगी है। मस्तक पर अर्धचन्द्र है। सिर पर जटाजूट धारण किये हैं अत्यंत प्रसन्न मुख है। देवता ओर ऋषि भगवान शंकर की स्तुति कर रहे हैं, बड़ा ही सुन्दर स्वरूप है।

विभिन्न देवताओं के मंत्र

एक ही भगवान की विभिन्न रूपों में साधना होती है। जहां जिस रूप में विश्वास करके जो साधक जैसी साधना करता है, भगवान उसी रूप में श्रद्धा, स्थापित कराकर उसकी साधना के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। देवताओं के नाम,मंत्र जप संख्या व उनका फल नीचे लिखा जाता है।

(१) **भगवान शंकर** - 'ॐ हौं ॐ नमः शिवाय' जप संख्या पांच लाख और सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

(२) **महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती मंत्र** - ॐ 'ऐं ह्री क्लीं, चामुण्डायै विच्चे।' जप संख्या ६ लाख एवं सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

(३) **श्री लक्ष्मी देवी मंत्र** - 'ॐ ऐं, श्री ह्री क्लीं' जप संख्या १२ लाख, फल चतुवर्ग की प्राप्ति होती है।

(४) **सरस्वती मंत्र** - 'ॐ ह्रीं हसौंः सरस्वत्यै नमः।' जप संख्या १.२ लाख, फलः विद्या की प्राप्ति होती है।

(५) **गायत्री-मंत्र** - 'ॐ भूभुर्वः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।' जप संख्या २४ लाख, फल, सर्व कामना पूर्ति।

(६) **काली मंत्र** - 'ॐ क्लीं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके स्वाहा। जप संख्या २ लाख फलः पूर्ववत्।

(७) **गणेश-मंत्र**- 'ॐ ह्रीं गं ह्रीं महागणपतये स्वाहा।' जप संख्या

१ लाख फल, पूर्ववत्। मंत्र नं. २ वक्रतुण्डाय हुं।

(८) सूर्यनारायण मंत्र - 'ॐ नमो नारायणाय ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः' एवं 'ॐ नमो सूर्याय।' जप संख्या १६ लाख, फल पूर्व के समान हैं।

(९) लक्ष्मीनारायण मंत्र - 'ॐ नमो नारायणाय।' जप संख्या १६ लाख फल पूर्व सदृश ही है।

(१०) रामचन्द्र जी मंत्र - 'ॐ रां रामाय नमः। जप संख्या ६ लाख, फल ज्ञान और ऐश्चर्य प्राप्ति।

(११) भगवान श्री कृष्ण जी - मंत्र– 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय।' जप संख्या १० लाख, फल भक्ति ज्ञान व ऐश्वर्य प्राप्ति।

(१२) श्री राधाकृष्ण मंत्र - 'ॐ गोपीजन वल्लभाय' जप संख्या १० लाख, फल सर्वार्थ प्राप्ति। श्री राधा–मंत्र 'ॐ ह्रीं श्री राधिकायै नमः। जप संख्या १६ लाख फल सर्वार्थ प्राप्ति।

(१३) कृष्ण भगवान मंत्र - 'ॐ क्लीं गोपीजन वल्लभाय स्वाहा।' जप संख्या डेढ़ लाख, फल–बृहस्पति के समान त्रिकालज्ञता की प्राप्ति।

(१४) शक्ति-मंत्र - 'ॐ नमः शक्त्यै' जप संख्या ६ लाख फल–सर्व कमनाओं की पूर्ति।

(१५) हनुमान जी मंत्र - 'ॐ नमो हनुमते, ॐ हनुमते नमः' शेष सब पूर्ववत्।

(१६) इन्द्र–मंत्र – ॐ इन्द्राय नमः।

(१७) अग्नि मंत्र – ॐ अग्नये नमः।

(१८) कुबेर मंत्र – ॐ नमः कुबेराय।

(१९) वास्तुदेव – मंत्र ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।

(२०) नृसिंह – मंत्र– ॐ आं ह्रीं क्षों क्रों हुं फट्। जप संख्या आदि पूर्ववत् ही है।

नवग्रहों के मंत्र

सूर्य – ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः

चन्द्र – ॐ ऐं क्लीं सोमाय नमः

भौम – ॐ हूं श्रीं मंगलाय नमः

बुध – ॐ ऐं स्त्रीं श्रीं बुधाय नमः

गुरु– ॐ ऐं क्लीं बृहस्पतये नमः

शुक्र– ॐ ह्रीं श्रीं शुक्राय नमः

शनि – ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शनैश्चराय नमः

राहू – ॐ ऐं ह्रीं राहवे नमः

केतु – ॐ ह्रीं केतवे नमः

प्रणवोपासना

शास्त्रों में प्रणव मंत्र (ओंकार) को मंत्र राज कहा है क्योंकि उसकी उपासना से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह प्रत्यगात्मा का वाचक या प्रतीत रूप है। नृसिंह पूर्व तापिनीयोपनिषद् में इसका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है। देवताओं ने मंत्र राज काश्रवण करके सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा बुद्धि को शुद्ध किया ओर मंत्रराज प्रणव के मार्ग को जानने के लिये प्रजापति से प्रार्थना की। तब प्रजापति ने उनको उक्त उपनिषद मे उसका विस्तार से युक्तिपूर्वक उपदेश किया या दिया। ओंकार अशेष जगदात्मक है। ऐसा ध्यान करके तथा 'सारा प्रपंच ब्रह्म है' एवं 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है' ऐसी आलोचना करने से ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता सिद्ध होती है और इससे निर्गुण ब्रह्म का 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। किन्तु ओंकार का सर्वात्म ध्यान के लिये कल्पना की जाती है ओर ब्रह्म का सर्वात्म वास्तविक है। ध्यान करने वाला उपासक 'ॐ उच्चारण करते हुए सर्वात्मा की ब्रह्म के साथ और ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता करता है। इससे ब्रह्म और आत्मा का अन्योन्य तादात्म्य सिद्ध होता है।

आत्मा का रूप

आत्मा के चार पाद हैं। उनमें विश्वनामक अध्यात्म और वैश्वानर नाम अधिदेव देही प्रथम पाद हैं। इसका स्थान जाग्रत अवस्था है। मस्तक, नेत्र, मुख, प्राण, देहमध्य, मूत्रस्थान और उसके नीचे का स्थान (चरणादि) यह इसके सात अंग हैं। वैश्वानर की उपासना विधि का वर्णन छान्दोग्य श्रुतियों में है। उसमें द्युलोक को इसका मस्तक, आदित्य को नेत्र वायु को प्राण, आकाश को देह मध्य, जल को मूत्रस्थान और पृथ्वी को चरण बतलाया है। परन्तु माण्डूक्योपनिषद् में इसे उन्नीस मुखवाला कहा है। वे उन्नीस मुंह यह हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। आत्मा की चार अवस्थायें होती हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय।

(१) जहां इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार होता है, वह जाग्रत मानस, चिंतन स्वप्न, तूष्णीं स्थित सुषुप्ति और तृप्तत्व तृप्ति को तुर्या कहते हैं। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियग्राह्य विषयों को ग्रहण करने वाला होने से बहिष्प्रभ ओर स्थूल भुक् हैं।

(२) तेजस नामक अध्यात्म और सूत्र संज्ञक अधिदेव देही दूसरा पाद है। इसका स्थान स्वप्नावस्था है। प्रथम पाद के समान उसके भी सात अंग है। और उन्नीस मुख हैं, लेकिन इसका भोग्य इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। यह मन सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करता है। इसलिये इसे अन्तः प्रज्ञ ओर सूक्ष्मभुक् कहते हैं।

(३) सुषुप्ति प्रज्ञा और ईश्वर आत्मा का तीसरा पाद है। उसमें बुद्धि का लय हो जाने से द्वैत का अभाव हो जाने के कारण आत्मा एकीभूत हो जाता है और उस अवस्था में दुख का अभाव हो जाने के कारण उसे आनन्दमय कहतेहैं।

(४) सुषुप्ति के चार स्वरूप हैं। उनको सुप्ति जाग्रत, सुप्ति–स्वप्न, सुप्ति–सुप्ति ओर सुप्ति–तुरीय कहते हैं। इनमें प्रज्ञा सुखमयी सुप्त–तुर्य अवस्था का अभिमानी है।

यह तीनों पाद माया मात्र हैं। आत्मा सदा चिदेक रस स्वरूप ही होता है। तन्द्रा में जो वाणी से अध्ययनादि होता रहता है, उसे सुप्ति जागर कहते हैं तथा उस समय जो तरह–तरह के दृश्य दिखाई देने लगते हैं, वे सुप्ति स्वप्न है। इसी प्रकार प्रगाढ़ निद्रा को सुप्ति–सुप्ति ओर तत्कालीन सुखानुभव को सुप्ति–तुर्य कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों पादों से आत्मा की चिदेकरसता आवृत्त हो जाती है। उनसे अनावृत्त शुद्ध चिदात्म तुरीय है। यही इसका चौथा पाद है। सम्पूर्ण पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म का अनुभव करने वाले को 'ओता' कहते हैं, अनुज्ञाता होने से वह 'अनुज्ञाता' कहलाता है। ज्ञातृव्य का निषेध होकर केवल चिदेकरस स्वरूप रहने के कारण उसे अनुज्ञा कहते हैं तथा इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त होने पर वह अविकल्प कहा जाता है। विद्वान् की जाग्रत ओर सुषुप्ति यह तीनों अवस्थाएं भी माया लेश मुक्त होती हैं और आत्मा का यह अविकल्प पाद माया से सर्वथा मुक्त होता है। तीसरा पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका कारण, समस्त भूतों का प्रभवरूप और आश्रय स्थान है। किन्तु इस तुरीय पाद का वर्णन किसी शब्द से नहीं किया जा सकता। वह न अन्तःप्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है इस प्रकार छः निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित किया जाता है। यहां 'अन्तः प्रज्ञ नहीं हैं'। ऐसा कहकर विश्व का 'उभयतः प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का 'प्रज्ञानघन नहीं है' इस वाक्य से सुषुप्ति का 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं हैं' इससे अचेतन का प्रतिषेध किया गया है। उसका स्वरूप देखने में नहीं आता, वह व्यवहार का विषय नहीं है, उसे किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते तथा उसका कोई लक्षण 'चिन्ह' भी नहीं है। वह चिंतन और कथन में भी नहीं आ सकता तथा एक मात्र चैतन्य का सार स्वरूप, सर्वथा प्रपंच शून्य, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसी का नाम आत्मा है तथा उपर्युक्त तीन पदों के निषेध द्वारा यही जिज्ञासुओं का ज्ञेय है।

श्रुतयुक्त योग और ब्रह्म विवेक से संसार निवृत्ति रूप इष्ट सिद्धि

-न्यास और उसका महत्व-

न्यास का अर्थ है स्थापन अर्थात् बाहर और भीतर प्रत्येक अंग में इष्ट देवता और मंत्र का स्थापन ही न्यास है। इस स्थूल शरीर में अपवित्रता का राज्य है या (साम्राज्य) है इसीलिये वह देवपूजा का उस वक्त तक अधिकारी नहीं जब तक वह शुद्ध न हो जाय। जब तक उसमें अपवित्रता बनी रहती है तब तक उसके स्पर्श और स्मरण से चित्त में ग्लानि बनी रहती है। विक्षेप और अवसाद से आक्रान्त होने के कारण बार–बार प्रमाद ओर तन्द्रा से अभिभूत हुआ करता है। सब दोषों को मिटाने के लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर के प्रत्येक अवयव में जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदय के मानव अन्तराल में जो भावना शक्ति मूर्छित है उसको जगाने के लिए न्यास महा औषधि है।

न्यास कई प्रकार के होते हैं। (१) मातृका न्यास स्वर और वर्णों का।

(२) मंत्र न्यास पूरे मंत्र का, मंत्र के दो पदों का, मंत्र के एक–एक अक्षर का और एक साथ ही सब प्रकार का होता है।

(३) देवता न्यास शरीर के बाहर और आभ्यन्तर अंगों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथा स्थान न्यास को कहते हैं।

(४) तत्त्वन्यास वह है जिसमें संसार के कार्य कारण के रूप में परिणित और उनसे परे रहने वाले तत्वों का शरीर में यथा स्थान न्यास किया जाता है। यही पीठ न्यास भी है।

(५) जो हाथों की सब अंगुलियों में तथा करतल और करपृष्ठ में किया जाता है। यह करन्यास है।

(६) जो त्रिनेत्र देवताओं के प्रसंग में षडंग और अन्य देवताओं प्रसंग में पंचांग होता है, उसे अंगन्यास कहते हैं।

(७) जो किसी भी अंग का स्पर्श किये बिना सर्वाङ्ग में मंत्र न्यास किया जाता है वह व्यापक न्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यास के छः अंग

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्म शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्म शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

यह तीनों पाद माया मात्र हैं। आत्मा सदा चिदेक रस स्वरूप ही होता है। तन्द्रा में जो वाणी से अध्ययनादि होता रहता है, उसे सुप्ति जागर कहते हैं तथा उस समय जो तरह–तरह के दृश्य दिखाई देने लगते हैं, वे सुप्ति स्वप्न है। इसी प्रकार प्रगाढ़ निद्रा को सुप्ति–सुप्ति ओर तत्कालीन सुखानुभव को सुप्ति–तुर्य कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों पादों से आत्मा की चिदेकरसता आवृत्त हो जाती है। उनसे अनावृत्त शुद्ध चिदात्म तुरीय है। यही इसका चौथा पाद है। सम्पूर्ण पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म का अनुभव करने वाले को 'ओता' कहते हैं, अनुज्ञाता होने से वह 'अनुज्ञाता' कहलाता है। ज्ञातृव्य का निषेध होकर केवल चिदेकरस स्वरूप रहने के कारण उसे अनुज्ञा कहते हैं तथा इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त होने पर वह अविकल्प कहा जाता है। विद्वान् की जाग्रत ओर सुषुप्ति यह तीनों अवस्थाएं भी माया लेश मुक्त होती हैं और आत्मा का यह अविकल्प पाद माया से सर्वथा मुक्त होता है। तीसरा पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका कारण, समस्त भूतों का प्रभवरूप और आश्रय स्थान है। किन्तु इस तुरीय पाद का वर्णन किसी शब्द से नहीं किया जा सकता। वह न अन्तःप्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है इस प्रकार छः निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित किया जाता है। यहां 'अन्तः प्रज्ञ नहीं हैं'। ऐसा कहकर विश्व का 'उभयतः प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का 'प्रज्ञानघन नहीं है' इस वाक्य से सुषुप्ति का 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का और 'अप्रज्ञ नहीं हैं' इससे अचेतन का प्रतिषेध किया गया है। उसका स्वरूप देखने में नहीं आता, वह व्यवहार का विषय नहीं है, उसे किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते तथा उसका कोई लक्षण 'चिन्ह' भी नहीं है। वह चिंतन और कथन में भी नहीं आ सकता तथा एक मात्र चैतन्य का सार स्वरूप, सर्वथा प्रपंच शून्य, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसी का नाम आत्मा है तथा उपर्युक्त तीन पदों के निषेध द्वारा यही जिज्ञासुओं का ज्ञेय है।

श्रुतयुक्त योग और ब्रह्म विवेक से संसार निवृत्ति रूप इष्ट सिद्धि

होती है। उपर्युक्त रीति से आत्मा का विवेक कर उसे प्रणव के साथ युक्त करना चाहिये। यह आत्मा ओंकार का अक्षर रूप है और ओंकार अधिमात्रा रूप है। इसके पाद मात्रा रूप हैं। वे अकार, उकार, मकार रूप हैं।

स्थूल सूक्ष्म, बीज और साक्षी यह आत्मा के आगमोक्त चार स्वरूप हैं तथा निवृत्ति प्रतिष्ठा, विद्या और शांति यह उसकी प्रसिद्ध कलाएं हैं। चार प्रकार के भेद वाले उस आत्मा का ओंकार की प्रथम मात्रा अकार के रूप में चतुर्विध जागर ध्यान करना चाहिये। अकार तथा जागर की आप्ति (व्याप्ति) और आदित्व में समानता का चिंतन करना चाहिये। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा आत्मा की व्याप्ति होती है। और अकार क,ख, आदि शब्दों में व्याप्त है। अकार की तथा जाग्रत की आदिता भी लोक में प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह उत्कर्ष और अभयत्व (मध्यवर्तित्व) के कारण उकार की स्वयं मध्यावस्था की तैजस से समानता है तथा प्रमाण ओर लय स्थान रूप होने के कारण मकार सुषुप्ति स्थान प्रज्ञा के सदृश हैं। इस प्रकार इन तीन मात्राओं के साथ वैश्वानरादि का अभेद चिंतन करते हुए अकार को उकार में, उकार को मकार में और मकार को नाद रूप में लीन करे। अकार के द्वारा उपासक का विश्व आत्मा का अभेद होता है, उकार का तेजस के साथ, और मकार से प्रज्ञा के साथ किन्तु अमात्र की उपलब्धि होने पर फिर कोई गति नहीं होती। अमात्र ही तुरीय है। यह आत्मा का चतुर्थ पाद है। यह अव्यवहार्य, प्रपंच, शून्य आनंदमय और अद्वितीय है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो इसकी आत्म भाव से उपासना करता है। यह आत्मा में ही लीन हो जाता है।

यह प्रणवोपासना रूप साधन का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। यह ब्रह्म प्राप्ति का बड़ा उत्कृष्ट साधन है, इसका विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण माण्डूक्योपनिषद और उसके ऊपर लिखी हुई श्री गौड़पादाचार्य की कारिकाओं एवं भगवान शंकराचार्य के भाष्य में किया गया है।

-न्यास और उसका महत्व-

न्यास का अर्थ है स्थापन अर्थात् बाहर और भीतर प्रत्येक अंग में इष्ट देवता और मंत्र का स्थापन ही न्यास है। इस स्थूल शरीर में अपवित्रता का राज्य है या (साम्राज्य) है इसीलिये वह देवपूजा का उस वक्त तक अधिकारी नहीं जब तक वह शुद्ध न हो जाय। जब तक उसमें अपवित्रता बनी रहती है तब तक उसके स्पर्श और स्मरण से चित्त में ग्लानि बनी रहती है। विक्षेप और अवसाद से आक्रान्त होने के कारण बार–बार प्रमाद ओर तन्द्रा से अभिभूत हुआ करता है। सब दोषों को मिटाने के लिए न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर के प्रत्येक अवयव में जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदय के मानव अन्तराल में जो भावना शक्ति मूर्छित है उसको जगाने के लिए न्यास महा औषधि है।

न्यास कई प्रकार के होते हैं। (१) मातृका न्यास स्वर और वर्णो का।

(२) मंत्र न्यास पूरे मंत्र का, मंत्र के दो पदों का, मंत्र के एक–एक अक्षर का और एक साथ ही सब प्रकार का होता है।

(३) देवता न्यास शरीर के बाहर और आभ्यन्तर अंगों में अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओं के यथा स्थान न्यास को कहते हैं।

(४) तत्त्वन्यास वह है जिसमें संसार के कार्य कारण के रूप में परिणित और उनसे परे रहने वाले तत्वों का शरीर में यथा स्थान न्यास किया जाता है। यही पीठ न्यास भी है।

(५) जो हाथों की सब अंगुलियों में तथा करतल और करपृष्ठ में किया जाता है। यह करन्यास है।

(६) जो त्रिनेत्र देवताओं के प्रसंग में षडंग और अन्य देवताओं प्रसंग में पंचांग होता हैं, उसे अंगन्यास कहते हैं।

(७) जो किसी भी अंग का स्पर्श किये बिना सर्वाङ्ग में मंत्र न्यास किया जाता है वह व्यापक न्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यास के छः अंग

होते हैं – सिर में ऋषि, मुख में छन्द, हृदय में देवता, गुह्य स्थान में बीज, पैरों में शक्ति, और सर्वांग में कीलक है। इनके अलावा ओर भी न्यास है लेकिन मुख्य मुख्य ऊपर लिखे जा चुके हैं।

न्यास चार प्रकार से किये जाते हैं। मन में उन–उन स्थानों में देवता, मंत्रवर्ण, तत्व आदि स्थिति की भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवलमन से ही होता है। बहिर्न्यास केवल मन से ओर उन–उन स्थानों के स्पर्श से भी होता है। स्पर्श दो प्रकार से किया जाता है। एक तो अंगूठा और अनामिका को मिलाकर सब अंगों का स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न अंगों का स्पर्श भिन्न–भिन्न अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है, विभिन्न अंगुलियों द्वारा न्यास का क्रम इस प्रकार है। मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से हृदय, मध्यमा, और तर्जनी से सिर अंगूठे से शिखा, दसों अंगुलियों के कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नेत्र, तर्जनी और मध्यमा से करतल, करपृष्ठ में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी से नेत्र में न्यास करना चाहिये। पंचांग न्यास नेत्र को छोड़कर होता है।

वैष्णवों के लिये इसका क्रम अन्य प्रकार का है। ऐसा बतलाया गया है कि अंगूठे को छोड़कर सीधी अंगुलियों से हृदय अंगुलियों से हृदय और मस्तक से न्यास करना चाहिये। अंगूठे को अंदर रखकर मुट्ठी बांधकर शिखा का स्पर्श करना चाहिये। सब अंगुलियों के कवच, तर्जनी के द्वारा मस्तक के चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये। कहीं–कहीं अंगन्यास का मंत्र नहीं मिलता है। ऐसे स्थान पर देवता के नाम के पहले अक्षर से अंगन्यास करना चाहिये।

शास्त्र में यह बात बहुत जोर देकर कही गई है कि केवल न्यास के द्वारा ही देवत्व की प्राप्ति मंत्र सिद्धि से हो जाती है। हमारे भीतर बाहर अंग प्रत्यंग में देवताओं का निवास है। हमारा अन्तस्थल और ब्रह्म शरीर दिव्य हो गया है, इस भावना से ही अदम्य, उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतना का जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाना है। तब भगवान से एकत्व तो स्वयं सिद्ध ही है। न्यास का

कवच पहन लेने पर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते। जबकि बिना न्यास के जप, ध्यान आदि करने पर अनेकों प्रकार के विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मंत्र के, प्रत्येक पद के और अक्षर के अलग–अलग ऋषि, देवता, बीज शक्ति और कीलक होते हैं। मंत्र सिद्धि के लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायता की अपेक्षा होती है। जिस ऋषि ने भगवान शंकर से मंत्र प्राप्त करके पहले पहल उस मंत्र की साधना की थी वह उसका ऋषि है। वह गुरु स्थानीय होने के कारण मस्तक में स्थान पाने के योग्य है। मंत्र के स्वर वर्णो की विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मंत्रार्थ ओर मंत्र तत्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुख द्वारा होता है। छन्द हैं और यह मुख में ही स्थान पाने का अधिकारी है। मंत्र का देवता जो अपने हृदय का धन है समस्त भावों का प्रेरक है हृदय का अधिकारी है, हृदय में ही उसके न्यास का स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं। सबका एक विज्ञान है और यदि यह न्यास किये जायें तो शरीर और अन्तःकरण को दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमा का अनुभव करा देते हैं। न्यासों से बहुत सी सिद्धियाँ और आध्यात्मिक लाभ हो सकते है।

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृका मंत्रस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्री च्छन्दो मातृका, सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्लीं कीलकं मातृकान्यासे विनयोगः।

यह विनियोग करके जल छोड़ दें और ऋष्यादि न्यास करे। सिर में ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः मुखे, ॐ गायत्रीछन्द से नमः हृदये, ॐ मातृका सरस्वत्यै देवतायै नमः गुह्ये, ॐ हल्भ्योः बीजभ्यो नमः पादौ, ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः सर्वाङ्गे ॐ कीलकाय नमः।

इसके पश्चातृ करन्यास करें

ॐ अं,कं,खं,गं,घं,ङं, आं अगुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्याम् स्वाहा।

ॐ उं टं ठं ड़ं ढ़ं णं ऊँ मध्यमाभ्यां वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्टकाभ्यां वौषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः–

करतल कर पृष्ठायां अस्त्राय फट्।

तदन्तर अंगन्यास करे -

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।

ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।

ॐ उ टं ठं ड़ं ढ़ं णं ऊं शिखायै वषट्।

ॐ एं तं थं दं धं न ऐं कवचाय हुम्।

ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वोषट्।

ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं कं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अंगन्यास के पश्चात् अन्तर्मातृका न्यास करना चाहिये। शरीर में छः चक्र है, उनमें जितने दल होते हैं अतने ही अक्षरों का न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न–भिन्न है।

वायु इन्द्रिय और जननेन्द्रिय के बीच में सिषनी के पास मूलाधार चक्र है। उसका वर्ण सोने जैसा है और उसमें चार दल हैं उन चारों दलों पर प्रणव के साथ इन अक्षरों का न्यास करना चाहिये। ॐवं नमः, शं नमः षं नमः सं नमः। जननेन्द्रिय के मूल में विद्युत के समान षड्दल स्वाधिष्ठान कमल है, उसके छः दलों पर प्रणव के साथ इन अक्षरों का न्यास करना चाहिये – ॐ वं नमः भं नमः मं नमः यं नमः रं नमः लं नमः। नाभि के मूल में नील मेघ के समान दशदल मणिपूर चक्र है। उसमें इन वर्णो का न्यास करना चाहिये ॐ डं नमः ढं नमः णं नमः तं नमः थं नमः दं नमः धं नमः नं नमः पं नमः फं नमः हृदय में स्थित मूगों के समान लाल द्वादश दल अनाहत चक्र में ऊँ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं. नमः,

चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः ञं नमः, टं नमः, ठं नमः। कंठ में धूम्र वर्ण षोड़श दल विशुद्ध चक्र है। इसमें ॐ अं नमः आं नमः इं नमः ईं नमः उं नमः ऊँ नमः ऋं नमः ॠं नमः लृं नमः लॄं नमः ए नमः ऐ नमः ओं नमः औं नमः अं नम अः नमः। भ्रूमध्य स्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञा चक्र में ॐ हं नमः क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रार पर जो कि स्वर्ण के समान कान्तिमान और समस्त स्वर वर्णों से भूषित है, ऐसे त्रिकोण का ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोण पर ह, ल, क्ष, ये तीनों वर्ण लिखे हैं इनकी तीनों रेखायें क्रमशः अ से, क से, य शे शुरू हुई है। इस प्रकार त्रिकोण के बीच में सृष्टि, स्थिति, लयात्मक बिन्दु रूप परमात्मा विराजमान हैं। इस प्रकार के ध्यान को अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

'बहिर्मातृकान्यास'

इस न्यास में पहले मातृका सरस्वती का निम्नलिखित ध्यान होता है।

पञ्वाशल्लिनपिर्भिर्विभक्त मुखदोः पन्मध्यवक्षः स्थला।
भास्वन्मौलिनिवद्ध चन्द्रशकलाभापीन तुंङ्गस्तनीम्।।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्य कलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजैः।
विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनांवाग्देवतामाश्रये।।

पचास वर्णों के द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण कटिः और वक्षः स्थल पृथक–पृथक दिख रहे हैं, सूर्य के समान चमकीले मुकुट पर चन्द्रखण्ड शोभायमान है वक्षःस्थल बड़ा और ऊंचा है। कर कमलों में मुद्रा रुद्राक्ष माला सुधापूर्णकलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं अंग–अंग से दिव्य ज्योति दिख रही है। उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृका सरस्वती की मैं शरण ग्रहण करता हूं। ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये इस न्यास में अंगुलियों का नियम अनिवार्य है। इसलिये उन स्थानों के साथ ही अंगुलियों की भी संख्या लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये संख्या का संकेत इस प्रकार है। (१) अंगूठा (२) तर्जनी (३)मध्यमा (४) अनामिका और (५) कनिष्ठा। जहां जितनी अंगुलियों का संयोग करना चाहिये वहां उतनी संख्या लिख दी गई है।

ललाट में ॐ अं नमः ३,४। मुख पर ॐ आं नमः २,३,४ आंखों में ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १,४ इसी प्रकार पहले ॐ पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थान में न्यास करना चाहिये। कानों में ॐ उ, ऊं, १। नासिका में–ऋं, ॠं १ ५ । कपोलों पर लृं, ॡं २,३,४ ओष्ठ में–एं ३, अधर में ऐं ३, ऊपर के दांतों में ओं १। नीचे के दांतों में औं ४। ब्रह्मरन्ध्र में अं ३। मुख में आ ४। दाहिने हाथ के मूल में–कं ३,४,५। कोहिनी में खं ३,४,५। मणिबन्ध में गं। अंगुलियों की जड़ में–घं। अंगुलियों के अग्रभाग में ङं इसी प्रकार बायें हाथ में मूल में कोहिनी, मणिबन्ध, अंगुली और अंगुल्यग्र में चं छं जं झं ञं दाहिने पैर में मूल में दोनों संधियों में अंगुलियों के मूल में और उनके अग्र भाग में– टंठं डं ढं णं। वायें पैर के उन्हीं पांच स्थानों में तं थं दं धं नं दाहिने बगल में पं बायें में फं और पीठ में बं (यहां तक अंगुलियों की संख्या कोहिनी वाली ही समझना चाहिये। नाभि में भं १,३,४,५। पेट में मं १ से ५ तक, हृदय में यं दाहिने कंधे पर रं, गले के ऊपर लं, बायें कंधे पर वं हृदय से दाहिने हाथ तक शं, हृदय से बायें हाथ तक–षं, हृदय से दाहिने पैर तक सं। हृदय से बायें पैर तक– हं, हृदय से पेट तक– लं, हृदय से मुख तक–क्षं हृदय से अंत तक हथेली से न्यास करना चाहिये।

संहार मातृकान्यास

बाह्य मातृकान्यास जहां समाप्त होता है, वहीं से संहार मातृका न्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदय से लेकर मुख तक ॐ क्षं नमः मुख से पेट तक ॐ लं नमः। इस प्रकार उल्टे चलकर ललाट तक पहुंच जाना, यह संहार मातृका न्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है।

अक्षस्रजं हरिणपोत मुदग्रटङ्क
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्ध्देन्दु मौलिमरुणामरविन्दराभां
वर्णेश्वरीं प्रणमतस्तनभारनम्राम्।

जो अपने चार कमलों में सदा रुद्राक्ष की माला, हरिण शावकः पत्थर फोड़ने की तेज टांकी और पुस्तक लिये रहती है। जिनके तीन आंखें हैं और मुकुट पर अर्द्ध चन्द्रमा है, शरीर का रंग लाल है, कमल पर बैठी हुई हैं स्तनों के भार से झुकी हुई उन वर्णेश्वरी को नमस्कार करो। संहार मातृकान्यास के संबंध में कुछ लोगों की ऐसी सम्मत्ति है यह केवल सन्यासियों को ही करना चाहिये। बाह्य मातृकान्यास में अक्षरों का उच्चारण चार प्रकार से किया जाता है या किया जा सकता है। केवल अक्षर, बिन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और बिन्दु विसर्गयुक्त अक्षर। विशिष्ट कामनाओं के अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरों के पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक् सिद्धि के लिये ऐं, श्री वृद्धि के लिये श्रीं, सर्व सिद्धि के लिए नमः, वशीकरण के लिये क्लीं और मंत्र प्रसादन के लिए अः जोड़ा जाता है। मंत्र शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यास के बिना मंत्र अत्यंत कठिन है।

पीठन्यास

देवता के निवास योग्य स्थान को 'पीठ' कहते हैं। जेसे कामाख्यादि स्थान विशेष पीठ के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे बाह्य आसन विशेष शास्त्रीय विधि के अनुष्ठान से पीठ के रूप में परिणित हो जाता है।

वैसे ही पीठ न्यास के प्रयोग से साधक का शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवता के निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युग में जो दो प्रकार के पीठ प्रचलित है, समन्वयक और अमन्त्रक इन दोनों की अपेक्षा यह पीठ न्यास उत्तम है क्योंकि इसमें बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। यह साधक के शरीर में ही मंत्रशक्ति, भावशक्ति प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्ति के सम्मिश्रण से उत्पन्न हो जाता है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो पीठ न्यास में जितने तत्वों का न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीर में पहले ही से विद्यमान हैं। स्मृति और मंत्र के द्वारा उन्हें अव्यक्त से व्यक्त किया जाता है। उनके सूक्ष्म को स्थूल रूप में लाया जाता है। यह सृष्टि क्रम के इतिहास के सर्वथा

अनुकूल है और यह साधक को देवता का पीठ बना देने में समर्थ है। उनका प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है।

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पद के साथ, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है। पहले ॐ पीछे नमः जोड़कर यथा स्थान न्यास करना चाहिये। जैसे ॐ आधार शक्तये नमः। इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ॐ और नमः जोड़कर न्यास का विधान है।

हृदय में– आधार शक्त्ये, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीर समुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमंडलाय, कल्पवृक्षाय, मणि वेदिकायै, रत्नसिंहासनाय।

दाहिने कन्धे पर – धर्माय

बायें	"	ज्ञानाय
उरुपर	"	वैराग्याय
दाहिने	"	ऐश्वर्याय
मुख पर	"	अधर्माय
बायें पार्श्व में	"	अज्ञानाय
नाभि में	"	अवैराग्याय
दाहिने पार्श्व में	"	अनैश्वर्याय

फिर हृदय में– अनन्ताय, पद्माय, अं सूर्यमंडलाय द्वादश, कलात्मने, उं सोम मंडलाय षोडश कलात्मने, मं वह्नि मंडलाय दश कलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे सं तमसे, आं आत्मने, अं अंतरात्मने, पं परमात्मने हीं ज्ञानात्मने।

सब के साथ पहिले ॐ पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेने के पश्चात् हृदय कमल के पूर्वादि केसरों पर इष्ट देवता की पद्धति के अनुसार पीठ शक्तियों का न्यास करना चाहये। उनके बीच में इष्ट देवता का मंत्र जो कि इष्ट देव स्वरूप ही है स्थापित करना चाहिये। इस न्यास से साधक के हृदय में ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णों के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णों का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णों के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णों का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

देवता को आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासों के अतिरिक्त और भी बहुत से न्यास है। जिनका वर्णन उन मंत्रों के प्रसंग में आता है। जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं। वैष्णवों का एक केशव कीर्त्यादि न्यास है, उसमें भगवान केशव, नारायण माधवादि मूर्तियों को उनकी शक्तियों के साथ शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यास के फल में कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करने मात्र से साधक को भगवान के समान बना देता है। वास्तव में न्यासों में ऐसी ही शक्ति है।

सिर में ऋषि, मुख में छन्द ओर हृदय में इष्ट देवता का न्यास करने के अतिरिक्त जब सर्वांग में या यों कहिये कि रोम–रोम में सशक्ति देवता का न्यास किया जाता है, तो मन को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीर के रोम–रोम में देवता, अणु–अणु में देवता और देवतामय शरीर। ऐसी स्थिति में यह मन भी दिव्य हो जाता हे। जड़ता के चिंतन से और अपनी जड़ता से यह संसार मन को जड़ रूप में प्रतीत होता है। इसका वास्तविक रूप तो चिन्मय ही है। यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मय के ध्यान से इसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मय के रूप में ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयता का बोध हो जाता है। तब अन्तर्देश में रहने वाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मय से एक हो जाता है और केवल चैतन्य ही चैतन्य शेष रह जाता है।

सृष्टि के गंभीर रहस्यों की दृष्टि से न्यास भी एक अतुलनीय साधन है वर्णो के न्यास से वर्णमयी सृष्टि का बोध होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी तब प्रथम कम्पन के रूप में प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणव से ही समस्त स्वर वर्णो का विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी संपादन से वेद ओर वेद के समस्त सृष्टि। इस क्रम से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह समस्त महान और अणु, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूप से वर्ण ही है।

पीठ न्यास योग पीठ न्यास अथवा तत्त्वन्यास के द्वारा भी हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जो साधना का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अधिष्ठान परब्रह्म में आधार शक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीर सागर से मणि मंडप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदि की भावना करते–करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्ट देवता का ध्यान करते–करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रम का ज्ञान होने से बुद्धि अधिष्ठान तत्व की ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्ट देवता को प्राप्त करके उसी में लय होने लगता है इस प्रकार आनन्दमयी अवस्था का विकास होकर, सब कुछ भगवान् ही हैं और भगवान् के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

तत्वों (भूतों) की साधना

अधिकांश लोगों का मन अपनी विशालता, शक्ति ओर ज्ञान को भूलकर अपने शरीर की प्रवृत्तियों में इतना अधिक फंस गया है कि अपने को शरीर के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं समझता है। मन इस अज्ञानता व दुर्बलता के कारण ही संसार के सारे दुख द्वन्द्व हैं यह मन जब तक अपने चिन्मयत्व का अनुभव नहीं कर लेता तब तक सुखी और शान्त नहीं हो सकता। इसलिये भावना और अभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्रों व संतों ने इसी के लिये अपने साधन बतलाये हैं। जिनमें एक प्रमुख साधन पंचभूतों की धारणा है। स्वरूप की उपलब्धि ही इस साधना का उद्देश्य है, यद्यपि मार्ग में सभी प्रकार की सिद्धियाँ मिलती है।

सात तत्व

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) अव्यक्त और (७) अहंकार।

इनकी साधना का अर्थ है कि क्रमशः चित्त को इन्हीं में बांधना यद्यपि यह सब चित्त में बंधे हुए हैं। तथापि वर्तमान काल की शरीर प्राप

मनोवृत्ति को देखते हुए इनको ऊपर उठाने का यही क्रमिक उपाय मालूम होता है।

(१) पृथ्वी तत्व की धारणा

इस धारणा का यह स्वरूप है कि यह पांचों तत्व जो इन्द्रियों से बाहर दिख रहे हैं। सबके सब मन के अंदर हैं। मनुष्य शरीर में पैर से लेकर घुटनों तक पृथ्वी मंडल है, इसका रंग हरताल के समान पीला है उसकी स्थिति चतुष्कोण है। इसके अधिष्ठात्री देवता चार मुख वाले ब्रह्मा हैं और बीज 'लं' है। प्राणों को स्थिर करके पांच घटिका पर्यन्त उपर्युक्त धारणा करना चाहिये। यह धारणा करते–करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीर में आवद्ध अथवा शरीर नहीं हूं। मैं सम्पूर्ण पृथ्वी हूं यह सम्पूर्ण नदी नद में शरीर की नस नाड़ियां है। और सम्पूर्ण जीवों के शरीर रोग अथवा आरोग्य के कीटाणु हैं। समस्त पार्थव शरीर मेरे ही अंग हैं। घेरंड संहिता में कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकार से पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं शारीरिक मृत्यु पर उसका अधिकार हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथ्वी तल पर विचरण करते हैं। महर्षि याज्ञवल्कय ने कहा है कि पृथ्वी धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार के रोग नहीं होते। इसका गुण गंध हैं, ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीर में पांडु, कमला आदि रोग इसी तत्व के विकार से उत्पन्न होते हैं। यह विकार मूलाधार चक्र में ध्यान करने से शांत होते हैं। भय आदि मानसिक विकारों में इसी तत्व की प्रधानता होती है।

ध्यान विधि - एक पहर रात रह जाने पर शांत स्थल में पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके घुटनों पर ऐसे रखे कि जिससे अंगुलियां पेट की तरफ रहे तब नासा दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में अर्थात 'ल' बीज वाली चौकोण, पीली पृथ्वी का ध्यान करे। इस क्रिया से नाक सुगन्ध से भर जायेगी, शरीर स्वर्ण के समान कांति वाला हो जायेगा ध्यान करते

समय पृथ्वी के उपर्युक्त तमाम गुणों को प्रत्यक्ष करना चाहिये ओर 'लं' बीज का जप करते रहना चाहिये।

(२) जल तत्व धारणा

घुटनों से लेकर पायु इन्द्रिय पर्यन्त जल का स्थान है। कुछ आचार्यों के मत में जानु से लेकर नाभि तक जल का स्थान है। लेकिन याज्ञवल्क्य जी यह नहीं मानते। जल मंडल शंख चन्द्रमा ओर कुन्द के समान श्वेत वर्ण है। इसका बीज अमृतमय 'वं' है इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्भुज, पीताम्बर धारी, शुद्ध स्फटिक मणि के समान श्वेतवर्ण, मंद मंद मुस्कुराते हुए परम कोमल भगवान नारायण हैं। इस जल मंडल का चिंतन करके प्राणों के साथ इसको हृदय में ले आवे और पांच घटिका पर्यन्त चिंतन करे। इसका चिंतन करने से अनुभव होने लगता है कि मैं जल तत्व हूं। पृथ्वी का कण–कण मेरे अस्तित्व में स्निग्ध हैं। स्वर्गीय अमृत और विष दोनों मेरे ही स्वरूप है। कुसुमों की सुकुमारता और पाषाणों का पिण्डी भाव मेरे ही कारणहै। पृथ्वी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथ्वी के रूप में प्रकट हुआ हूं। मैं ही नारायण का आवास स्थान हूं। अनुभवी संतों का कहना है कि जल धारणा सिद्ध हो जाने पर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्तःकरण के विकार धुल जाते हैं। अगाध जल में भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

यह तत्व शरीर के स्वाधिष्ठान चक्र में स्थित है। यह चक्र लिंग के मूल में विद्यमान है। यह चक्र शरीर में 'भुव' लोक का प्रतिनिधि है और उसमें जल तत्व का निवास है। इसकी आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। इसका रस कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसास्वाद इसी तत्व के कारण होते हैं। उसकी ज्ञानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिंग है। मोहादि विकार इसी तत्व के परिणाम है।

ध्यान विधि - पृथ्वी तत्व की ध्यान विधि में प्रदर्शित आसन में बैठकर 'व, बीज वाले अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कांति वाले जल तत्व का उस चक्र में ध्यान करे। इससे भूख प्यास मिटकर सहन शक्ति

पैदा होगी ओर जल में अव्याहत गति हो जायेगी।

(३) अग्नि तत्व धारणा

वायु इन्द्रिय से लेकर हृदय पर्यन्त अग्नि मंडल है। इसका वर्ण रक्त है आकार त्रिकोण है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि और बीज 'रं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता त्रिनेत्र धारी भगवान शिव हैं। इनका चिंतन करते हुए प्राणों को स्थित करे। जब यह धारणा सिद्ध हो जाती है तब यह अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूं। सम्पूर्ण वस्तुओं का जो रंग रूप देखने में आता है वह भी मैं ही हूं। मणियों की चमक–दमक, पुष्पों का सौंदर्य और आकर्षण मेरे ही कारण हैं। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत के रूप में प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूं। समस्त देवताओं का शरीर मेरे द्वारा बना है। पांच घटिका पर्यन्त अग्नि धारणा सिद्ध होने से कालचक्र का भय नहीं रहता। साधक का शरीर यदि धधकती हुई आग में डाल दिया जाय तो भी वह नहीं जल सकता शरीर में इस तत्व का स्थान 'मणिपुर' चक्र' है। यह चक्र नाभि में स्थित है और 'स्व' लोक का प्रतिनिधि है। इसका गुण रूप है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय आंख और कर्मेन्द्रिय पैर है। क्रोधादि विकार तथा सूजन आदि में इस तत्व की प्रधानता होती है। इस तत्व की सिद्धि से अपचनादि पेट केविकार दूर होते हैं कुण्डलिनी जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान विधि - ऊपर लिखे आसन में बैठकर 'रं' बीज वाले त्रिकोण त्रिनेत्रधारी शंकर भगवान मध्याह्न कालीन सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी हैं।

आंखें तीन हैं, सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाये हुए हैं, वे प्रसन्नता से वर देने को तैयार हैं यह धारणा करते हुए उक्त चक्र में ध्यान करे। तत्व सिद्धि होने पर अत्यंत अन्न ग्रहण करने पीने तथा धूप और अग्नि सहन करने की शक्ति आ जाती है।

(४) वायु तत्व धारणा

हृदय से लेकर भौंहों के बीच तक वायु मंडल है। इसका वर्ण

अंजन पुंज के समान काला है। यह अमूर्त तत्व शक्ति रूप है। इसका बीज 'यं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता 'ईश्वर' है। प्राणों को स्थिर करके हृदय में इसका चिंतन करना चाहिये। इसकी भावना जब पांच घटिका पर्यन्त होने लगती हैं तब ऐसा अनुभव होने लगता हे कि मैं वायु हूं। अग्नि मेरा ही एक विकार है इस अनन्त आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि को मैंने ही धारण कर रखा है। यदि मैं नही होता तो यह सब इस शून्य में निराधार कैसे टिक पाते? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तु में जो आकर्षण विकर्षण शक्ति है वह मैं ही हूं। यह ब्रह्माण्ड मंडल मेरे ही क्रीड़ा कन्दुक है, मैं गति स्वरूप हूं। सबकी गतियां मेरी कला है, समुद्र में मैं ही तरंग उछालता हूं। बड़े–बड़े वृक्षों को झकझोर कर मैं ही पुष्पवर्षा करता हूं। मेरी गति अबाध है। शास्त्रों में कहा गया है कि वायु धारणा सिद्ध होने पर साधक निर्द्वन्द भाव से आकाश में विचर सकता है। वह न जल से गलता है, न आग से जलता है। बुढ़ापा और मौत उसका स्पर्श नहीं कर सकते।,

यह तत्व 'अनाहत चक्र' हृदय प्रदेश में स्थित है ओर 'महः' लोक का प्रतिनिधि है। इस तत्व की आकृति षट्कोण तथा गोले दोनों ही तरह मानी गयी है। इसका गुण स्पर्शः ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ है वायु, दमा आदि रोग इसी तत्व के विकार से उत्पन्न होते हैं।

ध्यान विधि - उसी पूर्वोक्त आसन में स्थित होकर 'यं' बीज वाले गोलाकार तथा हरीप्रभा वाले वायु तत्व का उक्त चक्र में ध्यान करे। इससे आकाश गमन तथा पक्षियों की तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) आकाश तत्व धारणा

भौंहों के बीच में मूर्धापर्यन्त आकाश मंडल है। समुद्र के जल के सदृश्य इसका वर्ण है। इसका बीज 'हं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता आकाश स्वरूप भगवान 'सदाशिव' शुद्ध स्फटिक के समान श्वेत वर्ण है। जटा पर चन्द्रमा है, पांच मुख, दस हाथ और तीन आंखें हैं। हाथों में अपने अस्त्र, शस्त्र लिये हुए दिव्य आभूषणों से आभूषित, समस्त कारणों

के कारण, पार्वती जी के द्वारा आलिंगित, भगवान सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। इसकी भावना प्राणों को स्थिर करके पांच घटिका पर्यन्त धारण करे। इसका अभ्यास करने से ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूं, इसलिये मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल मुझ में कल्पित हैं। मैं अनन्त हूं, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता। मेरी सम्पूर्ण विशेषताएं मन के द्वारा आरोपित है। मन ही मुझ में हृदयाकाश और बाह्याकाश की कल्पना करता है। मैं धन हूं, एक रस हूं, न तो भीतर कुछ है और न बाहर मैं सन्मात्र हूं। इस आकाश धारण के सिद्ध होने पर मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सारी सृष्टि मनोमय हो जाती है। सृष्टि और प्रलय का कोई महत्व नहीं रह जाता या अस्तिव ही नहीं रहता। मृत्यु के वाच्यार्थ अभाव हो जाने से केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो कि स्वयं अपना स्वरूप है।

इस धारणा का साधारण क्रम यह है कि पहले पृथ्वी मंडल का चिंतन करके उसको जल मंडल में, जल मंडल को अग्नि मंडल में, अग्नि मंडल को वायु मंडल में और वायु मंडल को आकाश में विलीन कर दे। इस प्रकार क्रमशः कार्य को कारण में विलीन करते हुए सब को परम कारण शिव में स्थापित करे और अंततः सदाशिव को आत्मस्वरूप परमात्मा स्वरूप जानकर उन्हीं के स्वरूप में रूप में स्थिति हो जाय।

विशुद्धि चक्र

इसका स्थान कंठ है। यह चक्र 'जनः' लोक का प्रतिनिधि है। इसका रंग नीला और आकृति गोल अंडे की तरह लंबी है। कोई उसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण शब्द और ज्ञानेन्द्रिय कान कर्मेन्द्रिय वाणी है।

ध्यान विधि

पूर्वोक्त आसन पर आसनस्थ होकर अर्थात् 'हं' बीज का जप करते हुए निराकार चित्र विचित्र रंग वाले आकाश का ध्यान करें। इससे

तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती है।

इस विषय में अनुभवी योगियों का ऐसा उपदेश है कि प्रत्येक मंडल का चिंतन करते समय प्रणव के द्वारा तीन–तीन प्राणायाम करके कार्य मंडल को कारज मंडल में हवन कर दे।

"ॐ अमुक मंडलं अमुक मंडले जुहोमि स्वाहा"

इसी प्रकार सम्पूर्ण मंडलों का लय करके अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता परम योगी व वैद्य अश्विनी कुमारों ने कहा कि सब के शरीर पंच भौतिक है और इन शरीरों में तीन तत्व है। वात, पित्त और कफ, पंचभूतों की इस धारणा से यह तीनों तत्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्नि धारणा से वातज दोष, पृथ्वी और जल धारण से श्लेष्मज, वायु धारणा से पित्तज और श्लेष्मज दोष और आकाश धारण से त्रिदोष जनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पंचभूतों की इस धारणा से कैसे विचित्र अनुभव होते हैं। इसका बड़ा ही सरस वर्णन योगवासिष्ट के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में ८८ वें (अठ्ठासी वें) सर्ग से ९२ (बानवें) सर्ग तक दिया है। उसको पढ़ना चाहिये, विस्तार भय के कारण यह यहां नहीं दिया जा सकता है।

इस धारणा से यह अनुभूति तो बहुत ही शीध्र होने लगती है कि यह स्थल प्रपंच मनोमय है। और जड़त्व वासना से शून्य अन्तःकरण की शुद्धि है। जब इसे शुद्ध अन्तःकरण में तत्व स्वीकार करने की योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एक रस तत्व का बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनों का परम और चरम फल है।

इस संबंध में महाराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए महर्षि व्यास जी ने बतलाया था कि अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करने के अभिलाषी को किस प्रकार शीघ्र सफलता मिल सकती है वह मैं बतला रहा हूं।

किसी एक विषय में चित्त को स्थापित करने को धारणा कहते हैं। यह धारणायें सात प्रकार की होती हैं। साधक को मौन रहकर यम

नियम का पालन करते हुए इनका अभ्यास करना चाहये। दूर ओर समीप के भेद से सात अवान्तर धारणायें भी होतीहैं। उन्हें प्रधारणा कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, ध्रुव मंडल आदि की धारणा दूरस्थ है। और नासाग्र भ्रूमध्य, कंठकूप आदि की धारणा समीपस्थ है। इन धारणाओं के द्वारा क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, अव्यक्त तथा अहंकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। अब योगाभ्यास में प्रवृत्त हुए योगी के कुछ अनुभव बतलाये जाते हैं। तथा धारणा पूर्वक ध्यान करते समय जो पृथ्वी जय आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका भी वर्णन किया जाता है।

साधक जब स्थूल देह के अभिमान से दूर होकर (मुक्त) हो कर ध्यान में स्थित होता है। तो उस समय सूक्ष्म दृष्टि से मुक्त होने के कारण उसे कुछ इस तरह के रूप (चिन्ह) दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में पृथ्वी की धारणा करते समय मालूम होता है कि कुहरे के समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाश को आच्छादित कर रही है। (यह अनुभव इस प्रकार होता है) जब साधक पैर से लेकर घुटने तक के भाग में लय हो जाता है और वहां कुहरा सा दिखाई पड़ता है उस समय ऊपर का भाग और आकाश कुहरे से आच्छादित सा जान पड़ता है। इस स्थिति को पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने का चिन्ह मानते हैं। इसके बाद जब घुटने के ऊपर वायु तक के भाग में जल तत्व की धारणा की जाती है तो वह कुहरा और पृथ्वी कास्थान अदृश्य हो जाता है। तथा वायु के ऊपर का भाग कल्पांत के समुद्र में डूबा सा जान पड़ता है। यह जलतत्व में भूमि के लय होने और जलतत्व पर विजय पाने का चिन्ह है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर धारणाओं में भूतों का लय होता है और उन पर विजय पायी जाती है। यह पहला रूप है। जब कुहरा निवृत्त हो जाता है तो दूसरे रूप में दर्शन होता है वह अपनी देह के भीतर तथा सम्पूर्ण आकाश में जल ही जल देखता है। यह अनुभव जल तत्व की धारणा करते समय होता है फिर जल का लय हो जाने पर जब वह अग्नि तत्व की धारणा करता है तो सर्वत्र अग्नि की ज्वाला दिखाई पड़ती है। इसके भी लय हो जाने पर साधक को आकाश में सर्वत्र फैले हुए वायु का ही अनुभव हेाता है और वह स्वयं ही ऊन के धागे के समान अत्यंत लघु और हल्का

होकर अपने को निराधार आकाश में वायु के साथ ही स्थित मानता है। उस समय उसे अपने शरीर का हृदय के ऊपर का ही भाग दिखाई देता है। इस प्रकार जब तेज (अग्नि) का संहार कर योगी वायु पर विजय पाता है, तो वायु कासूक्ष्म रूप आकाश में लीन हो जाता है और केवल छिद्र रूप आकाश में लीन हो जाता है एवं छिद्र रूप नीला आकाश ही शेष रह जाता है। उस अवस्था में ब्रह्म भाव को प्राप्त होने की भावना रखने वाले योगी का चित्त अत्यंत सूक्ष्म हो जाता है। उसे अपने स्थूल शरीर का तनिक भी भान नहीं रहता है।

इन सब रूपों (चिन्हों) के दिखाई देने के पश्चात् योगी को पार्थिव ऐश्वर्य सिद्धि हो जाने पर योगी में सृष्टि करने की शक्ति आ जाती हैं। वह प्रजापति के समान अपने शरीर से प्रजा की सृष्टि कर सकता है जिसको वायु तत्त्व सिद्ध हो जाता है वह बिना किसी की सहायता के हाथ, पैर, अंगूठे अथवा अंगुली मात्र से दबाकर पृथ्वी को कम्पित कर सकता है। आकाश को सिद्ध करने वाला पुरुष आकाश के समान ही होकर सर्वत्र विचरता है और अपने शरीर को अदृश्य कर सकता है। जिसका जल तत्व पर अधिकार हो जाता है, वह इच्छा करते ही बड़े–बड़े जलाशयों को पी सकता है। अग्नि तत्व को सिद्ध कर लेने पर वह शरीर को इतना तेजस्वी बना लेता है और उसकी ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता, तेज को शांत कर लेने पर ही वह दिखाई देता है। अहंकार की जीत लेने पर पांचों भूत योगी के वश में हो जाते हैं। पंचभूत और अहंकार इन छः तत्वों का आत्मा है। बुद्धि उसको जीत लेने पर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है।

जिसने ममता और अहंकार का त्याग कर दिया हे, जो शीत उष्ण आदि द्वन्दों को समान भाव से सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं। जो कभी क्रोध ओर द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, सबसे मित्रता व प्रेम भाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्म से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाता और सब प्राणियों में समान भाव रखता है, वहीं योगी ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है। जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, जीवन

निर्वाह मात्र के लिये जो कुछमिल जाता है, उसी में संतोष करता हे, जो निर्लोभ, निश्चित, जितेन्द्रिय और पूर्ण काम है।, सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखता है, मिटटी के ढेले और स्वर्ण को समान समझता है। जिसकी दृष्टि में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं है। जो धीर है, निन्दा स्तुति का जिसके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो कामनाओं की इच्छा न रखकर दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है तथा किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता ऐसा ज्ञानवान योगी ही संसार से मुक्त होता है। योग से जिन ऐश्वर्यों अथवा सिद्धियों की प्राप्ति होतीहै। उनकी अवहेलना करके पूर्ण विरक्त हो जाना चाहिये। ऐसा करने से ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

इस प्रकार उक्त उपायों से सतत् नित्यप्रति छः मास तक अभ्यास करने से सब तत्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्व को पहचानना अत्यंत सरल हो जाता है। इस ध्यान विधि के अतिरिक्त तत्वों के पहचानने के और भी कुछ विशेषकर छः उपाय है।जिसका संक्षिप्त निर्देश आगे दिया है।

तत्वों के संबंध में एक विशेष बात, जो कि सदा स्मरण रखना चाहिये यह है कि, स्वर के साथ तत्व भी विद्यमान रहते हैं। जब तक एक स्वर एक नासिका से चलता रहता है। तब तक पांचों तत्व एक–एक बार क्रमशः उदय होकर अपनी अपनी अवधि तक विद्यमान रहकर अस्त हो जाते हैं।

(१) **श्वास की गति** - प्रत्येक तत्व के उदय में नासिका से चलते हुए श्वास की गति निम्नानुसार बदलती है।

अगर नासिका के बीच में श्वास चल रहा है तो पृथ्वी तत्व का, नीचे की तरफ चल रहा है तो जल तत्व का, ऊपर की तरफ चल रहा हो तो अग्नि का, तिरछा चल रहा हो तेा वायु तत्व का और यदि घूम रहा हो तो आकाश तत्व का उदय समझना चाहिये।

(२) **आकार** - प्रत्येक तत्व की अपनी–अपनी विशेष आकृतियां होती है। जिनसे कि यह सरलता पूर्वक पहचाने जा सकते हैं।

किसी एक निर्मल दर्पण को लकर उस पर जोर से श्वास छोड़ने पर चौकोर आकृति बने तो पृथ्वी तत्व का, अर्धचन्द्राकार बने तो जल तत्व का, त्रिकोण बने तो अग्नि तत्व का, लम्ब गोल बने तो वायु का और बिन्दु–बिन्दु से दिखाई दे तो आकाश तत्व का उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) स्थान - जैसा कि ऊपर बतला आये हैं कि प्रत्येक तत्व शरीर में विद्यमान भिन्न–भिन्न चक्रों में स्थित हैं। इन स्थानों में ध्यान पूर्वक देखने में उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा उसका शरीर पर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) प्रत्येक तत्व का अपना अपना विशेष रंग भी होता है और जब जब यह उदय होता है तब तब उस रंग का विशेष प्रभाव रहता है। तत्वों के रंग तथा उनके देखने की रीति इस प्रकार है –

दोनों हाथों के दोनों अंगूठों से दोनों कानों के छिद्र दोनों अनामिकाओं से दोनों आंखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नासिका तथा दोनों तर्जनियों एवं कनिष्ठकाओं से मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथ्वी तत्व की, श्वेत रंग नजर आये तो जल तत्व की, लाल रंग नजर आये तो अग्नि तत्व की, हरा या बादल जैसा रंग या काला रंग नजर आये तो वायु तत्व की और रंग बिरंगा रंग दिखाई देता है तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझना चाहिये।

(५) प्रमाण (लम्बाई का नाप) प्रत्येक तत्व के उदय होने पर जिस तरह श्वास की गति में फर्क पड़ जाता है उसी तरह श्वांस का प्रमाण भी बदल जाता है। तत्वों के प्रमाण तथा उनको नापने की विधि निम्न प्रकार है।

बारीक धुनी हुई रूई अथवा किसी गत्ते पर अत्यंत बारीक रुई लेकर उसे जिस नकुए (नासिका) से सांस चल रही हो उसके पास धीरे–धीरे ले जावे। जहां पर पहले–पहले थोड़ी–थोड़ी रुई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहां ठहर जावे और फासला को नापे, फासला बारह अंगुल है तो पृथ्वी तत्व की, सोलह अंगुल है तो जल तत्व की, चार अंगुल

है तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) **स्वाद** - प्रत्येक तत्व का अपना–अपना विशेष स्वाद होता है। स्वाद उस तत्व की उपस्थिति में जीभ द्वारा भी अनुभव किया जा सकता है। अगर मुंह में मीठा स्वाद मालूम हो तो पृथ्वी तत्व, कसेला जान पड़े तो जल तत्व कडुवा जान पड़े तो अग्नि तत्व, खटटा जान पड़े तो वायु तत्व, और तीखा जान पड़े तो आकाश तत्व की उपस्थिति समझनी चाहिए।

भावना शक्ति और मंत्र शक्ति के संयोग से क्रिया विशेष द्वारा शरीरस्थ मलिन भूतों को भस्म करके नवीन दिव्य भूतों का निर्माण करके और स्थूल और सूक्ष्म शरीर का शोधन करना ही इस क्रिया का तात्पर्य है। चित्त शुद्धि के लिए जितनी क्रियाओं का निर्देश किया गया है, उनमें एक क्रिया नीचे लिखी जाती है, जिसके चार मंत्र है।

(१) ॐ भूत श्रृगाटकात् शिरसुषुम्णा पथेन
जीवशिवं परम् शिवपदे योजयामि स्वाहा।
(२) ॐ वं लिंग शरीरं शोषय स्वाहा।
(३) ॐ रं संङ्कोच शरीरं दह दह स्वाहा।
(४) ॐ परमशिव सुषुम्णापथा मूलश्रृङ्गाटम् उल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल सोऽहम् हंसः स्वाहा।

मनोक्त अर्थ की भावना करते हुए उपर्युक्त मंत्र की आवृत्ति कर लेनी चाहिये। कुछ दिनों तक लगातार श्रद्धा पूर्वक अभ्यास करने से बड़े विचित्र अनुभव होते हैं और अपनी दिव्यता प्रकट होजाती है।

इष्टदेव ओर श्री गुरुदेव के ध्यान में जब चित्त तन्मय हो जाता है और उनकी कृपा का अनुभव करे उसी में मन मज्जन, निमज्जन करने लगता है। तब पवित्रता, शक्ति, शांति और आनन्द की शत–शत धारायें उसके सम्पूर्ण 'स्व' को और यही क्यों, निखिल जगत् को अव्यापित, आप्लावित अर्थात अत्यंत दिव्य बना देती हैं। जो धीर भाव से साधन करते हैं, उनके जीवन में यह सब बातें प्रत्यक्ष हैं।

(ॐ शम्)

श्री पीताम्बरापीठ, दतिया (म.प्र.) से प्रकाशित ग्रन्थ-सूची

क्र.	पुस्तक का नाम	
१–	श्री गुरुपूजन पद्धति	(संस्कृत)
२–	रेणुका तन्त्रम्	(संस्कृत)
३–	श्री विद्यारत्न सूत्रम्	(संस्कृत)
४–	माण्डूक्योपनिषद्	(हिन्दी)
५–	तारा कर्पूरराज स्तोत्रम्	(हिन्दी)
६–	त्रिपुरा मस्हिन स्तोत्रम्	(हिन्दी)
७–	पीताम्बरा अर्चन पद्धति	(संस्कृत)
८–	दर्शन शास्त्र संग्रह	(हिन्दी)
९–	अथर्ववेदीय ज्योतिष	(हिन्दी)
१०–	योग विज्ञान I	(हिन्दी)
११–	योग विज्ञान II	(हिन्दी)
१२–	लेख संग्रह	(हिन्दी)
१३–	लेख संग्रह	(अंग्रेजी)
१४–	ललिता सहस्रनाम	(संस्कृत)
१५–	सिद्धान्त रहस्य	(हिन्दी)
१६–	सिद्धान्त रहस्य	(अंग्रेजी)
१७–	सिद्धान्त रहस्य	(मराठी)
१८–	बगलामुखी रहस्य	(संस्कृत)
१९–	भैरव सर्वस्व	(संस्कृत)
२०–	भैरव विज्ञान	(हिन्दी)
२१–	नारदीय शिक्षा	(हिन्दी)
२२–	हनुमत् उपासना	(संस्कृत)
२३–	केनोपनिषद्	(हिन्दी)
२४–	ईषावास्योपनिषद्	(हिन्दी)
२५–	कठोपनिषद्	(हिन्दी)
२६–	मुण्डकोपनिषद्	(हिन्दी)
२७–	प्रश्नोपनिषद्	(हिन्दी)
२८–	प्रश्नोपनिषद्	(अंग्रेजी)
२९–	प्रश्नोपनिषद्	(संस्कृत)
३०–	वेदान्त प्रबोध	(हिन्दी/संस्कृत)
३१–	ईश्वर गीता	(हिन्दी)
३२–	सिद्धान्त रहस्य	(संस्कृत)
३३–	वैदिक उपदेश	(हिन्दी)
३४–	वैदिक उपदेश	(अंग्रेजी)
३५–	स्वरोदय विज्ञान	(हिन्दी)
३६–	पुरश्चरण पद्धति	(हिन्दी)

क्र.	पुस्तक का नाम	
३७–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
३८–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
३९–	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)
४०–	घेरंडसहिता	(हिन्दी/संस्कृत)
४१–	धूमावती सपर्यार्णव	(संस्कृत)
४२–	वातूलनाथ सूत्र	(हिन्दी/संस्कृत)
४३–	शिव सूत्र–भक्ति सूत्र	(संस्कृत)
४४–	योग दर्शन	(अंग्रेजी)
४५–	योग दर्शन	(संस्कृत)
४६–	महात्रिपुरसुन्दरी पूजा पद्धति	(सं.)
४७–	सप्तविंशति रहस्य	(संस्कृत)
४८–	काली कर्पूर स्तोत्रम्	(हिन्दी/सं.)
४९–	देवी सहस्रनाम संग्रह I	(संस्कृत)
५०–	देवी सहस्रनाम संग्रह II	(संस्कृत)
५१–	वरिवस्या रहस्य	(हिन्दी)
५२–	सौन्दर्य लहरी स्तोत्र	(सं.)
५३–	महागणपति तर्पण	(सं.)
५४–	गुरुनवरत्न माला	(संस्कृत)
५५–	निगमागम समन्वय	(हिन्दी)
५६–	मातृकाचक्रविवेक	(हिन्दी)
५७–	कामकला विलास	(संस्कृत)
५८–	सौन्दर्य लहरी (लक्ष्मीधरी)	(संस्कृत)
५९–	स्वामी स्मृति ग्रन्थ	(हिन्दी)
६०–	तान्त्रिक पञ्चांग	(संस्कृत)
६१–	शरभ तंत्र	(संस्कृत)
६२–	महाविद्या चतुष्टय	(संस्कृत)
६३–	पञ्चस्तवी	(संस्कृत)
६४–	तीर्थ भारतम्	(पद्य)
६५–	सौन्दर्य लहरी (डिंडिम)	(संस्कृत)
६६–	दार्शनिक चिंतन और शाक्तसिद्धांत	(हिन्दी)
६७–	–तदैव– (अंग्रेजी)	(मुद्रणाधीन)
६८–	पराप्रवेशिका	(हिन्दी)
६९–	दुर्लभ स्तोत्र	(संस्कृत)
७०–	पीताम्बरा चालीसा	(हिन्दी)
७१–	परश्चरण	(पद्य)
७२–	पञ्चोपनिषद्	(संस्कृत)
७३–	लघुस्तव राज	(हिन्दी/संस्कृत)
७४–	शाक्ततंत्र साधना	(हिन्दी)
७५–	शिवसूत्र (स्पन्दकारिका)	(हिन्दी/संस्कृत)

श्री पीताम्बरा पीठ
ह्रीं
दतिया (म.प्र.)

आचार्य श्री हरिभद्र सूरि

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय

श्रीहरिभद्र सूरि रचित—

जैन योग : ग्रन्थ-चतुष्टय

[योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक एवं योगविंशिका
हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन सहित]

मार्ग-दर्शन : संयोजन

परम विदुषी जैन साध्वी श्री उमरावकंवरजी 'अर्चना'

सम्पादक : अनुवादक : विवेचक

डॉ० छगनलाल शास्त्री एम.ए.

(हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी)

पी-एच-डी. काव्यतीर्थ विद्यामहोदधि

प्रकाशक

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राजस्थान)

विदुषी श्रमणीरत्न महासती श्री उमरावकुंवर जी महाराज के
५९ वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में संकल्पित प्रकाशन

☐ जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय—आचार्य श्री हरिभद्र सूरि

☐ संयोजिका—विदुषी जैन साध्वी उमरावकंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादक—डा० छगनलाल शास्त्री

☐ सम्प्रेरक—मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

☐ प्रकाशक—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर ३०५९०१

☐ प्रथम संस्करण—वि. सं. २०३८ । ई. सन् अगस्त १९८२
वीर निर्वाण संवत् २५०९

☐ मूल्य—१२) बारह रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण—श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
स्वास्तिक आर्ट प्रिंटर्स, सेठ गली, आगरा

समर्पण

जिनके जीवन से शौर्य्य की दीप्तिमयी आभा सदा छिटकती रही,

कर्म-शूर तथा धर्म-शूर की द्विपदी का अमर घोष जिनके जीवन मे अनवरत गुञ्जित रहा,

जिनके कर्म-समवाय में करुणा का अमल, धवल निर्झर सदा प्रवहणशील रहा,

निःस्पृहता, तितिक्षा, मेधा, पर-दुःख-कातरता जैसे उत्तमोत्तम मानवीय गुणों द्वारा जिनका जीवन सुसज्ज एवं शोभित रहा, जिनका योगविभूति-भूषित, प्रभविष्णु व्यक्तित्व सब के लिए दिव्य प्रेरणा-स्रोत था,

जो अपनी वदान्यता द्वारा जन जन को उपकृत करते रहे, जिनसे मैंने अपनी जीवन-यात्रा में, धर्म-यात्रा में सदा पाया ही पाया : वात्सल्य, स्नेह, प्रेरणा, करुणा तथा अनुग्रह का अपरिसीम पुण्य-भंडार,

उन

अविस्मरणीय, अभिवन्दनीय, स्तवनीय परम श्रद्धास्पद

पितृचरण

स्व० मुनि श्री मांगीलालजी महाराज की पावन स्मृति में

—जैन साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'

प्रकाशकीय

ज्ञान मनुष्य का तृतीय नेत्र है। यह नेत्र पूर्व कर्म-क्षयोपशम से स्वयं भी खुल सकता है, और किसी किसी के गुरु जनों के उपदेश व शास्त्र-स्वाध्याय से भी खुलते हैं। उपादान तो आत्मा स्वयं है, किंतु निमित्त भी बहुत मूल्यवान होता है। गुरु-उपदेश और शास्त्र-स्वाध्याय का निमित्त प्राप्त होना भी अति महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्र-स्वाध्याय के लिए सद्ग्रन्थों की उपलब्धि आवश्यक है। हमारी संस्था सत्साहित्य के प्रकाशन में प्रारम्भ से ही रुचि ले रही है, और अनेकानेक साधन जुटाकर पाठकों को कम मूल्य में उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराने में प्रयत्नशील रही है। संस्था के प्राणसम आधार एवं चक्षु-सम मार्गदर्शक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज इस दिशा में बहुत ही जागरूक हैं। आपकी प्रेरणा व मार्गदर्शन में संस्था ने कुछ ही वर्षों में आशातीत प्रगति की है, और भविष्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन योजनाधीन हैं।

दो वर्ष पूर्व युवाचार्य श्री की भावना के अनुसार विदुषी श्रमणी रत्न महासती श्री उमरावकंवरजी महाराज ने आचार्य श्री हरिभद्र कृत योग ग्रन्थों का सम्पादन व संशोधन करवाया था। महासती जी के मार्गदर्शन में विद्वान डा० छगनलाल जी शास्त्री ने इन चारों ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन-विवेचन कर एक अनूठा कार्य किया है।

वर्तमान में योग के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। शान्ति, आनन्द और आरोग्य का मूल योग है, योग से ध्यान सिद्ध होता है, और योग व ध्यान की—अभ्यास-साधना से ही आज के संत्रासपूर्ण युग में मानव को शान्ति सुलभ हो सकती है। हमारी संस्था ने कुछ वर्ष पूर्व आचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया था जो काफी लोकप्रिय हुआ। योग के महान् आचार्य हरिभद्र की कृतियाँ प्रायः दुर्लभ थी। स्वाध्याय प्रेमी जन इनके लिए प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर पा रहे थे, अब युवाचार्य श्री तथा महासती उमरावकंवर जी एवं डा० छगनलाल जी के प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सम्पादन-श्रम से ये चारों दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो रहे हैं, इसके लिए हमें भी गौरव है।

'जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय' के प्रकाशन का निर्णय गत वर्ष नोखा चान्दावतों के चातुर्मास में लिया गया। नोखा चान्दावतों का यद्यपि एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम है, किंतु वहाँ के मूलनिवासी धनी-मानी धार्मिक व उद्यमी सज्जन बड़े ही उदार व उत्साही हैं। वि. सं. २०३७ का ऐतिहासिक वर्षावास नोखा में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में अनेक विशाल आयोजन व समारोह हुए। तपस्याएं हुई। ज्ञान की सरिता वही। स्वधर्मि-वात्सल्य का अनूठा उदाहरण देखने को मिला। वहाँ के मूल निवासी तथा दक्षिण-प्रवासी श्रावकों ने जो उत्साह व उदारता दिखाई वह वास्तव में चिर स्मरणीय रहेगी। इस चातुर्मास में उपप्रवर्तक शासनसेवी स्थविरवर स्वामी श्री ब्रज लालजी महाराज, युवाचार्य प्रवर श्री मधुकर मुनि जी म० व्याख्यान वाचस्पति श्री नरेन्द्र मुनि जी, तपस्वीराज श्री अभय मुनि जी, युवा-कवि एवं गीतकार मुनि श्री विनयकुमार जी 'भीम' तथा विद्या विनोदी मौनसेवी श्री महेन्द्रमुनि जी 'दिनकर' आदि ठाणा ६ से विराजमान थे। तपस्वी श्री अभयमुनि जी ने मासखमण तप कर तपोमहिमा की, तो गुरुदेव श्री के प्रवचनों से प्रभावित समाज ने दान-शील-तप-भाव रूप धर्म की विशेष गरिमा बढ़ाई।

इस ग्रन्थ की संप्रेरिका विदुषीरत्न काश्मीरप्रचारिका महासती श्री उमरावकंवर जी 'अर्चना' तपस्विनी विदुषी स्वाध्याय रसिका सती श्री उम्मेदकंवर जी म. सती श्री कंचनकंवर जी म. सती श्री सेवावंती जी म. सतीश्री सुप्रभा जी म., सती श्री प्रतिभा जी म., सती श्री सुशीला जी म. एवं सती श्री उदितप्रभा जी म. आदि ठाणा आठ के ठाठ भी नोखा चातुर्मास की शोभा में चार चाँद लगारहे थे।

गुरुदेव श्री के चातुर्मास की खुशी में ही नोखा श्री संघ के सदस्यों ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारता पूर्वक सहयोग दिया। जिसकी सूची भी संलग्न है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण, संशोधन साज-सज्जा तथा श्लोकों की अकरादि अनुक्रमणिका, बनाने में साहित्य सेवी श्रीचन्दजी सुराणा का तथा श्री बृजमोहन जी जैन का सहयोग प्राप्त हुआ। हम सभी सहयोगी सज्जनों के प्रति हृदय से आभारी हैं, तथा पाठकों के शुभ-मंगल हेतु यह ग्रन्थ उनकी सेवा में प्रस्तुत है—

मंत्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

स्वाध्याय-ध्यान-योग साधना-निरत

विदुषी जैन श्रमणी

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

आशीर्वचन

भारतवर्ष की संस्कृति अत्यन्त व्यापक, उदार तथा विशाल है। यह वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्परा की त्रिवेणी के रूप में भिन्न-भिन्न मार्गों से बहती हुई भी समन्वय के संगम पर पहुँची। यह इसका अपना वैशिष्ट्य है। इन तीनों ही परम्पराओं द्वारा आविष्कृत विचार-दर्शन के सुधा-कणों से इसका सन्निर्माण हुआ। अतएव यह सर्वदा और सर्वथा सुधास्यन्दिनी रही और आज भी है।

इस संस्कृति के निर्मापक, परिपोषक तत्त्वदर्शन एवं वाङ्मय का गहन अध्ययन हो, इसमें मैं इसके समुन्नयन एवं विकास का बीज पाता हूँ। इस देश का साहित्य असीम विशालता और व्यापकता लिए हुए है, जो संस्कृति के प्रकृष्ट प्राण-प्रतिष्ठापक रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है। इस प्रसंग में मैं संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों, अनुसन्धित्सुओं तथा साहित्यिकों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, वे अपने तुलनात्मक अध्ययन, अनुशीलन के सन्दर्भ में जैन वाङ्मय का विशेष रूप से पर्यवेक्षण करें। सामष्टिक अध्ययन से चिन्तन की परिपक्वता निष्पन्न होती है।

जैन आचार्यों, विद्वानों, लेखकों तथा कवियों ने ऐसा पुष्कल साहित्य रचा, जिसने भारतीय संस्कृति तथा जीवन-दर्शन के विकास एवं संवर्द्धन में बहुत बड़ा योगदान किया। उनमें एक अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान तथा महान् ग्रन्थकार थे—याकिनी महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि, जिनका समय ई० सन् ७००—७७० माना जाता है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में अनेक ग्रन्थ रचे। योग पर भी उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत पुस्तक के रूप में उपस्थापित है।

योग एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज योग को लेकर देश-विदेश में अनेक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। योग क्या है, जीवन में उससे क्या साधना चाहिए—इसे यथावत् रूप में समझने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। जैनयोग ग्रन्थों में—विशेषतः इन ग्रन्थों में इन विषयों पर बड़ा मार्मिक तथा तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। अतएव इनके पठन-पाठन की अपनी विशेष उपयोगिता है।

मुझे यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि आयुष्मती, अन्तेवासिनी, परम विदुषी, कुशलयोग-साधनानुरता, स्वाध्याय-ध्यान-प्रवणा, सरलचेता महासती श्री उमरावकुंवर जी 'अर्चना' के कुशल मार्गदर्शन तथा निष्ठापूर्ण संयोजन में भारतीय वाङ्मय, जैन दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि प्राच्य भाषाओं के विद्वान डॉ० छगनलाल जी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० ने उक्त चारों ग्रन्थों को संपादित, अनूदित, विवेचित कर वास्तव में जैन साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे अपने युग के परम प्रज्ञाशील उद्भट मनीषी तथा समन्वयवादी महान् चिन्तक द्वारा रचित इतना उपादेय एवं उपयोगी साहित्य राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्राप्त न हो, सचमुच यह बड़ी अखरने वाली कमी थी। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा यह अभाव सम्यक् रूप में पूरा हो रहा है, जो स्तुत्य है।

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' एवं विद्वद्वर डा० छगनलाल जी शास्त्री के इस सत्प्रयास की मैं हृदय से वर्धापना करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि उन द्वारा श्रुत-सेवा के और भी अनेक सुन्दर कार्य सुसम्पन्न हों।

जिज्ञासु, मुमुक्षु तथा अनुसन्धित्सु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—युवाचार्य मधुकर मुनि

नोखा चांदावतों का
(राजस्थान)
१२-११-८१

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय में

उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

[ ] श्रीमान् धर्म परायण एवं उदारमना प्रसन्नचन्दजी सा. चोरड़िया सुपुत्र—श्रीमान रतनचन्दजी सा. चोरड़िया मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमान् बालचन्दजी सा. बैद तथा श्रीमती सौ. रतनाबाई, उदारचित्त एवं अतिथी, मूल निवासी बैद, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमान् बादलचन्दजी सा. चोरड़िया, भेरूलालजी सुपुत्र श्री समरथमलजी सा. चोरड़िया, मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमान् शांतिलालजी उत्तमचन्दजी सा. चोरड़िया, सुपुत्र श्री अगरचन्दजी सा. चोरड़िया, धर्मप्रेमी मूल निवासस्थान नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमान् पारसमलजी सा. चोरड़िया, सुपुत्र श्री तारांचन्दजी सा. चोरड़िया, अति नम्र सुदक्ष एवं उदारमना, मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] दानवीर श्रीमान् फतेहचन्दजी सा. दुगड़, मूल निवास कुचेरा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमती सौ. भँवरीबाई, धर्मपत्नी दानवीर सेठ खींवराजजी सा. चोरड़िया, उदारमना, प्रमुख समाज सेवी, धर्म प्रेमी, मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

[ ] श्रीमती सौ. मोहनबाई गोठी, धर्मपत्नी श्रीमान् मोहनलालजी गोठी निवासी—मेहामन्दिर (जोधपुर)

[ ] श्रीमती सौ. इन्दरबाई, धर्मपत्नी श्रीमान् तेजराजजी सा. भण्डारी गुरुभक्ति विशेष, महामन्दिर (जोधपुर)

[ ] श्रीमती सौ. चांदकुंवरबाई, कुचेरा निवासी श्रीमान् उदारमना मांगीलालजी सा. सुराणा, व्यवसाय बोलारम (सिकंदराबाद)

उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

☐ श्रीयुत जड़ावमल जी गुगनचन्द जी चोरड़िया। मूल निवासी—नोखा चांदावतों का, व्यवसाय—मद्रास। उदारमना, सरलवृत्ति तथा श्रद्धालु गुरुभक्त।

☐ श्रीयुत विजयराज जी रिखबचन्द जी कांकरिया। मूल निवासी—हरसोलाव, व्यवसाय—विल्लीपुरम्, १०६, कामराज स्ट्रीट, विलीपुरम्। उदारचेता, गुरुभक्त।

☐ श्रीमान पुखराज जी बाफना। मूल निवासी—हरसोलाव, जिला गोटन। व्यवसाय—मद्रास। स्वाध्याय प्रेमी, समाज सेवा में सक्रिय।

☐ श्रीमान सम्मतराज जी मुथा। मूल निवासी—सादलिया। व्यवसाय—मद्रास। धर्मप्रेमी, समाज सेवा में सक्रिय।

उक्त महानुभावों ने साहित्य प्रचार एवं धर्मानुराग से प्रेरित होकर पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। हमें विश्वास है भविष्य में भी इसी प्रकार आप महानुभावों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—चांदमल चोपड़ा

मन्त्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राज०)

सम्पादकीय

ऊर्ध्वगमन आत्मा का सहज स्वभाव है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः परमात्मा का ही आवृत या आच्छन्न रूप है, वेदान्त की भाषा में जिसे अविद्या, माया तथा आर्हत दर्शन की भाषा में कर्मावरण से आप्लुत कहा गया है। अविद्या, माया अथवा कर्मों के आवरण का अपगम आत्मा के शुद्ध स्वरूप या परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में जीव अपने अपरिमित पुरुषार्थ द्वारा अपने यथार्थ रूप-परमात्म-भाव को उद्घाटित, व्यक्त या अधिगत करने में समर्थ हो जाता है। बहिरात्म-भाव से अन्तरात्मभाव की ओर गति करता हुआ जिस दिन वह परमात्मभाव में लीन हो जाता है, निःसन्देह उसके लिए वह एक स्वर्णिम दिन या परम सौभाग्य की वेला होती है। सूफी संतों ने आत्मा के परमात्मभाव अधिगत करने के प्रेमात्मक उपक्रम-तीव्रतम उत्कण्ठा को आशिक और माशूका के रूपक द्वारा व्याख्यात किया है। कबीर आदि निर्गुणमार्गी सन्तों ने अपने को राम की बहुरिया बताते हुए इसी आध्यात्मिक प्रेम को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वास्तव में भारत ही वह देश है, जहाँ जीवन के इस गहनतम विषय पर विविध रूप में चिन्तन की धाराएँ प्रवाहित हैं। यहाँ की प्रज्ञा ने केवल भौतिक किंवा सामान्य उपलब्धि में ही जीवन की सार्थकता नहीं मानी। इतना ही नहीं, इस ओर के उद्वेग को उसने दुर्बलता तक कहा।

आत्मा की इस ऊर्ध्वगामिता के केन्द्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान चित्त का है। चित्त की वृत्तियाँ ही मनुष्य को न जाने कहाँ से कहाँ भटका देती हैं। इसलिए ऊर्ध्वगमन की यात्रा में चित्तवृत्तियों की उच्छृंखलता को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है, योग की भाषा में जिसे चित्तवृत्ति-निरोध कहा गया है।[1] निरोध शब्द यहाँ विशेषतः एकाग्रता के अर्थ में है। विधायक और निषेधक दोनों पक्ष इसमें समाविष्ट हैं। परिष्कार और परिमार्जन, संशोधन और विशोधन के माध्यम से यह निरोध की आन्तरिक चेतनामयी गति चरमोत्कर्ष प्राप्त करती है।

भारत का यह सौभाग्य है कि यहाँ की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने चिन्तकों, मनीषियों और ऋषियों तथा ज्ञानियों के रूप में ऐसे-ऐसे नर-रत्न जगत् को दिये, जिनके ज्ञान, चिन्तन एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से मानव जाति ने अन्तर्ज्योति के रूप में एक अभिनव आलोक प्राप्त किया। सामष्टिक रूप में हम इस सारी परम्परा को योग या अध्यात्म-योग के नाम से अभिहित कर सकते हैं। वास्तव में योग का क्षेत्र

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —पातंजल योगसूत्र १·२

बड़ा व्यापक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता में यह निश्चय ही अछूता है। योग की दीप्ति सममुच धूमिल हो जाती है, जब हम उसे साम्प्रदायिकता में बाँध लेते हैं। हाँ, विधि-क्रम, साधना-पद्धति आदि में विविधता हो सकती है, जो साम्प्रदायिकता नहीं है। वह तो यौगिक तत्त्वों की विराट्ता की द्योतक है।

भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र का इतिहास इसका साक्ष्य है कि समय-समय पर हमारी इस भूमि में अनेक योगी उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति और अनुभूति द्वारा जगत् को बहुत दिया। वैदिक परम्परा के महर्षि पतञ्जलि, व्यास, गोरक्ष तथा श्रमण-परम्परा के आचार्य हरिभद्र, नागार्जुन, सरोजवज्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, योगीन्दु आदि के नाम बड़े आदर से लिये जा सकते हैं, जिनका साहित्य अत्यन्त प्रेरक एवं उद्बोधक है। वे केवल शब्द-शिल्पी ही नहीं थे, वरन् कर्म-शिल्पी तथा भाव-शिल्पी भी थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा, अनुभूतियों की अतल गहराइयों में डुबकियाँ लगाकर लिखा, भारतीय वाङ्मय की वह एक ऐसी अमूल्य निधि है, जो कभी पुरानी या अनुपयोगी नहीं हो सकती। विवेकपूर्वक इस साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए।

मानव स्वभावतः नवीनता प्रेमी है। समय-समय पर विविध नवीनताओं के प्रवाह में बहता रहता है, आज की भाषा में जिसे फैशन कहा जा सकता है। पाठक अन्यथा न मानें, आज योग भी कुछ ऐसी ही स्थिति में से गुजर रहा है। योग (के बाह्य अंगों) का एक वेत्ता, अभ्यासी, शिक्षक, जन-साधारण को आश्चर्य लगने वाले कठिन आसनिक उपक्रम दिखाने में, सूक्ष्म प्राणायाम के विधि-विधानों में निष्णात एक योगी-शब्द-वाच्य पुरुष यदि अत्यन्त दुर्बल चित्तवृत्ति का पाया जाए, बाहर से सधते से लगने वाले योग के साथ जिसके भीतर भोग की दुर्दम ज्वाला जलती रहे, क्या वहाँ योग सधता है? कदापि नहीं। दुःख है, आज हमारे देश में यत्र-तत्र ऐसी परिस्थितियाँ भी पोषण पा रही हैं। योग की परम्परा पर निश्चय ही ये वे काले धब्बे हैं, जिनके संयोजक एक पवित्र परम्परा के साथ कितना जघन्य खिलवाड़ कर कर रहे हैं, कुछ कहने-सुनने की बात नहीं। अभ्यास के कारण देह द्वारा कुछ अद्भुत करिश्मे दिखा देना योग नहीं है। वैसे तो पेट पालने के प्रयत्न में बहुत से नट व मदारी भी करते रहते हैं। योग तो आन्तर साम्राज्य पर अधिकार पाने का वह पवित्र राजपथ है, जहाँ से अन्तर्विकार दस्युओं और तस्करों की तरह भाग जाते हैं। पर यह सधता तब है, जब हमारा विवेक का नेत्र उद्बुद्ध हो। हम केवल अयथावत् परंपरित रूढ़ि के रूप में इसका शिक्षण प्राप्त न कर सम्यक् बोध, विवेक तथा तदनुरूप लक्ष्य को आत्मसात् करते हुए इस में अग्रसर हों। आज तो स्थिति यह हो गई है कि मूल लक्ष्य गौण हो गया है और साधनों ने प्रधानता ले ली है। आसन, प्राणायाम आदि बाह्य योगांगों को अनुपादेय नहीं माना जा सकता किन्तु उनकी सही उपयोगिता सध पाये, उसके लिए सही मनोभूमि के निर्माण की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के साथ हमारा अध्यवसाय गतिमान् हो।

इस सन्दर्भ में हमारा चिन्तन है कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं के उन तत्त्व-द्रष्टाओं का वह साहित्य समीक्षा, अनुसन्धान तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ प्रकाश में आए, जिनसे जिज्ञासुओं को योग के सन्दर्भ में सही दिशा प्राप्त हो सके। जैसा पहले संकेत किया गया है, योग साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा मुक्त है। यहां जो बौद्ध, वैदिक एवं जैन प्रभृति नामों का उल्लेख हुआ है, वह परम्परा-विशेष की ऐतिहासिकता के सूचन के दृष्टिकोण से है।

सामाजिक स्थितियों की शृंखलाएं कुछ इस प्रकार की रही हैं कि हम न चाहते हुए भी साम्प्रदायिक बन जाते हैं। फलतः जिस परम्परा से हम सम्बद्ध होते हैं, उनके अतिरिक्त इतर परम्परा के उच्चकोटि के महापुरुष तथा उन द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण उपयोगी साहित्य को अधीत और अधिगत करने की हमारे मन में ही नहीं आती अन्यथा योग वाङ्मय पर एक अद्भुत और अभिनव चिन्तन देने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि आदि मनीषी योग-जगत् के लिए क्या इतने अज्ञात या अल्प-ज्ञात रह पाते, जितने आज वे हैं। इतना ही क्यों आचार्य हरिभद्र जिस परम्परा के थे, आज उस परम्परा के लोग भी उनका अधिकांशतः यथार्थ रूप में नहीं जानते क्योंकि प्रायः हम बहिर्दृष्टा हो गये हैं, जो योग के अनुसार हमारी अधस्तन दशा है। योग तो अपने विस्मृत स्वरूप को स्वायत्त कर लेने की दिव्य यात्रा का प्रशस्त पथ है जिसे यथावत् रूप में समझने और अनुसृत करने का अर्थ है जीवन में उस शान्ति का प्रादुर्भाव, जिसके लिए क्या धनी, क्या सत्ताधीश, क्या जनसाधारण—सब लालायित हैं।

मैं भारतीय दर्शन, वाङ्मय तथा प्राच्य भाषाओं का अध्येता रहा हूँ। इनके परिशीलन, मनन तथा अनुसन्धान में जीवन का दीर्घकाल मैंने लगाया है, जिसे मैं अपने जीवन की आंशिक ही सही, सार्थकता मानता हूँ। अपने अध्ययन, अन्वेषण के सन्दर्भ में जब मैं उद्भट मनीषी, महान् ग्रन्थकार स्वनामधन्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के ज्ञान-विज्ञानोद्भासित व्यक्तित्व के संपर्क में आया, इस महान् सरस्वती-पुत्र से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे जीवन-वैभव को लेकर उद्भासित हुए, जो अनेक दृष्टियों से अनुपम था, अद्भुत था। भारतवर्ष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं को निकट से देखने, परखने, समझने का सौभाग्य उन्हें विशेषरूप से प्राप्त हुआ। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था। चित्रकूट या चितौड़ के राजपुरोहित के पद पर वे आसीन रहे। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, व्याकरण, न्याय आदि अनेक विषयों के वे पारगामी विद्वान थे। प्रगाढ़ विद्वत्ता के साथ-साथ सरल, निष्कपट और निर्दम्भ व्यक्तित्व के वे धनी थे। एक विशेष घटना के सन्दर्भ में उन्हें जैन धर्म के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसने उन महान् प्रज्ञा-पुरुष का जीवन ही बदल दिया। उनकी आस्था जैन दर्शन और धर्म के साथ सम्पृक्त हो गई। जब ज्ञान

अन्तर्मुखी हो जाता है तो वह काया पलट कर देता है। आचार्य हरिभद्र के साथ ऐसा ही हुआ। उन्होंने परम-त्यागमय श्रमण-जीवन के स्वीकार मे विलम्ब नहीं किया। तत्काल श्रमण-प्रव्रज्या अगीकार कर उन्होंने जैन आगम, दर्शन, न्याय तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य शास्त्रो का अहर्निश परिशीलन किया। क्षयोपशमजनित प्रतिभा का सुयोग उन्हें प्राप्त था ही, श्रम के साहचर्य से प्रतिभा फल-निष्पत्ति लाने में कितनी सफल होती है, आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन से यह स्पष्ट है। थोड़े ही समय में उन्होंने जैन विद्या की अनेक शाखाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके अध्ययन, चिन्तन से जिज्ञासु तथा मुमुक्षुजन लाभान्वित हो, उस हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की; जो आगम-व्याख्या, धर्म, दर्शन, कथाकृति आदि अनेक रूपों मे प्रकाश मे आए। जैन वाङ्मय के क्षेत्र मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, असाधारण देन उन्होंने और दी। वह है उनका जैनयोग सम्बन्धी साहित्य।

भारत के साधना-क्षेत्र मे उस समय योग का विशेष प्रचलन था। योग के सन्दर्भ मे बहुमुखी चिन्तन प्रकाश मे आ रहा था, ग्रन्थ-रचनाएँ हो रही थी। एक ओर शैवयोगी, नाथयोगी, हठयोगी अपने-अपने साधना क्षेत्र मे प्रवृत्त थे तथा दूसरी ओर सहजयान या वज्रयान का अपना योगक्रम चल रहा था, जिसे सहजयानी सिद्धयोगी अपनी दृष्टि मे विकसित कर रहे थे। यह सब देख परम प्रबुद्ध मनीषी, अनेक शास्त्र निष्णात, परमोच्च साधक आचार्य हरिभद्र सूरि के मन ,में संभवतः एक ऐसी सस्फुरणा हुई हो कि जैन-साधना पद्धति को भी जैन योग के रूप में अभिनव विधा के साथ प्रस्तुत किया जाए। उसी का फल है, उन्होंने जैन योग पर योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविंशिका नामक चार ग्रन्थ लिखे। उनमे पहले दो सस्कृत में है तथा अन्तिम दो प्राकृत मे। इनके अतिरिक्त शास्त्रवार्तासमुच्चय, षोडशक, अष्टक आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों में भी उन्होंने यथाप्रसग योग की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र महान् विद्वान् होने के साथ-साथ महान् अध्यात्मयोगी भी थे। इसलिए उनके जीवन के कण-कण में योग मानो अनुस्यूत था। उन्हें योग में बड़ी निष्ठा थी, जो उनके निम्नांकित शब्दो से प्रकट होती है.—

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—ससार मे बार-बार जन्म-मरण मे आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नही होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नही होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर

देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है।

योगरूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, कुण्ठित हो जाते हैं—योगरूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

अशुद्ध—स्वादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।[1]

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन तथा जैनदर्शन में जैनयोग मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय है। जैनयोग के सन्दर्भ में मैंने उन सभी ग्रन्थों का पारायण किया है, जो मुझे उपलब्ध हो सके। मैं इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र से अत्यधिक प्रभावित हूँ। उन्होंने जो भी लिखा है, वह मौलिक है, गहन अध्ययन, चिन्तन पर आधृत है।

पिछले कुछ वर्षों से मेरे मन में यह भाव था कि आचार्य हरिभद्र के इन चारों योग ग्रन्थों पर मैं कार्य करूँ। हिन्दी-जगत् को अधुनातन शैली में सुसम्पादित तथा अनूदित रूप में ये ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। अच्छा हो, इस कमी की पूर्ति हो सके। इसके लिए मुझे उत्तम मार्ग-दर्शन तथा संयोजन चाहिए था। किसके समक्ष यह प्रस्ताव रखूँ, यह सूझ नहीं पड़ रहा था। क्योंकि आज अध्यात्म तथा योग के नाम पर जो कार्य चल रहे हैं, वे यथार्थमूलक कम तथा प्रशस्ति एवं प्रचारमूलक अधिक हैं। उन तथाकथित योग-प्रवर्तकों को, आचार्यों को अपना-अपना नाम चाहिए, विरुदावलि चाहिए, प्रचार चाहिए, जो उनके लिए प्राथमिक है। खैर, जैसी भी स्थिति है, कौन क्या कर

---

१ योग: कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योग: प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥
तथा च जन्मबीजाग्निर्जरोऽपि जरा परा।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः॥
कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि॥
अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः॥
मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेर्योगात्तथेष्यते।
योगान्नेश्वेतसस्तद्वदविद्या मलिनात्मनः॥ —योगबिन्दु ३६–४१

सकता है। अत इनके झझट मे न पड़कर जितनी जिसकी शक्ति हो, अपना कार्य करते रहना चाहिए।

लगभग नौ दस महीने पूर्व की घटना है, मैं एक साहित्यिक कार्य के सन्दर्भ मे वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के युवाचार्य, बहुश्रुत मनीषी, पंडितरत्न श्री मधुकर मुनि जी म० सा० से भेंट करने नागौर गया था। इस समय प्रौढ़ विदुषी, परम अध्यात्मसाधिका महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० 'अर्चना' भी साध्वी-समुदाय सहित वहाँ विराजित थीं।

पिछले पाँच छ: वर्षों से मैं श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० सा० के सपर्क मे हूं। सुयोग्य विद्वान्, प्रबुद्ध आगम-वेत्ता तथा प्रौढ़ लेखक होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है—उनकी सहज ऋजुता, कोमलता तथा मधुरता। न उन्हें अपने ज्ञान का दम्भ है, न पद का अभिमान। उनके स्वभाव मे जो अनिर्वचनीय सरलता का दर्शन होता है, वह उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक आकर्षक गुण है। वे स्वय विद्वान् है, अतएव विद्या की गरिमा जानते हैं, विद्या का और विद्वान् का सम्मान करते है, उन्हें स्नेह देते है। यही कारण है, ज्यों-ज्यो समय बीतता गया, उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। उनके सान्निध्य में चल रहे आगम-प्रकाशन के कार्य मे भी मेरा भाग है तथा उनके दूसरे साहित्यिक कार्य में भी मेरा यत्किञ्चित् साहचर्य है।

अस्तु, युवाचार्य श्री ने अगले दिन सबेरे नागौर से प्रस्थान किया। अगला पड़ाव एक छोटे से गाँव मे था। मै भी पैदल ही उनके साथ गया। दिन भर मैं उनकी सन्निधि में रहा। अपराह्न मे जब युवाचार्य श्री से वापस लौटने की अनुमति लेने लगा तो उन्होने विशेष रूप से कहा कि नागौर में महासती जी श्री उमरावकुंवर जी से मिलियेगा। मैं शाम को नागौर लौट आया। नृसिंह सरोवर पर रुका था, रात्रि प्रवास वहीं किया। महासती जी से भेंट करने के सम्बन्ध में प्रातः सोच ही रहा था, मैं नहीं जानता, ऐसा क्यों हुआ, पर हुआ—योग वाङ्मय के अपने अध्ययन के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के उस संस्करण की ओर सहसा मेरा ध्यान गया, जिसे मैंने पढ़ा था, जिसके सम्पादन, प्रकाशन आदि मे महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० का सबसे बड़ा योगदान रहा था। महासती जी के जीवन का अध्यात्म-संपृक्त योग-पक्ष सहसा मेरे अन्तर्नेत्रों से गुजर गया, जिसमें मुझे साधना की दिव्यता दृष्टिगोचर हुई। महासतीजी का मैं पहली बार दर्शन करने नहीं जा रहा था। अब से तीन चार वर्ष पूर्व जब मेड़ता गया था तो अपने स्नेही मित्र श्रीयुक्त जतनराज जी मेहता के साथ पहले पहल उनके दर्शन करने तथा उनसे ज्ञान-चर्चा करने का प्रसंग प्राप्त हुआ था। उसके बाद भी सौभाग्यवश कई बार वैसा अवसर मिलता रहा। उन सबका एक समवेत प्रभाव मेरे मानस पर यह था कि जैन योग मे पूजनीया महासती जी की अनन्य अभिरुचि है तथा असाधारण अधिकार भी।

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि उनकी सेवा में अपनी भावना उपस्थित करूँ। तदनुसार वहाँ पहुँचा और यह अनुरोध किया कि यदि उनका मार्गदर्शन तथा सयोजन प्राप्त होता रहे तो प्रकाण्ड विद्वान, महान् योगी आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थ हिन्दी जगत् की सेवा में प्रस्तुत किये जा सकें। उत्तर में महासतीजी के जो प्रेरक उद्गार मुझे प्राप्त हुए, मैं हर्ष-विभोर हो गया। उनकी स्वीकृति प्राप्त कर मैंने अपने को धन्य माना। एक परमोत्तम सयमशील पवित्रात्मा की सत्प्रेरणा का संबल लेकर मैं अपने स्थान—सरदारशहर लौट आया तथा अपने को सर्वतोभावेन इस कार्य में लगा दिया। इस बीच कार्य उत्तरोत्तर गति पकड़ता गया। उस सन्दर्भ में मार्ग-दर्शन प्राप्त करने हेतु महासतीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होने के अवसर मिलते रहे। ज्यों-ज्यों मैं उनकी आध्यात्मिक सन्निधि में आता गया, मुझे उनके व्यक्तित्व की वे असाधारण विशेषताएँ अधिगत होने लगी जिन्हें साधारण चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्र योगी तथा निष्पन्नयोगी के रूप में योग-साधकों के जो चार भेद किये हैं, परमश्रद्धेया महासतीजी की गणना मैं कुलयोगियों में करता हूँ। आचार्य हरिभद्र के अनुसार कुलयोगी वे होते हैं जिन्हें जन्म से ही योग के संस्कार प्राप्त होते हैं, जो समय पाकर स्वयं उद्बुद्ध हो जाते हैं, व्यक्ति योग-साधना में सहज रस की अनुभूति करने लगता है। जो योगी अपने पिछले जन्म में अपनी योग-साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते, बीच में ही आयुष्य पूरा कर जाते हैं, आगे वे उन संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं। अतएव उनमें स्वयं योग-चेतना जागरित हो जाती है। कुलयोगी शब्द यहाँ कुल परम्परा या वंश-परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। क्योंकि योगियों का वैसा कोई कुल या वंश नहीं होता पर महासतीजी के साथ इस शब्द से नहीं निकलने वाला यह तथ्य भी घटित हो जाता है, ऐसा एक विचित्र संयोग उनके साथ है। महासतीजी के पूज्य पितृचरण भी एक संस्कारनिष्ठ योगी थे। घर में रहते हुए भी वे आसक्ति और वासना से ऊपर उठकर साधनारत रहते थे। यों आनुवंशिक या पैतृक दृष्टि से भी महासतीजी को योग प्राप्त रहा। इस प्रकार कुलयोगी का प्रायः अन्यत्र अघटमान अर्थ भी पूजनीया महासतीजी के जीवन में सर्वथा घटित होता है। ऐसे व्यक्तित्व के संदर्शन तथा सान्निध्य से सत्त्वोन्मुख अन्तःप्रेरणा जागरित हो, यह स्वाभाविक ही है। न यह अतिरंजन है और न प्रशस्ति ही, जब भी मैं महासतीजी के दर्शन करता हूँ, कुछ ऐसा अध्यात्म-संपृक्त पवित्र वात्सल्य प्राप्त करता हूँ, जिससे मुझे अपने जीवन की रिक्तता में आपूर्ति का अनुभव होता है। मैं इसे अपना पुण्योदय ही मानता हूँ कि मुझे इस साहित्यिक कार्य के निमित्त से समादरणीया महासतीजी का इतना नैकट्य प्राप्त हो सका।

महासतीजी के जीवन के सम्बन्ध में गहराई से परिशीलन कर जैसा मैंने पाया, निश्चय ही वह पवित्र उत्क्रान्तिमय जीवन रहा है। एक सम्पन्न, सम्भ्रान्त परिवार

मे उन्होंने जन्म पाया। केवल वे सात दिन की थी, तभी मातृवियोग हो गया। देव-दुर्लभ मातृ-वात्सल्य से विधि ने उन्हे सदा के लिए वञ्चित कर दिया। पिता की स्नेहमयी गोद में उनका लालन-पालन हुआ। मातृत्व एवं पितृत्व के दुहरे स्नेह का केन्द्र केवल उनके पितृचरण थे, जिन्होंने अपने अन्तरतम की स्निग्धता से उसे फलवत्ता देने मे कोई कसर नही रखी। पिता की छत्रच्छाया में परिपोषण, संवर्धन प्राप्त करते हुए ज्यों ही उन्होंने अपना ग्यारहवा वर्ष पूरा कर बारहवें मे प्रवेश किया, केवल थोड़े से समय बाद (साढ़े ग्यारह वर्ष की अवस्था मे) वे परिणय-सूत्र में आबद्ध कर दी गईं। विधि की कैसी विडम्बना थी, अभी गौना भी नही हो पाया था, मात्र दो वर्ष बाद उनके पतिदेव दिवगत हो गये। वह एक ऐसा भीषण दुःसह वज्रपात था, जिसकी कोई कल्पना तक नही की जा सकती। पर विधि-विधान के आगे किसका क्या वश! फूल सी कोमल बालिका यह समझ तक न सकी, क्या से क्या हो गया। सारे परिवार में अपरिसीम शोक व्याप्त हो गया। हिमाद्रि जैसे सुदृढ़ एवं सबल हृदय के धनी पिता भी सहसा विचलित से हो गये।

यह वह स्थिति थी, जिसमे जीवन भर रोने-बिलखने के अतिरिक्त और कुछ बाकी रह नही पाता। पर यह सामान्य जनो की बात है। महासतीजी तो विपुल सत्त्वसभृत संस्कारवत्ता के साथ जन्मी थी, उनके चिन्तन ने एक नया मोड़ लिया, जो उन जैसी बोधि-निष्पन्न आत्माओं को लेना ही होता है। उन्होंने अपने जीवन की दिशा ही बदल दी। उनके मन में निर्वेद का जो बीज सुषुप्तावस्था मे था, अंकुरित हो उठा और थोडे ही समय मे वह पल्लवित एवं पुष्पित पादप के रूप मे विकसित हो गया। जैसा मैंने ऊपर उल्लेख किया है, महासतीजी के पितृचरण एक दिव्य संस्कारी वीर पुरुष थे। उनका लौकिक जीवन साहस, शौर्य और पराक्रम का जीवित प्रतीक था। क्षयोपमवश कुछ ऐसी दिव्यता उन्हे जन्म से ही प्राप्त थी कि साधारण उदरभरि और भोगोपभोगी मनुष्य के रूप में वे जीवन की इतिश्री कर देना नही चाहते थे। बाह्य अध्ययन विशेष न होते हुए भी उनकी आभ्यन्तर चेतना उद्बुद्ध थी, जो जन्म के साथ ही आती है। पिता और पुत्री के परम पवित्र अन्तर्भाव की फल निष्पत्ति श्रमण-प्रव्रज्या में हुई। उद्बुद्धचेता, सात्त्विक जन, जब अन्तरात्मा जाग उठती है, तब फिर विलम्ब क्यो करें। उक्त विषम, दुःखद घटना के लगभग वर्ष भर बाद उन्होंने (पिता पुत्री ने) परम पूज्य स्व० आचार्य श्री जयमल्लजी म० सा० से आम्नायानुगत तत्कालीन श्रमण संघीय मारवाड प्रान्त मन्त्री पूज्य स्वामीजी श्री हजारीमल जी म० सा० तथा बालब्रह्मचारिणी महासती श्री सरदारकुंवर जी म० सा० की सन्निधि मे श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली।

बड़ा आश्चर्य है, इस भोगसकुल जीवन मे यह कैसे सध जाता है, जहाँ मौत की *अन्तिम सांसें गिनता हुआ मनुष्य भी मन से भोगों को नहीं छोड़ पाता!* मृत्यु मस्तक पर मंडराती है पर उस समय भी क्षुद्र सांसारिक सुखमय, वासनामय मनःस्थिति में

आबद्ध रहता है। कितनी दयनीय स्थिति है यह! वह जीना चाहता है, फिर छककर भोगों को भोग लेना चाहता है। इन स्थितियों के साथ-साथ है तो विरल पर एक और स्थिति भी है, जहाँ भोग विषवत् त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं। क्या कारण है, यह स्थिति सब में नहीं आती, किन्हीं किन्हीं— बहुत थोड़े से लाखों में एक दो व्यक्तियों में प्रस्फुटित होती है। सस्कारवत्ता तो है ही, मनोविज्ञान एक और समाधान देता है। उसके अनुसार काम वासना, भोग आदि मनुष्यों की निम्नतम वृत्तियाँ है जिनमें वह अनुपम सुख की मान्यता लिये रहता है। इसलिए तीव्रतम उत्कण्ठा के रूप में उसकी निष्ठा उनसे जुटी रहती है। पर यह अपरिवर्त्य नहीं है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के जीवन में किसी घटना-विशेष से या विशिष्ट ज्ञान के उद्भव से इसके विपरीत भी कुछ घटित होता है। इच्छा की तीव्रता तो नहीं मिटती पर इच्छा जिस पर टिकी होती है, वह लक्ष्य बदल जाता है, भोग के स्थान पर वैराग्य, साधना, ज्ञान, कला या साहित्य सम्प्रतिष्ठ हो जाता है। परम उदग्र इच्छाशक्ति इनमें से किसी के साथ जुड़ जाती है। निश्चय ही तब फल निष्पत्ति में एक चमत्कार आता है। मनोविज्ञान की भाषा में यह दिक्-परिष्कार (Sublimation) कहा जाता है। वैसे व्यक्ति बहुत बड़े साधक, ब्रह्मज्ञानी, महान् साहित्यकार आदि होते हैं। अन्तर्वृत्ति में यों परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति को अपने स्वीकार्य और गन्तव्य पथ से कोई चलित नहीं कर सकता।

इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर यदि चिन्तन करें तो लगता है, पिता एवं पुत्री के साथ जो घटित हुआ, जिस दिव्य दिशा की ओर उनके कदम बढ़ चले, उनसे यही संभावित था। साधना की इस यात्रा में आगे जो कुछ हुआ, वह साक्ष्य है इस बात का, (जो पहले चर्चित हुई है) तीव्रतम इच्छाशक्ति का परिणाम शक्ति-स्फोट में आता है, जो जीवन को असाधारण वैशिष्ट्य से समायुक्त कर देता है। पिता श्री मांगीलालजी, जो तब मुनि श्री मांगीलालजी थे, सर्वतोभावेन प्राणपण से अध्यात्म-साधना में जुट गये। योगी के जीवन में सहजरूप में जो विभूतियाँ प्राकट्य पा लेती हैं, उनमें भी कुछ वैसी निष्पत्तियाँ हुई। तभी तो यह सभव हो सका, उन्होंने छः महीने पूर्व ही अपने मरण का समय बता दिया था, जो ठीक उसी रूप में घटित हुआ।

ऐसे महान् पिता की पुत्री और महान् गुरु की शिष्या महासतीजी ने प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के बाद जहाँ एक ओर अपने को श्रुतोपासना में लगाया, दूसरी ओर योग साधना का वरेण्य क्रम भी उनके जीवन में चलता रहा। अनेक ज्ञानियों, साधकों तथा महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करने, उनसे सीखने, समझने का उन्हें सौभाग्य रहा, जिसका उन्होंने तन्मयता तथा लगन के साथ उपयोग किया, जो उनके वैदुष्य और साधना प्रवण जीवन में साक्षात् परिदृश्यमान है।

महासती जी एक जैन श्रमणी हैं, पाद-विहार, धर्म-प्रसार जिनके जीवन का अपरिहार्य भाग होता है। उन्होंने राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, उत्तर-

प्रदेश, हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों की पद-यात्राएँ की, जन-जन को भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से अनुप्राणित किया, आज भी कर रही हैं। उनकी दृढ़ता, साहस, उत्साह तथा निर्भीकता निःसन्देह स्तुत्य हैं, उन्होंने काश्मीर जैसे दुर्गम प्रदेश की भी यात्रा की. जो वास्तव में उनकी ऐतिहासिक यात्रा थी। शताब्दियों में संभवतः यह प्रथम अवसर था, जब एक जैन साध्वी ने काश्मीर-श्रीनगर तक की पद-यात्रा की हो। महासतीजी द्वारा अपने जीवन के संस्मरणों के रूप में लिखित 'हिम और आतप' नामक पुस्तक मैंने देखी। पुस्तक इतनी रोचक लगी कि मैंने एक ही बैठक में उसे आद्यापान्त पढ़ डाला। पुस्तक में उनकी काश्मीर-यात्रा के घटना क्रम, संस्मरण भी उनकी लेखिनी द्वारा शब्द बद्ध हुए हैं, जो निसन्देह बहुत ही प्रेरणा-प्रद है। दुर्गम, विषम, सकड़े पहाड़ी मार्ग, तन्निकटवर्ती काल-सा-मुँह बाये सैकड़ों फुट गहरे खड्ड, नुकीली चट्टानें, उफनती नदियाँ, पिघलते ग्लेशियर, (Glacier) छनते बादल—अपरिसीम, अद्भुत प्राकृतिक सुषमा पर साथ ही साथ एक पदयात्री के लिए भीषण, विकराल, संकट परम्परा—महासतीजी ने यह सब देखा, अनुभूत किया। जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य ने उनके साहित्य हृदय को सात्त्विक भावों का दिव्य पाथेय दिया, वहाँ संकटापन्न, प्राणघातक परिस्थितियों ने उनके राजस्थानी वीर नारी सुलभ शौर्य को और अधिक प्रज्वलित तथा उद्दीप्त किया। किसी भी भयावह स्थिति में उनका धीरज विचलित नहीं हुआ। जिन्होंने गृही जीवन में शेरों तक को पछाड़ डाला तथा सन्यस्त जीवन में उसी अनुपात में आत्मशक्ति की विराट् ज्योति स्वायत्त की ऐसे महान् पिता की महान् पुत्री को भय कहाँ से होता? उन्होंने सानन्द, सोत्साह, सोल्लास अपनी काश्मीर यात्रा सपन्न की। वह प्रदेश, जो वर्तमान में भगवान् महावीर के आध्यात्मिक सन्देश के परिचय में कम आ पाया था, उन्हीं भगवान् महावीर के पद चिन्हों पर चलने वाली उन्हीं की परमोपासिका एक महिमामयी भारतीय नारी की योग-परिष्कृत कण्ठ-ध्वनि से निःसृत निनाद द्वारा पुनः मुखरित हो उठा।

अस्तु, महासतीजी ने जिस महान् ध्येय को लेकर अत्यन्त उत्साह, ओजस्विता और निष्ठा के साथ जिस अभिनव दिशा में प्रयाण किया, वे उस पर उसी अन्त:-स्फूर्ति के साथ आज भी चलती आ रही हैं। यह सब इसलिए है कि योगानुभूति से जीवन में प्रशम-रस का वह निर्झर फूट पड़ता है, जिसमें साधनागत श्रम आनन्द बन जाता है।

यहाँ महासतीजी के सम्बन्ध में जो कुछ मेरी लेखिनी से उद्गीर्ण हुआ है, वह मेरे हृदय से संस्फुटित श्रद्धा-प्रसूत भावराशि है, जिसे शब्द रूप में बाँधने से मैं अपने को रोक नहीं सका। पर, मैं जहाँ तक समझता हूँ, यह अनुपयुक्त नहीं हुआ। इस महिमामयी नारी के साधनामय जीवन के ये ज्योति-स्फुलिंग, मुझे आशा है, पाठकों को दिव्य जीवन की प्रेरणा देंगे जो सबके लिये नितान्त वाञ्छनीय है।

यह व्यक्त करते मुझे अत्यन्त हर्ष है कि समादरणीया महासतीजी म० के सानुग्रह मार्गदर्शन तथा सयोजन मे, प्रातःस्मरणीय, महामहिम आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के योग-ग्रन्थ हिन्दी जगत् के समक्ष उपस्थापित करने का सौभाग्य पा रहा हूँ। आशा है, हिन्दीभाषी पाठक भारतभूमि के एक महान योगी, महान तत्त्वद्रष्टा, महान् ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त योगामृत का पान कर जीवन मे अभिनव कर्मचेतना एवं आत्मशान्ति का अनुभव करेंगे।

विजयदशमी, वि० सं० २०३८ —डॉ० छगनलाल शास्त्री

वैवल्य धाम
सरदारशहर (राजस्थान)

एम ए (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलाजी)
पी-एच. डी., काव्यतीर्थ,
विद्यामहोदधि
भू. पू. प्रवक्ता, इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत,
जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार)

प्रस्तावना

ज्ञान, चिन्तन तथा साधना के क्षेत्र में आर्यभूमि भारत के जिन महर्षियों, मनीषियों तथा विद्वानों ने अपने अनन्य सृजन द्वारा जो अभूतपूर्व कार्य किए, उनकी गरिमा सदा अमिट रहेगी। कराल काल के थपेड़ों से उनका महत्त्व कभी व्याहत नहीं हो सकेगा। वे उस परम दिव्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समुद्बोधक, सर्वतो गरीयान्, वरीयान्, महीयान् तत्त्व के पुरोधा और पुरस्कर्ता थे, जिस पर इस महान् राष्ट्र की अजर, अमर, अमल, धवल संस्कृति टिकी है। उन्हीं महान् पुण्यात्मा, तप:पूत, शब्द तथा भाव के अनन्य शिल्पी महामानवों में एक थे आचार्य हरिभद्र सूरि (आठवीं शती ई०)। भारतीय वाङ्मय, तत्त्वदर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने जो योगदान किया, वह इतना उच्च, इतना दिव्य तथा इतना पावन है कि उसकी महत्ता शब्दों में नहीं कही जा सकती। काश! इस महान् सरस्वती-पुत्र पर शोध के सन्दर्भ में कुछ बड़ा साहित्यिक कार्य होता। किन्तु दुर्भाग्य है, जितना चाहिए, उतना अब तक हो नहीं सका है।

कितनी असाधारण प्रतिभा, सागरवत् गम्भीर अध्ययन तथा उर्वर चेतना के धनी थे वे महान् आचार्य। आगम, दर्शन, न्याय, योग तथा कथा आदि जितने विषयों पर, जिस सफलता के साथ उन्होंने लिखा, यह अतिशयोक्ति नहीं है कि वैसा लिखने वाले विद्वान् बहुत कम हुए। आचार्य हरिभद्र अनेक शास्त्रों में निष्णात, प्रखर पाण्डित्य के धनी, दुर्धर्ष विद्वान् थे। जब वे सांसारिक थे, तब लौकिक गरिमा, वैभव एवं समृद्धि का वैपुल्य उन्हें स्वायत्त था। किन्तु जब अप्रतिम त्याग तितिक्षामयी श्रमण-परम्परा में उनकी आस्था परिणत हुई, तब उन्होंने एक ऐसा वैभव, माहात्म्य अर्जित किया, जिसकी उच्चता तक भौतिक विभूतियाँ युग-युगान्तर में भी नहीं पहुँच सकतीं। आचार्य हरिभद्र का श्रमण-जीवन जहाँ एक ओर आचार-क्रान्ति का जाज्वल्यमान प्रतीक था, दूसरी ओर ज्ञान के क्षेत्र में उनके द्वारा जिस विपुल और महान् साहित्य का सृजन हुआ, वह सदा अजर, अमर रहेगा।

अन्यान्य विषयों को न लेकर अभी मैं एक विशेष बात पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा; जो उनके साहित्यिक कृतित्व से सम्बद्ध है। जिसकी मैं चर्चा करना चाहता हूँ, वह है जैन योग। आचार्य हरिभद्र वे प्रथम मनीषी थे, जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा जैन योग के सन्दर्भ में मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

आचार्य हरिभद्र मेरे अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं, विशेष रूप से उनकी योग-विषयक रचनाएँ। आज से २५ वर्ष पूर्व जब मैं प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में प्राकृत एवं जैनोलॉजी विषय में स्नातकोत्तर अध्ययन कर रहा था, उसी समय मुझे आचार्य हरिभद्र सूरि के योग-विषयक ग्रन्थों का आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। उससे भी वर्षों पूर्व लगभग बालपन में ही मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी कि मुक्ति, मोक्ष, परमात्म-पद की प्राप्ति अथवा स्वयं परमात्मा बनना, अथवा ब्रह्मलीनता अथवा भगवान् की प्राप्ति अथवा निर्वाण-अवस्था की प्राप्ति, जन्म-मरण के अनादि संसार चक्र से जीव की मुक्ति की, ये जितनी दशाएँ हैं, इन्हें प्राप्त करने का, क्या विश्व भर के सभी जीवों के लिए भक्ति, ज्ञान, कर्म या संन्यास का कोई एक ही मार्ग सुनिश्चित है, उसके सिवाय कोई गति नहीं है, और वैसा या वह मार्ग बताने वाला केवल एक ही धर्म सत्य है, शेष सब झूठे हैं ? अथवा ईश्वर को या ईश्वरत्व को पाने के एकाधिक उपाय, मार्ग या धर्म हो सकते हैं, और सभी जीवों को अपनी-अपनी क्षमता एवं देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना मार्ग चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता व अधिकार है ? ..... इत्यादि रूप में मेरी गहन उत्सुकता और उत्कण्ठा थी।

आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाओं के अध्ययन ने मेरी उपर्युक्त जिज्ञासा को इस प्रकार शान्त किया कि सत्य या ईश्वर ऐसे कोई दुर्लंघ्य हिमालय नहीं, जिनकी चोटी पर पहुँचने का कोई एक और केवल एक मात्र मार्ग हो, वह भी किसी एक ही दिशा में। अपितु वह तो ऐसा सूर्य है, जिसकी किरणें एक केन्द्र से उत्सृष्ट होकर असीम, अगण्य, अनन्त कोणों व मार्गों से अखिल विश्वमंडल में व्याप्त होती हैं, और विपरीत क्रम में उतने ही अनन्त, असंख्य, असीम कोणों व मार्गों से आकर उसी 'सत्य' रूपी सूर्य में विलीन हो जाती हैं। अतः धर्म भी न केवल अनेक, अपितु प्रत्येक जीव का अपना एक स्वतन्त्र धर्म हो सकता है और औपचारिक धर्म, तीर्थंकरों, अवतारों, पैगम्बरों, ऋषियों व सन्तों द्वारा प्रणीत धर्म, वे शृंखलाएँ नहीं हैं, जिनमें बाँधकर जीव-सृष्टि की श्रेष्ठ कृतियों, जिनमें श्रेष्ठतम है मनुष्य, (उसे) किसी अन्धकूप में फेंक दिया जाए, अपितु वे मार्गदर्शक स्तम्भ हैं, प्रकाश की वे किरणें हैं, वे हस्त-दण्ड हैं, जिन्हें पकड़कर जिनको देखकर मनुष्य अपने उस उच्चतम, महत्तम गन्तव्य को पा सकता है, जहाँ वह सर्वतन्त्र स्वतंत्र है, और जहाँ उसकी स्वयंभू सार्वभौम सत्ता है। संसार के सभी धर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में, अथवा जीवन के परम-सत्य की शोध में केवल उपाय भर हैं, साधन मात्र हैं साध्य नहीं, और इतनी ही धर्मों की सत्यता है, इतनी ही सार्थकता।

आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों से न केवल मानव धर्मों की ऐसी मौलिक एकता की बुद्धि उत्पन्न होती है, अपितु यह दृष्टि भी प्राप्त होती है कि मोक्ष से जोड़ने वाला सभी धर्म-व्यापार, सारे धार्मिक आचार-व्यवहार 'योग' हैं।

आध्यात्मिक-विकास की भूमियों का विवेचन जैन परम्परागत 'गुणस्थान क्रम' मे स्वतंत्र मित्रा, तारा, प्रभा, परा प्रभृति आठ दृष्टियों में करके तथा पातञ्जल योग एव बौद्ध योग की विकास भूमियों से उनका समन्वय करते हुए, पातञ्जल योग के यमनियमादि आठो अंगों का स्व-प्रणीत जैन योग साधना पद्धति में समाहार करके आचार्य हरिभद्र ने आठवी शती ई० में योग-साधना का अभूतपूर्व सर्वांगीण और सार्वजनीन पथ प्रशस्त किया। दुराग्रह का तो प्रश्न ही नही, उनकी योग-विषयक रचनाओ मे साम्प्रदायिक आग्रह की गन्ध तक कही नही आ सकती।

आचार्य हरिभद्र की इन रचनाओं की सबसे बडी विशेषता यह है कि योग और अध्यात्म जैसे दुर्बोध विषयों को, जिनमें सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार कहीं अधिक दुर्गम, दुर्बोध्य एव असाध्य होता है, व इनमें सामंजस्य कठिन हो जाता है, तथा योग मार्ग की व्यावहारिक कठिनाइयों को इस प्रकार समझाया और सुलझाया है कि ज्ञानवान् और अज्ञानी, अल्पश्रुत और बहुश्रुत, सबल और निर्बल, हठयोगी व सहजयोगी, भक्तिमार्गी या ज्ञानमार्गी, और कर्मयोगी अथवा कर्म-संन्यासी—सभी प्रकार के साधक आध्यात्मिक-विकास के मार्ग पर सरलतापूर्वक चल सकते हैं। सक्षेप में उनके द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग केवल मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ मात्र नहीं अपितु अनादि-अनन्त भवसागर मे हाथ पकडकर, यान पर आरूढ करके साथ ले चलने वाले उस पारगामी नाविक के समान है, जो स्वयं तो पार जाता ही है अन्यों को भी पार करा देता है। और इस प्रकार आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ बोधिसत्त्व की उस प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाती है, जहाँ वह कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

आचार्य हरिभद्र को जैसे स्वयं कुछ नही चाहिए, कोई आचार्यमुष्टि नही कोई रहस्य नही। उन्होंने जैसे शताब्दियों-सहस्राब्दियों के योगियो और मुमुक्षुओ के अनुभवों को अपनी इन रचनाओ मे शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर जैसे खोल-खोल कर स्पष्ट करके रख दिया है। और यही पुनः याद आता है महाकारुणिक शास्ता गौतम बुद्ध का यह कथन—"भिक्षुओ! मैंने कोई आचार्यमुष्टि (गुरु के हृदय में निहित रहस्यमयता) नहीं रखी, भीतर और बाहर कुछ भी न छिपाते हुए धर्म का उपदेश दिया है और जो मार्ग बतलाया है, वह ऐसा है, जिस पर चलकर आदमी जीते-जी निर्वाण प्राप्त करता है, जो काल मे सीमित नही, जिसके बारे मे कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो, जो ऊपर उठाने वाला है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है।" (गच्छमंगहो भू. पृ० १३)। ऐसा ही मार्ग दिखाती हैं आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ।

इन रचनाओ का जब भी परिशीलन करता हूँ और इनकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाने का उद्यम करता हूँ तो आनन्द-विभोर हो उठता हूँ और नया प्राप्त

करता जाता हूँ, उस महामहिम प्रज्ञा धनी के प्रति श्रद्धावनत हो जाता हूँ। वर्षों से मेरी इच्छा रही है, आचार्य हरिभद्र पर मैं कुछ कार्य करूँ। इसे कर्मान्तराय ही कहूँगा कि हृदय से चाहने पर भी अब तक वैसा कुछ प्रस्तुत कर नहीं सका।

मुझे बहुत प्रसन्नता है, मेरे अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय विद्वान्, जो वर्षों मेरे साथ रहे हैं, जिनकी प्रतिभा और उद्यमशीलता का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ, सुहृदवर डॉ छगनलाल जी शास्त्री, एम ए., पी-एच. डी. ने स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र को अपने अध्येय विषयों में स्वीकार किया।

मुझे यह व्यक्त करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है, कि श्री स्थानकवासी जैन समाज के बहुश्रुत युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी की सत्प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से, जैन जगत् की सुप्रसिद्ध विदुषी, महान् साधिका तथा कुशल लेखिका परमपूजनीया महासती श्री उमरावकुंवर जी म. 'अर्चना' के पावन पथ-दर्शन और संयोजन में डॉ छगनलाल जी शास्त्री ने मेरे आराध्य, प्रातःस्मरणीय आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थों के सम्पादन, राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद तथा विवेचन का स्तुत्य कार्य किया है। इन ग्रन्थों का गुजराती एवं अंग्रेजी में तो अनुवाद, विवेचना आदि हुआ है पर जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी में इन चारों ग्रन्थों पर वैसा कुछ कार्य नहीं हुआ। योगविंशिका का बहुत पुरानी हिन्दी में एक अनुवाद देखने में आया, वह भी आज उपलब्ध नहीं है पर अन्य ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद, विवेचन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। मैं हृदय से आभार मानता हूँ, पूजनीया महासतीजी ने निःसन्देह ऐसे पवित्र कार्य हेतु देश के एक वरिष्ठ विद्वान् को प्रेरित किया, मार्ग-दर्शन दिया तथा कार्य को गति प्रदान की। डॉ शास्त्री जी को मैं हृदय से वर्धापित करता हूँ कि उन्होंने हिन्दी जगत् के लिए वास्तव में यह बहुत बड़ा कार्य किया है। आचार्य हरिभद्र जैसे भारतीय साहित्य गगन के एक परम दिव्य तेजोमय नक्षत्र को योगिक ज्ञानमयी दीप्ति से हिन्दी जगत् को परिचित कराने में प्रस्तुत ग्रन्थ, जिसमें इन महान् आचार्य के योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविंशिका— इन चारों कृतियों का समावेश है, बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा मैंने ऊपर कहा है, आचार्य हरिभद्र ने योग पर अनेक दृष्टियों से मौलिक चिन्तन दिया है, जो वास्तव में अनन्य-साधारण है। योग के क्षेत्र में जिज्ञासाशील, साधनाशील, अनु-सन्धानरत एवं अध्ययनरत पाठकों को अवश्य ही उससे लाभान्वित होना चाहिये। जिनको संस्कृत व प्राकृत का गहरा अध्ययन नहीं है, उन हिन्दी भाषी पाठकों के लिए अब तक ऐसा अवसर नहीं था। क्योंकि आचार्य हरिभद्र के इन चार ग्रन्थों में दो संस्कृत में और दो प्राकृत में हैं।

हमारे देश में जैन विद्या (Jainology) के क्षेत्र में अनेक संस्थान कार्यरत हैं। कितना अच्छा हो, डॉ० शास्त्री जी जैसे प्राच्य भाषाओं तथा प्राच्य दर्शनों के गहन अध्येता विद्वानों का समुचित उपयोग करते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

आदि प्राच्य भाषाओं में प्रणीत जैन विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों पर ठोस कार्य कराएँ और उसे समस्त विद्वज्जगत् के लाभार्थ प्रकाशित करें। बड़ा दुःख है अभी संस्थाएँ भी संकीर्णता के दायरे से उतनी ऊँची नहीं उठ पाई हैं, जितना उठना चाहिए। तभी तो ऐसा हो रहा है कि विद्वानों का जितना जहाँ, जैसा उपयोग होना चाहिए, हो नहीं पाता।

पूजनीया महासती जी और समादरणीय विद्वत् साथी डॉ० शास्त्री जी का यह श्रुतसेवी प्रयास मुझे बहुत प्रीतिकर लग रहा है। मैं इसका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

डॉ० शास्त्री जी की सपादन शैली, अनुवादन-विवेचन शैली अपनी असामान्य विशेषताएँ लिये हुए है। वे हिन्दी के प्रबुद्ध लेखक हैं। संस्कृत या प्राकृत में ग्रथित मूल भाव को हिन्दी में जिस निपुणता तथा कौशल के साथ उपस्थापित करने में वे समर्थ है, वह सर्वथा स्तुत्य है। मैं आशा करूँगा, उनकी सशक्त, साधना-निष्णात लेखनी से और भी अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आयेंगे।

आशा है, पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा भारत के एक महान् आचार्य की महान् ज्ञानसंपदा से निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

सरस्वती-विहार, जबलपुर
कार्तिक पूर्णिमा, वि० सं० २०३८

—डॉ० विमल प्रकाश जैन एम० ए० (संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा जैनोलोजी), पी-एच० डी०
रीडर—संस्कृत—पालि—प्राकृत विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय, (जबलपुर)

मंगल-भावना

योग मेरे जीवन का विषय है और मैं जानता हूँ कि इस विद्या का हमारी पुण्यभूमि भारत में जो विकास हुआ, वह सचमुच जगत् को उसकी अद्वितीय देन है। योग वह विद्या है, जो समय, स्थान आदि की सीमा में बँधी नहीं है। उस द्वारा ससीम आत्मा अपने असीम विराट् स्वरूप को अधिगत कर सत्-चित्-आनन्दमय बन अनन्त्य, ज्ञानी है। गगन-मण्डल में एक अलक्ष्य अतर्क्य और अभेद्य ज्ञान राशि परिव्याप्त है, वह अप्राप्य नहीं है। प्राप्य हो जाए तो व्यक्ति क्या से क्या बन जाए। उसकी प्राप्यता का मार्ग योग है। योगी विश्वगत ज्ञान को साधना-बल द्वारा अपने में उतार पाता है। स्वयं उसकी दिव्य रसानुभूति तो करता ही है, अखण्ड भूमण्डल को उससे लाभान्वित भी कर सकता है। यह जो मैं लिख रहा हूँ, केवल शास्त्र-ज्ञान के आधार पर नहीं, हिमाद्रि की गहन कन्दराओं में साधनारत योगियों से जो मैंने पाया और यत् किञ्चित् स्वयं भी अनुभूत किया, वह भी उसका एक आधार है।

मेरी भावना है, योग विद्या पर गहन अध्ययन हो, शोध-कार्य हो, अनुद्घाटित या विलुप्त सत्य उद्घाटित हो, इसके नाम पर चलती विडम्बनाएँ, प्रवञ्चनाएँ एवं छलनाएँ निरस्त हों। इसके लिये मैं यह परम आवश्यक समझता हूँ, हमारे ऋषि, महर्षियों ने, योगियों ने, आध्यात्मिक महापुरुषों ने जो सत्य शब्दबद्ध किया, उसे हम यथावत् समझें स्वायत्त करें। योगी परम्परावद्ध नहीं होता, वह साधनाबद्ध होता है। इसलिये मेरी दृष्टि में पतंजलि, व्यास, गोरक्ष, हरिभद्र, नागार्जुन, सरहप्पा, कण्हप्पा, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव, आनन्दघन आदि सभी योगिवर्य योगमणिमुक्ताग्रथित अमूल्य माला के मनोज्ञ मनके हैं। इनके विचारों की अनिर्वचनीय दीप्ति से हमें अपना अन्तर्तम उद्भासित करना है। इसके लिए यह नितान्त वाञ्छनीय है, इनका साहित्य हमें उपलब्ध हो। थोड़ा सा उपलब्ध है, बहुत सा अनुपलब्ध है, आज भी अप्रकाशित पड़ा है। कितना अच्छा हो, कोटि-कोटि भारतवासियों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में वह समुपन्यासित हो सके।

मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ कि श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य विद्वद्रत्न, बहुश्रुत मनीषी परमश्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी म० की छत्रच्छाया में भारतीय विद्या, जैन आगम आदि के सन्दर्भ में हो रहे विराट् कार्य के अन्तर्गत योगवाङ्मय का कार्य भी चल रहा है। उन्हीं के धर्मसंघ की परम विदुषी, योगनिष्ठ आदर्श साधिका, समादरणीया महासती श्री उमरावकुंवर जी म० 'अर्चना' के मार्गदर्शन तथा संयोजन में मेरे अनन्य आत्मीय विद्वान डॉ० छगन लाल जी शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी. ने, जिनकी प्रतिभा एवं वैदुष्य पर मुझे गर्व है,

महान् ज्ञानी, महान् योगी, स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र सूरि के योग पर दो संस्कृत-ग्रन्थ—योगदृष्टि समुच्चय तथा योगबिन्दु एवं दो प्राकृतग्रन्थ —योगशतक व योग-विंशिका का राष्ट्रभाषा हिन्दी में सम्पादन, अनुवाद और विवेचन किया है, जो इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत है।

डॉ० शास्त्री को उनके बाल्यकाल से ही मैं देखता रहा हूँ, उन्हें प्रज्ञा, विद्या तथा साधना संस्कार से प्राप्त है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में जो उन्होंने उपलब्धियाँ की हैं, वे वास्तव में स्तवनीय तथा वृद्धापनीय हैं। उनके अध्ययन, ज्ञान एवं चिन्तन से समाज उपकृत तथा लाभान्वित हो, यह मेरी हार्दिक भावना है। उन्होंने योग को अपने प्रमुख अध्येय और विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार किया है, यह मेरे लिए और हर्ष की बात है। अपनी सशक्त लेखिनी द्वारा योग वाङ्मय के उन विस्मृत या विस्मर्यमाण सत्यों को वे शब्दबद्ध करेंगे, प्रकाश में लायेंगे, जिनसे मानव-जाति का बहुत बड़ा उपकार संभाव्य है, ऐसा मुझे विश्वास है।

मैं साधकोत्तम, परम पूज्य युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० तथा योगशक्ति रूपा महासती श्री उमरावकुँवर जी म० 'अर्चना' से यह विनम्र अनुरोध करूँगा वे योग वाङ्मय के कार्य को कृपया विशेष बल प्रदान करते रहें और डॉ० शास्त्री जैसे प्रौढ़ अध्येताओं व मनीषियों को सत्प्रेरित करते रहें ताकि योगतत्त्व के प्रकाश द्वारा अज्ञानावृत लोकमानस में ज्ञान की दिव्य ज्योति उद्भासित हो सके।

पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों, यह मेरी अन्तःकामना है।

—डॉ० गौरीशंकर आचार्य
(एम. ए. पी-एच. डी.
विद्या भास्कर, शास्त्राचार्य,
वेदान्तवारिधि, सांख्ययोगतीर्थ)

हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

स्वतः

ज्ञान और कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्म सत्प्रयुक्त, सन्नियोजित तथा सार्थक हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि कर्म-प्रवृत्त पुरुष को यथार्थ ज्ञान हो। वह ज्ञान सत्यपरक हो। सन्निष्ठा तथा सद्ज्ञान से परिचालित, परिपोषित कर्म जीवन में अत्यन्त उपादेय होता है। निष्ठारहित और ज्ञानशून्य कर्म उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। अतएव 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः', 'नाण पयासयरं' जैसे प्रेरक सूत्र-वाक्य अस्तित्व में आये। व्यक्ति ज्ञान की सूक्ष्मता और गहराई में ज्यों ज्यों प्रविष्ट होता जाता है, उसको उसमें तन्मयता बढ़ती जाती है, तद्व्यतिरिक्त जागतिक पदार्थ विस्मृत होते जाते हैं। ज्ञान तब योग बन जाता है। उसमें से एक नूतन शक्ति का जन्म होता है। वह शक्ति है अपनी विराट्ता को जानने तथा अधिगत करने का नव् पराक्रम। उस विराट्ता को स्वायत्त कर लेने का अर्थ है आत्म-भाव का परात्मभाव में रूपान्तरण।

ज्ञान एक महासागर की तरह असीम एवं अगाध है। जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त सतत प्रयत्नशील रहने पर भी मानव केवल उसके कुछ कण ही बटोर सकता है। पर थोड़े ही सही, ये ज्ञान कण निश्चित रूप में बहुत बड़ी निधि बन जाते हैं।

बचपन से ही मेरी ज्ञान में सहजरुचि रही है और जितना जो संभव हो सका, इस दिशा में मेरा विनम्र प्रयास रहा। अपने इस अध्ययन क्रम में मेरा योग-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ने में विशेष झुकाव रहा। मैंने अपनी संयम-यात्रा में इसी लक्ष्य से चरणन्यास किया था—जब जीवन का एक पक्ष विधि ने मुझ से छुड़ा लिया है और तत्त्वतः जो छोड़ने ही योग्य है, मुझे दूसरे पक्ष को सही माने में सजाना-संवारना है।

मेरे श्रद्धेय पिताश्री एक पुण्यचेता सात्त्विक पुरुष थे। लाक में रहते हुए भी वे वस्तुतः उसमें निमग्न नहीं थे, एक प्रकार से अलिप्त भी। उनकी स्नेह भरी गोद में मैं पली, क्योंकि मेरी वात्सल्यमयी माँ को भाग्य ने मुझ से जन्म लेने के कुछ ही दिन बाद छीन लिया था। पिताजी से मुझे जहाँ दैहिक पुष्टि मिली, उनके व्यक्तित्व की पावनता ने सहजरूप में मुझे वे आध्यात्मिक संस्कार दिये, जिनकी अभिव्यक्ति मैंने श्रमण जीवन में उपलब्ध की। पिताजी सचमुच एक योगी थे और कतिपय दृष्टियों से पहुँचे हुए भी। मेरे साथ वे भी श्रमण-जीवन में प्रव्रजित हो गये और अपनी आध्यात्मिक यात्रा में बड़ी वीरता से आगे बढ़ते गये। मैं इसे अपना विशेष सौभाग्य ही कहूँगी, गृही जीवन में उनकी छत्रच्छाया मुझ पर रही है, श्रमण जीवन में भी समय-समय पर उनका प्रेरक सान्निध्य मुझे प्राप्त होता ही रहा।

इसके लिए हठयोग की साधना को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परम्परा के योगविषयक ग्रन्थों में भी हठयोग को अग्राह्य कहा है,[1] फिर भी वैदिक परम्परा में हठयोग की प्रधानता वाले अनेक ग्रन्थों एवं मार्गों का निर्माण हुआ है। परन्तु, जैन साहित्य में हठयोग को कोई स्थान नहीं दिया है। क्योंकि, हठयोग में हठपूर्वक, बलपूर्वक रोका गया मन थोड़ी देर बाद जब छूटता है, तो सहसा टूटे हुए बाँध की तरह तीव्र वेग से प्रवाहित होता है और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है इसलिए जैन परम्परा में योगों का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान में समिति-गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहजयोग भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब भी साधक आने-जाने, उठने-बैठने, खाने-पीने, पढ़ने-पढ़ाने आदि की जो भी क्रिया करे, उस समय वह अपने योगों को अन्यत्र से हटाकर उस क्रिया में केन्द्रित कर ले। वह उस समय तद्रूप बन जाय। इससे मन इतस्तत न भटककर एक जगह केन्द्रित हो जाएगा और उसकी साधना निर्बाध गति से प्रगतिशील बनी रहेगी।

जैनागमों में योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ एवं जिह्वा को हिलाने की भी अनुमति नहीं है। उसमें केवल साँस के आवागमन के अतिरिक्त कोई हरकत नहीं की जाती। इस तरह काय-स्थिरता के साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में ध्यान एवं साधना कहते हैं। एकाग्रता के अभाव में वह साधना भाव-यथार्थ साधना नहीं, बल्कि द्रव्य-साधना कहलाती है। भाव-आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है—प्रत्येक साधक—भले ही वह साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जब अपना मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, उपयोग उसमें लगा देता है, उसमें प्रीति रखता है, उसकी भावना करता है और अपने मन को अन्यत्र नहीं जाने देता है, इस तरह जो साधक उभय काल आवश्यक-प्रतिक्रमण करता है, उसे 'भाव-आवश्यक' कहते हैं।[2] इसके अभाव में किया जाने वाला आवश्यक 'द्रव्य-आवश्यक' कहलाता है। यही बात अन्य धर्म-साधना एवं ध्यान के लिए समझनी चाहिए।

जैनागमों में योग-साधना के लिए प्राणायाम आदि को अनावश्यक माना है। क्योंकि, इस प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग आदि का निवारण किया जा सकता है और काल—मृत्यु के समय का परिज्ञान किया जा

---

१ योगवासिष्ठ, ६२, ३७—३६।

२ अनुयोगद्वार सूत्र, श्रुताधिकार, २७

इस श्रुत-सेवा में जैसा बन सके, अपना साथ देना सहर्ष स्वीकार किया। इस कार्य के सन्दर्भ में बीच-बीच में डॉ० शास्त्रीजी से विचार-चर्चा होती रही। उनके ज्ञान की गहराई, प्रज्ञा की उर्वरता तथा कार्य के प्रति निष्ठा देखकर मुझे असीम हर्ष हुआ।

उक्त चारों ग्रन्थ सुसम्पादित, अनूदित, व्याख्यात रूप में प्रस्तुत हैं। डॉ० शास्त्री जी की लेखिनी की अपनी विशेषता है। विपुल भाव का संक्षिप्त शब्दावली में बाँध पाने में उनका विशेष कौशल है। अनुवाद की उनकी अपनी विशेष सुन्दर, प्राञ्जल शैली है। वह विद्वद् योग्य भी है और लोकगम्य भी। भाव की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थ बड़े जटिल और कठिन हैं। परंपरा, विषय तथा भाषा तीनों में निष्णात विद्वान् ही ऐसे कार्य को कर सकते हैं। डॉ० शास्त्रीजी इस कार्य में सर्वथा सफल सिद्ध हुए हैं।

जैन योग के गहन अध्येताओं तथा अन्वेष्टाओं के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। जैन योग के अभ्यासी तथा जिज्ञासु जन भी इनसे लाभ उठा सकेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रसंग में परम श्रद्धेय सन्त रत्न स्वामीजी श्री ब्रजलालजी म० सा० तथा परम सम्माननीय बहुश्रुत पण्डितरत्न युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म० सा० को अत्यन्त श्रद्धा से नमन करती हूँ, जिनकी सुखद छत्रच्छाया में योगवाङ्मय का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रकाशन के अवसर पर देश के महान् विद्वान्, चिन्तक एवं लेखक, राष्ट्रसन्त कविवर श्री अमर मुनिजी म० सा० ने योग के परिशीलन के रूप में बड़ी ही ठोस एवं बोधप्रद सामग्री प्रदान की थी, जो योगशास्त्र में पृष्ठभूमि के रूप में प्रकाशित है। सामग्री इतनी गवेषणापूर्ण तथा शाश्वत महत्ता एवं उपयोगिता लिये हुए है कि इस ग्रन्थ में भी "जैन योग : एक परिशीलन" शीर्षक से उसे उद्धृत किया गया है। इससे निःसन्देह सुधी पाठक महान् योगी आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों को समझने योग्य बौद्धिक पृष्ठभूमि प्राप्त करेंगे।

ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों दृष्टियों से जिनसे मैंने ऐसा दिव्य अवदान प्राप्त किया, जो मेरी संयम-यात्रा में सुधोपम पाथेय सिद्ध हुआ, उन परम श्रद्धास्पद पितृचरण (स्व० मुनि श्री मांगीलाल जी म० सा०) की जीवन-रेखा, जो मैंने योग-शास्त्र में प्रस्तुत की थी, साधनानुरागी भाई-बहिनों के लिए प्रेरणाप्रद मानते हुए, यहाँ भी उद्धृत की गई है।

अन्ततः मेरी यही सत्कामना है, जीवन का रहस्य समझने तथा सत्य स्वायत्त करने की इच्छा रखने वाले सुधीजन इस ग्रन्थ से अवश्य लाभान्वित हों।

नोखा चांदावतों का — —जैन साध्वी उमरावकुंवर
(राजस्थान) 'अर्चना'

[१६]

प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तया ।
सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥

पहली चार दृष्टियाँ—मित्रा, तारा, बला तथा दीप्रा, प्रतिपात—भ्रंश युक्त हैं अर्थात् जो साधक उन्हें प्राप्त कर लेता है, उनसे भ्रष्ट भी हो सकता है। पर भ्रष्ट होता ही हो, ऐसा नहीं है। भ्रंश या पतन की संभावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय—अपाय या बाधायुक्त कही जाती हैं।

आगे की चार दृष्टियाँ—स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा प्रतिपात-रहित, अतएव बाधारहित हैं।

[२०]

प्रयाणभङ्गाभावेन निशि – स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभावतश्चरणस्योपजायते ॥

अप्रतिपाती दृष्टि प्राप्त होने पर योगी का अपने मोक्षरूप लक्ष्य की ओर अनवरत प्रयाण चालू हो जाता है। हाँ, जिस प्रकार यात्रा पर आगे बढ़ते पथिक को रात में कुछ एक स्थानों पर रुकना पड़ता है, जो किसी अपेक्षा से उसकी यात्रा का अंशतः विघात है, उसी प्रकार मोक्षोन्मुख योगी को अवशिष्ट कर्म-भोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देव-जन्म आदि में से गुजरना होता है, जो आपेक्षिक रूप में चरण-चारित्र्य-लक्ष्य की ओर गतिशीलता में विघात या रुकावट है। पर, इतना निश्चित है, *उसके इस प्रयाण का समापन-लक्ष्य-प्राप्ति में होता है।*

मित्रा-दृष्टि—

[२१]

मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा ।
अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ॥

समस्त जगत् के प्रति मित्र भाव के उद्बोधन के कारण यह दृष्टि मित्रादृष्टि के रूप में अभिहित हुई है। इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर

सहजरूप में संसार के प्रति वैराग्य, द्रव्य अभिग्रह—सत्पात्र को निर्दोष आहार, औषधि, उपकरण आदि का सम्यक् दान तथा सिद्धान्त या सत् शास्त्रों का लेखन आदि योगबीज में आते है।

[२८]

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ॥

गत (सत्ताईसवें) श्लोक में लेखना के साथ आये आदि शब्द से सत् शास्त्रों के लेखन के साथ-साथ उनकी पूजा, सत्पात्र को दान, शास्त्र-श्रवण, वाचन, विधिपूर्वक-शुद्ध उपधान-क्रिया आदि द्वारा शास्त्रों का उद्ग्रहण—सम्मान आत्मार्थी जिज्ञासुजनों में शास्त्रों का प्रकाशन-प्रसार, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन तथा पुनः-पुनः आवर्तन ग्राह्य है।

[२९]

बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया ।
तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ॥

योग-बीजों के सुनने पर उत्पन्न भावोल्लास—श्रद्धोत्कर्ष से जो तद्विषयक मान्यता सुस्थिर होती है, वह भी योग-बीजों में समाविष्ट है। योग-बीजों के प्रति शुद्ध एवं समुन्नत उपादेय भाव भी योग-बीजों के अन्तर्गत है।

[३०]

एतद्भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम् ।
करोत्यव्यक्तचैतन्यो महत्कार्यं न यत् क्वचित् ॥

जिन मनुष्यों का भाव-मल—आन्तरिक मलिनता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, उनमें योग-बीज उत्पन्न होते हैं—वे योग-बीज के अधिकारी है। जिस मनुष्य की चेतना अव्यक्त—अजागरित—अस्फुटित है, वह योग-बीज स्वायत्त करने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता

[३१]

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चात्योपपद्यते ।
जीवानां लक्षणं तत्र यत एतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में भाव-मल का क्षय होता है। उस स्थिति में वर्तमान जीवों का लक्षण इस प्रकार (अग्रिम श्लोक में कथ्यमान) है।

[३२]

दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यात्सेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥

दुःखी प्राणियों के प्रति अत्यन्त दया-भाव, गुणीजनों के प्रति अद्वेष—अमत्सर-भाव तथा सर्वत्र जहाँ जैसा उचित हो, बिना किसी भेद-भाव के व्यवहार करना, सेवा करना—यह उन जीवों की पहचान है जिनका भावमल क्षीण हो जाता है।

[३३]

एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः ।
शुभो निमित्त-संयोगो जायतेऽवंचकोदयात् ॥

ऐसे भद्रमूर्ति—सौम्य स्वरूप, महात्मा—उत्तम पुरुष को अवञ्चकोदय के कारण शुभ निमित्त का संयोग प्राप्त होता है।

[३४]

योगक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवंचकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परमसिद्धयक्रियोपमम् ॥

साधकों में तीन अवञ्चक—योगावञ्चक, क्रियावञ्चक तथा फलावञ्चक प्राप्त होते हैं, यों सुना जाता है।

जो वञ्चना—प्रवञ्चना न करे, कभी न चूके, उलटा न जाय, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे, उसे अवञ्चक कहा गया है। सद्गुरु का सुयोग प्राप्त होना योगावञ्चक है। उनका वन्दन, नमन, सेवा, सत्कार आदि शुभ क्रियाएँ क्रियावञ्चक है। ऐसे उत्तम कार्य का फल, जो अमोघ होता है, फलावंचक है।

[३५]

एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम् ।
अस्य हेतुश्च परमस्तथा भावमलाल्पता ॥

सत्प्रणाम—सत्पुरुषों को प्रणमन, उनकी वैयावृत्य—सेवा आदि सत्कार्यों के परिणामस्वरूप अवञ्चकत्रय की प्राप्ति होती है। सत्प्रणाम आदि उत्तम कार्यों का मुख्य हेतु भावमल—वैचारिक मलिनता की अल्पता है।

[३६]

नास्मिन् घने यतः सत्सु, तत्प्रतीतिर्महोदया ।
किं सम्यग् रूपमादत्ते कदाचिन्मन्दलोचनः ॥

जब तक भावमल सघनता लिए रहता है, तब तक साधक के मन में सत्पुरुषों के प्रति महोदय—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय या अन्तःश्रद्धारूप प्रतीति नहीं होती। जिनको नेत्र-ज्योति मन्द है, ऐसा पुरुष क्या दृश्य पदार्थों का रूप भलीभाँति ग्रहण कर सकता है ?

[३७]

अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते ।
चेष्टते चेष्ट-सिद्ध्यर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥

अल्पव्याधि—जिसके बहुत थोड़ी बीमारी बाकी रही है—जो लगभग स्वस्थ जैसा है, वह अवशिष्ट रहे अति साधारण रोग के मामूली विकारों से बाधित नहीं होता। वह इच्छित कार्य साधने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसी प्रकार वह योगी—योग साधक वृत्ति—धृति, श्रद्धा, सुविविदिषा—सत्तत्व चर्चा तथा विज्ञप्ति—विशिष्ट ज्ञानानुभूति—इन चार अन्तर्वृत्तियों के साथ हितकर कार्य में प्रवृत्त होता है।

[३८]

यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः ।
आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में अन्तर्मल की अल्पता के कारण उस साधक के, जो ग्रन्थिभेद के लगभग सन्निकट पहुँच चुका हो, यह सारी स्थिति निष्पन्न होती है।

[३९]

अपूर्वासन्नभावेन व्यभिचारवियोगतः ।
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण के साथ सन्निकटता लिए रहता है। अर्थात् अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद निश्चित रूप में अपूर्वकरण आता है। इसमें कोई व्यभिचार—वैपरीत्य या उलटफेर नहीं होता। अपूर्वकरण अन्तःशुद्धि की दृष्टि से अपने आप में सर्वथा वैसी नवीनता या मौलिकता लिए रहता है, जो पहले कभी निष्पन्न नहीं हुई, इसलिए उसकी 'अपूर्व' संज्ञा तत्त्वतः संगत है। योगवेत्ता ऐसा जानते हैं।

[४०]

प्रथमं यद्गुणस्थानं सामान्येनोपवर्णितम् ।
अस्यां तु तदवस्थायां मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥

मित्रादृष्टि में आत्मगुणों की स्फुरणा के रूप में अन्तर्विकास की दिशा में जो प्रथम उद्वेसन होता है, उस अवस्था में यथार्थतः प्रथम गुणस्थान की मुख्यता मानी जाती है। अर्थात् आत्म-अभ्युदय या अध्यात्म-योग की यह पहली दशा है, जिसमें यद्यपि दृष्टि तो पूर्णतया सम्यक् नहीं हो पाती पर अन्तर्जागरण तथा गुणात्मक प्रगति की यात्रा का यहाँ से शुभारम्भ हो जाता है।

तारा-दृष्टि

[४१]

तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥

तारादृष्टि में योग मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होता है। योग

का दूसरा अंग नियम वहाँ सधता है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्म-चिन्तन—जीवन में फलित होते है।[1] आत्म-हितकर प्रवृत्ति में अनुद्वेग—उद्वेग का अभाव अर्थात् उत्साह तथा तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

[४२]

भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथास्वलम् ।
शुद्धयोगेषु नियमाद् बहुमानश्च योगिषु ॥

इस दृष्टि में योग कथा—योग सम्बन्धी चर्चा में साधक अच्छिन्न—विच्छेद रहित या अखण्डित प्रीति—अभिरुचि लिए रहता है। शुद्ध योग-निष्ठ योगियों का वह नियमपूर्वक बहुमान करता है।

[४३]

यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रदः ।
योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुतः ॥

शुद्ध योगनिष्ठ योगियों के बहुमान के साथ-साथ वह साधक उनके प्रति यथाशक्ति सेवा-भाव लिए रहता है—उनकी सेवा करता है। इससे उसे अपनी योग-साधना में निश्चय ही विकासात्मक फल प्राप्त होता है, तथा शुद्ध योगनिष्ठ सत्पुरुषों का अनुग्रह मिलता है।

[४४]

लाभान्तरफलश्चास्य श्रद्धायुक्तो हितोदयः ।
क्षुद्रोपद्रवहानिश्च शिष्टा-सम्मतता तया ॥

सेवा से और भी लाभ प्राप्त होते हैं—श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित का उदय होता है, क्षुद्र—तुच्छ उपद्रव मिट जाते हैं एवं शिष्टजनों से उसे मान्यता प्राप्त होती है।

---

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

—पातंजल योगसूत्र २-३२.

[४५]

भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते ।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥

इस दृष्टि में अवस्थित पुरुष को भव—जन्म मरण रूप आवागमन का अत्यन्त भय नहीं होता। उचित स्थान में कृत्य-हानि—अकार्यकारिता नहीं होती अर्थात् जहाँ जैसा करना है, वह वहाँ वैसा करता है। अनजाने भी उसने कोई अनुचित क्रिया नहीं होती।

[४६]

कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता ।
तुल्ये निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः ॥

जो गुणों में अधिक या आगे बढ़े हुए हैं, जिनके कार्य भी वैसे ही हैं, उनके प्रति साधक के मन में लालसापूर्ण—उल्लासयुक्त जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अपने विकल—क्रमोयुक्त कार्य के प्रति उसके मन में द्वेषरहित संत्रास होता है अर्थात् वह अपनी कमियों के लिए अन्तरतम में संत्रास का अनुभव करता है, मन में जरा भी उनके लिए द्वेष-भाव नहीं लाता।

[४७]

दुःखरूपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ।
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च सागेषा ज्ञायते कथम् ॥

यह सारा संसार दुःख-रूप है। किस प्रकार इसका उच्छेद हो? सत्पुरुषों की विविध प्रकार की आश्चर्यकर सत्प्रवृत्तियों का ज्ञान कैसे हो? साधक ऐसा सात्त्विक चिन्तन लिए रहता है।

[४८]

नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ॥

उनका चिन्तन-क्रम आगे बढ़ता है—हमारे में विशेष बुद्धि नहीं है, न शास्त्राध्ययन ही विस्तृत है इसलिए सत्पुरुष ही हमारे लिए प्रमाणभूत हैं।

बला दृष्टि—

[४९]

सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरे ॥

बलादृष्टि में सुखासनयुक्त दृढ़ दर्शन—सद्बोध प्राप्त होता है, परम तत्त्व शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की अत्यन्त तीव्र इच्छा जागती है तथा योग की साधना में अक्षेप—क्षेप नामक चित्त-दोष या चैतसिक विक्षेप का अभाव होता है।

इस दृष्टि में योग के तीसरे अंग आसन[1] के सधने की बात कही गयी है। यहाँ सुखासन शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि जिस प्रकार सुखपूर्वक शान्ति से बैठा जा सके, उस आसन में योगी को स्थित होना चाहिए। इससे मन में उद्वेग नहीं होता। ध्यान आदि में चित्त स्थिर रहता है।

बाह्य आसन के साथ-साथ आन्तरिक आसन की बात भी यहाँ समझने योग्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से पर-वस्तु में जो आसन या स्थिति है, वह दुःखप्रद है। इसलिए वह दुःखासन है। अपने सहज स्वरूप में स्थित होना पारमार्थिक दृष्टि से सुखासन—सुखमय आसन है।

[५०]

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्त्तते ।
तद्भावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम् ॥

इस दृष्टि के आ जाने पर असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा सहज ही प्रवृत्तिशून्य हो जाती है अर्थात् स्वतः रुक जाती है। यों तृष्णा का अभाव हो जाने पर साधक की सब कहीं सुखमय—आत्मिक उल्लासमय स्थिति बन जाती है।

---

१ स्थिरसुखमासनम्। —पातंजल योगसूत्र २-४६

[५१]

अत्वरापूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा ।
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥

उस साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुखद समावेश हो जाता है कि उसका गमन, हलन-चलन त्वरा—उतावलेपन से रहित होता है। दृष्टि आदि में दोष न रह जाने से उसके सब कार्य मानसिक सावधानी लिए रहते हैं।

[५२]

कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
पूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ॥

सुन्दर रमणी से युक्त युवा पुरुष को जैसे दिव्य संगीत सुनने की उत्कण्ठा रहती है, उसी प्रकार इस दृष्टि से युक्त साधक को तत्त्व सुनने की उत्सुकता बनी रहती है।

[५३]

बोधाम्भः स्रोतसश्चैषा सिरातुल्या सतां मता ।
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत् ॥

सत्पुरुषों का ऐसा मानना है कि यह शुश्रूषा बोधरूपी जल के स्रोत की सिरा—भूमिवर्ती जलनालिका के समान है। इसके न होने पर सारा सुना हुआ उस कुए की तरह व्यर्थ है, जो जल की अन्तर्नालिका रहित भूमि में बना हो।

[५४]

श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः ।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात्परबोधनिबन्धनम् ॥

यदि श्रवण का अभाव हो—तत्त्व सुनने का योग न मिल पाये तो भी शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की उत्कण्ठा का शुभभाव की प्रवृत्ति के कारण कर्मक्षय रूप फल होता है जो परम बोध का कारण है।

[५५]

शुभयोगसमारम्भे न क्षेपोऽस्यां कदाचन ।
उपायकौशलं चापि चारु तद्विषयं भवेत् ॥

इस दृष्टि को प्राप्त कर लेने पर योगी के ध्यान, चिन्तन, मनन आदि शुभ योगमूलक कार्यों में विक्षेप नहीं आता। वह अपने शुभ समारम्भमय उपक्रम में कुशलता—निपुणता प्राप्त करता जाता है।

[५६]

परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते ।
अविघातश्च सावद्यपरिहाराम्महोदयः ॥

परिष्कार—उपकरण—अध्यात्म-साधना में उपकारक या सहायक साधनों के सन्दर्भ में उसके इच्छा-प्रतिबन्ध नही होता। अर्थात् साधन को ही सब कुछ मानकर वह उसमें अटका नही रहता। आत्मसिद्धिरूप साध्य अधिगत करने में सदा प्रयत्नशील रहता है। पापपूर्ण प्रवृत्तियों का वह परित्याग कर देता है अतः योग-साधना मे उसके अविघात—इच्छा-प्रतिबन्ध आदि विघ्नों का अभाव हो जाता है। फलतः महान्—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय सधता है।

दीप्रा-दृष्टि

[५७]

प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता ॥

दीप्रा दृष्टि में प्राणायाम[1] सिद्ध होता है। वहाँ अन्तरतम में ऐसे प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि चित्त योग में से उठता नहीं, हटता नहीं, अन्यत्र जाता नहीं। यहाँ तत्त्व-श्रवण सधता है—तत्त्व सुनने-समझने के प्रसंग प्राप्त रहते हैं—केवल बाहरी कानों से नहीं,

---

१ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

—पातंजल योगसूत्र २-४९

अन्तःकरण द्वारा तत्त्व-श्रवण की स्थिति बनती है, अन्तर्ग्राहकता का भाव उदित होता है। पर, सूक्ष्मबोध अधिगत करना अभी बाकी रहता है। वैसी स्थिति नहीं बनती।

प्राणायाम केवल रेचक—श्वास का बाहर निकालना, पूरक—भीतर खींचना तथा कुम्भ या घड़े में पानी की तरह श्वास को भीतर निश्चलतया रोके रखना—यों बाहरी प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए। बाह्य भाव या परभाव का रेचक—परभाव को अपने में से बाहर निकालना, अन्तरात्मभाव—आत्मस्वरूपानुप्रत्यय भीतर भरना—अन्तर्तम को तन्मूलक चिन्तन-मनन से आपूर्ण करना, उस प्रकार के चिन्तन-मनन को अपने में स्थिर किये रहना—यह भाव-प्राणायाम है, जिसका आत्म-विकास में बहुत बड़ा महत्त्व है।

[५८]

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामवस्थायाम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥

इस दृष्टि में अवस्थित साधक का मनःस्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निश्चित रूप से धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग कर देता है पर प्राणघातक संकट आ जाने पर भी धर्म को नहीं छोड़ता।

[५९]

एक एव सुहृद्धर्मो मृतमप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

धर्म ही एक मात्र ऐसा सुहृद्—मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है। और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है, शरीर के साथ कोई भी नहीं जाता।

[६०]

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः ।
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ॥

साधक यों सात्त्विक भावों से आप्यायित हो जाता है। वह तत्त्व-श्रवण में तत्पर रहता है। आत्मवल के सहारे धर्म को प्राणों से भी वढ़कर मानता है।

[६१]

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।
बीजं प्ररोहमाधत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥

खारे पानी के त्याग और मीठे पानी के योग से जैसे वीज उग जाता है, उसी प्रकार तत्त्व-श्रवण से साधक के मन में वोध-वीज अंकुरित हो जाता है।

प्ररोह शब्द का एक अर्थ वीज का उगना या अंकुरित होना है, दूसरा अर्थ उपर चढ़ना या आगे वढ़ना भी है। इस दूसरे अर्थ के अनुसार साधक साधना-सोपान पर चढ़ता जाता है अथवा साधना-पथ पर आगे वढता जाता है।

[६२]

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः ।
मधुरोदकयोगेन समा तत्त्वश्रुतिस्तथा ॥

भवयोग—सांसारिक प्रसंग—जागतिक पदार्थ एवं भोग खारे पानी के समान माने गये हैं तथा तत्त्व-श्रवण मधुर जल के समान है।

[६३]

अतस्तु नियमादेव कल्याणमखिलं नृणाम् ।
गुरुभक्तिसुखोपेतं लोकद्वयहितावहम् ॥

अतः तत्त्व-श्रवण से नियमतः—निश्चित रूपेण साधक जनों का सम्पूर्ण कल्याण सधता है। इससे गुरुभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है और यह ऐहिक तथा पारलौकिक—दोनों अपेक्षाओं से हितकर है।

[६४]

गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥

गुरु-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति—परमात्मस्वरूप—शुद्ध आत्म-स्वरूप के ध्यान द्वारा तीर्थंकर-दर्शन—तीर्थंकर स्वरूप का अन्तः-साक्षात्कार होता है, अथवा तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप तीर्थंकरभाव की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का अद्वितीय—अमोघ—सुनिश्चित कारण है।

[६५]

सम्यग्ज्ञेत्वादिभेदेन लोके यत्तत्त्वनिर्णयः ।
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥

जीवन का साध्य, उसका यथार्थ हेतु, उसकी परिपुष्टि, तत्त्व का स्वरूप, फल आदि द्वारा ज्ञानी जन तत्त्व का निर्णय करते हैं। वेद्य—वेदने योग्य, जानने योग्य या अनुभव करने योग्य तत्त्व की अनुभूति के कारण वह ज्ञान सूक्ष्मबोध कहा जाता है।

[६६]

भवाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मग्रन्थिविभेदतः ।
ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नामयन्न तु ॥

संसार-सागर से निस्तार, कर्मग्रन्थ—कर्मरूपी हीरे का विभेद तथा अनन्तधर्मात्मक अखण्ड वस्तु-तत्त्व-रूप ज्ञेय का समग्रता से ग्रहण—यह सब इससे सधता है, इसलिए इसे [illegible] कहा गया है। अर्थात् एतद्रूप सूक्ष्मबोध [illegible] पर [illegible] जन्म-मरण के

[६७]

अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम् ।
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभमतः परम् ॥

पिछली चार दृष्टियों में अवेद्यपद—जानने योग्य को अनुभूत कर पाने की क्षमता का अभाव बहुत प्रबल होता है अत. वेद्यसवेद्यपद वहाँ नहीं सध पाता। आकाश में उड़ते पक्षी की छाया को पक्षी जानकर पकड़ने का उद्यम करते जलचर जैसी स्थिति साधक की वहाँ होती है। अर्थात् तत्त्वतः वहाँ वेद्यसवेद्यपद की प्राप्ति नहीं होती। उस दिशा में साधक का प्रयत्न तो रहता है, पर वह यथार्थ सिद्ध नहीं होता।

[६८]

अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविबन्धकृत् ।
नैतद्वतोऽयं तत्तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥

अपाय—जो नरक आदि दुर्गति प्राप्त कराएँ, ऐसे क्लिष्ट कर्मों की शक्ति रूप मलिनता सूक्ष्मबोध प्राप्त होने में बाधक होती है। यह मालिन्य जिसके होता है, उसे सूक्ष्म तत्त्व-बोध कभी अधिगत नहीं होता।

[६९]

अपायदर्शनं तस्मात्श्रुतदीपान्न तात्त्विकम् ।
तदामालंबनं त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तितः ॥

आगम एक ऐसा दीपक है, जो मोहरूप अन्धकार से आपूर्ण इस जगत् में समग्र पदार्थों का यथार्थ दर्शन कराता है परन्तु इस दृष्टि में स्थित साधक को अपाय-शक्ति-रूप मलिनता के कारण तत्त्वतः अपाय-दर्शन नहीं होता अर्थात् आत्म-विपरीत स्थिति में ले जाने वाले क्लिष्ट कर्मों को वह यथार्थतः देख नहीं पाता। वह केवल उनकी आभा या आभास मात्र का अनुभव कर पाता है क्योंकि वह तथाप्रकार के पापों में स्वयं लगा है।

[७०]

अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात् पापे कर्मगतोऽपि हि ।
तप्तलोह-पदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ॥

अवेद्य-संवेद्यपद के प्रतिरूप—वेद्य-संवेद्यपद आगे की चार दृष्टियों में प्राप्त रहता है। वेद्य-संवेद्यपद के परम प्रभाव के कारण साधक पाप-कार्य में प्रायः अप्रवृत्त रहता है। पूर्व-संचित अशुभ कर्मवश कदाचित् पाप में प्रवृत्ति हो भी जाती है, तो वह तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी होती है। जैसे तपे हुए लोहे पर यदि किसी का पैर टिक जाता है तो वह तत्क्षण वहाँ से हटा लेता है, जरा देर भी टिकाये नहीं रखता। उसी प्रकार साधक की यदि जाने-अनजाने हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति हो जाती है तो वह तत्क्षण सावधान हो जाता है, उधर से अपने को उसी क्षण हटा लेता है।

[७१]

वेद्यसंवेद्यपदतः चरमैव भवत्येषा संवेगातिशयादिति ।
पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥

वेद्य-संवेद्यपद प्राप्त हो जाने के कारण तथा तीव्र मोक्षाभिलाषा के कारण साधक द्वारा जो कदाचित् पाप-प्रवृत्ति होती है, वह अन्तिम होती है। दृष्टिविकासक्रम की अग्रिम मंजिल में वह सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। क्योंकि जैसी स्थिति वह प्राप्त कर चुकता है, उसमें फिर दुर्गति पाने का योग—सम्भावना नहीं होती।

[७२]

अवेद्यसंवेद्यपदमपदं पदं तु वेद्यसंवेद्यपदमेव हि परमार्थतः ।
योगिनाम् ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में पद—पैर टिकाने का स्थान—अध्यात्म-विकास की यात्रा में तत्त्वेरक, उपयोगी स्थान नहीं है। योगियों के लिए वेद्यसंवेद्य पद ही वस्तुतः पद है।

[७३]

वेद्यं-संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम् ।
तथाप्रवृत्तिबुद्ध्याऽपि स्व्याद्यागमविशुद्ध्या ॥

वहाँ अपाय—आत्माभ्युदय में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य—वेदन या अनुभव करने योग्य पदार्थ आगमों के अनुशीलन से विशुद्ध हुई अप्रवृत्तिशील बुद्धि द्वारा अनुभूत किये जाते हैं। अर्थात् वेद्य पदार्थों का संवेदन—अनुभवन वहाँ होता है पर उनके प्रति रसात्मक या रागात्मक भाव नहीं होता, जैसा उनका स्वरूप है, मात्र वैसी प्रतीति—अनुभूति वहाँ गतिशील रहती है अतः वैसा अनुभव करने वाली शास्त्रपरिष्कृत बुद्धि आन्तरिक दृष्टि से प्रवृत्तिशून्य ही कही जाती है।

[७४]

तत्पदं साध्ववस्थानाद् भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम् ।
अन्वर्थयोगतस्तन्त्रे वेद्यसंवेद्यमुच्यते ॥

वह पद साधु अवस्थान—सम्यक् स्थिति लिए होता है। कर्मग्रन्थि-भेद, देशविरति आदि से उसका स्वरूप लक्षित होता है। शास्त्र में (वेद्यसंवेद्य) शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही उसे 'वेद्यसंवेद्य' कहा जाता है।

[७५]

अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो मतम् ।
भवाभिनन्दिविषयं समारोपसमाकुलम् ॥

वेद्यसंवेद्यपद से विपरीत—प्रतिरूप अवेद्यसंवेद्यपद है। उसका विषय भवाभिनन्दिता है। अर्थात् भवाभिनन्दी—संसार के राग-रस में रचे-पचे जीवों के साथ उसका लगाव है। इसमें एक पर दूसरे का—स्व पर पर-वस्तु का, पर-वस्तु पर स्व का आरोप करते रहने की वृत्ति बनी रहती है, जो आत्म-परिपन्थी या श्रेयस् के प्रतिकूल है।

[७६]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी मयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—पामर वृत्तियुक्त, लाभरति—क्षणिक, नि सार सांसारिक लाभ—धन, भोग्य पदार्थ, भौतिक सुख-सुविधा आदि में आसक्त, दीन—दैन्ययुक्त, आत्मिक ओजस्विता रहित, रंकवत् अपने को हीन मानने वाला, मत्सरी—गुणद्वेषी, ईर्ष्यालु, मयवान्—सदा भयभ्रान्त रहने वाला, शठ—मायावी, कपटी तथा अज्ञ—अज्ञानी, आत्मस्वरूप के भान से रहित होता है ।

[७७]

इत्यसत्परिणामानुविद्धो बोधो न सुन्दरः ।
तत्संगादेव नियमाद्विषसंपृक्तान्नवत् ॥

यों असत् परिणामों से संकुल बोध सुन्दर नहीं होता । उन (असत् परिणामों) के संसर्ग से निश्चय ही वह विषमिले अन्न के समान होता है । विषमिश्रित अन्न जैसे पोषक न होकर घातक है, उसी प्रकार वह बोध आत्मा के लिए श्रेयस्कर न होकर विघातक—हानिकारक होता है ।

[७८]

एतद्वन्तोऽत एवेह विपर्यासपरा नराः ।
हिताहितविवेकान्धाः क्लिश्यन्ते साम्प्रतेक्षिणः ॥

अतएव अपेयसंपेययुक्त मनुष्य विपर्यासपरायण—वस्तु-स्थिति से विपरीत बुद्धि एवं वृत्ति रखनेवाले, हित, अहित के ज्ञान में अन्धवत्—अपना हित, अहित नहीं पहचानने वाले तथा मात्र वर्तमान को ही देखने वाले होते हैं—उनमें जरा भी दूरदर्शिता अथवा अतीत तथा भविष्यमूलक चिन्तन नहीं होता । वे अपनी अयोग्यता एवं अज्ञान के कारण दुःखी होते हैं ।

[७९]

जन्ममृत्युजराव्याधि रोगशोकाद्युपद्रुतम् ।
वीक्षमाणा अपि भवं नोद्विजन्तेऽतिमोहतः ॥

जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, कुष्ट आदि घोर कष्टकर दुःसाध्य व्याधियाँ, ज्वर, अतिसार, विसूचिका आदि अत्यन्त पीड़ाप्रद रोग, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग-जनित दुःसह शोक आदि अनेक उपद्रवों से पीड़ित जगत् को देखते हुए भी वैसे जीव अत्यधिक—प्रगाढ़ मोह के कारण उससे जरा भी उद्विग्न नहीं होते, उसकी भयावहता, विकरालता देख उनके मन में खेद नहीं होता, उससे त्रस्त होकर उससे छूटने की भावना मन में नहीं आती।

[८०]

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यवत् सदा ।
दुःखे सुखधियाकृष्टा कच्छूकण्डूयकादिवत् ॥

उनको कुकृत्य—बुरा कार्य कृत्य—करने योग्य प्रतीत होता है। जो करने योग्य है, वह उन्हें अकरणीय लगता है। जैसे पाँव (खाज, खुजली) को खुजलाने वाला व्यक्ति खुजला-खुजलाकर खून निकालता जाता है पर वैसा करने में वह अज्ञानवश सुख मानता है, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीव दुःख-मय संसार में करणीय, अकरणीय का भेद भूलकर हिंसा, परिग्रह, भोग आदि अकृत्यों में प्रवृत्त रहते हैं। उनमें सुख मानते हैं।

[८१]

यथाकण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छूनिवर्तने ।
भोगाङ्गेषु तथैतेषां न तदिच्छापरिक्षये ॥

जैसे पाँव को खुजलाने वालों की बुद्धि मात्र खुजलाने में होती है, पाँव को मिटाने में नहीं, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीवों की बुद्धि भोगांगों—भोग्य विषयों में ही रहती है, विषयों की इच्छा—आसक्ति को मिटाने में नहीं।

[८२]

आत्मानं पाशयन्त्येते सदाऽसच्चेष्टया भृशम् ।
पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ॥

ये जड़ जीव तात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का विचार किये बिना बहुलतया असत् चेष्टा—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील आदि द्वारा अपनी आत्मा को पाप रूपी धूल से मलिन बनाते हैं और स्वयं ही अपने को पाप-मय बन्धनों से बाँधते जाते हैं।

[८३]

धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥

कर्मभूमि में उत्तम धर्मबीज रूप मानुष्य—मनुष्य-जीवन प्राप्त कर मन्दबुद्धि पुरुष सत्कर्म रूपी खेती में प्रयत्न नहीं करते—दुर्लभ मनुष्य-जीवन का सत्कर्म करने में उपयोग नहीं करते।

[८४]

बडिशामिषवत्तुच्छे कुमुखे दारुणोदये ।
सपतात्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥

मच्छीमार द्वारा मछलियों को लुभाने हेतु काँटे में फँसाये हुए मछली के गले के मांस में लुब्ध होकर उसमें मछलियाँ फँस जाती हैं, उसी प्रकार जिसका फल-परिपाक भीषण दुःसमय है, वैसे तुच्छ, कुत्सित सुख में आसक्त हुए—लुभाये हुए मनुष्य सत्-चेष्टा—शुभ प्रवृत्ति या उत्तम कार्य छोड़ देते हैं। उनके अज्ञान रूपी भीषण अन्धकार को धिक्कार है।

[८५]

अवेद्यसंवेद्यपदमाप्यं दुर्गतिपातकृत् ।
सत्संगागमयोगेन ज्ञेयमेतन्महात्मभिः ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में अन्धत्व है, जिसके कारण मनुष्य दुर्गति में गिरते हैं। सत्पुरुषों की संगति तथा उनसे आगम-श्रवण, आत्मन, अनु-

शीलन आदि द्वारा सत्त्वशील पुरुष इस (अवाञ्छनीय) स्थिति को जीत सकते हैं, इसे पराभूत कर सकते हैं।

[८६]

जीयमाने च नियमादेतस्मिंस्तत्त्वतो नृणाम् ।
निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः ॥

अवेद्यसंवेद्य पद के, जो महामिथ्यात्व का कारण है, जीत लिए जाने पर कुतर्क—कुत्सित या कुटिल तर्क—व्यर्थ तर्क-वितर्क, आवेश—अभिनिवेश की पकड़ स्वयं निश्चित रूप में यथार्थतः सर्वथा मिट जाती है अथवा कुतर्क रूप अनिष्ट ग्रह या भयावह प्रेत या दुर्धर्ष मगरमच्छ की पकड़ से मनुष्य सर्वथा छूट जाते हैं।

[८७]

बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा ॥

कुतर्क बोध के लिए रोग के समान बाधा-जनक, शम—आत्मशान्ति के लिए अपाय—विघ्न या हानिरूप, श्रद्धा को भग्न करने वाला तथा अभिमान को उत्पन्न करने वाला है। वह स्पष्टतः चित्त के लिए अनेक प्रकार से भाव-शत्रु है—चित्त का अनेक प्रकार से अहित करने वाला है।

[८८]

कुतर्कोऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम् ॥

मुक्तिवादी—मोक्ष की चर्चा करने वाले—मुमुक्षु जनों के लिए कुतर्काभिनिवेश—कुतर्क में लगे रहना, रस लेना, आग्रह रखना युक्तिसंगत नहीं है। वैसे उत्तम पुरुष के लिए श्रुत—सद् आगम, शील—सच्चारित्र्य तथा समाधि—ध्याननिष्ठा में ही लगाव रखना, आग्रह लिये रहना समुचित है।

[८९]

बीजं चास्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम् ।
परार्थकरणं येन परिशुद्धमतोऽत्र च ॥

श्रुत, शील तथा समाधि का परम बीज—मुख्य कारण, सब योगियों को सिद्ध तथा अचूक फलप्रद परिशुद्ध—शुद्ध भावना से सम्पादित परोपकार है। उसी में लगाव या आग्रह रखना सगत है।

[९०]

अविद्यासंगताः प्रायो विकल्पाः सर्व एव यत् ।
तद्योजनात्मकश्चैव कुतर्कः किमनेन तत् ॥

सभी विकल्प—शब्दविकल्प, अर्थविकल्प आदि प्रायशः अविद्यासंगत—अविद्या के सहवर्ती हैं, ज्ञानावरणीय आदि के उदय से निष्पन्न हैं। उन (अविद्यासंगत) विकल्पों का योजक—उत्पादक, एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाला कुतर्क है। अतः ऐसे कुतर्क से क्या प्रयोजन !

[९१]

जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः ।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥

सारा कुतर्क, जो प्रतीति और फल से रहित है—जिससे चर्चित वस्तु का प्रत्यय नहीं होता, उसके सम्बन्ध में सशयात्मकता बनी रहती है तथा जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, दूषणाभास-प्रधान है। अर्थात् वह प्रायः हर कहीं दूषण जैसे दिखाई देते छिद्र खोजता रहता है।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त है—न्यायशास्त्र का एक विद्यार्थी कहीं से आ रहा था। मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी मिला, जिस पर बैठा महावत चिल्लाया—दूर हट जाओ, यह हाथी मार डालता है। नैयायिक विद्यार्थी ने तर्क किया—हाथी पास में अवस्थित को मारता है या पास में अनवस्थित को मारता है ? इतने में हाथी उस पर झपट पड़ा। महावत ने किसी प्रकार उसे छुड़ाकर बचाया। नैयायिक विद्यार्थी का यह तर्क कुतर्क था, महावत के कथन में दोष खोजने वाला या उसका खण्डन करने वाला था। उसका

जड़ आशय यह था कि हाथी तो पास में स्थित को पहले मारता है, जो पास में स्थित नहीं है, उसे कैसे मारेगा ? पर, पास में तुम (महावत) ही हो इसलिए तुम्हें ही मारेगा। नैयायिक पद्धति से यह तर्क तो उसने किया पर उसके साथ यह व्यावहारिक तथ्य नहीं सोचा कि महावत उसके समीप तो है पर सुपरिचित है, वह महावत से अनुशासित है, महावत को वह कैसे मारेगा ? इसलिए कुतर्क प्रतीतिशून्य और प्रयोजनशून्य कहा गया है।

[९२]

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽसावपि तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्गोचरो न्यायादन्यथाऽन्येन कल्पितः ॥

कुतर्क का पर्यवसान स्वभाव में होता है अर्थात् उसका अन्तिम उत्तर स्वभाव है। पर वह (स्वभाव) भी अर्वाग्दृक्--छद्मस्थ--असर्वज्ञ को ज्ञात नहीं होता। क्योंकि नैयायिक पद्धति से उसके सन्दर्भ में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएँ की जा सकती है, जो तर्क गम्य तो हो सकती है पर तथ्यपरक नहीं होतीं।

[९३]

अतोऽग्निः क्लेद्यम्बुसन्निधौ दहतीति च ।
अम्बग्निसन्निधौ तत्स्वाभावादित्युदिते तयोः ॥

उष्ण जल वस्तु को भिगो देता है, उसे देख, उसमें रहे अग्नि के समावेश को उद्दिष्टकर कोई कुतर्क करे कि अग्नि का स्वभाग भिगोना है; तथा उष्ण जल जला भी देता है, उसे उद्दिष्ट कर दूसरा व्यक्ति ऐसा भी कुतर्क कर सकता है कि जल जलाता है। ये दोनों ही बातें संगत नहीं है। यह जो भिगोने और जलाने की बात हुई, उसका तथ्य तो यह है कि उष्ण जल भिगोता है, वहाँ जल का भिगोने का स्वभाव कार्य करता है, तथा जहाँ वह जलाता है, वहाँ अग्नि का जलाने का स्वभाव कार्यकर है अतः वास्तव में भिगोना जल का स्वभाव है और जलाना अग्नि का। पर पूर्वोक्त रूप में कुतर्क स्वभाव विरुद्ध भी किया जा सकता है।

[९४]

कोशपानावृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः।
विप्रकृष्टोऽयस्कान्तः स्वार्थकृद् दृश्यते यतः॥

केवल शब्द कोश को पी जाना—उसे घोल जाना—तद्गम्य अर्थ को ही ठीक मानना ज्ञान का उपाय नहीं है। शब्दकोश सूचित ज्ञान युक्तिपूर्वक उपयोग में आने से कार्यकर होता है। लोह-चुम्बक लोहे को खींचता है, यह सही है, पर वह लोहे से कुछ दूरी पर होने पर ही खींचता है, बिलकुल समीप होने पर नहीं। दूर रहने पर खींचता है, यह युक्तिसाध्य है, केवल शब्दसाध्य नहीं।

[९५]

दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र यद्येवं सुलभं क्षितौ॥
एतत्प्रधानतस्तर्कं स्वनीत्या पोह्यते ह्ययम्॥

इस पृथ्वी पर सर्वत्र—संगत-असंगत सभी विषयों में दृष्टान्त आसानी से प्राप्त हो जाते हैं—वैसे गढ़े जा सकते हैं। यही कारण है कि दृष्टान्त-प्रधान कुतर्क को अपनी नीति द्वारा कौन बाधित कर सकता है? अर्थात् जब सत्य, असत्य हर प्रकार के दृष्टान्त गढ़े जा सकते हैं तो उनकी रोक कैसे हो?

[९६]

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः।
निरालम्बनतां सर्वज्ञानानां साधयन् मया॥

चन्द्रमा यद्यपि एक है पर दोषयुक्त नेत्र द्वारा दो भी दिखाई पड़ सकते हैं, उसी प्रकार स्वप्न मिथ्या है पर उसका ज्ञान तो है। यद्यपि इनका कोई आधार, आलम्बन या मूल नहीं है फिर भी इसके दृष्टान्त के सहारे कोई यह दावा कर सकता है कि जिस प्रकार असत् या अयथार्थ होने के बावजूद इनकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार दूसरे जो भी ज्ञान हैं, प्रतीयमान हैं, वे क्यों नहीं निराधार या निरालम्बन हैं अर्थात् वे भी वैसे हो ही सकते हैं। यों दलील करने वाले को कौन रोके?

[९७]

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यदस्मादसमञ्जसम् ।
प्रतीतिबाधितं लोके तदनेन न किञ्चन ॥

कुतर्क द्वारा सब कहीं सब कुछ साध पाने का दुष्प्रयत्न किया जा सकता है। अतएव कुतर्क अयथार्थ है—कल्पित है, प्रतीति से बाधित है—कुतर्क द्वारा निरूपित या साधित बात में कोई प्रतीति नहीं करता, उसे मान्यता नहीं देता।

[९८]

अतीन्द्रियार्थसिद्धयर्थं यथालोचितकारिणाम् ।
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥

आलोचितकारी—आलोचन, चिन्तन, विमर्शपूर्वक कार्य करने वाले अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं किये जा सकते, ऐसे आत्मा, धर्म आदि पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—उस दिशा में प्रयत्नशील रहते है। ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क द्वारा गम्य नहीं हैं—ये शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं, अनुभूति एवं श्रद्धा के विषय हैं।

[९९]

गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः ।
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात् ॥

स्थूल इन्द्रियों से जिसका ग्रहण सम्भव नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय अर्थ आगम—आप्त-पुरुषों के वचन द्वारा उपलब्ध होता है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि, जिनके होने का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, ज्ञानी जनों के वचन द्वारा जाने जाते हैं। ऐसे संवादी—मेल खाने वाले, संगत उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। यद्यपि चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि आत्मा, धर्म जैसे अलौकिक अतीन्द्रिय अर्थ नहीं है, लौकिक है अतः तत्त्वतः आध्यात्मिक पदार्थों से इनकी वास्तविक संगति नहीं है पर स्थूल रूप में समझने के लिए यहाँ इनका दृष्टान्त उपयोगी है।

[१००]

एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः शीलवान् योगतत्परः ।
जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः ॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाला, सत् श्रद्धावान्, योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति मुनियों (पतञ्जलि आदि) ने कहा है।

[१०१]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥

महर्षियों ने बताया है कि आगम, अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—यों तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है।

[१०२]

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाध्यवसायतः ॥

अनेक परंपराओं में भिन्न-भिन्न नामों से जो अनेक सर्वज्ञों का स्वीकार है, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञों) में किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय-भेद नहीं है। किन्तु उन-उन सर्वज्ञों के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु, जो उनमें भेद-कल्पना करते हैं, वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है।

[१०३]

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि ।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

'सर्वज्ञ' नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है, वैयक्तिक भेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र एक ही है।

[१०४]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यादृताम् ।
ते सर्वेऽपि समापन्ना इति न्यायगतिः परा ॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये है, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण-सामान्यत्व के आधार पर नैयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[१०५]

विशेषेषु पुनस्तस्य कात्स्न्येनासर्वदर्शिभिः।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही, उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है, ऐसी आशका भी संगत नही है। क्योंकि असर्वदर्शी या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है, अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है, जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो, उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[१०६]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि।
निर्व्याजं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम्॥

अतः सामान्यतः भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या बनाव के बिना मान्य करते है, उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस, अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा बिना किसी बनाव-दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, सच्चे भाव से उनकी आज्ञा, प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं, वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो हैं।

[१००]

एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः शीलवान् योगतत्परः।
जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाला, सत् श्रद्धावान्, योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति मुनियों (पतञ्जलि आदि) ने कहा है।

[१०१]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम्॥

महर्षियों ने बताया है कि आगम, अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—यों तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है।

[१०२]

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः॥

अनेक परंपराओं में भिन्न-भिन्न नामों से जो अनेक सर्वज्ञों का स्वीकार है, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञों) में किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय-भेद नहीं है। किन्तु उन-उन सर्वज्ञों के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु जो उनमें भेद-कल्पना करते हैं, वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है।

[१०३]

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः॥

'सर्वज्ञ' नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है, वैयक्तिक भेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र एक ही है।

[१०४]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव युज्यताम्।
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगतिः परा॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये हैं, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण-सामान्यत्व के आधार पर नैयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[१०५]

विशेषेषु पुनस्तस्य कात्स्न्र्येनासर्वदर्शिभिः।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही, उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है, ऐसी आशंका भी संगत नहीं है। क्योंकि असर्वदर्शी या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है, अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है, जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो, उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[१०६]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमन्युपैति य एव हि।
निर्व्याजं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम्॥

अतः सामान्यतः भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या बनाव के बिना मान्य करते हैं, उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस, अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा बिना किसी बनाव-दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, सच्चे भाव से उनकी आज्ञा, प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं, वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो है।

[१०७]

यथैवैकस्य नृपतेर्बहवोऽपि समाश्रिताः ।
दूरासन्नादिभेदेऽपि तद्भृत्या सर्व एव ते ॥

जैसे एक राजा के यहाँ रहने वाले अनेक नौकर-चाकर होते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न कार्यों की दृष्टि से कोई दूर होते हैं, कोई निकट होते हैं, कोई कहीं होते हैं, कोई कहीं। दूरी, निकटता आदि भेद के बावजूद वे सभी सेवक तो राजा के ही हैं।

[१०८]

सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन तथा सर्वज्ञवादिनः ।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया भिन्नाचार स्थिता अपि ॥

सर्वज्ञ तत्त्व में कोई भेद नहीं है। अतः सभी सर्वज्ञ कहे जाने वाले आप्त पुरुष भिन्न-भिन्न आचार में स्थित होते हुए भी सर्वज्ञतत्त्वोपेत है।

[१०९]

न भेद एव तत्त्वेन सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
तथा नामादि भेदेऽपि भाव्यमेतन्महात्मभिः ॥

नाम आदि बाह्य भेद रहते हुए भी महान् आत्मा सर्वज्ञों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, ऐसा उदारचेता पुरुषों को समझना चाहिए।

[११०]

चित्राचित्रविभागेन यच्च देवेषु वर्णिता ।
भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु ततोऽप्येवमिदं स्थितम् ॥

शास्त्रों में देवभक्ति दो तरह की बतलाई गई है—चित्र—भिन्न-भिन्न प्रकार की तथा अचित्र—अभिन्न, भिन्न-भिन्न प्रकार की न होकर एक ही प्रकार की। इससे भी पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

[१११]

संसारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्कार्यगामिनाम् ।
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीतार्थयायिनाम् ॥

जो संसारी देवों की गति में जाने वाले होते हैं, वे लोकपाल आदि संसारी देवों की भक्ति करते हैं। जो योगीजन संसार से अतीत परम तत्त्व को स्वायत्त करने का भाव लिये होते हैं, मुमुक्षु भाव रखते हैं, उनकी संसार से अतीत—संसार के पारगामी—मुक्त एवं सर्वज्ञ देवों के प्रति भक्ति होती है।

[११२]

चित्रा चाद्येषु तद्रागतदन्यद्वेषसङ्गता।
अचित्रा चरमे त्वेषा शमसाराखिलेव हि॥

पहली चित्रा नामक भक्ति में, जो सांसारिक देवों के प्रति होती है, भक्त अपने इष्टदेव के प्रति राग तथा अनिष्ट देव के प्रति द्वेष रखते हैं। यों राग-द्वेषात्मकता लिये वह भिन्न-भिन्न प्रकार ही होती है। चरम—संसार से अतीत तत्त्व—मुक्तात्मा के प्रति जो भक्ति होती है; वह शम—शान्त भाव की प्रधानता लिये रहती है। वह अचित्रा—अभिन्न—भिन्नता या भेद रहित है।

[११३]

संसारिणां हि देवानां यस्माच्चित्राण्यनेकधा।
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यैः स्थानानि प्रतिशासनम्॥

सांसारिक देवों के स्थान—पद, स्थिति, ऐश्वर्य तथा प्रभाव आदि के कारण प्रत्येक धार्मिक परम्परा में भिन्न-भिन्न है।

[११४]

तस्मात्तत्साधनोपायो नियमाच्चित्र एव हि।
न भिन्ननगराणां स्यादेकं वर्त्म कदाचन॥

इस कारण उन सांसारिक देवों की आराधना व भक्ति के प्रकार नियमतः भिन्न-भिन्न ही होते है। भिन्न-भिन्न नगरों को जाने का एक ही मार्ग कदापि नहीं होता।

[११५]

इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः ।
नानाफलानि सर्वाणि दृष्टव्यानि विचक्षणैः ॥

जो सुयोग्य पुरुष यह समझे--जो इष्टापूर्त कर्म हैं, वे संसार में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से किये जाते है। अतः उनके फल भी भिन्न-भिन्न ही होते है।

[११६]

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः ।
अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥

ऋत्विजों--यज्ञ में अधिकृत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रसंस्कारपूर्वक अन्य ब्राह्मणों की उपस्थिति में वेदी के भीतर--वेदी-क्षेत्र के अन्तर्गत जो विधिवत् दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहा जाता है।

[११७]

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥

बावड़ी, कूए, तालाब तथा देवमन्दिर बनवाना, अन्न का दान देना पूर्त है, ज्ञानीजन ऐसा जानते है, कहते हैं।

[११८]

अभिसन्धेः फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि ।
परमोऽतः स एवेह बारीव कृषिकर्मणि ॥

अनुष्ठान के समान होने पर भी अभिसन्धि--अभिप्राय या आशय के भिन्न होने पर फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अतः जैसे खेती में जल प्रधान है, उसी प्रकार फलसिद्धि में अभिप्राय की प्रधानता है।

[११९]

रागादिभिरयं चेह भिद्यतेऽनेकधा नृणाम् ।
नानाफलोपभोक्तृणां तथा बुद्ध्यादिभेदतः ॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के फलोपभोग की वाञ्छा लिये पुरुषों के बुद्धि-भेद--अपने-अपने बोध या समझ के भेद के अनुरूप राग, मोह, द्वेष आदि के कारण निष्पन्न अभिसन्धि या अभिप्राय का फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

[१२०]

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो बोध इष्यते ।
तद्भेदात् सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥

बुद्धि, ज्ञान तथा असंमोह--यों बोध तीन प्रकार का कहा गया है। बोध-भेद के कारण सब प्राणियों के समस्त कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

[१२१]

इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहोऽभिधीयते ॥

बुद्धि इन्द्रियों द्वारा जाने जाते पदार्थों पर आश्रित है--इन्द्रियगम्य पदार्थ बुद्धि के विषय हैं। उन द्वारा जो बोध होता है, वह बुद्धि है। जो आगम--शास्त्र या श्रुत द्वारा बोध उत्पन्न होता है, वह ज्ञान है। प्राप्त ज्ञान के अनुरूप सत् अनुष्ठान--सत्प्रवृत्ति या सद्आचरण करना असंमोह है। अर्थात् सद्ज्ञान तब असंमोह कहा जाता है, जब वह क्रियान्विति पा लेता है। वह सर्वोत्तम बोध है।

[१२२]

रत्नोपलम्भतज्ज्ञानतत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यादिसिद्धये ॥

आँखों द्वारा देखकर यह रत्न है, ऐसा समझना बुद्धि है। रत्न के लक्षण आदि का निरूपण करने वाले शास्त्र के आधार पर उसे विशेष रूप से जानना, उसके लक्षण, स्वरूप आदि को स्वायत्त करना ज्ञान है। यों उस ज्ञान से रत्न के निश्चित स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करना, उपयोग में लेना असंमोह है। इन्द्रियों द्वारा पहचान एवं शास्त्र द्वारा ज्ञान कर

लेने तथा ग्रहण कर लेने के बाद संमोह या भ्रम नहीं रहता। इसलिए क्रियान्वयनपूर्वक ज्ञान की परिष्कृत अवस्था को असंमोह कहा गया है।

[१२३]

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥

१. आदर—क्रिया के प्रति आदर, सुयत्न, उपयोगपूर्वक क्रिया करना,

२. प्रीति—क्रिया के प्रति आन्तरिक अभिरुचि, सरसता,

३. अविघ्न—निर्विघ्नता, पूर्वार्जित पुण्यवश निर्बाधरूप में क्रिया करना,

४. सम्पदागम—सम्पत्ति—धन, वैभव आदि द्रव्य-सम्पत्ति तथा विद्या विनय, विवेक, शील, वैराग्य आदि भाव-सम्पत्ति का प्राप्त होना,

५. जिज्ञासा—जानने की तीव्र उत्कण्ठा रखना,

६. तज्ज्ञ सेवा—ज्ञानी पुरुषों की सेवा करना,

७. तज्ज्ञ-अनुग्रह—ज्ञानी जनों की कृपा पाना,

ये सदनुष्ठान के लक्षण हैं।

[१२४]

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम् ।
संसारफलदान्येव विपाकविरसत्वतः ॥

यहाँ संसार में सामान्यतः प्राणियों के सभी कर्म बुद्धि—इन्द्रियजनित बोध द्वारा होते हैं। विषयप्रधान वे विपाकविरस—परिणाम में नीरस—असुखद हैं। उनका फल संसार—जन्म-मरण के चक्र में भटकना है।

[१२५]

ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम् ।
श्रुतशक्तितनोवशादनुबन्धफलत्वतः ॥

ज्ञानपूर्वक किये गये वे ही कर्म कुलयोगियों के लिए मुक्ति के अंग हैं। आप्त वचन रूप शास्त्रशक्ति—आगम ज्ञान की शक्तिमत्ता के समावेश के कारण वे शुभ फलप्रद सिद्ध होते हैं।

[१२६]

असंमोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।
निर्वाणफलदान्याशु भवातीतार्थयायिनाम् ॥

असंमोह से निष्पन्न होने वाले—किये जाने वाले वे ही कर्म एकान्तरूप से परिशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध होने के कारण संसार से अतीत पदार्थ—परम पद, परम तत्त्व का साक्षात्कार करने को समुद्यत—परम तत्त्ववेदी जनों के लिए मोक्षरूप फल देने वाले होते हैं।

[१२७]

प्राकृतेष्विह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम् ।
भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयायिनः ॥

प्राकृत भावों—शब्द, रूप, रस आदि सांसारिक विषयों में जिनका चित्त उत्सुकता रहित है, उदासीन है, जो सांसारिक भोगों से विरक्त है, वे भवातीतार्थयायी—संसारातीत अर्थगामी—परम तत्त्ववेदी कहे जाते हैं।

[१२८]

एक एव तु मार्गोऽपि तेषां शमपरायणः ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत् ॥

अवस्था-भेद के बावजूद उनका शम—निष्कषाय आत्मपरिणति, प्रशान्त भाव, या साम्यप्रधान मार्ग एक ही है। जैसे समुद्र में मिलने वाले सभी मार्ग तटमार्ग हैं, भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने के बावजूद उनका उद्दिष्ट एक ही है, यों वे एकरूपता लिये हुए हैं।

[१२९]

संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्धयेकमेव निमयाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

संसार से अतीत परम तत्त्व निर्वाण कहा जाता है। शाब्दिक भेद होते हुए भी वह तात्त्विक दृष्टि से निश्चित रूपेण एक ही है।

[१३०]

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथातेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥

सदाशिव, पर ब्रह्म, सिद्धात्मा, तथाता आदि शब्दों द्वारा उसका कथन किया जाता है पर तात्पर्य की दृष्टि से वह एक ही है। सदाशिव—सब समय कल्याणरूप—मंगलरूप, परं ब्रह्म—आत्मगुणों के अत्यन्त वृद्धिगत परम विकास के कारण महाविशाल, सिद्धात्मा—विशुद्ध आत्म-सिद्धि प्राप्त एवं तथाता—सदा एक जैसे शुद्ध सहजात्म-स्वरूप में संस्थित—यों यथार्थतः उसमें कोई भेदात्मकता नहीं है।

[१३१]

तल्लक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥

विभिन्न नामों से कथित परम तत्त्व का वही लक्षण है, जो निर्वाण का है अर्थात् वे एक ही हैं। वह परमतत्त्व निराबाध—सब बाधाओं से रहित—अव्याबाध, निरामय—देहातीत होने के कारण द्रव्यरोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के कारण राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव-रोगों से रहित—परम स्वस्थ, निष्क्रिय—सब कर्मों का, कर्म-हेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित—कृत-कृत्य है। जन्म, मृत्यु आदि का यहाँ सर्वथा अभाव है।

[१३२]

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवादः उपपद्यते ॥

इस निर्वाण-तत्त्व को असंमोह द्वारा सर्वथा जान लेने पर विचार-शील, विवेकशील पुरुषों के लिए उसकी आराधना में कोई विवाद घटित नहीं होता।

[१३३]

सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यत् स्थितम् ।
आसन्नोऽयमृजुर्मार्गस्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् ॥

निर्वाण नियमतः सर्वज्ञपूर्वक है—सर्वज्ञता प्राप्त किये बिना निर्वाण नहीं सधता। यों सर्वज्ञता का निर्वाण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञता निर्वाण से पूर्ववर्ती अविनाभावी स्थिति है। निर्वाण का सन्निकटवर्ती यह सर्वज्ञरूप मार्ग बिलकुल सरल—सीधा है। फिर उसमें भेद कैसे हो ?

[१३४]

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥

सर्वज्ञों की भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना—धर्मोपदेश शिष्यों की अनुकूलता को लेकर है। क्योंकि ये महापुरुष संसार रूप व्याधि को मिटाने वाले वैद्य हैं। अतः शिष्यों के जीवन-परिष्कार हेतु, उन्हें भावात्मक दृष्टि से नीरोग बनाने के लिए जैसा अपेक्षित हो, धर्मोपदेश करते हैं, उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं।

[१३५]

यस्य येन प्रकारेण बीजाधानादिसम्भवः ।
सानुबन्धो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥

जिस प्रकार किसी विशेष पौधे को उगाने के लिए भूमि में एक विशेष प्रकार की खाद देनी होती है, उसी प्रकार जिस शिष्य की चित्तभूमि में सम्यक् बोध रूप बीज का जिस प्रकार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रोपण, संवर्धन आदि हो, उसे उसी प्रकार का उपदेश देते हैं।

[११६]

एकोऽपि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्रोऽवभासते ॥

अथवा सर्वज्ञों की देशना एक होते हुए भी अपने अचिन्त्य—जिसे सोचा तक नहीं जा सकता, (ऐसे) असीम पुण्य-सामर्थ्य के कारण भिन्न-भिन्न श्रोताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की अवभासित—प्रतीत होती है।

[१३७]

यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्कृतः ।
जायतेऽवन्ध्यताऽत्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥

यों भिन्न-भिन्न रूप में अवभासित होती हुई सर्वज्ञ-देशना से सब श्रोताओं का अपने भव्यत्व के अनुरूप उपकार होता है। इससे उस (देशना) की सार्वत्रिक अनिष्फलता—फलवत्ता सिद्ध होती है।

[१३८]

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैवाऽपि तत्त्वतः ॥

अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों की अपेक्षा से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना ऋषियों से प्रवृत्त हुई। पर वस्तुतः उनके मूल में सर्वज्ञ-देशना ही है। अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से ऋषियों ने लोकोपकार की भावना से एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्यात किया। इससे तत्त्व में, तत्त्व-देशना में भिन्नता नहीं आती, केवल निरूपण की शैली में भिन्नता है।

[१३९]

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥

उन (सर्वज्ञों) के अभिप्राय को (सर्वथा) न जानते हुए उनकी देशना का प्रतिक्षेप—विरोध करना अर्वाकदृक्—छद्मस्थ—असर्वज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है। वैसा करना महाअनर्थकारी है।

[१४०]

निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानामसंगतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवाऽर्वाग्दृशामयम् ॥

अन्धे यदि चन्द्र का निषेध करें—उसका अस्तित्व स्वीकार न करें अथवा उसमें भेद-परिकल्पना करें—उसे अनेक प्रकार का—बांका, टेढ़ा, चतुष्कोण, गोल आदि बताएं तो यह असंगत है। उसी प्रकार छद्मस्थ सर्वज्ञ का निषेध करें, उनमें भेद-कल्पना करें, यह अयुक्तियुक्त है।

[१४१]

न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्यापि तत्सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाछेदाधिको यतः ॥

सत्पुरुषों के लिए सामान्य व्यक्ति का भी विरोध, खण्डन या प्रतिकार करना उपयुक्त नहीं है, श्रद्धास्पद सर्वज्ञों का अपवाद करना, विरोध करना, प्रतिकार करना तो उन्हें जिह्वाच्छेद से भी अधिक कष्टकर प्रतीत होता है।

[१४२]

कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।
निश्चितं सारवच्चैव किन्तु सत्त्वार्थकृत् सदा ॥

सत्पुरुष असद्दृष्टि आदि अवगुण युक्त लोगों की तरह कहीं कुत्सित वचन नहीं बोलते। वे निश्चित—सन्देहरहित, सारयुक्त तथा प्राणियों के लिए हितकर वचन बोलते हैं।

[१४३]

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च ।
अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किंचन ॥

सर्वज्ञ आदि इन्द्रियातीत पदार्थ का निश्चय योगिज्ञान—योग द्वारा लब्ध साक्षात् ज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ के विषय में अन्धों जैसे छद्मस्थ जनों के विवाद से क्या प्रयोजन सधे ?

[१४४]

न चानुमानविषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मतः ।
न चातो निश्चयः सम्यगन्यत्राप्याह धीधनः ॥

यह (सर्वज्ञरूप अर्थ) तत्त्वतः अनुमान का विषय भी नहीं माना गया है। यह तो अतीन्द्रिय विषय है, सामान्य विषय में भी अनुमान से सम्यक्—यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। परम मेधावी (भर्तृहरि) ने भी ऐसा कहा है।

[१४५]

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(भर्तृहरि का कथन) अनुमाताओं—अनुमानकारों द्वारा यत्नपूर्वक—युक्तिपूर्वक अनुमित—अनुमान द्वारा सिद्ध किये हुए अर्थ को भी दूसरे प्रबल युक्तिशाली—प्रखर तार्किक अनुमाता दूसरे प्रकार से सिद्ध कर डालते हैं।

[१४६]

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

यदि युक्तिवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता तो बुद्धिशाली तार्किकजन इतने दीर्घकाल में उन (अतीन्द्रिय पदार्थों) के सम्बन्ध में अवश्य निश्चय कर पाते। पर आज तक ऐसा हो नहीं पाया। अतीत की तरह आज भी उन विषयों में वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन उसी तीव्रता से चलता है।

[१४७]

न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

इस सन्दर्भ में ऐसी स्थिति नहीं है अर्थात् युक्तिवाद या हेतुवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निश्चय नहीं हो पाता। अतः मोक्षार्थियों के लिए विस्तीर्ण शुष्क तर्क ग्रह—नीरस या सारहीन तर्क की पकड़ अथवा विकराल तर्क रूपी अनिष्ट ग्रह या प्रेत या मगरमच्छ छोड़ने योग्य है। क्योंकि वह मिथ्या अभिमान का हेतु है।

[१४८]

ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसंगतः ।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्या किमनेन तत् ॥

मोक्षार्थियों को वास्तव में कहीं भी ग्रह—पकड़ रखना असंगत है—समुचित नहीं है। मुक्तावस्था में तो प्रायः क्षायोपशमिक धर्म भी—कर्मों के क्षय और उपशम से निष्पन्न क्षमा, शील आदि धर्म भी छोड़ देने पड़ते हैं। वहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभाव-मूलक क्षायिक धर्मों की ही अवस्थिति होती है। फिर तुच्छ अनिष्ट ग्रह की तो बात ही क्या!

[१४९]

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विचक्षणैः ।
वर्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितैः ॥

सुयोग्य आत्मार्थी पुरुषों को चाहिए, वे महापुरुषों के पथ का—जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं, जिसका महापुरुषों ने निर्देश किया है, ऐसे मार्ग का अवलम्बन कर यथाविधि उस पर गतिमान् रहे, उसका उल्लंघन न करें, उसके विपरीत न चलें।

[१५०]

परपीडेह सूक्ष्माऽपि वर्जनीया प्रयत्नतः ।
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि ॥

महापुरुषों का मार्ग है—

साधक का यह प्रयास रहे कि उसकी ओर से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुँचे। उसी प्रकार उसे सदा दूसरों का उपकार करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

[१५१]

गुरवो देवता विप्रा यतयश्च तपोधनाः ।
पूजनीया महात्मानः सुप्रयत्नेन चेतसा ॥

गुरु, देवता, ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी साधु—ये सत्पुरुष प्रयत्न युक्त चित्त से—तन्मयता तथा श्रद्धापूर्वक पूजनीय—सम्मान करने योग्य—सत्कार करने योग्य है।

[१५२]

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम् ।
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः ॥

मुमुक्षु पुरुषों में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा या दया का भाव रहे, यह तो है ही पर अपने कुत्सित कर्मों द्वारा निहत—अत्यन्त पीड़ित पापी प्राणियों के प्रति भी वे अनुकम्पाशील हों, यह न्यायोचित—अपेक्षित है।

यों पर-पीड़ावर्जन, परोपकारपरायणता, गुरु, देव, ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा यतिजन का सत्कार, पापी जीवों पर भी अनुकम्पा-भाव—साधक द्वारा जीवन में इनका क्रियान्वयन उत्तम धर्म है।

[१५३]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना ।
तत्पुनः पञ्चमी तावद्योगदृष्टिर्महोदया ॥

प्रसंगवश ऊपर जो कहा गया है, वह पर्याप्त है। अब मूलतः चालू विषय को प्रस्तुत करते हैं। वह (चालू विषय) पाँचवीं स्थिरा-दृष्टि है, जो आत्मा के महान् उदय—परम उत्थान से सम्बद्ध है।

स्थिरा दृष्टि

[१५४]

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृतमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

स्थिरा-दृष्टि में दर्शन नित्य—अप्रतिपाती—नहीं गिरने वाला होता है, प्रत्याहार—स्व-स्व-विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियों का चित्त-

स्वरूपानुकार[1] सधता है तथा साधक द्वारा किये जाते कृत्य—क्रियाकलाप भ्रान्ति रहित, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध युक्त होते हैं।

स्थिरा-दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार एवं सातिचार। निरतिचार दृष्टि अतिचार, दोष या विघ्न वर्जित होती है। उसमें होने वाला दर्शन नित्य—प्रतिपात रहित होता है, एक सा अवस्थित रहता है। सातिचार दृष्टि अतिचार सहित होती है, अतः उसमें होने वाला दर्शन अनित्य—न्यूनाधिक होता है, एक सा अवस्थित नहीं रहता।

स्थिरा-दृष्टि को रत्नप्रभा की उपमा दी गई है। निर्मल रत्नप्रभा—रत्नज्योति जैसे एक सी देदीप्यमान रहती है, उसी प्रकार निरतिचार स्थिरा दृष्टि में दर्शन अनवच्छिन्न, निर्बाध या सतत दीप्तिमय रहता है। रत्न पर यदि मल आदि लगा होता है तो उसकी चमक बीच-बीच में रुकती रहती है, एक सी नहीं रहती, न्यूनाधिक होती रहती है, सातिचार स्थिरा-दृष्टि की वैसी ही स्थिति है। अतिचार या किञ्चित् दूषितपन के कारण दर्शन में कुछ-कुछ व्याघात होता रहता है। ऐसा होते हुए भी जैसे मलयुक्त रत्न की प्रभा मूलतः मिटती नहीं, उसकी मौलिक स्थिरता विद्यमान रहती है, उसी तरह सातिचार स्थिरा-दृष्टि में जो रुकावट या दर्शन-ज्योति की न्यूनाधिकता होती है, वह कादाचित्क है। मूलतः इस (स्थिरा) दृष्टि की दर्शनगत स्थिरता व्याहत नहीं होती।

[१५५]

बाल धूलीगृह क्रीडा तुल्याऽस्यां भाति धीमताम् ।
तमोग्रन्थिविभेदेन भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥

इस (पाँचवीं स्थिरा) दृष्टि को प्राप्त सम्यग्दृष्टि पुरुष के अज्ञानान्धकारमय ग्रन्थि का विभेद हो जाता है—बाँस की गाँठ जैसी कठोर, कर्कश, सघन तथा गूढ़ तमोग्रन्थि इसमें टूट जाती है अतः प्रज्ञाशील साधकों को

---

१. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—पातञ्जल योग सूत्र २·५४

समग्र सांसारिक चेष्टा—क्रिया-प्रक्रिया बालकों द्वारा खेल में बनाये जाते घर जैसी प्रतीत होती है। बालक खेल में मिट्टी के घरों को बनाते हैं, जिन्हें थोड़ी देर में वे छिन्न-भिन्न कर देते हैं, उसी तरह सम्यग्दृष्टि प्रबुद्ध जनों को संसार की क्षणभंगुरता, अस्थिरता प्रतीत होने लगती है। उसमें वे आसक्त नहीं होते।

[१५६]

मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निभान् ।
बाह्यान् पश्यति तत्त्वेन भावान् श्रुतविवेकतः ॥

इस स्थिति को प्राप्त योगी, जिसका शास्त्रप्रसूत विवेक जागरित होता है, देह, घर, परिवार, वैभव आदि बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर—ऐन्द्रजालिक द्वारा मायाजाल के सहारे आकाश में प्रदर्शित नगर तथा दृष्ट स्वप्न—जो सर्वथा मिथ्या एवं कल्पित हैं, जैसा देखता है। उसे सांसारिक भावों की अयथार्थता का सत्य दर्शन—सम्यक् बोध हो जाता है।

[१५७]

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।
यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥

इस जगत् में परम—सर्वोत्तम तत्त्व अन्तरतम में देदीप्यमान ज्ञान रूप ज्योति ही है, जो निराबाध—बाधा, पीड़ा या विघ्न रहित तथा अनामय—रोग रहित—दोष रहित या भावात्मक नीरोगता युक्त है। उसके अतिरिक्त बाकी सब उपप्लव—संकट, आपत्ति, विघ्न या भय है।

[१५८]

एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

इस प्रकार स्व-पर-भेद-ज्ञान-प्राप्त विवेकी धीर पुरुष प्रत्याहार-परायण होते हैं और वे धर्मबाधा—धर्माराधना में आने वाली बाधाओं के परित्याग में प्रयत्नशील रहते हैं।

[१५९]

न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम् ।
तथा पापसखा लोके देहिनां भोगविस्तरः ॥

जैसे बुद्धिमान्—विवेकशील पुरुषों के लिए अलक्ष्मी की सहेली लक्ष्मी—वह लक्ष्मी, जिसके साथ अलक्ष्मी रहती है अथवा वह लक्ष्मी, जिसकी परिणति अलक्ष्मी में होती है, आनन्दप्रद नहीं होती—वे उसे कभी आनन्ददायक नहीं मानते, क्योंकि उसके साथ दुःख जो जुड़ा है। इसी तरह भोग-विस्तार, जो पाप का मित्र है, जिसके साथ पाप लगा है, जिसकी फल-निष्पत्ति पाप में है, प्राणियों के लिए आनन्दप्रद नहीं होता।

[१६०]

धर्मादपि भवन् भोगः प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।
चन्दनादपि संभूतो दहत्येव हुताशनः ॥

धर्म से भी उत्पन्न भोग प्राणियों के लिए प्रायः अनर्थकर ही होता है। जैसे चन्दन से भी उत्पन्न अग्नि जलाती ही है।

[१६१]

भोगात्तदिच्छाविरतिः स्कन्धभारापनुत्तये ।
स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानतः ॥

भोगों को छककर भोग लेने से स्वयं इच्छा मिट जायेगी, यह सोचना वैसा ही है, जैसा किसी भारवाहक द्वारा अपने एक कन्धे पर लदे भार को दूसरे कन्धे पर रखा जाना।

वस्तुस्थिति यह है, भोग भोगने से इच्छा विरत नहीं होती क्योंकि एक भोग भोगने के बाद दूसरे प्रकार के भोग से इच्छा जुड़ जाती है, व्यक्ति उसमें लग जाता है, उसके अनन्तर किसी तीसरी में, फिर चौथी में—यों भोगक्रम चलता ही रहता है। जिस प्रकार भारवाहक के एक कन्धे का भार दूसरे पर चला जाता है, मूलतः भार तो जाता नहीं, वैसी ही बात भोगी के साथ है। उसकी भोग वाञ्छा मिटती नहीं, अनवरत भोगलिप्तता बनी रहती है क्योंकि उसके भौगिक संस्कार विद्यमान हैं, वासना छूटी नहीं।

कान्ता-दृष्टि

[१६२]

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदय ॥

कान्ता-दृष्टि में पूर्व वर्णित नित्य-दर्शन—अविच्छिन्न सम्यक्दर्शन आदि विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि में स्थित योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि उसके सम्यक्दर्शन आदि सद्गुण औरों के लिए सहजतया प्रीतिकर होते हैं, औरों के मन में उसे देख द्विष्ट भाव नहीं आता, प्रीति उमड़ती है।

यहाँ योगी के धारणा—नामक छठा योगांग, जिसका तात्पर्य चित्त को नाभिचक्र, हृदयकमल आदि शरीर के आभ्यन्तर या सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य स्थान में लगाना है,[1] सधता है। यों धारणानिष्ठ हो जाने पर योगी को अन्यत्र—आत्मरमण के अतिरिक्त अन्य विषयों में मोद या हर्ष नहीं होता—वह जरा भी उनमें रस नहीं लेता।

सूक्ष्मबोध उसे पूर्वतन दृष्टि में प्राप्त हो चुका होता है, वह इसमें चिन्तन, मनन, निदिध्यासनमूलक मीमांसा करता है, सद्विचारणा में तल्लीन रहता है, जिसकी फलनिष्पत्ति आत्मा के उत्कर्ष में होती है।

इस दृष्टि का नाम कान्ता अनेक अपेक्षाओं से संगत है। कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता नारी है। पतिव्रता नारी घर के सभी कार्य करती है पर उसका मन प्रतिक्षण अपने पति में रहता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित योगी का चित्त कर्त्तव्यवश सांसारिक कार्य करते हुए भी श्रुत-धर्म में—अध्यात्म में लीन रहता है। अथवा इस दृष्टि में स्थित योगी सभी को बड़ा कान्त—प्रिय लगता है, इसलिए इसे कान्ता कहा जाना उपयुक्त है। अथवा यह दृष्टि योगीजनों को बड़ी कान्त—प्रीतिकर—प्रिय है, अतः इसे कान्त नाम से अभिहित किया गया है।

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

—पातंजल योगसूत्र ३-१

[१६३]

अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात् समाचारविशुद्धितः ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी धर्म की महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सब प्राणियों का प्रिय होता है—सब जीवों को वह प्रीतिकर प्रतीत होता है। उसका मन धर्म में एकाग्र—तन्मय हो जाता है।

[१६४]

श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते ।
अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ॥

इस दृष्टि वाला योगी आत्मधर्म की इतनी दृढ़ भावना लिए होता है कि चाहे वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगा हो पर उसका मन सदा सद्गुरुजन से सुने हुए, सीखे हुए आगम में तल्लीन रहता है। वह योगी सदा आक्षेपक—सहज स्वभाव की ओर आकृष्ट करने वाले ज्ञान से युक्त होता है—एक ऐसी दिव्य ज्ञानानुभूति उसे रहती है, जिससे अनुप्राणित होता हुआ वह सतत सहजावस्था—आत्मभाव की ओर खिंचा रहता है। अतः अनासक्त भाव से भोगे जाते सांसारिक भोग उसके लिए भवहेतु—संसार के कारण—जन्म-मरण के चक्र में भटकाने वाले नहीं होते।

[१६५]

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः ॥

जो पुरुष मृगमरीचिका के जल को वस्तुतः जानता है—उसके मिथ्या कल्पित अस्तित्व को समझता है, वह जरा भी उद्विग्न हुए बिना—घबराये बिना निर्विघ्नतया उसके बीच से चला जाता है। अर्थात् जल तो वहाँ है नहीं, केवल भ्रम है। जो उसकी यथार्थता समझ लेता है, वह भ्रान्त नहीं होता, अतः भयभीत भी नहीं होता। भय का कोई कारण भी तो वहाँ नहीं है। भय तो केवल भ्रान्तिजन्य है।

[१६६]

भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तया मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यतङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥

वह साधक भोगों को मृगमरीचिका के जल की तरह मिथ्या, असार और कल्पित देखता है, जानता है। अनासक्त भाव से उन्हें भोगता हुआ भी वह परम पद की ओर अग्रसर होता जाता है।

[१६७]

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलंघनम् ।
मायोदकदृढावेशस्तेन यातोह् कः पथा ॥

जो पुरुष भोगों को तात्त्विक, वास्तविक, परमार्थरूप मानता है, वह संसार-समुद्र को लाँघ नहीं सकता। जिसे मृगमरीचिका के जल में दृढ़ आवेश—अभिनिवेश या आग्रहपूर्ण निश्चय है—जो उसे सचमुच जल मानता है, किस मार्ग से वह वहाँ जाए अर्थात् मिथ्याभिनिवेश के कारण वह उसे पार करने को उद्यत नहीं होता।

[१६८]

स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयम् ।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजम्बालमोहितः ॥

पूर्वोक्त कथन के अनुसार जो मृगमरीचिका के जल को वास्तविक जल मानता है, वह संसार में उद्वेग—दुःख पाता हुआ निश्चित रूप से वहीं टिका रहता है। जब माया-जल को यथार्थतः जल मानता है, तो उसे पार कैसे करे? उसे भय बना रहता है—वैसा करने पर वह कहीं डूब न जाए। यही स्थिति मोक्षमार्ग में है। जो पुरुष भोगों के कीचड़ में मोहित है, फँसा है, मोक्ष-मार्ग में उसका प्रवेश, गति कैसे हो?

[१६९]

मीमांसाभावतो नित्यं न मोहोऽस्यां यतो भवेत् ।
अतस्तत्त्वसमावेशात् सदैव हि हितोदयः ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक तत्त्वचिन्तन, तत्त्वमीमांसा में निरन्तर लगा रहता है। इसलिए वह मोहव्याप्त नहीं होता--वह मोहमूढ़ नहीं बनता। तत्त्व-समावेश—तत्त्वज्ञान—यथार्थ अवबोध के प्राप्त हो जाने के कारण सदैव उत्तरोत्तर उसका हित—श्रेयस् सधता जाता है।

प्रभा-दृष्टि

[१७०]

ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि ।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्यप्रवृत्तिपदावहा ॥

प्रभा दृष्टि प्रायशः ध्यानप्रिय है। इसमें संस्थित योगी प्रायः ध्यान निरत रहता है अर्थात् इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान – ध्येय में प्रत्ययैकतानता[1]—चित्तवृत्ति का एकाग्र भाव सधता है। राग, द्वेष, मोह रूप त्रिदोष जन्य भाव-रोग यहाँ बाधा नहीं देते। दूसरे शब्दों में, राग-द्वेष-मोहात्मक प्रवृत्ति, जो आत्मिक स्वस्थता में बाधक होती है, यहाँ उभार नहीं पाती। तत्त्व मीमांसक योगी यहाँ ऐसी स्थिति पा लेता है, जिसमें उसे तत्त्वानुभूति प्राप्त होती है। सहजतया सत्प्रवृत्ति की ओर उसका झुकाव रहता है।

[१७१]

ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम् ।
विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि ॥

इस दृष्टि में ध्यानजनित सुख अनुभूत होता है, जो काम के साधनों —रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों को जीतने-वाला है। वह ध्यान—प्रसूत सुख विवेक के बल—उदग्रता—तीव्रता से उद्भूत होता है। उसमें प्रशान्त भाव की प्रधानता रहती है।

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

—पातञ्जल योगसूत्र ३'२

[१७२]

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

परवशता—परतन्त्रता में सर्वथा दुःख है तथा आत्मवशता—आत्म-तन्त्रता—स्वतन्त्रता में सर्वथा सुख है। संक्षेप में यह सुख तथा दुःख का लक्षण है।

[१७३]

पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम् ।
ततश्च दुःखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥

पुण्य की अपेक्षा रखने वाला—पुण्योदय से होने वाला सुख भी परतन्त्र है। पुण्य शुभकर्म पुद्गलात्मक है, आत्मा से भिन्न है, पर है। उस पर आश्रित सुख सर्वथा परवशता लिये हुए होता है। वास्तव में वह दुःख है क्योंकि दुःख का लक्षण परवशता है।

पुण्य भी बन्धन है। पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, है तो बेड़ी ही। बाँधे रखने के कारण दोनों ही कष्टप्रद हैं। इसके अतिरिक्त इतना और समझने योग्य है, जब तक पुण्य का संयोग है, पुण्यबन्ध है, संसार-बन्धन चालू रहता है, वस्तुतः जो दुःखमय है।

[१७४]

ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम् ।
क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ॥

बोध के निर्मल होने पर महान् साधकों के सदैव ध्यान सधता रहता है। जिस सोने का मैल निकाल दिया गया हो, वह सोना सदा कल्याण—उत्तम—विशुद्धि लिए होता है। कहीं-कहीं नाम से भी उसे कल्याण कहा जाता है।

[१७५]

सत्प्रवृत्तिपदं चेहासङ्गानुष्ठानसञ्ज्ञितम् ।
महापथप्रयाणं यदनागामि पदावहम् ॥

पीछे जो सत्-प्रवृत्ति-पद कहा गया है, उसकी असंगानष्ठान संज्ञा है। अनुष्ठान चार प्रकार का माना गया है—१. प्रीति-अनुष्ठान, २. भक्ति-अनुष्ठान, ३. वचन-अनुष्ठान तथा ४. असग-अनुष्ठान। समग्र प्रकार के संग —आसक्तता या संस्पर्श रहित विशुद्ध आत्मानुचरण असंगानुष्ठान है। इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है, जो संगत्याग पर आधृत है। असंगानुष्ठान महापथप्रयाण—अध्यात्म-साधना के महान् उपक्रम में गतिशीलता का संयोजक है। यह अनागामि पद—अपुनरावर्तन—जन्म-मरण से रहित शाश्वत पद प्राप्त कराने वाला है।

[१७६]

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥

योगीजन असंगानुष्ठान पद को विभिन्न नामों से आख्यात करते हैं। इसे सांख्य दर्शन में प्रशान्तवाहिता, बौद्ध दर्शन में विसभागपरिक्षय तथा शैव दर्शन में शिववर्त्म कहा गया है। कोई उसे ध्रुव मार्ग भी कहते है।

[१७७]

एतत् प्रसाधयत्याशु यद्योग्यस्यां व्यवस्थितः ।
एतत्पदावहैवैव तत्तत्रैतद्विदां मता ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी असंगानुष्ठान को शीघ्र साध लेता है। अतः असंगानुष्ठानपद—परम वीतराग भावरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली यह दृष्टि इस तथ्य के वेत्ता योगीजनों को इष्ट या अभीप्सित है।

परा-दृष्टि

[१७८]

समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता ।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥

आठवीं परा-दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है—वहाँ आठवाँ योगांग समाधि[1]—चित्त का ध्येयाकार में परिणमन सध जाता है। इसमें आसंग दोष—किसी एक ही योग क्रिया में आसक्ति रूप दूषण नहीं रहता। इसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व, आत्म-स्वरूप जिस प्रकार अनुभूति में आए, वैसी प्रवृत्ति, आचरण या चारित्र सहज रूप में गतिमान् रहता है। इसमें चित्त उत्तीर्णाप्रय—प्रवृत्ति से उत्तीर्ण—ऊँचा उठा हुआ हो जाता है। चित्त में कोई प्रवृत्ति करने की वासना नहीं रहती।

[१७९]

निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः ।
आरूढारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥

इस दृष्टि में योगी निराचार पद युक्त होता है—किसी आचार के अनुसरण का प्रयोजन वहाँ रह नहीं जाता। वह अतिचारों से विवर्जित होता है—कोई अतिचार या दोष लगने का कारण उसके नहीं होता। जो पहुँचने योग्य मंजिल पर चढ़ चुका हो, उसे और आगे चढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः आगे चढ़ने का अभाव हो जाता है। वैसी ही स्थिति यहाँ स्थित योगी की होती है। उसके लिए किसी आचार का परिपालन अपेक्षित नहीं रहता। वह वैसी स्थिति में ऊँचा उठ चुकता है।

[१८०]

रत्नादिशिक्षाद्रग्योऽन्या यथा हक् तन्नियोजने ।
तथाचारक्रियाऽप्यस्य सैवान्या फलभेदतः ॥

रत्न आदि के सम्बन्ध में शिक्षा लेते समय शिक्षार्थी की जो दृष्टि होती है, शिक्षा से चुकने पर, उस विद्या या कला में निष्णात हो जाने पर रत्न आदि के नियोजन—क्रय-विक्रय आदि प्रयोग में उसकी दृष्टि उससे सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उसकी दोनों स्थितियों में अन्तर है। शिक्षाकाल में वह जिज्ञासु था, उसे जानने की, अपना ज्ञान बढ़ाने की

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
—पातञ्जल योगसूत्र ३.३

उत्सुकता थी। नियोजन-काल में वह उस स्थिति से ऊँचा उठा हुआ है। वहाँ वह प्राप्त ज्ञान या निपुणता का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग करता है। यही स्थिति इस दृष्टि में संस्थित योगी की है। उसकी पहले की आचार-क्रिया तथा अब की आचार-क्रिया फलभेद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है।

[१८१]

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत् ।
तथाऽयं धर्मसंन्यासविनियोगान्महामुनिः ॥

सुयोग्य जौहरी रत्न के सद्विनियोग से—लाभप्रद व्यवसाय से अपने को कृतकृत्य मानता है, वैसे ही वह महान् योगी धर्म-संन्यास—शुद्ध दृष्टि से तात्त्विक आचरणमूलक, नैश्चयिक शुद्ध व्यवहारमय विशिष्ट योग द्वारा अपने को कृतकृत्य मानता है।

[१८२]

द्वितीयापूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते ।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया ॥

मुख्य—तात्त्विक द्वितीय अपूर्वकरण में धर्म-संन्यास निष्पन्न होता है। उससे योगी को सदा उत्कर्षशील—प्रतिपात रहित केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी अधिगत होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, प्रथम अपूर्वकरण में ग्रन्थि-भेद होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। प्रथम अपूर्वकरण में अनादि-कालीन भवभ्रमण के मध्य जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, साधक में ऐसा प्रशस्त, शुभ आत्मपरिणाम उद्भूत होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में साधक के परिणामों में अपूर्व निर्मलता तथा पवित्रता का संचार होता है।

[१८३]

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया ।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥

जीव अपनी शुद्धभावात्मक प्रकृति से चन्द्र के समान स्थित है। विज्ञान—आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान चन्द्रिका के सदृश है तथा आवरण—ज्ञानावरणादि कर्म-आवरण मेघ के समान हैं, जो शुद्ध स्वभावस्थ आत्मा को आवृत्त करते है।

[१८४]

घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगानिलाहतेः ।
यदापैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—ये घाति—आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म बादल के समान हैं। जब ये पूर्वोक्त योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं, तब आत्म-लक्ष्मीसमुपेत साधक ज्ञानकेवली—सर्वज्ञ हो जाता है।

[१८५]

क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥

अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, हास्य, अरति, रति, शोक, दुर्गंच्छा, भय, राग, द्वेष, अविरति, वेदोदय—काम-वासना, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय—इन अठारह दोषों का क्षय हो जाने से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है।

चार घाति-कर्म, जो क्षीण हो चुकते हैं, उनमें एक अन्तराय-कर्म है, जिसके क्षय से अनन्त दानलब्धि, अनन्त लाभ-लब्धि, अनन्तवीर्य-लब्धि, अनन्तभोग-लब्धि तथा अनन्त उपभोग-लब्धि समुदित होती है। पर यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन लब्धियों की सम्प्राप्ति आत्मा के क्षायिक-भाव से निष्पन्न है, औदायिक-भाव से नहीं। अतः शुद्ध भावापन्न आत्मा, परमपुरुष इन लब्धियों की प्रवृत्ति पौद्गलिक दृष्टि से नहीं करते। ये लब्धियाँ आत्म-स्वभावभूत हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में, परमानन्द में विविध-मुखी परिणमन के रूप में इनकी प्रवृत्ति या उपयोग है। ये नितान्त आध्यात्मिक है।

उच्चावस्था प्राप्त, समग्रलब्धि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष रहे चार अघाति कर्मों के उदयानुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए परम लोक-कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से सन्तप्त लोगों को आत्मशान्ति प्रदान कर, जन-जन का महान् उपकार कर योग का पर्यवसान साध लेते हैं—अन्तत योग की चरम-फल-प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त कर लेते है।

[१८६]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगराहित्य – मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा, जो योग की सर्वोत्तम दशा है, शीघ्र ही संसार रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मुक्ततत्त्वमीमांसा —

[१८७]

व्याधिमुक्तः पुमान् लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है, वैसा ही वह मुक्त पुरुष है। वह अभावरूप नहीं है, सद्भावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ, ऐसा नहीं है अर्थात् भवव्याधि से वह मुक्त हुआ है। वह व्याधि से युक्त नहीं हुआ, ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह भवव्याधि से युक्त था।

[१८८]

भव एव महाव्याधिर्जन्ममृत्युविकारवान् ।
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदनः ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है, जो जन्म-मरण के विकार से युक्त है, अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग, द्वेष आदि की वेदना—पीड़ा—संक्लेश लिये हुए है।

[१८९]

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिविचित्रकर्मनिबन्धनः ।
तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वप्राणिभृतामिति ॥

यह (भव-व्याधि) आत्मा की प्रमुख व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादि काल से चले आते विविध प्रकार के कर्मों से यह प्रसूत है। सभी प्राणियों को यह अनुभवसिद्ध है—सभी इसे अपने-अपने अनुभव से जानते हैं।

[१९०]

एतन्मुक्तश्च मुक्ताऽपि मुख्य एवोपपद्यते ।
जन्मादिदोष विगमात्तददोषत्वसंगतेः ॥

भव-व्याधि से मुक्त हुआ पुरुष भी जन्म, मृत्यु प्रभृति दोषों के मिट जाने तथा सर्वथा दोष रहित हो जाने के कारण पारमार्थिक सत्-रूप मुख्य —प्रधान—परमोत्तम ही होता है। अर्थात् भवव्याधि को जिसे मुख्य कहा गया है, मिटा देने के कारण मिटाने वाला परम पुरुष भी मुख्य ही है—मुख्य बाधक को मिटाया, स्वयं सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्ति रूप मुख्यत्व स्वायत्त किया।

[१९१]

तत्स्वभावोपमर्देऽपि तत्तत्स्वाभाव्ययोगतः ।
तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसंगतिः ॥

अपने स्वभाव के उपमर्द से—विभाव या परभाव के आक्रमण से स्वभाव के उपमर्दित—उपप्लुत—आवृत हो जाने के कारण—दब जाने या ढक जाने के कारण संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है—उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित होता है, विभाव का आवरण हट जाता है, तब उसका तथाभाव-शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है और सर्वथा उसे निर्दोषावस्था प्राप्त हो जाती है।

[१९२]

स्वभावोऽस्य स्वभावो यन्निजा सत्तैव तत्त्वतः ।
भावावधिरयं युक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

आत्मा का जो अपना भाव है, तत्त्वतः जो अपनी सत्ता है, उसी प्रकार होना स्वभाव है। स्वभाव भावावधियुक्त है—स्वभाव की जैसी, जितनी मर्यादा है, वह उसी प्रकार घटित होता है, अन्य प्रकार में नहीं। शुद्ध चेतन भाव में होना, वर्तना आत्मा की स्वभाव-मर्यादा है, यही इसका मर्यादा-धर्म है। शुद्ध चेतन भाव में वर्तने से ही आत्मा का स्वभाव में आना कहा जाता है। चेतन भाव में न वर्ते तो उसका स्वभाव में आना, वर्तना नहीं कहा जाता। यदि कहा जाता है तो अति प्रसंग दोष आता है। वैसा कहना प्रसंग से वहिर्भूत है।

[१९३]

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु ।
तयाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्त्वा सदैव हि ॥

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने क्षणिकवाद का निषेध किया है जो पहले, अगले क्षण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, केवल उसे वर्तमान क्षणवर्ती मानता है, स्वयं उस पर भी यह घटाया जाय तो विरोध आता है। उसके कथन के अविरुद्ध विचार किया जाए तो अपने कथनानुसार वर्तमान भाव में तो वह है, पिछले, अगले क्षण में नहीं। जो वर्तमान भाव में वर्तमान—विद्यमान है तो भाव की दृष्टि से वह नित्य होना चाहिए। तद्भाव तद्वत् होता है, ऐसा नियम है। तदवत् तभी होता है, जब पिछले क्षण में भी भाव या सत्ता हो।

यदि पिछले, अगले क्षण में सर्वथा 'अभाव' होने पर जोर दिया जाए तो वादी का स्वयं का भी अगले, पिछले क्षण में अस्तित्व नहीं टिकता। जब वह स्वयं पिछले, अगले क्षण में नहीं है तो पिछले, अगले क्षण के सम्बन्ध में वह कैसे जान सकता है, उस सम्बन्ध में कैसे कुछ कह सकता है? अतः वह स्वयं वर्तमान क्षण में विद्यमान है, यह इस तथ्य का सूचक है कि पिछले,

[१८९]

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिचित्रकर्मनिदानजः
तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वप्राणिभृतामिति ॥

यह (भव-व्याधि) आत्मा की प्रमुख व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादि काल से चले आते विविध प्रकार के कर्मों से यह प्रसूत है। सभी प्राणियों को यह अनुभवसिद्ध है—सभी इसे अपने-अपने अनुभव से जानते हैं।

[१९०]

एतन्मुक्तश्च मुक्ताऽपि मुख्य एवोपपद्यते ।
जन्मादिदोष विगमात्तददोषत्वसंगतेः ॥

भव-व्याधि से मुक्त हुआ पुरुष भी जन्म, मृत्यु प्रभृति दोषों के मिट जाने तथा सर्वथा दोष रहित हो जाने के कारण पारमार्थिक सत्-रूप मुख्य—प्रधान—परमोत्तम ही होता है। अर्थात् भवव्याधि को जिसे मुख्य कहा गया है, मिटा देने के कारण मिटाने वाला परम पुरुष भी मुख्य ही है—मुख्य बाधक को मिटाया, स्वयं सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्ति रूप मुख्यत्व स्वायत्त किया।

[१९१]

तत्स्वभावोपमर्देऽपि तत्तत्स्वाभाव्ययोगतः ।
तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसंगतिः ॥

अपने स्वभाव के उपमर्द से—विभाव या परभाव के आक्रमण से स्वभाव के उपमर्दित—उपप्लुत—आवृत हो जाने के कारण—दब जाने या ढक जाने के कारण संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है—उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित होता है, विभाव का आवरण हट जाता है, तब उसका तथाभाव-शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है और सर्वथा उसे निर्दोषावस्था प्राप्त हो जाती है।

[१९२]

स्वभावोऽस्य स्वभावो यन्निजा सत्तैव तत्त्वतः ।
भावावधिरयं युक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

आत्मा का जो अपना भाव है, तत्त्वतः जो अपनी सत्ता है, उसी प्रकार होना स्वभाव है। स्वभाव भावावधियुक्त है—स्वभाव की जैसी, जितनी मर्यादा है, वह उसी प्रकार घटित होता है, अन्य प्रकार में नहीं। शुद्ध चेतन भाव में होना, वर्तना आत्मा की स्वभाव-मर्यादा है, यही इसका मर्यादा-धर्म है। शुद्ध चेतन भाव में वर्तने से ही आत्मा का स्वभाव में आना कहा जाता है। चेतन भाव में न वर्ते तो उसका स्वभाव में आना, वर्तना नहीं कहा जाता। यदि कहा जाता है तो अति प्रसंग दोष आता है। वैसा कहना प्रसंग से बहिर्भूत है।

[१९३]

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु ।
तयाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्वा सदैव हि ॥

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने क्षणिकवाद का निषेध किया है जो पहले, अगले क्षण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, केवल उसे वर्तमान क्षणवर्ती मानता है, स्वयं उस पर भी यह घटाया जाय तो विरोध आता है। उसके कथन के अविरुद्ध विचार किया जाए तो अपने कथनानुसार वर्तमान भाव में तो वह है, पिछले, अगले क्षण में नहीं। जो वर्तमान भाव में वर्तमान—विद्यमान है तो भाव की दृष्टि से वह नित्य होना चाहिए। तद्भाव तद्वत् होता है, ऐसा नियम है। तदवत् तभी होता है, जब पिछले क्षण में भी भाव या सत्ता हो।

यदि पिछले, अगले क्षण में सर्वथा 'अभाव' होने पर जोर दिया जाए तो वादी का स्वयं का भी अगले, पिछले क्षण में अस्तित्व नहीं टिकता। जब वह स्वयं पिछले, अगले क्षण में नहीं है तो पिछले, अगले क्षण के सम्बन्ध में वह कैसे जान सकता है, उस सम्बन्ध में कैसे कुछ कह सकता है ? अतः वह स्वयं वर्तमान क्षण में विद्यमान है, यह इस तथ्य का सूचक है कि पिछले,

अगले क्षण—भूत, भविष्य में भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिए। क्योंकि जैसा कहा गया है, 'वस्तु क्षणिक है'—जो ऐसा जानता है, कथन करता है, वह स्वयं क्षणिक नहीं होता। उसका अपना भूत, वर्तमान, भविष्यवर्ती अस्तित्व एक ऐसा तथ्य है, जिससे क्षणिकवाद स्वयं निरस्त हो जाता है।

[१६४]

स एव न भवत्येतदन्यथा भवतीतिवत्।
विरुद्धं तन्नयादेव तदुत्पत्त्यादितस्तथा॥

क्षणिकवाद का और अधिक स्पष्टता तथा युक्तिमत्तापूर्वक यहाँ निरसन किया गया है। "स एव न भवति – वह ही नहीं होता।" "एतदन्यथा भवति—यह अन्यथा होता है।" इन उक्तियों के आधार पर आचार्य अपना विवेचन आगे बढ़ाते हैं। 'अन्यथा भवति' इसका क्षणिकवादी खण्डन करता है। उसका कथन है—यदि 'भवति'—भाव है तो वह अन्यथा नहीं होता। यदि अन्यथा होता है तो भाव नहीं है। यों खण्डन करता हुआ वह स्वयं अपने से ही व्याहत हो जाता है। वह "स एव न भवति" ऐसा जो निरूपण करता है, अर्थात विगत क्षण तथा आगामी क्षण में वह नहीं होता —यह कथन भी "एतत् अन्यथा भवति" को जैसे असंगत बतलाया, असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि यदि "स एव—वही है" तो फिर 'न भवति' सिद्ध नहीं होता और यदि वह 'न भवति' है तो फिर 'स एव'—वही है, ऐसा फलित नहीं होता। इस युक्ति से क्षणिकवाद की सिद्धि घटित नहीं होती।

[१६५]

सतोऽसत्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत्।
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदा नाशे न तस्थितिः॥

यदि सत् का असत्त्व माना जाए, उसे असत् माना जाए तो असत्त्व की उत्पत्ति माननी होगी। यदि उत्पत्ति होगी तो नाश भी मानना होगा। फिर नष्ट हुए असत्त्व का पुनर्भाव होगा। यदि उसका नित्य नाश माना जाए तो फिर उसकी स्थिति ही नहीं टिकेगी।

[१९६]

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणे स्थितौ ।
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥

यदि ऐसा कहा जाए, वह नाश क्षणस्थितिधर्मा है तो द्वितीय आदि क्षण में उसकी स्थिति होगी, जो युक्त है। ऐसा होने से उक्त का अनतिक्रम होता है—जो कहा गया है, उसका उल्लंघन—खण्डन नहीं होता।

[१९७]

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितिर्युक्त्यसंगतेः ।
पश्चादपि सेत्येवं सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥

क्षण स्थितिकता मानने पर विवक्षित क्षण में विवक्षित भाव की अस्थिति—स्थिति रहितता नहीं होती। अर्थात् उसकी स्थिति होती है। ऐसा न होने पर युक्तिसंगतता बाधित होती है। बाद में भी स्थितिराहित्य नहीं होता। यों अपरापर-अनुस्यूत सत्, असत् का एक सुव्यवस्थित क्रम है। इससे उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का सिद्धान्त फलित होता है।

[१९८]

भवभावानिवृत्तावप्ययुक्ता मुक्तकल्पना ।
एकान्तैकस्वभावस्य न ह्यवस्थाद्वयं क्वचित् ॥

संसार-भाव की अनिवृत्ति—एकान्त नित्यता मानने पर आत्मा के मुक्त होने की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जिसका एकान्तः सर्वथा स्थिर, अपरिवर्त्य, एक रूप स्वभाव होता है, संसारावस्था, मुक्तावस्था—यों दो अवस्थाएँ उसके नहीं हो सकती। वैसा होने से उसकी एकस्वभावता में विरोध आता है।

[१९९]

तदभावे च संसारी मुक्तश्चेति निरर्थकम् ।
तत्स्वभावोपमर्दोऽस्य नीत्या तात्त्विक इष्यताम् ॥

उक्त दो अवस्थाओं के न होने पर आत्मा को संसारी और मुक्त कहना निरर्थक होगा। अतः आत्मा का स्वभावोपमर्द—अवस्था से अवस्थान्तर, भाव से भावान्तर, परिणाम से परिणामान्तर आदि न्यायपूर्वक तात्त्विक—पारमार्थिक या यथार्थ मानें। ऐसा होने से ही आत्मा की संसारावस्था, मुक्तावस्था आदि स्थितियाँ घटित हो सकती है।

[२००]

दिदृक्षाद्यात्मभूतं तन्मुख्यमस्य निवर्तते ।
प्रधानादिनतेर्हेतुस्तदभावान्न तन्नतिः ॥

दिदृक्षा—देखने की इच्छा, अविद्या—आत्मस्वरूप का अज्ञान, —राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक मालिन्य, भवाधिकार—संसारोन्मुख भाव की प्रबलता आदि आत्मभूत हैं—आत्मा के अंगभूत भाव हैं, वास्तविक सत्ता लिये हुए हैं, काल्पनिक नहीं है। आत्मा के साथ जुड़े होने से वे औपचारिक नहीं वरन् मुख्य हैं। वे जब तक निवृत्त नहीं होते—आत्मा से हटते नहीं, तब तक वे प्रधान—जड़ प्रकृति आदि के परिणमन के निमित्त बनते हैं। तब तक संसारभाव—सांसारिक संलग्नता बनी रहती है। दिदृक्षा आदि भावों का जब अभाव हो जाता है तो आत्मा के प्रकृत्यनुरूप परिणमन का अभाव हो जाता है, मुक्तभाव प्राप्त हो जाता है। आत्मा का परिणामित्व इससे सिद्ध होता है।

[२०१]

अन्यथा स्यादियं नित्यमेषा च भव उच्यते ।
एवं च भवनित्यत्वे कथं मुक्तस्य सम्भवः ॥

यदि उक्त कथन—दिदृक्षा आदि के कारण प्रधान आदि की परिणति न मानी जाए, तो वह (प्रधान आदि की परिणति) नित्य घटित होती है। इसे (परिणति को) भव या संसार कहा जाता है। प्रधान आदि की परिणति को जब नित्य माना जायेगा तो संसार भी नित्य होगा। वैसी स्थिति में मुक्त की—संसार-बन्धन से छूटे हुए—मोक्ष प्राप्त जीव की संभावना कैसे की जा सकती है? अर्थात् वैसा नहीं सधता।

[२०२]

अवस्था तत्त्वतो नो चेन्ननु तत्प्रत्ययः कथम् ।
भ्रान्तोऽयं किमनेनेति मानमत्र न विद्यते ॥

एकान्त नित्यवादी को उद्दिष्ट कर आचार्य का कथन है—यदि पूर्वापरभावयुक्त अवस्था परमार्थतः नहीं है, ऐसा कहते हो तो फिर अवस्था का प्रत्यय-प्रतीति कैसे हो ? कारण के अभाव में कार्य कैसे हो ?

इस पर वादी का पक्ष आता है—अवस्था की प्रतीति भ्रान्त—भ्रम-युक्त है, वह यथार्थ नहीं है।

आचार्य का इस पर प्रत्युत्तर है—यदि अवस्था प्रतीति को भ्रमपूर्ण कहते हो तो उसका प्रमाण क्या है ? प्रमाण तो होना चाहिए। वस्तुतः इसका प्रमाण नही है। यह कथन अप्रमाणित है।

[२०३]

योगिज्ञानं तु मानं चेत्तदवस्थान्तरं तु तत् ।
ततः किं भ्रान्तमेतत् स्यादन्यया सिद्धसाध्यता ॥

पूर्वपक्ष को उद्दिष्ट कर आचार्य कहते हैं—यदि यों कहो कि योगिज्ञान —योग-साधना द्वारा निष्पन्न असाधारण ज्ञान, जिससे परोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षवत् प्रतीत होते है, इसमें प्रमाण है तो योगिज्ञान तो योगी का अवस्थान्तर है—ज्ञान का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में, एक परिणमन से दूसरे परिणमन में जाना है।

प्रतिवादी का कथन है—इससे क्या होता है ?

आचार्य का निरूपण है—योगिज्ञान या तो भ्रान्त होगा या अभ्रान्त। यदि उसे भ्रान्त मानते हो तो वह प्रमाण नहीं है। यदि अभ्रान्त मानते हो तो योगिज्ञान के अवस्थान्तर रूप होने से हमारा साध्य विषय आत्मा की अवस्थान्तरता—परिणामिता सिद्ध हो जाती है।

[२०४-२०५]

व्याधितस्तदभावो वा तदन्यो वा यथैव हि ।
व्याधिमुक्तो न सन्नीत्या कदाचिदुपपद्यते ॥

संसारी तदभावो वा तदन्यो वा तथैव हि ।
मुक्तोऽपि हन्त नो मुक्तो मुख्यवृत्त्येति तद्विदः ॥

जो व्याधियुक्त—रोग सहित है, उसे व्याधिमुक्त नहीं कहा जा सकता। जहाँ व्याधियुक्त का अभाव है—व्याधियुक्त पुरुष जहाँ है ही नहीं, वहाँ भी व्याधिमुक्त का प्रयोग नहीं होता। क्योंकि व्याधियुक्त होने पर ही व्याधि छूट जाने पर व्याधिमुक्त संज्ञा होती है। व्याधियुक्त पुरुष से अन्य व्यक्ति—उसके पुत्र, बन्धु, मित्र आदि को या तद्भिन्न और किसी को व्याधिमुक्त नहीं कहा जा सकता। उनमें से जब कोई व्याधिग्रस्त नहीं, तो फिर मुक्त कैसे कहे जायेंगे।

इस दृष्टान्त के अनुसार जो जीव संसारी—संसारावस्थापन्न है, उसे मुक्त—संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता है, जहाँ संसारी पुरुष का अभाव है, वहाँ संसारमुक्त का प्रयोग नहीं घटता, जो संसारी पुरुष से एकान्त भिन्न है, उसे भी संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार सभी जीवों को मुक्त या सिद्ध सदृश कहा गया है पर यथार्थतः पारमार्थिक मुक्तावस्था के बिना—मोक्ष को प्रवृत्तिनिमित्तता के अभाव में उक्त तीनों ही अवस्थाओं में 'मुक्त' का कथन घटित नहीं होता।

[२०६]

क्षीणव्याधिर्यथा लोके व्याधिमुक्त इति स्थितः ।
भवरोग्येव तु तथा मुक्तस्तन्त्रेषु तत्क्षयात् ॥

जैसे व्याधियुक्त पुरुष व्याधि का क्षय—नाश हो जाने पर क्षीण व्याधि होता है, उसी प्रकार संसार—जन्म-मरण के रोग से ग्रस्त पुरुष उस रोग का—संसारावस्था का क्षय हो जाने पर मुक्त हो जाता है। ऐसा शास्त्रों में निर्देश है।

कुलयोगी आदि का स्वरूप

[२०७]

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः ।
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ॥

आचार्य ग्रन्थ-प्रणयन के सम्बन्ध में लिखते है—अनेक योगशास्त्रों से उनका सार गृहीत कर मित्रा आदि दृष्टियों के भेद से—दृष्टि विश्लेषण की पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मानुस्मृति—आत्मस्वरूप का, आत्मप्रगति का अनुस्मरण—आत्मलक्ष्य की ओर जागरूक रहने, आत्म पराक्रम के सतत विकासोन्मुख अभ्युदय का स्मरण रखने हेतु आत्मोपकारार्थ रचा गया है।

[२०८]

कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः ।
अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥

कुलादि योग—गोत्रयोग, कुलयोग, प्रवृत्तचक्रयोग तथा निष्पन्नयोग—इन भेदों के आधार पर योगी चार प्रकार के हैं। उनमें से भी किन्ही का यत्किञ्चित् उपकार सधे, इसका विरोध नहीं। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य प्रयोजन तो आत्मानुस्मृति या आत्मोपकार ही है पर योगियों का उपकार भी इसका उपप्रयोजन या गौण प्रयोजन है।

[२०९]

कुलप्रवृत्तचक्रा ये त एवास्याधिकारिणः ।
योगिनो न तु सर्वेऽपि तथासिद्ध्यादि भावतः ॥

कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी ही इसके अधिकारी है, सभी योगी नहीं। क्योंकि गोत्रयोगी में वैसी योग्यता की असिद्धि होती है—उसमें वैसी योग्यता नहीं होती तथा निष्पन्नयोगी को वैसी योगसिद्धि प्राप्त हो चुकती है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन तथा तदनुरूप साधन से प्राप्य है। अतः गोत्रयोगी तथा निष्पन्नयोगी—इन दो के लिए इसकी उपयोगिता नहीं है।

[२१०]

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥

जो योगियों के कुल में जन्मे है—जिन्हें जन्म से ही योग प्राप्त है—जो जन्म से ही योगी हैं, जो प्रकृति से ही योगिधर्म के अनुसर्ता हैं, वे कुल योगी कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है, जो योगी योग-साधना करते-करते आयुष्य पूर्ण कर जाते हैं, उस जन्म में अपनी साधना पूर्ण नहीं कर पाते वे कुलयोगी के रूप में जन्म लेते हैं अर्थात् पूर्वसंस्कारवश उन्हें जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है, उनकी प्रकृति योग-साधना के अनुरूप होती है, वे आत्मप्रेरित हो स्वयं साधना में जुट जाते हैं।

कुलयोगी शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जैसे कुलवधू, कुलपुत्र आदि प्रशस्त अर्थ में हैं, उसी प्रकार कुलयोगी भी एक विशेष अर्थप्रशस्तता लिए हुए हैं। कुलवधू उसे कहा जाता है, जो अपने उच्च चारित्र, शील, सदाचार, लज्जा तथा सौम्य व्यवहार से कुल को सुशोभित करती है। कुलपुत्र वह है, जो अपने उत्तम व्यक्तित्व और कृतित्व से कुल को उजागर करता है। उसी प्रकार कुलयोगी उसे कहा जाता है, जो अपनी पावन, उदात्त योग-साधना द्वारा योगियों की गरिमा व्यापित करता है, उनके अनुकरणीय, आदर्श जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। कुलयोगी आनुवंशिक नहीं है। योगियों का वैसा कोई कुल नहीं होता कि पिता योगी हो, पुत्र भी योगी हो, पुत्र का पुत्र भी योगी हो। कुलयोगी शब्द साधनानिष्ठ, योगपरायण पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो जन्म, वंशानुगति आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारत भूमि में उत्पन्न भूमिभव्य कहे जाते हैं, उन्हें गोत्रयोगी भी कहा जाता है। इस भूमि में योग-साधना के अनुरूप उत्तम सामग्री, साधन, निमित्त आदि सुलभतया अधिगत होते है। पर केवल भूमि की भव्यता से साधना निष्पन्न नहीं होती। वह तभी सधती है, जब साधक अपनी भव्यता, योग्यता, एवं सुपात्रता प्रकट कर पाए।

अतएव प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि दूसरे गोत्रयोगी होते हुए भी कुलयोगी नहीं होते।

[२११]

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥

वे कुलयोगी सर्वत्र अद्वेषी होते हैं—किसी से भी द्वेष नहीं रखते गुरु, देव तथा ब्राह्मण उन्हें प्रिय होते हैं—वे इनमें प्रीति रखते हैं, इनका आदर करते हैं। वे दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध तथा जितेन्द्रिय होते हैं।

[२१२]

प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः ॥

चक्र के किसी भाग पर डंडा सटाकर घुमा देने पर वह सारा स्वयं घूमने लग जाता है, वैसे ही जिनका योगचक्र उसके किसी अंग का संस्पर्श कर लेने, संप्रेरित कर देने पर सारा अपने आप प्रवृत्त हो जाता है, चलने लगता है, वे प्रवृत्तचक्र योगी कहे जाते हैं।

वे इच्छायम तथा प्रवृत्तियम—इन दो को साध चुकते हैं। स्थिरयम एवं सिद्धियम—इन दो को स्वायत्त करने की तीव्र चाह लिये रहते हैं, उधर अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवृत्तचक्र योगी १. शुश्रूषा—सत् तत्त्व सुनने की आन्तरिक तीव्र उत्कण्ठा रखना, २. श्रवण—अर्थ का मनन-अनुसन्धान करते हुए सावधानी-पूर्वक तत्त्व सुनना, ३. सुने हुए को ग्रहण करना, ४. धारण—ग्रहण किये हुए का अवधारण करना, चित्त में उसका संस्कार जमाना, ५. विज्ञान—अवधारण करने पर उसका विशिष्ट ज्ञान होता है, प्राप्त बोध दृढ़ संस्कार से उत्तरोत्तर प्रबल बनता जाता है, वैसी स्थिति प्राप्त करना, ६. ईहा—चिन्तन, विमर्श, तर्क-वितर्क, शंका-समाधान करना, ७. अपोह—शंका-निवारण करना, चिन्तन विमर्श के अन्तर्गत प्रतीयमान बाधक अंश का निराकरण करना तथा ८. तत्त्वाभिनिवेश—तत्त्व में निश्चय पूर्ण प्रवेश या तत्त्वनिर्धारणमूलक अन्तःस्थिति प्राप्त करना—इन आठ गुणों से युक्त होते हैं।

[२१३]

आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ॥

ये प्रवृत्तचक्रयोगी आद्य-अवञ्चक—योग-अवञ्चक प्राप्त कर चुके है। योग-अवञ्चक प्राप्त करने का यह अमोघ प्रभाव होता है, उन्हें दूसरे दो—क्रिया-अवञ्चक तथा फल-अवञ्चक सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। इन योगियों के तीनों अवंचक स्वायत्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग प्रयोग—योग विद्या या योग-साधना के प्रयोग के अधिकारी हैं। योगविद् आध्यात्मिक विज्ञान है। अधिकारी जहाँ इससे महत्त्वपूर्ण प्रयोग द्वारा असीम लाभ उठा सकते हैं, वहाँ अनधिकारी हानि उठा लेते हैं।

[२१४]

इहाऽहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम् ।
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादिचतुर्विधाः ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम साधना में सुप्रसिद्ध—सुप्रचलित हैं। इनमें अहिंसा से अपरिग्रह तक प्रत्येक इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में चार-चार भेद हैं। ये चारों भेद अहिंसा आदि यमों की तरतमता या विकासकोटि की दृष्टि से हैं, उनके क्रमिक अभिवर्धन के सूचक है।

इन भेदों के आधार पर निम्नांकित रूप में यम बीस प्रकार होते हैं:—

'अहिंसा

१. इच्छा-अहिंसा, २. प्रवृत्ति-अहिंसा,
३. स्थिर-अहिंसा, ४. सिद्धि-अहिंसा।

'सत्य

५. इच्छा-सत्य, ६. प्रवृत्ति-सत्य,
७. स्थिर-सत्य, ८. सिद्धि-सत्य।

अस्तेय—

९. इच्छा-अस्तेय, १०. प्रवृत्ति-अस्तेय,
११. स्थिर-अस्तेय, १२. सिद्धि-अस्तेय।

ब्रह्मचर्य—

१३ इच्छा-ब्रह्मचर्य, १४. प्रवृत्ति-ब्रह्मचर्य,
१५. स्थिर-ब्रह्मचर्य, १६ सिद्धि-ब्रह्मचर्य।

अपरिग्रह—

१७ इच्छा-अपरिग्रह, १८. प्रवृत्ति-अपरिग्रह,
१९. स्थिर-अपरिग्रह, २०. सिद्धि-अपरिग्रह।

[२१५]

तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी ।
यमेष्विच्छाऽवसेयेह प्रथमो यम एव तु ॥

यमों के प्रति आन्तरिक इच्छा, अभिरुचि, स्पृहा, आकांक्षा, जो यमाराधक सत्पुरुषों की कथा में प्रीति लिए रहती है, जिसमें इतनी स्थिरता होती है कि जो कभी विपरिणत नहीं होती—अनिच्छारूप में परिणत नहीं होती—पहला इच्छायम है।

[२१६]

सर्वत्र शमसारं तु यमपालनमेव यत् ।
प्रवृत्तिरिह विज्ञेया द्वितीयो यम एव तत् ॥

इच्छायम द्वारा अहिंसा आदि में उत्कण्ठा जागरित होती है, अन्तरात्मा में उन्हें स्वायत्त करने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है। फलतः साधक जीवन में उन्हें (अहिंसा आदि यमों को) क्रियान्वित करता है, प्रवृत्ति में स्वीकार करता है—उनमें प्रवृत्त होता है, वह प्रवृत्ति-यम है।

यम-पालन का सार शम है अर्थात् यम-पालन से जीवन में शम—प्रशान्तभाव, शान्ति का उद्रेक होता है। अथवा जीवन में शम का समावेश होने पर यम प्रतिफलित होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है,

शम का सार—फल यम है। यों यम और शम—दोनों अन्योन्याश्रित सिद्ध होते है।

[२१७]

विपक्षचिन्तारहितं यमपालनमेव तत् ।
तत्स्थैर्यमिह विज्ञेयं तृतीयो यम एव हि ॥

प्रवृत्तियम के अन्तर्गत साधक अहिंसा आदि के परिपालन में प्रवृत्त तो हो जाता है किन्तु अतिचार, दोष, विघ्न आदि का भय बना रहता है। स्थिरयम में वैसा नहीं होता। साधक के अन्तर्मन में इतनी स्थिरता व्याप्त हो जाती है कि वह विपक्ष—अतिचाररूप कण्टक-विघ्न, हिंसादिरूप ज्वर-विघ्न तथा मतिमोह या मिथ्यात्वरूप दिङ्मोह-विघ्न आदि की चिन्ता से रहित हो जाता है। ये तथा दूसरे विघ्न, दोष आदि उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाते।

[२१८]

परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धेः शुद्धान्तरात्मनः ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य शक्ति के योग से परार्थ-साधक—दूसरों का उपकार साधने वाला यम सिद्धियम है।

जीवन में क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाते अहिंसा आदि यम इतनी उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि साधक में अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्रेक हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में एक ऐसी दिव्यता आविर्भूत हो जाती है कि उसके कुछ बोले बिना, किये बिना केवल उसकी सन्निधिमात्र से उपस्थित प्राणियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं, उनकी दुर्वृत्ति छूट जाती है।

यमों के सिद्ध हो जाने से दृष्ट फलित क्या क्या होते हैं, महर्षि पतंजलि ने इस सम्बन्ध में अपने योगसूत्र में विशद चर्चा की है। उदाहरणार्थ अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुसार अहिंसक योगी के यहाँ

वातावरण में अहिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि जन्म से परस्पर वैर रखने वाले प्राणी भी वहाँ स्वयं आपस का वैर[1] छोड़ देते हैं।

[२१९]

सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।
तथा दर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ॥

कल्याणसम्पन्न विशिष्ट पुण्यशाली सत्पुरुषों के, जिनका दर्शन पावनता लिये है—जिनके दर्शन मात्र से दर्शकों के मन में पवित्रता का संचार होता है, आत्मा में संस्फूर्ति उत्पन्न होती है अत्यन्त निर्दोष, निर्विकार, आत्मगुणोपेत स्वरूप की पहचान कर, (उनके) साथ योग या सम्बन्ध होना आद्यावंचक (आद्य-अवंचक)—योगावंचक कहा जाता है।

ऐसे सत्पुरुष के, सद्गुरु के योग से साधक के जीवन में एक क्रान्ति आती है। जीवन की दिशा बदल जाती है, संसारलक्षिता स्वरूपलक्षिता की ओर मोड़ ले लेती है। इससे पूर्व साधक वंचक-योग में उलझा था। सद्गुरु के योग के बिना उसके समग्र योगसाधन वंचक थे। वह उनमें ठगा जा रहा था। सद्गुरु का योग, सद्गुरु की प्राप्ति, उनकी सन्निधि में प्राप्त होती प्रेरणा सचमुच साधना-पथ पर आगे बढ़ते साधक के लिए एक प्रकाश-स्तंभ है। साधक अपनी मंजिल की ओर सोत्साह आगे बढ़ता जाता है।

इसे आद्य-अवंचक कहा है। इसे प्राप्त न करने तक साधक प्रवंचना में उलझा रहता है, आगे बढ नहीं पाता। आगे बढ़ने का यह आद्य—प्रथम सोपान है।

[२२०]

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम् ।
क्रियावंचकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः ॥

उन सत्पुरुषों, सद्गुरुओं, भावसाधुओं का दर्शन, प्रणमन, स्तवन, कीर्तन, वैयावृत्त्य, सेवा आदि क्रिया करना क्रियावंचक योग कहा जाता है। यह महापापों का क्षय करने वाला है।

---

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —पातंजल योगसूत्र २·३५

जन्म-मरण से छुटकारा, मोक्ष प्राप्त होता है। इस पर हरिभद्र ने कहा कि मुझे तो भगवन् ! भवविरह ही प्रिय लगता है अर्थात् मैं तो मोक्ष ही पसन्द करता हूँ। अस्तु हरिभद्र ने वैराग्यपूर्वक जिनदत्तसूरि के पास जैन दीक्षा स्वीकार करली। उनके दीक्षा-ग्रहण करने का उद्देश्य भव-विरह, सांसारिक आवागमन से छूटना या मुक्त होना था। अतः उन्होंने अपने लिए यह (भवविरह) उपनाम उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' नाम पड़ने के सम्बन्ध में एक घटना यह भी मानी जाती है कि कोई भक्त श्रावक जब आचार्य हरिभद्र के पास आकर उन्हें वन्दन-प्रणमन करता तो वे उसके लिए श्वेताम्बर समाज में प्रचलित आशीर्वाद-पद्धति के स्थान पर 'भवविरह' का प्रयोग किया करते थे। इसका आशय यह था कि हे भव्य मुमुक्षु ! तुम्हारा भवभ्रमण रूप संसार से विरह-छुटकारा हो। आशीर्वाद पाने वाला व्यक्ति उन्हें भवविरहसूरि ! आप दीर्घायु हों, ऐसा उत्तर में कहता।

कहावली में इसका और अधिक विस्तार करते हुए लिखा गया है। उसके अनुसार लल्लिग नामक एक व्यापारी गृहस्थ था, जो आचार्य हरिभद्र के प्रति बहुत आदर एवं श्रद्धा रखता था। मूलतः वह निर्धन था पर क्रमशः उसका धन बढ़ता गया। वह सम्पत्तिशाली हो गया। तब वह खुले हाथों दान देने लगा। वह साधुओं की भिक्षा के समय हमेशा शंख बजाता ताकि जो भी भूखे-प्यासे होते, वहाँ आ जाते। शंख इसी का सूचक था। वह उन्हें भोजन कराता। इसका अभिप्राय यह है कि लल्लिग के मन में आतिथ्य एवं करुणा का विशेष भाव था, इसलिए वह सोचता कि साधुओं को वह भिक्षा देता है, यह तो उसका विशेष कर्त्तव्य है ही पर गाँव के पास से भी कोई भूखा-प्यासा न गुजर जाए, एक गृहस्थ के नाते यह भी उसका धर्म है। भोजनशाला में भोजन करने के पश्चात् वे लोग आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करने आते। आचार्य उन्हें "तुम भव-विरह प्राप्त करो" अर्थात् तुम मोक्षोन्मुख बनो, ऐसा आशीर्वाद देते। समागत जन आचार्य को "भवविरह सूरि ! आप दीर्घ काल तक जीवित रहें" यों कहकर चले जाते। इस प्रकार उनका 'भवविरह सूरि' नाम विख्यात हो गया। □

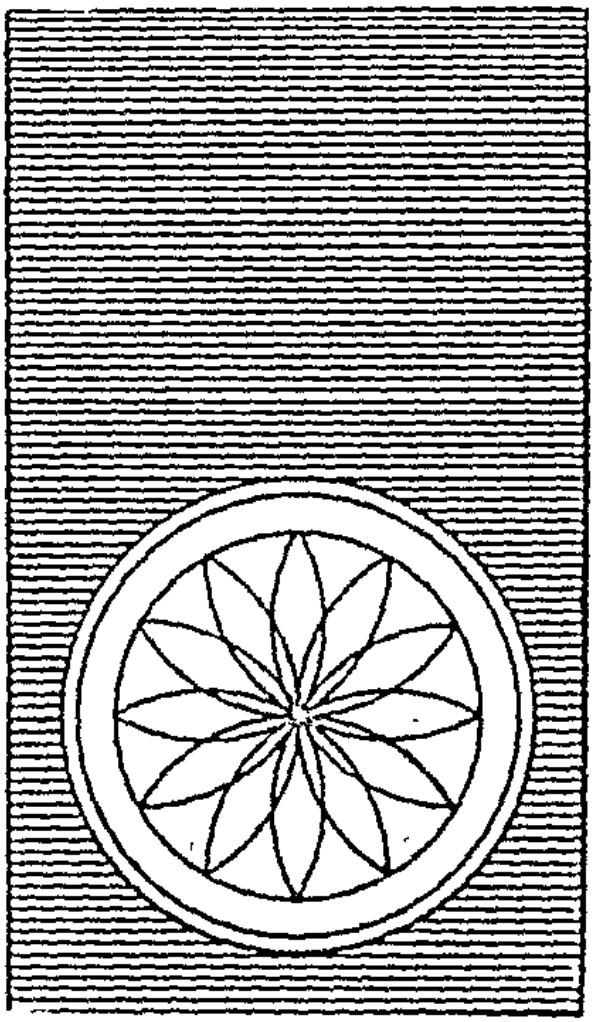

योगबिन्दु

योगबिन्दु

मंगलाचरण

[१-२]

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्वसिद्धयै महोदयम् ॥

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥

अनादि-अनन्त, उत्तम योगिजन द्वारा वन्दित-पूजित, शिव—कल्याण-रूप परमात्मा को नमस्कार कर माध्यस्थ्य-वृत्ति युक्त—संकीर्ण पक्षपात रहित योग-वेत्ताओं, योग-जिज्ञासुओं के लिए सभी योगशास्त्रों से अविरुद्ध —सभी परंपराओ के योग-ग्रन्थों के साथ समन्वित, उत्तम योग-मार्ग के उन्नायक योगबिन्दु नामक ग्रन्थ का तत्त्व-प्रकाशन हेतु प्रणयन करूंगा।

योग : असंकीर्ण साधना-पथ—

[३]

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्यभेदात् तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥

योग मोक्ष का हेतु है। परम्पराओं की भिन्नता के बावजूद मूलतः उसमें कोई भेद नहीं है। जब सभी के साध्य या लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, वह एक समान है, तब उक्ति-भेद—कथन-भेद या विवेचन की भिन्नता वस्तुतः उसमें भेद नहीं ला पाती।

[४]

मोक्षहेतुत्वमेवास्य किंतु यत्नेन धीधनैः ।
सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकांक्षिभिः ॥

योग मोक्ष का हेतु है। वह शुद्ध ज्ञान तथा अनुभव पर आधृत है

अथवा शुद्ध लक्ष्य लिये हुए हैं। आत्मकल्याणेच्छु प्रज्ञाशील पुरुषों को चाहिए कि वे इसका मार्गण—गवेषणा या अनुसन्धान करें।

[५]

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥

यदि इसका लक्ष्य, स्वरूप तथा फल उपयुक्त—संगत है तो वस्तुतः इसकी योग संज्ञा सार्थक है क्योंकि यह अपने मुख्य शाब्दिक अर्थ—योग :> योजन :> मोक्ष से योजन या जोड़ना—से संबलित है।

[६]

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥

जीव तदन्य—अपने से अन्य—कर्म-पुद्गलों के संयोग से संसारी—संसारावस्थापन्न है तथा उनके वियोग से—अपगत हो जाने से मुक्त हो जाता है। संसारावस्था एवं मुक्तावस्था आत्मा और कर्म-पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है। पुद्गल-सम्बद्धता के कारण संसारावस्था है तथा अपने शुद्ध स्वभाव में आने के कारण मुक्तावस्था है, जिसका शाब्दिक अर्थ कर्म-पुद्गलों से छुटकारा है।

[७]

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः ।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

दूसरे का—देव आदि का अनुग्रह प्राप्त करना भी आत्मा के लिए घटित होता है क्योंकि उसकी वैसी प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाए तो वह सब, जो इस सन्दर्भ में निरूपित तथा अभिमत है, महत्त्वहीन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे, चौथे चरण का एक और प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है, जैसे—यदि दूसरी तरह से सोचें तो निश्चय-दृष्टि से यह अनुग्राहक-अनुग्राह्य-भाव मुख्य नहीं है, मात्र व्यवहार है।

[८]

केवलस्यात्मनो न्यायात् सदाऽऽत्मत्वाविशेषतः ।
संसारी मुक्त इत्यतेद् द्वितयं कल्पनैव हि ॥

यदि एक मात्र आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाए, पुद्गल आदि अन्य पदार्थों का नहीं तो वह (आत्मा) सदा एकान्ततः अपने आत्मत्व-रूप गुण में संप्रतिष्ठ रहेगी। वैसी स्थिति में आत्मा के संसारी तथा मुक्त—यों भेद करना कल्पना मात्र है। वस्तुतः यह घटित नहीं होता।

[९]

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न ।
शुद्धयशुद्धी ऋते शब्दात् तद्वदत्राप्यसंशयम् ॥

सर्वथा शुद्ध—अन्य धातुओं से अमिश्रित स्वर्ण के सम्बन्ध में शुद्धता अशुद्धता का कथन घटित नहीं होता। पर सामान्य—अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण के प्रसंग में शुद्धि, अशुद्धि की जो बात कही जाती है, वह निरर्थक नहीं होती। यही तथ्य आत्मा के साथ है। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था शुद्ध स्वर्ण जैसी है और ससारावस्था अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण जैसी। वहाँ (संसारावस्था में) शुद्धि, अशुद्धिमूलक कथन निःसन्देह संगत है।

[१०-११]

योग्यतामन्तरेणास्य संयोगोऽपि न युज्यते ।
सा च तत्तत्त्वमित्येवं तत्संयोगोऽप्यनादिमान् ॥
योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुनः ।
अतीतकालसाधर्म्यात् किं त्वाज्ञातोऽयमीदृशः ॥

पुद्गलों को आकृष्ट करना, उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है। ऐसा न हो तो आत्मा और पुद्गल का संयोग घटित नहीं होता। आत्मा अनादि है अतः यह योग्यता तथा संयोग भी अनादि हैं।

आत्मा द्वारा प्रति समय कर्म ग्रहण—कर्म-पुद्गल-संयोग की प्रक्रिया देखते इसे अनादि कैसे मानें, इसका समाधान भूतकाल के उदाहरण से लेना चाहिए। वर्तमान, भूत, भविष्य—ये तीन काल हैं। अनागत—भविष्य जब

अस्तित्व में आता है तो वह वर्तमान बन जाता है। वर्तित होकर वह (वर्तमान) भूत में परिणत हो जाता है। यों परिणत होने की परम्परा सादि है पर भूत के रूप में समाहृत होते रहना—यह प्रवाहरूप से अनादि है। क्योंकि यह क्रम कब से प्रारंभ हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार क्षण-क्षण कर्म-पुद्गलों के आत्मसंपृक्त होने की प्रक्रिया तत्तत्क्षण की दृष्टि से सादि है पर आत्मा और कर्म-पुद्गल संयोग की परंपरा प्रवाह रूप से अनादि है। संयोग की अनादिमत्ता न मानने से तत्त्व-निरूपण-व्यवस्था में विरोध आता है।

[१२]

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्ययोग्यतापेक्ष एव तु।
नाणुः कदाचिदात्मा स्याद् देवतानुग्रहादपि ॥

अनुग्रह—देव आदि की कृपा अनुग्राह्य—अनुग्रह करने योग्य—जिस पर अनुग्रह किया जाए, उसकी योग्यता पर निर्भर है। देवता के अनुग्रह से भी परमाणु कभी आत्मा नहीं बन सकता; क्योंकि उस (परमाणु) में वैसी योग्यता नहीं होती।

[१३-१४]

कर्मणो योग्यतायां हि कर्ता तद्व्यपदेशभाक्।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन लोकसिद्धमिदं ननु ॥
अन्यथा सर्वमेवैतदौपचारिकमेव हि।
प्राप्नोत्यशोभनं चैतत् तत्त्वतस्तद्वभावतः ॥

कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है, इसी कारण आत्मा का कर्मों पर कर्तृत्व घटित होता है। यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष आता है। यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

यदि इसे अन्यथा—अन्य प्रकार से माना जाए तो यह सब, जो हमारे दैनन्दिन जीवन में घटित होता है, औपचारिक मात्र होगा। वास्तविकता न होने से वह अशोभन—अनिष्ट या अवांछित होगा।

[१५]

उपचारोऽपि च प्रायो लोके यन्मुख्यपूर्वकः।
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्वमित्थमेव व्यवस्थितम् ॥

लोक में उपचार मुख्यपूर्वक होता है—मुख्य को लक्ष्य में रखकर निरूपण में उपचार का व्यवहार होता है। अतएव जगत् का सारा व्यवस्था क्रम समीचीन रूप में चल रहा है।

[१६]

ऐदम्पर्यं तु विज्ञेयं सर्वस्यैवास्य भावतः ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे योगमार्गस्य संभवः ॥

जीव, कर्म, योग्यता, संयोग आदि भावों की जो यथार्थ स्थिति ऊपर प्रतिपादित की गई है, उसे विशेष रूप से जानना, समझना चाहिए। यों होने पर ही योग-मार्ग पर आने की संभावना घटित होती है—वैसे ज्ञान और विश्वास से युक्त साधक का योग-साधना में अग्रसर होना संभव है।

[१७-१८]

पुरुषः क्षेत्रविज्ज्ञानमिति नाम यदात्मनः ।
अविद्या प्रकृतिः कर्म तदन्यस्य तु भेदतः ॥

भ्रांति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम् ।
शास्ता वन्द्योऽविकारी च तथाऽनुग्राहकस्य तु ॥

नाम-भेद से विभिन्न दार्शनिक आम्नायों में मूल तत्त्वों की प्रायः समानता है। जैसे आत्मा को वेदान्त तथा जैनदर्शन में पुरुष, सांख्यदर्शन में क्षेत्रवित् या क्षेत्रज्ञ तथा बौद्धदर्शन में ज्ञान कहा गया है। आत्मेतर तत्सहवर्ती विजातीय तत्त्व वेदान्त और बौद्ध दर्शन में अविद्या, सांख्यदर्शन में प्रकृति तथा जैनदर्शन में कर्म के नाम से अभिहित हुआ है। आत्मा का विजातीय द्रव्य से सम्बन्ध वेदान्त एवं बौद्धदर्शन में भ्रान्ति, सांख्यदर्शन में प्रवृत्ति तथा जैनदर्शन में बन्ध कहा गया है। उसी प्रकार अनुग्राहक—आत्मा पर अनुग्रह या उपकार करने वाला जैनदर्शन में शास्ता, बौद्ध दर्शन में वन्द्य तथा शैव व भागवत परंपरा में अविकारी नाम से सम्बोधित किया गया है।

[१९]

साकल्यस्यास्य विज्ञेया परिपाकादिभावतः ।
औचित्याबाधया सम्यग्योगसिद्धिस्तथा तथा ॥

जब साधक उपर्युक्त तथ्यों को आत्मसात् कर पाता है; जीव तथा कर्म-पुद्गलों के संयोग की एक मोक्षानुकूल परिपक्व स्थिति आती है, जहाँ समुचित धर्म-प्रवृत्ति में बाधा नहीं रहती, तब वह भव्यता—मोक्ष-गमन-योग्य बीज रूप क्षमता द्वारा योगानुभूति प्राप्त करता है, योग-साधना के पथ पर गतिमान् होता हुआ उत्तरोत्तर विकास करता जाता है, सम्यक् योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

[२०]

एकान्ते सति तद्यत्नस्तथाऽसति च यद् वृथा ।
तत्तथायोग्यतायां तु तद्भावेनैव सार्थकः ॥

यदि आत्मा को एकान्त-नित्य या एकान्त अनित्य माना जाए तो उस हेतु किये गये प्रयत्न की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जो एकान्ततः नित्य है, उसमें प्रयत्न द्वारा कोई परिवर्तन आ नहीं सकता। जो एकान्त रूप में अनित्य है, उसके लिए प्रयत्न की कोई अपेक्षा नहीं होती। अतः आत्मा को पूर्वोक्त रूप में योग्यता सहित—कर्म-बन्ध, कर्म-निर्जरण आदि की क्षमता से युक्त (परिणामि-नित्य) मानने पर ही प्रयत्न की सार्थकता या प्रयोजनीयता है।

[२१]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
युज्यते एवमेवेति वक्ष्याम्यूर्ध्वमदोऽपि हि ॥

व्यक्ति की जीवन-निर्मिति में भाग्य तथा पुरुषार्थ—दोनों स्पष्टतः समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, यह मानना वास्तव में युक्तियुक्त है। आगे इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा होगी।

[२२]

लोकशास्त्राविरोधेन यद्योगो योग्यतां व्रजेत् ।
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु हन्त ! नेष्टो विपश्चिताम् ॥

लोक तथा शास्त्र से जिसका अविरोध हो—जो अनुभव-संगत तथा शास्त्रानुगत हो, वही योग योग्य—आदेय या अनुसरणीय है। मात्र जो जड़ श्रद्धा पर आधृत है, विवेकशील पुरुषों के लिए वह अभीप्सित नहीं होता—विज्ञजन उसे उपादेय नहीं मानते, नहीं चाहते।

[२३]

वचनादस्य संसिद्धेरेतदप्येवमेव हि ।
दृष्टेष्टाबाधितं तस्मादेतन्मृग्यं हितैषिणा ॥

आगम—शास्त्र-वचन अथवा योगसिद्ध पुरुषों की वाणी द्वारा योग सम्यक् सिद्ध है। वह तत्त्वतः वैसा ही है, जैसा इन द्वारा आख्यात हुआ है। दृष्ट या अनुभूत रूप में स्वरूप, परिणाम आदि की दृष्टि से वह उसी रूप में उपलब्ध है अर्थात् वह दृष्ट द्वारा बाधित नहीं है और न उससे अभीष्ट ही बाधित होता है। दूसरे शब्दों में, क्योंकि वह यथार्थ की पृष्ठभूमि पर टिका है, अतः उससे अभीप्सित फल की सिद्धि होती है। आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह उसका मार्गण—गवेषण करे; उसे यथावत् रूप में समझ कर अपनाए।

[२४]

दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् ।
असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं बाध्यसूचकम् ॥

दृष्ट—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीतियोग्य तत्त्व भी जिन शास्त्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता—जिनका तद्विषयक प्रतिपादन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के भी विरुद्ध होता है, उनके आधार पर अदृष्ट में प्रवृत्त होना, प्रवृत्त व्यक्तियों की अन्धश्रद्धा की दासता का परिचायक है। उससे क्या सधे ?

[२५]

प्रत्यक्षेणानुमानेन यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते ।
दृष्टेऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात् प्रवृत्तिस्तत एव तु ॥

जिन शास्त्रों के अनुसार यथार्थ-निर्णय के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष, अनुमान

आदि तत्त्व-सिद्धि में बाधक नहीं होते—जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से अनुगत या संगत हैं, उन्हीं के आधार पर दृष्ट तथा अदृष्ट में प्रवृत्त होना उपयुक्त है।

[२६]

अतोऽन्यथा प्रवृत्तौ तु स्यात् साधुत्वाद्यनिश्चितम् ।
वस्तुतत्त्वस्य हन्तैवं सर्वमेवासमंजसम् ॥

जो इन (पूर्व विविक्त) तथ्यों के प्रतिकूल प्रवृत्तिशील होता है, वह वस्तुतत्त्व की सत्यता, असत्यता का निश्चय नहीं कर पाता। अतः उस द्वारा साधनाक्रम में क्रियमाण—उसका समग्र प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता है।

[२७]

तद्दृष्टाद्यनुसारेण वस्तुतत्त्वव्यपेक्षया ।
तथा तथोपितभेदेऽपि साध्वी तत्त्वव्यवस्थितिः ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि के आधार पर वस्तु-तत्त्व के परीक्षण से भिन्न-भिन्न दार्शनिक परंपराओं में प्रवृत्त कथन-भेद के बावजूद यथार्थ तत्त्व का अवबोध होता है।

[२८]

अमुख्यविषयो यः स्यादुक्तिभेदः स बाधकः ।
हिंसाऽहिंसादिवद् यद्वा तत्त्वभेदव्यपाश्रयः ॥

गौण विषयों में जो कथन-भेद (साथ ही साथ विचार-भेद) है, वह, हिंसा और अहिंसा जैसे परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार भिन्नता युक्त है। वास्तव में वहाँ तत्त्व-स्वीकार में ही भेद है।

[२९]

मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद् विपश्चिताम् ।
हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतो यथा ॥

मुख्य विषय में—मौलिक तत्त्वों में शब्द-भेद विज्ञजनों के लिए बाधक नहीं होता। जैसे हिंसा-विरति को पातंजलयोग में यम कहा है और जैन दर्शन में व्रत; यहाँ शब्द दो हैं पर तथ्य एक ही है।

योग के भेद—

[३०]

मुख्यतत्त्वानुवेधेन स्पष्टलिङ्गान्वितस्ततः ।
युक्त्यागमानुसारेण योगमार्गोऽभिधीयते ॥

मुख्य तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए, लक्षणों का स्पष्टतया विश्लेषण करते हुए शास्त्रानुसार तथा युक्ति-पूर्वक योगमार्ग आख्यात किया जा रहा है।

[३१]

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय—ये योग हैं। क्योंकि ये आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं। ये पाँचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ—उत्कृष्ट हैं। अर्थात् अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृत्तिसक्षय—क्रमशः एक-एक से उच्चतर यौगिक विकास के सूचक हैं।

[३२]

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः ।
सास्रवोऽनास्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥

एक अन्य प्रकार से तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्रव तथा अनास्रव—योग के ये छः भेद हैं।

[३३-३४]

तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया ।
अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥
सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः ।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥

यथाविधि तत्त्वतः—वास्तव में योग का अनसरण तात्त्विक योग है।

केवल लोकरंजनार्थ योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है। वह सानुबन्ध योग है, जो लक्ष्य स्वायत्त करने तक अविच्छिन्न—बिना रुकावट गतिमान रहता है। जिसमें बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध आता रहता है, वह निरनुबन्ध योग है। जो संसार को दीर्घ—लम्बा बनाता है—जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाता है, वह सास्रव योग है। जो इस चक्र को रोकता है, मिटाता है, वह अनास्रव योग है।

ये नाम योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक है।

[३५]

स्वरूपं संभवं चैव वक्ष्याम्यूर्ध्वमनुक्रमात्।
अमीषां योगभेदानां सम्यक् शास्त्रानुसारतः॥

आगे शास्त्रानुसार क्रमशः योग के इन भेदों के स्वरूप, उत्पत्ति आदि का भली भांति विवेचन करूंगा।

योग का माहात्म्य—

[३६]

इदानीं तु समासेन योगमाहात्म्यमुच्यते।
पूर्वसेवाक्रमश्चैव प्रवृत्त्यङ्गतया सताम्॥

अब संक्षेप में योग के महत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। साथ ही साथ पूर्व सेवा—योग-साधना में आने से पूर्व सेवनीय—आचरणीय कार्य-विधि का भी विवेचन किया जारहा है, जिससे सत्पुरुष योग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

[३७]

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

[३८]

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा ।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—संसार में बार-बार जन्म-मरण में आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नहीं होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु को भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म, मरण से छुटकारा हो जाता है।

[३९]

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥

योग रूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, कुण्ठित हो जाते हैं—योग-रूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

[४०]

अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः ।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

[४१]

मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः ।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः ॥

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योग रूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।

[४२]

अमुत्र संशयापन्नचेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।
सत्स्वप्नप्रत्ययादिभ्यः संशयो विनिवर्तते ॥

परभव या परलोक के सम्बन्ध में जिनका चित्त संशयपूर्ण होता है, शुभ स्वप्न आदि द्वारा उन्हें यथार्थ प्रतीति—अनुभूति होती है, जिससे वह संशय विनिवृत्त हो जाता है—मिट जाता है। अर्थात् योगाभ्यासी को योग के प्रभाव से ऐसे उत्तम सपने आते हैं, जो उसका सन्देह दूर कर देते हैं।

[४३]

श्रद्धालेशान्वियोगेन बाह्ययोगवतोऽपि हि ।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्टदेवतादर्शनादयः ॥

जो योग के केवल बाह्य रूप का पालन करता है, बहुत सामान्य श्रद्धा लिए रहता है, उसे भी निश्चित रूप में—अवश्य शुभ स्वप्न आते हैं, इष्ट देव के दर्शन आदि होते हैं।

[४४]

देवान् गुरून् द्विजान् साधून् सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥

उत्तम साधनाशील योगी स्वप्न में प्रायः देवताओं, गुरुजनों, ब्राह्मणों तथा साधुओं को प्रसन्न मुद्रा में सत्प्रेरणा प्रदान करते हुए देखते हैं।

[४५]

नोदनाऽपि च सा यतो यथार्थैवोपजायते ।
तथा कालादिभेदेन हन्त नोपप्लवस्ततः ॥

वह प्रेरणा समय पाकर सत्य सिद्ध होती है। ऐसे स्वप्न कोई मानसिक अनवस्थता या मनोविकार नहीं हैं।

[४६]

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च सत्यस्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥

स्वप्नोपयोगी मन्त्रों के द्वारा सत्य—यथार्थ स्थिति का सूचक स्वप्न आता है। विद्वानों में निर्विवाद रूप में यह सुप्रसिद्ध है—विद्वान सर्वसम्मत रूप में ऐसा मानते हैं।

[४७]

न ह्येतद् भूतमात्रत्वनिमित्तं संगतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं यन्नैवंविधगोचरं ॥

यदि कहा जाए, ऊपर वर्णित सब मात्र भौतिक कारणों पर आश्रित है तो यह संगत—युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अयोगी—जो योगाभ्यासी नहीं हैं, उन्हें वैसे स्वप्न आदि नहीं दिखाई देते।

[४८]

प्रलापमात्रं च वचो यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे मोक्षे चानन्द उत्तमः ॥

प्रत्यक्ष रूप में देखे, जाने बिना किसी के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रलाप मात्र है—केवल बकवास है। यदि यों कहते हैं तो वे जरा बतलाएँ—स्वर्ग में अप्सराएँ है, मोक्ष में परम आनन्द है, यह सब प्रत्यक्षतः किसने देखा।

मीमांसकों को उद्दिष्ट कर ग्रन्थकार ने यह कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि मीमांसक अप्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय दर्शन को अस्वीकार करते हैं।

[४९]

योगिनो यत् समध्यक्षं ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्मादेरपि युक्तोऽयं तत एवेति चिन्त्यताम् ॥

यदि कोई कहे, योगी की यह विशेषता है, उसकी दृष्टि में वह सब (स्वर्ग में अप्सराएँ है, इत्यादि) प्रत्यक्ष है, तदनुसार अप्रत्यक्ष भी दृष्ट है तो

पित्रोः सम्यगुपस्थानाद् ग्लानभैषज्यदानतः ।
देवादिशोधनाच्चैव भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥

ब्रह्मचर्य, तपश्चरण, वेदादि सत् शास्त्रों का अध्ययन, विद्या व मन्त्र की आराधना, उत्तम तीर्थों का आसेवन, माता-पिता की सम्यक् सेवा-शुश्रूषा, रोगियों को औषध-दान, देवस्थान—पूजास्थान आदि का सम्मार्जन, सफाई—इन शुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य में पूर्व जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

[५९]

अतएव न सर्वेषामेतदागमतेऽपि हि ।
परलोकाद् यथैकस्माद् स्थानात् तनुभृतामिति ॥

जैसे किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में गये लोगों में सबको पिछले स्थान से सम्बद्ध घटनाएँ स्मरण नहीं रहतीं, उसी प्रकार परलोक से नये जन्म में आये सभी प्राणियों को अपना पूर्वभव—पिछला जन्म, कार्य, घटनाक्रम आदि स्मरण नहीं रहते।

[६०]

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः ।
सर्वेषामनुभूतार्थस्मरणं स्याद् विशेषतः ॥

जो उन्माद—मानसिक विक्षिप्तता या पागलपन से पीड़ित होते हैं, प्रेत-बाधा से ग्रस्त होते हैं, उन्हें भी अपने द्वारा पहले दृष्ट, अनुभूत वस्तुएं, जीवन में घटित घटनाएँ विशेषतः स्मरण नहीं रहतीं।

[६१]

सामान्येन तु सर्वेषां स्तनवृत्त्यादिचिन्हितम् ।
अभ्यासातिशयात् स्वप्नवृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥

सामान्यतः सभी प्राणियों में यह दृष्टिगोचर होता है, ज्यों ही वे जन्म लेते हैं, दूध के लिए मां के स्तनों की ओर स्वयं प्रवृत्त होते हैं। जिन कार्यों का जीवन में सतत अभ्यास होता है, जिन पर बार-बार चिन्तन-विमर्श चलता रहता है, स्वप्न में प्रायः वे ही दीखते हैं। उसी प्रकार अभ्यासा-

तिशय—अनेक जन्मों के अत्यधिक अभ्यास के कारण नवजात शिशु में यह प्रवृत्ति होती है। मां के स्तनों से दूध पीते रहने के प्रसंग जन्म-जन्मान्तर में न जाने कितनी बार उसके घटित हुए हैं। उसी चिर अभ्यास-जनित संसार-स्मृति का परिणाम मां के स्तनों का दूध पीने के उपक्रम के रूप में परिलक्षित होता है।

[६२]

स्वप्ने वृत्तिरतथाभ्यासाद् विशिष्टस्मृतिवर्जिता ।
जाग्रतोऽपि क्वचित् सिद्धा सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

पूर्वतन अभ्यासवश स्वप्न में जो अनुभव किया जाता है, कई बार ऐसा होता है, कुछ समय बाद स्मरण नहीं रहता। इतना ही नहीं, कभी-कभी जागरित अवस्था में भी मन में उठे विचार बाद में याद नहीं रह पाते। यह सब स्मृति-दौर्बल्य के परिणाम हैं। इस सम्बन्ध में सूक्ष्म बुद्धि से विचार करें।

[६३]

श्रूयन्ते च महात्मान एते दृश्यन्त इत्यपि ।
क्वचित् संवादिनस्तस्मादात्मादेर्हन्त ! निश्चयः ॥

ऐसे महापुरुष सुने जाते हैं, कहीं-कहीं देखे भी जाते हैं, जिनसे जाति-स्मरण ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। अर्थात् ऐसे योगसिद्ध महा-पुरुष भी यहाँ हैं, जिन्हें जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त होता है। इस आधार पर निश्चित रूप से आत्मा आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है।

[६४]

एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम् ।
अहो यन्निश्चितं वेद्यं नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥

इस प्रकार योग ही आत्मा आदि तत्त्वों की सिद्धि का कारण है। पदार्थों के स्वरूप आदि की निश्चित प्रतीति या अनुभूति योग से ही साध्य है, अन्य से कहीं नहीं।

[६५]

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥

विवेकशील पुरुष को तत्त्व-प्रसिद्धि—तत्त्वों की प्रतीति, अभिव्यक्ति हेतु योग में महान्—विपुल प्रयत्न करना चाहिए—योग-साधना में विशेष रूप से समुद्यत रहना चाहिए।

[६६-६७]

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥
वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तया ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपोलकवद् गतौ ॥

तपश्चरण द्वारा जिन्होंने अपना मनोमल मिटा डाला, ऐसे योग-वेत्ता सत्पुरुषों का भावी योगियों—योग-साधना में प्रविष्ट होने के इच्छुक पुरुषों के हित के लिए मोह के अंधेरे को मिटाने हेतु दीपक के सदृश वचन है—"जो निश्चित रीति से—नैयायिक या तार्किक शैली से पक्ष-विपक्ष में अपनी-अपनी दलीलें उपस्थित करते हुए वाद-प्रतिवाद—खण्डन-मण्डन में लगे रहते हैं, वे तत्त्वान्त—तत्त्व-निर्णय तक नहीं पहुँच पाते। उनकी स्थिति कोल्हू के बैल जैसी होती है, जो कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है पर कभी किसी निश्चित छोर पर नहीं पहुँचता।"

अध्यात्म—

[६८]

अध्यात्ममत्र परम उपायः परिकीर्तितः ।
गतौ सन्मार्गगमनं यथैव ह्यप्रमादिनः ॥

*पदार्थों के सत्य स्वरूप के अवबोध तथा साधना की यात्रा में प्रमाद-*रहित होकर चलते रहने में अध्यात्म परम उपाय है—महान् अमोघ साधन है।

[६९]

मुक्त्याऽतो वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥

अतः वाद-विवादमय संघर्ष का परित्याग कर अध्यात्म का चिन्तन करें। अज्ञानरूप सघन अन्धकार को दूर किये बिना ज्ञेय—जानने योग्य तत्त्व में ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् वाद-विवादमय संघर्ष अज्ञान-प्रसूत अन्धकार की तरह है, जो अध्यात्म-साधना में नितान्त बाधक है।

[७०]

सदुपायाद यथैवाप्तिरुपेयस्य तथैव हि ।
नेतरस्मादिति प्राज्ञः सदुपायपरो भवेत् ॥

प्राप्त करने योग्य लक्ष्य या वस्तु की प्राप्ति सदुपाय—समुचित, समीचीन उपाय से ही संभव है, अनुचित, अनुपयुक्त उपाय से नहीं। अतः प्रज्ञाशील पुरुष को चाहिए, वह अपना ध्येय प्राप्त करने हेतु उत्तम, उचित उपाय का अवलम्बन करे।

[७१]

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्यः संदर्शितो बुधैः ।
दुरापं किन्त्वदोपीह भवान्धौ सुष्ठु देहिनाम् ॥

ज्ञानी जनों ने वस्तु-स्वरूप के यथार्थ बोध तथा साधना में अग्र गति हेतु अध्यात्म के अतिरिक्त कोई और सदुपाय नहीं बताया है। अर्थात् अध्यात्म ही इनका एकमात्र सुन्दर उपाय है किन्तु संसार-सागर में निमग्न देहधारियों—प्राणियों के लिए अध्यात्म को उपलब्ध कर पाना कुछ कठिन है।

[७२]

चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित, शुक्लपाक्षिक—मोहनीय कर्म के तीव्र भाव के अन्धकार से रहित, भिन्नग्रन्थि—जिसकी मोह प्रसूत कर्मग्रन्थि टूट गई है, चरित्री—जो चारित्र-परिपालन के पथ पर समारूढ़ है, (वह) अध्यात्म का अधिकारी कहा गया है।

[७३]

प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा ।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥

इन तीनों श्रेणियों से बहिर्भूत—इतर प्राणी अति दीर्घ भव-भ्रमण—संसार के जन्ममरणमय चक्र में पुनः पुनः परिभ्रमण, आवागमन, आत्मपरिणामों की अत्यधिक मलिनता, मिथ्या तत्त्व में अभिनिवेश—दुराग्रह के कारण अध्यात्म को नहीं पा सकते।

[७४-७५]

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः ।
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा गताः ॥
सर्वेषामेव सत्त्वानां तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।
नान्यथा संविदेतेषां सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥

यह संसार अनादि है। इसमें मनुष्य-गति, देव-गति, नरक-गति तथा तिर्यञ्च-गति के अन्तर्गत अनेक योनियाँ हैं। जीव अनन्त पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता है। ऐसे अनन्त पुद्गल-परावर्त व्यतीत हो चुके है। यह भव-भ्रमण का चक्र सभी प्राणियों के अपने अपने स्वभाव के कारण है। यदि ऐसा नहीं होता तो पुद्गल-परावर्त की कभी परिमितता नहीं होती। इस पर सूक्ष्म बुद्धि से चिन्तन करें।

[७६]

यादृच्छिकं न यत्कार्यं कदाचिज्जायते क्वचित् ।
सत्त्वपुद्गलयोगश्च तथा कार्येमिति स्थितम् ॥

इस जगत् में जो भी कार्य है, वह यदृच्छा—अकस्मात्—कार्य-कारण-परंपरा के बिना कहीं भी नहीं होता। यह आत्मा तथा पुद्गल के संयोग से होता है। यही जगत् का स्वभाव है।

[७७]

चित्रस्यास्य तथाभावे तत्स्वाभाव्यदृते परः ।
न कश्चिद्धेतुरेवं च तदेव हि तथेष्यताम् ॥

आत्मा का कर्म के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से संयोग होता है। अतएव उसके भिन्न-रूप देखने में आते है। इस भिन्नता का कारण जीव के अपने स्वभाव या प्रकृति को छोड़कर और दूसरा नहीं है। वास्तव में यही यथार्थ कारण है, ऐसा मानना चाहिए।

[७८]

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम् ।
तदन्यवादाभावश्चेन्न तदन्यानपोहनात् ॥

स्वभाव से कार्य होता है, ऐसा मानने में स्वभाववाद का दोष आता है, यों आरोप किया जा सकता है। पर जरा बतलाएँ, इसमें क्या हानि है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस वाद के स्वीकार का अभिप्राय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व की कारण रूप में अस्वीकृति है। वास्तव में यहां ऐसा आशय नहीं है।

[७९]

कालादिसचिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः ।
सर्वत्र व्यापकत्वेन न च युक्त्या न युज्यते ॥

काल आदि के सहयोग से कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा महापुरुषों ने स्वीकार किया है। काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ तथा कर्म—ये पाँचों निमित्त कारण सर्वत्र—उपादान कारण में एवं उपादेय कार्यों में परिव्याप्त रहते हैं। युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता हो ऐसा नहीं है, यह सिद्ध होता है।

[८०]

तथात्मपरिणामात् तु कर्मबंधस्ततोऽपि च ।
तथा दुःखादि कालेन तत्स्वभावादृते कथम् ॥

आत्मा के परिणाम से कर्म-बन्ध होता है। बन्धावस्था के अनुरूप विपाकोदय होने पर कर्म यथासमय दुःख, सुख आदि के रूप में फल देता है। आत्मा के स्वभाव के बिना यह सब कैसे संभव हो ?

[८१]

वृथा कालादिवादश्चेन्न तद्बीजस्य भावतः ।
अकिंचित्करमेतच्चेन्न स्वभावोपयोगतः ॥

स्वभाव मानने से काल आदि वृथा सिद्ध होंगे, ऐसा नहीं है। क्योंकि काल, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ के बीज स्वभाव में सन्निहित है। यदि यों कहा जाये कि बीज तो अकिञ्चित्कर हैं—वे स्वयं कुछ कर नहीं सकते—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि स्वभाव में उनका उपयोग है—स्वभाव में वे सहायक हैं, जिससे फल-निष्पत्ति सधती है।

[८२]

सामग्र्याः कार्यहेतुत्वं तदन्याभावतोऽपि हि ।
तदभावादिति ज्ञेयं कालादीनां वियोगतः ॥

समग्र कारण-सामग्री का सहयोग कार्य की निष्पन्नता में हेतु होता है। यदि उपादान के अतिरिक्त दूसरे किसी निमित्त का अभाव हो, कारण-सामग्री में उसका संयोग न रहे तो कार्य नहीं होता। इसलिए समय आदि का संयोग भी कार्य-निष्पत्ति में कारणभूत है, ऐसा मानना चाहिए।

[८३]

एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम् ।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं लेशतस्तूक्तमेव हि ॥

प्रस्तुत विषय में अन्यत्र विस्तार से निरूपण किया गया है अतः यहाँ इसकी विशेष चर्चा नहीं की गई है, संक्षेप में कहा गया है।

श्लोकपंक्ति—

[८४-८५]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधना ।
नाध्यात्मयोगभेदत्वादावर्तेष्वपरेष्वपि ॥

तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानालोचनवर्जिताः ।
सद्धर्मायतरन्त्येषु न सत्त्वा गहनान्धवत् ॥

उक्त विषय में और विवेचन न कर हम प्रस्तुत विषय—अध्यात्म-योग पर आ रहे हैं, जो चरम पुद्गलावर्त में प्रविष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। क्योंकि वे (दूसरे) तीव्र पापाचरण में ग्रस्त होते हैं, वे ज्ञान रूपी नेत्र से रहित होते हैं। गहन वन में खोये हुए अन्धे की तरह वे सन्मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[८६]

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादराः ॥

चरमपुद्गलावर्ती प्राणियों के अतिरिक्त अन्य लोग संसार में रचे-पचे रहते हैं—वे सांसारिक भोगोपभोग में आनन्द लेते हैं। वे प्रायः आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा तथा मैथुन-संज्ञा—इन तीन अन्तर्बुभुक्षाओं में लिप्त रहते हैं, दुःखी होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो धर्म-क्रिया भी करते हैं किन्तु केवल लोक-व्यवहार साधने के लिए। वे भवाभिनन्दी कहे जाते हैं।

[८७]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—तुच्छ, लाभरति—हर समय अपने स्वार्थ में लीन रहने वाला, मत्सरी—ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ—धूर्त, जालसाज, अज्ञ—अज्ञानी होता है तथा वह निरर्थक कार्यों में लगा रहता है।

[८८]

लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपक्तिरुदाहृता ॥

लोकाराधन—लोगों को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना द्वारा जो सत्क्रिया की जाती है, उसे लोकपक्ति कहा गया है।

परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तिम पुद्गल परावर्त में आत्मा योग को प्राप्त कर लेती है।

[९७]

अत एवेह निर्दिष्टा पूर्वसेवाऽपि या परैः ।
साऽऽसन्नान्यगता मन्ये भवाभिष्वङ्गभावतः ॥

अन्य योगवेत्ताओं ने पूर्वसेवा को योग के अंगरूप में आख्यात किया है। पर वह अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में होती है, तब उसमें सांसारिक आसक्ति बनी रहती है।

[९८]

अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो मुक्तिमत्र तु ॥

जो अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाओं हैं, जिनकी अन्तरात्मा संसार-सागर से निकल जाने के लिए तिलमिलाती है—सांसारिक भोगोपभोगमय प्रलोभनों के प्रति जिनके मन में जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो रहा है, उन द्वारा समाचरित होते पूर्वसेवा रूप कार्य इस श्रेणी में नहीं आते। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा करेंगे।

[९९]

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमलं मनः ।
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन यदमीषां महात्मनाम् ॥

अपुनर्बन्धक आदि सात्त्विकचेता पुरुषों का निर्मल मन सद्बुद्धि—सम्यक्ज्ञान आदि की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता—आगे से आगे समुन्नत होती गुणस्थान-परंपरा के कारण मुक्ति-परायण होता है, यह युक्ति-युक्त है।

गोपेन्द्र का अभिमत—

[१००-१०४]

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः ।
संगीतमुक्तिभेदेन यद् गोपेन्द्रमिदं वचः ॥

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथाऽत्यन्तं विपर्ययः ।
तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्तनियोगतः ॥

जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित् सर्गो निवर्तते ।
नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥

ततस्तवात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः ।
मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहितं मतम् ॥

जिन्होंने योग-मार्ग में श्रम किया है—उच्चयोगाभ्यास किया है, उन इतर परंपराओं के योगवेत्ताओं ने वचन-भेद से इसी बात का निरूपण किया है—इसी तथ्य की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ आचार्य गोपेन्द्र ने कहा है—

जब तक प्रकृति अनिवृत्ताधिकारा रहती है—पुरुष पर छाया हुआ उसका अधिकार सिमट नहीं जाता, तत्त्व-ज्ञान द्वारा पुरुष प्रकृति के जंजाल से पृथक हो जाने की स्थिति लाने में तत्पर नहीं होता, तब तक पुरुष (आत्मा) की तत्त्व-मार्ग—योग-मार्ग में जिज्ञासा ही नहीं होती।

जैसे किसी क्षेत्र—स्थान विशेष में व्यक्ति को कोई रोग होजाए, तो वह भ्रमवश वहाँ से सम्बद्ध हवा, पानी आदि पदार्थों के प्रति एक भ्रान्त धारणा बना लेता है अर्थात् वह मान बैठता है, उन्हीं (हवा, पानी आदि) की प्रतिकूलता से उसे रोग हुआ है, वैसे ही प्रकृति-अधिकृत पुरुष को अपने अज्ञानरूप दोष के कारण यथार्थ विपरीत प्रतिभासित होता है।

अधिक क्या, योग की जिज्ञासा तक प्राप्त करने की स्थिति में आने हेतु प्रकृति-अधिकृत पुरुष को दीर्घ काल में से गुजरना पड़ता है। जब तक पाप—शुद्धात्मशक्ति के निरोधक राजस, तामस प्राकृत भाव—कल्मष अधिकांशतः क्षीण नहीं हो जाते, पुण्यमयी बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

सदविवेकपूर्ण बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष (आत्मा) का कल्याण होता

[१११-११५]

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥
अभ्युत्थानादियोगश्च तदन्ते निभृतासनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने नाऽवर्णश्रवणं क्वचित् ॥
साराणां च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा ॥
त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहुर्धर्माद्यपीडया ॥
तदासनाद्युपयोगश्च तीर्थे तद्विनियोजनम् ।
तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥

इन पूज्य गुरुजनों को तीनों सन्ध्या—प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल प्रणाम करना, वैसा अवसर न हो—समीप उपस्थित होकर प्रणाम करने का मौका न हो तो चित्त में उन्हें आदर व श्रद्धापूर्वक स्मरण करना—मन में प्रणाम करना, वे (गुरुजन) यदि अपनी ओर आते हों तो उठकर उनके सामने जाना, उनकी सन्निधि में चुपचाप बैठना, अयोग्य स्थान में उनका नाम न लेना—नामोच्चारण न करना, कहीं भी उनका अवर्णवाद निन्दा न सुनना, यथाशक्ति उत्तम वस्त्र आदि भेंट करना, परलोक में श्रेष्ठ फलप्रद धर्म-क्रिया के संपादन में उन्हें सदा सहयोग देना, जो उन्हें इष्ट न हों—जिन्हें वे पसन्द नहीं करते हों, वैसे कार्यों का त्याग करना, जो उन्हें इष्ट हों—जिन्हें वे पसन्द करते हों, वैसे कार्य करना, औचित्यपूर्वक इन दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करना, जिससे उनके धर्माराधन आदि में बाधा, असुविधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना, उनके द्रव्य का धर्मस्थान में विनियोग करना, स-समारोह उनके बिम्ब स्थापित करना, उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया—मरणोपरान्त किये जाने वाले उनके दाह-संस्कार आदि कार्य अत्यन्त सम्मानपूर्वक समायोजित करना—ये सब गुरुजन के पूजन के अन्तर्गत है ।

[११६-११७]

पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम् ॥

पुष्प, नैवेद्य, वस्त्र तथा सुन्दर स्तोत्रों द्वारा सभी देवों का, उनमें परस्पर भेद न करते हुए सामान्यतः अथवा अधिमुक्तिवश—आस्था व विश्वास के साथ पवित्रता एवं श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहिए। उत्तम गृहस्थों के लिए सभी देव माननीय है।

यहाँ सभी देवों में भेद न करने की जो बात कही गई है, वह साधनोद्यत पुरुष की प्रारम्भिक विकासापेक्ष भूमिका से सम्बद्ध है, जहाँ उसे अपने मानस में साधनोपयोगी निर्मल, परिपक्व पृष्ठभूमि तैयार करनी होती है।

अधिमुक्ति का सम्बन्ध उन साधकों से है, जो साधना में ऊँचे उठे हुए हैं, जिनका बोध परिपक्व है, जो दृढ़ आस्था या विश्वास की मनःस्थिति में आने में समर्थ हैं।

[११८]

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो सभी देवों को नमस्कार करते हैं, किसी एक ही देव तक सीमित नहीं रहते, जो इन्द्रियजयी होते है, क्रोध को नियन्त्रित रखते हैं, वे साधना-पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाले दुर्गों—संकटों, कठिनाइयों या विघ्नों के गढ़ों को लांघ जाते है—पार कर जाते हैं।

[११९]

चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्ययाऽवेष्टसिद्धिः स्याद् विशेषेणादिकर्मणाम् ॥

सौम्यचेता पुरुष इस विषय में 'चारि-संजीवनी-चार-न्याय, को ही

समुचित मानते हैं । अन्यथा विशेषतः नवाभ्यासी प्रारंभिक साधकों का अभीप्सित सिद्ध नहीं होता।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एक कहानी के रूप में है। कहानी यों है:—

एक स्त्री थी। वह चाहती थी, उसका पति उसके वश में हो। उसने कहीं से दो प्रकार की जड़ियों का ज्ञान प्राप्त किया। पहली को खिला देने से मनुष्य बैल बन जाए और दूसरी को खिलाने से वापस मनुष्य बन जाए। वह अपने पति को पहली जड़ी खिलाकर बैल बना देती और दूसरी जड़ी खिलाकर वापस पुरुष बना लेती। संयोग ऐसा बना--एक दिन वनस्पति के जंगल में, जहाँ से वह जड़ियाँ लाती थीं, दूसरी जड़ी की पहचान भूल गई। वह अत्यन्त विषादग्रस्त हो गई--क्या करे, उसका पति फिर कभी मनुष्य नही बन पायेगा।

उस जगल में से गुजरते हुए किसी बुद्धिमान् मनुष्य ने उस स्त्री को विलपते--कलपते देखा। सब कुछ जानकर वह बोला—इसमें विषाद कैसा? वह दूसरी जड़ी इस जंगल में ही तो है। इस बैल को जंगल में खुला छोड़ दो। अन्यान्य वनस्पतियों के साथ वह जड़ी भी संभवतः उसके मुँह में पड़ जाए और वह पुनः मनुष्य बन जाए। यह सुनकर उस स्त्री ने बैल को जंगल में खुला छोड़ दिया। वह वनस्पतियाँ चरने लगा। संयोगवश दूसरी जड़ी उसके मुँह में पड़ गई। वह वापस पुरुष हो गया।

आचार्य हरिभद्र का कहना है कि इस कथा के माध्यम से जो बताया गया है, वह तथ्य उत्तम जनों द्वारा स्वीकृत है। ऐसी सरिणि के बिना इष्ट-सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि साधारण जनों में किसे मालूम, कौन यथार्थतः नमस्कार्य--वन्द्य है।

[१२०]

गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तयाऽऽत्मनः ॥

कोई व्यक्ति किसी देव-विशेष में अधिक गुण माने अथवा अपने द्वारा

स्वीकृत आचार-विधि में, तो इसमें कोई हानि नहीं है। अन्य देवों के साथ द्वेष न रखते हुए वह वैसा भले ही करे।

[१२१]

पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥

अपने पोष्यवर्ग—अपने ऊपर आश्रित जन के लिए कोई असुविधा पैदा न करते हुए, अपने हित में बाधा न लाते हुए, साधक को चाहिए कि वह दीन आदि वर्ग को विधिवत्—औचित्यपूर्वक दान दे। ऐसा दान समुचित है।

[१२२]

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र-मपचास्तु विशेषतः ।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन वर्तन्ते ये सदैव हि ॥

व्रत-पालक, साधुवेश में स्थित, सदा अपने सिद्धान्त के अविरुद्ध चलने वाले जन दान के पात्र हैं, उनमें भी विशेषत. वे, जो अपने लिए भोजन नहीं पकाते।

[१२३]

दीनान्धकृपणा ये तु व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।
निःस्वाः क्रियान्तराशक्ता एतद्वर्गो हि मौलकः ॥

जो कार्य करने में अक्षम है, अन्धे हैं, दुःखी हैं, विशेषतः रोग-पीड़ित हैं, निर्धन है, जिनके जीविका का कोई सहारा नही है, ऐसे लोग भी दान के अधिकारी है।

[१२४]

दत्तं यदुपकाराय द्वयोरप्युपजायते ।
नातुरापथ्यतुल्यं तु तदेतद्विधिवन्मतम् ॥

जो दिया हुआ, दाता और गृहीता दोनों के लिए उपकारजनक होता है, वह दान उपयुक्त दान है। दान बीमार को अपथ्य दिये जाने जैसा नहीं चाहिए। अर्थात् किसी रुग्ण व्यक्ति को कोई सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थ

दे, जो उसके लिए अहितकर हो, तो वह सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार दिया गया दान लेने वाले के लिए अहितकर न होकर हितप्रद होना चाहिए और उसी तरह देने वाले के लिए भी।

[१२५]

धर्मस्यादिपदं दानं, [1]दानं दारिद्र्यनाशनम् ।
जनप्रियकरं दानं, दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥

दान धर्म के चार[1] पदों में प्रथम पद है। दान दारिद्र्य—क्लेश का नाशक है। दान लोकप्रियता देता है। दान यश आदि का संवर्धन करता है।

दान से संबद्ध इस विवेचन की गहराई में जाएँ तो प्रतीत होगा कि आचार्य हरिभद्र जहाँ बहुत बड़े दार्शनिक, तत्त्व-निष्णात मनीषी थे, वहाँ अत्यन्त व्यावहारिक भी थे। उन्होंने दान के प्रसंग में जो यह सूचित किया है कि अपने पोष्यवर्ग—आश्रित जन, पारिवारिक जन एवं भृत्यवृन्द आदि को कष्ट न हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। ऐसे पुण्यलोभी भावुक दानी भी यत्र-तत्र देखे जाते हैं, जिनके घर वाले या उन पर निर्भर लोग कष्ट पाते रहते हैं, असुविधाएँ झेलते रहते हैं और वे पुण्य के लोभ में अन्यों को दान देते जाते हैं। आचार्य ने यहाँ अपने आश्रितों के प्रति हर किसी का जो कर्त्तव्य है, उसे बड़ी सुन्दरता से सुझाया है।

[१२६-१३०]

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्य सदाचारः प्रकीर्तिता ॥

सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् संपदि नम्रता ॥
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥

---

१. धर्म के चार पद—दान, शील, तप, भावना।

असद्व्ययपरित्यागः स्थाने चैतत्क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः प्रमादस्य विवर्जनम् ॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति प्राणैः कण्ठागतैरपि ॥

लोक-निन्दा से भय, सहायतापेक्षी जनों को सहयोग करने में उत्साह, दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार या सहयोग के लिए कृतज्ञ भाव, प्रज्ञापूर्ण शिष्टता, निन्दा का सर्वत्र परित्याग, सत्पुरुषों की गुण-प्रशस्ति, आपत्ति या विपन्नता में अत्यन्त अदीन-भाव, सुदृढ़ सहिष्णुता, संपत्ति या संपन्नता में नम्रता, बोलने के प्रसंग में मितभाषिता एवं अविसंवादिता—अपनी बात अपने ही कथन से न काटना—संगतभाषिता, ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन, कुल क्रमागत धर्म-कृत्यों का अनुसरण, असद्व्यय का परित्याग—अयोग्य कार्यों में धन खर्च न करना, योग्य कार्यों में धन खर्च करना, प्रमुख या प्राथमिक कार्यों में अनिवार्य तत्परता, प्रमाद—आलस्य का वर्जन, लोकाभिमत आचार का अनुवर्तन, उचित बात का सर्वत्र परिपालन, निन्दित कार्यों में प्राणपण से अप्रवृत्ति—मरने तक की नौबत आ जाने पर भी निन्दित काम नहीं करना—इन सबका सदाचार में समावेश है।

[१३१]

तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम् ।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥

साधक को यथाशक्ति पापनाशक तप का आचरण करना चाहिए। वह चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पापसूदन इत्यादि अनेक रूप में है।

[१३२]

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।
भुञ्जीत नामावस्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ॥

शुक्ल पक्ष में भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाना चाहिए। अमावस्या को भोजन नहीं करना चाहिए। यह चान्द्रायण व्रत की विधि है।

इसका अभिप्राय यह है—जिस प्रकार चन्द्रमा की कला शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती है, पूर्णिमा को वह परिपूर्णता पाती है, उसी के अनुरूप व्रती प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास, चतुर्थी को चार ग्रास, यों एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष में जैसे चन्द्रमा की कला क्रमशः घटती जाती है, उसी प्रकार प्रतिपदा को चवदह ग्रास, द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बारह ग्रास, चतुर्थी को ग्यारह ग्रास, यों उत्तरोत्तर एक-एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को सर्वथा निराहार रहे। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के आधार पर खाने के क्रम चलने के कारण इसे चान्द्रायण व्रत कहा गया है।

[१३३]

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमप्यतमनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त ! सन्तारणं परम् ॥

कृच्छ्र तप संतापन आदि भेद से अनेक प्रकार का है। कष्ट न मानते हुए, कष्टपूर्ण विधियों को सम्पन्न करने, उन द्वारा आत्म-शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने का यह उत्तम मार्ग है।

टीका में कृच्छ्र तप के संतापन-कृच्छ्र, पाद-कृच्छ्र तथा संपूर्ण-कृच्छ्र—ये तीन भेद बतलाये गये हैं और तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है।

[१३४]

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥

तपस्वीजन उस तप को मृत्युञ्जय तप कहते हैं, जहाँ एक मास तक का उपवास रखा जाता है, साथ ही साथ मृत्युञ्जय मंत्र का जप किया जाता है तथा जो परिशुद्ध विधि-विधानपूर्वक संपादित किया जाता है।

[१३५]

पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥

भिन्न-भिन्न पापों की अपेक्षा से अर्थात् भिन्न-भिन्न पापों के प्रायश्चित्त के दृष्टिकोण से तदनुरूप निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न मंत्रों के जप एवं विधिक्रम के साथ, सांसारिक विषयों से, अशुभ कर्मों से विरत रहते हुए जो तप साधा जाता है, वह पापसूदन नामक तप है।

[१३६]

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता ।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबंधनः ॥

समग्र कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष भोग—सांसारिक सुख तथा दुःख से रहित है। भवाभिनन्दी (संसार में अत्यन्त आसक्त) प्राणियों को अज्ञान—मिथ्यात्व भाव के कारण मोक्ष के प्रति द्वेष होता है।

[१३७]

श्रूयन्ते चैतदालापा लोके तावदशोभनाः ।
शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्याः सदा सताम् ॥

लोक में तथा लोकपरायण शास्त्रों में ऐसे आलाप—कथन सुने जाते है, जो सत्पुरुषों के लिए सुनने योग्य नहीं है—जिन्हें सत्पुरुष सुनना तक नहीं चाहते।

[१३८]

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ! ॥

गौतम ! रमणीय वृन्दावन में गीदड़ की योनि में जन्म लेना भी हमें अभीष्ट है। जो इन्द्रियों का अविषय है—जो इन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं किया जा सकता, अथवा जो सुन्दर दर्शन, मधुर श्रवण, सुखद संस्पर्श, मनोज्ञ भाषण तथा सुरभित आघ्राण जैसे इन्द्रिय-सुखों से शून्य है, वह मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

किसी वैष्णव विद्वान् का न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को या गौतम के अनुयायी किसी अन्य नैयायिक को गौतम के नाम से सम्बोधित कर यह कथन है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर एक बात है, वैष्णव मोक्ष के प्रति ऐसी अरुचि दिखाएं, यह संगत प्रतीत नहीं होता।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह श्लोक गालव ऋषि के मत का सूचक है, जो उन्होंने अपने शिष्यों में से किसी गौतम नामक शिष्य को सम्बोधित कर कहा हो।

[१३९]

महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥

घोर मोह से दुर्ग्रस्त, अकल्याणमय मनुष्यों में इस प्रकार मोक्ष के प्रति द्वेष होता है, जो उनके संसार बढ़ाने का—जन्म-मरण के चक्र में बार-बार आने का कारण बनता है।

[१४०]

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभाजिनः ॥

जिन भव्य पुरुषों का मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होता, वे धन्य हैं। संसार के बीजरूप मोह का परित्याग कर देने के कारण वे कल्याण के भागी बनते हैं।

[१४१]

सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः ।
मलनायैव तत्रापि न चेष्टैषां प्रवर्तते ॥

सद्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का उपाय कहा गया है। भव्य जनों की इन आत्मगुणों के नाश हेतु चेष्टा—प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे ऐसे कार्य नहीं करते, जिनसे सद्ज्ञान आदि दूषित हों।

[१४२]

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।
मलनायास्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥

जैसे स्वाराधना—आत्माराधना—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना का सर्वोत्तम फल मोक्ष कहा गया है, उसी प्रकार उनके ध्वंस या विराधना का फल घोर अनर्थकर है।

[१४३]

उत्तुङ्गारोहणात् पातो विषान्नात् तृप्तिरेव च ।
अनर्थाय यथाऽत्यन्तं मलनाऽपि तथेक्ष्यताम् ॥

अत्यन्त ऊँचे स्थान पर चढकर वहाँ से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर सन्तुष्ट होना जैसे अत्यन्त अनर्थ के लिए होता है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के नाश से आत्मा का घोर अहित होता है।

[१४४]

अत एव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।
श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥

शस्त्र, अग्नि तथा सर्प को यदि अयथावत् रूप में रखा जाए—उन्हें सहेजकर न रखा जाए तो वे कष्टप्रद सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार श्रामण्य—श्रमण-जीवन का ठीक रूप में निर्वाह न हो—चारित्र की विराधना हो तो महापुरुषों ने शास्त्र में उसे असुन्दर—अशोभन, क्लेशकर कहा है।

[१४५]

ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं नातः श्लाघ्या सुनीतितः ।
यथाऽन्यायार्जिता सम्पद् विपाकविरसत्वतः ॥

अन्तःकरण की शुद्धि के बिना पाला जाता श्रमण-धर्म नवग्रैवेयक देवलोक तक पहुँचा देता है किन्तु वह न्याय-दृष्टि से—वास्तव में प्रशंसनीय नहीं होता। वह तो अन्याय द्वारा अर्जित धन जैसा है, जो परिणाम-विरस होता है—जिसका फल दुःखप्रद होता है।

[१४६]

अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः ।
हितस्तु यत् तदेतेऽपि तथा कल्याणभागिनः ॥

इस कारण मोक्ष के प्रति द्वेष का अभाव आत्महित हेतु—मोक्ष-मार्ग प्राप्त करने में सहायक होता है। उससे आत्मा का कल्याण सधता है।

[१४७]

येषामेव न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥

जिनका मोक्ष-मार्ग में द्वेष नहीं होता, जो गुरु, देव आदि की पूजा—सभक्ति आराधना करते हैं, वे ही लोग अपने जीवन में उत्तम कल्याण-कार्य कर पाते हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे, जिनमें बड़े-बड़े दोष व्याप्त होते हैं, श्रेयस्कर मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[१४८]

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥

भारी दोषों का सेवन करने वाला यदि थोड़ा-सा अच्छा कार्य भी करे तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, वह नगण्य है। वह तो भीलों के राजा की उस आज्ञा जैसा है, जिसमें उसने अपने भौत—भौतिकता प्रधान अथवा शरीर पर भूति-राख मले रहने वाले गुरु को पैर से न छूने की तो हिदायत की थी किन्तु जान से मारने का संकेत किया था।

इस श्लोक के साथ एक दृष्टान्त जुड़ा हुआ है, जो इस प्रकार है:—

किसी वन में बहुत से भील रहते थे। उनका अपना नगर था। उन्होंने अपने में से एक प्रमुख भील को राजा के रूप में प्रतिष्ठापित कर रखा था। वे भील राह चलते लोगों को लूट लेते, मदिरा, मांस, व्यभिचार आदि दुष्कृत्यों में सदा दुर्ग्रस्त रहते थे। एक बार संयोगवश कुछ तापस वहाँ आये, जो फल, फूल, कन्द, मूल आदि खाकर अपना जीवन चलाते थे। भीलों ने उनका उपदेश सुना। वे उनसे प्रभावित हुए तथा भजन, पूजन आदि में उनके साथ भाग लेने लगे। तापसों का आचार्य देवी-देवताओं की पूजा करने, यज्ञ करने तथा गुरु, ब्राह्मणों को दान देने आदि का उपदेश करता था। भीलराज अपने साथियों के साथ उनका भक्त हो गया। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन्हें उत्तम भोजन कराता, आदर देता।

तापसों का आचार्य अपने मस्तक पर एक मुकुट धारण किये रहता था। मुकुट में मोर का पंख लगा था। भीलराज के मन में आया, वह भी वैसा मुकुट पहने किन्तु वन में एक भी मोर नहीं था क्योंकि इन आखेटप्रिय भीलों ने पहले ही उनका शिकार कर डाला था। भीलराज ने यह सोच तापसों के आचार्य से मुकुट देने का अनुरोध किया। आचार्य ने भीलराज की मांग स्वीकार नहीं की। तब भीलराज ने आचार्य की हत्या कर मुकुट प्राप्त करने का भीलों को आदेश दिया। भीलराज ने हत्या के लिए नियुक्त भीलों से कहा—ये तापसराज हमारे गुरु हैं, इसलिए तुम लोग इनके पैर मत लगाना क्योंकि गुरुजनों को पैर से छूने से बड़ा पाप होता है, यों उन्हें पैर से न छूते हुए उन्हें मारकर मुकुट ले आना। भीलों ने वैसा ही किया।

विचारणीय है, यहाँ भीलराज की आज्ञा के दो भाग हैं। एक भाग में गुरु को पैर से न छूने के रूप में आदर-भाव व्यक्त किया गया है तथा दूसरा भाग गुरु के वध से सम्बद्ध है, जो घोर हिंसामय है। अतः यहाँ भीलराज ने जो आदर दिखाने की बात कही है, वह मात्र विडम्बना है, सारहीन है। एक ओर प्राण लेना तथा दूसरी ओर पैर से न छूने की बात कहना सर्वथा अज्ञानमय है। वैसी ही स्थिति उस व्यक्ति के साथ है, जो बड़े-बड़े दोषों का सेवन करता है पर साथ ही थोड़ा-सा सत्कार्य भी कर लेता है। घोर दोषपूर्ण क्रिया के समक्ष ऐसे नगण्य से सत्कार्य की क्या महत्ता है!

[१४६]

गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः।
मुक्त्यद्वेषाद् यथाऽत्यन्तं महापायनिवृत्तितः॥

गुरुजनों की पूजा आदि में इतना गुण या लाभ नहीं बताया गया है, जितना घोर अनर्थकर सांसारिक जंजाल से निवृत्त करने वाले—छुड़ाने वाले मोक्ष के प्रति द्वेष न रखने में कहा गया है।

असदनुष्ठान—

[१५०]

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः ।
साध्वनुष्ठानमेवाहुर्नैतान् भेदान् विपश्चितः ॥

भवाभिष्वङ्ग—संसार में अत्यधिक आसक्ति होने से तथा अनाभोग योग से— कर्म-निर्जरा के भाव बिना, मन के उपयोग बिना कर्म होते रहने से विद्वज्जन इन तीन अनुष्ठानों को, जो आगे चर्चित है, सदनुष्ठान नहीं कहते।

[१५१]

इहामुत्र फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥

इस लोक तथा परलोक में फल की इच्छा लिए रहना—ऐहिक तथा पारलौकिक फल की कामना से कर्म करना भवाभिष्वङ्ग कहा जाता है। अनध्यवसाय—उचित अध्यवसाय का अभाव—क्रिया में मन का उपयोग न रहना अनाभोग कहा जाता है।

[१५२]

एतद्युक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद् ध्रुवम् ।
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजाल्पमलत्वतः ॥

अत्यधिक संसारासक्ति से युक्त अनुष्ठान अन्तिम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल-परावर्तों में होते है। अन्तिम पुद्गल-परावर्त में सहजतया अल्प-मलत्व—कर्म-कालिमा की अल्पता होती है अतः वे वहाँ नहीं होते।

[१५३]

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ॥

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे एक ही भोज्य पदार्थ एक रुग्ण व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक

स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे तो भोज्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है।

[१५४-१५५]

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा ।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥

गुरु, देव आदि की पूजा, व्रत, प्रत्याख्यान, सदाचार-पालन आदि अनुष्ठान अपेक्षा-भेद से विष, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु तथा अमृत—यों सामान्यतः पाँच प्रकार के होते हैं। योगियों ने ऐसा बतलाया है।

[१५६]

विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सच्चित्तमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वपादनात्तथा ॥

जिस अनुष्ठान के पीछे लब्धि—यौगिक विभूति—चामत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है, वह विष कहा गया है, क्योंकि वह चित्त की पवित्रता को मार डालता है—समाप्त कर देता है। महान् कार्य को अल्प प्रयोजनवश तुच्छ बना देता है तथा साधक में लघुत्व—छोटापन ला देता है।

[१५७]

दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।
एतद् विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥

जिस अनुष्ठान के साथ दैविक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है, उसे मनीषी जन गर (शनैः शनैः मारने वाला विष) कहते हैं। भौगिक वासना के कारण कालान्तर एवं भवान्तर में वह आत्मा के दुःख और अधः-पतन का कारण होता है।

[१५८]

अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते ।
संप्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ॥

जिसका मन संप्रमुग्ध, वस्तु-तत्त्व का निश्चय कर पाने में असमर्थ होता है, ऐसे व्यक्ति द्वारा अनाभोग—उपयोग विना—गतानुगतिक रूप में जो क्रिया की जाती है, वह अननष्ठान है। अर्थात् वह किया हुआ भी न किया जैसा है।

सदनुष्ठान—

[१५९]

एतद्रागादिकं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः ।
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगतः ॥

पूजा, सेवा, व्रत आदि के प्रति जहाँ साधक के मन में राग—अनुरक्तता बनी रहती है, उससे प्रेरित हो, वह सदनुष्ठान करता है, योगवेत्ता जानते हैं, बताते हैं, वह योग का उत्तम हेतु है, क्योंकि उसमें शुभ भाव का अंश विद्यमान है। वह तद्धेतु कहा जाता है।

[१६०]

जिनोदितमिति त्वाहूर्भावसारमदः पुनः ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः ॥

जिस अनुष्ठान के साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्म-भाव तथा भव-वैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है और साधक यह आस्था लिये रहता है कि यह अर्हत्-प्रतिपादित है, उसे मुनिजन अमृत कहते हैं।

[१६१]

एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ।
पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में गुरुपूजा, देवपूजा, आदि जो अनुष्ठान किये जाते हैं, वे तथा अन्तिम पुद्गलावर्त से पूर्ववर्ती आवर्तों में किये जाते हैं,

वे परस्पर भिन्न होते हैं। दोनों के अनुष्ठाताओं में मूलतः भेद होता है। एक अत्यन्त संसारासक्त होता है, दूसरा संसार में रहते हुए भी विशेषतः धर्मोन्मुख। अतएव उनके अनुष्ठान में भेद होना स्वाभाविक ही है।

[१६२]

यतो विशिष्टः कर्ताऽयं तदन्येभ्यो नियोगतः।
तद्योगयोग्यताभेदादिति सम्यग्विचिन्त्यताम्॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित अनुष्ठाता योगाराधना में अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण औरों से—जो अन्तिम से पूर्ववर्ती परावर्तों में विद्यमान होते है, भिन्न होता है, इस पर भली-भाँति चिन्तन करें।

[१६३]

चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः।
सहजाल्पमलत्वं तु युक्तितरत्र पुरोदिता॥

उस (चरम पुद्गलावर्तवर्ती) सत्पुरुष के सहज रूप में कर्म-मल की अल्पता होती है, ऐसा पहले उल्लेख किया गया है। वह ऊपर वर्णित भेदों में चौथे भेद—तद्धेतु में आता है।

बन्ध-विचार—

[१६४]

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम्।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः॥

कर्मों को आकृष्ट करना संसारावस्थ आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादि है, इसलिए प्रवाह-रूप से आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। बांधना तथा बद्ध होना आत्मा एवं कर्म की योग्यताएँ हैं।

[१६५]

अनादिमानपि ह्येष बन्धत्वं नातिवर्तते।
योग्यतामन्तरेणापि भावेऽस्यातिप्रसंगता॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी है तो बन्ध या परस्पर-बद्धता ही, जिसका क्रम निरन्तर चलता रहता है। योग्यता के बिना ऐसा होने में अतिप्रसंग दोष आता है।

[१६६]

एवं चानादिमान् मुक्तो योग्यताविकलोऽपि हि ।
बध्येत कर्मणा न्यायात् तदन्यामुक्तवृन्दवत् ॥

यदि आत्मा में कर्म-बन्ध की योग्यता न मानी जाए तो वह जीव भी, जो अनादिकाल से मुक्त है—ईश्वर रूप में है, संसारस्थ बद्ध आत्माओं की तरह कर्मबद्ध होगा क्योंकि इस मत के अनुसार जब योग्यता के न होने पर भी संसारी आत्माओं के कर्म-बन्ध होता है तो फिर मुक्त आत्माओं के कर्म-बन्ध क्यों नहीं होगा।

[१६७]

तदन्यकर्मविरहान्न चेत् तद्बन्ध इष्यते ।
तुल्ये तद्योग्यताऽभावे न तु किं तेन चिन्त्यताम् ॥

यों कहा जाना चाहिए कि सदा से मुक्त जीव कर्म-बन्ध में नहीं आता, क्योंकि वह पहले कभी कर्म-बन्ध में नहीं आया, तब तक लागू नहीं होता, जब तक बद्ध आत्मा पर भी इसे लागू न किया जाए क्योंकि आत्मत्व की दृष्टि से मूल रूप में जो भी सिद्धान्त निर्मित होता है वह आत्मा मात्र पर घटित होना चाहिए।

[१६८]

तस्मादवश्यमेष्टव्या स्वाभाविक्येव योग्यता ।
तस्यानादिमतो सा च मलनान्मल उच्यते ॥

अतः जीव में अनादिकाल से कर्म बाँधने की स्वाभाविक योग्यता है, ऐसा मानना चाहिए। वह जीव कर्म का मलन—नाश करने की क्षमता लिए हुए है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मल' भी है।

[१६९]

दिदृक्षा भवबीजादिशब्दवाच्या तया तया ।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ॥

मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने वालों—उस ओर गतिशील विभिन्न ज्ञानी जनों ने इस योग्यता को दिदृक्षा, भवबीज आदि शब्दों से अनेक रूप में आख्यात किया है।

टीकाकार के अनुसार सांख्यमतानुयायी इस योग्यता को 'दिदृक्षा' कहते हैं तथा शैव इसे 'भवबीज' के नाम से अभिहित करते हैं।

अध्यात्म-जागरण —

[१७०]

एवं चापगमोऽप्यस्या प्रत्यावर्तं सुनीतितः ।
स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धरपि ध्रुवा ॥

प्रत्येक पुद्गलावर्त में जीव की कर्म-बन्ध की योग्यता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। यों योग्यता के अल्प या मन्द हो जाने पर निश्चित रूप में भावों की शुद्धि उत्पन्न होती है।

[१७१]

ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम् ।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥

उसके फलस्वरूप प्राणियों के जीवन में शुभ अनुष्ठान क्रियान्वित होने लगता है। उनका दुराग्रह हट जाता है। इसका कर्मबन्ध पर भी प्रभाव होता है। अर्थात् वह हलका होने लगता है।

[१७२]

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत् संक्लेशहेतवः ।
तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रशुभभावतः ॥

अन्तर्मन की संशुद्धि तथा तीव्र शुभ भाव के कारण तब कर्म पुद्गल मनुष्य के लिए पहले की तरह क्लेशकारक नहीं बनते।

[१७३]

सत्साधकस्य चरमा समयाऽपि विभीषिका ।
न खेदाय यथाऽन्त्यन्तं तद्वदेतद् विभाव्यताम् ॥

उत्तम मन्त्र-साधक को अपने मन्त्र-विशेष के अनुष्ठान की साधना के अन्त में (भूत, वैताल आदि के) भीषण दृश्य दिखाई देते है पर वह उनसे विशेष खिन्न नहीं होता । वैसी ही स्थिति अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान जीव की होती है । जो भी विघ्न, उपसर्ग आदि उसके जीवन में आते हैं, वह उनसे घबराता नहीं । यह तो उसकी साधना की एक कसौटी है ।

[१७४]

सिद्धेरासन्नभावेन यः प्रमोदो विजृम्भते ।
चेतस्यस्य कुतस्तेन खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ॥

जब सिद्धि प्रकट होने का समय समीप होता है, तब साधक के चित्त में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हो जाता है । उसके मन में फिर खेद कहाँ से हो ।

[१७५]

न चायं महतोऽर्थस्य सिद्धिरात्यन्तिकी न च ।
मुवितः पुनर्द्वयोपेता सत्प्रमोदास्पदं ततः ॥

मन्त्र-विद्या आदि की साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धि कोई बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं करती । न वह स्थायी रूप में साधक के पास टिकती ही है । मोक्ष के रूप में जो आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है, उसमें ये दोनों विशेषताएँ रहती हैं । जीवन का चरम साध्य उससे सधता है । वह शाश्वत होती है—सदा स्थिर रहती है, साथ ही साथ विशुद्ध—पर-पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द से आपूर्ण होती है ।

[१७६]

आसन्ना चेयमस्योच्चैश्चरमावर्तिनो यतः ।
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किंचन ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान पुरुष के मुक्ति आसन्न—समीपवर्तिनी होती है। संसार में वह अनेक पुद्गल-परावर्तों में से गुजरा है, अनेक भवों में बहुविध कष्ट झेले हैं, तब इस अन्तिम एक पुद्गल-परावर्त को व्यतीत करना कोई भारी बात नहीं है।

[१७७]

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः ।
भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षादिवर्जिताः ॥

अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि तथा चारित्री भावसार—उत्तम भाव युक्त एवं अपेक्षावर्जित—फलासक्तिरहित होते हैं, ऐसा योगवेत्ताओं ने बतलाया है।

अपुनर्बन्धक : स्वरूप—

[१७८]

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।
वर्धमानगुणप्रायो अपुनर्बन्धको मतः ॥

जो भवाभिनन्दी जीव में पाये जाने वाले दोषों के प्रतिकूल गुणों से युक्त होता है, अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है, वह अपुनर्बन्धक होता है।

[१७९]

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता ।
कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारतः ॥

पूर्वसेवा, जो पहले वर्णित की गई है, अपुनर्बन्धक जीवों में मुख्य रूप से घटित होती है। वे उसका विशेष रूप से परिपालन करते हैं। क्योंकि उनके आत्म-परिणामों में पवित्रता का भाव होता है। इसके अतिरिक्त दूसरों की—पुनर्बन्धक जीवों की पूर्वसेवा, जिसका इतर परंपराओं में प्रतिपादन हुआ है, मात्र औपचारिक है।

[१८०]

कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥

शेष—अपुनर्बन्धक जीवों के अतिरिक्त—पुनर्बन्धक जीवों की दृष्टि से भी पूर्वसेवा का उल्लेख किया गया है । क्योंकि वह औपचारिक पूर्वसेवा उन्हें वास्तविक पूर्वसेवा तक पहुँचाने में कारण बनती है । जो पुरुष अपुनर्बन्धकावस्था के सन्निकटवर्ती है, वह प्रायः इसके—पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता । वैसा शालीन आचार उसका होता ही है ।

[१८१]

शुद्ध्यल्लोके यथा रत्नं जात्यं काञ्चनमेव वा ।
गुणैः संयुज्यते चित्रैस्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥

लोक में जैसे शुद्ध किया जाता—सम्मार्जित—संशोधित या परिष्कृत किया जाता उच्च जाति का रत्न या स्वर्ण विभिन्न गुणों से समायुक्त हो जाता है, शोधन तथा परिष्कार से उसमें अनेक विशेषताएँ आ जाती हैं, उसी प्रकार जीव भी अन्तःशोधन के क्रम में तदनुष्ठान द्वारा अनेक उच्च गुणसंयुक्त हो जाता है । इस पर चिन्तन-पर्यालोचन करें ।

[१८२]

तत्प्रकृत्यैव शैवस्य केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन तयाभोगसङ्गताम् ॥

कइयों का यह कथन है—अपुनर्बन्धक के अतिरिक्त अन्यों का पूर्वसेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है, जो आलोचन—विमर्श या स्वावलोकन रहित तथा उपयोगशून्य है ।

[१८३]

युज्यते चैतदप्येवं तीव्रे मलविषे न यत् ।
तदावेगो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥

एक अपेक्षा से यह ठीक ही है, जब तक कर्म-मलरूपी तीव्र विष

आत्मा में व्याप्त रहता है, तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सांसारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेग—प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नहीं।

[१८४]

संक्लेशायोगतो भूयः कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिज्ञेया तदन्या तूपचारतः ॥

जब मनुष्य की प्रकृति में संक्लेशाऽययोग—आत्मोन्मुख क्रिया में विघ्नों का अयोग हो जाता है—विघ्न दूर हो जाते है, कल्याण—श्रेयस् प्रमुखरूप में व्याप्त हो जाता है, तब वह (प्रकृति) तात्त्विक—यथार्थ अथवा योगान्तर्भूत होती है, यह जानना चाहिए। उससे भिन्न प्रकृति औपचारिक कही जाती है।

[१८५]

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहारः प्रवर्तते ।
ततश्चाधिकृतं वस्तु नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥

प्रकृति का आधार लेकर शास्त्र-व्यवहार प्रवृत्त होता है—उसके आधार पर शास्त्रों में एतत्सम्बन्धी विवेचन-विश्लेषण चलता है। अतः शास्त्र द्वारा अधिकृत—स्वीकृत, प्रतिपादित तथ्य निश्चय ही निरर्थक नहीं हैं। उसकी अपनी सार्थकता है।

[१८६]

शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥

अपुनर्बन्धक-स्थिति में शान्त, उदात्त—भावोन्नत, सूक्ष्म ऊहापोह सहित तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अनुभूतियुक्त शुद्ध अनुष्ठान क्रियान्वित होता है।

[१८७]

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः ।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥

जैसे एक धनी, सुन्दर, युवा पुरुष सांसारिक भोग भोगने में भाग्य-

शाली होता है, उसी प्रकार जो प्रकृति से शान्त एवं उदात्त होता है, वह शुभ भाव स्वायत्त करने का सौभाग्य लिये रहता है। वह सानन्द पुण्यात्मक शुभ अनुष्ठान में संलग्न रहता है।

[१८८]

अनीदृशस्य च यथा न भोगसुखमुत्तमम्।
अशान्तादेस्तथा शुद्धं नानुष्ठानं कदाचन ॥

जो पुरुष धनाढ्य, सुन्दर एवं युवा नहीं है, वह उत्तम भोगों का आनन्द नहीं ले सकता। उसी तरह जो व्यक्ति अशान्त तथा निम्न है, वह शुद्ध क्रियानुष्ठान—धर्मानुसंगत श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता।

[१८९]

मिथ्याविकल्परूपं तु द्वयोर्द्वयमपि स्थितम्।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्त्वतः ॥

दोनों का—भोगोन्मुख तथा साधनोन्मुख पुरुष का, जो अपेक्षित योग्यताओं से रहित है, यह सोचना कि वे अपना अभीप्सित प्राप्त कर लेंगे, अपनी बौद्धिक कल्पना के शिल्पी द्वारा बनाया गया मिथ्याविकल्पात्मक प्रासाद है, जो तत्त्वतः कुछ नहीं है, मात्र विडम्बना है।

[१९०]

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं दरिद्रायौवनस्थयोः।
सुरूपरागाशङ्के च कुरूपस्य स्वयोषिति ॥

जिसके भोगोपयोगी अंग शक्तिशून्य हैं, जो निर्धन, यौवनरहित तथा कुरूप है, वह अपनी सुन्दर स्त्री में रागासक्त होता हुआ भी उसके सम्बन्ध में मन में आशंका लिये रहता है। सांसारिक सुख से वह सर्वथा वञ्चित होता है।

यही स्थिति उस पुरुष के साथ है, जो साधना के सन्दर्भ में सब प्रकार से अयोग्य है। वह साधना का आनन्द कहाँ से पाए?

[१९१]

अभिमानसुखाभावे तथा विलष्टान्तरात्मनः ।
अपायशक्तियोगाच्च न ह्येत्थं भोगिनः सुखम् ॥

धन, यौवन तथा सौन्दर्य हीन पुरुष भोग-सुख न पा सकने के कारण भीतर ही भीतर अत्यन्त क्लेश पाता है। सुख तो उसे नाम मात्र का भी नहीं।

] १९२]

अतोऽन्यस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम् ।
यथा तथैव शान्तादेः शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥

भोगसम्पन्न पुरुष के भोगमय सुख की अपेक्षा शान्त, उदात्त प्रकृति युक्त भव्य पुरुष का शुद्ध—अध्यात्मोन्मुख अनुष्ठान अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसी में वास्तविक सुख है।

[१९३]

क्रोधाद्यबाधितः शान्त उदात्तस्तु महाशयः ।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गतः ॥

आत्मसंयत पुरुष क्रोध आदि से बाधित नहीं होता—क्रोध के वशीभूत नहीं होता। वह शान्त, उदात्त एवं पवित्र आशय—अन्तर्भाव लिये रहता है। वह पुण्यात्मक शुभ कार्यों में लगा रहता है। अतः उसे विशिष्ट—सौम्यता, सौजन्य, औदार्य आदि विशिष्ट गुणयुक्त बुद्धि प्राप्त रहती है।

[१९४]

ऊहतेऽयमतः प्रायो भवबीजादिगोचरम् ।
कान्तादिगतगेयादि तथा भोगीव सुन्दरम् ॥

भोगासक्त पुरुष रूपवती स्त्री द्वारा गाये जाते सुन्दर गीत आदि पर अत्यन्त रीझा रहता है—उसमें पगा रहता है, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक जीव भव-बीज—संसार में आवागमन—जन्म-मरण के चक्र के मूल कारण क्या है, उनसे छुटकारा कैसे हो, इत्यादि विषयों पर तल्लीनतापूर्वक चिन्तन-विमर्श में खोया रहता है।

[१९५]

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।
हेत्वभेदादिदं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥

प्रकृति के भेद या भिन्नता से आत्मा में मूलतः भिन्नता—असमानता नही आती। वास्तव में आत्मस्वरूप सर्वथा अभिन्न है, जो न्याय-युक्ति द्वारा भली भाँति सिद्ध है।

[१९६]

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा ।
भवे भवेदतः सर्वप्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥

आत्मा, प्रकृति आदि सबका अपने-अपने स्वभावानुरूप परिणमन होता रहता है। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा को संसारावस्था में अनेक प्रकार की स्थितियाँ—जन्म, मरण, शरीर, रूप, सुख, दुःख, उन्नति, अवनति आदि प्राप्त होती हैं। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं आता।

[१९७]

सांसिद्धिकमलाद् यद् वा न हेतोरस्ति सिद्धता ।
तद् भिन्नं यदभेदेऽपि तत्कालादिविभेदतः ॥

आत्मा के साथ अनादिकाल से चले आते कर्म-संस्कार के कारण वह (आत्मा) मूलतः अभिन्न—सर्वथा सदृश होते हुए भी भिन्नता—विविध-रूपात्मकता में परिदृश्यमान है।

[१९८]

विरोधिन्यपि चैवं स्यात् तथा लोकेऽपि दृश्यते ।
स्वरूपेतरहेतुभ्यां भेदादेः फलचित्रता ॥

जैनेतर मत में भी ऐसा स्वीकृत है तथा लोक में भी ऐसा दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुओं में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह उनके अपने-अपने स्वरूप तथा उससे सम्बद्ध अन्य कारणों पर आधृत है।

[१९९]

एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः ।
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥

एतद्विषयक ऊहापोह—चिन्तन-विमर्श में अभिरत, योगमार्गानुगामी साधक प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के वियोग—आत्मा की कर्म-बन्धन से मुक्ति के पथ पर गतिशील रहता है।

[२००-२०२]

एवं लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भावेव चापरैः ।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥

"योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
सनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥
वेलावलनवन्नद्यास्तदापूरोपसंहृतेः ।
प्रतिस्रोतोऽनुगतत्वेन प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः ॥

एतद्रूप लक्षणयुक्त पुरुष के प्रारंभ से—'पूर्वसेवा' से लेकर उत्तरवर्ती सभी क्रियानुष्ठान योग के अन्तर्गत हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य गोपेन्द्र का प्रतिपादन है—

यह आत्मा का मोक्ष से योजना करता है, उसे मोक्ष से जोड़ता है इसलिए मुनिवरों ने इसे योग कहा है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना है।

ज्यों ज्यों प्रकृति निवृत्ताधिकार होती जाती है—पुरुष पर से उसका अधिकार अपगत होता जाता है, योग जीवन में क्रियान्वित होता है।

जब तूफानी बाढ़ निकल जाती है तो नदी का बढ़ाव रुक जाता है। जो नदी बाढ़ के कारण आगे से बढ़ती जारही थी, अनुस्रोतगामिनी हो रही थी, वह वापस सिमटने लगती है—उलटी अपनी ओर सिकुड़ती जाती है, प्रतिस्रोतगामिनी हो जाती है। उसी प्रकार जीव जब प्रतिस्रोतगामी—लोकप्रतिकूल अध्यात्मोन्मुख हो जाता है, अपने में समाने लगता है तो उसकी अनुस्रोतगामिता—लोकप्रवाह या सांसारिक विषय-वासना की धारा के साथ बहते जाने का क्रम रुक जाता है।

भिन्नग्रन्थि—

[२०३]

भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः ॥

जिसकी अज्ञान-जनित मोहरागात्मक ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, खुल जाती है, ऐसे सत्पुरुष का चित्त मोक्ष में रहता है और देह संसार में। उसके जीवन की समग्र क्रिया-प्रक्रिया योग में समाविष्ट है।

[२०४]

नार्या यथान्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते ।
तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥

जो स्त्री पर-पुरुष में आसक्त होती है, सदा उसी के चिन्तन में अनुरक्त रहती है, वह प्रसंगवश कभी पति की सेवा करती हो या अपने परपुरुष की सेवा करती हो, उसके सभी कार्यों में पाप-बन्ध होता है क्योंकि उसका जीवन पापमय है।

इस उदाहरण से भिन्नग्रन्थि की स्थिति समझनी चाहिए। भिन्न-ग्रन्थि का जीवन-रस अध्यात्मय होता है अतः वह जो भी क्रिया करता है, बाहरी रूप पर न जाएँ, मूलतः वह अध्यात्म-विमुख नहीं होती। अत एव भिन्नग्रन्थि की सभी क्रियाएँ योग-व्याप्त कही गई हैं। इसे हृदयंगम करना चाहिए।

[२०५]

न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्तं न जायते ॥

ग्रन्थि-भेद हो जाने पर साधक की दृष्टि उत्तम भावमय—मोक्षानु-गामी मोड़ ले लेती है। अपने दैनन्दिन कार्यों में लगे रहने पर भी उसका चित्त मोक्ष पर टिका रहता है। वह कर्तव्यवश लौकिक कार्य करती है पर उनमें वह रस नहीं लेता।

[२०६]

चारु चैतद् यतो ह्यस्य तथोहः संप्रवर्तते ।
एतद्वियोगविषयः शुद्धानुष्ठानभाक् स यत् ॥

भिन्नग्रन्थि पुरुष अपनी दृष्टि मोक्ष पर स्थिर किये रहता है, यह बहुत सुन्दर है। एक ओर उसका संसार के बन्धन से आत्मा के छूटने के सम्बन्ध में चिन्तन चलता है तथा दूसरी ओर शुद्ध धर्मानुष्ठान में वह तत्पर रहता है।

[२०७]

प्रकृतेरायतश्चैव नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।
तथा विहाय घटत ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥

जब तक प्रकृति वर्तनशील रहती है, तब तक अप्रवृत्ति—निवृत्ति—संयममूलक धर्म जीवन में घटित नहीं होता। जैसे जैसे प्रकृति का पुरुष से—आत्मा से वियोग घटित होता जाता है, वैसे-वैसे मन निर्मल होता जाता है, तदनुरूप चिन्तन-विमर्श गति पकड़ता है।

[२०८]

सति चाश्मिन् स्फुरद्रत्नकल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः ।
भावस्तैमित्यतः शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥

भावात्मक स्थिरता के कारण तब देदीप्यमान रत्न की तरह अन्तरात्मा में सत्त्वसम्पृक्त ज्योतिर्मय चिन्तन उद्भासित होता है, मन प्रशान्त हो जाता है। साधक के जीवन में सदा शुद्ध अनुष्ठान विलसित होता है।

[२०९]

एतच्च योगहेतुत्वाद् योग इत्युचितं वचः ।
मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ॥

योग का हेतु होने से तदनुरूप अनुष्ठान को भी योग कहना उचित ही है। भिन्नग्रन्थि द्वारा आचरित मुख्य—तात्त्विक पूर्वसेवा के अवसर पर यह प्रकट होता है।

त्रिधा शुद्ध अनुष्ठान—

[२१०]

त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं सच्छास्त्रपरतन्त्रता ।
सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च तथाऽत्रैव प्रचक्षते ॥

त्रिविध शुद्ध अनुष्ठान, सत् शास्त्रों की आज्ञा के अनुरूप वर्तन, शास्त्रों में सम्यक् श्रद्धा, दृढ़ विश्वास—ये योग में सहकारी हैं।

[२११]

विषयात्मानुबन्धस्तु त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।
अनुष्ठानं प्रधानत्वं ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥

शुद्ध विषय—शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध उपक्रम तथा अनुबन्ध—निरवरोध रूप में आगे चलती शृंखला—यों तीन प्रकार से अनुष्ठान शुद्ध हो, यह अपेक्षित है। तीनों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—एक दूसरे से आगे से आगे उत्तम कहे गये हैं।

[२१२]

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनाद्यपि ।
तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥

मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिये पहाड़ की चोटी से गिरना आदि प्रथम भेद में आते है। क्योंकि गिरने वाले ने यत्किञ्चित् रूप में मोक्ष की उपादेयता स्वीकार की है, मोक्ष के अस्तित्व तथा वाञ्छनीयता में विश्वास प्रकट किया है।

[२१३]

द्वितीयं तु यमाद्येव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥

दूसरे अनुष्ठान में लौकिक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के व्यवस्थित पालन का समावेश होता है। पर, सम्यक्ज्ञान आदि के न होने से वह यथावत् रूप में शास्त्र-सम्मत नहीं होता।

[२१४]

तृतीयमप्यदः किन्तु तत्त्वसंवेदनानुगम् ।
प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥

तीसरे अनुष्ठान में दूसरे में उक्त यम आदि का परिपालन तत्त्व-संवेदन—तत्त्व-ज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् वहाँ स्थित साधक की यह विशेषता होती है कि उसे तत्त्व-बोध प्राप्त रहता है। उसकी वृत्ति में प्रशान्त भाव रहता है। किन्तु उसके साधनाभ्यास में दृढ़—तीव्र स्थिर उत्सुकता नहीं होती।

[२१५]

आद्यान्त दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः ।
तद्योगजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥

पहले अनुष्ठान में अज्ञानरूप अन्धकार की अधिकता के कारण दोष-विगम—मोक्ष में बाधक दोषों का अपाकरण या नाश नहीं होता।

कई आचार्यों का अभिमत है कि वैसा करने वाले को अगले जन्म में ऐसी स्थितियाँ प्राप्त होती है, जिससे वह मोक्ष से दूर ले जाने वाले कारणों को मिटा पाने में सक्षम होता है। फलतः योगाभ्यास में संप्रवृत्त होता है।

ग्रन्थकार का यहाँ यह अभिप्राय है कि पर्वत के शिखर से गिरने आदि के रूप में जो आत्मघात किया जाता है, उससे वास्तव में मोक्ष-सिद्धि नहीं होती। उससे वे स्थितियाँ अपगत नहीं होती, जिनके कारण मोक्ष-प्राप्ति बाधित होती है। क्योंकि वह उपक्रम अत्यधिक अज्ञान-प्रसूत होता है। मात्र इसलिए उसे शुभ अनुष्ठान में लिया गया है कि ऐसा करने वाले के मन में मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रहती है।

[२१६]

मुक्तावित्छापि यच्छ्लाघ्या तमःक्षयकरी मता ।
तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यदः ॥

मोक्ष की इच्छा होना भी प्रशंसनीय है। ऐसा माना गया है, उससे अज्ञानरूप अन्धकार का नाश होता है। इतना तो है, किन्तु मोक्ष तो सर्वथा कल्याणमय—सम्पूर्णतः शुद्धावस्थापन्न है, अतः प्रथम कोटि (गिरि-पतन-आदि) में आने वाले अनुष्ठान उसके साक्षात् हेतु नहीं होते।

[२१७]

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।
गुरुलाघवचिन्तादि न यत् तत्र नियोगतः ॥

दूसरी कोटि के अनुष्ठान में मोटे रूप में दोषों का अपगम तो होता है पर एकान्ततः दोषापगम का क्रम नहीं चलता—पूरी तरह दोष नहीं मिटते। क्या गुरु—बड़ा या ऊँचा है, क्या लघु—छोटा या हलका है, वह अपने क्रिया-कलाप में ऐसा कुछ भेद नहीं कर पाता।

[२१८]

अत एवेदमार्याणां बाह्यमन्तर्मलीमसम् ।
कुराजपुरसच्छालयत्नकल्पं व्यवस्थितम् ॥

आर्य—उत्तम पुरुष इस कोटि के अनुष्ठान को बाह्य समझते हैं, उसे अन्तर्मल युक्त मानते हैं। देखने में वह चाहे सुन्दर प्रतीत हो पर है मात्र बाहरी। क्योंकि वैसा करने वालों के हृदय में अन्तःकालुष्य विद्यमान रहता है। वह किसी दुष्ट राजा द्वारा शासित नगर के चारों ओर परकोटा बनाने के प्रयत्न जैसा है। जब दुष्ट राजा का शासन है तो नगर में बसने वाले लोग उसकी दुष्टता से उत्पीड़ित हैं ही, फिर परकोटे से कैसी रक्षा, कैसा बचाव ?

[२१९]

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः।
गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः ॥

तीसरी कोटि के अनुष्ठान से निश्चित रूप में दोषों का अपगम होता है। दोषापगम का सातत्य—शृंखला बनी रहती है। कतिपय विद्वानों ने इसे गृह की आद्य भूमिका—मकान की नींव के सदृश कहा है।

[२२०]

एतद्ध्युदग्रफलदं गुरुलाघवचिन्तया :
अतः प्रवृत्तिः सर्वैव सदैव हि महोदया ॥

गुरु, लघु—उच्च, अनुच्च के सन्दर्भ में सम्यक् चिन्तन युक्त होने के कारण यह (तीसरा) अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है। उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समग्र क्रिया-प्रक्रिया साधक के लिए सदा महोदय—अत्यन्त अभ्युदय—समुन्नतिकारक होती है।

[२२१]

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

आसन्न-भव्य—निकट काल में मोक्षगामी, बुद्धिशील, श्रद्धारूप धन से युक्त पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी का आधार नहीं लेता।

[२२२]

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम—धन और सांसारिक भोग में मनुष्य विना उपदेश के भी निपुण होता है। किन्तु धर्म-ज्ञान शास्त्र विना नहीं होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[२२३]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिए बडा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भांति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में, आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[२२४]

तस्मात सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अन्धकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन से मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[२२५]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र-गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

आर्य—उत्तम पुरुष इस कोटि के अनुष्ठान को बाह्य समझते हैं, उसे अन्तर्मल युक्त मानते है। देखने में वह चाहे सुन्दर प्रतीत हो पर है मात्र बाहरी। क्योंकि वैसा करने वालों के हृदय में अन्तःकालुष्य विद्यमान रहता है। वह किसी दुष्ट राजा द्वारा शासित नगर के चारों ओर परकोटा बनाने के प्रयत्न जैसा है। जब दुष्ट राजा का शासन है तो नगर में बसने वाले लोग उसकी दुष्टता से उत्पीड़ित हैं ही, फिर परकोटे से कैसी रक्षा, कैसा बचाव ?

[२१९]

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः।
गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कश्चिदुदाहृतः ॥

तीसरी कोटि के अनुष्ठान से निश्चित रूप में दोषों का अपगम होता है। दोषापगम का सातत्य—शृंखला बनी रहती है। कतिपय विद्वानों ने इसे गृह की आद्य भूमिका—मकान की नीव के सदृश कहा है।

[२२०]

एतद्ध्युदग्रफलदं गुरुलाघवचिन्तया :
अतः प्रवृत्तिः सर्वैव सदैव हि महोदया ॥

गुरु, लघु—उच्च, अनुच्च के सन्दर्भ में सम्यक् चिन्तन युक्त होने के कारण यह (तीसरा) अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है। उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समग्र क्रिया-प्रक्रिया साधक के लिए सदा महोदय—अत्यन्त अभ्युदय—समुन्नतिकारक होती है।

[२२१]

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

आसन्न-भव्य—निकट काल में मोक्षगामी, बुद्धिशील, श्रद्धारूप धन से युक्त पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी का आधार नहीं लेता।

[२२२]

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम—धन और सांसारिक भोग में मनुष्य विना उपदेश के भी निपुण होता है। किन्तु धर्म-ज्ञान शास्त्र विना नही होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[२२३]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि मे उसके लिए बड़ा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भाँति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में, आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[२२४]

तस्मात सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अन्धकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन मे मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[२२५]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र-गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् वह ज्ञानमय चक्षु है। शास्त्र सभी प्रयोजनों का साधक है।

[२२६]

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥

जिसकी शास्त्र में भक्ति—श्रद्धा नहीं है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया भी कर्म-दोष के कारण उत्तम फल नहीं देती। वह अन्धे मनुष्य की प्रेक्षाक्रिया—देखने के उपक्रम जैसी है। अन्धा देखने का प्रयत्न करने पर भी कुछ देख नहीं पाता। यही स्थिति उस क्रिया की है। अन्धे के पास नेत्र नहीं है और शास्त्रभक्तिशून्य पुरुष के पास शास्त्र से प्राप्य ज्ञानचक्षु नहीं है। यों दोनों एक अपेक्षा से समान ही है।

[२२७]

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥

जो श्रद्धावान्, गुणानुरागी, सौभाग्यशाली पुरुष सम्माननीय सत्पुरुषों का अहंकाररहित होकर सम्मान करता है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।

[२२८]

यस्य त्वनादरः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥

जिसका शास्त्र के प्रति अनादर है, उसके श्रद्धा, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान आदि गुण एक पागल अथवा भूत-प्रेत आदि द्वारा ग्रस्त उन्मादी पुरुष के गुणों जैसे है। वे सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय नहीं हैं।

यद्यपि श्रद्धा आदि गुण अपने आप में बहुत अच्छे हैं पर जिस व्यक्ति रूप पात्र में वे टिके हों, वह यदि विकृत हो तो इन उत्तम गुणों का भी यथेष्ट लाभ मिल नहीं पाता। उन्मत्त पुरुष के साथ यही बात है और यही बात उस पुरुष के साथ है, जो नासमझी के कारण शास्त्र का अनादर करता है। यह भी तो एक प्रकार उन्माद ही है।

[२२९]

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधा ॥

जैसे मैला वस्त्र जल द्वारा धोये जाने पर अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण की स्वच्छता—शुद्धि शास्त्र द्वारा होती है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं।

[२३०]

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यै मुक्तेर्दूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥

शास्त्र-भक्ति मानो मुक्ति की दूती है अर्थात् आत्मारूपी प्रेमी—आशिक तथा मुक्तिरूपी प्रेमिका—माशूका का मिलन कराने में—आत्मा को मुक्ति-संयुक्त कराने में वह सन्देशवाहिनी का कार्य करती है। मुक्ति का सन्देश आत्मा तक पहुँचाती है, जिससे आत्मा में मुक्ति को प्राप्त करने की उत्कण्ठा बढ़ती है।

[२३१]

तथात्मगुरुलिङ्गानि प्रत्ययस्त्रिविधो मतः ।
सर्वत्र सदनुष्ठाने योगमार्गे विशेषतः ॥

आत्मा द्वारा—अन्तरावलोकन या आत्मानुभूति द्वारा, गुरु—द्रष्टा के उपदेश द्वारा, वाह्य चिन्ह, लक्षण या शकुन आदि द्वारा—यों तीन प्रकार से सदनुष्ठान में, विशेषरूप से योगमार्ग में प्रत्यय—प्रतीति या श्रद्धा होती है।

[२३२]

आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव तत् ।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्णं सिद्धिसाधनम् ॥

आत्मा में सदनुष्ठान का अनुसरण करने की अभिलाषा हो, गुरु वैसा ही उपदेश करते हों तथा वाहरी चिन्ह, शकुन आदि अनुकूल हों तो इनसे अनुष्ठान की परिपूर्ण सफलता का संकेत मिलता है।

[२३३]

सिद्ध्यन्तरस्य सद् बीजं या सा सिद्धिरिहोच्यते ।
ऐकान्तिक्यन्यथा नैव पातशक्त्यनुवेधतः ॥

जो उत्तमोत्तम गुणयुक्त सिद्धि की प्राप्ति में बीज या हेतुरूप होती है, वह शक्ति सिद्धि कही जाती है। वैसी सिद्धि एकान्ततः जीवन में सिद्धि—सफलता प्रदान करती है। पर, जिन बाह्य चामत्कारिक सिद्धियों मे आत्मा का पतन होता है, वे वास्तव में सिद्धियाँ नहीं कही जा सकतीं।

[२३४]

सिद्ध्यन्तरं न सन्धत्ते या साऽवश्यं पतत्यधः ।
तच्छक्त्याऽनुविद्धैव पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥

जो सिद्धि दूसरी—आत्मोत्थान प्राप्त करवाने रूप सिद्धि का कारण नहीं होती, उसका अवश्य ही अधःपतन होता है। यों जो पतन-कारणमयी शक्तिमत्ता से समायुक्त है, उसको पतनरूप माना गया है।

[२३५]

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात् साध्वी चैकान्तिकी भृशम् ।
आत्मादिप्रत्ययोपेता तदेषा नियमेन तु ॥

जिनमें दूसरी सिद्धियों के कारणों का संयोग हो, वे सिद्धियाँ एकान्त रूप से श्रेष्ठ होती हैं। उनमें नियमतः आत्मा आदि तत्त्वों की प्रतीति रहती हैं। वे सिद्धियाँ अत्यन्त शुद्ध होती हैं।

[२३६]

न ह्यपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि ।
हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥

जो जो सिद्धियाँ जिन जिन उपायों से प्राप्त किये जाने योग्य हैं, उनसे अन्य उपायों द्वारा अनेक प्रकार से हठपूर्वक प्रयत्न करने पर भी वे प्राप्त नहीं होतीं। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्म-प्रतीति का अवलम्बन कर अभ्यासरत हो।

[२३७]

पठितः सिद्धिदूतोऽयं प्रत्ययो ह्यत एव हि ।
सिद्धिहस्तावलम्बश्च तथाऽन्यैर्मुख्ययोगिभिः ॥

आत्म प्रत्यय को सिद्धिदूत कहा गया है। सिद्धि की ओर आगे बढ़ते साधक को हाथ का सहारा देकर वह आगे बढ़ने में सहयोग करता है। अन्य प्रमुख योगियों ने ऐसा कहा है।

जैसे सीढ़ियों द्वारा महल में चढ़ते पुरुष को यदि किसी के हाथ का सहारा मिल जाता है तो उसे चढ़ने में सुविधा होती है, उसी प्रकार आत्म-प्रतीति के सहारे साधक सुविधापूर्वक ऊर्ध्व-गमन करने में समर्थ होता है।

[२३८]

अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं सद्योगारम्भकस्तु यः ।
नान्यः प्रवर्तमानोऽपि तत्र दैवनियोगतः ॥

सद्योगारम्भक—श्रेष्ठ योग प्रारंभ करने वाला साधक निश्चित रूप से आत्मप्रत्यय की अपेक्षा रखता है। उधर प्रवृत्त होता हुआ भी अन्य व्यक्ति विपरीत संस्कारवश आत्मप्रतीति के अभाव में सद् योग—उत्तम योग-साधना का शुभारंभ नहीं कर पाता।

[२३९]

आगमात् सर्व एवायं व्यवहारः स्थितो यतः ।
अपि हाटिको यस्तु हन्ताज्ञानां स शेखरः ॥

योगमार्ग का समग्र व्यवहार, आचार-विधि आगम के अनुरूप स्थित है—आगम-सिद्ध है। फिर भी दुराग्रही व्यक्ति उससे विपरीत मार्ग पर चलता है। आश्चर्य है, वह कैसा मूर्ख-शिरोमणि है।

[२४०]

तत्कारी स्यात् स नियमात् तद्द्वेषी चेति यो जडः ।
आगमार्थं समुल्लंघ्य तत एव प्रवर्तते ॥

जो मूर्ख मोक्ष के लिए क्रिया करता है पर मोक्ष-निरूपक आगम से द्वेष करता है तो वह एक प्रकार से मोक्ष का ही द्वेषी है। आगम के अर्थ

का—आगम-निरूपित तत्त्व-दर्शन का उल्लंघन कर वह योग-मार्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसकी अज्ञता ही तो है।

[२४१]

न सद्योगभव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया-विधि में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति-धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूप, स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है।

[२४२]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः ।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जन्तुश्लाघो महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य-विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है, जो सब द्वारा प्रशंसित होता है।

[२४३-२४४]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग-धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील, श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम ओज से विभाजित, लोक-कल्याणकारी, समुचित कार्यों में संलग्न, उदात्त, विचारशील, पवित्र भाव-युक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं।

[२४५]

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

शास्त्र में महापुरुषों ने मयूर के दृष्टान्त द्वारा सद्योग साधक का जो आख्यान किया है, उनका अभिप्राय यह है कि जैसे मयूरी के अण्डे, उसके सार, गुण आदि की शक्ति अन्य पक्षियों के अण्डों की तुलना में असाधारण विशेषता युक्त होती है। उत्पन्न होने वाले मयूर-शिशु का मूल अण्डे में ही तो है, जो समय पाकर सर्वांगसम्पन्न बाल-मयूर के रूप में आविर्भूत होता है। इसी प्रकार उत्तम योगसाधक की अपनी कुछ ऐसी अन्तर्निहित विशेषताएं होती हैं, जो यथासमय विशिष्ट, समुन्नत योगोपलब्धि के रूप में प्राकट्य पाती है।

[२४६]

प्रवृत्तिरपि चैतेषां धैर्यात् सर्वत्र वस्तुनि ।
अपायपरिहारेण दीर्घालोचनसङ्गता ॥

ऐसे उत्तम योगियों की सब वस्तुओं में, सब कार्यों में विघ्नों का परिहार करते हुए धैर्य तथा गहन चिन्तनपूर्वक प्रवत्ति होती है।

[२४७]

तत्प्रणेतृसमाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा ।
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीर्यस्तिमिताननाः ॥

योग-प्रणेताओं—महान् योगाचार्यों के सदुपदेश, विचार-दर्शन आदि में ऐसे सद्योगाभ्यासी पुरुषों का चित्तरूपी रत्न विभूषित रहता है अर्थात् वे अपने चित्त में तत्प्ररूपित दिव्य ज्ञान को संजोये रहते है। उनका व्यक्तित्व इतना उदात्त होता है कि अपना साध्य सिद्ध हो जाने पर भी वे विशेष उत्सुकता, उमंग नहीं दिखलाते, गम्भीर तथा स्थिर मुख-मुद्रा-युक्त रहते हैं।

[२४८]

फलवद् द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृशं तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं सानुबन्धं महर्षिभिः ॥

महर्षियों ने उत्तम, उत्तरोत्तर प्रशस्त शृंखलामय अनुष्ठान को फलों से आच्छन्न वृक्ष के श्रेष्ठ बीज तथा अंकुर के सदृश कहा है, बीज तथा

का—आगम-निरूपित तत्त्व-दर्शन का उल्लंघन कर वह योग-मार्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसकी अज्ञता ही तो है।

[२४१]

न सद्योगमव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया-विधि में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति-धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूप, स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है।

[२४२]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः ।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जनश्लाघो महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य-विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है, जो सब द्वारा प्रशंसित होता है।

[२४३-२४४]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग-धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील, श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम ओज से विभाजित, लोक-कल्याणकारी, समुचित कार्यों में संलग्न, उदात्त, विचारशील, पवित्र भाव-युक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं।

[२४५]

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

[२५९]

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आँख आँधी से उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[२६०]

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।
सर्वकर्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी सुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है, उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[२६१]

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥

वह परम प्रज्ञाशील, अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा, आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है, यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपेक्षित समय नष्ट नहीं करता, और कार्यों में खर्च नहीं करता, उन्हीं में लगाता है।

[२६२]

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक की प्रवृत्ति उसी

कता है कि उससे तीनों लोकों की सुख-समृद्धि प्राप्त हो जाती है और अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है।

[२५६]

हेतुभेदो महानेवमनयोर्यद् व्यवस्थितः ।
चरमात् तद् युज्यतेऽत्यन्तं भावातिशययोगतः ॥

इन दोनों प्रकार की शुश्रूषाओं में कारण का बड़ा भेद है। अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित भव्य प्राणी को अपने उत्तम भावों के कारण वीतराग-वाणी सुनने में प्रीति होती है।

[२५७]

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं भोगिनः स्त्र्यादिरागतः ।
भावतः कर्मसामर्थ्यात् प्रवृत्तिस्त्वन्ययाऽपि हि ॥

भोगासक्त पुरुष को स्त्री आदि के प्रति जितना अनुराग होता है, सम्यक्दृष्टि पुरुष को धर्म के प्रति उससे कहीं अधिक अनुराग होता है। यदि पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप कभी संसार में उसकी विपरीत प्रवत्ति हो तो भी उसका धर्मानुराग मिटता नहीं।

[२५८]

न चैवं तत्र नो राग इति युक्त्योपपद्यते ।
हविः पूर्णप्रियो विप्रो भुङ्क्ते यत् पूपिकाद्यपि ॥

विपरीत प्रवृत्ति में धर्मानुराग नहीं टिकता, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। उदाहरणार्थ, जैसे ब्राह्मण को घृतसिक्त मिष्ठान्न प्रिय होता है किन्तु उसे कभी रूखा-सूखा भोजन भी करना पड़ता है। उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसे मिठाई से अनुराग नहीं है। रूखा-सूखा भोजन तो उसे बाध्य होकर करना पड़ता है, उसकी चाह तो मिठाई में ही रहती है। यही स्थिति यहाँ वर्णित सम्यक्दृष्टि साधक के साथ है। उसकी चाह तो सदा धर्म में ही रहती है, प्रतिकूल प्रवृत्ति में पड़ जाना होता है, यह पूर्वार्जित कर्मों का परिणाम है, दुर्बलता है।

[२५९]

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आँख आँधी से उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[२६०]

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।
सर्वकर्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी सुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है, उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[२६१]

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥

वह परम प्रज्ञाशील, अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा, आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है, यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपेक्षित समय नष्ट नहीं करता, और कार्यों में खर्च नहीं करता, उन्हीं में लगाता है।

[२६२]

शक्तेन्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक की प्रवृत्ति उसी

सीमा तक होती है, जहां तक उस द्वारा शक्य हो। शक्यता के बाहर प्रवृत्ति नहीं सधती।

अपनी शक्ति या योग्यता का ध्यान रखे बिना जो देव-पूजन आदि धर्म-कृत्यों में अंधाधुंध लगा रहता है, वहाँ वे कार्य केवल प्रवृत्ति मात्र—नितान्त यान्त्रिक होते हैं। उनकी वास्तविकता घटित नहीं होती। जो अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करता है, वे (कार्य) सही रूप में सधते हैं तथा उनका सत्फल प्राप्त होता है।

तीन करण—

[२६३]

एवं भूतोऽयमाख्यातः सम्यग्दृष्टिजिनोत्तमैः ।
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशयः ॥

जो यथाप्रवृत्तिकरण को पार कर चुका है, उत्तम परिणामयुक्त है, ऐसा पुरुष सर्वज्ञों द्वारा सम्यक्दृष्टि कहा गया है।

[२६४]

करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत् पुनस्त्रिधा ।
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥

प्राणियों का आत्मपरिणाम या भावविशेष करण कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण। यथाप्रवृत्तकरण का ऊपर उल्लेख हुआ ही है।

[२६५]

एतत् त्रिधाऽपि भव्यानामन्येषामाद्यमेव हि ।
ग्रन्थिं यावत् त्विदं तं तु समतिक्रामतोऽपरम् ॥

ये तीनों प्रकार के करण भव्यात्माओं के सधते हैं। अभव्यात्माओं के केवल पहला—यथाप्रवृत्तकरण ही होता है। वे ग्रन्थि-भेद के निकट आकर वापस गिर जाते हैं। भव्यात्माओं के यह (यथाप्रवृत्तकरण) ग्रन्थि-भेद तक रहता है। ग्रन्थि-भेद की स्थिति प्राप्त कर, इसे लांघकर वे अपूर्वकरण में पहुँच जाते हैं।

[२६६]

भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न ।
पतितस्याप्यते बन्धो ग्रन्थिमुल्लंघ्य देशितः ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुकता है, उसके तृतीय करण होता है। उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपेक्षित नहीं रहता।

सम्यक्दृष्टि यदि वापस नीचे भी गिरता है तो उसके वैसा तीव्र कर्म-बन्ध नहीं होता, जैसा उसके होता है, जो भिन्न-ग्रन्थि नहीं है।

[२६७]

एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः ।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविशेषतः ॥

मिथ्यादृष्टि होते हुए भी सामान्यतः उसके आत्मपरिणाम अच्छे होते हैं। इसलिए उसके जो कर्म-बन्ध होता है, वह बहुत गाढ़ नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं। एक वह मिथ्यादृष्टि है, जिसे सम्यक् दृष्टि कभी प्राप्त नहीं हुई। दूसरा वह मिथ्यादृष्टि है, जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकता है पर वापस नीचे आ जाता है। इन दोनों के कर्म-बन्ध में अन्तर होता है। पहला मिथ्यादृष्टि (जिसने सम्यक्त्व का कभी संस्पर्श नहीं किया) तीव्र एवं प्रगाढ़ कर्म-बन्ध करता है। सम्यक्दृष्टि से पतित मिथ्यादृष्टि उतना तीव्र तथा प्रगाढ कर्म-बन्ध नहीं करता। इसका कारण यह है कि जो जीवन में एक बार सम्यक्त्व पा जाता है, उसकी संस्कार-धारा में हलकी सी ही सही, एक ऐसी सत्त्वोन्मुखी रेखा खचित हो जाती है, जो उसके आत्म-परिणामों को उतना मलीमस नहीं होने देती, जितने मिथ्यादृष्टि के होते हैं।

[२६८]

सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ।
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यन्न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद नहीं होता, उसके सत्तर कोड़ाकोड़ सागर की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुका

है। उसके एक कोड़ाकोड़ सागर[1] की स्थिति के भी मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता।

सत्तर करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागर होता है। उसी प्रकार एक करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, वह एक कोड़ाकोड़ सागर होता है।

[२६९]

तदत्र परिणामस्य भेदकत्वं नियोगतः ।
बाह्यं त्वदनुष्ठान प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥

यद्यपि बाह्य दृष्टि से दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि पुरुषों का असत् अनुष्ठान—मिथ्या आचरण प्रायः समान होता है किन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं अतः उनमें भेद माना जाता है।

सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्त्व—

[२७०]

अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते ।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥

अन्तर्विकास की दृष्टि से इस अवस्था तक—सम्यक्दृष्टि तक पहुँचा हुआ पुरुष बौद्ध परंपरा में बोधिसत्त्व कहा जाता है। सम्यक्दृष्टि पुरुष में वह सब घटित है, जो बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में वर्णित है।

[२७१]

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥

बौद्ध आचार्यों ने बताया है कि बोधिसत्त्व कायपाती ही होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। अर्थात् कर्तव्य कर्म करते समय उनकी देह से हिंसा आदि अकुशल या अशुभ कर्म हो जाते हैं किन्तु चित्त से नहीं होते। उनका चित्त अपनी पवित्रता के कारण वैसे कार्यों में व्याप्त नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि के साथ भी यह स्थिति घटित होती है।

---

१. इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ के ३५२वें श्लोक का विवेचन द्रष्टव्य है।

[२७२]

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तयेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥

परोपकार में रस—हार्दिक अभिरुचि, प्रवृत्ति में बुद्धिमत्ता—विवेकशीलता, धर्म-मार्ग का अनुसरण, भावों में उदात्तता, उदारता तथा गुणों में अनुराग—ये सब बोधिसत्त्व तथा सम्यक्दृष्टि—दोनों में समान रूप से प्राप्त होते हैं ।

[२७३]

यत् सम्यग् दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥

सम्यक् दर्शन तथा बोधि वास्तव में एक ही वस्तु है। बोधिसत्त्व वह पुरुष होता है, जो बोधियुक्त हो, कल्याण-पथ पर सम्यक् गतिशील हो। सम्यक्दृष्टि का भी इसी प्रकार का शाब्दिक अर्थ है ।

[२७४]

वरबोधि समेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति ।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥

अथवा सत्पुरुषों ने—प्रबुद्ध जनों ने यों भी माना है—जो उत्तम बोधि से युक्त होता है, भव्यता के कारण अपनी मोक्षोद्दिष्ट यात्रा में आगे चलकर तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, वह बोधिसत्त्व है ।

[२७५]

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यक् चित्रं च देहिनाम् ।
तथा कालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः ॥

भव्यात्माओं का भव्यत्व-भाव अनादिकाल से सम्यक् सिद्ध है। अनुकूल समय, स्वभाव, नियति, कर्म, प्रयत्न आदि कारण-समवाय के मिलने पर वह बीज-सिद्धि के रूप में प्रकट होता है। जैसे समय पाकर बीज वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार वह विकास करता जाता है, उत्तरोत्तर उन्नत होते—बढ़ते गुणस्थानों द्वारा ऊँचा उठता जाता है ।

के रुक जाने से आत्मा को घोर दुःखमय दीर्घ संसार—जन्म-मरण के दीर्घकालीन चक्र में नहीं आना पड़ता। अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है।

[२८३]

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः ॥

जन्मान्ध पुरुष को यदि पुण्योदय से नेत्र प्राप्त हो जाएँ तो वह वस्तुओं को यथावत् रूप में देखने लगता है। उसी प्रकार ग्रन्थि-भेद हो जाने पर मनुष्य तत्त्वतः वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। उसकी दृष्टि तत्त्वोन्मुख, सत्योन्मुख हो जाती है।

[२८४-२८६]

अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग् वीक्ष्य महाशयः ।
तथा भव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥

"मोहान्धकारगहने संसारे दुःखिता बत ।
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥

अहमेतानतः कृच्छ्राद् यथायोगं कथञ्चन ।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वितः ॥

उच्च विचार-सम्पन्न वैसा पुरुष संसार की निःसारता का सम्यक् अवेक्षण करता हुआ भव्यत्वमयी—सत्त्वोन्मुखी—मोक्षानुगामिनी अन्तर्वृत्ति के कारण विविध रूप में सच्चिन्तन करता है—

मोह के अन्धकार से परिव्याप्त संसार में धर्म की दीप्तिमयी ज्योति के होते हुए भी प्राणी दुःखित बने भटक रहे हैं, कितना आश्चर्य है।

मुझे उत्तम बोधि प्राप्त है। मैं उस द्वारा जहाँ तक संभव हो, किसी तरह उन्हें इस घोर दुःख के पार लगाऊँ—दुःखमुक्त करूँ।

[२८७]

करुणादि गुणोपेतः परार्थव्यसनी सदा ।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः ॥

करुणा आदि गुण युक्त, पर-हित साधने में विशेष अभिरुचिशील, प्रज्ञावान्, उत्तरोत्तर विकास पाते आध्यात्मिक गुणों से समायुक्त वह सत्पुरुष अपने सदनुष्ठान में सदा यत्नशील रहता है।

[२८८]

तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥

दूसरों का अनेक प्रकार से कल्याण साधता हुआ, उपकार करता हुआ साधक तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, जो प्राणी मात्र के कल्याण साधने का सबसे बड़ा साधन है।

[२८९]

चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः ।
तयानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥

जो अपने पारिवारिक जनों, सम्बन्धियों का इसी प्रकार कल्याण-चिन्तन करता है, उनके लिए हितकर कार्य करता है, वह मतिमान् पुरुष गणधर[1] का पद प्राप्त करता है।

[२९०]

संविग्नो भवनिर्वेदादात्म—निःसरणं तु यः ।
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

संसार मे वैराग्य हो जाने के कारण जो संविग्न—संवेगयुक्त—हिंसा आदि परिहेय कार्यों को छोड़ आत्मस्वरूप अधिगत करने का त्वरापूर्ण उदात्त भाव लिये रहता है, आत्मोन्नति का आधार वह स्वयं है, यह सोचकर जो अपने कल्याण के लिए सम्यक् प्रयत्नशील होता है, वह मुण्डकेवली कहा जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, मुण्डकेवली का लक्ष्य केवल आत्मोत्थान होता है, दूसरों के उत्थानार्थ प्रयत्नशील होना उसका विषय नहीं है।

---

१. तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो श्रमण-संघ के अन्तर्वर्ती गणों—समुदायों के प्रधान होते हैं।

[२९१]

तथा भव्यत्वतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः ।
एवं चिन्तादिसिद्धिश्च सन्न्यायागमसंगता ॥

आत्मा की अपनी योग्यता तथा भिन्न-भिन्न बाह्य निमित्तों की प्राप्ति के कारण उस (आत्मा) में सत्वोन्मुख चिन्तन प्रादुर्भूत होता है, जो न्यायसगत एवं आगमानुगत है।

[२९२]

एवं कालादि भदेन बीजसिद्ध्यादिसस्थिति. ।
सामग्र्यक्षया न्यायादन्यथा नोपपद्यते ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विविध प्रकार के निमित्त तथा अनुकूल आत्मसामग्रीरूप उपादान के कारण बीजसिद्धि—आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक्ज्ञान; सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि एवं लौकिक दृष्टि से प्रभावकता, आदेय भाव, चक्रवर्तित्व, राजत्व आदि स्थितिया प्राप्त होती है; विविध प्रकार की चामत्कारिक सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त होती है। कार्य-निष्पत्ति में अपेक्षित उपादान तथा निमित्त के संयोग को स्वीकार न किया जाए तो वह सब घटित नहीं होता, जो दृश्यमान है।

[२९३]

तत्तत्स्वभावता चित्रा तदन्यापेक्षणी तथा ।
सर्वाभ्युपगमव्याप्ता न्यायश्चात्र निदर्शित: ॥

जो जो कार्य निष्पन्न होते हैं, उनके मूल में वस्तुओं के स्वभाव की विचित्रता—विविधता एवं तदनुरूप भिन्न-भिन्न निमित्तों की अपेक्षा रहती है। तदनुसार कार्यों के स्वरूप में विभिन्नता होती है। यह सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है।

[२९४]

अधिमुक्त्याशयस्थैर्यविशेषवद्विहापरै. ।
इष्यते सदनुष्ठानं हेतुरत्रैव वस्तुनि ॥

अन्य विद्वानों के अनुसार तीर्थंकर, गणधर या मुण्डकेवली जैसा पद प्राप्त करने का कारण वह सदनुष्ठान है, जिसमें साधक मोक्ष-सिद्धि का विश्वास लिये हो, अपना चित्त विशेष स्थिरता से टिकाये हो।

[२६५]

विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति ।
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥

कई दार्शनिक वैसी स्थिति प्राप्त होने में ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर की कृपा से ये सब प्राप्त होते हैं, ऐसा मानते हैं तथा कई तत्त्ववादी प्रकृति के परिणमन-विशेष से इनके सधने की बात कहते हैं।

[२६६]

तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा नोभयत्राप्यदो भवेत् ।
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हन्तैषैव निबन्धनम् ॥

यदि आत्मा का वैसा स्वभाव न हो तो उपर्युक्त दोनों ही बातें—ईश्वरानुग्रह तथा प्रकृति का परिणमन-विशेष फलित नहीं होते। जिसका विविध रूपों में जैसा परिणत होने का स्वभाव हो, अपनी उपादान-सामग्री हो, उससे विपरीत स्थिति अन्यों द्वारा नहीं लाई जा सकती। अतः आत्म-स्वभावता इसका मुख्य कारण है।

[२६७]

आर्य्यं व्यापारमाश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते ।
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग् निरूप्यते ॥

यदि माध्यस्थ्य-भाव—तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर सम्यक् निरूपण करें, शब्दों के बजाय अर्थ-व्यापार—मूल तात्पर्य को लेकर विचार करें तो किसी अपेक्षा से इसमें दोष भी नहीं आता।

[२६८]

गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते ।
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा ॥

प्रकृष्ट—उत्कृष्ट, विशिष्ट गुणयुक्त; सब द्वारा वन्दनीय देव-विशेष का स्तवन—वन्दन, पूजन आदि करने का तदनुरूप फल संभावित है, यह भी एक दृष्टि से मानने योग्य है।

टीकाकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि देवोपासक को जो फल प्राप्त होता है, वह वस्तुतः उस साधक द्वारा किये गये वन्दन, पूजन आदि सदनुष्ठान का फल है। वन्दन, स्तवन आदि देवोद्दिष्ट होते हैं। अतः उद्दिष्टता या लक्ष्य की दृष्टि से वह देव-प्रसाद है, अभिप्रायशः ऐसा समझा जा सकता है।

[२९९]

भवंश्चाप्यात्मनो यस्मादन्यतश्चित्रशक्तिकात ।
कर्माद्यभिधानादेर्नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

चित्रशक्तिक—विविध शक्तियुक्त—भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ कर्म आदि जब आत्मा को अनेक रूप में प्रभावित, परिणत करते हैं, वहाँ भी आत्मा की अपनी योग्यता या स्वभाव का साहचर्य है ही, जिसके बिना वे (कर्म आदि) फल-निष्पत्ति नहीं ला सकते फिर भी उन (कर्म आदि) द्वारा वैसा किया जाना निरूपित होता है। इस अपेक्षा से उपर्युक्त मान्यता में भी बाधा नहीं आती।

कालातीत का मन्तव्य—

[३००-३०७]

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमेवंपर्यन्तमेक्षया ।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥
अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्तविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥
मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥
अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥
विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः ॥
अविद्या क्लेश-कर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयते ऽतोतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥
ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत् तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥

माध्यस्थ्य-भाव का आलम्बन करते हुए, उद्दिष्ट विषय का यथार्थ अभिप्राय ध्यान में रखते हुए तत्त्वनिरूपण करना चाहिए। आचार्य कालातीत ने भी ऐसा ही कहा है—

मुक्तवादी—आत्मा को सदा, चिरन्तन मुक्त मानने वाले, अविद्यावादी—आत्मा को अविद्यावच्छिन्न मानने वाले अन्य तत्त्ववादियों द्वारा स्वीकृत मार्ग भी यही है। केवल अभिधान—अभिव्यक्ति आदि का भेद वहाँ है। तत्त्व-व्यवस्था में भेद नहीं है।

जो ऐश्वर्य—ईश्वरता—असाधारण शक्तिमत्ता के वैभव से युक्त माना जाता है, वह मुक्त, बुद्ध, अर्हन् आदि जिस किसी नाम से संबोधित किया जाए, ईश्वर है।

क्या परमात्मा या ईश्वर अनादिकाल से शुद्ध है, क्या ऐसा नहीं है ?—इत्यादि रूप में भेद-विकल्प—तर्क-वितर्क या वाद-विवाद, जो भिन्न-भिन्न मतवादियों द्वारा किया जाता है, वह वस्तुतः निरर्थक है।

परमात्मा के सम्बन्ध में हमें अपरिज्ञान है—व्यापक ज्ञान नहीं है। उस सन्दर्भ में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे भ्रान्तिजनक हैं, परस्पर-विरुद्ध हैं। मत-भिन्नता के बावजूद फल में, लक्ष्य में सबके अभिन्नता है। फिर विवाद की कैसी सार्थकता ?

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि को संसार का कारण माना गया है। वह वास्तव में प्रकृति ही है। केवल नामान्तर का भेद है।

प्रकृति को केन्द्रबिन्दु में प्रतिष्ठित कर किये गये इस विवेचन से प्रतीत होता है, कालातीत सांख्ययोगाचार्य थे।

भिन्न-भिन्न उपाधि—अभिधान आदि द्वारा उसके जो अन्यान्य भेद किये जाते हैं, उन्हें मानने का कोई यथार्थ प्रयोजन या हेतु नहीं है। बुद्धिमानों के लिए वे निरर्थक हैं।

अन्धे को रूप दिखलाना तथा उस सम्बन्ध में उससे निर्णय लेना अनुचित है। नेत्रहीन, जो किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता, उसके विषय में कैसे निर्णय कर सकता है। उसी प्रकार अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत नहीं की जा सकती, वस्तु के सम्बन्ध में अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ निर्णय नही कर सकता।

[३१६]

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ॥

अन्धा मनुष्य जैसे हाथ से छूकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान करता है, उसी प्रकार शास्त्र के सहारे व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि पदार्थों का कुछ निश्चय कर पाता है।

ग्रहण के समय चन्द्रमा राहु द्वारा किस सीमा तक ग्रस्त हुआ है, यह जानने हेतु कुछ-कुछ काले किये हुए काच द्वारा उसे देखा जाता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ के सम्बन्ध में जानने का प्रयास लगभग ऐसा ही है।

[३१७]

ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य तद्गम्भीरेण चेतसा ।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसङ्गतः ॥

साधक को चाहिए कि वह देव, गुरु, धर्म, आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में दुराग्रह का सर्वथा परित्याग करे, शास्त्रों में जो कहा गया है, उस पर गम्भीर चित्त से विचार करे तथा कार्यकारिता, लक्षण, स्वरूप की दृष्टि से जो समीचीन प्रतीत हो उसे ग्रहण करे।

भाग्य तथा पुरुषार्थ—

[३१८]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे युज्यते न्यायतः परम् ॥

भाग्य और पुरुषकार—पुरुषार्थ एक समान ही हैं, यह भी तत्त्व को

व्यवस्थित मानने पर—वस्तुओं को उनके विशेष स्वभाव के साथ स्वीकार करने पर ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

[३१९]

दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम् ।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥

अतीत में किये गये शुभ या अशुभ कर्म ही तत्त्वतः भाग्य है। वे (कर्म) यदि शुभ हों तो सौभाग्य के रूप में और यदि अशुभ हो तो दुर्भाग्य के रूप में फलित होते है। पुरुषार्थ वर्तमान कर्म-व्यापार—क्रिया-प्रक्रिया है, जो यथावत् रूप में किये जाने पर सफलता देता है।

[३२०]

स्वरूपं निश्चयेनैतदनयोस्तत्त्ववेदिनः ।
ब्रुवते व्यवहारेण चित्रमन्योन्यसंश्रयम् ॥

तत्त्ववेत्ता भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों का स्वरूप निश्चय-दृष्टि से उपर्युक्त रूप में बतलाते है। भाग्य तथा पुरुषार्थ विचित्र रूप में—अनेक प्रकार से एक दूसरों पर आश्रित है, ऐसा वे (तत्त्ववेत्ता) व्यवहार-दृष्टि से प्रतिपादित करते हैं।

[३२१]

न भवस्थस्य यत् कर्म विना व्यापारसंभवः ।
न च व्यापारशून्यस्य फलं स्यात् कर्मणोऽपि हि ॥

जो व्यक्ति संसार में है, पूर्व संचित कर्म के बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं चलता। जब तक वह कर्म-व्यापार में संलग्न नहीं होता—कर्म-प्रवृत्त नहीं होता, तब तक संचित कर्म का फल प्रकट नहीं होता।

[३२२]

व्यापारमात्रात् फलवं निष्फलं महतोऽपि च ।
अतो यत् कर्म तद् दैवं चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥

कभी ऐसा होता है, थोड़ा सा प्रयत्न करते ही सफलता मिल जाती है और कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती। इसका

कारण अतीत में आचीर्ण विभिन्न प्रकार के कर्म हैं, जो वर्तमान में हितकर या अहितकर—सद्भाग्य या दुर्भाग्य, सफलता या विफलता के रूप में प्रकट होते हैं।

[३२३]

एवं पुरुषकारस्तु व्यापारबहुलस्तथा ।
फलहेतुर्नियोगेन ज्ञेयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥

जीवन में किये जाने वाले अनेक प्रकार के कार्य पुरुषार्थरूप हैं, जो अवश्य ही दूसरे जन्म में भी फल देते हैं।

[३२४]

अन्योन्यसंश्रयावेवं द्वावप्येतौ विचक्षणैः ।
उक्तावन्यैस्तु कर्मैव केवलं कालभेदतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे पर टिके हुए है, ऐसा विज्ञ पुरुषों ने बताया है। कई अन्य पुरुषों ने केवल कर्म को ही काल-भेद से फलप्रद कहा है। उनके अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि सभी कार्यों में काल के अनुसार कर्म अनुकूल या प्रतिकूल भाव प्राप्त करता है।

[३२५]

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥

पूर्वदेह—पूर्व जन्म में अपने द्वारा किया गया कर्म दैव—भाग्य कहा जाता है। वर्तमान जीवन में जो कर्म किया जाता है, वह पुरुषकार या पुरुषार्थ कहा जाता है।

[३२६]

नेदमात्मक्रियाभावे यतः स्वफलसाधकम् ।
अतः पूर्वोक्तमेवेह लक्षणं तात्त्विकं तयोः ॥

पूर्वजन्म में किया गया कर्म वर्तमान में क्रिया के अभाव में—क्रिया

न करने पर अपना फल नहीं देता अतः भाग्य तथा पुरुषार्थ का जो पहले लक्षण बताया गया है, वही तात्त्विक है।

[३२७]

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चैवोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥

भाग्य जब दुर्बल होता है तो वह पुरुषार्थ द्वारा उपहत हो जाता है—प्रभावशून्य कर दिया जाता है। जब पुरुषार्थ दुर्बल होता है तो वह भाग्य द्वारा उपहत कर दिया जाता है। यदि भाग्य और पुरुषार्थ शक्तिमत्ता में असमान न हों तो यह पारस्परिक उपहनन—एक दूसरे को दबा लेने का क्रम संभव नहीं होता।

[३२८]

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः ।
स्वव्यापारगतत्वे तु तस्यैतदपि युज्यते ॥

तत्त्वतः कर्म द्वारा कर्म का उपघात नहीं होता। जब वे कर्म अतीत एवं वर्तमान आदि अपेक्षाओं से आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, तभी परस्परोपघात संभव होता है।

[३२९]

उभयोस्तत्स्वभावत्वे तत्तकालाद्यपेक्षया ।
बाध्यबाधकभावः स्यात् सम्यग्न्यायाविरोधतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ का अपना अपना स्वभाव है। भिन्न-भिन्न काल आदि की अपेक्षा से उनमें बाध्य-बाधक-भाव आता है।

जो बाधित या उपहत करता है, वह बाधक कहा जाता है, जो बाधित या उपहत होता है, वह बाध्य कहा जाता है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध बाध्य-बाधक-भाव है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्यक्तया युक्तिपूर्वक विचार किया जाए तो निर्बाधरूप में वस्तु का यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

[३३०]

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात् कर्तृकर्मणोः ।
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्कटुपाकवत् ॥

कर्ता तथा कर्म के अपने नियमानुगत—नियमित स्वभाव के कारण निश्चित फल की प्राप्ति होती है। यदि वैसा न हो तो जैसे कोरडू—पत्थर की तरह स्वभावतः कड़ा मूंग बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पकता, उसी प्रकार उनके कर्म-समवाय का फल नहीं आता। सबलता-निर्बलता के कारण उपहत करने या उपहत होने की स्थिति नहीं बनती।

[३३१]

कर्मानियतभावं तु यत् स्याच्चित्रं फलं प्रति ।
तद् बाध्यमत्र दार्वादि प्रतिमायोग्यता समम् ॥

यदि कर्म का अनियत भाव—अनिश्चित स्वरूप माना जाए अर्थात् वह कोई नियत—निश्चित फल नहीं देता, ऐसा स्वीकार किया जाए तो उसके फल अनिवार्यतया विविध प्रकार के हो जायेंगे, किसका क्या फल हो, यह निश्चित ही नहीं रहेगी। यदि काष्ठ स्वयं ही प्रतिमा की योग्यता प्राप्त करले, प्रतिमा हो जाए, तो उसमें कौन बाधक हो, क्योंकि प्रस्तुत अभिमत के अनुसार वस्तु की कोई नियतस्वभावात्मकता तो होती नहीं। इससे पुरुषार्थ की भी कोई सार्थकता नहीं रहती।

[३३२]

नियमात् प्रतिमा नात्र न चातोऽयोग्यतैव हि ।
तल्लक्षणनियोगेन प्रतिमेवास्य बाधकः ॥

निश्चय ही काष्ठ-फलक जब तक अपने रूप में विद्यमान है, प्रतिमा नहीं है। काष्ठ-फलक में प्रतिमा होने की योग्यता है पर वैसी परिणति के लिए पुरुषार्थ चाहिए किन्तु वस्तु की अनियतभावात्मकता मान लेने पर पुरुषार्थ के अभाव में भी नहीं कहा जा सकता कि वह प्रतिमा नहीं हो सकती।

अपने लक्षण के आधार पर प्रतिमा ही इसमें बाधिका है कि विद्यमान काष्ठ-फलक प्रतिमा नहीं है क्योंकि प्रतिमा के लक्षण वहाँ नहीं मिलते।

[३३३]

दार्वादेः प्रतिमाक्षेपे तद्भवः सर्वतो ध्रुवः ।
योग्यस्यायोग्यता वेति न चैवा लोकसिद्धितः ॥

यदि काष्ठ-फलक प्रतिमा बनने की योग्यता रखता है तो सर्वत्र अनिवार्यतः वह प्रतिमा बने। नहीं बनता है तो उसकी योग्यता बाधित होती है। पर, लोक में ऐसा प्राप्त नहीं होता। सभी काष्ठ-फलक प्रतिमा बन जाते हों; ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।

[३३४]

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे दानादौ भावभेदतः ।
फलभेदः कथं नु स्यात् तथा शास्त्रादिसङ्गतः ॥

यदि कर्म पर भी इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो दान आदि पुण्य कार्यों का परिणाम-भेद से भिन्न-भिन्न फल आने का जो अपना नियत रूप है, जो शास्त्रानुगत है, वह भी नहीं टिक पाता।

[३३५]

शुभात् ततस्त्वसौ भावो हन्ताऽयं तत्स्वभावभाक् ।
एवं किमत्र सिद्धं स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यदः ॥

दान आदि पुण्य कार्य करते समय जो मन में शुभ भाव उत्पन्न होता है, वह अतीत के शुभ कर्मों का परिणाम है। पूर्व आचीर्ण कर्मों का जैसा स्वभाव होता है, उनके अनुरूप ही भावों का स्वभाव होता है। अभी जो कर्म किये जाते हैं, कालान्तर में वे अतीत के कर्म होंगे, जिनके अनुरूप आगे भाव-निष्पत्ति होगी।

यदि पूछा जाए, इससे क्या सिद्ध होता है, तो कथ्य तथ्य यह होगा कि शुभ कर्मों से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं तथा शुभ भावों से शुभ कर्म।

[३३६]

तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि तत्स्वभावत्वसंस्थितौ ।
भवत्येवमिदं न्यायात् तत्प्रधान्याद्यपेक्षया ॥

भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों की स्थिति प्रधान-गौण-भाव से अपने-अपने स्वभाव पर टिकी है। जब जो प्रधान—मुख्य या प्रबल होता है, तब वह दूसरे को उपहत कराता है—प्रभावित करता है या दबाता है।

[३३७]

एवं च चरमावर्ते परमार्थेन बाध्यते ।
दैवं पुरुषकारेण प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में भाग्य पुरुषार्थ द्वारा वस्तुतः उपहत होता है और उससे पूर्ववर्ती पुद्गलावर्तों में पुरुषार्थ भाग्य द्वारा उपहत या पराभूत रहता है।

[३३८]

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया ।
सूक्ष्मबुद्ध्याऽवगन्तव्यं न्यायशास्त्राविरोधतः ॥

धर्मशास्त्र तथा तर्क के अनुसार, साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर तुल्य हैं, व्यक्ति को सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक यह समझना चाहिए।

[३३९]

एवं पुरुषकारेण ग्रन्थिभेदोऽपि संगतः ।
तदूर्ध्वं बाध्यते दैवं प्रायोऽयं तु विजृम्भते ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में पुरुषार्थ द्वारा जो ग्रन्थि-भेद की स्थिति आती है, वह सर्वथा संगत है। उससे ऊर्ध्ववर्ती विकास की यात्रा में, गुण-स्थानों के उत्थान-क्रम में प्रायः पुरुषार्थ द्वारा दैव या भाग्य उपहत—बाधित रहता है।

[३४०]

अस्योचित्यानुसारित्वात् प्रवृत्तिर्नासती भवेत् ।
सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद् ध्रुवः कर्मक्षयो यतः ॥

यों जीव की जब औचित्यानुसारी—धर्मसाधनोचित प्रवृत्ति होने लगती है, वह असत् कार्यों में संलग्न नहीं होता। नियमपूर्वक श्रेष्ठ कार्यों में लगा रहता है, जिससे उसके संचित कर्मों का क्षय होता है।

[३४१]

संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः ।
संज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नैर्गुण्योपलब्धितः ॥

ज्ञान रूपी नेत्र द्वारा सम्यक्तया तत्त्वावलोकन करने पर साधक को इस जगत् में सुख, समाधि, शान्ति आदि गुण दिखाई नहीं देते, जन्म, वृद्धावस्था, रोग, शोक, मृत्यु आदि ही दीखने लगते हैं। इसीलिए उसे परमार्थतः—यथार्थ रूप में संसार से वैराग्य हो जाता है।

[३४२]

मुक्तौ दृढानुरागश्च तथातद्गुणसिद्धितः ।
विपर्ययमहादुःखबीजनाशाच्च तत्त्वतः ॥

मुक्ति में उसका सुदृढ़ अनुराग हो जाता है क्योंकि वह मोक्षोपयोगी गुणों को पहले ही संग्रहीत कर चुकता है तथा विपरीत ज्ञान रूप महादुःख के बीज को वास्तव में नष्ट कर चुकता है।

[३४३]

एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थमन्यथा तदभावतः ।
अस्यौचित्यानुसारित्वमलमिष्टार्थसाधनम् ॥

सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग तथा मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिए साधक मोक्षानुरूप या अध्यात्म-योग-संगत कार्य-विधि में प्रवृत्त रहता है, जिससे वह अपना इष्ट—आध्यात्मिक दृष्टि से अभीप्सित लक्ष्य साध लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह संसार-वृद्धि करने वाली प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकता।

[३४४]

औचित्यं भावतो यत्र तत्रायं संप्रवर्तते ।
उपदेशं विनाऽप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदितः ॥

जहाँ भावों में औचित्य—उचित स्थिति, उज्ज्वलता, पवित्रता होती है, वहाँ व्यक्ति बिना विशेष उपदेश के ही अन्तःप्रेरणा से स्वयं प्रेरित होकर सत्कार्य में प्रवृत्त होता है।

[३४५]

अतस्तु भावो भावस्य तत्वतः संप्रवर्तकः ।
शिराकूपे पय इव पयोवृद्धेर्नियोगतः ॥

वास्तव में मनुष्य का एक पवित्र भाव दूसरे पवित्र भाव को उत्तरोत्तर उत्पन्न करता जाता है। जैसे कुए के भीतर भूमिवर्ती जल-प्रणालिका द्वारा अनवरत जल-वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार यह पवित्र भावमयी परंपरा उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती रहती है—विकसित हो जाती है।

[३४६]

निमित्तमुपदेशस्तु पवनादिसमो मतः ।
अनैकान्तिकभावेन सतामेवं वस्तुनि ॥

जैसे कुए को सफाई—जल-प्रणालिका के समीपवर्ती पत्थर, कर्दम आदि को हटाना जल-वृद्धि का निमित्त बनता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में जैसा कि सत्पुरुष बतलाते हैं, अन्य का उपदेश निमित्त रूप में प्रेरक होता है पर वह ऐकान्तिक रूप में वैसा हो ही, यह बात नहीं है। वह सामान्यतया वैसी प्रेरणा करता है।

[३४७]

प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।
तदाधित्योपदेशोऽपि ज्ञेयो विध्यादिगोचरः ॥

औचित्यपूर्ण सदनुष्ठान क्रियान्वित करने से आगे भी वैसे पवित्र अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। ऐसे सदनुष्ठान पुरुष को उद्दिष्टकर शास्त्र-विधि—शास्त्र-सम्मत आचार के सम्बन्ध में उपदेश किया जाए—यह जानना चाहिए।

[३४८]

प्रकृतेर्याऽनुगुण्येन चित्रः सद्भावसाधनः ।
गम्भीरोदात्तया मित्रश्चैव शास्त्राध्ययनपूर्वकः ॥

गंभीर उक्ति द्वारा शास्त्राध्ययनपूर्वक—शास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए परिमित शब्दों में श्रोता की प्रकृति के गुणानुरूप दिया गया उपदेश उनमें अनेक प्रकार से सात्त्विक भाव उत्पन्न करने का हेतु बनता है।

[३४९]

शिरोदकसमो भाव आत्मन्येव व्यवस्थितः ।
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया चाभिव्यक्तिस्ततस्ततः ॥

जैसे कुए को अन्तर्वर्ती जल-प्रणालिका जल का मूल स्रोत है, मूलतः जल वहीं होता है, बाह्य साधन, प्रयत्न उसे अभिव्यक्ति देते हैं—प्रकट करते हैं। वैसे ही मोक्षोपयोगी उत्तमभाव वास्तव में आत्मा में ही विशेष रूप से अवस्थित है, साधना के उपक्रम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं।

[३५०]

सत्क्षयोपशमात् सर्वमनुष्ठानं शुभं मतम् ।
क्षीणसंसारचक्राणां ग्रन्थिभेदादयं यतः ॥

जिनका संसार चक्र—जन्म-मरण का चक्र ग्रन्थि-भेद हो जाने से लगभग क्षीण होने के समीप होता है, सत्क्षयोपशम के कारण उनके सभी अनुष्ठान शुभ माने गये हैं।

[३५१]

भाववृद्धिरतोऽवश्यं सानुबन्धं शुभोदयम् ।
गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत् सुवर्णघटसन्निभम् ॥

उनसे अवश्य ही पवित्र भावों की वृद्धि होती है, जो पुण्य पूर्ण परंपरा की शृंखला के रूप में आगे चलती रहती है। अन्य सैद्धान्तिकों ने इसे स्वर्णघट के समान बताया है, टूटने पर भी जिसका मूल्य कम नहीं होता।

चारित्री—

[३५२]

एवं तु वर्तमानोऽयं चारित्री जायते ततः ।
पल्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥

पूर्वोक्त सदनुष्ठान में प्रवृत्त साधक के जब दो से नौ पल्योपम तक के मध्य की कोई एक अवधि-परिमित कर्म विनिवृत्त हो जाते हैं—उनसे वह छुटकारा पा लेता है, तब चारित्री होता है।

यहाँ प्रयुक्त 'पल्योपम' शब्द एक विशेष, अति दीर्घकाल का द्योतक है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएँ, उनसे ठूंस-ठूंस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाए। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खण्ड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार पल्योपम है। यह संख्यात-समय-परिमाण माना जाता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक । उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने में यौगलिक शिशु के वालों के टुकड़ों की चर्चा आयी है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात, अदृश्य खण्ड किए जाएं। उन सूक्ष्म खण्डों से पूर्व वर्णित कुआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाए। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खण्ड कुए में से निकाला जाय। यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, विलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमें संख्यात-वर्ष कोटि परिमाण काल माना जाता है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के वालों के टुकड़ो से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में एक-एक-टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ विलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार, सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में यौगलिक शिशु के वालों के टकड़ों के असंख्यात अदृश्य खण्ड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहाँ भी वैसे ही असंख्यात, अदृश्य केश खण्डो से वह कुआ भरा जाय। प्रति सौ वर्ष में एक खण्ड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म-अद्धा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कुए या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के वाल खण्डों से उपर्युक्त रूप में दवा-दवा कर भर दिये जाने पर भी उन खंडों के बीच में आकाश प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते है।

वे खण्ड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त्त है। स्थूल रूप में उन खण्डों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े कोठे को कूष्मांडों—कुम्हड़ों से भर दिया गया। सामान्यतः देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नीबू और भरे जाएँ तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओं से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना चाहें तो वे भी समा जायेंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रहता है। यदि नदी के रजःकण उसमें भरे जाएँ, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूंटियाँ, कीलें गाड़ सकते हैं। यदि वास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालों के खण्डों के बीच-बीच में जो आकाश प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खण्डों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएँ, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए में भरे यौगलिक के केश-खण्डों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में

एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशों से रिक्त हो जाए, वह कालपरिमाण सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।[1]

इस कोड़ाकोड़ पल्योपम को सागरोपम कहा जाता है। अर्थात् दस करोड़ पल्योपम को एक करोड़ पल्योपम से गुणा करने से जो गणनफल आता है, वह एक सागरोपम है।[2]

[३५३]

लिङ्गं मार्गानुसार्येष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः ।
गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्त्यारम्भसंगतः ॥

अध्यात्म-पथ का अनुसरण, श्रद्धा, धर्मोपदेश-श्रवण में अभिरुचि, गुणों में अनुराग, सदनुष्ठान में पराक्रमशीलता तथा यथाशक्ति धर्मानुपालन ये चारित्री के लक्षण हैं।

[३५४-३५५]

असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारपतितो यथा ।
गर्तादिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥

तथाऽयं भवकान्तारे पापादिपरिहारतः ।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः ॥

गहन वन में भटका हुआ अन्धा पुरुष, जिसके असात-वेदनीय—दुःखप्रद कर्मों का उदय नहीं है, खड्डे आदि से बचता हुआ सही सलामत अपने मार्ग पर चलता जाता है, उसी प्रकार संसाररूपी भयावह वन में भटकता हुआ वह पुरुष, जिसके सात-वेदनीय—सुखप्रद कर्मों का उदय है, अपने को पापों से बचाता हुआ शास्त्र-ज्ञानरूपी नेत्र से रहित होते हुए भी धर्म-पथ पर गतिशील रहता है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र ११८-१४० तथा प्रवचन सारोद्धार द्वार १५८ में पल्योपम का विस्तार से विवेचन है।
२. स्थानांग सूत्र २·४·९९

[३५६]

अनोदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम् ।
ईदृशस्यापि वैकल्यं विचित्रत्वेन कर्मणाम् ॥

जो ऐसा नहीं है—इन गुणों से हीन है, उसके चारित्र नाम मात्र का—केवल वेश आदि बाह्य चिन्हों के रूप में होता है।

जो ऐसा है—इन गुणों से युक्त होता है, उसके भी पूर्व-संचित कर्मों की विचित्रता—प्रतिकूल प्रभावकारिता के कारण चारित्र में दोष आ जाता है।

[३५७]

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥

देश (अंशतः परिपालन) आदि के भेद से महान् पुरुषों ने चारित्र अनेक प्रकार का बतलाया है। पूर्व-वर्णित अध्यात्म आदि योग में चारित्री संप्रवृत्त होते हैं—अभ्यासरत रहते हैं।

[३५८]

औचित्याद् वृत्तमुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥

औचित्यपूर्ण—विधिवत् चारित्र्यसेवी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्त्व-चिन्तन, मैत्री, करुणा, प्रमोद तथा माध्यस्थ्य रूप उत्तम भावनाओं का जीवन में सम्यक् स्वीकार ज्ञानी जनों द्वारा अध्यात्म कहा जाता है।

[३५९]

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥

इससे पापों का क्षय होता है, आत्मपराक्रम जागरित होता है तथा पवित्र आचरण उदित होता है, तथा अविनश्वर ज्ञान स्वायत्त होता है, जो अनुभव-संसिद्ध—अनुभूति-प्रसूत अमृत है।

[३६०]

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।
मनः समाधिसंयुक्तः पौनः पुन्येन भावना ॥

इसका अभ्यास करने से, पुनः पुनः भावना करने से योगवृद्धि—योग-भावना का, योग साधना का विकास होता है, चित्त समाधियुक्त होता है—चित्त में शान्तिमय स्थिति का समावेश होता है। इसे भलीभाँति समझना चाहिए।

[३६१]

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।
तया सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥

भावानुभावित रहने के फल-स्वरूप अशुभ अभ्यास—पापमय आचरण से निवृत्ति, शुभ योगाभ्यास में अनुकूलता—निर्बाध प्रगति तथा चित्त में पवित्रता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

ध्यान—

[३६२]

शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥

शुभ प्रतीकों का एकाग्रत या आलम्बन—उन पर चित्त का स्थिरीकरण मनीषी—ज्ञानी जनों द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय होता है, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।

[३६३]

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥

ध्यान के फलस्वरूप वशिता—आत्मवशता, आत्म-नियन्त्रण या जितेन्द्रियता अथवा सर्वत्र प्रभविष्णुता, सब पर अक्षुण्ण प्रभावशीलता,

मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध—भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है। यह ध्यान-वेत्ताओं का अभिमत है।

समता—

[३६४]

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते॥

अविद्या, माया या अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट—इच्छित, अनिष्ट—अनिच्छित वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण, अनाकर्षण अपगत हो जाता है, निःस्पृहता आ जाती है। दोनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसे समता कहते हैं।

[३६५]

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते॥

समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों—विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।

यह साम्यभाव की दिव्यावस्था है।

[३६६]

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तया।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः॥

पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का अनेक प्रकार से वैसा निरोध, जिससे वे पुनः उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[३६७]

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी॥

वृत्ति-सक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी-अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प, अडोल स्थिति तथा निर्बाध, आनन्दविधायक—परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

जैन-दर्शन के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा चवदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है।

तात्त्विक : अतात्त्विक—

[३६८]

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा।
तस्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥

तात्त्विक तथा अतात्त्विक यों पहले योग के जो भेद बताये हैं, वे किस-किस श्रेणी के पुरुषों के सधते है, इत्यादि दृष्टिकोण से यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

[३६९]

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥

अध्यात्मयोग तथा भावनायोग अपुनर्बन्धक के व्यवहार-दृष्टि से और चारित्री के निश्चय-दृष्टि से सधते है।

इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुनर्बन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।

[३७०]

सकृतदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥

सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्म-योग एवं भावना-योग अतात्त्विक होते हैं। क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेष आदि केवल बाह्य प्रदर्शन होता है। जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्ट-कर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।

जिस पुद्गल-परावर्त को पार कर व्यक्ति चरम-पुद्गल-परावर्त में

मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध--भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है। यह ध्यान-वेत्ताओं का अभिमत है।

समता—

[३६४]

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते॥

अविद्या, माया या अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट—इच्छित, अनिष्ट—अनिच्छित वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण, अनाकर्षण अपगत हो जाता है, निःस्पृहता आ जाती है। दोनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसे समता कहते हैं।

[३६५]

ऋद्धयप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते॥

समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों—विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।

यह साम्यभाव की दिव्यावस्था है।

[३६६]

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तया।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः॥

पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का अनेक प्रकार से वैसा निरोध, जिससे वे पुनः उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[३६७]

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी॥

वृत्ति-संक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी-अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प, अडोल स्थिति तथा निर्बाध, आनन्दविधायक—परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

जैन-दर्शन के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा चवदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है।

तात्त्विक : अतात्त्विक—

[३६८]

तात्त्विको ऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा।
तस्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥

तात्त्विक तथा अतात्त्विक यों पहले योग के जो भेद बताये है, वे किस-किस श्रेणी के पुरुषों के सधते है, इत्यादि दृष्टिकोण से यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

[३६९]

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥

अध्यात्मयोग तथा भावनायोग अपुनर्बन्धक के व्यवहार-दृष्टि से और चारित्री के निश्चय-दृष्टि से सधते है।

इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुनर्बन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।

[३७०]

सकृतदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥

सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्म-योग एवं भावना-योग अतात्त्विक होते हैं। क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेष आदि केवल बाह्य प्रदर्शन होता है। जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्ट-कर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।

जिस पुद्गल-परावर्त को पार कर व्यक्ति चरम-पुद्गल-परावर्त में

आता है, वह (चरम पुद्गल-परावर्त से पूर्व का अन्तिम आवर्त) सकृत् आवर्त या सकृत् आवर्तन कहा जाता है।

[३७१]

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥

चारित्री को ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय संज्ञक योग उसकी शुद्धि—आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चित रूप में प्राप्त होते हैं। वे तात्त्विक होते हैं।

[३७२]

अस्यैव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृतः ।
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथाऽपरः ॥

अपाय—विघ्न या साधनाविपरीत स्थिति से जो बाधित नहीं हैं, उनको उत्तरवर्ती विकास शृंखला सहित यथावत् रूप में योग प्राप्त होता है।

जो अपाययुक्त हैं उनके लिए ऐसा नहीं होता है।

[३७३]

अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम् ।
पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

अपायरहित—निर्बाधरूप में साधना-परायण महापुरुषों ने अतीत में संचित पापाशयकर हिंसा, असत्य, चौर्य, लोभ, अहंकार, छल, क्रोध, द्वेष, व्यभिचार आदि से सम्बद्ध विविध कर्मों को अपाय कहा है। वे निरुपक्रम संज्ञा से भी अभिहित हुए हैं। उनका फल अवश्य भोगना होता है।

[३७४]

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्नः प्रकीर्तितः ।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥

अन्य विचारकों ने भी मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए कण्टक-विघ्न, ज्वर-विघ्न तथा मोक्ष-विघ्न के रूप में आनेवाली बाधाओं की चर्चा की है।

राहगीर के पैर में कांटा चुभ जाए तो उसकी गति रुक जाती है, यदि वह यात्रा के बीच में ज्वर-ग्रस्त हो जाए तो भी आगे चलने में बाधा आजाती है और यदि वह दिग्भ्रान्त हो जाए—उसे दिशाओं का यथावत् ज्ञान न रहे तो आगे चलना कठिन हो जाता है, ऐसी ही विघ्नपूर्ण स्थितियाँ साधक के समक्ष आती हैं, जिन्हें उसे पार करते हुए आगे बढ़ना होता है।

सास्रव : अनास्रव—

[३७५]

अस्त्येव सास्रवः प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः।
पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः॥

योग का पूर्व-वर्णित एक भेद सास्रवयोग है, जो उस साधक के सधता है, जिसके अन्तिम मंजिल—मोक्ष तक पहुँचने में अभी अनेक जन्म पार करना बाकी होता है।

पहले किये गये विवेचन के अनुसार निरास्रव-योग उस साधक के सधता है, जिसे केवल एक ही जन्म में से गुजरना होता है, आगे जन्म नहीं लेना पड़ता।

[३७६]

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह यन्मतः।
स सांपरायिको मुख्यस्तदेयोऽर्योऽस्य संगतः॥

आस्रव कर्म-बन्ध का हेतु है, इसलिए एक दृष्टि से वह बन्ध ही है। वस्तुतः कर्म-बन्ध का मुख्य कारण कषाय—कषायानुप्रेरित आस्रव है। बन्ध के साथ उसी की वास्तविक संगति है।

[३७७]

एवं चरमदेहस्य संपरायवियोगतः।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तयाऽनास्रवो मतः॥

जो चरम-शरीरी है—वर्तमान शरीर के बाद जिसे और शरीर धारण नहीं करना है, मुक्त होना है, जिसके संपराय-वियोग—कषाय-वियोग सध गया है—जिसके कषाय नहीं रहे हैं, उसके सांपरायिक आस्रव-बन्ध नहीं होता। वैसी स्थिति में अन्य—अति सामान्य आस्रव के गतिमान् रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है, क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प एवं हल्का होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें संयोग केवली गुणस्थान में इसी प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। प्रस्तुत विवेचन के अनुसार जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव-कोटि में आता है।

[३७८]

निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चय-व्यवहारौ च द्वावप्यभिमतार्थदौ॥

अनास्रव का अर्थ निश्चय नय के अनुसार सर्वथा आस्रव-रहित अवस्था है और व्यवहार-नय के अनुसार सांपरायिक आस्रव-रहित अवस्था, जो लगभग आस्रव-रहितता के निकट होती है, वहाँ से व्यक्ति शीघ्र अनास्रव-दशा प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार-नय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चय-नय के विपरीत नहीं जाता, सर्वत्र तत्संगत ही होता है। यों निश्चय तथा व्यवहार—दोनों ही अभिमत—यथार्थतः स्वीकृत अर्थ ही प्रकट करते हैं।

उपसंहार—

[३७९]

संक्षेपात् सफलो योग इति संदर्शितो ह्ययम्।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं भूमोऽस्यैव विशेषतः॥

संक्षेप में योग का फल सहित वर्णन किया जा चुका है। आदि—अध्यात्म तथा अन्त—वृत्तिसंक्षय का विशेष रूप से पुनः स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

[३८०]

तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु ।
उक्तं विचित्रमेतच्च तथावस्थादिभेदतः ॥

जैसा व्याख्यात हुआ है, औचित्ययुक्त—समुचित, शास्त्रसम्मत क्रिया-प्रक्रिया में संलग्न पुरुष द्वारा किया जाता तत्त्व-चिन्तन अध्यात्म है। अवस्था आदि के भेद से वह विविध प्रकार का है।

[३८१]

आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते ।
देवतानुग्रहाङ्गत्वादतोऽयमभिधीयते ॥

योग के आदि—प्रारम्भिक कर्म के रूप में अथवा जो पुरुष योग में प्रविष्ट हो रहा हो, नवाभ्यासी हो, उसकी दृष्टि से जप अध्यात्म है—अध्यात्म का प्रारम्भिक रूप है। जप देवता के अनुग्रह का अंग है—उससे देवानुग्रह प्राप्त होता है। जप सम्बन्धी विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

जप—

[३८२]

जपः सन्मन्त्रविषयः स चोक्तो देवतास्तवः ।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद् विषापहरणं यथा ॥

उत्तम मन्त्र जप का विषय है। वह देव स्तवन के रूप में होता है। जैसे मन्त्र-प्रयोग से सर्प आदि का विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार मन्त्र-जप से पाप का अपहार—अपगम हो जाता है—आत्मा से पाप दूर हो जाते हैं।

[३८३]

देवतापुरतो वाऽपि जले वाऽकलुषात्मनि ।
विशिष्टद्रुमकुञ्जे वा कर्तव्योऽयं सतां मतः ॥

सत्पुरुषों का अभिमत है कि जप देवता के समक्ष, शुद्ध जलमय नदी, सरोवर, कूप, वापी आदि के तट पर या किसी विशिष्ट द्रुम-कुंज में—मण्डप की तरह छाये वृक्ष युक्त स्थान में करना चाहिए।

[३८४-३८५]

पर्वोपलक्षितो यद् वा पुत्रंजीवकमालया ।
नासाग्रस्थितया दृष्टया प्रशान्तेनान्तरात्मना ॥
विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु यथेष्यते ।
अर्थे चालम्बने चैव त्यागश्चोपप्लवे सति ॥

जप के समय हाथ का अँगूठा अपनी अँगुलियों के पोरों (पैरवों) पर अथवा रुद्राक्ष की माला के मनकों पर चलता रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिकी रहे। अन्तरात्मा में प्रशान्त भाव रहे। चित्त-वृत्ति जप के विषय, अक्षर, तद्गत अर्थ, आलम्बन—विषयगत मूल आधार के साथ संलग्न रहे। उपप्लव—मानसिक बाधा या विघ्न की अनुभूति हो, तब जप करना बन्द कर देना चाहिए।

[३८६]

मिथ्याचारपरित्याग आश्वासात् तत्र वर्तनम् ।
तच्छुद्धिकामता चेति त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः ॥

मानसिक बाधा आदि आने पर जो जप का त्याग किया जाता है, वह (त्याग) वास्तव में त्याग न होकर अत्याग की श्रेणी में आता है। क्योंकि उससे मिथ्याचार—केवल कृत्रिम रूप में करिष्यमाण सत्परिणाम-शून्य क्रिया का त्याग होता है। उस त्याग के फलस्वरूप अन्तर्विश्वास या आस्थापूर्वक पुनः जप करने की वृत्ति सुदृढ़ होती है। जप में सदा शुद्धि बनी रहे, यह भावना जागरित होती है।

[३८७]

यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमानं प्रकीर्तितम् ।
अतो ह्यकरणेऽप्यत्र भाववृत्तिं विदुर्बुधाः ॥

जप की समयावधि अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार है। अर्थात् जितने समय जप करने की भावना हो, साधक उतने समय के लिए जप करने की प्रतिज्ञा करे। तदनुरूप यथाविधि जप संपादित करे।

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि यों प्रतिज्ञापूर्वक जप करने वाले

के व्यक्तित्व में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि जिस समय वह जप नहीं करता हो, उस समय भी उसकी अन्तर्वृत्ति जप पर ही केन्द्रित रहती है।

[३८८]

मुनीन्द्रैः शस्यते तेन यत्नतोऽभिग्रहः शुभः ।
सदाऽतो भावतो धर्मः क्रियाकाले क्रियोद्भवः ॥

जप के सन्दर्भ में किये जाते विशेष लक्ष्यपूर्ण शुभ संकल्प की मुनिवर्य प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उससे क्रियोचित समय में क्रिया परिसम्पन्न होती है। उसके फलस्वरूप भाव-धर्म अन्तःशुद्धिमूलक अध्यात्म धर्म निष्पन्न होता है।

योग्यतांकन —

[३८९]

स्वौचित्यालोचनं सम्यक् ततो धर्मप्रवर्तनम् ।
आत्मसंप्रेक्षणं चैव तदेतदपरे जगुः ॥

कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार अपने औचित्य—योग्यता का सम्यक् आलोचन—भली-भाँति अंकन, तदनुसार धर्म में प्रवृत्ति तथा आत्मसंप्रेक्षण—आत्मावलोकन अध्यात्म है।

[३९०]

योगेभ्यो जनवादाच्च लिङ्गेभ्योऽथ यथागमम् ।
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमाः ॥

जिन्होंने योग के मार्ग में श्रम किया है—जो तपे हुए योग साधक हैं, वे बतलाते हैं कि साधक योग द्वारा, जनवाद द्वारा तथा शास्त्र-वर्णित चिन्हों द्वारा अपनी योग्यता का अवलोकन करें।

[३९१]

योगाः कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा ।
शकुनादीनि लिङ्गानि स्वौचित्यालोचनास्पदम् ॥

योग का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक, वाचिक प्रवृत्ति है। जनवाद का अर्थ अपने सम्बन्ध में लोगों में प्रचलित बातें, अफवाहें हैं। लिङ्ग का अर्थ शकुन आदि चिन्ह हैं। इनसे अपने औचित्य या योग्यता का निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकता है।

[३९२]

एकान्तफलदं ज्ञेयमतो धर्मप्रवर्तनम् ।
अत्यन्तं भावसारत्वात् तत्रैवाप्रतिबन्धतः ॥

अपनी योग्यता का अंकन कर धर्म में प्रवृत्त होना एकान्तरूपेण—निश्चित रूप से फलप्रद है। वैसा करते साधक के मन में अत्यन्त उच्च भाव रहता है। उसकी सत्यवृत्ति में कोई प्रतिबन्ध या विघ्न नहीं आता।

[३९३]

तद्भङ्गादिभयोपेतस्तत्सिद्धौ चोत्सुको दृढम् ।
यो धीमानिति सन्न्यायात् स यदौचित्यमीक्षते ॥

जो अपने सत्प्रयत्न में विघ्न, बाधा आदि से भय मानता हुआ जागरूक रहता है, सफल होने का उत्साह लिए रहता है, जो बुद्धिमान है, वह न्याययुक्तिपूर्वक अपनी योग्यता को आंक लेता है।

[३९४-३९५]

आत्मसंप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि ।
पापकर्मोदयादत्र भयं तदुपशान्तये ॥
विस्रोतोगमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत् ।
गुर्वाद्याश्रवणं सम्यक् ततः स्याद् दुरितक्षयः ॥

अतीत में आचरित अशुभ कर्मों के उदय से मन में यह भय हो जाता है कि कहीं कोई विघ्न न आ जाए। इस भय को उपशान्त करने हेतु साधक, जिसने योगानुष्ठान आरम्भ किया हो, आत्मावलोकन करे—यह देखे कि कहीं अपने सदनुष्ठान के यथावत् आचरण में उससे कोई भूल तो नहीं हो रही है।

यदि साधक को ऐसा भान हो, उसकी आत्मा विपरीत—योग-साधना के प्रतिकूल प्रवाह में वह रही है तो जैसे भय, खतरा उत्पन्न हो जाने पर व्यक्ति बचने के लिए सुरक्षित स्थान में चला जाता है, वैसे ही उसे गुरु आदि महान् पुरुषों को शरण में चला जाना चाहिए। इससे भय, खतरा टल जाता है।

[३९६]

सर्वमेवेदमध्यात्मं कुशलाशयभावतः ।
औचित्याद् यत्र नियमाल्लक्षणं यत् पुरोदितम् ॥

उचित रूप में, नियमित रूप में पूर्व वर्णित लक्षण जहाँ घटित होते हैं, वह सब, पुण्यात्मक परिणामों के कारण अध्यात्म है।

देव-वन्दन—

[३९७]

देवादिवन्दनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च ।
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे जगुः ॥

देव आदि का भली-भाँति वन्दन-पूजन करना, यथाविधि प्रतिक्रमण करना—अपने द्वारा हुई भूलों के लिए प्रायश्चित्त करना, आत्म-मार्जन करना, मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ रूप भावनाओं का चिंतन-अनुचिन्तन करना अध्यात्म है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है।

[३९८-३९९]

स्थानकालक्रमोपेतं शब्दार्थानुगतं तथा ।
अन्यासंमोहजनकं श्रद्धासंवेगसूचकम् ॥
प्रोल्लसद्भावरोमांञ्चं वर्धमानशुभाशयम् ।
अनामादिसंशुद्धमिष्टं देवादिवन्दनम् ॥

उचित आसन, विहित समय, विधिक्रम का ध्यान रखना, स्तवनरूप में उच्चारित होते शब्दों के अर्थ पर गौर करते जाना, पूजारत अन्य व्यक्ति के मन में भ्रम, अव्यवस्था उत्पन्न न करना, श्रद्धा तथा तीव्र उत्साह लिए रहना, भक्तिभाव-प्रसूत हर्ष के कारण रोमांचित होना, पवित्र भावों का

उत्तरोत्तर बढ़ते जाना, शुद्धभाव से प्रणमन आदि करना—इत्यादि पूर्वक देव-पूजन का विधान है।

प्रतिक्रमण—

[४००]

प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः।
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति ॥

यदि प्रमाद—शुद्ध उपयोग के अभाव या धर्म के प्रति आत्मपरिणामगत अनुत्साह, असावधानी के कारण दोष-सेवन हो जाए तो दिन में दो बार—प्रातः एवं साय प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि दोष सेवन न हुआ हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह तीसरे वैद्य की औषधि की ज्यों आत्मा के लिए लाभप्रद, श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

ग्रन्थकार ने तीसर वैद्य की औषधि का उल्लंघन करते हुए जिस दृष्टान्त की ओर संकेत किया है, वह जैन-साहित्य का प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जो इस प्रकार है—

एक राजा था। उसका युवा पुत्र—युवराज अस्वस्थ रहने लगा। राजा ने अपने राज्य के तीन विख्यात वैद्यों को बुलाया और प्रत्येक वैद्य को अपनी-अपनी औषधि का गुण बताने को कहा।

पहला वैद्य बोला—मेरी औषधि बड़ी प्रभावकारी है। जिस रोग पर दीजिए उसे सर्वथा नष्ट कर देती है। पर एक बात है, यदि वह रोग न हो तो दूसरा रोग उत्पन्न कर देती है।

राजा बोला—वैद्यवर! आपकी औषधि भयजनक है। राजकुमार के लिए उसका उपयोग समीचीन नहीं है।

दूसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधि की यह विशेषता है, जिस रोग पर दीजिए, उसे बिलकुल मिटा देती है। यदि रोग न हो तो उससे न लाभ होता है और न हानि।

राजा को दूसरे वैद्य की औषधि भी उपयुक्त नहीं जची।

तब तीसरे वैद्य ने बताया—राजन्! मेरी औषधि औरों से निराली

है। जिस रोग पर सेवन की जाए, उसे उन्मूलित कर देती है। यदि रोग न हो तो देह के लिए मेरी औषधि रसायन है। वह रक्त, मांस, बल, वीर्य, ओज तथा सौन्दर्य बढ़ाती है।

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—मेरे राजकुमार के लिए यही औषधि समीचीन है।

इस दृष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार का यह आशय है कि दोष-सेवन न होने पर भी प्रतिक्रमण करना इसलिए लाभजनक है कि उससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्म-गुणों की वृद्धि होती है। जीवन का कल्याण होता है।

[४०१]

निषिद्धासेवनादि यद् विषयोऽस्य प्रकीर्तितः।
तदेतद् भावसंशुद्धेः कारणं परमं मतम् ॥

निषिद्ध—जिनका निषेध किया गया है, ऐसे आचरणों का जैसा, जितना आसेवन किया जाता है, उतना साधना में दोष आता है। प्रतिक्रमण उसकी भाव संशुद्धि-भावात्मक संशोधन—सम्मार्जन का परम हेतु है।

भावनानुचिन्तन—

[४०२]

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम् ।
सत्त्व-गुणाधिक्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥

साधक को चाहिए, वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणसम्पन्न पुरुषों को देख मन में प्रसन्नता, कष्ट-पीड़ित लोगों के प्रति करुणा तथा अज्ञानी जनों के प्रति माध्यस्थ्य—तटस्थता की भावना से अनुभावित—अपने दैनन्दिन चिन्तन में अनुप्राणित रहे।

[४०३]

विवेकिनो विशेषेण भवत्येतद् यथागमम् ।
तथा गम्भीरचित्तस्य सम्यग्मार्गानुसारिणः ॥

विवेकशील, गम्भीरचेता तथा सन्मार्गानुगामी पुरुषों के चित्त में ये

भावनाएँ, जैसा कि शास्त्रों में बताया गया है, विशेष रूप से उद्भावित होती हैं।

[४०४]

एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्ययोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥

"अधि—आत्मनि—जो आत्मा को अधिष्ठित कर रहता है—आत्मा में टिकता है, वह अध्यात्म है" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अध्यात्म तत्सम्बद्ध बहुविध कार्य-कलाप में घटित है, संगत है, अध्यात्म-चिन्तन में अभिरत पुरुषों को यह जानना चाहिए।

वृत्तिसंक्षय—

[४०५]

भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥

भावना, ध्यान तथा समता के अभ्यास से वृत्ति-संक्षय उद्भावित होता है। उसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम—दूर होना है। दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होते रहने की वृत्ति—वर्तन—स्थिति या अवस्था का संक्षय होना—मिट जाना वृत्ति-संक्षय है।

[४०६]

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु ॥

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाओं को वृत्तियाँ कहा गया है। वे आत्मा का अन्य—आत्मेतर—विजातीय पदार्थों के साथ संयोग होने से निष्पन्न होती हैं। वह कारण, जिससे ऐसा होता है, योग्यता कहा जाता है।

[४०७]

तदभावेऽपि तद्भावो युक्तो नातिप्रसङ्गतः।
मुख्यैषा भवमातेति तदस्या अयमुत्तमः ॥

योग्यता के अभाव में संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा न माना जाए तो सर्वत्र अव्यवस्था हो जाए। अतः यह—आत्मा की विजातीय पदार्थों के साथ संयुक्त या सम्बद्ध होने की योग्यता मुख्य भवमाता—जन्म-मरणरूप संसारावस्था की प्रमुख उत्पादिका है। जगत् प्रवाह का यही प्रमुख आधार है।

[४०८]

पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः।
स्यान्मूलापगमे यद्वत् तद्वद् भवतरोरपि ॥

वृक्ष का मात्र तना काट देने से पत्र आदि का अपुनर्भाव—फिर उत्पन्न न होना घटित नहीं होता अर्थात् तना काट देने पर भी समय पाकर फिर वह हरा-भरा हो जाता है, नये अंकुर फूटने लगते है, पत्तियाँ निकल आती हैं, बढ़ जाने पर फूल लगने लगते हैं पर यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाय तो फिर वैसा कुछ नहीं होता। पत्ते, फूल आदि सब आने बन्द हो जाते हैं। संसाररूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। जब तक उसका मूल उच्छिन्न न हो, वह बढ़ता एवं फलता-फूलता रहता है।

[४०९]

मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा हन्त तत्त्वमिदं परम् ॥

योग्यता, जिसका लक्षण पूर्ववर्णित है, संसाररूपी वृक्ष का मूल है। वृत्तियाँ तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परम तत्त्व है—यथार्थ वस्तु-स्थिति है।

[४१०]

उपायोपगमे चास्या एतदाक्षिप्त एव हि।
तत्त्वतोऽधिकृतो योग उत्साहादिस्तथाऽस्य तु ॥

जीवन का यथार्थ लक्ष्य साधने, आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का परिसमापन करने का उपाय उसी से अधिगत है, और तत्त्वतः वह योग है, जो उत्साह आदि से सधता है।

[४११]

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्व-दर्शन तथा जनपद-त्याग—अपने परिचित प्रदेश, स्थान आदि का त्याग अथवा साधारण लौकिक जनों द्वारा स्वीकृत जीवन-क्रम का परिवर्जन—ये छः योग सधने के हेतु हैं।

[४१२]

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यस-रसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम—शास्त्रपरिशीलन, अनुमान, ध्यान के अभ्यास एवं रस—तन्मयता व अनुभूतिजनित आनन्दपूर्वक बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, बुद्धि को संस्कारित बनाता हुआ साधक उत्तम योग प्राप्त करता है।

[४१३]

आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरखिलस्तया ।
फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥

आत्मा, कर्म तथा कारण पूर्वक होनेवाला उसका सम्बन्ध, शुभ एवं अशुभ फल, कर्मों का आत्मा से पार्थक्य—अलगाव यह सब उनके आत्मा और कर्म के स्वभाव से घटित होता है।

[४१४]

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत् ।
अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते ॥

पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है, जब वह आत्मा, कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो। वैसा न होने से—वस्तु-स्वभाव के विपरीत होने से यह न्यायानुमोदित नहीं है कि वह कार्यकर हो अर्थात् उसकी कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती। अतः उसे प्रशस्त नहीं माना जाता।

[४१५]

अतोऽकरणनियमात् तत्तद्वस्तुगतात्तया ।
युक्तयोऽस्मिन्निरुध्यन्ते तास्तास्तद्बीजसम्भवाः ॥

यदि विभिन्न वस्तुओं के स्वभाव को कार्य साधने में कारण न माना जाए, एक मात्र पुरुषार्थ को ही माना जाए तो आत्मा में विविध कर्मरूप चीजों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ पुरुषार्थ द्वारा निरस्त हो जायेंगी।

[४१६]

ग्रन्थिभेदे यथैवायं बन्धहेतुं परं प्रति।
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः॥

जिसका ग्रन्थि-भेद हो गया हो, वहाँ कर्मों के अति तीव्र बन्ध होने का कोई हेतु नहीं रहता, उक्त मान्यता से वहाँ भी बाधा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार नरक आदि गतियों में भी हेतु की अकरणता रहती है।

[४१७]

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्र गतिस्तथा।
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम्॥

अन्य कारणों की अकरणता मानी जाए तो आत्यन्तिक मृत्यु—मोक्ष तथा कर्मानुरूप बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेना, जो आगम-प्रतिपादित है, घटित नहीं होता।

[४१८]

हेतुमस्य परं भावं सत्त्वाद्यागोनिवर्तनम्।
प्रधानकरुणारूपं ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः॥

सूक्ष्म-द्रष्टा ज्ञानियों का कथन है कि प्राणियों के प्रति असदाचरण, पापमय विचार पवित्र मनोभावों से अपगत होते हैं, जिनमें करुणा का प्रमुख स्थान है।

[४१९]

समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा॥

पातञ्जल योगियों द्वारा उपयुक्त योगोत्कर्ष सम्प्रज्ञात समाधि के रूप में अभिहित हुआ है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार 'सम्' का अर्थ सम्यक्; 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट—उत्कृष्ट तथा 'ज्ञात' का अर्थ ज्ञानयुक्त है। इसका

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति, जहाँ चित्त में इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यक्तया, उत्कृष्टतया ज्ञात रहे, चित्त का एकमात्र वहीं टिकाव हो, वह और कहीं भटके नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस, तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हों, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयों में तत्स्थता—एकाग्रता, तदञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो, चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।[1]

[४२०]

एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम्।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात्॥

यों साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुनः जन्म प्राप्त करता है, जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात् वहाँ पुनः जन्म में लानेवाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। साधक श्रेणि-आरोह करता है—क्षपक-श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि-आरोह के सम्बन्ध में ज्ञाप्य है—

जैन-दर्शन में चवदह गुणस्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास क्रम व्याख्यात हुआ है, उन (गुणस्थानों) में आठवाँ निवृत्तिवादर गुणस्थान है। मोह को ध्वस्त करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलतः इस गुणस्थान में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान से विकास

---

१ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।
—पातञ्जल योगसूत्र १.४१

की दो श्रेणियाँ निःसृत होती हैं—१. उपशम-श्रेणि, २. क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को उपशान्त करता हुआ—दबाता हुआ ग्यारहवें—उपशान्त मोह गुणस्थान में पहुँचता है।

क्षपक-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को क्षीण करता हुआ, दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह-गुणस्थान में पहुँचता है। उसके बाद क्रमशः तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान में पहुँच जीवन का चरम साध्य-मोक्ष पा लेता है।

उपशम-श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध, मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है, क्षय द्वारा नहीं। क्षय सर्वथा नाश या ध्वंस है। उपशम में उन (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलतः मिटता नहीं, केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है। इसे राख से ढकी अग्नि के उदाहरण से समझा जा सकता है। आग पर आई हुई राख की पर्त जब तक विद्यमान रहती है, आग जलाती नहीं। पर्त हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है। वह जलाने लगती है। उपशान्त कषायों की यही स्थिति है। वे पुनः उभर आते हैं। अतः ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए साधक का अन्तर्मुहूर्त के भीतर नीचे के गुणस्थानों में पतन अवश्यम्भावी होता है। साधक को पुनः आत्मपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढ़ना होता है। बढ़ते-बढ़ते जब भी वह क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो पाता है, आगे चलकर अपना साध्य साध लेता है।

[४२१]

असम्प्रज्ञात, एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः॥

सर्वज्ञत्व, कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधता है, वह पातंजल

योगियों द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। उसमें समग्र बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, आत्मा स्वरूप-परिणत हो जाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि में एक ध्येय या आलम्बन रहता है। वह आलम्बन बीज कहा जाता है। अतएव सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि में आलम्बन नहीं होता। जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने बताया है, वहाँ सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। आलम्बन का अभाव करते-करते वृत्तियों का भी अभाव कर दिया जाता है। यह सर्ववृत्ति निरोधात्मक तथा सर्वथा स्वरूपाधिष्ठानात्मक है, निर्बीज समाधि है।[1]

[४२२]

धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशक्रशिवोदयः।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽन्वर्थयोगतः॥

धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशक्र, शिवोदय, सत्त्वानन्द तथा पर—ये नाम समाधि के ही विशेष स्थितिक्रम के सूचक हैं, जो भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिकों ने अभिहित किये हैं। अर्थ-संगतिपूर्वक प्रस्तुत विषय के साथ इनका समन्वय करना चाहिए।

धर्ममेघ शब्द का विशेष रूप से पातञ्जल योग सूत्र में प्रयोग हुआ है। वहाँ कहा गया है—

धनी जैसे पूँजी लगाकर उसके ब्याज की चिन्ता में लगा रहता है, उसी तरह जो योगी विवेकज्ञान की महिमा में भी अटका नहीं रहता, उसमें भी जिसे वैराग्य हो जाता है, विवेकख्याति जिसके निरन्तर समुदित रहती है, उसके धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।[2]

योग सूत्र में आगे बताया गया है कि धर्ममेघ समाधि के सधने पर योगी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश

---

१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। —पातञ्जल योगसूत्र १।५१

२. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। —पातञ्जल योग सूत्र ४।२९

तथा शुक्ल, कृष्ण एवं मिश्रित ये तीन कर्म-संस्कार सर्वथा उच्छिन्न हो जाते हैं।[1]

धर्ममेघ शब्द बौद्ध परम्परा में भी प्रयुक्त है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा में बुद्धत्वप्राप्ति के सन्दर्भ में विकास की दस भूमियाँ[2] मानी गई हैं, जिनमें अन्तिम (भूमि) धर्ममेघ है। यह विकास या उन्नति की चरमावस्था है। इसमें बोधिसत्त्व सर्वविध समाधि स्वायत्त कर लेता है। इस भूमि का एक नाम अभिषेक भी है। जैसे कोई नृपति अपने कुमार को यौवराज्य में अभिषिक्त करता है, वैसे ही साधक यहाँ बुद्धत्व में अभिषिक्त हो जाता है। उसका साध्य सिद्ध हो जाता है, प्राप्य प्राप्त हो जाता है। यह साधना के पर्यवसान की स्वर्णिम वेला है।

[४२३]

मण्डूक-भस्म-न्यायेन वृत्तिबीजं महामुनिः।
योग्यतापगमाद् दग्ध्वा ततः कल्याणमश्नुते॥

महान् साधक मण्डूक-भस्म-न्याय[3] से वृत्तियों के बीज को जला देता है। आत्मा की कर्म-बन्ध करने की योग्यता अपगत हो जाती है। वह कल्याण—मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

[४२४]

यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभावनियोगतः।
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग् ज्ञेयो महात्मभिः॥

जब पूर्ववर्णित योग-साधन स्वभावानुगत हो जाते है, स्वायत्त हो जाते हैं तो आत्मा की कर्म-बन्ध की योग्यता का अपगम हो जाता है, जो योगी का लक्ष्य है। उद्बुद्धचेता पुरुषों को इसे समझना चाहिए।

---

१. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। —पातञ्जल योगसूत्र ४·३०

२. मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघ।

—बौद्ध-दर्शन मीमांसा : पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १४०—१४२
(सन् १९५४, चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस—१)

३. इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत 'योग शतक' की ८६ वी गाथा के सन्दर्भ में मण्डूक-भस्म-न्याय' का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सर्वज्ञवाद—

[४२५]

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
अधिकारवशात् कश्चित् देशनायां प्रवर्तते॥

केवली (सर्वज्ञ) केवलज्ञान—सर्वज्ञता-रूपी नेत्र से अतीन्द्रिय—इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्म-देशना में धर्मोपदेश करने मे प्रवृत्त होते है, जिसके लिए वे अधिकृत हैं।

[४२६]

प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः।
अवन्ध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यं नियोगतः॥

उत्कृष्ट पुण्य-प्रभाव के कारण केवली अनेक दिव्य चिन्हों से युक्त होते हैं। अतिशय शोभाशील होते हैं। उनका धर्मोपदेश व्यर्थ नहीं जाता। भव्य प्राणी उससे उपकृत होते हैं।

तीर्थंकरों के निम्नांकित आठ प्रातिहार्य माने जाते हैं—

अशोक वृक्ष, देवों द्वारा आकाश से फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि—देवों द्वारा हर्षातिरेकवश आकाश में किये जाते जयनाद, सिंहासन, छत्र, चँवर, भामण्डल, दुन्दुभि—भेरी या नगाड़ा।[1]

[४२७]

केचित् तु योगिनोऽप्येतदित्थं नेच्छन्ति केवलम्।
अन्ये तु मुक्त्यवस्थायां सहकारिवियोगतः॥

कतिपय (बौद्ध) योगी इस प्रकार की सर्वज्ञता को असम्भव मानते हैं। दूसरे (सांख्य) योगी यों कहते हैं कि मोक्ष में सर्वज्ञत्व सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ अपेक्षित सहकारी कारण नहीं रहता।

[४२८]

चैतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक्।
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु ततः केवलमाश्रिताः॥

---

१. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। वह ज्ञान से पृथक् नहीं है। इसलिए सर्वज्ञता मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में सम्भव है। क्योंकि वह (सर्वज्ञत्व) ज्ञान का विशुद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है, जो आत्मा का स्वभाव है।

यह जैन दार्शनिकों का अभिमत है।

[४२९]

अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः।
नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम्॥

सर्वज्ञता से इन्द्रियातीत पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है, जो प्रमाण-भूत है। अतः धर्म-देशना तथा आगम-संग्रथन का वह आधार है। यदि ऐसा न माना जाए तो धर्मोपदेश एवं आगम का मूल स्रोत ही उच्छिन्न हो जाए। यह विषय अन्यत्र चर्चित है।

[४३०]

तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे संविदस्योपपद्यते।
एषां चानुभवात् सिद्धा प्रतिप्राण्येव देहिनाम्॥

आत्मा को ज्ञानरूप मानने से उसमें संवित्—ज्ञानमयी प्रतीति, चिन्मयता सिद्ध होती है। यह अनुभवसिद्ध है कि प्रत्येक प्राणी को यत् किञ्चित् संवित् प्राप्त है।

[४३१]

अग्नेरुष्णत्वकल्पं तज्ज्ञानमस्य व्यवस्थितम्।
प्रतिबन्धकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते॥

जैसे अग्नि में उष्णता अभिन्न रूप में रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान अभिन्न रूप से व्यवस्थित है—विद्यमान है। प्रतिबन्धक—अवरोध या रुकावट करने वाले कारणों के रहने से वह कार्यकारी नहीं होता।

अग्नि का स्वभाव उष्णता है किन्तु अग्नि पर किसी ऐसी वस्तु का आवरण डाल दिया जाए, जो उष्णता को रोके रहे तो उष्णता अपने स्व-भावानुरूप कार्य-प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान जब ज्ञानावर-

णीय कर्म से आवृत्त रहता है तो ज्ञेय पदार्थों के जानने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

[४३२]

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः॥

प्रतिबन्धक—बाधक का अभाव हो तो ज्ञ—जानने में सक्षम पुरुष ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ को जानने में कैसे असमर्थ रहे? अप्रतिबन्ध—बाधारहित अग्नि जलाने योग्य वस्तु कैसे नहीं जलाए? अर्थात् बाधक हेतु न होने पर अग्नि जिस प्रकार जलाने का कार्य करती है, उसी प्रकार ज्ञाता बाधक न होने पर जानने का कार्य करता है।

[४३३]

न देशविप्रकर्षोऽस्य युज्यते प्रतिबन्धकः।
तथानुभवसिद्धत्वादग्नेरिव सुनीतितः॥

केवलज्ञान या सर्वज्ञता द्वारा जानने के उपक्रम में स्थान आदि का व्यवधान बाधक नहीं होता, जैसे अग्नि की दाहकता में होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि देशकाल आदि बाह्य प्रतिबन्धक हेतु केवलज्ञान की कार्यकारिता या गति को रोक नहीं सकते।

[४३४]

अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो धर्ममात्रत्वदर्शकः।
अदाह्यावहनाद्येवमत एव न बाधकम्॥

यहाँ जो अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है, वह अंशतः व्याप्त है, आंशिक है। वह मात्र धर्म—स्वभाव का दिग्दर्शक है। जैसे अग्नि का धर्म जलाना है, उसी प्रकार ज्ञान का धर्म जानना है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है, जो अग्नि द्वारा जलायी नहीं जा सकतीं, कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण अग्नि जलाने योग्य वस्तुओं को भी जला नहीं सकती। अग्नि का यह अदाहकता, केवलज्ञान के प्रसंग में उसकी अकार्यकारिता स्थापित नहीं करती। क्योंकि यह दृष्टान्त समग्रता लिये हुए नहीं है।

[४३५]

सर्वत्र सर्वसामान्यज्ञानाज्ज्ञेयत्वसिद्धितः ।
तस्याखिलविशेषेषु तदेतन्न्यायसङ्गतम् ॥

सर्वसामान्य ज्ञान से ज्ञेयत्व की सिद्धि होती है। अर्थात् सर्वसामान्य ज्ञान द्वारा सामान्यतः सभी जानने योग्य पदार्थ ज्ञाता की क्षमता के अनुसार जाने जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट ज्ञानयुक्त आत्मा सभी वस्तुओं की सभी विशेषताओं को जान सकती है।

[४३६]

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।
ज्ञायते स च साक्षात्वाद् विना विज्ञायते कथम् ॥

ज्ञेय भाव से—ज्ञेयत्व की अपेक्षा से विशेषों का स्वभाव भी सामान्य जैसा ही है। जब सामान्य प्रत्यक्ष रूप में जाने जाते है तो विशेषों का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। अतः ऐसी आत्मा भी होनी चाहिए, जो सर्वज्ञ हो। क्योंकि लोकगत समस्त पदार्थ अपनी विशेषताओं सहित सर्वज्ञ द्वारा ही जाने जा सकते है।

[४३७]

अतोऽयं ज्ञस्वभावत्वात् सर्वज्ञः स्यान्नियोगतः ।
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

ज्ञस्वभावत्व—ज्ञातृस्वभावता के कारण—स्वभावतः ज्ञाता होने के कारण कोई आत्मा निश्चय ही सर्वज्ञाता या सर्वज्ञ हो, यह युक्तियुक्त है। अन्यथा सबको सर्वथा जानने वाला कोई न होने से आत्मा का ज्ञातृत्व समग्रतया सिद्ध नहीं होता। सूक्ष्म बुद्धि से इस पर चिन्तन करें।

[४३८-४४२]

एवं च तत्त्वतोऽसार यदुक्तं मतिशालिना ।
इह व्यतिकरे किञ्चिच्चारुबुद्ध्या सुभाषितम् ॥

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
आज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥

बुद्धिशाली अन्य तार्किक ने इस प्रसंग में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा मधुर शब्दों में जो मन्तव्य प्रकट किया है, वास्तव में वह सारहीन है।

वह मन्तव्य इस प्रकार है—

"अज्ञानी पुरुष के उपदेश का अनुसरण कर कहीं विडम्बना में न पड़ जाएँ, धोखा न खाएँ, ऐसी शंका कर समझदार लोग किसी ज्ञानी की खोज करते हैं, जिसके वचनों पर विश्वास किया जा सके।

यों जिस ज्ञानी पुरुष की बात मानने को तैयार हों, उसके ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि वह करणीय अनुष्ठान से सम्बद्ध है या नहीं। उसका ज्ञान तो कीड़ों की संख्या की गणना करने का भी हो सकता है। कीड़ों की संख्या बहुत बड़ी है। उनकी गणना करने का कार्य भी कम भारी नहीं है पर उसका हमारे लिए कहाँ उपयोग है ? हमारे लिए तो वह सर्वथा अनुपयोगी है। हमें उससे क्या लाभ ?

क्या हेय—त्यागने योग्य तथा क्या उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हेय को छोड़ने और उपादेय को अपनाने के क्या उपाय हैं—ऐसा करने का क्या विधिक्रम है—ऐसा जो जानता है, वही हमारे लिए वाञ्छनीय है, उपयोगी है, प्रमाणभूत है। जो और सब कुछ जानता हो, हमें वह इष्ट नहीं है।

जो बहुत दूर की वस्तु को देख पाये या न देख पाए, हमें उससे क्या ? हमें तो उसने प्रयोजन है, जो इष्ट—अभीप्सित, वाञ्छनीय या उपयोगी तत्त्व को देखता है, जानता है। यदि दूरदर्शी—बहुत दूर तक देख सकने वाला ही प्रमाणभूत हो तो अच्छा है, हम गीधों की उपासना—पूजा करें, जिनमें बहुत दूर तक देखने की क्षमता होती है।

उपर्युक्त अभिमत विख्यात बौद्ध तार्किक आचार्य धर्मकीर्ति का है, जिसकी उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में चर्चा की है।

[४४३]

एवमाद्युक्तसन्नीत्या हेयाद्यपि च तत्त्वतः ।
तत्त्वस्यासर्वदर्शी न वेत्यावरणभावतः ॥

उक्त मन्तव्य के समाधान के रूप में ग्रन्थकार का कथन है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में युक्तिपूर्वक समीचीनतया चर्चा की जा चुकी है कि हेय तथा उपादेय के सम्बन्ध में सर्वथा यथावत् रूप में जान पाना वैसे किसी पुरुष के लिए सम्भव नहीं होता, जो सर्वज्ञ नहीं है। क्योंकि वैसे पुरुष के ज्ञान पर कर्मावरण रहता है, जिससे वह (ज्ञान) अप्रतिहतगति नहीं होता। फलतः वह पुरुष वैसा सब जानने में सक्षम नहीं होता, जैसा कि सर्वज्ञ द्वारा सम्भव है।

[४४४]

बुद्ध्यध्यवसितं यस्मादर्थं चेतयते पुमान् ।
इतोष्टं चेतना चेह संवित् सिद्धा जगत्त्रये ॥

बुद्धि अपने द्वारा गृहीत पदार्थ पुरुष (आत्मा) की चेतना में प्रस्थापित करती है, जिससे पुरुष उसे जानता है। पर, यह कैसे सम्भव हो। क्योंकि चेतना ही ज्ञान है, यह तीनों लोकों में सिद्ध है। फिर बुद्धि द्वारा चेतना में रखा जाना, आत्मा द्वारा जाना जाना इत्यादि में समीचीन संगति प्रतीत नहीं होती।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, सांख्य दर्शन के अनुसार अहंकार तथा मनरूप अन्तःकरणयुक्त बुद्धि सब विषयों को ग्रहण करती है। अतः बुद्धि, अहंकार तथा मन करण कहे जाते हैं[५]। विषय-ग्रहण हेतु इन्हें प्रमुख द्वार के रूप में स्वीकार किया गया है। बाकी इन्द्रिय आदि उनके सहयोगी हैं, गौण हैं।

इसका कुछ और स्पष्टीकरण यों है—दीपक की तरह ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अहंकार तथा मन पुरुष के लिए पदार्थों को प्रकाशित कर बुद्धि को देते हैं, बुद्धि में सन्निहित करते हैं। पुरुष द्वारा उनका ग्रहण बुद्धि से

साधित होता है। अर्थात् बुद्धि उन्हें पुरुष तक पहुंचाती है। वही पुरुष और प्रकृति का विषय-विभाग कराती है, उनकी सूक्ष्म भिन्नता सिद्ध करती है।[1]

चेतना तथा संवित् की समानता बताते हुए प्रस्तुत पद्य में इस मन्तव्य का निरसन किया गया है। आगे के पद्यों में विशेष स्पष्टीकरण है।

[४४५]

चैतन्यं च निजं रूपं पुरुषस्योदितं यतः।
अत आवरणाभावे नैतत् स्वफलकृत् कुतः॥

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार चेतना पुरुष या आत्मा का स्वरूप है। जब आवरण—पुरुष के स्वरूप-स्वभाव को आवृत करने वाले उसको रोकने वाले हेतु नहीं हैं तो फिर चेतना अपना कार्य कैसे न करे, समझ में नहीं आता।

[४४६-४४७]

न निमित्तवियोगेन तद्भावरणसङ्गतम्।
न च तत्तत्स्वभावत्वात् संवेदनमिदं यतः॥
चैतन्यमेव विज्ञानमिति नास्माकमागमः।
किंपुनरन्महतो धर्मः प्राकृतश्च महानपि॥

सांख्य दार्शनिकों का यह तर्क है कि मोक्ष प्राप्त हो जाने पर पुरुष को पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि ज्ञान होने के निमित्त कारण मन का वहाँ अस्तित्व नहीं होता, जो (मन) प्रकृति से उत्पन्न है। मोक्षावस्था में

---

१. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥
—सांख्यकारिका ३५-३७

प्रकृति और पुरुष का सर्वथा वियोग हो जाता है। प्रकृति का जब पुरुष से पार्थक्य हो जाता है तो तत्प्रसूत सभी तत्त्व सहज ही पुरुष से पृथक् हो जाते हैं।

जानना आत्मा का स्वभाव है अतः मोक्ष होने पर भी उसे ज्ञान रहता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। हम (सांख्यवादी) चैतन्य—चेतना ही ज्ञान है, ऐसा नहीं मानते। चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न है। चेतना पुरुष का धर्म है तथा ज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न है।

[४४८]

बुद्ध्यध्यवसितस्यैवं कथमर्थस्य चेतनम्।
गीयते तत्र नन्वेतत् स्वयमेव निभाल्यताम्॥

यदि ज्ञान और चेतना भिन्न-भिन्न हैं, तब बुद्धि अपने द्वारा गृहीत जो विषय पुरुष तक पहुँचाती है, उसके सम्बन्ध में आप कैसे कह पायेंगे कि पुरुष चेतना द्वारा ग्रहण कर उसे जानता है। यों कहना सगत नहीं होता। इस पर स्वयं ही विचार करें।

[४४९-४५०]

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिकं यथा॥

विभक्तेदृषपरिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

प्रतिवादी सांख्यों की यह दलील हो सकती है—पुरुष अविकृत—विकाररहित है। जैसे स्फटिक पत्थर का अपना कोई विशेष रंग नहीं होता, जिस रंग की वस्तु उसके समीप आती है, उसकी परछाईं द्वारा वह उसी रंग में परिणत दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार अचेतन मन पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। पुरुष में जो विकार दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तविक नहीं है, मन की सन्निधि के कारण है।

स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा जल में समाया हो। उसी प्रकार बुद्धि द्वारा गृहीत विषय

पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है तो बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है, वह मानो पुरुष का ही हो।

[४५१]

स्फटिकस्य तथानाममावे तदुपधेस्तथा।
विकारो नान्यथाऽसौ स्यादन्धाश्मन इव स्फुटम् ॥

ग्रन्थकार के अनुसार इसका समाधान यों है—उक्त स्थिति तभी घटित होती है, जब स्फटिक तथा तत्समीपवर्ती किसी रंगीन वस्तु का अपने स्वभावानुरूप परिणत होने का गुण है। यदि ऐसा नहीं हो, स्फटिक के स्थान पर कोई धुंधला, मटमैला पत्थर हो तो यह सम्भव नहीं होता। वैसे ही पुरुष का उस रूप में परिणत होने का स्वभाव है, तभी वैसा होता है, अन्यथा नहीं।

[४५२]

तथा नामेष सिद्धं च विक्रियाऽप्यस्य तत्त्वतः।
चैतन्यविक्रियाऽप्येवमस्तु ज्ञानं च साऽऽत्मनः ॥

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि आत्मा में यथार्थत विक्रिया—परिणति या परिणमन भी होता है। इसी प्रकार चेतना में भी परिणमन होता है, जो आत्मा की ज्ञानरूपात्मक अवस्था है।

[४५३]

निमित्ताभावतो नो चेन्निमित्तमखिलं जगत्।
नान्तःकरणमिति चेत् क्षीणशेषस्य तेन किम् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वहाँ निमित्त का अभाव होता है। ऐसा जो कहते हो, उसका उत्तर यह है कि समस्त जगत् ही तो निमित्त है, जो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहता है। यदि कहो कि वहाँ अन्तःकरण[1] नहीं रहता तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिसके राग, द्वेष आदि समस्त दोष मिट गये हैं, उसे अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती।

---

१. बुद्धि, अहंकार तथा मन।

[४५४]

निरावरणमेतद् यद् विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।
न याति यदि तत्त्वेन न निरावरणं भवेत् ॥

यदि चेतना (आत्मा) निरावरण—सर्वथा आवरणरहित है तो फिर वह जगत को आश्रित कर विक्रिया—विकार—परिणमन कैसे प्राप्त करती है ? यदि निरावरण चेतना विकारग्रस्त होती हो तो उसे निरावरण कैसे कहा जाए ?

[४५५]

दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि नेच्छामात्रनिवर्तनात् ।
पुरुषस्यापि युक्तेयं स च चिद्रूप एव वः ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि तब तक तो इच्छा मात्र समाप्त हो जाती है, देखने-जानने की भी इच्छा मिट जाती है, ऐसा जो कहा जाता है, उसका समाधान यह है कि यदि ऐसा हो तो पुरुष (आत्मा) की अपने आपको देखने—जानने की इच्छा भी मिटनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता। शब्द से चाहे उसे इच्छा न कहा जाए, स्वभाव या वर्तन कहा जाए, पर वैसी स्थिति वहाँ विद्यमान रहती है। सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतना के रूप में है और चेतना अपने को जानना कभी बन्द नहीं करती।

[४५६]

चैतन्यं चेह संशुद्धं स्थितं सर्वस्य वेदकम् ।
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर चैतन्य का विशुद्ध रूप रहता है और वह सभी ज्ञेय पदार्थों को जानता है। सांख्य-शास्त्र में मुक्तावस्था में ज्ञान का जो निषेध किया है, वह साधारण सांसारिक ज्ञान को लेकर किया हुआ होना चाहिए, जिसे अयथार्थ समझा जाता है।

[४५७]

आत्मदर्शनतश्चेत स्यान्मुक्तिर्यत् तन्त्रनीतितः ।
तदस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः ॥

शास्त्रों में आये विवेचन से यह प्रकट है कि आत्मदर्शन से मुक्ति होती है। शास्त्रीय युक्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मा ज्ञानयुक्त होती है।

[४५८]

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धमनियोगतः।
दोषप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा न्याययोगिनः॥

कतिपय विचारक, जो मुख्यतः तर्क का आधार लिये चलते हैं, ऐसा मानते हैं कि नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ही आध्यात्मिक दोष सर्वथा मिट सकते हैं। अर्थात् समग्र रूप में दोषों के मिटने की जो बात परिकल्पित की जाती है, वह तो तभी सध सकती है, जब दोषों के आधार का ही शाश्वत अस्तित्व न हो। क्योंकि आत्मा, जिसमें दोष टिकते हैं, रहेगी तो यत्किञ्चित ही सही, दोष भी रहेंगे।

[४५९]

समाधिराज एतत् तत् तदेतत् तत्त्वदर्शनम्।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम्॥

समाधिराज (नामक ग्रन्थ) में उल्लेख है कि नैरात्म्यवाद से यथार्थ तत्त्व-दर्शन प्राप्त होता है, दुराग्रह विच्छिन्न होता है—आग्रहशून्य दृष्टि प्राप्त होती है, जो साधक के लिए दिव्य अमृत है—परम शान्तिप्रद है।

'समाधि' योग का सुप्रचलित शब्द है। यह अष्टांगयोग का आठवाँ—अन्तिम अंग है, जहाँ योग परिपूर्णता पाता है। यही देखकर योगबिन्दु के कुछ टीकाकारों ने समाधिराज का अर्थ 'उत्कृष्टतम समाधि' कर दिया है। यह भ्रान्ति रही है।

दिवंगत विद्वद्रत्न पं० सुखलालजी संघवी ने 'समाधिराज' के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ की हैं। उनके अनुसार यह एक ग्रन्थ का नाम है। 'समाधिराज' नामक ग्रन्थ है भी, जो बहुत प्राचीन है। इसके प्राप्त होने का इतिहास बड़ा रोमांचक है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता कनिष्क के समय जितनी है। भिन्न-भिन्न समयों में चीनी भाषा में इसके तीन रूपान्तर हुए, जो प्राप्त हैं। चौथा रूपान्तर तिब्बती भाषा में हुआ। मूल ग्रन्थ आकार

में छोटा था, पर वह क्रमशः वृद्धि पाता गया। ग्रन्थ का जो तिब्बती रूपान्तर है, वह तो मूल ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्द्धित रूप का भाषान्तर है। अन्तिम परिवर्द्धित रूप वाला 'समाधिराज' नेपाल में मूल रूप में प्राप्त है। समाधिराज की भाषा संस्कृत है, परन्तु वह ललित-विस्तर और महावस्तु की तरह संस्कृत-पालि-मिश्रित है। यह ग्रन्थ भारत में प्राप्त नहीं था, पर गिलगित प्रदेश में एक चरवाहे के लड़के को बकरियाँ चराते समय यह ग्रन्थ मिला। उसके साथ और भी कुछ एक ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने सुन्दर रीति से किया है और उसकी अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका लिखी है। चीन और तिब्बत में पहले से ही ग्रन्थ का जाना, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा, काश्मीर के एक प्रदेश में उसकी प्राप्ति, इसमें सूचित कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्म-संगीतियों का निर्देश, इसकी पालि-संस्कृत-मिश्रित भाषा, इसमें लिया गया शून्यवाद का आशय—ये सब बातें देखते हुए ऐसा लगता है कि यह काश्मीर के किसी भाग में अथवा पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग में रचा गया हो। समाधिराज की प्रतिष्ठा और इसका प्रचार कभी इतना अधिक रहा हो कि उसने हरिभद्र जैसे महान् जैन आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींचा।

[४६०-४६२]

तृष्णा यज्जन्मनो योनिर्ध्रुवा सा चात्मदर्शनात्।
तदभावान्न तद्भावस्तत् ततो मुक्तिरित्यपि ॥

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन।
न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखकामोऽभिधावति ॥

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि न वैराग्यस्य संभवः।
न च रागवतो मुक्तिर्दातव्योऽस्या जलाञ्जलिः ॥

तृष्णा जन्म का निश्चय ही मूल है। वह आत्मदर्शन—आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने से टिकती है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये तो तृष्णा भी नहीं रहेगी। यों तृष्णा के अभाव में मोक्ष—दुःखों का आत्यन्तिक अभाव, दुःखों से छुटकारा प्राप्त होगा।

'मैं हूँ', ऐसा देखना बन्द कर देने पर—आत्मास्तित्वमूलक इस मन्यता का अभाव हो जाने पर कोई अपने में स्नेह—आसक्ति नहीं रखता। जब आत्मा में आसक्तिमूलक प्रेम नहीं होता तो मनुष्य भौतिक सुख की कामना से नहीं भटकता।

यदि आत्मा में प्रेम या आसक्ति स्थिर होगी तो वैराग्य—विरति कभी संभव नहीं होगी। रागयुक्त की कभी मुक्ति नहीं होती। अतः मोक्ष के सिद्धान्त को छोड़ ही देना पड़ेगा।

[४६३]

नैरात्म्यमात्मनोऽभावः क्षणिकोवाऽयमित्यदः।
विचार्यमाणं नो युक्तया द्वयमप्युपपद्यते॥

उपर्युक्त अभिमत के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है—

नैरात्म्य का अर्थ आत्मा का अभाव अथवा आत्मा की क्षणिक स्थिति है। विचार करने पर ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होतीं।

[४६४]

सर्वथैवात्मनोऽभावे सर्वा चिन्ता निरर्थका।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः॥

यदि आत्मा का सर्वथा अभाव माना जाए तो सभी चिन्ताएँ—पुण्य, पाप, बन्धन, मुक्ति आदि से सम्बद्ध सब प्रकार के चिन्तन निरर्थक होंगे। नीति या न्यायवेत्ताओं का वचन है कि धर्मी—धर्मवान् या गुणवान का अस्तित्व होने पर ही धर्मों का विचार होता है। अर्थात् धर्मी होगा, तभी धर्म होंगे। धर्मी के अभाव में धर्मों का अस्तित्व ही कहाँ टिकेगा।

[४६५]

नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः।
एकान्तवुच्छतायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः॥

जब आत्मा का आत्यन्तिक अभाव हो तो नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को सचाई का कौन अनुभव करे, क्योंकि अनुभव तो आत्मा करती है,

और इस मत के अनुसार उसका अस्तित्व है नहीं। इसी प्रकार कौन इस (नैरात्म्यवाद के) सिद्धान्त का प्रतिपादन करे तथा एकान्ततः साररहित यह विषय किसके समक्ष प्रतिपादित किया जाए, किसे समझाया जाए।

[४६६-४६७]

कुमारीसुतजन्मादिस्वप्नबुद्धिसमोदिता ।
भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्ननु सा धर्म एव हि ॥
कुमार्या भाव एवेह यदेतदुपपद्यते ।
वन्ध्यापुत्रस्य लोकेऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥

स्वप्न में कुमारिका को पुत्र-जन्म की अनुभूति एक भ्रान्ति है, उसी प्रकार यह (नैरात्म्यवादी सिद्धान्त) एक भ्रान्ति है, ऐसा कहा जाता है। इसमें भी थोड़े संशोधन की गुंजाइश है। भ्रान्ति मिथ्यामूलक ही सही, एक धर्म या विषय तो है, जिसका आधार या धर्मी कुमारिका अस्तित्व लिए है। इसके स्थान पर यदि वन्ध्यापुत्र को स्वप्न आने की बात कही जाए तो वह सर्वथा असंभव होगी। क्योंकि वन्ध्या-पुत्र का कहीं अस्तित्व ही नहीं होता। यह उदाहरण नैरात्म्यवाद के साथ सर्वथा संगत है। नैरात्म्य-वाद वन्ध्या-पुत्र की तरह सर्वथा निराधार एवं अस्तित्व शून्य है।

[४६८]

क्षणिकत्वं तु नैवास्य क्षणादूर्ध्वं विनाशतः ।
अन्यस्याभावतोऽसिद्धेरन्यथान्वयभावतः ॥

आत्मा का क्षणिकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक या क्षणवर्ती आत्मा अपने उद्भव के क्षण के नष्ट होते ही नष्ट हो जाती है। यों जो आत्मा नष्ट हो गई हो, उससे दूसरी का उद्भव नहीं हो सकता। वैसा होने के लिए आगामी क्षण में भी उसकी विद्यमानता माननी होगी। दूसरे प्रकार से यदि यों माना जाए कि अगले क्षण सर्वथा अन्य—पूर्ववर्ती आत्मा से बिल्कुल असम्बद्ध आत्मा उद्भूत होती है, तब फिर पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती आत्मा में अन्वय-संगति घटित नहीं होती। प्रत्येक सन्दर्भ में दोनों की असम्बद्धता सिद्ध होती है, जो वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है।

[४६९]

भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः ।
स चानन्तरभावित्वे हेतोरस्यानिवारितः ॥

पदार्थों में भावों या पर्यायों की अविच्छिन्नता—पर्याय-शृंखलाबद्धता उनकी अन्वय-संगति का हेतु है। उसी के द्वारा पदार्थों के पूर्व-भाव तथा उत्तर-भाव की पारस्परिक सम्बद्धता संयोजित एवं सुस्थिर रहती है।

[४७०]

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः ।
अन्यजन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसंगता ॥

यदि कोई पदार्थ उत्पन्न होकर मिट जाने का स्वभाव लिए हुए हो अर्थात् पहले क्षण उत्पन्न हुआ, अगले क्षण नष्ट हुआ, यदि ऐसा हो तो वह अगले क्षण दूसरा पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि वह अन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव लिये हुए माना जाए तो उसकी निवृत्ति—नाश असंगत ठहरता है। जो स्वयं उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाए, वह अन्य को कैसे उत्पन्न करे।

[४७१]

इत्थं द्वयंकभावत्वे न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।
व्यावृत्त्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम् ॥

यदि एक पदार्थ में दोनों भाव—पूर्व पर्याय की व्यावृत्ति—व्यपगम या विनाश तथा दूसरे पर्याय का उत्पाद स्वीकार किया जाए तो अन्वय-संगति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इस पर चिन्तन करें।

[४७२]

अन्ययोऽयंस्य न आत्मा चित्रभावो यतो मतः ।
न पुनर्नित्य एवेति ततो दोषो न कश्चन ॥

आत्मा एकान्त रूप में नित्य नहीं है। मूल रूप में नित्य होने के बावजूद उसमें चित्र-भाव पर्यायों की दृष्टि से विविधता—विभिन्न रूपात्मकता है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता। ऐसा हमारा दृष्टिकोण है।

[४७३]

न चात्मदर्शनादेव स्नेहो यत् कर्महेतुकः।
नैरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात् ॥

आत्मा के दर्शन से आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने से स्नेह—आसक्ति उत्पन्न होती है, ऐसा कहना संगत नहीं है। आसक्ति तो कर्म-जनित है।

नैरात्म्यवादी दर्शन में जहाँ आत्मा को क्षणिक माना जाता है, वहाँ उस क्षण में ज्ञान द्वारा आत्म-दर्शन या आत्म-स्वीकार अपने आपका स्वीकार तो होता ही है। यदि यही आसक्ति का कारण हो तो नैरात्म्यवादी के लिए भी वैसा ही होगा। वह आसक्तिग्रस्त बनेगा। वास्तव में आत्म-दर्शन से आसक्ति होने का खतरा बताकर आत्मा की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता स्वीकार न करना समुचित नहीं है।

[४७४]

अध्रुवेक्षणतो नो चेत् कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे।
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवृत्तितः ॥

अध्रुवेक्षण—क्षणवादी दर्शन से—आत्मा को क्षणिक मानने से आसक्ति नहीं होती, यों मानते हो तो ध्रुवेक्षण—शाश्वत आत्मवादी दर्शन ने क्या अपराध किया है, उसके सन्दर्भ में भी कुछ चिन्तन करो। आत्मवाद के स्वीकार से काल-चिन्ता—भविष्य में आसक्ति होने का जो भय देखते हो, वैसा कुछ नहीं है। ज्योंही कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, आसक्ति, स्नेह, ममता—सब मिट जाते हैं।

[४७५]

उपप्लववशात् प्रेम सर्वत्रैवोपजायते।
निवृत्तौ तु न तत् तस्मिन् ज्ञाने ग्राह्यादिरूपवत् ॥

सर्वत्र उपप्लव—मोह, माया आदि के कारण प्रेम उत्पन्न होता है। जब मोह नहीं रहता, माया नहीं रहती तो प्रेम या आसक्ति नहीं होती।

संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं। ग्राह्य पदार्थ ज्ञान में विप्रतिपत्ति पैदा नहीं करते। आत्मा आसक्तिग्रस्त नहीं होती।

[४७६]

स्थिरत्वमित्यं न प्रेम्णो यतो मुख्यस्य युज्यते।
ततो वैराग्यसंसिद्धे मुक्तिरस्य नियोगतः॥

प्रेम, जिसे बन्धन का मुख्य हेतु माना जाता है, अपने आप में स्थिर नहीं है। वह तो जैसा कहा गया है, मोह आदि से जनित है। उनके मिट जाने पर वैराग्य—रागातीत या अनासक्त भाव उत्पन्न हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त होती है।

[४७७]

बोधमात्रेऽद्वये सत्ये कल्पिते सति कर्मणि।
कथं सदाऽस्याभावादि नेति सम्यग् विचिन्त्यताम्॥

बोध को ही एकमात्र सत्य—तत्त्वरूप में स्वीकार किया जाए तो कर्म कल्पित—अयथार्थ सिद्ध होता है। वैसा होने पर वैराग्यादि से प्रतिफलित मुक्ति, शुभ, अशुभ, क्रिया से प्रतिफलित सुख-दुःख आदि या तो सदा प्राप्त रहें या अप्राप्त रहें। क्योंकि जब कर्म है ही नहीं, मात्र ज्ञान है तो उस (ज्ञान) की अनुकूल प्रतिकूल स्थिति के अनुरूप सब होगा। पर, इस जगत् में वस्तुस्थिति वैसी है नहीं। इस पर सम्यक् रूप में विचार करें।

[४७८]

एवमेकान्तनित्योऽपि हन्तात्मा नोपपद्यते।
स्थिरस्वभाव एकान्ताद् यतो नित्योऽभिधीयते॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। एकान्त-नित्य का तात्पर्य आत्मा का स्थिर—अपरिवर्तनशील, अपरिणमनशील स्वभाव-युक्त होना है।

[४७९]

तदयं कर्तृभावः स्याद् भोक्तृभावोऽथवा भवेत्।
उभयानुभयभावो वा सर्वथाऽपि न युज्यते॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानने से उसमें या तो एकान्ततः कर्तृभाव होगा या भोक्तृभाव होगा। अर्थात् वैसी स्थिति में आत्मा या तो एकान्त-रूपेण कर्त्ता होगी या भोक्ता। कर्तृत्व, भोक्तृत्व—दोनों भाव उसमें एक साथ घटित नहीं होंगे।

[४८०]

एकान्तकर्तृभावत्वे कथं भोक्तृत्वसंभवः ।
भोक्तृभावनियोगेऽपि कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥

एकान्त रूप में कर्तृ-भाव होने से भोक्तृ-भाव सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार एकान्ततः भोक्तृ-भाव होने पर कर्तृ-भाव का होना कठिन है—कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

[४८१]

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति कृतं वाऽभोगमित्यपि ।
उभयानुभयभावत्वे विरोधासंभवौ ध्रुवौ ॥

अकृत—नहीं किये हुए का भोग नहीं होता—जो किया ही नहीं गया है, उसे भोगना कैसे सम्भव हो। कृत—किये हुए का अभोग नहीं होता—जो किया गया है, उसको भोगना ही होगा। वह अभुक्त कैसे रहेगा? यदि आत्मा में उभय—कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—दोनों ही स्थितियाँ मानी जायें तो सिद्धान्त में विरोध आयेगा। उसका यों मानना उसके कथन के विरुद्ध होगा। यदि आत्मा में अनुभय—दोनों ही स्थितियाँ न मानी जायें तो यह एक असम्भव बात होगी।

[४८२]

यत्तयोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते ।
परिणामित्वसंगत्या न त्वागोऽत्रापरोऽपि वः ॥

आत्मा का उभय भावत्व—आत्मा कर्त्ता है, भोक्ता है—यों उसके दोनों स्वरूपों का स्वीकार प्रतिवादी के विरुद्ध जाता है, जो उसे एकान्त-नित्य मानता है। अतएव आत्मा का परिणामित्व—परिणमनशीलता मानना संगत है। ऐसा मानने से कहीं कोई दोष नहीं आता।

[४८३]

एकान्तनित्यतायां तु तत्तथैकत्वभावतः ।
भवापवर्गभेदोऽपि न मुख्य उपपद्यते ॥

आत्मा की एकान्त-नित्यता मान लेने पर वह सर्वथा एक ही भाव में अवस्थित रहेगी। वैसी स्थिति में संसार और मोक्ष—आत्मा की संसारावस्था तथा मुक्तावस्था के रूप में कोई भेद घटित नहीं होता, जो वस्तुतः मुख्य भेद है।

[४८४]

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तं च परिणामिता ।
तथाऽनुपगमे त्वस्य रूपमेकं सदैव हि ॥

अपेक्षा-भेद से आत्मा अपने स्वभाव का (अंशतः) परित्याग कर दूसरे स्वभाव को ग्रहण करती है। अथवा जब आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है तो संसारावस्था रूप स्वभाव का परित्याग होता है, तत्प्रतिकूल शुद्धात्मक स्वभाव का अधिगम होता है। इससे आत्मा की परिणामिता—परिणमनशीलता स्पष्ट है। यदि आत्मा परिणमनशील न हो तो सदा उसका एक ही रूप रहे।

यहाँ स्वभाव शब्द आत्मा के पर्यायात्मक स्वरूप के अर्थ में प्रयुक्त है, जो परिवर्तनशील है।

[४८५]

तत् पुनर्भाविकं वा स्यावापवर्गिकमेव वा ।
आकालमेकमेतद्धि भवमुक्तौ न सद्गते ॥

उपर्युक्त रूप में यदि यह स्वीकार किया जाये कि आत्मा सदा एक ही रूप में रहती है तो उसका प्रतिफल यह होगा कि या तो वह सदा सांसारिक रूप में रहेगी या मोक्षावस्था में रहेगी। संसारावस्था में आना या उससे छूटना—ये दोनों ही बातें वहाँ घटित नहीं होतीं। क्योंकि यदि वह संसार में है तो सदा से है, सदा रहेगी। यदि वह मोक्ष में है तो वहाँ भी वैसी ही स्थिति होगी।

[४८६]

बन्धाच्च भवसंसिद्धिः सम्बन्धश्चित्रकार्यतः ।
तस्यैकान्तैकभावत्वे न त्वेषोऽप्यनिबन्धनः ॥

कर्म-बन्ध से संसारावस्था प्राप्त होती है। कर्म-बन्ध विविध प्रवृत्तियों के कारण होता है, जिसका प्रतिफल आत्मा के सांसारिक अस्तित्व की भिन्न-भिन्न दशाओं तथा अनुभूतियों में प्राप्य है। यदि आत्मा में एकान्त रूप में एकभावत्व—एकभावात्मकता—अपरिवर्तनशीलता मानी जाये तो सांसारिक रूपों, अनुभवों आदि की भिन्नता का फिर कोई कारण उपलब्ध नहीं होगा। कारण के बिना कार्य हो, यह असम्भव है।

[४८७]

नृपस्येवाभिधानाद् यः साताबन्धः प्रकीर्त्यते।
अहिशङ्काविषज्ञाताच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥

किसी को केवल नाम से राजा होने के कारण राजोचित सुख नहीं मिल सकते। इसी प्रकार किसी को सांप काट गया हो, मात्र ऐसी शंका से उसके विष नहीं चढ़ जाता। ये मिथ्या कल्पनाएँ हैं। ऐसी ही स्थिति आत्मा के एकान्त-नित्यत्व - सिद्धान्त की है। कहने भर को कोई चाहे वैसा कहे पर वास्तव में वैसा होता नहीं।

[४८८]

एवं च योगमार्गोऽपि मुक्तये यः प्रकल्प्यते।
सोऽपि निर्विषयत्वेन कल्पनामात्रभद्रकः ॥

यदि एकान्त-नित्यत्व का सिद्धान्त मान लिया जाए तो मुक्ति के लिए जो योग-मार्ग बताया जाता है, उसका फिर कोई लक्ष्य नहीं रह जायेगा। वह केवल कहने भर के लिए सुन्दर होगा।

[४८९]

दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि पूर्वसूर्दितं तथा।
आत्मनोऽपरिणामित्वे सर्वमेतदपार्थकम् ॥

पुरुष की दिदृक्षा—देखने की इच्छा की निवृत्ति हेतु प्रकृति सृष्टि-

क्रम में प्रवृत्त होती है, ऐसा सांख्य - योग के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है।

यह भी पुरुष (आत्मा) के अपरिणामी होने पर निरर्थक सिद्ध होता है।

जैसाकि सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उल्लेख किया है, सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शन में माना गया है कि पुरुष के दर्शनार्थ, पुरुष—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच महाभूत—इन सबको देखे, इस हेतु तथा पुरुष के कैवल्य—मोक्ष हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।[1]

इसका अभिप्राय यह है—यों पुरुष की विदृक्षा निवृत्त होगी, अपने स्वरूप का उसे भान होगा। (पच्चीस) तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान कर वह मुक्त हो जायेगा।[2]

महर्षि पतंजलि ने भी इसी आशय की ओर संकेत किया है कि द्रष्टा (पुरुष या आत्मा) को दर्शन में प्रवृत्त करने हेतु, उसका अपवर्ग—मोक्ष साधने हेतु दृश्य—प्रकृति आदि का प्रयोजन है।[3]

इन सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार का प्रतिपादन है कि पुरुष यदि अपरिणामी है तो यह सब असिद्ध होता है। पुरुष के परिणमनशील होने पर ही ऐसा संभाव्य है।

[४६०]

परिणामिन्यतो नीत्या चित्रभावे तथाऽऽत्मनि।
अवस्थाभेदसंगत्या योगमार्गस्य संभवः॥

आत्मा परिणामी तथा विविध भावापन्न है, यह न्याय-संगत है। ऐसा होने से ही उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ संगत ठहरती हैं। तभी योग-मार्ग की संभावना घटित होती है।

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ —सांख्यकारिका २१

२. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥—सांख्यकारिका १ गौडपादभाष्य

३. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। —पातञ्जल योग सूत्र २.२१

[४९१]

तत्स्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि ।
क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात् परिणामो भवावहः ॥

आत्मा का ऐसा अपना स्वभाव है, अतएव उसकी परिणमनशीलता तात्त्विक—वास्तविक है। अन्य—विजातीय पदार्थों के संयोग से आत्मा क्लेशमय संसारावस्था में परिणत होती है।

अविद्या—अज्ञान, अस्मिता—मोह, राग—महामोह, द्वेष—द्विष्ट-भाव एवं अभिनिवेश—सांसारिक विषयासक्ति तथा मृत्यु द्वारा सांसारिक विषयों के वियोग की भीति—योग में ये पाँच क्लेश कहे गये हैं।

[४९२]

स योगाभ्यासजेयो यत्तत्क्षयोपशमादितः ।
योगोऽपि मुख्य एवेह शुद्ध्यवस्थास्वलक्षणः ॥

योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामों का उपशम एवं क्षय होता है। आत्मशुद्धि की अवस्था योग का लक्षण है—योग से आत्म-शुद्धि अधिगत होती है।

[४९३]

ततस्तया तु साध्वेव तदवस्थान्तरं परम् ।
तदेव तात्त्विकी मुक्तिः स्यात् तदन्यवियोगतः ॥

योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुई परं साधु—परम उत्तम—अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्त्वतः वही मुक्ति है। क्योंकि तदन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व कर्म आदि से उसका वियोग हो जाता है—बन्धन से छुटकारा हो जाता है।

[४९४]

अत एव च निर्विष्टं नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः ।
वियोगोऽविद्यया बुद्धिः कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥

यही कारण है, तत्त्ववेत्ताओं ने अविद्या से वियोग, बुद्धि (बोध) तथा सर्वकर्मक्षय आदि विशेषतामूलक नामों से इसे अभिहित किया है।

ये संज्ञाएँ क्रमशः वेदान्त, बौद्ध तथा जैन दर्शन से सम्बद्ध हैं।

[४९५]

शैलेशीसंज्ञिताच्चेह समाधेरुपजायते ।
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥

विकास के पथ पर आगे बढ़ती हुई आत्मा अन्ततः शैलेशी समाधि—पर्वतराज मेरु के सदृश अडोल, अप्रकम्प, सुनिष्ठ एवं सुस्थिर अवस्था प्राप्त कर लेती है। समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं। उसे वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[४९६]

तथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेव उदाहृतः ॥

कर्म-पार्थक्य साधने, शुद्धावस्था प्राप्त करने, आत्मस्थ होने का क्रम समाधि—आत्मलीनता है। परिपक्वावस्था पा लेने पर—सर्वकर्मनिवृत्ति-रूप परम शुद्धावस्था निष्पन्न हो जाने पर उसे योगवेत्ताओं ने मुक्ति कहा है।

[४९७]

संयोगयोग्यताभावो यदिहात्मतदन्ययोः ।
कुतो न जातु संयोगो भूयो नैवं भवस्ततः ॥

यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा के कर्म के साथ संयोग की—कर्म बाँधने की योग्यता का अभाव हो जाता है। फिर आत्मा का कर्मों के साथ संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए उसे पुनः कभी संसार में—जन्म-मरण के चक्र में आना नहीं पड़ता।

[४९८]

योग्यताऽऽत्मस्वभावस्तत् कथमस्या निवर्तनम् ।
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥

योग्यता जब आत्मा का स्वभाव है, तब उसकी निवृत्ति कैसे सम्भव है?

इसका उत्तर है—प्रस्तुत योग्यता का निवर्तन—अपगम करना भी आत्मा का स्वभाव है, जिसके कारण योग्यता निवृत्त हो जाती है।

थोड़ा और प्रकाश इसी विषय पर डाला जा रहा है।

परिणामित्व

[४९९-५००]

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते ।
अस्त्वेवमपि नो दोषः कश्चिदत्र विभाव्यते ॥

परिणामित्व एवैतत् सम्यगस्योपपद्यते ।
आत्माभावेऽन्यथा तु स्यादात्मसत्तेत्यदश्च न ॥

एक ओर कर्म बांधने की योग्यता आत्मा का स्वभाव है, दूसरी ओर उस योग्यता का निवर्तन भी उसका स्वभाव है। प्रश्न उपस्थित होता है, योग्यता का निवर्तन क्या स्वनिवृत्ति—अपने स्वभाव का—स्वरूप का निवर्तन नहीं है ?

इसका उत्तर है, किसी अपेक्षा से वैसा हो, उसमें कोई दोष नहीं आता।

आत्मा के परिणमनशील स्वभाव के कारण वह उपयुक्त ही है। आत्मा का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्ता रूप में वह सदा सुस्थिर है। पर एक अवस्था छोड़ना, दूसरी में जाना, ऐसा तो उसके होता ही है। जब एक अवस्था छोड़ी जाती है तो आत्मा के उस अवस्थावर्ती भाव का अपगम होता है। वह अपगम आत्मा के ध्रुव अस्तित्व का अभाव नहीं है।

[५०१]

स्वभावविनिवृत्तिश्च स्थितस्यापीह दृश्यते ।
घटादेर्नवतात्यागे तथा तद्भावसिद्धितः ॥

जो वस्तु स्थित है—स्थिरतया विद्यमान है, उसमें स्वभाव-विशेष का परित्याग दिखाई देता ही है। जैसे घट आदि पदार्थ नवीनता को छोड़ते हैं—अपने नवीन भाव का व्यतीत होते समय के साथ परित्याग करते हैं, दूसरे भाव को स्वीकार करते हैं पर उनका मूल भाव—मौलिक अस्तित्व विद्यमान रहता है।

[५०२]

नवतायां न चात्यागस्तया नातत्स्वभावता ।
घटादेर्न तद्भाव इत्यत्रानुभवः प्रमा ॥

घड़ा अपनी नवीनता नहीं त्यागता हो, ऐसा नहीं है । नवीनता उसका स्वभाव नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । नवीनता छोड़ने पर घड़ा घड़ा नहीं रहता, उसका अस्तित्व मिट जाता हो, ऐसा भी नहीं है अर्थात् नवीनता घड़े का स्वभाव-विशेष है, जिसका वह परित्याग करता है, फिर भी घड़ा रहता है । प्रत्यक्ष अनुभव से यह ज्ञान होता ही है—यह साक्षात् अनुभव-सिद्ध है ।

[५०३]

योग्यतापगमेऽप्येवमस्य भावो व्यवस्थितः ।
सर्वोत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधिसन्निभः ॥

कर्म-सम्बद्ध होने की अपनी योग्यता का त्याग कर देने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, जो उत्सुकता, आकांक्षा, चिन्ता आदि से रहित, समुद्र की तरह शान्त एवं सुस्थिर बना रहता है ।

[५०४]

एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।
निरावाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥

कर्म-बद्ध होने की योग्यता का परित्याग कर देने पर—कर्म-बन्ध का क्रम अवरुद्ध हो जाने पर आत्मा, जिसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप क्लेश क्षीण हो गये हों, जो कृतकृत्य हो, जो करने योग्य था, उसे जो कर चुका हो, विघ्न-बाधाओं से रहित हो, शाश्वत आनन्द से युक्त हो, मोक्ष में संस्थित हो जाती है--मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है ।

[५०५]

अस्यावाच्योऽपमानन्दः कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।
अयोगो न विजानाति सम्यग् जात्यन्धवद् घटम् ॥

मुक्तात्मा द्वारा जो आनन्दानुभव किया जाता है, वह अवाच्य—अनिर्वचनीय—वाणी द्वारा न कहे जा सकने योग्य है। जैसे एक कुमारिका स्त्री-सुख नहीं जानती, एक जन्मान्ध पुरुष घट (आदि) को भलीभाँति नहीं जानता, उसी प्रकार अयोगी—योगसाधनाशून्य पुरुष मुक्ति का आनन्द नहीं जानता।

[५०६]

योगस्यैतत् फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।
आत्यन्तिकं परं ब्रह्म योगविद्भिरुदाहृतम् ॥

योग का मुख्य—वास्तविक फल परं ब्रह्म प्राप्ति या मुक्तावस्थारूप आनन्द है, जो ऐकान्तिक—निश्चित रूप में अवश्य टिकने वाला, आत्यन्तिक—नित्य टिकने वाला, अनुत्तर—जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं—सर्वोत्तम होता है। योगवेत्ताओं ने ऐसा बतलाया है।

[५०७]

सद्गोचरादिसंशुद्धिरेषाऽऽलोच्येह धीधनैः ।
साध्वी चेत् प्रतिपत्तव्या विद्वत्ताफलकाङ्क्षिभिः ॥

प्रज्ञा ही जिनकी संपत्ति है, जो अपनी विद्वत्ता का यथार्थ फल चाहते हैं, ऐसे सुयोग्य पुरुषों को योग द्वारा साध्य लक्ष्य-शुद्धि—शुद्धिपूर्वक लक्ष्य-प्राप्ति के सन्दर्भ में, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में व्याख्यात है, आलोचन—चिन्तन-विमर्श करना चाहिए। उन्हें समीचीन प्रतीत हो तो उसे अपनाना चाहिए।

[५०८]

विद्वत्ताया: फलं नान्यत् सद्योगाभ्यासतः परम् ।
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥

उत्तम योग का अभ्यास ही विद्वत्ता का महान् फल है, दूसरा नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तो निर्मलचेता सत्पुरुषों के कथनानुसार शास्त्र संसार है।

[५०९]

पुत्रदारादिसंसारः पुंसां संमूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंसारः सद्योगरहितात्मनाम् ॥

माया-मोह से विभ्रान्तचेता पुरुषों के लिए पुत्र, स्त्री आदि का संसार है और उन विद्वानों के लिए, जो योगसाधना-रहित है, शास्त्र संसार है।

[५१०]

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रायेणोक्तं तु वाञ्छितम् ।
अनेनैवानुसारेण विज्ञेयं शेषमन्यतः ॥

अब विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है। जो वाञ्छित—अभीष्ट था—कहना चाहते थे, प्रायः कह दिया है। इसी के अनुसार, अन्यान्य स्रोतों से और जानना चाहिए, समझना चाहिए।

[५११]

एवं तु मूलशुद्ध्येह योगभेदोपवर्णनम् ।
चारुमात्रादिसत्पुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥

मूल शुद्धि के आधार पर योग के भिन्न-भिन्न भेदों का यहाँ उत्तम माता-पिता के श्रेष्ठ पुत्र की विशेषताओं का ज्यों विवेचन किया गया है।

[५१२]

अन्यद् वान्ध्येयभेदोपवर्णनाकल्पमित्यतः ।
न मूलशुद्ध्यभावेन भेदसाम्येऽपि वाचिके ॥

अन्य परम्पराओं में भी योग के ऐसे भेद व्याख्यात हुए हैं, पर वहाँ मूल शुद्धि का अभाव है अतः शाब्दिक दृष्टि से वे हमारे सदृश होते हुए भी वन्ध्या-पुत्र की विशेषताओं के वर्णन की तरह कल्पना-मात्र—निःसार हैं।

वन्ध्या के पुत्र होता ही नहीं, फिर उस (पुत्र) की विशेषताओं की बात ही कहाँ फलित हो। इसी प्रकार जहाँ मूलतः ही शुद्धि नहीं है, वहाँ योग कैसे सध, फिर उसके भेदों की विवेचना का प्रश्न ही कहाँ ?

[५१३]

यथेह पुरुषाद्वैते बद्धमुक्ताविशेषतः ।
तदन्याभावनादेव तद् द्वैतेऽपि निरूप्यताम् ॥

अद्वैतवादी दर्शन में केवल 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के अनुसार केवल

एक ही आत्मा का स्वीकार है। वहाँ कर्मबद्ध आत्मा तथा कर्ममुक्त आत्मा —ऐसा भेद घटित नहीं होता। यदि बद्ध, मुक्त का भेद किया जाये तो अद्वैत खण्डित होता है, वह द्वैत बन जाता है।

यह सिद्धान्त संगत नहीं है। द्वैतवादी सिद्धान्त में भी इसी प्रकार अपनी कोटि की असंगति है।

[५१४]

अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः ।
निरंश एक इत्युक्तः स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥

अद्वैतवादी सिद्धान्त में ऐसा नहीं माना जाता कि एक ही आत्मा में अंश रूप में अनेक भाग हैं। यदि ऐसा माना जाये तो मात्र एक ही आत्मा या केवलाद्वैत की वास्तविकता नहीं ठहरती। सिद्धान्ततः आत्मा निरंश या अखण्ड है। यह निरंशता या अखण्डता ही अद्वैतवाद का आधार है।

[५१५]

मुक्तांशत्वे विकारित्वमंशानां नोपपद्यते ।
तेषां चेहाविकारित्वे सन्नीत्या मुक्ततांशिनः ॥

यदि ऐसा माना जाये कि भिन्न-भिन्न आत्माएँ मुक्तात्मा—परमात्मा की अंश रूप है तो उनमें विकार संगत नहीं होता। मुक्तात्मा अविकारी है। अविकारी के अंश अविकारी ही होते हैं, विकारी नहीं। यदि कहा जाये कि वे अंशरूप आत्माएँ अविकारी हैं तो तर्क-युक्ति पूर्वक यह सिद्ध करना होगा कि आत्मा की मुक्ति व्यष्टिरूप अंशों से निष्पन्न समष्टि रूप में होती है।

[५१६]

समुद्रोर्मिसमत्वं च यदंशानां प्रकल्प्यते ।
न हि तद्भेदकाभावे सम्यग् युक्त्योपपद्यते ॥

परमात्मा के अंशरूप में अभिमत आत्माएँ एक ही समुद्र में उठती विभिन्न लहरों के समान हैं, उपमा द्वारा ऐसा जो विवेचन किया जाता है, तद्गत तथ्य भी संगत नहीं है। जैसे समुद्र लहरों से विभक्त या प्रभावित प्रतीत होता है, वैसे परमात्मा इन आत्माओं से विभक्त या प्रभावित नहीं होता।

[५१७]

सदाद्यमत्र हेतुः स्यात् तात्त्विके भेद एव हि ।
प्रागभावादिसंसिद्धेर्न सर्वथाऽन्यथा त्रयम् ॥

आद्य—निर्विकार—शुद्ध सत्, अंश तथा भेदक—ये तीन तत्त्वतः जहाँ विद्यमान रहते हैं, वहाँ प्रागभाव[1] आदि की सिद्धि होती है। वस्तु के भावत्व की सिद्धि इन अभावों के होने, न होने के चिन्तन पर आधृत है।

[५१८]

सत्त्वाद्यभेद एकान्ताद् यदि तद्भेददर्शनम् ।
भिन्नार्थमसदेवेति तद्वदद्वैतदर्शनम् ॥

यदि सत्त्व—अस्तित्व, सत्ता आदि एकान्त रूप में अभिन्न हो अर्थात् जिस वस्तु का जैसा अस्तित्व है, वह सदा एकान्ततः उसी रूप में रहे तो जगत् में जो भिन्न-भिन्न पदार्थ, प्रयोजन तथा उद्देश्य-गत भेद दिखाई देते हैं, वे असत्—अयथार्थ, कल्पित या मिथ्या हैं, उसी प्रकार अद्वैत दर्शन भी। क्योंकि वह भी आत्मैक्य की ऐकान्तिक मान्यता पर अवस्थित है।

[५१९]

यदा नार्थान्तरं तत्त्वं विद्यते किञ्चिदात्मनः ।
मालिन्यकारि तत्त्वेन न तदा बन्धसंभवः ॥

यदि अर्थान्तर—कोई विजातीय पदार्थ आत्मा को मलिन—कलुषित बनाने वाला नहीं है तो आत्मा के बद्ध होने की—बन्ध में आने की सम्भावना नहीं रहती।

[५२०]

असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिर्बन्धाभावनिबन्धना ।
मुक्तमुक्तिर्न मन्तव्या भावेऽत्यातिप्रसङ्गिता ॥

बन्धन के न होने पर मुक्ति कहाँ से होगी। वह तो बन्धन के अपगत होने या मिटने पर होती है। जब बन्धन है ही नहीं, तब अपगत होने या

---

१. अभाव न्यायदर्शन द्वारा स्वीकृत सात पदार्थों में एक है। उसके चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव।
—तर्क भाषा पृष्ठ २२१-२२४ (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१)

मिटने का प्रसंग नहीं होता। जो मुक्त हैं, उनका पुनः मुक्त होना न्यायसंगत नहीं है। वैसा न मानना अर्थात् मुक्त की पुनः मुक्ति मानना अप्रासंगिक है, तत्त्व-व्यवस्था में बाधक है।

[५२१]

कल्पितादन्यतो बन्धो न जातु स्यादकल्पितः ।
कल्पितश्चेत् ततश्चिन्त्यो ननु मुक्तिरकल्पिता ॥

किसी अन्य कल्पित—कल्पनाप्रसूत—अयथार्थ हेतु से अकल्पित—यथार्थ बन्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाए कि बन्ध भी कल्पित ही है तो यह चिन्त्य—दोषपूर्ण है, बाधित है, क्योंकि जब मुक्ति निश्चित रूप से अकल्पित है तो बन्ध भी अकल्पित ही होगा। बन्ध से छूटना ही तो मुक्ति है। वह अकल्पित होगा तभी उससे छुटकारा सम्भव होगा। कल्पित से, जिसकी कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, कैसा छुटकारा!

[५२२-५२३]

नान्यतोऽपि तथाभावादृते तेषां भवादिकम् ।
ततः किं केवलानां तु ननु हेतुसमत्वतः ॥

मुक्तस्येव तथाभावकल्पना यन्निरर्थका ।
स्यादस्यां प्रभवन्त्यां तु बीजादेवाङ्कुरोदयः ॥

अन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व—कर्म अपना सांसारिक अस्तित्व लिए हुए है। फलतः वह तद्गत परिणमन से संपृक्त है। यदि आत्मा में तत्सम्बद्ध भावों में परिणत होने की योग्यता न मानी जाये तो भिन्न-भिन्न संसारावस्थाओं का अनुभव करना उसके लिए सम्भव नहीं होता।

यदि कहा जाये कि विजातीय तत्त्व की सम्बद्धता के बिना ही आत्मा की ऐसी योग्यता है तो इसका उत्तर यों है—विजातीय तत्त्व (कार्य) के सम्बन्ध के बिना आत्मा में ऐसी योग्यता स्वीकार करना संगत नहीं होता। उदाहरणार्थ—जैसे मुक्तात्मा में संसारावस्था में आने की योग्यता नहीं मानी जाती; जिसका कारण उसका कर्मों से असम्बद्ध होना है। इसका फलित यह हुआ, ऐसी योग्यता, अयोग्यता का आधार कर्मों से सम्बद्धता या असम्बद्धता है। फिर अमुक्त आत्माएँ कर्मों से असम्बद्ध होती हुई

भी ऐसी योग्यता रखें, यह सर्वथा असम्भव है। बीज से ही अंकुर फूटता है, पत्थर से नहीं, उसी प्रकार कर्मरूप बीज के कारण ही आत्मा में वैसी योग्यता निष्पन्न होती है, अन्यथा नहीं।

[५२४]

एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतैः ।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्यं स्वयमेव तु ॥

वस्तुतः अपना हित—कल्याण साधने में समुद्यत शास्त्रवेत्ताओं को चाहिए, वे माध्यस्थ्य-भाव का अवलम्बन कर—तटस्थ होकर प्रस्तुत विषय—योग पर विशेष रूप से चिन्तन-विमर्श करें।

[५२५]

आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥

विद्वानों के लिए कौन सिद्धान्त अपना है और कौन पराया है। जो दृष्ट—निरीक्षण-परीक्षण द्वारा बाधित न हो, इष्ट—अपने अभीप्सित लक्ष्य के प्रतिकूल न हो, उसे ग्रहण करना उनके लिए युक्त—समुचित है।

[५२६]

स्वल्पमत्यनुकम्पायै योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥

सामान्य बुद्धि युक्त पुरुषों पर अनुग्रह करने हेतु, उन्हें लाभ पहुँचाने हेतु आचार्य हरिभद्र ने योगशास्त्ररूप महासागर से योग बिन्दु—योग की बूंद समुद्धृत की—निकाली।

[५२७]

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं यदेनं शुभयोगतः ।
भवान्ध्यविरहात् तेन जनः स्तात् योगलोचनः ॥

यों योगबिन्दु समुद्धृत कर शुभ योग द्वारा उन्होंने जो पुण्य अर्जित किया, उनकी भावना है, उसके फलस्वरूप मानव-समुदाय का भवभ्रमणरूप अन्धता से विरह हो—जन्म-मरण के चक्र में डालने वाला अज्ञान छूटे, उसे योगरूप नेत्र प्राप्त हो। □

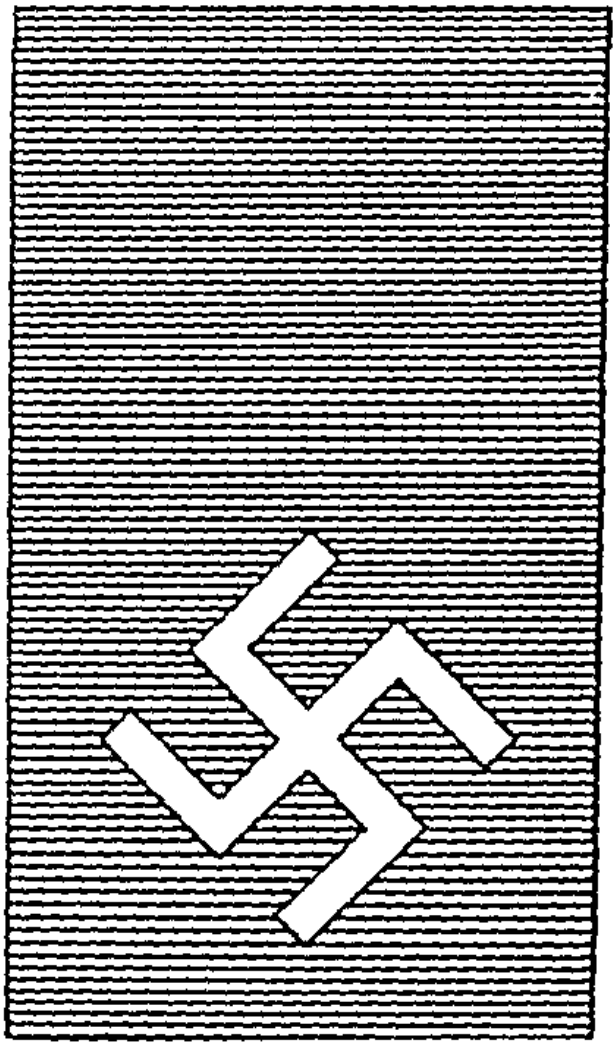

योगशतक

योगशतक

मंगलाचरण—

[१]

नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसंदंसगं महावीरं।
वोच्छामि जोगलेसं जोगज्झयणाणुसारेण ॥

योगियों के स्वामी —परम आराध्य, सुयोग-संदर्शक—आत्मोत्थान-कारी उत्तम योग-मार्ग दिखानेवाले भगवान् महावीर को नमस्कार कर मैं (अपने द्वारा किये गये) योगशास्त्रों के अध्ययन के अनुरूप संक्षेप में योग का विवेचन करूँगा।

निश्चय-योग—

[२]

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं ॥

निश्चय-दृष्टि से सद्ज्ञान—सम्यक्ज्ञान आदि अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना योग है, ऐसा योगीश्वरों ने बतलाया है। वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन—योग करता है—आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, इसलिए उसको 'योग' संज्ञा है।

[३]

सन्नाणं वत्थुगओ बोहो सद्दंसणं तु तत्थ रुई।
सच्चरणमणुट्ठाणं विहिपरिसेहाणुगं तत्थ ॥

वस्तुगत बोध—वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध सम्यक्ज्ञान है। उसमें

रुचि—आन्तरिक स्पृहा, निष्ठा सम्यक्दर्शन है। शास्त्रोक्त विधि-निषेध के अनुरूप उसका आचरण—जीवन में क्रियान्वयन सम्यक्चारित्र है। अर्थात् शास्त्रों में जिन कार्यों के करने का विधान है, उन्हें यथाविधि करना तथा जिनका निषेध है, उन्हें न करना—सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

व्यवहार-योग—

[४]

ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि।
जो संबंधो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ॥

कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र के कारणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी व्यवहारतः योग कहा जाता है।

[५]

गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जह सत्ती॥

धर्मशास्त्रों में बतायी गयी विधि के अनुरूप गुरुजनों का विनय, शुश्रूषा—सेवा, परिचर्या, उनसे तत्त्व-ज्ञान सुनने की उत्कंठा तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन अर्थात् शास्त्रविहित आचरण करना और शास्त्रनिषिद्ध आचरण न करना व्यवहार-योग है।

[६]

एतो चिय कालेणं नियमा सिद्धी पगिट्ठरूवाणं।
सन्नाणाईण तहा जायइ अणुबंधभावेणं॥

इससे—व्यवहार-योग के अनुसरण से कालक्रम से प्रकृष्टरूप—उत्तरोत्तर विशेष शुद्धि प्राप्त करते सम्यक्ज्ञान आदि की—निश्चय-योग की सिद्धि अविच्छिन्न रूप में निष्पन्न होती है।

[७]

अद्धेणं गच्छंतो सम्मं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ।
जह तह पुरुविणयाइसु पयट्टओ एत्थ जोगित्ति॥

अपने इष्ट—इच्छित—लक्षित नगर की ओर यथाशक्ति जाता हुआ पुरुष जैसे इष्टपुरपथिक कहा जाता है, उसी प्रकार गुरु विनय आदि में प्रवृत्त साधक, जो सम्यक्ज्ञान आदि की परिपूर्ण उपलब्धिरूप योग को आत्मसात् नहीं कर सका है, पर उस पर यथाशक्ति गतिशील होने के नाते योगी कहा जाता है।

योग के अधिकारी—

[८]

अहिगारिणो उवाएण होइ सिद्धी समत्थवत्थुम्मि ।
फलपरिसभावाओ विसेसओ जोगमग्गम्मि ॥

अधिकारी—योग्य प्रयोक्ता को समर्थ वस्तु में—जो वस्तु जो कार्य निष्पन्न करने में सक्षम है, उपाय द्वारा सिद्धि—सफलता प्राप्त होती है। उसका उत्तम परिणाम आता है। विशेषतः योग-मार्ग में तो ऐसा ही है। अर्थात् योग-साधना में योग्य अधिकारी या साधक को उपायरत रहने से सिद्धि प्राप्त होती है तथा आत्म-अभ्युदय के रूप में उसकी उत्तम फल-निष्पत्ति प्रस्फुटित होती है।

[९]

अहिगारी पुण एत्थं विन्नेओ अपुणबंधगाइ त्ति ।
तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽणेगभेओ त्ति ॥

जहाँ योग-मार्ग में अपुनर्बन्धक—चरम पुद्गलावर्त में अवस्थित अथवा संसार का अपना अन्तिम कालखण्ड बिताने की स्थिति में विद्यमान जीव अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिए। कर्म-प्रकृति की निवृत्ति या क्षयोपशम आदि की स्थिति के अनुसार वह अधिकार अनेक प्रकार का होता है।

अपुनर्बन्धक जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जीव कर्म-बन्ध करता है। कर्मों की अवधि तथा फल देने की शक्ति आदि का आधार कषाय की तीव्रता या मन्दता है। कषाय जितनी तीव्रता या मन्दता लिये होगा, फल उतना ही कटु या मधुर होगा, अवधि उतनी ही लम्बी या छोटी होगी।

जैन-दर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य—कम से कम तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक दो प्रकार की आबाधिक स्थितियाँ मानी गयी हैं। आठों कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ सागरोपम है। इसका अभिप्राय यह हुआ, जो जीव अत्यन्त तीव्र कषाय से युक्त होता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति का मोहनीय कर्म बाँधता है। कई जीव ऐसे होते हैं, जिनका कषाय मन्द होता जाता है, वे कम अबाधि का कर्म-बन्ध करते हैं। कषाय-मन्दता के क्रम की एक ऐसी स्थिति होती है, जहाँ कर्म-बन्ध बहुत हलका होता है।

जीव चरम-पुद्गल-परावर्त-स्थिति में होता है, उस समय कषाय बहुत ही मन्द रहता है। वह जीव तीव्रतम कषाय या संक्लेशमय परिणाम-युक्त नहीं बनता। फलतः वह फिर सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। जैन-दर्शन की भाषा में उसे अपुनर्बन्धक कहा जाता है। उसकी दूसरी संज्ञा शुक्लपाक्षिक भी है, क्योंकि मोहनीय कर्म के तीव्र भाव का अन्धेरा या कालिमा वहाँ रह नहीं जाती। आत्मा के सहज गुणों का उदय—उज्ज्वलता या शुक्लता प्रकाश में आने लगती है। अपुनर्बन्धकता की स्थिति पा लेने के बाद जीवन सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागमयी कर्मग्रन्थि टूट जाती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाता है। फिर क्रमशः आत्मरति तथा परविरति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य साध लेता है।

यहाँ प्रयुक्त चरम पुद्गलावर्त शब्द को भी समझ लेना चाहिए। यह भी जैन पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जीव अनादि काल से शरीर, मन, वचन आदि द्वारा संसार के पुद्गलों का किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन करता आ रहा है। कोई जीव विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण व विसर्जन कर चुकता है—सबका भोग कर लेता है, वह एक पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

यह पुद्गलों के ग्रहण-त्याग का क्रम जीव के अनादि-काल से चलता आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्तों में

से गुजरता रहा है। यही दीर्घ-संसार की शृंखला या चक्र है। इस चक्र में भटकते हुए जीवों में कई भव्य या मोक्षाधिकारी जीव भी होते हैं, जिनका कषाय-मान्द्य बढ़ता जाता है, मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वभाव कुछ-कुछ उद्भासित होने लगता है। ऐसी स्थिति आजाने पर जीव की संसार में भटकने की स्थिति परिमित या सीमित हो जाती है। संसार के समस्त पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सके, मात्र इतनी अवधि बाकी रह जाती है। उसे चरम-पुद्गलावर्त या चरमावर्त कहा जाता है।

[१०]

अनियत्ते पुण तीए एगंते णेव हंदि अहिगारो।
तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारित्ति ॥

यदि तीव्र कर्म-प्रकृति निवृत्त नहीं हुई हो, व्यक्ति तत्परतन्त्र—उसके वशंगत हो—उस द्वारा परिचालित हो तो वह निश्चय ही योग का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उस पर भव-राग— सांसारिक रागात्मकतामय भाव छाया रहता है।

[११]

तप्पोग्गलाण तग्गज्झसहावावगमओ य एयं ति।
इय दट्ठव्वं इहरा तह बंधाई न जुज्जंति ॥

जीव द्वारा गृहीत होना तथा उससे अपगत होना—पृथक होना कर्म-पुद्गलों का स्वभाव है। इसी कारण ऊपर वर्णित अधिकार-अनधिकार संगत है। यदि ऐसा न हो—कर्म आत्मा द्वारा गृहीत न हों, आत्मा से वियुक्त न हों तो बन्ध आदि की स्थिति घटित ही नहीं होती।

[१२]

एयं पुण निच्छयओ अइसयनाणी वियाणई नवरं।
इयरो वि य लिंगेहिं उवउत्तो तेण भणिएणं ॥

आत्मा तथा कर्म के सम्बन्ध के विषय में निश्चित रूप से अतिशय ज्ञानी—पूर्णज्ञानी या सर्वज्ञ ही जानते हैं। दूसरे—छद्मस्थ—असर्वज्ञ

अनुमान आदि द्वारा तथा सर्वज्ञ-भाषित—शास्त्र-ज्ञान द्वारा उसके विषय में जानते हैं।

अपुनर्बन्धक आदि की पहिचान—

[१३]

पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं।
उचियट्ठिइं च सेवइ सत्तवं वि अपुणबंधो त्ति ॥

जो तीव्र भाव—उत्कट कलुषित भावना-पूर्वक पाप-कर्म नहीं करता, जो घोर—भीषण, भयावह संसार को बहुत नहीं मानता—उसमें आसक्त या रचा-पचा नहीं रहता, जो लौकिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक—सभी कार्यों में उचित स्थिति, न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है, वह अपुनर्बन्धक है।

[१४]

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइं ॥

धार्मिक तत्त्व सुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, आत्मसमाधि—आत्मशान्ति या श्रद्धासंभृत सुस्थिर भाव से नियमपूर्वक गुरु तथा देव की सेवा, परिचर्या—ये सम्यक्दृष्टि जीव के चिन्ह हैं।

[१५]

मग्गणुसारी सड्ढो पन्नवणिज्जो किरियावरो चेव।
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥

सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला, श्रद्धावान्, धर्मोपदेश के योग्य, क्रियाशील—धर्मक्रिया में अनुरत, गुणों में अनुरागी, यथाशक्ति अध्यात्म-साधना में यत्नशील व्यक्ति चारित्री कहा जाता है।

[१६]

एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा मुणेयव्वो।
आणापरिणइभेया अंते जा वीयरागो त्ति ॥

यह चारित्री वीतरागदशा प्राप्त होने तक सामायिक—समत्व की

शुद्धि के भेद से—समत्व-साधना की तरतमता से तथा वीतराग-आज्ञा—शास्त्रज्ञान की परिणति—जीवन में क्रियान्विति के अनुसार अनेक प्रकार का होता है, यह जानना चाहिए।

सामायिक : शुद्धि, अशुद्धि—

[१७]

पडिसिद्धेसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि।
सामाइयं असुद्धं सुद्धं समयाए दोसु पि ॥

शास्त्र में जिनका निषेध किया गया है, ऐसे विषयों में द्वेष—अप्रीति, जिन विषयों का शास्त्र में विधान किया गया है, उनके सम्बन्ध में थोड़ा भी राग—इनके कारण सामायिक अशुद्ध हो जाती है। जो इन दोनों में—निषिद्ध और विहित में समभाव रखता है, उसके सामायिक शुद्ध होती है।

[१८]

एयं विसेसनाणा आवरणावगमभेयओ चेव ।
इय दट्ठव्वं पढमं भूसणठाणाइपत्तिसमं ॥

विशेष ज्ञान के कारण तथा कर्मावरण हटने की तरतमता के कारण वह शुद्ध सामायिक, सम्यक्दर्शन के लाभ के परिणाम-स्वरूप जीवन में फलित होने वाले शुभ चिन्हों में से कौशल, तीर्थसेवन, भक्ति, स्थिरता तथा प्रभावना, जो भूषण कहे जाते हैं, के सिद्ध होने पर एवं आसन आदि के सिद्ध होने पर प्रथम सामायिक अथवा सम्यक्त्व-सामायिक है, ऐसा जानना चाहिए।

ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण नामक अपने एक दूसरे ग्रन्थ में तथा उत्तरवर्ती उपाध्याय यशोविजयश्री ने अपनी 'सम्यक्त्व प्राप्ति' नामक कृति में इस सन्दर्भ में विशेष रूप से चर्चा की है। उनके अनुसार सम्यक्दर्शन, जिसे पातञ्जल योग की भाषा में विवेकख्याति कहा जा सकता है, जो सामायिक शुद्धि की पहली सीढ़ी है, प्राप्त हो जाने पर जीवन में सहजतया एक परिवर्तन आ जाता है। जीवन की दिशा बदल जाती है। फलस्वरूप जीवन-व्यवहार में, चिन्तन-क्रम में कुछ ऐसी विशेष-

तायें आ जाती हैं, जिससे विवेक-प्रसूत पवित्रता का दिग्दर्शन होता है। यहाँ ये सम्यक्त्व के सड़सठ चिन्हों के रूप में व्याख्यात हुई हैं। उनमें उपबृंहण कौशल आदि पाँच 'भूषण' संज्ञा से अभिहित हुए हैं।

[१९]

किरिया उ दंडजोगेण चक्कभमणं व होइ एयस्स।
आणाजोगा पुव्वाणुवेहओ चेव नवरं ति ॥

चक्र को दण्डे से घुमा देने पर जैसे वह चलने लगता है, उसी प्रकार उक्त साधक की जीवन-चर्या, व्यावहारिक क्रिया-प्रक्रिया शास्त्रयोग से— शास्त्रानुशीलन से प्राप्त पूर्व संस्कारों द्वारा चलती रहती है।

[२०]

वासीचंदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणी समपक्खाओ।
भयमोक्खापडिघडो अभो य पाएण सत्थेसु ॥

शास्त्रों में मुनि को वासि-चन्दनसदृश कहा गया है - जो वसूला, कुल्हाड़ा चन्दन के वृक्ष को काटता है, वह वृक्ष उसको भी सुगन्धित करता है। उसी प्रकार साधु बुरा करने वाले का भी भला करता है। वह सुख-दुःख में समान भाव रखता है। जैसे कोई उसकी देह को वसूले से छीलता है, कोई उसकी देह पर चन्दन का लेप करता है, वह दोनों को ही समान मानता है। न वह देह छीलने वाले [illegible] होता है [illegible] का लेप करने वाले पर प्रसन्न होता [illegible] न संसार [illegible] होता है और न मोक्ष में ही आसक्ति [illegible] वनासक्त [illegible] क्रिया में तत्पर रहता है। [illegible] मुक्त

शास्त्राज्ञा रूपी अमृत से युक्त है—शास्त्रनिरूपित दिशा के अनुरूप है, वह सभी योग है।

[२२]

तल्लक्खणजोगाओ चित्तवित्तीनिरोहओ चेव ।
तह कुसलपवित्तीए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

चित्तवृत्ति का निरोध, कुशल—पुण्यात्मक प्रवृत्ति, मोक्ष से योजन—जोड़ना—इत्यादि योग के लक्षण भिन्न-भिन्न श्रेणी, परम्परा आदि के व्यक्तियों के समुचित अनुष्ठान में घटित हैं—संगत हैं।

[२३]

एएसि पि य पायंऽपज्झाणाजोगओ उ उचियम्मि ।
अणुट्ठाणम्मि पवित्ती जायइ तह सुपरिसुद्धि त्ति ॥

दूषित ध्यान एवं संक्लेशमय संस्कारों के न होने के कारण इन भिन्न-भिन्न अधिकारियों—योग्य साधकों की अपने-अपने अनुष्ठान में प्रवृत्ति—योगाभ्यास आदि साधनाक्रम सुपरिशुद्ध होता है।

[२४]

गुरुणा लिंगेहिं तओ एएसिं भूमिगं मुणेऊणं ।
उवएसो दायव्वो जहोचियं ओसहाहरणा ॥

गुरु को चाहिए कि वे उनके लक्षणों से उनकी भूमिका पहचानें और उनके लिए जैसा उचित समझें, उपदेश करें, जैसे सुयोग्य चिकित्सक भिन्न-भिन्न रोगियों की दैहिक स्थिति, प्रकृति आदि देखते हुए औषधि, औषधि की मात्रा, अनुपान, पथ्य आदि सब बातों का ध्यान रखकर जिस रोगी को जिस प्रकार जो औषधि देनी हो, देता है।

प्रथम श्रेणी का साधक—

[२५]

पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं ।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥

अपुनर्बन्धक जैसे प्रथम भूमिका के साधारण साधक को पर-पीड़ा-वर्जन—दूसरों को कष्ट न देना, गुरु, देव तथा अतिथि की पूजा—सत्कार, सेवा आदि, दीन जनों को दान, सहयोग आदि—ये कार्य करते रहने का उपदेश करना चाहिए।

[२६]

एवं चिय ववहारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स।
रण्णे पहपम्मट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडण्डी बतला दी जाये तो वह उससे अपने सही मार्ग पर पहुँच जाता है, वैसे ही यह साधक लोक-धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है।

द्वितीय श्रेणी का साधक—

[२७-२८]

बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि अणुव्वयाइ अहिगिच्च।
परिसुद्धाणाजोगा तस्स तहाभावमासज्ज ॥

तस्साऽऽसन्नतणओ तम्मि इहं पवत्तवायजोगाओ।
सिग्घं परिणामाओ सम्मं परिपालणाओ य ॥

विशुद्ध आज्ञा-योग शास्त्रीय विधिक्रम के आधार पर दूसरी श्रेणी के साधक (सम्यक्‌दृष्टि) के भाव—परिणाम आदि की परीक्षा कर उसे लोकोत्तर धर्म—अध्यात्म-धर्म—अणुव्रत आदि का उपदेश करना चाहिए। यही उपदेश परिपालन की दृष्टि से उसके सन्निकट है। इसी में उसकी विशेष अभिरुचि संभावित है। इसका फल शीघ्र प्राप्त होता है तथा सरलता से इसका पालन किया जा सकता है।

तृतीय श्रेणी का साधक—

तीसरी श्रेणी के साधक (चारित्री) को नीति-युक्तिपूर्वक सामायिक आदि से सम्बद्ध परमार्थोद्दिष्ट भावप्रधान उपदेश देना चाहिए, जिससे वह उत्तम योगसिद्धि की ओर बढ़ता जाये।

गृही साधक—

[३०-३२]

स धम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं ।
जिणपूय-भोयणविही संझानियमो य जोगो तु ॥
चियवंदण-जइविस्सामणा य सवणं च धम्मविसयंति ।
गिहिणो इमो वि जोगो किं पुण जो भावणामग्गो ॥
एमाइ वत्थुविसओ गहीणमुवएसमो मुणेयव्वो ।
जइणो पुण उवएसो सामायारी तहा सव्वा ॥

सद्धर्म के अनुरोध से—धर्माराधना में बाधा न आये, यह ध्यान में रखते हुए गृही साधक अपनी आजीविका चलाये, विशुद्ध—निर्दोष दान दे, वीतराग की पूजा करे, यथाविधि भोजन करे, सन्ध्याकालीन उपासना के नियमों का पालन करे। यह योग के अन्तर्गत है।

चैत्य-वन्दन, यति—त्यागी साधु को स्थान, पात्र आदि का सहयोग, उनसे धर्म-श्रवण—गृही के लिए यह सब योग है। फिर भावना-मार्ग का अभ्यास करे—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य तथा अनित्यत्व, अशरणत्व, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्मस्वाख्यातत्व, लोक, बोधिदुर्लभत्व—मन में ये उत्तम भावनाएँ लाने, उनसे अनुभावित एवं अनुप्राणित होने की तो बात ही क्या, वह तो योग का पावन पथ है ही।

यह जो उपदेश किया गया है, गृहस्थ के लिए समझना चाहिए। साधु के लिए उपदेश समाचारी—आचार—विधि में आ जाता है।

समाचारी—

[३३-३५]

गुरुकुलवासो गुरुतंतयाए उचियविणयस्स करणं च ।
वसहोपमज्जणाइसु जत्तो तह कालवेक्खाए ॥

अणिगूहणा बलम्मी सव्वत्थ पवत्तणं पसंतीए ।
निपलाभचिंतणं सह अणुग्गहो मे त्ति गुरुवयणे ॥

संवरनिच्छिद्दत्तं सुद्धऽच्छाजीवणं सुपरिसुद्धं ।
विहिसज्झाओ मरणादवेक्खणं जइजणुवएसो ॥

गुरु के तन्त्र—आज्ञा में रहते हुए गुरुकुल में निवास करना, यथोचित रूप में विनय-धर्म का पालन करना, यथासमय अपने रहने के स्थान के प्रमार्जन आदि में यत्नशील रहना, अपना बल छिपाये बिना—मैं क्यों इतना कष्ट करूँ, इस संकीर्ण भावना से अपना बल न छिपाते हुए अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाते हुए सभी कार्यों में शान्तभाव से प्रवृत्त रहना, गुरु के वचनों का पालन करने में मेरा लाभ—कल्याण है, यों सदा चिन्तन करना, निर्दोष रूप में संयम का पालन करना, विशुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करना, यथाविधि स्वाध्याय करना तथा मृत्यु जैसे कष्टों का सामना करने को समुद्यत रहना—यह यति-धर्म है ।

उपदेश : नियम—

[३६]

उवएसो विसयम्मी विसए वि अणोहसो अणुवएसो ।
बंधनिमित्तं नियमा जहोइओ पुण भवे जोगो ॥

सुयोग्य साधक को उचित विषय में करने योग्य कार्यों का उपदेश देने के साथ-साथ उसमें बाधा उत्पन्न करने वाली हेय बातों से बचने का उपदेश न दिया जाये तो ऊपर योग-साधना का जो विधिक्रम बताया गया है, वह अवश्य ही बन्धन का कारण बनता है ।

[३७]

गुरुणो अजोगिजोगो अच्चंतविओगदारुणो नेओ ।
जोगिगुणहीलणा-नट्ठनासणा-[illegible] ॥

वह अत्यन्त विपाक-दारुण—परिणाम में अत्यधिक कष्टप्रद होता है, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि उससे योगी के गुणों की अवहेलना होती है, वह अयोग्य पुरुष स्वयं अपना नाश करता है तथा औरों का भी नाश करता है। इससे धर्म का हलकापन दीखता है।

[३८]

एयम्मि परिणयम्मी पवत्तमाणस्स अहियठाणेसु ।
एस विही अइनिउणं पायं साहारणो नेओ ॥

यों जीवन में परिपक्वता पा लेने के बाद उत्तरवर्ती उत्तम गुणस्थानों में प्रवर्तन करते हुए—चढ़ते हुए साधकों के लिए अत्यन्त निपुणता—सूक्ष्मता-पूर्वक कहे जाते नियमों को प्रायशः साधारण—सर्वग्राह्य मानना चाहिए।

[३९]

नियसहावालोयण-जणवायावगम-जोगसुद्धेहिं ।
उचियत्तं नाऊणं निमित्तओ सय पयट्टेज्जा ॥

अपने स्वभाव—प्रकृति का अवलोकन करते हुए, जनवाद—लोकवाद—लोकपरंपरा को जानते हुए शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य समझकर बाह्य निमित्त—शकुन—स्वर, नाड़ी, अंगस्फुरण आदि का अंकन करते हुए उनमें (नियमों के अनुसरण में) प्रवृत्त होना चाहिए।

[४०]

गमणाइएहिं कायं निरवज्जेहिं वयं च भणिएहिं।
सुहचिंतणेहिं य मणं सोहेज्जा जोगसिद्धि त्ति ॥

निर्दोष गमन आदि—यत्नपूर्वक—यतना सहित जाना, आना, उठना, बैठना, खाना, पीना आदि क्रियाओं द्वारा शरीर का, निरवद्य—पापरहित वाणी द्वारा वचन का तथा शुभ चिन्तन द्वारा मन का शोधन करना योगसिद्धि है।

[४१]

सुहसंठाणा अन्ने कायं वायं च सुहसरेणं तु ।
सुहसुविणेहिं च मणं जाणेज्जा साहुसिद्धि त्ति ॥

इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्थान—वरिष्ठ आकार-प्रकार द्वारा शरीर की, शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए।

[४२]

एत्थ उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।
आसज्जइ गुणठाणं सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र, शुभ काल आदि का अवलम्बन कर सद्गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया-समुदय स्वीकार किया जाता है, तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त होता है।

[४३]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धोपहाणमो नेओ ।
सम्मं अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त-शुद्धि की प्रधानता है, ऐसा जानना चाहिए। अतः अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभाँति अवेक्षण—अवलोकन करे—इस पर चिन्तन-विमर्श करे अन्यथा यह विधि परिशुद्ध नहीं होती।

[४४]

उड्ढं अहिगगुणेहिं तुल्लगुणेहिं च निच्चसंवासो ।
सगुणठाणोचियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों, उनका सदा सहवास करना चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए। स्मृति-समायुक्त होते हुए—अपनी आचार-विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

[४५]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।
अरई य अहिगयगुण तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

उत्तर गुणों का—अहिंसा आदि मूल गुणों के परिपोषक गुणों का बहुमान करना चाहिए—उनका आदरपूर्वक पालन करना चाहिए। स्वीकार किये हुए गुणों में अरति—अरुचि हो तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अरति-निवारण—

[४६-४८]

अकुसलकम्मोदयपुव्वरूवमेसा जओ समक्खाया ।
सो पुण उवायसज्झो पाएण भयाइसु पसिद्धो ॥
सरणं भए उवाओ रोगे किरिया विसम्मि मंतो त्ति ।
एए वि पावकम्मावक्कमभेया उ . तत्तेण ॥
सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओ त्ति कम्मरोगम्मि ।
मंतो पुण सज्झाओ मोहविसविणासणो परमो ॥

बताया गया है कि अरति अशुभ कर्मों के उदय का पूर्वरूप—कारण है। पर भय आदि अशुभ कर्मोदय रूप अरति का निवारण प्रायः उपायसाध्य है—उपाय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है।

भय उत्पन्न होने पर समर्थ की शरण, रोग हो जाने पर चिकित्सा, पथ्य, परहेज आदि क्रिया तथा विष से दुष्प्रभावित होने पर मन्त्र शरण है—उन द्वारा ये विकार दूर हो सकते है, उसी प्रकार अशुभ कर्म का निवारण करने के लिए भी तात्त्विक उपाय है।

प्रस्तुत प्रसंग में भयाक्रान्त के लिए गुरु शरण है, कर्म-रोग को मिटाने में तप क्रिया—चिकित्सा है तथा मोहरूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मन्त्र है।

[४९]

एएसु जत्ताकरणा तस्सोवक्कमणभावओ पायं ।
नो होइ पच्चवाओ अवि य गुणो एस परमत्थो ॥

इन उपायों में प्रयत्नशील रहने से, पाप-कर्म के अपक्रम से—पाप-बल घटने से, मिटने से साधना में प्रायः कोई विघ्न नहीं आता। वस्तुतः

इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्थान—वरिष्ठ आकार-प्रकार द्वारा शरीर की, शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए।

[४२]

एत्थ उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।
आसज्जइ गुणठाणं सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र, शुभ काल आदि का अवलम्बन कर सद्गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया-समुदय स्वीकार किया जाता है, तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त होता है।

[४३]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धीपहाणमो नेओ ।
सम्मं अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त-शुद्धि की प्रधानता है, ऐसा जानना चाहिए। अतः अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभाँति अवेक्षण—अवलोकन करे—इस पर चिन्तन-विमर्श करे अन्यथा यह विधि परिशुद्ध नहीं होती।

[४४]

उड्ढं अहियगुणेहिं तुल्लगुणेहिं च निच्चसंवासो ।
तग्गुणठाणोचियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों, उनका सदा सहवास करना चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए। स्मृति-समायुक्त होते हुए—अपनी आचार-विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

[४५]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।
अरई य अहिगयगुण तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

उत्तर गुणों का—अहिंसा आदि मूल गुणों के परिपोषक गुणों का बहुमान करना चाहिए—उनका आदरपूर्वक पालन करना चाहिए। स्वीकार किये हुए गुणों में अरति—अरुचि हो तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अरति-निवारण—

[४६-४८]

अकुसलकम्मोदयपुव्वरूवमेसा जओ समक्खाया ।
सो पुण उवायसज्झो पाएण भयाइसु पसिद्धो ॥
सरणं भए उवाओ रोगे किरिया विसम्मि मंतो त्ति ।
एए वि पावकम्मावक्कमभेया उ . तत्तेण ॥
सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओ त्ति कम्मरोगम्मि ।
मंतो पुण सज्झाओ मोहविसविणासणो परमो ॥

बताया गया है कि अरति अशुभ कर्मों के उदय का पूर्वरूप—कारण है। पर भय आदि अशुभ कर्मोदय रूप अरति का निवारण प्रायः उपायसाध्य है—उपाय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है।

भय उत्पन्न होने पर समर्थ की शरण, रोग हो जाने पर चिकित्सा, पथ्य, परहेज आदि क्रिया तथा विष से दुष्प्रभावित होने पर मन्त्र शरण है—उन द्वारा ये विकार दूर हो सकते हैं, उसी प्रकार अशुभ कर्म का निवारण करने के लिए भी तात्त्विक उपाय हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में भयाक्रान्त के लिए गुरु शरण है, कर्म-रोग को मिटाने में तप क्रिया—चिकित्सा है तथा मोहरूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मन्त्र है।

[४९]

एएसु जत्ताकरणा तस्सोवक्कमणभावओ पायं ।
नो होइ पच्चवाओ अवि य गुणो एस परमत्थो ॥

इन उपायों में प्रयत्नशील रहने से, पाप-कर्म के अपक्रम से—पाप-बल घटने से, मिटने से साधना में प्रायः कोई विघ्न नहीं आता। वस्तुतः

यह प्रयत्न पारमार्थिक है—साधक की उन्नति की दृष्टि से विशेष लाभप्रद है।

[५०]

चउसरणगमण-दुक्कडगरिहा सुकयाणुमोयणा चेव ।
एस गणो अणवरयं कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥

अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा धर्म—इन चार की शरण, दुष्कृत-गर्हा—पापों की निन्दा तथा सुकृत-अनुमोदना—शुभ कर्मों का समर्थन, प्रशंसा—इन क्रियाओं को पुण्य-हेतु—श्रेयस्कर मानते हुए निरन्तर करते रहना चाहिए।

नवाभ्यासी की प्रमुख चर्या—

[५१-५२]

चरमाणपवत्ताणं जोगीणं जोगसाहणोवाओ ।
एसो पहाणतरओ नवर पवत्तस्स विन्नेओ ॥

भावण-सुयपाढो तित्थसवणमसयं तयत्थजाणम्मि ।
तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोसवेक्खाए ॥

ऊपर वर्णित तथ्य चरमपुद्गलावर्त में विद्यमान योगियों के लिए योग-साधना का उपाय—आचरणीय विधि है। साधना में प्रवृत्त मात्र योगियों के लिए—नवाभ्यासी साधकों के लिए यहाँ प्रतिपादित किया जा रहा कार्यक्रम प्रमुख उपाय के रूप में समझा जाना चाहिए।

ऐसे साधक को भावना—अनुचिन्तना, सद्विचारणा, शास्त्र-पाठ, तीर्थ-सेवन, बार-बार शास्त्र-श्रवण, उसके अर्थ का ज्ञान, तत्पश्चात् सूक्ष्मतापूर्वक आत्मप्रेक्षण—अपने दोषों तथा कमियों का बारीकी से अवलोकन—इन कार्यों में अभिरत रहना चाहिए।

कर्म-प्रसंग—

[५३]

रागो दोसो मोहो एए एत्थाऽऽयदूसणा दोसा ।
कम्मोदयसंजणिया विन्नेया आयपरिणामो ॥

आत्मा को दूषित—कलुषित करने के कारण राग, द्वेष तथा मोह दोष कहे गये हैं। वे कर्मों के उदय से जनित आत्मपरिणाम हैं।

[५४]

कम्मं च चित्तपोग्गलरूवं जीवस्सऽणाइसंबद्धं ।
मिच्छत्ताइनिमित्तं नाएणमईयकालसमं ॥

कर्म विविध पुद्गलमय हैं। वे जीव के साथ अनादि काल से सम्बद्ध हैं। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा वे आत्मा के साथ संपृक्त होते है। भूतकाल के उदाहरण से इसे समझना चाहिए।

[५५]

अणुभूयवत्तमाणो सव्वोवेसो पवाहओऽणाइ ।
जह तह कम्मं नेयं कयकत्तं वत्तमाणसमं ॥

जो भी भूतकाल है, वह वर्तमान का अनुभव किये हुए है—कभी वह वर्तमान के रूप में था। फिर भूत के रूप में परिवर्तित हुआ। इस अपेक्षा से वह सादि है पर प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म को भी वैसा ही समझना चाहिए। वह कृतक—कर्ता द्वारा कृत—किया हुआ होने के कारण वर्तमान के समान है, सादि है, प्रवाहरूप में अनादि है।

[५६]

मुत्तेणममुत्तिमओ उवघायाणुग्गहा वि जुज्जंति ।
जह विन्नाणस्स इहं मइरापाणोसहाईहिं ॥

जैसे मदिरा-पान, औषधि-सेवन आदि का चेतना पर प्रभाव पड़ता है—मदिरा पीने से मनुष्य अपना होश गँवा बैठता है, सशक्त रसायनमय औषधि से मरणोन्मुख, मूर्च्छित रोगी भी एक बार होश में आ जाता है, बोल तक लेता है; उसी प्रकार मूर्त्त—रूपी कर्म का अमूर्त्त आत्मा पर प्रतिकूल-अनुकूल—बुरा, भला प्रभाव पड़ता है।

[५७]

एवमणाई एसो संबन्धो कंचणोवलाणं व ।
एयाणमुवाएणं तह वि वियोगो वि हवइ त्ति ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्वर्ण तथा मृत्तिका-पिण्ड के सम्बन्ध की तरह अनादि है। खान में सोना और मिट्टी के ढेले कब से मिले हुए है, यह नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति आत्मा और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की है। ऐसा होते हुए भी उपाय द्वारा उनका वियोग—पार्थक्य साध्य है।

[५८]

एवं तु बंधमोक्खा विणोवयारेण दो वि जुज्जंति।
सुहदुक्खाइ य दिट्ठा इहरा ण कयं पसंगेण ॥

यों बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही आत्मा के साथ यथार्थतः घटित होते हैं। यदि ऐसा न हो तो अनुभव में आने वाले सुख तथा दुःख आत्मा में घटित नहीं हो सकते।

बोध-चिन्तन—

[५९-६०]

तत्थाभिस्संगो खलु रागो अप्पीइलक्खणो दोसो।
अन्नाणं पुण मोहो को पीडइ मं दंडमिमेसिं ॥
नाऊण तओ तव्विसय-तत्त-परिणय-विवाग-दोसे त्ति।
चिंतेज्जाऽऽणाइ दढं पइरिक्के सम्ममुवउत्तो ॥

दोषों में राग—अभिसंग या आसक्ति रूप है, द्वेष का लक्षण अप्रीति है, मोह अज्ञान है। इनमें से मुझे डटकर—अत्यधिक रूप में कौन पीड़ा दे रहा है, यह समझकर उन दोषों के विषय में—उनके स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि का एकान्त में एकाग्र मन से भलीभांति चिन्तन करे।

[६१]

गुरु देवयापमाणं काउं पउमासणाइठाणेणं।
वंसमसगाइ फाए अगणंतो तग्गयज्झप्पो ॥

चिन्तनीय विषय में मन को अनुस्यूत कर—भलीभांति लगाकर,

पद्मासन आदि में संस्थित होकर शरीर पर होते डांस, मच्छर आदि के उपद्रव को न गिनता हुआ साधक गुरु तथा देव की साक्षी से चिन्तन करे।

[६२]

गुरुदेवयाहि जायइ अणुग्गहो अहिगयस्स तो सिद्धी।
एसो य तन्निमित्तो तहाऽऽयभावाओ विन्नेओ॥

गुरु तथा देव के अनुग्रह से प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता प्राप्त होती है। यह अनुग्रह उनके प्रति उत्तम आत्म-परिणाम रखने से प्राप्त होता है।

[६३]

जह चेव मंतरयणाइएहिं विहिसेवगस्स भव्वस्स।
उवगाराभावम्मि वि तेसिं होइ त्ति तह एसो॥

मन्त्र, रत्न आदि स्वयं अपना उपकार नहीं करते हुए, जो यथाविधि उनका सेवन—प्रयोग करता है, उनका हित साधते हैं। यही स्थिति गुरु तथा देव के साथ है। उनमें हितसाधकता की असाधारण क्षमता है पर उसका उपयोग दूसरों का उपकार करने में होता है।

[६४]

ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमाणभावो य।
दंसा य अगणणम्मि वि वीरियजोगो य इट्ठफलो॥

आसन साधने से देह का निरोध होता है। देह का निरोध करने वाले इन्द्रियजयी साधकों के प्रति लोगों में अत्यधिक आदरभाव उत्पन्न होता है। वे जीव-जन्तुओं द्वारा लगाये गये डंक आदि की परवाह नहीं करते। इससे उनमें इच्छित फलप्रद वीर्य योग—यौगिक पराक्रम का उदय होता है।

[६५]

तग्गयचित्तस्स तहोवओगओ तत्तभासणं होइ।
एयं एत्थ पहाणं अंगं खलु इट्ठसिद्धीए॥

चिन्तन-मनन-योग्य विषय में तन्मयता तथा उपयोग द्वारा तत्त्व भासित होता है—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाश में आता है। सत्य का उद्भास—भान या प्रतीति ही इष्ट-सिद्धि का मुख्य अंग है।

[६६]

एयं खु तत्तनाणं असप्पवित्ति-विणिवित्ति-संजणगं।
थिरचित्तगारि लोगदुगसाहगं बिंति समयन्नू ॥

शास्त्रज्ञ बतलाते हैं—तत्त्व-ज्ञान से असत् प्रवृत्ति का निवारण होता है, चित्त में स्थिरता आती है, ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के हित सधते हैं।

[६७]

थीरागम्मि तत्तं तासिं चिंतेज्ज सम्मबुद्धीए ।
कलमलगमंससोणियपुरीसकंकालपायं ति ॥

यदि नारी के प्रति राग हो तो रागासक्त पुरुष सम्यक् बुद्धिपूर्वक यों चिन्तन करे—अत्यन्त सुन्दर दीखने वाली नारी की देह उदरमल, मांस, रुधिर, विष्ठा, अस्थि-कंकाल मात्र ही तो है। इसमें कैसा राग! कैसी आसक्ति!

[६८]

रोगजरापरिणामं नरगाइविवागसंगयं अहवा ।
चलरागपरिणयं जोयनासणविवागदोस त्ति ॥

एक समय आता है, वही सुन्दर देह रोग तथा वृद्धावस्था से ग्रस्त हो जाती है, नरक गति आदि कठोर फलप्रद होती है। कितना आश्चर्य है, ऐसी देह के प्रति चंचलतापूर्ण राग उत्पन्न होता है, जो जीवन को नष्ट कर देने वाला है, तथा जिसका परिणाम दोषपूर्ण है।

[६९]

अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइदुक्खसयसंकुलं तत्तं ।
गमणपरिणामजुत्तं कुगइविवागं च चिंतेज्जा ।

यदि धन के प्रति राग हो तो इस रूप में चिन्तन करना चाहिए—धन के अर्जन रक्षण आदि में सैकड़ों प्रकार के दुःख हैं। धन सदा नहीं रहता। उसका विनाश भी हो जाता है। धन का फल दुर्गति है। क्योंकि अक्सर उसके आने पर मनुष्य उन्मत्त बन जाता है।

[७०]

दोसम्मि उ जीवाणं विभिन्नयं एव पोग्गलाणं च।
अणवट्ठियं परिणइं विवागदोसं च परलोए ॥

यदि द्वेष का भाव हो तो साधक यह चिन्तन करे—जीव और पुद्गल—भौतिक वस्तु-समुदाय भिन्न हैं। उन (पुद्गलों) का परिणमन अनवस्थित—अस्थिर है—जिस रूप में वे अभी है, कालान्तर में वह रूप नहीं रहेगा।

द्वेष का परिणाम परलोक में बड़ा अनिष्टकर होता है।

[७१]

चिंतेज्जा मोहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तत्तं।
उप्पाय-वय-धुवजुवं अणुहवजुत्तीए सम्मं ति ॥

साधक पहले अनुभव तथा युक्तिपूर्वक वस्तु-स्वरूप का भली भाँति चिन्तन करे कि वह (वस्तु) उत्पाद—उत्पत्ति, व्यय—विनाश तथा ध्रुवता—अविनश्वरता या शाश्वतता युक्त है। अर्थात् उसका मूल स्वरूप ध्रुव है पर बाह्य रूप, आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से वह परिवर्तनशील है। ऐसी वस्तु के प्रति, जिसका रूपात्मक अस्तित्व ही स्थिर नहीं, कैसा मोह!

[७२]

नाभावो चिय भावो अइप्पसंगेण जुज्जइ कया वि।
न य भावोऽभावो खलु तहासहावत्तभावाओ ॥

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अभाव भावरूप में घटित नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाव अभाव का रूप नहीं ले सकता। ऐसा होने से—अभाव का भाव के रूप में तथा भाव का अभाव के रूप में परिणत होने से

अतिप्रसंग दोष आता है, वस्तु-तत्त्व की व्यवस्था ही अनवस्थित हो जाती है।

[७३]

एयस्स उ भावाओ निवित्ति-अणुवित्तिजोगओ होंति ।
उप्पायाई नेयं अविकारी अणुहवविरोहो ॥

वस्तु में स्वभावतः निवृत्ति-अनुवृत्ति—एक पर्याय का त्याग, दूसरे का ग्रहण—एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाना—ऐसा क्रम चलता रहता है। पर साथ ही साथ वस्तु का मूल तत्त्व स्थिर रहता है। इससे वस्तु में उत्पाद, विनाश तथा ध्रुवता—ये तीनों ही सिद्ध होते हैं। अतः वस्तु को अविकारी—परिणमन या परिवर्तन रहित, कूटस्थ मानना अनुभव-विरुद्ध है।

[७४]

आणाए चिंतणम्मी तत्तावगमो निओगओ होइ ।
भावगुणागरबहुमाणओ य कम्मक्खओ परमो ॥

शास्त्रानुसार चिन्तन करने से निश्चय ही तत्त्व-बोध होता है। भाव-पूर्वक गुणों का, गुणी जनों का बहुमान करने से परम—अत्यन्त कर्म-क्षय होता है।

[७५]

पइरिक्के वाघाओ न होइ पाएण जोग बसिया य ।
जायइ तहा पसत्था हंदि अणब्भत्थजोगाणं ॥

जिन्होंने योग का अभ्यास नहीं किया है, उनको भी एकान्त में चिन्तन करने से प्रायः कोई व्याघात—विघ्न, प्रातिकूल्य नहीं होता। प्रत्युत इससे उनका उत्तम योग पर अधिकार होता है। दूसरे शब्दों में वे योग-साधना के पथ पर आरूढ़ होने के अधिकारी हो जाते हैं।

[७६]

उवओगो पुण एत्थं बिन्नेओ जो समीवजोगो त्ति ।
विहियकिरियागओ खलु अवितहभावो उ सव्वत्थ ॥

प्रस्तुत सन्दर्भ में समागत उपयोग शब्द को उप=समीप, योग=व्यापार, प्रवर्तन—इस अर्थ में लेते है तो इसका अभिप्राय शास्त्र-प्रतिपादित क्रिया में सत्य भाव रखना—उसे सत्य मानना, वैसी निष्ठा लिये गन्तव्य पथ पर अग्रसर होना निष्पन्न होता है।

[७७]

एवं अब्भासाओ तत्तं परिणमय चित्तथेज्जं च ।
जायइ भावाणुगामी सिव सुहसंसाहगं परमं ॥

इस प्रकार अभ्यास करने से भावानुरूप तत्त्व-परिणति—तत्त्व-साक्षात्कार होता है, चित्त में स्थिरता आती है तथा परम—सर्वोत्तम, अनुपम मोक्ष-सुख प्राप्त होता है।

सच्चिन्तन—

[७८]

अहवा ओहेणं चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा ।
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसंविग्गो ॥

चिन्तन का एक और (उपयोगी तथा सुन्दर) प्रकार है—परम संविग्न—अत्यन्त संवेग या वैराग्य युक्त साधक शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार सामष्टिक रूप में प्राणी मात्र के प्रति मैत्री आदि गुणनिष्पन्न भावनाओं से अनुभावित रहे।

[७९]

सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोयं गुणाहिएसु ति ।
करुणामज्झत्यत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव, गुणाधिक—गुणों के कारण विशिष्ट

—सद्गुण सम्पन्न पुरुषों के प्रति प्रमोद-भाव—उन्हें देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव करना, दुःखियों के प्रति करुणा-भाव, अविनीत—उद्दण्ड या उद्धत जनों के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए।

[८०]

एसो चेवेत्थ कमो उचियपवित्तीए वन्निओ साहू।
इहरा ऽ समंजसत्तं तहा तहाऽठाणविणिओगा ॥

उचित प्रवृत्ति—योगाभ्यासानुकूल आचरणीय विधि-विधान, भावनानुभावन आदि के सन्दर्भ में यहाँ जो क्रम वर्णित हुआ है, साधकों के लिए वह ग्रहण करने योग्य है। यदि समुचित क्रमानुरूप अभ्यास न चले, विपरीत रीति से चले तो साधना में सामंजस्य नहीं रह पाता।

आहार—

[८१]

साहारणो पुण विही सुक्काहारो इमस्स विन्नेओ।
अन्नत्थ ओयएसो सव्वासंपत्करो भिक्खा ॥

वैराग्यवान् पुरुष के लिए सामान्यतः रूखा-सूखा भोजन करने का विधान है। साथ ही साथ सर्वसम्पन्नताप्रद-परम श्रेयस्कर—आत्मोन्मुखी जीवन की निर्बन्ध पोषिका भिक्षा का भी विधान है, जिसका अन्यत्र वर्णन है।

[८२]

वणलेवो धम्मेणं उचियत्तं तग्गयं निओगेण ।
एत्थं अवेक्खियव्वं इहरा जोगो त्ति दोसफलो ॥

भिक्षा व्रण-लेप के समान है। फोड़े पर, उसे मिटाने हेतु जैसे किसी दवा का लेप किया जाता है, उसी प्रकार भूख, प्यास आदि मिटाने हेतु भिक्षा ग्रहण की जाती है। दवा चाहे कितनी ही कीमती क्यों न हो, फोड़े पर उतनी ही लगाई जाती है, जितनी आवश्यक हो। उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त हो रहे खाद्य, पेय आदि पदार्थ कितने ही सुस्वादु एवं सरस क्यों न

हों, वे अनासक्त भाव से उतने ही स्वीकार किये जाएँ, क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्ति हेतु जितनी उनकी आवश्यकता हो। योगी को भिक्षा का समुचित विधि-क्रम यथार्थ रूप में समझ लेना चाहिए। ऐसा न होने पर भिक्षा निर्दोष नहीं होगी। फलतः साधक का योग सदोष हो जायेगा।

यौगिक लब्धियाँ—

[८३]

जोगाणुभावओ चिय पायं न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि संपत्ती इमस्स जं वन्निया समए ॥

योग के प्रभाव से योगी के पाप-कर्म—अकुशल या अशुभ कर्म नहीं बँधता प्रत्युत उसे शुभ का लाभ होता है, उसके पुण्य बन्ध होता है। शास्त्रों में योगियों को लब्धियाँ प्राप्त होने का जो वर्णन है, वह इस तथ्य का सूचक है। अर्थात् योगी के विपुल पुण्य-संभार से स्वतः अद्भुत विभूतियाँ आविर्भूत होती है।

[८४]

रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए ॥

ज्यों-ज्यों योगी के जीवन में योग-वृद्धि—योग-साधना का विकास होता जाता है, त्यों त्यों रत्न आदि, अणिमा आदि एवं आमोसहि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

ये यौगिक शक्तियाँ जैन परम्परा में लब्धियाँ कही जाती है। योगसूत्र के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने इन्हें विभूतियाँ कहा है। बौद्ध परम्परा में ये अभिज्ञाएँ कही गई हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में इन विभूतियों का यथास्थान वर्णन किया है, जहाँ उन्होंने बताया है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—योग के इन आठ अंगों के सिद्ध हो जाने पर अमुक अमुक विभूतियाँ—असामान्य शक्तियाँ संप्राप्त हो जाती हैं।

योगसूत्र में उल्लेख है कि अस्तेय यम के सध जाने पर सब दिशाओं में स्थित, पृथ्वी में कहीं भी गुप्त स्थानों में गड़े हुए रत्न योगी के समक्ष प्रकट हो जाते हैं।[1] वे योगी को प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। प्रस्तुत गाथा में रत्न लब्धि का जो उल्लेख है, वह इस कोटि में संभावित है।

योगसूत्र में धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन तीनों का किसी एक ध्येय में एकत्र होना संयम कहा गया है।[2] संयम द्वारा योगी विकास की अनेक कोटियाँ प्राप्त करता है। पतञ्जलि ने बताया है कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व—भूतों की इन पाँच अवस्थाओं में संयम द्वारा योगी भूतजय प्राप्त करता है[3]—भूतों पर उसका अधिकार हो जाता है। भूत-जयसे उसके अणिमा—अणुसदृश सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, लघिमा—शरीर को अत्यन्त हलका बना लेना, महिमा—शरीर को बहुत बड़ा कर लेना, गरिमा—शरीर को बहुत भारी बना लेना, प्राप्ति—चाहे गये जिस किसी भौतिक पदार्थ का संकल्प मात्र से प्राप्त हो जाना, प्राकाम्य—भौतिक पदार्थ सम्बन्धी कामना का निर्बाध, अनायास पूरा हो जाना, वशित्व—पाँच भूतों तथा तन्निष्पन्न पदार्थों का वंशगत हो जाना, ईशित्व—भूतों तथा भौतिक पदार्थों को नाना रूपों में परिणत करने की, उन पर शासन करने की क्षमता प्राप्त कर लेना—ये आठों सिद्धियाँ सध जाती हैं।[4] प्रस्तुत गाथा में अणिमा शब्द इसी आशय से प्रयुक्त है।

जैन परम्परा में भी संयम के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियों का वर्णन आया है। वहाँ आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लमोसहि आदि की चर्चा है। 'आमोसहि' का अभिप्राय यह है—जिस

---

१. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।
—योगसूत्र २.३७

२. त्रयमेकत्र संयमः।
—पातञ्जल योगसूत्र ३.४

३. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।
—पातञ्जल योगसूत्र ३.४४

४. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।
—पातञ्जल योगसूत्र ३.४५

योगी को यह लब्धि प्राप्त हो जाती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते है। योगी का विप्प—मल-मूत्र, खेल—कफ आदि, जल्ल—शरीर का मैल भी, जब वह (योगी) विप्पोसहि, खेलोसहि तथा जल्लमोसहि संज्ञक लब्धियाँ प्राप्त कर लेता है, रोग पर औषधि-सदृश काम करते हैं।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'आमोसहि' इन्हीं में से एक है।

[८५]

एईय एस जुत्तो सम्मं असुहस्स खवगमो नेओ ।
इयरस्स बंधगो तह सुहेणमिय मोक्खगामि त्ति ॥

इन लब्धियों से युक्त साधक सम्यक्तया अशुभ कर्मों का क्षय करता है, शुभ कर्मों का बन्ध करता है। यों शुभ या पुण्य में से गुजरता हुआ, शुभ, अशुभ से अतीत हो मोक्षगामी बन जाता है।

मनोभाव का वैशिष्ट्य—

[८६]

कायकिरियाए दोसा खविया मंडुयकचुन्नतुल्ल त्ति ।
ते चेव भावणाए नेया तच्छारसरिस त्ति ॥

शारीरिक क्रिया द्वारा—मात्र देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट किये गये दोष मेंढक के चूर्ण के समान हैं। यही दोष यदि भावना—मनोभाव—अन्तर्वृत्ति की पवित्रता द्वारा क्षीण किये गये हों तो उन्हें मेंढक की भस्म या राख के सदृश समझना चाहिए।

ग्रन्थकार ने यहाँ दार्शनिक साहित्य में सुप्रसिद्ध 'मण्डूक-चूर्ण' तथा 'मण्डूक-भस्म' के उदाहरण से कायिक क्रिया एवं भावनानुगत क्रिया का भेद स्पष्ट किया है।

ऐसा माना जाता है कि मेंढक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े होकर मिट्टी में मिल जाएँ तो भी नई वर्षा का जल गिरते ही मिट्टी में मिले हुए वे शरीर के अंग परस्पर मिलकर सजीव मेंढक के रूप में परिणत हो जाते हैं।

यदि मेंढक का शरीर जलकर राख हो गया हो तो फिर कितनी ही वर्षा क्यों न हो, वह सजीव नहीं होता।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्ववैशारदी (योगसूत्र की टीका) में यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः तथ्य यह है, सद्बोधमय निष्ठा तथा भावपूर्वक जो सत् क्रिया की जाती है, वह दोषों को सर्वथा क्षीण कर देती है, जिससे वे पुनः नहीं उभर पाते, जैसे भस्म के रूप में बदला हुआ मेंढक का शरीर फिर कभी जीवित नहीं होता।

बाह्य क्रिया द्वारा दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, उपशम मात्र होता है, जिससे वे अनुकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं, जैसे टुकड़े-टुकड़े बना, मिट्टी में मिला मेढक का शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है।

[८७]

एवं पुन्नं पि दुहा मिम्मयकणगकलसोवमं भणियं।
अन्नेहि वि इह मग्गे नामविवज्जासभेएण॥

अन्य परम्परा के आचार्यों—शास्त्रकारों (बौद्धों) ने योग-मार्ग में इसका नाम-विपर्यास से—मात्र कथन-भेद से मिट्टी के घड़े तथा सोने के घड़े की उपमा द्वारा आख्यान किया है। भावना-वर्जित बाह्य क्रिया—तपःकर्म मिट्टी के घट के सदृश है एवं भावनानुप्राणित क्रिया स्वर्ण-कलश के सदृश है। है दोनों घट ही पर दोनों की मूल्यवत्ता में भारी अन्तर है।

यहाँ केवल विवेचन की शब्दावली में भिन्नता है, मूल तत्त्व एक ही है।

[८८]

तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्त त्ति।
होंति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ॥

बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे काय-

पाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्तस्थिति शुद्ध होती है।

वास्तव में चित्त की परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है। शरीर लोक-व्यापृत हो सकता है क्योंकि शरीर का, इन्द्रियों का वैसा गुण-धर्म है पर चित्त में यह आसंग नहीं आना चाहिए। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित हुआ है, चित्त की रक्षा के लिए स्मृति तथा संप्रजन्य की रक्षा अपेक्षित है। धर्म में जिनका विधान किया गया है, जिनका निषेध किया गया है, उन्हें यथावत् स्मरण रखना स्मृति है। स्मृति को घर की रक्षा करने वाले द्वारपाल से उपमित किया गया है। द्वारपाल अवाञ्छित व्यक्ति को घर में प्रविष्ट नहीं होने देता, उसी प्रकार स्मृति अकुशल या पाप को नहीं आने देती। संप्रजन्य का अर्थ प्रत्यवेक्षण—काय और चित्त का निरीक्षण, संप्रेक्षण है। खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते—हर क्रिया करते वैसा करना नितान्त आवश्यक माना गया है। इससे शम उत्पन्न होता है, जिसके प्रभाव से चित्त समाहित होता है। चित्त के समाहित होने से यथाभूत-दर्शन होता है। बौद्ध आचार्यों ने बड़ा जोर देकर कहा है, चित्त के अधीन सर्वधर्म हैं तथा बोधि धर्म के अधीन है।

[८९]

एमाइ जहोचियभावणाविसेसाओ जुज्जए सव्वं।
मुक्काभिणिवेसं खलु निरूवियव्वं सबुद्धीए॥

प्रस्तुत विवेचन यथोचित रूप में भावना की विशेषता ख्यापित करता है। सद्बुद्धिशील योगाभ्यासी किसी भी प्रकार का दुराग्रह न रख उसे निरूपित करे—उसकी चर्चा करे, जिज्ञासु जनों तक उसे पहुंचाये।

विकास : प्रगति

[९०]

एएण पगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति।
तत्तो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चेव॥

इस प्रकार सामायिक की—समत्व-भाव की शुद्धावस्था प्रकट होती

है। उससे शुक्लध्यान सिद्ध होता है। फिर क्रमशः केवल-ज्ञान प्राप्त होता है।

[६१]

वासीचंदणकप्पं तु एत्थ सिट्ठं अओ च्चिय बुहेहिं।
आसयरयणं भणियं अओऽन्नहा ईसि दोसा वि॥

योगवेत्ताओं ने आशय-रत्न—अभिप्राय, रूप रत्न को—उत्तम भाव को वासि-चन्दन के सदृश कहा है। यदि अभिप्राय इस कोटि का—ऐसे पवित्र स्तर का न हो तो वहाँ किञ्चित् दोष भी बताया गया है।

[६२]

जइ तब्भवेण जायइ जोगसमत्ती अजोगयाए तओ।
जम्माइदोसरहिया होइ सदेगंतसिद्धि त्ति॥

यदि योगी के उसी भव में, जिसमें वह विद्यमान है, योग-समाप्ति—योग-साधना की सम्पन्नता या सम्पूर्णता सध जाए तो अयोग—मन, वचन तथा शरीर के योग—प्रवृत्तिक्रम से वह उपरत हो जाता है और निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

[६३]

असमत्ती य उ चित्तेसु एत्थ ठाणेसु होइ उप्पाओ।
तत्थ वि य तयणुबंधो तस्स तहब्भासओ चेव॥

यदि उसी भव में योगी की योग-साधना समाप्त नहीं होती तो उसका अनेक स्थानों में जन्म होता है। पूर्वभव के अभ्यास के कारण विभिन्न स्थानों में उसके निरन्तर योग-संस्कार बना रहता है।

[६४]

जह खलु दिवसब्भत्थं राईए सुविणयम्मि पेच्छंति।
तह इह जम्मब्भत्थं सेवंति भवंतरे जीवा॥

मनुष्य को दिन में जिसका अभ्यास रहा हो—जिसमें वह बार-बार प्रवृत्त रहा हो, रात में उसी (विषय) को वह स्वप्न में देखता है। उसी

प्रकार एक जन्म में जीवों को जिसका अभ्यास रहा हो, जन्मान्तर में वे संस्कार रूप में उसे प्राप्त करते रहते हैं।

[९५]

ता सुद्धजोगमग्गोचियम्मि ठाणम्मि एत्थ वट्टेज्जा।
इह परलोगेसु दढं जीवियमरणेसु य समाणो॥

योगी को चाहिए कि वह शुद्ध योग मार्गोचित स्थान में प्रवृत्त हो—वह ऐसे कार्य करे, जो निर्दोष योग-मार्ग के अनुरूप हों। वह इस लोक तथा परलोक में, जीवन तथा मृत्यु में स्थिर भाव से समान बुद्धि रखे।

[९६]

परिसुद्धचित्तरयणो चएज्ज देहं तहंतकाले वि।
आसन्नमिणं नाउं अणसणविहिणा विसुद्धेणं॥

जिसका चित्त रूपी रत्न परिशुद्ध—अत्यन्त निर्मल है, ऐसा योगी अपना अन्त समय समीप जानकर विशुद्ध अनशन-विधि से—आमरण अनशन स्वीकार कर देह का त्याग करे।

काल-ज्ञान—

[९७]

नाणं चागमदेवयपइभासुविणंधराय दिट्ठीओ।
नासच्छितारगादंसणाओ कन्नगसवणाओ॥

आगम—अष्टांग निमित्त विद्या, ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि के सहारे, देव-सूचित संकेत द्वारा, प्रतिभा—स्वयं आविर्भूत अन्तर्-आभास द्वारा, स्वप्न द्वारा तथा नासिका, नेत्रतारक व कर्ण से सम्बद्ध विशेष लक्षणों द्वारा मृत्यु के समय का ज्ञान होता है।

आंगिक चिन्ह तथा शकुन आदि के आधार पर मृत्यु-काल-ज्ञान आदि के सन्दर्भ में भारतीय वाङ्मय में काफी चिन्तन-मन्थन हुआ है। वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी धर्म-परम्पराओं में इस पर पुष्कल साहित्य रचा गया। जैन आगम वाङ्मय के बारहवें अंग दृष्टिवाद में, जो अब लुप्त है, यह विषय

विस्तार से व्याख्यात था, ऐसा उत्तरवर्ती आचार्यों ने उल्लेख किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में नाड़ी, बाह्य लक्षण, नेत्र, कान, मस्तक, शकुन, उपश्रुति, लग्न, यन्त्र, विद्या-प्रयोग आदि द्वारा मृत्यु-काल के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ टीका में अन्य आचार्यों का अभिमत उपस्थित करते हुए दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनका आशय इस प्रकार है—

"जिनकी आयु क्षीण हो चुकती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल नहीं देख पाते। यहाँ अरुन्धती जिह्वा, ध्रुव नासिका के अग्रभाग, विष्णुपद दूसरे के नेत्र की कनीनिका देखने पर दीखने वाली अपनी कनीनिका तथा मातृमण्डल भ्रुवों के अर्थ में प्रयुक्त है।"[1]

[६८]

सुहसावयाइभयखण-समणायमणुद्धरा अदिट्ठवोओ ।
गंधपरिट्टाओ तहा कालं जाणंति समयन्नू ॥

स्वप्न में हिंसक—शिकारी जानवरों द्वारा कोई अपने को खाया जाता देखे, स्वप्न में निर्ग्रन्थ यति, संन्यासी या तापस को देखे, देह में एक विशेष प्रकार की गन्ध आने लगे अथवा उसकी नासिका गन्ध-ग्रहण करने में अशक्त हो जाये—इनके आधार पर शास्त्रवेत्ता मृत्यु का समय जान जाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्वप्न के सन्दर्भ में सूचित किया

---

१. अरुन्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुवं नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं भ्रुवः स्यान्मातृमण्डलम् ॥
—योगशास्त्र ५वें प्रकाश के १३६वें श्लोक की व्याख्या के अन्तर्गत उद्धृत ।

है कि यदि कोई स्वप्न में अपने को कुत्तो, गीध, कौए का दूसरे निशाचर प्राणियों द्वारा खाया जाता देखे अथवा गधे, ऊँट आदि पर अपने को सवार देखे तो उसकी (एक वर्ष में) मृत्यु हो जाती है।[1]

ज्ञातव्य है कि मृत्यु के समय की जानकारी उस समय विशेष उपयोगी तथा हितावह होती है, जब व्यक्ति आमरण अनशन स्वीकार किये हुए अत्यन्त शुद्ध परिणामों के साथ मृत्यु का स्वागत करने को उद्यत हो। मृत्यु के ठीक समय का ज्ञान होने पर उसका मनोबल मजबूत होता है, आत्मपरिणाम और सुस्थिर बनते हैं। क्योंकि उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट रहता है कि इतने से समय के लिए उसे इस देह से इस जगत् में और रहना है। यह थोड़ा-सा समय, जो उसके हाथ में है, जितने उज्ज्वल, निर्मल एवं पवित्र परिणामों के साथ व्यतीत करेगा, उतना ही वह सौभाग्यशाली होगा, वह धन्य हो जायेगा।

अनशन-शुद्धि में आत्मपराक्रम—

[९९]

अणसणसुद्धीए इहं जत्तोऽतिसएण होइ कायव्वो।
जल्लेसे मरइ जओ तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥

अनशन स्वीकार करने के बाद उसकी शुद्धि हेतु साधक को विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि कोई व्यक्ति जिस लेश्या—अध्यवसाय या परिणामों की धारा में प्राण छोड़ता है, वह वैसे ही लेश्यायुक्त स्थान में उत्पन्न होता है।

[१००]

सेसा य वि आणाजोगओ उ आराहगो इहं नेओ।
इहरा असइं एसा वि हंतऽणाइम्मि संसारे ॥

उत्तम लेश्या में आज्ञायोग—जिन महापुरुषों ने जीवन में सत्य का साक्षात्कार किया, उनके अनुभव-प्रसूत पथ दर्शनरूप शास्त्र द्वारा निरूपित

---

१ स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्वगृध्रकाकनिशाचरैः।
उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृतिः ॥
—योगशास्त्र ५. १३७

विधि-निषेधमूलक भाव जुड़ा हो, सहज रूप में अनुतसृ हो, तभी व्यक्ति मोक्ष का आराधक कहा जा सकता है, अन्यथा वैसी लेश्या तो इस अनादि जगत् में अनेक बार आती ही है। अर्थात् यदि लेश्या उत्तम भी हो, तो भी आज्ञा-योग के बिना जीवन का साध्य सधता नहीं।

[१०१]

ता इय आणाजोगो जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं।
एसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य॥

अतएव अयोग—अयोगी गुणस्थान, जहाँ मानसिक, वाचिक तथा कायिक योग—प्रवृत्ति सर्वथा निरस्त हो जाती है, चाहने वाले साधक को आज्ञायोग में सम्यक्तया प्रयत्नशील रहना चाहिए—तदनुरूप विधि-निषेध का यथावत् पालन करते रहना चाहिए। इससे भव—संसार—जन्ममरण के चक्र से विरह—वियोग या पार्थक्य तथा सिद्धि—सिद्धावस्था—मोक्ष से शाश्वत काल के लिए अविरह—योग—संयोग हो जाता है—साधक मोक्ष से योजित हो जाता है; जुड़ जाता है।

'भवविरह' शब्द द्वारा ग्रन्थकार ने अपने अभिधान का भी सूचन किया है। □

॥ योग शतक समाप्त ॥

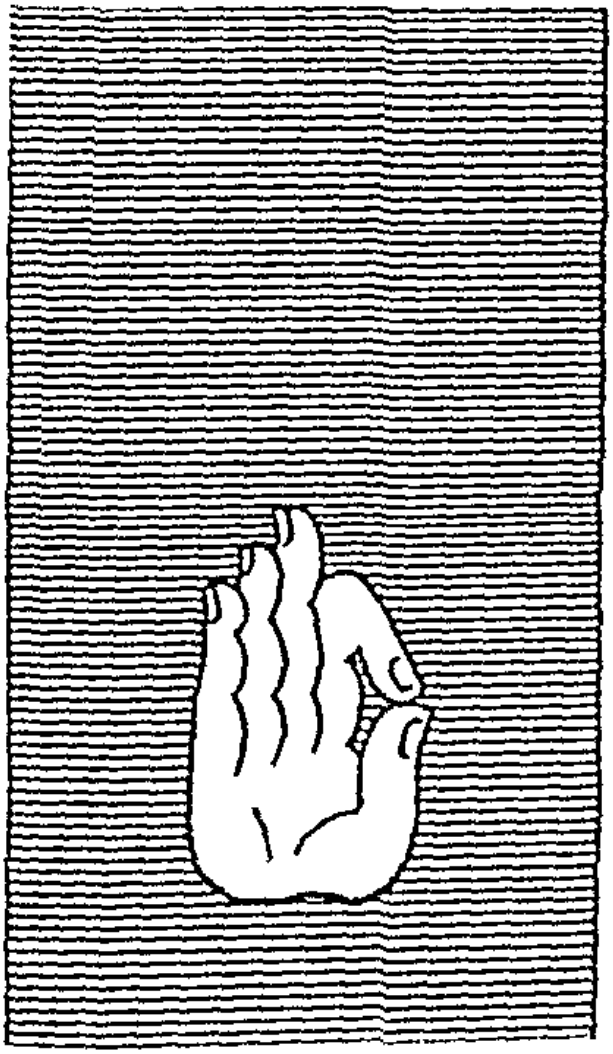

योगविंशिका

आसन का अर्थ बैठना है। सब आसन बैठकर नहीं किये जाते। कुछ आसन बैठकर, कुछ सोकर तथा कुछ खड़े होकर किये जाते हैं। देह की विभिन्न स्थितियों में अवस्थित होना स्थान शब्द से अधिक स्पष्ट होता है।

ऊर्ण—योगाभ्यास के सन्दर्भ में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्र—संक्षिप्त शब्द-समवाय का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है।

अर्थ—शब्द-समवाय-गर्भित अर्थ के अवबोध का व्यवसाय—प्रयत्न यहाँ अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है।

आलम्बन—ध्यान में बाह्य प्रतीक आदि का आधार आलम्बन है।

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना अनालम्बन कहा गया है। यह निर्विकल्प, चिन्मात्र अथवा समाधिरूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है, क्रमशः स्थान-आसन तथा ऊर्ण—सूत्रोच्चारण में संस्थित एवं क्रियाशील होने के कारण—क्रिया-प्रधानता से इन दोनों की संज्ञा क्रिया योग है।

अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन का सम्बन्ध ज्ञान इस कारण इनका ज्ञानयोग में समावेश किया गया है।

[४]

इविकक्को य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए ॥

तात्त्विक दृष्टि योगशास्त्र-प्रतिपादित परिपाटी के अनुसार इन पाँचों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि—ये चार-चार भेद हैं। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन—इन पाँचों की ये चार-चार कोटियाँ - क्रमिक विकासोन्मुख स्थितियाँ, रूप या प्रकार हैं।

[५-६]

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।
सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्तो उ ॥

तह चेव एयवाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं ।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥

योगयुक्त—योगाराधक पुरुषों की कथा—चर्चा में प्रीति, आन्तरिक उल्लास आदि उत्तम, अद्भुत भावों से युक्त इच्छा—स्पृहा, उत्कण्ठा योग का इच्छा संज्ञक भेद है।

जिसमें उपशम-भावपूर्वक योग का यथार्थतः पालन हो, वह प्रवृत्ति संज्ञक भेद है।

बाधाजनक विघ्नों की चिन्ता से रहित योग का सुस्थिर परिपालन स्थिरता कहा जाता है।

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन, अनालम्बन रूप योग साधक की आत्मा में तो शान्ति उत्पन्न करता ही है, जब वह उस योगी के सम्पर्क में आने वाले अन्यान्य लोगों को भी सहज रूप में उत्प्रेरित करे, तब सिद्धि-योग कहा जाता है।

[७]

एए य चित्तरूवा तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइ जोगओ भव्वसत्ताणं ॥

श्रद्धा, प्रीति या उत्साह के कारण भव्य—मोक्षगमनयोग्य प्राणियों के इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग तथा सिद्धि-योग, जो भिन्न-भिन्न रूप लिए हुए हैं—परस्पर भिन्न हैं, क्षयोपशम की तरतमता के कारण अनेक —असंख्य प्रकार के होते हैं।

अनुभाव-प्राकट्य—

[८]

अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पसमु त्ति।
एएसि अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

इच्छा-योग आदि के सध जाने पर क्रमशः अनुकम्पा—दुःखित प्राणियों को देखकर उन पर करुणा, निर्वेद—आत्मस्वरूप का बोध हो जाने से जगत् से विरक्ति, संवेग—मोक्ष प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा तथा प्रशम—क्रोध, विषय-वासना आदि का उपशम—ये अनुभाव—अन्तःस्थिति के ज्ञापक, सूचक कार्य स्वयं उद्भासित होते हैं।

सम्यक्त्व का उद्भव होने पर भी अनुकम्पा, निर्वेद आदि उत्पन्न होते हैं, फिर यहाँ उनके उद्भूत होने का क्या विशेष अभिप्राय है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में ज्ञाप्य है कि सम्यक्त्व होने पर इनकी जो प्रतीति होती है, वह सामान्य है तथा यहाँ इनका अनुभावों के रूप में जो उल्लेख किया गया है, वह विशेषता-द्योतक है। अर्थात् इच्छा-योग आदि के सिद्ध हो जाने के फलस्वरूप अनुकम्पा आदि कोमल, सात्त्विक वृत्तियों का जीवन में असाधारण उद्रेक हो जाता है।

[९]

एवं ठियम्मि तत्ते नाएण उ जोयणा इमा पयडा।
चिइवंदणेण नेया नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥

योग की तात्त्विक स्थिति—उसके सामान्य-विशेष स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है। चैत्य-वन्दन के दृष्टान्त से तत्त्ववेत्ता उसे और स्पष्टतया समझें।

[१०-११]

अरिहंतचेइयाणं करेमि उस्सग एवमाईयं ।
सद्धाजुत्तस्स तहा होइ जहत्थं पयन्नाणं ॥
एवं चऽत्थालंबण जोगवओ पायमविवरीयं तु ।
इयरेसिं ठाणाइसु जत्तपराणं परं सेयं ॥

चैत्य-वन्दन के सन्दर्भ में जब कोई श्रद्धायुक्त पुरुष "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सगं ....." इत्यादि चैत्य-वन्दन-सूत्र का यथावत् शुद्ध उच्चारण करता है, तब उसे जागरूकतावश चैत्य-वन्दन-सूत्र के पदों का यथार्थ ज्ञान होता है।

यह यथार्थ ज्ञान अर्थ एवं आलम्बनमूलक योग को साध लेने से अविपरीत—साक्षात् मोक्षप्रद है।

जो अर्थ एवं आलम्बन योग से रहित हैं, केवल स्थान तथा ऊर्ण योग के साधक हैं, उनके लिए यह परम्परा से मोक्षप्रद है।

तात्पर्य यह है, यह सदनुष्ठान दो प्रकार का है—पहला अमृतानुष्ठान तथा दूसरा तद्धेतु-अनुष्ठान। पहला साक्षात्—शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है तथा दूसरा परम्परया—विलम्ब से मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है।

[१२]

इहरा उ कायवासिमपायं अहवा महामुसावाओ ।
ता अणुरूवाणं चिय कायव्वो एयविन्नासो ॥

जो व्यक्ति अर्थ-योग एवं आलम्बन-योग से रहित है, स्थान-योग तथा ऊर्ण-योग से भी शून्य है, उसका यह (चैत्य-वन्दनमूलक) अनुष्ठान केवल कायिक चेष्टा है। अथवा महामृषावाद—निरी मिथ्या प्रवञ्चना है। अतः अनुरूप—अधिकारी, सुयोग्य व्यक्तियों को ही चैत्य-वन्दन-सूत्र सिखाना चाहिए।

[१३]

जे देसविरइजुत्ता जम्हा इह वोसरामि कायं ति।
सुव्वइ विरईए इमं ता सम्मं चिंतियव्वमिणं ॥

जो देश-विरत—अंशतः विरत हैं—व्रतयुक्त (पंचम गुणस्थानवर्ती) हैं, वे इसके अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्य-वन्दन-सूत्र में 'कायं वोसरामि' देह का व्युत्सर्ग करता हूँ, इन शब्दों से कायोत्सर्ग की जो प्रतिज्ञा प्रकट होती है, वह सुव्रती के विरति-भाव या व्रत के कारण ही घटित होती है। इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में इतना और जोड़ लेना चाहिए—देशविरत से उच्च-स्थानस्थ षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक तत्त्वतः इसके अधिकारी है तथा देश-विरत से निम्नस्थानस्थ अपुनर्बन्धक या सम्यक्दृष्टि व्यवहारतः इसके अधिकारी माने गये हैं।

[१४]

तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबणमित्थ जं स एमेव।
सुत्तकिरियाइनासो एसो असमंजसविहाणा ॥

तीर्थ के उच्छेद—नाश की बात कहकर अर्थात् वैसा न करने से तीर्थ उच्छिन्न हो जायेगा, ऐसा प्रतिपादित कर—बहाना बनाकर विधिशून्य अनुष्ठान का सहारा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि अविधि का आश्रय लेने से असमंजस— शास्त्रविरुद्ध क्रम प्रतिष्ठित होता है। इससे शास्त्रविहित क्रिया आदि का लोप हो जाता है। यही तीर्थोच्छेद है। अर्थात् ऐसा करने से तीर्थ के अनुच्छेद के नाम पर वास्तव में तीर्थ का उच्छेद हो जाता है।

[१५]

सो एस वंकओ चिय न य समयमयारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं इह तित्थुच्छेयभीरुहिं ॥

अविधि के पक्षपात एवं आग्रहवश तथाकथित गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश से जो शास्त्र-निरूपित विधि का नाश होता है, वह वक्र—विपरीत या अनिष्ट फलप्रद है।

कोई स्वयं मर जाएँ अथवा दूसरों द्वारा मारे जाएँ, यह एक जैसी बात नहीं है। अज्ञान के कारण स्वयं मर जाने वालों की मौत के लिए दूसरा कोई दोषी नहीं होता पर जो दूसरों द्वारा मारे जाते है, उनकी मौत का

दोष तो मारने वालों पर ही है। इसी प्रकार जो स्वयं अज्ञान के कारण विधिशून्य अनुष्ठान में लगे है, उनका दोष किसी दूसरे पर नहीं है पर जो दूसरों से उपदिष्ट होकर वैसा करते है, उसका दोष तो उन उपदेशक गुरुओं को है ही।

तीर्थोच्छेद का कल्पित भय खड़ा करने वालों को चाहिए, वे इस पर गहराई से चिन्तन करें।

[१६]

मुत्तूण लोगसन्नं उडढूण य साहुसमयसब्भावं ।
सम्मं पयट्टियव्वं बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥

लोक-संज्ञा—गतानुगतिक लोक-प्रवाह का त्याग कर, शास्त्र-प्रतिपादित शुद्ध सिद्धान्त ग्रहण कर प्रबुद्ध या विवेकशील व्यक्ति को अत्यन्त कुशल बुद्धिपूर्वक साधना में सम्यक्तया प्रवृत्त होना चाहिए।

अनुष्ठान-विश्लेषण—

[१७]

कयमित्थ पसंगेणं ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु ।
हियमेयं विन्नेयं सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥

प्रस्तुत प्रसंग में इतना विवेचन पर्याप्त है। अब मूल विषय को लें—

स्थान-योग, ऊर्ण-योग, अर्थ-योग, आलम्बन-योग तथा अनालम्बन-योग में जो यत्नशील—अभ्यासरत हों, उन्हीं के अनुष्ठान को सदनुष्ठान समझना चाहिए।

[१८]

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं ।
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥

प्रीति, भक्ति, आगम—शास्त्रवचन तथा असंगता—अनासक्ति के सम्बन्ध से यह अनुष्ठान चार प्रकार का है, यों समझना चाहिए। इनमें अन्तिम असंगानुष्ठान अनालम्बन-योग है।

अनुष्ठान के इन चारों भेदों का विवेचन इस प्रकार है :—

प्रीति-अनुष्ठान—योगोन्मुख क्रिया में इतनी अधिक प्रीति हो कि व्यक्ति अन्यान्य क्रियाओं को छोड़कर केवल उसी क्रिया में अत्यन्त तीव्र भाव से यत्नशील हो जाए, इसे प्रीति-अनुष्ठान कहा जाता है।

भक्ति-अनुष्ठान—आलम्बनात्मक विषय के प्रति विशेष आदर-बुद्धि-पूर्वक तत्सम्बद्ध क्रिया में तीव्र भाव से प्रयत्नशील होना भक्ति-अनुष्ठान है।

आगमानुष्ठान—वचनानुष्ठान—शास्त्रवचनावली की ओर दृष्टि रखते हुए योगी की जो साधनानुरूप समुचित प्रवृत्ति होती है, वह आगमानुष्ठान या वचनानुष्ठान है।

असंगानुष्ठान—जब संस्कार साधना में इतने दृढ़ ढल जाएँ, ओत-प्रोत हो जाएँ कि तन्मूलक प्रवृत्ति करते समय शास्त्र का स्मरण करने की कोई अपेक्षा ही न रहे, धर्म जीवन में एकरस हो जाए, वह असंगानुष्ठान की स्थिति है।

प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त रूप में योग के अस्सी भेद बतलाये हैं। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के रूप में योग के पाँच भेद हुए। इच्छा, प्रवत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि के रूप इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद और हुए। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के ये चार-चार प्रकार हैं। यों ये बीस भेद बनते हैं। इन बीस में से प्रत्येक के प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, आगमानुष्ठान तथा असंगानुष्ठान—ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कुल अस्सी भेद हो जाते हैं।

[१६]

आलंबणं पि एयं रूविम्मि अरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥

प्रस्तुत कृति में किये गये विवेचन के अनुसार 'आलम्बन' तथा 'अनालम्बन' के रूप में ध्यान के दो भेद हैं। आलम्बन या—ध्येय भी रूपी—मूर्त, स्थूल या इन्द्रियगम्य तथा अरूपी—अमूर्त, सूक्ष्म या इन्द्रिय-अगम्य के रूप में दो प्रकार का है। सालम्बन ध्यान में रूपी आलम्बन रहता है तथा अनालम्बन ध्यान में अरूपी। परम मुक्त आत्मा अरूपी आलम्बन है।

उनके गुणों से अनुभावित ध्यान सूक्ष्म—अतीन्द्रिय होने से अनालम्बन योग कहा जाता है।

[२०]

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।
तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वाणं ॥

इस अनालम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर मोह-सागर तीर्ण हो जाता है। क्षपक-श्रेणी प्रकट हो जाती है। फलतः केवलज्ञान उद्भासित होता है तथा अयोग—प्रवृत्तिमात्र के अपगम या अभाव रूप योग के सध जाने पर परम निर्वाण प्राप्त हो जाता है, जो योगी की साधना का चरम लक्ष्य है।

□

॥ योग विंशिका समाप्त ॥

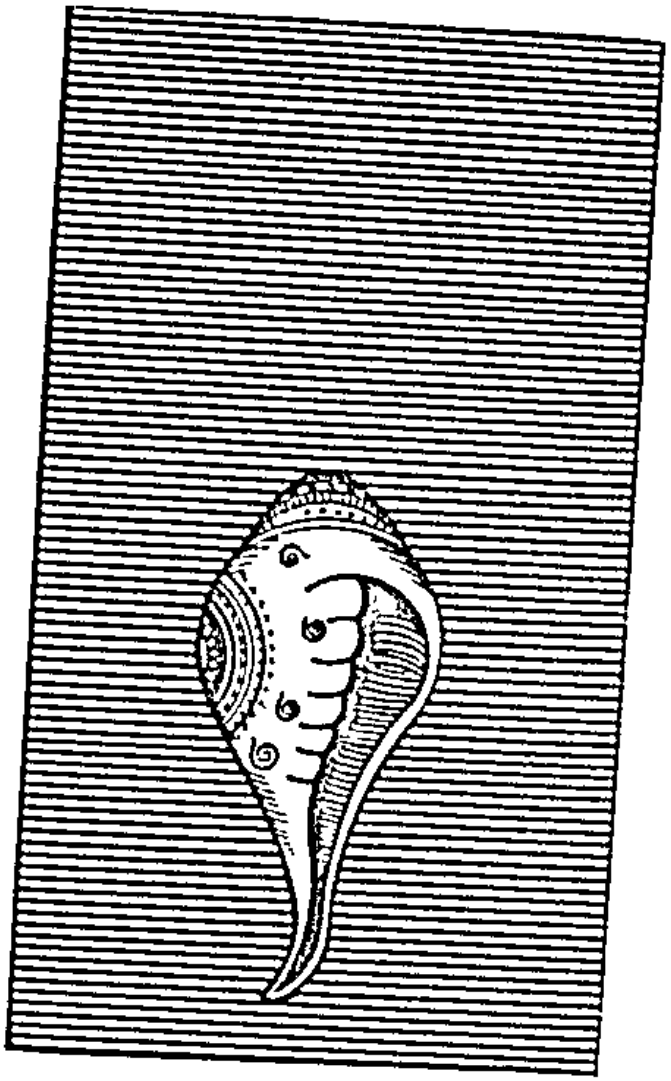

श्लोकानुक्रमणिका

- ☐ योग दृष्टिसमुच्चय
- ☐ योग बिन्दु
- ☐ योग शतक
- ☐ योग विंशिका

परिशिष्ट

श्लोकानुक्रमणिका

योगदृष्टि समुच्चय

श्लोक	क्रमांक
अतस्त्वयोगो योगानां	११
अतस्तु नियमादेव	६३
अतोऽन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं	९८
अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु····	९३
अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्	७०
अत्वरापूर्वकं सर्वं	५१
अनन्तरक्षणभूतिरात्मभूतेह	१९३
अनेकयोगशास्त्रेभ्यः	२०७
अन्यथा स्यादियं नित्यं	२०१
अपायदर्शनं तस्मात्श्रुतदीपान्न····	६९
अपायशक्तिमालिन्यं	६८
अपूर्वासन्नभावेन	३९
अबाह्यं केवलं ज्योतिः	१५७
अभिसन्धेः फलं भिन्न	११८
अल्पव्याधिर्यथा लोके	३७
अवस्था तत्वतो नो चेत्	२०२
अवज्ञेह कृताऽल्पादि	२२७
अविद्यासंगताः प्रायो	९०
अवेद्य सवेद्यपदं	६७
अवेद्यसंवेद्यपदमपदं	७२
अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं	८५
अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो	७५
असंमोहसमुत्थानि	१२६
अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्	१६३
आगमेनानुमानेन	१०१
आचार्यादिष्वपि ह्येतद्	२६
आत्मानं पाशयन्त्येते	८२

श्लोक	क्रमांक
आदरः करणे प्रीतिः	१२३
आद्यावञ्चकयोगाप्त्या	२१३
इत्थं सदाशयोपेतस्	६०
इत्यसत्परिणामानुविद्धो	७७
इत्वापूर्तानि कर्माणि	११५
इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं	१२१
इयं चावरणापाय····	१८
इहाऽहिंसादयः पञ्च	२१४
इहैवेच्छादियोगानां	२
उपादेयाधियात्यन्त	२५
ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैः····	११६
एक एव तु मार्गोऽपि	१२८
एक एव सुहृद्धर्मो	५९
एकाऽपि देशनैतेषां	१३६
एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं	३५
एतत् त्रयमनाश्रित्य	१२
एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः	१००
एतत् प्रसाधयत्याशु	१७७
एतद्भावमले क्षीणे	३०
एतन्मुक्तश्च मुक्ताऽपि	१९०
एतद्धन्तोऽत एवेह	७८
एवविधस्य जीवस्य	३३
एवं विवेकिनो धीराः	१५८
करोति योगबीजानामुपादानमिह	२२
कर्तुमिच्छो श्रुतार्थस्य	३
कान्तकान्तासमेतस्य	५२
कान्तायामेतदन्येषां	१६२

श्लोक	क्रमांक
कुकृत्यं कृत्यमाभाति	८०
कुतर्कोऽभिनिवेशस्तन्न	८८
कुदृष्ट्यादिवन्तो सन्तो	१४२
कुलप्रवृत्तचक्रा ये	२०६
कुलादियोगभेदेन	२०८
कुलादियोगिनामस्मान्नतोऽपि	२२२
कृतमत्र प्रसंगेन	१५३
कृत्वेऽधिकेऽधिकगते	४६
कोशपानादृते ज्ञानोपायो	६४
द्योतकस्य यत्तेजस्तदल्पं	२२४
गुरवो देवता विप्रा	१५१
गुरुभक्तिप्रभावेन	६४
गोचरत्वागमस्यैव	६६
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन	१४८
घातिकर्माभ्रकल्प	१८४
चरमे पुद्गलावर्ते नया	२४
चरमे पुद्गलावर्ते क्षयः	३१
चित्रा चार्थेषु तद्रागः	११२
चित्रानित्तविभागेन	११०
चित्रा तु देशनैतेषां	१३४
जन्ममृत्युजराव्याधि	७६
जातिप्रायश्च सर्वोऽयं	६४
जिनेषु कुशलं चित्तं	२३
जीयमाने च नियमा....	८६
तत्पदं साध्ववस्थानाद्	७४
तत्स्वभावोपमर्देऽपि	१६१
तदभावे च संसारो	१६६
तदभिप्रायमज्ञात्वा	१३६
तदत्र महतां वर्त्म	१४६
तद्वाक्यप्रीतियुक्ता	२१५
तन्नियोगान्महामोह	१८१
तस्मात्तत्साधनोपायो	११४
तस्मात्सामान्यतोऽप्येनम्	१०६
तत्र द्वाभ्येव भगवान्....	१८६
तात्त्विकः पक्षपातश्च	२२३
तारायां तु मनाक् स्पष्टं	४१
तृणगोमयकाष्ठानि	१५
तेषामेव प्रणामादि	२२०
दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र	६५
दिङ्मात्रमात्मभूतं	२००
द्विचन्द्रज्ञानविज्ञान....	६६
द्वितीयापूर्वकरणे	१०
द्वितीयापूर्वकरणेनुद्ध....	१८२
द्विधाऽयं धर्मसंन्यास	६
दुःखरूपो भवः सर्वं	४७
दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो	३२
धर्मबीजं परं प्राप्य	८३
धर्मोऽपि भवन् भोगः	१६०
ध्यानं च निर्मले बोधे	१७४
ध्यानजं सुखमस्यां तु	१७१
ध्यानप्रिया प्रज्ञा प्रायो	१६०
न चानुमानविषय....	१४४
न चैतदेवं यत्तस्मात्	१४७
न चैतदेव यत्तस्मात्	८
न तत्त्वतो भिन्नमता	१०२
नतत्रेच्छायोगतोऽप्ययोगं	१
न भेद एव तत्त्वेन	१०६
न मुख्यने प्रतिक्षेपः	१४१
न ह्यतस्मोमयी तत्त्वी	१५६
नात्मानः महती प्रज्ञा	४८
नात्यां गुरुभक्तमनुद्युक्ता	५०
नात्मिन् चर्चं यतः कार्यं	३६
निरावरणदो ह्येषां....	१७६

श्लोक	क्रमांक
निशानाथ प्रतिक्षेपो	१४०
निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य	१४३
नैतद्विदस्त्वयोग्येभ्यो	२२६
परपीडेहदृध्माऽपि	१५०
परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः	२१८
परिष्कारगतः प्रायो	५६
पापवत्स्वपि चात्यन्त	१५२
पुण्यापेक्षमपि ह्येव	१७३
प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य	१०४
प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो	१६
प्रथमं यद्गुणस्थानं	४०
प्रयाणभंगाभावेन	२०
प्रवृत्तचक्रास्तु पुनः	२१२
प्रशांतवाहितासंज्ञं	१७६
प्राकृतेष्विह भावेषु येषां	१२७
प्राणायामवती दीप्रा	५७
प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः	५८
फलावञ्चकयोगस्तु	२२१
बडिशामिषवत्तुच्छे	८४
बालू धूलीगृह क्रीडा	१५५
बीजं चास्य परं सिद्धम्	८६
बोजश्रुतौ च संवेगात्	२६
बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि	१२४
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो	१२०
बोधरोगः शमापायः	८७
बोधाम्भः स्रोतसश्चैषा	५३
भव एव महाव्याधि····	१८८
भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना	४२
भवभावानिवृतावव्ययुक्ता	१६८
भयं नातीव भवजं	४५
भवाम्भोधेरसमुत्तारात्	६६
भवोद्वेगश्च सहजो	२७

श्लोक	क्रमांक
भोगतत्वस्य तु पुनर्	१६७
भोगात्तदिच्छाविरतिः	१६१
भोगान् स्वरूपतः पश्यं	१६६
मायाम्भस्तत्वतः पश्यन्	१६५
मायामरीचिगन्धर्वनगर····	१५६
मित्रा तारा बला दीप्रा	१३
मित्रायां दर्शनं मन्दं	२१
मीमांसाभावतो नित्यं	१६६
मुख्योऽयमात्मनोऽनादि····	१८६
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	१४५
यथाकण्डूयनेप्वेषं	८१
यथाप्रवृत्तिकरणे	३८
यथाभव्यं च सर्वेषां....	१३७
यथाशक्त्युपचारश्च	४३
यथैवैकस्य नृपते····	१०७
यद्वा तत्तन्नयापेक्षा	१३८
यमादियोग युक्तानां	१६
यस्य येन प्रकारेण	१३५
ये योगिनां कुले जाता	२१०
योगक्रियाफलाख्यं यत्	३४
योगिज्ञानं तु मानं चेत्	२०३
योग्येभ्यस्तु प्रयत्नेन	२२८
रत्नादिशिक्षादृग्म्योऽन्या	१८०
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान	१२२
रागादिभिरयं चेह	११६
लाभान्तरफलश्चास्य	४४
लेखना पूजना दानं	२८
वाणीकूपतडागानि	११७
विशेषेषु पुनस्तस्य	१०५
विपक्षचिन्तारहितं	११७
वेद्यसंवेद्यते यस्मिन्····	७३
वेद्यसंवेद्यपदतः	७१

श्लोक	क्रमांक
व्याधितस्तदभावो वा	२०४
व्याधिमुक्तः पुमान् लोके	१८७
शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो	४
शास्त्रसन्दर्शितोपायस्	५
शुभयोगसमारम्भो	५५
श्रवणे प्रार्थनीया स्युः	२२५
श्रुतधर्मे मनो नित्यं	१६४
श्रुताभावेऽपिभावेऽस्याः	५४
स एव न भवत्येतद्····	१९४
सच्छ्रद्धासगतो बोधो	१७
स तत्रैव भवोद्विग्नो	१६८
सतोऽसत्वे तदुत्पादस्ततो····	१९५
सत्प्रवृत्तिपदं चेहा····	१७५
सदाशिवः परं ब्रह्म	१३०
सद्भिः कल्याणसम्पन्नैः	२१९
समाधिनिष्ठा तु परा	१७८
समेघामेघराज्यादौ	१४
सम्यग्घेत्वादिभेदेन	६५
सर्वथा तत्परिच्छेदात्	७
सर्वपरवशं दुःखं	१७२
सर्वं सर्वत्र चाप्नोति	९७
सर्वत्र शमसारं तु	२१६
सर्वज्ञतत्वाभेदेन	१०८
सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव	१३३
सर्वज्ञाद्वेषिणश्चैते	२११
सर्वज्ञो नाम यः कश्चित्	१०३
स क्षणस्थितिधर्मा चेद्	१९६
संसारातीत तत्वं तु	१२९
संसारी तदभावो वा	२०५
संसारिणां हि देवानां	११३
संसारिषु हि देवेषु	१११
स्वभावोत्तरपर्यन्त	९२
स्वभावोऽस्यं स्वभावो यत	१९२
सिद्धयास्यपदसम्प्राप्तिहेतुभेदा	६
स्थितः शीतांशुवज्जीवः	१८३
स्थिरायां दर्शनं नित्यं	१५४
सुखासनसमायुक्तं	४९
क्षणस्थितौ तदैवास्य	१९७
क्षाराम्भस्त्यागतो	६१
क्षाराम्भतुल्य इह च	६२
क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः	१८५
क्षीणव्याधिर्यथा लोके	२०६
क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो	७६
ज्ञाते निर्वाणतत्वेऽस्मिन्	भ३२
ज्ञानपूर्वाणि तान्येव	१२५
ज्ञायेरन् हेतुवादेन	१४६

□□

योगबिन्दु

श्लोक	क्रमांक
अग्नेरुष्णत्वकल्पं तज्	४३१
अत एव च निर्दिष्टं	४९४
अत एव च योगज्ञैः	१७७
अत एव च शस्त्राग्निः	१४४
अतएव न सर्वेषां···	५९
अत एवेदमार्याणां	२१८
अत एवेह निर्दिष्टा	९७
अतः पापक्षयः सत्वं	३५९
अतस्तु भावो भावस्य	३४५
अतोऽकरणनियमात्	४१५
अतोऽन्यस्य तु धन्यादेः	१९२
अतोऽत्रैव महान् यत्नः	६५
अतोऽपि केवलज्ञानं	३६७
अतोऽयं शस्वभावत्वात्	४३७
अतोन्यथा प्रवृत्तौ तु	२६
अत्राप्येतद् विचित्रायाः	१०६
अधिमुक्त्याशयस्थैर्यं	२९४
अध्यात्मभावना ध्यानं	३१
अध्यात्ममत्र परम	६८
अध्रुवेक्षणतो नो चेत्	४७४
अनादिमानपि ह्येष	१६५
अनादिरेष संसारो	७४
अनादिशुद्ध इत्यादिः	३०३
अनाभोगवतश्चैतद्	१५८
अनिवृत्ताधिकारायां	१०१
अनीदृशस्य तु पुनः	३५६
अनीदृशस्य च यथा	१८८
अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्य	१२
अनेन भवनैर्गुण्यं	२८४
अनेनापि प्रकारेण	१४६
अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र	७
अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्यु	४१७
अन्यथा योग्यताभेदः	२७७
अन्यथा सर्वमेवैतद्	१४
अन्यथैकस्वभावत्वाद्	१०७
अन्यद् वाच्येत्रभेदोप····	५१२
अन्यसंयोगवृत्तीनां	३६६
अन्येषामप्ययं मार्गो	३०१
अन्योन्यसंश्रयावेवं	३२४
अन्वयोऽर्थस्य न आत्मा	४७२
अपायमाहुः कर्मैव	३७३
अपुनर्बन्धकस्यायं	३६९
अपुनर्बन्धकस्यैवं	२५१
अपुनर्बन्धकादीनां	९८
अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं	२२८
अभिमानसुखाभावे	१९१
अभ्यासोऽत्रैव विज्ञेयः	३६०
अभ्युत्थानादियोगश्च	११२
अमुख्यविषयो यः स्याद्	२८
अमुत्र संशयापन्न····	४२
अयमस्यामवस्थायां	२७०
अयोगिनो हि प्रत्यक्षगोचर	५०
अर्थादाविधानेऽपि	२२३
अविद्याकल्पितैपूच्चैः	३६४
अविद्या क्लेश-कर्मादि	३०५
अविशेषेण सर्वेषाम्	११७
असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिः	५२०
असद्व्यवपरित्यागः	१२९
असातोदयशून्योऽन्धः	३५४
असंप्रज्ञात एषोऽपि	४२१

श्लोक	क्रमांक
अस्थानं रूपमन्धस्य	३१५
अस्मादनीन्द्रियज्ञप्ति····	४२६
अस्मिन् पुरुषकारोऽपि	४१४
अन्यापि योऽपरो भेदः	३०६
अस्यावाच्योऽयमानन्दः	५०५
अस्यैव स्वजनपायस्य	३७२
अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो	३७५
अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्	१७६
अस्यौचित्यानुसारित्वात्	३४०
अहमेतानतः कृच्छ्राद्	२८६
अक्षरद्वयमप्येतत्	४०
आगमात् सर्व एवायं	२३६
आगमेनानुमानेन	४१२
आत्मदर्शनतश्च स्यान्	४५७
आत्मनो तत्त्वभावत्वे	३१२
आत्मसंप्रेक्षणं चैव	३६४
आत्मा कर्माणि तद्योगः	४१३
आत्मा तदभिलाषी स्याद्	२३२
आत्मा तदन्यसंयोगात्	६
आत्मार्थतीन्द्रियं वस्तु	५१
आत्मीयः परकीयो वा	५२५
आर्ष्यं व्यापोरमाश्रित्य	२६७
आदिकर्मकमाश्रित्य	३८१
आद्यान्न दोषविगमस्	२१५
आद्यं यदेव मुख्यत्वं	११२
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं	२८१
आविद्वद्वंगमासिद्ध····	५५
आसन्ना चेयमस्योच्चैः	१७६
आस्रवो बन्धहेतुत्वाद्	३७६
इत्थं चैवं यतः प्रोक्तं	४७१
इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं	१५४

श्लोक	क्रमांक
इदानीं तु समासेन	३६
इष्यते चैतदप्यत्र	२५०
इहामुत्र-फलापेक्षा	१५१
उक्तं च योगमार्गज्ञैः	६६
उत्तुंगारोहणात् पातो	१४३
उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात्	४११
उपचारोऽपि च प्रायो	१५
उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ····	२२२
उपप्लवक्षयात् प्रेम	४७५
उपायोपगमे चास्या	४१०
उभयोः परिणामित्वं	३१०
उभयोरतत्स्वभावत्वे	३२६
उभयोस्तत्स्वभावत्वात्	१०५
ऊहतेऽयमतः प्रायो	१६४
ऋद्ध्यभिप्रवर्तनं चैव	३६५
एकमेव ह्यनुष्ठानं	१५३
एकान्त कर्तृभावत्वे	४८०
एकान्तनित्यतायां तु	४८३
एकान्तफलदं ज्ञेयं	३६२
एकान्ते सति तद्यत्न	२०
एकान्तक्षीणसंक्लेशो	५०४
एकैकं वर्धयेद् यावं	१३२
एतच्च योगहेतुत्वाद्	२०६
एतच्चान्यत्र महता	८३
एतद्भ्युदयफलदं	२२०
एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थं	३४३
एतद्रागादिकं हेतुः	१५६
एतद् बलमनुष्ठान	१५२
एतत् त्रिधाऽपि भव्यानां	२६५
एतस्य गर्भयोगेऽपि	२४२
एतां गाथित्व शास्त्रेषु	१८५

श्लोक	क्रमांक
एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैः·····	५२४
एवमाद्युक्तसन्नीत्या	४४३
एवमासाद्य चरमं	४२०
एवमूह प्रधानस्य	१९९
एवमेकान्तनित्योऽपि	४७८
एवं कालादि भेदेन	२९२
एवं च कर्तृभेदेन	१६१
एवं चरमदेहस्य	३७७
एवं च चरमावर्ते	३३७
एवं च तत्त्वतोऽसार	४३८
एवं च तत्व संसिद्धे	६४
एवं पुरुषकारस्तु	३२३
एवं पुरुषकारेण	३३९
एवं च योगमार्गोऽपि	४८८
एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा	१९६
एवं चानादिमान् मुक्तो	१६६
एवं चापगमोऽप्यस्याः	१७०
एवं तु मूलशुद्धेयेह	५११
एवं तु वर्तमानोऽयं	३५२
एवं भूतोऽयमाख्यातः	२६३
एवं लक्षणयुक्तस्य	२००
एवं विचित्रमध्यात्म·····	४०४
एवं सामान्यतो ज्ञेयः	२६७
ऐदमर्थ्यं तु विज्ञेयं	१६
औचित्यादि वृत्तमुक्तस्य	३५८
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः	२४४
औचित्यं भावतो यत्र	३४४
अंतर्विवेकसम्भूतं	२४९
अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो	४३४
अंशावतार एकस्य	५१४
कण्टकज्वरमोहैस्तु	३७४

श्लोक	क्रमांक
करणं परिणामोऽत्र	२६४
करुणादि गुणोपेतः	२८७
कर्मणा कर्ममात्रस्य	३२८
कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे	३३४
कर्मानियंतभावं तु	३३१
कल्पितादन्यतो बन्धो	५२१
कायपातिन एवेह	२७१
कालादिसचिवश्चाय	७९
काचनत्वाविशेषेऽपि	९
कर्मणो योग्यतायां हि	१३
किंचान्यद् योगतः स्थैर्यं	५२
कुण्ठी भवन्ति तीक्ष्णानि	३९
कुमारीसुतजन्मादि	४६६
कुमार्यं भाव एवेह	४६७
कृतमत्र प्रसंगेन	५१०
कृतश्चारया उपन्यासः	१८०
कृतमत्र प्रसंगेन	८४
कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिः	१३६
केचित् तु योगिनोऽप्येतद्	४२७
केवलस्यात्मनो न्यायात्	८
क्रोधाद्यवाधितः शान्त	१९३
ग्रन्थिभेदे यथैवायं	४१६
ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य	३१७
गुणप्रकर्षरूपो यत्	२९८
गुणाधिक्य परिज्ञानाद्	१२०
गुर्वादि पूजनान्नेह	१४९
ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं	१४५
गोचरश्च स्वरूपं च	५
जपः सन्मन्त्रविषयः	३८२
जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्·····	२४३
जात्यन्धस्य यथा पुंसस्	२८३

श्लोक	क्रमांक
जिनोदितमितित्वाहू	१६०
जिज्ञासायामपि ह्यत्र	१०३
चतुर्थमेतत् प्रायेण	१६३
चरमे पुद्गलावर्ते	७२
चारित्रिणिस्तु विज्ञेयः	३७१
चारिसंजीवनी चारन्याय	११९
चारु चैतद् यतो ह्यस्य	२०६
चित्रस्यास्य तथाभावे	७७
चिन्तयत्येवमेवैतत्	२८९
चैतन्यं च निज रूपं	४४५
चैतन्यं चेह संशुद्धं	४५६
चैतन्यमात्मनो रूपं	४२८
चैतन्यमेव विज्ञानमिति	४४७
तत् पुनर्भाविकं वा स्याद्	४८५
ततस्तथा तु साध्वेव	४९३
ततस्तदात्वे कल्याण	१०४
ततः शुभमनुष्ठानं	१७१
तत्तत्कल्याणयोगेन	२८८
तत्तत्स्वभावता चित्रा	२९३
तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा	२९६
तत्कारी स्यात् स नियमात्	२४०
तत्प्रकृत्यैव शेषस्य	१८२
तत्प्रणेतृसमाक्रान्त....	२४७
तत्त्वेन तु पुनर्नैका	९२
तत्स्वभावत्वतो यस्माद्	४९१
तत्त्वचिन्तनमध्यात्म....	३८०
तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि	३३६
ततोऽस्थानप्रयासोऽयं	३०७
तस्मात् सदैव धर्मार्थी	२२४
तस्मादचरमावर्तेष्वध्यात्मं	९३
तस्मादनुष्ठानगतं	४४०
तस्मादवश्यमेष्टव्या	१६८
तथा च जन्मबीजाग्नि	३८
तथा च तत्स्वभावत्व	३३०
तथा च भिन्ने दुर्भेदे	२८०
तथा चान्यैरपि ह्येतद्	१००
तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे	४३०
तथा तथा क्रियाविष्टः	४९६
तथात्मपरिणामात् तु	८०
तथा नामेव सिद्धैव	४५२
तथा भव्यत्वतश्चित्र....	२९१
तथाऽयं भवकान्तारे	३५५
तपोऽपि च यथाशक्ति	१३१
तदासनाद्यभोगश्च	११५
तदत्र परिणामस्य	२६९
तदन्यकर्मविरहान्न	१६७
तदभावेऽपि तद्भावो	४०७
तद्भंगादिभयोपेतम्	३९३
तद्दृष्टाद्यनुसारेण	२७
तदयं कर्तृभावः स्याद्	४७९
त्यागश्च तदनिष्टानां	११४
तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चाय	३६८
तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं	३२
तात्त्विकोभूत एव स्यादन्यो	३३
तीव्रपापाभिभूतत्वाद्	८५
तुच्छं च तुच्छनिलय	२५५
तुल्य एव तथा स्वर्गः	१०८
तुल्यत्वमेवमनयो....	३३८
तृणादीनां च भावाना	९५
तृतीयमप्यदः किन्तु	२१४
तृतीयाद् दोषविगमः	२१९
तृष्णा यज्जन्मनो यानि	४६०

श्लोक	क्रमांक
तैजसानां च जीवनां	९४
त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं	२१०
दत्तं यदुपकाराय	१२४
दार्वादिः प्रतिमाक्षेपे	३३३
दिव्यभोगाभिलाषेण	१५७
दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि	४८९
दिदृक्षाभवबीजादि	१६९
दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि	४५५
द्वितीयाद् दोषविगमो न	२१७
द्वितीयं तु यमाद्येव	२१३
दीनान्ध कृपणा ये तु	१२३
दूरं पश्यतु वा मा वा	४४२
दृष्टबाधैव यत्रास्ति	२४
देवतापुरतो वाऽपि	३८३
देवादिवन्दनं सम्यक्	३९७
देवान् गुरून् द्विजान् साधून	४४
देशादिभेदश्चित्रमिदं	३५७
दैवं नामेव तत्त्वेन	३१९
दैवं पुरुषकारश्च	२१
दैवं पुरुषकारश्च	३१८
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं	३२७
दैवमात्मकृतं विद्यात्	८५
धर्मस्यादिपदं दानं	१२५
धर्मार्थं लोकपक्तिः स्यात्	९०
धर्ममेघोऽमृतात्मा च	४२२
धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं	२५७
धृतिः क्षमा सदाचारो	५४
न किन्नरादिगेयादौ	२५४
न चाकृतस्य भोगोऽस्ति	४८१
न चात्मदर्शनादेव	४७३
न चेहं ग्रन्थिभेदेन	२०५
न चेतेषामपि ह्येतत्	६०
न चैतद् भूत संघात	५६
न चैवं तत्र नो राग	२५८
नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं	१
न देशविप्रकर्षोऽस्य	४३३
न निमित्तवियोगेन	४४६
न भवस्थस्य यत् कर्म	३२१
नवतायां न चात्यागस्	५०२
नवनीतादिकल्पस्तत्	९६
न यस्य भक्तिरेतस्मिन्	२२६
न सद्योगभव्यस्य	२४१
न ह्यपश्यन्नहमिति	४६१
न ह्यपायान्तरोपेय	२३६
न ह्येतद्भूतमात्रत्व	४७
नाचार्यं महतोऽर्थस्य	१७५
नात एवाणवस्तस्य	१७२
नान्यतोऽपि तथाभावाद्	५२२
नास्तियेषामयं यत्न	१४०
निश्चयेनात्र शब्दार्थः	३७८
निजं न ह्यपयत्येव	२६१
निमित्तमुपदेशस्तु	३४६
निमित्ताभावतो नो चेत्	४५३
नियमात् प्रतिमा नात्र	३३२
निरावरणमेतद् यद्	४५४
निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्	३६१
निषिद्धासेवनादि यद्	४०१
नृपस्येवाभिधानाद्	४८७
नेदमात्मक्रियाभावे	३२६
नैरात्म्यदर्शनादन्ये	४५८
नैरात्म्यदर्शनं कस्य	४६५
नैरात्म्यमात्मनोऽभावः	४६३

श्लोक	क्रमांक
विस्रोतोगमने न्याय्यं	३६५
वृथा कालादिवादश्चेत्	८१
वेलावसनवन्नद्याः	२०२
व्यापारमात्रात् फलदं	३२२
व्यतस्था लिंगिनः पात्रं	१२२
शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन	२६२
शान्तोदात्तत्वमत्रैव	१८६
शान्तोदात्तः प्रकृत्यैव	१८७
शास्त्रे भक्तिर्जगद्गन्धुं	२३०
शिरोदकसमो भाव	३४६
शुभात् ततस्त्वसौ भावो	३३५
शुभैकालम्बनं चित्तं	३६२
शुद्धयध्यवसितिर्ह्यस्यं	४४८
शुद्धयल्लोके यथारत्नं	१८१
शुश्रूषा धर्मरागश्च	२५३
श्रद्धालेशान्वियोगेन	४३
श्रूयन्ते च महात्मान	६३
श्रूयन्ते चेतदालापा	२३७
सकृतादावर्तनादीना····	३७०
सच्चेष्टितमपि श्लोकं	१४८
सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेः	१४१
सति चास्मिन् स्फुरद्रत्न	२०८
सत्यात्मनि स्थिरे ह्येषि	४६२
सत्यायमेद एकान्तात्	५१८
सत्साधकस्य परमा	१७३
सत्सायोपशमात् सर्वं	३५०
सद्गोचरादिसंशुद्धि	५०७
सदाशयस्य हेतुः स्यात्	५१७
सदुपायस्य साध्यत्वाद्	७१
सदुपायाद् यथैवाग्निः	७०
सन्ध्यापनादिभेदेन	१३३

श्लोक	क्रमांक
समाधिराज एतत् सत्	४५६
समाधिरेष एवाग्रैः	४१६
समुद्रोर्मिसमत्वं च	५११
समुद्धृत्याजितं पुण्यं	५२७
स योगाभ्यास जेयोवत्	४६२
सर्वत्र निन्दात्यागो	१२७
सर्वत्र सर्वसामान्य	४३५
सर्वथा योग्यतामेरे	२७६
सर्वथैवात्मनोऽभावे	४६४
सर्वमेवेदमध्यात्मं	३६६
सर्वान् देवान् नमस्यन्ति	११८
सर्वेषां तत्त्वमादत्वात्	३११
सर्वेषामेव सत्त्वाना	७५
सर्वेषां योगशास्त्राणाम्	२
सहजं तु मलं विद्यात्	१६४
संक्लेशायोगतो भूयः	१८४
संक्लेशैर्मलिताश्चेह	४६५
संयोगयोग्यतामावो	४६७
संविग्नो भवनिर्वेदाद्	२६०
संसारादस्य निर्वेदः	३४१
संक्षेपात् सफलो योग	३७६
सागरत्वस्याय विज्ञेया	१६
सागरोपमकोटीनां	२६८
साधु चैतद् यतो नीत्या	३०८
सामग्र्या कार्यहेतुत्वं	८२
सामान्यवद् विशेषाणां	४३६
सामान्येन तु सर्वेषां	६१
सारणं वा यथाशक्तिः	११३
सारवो दोषसंसारः	२४
सासादनीद्रियानुत्पनि	४२५
सिद्धिर्न फलतादृ यद् वा	१६७

श्लोक	क्रमांक
सांसिद्धिकं च सर्वेषा····	३१३
सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा	३१४
सांसिद्धिकमिद ज्ञेयं	२७५
सिद्धयन्तरस्य सद् बीजं	२३३
सिद्धयन्तरागसंयोगात्	२३५
सिद्धयन्तरं न सन्धत्त	२३४
सिद्धेरासन्न भावेन	१७४
स्थानकालक्रमोपेतं	३६८
स्फटिकस्य तथानाम	४५१
स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव	२५२
स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे	४७०
स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेत्	४६६
स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च	४६
स्वप्ने वृत्ति स्तथाभ्यासाद्	६२
स्वभाववादापत्तिश्चेद्	७८
स्वभावविनिवृत्तिश्च	५०१
स्वभावापगमे यस्माद्	४८४
स्वरूपं निश्चयनैतद्	३२०
स्वरूपं संभवं चैव	३५
स्वल्पमत्यनुकम्पार्यं	५२६
स्वाराधनाद् यथैतस्य	१४२
स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो	४७६
स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा	४०६
स्वौचित्यालोचनं सम्यक्	३८६
हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं	३१६
हेतुभेदो महानेव	२५६
हेतुमन्य परं भावं	४१८
हेयोपादेयतत्वस्य	८४१
क्षणिकत्वं तु नैवास्य	४६८
क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो	८७
क्षेत्ररोगाभिभूतस्य	१०२
ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्	४३६
सो ज्ञेये कथमज्ञः स्याद्	४३२

□□

योगशतक : गाथानुक्रमणिका

श्लोक	क्रमांक
अकुसलकम्मोदय	४६
अणसणमुदीए इहं	९९
अणिगूहणा बलम्मी	३४
अणुभूयवत्तमाणो	५५
अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइ	६९
अद्धेणं गच्छन्तो सम्मं	७
अनियत्ते गुणे तीए	१०
एवं अब्भासाओ तत्तं	७७
असमत्ती य उ चित्तेसु	९३
अहवा ओहेणं चिय	७८
अहिगारिणो उवाएण	८
अहिगारी पुण एत्थं	९
आणाए चित्तणम्मि	७४
उड्ढं अहियगुणेहिं	४४
उत्तरगुणबहुमाणो	४५
उवएसो विसयम्मी	३६
उवओगो पुण एत्थं	७६
एईय एस जुत्तो सम्मं	८५
एएण पगारेणं जायइ	९०
एएसिं नियनियभूमिगाए	२१
एएसिं पि य पायं	२३
एएसु जत्तकरणा	४९
एतो चिण कालेण नियमा	६
एत्थ उवाओ य इमो	४२
एमाइ जहोचिय	८९
एमाइ वत्थुविसओ	३२
एयस्स उ भावाओ	७३
एयं खु तत्तनाणं	६६
एयं पुण निच्छयओ	१२
एयं विसेसनाणा····	१८
एवं चिय अवयारो जायइ	२६
एयम्मि परिणयम्मी	३८
एवमणाई एसो सम्बन्धो	५७
एवं तु बन्धमोक्खा	५८
एवं पुन्नं पि दुहा	८७
एसो चेवेत्थ कमो	८०
एसो सामाइयसुद्धि····	१६
कम्मं च चित्तपोग्गलरूवं	५४
कायकिरियाए दोसा	८६
किरिया उ दंडजोगेण	१९
गमणाइएहिं कायं	४०
गुरुकुलवासो गुरुतंतयाए	३३
गुरुणा लिंगेहिं तओ	२४
गुरुणो अजोगिजोगो	३७
गुरुदेवयाहि जायइ	६२
गुरुदेवायपमाणं	६१
गुरुविणओ सुस्सूसाइया	५
चउसरणगमण	५०
चरमाणपवत्ताणं	५१
चियवंदण-जइविस्सामणा	३१
चित्तेज्जा मोहम्मी	७१
जह खलु दिवसब्भत्थं	९४
जह चेव मंतरयणाइएहिं	६३
जोगाणुभावओ चिय	८३
ठाणा कायनिरोहो	६४
तइ तब्भवेण जायइ	९२
तइयस्स पुण विचित्ता	२९
तग्गयचित्तस्स तहोव····	६५
तत्थाभिस्संगो खलु रागो	५९
तप्पोग्गलाण तग्जत्तसहावा····	११

श्लोक	क्रमांक
तल्लक्खणजोगाओ	२२
तस्साऽऽसन्नतणओ	२८
तह कायपायणो न	८८
ता इय आणाजोगो	१०१
ता सुद्धजोगमग्गो	९५
थीरागम्मि तत्तं तासिं	६७
दोसम्मि उ जीवाणं	७०
नमिऊण जोगिनाहं	१
नाऊण तओ तव्विसय	६०
नाणं चागमदेवाय	९७
नामावोच्चिय भावो	७२
निच्छायओ इह जोगो	२
नियसहावालोयण	३९
पइरिक्के वाघाओ	७५
पडिसिद्धेसु य देसे	१७
पढमस्स लोकधम्मे	२५
परिसुद्धचित्तरयणो	९६
पावं न तिव्वभावा कुणइ	१३
बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि	२७
भावण-सुयपाढो	५२
मग्गणुसारी सद्धो	१५
मुत्तेणममुत्तिमओ	५६
रयणाई लद्धीओ	८४
रागो दोसो मोहो एए	५३
रोगजरापरिणामं	६८
लेसा य वि आणाजोगओ	१००
वणलेवो धम्मेणं	८२
ववहारओ य एसो	४
वदणमाई उ विही	४३
वासीचंदणकप्पो	२०
वासीचंदणकप्पं तु एत्थ	९१
सत्तेसु ताव मेत्ति	७९
स धम्माणुवरोहा वित्ती	३०
सन्नाणं वत्थु गओ वोहो	३
सरणं गुरु उ एत्थ	४८
सरणं भए उवाओ	४७
संवरनिच्छिद्दत्तं	३५
साहारणो पुण विही	८१
सुस्सूस धम्मराओ	१४
सुहसंठाणा अन्ने कायं	४१
सुहसावगाइभक्खण	९८

□□

योगविंशिका : गाथानुक्रमणिका

श्लोक	क्रमांक
अणुकंपा निव्वेओ संवेगो	८
अरिहंतचेइयाणं	१०
आलंबणं पि एयं	१९
इक्किक्को य चउद्धा	४
इहरा उ कायवासिय	१२
एए य चित्तरूवा	७
एयं च पीइभत्तागमाणुगं	१८
एयम्मि मोहसागरतरणं	२०
एवं चउत्थालंबण	११
एवं ठियम्मि तत्ते	९
कयमित्थ पसंगेणं	१७
जे देस विरइजुत्ता	१३
ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ	२
तज्जुत्त कहापीईइ	५
तह चेव एयबाहगं	६
तित्थस्सुच्छेयाइ वि	१४
देसे सव्वे य तहा	३
मुत्तूण लोगसन्नं	१६
मोक्खेण जोयणाओ	१
सो एस वकओ चिय	१५

श्रीगणेशदत्तगुरुभ्यो नमः

प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वती (टेंबे)
स्वामी महाराजविरचितं

योगरहस्यम्।

प.पू.योगिराज वामन दत्तात्रेय गुळवणीमहाराजप्रणीत

विवरणासहित

श्रीसद्गुरु प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज कवीश्वर समग्र लेखन समिती
श्रीवासुदेव निवास, पुणे - ४.

श्रीगणेशदत्तगुरुभ्यो नमः।

प्रस्तावना

स्मृतोऽप्यवति यो विघ्नं निघ्नमम्बासुतः स्तुतः।
गंधर्वस्थः स हि कलौ मलौघघ्नोऽस्तु मे हृदि।।
नमस्ते शारदे देवि वीणावादनतत्परे।
सरस्वती जगन्माता सा मे बुद्धिं प्रचोदयात्।।
वासुदेव यतिं वन्दे वामनं मम सद्गुरुम्।
कवीश्वरं दत्ताख्यं याचे मतिप्रकाशनम्।।
वाङ्मयं वासुदेवस्य गहनं सागरादपि।
चिंतनाय प्रवृत्तोऽस्मि मन्दोऽप्यन्तरशुद्धये।।

श्रीवासुदेवनिवास आश्रमाच्या निर्मितीच्या उपलक्षाने एका स्मारिकेच्या स्वरूपांत योग-भक्ति-दर्शन या नांवाचा एक ग्रंथ शके १८८७ च्या गुढीपाडव्याला (दि.२३-३-१९६६) प्रकाशित झाला. त्या ग्रंथांत संप्रदायांतील साधकांना अत्यंत उपयुक्त असे मौलिक आध्यात्मिक वाङ्मय प्रसिद्ध झाले. त्यांत प.पू.योगिराज श्रीगुळवणीमहाराजांचे योगरहस्यावरील विवरणही प्रकाशित झाले होते. प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वतींच्या एका अधिकारी शिष्याचे हे विवरण संप्रदायांतील आणि संप्रदायाच्या बाहेरीलही सर्व साधकांना आणि जिज्ञासूंना अत्यंत उपकारक ठरेल यांत शंका नाही. प.प.श्री थोरल्या महाराजांच्या ह्या छोट्याशा प्रकरणांत प्रतिपादलेला हठयोगाचा अभ्यास श्रीगुरुमहाराजांनी उत्तम प्रकारे केलेला होता हे सुप्रसिद्धच आहे. अनेक साधकांना त्यांनी हठयोगाचे उत्कृष्ट फलपर्यवसायी असे मार्गदर्शनही केलेले आहे. ह्याशिवाय श्रीगुरुमहाराजांना प.प.श्रीलोकनाथतीर्थ स्वामी महाराजांकडून कुंडलिनीशक्तिपातविद्येचे दीक्षागुरुत्वही लाभले होते. योगरहस्याच्या विवरणाला जोडून श्रीगुरुमहाराजांनी ह्या कुंडलिनी

योगाचेही निरूपण केले आहे. तसेच ह्या दोनही संप्रदायांचे शास्त्रप्रामाण्य आणि एकसूत्रता स्पष्ट केली आहे.

ह्या ग्रंथाचे कर्ते श्रीगुरुमहाराजच असले तरी ह्याचे प्रत्यक्ष लेखन प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज कवीश्वर यांच्याकडून झाले आहे असे समजल्यावरून आम्ही प.पू.श्रीदत्तमहाराजांनी विचारले, योगरहस्य ह्या ग्रंथाचे विवरण आपण लिहिले आहे हे खरे आहे का ? त्यावर त्यांनी आपल्या परोक्ष पद्धतीने, ''लिहिले म्हणजे केले असे होत नाही'',असे उत्तर दिले. एकूण ग्रंथाची लेखनशैलीवरही श्रीदत्तमहाराजांची छाप स्पष्ट जाणवते. त्यावरून ह्या विवरणाच्या लेखनकार्यांत त्यांचा सिंहाचा वाटा होता असे समजायला हरकत नाही.. त्याचे गमक म्हणून आम्ही ह्या ग्रंथाच्या शीर्षकांत त्यांचे लेखक म्हणून नांव समाविष्ट केले आहे. श्रीगुरुमहाराजांचे श्रीदत्तमहाराजांवरील पुत्रवत् वात्सल्य ध्यानांत घेतां हे त्यांना आवडेलच असा विश्वास वाटतो.

योग ह्या शब्दाची अवस्था अतिपरिचयादवज्ञा अशी सध्यां झालेली आहे. योग शब्दाचा 'योगा' शरीराच्या कसरतींनाच योग म्हटले जाते. गल्लोगल्ली अशा योगाचे शिक्षक आढळतात. आठ अंगे असलेला हा योग सर्वत्र आसन या अंगापुरताच सीमित झालेला दिसतो. अशा परिस्थितीत खऱ्या योगाचे जिज्ञासूही थोडेच असणार आणि मार्गदर्शक तर त्याहूनही कमी. परदेशाची वारी केल्याशिवाय योग्याची गुणवत्ता ठरत नाही. अशा स्थितीत योगाविषयीं विपरीत कल्पनांचा खूपच प्रादुर्भाव झाला आहे. त्यामुळे खरा योग काय आहे? त्याचे स्वरूप आणि उपयुक्तता काय आहे? योगाचा अभ्यास कुणी करावो? कसा करावो? योगाभ्यासी पुरुष कसा ओळखावा? ह्या सर्व प्रश्नांची समाधानकारक उत्तरे सहजासहजी मिळत नाहीत. ह्या छोटेखानी पुस्तकांतून योगाची अशी ओळख जिज्ञासूंना होऊं शकते ही किमान उपलब्धीही दुर्लक्षणीय नाही. योगाची व्याख्या, त्याची सर्व अंगे, त्याचा इतर आध्यात्मिक शास्त्रांशी असलेला संबंध इत्यादि गोष्टी श्रीस्वामीमहाराजांसारख्या महान योग्याच्या ह्या ग्रंथांत आधिकारिक

(Authentic) वाणीने मांडल्या आहेत. त्यावरील विवेचन त्यांचेच महनीय शिष्यप्रवर प.पू.योगिराज गुळवणीमहाराजांनी केले आहे.

आधुनिक आयुर्विज्ञानाला फक्त स्थूल मानवी देहाचीच माहिती आहे. कारण ते ऐंद्रिय संनिकर्षांवरच पूर्णतया अवलंबून आहे. आधुनिक उकरणांनी इंद्रियांच्या शक्तीत परिमाणात्मक (quantitative) वाढ करतां येते. परंतु इंद्रियांच्या गुणात्मक क्षमता (qualitative faculties) बदलत नाहीत. विज्ञानापासून झालेल्या बोधावर मानवी संवेदनांच्या विचारशक्तीच्या मर्यादा असतात. अतींद्रिय विषयांच्या बाबतीत आधुनिक विज्ञान मुग्धच असते. योगशास्त्रांत मानवाच्या स्थूल अन्नमय देहाशिवाय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आणि आनंदमय कोशांचा विचार आहे. ह्या सर्व कोशांत झांकलेले आपले स्वरूप (आत्मस्वरूप) जाणणे हेच योगाचे अतिम लक्ष्य आहे. ह्यालाच आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष, निर्वाण इत्यादि संज्ञा आहेत. ह्या सर्वांचा विचार करून प्रयोगाने सिद्ध होणारे हो योगशास्त्र भारतांतील महर्षींच्या शतकानुशतकांच्या संशोधनाचा परिपाक आहे. ह्या प्राचीन, प्रत्यक्षावगम्य शास्त्राचे ह्या पुस्तकांत संक्षिप्त तरीही निःसंदिग्ध आणि निश्चयात्मक प्रतिपादन आहे.

भक्तियोग, कर्मयोग आणि ज्ञानयोग हे तीन भिन्न नसून एकाच अष्टांगयोगाचे टप्पे आहेत. क्रमाक्रमाने या तीनही योगांचा अभ्यास केल्यानेच मनुष्याच्या जीवनाचे सार्थक जो मोक्ष तो प्राप्त होतो. एकाच मार्गाचा आग्रह धरला तर ध्येयप्राप्ती होणार नाही हे या ग्रंथांत सप्रमाण आणि सयुक्तिक दाखविले आहेत. त्यानंतर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आणि समाधि यां योगांगांचे क्रमाने निरूपण आहे.

यांतील आसन आणि प्राणायाम यांना हठयोग अशी संज्ञा आहे. हठयोगाला हटयोग संबोधून तो कांही तरी हट्टाने करण्याचा अभ्यास आहे अशी एक विपरीत समजूत आहे. 'ह' आणि ''ठ हे प्राण आणि अपान यांचे पर्यायी शब्द आहेत. त्यांचा योग म्हणजे प्राणमय कोशावर नियंत्रणाचा अभ्यास.

हा योगाभ्यासांतला एक आवश्यक टप्पा आहे. प्राणाचा लय झाल्याशिवाय चित्ताच्या वृत्ती थांबूं शकत नाहीत. त्यासाठी मानवाच्या अंतरांतले चैतन्य जागवणे नितांत आवश्यक आहे. त्यालाच कुंडलिनीची जाग्रति किंवा शक्तिचालन असे नांव आहे. प्राणायामाचे हे एक प्रमुख उद्दिष्ट आहे. त्याचे वर्णन इथे केले आहे. अर्थातच हा अभ्यास योग्य मार्गदर्शकाच्या देखरेखीनेच करायचा आहे.

प्राणाच्या जयानंतर मनाचे नियंत्रण करायचे आहे. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान या मनाच्या नियंत्रणाच्या पायऱ्या आहेत. समाधि म्हणजे चित्तवृत्तिनिरोध हे योगाचे परमसाध्य आहे. ह्या सर्वांचा सूत्ररूपाने निर्देश करून शेंवटी यमनियमांचा उल्लेख तेवढा केला आहे.

आध्यात्मिक साधक, जिज्ञासू, अभ्यासक यांना तर हा ग्रंथ फारच उपकारक आहे. बऱ्याच साधकांची आणि भक्तांची अशी समजून असते की योग हा आपला विषय नाही. तो कष्टाचा आणि धोक्याचा मार्ग आहे. इत्यादि. त्या लोकांनी श्रीज्ञानेश्वर महाराजांचे 'एऱ्हवी सोपे योगासारिखे। कांही आहे?' हे वचन लक्षांत घ्यावे अशी विनंति आहे. योगाचे कांही प्रकार, कांही क्रिया, आसने, बंध इत्यादि अधिकारी गुरूच्या मार्गदर्शनाखालीच कराव्यात. अन्यथा त्यांत धोका असतो हे खरे आहे. पण योगाचे अनेक प्रकार कुणालाही करतां येण्यासारखे आहेत. विशेषतः कुंडलिनी शक्तिपात योग हा अगदीच सुरक्षित आहे. सर्व जातींच्या, सर्व धर्मांच्या, सर्व वयांतील स्त्रीपुरुषांना हा अभ्यास सहज करतां येतो. हठयोगाच्या कठिण वाटणाऱ्या क्रिया, बंध, प्राणायाम हे सर्व साधकाच्या अंतरांतील जागृत झालेली चिच्छक्ति विनासायास करवून घेते. क्रमशः साधकाच्या अवस्थेनुसार त्या त्या वेळी त्या क्रिया होतात व साधकाची आध्यात्मिक उन्नति होत राहते. साधनेचे अंतिम साध्य जो आत्मसाक्षात्कार तो होईपर्यंत ही चैतन्यमयी शक्ति सतत कार्यशील राहते. त्यामुळेच हा मार्ग सुरक्षित आणि खात्रीचा आहे. हे प्रतिपादनही ह्या ग्रंथाच्या उपसंहारांत वाचतां येईल.

ह्या ग्रंथाचे पुनर्मुद्रण करतांना त्याची मांडणी वाचकांना सोयीची होईल

अशी केली आहे. मूळ ग्रंथांत बहुतेक ठिकाणी संस्कृत उद्धरणांचा भावार्थ दिलेला असला तरी अनेक जागीं तो नव्हता. तिथे तळटीपांतून मराठी भावार्थ दिला आहे. अशा प्रकारे हा ग्रंथाची वाचकांना उपयुक्तता वाढविण्याचा आमचा प्रयत्न आहे. गुरुभक्त श्री.प्रमोद पोटभरे यांनी ह्या छपाईंत घेतलेले परिश्रम उल्लेखनीय आहेत.

हा ग्रंथ सिद्ध करण्यात पुढाकार घेतलेल्या `प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज समग्र चरित्र समितीने ही संपादनसेवा करण्याची संधि मला दिली ह्याबद्दल मी कृतज्ञ आहे. प.पू.योगतपस्वी श्रीनारायणकाका ढकणे महाराज यांच्या आत्मीय मार्गदर्शनाचा, त्यांच्या उत्तेजनाचा व श्रीवासुदेवनिवास आश्रमाच्या माध्यमांतून केलेल्या सक्रिय सहकार्यावांचून हा ग्रंथ प्रकाशांत येणे अशक्यच होते. हे त्यांचेच कार्य त्यांनी आमच्याकडून करून घेतले अशीच आमची भावना आहे.

शेवटी हा योगमार्गाचे रहस्य उलगडून दाखविणारा ग्रंथ जिज्ञासूंना उद्बोधक, साधकांना मार्गदर्शक आणि ज्ञानीजनांना आनंदवर्धक होवो अशी प्रार्थना दत्तनामक गणेश आणि वामननामक दत्ताच्या चरणीं करून ही सेवा त्यांच्याच चरणी समर्पित करतो.

पुणे दि.

श्रीदत्तचरणगजाभिलाषी

वासुदेव व्यंकटेश देशमुख

श्रेष्ठ पुंजन्मसाफल्यं कार्यं योगत्रयाश्रयात् ।
समाख्यातद्विसाहस्री संहितासंग्रहस्त्वयम् ॥१॥

अर्थः - श्रेष्ठ अशा पुरुषजन्माचे साफल्य ज्ञान, कर्म व भक्ती या तीन योगांच्या आश्रयाने करावे. हाच एकंदर मागे सांगितलेल्या द्विसाहस्रीसंहितेचा सारभूत अर्थ आहे.

विवरणः - श्रीमहाराजांच्या संस्कृत, प्राकृत अनेक ग्रंथांमध्ये द्विसाहस्री श्रीगुरुचरित्र हा ग्रंथ फार महत्त्वाचा आहे. हा ग्रंथ श्रीमहाराजांनी पूर्वाश्रमांतच तयार केला असून याची टीका मात्र मागाहून संन्यासाश्रम स्वीकारल्यानंतर द्वारकेस चातुर्मास्य मुक्काम असताना झालेली आहे. त्यावेळी मूळ द्विसाहस्रीची पोथीसुद्धा जवळ नव्हती. हा मूळ ग्रंथ माणगावी शके १८०६ मध्ये तयार झाला. नंतर १५ वर्षांनी म्हणजे शके १८२१ मध्ये त्याची टीका, प्रभासपट्टण व द्वारका येथील मुक्कामात तयार झाली. याबद्दल श्रीमहाराजांनीच पुढील श्लोकात खुलासा केला आहे. हे श्लोक द्विसाहस्रीनंतर बोधरहस्याच्या शेवटी दिलेले आहेत.

'ज्ञानं त्रयोदशाध्यायैः कर्मयोगं च पंचभिः ।
पंचभिर्भक्तियोगं च कारयामास योगिराट् ॥१॥
पाश्चात्य पाथोधितटे नवानां टीका प्रभासेऽभ्युदिताऽखिलानां ।
श्रीद्वारकायां चरितस्य तस्य श्रीसद्गुरोर्वेदनुतस्य तस्य ॥२॥
शालिवाहशके क्ष्माश्विवसुभूमिमिते (१८२१) त्वियम् ।
टीका संपूर्णतां प्राप्ता चातुर्मास्ये ह्यवर्षके ॥३॥ (संवत् १९५६)'

अर्थः - तेरा अध्यायांनी ज्ञान, पाच अध्यायांनी कर्मयोग व पाच अध्यायांनी भक्तियोग, माझ्याकडून योगिराजांनी करविला. पश्चिम समुद्राच्या तीरावर प्रभासक्षेत्रात नऊ अध्यायांची टीका निर्माण झाली. आणि वेदांनी स्तुती केलेल्या त्या सद्गुरूंच्या चरित्राची बाकी राहिलेल्या अध्यायांची टीका द्वारकेत निर्माण झाली. शके १८२१ मध्ये अवर्षण पडलेल्या चातुर्मास्यात ही टीका पूर्ण झाली. याप्रमाणे द्विसाहस्री गुरुचरित्राच्या टीकेबद्दल श्रीमहाराजांनी स्वतः वरीलप्रमाणे

उल्लेख केलेला आहे. द्विसाहस्री गुरुचरित्रामध्ये एकंदर तेवीस अध्याय आहेत. त्यांपैकी प्रथम एक ते तेरा अध्यायांत ज्ञानयोग, चौदा ते अठरा अध्यायात कर्मयोग व एकोणीस ते तेवीस या पाच अध्यायात भक्तियोग सांगितला आहे. श्रीसरस्वती गंगाधरांनी मराठी ओवीबद्ध जे श्रीगुरुचरित्र केलें आहे, त्याचेच संस्कृतमध्ये रूपान्तर म्हणजे द्विसाहस्री गुरुचरित्र होय. मराठी गुरुचरित्रातील चोवीस अध्यायांपर्यंत ज्ञानयोग सांगितला. पंचवीस ते सदतीसपर्यंत कर्मयोग व पुढे अडतीस ते एकावन्न अध्यायापर्यंत भक्तियोग अशी एकदर श्रीगुरुचरित्राची रचना श्रीमहाराजांच्या अभिप्रायाप्रमाणे दिसते. द्विसाहस्री गुरुचरित्राच्या टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी अनेक महत्त्वाच्या विषयांचे सांगोपांग विवेचन केले आहे. त्यातच, चौदाव्या अध्यायाच्या व एकोणिसाव्या अध्यायाच्या आरंभी ज्ञान, कर्म व भक्ती या तीन योगांच्या उपयुक्ततेबद्दल श्रीमहाराजांनी सप्रमाण विचार मांडलेले आहेत. चौदाव्या अध्यायाच्या आरंभी टीकेमध्ये श्रीमहाराज लिहितात -

'एवं त्रयोदशाध्यायैर्ज्ञानकाण्डः समर्थितः ।
शुद्धान्तःकरणोऽनेन मुच्यते कर्मबन्धनात् ॥ १॥
येऽशुद्धमानसास्तेषां पापकर्मक्षयाय ही ।
वैराग्योत्पत्तये चेयं पंचाध्यायी वितन्यते ॥ २॥'

पहिल्या श्लोकाने ज्ञानाचा उपयोग सांगितला असून दुसऱ्या श्लोकात कर्माचे प्रयोजन सुचविले आहे. ज्याचे चित्त शुद्ध झाले आहे, म्हणजे ज्याला विषयसुखाची इच्छा मुळीच राहिली नाही, अशा विरक्त पुरुषाला ज्ञानाच्या प्रभावाने कर्मबंधनापासून मुक्त होता येते. म्हणजे त्याच्या सर्व कर्मांचा क्षय होतो. सुखदुःख भोगण्याकरिता पुनः त्याला जन्म घ्यावा लागत नाही. हे ज्ञानाचे सर्वोत्कृष्ट फल दाखविले आहे. ज्यांचे मन अशुद्ध आहे त्यांच्या पापाचा क्षय होऊन त्यांना उत्तम वैराग्य उत्पन्न होण्याकरिता कर्मकांड सांगितले आहे, असे कर्माचे प्रयोजन दुसऱ्या श्लोकात सांगितले आहे. चित्तशुद्धी म्हणजेच तीव्र वैराग्य उत्पन्न होणे. सर्व विषय सोडण्याची इच्छा होणे. याकरिता शास्त्रविहित कर्मे निष्ठेने केली पाहिजेत. पाप जोपर्यंत आहे, तोपर्यंत, ज्ञानाची व त्याच्या साधनांची आवडच निर्माण होत नाही -

‘ महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ।।’

या श्लोकात सांगितल्याप्रमाणे, महापापी लोकांना ज्ञान, योग व श्रवण-मननादी त्याची साधने बिलकुल आवडत नाहीत. इतकेच नव्हे तर तो ज्ञानयज्ञ त्याला नकोसा होतो. ज्याला श्रवण, मननादी साधनांची मनापासून आवड नसेल तो पापी आहे असे समजण्यास हरकत नाही. म्हणून ईश्वरार्पण बुद्धीने कर्माचे अनुष्ठान केले असता आत्मानात्मविचाराची आवड निर्माण होते व अशा तीव्र जिज्ञासेने श्रवणादी साधने घडतील व आत्मज्ञान उत्पन्न होणेस उशीर लागत नाही. सर्व दुःखांना कारण असणारे अज्ञान घालविण्याकरिता ज्ञानावाचून दुसऱ्या कशाचीही अपेक्षा नाही. ते ज्ञान उत्पन्न होण्याकरिता शमदमादी साधनांपेक्षा नाही. शम, दम इत्यादी उत्पन्न होण्याकरिता बुद्धिशुद्धीवाचून दुसरे काहीही साधन लागत नाही. आणि ही बुद्धिशुद्धी होण्यास नित्य नैमित्तिक कर्माखेरीज दुसऱ्या कशाचीही अपेक्षा नाही. याप्रमाणे कर्माचा परंपरेने ज्ञानाला उपयोग होतो. हा विषय वार्तिकसारामध्ये पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

‘ महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ।।
रुचिद्वारोपकुर्वन्ति कर्माण्यत्मविमुक्तये ।
अज्ञानस्याविरोधित्वान्न साक्षादात्मबोधवत् ।।
अविद्यायां न चोच्छितौ ज्ञानादन्यदपेक्षते ।
ज्ञानोत्पत्तौ तु नैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ।।
शमाद्युत्पत्तये नान्यद् बुद्धिशुद्धेरपेक्षते।
बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नान्यदिष्यते ।
पारंपर्येण कर्मैवं ज्ञानायैवोपयुज्यते ।।’

याप्रमाणे, ज्ञानाला अपेक्षित अशी चित्तशुद्धी व्हावी म्हणून शास्त्राने कर्मयोग

सांगितला आहे. कर्मयोगाचा भक्तीलाही उपयोग आहे हे द्विसाहस्रीच्या एकोणिसाव्या अध्यायाच्या आरंभी टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी स्पष्ट केले आहे. ते असे -

'एवं पंचभिरध्यायैः प्रोक्ता नित्यक्रिया यया ।
पवित्रत्वं योग्यता च नान्यथेह द्विजन्मनः ॥१॥
श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहीति श्रुतेरियं ।
शुद्धान्तःकरणानां च ध्यानार्थं भक्तिरुच्यते ॥२॥'

नित्यनैमित्तिककर्मांनी पवित्रता व ज्ञानयोग्यता ही फले प्राप्त होतात म्हणून कर्मयोगाचे विवेचन पूर्वी केले. श्रद्धा, भक्ती व ध्यानयोग ही तीन साधने, ज्ञानाकरिता श्रुतीमध्ये सांगितली आहेत, चित्तशुद्धी झालेल्या साधकांना ध्यानयोग साधावा म्हणून भक्तीचे प्रतिपादन केले आहे. ध्यान म्हणजे मनाची एकाग्रता. ध्यानाचे स्वरूप पंचदशीकार सांगतात.

'मूर्तिप्रत्यय सांतत्याऽत्मन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं, तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥'

एकाच विषयाबद्दल तैलधारेप्रमाणे अविच्छिन्न मनोवृत्ती राहाणे याला ध्यान म्हणतात. पण मनाच्या चांचल्य दोषामुळे ध्यानाला प्रतिबंध होतो. त्या करिता ती मनाची चंचलता दूर केली पाहिजे. हाच मनाचा विक्षेप दोष आहे. मनाचे एकंदर चार दोष श्रीविद्यारण्यांनी पुढील प्रार्थनेत दाखविले आहेत -

'लयविक्षेपकषायरसास्वादेभ्यो रक्षितं चित्तमविघ्नेन ब्रह्मण्यवस्थितं भूयादिति भवन्तो महान्तोऽनुग्रण्हन्तु'

लय, विक्षेप, कषाय व रसास्वाद या दोषांपासून आमचे चित्त सुरक्षित राहून ते निर्विघ्नपणाने परमात्म्याचे ठिकाणी स्थिर व्हावे असा आपला महापुरुषांचा अनुग्रह आमच्यावर व्हावा, असा या प्रार्थनेचा अभिप्राय आहे.

लय म्हणजे निद्रा. ध्यानाभ्यास करणाऱ्या मनुष्याला झोपेचा

प्रतिबंध होतो. तसेच दुसरा दोष **विक्षेप**. म्हणजे अनेक विषयांचे चिंतन. **कषाय** म्हणजे कामक्रोधादिकांच्या वेगाने मनाची स्तब्धता; मन विवेकशून्य होणे. आणि **रसास्वाद** म्हणजे मिळालेल्या सुखाचेच सारखे चिंतन करणे.

या मनोदोषांचा अनुभव संसारात प्रत्येकाला येत असतो. हे दोष जाईपर्यंत सच्चिदानन्दरूप परमात्म्याचे ध्यान व्यवस्थित होणें शक्य नाही. जीवाचे तर सामर्थ्य, हे दोष दूर करण्यासारखे दिसत नाही. म्हणून श्रीविद्यारण्यांनी हे दोष दूर करण्याबद्दल समर्थांची प्रार्थना केली आहे. हे दोष भक्तिप्रभावाने पूर्णपणे नाहीसे होऊन चित्ताची स्थिरता प्राप्त होते; म्हणून भक्तियोगाचे महत्त्व, शास्त्रकारांनी व संतांनी फार वर्णन केले आहे. भक्ती शब्दाचे तीन अर्थ श्रीमहाराजांनी दाखविले आहेत. ते असे -

'भक्तिर्नामेश्वरानुरक्तिः । भजेर्भावे क्तिनि, भजनं भक्तिः ।
भजेर्वाधिकारे क्तिनि, भजनाय विभज्येते जीवेश्वरावस्याम्।
भजेः करणे क्तिनि वा भज्यन्ते कामकर्मादिदोषा यया सा इति ।'

भक्ती म्हणजे भजन हा एक अर्थ. भजनाकरिता जीव व ईश्वर - उपासक व उपास्य - असा विभाग ज्या अवस्थेमध्ये होतो, ती अवस्था म्हणजे भक्ती. हा दुसरा अर्थ. काम, कर्म इत्यादी दोष जिच्या योगाने नाहीसे होतात ती भक्ती, हा तिसरा अर्थ. यापैकी तिसऱ्या अर्थाने भक्तीचे फल सुचविले आहे.

भक्तिप्रभावाने मनुष्य निष्काम होऊन कर्मबंधनातून मुक्त होतो. जन्ममरणाच्या फेऱ्यातून कायमचा सुटतो. याबद्दलचा क्रम, 'भक्तिरेवानुत्तमात्र' (श्रीगुरुचरित्र अ. १९-२) या श्लोकाच्या टीकेत, श्रीमहाराजांनी स्पष्ट मांडून भक्तीचे महत्त्व दाखविले आहे -

१) **'प्रथममसंगतया भगवदुद्देशेन स्वाश्रमोचित-कर्मानुष्ठानम् ।**
२) **ततो महत्सेवा,**
३) **ततस्तत्कृपा,**
४) **ततस्तद्धर्मश्रद्धा,**

५) ततो भगवत्कथाश्रवणम्,
६) ततो भगवति रतिः,
७) तया च देहद्वयविवेकज्ञानम्,
८) ततो दृढा भक्तिः,
९) ततो भगवत्तत्त्वज्ञानम्,
१०) ततस्तत्कृपया सर्वज्ञात्वादिभगवद्गुणाविर्भावः'

भक्तिमार्गातील दहा भूमिकाच येथे दाखविल्या आहेत.

१) प्रथम असंगतेने म्हणजे फलेच्छा व कर्तृत्वाभिमान सोडून ईश्वराकरिताच आपापल्या आश्रमास उचित अशा **कर्मांचे अनुष्ठान** करणे. असंगतेचा अर्थ श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी असाच सुचविला आहे.

' तैसा कर्तृत्वाचा मद । आणि कर्मफळाचा आस्वाद ।
या दोहोंचेही नांव बंध । कर्माचा कीं ॥'

कर्तृत्वाचा गर्व व फळाची अभिलाषा यांनाच कर्मांचा बंध म्हणतात. हा संग शब्दाचा अर्थ आहे. अर्थातूच असंग होऊन कर्म करणे म्हणजे कर्तृत्वाभिमान व फलेच्छा टाकून कर्म करणे ही भक्तीची पहिली भूमिका आहे. म्हणजे असा कर्मयोग हा ज्ञान व भक्ती यांचा पायाच आहे. यावरून भक्तिमार्गांतही कर्माची आवश्यकता सिद्ध होते. कर्म व भक्ती दोघांचा समुच्चय शास्त्रकारांना इष्ट आहे. भक्ती ही, कर्म व ज्ञान दोघांनाही उपकारक आहे.

'अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' (ईशावास्य), **'कर्मणा पितृलोकः', 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते'**

इत्यादी वाक्यांचा विचार केला असता, अभक्ताने केलेले कर्म, परम पुरुषार्थाचा लाभ करून देण्यास अयोग्य ठरते. पितृलोकप्राप्ती इत्यादी त्याचे फल नश्वरच आहे, म्हणून केवळ कर्म, म्हणजे ईश्वर-प्रेमावाचून असलेले कर्म, करण्यापेक्षा ते ईश्वराकरिताच वर सांगितल्याप्रमाणे जर केले जाईल, तर ते भक्तीची प्रथम भूमिका ठरून अविनाशी मोक्षफल प्राप्त करून घेण्याची योग्यता उत्पन्न करते म्हणून भक्तीसहित कर्म असले पाहिजे. तसेच भक्तीसुद्धा कर्मसहितच असली पाहिजे. आम्ही देवाची भक्ती करतो, आम्हाला कर्माची जरूरी नाही,

अशा कल्पनेने **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**'ही भगवंताची आज्ञा मोडून स्वधर्माचरण सोडून देणे, स्वैराचारी बनणे, हाही मार्ग शास्त्रसंमत नाही. याप्रमाणे ईश्वराकरिता निष्कामबुद्धीने स्वकर्मानुष्ठान करीत राहणे ही भक्तीची प्रथम भूमिका आहे हे लक्षात ठेवले पाहिजे.

यानंतर दुसरी भक्तीची भूमिका, **महत्सेवा**-ईश्वराच्या उद्देशाने स्वकर्मानुष्ठान केले असता, महापुरुषांची-सद्गुरुंची भेट होऊन त्यांच्या सेवेचा योग येतो. याबद्दल श्रीमहाराज सांगतात -

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणात्सताम् ।
ईशप्रसादस्तद्रूपः सुलभश्चात्र सद्गुरुः ।।
सद्गुरोः संप्रसादेऽस्य प्रतिबंधक्षयस्तथा ।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात् ।।'

ईश्वरसेवाबुद्धीने स्वधर्माचे आचरण केले असता ईश्वराचा प्रसाद होतो, म्हणजेच सद्गुरूंची प्राप्ती होते. नंतर सद्गुरुप्रसादाने सर्वज्ञानप्रतिबंध दूर होतात आणि सर्व दुर्भावना लुप्त होऊन मुक्तिदायक विज्ञान एका क्षणात उत्पन्न होते. याप्रमाणे महत्सेवा ही दुसरी भूमिका.

त्या सेवेने संतुष्ट झालेल्या महापुरुषांची कृपा ही भक्तीची तिसरी भूमिका आहे. त्यानंतर त्यांच्या धर्माबद्दल श्रद्धा. श्रद्धेनंतर भगवंताच्या कथेचे श्रवण. श्रवणानंतर भगवंताचे ठिकाणी प्रेमाची उत्पत्ती. त्या प्रेमामुळे; स्थूल, सूक्ष्म दोनीही देहाहून आपण निराळे आहोत हे ज्ञान. त्यानंतर दृढ भक्ती त्यानंतर भगवंताचा साक्षात्कार. आणि नंतर भगवंताच्या कृपेने सर्वज्ञत्वादि, भगवंताच्या, दिव्य गुणांचा त्या भक्तांच्या ठिकाणी आविर्भाव होणे. याप्रमाणे भक्तिभूमिकांचा क्रम आहे.

भक्तियोगाचे महत्त्व व उपयुक्तता फार मोठी आहे. कर्मयोग हा चित्तशुद्धीकरिता सांगितला आहे, पण तोसुद्धा भक्तियोगावाचून निर्दोष होत नाही. ईशावास्य उपनिषदामध्ये **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते'** या मंत्राने केवळ कर्माची निंदा केली आहे व 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' या मंत्राने उपासनासहित कर्माचे प्राशस्त्य वर्णिलेले आहे. कर्माला जसा भक्तियोग पोषक

आहे, तसाच तो ज्ञानयोगालादेखील उपकारक आहे.

'भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।', 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते', (श्रीमद्भगवतगीता १०:१०) **'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (श्रीमद्भगवतगीता १८:५५) इत्यादी भगवद्वचनांवरून भक्ती ही ज्ञानद्वारा मोक्षापर्यंत साहाय्यक होणारी आहे असे ठरते. कदाचित् ज्ञानी आचार्यांच्या प्रसादाने ज्ञान उत्पन्न झाले तरी, असंभावना, विपरीतभावना, संशय इत्यादी चित्तदोषांमुळे ते ज्ञान कार्यकारी ठरत नाही.

कर्म, भक्ती व ज्ञान यांचे स्वरूप

वेदस्वरूप भगवान्, भगवत्स्वरूप जाणणाऱ्या महर्षींच्या स्मृती, आणि ज्यामुळे आत्मग्लानी न होता चित्त प्रसन्न होते असे कर्म, ही तीन धर्माची मूल प्रमाणे आहेत. हे धर्मराजा ! मानवधर्माची, पुढीलप्रमाणे तीस लक्षणे आहेत -

१. सत्य, २. दया, ३. तपस्या, ४. शुचिता, ५. तितिक्षा, ६. उचित व अनुचित याचा विचार, ७. मनाचा संयम, ८. इंद्रियांचा संयम, ९. अहिंसा, १०. ब्रह्मचर्य, ११. त्याग, १२. स्वाध्यायाध्ययन, १३. सरलता, १४. सन्तोष, १५. समदृष्टी महात्म्यांची सेवा, १६. हळूहळू सांसारिक भोगांपासून निवृत्ती, १७. मनुष्यांच्या अभिमानाने केलेल्या प्रयत्नांचे फल उलटच मिळत असल्याचे पाहाणे, १८. मौन, १९. आत्मचिन्तन, २०. प्राणिमात्रांकरिता अन्नवस्त्रादिकांचा यथाशक्ती विभाग, २१. सर्व प्राण्यांचे ठिकाणी विशेषतः मनुष्यांचे ठिकाणी आपल्याच आत्म्याची तसेच इष्टदेवतेची भावना, २२. ते ३०. संतांचा परम आश्रय अशा भगवान् श्रीकृष्णांच्या, नाम, गुण, लीला यांचे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, त्याची सेवा, पूजा व नमस्कार, त्याचे दास्य, सख्य व आत्मसमर्पण.

याप्रमाणे तीस प्रकारचा सर्व मनुष्यांचा साधारण धर्म आहे. याचे आचरण केल्याने सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होतो. हाच विषय पुढील श्लोकात आलेला आहे

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ।
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

(श्रीमद्भागवत ७।११।७-१२)

वरीलप्रमाणे तीस प्रकारचा मानवधर्म, श्रीनारदमहर्षींनी धर्मराजाला सांगितला आहे. हा सामान्यधर्म झाला. याशिवाय चार वर्ण व चार आश्रम यांचे धर्म व स्त्रीधर्म यांचे विवेचनही श्रीनारदांनी केलेले आहे. श्रीमद्भागवतामध्ये सप्तमस्कंधाच्या ११ ते १५ या पांच अध्यायांतून हा विषय आला आहे. सांप्रत विशेषधर्माचे आचरण फारच कमी होत चालले आहे. धर्म व अधर्म हे ज्या प्रमाणाने ठरविले त्या वेद प्रमाणाची तर ओळखसुद्धा राहाते किंवा नाही असा संशय निर्माण झाला आहे. म्हणून आपल्या हिंदू धर्मामध्ये धर्माधर्माबद्दल जी प्रमाणे पुरातन कालापासून चालत आलीं आहेत. त्याबद्दल प्रथम विचार करणेचा आहे.

प्रमाणविचार

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' या श्लोकात श्रीमनूंनी वेद, तदनुरोधी स्मृती, सज्जनांचा आचार, व पवित्र अंतःकरण अशी चार प्रमाणे, धर्माधर्म निर्णयाबद्दल सांगितली आहेत. यातही मुख्य प्रमाण वेद आहे. वैदिक संस्कृतीचा मूल आधार वेदच आहे.

'वेदोनारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम', 'शब्दब्रह्म परब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू' इत्यादी वचनांवरून वेद हे साक्षात् ईश्वराचे वाङ्मयस्वरूप असल्याचे सिद्ध होते. या वाङ्मयाचे रक्षण करणे हेच ब्राह्मणाचे मुख्य कर्तृव्य स्मृतिकार मानतात.

'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।
अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जघांसति।
उत्तमाङ्गोद्भवाज्जैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः'

इत्यादी वचने पाहाता वेदाध्ययन हे ब्राह्मणांचे मुख्य कर्तव्य ठरते. वेदवाङ्मय हे कोठे तरी ग्रंथालयात ठेवण्याकरिता नसून ते ब्राह्मणांनी नित्य आपल्या कंठात ठेवले पाहिजे. ही वेद रक्षणाची जबाबदारी वैदिक संस्कृतीमध्ये ब्राह्मणांवर टाकलेली आहे. म्हणूनच तीन ऋणांपैकी ऋषिऋणातून मुक्त होण्याकरिता अध्ययन हेच साधन शास्त्रकारांनी सांगितले आहे. याचप्रमाणे उत्तम अध्ययनाने शास्त्रज्ञान संपादन, त्याचे अध्यापन म्हणजे प्रवचन व्याख्यानरूप ब्राह्मणानेच करावे, इतरांनी अध्यापन करू नये, हीसुद्धा जबाबदारी मनूंनी ब्राह्मणांवरच टाकली आहे. ते श्लोक असे -

'विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥
पुनाति पंङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ।

(मनुस्मृति १-१०३-१०५)

या श्लोकांवरून मनूंचा अभिप्राय असा दिसतो की, ब्राह्मणाने अध्ययनाने उत्तम प्रकारे पूर्ण वेदार्थज्ञान मिळवून ते इतरांनाही अध्यापनद्वारा करून द्यावे. हे कर्तव्य, अध्यापनरूप फक्त ब्राह्मणाचेच आहे. क्षत्रिय व वैश्य यांनी फक्त अध्ययनच करावे असा अभिप्राय पुढील श्लोकावरून दिसून येतो -

'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।'(म.२।१६)

या श्लोकावरील टीकाकारांचे स्पष्टीकरण -

गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः । एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापन-व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति 'विदुषा ब्राह्मणेन' (१।१०३) इत्यत्र व्याख्यातम् । याप्रमाणे ब्राह्मणाचे मुख्य धन वेदार्थान् हेच असल्यामुळे तेच धन अधिकाधिक मिळविण्याकरिता ब्राह्मणाने प्रयत्नशील राहिले पाहिजे. असा ज्ञानधन, तपस्वी ब्राह्मण स्वतः तर, कायिक, वाचिक व मानसिक कर्मदोषांतून मुक्त होतोच. तसेच इतरही दोषयुक्त केवल व्यक्तीला नाही, तर समूहालाही दोषमुक्त करू शकतो व स्वतःच्या पित्रादी पूर्वजांना व पुत्रादि अवरजांनाही पवित्र करू शकतो. आणि तोच ज्ञानधन ब्राह्मण

खरा सत्प्रात्र असल्याने संपूर्ण पृथ्वीचेही दान घेण्यास योग्य आहे, असे प्रख्यात समाजशास्त्रज्ञ मनूंचे मत आहे. अशा ब्राह्मणापासून पृथ्वीवरील सर्व मानवांचे आपले कर्तव्य शिकावे असे मनू सांगतात -

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥'(मनुस्मृति २।२०)

हे महत्त्व केवळ एका ब्राह्मण व्यक्तीचे किंवा ज्ञातीचे नसून, ज्ञानाचे व तन्मूलक आचाराचे आहे. यालाच ब्राह्मण्य म्हणता येईल. याच्याच रक्षणाने वैदिकधर्माचें रक्षण होते व धर्ममर्यादा रक्षणाने जगताचे रक्षण होते असा स्पष्ट अभिप्राय श्रीशंकराचार्य महाराजांनी श्रीभगवद्गीता भाष्याचे आरंभी व्यक्त केला आहे -

'द्विविधो ही वेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। जगतः स्थितिकारणं, प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यःस धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिरनुष्ठीयमानः। दीर्घेण कालेनानुष्ठातृणां कामोद्भवाद्ध्रीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेण अधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने चाधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन किल संबभूव । ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम् ।'[१]

---

[१] *वेदांत प्रतिपादलेला धर्म प्रवृत्तीपर आणि निवृत्तीपर असा दोन्ही प्रकारचा आहे. जगाच्या स्थितीचे कारण असणारा तसेच प्राणीमात्रांच्या ऐहिक आणि पारत्रिक कल्याणाचा कारक हा (वैदिक) धर्म ,कल्याणाची इच्छा करणाऱ्या ब्राह्मणादि (चार) वर्णांनी आणि (ब्रह्मचर्यादि चार) आश्रमांनी (अवश्यमेव) आचरला पाहिजे. प्रदीर्घ काळाच्या ओघाने आचरणशील जीवांच्या मनांत वासना उद्भवून विवेक आणि विज्ञान ह्यांचा ऱ्हास होतो. त्यामुळे अधर्म वाढीला लागतो आणि धर्माला वरचढ होऊं लागतो. अशा वेळी जगाच्या स्थितीचा सांभाळ करण्याच्या इच्छेने तो आदिकर्ता नारायण म्हणवणारा विष्णु, भूमीवरील ब्रह्मदेवच अशा ब्राह्मणत्वाच्या रक्षणासाठी वसुदेवाच्या अंशापासून देवकीच्या गर्भांत आविर्भूत झाला ब्राह्मणत्वाच्या रक्षणानेच वैदिक धर्माचे रक्षण होते. (कारण) वर्णाश्रमभेद हा त्या ब्राह्मण्याच्या आश्रयानेच टिकून आहे.*

याप्रमाणे श्रीमनू, श्रीशंकराचार्य इत्यादी महनीयांचा अभिप्राय लक्षात ठेवून श्रीसद्गुरू वासुदेवानन्दसरस्वती स्वामीमहाराजांनी यावज्जीव वेदार्थ ज्ञान व आचार (भारतीय अप्रतिम धन) यांच्या रक्षणाकरिताच आटोकाट प्रयत्न केला. **'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्'** असे श्रीमनू म्हणतात. तसेच आचाराचेही महत्त्व आत्महितेच्छु पुरुषाने ओळखून आचारपालनात तत्पर असले पाहिजे असेही मनूंनी पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे -

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफल भावयेत् ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥

(मनुस्मृति १।१०८-११०)

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इत्यादी वचनांवरून अत्यंत पवित्र असे ज्ञान धारण करण्याची पात्रता आचारामुळेच प्राप्त होते. म्हणूनच **'यः क्रियावान्स पण्डितः** 'असा आपला स्पष्ट अभिप्राय धर्मराजांनी व्यक्त केलेला आहे.

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् 'या श्लोकात श्रीमनुर्जींनीही, विप्रांचा नाश होण्याची जी कारणे दाखविली आहेत. त्यांमध्ये आचारत्याग हे एक कारण दाखविले आहे. हे ब्राह्मणांनी लक्षात ठेवून स्वाचारपरिपालनाकडे यावच्छक्य लक्ष देणे हितावह ठरणारे आहे. आपण युद्ध सोडून भिक्षा मागून राहाणार, हिंसा करणार नाही, ही अर्जुनाची कर्तव्यविमुखबुद्धि पाहून त्याला आचारमार्गावर आणण्याकरिता भगवंताला गीतोपदेश करावा लागला. श्रीमहाराजांना श्रीदत्तप्रभूंनी काश्मिरात जाण्याचा आदेश दिला असताही त्यांनी

तो मान्य केला नाही, यात श्रीमहाराजांची इच्छा, आज्ञाभंग करण्याची नसून आचारपरिपालनाचीच दिसून येते. श्रीशिवाजीराजांनी महाराष्ट्र राज्य स्थापन केल्यावर, 'उदंड जाहलें पाणी स्नानसंध्या करावया' इत्यादी उद्‌गार श्रीसमर्थांनी जे काढले आहेत ते खऱ्या ब्राह्मण्याचेच द्योतक आहेत.

याप्रमाणे वेदप्रमाणसिद्ध कर्मयोग, त्यातील न्यूनाधिकत्व दोष दूर करून त्याची पूर्णता करणारा भक्तियोग व या दोहोंचेही फल असणारा मोक्षदायक ज्ञानयोग हे तीनही योग आपल्या ठिकाणी स्थिर होण्याकरिता प्रयत्नशील राहाणे हेच मनुष्य जन्माचे खरे फल आहे आणि द्विसाहस्रीसहितेचा हाच सारांश आहे. असे या प्रथम श्लोकात श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे.

कर्म, भक्ति आणि ज्ञान

भक्तिं विना न साफल्यं कर्मणः कर्मणा विना ।
न च ज्ञानं विना ज्ञानान्न मोक्षो यस्य कस्यचित् ॥२॥

अर्थ :- भक्तीवाचून कर्म सफल होत नाही. कर्मावाचून ज्ञान नाही आणि ज्ञानावाचून कोणालाही मोक्ष मिळणार नाही.

विवरण :- श्रीमहाराजांनी या श्लोकात तीन सिद्धान्त दाखविले आहेत.

पहिला मुख्य सिद्धान्त, ज्ञानाशिवाय मोक्ष कोणालाही मिळू शकत नाही हा आहे. मुक्तीकरिता ज्ञान कोणते आवश्यक आहे ? ते कसे संपादन करता येईल ? त्याचा अधिकारी कोण ? इत्यादी विचार, श्रीमहाराजांनी, 'बोधरहस्य' या संक्षिप्त प्रकरणात, संपूर्णपणे मांडलेला आहे.

दुसरा सिद्धान्त, ज्ञान कर्मावाचून होणार नाही हा सांगितला आहे.

तिसरा सिद्धान्त कर्माचे साफल्य, भक्ती उत्पन्न झाल्यावाचून नाही हा मांडलेला आहे.

प्रथमसिद्धान्त स्पष्ट समजण्याकरिता, बोधरहस्याचा अभ्यास निष्ठेने होणे आवश्यक असल्याचे पूर्वी सांगितलेच आहे. कर्माशिवाय ज्ञान नाही हा दुसरा महत्त्वाचा सिद्धान्त आहे. येथे कर्म म्हणजे स्वकर्म विवक्षित आहे. वाटेल ते कर्म वाटेल त्याने करावे हे सांगण्याची आवश्यकता नाही. म्हणून

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥[१]

या श्लोकात भगवान्, स्वकर्म हेच ज्ञानाचे साधन असल्याचेच स्पष्ट सांगत आहेत. त्याचे स्पष्टीकरण श्रीज्ञानराजांनी पुढीलप्रमाणे फारच मार्मिकपणाने केले आहे.

तैसे स्वामींचिया मनोभावा । न चुकिजे हेचि परमसेवा ।
येर ते गा पांडवा । वाणिज्य करणें ॥१३॥

म्हणौनि विहित क्रिया केली । नव्हे, तयाची खूण पाळिली ।
जयापासूनि कां आली । आकाश भूतें ॥१४॥

जो अविद्येचिया चिंधिया । गुंडूनि जीव बाहुलिया ।
खेळवीतसे तिगुणिया । अहंकार रज्जू ॥१५॥

जेणें जग हें समस्त । आंत बाहेरी पूर्ण भरित ।
जाले असें दीपजात । तेजें जें जैसे ॥१६॥

तयां सर्वात्मका ईश्वरा । स्वकर्मकुसुमांची वीरा ।
पूजा केली होय अपारा । तोषालागीं ॥१७॥

---

[१] *सर्व जीवमात्रांची उत्पत्ती ज्यापासून होते आणि ज्याने हे सर्व दृश्य जगत व्यापलेले आहे त्याची आपल्या (विहित) कर्माने पूजा करूनच मानव सिद्धी पावतात.*

म्हणौनि तिये पूजें । रिझलेनि आत्मराजें ।
वैराग्यसिद्धि देइजे । पसाय तया ॥१८॥

जियें वैराग्यदशे । ईश्वराचेनि वेधवशें ।
हें सर्वही नावडे जैसे । वांत होय ॥१९॥

प्राणानाथाचिया आधीं । विरहिणीतें जिणेंही बाधी ।
तैसें सुखजात त्रिशुद्धी । दुःखचि लागे ॥२०॥

सम्यक् ज्ञान नुदैजता । वेधेंचि तन्मयता ।
उपजे ऐसी योग्यता । बोधाची लाहे ॥२१॥

म्हणौनि मोक्षलाभालागी । जो व्रतें वाहतसें आंगीं ।
तेणें स्वधर्म आस्था चांगी । अनुष्ठावा ॥२२॥ (ज्ञानेश्वरी अ.१८)

वरील विवेचनावरून स्वकर्माचे महत्त्व लक्षात येण्यासारखे आहे. तात्पर्य हेच की, प्रत्येकाने स्वकर्म कोणते ते व्यवस्थित समजून घेऊन ते व्यवस्थितपणे आचरण करीत राहिले पाहिजे. या योगाने ईश्वरप्रसाद होऊन ज्ञानप्राप्ती होणे शक्य आहे. अशी ईश्वराची मानवाला आज्ञा आहे. पण या आज्ञेकडे सांप्रत कोणाचे लक्ष आहे? लहानापासून थोरापर्यंत सर्वत्र आज बुद्धिस्वातंत्र्य वाढत चालले आहे. लोकशाहीच्या नावाखाली बुद्धिवादाचा प्रचार अमर्याद होऊन राहिला आहे. पूर्ण सुखी, कृतार्थ महापुरुषांना शास्त्राधिष्ठित बुद्धिवाद, आज वाङ्मयरूपाने सर्वांच्या समोर असूनही, आपल्या बुद्धीला पटेल तेच खरे या विलक्षण मोहामुळे, सज्जनांचे विचार पाहाण्यासही आज कोणास सवड होऊ शकत नाही.

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'[१]

[१] *पृथ्वीवरील सर्व मानवांनी, या देशांत जन्माला आलेल्या ब्राह्मणापासूनच, आपापले आचार शिकून घ्यावेत.*

असे गौरवोद्धार ज्यांच्याबद्दल, प्रख्यात समाजशास्त्रज्ञ मनूने काढले आहेत तेच भारतातील ऋषींच्या वंशात जन्माला आलेले ब्राह्मण आज सर्व बाबतीत परप्रत्ययनेय बुद्धीचे बनून राहिले आहेत. इतकेही असून, आपण बुद्धिवादी असल्याचा व्यर्थ अहंकार मात्र त्यांचा किंचितही कमी होत नाही. श्रीमहाराजांनी तर आपल्या आचरणाने, ब्राह्मणांच्यापुढे एक विशुद्ध आदर्श निर्माण करून ठेवला आहे. प्रत्येकाने स्वधर्माचे आचरण अत्यंत दक्षतेने करावे हेच त्यांचे मुख्य सांगणे असे. कर्माशिवाय ज्ञान होणे शक्य नाही हा सिद्धान्तही येथे श्रीमहाराजांनी याकरिताच मांडलेला आहे. योगरहस्य प्रतिपादन करीत असतानाही, कर्मयोग अपरिहार्य असल्याचे, त्यांनी प्रथमच बजावले आहे. भक्तीवाचून कर्माचे साफल्य नाही हा एक सिद्धान्त येथे श्रीमहाराजांनी मांडला आहे. म्हणजे कर्माचे महत्त्व येथे दोन प्रकारांनी स्पष्ट केले आहे. ज्ञानाकरता तर कर्माची आवश्यकता आहेच, पण ते कर्म असे घडले पाहिजे की, ज्याच्यापासून भक्तीही निर्माण झाली पाहिजे. जर ती निर्माण झाली नाही तर ते कर्म खरे सफल झाले असे म्हणता येणार नाही. चित्तशुद्धी हे कर्माचे जर फल असले तर तेही भक्तीचा प्रादुर्भाव झाल्यावाचून पूर्णपणे पदरात पडू शकत नाही.

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच ।'

इत्यादी भगवद्भक्ताची लक्षणे याची सूचक आहेत. श्रद्धेने कर्मानुष्ठान केल्यामुळे विवेक, वैराग्य इत्यादी गुणांचा प्रादुर्भाव होत राहिल्याने चित्त शुद्ध झाले असे मानले तरी. 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'

'कोणाही जीवाचा न घडो मत्सर । वर्म सर्वेश्वरपूजनाचें'

ही अंतःकरणाची शुद्धी म्हणजे भक्तीचा प्रादुर्भाव होय. आणि हा झाल्याशिवाय कर्माचे खरे फल मिळाले नाही असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. याकरिता ज्ञानाकरिता कर्म तर केलेच पाहिजे पण तेसुद्धा असे करावे की, ज्याच्यामुळे भक्तीही निर्माण होऊन त्याचे खरे फल पदरात पडल्याप्रमाणे होईल.

असा एकंदर भावार्थ या श्लोकाचा आहे. श्रीभागवतकारही पुढील श्लोकात असेच सांगत आहेत.

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विश्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥'

उत्तम धर्मानुष्ठान करूनही जर भगवद्कथेची आवड निर्माण झाली नाही तर ते धर्मानुष्ठान व्यर्थ श्रमरूप आहे असा याचा अभिप्राय आहे.

भक्तियोग

वरील विवेचनावरून भक्तीचे महत्त्व लक्षात येईल. कर्म आणि ज्ञान या दोघांनाही पोषक भक्तियोग आहे. केवल कर्म न करता त्याच्याबरोबर उपासनाही चालू असावी असा कर्म व उपासना यांचा समुच्चय शास्त्रविहित असल्याचे प्रथम श्लोकाच्या विवरणात दाखविलेच आहे. कर्माने भक्तिभूमिका प्राप्त करून घेऊन ज्ञानी व्हावे हे या श्लोकात दिग्दर्शित केले आहे. याचेच स्पष्टीकरण करण्याकरिता कर्मयोग भक्तिसहित कसा असावा? असा कर्मयोग भक्तिपर्यवसायी होऊन सफल कसा होतो? भक्तीचे मुख्य, गौण प्रकार कोणते ? इत्यादी विचार भक्तिशास्त्रास अनुसरून या ठिकाणी संक्षेपाने करणे अप्रस्तुत ठरणार नाही.

कर्म कसे करावे याबद्दल भगवद्गीतेमध्ये एका श्लोकात भगवंतांनी दिग्दर्शन केले आहे. तो महत्त्वाचा श्लोक असा -

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

(भ. ३।३०)

यावर भगवान् श्रीशंकराचार्यांचे भाष्य असे आहे -

'मयीति । **मयि** वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि **सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्य** निक्षिप्य, अध्यात्मचेतसा विवेकबुद्धया, अहं कर्ता ईश्वराय

भृत्यवत्करोमीत्यनया बुद्धया । किं च **निराशीः** त्यक्ताशीः। **निर्ममः** ममभावश्च निर्गतो यस्य तव स त्वं **निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः** विगत संतापो विगतशोकः सन्नित्यर्थः ॥३०॥'

श्रीज्ञानेश्वरमहाराज या श्लोकाचे विवरण असे करतात -

' तरी उचित कर्में आघवी । तुवां आचरोनि मज अर्पावी । परि चित्तवृत्ति विन्यसावी । आत्मरूपीं ॥८६॥ हे कर्म मी कर्ता । कां आचरेन या अर्था। हा अभिमान झणे चित्ता । रिघो देसी ॥८७॥ तुवां शरीरपरा नोहावें । कामनाजात सांडावे । मग अवसरोचित भोगावे । भोग सकल ॥ ८८॥ आतां कोदंड घेऊनि हातीं । आरूढ पा इये रथीं । देई आलिंगन वीरवृत्ती । समाधानें ॥८९॥ जगीं कीर्तिं रूढवी । स्वधर्माचा मान वाढवी । इया भारापासोनी सोडवी । मेदिनी हे ॥९०॥ आतां पार्था निःशंक होई । या संग्रामा चित्त देईं। एथ हे वांचूनि कांहीं । बोलो नये ॥९१॥'

मी ईश्वराचा नोकर आहे, त्याच्या आज्ञेप्रमाणे मी हे स्वकर्म करीत आहे. ही भावना ठेवून कर्मे करावीत. हीच ईश्वरापर्णबुद्धी कर्म करताना असणे जरूर आहे. तसेच फलेच्छा व कर्तृत्वाभिमान यांचा त्याग करून कर्मे करावीत आणि 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' या आज्ञेप्रमाणे फलाची सिद्धी अथवा असिद्धी यांविषयी समबुद्धि ठेवणे म्हणजे हर्ष किंवा विषाद न मानणे हेही कर्म करताना आवश्यक आहे. म्हणजे, ईश्वरार्पणबुद्धी, फलेच्छात्याग, कर्तृत्वाभिमानत्याग व सिद्धी व असिद्धीबद्दल साम्य ही कर्मयोगाची चतुःसूत्री आहे. यातही ईश्वरापर्णबुद्धी मुख्य आहे. यामुळेच फलकामना व कर्तृत्वाभिमान सुटून ते कर्म भक्तिपर्यवसायी होते.

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥'

या श्लोकामध्ये ईश्वरार्पणबुद्धीच दाखविली आहे. यामुळेच सर्वही कर्म, भागवत धर्म बनून ते चित्तशोधक ठरते. याप्रमाणे भक्ती ही कर्मयोगाचे साफल्य करणारी आहे ज्ञानी मनुष्याचा तर, भगवद्भजन हा स्वभावच बनून गेलेला असतो.

'सकलमिदमहं च वासुदेवः' अशी अखंड ज्ञानवृत्ती असल्यामुळे, **'ठेविलें अनंतें तैसेचि रहावें। चित्तीं असो द्यावे समाधान।'** अशा स्थितीत जो निरंतर राहू शकतो व आपल्या पूर्ण आनंदमय जीवनाने इतरही अधिकारी साधकांचे जीवन जो आनन्दमय बनवू शकतो त्या ज्ञानी पुरुषाचे तर भक्ती हे जीवनच बनून राहिलेले असते. याबद्दल श्रीभगवान् सांगतात.

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यवम् '[१]

या श्लोकावरील श्रीज्ञानराजांचे विवेचन पहा -

'तरी जयाचे चोखटे मानसीं । मी होऊनि असे क्षेत्रसंन्यासी।
जया निजेल्याते उपासी । वैराग्य गा ।।८८।।

जयाचिया आस्थेचिया सद्भावा। आंत धर्म करी राणिवा।
जयाचे मन ओलावा। विवेकासी ।।८९।।

जे ज्ञानगंगे नाहाले। पूर्णता जेऊनि धाले।
जे शांतीसी झाले। पल्लव नवे ।।९०।।

जे परिणामा निघाले कोंभ । जे धैर्यमंडपाचे स्तंभ ।
जे आनंदसमुद्रीं कुंभ । चुबुकुळोनि भरिले ।।९१।।

यया भक्तीची येतुली प्राप्ति। जे कैवल्याते परते सर म्हणती।
जयाचिये लीळेमाजी नीति। जियाली दिसे ।।९२।।

[१] *शमदमादी दैवी संपदेचा आश्रय करणारे, महात्मे मीच ह्या भूतभौतिक जगताचे अविनाशी कारण आहे हे जाणून अनन्यचित्ताने माझेच भजन करतात. (चिंतन करतात.)*

जे आघवांचिकरणी। लेइले शांतीचीं लेणीं ।
जयांचे चित्त गवसणी । व्यापका मज ॥९३॥

ऐसे जे महानुभाव । दैविये प्रकृतीचे दैव ।
जे जाणेनिया सर्व । स्वरूप माझे ॥९४॥

मग वाढतेनि प्रमें । मातें भजती जे महात्मे ।
परी दुजेपण मनोधर्मे । शिवतले नाहीं ॥९५॥

ऐसें मीच होऊनि पांडवा । करिती माझी सेवा ।
परी नवलावो तो सांगावा । असे आइके ॥९६॥

ज्ञानी मनुष्याच्या भक्तीचे, स्वतः ज्ञानियांच्या राजाने केलेले हे दिव्य वर्णन आहे. यापुढेही सेवेचे पुष्कळ वर्णन आहे. ते किती लिहावे? याप्रमाणे भक्तियोग हा कर्म व ज्ञान या दोघांनाही पोषक आहे. इतकेच नव्हे तर तो स्वतंत्र पुरुषार्थ आहे असा एक महत्त्वाचा सिद्धान्त श्रीमधुसूदन-सरस्वतींनी भक्तिरसायन ग्रंथांत स्पष्टपणे मांडला आहे. श्रीमधुसूदन-सरस्वती हे, अद्वैत वेदान्त शास्त्रातील एक फार मोठे अधिकारी पुरुष म्हणून प्रसिद्ध आहेत. **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** हा सिद्धान्त, सप्रमाण सिद्ध करण्याकरिता अद्वैतसिद्धीसारखे विद्वन्मान्य ग्रंथ त्यांनी लिहिले आहेत. अशा अधिकारी महापुरुषांचे भक्तीबद्दल, पुढीलप्रमाणे विचार आहेत. भक्तियोग हा साक्षात् पुरुषार्थरूप आहे याबद्दल पुढील वचने प्रमाण आहेत.

'नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । (१)
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥'

(भागवत २:२:३)

(१) *या संसारचक्रांत सांपडलेल्यांना भगवान वासुदेवाच्या भक्तियोगावांचून अन्यकल्याणकारी मार्गच नाही.*

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥'[१]

(भागवत १:२:८)

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥'[२]

(भाग. १०-४७-२४)

'भगवान्ब्रह्म कार्त्स्नेन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्य कूटस्थे रतिरात्मन्यतो भवेत् ॥'[३]

(भाग २:२:३४)

'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥'[४]

(भाग. ३-२५-४४)

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म- ।
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्वपि नाथ माभूत् ॥
किं त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥'[५]

(भाग. ४:९:९-१०)

---

[१] *धर्माचे उत्तम आचरणही, जर त्यापासून मनुष्यांच्या (मनांत) भगवत् कथांची आवड उत्पन्न झाली नाही, तर केवळ (व्यर्थ) श्रमच आहेत.*

[२] *दान, व्रत, तप, होम जप, स्वाध्याय, निग्रह या आणि अशा सर्व पुण्यकर्मांचे श्रीकृष्णाचरणी भक्ति हेच (एकमेव) साध्य आहे.*

[३] *भगवान ब्रह्मदेवांनीही तीन वेळां आपल्या बुद्धीने शोधून हाच निश्चय केला की कूटस्थ भगवंताच्या ठिकाणी जेणेकरून गोडी उत्पन्न होईल (तोच सर्वश्रेष्ठ मार्ग आहे.)*

[४] *या लोकांत मानवांना परमकल्याणाच्या प्राप्तीसाठी तीव्र भक्तियोगाने स्थिर केलेले चित्त मला अर्पण करावे.*

[५] *देहधारी मनुष्यांनासुद्धा जो परमानंद तुझ्या पदकमलांच्या ध्यानाने, भजनाने वा कथाश्रवणाने प्राप्त होतो तो तुझ्या सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूपांतही होत नाही मग कालाच्या खड्गाने विमाने भंगून ज्यांना पुनश्च भूलोकीं पडावे लागते अशा देवांची काय गोष्ट?*

या भागवतातील श्लोकामध्ये, कोठे भक्तियोग हा पुरुषार्थ असल्याचे सुचविले आहे, तर कोठे साक्षात्च शब्दाने तसे सांगतिले आहे. अनेक जन्मांच्या सुकृतांनी भक्ती उत्पन्न होते. सर्व वेदांचे तात्पर्य भक्तीमध्ये आहे इत्यादी वर्णनावरून, अर्थातच भक्तियोग पुरुषार्थ असल्याचे सूचित होते. शेवटच्या दोन श्लोकात तर, निःश्रेयस, निर्वृति या शब्दांनी भक्तियोग, पुरुषार्थ असल्याचे साक्षात्च दाखविले आहे. याप्रमाणे भक्तियोग हा सर्व साधनांचे साध्य असा स्वतंत्र पुरुषार्थ आहे असे ठरते. पुढील काही श्लोकांवरून भक्तियोग हा ज्ञानदीकांचे साधन आहे असे दिसते. ते श्लोक असे

'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥'[१]

(भाग. १:२:७)

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥'[२]

(भाग. २:३:१०)

'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणां।[३]
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥'(भाग.६-१-१५)

वरील श्लोकांवरून भक्ती हे एक साधन असल्याचे दिसते. मग भक्ती हे साध्य का साधन असा प्रश्न उपस्थित झाला असता, याचे समाधान असे की-

---

[१] *भगवान वासुदेवांच्या ठायीं जडलेला भक्तियोगच अहैतुक वैराग्य आणि ज्ञानाची उत्पत्ती करतो.*

[२] *निष्काम, सर्वकांमी किंवा मोक्षकामी बुद्धीमंताने परमपुरुषाची तीव्र भक्तियोगाने आराधना करावी.*

[३] *कुणीकुणी वासुदेवाविषयींच्या केवळ भक्तीनेच, सूर्याने धुक्याचा निरास व्हावा तशी पापें निःशेष धुवून टाकतात.*

फलरूप-भक्ती व साधनरूप-भक्ती असे भक्तीचे दोन प्रकार आहेत. अंतःकरण ईश्वराकार बनून राहणे ही साध्यभक्ती आणि असे ईश्वराकार अंतःकरण ज्याच्या योगाने केले जाते ती श्रवणकीर्तनादीरूप साधनभक्ती.

'**भज्यते** सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया' अशा करणव्युत्पत्तीने भक्ती शब्द साधन-बोधक आहे. आणि

'**भजन**मन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिः' अशा भावव्युत्पत्तीने भक्ती शब्द, फलबोधक आहे याबद्दल प्रमाण असे -

'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।[१]
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥'

(भा. ११।३।३१)

'इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।[२]
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥'(भा. ११।३।३२)

या श्लोकामध्ये पहिली भागवतधर्मरूप साधनभक्ती व तिच्यापासून उत्पन्न होणारी दुसरी फलभक्ती असे भक्तीचे दोन प्रकार दाखविले आहेत. भक्तीचे सामान्य लक्षण श्रीमधुसूदनसरस्वतींनी पुढील श्लोकात दाखविले आहे-

'द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥'

(भक्तिरसायन १।३)

---

[१] *दुःख-दैन्य-पाप यांचे हरण करणाऱ्या हरीचे स्मरण आणि परस्परांना स्मरण करून देणे या (साधन)भक्तीने उद्भवलेल्या (साध्य) भक्तीमुळे काया रोमांचाने बहरून जाते. (अष्टसात्त्विकभाव प्रकट होतात.)*

[२] *अशा ह्या भागवतधर्मांचे आचरण केल्याने त्यांपासून (साधनभक्तीपासून) उद्भवलेल्या भक्तीने तो हरिपरायण भक्त दुस्तर अशी मायाही सहज तरून जातो.*

भगवंताचे गुण ऐकत असताना, चित्त हे पातळ, जलासारखे होते. त्यावेळी त्याची अखंड धारेप्रमाणे असणारी जी ईश्वराकारवृत्ती तिला भक्ती असे म्हणतात. चित्तद्रव्य हे स्वभावतः कठिण आहे, जशी लाख स्वभावतः कठिण आहे. पण ती अग्निसंयोगाने विरघळून पातळ होते. मग पातळ झालेल्या लाखेमध्ये जो छाप उठवावा तो आकार त्या लाखेमध्ये दिसू लागतो. याचप्रमाणे कामक्रोधादी विषयतापाने (ते जर भगवद्विषयक असतील तर) चित्त पातळ झालेल्या वेळी त्याच्यामध्ये भगवंताचा आकार तयार होतो अशी चित्ताची भगवदाकारता म्हणजेच भक्ति होय. हेच भक्तीचे स्वरूप पुढील श्लोकात दाखविले आहे.

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।[१]
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।।' (भाग. ३।२९।११।१२)

गंगाजल समुद्राला मिळत असता मध्ये केव्हाही खंड पडत नाही. त्याप्रमाणे भगवत्स्वरूपाचे ठिकाणी अखंड धारेप्रमाणे सतत राहाणारी मनोवृत्ती म्हणजे भक्तियोग होय. काम, क्रोध, भीती, स्नेह, हर्ष, शोक, दया इत्यादी, ज्या विषयाबद्दल ज्यावेळी अत्यंत उत्कट असतील त्या वेळी चित्त विरघळून तो विषय चित्तामध्ये इतका बेमालूम स्थिर, मिसळून जातो की, नंतर चित्त दुसऱ्या विषयाकडे जाऊन कठिण झाले तरी तो विषय त्या चित्तातून कधीच जाऊ शकत नाही. लाख पातळ झाल्यानंतर त्यामध्ये जो रंग टाकला जाईल. तो रंग ती घट्ट झाल्यावरही तसाच कायम राहातो. याप्रमाणे चित्ताचा द्रवीभाव झाला असता ज्या विषयाचा आकार त्याच्यामध्ये प्रविष्ट होतो त्यालाच, संस्कार, वासना, भाव इत्यादी संज्ञा शास्त्रकारांनी दिलेल्या आहेत. आणि कामादि विकारांनी सामान्यतः चित्त चलित झाले, थोडासा द्रवीभाव त्याला आला, अशा वेळी जो विषयाकार त्याला येतो तो कायमचा नसल्यामुळे त्याला वासनाभास असे म्हणतात. भगवान्

[१] *माझ्या गुणकर्मांच्याकेवळ श्रवणाने सर्वांतर्यामी अशा माझ्या स्वरूपांत मन सागरांत मिळणाऱ्या गंगेसारखे अविच्छिन्न गतीने प्रवाहित होणे हेच निर्गुण भक्तीचे लक्षण जाणावे.*

हा पूर्ण आनंद स्वरूप असल्याने, कामाने, भयाने, द्वेषाने, स्नेहाने कोणत्याही उत्कट उपायाने चित्त तदाकार करणे हेच मुख्य कर्तव्य आहे. गोपींचे चित्त उत्कट कामाने भगवदाकार झाले. कंसाचे उत्कट भीतीने तदाकार झाले. उत्कट द्वेषाने शिशुपालादिकांचे तदाकार झाले. उत्कट स्नेहाने पांडवांचे चित्त तदाकार झाले. आणि हे सर्वही उद्धरून गेले. पूर्वोक्त उत्कट कामादिकांमुळे चित्ताची उत्पन्न होणारी द्रवावस्था हीच प्रणय, अनुराग, स्नेह इत्यादी स्वरूप आहे. ही द्रवावस्था तीन प्रकारची असल्याने असा उत्तम भक्तही तीन प्रकारचा आहे.

१) चित्त द्रुत होऊन भगवदाकार झाले असताही प्रपंच सत्यरूपाने ज्याला भासतो तो प्राकृत भागवतोत्तम,

२) ज्याचे चित्त भगवदाकार झाले असता ज्याला प्रपंच भासतो पण मिथ्यारूपाने भासतो, असा भागवतोत्तम मध्यम आहे. आणि

३) ज्याला फक्त भगवानच भासतो, सत्य किंवा मिथ्या कोणत्याही रूपाने प्रपंचाचे भान ज्याला बिलकूल नसते तो उत्तम भागवतोत्तम आहे.

याची क्रमाने उदाहरणे अशी आहेत -

'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।।[१]
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः।।'(भाग.११।२।४१)

'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदषियत् सदिवावभाति।।'[२]
(भाग. १०।१४।२२)

---

[१] *आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, तारे, सर्व प्रणिमात्र, दिशा, वृक्ष, नद्या, समुद्र ही सर्व परमात्म्याच्या शरीराचीच अगें आहेत असे समजून जो सर्व चराचरांना अनन्यभावाने वंदन करतो*

[२] *मायेपासून झालेले हे सर्व स्वप्नसारखे असत्त्वरूप, अत्यंत दुःखद जगत तुझ्याच अनंत सच्चदानंदस्वरूपाच्या अधिष्ठानामुळे खरे असल्यासारखे भासते.*

'ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृतचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यभुभये मुने ॥' (१)

(भाग. १।६।१७।१८)

याप्रमाणे भक्तिरसायन ग्रंथात श्रीमधुसूदन-सरस्वतींनी भक्तीचे सविस्तर विवेचन केले आहे. हा ग्रंथ जरी संस्कृत भाषेमध्ये असला तरी श्रीदासगणूमहाराजांनी याचे मराठी भाषेमध्ये ओवीबद्ध भाषांतर उत्तम प्रकारे केले आहे. ते पाहिले असता संस्कृतानभिज्ञ जिज्ञासूंनाही भक्तिस्वरूपाबद्दल संपूर्ण ज्ञान होईल असा विश्वास वाटतो. श्रीदासगणूमहाराजांचे संपूर्ण ग्रंथांचे प्रकाशन त्यांचे सच्छिष्य भागवत्प्रेमशील श्रीमान् अनंतराव आठवले, प्रिन्सिपाल आयुर्वेदमहाविद्यालय, पुणे, हे करीत असल्याने त्यांचेकडे चौकशी केली असता भगवद्भक्तिरसायन ग्रंथ मिळू शकेल.

तसेच श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु या नावाचा श्रीरूपगोस्वामीविरचित ग्रंथ पांचशे पानांचा काशीस विद्याविलास मुद्रणालयामध्ये छापलेला आहे. हा ग्रंथ संस्कृत असून सटीक आहे. या ग्रंथावरून सांगोपांग भक्तिस्वरूपाची उत्तम माहिती होण्यासारखी आहे. पांडित्य व ईश्वरप्रेम या दोन्हीचाही समन्वय ग्रंथकर्त्याचे ठिकाणी झालेला असल्यामुळे या ग्रंथाचे विशेष महत्त्व आहे. (२)

---

(३) *हरीच्या चरणकमलांचे भक्तीने सुखावलेल्या अतुकंठित मनाने ध्यान करतांना माझे डोळे पाणावले आणि हळूहळूं माझ्या हृदयांत हरि प्रकटला. प्रेमातिभराने शरीरांतून रोमांच प्रस्फुटित झाले, सुखाचा जणूं पूर लोटला आणि माझे भान हरपले. अंतर्बाह्य कशाचीच जाणीव मला राहिली नाही.*

योगाचे स्वरूप आणि उपयुक्तता

न ज्ञानं जीवति प्राणे मनस्यपिलयं नयेत्
यस्तौ गच्छति मोक्षं स योगी नान्यः कथंचन ।।३।।
चले प्राणे चलं चित्त निश्चले निश्चलं तयोः ।।
नष्ट एकतरे नाशो द्वयोरपि स योगतः ।।४।।

अर्थ : - प्राणवायूची दोन्ही नासिकेतून वाहाण्याची क्रिया व मनाची संकल्प विकल्पात्मक क्रिया जोपर्यंत चालू आहे, म्हणजेच प्राण व मन जोपर्यंत जिवंत आहेत, तोपर्यंत आत्मज्ञान होऊ शकत नाही. म्हणून प्राण व मन यांना जो लीन करू शकतो तोच योगी मोक्षाला जाऊ शकतो. दुसरा केव्हांही जाणे शक्य नाही. (३)

प्राण जोपर्यंत चालू आहे तोपर्यंत चित्ताचीही हालचाल चालूच राहाते. प्राण, निश्चल-स्थिर झाला तर चित्तही स्थिर होते. त्या दोघांपैकी कोणा तरी एकाचा नाश झाल्यास दोघांचाही नाश होतो. तो नाश मात्र, योगानेच साध्य आहे. (४)

विवरण : - दुसऱ्या श्लोकात मुख्य, मोक्षाचे साधन असणाऱ्या ज्ञानाचे महत्त्व, **'विना ज्ञानान्न मोक्षो यस्यकस्यचित्'** या वाक्याने श्रीमहाराजांनी वर्णिलेले आहे. या दोन श्लोकांमध्ये, प्राण व मन यांच्या स्वाभाविक क्रिया ज्ञानास प्रतिबंधक असल्यामुळे त्या बंद केल्या पाहिजेत. त्याचा उपाय म्हणून योगाचा पुरस्कार श्रीमहाराज करीत आहेत. प्राण व मन जिवंत असेपर्यंत ज्ञान होणे शक्य नाही असा एक योगशास्त्रातील मुख्य सिद्धान्त, **'न ज्ञानं जीवति प्राणे मनस्यपि'** या वाक्याने श्रीमहाराजांनी येथे स्पष्टपणे मांडला आहे. मनाबरोबर येथे इंद्रियेही अभिप्रेत आहेत. इंद्रियेही जिवंत असेपर्यंत ज्ञान होणार नाही. येथे प्राण, मन व इंद्रिये यांचे जीवन म्हणजे काय ते योगशास्त्रकार सांगतात -

'इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनम् । स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनम्। नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनम्। तत्तद्भावनाशस्तेषां मरणमत्र विवक्षिनम् । न तु स्वरूपतस्तेषां नाशः।'

(हठयोगप्रदीपिका टीका ४।१५)

अर्थ : - डाव्या व उजव्या नाकपुडीतून वाहण्याची जी क्रिया म्हणजे निरंतर चालू असणारा श्वासोच्छ्वास, याचा अर्थ प्राण जिवंत असणे. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध अशा आपापल्या विषयांचे ज्ञान करून देणे याचा अर्थ, इंद्रिये जिवंत असणे. नानाविध विषयांबद्दल बरे वाईट विचार उत्पन्न होणे याचा अर्थ, मन जिवंत असणे. या तिघांचा नाश होणे म्हणजे यांच्या स्वरूपाचा नाश विवक्षित नसून वरीलप्रमाणे चालू असणाऱ्या त्यांच्या व्यापारांचा नाश हा अर्थ येथे अभिप्रेत आहे.

याबद्दलही योगशास्त्रकार सांगतात -

ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः ।
ध्येयाकारावेशात् विषयान्तरव्यापारराहित्येन स्थितिः मनसो लयः।
अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
तदुक्तं योगबीजे -
'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एवहि' इति ।।

अर्थ : - मस्तकात जाऊन क्रियाशून्यस्थितीत राहाणे म्हणजे प्राणाचा लय. ईश्वरस्वरूपाशी तदाकार झाल्यामुळे इतर विषयांबद्दल वृत्तिशून्य होऊन राहाणे म्हणजे मनाचा लय. या दोघांचा लय झाल्यावाचून इतर शेकडो उपाय केले तरी मोक्ष प्राप्त होत नाही. तेच योग-बीज ग्रंथात सांगितले आहे- नाना प्रकारच्या केवळ विचारांनी, मन साध्य होत नाही म्हणूनच प्राणाचा जय म्हणजेच मनाचा जय होय.

वरील विवेचनावरून, स्वाभाविक चालू असणारे श्वासोच्छ्वास थांबले पाहिजेत व मन निर्विचार झाले पाहिजे. तरच मोक्ष मिळण्याची शक्यता आहे असे दिसते. श्वासोच्छ्वास थांबणे म्हणजे मृत्यू इतकेच स्थूल दृष्टीने चालू व्यवहारात प्रसिद्ध आहे. निर्विकार मन होणे म्हणजे झोप किंवा मूर्च्छा एवढीच लोकांची कल्पना आहे. पण जिवंत असतानादेखील श्वासप्रश्वासरूप प्राणाच्या क्रिया थांबविता येतात व झोप, मूर्च्छा नसूनही मन निर्विचार होऊन शकते. हेच योगशास्त्रासारखे प्रयोगशास्त्र सांगत आहे. आणि तो प्रयोग ज्यांनी सिद्ध केला आहे अशा श्रीमहाराजांच्या सारख्या सिद्ध पुरुषांनीही येथे;

'नष्ट एकतरे नाशो द्वयोरपि स योगतः ।'

या वाक्याने, योगच त्या स्थितीला साधक असल्याचे सांगितले आहे. ज्ञानाला योगाची अत्यंत आवश्यकता आहे याबद्दल हठयोगप्रदीपिकेच्या टीकाकारांनी सप्रमाण विवेचन केले आहे. त्यापैकी काही अंश पुढीलप्रमाणे आहे

एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् ।[१]
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् ।[२]
तथाहि -'अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः' इति ।
तद्दर्शनमात्मदर्शनम् ।[३]
'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्। मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति।[४]
'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति ।[५]

---

[१] *यावरून योगावांचून (आत्म)ज्ञान किंवा मोक्ष हे दोन्ही साधत नाहीत हे सिद्ध होते.*

[२] *वेद, स्मृति, पुराण आणि इतिहास या सर्वांचा हाच सिद्धांत आहे.*

[३] *तसेच - आतां त्याच्या दर्शनाचा एकमेव उपाय म्हणजे योग. त्याचे म्हणजे आत्म्याचे दर्शन.*

[४] *अध्यात्मयोगाच्या अभ्यासाने देवाचे मनन करून बुद्धिमंत सुखदुःखांचा त्याग करतो.*

[५] *श्रद्धा, भक्ति, ध्यान आणि योग यांनी त्याला जाण.*

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति इति।[१]
'त्रिरुन्नतं प्राप्य समं शरीरं। हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्माव्हयेन प्रतरेत विद्वान्।
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' इति ॥[२]
'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः।[३]
यतिधर्मप्रकरणे मनुः -
'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहद्वयं विहायाशु मुक्ती भवति बन्धनात्।'[४]
याज्ञवल्क्यस्मृतौ -
'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणां।[५]
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥'
महर्षिमातंगः -
'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः।[६]
योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥'

---

[१] *जेव्हा पांचही ज्ञानेंद्रियें मनासह निरुद्ध होतात. बुद्धीसुद्धां निश्चल होते तिलाच परम गति म्हणतात. त्याच इंद्रियांना स्थिर करणाऱ्या धारणेलाच योग म्हणतात. तेव्हा (साधक) प्रमादरहित होतो.*

[२] *त्रिभंगाकृति सरळ (मानवी) शरीर प्राप्त झालेल्या विद्यावंताने इंद्रियें आणि मन यांचा चित्तांत निरोध करून ब्रह्माच्या आवाहनाने सर्व भयावह विषयांचे उल्लंघन करावे.*

[३] *ॐ काराच्या स्वरूपांत आत्म्याचे ध्यान करावे.*

[४] *देहद्वयांचा त्याग केल्याने (संसार)बंधनातून लगेच मुक्ति होते.*

[५] *यज्ञ, आचार, अहिंसा, दान, स्वाध्याय इत्यादि कर्मांपेक्षां योगाने आत्मदर्शन करणे हाच सर्वश्रेष्ठ धर्म आहे.*

[६] *अग्निष्टोमादि सगळे सोडून योगाभ्यासात रमणारा शांत, उत्तम ब्राह्मण परब्रह्माची प्राप्ती करून घेतो.*

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं ।[१]
शांतये कर्मणामन्यद्योगन्नास्ति विमुक्तये ॥'
दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम् -
'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।[२]
अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम् ' ॥

इत्याद्याः स्मृतयः ।
महाभारते योगमार्गे व्यासः
'अपि वर्गावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥
यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् ।
यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः॥
यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः।
नरः सेव्य महादुःखं जरामरणसागरं ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति ।[३]
भगवद्गीतायां -

---

[१] *ब्राह्मण, क्षत्रिय. वैश्य, स्त्रिया आणि शूद्र या सर्वांना पावन करून शांती देणारे योगावांचून अन्य कर्म नाही.*

[२] *तें ब्रह्म स्वसंवेद्य आहे. कुमारीला जसे संभोगसुखाची कल्पना येऊं शकत नाही किंवा जन्मांधाला घडा दिसत नाही तसेच योगाचे ज्ञान नसलेल्याला ते कळणारच नाही.*

[३] *निकृष्ट वर्णाचा माणूस, धर्म करूं इच्छिणारी स्त्री, हेसुद्धा, सर्वधर्मज्ञ, नाकर्ता, धार्मिक, श्रेष्ठ, महापापी, पुरुषव्याघ्र किंवा नपुंसक असा कोणताही पुरुष, संसारसागरांतील महादुःख भोगणारे सगळेच या (योग) मार्गाने परमगतीला पावतात. योगाची जिज्ञासा असलेले सुद्धां शब्दब्रह्माच्या पुढे जातात.*

'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥[१]
'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इत्यादि च ।

आदित्यपुराणे -

'योगत्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता'।

स्कंदपुराणे -

'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥'[२]

कूर्मपुराणे शिववाक्यम् ।

'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् ।
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ॥
योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरं ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति' ॥[३]

गरुडपुराणे -

'तथा यतेत मतिमान्यथास्यान्निर्वृतिः परा ।
योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥
भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।
परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ॥

---

[२] *मनावर ताबा ठेवून सतत आत्म्याचे ध्यान करणारा योगीच माझ्या ठिकाणच्या निर्वाणात्मक परमशांतीला पावतो.*

[३] *योगानेच ज्ञान उत्पन्न होते. माझ्या ठायी चित्त एकाग्र होणे हाच योग.*
आत्मज्ञानानेच मुक्ति होते. ते (आत्मज्ञान) योगावांचून होत नाही. तो योग दीर्घकाल अभ्यासानेच साधतो.

[३] *याच्या पुढे ज्या परमदुर्लभ योगाने सूर्यसंकाश परमात्म्याला पाहतां येते त्याचे मी निरूपण करतो. योगरूपी अग्नि पापांना निःशेष जाळून टाकतो आणि चित्ताला प्रसन्न करणारे ज्ञान होऊन त्या ज्ञानाने (योगी) परमपदाला पावतो.*

स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः ॥
निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥

संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् ।
न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥
आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः ।
अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥
तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः ।
प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥'[१]
विष्णुधर्मेषु –
'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् ।
अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥
इत्युक्तः कपिलः पूर्वे देवैर्देवर्षिभिस्तथा ।
योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥'[२]
वासिष्ठे –
'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका ।
योगगारूडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति' ।[३]

---

[१] *त्यासाठी बुद्धिवंताने परमसुखाच्या प्राप्तीसाठी झटावे. ती योगानेच लाभते, अन्य कोणत्याही उपायाने नाही. संसारतापाने पोळलेल्या जीवांना योग हेच परम औषध आहे. परमेश्वराच्या ठायी मति जडल्याने बुद्धीतच ज्याला विरक्ती उत्पन्न होते तोच समस्त क्लेशांच्या समूहांना योगाग्नीत भस्म करून परम निर्वाण पावतो यांत कांहीच संशय नाही. उत्तम योगसिद्धी मिळवून जो आत्मसाक्षात्काराने परिपूर्ण झाला आहे त्याने करावयाचे कांही कार्य दिसत नाही. त्याने सर्व कांही केले आहे. (तो कृतकृत्य आहे) तो आत्मसुखांतच रमलेला, सदा पूर्ण सुखांत परमानंदांत असल्याने बाह्य विषयांपासून पूर्ण विरक्त असतो. तपश्चर्येने आत्मानुभूति घेतलेले जितेंद्रिय महान योगी योगानेच हा संसाररूपा महासागर तरून जातात.*

[२] *पूर्वी देवांनी आणि देवर्षींनी, स्त्री-पुरुषादि सर्व जीवांच्या - अगदी किडे-मुंग्याच्यासुद्धा परमकल्याणाचा मार्ग कपिलमुनींना विचारला तेव्हां त्यांनी `योग हाच त्या सर्वांच्या कल्याणाचा मार्ग आहे असे उत्तर दिले.*

[३] *रामा, संसारविषाची ही अतिदुःसह बाधा योगरूपी पवित्र गारुड मंत्रानेच शांत होते.*

वरील सर्व श्रुती, स्मृती, इतिहास, पुराण यातील वाक्यांवरून ज्ञानप्राप्तीला व त्याच्या द्वाराने मोक्षाला योगाची अत्यंत आवश्यकता आहे हे कळून येईल. याबद्दल आणखीही काही विवेचन टीकाकारांनी सप्रमाण केले आहे. तेही पाहाण्यासारखे आहे -

'अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्येते।[१]

देव्युवाच ।

ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ।।

ईश्वर उवाच ।
देहान्ते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ।।

पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ।।

ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।[२]

देव्युवाच ।

---

[१] *यासंबंधी योगबीजांत एक महत्त्वाचा शिवपार्वती संवाद आहे तो पाहण्यासारखा आहे.*
देवी म्हणतात - हे दयासुधासागरा, देवेशा, जे ज्ञानी पुरुष मृत्यू पावतात त्यांची काय गति होते ते सांगा.

[२] *ईश्वर म्हणतात - देहपातानंतर ज्ञान्यालाही पुण्य आणि पाप यांचे फल भोगावे लागते. ते ज्याप्रमाणे असेल त्यानुसार भोगून झाल्यावर तो पुनश्च ज्ञानी होऊन जन्म घेतो. त्यानंतर पूर्वपुण्याईने त्याला सिद्ध पुरुषांची संगति लाभते आणि त्या सिद्धांच्या कृपेनेच तो योगी होतो, अन्यथा नाही. मग संसाराचा लय होतो, अन्यथा नाही हे शिवाचे वचन आहे.*

ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा ।
सर्वे वदन्ति सङ्गेन जयो भवति तर्हि किम् ।

विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्' ॥[१]

वरील ईश्वर-गौरीसंवादावरून योग हे महत्त्वाचे आवश्यक साधन असल्याचे सिद्ध केले आहे. ज्ञानी मनुष्यालासुद्धा पाप-पुण्याचे फल भोगण्याकरिता पुनः जन्म घ्यावा लागतो. नंतर तो सिद्धाच्या संगतीने योगी होऊन मुक्त होतो. हे वर्णन आरंभी थोडे अर्थवादात्मक केले आहे. त्यामुळे हे 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्' या श्रीशंकराचार्यांच्या सिद्धांताच्या विरुद्ध असल्याचे भासण्याचा संभव आहे. हीच शंका पार्वतीच्या प्रश्नाने उत्थापित करून शेवटी उपसंहारामध्ये समन्वय दाखविला आहे. खड्गाने जय मिळतो असे म्हणतात पण अंगात वीर्य पराक्रम नसेल तर तो कसा मिळेल ? तेव्हा ज्ञानाने मोक्ष मिळतो हा सिद्धान्त खरा आहे पण तत्पूर्वी योगवीर्य संपादन करणे जरून आहे असा एकंदर भावार्थ आहे.

आणखी दोन शंकाचे समाधान करून शेवटी टीकाकारांनी उपसंहार केला आहे. तो असा -

ननु जनकादीनां योगमन्तरेणाप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठित योगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि - [२]

---

[१] *देवी म्हणतात - ज्ञानानेच मोक्ष मिळतो असे ज्ञान्यांचे प्रतिपादन आहे आणि सगळे तर सत्संगानेच मोक्षाची प्राप्ती असे म्हणतात. यांत जय कुणाचा?(याचे समाधान असे आहे की) युद्ध केल्याविना नुसत्या शौर्याने कसा जय मिळेल? तसेच योगाशिवाय केवळ ज्ञानानेच मोक्ष कसा होईल?*

[२] *असं जर आहे तर जनकादकांना योगाभ्यासाशिवायच प्रतिबंधरहित ज्ञान आणि मोक्ष झाले असे वेदवचन आहे ते कसे? सांगतो. त्यांना पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगांच्या संस्कारांमुळे ज्ञानलाभ झाला असे पुराणादींत सांगितले आहे. उदाहरणार्थ -*

'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः ।[१]
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ।
संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥
धर्मव्याधादयः सप्तशूद्राः पैलवकादयः ।
मैत्रेयी सुलभा शांङ्गी शांडिलीच तपस्विनी ॥
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः'

इति । किंच पूर्वजन्मानुष्ठित योगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः सन्ति। तत्रोपदेशमन्तरेणैवात्मसाक्षात्कारवन्तो भवेयुः। तथा हि हिरण्यगर्भवसिष्ठ-नारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रुयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रुयते पुराणादौ तदयोगिपरं, तदुक्तं गरुड पुराणे -

'योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहृतः ।
योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः ॥

स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् ।
ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥[२]

---

[२] *जैगीषव्यादि ब्राह्मण, तसेच असितदि, जनकादि क्षत्रिय, तूलाधीरादि वैश्य यांना त्यांच्या पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगामुळे परम सिद्धी लाभली. धर्मव्याधादि सप्तशूद्र, पैलवकादि तसेच मैत्रेयी, सुलभा, शांङ्गी ,शांडिली ह्या तपस्विनीनासुद्धा पूर्वी त्यांनी अभ्यासलेल्या योगानेच श्रेष्ठतर ज्ञाननिष्ठा मिळाली.*

[२] *अर्थात् पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगाच्या तारतम्यानुसार कुणी ब्राह्मण, कुणी ब्राह्मणपुत्र, कुणी ब्रह्मर्षि, कुणी मुनि तर कुणी भक्त झालेले दिसतात. त्या त्या वर्णांत त्यांना उपदेशाशिवायत साक्षात्कार झालेला आहे. त्याचप्रमाणे, हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव हे जन्मतःच सिद्ध असल्याचे पुराणांतरी वर्णन आढळते. पुराणांत केवळ ब्राह्मणच मोक्षाचे अधिकारी असल्याचे जे प्रतिपादन आहे ते जे योगी नाहीत त्यांच्यासंबंधांत आहे. गरुडपुराणांत याविषयीं सांगितले आहे*

अनूचानः स्मतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परं ।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् ’इति ।।

शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्ति लभेदित्यर्थः।
इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन
सर्व एव मुच्यन्त इति सिद्धम् ।
योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः।
‘शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव इत्यादिभगवद्वचनादित्यलम् ’।[१]

योगाने प्रतिबंध दूर होऊन ज्ञानद्वारा मोक्ष मिळतो असा सिद्धान्त व ईश्वर-गौरी संवादावरून दाखविला आहे. यावर अशी शंका घेतली की, जनकादीकांनी योगाभ्यास केला नसता त्याना ज्ञान कसे झाले ? या शंकेचे समाधानही असे दिले आहे की - जनकादीकांचा काही हाच पहिला जन्म नाही. मागे अनेक जन्म त्यांचे झाले असणारच. त्या वेळी त्यांचा योगाभ्यास झालेला असला पाहिजे. त्याच संस्काराचा या जन्मात त्यांना उपयोग झाला असे मानण्यास हरकत नाही. नारद, शुक, वामदेव इत्यादी पुरुष जन्मतःच सिद्ध असलेले दिसतात. त्यावरून त्यांचे पूवजन्मात योगादी साधनानुष्ठान झाले असले पाहिजे असे गृहीत

---

[२] *ज्यांच्याजवळ पूर्वजन्मानुष्ठित योगाचा अभ्यास नाही त्याना योगाच्या प्राप्तीसाठी शूद्र वैश्यादि वर्णानुक्रम आहे. साधुसंतांची कृपा नसेल तर स्त्रीजन्मानंतर शूद्रत्व, त्यानंतर वैश्यत्व, मग क्षत्रियत्व आणि नंतर ब्राह्मण होऊन श्रुतिस्मृतींचा अभ्यास करून, यज्ञादिकांचे अनुष्ठान करून, कर्मसंन्यास करतो. मग तो ज्ञान प्राप्त करून घेतो आणि मग योगी होऊन क्रमाने मुक्ति पावतो. या सर्वांचा सारांश शूद्रवैश्यादिक्रमाने योगी होऊनच मुक्त होतो. अशा रीतीने योगाचा अधिकार सर्वच मानवमात्रांना असल्याने योगापासून उत्पन्न झालेल्या तत्त्वज्ञानाने सर्वच मुक्त होतात असे सिद्ध होते. भ्रष्ट झालेल्या योग्यालाही शूद्रादि क्रम लागत नाही हे `शुचीनां श्रीमतां गेहे.., `अथवा योगिनामेव इत्यादि भगवद्वचनांवरून सिद्ध होते.*

धरणे भाग आहे. तसेच योगमार्गामध्ये सर्वच अधिकारी आहेत. योगाभ्यास प्राधान्याने करून ज्ञान प्राप्त करून घेणारा व इतर मार्गाला प्राधान्य देऊनच ज्ञानभूमीपर्यंत पोचणारा असे साधकांचे दोन वर्ग मानले आहेत. यापैकी अयोगी साधकांमध्ये ब्राह्मणच मोक्षाधिकारी असल्याचे एक मत वर टीकाकारांनी मांडले असून तो क्रमाने योगभूमीपर्यंत कसा येतो याबद्दल गरुड पुराणातील उतारा दिला आहे. योगिपुरुष कदाचित् भ्रष्ट झाला तरी त्याला शूद्रवैश्य इत्यादी क्रमाने जावे लागत नाही. असे भगवद्गीतेचे प्रमाण देऊन उपसंहार केला आहे. याप्रमाणे हटयोगप्रदीपिकेच्या टीकाकारांनी चतुर्थोपदेशाच्या पंधराव्या श्लोकाच्या टीकेत वरीलप्रमाणे योगाचे महत्त्व मांडलेले आहे. तेच श्रीमहाराजांनी योगरहस्याच्या तिसऱ्या व चौथ्या श्लोकामध्ये स्पष्ट केले आहे. (३-४)

अष्टांयोगांत कर्म, भक्ति, ज्ञान यांचा अंतर्भाव

भक्तिक्रियाज्ञानयोगान्मुक्तिरुक्तापि तत् त्रयम् ।
ज्ञेयं साष्टांगयोगांतर्गतं द्वैधमतोऽत्र नो ॥५॥

अर्थ : - भक्ती, कर्म व ज्ञान यातील योगांपासून मुक्ती मिळते असे सांगितले असले तरी ते तीनही योग, अष्टांग योगातच अंतर्भूत होतात, याबद्दल कोणाचाही मतभेद किंवा विरोध नाही.

विवरण : - कर्म, भक्ती व ज्ञान हे तीनही योग अष्टांगयोगात अन्तर्भूत होतात असा एक सिद्धान्त श्रीमहाराजांनी या श्लोकात मांडला आहे. यावरून श्रीमहाराजांची योगमार्गाबद्दल आग्रही वृत्ती होती अशी समजूत होण्याचा संभव आहे. म्हणून प्रथम हा सिद्धान्त सप्रमाण सिद्ध करून, याबद्दल श्रीमहाराजांचा अभिप्राय काय आहे त्याचेही विवरण करावयाचे आहे. हाच सिद्धान्त हठयोगप्रदीपिकेचे टीकाकार श्रीब्रह्मानंद यांनी चतुर्थोपदेशात ११४ श्लोकांच्या टीकेत मांडला आहे. तो ग्रंथ असा -

ननु , योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्'

इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायाः, तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगांगेष्वन्तर्भावात् । तथाहि ।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधानात्मसाक्षात्कार हेतुतया श्रवणमनन निदिध्यासनान्युक्तानि। तत्र श्रवणमनने नियमान्तर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः। स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनं; स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायी ग्राह्यः। तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः। नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन।

'सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः'
इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमान्तर्गतिरुक्ता।

'अधितवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकं ।
पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः'

इति युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमान्तर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः। तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् ईश्वरार्पण बुद्धया निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य, 'तपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमान्तर्गते क्रियायोगेऽन्तर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम् ।

'उपवासपराकादि कृच्छ्रचांद्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्' इति ।
स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः -

'वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः।
सत्त्वशुद्धिकरं पुसां स्वाध्यायं परिचक्षते' इति।
ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम् -
'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम्' इति।

क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति, 'समाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च' इत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पंतजलिना। भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरितिकरणव्युत्पत्त्या, 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इति नवविधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते। तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽन्तर्भावः।

तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पंतजलिना'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'इति। ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः। भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या, फलभक्तिरभिधीयते। सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते। तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिक प्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति। मधुसूदन-सरस्वतीभिस्तु

'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पक-वृत्तिर्भक्तिः' इति। तस्यास्तु; 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि इति श्रुतेः' भक्त्या मामभिजानाति 'इति स्मृतेश्च आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम्। भक्तास्तु , सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद् दुःखासंभिन्न निरतिशयसुखधारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः। तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावन्तर्भावः। एवंच अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम्'

वरील ग्रंथाचा भावार्थ : - कर्म, भक्ती व ज्ञान हे तीनच योग भगवंतांनी सांगितले असता योगाचा पुरस्कार का केला असा प्रश्न करून त्याचे समाधान

असे केले आहे की वरील तिघांचा योगाच्या अंगामध्ये अंतर्भाव होत असल्याने अष्टांग योग हा कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचा समन्वयरूप आहे. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी अशी योगांची आठ अंगे आहेत. संप्रज्ञात आहेत. यापैकी संप्रज्ञात समाधी हा आठ अंगांपैकी शेवटचे अंग असून यांचा अंगी जो योग तो म्हणजे असंप्रज्ञात समाधी होय. यांपैकी नियमरूप अंगामध्ये ज्ञानयोगाचा अंतर्भाव होतो.

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

या सूत्रामध्ये पतंजलींनी पाच नियम सांगितले आहेत. आत्मज्ञान व त्याची साधने श्रवण, मनन व निदिध्यासन हा ज्ञानयोग वरील नियमांपैकीं स्वाध्यायामध्ये श्रवणाचा अंतर्भाव होतो. स्वाध्याय म्हणजे मोक्षशास्त्रांचे अध्ययन. हे मुख्यार्थनिर्णयपर्यवसायि झाले पाहिजे. त्याकरिता श्रवण व मनन यांची जरूरी आहे. उपक्रम, उपसंहार इत्यादी लिंगांनी वेदान्ततात्पर्यार्थाचा निर्णय करणे म्हणजे श्रवण व त्याचेच युक्तींनी पुनः पुनः चिंतन करणे म्हणजे मनन. या दोघांचा स्वाध्यायरूप नियमामध्ये अंतर्भाव होतो. निदिध्यासन म्हणजे इतर विषय सोडून ध्येयस्वरूपाकार चित्त होणे म्हणजेच ध्यान. अर्थात् निदिध्यासनाचा ध्यानरूप योगांगात अंतर्भाव होतो. याप्रमाणे ज्ञानयोगाचा अंतर्भाव अष्टांग योगात कसा होतो ते सांगितले. ईश्वरार्पण बुद्धीने निष्काम कर्मानुष्ठान करणे म्हणजे कर्मयोग. याचा अंतर्भाव नियमरूप योगांगातच होतो. त्याबद्दल विशेष विचार असा. पाच नियमांपैकी तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान या तिघांना क्रियायोग असे पतंजली म्हणतात. याबद्दल,

'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'

असे त्यांचे सूत्र आहे. उपवास, कृच्छ्र, चांद्रायणादी व्रतांनी शरीर शोषण करणे म्हणजे तप. उपनिषत्, शतरुद्रीय, प्रणव इत्यादीकांचा जप म्हणजे स्वाध्याय आणि नवविधा भक्ती म्हणजे ईश्वरप्रणिधान. या क्रियायोगामध्ये कर्मयोग व

भक्तियोग दोघांचाही अंतर्भाव होतो. श्रवणकीर्तनादीरूप नवविध भक्तीला साधनभक्ती असे म्हणतात. हिचा ईश्वरप्रणिधानरूप नियमात अंतर्भाव होतो. ही भक्ती समाधिद्वारा आत्मज्ञानाला साधन होते. याबद्दल 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' असे पतंजलींचे सूत्र आहे. दुसरी फलरूप भक्ती म्हणजे प्रेमभक्ती होय. ईश्वरचरणाविषयी अंतःकरणात उप्तन्न झालेला निर्व्याज, अव्यभिचारी असा अविच्छिन्न प्रेमप्रवाह म्हणजे प्रेमभक्ती. अशी नारायणतीर्थांची व्याख्या आहे. चित्त प्रेमार्द्र होऊन ईश्वराकार होणे म्हणजे प्रेमभक्ती असे मधुसूदन-सरस्वती म्हणतात. या दोनीही व्याख्येप्रमाणे प्रेमभक्ती म्हणजे सविकल्पक अंतःकरणवृत्तिरूप असून ती आत्मज्ञानद्वारा मोक्षरूप पुरुषार्थाचे साधन आहे. भक्तिशास्त्रज्ञ प्रेमभक्तीलाच परमपुरुषार्थरूप मानतात. दुःखाचा जेथे बिलकूल संबंध नाही अशी निरतिशय सुखधारा म्हणजे प्रेमभक्ती असे भक्तिशास्त्रज्ञ म्हणतात. सुख हाच पुरुषार्थ असल्यामुळे अशी सुखधारारूप प्रेमभक्ती ही ज्ञानद्वारा पुरुषार्थ साधन नसून ती स्वतःच पुरुषार्थरूप आहे असे भक्तांचे मत आहे. या भक्तीचा संप्रज्ञात समाधीमध्ये अंतर्भाव होतो. ध्येय वस्तूशिवाय इतर सर्व वृत्तीचा निरोध होणे म्हणजे संप्रज्ञात समाधी होय. याप्रमाणे कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचाही समावेश अष्टांग योगामध्ये होतो असे सप्रमाण विवेचन वरील संस्कृत टीकेमध्ये ब्रह्मानंदांनी केले आहे. तोच सिद्धान्त श्रीमहाराजांनी या पाचव्या श्लोकात मांडलेला आहे.

अष्टांग योगामध्ये, कर्म, ज्ञान व भक्ती या तिघांचा अंतर्भाव होतो या श्रीमहाराजांच्या लिहिण्याचा अभिप्राय लक्षपूर्वक समजून घेणे जरूर आहे. नाही तर घोटाळा होण्याचा संभव आहे. योग हेच काय ते एकमेव मोक्षाचे साधन आहे. दुसरी साधने निरुपयोगी आहेत, असा कदाचित् समज, योगाविषयी स्वाभाविक आवड असणाऱ्यांचा होण्याचा संभव आहे. म्हणून विचार करण्याची आवश्यकता आहे. जगामध्ये कोणतेही कार्य एकाच कोणत्या तरी कारणापासून होत नाही. तार्किकांच्या सिद्धान्ताप्रमाणे पाहिले असता, ईश्वर, ईश्वराचे ज्ञान,

इच्छा व प्रयत्न, काल, दिशा, प्रागभाव व अदृष्ट ही आठ साधारण कारणे प्रत्येक कार्याला असतात. शिवाय, समवायि, असमवायि व निमित्त अशी तीन असाधारण कारणे प्रत्येक कार्यास निराळी आहेतच.

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥'(भ.गीता १८:१४,१५)

याप्रमाणे प्रत्येक कर्माला पाच कारणे असतात असे श्रीभगवान् सांगतात. तात्पर्य, अनेक कारणांच्या सामग्रीपासून प्रत्येक कार्य तयार होते हा सिद्धान्त सर्वमान्य आहे. याला अनुसरून अष्टांगयोग हा अनेक कारण समुदायरूप आहे असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. योगाभ्यास करणाऱ्याला कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचीही जरूरी आहे. त्याशिवाय योगसाधन पूर्ण होणारच नाही. 'आम्ही फक्त योग तेवढा जाणतो. त्याकरिताच आमचा हा आश्रम आहे. येथे कर्म, भक्ती, योग वगैरे आम्ही काही जाणत नाही, 'आम्हाला फक्त स्नानसंध्यादी कर्म तेवढे ठावूक आहे. तेच आम्ही करणार. भक्ती ज्ञान योग वगैरे आम्ही कांही जाणत नाही;' 'आम्हांला फक्त पांडुरंगाची भक्ती पुरे आहे; कर्म, ज्ञान, योग वगैरे दुसरे कांही नको;' 'आम्ही फक्त ज्ञानचर्चा करूनच मोक्षाला जाऊ असा आमचा विश्वास आहे. तेव्हा स्नानसंध्या, पूजा, प्राणायाम इत्यादी उठाठेव पाहिजे कोणाला?' असे विविध विचारप्रवाह लोकांच्यामध्ये चालू असलेले आपण ऐकतो. पण या विचाराप्रमाणे तरी व्यवहार चालू आहे काय? एकसाधननिष्ठा असणे ही चूक नाही पण तसा एकसाधननिष्ठ असणारा साधक, इतर साधनाप्रमाणे खाणे, पिणे, राग, द्वेष, घर-दार, भार्या, पुत्र इत्यादि सर्व व्यवहारांविषयी उदासीन असतो. इतर साधनमार्गाची निंदा करायला त्याला अवसरच कुठे आहे ? शिवाय

'श्रद्धां भागवते शास्त्रे, अनिन्दामन्यत्र चापि हि'

या वचनाने; स्वतःच्या साधनमार्गावर श्रद्धा ठेवणे याच्याबरोबरच इतर मार्गांची निंदा न करणे हेही साधकाचे कर्तव्य दाखविले आहे.

'कोणाही जीवाचा न घडो मत्सर । वर्म सर्वेश्वर पूजनाचे'

यात श्रीतुकाराम महाराज हेच सुचवीत आहेत. नुसत्या जेवणाची गोष्ट आपण घेऊ. जेवणात नाना पदार्थ असले तरच आपली प्रसन्नता असते. त्यात चटणी किंवा भाजी एकही कमी पडलेले आपणास खपत नाही. अशा आपल्या सवयी जाण्याकरिताच एकभुक्त, एकवाढ, एकान्त, चांद्रायण इत्यादी नियम शास्त्राने सांगितले आहेत.

'सर्पाः पिबन्ति पवनं किमु दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
वन्यैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥'[१]

या श्लोकात खरी एकनिष्ठा सुचविली आहे. एकाच दुधापासून बनविले जाणारे पेढे, बर्फी, श्रीखंड, बासुंदी, मलई इत्यादी अनेक पदार्थ बेसुमार सेवन करूनही अतृप्त असणारे व नानाविध रोगांमुळे चिकित्सकांच्या स्वाधीन होणारे आम्ही मानव, आणि, केवल ओला वाळला कसलाही चारा खाऊन बलवान् राहाणारे व नेहमी मानवाकरिता अविश्रांत श्रम करणारे पशू यांच्यामध्ये, आहाराच्या दृष्टीने एकनिष्ठ कोण ठरतील याचा विचार मानवानी केला आहे काय? याप्रमाणे आहार, विहार प्रत्येक बाबतीत मानांची धरसोड आहे हे 'वैश्वरूप्याच्च पुरुषमतीनाम्' या वाक्याने, श्रीभगवत्पाद सुचवीत आहेत. याप्रमाणे असणाऱ्या मानवाच्या

[१] *सर्प वायू पिऊन राहतात म्हणून काय ते दुर्बल असतात का ? वाळले गवत खाऊनच हत्ती बलिष्ठ होतात. ऋषिमुनि रानांतल्या मेव्यावरच काळ कंठतात. संतोष हेच पुरुषाचे खरे पोषण आहे.*

स्वभावधर्मास अनुसरूनच शास्त्राने विविध साधनांचा आविष्कार केला आहे. महाविद्यालयामध्ये ऐच्छिक विषय कोणताही ज्याच्या त्याच्या आवडीप्रमाणे अभ्यासाकरिता घेतला तरी आवश्यक विषय सर्वांना अभ्यासावेच लागतात. तात्पर्य अष्टांगयोग हे साधन सर्व साधनांचा समन्वय असलेले असे आहे. याचा अभ्यास करणाऱ्यांना, कर्म, ज्ञान व भक्ती हे तीनही अपरिहार्य आहेत. आपापल्या अधिकाराप्रमाणे; सिद्धदशा प्राप्त होईपर्यत सर्व साधनांचे अवलंबन करणे प्रशस्त आहे हेच श्रीमहाराजांना या श्लोकात सुचवावयाचे आहे. श्रीमहाराजांच्या चरित्रात, गरुडेश्वरची त्यांच्या निर्याण दिवसाची हकीकत अशी दिली आहे -

अत्यंत अशक्ततेमुळे श्रीमहाराजांना दुसऱ्यांनी उठवून बसवावे लागत होते. पण तसे इतरांनी त्यांना आसनावर बसवावे व तशा स्थितीत श्रीमहाराजांनी संध्यावंदनादी करावे. शेवटी शेवटी अत्यंत ग्लानीमुळे हातात पाणीच राहीना तेव्हाच, ईशेच्छा म्हणून श्रीमहाराज स्वस्थ राहिले. त्यांनी योगाभ्यास केला तरी कर्म, भक्ती, ज्ञान यांचा त्याग केव्हाच केला नाही. ज्यांच्या नुसत्या शब्दाने दगडामातीची भिंत देखील चालू लागली ते योगिश्रेष्ठ ज्ञानियांचे राजे भावार्थ दीपिकेत लिहितात -

'लिंग का प्रतिमा दिठी । देखत खेंवो अंगेष्टी ।
लोटिजे कां काठी । पडली जैसी'

याप्रमाणे मूर्तिपूजेचाही आदेश श्रीज्ञानराजांनी का दिला आहे ? हे लक्षात घेऊन साधकांनी शिष्टाचारप्राप्त त्या त्या साधनांचे अनुष्ठान श्रद्धेने करीत राहाणे यातच त्यांचे पूर्ण कल्याण आहे. उगीच अमूक साधनच श्रेष्ठ आहे. असा वाद घालून स्वतःचे व्यर्थ कालक्षपण व इतरांचा बुद्धिभेद करण्याने पुरुषार्थ तो कोणता साधणार आहे?

या सर्व विवेचनाचा सारांश इतकाच आहे की, अष्टांगयोगामध्ये बाकीच्या तीन योगांचा अंतर्भाव आहे असे लिहून, श्रीमहाराजांनी, सर्वही योगांचा समन्वयच

सुचविलेला आहे. म्हणून कोणत्याही प्रकारे अभिनिवेश न ठेवता ईशस्मरणपूर्वक आपापले साधन निष्ठेने करून साधकाने आत्मकल्याण साधण्याकडे विशेष लक्ष द्यावे.

योगाभ्यासासाठी जीवनशैली

नात्यश्नतोनश्नतोऽतिसुप्तस्यैष न जाग्रतः ।
युक्तचेष्टाहारनिद्रागतेर्योगो भवेत्सुखः ।। ६ ।।
तस्माद्वैराग्यतोऽभ्यासं गुरोरग्रे वितन्वतः ।
योगस्य प्राप्य संसिद्धिं विद्वान्मुक्तो भवेद्द्रुतम् ।।७।।

अर्थ : - अति खाणाऱ्याला, अगदीच कमी खाणाऱ्याला, अतिशय झोप घेणाऱ्याला व अति जाग्रण करणाऱ्याला योग साध्य होत नाही. तर हालचाल, आहार, झोप व गती हे सर्व आवश्यक तेवढेच करणाऱ्या साधकालाच योग सुखावह होतो. (६)

म्हणून, वैराग्यपूर्वक गुरूच्या दृष्टीसमोर अभ्यास करणाऱ्या साधकाला, योगाची फलसिद्धी प्राप्त होऊन, तो आत्मज्ञान संपन्न होतो व शीघ्र मुक्त होतो. (७)

विवरण : - योगाभ्यास करणाऱ्याला काय वर्ज्य आहे व काय कर्तव्य आहे ते प्रथम या दोन श्लोकात, श्रीमहाराज सुचवीत आहेत -

आहार, निद्रा, शरीर, वाणी व मन यांचे व्यापार या बाबतीत योगसाधकाने दक्षता घेणे आवश्यक आहे. आपणास मानवेल इतकाच आहार नित्य घ्यावा. त्यापेक्षा अधिक किंवा कमीही असू नये. भुकेपेक्षा अधिक खाल्ले तर झोप, आळस व विविध रोग यांनी प्रतिबंध झाल्यामुळे अभ्यास बंद होईल. तसेच, भूक असतानाही खाल्ले नाही तरीही शरीर, मन थकून जाईल व अभ्यास मुळीच होणार नाही. सामान्यतः आहाराचे प्रमाण शास्त्रात असे दिले आहे.

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

अर्ध-पोटी असावे ही म्हण खरी आहे. अर्धे पोट भरेल इतकेच भोजन, त्या वेळी करावे. एक भाग भरेल इतके पाणी घ्यावे आणि प्राणवायूचा संचार खालीवर व्यवस्थित चालू राहाण्याकरिता एक भाग पोटाचा रिकामा ठेवावा. हा आहाराचा नियम योगाभ्यास करणाऱ्यालाच हितावह आहे. असे नसून सर्वांनाच तो हितावह ठरणारा आहे. अन्नाची आवश्यकता कोणाला किती आहे? अभ्यासाने ती साध्य होणारी आहे. याबद्दल स्मृतिकार सांगतात-

'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥'

संन्याशाने आठ घासच खावेत. वानप्रस्थाने सोळा, गृहस्थाने बत्तीस आणि ब्रह्मचाऱ्याने लागेल इतके खावे. संन्याशाला फक्त चिंतनादि मानसिक अभ्यासच करावयाचा असतो. इतर कोणताही व्यवहार त्याला नसल्यामुळे त्याला फक्त आठ घासच भोजन करण्यास सांगितले आहे. म्हणूनच तीन घरी भिक्षेमध्ये जेवढे अन्न येईल त्यातूनही देवतादिकांचा भाग काढून ठेवून राहिलेला भाग भक्षण करावयाचा असतो. आत्मचिंतनामध्ये मन अधिक अधिक निमग्न करण्याचाच त्याने अभ्यास ठेवला पाहिजे. फक्त जीवनधारणाकरिता अन्नाचे आठ घास व पाणी याचीच अनुज्ञा त्याला आहे. वनात राहाण्याऱ्या वानप्रस्थ पुरुषाला सोळा घासांची अनुज्ञा आहे. त्याला स्वतःच सर्व जीवनसाधन संपादन करावे लागत असल्यामुळे कष्ट अधिक आहेत. म्हणून संन्याशाच्या दुप्पट भोजन त्याला सांगितले. गृहस्थाला त्याच्यापेक्षाही दुप्पट म्हणजे बत्तीस घासापर्यंत परवानगी आहे. त्याला अर्थातच संसार चालविण्याकरिता बरेच श्रम पडत असल्यामुळे ही इतकी तरतूद केली आहे. आणि गुरुगृहात राहून, पाणी आणणे, लाकडे फोडणे इत्यादी गुरुसेवा करून अभ्यास करणाऱ्या विद्यार्थ्यांला मात्र घासांचा नियम

ठेवला नाही. त्याला लागेल इतके त्याने जेवावे अशी परवानगी देऊन ठेवली आहे. याचा अर्थ एकाच वेळी भरपूर जेवावे असा नसून वरीलप्रमाणे अर्धपोटीच त्याने राहावे. पण तीन वेळाही त्याने आहार केला तरी चालेल. त्याची गुरुसेवा चांगली चालून विद्याभ्यासही आलस्यरहित स्थितीत व्हावा हाच उद्देश आहे. तात्पर्य; हित, मित व मेध्य म्हणजे पवित्र आहार असावा. हा नियम सर्वांनाच लागू आहे. आहार किती घ्यावा हा याबद्दलचा आतापर्यंत विचार झाला. हितावह आहार कोणता हे पुढील श्लोकात सांगितले आहे. आहार पवित्रही असला पाहिजे. शुचिर्भूतपणाने स्वयंपाक करून तो देवाला निवेदन करूनच मग भोजन करावे असाच साधुपुरुषांचा आचार आहे. आणि तो धर्मशास्त्रसंमत आहे. सांप्रत लोकांची प्रवृत्तीच सर्व बंधने झुगारून देण्याकडे विशेष आहे. आणि स्वराज्य मिळूनही राजशासन धर्माविषयी उदासीन आहे. त्यामुळे धर्माधर्माचे ज्ञान नाही, इच्छाही नाही. राज्यकर्ते याला अनुकूल. अशा स्थितीत वरीलप्रमाणे प्राथमिक आहाराचा नियम पाळून योगाभ्यासाची पात्रता संपादन करणारे खरे साधक कितीसे सापडतील ? हा आहाराचा नियम तर सर्वांनाच उपकारक आहे. या नियमाचे परिपालन धर्मबुद्धीने जर होत राहील, तर भारतवर्षाला धान्याची चिंता करण्याचा व इतर राष्ट्रांवर अवलंबून राहण्याचा प्रसंगच आला नसता. आठवड्यातून एक वेळ उपवास करा असे सांगण्याची पाळीच आली नसती. सोमवार, एकादशी, संकष्टी, प्रदोष इत्यादी व्रते शास्त्रविहितच असल्याने ती करणाऱ्यांचा उपवास आपोआपच घडून येतो. शास्त्राप्रमाणे वागणारे लोकच, न सांगताही आज राष्ट्रास पोषक असे वागत आहेत असे कबूल करणे भाग आहे. असो.

आहाराप्रमाणे झोपेच्याबाबतीतही व्यवस्थितपणा पाहिजे. अतिनिद्रा किंवा अतिजागरण उपयोगी नाही. सामान्यतः सूर्यास्तानंतर एक-दीड प्रहरानंतर झोपणे व रात्रीच्या शेवटच्या प्रहरात उठणे हा नियम हितावह आहे. कोंबडा ओरडल्याबरोबर योगेश्वर श्रीकृष्ण जागे होऊन प्रथम आत्मचिंतन करीत असत असे श्रीभागवतामध्ये वर्णन केले आहे. तसेच जास्ती श्रम करणे, जास्ती बोलणे,

जास्ती चालणे हेही साधकाला वर्ज्य आहे, योगाचे मुख्य साध्य चित्त व प्राण याचे स्थैर्य हे आहे. याला वरील सर्व गोष्टी प्रतिबंधक असल्याने त्या वर्ज्य सांगितल्या आहेत. हठयोगप्रदीपिकाग्रंथात योगाला प्रतिबंध करणारे दोष व योगसिद्धी करून देणारे गुण क्रमाने पुढील दोन श्लोकात दाखविले आहेत.

'अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च निश्चयात्
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥'

(हठयोगप्रदीपिका १-१५-१६)

अति खाणे, अति श्रम करणे, अति बडबड करणे, रोज नक्त भोजन, केवळ फलाहार इत्यादी नियम करणे, नेहमी लोकामध्ये वावरणे आणि विषयासक्ती हे सहा दोष, योगाचा नाश करतात आणि मी चित्त स्थिर करीनच असा उत्साह, साध्य-असाध्य हा विचार दूर सारून साधनाकडे प्रवृत्त होणे हे साहस; यावज्जीव प्रयत्न करीत राहणे, कधीही खिन्न न होणे हे धैर्य; संपूर्ण दृश्य विषय, मृगजळाप्रमाणे आभासमात्र अस्थिर आहेत, फक्त परमात्माच स्थिर आहे ही दृढबुद्धी म्हणजे तत्त्वज्ञान; शास्त्राचे व गुरूंचे सांगणे पूर्णपणे खरे आहे असा विश्वासरूप निश्चय; योगाभ्यासाला प्रतिकूल अशा विषयासक्त लोकांच्या संगतीचा त्याग; या सहा गुणांनी योगाची फलसिद्धी होते. याला अनुसरूनच, सातव्या श्लोकात, श्रीमहाराजांनी, योगाभ्यास करीत असताना वैराग्याची आवश्यकता प्रतिपादन केली आहे. आहारविहारादिकातील न्यूनाधिकता सोडून पूर्ण संयमाने वागणे, विषयासक्ती कमी करण्याचा प्रयत्न करणे आणि गुरूंच्या सान्निध्यात असणे हे तीन निर्बंध, योगाभ्यास करणाराने कटाक्षाने पाळले पाहिजेत. असे सहा व सात या दोन श्लोकांत श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे.

क्षाराम्लतिक्तकटुरुक्षकदन्नशाक-
स्त्र्यग्न्यध्वभाङ् न लभतेऽकुशलोऽस्य सिद्धिं ।
शुंठीसितासुमनशालिसदन्नमुद्‌ग -
चक्षुष्यशाकघृतदुग्धसदम्बुपथ्यम् ।।८।।

अर्थ : - खारट, आंबट, कडू, तिखट, स्निग्ध नसलेले जोंधळे, उडीद इत्यादी धान्य, आणि प्रायः सर्व भाज्या असे पदार्थ, विशेष आवडीने खाणारा, स्त्रीसंग करणारा कामातुर, अग्नीजवळ बराच वेळ शेकत बसणारा, नेहेमी पायी प्रवास करणारा आणि अभ्यासात हुषारी नसणारा, अशा मनुष्याला योगाची फलसिद्धी प्राप्त होत नाही. सुंठ, साखर, गहू, तांदूळ, वरई, सावे, मूग, डोळ्याला हितकारक अशा भाज्या, तूप, दूध, उत्तम शुद्ध पाणी हे सर्व योगाभ्यास करणाऱ्याला पथ्यरूप हितावह असे आहे. (८)

विवरण : - या श्लोकामध्ये आहार कोणता हितावह आहे त्याची नावनिशीवार नोंद केली आहे. जोंधळा, उडीद, मसूर ही धान्ये वर्ज्य असून, तांदूळ, गहू, मूग, सावे, वरई ही ग्राह्य आहेत. तसेच पायाने फार प्रवास नसावा. साक्षात् अग्निसंपर्क नसावा व ब्रह्मचर्याने राहून योगाभ्यास करावा. तूप, दूध व पाणीसुद्धा स्वच्छ व पवित्र असे सेवन करावे. भाज्या फार कोणत्याच न खाणे चांगले, फक्त पाच भाज्या डोळ्यास हितकर अशा घेण्यास हरकत नाही. सर्वही भाज्या डोळ्यास तितक्या हितकार नाहीत. फक्त पाच भाज्या तेवढ्या हितकारक आहेत याबद्दल प्रमाण श्लोक श्रीमहाराजांनी या श्लोकाच्या टीकेमध्ये पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

' सर्व शाकमचक्षुष्यं चक्षुष्यं शाकपंचकम् ।
जीवन्ती वसुमत्स्याक्षी मेघनादा पुनर्नवा ।।'

यांची नांवे हिंदीमध्ये काही सापडली आहेत ती अशी -

(१) जीवन्ती-जीवई, जीयाती; (२) वस्तु-हेतुया; (३) मत्स्याक्षी-मछेछी, छछ मछरी; (४) मेघनादा-चवराई, चवळी अत्समरुषा;(५) पुनर्नवा-करला या पाचही भाज्यांचे गुण वाग्भट; भावप्रकाश इत्यादि वैद्यक ग्रंथात उत्तम प्रकारे वर्णन केले आहेत.

सद्देशे मठिकामध्ये निश्चिन्तो गुरुशिक्षितः ।
कुशाजिनांशुकेष्वेव हठयोगं समभ्यसेत् ॥९॥

अर्थ : - पवित्र देशात, एखाद्या लहानशा कुटीमध्ये, प्रथम दर्भासन त्यावर कृष्णाजिन व त्यावर चांगले स्वच्छ वस्त्र अशा तयार केलेल्या आसनावर बसून, निश्चिंत होऊन, गुरुकडून शिक्षण घेत घेत हठयोगाचा अभ्यास उत्तम प्रकारे करावा.

विवरण : - योगाभ्यासाचे स्थान; उत्तम देश व त्यामध्ये लहानशीच एकट्यापुरती जागा असे असावे. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकार म्हणतात -

'सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुः प्रमाणपर्यन्त शिलाग्निजडवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥१२॥'

(हठयोगप्रदीपिका १)

'जेथ आराणुकेचेनि कोडे । बैसलिया उठो नावडे ।
वैराग्यासी दुणीव चढे । देखिलिया जें ॥'

इत्यादी वर्णन, सहाव्या अध्यायाच्या अकराव्या श्लोकावरील श्रीज्ञानेश्वर महाराजांचे, याबद्दल पाहाण्यासारखे आहे. गुरुच्या देखरेखीखालीच हा अभ्यास व्हावा हे महाराजांनी 'गुरुशिक्षितः' या पदाने या श्लोकात, पुनः सुचविले आहे.

हठयोग शब्दाचा अर्थ, श्रीमहाराजांनी, 'प्राणपानयोर्योगः' असा टीकेमध्ये दिला आहे. याबद्दल हठयोग प्रदीपिकाकार सांगतात -

'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राण कंठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ।।१-४७।।'

याची टीकाः - 'अपानमपानवार्युमूर्ध्वंमुत्थाप्याधारकुंचनेन, प्राणवायुं कंठादधः अधोभागे नयेत् प्रापयेत्'

याचे स्पष्टीकरण श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी सहाव्या अध्यायाच्या चौदाव्या श्लोकात असे केले आहे -

'नासापुटौनी वारा । जो जातसे अंगुळे बारा ।
तो गचीये धरूनी माघारा । आंत घाली ।।२३६।।

तेथ अधावरौते आकुंचे । ऊर्ध्वातळौते खाचे ।
तया खेंवामाजी चक्राचे । पदर उरती ।।३७।।

कुंडलिनी जागृत झाली असताना प्राणापानांचा योग होतो. याला लागणाऱ्या जालंधरबंधादि पूर्वाभ्यासाची माहिती योगज्ञच देऊ शकतील (९)

आसन

गुदमेंढ्रोर्ध्वस्थगुल्फमासीनो यतगुः समः
भ्रुमध्यदृग्वाऽन्यपीठैः सिद्धं तत्राप्यदोऽस्ति सत् ।।१०।।

अर्थ : - हा अभ्यास सिद्धासनाने किंवा दुसऱ्या कोणत्याही आसनाने युक्त होऊन करावा. त्यातही हे सिद्धासन उत्तम आहे. ते असे-गुद व वृषण यावर पायांच्या टाचा ठेवून भुवयांमध्ये दृष्ट लावून जितेंद्रिय राहून समस्थितीत ताठ बसणे हे सिद्धासन होय. सर्व आसनांत हे श्रेष्ठ आहे. (१०)

विवरण : - गुदावर एका पायाची टाच व वृषणावर दुसऱ्या पायाचा घोटा ठेवणे ही मुख्य क्रिया या सिद्धासनात आहे. गुरूंचे देखरेखीखाली याचा अभ्यास चांगला होईल. या आसनाचे महत्त्व हठयोगप्रदीपिकेत असे दाखविले आहे.

'उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनीकला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ।। (१-४२)

उन्मनी अवस्था व मूलबंध, जालंधरबंध, उड्डीयानबंध हे तीनही बंध हे सर्व नुसते सिद्धासन जर दृढ उत्तम प्रकारे लागले तर अनायासाने साध्य होते. त्याकरिता आयास पडत नाही. नुसत्या सिद्धासनाच्या अभ्यासानेच बारा वर्षात योगसिद्धि प्राप्त होते असे दुसऱ्या एका श्लोकात सांगितले आहे. (१०)

प्राणायाम

वायु शक्त्येडयापूर्य हृदि स्थाप्य हनुं जपन् ।
हंसं शक्त्या कुंभयित्वा पश्चादाकर्षितोदरः ।।११।।

शनैर्विरेचयेदेष प्राणायामः सुसिद्धिदः ।
पंचध्यान्ह्यन्ह्याशीत्यन्तैः प्रतिसन्ध्यसुयामकैः ।।१२।।

गन्तव्यमार्गस्थशक्तिचालनाद्भस्त्रया भवेत् ।
नाडीशुद्धिस्त्रिमासोर्ध्वं प्राणो याति लयं सहृत् ।।१३।।

अर्थ : - शक्तीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने वायू आत घेऊन म्हणजे पूरक करून, हृदयावर हनुवटी ठेवून गायत्री-मंत्र किंवा सोहंमंत्र यांचा मानसिक जप करीत राहून, शक्तीप्रमाणे कुंभक करून नंतर आपले पोट ज्याने आत ओढले आहे, अशा साधकाने तो वायू हळूहळू उजव्या नाकपुडीने बाहेर सोडावा म्हणजे रेचक करावा. हा प्राणायाम उत्तम सिद्धि देणारा आहे. असे पूरक, कुंभक व रेचक मिळून होणारे प्राणायाम प्रतिदिवशी त्रिकाल करावेत व ते पाच पाच या प्रमाणाने वाढवून ऐंशीपर्यंत न्यावेत. तसेच, भस्त्रिका व प्राणवायूच्या गमनाला योग्य अशा मार्गातील शक्तीचे चालन करावे. याप्रमाणे प्राणायाम, भस्त्रिका व शक्तिचालन

या तीन साधनांच्या अभ्यासाने तीन महिन्यांनंतर सर्व नाड्यांची शुद्धी होते आणि प्राणवायू चित्तासह विलीन होतो. (११-१२-१३)

विवरण : - प्राणायामाचे स्वरूप, त्याच्या अभ्यासाची पद्धत व त्याचे फल हे विषय वरील तीन श्लोकांतून मांडलेले आहेत. पूरक, कुंभक व रेचक यांना प्राणायाम असे म्हणतात.

'प्राणस्य शरीरान्तःसंचारिवायोर्निरोधनं आयामः प्राणायामः'

अशी प्राणायामाची व्याख्या ब्रह्मानंदांनी केली आहे. शरीरात संचार करणाऱ्या वायूचे निरोधन म्हणजे प्राणायाम होय.

'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम्'

असे श्रीगोरक्षनाथही सांगतात. रेचक प्राणायाम, पूरक प्राणायाम व कुंभक प्राणायाम असे प्राणायामाचे तीन प्रकार आहेत.

'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः'

उदरातून वायु बाहेर काढणे याला रेचक म्हणतात.

'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः'

बाहेरून उदरात वायु भरणे याला पूरक म्हणतात.

'संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत्'

एखाद्या कुंभात जसे पाणी भरून ठेवतात तसे वायू उदरात भरून ठेवणे याला कुंभक म्हणतात. सहित-कुंभक व केवल-कुंभक असे कुंभकाचे दोन प्रकार आहेत.

'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहित कुंभकः'

रेचकानंतर केला जाणारा व पूरकानंतर केला जाणारा असे दोन प्रकारचे सहित-कुंभक आहेत. रेचकपूर्वक केला जाणारा कुंभक, रेचकप्राणायामात अंतर्भूत होतो. सूर्यभेदन, उज्जायी इत्यादी सर्व प्रकार पूरकपूर्वक कुंभकाचेच आहेत. रेचक किंवा पूरक न करता, नासिकेत असणारा वायू स्थिर करणे याला केवल-कुंभक असे म्हणतात -

'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुं ।
सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'

हे केवल-कुंभकाचे वर्णन आहे. केवल कुंभकावस्था ही सर्वश्रेष्ठ अवस्था आहे. ईशगुरुकृपेनेच केवलकुंभकाची सिद्धि होणारी आहे. प्राणायाम सांगत असताना, पूरकानंतर 'हृदिस्थाप्य हनुं' आणि कुंभकानंतर 'पश्चादाकर्षितोदरः' असे सांगितले आहे. पूरकानंतर जालंधरबंध करावा व कुंभकानंतर रेचकाच्या पूर्वी उड्डीयानबंध करावा असे, श्रीमहाराज सुचवीत आहेत. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकारांचीहि संमती पुढीलप्रमाणे आहे -

'पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ।
कुंभकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ (२।४५)'

याचे फल पुढील श्लोकात सांगितले आहे.

'अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ (२।४६)'

या श्लोकात तिसरा मूलबंध दाखविला असून, या तीन बंधांच्या अभ्यासाने प्राणवायू सुषुम्ना नाडीत प्रवेश करतो असे फल सांगितले आहे. या तीनही बंधांचे सविस्तर वर्णन, हठयोगप्रदीपिकेच्या तृतीय उपदेशामध्ये आलेले आहे. पूरक, कुंभक व रेचक यांपैकी पूरक डाव्या नाकपुडीने करून उजव्या नाकपुडीने रेचक करावा असे येथे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. पुनः उजव्या नाकपुडीने पूरक व

डाव्या नाकपुडीने रेचक करावा असा पक्ष हठयोगप्रदीपिकाकारांनी मांडला आहे. पूरक हळूहळू किंवा वेगाने कसाही केला तरी चालेल. रेचक मात्र हळूहळूच केला पाहिजे. जोराने केल्यास शक्तिक्षय होतो. कुंभक मात्र अति प्रयत्नाने करावा याबद्दल -

'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्'

आत घेतलेला वायू, केश, नखे या सर्वांमध्ये पसरेपर्यंत कुंभक अत्यंत प्रयत्नाने कारावा असे हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात. या वरील टीकाकारांचे विवरण असे.

'तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः। यत्नेन कुंभकः क्रियते तथा तस्मिन् गुणाधिक्यं भवेत्। यथा यथाच शिथिलः कुंभकः स्यात्तथा तथा गुणाल्पत्वं स्यात्। अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम्। पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः। वेगादपि कृते पूरके दोषाभवात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेवकर्तव्यः। वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च' [१]

याप्रमाणे प्राणायाम सांगून, तो उत्तम सिद्धी देणारा आहे असे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. तीन महिनेपर्यंत प्राणायामाचा अभ्यास व्यवस्थित झाला असता त्याचे प्राथमिक फल म्हणजे सर्व नाड्यांची शुद्धी होणे हे आहे. तो अभ्यास कसा करावा याची काही कल्पना श्रीमहाराजांनी येथे दिली आहे. प्रातःकाली, मध्यान्हकाली व सायंकाळी असा तीनही वेळ प्राणायामाचा अभ्यास करावा. प्रत्येक वेळी ऐंशी प्राणायाम करावेत. अरुणोदयापासून सूर्योदयानंतर तीन घटकांपर्यंत काल हा प्रातःकाल होय. दिवसाच्या पाचव्या भागांपैकी मधला काल

[१] *त्यासाठी कुंभक अति प्रयत्नपूर्वक करावा. यत्नपूर्व कुंभक केल्याने तो अधिक गुणकारी होतो. कुंभक जेवढा शिथिल होईल तेवढाचा त्याचा गुणही कमी होतो. याविषयी योग्यांचा अनुभव प्रमाण आहे. पूरक हळूंहळूं अथवा वेगानेही करतां येतो. रेचक मात्र हळूंहळूंच केला पाहिजे. कारण रेचक वेगाने केल्यास बलहानी होते. म्हणून रेचक वेगाने न करतां सावकाशच करावा. इत्यादि अनेक प्रकारे ग्रंथकारांनी सांगितले आहे.*

मध्यान्हकाल, आणि सूर्यास्तापूर्वी व नंतर तीन घटका हा संध्याकाल होय. या तीन कालाप्रमाणे मध्यरात्रीही अभ्यास करावा असे हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात.

'प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ।
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत ।। (२११)'
'अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत् त्रिसध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः'

अर्धरात्री प्राणायाम करण्याची शक्ती नसेल तर त्रिकाल करावेत असा शिष्टसंप्रदाय आहे असे टीकाकार सांगतात. प्रत्येक वेळेस ऐंशी याप्रमाणे चार वेळा प्राणायाम केले तर प्रत्येक दिवशी तीनशे वीस (३२०) प्राणायम होतात. तीन वेळा केले तर दोनशे चाळीस (२४०) होतात. म्हणजे तीन महिन्यांत २१,६०० इतके प्राणायामाचे पूर्ण होतात. म्हणजे रोजच्या श्वास संख्येइतके प्राणायाम होतात. प्राणायामाचे एक पुरश्चरणच पूर्ण होते असे म्हणण्यास हरकत नाही. कनिष्ठ, मध्यम व उत्तम असे तीन प्रकार प्राणायामाचे आहेत. बारा मात्रांचा कनिष्ठ, चोवीस मात्रांचा मध्यम व छत्तीस मात्रांचा उत्तम याबद्ल गोरक्षनाथं सांगतात.

'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः।
उत्तमे त्रिगुणा मात्रा प्राणायामे द्विजोतमैः ।।'

मात्राकालाचे वर्ण पुढील श्लोकात स्कंदपुराणामध्ये दिले आहे.

'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम्।
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते।।'

मात्राकालाबद्दल यावल्क्यांचे वचन असे आहे

'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् ।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ।।'

फार सावकाश नाही व फार त्वरेने नाही अशा रीतीने गुढग्यावरून हात फिरवून एक चुटकी वाजवावी. याला लागणारा काल म्हणजे मात्रा असे याज्ञवल्क्यांचे मत दिसते.

'एक श्वासमयी मात्रा प्राणायामे निगद्यते'

असे दुसरे एक स्कंदपुराण वचन आहे. याचे व्याख्यान, योगचिंतामणिकार असे करतात -

'निद्रावशंगतस्य पुंसो यावतत्कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते इति।'

'मनुष्य झोपेत असताना, श्वास बाहेर जाऊन आत येण्यास जितका काल लागतो तो मात्रा काल समजावा.' याप्रमाणे निरनिराळ्या प्रकारांनी मात्राकाल सांगितला आहे. याज्ञवल्क्यांनी दाखविलेला तो उत्तम प्राणायामाचा काल समजावा म्हणजे विरोधाची प्रसक्ती नाही. प्राणवायू ब्रह्मरंध्रात स्थिर होणे हे उत्तम प्रणायामाचे लक्षण हठयोगप्रदीपिकेत पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततोवायुं निबन्धयेत्।।' (२-१२)

प्राणायाम करीत असताना घाम येणे हे कनिष्ठ प्राणायामाचे लक्षण होय. शरीर कापणे हे मध्यम प्राणायामाचे लक्षण आणि ब्रह्मरंध्रात (टाळूमध्ये) प्राण जाऊन राहाणे हे उत्तम प्राणायामाचे लक्षण आहे. प्राणायाम करीत असताना घाम आला तरी तोच घाम चांगले चोळून शरीरात जिरवावा म्हणजे शरीर बळकट व हलके होते. प्राणायामाचा प्राथमिक अभ्यास चालू असताना भोजनामध्ये दूध, तूप असणे आवश्यक आहे. तोच अभ्यास दृढ झाला असता म्हणजे केवलकुंभक सिद्ध झाल्यानंतर मात्र तसा नियम नाही. तीन महिने प्राणायामाचा अभ्यास वर सांगितल्याप्रमाणे केला असता नाडीशुद्धी होते असे श्रीमहाराजांनी तेराव्या श्लोकात सांगितले आहे. नाडीशुद्धी झाल्याची चिन्हे पुढीलप्रमाणे आहेत -

'यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिन्हानि ब्राह्यतः।
कायस्य कृशताकांतिस्तदा जायेत निश्चितम्।।१९।।

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।२०।।'

(हठयोगप्रदीपिका २)

मेद व कफ ज्याच्या शरीरात अधिक आहेत त्याने प्रथम ते दूर करण्याकरिता प्राणायामाभ्यासाच्यापूर्वी षट्कर्माचा अभ्यास करावा. ती षट्कर्मे अशी -

'धौतिर्बस्तिस्तथानेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।।२२।।'

(हठयोगप्रदीपिका २)

वरील षट्कर्मांची माहिती योग्य मार्गदर्शकाकडून करून घ्यावी. या सहा कर्मांचे फलही तेथेच सांगितलेले आहे -

'षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।।२।।'

(हठयोग २।३६)

ही षट्कर्मे अनावश्यक आहेत कारण प्राणायामच सर्व मलांची शुद्धी करण्यास समर्थ आहे असे याज्ञवल्क्यादी आचार्यांचे मत आहे. याला अनुसरूनच येथे श्रीमहाराजांनी षट्क्रिया न सांगता प्राणायामापासूनच आरंभ केला असावा. तेराव्या श्लोकात प्राणायामाबरोबरच भस्त्रा व शक्तिचालन करण्यास श्रीमहाराजांनी सांगितलेले आहे. या दोन्हींचेही स्पष्टीकरण पुढे ग्रंथातच आले आहे. (११-१२- १३)

लीनं सपंचविपलद्विपलं सोऽसुयामकः ।
ब्रह्मरन्ध्रे वर्धमानः प्रत्याहारादयः स तु ।।१४।।

स्वकालद्वादशगुणोत्तरकालावधिः स्मृतः ।
समाधिर्द्वादशदिनसाध्यः परमदुर्लभः ।।१५।।

अर्थ :- ब्रह्मरंध्रात, (टाळूमध्ये) दोन पळे व पाच विपळे (५० सेकंद) इतका कालपर्यंत प्राण लीन झाला (स्थिर झाला) म्हणजे तो उत्तम प्राणायाम समजावा. आणि तोच प्राण तेथे अधिक स्थिर होऊ लागला असता, प्रत्याहारादी पुढील अंगे सिद्ध होतात. आपल्या काळाच्या बारा पट काल, उत्तरांगाचा काळ समजावा. प्राणायामाच्या बारा पट काळ म्हणजे पंचवीस पळे, (१० मिनिटे) इतका काळ प्राण ब्रह्मरंध्रात स्थिर राहू लागला म्हणजे प्रत्याहार सिद्ध झाला असे समजावे. प्रत्याहाराच्या बारा पट म्हणजे पाच घटका काळ (२ तास) धारणेचा समजावा. साठ घटका म्हणजे एक दिवस (चोवीस तास) हा ध्यानाचा काळ समजावा. याच्या बारा पट म्हणजे बारा दिवस, हा समाधीचा काळ समजावा. बारा दिवसांचा साध्य झालेला समाधी फारच दुर्लभ आहे. (१४ - १५)

विवरण :- प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी यांच्या सिद्धीची कालमर्यादा १४ व १५ या दोन श्लोकांतून दाखविली आहे. सर्व योगसाधनांमध्ये प्राणायाम मुख्य आहे. तो सिद्ध झाला तर पुढील प्रत्याहारदिकांची सिद्धी होते नाहीतर होत नाही. वस्तुत: प्राणायामच उत्तरोत्तर वाढत जाऊ लागला म्हणजे तोच प्रत्याहारादि शब्दांनी सांगितला जातो. हेच स्कंदपुराणात पुढील श्लोकांनी सांगितले आहे -

'प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृत: ।
प्रत्याहारद्विषट्केण धारणा परिकीर्तिता ।।

भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्ड यातायातं निवर्तते ।। '

याला अनुसरूनच या दोन श्लोकांत महाराजांनी प्राणायामापासून समाधीपर्यंत सर्व अंगांचा सिद्धिकाल सांगितला आहे. हठयोगप्रदीपिकेच्या द्वितीयोपदेशातील बाराव्या श्लोकाच्या टीकेत ब्रह्मानंदांनी शेवटी स्पष्टीकारण केले आहे -

'बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गत: प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहार:। यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम्। यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम्। '[१]

पण प्राणायामाची सिद्धी होणे आवश्यक आहे. ती होणेकरिता तीन महिनेपर्यंत अभ्यास कसा केला पाहिजे हे मागील श्लोकात सांगितले आहे. जालंधरबंध, उड्डियानबंध व मूलबंध या तीन बंधांनी युक्त असा प्राणायामाचा अभ्यास व्हावा यांपैकी जालंधरबंध व उड्डियानबंधाची सूचना श्रीमहाराजांनी, 'हृदि स्थाप्य हनुं' व 'पश्चादाकर्षितोदर:' या दोन वाक्यांनी केली आहे. तिसरा मूलबंध, हठयोगप्रदीपिकेत अधिक सांगितला आहे. या तीनही बंधांची संक्षिप्त लक्षणे टीकाकारांनी सांगितली आहेत. ती अशी -

(१) कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदिस्थापनं जालधरबंध :,
(२) 'प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंध:,
(३) पार्ष्णिभागेन (गुल्फयोरध: प्रदेश:) योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं (योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं) गुदस्याकुंचनं मूलबंध:[२]

प्रत्येक बंधाचे फल तेथेच दाखविले आहे. मूलबंधाचे वर्णन करीत असताना हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात -

---

[१] *बंधपूर्वक केलेल्या प्राणायामाचा जेव्हा १२५ विपळे स्थिर होतो तेव्हां तो ब्रह्मरंध्रांत प्रवेश करतो. ब्रह्मरंध्रांत गेलेला प्राण जेव्हां २५ विपळांपर्यंत टिकतो तेव्हां प्रत्याहार (होते). जेव्हां (तो प्राण) पांच घटकांपर्यंत (ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ती धारणा. जेव्हां ६० घटका (प्राण ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ते ध्यान. (आणि) बारा दिवसपर्यंत (प्राण ब्रह्मरंध्रांत स्थिर झाला की समाधि असे हे सर्व रमणीय आहे.*

[२] *१) गळा ओढून हनुवटी छातीला टेकवणे हा जालंधरबंध. २) विशेष प्रयत्नांनी बेंबीचा भाग पाठीकडे खेंचणे हा उड्डियाणबंध. ३) टांचेच्या खालच्या भाग योनिस्थानावर (गुद आणि लिंग यांच्यामधली शिवण) जोराने दाबून गुदाचे आकुंचन हा मूलबंध.*

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।।६६।।
ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।।६७।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्तासंप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव नि:श्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंध: कर्तव्यो योगाभि: सदा ।।६९।।[१] (ह. यो. प्र. ३)

या श्लोकावर टीकाकारांनी सविस्तर विवरण केले आहे. ते पहावे. कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन सुषुम्नानाडीत प्रवेश करते असे फल मूलबंधाचे दिले आहे. प्राणायामाभ्यासाचे वेळी तीनही बंधांची आवश्यकता पुढील श्लोकात दाखविली आहे.

'अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:।। ४६।। (ह.यो.प्र. २)

हे तीनही बंध गुरूमुखातून नीट समजून घ्यावेत (१४। १५)

भस्त्रिका

समासीनो यतास्योऽन्त: प्राणं दक्षिणया त्यजेत्।
सारं लगति हृत्कंठकपोलावध्यसौ यथा।। १६।।

लोहकारस्य भस्त्रावच्छक्त्याश्वापूर्य रेचयेत्।
वामां मध्यानामिकाभ्यां धृत्वा जाते श्रमे विधे:।। १७।।

---

[१] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

पीत्वा प्राणं कुम्भयित्वा धृत्वाङ्गुष्ठेन दक्षिणम्।
वामया रेचयेन्मन्दं तथाथ प्राग्वदाचरेत्।। १८।।
द्विनाड्यभ्यासाद्यामार्धं शक्तिर्मार्गं ददात्यरम्।
भस्त्रेयं सर्वदोषघ्नी रूक्पापघ्न्यपि सिद्धिदा।। १९।।

अर्थ :- समस्थितीत ताठ बसून, मुख झाकून, आतला वायू उजव्या नाकपुडीने बाहेर टाकावा म्हणजे रेचक करावा. तो जोराने आवाज होईल असा करावा. हृदय, कंठ व गाल यांच्यापर्यंत तो प्राण जाऊन पोचेल इतक्या जोराने रेचक करावा. डावी नाकपुडी, मध्यमा व अनामिका या दोन बोटांनी दाबून धरून, उजव्या नाकपुडीनेच, लोहाराच्या भात्याप्रमाणे शक्तीप्रमाणे लवकर लवकर वायू आत घेऊन बाहेर सोडावा. येथे फक्त पूरक व रेचकच आहे. कुंभक नाही. असे करीत असता श्रम झाले तर विधीप्रमाणे प्राणवायू आत घेऊन म्हणजे पूरक करून, उजवी नाकपुडी आंगठ्याने दाबून धरून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक सावकाश करावा. नंतर पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक व रेचक सारखे, जलद, जोराने करावेत. याप्रमाणे क्रमाने दोनी नाकपुर्डीनी, अर्धा प्रहरपर्यंत पूरक व रेचक यांचा रोज अभ्यास केला तर त्याने शक्ती शीघ्र मार्ग देते ही सर्व कफादी दोषांचा नाश करणारी, रोग व पाप यांचा नाश करणारी, सिद्धिदायक अशी भस्त्रा नावाची क्रिया आहे. (१६-१७-१८-१९)

विवरण :- या चार श्लोकांत, भस्त्रिका कशी करावी, व तिचे फल काय हे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. कुंभकाचे आठ प्रकार हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले असून त्यांपैकी भस्त्रिका या प्रकाराचे विशेष वर्णन केले आहे. ते श्लोक असे

'सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभका: ।। ४४।।

याप्रमाणे कुंभकाचे आठ प्रकार दाखविले. भस्त्रिकेचे सविस्तर विवेचन पुढील श्लोकातून आले आहे -

'ऊर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।। ५८।।

सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधी: ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।। ५९।।

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ।। ६०।।

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुन: पुन: ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।। ६१।।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।। ६२।।

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।। ६३।।

विधिवत्कुभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।। ६४।।

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थ कफाद्यर्गलनाशनम् ।। ६५।।

सम्यग्गात्रसमुद्भूत ग्रंथित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभंकं त्विदम् ।।६६।।

(हठयोगप्रदीपिका २)

पद्मासन घालून भस्त्रिकेचा अभ्यास करावा असे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे मत आहे याला श्रीमहाराजांचा विरोध दिसत नाही. या अभ्यासाचे वेळी तोंड बंद पाहिजे. उजव्या नाकपुडीने रेचकपूरक सारखे जोराने प्रथम करावेत. असे करीत

असता दमल्यासारखे वाटल्यास उजव्या नाकपुडीने पूरक करून रेचक न करता, उजवी नाकपुडी बंद करून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक प्रथम सावकाश करावा आणि मग पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरक जोरात सुरू करावेत. कुंभकानंतर रेचक करणे असल्यास, तो मात्र सावकाशच केला पाहिजे. लोहाराच्या भात्याप्रमाणे वारा घेण्याचे व सोडण्याचे काम सारखे चालू ठेवावे. हा डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरकाचा अभ्यास चालू असल्यास श्रम वाटल्यास पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक झाल्याबरोबर ती बंद करून कुंभक करावा व उजव्या नाकपुडीने पूर्वीप्रमाणे रेचक पूरक जोराने सारखे सुरू करावेत. हा अभ्यास अर्धा प्रहरपर्यंत तरी करावा असे श्रीमहाराज सांगतात. हा भस्त्रिकाभ्यास एकेका नाकपुडीने क्रमाने करावा यापेक्षा दुसरी पद्धत अशी की -

डावी नाकपुडी बंद करून उजव्या नाकपुडीने प्रथम पूरक करावा. लगेच ती नाकपुडी बंद करून डाव्या नाकपुडीने रेचक करावा. म्हणजे एका नाकपुडीने पूरक व दुसऱ्या नाकपुडीने रेचक असे सारखे जलद करावे. असे शंभर वेळ करून श्रम वाटल्यास, पूरकोत्तर कुंभक करून डावीने सावकाश रेचक करावा आणि नंतर डावीने पूरक व उजवीने रेचक असा अभ्यास सुरू करावा. पूर्वीच्या पद्धतीत अभ्यासाचा आरंभ रेचकापासून असून, रेचक - पूरक दोनीही एकाच नाकपुडीने करावयाचे आहेत आणि दुसऱ्या पद्धतीत, अभ्यासारंभ पूरकापासून असून एकीने पूरक तर लगेच दुसरीने रेचक करावयाचा आहे. या दोन्हीही पद्धती, हठयोगप्रदीपिकेच्या द्वितीयोपदेशातील चौसष्टाव्या श्लोकाच्या टीकेत ब्रम्हानंदांनी दाखविल्या आहेत तो ग्रंथ असा -

भस्त्राकुंभकस्येवं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजा-नामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरका: कार्या:। श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांऽगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत्। पश्चादिडच्या रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य

वामनासिकापुटेन भस्त्रावइझटिति रेचकपूरका: कर्तव्या:। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीति:।

वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणानासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) झटित्यगुंष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बंधपूर्वकं (कुंभकं) कृत्वा इडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद् भस्त्रावत्। पुन: पुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) अनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीति:।'

या भस्त्रिकेच्या दोन पद्धतींपैकी पहिली पद्धती श्रीमहाराजांनी येथे सांगितली आहे. ही भस्त्रिका सुप्त कुंडलिनी शक्तीला जागृत करणारी असून, सुषुम्नानाडीतील वायूच्या गतीला प्रतिबंधक असणारे कफादिदोष नष्ट करणारी आहे. 'शक्तिर्मार्गददात्यरं' 'सर्वदोषघ्नी' या पदांनी, श्रीमहाराजांनी हेच सुचविले आहे. भस्त्रिकाकुंभक, त्रिदोषहर असून तो सर्वदा हितकर आहे असे टीकाकार सांगतात.

'सर्वेषां कुंभकांना सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ। सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हितौ। भस्त्राकुंभक: समशीतोष्ण: सर्वदा हित:। सर्वेषां कुंभकाना सर्वरोगहरत्वेऽपि, सूर्यभेदेनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महर: । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्य: कुंभक: त्रिदोषहर इतिबोध्यम् ।'[१]

[१] *सर्वच कुंभक सर्वकाळ हितकर असले तरी सूर्यभेदन आणि उज्जायी हे उष्ण असून बहुधा शीतकाळांत हितकर असतात. तसेच सीत्कारी आणि शीतली हे शीतल असल्याने उष्णकाळांत हितकर असतात. भस्त्रा कुंभक मात्र सर्वकाळीं हितकर असतो. सर्वच कुंभक सर्वच रोग दूर करतात. तरी पण सूर्यभेदन मुख्यतः वातहारक आहे. उज्जायी मुख्यतः कफहारक व सीत्कारी शीतली मुख्यतः पित्तहारक आहेत. भस्त्रा कुंभक मात्र तीनही दोषांचा निवारक आहे हे ध्यानांत ठेवावे.*

याप्रमाणे भस्त्राकुंभक विशेष महत्त्वाचा असल्याने तो अवश्य नेहमी करावा. बाकीचे कुंभक यथासंभव करावेत असे ब्रह्मानंद लिहितात

'अतएव इदं भस्त्रा इत्याख्यायस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः। सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः'

म्हणून भस्त्रिकेचाच अभ्यास येथे श्रीमहाराजांनी सांगितला आहे.

(१६-१७-१८-१९)

शक्तिचालन

शिश्ननाभ्यन्तःस्थकंदं सति वज्रासने पदौ ।
धृत्वा दृढं प्रपीड्यारं भस्त्रां सिद्धासनास्थितः ।। २०।।

समाकुंचितनाभिर्द्राक्कुर्याच्छक्तिश्चलत्यतः ।
यामार्धाभ्यासतो धैर्यान्मध्यनाड्यां समुद्गता।। २१।।

ऊर्ध्वाकृष्टा भवत्किंचिच्छक्तिर्नाडीमुखं त्यजेत् ।
ततः स्वतो व्रजत्यूर्ध्वं प्राणोऽतस्तां विचालयेत ।। २२।।

चालनात्सर्वसिद्धयप्निर्मडलाद्योगिनो न तु ।
रूग्भ्यो भयं यमाच्चापि नेतोऽन्यन्नाडिशोधनम् ।। २३।।

अर्थ :- वज्रासन घालून आपले दोनी पाय हातांनी धरून; पायांच्या टाचानी शिश्न व नाभि यांच्यामध्ये नऊ अंगुले असणाऱ्या कंदावर ताडन करावे. नंतर सिद्धासनावर बसून गुरूपासून समजून घेतलेल्या परिधान युक्तीने नाभीचे आकुंचन करून लवकर लवकर भस्त्रिका करावी. यामुळे शक्ती चलित होते. असाच धैर्याने अर्धा प्रहरपर्यंत अभ्यास केल्याने सुषुम्नानाडीमध्ये सावध झालेली शक्ती किंचित् वर आकृष्ट होते व सुषुम्नानाडीचे मुख सोडून देते. नंतर मार्ग मोकळा झाल्यामुळे प्राणवायू आपोआप वर ब्रह्मरंध्राकडे जाऊ लागतो. म्हणून त्या शक्तीचे चालन करावे. या शक्तीचालनाभ्यासाने योगी पुरुषाला सर्व सिद्धींची

प्राप्ती चाळीस दिवसांत होते. रोगांचे व यमाचेही भय राहात नाही. या शक्तिचालनाशिवाय दुसरे नाडी शुद्धीचे साधन नाही. (२०-२१-२२-२३)

विवरण :- या चार श्लोकांमध्ये शक्तिचालन नावाच्या मुद्रेचे विवेचन श्रीमहाराजांनी केले आहे. हठयोगामध्ये एकंदर दहा मुद्रा सांगितल्या आहेत त्या अशा आहेत -

'महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिध: ॥ ६॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७॥

(हठयोगप्रदीपिका ३/६-७)

१) महामुद्रा, २) महाबन्ध, ३) महावेध, ४) खेचरी, ५) उड्डयानबंध, ६) मूलबंध, ७) जालंधरबंध, ८) विपरीतकरणी, ९) वज्रोली, १०) शक्तिचालन

अशा दहा मुद्रा योगशास्त्रामध्ये दाखविल्या आहेत. यापैकी जालंधरबंध, उड्डयानबंध, खेचरी, विपरीतकरणी, वज्रोली व शक्तिचालन या सहा मुद्रांचा उल्लेख योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केलेला आहे. त्यातही, शक्तिचालनमुद्रेचे विवेचन या चार श्लोकात सुस्पष्ट केले आहे.

शक्ती म्हणजे कुंडलिनी. तिचे चालन करणे म्हणजे तिला हालविणे, जागे करणे असा सामान्यत: शक्तिचालन शब्दाचा अर्थ आहे. कुंडलिनीची सात नावे पुढीलप्रमाणे आहेत.

'कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शद्वा: पर्यायवाचका: ॥ १०४॥'(ह. यो. प्र. ३)

योगासंबंधी असणाऱ्या शास्त्रामध्ये कुंडलिनी ही सापाप्रमाणे ३॥ वेटोळे घालून, शेपूट मुखात घेऊन, मूलाधारात म्हणजे गुदाच्यावर दोन बोटे या

स्थानात सुषुम्नारूप ब्रह्माचे द्वार अडवून निजली आहे, असे वर्णन केलेले आढळते. पायाच्या तळव्यापासून मस्तकावरील केसापर्यंत आपल्या हाताच्या बोटांनी ९६ बोटे इतके प्रमाण शरीराचे आहे. शरीराच्या बरोबर मध्यभागी ४८ बोटांवर कुंडलिनीचे निवासस्थान आहे. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकार स्पष्टीकरण करतात -

'कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७॥'

(ह. यो. प्र. ३)

कंदाच्यावर कुंडलिनी शक्ती निजलेली आहे. तिचे चालन करण्याकरिता कंद ताडन करावे असे 'शिश्नाभ्यंतस्थकंदं प्रपीड्य' या वाक्याने श्रीमहाराज येथे सुचवीत आहेत. कंद म्हणजे काय ते पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबर लक्षणम्॥ ११३॥'

(ह.यो.प्र.३)

गुदस्थानापासून वर एक वीतभर म्हणजे बारा बोटे, या मापाचे, ज्याची लांबी रुंदी चार बोटे आहे असे, मऊ, शुभ्र, एखाद्या कमलांतरी गुंडाळलेल्या वस्त्रासारखे हे कंदाचे स्वरूप आहे असे योगी लोकांनी वर्णन केले आहे.

श्रीमहाराजांनी टीकेमध्ये, 'शिश्ननाभ्यंतःस्थं नवांगुलकंदं' असे सांगितले आहे. याचा अभिप्राय असा आहे की -

गुदापासून दोन बोटे सोडून एक बोट मापाचे शरीराचे मध्यस्थान आहे. त्या मध्यस्थानापासून नऊ अंगुले कंदस्वरूप आहे. म्हणजे गुदापासून ते बारा अंगुले म्हणजे वीतभर आहे असे हठयोगप्रदीपिकाकारांना म्हणावयाचे आहे म्हणजे काही विरोध नाही. याबद्दल याज्ञवल्क्य असे सांगतात -

'गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेंद्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्।।

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलं।
चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम्।।

अंडाकृतिवदाकार भूषितं च त्वगादिभिः।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्।।'[१]

श्रीगोरक्षनाथही कंदाचे विवेचन पुढील श्लोकात करतात-

'ऊर्ध्वं मेंद्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः।।'[२]

याप्रमाणे कंदस्थानामध्ये राहाणारी कुंडलिनी शक्ती, कंदताडनाने जागृत होऊन सुषुम्ना नाडीतून वर जाऊ लागते. त्यामुळे प्राणही ब्रह्मारंध्राकडे जाऊ लागतो आणि पुढे क्रमाने तो ब्रह्मरंध्रात स्थिर झाला असता, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादी पुढील अंगाची सिद्धी होते. इतकेच नाही तर, या शक्तिचालनाच्या अभ्यासाने, चाळीस दिवसात सर्व सिद्धीचा लाभ होतो, नाडी शुद्धी होते, इत्यादी फल याचे सांगितले आहे. या अभ्यासाचा प्रकार सर्व योग्य गुरूकडूनच समजून येईल. (२०-२१-२२-२३)

---

[१] *गुदाच्या दोन अंगुळे वर आणि लिंगाच्या दोन अंगुळे खाली देहाच्या मधोमध मानवांच्या शरीराचा मध्यबिंदु (तंत्रग्रंथांत) सांगितला आहे. मनुष्यांच्या कंदाचे ठिकाण ह्या देहाच्या मध्यबिंदूपासून नऊ अंगुळे वर चार अंगुळे लांब आणि तेवढेच रुंद आहे. त्याचा आकार अंडाकृतीप्रमाणे असून त्याच्यावर त्वचादींनी ते सजवलेले आहे. चतुष्पाद, पक्षी इत्यादि तिर्यक् प्राण्यांत ते उदराच्या मध्यावर असते.*

[२] *लिंगाच्या वर आणि बेंबीच्या खाली पक्ष्याच्या अंडाच्या आकाराची कंद नांवाची योनि आहे तिथून (शरीरांतील) बाहत्तर हजार नाड्या उगम पावतात.*

खेचरी मुद्रा

चालितायामपि प्राणो बद्धा चेद्रसना सुखम् ।
वज्रत्यूर्ध्वं सिद्धिपूर्वं राजयोगपदप्रदः ॥ २४॥

अर्थ :- कुंडलिनी शक्तीची हालचाल सुरू झाली असता, जिव्हा जर एका विशिष्ठ ठिकाणी ठेवली तर प्राणवायू , सुखाने वर ब्रह्मरंध्राकडे जातो व तो आणिमादिसिद्धी देऊन राजयोगाचीही भूमिका देतो (२४)

जिव्हां मूलशिरां छित्वा रोममात्रं प्रघर्षयेत् ।
पथ्यासैंधवचूर्णैर्गां प्राग्वत्सप्तदिनैर्मुहुः ॥ २५॥
षण्मासादिति जिव्हाधः शिराबंधो विनश्यति ।
मुद्रा स्यात्खेचरी त्र्यध्वे योजितावाङ्मुखीकला ॥ २७॥

अर्थ :- जिभेच्या खाली असणारी शीर, एक केसभर छेदाची आणि हिरडा व सैंधव यांचे चूर्ण तेथे चोळावे. याप्रमाणे सात दिवसांनी पुन: पूर्वीप्रमाणे छेदन वगैरे करावे. असे सहा महिनेपर्यंत केले असता, जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचे बंधन नष्ट होते. नंतर तीन नाड्यांच्या मार्गात पडजिभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रामध्ये, वर अग्र करून ती जीभ घातली असता, खेचरी मुद्रा सिद्ध होते. (२५ - २६)

विवरण :- वरील श्लोकामध्ये खेचरी मुद्रेचे महत्त्व प्रतिपादन केले आहे. खेचरीचे लक्षण हठयोगप्रदीपिकाकार असे करतात.

'कपालकुहरे जिव्हा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥' (३।३२)

पडजिभेपासून वर मस्तकापर्यंत असणाऱ्या छिद्रामध्ये जीभ घालून, दृष्टी भ्रुमध्यावर ठेवून बसणे म्हणजे खेचरी मुद्रा होय. टीकाकारांचे स्पष्टीकरण असेच आहे -

'कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीतिलक्षणं सिद्धम् ।'

याकरिता जीभ बरीच लांब करावी लागते. तो अभ्यास २५ व २६ या श्लोकांमध्ये सुचविला आहे. जीभ किती लांब झाली पाहिजे व त्याकरिता कोणते उपाय रोज केले पाहिजेत ते हठयोगप्रदीपिकाकारांनी पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद् भ्रुमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥' (३।३३)

जीभ तोंडाबाहेर काढली असता ती वर भुवयांच्या मध्यापर्यंत जाऊन पोचली पाहिजे इतकी लांबी जिभेची झाली पाहिजे. त्याकरिता छेदन, चालन व दोहन असा तीन प्रकारचा अभ्यास सहा महिनेपर्यंत करण्यास सांगितले आहे. जिभेच्या खाली जी शीर आहे ती तोडली असता हळूहळू जिभेची वाढ करता येते. त्याकरिता छेदन हा पहिला उपाय. तो सुद्धा एकदम न करता पहिले दिवशी, निवडुंगाच्या पानाप्रमाणे अत्यंत तीक्ष्ण सूक्ष्म शस्त्राने केसभरच ती शीर कापून हिरडा व सैंधव यांच्या वस्त्रगाळ केलेल्या चूर्णाने त्या कापलेल्या जागी चोळावे. याप्रमाणे सात दिवस करावे. नंतर आठवे दिवशी आणखी केसभर ती शीर जिभेच्या खालची कापावी व हिरडा-सैंधव यांच्या चूर्णाने ती जागा चोळावी. याप्रमाणे छेदन व घर्षण हा अभ्यास चालू असतानाच, चालन व दोहन हेही उपाय चालू ठेवावेत. चालन म्हणजे -- दोन्ही हातांचे अंगठे व तर्जनीत जीभ धरून, ती बाहेर उजव्या व डाव्या बाजूने हळूहळू खेचणे. तसेच दोहन म्हणजे - दोनी हातांच्या आंगठ्यात व तर्जनीत जीभ धरून ती धार काढतात त्याप्रमाणे सारखी तोंडाबाहेर खाली खाली ओढणे. याप्रमाणे, छेदन, चालन, दोहन हा अभ्यास रोज चालू केला असता जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचा बंध तुटून जीभ लांब होते. नंतर ती तोंडाच्या आतच पाठीमागे वळवून पडजीभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रातून ती लांब झालेली जीभ, आतून भुवईपर्यंत घालून बसणे म्हणजे खेचरी

मुद्रा होते. इडा, पिंगला व सुषुम्णा या तीन नाड्या पडजीभेच्या वरच्या छिद्रातून वर जातात. त्या मार्गाने जीभेचे अग्र मस्तकापर्यंत नेऊन बसणे. याबद्दलचे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे श्लोक असे आहेत.

'स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥

तत:सैंधव-पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुन: सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३५॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तं समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंध: प्रणश्यति ॥३६॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमापि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि: ॥३८॥ (तृतीयोपदेश)

हा सर्व विषय श्रीमहाराजांनी २४ ते २६ या तीन श्लोकातून व त्यांच्या टीकेतून चर्चिलेला आहे. छेदन, चालन व दोहन याबद्दल टीकाकार ब्रह्मानंदाचे स्पष्टीकरण असे आहे -

'एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्र छेदनं, सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं युक्त: सन् समाचरेत्'।

'चालनं, हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यत: परिवर्तनं। दोह: करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं। तै: कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् तावत्। कियत्, यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्या: सिद्धि:।' (२४ - २५ - २६)

सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे कदापि स्पृशन्ति नो।
विषार्तिरुग्जराक्षुत्तृण्निद्रातंद्रामृतिक्रियाः।। २७।।

स्त्र्याश्लेषितस्यापि बिंदुर्न क्षरत्यूर्ध्वमेति सः।
चलितश्चेद्योनिमुद्राबद्धो मुक्तः स भोग्यपि।। २८।।

अर्थ :- याची जिव्हा मनासह आतील आकाशात संचार करते. याला विषाची बाधा, रोग, म्हातारपण, भूक, तहान, झोप, ग्लानी, मृत्यू इत्यादिकांचा केव्हाही स्पर्श होत नाही. (२७)

स्त्रीने आलिंगन दिले असताही याचे वीर्य चलित होत नाही. ते वरच जाते. कदाचित् चलित झाल्यास वज्रोली मुद्रेने प्रतिबद्ध होऊन वर जाते. खाली येत नाही. असा हा भोगी असूनही मुक्त आहे. (२८)

विवरण :- वरीलप्रमाणे सहा महिनेपर्यंत व्यवस्थित अभ्यास होऊन खेचरी मुद्रा सिद्ध झाली असता तिचे फल या दोन श्लोकांत दाखविले आहे. या मुद्रेला खेचरी असे नाव का दिले याचे उत्तर, सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे' या वाक्याने श्रीमहाराजांनी दिले आहे. अन्तर्मुख झालेले मन व जिव्हा ही दोनीही भ्रूमध्यातील आकाशात, आज्ञाचक्रात स्थिर होऊन राहातात. त्यामुळे या पुरुषाला कोणत्याही विषाची बाधा होत नाही. भूक, तहान, झोप व मृत्यू यांचाही संबंध सुटतो. इतकेच नव्हे तर, हा खेचरी सिद्ध झालेला पुरुष ऊर्ध्वरेता होतो. याचे वीर्यस्खलन कधीही होत नाही. वीर्य सतत ऊर्ध्वगामी बनते. हाच विषय हठयोगप्रदीपिकेत पुढील श्लोकातून वर्णिलेला आहे -

'चित्तं चरति खे यस्माज्जिव्हा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।। ४१।।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च।। ४२।।

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥ ४३॥

(हठयोगप्रदीपिका तृतीयोपदेश)

प्रपंचात व परमार्थात विशेष उन्नती होण्याकरिता ब्रह्मचर्याची आवश्यकता आहे याबद्दल विचारी पुरुषांचे दुमत नाही. वीर्याचे रक्षण करणे म्हणजेच ब्रह्मचर्य होय. पण वीर्याचे रक्षण कोणत्या प्रकाराने होते याचे ज्ञान फारच थोड्या लोकांना आहे. बहुतेक डॉक्टर लोक असे सांगतात की, वीर्यरक्षण करण्याकरिता कामाचा वेग रोखला गेला तर नाना प्रकारचे रोग होणेचा संभव आहे. या त्यांच्या सांगण्याचा अर्थ असा आहे की, वीर्य तयार झाल्यानंतर त्याची बाहेर पडण्याची प्रवृत्ति असते. तो वेग रोख णे हानिकारक आहे. पण अत्यंत विषयासक्तीमुळे अस्वाभाविक रीतीने अनावश्यक परिमाणात वीर्य बनवून ते नष्ट करण्याने तर फारच मोठी हानी आहे. अशा मनुष्याला क्षयासारखे भयंकर रोग उद्भवतात. ही गोष्ट निश्चित आहे की अत्यंत विषयासक्तीत सापडल्याने अस्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून ते नष्ट होऊ लागले तर शरीर धारण करणाऱ्या धातूवरच तो कुऱ्हाडीचा आघात होत आहे. पण स्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून जर त्याचे रक्षण होऊ शकेल तर ब्रह्मचर्य पालनाचा पूर्ण लाभ होऊ शकतो. डॉक्टरांच्या मतानुसार वीर्याची उत्पत्ती अशी होते - पुरुषाला जेव्हा कामाचा वेग उत्पन्न होतो तेव्हा त्याचे रक्त वेगाने अंडकोशातील ग्रंथीकडे येऊ लागते. त्या ग्रंथीतून निघणाऱ्या एका विशिष्ट रसाचे संमिश्रण त्या रक्तात झाले असता रक्ताचे, लाल रंगाचे कीटाणू वीर्याच्या श्वेत कीटाणू रूपाने परिणाम पावतात. या कीटाणूंमध्ये जननशक्ती असते. हे जर बाहेर टाकले तर काही हानी नाही. त्यांचे कार्य, बाहेर पडून स्त्रीच्या गर्भाशयात गर्भस्थिति करणे हेच आहे. हे जर रोखले जातील तर स्वप्नदोष व प्रमेहादी रोग होण्याचा संभव आहे. अशी स्थिति असल्यामुळे ब्रह्मचर्यपालनाचे काय तात्पर्य आहे, ही गोष्ट विचारणीय ठरेल असे डॉक्टर लोकांचे मत आहे.

आमच्या महर्षींचे सांगणे असे आहे की, वीर्य म्हणजे प्राणशक्तीच असल्याने ते नष्ट होण्याने प्राणशक्तीचाच ऱ्हास होणारा आहे. अपानशक्तीचे उत्थान झाल्यानंतर उदानरूपी अग्नीच्या संयोगाने वीर्याची प्राणशक्ती उर्ध्वगामिनी होते. अशा योगी पुरूषाचे वीर्य स्खलित होत नाही आणि मैथुनसमयी स्खलित झाले तरी त्याचे ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट होत नाही. वज्रोलिमुद्रा म्हणून योग शास्त्रामध्ये एक मुद्रा आहे. या मुद्रेची सिद्धी अभ्यासाने, त्या योग्याने मिळविली असल्याने, स्वप्नदोषामुळे इंद्रियात उतरलेले किंवा मैथुनसमयी बाहेर पडलेलेही वीर्य तो योगी पुन: वर खेचू शकतो. ते वीर्य पुन: वर चढू लागते. पण ते वीर्याशयात किंवा मूत्राशयात पुन: प्रवेश करीत नाही, तर उदानशक्तीच्या उष्णतेने योनिस्थानातील रुधिरात मिळून जाते. आणि त्यामुळे प्राण, वेगाने सुषुम्ना नाडीतून ऊर्ध्वगामी होत राहतो. योगी लोक, या प्रक्रियेला रजवीर्याचा योग मानतात. याबद्दल प्रमाण असे -

'योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ।
रजो वसति जंतूनां देवीतत्त्वं समाहितम् ॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृत: ।'

(योगशिखोपनिषत्)

याचा अर्थ :- प्रत्येक जीवाच्या शरीरात योनिस्थानरूप महाक्षेत्रामध्ये, जास्वंदीच्या फुलासारख्या रंगाचे रज असते. याला देवीतत्व म्हणतात. त्या रजाचा व वीर्याचा संयोग झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. गुद व उपस्थ या दोघांच्यामध्ये, शिवणीच्यावर त्रिकोणाकृति असे एक मृदू स्थान आहे, यालाच योनिस्थान म्हणतात. त्याठिकाणी वीर्य चढले असता उष्णता उत्पन्न होते. जी वीर्य आणि रज यांचा योग करणाऱ्या रासायनिक क्रियेची सूचक होते. याबद्दल आणखीही प्रमाण असे -

'गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ।
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ।।
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।'
(योगचूडामणि उपनिषत्, ध्यानबिन्दु उपनिषत्)

याचा अर्थ :- गलित झालेले वीर्य जेव्हा योनिस्थानामध्ये नेले जाते तेव्हा ते अग्निमध्ये पडून दग्ध होऊ लागले असता, ते वज्रोलीमुद्रेच्या अभ्यासाने वर खेचून घेतले जाते. त्या बिंदूमध्ये दोन प्रकार आहेत. एक श्वेत दुसरा रक्त. श्वेत बिंदूला वीर्य म्हणतात, लाल बिंदूला रज म्हणतात. पोवळ्यासारखा रंग असलेले रज योनिस्थानात राहाते. वीर्य वीर्याशयरूपी चंद्रस्थानात वीर्य राहाते. या दोघांचे ऐक्य होणे फार दुर्लभ आहे. असे ऊर्ध्वरेते योगी पुरूष गृहस्थातही असू शकतात. वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास इत्यादि उदाहरणे प्रसिद्ध आहेत. याप्रमाणे खेचरी व वज्रोली दोनही मुद्रांचे महत्व श्रीमहाराजांनी या श्लोकातून सुचविले आहे. कुंडलिनी जागृत झाल्यावाचून मात्र या दोनही मुद्रांची सिद्धी होऊ शकत नाही. (२७-२८)

विपरीतकरणी

सुधान्तःस्रवतीन्दोस्तां ग्रसत्यर्कस्ततो जरा।
अधःशीर्षोर्ध्वपत्तिष्ठेद्वह्वाहारः शनैः शनैः।। २९।।

याममात्रं ततः सिद्धिर्व्यस्तेयं करणीष्टदा।
वलीपलितवेपघ्नी मृत्युहर्त्री सुधाप्रदा।। ३०।।

अर्थ :- टाळूपासून आत अमृतस्राव होत असतो ते अमृत जठराग्नीमध्ये पडून भस्म होते. त्यामुळे म्हातारपण येते. म्हणून खाली मस्तक आणि वर पाय करून रहावे. हळूहळू एक प्रहरपर्यंत अशा स्थितीत राहता आले म्हणजे सिद्धी प्राप्त होते. यामुळे आहार हळूहळू अधिक वाढतो. या स्थितीला विपरीत - करणी असे म्हणतात. अंगावर सुरकुत्या पडणे, अकाली केस पांढरे होणे, शरीर कापणे इत्यादि दोष दूर करणारी, अमृत देणारी मृत्यूला दूर सारणारी अशी ही विपरीतकरणी आहे. (२९-३०)

विवरण :- दहा मुद्रांपैकी विपरीतकरणी नावाची मुद्रा व तिचे फल या दोन श्लोकांमध्ये श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे - माणसाला म्हातारपण का येते याबद्दल योगशास्त्रकारांचे असे म्हणणे आहे की - टाळूच्या मूल भागात असणाऱ्या चंद्रापासून अमृतस्राव होत असतो. अमृत खाली पडते, ते नाभीस्थानात असणारा अग्निस्वरूप सूर्य तो भक्षण करतो. त्यामुळे शरीराला म्हातारपण येते. हा विषय पुढील श्लोकात आलेला आहे -

'यत्किंचिद् ग्रसते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सुर्यस्तेन पिंडो जरायुत:।।' (ह.यो.प्र.३। ७७)

याबद्दल टीकाकारांनी गोरक्षनाथांचेही प्रमाण दिले आहे.

'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मक: ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूलेच चन्द्रमा:।।
वर्षत्यधोमुखश्चद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रवि: ।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ।।'

हे अमृत खाली पडू नये याकरिता खेचरीमुद्रा सांगितली, तशीच ही विपरीतकरणी मुद्राही सांगितली आहे. ते अमृत खाली पडू नये याकरिता पाय वर व मस्तकाचा भाग खाली करून राहाणे ही विपरीतकरणी येथे श्रीमहाराजांनी सांगितली आहे. म्हणजे नाभिपासून पायापर्यंतचा भाग वर गेल्यामुळे तो सूर्य वर

झाला व अमृतस्रावी चंद्र खाली आला. त्यामुळे आता ते अमृत सूर्यरूपी अग्नीत न पडता तसेच शरीरात राहू शकते. याचा अभ्यास कसा करावा हे पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध:शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।। ७९।।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्य: साधकस्य च ।। ८०।।

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अध:शिरश्चोर्ध्वपाद: क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।। ८१।।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। ८२।।

(ह. यो. प्र. ३)

अभ्यासाचा प्रकार टीकाकारांनी पुढीलप्रमाणे स्पष्ट दाखविला आहे - 'कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्यबाहुमूलादारभ्य कूर्मरपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां, स्कंधाभ्यां, गलपृष्ठभागशिर: पृष्ठभागाभ्यांच भूमिमवष्टभ्याध:शिरो भवेत्। ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपाद: प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् । दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिन वृद्धया अभ्यसेत्।'

प्रथम उताणे पडून दोनी हातांनी कंबर धरून तो कंबरेपासून खालचा पायापर्यंत असलेला भाग वर उचलावा. याप्रमाणे संपूर्ण शरीर हळूहळू हाताच्या कोपरांनी, नंतर खांद्यांनी धरून कंठाचा व मस्तकाचा मागील भाग भूमीवर टेकून बाकी सर्व शरीर वर करून पहिल्या दिवशी एक क्षणभरच रहावे. असा अभ्यास दुसरे दिवशी, तिसरे दिवशी क्षणाक्षणांनी वाढवावा. याप्रमाणे एक प्रहर अशा स्थितीत राहाता आले म्हणजे विपरीतकरणी सिद्ध झाली. जरा व मृत्यूला जिंकणारी

ही आहे. पण हा अभ्यास करणाऱ्याचा जठराग्नी फार वाढत असल्याने, या साधकाला आहार मात्र अधिक घ्यावा लागतो नाहीतर तो अग्नी शरीराचा नाश करेल. हा सर्व विषय २९ व ३० या श्लोकात श्रीमहाराजांनी मांडलेला आहे, (२९ - ३०)

योगसिद्धी

स्वास्येऽग्नौ दीप्तेंऽगसादे नाडीशुद्धावनामये।
नादस्फुटत्वे सुदृष्ट्या: सिद्धिर्बिंदौ जिते सति।।३१।।

अर्थ :- वीर्य स्थिर झाले असता, मुख उत्तम कांतियुक्त होणे, जठराग्नी प्रदीप्त होणे, शरीर कृश होणे, नाडीशुद्धी होणे, रोगराहित्य, नाद स्पष्ट होणे, इत्यादी फले प्राप्त होऊन दृष्टीही उत्तम होते. (३१)

विवरण :- वरीलप्रमाणे, खेचरी, वज्रोली इत्यादी अभ्यासाने वीर्य स्थैर्य झाल्याचे फल या श्लोकात सांगितले आहे. मुख्य नाडीशुद्धी हे फल महत्त्वाचे आहे. नाडीशुद्धी झाल्याची चिन्हे, हठयोगप्रदीपिकाकारांनी पुढीलप्रमाणे दाखविली आहेत -

'यदा तु नाडीशुद्धि: स्यात्तदा चिन्हानि बाह्यत:।
कायस्य कृशतां कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ।। १९।।

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ।। २०।।

(द्वितीयोपदेश)

सर्व नाड्या मलरहित झाल्या असता वरील सर्व फले दिसू लागतात. यांपैकी शरीर कृश व तेजस्वी होणे हे बाहेर दिसणारे चिन्ह आहे. जठराग्नी प्रदीप्त होणे, इच्छेप्रमाणे कुंभक होणे, अनाहतध्वनि अभिव्यक्त होणे ही फले फार महत्त्वाची आहेत.

योगमार्गातील विघ्ने

विविधा उपसर्गा: प्राक्संभवंत्यत्र योगिन: ।
सद्गुरोर्दृढभक्त्या ते प्रणश्यंति न चान्यथा ।। ३२।।

अर्थ :- योगाभ्यासी पुरुषाला प्रथम नाना प्रकारची विघ्ने उत्पन्न होतात. पण ती सर्व सद्गुरूंच्या दृढ भक्तीने नाश पावतात. याशिवाय दुसरा उपाय नाही. (३२)

विवरण :- सद्गुरूंची दृढभक्तीच, निर्विघ्न योगसिद्धी करणारी आहे असे या श्लोकात सांगितले आहे. योगाभ्यासात फार विघ्ने येतात त्यासंबंधी विवेचन ब्रह्मानंदांनी एका ठिकाणी पुढीलप्रमाणे केले आहे -

'एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहव: समायान्ति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेपि प्रदर्श्यन्ते । दत्तात्रेय: -

'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते।
पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठीच तृतीयो मंत्र।।
चतुर्थों धातुवाद: स्यादिति योगविदो विदु:।। ' इति।
मार्कंडेयपुराणे -

'उपसर्गा: प्रवर्तन्ते दृष्टे ह्यात्मनि योगिन:
ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे।।

काम्या: क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति।
स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ।।

देवत्वममरेशत्वं रसायनवचय:क्रियाम् ।
मरूत्प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा।।

श्राद्धानां सर्वदानानां फलानि नियमास्तथा।
तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि।।

अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति।
विघ्नमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत्।।
ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते।।' इति।[१]

याशिवाय योगशास्त्रातही अनेक अंतराय दाखविले असून ते सर्व ईश-गुरुप्रसादानेच दूर होतात असे सांगितले आहे. (३२)

कारणं कर्मारुरुक्षोर्योगिनो योगमुत्तमं।
शमः कारणमस्याग्रे योगारूढस्य योगिनः।। ३३।।

अर्थ :- उत्तम योगभूमिकेवर चढून जाण्याची इच्छा असणाऱ्यास कर्म हेच उपयोगी पडणारे आहे. आणि पुढे, योगारूढ झालेल्या योग्याला, शम - कर्मत्याग, हेच उपयुक्त ठरणारे आहे. (३३)

विवरण :- योगाचा साधक व योगसिद्ध या दोघांचे कर्तव्य या श्लोकात दाखविले आहे. अशाच अर्थांचा भगवद्गीतेतील सहाव्या अध्यायात तिसरा श्लोक आहे. त्यावरील श्रीशंकराचार्यांचे भाष्य असे आहे.

---

[१] *(दत्तप्रभू अलर्काला सांगतात.) आत्मसाक्षात्कारच्या वेळीं योगी पुरुषाच्या समोर जी विघ्ने प्रकट होतात ती संक्षेपाने सांगतो. त्याला मानवी भोगांची कामना होते आणि तो काम्य कर्मांचे अनुष्ठान करूं लागतो. दानाची उत्तमोत्तम फळे, स्त्री विद्या, इन्द्रजालादि माया, सोने, चांदी, धन तसेच स्वर्गीय वैभव, देवत्व, इंद्रपद, रसायने इत्यादींच्या क्रिया, हवेत उडण्याची शक्ति, यज्ञ, जल आणि अग्नीत प्रवेश करण्याचे सामर्थ्य; श्राद्ध, विविध दाने, नियम, व्रत, इष्ट, पूर्त, देवांची उपासना या सर्वांची फळे त्याला हवीशी वाटूं लागतात. अशा प्रकारची विघ्ने आली असतां प्रयत्नपूर्व त्यांचे निवारण केले पाहिजे. ब्रह्मचिंतनात मन लावले की ही विघ्ने दूर होतात.*

'ध्यानयोगस्य फलनिरपेक्षः कर्मयोगोबहिरंगं साधनमिति तं संन्यासत्वेन स्तुत्वाऽधुनाकर्मयोगस्य ध्यानयोगसाधनत्वं दर्शयति आरुरुक्षोरारोढुमिच्छतोऽनारूढस्य ध्यानयोगेऽवस्थातुमशक्तस्यैवेत्यर्थः। कस्यारुरुक्षोर्मुनेः कर्मफलसंन्यासिन इत्यर्थः। किमारुरुक्षोर्योगं, कर्म कारणं साधनमुच्यते। योगारूढस्य पुनस्तस्यैव, शम उपशमःसर्व कर्मभ्यो निवृत्तिः कारणं योगारूढत्वस्य साधनमुच्यत इत्यर्थः। यावद्यावत्कर्मभ्य उपरमते तावत्तावन्निरायासस्य जितेंद्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटिति योगारूढो भवति। तथा चोक्तं व्यासेन -[१]

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति चित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दंडनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः।। इति।

योग शब्दाचा अर्थ चित्तसमाधान असा भगवान् शंकराचार्य करतात. 'परो हि योगो मनसः समाधिः' असे भगवान् श्रीकृष्ण सांगतात. मन अखंडित एकाच ठिकाणी स्थिर राहाणे यालाच ध्यानयोग असेही श्रीमदाचार्यांनी भगवद्गीतेच्या सहाव्या अध्यायाच्या आरंभी म्हटले आहे. हा ध्यानयोग ब्रह्मज्ञानाचे अंतरंग साधन आहे. आणि कर्मयोग हा ध्यानयोगाचा व तद्द्वारा ज्ञानयोगाचे बहिरंग साधन आहे. योगाभ्यास करू इच्छिणाऱ्याने कर्म अवश्य केले पाहिजे. कर्मयोगाने निर्मल झालेले चित्तच योगाने स्थिर होऊ शकते आणि जशी जशी

---

[१] *फलाची अभिलाषा न ठेवतां आचरलेला कर्मयोग हे ध्यानयोगाचे बहिरंग साधन असल्याने त्याची संन्यासत्वाने स्तुति करून आता (पुढीलोकांत) कर्मयोग ध्यानयोगाचे साधन कसा आहे ते दाखवतात.* ***आरुरुक्षोः*** *आरोहणाची इच्छा करणारा - म्हणजेच अजून ध्यानयोगांत स्थिर न होऊं शकणारा,* ***मुनेः*** *कर्मसंन्यासी, कुठे आरोहण करण्याची इच्छा असणारा? तर* ***योगं*** *योगावर. त्याच्यासाठी* ***कर्म*** *हेच* ***कारण*** *साधन आहे.* ***योगारूढस्य तस्य*** *तोच पुन्हा योगारूढ झाला असतां* ***शमः*** *उपशम म्हणजे सर्व कर्मांपासून निवृत्ति हे योगारूढतेचे म्हणजे ध्यानयोगांत स्थिरावण्याचे* ***कारणं*** *साधन आहे.जसा जसा तो कर्मापासून उपरत होतो तसे तसे त्या जितेंद्रिय पुरुषाचे चित्त अनायास समाधीत लीन होऊं लागते. अशा रीतीने तो तत्काळ योगारूढ होतो. व्यासांनी (महाभारत शांतिपर्व १७५:३७) असेच म्हटले आहे.*

योगाभ्यासामध्ये उन्नती होत जाईल तशी तशी सर्व कर्मांपासून निवृत्ती म्हणजे शम अपेक्षित आहे. याने चित्तविक्षेप नाहींसा होऊन पूर्ण योगारूढ स्थितीचा लाभ होतो. याकरिताच शास्त्रानेही विधीपूर्वक कर्मत्यागरूप संन्यासाश्रम सांगितला आहे. गृहस्थाला नाना प्रकारच्या कर्तव्यामुळे चित्तविक्षेप होणे अपरिहार्य आहे. म्हणून योगारूढ स्थिति मिळविण्याकरिता सर्व कर्मत्यागरूप शमाची अपेक्षा आहे. हेच श्रीभगवत्पादांनी सांगितले आहे आणि श्रीमहाराजांनीही या श्लोकात तेच व्यक्त केले आहे. (३३)

प्रत्याहार

कामवेगसहोंऽतर्दृक् सुखारामोऽभितो यतिः ।
ब्रह्मनिर्वाणमेत्येव ब्रह्मभूतोऽमलः समः ॥ ३४॥

अर्थ :- काम विकाराचे उपशमन करणारा, आत आत्म्याकडेच दृष्टी ठेवणारा, सर्वव्यापक अशा आत्मस्वरूपानंदातच रममाण होणारा, द्वंद्वातीत, शुद्ध असा ब्रह्मस्वरूप झालेला संन्यासी निश्चित मोक्षावस्थेला जाऊन पोचतो. (३४)

विवरण :- आता यापुढे योगाच्या अंगांपैकी प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी यांचे निरूपण श्रीमहाराजांनी केले आहे. या श्लोकामध्ये 'अंतर्दृक्' या पदाने प्रत्याहार सुचविला आहे श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना व घ्राण या इंद्रियांचे, क्रमाने शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध हे विषय आहेत. या आपापल्या विषयाकडे जाऊन राहिलेली इंद्रिये खेचून शरीरातील त्यांच्या त्यांच्या स्थानात स्वस्थ ठेवणे याला प्रत्याहार म्हणतात. पतंजल योगसूत्राच्या द्वितीय पादातील ५४ व ५५ या सूत्रांमध्ये प्रत्याहाराचे स्वरूप व त्याचे फल दाखविले आहे. प्राणायामाने चित्त स्थिर होते. चित्त स्थिर झाल्यामुळे इंद्रियेही स्थिर होतात. त्यांचा विषयाशी संबंध सुटतो. इंद्रियांवर पूर्ण ताबा मिळविणे, जितेंद्रिय होणे हे प्रत्याहाराचे फल आहे. हे स्थितप्रज्ञाच्या लक्षणांपैकी एक लक्षण, 'वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'

या वाक्याने भगवंतानी सांगितले आहे. हा प्रत्याहार कसा सिद्ध होतो व शेवटी तो योगी कसा मुक्त होतो हे या श्लोकात श्रीमहाराजांनी दाखविले आहे. कामक्रोधादिविकारांचा वेग प्रथम जिंकला पाहिजे तरच त्याचे चित्त आत्मस्वरूपाचे ठिकाणी स्थिर राहू शकते, तोच योगारूढ होऊ शकतो.

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात ।
काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी स नरः।।'

(भ.गीता ५:२३)[१]

या श्लोकात भगवान् हेच सांगत आहेत. हे 'कामवेगसहः' या पदाने येथे श्रीमहाराज सुचवीत आहेत. तसेच,

'सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः '

या श्लोकात सांगितल्याप्रमाणे स्वतःच्या बुद्धीलाच कळणाऱ्या अनंत सुखात तो योगारूढ पुरूष रममाण झालेला असतो हे येथे 'सुखारामः' या पदाने सुचविले आहे. अर्थातच असा पुरूष सम म्हणजे द्वंद्वातीत झालेला असतो. या श्लोकात श्रीमहाराजांनी, 'यतिः' असा पदप्रयोग केला आहे. तो, संन्यासी हाच मुख्य अधिकारी आहे हे सुचविण्याकरिता आहे. त्यालाच योगारूढ अवस्था पूर्ण रीतीने निर्विघ्नपणे प्राप्त होणे शक्य आहे. अनेक उपाधीमध्ये ज्यांचे चित्त निमग्न झाले आहे अशा गृहस्थादिकांना योगारूढ अवस्था दुःसाध्य आहे असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. (३४)

---

[१] *जो शरीर पडण्याच्या आधीच ह्या लोकींच कामक्रोधादिकांचा वेग सहन करतो तोच .योगी आणि सुखी माणूस होय.*

धारणा, ध्यान आणि समाधी

कश्चिद्धारणयोपास्ते ध्यानात्कश्चित्समाधिना।
आत्मानमेवमाप्त्वेमां सिद्धिं मुक्तो भवत्यसौ।। ३५।।

हृद्युपास्यो धारणया वराभयकरो हरिः।
प्रादेशमात्रः सुसिद्धः खेचरीमुद्रया युतः।। ३६।।

अंगुष्ठमात्रं पुरुषं दत्तात्रेयं दिगंबरम्।
ध्यायेत्सिद्धासनासीनं द्युनिशं कंठसंस्थितम्।।३७।।

सहस्रदलपद्मस्थं सुसूक्ष्मं शान्तमुज्वलम्।
समाधिना द्वादशाहं तन्मयो भावयेत्परम्।। ३८।।

अर्थ :- कोणी धारणेने आत्म्याची उपासना करतो. कोणी ध्यानाने, तर कोणी समाधीने. याप्रमाणे या सिद्धीला मिळवून हा मुक्त होतो. (३५)

वरद व अभय हस्त असणारा, टीचभर आकाराचा, उत्तम सिद्ध व खेचरी मुद्रेने युक्त अशा हरीची हृदयात धारणेने उपासना करावी. (३६)

अंगुष्ठाएवढा, दिगंबर, सिद्धासनावर बसलेला व कंठामध्ये स्थित जो पुरुष दत्तात्रेय, त्याचे अहर्निश ध्यान करावे. (३७)

सहस्त्रदल पद्मावर असणारा, अत्यंत सूक्ष्म, शांत, देदीप्यमान् अशा परमात्म्याला, बारा दिवसांपर्यंत तन्मय होऊन समाधीने त्याची भावना करावी. (३८)

विवरण :- धारणा, ध्यान व समाधी यांचे निरूपण व त्यांचे फल या चार श्लोकांतून वर्णिलेले आहे. धारणा, ध्यान व समाधी यांची लक्षणे पातंजलदर्शनातील तृतीय पादाच्या आरंभीच दिली आहेत. ती अशी -

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' 'तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्' 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:'

बाह्य किंवा आंतर ध्यानाधार विशेष देशामध्ये चित्त स्थिर करणे म्हणजे धारणा. त्या विशिष्ट देशात ध्येयस्वरूपाकार चित्तवृत्तीची एकाग्रता अखंडित राहाणे, ध्येयाकारच वृत्ती सारख्या राहाणे याला ध्यान म्हणतात. त्याच ध्यानामध्ये ध्येय, ध्यान, ध्याता यांचा भासणारा भेद जाऊन फक्त ध्येयच ज्यामध्ये भासते अशी ध्यानाची परिपक्व अवस्था म्हणजेच समाधी होय. चित्त धारणेचे दहा देश गरुडपुराणात पुढीलप्रमाणे दाखविले आहेत.

'प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि ।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र-भ्रूमध्य-मूर्धसु ।।
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दशकीर्तिता: ।।'

या श्लोकात शरीरातील दहा स्थाने धारणाश्रय म्हणून सांगितली आहेत. याशिवाय भगवंताची मूर्त रूपेही धारणाश्रय सांगितली आहेत. जसे विष्णुपुराणात पुढीलप्रमाणे आहे -

'मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनि:स्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।

चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा।।

एतदाधिष्ठितोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्मकुर्वत:।
नापयाति यदा चित्तं सिद्धांतां मन्यते तदा।।'

मूर्त अशा भगवंताच्या स्वरूपाच्या ठिकाणी चित्त स्थिर करणे हीही धारणाच आहे. ही इतकी दृढ झाली पाहिजे की इतर कोणतेही काम करीत असताना देखील चित्त, त्या भगवत्स्वरूपाला सोडून दुसरीकडे थोडेसुद्धा गेले न

पाहिजे. यालाच उत्तम भगवद्भक्त म्हणतात. धारणा, ध्यान व समाधी यांचा विषय प्राय: एकच असतो. हे तीनही एकाच विषयाचे दृढ झाले असता त्याला संयम असे म्हणतात. प्रथम स्थूल विषय, नंतर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अशा क्रमाने घेऊन चित्त पूर्ण स्थिर करावे. याकरिता छत्तीसाव्या श्लोकात हृदयरूप देशात एक टीचभर अशा मूर्त हरिस्वरूपाचे ठिकाणी चित्ताची धारणा करण्यास सांगितले. पुढे या धारणेने चित्त स्थिर झाल्यावर पुढे अंगुष्ठाएवढ्या दिगंबर मूर्तीचे ध्यान कंठदेशात करण्यास सांगितले आहे. याची सिद्धि एक दिवसभर ध्यान होऊ लागले म्हणजे झाली असे समजावे. ध्यानावस्था सिद्ध झाल्यानंतर समाधीचा अभ्यास सांगितला. त्याचा विषय मात्र अत्यंत सूक्ष्म, शांत, तेजोमय भगवत्स्वरूप असून स्थान ब्रह्मरंध्रांतील सहस्त्रदलपद्म आहे. पूर्वीची धारणाही हृदयातील अष्टदल अनाहत चक्र व ध्यान कंठातील विशुद्धि चक्रात सांगितले आहे. अत्यंत सूक्ष्म, तेजोमय भगवत्स्वरूपाकार चित्तवृत्ति होऊन लागलेल्या समाधीची मर्यादा बारा दिवस सांगितली आहे.

'अवध्य: सर्वशस्त्राणामशक्य: सर्व देहिनाम्।
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्त: समाधिना ।'[१]

असे समाधीचे मोठे फल सांगितले आहे. (३-३६-३७-३८)

शांभवीमुद्रा आणि नादानुसंधान

अन्तर्लीनसहृत्प्राणोऽपश्यन्नचलदृग्बहि:।
मुद्रेयं शांभवी शून्याऽशून्यलक्ष्मपदप्रदा।। ३९।।

तद्वान् दृढासनो दक्षकर्णे रुद्धबिलो ध्वनिम्।
त्रिग्रंथिभेदं शृणुयात्सुसूक्ष्मं स समाधिभाक्।। ४०।।

[१] *समाधी साधलेला योग्याचा कोणत्याही शस्त्राने, कुणीही देहधारी वध करूं शकत नाही; कोणत्याही मंत्राचा वा यंत्राचा त्याच्यावर प्रयोग होऊं शकत नाही.*

अर्थ :- चित्तासह ज्याचा प्राण ब्रह्मरंध्रात लीन झाला आहे, ज्याची दृष्टी उघडी पण स्थिर आहे असा समाधिस्थ पुरुष बाह्य विषयाकडे न पाहाता राहतो. अशी ही शांभवीमुद्रा, शून्य व अशून्य असे परमात्मस्वरूप प्राप्त करून देणारी आहे. (३९)

ती शांभवी मुद्रा धारण करणारा, दृढ आसनावर बसणारा, ज्याने अंगुष्ठांनी कान, तर्जनीनी डोळे, मध्यमांनी नासिका व इतर बोटांनी मुख अशी सर्व छिद्रे बंद केली आहेत. तो समाधीत असणारा पुरुष, उजव्या कानामध्ये, अत्यंत सूक्ष्म बंशीनादासारखा हृदय, कंठ व भ्रूमध्य यांतील ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथी यांचा भेद करणारा अनाहतध्वनी ऐकू शकतो. (४०)

विवरण :- या दोन श्लोकामध्ये शांभवी मुद्रा व तिचे फल दाखविले आहे. शांभवी मुद्रा या शब्दाचा अर्थ टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी दाखविला आहे. तो असा -

'श्यति दु:खं तनूकरोतीति शं आनन्द:, स भवत्यस्मादिति शंभुरात्मा, 'एष ह्येवानन्दयति' [१] इति श्रुते:। तस्येयं शांभवी। मुदं निर्विकल्पानन्दं रातीति मुद्रा'

शं म्हणजे आनंद ज्यापासून उत्पन्न होतो तो शंभू म्हणजे आत्मा. त्या आत्म्याची ही मुद्रा म्हणून हिला शांभवी मुद्रा म्हणतात. आत्मस्वरूपाचा निर्विकल्प आनंद देणारी अशी ही मुद्रा आहे. हिचे वर्णन हठयोगप्रदीपिकाकार असे करतात.

'अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शांभवीमुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।' (४।३६)

आत चित्तवृत्ती व बाहेर डोळे सारखे उघडे ही शांभवीमुद्रा होय. डोळे उघडे असूनसुद्धा बाह्य कोणत्याही विषयाचे भान नाही. कारण चित्तवृत्ती,

[१] *तैत्तिरीय उपनिषद २:७.*

आत्मानंदात निमग्न झाल्यामुळे मनाचा डोळ्यांशी संबंधच नसतो. खेचरी मुद्रा व शांभवी मुद्रा यांचे आत्मानंदप्राप्तिरूप फल एकच आहे. फक्त भेद इतकाच की, - शांभवी मुद्रेमध्ये दृष्टी बाहेर लावून राहाणे आहे, आणि खेचरी मुद्रेच्या वेळी दृष्टी भ्रूमध्यात ठेवून राहाणे आहे. शांभवी मुद्रासमयी चित्त हृदयस्थानात स्थिर झालले असते आणि खेचरीच्या वेळी ते भ्रूमध्यदेशात स्थिर झालेले असते इतकाच दोनी मुद्रामध्ये फरक आहे.

शांभवी मुद्रेनंतर उजव्या कानामध्ये निरनिराळे नाद ऐकू येणे व त्या नादांच्या अनुसंधानात चित्त लीन होणे हे श्रीमहाराजांनी दाखविले आहे. तेच पुढील श्लोकात हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात -

'मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधी:।।६७।। (चतुर्थोपदेश)

हे नाद नाना प्रकारचे ऐकू येतात. त्याकरिता प्रथम पराङ्मुखीमुद्रा करावी लागते. म्हणजे कान, डोळे, नाक, मुख ही सर्व छिद्रे बोटांनी बंद करणे. त्याबद्दल स्पष्टीकरण असे आहे -

'अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभां च चक्षुषी ।
नासापुटौ तथाऽन्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च ।।'

दोन आंगठे दोन्ही कानांमध्ये घालावयाचे. आंगठ्या जवळच्या दोन्ही हातांच्या तर्जनीनी दोन्ही डोळे झाकावयाचे. मधल्या दोन बोटांनी दोन्ही नाकपुड्या बंद करावयाच्या आणि राहिलेल्या दोन बोटांनी मुख बंद करावयाचे याप्रमाणे सर्व छिद्रे बंद करून बसले असता, सुषुम्ना नाडीत अभिव्यक्त होणारा नाद उजव्या कानाने ऐकू येऊ लागतो. अगोदर भ्रमरध्वनीप्रमाणे, नंतर वेणुध्वनीप्रमाणे, घंटानादासारखा, समुद्राच्या ध्वनीसारखा, गर्जना करणाऱ्या पर्ज्यन्यासारखा असे विविध नाद ऐकू येतात हेच पुढील श्लोकात दाखविले आहे -

'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी
नादोऽसौ वंशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनि:स्वानतुल्य:।
घंटानादानुकारी तदनु च जलधिर्ध्वानधीरो गभीरो
गर्जन्पर्जन्यघोष: पर इह कुहरे र्वतते ब्रह्मनाड्या:।।'[१]

(त्रिपुरासारसमुच्चय)

आरंभ, घट, परिचय व निष्पत्ति अशा नादाच्या चार अवस्था सांगितल्या आहेत. प्राणायामाच्या अभ्यासाने हृदयातील अनाहतचक्रात असणाऱ्या ब्रह्मग्रंथीचा जेव्हा भेद होतो तेव्हा हृदयाकाशात भूषणांच्या ध्वनीसारखा ध्वनी उत्पन्न होतो ही आरंभावस्था. प्राणवायू अपानाशी ऐक्य संपादून व नादबिंदू यांचे ऐक्य करून जेव्हा कंठस्थ मध्यचक्रात येऊन राहातो तेव्हा ती घटावस्था होय. त्या वेळी कंठस्थ विष्णुग्रंथीचा भेद होऊन कंठाकाशामध्ये भेरी शब्दासारखा शब्द ऐकू येऊ लागतो. प्राणायामाभ्यासाने प्राण भ्रूमध्याकाशात येऊन राहिला असता, त्याठिकाणी विशिष्ट वाद्यासारखा ध्वनी ऐकू येऊ लागतो व रुद्रग्रंथीचा भेद होतो. त्या वेळी चित्तवृत्तिरूप आनंद लुप्त होऊन स्वाभाविक आत्मानंद अभिव्यक्त होतो आणि त्रिदोषजन्य दु:खांच्या संवेदना, जरा, क्षुधा, तृषा, निद्रा या सर्वांतून तो योगी पूर्णपणे मुक्त होतो ही तिसरी परिचयावस्था होय. चौथ्या निष्पत्ती अवस्थेमध्ये प्राण ब्रह्मरंध्रात येऊन स्थिर होतो. त्या वेळी अत्यंत सूक्ष्म असा बासरीसारखा ध्वनी उजव्या कानामध्ये ऐकू येऊ लागतो. या अवस्थेत चित्त अत्यंत एकाग्र झालेले असते. यालाच राजयोग असे म्हणतात. या अवस्थेपर्यंत पोचलेला योगी, ईश्वराप्रमाणे सृष्टिसंहार करण्यास समर्थ होतो. याप्रमाणे नादानुसंधानाचे सविस्तर वर्णन हठयोगप्रदीपिकेच्या चतुर्थ उपदेशामध्ये केलेले आहे. तेच या श्लोकात,

---

[१] *हा नाद सुरुवातीला धुंद भुंग्याच्या थव्यांच्या गुंजारवासारखा ॐकाराचा संस्कार करणारा, नंतर वेळूंतून हवा फुंकल्यासारखा बांसरीसारखा, त्यानंतर घंटानादासारखा, मग समुद्राच्या गाजासारखा गंभीर, मग गरजणाऱ्या पावसाच्या घोषासारखा नाद ब्रह्मनाडीच्या पोकळीत ऐकायला येतो.*

संक्षेपाने श्रीमहाराजांनी सुचविले आहे. ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथी या काही मांस, स्नायू यांच्या बनलेल्या गाठी नसून, रजोगुण, सत्त्वगुण व तमोगुण यांचीच विशिष्ट स्वरूपे आहेत. प्रथम ब्रह्मग्रंथीचा भेद झाल्याबरोबर काम-क्रोधादी राजस भाव शांत होऊन प्रेम, दया, अहिंसा इत्यादी सात्त्विक भाव जागृत होतात. परंतु रुद्रग्रंथीचा भेद होऊन निद्रा, आलस्य, मोह, दंभ इत्यादि तामस भाव शांत होईपर्यंत ते सात्त्विक भाव दबून असतात. रुद्रग्रंथीचे स्थान आज्ञाचक्राच्या वर आहे. जिचा भेद सर्वांच्या मागाहून होतो. तो होणे अत्यंत कठीण आहे. या तीनही ग्रंथींचा भेद उपशम झाला असता मनुष्य त्रिगुणातीत होतो व त्याचा सहजानंद-आत्मानंद अभिव्यक्त होतो. हे सर्व नादोपासनेने होते म्हणून उपनिषदांचे श्रवण, मनन करण्याची शक्ति नसणाऱ्या अव्युत्पन्न लोकांनाही सहजानंद मिळावा म्हणून हे नादानुसंधान रूप नादोपासन हठयोगप्रदीपिकाकारांनी सांगितले आहे.(३९-४०)

यम आणि नियम

यमेन दशधा नूनं दशधा नियमेन च ।
आसनाद्येन षट्केन योगोऽष्टांगोयमुच्यते ।। ४१।।

अर्थ :- दहा प्रकारच्या यमाने, दहा प्रकारच्या नियमाने आणि आसनादि सहा प्रकारांनी मिळून हा योग, अष्टांगयोग म्हणून सांगितला जातो.(४१)

विवरण:- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व संप्रज्ञात समाधी ही आठ अंगे असल्यामुळे याला अष्टांगयोग असे नाव पडले आहे. त्यांपैकी आसनापासून समाधीपर्यंत सहा अंगांचे विवेचन आतापर्यंत श्रीमहाराजांनी केले आहे. या श्लोकात यम दहा व नियम दहा इतकाच उल्लेख केला आहे. ते प्रकार असे -

'अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ऱ्ही मती च तपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः॥'

पातंजल सूत्रामध्ये पाच यम व पाच नियम सांगितले आहेत. सामान्यतः, यम म्हणजे दोषाभावरूप असून नियम हे गुणरूप आहेत. ही दोन अंगे शेवटपर्यंत कटाक्षाने पाळणे आवश्यक आहे. प्रथम साधन म्हणून आणि योगसिद्धी मिळाल्यावर देखील लोकसंग्रहाकरिता यांची आवश्यकता आहेच. (४१)

एतेनाष्टांगयोगेन प्रबुद्धः स्वल्पसंविदा ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तो देही ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ४२॥
इदं रहस्यं परमं नाख्येयं यस्य कस्यचित् ॥

इतिश्री प.प.श्रीवासुदेवानन्द-सरस्वती विरचितं योगाख्यं प्रथमं रहस्यम्।

अर्थ :- या अष्टांगयोगामुळे, अत्यंत सूक्ष्म वस्तू जे ब्रह्म, त्याला जाणणारा असा हा शरीरी जीव, पापपुण्यातून मुक्त होऊन ब्रह्मरूप होतो. हे श्रेष्ठ रहस्य वाटेल त्या अनिधकारी पुरुषाला सांगू नये. (४२-४३)

विवरण :- अष्टांगयोगाचे वर्णन या लहान ग्रंथात श्रीमहाराजांनी केले आहे. याच्या अभ्यासाने जीव ब्रह्मज्ञानी होऊन मुक्त होतो हे योगाचे फल या शेवटच्या श्लोकात सांगितले आहे. तसेच अधिकार पाहिल्याशिवाय वाटेल त्याला त्याचा उपदेश करू नये अशी धोक्याची सूचनाही मुद्दाम शेवटी दिली आहे. (४२ - ४३)

उपसंहार

भगवद्गीतेच्या सहाव्या अध्यायात परमयोगी म्हणजे श्रेष्ठयोगी कोण त्याचे वर्णन पुढील श्लोकात केले आहे -

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत: ॥ ३२॥'

श्रेष्ठ योगी, तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय या तिघांचा सारखा अभ्यास करीत राहून, दृष्ट दु:खाची निवृत्ती करून जीवन्मुक्तिसुखाचा अनुभव घेत समाधी अवस्थेतच प्राय: असतो. कदाचित् प्रारब्धकर्मामुळे समाधीतून व्युत्थान झाले तर त्या वेळी सर्व प्राणिमात्रांचे ठायी आपल्याप्रमाणेच सुख किंवा दु:ख तो पहात असतो. आपल्या दु:खाचा जसा परिहार करावा तसाच दुसऱ्याच्याही दु:खाचा करतो. स्वत:प्रमाणेच इतरांच्याही सुखाकरिता झटतो हा परमयोगी होय. आणि नुसते तत्त्वज्ञान ज्याला झाले आहे पण मनोनाश व वासनाक्षय यांचा अभ्यास नसल्याने ज्याला जीवन्मुक्ती-सुखाचा अनुभवच नाही आणि ज्याचा दृष्ट दु:खाचा अनुभव संपलेला नाही, शरीरपातानंतरच ज्याला मुक्ती मिळणारी आहे, असा योगी अर्थातच अपरम-कनिष्ठ दर्जाचा, योगी होय. म्हणून तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय या तिघांचाही अभ्यास सतत, मिळूनच केला पाहिजे कारण शेकडो जन्म मागे लागलेला हा संसार तशाच चिरकाल दृढ अभ्यासावाचून जाणे शक्य नाही हे वसिष्ठ सांगतात -

'जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसन्तति:।
सा चिराभ्यासयोगेन न विना क्षीयते क्वचित् ॥'

तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय हे तीनीही एकमेकाला पोषक आहेत. हे संपूर्ण विश्व, अद्वितीय, सच्चिदानंदरूप आत्म्याच्या ठिकाणी कल्पनेने भासते. अर्थात ते खोटे आहे, आत्माच एक खरा आहे, तो मी आहे असे ज्ञान म्हणजे तत्त्वज्ञान होय. पेटलेल्या अग्नीच्या ज्वाला जशा सारख्या एका मागून एक उत्पन्न

होतात तशा मनाच्या वृत्ती सारख्या उद्‌भवत असतात. त्या वृत्ती कमी कमी होता होता, धश्वनरहित अग्नीप्रमाणे मन वृत्तिशून्य होऊन राहाणे म्हणजे मनोनाश होय. त्या त्या प्रसंगी एकदम काम, क्रोध इत्यादी वृत्ती मनामध्ये ज्या उत्पन्न होतात त्यांना कारण असणारा चित्तातील सूक्ष्म संस्कार म्हणजे वासना. अशुद्ध कामक्रोधादी वासना या आसुरी संपत्तिरूप आहेत आणि शुद्ध वासना म्हणजे दैवी संपत्तिरूप आहेत. पूर्ण विवेकाभ्यासाने चित्तवृत्तींचा उपशम दृढ झाला असता बाहेरील निमित्त उद्‌भवले तरी क्रोधादि विकार उत्पन्नच न होणे याचे नाव वासनाक्षय होय. संपूर्ण विश्व मिथ्या आहे असे तत्त्वज्ञान झाले असता, शशशृंगाप्रमाणे आपल्याला जगाचा काहीच उपयोग नाही असे ज्ञानी मनुष्याला वाटत असल्यामुळे बाह्य विषयाकार मनोवृत्तीच उत्पन्न होत नाही. त्यामुळे हळूहळू वृत्ती शून्य होत जाणाऱ्या मनाचा निरिंधन अग्नीप्रमाणे नाश होतो. मन नष्ट झाले असता, संस्काराला उद्‌बोधक बाह्य निमित्तच नाहीसे झाल्यामुळे क्रोधादी वृत्तीच उत्पन्न होऊ शकत नाहीत. त्यामुळे मनाचा नाश म्हणजे वृत्तिशून्य अवस्था होते. मनाच्या वृत्ती बंद पडल्यामुळे शमदमादिकांचा उद्‌भव होऊन तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते. तत्त्वज्ञान उत्पन्न झाल्यामुळे रागद्वेषादी वासनांचा क्षय झाल्याने प्रतिबंध दूर झाल्यामुळे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते. याप्रमाणे तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय हे तीनीही वरीलप्रमाणे परस्परांना पोषक आहेत. म्हणून या तिघांचाही सारखाच अभ्यास मुमुक्षूने करणे योग्य आहे. यामध्येही, प्रयोजनानुसार मुख्य, अमुख्य असा अभ्यास ठरतो. मुमुक्षूला जीवन्मुक्ती व विदेहमुक्ती दोन प्रयोजने आहेत. विदेहमुक्तीची इच्छा असणाऱ्यास तत्त्वज्ञानाभ्यास मुख्य आहे. बाकीचे दोन गौण आहेत. जीवन्मुक्तीची इच्छा असणाऱ्यास मनोनाश व वासनाक्षय मुख्य असून तत्त्वज्ञान गौण आहे असा या अभ्यासामध्ये फरक आहे. श्रवण, मनन, निदिध्यासन हे तत्त्वज्ञानाचे उपाय प्रसिद्ध आहेत. शुद्ध वासना अधिकाधिक निर्माण करून मलिन वासनांचा क्षय करीत राहाणे हा वासनाक्षयाचा उपाय शास्त्रसंमत आहे. एकच महायोग चार प्रकारच्या अंतर्भूमिकामुळे चार प्रकारचा शास्त्रकारांनी दाखविला आहे. तो असा

श्रीस्वामीमहाराजप्रणीत कुंडलिनीयोग

'मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका: क्रमात् ।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥'

(योगशिखोपनिषत्)

मंत्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोग असे चार योगाचे प्रकार वरील श्लोकात दाखविले आहेत. गुरूपदिष्ट मंत्राचा जप, सच्छास्त्राचा अभ्यास, मंत्रदेवतेचे चिंतन हा सर्व मंत्रयोग होय. याचे फल समाधिसिद्धी हे आहे. चित्त लीन, वृत्तिशून्य होणे याला लययोग म्हणतात. षट्चक्रांच्या वेधाने प्राण स्थिर झाला असता लययोग सिद्ध होतो. गुद, उपस्थ, नाभी, हृदय, कंठ व भ्रूमध्य या सहा स्थानात क्रमाने आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा या नावांची सहा चक्रे आहेत. काही ठिकाणी आठ चक्रे तर काही ठिकाणी नऊ चक्रेही दाखविली आहेत. ती अशी -

'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूर्ययोध्या ।
तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्रय अरे त्रिप्रतिष्ठते॥
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदु: ॥'

(अथर्ववेद कां. १० सूक्त २ मंत्र ३१-३२)

अर्थ :- आठ चक्रे आणि नऊ द्वारे असलेली ही (तनु) देवतांची अयोध्यापुरी आहे. या पुरीमध्ये जो सुवर्णमय कोश ज्योतीने आवृत आहे तोच स्वर्ग आहे. त्या सुवर्णमय कोशात, जो तीन अरांनी तीन प्रकारांनी प्रतिष्ठित आहे, आत्मरूपी यक्ष राहात आहे, त्याला ब्रह्मवेत्ते लोक जाणतात. या मंत्रात आठ चक्रांचा उल्लेख आहे. नऊ चक्रांचा उल्लेख असलेले प्रमाण असे -

'नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ।।'

(शुक्लयजुर्वेदमण्डल ब्राह्मणोपनिषत् ४)

अर्थ :- नऊ चक्रे, सहा आधार, तीन लक्ष्य व पाच आकाश यांचे चांगल्या प्रकारे ज्ञान ज्याला नाही तो नुसता नावाचा योगी आहे. ऋग्वेदातील सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषदामध्येही नऊ चक्रांचे सविस्तर वर्णन आहे. सहा प्रसिद्ध चक्रांची नांवे व स्थाने वर दिलेली आहेतच. याशिवाय कंठस्थ विशुद्ध-चक्राच्यावर तालुचक्र सहावे; भ्रूचक्र, ज्याला ज्ञाननेत्र म्हणतात ते सातवे; आज्ञाचक्र आठवे व त्याच्यावर मूर्धास्थानात आकाशचक्र नववे सांगितले आहे. सहस्रारच आकाशचक्र आहे. याला चक्रांत घेतले नाही तर आठच चक्रे होतात. या चक्राचे स्थान सुषुम्ना नाडीच्या आत आहे. सुषुम्ना नाडीचे वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे -

'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः सदेहभृत् ।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाडीति कथ्यते।।'

(योगशिखोपनिषत्)

गुदाच्या पाठीमागच्या भागात एक वीणादंड देहाला धारण करणारा आहे. तो मोठ्या हाडाचा बनविलेला असून वरपर्यंत गेला आहे. त्याच्यामध्ये ब्रह्मनाडी म्हणजे सुषुम्ना आहे. त्या सुषुम्नेतून प्राण वर चढू लागला असता तो आज्ञाचक्रात येऊन पोचला म्हणजे चित्तलयरूप लययोग सिद्ध होतो. मनाचे संकल्प विकल्प शांत होऊन पूर्ण एकाग्रता होणे हे लययोगाचे प्रयोजन आहे.

आज्ञाचक्राच्या वर ब्रह्मारंध्रातील सहस्रारामध्ये प्राण जाऊन स्थिर झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. यामुळे निर्बीज समाधी, प्राणलय, चित्तलय, द्रष्टा जीव, वृत्तिरूप टाकून आपल्या मूलस्वरूपाने परब्रह्मरूपाने राहाणे इत्यादी फले प्राप्त होतात.

मंत्रयोग, लययोग व राजयोग या तीन योगप्रकारांचे संक्षिप्त वर्णन वरीलप्रमाणे दिले आहे. योगाचा चौथा प्रकार हठयोग हा आहे. याचेच प्राधान्याने वर्णन योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केले आहे. आरंभी नवव्या श्लोकात, 'हठयोगं समभ्यसेत्' असा तेथे उपक्रम करून पुढील निरूपण केले आहे. त्या श्लोकाच्या टीकेत हठयोग शब्दाचा अर्थ पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

'हकार उच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
इति तयो: प्राणापानयो योगो हठयोग: ।।'

प्राण व आपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग. हे ऐक्य दोन प्रकारांनी करता येते. प्राणाचे अपानाशी मेलन किंवा अपानाचे प्राणाशी मेलन या दोन प्रकारांनी प्राण व अपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग सिद्ध होतो. हेच भगवद्गीतेत चौथ्या अध्यायात,

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे'

या वाक्याने सांगितले आहे. अपान शक्तीचे स्थान गुद व उपस्थ आहे. म्हणजे आधारचक्राच्या समीप अपान वायु असून त्याची अधोगती आहे. प्राणवायू हृदयाच्या वरच्या भागात काम करीत आहे. त्यापैकी, ' अपाने जुह्वति प्राणं' हा प्रकार म्हणजे अपानाशी प्राणाचा योग करणे. याची पद्धत अशी -

अपान शक्तीत प्राणाची आहुती देण्याकरिता प्राणाला खाली आणले पाहिजे. प्रथम हळू हळू पूरकाने प्राणवायू फुप्फुसात खेचून घ्यावा. नंतर कंठाचा संकोच करून - जालंधरबंध करून त्या वायूला जोराने खाली दाबावे लागते. या अभ्यासाने प्राणशक्ती वरच्या भागातील सर्व नाड्यांतून खेचली जाऊन खाली उतरू लागते आणि हळूहळू कंदाच्या जवळ मूलाधार चक्रात येते. त्याच्या अगोदरच साधकाने सिद्धासन किंवा गुदाचे संकोचन करून मूलबंध यांच्या द्वाराने खाली जाणाऱ्या अपानशक्तीला रोखून धरलेले असते. त्या अपानाशी वरून येणाऱ्या प्राणाचे ऐक्य होते, याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेच्या

द्वारातून आत प्रवेश करतात. ते द्वार मूलाधार व स्वाधिष्ठान यांच्या मध्ये असणाऱ्या कुंडलिनीच्या स्थानावरच आहे. याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेत प्रविष्ट झाले असता, घटावस्था म्हणून योगाची दुसरी अवस्था सिद्ध होते आणि तो पुरुष थोड्या प्रयत्नाने किंवा केवळ संकल्पानेही प्राणाचा प्रवाह शरीरातील कोणत्याही भागात सहज नेऊ शकतो. प्राणापानाच्या ऐक्याची दुसरी पद्धती अशी आहे -

आत घेतलेला वायू रेचकद्वारा हळूहळू बाहेर सोडून, मूलबंध, तसेच पोट पाठीकडे आत खूप ताणावयाचे म्हणजे उड्डियानबंध करून खालच्या अपानाला वरच्या भागात खेचून घेतले असता वर अपान व प्राण यांचे ऐक्य होते, यालाच भगवद्गीतेमध्ये प्राणात अपानाची आहुती देतात असे म्हटले आहे. याप्रमाणे प्राणापानांचे ऐक्य, करून त्यांचा सुषुम्नेमध्ये प्रवेश झाला म्हणजे प्राणायामाची सिद्धी झाली असे समजावे. प्राणायामाची होणारी सिद्धी, नाडीशुद्धी, प्राणलय व चित्तलय या प्रकारची योगरहस्यामध्ये तेराव्या श्लोकात श्रीमहाराजांनी दाखविली आहे. दुसऱ्या पद्धतीप्रमाणेच प्राणापानांचे ऐक्य, हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले आहे, ते श्लोक असे -

'अधोगतिमपानं व ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः।। ६२।।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।। ६४।।[१]

[१] *स्वाभाविक खाली जाणारा अपान (गुदाच्या) आकुंचनाने बळाने वर चढवण्याला योगी मूलबंध म्हणतात. प्राण आणि अपान तसेच नाद आणि बिंदू यांचे मूलबधाने ऐक्य केल्याने योग उत्तम प्रकारे सिद्ध होतो यांत संशय नाही.*

या श्लोकाचा भाव टीकाकार वर्णन करतात -

'अयं भाव:। मूलबंधे कृतेऽपान: प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरिगत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्निगच्छत:। ततो योगसिद्धि:।' [१](तृतीयोपदेश)

अपान उर्ध्वगती होऊन पुढे काय काय कार्य होते ते पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।। ६६।।

ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।। ६७।।

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजंगीव नि:श्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।। ६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत्।'[२]

(तृतीयोपदेश)

---

[१] *याचा भावार्थ. मूलबंध केल्याने प्राण अपानासह मिळून सुषुम्णेत प्रवेश करतो. तेव्हां नादाची अभिव्यक्ति होते. नंतर नादासह प्राण आणि अपान हृदयाच्या वर जाऊन बिंदूशी एकरूप होऊन टाळूकडे जातात. मग योग सिद्ध होतो.*

[२] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

मूलबंधाच्या अभ्यासाने अपान ऊर्ध्वगती होऊन वन्हिमंडलापर्यंत येतो. हे वन्हिमंडल त्रिकोणाकृति नाभीच्या खाली आहे. याबद्दल याज्ञवल्क्यांचे विवरण असे आहे -

'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदां ।।
मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद् ब्रवीमते ।
तन्मध्ये तु शिखातन्वी सदा तिष्ठति पावके।। '

अपानवायू खालून वर येऊ लागला असता, त्याच्या आघाताने नाभी खालच्या त्रिकोणाकृती मंडलात असणारी जठराग्नीची सूक्ष्म ज्वाला वाढू लागते. नंतर तो वायू व वन्ही वर तापलेल्या प्राणात जाऊन मिसळतात. त्यामुळे खालून अपानाच्या आघाताने पेटलेला जठराग्नी वरून प्राणाच्या आघाताने अत्यंत प्रदीप्त होतो. त्यामुळे अत्यंत संतप्त झालेली निद्रिस्त कुंडलिनीशक्ती चांगली जागी होते व आपली साडेतीन वेटोळी सोडून सरळ होते आणि सुषुम्ना नाडीमध्ये प्रवेश करते. याप्रमाणे कुंडलिनी शक्ति जागृत करण्याचे उपाय व ती जागृत झाली असता मिळणारी सिद्धी यांचे वर्णन वीस ते तेवीस श्लोकांपर्यंत श्रीमहाराजांनी केले आहे. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध यांचा अभ्यास म्हणजे हठयोगाचा अभ्यास याने कुंडलिनी जागृत होते. या योगाप्रमाणेच दुसराही कुंडलिनीयोग शास्त्रसंमत असा आहे. त्याबद्दल थोडेसे दिग्दर्शन करून हा विषय पूर्ण करावयाचा आहे.

कुंण्डलिनी योग

विश्वातील चेतन, अचेतन सर्व विभागांमध्ये एक विलक्षण शक्ती अनुभवसिद्ध आहे. परस्परविरोधी पंचभूतांमध्ये दिसून येणारा समन्वय, त्या शक्तीच्या नियमनामुळेच आहे असे मान्य करावे लागते. नाही तर परस्परांच्या धर्मसांकर्याने जगाचा नाश झाला असता. ही शक्ति परब्रह्माची किंवा परमात्म्याची

आहे असे, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' इत्यादि वाक्यांवरून सिद्ध होते. याबद्दल पंचदशीकार सांगतात -

'शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषुवस्तुषु।। ३८।।

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु।। ३९।।

(पंचदशी ३)

याच ईश्वरशक्तीची अभिव्यक्ती, त्या त्या उपाधीमुळे कमीजास्ती प्रमाणात असलेली दिसते. मनुष्यामध्ये बाल, तरुण, निरोगी, रोगी इत्यादी अवस्थामध्ये शक्ती कमी-जास्ती असलेली दिसून येते याला कारण, असंग, निर्विकार आत्मस्वरूप मानता येत नाही. तर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धी इत्यादी उपाधीमुळेच हा शक्तिभेद मान्य करावा लागतो. ही शक्ती शक्तिमानाहून भिन्नही ठरविता येत नाही. पंचमहाभूतांच्या आधाराने व्यक्त होणाऱ्या या शक्तीला जड शक्ती किंवा भौतिक शक्ती असे म्हटले जाते आणि शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि इत्यादीकांच्या आश्रयाने अभिव्यक्त होणारी हीच शक्ती चेतन शक्ती समजली जाते. मनुष्यामध्ये असणाऱ्या या आध्यात्मिक शक्तीलाच कुंडलिनी म्हणतात. कुंडलिनीचा आकार सर्पासारखा मानलेला आहे ब्रह्मांडधारी शेषही सर्परूपच आहे. तात्पर्य समष्टी किंवा व्यष्टिरूप पिंडब्रह्मांड धारण करणारी ही शक्ती एकच आहे.

'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'[१]
(छांदोग्य १। ११। ५)

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः।(छांदोग्य ६। ८। २)[२]

---

[१] *हे सर्वच जीवमात्र प्राणानेच (जीवनांत) प्रवेश करतात आणि प्राणानेच (जीवन) सोडतात.*

[२] *मन हे प्राणानेच बद्ध आहे.*

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः

(कौषीतकी उपनिषत् ३। ८)[१]

इत्यादी वाक्यांमध्ये वर्णिलेला प्राण म्हणजे हीच शक्ती आहे. उपनिषदांमध्ये प्राणोपासनेचे महत्त्व दाखविले आहे. हा प्राण म्हणजे प्राणवायूपेक्षा भिन्न ईश्वररूप आहे.

'हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यभिधीयते'

या वाक्यात वर्णिलेला हिरण्यगर्भ किंवा प्राण, केवल वायूरूप नसून सर्वही सूक्ष्म शरीरांचा नियामक परमात्माच आहे.

'अत एव प्राणः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२३) या अधिकरणामध्ये प्राण म्हणजे ब्रह्म असा निर्णय सूत्रभाष्यामध्ये केला आहे. याबद्दल शास्त्रामध्ये पुढीलप्रमाणे वर्णन आले आहे.

'ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥

महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी॥'

ही शक्ती सुवर्णाप्रमाणे भासणारी सत्व, रज व तम या तीन गुणांना व्यक्त करणारी विष्णूची-व्यापक परमात्म्याची निर्भय करणारी शक्ती आहे असे समजावे. या परब्रह्मरूपी शक्तीला महाकुंडलिनी असेही म्हणतात. हीच जीव शक्तीही असून कुंडलयुक्त तेजोमय प्राणाकारही आहे.

कुंडलिनी शक्तीला बुद्धिमान् मनुष्याने, तिच्या स्थानातून म्हणजे मूलाधारातून भ्रूमध्यापर्यंत संचलित केले पाहिजे. यालाच शक्तिचालन म्हणतात. याबद्दल प्रमाण असे-

[१] *तो हा प्राणच प्रज्ञात्मा, आनंद आणि अजरामर आहे.*

'कुण्डल्येव भवच्छक्तिस्तांतु संचालयेद्बुध:।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते।।'

सद्गुरूंच्या शक्तिपातदीक्षेने या शक्तीचे चालन होते. म्हणजे ती जागृत होते. गुरू हे आपल्या शिष्याचे ठिकाणी आध्यात्मिक शक्तीचा पात करून त्याचे परतत्वाशी ऐक्य घडवून आणतात. याबद्दल आगमग्रंथात पुढील उल्लेख आला आहे

'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतु शक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्य मूर्तिस्थ: ।।'

शक्तिपाताचे प्रयोजन आणखी एके ठिकाणी असे दिले आहे -

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा ।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्।।

तच्च देवप्रसादेन गुरो: साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ।।'

मायेचा बाध तत्त्वज्ञानानेच होतो. अन्य कर्मादिकांनी होत नाही. वेदान्त महावाक्यापासून उत्पन्न होणारा जीव ब्रह्मैक्याचा अनुभव म्हणजे ज्ञान होय. ते ज्ञान, ईश्वरप्रसादाने सद्गुरूंची कृपादृष्टी पडली असता अधिकारी शिष्याला महावाक्यद्वारा शक्तिपाताने उत्पन्न होते.

शक्तिपात या शब्दामुळे उत्पन्न होणारे काही आक्षेप व त्यांचे समाधान शक्तिरहस्यामध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे-

'व्यापिनी परमा शक्ति: पतितेत्युच्यते कथम् ।
उर्ध्वादधोगति: पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ।।

सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता ।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबद्धेषु संवृता ।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते।।'

अर्थ :- ही श्रेष्ठ शक्ती सर्वव्यापक अशी आहे. तर मग तिचा पात होतो असे कसे म्हणता येईल? सर्वव्यापक नसणारा मूर्त पदार्थ वरून खाली येणे, जसे वरून फेकलेला चेंडू खाली पडणे याला पात असे म्हणतात. हा सर्वव्यापक शक्तीचा कसा संभवतो? असा येथे आक्षेप घेतला असता, याचे समाधान असे की - तुमचा आक्षेप सत्य आहे. पण येथे शक्तिपात शब्दाचा अभिप्राय असा आहे - ही शक्ती परमात्म्याप्रमाणे सर्वव्यापक, स्वाभाविक, नित्य अशी आहे हे खरे, पण अनेक जन्मांच्या पाप-वासनारूप पाशांनी जखडलेल्या जीवांच्या ठिकाणी ही शक्ती आच्छादित झालेली असते. ज्यांचे मनोदोष परिपक्व झालेले असतील अशा अधिकारी पुरुषांच्या त्या दोषांचा समूल उच्छेद होऊन सद्गुरू कृपेने ती शक्ती त्या अधिकारी, पुरुषांचे ठिकाणी अभिव्यक्त होते. यालाच शक्तिपात अशी औपचारिक संज्ञा आहे. शिष्यामध्ये असणाऱ्या शक्तीला जागे करणे यालाच शक्तिपात असे म्हणतात. शक्तिजागृतीने प्राणवायू ऊर्ध्वगामी होतो. आणि चित्त व प्राण दोघांचाही पूर्ण लय होतो म्हणून या कुंडलिनी योगाला महायोग असे म्हणतात. म्हणजे हा योग पातंजलादियोगापेक्षा निराळा आहे असे नसून हाही त्यांच्याप्रमाणेच चित्तवृत्तिनिरोधरूपच आहे. पण हा गुरुकृपेने शीघ्र प्राप्त होतो. इतर मार्ग परिश्रमसाध्य आहेत इतकाच विशेष यामध्ये आहे. मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग या सर्व भूमिका क्रमाने या कुंडलिनी योगामध्ये अंतर्भूत होतात असा अभिप्राय आहे.

गुरुतत्त्व

शक्ती जागृत होण्याकरिता, सद्गुरूंच्याकडे जाणे आवश्यक आहे. शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य असणारे व निग्रहानुग्रहशक्ति असणारे सद्गुरु असतात. ते शिष्याची परीक्षा करून योग्यता असल्यास शक्तिपातदीक्षा देतात. ही दीक्षा होताच, जसे एका दिव्याने दुसरा दिवा लागतो त्याप्रमाणे गुरुशक्तीच्या संबंधाने शिष्याची कुंडलिनीशक्ति जागृत होते. त्यामुळे दिव्यज्ञान-प्राप्तीला प्रतिबंधक पातक, चित्तचांचल्य, अज्ञानाचे आवरण इत्यादी सर्व दोषांचे निरसन हळूहळू अभ्यासाने होऊ लागते. शक्तिपात दीक्षेची गुरुपरंपरा, अनादिकालापासून चालत आलेली आहे. बहुतेक सर्व संप्रदायांमध्ये न्यूनाधिक शक्तिसंचार मंत्रोपदेशद्वारा होत असतो. मंत्रामध्ये जेवढी अक्षरे असतील तितके लक्ष जपाने मंत्रचैतन्यशक्ति जागृत होते. कलियुगामध्ये चौपट जपाची आवश्यकता, 'कलौ स्यात्तु चतुर्गुणम्' इत्यादी वाक्यांनी दाखविली आहे. म्हणजे गायत्री मंत्राचा पुरश्चरण जप ९६ लक्ष करावा लागेल. जप संख्येच्या दशांश हवन, हवनाच्या दशांश तर्पण, तर्पणाच्या दशांश मार्जन आणि मार्जनाच्या दशांश ब्राह्मणभोजन याप्रमाणे मंत्राचे पंचांग पुरश्चरण झाले म्हणजे तो मंत्र चेतन, सिद्ध होतो. म्हणजे साधकाचे ठिकाणी गुरुतत्त्व जागृत होते किंवा मंत्रदेवतेचे प्रत्यक्ष दर्शन होते. मानव गुरु जरी असंख्य असले तरी सर्वांमध्ये गुरुतत्त्व हे शुद्ध पारमार्थिक तत्त्व एकच आहे. म्हणूनच योगशास्त्रामध्ये - 'स (एव) पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र १। २६) असे ईश्वराचे लक्षण केले आहे. कुंडलिनी शक्तिसुद्धा ईश्वररूपच आहे. तीच सर्व मंत्ररूप व सर्व देवतारूप आहे. ती जागृत होऊन सुषुम्ना नाडीतून तिचे आरोहण, अवरोहण सुरू होण्याकरिता सद्गुरूंच्या साहाय्याची अत्यंत अपेक्षा आहे. याकरिता सद्गुरूंच्या समागमाची फार जरूरी आहे. दूरदेशामुळे तो होत नसल्यास ध्यानादिद्वाराने तरी तो मिळविला पाहिजे. गुरुतत्त्व ज्यांच्या ठिकाणी पूर्णपणे जागृत झाले आहे तेच शिष्याला साहाय्यक होत असल्यामुळे त्यांना

सद्गुरु म्हणतात. याकरिताच 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:' इत्यादी श्लोकात त्रिमूर्ती स्वरूपाने केलेली त्यांची स्तुती यथार्थ आहे. कुंडलिनी ही सर्वशक्तिसंपन्न ईश्वराची चिन्मयी शक्ती आहे. हिलाच, वेदान्ताचे आचार्य चितिशक्ती म्हणतात; भक्तीचे आचार्य आल्हादिनीशक्ती; योगी लोक कुंण्डलिनीशक्ती; व मंत्रयोगी मंत्रचैतन्यशक्ती असे म्हणतात. गुरु-शिष्यांचा संबंध पितापुत्राप्रमाणे वात्सल्यपूर्ण असा आहे. गुरूविषयी आदरभावना शिष्याच्या अंत:करणात नित्य असली पाहिजे. गुरू साक्षात् ईश्वररूप आहे ही भावनाच शिष्याच्या उन्नतीस कारण आहे असे, 'यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादी शास्त्रवचनांवरून सिद्ध होते. मूर्तीचे पूजन केले असता जसे देवाचे पूजन होते तसे गुरूचे पूजन केले असताही देवाचीच पूजा होते. गुरूंविषयी किंवा गुरुबंधूविषयी ईर्ष्या, असूया, द्वेष, वैमनस्य इत्यादि दोष शिष्याच्या मनात कधीच उत्पन्न होऊ नयेत याबद्दल दृष्ट, अदृष्ट प्रयत्न सतत केला पाहिजे. नाहीतर या दोषांमुळे जागृत झालेल्या शक्तीचा विकास स्थगित होण्याचा संभव आहे. ज्या गुरुकुलामध्ये परस्पर सौहार्द भावना उत्तम प्रकारची आहे तेथे गुरुतत्त्वाचा विकास अधिकाधिक सर्वकल्याणप्रद असा होत राहतो. आणि जेथे या दोषांचा प्रवेश झाला त्या गुरुकुलातील गुरुतत्त्वाची झालेली अभिव्यक्ती ही लुप्त होऊन जाते. या करिताच वेदामध्ये पुढीलप्रमाणे प्रार्थना केलेली आहे. 'ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।' गुरू, शिष्य आम्ही दोघांनीही एकमेकांचे रक्षण करावे; दोघांनी मिळून भोगामध्येही परस्पर साहाय्य करावे. परस्पर सहाय्यक बनून बल, वीर्य, तेज यांची वृद्धी करावी; साधन, अध्ययन यांच्या द्वाराने सर्व गुरुबंधू तेजस्वी बनावेत; कोणीही कोणाचा द्वेष करू नये, आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक या तीनीही विभागांमध्ये पूर्ण शान्ती रहावी. असा वरील प्रार्थनेचा अभिप्राय आहे.

दीक्षेचे प्रकार

गुरूकृपाद्वारा कुंण्डलिनी शक्ती जागृत होणे यालाच शक्तिपात किंवा वेधदीक्षा असे म्हणतात. सद्गुरू हस्तस्पर्शाने, मंत्रोपदेशाने, दृष्टीने किंवा संकल्पाने श्रद्धाळू शिष्यामध्ये शक्तीचा संचार करीत असतात. यामध्ये संकल्प हा सर्वांमध्ये अनुस्यूत असल्याने तोच मुख्य आहे. स्पर्शादिक बाह्य साधन आहे. स्पर्शद्वारा होणारी दीक्षा स्थूलदीक्षा, मंत्रोपदेशद्वारा होणारी सूक्ष्म, दृष्टीद्वारा सूक्ष्मतर आणि संकल्पानेच होणारी दीक्षा सूक्ष्मतम दीक्षा होय. यांपैकी एक, दोन किंवा तीनीही द्वारांचा उपयोग इच्छेप्रमाणे सद्गुरू करीत असतात. काही उत्तम अधिकारी शिष्यांमध्ये संकल्पावाचूनही शक्तिपात झाल्याची उदाहरणे आहेत. याकरिताच सत्संगाचे माहात्म्य शास्त्रकारांनी फार वर्णन केले आहे. श्रीमहाराजांचाही एक अभंग प्रसिद्ध आहे. तो असा

'सदा संतांपासी जावे। त्यांचे जवळी बैसावे।। १।।
उपदेश ते न देती। तरी ऐकाव्या त्या गोष्टी।। २।।
तेची उपदेश होती। त्याही कष्ट नष्ट होती।। ३।।
वासुदेव म्हणे संत। संगे करिती पसंत।। ४।।'

या दीक्षा, अधिकारीभेदामुळे भिन्न आहेत. कनिष्ठ, मध्यम व उत्तम असे तीन प्रकारचे अधिकारी आहेत. काही लोकांना शक्तीचा पूर्ण विकास होण्यासाठी कालावधीची अपेक्षा दिसते ते मंद अधिकारी समजावेत. काहींना प्रथमच जोराने शक्ती जागृति झाल्यासारखी दिसते. पण पूर्ण विकास हळूहळूच होत राहतो, हे मध्यम अधिकारी होत. काही थोड्याच मंडळींना मात्र गुरूच्या स्पर्शाने, दृष्टीने किंवा मंत्रोपदेशाने तत्काल विकासाचा आरंभ होऊन तो अधिकाधिक होत राहतो असे लोक उत्तमाधिकारी समजावेत. झाडावर मुंग्यांना चढून जाण्यास बराच कालावधी लागतो. वानरांना एका शाखेवरून दुसऱ्या अशा क्रमाने वर जावे

लागते. पण ते मुंग्यांपेक्षा लवकर वर जाऊन पोचतात. पण पक्षी मात्र एकदमच वरच्या शाखेवर जाऊ शकतात. याप्रमाणे साधकांचा अवस्थाभेद दिसून येतो.

शक्तिपात दीक्षेची प्रक्रिया

शक्तिपात दीक्षा कशी होते याबद्दल शास्त्रकारांचा अभिप्राय असा आहे - पातंजल योगसूत्रामध्ये चित्तस्थैर्याचे अनेक उपाय प्रथमपादामध्ये दाखविले आहेत. त्यामध्ये 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' (योगसूत्र १ - ३७) असे एक सूत्र आहे. हे सूत्र शक्तिपातदीक्षेला प्रमाणभूत आहे. याचा अर्थ - ज्यांचे राग-द्वेषादी मनोदोष पूर्णपणे नाहीसे झाले आहेत अशा निर्मल मनाच्या महापुरुषांचे चित्त. ज्याचा विषय म्हणजे आलंबन (आधार) झाले आहे असे योगाभ्यासी पुरुषाचे चित्त-स्थिर होते असा याचा सामान्यत: अर्थ आहे.

महापुरुषांचा संकल्प अमोध असतो. अमुक शिष्याचे चित्त स्थिर व्हावे असा त्यांचा संकल्प झाल्याबरोबर त्यांच्या त्या संकल्पयुक्त चित्ताच्या आश्रयाने शक्तीचा संचार शिष्याच्या चित्तात होऊन त्याचा वृत्तिनिरोध होतो. याप्रमाणे शिष्याला, वीतराग पुरुषाच्या चित्ताचे आलंबन मिळते. सिद्धपुरुषांची संकल्पशक्ती फार मोठी असते. परकायाप्रवेश सिद्धीचे वर्णन करीत असताना श्रीभागवतामध्ये श्रीकृष्णपरमात्मा असे सांगतात -

'परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूत: षडंघ्रिवत्।।'

(११ - १५ -२३)

दुसऱ्याच्या शरीरात प्रवेश करू इच्छिणाऱ्या योगी पुरुषाने, त्या शरीरात मी आहे अशी भावना करावी. अशा दृढ भावनेमुळे त्याचे लिंगशरीर वायुरूप बनून, एका फुलावरून दुसऱ्या फुलावर जाणाऱ्या भ्रमराप्रमाणे, दुसऱ्याच्या शरीरात प्रवेश करू शकते. याठिकाणी दृढ संकल्पाचेच महत्त्व व्यक्त केले आहे. तात्पर्य, सद्गुरूंच्या चित्ताचे द्वाराने शिष्यामध्ये शक्तिसंचार होतो असे सिद्ध होते.

प्राणशक्ती परमात्म्याची छाया आहे. तो प्राण बाहेर आदित्य, अग्नी, आकाश, सामान्य वायू व सामान्य तेज या रूपाने राहात असून, शरीरामध्ये प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान या रूपाने राहातो. आदित्यादी बाह्य रूपाने प्राण, अपान इत्यादी आंतर रूपांवर अनुग्रहही करतो. हा विषय प्रश्नोपनिषदातील तिसऱ्या प्रश्नात आलेला आहे. चित्ताचा व शक्तीचा किती दृढ संबंध आहे हेही त्यातील पुढील मंत्रात सुचविले आहे -

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशांततेजः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥ यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति। प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥' (प्रश्नोपनिषत् ३। ९ - १०)

तेजच उदान आहे. म्हणून ज्याचे तेज उपशान्त झाले आहे तो, ते तेज पुनः उत्पन्न करण्याकरिता, इंद्रियांचा मनामध्ये लय करतो म्हणजे प्रत्याहार करतो, आणि चित्ताची एकाग्रता करतो. मनुष्याला एकाग्र चित्तामुळे प्राणशक्ती प्राप्त होते असा या श्रुतिवाक्याचा अभिप्राय दिसतो. तो प्राण तेजाने युक्त होऊन संकल्पित सिद्धी प्राप्त करून देतो. चित्तनिरोध केला असता आदित्य, अग्नी, आकाश, वायु, तेज इत्यादी बाह्य पदार्थातील शक्ती आत खेचून घेता येतात. एकाग्र चित्त करणारा योगी पुरुष प्राणशक्तीला उदान रूप तेजाने युक्त करून तेजोमय बनतो. आणि त्याच प्राणशक्तीला, दुसऱ्याच्या ठिकाणीही दृष्टिद्वारा चाक्षुषप्राणाच्या साहाय्याने; अथवा मंत्रद्वारा अग्निस्वरूप समानशक्तीच्या आधाराने; किंवा स्पर्शद्वारा वायुस्वरूप व्यानशक्तीच्या आश्रयाने त्या शक्तीचे संक्रमण करू शकतो. तात्पर्य, योगी पुरुष आपल्या संकल्पाप्रमाणे प्राणशक्तीचा संचार शिष्यामध्ये करू शकतो. याबद्दल हे उपनिषद्वाक्य सूचक प्रमाण आहे. श्रीशंकराचार्य महाराजांनी या वाक्याचा अर्थ निराळा केला आहे. तथापि काही योगाभ्यासी पुरुषांचे मताने वरीलप्रमाणे, शक्तिपात दीक्षेला पोषक प्रमाणभूत असा याचा अर्थ दाखविला आहे. योगदृष्टीने, वरील उपनिषद्वाक्यामध्ये, शक्ती संपादन करण्याचे रहस्य स्पष्टपणे

दाखविले आहे. ज्याचे ब्रह्मतेज उपशान्त- क्षीण, झाले आहे असा मनुष्य आपली इंद्रिये, मन यांचा संयम स्वत: करू शकत नाही. त्याला शक्तिपातद्वारा गुरूच्या शक्तीच्या आलंबनाने तो संयम सुकर होतो. शक्तिपातानंतर शिष्याची शक्ती जागृत झाल्यावर तो स्वत:च आपल्या इंद्रियादिकांचा संयम करण्यास समर्थ होतो. मनोनिरोध जसा जसा होत जाईल तसा तसा शक्तिसंचयही अधिकाधिक होत रहातो.

शक्तीचा विकास

हा शक्तिपात मात्र धर्माधर्माची साम्यावस्था प्राप्त झाली असतानाच घडून येतो. ही अवस्था, शक्तिपातरूप कार्यावरूनच अनुमानाने मागाहून आपणास कळून येणारी आहे. या दीक्षेला सर्व वर्णाचे बाल, वृद्ध, तरुण, स्त्री, पुरुष सर्वही अधिकारी आहेत. दीक्षा झाल्यानंतर कंबलासन किंवा मृगाजिनादिकावर बसून पवित्र, एकांत स्थानात एकट्याने किंवा गुरुबंधूबरोबर हा अभ्यास नित्य करावा.

अभ्यासाने शक्तीचा विकास सर्वही कोशातून होत राहातो. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय असे पाच कोश आहेत. स्थूल पार्थिव शरीर म्हणजे अन्नमय कोश होय. त्याच्या आत सर्व नाड्यातून व्यापलेला शक्तिमय प्राणमय कोश आहे. हृदयामध्ये अनेक वृत्तिरूप मनोमयकोश आहे. मस्तकामध्ये विज्ञानमयकोश आहे. या जन्मात किंवा पूर्वजन्मात केलेल्या बऱ्या वाईट कर्मांचे संस्कार विज्ञानमय कोशामध्ये साठून राहतात. हा कोश संस्काराशय आहे. याचा नित्यमुक्त ईश्वराला मात्र काही संबंध नाही. म्हणूनच 'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:' (योगसूत्र १-२४) या ईश्वरलक्षणात आशयाचा संबंध ईश्वराला नाही असे योगसूत्राकार सांगतात. पाचवा आनन्दमय कोश. हा आनन्दप्रचुर आहे. याची उत्कट स्फूर्ती सुषुप्तिसमयी असते. या पाचही कोशांचा विकास शक्तिपातानंतर होऊ लागतो. मुख्यत: प्राणशक्ती ऊर्ध्वगामी

होऊ लागते, करिता प्रथम प्राणमय कोशाचा विकास सुरू होतो. याची चिन्हे - डोके, डोळे, सबंध शरीर जड होणे इत्यादी आहेत. तसेच अन्नमय कोश म्हणजे स्थूल शरीराचा विकासही होतो. याची चिन्हे शरीर कापू लागणे, घुमू लागणे इत्यादि शारीरिक क्रिया सुरू होतात, मनामध्ये आनंद भरून जातो, केव्हा केव्हा निद्रासुद्धा येते, चित्तवृत्तींचा निरोध होऊ लागतो हा मनोमय कोशाचा विकास समजावा. दिव्यशब्दश्रवण, दिव्यरूपदर्शन, दिव्यस्वर्ग, दिव्यरस, दिव्यगंध यांचे ज्ञान होणे हा विज्ञानमय कोशाचा विकास होय. निरुपाधिक, निर्विषय, सात्त्विक आनंदाची अभिव्यक्ती म्हणजे आनंदमय कोशाचा विकास समजावा.

'महाकुंण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः ॥' (योगकुंण्डलिन्युपनिषत्)

कुंण्डलिनी परब्रह्मस्वरूप आहे तसेच ती शब्दब्रह्ममय म्हणजे प्रणवस्वरूप आहे. अकार, उकार व मकार हे क्रमाने तमोगुण, रजोगुण व सत्त्वगुण आहेत; आणि अर्धमात्रेपासून उत्पन्न होणारा ध्वनी- जो शुद्ध आत्मस्वरूपाचा अभिव्यंजक आहे, अशा साडेतीन मात्रा म्हणजे कुंडलिनी शक्तीची साडेतीन कुंडले समजावीत. ही आत्मशक्ती, मूलाधारात निजलेली आहे. आपल्या मुखात पुच्छ घेऊन, सुषुम्नेचे द्वार आडवून ही निजली असल्याचे दाखविले आहे. ही शक्ती जागी झाल्याबरोबर त्रिगुणात्मक बंधन ढिले पडते. आपली कुंडले सोडून ही सरळ सर्पाप्रमाणे होते व सुषुम्नेतून वर जाऊ लागते. हिचे जागे होणे व ऊर्ध्वगमन करणे हा प्रत्यक्ष अनुभव योगी पुरुषास येऊ लागतो.

योगाभ्यास, तीव्र वैराग्य, ज्ञान, भक्ती अथवा स्वतंत्र प्राणायामाभ्यास इत्यादि उपायांनी कुंण्डलिनी शक्ती जागृत होते. गुरुकृपेने होणाऱ्या शक्तिपातानेही जागृत होते. या प्रक्रियेमध्ये शक्तिजागृतीकरिता साधकाला विशेष आयास पडत नाहीत. अविद्या व विद्या अशा दोन अवस्था कुंडलिनीच्या आहेत. अविद्या अवस्थेमध्ये ती निद्रिस्त राहून संसारबंधनाला कारण होते. आणि विद्यावस्थेमध्ये

जागृत होऊन मोक्षप्रद होते. जागृत झाल्यानंतर तिची तीन रूपे अथवा तीन अवस्था आहेत. क्रियारहित, क्रियाशील व लयावस्था. पहिल्या क्रियारहित अवस्थेमध्ये मनुष्याची प्रवृत्ती विवेक, वैराग्य इत्यादि सद्गुणांकडे होते; पण मोक्ष साधनाचा आरंभ होत नाही. जागृत झालेली शक्ति फक्त पाप नाश करण्याचे कार्य करीत असते, पापनाश झाल्यानंतर क्रियाशील बनते, समाधी किंवा मोक्षावस्थेत शक्ती ब्रह्मात विलीन होते. ही तिसरी लयावस्था. सुप्तावस्थेत ती कंदस्थानात असत; क्रियारहित अवस्थेत स्वाधिष्ठानस्थानात राहाते; क्रियाशील अवस्थेत विशुद्धचक्रस्थानात राहून, मूलाधारापासून सहस्रारापर्यंत आरोहण-अवरोहण करीत राहाते. लयावस्थेमध्ये आज्ञाचक्रापासून ब्रह्मरंध्रापर्यंत राहाते. स्थूल, सूक्ष्म व कारण अशा तीन शरीराच्या क्रियाही भिन्न भिन्न असतात. शक्ती क्रियाशील अवस्थेत असताना हठयोगातील विविध आसने, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, भक्तीतील विविध अवस्था, नृत्य, गीत, सामगान, प्रणवोच्चारण, नामसंकीर्तन, मंत्रयोग, ज्ञानयोग इत्यादी अनेक क्रियांचा अनुभव साधकाला येऊ लागतो. या क्रियाही ज्याच्या त्याच्या प्रकृतीप्रमाणे, पूर्वसंस्काराप्रमाणे भिन्न भिन्न होत राहातात. सर्वांच्या सारख्या होत नाहीत. यामुळेच शक्तिपात योगाला सहजयोग किंवा स्वाभाविक योग असेही नाव पडले आहे. या क्रिया सुरू झाल्या असता कोणतीही हानी होण्याचा संभव नाही. कारण शक्तीच्या क्रियाशीलतेमुळे स्वाभाविक क्रियाच, त्या त्या साधकाच्या विकसित होतात आणि देश, काल, ऋतू यांच्या अनुरोधानेच साधकाच्या शरीर, मन, प्राण इत्यादिकांना अनुकूलच राहात असतात.

चक्रांचा वेध व योगभूमिका

जागृत झालेली शक्ती सुषुम्नेत प्रवेश करते आणि चक्राचा वेध करते. त्यामुळे सर्व नाड्यांची शुद्धी होते. सर्व नाड्यांचा संबंध सुषुम्नानाडीशी आहे. सुषुम्ना नाडीच्या शाखा-उपशाखातून निघालेल्या सर्व नाड्या शरीराच्या सर्व

भागात व्यापून राहिल्या आहेत. सुषुम्ना नाडीत प्रविष्ठ झालेली शक्ती चक्रांचा वेध करून सर्वही नाड्यांमधून वेगाने फैलावते. उंच टाकीमध्ये भरलेले पाणी, सर्व नळातून वेगाने वाहाते. एखाद्या नळात कदाचित काही प्रतिबंध असेल तर तोही त्या पाण्याच्या वेगामुळे आपोआप दूर होतो. याप्रमाणे सर्वत्र पसरलेली ती शक्ती प्राणामयकोशामध्ये प्राणाचे संचालन करते; त्यामुळे प्राणायामाची सिद्धी प्राप्त होते. प्राणाचा अपानाशी योग, अपानाचा प्राणाशी योग, दोघांचाही गतिनिरोध आणि केवल कुंभक अशा चारही प्रकारच्या प्राणायामांची सिद्धी, शक्ती जागृत होऊन क्रियाशील झाल्यावर आपोआप होते. त्यामुळे सुषुम्ना मार्गाचा वेध होऊन चित्ताची लयावस्था प्राप्त होते. तसेच मातृकाशक्तीचाही उद्‌बोध होऊन सिद्धमंत्रांची प्राप्ति होते. मातृकाशक्तीही कुंण्डलिनीशक्तीचेच एक रूप आहे, जिच्यामध्ये अकारापासून क्षकारापर्यंत सर्व वर्णमाला असून पद, वाक्य यांची रचनारूप वैखरी वाणी प्रकट होते. याकरिता कुंण्डलिनीला सरस्वतीही म्हटले आहे. ही सरस्वती सिद्ध झाली असता मंत्रादिकांचा विकास होऊ लागतो व योगी पुरुषामध्ये व्याख्यानशक्ती, कवित्वशक्ती इत्यादी शक्तींचा उद्‌भव होतो. 'अनादिष्टस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रबोधनम्' हे फल शास्त्राकारांनी दाखविले आहे. तसेच शक्तीच्या क्रियाशीलतेमुळे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी ही योगाची आठही अंगे हळू हळू सिद्ध होऊ लागतात. शृंगार, वीर, करूण, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र आणि प्रेमात्मकभक्ती अथवा शान्त, अशा नवविध भावांनी तो साधक संपन्न होतो. सिद्धांचे दर्शन, इष्टदेवतेचे दर्शन त्याला घडते. ऊर्ध्वरेतस्त्व, खेचरीमुद्रा, रागद्वेष, काम, क्रोधादी वासनांचा समूल नाश होणे इत्यादी महत्त्वाची फलेही साधकाला प्राप्त होतात. तसेच, सूर्य, चंद्र, अग्नी, दीप, वीज, नक्षत्र इत्यादी तेजांचे दर्शन साधकाला होऊ लागते. डोळे उघडे असताना, डोळे बंद करून ध्यानावस्थेत किंवा समाधि अवस्थेत याप्रमाणे तीन प्रकारांनी ज्योतिर्दर्शन घडते. हे दर्शन ब्रह्मदर्शनच आहे

याबद्दल श्वेताश्वतरादी उपनिषदातून वर्णन आले आहे. ब्रह्म अव्यक्त असले तरी चित्तोपाधीमुळे वरीलप्रमाणे त्याचे व्यक्त दर्शन घडते. अभ्यासाने शक्तिविकास होऊन राहिला असता, आरंभ, घट, परिचय व निष्पत्ती या चार भूमिका प्राप्त होतात. इंद्रिय, मन यांची बहिर्मुखता कमी होऊन ती अन्तर्मुख होणे ही आरंभ भूमिका. सुषुम्ना नाडीतून प्राण ऊर्ध्वगामी होऊन नखशिखान्त त्याची स्थिरता होणे ही घटावस्था. ब्रह्मरंध्रामध्ये जाऊन प्राण स्थिर होणे ही परिचयावस्था आणि जीवनन्मुक्तिदशा प्राप्त होणे ही निष्पत्ती भूमिका. याप्रमाणे नाना प्रकारच्या सिद्धींचीही प्राप्ती योगी पुरुषाला होते. हे सर्व, ज्याचा अधिकार जसा असेल तसे घडून येते. नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग आत्मस्वरूपाला या फलांचा काहीच संबंध नाही. तो परमानंदरूप असून त्याच्याच आनंदलेशाचा अनुभव सर्व विश्वाला मिळून राहिला आहे. वरील सर्व फलसिद्धी विकसित चित्ताच्या भूमिका आहेत. समाधी अवस्थेच्या अभ्यासाने आत्मस्वरूपाचा साक्षात्कार झाल्यानंतर सर्वच द्वंद्वाची निवृत्ती म्हणजे मुक्तीची प्राप्ती होणारी आहे. हे मानव जीवनाचे शेवटचे मुख्य फल आहे. याकरिता श्रीमहाराजांनी 'श्रेष्ठपुंजन्मसाफल्यं कार्यं योगत्रयाश्रयात्। समसख्यातद्विसाहस्त्री-संहितासंग्रहस्त्वयम्' याप्रमाणे योगरहस्याच्या आरंभ-श्लोकात साधकाला कर्तव्याचा स्पष्ट आदेश दिलेला आहे.

नित्य साधनाभ्यासाचे महत्त्व

योगसाधन हे ज्ञानाचे अंतरंग साधन असून ते प्रारब्धकर्मांचाही प्रतिबंध करू शकते. हे प्रत्यक्ष फलदायी प्रयोगशास्त्र आहे. याचे महत्त्व हठयोगप्रदीपिकेचे टीकाकार ब्रह्मानंद यांनी पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे

'यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम्।[१] तदुक्तं विष्णुधर्मे -

'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मण: संक्षयावह:।
यो योग: पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' इति। [२]

विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्- 'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यास: प्रबल:। अतएव योगिनामुद्दालक-वीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तं- 'देहं जह्यात्समाधिना' इति।[३] (हठयोगप्रदीपिका ३।८२)

असा सर्वश्रेष्ठ फलदाता योग असूनही इंद्रियांच्या विषयसक्तीमुळे हा अत्यंत कठीण वाटतो. त्यामुळे इकडे प्रवृत्ती, सर्वांची होत नाही. याबद्दल श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी फार सुंदर विवेचन केले आहे. ते असे -

---

[१] *जो साधक एक प्रहर नित्य अभ्यास करतो तो काळाला म्हणजे मृत्यूला जिंकतो. यावरून योगाने प्रारब्धकर्माचाही प्रतिबंध होतो असे दिसते.*

[२] *हे पृथ्वीपते, आपल्या देहाच्या उत्पत्तीला कारण असलेल्या कर्माचाही संक्षय करणारा जो योग त्याचे लक्षण ऐक.*

[३] *विद्यारण्यही जीवन्मुक्तीत म्हणतात - जसे प्रारब्धकर्म हे तत्त्वज्ञानाहून प्रबल तसाच कर्मापेक्षां योगाभ्यास प्रबल आहे. त्यामुळेच उद्दालक, वीतहव्य इत्यादी योग्यांच्या स्वेच्छेने देहत्याग करण्याचे स्पष्टीकरण होते.*

'आता तुझे मनोगत जाणोनी। काही एक आम्ही म्हणोनी। ते निके चित्त देवोन। परिसावे गा।। ५९।। तूं प्राप्तीची चाड वाहसी। परी अभ्यासी दक्ष न होसी। तें सांग पां काय बिहसी। दुवाडपर्णे ।। ३६०।। तरी पार्था हे झणे। सायास घेशी हो मनें। वायां बागूल इये दुर्जनें। इंद्रिये करिती ।। ६१।। पाहे पां आयुष्यातें अढळ करी। जे सरतें जीवित वारी। तया औषधातें वैरी। काय जिव्हा न म्हणे ।। ६२।। ऐसें हितासी जें जें निके। तें सदाचि या इंद्रिया दुखे। येऱ्हवी सोपें योगासारिखे। कांही आहे ।। ६३।। (ज्ञानेश्वरी ६।१९।३५९-३६३)

तात्पर्य, पूर्ण वैराग्य बाणवून घेऊन योगाभ्यास करणाऱ्यास योगसाधन अत्यंत सोपे व महाफलप्रद आहे. हाच अभिप्राय श्रीमहाराजांनी -

'तस्माद्वैराग्यतोऽभ्यासं गुरोरग्रे वितन्वतः।
योगस्य प्राप्य संसिद्धिं विद्वान् मुक्तो भवेद् द्रुतम् ।।'

या श्लोकात मोठ्या कळकळीने व्यक्त केला आहे. आधिभौतिक विकासालाच प्राधान्य देणाऱ्या पाश्चात्यांच्या संसर्गामुळे आध्यात्मिक शक्तीची कल्पना तरी भारतवर्षासारख्या अध्यात्मविद्याप्रधान देशात राहाते किंवा नाही अशी परिस्थिति आज निर्माण होऊन राहिली आहे. अर्थ आणि काम याच्या पलीकडे काहीच नाही ही पाश्चात्यांची विचारसरणी भारतातही अधिकाधिक प्रसृत होऊ लागल्यामुळे धर्म, नीति, श्रद्धा, भक्ती, सदाचार इत्यादि ईशप्रसादसंपादक साधनांचा ऱ्हास होऊन राहिला आहे. अशा स्थितीत योगासारखी श्रद्धाधनसाध्य साधने दुर्मिळ होतील यात नवल ते काय? सर्वांचे कल्याण व्हावे या वात्सल्यपूर्ण दृष्टीने ज्या भगवंतांनी अर्जुनाला, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' असे आवर्जून सांगितले, त्यांनाच शेवटी

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

असे उद्‌गार काढण्याची पाळी आली. त्रिविध दुःखांचा आघात सारखा

होत आहे; त्यातून पूर्ण मुक्त होण्याची निश्चित साधनपद्धती, प्रत्येकाच्या अधिकारानुरूप ईश्वराने शास्त्ररूपाने पुढे मांडलेली आहे; साधन मार्गातील उद्‌भवणारे अंतराय दूर करून अत्यंत आत्मीयतेने मार्गदर्शन करू इच्छिणारे सिद्ध पुरुष, ईश्वराच्या आदेशानुसार सर्व कालात ते कार्य करून राहिले आहेत. अशी सर्व प्रकारची अनुकूलता असूनही नास्तिक्य व उपेक्षा यांचेच प्राबल्य वाढते. असलेले पाहूनच की काय 'अरतिर्जनसंसदि' या भगवद्वचनानुसार चिरंतन समाधिसुखात राहू इच्छिणारे श्रीज्ञानेश्वर महाराज शेवटी जी प्रार्थना करितात तीच प्रार्थना करून व बुद्धिप्रेरक दिव्य शक्तिसंपन्न सद्‌गुरुमूर्तीजवळ भक्तियाचना करून या लेखनाचा आम्ही समारोप करीत आहोत -

''चन्द्रमे जे अलांछन। मार्तंड जे तापहीन।
ते सर्वाही सदा सज्जन । सोयरे होतू ।। १।।
किंबहुना सर्वसुखी । पूर्ण होवोनी त्रिलोकी ।
भजिजो आदिपुरूषी। अखंडित ।। २।।

त्वयि भक्तिं मेवर्धय दुर्हत्तम ईश नाशय अशेषम् ।
यच्च तवेष्टं तत्कुरु मयि भो: सर्वज्ञ वक्तुमसमर्थ:।। १।।

श्रीगुरूचरणारविन्दार्पणमस्तु.

श्रीगुरूसेवार्थी,
-वामन दत्तात्रेय गुळवणी
अध्यक्ष,
श्रीवासुदेवानंद-सरस्वती ग्रंथ प्रकाशन मंडळ,
'पुणे'

मुद्रकः—
शा. गुलाबचंद लल्लुभाई.
आनंद प्रिन्टींग प्रेस
भावनगर.

प्रकाशकः—
मंत्री लाला डालचन्दजी जौहरी.
श्री आत्मानन्द जै० पु० प्र० मंडल,
रोशन मुहल्ला, आग्रा.

समर्पण।

श्रीमान् प्रवर्त्तक कान्तिविजयजी !

आपके प्रति मेरी अनन्य-साधारण पूज्य बुद्धि है, इसका कारण न तो स्वार्थ ही है और न अंधश्रद्धा; आपके विद्यानुराग, शास्त्रप्रेम और निरवद्य साधुभावसे मैं आकर्षित हुआ हूं-इसीसे यह पुस्तक आप के करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूं.

आपका सेवक,—

सुखलाल.

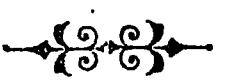

विषयानुक्रमणिका.

विषय.	पृष्ठ.
विषयानुक्रमणिका	०
परिचय	१
प्रस्तावना	१
योगदर्शन....	२
योगशब्दका अर्थ	२
दर्शनशब्दका अर्थ....	४
योगके आविष्कारका श्रेय	४
आर्य संस्कृतिकी जड और आर्य जातिका लक्षण	१०
ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा	११
व्यावहारिक और पारमार्थिक योग	१३
योगकी दो धारायें....	१४
योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन	१९
योगशास्त्र....	३८
महर्षि पतञ्जलीकी दृष्टिविशालता	४६
आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा.	५९
उपसंहार	६६
पातञ्जलयोगदर्शन वृत्तिसह	१
योगविंशिका सटीक	५६
योगवृत्तिका सार	९१
योगविंशिकाका सार	११४
योगसूत्रवृत्ति तथा योगविंशिकावृत्तिमें प्रमाणरूपसे आये हुए अवतरणोंका वर्णक्रमानुसारी परिशिष्ट नं० १	१४०
योगसूत्रवृत्ति और योगविंशिकाटीकामें आये हुए अवतरणोंका कर्ता और ग्रन्थके नाम निर्देशसंबन्धी परिशिष्ट नं० २.	१४१

परिचय.

पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत पुस्तक उपस्थित करते हुए इसका संक्षेपमें परिचय कराना जरूरी है। शुरूमें प्रस्तावना रूपसे योगदर्शन पर एक विस्तृत निबन्ध दे दिया गया है जिसमें योग तथा योग-सम्बन्धी साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों पर सप्रमाण विचार किया गया है। तत्पश्चात् इस पुस्तकमें मुख्यतया योगसूत्रवृत्ति और सटीक योगविंशिका इन दो ग्रन्थोंका संग्रह है, तथा साथमें उनका हिंदी सार भी दिया हुआ है। अतएव उक्त दोनों ग्रन्थोंका, उनके कर्ता आदिका तथा हिंदी सारका कुछ परिचय कराना आवश्यक है, जिससे वाचकोंको यह मालुम हो जाय कि ये ग्रन्थ कितने महत्त्वपूर्ण हैं, और इनके कर्ताका स्थान कितना उच्च है। साथ ही यह भी विदित हो जाय कि मूल ग्रन्थोंके साथ उनका हिंदी सार देनेसे हमारा क्या अभिप्राय है। आशा है इस परिचय-को ध्यानपूर्वक पढनेसे वाचकोंकी रुचि उक्त दो ग्रन्थोंकी ओर विशेष रूपसे उत्तेजित होगी, ग्रन्थकर्ताओंके प्रति बहु-मान पैदा होगा। और हिंदी सार देख कर उससे मूल ग्रन्थके भावको समझ लेनेकी उचित आकांक्षा पैदा होगी।

(१) योगसूत्रवृत्ति—यह वृत्ति योगसूत्रोंकी एक छोटी सी टिप्पणिरूप व्याख्या है। योगसूत्रोंमें सांगोपांग योगप्रक्रिया है, जो सांख्य-सिद्धान्तके आधार पर लीखी गई है। उन सूत्रों-के ऊपर सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वकी टीका महर्षि व्यासका भाष्य है। यह प्रसन्न गंभीर और विस्तृत भाष्य सांख्य सिद्धान्तके अनुसार ही रचा गया है, पर वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार रची गई है। अतएव जिस जिस

विषयमें सांख्य और जैन शास्त्रका मत-भेद है तथा जिस जिस विषयमें मतभेद न होकर सिर्फ वर्णन-पद्धति या सांकेतिक शब्द मात्रका भेद है उस उस विषयके वर्णनवाले सूत्रोंके ऊपर ही वृत्तिकारने वृत्ति लीखी है, और उसमें भाष्यकारके द्वारा निकाले गये सूत्रगत आशयके ऊपर जैन प्रक्रियाके अनुसार या तो आक्षेप किया है या उस आशयके साथ जैन मन्तव्यका मिलान किया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि यह वृत्ति योगदर्शन तथा जैन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तोंके विरोध और मिलानका एक छोटा सा प्रदर्शन है। यही कारण है कि प्रस्तुत वृत्ति सब योगसूत्रोंके ऊपर न हो कर कतिपय सूत्रोंके ऊपर ही है। योगसूत्रोंकी कुल संख्या १९५ की है और वृत्ति सिर्फ २७ सूत्रोंके ऊपर ही है। सब सूत्रोंकी वृत्ति न होने पर भी प्रस्तुत पुस्तकमें हमने सूत्र तो सभी दे दिये हैं पर भाष्य तो सिर्फ उन्हीं सूत्रोंका दिया है जिन पर वृत्ति है। ऐसा करनेके मुख्य दो कारण हैं (१) सूत्रोंका परिमाण बडा नहीं है और (२) वृत्ति पढनेवालेको कमसे कम मूल सूत्रोंके द्वारा भी संपूर्ण योगप्रक्रियाका ज्ञान करना हो तो इसके लिए अन्य पुस्तक ढूँढनेकी आवश्यकता न रहे। इसके विपरीत भाष्यका परिमाण बहुत बडा है और वह कई जगह अच्छे ढंगसे छप भी चुका है। यद्यपि वृत्ति पढनेवालेको योगदर्शनके मौलिक सिद्धान्त जानने हों तो उसका वह उद्देश्य भाष्य विना देखे भी सिद्ध हो सकता है। फिर भी वृत्तिवाले सूत्रोंका उपयोगी भाष्य उस उस सूत्रके नीचे इस लिए दिया है कि वृत्ति समझनेमें पाठकोंको अधिक सुभीता हो, क्योंकि वृत्तिकारने भाष्यकारके आशयको ध्यानमें रख कर ही अपनी वृत्तिमें अर्थसूचक मतभेद और ऐकमत्य दिखाया है। केवल जैन दर्शनको जाननेवाले संकुचित दृष्टिके कारण यह नहीं जानते

कि अन्य दर्शनके साथ जैन दर्शनका किस किस सिद्धान्तमें कितना और कैसा वास्तविक मतभेद या मतैक्य है। इसी प्रकार केवल वैदिक दर्शनको जाननेवाले विद्वान् भी एकदेशीय दृष्टिके कारण यह नहीं जानते कि जैन दर्शन किन किन बातों-में वैदिक दर्शनके साथ कहाँ तक और किस प्रकार मिल जाता है। इस पारस्परिक अज्ञानके कारण दोनों पक्षके विद्वान् तक भी बहुधा, एक दूसरेके ऊपर आदर रखना तो दूर रहा, अनुचित हमला किया करते हैं, जिससे साधारण वर्गमें भ्रम फैल जाता है और वे खंडन मंडनमें ही अपनी शक्तिका खर्च कर डालते हैं; इस विषमताको दूर करनेके लिए ही यह वृत्ति लिखी गई है। यही कारण है कि इसका परिमाण बहुत छोटा होने पर भी इसका महत्त्व उससे कई गुना अधिक है। जैन दर्शनकी भित्ति स्याद्वाद सिद्धान्तके ऊपर खडी है। प्रामाणि-क अनेक दृष्टियोंके एकत्र मिलानको ही स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद सिद्धान्तका उद्देश्य इतना ही है कि कोई भी समझ-दार व्यक्ति किसी वस्तुके विषयमें सिद्धान्त निश्चित करते समय अपनी प्रामाणिक मान्यताको न छोडे परन्तु साथ ही दूसरोंकी प्रामाणिक मान्यताओंका भी आदर करे। सचमुच स्याद्वादका सिद्धान्त हृदयकी उदारता, दृष्टिकी विशालता, प्रामाणिक मतभेदकी जिज्ञासा और वस्तुकी विविध-रूपताके खयाल पर ही स्थिर है। प्रस्तुत वृत्तिके द्वारा उसके कर्त्ताने उक्त स्याद्वादका मंगलमय दर्शन योग्य जिज्ञासुओंके लिए सुलभ कर दिया है। हमें तो यह कहनेमें तनीक भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत वृत्ति जैन और योग दर्शनके मिलानकी दृष्टिसे गंगा यमुनाका संगमस्थान है, जिसमें मतभेदरूप जलका वर्ण भेद होने पर भीदोनोंकी एकरसता ही अधिक है।

वृत्तिके महत्त्वका पूरा खयाल उसको मनन पूर्वक उदार दृष्टिसे पढने पर ही आसकता है।

(२) योगविंशिका—यह मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है। इसका परिमाण और विषय इसके नामसे प्रसिद्ध है, अर्थात् यह वीस गाथाओंका योग सम्बन्धी एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसके प्रणेताने वीस वीस गाथाओंकी एक एक विंशिका ऐसी वीस[1] विंशिकाएँ रची हैं, जो सभी उपलब्ध हैं। उनमें प्रस्तुत योगविंशिकाका सत्रहवाँ नंबर है, इसमें योगका वर्णन है।

इसके प्रणेताके संस्कृत भाषामें भी जैन दृष्टिके अनुसार योग पर बनाये हुए योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय और षोडशक ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो छप चूके हैं। इसके सिवाय उनका बनाया हुआ योगशतक नामका ग्रन्थ भी सूना जाता है। एक ही कर्ताके द्वारा एक ही विषय पर लिखे गये उक्त चारों ग्रन्थोंकी वस्तु क्या क्या है और उसमें क्या समानता तथा क्या असमानता है इत्यादि कई प्रश्न वाचकोंके दिलमें पैदा हो सकते हैं जिनका पूरा उत्तर तो वे उक्त ग्रन्थोंके अवलोकन के द्वारा ही पा सकेंगे, फिर भी हमने प्रस्तुत पुस्तकमें इसका अलग सूचन किया है जिसके लिए हम पाठकोंका ध्यान प्रस्ता-

---

१ वीस वीसीयोंके नाम इस प्रकार हैं—१ अधिकारविंशिका, २ अनादिविंशिका, ३ कुलनीतिलोकधर्मविंशिका, ४ चरमपरावर्त्तविंशिका, ५ बीजादिविंशिका, ६ सद्धर्मविंशिका, ७ दानविधिविंशिका, ८ पूजाविधिविंशिका, ९ श्रावकधर्मविंशिका, १० श्रावकप्रतिमाविंशिका, ११ यतिधर्मविंशिका, १२ शिक्षाविंशिका, १३ भिक्षाविंशिका, १४ तदन्तरायशुद्धिलिङ्गविंशिका, १५ आलोचनाविंशिका, १६ प्रायश्चित्तविंशिका, १७ योगविधानविंशिका, १८ केवलज्ञानविंशिका, १९ सिद्धविंशिका, २० सिद्धसुखविंशिका।

वना पृष्ठ ५९ परके "आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा" नामक पेरेकी ओर खींचते हैं।

योगविंशिकाकी योगवस्तुका स्थूल परिचय तो पाठक वहींसे कर लेवें, पर उसमें एक सामाजिक परिस्थितिका चित्रण है जिसका निर्देश यहाँ करना उपयुक्त है.

हर एक देश, हर एक जाति और हर एक समाजमें धार्मिक गुरुओंकी तरह धर्मधूर्त गुरुओंकी भी कमी नहीं होती। वैसे नामधारी गुरू भोले शिष्योंको धर्मनाशका भय दिखा कर धर्मरक्षाके निमित्त अपने मनमाने ढँगसे धर्मक्रियाका उपदेश देते हैं और धर्मकी ओटमें शास्त्रविरुद्ध व्यवहारका प्रवर्तन कराया करते हैं, ऐसे धर्मढोंगी गुरुओंकी खबर जैसे [1]आवश्यक-निर्युक्तिमें श्रीभद्रबाहुस्वामीने ली है वैसे बहुत संक्षेपमें पर मार्मिक रीतिसे योगविंशिकामें भी ली गई है। उसमें वैसे पाखंडिओंको संबोधित करके कहा गया है कि "संघ या जैन-तीर्थ मनमाने ढँगसे चलनेवाले मनुष्योंके समुदाय मात्रका नाम नहीं है, ऐसा समुदाय तो संघ नहीं किन्तु हड्डिओंका ढेर मात्र है। सच्चा जैन-तीर्थ या महाजन तो शास्त्रानुकूल चलने वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसलिए तीर्थरक्षाके नामसे अशुद्ध प्रथाको जारी रखना यही वास्तवमें तीर्थनाश है, क्योंकि शुद्ध धर्मप्रथाका नाम ही तीर्थ है जो अशुद्ध धर्मप्रथासे नष्ट हो जाता है"। इसके सिवाय योगविंशिकाके अन्तिम भाग-में रूपी, अरूपी ध्यानका भी अच्छा वर्णन है। यह ग्रन्थ छोटा होनेसे इसमें जो कुछ वर्णन है वह संक्षिप्त ही है, पर इसकी संस्कृत टीका जो इस ग्रन्थके साथ ही दे दी गई है वह बहुत

---

१ देखो वंदनकनिर्युक्ति गाथा. ११०९ से ११९३।

स्पष्ट और सर्वांग परिपूर्ण है। मूलपर उसकी टीकामें टीकाकारने पूरा प्रकाश डाला है, जिसका पुरा परिचय तो उस टीकाके देखनेसे ही हो सकेगा।

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे योगविंशिकाकी टीकाको पढकर टीकाकारकी बहुश्रुतगामिनी बुद्धि और अनेकशास्त्रदोहनका थोडे ही में आस्वाद लेवें।

ग्रन्थकर्त्ता—ऊपर जिस वृत्तिका परिचय कराया गया है, उसके रचयिता जैन विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी हैं। योगविंशिकाकी टीकाके कर्ता भी वे ही हैं। वृत्तिके मूलरूप योगसूत्रके प्रणेता वैदिक विद्वान् महर्षि पतञ्जलि हैं और मूल योगविंशिकाके रचयिता जैन विद्वान् आचार्य हरिभद्र हैं। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकर्तारूपसे उक्त तीन व्यक्तिओंका परिचय कराना आवश्यक है।

(१) पतञ्जलि—इनके जन्मस्थान, माता, पिता, समय आदिके विषयमें विद्वानोंने बहुत ऊहापोह किया है पर अभीतक यही निश्चित नहीं हुआ कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, पाणिनीय व्याकरणसूत्र पर भाष्य रचनेवाले महाभाष्यकारनामसे प्रसिद्ध पतञ्जलिसे जुदा थे या दोनों एक ही थे। महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतञ्जलिकी भिन्नता या एकताके सम्बन्धमें आजतक कीगई खोजोंसे अधिक विचार प्रदर्शित करनेके लिए न तो हमने पर्याप्त अवलोकन ही किया है और न उसकी अधिक गवेषणा करनेके लिए अभी हमें समय ही प्राप्त है, इसलिए इस विषयके जिज्ञासुओंके लिए हम सरल भावसे अन्य विद्वानोंकी गवेषणाओंको देखनेकी ही सिफारिश करते हैं।

हम अन्य इतिहासज्ञ [1]विद्वानोंके इस अनुमानके आधार पर सिर्फ संतोष मान लेते हैं कि योगसूत्रकार यदि महाभाष्यकार ही थे तो उनका समय इ. पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाना चाहिए और यदि दोनों भिन्न थे तो योगसूत्रकार पतञ्जलिका समय इ. के बाद दूसरीसे चौथी शताब्दी तकमें माना जाना चाहिए। अस्तु! पतञ्जलिके बाह्य आवरणको निश्चित रूपसे जाननेका साधन अभी पूर्णतया प्राप्त न होने पर भी इनकी विचार-आत्माका साक्षात् दर्शन योगसूत्रमें हो ही जाता है जो कम सौभाग्यकी बात नहीं है। इनकी आत्मा इतना काल बीत जाने पर भी योगसूत्रोंमें जागती है। जिसके पास एक बार आनेवाला पाषाण हृदय व्यक्ति भी सिर झुकाये बिना, किंबहुना दासानुदास हुए बिना नहीं रह सकता। इनके योग-सूत्रका थोडेमें परिचय करनेके अभिलाषिओंका ध्यान हम प्रस्तावना पृष्ठ ३८ पर 'योगशास्त्र' शीर्षक पेरेकी ओर खींचते हैं और इनके महर्षिपनका परिचय करनेकी इच्छावालोंका लक्ष्य "महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता" शीर्षक भागकी ओर खींचते है प्रस्तावना पृ. ४६.

(२) हरिभद्र—इस नामके श्वेताम्बर संप्रदायमें अनेक आचार्य हुए हैं। पर योगविंशिकाके कर्ता प्रस्तुत हरिभद्र उन सबमें पहले है जो याकिनि महत्तरा सूनुके नामसे और १४४४ ग्रन्थप्रणेताके रूपसे प्रसिद्ध हैं उनका समय वि. की [2]आठवीं नववीं शताब्दी अभी निर्णय किया गया है। उनके जीवनका हाल अभी तक जो कुछ [3]प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा अधिक

१ देखो वुड अनुवादित योगदर्शनकी इंग्लीश प्रस्तावना। २ देखो श्रीजिन-विजयजी लिखित हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय जैन साहित्यसंशोधक अंक १। ३ देखो पं. हरगोविंददास लिखित जीवनचरित्र।

लिखनेकी अभी हमारी तैयारी नहीं है, अलबत्ते यह हमारा खयाल हुआ है कि उनके जीवन पर पूरा प्रकाश डालनेके वास्ते जैसा चाहिए वैसा उनके ग्रन्थोंका गहरा अवलोकन अभीतक किसीने नहीं किया है वैसा अवलोकन करके निश्चित सामग्रीके आधार पर विशेष लिखनेकी हमारी हार्दिक इच्छा है। परंतु ऐसा सुयोग कब आवेगा यह कहा नहीं जा सकता। अतएव अभीतकके उनके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उत्पन्न हुए भावको सिर्फ एक, दो वाक्योंमें जना देना ही समुचित है।

जैन आगमों पर सबसे पहले संस्कृतमें टीका लिखनेवाले, भारतीय समग्र दर्शनोंका सबसे पहले वर्णन करनेवाले, जैन शास्त्रके मूल सिद्धान्त अनेकान्तपर तार्किक रीतिसे व्यवस्थित रूपमें लिखनेवाले और जैन प्रक्रियाके अनुसार योगविषय पर [1]नई रीतिसे लिखनेवाले ये ही हरिभद्र हैं। इनकी प्रतिभाने विविध विषयके जो अनेक ग्रन्थ उत्पन्न किये हैं उनसे केवल जैन साहित्यका ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृत, प्राकृत साहित्यका मुख उज्ज्वल है।

---

१ यह कथन उपलब्ध ग्रन्थोंकी अपेक्षासे समझना अन्यथा हरिभद्रसूरिके पहले भी योगविषय पर लिखनेवाले विशिष्ट जैनाचार्य हुए हैं, जिनके अनेक वाक्योंका अवतरण देते हुए हरिभद्रसूरिने योगदृष्टि समुच्चयकी टीकामें 'योगाचार्य' इस प्रतिष्ठासूचक नामसे उल्लेख किया है. इसके लिए देखो यो० स० श्लो० १४, १९, २२, ३५ आदिकी टीका.

अवतरण वाक्योंसे साफ जान पडता है कि 'योगाचार्य जैनाचार्य ही थे। यह नहीं कहा जा सकता है कि वे श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। उनका असली नाम क्या होगा सो भी मालूम नहीं, इसके लिए विद्वानोंको खोज करनी चाहिए। सम्भव है उनके किसी ग्रन्थकी उपलब्धिसे या अन्यत्र उद्धृत विशेष प्रमाणसे अधिक बातोंका पता चले.'।

इनके बनाये हुए जो '१४४४' ग्रन्थ कहे जाते हैं वे सब उपलब्ध नहीं हैं परन्तु आज जितने उपलब्ध हैं वे भी हमारे लिए तो सारी जिन्दगी तक मनन करने और शास्त्रीय प्रत्येक विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं।

यशोविजय—ये विक्रमकी सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दीमें हुए हैं। इनका इतिहास अभीतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। इनके विशिष्ट इतिहासके लिए इनके सभी ग्रन्थोंका सांगोपांग बारीकीके साथ अवलोकन आवश्यक है। इसके लिए समय और स्वास्थ्य चाहिए जो अभी तो हमारे भाग्यमें नहीं है पर कभी इस कामकी तैयारी करनेकी ओर बहुत लक्ष्य रहता है। अस्तु अभी तो वाचक-यशोविजयका परिचय इतनेहीमें कर लेना चाहिए कि उनकी सी समन्वयशक्ति रखनेवाला, जैन जैनेतर मौलिक ग्रन्थोंका गहरा दोहन करनेवाला, प्रत्येक विषयकी तह तक पहुँच कर उस पर समभावपूर्वक अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रकाशित करनेवाला, शास्त्रीय व लौकिक भाषामें विविध साहित्य रच कर अपने सरल और कठिन विचारोंको सब जिज्ञासु तक पहुंचानेकी चेष्टा करनेवाला और सम्प्रदायमें रह कर भी सम्प्रदायके बंधनकी परवा न कर जो कुछ उचित जान पडा उस पर निर्भयता पूर्वक लिखनेवाला, केवल श्वेताम्बर, दिगंबर समाजमें ही नहीं बल्कि जैनेतर समाजमें भी उनका सा कोई विशिष्ट विद्वान् अभी तक हमारे ध्यानमें नहीं आया। पाठक स्मरणमें रक्खें यह अत्युक्ति नहीं है। हमने उपाध्यायजीके और दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका अभीतक जो अल्प मात्र अवलोकन किया है उसके आधार पर तोल नापकर ऊपरके वाक्य लिखे हैं। निःसन्देह श्वेताम्बर और दिगम्बर समाजमें अनेक बहुश्रुत विद्वान् हो गये हैं, वैदिक तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भी प्रचंड

विद्वान्‌की कमी नहीं रही है; खास कर वैदिक विद्वान् तो सदाहीसे उच्च स्थान लेते आये हैं, विद्या मानों उनकी बपौती ही है; पर इसमें शक नहीं कि कोई बौद्ध या कोई वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा नहीं हुआ है जिसके ग्रन्थके अवलोकन से यह जान पड़े कि वह वैदिक या बौद्ध शास्त्रके उपरान्त जैन शास्त्रका भी वास्तविक गहरा और सर्वव्यापी ज्ञान रखता हो। इसके विपरीत उपाध्यायजीके ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक देखने-वाला कोई भी बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् यह कहे बिना नहीं रहेगा कि उपाध्यायजी जैन थे इसलिए जैनशास्त्रका गहरा ज्ञान तो उनके लिए सहज था पर उपनिषद्, दर्शन आदि वैदिक ग्रन्थोंका तथा बौद्ध ग्रन्थोंका इतना वास्तविक, परिपूर्ण और स्पष्ट ज्ञान उनकी अपूर्व प्रतिभा और काशी सेवनका ही परिणाम है।

हिंदी सारका उद्देश्य—ग्रन्थका महत्त्व, उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। उपयोगिताकी मात्रा लोकप्रियताकी मात्रासे निश्चित होती है। अच्छा ग्रन्थ होने पर भी यदि सर्व साधारणमें उसकी पहुँच न हुई तो उसकी लोकप्रियता नहीं हो सकती। जो अच्छा ग्रन्थ जितने ही प्रमाणमें अधिक लोकप्रिय हुआ देखा जाता है उसको लोगों तक पहुँचानेकी उतनी ही अधिक चेष्टा की गई होती है। गीताका उतना अधिक प्रचार कभी नहीं होता यदि विविध भाषाओंमें विविध रूपसे उसका उलथा न होता, अतएव यह साबीत है कि शास्त्रीय भाषाके ग्रंथोंको अधिक उपयोगी और अधिक लोकप्रिय बनानेका एक मात्र उपाय लौकिक भाषाओंमें उनका परिवर्तन करना है। भारत वर्षके साहित्यको भारतके अधिकांश भागमें फैलानेका साधन उसको राष्ट्रीय हिंदी भाषामें परिवर्तित करना यही है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तकमें मूल मूल योगसूत्र

वृत्ति और सटीक योगविंशिका छपवानेके बाद भी उनका हिंदी सार पुस्तकके अन्तमें दिया गया है। सार कहनेका अभिप्राय यह है कि वह मूलका न तो अक्षरशः अनुवाद है और न अविकल भावानुवाद ही है। अविकल भावानुवाद नहीं है इस कथनसे यह न समझना कि हिंदी सारमें मूल ग्रंथका असली भाव छोड दिया है, जहाँतक होसका सार लिखनेमें मूल ग्रन्थके असली भावकी ओर ही खयाल रक्खा है। अपनी ओरसे कोई नई बात नहीं लिखी है पर मूल ग्रन्थमें जो जो बात जिस जिस क्रमसे जितने जितने संक्षेप या विस्तारके साथ जिस जिस ढँगसे कही गई है वह सब हिंदी सारमें ज्यों की त्यों लानेकी हमने चेष्टा नहीं की है। दोनों सार लिखनेका ढँग भिन्न भिन्न है इसका कारण मूल ग्रंथोंका विषयभेद और रचना भेद है

पहले ही कहा गया है कि वृत्ति सब योग सूत्रोंके ऊपर नहीं है। उसका विषय आचार न होकर तत्त्वज्ञान है। उसकी भाषा साधारण संस्कृत न होकर विशिष्ट संस्कृत अर्थात् दार्शनिक परिभाषासे मिश्रित संस्कृत और वहभी नवीन न्याय परिभाषाके प्रयोगसे लदी है। अतएव उसका अक्षरशः अनुवाद या अविकल भावानुवाद करनेकी अपेक्षा हमको अपनी स्वीकृत पद्धति ही अधिक लाभदायक जान पडी है। वृत्तिका सार लिखनेमें यह पद्धति रखी गई है कि सूत्र या भाष्यके जिस जिस मन्तव्यके साथ पूर्णरूपसे या अपूर्णरूपसे जैन दृष्टिके अनुसार वृत्तिकार मिल जाते हैं या विरुद्ध होते हैं उस उस मन्तव्यको उस उस स्थानमें पृथक्करण पूर्वक संक्षेपमें लिखकर नीचे वृत्तिकारका संवाद या विरोध क्रमशः संक्षेपमें सूचित कर दिया है। सब जगह पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी सब दलीलें सारमे नहीं दी हैं। सिर्फ सार लिखनेमें यही ध्यान रक्खा गया है कि वृत्तिकार कीस बात पर क्या कहना चाहते हैं।

योगसूत्र वृत्तिके अधिकारी तीन प्रकारके हो सकते हैं। पहले विशिष्ट विद्वान्। दूसरे संस्कृत भाषाको साधारण जाननेवाले किन्तु दर्शनप्रेमी। तीसरे संस्कृत भाषाको बिल्कुल नहीं जाननेवाले किन्तु दर्शनविद्याकी रुचिवाले। पहले प्रकारके अधिकारी तो हिंदी सारके सिवाय ही मूल ग्रन्थ देख सकेंगे उनके लिए यह सार नहीं है। दूसरे प्रकारके अधिकारीको मूल ग्रन्थ सुगम हो सके और तीसरे प्रकारके अधिकारीको मूल वस्तु मात्र सुगम हो सके इस दृष्टिसे वृत्तिका सार लिखा गया है।

योगविंशिका गाथाबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसका विषय योग (चारित्र) है और उस पर परिपूर्ण समर्थ टीका है इस लिए इसका सार लिखनेकी पद्धति भिन्न है। प्रत्येक गाथाका नंबरवार भावानुसारी अर्थ लिखकर उसके नीचे खुलासेके तौर पर टीकाका उपयोगी अंश लेकर सार लिखा गया है। प्राकृत, संस्कृत कम जाननेपर या बिल्कुल नहीं जानने पर भी जो जैन योगके जिज्ञासु हैं उनको न तो बुद्धि पर बोझ ही पडे और न वस्तु ही अज्ञात रहे इस दृष्टिसे अर्थात् वैसे अधिकारिओंको विशेष उपयोगी होसके इस खयालसे यह सार लिखा गया है।

दोनों सार विशेष उपयोगी होसके इस दृष्टिसे हमने समय और श्रमकी परवा न करके सारको विशेष उपयोगी बनानेकी चेष्टा की है, फिर भी रुचिभेद या अन्य किसी कारणसे जिसको कुछ भी कमी जान पडे वह हमें सूचित करे या स्वयं उस कमीको दूर करनेकी चेष्टा करे।

आभार प्रदर्शन—आँखोंसे लाचार होनेके कारण पढने, लिखने आदिका मेरा सब काम पराश्रित है, अतएव उत्साह होनेपर भी यह कभी सम्भव नहीं कि योग्य सहायकोंके अभावमें प्रस्तुत पुस्तक मुझसे तैयार हो पाती। पाठक! आप इस

पुस्तकको सच मुच मेरे परम श्रद्धास्पद उन सहायकोंकी सहायताका ही परिणाम समझें, मैं तो इसमें स्वल्प निमित्त मात्र रहा हूँ। वे सहायक हैं प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजीके शिष्य मुनि श्री चतुरविजयजी और उनके शिष्य लघुवयस्क मुनि श्री पुण्यविजयजी। हस्तलिखित प्रतीयोंको संपादित कर उन परसे प्रेस कापी करना, प्रुफ देखना तथा हिंदीसारका संशोधन करके उसके प्रुफोंको देखना आदि सब बौद्धिक तथा शारीरिक काम उक्त लघुवयस्क मुनिने ही प्रधानतया किये हैं। उनके गुरु श्री चतुरविजयजी महाराजने उक्त काममें सहायता देनेके अलावा प्रेस, छपाई तथा अर्थसे संबंध रखनेवाली अनेक उलझनोंको सुलझाया है। निःसन्देह उक्त दोनों गुरु शिष्यकी सहृदयता, उत्साह शीलता और कुशलता सिर्फ मेरे ही नहीं बल्कि सभी साहित्यप्रेमीके धन्यवादके पात्र है। संक्षेपमें निष्पक्षभावसे इतना ही कहूँगा कि हीयमान साधुभावका विरलरूपसे आज जिन इनि गिनि व्यक्तियोंमें दर्शन होता है उनमें प्रवर्त्तकजीकी गणना निःसंकोच भावसे की जानी चाहिए। प्रवर्त्तकजीके ही गुण उक्त दोनों गुरु शिष्योंमें, खासकर उक्त लघुवयस्क मुनिमें उतर आये हैं यह बात उनके परिचयमें आनेवाला कोई भी स्वीकार किये बिना न रहेगा।

योगसूत्रवृत्तिकी एक ही लिखित प्रति न्यायांभोनिधि आत्मारामजी महाराजके भाण्डारसे मिल सकी थी जिसके उपरसे प्रेस कॉपी तैयार की गई। उस प्रतिमें यत्र तत्र कई जगह अक्षर, पद या वाक्य तक खंडित हो गये थे। दूसरी प्रतिके अभावमें उस खंडित भागकी पूर्ति बहुधा अर्थानुसंधानजनित कल्पनासे किंवा उपाध्यायजीके ही रचित शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले समान विषयक

वर्णनके आधारसे की गई है। फिर भी कई जगह त्रुटित पाठकी पूर्ति नहीं हो सकी। जहाँ कल्पनाद्वारा पूर्ति की गई है वहाँ कोष्ठक आदि खास चिह्न किये हैं या नीचे फुट नोटमें सूचना की है।

योगविंशिकाके सम्बन्धमें भी वही बात है क्योंकि उसकी टीकाकी भी एक ही नकल मिल सकी। उस एक नकलको खोज नीकालनेका श्रेय प्रवर्तकजीके ही स्वर्गवासी शिष्य मुनि श्री भक्तिविजयजीको ही है। वह एक नकल कालके गालमें जा ही रही थी कि सौभाग्यवश उक्त मुनिजीको मिल गई। प्रसंग ऐसा हुआ कि अमदावादमें किसी श्रावकके वहाँ कचरेके रूपमें पुराने पन्ने पडे थे, जिनको उक्त मुनिजीने देखा और उनमेंसे उनको उपाध्यायजी कृत योगविंशिका टीकाकी एक अखंड नकल मिली जो उनके स्वहस्तलिखित ही है। यद्यपि उपाध्यायजीने श्री हरिभद्रकृत वीसों विंशिकाओंके ऊपर टीका लिखी है जैसा कि योगविंशिकाटीकाके इस अन्तिम उल्लेखसे स्पष्ट है—

इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजयगणिसमर्थितायां विंशिकाप्रकरणव्याख्यायां योगविंशिकाविवरणं सम्पूर्णम् ॥

तथापि प्रस्तुत एक विंशिकाकी टीकाके सिवाय शेष उन्नीस विंशिकाओंकी टीकाएँ आज अनुपलब्ध हैं। न जाने वे नाशका ग्रास हो गईं, या कहीं अज्ञात रूपसे उक्त एक टीकाकी तरह कूडे कचरेके रूपमें किसी संग्रह लोलुपके द्वारा रक्षित

होंगी। अस्तु, जो कुछ हो पर अब भी इतना सौभाग्य है कि मूल मूल बीसों विंशिकाएँ कुछ खंडित रूपमें, कुछ अशुद्ध-रूपमें भी उपलब्ध हैं। छाया सहित उनको प्रकाशित करनेका तथा हो सका तो साथमें हिंदी सार देनेका हमारा विचार है। हमारा निवेदन है कि जिनके पास उक्त सब विंशिकाएँ या उनकी अपूर्ण, पूर्ण टीकाएँ हों वे हमें सूचित करें; क्योंकि यह सार्वजनिक संपत्ति है, एकबार जैसा छपा प्रायः फिर वैसा ही रहता है। छपनेके बाद लिखित प्रतियोंको कौन देखता है। इस दशामें छपानेसे पहले अधिकसे अधिक सामग्रीके द्वारा संशोधन आदि करना यही सच्ची श्रुत-भक्ति है। हमारा काम प्राप्त सामग्रीका उपयोग करना मात्र है। इस लिए पुण्यशाली महानुभावोंका यह कर्त्तव्य है कि वे लिखित प्रति आदि अपने पास जो कुछ साधन हो उसको देकर प्रकाशकके निःस्वार्थ कार्यको सरल करें।

पहले इस पुस्तककी पाँच सौ नकलें नीकलवानेका इरादा था पर पीछे हजार नकलें नीकलवानेका विचार हुआ। किन्तु उस समय एक तरहके उतने कागज न थे और न तुरत मिल ही सकते थे, इसलिए निरुपाय होकर दो किसमके कागजों पर पाँच सौ पाँच सौ नकलें नीकलवानी पडी हैं। फिर भी धारणासे कुछ अधिक मॅटर बढ जानेके कारण और कई दिनों तक कोशीश करने पर भी एक जातिके मोटे ॲन्टिक कागज न मिलनेसे अन्तमें लाचार होकर करीब दो फर्मे दूसरी किसमके मोटे कागज पर छपवाने पडे हैं। अस्तु जो कुछ हो बाह्य कलेवरमें थोडी सी विभिन्नता हो जाने पर भी पुस्तकका आन्तरिक स्वरूप एक ही प्रकारका है जिस पर वस्तुग्राही पाठक संतोष कर लेवें।

प्रस्तुत पुस्तकमें आर्थिक सहायता तीन व्यक्तिओंकी ओरसे प्राप्त हैं। जिसमें मुख्य भाग वडोदावाले शाह चुनीलाल नरोतमदासका है, प्रांतीजवाले शेठ मगनलाल करमचंद और भावनगरवाले शेठ दीपचंद गांडाभाइकी धर्मपत्नी बाइ मोतीबाइकी भी आर्थिक मददका इसमें हीस्सा है अतएव उक्त तीनों महानुभाव धन्यवादके भागी हैं।

अन्तमें विचारशील पाठकोंसे हम इतना ही निवेदन करते हैं कि वे इस पुस्तकमें जो कुछ त्रुटी देखें वह हमें सूचित करें।

भावनगर.
वि. सं. १९७८
फाल्गुन कृष्ण १३ रवि.

निवेदक—
सुखलाल संघजी.

प्रस्तावना.

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य। अत एव राष्ट्र तो मानों अनेक सूर्योंका मण्डल है। फिर भी जब कोइ व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवरमें पडता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है?। बहुत विचार कर देखनेसे मालूम पडता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योगका (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेहशील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जानेके कारण शक्तियां इधर उधर टकराकर आदमीको बरबाद कर देती हैं। इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुंचानेके लिये अनिवार्यरूपसे सभीको योगकी जरूरत है। यही कारण है कि प्रस्तुत ×व्याख्यानमालामें योगका विषय रक्खा गया है।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्द्वारा आर्यसंस्कृतिके एक अंशका थोडा, पर निश्चित रहस्य विदित हो।

× गूजरात पुरातत्त्व मंदिरकी ओरसे होनेवाली आर्यविद्याव्याख्यानमालामें यह व्याख्यान पढा गया था।

योगदर्शन.

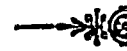

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है। इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं।

योग शब्दका अर्थ—योग शब्द युज् धातु और घञ् प्रत्ययसे सिद्ध हुवा है। युज् धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोडना[1] और दूसरेका अर्थ है समाधि[2]—मनः स्थिरता। सामान्य रीतिसे योगका अर्थ संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थ हो जानेसे वह बहुरूपी बन जाता है। इसी बहुरूपिताके कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्यमें गीताका तात्पर्य दिखानेके लिये योगशब्दार्थनिर्णयकी विस्तृत भूमिका रचनी पडी है[3]। परंतु योगदर्शनमें योग शब्दका अर्थ क्या है यह बतलानेके लिये उतनी गहराइमें उतरनेकी कोइ आवश्यकता नहीं है, क्यों कि योगदर्शनविषयक सभी ग्रन्थोंमें जहां कहीं योग शब्द आया है वहां उसका एक ही अर्थ है, और उस अर्थका स्पष्टीकरण उस उस ग्रन्थमें

---

१ युजृंपी योगे गण ७ हेमचंद्र धातुपाठ.

२ युज़िंच् समाधौ गण ४ ,, ,, ,,

३ देखो पृष्ठ ५५ से ६०

ग्रन्थकारने स्वयं ही कर दिया है। भगवान् पतंजलिने अपने योगसूत्रमें[1] चित्तवृत्ति निरोधको ही योग कहा है, और उस ग्रन्थमें सर्वत्र योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। श्रीमान् हरिभद्र सूरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थोंमें[2] मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापारको ही योग कहा है। और उनके उक्त सभी ग्रन्थोंमें योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो वाक्योंके अर्थमें स्थूल दृष्टिसे देखने पर बडी भिन्नता मालूम होती है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनके अर्थकी अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्यों कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इस शब्दसे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्षके लिये अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों। 'मोक्षप्रापक धर्मव्यापार' इस शब्दसे भी वही क्रिया विवक्षित है। अत एव प्रस्तुत विषयमें योग शब्दका अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली

---

१ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

२ योगबिन्दु श्लोक ३१—

अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥

योगविंशिका गाथा ॥१॥

क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समझना चाहीये। योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें योग, ध्यान, समाधि ये शब्द बहुधा समानार्थक देखे जाते हैं।

दर्शन शब्दका अर्थ—नेत्रजन्यज्ञान, निर्विकल्प (निराकार) बोध, श्रद्धा, मत आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्दके देखे जाते हैं। पर प्रस्तुत विषयमें दर्शन शब्दका अर्थ मत यह एक ही विवक्षित है।

योगके आविष्कारका श्रेय—जितने देश और जितनी जातियोंके आध्यात्मिक महान् पुरुषोंकी जीवनकथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखनेवाला कोइ भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जातिकी ही बपौती है, क्यों कि सभी देश और सभी जातियोंमें न्यूनाधिक रूपसे आध्यात्मिक विकास-वालें महात्माओंके पाये जानेके प्रमाण मिलते हैं। योगका

---

१ लोर्ड एवेबरीने जो शिक्षाकी पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकारकी है:—"Education is the harmonious development of all our faculties."

२ दृशं प्रेक्षणे—गण १ हेमचन्द्र धातुपाठ.

३ तत्त्वार्थ अध्याय २ सूत्र ६—श्लोक वार्तिक.

४ ,, ,, १ ,, २

५ षड्दर्शन समुच्चय—श्लोक २—"दर्शनानि षडेवात्र" इत्यादि.

६ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महम्मद आदि.

संबन्ध आध्यात्मिक विकाससे है। अत एव यह स्पष्ट है कि योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियोंमें रहा है। तथापि कोइ भी विचारशील मनुष्य इस बातका इनकार नहीं कर सकता है कि योगके आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय भारतवर्ष और आर्यजातिको ही है। इसके सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं। १ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता; २ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता; ३ लोकरुचि।

१ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता—पहिलेसे आज तक भारतवर्षमें आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी संख्या इतनी बडी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियोंके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी कुल संख्या इतनी अल्प जान पडती है जितनी कि गंगाके सामने एक छोटीसी नदी।

२ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता—तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्यका कोइ भी भाग लीजिये उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोक्ष ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णनने वेदका बहुत बडा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह

वर्णन वेदका शरीर मात्र है। उसकी आत्मा कुछ और ही है—वह है परमात्मचिंतन या आध्यात्मिक भावोंका आविष्करण। उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तनकी बुन्याद पर ही खडा है। प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोइ भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो उसमें भी तत्त्वज्ञानके साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा[1]। आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थोंमें आचारपालनका मुख्य उद्देश मोक्ष ही

---

१ वैशेषिकदर्शन अ० १ सू० ४—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥

न्यायदर्शन अ० १ सू० १—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥

सांख्यदर्शन अ० १—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

वेदान्तदर्शन अ० ४ पा० ४ सू० २२—

अनावृतिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

जैनदर्शन तत्त्वार्थ अ० १ सू० १—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

माना गया[1] है। रामायण, महाभारत आदिके मुख्य पात्रोंकी महिमा सिर्फ इस लिये नहीं कि वे एक बडे राज्यके स्वामी थे, पर वह इस लिये है कि अंतमें वे संन्यास या तपस्याके द्वारा मोक्षके अनुष्ठानमें ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्थामें वशिष्ठसे योग और मोक्षकी शिक्षा पा लेते[2] हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण-शय्यापर सोये हुवे भीष्मपितामहसे शान्तिका ही पाठ पढते[3] हैं। गीता तो रणांगणमें भी मोक्षके एकतम साधन योगका ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगारप्रिय कहलानेवाले कवि भी अपने मुख्य पात्रोंकी महत्ता मोक्षकी ओर झूकनेमें ही देखते हैं[4]। जैन आगम और बौद्ध पिटक तो निवृत्तिप्रधान होनेसे

---

१ याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३ यतिधर्मनिरूपणम्;
मनुस्मृति अ० १२ श्लोक ८३

२ देखो योगवाशिष्ठ.

३ देखो महाभारत-शान्तिपर्व.

४ कुमारसंभव-सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्.
शाकुन्तल नाटक अंक ४ कण्वोक्ति.

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं,
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

मुख्यतया मोक्षके सिवाय अन्य विषयोंका वर्णन करनेमें बहुत ही संकुचाते हैं। शब्दशास्त्रमें भी शब्दशुद्धिको तत्त्व-ज्ञानका द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है[1]। विशेष क्या? कामशास्त्र तकका भी आखिरी उद्देश मोक्ष है[2]। इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोइ भी स्रोत देखिये, उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक चतुर्थ पुरुषार्थकी ओर ही होगी।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥ सर्ग १

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥ ,, ३

रघुवंश.

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥
श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ० १ पा० १ सू० २ लघुन्यास.

२ "स्थाविरे धर्म मोक्षं च" कामसूत्र अ० २ पृ० ११
Bombay Edition.

३ लोकरुचि—आध्यात्मिक विषयकी चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोइ भी ग्रन्थ किसीने भी लिखा कि लोगोंने उसे अपनाया। कंगाल और दीन हीन अवस्थामें भी भारतवर्षीय लोगोंकी उक्त अभिरुचि यह सूचित करती है कि योगका सम्बन्ध उनके देश व उनकी जातिमें पहलेसे ही चला आता है। इसी कारणसे भारतवर्षकी सभ्यता अरण्यमें उत्पन्न हुइ कही जाती है[1]। इस पैतृक स्वभावके कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफरके लिये पहाडों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानोंमें जाते हैं तब वे डेरातंबु डालनेसे पहले ही योगियोंको, उनके मठोंको और उनके चिह्नतकको भी ढुंढा करते हैं। योगकी श्रद्धाका उद्रेक यहां तक देखा जाता है कि किसी नंगे बावेको गांजेकी चिलम फूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुंहके धुंएमें या उसकी जटा व भस्मलेपमें योगका गन्ध आने लगता है। भारतवर्षके पहाड, जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दुःसंभव है। ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जातिमें दुर्लभ है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि योगको आविष्कृत करनेका तथा परा-

---

१ देखो कविवर टागोर कृत "साधना" पृष्ठ ४. "Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth.....etc."

काष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय बहुधा भारतवर्षको और आर्य-जातिको ही है। इस बातकी पुष्टि मेक्षमूलर जैसे विदेशीय और भिन्न संस्कारी विद्वान्के कथनसे भी अच्छी तरह होती है[1]।

आर्यसंस्कृतिकी जड और आर्यजातिका लक्षण——उपरके कथनसे आर्यसंस्कृतिका मूल आधार क्या है यह स्पष्ट मालूम हो जाता है। शाश्वत जीवनकी उपादेयता ही आर्यसंस्कृतिकी भित्ति है। इसी पर आर्यसंस्कृतिके चित्रोंका चित्रण किया गया है। वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रणका अनुपम उदाहरण है। विद्या, रक्षण, विनिमय और सेवा ये चार जो वर्णविभागके उद्देश्य हैं। उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदानमें अलग अलग बह कर भी वानप्रस्थके मुहानेमें मिलकर अंतमें संन्यासाश्रमके अपरिमेय समुद्रमें एकरूप हो जाते हैं। सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियोंका निर्माण, स्थूलजीवनकी परिणामविरसता और आ-

---

१ This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown. इत्यादि देखो पृ २३—वोल्युम १—सेक्रेड बुक्स ओफ धि ईस्ट मेक्षमूलर—प्रस्तावना.

ध्यात्मिक जीवनकी परिणाम सुन्दरता उपर ही किया गया है। अत एव जो विदेशीय विद्वान् आर्यजातिका लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडोल, व्यापार-व्यवसाय, भाषा, आदिमें देखते हैं वे एकदेशीय मात्र हैं। खेतीबारी, जहाज-खेना, पशुओंको चराना आदि जो जो अर्थ आर्यशब्दसे निकाले गये हैं[1] वे आर्यजातिके असाधारण लक्षण नहीं हैं। आर्यजातिका असाधारण लक्षण परलोकमात्रकी कल्पना भी नहीं है क्यों कि उसकी दृष्टिमें वह लोक भी त्याज्य[2] है। उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत्के उसपार वर्तमान परमात्मतत्त्वकी एकाग्रबुद्धिसे उपासना करना यही[3] है। इस सर्वव्यापक उद्देश्यके कारण आर्यजाति अपनेको अन्य सब जातियोंसे श्रेष्ठ समझती आइ है।

ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा—व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाय। असलमें यह आचरण ही योग है।

---

१ Biographies of Words & the Home of the Aryans by Max Muller page 50। २ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं, विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ गीता अ० ९ श्लोक २१॥ ३ देखो Apte's Sanskrit to English Dictionary.

अत एव ज्ञान योगका कारण है। परन्तु योगके पूर्ववर्ति जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है। और योगके बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्व होता है। इसीसे यह समझ लेना चाहिये कि स्पष्ट तथा परिपक्व ज्ञानकी एक मात्र कुंजी योग ही है। आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोइ भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जातिमें जितने प्रमाणमें पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जातिका विकास उतना ही अधिक प्रमाणमें होता है। सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी[1] है। जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवाशिष्ठकी परिभाषामें ज्ञानबन्धु[2]

---

१ इसी अभिप्रायसे गीता योगिको ज्ञानीसे अधिक कहती है.

गीता अ० ६. श्लोक ४६—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन! ॥

२ गीता अ० ५. श्लोक ५—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

३ योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग २१—

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ इत्यादि.

है। योगके सिवाय किसी भी मनुष्यकी उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्यों कि मानसिक चंचलताके कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिन्न भिन्न विषयोंमें टकराती हैं, और क्षीण हो कर यों ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिये क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभीको अपनी नाना शक्तियोंको केन्द्रस्थ करनेके लिय योग ही परम साधन है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—योगका कलेवर एकाग्रता है, और उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है। जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रताके साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है। यदि योगका उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्तिमें—चाहे वह दुनियाकी दृष्टिमें बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो—वर्तमान हो तो उसे पामार्थिक योग ही समझना चाहिये। इसके विपरीत स्थूलदृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योगका उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यवहारिक योग ही कहना चाहिये। यही बात गीताके साम्यगर्भित कर्मयोगमें कही गई है।[१]

---

१ अ० २ श्लोक ४८—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

योगकी दो धारायें——व्यवहारमें किसी भी वस्तुको परिपूर्ण स्वरूपमें तैयार करनेके लिये पहले दो बातोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चितेरेको चित्र तैयार करनेसे पहले उसके स्वरूपका, उसके साधनोंका और साधनोंके उपयोगका ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करता है तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी मोक्षके जिज्ञासुके लिये बन्धमोक्ष, आत्मा और बन्धमोक्षके कारणोंका तथा उनके परिहार, उपादानका ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संक्षेपमें यह कहा गया है कि "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"। योग क्रियामार्गका नाम है। इस मार्गमें प्रवृत्त होनेसे पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयोंका आरंभिक ज्ञान शास्त्रसे, सत्संगसे, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशाका ज्ञान होनेसे सबको एकाकार और एकसा नही हो सकता। इसीसे योगमार्गमें तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्षस्वरूपमें तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमार्गके प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञानमें कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस

प्रवर्तक ज्ञानका मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व माननेवालोंमें भी मुख्य दो मत हैं–पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्माकी व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादोंको एकतरफ रख कर मुख्य जो आत्माकी एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्गकी दो धारायें हो गइ हैं। अत एव योगविषयक साहित्य भी दो मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें,[1] योगवाशिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवादको लक्ष्यमें रख कर रचे गये हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गये हैं।

योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन——आर्यसाहित्यका भाण्डागार मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त है–वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्यका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमे आध्या-

---

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस.

त्मिक भाव अर्थात् परमात्मचिन्तनका अभाव नहीं है[1]। परमात्मचिन्तनका भाग उसमें थोडा है सही, पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह साफ मालूम पड जाता है कि तत्कालीन लोगोंकी दृष्टि केवल बाह्य[2] नहीं थी। इसके सिवा उसमें

---

१ देखो " भागवताचा उपसंहार " पृष्ठ २५२.

२ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं:—

ऋग्वेद मं. १ सू. १६४–४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

भाषांतरः—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक ही सत्का विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते है। कोइ उसे अग्नि, यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मण्ड. ६ सू. ९

वि मे कर्णो पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥६॥
विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने ! तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ७ ॥

भाषांतरः—मेरे कान विविध प्रकारकी प्रवृत्ति करते हैं। मेरे नेत्र, मेरे हृदयमें स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ति मन (भी)

ज्ञान[1], श्रद्धा[2], उदारता[3], ब्रह्मचर्य[4] आदि आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावोंके चित्र भी बडी खूबीवाले मिलते हैं। इससे

विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूँ और क्या विचार करूँ ?। ६। अंधकारस्थित हे अग्नि ! तुजको अंधकारसे भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अमर्त्य हमारा रक्षण करे। ७।

पुरुषसूक्त मण्डल १० सू ९० ऋग्वेदः—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

भाषांतरः—(जो) हजार सिरवाला, हजार आंखवाला, हजार पाँववाला पुरुष (है) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर (फिर भी) दस अंगुल बढ़ कर रहा है। १। पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि। (वह) अमृतत्वका ईश अन्नसे बढ़ता है। २। इतनी इसकी महिमा—इससे भी

---

१ मं. १० सू. ७१ ऋग्वेद। २ मं. १० सू० १५१ ऋग्वेद। ३ मं. १० सू. ११७ ऋग्वेद। ४ मं. १० सू. १० ऋग्वेद।

यह अनुमान करना सहज है कि उस जमानेके लोगोंका झुकाव आध्यात्मिक अवश्य था। यद्यपि ऋग्वेदमें योगशब्द

वह पुरुष अधिकतर है। सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं— उसके अमर तीन पाद स्वर्गमें हैं। ३।

क सूक्त मं. १० सू. १२१ ऋग्वेदः—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

भाषांतरः—पहले हिरण्यगर्भ था। वही एक भूत मात्रका पति बना था। उसने पृथ्वी और इस आकाशको धारण किया। किस देवको हम हविसे पूजें ?। १। जो आत्मा और बलको देनेवाला है। जिसका विश्व है। जिसके शासनकी देव उपासना करते हैं। अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है। किस देवको हम हविसे पूजें ?। २।

ऋग्वेद मं. १०—१२९—६ तथा ७—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

अनेक स्थानोंमें आया है, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोडना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्यमें ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेदमें बिलकुल नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन लोगोंमें ध्यानकी भी रुचि थी। ऋग्वेदका ब्रह्मस्फुरण जैसे जैसे विकसित होता गया और उपनिषदके जमानेमें उसने जैसे ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता चला। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी समाधि अर्थमें योग, ध्यान

भाषांतरः—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुइ ?। देव इसके विविध सर्जनके बाद (हुवे) हैं। कौन जान सकता है कि यह कहांसे आई ? यह विविध सृष्टि कहांसे आई और स्थितिमें है वा नहीं है ? यह बात परम व्योममें जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित् वह भी न जानता हो।

---

१ मंडल १ सूक्त ३४ मंत्र ६। मं. १० सू. १६६ मं. ५। मं. १ सू. १८ मं. ७। मं १. सू. ५ मं. ३। मं. २ सू. ८ मं. १। मं. ९ सू. ५८ मं. ३।

आदि शब्द पाये जाते हैं[1]। श्वेताश्वतर उपनिषदमें तो स्पष्ट रूपसे योग तथा योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गोंका वर्णन है[2]। मध्यकालीन और अर्वाचीन अनेक उपनिषदें तो सिर्फ योगविषयक ही हैं, जिनमें योगशास्त्रकी तरह सांगोपांग योगप्रक्रियाका वर्णन है। अथवा यह कहना

---

१ (क) तैत्तिरिय २–४। कठ २–६–११। श्वेताश्वतर २–११, ६–३। (ख) छान्दोग्य ७–६–१, ७–६–२, ७–७–१, ७–२६–१। श्वेताश्वतर १–१४। कौशीतकि ३–२, ३–३, ३–४, ३–६।

२ श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥
प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

इत्यादि.

३ ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मविन्दु, अमृताबिन्दु, ध्यानविन्दु, तेजोविन्दु, योगशिखा, योगतत्त्व, हंस। देखो ड्युसेनकृत–" Philosophy of the Upanishad's "

चाहिये कि ऋग्वेदमें जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदोंमें पल्लवित पुष्पित हो कर नाना शाखा प्रशाखाओंके साथ फल अवस्थाको प्राप्त हुवा। इससे उपनिषद्-कालमें योगमार्गका पुष्टरूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है।

उपनिषदोंमें जगत, जीव और परमात्मसम्बन्धी जो तात्त्विक विचार है, उसको भिन्न भिन्न ऋषियोंने अपनी दृष्टिसे सूत्रोंमें ग्रथित किया, और इस तरह उस विचारको दर्शनका रूप मिला। सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश मोक्ष *ही रहा है, इससे उन्होंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्व-

---

* प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णय-वादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। गौ० सू० १–१–१ ॥ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ वै० सू० १–१–४ ॥ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सां० द० १–१। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो० सू० ४–३३ ॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ४–४–२२ ब्र. सू.।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ १–१ जैन० द०। बौद्ध दर्शनका तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है।

विचार करनेके बाद भी संसारसे छुट कर मोक्ष पानेके साधनोंका निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते हैं। विना चारित्रका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र यह योगका किंवा योगांगोंका संक्षिप्त नाम है। अत एव सभी दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्रग्रन्थोंमें साधन रूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य बतलाइ है। यहां तक की—न्यायदर्शन जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार मुख्य है उसमें भी महर्षि गौतमने योगको स्थान दिया है[1]। महर्षि कणादने तो अपने वैशेषिक दर्शनमें यम, नियम, शौच आदि योगांगोंका भी महत्त्व गाया है[2]। सांख्यसूत्रमें योगप्रक्रियाके वर्णनवाले कइ सूत्र हैं[3]। ब्रह्म-

---

१ समाधिविशेषाभ्यासात् ४—२—३८। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४—२—४२। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४—२—४६॥

२ अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। ६—२—२। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य। ६—२—८।

३ रागोपहतिर्ध्यानम् ३—३०। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः

सूत्रमें महर्षि बादरायणने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रक्खा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगोंका वर्णन किया है[1]। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचारका ही ग्रन्थ ठहरा, अत एव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रियाकी मीमांसाका पाया जाना सहज ही है। योगके स्वरूपके सम्बन्धमें मतभेद न होनेके कारण और उसके प्रतिपादनका उत्तरदायित्व खासकर योगदर्शनके उपर होनेके कारण अन्य दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्र ग्रन्थोंमें थोडासा योगविचार करके विशेष जानकारीके लिये जिज्ञासुओंको योगदर्शन देखनेकी सूचना दे दी[2] है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने योगका निर्देश तक नहि किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूम-मार्गकी ही मीमांसा है। कर्मकाण्डकी पहुंच स्वर्गतक

३-३१। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३-३२। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ३-३३। स्थिरसुखमासनम् ३-३४।

१ आसीनः संभवात् ४-१-७। ध्यानाच्च ४-१-८। अचलत्वं चापेक्ष्य ४-१-९। स्मरन्ति च ४-१-१०। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४-१-११।

२ योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। न्यायदर्शन ४-२-४६ भाष्य।

ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योगका उपयोग तो मोक्षके लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदोंमें सूचित और सूत्रोंमें सूत्रित है, उसीकी महिमा गीतामें अनेक रूपसे गाइ गइ है। उसमें योगकी तान कभी कर्मके साथ, कभी भक्तिके साथ और कभी ज्ञानके साथ सुनाइ देती है[1]। उसके छट्ठे और तेरहवें अध्यायमें तो योगके मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है[2]। कृष्णके द्वारा अर्जुनको

---

१ गीताके अठारह अध्यायोंमें पहले छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बिचके छह अध्याय भक्तियोग प्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

२ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥ अ० ६

गीताके रूपमें योगशिक्षा दिला कर ही महाभारत सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसके अथक स्वरको देखते हुए कहना पड़ता है कि ऐसा होना संभव भी न था। अत एव शान्ति-पर्व और अनुशासनपर्वमें योगविषयक अनेक सर्ग वर्तमान हैं, जिनमें योगकी अथेति प्रक्रियाका वर्णन पुनरुक्तिकी परवा न करके किया गया है। उसमें बाणशय्यापर लेटे हुए भीष्मसे बार बार पूछनेमें न तो युधिष्ठिरको ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजाको शिक्षा देनेमें भीष्मको ही थकावट मालूम होती है।

योगवाशिष्ठका विस्तृत महल तो योगकी भूमिकापर खडा किया गया है। उसके छह[2] प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गये हैं। योगकी जो जो बातें योगदर्शनमें संक्षेपमें कही गई हैं, उन्हींका विविधरूपमें विस्तार करके ग्रन्थकारने योगवाशिष्ठका कलेवर बहुत बढा दिया है, जिससे यही कहना पडता है कि योगवाशिष्ठ योगका ग्रन्थराज है।

पुराणमें सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिये, उसमें योगका सुमधुर पद्योंमे पूरा वर्णन[3] है।

---

१ शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४ इत्यादि। अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि। २ वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण। ३ स्कन्ध ३ अध्याय २८। स्कन्ध ११. अ० १५, १९, २० आदि।

योगविषयक विविध साहित्यसे लोगोंकी रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालोंने भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें योगको जगह दी, यहां तक कि योग तन्त्रका एक खासा अंग बन गया। अनेक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा है, पर उन सबमें महानिर्वाणतन्त्र, षट्चक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं[1]।

---

१ देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय। देखो षट्चक्रनिरूपण,

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः।
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः॥ पृष्ठ ८२
Tantrik Texts में छपा हुआ.

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम्॥ पृ० ६१ ,,
यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्मृतम्।
स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते॥ पृ० ६०,,
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं।
तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम्॥ पृ. ६० ,,
"आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः"
पृ० ६१ ,,
ध्यै चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्चिन्ता तत्त्वेन निश्चला।
एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा॥ पृ० १३४ ,,

जब नदीमें बाढ आता है तब वह चारों ओरसे बहने लगती है। योगका यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगोंमें प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगोंका भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उसपर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे वह योगकी एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोगके नामसे प्रसिद्ध है।

हठयोगके अनेक ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुंभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगोंका पेट भर भरके वर्णन किया है, और घेरण्डने तो चौरासी आसनको चौरासी लाख तक पहुंचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्यों कि उसीका विषय अन्य ग्रन्थोंमें विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्यके जिज्ञासुओंको योगतारावली, बिन्दुयोग, योगबीज और योगकल्पद्रुमका नाम भी भूलना न चाहिये। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें मैथिल पण्डित भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्त-लिखित ग्रन्थ भी देखनेमें आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके हवाले दे कर योगसम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषामें योगका वर्णन होनेसे सर्व साधारणकी जिज्ञासाको शान्त न देख कर लोकभाषाके योगियोंने भी अपनी अपनी जबानमें योगका अलाप करना शुरु कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषामें गीताकी ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके छट्ठे अध्यायका भाग बडा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेवने अपने अनुभव और वाणीको अवन्ध्य कर दिया है। मुहीरोबा अंबिये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योगके जिज्ञासुओंके लिये देखनेकी वस्तु है।

कबीरका बीजक ग्रन्थ योगसम्बन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तोंने भी भाषामें अपने अपने योगानुभवकी प्रसादी लोगोंको चखाई है, जिससे जनताका बहुत बडा भाग योगके नाम मात्रसे मुग्ध बन जाता है।

अत एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बडे ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषामें भी योगशास्त्रपर अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया है, जिसमें वूडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद ही विशिष्ट है।

---

१. प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानंद, श्रीयुत् रामप्रसाद आदि कृत

जैन सम्प्रदाय निवृत्ति-प्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीरने बारह सालसे अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तनद्वारा योगाभ्यासमें ही मुख्यतया जीवन बिताया। उनके हजारों[1] शिष्य तो ऐसे थे जिन्होंने घरबार छोड कर योगाभ्यासद्वारा साधुजीवन बिताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदायके मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। उनमें साधुचर्याका जो वर्णन है, उसको देखनेसे यह स्पष्ट जान पडता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रिय-जय-रूप प्रत्याहार इत्यादि जो योगके खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधुजीवनका एक मात्र प्राण मानो[2] है।

जैनशास्त्रमें योगपर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओंको आत्मचिन्तनके सिवाय दूसरे कार्योंमें प्रवृत्ति करनेकी संमति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करनेको कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्तिका नाम उसमें अष्टप्रवचनमाता[3] है। साधुजीवनकी दैनिक और रात्रिक

---

१ "छउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाहिं अज्जिआसाहस्सीहिं" उववाइसूत्र।

२ देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार, आदि। ३ देखो उत्तराध्ययन अ० २४।

चर्यामें तीसरे प्रहरके सिवाय अन्य तीनों प्रहरोंमें मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करनेको ही कहा गया है[1]।

यह बात भूलनी न चाहिये कि जैन आगमोंमे योग-अर्थमें प्रधानतया ध्यानशब्द प्रयुक्त है। ध्यानके लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमोंमें[2] है। आगमके बाद निर्युक्तिका[3] नंबर है। उसमें भी आगमगत ध्यानका ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमा-स्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रमें भी ध्यानका वर्णन[4] है, पर उसमें

---

१ दिवसस्स चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ ११ ॥
पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए गोअरकालं, पुणो चउत्थिए सज्झायं ॥ १२ ॥
रत्तिं पि चउरो भाए भिक्खु कुज्जा विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राईभागेसु चउसु वि ॥ १७ ॥
पढमं पोरिसि सज्झायं बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए निद्दमोक्खं तु चउत्थिए भुज्जो वि सज्झायं ॥ १८॥
उत्तराध्ययन अ० २६।

२ देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उद्देश १। समवायाङ्ग स० ४। भगवती शतक—२५ उद्देश ७। उत्तराध्ययन अ० ३०, श्लो० ३५।

३ देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा. १४६२—१४८६। ४ देखो अ० ९ सू० २७ से आगे।

आगम और निर्युक्तिकी अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका ध्यानशतक आगमादि उक्त ग्रन्थोंमे वर्णित ध्यानका स्पष्टीकरण मात्र है, यहां तकके योगविषयक जैन विचारोंमें आगमोक्त वर्णनकी शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैलीको श्रीमान् हरिभद्रसूरिने एकदम बदलकर तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचिके अनुसार नवीन परिभाषा दे कर और वर्णनशैली अपूर्वसी बनाकर जैन योग-साहित्यमें नया युग उपस्थित किया। इसके सबूतमें उनके बनाये हुए योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक[2] और षोडशक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने सिर्फ जैन-मार्गानुसार योगका वर्णन करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातञ्जल लयोगसूत्रमें वर्णित योगप्रक्रिया और उसकी खास परिभाषाओंके साथ जैन संकेतोंका मिलान भी किया है[3]। योगदृष्टिसमुच्चयमें

---

१ देखो हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८१

२ यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावलिमें उल्लिखित है पृ० ११३।

३ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ ४१८ ॥
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥ ४२० ॥ इत्यादि.
योगविन्दु।

योगकी आठ दृष्टियोंका जो वर्णन [1] है, वह सारे योगसाहित्यमें एक नवीन दिशा है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिरुचि और योगविषयक व्यापक बुद्धिके खासे नमूने हैं।

इसके बाद श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रका नंबर आता है। उसमें पातञ्जल-योगशास्त्र-निर्दिष्ट आठ योगांगोंके क्रमसे साधु और गृहस्थ जीवनकी आचार-प्रक्रियाका जैन शैलीके अनुसार वर्णन है, जिसमें आसन तथा प्राणायामसे संबन्ध रखनेवाली अनेक बातोंका विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखनेसे यह जान पडता है कि तत्कालीन लोगोंमें हठयोग-प्रक्रियाका कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रमें हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थोंकी नवीन परिभाषा और रोचक शैलीका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ,

---

१ मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

इन आठ दृष्टियोंका स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योगजिज्ञासुओंके लिये देखने योग्य है। इसी विषयपर यशोविजयजीने २१, २२, २३, २४ ये चार द्वात्रिंशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जाननेवालोंके हितार्थ आठ दृष्टियोंकी सज्झाय भी गुजराती भाषामें बनाई है।

रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानका विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया है। अन्तमें उन्होंने स्वानुभवसे विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदोंका वर्णन करके नवीनता लानेका भी खास कौशल दिखाया है। निस्सन्देह उनका योगशास्त्र जैनतत्त्वज्ञान और जैनआचारका एक पाठ्य ग्रन्थ है।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योगग्रन्थोंपर नजर ठहरती है। उपाध्यायजीका शास्त्रज्ञान, तर्ककौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयाँ योग संबन्धी विषयोंपर लिखी हैं, जिनमें जैन मन्तव्योंकी सूक्ष्म और रोचक मीमांसा करनेके उपरान्त अन्य दर्शन और जैनदर्शनका मिलान भी किया है। इसके सिवा

---

१. देखो प्रकाश ७–१० तक। २ १२ वाँ प्रकाश श्लोक २–३–४। ३. अध्यात्मसारके योगाधिकार और ध्यानाधिकारमें प्रधानतया भगवद्गीता तथा पातञ्जलसूत्रका उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यानविषयोंका उक्त दोनों ग्रन्थोंके साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषद्के शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारों योगोंमें प्रधानतया योगवाशिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्योंका अवतरण दे कर तात्त्विक ऐक्य बतलाया है। योगावतार बत्तीसीमें खास कर पातञ्जल योगके पदार्थोंका जैनप्रक्रियाके अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

उन्होंने हरिभद्रसूरिकृत योगविंशिका तथा षोडशकपर टीका लिख कर प्राचीन गूढ तत्त्वोंका स्पष्ट उद्घाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि-पतञ्जलिकृत योगसूत्रोंके उपर एक छोटीसी वृत्ति भी लिखी है। यह वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार लिखी हुई है, इस-लिये उसमें यथासंभव योगदर्शनकी भित्ति-स्वरूप सांख्य-प्रक्रियाका जैनप्रक्रियाके साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलोंमें उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजीने अपनी विवेचनामें जो मध्यस्थता, गुणग्राह-कता, सूक्ष्म समन्वयशक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाई है ऐसी दूसरे आचार्योंमें बहुत कम नजर आती है।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्यमें है। कर्ताका उल्लेख उसमें नहीं है, पर उसके दृष्टान्त आदि वर्णनसे जान पडता है कि हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके

---

१. इसके लिये उनका ज्ञानसार जो उन्होंने अंतिम जीवनमें लिखा मालूम होता है वह ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। शास्त्रवार्तासमुच्चयकी उनकी टीका(पृ० १०)भी देखनी आवश्यक है।

२. इसके लिये उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यान-पूर्वक देखने चाहिये, और खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मननपूर्वक देखनेसे हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पडेगा।

आधारपर किसी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्यमें ज्ञानार्णव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखनेमें आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाणमें छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायके योगविषयक ग्रन्थोंका कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावलि पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहांतकहीमें जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदायकी तरह निवृत्तिप्रधान है। भगवान् गौतम बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त होनेसे पहले छह वर्ष-तक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थों-में जैन आगमोंके समान योग अर्थमें बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उनमें ध्यानके चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेदके नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शनकी प्रक्रियामें हैं[1]। बौद्ध सम्प्रदायमें समाधि-

१. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुस-लेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्क विचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुति-यज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्खको च

राज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक जैन और बौद्ध संप्रदायके योगविषयक साहित्यका हमने बहुत संक्षेपमें अत्यावश्यक परिचय कराया है, पर इसके विशेष परिचयके लिये—कॅट्-लोगस् कॅट्लॉगॉरम्, वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावलि है वह देखने योग्य है।

विहासिं; सतो च संपजानो सुखं च कायेन पटिसंवेदेसिं, यं तं अरिया आचिक्खन्ति—उपेक्खको सतिमा सुखविहारीऽति ततियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेऽव सोमनस्स दोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसंपज्ज मज्झिमनिकाये भयभेखसुत्तं विहासिं।

इन्हीं चार ध्यानोंका वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञकफलसुत्तमें है। देखो प्रो. सि. वि. राजवाडे कृत मराठी अनुवाद पृ. ७२।

वही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बी लिखित बुद्धलीलासार संग्रहमें है। देखो पृ. १२८।

जैनसूत्रमें शुक्लध्यानके भेदोंका विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ९ सू० ४१—४४।

योगशास्त्रमें संप्रज्ञात समाधि तथा समापत्तिओंका वर्णन है। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १—१७, ४२, ४३, ४४।

१ थिओडोरे आउफ्रेटकृत लिप्झिगमें प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति।

यहां एक बात खास ध्यान देनेके योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें अनेक जगह हठयोगकी प्रथाको अग्राह्य कहा[1] है, तथापि उसमें हठयोगकी प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थोंका और मार्गोंका निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्यमें हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोगका स्पष्ट निषेध भी किया[2] है।

---

१ उदाहरणार्थः—

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढा कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम्।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हतान् विदुः ॥३९॥

योगवाशिष्ठ—उपशम प्र० सर्ग ९२.

२ इसके उदाहरणमें बौद्ध धर्ममें बुद्ध भगवान्ने तो शुरुमें कष्टप्रधान तपस्याका आरंभ करके अंतमें मध्यमप्रतिपदा मार्गका स्वीकार किया है-देखो बुद्धलीलासारसंग्रह.

जैनशास्त्रमें श्रीभद्रबाहुस्वामिने आवश्यकनिर्युक्तिमें "ऊसासं ण णिरुंभइ" १५२० इत्यादि उक्तिसे हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्यने भी अपने योगशास्त्रमें

योगशास्त्र—ऊपरके वर्णनसे मालूम हो जाता है कि-योगप्रक्रियाका वर्णन करनेवाले छोटे बडे अनेक ग्रन्थ हैं। इन सब उपलब्ध ग्रन्थोंमें महर्षि-पतञ्जलिकृत योगशास्त्रका आसन ऊंचा है। इसके तीन कारण हैं—१ ग्रन्थकी संक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषयकी स्पष्टता तथा पूर्णता, ३ मध्यस्थभाव तथा अनुभवसिद्धता। यही कारण है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योगसूत्रका स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें योगदर्शनका प्रतिवाद करते हुए जो "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" ऐसा उल्लेख किया[1] है, उससे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पातञ्जल योगशास्त्रसे भिन्न दूसरा कोइ योगशास्त्र रहा है। क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्रका आरम्भ "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्रसे होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्यमें भी ग्रन्थारम्भसूचक अथ शब्द है, यद्यपि उक्त भाष्यमें

"तन्नोष्टेति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितं। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः॥" इत्यादि उक्तिसे उसी बातको दोहराया है। श्रीयशोविजयजीने भी पातञ्जलयोगसूत्रकी अपनी वृत्तिमें (१—३४) प्राणायामको योगका अनिश्चित साधन कह कर हठयोगका ही निरसन किया है।

१ ब्रह्मसूत्र —१—३ भाष्यगत।

अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो[1] उल्लेख हैं, जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्रका संपूर्ण सूत्र ही है,[2] और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्रसे मिलता जुलता[3] है। तथापि "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" इस उल्लेखकी शब्दरचना और स्वतन्त्रताकी ओर ध्यान देनेसे यही कहना पडता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी भिन्न योगशास्त्रके होने चाहिये, जिसका कि अंश "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलिका ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है। इसलिये बहुत संक्षेपमें भी उसका बाह्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्रके चार पाद और कुल सूत्र १९५ हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरेका साधन, तीसरेका विभूति,

---

१ "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" ब्रह्मसूत्र १–३–३३ भाष्यगत। योगशास्त्रप्रसिद्धाः मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते, "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः नाम" २–४–१२ भाष्यगत।

पं वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्रके मराठी अनुवादके परिशिष्टमें उक्त दो उल्लेखोंका योगसूत्ररूपसे निर्देश किया है, पर "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" इस उल्लेखके संबंधमें कहीं भी ऊहापोह नहीं किया है.

२ मिलाओ पा. २ सू. ४४। ३ मिलाओ पा. १ सू. ६।

और चोथेका कैवल्यपाद है। प्रथमपादमें मुख्यतया योगका स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरताके उपायोंका वर्णन है। दूसरे पादमें क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्व्यूहका मुख्य वर्णन है[1]॥

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियोंके वर्णनकी प्रधानता है। और चोथे पादमें परिणामवादके स्थापन, विज्ञानवादके निराकरण तथा कैवल्य अवस्थाके स्वरूपका वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जलिने अपने योगशास्त्रकी नीव सांख्यसिद्धान्तपर डाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पादके अन्तमें "योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने" इत्यादि उल्लेख मिलता है। "सांख्यप्रवचने" इस विशेषणसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्यके सिवाय अन्यदर्शनके सिद्धांतोंके आधारपर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय मौजुद थे या रचे जाते थे इस योगशास्त्रके ऊपर अनेक छोटे बडे टीका ग्रन्थ[2] हैं, पर

---

१ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्व्यूह करलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६–२६ तकमें है।

२ व्यास कृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्तंड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विज्ञानभिक्षु कृत वार्तिक, योगचान्द्रिका, मणिप्रभा, भावागणेशीय वृत्ति, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आदि।

व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीकासे उसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

सब दर्शनोंके अन्तिम साध्यके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम पक्षका अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है। उसका मानना है कि मुक्तिमें शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसमें जो कुछ है वह दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही। दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है। ऐसा मोक्ष हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध-दर्शन प्रथम पक्षके अनुगामी हैं। वेदान्त और जैनदर्शन, दूसरे पक्षके अनुगामी हैं।

---

१ " तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः " न्यायदर्शन १–१–२२। २ ईश्वरकृष्णकारिका १। ३ उसमें हानतत्त्व मान कर दुःखके आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है। ४ बुद्ध भगवान्‌के तीसरे निरोध नामक आर्यसत्यका मतलब दुःख नाशसे है। ५ वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको सच्चिदानंदस्वरूप माना है, इसीलिये उसमें नित्यसुखकी अभिव्यक्तिका नाम ही मोक्ष है। ६ जैन दर्शनमें भी आत्माको सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्षमें स्वाभाविक सुखकी अभिव्यक्ति ही उस दर्शनको मान्य है।

योगशास्त्रका विषय-विभाग उसके आन्तिमसाध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूपसे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सबका संक्षेपमें वर्गीकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय २ हेय-हेतु ३ हान ४ हानोपाय। यह वर्गीकरण स्वयं सूत्रकारने किया है। और इसीसे भाष्यकारने योगशास्त्रको चतुर्व्यूहात्मक[1] कहा है। सांख्यसूत्रमें भी यही वर्गीकरण है। बुद्ध भगवान्‌ने इसी चतुर्व्यूहको आर्य-सत्य नामसे प्रसिद्ध किया है। और योगशास्त्रके आठ योगाङ्गोंकी तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्यके साधनरूपसे आर्य अष्टाङ्गमार्ग[2]का उपदेश किया है॥

दुःख हेय[3] है, अविद्या हेयका कारण है, दुःखका

---

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

२ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संग्रह. पृ. १५०। ३ "दुःखं हेयमनागतम्" २-१६ यो. सू। ४ "द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २-१७। "तस्य हेतुरविद्या" २-२४

आत्यन्तिक नाश हान[1] है, और विवेक-ख्याति हानका उपाय[2] है।

उक्त वर्गीकरणकी अपेक्षा दूसरी रीतिसे भी योगशास्त्रका विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्योंका ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है-१ हाता. २ ईश्वर ३ जगत् ४ संसार-मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१ हाता दुःखसे छुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतनका नाम है। योग-शास्त्रमें सांख्य[3] वैशेषिक[4], नैयायिक, बौद्ध, जैन[5] और पूर्णप्रज्ञ (मध्व[6]) दर्शनके समान द्वैतवाद

---

१ "तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्" २-२६ यो. सू। २ "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" २-२६. यो. सू। ३ "पुरुषबहुत्वं सिद्धं" ईश्वरकृष्णकारिका-१८। ४ "व्यवस्थातो नाना"-३-२-२०-वैशेषिकदर्शन। ५ "पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि"-५-५. तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य।

६ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥
सर्वदर्शनसंग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शन॥

अर्थात् अनेक चेतन माने गये हैं।

योगशास्त्र चेतनको जैन दर्शनकी तरह देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं मानता, किन्तु सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और शांकरवेदान्तकी तरह वह उसको व्यापक मानता है।

इसी प्रकार वह चेतनको जैनदर्शनकी तरह परिणामि-

---

१ "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" २-२२ यो. सू. । २. " असंख्येयभागादिषु जीवानाम् " । १५ । " प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् " १६-तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ ।

३. देखो "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्"। ब्रह्मसूत्र २-३-१८ पूर्णप्रज्ञ भाष्य । तथा मिलान करो अभ्यंकरशास्त्री कृत मराठी शांकरभाष्य अनुवाद भा. ४ पृ. १५३ टिप्पण ४६ ।

४. " निष्क्रियस्य तदसम्भवात् " सां. सू. १-४६. निष्क्रियस्य-विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्-भाष्य विज्ञानभिक्षु ।

५. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा । " ७-१-२२-वै. द. ।

६. देखो ब्र. सू. २-३-२९. भाष्य ।

७. इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूपके विषयमें सांख्य-सिद्धान्तानुसारी है ।

८. "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" ३ । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। २९ । "तद्भावाव्ययं नित्यम्" ३० । तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ भाष्य सहित

नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शनकी तरह उसको क्षणिक-अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनोंकी तरह वह उसे कूटस्थ-नित्य मानता है।

२ ईश्वरके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत सांख्य दर्शनसे भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनोंके अतिरिक्त ईश्वरको नहीं मानता[३], पर योगशास्त्र मानता है। योगशास्त्र-सम्मत ईश्वरका स्वरूप नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनोंमें माने गये ईश्वरस्वरूपसे कुछ भिन्न है। योगशास्त्रने ईश्वरको एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदिकी तरह ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्ध न मान कर इसके स्थानमें सत्त्वगुणका

---

१. देखो ई० कृ० कारिका ६२ सांख्यतत्त्वकौमुदी। देखो न्यायदर्शन ४-१-१०। देखो ब्रह्मसूत्र २-१-१४। २-१-२७। शांकरभाष्य सहित।

२. देखो योगसूत्र. "सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्" ४-१८। "चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" ४-२२। तथा "द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थ-नित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्" इत्यादि ४-३३-भाष्य।

३ देखो सांख्यसूत्र १-९२ आदि।

परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगत्उद्धारादिकी सब व्यवस्था घटा[1] दी है।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत्को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनोंकी तरह परमाणुका परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्तदर्शनकी तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्मका परिणाम ही मानता है, और न बौद्धदर्शनकी तरह शून्य या विज्ञानात्मक ही मानता है, किन्तु सांख्य दर्शनकी तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि–अनन्त–प्रवाह-स्वरूप मानता है।

४ योगशास्त्रमें वासना, क्लेश और कर्मका नाम ही संसार, तथा वासनादिका अभाव अर्थात् चेतनके स्वरूपावस्थानका नाम ही मोक्ष[2] है। उसमें संसारका मूल कारण अविद्या और मोक्षका मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योगजन्य विवेकख्याति माना गया है।

महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता—यह पहले

---

१ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योगसूत्रमें नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपपादन किया है। देखो पातञ्जल यो. सू. पा. १ सू. २४ भाष्य तथा टीका।

२ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम्। १–३ योगसूत्र।

कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धान्त और उसकी प्रक्रियाको ले कर पतञ्जलिने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कम पाई जाती है। इसी विशेषताके कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शन-समन्वय बन गया है। उदाहरणार्थ सांख्यका निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंके द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोक-स्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासनाकी ओर विशेष मालूम पडा, तब अधिकारि-भेद तथा रूचिविचित्रताका विचार करके पतञ्जलिने अपने योगमार्गमें ईश्वरोपासनाको भी स्थान[1] दिया, और ईश्वरके स्वरूपका उन्होंने निष्पक्ष भावसे ऐसा निरूपण[2] किया है जो सबको मान्य हो सके।

पतञ्जलिने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगोंका साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासनाकी भिन्नता और उपासनामें उपयोगी होनेवाली प्रतीकोंकी भिन्नताके व्या-

---

१ "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" १-२३।

२ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"। "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्"। (१-२४, २५, २६)

मोहमें अज्ञानवश आपस आपसमें लड मरते हैं, और इस धार्मिक कलहमें अपने साध्यको लोक भूल जाते हैं। लोगोंको इस अज्ञानसे हटा कर सत्पथपर लानेके लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसीका ध्यान करो। जैसी प्रतीक तुम्हें पसंद आवे वैसी प्रतीककी ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो। और तद्द्वारा परमात्म-चिन्तनके सच्चे पात्र बनो। इस उदारताकी मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेशके द्वारा पतञ्जलिने सभी उपासकोंको योग-मार्गमें स्थान दिया, और ऐसा करके धर्मके नामसे होनेवाले कलहको कम करनेका उन्होंने सच्चा मार्ग लोगोंको बतलाया।

---

१ " यथाऽभिमतध्यानाद्वा " १-३९

इसी भावकी सूचक महाभारतमें—

ध्यानमुत्पादयत्यत्र, संहिताबलसंश्रयात्
यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती ॥

शान्तिपर्व प्र० १९४ श्लो. २०

यह उक्ति है। और योगवाशिष्ठमें—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १९।

यह उक्ति है।

उनकी इस दृष्टिविशालताका असर अन्य गुण-ग्राही आचार्योंपर भी पडा, और वे उस मतभेदसहिष्णुताके तत्त्वका मर्म समझ गये।

---

१. पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥
गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥

योगबिन्दु श्लो. १६–२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो कीसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेषको स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकारकी प्रतीक माननेवालों या अन्य प्रकारकी उपासना करनेवालोंसे द्वेष नहीं रखते, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेदके व्यामोहसे ही आपसमें लड मरते हैं। इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करनेके लिये ही श्रीमान् हरिभद्रसूरिने उक्त पद्योंमें प्रथमाधिकारीके लिये सब देवोंकी उपासनाको लाभदायक बत-

वैशेषिक, नैयायिक आदिकी ईश्वरविषयक मान्यताका तथा साधारण लोगोंकी ईश्वरविषयक श्रद्धाका योगमार्गमें उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होंने वैदिके-

---

लानेका उदार प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नका अनुकरण श्री-यशोविजयजीने भी अपनी "पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका" "आठ-दृष्टियोंकी सज्झाय" आदि ग्रन्थोंमें किया है। एकदेशीयसम्प्रदायाभिनिवेशी लोगोंको समजानेके लिये 'चारिसंजीवनीचार' न्यायका उपयोग उक्त दोनों आचार्योंने किया है। यह न्याय बडा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

इस समभावसूचक दृष्टान्तका उपनय श्रीज्ञानविमलने आठदृष्टिकी सज्झाय पर किये हुए अपने गूजराती टब्बेमें बहुत अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है। इसका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है। कीसी स्त्रीने अपनी सखीसे कहा कि मेरा पति मेरे अधीन न होनेसे मुझे बडा कष्ट है, यह सुन कर उस आगन्तुक सखीने कोई जडी खिला कर उस पुरुषको बैल बना दिया, और वह अपने स्थानको चली गई। पतिके बैल बनजानेसे उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुषरूप बनानेका उपाय न जाननेके कारण उस बैलरूप पतिको चराया करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी। कीसी समय अचानक एक विद्याधरके मुखसे ऐसा सुना कि अगर बैलरूप पुरुषको संजीवनी नामक जडी चराई जाय तो वह फिर असली रूप

तर दर्शनोंके सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्गके लिये सर्वथा उपयोगी जान पडी उसका भी अपने योगशास्त्रमें बडी उदारतासे संग्रह किया। यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववादको युक्तिहीन समझ कर या योगमार्गमें अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चौथे पादमें किया[1] है, तथापि उन्होंने बुद्धभगवान्के परमप्रिय चार आर्यसत्योंका[2] हेय, हेयहेतु, हान और होनोपाय रूपसे स्वीकार निःसंकोच भावसे अपने योगशास्त्रमें किया है।

धारण कर सकता है। विद्याधरसे यह भी सुना कि वह जडी अमुक वृक्षके नीचे है, पर उस वृक्षके नीचे अनेक प्रकारकी वनस्पति होनेके कारण वह स्त्री संजीवनीको पहचाननेमें असमर्थ थी। इससे उस दुःखित स्त्रीने अपने बैलरूपधारि पतिको सब वनस्पतियाँ चरा दीं। जिनमें संजीवनीको भी वह बैल चर गया, और बैलरूप छोड कर फिर मनुष्य बन गया। जैसे विशेष परीक्षा न होनेके कारण उस स्त्रीने सब वनस्पतियोंके साथ संजीवनी खिला कर अपने पतिका कृत्रिम बैलरूप छुडाया, और असली मनुष्यत्वको प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाधिकारी भी सब देवोंकी समभावसें उपासना करते करते योगमार्गमें विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है।

१ देखो सू० १५, १८।

२ दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग।

जैन दर्शनके साथ योगशास्त्रका सादृश्य तो अन्य सब दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक ही देखनेमें आता है। यह बात स्पष्ट होनेपर भी बहुतोंको विदित ही नहीं है, इसका सबब यह है कि जैनदर्शनके खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्रका अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्रके खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शनका बारीकीसे ठीक ठीक अवलोकन किया हो। इसलिये इस विषयका विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

योगशास्त्र और जैनदर्शनका सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकारका है। १ शब्दका, २ विषयका और ३ प्रक्रियाका।

१ मूल योगसूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतकमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्रमें खास प्रसिद्ध हैं। जैसे–भवप्रत्यय[1], सवितर्क सविचार निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत

---

१ "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" योगसू. १–१९। "भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्" तत्त्वार्थ अ. १–२२।

२ ध्यानविशेषरूप अर्थमें ही जैनशास्त्रमें ये शब्द इस प्रकार हैं "एकाश्रये सवितर्के पूर्वे" (तत्त्वार्थ अ. ९–४३) "तत्र

कारित अनुमोदितं, प्रकाशावरण, सोपक्रम निरूपक्रमं, वज्रसं-

सविचारं प्रथमम् " भाष्य " अविचारं द्वितीयम् " तत्त्वा–अ ६–४४ । योगसूत्रमें ये शब्द इस प्रकार आये हैं—"तत्र श-ब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः " " स्मृतिपरि-शुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" "एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता " १–४२, ४३, ४४ ।

३ जैनशास्त्रमें मुनिसम्बन्धी पाँच यमोंके लिये यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध है । " सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति " तत्त्वार्थ अ० ७–२ भाष्य । यही शब्द उसी अर्थमें योगसूत्र २–३१ में है।

४ ये शब्द जिस भावके लिये योगसूत्र २–३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भावमें जैनशास्त्रमें भी आते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जैनग्रन्थोंमें अनुमोदितके स्थानमें बहुधा अनुमत–शब्द प्रयुक्त होता है । देखो–तत्त्वार्थ, अ. ६–६।

५ यह शब्द योगसूत्र २–५२ तथा ३–४३ में है । इसके स्थानमें जैनशास्त्रमें ' ज्ञानावरण ' शब्द प्रसिद्ध है । देखो तत्त्वार्थ. अ. ६–११ आदि ।

६ ये शब्द योगसूत्र ३–२२ में हैं। जैन कर्माविषयक साहि-त्यमें ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, देखो—अ. २–५२ भाष्य ।

७ यह शब्द योगसूत्र (३–४६) में प्रयुक्त है । इसके स्थानमें जैन ग्रन्थोंमें ' वज्रऋषभनाराचसंहनन ' ऐसा शब्द मिलता है । देखो तत्त्वार्थ (अ० ८–१२) भाष्य ।

हनन, केवली[1], कुशल[2], ज्ञानावरणीयकर्म[3], सम्यग्ज्ञान[4], सम्यग्दर्शन[5], सर्वज्ञ[6], क्षीणक्लेश[7], चरमदेह आदि।

२ प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था[8], पाँच यम[9], योगज-

---

१ योगसूत्र (२–२७) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० ६–१४)।

२ देखो योगसूत्र (२–२७) भाष्य, तथा दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६।

३ देखो योगसूत्र (२–५१) भाष्य, तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८६३।

४ योगसूत्र (२–२८) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १–१)।

५ योगसूत्र (४–१५) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १–२)।

६ योगसूत्र (३–४९) भाष्य, तत्त्वार्थ (३–४९)।

७ योगसूत्र (१–४) भाष्य। जैन शास्त्रमें बहुधा क्षीणमोह 'क्षीणकषाय' शब्द मिलते हैं। देखो तत्त्वार्थ (अ० ९–३८)।

८ योगसूत्र (२–४) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० २–५२)।

९ प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओंका योगसूत्र (२–४) में वर्णन है। जैनशास्त्रमें वही भाव मोहनीयकर्मकी सत्ता, उपशमक्षयोपशम, विरोधिप्रकृतिके उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्थाके वर्णनरूपसे वर्तमान है। देखो योगसूत्र (२–४) की यशोविजयकृत वृत्ति।

१० पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थोंमें है सही, पर

न्य विभूति, सोपक्रम निरुपक्रम कर्मका स्वरूप, तथा उसके

उसकी परिपूर्णता " जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् " (योगसूत्र २–३१) में तथा दशवैकालिक अध्ययन ४ आदि जैनशास्त्रप्रतिपादित महाव्रतोंमें देखनेमें आती है।

१ योगसूत्रके तीसरे पादमें विभूतियोंका वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रकारकी हैं। १ वैज्ञानिक २ शारीरिक। अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञानविभूतियाँ हैं। अन्तर्धान, हस्तिबल, परकायप्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंपत्, इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं। जैनशास्त्रमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, जातिस्मरणज्ञान, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं। देखो आवश्यकनिर्युक्ति (गा० ६६, ७०) लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है।

२ योगभाष्य और जैनग्रन्थोंमें सोपक्रम निरुपक्रम आयुष्कर्मका स्वरूप बिल्कुल एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूपको दिखाते हुए भाष्यकारने (यो. सू. ३–२२) के भाष्यमें आर्द्र वस्त्र और तृणराशिके जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा–९५६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा–३०६१) आदि जैनशास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर

तत्त्वार्थ (अ० –२५२) के भाष्यमें उक्त दो दृष्टान्तोंके उपरान्त एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा है । इस विषयमें उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है ।

" यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाऽग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् (योग. ३-२२) भाष्य । यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति, तद्वत् । यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिच्छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति,तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत् । यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति । स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति । (अ०२–५२ भाष्य) ।

१ योगबलसे योगी जो अनेक शरीरोंका निर्माण करता

३ परिणामि–नित्यता अर्थात् उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य-रूपसे त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्मधर्मीका विवेचन इत्यादि।

इसी विचारसमताके कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचार्योंने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थोंमें गुणग्राहकताका निर्भीक

है, उसका वर्णन योगसूत्र (४–४) में है, यही विषय वैक्रिय–आहारक–लब्धिरूपसे जैनग्रन्थोंमें वर्णित है।

१ जैनशास्त्रमें वस्तुको द्रव्यपर्यायस्वरूप माना है। इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ (अ० ५–२९) में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा किया है। योगसूत्र (३–१३, १४) में जो धर्मधर्मीका विचार है वह उक्त द्रव्यपर्यायउभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिरूपताका ही चित्रण है। भिन्नता सिर्फ दोनोंमें इतनी ही है कि–योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होनेसे "ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः" यह सिद्धान्त मानकर परिणामवादका अर्थात् धर्मलक्षणावस्थापरिणामका उपयोग सिर्फ जडभागमें अर्थात् प्रकृतिमें करता है, चेतनमें नहीं। और जैनदर्शन तो "सर्वे भावाः परिणामिनः" ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड चेतन दोनोंमें करता है। इतनी भिन्नता होनेपर भी परिणामवादकी प्रक्रिया दोनोंमें एक सी है।

परिचय पूरे तौरसे दिया है, और जगह जगह पतञ्जलिके योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दोंका जैन सङ्केतोंके साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालोंके लिये एकताका मार्ग खोल दिया है। जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसूरि-सूचित एकताके मार्गको विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलिके योगसूत्रको जैन प्रक्रियाके अनुसार समझानेका थोडा किन्तु मार्मिक प्रयास किया है। इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्तीसियोंमें उन्होंने पतञ्जलिके योगसूत्रगत कुछ विषयोंपर खास बत्तीसियाँ भी रची हैं। इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेका

---

१ उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥

(योग. वि. श्लो. ६६) टीका 'उक्तं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः' ॥ 'एतत्प्रधानः सच्छ्राद्धः शीलवान् योगतत्परः । जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः" ॥ (योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १००) टीका 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः'। ऐसा ही भाव गुणग्राही श्रीयशोविजयजीने अपनी योगावतारद्वात्रिंशिकामें प्रकाशित किया है। देखो-श्लो. २० टीका।

२ देखो योगबिन्दु श्लोक ४१८, ४२० ।

३ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति ।

४ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, ईशानुग्रहविचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका ।

उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योग-शास्त्रके पास आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकरूपताका अनुभव करने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि–महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टि–विशालता उनके विशिष्ट योगानुभवका ही फल है, क्योंकि–जब कोई भी मनुष्य शब्दज्ञानकी प्राथमिक भूमिकासे आगे बढ़ता है तब वह शब्दकी पूंछ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञानके[1] उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकतावाले प्रदेशमें अभेद आनंदका अनुभव करता है।

आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा—श्रीहरिभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्योंमें एक हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयशक्तिका पूरा परिचय करानेका यहाँ प्रसंग नहीं है। इसके-लिये जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियोंको देख लेवें। हरिभद्रसूरिकी शतमुखी प्रतिभाके स्रोत उनके बनाये हुए चार-[2]

---

१ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञानका स्वरूप श्रीयशोविजयजीने अध्यात्मोपनिषद्में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगोंको देखने योग्य है अध्यात्मोपनिषद् श्लो. ६५, ७४।

२ द्रव्यानुयोगविषयक–धर्मसंग्रहणी आदि १, गणितानुयोगविषयक–क्षेत्रसमास टीका आदि २, चरणकरणानुयोग-

अनुयोगविषयक ग्रन्थोंमें ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भारतवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धांतोंकी चर्चावाले ग्रन्थोंमें भी बहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई, उसने योगमार्गमें एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्यमें ही नहीं बल्कि आर्यजातीय संपूर्ण योग-विषयक साहित्यमें एक नई वस्तु है। जैनशास्त्रमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थान-रूपसे, चार ध्यान रूपसे और बहिरात्म आदि तीन अवस्थाओंके रूपसे मिलता है। हरिभद्रसूरिने उसी आध्यात्मिक विकासके क्रमका योगरूपसे वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रक्खी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्यमेंसे किसी भी ग्रंथमें कमसे कम हमारे देखनेमें तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें अनेक[2] योगियोंका नामनिर्देश करते हैं। एवं योगविषयक[3] ग्रन्थोंका उल्लेख करते

विषयक—पञ्चवस्तु, धर्मबिन्दु आदि ३, धर्मकथानुयोगविषयक—समराइच्चकहा आदि ४ ग्रन्थ मुख्य हैं।

१ अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि।

२ गोपेन्द्र (योगबिन्दु श्लोक. २००) कालातीत (योगबिन्दु श्लोक ३००)। पतञ्जलि, भदन्तभास्करबन्धु, भगवदन्त(त्त) वादी (योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका)।

३ योगनिर्णय आदि (योगदृष्टि० श्लोक १ टीका)।

हैं जो अभी प्राप्त नहीं भी हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रन्थोंमें उनके वर्णनकी सी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु बिल्कुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रसूरिके योगविषयक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखनेमें आये हैं। उनमेंसे षोडशक और योग-विंशिकाके योगवर्णनकी शैली और योगवस्तु एक ही है। योगबिंदुकी विचारसरणी और वस्तु योगविंशिकासे जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चयकी विचारधारा और वस्तु योगबिंदुसे भी जुदा है। इस प्रकार देखनेसे यह कहना पडता है कि हरि-भद्रसूरिने एक ही आध्यात्मिक विकासके क्रमका चित्र भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न वस्तुका उपयोग करके तीन प्रका-रसे खींचा है।

कालकी अपरिमित लंबी नदीमें वासनारूप संसारका गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर (मूल) तो अनादि है, पर दूसरा (उत्तर) छोर सान्त है। इसलिये मुमुक्षु-ओंके वास्ते सबसे पहले यह प्रश्न बडे महत्त्वका है कि उक्त अनादि प्रवाहमें आध्यात्मिक विकासका आरंभ कबसे होता है? और उस आरंभके समय आत्माके लक्षण कैसे हो जाते हैं? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने योगबिंदुमें दिया है। वे कहते हैं कि—"जब आत्माके ऊपर मोहका प्रभाव घटनेका आरंभ होता है, तभीसे आध्यात्मिक विकासका सूत्रपात हो जाता

है। इस सूत्रपातका पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकास-रहित होता है, वह जैनशास्त्रमें अचरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकासके क्रमवाला होता है, वह चरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्तन और चरमपुद्गलपरावर्तनकालके परिमाणके बीच सिंधु और विंदुका सा अंतर होता है। जिस आत्माका संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण शेष रहता है, उसको जैन परिभाषामें 'अपुनर्बंधक' और सांख्य-परिभाषामें 'निवृत्ताधिकार प्रकृति' कहते हैं[२]। अपुनर्बन्धक या निवृत्ताधिकार प्रकृति आत्माका आंतरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोहका दबाव कम होकर उलटे मोहके ऊपर उस आत्माका दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विकासका बीजारोपण है। यहींसे योगमार्गका आरंभ हो जानेके कारण उस आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सरलता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदाचार वास्तविकरूपमें दिखाई देते हैं। जो उस विकासोन्मुख आत्माका बाह्य परिचय है"। इतना उत्तर देकर आचार्यने योगके आरंभसे लेकर योगकी पराकाष्टा तकके आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये उसको

१ देखो मुक्त्यद्वेषद्वात्रिंशिका २८।

२ देखो योगविंदु १७८, २०१।

पाँच भूमिकाओंमें विभक्त करके हर एक भूमिकाके लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये हैं[1]। और जगह जगह जैन परिभाषाके साथ बौद्ध तथा योगदर्शनकी परिभाषाका मिलान करके[2] परिभाषाभेदकी दिवारको तोडकर उसकी ओटमें छिपी हुई योगवस्तुकी भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये योगमार्गकी पाँच भूमिकायें हैं। इनमेंसे पहली चारको पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिकाको असंप्रज्ञात कहते हैं[3]। यही संक्षेपमें योगबिन्दुकी वस्तु है।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका वर्णन योगबिन्दुकी अपेक्षा दूसरे ढंगसे है। उसमें आध्यात्मिक विकासके प्रारंभके पहलेकी स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण संसारकालीन आत्माकी स्थितिको ओघदृष्टि कहकर उसके तरतम भावको अनेक दृष्टांत द्वारा समझाया

---

१ योगबिंदु, ३१, ३५७, ३५९, ३६१, ३६३, ३६५।

२ "यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥२७३॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः" ॥२७४॥
योगबिन्दु।

३ देखो योगबिंदु ४१८, ४२०।

है,[1] और पीछे आध्यात्मिक विकासके आरंभसे लेकर उसके अंततकमें पाई जानेवाली योगावस्थाको योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्थाकी क्रमिक वृद्धिको समझानेके लिये संक्षेपमें उसे आठ भूमिकाओंमें बाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थमें आठ योगदृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं[2]। इन आठ दृष्टिओंका विभाग पातंजलयोगदर्शन-प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टिमें एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टिआँ योगकी प्रारम्भिक अवस्थारूप होनेसे उनमें अविद्याका अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत ग्रंथमें अवेद्यसंवेद्यपद कहा है[3]। अगली चार दृष्टिओंमें अविद्याका अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भावको आचार्यने वेद्यसंवेद्यपद शब्दसे जनाँया है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रंथमें पिछली चार दृष्टियोंके समय पाये जानेवाले विशिष्ट आध्यात्मिक विकासको इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योगभूमिकाओंमें विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओंका बहुत रोचक वर्णन किया है[5]।

---

१ देखो—योगदृष्टिसमुच्चय १४।
२ ,, ,, १३।
३ ,, ,, ७५।
४ ,, ,, ७३।
५ ,, ,, २–१२।

आचार्यने अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णनकरके योगशास्त्रके अधिकारी कौन हो सकते हैं ? यह भी बतला दिया है। यही योगदृष्टिसमुच्चयकी बहुत संक्षिप्त वस्तु है।

योगविंशिकामें आध्यात्मिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाका वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओंका ही वर्णन है।

इसीसे उसमें मुख्यतया योगके अधिकारी त्यागी ही माने गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक-क्रियाको ही योगरूप बतलाकर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है। और उस आवश्यक-क्रियाके द्वारा योगको पाँच भूमिओंमें विभाजित किया है। ये पाँच भूमिकायें उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंबन और निरालंबन नामसे प्रसिद्ध हैं। इन पाँच भूमिकाओंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी घटना करते हुए आचार्यने पहली दो भूमिकाओंको कर्मयोग और पिछली तीन भूमिकाओंको ज्ञानयोग कहा है। इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकामें इच्छा, वृप्रत्ति, स्थैर्य और सिद्धिरूपसे आध्यात्मिक विकासके तरतम भावका प्रदर्शन कराया है। और उस प्रत्येक भूमिका तथा इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थितिका लक्षण बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है[1]। इस प्रकार उक्त

१ योगविंशिका गा० ५, ६।

पाँच भूमिकाओंकी अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितिओंका वर्णन-करके योगके अस्सी भेद किये हैं, और उन सबके लक्षण बतलाये हैं, जिनको ध्यानपूर्वक देखनेवाला यह जान सकता है कि मैं विकासकी किस सीढ़ीपर खडा हूँ। यही योगविंशिकाकी संक्षिप्त वस्तु है।

उपसंहार—विषयकी गहराई और अपनी अपूर्णताका खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिये किया गया है कि अबतकका अवलोकन और स्मरण संक्षेपमें भी लिपिबद्ध हो जाय, जिससे भविष्यत्में विशेष प्रगति करना हो तो इस विषयका प्रथम सोपान तयार रहे। इस प्रवृत्तिमें कई मित्र मेरे सहायक हुए हैं जिनके नामोल्लेख मात्रसे मैं कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता। उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदयमें अखंड रहेगी।

पाठकोंके प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस निबंधमें अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आये हैं। खासकर अन्तिम भागमें जैन-पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो बहुतोंको कम विदित होंगे उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं किया है, पर खुलासावाले उस उस ग्रन्थके उपयोगी स्थलोंका निर्देश कर दिया है, जिससे विशेषजिज्ञासु मूलग्रन्थद्वारा ही ऐसे कठिन शब्दोंका सुलासा कर सकेंगे।

अगर यह संक्षिप्त निबंध न होकर खास पुस्तक होती तो इसमें विशेष खुलासोंका भी अवकाश रहता।

इस प्रवृत्तिके लिये मुझको उत्साहित करनेवाले गुजरात पुरातत्त्व संशोधन मंदिरके मंत्री परीख रसिकलाल छोटालाल हैं जिनके विद्याप्रेमको मैं नहीं भूल सकता।

संवत् १९७८ पौष वदि ५ भावनगर.

लेखक—
सुखलाल संघवी.

॥ अर्हम् ॥

न्यायाम्भोनिधि–श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्–व्यासर्षिप्रणीतभाष्यांशसहितं

भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितं

पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

(न्यायविशारद–न्यायाचार्य–श्रीमद्यशोविजयवाचकवरविहितया जैनमतानुसारिण्या लेशव्याख्ययोपवर्धितम्)

ऐँ नमः ॥ ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा वीरं सूत्रानुसारतः ।
वक्ष्ये पातञ्जलस्यार्थं साक्षेपं प्रक्रियाश्रयम् ॥ १ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥१–१॥

तस्य (संप्रज्ञातासंप्रज्ञातरूपद्विविधयोगस्य) लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवर्तते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १–२ ॥

भाष्यम्—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति।तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत् [1]परं प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चः सत्त्वगुणात्मिका [2]चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिः इत्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निर्बीजः समाधिः । न तत्र किञ्चित् संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः ।

(य०) सर्वशब्दाग्रहणेऽप्यर्थात्तल्लाभाद्व्याप्तिः संप्रज्ञात इति "क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योगः" इति लक्षणं सम्यग्, यद्वा "समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्" इति त्वस्माकमाचार्याः । तदुक्तम्—"मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो" [योगविंशिका० गा० १]

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १—३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १—४ ॥

---

१ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्तं धर्ममेघपर्यन्तं ।

२ विवेकख्यातेः बोधकमेतत्पदम् ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ १—५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १—६ ॥

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ १—७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ १—८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ १—९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १—१० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १—११ ॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्य ? इति । ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनः तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः

---

१ एतत्पदं मुद्रितपुस्तके न दृश्यते

पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति।

(य०) अत्र विकल्पः शब्दान्नाऽखण्डालीकनिर्भासोऽसत्ख्यात्यसिद्धेः, किन्तु "असतो णत्थि णिसेहो" इत्यादि भाष्यकृद्वचनात्खण्डशःप्रसिद्धपदार्थानां संसर्गारोप एव, अभिन्ने भेदनिर्भासादिस्तु नयात्मा प्रमाणैकदेश एव। निद्रा तु सर्वा नाऽभावालम्बना, स्वप्ने करितुरगादिभावानामपि प्रतिभासनात्। नापि सर्वा मिथ्यैव, संवादिस्वप्नस्यापि बहुशो दर्शनात्। स्मृतिरप्यनुभूते यथार्थतत्ताख्यधर्मावगाहिनी, संवादविसंवादाभ्यां द्वैविध्यदर्शनाद्, इति तिसृणामुत्तरवृत्तीनां द्वयोरेव यथायथमन्तर्भावात् पञ्चवृत्त्यभिधानं स्वरुचितप्रपञ्चार्थम्। अन्यथा त्रयोपशमभेदादसङ्ख्यभेदानामपि संभवात्, इत्यार्हतसिद्धान्तपरमार्थवेदिनः।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १—१२॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १—१३॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १—१४॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १—१५॥

---

१ विशेषावश्यकभाष्यगा. १५७९

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १–१६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। तस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते–प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

(य०) विषयदोषदर्शनजनितमापातधर्मसन्यासलक्षणं प्रथमम्, सतत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यम्, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १–१७ ॥

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वा इति.

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।१-१८॥

भाष्यम्–सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य

---

१ 'पुरुषदर्शनाभ्या' इत्यपि।

समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते, स चार्थशून्यः । तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः॥

(य०) द्विविधोऽप्ययं अध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति । वृत्तिक्षयो ह्यात्मनः कर्मसंयोगयोग्यतापगमः, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टा वृत्तयः, तासां मूलहेतुः कर्मसंयोगयोग्यता, सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिभेदे उत्कृष्टमोहनीयबन्धव्यवच्छेदेन तत्तद्गुणस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यन्तिकबन्धव्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निवर्तते । तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये संप्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात् । तदुक्तम्—" समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते । सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ १ ॥ " (४१८ यो. बिं.) निर्वितर्काविचारानन्दास्मितानिर्भासस्तु पर्यायविनिर्मुक्तशुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येय(यः),यन्नयमालम्ब्योक्तम्—" का अरई[1] के आणंदे ? इत्थं पि अग्गहे चरे " इत्यादि । क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसंप्रज्ञातः समाधिः, भावमनोवृत्तीनां ग्राह्यग्रहणाकारशालिनीनामवग्रहादिक्रमेण तत्र सम्यक्परिज्ञानाभावात् । अत एव भावमनसा संज्ञाऽभावाद् द्रव्यमनसा

---

१ आचाराङ्ग १–३–३ पृ. १६८ का अरतिः क आनन्दः ? अत्रापि अग्रहश्चरेत् ।

च तत्सद्भावात्केवली नोसंज्ञीत्युच्यते । तदिदमुक्तं योगबिन्दौ—
" असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः । निरुद्धाशेषवृत्त्यादि-
तत्स्वरूपानुवेधतः ॥१॥ धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥२॥ " (४२०-२१)
इत्यादि । संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपग्राहिकर्मांशरूपसंस्कारापेक्षया
व्याख्येयम्, मतिज्ञानभेदस्य संस्कारस्य तदा मूलत एव विनाशात्।
इत्यस्मन्मतनिष्कर्ष इति दिक् । प्रकृतं प्रस्तूयते—

स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १—१९ ॥

भाष्यम्—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन[1] चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥

(य०) उपशान्तमोहत्वेनोक्तानां लवसप्तमानां ज्ञानयोगरूपसमाधिमधिकृत्येदं प्रवृत्तम् । एत[दस्म]न्मतम् ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ १—२० ॥

---

१ ' मात्रोपयोगेन ' इत्यपि.

तत्राधिमात्रोपायानाम्—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १—२१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ १—२२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १—२३ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १—२४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १—२५ ॥

स एषः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १—२६ ॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥

(य०)—अत्र वयं वदामः—कालेनानवच्छेदादिकं नेश्वरस्योपास्यतावच्छेदकम् । सार्वज्ञ्यं तु तथासंभवदपि दोषक्षयजन्यतावच्छेदकत्वेन नित्यमुक्तेश्वरसिद्धौ साक्षिभावमालम्बते । 'नित्यमुक्त ईश्वरः' इत्यभिधाने च व्यक्त एव वदतोव्याघातः, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वाद्बन्धपूर्वस्यैव मोक्षस्य व्यवस्थितेः, अन्यथा घटादेरपि नित्यमुक्तत्वं

दुर्निवारम्। केवलसत्त्वातिशयवतः पुरुषविशेषस्य कल्पने च केवलरजस्तमोऽतिशयवतोरपि कल्पनापत्तिः। कथं चैवमात्मत्वावच्छेदेनानादिसंसारसंबन्धनिमित्ततोपपत्तिः ?। ईश्वरातिरिक्तात्मत्वेन तथात्वकल्पने च गौरवम्। केवलसत्त्वोत्कर्षवदृष्टपुरुषकल्पने च नित्यज्ञानाद्याश्रयो नैयायिकाद्यभिमत एव स किं न कल्प्यते ?, तस्मात्सकलकर्मनिर्मुक्ते सिद्ध एव भवतीश्वरत्वं युक्तम्, उपासनौपयिककेवलज्ञानादिगुणानां तत्रैव संभवात्। अनादिशुद्धत्वश्रद्धापि प्रवाहापेक्षया तत्रैव पूरयिता। यदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः—"एसो अणाइमं चिय सुद्धो य तओ अणाइसुद्धो त्ति। जुत्तो य पवाहेणं ण अन्नहा सुद्धया सम्मं ॥ १ ॥" (अनादिविंशिका. १२) सिद्धानामनेकत्वात् "एक ईश्वरः" इति श्रद्धा न पूर्यत इति चेत्, न, सिद्धेतरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोग्यतिशयत्वरूपस्यैकत्वस्य सिद्धानामनेकत्वेऽप्यबाधात्सङ्ख्यारूपस्यैकत्वस्य चाप्रयोजकत्वात्। गम्यतां वा समष्ट्यपेक्षया तदपि, स्वरूपास्तित्वसादृश्यास्तित्वयोरविनिर्भागवृत्तित्वस्य सार्वत्रिकत्वात्। जगत्कर्तुः सर्वथैकस्य पुरुषस्याभ्युपगमे च जगत्कारणस्य शरीरस्यापि बलादापत्तिः, कार्यत्वे सकर्तृकत्वस्येव शरीरजन्यत्वस्यापि व्याप्तेरभिधातुं शक्यत्वादिति। तस्य च सिद्धस्य भगवत ईश्वरस्यानुग्रहोऽपि योगिनोऽपुनर्बन्धकाद्यवस्थोचितसदाचारलाभ एव, न त्वनुजिघृक्षारूपस्तस्या रागरूपत्वात्, तस्य च द्वेषसहचरितत्वात्, रागद्वेषवतश्चेतरवदनाराध्यत्वादिति संक्षेपः ॥ प्रकृतम्—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १—२७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १—२८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।१-२९।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-
विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १—३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-
सहभुवः ॥ १—३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १—३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ १—३३ ॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् । दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् ।

(य०)—अस्मदाचार्यास्तु—"परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविनाशिनी तथा करुणा । परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १ ॥" इति लक्षयित्वा "उपकारिस्वजनेतरसामान्यगता

चतुर्विधा मैत्री । मोहासुखसंवेगाऽन्यहितयुता चैव करुणा तु ॥ २ ॥ सुखमात्रे सद्धेतावनुबन्धयुते परे च मुदिता तु । करुणा तु बन्धनिर्वेदतत्त्वसारा ह्युपेक्षेति ॥ ३ ॥ " इति भेदप्रदर्शनपूर्वं " एताः खल्वभ्यासात् क्रमेण वचनानुसारिणां पुंसाम् । सद्वृत्तानां सततं श्राद्धानां परिणमन्त्युच्चैः ॥ ४ ॥ " इति परिकर्मविधिमाहुः । तत्त्वमत्रत्यमस्मत्कृतषोडशकटीकायाम् । प्रकृतम्—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १—३४ ॥

भाष्यम्—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥

(य०)—अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावात् " ऊसासं ण णिरुंभइ " (आवश्यकनिर्युक्ति १५१०) इत्यादि पारमर्षेण तन्निषेधाच्च, इति वयम् ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ १—३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ १—३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ १—३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ १—३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ १—३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥१—४०॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ १—४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ १—४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १—४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ १—४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ १—४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १—४६ ॥

भाष्यम्—ताः चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचारः स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥

(य०)—पर्यायोपरक्तानुपरक्तस्थूलसूक्ष्मद्रव्यभावनारूपाणामेतासां शुक्लध्यानजीवानुभूतानां चित्तैकाग्र्यकारिणीनामुपशान्त-

मोहापेक्षया सबीजत्वम्, क्षीणमोहापेक्षया तु निर्बीजत्वमपि स्यात् इति त्वार्हतसिद्धान्तरहस्यम् ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ १—४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १—४८ ॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ १—४९ ॥

भाष्यम्—श्रुतमागमविज्ञानं तत् सामान्यविषयं, नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्, कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः, यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति इति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्, न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥

(य०)—"[1]संध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलाच्च[2] श्रुतात्पृथग् । बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्करुणोदयः ॥१॥" इत्यस्मदुक्तलक्षणलक्षिता-

---

१ ज्ञानसार अष्टक २६ श्लो. १ । २ "केवलश्रुतयोः" इत्यपि.

नुभवापरनामधेया शास्त्रोक्तायां दिशि, तेदतिक्रान्तमतीन्द्रियं विशेषमवलम्बमाना तत्त्वतो द्वितीयापूर्वकरणभाविसामर्थ्ययोग-प्रभवेयं समाधिप्रज्ञा, इति युक्तः पन्थाः । प्रकृतम्—

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ १—५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥१-५१॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे
समाधिपादः प्रथमः ॥

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यात् ? इत्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥२-१॥

भाष्यम्—नातपस्विनो योगः सिध्यति, अनादिकर्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनम-बाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ।

---

२ शास्त्रातिक्रान्तम् ।

(य०)—"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरेत्तमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।" इत्यस्मदीयाः ॥ सर्वत्रानुष्ठाने मुख्यप्रवर्तक-शास्त्रस्मृतिद्वारा तदादिप्रवर्तकपरमगुरोर्हृदये निधानमीश्वरप्रणिधा-नम् । तदुक्तम्—" अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति । हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ १ ॥ " इत्यादि, इत्यस्मन्मतम् ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २—२ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥२—३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २—४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मिता-दीनां चतुर्विकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः, प्रसंख्यानवतो दग्ध-क्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्ध-बीजस्य कुतः प्ररोह इति । अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था, नान्यत्रेति । सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधः इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनो-

पहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः । कथं ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति । रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिः, अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः, सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेशः ? इति, उच्यते—सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं, यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जनेनाभिव्यक्त इति सर्व एवैते क्लेशा अविद्याभेदाः । कस्मात् ? सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते । यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥

(य०)—अत्राविद्यादयो मोहनीयकर्मण औदयिकभावविशेषाः । तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणोऽबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभावः । तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा । विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम् । उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्, इत्यवसेयम् ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ २—५ ॥

भाष्यम्–अनित्यकार्ये नित्यख्यातिः, तद्यथा–ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकसः इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये–" स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निः-स्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ १ ॥ " इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसंबन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः, तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति, " परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गु-णवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः " [२. १५.] इति, तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिः–बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषो-पकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदन्य-त्रोक्तम्–" व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोच-त्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः " इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञे-यम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किंतु तद्विरुद्धः

सपत्नः । यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ २—६ ॥

भाष्यम्—पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते । स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति, कुतो भोगः ? इति । तथा चोक्तम्—"बुद्धितः परमपुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति" ॥

सुखानुशयी रागः ॥ २—७ ॥

भाष्यम्—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ २—८ ॥

भाष्यम्—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥२—९

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, "मा न भूवं, भूयासम्" इति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । स चाय-

मभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही क्रमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः, कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति॥

(य०)—अत्राविद्या [1]स्थानाङ्गोक्तं दशविधं मिथ्यात्वमेव। [2]अस्मिताया अदृश्ये (अ दृश्ये)दृगारोपरूपत्वे चान्तर्भावः(?)। बौद्धदृश्यदृगैक्यापत्तिस्वीकारे तु [3]दृष्टिवादसृष्टिवादापत्तिः (?)। अहङ्कारममकारबीजरूपत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति। रागद्वेषौ कषायभेदा एव। अभिनिवेशश्चोदाहृतोऽर्थतो भयसंज्ञात्मक एव, स च संज्ञान्तरोपलक्षणम्, विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात्। केवलं विदुषा(षोऽ)प्रमत्ततादशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणे न कश्चिदयमभिनिवेशः। संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभिव्यक्तं चैतन्यमिति सर्वेऽपि क्लेशा मोहप्रकृत्युदयजभाव एव, अत एव क्लेशक्षये कैवल्यसिद्धिः, मोहक्षयस्य तद्धेतुत्वात् इति पारमर्षरहस्यम्॥

---

१ स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने। २ अस्मिताया अपि दृश्ये दृगारोपरूपत्वे दृशि वा दृश्यारोपरूपत्वे मिथ्यात्व एवान्तरभावः। आरोपानङ्गीकारे 'बौद्धदृश्य' इत्यादिना दृष्टिसृष्टिवादापत्तिदोषः। (दृष्टिसृष्टिवादप्राक्रियालेशस्तु अद्वैतसिद्धि पृ०५३३। 'सिद्धान्तलेश' परिच्छेद २ श्लो. ४० आदिषु द्रष्टव्यः)। ३ 'दृष्टिसृष्टिवाद' इति स्यात्।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ २—१० ॥

भाष्यम्—ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥

(य०)—क्षीणमोहसंबन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थः ॥

स्थितानां तु बीजभावोपगतानां—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २—११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥२—१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २—१३ ॥

भाष्यम्—सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्थाः भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति । तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम् ? अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति ? । द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति ? अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयति ? इति । न तावदेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ?

अनेकेषु जन्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकजन्मकारणम्, कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न भवतीति क्रमेण वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्तः एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयते। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्मिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततं इत्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनाः, ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमः, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनी-

---

१ 'कर्मसु' इति.

योऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः, कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा—शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये, पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते"। प्रधानकर्मण्यावापगमनम्, यत्रेदमुक्तम्—"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बहून्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति। नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्, कथमिति? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत् आवापं वा गच्छेत्। अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत् समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्ज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥

(य०) अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे—"जात्यायुर्भोगा विपाकः" इत्यवधारणमनुपपन्नं, गङ्गामरणमुद्दिश्य कृतेन त्रिसन्ध्यस्तवपाठा-

दिना जनितमदृष्टं गङ्गामरणे विपच्यते इत्यस्यापि शास्त्रार्थत्वादायुष इव मरणस्यापि [1]विपाककल्पातिरेकात्। किं च जन्म—आद्यक्षणसंबन्धरूपमायुःप्रतिलम्भनद्वारा [य] दि पूर्वकर्मविपाकः स्यात तदोत्तरोत्तरक्षणानामपि तथात्वापत्तिः, आयुषैव तदुपसंग्रहे च जन्मनोऽपि [2]नैवोपसंग्रहो युक्तः, तस्माज्जन्मपदं गतिजात्यादिनामकर्मकृतजीवपर्यायोपलक्षणम्। गत्यादिभोगत्वावच्छिन्ने च गत्यादिनामकर्मप्रकृतीनां पृथक्पृथक्कारणत्वमवश्यमेष्टव्यम्, अन्यथा संकरापत्तेः। आयुरपि मनुष्याद्यायुर्भेदेन जीवनपर्यायलक्षणं चतुर्विधं फलभूतं, तज्जनकमायुष्कर्माऽपि च चतुर्विधमवश्यमभ्युपगमनीयम्। भोगपदेनावशेषकर्मषट्कफलमुपलक्षणीयम्, ज्ञानावरणादिफले ज्ञानावरणीयादीनां पृथक्पृथक्कारणत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। पूर्वापरभावव्यवस्थितजन्मान्तरीयकर्मप्रचयस्य तादृशोत्तरजन्मफलभोगे हेतुत्वं तु दुर्वचम्, क्वचित्फलक्रमवैपरीत्यस्यापि दर्शनाद्। बुद्धिविशेषविषयत्वा[3]दीनां कर्मप्रचयफलप्रचयावनुगमम्य हेतुहेतुमद्भावाभ्युपगमे तु घटपटादिकार्यप्रचयेऽपि दण्डवेमादीनां तथा [हेतु] हेतुमद्भावापत्तिः। अनन्यगतिकत्वात्कर्मफलभोगस्थल एवेत्थं कल्प्यते नान्यत्रेति चेत्, न, अवगतभगवत्प्रवचनरहस्यस्यानन्यगतिकत्वासिद्धेः। तथाहि—प्रारम्भबद्धमेकमेवायुष्कर्म प्रायणलब्धविपाकमेव जन्म निर्वर्तयति, कर्मान्तराणि च कानि-

---

१—विपाककोटिप्रविष्टत्वात् इति भावः। २ 'तथैवोप' स्यात् अथवा 'तेनैवोप' इति स्यात्। ३ 'त्वादिना' स्यात्।

चित्तञ्जन्मनियतविपाकानि, कानिचिन्नाना जन्मनियतविपाकानि, कानिचिदनियतविपाकानि वा। तत्राद्यैर्नामगोत्रवेदनीयैः संवलित-मायुर्भवोपग्राहिताव्यपदेशमश्नुते, यत्रान्ये प्रारब्धसंज्ञां निवेशयन्ति। एकस्मिन्भवे आयुर्द्वयस्य बन्ध उदयश्च प्रतिषिद्ध एवेति न जन्मान्तरसंकरादिप्रसङ्गः। नन्दीश्वरनहुषादीनामप्यायुःसंकराभ्युपगमे जन्मसंकरो दुर्निवारः। प्रायणं विना हि नायुष्कर्मान्तरोद्भवः। शरीरान्तरपरिणामे प्रायणाभ्युपगमे च वक्तव्यं जन्मान्तरमिति। तस्माद्वैक्रियशरीरलाभसदृशोऽयं नैकस्मिन् जन्मन्यायुर्द्वयमाक्षिपतीत्यलं मिथ्यादृष्टिसंघट्टेन। तस्मादेकभविकः कर्माशय इति भवोपग्राहिकर्मापेक्षयैव युक्तम्, नान्यथा, कर्मानुभवनिर्मितानां वासनानामनेकजन्मानुगमाभ्युपगमेऽर्थतः कर्मान्तराणां[1] स्यैव तथोपगमात्। क्रोधादिवासनानामपि मोहनीयकर्मभावस्वरूपत्वात्, अन्यथा जातिव्यक्तिपक्षयोर्वासनाया दुर्निरूपत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। भवोपग्राहिकर्मणोऽप्यायुष्करूपस्यैकभविकत्वे कथं सप्तजन्मविप्रत्वप्रदकर्मविपाकोपपत्तिः? इति चेत्, देवनारकयोरेकमेव भवग्रहणं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्ययोः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, पृथ्वीकायिकादीनामसंख्येयानि कायस्थितिः इत्यादि सिद्धान्तोक्तक्रमेण तादृशगतिजातिनामकर्मादिसंचयसद्भावीनतादृशनवायुःपरम्परानुबन्धान्नेयमनुपपत्तिरस्माकम्। भवतु, नैकमेव कर्म प्रारब्धतामश्नुते, किन्तु तत्तत्क्षणवर्तिबह्वल्पसुखदुःखहेतु-

---

१ 'णामेव' इति शुद्धम्।

गुरुलघुकर्मणामनेकेषां प्रायणकालोद्बुद्धवृत्तिकानां प्रारब्धतेत्येकत्र जन्मनि जन्मसप्तकभोगाकर्मस्यापत्तिरेव[२] जन्मकृतस्य तादृशकर्मप्रचयस्य प्रायणसप्तकेन "यं यं चापि स्मरन् भावं"(गीता.अ.८.श्लो. ६.)इत्यादि स्मृत्यनुरोधेन प्रायणसप्तककालोत्पादितदेहान्तरविषयान्तिमप्रत्ययैर्वा क्रमशो लब्धप्रारब्धताकस्य सप्तजन्मविप्रत्वोपपादकत्वाभ्युपगमे [३]गतमैहिकभाविककर्माशयप्रतिज्ञया, एवमनन्तभवविपाकिताया अपि वक्तुं शक्यत्वात्। किञ्च तस्य तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन प्रारब्धत्वं तदन्यावच्छेदेन च संचितत्वं वाच्यम्, अन्यथा तत्त्वज्ञानिनोऽपि तादृशकर्मवतो देहान्तरोत्पत्त्यापत्तिः, संचितं हि कर्म तत्त्वज्ञाननाश्यं न तु प्रारब्धम्। जन्मान्तरावच्छेदेन च तस्य संचितत्वात्तत्त्वज्ञानेन नाशान्नोक्तप्रसङ्ग इति। एवं च तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन तज्जन्मप्रारब्धत्वम्, तज्जन्मप्रारब्धत्वावच्छेदेन च तज्जन्मभोगप्रदत्वमिति व्यक्त एवान्योऽन्याश्रयः। तस्मादायुष्कमैव प्रारब्धं तदेव च कर्मान्तरोपगृहीतं तत्तद्भवभोगप्रदम्। अत एव जातिनामनिधत्तायुष्कादिभेदोऽपि सिद्धान्तसिद्धः। केवलिनश्चायुरधिककर्मसत्त्वे केवलिसमुद्घातेन तत्समीकरणान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति अन्यत्रायुषो नैकभविकत्वनियमः कर्माशयस्य श्रद्धेयः। प्रायणमेव प्राग्भवकृतकर्मप्रचयोद्बोधकमित्यपि दुःशिक्षिताभिधानम्, पुद्गलजीवभवक्षेत्रवि-

---

१ 'ο भोग्यकर्मविपाकस्या' इति समीचीनम्। २ 'ο रेकजन्म' इति शु०। ३ "गतमिहैक—" इति।

पाकभेदेन कर्मणां नानाविपाकत्वाद्भवविपाक्यायुष्प्रकृतिविपाकस्य प्रायणोद्बोध्यत्वेऽपि सर्वत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्। दृश्यते हि निद्रादिविपाकोद्बोधे कालविशेषस्यापि हेतुत्वम्, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, स्वानन्तरकर्मविपाकोद्बोधद्वारा प्रायणस्याग्रिमसंततत्युद्बोधकत्वस्वीकारे चातिप्रसङ्गः, नानाभवसंततिद्वारघटनायास्तत्र तत्पूर्वं च वक्तुं शक्यत्वात्। प्रधानत्वमपि कर्मण एकायुष्परिग्रहं विना दुर्वचम्। न ह्येकत्र भवे नानागतियोग्यकर्मोपादानेऽन्ते इदमेव फलवदित्यन्यन्नियामकमस्ति, आयुस्त्वेकत्र भवे एकवारमेव बध्यत इति तदनुसारेणान्ते तादृग्लेश्योपगमात्, " यल्लेश्यो म्रियते तल्लेश्येषूत्पद्यते " इति प्राग्भवबद्धमायुस्तादृशलेश्यया विपाकप्राप्तं प्रधानीभवदन्यकर्माण्युपगृह्णातीति सर्वं [सं] गच्छते। प्रधानकर्मण्यावापगमनादिकमपि "मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः। नन्वात्माऽमूर्तत्वाद्ध्यवसायप्रयोगेण॥" इत्याद्युक्तनीत्या संक्रमविधिपरिज्ञानं विना न कथमप्युपपादयितुं शक्यम्, अन्यथा किं कुत्र संक्रामति? इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। तस्मादत्रार्येऽस्मत्कृतकर्मप्रकृतिवृत्तिं सम्यगवलोक्य वीतरागसिद्धान्तानुरोधि कर्माशयस्वरूपं व्याख्येयमिति कृतं विस्तरेण॥ प्रकृतं प्रस्तुमः—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥२-१४॥

कथं? तदुपपाद्यते—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ २–१५ ॥

भाष्यम्—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति । तथा चोक्तम्–" नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः "–इति । विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम् । या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धते रागः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति । तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति । स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी [1]विषयाननुव्यवसितो महति दुःखपङ्के मग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति । अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःख-

---

१ " विषयानुवासितः " इत्यपि ।

तोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति, यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्काराममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुस्रवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा गुणाः परस्परानुग्रहपरतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन

इति। तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभववीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा-संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते ॥

(य०)--निश्चयनयमतमेतद्, यदुपजीव्याह स्तुतौ [१]महावादी--"[२]भववीजमनन्तमुज्झितं विमलज्ञानमनन्तमर्जितम्। न च हीनकलोऽसि नाधिकः समतां नाप्यतिवृत्त्य वर्तसे ॥ १ ॥" इति ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥ २-१६ ॥

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते-

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥२-१७॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः २ चतुर्थद्वात्रिंशिका श्लो. २९ ॥
३ 'चाप्यनिवृत्त्य' इति मुद्रिते पाठांतरं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २—१८ ॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥२—१९॥

भाष्यम्—तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः, गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतीयन्ति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निस्सत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषा-

र्थता कारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। सर्वार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते, व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रतिभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यत्ते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमानियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्ताद्—"न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति"—इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यास्यन्ते॥

(य०) प्रागभावप्रध्वंसाभावानभ्युपगमे सर्वमेतदुक्तमनुपपन्नम्। तदुक्तमकलङ्केन—"कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्यापलापे तु तदेवानन्ततां व्रजेत्॥ १॥" तदुपगमे तु द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वाद्वस्तुनः सर्वत्र त्रैलक्षण्येन कथंचिदेषा व्यवस्था युज्येतापीति वयं वदामः॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२—२०॥

---

१ 'स चार्थो' इत्यपि।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २–२१ ॥

कस्मात्—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारण-
त्वात् ॥ २–२२ ॥

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवर्तते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः
संयोगः ॥ २–२३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २–२४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्, अतः परं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः
कैवल्यम् ॥ २–२५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २–२६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २–२७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपायः। न च सिद्धि-रन्तरेण साधनम् इत्येतदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेक-
ख्यातेः ॥ २–२८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २–२९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२–३०॥

ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा
महाव्रतम् ॥ २–३१ ॥

भाष्यम्–तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्ये-
ष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति।
सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां पुण्येऽहनि हनिष्यामीति।
सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे हनिष्या-
मीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति।
एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव प्रति-
पालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविहितव्याभिचाराः
सार्वभौमा महाव्रतामित्युच्यन्ते ॥

---

१ " वाविदित–" इति ।

(य०)—सर्वशब्दगर्भप्रतिज्ञया महाव्रतानि, देशशब्दगर्भप्रतिज्ञया चाणुव्रतानीति पुनः पारमर्षविवेकः। एकवचनं चात्र सर्वप्रतिज्ञया पञ्चानामपि तुल्यत्वाभिव्यक्त्यर्थम् ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २—३२ ॥

भाष्यम्—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।

(य०)—भावशौचानुपरोध्येव द्रव्यशौचं बाह्यमादेयमिति तत्त्वदर्शिनः ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ २—३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥२—३४॥

प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्का यदा स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति, तद्यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२—३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २—३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २–३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २–३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ २–३९ ॥

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ २–४० ॥

किञ्च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-
योग्यत्वानि च ॥ २–४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ २–४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ २–४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ २–४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २–४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—

स्थिरसुखमासनम् ॥ २–४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ २–४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ २–४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ २–४९ ॥

स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २–५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ २–५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥२–५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ २–५३ ॥

अथ कः प्रत्याहारः ?—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ २–५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २–५५ ॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमा त्वियं वश्यता

यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्न-कृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥

(य०)—व्युत्थानध्यानदशासाधारणं वस्तुस्वभावभावनया स्वविषयप्रतिपत्तिप्रयुक्तरागद्वेषरूपफलानुपधानमेवेन्द्रियाणां परमो जयः इति तु वयम्। तथोक्तं शीतोष्णीयाध्ययने (आचाराङ्ग. अध्ययन ३ उद्दे० १.)—" जस्सिमे सद्दा य रूपा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं " इत्यादि। अत्र "अभिसमन्वागता" इत्यस्य अभीत्याभिमुख्येन मनःपरिणामपरतन्त्रा इन्द्रियविषयादत्युपयोगलक्षणेन (?) समिति सम्यक्स्वरूपेण नैते इष्टा अनिष्टा वेति निर्धारणया अनु पश्चादागताः परिच्छिन्ना यथार्थस्वभावेन यस्येत्यर्थः, स आत्मवानित्यादि परस्परमिन्द्रियजयस्य फलार्थवादः। अन्यत्राप्युक्तम्—" ण सक्का रूवमद्दट्ठुं चक्खू विसयमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ " इत्यादि। चित्तनिरोधादतिरिक्तप्रयत्नानपेक्षत्वं तु परमेन्द्रियजये ज्ञानैकसाध्ये प्रयत्नमात्रानपेक्षत्वादेव निरूप्यते, तथा च स्तुतिकारः[1]—" संयतानि तवा(न चा)क्षाणि न चोच्छृङ्खलितानि च। इति सम्यक्प्रतिपदा(द्य)[त्व]येन्द्रियजयः कृतः ॥१॥" इति। न च प्राणायामादिहठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि,

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः।

" ऊसासं ण णिरुंभइ " [आव० नि० १५१०] इत्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात् । तस्मादध्यात्मभावनोपबृंहितसमतापरिणामप्रवाही ज्ञानाख्यो राजयोग एव चित्तेन्द्रिय[जय]स्य परमेन्द्रियजयस्य चोपाय इति युक्तम् ॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३–१ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३–२ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३–३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३–४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ३–५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ३–६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ३–७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ३–८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ?—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरो-
धक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३–९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३–१० ॥
सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य
ततः पुनः समाधिपरिणामः ॥ ३–११ ॥
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यै-
काग्रता परिणामः ॥ ३–१२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याताः ॥ ३–१३ ॥

तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥३–१४॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ ३–१५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥३–१६॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रवि-
भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ३–१७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ ३–१८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ ३–१९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥३—२०॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशा-
सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ ३—२१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ ३—२२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ ३—२३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ ३—२४ ॥

प्रवृत्त्या लोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थ-
ज्ञानम् ॥ ३—२५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ ३—२६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ ३—२७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ ३—२८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ ३—२९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३—३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३—३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३—३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३—३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३–३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३–३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३–३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३–३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरप्रवेशः ॥ ३–३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३–३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३–४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥३-४१॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ३–४२ ॥

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ३–४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूत-
जयः ॥ ३–४४ ॥
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा-
नभिघातश्च ॥ ३–४५ ॥
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि काय-
संपत् ॥ ३–४६ ॥
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रिय-
जयः ॥ ३–४७ ॥
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-
जयश्च ॥ ३–४८ ॥
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३–४९ ॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥३–५०॥
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-
प्रसङ्गात् ॥ ३–५१ ॥
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥३–५२॥

तस्य विषयविशेष उपदिश्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ३–५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३–५४ ॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥३–५५॥

भाष्यम्—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः । एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा । न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति । सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते । तत् पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति ॥

(य०)—अत्रेदं चिन्त्यम्–ऐश्वर्यं लब्धिरूपं न समाधिरूपसंयमजन्यं, वैचित्र्यप्रतियोगिनस्तस्य विचित्रक्षयोपशमादिजन्यत्वात् । एकत्र त्रयरूपस्य च संयमस्य चित्तस्थैर्य एवोपयोगो

चाद्भुल्येन, आत्मद्रव्यगुणपर्यायगुणस्य [रूपस्य] च तस्य शुक्लध्यानशरीरघटकतया कैवल्यहेतुत्वमपि। ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानवतस्तदभाववतो[वा] "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" इत्यप्ययुक्तम्, विवेकजं केवलज्ञानमन्तरेणोक्तशुद्धिसाम्यस्यैवानुपपत्तेः। "दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा नास्ति" इत्युक्तेर्निर्युक्तिकत्वादात्मदर्शनप्रतिबन्धकस्यैव कर्मणः केवलज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन तदपगमे तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वान्निष्प्रयोजनस्यापि फलरूपस्य तस्य स(स्व)स्वसामग्रीसिद्धत्वात्। न हि प्रयोजनवत्तिभिया सामग्रीकार्यं नार्जयतीति। तदिदमुक्तम्-"क्लेशपक्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात्। तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिप्रभवं हि तत् ॥ १ ॥" इति गुणविशेषजन्यत्वेऽप्यात्मदर्शनवन्मुक्तौ तस्याव्यभिचारित्वं तुल्यम्। वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं स्वभावः, छद्मस्थस्य च विचित्रज्ञानावरणेन स प्रतिबध्यत इति। निःशेषप्रतिबन्धकापगमे ज्ञाने सर्वविषयकत्वमावश्यकम्। तदुक्तं-"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यात् असति प्रतिबद्धरि। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः" ॥ (योगबिन्दु. ४३१.) इति। एतेन विवेकजं सर्वविषयकं ज्ञानमुत्पन्नमपि सत्त्वगुणत्वेन निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ प्रविलीयमानं नात्मानमभिस्पृशतीत्यात्मार्थशून्यानिर्विकल्पचिद्रूप एव मुक्तौ व्यवतिष्ठत इत्यप्यपास्तम्। चित्त्वावच्छेदेनैकसर्वविषयकत्वस्वभावकल्पनाद्, अर्थशून्यायां चिति मानाभावाद्, बिम्बरूपस्य चित्सामान्यस्याविवर्तस्य कल्पनेऽचित्सामान्यस्यापि

तादृशस्य कल्पनापत्तेः व्यवहारस्य बुद्धिविशेषधर्मैरेवोपपत्तेः, यदि चाचित्सामान्यनिष्ठ एवाचिद्विवर्तः कल्प्यते तदा तुल्यन्यायाच्चिद्विवर्तोऽपि चित्सामान्यनिष्ठ एवाभ्युपगन्तुं युक्तो न तु चिदचिद्विवर्ताधिष्ठानमेव कल्पयितुं युक्तं, नयादेशस्य सर्वत्र द्रव्ये तुल्यप्रसरत्वात्। कौटस्थ्यं त्वात्मनो यच्छ्रुतिसिद्धं तदितरावृत्तिस्वाभाविकज्ञानदर्शनोपयोगवत्त्वेन समर्थनीयम्। निर्धर्मकत्वं चितः कौटस्थ्यमित्युक्तौ तत्र प्रमेयत्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च "सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म" इत्यादेरनुपपत्तिः। असदादिव्यावृत्तिमात्रेण सदादिवचनोपपादने च चित्त्वमप्यचिद्व्यावृत्तिरेव स्यादिति गतं चित्सामान्येनापि। यदि च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्" इति गुणस्थलोपदर्शितरीत्या स (द्)लक्षणं सर्वत्रोपपद्यते तदा संसारिमुक्तयोरसाङ्कर्येण स्वविभावस्वभावपर्यायैस्तदबाधमानं बन्धमोक्षादिव्यवस्थामविरोधेनोपपादयतीति, एतज्जैनेश्वरप्रवचनामृतमापीय "उपचरितभोगाभावो मोक्षः" इत्यादि मिथ्यादृग्वचनवासनाविषमनादिकालनिपीतमुद्यमन्तु सहृदयाः!। अधिकं लतादौ॥

॥इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥४–१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ ४–२ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ४–३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्काः ? इति—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४–४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥४–५॥

तत्र ध्यानजमनाशयः ॥ ४–६ ॥

यतः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां ॥४–७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ४–८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ४–९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ ४–१० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ४–११ ॥

नास्त्यसतः संभवो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्त्तिष्यन्ते वासना इति—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ ४–१२ ॥

भाष्यम्—भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतं, स्वव्यापारोपारूढं वर्त्तमानं, त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरूपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्ति एवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वाभावस्त्रयाणामध्वनामिति ॥

(य०)—द्रव्यपर्यायात्मनैवाध्वत्रयसमावेशो युज्यते नान्यथा, निमित्तस्वरूपभेदस्य परेणाप्यवश्याश्रयणीयत्वात् । तथा चाभूत्वा भावाभावयोरपि पर्यायद्रव्यस्वरूपाभ्यां स्याद्वाद एव युक्तोऽन्यथा प्रतिनियतवचनव्यवहाराद्यनुपपत्तेरिति तु श्रद्धेयं सचेतसा ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ ४—१३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४—१४ ॥

भाष्यम्—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथ्वी गौ वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः।

(य०)—एकानेकपरिणामस्याद्वादाभ्युपगमं विदुःश्रद्धानमेतत् ॥

कुतश्चैतदन्याय्यम् ?—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ४-१५॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ ४-१६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥४-१७

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ ४-१८ ॥

भाष्यम्—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत तदा तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवद् ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुभापयति ॥

(य०)—ज्ञानरूपस्य चित्तस्यात्मनि धर्मितापरिणामः सदा सन्निहितत्वेन तस्य सदाज्ञातत्वेऽप्येनुपपन्नः, शब्दादीनां कादाचित्कसन्निधानेनैव व्यञ्जनावग्रहादिलक्षणेन ज्ञाताज्ञातत्वसंभवात्। अत एव केवलज्ञाने शक्तिविशेषेण विषयाणां सदा सन्निधानाद् ज्ञानावच्छेदकत्वेन तेषां सदाज्ञातत्वनबाधितमिति तु पारमेश्वरप्रवचनप्रसिद्धः पन्थाः ॥ प्रकृतम्—

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यत्यग्निवत्—

---

१ 'तदप्रमाणकं' इत्यपि। २ 'पि नानुपपन्नः' इति स्यात्।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ ४–१९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ ४–२० ॥

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ ४–२१ ॥

कथम् ?—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ ४–२२ ॥

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ ४–२३ ॥

भाष्यम्—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं, तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसंबद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वम्, नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनी-

यास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकार-निर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बी-भूतः तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थः चित्तमात्रं स्यात् कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्व-रूपचित्तभेदात्त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः तैरधिगतः पुरुष इति ॥

(य०)—वयं तु ब्रूमः—अग्निरूपात्मके प्रकाशे संयोगं विनाऽपि यथा स्वतःप्रकाशकत्वं तथा चैतन्येऽपि प्रतिप्राणि परानपेक्षतयानुभूयमाने, अन्यथाऽनवस्थाव्यासङ्गानुपपत्त्यादिदो-षप्रसङ्गात् । परप्रकाशकत्वं च तस्य क्षयोपशमदशायां प्रतिनिय-तविषयसंबन्धाधीनम् । क्षायिक्यां च दशायां सदा तन्निरावरण-स्वभावाधीनम् । तच्चैतन्यं रूपादिवत्सामान्यवदस्पन्दात्मकानुपादा-नकारणत्वेन गुण इति गुण्याश्रित एव स्यात् । यश्च तस्य गुणी स एवात्मा । निर्गुणत्वं च तस्य सांसारिकगुणाभावापेक्षयैव (न) अन्यथा, (तस्य) स्वाभाविकानन्तगुणाधारत्वाद् । बिम्ब-भूतचितो निर्लेपत्वाभ्युपगमे च तत्प्रतिबिम्बग्राहकत्वेन बुद्धौ प्रका-शस्यानुपपत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बभावसंबन्धस्य द्विष्ठत्वेन द्वयोरपि लेपकत्वतौल्यात् । उपचरितबिम्बत्वोपपादने चोपचरितसर्वविषय-त्वाद्युपपादनमपि तुल्यमिति नयादेशविशेषपक्षपातमात्रमेतत् ॥ प्रकृतं प्रस्तुमः—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य-
कारित्वात् ॥ ४–२४ ॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥४–२५॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥४–२६॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥४–२७॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ ४–२८ ॥
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म-
मेघः समाधिः ॥ ४–२९ ॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ४–३० ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेय-
मल्पम् ॥ ४–३१ ॥

भाष्यम्—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतं अनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यं, ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते, यथाऽऽकाशे खद्योतः। यत्रेदमुक्तम्—" अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ १ ॥ " इति ॥

(य०)—अयुक्तमेतत्। ज्ञानस्य ज्ञेयांश एवावरणस्यावारकत्वात्, स्वरूपावरणेऽचैतन्यप्रसङ्गात्। ज्ञानानन्त्ये ज्ञेयानन्त्यस्यापि भ्रौव्यात्। उक्तं च—सूक्तं चात्मपरात्मकर्तृकर्म जाव पदपदमिति दिग्॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ४—३२॥

अथ कोऽयं क्रमो नाम? इति—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ४—३३॥

भाष्यम्—क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्तुस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरू-

पास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति ॥

(य०)—सर्वत्र द्रव्यतयाऽक्रमस्य पर्यायतया च क्रमस्यानुभवात् क्रमाक्रमानुविद्धत्रैलक्षण्यस्यैव सुलक्षणत्वात् कूटस्थनित्यतायां मानाभावः । पर्याये च स्थितिचातुर्विध्याद्वैचित्र्यमिदि प्रवचनरहस्यमेव सयुक्तिकमिति तु श्रद्धेयम् ॥ प्रकृतम्—

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वा ? इति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति । ॐ भो इति । अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी ? इत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः, पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्चाधिकृत्य नेति । अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति ?। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः । तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥

गुणाधिकारक्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमवधार्यते—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ४-३४ ॥

॥ इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचने
कैवल्यपादश्चतुर्थः ॥

अयं पातञ्जलस्यार्थः किञ्चित्स्वसमयाङ्कितः ।
दर्शितः प्राज्ञबोधाय यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्-हरिभद्रसूरिसंदर्भिता

श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचितव्याख्यासंवलिता

योगविंशिका ।

॥ ऐँ नमः ॥ अथ योगविंशिका व्याख्यायते—

मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ॥ १ ॥

'मुक्खेण' त्ति । 'मोक्षेण' महानन्देन योजनात् 'सर्वोऽपि धर्मव्यापारः' साधोरालयविहारभाषाविनयभिक्षाटनादिक्रियारूपो योगो विज्ञेयः, योजनाद्योग इति व्युत्पत्त्यर्थानुगृहीतमोक्षकारणीभूतात्मव्यापारत्वरूपयोगलक्षणस्य सर्वत्र घटमानत्वात् । कीदृशो धर्मव्यापारो योगः ? इत्याह— 'परिशुद्धः' प्रणिधानाद्याशयविशुद्धिमान्, अनीदृशस्य द्रव्यक्रियारूपत्वेन तुच्छत्वात्, उक्तं च—"आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः । भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥" (षोडशक ३-१२) 'एते' प्रणिधानादयः सर्वेऽपि कथञ्चित्क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्या आशय-

भेदाः, ' अयं ' च पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भावः, अनेन विना ' चेष्टा ' कायवाङ्मनोव्यापाररूपा द्रव्यक्रिया ' तुच्छा ' असारा अभिलषितफलासाधकत्वादित्येतदर्थः ॥ अथ के ते प्रणिधानाद्याशयाः ? उच्यते—प्रणिधानं प्रवृत्तिर्विघ्नजयः सिद्धिर्विनियोगश्चेति पञ्च, आह च—" प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्न-जय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः । धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥ " (षो० ३-६) इति । तत्र हीनगुणद्वेषाभावपरोपकारवासनाविशिष्टोऽधिकृतधर्मस्थानस्य कर्तव्यतोपयोगः प्रणिधानम्, उक्तं च—" प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव । निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥ " (षो० ३-७) ' तत्समये ' प्रतिपन्नधर्मस्थानमर्यादायां 'स्थितिमत्' अविचलितस्वभावम्, 'तदधः' स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्तनगुणस्थानवर्त्तिषु जीवेषु ' कृपानुगं ' करुणापरम्, न तु गुणहीनत्वात्तेषु द्वेषान्वितम्, शेषं सुगमम् ॥ अधिकृतधर्मस्थानोद्देशेन तदुपायविषय इतिकर्तव्यताशुद्धः शीघ्रक्रियासमाप्तीच्छादिलक्षणौत्सुक्यविरहितः प्रयत्नातिशयः प्रवृत्तिः, आह च—"तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् । अधिकृतयत्नातिशयादौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥ " (षो० ३-८) ' तत्रैव ' अधिकृतधर्मस्थान एव शुभः-प्रकृष्टः सारो-नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन संगता ॥ विघ्नजयो नाम विघ्नस्य जयोऽस्मादिति व्यु-

त्पत्त्या धर्मान्तरायनिवर्त्तकः परिणामः । स च जेतव्यविघ्नत्रैविध्यात्त्रिविधः, तथाहि—यथा कस्यचित्कण्टकाकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति, तदपनयनं तु पथि प्रस्थितस्य निराकुलगमनसंपादकं, तथा मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य कण्टकस्थानीयशीतोष्णादिपरीषहैरुपद्रुतस्य न निराकुलप्रवृत्तिः, तत्तितिक्षाभावनया तदपाकरणे त्वनाकुलप्रवृत्तिसिद्धिरिति कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो हीनो विघ्नजयः । तथा तस्यैव ज्वरेण भृशमभिभूतस्य निराकुलगमनेच्छोरपि तत्कर्त्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादधिको यथा ज्वरविघ्नस्तज्जयश्च विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुस्तथेहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव रोगा विशिष्टधर्मस्थानाराधनप्रतिबन्धकत्वाद्विघ्नास्तदपाकरणं च "हियाहारा मियाहारा" (पिंडनिर्युक्ति—गा० ६४८) इत्यादिसूत्रोक्तरीत्या तत्कारणानासेवनेन, 'न मत्स्वरूपस्यैते परीषहा लेशतोऽपि बाधकाः किन्तु देहमात्रस्यैव'इति भावनाविशेषेण वा सम्यग्धर्माराधनाय समर्थमिति ज्वरविघ्नजयसमो मध्यमो द्वितीयो विघ्नजयः । यथा च तस्यैवाध्वनि जिगमिषोर्दिग्मोहविघ्नोपस्थितौ भूयो भूयः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः स्यात्तद्विजये तु स्वयमेव सम्यगज्ञानात्परैश्चाभिधीयमानमार्गश्रद्धानान्मन्दोत्साहतात्यागेन विशिष्टगमनसंभवस्तथेहापि मोक्षमार्गे दिग्मोहकल्पो मिथ्यात्वादिजनितो मनोविभ्रमो विघ्नस्तज्जयस्तु गुरुपारतन्त्र्येण मिथ्यात्वादिप्रतिपक्षभावनया

मनोविभ्रमापनयनादनवच्छिन्नप्रयाणसंपादक इत्ययं मोहविघ्नजयसम उत्तमस्तृतीयो विघ्नजयः। एते च त्रयोऽपि विघ्नजया आशयरूपाः समुदिताः प्रवृत्तिहेतवोऽन्यतरवैकल्येऽपि तदसिद्धेरित्यवधेयम् उक्तं च—" विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः। मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ॥" (षो० ३-९) इति॥ अतिचाररहिताधिकगुणे गुर्वादौ विनयवैयावृत्त्यबहुमानाद्यन्विता हीनगुणे निर्गुणे वा दयादानव्यसनपतितदुःखापहारादिगुणप्रधाना मध्यमगुणे चोपकारफलवत्यधिकृतधर्मस्थानस्याहिंसादेः प्राप्तिः सिद्धिः, उक्तं च-" सिद्धिस्तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया। अधिके विनयादियुता, हीने च दयादिगुणसारा ॥ " (षो० ३-१०) इति ॥ स्वप्राप्तधर्मस्थानस्य यथोपायं परस्मिन्नपि संपादकत्वं विनियोगः, अयं चानेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तेरवन्ध्यो हेतुः, उक्तं च—" सिद्धेश्चोत्तरकार्यं, विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् । सत्यन्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत् ॥ " (षो० ३-११) ' अवन्ध्यं ' न कदाचिन्निष्फलं ' एतत् ' धर्मस्थानमहिंसादि, ' एतस्मिन् ' विनियोगे सति ' अन्वयसंपत्त्या ' अविच्छेदभावेन ' तत् ' विनियोगसाध्यं धर्मस्थानं सुन्दरम् । ' इतिः ' भिन्नक्रमः समाप्त्यर्थश्च, यावत्परमित्येवं योगः, यावत् ' परं ' प्रकृष्टं धर्मस्थानं समाप्यत इत्यर्थः। इदमत्र हृदयम्-धर्मस्तावद्रागा-

दिमलविगमेन पुष्टिशुद्धिमच्चित्तमेव । पुष्टिश्च पुण्योपचयः, शुद्धिश्च घातिकर्मणां पापानां क्षयेण या काचिन्निर्मलता, तदुभयं च प्रणिधानादिलक्षणेन भावेनानुबन्धवद्भवति, तदनुबन्धाच्च शुद्धिप्रकर्षः संभवति, निरनुबन्धं च तदशुद्धिफलमेवेति न तद्धर्मलक्षणम्, ततो युक्तमुक्तं "प्रणिधानादिभावेन परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारः सानुबन्धत्वाद् योगः" इति । यद्यप्येवं निश्चयतः परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारो योगस्तथापि 'विशेषेण' तान्त्रिकसंकेतव्यवहारकृतेनासाधारण्येन स्थानादिगत एव धर्मव्यापारो योगः, स्थानाद्यन्यतम एव योगपदप्रवृत्तेः सम्मतत्वादिति भावः ॥ १ ॥

स्थानादिगतो धर्मव्यापारो विशेषेण योग इत्युक्तम्, तत्र के ते स्थानादयः ? कतिभेदं च तत्र योगत्वम् ? इत्याह—

ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो ।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणंजोगो उ ॥२॥

'ठाणुन्नत्थे'त्यादि । स्थीयतेऽनेनेति स्थानं-आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्, ऊर्णः-शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः, अर्थः-शब्दाभिधेयव्यवसायः, आलम्बनं-बाह्यप्रतिमादिविष-

---

१ "नाणजोगा उ" इत्यपि ।

यध्यानम्, एते चत्वारो भेदाः, ' रहितः ' इति रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप इत्येवं 'एषः' योगः पञ्चविधः ' तन्त्रे ' योगप्रधानशास्त्रे, प्रतिपादित इति शेषः, उक्तं च—" स्थानोर्णार्थालम्बनतदन्ययोगपरिभावनं सम्यक्। परतत्त्वयोजनमलं, योगाभ्यास इति समयविदः[२] ॥ " (षोड० १३–४) इति। स्थानादिषु योगत्वं च " मोक्षकारणीभूतात्मव्यापारत्वं योगत्वम्" इति योगलक्षणयोगादनुपचरितमेव। यत्तु " यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य" (पातं० सू० २–२९) इति योगाङ्गत्वेन योगरूपता स्थानादिषु हेतुफलभावेनोपचारादभिधीयत इति षोडशकवृत्तावुक्तं तत् " चित्तवृत्तिनिरोधो योगः" (पा० यो० द० १–२) इति योगलक्षणाभिप्रायेणेति ध्येयम्। अत्र स्थानादिषु 'द्वयं' स्थानोर्णलक्षणं कर्मयोग एव, स्थानस्य साक्षादूर्णस्याप्युच्चार्यमाणस्यैव ग्रहणादुच्चारणांशे क्रियारूपत्वात्। तथा 'त्रयं' अर्थालम्बननिरालम्बनलक्षणं ज्ञानयोगः, ' तुः ' एवकारार्थ इति ज्ञानयोग एव, अर्थादीनां साक्षाद् ज्ञानरूपत्वात् ॥ २ ॥

एष कर्मयोगो ज्ञानयोगो वा कस्य भवतीति स्वामिचिन्तायामाह—

---

२ ' तत्त्वविदः ' इत्यपि।

देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ ।
इयरस्स बीयमित्तं, इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ॥ ३ ॥

'देसे सव्वे य' त्ति । सप्तम्याः पञ्चम्यर्थत्वाद्देशतस्तथा सर्वतश्च चारित्रिण एव 'एषः' प्रागुक्तः स्थानादिरूपो योगः 'नियमेन' इतरव्यवच्छेदलक्षणेन निश्चयेन भवति, क्रियारूपस्य ज्ञानरूपस्य वाऽस्य चारित्रमोहनीयक्षयोपशमनान्तरीयकत्वात्, अत एवाध्यात्मादियोगप्रवृत्तिरपि चारित्रप्राप्तिमारभ्यैव ग्रन्थकृता योगबिन्दौ प्ररूपिता, तथाहि—"देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः । अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥ १ ॥" (३५६ श्लोक) इति, 'देशादिभेदतः' देशसर्वविशेषाद् 'इदं' चारित्रं 'अध्यात्मादिः' अध्यात्मं १ भावना २ आध्यानं ३ समता ४ वृत्तिसंक्षयश्च ५, तत्राध्यात्मं उचितप्रवृत्तेर्व्रतभृतो मैत्र्यादिभावगर्भं शास्त्राज्जीवादितत्त्वचिन्तनम् १, भावना अध्यात्मस्यैव प्रतिदिनं प्रवर्धमानश्चित्तवृत्तिनिरोधयुक्तोऽभ्यासः २, आध्यानं प्रशस्तैकार्थविषयं स्थिरप्रदीपसदृशमुत्पातादिविषयसूक्ष्मोपयोगयुतं चित्तम् ३, समता अविद्याकल्पितेष्टानिष्टत्वसंज्ञापरिहारेण शुभाशुभानां विषयाणां तुल्यताभावनम् ४, वृत्तिसंक्षयश्च मनोद्वारा विकल्परूपाणां शरीरद्वारा परिस्पन्दरूपाणामन्यसंयोगात्मकवृत्तीनामपुनर्भावेन निरोधः ५ । अथैतेषामध्यात्मादीनां स्थानादिषु कुत्र

कस्यान्तर्भावः इति चेद्, उच्यते—अध्यात्मस्य चित्रभेदस्य देवसेवाजपतत्त्वचिन्तनादिरूपस्य यथाक्रमं स्थाने ऊर्णेऽर्थे च। भावनाया अपि भाव्यसमानविषयत्वात्तत्रैव। ध्यानस्यालम्बने। समतावृत्तिसंक्षययोश्च तदन्ययोग इति भावनीयम्। ततो देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगप्रवृत्तिः संभवतीति सिद्धम्। ननु यदि देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगः तदा देशविरत्यादिगुणस्थानहीनस्य व्यवहारेण श्राद्धधर्मादौ प्रवर्तमानस्य स्थानादिक्रियायाः सर्वथा नैष्फल्यं स्यादित्याशङ्क्याह—'इतरस्य' देशसर्वचारित्रिव्यतिरिक्त [स्य] स्थानादिकं 'इत एव' देशसर्वचारित्रं विना योगसंभवाभावादेव 'बीजमात्रं' योगबीजमात्रं 'केचिद्' व्यवहारनयप्रधाना इच्छन्ति। "मोक्षकारणीभूतचारित्रतत्त्वसंवेदनान्तर्भूतत्वेन स्थानादिकं चारित्रिण एव योगः, अपुनर्बन्धकसम्यग्दृशोस्तु तद्योगबीजम्" इति निश्चयनयाभिमतः पन्थाः। व्यवहारनयस्तु योगबीजमप्युपचारेण योगमेवेच्छतीति व्यवहारनयेनापुनर्बन्धकादयः स्थानादियोगस्वामिनः, निश्चयनयेन तु चारित्रिण एवेति विवेकः। तदिदमुक्तम्—"अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः। अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ २ ॥" (यो० बिं० ३६८ श्लोक.) इति। अपुनर्बन्धकस्य उपलक्षणात्सम्यग्दृष्टेश्च 'व्यव-

हारेण ' कारणे कार्यत्वोपचारेण तात्त्विकः, कारणस्यापि कथञ्चित्कार्यत्वात् । ' निश्चयेन ' उपचारपरिहारेण ' उत्तरस्य तु ' चारित्रिण एव ॥ सकृद्बन्धकादीनां तु स्थानादिकमशुद्ध-परिणामत्वान्निश्चयतो व्यवहारतश्च न योगः किन्तु योगाभ्यास इत्यवधेयम्, उक्तं च—" सकृदावर्त्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः । प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमात्रतः ॥ ३ ॥ " (यो० विं० ३६६ श्लोक.) सकृद्–एकवारमावर्तन्ते–उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, ये ते सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद्विरावर्तनादिग्रहः, 'अतात्त्विकः' व्यवहारतो निश्चयतश्चातत्त्वरूपः॥३॥

तदेवं स्थानादियोगस्वामित्वं विवेचितम्, अथैतेष्वेव प्रतिभेदानाह—

इक्किक्को य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए ॥ ४ ॥

'इक्किको य'त्ति । 'अत्र' स्थानादौ 'पुनः' कर्मज्ञानविभेदाभिधानापेक्षया भूयः एकैकश्चतुर्द्धा 'तत्त्वतः' सामान्येन दृष्टावपि परमार्थतः ' समयनीत्या ' योगशास्त्रप्रतिपादितपरिपाट्या ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदतः ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदानाश्रित्य ' मुणेयव्वो ' त्ति ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

तानेव भेदान् विवरीषुराह—

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा।
सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवत्ती उ ॥ ५ ॥
तह चेव एयवाहग–चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं।
सव्वं परत्थसाहग–रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥६॥

'तज्जुत्तकहा' इत्यादि। तद्युक्तानां–स्थानादियोगयुक्तानां कथायां प्रीत्या–अर्थबुभुत्सयाऽर्थबोधेन वा जनितो यो हर्षस्तल्लक्षणया संगता–सहिता 'विपरिणामिनी' विधिकर्तृबहुमानादिगर्भं स्वोल्लासमात्राद्यत्किञ्चिदभ्यासादिरूपं विचित्रं परिणाममादधाना इच्छा भवति, द्रव्यक्षेत्राद्यसामग्र्येणाङ्गसाकल्याभावेऽपि यथाविहितस्थानादियोगेच्छया यथाशक्ति क्रियमाणं स्थानादि इच्छारूपमित्यर्थः। प्रवृत्तिस्तु 'सर्वत्र' सर्वावस्थायां 'उपशमसारं' उपशमप्रधानं यथा स्यात्तथा 'तत्पालनं' यथाविहितस्थानादियोगपालनम्, 'ओ' त्ति प्राकृतत्वात्। वीर्यातिशयाद् यथाशास्त्रमङ्गसाकल्येन विधीयमानं स्थानादि प्रवृत्तिरूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥
'तह चेव' त्ति। 'तथैव' प्रवृत्तिवदेव सर्वत्रोपशमसारं स्थानादिपालनमेतस्य–पाल्यमानस्य स्थानादेर्बाधकचिन्तारहितं स्थिरत्वं ज्ञेयम्। प्रवृत्तिस्थिरयोगयोरेतावान् विशेषः—यदुत प्रवृत्तिरूपस्थानादियोगविधानं सातिचारत्वाद्बाधकचि-

न्तासहितं भवति । स्थिररूपं त्वभ्याससौष्ठवेन निर्बाधकमेव जायमानं तज्जातीयत्वेन बाधकचिन्ताप्रतिघाताच्छुद्धिविशेषेण तदनुत्थानाच्च तद्रहितमेव भवतीति । 'सर्वं' स्थानादि स्वस्मिन्नुपशमविशेषादिफलं जनयदेव परार्थसाधकं-स्वसन्निहितानां स्थानादियोगशुद्ध्यभाववतामपि तत्सिद्धिविधानद्वारा परगतस्वसदृशफलसंपादकं पुनः सिद्धिर्भवति । अत एव सिद्धाऽहिंसानां समीपे हिंसाशीला अपि हिंसां कर्तुं नालम्, सिद्धसत्यानां च समीपेऽसत्यप्रिया अप्यसत्यमभिधातुं नालम् । एवं सर्वत्रापि ज्ञेयम् । 'इतिः' इच्छादिभेदपरिसमाप्तिसूचकः । अत्रायं मत्कृतः संग्रहश्लोकः—"इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, पालनं शमसंयुतम् । पालनं (प्रवृत्तिः) दोषभीहानिः स्थैर्यं सिद्धिः परार्थता ॥१॥" इति ॥६॥ उक्ता इच्छादयो भेदाः, अथैतेषां हेतूनाह—

एए य चित्तरूवा, तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइजोगओ भव्वसत्ताणं ॥ ७ ॥

'एए य' त्ति । 'एते च' इच्छादयः 'चित्ररूपाः' परस्परं विजातीयाः स्वस्थाने चासङ्ख्यभेदभाजः, 'तस्य तु' अधिकृतस्य स्थानादियोगस्यैव श्रद्धा—इदमित्थमेवेति प्रतिपत्तिः, प्रीतिः—तत्करणादौ हर्षः, आदिना धृतिधारणादिपरिग्रहस्तद्योगतः 'भव्यसत्त्वानां' मोक्षगमनयोग्यानामपुनर्बन्ध-

कादिजन्तूनां ' तथाक्षयोपशमयोगतः ' तत्तत्कार्यजननाकूल-विचित्रक्षयोपशमसंपत्त्या भवन्ति, इच्छायोगादिविशेषे आशय-भेदाभिव्यङ्ग्यः क्षयोपशमभेदो हेतुरिति परमार्थः। अत एव यस्य यावन्मात्रः क्षयोपशमस्तस्य तावन्मात्रेच्छादिसंपत्त्या मार्गे प्रवर्त्तमानस्य सूक्ष्मबोधाभावेऽपि मार्गानुसारिता न व्या-हन्यत इति संप्रदायः ॥ ७ ॥ इच्छादीनामेव हेतुभेदमभिधाय कार्यभेदमभिधत्ते—

अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥ ८ ॥

'अणुकंप' त्ति। ' अनुकम्पा ' द्रव्यतो भावतश्च यथा-शक्ति दुःखितदुःखपरिहारेच्छा, ' निर्वेदः ' नैर्गुण्यपरिज्ञा-नेन भवचारकाद्विरक्तता, ' संवेगः ' मोक्षाभिलाषः, तथा ' प्रशमश्च ' क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः, इत्येते ' एतेषां ' इच्छादीनां योगानां यथासङ्ख्यं अनु–पश्चाद् भावाः ' अनु-भावाः ' कार्याणि भवन्ति। यद्यपि सम्यक्त्वस्यैवैते कार्यभू-तानि लिङ्गानि प्रवचने प्रसिद्धानि तथापि योगानुभवसिद्धानां विशिष्टानामेतेषामिहेच्छायोगादिकार्यत्वमभिधीयमानं न विरु-ध्यत इति द्रष्टव्यम्। वस्तुतः केवलसम्यक्त्वलाभेऽपि व्यवहारे-णेच्छादियोगप्रवृत्तेरेवानुकम्पादिभावसिद्धेः। अनुकम्पादि-सामान्ये इच्छायोगादिसामान्यस्य तद्विशेषे च तद्विशेषस्य

हेतुत्वमित्येव न्यायसिद्धम् । अत एव शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणानां सम्यक्त्वगुणानां पश्चानुपूर्व्यैव लाभक्रमः । प्राधान्याच्चेत्थमुपन्यास इति सद्धर्मविंशिकायां प्रतिपादितम् ॥ ८ ॥ तदेवं हेतुभेदेनानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतम्, तथा च स्थानादावेकैकस्मिन्निच्छादिभेदचतुष्टयसमावेशादेतद्विषया अशीतिर्भेदाः संपन्ना एतन्निवेदनपूर्वमिच्छादिभेदभिन्नानां स्थानादीनां सामान्येन योजनां शिक्षयन्नाह—

एवं ठियम्मि तत्ते, नाएण उ जोयणा इमा पयडा ।
चिइवंदणेण नेया, नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥ ९ ॥

'एवं' इत्यादि । 'एवं' अमुना प्रकारेणेच्छादिप्रतिभेदैरशीतिभेदो योगः, सामान्यतस्तु स्थानादिः पञ्चभेद इति 'तत्त्वे' योगतत्त्वे 'स्थिते' व्यवस्थिते 'ज्ञातेन तु' दृष्टान्तेन तु चैत्यवन्दनेन इयं 'प्रकटा' क्रियाभ्यासपरजनप्रत्यक्षविषया 'योजना' प्रतिनियतविषयव्यवस्थापना 'नवरं' केवलं तत्त्वज्ञेन 'सम्यग्' अवैपरीत्येन ज्ञेया ॥ ९ ॥ तामेवाह—

अरिहंतचेइयाणं, करेमि उस्सग्ग एवमाइयं ।
[illegible]जुत्तस्स तहा, होइ जहत्थं पयन्नाणं ॥१०॥
[illegible]त्थालंबण—जोगवओ पायमविवरीयं तु ।
ठाणाइसु, जत्तपराणं परं सेयं ॥ ११ ॥

'अरिहंत' इत्यादि। "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" एवमादि चैत्यवन्दनदण्डकविषयं 'श्रद्धायुक्तस्य' क्रियास्तिक्यवतः 'तथा' तेन प्रकारेणोच्चार्यमाणस्वरसंपन्मात्रादिशुद्धस्फुटवर्णानुपूर्वीलक्षणेन 'यथार्थं' अभ्रान्तं पदज्ञानं भवति, परिशुद्धपदोच्चारे दोषाभावे सति परिशुद्धपदज्ञानस्य श्रावणसामग्रीमात्राधीनत्वादिति भावः॥ १०॥ 'एयं च' त्ति। 'एतच्च' परिशुद्धं चैत्यवन्दनदण्डकपदपरिज्ञानम्, अर्थः—उपदेशपदप्रसिद्धपदवाक्यमहावाक्यैर्दंपर्यार्थपरिशुद्धज्ञानम्, आलम्बनं च—प्रथमे दण्डकेऽधिकृततीर्थकृद्, द्वितीये सर्वे तीर्थकृतः, तृतीये प्रवचनम्, चतुर्थे सम्यग्दृष्टिः शासनाधिष्ठायक इत्यादि, तद्योगवतः—तत्प्रणिधानवतः 'प्रायः' बाहुल्येन 'अविपरीतं तु' अभीप्सितपरमफलसंपादकमेव, अर्थालम्बनयोगयोर्ज्ञानयोगतयोपयोगरूपत्वात्, तत्सहितस्य चैत्यवन्दनस्य भावचैत्यवन्दनत्वसिद्धेः, भावचैत्यवन्दनस्य चामृतानुष्ठानरूपत्वेनावश्यं निर्वाणफलत्वादिति भावः। प्रायोग्रहणं सापाययोगवद्व्यावृत्त्यर्थम्। द्विविधो हि योगः—सापायो निरपायश्च, तत्र निरुपक्रममोक्षपथप्रतिकूलचित्तवृद्धिकारणं प्राक्कालार्जितं कर्म अपायस्तत्सहितो योगः सापायः, तद्रहितस्तु निरपाय इति। तथा च सापायार्थालम्बनयोगवतः कदाचित्फलविलम्बसम्भवेऽपि निरपायतद्वतोऽविलम्बेन फलोत्पत्तौ न व्यभिचार इति प्रायोग्रहणार्थः। 'इतरेषां'

अर्थालम्बनयोगाभाववतामेतचैत्यवन्दनसूत्रपदपरिज्ञानं 'स्थानादिषु यत्नवतां' गुरूपदेशानुसारेण विशुद्धस्थानवर्णोद्यमपरायणानामर्थालम्बनयोगयोश्च तीव्रस्पृहावतां 'परं' केवलं श्रेयः, अर्थालम्बनयोगाभावे वाचनायां प्रच्छनायां परावर्तनायां वा तत्पदपरिज्ञानस्यानुप्रेक्षाऽसंवलिततत्वेन "अनुपयोगो द्रव्यम्" इतिकृत्वा द्रव्यचैत्यवन्दनरूपत्वेऽपि स्थानोर्णयोगयत्नातिशयादर्थालम्बनस्पृहयालुतया च तद्धेत्वनुष्ठानरूपतया भावचैत्यवन्दनद्वारा परम्परया स्वफलसाधकत्वादिति भावः ॥ ११ ॥ स्थानादियत्नाभावे च तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानस्याप्राधान्यरूपद्रव्यतामास्कन्दन्निष्फलं विपरीतफलं वा स्यादिति लेशतोऽपि स्थानादियोगाभाववन्तो नैतत्प्रदानयोग्या इत्युपदिशन्नाह—

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ।
ता अणुरूवाणं चिय, कायव्वो एयविन्नासो ॥१२॥

'इहरा उ'त्ति। 'इतरथा तु' अर्थालम्बनयोगाभाववतां स्थानादियत्नाभावे तु तत् चैत्यवन्दनानुष्ठानं 'कायवासितप्रायं' सम्मूर्च्छनजप्रवृत्तितुल्यकायचेष्टितप्रायं मानसोपयोगशून्यत्वात्, उपलक्षणाद्वाग्वासितप्रायमपि द्रष्टव्यं, तथा चाननुष्ठानरूपत्वान्निष्फलमेतदिति भावः। 'अथवा' इति दोषान्तरे, तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानं महामृषावादः, "स्थानमौन-

प्यानेरात्मानं व्युत्सृजामि" (ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि")इति प्रतिज्ञया विहितस्य चैत्यवन्दनकायोत्सर्गादेः स्थानादिगर्भे मृषावादस्य स्फुटत्वात्, स्वयं विधिविपर्ययप्ररूपणा परेषामेतदनुष्ठानं मिथ्यात्वबुद्धिजननद्वारा तस्य लौकिकमृषावादादतिगुरुत्वाच्च, तथा च विपरीतफलं तेषामेतदनुष्ठानं सम्पद्यम् । येऽपि स्थानादिशुद्धमप्यैहिककीर्त्यादीच्छयाऽऽमुष्मिकस्वर्लोकादिविभूतीच्छया चैतदनुष्ठानं कुर्वन्ति तेषामपि मोक्षार्थकप्रतिज्ञया विहितमेतत्तद्विपरीतार्थतया क्रियमाणं विषगरानुष्ठानान्तर्भूतत्वेन महामृषावादानुबन्धित्वाद्विपरीतफलमेवेति । विषाद्यनुष्ठानस्वरूपं चैत्यमुपदर्शितं पतञ्जल्याद्युक्तभेदान स्वतन्त्रेण संवादयता ग्रन्थकृतैव योगबिन्दौ—" विषं गरोऽननुष्ठानं, तद्धेतुरमृतं परम् । गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥ १ ॥ " (१५५ श्लो) ' विषं ' स्थावरजङ्गमभेदभिन्नम् , ततो विषमिव विषम्, एवं गर इव गरः, परं गरः कृत्रिमसंयोगजो विषविशेषः, ' अननुष्ठानं ' अनुष्ठानाभासं, 'तद्धेतुः' अनुष्ठानहेतुः, अमृतमिवामृतं अमरणहेतुत्वात्, अपेक्षा-इहपरलोकस्पृहा, आदिशब्दादनाभोगादेश्च यद् विधानं-विशेषस्तस्मात् ॥ " विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः, इदं सन्निरारम्भणात् । महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा ॥२॥" (१५६ श्लो) लब्ध्यादेः-लब्धिकीर्त्यादेः अपेक्षातः-स्पृहातः ' इदं ' अनुष्ठानं विषं 'सन्निरारम्भणात्' परिशुद्धान्तःकरण-

परिणामविनाशनात्, तथा महतोऽनुष्ठानस्य 'अल्पार्थनात्' तुच्छलब्ध्यादिप्रार्थनेन लघुत्वस्यापादनादिदं विषं ज्ञेयम् ॥ "दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः । एतद्विहितनीत्यैव, कालान्तरनिपातनात् ॥३॥" (१५७ श्लो.)'एतद्' अनुष्ठानं ऐहिकभोगनिस्पृहस्य स्वर्गभोगस्पृहया गरमाहुः 'विहितनीत्यैव' विषोक्तनीत्यैव, केवलं कालान्तरे—भवान्तररूपे निपातनात्—अनर्थसम्पादनात् । विषं सद्य एव विनाशहेतुः, गरश्च कालान्तरेणेत्येवमुपन्यासः ॥ "अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते।सम्प्रमुग्धं मनोऽस्येति, ततश्चैतद्यथोदितम् ॥४॥" (१५८ श्लो) 'अनाभोगवतः' कुत्रापि फलादावप्रणिहितमनसः 'एतद्' अनुष्ठानं 'अननुष्ठानं' अनुष्ठानमेव न भवतीत्यर्थः । सम् इति समन्ततः प्रकर्षेण मुग्धं सन्निपातोपहतस्येवानध्यवसायापन्नं मनोऽस्य, 'इतिः' पादसमाप्तौ । यत एवं ततो यथोदितं तथैव ॥ "एतद्रागादिदं हेतुः, श्रेष्ठो योगविदो विदुः । सदनुष्ठानभावस्य, शुभभावांशयोगतः ॥४॥" (१५९ श्लो) 'एतद्रागात्' सदनुष्ठानबहुमानात् 'इदं' आदिधार्मिककालभावि देवपूजाद्यनुष्ठानं 'सदनुष्ठानभावस्य' तात्त्विकदेवपूजाद्याचारपरिणामस्य मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुसारेण वा शुभभावलेशयोगात् 'श्रेष्ठः' अवन्ध्यो हेतुरिति योगविदो 'विदुः' जानते ॥ "जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः । संवेगगर्भमत्यन्तममृतं

मुनिपुङ्गवाः ॥ ६ ॥" (१६० श्लो०) जिनोदितमित्येव 'भावसारं' श्रद्धाप्रधानं 'अदः' अनुष्ठानं 'संवेगगर्भं' मोक्षाभिलाषसहितं 'अत्यन्तं' अतीव अमरणहेतुत्वादमृत-संज्ञमाहुः 'मुनिपुङ्गवाः' गौतमादिमहामुनयः ॥ एतेषु त्रयं योगाभासत्वादहितम्, द्वयं तु सद्योगत्वाद्धितमिति तत्त्वम्। यत एवं स्थानादियत्नाभाववतोऽनुष्ठाने महादोषः 'तत्' तस्मात् 'अनुरूपाणामेव' योग्यानामेव 'एतद्विन्यासः' चैत्यवन्दन-सूत्रप्रदानरूपः कर्तव्यः ॥ १२ ॥ क एतद्विन्यासानुरूपा इत्याकाङ्क्षायामाह—

जे देसविरइजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति।
सुव्वइ विरईए इमं, ता सम्मं चिंतियव्व मिणं ॥१३॥

'जे' इत्यादि। ये 'देशविरतियुक्ताः' पञ्चमगुण-स्थानपरिणतिमन्तः ते इह अनुरूपा इति शेषः। कुतः? इत्याह—यस्मात् 'इह' चैत्यवन्दनसूत्रे "व्युत्सृजामि कायम्" इति श्रूयते, इदं च विरतौ सत्यां संभवति, तदभावे काय-व्युत्सर्गासम्भवात्, तस्य गुप्तिरूपविरतिभेदत्वात्, ततः सम्य-क् चिन्तितव्यमेतत् यदुत "कायं व्युत्सृजामि" इति प्रति-ज्ञान्यथानुपपत्त्या देशविरतिपरिणामयुक्ता एव चैत्यवन्दना-नुष्ठानेऽधिकारिणः, तेषामेवागमपरतन्त्रतया विधियत्नसम्भ-वेनामृतानुष्ठानसिद्धेरिति। एतच्च मध्यमाधिकारिग्रहणं तुला-

दण्डन्यायेनाद्यन्तग्रहणार्थम्, तेन परमामृतानुष्ठानपराः सर्वविरतास्तत्त्वत एव तद्धेत्वनुष्ठानपराः। अपुनर्बन्धका अपि च व्यवहारादिहाधिकारिणो गृह्यन्ते, कुग्रहविरहसम्पादनेनापुनर्बन्धकानामपि चैत्यवन्दनानुष्ठानस्य फलसम्पादकतायाः पञ्चाशकादिप्रसिद्धत्वादित्यवधेयम्। ये त्वपुनर्बन्धकादिभावमप्यस्पृशन्तो विधिबहुमानादिरहिता गतानुगतिकतयैव चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं कुर्वन्ति ते सर्वथाऽयोग्या एवेति व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥ नन्वविधिनाऽपि चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठाने तीर्थप्रवृत्तिरव्यवच्छिन्ना स्यात्, विधेरेवान्वेषणे तु द्वित्राणामेव विधिपराणां लाभात् क्रमेण तीर्थोच्छेदः, स्यादिति तदनुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमप्यादरणीयमित्याशङ्कायामाह—

तित्थस्सुच्छेयाइ वि, नालंबण जं ससमएमेव।
सुत्तकिरियाइ नासो, एसो असमंजसविहाणा॥१४॥

'तित्थस्स' इत्यादि। 'अत्र' अविध्यनुष्ठाने तीर्थोच्छेदाद्यपि नालम्बनी (नम्), तीर्थानुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमपि कर्तव्यमिति नालम्बनीयम्। 'यद्' यस्मात् 'एवमेव' अविध्यनुष्ठाने क्रियमाण एव 'असमञ्जसविधानात्' विहितान्यथाकरणादशुद्धपारम्पर्यप्रवृत्त्या सूत्रक्रियाया विनाशः, स

---

१ श्रीहरिभद्रसूरिकृतः। २ "तित्थस्सुच्छेयाइ वि, एत्थं नालंबणं जमेमेव" इति भवेत्।

एष तीर्थोच्छेदः । नहि तीर्थनाम्ना जनसमुदाय एव तीर्थम्, आज्ञारहितस्य तस्यास्थिसङ्घातरूपत्वप्रतिपादनात्, किन्तु सूत्रविहितयथोचितक्रियाविशिष्टसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायः, तथा चाविधिकरणे सूत्रक्रियाविनाशात्परमार्थतस्तीर्थविनाश एवेति तीर्थोच्छेदालम्बनेनाविधिस्थापने लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायातेत्यर्थः ॥ १४ ॥ सूत्रक्रियाविनाशस्यैवाहितावहतां स्पष्टयन्नाह—

सो एस वंकओ चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेयभीरूहिं ॥ १५ ॥

'सो एस' त्ति । 'स एषः' सूत्रक्रियाविनाशः 'वक्र एव' तीर्थोच्छेदपर्यवसायितया दुरन्तदुःखफल एव । ननु शुद्धक्रियाया एव पक्षपाते क्रियमाणे शुद्धायास्तस्या अलाभादशुद्धायाश्चानङ्गीकारादानुश्रोतसिक्या वृत्त्याऽक्रियापरिणामस्य स्वत उपनिपातात्तीर्थोच्छेदः स्यादेव, यथाकथञ्चिदनुष्ठानावलम्बने च जैनक्रियाविशिष्टजनसमुदायरूपं तीर्थं न व्यवच्छिद्यते, न च कर्तुरविधिक्रियया गुरोरुपदेशकस्य कश्चिद्दोषः, अक्रियाकर्तुरिवाविधिक्रियाकर्तुस्तस्य स्वपरिणामाधीनप्रवृत्तिकत्वात्, केवलं क्रियाप्रवर्तनेन गुरोस्तीर्थव्यवहाररक्षणाद्गुण एवेत्याशङ्कायामाह—न च स्वयंमृतमारितयोरविशेषः, किन्तु विशेष एव, स्वयंमृते स्वदुष्टाशयस्यानिमित्तत्वात्

मारिते च मार्यमाणकर्मविपाकसमुपनिपातेऽपि स्वदुष्टाशयस्य निमित्तत्वात्, तद्वदिह स्वयमक्रियाप्रवृत्तं जीवमपेक्ष्य गुरोर्न दूषणम्, तदीयाविधिप्ररूपणमवलम्ब्य श्रोतुरविधिप्रवृत्तौ च तस्योन्मार्गप्रवर्तनपरिणामादवश्यं महादूषणमेव, तथा च श्रुतकेवलिनो वचनम्—"जहं सरणमुवगयाणं, जीवाण सिरो निकिंतए जो उ। एवं आयरिओ वि हु, उस्सुत्तं पण्णवेंतो य ॥१॥" न केवलमविधिप्ररूपणे दोषः, किन्तु विधिप्ररूपणाभोगेऽविधिनिषेधासम्भवात् तदाशंसनानुमोदनापत्तेः फलतस्तत्प्रवर्तकत्वाद्दोष एव, तस्मात् "स्वयमेतेऽविधिप्रवृत्ता नात्रास्माकं दोषो वयं हि क्रियामेवोपदिशामो न त्वविधिम्" एतावन्मात्रमपुष्टालम्बनमवलम्ब्य नोदासितव्यं परहितनिरतेन धर्माचार्येण, किन्तु सर्वोद्यमेनाविधिनिषेधेन विधावेव श्रोतारः प्रवर्तनीयाः, एवं हि ते मार्गे प्रवेशिताः, अन्यथा तून्मार्गप्रवेशनेन नाशिताः। एतदपि भावितव्यमिह तीर्थोच्छेदभीरूभिः—विधिव्यवस्थापनेनैव ह्येकस्यापि जीवस्य सम्यग् बोधिलाभे चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकेऽमारिपटहवादनात्तीर्थोन्नतिः, अविधिस्थापने च विपर्ययात्तीर्थोच्छेद एवेति। यस्तु श्रोता विधिशास्त्रश्रवणकालेऽपि न संवेगभागी तस्य धर्मश्रावणेऽपि महादोष एव, तथा चोक्तं ग्रन्थकृतैव षोड-

---

१ "यथा शरणमुपगतानां जीवानां शिरो निकृन्तति यस्तु। एवमाचार्योऽपि खलूत्सूत्रं प्रज्ञापयंश्च॥" २ 'अविधि'—इति स्यात्।

शके—"यः शृण्वन्[1] सिद्धान्तं, विषयपिपासातिरेकतः पापः। प्राप्नोति न संवेगं, तदापि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥ १ ॥ नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि। कुर्वन्नेतद्गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ २ ॥" (षो० १०-१४-१५) मण्डल्युपवेशनं-सिद्धान्तदानेऽर्थमण्डल्युपवेशनम्। 'तदधिकदोषः' अयोग्यश्रोतुरधिकदोषः, पापकर्तुरपेक्षया तत्कारयितुर्महादोषत्वात्। तस्माद्विधिश्रवणरसिकं श्रोतारमुद्दिश्य विधिप्ररूपणेनैव गुरुस्तीर्थव्यवस्थापको भवति, विधिप्रवृत्त्यैव च तीर्थमव्यवच्छिन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ ननु किमेतावद्गूढार्थगवेषणया?, यद्बहुभिर्जनैः क्रियते तदेव कर्तव्यं "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति वचनात्, जीतव्यवहारस्यैवेदानीं बाहुल्येन प्रवृत्तेस्तस्यैवाऽऽतीर्थकालभावित्वेन तीर्थव्यवस्थापकत्वादित्याशङ्कायामाह—

मुत्तूण लोगसन्नं, उड्ढूण य साहुसमयसब्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥ १६ ॥

'मुत्तूण' त्ति। मुक्त्वा ['लोकसंज्ञां'] "लोक एव प्रमाणं" इत्येवंरूपां शास्त्रनिरपेक्षां मतिं 'उड्ढूण य' त्ति वोढ्वा च 'साधुसमयसद्भावं' समीचीनसिद्धान्त [रहस्यं] 'सम्यग्' विधिनीत्या प्रवर्त्तितव्यं चैत्यवन्दनादौ 'बुधेन' पण्डितेन 'अतिनिपुणबुद्ध्या' अतिशयितसूक्ष्मभावानुधाविन्या मत्या।

---

१ 'शृण्वन्नपि सिद्धान्तं' इत्यपि।

साधुसमयसद्भावश्चायम्–" लोकमालम्ब्य कर्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत्।तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥ १ ॥ (ज्ञानसारे २३–४) स्तोका आर्या अनार्येभ्यः, स्तोका जैनाश्च तेष्वपि। सुश्रद्धास्तेष्वपि स्तोकाः, स्तोकास्तेष्वपि सत्क्रियाः ॥ २ ॥ श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे च न। स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मशोधकाः ॥ ३ ॥ (ज्ञानसारे २३–५) एकोऽपि शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः। किमज्ञसार्थैः ? शतमप्यन्धानां नैव पश्यति ॥ ४ ॥ यत्संविग्नजनाचीर्णं, श्रुतवाक्यैरबाधितम्। तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पारम्पर्यविशुद्धिमत् ॥५॥ यदाचीर्णमसंविग्नैः, श्रुतार्थानवलम्बिभिः। न जीतं व्यवहारस्तदन्धसंततिसम्भवम् ॥ ६ ॥ आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न व्यवहारकम्। इतिवक्तुर्महत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥ ७ ॥ तस्माच्छ्रुतानुसारेण, विध्येकरसिकैर्जनैः। संविग्नजीतमालम्ब्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ८ ॥ " ननु यद्येवं सर्वादरेण विधिपक्षपातः क्रियते तदा " [1]अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति सव्वन्नू। पायच्छित्तं जम्हा, अकए गुरुयं कए लहुअं ॥ १ ॥ " इत्यादि वचनानां का गतिः ? इति चेत्, नैतानि वचनानि मूलत एवाविधिप्रवृत्तिविधायकानि, किन्तु विधिप्र-

---

१ " अविधिकृताद्वरमकृतं असूत्रवचनं भणन्ति सर्वज्ञाः। प्रायश्चित्तं यस्मादकृते गुरुकं कृते लघुकम् ॥ "

वृत्तावप्यनाभोगादिनाऽविधिदोषश्छद्मस्थस्य भवतीति तद्भिया न क्रियात्यागो विधेयः । प्रथमाभ्यासे तथाविधज्ञानाभावाद-न्यदापि वा प्रज्ञापनीयस्याविधिदोषो निरनुबन्ध इति तस्य तादृशानुष्ठानमपि न दोषाय, विधिबहुमानाद् गुर्वाज्ञायोगाच्च तस्य फलतो विधिरूपत्वादित्येतावन्मात्रप्रतिपादनपराणीति न कश्चिद्दोषः । अवोचाम चाध्यात्मसारप्रकरणे—" अशुद्धा-पि हि शुद्धायाः, क्रिया हेतुः सदाशयात् । ताम्रं रसानुवेधेन, स्वर्णत्वमुपगच्छति[1] ॥ १ ॥ " (२–१६ श्लो.) यस्तु विध्य-बहुमानादविधिक्रियामासेवते तत्कर्तुरपेक्षया विधिव्यवस्थाप-नरसिकस्तदकर्ताऽपि भव्य एव, तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये ग्रन्थ-कृतैव—" तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥" (२२१ श्लो०) इत्यादि । न चैवं तादृशषष्ठसप्तमगुणस्थानपरिणतिप्रयोज्य-विधिव्यवहाराभावादस्मदादीनामिदानीन्तनमावश्यकाद्याचर-णमकर्तव्यमेव प्रसक्तमिति शङ्कनीयम्, विकलानुष्ठानानामपि " जा जा हविज्ज जयणा, सा सा से णिज्जरा होइ[2] । " इत्यादिवचनप्रामाण्यात् यत्किञ्चिद्विध्यनुष्ठानस्येच्छायोगसंपा-दकतदितरस्यापि बालाद्यनुग्रहसम्पादकत्वेनाकर्तव्यत्वासिद्धेः ।

---

१ " मधिगच्छति " इत्यपि । २ " या या भवेद्यतना सा सा तस्य निर्जरा भवति " ।

इच्छायोगवद्भिर्विकलानुष्ठायिभिर्गीतार्थैः सिद्धान्तविधिप्ररूपणे तु निर्भरो विधेयस्तस्यैव तेषां सकलकल्याणसम्पादकत्वात्, उक्तं च गच्छाचारप्रकीर्णके—"जइ वि ण सक्कं काउं, सम्मं जिणभासियं अणुट्ठाणं। तो सम्मं भासिज्जा, जह भणियं खीणरागेहिं ॥ १ ॥ ओसन्नो वि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही य। चरणकरणं विसुद्धं, उववूहंतो परूविंतो ॥२॥"(गाथा ३२–३४) इति। ये तु गीतार्थाज्ञानिरपेक्षा विध्यभिमानिन इदानीन्तनव्यवहारमुत्सृजन्ति अन्यं च विशुद्धं व्यवहारं संपादयितुं न शक्नुवन्ति ते बीजमात्रमप्युच्छिन्दन्तो महादोषभाजो भवन्ति। विधिसम्पादकानां विधिव्यवस्थापकानां च दर्शनमपि प्रत्यूहव्यूहविनाशनमिति वयं वदामः ॥ १६ ॥ अथेमं प्रसक्तमर्थं संक्षिपन् प्रकृतं निगमयन्नाह—

कयमित्थ पसंगेणं, ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु।
हियमेयं विन्नेयं, सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥१७॥

'कयमित्थ' त्ति। 'कृतं' पर्याप्तं 'अत्र प्रसङ्गेन' प्ररूपणीयमध्ये स्मृतार्थविस्तारणेन 'स्थानादिषु' प्रदर्शित-

---

१ "यद्यपि न शक्यं कर्तुं सम्यग्जिनभाषितमनुष्ठानम्। तत्सम्यग्भाषयेद्यथा भणितं क्षीणरागैः ॥ अवसन्नोऽपि विहारे शोधयति सुलभबोधिश्च। चरणकरणं विशुद्धमुपबृंहन् प्ररूपायश्चित्ती"

योगभेदेषु 'यत्नसंगतानां तु' प्रयत्नवतामेव 'एतत्' चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं 'हितं' मोक्षसाधकं विज्ञेयम्, चैत्यवन्दनगोचरस्थानादियोगस्य मोक्षहेतुत्वे तस्यापि तत्प्रयोजकत्वादिति भावः। 'तथा' इति प्रकारान्तरसमुच्चये। सदनुष्ठानत्वेन,योगपरिणामकृतपुण्यानुबन्धिपुण्यनिक्षेपाद्विशुद्धचित्तसंस्काररूपया प्रशान्तवाहितया सहितस्य चैत्यवन्दनादेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षहेतुत्वादिति भावः। प्रकारभेदोऽयं नयभेदकृत इति न कश्चिद्दोषः ॥ १७ ॥ सदनुष्ठानभेदानेव प्ररूपयंश्चरमतद्भेदे चरमयोगभेदमन्तर्भावयन्नाह—

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगयाजुत्तं।
नेयं चउव्विहं खलु, एसो चरमो हवइ जोगो ॥१८॥

'एयं च' त्ति। 'एतच्च' सदनुष्ठानं प्रीतिभक्त्यागमाननुगच्छति तत् प्रीतिभक्त्यागमानुगं-प्रीत्यनुष्ठानं भक्त्यनुष्ठानं वचनानुष्ठानं चेति त्रिभेदं तथाऽसंगतया युक्तं असंगानुष्ठानमित्येवं चतुर्विधं ज्ञेयम्। एतेषां भेदानामिदं स्वरूपम्—यत्रानुष्ठाने प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमा च प्रीतिरुत्पद्यते शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्, आह च— "यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः। शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ १ ॥" (षो० १०-३) एतत्तुल्यमप्यालम्बनीयस्य पूज्यत्वविशेषबुद्ध्या

विशुद्धतरव्यापारं भक्त्यनुष्ठानम्, आह च—गौरवविशेषयोगाद्बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्। क्रियायेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥" (षो० १०–४) प्रीतित्वभक्तित्वे संतोष्यपूज्यकृत्यकर्तव्यताज्ञानजनितहर्षगतौ जातिविशेषौ, आह च—" अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्बुद्धिता च जननीति। तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ३ ॥" (षो० १०–५) 'तुल्यमपि कृत्यं' भोजनाच्छादनादि 'ज्ञातं' उदाहरणम्। शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिर्वचनानुष्ठानम्, आह च—" वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु। वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ४ ॥" (षो० १०–६) व्यवहारकाले वचनप्रतिसंधाननिरपेक्षं दृढतरसंस्काराच्चन्दनगन्धन्यायेनात्मसाद्भूतं जिनकल्पिकादीनां क्रियासेवनमसङ्गानुष्ठानम्, आह च—" यत्त्वभ्यासातिशयात्, सात्मीभूतामिव चेष्यते सद्भिः। तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥ ५ ॥" (षो० १०–७) 'तदावेधात्' वचनसंस्कारात्, यथाऽऽद्यं चक्रभ्रमणं दण्डव्यापारादुत्तरं च तज्जनितकेवलसंस्कारादेव, तथा भिक्षाटनादिविषयं वचनानुष्ठानं वचनव्यापाराद् असङ्गानुष्ठानं च केवलतज्जनितसंस्कारादिति विशेषः, आह च—" चक्रभ्रमणं दण्डात्तदभावे चैव यत्परं भवति। वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तज्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥" (षो०

१०–८) इति ॥ 'खलु' इति निश्चये। एतेष्वनुष्ठानभेदेषु 'एषः' एतदः समीपतरवृत्ति (वर्त्ति)वाचकत्वात्समीपाभिहिताऽसङ्गानुष्ठानात्मा चरमो योगोऽनालम्बनयोगो भवति, सङ्गत्यागस्यैवानालम्बनलक्षणत्वादिति भावः ॥ १८ ॥ आलम्बनविधयैवानालम्बनस्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

आलंबणं पि एयं, रूवमरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥१९॥

'आलंबणं पि' त्ति। आलम्बनमपि 'एतत्' प्राकरणिकबुद्धिसंनिहितं 'अत्र' योगविचारे 'रूपि' समवसरणस्थजिनरूपतत्प्रतिमादिलक्षणम्, 'च' पुनः 'अरूपी परमः' सिद्धात्मा इत्येवं द्विविधम्। तत्र तस्य–अरूपिपरमात्मलक्षणस्यालम्बनस्य ये गुणाः–केवलज्ञानादयस्तेषां परिणतिः–समापत्तिलक्षणा तया रूप्यत इति तद्गुणपरिणतिरूपः सूक्ष्मोऽतीन्द्रियविषयत्वादनालम्बनो नाम योगः, अरूप्यालम्बनस्येपदालम्बनत्वेन "अलवणा यवागूः" इत्यत्रेवात्र नञ्पदप्रवृत्तेरविरोधात्। "सुहुमो आलंबणो नाम" त्ति क्वचित्पाठस्तत्रापि सूक्ष्मालम्बनो नामैष योगस्ततोऽनालम्बन एवेति भाव उन्नेयः, उक्तं चात्राधिकारे चतुर्दशषोडशके

---

१ "सुहुमो आलंबणो" इति पाठान्तरम्।

ग्रन्थकृतैव—" सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः । जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्तत्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥" (१४–१) सहालम्बनेन–चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनः । आलम्बनात्–विषयभावापरिरूपान्निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि च्छद्मस्थेन ध्यायते न च स्वरूपेण दृश्यते तद्विषयो निरालम्बन इति यावत् । जिनरूपस्य–समवसरणस्थस्य ध्यानं खलु 'आद्यः' सालम्बनो योगः । तस्यैव–जिनस्य तत्त्वं–केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं केवलज्ञानादिस्वभावं तस्मिन् गच्छतीति तत्तत्त्वगः, 'तुः' एवार्थे, 'अपरः' अनालम्बनः, अत्रारूपितत्त्वस्य स्फुटविषयत्वाभावादनालम्बनत्वमुक्तम् । अधिकृतग्रन्थगाथायां च विषयतामात्रेण तस्यालम्बनत्वमनूद्यापि तद्विषययोगस्येयदालम्बनत्वादनालम्बनत्वमेव प्रासाधीति फलतो न कश्चिद्विशेष इति स्मर्तव्यम् । अयं चानालम्बनयोगः " शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्योयमुत्तमः ॥ १ ॥" (योग० समु० ३ श्लोक) इति श्लोकोक्तस्वरूपक्षपकश्रेणीद्वितीयापूर्वकरणभाविक्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मसन्न्यासरूपसामर्थ्ययोगतो निस्सङ्गज्ञानवरतप्रवृत्ता या परतत्त्वदर्शनेच्छा तल्लक्षणो मन्तव्यः, आह च—"सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गशक्त्याढ्या । साऽनालम्ब-

नयोगः, प्रोक्तस्तददर्शनं यावत् ॥ १ ॥ " (षो० १५–८)
' तत्र ' परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ' इति ' एवंस्वरूपा असङ्गशक्त्या–निरभिष्वङ्गाविच्छिन्नप्रवृत्त्या आढ्या–पूर्णा 'सा' परमात्मदर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः, परतत्त्वस्यादर्शनं–अनुपलम्भं यावत्, परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेनानालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् । अलब्धपरतत्त्वस्तल्लाभाय ध्यानरूपेण प्रवृत्तो ह्यनालम्बनयोगः, स च क्षपकेण धनुर्धरेण क्षपकश्रेण्याख्यधनुर्दण्डे लक्ष्यपरतत्त्वाभिमुखं तद्वेधाविसंवादितया व्यापारितो यो बाणस्तत्स्थानीयः, यावत्तस्य न मोचनं तावदनालम्बनयोगव्यापारः, यदा तु ध्यानान्तरिकाख्यं तन्मोचनं तदाऽविसंवादितत्पतनमात्रादेव लक्ष्यवेध इतीषुपातकल्पः सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश एव भवति, न त्वनालम्बनयोगो (ग) व्यापारः, फलस्य सिद्धत्वादिति निर्गलितार्थः । आह च—" तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र । सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ १ ॥ द्रागस्मात्तद्दर्शनमिषुपातज्ञातमात्रतो ज्ञेयम् । एतच्च केवलं तत्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ २ ॥ " (षो० १५–९, १०) ' तत्र ' परतत्त्वे ' अप्रतिष्ठितः '

---

१ " प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् " इति पाठानुसारेण यशोभद्रसूरिणा व्याख्याकृता । तथाहि—" प्रोक्तस्तत्त्ववेदिभिः तस्य–परतत्त्वस्य दर्शनमुपलम्भस्तद्यावत् " इति ।

अलब्धप्रतिष्ठः सर्वोत्तमस्य योगस्य–अयोगाख्यस्य अनुजः-पृष्ठभावी ॥ ' तद्दर्शनं ' परतत्त्वदर्शनं ' एतच्च ' परतत्त्वदर्शनं ' केवलं ' सम्पूर्णं ' तत् ' प्रसिद्धं यत् तत् केवलज्ञानं ' परं ' प्रकृष्टं ज्योतिः स्यात् ॥ अत्र कस्यचिदाशङ्का–इषुपातज्ञातात्परतत्त्वदर्शने सति केवलज्ञानोत्तरमनालम्बनयोगप्रवृत्तिर्मा भूत्, सालम्बनयोगप्रवृत्तिस्तु विशिष्टतरा काचित्स्यादेव, केवलज्ञानस्य लब्धत्वेऽपि मोक्षस्याद्यापि योजनीयत्वात्, मैवम्, केवलिनः स्वात्मनि मोक्षस्य योजनीयत्वेऽपि ज्ञानाकाङ्क्षाया अविषयतया ध्यानानालम्बनत्वात्क्षपकश्रेणिकालसम्भविविशिष्टतरयोगप्रयत्नाभावादावर्जीकरणोत्तरयोगनिरोधप्रयत्नाभावाच्चार्वाक्तनकेवलिव्यापारस्य ध्यानरूपत्वाभावादुक्तान्यतरयोगपरिणतेरेव ध्यानलक्षणत्वात् । आह च महाभाष्यकारः—" सुदृढप्पयत्तवावारणं णिरोहो व विज्जमाणाणं । झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमित्तागं ॥१॥ " (विशेषावश्यक–गाथा ३०७१) इति । स्यादेतद्, यदि क्षपकश्रेणिद्वितीयापूर्वकरणभावी सामर्थ्ययोग एवानालम्बनयोगो ग्रन्थकृताऽभिहितस्तदा तदप्राप्तिमतामप्रमत्तगुणस्थानानामुपरतसकलविकल्पकल्लोलमालानां चिन्मात्रप्रतिबन्धोपलब्धरत्नत्रयसाम्राज्यानां जिनकल्पिकादीनामपि निरालम्बनध्यानमसं-

---

१ " सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम् । ध्यानं करणानां मतं न तु चित्तनिरोधमात्रम् ॥ "

गताभिधानं स्यादिति, मैवम्, यद्यपि तत्त्वतः परतत्त्वलक्ष्यवेधाभिमुखस्तदविसंवादी सामर्थ्ययोग एव निरालम्बनस्तथापि परतत्त्वलक्ष्यवेधप्रगुणतापरिणतिमात्रादवाक्तनं परमात्मगुणध्यानमपि मुख्यनिरालम्बनप्रापकत्वादेकध्येयाकारपरिणतिशक्तियोगाच्च निरालम्बनमेव। अत एवावस्थात्रयभावने रूपातीतसिद्धगुणप्रणिधानवेलायामप्रमत्तानां शुक्लध्यानांशो निरालम्बनोऽनुभवसिद्ध एव। संसार्यात्मनोऽपि च व्यवहारनयसिद्धमौपाधिकं रूपमाच्छाद्य शुद्धनिश्चयनयपरिकल्पितसहजात्मगुणविभावने निरालम्बनध्यानं दुरपह्नवमेव, परमात्मतुल्यतयाऽऽत्मज्ञानस्यैव निरालम्बनध्यानांशत्वात् तस्यैव च मोहनाशकत्वात्। आह च—"जो जाणइ अरिहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥ १ ॥" इति। तस्माद्रूपिद्रव्यविषयं ध्यानं सालम्बनं अरूपिविषयं च निरालम्बनमिति स्थितम् ॥ १९ ॥

अथ निरालम्बनध्यानस्यैव फलपरम्परामाह—

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव।
तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ॥२०॥

---

१ "यो जानात्यर्हतो द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः। स जानात्यात्मानं मोहः खलु तस्य याति लयम् ॥"

'एयम्मि' त्ति। 'एतस्मिन्' निरालम्बनध्याने लब्धे मोहसागरस्य—दुरन्तरागादिभावसंतानसमुद्रस्य तरणं भवति। ततश्च 'श्रेणिः' क्षपकश्रेणिर्निर्व्यूढा भवति, सा ह्यध्यात्मादियोगप्रकर्षगर्भिताशयविशेषरूपा। एष एव सम्प्रज्ञातः[1] समाधिस्तीर्थान्तरीयैर्गीयते, एतदपि सम्यग्—यथावत् प्रकर्षेण—सवितर्कनिश्चयात्मकत्वेनात्मपर्यायाणामर्थानां च द्वीपादीनामिह ज्ञायमानत्वादर्थतो नानुपपन्नम्। ततश्च 'केवलमेव' केवलज्ञानमेव भवति। अयं चासम्प्रज्ञातः[2] समाधिरिति परैर्गीयते, तत्रापि अर्थतो नानुपपत्तिः, केवलज्ञानेऽशेषवृत्त्यादिनिरोधाल्लब्धात्मस्वभावस्य मानसविज्ञानवैकल्यादसम्प्रज्ञातत्वसिद्धेः। अयं चासंप्रज्ञातः समाधिर्द्विधा—सयोगिकेवलिभावी अयोगिकेवलिभावी च, आद्यो मनोवृत्तीनां विकल्पज्ञानरूपाणामत्यन्तोच्छेदात्सम्पद्यते। अन्त्यश्च परिस्पन्दरूपाणाम्, अयं च केवलज्ञानस्य फलभूतः। एतदेवाह—'ततश्च' केवलज्ञानलाभादनन्तरं च 'अयोगयोगः' वृत्तिबीजदाहायो-

---

१ "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः।" (पातं० योग० १—१७)। २ "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (पातं० १—१८) "यदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः॥" इति १—१८ सूत्रभाष्ये व्यासर्षिः।

ख्यः समाधिर्भवति, अयं च " धर्ममेघः " इति पातञ्जलैर्गीयते, " अमृतात्मा " इत्यन्यैः, " भवशत्रुः " इत्यपरैः, " शिवोदयः " इत्यन्यैः, " सत्त्वानन्दः " इत्येकैः, " परश्च " इत्यपरैः । ' क्रमेण ' उपदर्शितपारम्पर्येण ततोऽयोगयोगात् ' परमं ' सर्वोत्कृष्टफलं निर्वाणं भवति ॥ २० ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्य-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनय-
विजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्म-
विजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजय-
गणिसमर्थितायां विंशिका प्रकरण-
व्याख्यायां योगविंशिका-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

---

१ " तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति " इति पातं० यो० १–२ भाष्ये व्यासर्षिः ॥

उपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी कृत-

योगवृत्तिका सार.

प्रथम पाद ।

सूत्र २—सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ऐसे दो योग–जैसा कि पा० १ सू० १७–१८–४६–५१ में कहा है–मानकर उनका 'चित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया है। इस लक्षणमें उन्होंने 'सर्व' शब्दका ग्रहण इस लिए नहीं किया है कि यह लक्षण उभययोग साधारण है। सम्प्रज्ञात योगमें कुछ चित्तवृत्तियाँ होती भी हैं पर असम्प्रज्ञातमें सब रुक जाती हैं। अगर 'सर्वचित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता, सम्प्रज्ञात नहीं। जब कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इतना लक्षण किया है तब तो कुछ चित्तवृत्तियोंका निरोध और सकल चित्तवृत्तियोंका निरोध ऐसा अर्थ निकलता है जो क्रमशः उक्त दोनों योगमें घट जाता है।

सूत्रकारका उपर्युक्त आशय जो भाष्यकारने नीकाला है उसको लक्ष्यमें रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि–सर्व–शब्दका अध्याहार न किया जाय या किया जाय, उभय-पक्षमें सूत्रगत लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि अध्याहार न

करनेमें संप्रज्ञात योगका तो संग्रह हो जाता है पर विक्षिप्त अवस्था जो सूत्रकारको योगरूपसे इष्ट नहीं है और जिसमें कितनीक चित्तवृत्तियोंका निरोध अवश्य पाया जाता है उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त अतिव्याप्तिके निरासके लिये अध्याहार किया जाय तो सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें सब चित्तवृत्तियाँ नहीं रुक जातीं। इस तरह 'सर्व' शब्दका अध्याहार करनेमें या न करनेमें दोनों तरफ रज्जु-पाशा होनेसे 'क्लिष्ट' पदका अध्याहार करके "योगः क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः" इतना लक्षण फलित करना चाहिए, जिससे न तो विक्षिप्त अवस्थामें अतिव्याप्ति होगी और न सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति। यह तो हुई सूत्रको ही संगत करनेकी बात, पर श्रीहरिभद्र जैसे आचार्यकी सम्मति बतलाकर उपाध्यायजी जैन शैलीके अनुसार योगका लक्षण इस प्रकार करते हैं—"जो धर्मव्यापार—अर्थात् स्वभावोन्मुख या चेतनाभिमुख क्रिया—समितिगुप्ति स्वरूप है वही योग है; क्योंकि उसीसे मोक्षलाभ होता है।"

सूत्र ११—पाद १ सूत्र ६ से ११ तकमें निरोध करने योग्य पाँच वृत्तियोंका निरूपण है। इसपर उपाध्यायजीका कहना यह है कि—सूत्रकारने वृत्तियोंके जो पाँच भेद किये हैं सो तात्त्विक नहीं किन्तु उनकी रुचिका परिणाममात्र है। क्यों कि विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पीछली तीनों वृत्तियाँ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती हैं, इस-

लिये उनका समावेश प्रमाण और विपर्यय (अप्रमाण) इन दो वृत्तियोंमें ही हो जाता है। अतएव वृत्तिके दो ही विभाग करने चाहिये। यदि किसी न किसी विशेषताको लेकर अधिक विभाग करना हो तो फिर पाँच ही क्यों? क्षयोपशम-(योग्यता) की विविधताके कारण असंख्यात विभाग किये जा सकते हैं।

विषयके न होते हुए भी जो बोध सिर्फ शब्दज्ञानके बलसे होता है वह विकल्प है। जैसे 'आकाशपुष्प' ऐसा कहनेसे एक प्रकारका भास हो ही जाता है। इसी तरह 'चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है' ऐसा सुननेसे भी भास होता है। यह दोनों प्रकारका भास विकल्प है। पहले प्रकारका विकल्प विपर्यय-कोटिमें सम्मिलित करना चाहिये, क्योंकि 'आकाशपुष्प' यह व्यवहार प्रामाणिक-सम्मत नहीं है। दूसरे प्रकारका विकल्प जिसमें भेदबोधक षष्ठीविभक्तिके बलसे आत्मा और चैतन्यका भेद भासित होता है वह नय अर्थात् प्रमाणांशरूप है। क्योंकि ऐसे विकल्पका व्यवहार शास्त्रीय व प्रामाणिक-सम्मत है। प्रमाणांश कहनेका मतलब यह है कि व्यवहर्त्ताकी दृष्टि कभी भेदप्रधान और कभी अभेद-प्रधान होती है। दोनों दृष्टियोंको मिलानेसे ही प्रमाण होता है। दृष्टिको अपेक्षा या नय कहते हैं। वस्तुतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है, पर उसके अनेक स्वरूपोंमेंसे जब चैतन्यस्व-

रूपका कथन करना हो तब भेददृष्टिको प्रधान रखकर प्रामाणिक लोक भी ऐसा बोलते हैं कि चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है। इस कथनसे यह सिद्ध है कि जो जो 'आकाशपुष्प' आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विपर्ययरूप हैं। और 'चैतन्य यह पुरुषका स्वरूप है' इत्यादि जो जो विकल्प शास्त्रप्रसिद्ध है वह सब नयरूप होनेसे प्रमाणके एक देशरूप हैं।

निद्रावृत्ति एकान्त अभाव विषयक नहीं होती। उसमें हाथी घोडे आदि अनेक भावोंका भी कभी कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरहकी निद्रा ही है। इसी तरह वह सच भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक वार जागरित अवस्थामें जैसा अनुभव हुआ हो निद्रामें भी वैसा ही भास होता है, और कभी कभी निद्रामें जो अनुभव हुआ हो वही जागनेके बाद अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।

स्मृति भी यथार्थ अयथार्थ दोनों प्रकारकी होती है। अतएव विकल्प आदि तीन वृत्तियोंको प्रमाण विपर्ययसे अलग कहनेकी खास आवश्यकता नहीं है।

सूत्र १६—सूत्रकारने योगके उपायभूत वैराग्यके अपर और पर ऐसे दो भेद किये हैं, उनको जैन परिभाषामें उतारकर उपाध्यायजी खुलासा करते हैं कि—पहला वैराग्य 'आपातधर्मसंन्यास' नामक है, जो विषयगत दोषोंकी भावनासे शुरू शुरूमें पैदा होता है। दूसरा वैराग्य 'तात्त्विकधर्मसंन्यास'

नामक है, जो स्वरूपचिंतासे होनेवाली विषयोंकी उदासीनतासे उत्पन्न होता है। जिसका संभव आठवें गुणस्थानमें है, और जिसमें सम्यक्त्व चारित्र आदि धर्म क्षायोपशमिक अवस्था–अपूर्णता–को छोडकर क्षायिकभाव–पूर्णता–को प्राप्त करते हैं।

सूत्र १८—सूत्रकारने संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो योग कहे हैं। जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच भेदोंमें जो पाँचवाँ भेद वृत्तिसंक्षय है उसीमें उक्त दोनों योगका समावेश हो जाता है। आत्माकी स्थूल सूक्ष्म चेष्टायें तथा उनका कारण जो कर्मसंयोगकी योग्यता है, उसके ह्रास–क्रमशः हानि–को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। यह वृत्तिसंक्षय ग्रंथिभेदसे होनेवाले उत्कृष्टमोहनीयकर्मबंधसंबंधी व्यवच्छेदसे शुरू होता है, और तेरहवें गुणस्थानमें परिपूर्ण हो जाता है। इसमें भी आठवेंसे बारहवें गुणस्थानतकमें पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कअविचार नामक जो शुक्लध्यानके दो भेद पाये जाते हैं उनमें संप्रज्ञात योगका अंतर्भाव है। संप्रज्ञात भी जो निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासरूप है वह पर्यायरहितशुद्धद्रव्यविषयक शुक्लध्यानमें अर्थात् एकत्ववितर्कअविचारमें अन्तर्भूत है। असंप्रज्ञात योग केवलज्ञानकी प्राप्तिसे अर्थात् तेरहवें गुणस्थान-

कसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकमें आजाता है। इन दो गुणस्थानोंमें जो भवोपग्राही अर्थात् अघातिकर्मका संबन्ध रहता है वही संस्कार है। और उसीकी अपेक्षासे असंप्रज्ञातको संस्कारशेष समझना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मतिज्ञानविशेषरूप संस्कारका संभव नहीं है अर्थात् उस समय द्रव्यमन होनेपर भी भावमन नहीं होता।

सूत्र १९—सूत्रकारने विदेह और प्रकृतिलयोंमें जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योगका पाया जाना कहा है उसकी संगति जैनमतके अनुसार लवसप्तम देवों–अनुत्तर विमानवासी–में करनी चाहिये, क्योंकि उन देवोंको जन्मसे ही ज्ञानयोगरूप समाधि होती है।

सूत्र २६—सूत्र २४, २५, २६ में ईश्वरका स्वरूप है। भाष्यकार और टीकाकारने ईश्वरके स्वरूपके विषयमें सूत्रकारका मंतव्य दिखलाते हुए मुख्यतया उसके छह धर्म बतलाये हैं। जैसे–१ केवल सत्त्वगुणका प्रकर्ष, २ जगत्कर्तृत्व, ३ एकत्व, ४ अनादिशुद्धता–नित्यमुक्तता, ५ अनुग्रहेच्छा और ६ सर्वज्ञत्व।

उपाध्यायजी उक्त धर्मोंमेंसे (क) पहले दो धर्मोंको अर्थात् केवलसत्त्वगुणप्रकर्ष और जगत्कर्तृत्वको जैनदृष्टिसे ईश्वरमें अस्वीकार ही करते हैं, (ख) तीन धर्मोंका अर्थात् एकत्व, अनादिशुद्धता और अनुग्रहेच्छाका कथंचित् समन्वय

करते हैं, और (ग) एकधर्मका अर्थात् सर्वज्ञपनका सर्वथा स्वीकार करते हैं।

(क) सत्त्वगुण जो जड प्रकृतिका अंश है वह तथा जगत्कर्तृत्व इन दो धर्मोंका सम्बन्ध ईश्वरमें युक्तिसंगत न होनेसे जैनदर्शनको मान्य नहीं है।

(ख) एकत्व शब्दके संख्या और सादृश्य ये दो अर्थ होते हैं। जैनशास्त्र ईश्वरकी एक संख्या नहीं मानता, वह सभी मुक्त आत्माओंको ईश्वर मानता है। अतएव उसके अनुसार ईश्वरमें एकत्वका मतलब सदृशतासे है। जब ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति नहीं है तब जैनप्रक्रियाके अनुसार यह भी सिद्ध है कि अनादिशुद्धता मुक्तजीवोंके प्रवाहमें ही घट सकती है, एक व्यक्तिमात्रमें नहीं। अनुग्रहकी इच्छा जो रागरूप होनेसे द्वेष सहचरित होनी चाहिये उसका तो ईश्वरमें सम्भव ही नहीं हो सकता, अतएव जैनशास्त्र कहता है कि ईश्वरोपासनाके निमित्तसे योगी जो सदाचार लाभ करता है वही ईश्वरका अनुग्रह समझना चाहिये।

ईश्वरमें सर्वज्ञत्व जैनशास्त्रको वैसा ही मान्य है जैसा कि योगदर्शनको, पर जैनमतकी विशेषता यह है कि सर्वज्ञत्व दोषोंके नाशसे उत्पन्न होता है। अतएव वह नित्यमुक्तताका साधक नहीं हो सकता।

सूत्र ३३—उपाध्यायजी कहते हैं कि-जैनशास्त्र भी

मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तशुद्धिका उपाय मानता है, और मैत्रीका अर्थ उसमें विशाल है। सूत्रमें सुखी प्राणिको ही मैत्रीभावनाका विषय बतलाया है, पर जैनाचार्य प्राणिमात्रको मैत्रीका विषय बतलाते हैं। इसके सिवाय उपाध्यायजीने षोडशकप्रकरणके चतुर्थ और तेरहवें षोडशकके अनुसार चारों भावनाओंके भेद और उनका स्वरूप भी बतलाया है।

सूत्र ३४—जैनशास्त्र प्राणायामको चित्तशुद्धिका पुष्ट साधन नहीं मानता, क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो जाता है।

सूत्र ४६—चित्तका ध्येयविषयके समानाकार बन जाना उसकी समापत्ति है। जब ध्येय स्थूल हो तब सवितर्क, निर्वितर्क और ध्येय सूक्ष्म हो तब सविचार, निर्विचार; इस तरह समापत्तिके चार भेद हैं, जो सभी सबीज ही हैं और संप्रज्ञात कहलाते हैं। जैनशास्त्रमें समापत्तिका मतलब उन भावनाओंसे है जो भावनायें चित्तमें एकाग्रता उत्पन्न करती हैं और जिनका अनुभव शुक्लध्यानवाले ही आत्मा करते हैं। पर्यायसहित स्थूल द्रव्यकी भावना सवितर्क समापत्ति, पर्यायरहित स्थूल द्रव्यकी भावना निर्वितर्क समापत्ति, पर्यायसहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना सविचार समापत्ति, और पर्यायरहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना निर्विचार समापत्ति है।

इन भावनाओंको मोहकी उपशम दशामें अर्थात् उपशम-श्रेणिमें सम्प्रज्ञात समाधिकी तरह सबीज और मोहकी क्षीण अवस्थामें अर्थात् क्षपकश्रेणिमें असम्प्रज्ञात समाधिकी तरह निर्बीज घटा लेना चाहिये।

सूत्र ४९—जैनप्रक्रियाके अनुसार ऋतंभराप्रज्ञाका समन्वय इस प्रकार है—जो समाधिप्रज्ञा दूसरे अपूर्वकरण अर्थात् आठवें गुणस्थानमें होनेवाले सामर्थ्ययोगके बलसे प्रकट होती है, और जो शास्त्रके द्वारा प्रतिपादन नहीं किये जा सकनेवाले अतीन्द्रिय विषयोंको अवगाहन करती है, अतएव जो प्रज्ञा न तो केवलज्ञानरूप है और न श्रुतज्ञानरूप; किन्तु जैसे रातके खतम होते समय और सूर्योदयके पहले अरुणोदयरूप संध्या रात और दिन दोनोंसे अलग पर दोनोंकी माध्यमिक स्थितिरूप है, वैसे ही जो प्रज्ञा श्रुतज्ञानके अंतमें और केवलज्ञानके पहले प्रकट होनेके कारण दोनोंकी मध्यम दशा रूप है, जिसका दूसरा नाम अनुभव है, उसीको ऋतम्भराप्रज्ञा समझना चाहिये।

द्वितीय पाद।

सूत्र १—जैसे भाष्यमें चित्तकी प्रसन्नताको बाधित नहीं करनेवाला ही तप योगमार्गमें उपयोगी कहा गया है, वैसे

ही जैनशास्त्र भी अत्यन्त दुष्कर ऐसे बाह्य तप करनेकी सम्मति वहांतक ही देता है, जहांतक कि आभ्यन्तर तप अर्थात् कषायमन्दताकी वृद्धि हो, और ध्यानकी पुष्टि हो।

जैनशास्त्रके अनुसार ईश्वरप्रणिधानका मतलब यह है कि प्रत्येक अनुष्ठान करते समय शास्त्रको दृष्टिसम्मुख रख करके तद्द्वारा उसके आदि उपदेशक वीतराग प्रभुको हृदयमें स्थान देना।

सूत्र ४—अस्मिता आदि चारों क्लेशोंकी जड अविद्या है, और चारों क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इस प्रकारकी चार चार अवस्थावाले हैं। इस विषयका समन्वय जैनपरिभाषामें इस प्रकार है—अविद्यादि पाँचों क्लेश मोहनीयकर्मके औदयिकभाव-विशेषरूप हैं। अबाधाकाल पूर्ण न होनेके कारण जबतक कर्मदलिकका निषेक (रचनाविशेष) न हो तबतककी कर्मावस्थाको प्रसुप्तावस्था समझना चाहिये। कर्मका उपशम और क्षयोपशम भाव उसकी तनुत्व अवस्था है। अपनी विरोधी प्रकृतिके उदयादि कारणोंसे किसी कर्मप्रकृतिका उदय रुक जाना वह उसकी विच्छिन्न अवस्था है। उदयावलिकाको प्राप्त होना कर्मकी उदार अवस्था है।

सूत्र ९—सूत्रकारने सूत्र ५ से ९ तकमें पाँच क्लेशोंके लक्षण कहे हुए हैं उनका जैनप्रक्रियाके अनुसार समन्वय इस प्रकार है—

अविद्याको जैनशास्त्रमें मिथ्यात्व कहते हैं। स्थानाङ्गसूत्रमें मिथ्यात्वके दस भेद दिखाये हैं। जैसे–अधर्ममें धर्म, धर्ममें अधर्म, अमार्गमें मार्ग, मार्गमें अमार्ग, असाधुमें साधु, साधुमें असाधु, अजीवमें जीव, जीवमें अजीव, और अयुक्तमें युक्त, तथा युक्तमें अयुक्त ऐसी बुद्धि करना।

अस्मिता आरोपको कहते हैं आरोप दो प्रकारका है–दृश्य अर्थात् प्रपंचमें द्रष्टा–चेतन-का आरोप और द्रष्टामें दृश्य-का आरोप। यह दोनों प्रकारका आरोप यानि भ्रम जैन परिभाषाके अनुसार मिथ्यात्व ही है। यदि अस्मिताको अहंकार ममकारका बीज मान लिया जाय तो वह राग या द्वेष रूप ही है।

राग और द्वेष कषायके भेद ही हैं।

अभिनिवेशका उदाहरण भाष्यकारने दिया है कि–मैं कभी न मरूं, सदा बना रहूं, अर्थात् मरणसे भय और जीवितकी आशा, यह जैनपरिभाषाके अनुसार भयसंज्ञा ही है। भयसंज्ञाकी तरह अन्य–अर्थात् आहार, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाको भी अभिनिवेश ही समझना चाहिये, क्योंकि भयके समान आहार आदिमें भी विद्वानोंकाभी अभिनिवेश देखाजाता है। विद्वानोंमें अभिनिवेशका अभाव सिर्फ उस समय पाया जाता है जब कि वे अप्रमत्तदशामें वर्त्तमान हों और अप्रमत्तभावसे उन्होंने दस संज्ञाओंको रोक दिया हो। संज्ञा यह मोहका विलास या मोहसे व्यक्त होनेवाला चैतन्यका स्फुरण

ही है। इस प्रकार सभी क्लेश जैन संकेतके अनुसार मोहनीयकर्मके औदयिकभावरूप ही हैं। इसीसे योगदर्शनमें क्लेशक्षयसे कैवल्यप्राप्ति और जैनदर्शनमें मोहक्षयसे[1] कैवल्य प्राप्ति कही गई है[2]।

सूत्र १०—सूक्ष्म—अर्थात् दग्धबीज सदृश—क्लेशोंका नाश चित्तके नाशके साथ ही सूत्रकारने माना है। इस बातको जैनप्रक्रियाके अनुसार यों कह सकते हैं कि जो क्लेश अर्थात् मोहप्रधान घातिकर्म दग्धबीजसदृश हुए हों, उनका नाश बारहवें गुणस्थानसंबंधी यथाख्यात चारित्रसे होता है।

सूत्र १३—प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें कर्म, उसके विपाक और विपाकसंबंधी नियम आदिके विषयमें मुख्य सात बातें ऐसी हैं जिनके विषयमें मतभेद दिखा कर उपाध्यायजीने जैनप्रक्रियाके अनुसार अपना मन्तव्य बतलाया है। वे सात बातें ये हैं—१ विपाक तीन ही प्रकारका है। २ कर्मप्रचयके बंध और फलका क्रम एक सा होता है, अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मका फल पहले ही मिलता है और पश्चात्बद्ध कर्मका फल पश्चात्। ३ वासनाकी अनादिकालीनता और कर्माशयकी एकभविकता अर्थात् वासना और कर्माशयकी भिन्नता। ४ कर्माशयकी एकभविकता और प्रारब्धता। ५ कर्माशयका उद्बोधक मरण ही है, अर्थात् जन्मभर किये

१ पा० ४ सू० ३—३४। २ तत्त्वार्थ अध्याय १० सूत्र १।

हुए कर्माशयका फल मरणके बाद ही मिलता है। ६ मरणके समय कर्माशयका फलोन्मुख होना यह उसकी प्रधानताका लक्षण है, और उस समय फलोन्मुख न होना उसकी गौणताका लक्षण है। ७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन अर्थात् संमिलित होकर उसमें दब जाना।

इनके विषयमें क्रमशः जैनसिद्धांत इस प्रकार है—१ विपाक तीन ही नहीं बल्कि अधिक हैं, क्योंकि वैदिक लोगोंने ही गंगामरणको अदृष्ट विशेषका फल माना है, जो सूत्रोक्त तीन विपाकोंसे भिन्न है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो कमसे कम ज्ञानावरण आदि आठ विपाक तो मानने ही चाहिये।

२ यह एकान्त नियम नहीं है कि जो कर्मव्यक्ति पूर्वबद्ध हो उसका फल प्रथम ही मिलें और पश्चात्बद्ध कर्मव्यक्तिका फल पीछे मिले, किन्तु कभी कभी कर्मके बन्धन और फलक्रममें विपर्यय भी हो जाता है।

३ वासना भी एकप्रकारका कर्म अर्थात् भावकर्म है अतएव वासना और कर्म ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

४ एकभविकताका नियम सिर्फ आयुष्कर्ममें ही लागू पड सकता है। ज्ञानावरणादि अन्य कर्म अनेकभविक भी होते हैं। प्रारब्धता—विपाकवेद्यता—का नियम भी सिर्फ आयु-

ष्कर्ममें लागू पडता है, क्योंकि अन्य सभी कर्म विपाकोदयके सिवाय अर्थात् प्रदेशोदयद्वारा भी भोगे जा सकते हैं।

५ मरणके सिवाय अन्य अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त भी कर्माशयके उद्बोधक होते हैं।

६ मरणके समय अवश्य उदयमान होनेवाला कर्म आयु ही है, इस लिये यदि प्रधानता माननी हो तो वह सिर्फ आयुष्कर्ममें ही घटाई जा सकती है, अन्य कर्मोंमें नहीं।

७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन होता है यह बात गोल-माल जैसी है। आवापगमनका पूरा भाव संक्रमणविधिको विना जाने ध्यानमें नहीं आसकता, इस लिये कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थोंमेंसे संक्रमणका विचार जान लेना चाहिये।

सूत्र १५-सूत्रकारने संपूर्ण दृश्यप्रपंचको विवेकिके लिये दुःखरूप कहा है, इस कथनका नयदृष्टिसे पृथक्करण करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि दृश्यप्रपंच दुःखरूप है सो निश्चयदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे तो वह सुख दुःख उभयरूप है। इस पृथक्करणकी पुष्टि वे सिद्धसेनदिवाकरके एक स्तुतिवाक्यसे करते हैं। उस वाक्यका भाव इस प्रकार है "हे वीतराग! तूने अनंत भवबीजको फेंक दिया है, और अनंत ज्ञान प्राप्त किया है, फिर भी तेरी कला न तो कम हुई है और न अधिक, तू तो समभाव अर्थात् एक रूपताको ही तारण, धारण

किये हुए है।" इसमें जो अनंत भवबीजका फेंकना कहा गया है सो संसारको निश्चयदृष्टिसे दुःखरूप माननेसे ही घट सकता है।

सूत्र १६—इसमें भाष्यकारने सृष्टिसंहार क्रमको सांख्यसिद्धांतके अनुसार वर्णन किया है। सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद मानता है अर्थात् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव नहीं मानता। इसपर उपाध्यायजी कहते हैं कि—उक्त सिद्धांत एकांतरूप नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एकांतरूप मान लेनेमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अस्वीकार करना पडता है, जिससे कार्यमें अनादि-अनंतताका प्रसंग आता है जो इष्ट नहीं है। इसलिये उक्त दोनों अभाव मान कर कथंचित् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव मानना चाहिये। ऐसा मान लेनेसे वस्तुमात्रकी द्रव्यपर्यायरूपता घट जायगी, और इससे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप जो वस्तुमात्रका त्रिरूप लक्षण है वह भी घटित हो जायगा।

सूत्र ३१—सूत्रकारने जाति, देश, काल और समय-आचार व कर्त्तव्य-के बंधनसे रहित अर्थात् सार्वभौम ऐसे पाँच यमोंको महाव्रत कहा है। इस विषयमें जैनप्रक्रिया बतलाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि-सर्व शब्दके साथ अहिंसादि पाँच यमोंकी जब प्रतिज्ञा की जाती है तब वे महाव्रत कहलाते हैं, और देश शब्दके साथ जब उनकी प्रतिज्ञा ली जाती है तब वे अणुव्रत कहलाते हैं।

सूत्र ३२—भाष्यकारने दो प्रकारका शौच कहा है, बाह्य और आभ्यंतर। शुद्ध भोजन, पान तथा मिट्टी और जलसे होने वाला शौच बाह्य शौच है, और चित्तके दोषोंका संशोधन आभ्यंतर शौच है।

जैन परिभाषाके अनुसार बाह्य शौच द्रव्यशौच कहलाता है और आभ्यंतर शौच भावशौच कहलाता है। जैन शास्त्रमें भावशौचको बाधित न करनेवाला ही द्रव्यशौच ग्राह्य माना गया है। उदाहरणार्थ शृंगार आदि वासनासे प्रेरित होकर जो स्नान आदि शौच किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है।

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें इन्द्रियोंकी परमवश्यताका स्वरूप और उसका उपाय ये दो बातें मुख्य हैं। भाष्यकारने अनेक मतभेद दिखा कर अन्तमें अपने मतसे परमवश्यताका स्वरूप दिखाते हुए लिखा है कि इन्द्रियोंके निरोधको अर्थात् शब्दादि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संबंध रोक देनेको परम-वश्यता (परमजय) कहते हैं। परमवश्यताका उपाय उन्होंने चित्त निरोधको माना है।

इन दोनों बातोंके विषयमें जैन मान्यतानुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—इन्द्रियोंका निरोध उनकी परमवश्यता नहीं है, किन्तु अच्छे या बुरे शब्द आदि विषयोंके साथ कर्ण आदि इन्द्रियोंका संबंध होनेपर भी तत्त्व ज्ञानके बलसे जो रागद्वेषका पैदा न होना वही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है। परमवश्यताका एक मात्र उपाय ज्ञान ही

है, चित्तनिरोध नहीं। ज्ञान भी ऐसा समझना चाहिये जो अध्यात्म भावनासे होनेवाले समभावके प्रवाहवाला हो, यही ज्ञान राजयोग कहलाता है। सारांश यह है कि चित्तका जय हो या बाह्य इन्द्रियोंका जय हो सबका मुख्य उपाय उक्त ज्ञानरूप राजयोग ही है, प्राणायाम आदि हठ-योग नहीं। क्योंकि विकासमार्गमें विघ्नरूप होनेसे हठयोगके अभ्यासका शास्त्रमें बार बार निषेध किया है।

तृतीय पाद.

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें भाष्यकारने सांख्यसिद्धांतके अनुसार योगदर्शनका सिद्धांत बतलाते हुए मुख्य तीन बातें लिखी हैं। (१) कैवल्य अर्थात् मुक्तिका मतलब भोगके अभावसे है। भोग सुख, दुःख, ज्ञान आदिरूप है जो वास्तवमें प्रकृतिका विकार है, आत्मा–पुरुष–का नहीं। पुरुष तो कूटस्थ–नित्य होनेसे वास्तवमें न तो बद्ध है और न मुक्त। इसलिये पुरुषकी मुक्तिका मतलब उसमें आरोपित भोगके अभावमात्रसे है। (२) विवेकख्याति अर्थात् जड चेतनका भेदज्ञान ही मोक्षका मुख्य उपाय है। भेदज्ञान हो जानेसे अविद्या आदि क्लेश और कर्मविपाकका अभाव हो जाता है। इस अभावका होना ही मुक्ति है। मुक्तिके पूर्वमें सर्वज्ञत्व (सर्वविषयक ज्ञान) किसीको होता है और

किसीको नहीं (३) जिसको सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है उसको भी मुक्ति प्राप्त होनेपर अर्थात् मन, शरीर आदि छूट जाने पर वह नहीं रहता, क्योंकि सर्वज्ञत्व यह मनका कार्य है आत्माका नहीं, आत्मा तो कूटस्थ-निर्विकार चेतनस्वरूप है।

इन तीनों बातोंके विषयमें जैनशास्त्रका जो मतभेद है उसीको उपाध्यायजीने दिखाया है—(१) सुख, दुःख आदिरूप भोग संसार अवस्थामें आत्माका वास्तविक विकार है, मनका नहीं। इसलिये मुक्तिका मतलब संसारकालीन वास्तविक भोगके अभावसे है, आरोपित भोगके अभावसे नहीं। (२) विवेकख्याति (जैन परिभाषानुसार सम्यग्दर्शन) से और क्लेश आदिके अभावसे मोक्ष होता है सही, पर क्लेशका अभाव होते ही सर्वज्ञत्व अवश्य प्रकट होता है। मुक्तिके पहले क्लेशकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है, और क्लेश (मोह) की निवृत्ति हो जाने पर सर्वज्ञत्व (केवलज्ञान) अवश्य हो जाता है। (३) मुक्ति पानेवाले सभी आत्माओंको सर्वज्ञत्व नियमसे प्रकट होता है इतना ही नहीं, बल्कि वह प्रकट होने पर कायम रहता है, अर्थात् मुक्ति होने पर चला नहीं जाता। क्योंकि सर्व विषयक ज्ञान करना यह आत्माका स्वभाव है, मनका नहीं। संसारदशामें आत्माको ऐसा ज्ञान न होनेका कारण उसके ऊपर आवरणका होना है। मोक्षदशामें आवरणके न रहनेसे उक्त ज्ञान आप ही

आप हुआ करता है, ऐसा ज्ञान होते रहनेसे आत्मामें कूट-स्थत्वके भंगका जो दूषण दिया जाता है वह जैन शास्त्रका भूषण है। क्योंकि जैन शास्त्र केवल जड (प्रकृति) को ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप नहीं मानता, किन्तु चेतनको भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप मानता है।

चतुर्थ पाद.

सूत्र १२—प्रस्तुत सूत्रमें वस्तुके प्रत्येक धर्मकी भावि, भूत और वर्तमान ऐसी तीन अवस्थायें मान कर उसमें अध्वभेद अर्थात् कालकृत भेदका समावेश बतलाया गया है, और वर्तमानकी तरह भूत तथा भावि अवस्थाका भी अपने अपने स्वरूपमें प्रत्येक धर्मके साथ संबंध है ऐसा कहा है।

इस मन्तव्यका जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप माननेसे ही पूर्वोक्त अध्वभेदकी व्यवस्था घट सकती है अन्यथा नहीं। वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप मान लेना यही स्याद्वाद है। ऐसा स्याद्वाद मान लेनेसे ही सब प्रकारके वचन-व्यवहारकी ठीक ठीक सिद्धि हो जाती है।

सूत्र १४—सूत्रकारने सांख्य प्रक्रियाके अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिका एक परिणाम मान कर कार्यमें एकताके

व्यवहारका समर्थन किया है। इस प्रक्रियाके स्वरूपके द्वारा स्याद्वाद पद्धतिका समर्थन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि एकसे अनेक और अनेकसे एक परिणाम माननेवाली स्याद्वाद शैलीका स्वीकार करने ही से उक्त सांख्य प्रक्रिया घट सकती है।

सूत्र १८—इस सूत्रमें आत्माको अपरिणामी साबीत किया है। इसका समर्थन करते हुए भाष्यकारने कहा है कि शब्द आदि विषय कभी जाने जाते हैं और कभी नहीं। इसलिए चित्त तो परिणामी है, परंतु चित्तकी वृत्तियाँ कभी अज्ञात नहीं रहतीं। इसलिए आत्मा अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ ही है। इस मन्तव्यका प्रतिवाद करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—जैसा चित्त परिणामी है वैसा आत्मा भी। आत्माको परिणामी मान लेने पर भी चित्तकी सदाज्ञाततामें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि चित्त ज्ञान-रूप है और ज्ञान आत्माका धर्म है। धर्म होनेसे वह आत्माके सन्निहित होनेके कारण कभी अज्ञात नहीं रहता। शब्द आदि विषय कभी ज्ञात, और कभी अज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द आदि विषयका इन्द्रियके साथ जो व्यञ्जनावग्रहरूप सम्बन्ध है वह सदा नहीं रहता अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं। यद्यपि इन्द्रियके द्वारा शब्द आदि विषय सदा नहीं जाने जाते परन्तु केवलज्ञानद्वारा सदा ही

जाने जाते हैं। क्योंकि केवलज्ञानमें एक ऐसी शक्ति है जिससे वह शब्द आदि विषयोंको सदा ही जान लेता है।

सूत्र २३—उन्नीससे तेईसतकके पाँच सूत्रोंमें सूत्रकारने जो कुछ चर्चा की है उससे आत्माके विषयमें सांख्यसिद्धान्तसम्मत तीन बातें मुख्यतया मालूम होती हैं। वे ये हैं—(१) चैतन्यकी स्वप्रकाशता। (२) जो चैतन्य अर्थात् चिति-शक्ति है वही चेतन है अर्थात् चिति-शक्ति स्वयं स्वतंत्र है। वह किसीका अंश नहीं है और उसके भी कोई अंश नहीं हैं। अतएव वह निर्गुण है। (३) चिति-शक्ति सर्वथा कूटस्थ होनेसे निर्लेप है। इन बातोंके विषयमें जैन मन्तव्यके अनुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी अन्तमें कहते हैं कि ये बातें किसी नयकी अपेक्षासे मान्य की जा सकती हैं सर्वथा नहीं। उक्त बातोंके विषयमें मतभेद क्रमशः इस प्रकार है—

(१) चैतन्य स्वप्रकाश भी है और परप्रकाश भी। उसकी स्वप्रकाशता अग्निके प्रकाशके समान अन्य पदार्थके संयोगके सिवाय ही प्रत्येक प्राणिको अनुभव-सिद्ध है। चैतन्यकी परप्रकाशता आवरणदशामें विषयके सम्बंधके अधीन है और अनावरण-दशामें स्वाभाविक है।

(२) चैतन्य यह शक्ति (गुण) अर्थात् अन्य मूल तत्त्वका अंश है, वह अन्य तत्त्व चेतन या आत्मा है।

उसमें चैतन्यकी तरह दूसरे भी अनन्त गुण (शक्तियाँ) हैं, अर्थात् आत्मा अनंत गुणोंका आधार है। वह जो निर्गुण कहा जाता है उसका मतलब उसमें प्राकृतिक गुणोंके अभावसे है।

(३) आत्मा एकांत-निर्लेप नहीं है उसमें संसार-अवस्थामें कथंचित् लेपका भी संभव है।

सूत्र ३१—भाष्यकारने प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें सांख्य मतके अनुसार ज्ञानको सत्त्वगुणका कार्य कह कर उसे प्राकृतिक बतलाया है, और कहा है कि निरावरण दशामें ज्ञान अनन्त हो जाता है जिससे उसके सामने सभी ज्ञेय (विषय) अल्प बन जाते हैं, जैसे कि आकाशके सामने जुगनू। इन दोनों बातोंका विरोध करते हुए वृत्तिकार जैन-मन्तव्यको इस प्रकार दिखाते हैं-ज्ञान प्राकृतिक अर्थात् अचैतन्य नहीं है किन्तु वह चैतन्यरूप है। यह बात नहीं कि ज्ञानके अनन्त हो जानेके समय सभी ज्ञेय अल्प हो जाते हैं, बल्कि ज्ञानकी अनन्तता ज्ञेयकी अनन्तता पर ही अवलम्बित है अर्थात् ज्ञेय अनन्त हैं। अतएव उन सबको जाननेवाला निरावरण ज्ञान भी अनन्त कहलाता है।

सूत्र ३३—इसकी व्याख्यामें भाष्यकारने क्रमका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि नित्यता दो प्रकारकी है। (१) कूटस्थ-नित्यता अर्थात् अपरिणामि तत्त्व। (२) परिणामि-

नित्यता अर्थात् परिवर्तनशील तत्त्व। इनमेंसे पहली नित्यता पुरुष (आत्मा) में है और दूसरी प्रकृतिमें।

इस पर जैन मतभेद दिखाते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि— कूटस्थनित्यता माननेमें कोई सबूत नहीं। आत्मा हो या प्रकृति सभीमें परिणामिनित्यता ही है, अर्थात् वस्तुमात्रमें द्रव्यरूपसे नित्यता और पर्यायरूपसे अनित्यता युक्तिसंगत होनेके कारण सबका एकमात्र लक्षण "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य" ऐसा ही करना चाहिये।

योगविंशिकाका सार.

गाथा १—मोक्ष-प्राप्तिमें उपयोगी होनेके कारण यद्यपि सब प्रकारका विशुद्ध धर्म-व्यापार योग ही है. तथापि यहाँ बिशेष रूपसे स्थान आदि सम्बन्धी धर्म-व्यापारको ही योग जानना चाहिए ॥

खुलासा—जिस धर्म-व्यापारमें प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग इन पाँच भावोंका सम्बन्ध हो वही धर्म-व्यापार विशुद्ध है। इसके विपरीत जिसमें उक्त भावोंका सम्बन्ध न हो वह क्रिया योगरूप नहीं है। उक्त प्रणिधान आदि भावोंका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अपनेसे नीचेकी कोटीवाले जीवोंके प्रति द्वेष न रख कर परोपकारपूर्वक अपनी वर्तमान धार्मिक भूमिकाके कर्तव्यमें सावधान रहना यह प्रणिधान है।

(२) वर्तमान धार्मिक भूमिकाके उद्देश्यसे किया जानेवाला और उसके उपायकी पद्धतिसे युक्त जो चञ्चलता-रहित तीव्र प्रयत्न वह प्रवृत्ति है।

(३) जिस परिणामसे धार्मिक प्रवृत्तिमें विघ्न नहीं आते वह विघ्न-जय है। विघ्न तीन तरहके होते हैं, १ भूख, प्यास आदि परीषह, २ शारीरिक-रोग और ३ मनो

विभ्रम । ये विघ्न धार्मिक प्रवृत्तिमें वैसे ही बाधा डालनेवाले हैं जैसे कहीं प्रयाण करनेमें रास्तेके काँटे–पथ्थर, शरीर–गत ज्वर और मनोगत दिग्भ्रम । तीन तरहका विघ्न होनेसे उसका जय भी तीन प्रकारका समझना चाहिये।

(४) ऐसी धार्मिक भूमिकाको प्राप्त करना जिसमें वडोंके प्रति वहुमानका भाव हो, वरावरीवालोंके प्रति उपकारकी भावना हो और कम दरजेवालोंके प्रति दया, दान तथा अनुकंपाकी भावना हो वह सिद्धि है ।

(५) अहिंसादि जो धार्मिक भूमिका अपनेको सिद्ध हुई हो उसे योग्य उपायोंके द्वारा दूसरोंको भी प्राप्त कराना यह विनियोग है ॥

स्थान आदि क्या क्या है और उसमें योग कितने प्रकारका है यह दिखलाते हैं—

गाथा २—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये योगके पाँच भेद हैं । इनमेंसे पहले दो कर्मयोग हैं और पिछले तीन ज्ञानयोग हैं ॥

खुलासा—(१) कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनोंको स्थान कहते हैं । (२) प्रत्येक क्रिया आदिके समय जो सूत्र पढ़ा जाता है उसे ऊर्ण अर्थात् वर्ण या शब्द समझना चाहिए । (३) अर्थका मतलब सूत्रार्थके ज्ञानसे है । (४) वाह्य प्रतिमा आदिका जो ध्यान वह आलंबन

है। (५) रूपी द्रव्यके आलंबनसे रहित जो शुद्ध चैतन्य-मात्रकी समाधि वह अनालंबन है। स्थान तो स्वयं ही क्रिया-रूप है और सूत्रका भी उच्चारण किया जाता है इसीलिए स्थान तथा ऊर्णको कर्मयोग कहा है। ऊपर की हुई व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये तीनों ज्ञानयोग हैं। योगका मतलब मोक्षके कारणभूत आत्म-व्यापारसे है। स्थान आदि आत्म-व्यापार मोक्षके कारण हैं इसलिए उनकी योग-रूपता सिद्ध है॥

स्थान आदि उक्त पाँच योगके अधिकारिओंको बतलाते हैं—

गाथा ३—देशचारित्रवाले और सर्वचारित्रवालेको यह स्थान आदि योग अवश्य होता है। चारित्रवालेमें ही योगका संभव होनेके कारण जो चारित्ररहित अर्थात् अपुनर्बंधक[1] और सम्यग्दृष्टि हो उसमें उक्त योग बीजमात्ररूपसे होता है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं॥

खुलासा—योग क्रियारूप हो या ज्ञानरूप, पर वह चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशम अर्थात् शिथिलताके होनेपर अवश्य प्रकट होता है। इसीलिए चारित्री ही योगका अधिकारी है, और यही कारण है कि ग्रन्थकार हरिभद्रसू-

१ जो फिरसे मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधता वह अपुनर्बंधक कहलाता है।

रिने स्वयं योगविंदुमें अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच योगोंकी संपत्ति चारित्रमें ही मानी है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जब चारित्रीमें ही योगका संभव है तब निश्चयदृष्टिसे चारित्रहीन किन्तु व्यवहार-मात्रसे श्रावक या साधुकी क्रिया करनेवालेको उस क्रियासे क्या लाभ, इसका उत्तर ग्रंथकारने यही दिया है कि– " व्यवहार–मात्रसे जो क्रिया अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टिके द्वारा की जाती है वह योग नहीं किन्तु योगका कारण होनेसे योगका बीजमात्र है। जो अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि नहीं है किन्तु सकृद्बंधक[1] या द्विर्बंधक आदि है उसकी व्यावहारिक क्रिया भी योगबीजरूप न होकर योगाभास अर्थात् मिथ्या–योगमात्र है। अध्यात्म आदि उक्त योगोंका समावेश इस ग्रंथमें वर्णित स्थान आदि योगोंमें इस प्रकार है—अध्यात्मके अनेक प्रकार हैं। देव–सेवारूप अध्यात्मका समावेश स्थानयोगमें, जपरूप अध्यात्मका समावेश ऊर्ण–योगमें और तत्त्वचिंतनरूप अध्यात्मका समावेश अर्थयोगमें होता है। भावनाका भी समावेश उक्त

---

१ जो मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक वार बांधनेवाला हो वह सकृद्बन्धक या सकृदावर्तन कहलाता है और जो वैसी स्थिति दो वार बांधनेवाला हो वह द्विर्बन्धक या द्विरावर्त्तन कहलाता है।

तीनों योगमें ही समझना चाहिये। ध्यानका समावेश आलंबन योगमें है और समता तथा वृत्तिसंक्षयका समावेश अनालंबन योगमें होता है ॥

स्थान आदि योगके भेद दिखाते हैं—

गाथा ४—उक्त स्थान आदि प्रत्येक योग तत्त्वदृष्टिसे चार चार प्रकारका है। ये चार प्रकार शास्त्रमें ये हैं—इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ॥

उक्त इच्छा आदि भेदोंका स्वरूप बतलाते हैं—

गाथा ५, ६—जिस दशामें स्थान आदि योगवालोंकी कथा सुन कर प्रीति होती हो और जिसमें विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंके प्रति बहुमानके साथ उल्लासभरे विविध प्रकारके सुंदर परिणाम अर्थात् भाव पैदा होते हों वह योगकी दशा इच्छा-योग है। प्रवृत्तियोग वह कहलाता है जिसमें सब अवस्थामें उपशमभावपूर्वक स्थान आदि योगका पालन हो ॥

जिस उपशमप्रधान स्थान आदि योगके पालनमें अर्थात् प्रवृत्तिमें योगके बाधक कारणोंकी चिंता न हो वह स्थिरता योग है। स्थानादि सब अनुष्ठान दूसरोंका भी हितसाधक हो तब वह सिद्धियोग है ॥

खुलासा—हर एक योगकी चार अवस्थायें होती हैं, जो क्रमशः इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धियोग कहलाते हैं। (१) जिस अवस्थामें द्रव्य, क्षेत्र आदि अनुकूल

साधनोंकी कमी होनेपर भी ऐसा उल्लास प्रकट हो जिससे शास्त्रोक्त विधिके प्रति बहुमान-पूर्वक अल्पमात्र योगाभ्यास किया जाय वह अवस्था इच्छायोग है। (२) जिस अवस्थामें वीर्योल्लासकी प्रबलता हो जानेसे शास्त्रानुसार सांगोपांग योगाभ्यास किया जाय वह प्रवृत्तियोग है। (३) प्रवृत्तियोग ही स्थिरतायोग है, पर अंतर दोनोंमें इतना ही है कि प्रवृत्तियोगमें अतिचार अर्थात् दोषका डर रहता है और स्थिरतायोगमें डर नहीं रहता। (४) सिद्धियोग उस अवस्थाका नाम है जिसमें स्थानादि योग उसका आचरण करनेवाले आत्मामें तो शांति पैदा करे ही, पर उस आत्माके संसर्गमें आनेवाले साधारण प्राणियोंपर भी शांतिका असर डाले। सारांश यह है कि सिद्धियोगवालेके संसर्गमें आनेवाले हिंसक प्राणी भी हिंसा करना छोड़ देते हैं और असत्यवादी भी असत्य बोलना छोड़ देते हैं अर्थात् उनके दोष शांत हो जाते हैं।

उक्त इच्छा आदि योगभेदोंके हेतुओंको कहते हैं—

गाथा ७—ये विविध प्रकारके इच्छा आदि योग प्रस्तुत स्थान आदि योगकी श्रद्धा, प्रीति आदिके सम्बन्धसे भव्य प्राणिओंको तथाप्रकारके क्षयोपशमके कारण होते हैं॥

खुलासा—इच्छा आदि चारों योग आपसमें एक दूसरेसे भिन्न तो हैं ही, पर उन सबमेंसे एक एक योगके

भी असंख्य प्रकार हैं। इस विविधताका कारण क्षयोपशम-भेद अर्थात् योग्यताभेद है। यहाँ भव्यप्राणिका मतलब अपुनर्बंधक तथा सम्यग्दृष्टि आदिसे है॥

इच्छा आदि योगोंका कार्य—

गाथा ८—इन इच्छा आदि उक्त चारों योगोंके कार्य क्रमसे अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम है॥

खुलासा—अनुकम्पा आदिका स्वरूप इस प्रकार है—(१) दुःखित प्राणिओंके भीतरी और बाहरी दुःखोंको यथाशक्ति दूर करनेकी जो इच्छा वह अनुकम्पा है। (२) संसाररूप कैदखानेकी निःसारता जान कर उससे विरक्त होना निर्वेद है। (३) मोक्षकी अभिलाषाको संवेग कहते हैं। (४) काम, क्रोधकी शान्ति प्रशम है॥

अब स्थान आदि योगभेदोंको दृष्टांतमें घटा लेनेकी सूचना करते हैं—

गाथा ९—इस प्रकार योगका सामान्य और विशेष स्वरूप तो दिखाया गया परंतु उसकी जो चैत्यवंदनरूप दृष्टांतके साथ स्पष्ट घटना है अर्थात् उसको चैत्यवंदनमें जैसे विभाग-पूर्वक उतार कर घटाया जा सकता है उसे ठीक ठीक तत्त्वज्ञको समझ लेना चाहिये॥

अब चैत्यवन्दनमें योग घटा देते हैं—

गाथा १०—जब कोई श्रद्धावाला व्यक्ति 'अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं' इत्यादि चैत्यवंदन सूत्रका यथाविधि (शुद्ध) उच्चारण करता है तब उसको शुद्ध उच्चारणसे चैत्यवंदनसूत्रके पदोंका यथार्थ ज्ञान होता है।

खुलासा—स्वर,[1] संपदा[2] और मात्रा[3] आदिके नियमसे शुद्ध वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना यह यथाविधि उच्चारण अर्थात् वर्णयोग है। वर्णयोगका फल यथार्थ पदज्ञान है, अतएव जब चैत्यवन्दन सूत्र पढ़ते समय वर्णयोग हो तभी सूत्रके पदोंका ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

गाथा ११—यह यथार्थ पदज्ञान अर्थ तथा आलंबन योगवालेके लिए बहुत कर अविपरीत (साक्षात् मोक्ष देनेवाला) होता है और अर्थ तथा आलम्बन-योगरहित किन्तु स्थान तथा वर्ण योगवालेके लिए केवल श्रेय (परम्परासे मोक्ष देनेवाला) होता है।

खुलासा—जो अनुष्ठान मोक्षको देनेवाला हो वह सदनुष्ठान है। सदनुष्ठान दो प्रकारका है, पहला शीघ्र (साक्षात्) मोक्ष देनेवाला, दूसरा विलंबसे (परम्परासे) मोक्ष देनेवाला। पहलेको अमृतानुष्ठान और दूसरेको तद्धेतु-अनुष्ठान कहते हैं।

---

१ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। २ विश्रान्तिस्थान। ३ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत।

चैत्यवंदन एक प्रारम्भिक अनुष्ठान है, इसलिए यह विचारना चाहिये कि वह अमृतानुष्ठानका रूप कब धारण करता है और तद्धेतु-अनुष्ठानका रूप कब धारण करता है।

जब चैत्यवंदन-क्रियामें स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारों योगोंका सम्बन्ध हो तब वह अमृतानुष्ठान है और जब उसमें स्थान, वर्ण-योगका तो सम्बन्ध हो किन्तु अर्थ, आलम्बन-योगका सम्बन्ध न हो पर उनकी रुचि मात्र हो तब वह तद्धेतु-अनुष्ठान है।

जब विधिके अनुसार आसन जमा कर शुद्ध उच्चारणपूर्वक सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता है और साथ ही उन सूत्रोंके अर्थ (तात्पर्य) तथा आलम्बनमें[1] उपयोग रहता है तब वह चैत्यवंदन उक्त चारों योगोंसे संपन्न होता है ऐसा चैत्यवंदन भावक्रिया है, क्योंकि उसमें अर्थ तथा आलंबन योगमें उपयोग रखने रूप ज्ञान-योग वर्तमान है। यथाविधि आसन बांध कर शुद्ध रीतिसे सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता हो पर उस समय सूत्रके अर्थ तथा आलंबनमें उपयोग न हो तो वह चैत्यवंदन ज्ञानयोगशून्य होनेके कारण द्रव्यक्रियारूप है, ऐसी द्रव्यक्रियामें अर्थ, आलंबन-योगका अभाव

---

१ चैत्यवंदनकी चार स्तुतियोंमें पहलीका आलम्बन विशेष तीर्थंकर, दूसरीका सामान्य तीर्थंकर, तीसरीका प्रवचन और चौथीका शासनदेवता है।

होनेपर भी उसकी तीव्र रुचि हो तो वह द्रव्यक्रिया अन्तमें भावक्रियाके द्वारा कभी न कभी मोक्षको देनेवाली मानी गई है, इसीसे वैसी क्रियाको तद्धेतु-अनुष्ठान और उपादेय कहा है ॥

स्थान आदि योगोंके अभावमें चैत्यवंदन केवल निष्फल ही नहीं बल्कि अनिष्टफलदायक होता है, इसलिए योग्य अधिकारीको ही वह सिखाना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं-

गाथा १२—जो व्यक्ति अर्थ, आलंबन इन दो योगोंसे शून्य होकर स्थान तथा वर्ण योगसे भी शून्य हैं उनका वह अनुष्ठान कायिक चेष्टामात्र अर्थात् निष्फल होता है अथवा मृषावादरूप होनेसे विपरीत फल देनेवाला होता है, इसलिए योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवन्दन सूत्र सिखाना चाहिये ॥

खुलासा—जो अनुष्ठान निष्फल या अनिष्टफलदायक हो वह असदनुष्ठान है। इसके तीन प्रकार हैं, (१) अननुष्ठान (२) गरानुष्ठान (३) विषानुष्ठान। चैत्यवन्दनमें ही यह देख लेना चाहिये कि वह कब किस प्रकारके असदनुष्ठानका रूप धारण करता है ?।

जिस चैत्यवन्दनक्रियामें न अर्थ, आलंबन योग है न उनकी रुचि है और न स्थान, वर्ण-योगका आदर ही है वह क्रिया संमूर्च्छिम जीवकी प्रवृत्तिकी तरह मानसिकउपयोगशून्य होनेके कारण निष्फल है; इसी निष्फल क्रियाको

अननुष्ठान समझना चाहिये। इसी तरह चैत्यवंदन करते समय "ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि" इन पदोंसे स्थान, मौन, और ध्यान आदिकी प्रतिज्ञा की जाती है। ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद स्थान, वर्ण आदि योगका भंग किया जाय तो वह चैत्यवन्दन महामृषावाद होनेसे निष्फल ही नहीं बल्कि कर्मबंधका कारण होनेसे अनिष्टफलदायक अतएव अननुष्ठान है।

स्थान, वर्ण आदि योगोंका सम्बन्ध होनेपर भी जो चैत्यवन्दन स्वर्ग आदि पारलौकिक सुखके उद्देश्यसे किया जाता है वह गरानुष्ठान और जो धन, कीर्ति आदि ऐहिक सुखकी इच्छासे किया जाता है वह विषानुष्ठान है। गरानुष्ठान और विषानुष्ठान मृषावादरूप है, क्योंकि पारलौकिक और ऐहिक सुखकी कामनासे किये जानेके कारण उनमें मोक्षकी प्रतिज्ञाका स्पष्ट भङ्ग है। इस प्रकार अननुष्ठान, गरानुष्ठान और विषानुष्ठान ये तीनों चैत्यवंदन हेय हैं। इसी कारणसे योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवंदनसूत्र सिखानेको शास्त्रमें कहा गया है। इस चैत्यवंदनके उदाहरणसे अन्य सब क्रियाओंमें सदनुष्ठान और असदनुष्ठानका रूप स्वयं घटा लेना चाहिये॥

चैत्यवन्दनके लिए योग्य अधिकारी कौन हैं यह दिखाते हैं—

गाथा १३—जो देशविरतिपरिणामवाले हों वे चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दनसूत्रमें "कायं वोसिरामि" इस शब्दसे जो कायोत्सर्ग करनेकी प्रतिज्ञा सुनी जाती है वह विरतिके परिणाम होनेपर ही घट सकती है। इसलिए यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि देशविरति परिणामवाले ही चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं॥

खुलासा—चैत्यवन्दनके अंदर "ताव कायं, ठाणेणं" इत्यादि पाठके द्वारा कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञा की जाती है। कायोत्सर्ग यह कायगुप्तिरूप विरति है, इसलिए विरति परिणामके सिवाय चैत्यवंदन-अनुष्ठान करना अनधिकारचेष्टामात्र है। देशविरतिवालेको चैत्यवन्दनका अधिकारी कहा है सो मध्यम अधिकारीका सूचनमात्र है। जैसे तराजूकी डण्डी बीचमें पकडनेसे उसके दोनों पलडे पकडमें आ जाते हैं वैसे ही मध्यम अधिकारीका कथन करनेसे नीचे और ऊपरके अधिकारी भी ध्यानमें आ जाते हैं। इसका फलित अर्थ यह है कि सर्वविरतिवाले मुनि तो चैत्यवन्दनके तात्त्विक अधिकारी हैं और अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि व्यवहारमात्रसे उसके अधिकारी हैं, परन्तु जो कमसे कम अपुनर्बंधक भावसे भी खाली हैं अतएव जो विधिबहुमान करना नहीं जानते वे सर्वथा चैत्यवन्दनके अनधिकारी हैं।

इससे वैसे आत्माओंको चैत्यवन्दन न तो सिखाना चाहिए और न कराना चाहिए। चैत्यवन्दनके अधिकारकी इस चर्चासे अन्य क्रियाओंके अधिकारका निर्णय भी स्वयं करलेना चाहिए ॥

जो लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि अविधिसे भी चैत्यवन्दन आदि क्रिया करते रहनेसे दूसरा फायदा हो या नहीं पर तीर्थ चालू रहनेका लाभ तो अवश्य है। अगर विधिका ही खयाल रक्खा जाय तो वैसा अनुष्ठान करनेवाले इने-गिने अर्थात् दो चार ही मिलेंगे और जब वे भी न रहेंगे तब क्रमशः तीर्थका उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए कमसे कम तीर्थको कायम रखनेके लिए भी अविधि-अनुष्ठानका आदर क्यों न किया जाय? इसका उत्तर उन शङ्कावालोंको ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १४—अविधि अनुष्ठानकी पुष्टिमें तीर्थके अनुच्छेदकी बातका सहारा लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविधि चालु रखनेसे ही असमञ्जस अर्थात् शास्त्रविरुद्ध विधान जारी रहता है, जिससे शास्त्रोक्त क्रियाका लोप होता है यह लोप ही तीर्थका उच्छेद है ॥

खुलासा—अविधिके पक्षपाती अपने पक्षकी पुष्टिमें यह दलील पेश करते हैं कि अविधिसे और कुछ नहीं तो तीर्थकी रक्षा होती है, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि तीर्थ

सिर्फ जनसमुदायका नाम नहीं है किन्तु तीर्थका मतलब शास्त्रोक्त क्रियावाले चतुर्विध संघसे है। शास्त्राज्ञा नहीं मानेवाले जनसमुदायको तीर्थ नहीं किन्तु हड्डीओंका संघातमात्र कहा है। इस दशामें यह स्पष्ट है कि यदि तीर्थकी रक्षाके बहानेसे अविधिका स्थापन किया जाय तो अन्तमें अविधिमात्र बाकी रहनेसे शास्त्रविहित क्रियारूप विधिका सर्वथा लोप ही हो जायगा। ऐसा लोप ही तीर्थका नाश है, इससे अविधिके पक्षपातियोंके पल्लेमें तीर्थ-रक्षारूप लाभके बदले तीर्थ-नाशरूप हानि ही शेष रहती है जो मुनाफेको चाहनेवालेके लिए मूल पूँजीके नाशके बराबर है॥

सूत्रोक्त क्रियाका लोप अहितकारी कैसे होता है यह दिखाते हैं—

गाथा १५—वह अर्थात् अविधिके पक्षपातसे होनेवाला सूत्रोक्त विधिका नाश वक्र (अनिष्ट परिणाम देनेवाला) ही है। जो स्वयं मरा हो और जो मारा गया हो उन दोनोंमें विशेषता अवश्य है, यह बात तीर्थके उच्छेदसे डरनेवालोंको विचारना चाहिए॥

खुलासा—जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्योंको धर्मके नामसे अपनी जालमें फाँसते हैं और अविधि (शास्त्र विरुद्ध) धर्मका उपदेश करते हैं उनसे जब कोई शास्त्र-विरुद्ध उपदेश न देनेके लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेदका

भय दिखा कर बिगड कर बोल उठते हैं कि "जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहनेसे भी तीर्थ (धर्म) टिक सकेगा। बहुत विधि (शास्त्र अनुकूलता) का ध्यान रखनेमें शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता (प्रमादवृत्ति) स्वयं लोगोंपर आक्रमण करेगी जिससे तीर्थका नाश होगा।" इसके सिवाय वे अपने अविधिमार्गके उपदेशका बचाव यह कह कर भी करते हैं कि "जैसे धर्मक्रिया नहीं करनेवालेके लिए हम उपदेशक दोष भागी नहीं हैं वैसे ही अविधिसे क्रिया करनेवालेके लिए भी हम दोषभागी नहीं। हम तो क्रियामात्रका उपदेश देते हैं जिससे कमसे कम व्यावहारिक धर्म तो चालु रहता है और इस तरह हमारे उपदेशसे धर्मका नाश होनेके बदले धर्मकी रक्षा ही हो जाती है।"

ऐसा पोचा बचाव करनेवाले उन्मार्ग–गामी उपदेशक गुरुओंसे ग्रंथकार कहते हैं कि एक व्यक्तिकी मृत्यु स्वयं हुई हो और दूसरी व्यक्तिकी मृत्यु किसी अन्यके द्वारा हुई हो इन दोनों घटनाओंमें बडा अन्तर है। पहली घटनाका कारण मरनेवाले व्यक्तिका कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्युके लिए दूसरा कोई दोषी नहीं है। परन्तु दूसरी घटनामें मरनेवाले व्यक्तिके कर्मके उपरान्त मारनेवालेका दुष्ट आशय भी नि-

मित्त है, इससे उस घटनाका दोषभागी मारनेवाला अवश्य है। इसी तरह जो लोग स्वयं अविधिसे धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकपर नहीं है, पर जो लोग अविधिमय धर्मक्रियाका उपदेश सुन कर उन्मार्गपर चलते हैं उनकी जवाबदेही उपदेशकपर अवश्य है। धर्मके जिज्ञासु लोगोंको अपनी क्षुद्र स्वार्थवृत्तिके लिए उन्मार्गका उपदेश करना वैसा ही विश्वासघात है जैसा शरणमें आये हुएका सिर काटना। जैसा चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी उपेक्षा रखनेसे शुद्ध धर्मक्रियाका लोप हो जाता है जो वास्तवमें तीर्थोच्छेद है। विधिमार्गके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहनेसे कभी किसी एक व्यक्तिको भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोकमें अमारीपटह बजवानेकीसी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाला एक भी व्यक्ति अविधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाले हजारों लोगोंसे अच्छा है। अतएव जो परोपकारी धर्मगुरु हों उन्हें ऐसी दुर्बलताका आश्रय कभी न लेना चाहिये कि इसमें हम क्या करें ? हम तो सिर्फ धर्मक्रियाका उपदेश करते हैं, अविधिका नहीं। धर्मोपदेशक गुरुओंको यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि विधिका उपदेश भी उन्हींको देना चाहिये जो उसके श्रवणके लिये रसिक हों। अयोग्य पात्रको ज्ञान देनेमें भी महान् अनर्थ

होता है, इसलिए नीच आशयवाले पात्रको शास्त्र सुनानेमें उपदेशक ही अधिक दोषका पात्र है। यह नियम है कि पाप करनेवालेकी अपेक्षा पाप करानेवाला ही अधिक दोषभागी होता है। अतएव योग्यपात्रको शुद्ध शास्त्रोपदेश देना और स्वयं शुद्ध प्रवृत्ति करना यही तीर्थरक्षा है, अन्य सब बहाना मात्र है ॥

उक्त चर्चा सुन कर मोटी बुद्धिके कुछ लोग यह कह उठते हैं कि इतनी बारीक बहसमें उतरना वृथा है, जो बहुतोंने किया हो वही करना चाहिए, इसके सबूतमें "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह उक्ति प्रसिद्ध है। आज कल बहुधा जीतव्यवहारकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। जबतक तीर्थ रहेगा तबतक जीतव्यवहार रहेगा इसलिए उसीका अनुसरण करना तीर्थ रक्षा है। इस कथनका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १६—लोकसंज्ञाको छोड कर और शास्त्रके शुद्ध रहस्यको समझ कर विचारशील लोगोंको अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे शुद्ध प्रवृत्ति करना चाहिए ॥

खुलासा—शास्त्रकी परवा न रख कर गतानुगतिक लोकप्रवाहको ही प्रमाणभूत मान लेना यह लोकसंज्ञा है। लोकसंज्ञा क्यों छोडना ? महाजन किसे कहते हैं और जीतव्यवहारका मतलब क्या है ? इन बातोंको समझानेके लिए

ज्ञानसारके जो श्लोक टीकामें उद्धृत किये गये हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनमेंसे कुछका सार दिया जाता है–

यदि लोगोंपर भरोसा रख कर ही कर्तव्यका निश्चय किया जाय अर्थात् जो बहुतोंने किया वही ठीक है ऐसा मान लिया जाय तो फिर मिथ्यात्व त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिए. क्योंकि उसका सेवन अनेक लोक अनादि कालसे करते आये हैं।

अनार्योंसे आर्य थोड़े हैं, आर्योंमें भी जैनोंकी अर्थात् समभाववालोंकी संख्या कम है। जैनोंमें भी शुद्ध श्रद्धावाले कम, और उनमें भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं।

व्यवहार हो या परमार्थ, सब जगह उच्च वस्तुके अधिकारी कम ही होते हैं, उदाहरणार्थ–जैसे रत्नोंके परीक्षक (जौहरी) कम, वैसे आत्मपरीक्षक भी कम ही होते हैं।

शास्त्रानुसार वर्तन करनेवाला एक भी व्यक्ति हो तो वह महाजन ही है। अनेक लोग भी अगर अज्ञानी हैं तो वे सब मिल कर भी अन्धोंके समूहकी तरह वस्तुको यथार्थ नहीं जान सकते।

संविग्न (भवभीरु) पुरुषने जिसका आचरण किया हो, जो शास्त्रसे बाधित न हो और जो परम्परासे भी शुद्ध हो वही जीतव्यवहार है।

शास्त्रका आश्रय न करनेवाले असंविग्न पुरुषोंने जिसका आचरण किया हो वह अन्ध-परम्परा मात्र है, जीतव्यवहार नहीं।

क्रिया बिल्कुल न करनेकी अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करनेको ही शास्त्रमें अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि शुरूसे अविधिमार्गमें ही प्रवृत्ति करना, किन्तु उसका भाव यह है कि विधिमार्गमें प्रवृत्ति करने पर भी अगर असावधानी वश कुछ भूल हो जाय तो उस भूलसे डर कर बिल्कुल विधिमार्गको ही नहीं छोड देना किन्तु भूल सुधारनेकी कोशीस करते रहना। प्रथमाभ्यासमें भूल हो जानेका सम्भव है पर भूल सुधारलेनेकी दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तवमें भूल नहीं है। इसी अपेक्षासे अशुद्ध क्रियाको भी शुद्ध क्रियाका कारण कहा है। जो व्यक्ति विधिका बहुमान न रख कर अविधिक्रिया किया करता है उसकी अपेक्षा तो विधिके प्रति बहुमान रखनेवाला पर कुछ भी न करनेवाला अच्छा है॥

मूल विषयका उपसंहार करते हैं—

गाथा १७—प्रस्तुत विषयमें प्रासंगिक विचार इतना ही काफी है। स्थान आदि पूर्वोक्त पाँच योगोंमें जो प्रयत्नशील हों उन्हींके चैत्यवन्दन आदि अनुष्ठानको सदनुष्ठानरूप समझना चाहिए॥

खुलासा—मुख्य बात चैत्यवन्दनमें स्थानादि योग घटानेकी चल रही थी, इसमें प्रसंगवश तीर्थोच्छेद क्या वस्तु है ? और तीर्थरक्षाके लिए विधिप्ररूपणाकी कितनी आवश्यकता है ? इत्यादि प्रासंगिक विषयकी चर्चा भी की गई। अब मूल बातको समाप्त करते हुए ग्रन्थकारने अन्तमें यही कहा है कि चैत्यवंदन आदि क्रिया धर्मका कलेवर अर्थात् बाह्यरूप मात्र है। उसकी आत्मा तो स्थान, वर्ण आदि पूर्वोक्त योग ही हैं। यदि उक्त योगोंमें प्रयत्नशील रह कर कोई भी क्रिया की जाय तो वह सब क्रिया शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम संस्कारोंकी पुष्टिका कारण हो कर सदनुष्ठानरूप होती है और अन्तमें कर्मक्षयका कारण बनती है ॥

सदनुष्ठानके भेदोंको दिखाते हुए उसके अन्तिम भेद अर्थात् असंगानुष्ठानमें अन्तिम योग (अनालम्बनयोग)का समावेश करते हैं—

गाथा १८—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगके सम्बन्धसे यह अनुष्ठान चार प्रकारका समझना चाहिए। चारमेंसे असङ्गानुष्ठान ही चरम अर्थात् अनालम्बन योग है।

खुलासा—भावशुद्धिके तारतम्य (कमीबेशी) से एक ही अनुष्ठानके चार भेद हो जाते हैं। वे ये हैं—(१) प्रीति-अनुष्ठान, (२) भक्ति-अनुष्ठान, (३) वचनानुष्ठान, और (४) असङ्गानुष्ठान।

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) जिस क्रियामें प्रीति इतनी अधिक हो कि अन्य सब काम छोड कर सिर्फ़ उसी क्रियाके लिए तीव्र प्रयत्न किया जाय तो वह क्रिया प्रीति-अनुष्ठान है। (२) प्रीति-अनुष्ठान ही भक्ति-अनुष्ठान है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि प्रीति-अनुष्ठानकी अपेक्षा भक्ति-अनुष्ठानमें आलम्बनरूप विषयके प्रति विशेष आदर-बुद्धि होनेके कारण प्रत्येक व्यापार अधिक शुद्ध होता है। जैसे पत्नी और माता दोनोंका पालन, भोजन, वस्त्र आदि एक ही प्रकारसे किया जाता है परन्तु दोनोंके प्रति भावका अन्तर है। पत्नीके पालनमें प्रीतिका भाव और माताके पालनमें भक्तिका भाव रहता है, वैसे ही बाहरी व्यापार समान होनेपर भी प्रीति-अनुष्ठान तथा भक्ति-अनुष्ठानमें भावका भेद रहता है। (३) शास्त्रकी ओर दृष्टि रख करके सब कार्योंमें साधु लोगोंकी जो उचित प्रवृत्ति होती है वह वचनानुष्ठान है। (४) जब संस्कार इतने दृढ हो जायँ कि प्रवृत्ति करते समय शास्त्रका स्मरण करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् जैसे चन्दनमें सुगंध स्वाभाविक होती है वैसे ही संस्कारोंकी दृढताके कारण प्रत्येक धार्मिक नियम जीवनमें एकरस हो जाय तब असङ्गानुष्ठान होता है। इसके अधिकारी जिनकल्पिक साधु होते हैं। वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठानमें फर्क इतना ही है कि पहला तो शास्त्रकी प्रेरणासे किया जाता है और दूसरा उसकी प्रेरणाके सिवाय

शास्त्रजनित संस्कारोंके बलसे; जैसे कि चाकके घूमनेमें पहला घूमाव तो डंडेकी प्रेरणासे होता है और पिछेका सिर्फ दंडजनित वेगसे। असङ्गानुष्ठानको अनालम्बन योग इसलिए कहा है कि—" संगको त्यागना ही अनालम्बन है "।

योगके कुल अस्सी भेद बतलाये हैं सो इस प्रकार—स्थान, ऊर्ण आदि पूर्वोक्त पाँच प्रकारके योगके इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ऐसे चार चार भेद करनेसे बीस भेद हुए। इन बीसमेंसे हर एक भेदके प्रीति–अनुष्ठान, भक्ति–अनुष्ठान, वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठान ये चार चार भेद होते हैं अतएव बीसको चारसे गुनने पर अस्सी भेद हुए ॥

आलम्बनके वर्णनके द्वारा अनालंबन योगका स्वरूप दिखाते हैं—

गाथा १६—आलम्बन भी रूपी और अरूपी इस तरह दो प्रकारका है। परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलम्बन है, उस अरूपी आलम्बनके गुणोंकी भावनारूप जो ध्यान है वह सूक्ष्म (अतीन्द्रिय विषयक) होनेसे अनालम्बन योग कहलाता है ॥

खुलासा—योगका ही दूसरा नाम ध्यान है। ध्यानके मुख्यतया दो भेद हैं, सालम्बन और निरालम्बन। आलम्बन (ध्येय विषय) मुख्यतया दो प्रकारका होनेसे ध्यानके उक्त दो भेद समझने चाहिए। आलम्बनके रूपी और अ-

रूपी ये दो प्रकार हैं। इन्द्रियगम्य वस्तुको रूपी (स्थूल) और इन्द्रिय-अगम्य वस्तुको अरूपी (सूक्ष्म) कहते हैं। स्थूल आलम्बनका ध्यान सालम्बन योग और सूक्ष्म आलम्बनका ध्यान निरालम्बन योग है, अर्थात् विषयकी अपेक्षासे दोनों ध्यानमें फर्क यह है कि पहलेका विषय आँखोंसे देखा जा सकता है और दूसरेका नहीं। यद्यपि दोनों ध्यानके अधिकारी छद्मस्थ ही होते हैं, परन्तु पहलेकी अपेक्षा दूसरेका अधिकारी उच्च भूमिकावाला होता है; अर्थात् पहले ध्यानके अधिकारी अधिकसे अधिक छट्ठे गुणस्थान तकके ही स्वामी होते हैं परन्तु दूसरे ध्यानके अधिकारी सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके स्वामी होते हैं।

आसनारूढ वीतराग प्रभुका या उनकी मूर्ति आदिका जो ध्यान किया जाता है वह सालम्बन और परमात्माके ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंका या संसारीआत्माके औपाधिक रूपको छोड कर उसके स्वाभाविक रूपका परमात्माके साथ तूलना पूर्वक ध्यान करना निरालम्बन ध्यान है; अर्थात् निरालम्बन ध्यान आत्माके तात्त्विक स्वरूपको देखनेकी निःसंग और अखंड लालसारूप है। ऐसी लालसा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी दूसरे अपूर्वकरणके समय पाये जानेवाले धर्मसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगसे होती है।

हरिभद्रसूरिने षोडशकमें वाणमोचनके एक रूपकके द्वारा अनालंबन ध्यानका स्वरूप समझाया है सो इस प्र-

कार है—क्षपकआत्मारूप धनुर्धर, क्षपकश्रेणीरूप धनुषके ऊपर अनालम्बनयोगरूप बाणको परमात्मतत्त्वरूप लक्ष्यके सम्मुख इस तरह चढाता है कि बाण छूटनेरूप अनालम्बन ध्यानकी समाप्ति (जिसको शास्त्रमें ध्यानान्तरीका कहते हैं) होते ही लक्ष्यवेधरूप परमात्मतत्त्वका प्रकाश होता है, यही केवलज्ञान है जो अनालम्बन ध्यानका फल है। आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके पूर्वमें जबतक उसकी प्रबल आकाङ्क्षा थी तबतकका विशिष्ट प्रयत्न निरालम्बन ध्यान है, परन्तु केवलज्ञान होनेपर आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी इच्छा न रहनेसे अनालम्बन ध्यान नहीं है तो भी आत्मतत्त्वविषयक केवलज्ञानरूप प्रकाशको सालम्बन योग कह सकते हैं। यहाँ यह जानना चाहिए कि केवलिअवस्था प्राप्त होनेके बाद जबतक योग निरोधके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता तबतककी स्थितिको एक प्रकारकी विश्रान्ति मात्र कह सकते हैं, ध्यान नहीं; क्योंकि ध्यान विशिष्ट प्रयत्नका नाम है जो केवलज्ञानके पहले या योगनिरोध करते समय होता है ॥

उक्त रीतिसे सालम्बन, निरालम्बन ध्यानका वर्णन करके अब निरालम्बन ध्यानसे होनेवाले फलोंको क्रमसे दिखाते हैं—

गाथा २०—इस निरालम्बन ध्यानके सिद्ध हो जाने पर मोहसागर पार हो जाता है यही क्षपकश्रेणीकी सिद्धि

हैं, इस सिद्धिसे केवलज्ञान और केवलज्ञानसे अयोग नामक योग तथा परम निर्वाण क्रमशः होता है ॥

खुलासा—मोहकी रागद्वेषरूप वृत्तियाँ पौद्गलिक अभ्यासका परिणाम है और निरालम्बन ध्यानका विषय शुद्ध चैतन्य है। अतएव मोह और निरालम्बन ध्यान ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। निरालम्बन ध्यानका आरम्भ हुआ कि मोहकी जड कटने लगी, जिसको जैनशास्त्रमें क्षपकश्रेणीका आरम्भ कहते हैं। जब उक्त ध्यान पूर्ण अवस्था तक पहुँचता है तब मोहका पाशबंधन सर्वथा टूट जाता है, यही क्षपकश्रेणीकी पूर्णाहुति है। महर्षि पतञ्जलिने जिस ध्यानको सम्प्रज्ञात कहा है वही जैनशास्त्रमें निरालम्बन ध्यान है। क्षपकश्रेणीके द्वारा सर्वथा वीतराग दशा प्रकट हो जाने पर आत्मतत्त्वका पूर्ण साक्षात्कार होता है, जो जैनशास्त्रमें केवलज्ञान और महर्षि पतञ्जलिकी भाषामें असम्प्रज्ञात योग कहलाता है। केवलज्ञान हुआ कि मानसिक वृत्तियाँ नष्ट हुईं और पीछे एक ऐसी अयोग नामक योगावस्था आती है जिससे रहे-सहे वृत्तिके बीजरूप सूक्ष्म संस्कार भी जल जाते हैं, यही विदेह मुक्ति या परम निर्वाण है ॥

॥ समाप्त ॥

योगसूत्रवृत्ति तथा योगविंशिकावृत्तिमें प्रमाण-रूपसे आये हुए अवतरणोंका वर्णक्रमानुसारी परिशिष्ट. नं० १

श्लोक.	पृष्ठ.	श्लोक.	पृष्ठ.
अ		**ए**	
अत्यन्तवल्लभा खलु	८२	एकोऽपि शास्त्रनीत्या	७८
अनाभोगवशैत-	७२	एतद्रागादिदं हेतुः	७२
अपुनर्बन्धकस्यायं	६३	एताः खल्वभ्यासात्	११
अविहिकया वरमकयं	७८	एसो अणाइमं चिय	९
अशुद्धापि हि शुद्धाया	७९	**ओ**	
असतो णत्थि णिसेहो	४	ओसन्नो वि विहारे	८०
असंप्रज्ञात एषोऽपि	७	**क**	
अस्मिन् हृदयस्थे सति	१५	का अरइ के आणंदे	६
आ		कार्यद्रव्यमनादि स्या-	३१
आकल्पव्यवहारार्थं	७८	क्लेशपक्तिर्मतिज्ञानात्	४४
आशयभेदा एते	५६	**ग**	
इ		गौरवविशेषयोगात्	८२
इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः	६६	**च**	
उ		चक्रभ्रमणं दण्डात्	८२
उपकारिस्वजनेतर-	१०	**ज**	
ऊ		जइ वि ण सक्कं काउं	८०
ऊसासं ण णिरुंभइ	११	जस्सिमे सद्दा य	३७
,,	३८	जह सरणमुवगयाणं	७६

जा जा हविज्ज ७९
जिनोदितमिति ७२
जो जाणइ अरिहंते ८७
ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः ४४

ण.

ण सक्का रूवमद्दट्ठुं ३७

त.

तत्राप्रतिष्ठितोऽयं ८५
तत्रैव तु प्रवृत्तिः ५७
तस्माच्छ्रुतानुसा- ७८
तात्त्विकः पक्षपात- ७९

द.

दिव्यभोगाभिलाषेण ७२
देशादिभेदतश्चित्र- ६२
द्रागस्मात्तददर्शन- ८५

ध.

धर्ममेघोऽमृतात्मा च ७

न.

नैवंविधस्य शस्तं- ७७

प.

परहितचिंता मैत्री १०
प्रणिधानादिभावेन ६०
प्रणिधानं तत्समये ५७
प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्न- ५७

ब.

बाह्यं तपः परमदुश्चर- १५

भ.

भवबीजमनन्तमुज्झितं २९

म.

मुक्खेण जोअणाओ २
मूलप्रकृत्यभिन्नाः २६

य.

यं यं चापि स्मरन् भावं २५
यत्रादरोऽस्ति परमः ८१
यत्त्वभ्यासातिशयात् ८२
यत्संविज्ञजनाचीर्णं ७८
यदाचीर्णमसंविग्नैः ७८
यमनियमासन- ६१
यः शृण्वन् सिद्धान्तं ७७

ल.

लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं ७८

व.

वचनात्मिका प्रवृत्तिः ८२
विघ्नजयस्त्रिविधः ५९
विष गरोऽननुष्ठानं ७१
विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः ७१

श.

शास्त्रसंदर्शितोपाय- ८४
श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो ७८

स.

संयतानि तवाक्षाणि ३७
सकृदावर्तनादीनां ६४
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां १३
समाधिरेष एवान्यैः ६
सामर्थ्ययोग्यता या ८४
सालम्बनो निरालम्ब- ८४
सिद्धिस्तत्तद्धर्म- ५९
सिद्धेश्चोत्तरकार्यं ५९
सुखमात्रे सङ्केता- ११
सुदृढप्पयत्तचावारणं ८६
सूक्तं चात्मपरार्थ- ५३
स्तोका आर्या अना- ७८
स्थानोर्णार्थालम्बन- ६१

ह.

हियाहारा मियाहारा ५८

योगसूत्रवृत्ति और योगविंशिकाटीकामें आये हुए अवतरणों-का कर्त्ता और ग्रंथके नाम निर्देश संबंधी परिशिष्ट. २

(आर्ष)[1]—

(आचारांगसूत्र पत्र ६)

शीतोष्णीयाध्ययन (आचारांगगत) पत्र ३७।

स्थानाङ्ग पत्र १९।

(भगवतगीता पत्र २५)

गच्छाचार पत्र ८०।

महावादी—

(सिद्धसेन दिवाकर)—(द्वात्रिंशिका पत्र २९।)

स्तुतिकारः[2]—पत्र ३७

(कुन्दकुन्द)—

(प्रवचनसार) पत्र ८७ 'जो जाणइ अरिहंते०' प्र–१ गा–८४।

भाष्यकृत्—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)–(विशेषावश्यक पत्र ४।)

महाभाष्यकार—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)–(विशेषावश्यक पत्र ८६।)

---

१ ऐसे कोष्ठकसे हमारा मतलब यह है कि–उस उस स्थानमें ग्रंथकारने आचार्य या ग्रंथका उल्लेख नहीं किया किन्तु हमने अपनी ओरसे खोज करके सूचन किया है।

२ इस स्तुतिकार शब्दसे ग्रंथकारको सिद्धसेन अभिप्रेत है या समन्तभद्र, इसका पता हमें अभी नहीं लगा।

पतञ्जलि—

(योगसूत्र पत्र ६१)

अकलङ्क—पत्र ३१।

हरिभद्र—

(योगविंशिका पत्र २।)
अनादिविंशिका पत्र ९।
सद्धर्मविंशिका पत्र ६८।
योगबिन्दु पत्र (६) ७ (४४) ६२ (६३-६४) ७१ ,७२)।
षोडशक पत्र ११ (५६-५७-५९) ६१-७६ (८१-८२)
८३ (८५)।
योगदृष्टि समुच्चय—पत्र ७९ (८४)।

(यशोभद्रसूरि)—

षोडशकवृत्ति पत्र ६१।

यशोविजय—

षोडशक टीका-पत्र-११।
(ज्ञानसार पत्र-१३-७८।)
कर्मप्रकृति वृत्ति-पत्र-२६।
लता पत्र-४५।
संग्रहश्लोक पत्र-६६।
सद्धर्मविंशिका (टीका) पत्र-६८।

अलब्धकर्तृनाम-अलब्धग्रन्थनाम—

१५-२६-३७-४४-५३-७८-७९।

पुस्तक मिलनेका पता—

आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल.

ठि० रोशन मुहल्ला,

आग्रा शहर. (यू. पी.)

श्री जैन आत्मानन्द सभा.

ठि० आत्मानन्द भवन—

भावनगर—(काठियावाड).

योग-साधन-माला । ग्रंथ ६

आसन ।

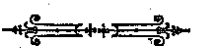

लेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा.)

तृतीय वार ४०००

संवत् १९८३, शक १८४८, सन १९२६.

मुद्रकः—रा. चिंतामण सखाराम देवळे, 'मुंबई वैभव प्रेस' सर्व्हेंट्स् ऑफ इंडिया सोसायटीज् बिल्डिंग, सँडर्स्ट रोड, गिरगांव-मुंबई.

प्रकाशक,
श्री. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल,
औंध (जि. सातारा).

ॐ

आसन।

योग साधन का उद्देश्य।

बहुत लोग प्रश्न पूछते हैं कि, योग साधन क्यों करें? योग साधन करनेसे क्या लाभ हो सकता है? योग साधन करने में प्रतिदिन जो समय खर्च होता है, उसके बदले हमें क्या मिल सकता है? इत्यादि प्रश्न वारंवार पूछते हैं। कई पाठकोंके पत्र हमारे पास आगये हैं, जिनमें उक्त प्रश्न तथा इन प्रश्नोंके समान अन्य प्रश्न पूछे गये हैं? इस लिये इस लेखद्वारा उनका उत्तर देनेका यत्न करना है। प्रथमतः यहां यह बात कहना आवश्यक है कि, जो "वैश्य-प्रवृत्ति" पाठकोंमें उत्पन्न हो गई है, वही उन्नतिकी विघातक है। बाजारोंमें जानेवाले लोग जिस समय दुकानदार को एक रुपया देते हैं, उस समय एक रुपयेकी चीजें उससे लेनेका यत्न करते हैं, यह बाजारके व्यवसायमें ठीकही है, परंतु यही प्रवृत्ति धार्मिक उन्नतिमें चलाना उचित नहीं है। एक घंटा मजदूरी करनेसे

दो आने मिलते हैं, इसलिये संध्या करनेके कार्य में जो घंटा चला जाता है, उससे भी दो आने मिलने चाहिये, ऐसा आग्रह धरना, और उसप्रकार धनप्राप्ति नहीं होती है, इसलिये संध्या न करना, यह सब हमारी हीन प्रवृत्तिका ही द्योतक है। यह बाजार करनेकी प्रवृत्ति आजकल बढ रही है, इसी लिये धार्मिक भाव न्यून हो रहा है और अन्य आपत्तियां बढ रही हैं।

यदि कोई कहे कि निद्रामें जो छः सात घंटे चले जाते हैं, उनसे कोई द्रव्यप्राप्ति नहीं होती, इसलिये मैं निद्रा ही नहीं लूंगा; तो उसकी उस प्रकार निद्रा न लेनेकी प्रवृत्तिसे उसीका नाश होगा। पाच सात दिन निद्रा न आनेसे उसीका सिर चक्कर खाने लगेगा, और उससे कोई कार्य नहीं हो सकेगा। सब लोगोंको अनुभवसे पता है कि, मनुष्यको अथवा प्राणिमात्रको निद्राकी अत्यंत आवश्यकता है। निद्रासे स्वास्थ्य अच्छा रहता है, सब शरीर कार्य करनेमें समर्थ होता है, तथा शरीर और मन में निद्राके कारण "नवीन जीवन" प्राप्त होता है।

ऐसा क्यों होता है? निद्रामें ऐसी कौनसी शक्ति है कि जिससे इतना लाभ होता है? निद्रा न आनेसे जो रूक्षता और गर्मी उत्पन्न होती है, जो निरुत्साह और बलका नाश होता है, वह क्यों है? पाठकोंको इसका अवश्य विचार करना चाहिए, क्यों कि इस बातके विचार से ही पूर्व प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर प्राप्त होना संभव है।

मनके व्यापार बंद होनेसे ही निद्रा आती है। कभी ऐसा नहीं होता है, कि मनके विचार चलते हैं, और निद्रा आई है। चित्तकी वृत्तियां कम होतीं हैं, मनके व्यापार बंद होने लगते हैं, अहंकार का नाश होने लगता है, उस समय निद्रा आने लगती है। मनकी पूर्ण स्तब्धता ही निद्रा है। मन स्थिर होगया अथवा लीन हुआ, संकल्प विकल्पकी लहरें मनमें न उठीं, तो निद्रा होती है। तात्पर्य जो लाभ निद्रासे होते हैं, वे मनकी वृत्तिकी स्तब्धताके कारण भी हो सकते हैं। यदि मन प्रक्षिप्त रहा, तो निद्रा नहीं आती और बेचैनी होती है। जागृतिमें मन चंचलताके व्यवहार करता है और थक जाता है, यह थकावट निद्रामें दूर होती है और नवजीवन प्राप्त होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, मनकी स्थिरता होनेसे उत्साह और बल की प्राप्ति होती है और मनकी चंचलतासे शक्तिका ह्रास होता है, यह हरएक का प्रतिदिनका अनुभव है। इसीलिये प्रत्येक प्राणी प्रतिदिन निद्रा लेता है और नवजीवन प्राप्त करता है, तथा कमजोरीको दूर करता है। यदि किसी प्राणीको निद्रा न आयेगी, तो उसका शीघ्रही मृत्यु होगा; इतनी निद्राकी अर्थात् "मनके व्यापार लीन करनेकी आवश्यकता" है।

अब पाठकोंको इस बातका विचार करना चाहिये कि,

योग क्या है? "चित्तवृत्तियोंका निरोध" ही योग है। संपूर्ण "चित्त वृत्तियोंका निरोध" करना और मनकी स्थिरता प्राप्त करना ही योगसाधन का साध्य है। मनकी स्थिरतासे जो लाभ होता है, उसका अनुभव निद्राका विचार करने से हमारे ध्यानमें आचुका है। निद्रामें तमोगुणकी अर्थात् अज्ञान की प्रधानता रहती है, और योगसाधन जन्य चित्तकी स्थिरतामें सत्वगुणकी विशेषता रहती है। तमोगुणमय अवस्थाकी अपेक्षा सात्विक अवस्था अधिक उच्च है, इसमें प्रमाणान्तर देनेकी कोई आवश्यकताही नहीं है। अर्थात् जितना स्वास्थ्य, आनंद और बल निद्रासे प्राप्त होता है, उससे कई गुणा अधिक स्वास्थ्य, आनंद और बल मनकी स्थिरतासे प्राप्त होना संभवनीय है। योगसाधनजन्य इस अवस्थाको "योग-निद्रा" ही कहते हैं। साधारण "निद्रा" से जितना लाभ हो सकता है, उसकी अपेक्षा "योग निद्रा" से कई गुणा अधिक लाभ होता है, अथवा अधिक लाभ होना संभवनीय है; यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी। योग साधनसे जो लाभ होता है वह यही है। परंतु कई पाठक कहेंगे कि, चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेके पश्चात् यह लाभ हो सकता है, उससे पहिले नहीं; इसलिये जबतक हमारा मन स्थिर नहीं होता, तबतक हमको क्या लाभ हो सकता है? यह प्रश्न ठीक है; परंतु देखना यह है कि, साधन करनेके विना किसीभी साध्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

एक आमका वृक्ष है और उसपर पके हुए आम बहुत हैं। परंतु अपने स्थानसे उठना, उस आमतक पहुंचना, उसपर चढना, आम तोडना और पश्चात् उस आमको खाना होता है। आम खानेतक जितने व्यवसाय हैं, उनमें आम खानेका आनंद नहीं है। यदि कोई कहेगा कि, केवल वृक्षके पास पहुंचने मात्रसे आमका रसास्वाद नहीं प्राप्त होता, इसलिये मैं वहां नहीं जाऊंगा; तो उसको क्या कहा जाय ? जिस प्रकार यह है, उसी प्रकार योग साधनके विषयमें है। अंतिम साध्य प्राप्त करनेके लिये साधनकी अत्यंत आवश्यकता है। और जबतक एक निष्ठासे प्रतिदिन अनुष्ठान होगा, तबतक साध्यका आनंद प्राप्तभी नहीं होगा।

तथापि योगसाधन के मार्ग में आक्रमण करते करते कोई लाभ नहीं होता ऐसी भी बात नहीं है। यहां प्रत्येक सीढीपर लाभ होते हैं और अनुभव भी आते रहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच यमोंका परिपालन करनेसे मनुष्यका अन्य मनुष्यों और प्राणियोंके साथ यथायोग्य व्यवहार होता है। सामाजिक स्वास्थ्यके लिये इसकी बडीभारी आवश्यकता है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं, इनका पालन करनेवालों के अंदर वैयक्तिक शांति उत्तम प्रकार रह सकती है। तात्पर्य सामाजिक शांति चाहनेवालोंको पांच यमोंका पालन करना आवश्यक है,

और वैयक्तिक शांति की इच्छा करनेवालोंको पांच नियमोंका पालन करना चाहिये। कौन ऐसा मनुष्य है कि, जो वैयक्तिक और सामाजिक शांति नहीं चाहता? सबही मनुष्य इन शांतियोंकी इच्छा करते हैं, इसलिये सबको आवश्यक है कि, वे इन यमनियम रूप योग साधनका अवश्य पालन करें। इस विचार से पाठकोंको पता लगा ही होगा कि, योग साधनके इन प्रारंभिक यमनियमोंसे भी कितना लाभ हो सकता है।

आसनोंके अभ्याससे शरीरका रुधिराभिसरण अच्छा होता है, और सब स्नायुओंका आरोग्य उत्तम होता है, तथा संपूर्ण अंतडियोंकी गति ठीक प्रकारसे होती है। जो लोग जानते हैं कि, रुधिराभिसरण, नसनाडियोंकी निर्मलता, और अंतडियोंकी गति के साथ मनुष्यके आरोग्यका कितना घनिष्ट संबंध है, उनको कहनेकी आवश्यकता नहीं है, कि आसनोंसे क्या लाभ होता है।

प्राणायामसे फेंफडों की शक्ति बढती है, रुधिर अधिक शुद्ध होता है, और संपूर्ण नाडिचक्रोंमें चेतना उत्पन्न होती है। इसका स्वास्थ्यक साथ अत्यंत संबंध है। जिसके फेंफडे बलवान होते हैं, वह दीर्घायु हो सकता है। जिसका रुधिर शुद्ध होता है, उसके अंदर रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है; इसलिये उसके पास रोग नहीं ठहरते और वह हमेशा नीरोग रहता है। जिसके नाडिचक्रोंमें चेतना होती है, उसमें अनेक प्रकारकी शक्तियां

विकसित होती हैं। जैसा (१) मूलाधार चक्र—गुदाके पास रहता है। इस चक्रमें चेतना उत्पन्न होनेसे वीर्यस्थिरता होती है, और वीर्यकी स्थिरता होनेसे संपूर्ण शरीर सुदृढ होजाता है। इस चक्रकी चेतना प्राप्त होनेसे मनुष्य ऊर्ध्वरेता हो सकता है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र—मूलाधारके ऊपर चार अंगुल है। इसमें चेतनता प्राप्त होनेसे रोग दूर होते हैं, अद्भुत आरोग्य प्राप्त हो सकता है। शरीर की थकावट दूर हो जाती है, और उससे ऐसा प्रेमका प्रवाह चलता है कि उसके पास उसके शत्रुभी मित्र बन जाते हैं। हिंसकभाव उससे दूर भाग जाते हैं और प्रेम दृष्टिका उसमें उदय होजाता है। (३) मणिपूरक चक्र—ठीक नाभिस्थान में है। इसकी चेतनता उत्पन्न करनेसे शारीरिक और मानसिक दुःख दूर होते हैं, विपरीत परिस्थितिमें भी इसके मनकी स्थिरता हटती नहीं। दिव्य दृष्टि प्राप्त होकर मनुष्य अपने आपको शरीरसे भिन्न अनुभव करने लगता है। सब चक्रोंका यह मध्यस्थान है, संपूर्ण शरीरमें समता रखना इस चक्रका उद्देश है, और समता ही श्रेष्ठ स्वास्थ्य है। (४) सूर्यचक्र—यह चक्र नाभिके किंचित् ऊपर परंतु थोडासा सीधी ओर है। संपूर्ण पेट, आंतडियां तथा वहांके सब अन्य अवयवोंकी सुस्थिति इस चक्रकी चेतनासे सिद्ध होती है। दीर्घ आयु, अपूर्व आरोग्य आदि सब इसकी चेतनासे सिद्ध होता है। इसकी चेतनासे क्षुधा बढनेका प्रत्यक्ष अनुभव थोडेही दिनोंमें होता है। भस्त्रा प्राणायामसे विशेषतः और अन्य प्राणायामोंसे

सामान्यतः इसमें चेतनता आती है। शारीरिक बल आरोग्य आदिके लिये तथा पेट और अंतडियोंके संपूर्ण व्यापारोंके लिये इस चक्रकी चेतना सहायक होती है। (५) मनश्चक्र–यह पेट अर्थात् अन्नाशयके समीप परंतु किंचित् ऊपर है। केवल कुंभक प्राणायामसे इसमें चेतना उत्पन्न होती है। तार्किक मनन शक्तिका विकास आदि इससे होता है क्योंकि मस्तिष्कका इससे दृढ संबंध है। (६) अनाहत चक्र–हृदय स्थानमें है, हृदयके साथ इसका संबंध है। हृदयके संपूर्ण व्यापार इससे नियमित होते हैं। इसकी चेतनासे हृदयमें बडा बल प्राप्त होता है। हृदयके बल परही प्राणियोंका जीवन अवलंबित है, तथा जो प्रेम, भक्ति आदि हृदयके उच्च तथा नीच भाव हैं, वे इसीसे संबंधित हैं। योग्य प्राणायामसे इसकी शक्तिका विकास और अयोग्य विधिहीन प्राणायामसे इसकी क्षीणता होती है। (७) विशुद्धिचक्र–कंठस्थानमें है। कंठके मूलमें जहां दोनों ओर की हड्डियां आती हैं और बीचमें अंगुष्ठमात्र नरम स्थान होता है, वहां यह चक्र है। इस चक्रकी चेतना प्राप्त होनेसे स्वरविज्ञान प्राप्त होता है। इस पर चित्त स्थिर करनेसे बाह्य जगत् का विस्मरण और अंतरात्माके स्वरूपका प्रकाश होता है। इसकी चेतनासे तारुण्य और उत्साह स्थिर रहता है। साधन मार्गमें इसका महत्व बहुत है।

(८) आज्ञा चक्र–दोनों भौओंके मध्यमें है। इसकी चेतना प्राप्त होनेसे संपूर्ण शरीरपर उत्तम प्रभुत्व प्राप्त होता

है, हरएक नसनाडीकी स्वाधीनता प्राप्त होनेसे, अपने आत्माकी प्रेरणासे सब व्यवहार चलरहा है, ऐसा यहां अनुभव होता है। दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये इस चक्रकी चेतना बडी सहायता देती है (९) सहस्रार चक्र—तालुस्थानके ऊपर है, इसका महत्व अत्यंत है। शरीरमें ऐसा कोईभी भाग नहीं कि जिसके साथ इसका संबंध नहीं। सब शक्तियां इसमें विराजमान होती हैं। (१०) भ्रमरगुहा किंवा ललाट चक्र—यह ललाटके ऊर्ध्वभागमें है। इसका भी विलक्षण महत्व है।

इन सब चक्रोंमें तथा इनसे भिन्न जितने और शक्तिके केंद्र हैं उन सबमें प्राणायामसे चेतना उत्पन्न होती है। चेतना उत्पन्न होनेसे उस चक्रकी शक्ति विकसित होती है। प्राणायाम विधियुक्त और नियम पूर्वक करनेसे वर्ष दो वर्षोंमें भी किसी न किसी केंद्रकी शक्तिका विकास होनेका अनुभव आता है। तथा यदि किसीको विशेष चक्रकी शक्ति उद्बोधित करनी हो तो भी, विशेष प्रयत्नसे और विशेष नियमोंके अनुसार आचरण करनेसे, हो सकती है। परंतु यदि कोई कहेगा कि, कोई प्रयत्न न करनेपर भी शक्तिकी जागृतिका अनुभव आना चाहिये, तो वह इच्छा कबीभी सफल नहीं हो सकती है। पुरुषार्थ करनेपर सिद्धी हो सकती है, न करनेपर कैसी हो सकेगी ?

प्रत्याहार का अभ्यास करनेसे इंद्रियोंकी स्वाधीनता होती है। इंद्रियोंकी स्वाधीनता भी एक बडी भारी शक्ति है। इंद्रि-

योंकी स्वैर वृत्ति को रोकनेसे ही अपने अंदर शक्तिकी वृद्धि होती है। जिसकी इंद्रियां स्वैर हैं अंदाधुंदीसे जो विषयोंका सेवन करता है, वह निःशक्त, अल्पायु और मनका कमजोर बनता है, यह सार्वत्रिक अनुभव है। इसलिये प्रत्याहार से हरएक व्यक्तिका लाभ निःसंशय होता है।

धारणा और ध्यान ये दोनों प्रकार मनकी एकाग्रता के लिय अत्यंत आवश्यक हैं। मनकी एकाग्रता जिसको साध्य है, वह एक प्रकारकी अद्भुत शक्तिसे युक्त होता है। मनके नियंत्रणके अंदरही संपूर्ण इंद्रियां कार्य कर रहीं हैं, इसलिये मनकी स्वाधीनतासे संपूर्ण इंद्रियोंकी स्वाधीनता होती है। इसके अतिरिक्त "ध्यान" का और भी एक महत्व है। किसी विषयके संबंधमें मनुष्यको यदि निदिध्यास लगा, तो वह बात वैसी ही बनजाती है। इसका प्रयोग असंभव बातोंमें करनेका नहीं है। जैसा कि कोई चाहेगा कि मैं चांदमें जाकर बैठूं, तो वह बात सिद्ध नहीं होगी; परंतु यदि कोई चाहेगा कि, मैं अपनी इच्छा शक्तिसे अपने शरीरमें कई बातें सिद्ध करूं, तो उसकी सिद्धि होना संभवनीय है। ध्यानसे तद्रूपता प्राप्त होती है। तथा ध्यानसे अपनी शक्ति बढती है।

इसप्रकार योगके प्रत्येक अंगसे लाभ होता है। तात्पर्य विधि-युक्त योगसाधन करनेसे किसी प्रकार नुकसान नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि, यदि हमें लाभ होगा, तोही हम योग साधन करेंगे, नहीं तो नहीं; उनके लिये ही यह लेख

लिखा है और इसमें बतानेका यत्न किया है कि योगके हर-एक अंगसे सामान्यतः किन किन शक्तियोंका विकास हो सकता है। योग साधन करनेवाला मनुष्य अधिक अनुष्ठान करनेसे समाधि तक शीघ्र पहुंच सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। परन्तु इतना साधन करना हरएक मनुष्यके लिये आजकल असंभव है। इसलिये साधारण मनुष्य जो घंटा दो घंटे ही प्रतिदिन इस योगके अनुष्ठान के लिये दे सकते हैं; अथवा घंटा आधा घंटा ही नियम पूर्वक दे सकते हैं, उनको भी साल छः महिनोंमें उचित अनुभव प्राप्त होगा, और अपनी शक्तिके विकासका अनुभव उनको भी होगा।

यह योग साधन ऐसा है कि, इसका थोडासा अनुष्ठान हुआ तो भी उचित लाभ हो सकता है। समाप्तितक अभ्यास न होनेसे कोई नुकसान नहीं होता। संपूर्ण शास्त्रोंमें यह योग शास्त्रही प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र है। थोडा अभ्यास करने वाले को थाडा लाभ अवश्य होगा, और दृढ अभ्याससे जो अधिक अनुष्ठान करेगा उसको अधिक लाभ होगा, तथा बीचमें अधूरा छोडनेवालेका कभी नुकसान नहीं होगा।

परंतु अनियमित व्यवहार करनेवालेका, नियमविरुद्ध आचरण करनेवालेका इससे अवश्य नुकसान होता है। कई लोग प्राणायामादिक क्रियाएं अपनी ही कल्पनासे करते रहते हैं, उनका नुकसान होना संभव है। तथा आहार विहार आदिका अनियम करने वालोंका भी नुकसान होता है तथापि

यह योग साधन का दोष नहीं है। यह उस करनेवाले मनुष्यके नियम विरुद्ध आचरणका दोष है। इस प्रकार दोषी मनुष्यका अहित होताही है तथा योग साधनको छोडकर किसी भी अन्य व्यवसायमें अनियम होनेसे घात होता है। अस्तु।

इसप्रकार नियमानुकूल व्यवहार करनेवालोंका निःसंदेह लाभ करनेवाला योगसाधन है। इसलिए इसके अनुष्ठानके लिये स्थान स्थानमें, नगरनगरमें और ग्रामग्राममें योगसाधन करनेवालोंके संघ होने चाहिये, और वहा सबको मिलकर प्रयत्न करने चाहिये। वैदिक धर्मके तत्वोंका साक्षात्कार करनेका यही एकमात्र उपाय है, इसलिये आशा है कि इस विषयकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित हो जायगा।

सब पाठकोंको अपने अपने स्थानोंमें समान विचारोंके लोग आकर्षित करना उचित है। अलग अलग अनुष्ठान करनेसे वैयक्तिक लाभ होगा, परंतु संघ बनाकर विचार पूर्वक अनुष्ठान करनेसे बहुत ही अधिक लाभ होता है। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि इसका अवश्य विचार करें, और अपने स्थानमें जो हो सकता है करनेका यत्न करें।

योगसाधनकी तैयारी।

(लेखक—श्री. परशुराम हरि थत्ते, नासिक.)

येन ज्ञातमिदं सर्वं ज्ञातं भवति निश्चितम् ॥
तस्मिन्परिश्रमःकार्यःकिमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥

शिवसंहिता।

"जिसके ज्ञात होनेसे सबका निश्चित ज्ञान होता है, उसीको जाननेके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये।" अन्य परिश्रम व्यर्थ हैं। इस प्रकार निश्चित ज्ञान होनेका शास्त्र एकही योगशास्त्र है, इसलिये इसीके जाननेके लिये प्रयत्न होने चाहिये। कई कहते हैं कि ज्ञानसे मोक्ष होता है, यदि यह सत्य है तो योगकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें निवेदन है कि, तलवारसे जय मिलता है यह सत्य है, परंतु युद्ध करनेके वीर्ययुक्त पुरुषार्थके विना केवल तलवारसे जैसा विजय नहीं प्राप्त हो सकता, उसी प्रकार योगरहित ज्ञानसे क्या होना है? इसी लिये सब ऋषिमुनी प्राणायाममें तत्पर होते हुए योगाभ्याससे चित्तवृत्तियोंका निरोध करके राजयोगके मार्गसे उन्नतिको प्राप्त करते रहे। भगवद्गीतामें भी कहा है कि—"तपस्वी लोगोंकी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी

पुरुषोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, और कर्मकांडवालोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है; इसलिये हे अर्जुन ! तूं योगी हो।" (भ. गी. ६-४६) इस प्रकार योगका महत्व है, इसलिये योगका आचरण करनेका यत्न करना उचित है।

इस योगका अभ्यास हरएक कर सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अथवा ज्ञानी, शूर, व्यापारी और साधारण जन ये सब योगाभ्यास कर सकते हैं। स्त्री और पुरुषाको भी इसमें अधिकार है। तरुण, वृद्ध, अति वृद्ध, व्याधियुक्त, दुर्बल तथा स्त्रियां आदि सबको इस योगका अधिकार है। क्यों कि इससे प्रत्यक्ष लाभ होता है, इसलिये इसके लाभसे कोईभी वंचित न रहे। जिसके मनमें योगका अभ्यास करने की इच्छा हो, वह इसका अभ्यास अवश्य करे। परंतु शठ कपटी, दुर्बल, शिश्नोदरपरायण अर्थात् कामी और भोगी, वेषधारी ढोंगी इस प्रकारके जो छली और कपटी होते हैं, वे योगके अधिकारी नहीं हैं ऐसा घेरंडाचार्यका कथन है और वह सत्यभी है। क्यों कि इस प्रकारके कपटी लोग योग करने लगेंगे तो निःसंदेह अनर्थ होगा।

जो (१) विद्या पढनेमें दत्तचित्त, (२) जितेंद्रिय, (३) शांतचित्त, (४) सत्यवादी, (५) गुरुसेवामें तत्पर, (६) पिता माताकी सेवा करनेवाला, (७) विधिके अनुकूल कर्म करनेवाला, (८) शुद्ध, पवित्र, (९) स्नानादि कर्मोंमें तत्पर, (१०) स्वधर्ममें श्रद्धा रखनेवाला,

(११) सीधे स्वभावसे युक्त, (१२) और कुलीन, सच्छील है, वह मनुष्य योगसाधन करनेके लिये प्रशस्त योग्य है; और उसीको सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यहां स्मरण रहे कि वेष धारण करनेसे योगकी सिद्धि नहीं हो सकती, परन्तु अनुष्ठान करनेसेही सिद्धि हो सकती है। इसलिये नियमपूर्वक अनुष्ठान न करनेवाले इस मार्गमें न आजांय।

योगसाधनमें मुख्य बात मन और शरीरकी है। आत्माका संबंध मन और शरीरसे है। शरीर जड स्थिर तथा (शीर्यत इति शरीरं) जीर्ण होनेवाला है, तथा मन सूक्ष्म और अत्यंत चंचल है। इसलिये शरीर का ज्ञान होनेपर भी मनका ज्ञान होना कठिन है, और मनका ज्ञान होनेपर भी आत्माका ज्ञान होना अत्यंतही कठिण है। परन्तु मनकी चंचलतासे बाधित न होकर यदि मनके अंदरसे, मनके परे देखनेका यत्न किया जाय, तोही उस आत्माका दर्शन होना संभव है। इस विषयमें निम्न बातें सदा ध्यानमें धरने योग्य हैं—

(१) शरीर, मन और आत्मा इस त्रयीमें शरीर स्थूल और मन सूक्ष्म है परंतु ये दोनों जड हैं। आत्मा ही केवल चेतनरूप है परंतु मनके समान तथा उससेभी अधिक अदृश्य है।

(२) शरीरके अंदर मन, और मनके अंदर आत्मा है। जैसी एक थैलीमें दूसरी थैली होती है, अथवा प्याजके बाहिरके छिलकेके अंदर दूसरे छिलके होते हैं, तद्वत् उक्त कोश एकमें दूसरा विद्यमान है। इन तीनोंमें आत्मा मुख्य है।

उसकी विद्यमानतासे ही मन और शरीर की स्थिति होती है। उसके चले जानेसे शरीर जलाने योग्य समझा जाता है। आत्माके बाहिर मन और उसके बाहिर शरीरके कवच हैं। इनमें परस्पर घनिष्ट संबंध है। शरीरके स्वास्थ्य और सुखसे मन स्वस्थ और सुखी होता है तथा मनके स्वास्थ्य और सुखसे शरीरभी वैसाही होता है।

(३) आत्मा अमर है और मन तथा शरीर ये दो उसके पहननेके वस्त्र हैं जब ये जीर्ण होते हैं तब वह दूसरे पहनता है।

इनका परस्पर संबंध कैसा है इसका विचार करनेके कई प्रयोग करके देखने योग्य हैं। इनमें एक प्रयोग ऐसा है कि—जब आप उपोषण करना प्रारंभ करेंगे, तब आपका शरीर क्षीण होने लगेगा, पश्चात् मन भी अशक्त होने लगेगा। सात आठ दिन अन्न न सेवन करनेसे बैठना उठना भी मुश्किलसे हो जायगा। जो अध्ययन किया हुआ ज्ञान होगा, वह भी भूल जायगा। इसी प्रकार पंद्रह दिन उपोषण करनेसे और भी स्मृति नष्ट होगी और शरीरकी क्षीणता बढेगी इससेभी अधिक दिन उपोषण करनेसे संपूर्ण इंद्रियाँ क्षीण होगीं, आंखसे दीखना बंद हो जायगा, कानसे सुनाई नहीं देखा, तथा अन्य इंद्रियांभी अपने कार्य करनेमें असमर्थ हो जायंगी; अंतमें ऐसी अवस्था आवेगी कि, जीव शरीरको छोडनेकी तैयारी करने लगेगा। इस अवस्थामें थोडा थोडा अन्न सेवन करनेसे पुनः पूर्ववत् सब इंद्रिय कार्य करने लगेंगे, मनकी स्मरणशक्ति पुनः आवेगी और शरीर पूर्ववत् कार्य-

क्षम हो जायगा। इस प्रकार अन्न शरीर, मन और जीवका संबंध है। अन्नसे शरीर पुष्ट होता है, इंद्रिय ठीक अवस्थामें रहते हैं, मन कार्य करनेमें समर्थ होता है और आत्मा उनमें रहना चाहता है।

दूसरा प्रयोग ऐसा है कि, आंख नाक आदि पंच ज्ञानेंद्रियां पंच कर्मेंद्रियां जो शरीरमें हैं, उनमें किसी एक दो के न होनेसे शरीर चलता ही है; परंतु प्राण चला गया, तो शरीर कार्य करनेमें असमर्थ होता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य इंद्रियोंकी अपेक्षा प्राणका अत्यंत महत्व है।

योगका साधन करनेवालोंको इन प्रयोगोंका अनुभव लेना उचित है। इसका अनुभव कल्पनासेभी आ सकता है। इस लिये विचारकी दृष्टिसे हरएक मनुष्य उक्त बातका अनुभव लेवे और शरीर, मन, प्राण तथा आत्माका संबंध जाननेक यत्न करे। इनमें प्रेरक स्फूर्तिदायक आत्मा है और प्रेरित होनेवाले इतर पदार्थ हैं। यह व्यवस्था जैसी एक शरीरमें है वैसी ही विश्व में है, विश्वमें परमात्मा ही प्रेरक है और इतर पदार्थ प्रेरित होते हैं। तात्पर्य आत्माकी प्रेरणासे यह सब प्रेरित हो रहा है, इसका विचार करके आत्माकी प्रेरणा मन द्वारा शरीरमें कैसी होती है, इसका अनुभव करके सर्व आत्माकी चेतना ही देखनी चाहिये।

आत्माकी प्रेरणा मनमें और मनकी शरीरमें हो रही है, यह बात जब अनुभवमें आजायगी; तथा जब यह भी अनुभवमें आ जायगा कि अन्नसे शरीर, शरीर

से मन और मनसे आत्मा कार्यक्षम होता है; तब यह बात स्पष्ट हो जायगी, कि एक दूसरेको सहायक बनानेसेही उन्नति होना संभव है। अर्थात् शरीर और मन एक दूसरेको सहायक हों और इन दोनाकी सहायता आत्माके लिए हो। शरीर स्थिर है इसलिये उसकी घृणा करनी, मन चंचल है इसलिये उसका सब व्यवहार बंद करना कदापि उचित नहीं है; परंतु उचित यही है कि शरीर मन और प्राण आत्माके सहायक बनें, आत्माके आधीन कार्य करें और आत्माकी शुद्ध प्रेरणाके वाहक बनें; तात्पर्य आत्माका विरोध न करें, परंतु आत्माका कार्य करने योग्य बनें! इनको ऐसे सुयोग्य बनाना ही "योग" है। ये योग अनेक हैं; हठ–योग, कर्म—योग, भक्ति–योग, ज्ञान–योग, राज–योग इत्यादि।

मन स्थिर होनेसे उसीको चित्त कहते हैं, और चित्त अस्थिर होनेसे वही मन संज्ञाको प्राप्त होता है। वास्तविक मन और चित्त एकही है। मन अत्यंत शक्तिशाली है, परन्तु जबतक वह चंचल रहता है, तबतक उसकी शक्ति व्यर्थ जाती है। जिस प्रकार जलकी भांप खुली छोडनेसे कोई कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार चंचल स्वैर मन कोई कार्य करनेमें असमर्थ है। परन्तु वही भांप यंत्रमें रखनेसे बडे कार्य करती है, उसी प्रकार मनभी नियमनमें रखनेसे अथवा एकाग्र होनेसे विलक्षण काय करनेमें समर्थ होता है। इसलिये उसको किसी मार्गसे एकाग्र करना चाहिये। इस कार्यके लिए सबसे सुगम मार्ग यहां योग मार्ग है, क्यों कि इस योगसे ही शरीरकी

तथा मनकी एक समयमें ही शक्ति विकसित होती है और वह आत्माके योग्य सहायक बनते हैं।

योगमें हठयोग, राजयोग तथा राजयोग-चिंतामणि ये तीन भाग हैं। हठयोगमें आसनाभ्यासकी तथा आग्रहयुक्त और हठयुक्त नियमोंकी प्रधानता होती है। राजयोगमें ध्यान-धारणा द्वारा मनःसामर्थ्य बढानेका महत्व विशेष है। तथा राजयोग-चिंतामणिमें तृतीयनेत्र, आज्ञाचक्र अथवा सहस्रदल कमलके चिंतामणिपर संयम करके आत्मशक्तिका अनुभव लेना मुख्यतया होता है। इसमें जो सहज हो सकता है वही आसन पर्याप्त होता है। प्रारंभमें प्राणायाम इसलिये किया जाता है कि उससे नस नाडियोंकी शुद्धि होजाय। यह सब प्रथम अवस्थामें आवश्यक है परंतु इसके लिये उक्त स्थानोंमें संयमही विशेषतः अत्यंत आवश्यक है। योगके आठ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच ये दस यम हैं। (१) काया वाचा तथा मनसे किसीको कोई क्लेश न देना अहिंसा कहलाती है। (२) जिससे सब भूतोंका हित है और जिसमें असत्य नहीं है वह सत्य है। (३) दूसरेकी वस्तुका अपहार न करना अस्तेय है। (४) स्थिरवीर्य होनेका नाम ब्रह्मचर्य है। (५) प्रिय अथवा अप्रिय अवस्थामें चित्तकी समता रखना क्षमा है। (६) संपत्ति अथवा विपत्तिमें धैर्यसे कर्तव्य तत्पर रहना धृति है। (७) शत्रु मित्र तथा उदा-

सीनोंका हित करनेका भाव धारण करना दया कहलाती है। (८) सरलताकी वृत्तिका नाम आर्जव है। (९) पेटके चार विभाग मानकर उनमें दो विभाग अन्नसे पूर्ण करने, एक विभाग पानीसे पूर्ण करना और एक विभाग वायुकेलिये रखना मिताहार कहलाता है। (१०) आंतरिक तथा बाह्य पवित्रता रखनेका नाम शौच है। इसके अतिरिक्त "असंचय" अर्थात् निर्लोभता, बडा धन संचय करनेकी इच्छा न रखना और संतोष वृत्तिसे रहना; तथा निर्भय वृत्तिसे सब व्यवहार करना, ये भी दो यम हैं ऐसा कई कहते हैं।

तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरभक्ति, सिद्धांतश्रवण, ही, मती, जप, हुत ये दस नियम हैं। (१) द्वंद्व सहन करनेका नाम तप है। (२) सहज जो सुख दुःख प्राप्त होगा, उसको पवित्र मनसे सहन करना संतोष कहलाता है। (३) ईश्वर तथा धर्म विषयमें आस्तिक्य बुद्धि धारण करना आस्तिक्य है। (४) न्यायसे प्राप्त धन सत्पात्रमें अर्पण करना दान कहलाता है। (५) ईश्वरकी भक्ति परमात्मपूजन है। (६) धर्मसिद्धांत ग्रंथोंका श्रवण और मनन करना सिद्धांतश्रवण कहलाता है। (७) अपने हाथसे दुष्कर्म होनेपर जो संकोचभाव मनमें होता है वह ही होती है। (८) शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानमें दृढ श्रद्धा रखना मती नामसे प्रसिद्ध है। (९) मंत्रका वारंवार स्मरण जप कहलाता है। (१०) हवन करनेका नाम हुत है।

इस प्रकार यम नियमोंका स्वरूप है। इनका अभ्यास

जितना हो सके अवश्य करना चाहिये। इससे बहुत लाभ हैं। कई आचार्य यम नियम पांच पांच हैं ऐसा कहते हैं, कई दस दस कहते हैं और कई इससेभी अधिक कहते हैं। इनकी संख्या न्यूनाधिक होनेसे कोई बिगाड नहीं है। ये सब एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले गुण हैं। विचारसे इनकी न्यूनाधिकताका भ्रम दूर हो सकता है।

योगका तीसरा अंग आसन है। उत्तम स्वच्छ पवित्र और निरुपद्रव स्थानमें रह कर आसनोंका अभ्यास करके नाडीशुद्धिकी सिद्धी करनी चाहिये। इस योगका प्रारंभ वसंत ऋतुमें अथवा शरद्दतुमें करना उचित है। इस विषयमें और एक बात यह है कि सीधे नाकसे श्वास चलनेके समय भोजन तथा दूसरे नाकसे श्वास चलनेके समय शयन करनेसे बडा लाभ होता है।

सर्व साधारण ध्यानादिके लिये सिद्धासन अच्छा होता है। वामपादकी एंडी गुदा और वृषणके बीचमें लगाकर दक्षिणपादकी एंडी शिस्नके ऊपर लगाकर हनु कंठमूलमें हृदयके ऊपर स्थिर करनी। शरीर स्थिर तथा सीधा रख, इंद्रिय संयम कर, आंख न हिलाते हुए भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर करनी इस प्रकार बैठनेको सिद्धासन कहते हैं। इस आसनमें स्थित हो कर मुख बंद कर, जिह्वा मूलस्थानमें संचालित करके वहां जो अमृतस्राव होता है, उसका प्राशन करनेसे बडा लाभ होता है। इसलिये हरएकको योग साधन करके लाभ उठानेका यत्न अवश्य करना चाहिये।

मुझे आरोग्य कैसा प्राप्त हुआ ?

[लेखक—श्री. पं. पांडुरंग गोपाल बाळ महाजन, मुंबई.]

' आसनोंसे लाभ । '

आजकल बहुतसे लोगोंका ध्यान शरीर शास्त्र और आरोग्यकी ओर हो रहा है, अनेक विद्वान विविध उपायोंका पुरस्कार कर रहे हैं। कई कहते हैं कि सैंडोकी व्यायाम पद्धति बडी अच्छी है, दूसरे कई समझते हैं कि नूतन आरोग्य संप्रदाय वालोंकी बस्तिविधि लाभदायक है, तीसरे कई लोग डा. कुन्हे महोदय की जल चिकित्सा बहुत पसंद करते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य लोग अन्यान्य नवीन युरोपियन पद्धतियोंका पुरस्कार करते हैं। परन्तु यहां शोकसे कहना पडता है कि, जिन ऋषि मुनियोंके हम वंशज हैं, उनकी "योग पद्धति" की ओर किसीकाभी ध्यान नहीं जाता। अनुभवसे अब मेरा यह निश्चय हो चुका है कि, आरोग्य संपादनकी "योग प्रक्रिया" सर्वांग सुंदर और परिपूर्ण है। सब युरोपियन पद्धतियोंसे भी कई गुणा श्रेष्ठ, निर्दोष और परिपूर्ण "अष्टांग योग पद्धती' हमारे पास होते हुए भी हम अभागे लोग अपने आरोग्यके लिए अन्य अधूरे उपायोंके ही शरण जाते हैं। यह हमारी अवस्था देखकर जिन प्राचीन पूर्वजों और ऋषि मुनियोंने इस योगपद्धतिका आविष्कार किया, वे क्या

कहते होंगे ? वे हमारे पूर्वज हमारे विषयमें किस प्रकारकी संमति धारण करते होंगे ? प्रिय पाठको ! इसका यहां अवश्य विचार कीजिए । अपनी प्राचीन अष्टांगयोगपद्धति हमारे लिए हमारे रहने सहनेकी सुविधाके विचारसे बहुतही सुगम और बडी आरोग्यदायक है । न इसमें कोई व्यय करना पडता है, न इसमें किसी प्रकारका खतरा है । कई विचारी युरोपीयन और अमेरिकन लोगभी अब इसीको अपनाने लगे हैं । इतनाही नहीं प्रत्युत जो यूरप अमेरिकाकी नूतन आरोग्य पद्धतियां हैं, उनके बीज हमारे अष्टांगयोग पद्धतिमें विद्यमान हैं ।

अपनेपास जो आरोग्यसाधक योगपद्धति है, उसका उत्तम विचार करके तत्पश्चात् अन्य देशीय आरोग्यपद्धतियोंमें जो अनुकरणीय भाग होगा, उसका स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं; परंतु अपनी पद्धतिकी ओर ध्यान न देते हुए दूसरोंके पीछे नाचनेकी तैयारी करना बडाही हानिकारक प्रतीत होता है । अपना छोडकर जब हम दूसरेका स्वीकारने लगते हैं, तब हमको अपनाभी मिलता नहीं, और दूसरेका तो हमें पहिलेसेही अप्राप्त था । हमारे पूर्वजोंने बडे चातुर्यके साथ योगाभ्यासको हमारे जीवनमेंही मिलादेनेका प्रयत्न किया था और इसी लिए उपनयनके साथही आसन, प्राणायाम, ध्यान (संध्या) आदि योगांगोंको दैनिक अनुष्ठानमेंही संमिलित किया था । परंतु अब उपनयन एक जलसेके सदृश होने लगा है और सुशिक्षितोंमें प्राणायाम और ध्यानका नाम भी

न रहा!!! परंतु जिनका अनुकरण हमारे सुशिक्षित लोग कर रहे हैं, वे युरप अमेरिकाके सज्जन अब प्राणायामका महत्व जानने लगे हैं, और उसके अभ्यासमें बडी प्रगति कर रहे हैं। इसलिए हमारे लोगोंको अपनी "अष्टांग-योग-साधन-पद्धति" की ओर योग्य ध्यान देना चाहिये, और अपना आरोग्य बढानेके कार्यमें उसीका उपयोग करना चाहिये। इसविषयमें मैं अपना अनुभव संक्षेपसे यहां देता हूं।

यद्यपि मैं स्वयं अनपढ, ग्रामीण, तथा अशिक्षित हूं; तथापि मेरी अपनी कहानी आजकलके लोगोंको बडी बोधप्रद होगी, इस लिय मैं उसको यहां अतिसंक्षेपसे देता हूं।

"मैं जन्मसे रोगी, दुर्बल और क्षयीसा था। मेरा घराना प्राचीन परंपराकी रूढी माननेवाला था, छोटेसे पिंडमें रहनेके कारण मैं नवीन शिक्षासे अनभिज्ञ था। तथापि मेरे अन्य भाई बाहिर नगरोंमें जाकर पुरुषार्थ करके बडे विद्वान् और आंग्ल विद्यासे सुभूषित बने; परंतु व्याधिग्रस्त, दुर्बल आदि होनेके कारण मैं घरमेंही रहा और इस लिये अनपढही रहा। मेरे शिक्षित भाई तथा अन्य लोग भी मेरी वारंवार अप्रतिष्ठा करने लगे, वारंवार अपनी अप्रतिष्ठा होती है, यह देखकर मैं भी मनमें अत्यंत खिन्न और दुखी हो जाता था। परंतु करना क्या था!

"ग्राममें दुष्ट लोग थे उन्होंने अपने दुष्टभावसे प्रेरित होकर, मेरे शिक्षित भाइयोंमें और मेरेमें विद्वेष उत्पन्न कराया। इस

द्वेषसे संभवतः उनका कुछ औरही हेतु था, परंतु मैं साव-
ान होनेके कारण उनका वह हेतु सफल न हुआ। मैं पहिले-
ेही रोगी था और उसमें अधिक मूर्खताके कारण भंग पीने
ादि व्यसन करने लगा। इन व्यसनोंके कारण शरीरमें
ाना प्रकारकी बीमारियां बढ गई, और बहुत क्लेश हुआ।
हुत वर्षोंके पश्चात् किसी महात्माके उपदेशसे भंगका व्यसन
ोड दिया, तथापि जो रोग शरीरमें आ बसे थे, चले
हीं गये।

" विविध रोगोंसे अत्यंत कष्ट होनेके कारण वैद्य और
ाक्टरोंके पास जाना पडता था। परंतु औषधोंसे क्षणमात्र
ुण हो जाता था। कभी मुझे ऐसा नहीं हुआ कि, किसी
दकी किसीभी औषधिसे पूर्णतया आरोग्य प्राप्त हुआ हो।
ारंवार ऐसा हुआ करता था कि, इस औषधीसे गुण न हुआ
ो दूसरी लेलो। इस डाक्टरसे अच्छा गुण न हुआ तो दूस-
के पास जाओ। इस प्रकार प्रतिसप्ताह नये वैद्य, नये डाक्टर
और नये औषध होनेके कारण कई सालोंके पश्चात् औषधों-
परसे मेरा विश्वास हटगया। पश्चात् होमियोपथीका इलाज
ारंभ हुआ, परंतु कोई लाभ न हुआ। अंतमें डॉ. कुन्हेका
जलचिकित्साका उपाय शुरू हुआ। इससे किंचित् लाभ प्रतीत
हुआ। इसी इलाजको करते हुए मैं अपने एक मित्रके साथ
लाहौर पहुंचा और वहां श्री. पं. विष्णु दिगंबरजीके
" गांधर्व महाविद्यालय " में रहने लगा। श्री. पंडितजीकी

उदारताके कारण तथा गायनमें मन रमनेके कारण यहां मुझे बडा आनंद मिलने लगा। परंतु कुछ देरके पश्चात् मेरी बीमारी वैसीही मुझे क्लेश देने लगी। यह देखकर तथा पहिले भी पं. विष्णु दिगंबरजी मुझे कहतेही थे कि यह जलचिकित्साका उपाय ठीक नहीं है, इससे आपको बडे कष्ट भोगने पडेंगे। परंतु मेरा विश्वास जलचिकित्सापर बहुत था, इस लिय मैं पंडितजीके कहनेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता था। जल-चिकित्सासे मुझे बडा लाभ भी हुआथा, परंतु पूर्ण गुण प्राप्त नहीं हुआ था। इतनेमें एक दिन लाहौरमें भूंचाल हुआ। बडा जोरका यह भूंचाल था। बस, इस भूंचालके दिन ही मेरे अर्धांगमें विकार शुरू हुआ और थोडेही समयमें मेरा आधा शरीर चेतना रहित हुआ।

"मैं पंडितजीका मेहमान था, इसलिये पंडितजीने बडी कृपा करके अपने मित्रोंके द्वारा मुझे मेयो इस्पितालमें दाखल करदिया। पंडितजी तथा उनके सदय मित्रोंकी कृपाके कारण इस इस्पितालमें मेरा उपचार ठीक रीतिसे होने लगा। इस समयके युरोपीयन डाक्टर बड़े सज्जन थे और वे विशेष मेहनतसे मेरी चिकित्सा कर रहे थे। इस अर्धांग वायुकी बीमारीके कारण मेरा एक आंख बिलकुल बिगडा था, जिव्हाकी रस ग्रहण शक्ति चली गई थी, यहां तककी किना-ईनकी कडवाहटभी बिलकुल समझती नहीं थी। एक कान पूर्ण रीतिसे बंद हुआ था। हाथ और पांव बिलकुल शून्यसा

होगया था, तात्पर्य मेरी इस समयकी अवस्था बडीही परस्वाधीन और शोचनीय होगई थी ।

" डाक्टर कहने लगे कि वायुकी गतिमें देरतक बैठनेसे अथवा किसी प्रकार मस्तिष्कमें आघात होनेसे यह पक्षघातकी बीमारी हो जाती है । यह डाक्टरोंकी राय थी । पं. विष्णु दिगंबरजी का मत था कि यह बीमारी जलचिकित्साके कारण जा शीतता शरीरमें उत्पन्न होगई, उसके कारण उत्पन्न हुई है । अस्तु । किसीभी कारण बीमारी उत्पन्न हुइ हो, पहिली बीमारियोंमें और इस भयानक बीमारीके कारण एक संख्या बढगई और बडे कष्ट भोगने पडे । कई मास मैं इस इस्पितालमें रहा, किंचित्सा गुण हुआ, परंतु पूर्ण आरोग्य प्राप्त न हुआ । इस्पितालमें इतने मास रहनेके कारण मेरे मनकी अस्वस्थता बहुत हुई और मैंने बंबइ जानेकी आज्ञा मांगी । डाक्टरोंने भी देखा कि, अब इसका सुधार होना कठिन है, इसलिये यह चला जायगा तो अच्छा है; ऐसा विचार करके उन्होंने मुझे बंबई जानेकी आज्ञा दी । पश्चात् एक मित्रकी सहाय्यताके साथ मैं उसी बीमार अवस्थामें बंबई पहुंच गया । घरमें जब मैं पहुंचा तब मेरा पहिलेसेभी अधिक उपहास हुआ, इसलिये कि अब और एक बडी भयानक बीमारी मेरे शरीरमें आघुसी है, और शरीरभी अत्यंत परस्वाधीन हुआ है । मेरे मित्रों और संबंधियोंका यह उपहास सुनकर मुझे अत्यंत खिन्नता हुई । किसी दवाइसे आराम

प्राप्त नहीं होता था और परिवारमें मेरा कोई उपयोगभी नहीं था, इस लिये सब मेरा अपमान कर रहे थे। यह अवस्था देखकर सच मुच मुझे बहुत क्लेश हुए। इतनेमें एक मेरे मित्र आगये और उनके द्वारा श्रीमान् योगी श्री पांडुरंग गंगाधर नामजोशी जीके साथ मेरा परिचय हुआ। ये स्वयं योगाभ्यासी हैं और योगविद्याके प्रचारके लिये बडा प्रयत्न करते और कईयोंको योगसाधन सिखातेभी हैं।

" इनके साथ परिचय होनेसे मैंने निश्चय किया कि सब अन्य उपाय छोडकर इस अष्टांगयोगमार्गका ही मैं अवलंबन करूंगा। परंतु मेरे मार्गमें बडे विघ्न थे, मेरी आयु बडी होगई थी पहिलेसे शरीर रोगी था, अर्धांग वायुके कारण आधा शरीर बधिरसा होगया था; इसलिये योगसाधन होना कठिन प्रतीत होता था। परंतु मेरे गुरुजीकी सुगम रीतिके कारण और मेरे निश्चयके कारण मेरा प्रवेश योगसाधनमें थोडा थोडा होगया। पहिले जो आसन अत्यंत असंभव प्रतीत होते थे, वेही दो तीन महिनोंमें मैं सुगमताके साथ करने लगा। प्राणायाममें भी मेरी थोडी गति होगई। धौती और बस्ति-विधी मैं अच्छी प्रकार करने लगा।

" इतना होनेके लिये कई महिने नियमपूर्वक अभ्यास मुझे करना पडा। पहिले जो शरीर बिलकुल हिलताही नहीं था, वही मेरा शरीर शनैः शनैः प्रत्येक आसन करने योग्य होने लगा। कई आसन करनेके लिये प्रथमतः मुझे अत्यंत कष्ट हुए,

परंतु मेरे गुरुजीने अनेक योजना करके मेरेसे वे आसन करवाये। आसनके अभ्याससे शरीरकी नसनाडियोंकी ऐसी शुद्धि हुई कि सब स्नायु उत्तम प्रकार कार्य करने लग और थोडेसे महिनोंके निरंतर और नियमपूर्वक अभ्यासने मेरे शरीरमें योग्य परिवर्तन होकर मुझे यह निश्चय हुआ कि इस अष्टांग योगके साधनसे मैं निश्चयपूर्वक नीरोग हो जाऊंगा।

" विश्वास बढ जानेके कारण मेरा अभ्यास अधिक दृढता के साथ होने लगा, और जैसा जैसा अभ्यास बढता गया वैसा वैसा मुझे आरोग्यभी प्राप्त होता रहा। बालपनसे जो अनेक बीमारियां थी वह दूर होने लगीं, शरीर नीरोग और तेजस्वी होने लगा, अर्धांग वायुकी बीमारी जो बडे बडे डाक्टरोंके इलाजसे दूर नहीं होती थी, इस योगसाधनसे दूर होने लगी। और मुझे "नव-जीवन" प्राप्त हुआ। मेरे मित्र आनंदसे मुझे पूछने लगे कि " क्या आपका पहिला शरीर कहां गया ? और आपने यह शरीर कैसा प्राप्त किया !! " जो लोग पहिले मेरा उपहास करते थे वेही अब मेरी प्रशंसा करने लगे !!! मेरी नीरोगता देखकर गुरुजीको भी बडी प्रसन्नता हुई, और उनकी कृपासे मुझे ऐसा आरोग्य प्राप्त हुआ कि जैसा मुझे कभी जन्मभरमें प्राप्त नहीं था।

" यम नियमका साधारण पालन, आसनों का विशेष अभ्यास, प्राणायाम का योग्य अनुष्ठान तथा धारणा ध्यान-

पूर्वक साधारण उपासना करनेसे मुझे यह आरोग्य प्राप्त हुआ है। धौती तथा बस्ति करनेसे मेरे सब कोष्ठगत दोष दूर हुए हैं। त्राटक करनेसे मेरे नेत्रविकार दूर हो चुके हैं। अब इस समय यह अवस्था है कि मेरे शरीरकी ओर देखकर सब लोग आश्चर्यचकित होते हैं और कहते हैं कि देखो, यह कैसा था और अब योगसाधनसे कैसा बन गया है।"

यह मेरा अनुभव है। इसलिये अब मेरा विश्वास योग-साधनपर पूर्णतासे है। मैं समझने लगा हूं कि अष्टांग योगके अनुष्ठानसे प्रत्येक मनुष्यका शरीर नीरोग, सुदृढ, और बलवान बन सकता है, और क्षयके समान भयानक बीमारीभी दूर हो सकती है। जो पहिलेसे नीरोग हैं उनको योगाभ्यास करनेसे कभी बीमारी हो नहीं सकती। प्रतिदिन घंटा आधा घंटा योगसाधन करनेसे ही उक्त लाभ हो सकते हैं। योग साधन करनेके लिये किसी प्रकार उपकरणों और नानाविध साधनोंकी आवश्यकता नहीं है शरीरको विविध कष्ट देनेकी जरूरत नहीं है, बहुत पदार्थ खानेकी जरूरत नहीं है, किसी अन्य देशमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपने ही स्थानमें थोडे परिश्रमसे यह साधन हो सकता है तथा जितना साधन होगा उतना लाभ इससे होना संभव है। अर्थात् किया हुआ अनुष्ठान निष्फल नहीं होसकता।

इस योगका साधन करनेसे विना आयास आरोग्य प्राप्त होता है। डाक्टरोंके बिल देनेकी आवश्यकता नहीं है,

इस साधनसे शक्ति, बुद्धि और उत्साहकी वृद्धि होती है। प्रतिदिनके भोजनसे भी थोडा भोजन खानेसे अधिक बल प्राप्त होता है। इसलिये पैसा बचता है और शांतिका समाधान बढता है। इच्छा होनेपर ध्यान धारणा समाधितक मनुष्य जा सकता है, परंतु जिसको आगे बढनेकी इच्छा नहीं है, वह आसन प्राणायामके अभ्याससे अपना आरोग्य अवश्य बढावे।

यद्यपि यह योग साधन प्रत्यक्ष लाभ देने वाला होनेके कारण इसके अनुष्ठानसे कोई हानि नहीं और लाभ बहुत हैं, तथापि कई लोग इसका उपहासभी करते रहते हैं, और जो योगसाधन करेगा उसकीभी निंदा करते हैं। परंतु साधन करनेवालोंका उनका विचार करना नहीं चाहिये। और अपने साधनमेंही दृढतासे प्रगति करनी चाहिये। यह शरीर पुरुषार्थ का साधन है। इसलिये इसको उत्तम अवस्थामें रखना अत्यंत आवश्यक है। इस शरीरको आरोग्य संपन्न रखनेके जो अनेक साधन हैं उनमें सबसे उत्तम यह योग साधन है। स्त्री बच्चे और परिवार छोडकर इसके पीछे आनेकी आवश्यकता नहीं है। हर एक गृहस्थी इसका अनुष्ठान करके लाभ उठा सकता है। सुविचार से अपने इंद्रियोंका संयम करना चाहिये। ऐसा यदि हरएक स्त्री और पुरुष करेंगे, तो प्रत्येक कुटुंब अपूर्व शांति सुखका अनुभव कर सकता है।

मेरी अवस्थाका यह वृत्तांत इस समय बहुत मनुष्योंको मार्गदर्शक हो सकता है। आशा है कि विचारी सज्जन इससे योग्य बोध लेकर योग साधनके मार्गमें आकर शांतिके भागी बनेंगे।

मेरी घुटने की बीमारी कैसी दूर हो गई ?

"आसनोंका विलक्षण प्रभाव।"

(लेखकः—श्री. गणेश शिवराम रानडे, उद्योगमंदिर, मुंबई.)

सन १९१५ के अप्रेल मासमें मैंने बायसिकलपर चढनेका अभ्यास किया। जब बायसिकल चलाना मुझे आगया, तब मैं अधिक प्रवीणता प्राप्त करनेके लिए समुद्रके किनारेपर, प्रतिदिन सवेरे बायसिकल लेकर जाता था और बहुत ही घूमता था। किसी किसी दिन तो इस बायसिकल की सवारीसे मुझे इतनी थकावट हो जाती थी, कि उसका परिणाम पूरे दिनभर रहता था। इसी प्रकार ता. ५ मार्च के दिन मैंने हदसे अधिक बायसिकलकी सवारी की, जिसके कारण न केवल प्रतिदिनके समान थकावट ही हुई, परंतु घुटनेमें भयानक

बीमारी भी उत्पन्न हुई!! मुझे पूर्ण स्मरण है कि इस दिन मुझे शौचभी खुलकर नहीं हुआ था। उक्त परिश्रमके कारण दिनभर बेचैनी रही थी। किसी न किसी प्रकार दिन बीत गया, और सायंकालका भोजन करनेके लिये मैं तैयार होने लगा। इतनेमें ७, ७॥ बजे शौच जानेकी इच्छा हुई। मैं शौच गया, परंतु इस दिन विलक्षण कब्जी होनेके कारण शौच न हुआ। संपूर्ण शरीरसे बहुतही पसीना आ गया और थोडे समयमें बहुतही थकावट बढ गई। जब मैं उठने लगा तब घुटनेमें बडा दर्द हुआ। यही मेरी बीमारीका प्रारंभ है!

उसी अवस्थामें हाथपांव धोकर भोजन करनेकी इच्छासे भोजन करनेके लिये बैठ गया। परंतु इस दिन भोजन करनेका योगही नहीं था, क्यों कि बैठतेही सब शरीरमें इतनी खुजली प्रारंभ हुई कि, पांचही मिनिटोंमें मैं अपना संपूर्ण शरीर खुजलाते खुजलाते पागलसा होगया!! मुझेही स्वयं आश्चर्य होने लगा, कि यह मेरी कैसी अवस्था थोडेही समयमें बन गई!!! और यदि इसी प्रकार अवस्था बदलती चली गई, तो और थोडे समयमें क्या होगा?

और दोचार मिन्टोमें खुजलीका सहन करना असंभव हुआ! जब सब शरीरभर खुजली हो जाये, तब केवल दो हाथोंसेही कितना खुजलाया जा सकता है? इस प्रकार अवस्था बननेपर डाक्टरोंको बुलाया गया। पंद्रह मिनिटोंके अंदर डाक्टर आगये और चिकित्सा प्रारंभ होगई। बीमारीका नाम

"रक्त-पित्त" निश्चित किया गया और दवाईयां शुरू होगई! चूर्ण, गोलियां, और बोतलोंमें औषधोंके मिश्रण मेरे पास पहुंचे। इतनेमें मुझे बडी सर्दी लगने लगी और बडे जोरका बुखार आगया। म बिस्तरे पर सो गया, आधा घंटा तक मुझे थोडीसी निद्राभी आगई, पश्चात् जब जाग आई, तब मैं उठने लगा, तो प्रतीत हुआ कि मेरे घुटनेमें बडी सूजन होगई है, और इस लिये हिलना जुलना असंभव होगया है; तात्पर्य मेरे पांव अब मेरे शरीरके "साम्राज्य" में रहनेसे इन्कार करने लगे, और उन्होंने अपना अलग "स्वराज्य" जारी कर दिया है?

इस प्रकार पावोंका अलग "स्वराज्य" स्थापित होनेसे, मेरी आज्ञा पालन करनेसे उन्होंने इन्कार कर दिया, और जो पांव कलही मेरे दास थे, वेही आज "स्वतंत्र" होनेके कारण, मैं ही उनका दास बन गया! सम्राटोंका वैभव कितना क्षणभंगुर है, और प्रजाकी अनुमतिका कितना महत्व है, इसका ज्ञान इस प्रकार मुझे प्राप्त हुआ। आत्मा सम्राट् है और शरीर के सब अवयव उसके आश्रित देश (Dependencies) हैं, परंतु जिस समय कोई आश्रित देश अपने निश्चयके बलसे अपनी संघशक्ति द्वारा "स्वतंत्र स्वराज्य" की स्थापना करेंगे, उस समय बडा शक्तिशाली सम्राट् भी बिचारा क्या कर सकेगा? जो मैं कलही इन्ही पावोंको बायसिकल चलाने में लगाता था, और उनके आराम की पर्वाह न करता हुआ

उनसे जितना चाहे उतना काम लेता था; वही मैं आज उनका दास होकर बिस्तरे पर पडा हूं ! पांव हिलता भी नहीं था, उठना असंभव होगया, इतनाही नहीं प्रत्युत कलवट लेनाभी दूसरेकी सहायता के विना अशक्य होगया !

यह अवस्थान्तर इतना शीघ्र होगया कि, मुझे यह सब स्वप्नवत् ही प्रतीत होने लगा ! जो लोग मुझे देखनेके लिये आते थे, वे भी कहते थे कि, अब यह पांव और घुटना सुधर जाना कठिन है । दूसरे दिन फिर डाक्टर आगये और उन्होंने सब हाल देख लिया और कहा कि यह " घुटनेकी बीमारी " है । यह बीमारी महाराष्ट्र राज्यके संस्थापक वीरशिरोमणी अतुलप्रतापी श्री शिवाजी महाराजको हुई थी, और इसी बीमारी के कारण उनका देहान्त होगया था ! श्री शिवाजी महाराज जैसे पवित्र सत्पुरुषके देहका स्पर्श होनेके कारण यह बीमारी भी पवित्र ही बनगई थी, इसलिये मुझे कोई घबराहट नहीं हुई, यद्यपि मेरे मित्र घबराने लगे थे । मेरी समझमें नहीं आता कि, किसी बीमारीको लोग क्यों घबराते हैं ? मेरी समझमें अंतिम समय में भी धैर्य और धर्मपर विश्वास ही सच्चा सहाय्यकारी होता है और जहां यह विश्वास होगा वहां घबराहट आवेगी ही नहीं ।

दिन बीतते गये और वैद्यों तथा डाक्टरोंके उपाय होते रहे । इसके अतिरिक्त इष्टमित्रोंके भी उपाय बीच बीचमें चलते रहे । औषधि वनस्पतियोंकी मूलियां, जडें, दवाइयां, कषाय, लेप

और अनेक रीतिके उपचार करते रहे। इस सब प्रयत्नसे मेरा यही मत बना कि, यद्यपि इष्टमित्र शुभ इच्छासेही उपाय करते हैं, तथापि उनके प्रयत्नसे बीमारके कष्ट बढ जाते हैं; तथा वैद्यों और डाक्टरोंके प्रयत्न भी ठीक मार्गसे नहीं होते। तथापि बीमारको उनके वशमें रह करही कष्ट भोगने पडते हैं। इसी प्रकार पहिले आठ दिन तक सेक और लेप होता रहा। परंतु कोई आराम नहीं हुआ।

इसके पश्चात् बडेबडे डॉक्टरोंकी कमिटी बुलाइ गई, उन्होंसे सब देख भालकर दवाईकी योजना निश्चित की, और कहा कि केवल दूधपरहि रहो और कोई अन्न न खाओ। इस प्रकार उनकी दवाका सेवन शुरू हुआ, अन्न छोड दिया और केवल थोडासा दूधही सेवन करने लगा। तथा पांवका हिलाना डाक्टरोंने बंद किया और उन्होंने ही "स्कॉट्स् ड्रेसिंग" से पांव बांधकर रख दिया! डाक्टरोंने कहा कि पांव हिलानेसे बीमारी बढ जायगी, घुटनेमें पानी होगया है। इस लिये इसको हिलाना नहीं चाहिये। यदि इस प्रकार बीमारी दूर न हुई तो (tap करके) पानी निकाल देंगे, कोई फिक्र न करो।

इस प्रकार एक महिना हो चुका, दर्द कम होगया, परंतु सूजन कम नहीं हुई। फिर डाक्टरोंकी कमिटी हुई; बडा विचार हो कर निश्चय हुआ कि लकडीके फट्टीपर पांव बांधकर रखना और उसको बिलकुल हिलाना नहीं और पंद्रह

दिनके पश्चात् फिर विचार करना । इस प्रकार होता रहा परंतु कोई गुण नहीं हुआ ।

इस समय मेरी अवस्था बहुतही बुरी होगई थी । पेटमें अन्न नहीं, बडी तेज और उष्ण दवाइयां पेटमें जाती थीं, इस लिये उष्णता बहुत बढ गई थी, प्रतिदिन थोडा ज्वर आता था, निद्रा नहीं आती थी, सदा लेटे रहनेके कारण शरीर बडा दर्द करता था, और इतने कष्टोंकी पूर्णता करनेके लिये बवासीरकी बीमारी भी प्रारंभ हुई ! उठना बैठना अशक्य हो गया था । बवासीरके कारण बडे कष्ट होने लगे, गुदद्वार में बडा दर्द होने और शौचद्वारसे रक्तस्राव होने लगा, इस लिये बस्ति विधि द्वारा जलप्रयोगसे शौच करानेकी आवश्यकता होगई । इससे बवासीरका कष्ट किंचित् कम होने लगा ।

इस घुटनेकी बीमारी का अंग्रेजी नाम "सायनो व्हाइटिस" है । इसमें घुटनेमें जल अथवा द्रवरस बनता है और संधिस्थानमें बडा सूजन होता है । कई महिने गुजर जानेपर भी डाक्टरोंके इलाजसे काइ आराम न हुआ । इसलिये डाक्टरोंने मेरे रक्त की परीक्षा की, उसमें (ट्यूबरक्युलर सायनो व्हाइटिस्) घुटने की बीमारीके यक्ष्म क्रमि हैं ऐसा निश्चय हुआ । प्रत्यक्ष बीमारीकी अपेक्षा रोगोंके नाम सुनकर भी बीमार घबरा जाता है इसी प्रकार इस नाममें (tubercular) राजयक्ष्माका नाम सुनकर कई मेरे मित्र घबरा गये ! परंतु मेरा धैर्य कायम रहा था । रोगोंके नाम सुनकर घरके आदमी और इष्ट मित्र

घबरा जाते हैं उनकी घबराहट का परिणाम बीमार पर होता है, और यदि बीमार कमजोर हुआ, तो इस लोक को छोड़नेकी तैयारीमें लगता है!! बीमारीकी अपेक्षा आदमी घबराहटके कारण अर्थात् मनकी कमजोरीके कारणही शीघ्र मर जाते हैं। परतु मैं ऐसा घबराने वाला नहीं था। मैं अपने मनको स्वाधीन कर धैर्यरूप हो कर बैठा था। इसलिये घबराहट मेरे पास नहीं आती थी। मैं परमेश्वरपर दृढ विश्वास करके उसीका नामस्मरण करता रहता था, इसलिये मेरा मन शांत और अचल रहा था।

इस प्रकार चार पांच महिने हो गये। डाक्टरोंके उपचारोंसे किसी प्रकारभी आराम नहीं हुआ! तीक्ष्ण दवाईयोंके कारण बडी कष्टदायक बवासीर होगई, अन्य कष्टभी बढने लगे, इस कारण डाक्टरोंके औषधों पर से मेरा विश्वास हट गया। और मैने उनके उपचार बंद करनेका विचार किया। इतनेमें "होम्योपथी" के डॉक्टर मिलगये, उनके औषध सेवन करनके लिये अच्छे होनेके कारण, उनका इलाज प्रारंभ हुआ। परंतु पंद्रह दिन तक औषध लेनेपर भी कोई लाभ नहीं हुआ। तत्पश्चात् "बायो केमिक" औषध लिया परंतु वह भी मेरे लिये निकम्मा सिद्ध हुआ! इस प्रकार छः मास व्यतीत हुए। जो पांव डाक्टरोंने फट्टियोंमें बांध कर रखा था वह, हिलना बंद होनेके कारण, बारीक होगया है और सूखने लगा है, ऐसा मेरे ध्यानमें आगया; यह एक नवीन आपत्ति

शुरू हुई ! यदि इस प्रकार पांव सूख गया, तो आगे कैसा होगा यह विचार मुझे सताने लगा।

इतनेमें दूसरे पांव की जंघामें एक ग्रंथीसी उत्पन्न हो गई। बहुत दिन वह दूखती नहीं थी, परंतु प्रति दिन थोडी थोडी बढ जाती थी। अंतमें १५।२० दिनोंमें केलेसे भी बडी हो गई। यह एक नवीन आपत्ति आगई। इसका उपाय सोचनेके लिये फिर भी डाक्टरोंकी शरण लेनी पडी ! ! ! डॉक्टर आगये और उन्होंने परीक्षा करके कहा कि यह (Tubercular gland) यक्ष्मग्रंथी है। इस लिए इसके रक्तसे (otto cerum) स्वरस औषधि बनाकर, उसका प्रवेश पिचकारिसे खूनमें कराकर सब बिमारीको हटा देंगे। किसी कारण ७।८ दिन डाक्टर न आसके, इतने समयमें उक्त ग्रंथी पक गई, और एक दिन उसमेंसे बडा सारा पीप निकल आया। इसके पश्चात् डॉक्टर आगये, परंतु अब उनका आना व्यर्थ होगया, क्यों कि वहां ग्रंथी रही नहीं थी। रात्रिके समय जब मैं यह व्रण धोने लगा उस समय उसमेंसे एक बारीक धागेके समान बडा लंबा कृमी, (जिसको मराठी भाषामें नारू कहते हैं) निकल आया। ठीक इसी समय मेरी धर्मपत्नी प्रसूत होकर लडकी होगई ! मेरे व्रणसे कृमीका निकलना और पुत्रीका जन्म होना ठीक ही एक समय हुआ और इसी समयसे मेरे कष्ट कम होने लगे। कई कहेंगे कि एक दूसरेका कोई संबंध नहीं है। संबंध हो या न हो, मेरा अनुभव जो है यह मेरे लिए सत्यही है।

वास्तवमें इस ग्रंथीका और घुटनेकी बिमारीका कोई संबंध न था, परंतु डाक्टरोंकी परीक्षामें दोनोंका एकही मूल कारण था और इसी विश्वाससे डाक्टरोने निश्चय किया था कि इसका स्वरसौषध बनाकर रोगको हटा देंगे ! परंतु यह सब डाक्टरोंका भ्रम सिद्ध हुआ। जिस दिन उक्त ग्रंथी पक कर सब पीप निकल गया उस दिनसे प्रतिदिनका ज्वर हटने लगा, और एक दो दिनके पश्चात् थोडासा आने लगा। ग्रंथीमेंसे एक लंबा कृमि निकल गया, तथापि उसमें और भी वैसे कृमि होंगे ऐसा प्रतीत होने लगा। (alopathy) डाक्टरीमें इस प्रकारके कृमि विकारपर कोई इलाज नहीं है, और इसी कारण उनकी परीक्षा भी गलत सिद्ध हुई। इस अवस्थामें अब क्या करना ? यह विचार मेरे मनमें खडा रहा।

मेरे मित्रोंनें कहा कि ग्रामीण वैदू लोग यद्यपि अनपढ होते हैं तथापि इन कृमियोंको निकालनेमें प्रवीण होते हैं। मैंने उनको बुलाया। उन्होंने अजब रीतिसे कृमियोंको निकालना शुरू किया। कई कृमि उन्होंने डाक्टरोंके सामनेही मेरी जंघाकी ग्रंथिसे निकाल दिये। अस्तु। इस रीतिसे यह ग्रंथी का प्रकरण समाप्त हुआ परंतु घुटनेकी बिमारी वैसी ही थी।

घुटनेकी पीडा के कारण मैं इतने महिने बिस्तरेपर ही लेट रहाथा। पेटमें पूरा भोजन नहीं था, व्यायाम न होनेके कारण पचन शक्ति खराब हो गयी थी, मेरा शरीर अत्यंत क्षीण हो रहा था, मेरा काम धंदा मेरी अनुपस्थितीके कारण कम हुआ

था, मेरी निर्धनता यहांतक बढ गई थी कि डाक्टरोंकी फीज देनेके लिये भी मेरे पास पैसे नहीं थे, ऐसे कठिन प्रसंगमें बीमारी ऐसी अवस्थामें पहुंच चुकी थी कि कोई चिकित्सा होनेकी संभावना भी प्रतीत नहीं होती थी । प्रतिदिन निराशा का पटल बढ रहा था और आशा का आधार न्यून हो रहा था । बडे बडे डाक्टरोंकी चिकित्सा निकम्मी सिद्ध हुई थी, और कोई अच्छा चिकित्सक मिलना असंभव हो गया था ।

ऐसी अवस्था होनेके बाद मेरे मित्रोंने कहा कि अब तुम बंबई छोडकर किसी अन्य स्थानमें जाकर रहो और प्रकृतिके आराम का विचार करो । परंतु मेरा विचार बंबईमें ही रहने का था । इस लिये कि यहां ही सबसे अच्छी चिकित्सा होना संभव है, और मेरे मनमें अभीतक किसी प्रकारकी भीति उत्पन्न नहीं हुई थी । इस कारण मैं अपने मित्रोंको नाराज करके बंबईमें ही स्थिर रहनेका निश्चय किया ।

इस प्रकार कई दिन व्यतीत हुए, परंतु कोई आराम का चिन्ह दिखाई नहीं दिया । बैठे बैठ मेरी क्षीणता बढ गई थी और पचन शक्ति बहुत ही कम हुई थी, इसका कुछ उपाय करना चाहिये ऐसा विचार मनमें आया । डाक्टरोंका कथन था कि हिलना नहीं, इस लिये विना हिले जुले किस रीतिसे व्यायाम किया जा सकता है इसका मैं विचार करने लगा । विचार करते करते " **प्राणायाम** " करनेसे व्यायाम

होगा, ऐसी एक कल्पना मनमें आगई इतनेमें एक मेरे मित्रके द्वारा म० नामजोशीजीके साथ मेरा परिचय हुआ। ये महाशय बडे सज्जन और योगाभ्यासी हैं। इन्होंनें आकर प्रेमदृष्टिसे मेरी अवस्था अवलोकन की और सरल शब्दोमें कहा कि "देखिये, कि मैं कोई वैद्य अथवा डाक्टर नहीं हूं। न मुझे शारीरशास्त्रका ज्ञान है परंतु मैं थोडासा योगाभ्यास करता हूं और आसन प्राणायाम का किंचित् ज्ञान मुझे है। इस योगशास्त्रके विज्ञानके अनुसार जो उपाय मुझे सूझेगा, मैं करूंगा। परंतु मैं आपसे एक निवेदन अवश्य करूंगा कि, जैसा आपने गुण न होनेपर भी डाक्टरोंके मतके अनुकूल पथ्य किया, उसीप्रकार श्रद्धा भक्ति पूर्वक मेरे कथनके अनुसार बर्ताव अवश्य करना चाहिये।" मुझे यह संमत हुआ क्यों कि सहस्रों रुपयोंका व्यय करके डाक्टरोंके इलाजसे ५, ७ महिनोंमें कोई लाभ नहीं हुआ था, इस लिये डाक्टरी इलाज छोडनाही मुझे मंजूर था। इस तरह "योगसाधन" के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ।

डाक्टर कहते थे कि पांव हिलाना नहीं चाहिये, परंतु ये योगी राज कहने लगे कि पांव अवश्य हिलाना चाहिये। दोनोंके इलाजमें इतना विरोध था!!! अर्थात् मुझे डाक्टरोंकी पट्टियां खोलकर अलग रखनी पडीं और पांवोंको हिलानेका प्रारंभ हुआ। हिलाना कठिन प्रतीत हुआ। पहिले पहिले पांव बिलकुल हिलता नहीं था, क्यों कि इतने मास तक उसको बिलकुल

हिलाया नहीं था। पांवको प्रथम हाथसे ऊपर उठाने और नीचे रखनेका कुछ प्रयत्न किया। दो तीन दिनोंमें योगी महोदयजीकी सहायतासे "शिर्षासन" करनेका प्रयत्न किया। इस आसनके करनेके समय मेरे पांवमें बडाही दर्द हुआ और मेरे सहायकों को भी मेरा शरीर संभालनेमें बडे कष्ट हुए। पश्चात् एरंडीके तेलकी मालिश करके आकके पत्तोंसे सेक दिया। इस प्रकार चार दिन किया। पांचवे दिन विना किसीके आधारके मैं कुछ देर तक "शीर्षासन" में स्थिर रहा। आगे यह अभ्यास बढाते बढाते पंद्रह दिनोंमेंही मैं आधा घंटातक शीर्षासन करने लगा। प्रारंभ में दर्द होता था, परंतु प्रतिदिनके अभ्याससे शनैः शनैः दर्द हटता गया, और मुझे स्वास्थ्य प्राप्त होता रहा।

आसनोंके अभ्यास करनेसे केवल आठ दिनोंमेंही मैं सोटी की सहायतासे कुछ न कुछ चलने लगा। आसनोंका अभ्यास करनेसे योग साधनपर मेरा विश्वास दृढ होता गया, क्यों कि इसी चिकित्सासे लाभभी अत्यंत शीघ्रही हुआ। इसलिए मैंने आसनोंका अभ्यास बढाया और दस दिनके पश्चात् सोटीकी सहायताके विनाही मैं चलनेमें समर्थ हुआ। चलनेके समय कष्ट होते थे, शामके समय सूजनभी बढ जाती थी, दर्दभी होता था, परंतु मैं योगी महाशयजीके कथनके अनुसार ही करता रहा। आसन करना और सेक देना इसके विना और कोई इलाज नहीं था और उससे प्रतिदिन आरोग्यभी बढ रहा था।

इतना होने परभी घुटनेका संधि सखत ही था, अभी तक जैसा चाहिये वैसा हिलता नहीं था। ५,६ दिन लगातार प्रयत्न करनेपर उसमें किंचित् सी गती उत्पन्न हुई। मैं अब अपने मनकी "इच्छा शक्ति" को भी काममें लाने लगा, और मुझे अनुभव हुआ कि उससे बडाही लाभ होता है।

इस प्रकार आसनोंकी चिकित्सासे केवल दो महिनोंमें मुझे पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हुआ। मैं जब डाक्टरोंके दवाखानेमें पहिले गया, उस समय डाक्टर साहेबकोभी बडा आश्चर्य हुआ, कि इतना आराम कैसा हुआ। उनके पूछनेपर उनसे कहा कि यह सब "योगके आसनों" का चमत्कार है। यह आसनोंके विषयमें मेरा स्वयं अनुभव है। इस उपचारमें कोई व्यय नहीं और शीघ्र आरोग्य होता है। डाक्टरोंके इलाजमें हजारों रु. खर्च हुए और किसी प्रकारका आराम नहीं मिला। इस योगासनोंके इलाजमें कोई व्यय नहीं और आराम शीघ्र प्राप्त हुआ।

इन आसनोंपर मेरा अब इतना विश्वास है कि मैं आजकल सवेरे उठनेके पश्चात् शौचादिसे निवृत्त होते ही थोडी देर शीर्षासन करता हूं और पश्चात् दूसरे कार्य करता हूं। आशा है कि जनताको भी योगाभ्याससे इसी प्रकार लाभ होगा।

नीरोग अवस्थामें आसनोंसे लाभ।

(लेखक-श्री नागेश वासुदेव गुणाजी B.A. LL., B.)
(चीफ आफिसर सिटी म्युनिसीपालिटी बेलगांव.)

गत लेखमें श्रीयुत ग. शि. रानडे महोदयजीने आसनोंके विषयमें अपना अनुभव दिया है। आसनोंके प्रभावसे उनकी 'घुटनेकी बीमारी' दूर हो गई। यह अनुभव स्पष्टतासे बता रहा है, कि आसनोंका प्रभाव कितना विलक्षण है। उक्त महाशयजीका अनुभव रोगी अवस्थाका है। अब मैं जो अपना अनुभव बता रहा हू वह नीरोग अवस्थाका है। यदि रोगी अवस्थामें आसनासे रोग दूर हो सकते हैं, तो नीरोग अवस्थामें आसनोंसे अपूर्व आरोग्य भी प्राप्त हो सकता है। इस लिये मेरा अनुभवभी पाठकोंको बडा बोधप्रद हो सकता है। इसलिये जैसे रोगी वैसे नीरोगी पाठकभी इसका विचार करें।

मेरे मातापिता सदाचारी, निव्यसनी, और सुदृढ थे, इसलिये उनकी कृपासे मुझेभी उत्तम नीरोग शरीर प्राप्त हुआ, बचपनमें माताका विपुल दुग्ध मुझे बहुत दिनतक प्राप्त होनेसे मेरी शरीरसंपत्ति छोटी उम्रसेही बडीही

अछी थी । मेरे माता पिता मेरे लिये सुदृढ शरीर न देते हुए यदि विपुल धन देते, तो उससे मुझे जितना लाभ होना संभव था; उससे कई गुणा अधिक लाभ, उनसे प्राप्त हुए आरोग्यपूर्ण सुदृढ शरीरसे मुझे हुआ, और इसी कारण मैं अनेक विकट अवस्थाओंमें तथा कष्टमय परिस्थितिमें धैर्यके साथ अपना कार्य चला सका । तात्पर्य यह कि माता-पिता अपने बच्चोंके लिए चाहे धन न छोड, परंतु आरोग्य-पूर्ण बलवान शरीर अवश्य अर्पण करें । वीर्यकी निर्दोषता और निरोगताकी ओर जनता विशेष ध्यान दे, यही कहनेका मेरा यहां हेतु है । जैसा रजवीर्यसे निर्दोष और नीरोग शरीर बलवान हो सकता है वैसा रजवीर्यके दोषोंसे दूषित शरीर नहीं हो सकता, इसका कारण स्पष्टही है । अस्तु ।

छोटी आयुसेही मुझे विविध व्यायाम करनेका शौक था । छोटेपनमेंही मैं अनेक प्रकारके खेदकूलके तथा सर्कसके विविध प्रकार करता था । आयु थोडी बडी होनेपर मैं मलखांब, दंड, बैठक आदि देसी व्यायाम करने लगा । कुछ समय व्यतीत होनेपर मैं एक पहिलवानके आखाडेमें दाखल हुआ । वहां नित्य मैं पांच सौ दंड, एक हजार बैठक और अनेक मित्रोंके साथ कुस्ती करता था । यह अभ्यास कई वर्षतक लगातार और निरंतर चलता रहा । तथा मैं नित्य प्रातःकाल में दौड करनेके लिये भी जाता था । इस प्रकार व्यायाम करके मेरा शरीर बडा सुडौल बन रहा था ।

मराठी प्राथमिक अभ्यास संपूर्ण होनेके पश्चात् मैं बेलगांवमें "सर्दार्स हैस्कुल" में अंग्रेजी पढनेके लिए दाखल हुआ। वहां मि. हुग्वर्फ साहिब हैडमास्टर थे; मलखांबका काम करनेकी मेरी कुशलता देखकर, तथा अन्य व्यायाम करनेकी मेरी प्रवीणता देख कर वे मेरे साथ बडा प्रेम करने लगे थे। परंतु अंग्रेजी अभ्यास जैसा जैसा बढता गया वैसा वैसा देसी व्यायाम बंद होता गया और उनके स्थानमें डंबेल्स, सिंगल तथा डबल बार आदि विदेशी व्यायाम शुरू हुए। इस प्रकार देसी व्यायामकी रुची कम होकर विदेशीकी ओर रुची बढ गई।

देसी रितिके व्यायामसे शरीर सुडौल बनता है, परंतु व्यायाम छोड देनेपर स्थूल और शिथिलसा होने लगता है। वही मेरी अवस्था हुई। अति व्यायामके कारण हाथ और पांवके संधि कमजोर होगये थे, इसलिये सिंगल और डबल बार करनेके समय पांव सीधे रखना भी मेरे लिए कठिन होता था। तथापि नित्य अभ्यास करनेसे यह संधिस्थानकी कमजोरी कुछ समयके पश्चात् दूर हो गई। देसी व्यायामोंमें कुस्ती ही एक ऐसी है कि, जिसके करनेसे आगे शरीरकी शिथिलता वैसी नहीं होती, जैसी कि इतर व्यायामोंसे होती है।

दंड, बैठक, नमस्कार आदि देसी व्यायाम करनेवालोंके लिये एक सूचना मैं यहां करना चाहता हूं, देसी व्यायाम

करनेवाले उसका अवश्य विचार करें। जो व्यायाम करना है वह "कितनी वार" करता हूं इसका विचार करनेकी अपेक्षा "किस रीतिसे" कर रहा हूं इसका विचार हरएकको करना योग्य है। यदि कोई व्यायाम अशुद्ध रीतिसे करनेकी आदत हुई, तो जितनीवार वह व्यायाम किया जायगा उतनी अधिक अशुद्धियांही बढ जायगीं। मान लीजिये कि आप प्रतिदिन दो तीन सौ दंड अशुद्ध रीतिसे निकाल रहे हैं, तो उसका यही तात्पर्य है कि, दो तीन सौ गलतियां आप प्रतिदिन कर रहे हैं। जबतक तारुण्यका रक्त शरीरमें रहेगा, तबतक आपको पता नहीं लगेगा, परंतु शक्ति क्षीण होनेपर उन गलतियोंका परिणाम आपको अवश्यही भोगना पडेगा। इसलिये हरएक व्यायाम विधिपूर्वक ही करनेका यत्न प्रत्येकको करना उचित है।

अंग्रेजीके अभ्यासके साथ साथ ही मैं विदेशी व्यायाम करता था और मुझे उसमें बहुतही प्राविण्य प्राप्त हुआ था। जब मैं बेलगांव से मुंबई चला गया और विलसन कालेजमें दाखल हुआ, तब मैं सर दिनशा मा. पेटिटके सरकारी व्यायामशालामें प्रविष्ट हुआ। प्रवेशके लिए डाक्टरका सारटि-फिकिट आवश्यक होता है, परंतु मेरा शरीर अत्यंत उत्तम था, इसलिए मेरा प्रवेश सुगमतापूर्वक हुआ। दो वर्षके पश्चात् व्यायाम की परीक्षामें मैं न केवल उत्तीर्ण हुआ परंतु मुझे उत्तम व्यायाम करनेके कारण "चाँद" भी बक्षीस मिला।

इसके पश्चात बी. ए. और एल्. एल्. बी. के अभ्यास करनेके समय मैं सेंडोके तथा मूलरके व्यायाम करने लगा। इस समय मेरा आरोग्य बहुतही उत्तम था और इसी कारण मेरा अभ्यास उत्तम होता था और मेरी परीक्षाएं भी विना आयास हो जाती थीं। इस प्रकार शरीर स्वास्थ्यके साथ ही मेरी एल्, एल्, बी की परीक्षा उत्तीर्ण होगई।

इस समय सरकारी–शिक्षा–विभागके अधिकारी मि. चाट-फिल्ड थे। वे जब बेलगांव आये थे, उस समय मैंने अपने व्यायाम उनको करके बताये, तब उन्होंने संतुष्ट होकर कहा कि, "बी. ए. परीक्षामें उत्तीण और व्यायामशास्त्रमें भी इतना प्रवीण ऐसा जवान मैंने अपनी संपूर्ण आयुमें यही एक देखा।"

इसके पश्चात् मैंने बेलगांवमें वकालत करना प्रारंभ किया और साथ साथ दांडपट्टा, लाठी, तथा जापानी जूजुत्सु आदिका भी मैंनें पर्याप्त अभ्यास किया। इस समय मैं प्रति-दिन प्रातःकाल ४। ५ मील दौड करता था। यह व्यायाम मैंनें ७।८ वर्ष लगातार किया।

जन्मसे उत्तम शरीर, पश्चात् इतना नियमपूर्वक व्यायाम करनेपर भी चालीस वर्षकी ऊमर होनेके पश्चात् मेरा शरीर गिरने लगा। देसी, विदेशी, जापानी तथा इतर व्यायाम कर-नेमें जो जो अशुद्धियां मैंने की थी, उनका फल मुझे अब मिलने लगा!!

विदेशी व्यायामोंके कारण मेरे शरीरका लचीलापन नष्ट होचुका था; और पीठ, कंधे, बाहू आदि भाग कि जिनपर विदेशी व्यायामके कारण बहुत कार्य पडा था, वे भाग अब दूखने लगे और बडा कष्ट हुआ। यह विदेशी व्यायामोंका अनिष्ट परिणाम है, पाठक इसका विचार करें।

इस अवस्थामें मेरे मित्र श्रीयुत वे. कृष्णराव इंजिनियरकी, मुझे बडी सहायता हुई। इन्होनें "आसनों" और मालिशोंके व्यायामोंके विषयमें बडा परिश्रम किया है और इस विषयमें ये बडे अनुभवी हैं। इन के कहनेके अनुसार मैं 'आसनों' का अभ्यास शुरू किया, उनके साथही मैं सुगम आसन करने लगा।

इस समय मेरे शरीरमें मेद बहुत बढ गया था। यद्यपि व्यायाम करनेसे बहुत बढने नहीं पाया था, तथापि शरीरमें दर्द शुरू होने योग्य बढ गया था। किसी भी अन्य देसी विदेशी जापानी तथा अन्य व्यायामोंसे मेरा मेदका विकार कम नहीं हुआ। जैसा जैसा मैंने आसनोंका अभ्यास शुरू किया, वैसा वैसा मेरा मेद कम होता गया। प्रथम अवस्थामें मेरेसे सुगम आसन भी नहीं होते थे, परंतु प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रयत्न करनेपर चार मासमें सुगम आसन करने योग्य मेरा शरीर बन गया और पश्चात् योगके अन्य आसन करनेसेही मेरा मेद दूर होगया। और जो शरीरके अवयवोंमें दर्द होता था, वह भी मेदके साथ ही दूर होगया।

आसनोंके व्यायाम का ऐसा अनुभव आनेसे अब मेरा ध्यान आसनोंकी व्यायाम पद्धतिकी ओर हो गया। सब आसनोंका शास्त्रीय रीतिसे विधिपूर्वक व्यायाम स्वयं किया और बहुतोंको आसन सिखाये। बहुत विचार करके आसनोंके अंदर जो तत्व है उसका पता लगाया और उस तत्वके अनुसार आज कलके लोगोंको प्रतिदिन करने योग्य "आसनोंके व्यायाम की नूतन पद्धति" तैयार की। इस पद्धतिके अनुसार स्वयं व्यायाम किया और अनेकोंके शरीरोंपर भी इसका परिणाम ध्यानपूर्वक देखा, जिससे निश्चय हुआ कि इस "आसनोंके व्यायाम" से शरीरके सबदोष दूर होते हैं और रोग भाग जाते हैं, इसमें कोई संदेहही नहीं है। मैंने सब प्रकारके देसी विदेसी व्यायाम किये हैं, सब व्यायामोंके गुण और दोष मुझे स्वयं पता है। इसलिए मैं कहता हूं कि शरीरकी नस नाडीकी शुद्धता करनेके लिए, शरीर निर्दोष और नीरोग करनेके लिए, जैसी हमारी आसनोंका व्यायाम करनेकी पद्धति निश्चयसे उपयोगी है, वैसी कोईभी अन्य व्यायामकी रीति नहीं है।

तथापि केवल "आसन" करनेसे शरीरमें फूर्ति, उत्साह, ओज और बलकी वृद्धि नहीं हो सकती। शरीर निर्दोष करना ही आसनोंका मुख्य प्रयोजन है। इसलिये आसनोंके साथ उत्साहवर्धक व्यायाम अवश्य करने चाहियें।

इन सब बातोंका विचार करके जो व्यायाम पद्धति अब मैंने निश्चित की है वह निम्न प्रकार है—

(१) नसनाडियोंकी शुद्धि करनेवाले सुगम आसनोंके व्यायाम—इससे अन्य व्यायामोंकी गलतियोंके कारण अथवा अन्य हेतुसे उत्पन्न होनेवाले सब दोष दूर हो सकते हैं। (Stretching exercises)

(२) प्राणायामके व्यायाम—इन व्यायामोंसे फेंफडे हृदय आदि मुख्य अवयवों का आरोग्य प्राप्त होता है। (Breathing exercises)

(३) उत्साहवर्धक व्यायाम—शरीरमें फूर्ति, उत्साह, उत्तेजना आदि उत्पन्न करनेके लिए उत्साहवर्धक व्यायाम। (Active exercises)

(४) बलवर्धक व्यायाम—शरीरका बल बढाने के लिये प्रतिरोधक व्यायाम। (Resistant Exercises)

हमारी व्यायामपद्धतिकी यह "चतुःसूत्री" है इसमें योगके "आसन और प्राणायाम" हैं और साथ साथ अन्य व्यायामोंके विशेष भाग भी हैं। इस प्रकार नियमपूर्वक ३।४ मास व्यायाम करनेसे शरीर नीरोग, उत्साहपूर्ण, ओजस्वी और फूर्तियुक्त निःसंदेह हो जाता है। तरुण विद्यार्थीयोंको उचित है कि वे इस पद्धतिसे अवश्य लाभ उठावें। अन्य देसी विदेसी व्यायामोंके दोष इसमें नहीं हैं और आसन प्राणायामोंके पूर्ण गुण इसमें हैं।

अब एक बातका अवश्य उल्लेख यहां करना है। वह यह कि एक समय ऐसा हुआ कि किसी कारण विशेष लगातार कई मास मैंनें कोई व्यायाम नहीं किया, जिससे शरीरमें फिर मेद बढने लगा। तथापि उसकी ओर मेरा ध्यान नहीं गया था। इतनेमें एक योगीके साथ मेरा परिचय हुआ। उनको मैंने अपने चतुर्विध व्यायाम बताये। उन्होंने कहा कि ये व्यायाम ठीक हैं, परंतु उन्होंने फिर पूछा कि आपके शरीरपर इतना मेद क्यों है? उत्तरमें कहना पडा कि कई मास किसी कारण व्यायाम बंद हुआ है। इसपर योगीने कुछ विशेष आसन बताये और कुछ प्रक्रियायें सिखाईं तथा खानपानके नियमभी कहे।

इस रीतिके अनुसार ५।६ मास करनेसे संपूर्ण मेद दूर होगया, और अब शरीरपर मेद रहा ही नहीं। अब मेरे शरीरमें हलकापन है, पहिले भारीपन था। मेद कम होनेपरभी ओज, शक्ति, आरोग्य और फूर्ति बहुतही बढ गई है। इस समय मेरी आयु ५० वर्षकी करीब है, परंतु मेरा उत्साह १६ वर्षके युवकके समान है, और मेरे मनमें हमेशा निम्न मंत्र रहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥यजु.४०।२

"शतं समाः जिजीविषेत्।" यह वेदाज्ञा मेरे हृदयमें जागृत है। मनका उत्साहभी सौ वर्षकी पूर्ण आयुकी महत्वाकांक्षा सामने रखता है। अन्तमें इतना ही कहना है कि, यदि किसीको मेदकी बिमारी हो, तो पूर्वोक्त आसनादि उपायोंसे

हम निःसंदेह ठीक कर सकते हैं। किसी प्रकार शक्ति क्षीण नहीं होगी और विना व्यय केवल आसनादिका अभ्यास करनेसेही संपूर्ण मेदका विकार पूर्णतासे दूर होगा। आशा है कि, मेदके रोगी इससे लाभ उठावेंगे।

शीर्षासन से दस लाभ।

(लेखक—श्री. पं. " अभय " देवशर्माजी)

मैंने दो ढाई वर्ष तक शीर्षासन का अभ्यास किया है। इस लिये यह समझ कर कि, मेरा अनुभव भी पाठकोंका रुचिकर और कुछ सेवाकारक हो सकेगा, इस विषयपर निम्न पंक्तिया लिखने लगा हूं।

(१) भूखपर—

शीर्षासन करनेसे भूख खूब बढी। अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि, शीर्षासनसे शरीरमें किसी चीज की आवश्यकता अनुभव होती थी, जो कि हलके और स्निग्ध भोजन खा लेनेसे री मालूम होती थी। यह सत्य है कि, शीर्षासन करने वाले को घी दूध आदिका विशेष सेवन करना चाहिये, नहीं तो पेट अग्निसे जलने लगता है। कभी कभी ऐसा भी होता था कि, यह उपर्युक्त आवश्यकता तो शरीरमें जरूर

अनुभव होती थी, किन्तु समयपर भूख नहीं प्रतीत होती थी। ऐसी अवस्थामें एक दो वार मैंने भूख न देख कर भोजन नहीं किया, किन्तु इसका फल यह हुआ कि, एक आध घंटेके बाद जोरसे असह्य भूख लगी। मेरी समझमें शीर्षासन करनेवाले को नित्य नियमित रूपसे अवश्य भोजन करते रहना चाहिये, अर्थात् इस विपरीत करणी क्रिया के कारण स्थान भ्रष्ट हुए विजातीय द्रव्य (foreign Matter) का परदा कभी कभी आमाशय पर आजानेसे भूख कभी लुप्तसी हो जाये, तो भी भोजन की आवश्यकता शरीर को रहती है, इसलिये भोजन करना चाहिये।

(२) वीर्यरक्षा पर—

शीर्षासन से यद्यपि (बिन्दुजय) पूर्णवीर्यरक्षा तो मुझे नहीं प्राप्त हुई, परंतु स्वप्नदोष की मात्रा और संख्या अवश्य कम होगई, और यह तो सर्वथा निश्चय होगया कि, इस क्रियासे पूर्ण वीर्यरक्षा कालान्तर में होजायेगी। 'वीर्य का शरीरमें खप जाना' इस बातका अनुभव शीर्षासन करने वालेको जरूर होने लगता है।

(३) नेत्रोंपर—

कुछ दिनों शीर्षासन करने से नेत्र खुलतेसे प्रतीत होते थे।

(४) निद्रापर—

शीर्षासन करनेके बाद ही शरीरमें ऐसा आराम और शान्ति अनुभव होती थी कि, अकसर मुझे इसके उपरान्त

थोडीसी निद्रा आजातीथी। परंतु मेरी रात्रीकी निद्रापर इसका बहुत स्पष्ट प्रभाव प्रतीत नहीं हुआ। उखडे हुये विजातीय द्रव्यों (Foreign Matter) की शरीरमें हलचल इसका कारण थी, जिससे कि गाढ निद्रा बहुत बार नहीं आती थी।

(५) सिरदर्दपर—

मैं कुछ आग्रही स्वभाव का हूं, इसलिये चाहे कुछ ही क्यों न होजाये, मैं शीर्षासन दोनों समय करही डालता था। तीन चार बार ऐसा हुआ कि, सायंकालके समय मेरे शीर मैं दर्द हो रहा था, परंतु फिरभी मैंने शीर्षासन किया ही। हरेक बार इसका परिणाम यह हुआ कि; शीर्षासन से एकवार तो जोरसे सिरमें दर्द बढी और कुछ डकारें आई और फिर एकदम दर्द बिलकुल अच्छा होगया, एकदम ऐसा गायब होगया कि, आश्चर्य होता था।

परंतु अभी मैं और लोगोंको यह सलाह देनेको तैयार नहीं हूं कि, जब आपके सिर में दर्द हो तब आप शीर्षासन करके खडे होजायें। बल्कि यह कह सकता हूं कि, शीर्षासनके अभ्यास से शिरदर्द पैदा होना ही बन्द हो जायेगा।

(६) आगन्तुक रोगोंपर—

मेरा यह निश्चित अनुभव हो गया था कि, जब कभी मुझे कुछ रोग होनेका भय होता था, तब वह मेरे शीर्षासनके समयके आनेके पहिले पहिले ही मुझे दबा सकता था, इसके बाद नहीं। कई बार जब चारों ओर बीमारी फैली हुई थी, मुझे भी कुछ

ज्वर होनेकी आशंका हुई—कभी कभी ऐसा भी मालुम हुआ कि, शायद कुछ ज्वर होभी गया है;—परंतु शीर्षासन करनेके बाद शरीर बिलकुल ऐसा निर्व्याधि हो जाता था कि, कोई आशंका नहीं रह जाती थी। कई बार बीमारी की कई अलामतें भी पैदा होजाती थीं। परंतु शीर्षासनके बाद मैं आश्चर्यसे देखता था कि, वे सबकी सब हट जाती थीं। कुछ ज्वर या हरारत, कानमें दर्द, जुकाम, खांसी की ठसक आदि अलामतें पैदा होकर भी शीर्षासनके बाद स्वयमेव उड जाती थीं कभी छातीमें सदा लग गई है ऐसा भय हो जाता था, परंतु शीर्षासन कर लेनेके बाद सारा शरीर एक समान उष्ण होकर सर्दीका नाम भी न रह जाता था। मेरा विचार है कि यदि किसीको निमोनिया होनेका भय हो (बल्कि प्रारंभिक अवस्थामें, आभी गया हो) तो यदि उससे शीर्षासन कराया जासके तो वह रोगके आक्रमणसे मुक्त हो सकता है। राजयक्ष्म (तपेदिक) के बीमार को भी यदि शीर्षासनकी क्रियासे अद्भुत लाभ पहुंचे तो मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा। परंतु यह अभी परीक्षण करके देखने योग्य है।

(७) निर्बलता पर—

यहां मैं अपनी एक घटनाका वर्णन करूंगा। सन् १९२० की बरसातमें मैं अपने कसबेसे १½ मील की दूरी पर एक कुटीमें रहता था। ३१ जुलाईके दिन मैंने कसबेके आर्य भाईयोंसे अगले दिन रात्रीके समय कसबेमें आकर व्या-

ख्यान देनेका वायदा कर लिया । परंतु अगले दिन प्रातः-कालही मुझे ध्यान आया कि आज पहली अगस्त है, और महात्मा गांधीके असहयोगका प्रारंभ दिन है । आज देशमें बहोतसे लोग उपवास रखेंगे, मुझे भी उपवास रखना चाहिये। मैंने दिनभर उपवास रखा परंतु उस दिन न जाने क्यों उप-वासके कारण बहुत अधिक कमजोरी अनुभव हुई । शामको कसबेमें जानेकी इच्छा न थी । परंतु प्रतिज्ञा कर चुका था, जी कड़ा करके चल पड़ा । मन में बहुत बल का ध्यान करता था, परंतु कमजोरी अनुभव हुए विना न मानती थी । आधे रास्ते चलकर ही थकावट और कमजोरी से मुझे अधिक चलना भारी होगया । साथ में अपना घोडा था, चाचाजीके कहने से उस पर चढ गया कि कुछ आराम मिलेगा । परंतु घोडे पर चढ कर मैंने और भी अधिक श्रम अनुभव किया और घर पहुंचतेही सामने पडी हुई एक चारपाई पर बेजान सा हो कर पड गया । अपनी अवस्था देख कर मन में विचार होने लगा कि शायद अब उपवास तोडना पडेगा और व्याख्यान तो मैं देही न सकूंगा । परंतु शीर्षासन का भी समय हो रहाथा, जिसे कि मैं छोड भी नहीं सकता था, और उसके करने की अपने में हिम्मत भी नहीं दीखती थी । आखिर दिल मजबूत करके उठा और धीरे धीरे कमरेके अन्दर गया, सिरके नीचे कपडा रखा और दीवारके सहारेसे उलटा खडा होगया । मन में सोचा था, कि यदि शीर्षासन न कर सकूंगा,

तो अवश्य ही जाकर भोजन करलूंगा। परंतु शीर्षासन का अब चमत्कार देखा। १० मिनट के बाद शरीरमें जान सी आने लगी सारा शरीर सबल होगया। आनन्द से घन्टाभर शीर्षासन करके बाहर निकला। यह भी भूल गया कि आज मैंने भोजन नहीं कर रखा है। समाज में गया और अच्छी तरह से व्याख्यान दिया। भोजन अगले दिन दस बजे किया और तब तक भी सचेतन बना रहा।

(८) कब्जपर—

दो वर्ष हुए कि मैं वैदिक धर्म के पाठकोंको अपनी कोष्ट-बद्धता की कष्ट--कहानी सुना चुका हूं। उस समय तक भी मैं कोष्ट–बद्धतासे सर्वथा मुक्त नहीं था, क्यों कि कुम्भक के बलसे ही मलत्याग किया करता था। परंतु अब एक वर्ष से मुझे विना कुम्भक किये ही स्वयमेव नित्य शौच हो जाता है। इस उन्नति पानेमें अन्य आसनादिकके साथ शीर्षासन का भी प्रभाव है। शीर्षासनका विशेष लाभ मुझे यह अनुभव होता है कि (१) एक तो उससे पेट में वायु नहीं रह सकती वह सब जरूर निकल जाती है। (२) और दूसरे शौच बंध कर होता है।

(९) सर्वाङ्ग पर—

शायद सबसे पहिला अनुभव शीर्षासन से यह होता है कि संपूर्ण शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है। सारे शरीर पर एक प्रकार की कान्ति आजाती है। संपूर्ण त्वचा पर विना

तैलादिक मले ही स्निग्धता बनी रहती है। यह अनुभव मुझे ३,४ मास अभ्यास करने पर ही प्रगट होगये थे।

(१०) प्राण पर—

शीर्षासन से प्राण की गति स्थिर और शान्त होने लगती है। स्वयमेव प्राणायाम होता है। इस समय प्राणायाम करने की स्वयं चेष्टा कदापि न करनी चाहिये, इससे रेचक पूरक होने लगेंगे। परंतु शीर्षासन में " केवल कुम्भक " होता है। इसकी सर्वोत्तम विधि यह है कि (श्वास प्रश्वास पर बिलकुल ध्यान न ले जाकर) मन को कहीं एकाग्र करना चाहिए जैसा संध्या करना, अपने तेज का ध्यान करना, कपाल, आज्ञाचक्र, या हृदय आदिमें ध्यान करना, या प्रणव जाप करना आदि) इससे स्वयमेव यह प्राणायाम होगा। शीर्षासन करनेके पश्चात् अवश्य स्वेच्छा पूर्वक प्राणायाम करना उचित है। मुझे इसका अनुभव इस प्रकार हुआ कि शीर्षासनके पश्चात् स्वयमेव श्वास रोकनेकी इच्छा होती थी, और रोकने पर विना कष्टके चिरकाल तक श्वास रुका रहता था। शीर्षासनके बाद प्राणायाम करनेसे उत्तमतया रक्तशुद्धि हो जाती है क्यों कि संपूर्ण शरीरका रुधिर मलों को लेकर फेफड़े में पहुंचता है।

मेरा विचार होता है कि केवल शीर्षासनके तथा उसके साथ और बाद में होनेवाले प्राणायामसे भी अभ्यासी समाधी तक पहुंच सकता है। कई योगाभ्यासियोंके कथन सुनकर

मैंने अपना यह मत बनाया है उनका कहना है कि, प्रतिदिन तीन घन्टा कपाली मुद्रा (शीर्षासन) के अभ्याससे षट्चक्रवेध आदि सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इसका कारण यही है कि, शीर्षासनसे प्राण अन्दर खिंचने लगता है। योग मार्गमें शीर्षासनका सबसे बडा लाभ यही है। प्राणका आयाम होनेसे जैसे कि योगग्रंथोंमें लिखा है इस आसनसे आयुवृद्धि होती है और कालपर विजय पाई जाती है।

वस्तुतः शीर्षासन आसनों में शीर्षस्थानीय है।

अन्तमें मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि, क्यों कि यह आसन बहुत उत्तम है इसी लिये सावधानीसे करना चाहिये। प्रारंभमें बहुत धीरे धीरे बढाना चाहिये। यदि कुछ हानि प्रतीत हो तो तत्काल इसे छोड कर विचार कर लेना चाहिये कि क्यों हानि हुई। कई वार सावधानीसे परीक्षण करना चाहिये। होसकता है कि किन्हीं कारणोंसे किसी व्यक्ति को यह आसन अनुकूल सिद्ध न हो। उन्हें इस पर आग्रह भी न करना चाहिये। उनके लिये योगी गुरुजन अन्य साधन बतायेंगे, जो उनके अनुकूल हों।

शीर्षासन करनेसे लाभका अनुभव।

' मुंबई, गंगाराम क्षत्रियचाळ–ठाकुरद्वारसे ता. १।११।२२ के पत्रमें श्री. पं. पांडुरंग गंगाधर नामजोशी लिखते हैं—

" .....किसी मनुष्यके पाव अशक्त हैं और वह पावों-पर खडा नहीं हो सकता, तो उसके पावोंमें शक्ति आनेके लिये " शीर्षासन अत्यंत लाभलायक है। पहिले पंद्रह दिनोंमें पांच मिनिटतक करना योग्य है, तत्पश्चात् प्रति पंद्रह दिनोंमें पांच मिनिट बढाते हुए, तीन मासोंमें आधा घंटा तक कर सकते हैं। इस आसनका अभ्यास करनेसे पांवोंकी शक्ति बढती है। इस आसनमें पांव ऊपर करने होते हैं इसलिये रुधिराभिसरण अच्छी प्रकार होता है, पांवका अशुद्ध रक्त फेंफडोंमें सत्वर आता है। और वहां शुद्ध बनकर फिर पांवकी ओर भेजा जाता है। इस आसनसे रक्तप्रवाह ठीक होनेके कारण अशक्त अवयव सशक्त बन सकते हैं।

" आजकल स्कूल और कालेजोंके विद्यार्थियोंमें धातु-क्षयका विकार बहुत बढा है। इस बीमारीके कारण सब जानते ही हैं। लडके और लडकियोंका निकट संबंध, नाटक सिनेमा आदिके अश्लील भावोंका दर्शन, बीभत्स विज्ञापन और उनके औषधोंका स्वेच्छासे उपयोग, अश्लील उपन्या-

सादिका वाचन आदि अनेक कारणोंसे इस धातुक्षयकी उत्पत्ति और बाधा तरुण युवकोंमें होती है। इसप्रकारके धातुक्षीण मनुष्यने यदि नियमपूर्वक और विधियुक्त शीर्षासन किया, तो उसका वीर्यपात एकमासके अंदरही बंद होगा। इसके अनेक कारण हैं, परंतु सबको ज्ञात हो सकता है ऐसा एकही कारण यहां देता हूं, वह यह है कि जलरूप वीर्यकी ऊर्ध्वगति होती है तथा वीर्यस्थानीय नस नाडियोंकी अशक्तता दूर होती है। इसका अनुभव कई तरुणोंपर देखा है। निःसंदेह लाभ होता है।

" हमारा एक मित्र बवासीरसे दुःखी था। उसने दो मास नियमपूर्वक शीर्षासन किया, जिससे उसका बवासीरका कष्ट दूर हुआ। यहां इस विषयमें इतना कहना आवश्यक था कि यह बवासीर बिलकुल प्रारंभिक अवस्थामें थी। अधिक बढी हुई बवासीर अच्छी होगी, या नहीं और होगी तो कितनी देर के अभ्यास से होगी, इसका अनुभव लेना चाहिये। गुदाके स्थानका रक्त हृदयकी ओर खींचा जानेसे बवासीरके स्थानमें रक्तका प्रवाह कम हुआ, इस कारण बवासीर दूर होगई ऐसा मेरा ख्याल है। इसके साथ पथ्ययुक्त भोजन करनेसे अधिक लाभ होता है।

" मेरा एक मित्र म. गणपतराव रानडे हैं, उनकी घुटनेकी बीमारी शीर्षासन करनेसे ही दूर होगई।

"सुस्त मनुष्य यदि नियमपूर्वक शीर्षासन करेगा, तो थोडे समयके पश्चात् उसकी सुस्ती दूर होगी और वह फूर्तिला मनुष्य बन सकता है। शीर्षासनसे आलस्य दूर होता है इसमें कोई संदेह नहीं है। प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घंटा शीर्षासन करनेसे बद्ध कोष्टता दूर होती है और शौचशुद्धि उत्तम प्रकारसे होती है। इस विषयमें बहुतोंके ऊपर अनुभव लिया है।

"मस्तकके विकारोंमें शीर्षासन करनेके बहुत लाभ होता है, शीर्षासनसे रुधिराभिसरण ठीक होनेसे कारण सिरदर्द हट जाता है। इस प्रकार मेरे अनुभव हैं।"

[उक्त अनुभव श्री. पं. पांडुरंग गं. नामजोशीजीके पत्रसे उद्धृत किया है। श्री. नामजोशी दृढ योगाभ्यासी थे और अपने समयमें उन्होंनें आसन प्राणायाममें सैंकडों विद्यार्थियोंको दीक्षा दी थी। योगके कई दुःसाध्य प्रयोग इन्होंने सिद्ध किये थे, इसलिये इनका पूर्वोक्त पत्र विशेष महत्व रखता है। इसी प्रकार हारपूर सांगली निवासी वैद्य श्री. पं. गणेश पांडुरंग परांजपेजी शीर्षासनके विषयमें अपने अनुभव ता. ३।११।२२ के पत्रमें निम्नप्रकार लिखते हैं]

"……अनेक विद्यार्थियोंके सिरदर्द केवल शीर्षासनसे दूर होनेका विलक्षण अनुभव मैंने लिया है। इनमेंसे एक दो यहां लिखता हूं—

"….श्री. लक्ष्मणराव शिंदे सुभेदारजी का पुत्र चि. गणपति, १८ वर्षकी आयुवाला सांगली हैस्कूलमें पढता है।

दो तीन वर्षोंसे इसके सिरमें बडा दर्द होता था। थोडासा पठन पाठन अथवा विचारका कार्य करनेसे सिरमें बडी पीडा होने लगती थी। आंखोंकी जलन, सिरका दर्द और रात्रीमें स्वप्नदोष होनेके कारण उक्त विद्यार्थीकी अवस्था बडी खराब होगई थी। बहुत दवाइयां कीं परंतु किसीसे लाभ न हुआ। ठंढे पानीका स्नान और शीत वायुमें सो जानेसे किंचित आराम होता था। यह लडका हमारे दवाखानेमें ता. ५।८।२२ के दिन दाखल हुवा। १५।२० दिन औषध प्रयोग करनेपर-भी कोई परिणाम नहीं हुआ। पश्चात् शीर्षासनका प्रयोग किया। शीर्षासन करनेपर इन्होंने कहा कि पृष्ठ वंशसे कुछ ठंढा पदार्थ सिरमें उतरनेका भास हुआ और जब वह पदार्थ सिरमें पहुंचा तब सिरदर्द बंद हुआ। १५ दिन नियम पूर्वक करनेपर सिरदर्द बिलकुल हट गया, स्वप्नदोषभी दूर हुआ। यह विद्यार्थी अबभी शीर्षासन कर रहा है।

" ....मेरा नाम विष्णु कृष्ण आडके है और मैं जातिका ब्राह्मण हूं परंतु दर्जीका पेशा कर रहा हूं। (निवास स्थान-हरिपुर–सांगली) मैं पांच वर्षोंसे सिरदर्दके कारण बहुत बीमार था। दिनमें २४ घंटे बडा सख्त सिरदर्द होता था, रात्रीमें निद्रा नहीं आती थी, बैचेनी सदा ही रहती थी और हाजमा भी बिगड गया था। स्वदेसी और विदेशी वैद्यों और डाक्टरोंके बहुत उपाय किये, परंतु किसीसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। किसी औषधसे किंचित् आराम मिलता था परंतु

फिर वैसाही दर्द हो जाता था। किसी उपायसे स्थिर लाभ नहीं हुआ। इसके पश्चात् सांगली हरिपुरके "आरोग्यसंवर्धन मंडलके" संचालक श्री. गणेश पांडुरंग परांजपे जी की प्रेरणासे ता. २८।८।२२ के दिन शीर्षासन करनेका प्रारंभ किया। पहिले दिन १०।१५ सेकंद ही हुआ। बढाते बढाते इस समय २।३ मिनिट कर सकता हूं। लगातार दस दिन शीर्षासन करनेसे सब सिरदर्द हट गया। शीर्षासन करनेके समय सिरमें तथा आंखोंमें विलक्षण शीतता प्रतीत होती थी और इससे मुझे क्रमशः आराम प्राप्त होता गया। अब मैं प्रतिदिन शीर्षासन कर रहा हूं और अब किसी प्रकारका सिरदर्द रहा नहीं है।"

शीर्षासन के विषयमें मेरा अनुभव यह है कि सिरकी कई बीमारियोंमें इससे बडा लाभ होता है। पृष्ठवंशमें जो रस है वह मस्तिष्ककी ओर योग्य रीतिसे पहुंचनेके कारण मज्जातंतुओंकी दुर्बलता इस आसनके करनेसे दूर होती है। तथा जितने रोग मज्जातंतुओंकी अशक्ततासे होते हैं वे सब दूर होते हैं। सिरदर्द, आंखोंकी जलन, दृष्टिकी मंदता, कानमें आवाज होना, बधिरता, आदि विकार बहुत अंशमें दूर होते हैं। नाभिकेपास जो पाचक चक्र है, उसको योग्य गति प्राप्त होनेके कारण तथा उसका रुधिराभिसरण ठीक होनेके कारण पचनक्रिया ठीक होती है। तथा वीर्यनाश, स्वप्न अवस्था, धातुक्षीणता आदि विकार दूर होते हैं। मैंने इस आसनसे

अपने रोगियोंकी अनेक बार चिकित्सा की है और उससे विलक्षण गुण प्राप्त हुआ है। इसलिये मुझे आशा है कि अन्योंको भी इससे अवश्य लाभ होगा। इसके कई अनुभव नीचे देता हूं—

(१) म. नरहर दत्तात्रय मुजुमदार (विद्यार्थी, विलिंगडन कालेज, सांगली) लिखते हैं—" मुझे सिर दर्दकी बहुत पीडा थी औषधोंसे आराम नहीं हुआ। पश्चात् आपने शीर्षासन करनेको कहा। मैं यह आसन सात बजे करता था। प्रतिसमय ४।५ मिनिटही करता था जिससे मेरा सिरदर्द हटगया। मेरे अनुभवसे यह शीर्षासन सिरदर्दके लिये बडा लाभदायक है। " (ता. १४।११।२२)

(२) म. चंपालाल शिवराव मारवाडी, सोलापुर, लिखते हैं—" अपनी आयु के २१ वे वर्ष आम्लपित्तके रोगसे अशक्तता हुई। यह बीमारी ३ वर्ष थी। बहुत औषध किये परंतु कोई आराम नहीं हुआ। तेईसवे वर्ष साष्टांगप्रणिपात, शीर्षासन, शेषासन तथा इतर व्यायाम करने लगा जिससे एक वर्षके अंदर मेरा शरीर उत्तम प्रकार से सुधर गया। " (ता. ३०।७।२२)

(३) म. हरिहर वा. देशपांडे, उमरावती वऱ्हाड, लिखते हैं—" अग्निमांद्य जीर्णज्वर, बद्धकोष्टता आदिके कारण मैं बहुतही बीमार रहा था। दो वर्ष औषध सेवन करनेपर भी कोई गुण नहीं हुआ। पश्चात् शीर्षासन, मयूरासन, साष्टांग-

नमस्कार, आदि करने लगा, तथा साथ साथ मलखांब, बैठक, कुस्ती, आदि भी करने लगा। तैरना भी किया करता था। इससे एक वर्षमें शरीर अच्छी प्रकार सुधर गया। अब मैं पूर्णतासे नीरोग हूं।" (ता. २२।६।२२)

(४) म. बाळू आण्णा मोजकर, जैन बोर्डिंग सोलापूर, लिखते हैं-संग्रहणी, पांडुरोग, सूजन आदिसे मैं रोगी था! कई वर्ष औषध लेते लेते थक गया, तथापि गुण प्राप्त नहीं हुआ। पश्चात् मैं मयूरासन, शीर्षासन, दौडना, खोदना, दंड और बैठक करने लगा और दवाइयां छोड दीं। उक्त व्यायामोंसेही मेरा स्वास्थ्य अच्छी प्रकार सुधर गया। (ता. १७।६।२२)

इस प्रकार औरोंकेभी अनुभव बहुतसे हैं। आशा है कि अन्य लोग भी दवाइयोंका दास्य छोडकर आसनोंसे लाभ उठावेंगे।

पचास वर्षकी आयुकी अवस्थामें शीर्षासनसे लाभ।

"शीर्षासन" के विषयमें जो आपने "वैदिक-धर्म" के अंकमें लेख लिखा है; तबसे मैं प्रतिदिन "शीर्षासन" करता हूं। पूर्वकी अपेक्षा अब मेरा शरीर बहोत फुर्तिला रहता है। शरीरकी सुडौलताकी साथ शक्तिभी दिन प्रतिदिन बढती

जाती है। प्रतिदिनके अभ्याससे मुझमें इतना बल आया है कि मैं अब एक साधारण शक्तिके जवानके साथभी कुस्ती कर सकूंगा। ईश्वरकी कृपासे तीन वर्षसे मेरा अखंडित ब्रह्मचर्य रहा है। आपके लिखे आसन करनेसे मानसिक विकारकी व्याधि भी शनैः शनैः दूर हो रही है। गत फर्वरी मासमें पचासवां वर्ष मेरी आयुका शुरू हुआ है। परंतु नेत्ररोगके सिवाय किसी बीमारीने मुझे दर्शन नहीं दिया है। तीन वर्षके पूर्व मैं गृहस्थाश्रमके नियमानुसार ऋतुगामी रहकर ब्रह्मचारी रहा था। अब स्त्री गुजर जानेके पश्चात् मेरा ब्रह्मचर्यका पालन अखंडित हो रहा है।

भवदीय

नंदलाल महीपत भट्ट, वीरमगांव।

"विपरीत करणी मुद्रा"

Equilibrium by opposite ezaggeration.

(लेखक-श्री. नागेश वासुदेव गुणाजी. B. A. L. L. B. चीफ ऑफिसर सिटी म्युनिसिपालिटी, बेळगांव शहर.)

इसके पूर्व "शीर्षासन" के विषयपर सुंदर, सचित्र और अनुभव पूर्ण लेख प्रसिद्ध हुए हैं। वे अनुभवसिद्ध होनेके कारण ठीकही हैं। परंतु आज इस लेखमें मैं शीर्षासन

के एक विशेष तत्त्वका विचार करना चाहता हूं, इसलिये इस लेखका शीर्षक मैनें "विपरीत करणी मुद्रा" रखा है। योग ग्रंथोंमें आसनोंकी अपेक्षा "मुद्रा" का श्रेष्ठत्व सुप्रसिद्ध है। मुद्राएं अनेक हैं, उनमें एक "विपरीत करणी" भी है। आसनोंमें केवल शरीरकी नसनाडियोंका संबंध आता है, परंतु मुद्राओंमें शरीरके साथ प्राण और मनका भी विशेष संबंध होता है। इसी कारण आसनोंसे मुद्राओंका महत्व विशेष है। "विपरीत करणी" इस शब्दसे ही उलटा खडा होनेका भाव स्पष्ट हो जाता है। निद्राके समयको छोडकर हम बैठते, खडे होते और चलते हैं, इस समय हमारा "मस्तक ऊपर और पांव नीचे" होते हैं। इसके विपरीत स्थिति अर्थात् "मस्तक नीचे और पांव ऊपर" करने का नाम "विपरीत करणी" है। योग ग्रंथोंमें इस मुद्राका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

"नाभिस्थानमें सूर्य है और तालुमूलमें चंद्र है। चंद्रसे अमृतका स्राव होता है, इस अमृतको सूर्य पीता है, इस हेतु मनुष्य मृत्युके वश होता है। इसलिये भूमिपर दोनों ओर दो हाथ रखकर उनके बीचमें अपना मस्तक रखना और पांव ऊपर करके खडा होनेसे सूर्य ऊपर और चंद्र नीचे होता है और सूर्य अमृत पी नहीं सकता। यही विपरीत करणी मुद्रा है। इस मुद्राका नित्य अभ्यास करनेके जीर्ण अवस्था और अकाल मृत्यु नहीं होता, जठराग्नि प्रज्वलित होता है, भूख

बढती है। छः मास नियम पूर्वक करनेसे श्वेत बाल काले हो जाते हैं और शरीर परसे वार्धक्यके चिन्ह हट जाते हैं। पहिले थोडी देर करके क्रमशः अभ्यास बढाना चाहिये।" इ०

यह योगग्रंथोंका वर्णन आलंकारिक है, इसका सुबोध-भाषामें रूपांतर यदि कोई योगी करनेकी कृपा करेगा, तो उसके बडे उपकार हो सकते हैं। हमारे शरीरमें स्नायु, मज्जातंतु, प्राण और मनके जो दिनरात व्यापार चलरहे हैं, उनके कारण प्राणशक्ति और आयु का क्षय हो रहा है। इसी क्षयसे अपना बचाव करना योगसाधनके विविध क्रियाओंका मूल उद्देश्य है। उक्त "विपरीत करणी मुद्रा" से जो अनेक लाभ होते हैं, उसकी उपपत्तिका विचार आधुनिक शास्त्रकी दृष्टिसे भी होना संभव है। इस विषयका विचार अब करता हूं—

हमारे शरीरके प्रत्येक व्यापारमें स्नायुओंका आकुंचन और प्रसारण होता है। इस गतिके कारण शरीरके कई अणु मरते हैं, और उससे शरीरमें विषमय द्रव्य उत्पन्न होता है। यह विष शरीरके "लिंफ" नामक रसमें मिलता है। बडे परिश्रमके व्यवहार करनेवालोंके शरीरोंमें तो यह विष द्रव्य उत्पन्न होता ही है, परंतु साधारण हलचल करनेवालेके शरीरमें भी होता है। यह शरीरके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक है कि उक्त विष शरीरसे शीघ्र ही बाहिर चला जाय और शुद्ध रक्त शरीरमें संचारित हो। जिस प्रकार चूलेमें अग्नि

जलनेसे राख उत्पन्न होती है, और राख बहुत अधिक होनेसे चूलेमें आग ठीक प्रकार जल नहीं सकती; ठीक इस प्रकार शरीरमें यह स्नायुकी राख (Muscular ash) स्थानस्थानमें जमा होती है, और यदि यह बाहिर न गई तो वहां का कार्य ठीक प्रकार चल नहीं सकता। इसीका नाम बीमारी है। हमारे शरीरमें फेंफडोंके व्यापार, हृदय तथा धमनियां आदिके जो कार्य हो रहे हैं, उनका मुख्य उद्देश्य इतनाही है कि शरीरके दोष दूर हों और शुद्ध रक्त सब शरीरको मिल जाय।

अब प्रश्न यह है कि हमारे शरीरमें कैसा व्यवहार चल रहा है ? जो अतिपरिश्रम करनेवाले आदमी हैं उनका विचार छोड दें, परंतु जो खडे रहते अथवा चलते हैं, क्या उनको भी व्यायाम होता है ? विचार करनेपर पता लग जायगा कि केवल खडा रहनेमें भी पांवसे लेकर मस्तिष्क तक अनेक स्नायुओंपर जोर पडता है। छोटे छोटे बालक जिस समय खडा रहनेका यत्न करते हैं उस समय उनको कितने क्लेश होते हैं, इसका विचार करनेसे निश्चय हो सकता है कि केवल खडा रहनेसे भी शरीरके स्नायुओंमें व्यय होता रहता है। बहुत खडा रहनेसे अथवा बहुत चलनेसे पांवमें सूजन आती है उसका यही कारण है कि, श्रमके कारण उत्पन्न हुए दोष शीघ्र बाहिर नहीं जाते और वहां ही रहकर दोष उत्पन्न करते हैं। गुरुत्वाकर्षणके नियमानुसार शरीरमें उत्पन्न हुए दोष वारंवार शरीरमें रक्तके

साथ घूमते हैं, इसी कारण बडी थकावट उत्पन्न होती है और स्थान स्थानमें दोष पैदा होते हैं। परंतु जिस समय हम अपना सिर नीचे और पांव ऊपर करते हैं तब गुरुत्वाकर्षणका कार्य विरुद्ध दिशासे होता है, और जो दोष सदा खडे होनेके कारण उत्पन्न होते थे, उनके विपरीत आचरण होनेसे परिणाम भी लाभदायक होता है। रक्त और लिंफसे दूषित पदार्थ वापस होते हैं और बाहिर निकलनेके मार्गमें लग जाते हैं। दूषित द्रव्य फेंफडोंमें पहुंचते हैं वहां उच्छ्वासके द्वारा बाहिर जाते हैं, अथवा अन्यप्रकार पसीनेके द्वारा बाहिर जाते हैं। इसी कारण "विपरीत करणी मुद्रा" करनेसे थकावट दूर होती है और स्नायुओंमें बल प्राप्त होनेका अनुभव होता है। अमेरिकन लोग बहुत भ्रमण करनेके बाद बैठे बैठे ही अपने पांव सिर तक ऊपर उठाते हैं, इसमें भी अल्प अंशसे उक्त तत्त्व ही कार्य करता है, ऐसा डा. ब्रंटनका मत है। अपनी योगपद्धतिकी "विपरीत करणी मुद्रा" से इष्ट लाभ पूर्णताके साथ और विना आयास होते हैं, इससेही सिद्ध हो सकता है कि योगियोंको शारीरशास्त्रका ज्ञान कितना परिपूर्ण था, और शरीरकी नसनाडीके व्यापारके साथ उनका कितना परिचय था।

जब हम एक ही अंगपर बडी देर सोते अथवा बैठते हैं, तब वहांसे उठनेके समय हम स्वभावतः विरुद्ध दिशासे शरीरको खींचते हैं। पशुओंमें भी यह रीति स्वभावसे रहती है। विना

सीखे पशु यही करते हैं। एक ही अंगपर बडी देर सोने अथवा बैठनेसे जो खून वहां जमा होता है उसको अन्यत्र आकर्षित करनेके लिये उक्त प्रकार विरुद्ध दिशाके खिंचाव की आवश्यकता रहती है। अन्यथा पूर्ण सम अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये पशुओंमें स्वभावतः ही विरुद्ध खिंचाव करनेकी बुद्धि परमात्माने रखी है और मनुष्योंमें भी है। तात्पर्य इस विरुद्ध खिंचावसे शरीरमें "समता" आती है और "समत्व प्राप्त करना ही योग है।"

"समत्वं योग उच्यते।" (गीता. २।४८)

विरुद्ध दिशासे विरुद्ध व्ययसाय करके शरीरकी समता प्रस्थापित करनेका विषय (Equilibrium by oppsite exaggeration) म. माइल्स महोदयने उत्तम रीतिसे प्रतिपादन किया है, यह बात "विपरीत करणी मुद्रा" से उत्तम प्रकार सिद्ध होती है, इसी लिये इस मुद्राका इतना वर्णन योगशास्त्रमें हुआ है। प्रायः देखा जाय तो हमारे व्यवसाय सिर ऊपर और पांव नीचे रहकर ही होते हैं, इस कारण विषद्रव्य शरीरमें रहते हैं और शनैःशनैः सब शरीरमें फैलते हैं। अंतमें हृदय, फेंफडे और मस्तिष्कमें विषद्रव्योंका संचय अधिक बढ जानेसे अकाल मृत्युतक अवस्था पहुंचती है। इसलिये जो विपरीत करणी मुद्राका प्रतिदिन नियमपूर्वक अभ्यास करेगा, उनको अनुभव हो जायगा कि नीचेका सब रक्त फेंफडोंमें आकर शुद्ध हो रहा है और नवजीवन प्राप्त हो रहा है। सब रक्त शरीरके

ऊपरके भागमें अधिक प्रमाणमें आनेसे ऊपरके शरीरके भाग, अवयव, चक्र, स्नायु, मज्जातंतु आदिका अधिक आरोग्य होता है और इनका अधिक आरोग्य होनेसे आयुष्यकी वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। विपरीत करणी करनेके पश्चात् फिर खडा होनेसे शुद्ध रक्त पुनः सब शरीरमें भ्रमण करता है। इस प्रकार इससे सब शरीरका आरोग्य सिद्ध होजाता है।

जिस समय मनमें बडे विचार आते हैं और उनके कारण निद्रा भी नहीं आती है, उस समय "विपरीत करणी मुद्रा" करनेसे निःसंदेह मस्तक शांत होता है और आरामसे निद्रा प्राप्त होती है। इसका कारण यही है कि उक्त मुद्रा करनेसे बहुत रक्त मस्तकमें जाता है और वहां जो दूषित द्रव्य होगा उसको बाहिर लाता है। इस प्रकार मस्तक निर्दोष होनेसे शांतिसे निद्रा प्राप्त होती है इस प्रकार यह विपरीत करणी मुद्रा शरीरका स्वास्थ्य बढानेवाली है।

मैं यह आसन बचपनसे ही करता था, लडकपनमें खेलते कूदते अपने सिरपर खडा रहनेका अभ्यास मुझे बालपनसे ही था। परंतु इसका तत्त्व मुझे उस समय विदित नहीं था। इसका तत्त्वज्ञान अब हुआ है। जो लोग इसका अभ्यास करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे प्रथम किसी मित्रकी सहायतासे करें तथा दिवारके साथ नरम बिस्तरे पर अभ्यास करनेका यत्न करें; इससे गिरनेका भय न होगा, और गिरने पर भी कोइ कष्ट नहीं होगा। पहिले दिन थोडा

और पीछे शनैः शनैः अधिक देर तक अभ्यास करनेसे बडा ही लाभ होता है। यह शीर्षासन सब आसनोंमें श्रेष्ठ है और सब व्यायाम होनेके पश्चात् इसको अवश्य करना चाहिये। हमारी व्यायाम पद्धतिमें प्रतिदिनके व्यायामके पश्चात् इसको अवश्य किया जाता है।

कोइ व्यायाम करनेके समय और विशेषतः आसनों और मुद्राओंके अभ्यासके समय विशेष उच्च और पवित्र भावना मनमें धारण करनेसे अधिक लाभ होता है। शीर्षासन अथवा विपरीत करणी का अभ्यास करनेके समय निम्न लिखित भावना मनके अंदर धारण करनी योग्य है। हम सब—

(१) जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

(२) वंदे मातरम्।

अर्थात् " माता और मातृभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है। उस माताको नमन करते हैं। "

(३) माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

अ. १२। १। १२.

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं। " इस प्रकारकी कल्पनायें हमारे अंदर प्रचलित हैं। परंतु हमारा आचरण देखा जाय तो हम मातृभूमिके शरीरपर सदा अपने पांव ही रखते हैं। क्या यही हमारी मातृभक्ति है? इस लिये सच्चा मातृभूमिकी भक्तिका भाव मनमें धारण करके यदि

उस मातृभूमिके पदपर (पृष्ठ भागपर) हम अपना मस्तक रखेंगे तो उसको शरण जानेका पुण्य हमें प्राप्त होगा । हम उसके पुत्र हैं और वह हमारी माता है, इसलिये पुत्रको उचित है कि वह अपनी माताके चरणोंपर अपना मस्तक रखे । ऐसा करना शीर्षासनमें होता है जिसको विपरीत करणी भी कहते हैं । उक्त प्रकार माताके चरणोंपर मस्तक रखनेसे माता हमारे दोषोंको दूर करेगी और हमारा आरोग्य बढायेगी । आशा है कि पाठक वृंद उक्त भावके साथ उक्त मुद्रा करके शरीरमें समता, आरोग्य और प्रसन्नता प्राप्त करेंगे ॥

शीर्षासन से अंतर्गल की बीमारी दूर हो गई ।

मुझे बडे दिनोंसे कब्जीकी शिकायत थी । ऐसा समय ऊपरकी मंजिल से नीचे उतर रहा था, पांच छे पौडियां उतर आनेपर अंड कोशके ऊपर और नाभीके नीचे इतना सखत दर्द शुरू हुआ कि दो चार निमेषोंमें वह दर्द असह्य हुआ, और बढता ही गया । यह दर्द इतना फैला कि नाभीसे लेकर अंडकोशतक फैलता गया । मेरेसे चलना फिरनाभी

अशक्य हुआ। और प्रतिक्षण दर्द बढने लगा। इतनेमें "शीर्षासन" करके देखनेका विचार मनमें आगया। परंतु शीर्षासन होगा या नहीं इस विषयमें शंका थी। तथापि दर्द के स्थान को हाथसे पकडकर मैं अपने कमरे में चला गया, और दीवारके आधारसे "शीर्षासन" करनेका यत्न किया। जिस समय मेरा सिर नीचे और पांव ऊपर होगये, उसी निमेषसे दर्द बिलकुल हट गया। मुझे इतना आनंद और आराम हुआ कि उसका वर्णन होना अशक्य है। इसके बाद आधा घंटा मैं शीर्षासन करता रहा, पश्चात् आसन खोल कर खडा हुआ। परंतु कोई दर्द न था, परंतु अंडकोशके उपर एक गोलासा था और वहां जलन रहती थी। शीर्षासन करनेतक यह गोला चले जाता था, और पुनः खडा होनेपर आजाता था और जलन करता था।

मैं दिन में दो तीन बार शीर्षासन करने लगा, इससे चार दिन में यह सब बीमारी हट गयी। पीछे डाक्टरोंसे यह अवस्था निवेदन की, उन्होंने सब अवयवों की परीक्षा करके कहा कि यह अंतर्गल की बीमारी, (आपरेशन) काटने से ही यह दूर होती है अथवा कमानका पट्टा बांधने से। परंतु अब शीर्षासनसे ऐसा आराम हुआ है कि अब इस समय कुच्छ करने की आवश्यकता नहीं है। इसके बाद भी मैं नियमपूर्वक शीर्षासन करता रहा अब उस प्रकारकी कोई पीडा नहीं रही। "वैदिकधर्म" के आसन विषयक लेखोंसे मुझे यह

लाभ हुआ है। और मुझे आशा है कि अन्य पाठकों को भी इसी प्रकार अनेक लाभ होंगे। वैदिक धर्म में जो योग विषयक लेख आते हैं बडेही उपयोगी हैं। इस विषयमें कई अनुभव मैंने लिये हैं जिनका वर्णन फिर किसी समय करुंगा।

भवदीय,
शि. ना. पंडित.

आसनों से स्वास्थ्य।

(लेखक—श्री० पं. सूर्य देवशर्मा विशारद; दयानंद कॉलेज कानपुर)

"वैदिक धर्म" के कई विगत अंकोंमें उन महानुभावों के महा अनुभव दिये गये हैं; जो कि विविध प्रकार की अवस्थाओं में आसनोंसे स्वास्थ्य लाभ कर चुके हैं। मेरी भी एक विचित्र विद्यार्थी की अवस्था है, और इस अवस्था में अति अल्पकाल में आसनों द्वारा मुझे जो अनुपम लाभ प्रतीत हुये हैं, उनका प्रकाश करना भी—"स्वाध्याय मंडल" का एक सभासद होता हुआ—मैं अपने भारतीय विद्यार्थि गण तथा अन्य शिक्षित, किंतु निढल्ले बैठे हुये, भ्राताओं के लिये अनुचित तथा अहितकर नहीं समझता।

प्रारंभ से मेरी वृत्ति उन विद्यार्थियों की श्रेणी में रखी जाने योग्य है, जिनका यह सिद्धांत है:—

"हमें क्या काम दुनियां से मदरसा है वतन अपना।
मरेंगे हम किताबों में सफे होंगे कफ़न अपना।"

मैं ने शारीरिक अवस्था पर कभी ध्यान नहीं दिया. उन का फल यह हुआ, कि जहां मैं पढने में सर्व प्रथम रहा, वहां स्वास्थ्य में सबसे अधम रहा। भोजन भले प्रकार पचन न होता था, बुभुक्षा लगने पर भी बहुत थोडा भोजन कर सकता था। सदा आम और कब्जी की शिकायत ही रही करती, शौच कभी खुलकर न होता, और शौच के पश्चात् भी पेट भारीसा ही प्रतीत होता, कुछ आलस्य की भी मात्रा बढने लगी। उस अपचन के ही कारण सप्ताह में प्रायः दो दिवस का उपवास करना पडता, तब कहीं निज छात्र जीवन-यात्रा में चलने के योग्य रहता। लेकिन ठीक मंजिल पर पहुंचकर—परीक्षा के दिनों में—मेरी शरीररूपी गाडीका कोई न कोई पुरजा बिगड ही जाता और परीक्षोत्तीर्ण होने का वह सुख जो सब श्रेष्ठ विद्यार्थी को होना चाहिये, कभी न मिलता।

इसी मध्य में अपचन और अस्वास्थ्य का साथी एक और जीवन नाशक रोग—धातुविकार—पीछे लगता हुआ प्रतीत हुआ। जिससे मुझे सारे सासारिक जीवन से निराशा होने लगी, क्यों कि उसके परिणामों को मैं पहले से सुन चुका था; जिसके निवारण के लिये मैंने पूर्व कई "वैद्यशास्त्री"

"आयुर्वेदाचार्यों" की औषधियों का सेवन प्रारंभ कर दिया। लेकिन उनसे मुझे कोई स्थायी लाभ नहीं प्रतीत हुआ। मैं वहांसे निराश हो, शोक समुद्र में डूबने ही को था, कि "वैदिक धर्मका" नौकारूप एक अंक प्राप्त हुआ। उसमें ब्रह्मचर्य रक्षण के "तीस नियम" पढकर कुछ सांत्वना हुई!! इसी बीच हमारे सुयोग्य प्रो. कृष्ण कुमार जी एम्. ए. ने मेरी रुची देखकर कुछ आसनों का अभ्यास मुझे कराया। वैदिक धर्म के दूसरे ही अंक में सचित्र "शीर्षासन" दिया गया। जैसे ही मैंने वह अंक पढा, उसी समय अपने मित्रोंकी सहायतासे शीर्षासन को करना प्रारंभ कर दिया, और तब से निरन्तर करता रहा हूं।

आज कल उस को लगभग आध घंटे तक किया करता हूं, और उसके पश्चात् अन्य आसन, लगभग ३० के, प्रतिदिन किया करता हूं। जिनका फल यह हुआ है, कि जितनी आपत्तियां स्वास्थ्य के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाली होती थीं, वे प्रायः सभी पराभूत हो चुकी हैं!

१. मेरा शरीर पहले लगभग १॥ गुना अधिक हृष्ट पुष्ट प्रतीत होता है और इसी में किसी रोग का प्रवेश सरलतासे नहीं हो सकता।

२. मैं कभी तैल आदि मर्दन नहीं करता, तब भी सारा शरीर नर्म, लचीलापन लिये हुये और तैलमर्दित चिकना सा रहा करता है।

३. जहां पहले शौच में आध घंटा लग जाता था, वहां अब दो मिनिट भी नहीं व्यय होते, और देर तक बैठकर पेट को मरोडना और श्वास साधना नहीं पडता।

४. जहां पहले सप्ताह में दो दिन उपवास करना पडता था, वहा अब एक समय के लिये भी भोजन छोडने की आवश्यकता नहीं पडती।

५. अब मुझे बडी कडाके की भूख लगती है, और भोजन भी पहले से अधिक कर लेता हूं।

६. अन्य सारे धातु विकार दूर हो कर [जिन के निराकरणके लिये मैंने संपादक वैदिक धर्म को भी पत्र द्वारा उपाय पूछा था, और तब उन्होंने शीर्षासनादि बतलाये थे,] स्वप्न दोष की मात्रा भी नाम मात्र को रह गई है, और मुझे पूर्ण विश्वास है कि, थोडे दिन में उसका भी अत्यंताभाव हो जायगा।

७. अत्यंत हर्ष की बात यह है, कि इन दिनों में मुझे शिर पीडा आदि कुछ भी व्याधी नहीं हुई। यदि कभी आशंकाभी हुई, तो झट शीर्षासन कर डाला, यह आदर्श मेरे सामने हमारे पूज्य प्रो० कृष्ण कुमार जी एम्. ए. तर्काचार्य ने रखा। उन का कथन है, कि आसन करते हुए उनको लगभग ४ वर्ष हुये, तब से उनको कोई किसी प्रकार का रोग नहीं हुआ जब की सैकडों भाई कोई आश्वन मासमें मलेरियादि से पीडित रहते हैं।

८. जब मैं अधिक पढते पढते थक जाता हूँ तो शीर्षासन लगाता हूं, जिससे मस्तिष्क की शक्तिका रक्तके साथ पुनरावर्तन होकर पुनः दिमाग ताजा हो जाता है। इस रीतिसे मेरे साथी बहुतसे विद्यार्थी लाभ उठा रहे हैं।

९. प्राणायाम पूर्वक त्राटक करनेसे चक्षुओंकी शक्ति भी अधिक बढ गई है।

१० गुरुकुल में रहकर मैंने कुच्छ ब्रह्मचारियों को भी शीर्षासन, जानुशिरासनादि सिखलाये, जिससे उनकी तिल्लीको अधिक लाभ प्रतीत होता था। आगे पुनः लिखा जायगा। इस हेतु विद्यार्थियों से मेरा विशेष आग्रह है, कि बैठे बैठे उदर दरी को न बढाकर—

समझो प्रभुका यह शासन है।
सुखस्वास्थ्य-प्रदायक आसन है॥

विपरीत करणी तथा शीर्षासन।

(लेखक—श्री. पं. ठाकुरदत्तशर्मा वैद्य, लाहौर)

(१) कपाली आसन, शीर्षासन, या वृक्षासन—किसी किसीने एक टांगपर खडे होनेको वृक्षासन कहा है, इसमें एक कंबल पर दोनों हाथ मिलाकर रख कर, शिर

उन पर रख कर, पांव आकाशकी ओर सीधे कर देने चाहिएं। इस तरह हुए हुए अब इसकी शकलें और भी करली जाती हैं। जैसे-एक टांग नीचे कर ली तो उसका नाम "एक पाद वृक्षासन" हुआ, दोनों टांगें नीचे कर लीं इसका नाम "अर्ध वृक्षासन" हुवा; दोनों पांव आमने सामने मिल लिये उसका नाम "ऊर्ध्व संयुक्त पादासन" हुवा; अब टांगोंसे पद्मासन लगाया तो "ऊर्ध्व पद्मासन" हुआ।

(२) इस आसनमें अधिक अभ्यास होनेसे ऐसा संभव हो जाता है कि, हाथ छोड दिये जावें और केवल सिरके बल जमीन पर खडे रहें, इसका नाम "मुक्त हस्त वृक्षासन" है। यह बहुत कठिन है, गर्दन पर सब बोझ पडता है। कई कहते हैं कि मुक्त हस्तासन इतनाही है, कि हाथ शिरके नीचे नहीं रहें यह सुगम है। इस प्रकार आसन लगा कर भी टांगोंकी वह संपूर्ण शक्लें बदली जा सकती हैं।

(३) इसका एक तीसरा सिलसिला भी है, इसमें हाथोंके सहारे खडा हो जाना है, गर्दन पर जोर नहीं पडता, बाहु पर पडता है। इसका नाम "हस्त वृक्षासन" है। इसके साथ ही वही सब शक्लें बदली जा सकती हैं। इसका अभ्यास भी देरीमें होता है। देर तक दीवारका सहा लेना पडता है।

(४) विपरीत करणी मुद्रा—मुद्राको आसनोंके साथ मिलाया नहीं जाकता। प्रत्येक मुद्रामें कुंभक आवश्यक होता है। मुद्राका विशेष प्रयोजन भीतरी शक्तियोंको जगानेका होता है। कुंभक साथ न हो तो यह आसन हो जाता है, अगर कुंभक साथ हो तो वह विपरीत करणी मुद्रा होगी। प्रथम हाथका सहारा देना पडता है, परंतु वास्तवमें हाथका सहारा न देना चाहिये। गर्दन तथा कंधोंपर सब बोझ डालकर सीधा खडा होना चाहिये। किसी किसीका मत है कि टांगें सिरके ऊपरसे भूमिको आ लगें, तब "सर्वांगासन" होता है। "विपरीत करणी मुद्रा" यही है। इसके वास्ते प्रमाण पुस्तकोंसे नहीं दिया जा सकता है। जो मुद्राका प्रयोजन है वह इससे ठीक सिद्ध होता है। इस वास्ते यही विपरीत करणी मुद्रा है। मेरा विचार है कि इस प्रकारसे आसन किया जावे तो वृक्षासनके लगभग सब लाभ पहुंचते हैं। पाचनशक्ति इससे तेज होती है। जठराग्नि बहुत ही बढ जाती है और कुंडलीका उत्थान शीघ्र करती है। उत्तम यह है कि दोनों वृक्षासन और सर्वांगासन किये जावें इससे बडा लाभ होगा।

इन आसनोंके गुणोंके संबंधमें मुझे कुछ नहीं कहना है, मेरा विश्वास है कि "वैदिक धर्म" में जो कुछ लिखा गया है वह सब उचित है।

शीर्षासन का एक विचित्र अनुभव।

लेखक-श्री. गणपतराव गोरे आर्य्य, जेकब आबाद, सिंध।

मैं गत तीन वर्षों से सक्कर बराज डिव्हीजनमें सर्वे कर रहा हूं, इस वर्ष कच्छके रण के समीपही सर्वे हो रही है, सर्वे क्षेत्र थरपारकर के उजडे बयाबानों में है, जहां कि दस दस कोसके अंतरेमें डाक्टर किंवा हकीम नहीं मिलता, पानी मिलना बहुत ही कठिन है!!

इन अवस्थाओं में कार्य करते हुवे हाजी साहब डिनों दारोगे को आक्टोबर १९२३ के मध्यमें अचानक पेटदर्द हुवा और तीसरे दिन तडप तडप कर ७९ मील मिठडाऊ राह के पडावपर मर गया!!!

आक्टोबरके अंतमें मेरी सर्वेपार्टी नं० २ भी उसी मंजिल पर आ उतरी, मेरे खलासियोंने उपरोक्त दारोगा के शोक-मयी मौत का समाचार सुना ही था, पडाव पर पहुंचके जी तोड बैठे! मौतकी तसवीर सामने खडी होने लगी!!

अचानक ३ नवम्बर १९२३ के सायंकालके ३ बजे के समय खलासी मेरे तंबूमें चिल्लाते आये कि "आदमी मरता है अगर कोई दवा कर सकते हों तो करो!" खलासी को जाकर देखा कि भूमि पर मडगडा कर लेट तथा चिल्ला रहा

है !! खब्बड बलोच के जीने की आस तो सभी खलासियों ने छोड रखी थी, मैं स्वयं भी बहुत घबराया, कोइ वैद्य तो था नहीं कि बीमारी का पता लागता और औषधि देता ! मैं कुछ दवाइयें मंगवा कर पास रखा करता हूं, परंतु पेट सूलकी औषधि मेरे पास उस समय नहीं थी। आपके "वैदिक धर्म" मासिक पत्रमें आसनोंके संबंधमें लेख पढा था, अवचित विचार आया कि, इसे शीर्षासन तो करा कर देखूं ! खब्बड बलोच का चिल्लाना और लोटना बराबर जारी था, फिर उसमें शीर्षासन करनेका बल तथा धैर्य्य कहां ? इस लिये दो खलासियों को कहा के इसको दोनों टांगोंसे पडकर शिरके बल खडा करो !

बस ! उलटा टांगनेकी देर ही थी कि बीमार चंगा होने लगा ! चिल्लाना धीरे धीरे कम होता गया और एक मिनिटके अंदर अंदर उसने चिल्लाना बिलकुल ही बंद कर दिया!!! खब्बडका मुख नीचेकी ओर था और खलासियों की भीड छौलदारी में हो रही थी इसलिये चिल्लाना बंद होते ही मेरे तथा कई अन्य लोगोंके मनमें एकसाथ ही विचार आया कि खब्बड बलोचने प्राण त्याग दिये !! झट, नीचे झुक कर पूछा कि "अब कैसा लगता है ?" शांतिसे उत्तर आया कि "दर्द कम हो रहा है !!!" यह सुन कर सब प्रसन्न हुवे !

एकंदर दो या तीन मिनिट तक यह जबरदस्ती का शीर्षासन करने के पश्चात् खब्बडने कहा—"अब मुझे लिटा दो,

अथवा इन दोनोंसे पृथक कोई
नहीं कह सकता !

तौन मिनिट के भीतरही मौतके मुंहसे निकल कर पूर्ण आरोग्यता पाना एक करामात ही तो थी ! ! !

खलासी कहने लगे कि यदि बाबू गणपतराव हाजर होते तो दारोगा भी कभी न मरता ।

परंतु मेरे मनसे उस समय स्वाध्याय मंडल तथा मासिक पत्र "वैदिक धर्म" के लिये आशीर्वाद निकल रहे थे, कि जिनके पुण्य प्रतापसे मुझे इस तरह एक मुसलमान भाई की जान बचाने का औसर प्राप्त हुवा ! ! !

यह शुभ समाचार मुझे उसी समय आपको देना उचित था, परंतु अपने आलस्य के लिये क्षमा प्रार्थी हूं ।

भवदीय,
गणपतराव गोरे
सिव्हिल हास्पिटल के समीप
जेकबआबाद, सिंध.

शीर्षासनसे कर्णरोग का दूर होना।

(लेखक—श्री. म. गो० पूरनदासजी)

मेरा कान इतना बहता था कि कोई भी प्रख्यात द फायदा न हुआ और शरीर भी जीर्ण होता चला २ मगर शीर्षासन करनेसे छः महिनों में कर्णरोग समू नष्ट होगया। आराम तो प्रथम सप्ताहमें ही मालूम पडने लगा था।

शीर्षासनसे दृष्टिको भी लाभ हुआ। पहिले मैं विना आयनकके पढ नहीं सकता था। परंतु शीर्षासन करनेसे अब मुझे आयनक की आवश्यकता रही नहीं है।

मैं १५ महिने शीर्षासन कर रहा हूं और प्रति दिन ४० मिनिट कर सकता हूं। इससे उक्त लाभ हुआ है।

सर्व शरीर चिकनासा मालूम देता है, धातु पतनादि दोष दूर होगये हैं। इस लिये मैं शीर्षासन को "योगामृत" नाम देता हूं।

शीर्षासन के लाभ.

(लेखक—श्री. पं. रामचन्द्र विद्यारत्न, मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल होशङ्गाबाद)

वैदिक धर्मके पाठको! मैं आज आपकी सेवामें अपने अनुभव किये केवल शीर्षासन के लाभ निवेदन करूंगा!

मैंने स्वयं शीर्षासन एक वर्षसे करना प्रारम्भ किया है, और अभीतक विशेष कार्यवश उसको अधिक न बढाकर केवल १५ मिनट तक का अभ्यास किया है; परन्तु इतने से ही एक वर्ष में मेरे शरीर का परिवर्तन अपूर्व होगया है, मैं जब उन स्थानों पर गया हूं, जहां १ या १॥ वर्ष पूर्व गया था; तो लोगों ने चकित होकर आश्चर्य से कहा कि क्या सचमुच आप वही हैं जो पहिले थे, और मुझे स्वयं भी ज्ञात होता है, कि मैं पहिले आधा घण्टाभी व्याख्यान देनेमें थक जाताथा, थोडा परिश्रम करनेसे थकावट मालूम होती थी वह अब सब दूर होगये, मैं अब दो घण्टे तक आनन्द पूवक व्याख्यान दे सकता हूं, और प्रत्येक कार्य में उत्साह, स्फूर्ति, और प्रेमका संचार होता है, मुझे–पहिले कब्ज, नेत्ररोग, कर्णरोग अधिक होते थे, वे सब दूर हो गये। मेरे एक मित्र जिन्होंने मेरे साथ ही शीषासन प्रारम्भ किया था और उन पं० पूर्णानन्द जी की अवस्था ४२ वर्षकी है, बाल सब सफेद हो गये थे, किन्तु अब धीरे धीरे आगे के बाल सफेदसे काले होने लगे हैं। मैंने हरदा, खण्डवा, भुसावल, इन्दौर, खरगोल, वडवानी, नागपुर, वर्धा आदि अनेक स्थानोंपर आसन पद्धति पर सैकडों व्याख्यान दिये हैं और लोगों को करके दिखाये हैं, मेरे उद्योग से जिन लोगों ने भी आसन करने प्रारम्भ किये थे, उन्होंने मुझे अपने विचार १, २ मास पश्चात् ही बडे, उत्साह व आशाजनक शब्दों द्वारा सुनाये हैं, खण्डवाके

एक मास्टर साहबने मुझे बताया कि, दो मास के ही शीर्षासनसे उन्हे यह लाभ हुवा, कि पहिले वे रात्रि को बारीक अक्षर नहीं पढ सकते थे, किन्तु अब आनन्द पूर्वक पढ सकते हैं, उन्हें कुछभी कष्ट अब ऐनक न लगानेसे नहीं होता है, मेरे साथमें एक भजनीक है, जिन्हें पहिले स्वप्न दोष होता था, किन्तु अब १, १॥ मासके अभ्याससे उनका यह दोष सर्वथा दूर हो गया, और उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। मैंने अपने गुरुकुलके सभी ब्रह्मचारियों को लगभग एक वर्षसे ही आसनों का अभ्यास प्रारम्भ कराया है, उनके शरीर पर उनका अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ है। प्रायः किसी ब्रह्मचारी को भी जिसने नियमसे आसन किये हैं, इस वर्ष में कभी जुकामतक भी नहीं हुवा, उनके चेहरे पर पूर्ण चमक, और शरीर अवयव, हाथ, पैर, कन्धे आदि सब सुडोल, और सुशोभित मालुम होने लगे हैं। गुरुकुलके ब्रह्मचारियों को स्मरण शक्ति के विषयमें भी विशेष सफलता प्राप्त हुई है, अतः कोई अत्युक्ति न करते केवल अपने व अपने भाईयों के, अनुभव केवल शीर्षासन पर लिखते हुए दिखलाया है, कि यदि आप स्वप्नदोष, प्रमेह, कर्णरोग, नेत्ररोग, शीर्षरोग, अपचन, दूर करके समस्तशरीर को सुडौल बनाना हो, बुढापेको भी दूर करके काले बाल करना हो, और पूर्ण युवा अवस्था का आनन्द भोगना चाहते हैं, जीवन को सफलता पूर्वक, आनन्द उत्साह के साथ बिताना चाहते हैं, तो कमसे कम शीर्षासन

का अवश्य प्रारम्भ कर दीजिये, और यदि सभी आसन थोडे थोडे प्रारम्भ करदें, तो फिर देखिये कि आपको क्या सफलता प्राप्त होती है, और जीवन का सुख कितना प्राप्त होता है।

शीर्षासन और तिल्लीका दर्द।

(लेखक—श्री. पं. वंशीधर विद्यालङ्कार,)

५६ आलिपुर रोड

कलकत्ता

मान्यवर पण्डित जी! ८।३।२४

सादर नमस्ते.

आज हमारे घर में एक विचित्र घटना घडी है, जिसने लोगोंका योग के आसनोंमें जबरन विश्वास कराया है। मैं उस घटना का उल्लेख "वैदिक धर्म" के पाठकोंके आगे रखना चाहता हूं, आशा है कि आप इसे अपने योग्य पत्रमें कृपया स्थान देकर कृतार्थ करेंगे। इस पत्र के लिखनेका एक मात्र यही तात्पर्य है कि, जिससे बीती घटनाओंको जानकर सर्व साधारण का यौगिक आसनों के प्रति अधिकाधिक विश्वास हो। आपने ही सब से पूर्व इन साधनोंको सर्व साधारण के सन्मुख उपस्थित किया है, इसलिये ऐसे अवसर पर मैं आपको

हृदय से धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता। उक्त घटना इस प्रकार हुई—

बाबू तुलसीदास जी दत्त के घरमें उनका एक नौकर जिसका नाम "मदन" है और उडीसा का रहनेवाला है, उनकी गौओं का कार्य करता है। आज ८-३-२४ शनिवार को प्रातःकाल जब दूध दुहकर अन्दर दूध की बाल्टी देने जाता था, अचानक उसके पेटमें बडी ही जोरसे तिल्लीका दर्द उठा। उसने दूध की बाल्टी एकदम रख दी और बडी जोरसे कराहने लगा। फिर धीरे धीरे से चलकर एक कोनेमें वह ६॥ फूट का लम्बा जवान सिमट कर पड गया, और उसने आहें भरनी आरंभ कीं।

उसकी आहें सुनकर मेरे दो छात्र रमेश और भूमीश मेरे पास भागकर आये और कहने लगे कि, पण्डितजी! मदन के पेटमें बडी जोर से दर्द हो रही है वह चीखें मार रहा है। आस पास के घरोंके व्यक्ति भी मौजूद हो गये उस दर्द के अवसर पर कोई कुछ कहने लगा और कोई कुछ। देखनेवाले उसके कराहने को सुनकर घबरा जाते थे। इसपर मैंने कहा कि, इसे 'शीर्षासन' करांना चाहिये।

पहिले तो लोगा को बडी हँसी आई, कि इस उल्टे खडे होनेसे क्या होगा? यहां तक कि वह नौकर "मदन" भी इसके लिये तय्यार नहीं हुवा!!

अन्तमें मेरे बहुत कहनेपर "मदन" ने मान लिया और मैंने और एक दो आदमियोंने मिल कर उसे "शीर्षासन" कराया। तीन मिनिट तक उसे लगातार हमने खडा रक्खा, किन्तु दर्द शान्त नहीं हुआ। उसे नीचे उतारा। लोगोंने इस आसन को बडी अश्रद्धा और अविश्वास से देखा!!

फिर मैंने एक गद्दा रखकर एक वार शीर्षासन करनेके लिये फिर अनुरोध किया। इस बार ठीक विधिपूर्वक हाथोंके उपर उसके सिरको रखवाकर ठीक तरह सीधा खडा किया। उसके पेटको मैं बडे ध्यानपूर्वक देखता रहा। उसका पेट बडा सख्त था। मैं ने "मदन" से पूछा कि, क्यों दर्द कैसी है? उसने उत्तर दिया "बढ रही है'।

मैंने कहा तो फिर अभी अच्छी हो जायगी उसने मुख बन्द कर के नाकसे श्वास लेना प्रारंभ किया। मैं ने उसके पेटको हाथ लगाया हुआथा। तीन मिनट के बाद देखा कि उसके पेटमें अब सख्ती नहीं है, वह बिल्कुल नर्म हो गया है। मैंने पूछा मदन! दर्द है? उत्तर मिला—"अच्छी हो गई" धीरे धीरे हमने नीचे उतार दिया। वह धीरे से खडा होगया और फिर पूर्ववत् हंसने लगा! उसके बदन में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं हुई।

इन ६ मिन्टों के बीच में उसका स्वास्थ्य बिल्कुल अच्छा होगया! वह पहिली तरह से ही काम काज करने लग

गया!! सबको यह देखकर बडा अचम्बा हुआ!!! सब कहने लगे कि "यह सब योग के आसनों की करामात है!!"

उस समय मुझे, अपने विद्यार्थियों, तथा लोगों के मुखसे यह सुनकर बडी प्रसन्नता हुई कि, "आज से हमारा योग के आसनों में बडा विश्वास हो गया है।"

ब्रह्मचारीजीके दो पत्र।

(१) आसनों का अनुभव।

(लेखक—श्री. ब्र. रामचंद्रजी)

गत दो मांसों की छुट्टियोंमें मुझे बाहर जानेका अवसर प्राप्त हुआ था। बाहर जाकर मैंने जहां मुझे अवसर मिला है, मैंने जनता में आसन करके दिखाएं हैं। लोगों ने बहुत पसन्द किए और इस ओर प्रायः सब की ही रुचि हुई, प्रतीत होती थी। आसन दिखाने के साथ प्रत्येक आसन का लाभ भी बताता रहा हूं। आसन कर चुकने के बाद बहुत से लोग मुझसे मिलते और व्यायाम के बारे में पूछते, जिन की चर्बी बहुत बडी हुई थी, उन के लिए समुचित आसन करने के लिये कहता था। वर्तुलासन, हस्तपादासन, पश्चि-

मोत्तानासन, मयूरासन आदि बहुत सुगमतासे होने वाले जो एक बार देखकर किए जा सकते हैं। इसके साथ साथ नक-सीर और जुकाम के लिए अपने आप स्वयं अनुभूत नासा-मूल शोधन, नाकमें पानी चढाना, इसी प्रकार मूख से पानी लेकर नाकके रास्ते निकालना, फिर नासामूल को शुष्क करना, इत्यादि भी बताता रहा हूं; और स्वयं करके दिखाता रहा हूं। ये बात मैंने कई बार अनुभव की है, कि मुझे जब बुखार की हरारत हुई है, मैंने आसन किए और बुखार जो आता मालूम होता था, आसन करने के बाद उसका पता भी नहीं कि, कहां चला गया ? अभी थोडे दिनों की बात है, मैं यात्रासे वापिस आता हुआ कैम्बलपुर गया। वहां कि समाजमें मुझे आसन दिखानेका अवसर मिला। रवि-वार का दिन था। शनिवार की सायं काल मुझे ऐसा भोजन मिला जिसमें नमक और मीठा दोनों मिले हुए थे। ऐसा भोजन पहिले कभी नहीं खाया था, कि एक ही चीज में मीठा भी हो और नमक भी हो। सवेरे उठते ही तबीयत ठीक नहीं मालूम पडी। आकाश में बादल छाए हुए थे, ठंडी हवा चल रही थी, मुझे ठण्ड लगने लगी, अपनी नित्य क्रियाओं से निवृत्त हुआ। शरीर अस्वस्थ मालूम पढता था। मैं समाज में गया मुझे ठंड लग रही थी, मैं कम्बल ओढ कर बैठ गया। यज्ञ हवन के बाद मंत्रीजीने मुझे आज्ञा दी कि आइये, आसन दिखाइये। मैं ने अपने सब कपडे उतार दिए। केवल कच्छा

पहिने रखा। पहिले पंच प्राण जय, तदनन्तर आसन फिर कुछ दण्ड, वगैरा दिखाए। ध्यान के दूसरी ओर लग जाने से ठंड का अनुभव नहीं हुआ था। जब सब खतम कर चुका, तब मैंने अपने आपको बिलकुल स्वस्थ पाया। कहां पहिले कम्बल की ठंड थी, आलस्य और अंगडाई आ रही थी। अब सब की सब दर भाग गयी!!! किसी का कुछ पता न चला! मेरे साथ ही एक और ने भी पिछली रात मीठे नमकीन चावल खाए थे, उसकी भी बहुत बुरी हालत हुई। उस ने डॉक्टर की शरण ली। दवाई कराने के बाद भी वो अपने आप को स्वस्थ नहीं पाता! पर मैंने आप को बिलकुल स्वस्थ पाया; पहिले मैंने समझा हुआ था, ये अचानक होता रहा है, पर अब निश्चित तौरसे अनुभव कर लिया है कि, आसनों से ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो बुखार को आनेसे रोकती है। वो कौनसा आसन है, जिसमें सबसे अधिक बुखार रोकने की शक्ति है, यह बात अभी तक पता नहीं लगी।

(२) अपानजय।

सेवामें पाठकोंके लाभार्थ मैं एक लेख प्रस्तुत करता हूं। लेख यद्यपि विशेष अन्वेषण पूर्वक नहीं लिखा गया तथापि अनुभव पूर्वक अवश्य है। अन्य किसी महानुभावने यदि इस विषय में कोई विशेष अनुभव प्राप्त किया हो मेरे अनुभव में की कमी को पूर्ण करे और पाठकों को लाभ पहुंचाकर पुण्यके भागी होंवे।

मेरा विषय जो पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने लगा हूं 'अपानजय वा अपानायाम' है। अनेक वेदमन्त्रों में प्राण और अपान शब्द आते हैं। वहां प्राण शब्द का अभिप्राय जीवनोपयोगी उत्तम पदार्थ, उत्तम गुणों से है, जो लेने योग्य हैं। और अपान शब्दसे त्याज्य वस्तु, देहेंद्रिय बुद्धि मनको हीन करनेवाले भाव हैं। प्राणके साथ उत्तम भाव, सद्विचार, उत्तम गुणोंका अपने अन्दर धारण करनेका और अपानके साथ नीच भाव, असद्विचार, दुर्गुणोंको बाहर करनेका भाव आता है। प्रत्येक देही जब तक जीवन धारण करता है, अपने अन्दर (प्राण) ग्रहण करनेकी शक्ति रखता है। प्राणों की तरह उत्तम नीच भाव, अच्छे बुरे विचार, उत्तम सात्विक व नीच तामसिक गुण लेता ही लेता है। अर्थात् लेने की शक्ति प्रबल होती है, अपेक्षा छोडने के। क्यों कि हम देखते हैं कि दूसरेके धन ऐश्वर्य को देखकर अपनाने की इच्छा होती है पर द्रव्यापहरण, दूसरे के अधिकारों को छीनना, इत्यादि बातों से स्पष्ट है, कि जगत् में ग्रहण करने की शक्ति बहुत प्रबल है इसीलिये कहते हैं, कि—

"प्रकृतिर्हि दुस्त्याज्या"

जिस का जैसा स्वभाव बन गया है वह उस से छूटता नहीं, तथा—

"स्वभावो दुरतिक्रमः"

स्वभाव का बदलना असंभव नहीं, पर कठिन अवश्य है।

कोई आदमी किसी का नकल करता है, या किसी को कोई बुरी आदत पड जाए, तो बुरी आदत का हटाना उस के लिये अत्यंत कठिन हो जाता है। अपनी बुरी आदत-से लाचार हो जाता है, कष्ट उठाता है, पर छूटती नहीं। त्याग करना सचमुच अत्यन्त कठिन है तपस्वी ही त्यागी हो सकता है। त्यागना एक तपस्या का काम है, चाहे धन ऐश्वर्य का त्याग हो। चाहे किसी बुराई का त्याग हो। त्यागना दोनों का कठिन है। धनादि को तो भला सभी चाहते हैं। उस के विना संसार में जीवनयात्रा दुष्कर हो जाती है। लेकिन जिस चीज को कोई चाहता नहीं, जिससे किसी को कुछ भी लाभ नहीं, ऐसी बुरी आदत को छोडना भी बडा मुशकिल कार्य है। छोडना चाहने पर नहीं छूटता। त्याग भाव तपस्या के विना नहीं हो सकता। एक ओर जहां ग्रहण करने की शक्ति अपने अन्दर लेने की शक्ति इतनी प्रबल है, दुसरी ओर वहां त्याग भाव का अत्यन्त अभाव है। इस का अधिक विचार न करते हुए, अपने विषय पर आता हूं। मनुष्य देह में पांच "महाप्राण" हैं। और पांच "अल्पप्राण" हैं। प्राण एक होता हुआ भी स्थान और कार्य भेद से पांच प्रकार का है। पांचों प्राणों में से अपान पर ही विचार करना है।

जिस प्रकार प्राणों की गति ठीक रहने पर आदमी स्वस्थ तथा आनन्दित रहता है, और प्राणगति के ठीक न रहने पर

दुःखी होता है, ठीक इसी प्रकार अपान के ठीक रहने से आदमी स्वास्थ्य सुख लाभ कर सकता है। अपान गति के ठीक न रहने पर उस से अधिक कष्ट पाता है, जो कि बुरी आदत को छोडना चाहता है, पर छूटती नहीं। यहां भी आदमी दिन भर भोजन अपने अन्दर लेता रहता है। लेनेकी शक्ति प्रबल है। पर अन्दर लेकर उस का त्याग नहीं कर सकता। त्यागने की शक्ति नहीं है। प्राण का स्थान कण्ठ से लेकर हृदय पर्यन्त है। और अपान का स्थान नाभि से नीचे गुदा तक ह। हम जितना भोजन करते हैं, वह सब का सब ही रस नहीं बन जाता, परन्तु आंत्रादि उस में से जितना रस निकाल सकते हैं, उससे बचा हुआ मल रूप निस्सार रह जाता है। कई बार अनेक बीमारियों में जब कि आन्तडियें सारा रस निकालने में असमर्थ होती हैं, तो बहुतसा सार भाग भी रह जाता है। इस बचे हुए शरीर के लिए निरुपयोगी निस्सार भाग को अपान ही शरीर से बाहर करता है। और भी जितने मल हैं, मूत्रादि वे भी सब अपान द्वाराही बाहर किये जाते हैं। परंतु क्यों कि अपान हमारे वश में नहीं होता, इस लिये जब अपान अपनी ठीक गति में नहीं रहता, मल को बाहर करने में असमर्थ हो जाता है। इस लिये कब्जी की शिकायत प्रायः रहती है। कभी कभी अपान अधो मार्ग से न जाकर ऊपर चढ जाता है, जिससे तीव्र शिरो वेदनाएं होती हैं। निद्रा, आलस्य भ्रम मूर्छादि हो जाते हैं।

तथा विशेष यह है कि कभी कभी अपान के ठीक न रहने से पेट में गड गडासा होता रहता है, पेट में अफारा हो जाता है, पेट में बडी सख्त दर्द शुरू हो जाती है। ये सब विकृत अपान के कार्य हैं। एक आदमी नित्य प्रातःकाल शौच के लिये जाता है, पर उसे शौच खुल कर नहीं आता। जोर का काम न होते हुए भी जोर से काम लेता है, और फिर भी हार जाता है। अन्तमें पानी का लोटा उलटा कर लौट आता है . शौच निवृत्ति से वह उस आनन्द को अनुभव नहीं करता, जो खुल कर शौच होने से मिलता है। वह अपने शरीर में भारीपन, आलस्य, किसी कार्य की ओर रुचि न होना, खाने पिने में अनिच्छा अनुभव करता है। मैं पहिले लिख चुका हूं कि, हम में त्यागने की शक्ति बिलकुल कम है। मल त्यागने की इच्छा रखते हुए और साथ ही क्रिया द्वारा यत्न करते हुए भी त्याग नहीं सकते। देखिए, यह त्याग की शक्ति, त्याग, वैराग्य, किस प्रकार से लाभ किया जाता है, इस ओर न जाकर मैं सिर्फ अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाले त्यागका ही वर्णन करूंगा। उत्तम स्वास्थ्य वह है, जिस में चित्त प्रसन्न रहता है, भूख लगती है, किसी प्रकारके कार्य करने में उत्साह होता है। ये सब बातें तभी हो सकती हैं, जब कि "पेट देव" को भी एक बार या दो बार बीचमें आराम मिले। जिस के पेट को हर समय अपने माल के संभालने की चिन्ता लगी रहती है, उसे कभी सुख

नहीं मिलता। इस लिये कई हमेशा के लिये डाक्टरों के स्थिर ग्राहक बने रहते हैं। नाना प्रकार की औषधि सेवन करते हैं, पर सब व्यर्थ। उन दवाइयों से कोई और रोग होगया, तो उसका फिर इलाज होता है। उस के ठीक होने पर या उस के साथ एक और ही बीमारी आलगती है। बस, दवाइयों का सिलसिला जारी रहता है। इस रीतिसे इन सब आपत्तियोंका सिलसिला जारी रहता है। इस कारण। इन सब आपत्तियों से बचने के लिये पेट जो सब सुखों और दुःखों का मूल है, अपने वश में करना चाहिए। इसके कई तरीके हैं।

सब से प्रथम "उदर चालन।" अर्थात् पेटको हिलाना जुलाना, पेटमें गति पैदा करना है। इस के अभ्यास के लिए प्रथम प्रथम पेटको सामने की ओर जितना फूल सके फुलाएं, फिर सिकोडें, नाभिको रीड की हड्डीके साथ लगाने का यत्न करें। इससे जहां अपानका अनुलोमन होता है, उसके साथ वीर्यरक्षा भी होती है। अब दोनों हाथों को पेट पर रखें। अंगूठा पीछे रहे और अंगुलियां सामने की ओर हों। अब पेट को पूर्ववत् फुलाएं और बाएं हाथ से दबाव डालें दाइ ओर; और दाएं हाथ से दबाव डालें पीछे की ओर; अब पेट को पीछेसे बाएं पासे फुलाएं इसी प्रकार कई रोज तक अभ्यास करनेसे पेट स्वयं बाएंसे दाईं ओर होकर पीछे होकर बाई ओर आयगा। इसी प्रकार दाईं ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करें।

इसी प्रकारसे पेट को ऊपरसे नीचे गतियां देनी चाहिएं और फिर नीचे से ऊपर की ओर, इस प्रकार जब पेट चारों ओर खूब अच्छी तरह हिल जुल सकेगा, तो पेटके अन्दर का पदार्थ बलात् बाहर होने लगेगा। मल जो कि आन्तों में चिप का होता है, दबावसे बाहर धकेला जाता है, इस प्रकार पेट की सफाई हो जाती है। पेट की और बहुतसी व्यायामें हैं, उनसे केवल पेट की नाडी नस बलवान् होती हैं। उदर शुद्धि नहीं। अपान को वश में करनेकी एक विधि बता दी है। अब दूसरी देखिए।

सावधान खडे होकर श्वांस को बिलकुल बाहर फैंक कर कोखके दोनों पासों को भीतर खींचने का यत्न करें, मध्य प्रदेश नाभिस्थल ऊपर उभरा रहे। उस का अभ्यास करने के लिये सामने कोई टेबल हो, या अन्य वस्तु जिसे खूब अच्छी तरह पकड ऊपर उठा जा सके अब हाथों के बल सीधा ऊपर उठा जाय और वहीं क्रिया की जाय, नल स्वयं बाहर आगे निकलेगा। अब बिना टेबल के दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर श्वांस बाहर फैंक कर कुक्षि प्रदेश अन्दर खींचे। अब जब नल निकलने लग जाय तब श्वांस चाहे अन्दर हो चाहे बाहर। श्वांस को रोक कर नल निकाला जा सकता है। और उसे आगे पीछे खूब अच्छी तरह हिलाया जा सकता है। इस क्रिया को बहुतसे लोग जानते हैं, पर उन्होंने इससे कोई विशेष लाभ नहीं उठाया। यह नौली

क्रिया बस्तिके लिये अत्युपयोगी है। अपानके वश में होने पर बस्ति बडे आरामसे हो जाती है। यदि पेट में किसी प्रकार की गडबड हो। शौच ठीक तौरसे न हो, बुखार की हालत होने लगे, या अतिसार दस्त वगैरा आने लगे, तो बस्ति एक परम औषध है। बस्ति करने के दिनों में लिखा है कि, मूंग की दाल की खिचडी में घी डालकर खावे। इस बस्ति क्रिया को सुगम करने के लिये यह अपानायाम सीखना चाहिये। जिस प्रकार प्राणायाम में पूरक, कुम्भक, रेचक हैं, उसी प्रकार अपानायाम में भी ये क्रियाएं हैं। फर्क इतना है कि, इस में कुम्भक नहीं होता। कुम्भक कर तो सकते हैं, पर उस अवस्था में अनेक उपद्रव आ खडे होंगे। पेटमें अफारा सा हो जायगा, तीव्र दर्द होगी, इत्यादि। इस लिये इस में कुम्भक क्रिया न करनी चाहिये। यदि ऐसी अवस्था हो जाय तो उस समय पेट को बिलकुल ढीला छोड देनेसे वायु बाहर हो जाता है, अपानायामके कई आसन हैं, जिन में अपान स्वयं ही वश में होने लगता है आपने बहुत वार कुत्ते या बिल्ली को अंगडाई लेते देखा होगा। ठीक उसी प्रकार की स्थिति में हो जाइए। हाथोंको सीधा आगे पसारिये। जमीन पर ठोडी या गाल लगे और घुटने अलग अलग कर के रखें, कमर को जितना हो सके झुकाएं। अब अपान को बाहर करनेका यत्न करें। उसके बाद स्वयं ही अपान अन्दर आनेका यत्न करेगा। नौलि क्रिया की तरह नल निकालने

पर अच्छी तरह होगा। इसमें अभ्याससे पेट की सख्त दर्द, पेट में गुड गुड होना, अफारा और सिर दर्द, इत्यादि निश्चय-से दूर हो जाते हैं; यह मैंने कईयों पर परीक्षा किया है। इस को चारों ओरसे देखें, सब अवस्थाओंमें अपानायाम हो सकता है।

२ शीर्षासन करते समय टांगों को बिलकुल ढीला छोड दें, अपान स्वयं बाहिर होने की कोशिश करेगा, आप पेटको फुलाए और सिकोडे, तो अपान का अनुलोमन होगा। शौच साफ होकर आयगा।

३ सर्वांगासन की उस स्थितिमें जब की दोनों घुटने कानोंके पास हों, या दोनों टांगे ढीली कर के पेट पर छोडी हों तब अपान स्वयं गति करता है। उस समय पेटके फुलाने और सिकोडनेसे अपानायाम किया जा सकता है।

४ उत्कटासन या जिस आसन में शौच निवृत्तिके लिये बैठते हैं उस अवस्था में अपान यदि बलवान् हो तो बाहर निकल तो जाता है, पर अन्दर नहीं होता। पूरक करनेसे अन्दर आ सकता है। अन्य स्थितियोंमें अन्दर रुका हुआ वायु स्वयमेव बाहर हो जाता है, पर इस स्थिति में जरा मुश-किल हो जाती है। इसलिये देरतक भीतर न रोक कर बाहर कर देना चाहिये। इस अपानायामसे विकृत वायु का अनु-लोमन होनेसे शौच भली प्रकार हो जाता है, आन्त्रस्थ वायु बाहर हो जाती है। पेट दर्द या सिर दर्द पेटका अफारी,

गुड गुड, सब के सब विना किसी दवाई दूर हो सकता है। अपान का भीतर आकर्षण तभी होता है, जब की प्राण बाहर हों। इसलिये प्राणकी रेचनावस्थामें अपानायाम ठीक हो सकता है।

इस प्रकार टूटे फूटे शब्दोंमें यह विषय पाठकोंके सन्मुख उपस्थित किया है। मुझे पूरा निश्चय है, यदि पाठक इस ओर ध्यान देंगे तो पूरा लाभ उठा सकेंगे।

"आसनों का प्रचार।"

(लेखक—श्री. ला. लालचंदजी)

योगके आसनोंका आपके कारण बहुत उत्साह पूर्वक प्रचार हो रहा है, और देखा जाता है, कि जो लोग विधि पूर्वक योगके आसनों को करते हैं, वे कामके वेगको रोकने में समर्थ हो जाते हैं, और बुद्धि भी निर्मल हो जाती है। मैंने अपने पर और अन्य मित्रोंपर अनुभव लिया है, योग्य रीतीसे साधन करनेसे बहुत लाभ हुए हैं, जिन लडकोंको स्वप्नदोष हो जाया करते थे, उन्हें आपके लिखे व्यायामोंसे अद्भुत लाभ पहुंचा है। मैं ने और पिताजीने हरिद्वार में श्री. भाई झब्बालालजी से शीर्षासन सीखनेका यत्न किया है।

मुझे सूर्य भेदी व्यायामसे गत वर्ष शिमले में उदर रोगसे निवृत्ति हुई थी और हरिद्वारमें भी मैं खूब स्वस्थ रहा। मैं वहां हरिद्वारसे दूर अढाई मील जाकर व्यायाम, आसन, प्राणायाम, संध्या किया करता था।

मुझे सूर्य भेदी व्यायामसे बहुतही लाभ हुआ है और मैं इस विषय में अधिक जानना चाहता हूं।

मुझे पूर्ण आशा है कि जो मनुष्य सूर्यभेदी व्यायाम करेंगे उनको अवश्य लाभ होगा।

अनुभूत योग।

[लेखक—"प्राण-पुरी"]

वैदिक धर्ममें कुछ समय से योग विषय में, जिन महानुभावोंने कुछ अभ्यास किया है, अपने अनुभवके आधार पर लेख निकल रहे हैं; मुझे भी कई सज्जनोंने इस ओर प्रेरा और वैदिक धर्मके कई अंकोंको मैंने स्वयं भी पढा। मैं कोई योगी नहीं हूं, तौभी योगाभ्यासीयों का श्रद्धालु अवश्य हू, और उन महानुभावोंके सत् संगसे इस में कुछ वर्ष पूर्व अभ्यास भी किया था, उस समयका जो अनुभव है, और जिस रीतिसे मैंने अभ्यास किया था, और शरीरकी प्रथम तथा पश्चात् अवस्था का वर्णन ही इस लेखमें होगा।

मुझे कई वर्षोंसे यह इच्छा थी कि, कोई योगाभ्यासी मिले, तो उसकी शरणमें रह कर उसकी आज्ञानुसार इसमें अभ्यास करूं। इसी इच्छाके वशवर्ती होकर अनेक स्थानोंमें गया, जहा किसीका नाम सुना उसीके दर्शनार्थ यात्रारंभ की, कई स्थानोंमें तो मुझे निराशता ही हुई, और कई स्थानोंमें आशा पूर्ण होने पर भी अन्य साधन उपलब्ध न होनेसे लौटना पडा। अन्तमें इसी भांति भ्रमण करते करते एक ग्राममें सर्व प्रबन्ध ठीक होगया, और उसी स्थानपर मैंने एक वर्ष ठहरकर अभ्यास किया। इस लेखमें उसी एक सालका अनुभव वर्णन करूंगा।

[१] शारीरिक अवस्था।

जिस समय मैंने अभ्यास आरंभ किया था, उसी समय गुरुजीने आज्ञा की, प्रथम शरीरको तोल लो, ताकि आगे को शरीरके लघु होनेका ठीक ठीक निश्चय हो सके। उसकी आज्ञानुसार मैंने वजन किया, उस समय मेरे शरीरका बोझ लगभग दो मण २८ सेर था। सबसे प्रथम मुझे धौती करनेको कहा गया। इसमें यह स्मरण रहे, पुस्तकमें धौंतीका आकार ४ अंगुल चौडाई और १५ हाथ लंबाईमें लिखा है, परंतु जो धौती मुझे दी गई वह अर्ध हात चौडी और ९ हाथ लंबी थी। इसके न्यूनाधीक के विषयमें गुरुजीकी सम्मति

इस प्रकार है। जो धौती ४ अंगुल चौडी होती है, उसमें गांठ पड जाने का संदेह बना रहता है, और जो चौडी अधिक होती है, उसमें गांठका कोई संदेह नहीं होता। इस लिये धौती चौडी अधिक रखके लंबाईमें न्यून करलेना चाहिये। दो चार दिन तक तो धौती हलक से आगे उतरने का नाम न लेती थी; किंतु उसके पश्चात् उसने यह दुराग्रह तो छोड दिया, परंतु हलकके आगे जाकर लौट आने में ही प्रयत्न करती रही। शनैः शनैः हलकसे नीचे जानेकी मात्रा अधिक होने लगी, और लगभग दो सप्ताहमें धौती ठीक होने लग गई।

इसी अन्तरमें गुरुजीने आज्ञा दी थी कि, इसके साथ साथ नेती भी करनी चाहिये। अतः नेती भी आरंभ की गई और इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं पडी। यह जलदी ही ठीक हो गई इसमें यह स्मरण रहे प्रथम तो केवल डोर ही थी और पीछे उसके अंतिम भाग में कच्चे सूत्र के धागे यथा संभव मात्रा से डाल लीये गए थे, ताकि नाक का छिद्र अछी तरह में साफ हो जाय।

जिसके साथ साथ नौली कर्म का भी अभ्यास करता था। जिस समय धौती, नेती, ठीक ठीक हो गई, उस समय बस्ती कर्म भी किया था परंतु बस्ती कर्म प्राचीन रीतिको छोड कर अर्वाचीन रीति अर्थात् यंत्र द्वारा ही किया था। इनके साथ साथ कपालभाती भी करता था। इसमें इतना स्मरण रखना चाहिये, हिम ऋतु में अर्थात् जब शीत अधिक हो उस समय

धौती के स्थान पर ब्रह्म दातन की जाती है। जिसका लाभ धौती के सम है, और करने का ढंग सहल है और उसमें शीत का भी कोई भय नहीं है! क्योंकि अभ्यास के समय अधिक शीत से शरीर को बचाना आवश्यक है।

[२] आसन।

इन कर्मों के अतिरिक्त आसन भी किया करता था॥ क्योंकि आसन योग का एक विशेष अंग है! जो जो आसन किया करता था उनके नाम यह हैं।

(१) सिद्धासन—इसका वर्णन वैदिक धर्म में हो चुका है, इसका अभ्यास घण्टोंका होना चाहिये, क्योंकि प्रायः प्राणायाम इस आसनसे किया जाता है।

(२) पद्मासन—इसका अभ्यास भी पर्याप्त होना चाहिये, जिसने भस्त्रिका प्राणायाम करना हो, उसे तो अत्यावश्यक है।

(३) कपाली आसन-जिसे वैदिक धर्म में शीर्षकासन लिखा है।

(४) विपरीत करणी—यह आसन भूमिपर पीठके बल लेटकर पैर उपर उठाकर कमर के नीचे हाथों का सहारा देकर किया जाता है, इसका फल कपाली से मिलता जुलता है।

(५) मयूरासन—पेट के रोगों के किये और आमाशय की अग्नि को ज्वलन करने के लिये है।

(६) पश्चिमतानासन–जिसे वैदिक धर्म में जानु शीर्षकासन नाम दिया है, इसमें कोई आध घंटा तक कर सकता था।

इनके अतिरिक्त कुछ आसन और भी थे, परंतु उनकी यहां कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है इन आसनों के करने से अनेक रोग दूर होते हैं, और जो अभ्यास करता हो, उसके लिये तो आसन अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि न करें, तो प्राणायामादि भी भली भांति नहीं कर सकता है, और प्राणायामादि से जो शरीर में थकावट आजाती है, उसे भी इन्हीं आसनों से दूर करना पडता है, और अधिक थकावट होने पर "शवासन" करना चाहिये। यह आसन केवल थकावट को दूर करने और शरीर को आराम देनेके लिये ही किया जाता है।

आसन करते समय और उपरोक्त कर्मों के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, यह यदि पहले न हो सकें तो उस दिन छोड कर दूसरे दिन फिर करें। इसी भांति धीरे धीरे करना चाहिये, इसमें शीघ्रता सर्वथा न की जाय, यदि कोई शीघ्रता के लोभ से बल से करेगा, तो सुख के स्थान में दुःख पावेगा और पश्चात्ताप करना पडेगा।

---

[३] भोजन।

धौतीके समय से ही भोजन मध्यान्ह को ही किया करता था, और रात के समय आध सेर दुग्ध पीया करता था। धोती के साथ वह नियम रखना चाहिये कि, रातके समय कोई नमक-वाली वस्तु न खाई जाय। क्योंकि प्रातःकाल धोतीके साथ उसका कुछ अंश लगने से गले को कष्ट होता है। और धौती में अधिक श्वेत कफ आता है, और अग्र भाग में पित्त प्रधान व्यक्ति के तो पित्त निकलता है, और वात प्रधान के वात ही निकलता है। और पंद्रह बीस दिन के पीछे रोटी छोड कर प्रातः काल मूंग चावल की खिचडी ही खाया करता था। जब अभ्यास करते लगभग दो मास व्यतीत हो गए, तो खिचडी भी छोड दी थी। उस समय भोजनार्थ प्रातःकाल एक छटांक घृत और आधशेर दूध पिया करता था, और सायंकाल को तीन पाव दूध ही पिया करता था। यही ८ प्रहर का आहार था और कुछ नहीं खाया करता था।

---

[४] प्राणायाम।

जिस दिन धौती कर्म का कार्य आरंभ किया था, उसी दिनसे प्राणायाम भी करने लग गया था। प्रथम दिन २,

दुसरे दिन १०, तीसरे दिन १५, इसी क्रमसे प्राणायाम बढता जाता है, और प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकालको किया करता था। उपरोक्त संख्यासे बढाते बढाते ८० प्रातःकाल, ८० मध्यान्ह, और उतने ही सायंकालको किया करता था और आहार प्रथम मध्यान्हके प्राणायामके पश्चात् और रातको भी प्राणायामके पीछे किया करता था।

[५] बंध।

प्राणायाम करते समय बंध भी साथ ही किया करता था। अर्थात् जिस समय पूरक किया करता था तो मूल बंध करता था, और कुंभक के समय जालंदर और रेचक के साथ उड्डीयान बंध करता था। यह बंध और इतनी रीति वैदिक धर्म में पहले लिखी जा चुकी है; इस लिये इस समय लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जिस समय यह प्राणायाम करता था; उस समय सिद्धासनसे ही बैठता था। और शरीर को सीधा रखने के लिये जो पग ऊपर हो उसी के पासवाला हाथ पग पर रख कर स्थूणा लगाया करता था, ताकि शरीर किसी ओर को झुक न जाय।

चार मास संशोधक प्राणायाम करके, पीछे इस के साथ साथ भस्त्रिका प्राणायाम भी किया करता था, और इस प्राणायाम

में सिद्धासन के स्थान पर पद्मासन लगाना चाहिये। क्योंकि इसके लिये ऐसी ही विधी है, और यदि किसी दिन गरमी अधिक प्रतीत होती थी, तो उस समय उसे शीतली अथवा सीत्कारी प्राणायाम से शांत कर लिया करता था। और संशोधक प्राणायाम को छोक कर शेष तीन प्राणायाम ही किये थे, और कोई नहीं किया, इस लिये मैं इन्हीसे ही परिचित हूं अन्यसे नहीं।

[६] फल।

उस समय जो फल हुआ, उसका वर्णन करता हूं। क्योंकि पूर्व केवल साधन ही साथ लिखे हैं, उनसे क्या लाभ हुआ यह प्रत्येक पाठक की अभिलाषा होगी। अतः फलका वर्णन करना आवश्यक है।

मैं पूर्व भी लिखा चुका हूं, जिस समय मैंने अभ्यास आरंभ किया था, उस समय मेरा शरीर लगभग २ मण २८ सेर भारी था। धीरे धीरे शरीर घट कर अंतमें मेरा शरीर लगभग १ मण २३ सेर रह गया था। अर्थात् १ मण ५ सेर बोझ न्यून हो गया; इतना बोझ कम होने पर भी आश्चर्य यह था, मुझे चलने, फिरने, पढने, लिखने, बैठने, उठने में कोई कठिनाई प्रतीत न होती थी। बल्कि यह सारे काम पूर्व से भी अछे होते थे। हां, एक अंतर था, जिस का वर्णन करना आवश्यक है, मैं

वह काम जो बल से किया जाता है अच्छी रीति से नहीं कर सकता था और शीघ्र ही थकावट हो जाती थी इस लिये जिन सज्जनों के शरीर अति भारी हैं, जिनें चलने फिरने में भी कष्ट हो जाता है, उन्हें यह क्रियाएं नियम पूर्वक करने से महान लाभ होगा।

जिस समय अभ्यास करते करते पांच मास व्यतीत हो गये, उस समय नाद स्फुट हुआ, कई पुस्तकों में नाद स्फुट का समय तीन मास लिखा है किंतु मुझे सफलता ३ मास में न हो कर पांच मास में हुई थी। संभव है, किसी का शरीर लघु होनेसे इतना समय न लगे, क्योंकि शरीर की अति स्थूलता भी एक प्रतिबंधक है।

यह एक भांति का शब्द है, जो श्रोत्रमें उत्पन्न होता है और इसका अक्षरों में लिखना मेरे लिये असंभव है। और इसके प्रकट होने पर सावधान होकर मन को इसी में लगाना पडता है, और उस समय मन इस शब्द की ओर इतना लगता है, जो आश्चर्य प्रतीत होता है। किसी किसी समय तो अधिक समय व्यतीत होने पर भी यही पता लगता है कि, अभी ध्यानार्थ बैठा हूं परंतु घडी देखने से पता लगता है कि, अभी कई घंटे बीत गए हैं। यह सर्व ही स्वसंवेद्य है, अतः अधिक लिखना उचित नहीं है। इस समय एक अति विचित्र बात हुई थी, जिसका कई दिन तो मुझे भी पता न लगा कि, क्या बात है। अंत में बार बार के साक्षात्कार और गुरुजी के

कहने से निश्चय हुआ। वह घटना इस प्रकार है। जब कि मैं प्राणायाम और ऊपर वर्णित क्रियाएं किया करता था, कई मास के पश्चात् यह अवस्था हो गई। मैं जिस समय ध्यानार्थ बैठता था, अथवा वैसे आराम के लिये लेटता था, तो एक प्रकार की मीठी मीठी गंध आया करती थी, और किसी समय वह नहीं आती थी! मुझे आश्चर्य था कि, जिस कमरे में मैं रहता हूं, उसमें कोई सुगंधित वस्तु नहीं, और पास एक वाटिका थी, परंतु उसमें भी कोई सुगंधित पुष्प उस समय नहीं दीखते थे और जब बन्द होती थी; तो भी वह सर्व पूर्ववत होते थे, अतः कोई पता न लगता था कि, गंध क्यों बन्द होगई। अंत में एक दिन अचानक एक संदेह हो गया, और कुछ दिन पीछे वही निश्चय में परिणत हो गया। वह इस प्रकार हुआ, एक दिन मध्यान्होत्तर समय में ध्यान से उठा तो गंध प्रतीत होती थी, अनेक यत्न करने पर भी कारण का बोध न होता था, कुछ समय उसी गंध का आनन्द लेकर स्नान के लिये उठा, स्मरण रहे मैं उस समय स्नान कई दिवस पीछे किया करता था, प्रति दिवस नहीं करता था। कूप पर गया जल निकाला और स्नान करके अपनी कोठडी में आकर फिर बैठ गया, और उसी समय पता लगा कि, इस समय गंध नहीं। इसका कारण क्या है, किंतु कुछ पता न लगा, कोई आध घंटा पश्चात् प्राणायाम का समय था, वह आया, तो मैं अपने कृत्य में लगगया।

गरमी की ऋतु थी, उस कृत्य से पसीना आ गया, और, उस स्वेद को यथाविधि हाथों से मल शरीरपर सुखा दिया, और ध्यान में बैठा गया, और जब ध्यान से चित्त हटाया तो पता लगा कि इस समय गंध आरही है। फिर संकल्प विकल्प की धारा चलने लगी। उन्हीं में एक संकल्प यह भी हुआ कि, कहीं पसीना ही तो कारण नहीं है! परंतु निश्चय होना कठीन था। वह गंध लगातार आती रही, और जिस समय स्नान किया, उसी समय फिर दूर हुई। तब से निश्चय होगया कि, यह गंध स्वेद का ही है, अन्य कोई कारण नहीं है। साधारण रीतिपर पसीने में दुर्गंध होती है, न कि सुगंध, इसी लिये मैंने गुरुजी से भी पूछा उन्होंने भी यही उत्तर दिया, जो आपने सोचा है वही ठीक है। उसके पश्चात् कई वार देखा जिससे सर्वथा निश्चय होगया कि, अभ्यास में एक समय स्वेद में भी अतिमधुर सुगंधि होती है। संभव है कई सज्जन इस पर विश्वास न करें, परंतु मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है। और मेरे लिये वह इतना ही सत्य है, जितना वन्हि में उष्णता का होना सत्य है।

इसके अतिरिक्त किसी किसी दिन मन इतना चंचल हो जाता था, अथवा ऐसे संकल्प होते थे, जिन्हें मैं सर्वथा न चाहता था। उनका पता भी उन्ही दिनों में लग गया, और लोगों के स्वंयपाकी होनेका भी मैं उस समय से पक्षपाती हो गया। मैं उस समय भोजन तो खाता न था, केवल घृत

और दुग्ध पर रहता था, दुग्ध आश्रम में गौएं थीं, उनसे मिलता था, और घृत ग्राम से मोल लेया होता था। जिस गृह में घृत बनाने वाले जिस स्वभाव के होते थे, उनके घृत खाने से मेरे मनमें भी संकल्प उन मनुष्यों के प्रभाव से शून्य न थे। साधारण अवस्था में इस बात का कोई पता नहीं चलता, किंतु, अभ्यास के समय में यह बातें अति प्रगट होती हैं। इस लिये जिसने अभ्यास अधिक करना हो, उसके लिये आवश्यक हो जाता है, वह स्वयंपाकी हो अथवा उसके सेवक साथी भी वैसे ही उच्च विचार वाले हों!

अंत में एक बात और लिख कर मैं अपने विषय को समाप्त कर दूंगा, एकांत में बैठे हुए कई वार अचानक कोई संकल्प उठता था, उस संकल्प के लिये कई वार तो भ्रम हो जाता था, कि स्वप्न में यह संकल्प हुआ है अथवा जाग्रतावस्था में; परंतु वह कुछ ही दिनों पीछे सच्चे हो जाते थे। यह बात अनेकवार हुई, और मुझे जहांतक स्मरण है, मैं कह सकता हूं, यदि अधिक नहीं, तो प्रति शतक ८० उस अवस्थाके उस भांति के संकल्प ठीक हो जाते थे। जिनका कि प्रथम कोई ख्याल भी न होता था।

अब एक बात और लिखनी शेष रही, मेरे साथी एक और साधु थे, जो अभ्यास किया करते थे, अभ्यास से पूर्व भी उनका शरीर बडा दुर्बल था, और वह नित्य प्रति वैद्यों और डाक्टरों को देखा करते थे। उनकी चिकित्सा हकीमोंने

की और उन्होंने वैद्योंकी औषधियों का सेवन किया, तथा डाक्टरों की सम्मतिसे लाभ उठाया, तो भी उस शूर वीर रोगी को कुछ लाभ न हुआ। कोई सिल (राजयक्ष्मा) कहता था, और कोई कोई इसी भांति का और भयानक नाम बता देता था। यदि वह किसी दिन लोभवश १ पाव-भर दूध पीलें तो उनकी वह गति होती कि वह फिर दूध के दर्शन से ही घबरा उठते। उन्हें भी सलाह दी गई, जब रोगसे मरना है, तो अभ्यास करने में क्या हानि है? उन्होंने इसे मान लिया, और पूर्व वर्णित विधि से ही अभ्यास आरंभ किया। और जिस समय अभ्यास करते छः मास व्यतीत हो गये, उस समय उनका शरीर तो पूर्ववत् कृश था, परंतु उनके चलने फिरने की शक्ति इतनी बढ गई, जो किसी किसी दिन वह २५ मील चक्कर काट कर थकनेका शब्द जिह्वापर न लाते थे!! और पूर्व जो दूध को विष समझते थे, इस समय दो सेर दूध पी जाते थे, और कोई विकार न होता था। अर्थात् पूर्व जिन्हे जुकाम, खांसी, निर्बलता, अक्षुधा, दुर्बलता आदि ने आकर चारों ओर से घेर रखा था, अब उनके पास इनमें से कोई भी न फरकती थी। उनका रोग जिसे वैद्य और डाक्टर असाध्य कहते थे, इसी योगाभ्यास से दूर हो गया था।

एक बात मैं अपने विषय में भूल गया था, वह यह है, अभ्यास से पूर्व मैं पढते समय ऐनक लगाता था, जब ७

मास अभ्यास करते होगये, तो ये ४ से हट कर मेरा शीशा नं. २ पर आगया, और वर्ष के अंत में १ के शीशे से पढता था और कई बार विना ऐनक भी समाचार पत्र पढ लेता था। जहां प्रथम अक्षरों का पता ही न चलता था, अब अभ्यास छोड दिया है, तो भी मेरी दृष्टि पहले से कहीं अछी है।

लेख अधिक लंबा होने से घबराकर मैं उपसंहार में इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हू, मेरा यह अनुभूत विषय है, और इस से अनेक लाभ होते हैं, यदि आगे आवश्यकता हुई, तो मैं इन्हीं बातों को विस्तार से लिख दूंगा।

मनुष्य पुरुषार्थ प्रयत्नसे निःसंदेह अपनी उन्नति कर सकता है।

व्यायाम और प्राणायाम।

(१)

(लेखक—" श्रीकृष्ण-योग-मंडल-निवासी ")

मनुष्य मात्रके संपूर्ण व्यवहार के लिये " बल " की आवश्यकता है ! बल के विना मनुष्य कुछभी कर नहीं सकता, इसलिये मनुष्यने जिस प्रकार अन्य सुखसाधनोंकी खोज की है, उसी प्रकार उसने अपनी शक्तिका संवर्धन करनेकी विविध युक्तियां भी ढूंढकर निकाली हैं। बल की आवश्यकता

कितनी है, बल कैसा बढाया जा सकता है, बढाया हुआ बल किस प्रकार स्थिर किया जा सकता है, इत्यादि विषयोंमें उन्होंनें बहुत ही प्राचीन कालसे विचार करके बलवर्धक नियमोंका उन्होंने निश्चय किया है। इसीका नाम "व्यायाम शास्त्र" है।

वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो कहना पडता है कि, "आयुर्वेद और योगशास्त्र" ये दो शास्त्र भी शरीरका बल बढानेके साधक ही हैं। परंतु इन दोनों शास्त्रोंमें स्थूल शरीरकी शक्ति बढानेकी प्रक्रियाओंकी अपेक्षा "आयुर्वेद" में रोगोंसे बचनेकी रीति और रोगचिकित्सा वर्णन की है, तथा दूसरे "योगशास्त्र" में प्रधानतया "आध्यात्मिक उन्नति" का उपायही कहा है। इन दोनों शास्त्रोंका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं है, परंतु क्रियात्मक ही है तथा इनका ग्रंथभंडार भी बहुत ही बड़ा है। तथापि प्राचीन कालकी ऋषिलोगोंकी व्यायाम पद्धति जैसी की वैसी इस समय किसीभी ग्रंथमें उपलब्ध नहीं है, जो इस समय इधर उधर थोडासा व्यायामविषयक ज्ञान मिलता है और प्रक्रियां भी चली हुई हैं वह प्राचीन पद्धतिका विकृत रूप है। इस लिये प्राचीन कालमें भीम जैसे शक्तिशाली पुरुष जिस विधिसे बनाये जाते थे उस विधिका पता इस समय लगाना आवश्यक है।

प्राचीनतम ग्रंथ देखनेसे पता लगता है कि उस समय "बालसंगोपन" का विशेष प्रबंध था और प्राचीन पाठ्यक्रममें इस विद्याकाभी शिक्षण दिया जाता था। बहुधा इस शिक्षाविधिमें ही (१) बालकका शक्तिसंवर्धन करनेकी रीति, (२) शारीरिक बलके विकास का विधि, (३) छोटे शरीरमें प्रचंड शक्ति रखनेकी पद्धति, (४) बडे शत्रुके साथ छोटे शरीर वालेका भी मुकाबला करनेका द्वंद्वकौशल्य, आदि बातोंका प्राचीन व्यायाम पद्धतिमें समावेश था, ऐसा प्राचीन ग्रंथ देखनेसे स्पष्ट पता लग जाता है, यद्यपि प्राचीन व्यायाम शास्त्रके ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

पौराणिक और इतिहासिक ग्रंथोंमें प्रचंड शारीरिक शक्तिसे युक्त बलवान मनुष्योंका वर्णन है, और मल्लयुद्धका वर्णन भी अनेक स्थानपर है, इससे स्पष्ट होता है कि, प्राचीन कालमें व्यायाम शास्त्र और मल्लविद्या प्रगल्भ अवस्थामें थी। राजे महाराजे और सरदार आदिभी उक्त विद्याओंमें स्वयंही प्रवीण थे। तथापि प्राचीन विद्याओंके संशोधकोंके प्रयत्न अभीतक इस विद्याकी खोजके लिये नहीं हुए, यह एक विलक्षण बात है। क्योंकि अन्य विद्याओंकी अपेक्षा यह विद्या सब जनताके उपयोगी है, इसमें क्या संदेह है? "गुरुकुल" में ब्रह्मचारी जाकर रहता था, इस "ब्रह्मचर्याश्रम" में न केवल वह विद्याका अध्ययन करता था, परंतु वह शरीरके विकासके व्यायाम भी सीखता था और आरोग्य प्राप्त करनेके नियम

अपनाता था। यही कारण है कि उस प्राचीन समयके लोग अतिदीर्घ आयुष्यका अनुभव करते थे, और इस समय इतनी प्रगति होनेपर भी आयुका प्रतिदिन क्षय ही हो रहा है।

मध्यकालीन भारतवर्षका विश्वसनीय इतिहास उपलब्ध नहीं है, तथापि जो मिलता है उससे स्पष्ट विदित होता है, इस मध्ययुगमें भी प्रचंड शारीरिक शक्तिसे संपन्न लोग इस देशमें थे। गत १७ वी शताब्दीके समयतक भी हम देखते हैं कि इस देशके लोगोंमें विलक्षण शारीरिक शक्ति थी। परंतु इस मध्य कालमें जो व्यायाम पद्धति थी उसका भी ज्ञान इस समय किसीको नहीं है। इस लिये इतिहास संशोधकोंको उचित है कि वे इतिहासके कागजोंमें इस विद्याकी भी खोज करें।

स्वराज्यसंस्थापक श्री शिवछत्रपतिके समयसे मराठोंका राज्य नामशेष होनेके समयतक भी व्यायामकी ओर जनताका बहुत ध्यान था। यद्यपि उस समयके कई खेल और कई व्यायाम आजभी किसीको विदित नहीं हैं, तथापि २०० वर्षोंके आखाडे इस समय भी विद्यमान हैं और वे अपने व्यायाम और कुश्तीके पेंच गुप्त रखते हैं; इसलिये इस व्यायामपद्धतिका ज्ञान इनसे प्राप्त होना संभव है। तात्पर्य यह है कि इस दृष्टिसे संशोधकोंको प्रयत्न करके ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है।

आजकलकी व्यायामपद्धतिमें जोर, दंड, बैठक, मुद्गल जोडी, मलखांब, कुश्ती, आदि मुख्य प्रकार व्यायामके हैं। इस रीतिसे व्यायाम करनेवाले इस समयमें भी बहुत हैं, परंतु न्यूनता इस बातकी है कि तत्वज्ञानकी दृष्टिसे इन का विचार करनेवाला उनमेंसे एकभी नहीं है। व्यायामका तत्व, व्यायाम का शरीरके अंग प्रत्यंगोंपर परिणाम, प्रत्येक अंगका विकास करनेकी योजना, सहस्रों मनुष्योंपर व्यायामका अनुभव देखने और अपना बल बढाकर उसको अतिदीर्घ कालतक अपने अंदर रखनेवाला प्रचंड शक्तिसे युक्त पुरुष प्रायः देखनेमें नहीं आता। क्यों कि इस दृष्टिसे विचार करनेका अभ्यासही हमारे लोगोंको नहीं है। इसलिये हमारे पहिलवानोंमें तथा बलवानोंमें इस शोधक तत्व दृष्टिका उदय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

"ब्रह्मचारीकी दिनचर्या" का विचार करनेसे ही पता लग सकता है कि ऋषिकालमें विद्यार्थियों के स्वास्थ्य और बल संवर्धन करनेके विषयमें गुरुकुल में कितना विशेष प्रबंध था, और कैसा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाता। था। विद्यार्थीको घरमें रखकर ही पढाया नहीं जाता था, उसको गुरुकुलमें भेजना आवश्यक था, इस एक नियममें भी "आरोग्यका बडा भारी तत्त्व" हैं। नगरोंकी तंग गलियोंकी आबहवा की अपेक्षा अरण्यमें जो गुरुकुल होते हैं, उनका जलवायु कितना अछा होता है, इसका अनुभव शहरनिवासी लोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त गुरु-

कुलका अभ्यास, रहना सहना, भोजन आदिकी साजीदगी, नियमित अभ्यास और नियमबद्ध व्यवस्था, पवित्र विचार सुनना और शुद्धवृत्तिके साथ रहना आदि श्रेष्ठ व्यवस्थामें कमसे कम १२ वर्ष अथवा अधिकसे अधिक ४८ वर्ष रहा जाता था। इसका परिणाम मनकी शुद्धिके साथ शरीरके स्वास्थ्य आरोग्य और बलसंवर्धनपर कितना उत्तम हो जाता था इसका पाठक ही अनुमान कर सकते हैं। इस समयमें शीतोष्ण की सहन शक्ति बढानेका ख्याल विशेष होता था, इसलिये इसप्रकारके तपके जीवनमें जो पाले जाते थे उनको वैयक्तिक आरोग्य और बल प्राप्त होनेके साथ साथ सामाजिक कार्य करनेकी शक्तिभी प्राप्त होती थी। इससे स्पष्ट होजाता है कि, आजकल की पाठलाशाओंमें जिन बातोंका विचार भी नहीं किया जाता है, उन बातोंका क्रियात्मक अनुभव प्राचीन लोग लेते रहे हैं। शरीरका परिपूर्ण विकास होनेके पूर्व स्त्रीका विचार तक मनमें न उत्पन्न करनेके तत्वमें जो लाभ हैं, उनका जिनको अनुभव होगा, वेही गुरुकुलों के उक नियमबद्ध व्यवहारका महत्व जान सकते हैं। गृहस्थी होनेपरभी ब्रह्मचर्य पाला जा सकता है, परंतु ब्रह्मचर्य अवस्थामें जो वीर्यरक्षण होता है वह आयु आरोग्य और बलकी बुनियाद है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य आश्रमकी व्यवस्थाही स्पष्ट बता रही है कि ऋषिकालमें इसविषयका महत्व कितना समझा जाता था।

यद्यपि मध्यकालीन भारतमें इन ऋषिकालीन वैदिक कल्पनाओंका प्रायः लोप ही हो गयाथा, तथापि मध्यकालीन राज-

कीय अस्वस्थताके कारण हरएकको अपना अस्तित्व रखनेके लियेही बलको बढाना अत्यावश्यक हुआ था, इसलिये उस समयके इतिहासमें भी बहुतसे पुरुष बलवान दिखाई देते हैं।

परंतु इस समयकी अवस्था कैसी है देखिये, प्राचीन ऋषिपरंपरा टूट गई है, उसके स्थानमें कुछभी अछी बात नहीं आई, मध्यकालीन राष्ट्रीय अंतर्युद्धोंकी गडबड रही नहीं, पारतंत्र्यके कारण लोगोंमें महत्वाकांक्षा रही नहीं, ऐसी विपरीत परिस्थितिका यह काल है। इसलिये इस समय नेताओंको बडे विचारके साथ बलसंवर्धनके प्रयत्न करना आवश्यक हैं।

कोई विद्या कितनी भी अछी क्यों न हो, यदि वह मूर्खोंके आधीन हो जायगी तो उसकी गिरावट ही होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। यही अवस्था हमारे व्यायाम शास्त्रकी हो गई है। हमारे शिक्षित मनुष्योंमें व्यायाम की रुची रही नहीं है, इतनाही नहीं, परंतु समझा जाता है कि "व्यायाम" नीच लोगोंका व्यवसाय है। परंतु आजकल यह भाव थोडासा बदलने लगा है यह हमारे राष्ट्रका सुदैव निःसंदेह है। पश्चिमके देशोंमें बचपनसे व्यायामका महत्व समझाया जाता है और लडकेसे व्यायाम करायाभी जाता है, इसलिये बडे हो जानेपर भी वे व्यायाम छोडते नहीं। हमारे देशमें बडे लोग स्वयं व्यायाम करते नहीं और लडकोंसे कराते भी नहीं। बालपनमें नियमित व्यायाम करनेका

अभ्यास न होनेके कारण वे तारुण्यमें भी व्यायाम नहीं करते; फिर बुढापेमें तो पूछनाही क्या है ?

हमारी पुराणी व्यायाम पद्धतिमें सुधार नहीं होता है, इसका मूल कारण यही है कि उसका अभ्यास सुशिक्षित लोग करते नहीं। यदि सुशिक्षित लोग उसमें संमिलित हो जांयगे, तो उसमें भी नवीनता आजायगी, उसका सुधार होगा, उसकी उपयुक्तता बढेगी, उसका सर्वत्र फैलाव हो जायगा, तत्त्वदृष्टिसे उसका विचार होगा, और वह निर्दोष भी बन जायगी। शिक्षित लोग इस ओर नहीं आते, इसके कारण ही हमारे आखाडे खराब अवस्थामें हैं, बुरे स्थानमें रहे हैं और नीच लोगोंकी आधीनतामें हैं। व्यायामके उस्ताद ऐसे निर्बुद्ध होते हैं कि, वे नहीं जानते कि साधारण जनोंके लिये कितना व्यायाम लेना योग्य है, किस आयुमें कौनसा व्यायाम हित कारक है, शरीरप्रकृतिके भेदसे व्यायामका भेद होना चाहिये वा नहीं, शरीरके विविध दोषोंको दूर करनेके लिये कौनसा व्यायाम चाहिये, स्त्रियों और पुरुषोंके लिये किस किस प्रकारका व्यायाम लेना उचित है। वे बिचारे इतनाही जानते हैं कि जो आजाय उससे दंड बैठकें करवा लेना, बस्स ! ! होगया ! इस कारणही अपनी व्यायाम पद्धति विविध दोषोंसे परिपूर्ण है।

पश्चिमीय लोग इस समय व्यायामकी ओर अधिकाधिक ध्यान दे रहे हैं, सरकार, शिक्षित और धनिक ये सब अपना

बल, ज्ञान और धन इस ओर अधिकाधिक खर्च कर रहे हैं, नवीन तत्त्वोंका आविष्कार कर रहे हैं और उनसे अपनी जनताको लाभ पहुंचा रहे हैं। परंतु इस ऋषियोंके देशमें ऋषिकालकी व्यायाम पद्धतिका कोई विचार भी नहीं करता है और न इस समयकी रीतिका कोई सुधार करता है। क्या यह आश्चर्य नहीं है? यदि इस देशकी सरकार इसमें ध्यान देनेको इस समय सिद्ध नहीं है, तथापि उस दिशासे हम लोगोंको विशेष अधिक प्रयत्न करने चाहिये। इसलिये प्राचीन ऋषि पद्धति और अर्वाचीन कालका अपना अनुभव इनका संयोग करके जो हमने विचार किया है, इस लेख माला द्वारा प्रसिद्ध करनेका विचार है। हमारे विचारसे "व्यायामके साथ प्राणायामका संबंध है।" ऋषि-पद्धति और आजकलकी रीतिमें यही भेद विशेष महत्वका है। इसका विचार इस लेखमालामें क्रमशः होगा।

शरीरमें शक्ति उत्पन्न करके उसका परिपोष करना और शक्ति के सहचारी गुण भी शरीरमें स्थापित करना यह व्यायामका साध्य है। यह साध्य शीघ्र, योग्य दिशासे और विना अधिक परिश्रम करके प्राप्त करनेवाले जो अन्य साधन हैं उन सबका इस व्यायाम पद्धतिके साथ संबंध है। व्यायामसे जैसा बल बढता है उसी प्रकार प्राणायामसे भी बढता है, इतनाही नहीं प्रत्युत व्यायामकी अपेक्षा सेंकडों गुणा अधिक शक्ति प्राणायामसे प्राप्त की जा सकती है। देखिये—

(१) बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥
(२) रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वादीनि कायसंपत् ॥ ४६ ॥
(३) उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रांतिश्च ॥ ३९ ॥
(४) समानजयाज्ज्वलनम्॥४०॥यो.द.वि.पा.२४-४०

ये योगके सूत्र हैं जो बता रहे हैं कि प्राणायामसे कैसी विलक्षणशक्ति प्राप्त हो सकती है। (१) हाथीके समान बल प्राप्त करना, (२) सुंदररूप, उत्तम बल, वज्रदेह आदि प्राप्त करना, (३) उदानका जय करके उत्क्रांति प्राप्त करनी, (४) समान जयसे तेज प्राप्त करना, इत्यादि अनेक प्रकार प्राणशक्तिके हैं। आजकल भी अखबारोंमें वर्णन आता है कि फलाने आदमीने फलाने नाटकगृहमें प्राणायामकी शक्ति-द्वारा ऐसा अद्भुत सामर्थ्य बताया!! परंतु विचार करके देखना चाहिये कि उसमें सचमुच प्राणायामकी शक्ति है वा नहीं, या यह अखबारी गप्पें ही हैं। ये लोग योगका प्राणायाम जानते हैं वा नहीं और यदि जानते हैं तो कितना जानते हैं, इसकी शास्त्रीय परीक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। लोगभी समझते हैं कि ये प्रयोग प्राणायामकी शक्तिकेही हैं। इसलिये तत्वदृष्टिसे विचार होना चाहिये कि शरीरमें बलकी वृद्धि कैसी होती है, और उसमें प्राणका कार्य कितना है। केवल व्यायाम करनेवाला मनुष्य शरीरके स्नायुओंको संचा-

लित करता है और यही अभ्यास वह असाधारण पराकाष्ठातक बढाता है। इससे उसके श्वासप्रश्वासोंकी संख्या बढ जाती है; रुधिराभिसरण जलदी होता है इससे पचन बढ जाता है, भूख बहुत लगती है, भोजन अधिक खाया जाता है और इससे स्नायु हृष्टपुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार शक्ति बढ़ जानेसे लोग कहते हैं कि यह बडा बलिष्ठ है। इसमें जो मुख्य क्रिया होती है जिससे कि सच्ची शक्ती बढती है उसकी ओर किसीका ध्यानही नहीं होता, यही आश्चयकी बात है। व्यायामसे श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या बढती है, और जोरसे श्वास चलने लगते हैं, इससे फेंफडोंको अच्छा व्यायाम पहुंचता है। यदि पाठक यहां देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इसमें "योग साधनकी नाडीशुद्धिकारक भस्त्रिका" ही मुख्य है और अन्य बातें गौण हैं। भस्त्रा अथवा भस्त्रिका उसको कहते हैं कि जो (भस्त्रा) धौंकनीके समान (पूरक रेचक) श्वास उच्छ्वास किये जाते हैं। योगके प्रारंभमें नाडीशुद्धिके लिये यही भस्त्रा की जाती है, परंतु प्रत्येक प्रकृतिभेदके अनुकूल की जाती है, इसीसे नसनाडीके सब मल दूर होते हैं और आरोग्य बढता है। इस प्रकार नाडीशुद्धि करनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास प्रारंभ होता है, इसमें "कुंभक" की प्रधानता होती है। इस कुंभक का अभ्यास जैसा जैसा बढता जाता है वैसी वैसी उसकी शक्ति बढती है। कुंभकके साथ शक्तिका संबंध है। यह कुंभक मनमाना नहीं करना चाहिये,

परंतु गुरुके पास सीखकर योग्य विधिके साथ करना उचित है। आप देखते ही हैं कि कोई शक्तिका कार्य करनेके समय न समझते हुए कुंभक होता ही है। अथवा यों समझिये कि कुंभक के विना कोई काम होता ही नहीं—विशेषतः जिसमें अधिक बल लगता है—उस कार्यके करनेमें स्वभावतः कुंभक होता ही है। आप कोई बोझदार चीज उठानेका यत्न कीजिये, आपही आप कुंभक करना पडेगा। इतना प्राणायामका बलके साथ संबंध है।

यद्यपि आजकलके आखाडेवाले पहिलवान जानते नहीं हैं, तथापि न जानते हुए वे "भस्त्रा और कुंभक" करतेही हैं। (१) ये पहिलवानी व्यायाम करनेवाले लोग स्नायु संचालन को प्रधान मानते और प्राणगतिको गौण मानते हैं, परंतु (२) योग विधिमें प्राणायामको मुख्य और अन्य अंगविक्षेपोंको गौण माना जाता है यद्यपि शरीरके अवयव और प्राण ये एककेही दो विभाग हैं, तथापि हमें देखना और विचार करना है कि उक्त दोनों पद्धतियोंमें कौनसी पद्धति अच्छी है।

इस विवरणसे इस बातकी सिद्धि हुई है कि संपूर्ण व्यायामोंका प्राणायामसे संबंध है। अब हमें विचार करके निश्चय करना है कि व्यायाम शास्त्रमें प्राणायामका कौनसा स्थान है तथा योग्य प्राणायामका उपयोग करनेसे अन्य व्यायाम भी किस प्रकार अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

योग शास्त्रका कोई ग्रंथ आप पढिये, उसमें आप देखेंगे कि "प्राणायाम के लिये आसन की सिद्धि" होनी चाहिये अर्थात् किसी एक आसन पर स्थिर रहना चाहिये। तात्पर्य प्राणायाम के पूर्व आसनोंका अभ्यास अत्यंत आवश्यक है, अपनी प्रकृतिके अनुसार किसी भी आसन पर बहुत देर तक स्थिर बैठनेका अभ्यास होनेके पश्चात् प्राणायामका प्रारंभ हो सकता है। योगका ध्येय आध्यात्मिक उन्नति है, इस लिये यद्यपि अन्य व्यायामोंका उल्लेख योग शास्त्रमें नहीं किया गया है, तथापि आसनोंके अभ्याससे बलवर्धन सुगमता पूर्वक हो जाता है। इसके अतिरिक्त "आसनोंका उपयोग विविध रोग दूर करनेके कार्यमें बहुत होता है," यह बात अब अनुभवसेही सिद्ध है। इसका भी विचार इस लेखमालामें क्रमशः होगा।

आसनोंसे किस प्रकारका व्यायाम होता है, ऐसा प्रश्न कई पूछते हैं। पहिलवानोंके व्यायामोंमें स्नायु नसनाडी आदिको चालन दिया जाता है और आसनोंमें स्नायु नसनाडी आदिको खींचना होता है। यह दो प्रकारके व्यायामोंमें भेद है। जोर दंड बैठक आदि व्यायामोंमें थोडेसे स्नायुओंमेंही बहुत घर्षण होता है, इस घर्षण और संचालनसे यद्यपि वे स्नायु पुष्ट होते हैं तथापि उनकी अपेक्षा अन्य स्नायु बहुतही निर्बल रहते हैं। शरीरका सच्चा आरोग्य प्राप्त करनेके लिये शरीरके संपूर्ण स्नायुओं और नस नाडियोंमें संचालन

और खींचाव होनेकी आवश्यकता है। पहिलवानोंके व्यायाम-में सब स्नायुओंका संचालन नहीं होता और स्नायु प्रसारण तो बिलकुल नहीं होता है! इसका परिणाम यह होता है कि हजार दंड और बैठक करनेवाला आदमी पद्मासनमें बैठही नहीं सकता, किंवा अपने पांवके अंगुठे पकडकर घुटनेको नाक या सिर लगाना उसके लिये एक असंभव बात है। इतना ही नहीं परंतु कईयोंकी तो ऐसी अवस्था होती है कि उनकी कमर ऐसी सख्त हो जाती है कि हाथसे पांवका अंगुठा पकडा ही नहीं जाता। जैसे युरोपीयन, कुर्सीपर बैठ-नेकी सदा आदत होनेसे वे, चौंकी लगाकर जमीनपर बैठ नहीं सकते, उसी प्रकार अवस्था दंड बैठकोंका अति व्यायाम करने वालोंकी होती है।

नियमपूर्वक आसनोंका अभ्यास करनेवालेके स्नायु तथा नसनाडी आदिमें "लचीलापन" होता है। शरीरके आरोग्यके लिये इस लचीलेपन की अत्यंत आवश्यकता है। तथा आसनोंके व्यायामसे स्नायुओं में मृदुस्पर्श रहता है और कठोरता नहीं होती। यह बात और है कि यह मनुष्य अपनी इच्छा शक्तिसे अपने स्नायुको समयपर सख्त भी बना सकता है, परंतु अन्य समयमें उसके स्नायु मख्खनके समान नरम लगते हैं, लचीले होते हैं और पुष्टभी होते हैं। परंतु पहिलवानके स्नायु आप देखेंगे तो पत्थर जैसे होते हैं, अति व्यायामसे उनका लचीलापन और नरमाई दूर होती है। यही

कारण है कि आसनाभ्यासी आरोग्यसंपन्न और पहिलवान वैसा नहीं होता है। अब अगले लेखमें विचार करेंगे कि आसनोंसे कौनसे रोग दूर हो सकते हैं।

स्वास्थ्य-साधन।

"स्वास्थ्य" का अर्थ "स्वस्थता" अर्थात् [स्व-स्थ-ता] अपनी स्थितिसे रहना, अपनी शक्तिसे आनंद के साथ रहना। रोगी अवस्थामें मनुष्य पराधीन होता है, दवाइयोंकी शक्तियोंपर अवलंबित रहता है। इसलिये रोगी अवस्था पराधीनता है। पराधीनता सब प्रकारसे दुःखप्रद है, और स्वाधीनता सब प्रकार का आनंद देती है। मानवी शरीरके अनेक शत्रु हैं, उनमें रोगभी एक शत्रु है। अपने शरीरको रोगरूपी शत्रुके आधीन करना और स्वयं परतंत्र होना, यह मनुष्यको कदापि योग्य नहीं। रोगरूपी शत्रुका आक्रमण जिस समय इस शरीरपर होता है, उस समय शरीरके परमाणु और रोगके बीज, इनका परस्पर युद्ध शुरू होता है; और जिस समय शरीरका पराभव होता है, उसी क्षण मनुष्यशरीर रोगी हो जाता है। इस लिये इस युद्धमें अपने शरीरका पराभव न हो, ऐसा इंतजाम हरएक को करना उचित है।

नीरोगताके विना मनुष्य कोई पुरुषार्थ कर नहीं सकता। रोगी मनुष्य सदा बिस्तरेपर लेटा रहता है, और पराधीन रहता है। रुग्ण अवस्थाके कारण न वह अपनी उन्नति कर सकता है, और न समाज तथा राष्ट्रका हित कर सकता है। (१) "धर्म" अर्थात् कर्तव्य पालन, (२) "अर्थ" अर्थात् धनोपार्जन, (३) "काम" अर्थात् महत्वकी आकांक्षा और (४) "मोक्ष" अर्थात् स्वाधीनता ये चार पुरुषार्थ मनुष्य के लिये करने आवश्यक हैं। परंतु रोगी इन पुरुषार्थोंको कर ही नहीं सकता। इस लिये हरएक मनुष्यको आवश्यक है, कि वह अपनी स्वस्थता सुरक्षित रखे और अपने ऊपर रोगोंका आक्रमण होने न दें।

"आमय" शब्द रोग का वाचक है, इसका अर्थ यह है कि "जो आमसे बनता है," शरीरमें अपचित अन्नसे "आम" होता है, इस आमका कोष्ठादि स्थानमें संचय होनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये वेदमें स्वास्थ्य का नाम "अन+आम+य" (अनामय) है। देखिये—

अयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे
जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मे ॥ य० १८।६

"मेरी नीरोगता, स्वस्थता, जीवन और दीर्घआयु यज्ञसे बढे।" इस मंत्रमें "अनामयत्" शब्द रोग रहित अवस्थाका द्योतक है। इसी अर्थका वाचक "अनमीव" [अन्+अमीव] शब्द है, इसका तात्पर्य भी उक्त प्रकार ही है।

" आम " से उत्पन्न होनेवाली बीमारी " अमीव " कहलाती है, और उस रोगी अवस्थासे भिन्न स्वास्थ्य की अवस्था " अनमीव " शब्द बता रहा है। यह अवस्था हरएक को प्राप्त करनी चाहिये। इस विषयमें वेदकी प्रार्थना देखिये—

स त्वं नो रायः शिशीहि मीढ्वो अग्ने सुवीर्यस्य ॥
तुविद्युम्न वर्षिष्ठस्य प्रजावतोऽनमीवस्य शुष्मिणः ॥
ऋ. ३।१६।१

" हे (अग्ने) तेजस्विन्! तूं हम सब को ऐसा धन दो, कि जो उत्तम (सुवीर्य) पुरुषार्थ से युक्त, (प्रजावतः) संतान युक्त, (अनमीवस्य) नीरोगतासे युक्त और [शुष्मिणः] बलसे युक्त हो। " तात्पर्य ऐसा धन नहीं चाहिये, कि जो वीर्यहीनता, रोग, निर्बलता और संतान न होने की अवस्था उत्पन्न करनेवाला हो। प्रत्युत ऐसा धन चाहिये कि, जो नीरोगताके साथ उत्तम संतति, पौरुष प्रयत्न करनेकी हिंमत, और बल की वृद्धि करनेवाला हो। तात्पर्य वेदकी दृष्टिसे (१) स्वास्थ्यके साथ [२] उत्तम जीवन, [३] दीर्घायुत्व, [४] सुप्रजा निर्माण की शक्ति, तथा [५] बलका संवर्धन, और [६] उग्रता चाहिये। यही वैदिक आदर्श है। हरएक वैदिक धर्मी मनुष्य को इसकी सिद्धता करनेका यत्न करना अत्यावश्यक है। इसकी सिद्धता करनेके लिय योग साधन का मार्ग ऋषिमुनियों द्वारा निश्चित हुआ है, उसके अनुसार चलनेसे हरएक मनुष्य उक्त गुणोंका विकास अपने अंदर कर सकता है।

योगके आठ अंग हैं उनमें पहिले दो अंग यम और नियम योगसाधन की तैयारी के लिये हैं। वैयक्तिक और सामाजिक तैयारी करनेके लिये नियमोंका पालन करना होता है। आगेके दो अंग "आसन और प्राणायाम" हैं और इनका शरीरके स्वास्थ्य के साथ अत्यंत संबंध है। शरीर को नीरोग बनानेके लिये ही प्रायः ये दो अंग हैं। प्राणायाम का मानसिक स्वास्थ्य के साथ भी संबंध है, परंतु उसका यहां विशेष विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य आसन और प्राणायामों का उत्तम अभ्यास करने से मनुष्य अपना स्वास्थ्य सुरक्षित रख सकता है। योग में जो आगेके चार अंग हैं, उनका संबंध मानसिक स्वास्थ्य के साथ विशेष है। योग्य समय इसका विचार हो जायगा।

मनुष्यकी पुरुषार्थ शक्ति मुख्यतः आरोग्य, बल, बुद्धि, विचार, सामर्थ्य, व्यवहार–चातुर्य, सचाई, निष्कपटता, और उद्योग प्रियता के ऊपर अवलंबित है। इन गुणोंसे जो विशेष मंडित होगा, वही पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। आरोग्य के विना प्रबल पुरुषार्थ होना अशक्य है, यह बात सब मानते ही हैं। बुद्धि और विचार शक्तिके विना अपना ज्ञान बढना अशक्य है और ज्ञानके विना प्रतिबंध–निवृत्तिके उपाय ज्ञात ही नहीं हो सकते। व्यवहार–चातुर्य, सचाई और निष्कपटताके विना मनुष्य इस जगत् में कोई कामधंदा ठीक रीतिसे करके उत्तम सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

उद्योग-प्रियता अर्थात् सिद्धि मिलनेतक उद्यम करने का दृढनिश्चय सब प्रकार के पुरुषार्थों के लिये अत्यावश्यक होनेमें किसी को शंका नहीं हो सकती। इसलिये योगवासिष्ठमें कहा है-

उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमः ॥
षडिमे यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात् पुमान् ॥

"(१) उद्यम, (२) साहस, (३) धैर्य, (४) बल, (५) बुद्धि और (६) पराक्रम ये छे गुण जिस पुरुषमें होंगे, वह सब कुछ उन्नति प्राप्त कर सकता है।" पुरुषार्थ सिद्धि का यही मूलमंत्र है। तात्पर्य यदि पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त करनी है, तो उक्त गुण अपने में बढाने चाहिये। अपने में ये गुण वृद्धिंगत करने केलिये शारीरिक और मानसिक स्वस्थता की अत्यंत आवश्यकता है। तथा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी सुरक्षितता के लिय योगसाधन जैसा सीधा और सुगम उपाय भी दूसरा कोई नहीं है यह बात शताब्दियोंके अनुभवसे निश्चित हो चुकी है।

सांप्रतमें शरीरस्वास्थ्य के लिय कितने उपाय प्रचलित हुए हैं, औषधि प्रयोग, व्यायाम के प्रकार, भोजन के विधि, विविध प्रकारके जल प्रयोग, विद्युत्संचार, यक्षकिरण प्रयोग, चर्णजल प्रयोग आदि इतने विधि हैं, कि जिनके कारण रुग्ण मनुष्य मोहित हो जाता है, और अपने स्वास्थ्य के लिये किस बातका उपयोग करें और किस का न करें, इस विषयमें मूढसा बन जाता है। तात्पर्य यह है कि, उक्त रीतिके अनेक

ार्ग होने पर रुग्णोंकी सुविधा नहीं हुई है। उक्त विधि
ाप बुरे नहीं हैं, तथापि हरएक के लिये लाभ दायी होने
ाला एक भी विधि उसमें नहीं है विशेषतः निर्धन मनु-
ोंका तो इन विविध प्रकारों से लाभ होना अशक्य हुआ
, क्यों कि इनमें धनका बहुत व्यय होता है। इत्यादि बातों
ा बहुत विचार करनेपर तथा सेंकडों अवस्थाओंके मनुष्यों
ौर रोगियों की स्थितिका विचार करके हमारा यही मत
निश्चित हुआ कि, योग साधन की रीति सबके लिये
ुगम, सुसाध्य, और आसानीसे सिद्ध होने वाली
, इसमें न किसी प्रकारका व्यय करना होता है, और न
किसी प्रकारका इसमें विघ्न है। हरएक मनुष्य को हरएक
वस्था में इससे लाभ पहुंचता है तथा पूर्वोक्त अन्य उपायोंके
ाथ भी यह योगसाधन किया जा सकता है, इस लिये
सकी उपयुक्तता अधिक है।

वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो सिद्धांतकी बात यह है
कि, जो मनुष्य अपने खानपानादि व्यवहारका प्रबंध विचार
ा करता है, और जो अपने स्वास्थ्यको सुरक्षित रखनेके
नियम जानता है वही अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है।
ोग के यम नियम और व्रत पालन जो हैं, वे इस बातकी
शिक्षा मनुष्यको देते हैं। तथापि प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिके
नुसार उचित नियम बनाना हरएक मनुष्य के लिये योग्य
ौर अत्यावश्यक है; क्या कि जितनी व्यक्तियां हैं, उतनी

भिन्न प्रकृतियां हैं, इस कारण हरएक को अपना विचार अपनी प्रकृतिके अनुसार करना उचित है। यहां सर्वसाधारण नियम बताये हैं, और इसी प्रकार साधारण नियम योगशास्त्र में भी कहे हैं। इन साधारण नियमोंका विचार करके विशेष नियम हरएक को अपनी प्रकृति के अनुसार बनाना योग्य है।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिये मुख्यतः (१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) उपासना, (४) सात्विक खानपान और (५) योग्य विश्राम, इन पांच बातोंकी आवश्यकता है। इन में से एकके न होनेसे भी बिगाड हो जाता है। इस लिये इनका क्रमशः विचार करेंगे—

[१] आसनों का व्यायाम।

"आसन" शब्द विशेष अर्थमें यहां प्रयुक्त होता है। यद्यपि भाषामें आसन शब्दका अर्थ बैठना है, तथापि योग साधनमें उसका अर्थ विशेष प्रकारके व्यायाम है। आसनोंका व्यायाम इस लिये सब लोगोंको लाभ दायक होता है कि, यह हरएक मनुष्य हरएक अवस्थामें कर सकता है। और इसके लिये कोई व्यय नहीं करना पडता। कमजोर आदमी भी इसको कर सकता है, और बलवान भी कर सकता है। तथा अन्य व्यायामों की अपेक्षा इससे हृदयको विश्राम अधिक मिल सकता है।

आसनोंके मुख्य विभाग चार हैं। [१] खिंचाव के व्यायाम, [२] प्राणायाम के व्यायाम, [३] बलवर्धक व्यायाम और [४] स्नायुसंचालन के व्यायाम। आसनों में ये चार भेद हैं, अथवा आसनों के व्यायाम इन चार विभागोंमें विभक्त होते हैं। कई आसन इन चारों विभागोंमें किये जा सकते हैं, और कई न्यून विभागोंमें किये जाते हैं। कई आसन अत्यंत वेगसे और अतिशीघ्र परंतु वारंवार करनेसे स्नायुसंचालन के उपयोगी होते हैं। स्नायुसंचालन का अर्थ वेगसे स्नायुओंमें गति करके वेगसे रुधिर का अभिसरण करना है। इस से नसनाडियोंकी निर्मलता हो जाती है और शरीर में उष्णता आजाती है। शरीर के दोष शीघ्र दूर करनेके काम में यह "स्नायु-संचालन" बडाही उपयोगी है।

खिंचावके व्यायामोंके लिये जो आसन करने होते हैं, वे शांतिके साथ करने चाहिएं, और एक एक प्रकारके आसन में देर तक बैठनेका अभ्यास होना आवश्यक है। इस से स्नायु शुद्ध और निर्दोष होते हैं, तथा दीर्घ काल के रोग बीज जो शरीरमें घर बनाकर रहते हैं, इस रीतिके व्यायामसे दूर हो जाते हैं। बलवर्धक आसन में बोझ उठाने के व्यायाम और प्रतिरोधक व्यायाम मुख्य हैं। प्रतिरोधक व्यायामका अर्थ यह है कि, विरोधी शक्तिके साथ विरुद्ध शक्तिका उपयोग करना। जैसा रसीसे खींचना, हाथसे

ढकेलना इत्यादि। इस प्रतिरोधन से अपनी शक्ति बढ जाती है। श्वास और उच्छ्वास के साथ व्यायाम करना अथवा आसन करनेका नाम प्राणायाम युक्त आसन है। रक्तशुद्धिद्वारा आरोग्य देना इसका प्रयोजन है।

युक्तिसे उक्त प्रकारके चतुर्विध आसन करने से हरएक मनुष्य आरोग्य, बल और दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है।

दूसरी दृष्टिसे भी आसनोंके चार भेद समझे जाते हैं। [१] खडे होकर करनेके आसन प्रथम वर्ग में आते है, [२] बैठकर करनेके आसन द्वितीय वर्ग में गिने गये हैं, [३] भूमिपर लेट कर करनेके आसनोंका तृतीय वर्ग है; और [४] उलटा खडा अर्थात् सिर नीचे और पांव उपर करके करनेके आसन चतुर्थ वर्गमें आते हैं। तृतीय और चतुथ वर्गके आसन दिलके कमजोर मनुष्योंको बडे लाभ दायक होते हैं, और इतर आसन अन्योंके लिये उत्तम हैं। इस प्रकार विशेष विचार करनेसे पता लगता है कि ये आसनों के व्यायाम बडा लाभ करने वाले हैं। जो प्रासद्ध आसन हैं, उनसे कई आसन और भी नये बनाये जा सकते हैं, और इन में भी घट वध करके अपनी आवश्यकतानुसार बनाने से अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

आसनोंके व्यायामके अतिरिक्त भी शरीरकी सुस्थिति के लिये यथावकाश दूसरे व्यायाम करनेकी आवश्यकता रहती ही है। भ्रमण, वेगसे चलना, पहाडियोंपर चढना और उत-

रना, दौडना, कूदना इत्यादि व्यायाम गतिवर्धक हैं। वेदमें कहा है कि—

जंघयोर्जवः। पादयोः प्रतिष्ठा॥

अथर्व. १९।६०।२.

"जंघाओंमें वेग और पांवोंमें स्थिरता अर्थात् आधारशक्ति रहे।" यह मंत्र वैदिकधर्मियोंको उपदेश दे रहा है कि, जंघा और पांवोंमें वेग और बल चाहिये। पहाडी लोगोंकी जंघायें और पिंडरियां कैसी पुष्ट और बलवान रहती हैं, इसका विचार यहां अवश्य करना चाहिये। पहाडियोंपर चढने उतरने का व्यायाम तथा तीव्र वेगसे चलने फिरनेका व्यायाम करनेसे उक्त लाभ हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जलमें तैरनेका व्यायाम बहुतही लाभदायक है। ब्रह्मचर्य रखनेकी इच्छा करनेवाले यदि दिनमें घंटा डेढ घंटा अच्छीप्रकार तैरनेका व्यायाम करेंगे, तो वीर्यभ्रष्टताका दोष उसी समय दूर होगा। जल औषधिरूप है, इस दिव्य जल का वर्णन वेदमें अनेक स्थान पर है। उनमें से एक ही मंत्र देखिये—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्॥ अपामुत प्रशस्तिभिः
अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥

अ. १।४।४

"जल में अमृत और औषध है। जलके श्रेष्ठ गुणसे, हे घोडों! और हे गौवों! आप बलवान बन जाइये।" इस मंत्रमें

जलसे बलवान बननेकी शक्यता वर्णन की है । यद्यपि यह उत्तानार्थ है तथापि इसका गर्भार्थ और है। अश्व और गौ शब्द पुरुष और स्त्री के सूचक हैं। और "वाजी" शब्द वीर्ययुक्त अर्थात् पुरुषशक्तिसे युक्त पुरुष और स्त्री शक्तिसे युक्त स्त्री का सूचक है । वैद्य शास्त्रमें "वाजी-करण" के प्रयोग अनेक हैं, उनका उद्देश्य मनुष्यको प्रबल वीर्य शक्तिसे युक्त करना ही है । वही "वाजी" शब्द यहां है। तात्पर्य घोडे और गौवें भी जल प्रयोगसे वीर्य युक्त बन सकतीं हैं, उसी प्रकार स्त्री पुरुष भी अपने वीर्य दोष को इसी जल प्रयोगसे दूर कर सकती हैं । सेकडों जवानों के वीर्य दोष जलमें प्रतिदिन घंटाभर तैरनेसे दूर हो गये हैं। किसी औषधिसे जो लाभ नहीं होता, वह तैरनेके अभ्याससे होता है। ऋषिमुनि नदीतट पर रहते थे, इसका अभिप्राय ही यह है कि, जलमें खूब तैरनेसे वीर्य दोष दूर करके, व "स्थिर वीर्य" हो जाते थे। आजकल भी यह अनुभव लिया है, इसलिये जो वीर्यसे दोषी हों, वे तैरनेका अभ्यास खूब करें और स्थिर वीर्य बनें।

खुली हवामें खेलनेके खेल भी सब आयुमें लाभ दायक हैं, विशेषतः मध्य आयुतक अधिक लाभ दायक हैं। देवत्व प्राप्तिके गुणोंमें "क्रीडा, विजिगीषा" आदि गुण प्रसिध्द हैं, उनमें "क्रीडा" सबसे प्रथम है। मर्दानी खेल देवत्व का परिपोष करनेवाले हैं । भूमिक्रीडा मर्दानी खेलोंका नाम है,

जल क्रीडा तैरनेके विविध प्रकार हैं, कंदुकक्रीडा गेंदबल्ला का नाम है, वृक्षक्रीडा वृक्षोंपर चढनेके खेल प्रसिद्ध हैं, पर्वतक्रीडन पहाडोंकी उतराईपर खेलनेका स्पर्धाका खेल है; इस प्रकार आर्योंकी कई क्रीडायें हैं, कि जो आर्य युवक खेलते और विजयेच्छु बनते थे। ये सब खेल लाभदायक होते हैं।

इसके अतिरिक्त जो भी खेल शरीरका वीर्य, ओज, तेज, बल, फूर्ती, उत्साह और आयु बाढनेवाला हो, उसके खेलनेसे लाभ ही होते हैं। खुली हवाके खेल खेलनेसे अनंत लाभ हैं, जो पाठक जानते हैं। इसलिये उनके विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

साधारणतया पसीना आनेतक आसनादि सब व्यायाम करने चाहिये। व्यायामके परिश्रमसे पसीना आनेके पश्चात् शरीरका मर्दन करना उचित है और मर्दन के पश्चात्, आवश्यक हुआ तो योग्यसमय व्यतीत होनेके बाद, स्नान करनेसे शरीर निर्मल होता है। तैरनेमें व्यायाय और साथ स्नानभी होता है इस लिये तैरनेसे अधिक लाभ होते हैं। अस्तु! तात्पर्य यह कि आरोग्यके लिये दिनमें कुछ समय आवश्यही व्यायाम करना चाहिये। शांत व्यायाम घंटाभर करना चाहिये, परंतु वेग का व्यायाम आधा या पाव घंटा पर्याप्त हो सकता है। अपनी शक्तिके अनुसार न्यून वा अधिक समय करना योग्य है।

पूर्वोक्त व्यायाम के पश्चात् प्राणायाम का विचार करना चाहिये। सब लोग प्राणका महत्व जानते ही हैं, क्यों कि

पश्चात् मध्य विभाग और पश्चात् ऊपरका विभाग भरना योग्य है। इस क्रमसे श्वास लेने और उलटे क्रमसे छोडनेका नाम पूर्ण श्वसन है। यह वेगसे करने का नाम "भस्त्रा प्राणायाम" है। भस्त्रा प्राणायाम करनेसे तत्क्षणमें शरीरमें उष्णता उत्पन्न होती है, भूख लगती है। रक्त शुद्ध होता है और अनेक लाभ होते हैं। यह श्वास और उच्छ्वास वेगसे न करते हुए मंद-गतिसे परंतु श्वास और उच्छ्वास की लंबाई सम करनेसे जो प्राणायाम होता है, उसको "सूर्य भेदन प्राणायाम" कहते हैं। इससे उदरस्थानीय "सूर्य चक्र" की जागृति हो जाती है, इससे जीवनशक्ति की वृद्धि हो जाती है। ये प्राणायाम अपनी शक्तिके अनुकूल ही करने चाहिये; शक्तिसे अधिक करनेपर हरएक अभ्यास हानि करता ही है। अन्य प्राणायामका वर्णन पाठक अन्यत्र देख सकते हैं।

कामधंदा करनेवाले मनुष्य घंटा दो घंटा अपना व्यवसाय करनेके पश्चात् दो चार मिनिट ही खुले वायुमें उक्त प्रकार एक दो आसन और प्राणायाम करेंगे, तो उनकी कार्य कर-नेकी शक्ति द्विगुणित हो जायगी, और उनको थकावट नहीं आवेगी। नियम पूर्वक सवेरे और शामको प्राणायाम कर-नेवालों को उत्साह के साथ अपूर्व आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

प्राणायाम के विषयमें एक ही बात यहां कहनी आवश्यक है वह यह है, कि नाकसे ही श्वासोच्छ्वास करना चाहिये और मुखसे नहीं। क्यों कि मुखसे किया हुआ श्वासोच्छ्वास

आयुष्य का नाश करता और रोग लाता है, परंतु नाकसे किया हुआ श्वासोछ्वास आयुष्य बढाता और रोगोंको दूर करता है। अस्तु। इस प्रकार आसन और प्राणायामके द्वारा लाभ उठानेके साथ अब उपासनाका विचार करना है—

(३) उपासना। सद्गुण मनन।

ईश्वरकी उपासना मनकी शांति बढाने द्वारा शरीरका आरोग्य प्रदान करती है। प्रत्येक सद्गुणकी परम सीमा का केंद्र परमेश्वर है। प्रत्येक सच्छक्तिकी पराकाष्ठा परमेश्वर में है। और सद्गुण और सच्छक्ति के मनन द्वाराही उपासना करनी होती है, इस लिये सद्गुण और सच्छक्तिका मनन ही उपासना है। मनमें नित्य सद्विचार रखने चाहिये, उपासनासे यही कार्य होता है। इसलिये इस दृष्टिसे उपासनाका महत्त्व अधिक है "जसा मन वैसा मनुष्य" यह सार्वभौमिक नियम है। इसलिये मनुष्य की भवितव्यता मनको ठीक रखनेपर अच्छी और ठीक न रखनेपर बुरी हो जाती है।

मनुष्यमें मनन शक्ति का इतना महत्व है कि, जो मनुष्य सदा विजयी, उत्साही पुरुषार्थके विचार अपने मनमें रखता है, वही पुरुषार्थी बनता हुआ उन्नत होता है; परंतु जो मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मत्सर, पराजय निरुत्साह, आलस्य आदिके ही विचार मनमें रखता है, वह प्रतिदिन हीन होता जाता है। चिंतासे अपने मनको बिगाडनेवाले मनुष्य नानाप्रकारकी आपत्तियोंमें डूब मरते हैं। इस लिये मनुष्यको सदा श्रेष्ठ

विचार ही मनमें धारण करके सदा विजय की ओर जाना चाहिये।

इतिहास, गाथा आदि पुस्तक अथवा अन्य कथाएं कल्पित ही क्यों न हों, यदि श्रेष्ठ विचार—परंपराको जागृत करनेवाली होंगी, तो उनके पढनेसे लाभ होगा; अन्यथा हानि होनेमें शंकाही नहीं है। धार्मिक ग्रंथोंमें वीरपुरुषोंके चारित्र पढनेका जो महत्व है, वह यही है; उनकी विजयकी कथाएं पढनेवालोंके मनोंको उच्चविचार युक्त बनातीं हैं। देवतामें श्रेष्ठ सद्गुण और सच्छक्तियोंकी कल्पना उपासकको उच्च बना सकती है। क्यों कि उसके मननसे उसके मनमें श्रेष्ठ गुण और श्रेष्ठ शक्तिकी जागृति रहती है। इस बातको छोडकर जो अन्य रीतिकी उपासना होगी वह लाभ दायक नहीं होती।

"देवोंके समान व्रत करनेवाले देव बनते हैं," यह भगवद्गीताका कथन उक्त नियमानुसारही है। श्रेष्ठ कल्पना मनमें स्थिर करनेसे श्रेष्ठता आती है और उसीसे आरोग्य भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उपासनासे मनकी शांति, आत्माका बल, चित्तकी प्रसन्नता, बुद्धिकी तेजस्विता आदि बढती है, इसलिये उपासक लोग आरोग्य संपन्न रहते हैं। "मेरा आधार प्रबल ईश्वर है" यह विश्वास बडा लाभ देता है। धैर्य बढाता है तथा विश्वास और धैर्य किंवा निर्भयता बढनेसे आरोग्य और स्वास्थ्य की दृष्टिसे बडा लाभ होता है।

४ सात्विक खानपान।

आरोग्यका विचार करनेके समय खानपानके विषयमें अवश्य कुछ न कुछ लिखना चाहिये। क्यों कि खानपानके विषयमें आजकल इतना अनाचार बढ गया है कि, उसकी उपेक्षा करना आत्मघात करनेके समान भयानक है। दाल, रोटी, दूध, घी, दही, मक्खन, मलाई, छाछ, चावल, सब्जी आदि सात्विक भोजन बडा लाभदायक और आरोग्य वर्धक है। गायका दूध अच्छा है, उसके अभावमें अन्य दूध लेना चाहिये। बाजारकी चीजें जो हलवाइयोंकी दुकानोंमें अथवा छाबडीवालोंके पास मिलतीं है, एकभी खाने लायक नहीं होती। उनपर मख्खियां बैठतीं हैं और उनको दूषित बना देतीं हैं। मख्खियां गटारके मैलपर बैठकर सीधी दुकानके जलेबी-पर आकर बैठ जाती हैं। इसलिये वे पदार्थ विषयुक्त बनते हैं। परंतु जो दुकानदार अपने पदार्थ शीशेके बर्तनोंमें रखकर सुरक्षित रखता हो, उससे लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। तथापि तले हुए पदार्थ हानिकारक ही हैं। खानेके सात्विक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, शुद्धताके साथ किये हुए ही खाने चाहिये, अन्य पदार्थ न खाने अच्छे हैं। मनुष्यका श्रेष्ठ आहार फल है, इसलिये जो फल अच्छी अवस्थामें मिल सकते हैं, अपनी प्रकृतिके अनुसार होनेपर उनको खाना चाहिये। यही श्रेष्ठ भोजन है। तले हुए पदार्थोंसे फल सौगुणा श्रेष्ठ हैं।

पीनेकी चीजोंमें आजकल बडा अनर्थ हो रहा है। बाजा-

रोंमें हानि कारक पदार्थोंके दुकान दिन प्रति दिन बढ रहे हैं ! ! चा, काफी, कोको, सोडा आदि वाटर, मद्य, विविध आसव, तथा अन्य शीतपेय बडे हानिकारक हैं, वास्तवमें इनको सरकारद्वाराही प्रतिबंध होना चाहिये, परंतु अपने दुर्भाग्यसे ऐसा प्रतिबंध नहीं हुआ है। इसलिये स्वयं इस विषयमें जागना चाहिये। " शुद्धजल " ही उत्तम पेय है। अच्छे कूवेका अथवा वृष्टिजल सबसे उत्तम है। आरोग्यका विचार करनेवालोंको इस खानपानका इस प्रकार अवश्य विचार करना चाहिये। और कभी अयोग्य खानपानकी ओर झुकना नहीं चाहिये।

५ विश्राम।

परिश्रमके पश्चात् विश्रांति लेनी आवश्यक है। उद्योगधंदा करनेका नाम प्रवृत्ति है और विश्रांतिका नाम निवृत्ति है। प्रवृत्ति के पश्चात् निवृत्ति आवश्यकही है, प्रवृत्तिमें जो शरीरके स्नायुओं का व्यय होता है, उसको दुरुस्त करनेका कार्य इस निवृत्तिके समय होता है, इसलिये यह विश्राम " नव जीवन " देनेवाला होता है। विश्राम में गायन वादन, उत्सव दर्शन, आदि मनोरंजनके विविध प्रकार आते हैं। ऋतु ऋतुमें धार्मिक उत्सव धर्मशास्त्रकारोंने रखे हैं, इसका यही प्रयोजन है। इस प्रकारके दिलबहावेसे प्रवृत्तिके कार्योंका परिश्रम दूर होता है।

इसके अतिरिक्त प्रतिदिन के लिये स्नायु ढीले करना,

दंडासन अथवा शवासन का अभ्यास करना, तथा मनको निर्विचार करना आवश्यक होता है। इतना होनेपर भी पूर्ण विश्रांतिके लिये निद्रा लेनेकी आवश्यकता है। मनुष्य गाढ निद्राका महत्व नहीं समझते, परंतु हमारे आरोग्य पूर्ण जीवन के लिये निद्राकी अत्यंत आवश्यकता है। निद्रासे अनेक लाभ हैं—

निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतन्द्रिताम् ॥
पुष्टिवर्णबलोत्साहानग्निदीप्तिं करोति च ॥ राजनि.५

" योग्य समयमें निद्रा लेनेसे धातुकी समता, उत्साह, पुष्टि, वर्णकी तेजस्विता, बल, और अग्निका प्रदीपन होता है। " तात्पर्य नवीन जीवनही मिलता है। यह तीन प्रकारका विश्राम लेनेसे मनुष्यका आरोग्य उत्तम रह सकता है, और इनमें निद्राका महत्व सर्वोपरि है।

पूर्वोक्त प्रकार आसन, प्राणायाम, उपासना, सात्विक भोजन, शुद्धजल पान जो करता है, उसको पांच छे घंटे उत्तम निद्रा आती है और उतनी उसके लिये पर्याप्त होती है। और इस प्रकार करनेसे वह सदा आरोग्यसंपन्न रह सकता है।

सोनेके पूर्व मुख प्रक्षालन करके, सिरको शांतजलका अच्छा स्पर्श करके, लघुशंका करके शिस्न और उसके आस पासका एक वीत भाग शीत जलसे अच्छी प्रकार धोकर शांत करके, परमेश्वर स्मरण पूर्वक विस्तरेपर शांतिके साथ लेट जानेसे अच्छी गाढ निद्रा आजाती है और उससे बडा आरोग्य मिल सकता है।

योगशास्त्रका सार।

उक्त प्रकार इस छोटेसे लेखमें योगशास्त्रका सार दिया है। अनेक ग्रंथोंमें विस्तारसे जो बातें लिखीं हैं, उनका संक्षेपसे वर्णन इस लेखमें किया है। जो पाठक इसका अच्छी प्रकार मनन करेंगे, वे अपने प्रयत्नसे अपना स्वास्थ्य सुरक्षित कर सकते हैं, अथवा अपनी रोगी अवस्थाको दूर करके अपना स्वास्थ्य कमा सकते हैं।

इस लेखमें कोई ख्यालो बात नहीं है, प्रायः सब बातें अनुभव की हैं, इसलिये पाठकोंसे भी निवेदन है कि, इस लेखका उपयोग वे अपने स्वास्थ्य रक्षा के कार्य में अवश्य करें।

योगसाधन का विषय बडा गहन है। परंतु इस लेखमें उतनाही लिखा है कि, जितना सर्व साधारणके उपयोगी हो सकता है। इसलिये जो लोग योगमें बहुत उंची प्रगति करना चाहते हैं। उनको यद्यपि इस लेखसे विशेष लाभ नहीं होगा, तथापि सर्व साधारण लोग जो अपने दैनिक व्यवहारमें रह-करही योगसाधनसे लाभ उठाना चाहते हैं, उनको यह लेख विशेषकर अच्छा मार्ग दर्शक होगा। इसलिये आशा है कि ये लोग इस लेखसे लाभ उठानेका यत्न करेंगे।

"प्रयत्न करनेसे अवश्य सिद्धि मिलेगी।"

स्त्रीजाति और योग विद्या।

(लेखिका—श्री. कुमारी सत्यवती शास्त्रिणी, बन्नु)

हर्ष की बात है कि भारतीय स्त्रियों में दिन प्रतिदिन जागृति पैदा हो रही है। देशके समझदार तथा विद्वान पुरुषोंने इस बात को भली प्रकार समझ लिया है, कि जब तक स्त्रीजाति अज्ञानान्धकार में फँसी हुई है, तब तक भारत वर्ष का उद्धार होना असम्भव है! मनुजी के इस विचारको कि "जिस देशमें स्त्रियोंका अपमान होता है वह देश शीघ्र ही नष्ट हो जाता है" भारत वर्षने भली प्रकार आजमा लिया है। स्त्रियोंको गुलाम तथा अविद्यक रखनेका फल भारत वर्ष चिर काल से भोग रहा है और तबतक भोगता ही रहेगा, जबतक कि वह स्त्रीजातिके सत्कार तथा स्त्रीविद्याको फिरसे प्रचलित करके प्रायश्चित्त नहीं कर लेता। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि स्त्री सुधार सम्बंधी रुपये में आनाभर भी काम नहीं हुआ और आगे के लिये भी ऐसी शीघ्रतासे कार्य होता हुआ दिखाई नहीं देता, जो कि भारतवर्ष को अधोगति से निकालने के लिये होना चाहिए था। आज इस बात के भी कहने की विशेष आवश्यकता नहीं कि स्त्रीसुधार सम्बन्धी कार्य जबतक १६ आने पूरा नहीं हो

लेता, तबतक देशोद्धार के सभी साधन निष्फल हैं। और भारतवर्षीय भाईयोंका इस ओर पूर्णरूपसे ध्यान न देना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कि भारत वर्षका "सुनहरी दिवस" भी बहुत दूर है।

स्त्रीजातिका सन्मान तथा स्त्री विद्या केवल दूसरों के यत्नोंसे प्रचलित नहीं हो सकती, प्रत्युत इसके लिए स्त्रियों को स्वयंही यत्न करनेकी आवश्यकता है। यद्यपि परोपकारी और देशहितैषी भाई इस कार्यमें बहुत सहायता कर रहे हैं, परन्तु स्त्रीजातिको अपने अच्छे दिनोंकी तबतक आशा नहीं रखनी चाहिए जबतक कि वह अपनी पांवपर आपही न खडी हो जावे और मनुष्योंको अपनी ओर से निश्चिंत कर देशके शेष आवश्यकीय कार्योंमें आसक्त न हो जाने दे।

इस कार्यमें सफलता प्राप्त करने के लिए—जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्य होता है—स्त्रीजातिको अपने तन मन और आत्माकी शक्तियोंको जगाना आवश्यक है। हमारा जीवन क्या है? केवल तन मन और आत्मा का मिलाप है। जिस व्यक्तिमें इन तीनोंमेंसे कोई निर्बल तथा कमजोर है उसका जीवन संपूर्णतया दुःखमय होता है। इन तानों शक्तियोंको जमाकर एक उच्च दरजेपर ले जानेसेही सच्चा और सुखमय जीवन प्राप्त हो सकता है। स्त्रीजाति की तीनों ही शक्तियां असंपूर्ण और शोचनीय दशामें हैं।

भारतकी स्त्रियोंको अपने स्वास्थ्य तक को ठीक रखनेकी

चिन्ता नहीं भासती, वह अपने तन को निर्बलता का ठेकेदार समझती है । "रोगी तन में रोगी मन" यह प्रसिद्ध कहावत है, तो इस दशामें स्त्रियों को मानसिक शक्तियों की आशा ही क्या हो सकती है। आत्मिक शक्तियों का तो वर्णन करनाही पंजाबीकी इस कहावत के अनुसार है कि—

"सोणा रूडिया परते सुपने शीशा महिलां दे ।"

वर्तमानकाल में स्त्रीविद्या ने भी सुशिक्षित स्त्रियोंको अभी-तक इस ओर उतना नहीं झकाया, जितना कि कमसे कम उन के लिए आवश्यक था। हां कई ऐसी विदुषी स्त्रियां अवश्य विद्यमान हैं, जिनको कि तन और मन की शक्तियोंपर अधिकार पानेका स्वाभाविक ही समय मिल गया है और वह जान बूझ कर या अचेतावस्था में उन्नति कर रही हैं। परन्तु इतने पर ही संतोष नहीं किया जा सकता।

सबसे दुःखकी बात तो यह है और ऐसी स्त्रियां बहुत ही कम हैं जो अपनी दृष्टि को बहुत ही उच्च आदर्श तक ले जाती हों। उन के मनकी गिरावट उनको कभी भी उच्चावस्था तक नहीं पहुंचने देती। इसी प्रकार उनका अपना मन ही उनके अधोगतिका कारण हो रहा है। परम सन्त कबीरजीने भी कहा है कि—

"मन के हारे हार है, मनके जीते जी।"

आवश्यकता तो इस बात की है कि शृगाल को मारनेके लिए सिंहकी सामग्री एकत्रित की जावे, परन्तु स्त्रीजातिमें

सिंहको मारनेके लिए शृगालके मारनेकी सामग्री एकत्रित करने का स्वभाव हो चुका है। मनकी यह गिरावट चिरकाल से स्त्रीजातिमें परवरिश पा रही है और अब उनको दूर करनके लिए बडे भारी यत्नों की आवश्यकता है।

अपनी शक्तियों को जगानेके लिए हमें आरम्भ से ही आत्मा को आदर्श रख लेना चाहिए, तभी हम तन और मन की शक्तियों पर अधिकार पा सकेंगी। तन और मनकी शक्ति जागृत हो कर भी शीघ्र नष्ट हो जाया करती है, यदि उनके अन्दर आत्मिक शक्तिका प्रवाह जारी न रहे। इस लिए केवल तन और मनकी शक्तियों पर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये, प्रत्युत ऊंचा उठ कर आत्मिक शक्तिके भण्डार पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके पूर्ण लाभ उठाना चाहिये।

तनकी शक्तियोंको जगाने के लिए शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता है। मनकी बाह्य शक्तियों को प्राप्त करनेके लिए विद्या और आभ्यन्तरिक शक्तियों की प्राप्तिके लिए ऐसे साधनों की आवश्यकता है कि जिनका सम्बन्ध मनके आभ्यन्तरिक पटल से हो। आत्मिक शक्तियों को प्राप्त करने के लिए उनसे भी गहन और असाधारण साधनों की आवश्यकता है। भारत वर्षकी स्त्रियों में शारीरिक व्यायाम का रिवाज बहुत ही कम है, प्रत्युत ऐसा करना असभ्यता और निर्लज्जता समझी जाती है। इस से उच्च शक्तियों के साधन तो पुरुषोंमें भी कम पाए जाते हैं, स्त्रियों का तो कहना ही क्या है।

जितने विघ्न स्त्रीजाति को इस मार्ग में आते और आसकते हैं, मैं उन को भली भांति समझती हूं, परन्तु उनके विस्तार में न पडकर मैं एक ऐसा साधन तजवीज करती हूं कि जिससे उनकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तिएं जागृत हों। और उनको विशेष कष्टों का सामना न करना पडे।

मैंने बहुत थोडे समय से ही उस साधन को आरम्भ किया है, परन्तु इन दो वर्षों में मैनें अपनी शारीरिक और मानसिक दशाओंमें बहुत अन्तर पाया है। और इस साधन सम्बन्धी विशेष अन्वेषण करने से ऐसे बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं, जिनसे कि इस साधन का अद्वितीय और अमूल्य होना सिद्ध होता है।

यह साधन हमारे भारत वर्ष में प्राचीन कालसे चला आ रहा है और श्री वेद भगवान में स्वयं ईश्वरने इसका उपदेश किया है। परन्तु भारत वर्ष की अधोगति से जहां हमारी सुख सम्पत्ति और ऐश्वर्य हमसे पृथक् हो चुके हैं, वहां हमारे अमूल्य आत्मिक साधन भी हमारे हाथसे निकल चुके हैं। जिस साधनका मैं वर्णन कर रही हूं, भारत की मन्द भाग्यता से वह तो बहुत ही घृणित हो चुका है। प्रथम तो भारतीय लाग इसके नाम तक को भी भूल चुके हैं, यदि कोई जानता भी है, तो उसकी शिक्षासे बहुत ही दूर रह कर उसको कपोल कल्पित और एक भयानक साधन समझ चुका है।

अभीतक उस साधन का नाम नहीं बताया गया, आप उस साधन को जानने के लिए बहुत उत्कण्ठित होंगे। सुनिए उस अद्वितीय साधन का नाम हमारे वेद और शास्त्रों में "योग" कहा है। जिसके विषय में भगवान् मनुजी ने यह फरमाया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

[मनु. अ. ६ श्लोक ७१]

जिस प्रकार अग्नि में तपाई हुई धातुओंके मैल जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणों के रोकनेसे प्राणायाम करनेसे इंद्रियोंके दोष नष्ट हो जाते हैं।

अत्रि संहितामें भी है—

योगात् सम्प्राप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो ज्ञेयस्तस्माद् योगं समभ्यसेत् ॥ १ ॥
न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता योगात् सम्प्राप्नुवंति याम् २

भावार्थ—योग से ज्ञान प्राप्त होता है, योग ही धर्मका लक्षण है, और योगही परम तप है, इस लिये योगका अभ्यास करना चाहिए ॥ १ ॥

बडी तीव्र तपस्यासे, शास्त्रों के अध्ययन से तथा यज्ञों से जो सद्गति नहीं मिल सकती वह द्विजों को योगाभ्यास से मिल सकती है ॥ २ ॥

गरुड पुराण में कहता है—

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् ॥

भावार्थ—संसारके तापसे तपेहुए मनुष्यों के लिए योगही बडी औषधि है।

स्कन्दपुराण में कहा है—

आत्मज्ञानेन मुक्तिःस्यात्तच्च योगाद्दते नहि।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति ॥

भावार्थ—आत्मज्ञान से मुक्ति होती है, परन्तु वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता, वह योग चिरकाल तक अभ्यास करनेसे सिद्ध होता है।

कूर्म पुराण में लिखा है।

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥

भावार्थ—योगरूप अग्नि सम्पूर्ण पापके पिञ्जरको शीघ्रही जला देता है, उससे ज्ञान आप ही प्रकाशित होता है, और उस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है।

योग बीजमें शिवजी महाराजने पार्वती प्रति कहा है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥ १ ॥
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
अभूवन्नंतकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत् ॥ २ ॥

भावार्थ—हे पार्वती! मनुष्य बडाही ज्ञानी क्यों न हो, विरक्त क्यों न हो, धर्मात्मा क्यों न हो, अथवा जितेंद्रिय क्यों न हो बिना योगाभ्यास के मोक्ष को नहीं पा सकता जब कि देवताओं को भी विना योग के मोक्ष नहीं मिल सकता ॥ १ ॥

ऐसाही समझ कर ब्रम्हा आदि देवता भी योगाभ्यास में तत्पर हुए। इस लिये मनुष्यको भी यमराजके भयको मिटाने के लिए योगाभ्यासही करना चाहिए ॥ २ ॥

भगवद्गीता में भगवान कृष्णजीने भी कहा है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

भावार्थ—योगी इस योग मार्ग को जानकर "वेदाभ्यास करने से, यज्ञ और तपस्या करनेसे, और दान करने से, पुण्य का फल प्राप्त होना लिखा है, उन सब को उलांघ कर उस श्रेष्ट सर्वोत्तम (मोक्ष) स्थान को प्राप्त होता है।"

तथा शिवसंहिता में कहा है कि—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
एकमेव सुनिष्पन्न योगशास्त्रं परं मतम् ॥

अर्थात् सम्पूण शास्त्रों को मथ के और बारबार विचार करके यह एक मक्खन निकला है, कि एक योग शास्त्रही उत्तम और मानने योग्य है।

हठ योग प्रदीपिका में भी कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्।
शान्तये कर्मणामन्यद् योगान्नास्ति विमुक्तये ॥ १ ॥
युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।
अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ २ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्रों को पवित्र करनेवाला, इनके प्रारब्ध कर्मों को मिटानेवाला, तथा मुक्ति को देनेवाला योगके विना और कोई नहीं है ॥ १ ॥

जवान, बूढा, बहुत बूढा, रोगी, अथवा दुर्बल क्यों न हो, उसको भी सम्पूर्ण योग शास्त्रके विषयोंमें ध्यान रख कर अभ्यास करने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ २ ॥

इसी प्रकार घेरंड संहिता, महाभारत, याग वासिष्ठ, याज्ञवल्क्य संहिता आदि सर्व ही प्राचीन ग्रंथों में योगकी महिमा कही गई है। केवल योग का साधन ही साधक की शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करनेके लिए पूर्ण रूप से काम दे सकता है। लोक और पर लोक दोनों का रक्षण यह अकेलाही साधन है। इसके थोडे अभ्यास से ही साधक को अपने तन और मन की निरख परख का बल प्राप्त हो जाता है। और वह इनमें बल तथा शान्ति अनुभव करने लगता है। जिन प्राणियों को सर्वदा शारीरिक व्याधियों तथा मानसिक भटकनाओंकी शिकायत रहती है, वह अवश्य ही इसकी परीक्षा कर देखें। फिर वह इसकी

महिमा मेरे इस लेख तथा शास्त्रों के लेखों से भी कहीं बढकर देखेंगे।

मैं अपनी बहनों को निश्चय दिलाती हूं, कि शास्त्रों में योग साधनका तुम्हें भी अधिकार है। और तुम अपने सर्व सांसारिक कार्यों को निभाति हुई—यदि तुम्हारा संयम और सदाचार दृढ हो तो—इस को कर सकती हो। लोगों में जो अनेक वहम और भ्रम इस साधन सम्बन्धी फैल रहे हैं, वह सर्वथा अज्ञानता के कारण हैं। प्यारी बहिनो! अपने अपने अधिकारों को संसार पर मनुष्योंके तुल्य साबित करना है और मनुष्य श्रेणी में उच्च से उच्च पद प्राप्त करना तथा सन्मानित होना है। फिर कोई कारण नहीं कि, आप आत्मिक साधनोंसे विमुख रहें। जो कि वास्तविक उन्नतिका साधन और जरीहा है। यदि मनुष्यों को जगत् पर आत्मिक गुरु होने का अधिकार है, तो तुम्हें भी अवश्य है। पर उसके लिए आत्मिक साधनों की अधिक आवश्यकता है। जो स्त्रीसमाज में अभीतक बहुत कम दिखाई देते हैं।

मुझे आशा है कि मेरी बहनें मेरे इस लेखपर भली भांति विचार करेंगी। और यदि इसे पसन्द करें, तो मैं आगेको योग साधन पर और भी विस्तार पूर्वक लिखनेका यत्न करूंगी॥

गुरु सबका कल्याण करें"

सूर्यभेदन व्यायामसे स्त्रियोंका लाभ।

आसनोंका "सूर्यभेदन व्यायाम" पर लेख प्रसिद्ध होनेके पश्चात् कई स्त्रियोंके पत्र आगये हैं। उनकी शंका यह है, कि इन व्यायामोंसे स्त्रियोंको लाभ पहुंच सकता है वा नहीं? कुमारिकाओंके लिये तथा माताओंके लिये भी यह व्यायाम हितकारक है वा नहीं? सूर्यभेदन व्यायामके प्रथम लेखमें लिखा ही गया है, कि यह व्यायाम स्त्री और पुरुषके लिये लाभदायक है। तथापि पुरुषको यह व्यायाम लाभकारी होता है, इस विषयमें किसीको कोई शंकाही नहीं है। जो शंका है, वह स्त्रीयोंके विषयमें है। इसलिये इस विषयमें थोडासा अधिक स्पष्टीकरण करता हूं।

कुमारिका, कन्या, युवती और वृद्धा अर्थात् सब आयुकी स्त्रियोंके लिये यह सूर्यभेदन व्यायाम अत्यंत लाभदायक है। परंतु इसमें निम्न बातोंका विचार करना आवश्यक है।

(१) मासिक ऋतुके चार पांच दिन यह व्यायाम अथवा कोई अन्य व्यायाम विशेष रूपसे नहीं करना चाहिये। यह समय स्त्रियोंके लिये विश्रांतिका है। इस समय अतिशीत,

अतिउष्ण आदि अवस्थाओंसे बचना और कोई श्रमका कार्य न करना उत्तम होता है।

(२) गर्भवती होनेकी अवस्थामें गर्भके चार मास के पश्चात् यह व्यायाम नहीं करना चाहिये। विशेषतः सर्पासन करना उचित नहीं है। सर्पासनके विना सौम्य रीतिसे पांच या छे मासतक भी यह व्यायाम किया जा सकता है। परंतु छठे मासके बाद सूर्यभेदन करना नहीं चाहिये। इस समयसे प्रसूति होनेके पश्चात् तीन अथवा चार मास तक यह व्यायाम करना नहीं चाहिये। इतने विश्रामके पश्चात् फिर शनैः शनैः किया जा सकता है।

(३) उक्त विश्रांतिके पश्चात पुनः प्रारंभ करना हो, तो प्रथम दिन चार पाच वार, दूसरे दिन आठ वार, तीसरे दिन बारा वार इस प्रकार प्रति दिन दो अथवा चार की संख्या बढा कर अपनी व्यायामकी संख्यापर शनैः शनैः आना चाहिये।

(४) किसी प्रकार शीघ्रतासे कोई लाभ नहीं होता।

(५) यह सूर्य भेदन व्यायाम स्त्रियोंको न्यून वेगसे करना चाहिए। जो स्त्रियां शक्तिशालिनी हैं, उनको पुरुषोंके बराबर वेगसे करनेमें लाभ ही है। परंतु जो स्त्रियां अशक्त हैं, उनको शांतिके साथ मंद वेगसे करना उचित है। तथा दस बारह वार व्यायाम करके थोडा विश्राम लेकर पुनः करना उचित है। इस प्रकार अपनी संख्या का व्यायाम करना चाहिये।

यह सूर्य भेदन व्यायाम यहां कई स्त्रियां करती हैं। थोडे दिन पूर्व इस्लामपुरमें सूर्य भेदन व्यायाम की "स्पर्धा" हुई थी। इस स्पर्धामें कन्या भी संमिलित थी। जहां सूर्य भेदन व्यायाम की स्पर्धामें कुमारों के साथ कन्याएं भी संमिलित होती हैं, वहां इस व्यायामका प्रचार स्त्रियोंमें भी है इसकी सिद्धता करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त कई सरदार और जहागिरदारोंकी धर्म-पत्नियां वीस पचीस वर्षोंसे इस सूर्य भेदन व्यायामको कर रही हैं। पूर्वोक्त नियमोंका पालन करके यह व्यायाम किया जाता है, इसलिये संतति होने में भी कोई कष्ट नहीं होते हैं। संतति भी हृष्टपुष्ट है और नीरोग है। सूर्य भेदन व्यायाम करने वाली माताएं भी नीरोग और स्वास्थ्य संपन्न हैं। ये स्त्रियां प्रतिदिन दो सौ तक सूर्य भेदन (संख्या १) का व्यायाम करती हैं।

बालिकाएं, कुमारिकाएं तथा प्रौढ स्त्रियां भी अनेक हैं कि जो इसको नियम पूर्वक कर रहीं हैं। कई डाक्टरों का अनुभव यह है कि जो स्त्रियां इस व्यायाम को कर रहीं हैं, उनकी तनदुरुस्ती अन्यों की अपेक्षा बहुत ही अच्छी है और उनको प्रसूतिके कष्ट अन्यों की अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं। इस अनुभव के अनंतर ये डाक्टर लोग इसी व्यायामको करनेका उपदेश अन्य स्त्रियोंको देने लगे हैं।

मुंबई के प्रसिद्ध डाक्टरोंकी संमति यह है कि पूर्वोक्त नियमोंके अनुसार यह आसनोंका व्यायाम करनेपर स्त्रियोंको बडा लाभ पहुंच सकता है।

इस लिये सूर्य भेदन व्यायाम संख्या १ स्त्रियों के लिये बडा लाभदायक है। इसविषयमें कोई शंका नहीं है।

दम्माकी बीमारी और शीर्षासन।

(लेखक-श्री रामचंद्र वासुदेव कापरे चित्रकार, कऱ्हाड.)

सन १९१४ के आगस्तमासमें मुझे दम्माका कष्ट प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व मुझे इस प्रकार की कोई बीमारी नहीं थी। खांसी, बलगम आदिसे मुझे कभी कष्ट नहीं हुए।

जब दम्माका कष्ट बढ गया तब म डा० वाटवे महोदयजीके पास गया और उसने बडे परिश्रमसे मेरी शरीरावस्थाकी परीक्षा करके कहा कि-" यह दम्मा आपक पूर्वजोंसे आपके शरीरमें आगया है, इसलिये आपको बडे पथ्यसे आहार विहार करना चाहिये। अन्यथा आपकी शक्ति क्षीण होते ही इस बीमारीके कष्ट आपको बहुत ही सहने पडेंगे।"

दम्माकी बीमारी शुरु होनेके पूर्व मेरी दिनचर्या निम्न प्रकार थी-" मैं बंबईमें माधवाश्रम में रहता था। वहां दोपहरके तथा रात्रिके भोजनके समय भी मैं दही, छाछ आदि

बहुतही पीता था। छाछके साथही दूध भी पीताथा। रोटीके साथ भी दही और मिश्री मिलाकर खाता था। रात्रीमें दूध पीनेके पश्चात् नियम से पानी पीता था। और कभी व्यायाम नहीं करता था।" इस प्रकार खांसीकी बीमारी होनेके लिये जिस प्रकारका अपथ्य करना चाहिये वह मैं नियमसे करता था।

कई मेरे मित्रोंने कहा भी था कि इस प्रकारके अपथ्य भोजनसे आपको कष्ट भोगने पडेंगे। परंतु मैं अपने स्वास्थ्यकी घमंड में था और इसलिये मैं उनसे कहता था कि—"इस प्रकारके डरसे मैं डरनेवाला नहीं हूं। मुझे न तो खांसी सतायेगी और नाही दम्मा कष्ट देगा। यदि मैं पत्थर भी खालूंगा तो भी मैं पत्थरोंको भी हजम कर सकता हूं। इस लिये मैं आपकी संमतिका मूल्य कुछ भी नहीं समझता हूं।"

इसप्रकार मेरी घमंड कुछ दिन अथवा कुछ साल चलरही थी। अंतमें अपथ्यकी मर्यादा समाप्त होगई और दम्माकी बीमारीने मेरे शरीरपर बडे जोरसे आक्रमण किया।

मेरी माता दम्माके रोगसे बहुत रोगी थी और उनके दोषके कारण वह रोग मेरे शरीरमें आगया था। सन १९१४ के अगस्तसे यह दम्मा मुझे सताने लगा। डाक्टरों और वैद्योंके अनेक औषधोपचार किये परंतु यत्किंचितभी आराम नहीं हुआ। होते होते मेरी अवस्था यहां तक पहुंची कि "अब मरता हू या घडीभरके पश्चात् मरता हू" इसका ही विचार मेरे सामने उपस्थित हुआ।

ऐसे समयमें पूर्व कालमें किये हुए मेरे सब अपथ्यों का चित्र मेरे सन्मुख उपस्थित हुआ, परंतु अब उस पश्चात्तापसे बनना क्या था? पश्चात्तापसे सुधार होनेका काल बहुत ही पूर्व व्यतीत हुआ था। इसलिये अब मेरा मन मृत्युकी ही उपासना करने लगा।

बंबई छोडकर पूनामें आगया, परंतु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। वहांसेभी सब कारोबार छोड छाड कर अपनी जन्मभूमि कऱ्हाड में आगया और वहां आर्य वैद्यकके उपचार श्री. श्रीपतराव वैद्यजी के द्वारा करता रहा जिससे कुछ आराम होगया।

थोडा आराम प्राप्त होनेके पश्चात् मैं बंबईमें गया, परंतु वहां जाते ही दमा फिर शुरू हुआ। इसप्रकार कुछ महिने बंबईमें और कुछ मास कऱ्हाडमें रहता रहा। इसकारण मेरे चित्रकारीका व्यवसाय चलानेमें बडी कठिनता होने लगी। इस रीतिसे सन १९१७ तक अत्यंत कष्ट हुए, किसीभी दवासे कोई गुण नहीं हुआ।

सन १९१७ के जून महिनेमें बंबईमें एक योगी संन्यासी आये थे। उनका एक व्याख्यान हुआ जिसमें योगी महाराजने कहा कि "शीर्षासन का अभ्यास करनेसे आंख निर्दोष होते हैं, मस्तिष्क उत्तम कार्य करता है, बाल काले होते हैं, पहिले पंद्रह दिन पांच मिनिट, दूसरे पंद्रह दिन दस मिनिट इस रीतिसे क्रमपूर्वक बढाना और एक घंटा तक

अपना अभ्यास बढाना चाहिये। भोजन उत्तम सात्विक और स्निग्ध होना चाहिये। प्रतिदिन संभव हुआ तो केले खाने चाहिये। इस अभ्याससे सब शरीर सुधर जाता है।"

यह व्याख्यान का वृत्तांत मुझे मित्रों द्वारा विदित हुआ। इसी दिन मैंने शीर्षासन लगाना प्रारंभ किया। प्रति पंद्रह दिन पांच मिनिट बढाते बढाते एक घंटातक अभ्यास मैंने बढाया। पश्चात् मैं सवेरे एक घंटा और शामको एक घटा करने लगा। कुछ दिनोंके बाद मैं सवेरे ही दो घंटे लगातार करने लगा।

जब मेरा अभ्यास आध घंटेसे अधिक हुआ तबसे मेरा दमा कम होने लगा। गुण प्रतीत होते ही मेरा विश्वास अधिकाधिक जमने लगा। दो घंटे अभ्यास होते ही दमाका नामनिशान भी न रहा। मैंने और अभ्यास बढाया और तीन घंटे तक शीर्षासन करने लगा। इससे बहुतही उत्साह बढा और सवातीन घंटे तक मैंने अभ्यास किया।

प्रातः चार बजेसे सवासात बजेतक मैं वह आसन करता था।

जब दम्माकी बीमारी पूर्णरूपसे दूर होगई तो फिर मैं केवल दो घंटे का ही अभ्यास करने लगा। जो दम्मा तीन साल औषध खाते खाते भी नहीं गया था वही दम्मा शीर्षासन के अभ्यास से हटगया। अब इस बातको छह वर्ष हुए हैं। मैं प्रतिदिन दो घंटे शीर्षासन करता हूं और एक दिन भी दम्मा का कष्ट नहीं हुआ।

परंतु कुछदिन हुए मेरे डाक्टरोंने कहा और मेरे मित्रों की भी संमति हुई कि अब शीर्षासन करना छोडना चाहिये। मुझे भी वैसाही प्रतीत होता था। इसलिये मैंने एकदम शीर्षासन करना बंद किया। १५।२० दिन कोई कष्ट नहीं हुए, परंतु २० दिनोंके पश्चात् दम्माका विकार फिर प्रारंभ हुआ।

इस समय मैं एक अपथ्य भी कर रहाथा। इन दिनों मैं नदीके शीत जलमें खूब तैरता था। जिन दिनोंमें मैं शीर्षासन करता रहता था उन दिनोंमें नदीमें तैरने से भी दम्मा नहीं हुआ। परंतु शीर्षासन का अभ्यास बंद होते ही शीतजल की बाधा होगई और दम्मा शुरू हो गया।

इसलिये मैंने शीर्षासन का अभ्यास फिर शुरू किया। परंतु दम्माका जोर इतना बढ गया कि किसी दिन शीर्षासन करना भी असंभव होजाता था। परंतु अन्य उपायोंके साथ जब लगातार १५।२० दिन शीर्षासन किया तब दम्माका जोर फिर कम हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि शीर्षासन से दम्मा हट जाता है। परंतु अपथ्य नहीं करना चाहिये।

शीर्षासनसे मुझे बहुतही अन्य लाभ हुए हैं। गत छह वर्षोंमें मुझे किसी प्रकारकी बीमारी नहीं हुई। आयनक न लगाते हुए भी मैं चित्रोंका बारीक काम कर सकता हूं, ऐसे मेरे आंख उत्तम हैं। मेरी आयु इस समय ४५ वर्षकी है, परंतु मेरी शक्ति कम नहीं हुई। मैं अब भी बढईका लक-

डीका काम चोखटे आदि बनाना स्वयं ही करता हूं। दम्माके बीमारको नदीके शीत जलमें स्नान करना निःसंदेह हानिकारक है, परंतु शीर्षासनके बलसे मैं वह कर रहा हूं।

गत इन्फ्लुएन्झाके समय मुझे वह ज्वर हुआ। परंतु मैंने औषध लिया नहीं, केवल शीर्षासन किया और ज्वरको हटाया।

इसप्रकार अनेक रीतिसे मुझे इस शीर्षासनसे बहुतही लाभ हुए हैं।

एन्फ्लुएंझाका ज्वर १०५ डिग्रीका था उस समय मैंने शीर्षासन करना शुरू किया। उससे ज्वर उतरने लगा। इस दिन मैंने थोडा थोडा मिलकर कईवार शीर्षासन किया था। ज्वर बहुत हटगया और मुझे भूख लगी। उस समय मैंने थोडासा अन्न भी खालिया। इस प्रकार मैं तीन दिन रता रहा। तीसरे दिन मैं बिलकुल अच्छा हुआ।

इसके पंद्रह दिनके पश्चात् फिर वही बुखार हुआ। उस समय भी मैंने यही उपाय किया। तबसे जो बुखार हटगया है वह इस समयतक मेरे पास आया ही नहीं।

साधारण ज्वरोंपर भी शीर्षासन का परिणाम अच्छा होता है। सिरदर्द पर इसके समान दूसरा उपाय ही नहीं है।

आसनों से आरोग्यका अनुभव।

(ले०-श्री. ज्ञानचंद्र आर्य पुरोहित, आर्य समाज भक्कर.)

इसमें संशय नहीं कि आपका पत्र पहुंचे हुए बहुत काल बीत गया-परन्तु कई आकस्मिक कार्योंके वश सेवा में उत्तर नहीं भेज सका हूं। क्षमा कीजिएगा। आपकी आज्ञानुसार आसनों के संबन्ध में अनुभव निजू तथा दूसरों से प्राप्त भेजता हूं--यदि आप उसे उचित समझें तो वैदिक धर्म में उद्धृत कर दें।

(१) मुझे विष्टंभ का रोग था। कई ओषधियां करने पर भा ठीक नहीं हुआ, हां थोडे काल के लिये आराम आजाता परन्तु चार दिवस पश्चात् अवस्था पूर्ववत् ही हो जाती। मई २४ से शीषासन आरंभ किया था। नियमपूर्वक ३ मास तक दीवार के साथ करता रहा। जिससे विष्टंभका रोग जाता रहा। जब पांच मास बीत गए तब शरीर में पाचन संबन्धी कोई रोग नहीं रहा।

सातवें मास में मुझे एक मित्र द्वारा आंग्ल भाषा का "योग मीमांसा" पत्र मिला, जिस में शीर्षासन संबन्धी लेख पढा। तथा सर्वाङ्गासन के संबंध में भी कुछ ज्ञान प्राप्त किया। इन दोनों आसनों के प्रभाव से दो मासमें ही शरीरांगों में सुडौलता आनी प्रारंभ हो गई। थोडे काल तक

पठनपाठन करनेके पश्चात् जो कभी कभी शिरोवेदना आदि प्रतीत होती थी वह नितान्त नहीं रही।

इस समय १५ मिन्ट तक शीर्षासन, तथा १५ मिन्ट तक सर्वांगासन, १० मिन्ट तक हलासन और चार मिन्ट तक मत्स्यासन कर रहा हूं। स्वास्थ्य नियम पूर्वक चल रहा है। मानसिक शक्तियोंके विकास में भी व्यायाम ने पर्याप्त सहायता दी है। स्फूर्ति और उत्साह का सदैव बने रहना यह इस व्यायाम का अद्भुत चमत्कार है। शीर्षासन तथा सर्वांगासन इन्द्रिय संयमके लिये अत्यन्त लाभकारी हैं। वीर्य दोषों को ठीक कर उन का सान्त्वन करते हैं।

(२) एक देवी जिसकी पाचन शक्ति अत्यन्त शिथिल हो गई थी, जिस का मुख्य कारण चाय पीना था, को भी नियमपूर्वक लगभग दो मास तक शीर्षासन करने पर बडा लाभ हुआ और पाचनशक्ति ठीक होगई। यद्यपि अबभी कभी कभी उसे स्वभाव-वश चाय पानका अवसर आया होता है परन्तु तो भी कोई हानि देखने में नहीं आई।

(३) आर्य समाज मंडई के प्रधान म. धर्मचन्द्रजी सब पोष्ट मास्तर (जिन को उस ने आसनों का प्रयोग सिखला दिया था) का पत्र मुझे प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने कई मित्रों पर "शीर्षासन" का विचित्र प्रभाव ही देखा है, वह स्वयं भी एक पीतवर्ण, निर्बल व्यक्ति प्रतीत होते थे। परन्तु उन्होंने भी लगभग तीन मास तक नियमपूर्वक अभ्यास करने के पश्चात् पाच-

नादिके सब रोगा से मुक्ति प्राप्त की है, अब उनका मुख-मण्डल तेजस्वी रक्त से भरा हुआ प्रतीत होता है। सारे शरीर में सुडौलता आ गई हैं।

वह लिखते हैं—

(क) एक भाई को जब अधिक काल तक उसे ब्रह्मचर्य धारण करना पडता था तो अण्डकोश में अत्यन्त पीडा आरंभ हो जाती थी। परंतु शीर्षासनके नियमपूर्वक लगभग दो मास के अभ्यास से वह पीडा जाती रही है और वीर्यदोष दूर हो गए हैं।

(ख) एक मोटा पेटवाले व्यक्ति का शरीर भी अत्यन्त भारी था। उन्हे इस का अभ्यास थोडे काल के लिये कराया गया। उनका शरीर हलका हो रहा है। इन के लिये शीर्षासन पश्चात् दौड भी आवश्यक कर दी है।

(ग) एक अब व्यक्ति को अर्श रोग है। दो मास के अभ्यास से रोग कम होने लगा है। कई खट्टी मिरचवाली वस्तु खाने पर भी उन्हें कोई कष्ट नहीं है। अब उनका मुखमण्डल भी तेजस्वी रहता है!

(घ) एक महाशय को क्षयरोग था। उनकी अवस्था जांच करने पर द्वितीय दर्जेकी प्रतीत होती थी। उन्हे क्षुधा नहीं लगती थी। कई औषधियां की गई परन्तु कोइ लाभ नहीं हुआ। शीर्षासन तथा खुली हवामें रहनेसे उनके शरीर में अन्तर आना आरंभ हो गया है-पीत वर्ण जाता रहा, क्षुधा अछी लगती है। गायनमें भी उनकी आवाज मधुर तथा सुरीली हो गई है।

आसन का प्रभाव।

(एक कुमारिका का अनुभव।)

एक सुप्रसिद्ध डाक्टरकी अविवाहित तरुण कुमारिका श्री० संपादक "योगमीमांसा" लोणावला को लिखती है—

ता. १८।४।२५

"महाशय

आपके पत्र में मैंने पढा कि शरीरका स्वास्थ्य (Thyroid gland) निकंठ मणिके आरोग्यपर है, तबसे मैंने सर्वांगासन का अभ्यास प्रारंभ किया। पंद्रह दिनोंके अभ्यास से ही मैं बीस मिनिट तक यह आसन करने लगी।

दस बरस के करीब समय व्यतीत हुआ जबसे कि मेरे सिरके पीछे लाल दादके धब्बे बन गये थे और उन पर कई प्रकारके इलाज किये जानेपर भी वे धब्बे हटते नहीं थे।

पंद्रह दिनोंके सर्वांगासन के अभ्यास से वे धब्बे सूखने लगे और तीन मास के अभ्यास से बिलकुल हटगये! गत तीन मासों में मैंने इस आसन का अभ्यास छोडा हुआ है तथापि वह दाद फिर नहीं उत्पन्न हुई। तथा मेरी पाचन शक्ति जो बचपनसे सुस्त थी, इस आसनके अभ्याससे बहुत कुछ सुधर गयी...."

भवदीय....

(संपादकीय) सर्वांगासन के करने से निकंठ मणि का सुधार होकर उक्त कुमारिका के धब्बे हट गये अथवा सर्वांगासन में और कोई गुणधर्म है जिससे कि उक्त लाभ हुआ। इसका विचार सुविज्ञ वैद्यों और डाक्टरोंको करना चाहिये।

कंठ बंध ।

शंख के समान कंठ अर्थात् गला होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है, कि मनुष्यका कंठ सामनेसे देखनेपर जबडों की हड्डीसे बडा दीखना चाहिये। परंतु प्रायः लोगोंके गले छोटे होते हैं और जबडों की हड्डियों का अंतर बडा होता है।

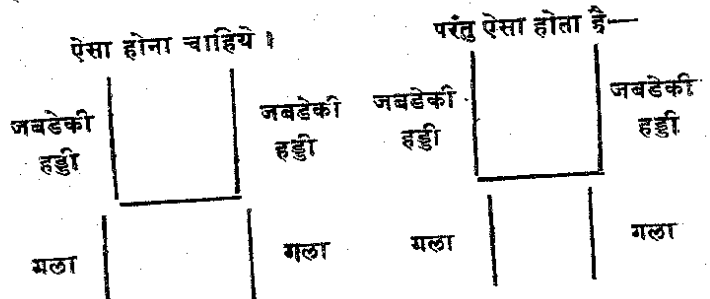

गला पतला होनेसे सिर का बोझ उसपर सहा नहीं जाता और थोडीसी अशक्तता आनेपर सिर कंपायमान होने लगता है। तथा वृद्धापकाल होनेपर तो बहुत ही कांपने लगता है।

जो लोग " शीर्षासन " करते हैं उनके गलेमें बहुत शक्ति आती है और इस कारण उक्तदोष से उनको बाधा नहीं होती। तथापि इस विशेष कार्य के लिये योग साधन में " कंठ-बंध" का अभ्यास किया जाता है। इस की रीतिनिम्न प्रकार है—

(१) समसत्र स्थिति।

आप भूमिपर बैठें या खडे रहें, दोनों अवस्थाओं में कंठ-बंध किये जा सकते हैं। परंतु इस समय अपनी पीठ, कमर, गला और सिर समसूत्रमें रखिये। समसूत्र स्थितिके विना किया हुआ कंठबंध लाभदायक नहीं हो सकता।

(२) कंठ–पुरो बंध।

कंठके मूलमें ठोढीको लगानेसे यह बंध सिद्ध होता है। गलेको सिकोड कर ठोढी छाती और गलेकी संधिमें डाटके लगानेसे कंठ पुरोबंध होता है। गलेके मूलस्थानमें दोनों ओरकी हड्डियोंके बीचमें अंगूठा रखने योग्य नरमसा स्थान है, वहां ठोढी लगानी चाहिये। इससे पीठकी रीढके मणियोंका स्थान ठीक होता है। किंचित् काल इस बंधमें बैठनेसेही गलेके पृष्ठ भागपर खिंचाव आता है और वहांकी नस नाडियों की शुद्धि होनेका अनुभव उसी समय आता है। बहुधा लिखने, पढने, चलने आदिके समय मनुष्यका सिर आगे झुकता रहता है और इसकारण गलेके पृष्ठभाग में पृष्ठवंश ठीक न रहनेके कारण दोष उत्पन्न होता है। उसकी निवृत्ति इस बंधके अभ्यास से होती है। इसलिये पृष्ठवंशके दोषको ठीक करनेके कारण

यह बंध आयुष्य वर्धक है ऐसा कहते हैं। किंचित् काल इस बंधका अभ्यास कीजिये, और पुनः पूर्ववत् सिर और गला सीधा कीजिये। इस प्रकार प्रारंभमें बार बार कीजिये। पश्चात् इस बंधमें देरतक भी बैठ सकते हैं। कुंभक के साथ इसका करना अधिक लाभदायक होता है। इससे छाती भी फैलती है।

(३) कंठ–पृष्ट बंध।

पूर्वोक्त कंठबंध छोडकर मस्तक को सीधा पीठ की ओर ले जाकर, मस्तक का पृष्ट भाग गलेके पृष्ठभाग के मूलमें लगाइये। इस समय आख नाक मुख सीधे छतके सामने आजांयगे। पूर्वोक्त कंठपुरोबंधमें गलेका सामने का भाग सिकुड गया था, उसी प्रकार इस बंधमें गलेका पृष्ठभाग सिकुड जाता है। और अच्छी प्रकार छाति आगे फैलती है। इसका भी फल पूर्ववत् ही है।

(४) बाहुकर्ण स्पर्शन।

पूर्ववत् समसूत्रमें रहकर बाहुको ऊपर न करते हुए दायें बाहुको दायां कान लगाइये। किंचित् काल इस अवस्थामें रहकर पश्चात् बांये बाहुको बायां कान लगाइये। इसका अभ्यास वारंवार करनेसे विरुद्ध दिशाकी नसनाडियोंकी शुद्धता होती है

(५) बाहुहनु स्पर्शन।

पूर्ववत् समसूत्रमें रहकर गलेको घुमाकर अपनी ठोडी किसी एक बाहुको लगाइये, पश्चात् दूसरे बाहुको लगाइये। इस प्रकार

वारंवार करनेसे गला शुद्ध हो जाता है और गले के नसनाडी के दोष दूर हो जाते हैं।

(६) हनुस्कंधास्थि स्पर्शन।

बाहुओं से दो हड्डियां गलेके मूलमें आकर मिलतीं हैं, उनका नाम स्कंधास्थि है। किसी एक हड्डीके मध्यमें हनुका स्पर्श करना और उसके पश्चात् उस की विरुद्ध दिशा के पृष्ठ-भागमें सिर लेजानेसे यह बंध सिद्ध, हो जाता है। इसी प्रकार दूसरी हड्डीपर हनु लगाकर पश्चात् उसके विरुद्ध दिशामें सिर का पृष्ठभाग लेजानेसे दूसरी ओर का बंध सिद्ध होगा। इस प्रकार वारंवार करनेसे बडा लाभ होता है।

(७) शीर्षचक्र।

समसूत्रमें खडा रहकर गलेके साथ सिरको गोल घुमाइये। जितना बडा चक्र सिरके साथ हो सकेगा, उतना कीजिए। दाई ओर से बाई ओर तथा उस की विरुद्ध दिशामें ये चक्र वारंवार करनेसे बडा लाभ हो सकता है।

(८) सिंहासन।

समसूत्रमें खडा हो कर मुख खोल दें। जितना खोला जा सकता है खोल दें। जिह्वा को जितना बाहिर निकाला जा सकता है निकालें। दांतों को अच्छीप्रकार उग्र रूपमें बाहिर निकाल दें। जैसा शेर और बबरका मुख बडा भयानक होता है उस प्रकार मुख बनाइये। आँखें खोल

लीजिए। गलेकी नस नाडियां अच्छीप्रकार तना कर अपना रूप उग्र बनाइये। यह सब अपने मनसे ही करना चाहिये। इस प्रकार करनेका नाम सिंहासन है। कंठ और मुखके स्नायुओंमें अच्छीप्रकार खिंचाव आता है, इस लिये यह आसन बडा उपयोगी है।

(९) आरोह और अवरोह।

समसूत्रमें अपने धड को रखिये और अपने गलेको ऊपर उठाइये। इसको आरोह कहते हैं। तथा गलेको अंदर दबाइये इसको अवरोह कहते हैं। गलेके स्नायु निर्दोष करने के लिये इसका बहुत उपयोग होता है।

(१०) शीर्षभ्रमण।

समसूत्रमें रहकर अपने सिरको दाईं ओर जितना घुमासकते हैं घुमाइये, पश्चात् बाईं ओर उसी प्रकार अधिकसे अधिक घुमाइये। इस प्रकार बार बार कीजिये। यह अभ्यास बिस्तरेपर लेटते हुए भी किया जा सकता है। सिरोनेपर सिर रखकर सिर दाईं ओर घुमाकर दायां कान सिरोनेको लगाइये, पश्चात् उसकी विरुद्ध दिशामें सिर घुमाकर बायां कान सिरोनेको लगाइये। ऐसा वारंवार कीजिये। इससे गलेके स्नायु शुद्ध हो जायेंगे।

कंठको स्वर्गद्वार कहते हैं। इस स्थानकी विशुद्धि करनेके लेये पर्याप्त प्रयत्न होना आवश्यक है। कंठ के निर्दोष होने से उत्तम स्वर बनता है। मस्तिष्कसे मज्जाप्रवाह अच्छी प्रकार

नीचे तक शुद्ध रह सकता है, इसलिये सब शरीरके आरोग्यके साथ कंठ की शुद्धीका संबंध है ।

इसके अतिरिक्त कंठबंधका एक विशेष महत्त्व यह है कि, केवल कुंभक की सिद्धि के लिये बडी देरतक कंठमूलमें ठोडी लगानी आवश्यक होती है । इस प्रकार स्थिर बैठना उस समय शक्य होता है कि जिस समय गलेके व्यायामों द्वारा गलेकी नसनाडियां निर्मल हुई हों । इस कारण इस उद्देश्यके लिय यह कंठबंधका अभ्यास बडा सहाय्यकारी होता है ।

ऊपर जो कंठबंधके दस व्यायाम बताये हैं, प्रत्येक का अभ्यास प्रारंभमें पांचवार और अभ्यास होनेपर दस या बीस वार करना अच्छा होता है । किसी विशेष कारण के लिये कोई विशेष अभ्यास अधिकवार भी किया जाय, तो कोई हानि नहीं होगी । सब अभ्यासोंको आठ दस मिनिट पर्याप्त होते हैं । आशा है कि पाठक इनका योग्य अभ्यास करके कंठकी निर्दोषता सिद्ध करेंगे ।

दीर्घश्वासका महत्त्व ।

भोजन के विना आदमी सप्ताहों तक निर्वाह कर सकता है । जलके विना घटों तक वह रह सकता है, किन्तु श्वास के विना एक क्षण भी प्राणी का जीवन चल नहीं सकता ।

शरीर के रुधिर की शुद्धी करनेका काम फेफडों का है। ये फेफडे हमारी बहुत ही सुन्दर सेवा करते हैं। हमारे फेफडों द्वारा दिन भर में हमारा शरीर इतना विष निकाल देता है कि जिस से बारह हाथी मर जांय। प्रति क्षण हमारे शरीर के पुटों का क्षय होता है। शरीर रूपी शहर में प्रतिक्षण इन पुटरूपी मुरदा का ढेर लग जाता है। किन्तु फेफडों का काम इस बात में बडा हि उपयोगी है। वे बाहर की शुद्ध हवा को इस शहर में ले जाकर प्रत्येक श्वास प्रश्वास द्वारा कार्बोनिक गेस नामक अनुपयोगी तत्त्व को लेकर अपने साथ रक्खे हुये प्राणवायु नामक उपयोगी तत्त्व को उन पुटों को देकर पुनः शरीर में भ्रमण करने के लिये भेज देते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण हमारे शरीर में रचनात्मक और खंडनात्मक क्रियाएं होती रहती हैं। श्वास प्रश्वास के स्वाभाविक सदैव होते हुये भी हमें बहुत बार शिरोवेदना अशक्ति आदिका कुछ अनुभव प्रतीत होने लगता है। क्यों कि हम श्वास प्रश्वास तो करते हैं किन्तु दीर्घ श्वास प्रश्वास नहीं करते हैं। हमारे फुफ्फुस्सों की १४०० चौदहसौ फीट जगह का बहुत ही थोडा भाग हम श्वास प्रश्वास के उपयोग में लेते हैं। अतः उपयोग न किया हुआ शेष भाग रोगी बन जाता है, निष्क्रिय बन जाता है, इस लिये हमारे में से बहुत सारे विशाल छातीवाले तथा लाल बुझक्कड जैसे दीखते हुये भी न्यूमोनिया तथा क्षय से मरते दीख पड रहे हैं। अतः बडे शोक के साथ कहना पडता है कि वर्तमान में सभ्य गिनी जाने वाली प्रजा

निर्बल फुफ्फुसवाली होती चली जा रही है। बहुत सारे आदमी तो केवल जीने के लिये ही थोडा, श्वासोच्छ्वास ले रहे हैं। उन्हे जरासा परिश्रम लेने से श्वास भर आता है और वे थक जाते हैं। और सर्दी या जुखामके बलिदान बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यताका अपना वेग इतना तो बढा है कि इस के साथ साथ रहने के लिये असाधारण फेफडों का तथा दीर्घ श्वास प्रश्वास की शक्ति का होना बडा आवश्यक है किन्तु वर्तमान सभ्यता में गर्क होनेवाली प्रजाओंमें यह बात प्रतीत नहीं होती। गोरीला नामक वानर को उसकी जंगली हालत में से उठा लेकर वर्तमान शहरों में रखने के प्रयोग किये गये तब पता चला कि ये क्षय आदि बीमारियों से मर गये। इसी तरह हिमाच्छादित ध्रुव प्रदेश के निवासी का भी हाल हुआ। कतिपय वर्षोंपर अमरिका में कितने एस्किमा जाति के स्त्री पुरुषों को लाकर रक्खा गया। उन में से एक के सिवाय अन्य सर्व क्षय और न्यूमोनियासे मर गये। इसका क्या कारण? हमारा जीवन वैभवी बन रहा है जीवनकी सादगी में रही हुई उपयोगिता को हम देख नहीं सकते। यदि आज हमें कोई डाक्टर कर्ण नलिका से देखकर कह दे कि तुह्मारे फेफडे अच्छे हैं तो हम मनमाने आहार विहार करने लग जाते हैं। किन्तु हमें यह जानना चाहिये कि अच्छे फेफडोंको अच्छा रखने के लिये सतत प्रयत्न और परवाह की जरूरत है और मुखद्वारा श्वास प्रश्वास न करते हुये नासिका द्वारा ही करना चाहिये।

समवृत्ति प्राणायाम।

प्राणायामके विघ्नोंको दूर करनेका सुगम उपाय।

आज कल नाना प्रकार के दुष्ट व्यसनोंके कारण लोगोंके शरीर ऐसे अशक्त और कमजोर हुए हैं कि, वे कुंभक के साथ थोडेसे भी प्राणायाम कर नहीं सकते!! कुंभक प्राणायाम करनेसे कई लोग नाना प्रकारकी शिकायतें करते रहते हैं, वास्तवमें इसका दोष प्राणायाम के साथ बिलकुल नहीं है; परंतु उनके दुर्व्यसनों के साथ अथवा उनके माता पिताओंके दुर्व्यसनाधीनता के साथ संबंध रखता है। दस पंद्रह वर्षोंके सूक्ष्म निरीक्षणसे जो बातें अनुभव में आचुकीं हैं, उनका सारांश रूपसे वर्णन यहां करता हूं, जिससे प्राणायाम करनेवाले अपनी पूर्ण तैयारी करके ही प्राणायाम का अभ्यास कर सकेंगे।

जो स्वयं जन्मसे मांसाहारी हैं और विशेषतः जिनके बाप-दादा भी मांसाहारी—अर्थात् अधिक मांसाहारी रहे हैं, उनको कुंभक प्राणायाम से विविध प्रकारके कष्ट होते हैं। छातीमें, पसलियोंमें दर्द होता है, पेटकी गडबड उत्पन्न होती है, सिरमें कई दोष होने का ख्याल हो जाता है। विशेषतः श्वास-दमा-आदि का प्रकोप होता है। इसका कारण इतना ही है कि, मांसाहारी कुलमें जन्म होनेके कारण अथवा अपने शरीरके

सब परमाणु मांसभोजन के ही होनेके कारण खून, मज्जातंतु तथा फेंफडोंमें विशेषतः और सब शरीरमें साधारणतः प्राण-शक्तिको धारण करनेका बल ही नहीं रहता है। प्राणशक्ति का बल सबसे अधिक है, इस लिये जब उसको स्वाधीन करनेका यत्न किया जाता है, वह शक्ति क्रोधित होकर प्रतिबंध को तोडना चाहती है। प्राण स्वयं "वीरभद्र" होनेसे उसके सामने अन्य शक्तियां कमजोर ही होतीं हैं। मांसभोजी लोग मसाले आदि उत्तेजक पदार्थ बहुत खाते हैं, इसलिये उनके शरीरके परमाणुओंमें प्राण धारक शक्ति कम ही होती है। मांसके साथ मद्यसेवन करनेवालों में, और जिनमें आनुवंशिक मद्य पान शुरू है, उनमें तो बहुत ही, प्राणधारक शक्ति अत्यंत हीन अवस्थामें रहती है। ऐसे लोग जिस समय अपने प्राण-रूपी "वीरभद्र" को रोकना चाहते हैं, उस समय वह उनको ही ताडन करता है और जो शरीरका भाग अत्यंत कमजोर होता है, उसीमें बिगाड होने लगता है। इसलिये ऐसे लोगोंको प्रारंभमें उत्तम पथ्य करना चाहिये और पश्चात् प्राणायाम शुरू करना चाहिये।

मांस भोजनसे यद्यपि शरीर बडा पुष्ट होता है तथापि सौमें ३६ ऐसी बीमारियों की स्वभावतः संभावना उनके शरीरमें रहती है, कि जो रोग कदापि फल भोजियों को होते ही नहीं। इसलिये दौडना, तैरना अथवा दीर्घ काल तक कोई कार्य करना, जिसमें कि प्राणशक्तिकी स्थिरताकी आवश्यकता रहती

है, ऐसे कार्योंमें मांस भोजी लोग फलभोजियोंके पीछे हमेशा रहते हैं। यही कारण है कि, इनसे कुंभक नहीं होता और बलसे किया जाय तो हानि करता है। मद्यपियोंके लिये तो यह भय अत्यंत अधिक है।

भंग, गांजा, अफीम, चरस आदि भयंकर व्यसन करनेवालोंके लिये तो कुंभक प्रायः अशक्य ही है। तमाखू खाने पीने वालोंके शरीरमें रक्त दोष बहुत होता है, तथा तमाखुके व्यसन जन्मभर करनेवालों की संततिमें खूनकी बीमारी, मज्जातंतुओंकी कमजोरी और हृदयकी निर्बलता जन्मसे ही रहती है। इस कारण इन लोगोंसे कुंभक प्राणायाम करना कठिन हो जाता है, तथा बलपूर्वक करने से हृदयकी कमजोरी बढ जानेकी संभावना होती है। न्यूनाधिक व्यसनके कारण न्यूनाधिक परिणाम होता है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। अर्थात् यदि मातापिता बहुत बलवान हुए, तो उन-पर व्यसनों का बुरा परिणाम उतना नहीं होता है, जितना कि कमजोर मनुष्योंपर होता है, इसलिये संतानों में भी उसी प्रमाणसे दोष उतरते हैं। तमाखु के व्यसनम विशेष यह बात है, कि, इसके सेवन करने वाले पर थोडासा बुरा परिणाम होता ही है, परंतु उसके वीर्य में बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, उनकी संततिमें जन्मसे वीर्य दोष और हृदयकी कमजोरी रहती है तथा खूनकी खराबी और मज्जातंतु-ओंकी शिथिलता जन्मसे ही रहती है। इस लिये तमाखू आदि

व्यसन किसी गृहस्थीको करने नहीं चाहिये। परंतु आजकल सिगरेट आदि पीना बडा सभ्यताका द्योतक समझा जाता है, और बडे बडे अखबारोंमें तमाखूके विज्ञापन भी कम नहीं होते हैं। इस दुष्ट सभ्यता के साथ "वैदिक धर्म" को अवश्य युद्ध करना चाहिये, और निर्व्यसनता की सर्वत्र स्थापना करनी चाहिये।

इससे और सभ्य व्यसन हैं, जो चाय काफी आदि रूपमें हमारे चूले तक घुस गये हैं!!! ये व्यसन मज्जातंतुओंको ऐसा बिगाडते हैं कि उस से बचनेका उपाय आगे की आयुमें कोई भी नहीं होता है। चाय कापी पीने वाले माता पिताओंके बाल बच्चोंमें जन्म से मज्जातंतुओंकी निर्बलता रहती है और उसमें अधिक दोष इस कारण उत्पन्न होता है कि, जब स्वयं पीते हुए माता पिता अपने छोटे छोटे बालबच्चों को भी चा कापी पिलाते हैं! कई पुत्रद्रोही पिता हमने ऐसे देखे हैं कि जो स्वयं बिडी पीकर अपने चारपांच वर्षके लडके को पीने देते हैं!!! इसी प्रकार चा काफी भी पिलाते ही हैं!! बचपन से जो बच्चे चा काफी पीते हैं, उनको आगे दूध भी हाजम नहीं होता, और अन्तमें पेट का बिगाड निःसंदेह हो जाता है। ये सब व्यसन 'सभ्यता' के नामसे अपने देशमें फैले हैं!! जिन लोगों में विचार का कार्य कम किया जाता है, उन जातियोंमें इन व्यसनों का बुरा परिणाम कम दिखाई देता है; परंतु जिन लोगों के पीछे पढने पढाने का

काम बडा होता है, अर्थात् जो दिमागी काय बहुत करते हैं, उनमें तथा उनकी संतति में इन दुष्ट व्यसनों के परिणाम भयानक रीतिसे दिखाई देते हैं। नाश कम हो वा अधिक हो इन व्यसनोंसे नाश निःसंदेह होता है, इस लिये सुविचारी धार्मिकों को इन व्यसनोंसे बहुत दूर रहना चाहिये।

"हुका पानी" शुरू करना या बंद करना जिन लोगोंसे संमान के साथ संबंध रखता है, उन जातियोंकी हीन अवस्थाका वर्णन नहीं हो सकता। इस लिये सब पाठकोंसे प्रार्थना है कि, वे उक्त व्यसनोंसे अपने आपको तथा अपने इष्टमित्रों, अपने परिवारके लोगों और अपनी जातिके लोगोंको दूर रखनेका यत्न करें।

जो लोग ऐसी हीन परिस्थितिमें जन्मे हैं, उनको कुंभक प्राणायाम के पूर्व पथ्य करना चाहिये और पश्चात् अभ्यास का प्रारंभ करना उचित है। पथ्य यह है, (१) मांस भोजन छोडदेना, (२) मसाले कम करते करते बिलकुल न्यून करने और अंतमें छोडना अथवा अतिन्यून उपयोग करना, (३) खटाई, मिर्च आदि पदार्थ कम खाना, (४) वीर्यदोष हुआ होगा, तो उसका उपाय-जो "ब्रम्हचर्य" पुस्तक में लिखा है-करना और उस दोषसे निवृत्त होना, (५) सात्विक भोजन करना, फलोंका सेवन अधिक करना, (६) विशेषतः 'गायका दूध पीना," असंभव हुआ तो बकरी का पीना, ये दूध बिलकुल न मिलनेकी अवस्थामें म्हैसका पीया जा सकता है।

" गायके दूधमें प्राण धारक शक्ति सबसे अधिक होती है। " प्राणायाम करनेवालोंको गायका दूध अवश्य पीना चाहिये, आजकल गौवें कम होती जाती हैं। यह एक धार्मिक आपत्ति है, इस लिये गोरक्षण और गोवर्धन का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। गोदुग्धके अभावमें भैंस का दूध लेना पडेगा। अन्य रहने सहनेमें सात्विक भाव अधिक लाना चाहिये। इस प्रकार शरीरदोष को न्यूनाधिकताके अनुसार एक वर्षसे तीन वर्ष तक पथ्य करना चाहिये। जिनके शरीर बहुत दोषोंसे युक्त हों उनको कदाचित् अधिक भी करना पडे। इस प्रकार देहशुद्धिका उपाय करते करते निम्नलिखित " समवृत्ति प्राणायाम " का अभ्यास करनेसे बडा लाभ होता है।

" समवृत्ति प्राणायाम " वह होता है कि जिसमें आंतरिक और बाह्य कुंभक नहीं होता। समगति से तथा मंद वेगसे श्वास और उच्छ्वास चलते रहते हैं। पहिले आप श्वासकी गति मंद कीजिये और पश्चात् श्वासको जितना समय लगता है, उतना ही उच्छ्वास को लगाइये। श्वासोछ्वासकी गति आप अंकोंकी गिनतीसे नाप सकते हैं, अथवा ॐ कार के जपसे अथवा किसी अन्य मंत्रके जपसे नाप सकते हैं। यदि आपका श्वास आठ अंकोंसे अंदर जाता है, तो आठ ही अंकोंसे उसको बाहिर छोडिये। फिर उतने ही अंकोंसे अंदर

लेकर उतने ही समयसे बाहिर छोडिये। किसी प्रकार प्राण-शक्तिपर बलका दबाव न डालते हुए जितना आसानीसे हो सकता है उतना ही करते जाइये। इस प्रकार दो सप्ताह करनेके पश्चात् एक अंककी संख्या बढाइये। फिर प्रति पंद्रह दिनके पश्चात् एक अंककी संख्या बढाइये। बीसकी संख्या होने तक श्वास और उतनेही समयका उछ्वास होने तक ही कीजिये। कईयोंके मतसे २४ की संख्या तक भी बढाया जासकता है। बढाया तो इससे भी अधिक जा सकता है, परन्तु यह सब प्रत्येक प्रकृतिके अनुसारही बढाना योग्य होता है। इसलिये हमारा ख्याल यह है कि जिनका विचार हम इस लेखमें कर रहे हैं, उनके शरीरके बलके अनुसार बीस अथवा चोवीसकी संख्यातक बढाना पर्याप्त है।

श्वास तथा उछ्वास इतनी मंदगतिसे हो कि उसका बिल-कुल आवाज न हो, श्वासोछ्वासका आवाज न तो दूसरेको सुनाई दे और न अपने आपको सुनाई देवे। नहीं तो कई-योंके श्वासका आवाज बडा दूर तक सुनाई देता है, ऐसा श्वास लेना ठीक नहीं है। शब्द रहित श्वास और उछ्वास चलने चाहिये और नियत गतिसे होने चाहिये।

उछ्वास छोडनेके समय पूरा छोडना चाहिये, अर्थात् फेंफडोंको निःशेष खाली करना चाहिये। तथा श्वास लेनेके समय भी फेंफडोंके निचला भाग जो पेटके पास हो है।

उसमें श्वास पहिले पहुंचे और पश्चात् क्रमशः ऊपरके भागोंमें श्वास भरना चाहिये। और श्वास भरनेके समय अथवा उच्छ्वास छोडनेके समय किसी प्रकारका धक्का लगना नहीं चाहिये। भरना भी ऐसा चाहिये और छोडना भी ऐसा चाहिये कि जो समझमें भी न आवे।

दमा और श्वासके रोगी, तथा जिनके फेंफडे बडे कमजोर होते हैं, यदि अपनी शक्तिके अनुसार इस प्राणायामको गर्मी के दिनों में शुरू करेंगे, तो उनके दोष दूर हो सकते हैं। किसी प्रकार की बीमार अवस्थामें इस प्राणायामको करना हो, तो गर्म हवा का स्थान पसंद करना योग्य है। जिस हवामें आर्द्र सर्दी है उस गीली हवामें बैठकर करना अच्छा नहीं है। वायु शुद्ध हो परंतु गीला और सर्द न हो। इस लेखके प्रारंभमें जिनका वर्णन किया है, उन लोगों में प्राणका बल बढाने के लिए यह "समवृत्ति प्राणायाम" बडा उपयोगी है। बीमार अवस्थामें इसको शक्तिसे कम करना योग्य है, योग्य शक्ति आनेपर बढाया जा सकता है। आशा है कि इस विधिके अनुसार करके साधारण लोग इससे लाभ उठायेंगे।

आप कैसे हैं ?

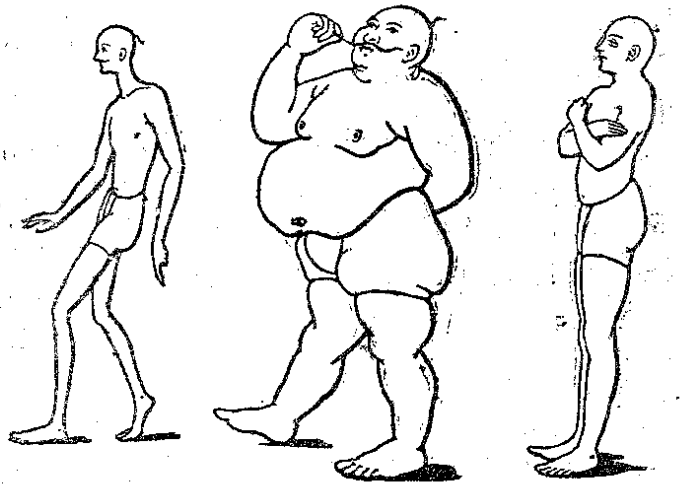

म. लकीरचंद. सेठ कहलाल. सुदेह शर्मा.

आपके सन्मुख ये तीन चित्र हैं। आप इनकी ओर देखिये और अपना कौनसा वर्ग है इसका विचार कीजिये।

" म. लकीरचंद " जी का चित्र देखिये, इसमें केवल अस्थि मात्र अवशेष रहा है, मनके उत्साहके साथ ये कार्य कर रहे हैं, परंतु शरीरकी अवस्था बडी शोचनीय है। आप इस वर्गमें कदापि न रहिये। यदि आपमेंसे कोई सज्जन इस श्रेणीमें हों, तो उनको आसनोंका अभ्यास करके दूसरी श्रेणीमें प्रविष्ट होना आवश्यक है।

"सेठ कद्दूलाल" जी की दूसरी श्रेणी है। कई लोग इस श्रेणीमें जाना पसंद करते हैं। विशाल पेट है, गोल मुख दिखाई देता है, हाथभी मोटे ताजे दीखते हैं और कदाचित् कईयोंके विचारसे यह अवस्था अच्छीभी समझी जाती होगी। परंतु यह सेठ कद्दुभाइजीकी अवस्था महाशय लकीरचंदजी-सेभी खराब है। लकीरचंदजी की श्रेणीके लोग दीर्घ आयु-तक जीवित रह सकते हैं, परंतु सेठ कद्दुलालजीकी श्रेणीके लोग अल्पायुमें ही यात्रा समाप्त कर लेते हैं। पेटमें जो इतना बोझ है वह अच्छा नहीं है, इसके कारण पेटके स्नायु निर्बल होते जाते हैं। इस प्रकार पेटका आकार जितना बढेगा उतना अधिक स्थान मृत्युको प्राप्त होता है। इस लिये पेटका आकार छोटा रखना चाहिये।

पेटको छोटा कैसा बनाया जा सकता है? ऐसा प्रश्न कई पाठक पूछते हैं। प्रतिदिन योगके आसन करनेसे दो चार महिनोंमें पेट ठीक होने लगता है। शरीरकी फूर्ति बढती है, थकावट दूर होती है और नित्य उत्साह प्रतीत होने लगता है। इसमें कोई व्यय नहीं है, परंतु प्रतिदिन व्यायाम करनेका निश्चय करना ही आवश्यक है।

आसनोंका व्यायाम करनेसे शरीरपरकी चर्बी कम होगी, स्नायुओंमें बल बढेगा, और शरीरकी जैसी अवस्था चाहिये वैसीही रहेगी। जो म. लकीरचंदके समान पहिले ही कृश होते हैं, वेभी आसनोंका अभ्यास करनेसे, पहिले महिनेमें

अधिक पतले हो जाते हैं; परंतु दूसरे महिनेसे पचनशक्ति बढ जानेके कारण पुष्ट होने लगते हैं, क्यों कि खायाहुआ अन्न अच्छी प्रकार पचन होता है। मुखकी रुचि अच्छी होती है, और भी बहुत लाभ होते हैं।

तात्पर्य यह कि म. लकीरचंदजीका तथा सेठ कद्दुलालजीका वर्ग अच्छा नहीं है। दोनोंको अपने आरोग्य के लिये यत्न अवश्य करना चाहिये। म. लकीरचंदजीको गायका घी और दूध अधिक पीना चाहिये, तथा सेठजीको पहिले दो तीन मास ये स्निग्ध पदार्थ कम खाने चाहिये। जब दोनोंकी अवस्था ठीक सम हो जायगी, तब वे अपने अनुकूल भोजन यथेच्छ कर सकते हैं।

म. सुदेहशर्माजी का जो वर्ग है, वह सम वर्ग है और "समत्व का नामही योग है।" गीतामें कहा है कि—

समत्वं योग उच्यते। भ. गी. २।४८

समता प्राप्त करनाही योगका उद्देश्य है। मन बुद्धि और चित्तकी समवृत्ति होगई तो उसको समाधि कहते हैं। इंद्रियोंकी समवृत्तिको संयम अथवा निग्रह कहते हैं, तथा शरीरकी समपुष्टताको भी समत्व कहते हैं। शरीरसे लेकर आत्मातक समत्व साधन करना योगको अभीष्ट है; इतनाही नहीं, परंतु समाजमें व्यवहार करनेके समय भी समवृत्ति धारण करना आवश्यक है, यह बात यमनियमोंसे साधरी होती है।

जिनके देह म. सुदेहशर्माजीके समान पहिले से ही सम हैं, उनको योगका अभ्यास इसलिये करना चाहिये कि, अपना शरीर अधिक दीर्घकाल तक अच्छी अवस्थामें रहे। तथा जिनके देह ऐसी अवस्थामें नहीं हैं, उनको यह आदर्श सन्मुख रखते हुए आसनोंका उत्तम अभ्यास करना अत्यंत आवश्यक है।

कई पूछते हैं कि, किस आयुमें यह अभ्यास करना योग्य है। इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि, छः वर्षकी आयुसे सत्तर अस्सी वर्षकी आयुतक के लोग इससे इस समय लाभ उठा रहे हैं। जो लोग पचीसवे वर्ष वृद्ध दिखाई देते थे, वेही पचासवे वर्ष तरुण दीखने लगे हैं; जो पचीसवे वर्ष एक मीलभी नहीं चल सकते थे, वेही पचास वे वर्ष हिमालयके पहाडोंकी सफर करके आये हैं। जिनके शरीरों पर यह परिणाम हुआ है, वे इस समय जीवित हैं, और वे स्वयं भी अपना अनुभव कह सकते हैं।

रुग्ण अवस्थामें जिनको बडी अशक्तता आगई है, वे यदि युक्तिसे शनैः शनैः आसनोंका अभ्यास करेंगे, तो उनका पेट, यकृत, प्लीहा तथा आंतोंके स्थान अच्छा कार्य करने लगेंगे। और उनकी प्रकृति शीघ्रही अच्छी होजायगी। परंतु इस अशक्त अवस्थामें बहुत थोडा अभ्यास करना चाहिये, और प्रथम अत्यंत सुगम आसन करके पश्चात् जैसी शक्ति बढ जायगी, वैसे कठिन आसन करने योग्य हैं। परंतु यह बात होते एएक व्यायामके साथ ही देखनी होती है।

आसनोंके विषयमें एक मुख्य बात, जो देखनेमें आगई है, वह यह है कि, जिसप्रकार अन्य व्यायामोंसे अशक्त हृदयपर बडा दबाव पडता है, और वह दिन प्रतिदिन अधिक निर्बल होता जाता है, वैसा हृदयपर दुष्परिणाम आसनोंके व्यायामोंसे कदापि नहीं होता है; प्रत्युत इस योगके व्यायामोंसे हृदयको आराम मिलता है; इसलिये ये व्यायाम अशक्त अवस्थामें भी उतने हानिकारक नहीं हैं जैसे कि अन्य व्यायाम हैं। इस लिये रोगके कारण दुर्बल बनेहुए मनुष्योंको आसनोंसे बडा लाभ होता है।

तात्पर्य बालक, तरुण, वृद्ध, व्याधिग्रस्त अथवा दुर्बल, तथा स्त्रियोंको भी ये आसन बडे लाभदायक हैं। जो स्त्रियां विशेष प्रकारके आसन गर्भधारण के पश्चात् करती रहेगीं, उनको प्रसूतिके कष्ट कदापि नहीं होंगे। ये अनुभव देखे गये हैं, इसलिये इस विषयमें अब कोई संदेह ही नहीं है।

कई आसन खासकर पुरुषोंके लिये ही हैं, कई केवल स्त्रियोंके लिये हैं, कई दोनोंके लिये समान हैं और कई ऐसे हैं कि जो विशेष प्रकारसे पुरुष कर सकते हैं और वेही आसन स्त्रियोंको दूसरी प्रकार करने होते हैं। इस व्यवस्थासे जो लोग आसन करते हैं, उनको बहुत लाभ होता है।

कई लोग, आसनोंसे बडी भूख लगती है इस लिये, इतना अधिक खाते हैं कि, वे अपचनसे बीमार हो जाते हैं। कितनीभी भूख लगी तो जब उससेभी अधिक खाया जाय, तो अपचन होगा ही। तथा कई ऐसे डरते हैं,

और भूख लगनेपरभी बहुत कम खाते हैं; ये लोग सूखते चले जाते हैं। तिसरे लोग अयोग्य पदार्थोंका अयोग्य समयमें सेवन करते हैं। इत्यादि जो आदते हैं, सब की सब खराब हैं। जो योगाभ्यासके क्षेत्रमें अपना कदम रखना चाहते हैं, उनको उचित है कि, वे अपना आचरण और व्यवहार योग्य नियमोंसे बंधा हुआ रखें, और योग्य अभ्यास करके योग्य आहार विहारके साथ अपनी उन्नति प्राप्त करें। निश्चय करनेपर यह सबको साध्य हो सकता है।

आसनोंका तत्त्व।

आसनोंका तत्त्व समझनेके बाद आसनोंका अभ्यास करनेसे मनुष्य बहुत लाभ प्राप्त कर सकता है। इस लिये आसनोंके मूल तत्त्वके विषयमें थोडासा यहां लिखना आवश्यक है। योगके ग्रंथोंमें कहा है कि, आसन उतने हैं कि, जितनी

जीवजातियां हैं, अर्थात् प्रत्येक जातिके प्राणीसे एक अथवा अनेक आसन सीखेगये हैं। यह तब हो सकता है, कि जब मनुष्य प्रत्येक जातिके प्राणीका व्यवहार सूक्ष्म दृष्टिसे

निरीक्षण करेगा और देखेगा कि, उसके चालचलनमें आरोग्यवर्धक चलनवलन कौनसा है। ऋषिमुनी और योगी सूक्ष्म दृष्टिसे हरएक प्राणीका व्यवहार और उसका चलनवलन देखते थे, इतनाही नहीं, प्रत्युत वृक्षवनस्पतिका भी इसी दृष्टिसे निरीक्षण करते थे, और उनमें जो लाभदायक बात विदित होती थी, उसका स्वीकार करते थे, यही उनकी उन्नतिका मूलमंत्र था। आजभी हमें यदि अपनी उन्नतिकी साधना करनी है, तो उसी रीतिका अवलंबन करना चाहिए।

वृक्षवनस्पति, पशुपक्षी और कीटपतंग आदिकोंका इस रीतिसे निरीक्षण करनेका अभ्यास अनेक वर्षोंतक करनेसे इस तत्त्वका ज्ञान इस समयमें भी होना संभवनीय है। यह समझनेकी अवश्यकता नहीं है कि, ऋषिमुनियों द्वारा जो खोज हो गई है वह संपूर्ण हो चुकी है; अथवा उस दिशामें अधिक खोजकी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई मनुष्य उक्त प्रकार विश्वास करके अपनी खोज बंद करेगा, तो निश्चय समझिये कि, वह ऋषि प्रणालीके सर्वथा विरुद्ध होगा। आदर पूर्वक ऋषियोंकी खोजका हमको स्वीकार करना चाहिये, और अधिक आगे बढना चाहिये, तभी ऋषिऋणसे उत्तीर्ण होनेकी संभावना है। ऋषियोंकी शक्ति अगाध थी, इसलिये उन्होंने अनेक विद्याओंमें विविध प्रकारकी प्रगति की थी, हम वैसा कर सकें या न कर सकें, तथापि जितना हमसे हो सकता है, उतना अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। इसलिये यहां आसनोंके

अभ्यासमें जो तत्त्व कार्य कर रहा है, उसका विचार करता हूं। इसका मनन करके पाठक इस क्षेत्रमें अधिक खोज करनेका यत्न करें।

जो पशुपक्षी आपके आसपास रहते हैं, उनका सूक्ष्म दृष्टिसे और शांतिसे निरीक्षण कीजिये और देखिये कि, उनके व्यवहार किस प्रकार हो रहे हैं। जिस समय बिल्ली सोकर उठती है, उस समय वह चार पावोंपर खडी होकर बीचका पेट ऊपर उठाकर अपने पृष्ठवंशमें खिंचाव करती है। दो चार सेकंद ऐसा करके पश्चात् अपने कार्य करने लगती है। प्रतिदिन बिल्लीका यह आसन आप देख सकते हैं। विना सीखे सिखाये यह बिल्ली इस प्रकारके आसन करती है, ये आसन स्वयं उनसे होते हैं, इसलिये ये स्वाभाविक हैं। पाठक बिल्लीसे ये आसन सीख सकते हैं।

कुत्तेके हिलने जुलनेका इसी प्रकार निरीक्षण कीजिये। तो इस पशुसे भी आपको दो चार आसनोंका उपदेश मिल सकता है। जब यह पशु सुस्ति निकालता है, तब पिछले और अगले पांवोंके सहारेसे खिंचाव करता है। इस प्रकारके कई आसन इस कुत्तेके हिलने जुलनेके निरी-

क्षणसे आपको प्राप्त हो सकते हैं। आसनोंको जिन पशुपक्षियोंके नाम हैं, उनका निरीक्षण करनेसे पता लग सकता है कि, उन पशुओंका स्वभावधर्म कैसा है, और वे किस प्रकारका "स्नायु-चालन" करते हैं, और उनके अवयवचालनसे आसनोंका बोध कैसा हो सकता है।

विशेषतः वंदर (वानर) और रीछ (ऋक्ष) का हिलना जुलना देखनेसे उनके अंदर अनेक आसन स्वतः सिद्ध दिखाई देंगे। हर समय इनकी कुचेष्टाओंमें विविध आसन होते ही रहते हैं, इसलिये नित्य आसन करनेके कारण ही इनके शरीरपर चरबी बहुत कम रहती है, और इनके शरीर भी बहुत ही फुर्तिले होते हैं। मनुष्यभी यदि आसनों का व्यायाम करता जायगा, तो उसका शरीर उक्त कारणसेही चुस्त रहेगा, और उससे सुस्ति दूर होगी। बंदर और रीछ के हाथ और पांव ऐसे विलक्षण चपलताके साथ घूमते हैं कि, वे अपने हाथ और पांवसे अपने शरीरके प्रायः हरएक भागको स्पर्श कर सकते हैं। इसीमें अनेक आसन सिद्ध होते हैं।

सांप, उंट, मत्स्य, हंस, मोर, बग आदि अनेक पशुपक्षियोंके नाम आसनोंको दिये गये हैं। जिस आसनके साथ जिस पशुपक्षिका विशेष संबंध है, उस पशुपक्षिका चित्र प्रायः इस पुस्तकमें आसनके चित्रके साथ दिया है, उसका विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं कि, पशुपक्षिके स्वाभाविक हलचलके साथ आसनका संबंध क्या है। ये आसनोंके नाम ही

बता रहे हैं कि, इसप्रकारके आसनोंकी कल्पना पशुओंके अंग-विक्षेपोंका विचार करनेसेही ऋषिमुनियोंको सूझी थी।

इसके सिवाय दूसरा भी एक विचार है, उसका तात्पर्य यह है कि, मनुष्य सब योनियोंमेंसे गुजर कर मनुष्य योनीमें आगया है, गर्भाशयमें भी मानवी गर्भके परिवर्तनोंमें यह विकासका संपूर्ण इतिहास दिखाई देता है। प्रत्येक अन्य योनीके प्राणीके शरीरमें जो विशेषता है, वह सूक्ष्म रीतिसे अथवा गुप्त रीतिसे इस मानवी शरीरमें विद्यमान है। इसलिये सब पशु-पक्षियोंके विशेष अंगविक्षेप मनुष्यके लिये लाभदायक होना संभवनीय हैं। जिन योगियोंनें आसन-विचारमें अपने जन्म व्यतीत किये, उनका कथन है कि, "जितनी जीवजातियां हैं उतने आसन हैं।" इस कथन का मूल आशय उक्त प्रकारही है। चूं कि प्रत्येक जीवजातिकी विशेषता मानवदेहमें है, इस लिये प्रत्येक जीवजातिकी विशेष "अंगचालना" नरदेहके आरोग्यकी साधक होनेमें शंकाही नहीं हो सकती। इस तत्व पर आसनों की मूल रचना होगई है, यदि यह मूलतत्व पाठकोंके मनमें आजायगा, तो वे अधिक विचार करके नवीन अधिक आसन भी ढूंढकर निकाल सकते हैं। इस लिय पाठक इस दृष्टिसे विचार करें।

इसीप्रकार छोटी ऊमरका बालक किसप्रकार अपने हाथ पांव हिलाता रहता है, इसका भी अवश्य विचार करना चाहिये। यद्यपि विविध आसनों की उसके लिए उतनी आव-

श्यकताही नहीं है, तथापि नीरोगी बालक आनंदित अवस्थामें सतत अपने हाथ पांव हिलाता रहता है। सोनेकी अवस्थामें तथा रोगी अवस्थामें वह हाथपांव नहीं हिलाता, परंतु नीरोग जागृत अवस्थामें उसकी सतत हलचल चलती रहती है। इसका सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे स्वाभाविक व्यायामका पता लग सकता है। वह डंबेल्स मुद्गल आदिका बनावटी व्यायाम नहीं करता, परंतु अपने हाथ पांवोंको वारंवार खींचता है और "खींचनेका व्यायाम" सदा करता रहता है। आसनोंकी व्यायाम पद्धतिमें यही खिंचाव का व्यायाम मुख्य है।

जोर, बैठक, दंड, दौड मुद्गल, डंबेल्स आदि जो अनेक व्यायाम हैं, उनमें बोझ उठाने और एकही प्रकारकी गति एक एक स्नायुको अनेक वार देनी होती है। इसप्रकार के व्यायामोंसे स्नायुओंका आकार बहुत बढ जाता है, और उनमें बल भी बहुत आता है, परंतु वहांका आरोग्य नहीं रहता। इसका कारण यह है कि, स्नायुकी अधिक गति करनेसे उस स्नायुमें रक्त बहुत आता है। और वहां रक्तका संचय प्रमाणकी अपेक्षा अधिक बढनेसे वहांके सूक्ष्म मज्जातंतु फट जाते हैं। इस कारण इस प्रकारके व्यायामोंसे शक्ति बढनेपर भी आरोग्य नहीं बढ सकता। पहिलवानोंके शरीर इतने बलवान और हृष्टपुष्ट होनेपर भी कोई पहिलवान पूर्णायुषी नहीं होता है और वे अति अल्प आयुमें मर जाते हैं। परंतु योगी लोग, सब व्यवस्था ठीक होनेकी अवस्थामें और बालपनसे योग-जीवन सिद्ध होनेपर

तथा निरोग मातापितासे जन्म होनेकी संभावनामें, तीन गुणा आयुष्य प्राप्त कर सकते हैं। अपनी इच्छासे मरण की सिद्धि प्राप्त करनेवाले कई योगी इस समयमें भी हैं। यह अंतिम सिद्धि अलग की जाय, तो इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि, साधारण आरोग्य के लिये ये "खिंचाव के व्यायाम" अर्थात् योगासन बडे लाभदायक होते हैं। यद्यपि इन खिंचावके व्यायामोंसे उतना बल नहीं आता, जितना कि पहिलवानी व्यायामोंसे आसकता है, तथापि आरोग्यके साथ बल बढता है, इसलिये निःसंदेह इन व्यायामोंसे लाभ होता है।

दूसरी बात यह है कि, पहिलवानी व्यायामोंसे हृदयपर बहुत ही दबाव पडता है और इस दबाव के कारण पहिलवानोंका हृदय प्रायः कमजोर होता है। उनकी अपमृत्युका यही एक मुख्य कारण है। इस प्रकारका हृदयपर दबाव आसनोंके व्यायामोंसे नहीं होता है, इसलिये आसनोंसे कोई नुकसान नहीं हो सकता।

हम अपनी लेखनकी सुविधाके लिये पहिलवानी व्यायामोंको "दबावका व्यायाम" और योगके आसनोंको "खिंचावका व्यायाम" कहेंगे। दबावके व्यायाममें एक स्नायुकी अनेक वार गति करनेसे वहां अधिक रक्त आता है और रक्तका दबाव भी वहां बढ जाता है। यह व्यायाम जिन स्नायुओंके साथ होता है, उन स्नायुओंमें, प्रमाणकी

अपेक्षा अधिक रक्तका संचय होनेसे, वहाकी नसनाडीमें रक्तका दबाव बढ जाता है, ओर वहांकी सूक्ष्म नसनाडियां तथा वहांके सूक्ष्म मज्जातंतु फट जाते हैं, और इनके गोले बन जाते हैं। पहिलवानोंके स्नायु पथ्थर जैसे सख्त लगते हैं, इसका कारण यही है। यद्यपि इनमें बल बढता है, तथापि यह आरोग्यकी अवस्था नहीं है स्नायुमें रक्त प्रवाह अधिक करनेसे इस प्रकार लाभके साथ नुकसानभी है। जिस प्रकार किसी बोतलमें पानी डालनेसे वह साफ होती है, अथवा नालीमें कुछ अटका हो, तो पानी डालनेसे साफ हो जाता है, उसी प्रकार स्नायुकी शुद्धता उसमें रक्तप्रवाह अधिक करनेसे भी होना संभव है। परंतु पहिलवानी व्यायामोंमें रक्तका प्रवाह नहीं होता, परंतु रक्तका संचय होता है, यही दोषकारक है। यदि जोरका रक्तप्रवाह शुरू होगा, तो निःसंदेह आरोग्य होगा, परंतु इस पहिलवानी व्यायाममें रक्तका प्रवाह नहीं होता, परंतु स्नायुमें आया हुआ रक्त वहांही बहुतसा ठहर जाता है। यही कारण है कि, जिससे स्नायुओंमें घनता आजाती है।

इस दोषको दूर करनेके लिये योगियोंने आसन अर्थात् "खिंचाव के व्यायाम" सिद्ध किये हैं। इसमें प्रायः स्नायु खींचे जाते हैं। रबर की नालीके समान छोटी मोटी नसनाडियां शरीरभर हैं। स्नायुओंमें भी इनके द्वारा ही रक्तप्रवाह पहुंचता है। जिसप्रकार रबरकी नाली खींचनेसे चपटी होती है, और चपटी होनेके कारण उसमें से जलप्रवाह न्यून हो

जाता है; उसीप्रकार स्नायु खींचनेसे स्नायुमें सर्वत्र रक्त न्यून हो जाता है, जितनी देर यह खिंचाव रहता है, उतनी देर स्नायुमें रक्त कम होता है। फिर किंचित् समयके पश्चात् पूर्ववत् स्नायु ढीला करनेसे वहां जोरसे रक्तका प्रवाह शुरू हो जाता है। जहां रक्तका प्रवाह जोरसे शुरू होता है वहांके मल धोये जाते हैं, और जोरका रक्त प्रवाहही सब शरीरके आरोग्यका हेतु है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। इस प्रकार संपूर्ण आसन करनेसे सब शरीरमें शुद्ध रक्तका प्रवाह जोरसे शुरू होता है और इस कारण शरीरका आरोग्य सिद्ध होता है। पहिलवानी व्यायामोंमें स्थान स्थानमें रक्तका संचय होता है, और योगासनोंके व्यायामोंसे स्थान स्थानमें रक्तका प्रवाह शुरू होता हे, दो व्यायामपद्धतियोंमें यही मुख्य भेद है, और इसी कारण परिणाममें भी भेद होता है। यदि आसनोंका यह एक तत्त्व पाठकोंके ध्यानमें आजायगा, तो वे इस तत्वका विचार करके खिंचावके कई और व्यायाम नवीन रीतिसे सिद्ध कर सकते हैं। पाठकोंको उचित है कि, प्रत्येक आसन करनेके समय खिंचाव का स्थान कौनसे स्नायु अथवा स्नायुओंपर है, इसका विचार करके यदि आसन करेंगे, तो उनको उस स्नायुकी निर्दोषताका पता उसी समय अवश्य लग जायगा। और अन्यान्य स्नायुओंकी निर्दोषता करनेके अधिकाधिक आसन नवीन रीतिसे सिद्ध करनेका उत्साह उत्पन्न होगा। योगग्रंथोंमें जितने आसन लिखे हैं, उतनेही

केवल हैं, ऐसा आग्रह धारण करना अयोग्य है, क्यों कि, वास्तविक रीतिसे आसन अनंत हैं। ८४ लक्ष योनियां हैं, इसलिये योगग्रंथोंमें कहा है कि ८४ लक्ष आसन हैं, परंतु उनमेंसे केवल ८४ ही आसन उपयोगमें लाये हैं। जो अन्य आसन हैं, उनको ढूंढकर निकालनेकी रीति ऊपर दी है, पाठक विचार करते रहेंगे, तो अधिकाधिक आसन भी हो सकते हैं। और उनका उपयोग करके अधिकाधिक शरीरकी निर्दोषता संपादन की जासकती है। इस लिये आसनोंका तत्त्व जाननेके पश्चात् अधिक विचार करना चाहिये।

(१) आसनोंमें कई आसन खडा होकर करनेके हैं, (२) कई आसन बैठकर करनेके, (३) कई आसन सोकर करनेके और (४) कई आसन सिर नीचे और पांव ऊपर करके करनेके हैं। कई आसन ऐसे हैं कि जो ऊपरके सब विभागोंमें किये जा सकते हैं, परंतु कई ऐसे हैं कि, जो एक एक विभागमें ही होना संभव है। उक्त प्रत्येक विभागका फल प्रायः समान होता है, परंतु कुछ न्यूनाधिकता भी कारणविशेषसे होना संभव है। सिर नीचे और पांव ऊपर करनेके चतुर्थ विभागमें शीर्षासन, कपाली आसन, कपालासन, मस्तकासन, विपरीत करणी, विपरीतासन, सर्वांगासन वृक्षासन, अर्धवृक्षासन, हस्तवृक्षासन, मुक्तहस्तवृक्षासन, उर्ध्वपद्मासन इत्यादि आसन आते हैं। यद्यपि ये आसन कुछ अंशमें भिन्न हैं, तथापि इनका प्रकरण एकही है। सिर नीचे

और पांव ऊपर यह जो विपरीत खडा होनेका भाव है, वह इन सबमें समान है; इसलिये इन सबका परिणाम भी शरीर-पर बहुत अंशमें समानही होता है । बहुत अंशमें ऐसा कह-नेका तात्पर्य इतनाही है कि, प्रत्येक भिन्न भिन्न आसनमें जो न्यूनाधिकता होती है, उस कारण फलमें भी न्यूनाधिक होना संभवनीय है; तथापि इन सबमें जो मुख्य बातकी समानता है; जिस कारण उनकी एक वर्गमें गणना हो सकती है, उस हेतुके कारण उस क्षेत्रमें फलकी भी समानता है । इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्यान्य वर्गोंके आसनोंके विषयमें विचारकरके जानना चाहिये । पूर्वोक्त प्रत्येक वर्गमें और उपवर्ग भी हैं । यदि पाठक इन आसनोंका इस दृष्टिसे विचार करेंगे, तो उनको इस बातका पता लग जायगा और वे अपनी अपनी विचारकी दृष्टिसे अलग अलग वर्गभी बना सकते हैं, और किसी आसन का किस आसनसे साधर्म्य और किस दृष्टिसे वैधर्म्य है, इसका भी विचार कर सकते हैं । इस प्रकारका बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है, इसलिये केवल सूच-नामात्र यहां लिखा है, आशा है कि, पाठक प्रथमतः स्वयं अभ्यास करके पश्चात् इस दृष्टिसे अधिक सोचनेका पुरु-षार्थ करेंगे ।

जो आसन सोकर अर्थात् बिस्तरेपर लेटकर करनेके होते हैं, वे उन लोगोंको करने योग्य हैं कि, जो हृदयके कमजोर हैं । आज कल दिलकी बीमारी जनतामें बढ रही है, इसका

कारण स्पष्ट है कि तमाखू, भंग, अफीम, चा काफी, शराब आदि दुर्व्यसन प्रतिदिन बढ रहे हैं। विशेषतः तमाखूसे खून बिगडता है, और संतानोंमें दिलकी और खूनकी कमजोरी जन्मसे ही घर करके बैठती है। जनतामें मूर्खता अधिक होनेके कारण अपना और बालबच्चोंका संहार होता है यह देखते हुए भी लोग दुर्व्यसन करते जाते हैं, और इसकारण दिलकी कमजोरी बढती ही जाती है। इसलिये लेटे हुए करनेके आसन इन लोगोंके लिये बहुत लाभदायक हैं। क्यों कि ये लेटे हुए करनेके होते हैं, इसलिये हृदयपर बहुत बोझ नहीं पडता, और हृदयको आराम पहुंचता है। जितना आराम हृदयको पहुंचेगा, उतना आरोग्य की दृष्टिसे इस प्रकारके दिलके कमजोरों को अच्छाही है। इन लोगोंके लिये थोडे प्रमाणमें चतुर्थ वर्गके अर्थात् सिर नीचे और पांव ऊपर करनेके व्यायामभी बडे लाभदायक हैं। अन्य वर्गके व्यायामभी अल्पप्रमाणमें करनेसे कोई हानि नहीं होती, परंतु यहां अधिक लाभ पहुंचानेवाले व्यायामोंके विषयमें ही—विशेष कहनेका उद्देश्य है। कोई भी आसन किया जाय, उससे श्वासोंकी संख्या अधिक नहीं होती। पहिलवानोंके सब व्यायामोंसे श्वासोंकी संख्या अधिक होती है। जिन व्यायामोंसे श्वासंख्या बढ जाती है, वे व्यायाम दिलके कमजोर मनुष्योंको निःसंदेह हानिकारक हैं, और जिनसे श्वासंख्या नहीं बढती वे दिलकी बिमारी वालोंको करनेमें उतना भय नहीं है।

इससे सिद्ध है कि प्रायः सभी आसन इनके लिये लाभकारी है, परंतु लेटकर करनेवाले आसन तो बहुतही लाभदायक हैं।

शहरों और नगरोंमें जहां नलकेका पानी होता है, वहांके लोगोंको पता होता है कि, नगरके उच्च भागमें एक बडा

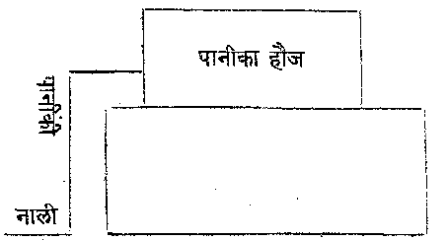

पानीका हौज होता है, और उसमेंसे छोटी मोटी नालियां नगरभर फैलायीं होतीं हैं। ये नालियां सबकी सब सीधी नहीं होतीं, परंतु एक दूसरे को जोडनेके स्थानमें तथा जहां मोड आता है वहां कोने होते हैं। स्थान स्थानपर मोड और कोने होते हैं और वहां पानीमेंसे कुच जंग, मिट्टी तथा अन्य मल संचित होते हैं। दस पांच वर्षोंके पश्चात् पानी कम आने लगता है। और ऐसा होनेपर लोग व्यवस्थापकोंको लिखते हैं, और वे आकर नालीको साफ करते हैं, और फिर पानी पूर्ववत् आने लगता है, इससे लोगोंको सुख होता है। यही अवस्था शरीरमें है। शरीरमें हृदयमें खून होता है और वह नस नाडियों द्वारा शरीरभर फैलाया होता है, जिससे आरोग्य होता है। यद्यपि नस नाडियोंकी व्यवस्था बडी अच्छी होती है, तथापि अवयवोंके संधियों और जोडोंमें तथा नसनाडीयोंके संधियों और जोडोंमें किसी कारणवशात् थोडाथोडा मल संचित होने लगता

है। जब तक जवानीका रक्त वेगसे चलता रहता है, तबतक यह दोष थोडा रहता है, और इतना अपाय कारक नहीं होता। परंतु जिस समय शरीर कृश होने लगता है, अथवा वृद्धावस्था आती है, उस समय उक्त संधिस्थानोंमें मलसंचय बढने लगता है। शारीरिक निर्बलताके अनुसार यह दोष न्यूनाधिक होता है, और जिस समय निर्बलता बढ जाती है, उस समय यह दोष भी बढ जाते हैं। और दोष बढने के कारण बीमारियां बढती हैं, इसका परिणाम अकालमृत्युमें होता है। यह सब दोष दूर करनेके लिये स्नायुओंके खिंचाव के व्यायाम अत्यंत उत्तम हैं। प्रायः हरएक आसनमें स्नायु खींचे जाते हैं। जिस समय स्नायु खींचे जाते हैं उस समय वहांकी नस नाडीका खिंचाव होनेसे उस स्थानका सब रक्त चला जाता है। और जिस समय खिंचाव बंद होता है, और पूर्ववत् स्नायुकी स्थिति हो जाती है, उस समय फिर नया खून उसमें जोरसे आता है। वेगसे रक्त आनेके कारण वहां के दोष धोये जाते हैं, इस प्रकार वारंवार आसन करनेसे वारंवार दोष धोये जाते हैं, और इस कारण शरीर निर्दोष होता जाता है। यही कारण है कि, जिससे आसनोंके अभ्यासके हेतुसे आरोग्य प्राप्त हो जाता है। रक्तमें जीवन होता है और वह जीवनरूपी रक्त आसनों द्वारा ही सब शरीरभरमें फैलाया जाता है। यह आसनोंका तत्व विचारकी दृष्टिसे देखिये और जिस स्थानमें बीमारीका उद्भव होगा,

उस स्थानमें वहां के स्नायुसंचालनके अनुकूल खिंचाव करके आरोग्य प्राप्त कीजिये। आसनोंका तत्त्व जाननेसे इस प्रकार अपनी आवश्यकतानुसार नवीन आसन भी बनाये जा सकते हैं। इस लिये स्थान स्थानके स्नायुओंके आकुंचन और प्रसरणका धर्म जानकर उस धर्मके अनुकूल खिंचावके आसन बनाये जा सकते हैं।

इस पुस्तकमें प्रत्येक आसन का चित्र दिया है, जिस पशुपक्षीके साथ उसका संबंध है, उसका भी चित्र साथ साथ दिया है। विवरणमें आसनका तत्व, उससे होनेवाले परिणाम और किन रोगोंपर इसका उपयोग होना संभव है, उसका दिग्दर्शन किया है। यदि पाठक इतने साधनोंका अच्छा मनन करेंगे, और स्वयं करके अनुभव लेंगे, तो उनको आसनोंका तत्त्व समझमें आ सकता है। आशा है कि, पाठक इस रीतिसे मनन करेंगे।

इन आसनोंमें कई आसन हैं कि, जो बलवर्धक हैं, कई ऐसे हैं कि, जो स्नायुकी तथा नस नाडीकी निर्दोषता सिद्ध कर सकते हैं, कई ऐसे हैं कि जो उक्त दोनों बातें कर सकते हैं, कई आसन केवल उत्साह वर्धक हैं, और कई ऐसे हैं, कि जो भविष्यमें आनेवाले रोगोंका प्रतिबंध कर सकते हैं। यह सब वर्णन स्थानस्थानके आसनोंके वर्णनमें अंशरूपसे दिया है। पाठकोंको उचित है कि, वे इस अनुभवके साथ अपना अनुभव मिलाकर देखें और जो न्यूनाधिक अनुभव

होगा, वह लिखकर रखें तथा समय समय पर हमारे पास लिख कर भेजें । ऐसा करनेसे यह एक उत्तम आरोग्यका शास्त्र बन जायगा ।

प्रायः सब आसन स्त्रीपुरुषोंको करने योग्य ही होते हैं । परंतु कई आसन खास कर पुरुषोंके लिये, कई विशेषकर स्त्रियोंके लिये और कई दोनों के लिये सम होते हैं । आगे जहां प्रत्येक आसन का वर्णन दिया है, वहां इस विशेषताको दर्शाया है । जहां कुछ भी नहीं लिखा है, वहां समझना उचित है कि, वह आसन दोनों के लिये समान है । जिन आसनोंमें पांवकी एंडी गुदा और अंड कोशके बीचमें लगानी होती है, वे आसन स्त्रियोंको करने योग्य नहीं हैं, और यदि करने हों तो पांव की एंडी का संघट्टन उस स्थानपर करना नहीं चाहिये । यही विशेषतया भेद है । यदि इतना भेद ध्यानमें रखा जाय, तो कौनसा आसन किस रीतिसे करनेपर स्त्रियोंके लिय उपयोगी होगा इस विषयका ज्ञान हो सकता है । स्त्रियोंको इन आसनोंका अभ्यास करवा कर विशेष ध्यानसे यह अनुभव देखा है कि, जो स्त्रियां गर्भधारणके पूर्व तथा गर्भधारणा होनेपर भी नियमपूर्वक आसनोंका व्यायाम करती हैं, उनको प्रसूतिके कष्ट प्रायः नहीं होते । और ऐसी प्रसूति होती है कि, जैसा शौच हो आना सुगम है । इसलिये स्थान-स्थानके स्त्रीपुरुषों को इस बातका अनुभव लेना उचित है, और अपने अपने अनुभव लेखबद्ध करना भी अत्यावश्यक

है। इसीसे यह एक उत्तम शास्त्र बन सकता है। हमने अनुभवपूर्वक यह भी देखा है कि, जिन स्त्रियों की पहिले कष्टदायक प्रसूति होती थी, आसनोंका अभ्यास ब्रह्मचर्य पूर्वक साल दो साल करनेसे उनकी ही प्रसूति तीसरी बारके पश्चात् अत्यंत सुगम हुई। इस लिये योजनापूर्वक इस दृष्टिसे पाठकोंको अनुभव लेना उचित है। तथा हमारे अनुभवमें यह भी एक बात आगई कि, गर्भधारणाके पश्चात् भी जहां स्त्रीपुरुष संबंधका अतिरेक हुआ है, वहां वैसा लाभ आसनोंके अभ्याससे भी नहीं हुआ। परंतु जो स्त्री पुरुष व्रतस्थ रहे, उनको निःसंदेह लाभ हुआ। इस लिये पाठक इससे भी लाभ उठा सकते हैं। गर्भ धारण होनेके पश्चात् जो स्त्री पुरुष व्रतस्थ रहते हैं और विशेषतः जो स्त्री खानपानका पथ्य रखती है, यदि वह स्त्री नियमपूर्वक आसनोंका व्यायाम करती जायगी, तो उनकी प्रसूति निःसंदेह कष्टहीन होगी, और बालक भी सर्वांग पूर्ण होगा। इस लिये स्त्री पुरुषोंको इससे लाभ उठाना आवश्यक है, क्यों कि इस देशमें जितने बालक सुदृढांग होंगे उतने देशके हितकी दृष्टिसे अच्छेही हैं।

जो आसन केवल ध्यानधारणाके लिये ही होते हैं, उनसे भिन्न अन्य सब आसन आरोग्यके साथ संबंध रखते हैं। तथा ध्यान धारणाके आसनों में भी पद्मासन, सिद्धासन आदिकोंका संबंध यदि साक्षात् नहीं, तथापि परंपरासे आरोग्यके साथ पहुंचता है। इसलिये यह आसन उपयोगी नहीं

और फलाना उपयोगी है ऐसा भेद करना उचित नहीं है। शरीरके भेदके अनुकूल हरएक आसन लाभदायकही है। इसलिये आसन करनेके पूर्व अपनेको किस बातके लिये आसन करने हैं, इसका निश्चय करना और तत्पश्चात् उस बातके साधक जो जो आसन होंगे उनको करना उचित है। परंतु जिनको विशेष बातके लिये आसन करनेकी आवश्यकता नहीं है, वे यथाक्रम अथवा यथा रुचि सभी आसन करके लाभ उठा सकते हैं।

यह देखा है कि, सुदृढांग बालकको छे वर्षोंकी उमर में तथा साधारण बालकोंको आठ वर्षकी आयुमें आसनोंका अभ्यास प्रारंभ करनेसे अच्छा लाभ होता है। विशेष दृढांग बालकोंको इससे पूर्वभी एक वर्ष प्रारंभ किया जा सकता है। परंतु सर्व साधारणतः आठ वर्षकी आयुमें ये आसन करने उत्तम हैं। प्रारंभके दो चार वर्षोंमें सुगम आसन करवाने चाहिये और तत्पश्चात् कठिन आसन करने योग्य हैं। तथा जिन आसनोंमें पांवकी एंडी गुदा और अंडकोशके बीचमें दबाकर लगानी होती है, वे आसन अत्यावश्यक होनेके विना १५।१६ वर्षकी आयुके पूर्व न करने अच्छे हैं। किंवा करने हों तो उक्त बातके विना करने चाहिये। परंतु यदि किसी कारण युवकमें वीर्यदोष उत्पन्न हुआ हो, अथवा होनेकी संभावना हो, तो उस अवस्थामें योग्य उपाय करनेके लिये ये वीर्य रक्षक आसन करने ही चाहिये। जो बालब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्म-

चर्य रखना चाहते हैं, वे इन आसनोंसे अपना ब्रम्हचर्य अखंडित रख सकते हैं।

आसनों के साथ थोडा थोडा प्राणायाम तथा अपनी शक्तिके अनुसार कुंभक, अल्प प्रमाणमें प्रथम प्रारंभ करके पश्चात् शनैः शनैः बढा सकते हैं। परंतु जो दिलके कमजोर होंगे, वे प्राणायामके विना ही आसन कर सकते हैं, अथवा उनको प्राणायामके विनाही करना योग्य है। क्यों कि दिलके कमजोर मनुष्य यदि अधिक कुंभक करेंगे, तो उससे उनका दिल अधिक कमजोर होना संभव है। इस लिये ऐसे लोक केवल आसनोंसे ही अपना आरोग्य बढा सकते हैं। जो लोग रोगी अवस्थामें आसन करना चाहते हैं, वेभी कुंभकके साथ न करें, अभ्यास होनेपर कुंभक किया जा सकता है। तथा वृद्ध पुरुष भी कुंभकके साथ न करें। अथवा यौं कहना उचित होगा कि, ये लोग प्रारंभमें प्राणायामपर बल न दें। आसनोंसे आरोग्य प्राप्त होनेपर फेफडोंमें तथा अन्यशरीरमें बल बढेगा, तत्पश्चात् प्राणायामका विचार करना याग्य है।

रोगी अवस्थामें लेटकर करनेके ही आसन प्रारंभमें करने योग्य हैं। पश्चात् जैसा जैसा बल बढेगा, वैसे अन्य आसन किये जा सकते हैं। अतिवृद्धों के लिये भी लेटकर करनेके ही आसन योग्य हैं। जो ८०।८५ वर्षसे अधिक आयुवाले हैं, वे अतिवृद्ध शब्दसे यहां लक्षित हैं। इससे पूर्व नीरोगी

वृद्ध सब प्रकारके आसन करके लाभ उठा सकते हैं। ७५ वर्षतक की आयुवाले वृद्ध पुरुष जो गलित शरीर हो गये थे वे भी दो वर्ष नियमपूर्वक आसनोंका अभ्यास करके तथ खानपानका पथ्य पालन करके अच्छे फुर्तिले बनगये हैं, इस लिये इससे थोडी आयुवाले इन आसनोंके व्यायामसे योग्य लाभ उठा सकते हैं, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

हरएक मनुष्यकी शरीरकी अवस्था विभिन्न होती है। क लोग २५ वे वर्ष भी अत्यंत अशक्त होते हैं, और कई ७० वे वर्ष भी बलिष्ठ होते हैं। इसलिये इतनी भिन्नता होनेके कारण कोई सर्वसाधारण नियम नहीं लिखा जा सकता प्रत्येक मनुष्यको अपनी अवस्था, शक्ति और परिस्थितिके अनुसार योग्य रीति विचार करके निश्चित करनी चाहिये और उस प्रकार अनुष्ठान करके लाभ उठाना चाहिये। यह सूचना यहां करनेका कारण इतना ही है कि, कई लोग जोशमें अपनी शक्तिसे बहुत ही अधिक कार्य करते हैं, और नुकसान होने पर अपने अविचारको दोष नहीं देते, प्रत्युत योगसाधन को ही दोष देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो यह योगसाधन का प्रत्येक व्यायाम दस पांच हजार वर्षोंसे चला आया है, और हरएक समय योग्य विचारके साथ करनेपर इससे लाभही हुआ है। इसलिये यदि दोष उत्पन्न हुआ, तो वह दोष योगसाधन का नहीं है, परंतु वह कर्ताके अविचारका ही दोष समझना चाहिये। आशा है कि, इस सूचना की ओर पाठक विशेष ध्यान देंगे।

आसनोंका अभ्यास स्वयं करके और सेंकडों विभिन्न परिस्थितिके मनुष्योंपर इसका परिणाम देखकर हमारा पूर्ण निश्चय हुआ है कि, यह ऋषिमुनि और योगियोंकी आसन-पद्धति मानवी आरोग्यके लिये अत्यंत उत्तम है। इससे योजक मनुष्य अपना लाभ कर सकता है। यह आसनपद्धति अत्यंत लाभदायक होनेसे इसका सर्वत्र प्रचार होना अत्यंत आवश्यक है। हरएक मनुष्य जो ये आसन करेगा और अनुभव लेगा, वह इसका प्रचारक स्वयंही बन सकता है। परंतु व्यवस्थासे इसका प्रचार करनेके लिये और सहस्रोंतक इसका लाभ पहुंचानेके लिये पाठशालाओंमें इसका अभ्यास आवश्यक करना योग्य है। ऐसा करनेसे ही हरएक बालक और हरएक नवयुवकको इसका लाभ पहुंच सकता है। और बालकपनमें जो बात अनुभव सिद्ध हो जाती है, वह स्वभावतः उसकी आयुभर स्थिर रूपसे रह सकती है। इस-लिये जो पाठक इन आसनोंकी व्यायाम पद्धति का स्वयं अनुभव लेंगे, उनको उचित है कि वे अपने नगरमें इसके प्रचारक बनें और अपने नगरकी पाठशालामें इसको शुरू करनेका यत्न करें। प्राचीन कालमें सब गुरुकुलोंमें यही आसनपद्धति आवश्यक रीतिसे पढाई जाती थी, और इस कारण ही वे लोग उत्साही, तेजस्वी, दीर्घायु और दिर्घोद्योगी होते थे। इस समय भी हमको इन गुणों से युक्त होना चाहिये और अपने भावी संतानोंको उक्त गुणों से मंडित

करना चाहिये। इसलिये आशा है कि पाठक इस दृष्टिसे अपना कर्तव्य करेंगे।

विशेष ध्यानसे देखिये।

"आसनोंका तत्त्व" अब आपके ध्यानमें आचुका है। और प्रत्येक आसन का वर्णन भी इस पुस्तकमें आगे पढेंगे। प्रत्येक आसन वास्तवमें शनैः शनैः और मंद गतिसे करने होते हैं, क्योंकि शरीरकी स्थिरता और नीरोगता पूर्वक शरीरको सुख प्राप्त करना आसनोंका उद्देश्य है। परंतु यह अनेकवार देखा है, कि मंदगतिके व्यायामोंसे अथवा मंदगतिके आसनोंसे शरीरपर वह इष्ट कार्य कभी कभी नहीं होता, जो कि वास्तवमें होना चाहिये। इसके अनेक कारण हैं, उन सबका उल्लेख यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनेक प्रकारके आसन करनेपर भी शरीरपर इष्ट परिणाम नहीं होता, ऐसा अनुभव आनेपर उसका उपाय निम्न प्रकार करना चाहिये। उपाय यह है कि:—

(१) मंदगतिके आसन बंद करना तथा सब मंदवेगके अन्य व्यायामभी बंद करने, (२) और येही आसन जो इस पुस्तकमें लिखे हैं, वैसे ही अति तीव्र वेगसे करनेका अभ्यास करना, (३) अर्थात् प्रत्येक आसन एक, दो, तीन, या अधिकसे अधिक चार निमेषोंमेंही करना, फिर आसन खोलकर फिर करना, इस प्रकार एक मिनिटमें दस पंद्रह बार वेगसे एकही आसन करना, (४) प्रत्येक आसन इस

ढंगसे अतिवेगसे कमसे कम दस वार करनेके पश्चात् इसी रीतिसे तीव्र वेगसे दूसरा आसन करना, इस प्रकार दस पंद्रह मिनिट विविध आसन करनेसे बहुतही आश्चर्य कारक इष्ट परिणाम होता है (५) प्रत्येक आसन करनेके समय वेगसे श्वास लेना और वेगसे छोडना, परंतु प्रारंभमें वेगसे श्वासोछ्वास न भी हुआ, तोभी कोई पर्वाह नहीं, विना प्रयास वेगसे श्वास और उच्छ्वास एक आसनमें एकवारही करना चाहिये इससे बडा लाभ होता है। इस प्रकार तीव्र वेगसे श्वासोच्छ्वासपूर्वक वेगसे वारंवार आसन करनेसे शरीरके संपूर्ण स्नायुओंका योग्य संचालन होता है, इस कारण इस रीतिसे विलक्षण आरोग्य प्राप्त हो सकता है। (६) साधारण रीतिसे आसनोंका व्यायाम करनेपर जिस समय योग्य परिणाम नहीं होता, उस समय इस प्रकार करनेसे सत्वर आरोग्य प्राप्त होता है। (७) अथवा प्रतिदिन दस पंद्रह मिनिट इस रीतिसे स्नायु संचालनके लिये वेगसे आसन करके पश्चात् स्नायुस्थिरताके लिये साधारण रीतिसे आसन करनेसे भी बहुत उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

पाठक अपनी आवश्यकतानुसार अभ्यास करके लाभ उठावें।

अंतमें निवेदन इतनाही है कि इस समयतक जितने पुस्तक आसन विषयपर लिखे हैं उनसे भिन्न दृष्टिसे यह पुस्तक लिखी गई है। जो बातें इसमें लिखीं हैं, सेंकडों मनुष्योंपर अनुभव लेकर लिखीं हैं। इसलिये जो नियमपूर्वक अभ्यास

करेंगे उनकोभी यही अनुभव आसकता है। तथापि इस विषयका और भी अधिक विचार होना चाहिये, और अधिक अनुभव भी लेना चाहिये। इसलिये जो पाठक इस रीतिसे व्यायाम करेंगे उनको उचित है कि वे अपना अनुभव, जैसा आवेगा वैसाही, हमारे पास लिख भेजनेकी कृपा करें, इससे शास्त्रीय संशोधनमें बडा लाभ हो सकता है। आशा है कि पाठक इस रीतिसे अवश्य सहायता करेंगे।

तृतीयवार का मुद्रण।

द्वितीय वार छपी हुई आसनों की सब पुस्तकें अतिशीघ्र समाप्त होनेके कारण यह तृतीयवार मुद्रण करना आवश्यक हुआ है। पहिले की अपेक्षा इसमें अनेक आसन, अनेक चित्र तथा अनुभव के अनेक लेख अधिक दिये हैं। पहिलेकी अपेक्षा पुस्तक बहुत ही बढी गयी है, तथापि प्रचार के उद्देश्यसे मूल्य उतना ही रखा है।

आसनों से जिनको प्रत्यक्ष लाभ हुआ ऐसे सहस्रों मनुष्योंके अनुभवके पत्र आये हैं, उनमेंसे थोडेसे इस पुस्तकमें दिये हैं। इससे ही पाठकोंको पता लगसकता है कि इस आसन-पद्धतिसे आरोग्य प्राप्त होनेमें कितनी सहायता हो सकती है।

आशा है कि पूर्वकी अपेक्षा यह पुस्तक पाठकों को अधिक लाभदायक सिद्ध होगी।

औंध (जि. सातारा) } श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
१ चैत्र संवत् १९८३ } स्वाध्याय मंडल.

(१) ताडासन।

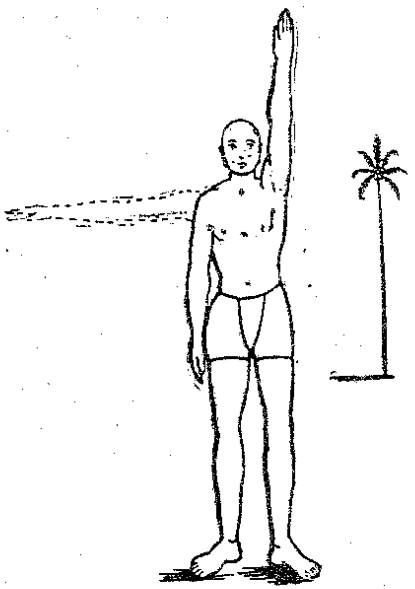

पाठकोंने ताडका वृक्ष देखाही होगा। नारियल, खजूर, सेंधी, ताड, ये वृक्ष करीब एक प्रकारके होते हैं। ये वृक्ष सीधे खडे होते हैं, और उनके पत्ते सबसे ऊपर होते हैं। वृक्षके धडके स्थानमें अपना शरीर खडा रखना होता है, इसलिये ये वृक्ष जैसे सीधे खडे होते हैं, वैसा सीधा खडा होना इस आसनके लिये आवश्यक है। दीवारके साथ पीठ लगाकर सीधा खडा रह जाइये। ऐसा खडा रहनेसे सिरका पिछला भाग, पीठ, चूतर, पांवकी एडी इनका स्पर्श दिवारके साथ होगा। दिवारका सहारा छोडकर यदि आप कमरेके बीचमें खडे रहेंगे, तो उक्त अवयव समरेखामें आने चाहिये; गला, कमर आदि भी सीधे हों। तात्पर्य सैनिक विभागमें

सैनिक जैसे सीधे खडे हो जाते हैं, वैसे आप प्रथम सीधे खडे हो जाइये। इस आसनके सिवायभी साधारण चलनेके समय आपको ऐसाही ताडवृक्षके समान सीधा रहकर चलना चाहिये। पृष्ठवंशको सीधा रखना योगसाधन के लिये अत्यंत आवश्यक है। आरोग्यके लिये भी पृष्ठवंशको सीधा रखनेकी बडीभारी आवश्यकता है।

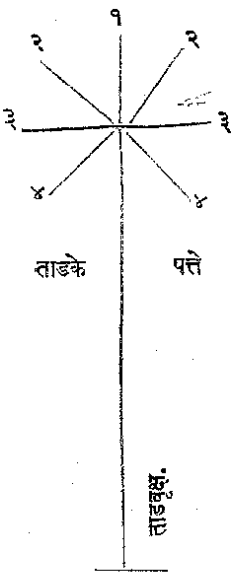

उक्त प्रकार ठीक खडा रहनेके पश्चात् अपने हाथोंको ताडपत्तों के स्थानपर समझकर एक एक हाथको एक एक स्थानपर धरनेका यत्न कीजिये। अपना एक हाथ ऊपर सीधा कीजिये, हाथ ऊपर बिलकुल सीधा कीजिये, जहांतक हो सके वहांतक उसको ऊपर खींचनेका यत्न कीजिये; जैसा कि आपके मनमें कमरेके छतको हाथ लगाना है। ऐसा खींचनेसे गुदा और शिस्नके पासकी नस नाडियाँभी ऊपर खींची जातीं हैं, तथा जो हाथ ऊपर खींचा जाता है, उस तर्फकी पेटकी नसनाडीयां ऊपर खींची जातीं हैं। इस आसनके करनेके

समय इस आवश्यक बातको मनमें रखिये कि, गुदातककी नस-नाडी पर भी ऊपरकी ओरका खिंचाव आना चाहिये तब आसनका परिणाम ठीक प्रकार होता है। जब अपने हाथको सीधा ऊपर "१" के स्थानपर रखकर ऊपर खींचेंगे तब अधिक खिंचाव होगा; तत्पश्चात् "२" के स्थानपर तथा क्रमशः "३ और ४" के स्थानपर रखकर बाहिर की ओर खींच लीजिये। "३ और ४" के समय उतना खिंचाव नहीं आवेगा, जितना कि "१ और २" के समय आसकता है। इसी प्रकार दूसरे हाथका भी कीजिये। तत्पश्चात् दोनों हाथोंका एक समय कीजिये। इसके अनंतर हाथको अपने सामने तथा अपने पीछे, जितना होसके उतना करके भी, खींचना चाहिये। खींचना मनसेही है न कि दूसरेकी सहायतासे। दूसरेकी सहायतासे करेंगे, तो वह परिणाम नहीं होता है, जैसा कि अपने मनसे करनेमें होता है; और दूसरी बात इसमें यह है कि, अपने मनका स्वामित्व अपने शरीरके प्रत्येक नसनाडीपर स्थापित करना है, इसलिये मनसेही और अपनीही शक्तिसे खींचनेका यत्न होना चाहिये। इस आसनमें तो कोई कठिनता नहीं है। एक दो बारके अभ्यासके ध्यान पूर्वक देखनेपर स्वयं पता लगता है कि किस प्रकार खिंचाव करना चाहिये, और किस नसनाडी और स्नायुतक खिंचाव पहुंचता है।

किसी एक अवस्थामें क्षणमात्र रहनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा, परंतु कमसे कम दो तीन मिनिट, अथवा इससेभी कम चाहिये तो एक मिनिट तक एक अवस्थामें स्थिर रहना चाहिये, तब कुछ परिणाम होगा। जिस स्नायुपर खिंचाव आता है, वहांके सब मल और दोष दूर होते हैं, और वहां शुद्ध रक्तका संचार होने लगता है। पेटपरभी इस आसनका परिणाम अच्छा लाभदायक होता है।

इस आसनके करनेके समय श्वास और उच्छ्वास अत्यंत शांत, गंभीर, गहरा और दीर्घ लेना चाहिये तथा अपनी सब मानसिक शक्ति हाथमें ही रखनेका यत्न करना चाहिये। तथा जहां खिंचाव होता है, वहांके पूर्ण आरोग्यका चिंतन करना उचित है। इससे पेट और पीठके सब स्नायुओंको लाभ पहुंचता है।

यह आसन पांव पास पास रखकर, अथवा पावोंमें अंतर रखकर, खडा होकर किया जासकता है। यह आसन सब शरीरको सम रेषामें रखकर ही करना चाहिये, विशेषतः पृष्ठवंश—मेरुदंड—को सम रेखामें सीधा रखना अत्यंत आवश्यक है। इसमें एक हाथसे तथा दोनों हाथोंसे करनेका विधि ऊपर दिया ही है। जब उक्त प्रकार ठीक होने लगेगा, तब कमरके निचले भागको स्थिर ही रखते हुए, कमरके ऊपरले भागको ही जहां तक हो सके वहांतक दांई और बाई ओर घुमाना चाहिये। इस घुमानेके समय आसनके हाथका

स्थान वैसाही रखना होता है। सब का सब ऊपरला भाग जैसा का वैसा घुमाना है। ऐसा घुमानेसे पेटपर अच्छा परिणाम होता है। हाथ ऊपर करनेसे पेटके स्नायुओंमें ऊपर ला खिंचाव होता ही है और ऐसा घुमानेसे दोनों ओर खिंचाव होकर पेट अच्छा रहनेमें बडी सहायता होती है। ऊपरला धड घुमानेके समय दाईं और बाईं ओर जितना अधिक क्रमशः घुमाया जाय उतना अधिक अच्छा है।

इस समय ठोडीको कंठमूलमें, तथा दांये और बांये कंधेपर क्रमशः लगानेसे, तथा सिरका पिछला भाग कंठके पिछले मूल भागमें लगानेका केवल यत्न करनेसे, कंठके स्नायुओंमें नवजीवन आता है।

जिस समय आप इस आसनमें स्थिर रहेंगे उस समय अपने फैलेहुए हाथों के पंजों को बहुतही सख्त मिटाकर फिर बहुतही फैलाइये। हाथका पंजा मिटाना और फैलाना अपनी सब शक्तिके साथ जोरसे कीजिए। इससे खूनका प्रवाह होनेमें मदत होगी, हाथ के स्नायुओंको बडा व्यायाम होगा, उसमें पकडनेकी शक्ति आजायगी, और अपने बलका भी पता लग जायगा। यदि आप विना थके हुए पांच सो बार कर सकते हैं, तो आपकी शक्ति अच्छी समझी जायगी। साधारण मनुष्य दस बीस बारमेंही थक जाते हैं। परंतु ख्याल रखिये कि, स्पर्धामें आकर आप अपनी शक्तिसे अधिक बार न कीजिये,

थोडा थोडा अभ्यास बढाते जाइये; अन्यथा आपके मज्जातंतुओंमें अधिक थकावट आजायगी। इसलिये सब अभ्यास अपनी शक्तिके अंदरही होना चाहिये। यह नियम सदाके लिये स्मरण में रखिये।

पंजा मिटाना और फैलाना उसी समय करना चाहिये कि, जिस समय हाथ फैले हों। हाथ ऊपर नीचे, तिरछे और बाहुकी समरेखा में रखे जाते हैं, हरएक वार पंजा मिटाकर फैलानेका थोडा थोडा अभ्यास करना अच्छा है जिस समय आप दफ्तरमें काम करते हैं, घंटा दो घंटे काम करनेके पश्चात् यदि आप दो चार मिनिट ताडासन करेंगे, तो आपके अंदर उत्साह द्विगुणित हो जायगा। सुस्ती दूर होगी और फिर नये स्फुरणसे आप अपना काम कर सकेंगे। परंतु स्मरण रहे कि, यह ताडासन करनेके समय कपडे तंग न हों, कपडोंके सब बटन खोल कर तथा कमरबंध ढीला करके आप कपडोंके समेतभी कर सकते हैं। मस्तिष्कके काम करनेवालोंको शीर्षासन अत्यंत उत्तम है, परंतु वह कपडोंके समेत नहीं हो सकता। इसलिए कपडोंके समेत होनेवाला यह ताडासन बहुत अच्छा है। हरएक स्थानपर यह हो सकता है। पाठशालाओंमें विद्यार्थी, अध्यापक, कार्यालयोंके कर्मचारी आदि घंटा दो घंटेके पश्चात् चार पांच मिनिट इसको कर सकते हैं, और इससे लाभ उठा सकते हैं। रेलमें

प्रवास करते करते, जिस समय बैठे बैठे मनुष्य थक जाता है, इस आसनसे पांच मिनिटमें थकावट दूर हो जाती है।

यदि सब शरीरको चालना नहीं देनी है, तो खुर्सीपर या जमीन पर--बैठे बैठे ही हाथों द्वारा इस ताडासनको किया जा सकता है, इससे ऊपरले धडको अवश्य लाभ पहुंचता है। बिस्तरे पर लेटकर भी इसको किया जा सकता है, चार पाई पर सोना है तो ढीली चार पाई न हो, जो जमीन पर सोते हैं उनको तो कोई कठिणता ही नहीं है। सवेरे बिस्तरे पर उठनेके पूर्व ओढनेके कंबल ऊपर रखते हुए ही आप अपने हाथोंको ऊपर, तिरछे और बाहुकी समरेखामें फैलाइये और पंजेको मिटा कर फैलाइये। जैसा आप खडा रहकर कर सकते हैं वैसाही ठीक बिस्तरे पर सोते सोते ताडासन कर सकते हैं। प्रतिदिन इस प्रकार दस पांच मिनिट करनेसे बडा लाभ होता है। जाग आते ही सुस्तीके कारण जो शीघ्र उठ नहीं सकते, वे इस आसनको बिस्तरेमें करेंगे, तो तत्काल उत्साहका अनुभव कर सकते हैं। शौच शुद्धिके लिए भी इससे बडा लाभ होता है।

यह आसन स्त्रियां कर सकतीं हैं तथा सब अवस्थाओंके स्त्रीपुरुषों बाल और वृद्धों को यह लाभदायी है। इस का विशेष परिणाम पेट पर अच्छा होता है।

(२) कोनासन.

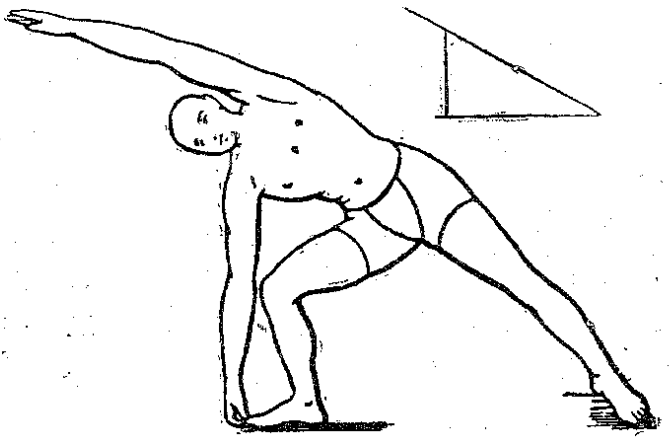

सबसे पहिले पांव फैलाकर खडे रहिये, और पीठ समरेखामें रखकर पूर्वोक्त प्रकार ताडासन कीजिए। जब अच्छी प्रकार हो जाय तब एक पांवको सीधा रखकर दूसरे पांव को मोडकर अपने एक हाथसे मोडे हुए पांवके अंगुठेको स्पर्श कीजिये तथा दूसरा हाथ सीधे पांवकी समरेखामें सीधा रखिये। कुछ देर इसी प्रकार ठहरकर फिर सीधा खडा हो जाइये। तत्पश्चात् दूसरे पांवको मोडकर दूसरी तर्फ का आसन कीजिए। जब दाई ओर बाई ओरका ठीक हो जाय, तब समझिये कि आपका अभ्यास ठीक हुआ है।

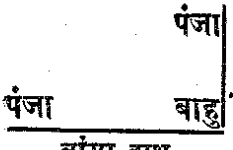

इस आसन को करनेके पूर्व ही ताडासनमें अपने हाथोंको साथ बतायी हुए रीतिसे समकोणमें रखेंगे, और उस प्रकार समकोणमें रखे हुए हाथोंके समेत ही आप बाये हाथको नीचे बांये पांव तक शनैः शनैः और मंद वेगसे ले आयेंगे, तो इस आसनका अभीष्ट अच्छी प्रकार सिद्ध हो जायगा। इसी प्रकार दूसरी तर्फ करनेके समय आप हाथोंको साथ वाली रीतिके अनुसार पहिले रखेंगे और दांये हाथको दांये पांवतक

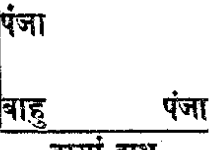

मंद वेगसे ले आयेंगे तो अच्छा होगा। शीघ्र गतिसे लानेमें इससे वैसा लाभ नहीं होता कि जैसा मंद वेगसे लानेसे होता है। इससे पेटके नस नाडियोंपर बडा परिणाम होता है, तथा हाथ पांवके स्नायुओंतक इसका परिणाम अनुभवमें आता है। पहिले इसका अभ्यास दो चार सेकंदही किया जाय पश्चात् समय बढाया जा सकता है। जो मनुष्य इसको पहिले पहिले पूर्ण रीतिसे और अच्छीप्रकार कर नहीं सकते उनको बलसे करना नहीं चाहिये। थोडा थोडा अभ्यास बढाकर दस पंद्रह दिनोंमें ठीक आ जाता है, जो पहिले दिन ही अच्छी प्रकार करते हैं उनके लिये कोई विशेष बातही नहीं है।

विशेष स्पष्टीकरण।

पूर्व स्थलमें ताडासनका वर्णन लिखा है, उसके अनुसार

खडे रहिये। दो पावोंके बीचमें अंतर करीब दो हाथ रखिये। इक हाथ सीधा ऊपर और दूसरा उसके समकोणमें रखकर पूर्ववत् अच्छीप्रकार खिंचाव कीजिये। तत्पश्चात् उसी समरेखामें शनैः शनैः हाथ नीचे करके उससे पांवका अंगुठा पकडलीजिये, और दूसरा हाथ पांवके साथ सीधी रेषामें रखकर उसे ऊपर खींचनेका यत्न कीजिये। इस समय इस पांवका घुटना सीधा रहेगा और दूसरा तेढा हो जायगा, जैसा कि ऊपरके चित्रमें बताया है।

इसी प्रकार दूसरी ओर करना चाहिये। इस आसनसे पीठ, कमर, पांव, हाथ, पेट आदि स्थानके स्नायु अच्छी प्रकार खिंचाव होनेके कारण निर्दोष हो जाते हैं। विशेष लाभ होनेके लिये कमसे कम दस सेकंद इस आसनको करना चाहिये। जितना अधिक होगा उतना अच्छा है। मनकी इच्छा शक्तिसे जितने स्नायुओंमें खिंचाव उत्पन्न किया जा सकता है, उनमें आरोग्य होना संभव है।

कमर, पीठ आदि स्थानोंमें दर्द होनेकी अवस्थामें थोडा थोडा करने परभी बडा लाभ हो सकता है। वारंवार करते रहनेसे वहां दर्द उत्पन्नही नहीं हो सकता। इस आसनका विशेष उपयोग बगलके स्नायुओंको ठीक करनेके कार्यमें होता है। जमीनपर लेटकर पीठ जमीनको लगाते हुए भी यह आसन किया जा सकता है, इस समय सिरका पिछला भाग, पीठ, चूतर, एडीतक पांव, हाथ इनका स्पर्श जमीनको होता है। इससेभी उक्त लाभ हो सकते हैं। बहुत दर्द होनेकी अवस्थामें

जिस समय खडा होकर नहीं हो सकता, उस समय लेटकर करके भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

जो हृदयके कमजोर हों और खडा रहकर करनेसे जिनको कठिनता प्रतीत होती हो, उनको उचित है कि, वे जमीन-पर लेटते हुए, ही इसको करें और लाभ उठावें। एक दो मास ऐसा अभ्यास करनेसे वे खडा रहकर भी कर सकते हैं। सर्दीके दिनों में बिस्तरेपर लेटते हुए कपडे ओढकर भी यह आसन अच्छी प्रकार हो सकता है। जाग आनेके पश्चात् और उठनेके पूर्व बिस्तरेमें ही यह आसन दो चार वार दाईं बाईं ओर किया जा सकता है, इससे शौचशुद्धिमें बडी सहायता हो सकती है। वृद्ध मनुष्य शनैः शनैः इसी प्रकार करके लाभ उठा सकते हैं।

खुर्सीपर बैठकर यह आसन अच्छी प्रकार हो सकता है। कार्यालय में घंटा दो घंटे कार्य करनेके पश्चात् दस पांच सेकंद इस आसनको खुर्सीपर बैठे ही करनेसे नवीन उत्साह उत्पन्न हो सकता है। और शिथिलता दूर हो सकती है। इस समय कपडे ढीले किये जांय। कपडे तंग रहनेसे लाभ नहीं हो सकता।

यदि जमीनपर चौकी लगाकर बैठकर यह आसन करना हो, तो आसन का ऊपरका आधा भाग किया जा सकता है। इस समय एक हाथकी कोहनी जमीन को लगानी और दूसरा हाथ पूर्ववत् ऊपरकी ओर खींचना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय, तो यही ऊपरका आधा भाग इस आसनमें मुख्य है। और निचला भाग गौण है। जो हाथ ऊपर होता है। उसका आगे तथा पीछे झुकाव करनेके साथ ऊपरका खिंचाव करनेसे

क्रमशः पीठ और पेट के स्नायुओंपर इष्ट परिणाम होता है। इससे पेट, पीठ और बगलके स्नायु ठीक निर्दोष होनेमें सहायता होती है। गर्भवती स्त्रियां इसको न करें अन्य स्त्रीपुरुष कर सकते हैं।

(३) हस्तपादांगुष्ठासन।

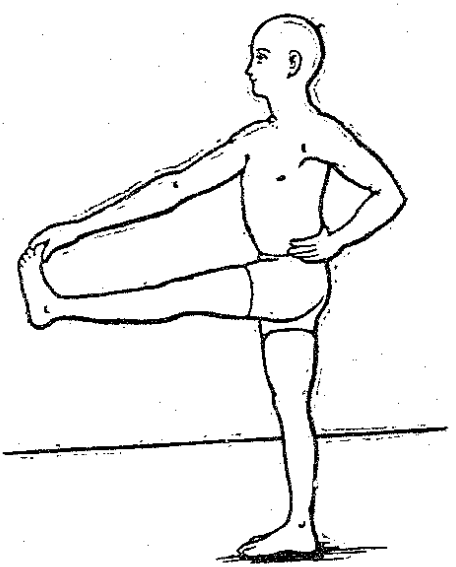

छाती आगे फैलाकर समरेखामें खडे रहिये, सिर, गला, पीठ, चूतर और पांव सीधे समसूत्रमें हों। घुटने सीधे रखिये। दो पांव एक दूसरेके पास हों। अब एक पांव घुटना सीधा रखकर शनैः शनैः ऊपर कीजिये, जब यह पांव दूसरे पांवके साथ समकोणमें आजाय, तब भूमिके साथ समांतर होगा;

इस समय एक हाथसे एक पांवका अंगूठा पकड लीजिये और दूसरा हाथ कमरपर रखिये, अथवा किसी प्रकार किधर भी रख सकते हैं। क्योंकि इसका कोई कार्य इस आसनमें नहीं है। हाथ और पांवके हेर फेरसे यह आसन दो चार प्रकारका होता है।

जब आप इस आसनपर कुछ देर तक ठहरेंगे, कमसे कम आधा मिनिटतक ठहरेंगे, तत्पश्चात् ऊपर किये हुए पांवके घुटनेको अपना सिर अथवा नाक लगानेका यत्न कीजिये। इस समय अपनी इच्छा शक्तिसे पेटको अंदर खींचना चाहिये और कमसे कम एक मिनिटतक घुटनेपर सिर अथवा नाक लगाकर रखना चाहिये। इतना होना पहिले पहिले कठिन है, तथापि मास दो मासके अभ्याससे सुगमतया हो सकता है। इस आसनसे पांव, जंघा, कमर, पीठ, पेट, गला आदि स्थानके स्नायुओंकी निर्दोषता हो जाती है। करनेवालेको पहिलेही दिन पता लग जाता है कि, इतने स्थानोंमें इस प्रकार परिणाम हो रहा है।

जो पहिले दिन इस प्रकार बीचमें खडे नहीं हो सकते उनको उचित है कि वे प्रारंभमें दिवारका सहारा लेकर खडे हो जांय, तथा ऊपर उठाये पांव के नीचे मेज, खुर्सी या और कुछ रखें। ऐसा सहारा लेनेसे आसनका परिणाम यद्यपि न्यून हो जाता है, तथापि आसन बननेमें बडी सहायता हो जाती है। पहिले दिन घुटनेको सिर लगना भी कईयों को अशक्य हो जाता है, परंतु एक दो मासके अभ्याससे सब कुछ ठीक होने लगता है। जैसा जैसा अभ्यास बढ जायगा,

वैसा वैसा किसी सहारेके विना आसन करनेका यत्न करना चाहिये अर्थात कमरेके बीचमें खडा होकर उक्त सब प्रकारसे यह आसन बनाने चाहियें और कमसे कम एक दो मिनिट स्थिर होना चाहिये।

जो खडा होकर नहीं कर सकते, वे जमीनपर लेटकरभी कर सकते हैं। छतकी ओर छाति और भूमिको पीठ लगाकर लेट जाइये और शनैः शनैः मंदवेगसे एक पांव ऊपर कीजिये। दोनों घुटने सीधे रखिये। तत्पश्चात् हाथसे पांवका अंगुठा पकड कर सिर उठाकर घुटनेको लगाइये। इस प्रकार बिस्तरेपर लेटकर यह आसन हो सकता है। इसी रीतिसे बगलपर लेटकर भी हो सकता है। वृद्ध और अशक्तोंको लेटकर ही करना योग्य है।

खुर्सीपर बैठकर भी यह आसन होता है। इस समय खुर्सीपर बैठनेके कारण एक पांवका घुटना सीधा नहीं होगा, परंतु आसन का ऊपरका आधाभाग पूर्ववत् हो सकता है और बहुतसा लाभ हो सकता है। खडे होनेकी अवस्थामें इधर उधर गिरनेका संभव होता है, परंतु खुर्सीपर बैठकर करनेसे उस प्रकारके कोई कष्ट नहीं होते और आसन बनता है।

जमीनपर एक पांवसे चौकी लगाकर तथा दूसरा पांव सीधा आगे फैलाकर इस आसन का आधा भाग किया जाता है। यही भाग इस आसनमें मुख्य है। तथापि खडा रह कर करना मुख्य है और अन्य रीतियां लाभकी दृष्टिसे गौणही हैं। परंतु अशक्तोंके लिये अन्य रीतियां सुकर हैं।

स्त्रीपुरुष समानतया यह आसन कर सकते हैं।

(४) गरुडासन ।

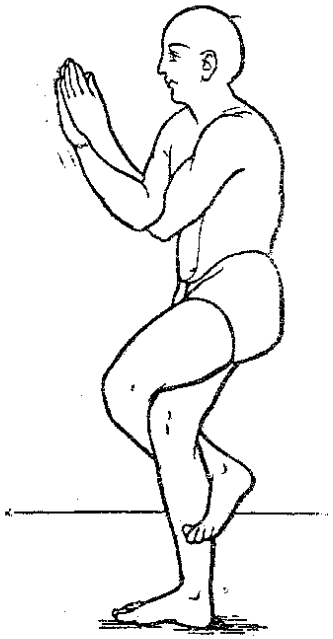

खडा रहकर एक पांवपर दूसरा पांव ऐसा लपेटना जैसी वृक्षपर वली होती है। हाथ भी एक दूसरेके साथ वैसाही लपेटना चाहिये और हाथके दोनों तलवे एक दूसरेको लगने चाहियें। इस आसनसे पांवों और हाथोंके सब स्नायुओंपर अच्छीप्रकार खिंचाव आता है, इसलिये वे निर्दोष होते हैं। दूषण वृद्धि की बीमारी इस आसनके करनेसे तथा वस्तिधौतिके करनेसे दूर होनेका अनुभव है। तथा घुटनोंका दर्द तथा पावका दर्द भी इससे दूर होता है। हाथको भी इसी से लाभ पहुंचता है।

यह आसन खुर्सीपर बैठकर, तथा भूमिपर लेटकर भी होता है। और इससे वही लाभ प्राप्त होता है जो ऊपर लिखा है।

इस आसनमें एक पांव सीधा होता है, और दूसरा उसपर लिपटा होता है। इस लिपटे हुए पांवका अंगुठा जमीनको लगानेका यत्न करनेसे इस आसनका पूर्ण लाभ प्राप्त होता है।

इस समय दोन पांव घुटनेमें तेढे करने पडते हैं, और प्रारंभमें किसी का सहारा लेना पडता है। इस समय दोनों हाथ घुटनोंपर रखना उत्तम है।

पांवों और हाथोंके हेरफेर से यह आसन करना चाहिये। यह आसन स्त्रियोंके गर्भधारण होनेके बाद करना उचित नहीं है।

(५) उत्कटासन.

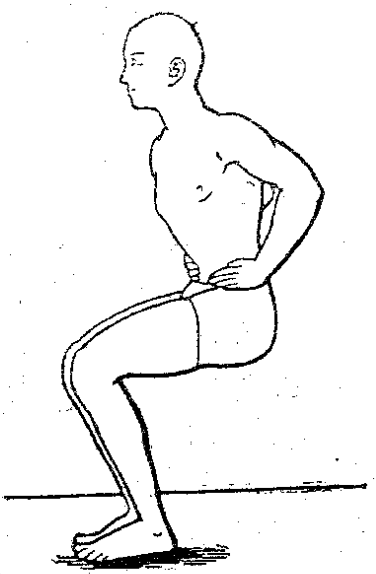

जिस प्रकार खुर्सीपर बैठते हैं उस प्रकार खुर्सीके विना बैठनेका नाम उत्कटासन है। पहिले खडा होकर शरीरको शनैः शनैः नीचे करना और जंघाओंको घुटनोंकी सम रेखामें लानेसे यह आसन सिद्ध होता है। इस समय हाथ जैसे चाहे वैसे रखे जासकते हैं। तथा घुटने पांवको अंगुठोंकी सम रेखामें रखने चाहिये। आगे नहीं जाने चाहिये। जब इस प्रकार रहनेका अभ्यास हो जाय तब पावोंके

अंगुठोंको ही केवल जमीनपर रखकर, एडीयोंको ऊंची करके, दोनों पावोंके पंजों या अंगुठोंपरही शरीरका बोझ डालकर कुर्सीपर बैठनेके समान बैठे रहनेका अभ्यास करनेसे और अधिक लाभ हो सकता है।

इस रीतिसे पावोंके अंगुठोंपर का उत्कटासन सिद्ध होनेके पश्चात् दोनों घुटनोंको अलग अलग करनेका यत्न कीजिये। दोनों एडियां एक दूसरेके साथ मिलीं रहें परंतु दांयां घुटना दाईं ओर तथा बायां घुटना बाईं ओर घुमाइये। जब दोनों घुटने इस ढंगसे दोनों ओर पूर्णतासे होंगे तब यह आसन सिद्ध हो जायगा।

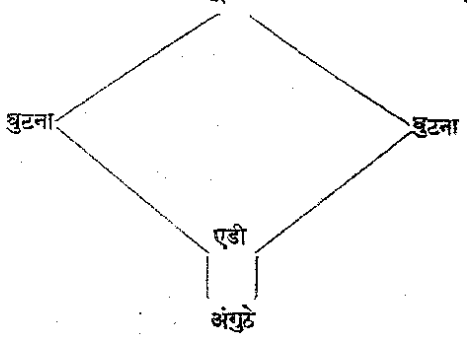

इसके करनेके समय किसी पदार्थका सहारा लेना नहीं चाहिये, और पांवके बलपर ही खडा होना चाहिये। इससे पांवकी शक्ति बढती है। जिनके पांव कमजोर हों उनको इस आसनसे बडा लाभ होता है। पांवकी सूजनका एक रोग है, जो गरुडासन तथा उत्कटासन वारंवार और हेर फेरके साथ करनेसे अच्छा हो जाता है। इस आसनके उक्त सब प्रकारोंमें पीठको जहांतक हो वहांतक सम रेषामें रखनेका यत्न करना चाहिये।

होते हैं। अंगुठे पकडनेके समय दांये हाथसे बांये पांवका और बांये हाथसे दांये पांवका अंगुठा पकडनेसे एक प्रकार का पादहस्तासन होता है। तथा पहिले पांवोंको एक दूसरेके स्थानपर रखकर फिर पूर्ववत् पांवके अंगुठे पकडनेसे दूसरा प्रकार सिद्ध होता है। इसके बाद, जब इतना आसन ठीक प्रकार होगा, तब पावोंके दोनों ओर अथवा पावोंके सामने हाथोंके पूरे तलवे जमीनपर रखने चाहिये। जब यह ठीक होने लगेगा, तब अपना नाक घुटनेको लगाइये, अथवा अपना मस्तक दोनों घुटनोंके बीचमें रखिये। मस्तक दोनों घुटनोंके बीचमें इतना जाना चाहिये कि, कानोंको घुटनोंका स्पर्श हो जाय। इसका और एक प्रकार यह है कि, अपना मस्तक घुटनोंके नीचे दस बारह अंगुल पांवों पर लगाना। घुटने और पांव तक जो अंतर है उसके मध्यमें सिर आजाय, और वह दोनों पांवोंके बीचमें चला जाय।

यह आसन करनेके समय विशेष ध्यान इस बातके विषयमें देना चाहिये कि, पांव सीधे रहें, घुटने तेढे न हों और हाथ भी जहां तक हो वहांतक सीधे हों। तथा इस आसनको करनेके समय पेटको अंदर अच्छीप्रकार खींचना चाहिये। पेट जितना अंदर खींचा जाय उतना अधिक लाभ इससे होता है। पांवके स्नायुओंपर अच्छा खींचाव आता है, तथा पीठ, कमर आदिके स्नायु अच्छे खींचे जाते हैं, इसलिये इस स्थानका आरोग्य इसके अभ्याससे प्राप्त होता है। तथा पेटपर भी इस

का उत्तम परिणाम होता है। यकृत और प्लीहा निर्दोष होती है, पेटका स्थान और आंतोंके भाग भी शुद्ध होनेमें बडी सहायता होती है।

इसके करनेसे जठराग्नि बढता है, भूख बडी लगने लगती है, अजीर्ण दूर भाग जाता है, कृमिविकार हटता है, तिल्लीके विकार कम होते हैं, पेट में कृशता आती है अर्थात् मेद हटता है। विशेषतः यकृत् की निर्दोषता होनेसे शरीरके बहुतसे रोग जो अजीर्णसे बढते हैं, दूर होते हैं। इस आसनसे विशेष लाभ प्राप्त करनेके लिये कमसे कम दस मिनिटतक तो अवश्य ही करना चाहिये। विशेष करनेसे विशेष लाभ होगा। तथापि एक मिनिट पर्यंत इस आसनमें स्थिर रहनेसे भी लाभका अनुभव होने लगता है।

इस आसनसे पेटके वायुकी निम्नगति होती है, और वह गुदद्वारसे बाहिर जाता है, इसलिये शौचशुद्धिमें भी इसका बडा उपयोग होता है। किंचित् जलपान करके इस आसनको करनेसे शौचशुद्धि होनेमें बडी सहायता होती है।

इस आसनसे सुषुम्ना नाडीका बल बढ जाता है, और शुद्धता भी होती है। इसलिये मज्जातंतुओंके बहुतसे दोष इस आसनसे दूर होते हैं।

यही आसन जब बैठ कर किया जाता है तब उसको पश्चिमोत्तानासन कहते हैं, इसका विधि देखिये—

---

(८) पश्चिमोत्तानासन।

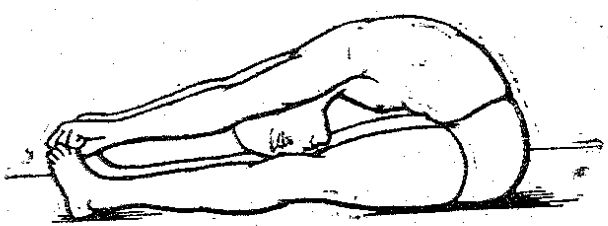

जमीनपर बैठकर पांवोंको आगे फैलाइये। पश्चात् दोनों हाथोंसे दोनों पावों के अंगुठे पकड लीजिये और सिर दोनों घुटनोंके बीचमें रखिये। पूर्व लिखित आसन के अनुसार ही हाथों और पांवों के हेर फेर से तथा नाक अथवा सिर घुटने पर अथवा घुटनेके आगे लगानेसे इसके चार प्रकार होते हैं। उनको पूर्व लिखित विधिके अनुसार ही करना चाहिये। पूर्व आसन खडा होकर किया जाता है और यह बैठकर किया जाता है। इतना ही दोनोंमें भेद है। बाकी दोनों आसनों की विधि और दोनों के लाभ एक ही हैं। इसके

लाभों का वर्णन पूर्व आसनमें ही देखिये। इसको "पश्चिमतान" अथवा "पश्चिमोत्तान" भी कहते हैं।

जमीन पर लेट कर भी यह आसन होता है। जमीन पर पीठ का थोडासा भाग लगता है और पांव सिर के ऊपर से सिर के पीछे आते हैं, अंगुठे आदि पूर्ववत् ही पकडे जाते हैं। इस से भी लाभ पूर्ववत् ही होते हैं।

खडा रह कर करने में हाथ और पांव सीधे रहते हैं, परंतु बैठ कर अथवा लेट कर करनेमें घुटनों समेत पांव तो अवश्य ही सीधे सम सूत्रमें रखने चाहिये, परंतु हाथ बिलकुल सीधे नहीं रहते। तथापि इससे कोई फलकी न्यूनता नहीं होती। कई लोग खडा रह कर बडी देर तक यह आसन कर नहीं सकते उनको बैठ कर या लेट कर करनेसे वेही लाभ प्राप्त हो सकते हैं। प्रत्येक वार करनेके समय पेटको अंदर लेजाना और घुटने सीधे रखनेका ख्याल अवश्य रखना चाहिये।

स्त्रियां गर्भवती होनेकी अवस्थामें तीन मासके पश्चात् इस आसनको न करें। पुरुषोंके लिये यह रुकावट नहीं है। पंद्रह मिनिटतक प्रतिदिन यह आसन करनेसे पेटके विकार दूर होते हैं।

लोग भूख लगनेपर अयोग्य पदार्थोंका सेवन करके फिर अपना स्वास्थ्य बिगाड देते हैं।

जिन रोगोंमें मलमूत्रका स्तंभन होता है, आंतोंमें उष्णता बढ जाती है और वायुका प्रकोप होता है, उन रोगोंको, यह आसन पूर्वोक्त पथ्यके साथ करनेपर दूर करता है। पेटका दर्द, नाभिस्थान का शूल अथवा जो सिरदर्द पेट बिगडनेसे होता है वह इस आसनके अभ्याससे दूर हो जाता है। सिरका भारापन, नेत्रोंका दाह, अंगोंकी दुर्बलता, मूत्र स्थानके क्लेश खुजली, आमके कारण होनेवाला सूक्ष्मज्वर, मुख की अरुचि, बेचैनी, आलस्य आदि सब इसके उत्तम अभ्याससे दूर होते हैं। तात्पर्य यह है कि, जिन रोगोंकी उत्पत्ति आंतोंके दोषोंसे होती है वे रोग इस आसनके अभ्याससे दूर हो जाते हैं।

यह आसन एक वार दांये पांवसे करनेपर दूसरी वार बाये पांवसे अवश्य करना चाहिये। इसमें भूलना नहीं चाहिये। तात्पर्य। दांये और बांये अंगोंके साथ इसका अभ्यास सम प्रमाणमें होना आवश्यक है। जितनी वार और जितना समय एक अंगसे किया है उतनी वार और उतना समय दूसरे अंगसे करना चाहिये। ऐसा न करनेपर कोई दोष नहीं होगा, परंतु लाभमें अवश्य हानि होगी।

इसकी दूसरी रीति—जिस पांवकी एडी गुदा और अंडकोश के बीचमें रखनी होती है, वह पांव वहां नीचे न रखते हुए, उसके तलवेको फैले हुए पांवकी जंघापर रखकर शेष आसन पूर्ववत् करनेसे भी यह आसन सिद्ध होता है। इससे भी पूर्ववत् ही लाभ होते हैं।

पहिले पहिले यह आसन बहुत देर नहीं होता, परंतु अभ्यास बढ जानेपर बहुत देरतक बैठा जा सकता है। कई-योंको तो पहिले दिन घुटनेपर सिर लगानाही कठिन प्रतीत होगा, परंतु महिना दो महिनोंके अभ्याससे लग सकता है। कमरमें और पेटमें विजातीय द्रव्य बहुत होनेके कारण घुटने-पर सिर लगाना कठिन हो जाता है। प्रतिदिन वहांके स्नायु-ओंपर खींचनेका दाब पडनेसे मास दो मासोंमें सब स्नायु और कमर तथा पेटकी नस नाडियां शुद्ध और निर्मल हो जातीं हैं। कईयोंका पेट कद्दूके समान बडा होता है, वे लोग ऐसा बडा पेट होते हुए भी अपने आपको तन्दुरुस्त समझते हैं, यह उनकी गलती है। मृत्युका निवास बडे पेटके अंदर होता है। अपनेही मृत्युको अपने पेटके अंदर स्थान देना कोई अच्छा कार्य नहीं है। इस आसनसे पेटकी अवस्था ठीक होती है, और वहांसे मृत्युको दूर भागना पडता है।

थोडा जलपान करके यह आसन करनेसे शौच शुद्धि होनेमें बडी सहायता होती है। तथापि शौचके पूर्व इस आसनको करना योग्य नहीं है। एक पांवसे जमीनपर खडा रहकर टेबलपर दूसरा पांव फैलाकरभी यह आसन हो सकता है। इस समय टेबलपर फैले पांवके घुटनेपर सिर रखना होता है और हाथ पूर्ववत् ही रखने चाहियें।

इस आसनका पहिला प्रकार स्त्रियोंको करना नहीं चाहिये, परंतु दूसरे प्रकार करनेमें कोई दोष नहीं है। तथापि गर्भवती होनेके चार मासके पश्चात् न करना अच्छा है।

(१०) उत्तानपादासन ।

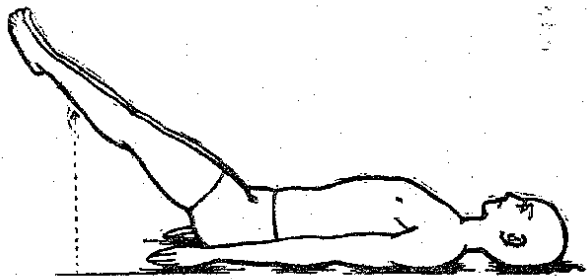

जमीन पर लेट जाइये । सब स्नायु ढीले कीजिये । और अत्यंत मंद वेगसे दोनों पावों को ऊपर उठाइये । जितने मंद वेगसे पांवों को ऊपर करें गे, उतना अधिक इष्ट परिणाम पेट के स्नायुओं और आतों पर होगा । पावों को शीघ्रतासे ऊपर करना सुगम है, परंतु अतिमंद वेगसे ऊपर करने में अत्यंत परिश्रम होते हैं, और अति मंद वेगसे करने पर ही इससे अत्यंत लाभ होता है । भूमीके एक हाथ ऊपर पांव आगये, तो वहां ही उनको स्थिर कीजिये । जितनी देर वहां रख सकेंगे, उतनी देर रखिये, और फिर अति मंद वेगसे पुनः नीचे भूमि की ओर ले जाइये ।

इस आसनसे क्षुधा प्रदीप्त होती है, शौच शुद्धि होती है और पेटके स्नायुओंमें बडा बल आता है । इस आसनका अभ्यास करनेवालेका पेट कद्दू के समान बडा नहीं हो सकता, और स्वाभाविक अवस्थामें ही रहता है ।

यह आसन बिस्तरे में भी उत्तम प्रकार से किया जा सकता है। जाग आते ही कुछ देर इस को करनेसे शौच शुद्धि होने में सहायता होती है। एक पांव को नीचे रख कर दूसरे को ऊपर उठाने से "अर्ध उत्तान पादासन" हो जाता है इससे पूर्वकी अपेक्षा कुछ न्यून लाभ होते हैं, परंतु उससे यह सुगम है।

कमर के ऊपर का भाग छाति और सिर के समेत भी इसी प्रकार ऊपर उठाया जा सकता है। इससे भी पेटपर बडा अच्छा परिणाम होता है। यह आसन स्त्रियां कर सकतीं हैं।

---

(११) पवनमुक्तासन।

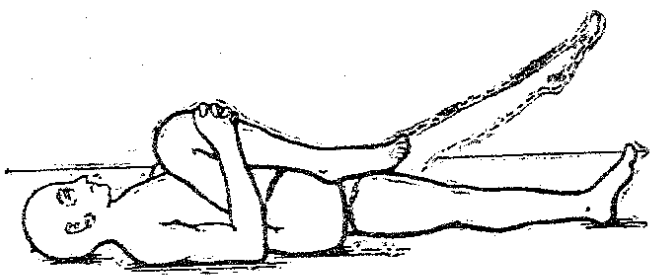

भूमिपर लेट जाइये और एक पांवको घुटनेमें मोडकर पेटके ऊपर अच्छी प्रकार दबाइये। फिर उसको सीधा जमीनपर

अथवा ऊपर सीधा रखकर दूसरे पांवको पेटके संग दबाइये। पेटके संग दबाकर थोडी देर ठहरना चाहिये, तब इसका परिणाम पेटपर तथा विशेषतः निचली आंतोंपर बडा अच्छा होता है और शौच शुद्धि होनेमें सहायता होती है। पांव जमीनपर रखने तथा अंतरालमें रखनेसे इस आसनके दो प्रकार होते हैं। पांव अंतरालमें रखनेसे उत्तानपादासन का भी लाभ साथ साथ हो जाता है।

इसका तीसरा प्रकार दोनों पांवोंको इकट्ठा पेटके साथ दबानेसे बनता है। यह भी पूर्ववत्ही लाभकारी होता है।

खडा रहकर भी एक एक पांवके साथ यह आसन इसी प्रकार किया जा सकता है। खुर्सी पर बैठ कर भी एक एक पांव के साथ तथा दोनों पांवों के साथ किया जा सकता है। जमीन पर पांवों के तलवों पर बैठकर दोनों पांवों को पेटके साथ दबा कर यह आसन हो सकता है।

पेटके वायु को नाभि के नीचे भेज कर अपान वायु की निम्न गति कराना इस आसन का फल है। थोडा जलपान कर के यह आसन किया जाय, तो शौचशुद्धि होने में बडी सहायता हो जाती है। जाग आने के पश्चात् बिस्तरे पर ही यह आसन कई वार किया जाय, तो शौच साफ होनेमें बडी सहायता होगी। गर्भधारण होने के पूर्व स्त्रियां इसका अभ्यास करें, गर्भधारण के पश्चात् कदापि न करें।

(१२) सर्वांगासन।

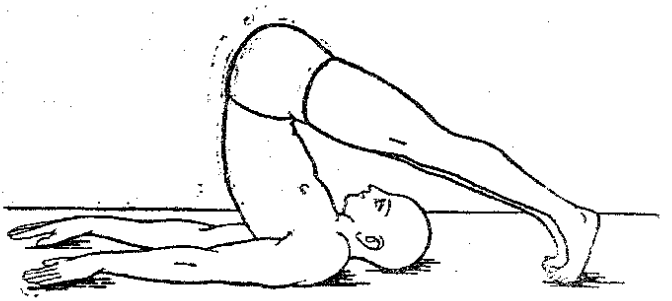

इसको हलासन भी कहते हैं।

प्रथम भूमिपर लेट जाइये। पश्चात् पांवोंको उठाकर अपने सिरके पीछे जमीनपर लगाईये, केवल पांवके अंगुठे और अंगुलियांही भूमिको स्पर्श करें और घुटनों समेत पांव सीधे सरल समसूत्रमें रहें। हाथ चाहे भूमिपर ही रखिये, चाहे सहारेके लिये कमरपर रखिये। हाथ भूमिपर रखकर सहारेके विनाही करेंगे तो अच्छा है, परंतु प्रारंभमें कमरको हाथोंका सहारा देनेसे सुगमतया यह आसन होता है।

इस आसनपर जितनी देर आप रह सकते हैं रहिये। इससे क्षुधा प्रदीप्त होती है, पेटके दोष दूर होजाते हैं, यकृत् और प्लीहा निर्दोष होजाती है, अजीर्णके सब ही रोग इससे दूर होजाते हैं। इस समय पेटको अंदर खींचना उत्तम है, परंतु यदि यह प्रारंभमें न हो सका, तो भी कोई पर्वाह नहीं है।

प्रयत्न करके आप इस आसनपर एक दो मिनिट रहेंगे

तो भी लाभका अनुभव आपको मिलेगा। दस मिनिट तक रहनेका अभ्यास होजाय, तो जठराग्नि अच्छीप्रकार प्रदीप्त होगा। परंतु प्रारंभमें बिलकुल थोडा करके पश्चात् जैसा जैसा अभ्यास बढेगा, वैसा वैसा समय बढानेसे सब प्रकृतिके मनुष्योंको इससे लाभ प्राप्त हो सकता है। स्त्रियां इसे बहुत देरतक न करें तथा गर्भ के चार मासके पश्चात् न करें।

(१३) कर्णपीडनासन।

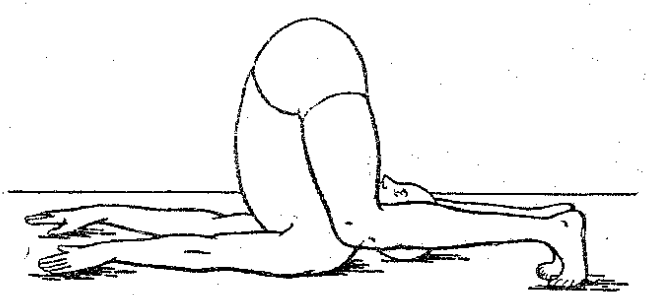

पूर्ववत् सर्वांगासन करके घुटने मोडकर कानों को लगानेसे कर्णपीडनासन बनता है। चाहे पहिले कमर पर दोनों हाथों का सहारा दीजिये, परंतु सहारे के विना करना अधिक लाभदायक है। इससे वेही लाभ होते हैं कि, जो पूर्व आसन में वर्णन किये हैं, परंतु उससे थोडे गुण अधिक हैं।

प्रारंभ में थोडी देर इस आसन पर ठहरना चाहिये और जैसा जैसा अभ्यास होगा वैसा समय बढानेसे बडा लाभ होता है।

(१४) ऊर्ध्व सर्वांगासन ।

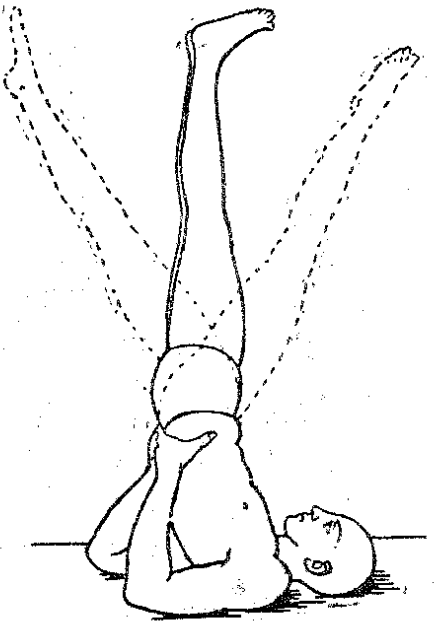

पूर्ववत् सर्वांगासन कर के युक्तिसे पावों को छत की ओर सीधे खडे करनेसे यह आसन बनता है । पूर्ववत् सर्वांगासन पहिले न करते हुए भी यह बन सकता है । नीचे लेट कर चूतड तक भूमिपर ही रखके केवल दोनों पांवों को जोड के ऊंचा करना, पश्चात् युक्तिसे केवल कंधा और माथा इन्हीपर सब शरीर को तान के खडा करनेसे यह आसन सिद्ध होता है । इस समय प्रारंभमें कमर को हाथों का सहारा दीजिये, परंतु पीछेसे हाथों के सहारे के विना ही करना उत्तम है ।

कई लोग इसको "विपरीतासन" अथवा "विपरीत करणी" अथवा केवल "सर्वांगासन" भी कहते है।

एक पांव को आगे और दूसरे को पीछे करनेसे इसके विविध प्रकार हो जाते हैं। तथा एक पांव सिर के पीछे भूमि-पर लगानेसे एक पांव का सर्वांगासन होता है और साथ साथ दूसरे पांव को ऊपर खडा रखनेसे ऊर्ध्व सर्वांगासन भी हो जाता है। इसी प्रकार एक पांव से कर्णपीडनासन कर के दूसरे पांव से ऊर्ध्व सर्वांगासन किया जासकता है। इस प्रकार हेर फेर से विविध आसनों को साथ करना उत्तम है।

इससे हृदय को विश्राम मिलता है, सब रक्त हृदय और फेंफडों में उतरनेसे रक्त शुद्धि होती है, रक्त सिर में उतर कर वहां की शुद्धता करता है और दोषों को धो देता है, इस लिये सिर दर्द इससे हट जाता है। आंख निर्दोष होते हैं, तथा गलेमें कफ का विकार न्यून हो जाता है। भूख बढ जाती है और पेटके विकार कम होते हैं। इस के विशेष लाभ शीर्षासन के समानही हैं।

इस समय ठोढी कंठमूलमें डंटकर लगानेसे कंठ भागें स्थित निकंठमणिकी शुद्धिद्वारा रक्तशुद्धिके केंद्र कार्यक्षम होते हैं। और इसके अभ्याससे सब रक्तदोष दूर हो जाते हैं। इस कारण इसके अभ्यास से अपूर्व आरोग्य प्राप्त होता है।

---

(१५) शीर्षासन ।

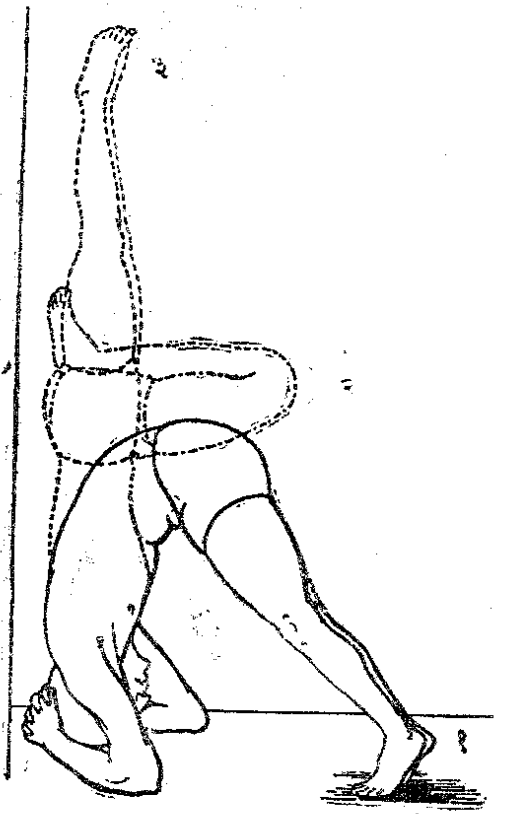

सिर पर खडा रहनेको "शीर्षासन" कहते हैं। इसीको योग शास्त्रमें (१) कपालासन, (२) विपरीतकरणी, (३) वृक्षासन भी कहते हैं। सिर (शीर्ष) पर खडा रहनेके कारण; शीर्षासन; (कपाल) मस्तकपर खडा रहनेके कारण कपालासन

वृक्षकी जडें जमीनमें जातीं हैं, उनके स्थान पर केश समझो और दो पावोंको इस अश्वत्थ वृक्षकी दो शाखायें समझेंगे तो इस आसनमें वृक्षत्वकी कल्पना होगी; इसीको विपरीत करणी

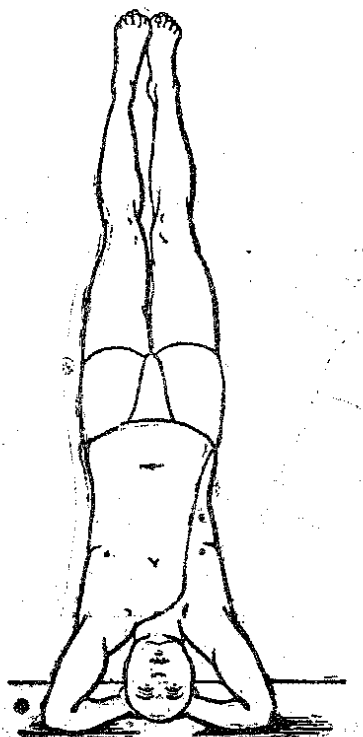

इस लिये कहा जाता है कि इसमें (विपरीत) उलटा खडा होना होता है। इस प्रकार इसके नामोंका विचार है।

प्रारंभमें यह आसन दिवारके साथ साथ करना अच्छा है, दिवारके साथ करनेसे पीछे झुक जाने और पीछे गिरनेका डर नहीं होता। तथा प्रारंभमें अकेलेही करनेका साहस करनेकी अपेक्षा एक दो मित्रोंको सहायताके लिये लिया जाय तो बडा अच्छा है। पांच चार दिनोंमें स्वयं ही किसी दूसरेकी सहायताके विनाही करनेका अभ्यास हो जाता है। और महिनेके अंदरही दिवारके आधारके सिवाय कमरेके मध्यमें ही यह आसन किया जा सकता है।

इस आसनमें सिर पर खडा रहना होता है, इस लिये सिरके नीचे अच्छा नर्म-मृदु-गादेला रखना आवश्यक है।

अथवा धोती किंवा अंगोछेकी गिंडुरी बनाकर उसपर सिर रखनेसे भी अच्छी प्रकार कार्य चल सकता है। तात्पर्य यह कि सिरके नीचे सख्त जमीन न हो, नहीं तो मस्तिष्कपर उसका बहुत बुरा परिणाम होगा।

(१) शीर्षासनकी पहिली रीति—गदेलेपर अथवा अंगोछे की गिंडुरीपर सिर रखके दोनों हाथ सिरके दोनों ओर रखने, फिर पांव ठीक सिरके ऊपर हों ऐसे लंबे करने। ऊपर तूंदी और नीचे तालु करनेसे शीर्षासन बन जाता है।

(२) शीर्षासनकी दूसरी रीति—दोनों हाथोंकी अंगुलियें एकमें एक डालके उस दोनों हाथोंके ऊपर सिर रखके पूर्ववत् पांव ऊंचे तानके स्थिर होना। इसका भी नाम पूर्ववत् कपालासन आदि है।

इस आसनमें सब शरीरका बोझ गला (गर्दन), हाथ, सिर आदिपर ही होता है। इस लिये इन अवयवोंमें बोझ सहन करनेका सामर्थ्य इस आसनके अभ्याससे आता है। वृद्ध आयुमें सिरके बोझसे गर्दन कांपने लगती है, परंतु जो लोग इस आसनका अभ्यास करेंगे, उनकी गर्दन कंपायमान नहीं होगी।

(३) शीर्षासनकी तीसरी रीति—पूर्व दोनों पद्धतियोंमें सिर अपने हाथोंके साथ लगा हुआ होता है। इस तीसरी पद्धतिका आसन करनेके लिये हाथोंके बीचमेंसे सिर अलग करके उस सिरको ऊपर उठानेसे यह तीसरे प्रकारका शीर्षासन सिद्ध होता है। पहिले प्रथम वा दूसरी रीतिका आसन

करके पश्चात् सिरको ऊपर उठा कर जितनी देर ऊपरही रख सकते हैं उतनी देर ऊपरही रखना। इस समय हाथके तलवे और सिरके बीचमें जितना अधिक अंतर हो, उतना अच्छा है। शीर्षासनके अन्य गुण इस रीतिमें प्राप्त होतेही हैं, और साथ साथ भुजाओंमें बहुत बल प्राप्त होता है। परंतु कंठ—गरदन—की भार सहन करनेकी शक्ति इससे नहीं प्राप्त होती, क्यों कि इसमें सब भार भुजाओंपर ही होता है।

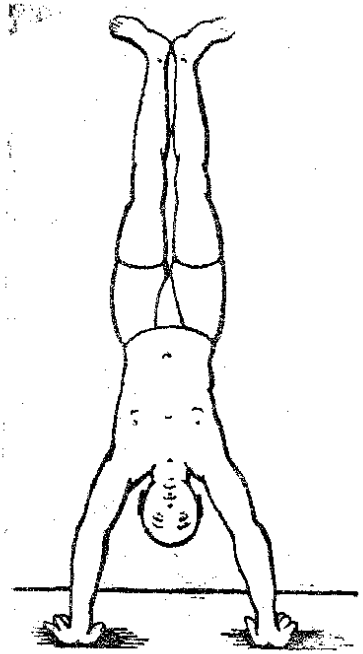

मुक्तहस्त वृक्षासन।

(४) शीर्षासनकी चौथी रीति—कोहनीसे अंगुलियोंके अंततक हाथ भूमिपर अलग अलग रखकर सिरको भूमिसे अलग ऊपर करके भुजाओंके सहारे पूर्ववत् शीर्षासन करनेसे यह रीति सिद्ध होती है। इसमें भी भुजाओंमें बडा बल आता है, परंतु गरदनका बल बढता नहीं। जैसा पावोंपर खडा होते हैं, उसी प्रकार हाथोंपर खडा होनेसे भी एक प्रकारका आसन बन जाता है। इसका नाम "मुक्तहस्त वृक्षासन" है।

(५) शीर्षासनकी पांचवी रीति—केवल सिरपर ही खडा रहनेसे यह पंचम पद्धतिका शीर्षासन सिद्ध होता है। सिरके सिवाय और कोई भाग इस आसनमें जमीनको नहीं लगता। हाथ भी इस आसनमें जमीनको लगाने नहीं हैं जहां चाहे वहां ऊपरही रख सकते हैं। इस आसनसे कंठ—गरदनमें बडा बल प्राप्त होता है, क्यों कि केवल गर्दनकोही सब शरीरका बोज सहनेका अभ्यास होता है। इसको " कपालासन " भी कहते हैं।

(६) शीर्षासनकी छठी रीति—पांचवी रीतिके अनुसारही सिरपर खडा होना और दाईं हथेली दाईं ओर तथा बाईं हथेली बाईं ओर सिरसे थोडी दूर जमीन पर सहारेके लिये लगा सकते हैं।

(७) शीर्षासनकी सातवी रीति—पूर्वोक्त छः प्रकारोंमेंसे किसी प्रकारका शीर्षासन करके दोनों पावोंकी दोनों एडियां चूतरोंको लगा देनेसे यह रीति सिद्ध होती है। इसको " अर्ध वृक्षासन " भी कहते हैं।

(८) शीर्षासनकी आठवी रीति—सप्तम रीतिके अनुसारही यह करना होता है, परन्तु पांवोंके हेर फेरसे यह आसन किया जाता है। अर्थात् एक पांव सीधा ऊपर रखकर दूसरे पांवकी एडी चूतरको लगानी तथा दूसरी बार इसको सीधा करके पहिले पांवकी एडी चूतरको लगानी।

(९) शीर्षासनकी नवम रीति—पूर्वोक्त प्रकार आसन करके दोनों पावोंसे पद्मासन करना अथवा पहिले

जमीनपर पद्मासन करके पीछेसे उस पद्मासनके साथ जो चाहिये सो शीर्षासन करना।

(१०) शीर्षासनकी दूसवी रीति—पूर्वोक्त प्रकार अपनी इच्छानुसार शीर्षासन करके पश्चात् सब पांव भूमिके साथ समांतर रेखामें धरनेसे यह रीति सिद्ध होती है। इसमें भी एक पांव ऊपर और दूसरा समरेखामें रखनेसे कई भेद हो सकते हैं। पाठक युक्तिसे सोच सकते हैं। और अनेक नवीन प्रकार स्वयं कर सकते हैं। इसमें निम्न प्रकार पावोंको आगे पीछे किया जा सकता है—

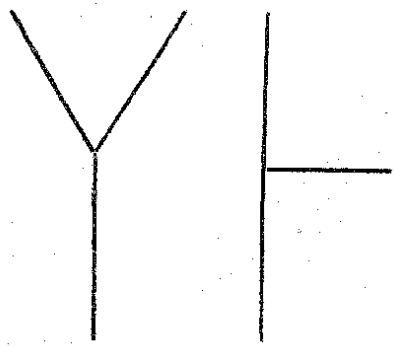

शीर्षासनके विषयमें सावधानीकी सूचना।

शक्ति होनेपरभी यह शीर्षासन प्रारंभमें थोडी देरही करना उचित है। सिरमें रक्तका प्रवाह अधिक जानेके कारण जिनका मस्तिष्क इतना रक्तका प्रवाह सह नहीं सकता, उनको किंचित् कष्ट होंगे। इस लिये इस आसनकी अवधि निम्न लिखित प्रकार नियत करनी योग्य है—

(१) पहिले चार दिन १५ निमेषोंसे ३० निमेष (सेकंद) तक अर्थात् अधिकसे अधिक आधे मिनिट तक किया जावे। (२) चार दिनके पश्चात् दो मिनिट करनेमें कोई हानि नहीं है। (३) आठ दिनके अभ्यासके पश्चात् पांच मिनिट करना योग्य है। (४) एक मासके पश्चात् दस मिनट तक अच्छी प्रकार हो सकता है। (५) तीन अथवा छः मासके पश्चात् आधा घंटा करनेमें काइ हानि नहीं है। इस अवधिमें अपनी प्रकृतिके अनुसार न्यूनाधिक भी हो सकता है।

शीर्षासन करनेके पूर्व दो चार प्राणायाम और शीर्षासन करनेके पश्चात् भी चार पांच प्राणायाम करनेसे बहुत लाभ होते हैं। शीर्षासनके समय श्वास सम प्रमाणमें शांतिके साथ चलना चाहिये। प्रारंभमें थोडी देर भस्त्रा प्राणायाम करनेकी भी कईयोंकी पद्धति है। श्वास और उच्छ्वास ठीक प्रकार और शांतिके साथ करना आवश्यक है, शीघ्रतासे नहीं, यह भस्त्रा सेकंदमें एक होती है। शीर्षासनके समय भस्त्रा १५।२० बारसे अधिक करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु प्रथम अवस्थामें शीर्षासनके साथ प्राणायामका विचार न किया जाय तोही अच्छा है।

शीर्षासन करनेके समय शरीरके किसी भाग पर धोती या लंगोटका सख्त बंधन नहीं होना चाहिये। सब नसनाडियोंमें रुधिर प्रवाह पूर्ण प्रमाणमें चलता रहने योग्य सब शरीर खुला चाहिये। लज्जा निवारणार्थ लंगोट रहे, तथा लंगोटसे

और भी बहुत लाभ हैं, परंतु उनका बंधन इस समय थोडासा ढीला रहे।

शीर्षासनसे लाभ।

शीर्षासन यथाविधि नियमपूर्वक करनेसे निम्न लिखित लाभ हुए हैं—

(१) शीर्षासन करनेके पूर्व आप अपने पांवका रंग देख कर ठीक ध्यानमें रखिये। पश्चात् शीर्षासन कीजिये, ५।६ मिनिट तक शीर्षासन करने पर आप जब शीर्षासन छोड कर पांव पर खडे रहेंगे, तो उसी समय आपके ध्यानमें आजायगा कि, अपने पांवका रंग पहिलेकी अपेक्षा बहुत सफेद हुआ है। शीर्षासन करनेसे पांवका रक्त नीचे उतरनेके कारण पांव रक्त हीन हो गये थे, इस लिये वे श्वेत दीखने लगे हैं। परंतु आधे मिनिटमेंही, पांवपर खडा हो जाने पर, पांवमें नये रक्तका संचार होने लगता है, और एक मिनिटके अंदर पांवमें नया रक्त पहुंचता है; इस समय पांवोंका रंग शीर्षासन करनेके पूर्वकी अपेक्षा बहुत ही लाल हुआ प्रतीत होता है। दस पंद्रह मिनिट तक शीर्षासन करनेवालोंको यह अनुभव बहुतही स्पष्टताके साथ आसकता है। शुद्ध रक्तका रंग अत्यंत लाल होता है और अशुद्ध रक्त उतना लाल नहीं होता। पहिलेकी अपेक्षा पांवका रंग अधिक लाल होना सिद्ध करता है, कि पांवमें अधिक शुद्ध रक्त पहुंचा है, जो पहिले नहीं पहुंचता था। शुद्ध रक्तसे आरोग्य और अशुद्ध रक्तसे रोग

होता है। इससे निश्चय हो जाता है कि, पावमें शुद्ध रक्त पहुंचनेके कारण पांवका आरोग्य बढ सकता है। और सब शरीरमें शुद्ध रक्त पहुंचनेके कारण सब शरीर अधिक आरोग्य पूर्ण होना भी संभवनीय है।

(२) जब शीर्षासन किया जाता है तब पावका रक्त नीचे पेटकी तर्फ उतरनेका भान सूक्ष्म रीतिसे होने लगता है, परंतु शीर्षासन छोडकर पांवपर खडा होतेही पांवमें शुद्ध रक्तका संचार होनेका भान अधिक स्पष्टताके साथ होता है; इतना ही नहीं, परंतु सूक्ष्म विचारसे देखा जाय, तो पांवमें अधिक उष्णता प्राप्त होनेका भी स्पष्ट अनुभव हो जाता है। शुद्ध रक्त जहां पहुंचता है वहांकी सर्दी हट जाती है, और नैसर्गिक उष्णता वहां आजाती है। हाथ पांव सुन होनेकी बीमारी जिनको है, उनको दिनमें २।४ वार थोडी थोडी देर शीर्षासन करनेसे उक्त कारणही बडा लाभ पहुंचता है।

(३) जब मनुष्य पांवपर खडा रहता है, तब पांवकी ओर रक्तकी अधिक गति होती है, इसी प्रकार सिरपर खडा होनेसे शीर्षासनके समय सिरमें तथा छातिमें रक्त अधिक आजाता है। शीर्षासन करनेके समय सिर, मुख और छातीका रंग अधिक लाल होता है और वह भाग अधिक पुष्ट भी दिखाई देता है, आंखमें भी अधिक रक्त पहुंचता है। इन भागोंमें अधिक रक्त पहुंचनेसे इनकी अधिक पवित्रता और अधिक पुष्टि हो जाती है। उक्त स्थानोंकी बीमारियां हट जातीं

हैं। सिरका दर्द हट जानेका अनुभव कईयोंको हुआ है तथा छातिकी कमजोरी भी हट जाती है। आंख और कानके बहुतसे दोष न्यून हो जाते हैं। तथा मस्तिष्कमें रक्त पहुंचनेसे वहांका कार्य भी ठीक प्रकार होता है। बुद्धि और स्मरण शक्ति बढनेका भी अनुभव है।

(४) बोतल साफ करनेके लिये उसमें पानी रखकर उसको उलटा और सीधा किया जाता है, इससे बोतल साफ हो जाती है। इसी प्रकार शरीरमें जो रक्त है वह सब शरीर भर अच्छी प्रकार पहुंचनेसे सब शरीर शुद्ध और आरोग्यपूर्ण हो जाता है। मनुष्य सदा पांवपर खडा होनेके कारण रक्तकी गति पांवकी ओर स्वभावतः अधिक होती है। हृदय रक्तको ऊपर खींचता है और सब शरीरमें पहुंचाता है। इसी हृदयकी यह धुक धुक हृदय स्थानमें हो रही है। रात दिन इस हृदयको पावोंसे सब रक्त ऊपर खिंचनेकी बडी मेहेनत होती है। शीर्षासन करनेके समय हृदयको उक्त कारणही विश्राम मिलता है अर्थात् रक्त खींचनेका कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं होती; स्वयं स्वभावतः ही सब शरीरसे रक्त हृदय तक आता रहता है। हृदयको इस प्रकार विश्राम मिलनेसे हृदयकी शक्ति बढती है और हृदयकी शक्ति बढनेका तात्पर्य आयुष्य बढनाही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई मनुष्य दिनमें घंटेसे अधिक शीर्षासन करे। दिनमें घंटा भर करना पर्याप्त है। हृदयके विकारसे जो बीमार हैं उनके लिये अधिक करनेसे हानिकी संभावना है।

(५) शीर्षासनके समय पांवका रक्त---सिर और छातिमें उतर जानेसे और फिर खडा होनेपर पांवोंमें वेगसे रक्त उतरनेसे सब शरीरकी नसनाडीमें रक्त पहुंचता है और इस कारण सब शरीर शुद्ध हो जाता है। प्रतिदिन यह आसन आधा घंटा करनेसे, प्रतिदिन बोतल अंदरसे धोनेके समान, शरीर अंदरसे मानो, धोया जाता है।

(६) हृदय सब शरीरसे अशुद्ध रक्त खींचकर अपने अंदर लाता है और पश्चात् हृदयसे वह अशुद्ध रक्त फेंफडोंमें जाकर वहां शुद्ध प्राणवायुके साथ मिलने और संयुक्त होनेके कारण शुद्ध बनता है। पश्चात् वहांसे शुद्ध रक्त फिर हृदयमें आकर वहांसे सब शरीरमें भेजा जाता है। यह कार्य सदा चल रहा है और इसी कार्य पर मनुष्यका जीवन अवलंबित है। जिसका हृदय बलवान होता है, उसके शरीरका सब अशुद्ध रक्त, हृदयकी पूर्वोक्त क्रिया ठीक होनेके कारण, सर्वदा ठीक शुद्ध होता है। परंतु जिसका हृदय किंचित् कम जोर होगा, उसके हृदयसे सब शरीरसे संपूर्ण रक्त ऊपर खींचनेका कार्य यथावत् नहीं होता है, इसी कारण उसका रक्त अशुद्ध रहता है और वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार बनता है। शीर्षासन करनेसे उसके हृदयमें सब रक्त विना मेहेनत पहुंचनेसे रक्त शुद्ध होनेके कार्यमें बडी सहायता होती है। आजकलके दिनोंमें जहां चा, सिगरेट, मद्य, काफी आदि घातक पदार्थ सर्वत्र फैले हैं, चिंता बढ गई है और शांति कम हो रही है, उस समय प्रायः सर्वत्र हृदयकी कमजोरी चारों

ओर दिखाई देती है। ऐसी अवस्थामें योग्य प्रमाणमें शीर्षासन करनेसे बडे लाभ हो सकते हैं।

(७) पेटके आंतोंका बोझ पेटके बाह्य स्नायुओंपर पडता है और कईयोंका पेट कद्दुके समान अथवा घडेके समान दिखाई देता है। शीर्षासन करनेके समय ही ऐसा प्रतीत होता है कि, नाभिके निचले स्नायुओंपरका अंदरका बोझ हट गया है और उनको मूलरूपमें आनेके लिये विश्राम मिल रहा है। नाभिके निचला पेट भी अंदरसे खाली होनेके समान हलका प्रतीत होता है और इस कारण आंतोंमें अनुकूल गति होनेको अवसर मिलता है। आंतोंमें किसी स्थान पर अपानवायु रुका हो, तो इस समय वह अपने मार्गसे चला जाता है, और पेटको आराम प्राप्त होता है। इसी प्रकार शीर्षासन छोडकर पुनः पूर्ववत् खडा होनेपर ढकार आकर कोष्ठगत वायुका बाहिर निःसरण होकर स्वस्थता प्राप्त होती है।

(८) पीठकी रीढमें मेरुदंडके भीतर सुषुम्ना प्रवाह है। वह सदा मस्तिष्कसे नीचेकी ओर बहता रहता है। शीर्षासनमें सिरपर उलटा खडा होनेके समय वही प्रवाह सिरकी ओर होता है। इसीसे बुद्धि स्मरणशक्ति आदि बढनेका संभव होता है।

(९) वीर्य जलरूप होनेसे उसका प्रवाह निम्न गतिसे होता है, इस लिये वीर्यकी सब नाडियां निम्न गतिसे प्रवाहित होतीं हैं। शीर्षासनमें उनकी ऊर्ध्वगति होनेके कारण इस आसनसे वीर्य दोष हटनेका अनुभव आता है। जिनको वीर्य

पतन होनेकी बुरी आदत है उनको अन्य उपायोंके साथ इस आसन करनेसे बहुतही लाभ होंगे। एक मासमें वीर्य स्थिर होनेका अनुभव आता है। सेंकडों तरुणोंके अनुभवकी यह बात है और इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है, शरीर भेदके अनुसार न्यूनाधिक समयमें लाभ होनेका अनुभव होगा। परंतु लाभ होता है इसमें कोई शंका नहीं है।

(१०) शीर्षासन नियमपूर्वक योग्य रीतिसे करनेपर दो, मासोंमें जठराग्नि प्रदीप्त होता है, भूख बढने लगती है। भूखके अनुसार योग्य सात्विक पदार्थ परिमित प्रमाणमें खानेसे शरीरकी पुष्टि होती है। भूख लगनेपर योग्य भोजन न खानेसे शरीर कृश होने लगता है। इस समय गायका दूध, घी, मक्खन आदि योग्य प्रमाणमें सेवन करनेसे शरीरका स्वास्थ्य अच्छा होता है।

(११) एक वर्ष नियम पूर्वक विधियुक्त शीर्षासन करनेसे सिरके श्वेत बालभी काले होने लगते हैं।

(१२) छः मास तक नियम पूर्वक ठीक प्रकार शीर्षासन करनेसे चमडेका सिकुडना, जो वृद्धापकालका चिन्ह है, दूर हो जाता है, और अधिक अभ्यास करनेपर वृद्धावस्थामें भी जवानीका अंगचापल्य प्राप्त होता है।

(१३) शीर्षासनके समय नेत्रकी पुतली ऊपर नीचे, दाई ओर तथा बाई ओर करनेसे, गोल आकारमें घुमानेसे, तथा नासाग्रपर अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टि रखने और किंचित् काल दूरके पदार्थपर दृष्टि रखनेसे दृष्टिदोष दूर होते हैं। आयनक

लगानेवालोंको वारंवार आयनकका नंबर बदलना नहीं पडता और न लगानेवालोंको लगानेकी आवश्यकता नहीं होती ।

(१४) मुखकी अरुची, कंठदोष, गले पडने, छातीकी कमजोरी, पेटका अस्वास्थ्य, यकृत और प्लीहाकी शिकायत आदि सब इस आसनसे दूर होता है । परंतु गुणका अनुभव होनेके लिये देरी लगती है क्यों कि रक्तशुद्धिद्वारा उक्त अपाय दूर होते हैं, इस लिये शनैः शनैः आराम होता है ।

(१५) छः वर्षोंकी ऊमरके बच्चेसे लेकर ७० वर्षके वृद्ध मनुष्य तक विविध ऊमरवाले मनुष्योंपर इस आसनके इष्ट परिणाम हमने देखे हैं । सर्वत्र योजना पूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार अभ्यास करनेसे लाभ हुआ है । प्रतिदिन थोडी देर शीर्षासन करनेसे मिर्गीका बीमार भी दो तीन मासमें ठीक हुआ था । परंतु इस विषयमें अधिक अनुभव नहीं है ।

अतमें इतनाही कहना है कि इस विषयका अनुभव डाक्टर और वैद्य लेगें तो बहुत अच्छा होगा, क्यों कि उनको शारीर शास्त्रका अच्छा ज्ञान होता है और विचार करके उनकोही ठीक प्रकार पता लग सकता है कि, कौनसा रोग किस प्रकार और किस अवस्थामें ठीक होना संभव है और कौनसा ठीक नहीं हो सकता ।

साधारण दृष्टिसे जो अनुभव हैं, ऊपर दिये हैं, आगेका कार्य सुविचारी डाक्टरोंका और शारीर शास्त्रके ज्ञानियोंका है । आशा है कि वे अपनी संमति अनुभवके साथ प्रसिद्ध करेंगे ।

यह आसन योग्य प्रमाणमें स्त्रीपुरुषोंको करने योग्य है ।

(१७) सिद्धासन।

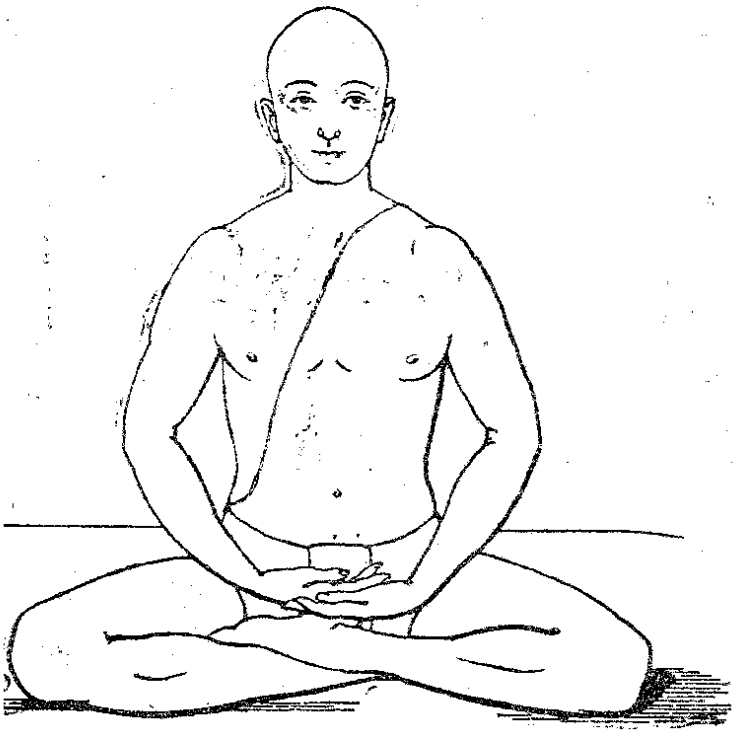

बांये पांवकी एडी गुदा और अंडकोशके बीचमें दृढतासे लगाईये; और दाहिने पावकी एडी इंद्रियके ऊपरके भागमें दृढ लगाइये। ठोढ़ी हृदयमें कंठमूलसे थोडी दूर हृदयपर लगाकर स्थिर और सीधा शरीर करके पलकों और आखोंको

न हिलाते हुए भौंहोंके बीचमें दृष्टिको स्थिर कीजिये। हाथ चाहे घुटनोंपर रखिये चाहे मध्यमें रखिये। दोनों पांव एक दूसरेपर ऐसे आजांय कि दोनोंकी संधिस्थानकी हड्डी एक दूसरेपर आजाय। इस आसनके अभ्याससे कामवासना कम होती है और अखंड ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है, इस कारण यह आसन गृहस्थियोंको थोडा और अन्य आश्रमवासियोंको अधिक करना उचित है। इसके फल निम्न प्रकार हैं—

(१) भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर रहनेसे मनकी एकाग्रता हो जाती है और प्रकाशदर्शन होता है। नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनेसेभी उक्त सिद्धि थोडी देरीसे हो जाती है। जो अपनी दृष्टिको भ्रमध्यमें अथवा नासिकाग्रपर स्थिर नहीं कर सकते, वे किसी बाह्य बिंदुपर भी कर सकते हैं। इसकी सिद्धिमें थोडी देरी लगेगी।

(२) सबसे प्रथम इस आसनपर केवल बैठनेका अभ्यास करना उचित है। कोई शरीरका भाग बिलकुल न हिलाते हुए जितनी देर बैठनेका अभ्यास होगा उतना मन एकाग्र करनेके लिये अधिक सहाय्यक होगा। सब शरीर और सब इंद्रिय यदि एक घंटाभर स्थिर रहेंगे और इस समय मनके व्यापारभी थोडी देर स्तब्ध किये जांयगे, तो आत्मशक्तिका स्फुरण होनेके आनंदका अनुभव आता है। यह अभ्यास गाढ अंधकारमें करने तथा अत्यंत शांतिके समय करनेसे अनुभव

जलदी आता है। इस समय आंखके सन्मुख जो प्रकाश दीखते हैं उनमें मन स्थिर करना योग्य है।

(३) गुदा, शिस्न और आसपासकी सब नसनाडी ऊपर आकर्षित करनेसे वीर्य स्थिर हो जाता है। गुदाको मनसेही अंदर आकर्षित कीजिये तथा शिस्नके समेत सब मूलस्थान-को ऊपर खींचनेका अभ्यास कीजिये। यह अभ्यास, प्राणको स्तब्ध करके अथवा प्राणकी गतिको न रोकते हुए परंतु अत्यंत शांतिके साथ प्राणको चलाते हुए किया जा सकता है। वीर्यकी गतिको अपने आधीन करनेके लिये यह अभ्यास अत्यंत उपयोगी है। एक मासके अंदर वीर्य स्थिर होनेका अनुभव होता है। सिद्धासन के विनाभी यह अभ्यास किया जा सकता है और उससे हरएकको निःसंदेह लाभ होता है।

(४) पृष्ठवंशको सीधा रखकर ठोढीको कंठमूलमें लगा-नेके अभ्याससे मस्तिष्ककी शक्ति बढती है, परंतु इसका लाभ सालभरके पश्चात् अनुभवमें आता है।

(५) सिद्धासन लगाकर नाभिके समेत सब पेटको तथा गुदा समेत शिस्नको भी ऊपर आकर्षित कीजिये। अछी प्रकार करनेसे पेट पसलियोंमें चला जायगा और पेटका स्थान खाली होगा। जितनी देर इस प्रकार आप बैठ सकेंगे उतना लाभ

होगा। प्राणकी गति बंद करकेही ऐसा बैठना होता है, इसलिये स्तब्धवृत्ति प्राणायाम जितनी देर होता होगा उतनी देर ही इस प्रकार बैठना संभव है। घडी लगाकर एक या आधा मिनिट बैठ जाइये और इसप्रकार दस पांच बार कीजिये। भूख बढ जायगी, हाजमेका दोष दूर होगा, और पेटकी शिकायतें नष्ट हो जायंगी।

(६) प्राणायाम करनेके समय निम्न बातोंका अवश्य ख्याल करना चाहिये। पूरकके समय मूल स्थानकी नस नाडिया ऊपर आकर्षित करनी चाहिये, कुंभकके समय ठोढीको कंठमूलमें लगाना चाहिये, रेचकके समय नाभिके समेत सब पेटको अंदर आकर्षित करना चाहिये और बाह्य कुंभक करना हो तो उस समयमें भी पेटको अंदर ही खींचना चाहिये। यदि कीसीको इतना करना कठिण प्रतीत होता हो, तो वह थोडा थोडा अभ्यास बढावे; इस अभ्याससे प्राणकी स्वाधीनता होती है।

अभ्यासके दिनोंमें सात्विक भोजन तथा अन्य पथ्य रखने चाहिये। भूख अधिक लगनेपर गायका दूध पीना लाभदायक है, पकोडे आदि चटपटे पदार्थ हानिकारक हैं।

स्त्रियोंके लिये यह आसन करना उचित नहीं परंतु जो ब्रह्मचर्यसे आयु व्यतीत करना चाहती हैं उनके लिये मना नहीं है। पुरुष अपने लिये योग्य प्रमाणमें कर सकते हैं।

(१८) पद्मासन ।

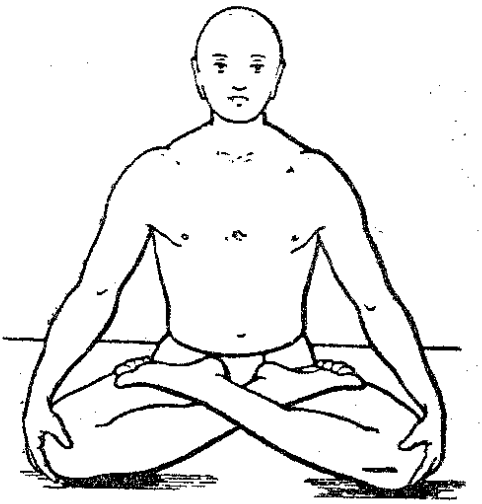

दाहिना पांव बाईं जंघापर और बायां पाव दाहिनी जंघापर रखिये। दोनों पांव दोनों जंघाओंपर ठीक प्रकार आजांय। पश्चात् बाया हाथ बांये घुटनेपर और दांया हाथ दांये घुटनेपर रखिये। पीठ, कमर, गला, सिर, पृष्ठवंश सीधा समरेखामें रखिये, चाहे अपनी दृष्टि भ्रूमध्यपर अथवा नासिकाके अग्रपर रखिये, किंवा किसी बाह्य बिंदुपर भी रख सकते हैं। इसको पद्मासन किंवा कमलासन कहते हैं।

कईयोंकी जंघायें इतनी मोटी होती हैं कि, उनके दोनों पांव दोनों जंघाओंपर किसी रीतिसे भी आ नहीं सकते।

ऐसे लोग आरंभमें इस आसनको कर नहीं सकते। इनको उचित है कि, वे निम्न रीतिसे "अर्ध–पद्मासन" ही करें और पश्चात् पद्मासन करनेका यत्न करें।

एकही पांव दूसरे पांवकी जंघापर रखनेसे अर्धपद्मासन होता है। इसमें दूसरे पावकी एडी गुदा और अंडकोशके बीचमें लगाना अच्छा है। पावोंके हेरफेरसे दोनों ओरके आसन उक्त प्रकारही बन सकते हैं। इस आसनसे—अर्थात् पूर्ण पद्मासनसे पांवोंकी नसनाडियां शुद्ध होतीं हैं, और ध्यानादि के लिये एकही आसनपर अधिक देर तक बैठना सुगम होता है। पद्मासनमें बैठकर पेटको पसलियोंमें ऊपर खींचनेसे और कुछ देर वहां ऊपर ही रखनेसे पचनशक्ति बढ जाती है और पेटके दोष दूर होते हैं। इस प्रकार पांच मिनिटतक करनेसे भूख अच्छी लगती है और पेटका आम-वायु दूर होता है। पद्मासनमें बैठकर कंठमूलमें ठोढी लगानेसे और पृष्ठवंश सीधा रखनेसे मस्तिष्कका मज्जाप्रवाह ठीक होनेमें सहायता होती है, इसी कारण इससे विचार शक्ति बढती है।

कई लोग इस पद्मासनको करनेके समय हाथ बीचमें भी रखते हैं, और कई अपनी छातिके साथ भी रखते हैं। कई तीसरे अपने हाथोंको ऊपर करके सिरके सीधे ऊपर लेजाकर ऊपर एक दूसरेसे मिलाकर हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं, और हाथ वेसेही वहां रखते हैं। इसको "पर्वतासन" कहते हैं। इससे पेट और छातिके स्नायुओंमें अच्छी प्रकार

ऊपरका खिंचाव आता है, और उक्त स्नायुओंको लाभ पहुंचता है। इसको पर्वतासन इसलिये कहते हैं कि इसकी शकल

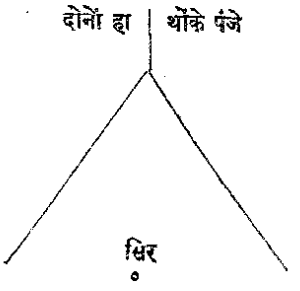

पर्वत जैसी बनती है। दो चार मिनिट इस आसनमें बैठ जानेसे छाती और पेटके स्नायुओंमें अच्छी प्रकार खिंचाव होनेसे वहांका आरोग्य प्राप्त होता है। इससे अधिक लाभ प्राप्त होनेके लिये उक्त स्नायुओंमें मनसेभी अधिक खिंचाव करनेका यत्न करना चाहिये। और कई लोग पद्मासन में बैठकर हाथोंसे "ताडासन" करते हैं। हाथ ऊपर, नीचे, बीचमें और

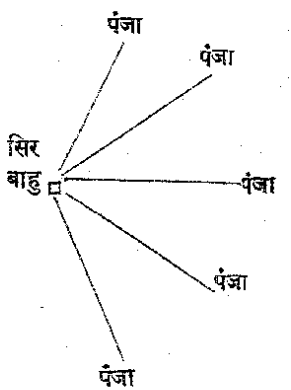

तिरछा करके सीधा बाहिर खींचते हैं। और ताडासनमें कही रीतिके अनुसार पंजोंको मिटाकर खोलनेका व्यायाम करते हैं। इस रीतिसे पावोंसे पद्मासन होता है और साथ साथ हाथोंसे ताडासनभी होता है। एक ही समयमें विभिन्न आसनोंके भागोंको मिलानेसे बड़े लाभ होते हैं। ताडासनके हाथोंका खिंचाव दोनोंका तथा एक एकका भी हो सकता है।

पद्मासन में बैठकर दाया हाथ बांये घुटनेपर रखिये और अपना धड बाई ओर घुमाइये, चाहे बायां हाथ जमीनपर सहारेके लिये रखकर अपनी छाती जितनी पीठकी ओर जा सकती है उतनी घुमाइये। ऐसा करनेसे कमर और पेटके स्नायुओंपर अच्छीप्रकार खिंचाव आजायगा। छाति जितनी पीछेकी ओर जाना संभव है, उतनी जानेके पश्चात् आप वहांही ठहर जाइये। यहां स्मरण रखिये कि पद्मासनके पांव जहांके वहांही स्थिर रहने चाहिये और कमरके ऊपरकाही भाग घुमाना चाहिये। इसी प्रकार आप दूसरी ओर भी घुमा सकते हैं गर्दन भी पीठकी ओर जितनी अधिक घुमाई जा सकती है उतनी अधिक घुमानी चाहिये। पेटको ठीक करनेके लिये यह आसन अत्यंत सुगम है और अति लाभ-दायक है। धड घूमाने अर्थात् धडका भ्रमण करने के कारण इसको "भ्रमरासन" कहते हैं। इसके करनेसे पेटके बहु-तसे दोष दूर होते हैं।

पद्मासन के समय मूलस्थान अर्थात् गुदा और शिस्नके आसपास की नस नाडियोंको ऊपर खींचनेसे वीर्यदोष दूर हो जाते हैं। पर्वतासन और भ्रमरासन करनेके समयमें भी यह ऊर्ध्व आकर्षण विधि करनेसे उक्त लाभ होते हैं। यद्यपि यह आसन सुगम ह तथापि इसका अत्यंत महत्व है और यह अत्यंत लाभदायक भी है।

इस आसनमें ठोढी कंठमूलमें डंट करलगानेसे बहुत आरोग्य मिलता है। इससे स्त्री पुरुष अपना आरोग्य बढा सकते हैं।

(१९) ऊर्ध्व पद्मासन।

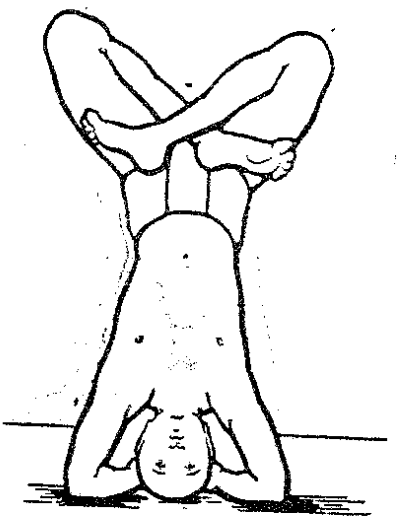

पूर्वोक्तप्रकार शीर्षासन करके पावोंसे पद्मासन ऊपर ही ऊपर करनेसे "ऊर्ध्व पद्मासन" हो जाता है। इसका फल शीर्षासनके समान ही है। पांवोंके हेरफेरसे इसके दो भेद होते हैं। तथा शीर्षासनके प्रत्येक भेदके साथ भी यह किया जाता है, इस कारण इसके विविध भेद होते हैं, जो पाठक स्वयं कर सकते हैं। ऊर्ध्व पद्मासन करके श्वात् वही पद्मासनके पांव जैसे के वैसे शनैः शनैः नीचे लाकर भूमिको घुटनोंका स्पर्श करें और पश्चात् उनको ऊपर उठाकर पूर्ववत् ऊर्ध्व पद्मासन करें। इस अभ्याससे शरीरका बल बहुत बढ सकता है। इसमें पद्मासन खोलना नहीं है। पद्मासनके साथही करना।

(२०) उत्थित पद्मासन ।

पूर्वोक्तप्रकार पद्मासन करके दोनों हाथ दोनों ओर भूमिपर रख कर सब आसनको भूमिसे ऊपर उठानेसे यह आसन बनता है। जितना उपर उठाया जाय उतना अधिक लाभ होता है। इसमें पूर्वोक्त पद्मासनके सब लाभ होते ही हैं और साथ साथ हाथों का बल बढ जाता है। इसलिये यह आसन निर्दोषता कारक और बलवर्धक भी है। इसको "दोलासन, अथवा लोलासन" भी कहते हैं।

(२१) कुक्कुटासन।

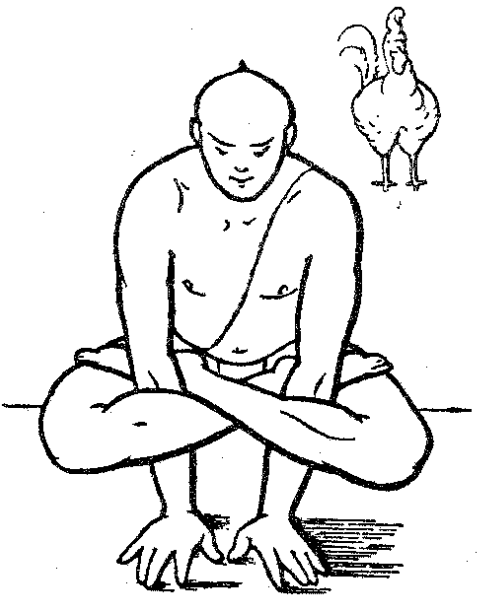

पूर्वोक्त प्रकार पद्मासन करके दोनों पांवोंके पंजे भीतर रहें ऐसे दोनों जांघ और पिंडरियोंके बीचमेंसे दोनों हाथ कोहनीतक नीचे निकालके, पंजे भूमिपर टिकाके, उनपर सब शरीर तोलके रखना, इसको "कुक्कुटासन" कहते हैं।

पद्मासन और उत्थित पद्मासनके सब लाभ इससे सिद्ध होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होता है, आलस्य दूर होकर शरीरमें फूर्ति आती है और नाडीशुद्धि होनेमें सहायता होती है।

(२२) गर्भासन।

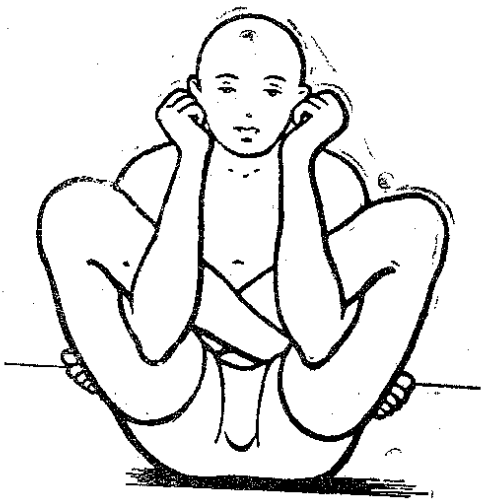

प्रथम कुक्कुटासन करके तत्पश्चात् अपने हाथोंकी अंगुलियोंसे अपने कान पकडनेसे गर्भासन होता है।

तथा अपने कानोंको न पकडते हुए अपने हाथोंकी अंगुलियां एक दुसरेके साथ मिलाकर अपना गला पीछेसे पकडनेसे "उत्तान कूर्मासन" बनता है।

दोनों आसनोंका फल आंतोंके विकार दूर करके पेटकी शुद्धता करना है। इससे शौचशुद्धि और क्षुधा प्रदीपन होता है।

(२३) मत्स्यासन।

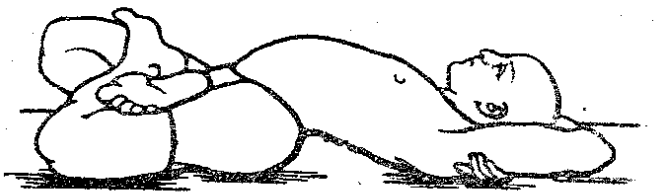

पूर्वोक्तप्रकार पद्मासन करके पालथी जैसी की वैसी रखके चित्त होकर सो जाना, फिर दोनों हाथ माथेपरसे लेकर बाये हाथसे दाहिना और दाहिने हाथसे बाया भुजदंड अथवा बाहु पकडना, इसको " मत्स्यासन " कहते हैं। इसमें कमरका भाग जमीनपर लगना नहीं चाहिये, इस हेतु पेटको ऊपर उठाना और कमरके नीचे जमीन तक जितना अधिक अंतर रखा जाय उतना रखना चाहिये। इस समय ठोढी कंठमूल में डंटकर लगानेसे रक्त शुद्धि होकर शरीरका बडा आरोग्य सिद्ध हो सकता है। इस लिये अभ्यासी लोग इसे अवश्य करें और लाभ उठावें।

इससे शौचशुद्धि होनेमें सहायता होती है, अपानवायुकी निम्नगति होती है और इसकारण मलावरोध दूर होता है। यह आसन थोडा जलपान करके करनेसे लाभ विशेष होता है। शौचशुद्धि करनेके कारण आंतोंके अनेक रोगोंका नाश इससे होता है।

विशेष लाभके लिये दस पंद्रह मिनिटतक इसको करना आवश्यक है। किंचिन्मात्र करनेसे वैसा लाभ होनेकी इच्छा

करना व्यर्थ है। इस आसनसे बडी देरतक जलमें रहना संभव होता है, क्योंकि मनुष्य इस आसनमें रहनेतक डूबता नहीं। जिस समय तैर कर मनुष्य थक गया हो, उस समय जलमें ही इस आसनको करके जलपर स्थिर हो जाय, तो १०।१५ मिनिटों में उसको फिर तैरनेका बल आजाताहै। इस लिये इसको मत्स्य का आसन बोलते हैं।

---

(२४) तोलांगुलासन।

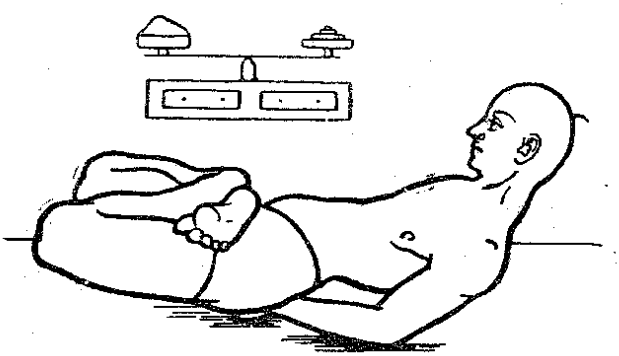

पूर्वोक्त प्रकार पद्मासन करके चूतरोंके नीचे हाथकी मुष्टियां धर कर उन मुष्टियोंपर तराजूके समान सब शरीर का तोल संभालनेसे यह आसन बनता है। इस समय भी ठोढी कंठ मूलमें लगानेसे बडा लाभ हो सकता है।

---

(२६) बद्ध पद्मासन।

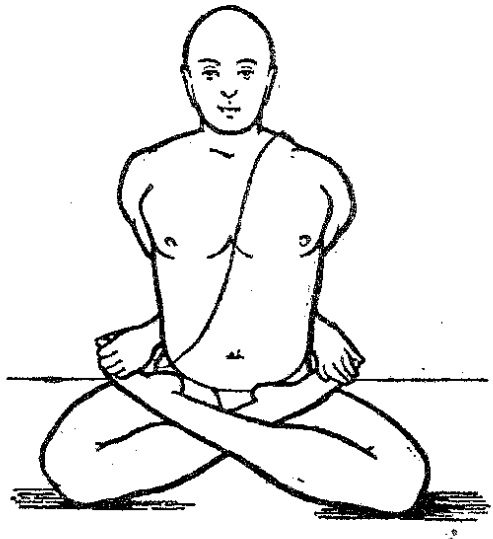

दाहिना पांव बाईं जंघापर और बाया पांव दाहिनी जंघा-पर ऐसी रीतिसे रखना कि उनकी एडियें पेटके नीचेके भागको सटके बैठें। पश्चात् दोनों हाथ पीछे फेरके दाहिने पांवका दाएं हाथके और बाएं पांवका अंगूठा दूसरे हाथके अंगूठा और तर्जनी दो अंगुलियोंकी चुटकीमें पकडना, फिर ठोढी हृदयमें लगाके दबाना, नंतर नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर करनी, इसको " बद्ध पद्मासन " कहते हैं।

इस आसनसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। विशेषतः पेटके संबंधकी बहुतसी व्याधियां इस आसनके करनेसे दूर होती हैं। पेटका फुलना, बद हजमी, अपचनके अनेक दोष, पेटका दर्द, परिणामशूल, आमवात, कब्जी--बद्धकोष्ठता, खट्टे ढकार आदि सब इसके करने से दूर होते हैं। परंतु केवल मिनिट दो मिनिट करनेसे उक्त लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा करना व्यर्थ है। कमसे कम आधा घंटा इस आसनपर स्थिर बैठनेका अभ्यास करना चाहिये। तब गुणका अनुभव होने लगता है। घंटा डेढ घंटातक बैठनेसे और भी अधिक लाभ होते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन तीनवार चार छे मास तक अभ्यास करनेसे स्थिर रूपसे आरोग्य प्राप्त होता है।

इस आसनसे कमरके स्नायु, तथा पावकी नस नाडियां निर्मल हो जातीं हैं, इसलिये वहांका आरोग्य प्राप्त होता है। वारंवार पीठको दबाकर बैठनेके कारण पृष्ठवंशके मेरुदंडमें टेढापन आजाता है, वह इससे दूर हो जाता है और उसमें सरलता अथवा समता आती है। इसलिये पृष्ठवंशका मज्जा-प्रवाह इस आसनके करनेसे ठीक होता है अर्थात् मज्जातंतुके रोग इस आसनसे क्रमशः दूर होते हैं। पृष्ठवंशके टेढेपनके कारण मनुष्यमें असंख्य बीमारियां होतीं हैं। गुदासे लेकर मस्तकतक के विविध भागोंमें इन मज्जातंतुओंके बिगड जानेसे विविध बीमारियां होना संभव होता है। इस लिये

सब अवस्थाओंमें सब आयुवाले लोगोंको यह आसन लाभ-दायक होता है।

कई मनुष्योंके हाथ पीछेसे पांवके अंगुठोंतक पहुंचतेही नहीं, इसका कारण इतना ही है कि उनकी नस नाडिया अशुद्ध रहतीं हैं। वारंवार प्रयत्न करनेपर एक मासमें पांवके अंगुठे पीछेसे हाथमें आने लगते हैं। तब तक उनको एक हाथसेही पीठकी ओरसे एक पांवका अंगूठा पकडनेका यत्न करना चाहिये। एक हाथसे जो अंगूठा पकडना है व दाये हाथसे दाहिने पांवका और बांये हाथसे बांयें पांवका ही अंगुठा पीठकी ओर से पकडना चाहिये। इस प्रकार केवल एक हाथसे एक पांवका अंगुठा पीछेसे पकडनेसे " अर्ध–बद्ध पद्मासन " होता है। यद्यपि इससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता है, तथापि तैय्यारी की दृष्टिसे इतना करना लाभदायी ही " । अर्ध–बद्ध–पद्मासन करना हो तो क्रमशः दोनों ओरका अवश्य हेरफेरसे करना चाहिये। तथा पूर्णबद्धपद्मासनभी पावों और हाथोंके हेरफेरसे करना चाहिये। इस प्रकार करनेसेही योग्य लाभ पहुंचता है।

इस आसनमें बैठकर गुदा और शिस्नस्थानकी नस नाडियोंका ऊर्ध्व आकर्षण करनेसे वीर्यदोष दूर हो जाते हैं। श्वास और उच्छ्वास की सम प्रमाणमें परंतु मंद गति करनेसे फेंफडोंका बल बढता है। इस समवृत्ति प्राणायाममें श्वास

और उच्छ्वास दीर्घ, मंद और सम होने चाहिये। इस समय श्वासोच्छ्वासकी गति अंकों या मंत्रोंके जपसे नाप सकते हैं। इस समवृत्ति प्राणायामपर मन स्थिर करनेसे चित्त एकाग्र करना सुगम हो जाता है।

बद्ध पद्मासन के साथ समवृत्ति प्राणायाम करनेसे प्राथमिक अवस्थाका क्षयरोग, पांडुरोग, पेटकी अशक्तता तथा दवाइयोंसे ठीक न होनेवाले नित्याजीर्ण जैसे रोग भी छे मासमें ठीक होते हैं। इस विषयमें कई रोगियोंपर अनुभव लिया है इसलिये निर्भय होकर यहां लिखा है। परंतु जिन रोगियोंपर यह प्रयोग किया वे प्रतिदिन तीन चार बार और प्रतिसमय एक आध घंटा इस आसनका अभ्यास किया करते थे। क्षयरोगीके फेंफडोंमें क्षयके क्रिमी भी डाक्टरी परीक्षासे निश्चित हुए थे, परंतु योग्य पथ्यके साथ उक्त आसन करनेसे प्रथम उनका पेट सुधर गया, और पश्चात् अन्य दोषभी दूर होते गये। शुद्ध-वायु सेवन, सात्विक लघुभोजन, तथा अन्य आहार व्यवहार भी योगशास्त्रके अनुसार ही रखा गया था।

बहुत दिनके ज्वरके पश्चात् तिल्ली बढती और यकृत् बिगडता है। इस दोष के लिये यह बद्ध पद्मासन उत्तमोत्तम है। यदि खानपानके पथ्यके साथ ये रोगी इस आसनको करें तो निःसंदेह गुण आवेगा। रोगकी न्यूनाधिक तीव्रताके

अनुसार गुण आनेमें न्यूनाधिक समय लग जाना स्वाभाविक ही है।

भोजन करते ही इस आसनको करना नहीं चाहिये। ऐसा होनेसे पचनके कार्यमें बाधा होती है। खाली पेट रहनेकी अवस्थामें करना ही अच्छा है। भोजनके बाद तीन घंटेके पश्चात् करनेमें कोई दोष नहीं है। विशेषतः रोगीको इस बातका ख्याल अवश्य रखना चाहिये।

ठोढी कंठमूलमें न लगाते हुए दाईं और बाईं ओर घुमानेसे गलेकी नस नाडियोंकी शुद्धि हो सकती है। इस समय सब प्रकारके कंठबंध करनेसे कंठस्थानका आरोग्य सिद्ध हो सकता है।

श्वास अंदर ले जानेके समय मूलस्थानकी नाडियोंका ऊर्ध्व आकर्षण करना, तथा श्वास बाहिर छोडनेके समय पेटको अंदर ले जाना तथा नाभिस्थानके सूर्य चक्रपर मनका संयम करनेसे पेटका आरोग्य शीघ्र प्राप्त होनेका अनुभव है। नाभिके किंचित् ऊपर सूर्यचक्र है। उच्छासके समय पेट जब अंदर जाता है तब उसपर दबाव आता है और उसकी शक्ति बढ जाती है। मनद्वारा उक्त क्रिया करनेसे अधिक लाभ होता है।

इस समय ठोढी कंठमूलमें दबाकर लगानेसे कंठस्थानके निकंठमणिकी शुद्धता होती है और उसके द्वारा रक्तशुद्धि होनेसे अपूर्व आरोग्य मिलता है।

(२६) बकासन।

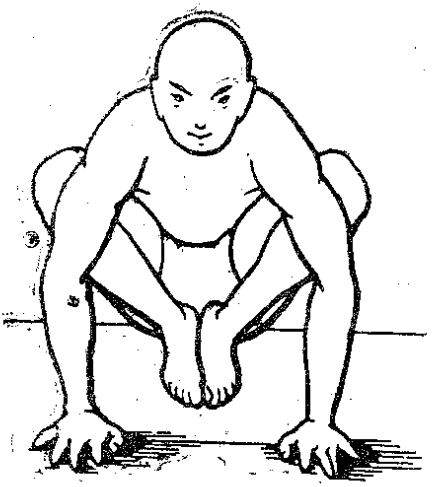

दोना हाथोंके पंजे जमीनपर रखकर, अपने दोनों घुटनोंको अपने बाहुओंके सहारे ऊपर उठाकर, पांवोंसमेत सब शरीर ऊपर उठाइये। केवल हाथोंके पंजे जमीनपर रहें और शेष शरीर ऊपर अंतरालमें रहे। इसको "बकासन" कहते हैं।

घुटनोंको अंदर रखकर भी यही आसन करनेका दूसरा प्रकार है। तथा एक घुटना अंदर और एक बाहिर, इस प्रकार हेर फेरसे भी यह आसन किया जाता है। सब शरीर केवल हाथोंके पंजोंपर रहना चाहिये, यह बात इसमें मुख्य है। इससे हाथोंमें बाल आता है।

(२७) लोलासन।

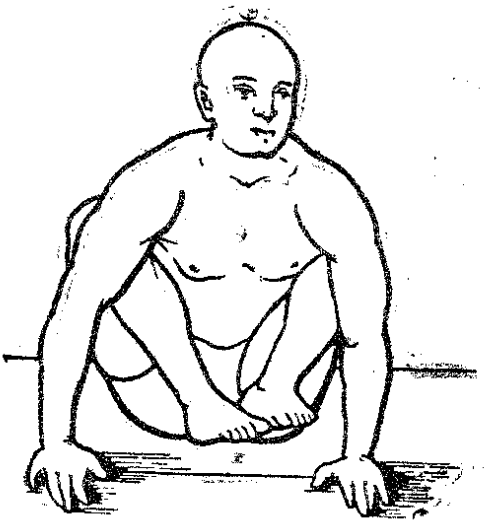

बकासनके अनुसार दोनों पंजोंको जमीनपर रखकर केवल उनपरही सब शरीरको संभालकर ऊपर उठानेसे लोलासन होता है। बकासनमें पांवोंका झुकना पीछे की ओर होता है और इसमें आगेकी ओर होता है। दोनोंका फल समान ही है। इसका दूसरा नाम "तोलासन" भी है।

(२८) मयूरासन।

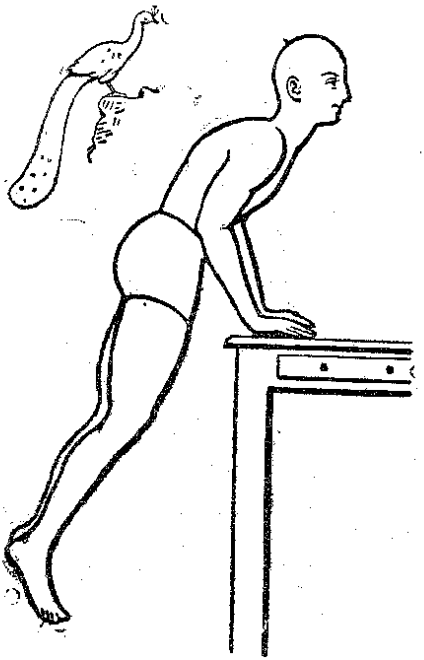

जिस प्रकार मोर पत्थर पर बैठता और अपनी पुच्छको नीच करता है, उस प्रकार मेजके सहारे अपने दो हाथ रखिये और कोहनियां नाभिस्थानमें लगाकर उनपर सब शरीरका बोझ संभाल लीजिये। इसको मयूरासन कहते हैं। इससे पचन शक्ति बढती है और हाथोंमें बल आता है। मयूरासनका दूसरा प्रकार यह है—

(२९) मयूरासन और (३०) हंसासन।

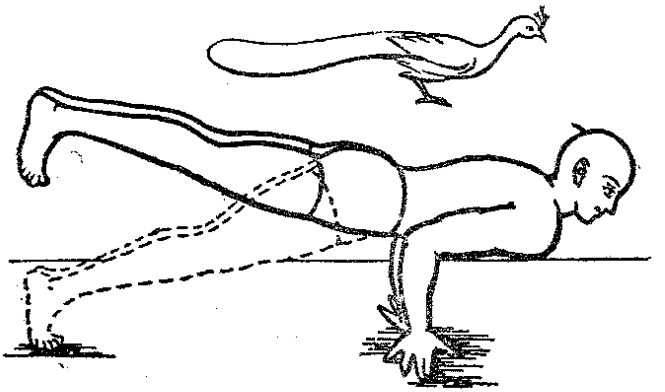

अपने दोनों पंजे जमीनपर रखिये और कोहनियाँ नाभिके दोनों ओर आसपास लगाइये और बकासन के समान अपने पांवोंके समेत शरीरको ऊपर अंतरालमें उठाइये। इस प्रकार करके किंचित समय स्थिर रहिये। पश्चात् छाति और मुखको किंचित् आगे झुकाइये, छाति और मुख आगे झुकते ही आपही आप पांव पीछे चले जायंगे। पश्चात् पांवोंको पीछे और सिरको आगे अच्छी प्रकार करके; शरीरको दंडवत् सीधा करके अपने कोहनियोंपरही संभालकर रहिये इसको मयूरासन कहते हैं।

पांव जमीनको लगे रहनेसे हंसासन बनता है। हंसासनकी अपेक्षा मयूरासन का फल अधिक है।

इससे जठराग्नि प्रदीप्त होता है, भूख बहुत लगती है, शौच शुद्धि होती है। बस्तिविधि करनेके बाद यह आसन करनेसे उत्तम परिणाम होते हैं। गुल्म, उदर आदि रोगोंको

दूर करनेके लिये यह बडा उपयोगी है। वात पित्त आदिकोंके दोषोंका शमन इससे होता है। अति भोजन, बुरा अन्न, अथवा कदन्न भी खाया हो तो इससे भस्म हो जाता है। तात्पर्य यह उदरसंबंधी रोगोंको दूर करता है। तथापि भोजन विषयक अपथ्य न करना ही उत्तम है। यह आसन शरीरके आरोग्यके लिये अति उत्तम है। अभ्यास अधिक करनेसे अच्छा लाभ होता ह।

(३१) सर्पासन।

पट सोके कमरसे नीचेका भाग पांव समेत भूमिपर टिकाके तूंदीके पास दोना हाथोंके तलवे भूमिपर टिका देने, फिर छातीसे माथेतकका भाग सांपके फनके जैसा ऊपर उठा रक्खें। इसको "सर्पासन, भुजंगासन अथवा नागासन" कहते

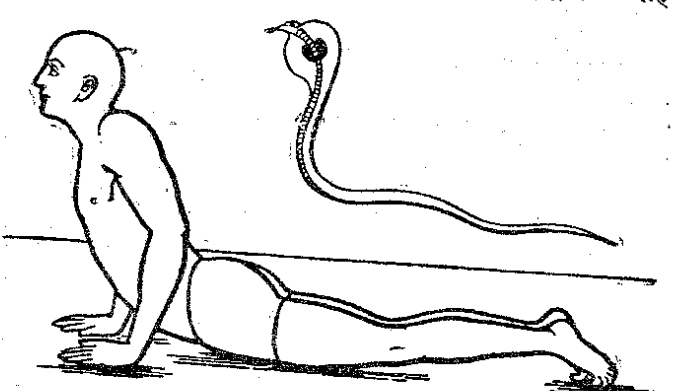

हैं। इससे भूख बढती है, जठराग्निकी तीव्रता होती है, मंदाग्निसे होनेवाले सब रोग इसके अभ्याससे दूर होते हैं।

वीर्य रक्षाके लिये।

भुजङ्गासन (सर्पासन)।

(ले०—श्री. पं. प्रियरत्न विद्यार्थी)

यह सर्पासन चिकित्सा सम्बधी आसनों में वीर्यरक्षण के लिये एक मुख्य आसन है अर्थात् यदि मेरे बताए एकेले इस सर्पासन को ही निरन्तर दोनों समय करें तो ' स्वप्नदोष ' रोग सर्वथा नष्ट हो जावे। विधि यह है कि भूमिमर औन्धा लेट जावे और दोनों हाथ, हनु [ठोडी], छाती, उपस्थेन्द्रिय, दोनों जानु [घुटने,] दोनों पैरों के पंजे भूमिको स्पर्श करें या यों समझिये कि शरीर का भार इन नव अङ्गोपर होना चाहिये " एडी मिली हों हाथ स्कन्धो के पास रखे हों फिर ठोडी को भूमिसे ऊपर उठावे और शनैः शनैः जहां तक आगे के अङ्गो को भूमिसे ऊपर उठासकें उठावें प्रत्युत हाथोंपर भार न पडने पावे, ऐसा करते हुए एक आभ्यन्तर वृत्ति प्रणायाम [श्वास को भीतर रोकना] करें यह भुजङ्गासन का प्रथम प्रकार है फिर देखो—

[२] इसके अनन्तर पूर्ववत् नवाङ्ग लेटे हुए दोनों हाथ पृष्ठ के ऊपर मिलाकर रखें एवं पूर्ववत् आभ्यन्तर प्राणायाम करें और हनुसे लेकर अङ्गको जितना ऊपर उठासकें शनैः

शनैः उठावें, प्रथम प्रकारमें और इस में भेद इतना ही है कि हाथों को पृष्ठ के ऊपर मिलाकर रखना और सब पूर्व के समान है ॥

[३] इसके पश्चात् प्रथम प्रकार का भुजङ्गासन करके दोनों जानु (घुटने) भी ऊपर उठालेवें फिर प्रथमप्रकार के समान सब कुछ करें प्रथम और इस तृतीय प्रकार में भेद इतना ही है कि इस में दोनों जानु ऊपर उठाने होते हैं ॥

(४) तत्पश्चात् द्वितीय प्रकार के समान दोनों हाथ ऊपर उठाकर पृष्ठ पर मिलादें बस तृतीय प्रकार और चतुर्थ प्रकारमें केवल इतनाही अन्तर है और सब समान है ॥

एवं इस प्रकार का भुजङ्गासन जो चार प्राणायामों में होगा जिस में ५ मिनिट के लगभग लगेंगी सायं प्रातः दोनों समय जो कोई इसका अनुष्ठान करेगा चाहे वह पुरुष अन्य चिकित्सा सम्बन्धी आसनों को न भी करे पर अति शीघ्र स्वप्नदोष रोग से मुक्ति पावेगा । कुछ दिवस इसही एकेले को करते हुए अभ्यासानुभव से परीक्षा कर देखें ।

---

[३२] शलभासन।

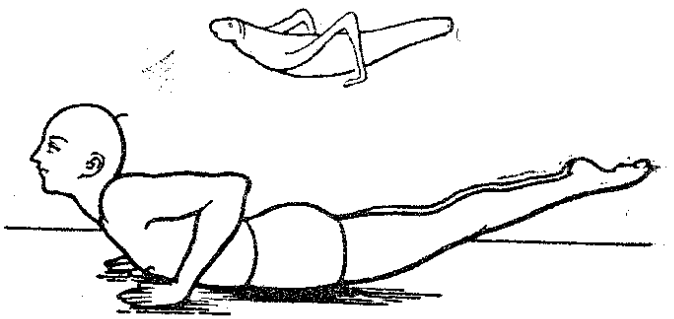

शलभ का नाम भाषामें डिङ्गो है। इसके आकारके समान अपना आकार बनानेके लिये जमीनपर पेटके बल सोकर नाभिके दोनों ओर दोनों हाथ रखिये और नाभिके चारों ओरका चार अंगुलका भाग भूमिपर रखकर शेष शरीर अर्थात् छाति सिर और पांव ऊपर उठाइये। शलभ जैसा आकार बन जायगा। इसीका नाम "शलभासन" है। इससे जंघा, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुंचता है।

(३३) आकर्णधनुषासन ।

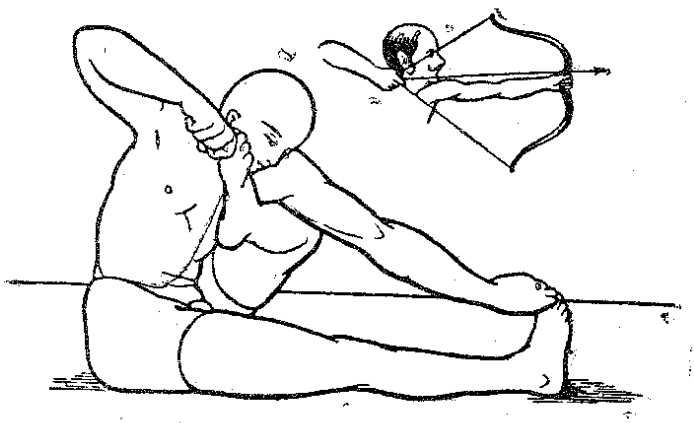

दोनों पांव एक दूसरेके साथ सीधे जमीनपर फैलाकर बैठ जाइये दोनों हाथोंकी । अंगुलियोंसे दोनों पांवोंके अंगूठे पकड लीजिये । पश्चात् एक पांव सीधाही रखकर दूसरे पाव को उठाकर दूसरी ओरके कानको लगाइये । जिस प्रकार धनुष्यपर बाण चढाकर आकर्ण खींचा जाता है, उसी प्रकार इस आसनमें होता है इसलिये इसको "आकर्ण धनुषासन" कहते हैं ।

दूसरी ओर भी इसी प्रकार करना चाहिये । हाथों और पावोंके हेरफेरसे यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है ।

(१) दांहिने हाथसे दाहिने पांव का अंगूठा पकडकर, बांये पांवका अंगूठा बांए हाथसे खींचकर बांए कान को लगाना, (२) बांए हाथसे बांए पांवका अंगूठा पकडकर दाहिने पांवका अंगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगाना, (३) दाहिने हाथसे बांये पांव का अंगूठा पकडकर दाहिने पांवका अंगूठा बाएं हाथसे खींचकर बाएं कानको लगाना, (४) बाएं हाथसे दाहिने पांवका अंगूठा पकडकर बांये पांवका अंगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगाना । ये चार प्रकार हैं । इनसे बाहु, पांव, घुटने, जंघा आदि अवयवोंको लाभ पहुंचता है ।

---

(३४) चक्रासन ।

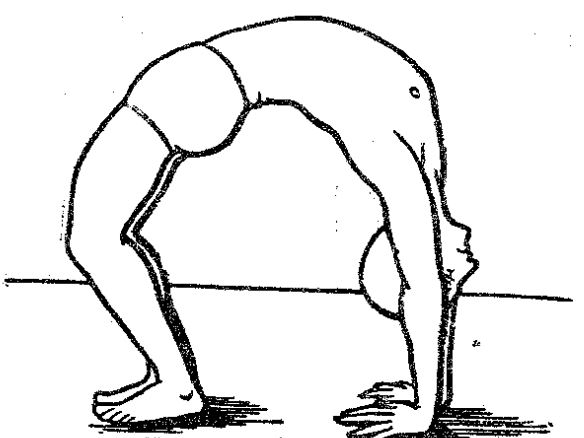

पीठके ऊपर भूमिपर सो जाइये। पश्चात् हाथों और पांवोंके पंजे भूमिपर लगाकर कमरका भाग ऊपर उठाइये। और हाथों और पावोंके पंजे जितने पास पास आसकेंगे, उतने पास करनेका यत्न कीजिये। सब शरीर चक्रके समान बनता है इस कारण इसको "चक्रासन" कहते हैं। यह आसन खडा रहकर पीछेसे अपने हाथोंको जमीनपर रखनेसे भी होता है। इसको भाषामें "कमान करना" बोलते हैं। इससे पेट और कमरके स्थानोंको बडा लाभ पहुंचता है। पृष्ठवंश हमेशा आगेकी ओर झुकता है, उसका दोष इस आसनद्वारा विरुद्ध झुकाव होनेसे दूर होता है।

---

(३५) वज्रासन और (३६) सुप्तवज्रासन।

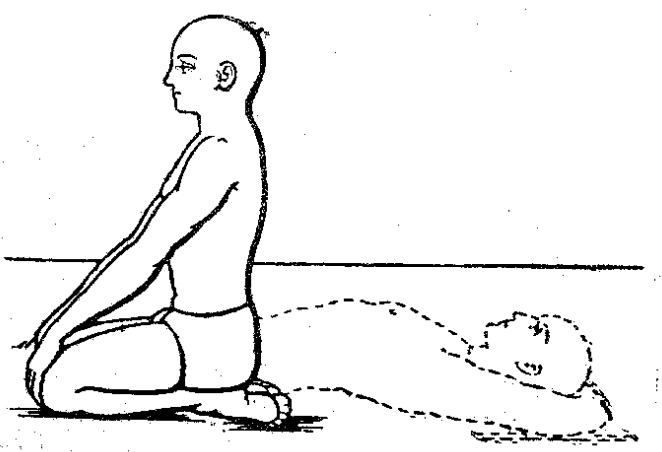

दोनों जांघें और दोनों पींडरीयां इनको ऊपर नीचे बराबर करके दोनों पावोंके तलवोंको गुदाके दोनों ओर बराबर बैठाकर बैठना, इसका नाम " वज्रासन " है।

घुटनेके निचले भागसे पांवकी अंगुलियोंतक का भाग भूमिको लगाना चाहिये। इसका दूसरा प्रकार यह है कि अंगुलियां भूमिपर टिकाके एडियोंपर चूतर रखकर बैठना, परंतु इससे वह इष्ट कार्य नहीं होता है कि, जो पूर्व लिखे प्रकारसे होता है। इसलिये घुटनेसे अंगुलियोंतकका पांवका भाग जमीनको लगाकर बैठनाही उत्तम है।

इसका तीसरा प्रकार यह है कि, एडियां अलग करके चूतर जमीन को लगाकर बैठना।

किसी प्रकार वज्रासन लगाकर पश्चात् उसी वज्रासनके साथ पीठपर सोना, और अपने हाथोंसे एकसे दूसरे हाथका बाहु पकड कर हाथोंके ऊपर सिर रखना, इसको " सुप्तवज्रासन " कहते हैं।

पावों और पेटपर इसका अच्छा परिणाम होता है। इस समय ठोढी कंठमूलमें दंटके लगानेसे बहुत ही लाभ होता है। इस आसनके करनेके समय इस बातको कोई न भूलें।

---

(३७) उष्ट्रासन।

पूर्वोक्त वज्रासन के द्वितीय प्रकार के समान एडियोंपर चूतर लगाकर बैठिये। पश्चात् हाथ पावोंके साथ साथ अथवा

पावोंकी एडियोंपर रखकर, एडियोंपरसे चूतरोंको उठाकर आगे कीजिये और सिरको पीछे और नीचे झुकाइये। इस समय एडी और चूतरोंके बीचमें जितना अधिक अंतर होसके उतना उत्तम है। इस आसनसे पेटको बहुत लाभ पहुँचता है।

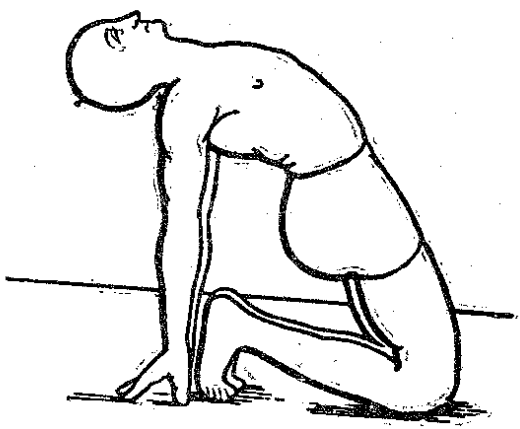

पेट जमीनको लगाकर भूमिपर सीधा सोकर पीछेसे अपने हाथोंसे पावोंको—एडीके नीचे—पकड लीजिये। अब नाभिके आसपासका चार अंगुलतक का पेटका भागही केवल भूमिपर रखकर, सब शरीरको ऊपर कीजिये। हाथोंसे पांवोंको अपनी ओर अच्छी प्रकार खींच लीजिये और पांवोंसे हाथोंको अच्छी प्रकार खींच लीजिये। इस प्रकार दोनों ओरका खिंचाव होनेसे "सुप्त उष्ट्रासन" बनता है। इसको "धनुरासन" भी कहते हैं।

पूर्वोक्त उष्ट्रासनमें घुटने और पांवकी अंगुलियां जमीनपर स्पर्श कर रहींथीं, तथा हाथका भी एक रीतिसे भूमिको स्पर्श हो रहा था। परंतु इस सुप्त उष्ट्रासनमें केवल नाभिका थोडासा भागही भूमिको स्पर्श करता है और शेष सब शरीर ऊपर खिंचा होता है। दोनाका आकार एक जैसाही होता है, एकमें ऊंट बैठनेका भास होता है और दूसरेमें सोनेका भास होता है। दोनाका फल एकसांही है।

इसके अभ्याससे यकृत और प्लीहाके दोष दूर होते हैं, आमवातके सब रोग चले जाते हैं। तात्पर्य पेटके आरोग्यके लिये यह अति उपयोगी आसन है।

उष्ट्रासनका और एक प्रकार—पेट पर सोके दोनों पांव घुटनोंसे उलटके पीठकी ओर लाने, दोनों हाथोंसे दोनों पावोंके अंगूठे पकडने और कंधे भूमिपर लगाके माथा ऊपर करना, इसको भी उष्ट्रासन कहते हैं।

---

(३८) गोमुखासन.

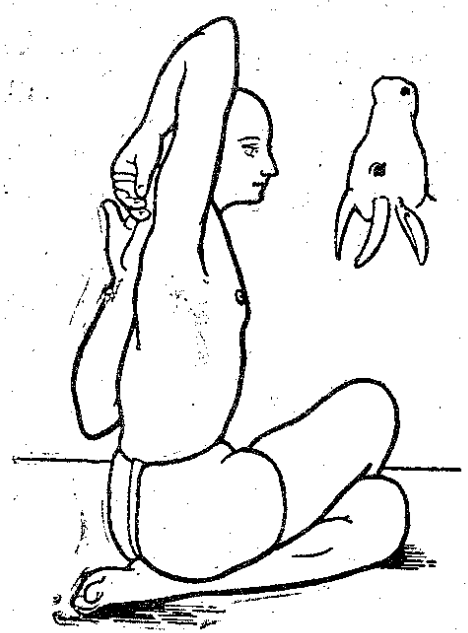

दाहिने पांवकी गांठ बाएं चूतर के नीचे और बाएं पांवकी गांठ दाहिने चूतरके नीचे रखके तनके बैठना, और बायां हाथ पीछे फेरके ऊंचा उठाना, तथा दाहिने हाथकी कोहनी ऊंची करके हाथ नीचे झुकाना। तत्पश्चात् दाहिनी तर्जनीमें बायें हाथ की तर्जनी दृढ पकडनी। इसको गोमुखासन कहते हैं। हाथोंके तथा पावोंके हेर फेरसे यह आसन दोनों ओर करना उत्तम है। इससे हाथों और छातीको लाभ पहुंचता है। यह आसन खडा होकर भी केवल हाथोंद्वारा हो सकता है।

(३९) प्राणासन।

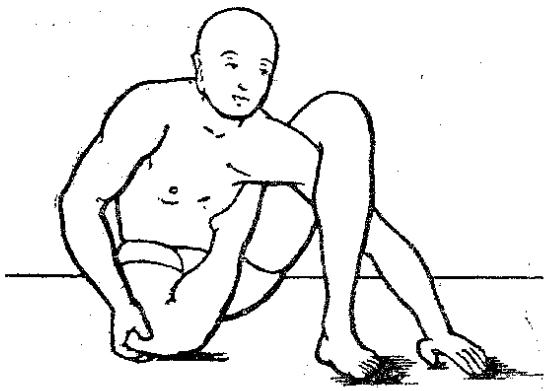

दाहिने पांवकी अंगुलिया बायी जंघा और बगलमें दबा कर बैठिये और बाये घुटनेके नीचे बायां बाहु रखकर बायां हाथ और पांव जमीनपर बलसे रखिये। इस समय बाहुसे घुटने को उपर खींचना और घुटनेसे बाहुको नीचे दबाना चाहिये। इस प्रकार करनेसे हाथ और पांवका बल बढता है। फेंफडोंमें खिंचाव होने के कारण प्राणका भी बल बढ जाता है। हाथ पांवके हेरफेरसे यह आसन दाईं बाईं ओर दो प्रकार से किया जा सकता है।

(४०) चतुरकोणासन।

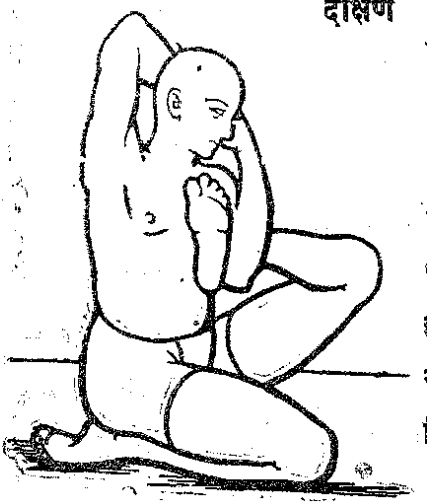

दक्षिण पादको घुटनेमें मोडके बैठना और पश्चात् बांहे पांवके पंझेको बांहे हाथकी ठेऊनीमें धरके ऊपर उठाना, पश्चात् सिर परसे दोनों हाथोंकी अंगुलियां परस्पर मिलाकर पांव को सिरके बल ऊपर उठानेसे "चतुरकोणासन" बनता है। यह दूसरी ओर भी करना चाहिये।

इससे पांव के स्नायु ठीक होजाते हैं तथा हाथ और गलेके स्नायुओंको भी अच्छा खिंचाव होनेके कारण निर्मलता प्राप्त होती है।

(४१) एकहस्तभुजासन।

दाहिना पांव दांये कंधेपर अथवा बांया पांव बांये कंधेपर रखिये और दोनों हाथ गलेके पीछे परस्पर अंगुलियां मिलाकर रखिये और बाहुके सहारेसे पांवको ऊपरही पकड रखिये। इसको "एकहस्तभुजासन" बोलते हैं

---

(४२) द्विहस्तभुजासन।

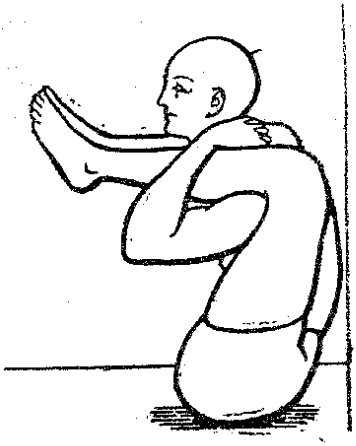

पूर्वोक्त प्रकार दोनों पावोंको दोनों बाहुओंपर रखना और पूर्वोक्त रीतिसे हाथोंद्वारा उनको ऊपरही धरदेना इस आसन में होता है। खूब आसन अच्छीप्रकार होने लगेगा तो यह बननेमें देर नहीं लगती। तबतक इसका यत्न भी करना नहीं चाहिये।

ये दोनों आसन स्त्रियाको करने नहीं चाहिये।

---

(४३) एकपादशिरासन ।

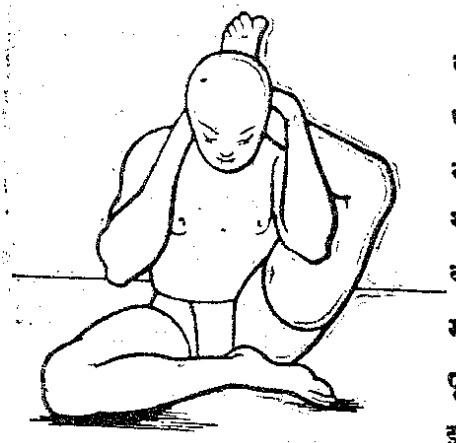

प्रथम चौकी लगाकर बैठिये। पश्चात् एक पांव को खोलकर उसके पंजेको दोनों अथवा एक हाथसे पकड कर शनैः शनैः मंद वेगसे सिरके पीछे गलेके पृष्ठ भागपर चढाइये इससे पांव और जंघा आदि स्थानकी नस नाडीकी निर्मलता होती है।

परंतु यह आसन पहिले दिन होना कठिन है। इसलिये बलसे जबरदस्ती करना उचित नहीं। क्रमपूर्वक पांव ऊपर चढते चढते एक मासमें होने लगेगा। शीघ्रता करना अयोग्य है। यह आसन स्त्रियोंको करना नहीं चाहिये।

(४४) द्विपाद शिरासन।

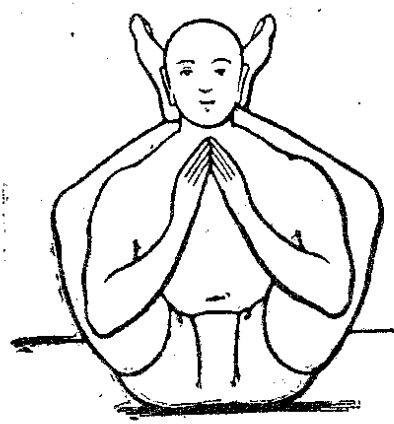

पूर्वोक्त प्रकार दोनों पावोंको गलके पृष्ठ भाग पर एक समय रखनेसे यह आसन बनता है।

ये दोनों आसन स्त्रियाको करने नहीं चाहिये। इसका फल पूर्वोक्त प्रकार ही है।

---

(४५) वातायनासन।

खडे रहकर एक पांवकी एडा दूसरे पांवकी जंघाके मूलमें लगाइये। किंचित् समय इस प्रकार एक पांवपरही खडा रहकर, पश्चात् शनैः शनैः इस मोडे हुए पांवका घुटना दूसरे पांवकी एडीके साथ जमीन को लगाकर खडा रहिये। यह "वातायनासन" होता है। फिर उठनेके समय शनैः शनैः उठना चाहिये। पावोंके हेर फेरसे इसके दो भेद होते हैं। इसस भी

पांवकी शक्ति बढ जाती है। अपनी शक्तिके अनुकूल इस आसनपर न्यून वा अधिक समय खडा रहनेसे उचित लाभ होता है।

यह आसन स्त्रियां न करें।

---

(४६) मत्स्येंद्रासन।

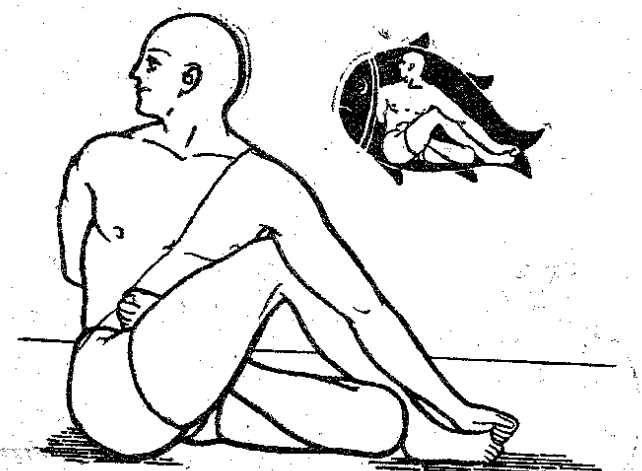

बाएं पांवका पंजा दाहिने पांवके मूलमें ऐसा रखना कि उसकी एडी तूंदीमें लगे और अंगुलियें पालथीके बाहिर न हों। फिर दायां पांव बाएं घुटनेके पास पंजा भूमिपर लगाके रखना। फिर बायां हाथ दांये घुटनेके बाहिरसे चित्त डालके उसकी चुटकामें दांये पावका अंगूठा पकडके, उस दायें पांवके

पंजेको बाये घुटनेके बाहर सटाके रखना। फिर दाहिना हाथ पीठकी ओर से फिराके उससे बांये पांवकी एंडी पकड रखनी और अपना मुख तथा अंग पीछेकी ओर फेर के नासाग्रमें दृष्टि करनी। इसको "मत्स्येंद्रासन" कहते हैं।

हाथ और पांवोंके हेरफेरसे यह आसन दोनों ओर करना चाहिए। यह आसन प्रारंभमें करना कठिन होता है, इसलिये प्रथमतः "मत्स्येंद्रासन" करना और जब इसका अच्छा अभ्यास हो जाय तो पश्चात् मत्स्येंद्रासन का यत्न करना उत्तम है।

बाएं पांवकी एडी गुदा और अंडकोशके बीचमें लगानी और दांयां पांव पूर्ववत् बाएं घुटनेके पास पंजा भूमिपर लगाके रखना। फिर बायां हाथ दांये घुटनेके बाहिरसे चित्त डालकर उसकी चुटकीमें दांये पांव का अंगूठा पकडके, उस दांये पंजेको बांये घुटनेके बाहिर सटाके रखना। फिर दाहिना हाथ पीठकी ओरसे फिराके उससे दाईं जंघा पकडनी और अपना मुख तथा अंग पूर्ववत् घुमाके नासाग्रदृष्टि करनी। इसको अर्ध मत्स्येंद्रासन कहते हैं। पूर्ण मत्सेंद्रासनसे यह सुगम है। और जिनका शरीर स्थूल होता है वे भी इसको थोडे प्रयत्नसे कर सकते हैं।

इससे भी सुगम और एक तीसरा प्रकार है। उसमें भेद इतनाही है कि जो हाथ पीठकी ओर घुमानेका होता है वह

अपनी सुलभताके अनुसार भूमिपर ही रखना और जहांतक हो सके वहांतक छाति और मुख पीठकी ओर घुमाना। इसको " पाद मत्स्येंद्रासन " कहते हैं।

जितनी अधिक सुगमता होती है, उतना लाभ भी कम होता है। इसलिये सुगम प्रकार थोडा अभ्यास होनेतक करके पश्चात् पूर्ण मत्स्येंद्रासनके लिये ही यत्न करना चाहिये।

इस एक आसनसेही पीठ, पेटके नल, पांव, गला, बाहु, कमर, नाभिके निचला भाग और छातीके स्नायुओंका अच्छा खिंचाव होता है। इसलिये इतने भागोंमें इसके अभ्याससे सुपरिणाम होता है। मत्स्येंद्रासनसे जाठराग्नि बढता है, पेटके अनेक रोगोंका समूल नाश होता है, पेटका दर्द, आमवात, परिणामशूल, आंतोंके रोग आदिका नाश इससे होता है। इसलिये स्वास्थ्यके इच्छुक लोगोंको इसका उत्तम अभ्यास करना चाहिये।

(४७) वृश्चिकासन।

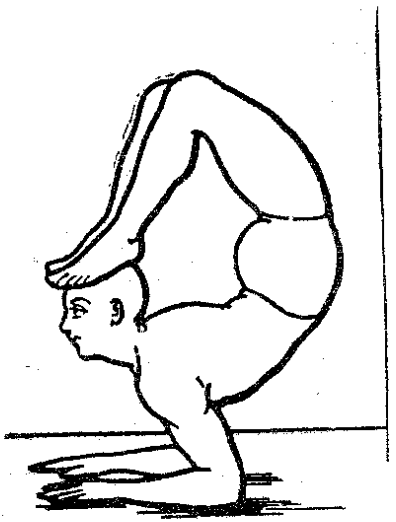

कोहनीसे पंजेतकका हाथोंका भाग भूमिपर रख कर, उसके सहारे सब शरीरको संभालकर, दिवारके सहारे पांव ऊपर ले जाइये। पश्चात् पांवोंको घुटनोंमें मोडकर सिरके ऊपर ले आइये। इसको वृश्चिकासन कहते हैं। इससे हाथों और बाहुओंमें बल बढता है और पेट तथा आंतोंका भाग निर्दोष बनता है। तथा शरीर फुर्तिला और हलका होनेके कारण इससे सब शरीरको बडा लाभ पहुंचता है। जितना समय इस आसनमें आसानीसे रहा जा सकेगा, उतनाही रहना उचित है, उससे अधिक नहीं।

कई लोग केवल पंजोंके ऊपरही सब शरीर संभालकर यह आसन करते हैं। यह दूसरा प्रकार है। किसी प्रकार करना हो तो प्रारंभमें दिवारका सहारा तथा मित्रोंकी सहायता लेना योग्य है। जब शरीर पूर्ण स्वाधीन हो जाय, तब स्वयं अकेला ही करनेमें कोई हानि नहीं है।

(४८) त्रिकोणासन ।

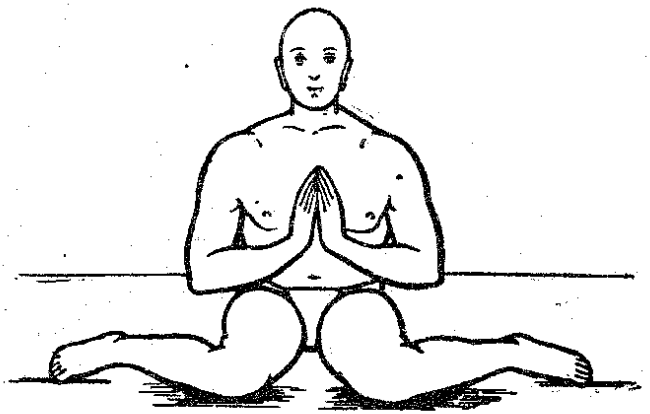

वज्रासनमें लिखी रीतिके अनुसार चूतर भूमिपर रखकर, दोनों पांव दोनों चूतरोंके दोनों ओर रखकर बैठ जाइये। पश्चात् एक पांवको घुटनेकी समरेखामें ले आइये। पश्चात् दूसराभी पांव वैसाही उसकी विरुद्ध दिशामें घुटनेकी समरेखा में ले जाइये। ऐसा होनेसे " त्रिकोणासन " बनता है। इससे घुटनेके दोष दूर होते हैं। घुटनोंका दर्द, संधिवात आदि बीमारी इस आसनके अभ्यासीको नहीं होगी। और यदि हुई तो इसके अभ्याससे दूर हो जाती है।

यह आसन बहुत कठिन है। इसलिये प्रारंभमें " अर्धत्रिकोणासन " का अभ्यास करना उचित है। एक पांव का ही आसन बनाने का नाम अर्ध त्रिकोणासन है। जब यह सिद्ध होगा तब, दोनों पावोंका आसन करनेका यत्न करना योग्य है। बलके साथ जबरदस्ती करनेसे हानि होगी।

(४९) कंदपीडनासन ।

चौकी खोलकर जमीनपर बैठ जाइये । पश्चात् एक पांवका पंजा दोनों हाथोंके सहारेसे शनैः शनैः घुमाकर और उपर उठाकर पेटके ऊपर ले आइये । इसको " अर्ध–कंद–पीढ-नासन " कहते हैं । इसीप्रकार दूसरे पांवका पंजा ऊपर पेट-पर ले आइये । जब अलग अलग पांवसे आसानीसे अर्ध कंद पीडनासन बन जायगा, तब दोना पावोंका कंद पीडना-सन करनेका यत्न कीजिये । यह आसन अत्यंत कठिन है, बडे प्रयत्नसे साध्य हो जाता है, इसलिये अत्यंत सावधा-नीसे और थोडाथोडा करना चाहिये । शीघ्रता और जबरद-स्तीका प्रयत्न करनेसे कष्ट होंगे । इससे घुटनोंके दोष दूर होजाते हैं । और मज्जाग्रंथियोंकी शुद्धता होती है ।

शांतिका अनुभव।

हरएक मनुष्यको अनुभव है कि, "अशांत रहनेसे कष्ट और शांति मिलनेसे सुख होता है।" यह शांति कैसी प्राप्त की जा सकती है, इसका विचार हरएक मनुष्यको अपनी परिस्थितीके अनुसार करना आवश्यक है, तथापि शांतिके सर्वमान्य तत्वोंका विचार यहां करता हूं।

कई मनुष्योंका स्वभाव बडा चिडचिडा होता है। हर समय चिडजाने, अशांत होने और मनमाने शब्द बोलने में ये मनुष्य बडे प्रसिद्ध होते हैं। इनको किसी प्रकार भी स्वास्थ्य, शांति और समाधान हो ही नहीं सकता। इस लिये यदि ऐसा दोष हुआ, तो उसको दूर करनेका यत्न हरएक को करना अत्यंत आवश्यक है, क्यों कि इस स्वभाव के कारण उनकी आत्मिक उन्नति होनी असंभव है। ये मनुष्य प्रायः क्रोधी होते हैं। इस क्रोधको इसी लिये जीतना चाहिये कि, इससे खूनकी खराबी होती है। जिस समय क्रोध आता है, अपने ही खूनके जीवन अणुओंको मार देता है। क्रोधसे दूसरेकी हानि होगी या न होगी इसका विचार स्वतंत्र है, परंतु क्रोधके कारण क्रोधी मनुष्यके जीवनयुक्त कीटाणुओंका नाश होता है, यह बात सत्य है। इससे स्पष्ट है कि, जिसके ऊपर यह क्रोध

करता है, उसका नाश होनेके पूर्व इसी क्रोधीका नाश होता है। इसी लिये कहते हैं कि, क्रोधके कारण आयु घटती है। इतने भयानक शत्रुको अपने पास कौन करेगा? इस कारण भगवद्गीतामें कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ॥
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥ भ. गी. ३

" यह रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध महा भोगी और पापी है यह तेरा शत्रु है जिस प्रकार धूमसे अग्नि, मलसे शीशा और चर्मसे गर्भ आवृत होता है, उसी प्रकार इस काम और क्रोधसे यह सब ढंका है।" अर्थात् काम और क्रोधके कारण सब कामी और क्रोधी अज्ञानसे युक्त होते हैं और उनको कर्तव्य अकर्तव्य का विचार नहीं होता। यह बात हरएक जान सकता है कि, क्रोधके वशमें होनेके कारण मनुष्य समय समयपर कितने अनर्थ करता है, और कैसा गिर जाता है। बाह्य अनर्थ इससे न भी हुए तोभी यह क्रोधके आवेशमें जब होता है, तब बडा अशांत होता है और शांतिसे दूर होता है। इस लिये क्रोधको छोडना चाहिये।

चिडचिडा अथवा क्रोधी मनुष्य अपना मनोरंजन करनेके लिये भी किसी स्थानपर गया, तो उसको वह शांति नहीं

मिलती कि, जो दूसरे शांत और प्रेमी मनुष्यको प्राप्त होती है। इसलिये द्रव्यका व्यय करनेपर भी यह क्रोधी मनोरंजनसे दूरही रहता है। कई समझते हैं कि, यह स्वभावगुण है, और दूर नहीं हो सकता। परंतु हमारा विचार है कि यह स्वभाव-धर्म होने परभी प्रयत्न करनेपर दूर होता है। हमने कई क्रोधी मनुष्य बडे शांत और प्रेमी बने हुए देखे हैं। इसलिए अपना चिडचिडा स्वभाव दूर करनेका यत्न हरएकको अवश्य करना चाहिये।

शांति प्राप्त करनेका आसन।

(५०) शवासन, प्रेतासन, मृतासन।

भूमिपर दरी या कंबल बिछाकर उसपर दोनों हाथ और दोनों पांवोंको फैलाके आकाश या छत की ओर मुख करके पीठसमेत सब अंग जमीनको लगाकर सोनेका नाम शवासन है। इसको मृतासन तथा प्रेतासन भी कहते हैं। बहुत श्रम होनेकी अवस्थामें यह आसन करनेसे विश्रांति मिलती है और श्रम दूर हो जाते हैं।

बहुत चलने, घूमने, दौडने अथवा अन्य प्रकार बहुत श्रम करनेपर यह आसन दस पंद्रह मिनिट करनेसे सब श्रम दूर होते हैं और शांति प्राप्त होती है।

(५१) दंडासन।

शवासनमें हाथ और पांव फैले थे, वैसे न फैलाते हुए एक पांव दूसरे पांवके पास रखिये और एक हाथ दूसरे हाथ के पास रखिये, और सब शरीर पांवसे लेकर हाथ के पंजेतक समरेखामें दंडवत् भूमिपर रखिये, इसका नाम दंडासन है। इसका फलभी श्रम परिहार ही है।

इन दोना आसनोंको करनेके समय अपने सब स्नायु, अंग और अवयव बिलकुल ढीले रखने चाहिये। अपनी आत्मशक्ति शरीरसे हटाकर अपने आत्माके अंदर लानी चाहिये, और शरीर बिलकुल प्रेतके समान स्थिर करना चाहिये। सब स्नायु जितने ढीले करेंगे उतना आराम अधिक प्राप्त होगा। दस पंद्रह मिनिट करके आप फिर अपनी शक्ति शरीरमें भेजिये। इस समय आपको नवीन उत्साह प्रतीत होगा, और प्रायः सब श्रमकी थकावट दूर होगी।

इस शवासन अथवा दंडासन करनेके समय श्वास उच्छ्वास बिलकुल शनैः शनैः और आवाज बिलकुल न करते हुए करने चाहिये। श्वास अंदर जानेके समय अथवा उच्छ्वास बाहिर छोडनेके समय थोडा भी आवाज न हो। परंतु पूर्णतासे श्वास अंदर जाय और पूर्णतासे बाहिर भी आजाय। श्वासोच्छ्वास के आवाजका भान अपने आपको भी न हो। इस प्रकार अत्यंत शांतिसे श्वासोच्छ्वास करनेसे शवासनमें बडा

लाभ होता है। श्वास और उच्छ्वासका प्रमाण सम हो, जितना दीर्घ श्वास होगा, उतनाही दीर्घ उच्छ्वास होना चाहिये। यह लंबाई आप मनमें ही अंकों या मत्रोंकी गिनतीसे कर सकते हैं।

कुछ देर ऐसा करनेके पश्चात् जब श्वास सम प्रमाणमें होने लगेगा तब आप श्वासकी ओर का ध्यान हटाइये और अपने मनके विचार बंद कीजिये। जहांतक संभव हो वहांतक मनमें एक भी विचार न रखिये। तात्पर्य इस शवासनमें शरीरके स्नायुओंको ढीला करके तथा मनको भी निर्विकार करके जहांतक हो सके वहांतक शांत रहना चाहिये। आंख बंद रखिये और किसी अन्य इंद्रियका कोईभी व्यापार न कीजिये।

ऐसा शांत रहनेसे एक प्रकारकी अवर्णनीय शांति प्राप्त होती है और द्विगुणित उत्साह बढता है।

अन्य प्रकार बैठ या सोकर भी आप अपने स्नायुओंको ढीला करके कुछ आराम प्राप्त कर सकते हैं। स्नायुओंको ढीला करनेसे हमेशा शीघ्र विश्राम प्राप्त होता है। परंतु शवासनमें सबसे अधिक विश्राम प्राप्त होता है।

आप कार्य करते करते जब थक जाते हैं, तब दस पंद्रह मिनिट उक्त प्रकार शांतश्वसन पूर्वक शवासन करके अपने स्नायु ढीले करेंगे, तो आपको पूर्ण विश्राम मिलेगा, और

आपकी सब थकावट दूर होगी। न थकनेकी अवस्थामें भी दो तीन घंटे परिश्रम के पश्चात् बैठे बैठेही अपने स्नायु ढीले और मन बिलकुल शांत करेंगे, तो आपको थकावट ही नहीं आवेगी।

जिनको अभ्याससे स्नायुओंको ढीले और मन निर्विचार करनेकी कला अवगत हुई है; वे कभी थकेंगे नहीं अथवा थकनेके पूर्वही उक्त यौगिक क्रियासे फिर नूतन उत्साह युक्त बन जायंगे। अपने शरीरके इंद्रिय व्यापारोंमें भी परमात्माने ऐसी युक्ति रखी है कि, थोडा कार्य करनेके बाद उस इंद्रियको स्वयंही विश्राम मिलता है। सबसे मुख्य बात यह है कि, संपूर्ण इंद्रियां एकही समय कार्य नहीं करतीं, क्योंकि आत्माकी प्रेरणा ही समयान्तरके पश्चात् एक एक इंद्रियमें होती है। मन जिस समय आंखसे देखता है, ठीक उसी समय शब्दका श्रवण नहीं कर सकता। साधारणतः ऐसा होता है, इसलिये जिससमय एक इंद्रियके व्यापार चलते हैं उस समय दूसरे इंद्रियोंको विश्राम मिलता है। इतनाही नहीं प्रत्युत एक इंद्रियके व्यापार चलनेके समयमें भी प्रतिक्षण थोडी थोडी विश्रांति मनको मिलती है। उदाहरणके लिये समझ लीजिए कि, आप बोलते हैं, उस समय एक शब्द बोलनेके पश्चात् थोडी विश्रांति करके ही दूसरा शब्द बोला जाता है। हृदयका चलना भी एक आघात के पश्चात् विश्रांति लेकर दूसरा आघात होता है। श्वास उच्छ्वास की गतिमें भी

बीचमें थोडीसी विश्रांति मिलती है, इसी विश्रांतिको बढानेका नाम आंतरिक अथवा बाह्य कुंभक है। तात्पर्य मध्य समयमें विश्राम लेना निसर्ग स्वभावही है। इस विश्राममें आत्मा परमात्माके अभेद संबंधका अनुभव होता है। इस समय एक दूसरेमें मग्न होते हैं और जिवात्मामें बल आता है। दो दिनके बीचमें जो निद्रा आती है, इस निद्रामें भी यही होता है।

इस स्वभाव धर्मका निरीक्षण करनेसे पता लगेगा कि, दो कार्योंके बीचमें विश्रांति लेनेसे थकावट दूर होती है, और नवीन उत्साह प्राप्त होता है। यह न केवल मनुष्योंमें, परंतु पशुओंमें, वृक्षवनस्पतियोंमें और धातु आदि जड पदार्थोंमें भी है। वृक्षभी थकते और विश्राम मिलनेसे उत्साह पूर्ण होते हैं। जो लोहेके जड यंत्र हैं, उनको भी थकावट आती है, और विश्राम न देते हुए दिन रात कार्य करनेसे शीघ्रही बिगड जाते हैं। इस लिये मनुष्यको शवासन द्वारा अथवा अन्यप्रकार कार्य समाप्तिके पश्चात् पूर्वोक्त रीतिसे नवजीवन प्राप्त करना चाहिये। हरएक मनुष्य थोडेसे प्रयत्नसे उक्त रीतिमें निपुण हो सकता है, क्योंकि सब अन्य आसनोंसे यह सुलभ आसन है; शांतश्वसन तथा स्नायु—शिथिलीकरण भी बडाही सुगम परंतु अत्यंत लाभदायक है।

आसनोंका अभ्यास करनेके समय अथवा अन्य व्यायाम करनेके समय बीचबीचमें यदि आप स्नायु शिथिल करना,

शांत श्वसन और मन को निर्विचार करते जांयगे, तो आपको अनुभव होगा कि, ऐसा एक दो मिनिट करनेसे भी बडा लाभ होता है, और किसी प्रकार थकावट नहीं आती।

विशेष थक जानेपर इसका लाभ स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्य कुछ भी न करते हुए, यदि आप मनको निर्विचार और स्तब्ध करेंगे, तो भी आश्चर्य जनक आराम मिल सकता है। जिस समय आपको घबराहट प्रतीत होती है, स्पर्धामें कार्य करना है, कोई बडा अधिकारी आगया है, कुछ परीक्षा का समय है, अथवा कुछ अन्य कारण घबराहट हुई है, तो आप शांतिसे और अत्यंत मंद गतिसे दस बीस दीर्घ श्वास उच्छ्वास लीजिये, मन श्वासकी गतिमें रखिये और अन्य सोचना बंद कीजिये; चार पांच मिनिटों में ही आपकी सब घबराहट दूर होगी और मनको विशेष शांति मिलेगी। यह अनुभवकी बात है, आपको भी ऐसाही अनुभव आ जायगा।

योग और दृष्टि।

लेखक—प्राणपुरी

कई व्यक्तियों की चक्षु-दृष्टि-मन्द हो जाती है, उस समय कई रोगी तो कोई अंजन आंखमें लगाते हैं, और किसी वैद्यकी दी हुई औषधि खाते हैं। वैद्यका प्रथम काम यह होता है, कि रोग के निदान का पता लगावे। यदि वैद्यने निदान का पता ठीक लगा लिया, तब तो चिकित्सा से लाभ होता है, और यदि दुर्भाग्यवश निदान में ही भ्रम हो जाय, तो चिकित्सा से भी कोई लाभ नहीं होता है। जिस भांति चिकित्सा की अवस्था है इसी भांति योग की आसनों की अवस्था है यदि सिर पीडादि रोग रुधिर के अधिक जानेसे हो, तब तो शीर्षकासन हानिकारक होगा और यदि इसके विपरीत हो, तो लाभदायक होगा। जैसे जो ज्वर क्षुधा से हो, उसमें भोजन करना ही औषधवत् है, और यदि अजीर्णसे हो, उस समय भोजन विषवत् है।

इसी लिये ऐसे ही योग के आसन अथवा अन्य क्रिया

करने के इच्छुक का प्रथम कर्तव्य है, उस रोग के कारण का पता लगाना। निश्चय होने पर पीछे काम करना।

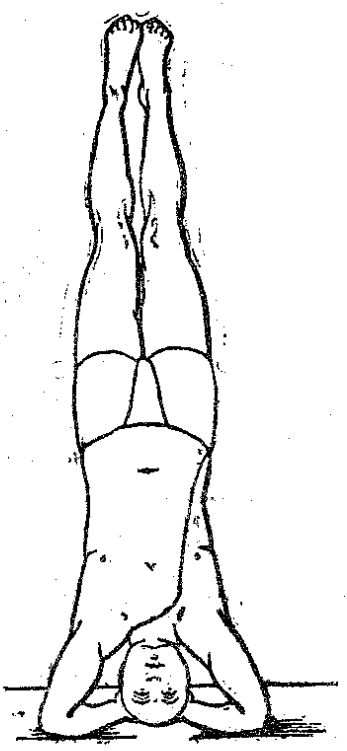

जो आसन अथवा क्रियाएं चक्षु-दृष्टि के लिये लाभ कारी हैं, अब मैं उन का वर्णन करता हूं—

(१) शीर्षकासन इसका वर्णन कईवार आगे हो चुका है, इस लिये इसपर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति मस्तिष्क संबंधी अधिक काम करते हैं, यदि उन्हें दृष्टि मंद का रोग हो, उनके लिये यह आसन विशेष लाभ दायक है।

(२) विपरीत करणी सीधे लेट कर टांगों को ऊपर उठा कर कंधोंके सहारे खडा होना, और कमरमें दोनों हाथों को लगाकर स्थूणावत् सहारा देना। इसे विपरीत करणी कहते हैं।

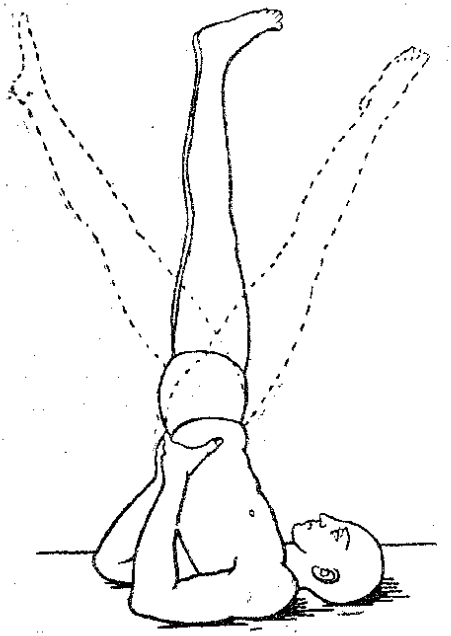

इन दोनों आसनोंके अतिरिक्त कुछ और भी साथ साथ करना चाहिये। कई स्थानोंपर तो आसन न करने पर भी इस क्रिया के करने से ही पर्याप्त लाभ हो गया और यह क्रिया करनी अत्यन्त सुगम है। इसका नाम है—

"जलकी नेति"

इसका विधि निम्न लिखित है। एक टूटीदार बर्तनमें जल डाल लें। बर्तन टूटीदार से प्रयोजन उसी भांति के बर्तन में से है, जैसे साधुओं के पास कमंडलु होता है, वैसा हो, अथवा जिसे पंजाब में गंगासागर कहते हैं, जो गडवे जैसा होता है, और उसमें एक ओर टूटी लगी होती है, अथवा जैसा मुसलमानों का लोटा होता है, वैसा हो। उस पात्र की

टूटी को नासिका के एक छिद्रमें लगाकर सिर को थोडासा दूसरी ओर झुकाकर उस पात्र से जल डाले और उस समय श्वास मुंह से ले और यत्न यह करे कि, जल जो नासिका के छिद्र में पात्रसे जाता है, वह नासिका के दूसरे छिद्र से निकले। इसी भांति कोई आध सेर जल एक छिद्र में डालकर निकाल दे, और फिर इसी भांति उस पात्रकी टूटी को दूसरे नासिका छिद्रमें लगाकर करे। ताकी नाकके दोनों छिद्र साफ हो जायं।

इस क्रियामें जो जल लिया जाय, वह अति शीतल न हो। यदि अति शीतल होगा, तो माथेमें पीडा हो जायगी। जिन स्थानों में कूप का जल काम में लाते हैं, उन स्थानों पर शीत और उष्ण ऋतु में कूप का जल काम दे देता है। जहां पर नलके का जल हो, वहां उष्ण ऋतु में तो उससे ही नेति कर सकते हैं, परंतु शीत ऋतुमें वह ठीक नहीं है। उस समय उसे थोडासा नमक भी डाल लें, तो लाभ अधिक होता है। इस क्रिया से अनेक व्यक्तियों को लाभ हुआ है। उदाहरणार्थ एक वर्णन करता हूं।

गत वर्ष गयाजी पर मैं एक दिन बाहर जा रहा था, पंडित विष्णुदास जी वैद्य मेरे साथ थे, हम परस्पर इसी विषय पर बातें करते जाते थे। आगे नदी तट पर एक व्यक्ति ने स्नानार्थ वस्त्र उतारे और जल के पास जाकर प्रथम उसने

नेति करनी आरंभ की। पंडितजी ने कहा, इनसे पूछें, यह क्यों ऐसा करते हैं? हम उसके समीप गए, और यही प्रश्न किया। उसने उत्तर दिया, मुझे जुकाम अधिक रहता था, एक महात्माने यह उपाय बताया। मैं इसे लगभग एक वर्षसे करता हू। मैंने कहा आपको क्या लाभ होगया? उसने उत्तर दिया, जुकाम तो हट गया, उसके अतिरिक्त एक लाभ और हुआ जिसके लिये मैंने इसे छोडा नहीं, किये जाता हूं। पंडित जीने कहा वह क्या है? उसने कहा, मैं पहले दीपक के आलोक में अक्षर नहीं देख सकता था, किंतु अब भली भांति पढ सकता हूं, और मेरी दृष्टि पहले से बहुत अच्छी है। उसकी आयु ५० वर्षसे ऊपर थी।

इस लिये यदि जल की नेति प्रति दिवस की जाय, तो नेत्रों के लिये अत्यंत लाभ दायक है अनेक स्थानों पर इसका परीक्षण किया है।

यदि कोई इससे भी अधिक लाभ का आकाक्षी हो, तो उसे धागे की नेति करनी चाहिये।

उदर वृद्धि।

(लेखक—प्राणपुरी)

शरीर का मोटा होना कई प्रकार का है, [१] एक तो वह है, जिसका सारा शरीर ही अति मोटा हो, और इसी मोटाई के कारण चलने फिरने तथा अन्य कार्य करने में भी कठिनाई हो। [२] दूसरे वह है, जो इतना मोटा शरीर हो, जो चलने फिरने में तो कोई कठिनाइ न हो, परन्तु जो काम फुरती से किये जाते हैं, उन्हें न कर सके; और धीरे धीरे शरीर मोटे पन की ओर बढ रहा है।

[३] तीसरे वह शरीर जिसमें अन्य शरीरकी अपेक्षा केवल पेट बढ जाय, अथवा पेटके अतिरिक्त शरीर पतला पड जाय। कई बार यह पेट वृद्धि उन बालकों को हो जाती है, जिन्हे दूध नहीं मिलता है, और

रूखा अन्न ही मिलता है। उस अवस्था में भुजाएं और टांगें पतली हो जाती हैं, और पेट बढ जाता है; उसी बालक के सदृश कई व्यक्तियों का पेट बढ जाता है और कईयों का शेष शरीर पतला नहीं होता है, तो भी पेट अपेक्षा से अधिक बढ जाता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की स्थूलता की चिकित्सा यदि औषधि उपयोग को छोडकर, योग की रीति से करनी हो, तो योग की क्रियाओं और आसनों द्वारा की जाती है। इस लेख में मैं प्रथम और दूसरे प्रकार की मोटाई का कोई उपाय नहीं लिखूंगा, केवल तीसरे प्रकार की मोटाई का ही वर्णन करूंगा, और यह उपाय कई व्यक्तियों ने किया है, और उनका उदर न्यून हो गया है। इसी लिये मैंने यह लेख लिखने का उत्साह किया ह।

जिसका पेट बढ गया हो, अर्थात् जिसकी तोंद निकल आई हो, जिसे पंजाब में गोगड कहते हैं, उसे निम्न लिखित रीति से "योगका व्यायाम" करना चाहिये।

[१] प्रथम तो वह भूमि पर नितंब टेककर बैठ जाय, और एक टांग को सामने आगे फैला दे और दूसरे पांव का फैलाई हुई टांग के मूल में तलवा उपरको करके जमालें, और धीरे धीरे अपने दोनों हाथ फैला कर फैलाए हुए पांव के पंजे को पकडें। यदि न पकड सकें, तो जहां तक

हाथ जा सके ले जाएं, वहां ठहर कर फिर सिधे बैठ जाएं,। इसी भांति दो वार यत्न करके छोड दें। [२] और फिर दूसरी टांग को फैल कर अर्थात् पूर्व से विपरीत कर के, पहले की तरह दो वार यत्न करें [३] और इसके पीछे दोनों टांगों को फैला कर पास पास रखें। सारी टांग भूमिपर लगी हुई हो, और एडी पृथिवी पर लगी हुई और पग का पंजा ऊपर को हो। इस भांति बैठकर दोनों हाथों को फैला कर यत्न करें, जो तर्जनी और मध्यमांगुली

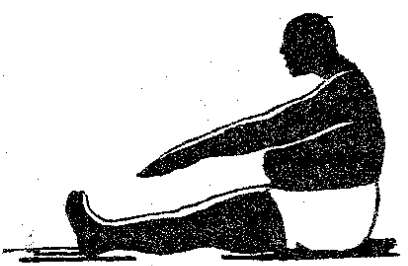

से पग के अंगूठे को पकडना है। यदि प्रथम दिवस न पकडा जाय तो कोई चिंता नहीं। दो वार यत्न करके छोड देना चाहिये। इसी भांति उस समय तक यत्नवान् हो, जिस समय तक पगके अंगूठे न पकड ले। जिस समय अंगूठों को पकड ले उस समय अंगूठोंको दृढ पकडकर धीरे धीरे शरीर को आगे झुकावे, जहांतक कि माथा जानु को स्पर्श करने लगे, और इसी रीतिसे अर्थात् माथा को जानु पर रख कर जितना समय ठहर सके, उतना ठहरा रहे। माथे को जानु पर लगने के समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये, टांगें भूमि के ऊपर न उडें, और घुटना इकठा न हो।

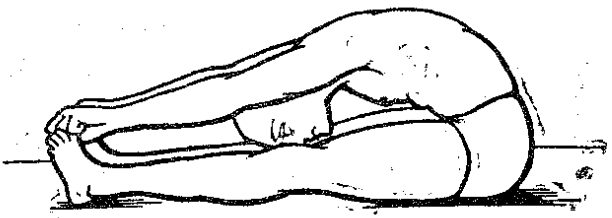

इसी आसन का नाम पुस्तकों में "पश्चिमतान" लिखा है, और 'वैदिक धर्म' में इसका नाम "जानु शीर्षकासन" पूर्व लिखा गया है। जिस समय यह आसन उपरोक्त विधिसे सिद्ध हो जाय, उस समय उस आसनका समय बढाना चाहिये। मैं ने इस आसन को प्रति दिवस आध आध घंटे तक स्वयं किया है; इस लिये यदि किसी से प्रथम न हो तो उसे निरुत्साहित न होना चाहिये। क्यों कि बल पूर्वक करने से लाभ के स्थान में हानिका भय रहता है। इस लिये यह आसन धीरे धीरे करना उचित है। जो व्यक्ति इस आसन को १५ मिनिट प्रति दिवस करे, उसका उदर अवश्यमेव ठीक हो जाता है, और जिस समय यह आसन अनायास होने लग जाय, लाभ तो उसी समय प्रतीत हो जाता है। इस लिये जिन महानुभावों का पेट बढा हुआ हो उन्हें ओषधियों का पीछा छोड कर, इसी आसन का अभ्यास करना चाहिये। इस रोग के अतिरिक्त इस आसन से क्षुधा भी बढ जाती है, जिन्हें मंदाग्नि हो उनके लिये भी यह आसन लाभ दायक है।

उदर-वृद्धि वालों को आरंभ से इस आसन के साथ साथ "नौलिक" का अभ्यास करना अच्छा रहता है, वह इस प्रकार है।

सीधे खडे होकर, श्वास को बाहर निकाल कर, पेट को अंदर को संकोच करे, और फिर पूर्ववत् श्वास बाहर निकाल कर, कुछ झुककर, दोनों हाथ दोनों घुटनोंपर रख कर, पेट को ऊपर खैंचकर दाएं और बाएं हिलाए। इसी भांति तीन चार बार प्रति दिवस करे। यह भी पेट को हलका करने में सहायता देता है।

पेट–वृद्धिवाले यदि डाक्टरों की शरण में न जाकर और ओषधि पर धनका अपव्यय न करके, उपरोक्त योगके साधनों में प्रवृत्त हों, तो उन्हें विना धन नष्ट किये ही, लाभ हो सकता है। यही नहीं और भी कई रोग हैं, जिनकी चिकित्सा इस ढंग से हो सकती है। अतः लोगों को इसी भांति की किकित्सा में प्रवृत्त होकर, इन आसनोंका विशेष प्रकार अभ्यास करना चाहिये।

आसनों के अभ्यास से उदर वृद्धि को दूर करो।

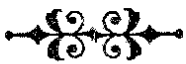

आसन का व्यायाम करने-वालोंके लिये कुछ नियम।

१ आसनों का व्यायाम करनेके लिये प्रातःकालका समय अच्छा है। गर्मीके दिनोंमें इस से भी पूर्व किया जासकता है। सायंकाल आसन करना भी योग्य है। परंतु कई अवस्था आँमें थोड थोडे दोनों समय करना बडा लाभदायक है।

२ शौचादिसे निवृत्त होकर ही यह व्यायाम करना चाहिये। कब्जी बहुत रहती हो, तो रात्रीके सोनेके समय कोसे जल या दूध में घृत डालकर पीना चाहिये। जिससे कब्जी न रहेगी। एक कटोरी भर कोसे जल में दो चार या छः चमस घी लेना पर्याप्त है।

३ प्रारंभ करनेके पूर्व पेटके कृमियोंको औषधादि प्रयोगसे हटाना अच्छा है, इस विषय में वैद्यों या डाक्टरोंकी राय लेना उत्तम है। तथा तीन दिन एरंडीका तेल सेवन करके कोठेकी (पेटकी) शुद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार शरीरकी अंतः शुद्धि करके यह व्यायाम प्रारंभ करनेसे शीघ्र लाभ होता है और पुनः पेटके दोष उत्पन्नही नहीं होते हैं। परंतु एरंडीका तेल इतनाही लेना चाहिये कि जिससे एक दोबार ही शौच शुद्धि हो और अधिक दस्त न लगें। अधिकवार दस्त लगनेसे व्यर्थ अशक्तता आजाती है। किसी कारण यह न होसका तो भी कोई हानि नहीं।

४ इस आसनके व्यायाम का प्रारंभ आरंभमें अति अल्प-प्रमाणमें करना चाहिये और शनैः शनैः इसका प्रमाण बढाना चाहिये। प्रथम दिन थोडा किया जाय और अपनी इच्छानुसार आगे बढाया जाय। शक्तिसे अधिक कभी न किया जाय।

५ अभ्यास के समय अर्थात् हरएक आसन के करनेके समय करनेयोग्य विशेष बातों का ख्याल विशेष रीतिसे करना योग्य है, अन्यथा विशेष लाभ की आशा करना व्यर्थ है। पूर्व स्थानमें हरएक आसनके करनेके समय ध्यान देने योग्य बातोंका विवरण कियाही है।

६ यदि कोई सर्दी आदिका क्लेश न होता होगा तो शीतजलका स्नान अच्छा है, नहीं तो अपने शरीरकी स्थितिके अनुसार योग्य जलसे स्नान करना चाहिये।

७ यदि साथसाथ सूर्यभेदन का व्यायाम करना हो तो सूर्यभेदन पहिले करनेके पश्चात् अनान्य आसनोंका अभ्यास पश्चात् करना चाहिये।

८ यदि दस पंद्रह से बहुतही अधिक वार प्राणायाम करने की इच्छा हो या कोई घंटा आधघंटे तक प्राणायामके अभ्यासी हों तो उन दिना में उनको सूर्यभेदन या कोई अन्य व्यायाम नहीं करना चाहिये। केवल आसनोंका ही व्यायाम उस समय करना योग्य है।

९ गृहस्थी लोग ऋतुगामी रहें। स्त्री पुरुष संबंधका अतिरेक करनेसे हानि होती है। ब्रह्मचर्य रहनेसे ही यह व्यायाम लाभदायक होता है।

१० वीर्यदोषके दोषी लोग इस आसनके व्यायाममें अपने आपको पूर्ण निर्दोष बना सकते हैं। "ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें लिखे नियमोंका पालन करके अपनी वीर्य रक्षा करें। ऐसा करनेसे वे पुनः पूर्ववत् पूर्ण वीर्ययुक्त हो सकते हैं।

११ इसके करने के दिनोंमें संभव होनेतक दवाईका सेवन न करें। अत्यावश्यकता होनेमेंही दवाई लेलें।

१२ रात्रीमें जागरण तथा अतिप्रवास आदि सब प्रकारके अत्याचार बंद रखने चाहियें, तभी लाभ होगा।

१३ पवित्र विचार, पवित्र आचार और पवित्र उद्देश्य धारण करें और पवित्र मित्रोंके साथही संगत करें।

१४ खान पान सात्विक रहे। इमली, मीरची, नमकीन चटपटे पदार्थ बहुत न सेवन किये जांय। भोजन सादा और हितकारक पथ्यकारक तथा परिमित हो। दूध घृत अधिक सेवन किया जाय।

१५ प्रारंभके दिनों में भोजन लघु होना चाहिये, पश्चात् इस नियम का कडा पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

१६ दिनमें दसपांच मिनिट अथवा सप्ताहमें दसपंद्रह मिनिट तक अपने शरीरकी चमडी सवेरके सूर्यप्रकाशमें तपाई जाय तो अधिक लाभ होगा।

१७ घर भी हवादार हो। बंद कमरेमें सदा रहनेसे लाभ नहीं होसकता। तथा तंग कपडे भी पहनना हानिकारक है।

१८ रात्रीके समय भूख की अपेक्षा थोडा कम भोजन करना प्रशस्त है।

१९ गृहस्थधर्मानुसार रहनेवाली स्त्रिया अपनी अवस्थानुसार आसनोंका अभ्यास करें। हरएक आसनके समय स्त्रियोंके लिये आवश्यक निर्देश किये ही हैं। अधिक कठिन आसन स्त्रियां न करें। जो स्त्रियां ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करनेवाली हों, वे अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार किया करें। पुरुषों के लिये यह रुकावट नहीं है। स्त्रियोंको प्रसूतिकी सुभिताके लिये ऐसा कोई व्यायाम अधिक करना योग्य नहीं, कि जिससे शरीरके पुट्ठे पुरुषोंके समान सख्त हो जावें। परंतु उक्त प्रमाण तक करना अत्यंत लाभकारी है।

आशा है कि इन नियमों तथा आरोग्य के अन्यान्य नियमोंका पालन करनेके साथ साथ इस आसनके व्यायामको करके सब अवस्थाओंमें रहनेवाले स्त्रीपुरुष उत्तम आरोग्य प्राप्त करके तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करके यशके भागी होंगे।

आसनोंसे चिकित्सा।

आसनोंद्वारा रोग दूर करनेके यत्नका नाम आसन-चिकित्सा है। आसनोंके अभ्याससे शरीरके रक्षाकेंद्रोंको उद्दीपित करके उनके द्वारा आवश्यक जीवन रस शरीरमें अधिक उत्पन्न करनेसे यह चिकित्सा होती है।

शरीरमें कई रक्षाकेंद्र हैं जिनकी नीरोगतापर शरीरका आरोग्य निर्भर है। गुदास्थान, नाभिस्थान, हृदय, कंठ और मस्तक इतने स्थानोंमें इन रक्षाग्रंथियोंका निवास है और आसनोंके कारण इन ग्रंथियोंसे अमृतरस अधिक प्रमाणमें स्रवता है जो रोग दूर करनेमें सहायता करता है। परमात्माका धन्यवाद करना चाहिये जिसने हमारे ही शरीरमें आरोग्यके अनंत साधन उपस्थित रखे हैं और प्राचीन आर्य योगियोंकी प्रशंसा करना चाहिये इस लिये कि उन्होंने उक्त साधनोंकी खोज करके उनका उपयोग करनेके यौगिक उपाय हमारे सामने सुगम रीतिसे रखे हैं। आगे हमारा ही पुरुषार्थ है कि उनका साधन करके हम अपना आरोग्य बढावें।

मनुष्योंमें पेट ही एक ऐसा स्थान है कि जहां प्रायः हरएक बीमारीका प्रारंभ होता है। इसीलिये आर्योंके धर्मशास्त्रमें खान-पानके विषयमें बहुतसे नियम लिखे हैं। और योगशास्त्रमेंभी आसनोंके व्यायाम इसप्रकार बनाये हैं जिनसे पेटके दोष

बहुत अंशमें दूर हो जांय। इसकारण हमभी यहां अजीर्ण विकारका विचार पहले करते हैं—

१ अजीर्ण।

अन्न उत्तम रीतिसे जीर्ण न होनेका नाम अजीर्ण है। यह दोष केवल पेटकाही नहीं है। भूखकी अपेक्षा अधिक खाना, जिह्वाकी खुशी के लिये जैसे चाहे वैसे पदार्थ आवश्यकतासेभी अधिक खाने, अकालमें भोजन करना, दिनमें अधिकवार खाना, पहिला खाया हुआ पूर्णरीतिसे जीर्ण होनेके पूर्वही दूसरीवार खाना, अयोग्य रीतिसे पका हुआ अन्न सेवन करना, परस्परविरोधी पदार्थोंका एक समय सेवन करना, मनकी अस्वस्थता की अवस्थामें भोजन करना, ठीक प्रकार न चबाते हुए खाना, खानेके पश्चात कुछ विश्राम न करते हुए ही दौड आदि करना, अपेय पदार्थ पीना, अभक्ष्यपदार्थ भक्षण करना, सभ्यताकी रक्षा करनेके लिये अयोग्य समयमें अनावश्यक तथा हानिकारक पदार्थोंका सेवन करना, कारणके विना अतिशीत अथवा अति उष्ण पदार्थोंका सेवन करना, बहुत परिश्रम करतेही उसीसमय घनिष्ट आहार का सेवन करना, व्यायाम न करना, अति व्यायाम करना, इत्यादि अनेक कारण हैं कि जिनसे अजीर्ण रोगकी उत्पत्ति होती है। उक्त कारणोंमें कौनसे कारणसे या कारणोंसे अपना अजीर्ण रोग उत्पन्न हुआ है इस का निश्चय सबसे प्रथम रोगीको करना उचित है। क्योंकि जबतक उक्त कारण उप-

स्थित रहेंगे तबतक अन्य उपायोंसे स्थिर लाभ प्राप्त होना असंभव है।

प्रायः अजीर्ण रोग स्वयं उत्पन्न नहीं होता, मनुष्योंके अस्वाभाविक बर्ताव के कारण उसकी उत्पत्ति है, यह जान कर इस रोगके रोगी अपना बर्ताव पहले सुधारें और पश्चात् उपाय ढूंढें। परंतु प्रायः सब लोग अजीर्ण होते ही औषधकी चिकित्सा शुरू करते हैं और पूर्वोक्त आवश्यक पथ्य और नियम पालन न करते हुए ही औषधियोंका सेवन करते हैं और अंतमें ऐसी अवस्थातक पहुंचते हैं कि जहांसे आरोग्य-मंदिरका मार्ग प्राप्त होना करीब अशक्यसा होता है।

आवश्यक पथ्य संभालनेके पश्चात् पाठक प्रतिदिन कुछ समय "सूर्यभेदन व्यायाम" के लिये देंगे तो उनका अजीर्ण विकार निःसंदेह दूर हो सकता है। और साथ ही साथ निम्न-लिखित आसन करनेसे रोग का मूल ही पूर्ण रीतिसे दूर होगा—

अजीर्णके दूर करनेके लिये प्रतिदिन निम्न आसन कीजिये—शीर्षासन, चक्रासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, कर्णपीडनासन, बद्धपद्मासन, सर्पासन, भुजंगासन, नागासन, उष्ट्रासन। प्रतिदिन शीर्षासन तथा ऊर्ध्वसर्वांगासन जितनी देर कर सकें कीजिये और अन्य आसन जितने हो सकें कीजिये।

निम्नलिखित आसन यदि कर सकेंगे तो आपको लाभ

अति शीघ्र होगा—मयूरासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन, मत्स्यासन, गर्भासन, ऊर्ध्वपद्मासन।

पथ्य—केवल दो वार अथवा एक वार लघुभोजन करना। यदि कोई कष्ट न हों तो छाछ सेवन करना। यदि हो सके तो फलभोज करना। अथवा दुग्धाहार करना। अथवा अपने अनुकूल पथ्य भोजन करना चाहिये।

अजीर्ण रोगसे ही आगे जाकर वीर्यदोष, बवासीर, अवष्टंभ, सिरदर्द, वातरोग, पित्तरोग, अग्निमांद्य, पाडुरोग आदि अनंतरोग होते हैं इस लिये आरोग्य चाहनेवाले पाठक अपने आपको इस रोगसे बचालेवें।

२ अग्निमांद्य।

पूर्वोक्त लेख इस विषयमें पाठक देख सकते हैं। यदि मंदाग्नि आनुवंशिक है तो दूर होनेके लिये बडी देर लगेगी, और यदि अपने ही अपथ्यसे बना है तो कुछ समयमें आरोग्य प्राप्त किया जा सकता है। जिनके बापदादा तमाखूके व्यसनके आधीन थे उनका मंदाग्नि बडा दुःसाध्य होता है। आज कलके चायपानका भी वही परिणाम है। इसके लिये उत्तम पथ्यके साथ अथवा केवल दुग्धाहारके साथ पूर्वोक्त आसन करना चाहिये। प्रतिदिन शौचशुद्धिका भी विशेष ख्याल रखना अत्यावश्यक है।

३ अरुची।

मुख की अरुची का पेटके अजीर्ण के साथ संबंध है। इस लिये पूर्वोक्त दोना लेखोंमें वर्णित बातों की ओर ध्यान देनेसे इस विषयका सुधार होना संभव है। इस कारण इस विषयका विचार स्वतंत्र रीतिसे करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

४ अवष्टंभ।

अजीर्ण और अग्निमांद्य के साथ अवष्टंभ अथवा बद्धकोष्ठ प्रायः रहता है। इसके लिये उषःपान के साथ आसनोंका प्रयोग करना उचित है। प्रातः चार पाच बडे उठकर थोडा पानी (बहुत ठंढा न हो और गर्म भी न हो) नाकके द्वारा अथवा मुख से पीनेसे अवष्टंभ दूर होने में बडी सहायता होती है। नाक के द्वारा पानी पीना हो तो एक नाक बंद करके दूसरे नाकसे शनैः शनैः कटोरीमेंसे खींचना चाहिये। थोडे अभ्याससे लडके भी आसानीसे पानी पीने लग जाते हैं। इस नासा-पानसे नासिकाके रोग दूर होते हैं और मस्तिष्ककी गर्मी हट जाती है और कब्जी भी दूर होती है।

उषःपान करनेके पश्चात् कमसे कम आध घंटा बिस्तरेपर पडे रहना चाहिये, अन्यथा उस जलका परिणाम आंतोंपर नहीं होता। पश्चात् उठकर शौच होकर निम्नलिखित आसन करने योग्य हैं। इसके साथ साथ रात्रीके समय कोसे दूधमें या कोसे जलमें दोचार चमस घी मिलाकर पीना कब्जीको दूर

करनेमें सहायक है। अधिक गर्म दूध या गर्म जल लेनेसे वीर्य-दोष होते हैं। इसलिये इसकी सावधानी रखनी चाहिये।

इसकेलिये निम्नलिखित आसन उपयोगी हैं—जानुशिरासन, पश्चिमतानासन, सर्वांगासन, कर्णपीडनासन, सर्वांगासन, मयूरासन, चक्रासन, उष्ट्रासन, मत्स्येंद्रासन। सब व्यायामके अंतमें ऊर्ध्वसर्वांगासन तथा शीर्षासन अधिक समयतक करना चाहिये।

साथसाथ जलमें तैरना, भा हो सके तो बडा लाभदायी होता है। कब्जी दूर करनेके लिये फलभोज उत्तम है। इस विषयमें "अजीर्ण" विषयपर लिखे लेखकाभी यहां पाठक विचार करें। केवल छाछके प्रयोगसेभी कब्जी हट जाती है, परंतु वह केवल छाछ चाहिये अर्थात् जिसमें मख्खन का कुछभी अंश न हो और एकवार विलोडकर फिर उसमें किसीभी पदार्थकी मिलावट न की हो, कपड छानकर लिया जाय तो अधिक उत्तम होगा।

५ आंतोंके रोग।

आंतोंके रोगाक साथ पूर्वोक्त चारों दोषोंका संबंध है इस लिये पाठक उन लेखोंको यहां अवश्य देखें। दूसरा कुछ अन्न न सेवन करते हुए एकवार थोडा दूध, घंटेके पश्चात थोडी छाछ इस प्रकार उचित प्रमाणमें जितना पचन हो उतना सेवन करनेसे एकदोमासमें बहुत आरोग्य प्राप्त होता है। बीचमें

कुछ रसदार फल सेवन करनेसेभी बडा लाभ होता है। योग्य पथ्यसे ही यह दोष दूर हो सकता है । उक्त पथ्यके साथ निम्नलिखित आसन कीजिये—

मत्स्येंद्रासन, उष्ट्रासन, चक्रासन, सर्पासन, मयूरासन, बद्ध-पद्मासन, गर्भासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, पवन-मुक्तासन।

निम्नलिखित आसन विशेष प्रमाणमें कीजिये—सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, ऊर्ध्वपद्मासन, वृक्षासन। अंतमें शीर्षासन अधिक समय तक कीजिये।

६ आमवात।

अन्नका पूर्ण रीतिसे पचन न हुआ तो पेटमें आम उत्पन्न होता है। इससे ऊर्ध्वगति या अधोगति वात होता है। दोनों ओरकी गति न हुई और वातका पेटमें स्तंभन हुआ तो बडा क्लेश होता है। प्रतिदिन नियमपूर्वक सूर्यभेदन व्यायाम करनेसे यह पेटकी कमजोरी दूर होजाती है और साथ साथ निम्नलिखित आसन करनेसे बडा लाभ होता है—

पश्चिमतानासन, बद्धपद्मासन, चक्रासन, उष्ट्रासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन, मयूरासन। अंतमें जितना हो सके उतना ऊर्ध्वसर्वांगासन तथा शीर्षासन कीजिये।

पथ्यभोजन, मिताहार तथा नियमानुकूल व्यवहार करनेसे शीघ्र आरोग्य मिलता है।

७ उदरशूल।

पूर्वोक्त रोगोका परिणाम उदरशूल, पेटदर्द आदिमें होता है। पेटदर्दके रोगियोंको पूर्वोक्त लेखोंका विचार विशेष रीतिसे करना चाहिये। भोजन सात्विक हुआ तो शीघ्र आरोग्य मिलता है। इस के लिये मयूरासन, मत्स्येंद्रासन, और शीर्षासन विशेष लाभकारी हैं।

८ कमरदर्द।

कमरदर्द तथा पीठदर्दके पूर्व प्रायः शौच खुलकर न आनेकी शिकायत रहती है। इस लिये बद्धकोष्ठ, अवष्टंभ, अजीर्ण आदि शीर्षक के लेखोंका विचार यहां पाठक अवश्य करें। और शौच खुलकर होनेका उपाय प्रथम करें। पश्चात् निम्नलिखित आसन करेंगे तो अधिक लाभ होगा—

कोनासन, हस्तपादांगुष्ठासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, चक्रासन, उष्ट्रासन। इन में पश्चिमतानासन तथा जानुशिरासन बडा उपयोगी है। युक्तिसे उसी दर्दके स्थानपर खिचाव उत्पन्न करनेसे बडाही लाभ होता है।

इनके साथ साथ सर्वांगासन, कर्णपीडनासन, उर्ध्वसर्वांगासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन आदि करनेसे भी शीघ्र आरोग्य होता है। शीर्षासन भी सहाय्यकारी है।

दर्दके अंगपर तेलसे मालिश और गर्मपानीकी भांपसे कपडेके द्वारा सेक देनेसे अति शीघ्र आरोग्य मिलता है, परंतु

मालिश और सेक के पश्चात् उस भागको हवा लगनी नहीं चाहिये। सेक के पश्चात् हवा में भ्रमण करनेसे कदाचित दर्द बढ भी जाता है।

९ कंठदोष।

कंठदोषका मुख्य कारण पेटकी विकृति है, इसलिये अजीर्ण के विषयका लेख इस विषयमें पाठक अवश्य पढें। किसी समय हवा की आकस्मित शीतता भी कारण होता है। इसके निवारण के लिये कंठबंध, शीर्षासन, सर्वांगासन ये आसन बडे उपयोगी हैं। यदि कोई आकस्मिक कारण हुआ हो तो उसके लिये विशेष उपाय किये जा सकते हैं।

१० कास (खांसी)।

कास खांसीकाही नाम है। जो लोग प्रतिदिन नियमपूर्वक शीर्षासन अथवा ऊर्ध्वसर्वांगासन करते हैं, उनको प्रायः कास श्वास या खांसी आदि बीमारी नहीं सताती। इसमें कई प्रकारकी खांसी होती है और इस विषयमें वैद्यों और हकीमोंकी सलाह लेना उत्तम है। परंतु किसी प्रकारकी भी खांसी क्यों न हो निम्न आसन इसके लिये आरोग्यप्रद हैं यह अनुभवसे सिद्ध हुआ है। जानुशिरासन, पश्चिमतानासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, शीर्षासन।

शुद्ध मधु (शहद) खानेसे भी कास श्वासादिके लिये लाभ होता है।

११ कृमिदोष।

पेटमें कृमि होनेका नाम कृमिदोष है। जो लोग आसनाभ्यासी हैं उनको कृमिदोष होता ही नहीं। तथा कृमिदोष होनेपर आसनोंका अभ्यास करनेसे वह दोष दूर होता है। इसके लिये चक्रासन, वृश्चिकासन, मत्स्येंद्रासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, उष्ट्रासन, मयूरासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, गर्भासन, शीर्षासन, कर्णपीडनासन, ये बडे उपयोगी हैं। इनमें भी मत्स्येंद्रासन, सबसे अधिक लाभकारी है।

जो लोग शौच जानेके पश्चात् शुद्ध मिट्टीसे हाथ पांव न धोते हुए ही अपना कार्य करने लगते हैं, अथवा ठीक प्रकार हाथ धोते नहीं, उन लोगोंको कृमि दोष होते हैं। प्रायः अपने शौचसे ही शौचद्वार धोनेके समय कृमिके अंडे हाथकी अंगुलियोंपर चिपक जाते हैं और यदि हाथ अच्छी प्रकार न धोये गये तो वे हाथपर चिपके हुए कृमिके अंडे पेटमें जाते हैं और उनसे कृमि होते हैं। इस लिये शौचके पश्चात् उत्तम स्वच्छता करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त कूवेके पास शौचकूप (पाखाना) हुआ तो कूवेके जलमें कृमिके बीज पहुंचते हैं, तथा नंगे पांव ग्रामके बाहर शौच फेरनेसे भी पांवके द्वारा क्रीमियों के बीज शरीरमें प्रविष्ट होते हैं। तथा बाजारकी अशुद्ध चीजें छावडी आदि खाने से भी अनंत कृमिबीज पेटमें प्रविष्ट होते हैं। तात्पर्य जो शुद्ध-

ताके नियम आर्यशास्त्रोंमें कहे हैं तथा जो शुद्धतापर योग-शास्त्रमें लिखा गया है वह सब अति आवश्यक है और उसीसे उत्तम आरोग्य सिद्ध हो सकता है।

कृमिदोष के लिये वैद्यों और डाक्टरोंके पास अनेक औषधियां हैं और उनका उपयोग उनके विचारसे ही करना उचित है।

१२ खांसी।

इससे पूर्व "कास" के विषयमें जो लिखा है वह यहा देखिये।

१३ खट्टे ढकार।

इससे पूर्व "अजीर्ण" के विषयमें जो लेख आया है वह यहां पढिये।

१४ गंडमाला।

गंडमालाके प्रथम अवस्थामें ऊर्ध्वसर्वांगासन तथा शीर्षासन बडा उपयोगी सिद्ध हुआ है। तथापि इस विषयमें अधिक अनुभव लेनेकी आवश्यकता है।

१५ गर्भाशयदोष।

बस्तियंत्रद्वारा गर्भाशयको धोनेसे वहांकी स्वच्छता होती है। पश्चात् शीर्षासन तथा ऊर्ध्वसर्वांगासन का अभ्यास करनेसे दोष कम होता है। सूर्यभेदन व्यायाम संख्या १ के

करनेसे भी बडा लाभ होता है। (इस विषयमें "सूर्यभेदन व्यायाम" पुस्तक देखिये)।

१६ गलेपडने।

कंठदोषके ऊपर इससे पूर्व जो लिखा है वह यहां देखिये।

१७ गुल्मरोग।

अजीर्ण, बद्धकोष्ठ, आमवात, आंतोंके रोग आदि विषयमें जो लेख इसके पूर्व लिखे हैं उनको यहां पढिये। प्रथमावस्थामेंही आसनोंसे लाभ होता है। ऊर्ध्वसर्वांगासन तथा शीर्षासन बडे उपयोगी हैं। इसका विशेष पथ्य प्रकृतिके अनुकूल वैद्योंसे पूंछकर निश्चित करना चाहिये।

१८ घुटनेकी बीमारी।

इस विषयमें स्वानुभवकी कथा भूमिकामें पढिये। तेलसे मालिश, आगके पत्तोंसे सेक और शीर्षासन इसके लिये लाभकारी हैं।

१९ जंघादोष।

हस्तपादांगुष्ठासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, कर्णपीडनासन, मत्स्येंद्रासन इनका विशेष उपयोग होता है। इस दोषके दूर करनेके लिये सूर्यभेदन व्यायाम बडा लाभकारी है। जंघासंधिका दोष दूर करनेके लिये प्राणासन, चतुरकोणासन, एकहस्तभुजासन, द्विहस्तभुजासन, एकपादशिरासन, द्विपादशिरासन, तथा वातायनासन ये बडे उपयोगी हैं।

२० जुकाम ।

नेती अथवा जलकी नेती जो करते हैं तथा शीर्षासन के जो अभ्यासी हैं अथवा नियमपूर्वक सूर्यभेदन व्यायाम जो करते हैं उनको जुकामके कष्ट नहीं होते । शीर्षासन और ऊर्ध्वसर्वांगासन इसमें बडे उपयोगी हैं । नेतीसे भी बडा लाभ होता है ।

२१ जीर्णज्वर ।

जो ज्वर पूर्वज्वरका अवशेष रूप बनकर शरीरमें रहता है और किंचित् सा शरीरमें नियत समयपर प्रकट होता है उसका यह नाम है । मयूरासन, चक्रासन, मत्स्येंद्रासन, जानुशिरासन, शीर्षासन और ऊर्ध्वसर्वांगासन ये इसमें लाभदायक हैं । यदि ज्वरका रूप विशेष न हो तो सूर्यभेदन व्यायाम भी लाभ करता है, परंतु यदि ज्वरकी अवस्था विशेष हो तो सूर्यभेदन करना नहीं चाहिये । ज्वरकी अवस्थामें तो कोई व्यायाम करना उचित नहीं है । जो भी व्यायाम—अल्प प्रमाणमें करना हो तो—ऐसे समय करना चाहिये कि जिस समय ज्वर नहीं होता है ।

२२ जृंभा ।

जमुआई शीर्षासन अथवा सर्वांगासनसे दूर होती है । अथवा कोई अन्य दोचार आसन वेगके साथ करनेसे तथा सूर्यभेदन वेगसे करनेसे दूर होती है ।

२३ तापतिल्ली।

चक्रासन, पश्चिमतान, जानुशिरासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्व सर्वांगासन, कर्णपीडनासन, शीर्षासन, गर्भासन, मयूरासन, चक्रासन, उष्ट्रासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन ये आसन, तथा सूर्यभेदन व्यायाम करनेसे यह रोग दूर होता है।

२४ थकावट।

दंडासन, प्रेतासन, मृतासन, शवासन अथवा शयनासन इससे थकावट दूर होती है।

२५ दंतदोष।

दांतोंकी स्वच्छता करनेसे दंतदोष दूर होते हैं, साथ साथ शीर्षासन लाभ कारी है। दांतोंके साथ पेटके अजीर्णका बडा घनिष्ट संबंध है इसलिये अजीर्ण न होने देना उचित है।

२६ दृष्टिदोष।

दृष्टिदोषको दूर करनेके लिये संध्योपासनामें दृष्टि स्थिर करनेके प्रकरणमें लिखा है वह लेख यहां अवश्य देखिये। आसनोंमें शीर्षासन तथा ऊर्ध्वसर्वांगासन विशेष लाभ करते हैं।

२७ नलाश्रित वायु।

आमवात पर जो लेख लिखा है वह यहां पढिये।

२८ निद्रानाश।

अजीर्ण विषयपर जो लेख लिखा है यहां पढिये। पेटके दोषके कारण निद्रानाश प्रायः होता है। शीर्षासन विशेष

उपयोगी है। सूर्य भेदनके व्यायामसे भी चिरस्थायी लाभ होता है।

२९ पीठदर्द।

कमर दर्द के स्थानपर लिखा हुआ लेख यहां पढिये।

३० पांडु रोग।

प्रथमावस्थामें ही उपाय होना संभव है। द्वितीय अवस्थाके पश्चात् केवल आसन प्रयोगसेही आरोग्य प्राप्त होना अति दुष्कर है। तथापि औषधोंकी योग्य चिकित्साके साथ आसन किये जायंगे तो अधिक लाभ अवश्य होगा इसमें संदेह नहीं है। इस रोग की निवृत्तिके लिये निम्न लिखित आसन उपयोगी सिद्ध हुए हैं-पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, सर्वांगासन, उर्ध्वसर्वांगासन, कर्णपीडनासन, शीर्षासन, मत्स्यासन, बद्धपद्मासन, मयूरासन, सर्पासन, चक्रासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन। इसके साथ साथ योग्य प्रमाणमें सूर्यभेदन व्यायाम किया जाय तो अच्छा है। यह करना हो तो प्रथम करके पश्चात् आसनका अभ्यास किया जाय।

३१ पीनस।

पीनस नासिका का रोग है। नासिका द्वारा कूएका ताजा पानी पीनेके अभ्यास से इस रोगकी निवृत्ति होती है। साथ साथ ऊर्ध्व सर्वांगासन तथा शीर्षासन करना बडा लाभ कारी है।

३२ पेटके दोष।

इससे पूर्व अजीर्ण, आंतोंके दोष, अग्निमांद्य, उदर शूल, आमवात आदि शीर्षकोंके नीचे जो जो लेख लिखे हैं वे यहां पढिये। वहां कहे गये आसनोंके साथ ताडासन, कोनासन आदि आसन तथा सूर्यभेदन व्यायाम लाभ कारी है। इसके उपयोगी अन्यान्य आसन पूर्वोक्त शीर्षकों के नीचे दिये ही हैं।

३३ प्लीहादोष (तापतिल्ली)

पेटके दोषके लिये लिखा हुआ यहां देखिये। इसके लिये मत्स्येंद्रासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन विशेष लाभकारी हैं।

३४ बद्धकोष्ट।

इससे पूर्व दिया हुआ अवष्टंभ पर का लेख यहां पढिये।

३५ बलवर्धन। (अशक्तताको दूर करना)

बल बढानेके लिये आसनोंका सूर्य भेदन व्यायाम प्रशस्त है। इसका पुस्तक स्वतंत्र छपा है वही पाठक देखें, उसमें इसकी सब विधि लिखी है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वपद्मासन, उत्थित पद्मासन, कुक्कुटासन, बकासन, लोलासन, दोलासन, मयूरासन, वृश्चिकासन आदि आसन सहायक हैं।

३६ बुद्धिदोष।

शीर्षासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन ये आसन इसके दूर करनेके लिये उपयोगी हैं।

३७ मंदाग्नि।

अग्निमाद्यपर जो लेख लिखा है वह यहां देखिये।

३८ मेदोरोग।

इसके लिये सूर्य भेदन व्यायाम करना बहुत लाभकारी है। इसके अतिरिक्त—चक्रासन, कोनासन, पश्चिमतानासन, जानुशिरासन, उत्तानपादासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्व सर्वांगासन, कर्णपीडनासन, गर्भासन, बद्धपद्मासन, मयूरासन, उष्ट्रासन, मत्स्येंद्रासन, वृश्चिकासन, आदि आसन प्रशस्त हैं। पथ्य—मेद उत्पन्न करनेवाले पदार्थ कम खाने चाहियें।

३९ यकृत् (कलेजा, जीगर)

प्लीहा और पेटके दोषोंके विषयमें जो लिखा है वह यहां देखिये।

४० रक्तदोष।

कंठबंध, शीर्षासन, और ऊर्ध्व सर्वांगासन करनेसे रक्त-दोष दूर होनेका अनुभव है।

४१ वातदोष।

वातदोषके अंदर सैंकडों प्रकारके रोग होते हैं। उन सब का विचार करना यहां कठिन है। परंतु प्रायः अंदरके और बाहरके सब वातदोषोंके लिये सूर्यभेदन व्यायाम बडा लाभकारी है। कई स्थानोंपर तेलकी मालिश और सेकभी

साथ साथ करना आवश्यक होता है। परंतु जो लोग नियम-पूर्वक प्रतिदिन कमसेकम सौवार सूर्यभेदन व्यायाम सं० १ का व्यायाम करते हैं उनको वातदोष होते ही नहीं। साथ साथ आसनों का अभ्यास भी होता रहे तो बहुत लाभ होते हैं। वातरोग स्थानस्थानके कारण भिन्नभिन्न आसनोंसे संबंध रखता है इसलिये जिसजिस अवयवमें वातदोष हुआ हो उस अवयव का हित करनेवाले आसन उस समय करने योग्य हैं।

४२ वीर्यदोष।

"ब्रह्मचर्य" पुस्तकमें इस विषयका सब विचार लिखा है। उस पुस्तकके अनुसार पथ्य करने और आसनोंका अभ्यास करनेसे वीर्यदोष दूर होते है।

४३ वृषण वृद्धि।

कई कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है और कारणोंके भेदके कारण आसन चिंकित्सामें भी भेद होना संभव है तथापि सर्व साधारण रीतिसे शीर्षासन, ऊर्ध्व सर्वांगासन, गरुडासन ये आसन बडे उपयोगी हैं।

४४ शिरोरोग।

सिरदर्द आदि अनेक भेद इसमें हैं। परंतु शीर्षासन तथा सर्वांगासन येही इसके लिये उपयोगी आसन हैं। कब्जी आदि निवारण करनेके उपाय भी इसके लिये साथ साथ उपयोगी हैं।

४५ श्वास।

" कास " विषयपर इससे पूर्व लिखा है वह यहां पढिये।

४६ श्वेतबाल।

शीर्षासन और ऊर्ध्व सर्वांगासन करनेसे एक साल में बाल काले होने लगते हैं। प्रतिदिन कमसे कम आध घंटा यह अभ्यास करना चाहिये। सिरपर गरीका तेल मलनेसे भी अधिक लाभ होता है, परंतु आजकल बजार में इस तेलमें मिलावट होती है। वह मिलावटी तेल बालों को जल्दी सफेद करता है। इसलिये सावधान रहना योग्य है।

४७ शोथ (सूजन)

शीर्षासन, ऊर्ध्व सर्वांगासन के अभ्यास से सूजन कम होती है। तथा जिस अवयव के ऊपर सूजन हो उसके लिये हितकारी आसन करनेसे भी बडा लाभ हो सकता है। परंतु कई प्रकारके सूजन ऐसे हैं जो आसनोंसे ठीक नहीं होते और उसके लिये अन्यान्य उपाय करने आवश्यक होते हैं।

४८ श्रम।

" थकावट " विषयपर इससे पूर्वका लेख यहां पढिये।

४९ सुस्ती।

कोई दस पांच आसन करनेसे सुस्ती हट जाती है। सूर्य भेदन व्यायाम भी इसके लिये बडा उपयोगी है।

५० संधिवात।

वात विकार के विषयमें पूर्व स्थलमें लिखा हुआ लेख यहां पढिये। संधिभेद के कारण विभिन्न आसनोंकी योजना करना आवश्यक होता है।

५१ स्वरभंग।

कंठ दोष के विषय में इससे पूर्व लिखा है वह यहां देखिये।

५२ हृदय विकार।

भूमिपर लेटकर करनेके सब आसन इस विकार में किये जा सकते हैं। परंतु डाक्टरोंकी संमति द्वितीय दर्जेके पश्चात् लेनी उचित है। यदि पाचन दोष से इस विकार की उत्पत्ति है तो मंद वेगसे सूर्य भेदन व्यायाम करनेसे यह विकार हट जाता है।

विशेष सूचना।

पूर्वोक्त रोगोंकी चिकित्सा के विषयमें गत दस बारह वर्षोंमें जो आसनोंके व्यायामके विषयमें अनुभव लिये हैं और सहस्रों मनुष्योंपर इन आसनोंके व्यायामोंका परिणाम देखा है, उसका निछोड यह है। तथापि हम यह नहीं कहते कि ये चिकित्साके नियम परिपूर्ण हैं। अभी इस विषयमें बहुत सा अनुभव लेना है और कई बातोंका अनुभव भी देखना है इस लिये जो जो पाठक जिस प्रकारके अनुभव देखें, उनकी योग्य प्रमाणों द्वारा छान बीन कर, जो विविध प्रमाणोंसे ठीक और सत्य सिद्ध

हो उसको हमारे पास लिख कर भेजेंगे, तो हम भी उसका अधिक विचार कर सकते हैं। परंतु ध्यान रहे कि किसी प्रकार भी जोशमें आकर अत्युक्ति नहीं करनी चाहिये और उतनाही कथन करना चाहिये जितनाकी बिलकुल ठीक हो।

बस्ति, धौती, नेति आदि षट्कर्म सिद्ध होनेसे आसनों की चिकित्सा विशेष फलीभूत होती है। इसलिये जो पाठक इन षट् कर्मोंको नहीं जानते उनको उतना लाभ नहीं हो सकता। योग बस्ति के स्थानपर ' यंत्र बस्ति ', योगधौती के स्थानपर ' यंत्रधौति ' इस प्रकार करनेकी कई लोग संमति देते हैं। और आपत्कालमें यह कुछ लाभ भी करता है तथापि ये प्रतिनिधि हैं और इसी कारण इनसे न्यून फल है इतनी बात अवश्य ध्यानमें धरनी चाहिये।

अंतिम निवेदन।

इस विषयमें अंतिम निवेदन इतनाही है कि योग की क्रियाएँ शीघ्रताके साथ तथा असावधानीके साथ करना योग्य नहीं है। अपनी प्रकृतिके अनुकूल बडी सावधानी के साथ करना योग्य है। जो इतना विचार मनमें रखकर इस पुस्तक का योग्य उपयोग करेंगे उनको अधिक से अधिक लाभ होगा इसमें यत्किंचित् भी संदेह नहीं है।

विषयसूची।

विषय	पृष्ठ
योग साधनका उद्देश्य	३
आठचक्रोंका वर्णन	९
योग साधनकी तैयारी	१५
मुझे आरोग्य कैसा प्राप्त हुआ?	२४
मेरा घुटनेकी बीमारी कैसी दूर होगई?	३४
नीरोग अवस्थामें आसनोंसे लाभ	४७
व्यायामके चार भेद	५४
शीर्षासनसे दस लाभ	५६
शीर्षासन करनेसे लाभका अनुभव	६४
पचास वर्षकी आयुमें शीर्षासनसे लाभ	७०
विपरीत करणी मुद्रा	७१
शीर्षासनसे अंतर्गलकी बीमारी दूर हो गई	७९
आसनोंसे स्वास्थ्य	८१
विपरीत करणी तथा शीर्षासन	८५
शीर्षासनका एक विचित्र अनुभव	८८
शीर्षासनसे कर्णरोग का दूर होना	९१
शीर्षासन के लाभ	"
शीर्षासन और तिल्लीका दर्द	९४
ब्रह्मचारीजीके दो पत्र	९७
आसनोंका प्रचार	१०८
अनुभूत योग	१०९
शारीरिक अवस्था	११०
आसन	१११
भोजन	११४
प्राणायाम	"
बंध	११५
फल	११६
व्यायाम और प्राणायाम	१२२
स्वास्थ्य साधन	१३६
आसनोंका व्यायाम	१४२
प्राणायाम	१४७
उपासना	१५१
सात्विक खानपान	१५३
विश्राम	१५४
स्त्रीजाती और योगविद्या	१५६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सूर्यभेदन व्यायामसे स्त्रियोंको लाभ	१६७	शीर्षासन	१५९
दम्माकी बीमारी और शीर्षासन	१७०	कपालासन	,,
आसनोंसे आरोग्य का अनुभव	१७६	वृक्षासन	१६२
आसनका प्रभाव	१७९	मुक्तहस्त वृक्षासन	,,
कंठबंध	१८०	शीर्षासन से लाभ	१६६
दीर्घश्वासका महत्व	१८५	सिद्धासन	१७३
समवृत्ति प्राणायाम	१८८	पद्मासन	१७७
आप कैसे हैं?	१९६	ऊर्ध्व पद्मासन	१८१
आसनोंका तत्त्व	२०१	उत्थित पद्मासन	१८२
तृतीयवार का मुद्रण	२२४	कुक्कुटासन	१८३
ताडासन	२२५	गर्भासन	१८४
कोनासन	२३२	मत्स्यासन	१८५
हस्त पादांगुष्ठासन	२३६	तोलांगुलासन	१८६
गरुडासन	२३९	बद्धपद्मासन	१८७
उत्कटासन	२४०	बकासन	१९२
पादांगुष्ठासन	२४२	लोलासन	१९३
पाद हस्तासन	२४३	मयूरासन	१९४
पश्चिमोत्तानासन	२४६	मयूरासन	१९५
जानुशिरासन	२४८	हंसासन	,,
उत्तानपादासन	२५२	सर्पासन	१९६
पवनमुक्तासन	२५३	भुजंगासन	१९७
सर्वांगासन	२५५	शलभासन	१९९
कर्णपीडनासन	२५६	आकर्ण धनुषासन	२००
ऊर्ध्व सर्वांगासन	२५७	चक्रासन	२०१
		वज्रासन	२०२
		सुप्तवज्रासन	,,
		उष्ट्रासन	२०३

विषय	पृष्ठ
ुप्त उष्ट्रासन	३०५
ोमुखासन	३०६
ाणासन	३०७
्तुरकोणासन	३०८
्कहस्त भुजासन	३०९
द्वे हस्तभुजासन	,,
्कपाद शिरासन	३१०
द्वे पाद शिरासन	३११
ातायनासन	,,
त्स्येन्द्रासन	३१२
ृश्चिकासन	३१५
त्रिकोणासन	३१६
कंदर्पीडनासन	३१७
शांतिका अनुभव	३१८
शवासन, प्रेतासन, मृतासन	३२०
दंडासन	३२१
योग और दृष्टि	३२६
जलकी नेति	३२८
उदर वृद्धि	३३१
आसनका व्यायाम करने-वालोंके लिये कुछ नियम	३३६
आसनोंसे चिकित्सा	३४०
अजीर्ण	३४१
अग्निमांद्य	३४३
अरुची	३४४
अवष्टंभ	,,

विषय	पृष्ठ
आंतोंके रोग	३४५
आमवात	३४६
उदर शूल	३४७
कमर दर्द	,,
कंठ दोष	३४८
कास (खांसी)	,,
कृमिदोष	३४९
खांसी	३५०
खट्टे ढकार	,,
गंडमाला	,,
गर्भाशय दोष	,,
गले पडने	३५१
गुल्मरोग	,,
घुटनेकी बीमारी	,,
जंघा दोष	,,
जुकाम	३५२
जीर्णज्वर	,,
जृंभा	,,
तापतिल्ली	३५३
थकावट	,,
दंत रोग	,,
दृष्टि दोष	,,
नलाश्रित वायु	,,
निद्रा नाश	,,
पीठ दर्द	३५४
पांडुरोग	,,
पीनस	,,
पेट के दोष	,,

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्लीहा दोष (तापतिल्ली)	३५५	शिरोरोग	३५७
बद्धकोष्ठ	,,	श्वास	,,
बलवर्धन (अशक्तता को दूर करना)	,,	श्वेत बाल	,,
बुद्धि दोष	,,	शोथ (सूजन)	३५८
मंदाग्नि	,,	श्रम	,,
मेदो रोग	,,	सुस्ती	,,
यकृत (कलेजा, जीगर)	३५६	संधिवात	,,
रक्तदोष	,,	स्वरभंग	,,
वातदोष	,,	हृदय विकार	,,
वीर्यदोष	३५७	विशेष सूचना	३५९
वृषण वृद्धि	,,	अंतिम निवेदन	३६०

वैदिक धर्म के अत्यंत उत्तम ग्रंथ।

[१] यजुर्वेद का स्वाध्याय।

(१) नरमेध।

इस पुस्तकमें यजुर्वेद अ० ३० की सुबोध व्याख्या है। नरमेध के विषयमें जो अनेकानेक भ्रम फैले हैं, वे सब इस पुस्तक के पढनेसे दूर हो सकते हैं और नरमेधसे मनुष्योंकी सच्ची उन्नति किस रीतिसे हो सकती है. इसका ज्ञान भी आपको इसके पढनेसे हो सकता है। मू. १)

(२) एक ईश्वर उपासना।

इस पुस्तक म यजुर्वेद अ. ३२ की व्याख्या है। सर्वमेध यज्ञ का वर्णन इस पुस्तक में आप देखेंगे। एक ईश्वर का स्वरूप और उसकी उपासना करनेकी रीति इस ग्रंथसे ज्ञात हो सकती है। मू. ॥)

(३) शांतिका सच्चा उपाय।

यह यजुर्वेद अ. ३६ की व्याख्या है। मानवी समाज में शांति स्थापन करनेका सच्चा उपाय इस पुस्तक में आप देखिये। मू. ॥

[२] योग साधन माला.

मनुष्यमात्रके स्वास्थ्य साधनके नियम योगसाधन में अंतर्भूत होते हैं। इस मालाके सभी पुस्तक आपके प्रति दिन के उपयोगी हैं।

(१) संध्योपासना।

योग की रीतिसे संध्याका अनुष्ठान करनेकी पद्धति इस पुस्तक में लिखी है। संध्याका आनंद आप लूटना चाहते हैं, तो इस पुस्तकको अवश्य पढिये। मू. १॥)

(२) संध्याका अनुष्ठान।

यह पुस्तक " संध्योपासना " में है। प्रतिदिनके अनुष्ठानके लिये अत्यावश्यक भाग इस पुस्तकमें दिया है। मू. ॥)

(३) वैदिक प्राण विद्या।

प्राणायाम करनेके समय जिस विचार की धारणा मनमें करनी आवश्यक है वह विचार वेदके प्रमाणोंसे इस पुस्तक में दिया हैं। मू. १)

(४) ब्रह्मचर्य।

वैदिक धर्मका सार ब्रह्मचर्य ही है। वीर्य रक्षा करनेके अनुभूत योगसाधन इस पुस्तकमें दिये हैं। जो वीर्यदोषसे दुःखी हैं उनके लिये यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। मू. १।)

(५) योग साधनकी तैयारी।

यदि आप गृहस्थ आश्रम में रहकर योग साधन का आनंद लेना चाहते हैं तो आपको यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। मू. १)

[३] देवता परिचय ग्रंथमाला ।

(१) रुद्र देवताका परिचय । मू. ॥)

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता ।

पहिली पुस्तक में यजुर्वेद अ० १६ की व्याख्या और दूसरी पुस्तकमें ऋग्वेदके संपूर्ण मंत्रोंमें जो रुद्र देवताकी कल्पना कही है वह सुगमतासे कही है । ये पुस्तक अत्यंत सुगम हैं और पढते ही रुद्र देवताका ज्ञान हो सकता है । मू. ॥=)

(३) ३३ देवताओंका विचार मू. ≡)

(४) देवता विचार मू. ≡)

[४] स्वयं शिक्षक माला ।

(१) वेदका स्वयंशिक्षक । प्रथम भाग । मू० १॥)

(२) ,, ,, द्वितीय भाग मू० १॥)

हरएक मनुष्य इन पुस्तकों का स्वयं अध्ययन करके सुगम वेद मंत्रोंको समझ सकता है । पुस्तक इतने सुगम हैं कि केवल हिंदी पढनेवाले इस पुस्तक से अपना ज्ञान बढा सकते हैं ।

[५] उपनिषद्ग्रंथ माला।

[१] केन उपनिषद् ।

केन उपनिषद, अथर्ववेदीय केन सूक्त और देवी भागवत की देवी की कथा का परस्पर संबंध इस पुस्तक में आप देख सकते हैं। केन उपनिषद में यक्ष, हैमवती उमा आदि जो साकेतिक नाम आये हैं, उनका वैदिक स्पष्टीकरण पाठक इसी पुस्तक में देख सकते हैं। मू० १।)

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्वज्ञानका प्रचार करनेवाला मासिक पत्र। वार्षिक मू. म. आ. से ४) और वी. पी. से ५) है।

मंत्री—स्वाध्याय मंडळ.

औंध (जि. सातारा)

Arya Samaj
Sammelan
Kaithal.

❀ ओ३म् ❀

औपनिषद-श्रुतिसंग्रहः

तत्र

योगोपनिषत्

संकलयिता व्याख्याता—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

B 3 - P. 8

संस्थान के प्रमुख प्रकाशन

सांख्यदर्शन का इतिहास—

सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में फैली विविध भ्रान्तियों का युक्ति-युक्त एवं प्रमाण-सहित निराकरण इस ग्रंथ द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सांख्यदर्शन की प्राचीनता के प्रतिपादन के साथ-साथ अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवेचन तथा कपिल के अतिरिक्त अन्य अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों का विवरण और उनके समुपलब्ध संदर्भों का संग्रह इस ग्रंथ में दिया गया है। लेखक महोदय **श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री** को इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं—

१२००) रु० मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
१२००) रु० उत्तर प्रदेश सरकार।
१०००) रु० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
१०००) रु० सेठ हरजीमल डालमिया स्ट्रस्ट, नई दिल्ली।

यह ग्रन्थ २० × ३०/८ आकार के लगभग ६०० पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द है। थोड़ी प्रतियां शेष हैं। मूल्य ३०) रु०

सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य—

भाष्यकार-विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति

इस भाष्य की विशेषता यह है, कि यह पूर्वोपलब्ध संस्कृत भाष्यों का उल्थामात्र नहीं; अपितु यह स्वयं एक मौलिक ग्रन्थ है। विद्वान् भाष्यकार ने अपने जीवन का पर्याप्त भाग लगाकर सांख्य विषय का ऊहापोह पूर्वक मन्थन और विवेचन किया है; उसी के परिणामस्वरूप जो यथार्थ विचार-रूपी 'नवनीत' वह संगृहीत कर पाये हैं, उसे परम्परागत भाष्यशैली को अवहेलित न करते हुए साधु हृदय, विज्ञ पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह भाष्य लिखा गया है। वे प्रक्षिप्त सूत्र इस भाष्य में संगृहीत नहीं किये गये, जिनका सप्रमाण विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। उन सब सूत्रों की व्याख्या और संगति 'परिशिष्ट २' में दे दी गई है।

यह भाष्य-ग्रन्थ १८ × २२।८ आकार के लगभग पौने चार सौ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द है। मूल्य ८) रु०।

❀ ओ३म् ❀

औपनिषद-श्रुतिसंग्रहः

तत्र

योगोपनिषत्

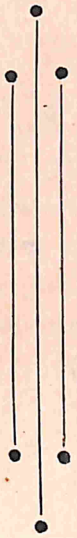

संकलयिता व्याख्याता—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रकाशक—
स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती, अध्यक्ष—
विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद (मेरठ) उ० प्र०

द्वितीय आवृत्ति
मूल्य ०.५० पैसे केवल
वैशाख सं० २०३० विक्रमी
अप्रैल, सन् १९७३ ई०

Rs 3 - P 50

मुद्रक—
भारत मुद्रणालय, के-२० नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

❀ ओ३म् ❀

प्राक्कथन

स्वामी शंकराचार्य्य जी ने उपनिषदों को वेदका स्थान दिया । और उसके पश्चात् धीरे धीरे लोगों की यह धारणा होती गई कि उपनिषदों में जितनी अध्यात्मविषय की उच्च शिक्षा है, वेद में उतनी नहीं है। इसी कारण लोग उपनिषदों को ही विशेषरूप से पढ़ने लग गए और वेद का नाम तो लेते थे किन्तु पढ़ते न थे।

स्वामी दयानन्दजी ने उपनिषदों को परतः प्रमाण मान कर बेद को स्वतः प्रमाण माना। इससे वेद को वेद का वास्तविक स्थान मिल गया। और इससे यह भी सिद्ध हो गया था कि अध्यात्मविद्या वेद में उच्च है। परन्तु अब तक किसी विद्वान् ने इसे दिखाने का यत्न न किया था । अब **स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी** ने इसे सिद्ध करने के लिये यजुर्वेदीय योगोपनिषद् लिखी है, जिसमें केवल यजुर्वेद के अध्याय ११ के ८ मन्त्र लिखे गए हैं, और अर्थ करते समय उपनिषदों के वह स्थल भी लिख दिये गए हैं, जिनका उससे सम्बन्ध था । स्वामी जी ने यह अत्युत्तम कार्य किया है, और आशा है, वह भविष्य में उपनिषदों के अन्य विषय भी इसी भांति वेद से प्रतिपादन करने की कृपा करेंगे ।

स्वतन्त्रानन्द

दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर ।

❀ ओ३म् ❀

प्रास्ताविक

आज से लगभग २० वर्ष पूर्व, जब पहले पहल संस्कृत भाषा का अभ्यास आरम्भ किया, तो आर्ष होने तथा आचार व्यवहारज्ञान के उपयोगी होने के कारण मनुस्मृति का अध्ययन आरम्भ किया था। मनुस्मृति के छठे अध्याय के २९ वें श्लोक ने चित्त में एक नवीन विचार को उत्पन्न किया। कालान्तर में ऋषि दयानन्द सरस्वती जी के ग्रन्थों ने उस विचारांकुर को पल्लवित किया। परिणाम आप के सामने रखने लगा हूं—

मनुस्मृति का उक्त श्लोक इसप्रकार है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥

इसमें वानप्रस्थाश्रमस्थ मनुष्य को नाना दीक्षाओं के साथ "विविध औपनिषदी श्रुतियों" के सेवन करने का आदेश है। मुझे इसका अर्थ 'उपनिषदें' पढ़ाया गया। मेरी आपत्ति थी, कि इसके लिए 'उपनिषदः' पद से कार्य्य चल सकता है, इतना, लम्बा वाक्य किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है। मेरा विचार था, जो अब निश्चय में परिवर्त्तित हो चुका है, कि यहाँ उपनिषद्विद्याबोधक वेदमन्त्र अभिप्रेत हैं। ऋषि के ग्रन्थों से इस विचार को पुष्टि मिली। ऋषिवर संस्कारविधि-वानप्रस्थ प्रकरण में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"·····और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासनाविधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे···॥' (सं० वि० २३३ पृ०, १२ वार) ऋषि 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियां' करते हैं। श्रुति शब्द का अर्थ ऋषि वेदमन्त्र ही लिया करते है।

उस समय से मुझे ऐसे वेदमन्त्रों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति हुई। फुटकर मन्त्र बहुत मिले, उन सब का संग्रह करता गया। किन्तु मन में

पुनः पुनः यह विचार आता था, कि सूक्त के सूक्त ऐसे मिलने चाहिएं। ऋषियों के इस सिद्धान्त ने कि 'ईश्वर ही वेदों का मुख्य विषय है,' इस विचार को और उत्तेजित किया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्य्यमस्ति" (पृ० ४२)

सारे वेदों का तात्पर्य ईश्वर में ही है। पुनः 'तद्विष्णोः परमं'—मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—

'अतो वेदा विशेषेण तस्यैव (ईश्वरस्यैव) प्रतिपादनं कुर्वन्ति।' (पृ० ४४)

इस वास्ते वेद विशेषरूप से उसीका (परमेश्वर का) प्रतिपादन करते हैं, यह मूलभूत तथ्य है।

फिर 'तत्तु समन्वयात्' [वेदान्तदर्शन १।१।४] की व्याख्या में लिखा है—

"तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित् साक्षात् क्वचित्परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्म नास्ति।' (पृ० ४४)

वही ब्रह्म सब वेदवाक्यों में प्रतिपादित है। कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से। इस वास्ते वेदों का परम अर्थ ब्रह्म ही है॥

फिर इसी पृष्ठ पर लिखा है—

"एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येर्थे मुख्यं तात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्ति-प्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति॥'

इसप्रकार सब वेदों का मुख्य तात्पर्य मुख्यार्थ ईश्वर में है। उसकी प्राप्ति के लिए ही सारे उपदेश हैं।

कठोपनिषद् में 'ओम्' को लक्ष्य करके 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' कह कर यही बताया है।

इस उत्तम दृष्टिकोण से वेदाभ्यास आरम्भ किया। जितना वेद का मनन करता गया, यह सिद्धान्त पुष्ट होता गया। अब चारों वेदों से ऐसे

अनेक सूक्तों तथा क्रमबद्ध मन्त्रों का संग्रह किया, जिनमें साक्षात् परमात्मा तथा आत्मा का ही प्रतिपादन है।

उपनिषदों में सृष्टिविद्या, मधुविद्या, अग्निविद्या, वैश्वानर विद्या आदि अनेक उपासनोपयोगी विषयों का निरूपण है। वेदों में उन विषयों का अधिक स्पष्ट और प्राञ्जल वर्णन है। उन विषयों का प्रतिपादन करने वाले सब वेद-मन्त्र क्रमशः पाठकों की भेंट किए जाएंगे।

जो लोग वेद को मनुष्यरचित मानते हैं, वे भी वेदों को उपनिषदों से बहुत पूर्व का मानते हैं। वेदों में उपनिषदों से भी उच्च उपदेश देखकर कदाचित् वे क्रमिक ज्ञानोन्नति के सिद्धान्त को फिर से विचारने में प्रवृत्ति की प्रेरणा प्राप्त करें।

इन मन्त्रों की व्याख्या में संबद्ध उपनिषद्वाक्य भी दे दिए गए हैं, जिससे पाठकों को तुलना करने में सुविधा हो।

इसी रीति पर लिखी गई 'यजुर्वेदीय योगोपनिषत्' आपके सामने हैं। व्याख्या भली है, या बुरी, पूर्वोक्त सिद्धान्त में लेखक को सफलता मिली है या नहीं ? यह सब विज्ञ पाठकों पर छोड़ा जाता है। यदि विद्वान् लोग वेद का अभ्यास इस दृष्टि से करने में प्रवृत्त हों, और उत्तमोत्तम व्याख्या लिखने लग जाएं, तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

इस वेदोपनिषत् के प्रथम पांच मन्त्रों की श्वेताश्वतरोपनिषद् में व्याख्या है, हम ने श्वेताश्वतरोपनिषत् का वह सारा सन्दर्भ यहां अर्थ सहित दे दिया है।

वैदिक वाङ्मय में यह मन्त्र कई स्थानों पर आए हैं, हमारी इच्छा थी, कि उन सारे स्थलों का निर्देश कर दें, किन्तु उपयोगी न समझ कर वैसा नहीं किया।

श्रीस्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने प्राक्कथन लिख देने की कृपा की है, तदर्थ उनका धन्यवाद।

जब यह सारा संग्रह प्रकाशित हो जाएगा, तो ब्रह्मविद्या के सब अंगों पर प्रकाश डालने वाली प्रस्तावना प्रस्तुत की जाएगी।

ओं शम्। ब्रह्मार्पणमस्तु।

मुमुक्षुजनसेवक

६ आषाढ़ १९८८ वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

—०—०—

❀ ओ३म् ❀

अथ योगोपनिषद्

(य० ११। १—८)

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥२॥
युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥
युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा
देवस्य महिमानमोजसा।

यः पार्थिवानि विममे स एतशो
रजा ँसि देवः सविता महित्वना ॥६॥
देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥७॥
इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं ँ
सखिविद ँसत्राजितं धनजित ँ स्वर्जितम् ।
ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं
बृहद्गायत्रवर्तनि स्वाहा ॥८॥

इति यजुर्वेदान्तर्गता योगोपनिषत् ।

———

❀ ओ३म् ❀

अथ योगोपनिषत्

फल सहित योगोपदेश

युञ्जानः प्रथमं मनस् तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥

(सविता) ऐश्वर्य्याभिलाषी पुरुष (तत्त्वाय) तत्वज्ञानके लिए (प्रथमँ)-पहले अथवा फैले हुए (मनः) मनोव्यापार या मननात्मिका अन्त करण वृत्ति को तथा (धियः) धारणात्मिका बुद्धिवृत्तियों को (युञ्जानः) समाहित करता हुआ (अग्नेः) सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक प्रभु से (ज्योतिः) ज्ञानप्रकाश (निचाय्य) निश्चित करके (पृथिव्याः) पृथिवी के लिए, सांसारिक जनोंके लिए अथवा विस्तृति के लिए (अधि) अधिकार पूर्वक (आ) सब ओर, सब प्रकार से (भरत्) धारण करता है। अथवा (पृथिव्याः+अधि) पृथिवी पर (आ+भरत्) सब ओर ले जाता है।

योग की रीति तथा प्रयोजन दोनों ही इस मन्त्र में भलीभांति बतला दिए गए हैं।

योगदर्शन में योग का लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [१.१.] कहा है। चित्त=अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध, योग है। अर्थात् योगजिज्ञासु को चित्तवृत्ति का निरोध परमावश्यक है। वेद कहता है—'प्रथमं मनः धियः युञ्जानः' फैले हुए=अनेकाग्र चंचल मन और वृत्तियों को समाहित

करता हुआ। वृत्तियां यदि फैली हुई न हों, तो उनके समाहित करने का उपदेश व्यर्थ है।

योग का प्रयोजन बताने के लिए 'तत्त्वाय' पद है। तत्त्व= वस्तु का यथार्थ स्वभाव जानना हो, तो योग का अनुष्ठान करो। योगानुष्ठान से एक ऋतंभरा नामक बुद्धि पैदा होती है, जिसके विषय में योगिराज पतंजलि जी कहते हैं—"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।" ऋतंभरा बुद्धि, श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान से विलक्षण होती है, क्योंकि श्रुत और अनुमान तो वस्तु का सामान्य ज्ञान कराते हैं और यह विशेष ज्ञान कराती है। 'विशेष' ही वस्तु का यथार्थ रूप है। क्योंकि उसीके कारण उस वस्तु की अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति होती है। अर्थात् ऋतंभरा-जन्यज्ञान परमप्रत्यक्ष होता है। सो वह योग के बिना संभव नहीं, अतः जिसे प्रकृति, पुरुष के यथार्थ ज्ञान की इच्छा हो, वह योगाभ्यास का अनुष्ठान करे।

योग का फल भी संकेत से बता दिया है—'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य' परमात्मा से ज्योति प्राप्त करके। श्रद्धापूर्वक लगातार दीर्घकाल तक जो योगाभ्यास करते हैं, उन्हें परमात्मज्योति के दर्शन होते हैं।

परमात्मज्योति प्राप्त करके मनुष्य केवल स्वयं ही उसका आनन्द न लेता रहे, अपितु 'पृथिव्या अध्याभरत्' पृथिवी भर में उसे फैला दे। जो उत्तम प्रकाश उसने प्राप्त किया है। उससे संपूर्ण मनुष्यों को आलोकित करे।

योगी दो प्रकार के होते हैं—एक 'युक्त' जो सदा प्रभु में लीन रहते हैं; दूसरे युञ्जान—जो यत्न से, अभ्यास से तत्त्वदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। साधारण पुरुष ही युञ्जान बन सकते हैं। युञ्जान के बाद किसी समय युक्त भी बन सकता है। इसी वास्ते यहां 'युञ्जान' बनने का उपदेश किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण [६. ३. १. १३.] में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए

'प्राणा धियः' लिखा है। इसके अनुसार 'मन और प्राण' को रोकना आवश्यक है।

इसमें एक गूढ़ बात कही गई है। मन और प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ध्यानयोग आदि किसी साधन से यदि मन रोक लिया जाए, तो प्राण अपने आप रुक जाते हैं। यह उत्तम साधन है। मन और प्राणों के रुकने के साथ सारी वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। यदि किसी कारण से पहले मन न रोका जा सके, क्योंकि मन का इसप्रकार रोकना बहुत कठिन है, मन बहुत चंचल तथा वेगवाला है। अर्जुन ने पुकार कर कहा है—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (गीता)

हे कृष्ण जी! मन चंचल है। बहुत ही उधेड़ बुन करने वाला, बड़ा बलवान् है। वायु की भांति उसका वश करना अत्यन्त कठिन है। तो ऐसे लोगों को चाहिए–प्रथम प्राणों को रोकें, प्राणायाम का अभ्यास करें; मन रुक जाएगा।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाए तो प्राणायाम से लेकर समाधि तक योग के पांच अंगों का उपदेश इस मन्त्र में आ गया है। यम नियम के बिना तो कोई योग फलदायक नहीं। आसन योग-क्रिया के लिए अनिवार्य्य है। 'धियः युञ्जानः'—प्राणायाम है।

'मनो धियः युञ्जानः' प्रत्याहार है।

'तत्त्वाय मनो धियः युञ्जानः' संयम=धारणा ध्यान समाधि है।

'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य'=समाधि की चरमावस्था है।

'पृथिव्या अध्याभरत्' योगी का कर्त्तव्य है।

इस सारे रहस्य का आकलन कर परमर्षि ने उपदेश किया है—

यो जनो योगं भूगर्भविद्यां च चिकीर्षेत्, स यमादिभिः क्रियाकौशलैश्चान्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां समर्ज्यैतानि गुणकर्म्मस्वभावतो विदित्वोपयुंजीत। पुनर्यत्प्रकाशमानानां सूर्य्यादीनां प्रकाशकं

ब्रह्मास्ति, तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि साध्नुयात् ॥ (यजुर्वेदभाष्य ११ । १ का भावार्थ)

जो मनुष्य योग और भूगर्भ का ज्ञान करना चाहे, वह यमनियमादि साधनों तथा क्रियाकौशल के द्वारा अन्तःकरण को पवित्र करके तत्त्वों के विज्ञान के लिए बुद्धि प्राप्त कर इन सब पदार्थों के गुणकर्मस्वभाव को जानकर उपयोग करे। और जो प्रकाशमान सूर्य्यादि का भी प्रकाशक ब्रह्म है; उसे जान कर, स्वात्मा में निश्चय कर अपने पराए सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।

युक्त योगियों के दृष्टान्त से युँजानोत्साहप्रदान

युक्तेन मनसा वयं
देवस्य सवितुः सवे
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥२॥

जैसे (वयं) हम (युक्तेन) युक्त (मनसा) मन से तथा (शक्त्या) शक्ति से (सवितुः) सकल जगदुत्पादक सर्वैश्वर्य्यसंपन्न, सर्व प्रेरक (देवस्य) शुभगुणदाता प्रभुके (सवे) उत्पादित जगत् में (स्वर्ग्याय) स्वर्गसाधक कार्य के लिए परमात्मप्रकाश को धारण करते हैं, वैसे तुम भी करो।

युक्त और युंजान की चर्चा पूर्वमन्त्र की व्याख्या में कर आए हैं, वहां युंजान का नाम है। यहां युक्त बनने की प्रेरणा की गई है।

परमात्मप्रकाशप्राप्ति के दो साधन बताए हैं—एक युक्त मन, दूसरा शक्ति। शक्ति से शारीरिक आत्मिक दोनों ही शक्तियां अभिप्रेत हैं। जो दुर्बल-शरीर तथा दुर्बलेन्द्रिय है, जिसका आत्मा पतित है, उसके लिए इस जगत् में स्वर्ग=सुख दुर्लभ है। [स्वर्ग का वैदिक लक्षण हमारे बनाए 'वेदोपदेश' प्रथमभाग वैदिकधर्म्म में देखिए]। इस वास्ते सतत शक्ति का संचय करना चाहिए। योग बहुत बड़ी शक्ति है। कहा भी है—'नास्ति

योगसमं बलम्'। योग के समान कोई बल नहीं है।

योग द्वारा पहले इसी लोक में ही सुख मिलता है। इसी वास्ते 'सवितुः सवे' कहा है। केवल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी योग सुख देता है। इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण [६-३-१-१४] में दो एक बातें बहुत महत्त्व की लिखी हैं—

१. **'न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम्।'**

अयुक्त=असमाहित मन से सम्प्रति=इस समय कुछ नहीं कर सकता।

अर्थात् संसार का कोई कार्य्य करना चाहो, जब तक सब व्यापारों व्यवहारों से हटाकर मन को उस में न लगाया जाए, वह कार्य्य हो नहीं सकता। 'संप्रति=इस समय' शब्द से शतपथकार हमारी संसारव्यवहार-लिप्तदशा की ओर इशारा करते प्रतीत होते हैं। तात्पर्य्य यह कि जब सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिए मनोनिरोध की आवश्यकता है; तो परमार्थ सिद्धि के लिए इस की उपयोगिता में किसे सन्देह हो सकता है।

२. **'शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेति'** शक्ति से स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

अर्थात् दुर्बलों का स्वर्ग में कोई अधिकार नहीं। आज कल भारतवर्ष के आध्यात्मिकवाद ने भारत को कितना दुर्बल कर दिया है?

जब तक देश में वैदिक आध्यात्मिकवाद का प्रचार रहा, तब तक सब प्रकार का स्वर्ग यहां था। अब भी वेद और वेदोपनिषत् का प्रचार करने की आवश्यकता है!

परमर्षि ने इस मन्त्र का आशय यह बताया है—

'यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहिताः सन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरन्, तेषु प्रकाशितात्मानः सन्तो योगं पदार्थविज्ञानं चाभ्यस्येयुः, तर्हि सिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः'॥

यदि मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में समाहित होकर योग और तत्त्व-

ज्ञान का यथाशक्ति सेवन करें, और उनमें आत्मप्रकाशयुक्त होकर योग और पदार्थविज्ञान का अभ्यास करें, तो सिद्धियों को कैसे प्राप्त न करें।

विद्या और योग का सहयोग आवश्यक है।

युक्त्वाय सविता देवान्
स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः
सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

(सविता) योगैश्वर्य्यसम्पन्न योगिराज (बृहत्+ज्योतिः+करिष्यतः) महाप्रकाश कर सकने वाले (स्वः) सुख आनन्द तथा (दिवम्) ज्ञानालोक (यतः) प्राप्त कराने वाले (देवान्) देवों को=इन्द्रियों को, प्राणों को [प्राणा देवाः, श. ६।३।१।१५] (धिया) बुद्धि से (युक्त्वाय) युक्त करके (सविता) इन्द्रियप्रेरणशक्तिसम्पन्न होकर (तान्) उनको प्र+सुवाति) भली प्रेरणा करता है॥

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

योगदर्शन (२.१८) में, महामुनि पतञ्जलि जी कहते है, यह संसार भोग और मोक्षका साधन है। संसारका स्वरूप है भूत [पृथिवी आदि] और इन्द्रिय।

योगका यह सूत्र इस मन्त्रके आधारपर बना है। 'देव' शब्द का अर्थ प्रकाशक है। वैदिक भाषा में पृथिवी आदि भूतों तथा इन्द्रियों को देव कहा जाता है। उनका एक स्वभाव प्रकाश भी है। इन्द्रियां प्रकाश=ज्ञान का साधन है। यदि इन इन्द्रियों को युक्त कर दिया जाए, तो इन की प्रकाशशक्ति बहुत बढ़ जाती है। इन्द्रियशक्ति की क्षीणता लोकव्यवहार में बहुत बाधक होती है। अतः लोकव्यवहार को ठीक रीति से चलाने के लिए भी योग की परमावश्यकता है। स्वच्छ और निर्मल इन्द्रिय शीघ्र ही अपने विषयों से प्रत्याहृत हो जाती हैं, उससे परमार्थ में सहायता मिलती

है। इसी भाव को लेकर–'स्वर्यतः, दिवं यतः देवान्' सुख देने वाले और ज्ञान देने वाले देव=इन्द्रिय–कहा है।

'देव' का अर्थ उत्तमगुण भी है। मनुष्यके उत्तमगुण बहुत बड़ा प्रकाश करते हैं।

प्राणों को वश में कर लिया जाए, उनकी गति पर पूरा अधिकार कर लिया जाए, तब सब दुःख और क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। अविद्या आदि क्लेशों के दूर होने से ज्ञानालोक बढ़ता है। इसी वास्ते योगदर्शन में प्राणायाम का फल 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' कहा है। प्राणायामसे आत्मप्रकाश पर पड़ा आवरण क्षीण हो जाता है।

परमात्मपक्ष में—परमात्मा जीवों के हितार्थ लोकसुख तथा मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिए भूतों का यथायोग्य संयोग करके सृष्टि रचता है। जो ज्ञानी इस तत्त्व लो समझ कर योगाभ्यास करता है, वह इन से यथायोग्य लाभ उठा सकता है।

परमर्षि ने इस मन्त्र का आशय इस प्रकार लिखा है—

ये योगपदार्थविद्ये अभ्यस्यन्ति, ते अविद्यादिक्लेशानां निवारकान् शुद्धान् गुणान् जनितुं शक्नुवन्ति। य उपदेशकाद्योगं तत्त्वज्ञानं च प्राप्यैवमभ्यस्येत्, सोप्येतान् प्राप्नुयात्।

जो लोग योग और पदार्थविद्याका अभ्यास करते हैं, वे अविद्यादिक्लेशोंके नाश करने वाले शुद्ध गुणोंको पैदा कर सकते हैं।

भगवान् की बड़ी स्तुति

युञ्जते मन उत युञ्जते धियः
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

(होत्रा) दानादानशील (विप्राः) मेधावी जन (विप्रस्य) परम

मेधावी, लोगोंकी विविध कामनाओंको पूर्ण करने वाले (बृहतः) महान (विपश्चितः) परमज्ञानी प्रभुकी प्राप्तिके लिए (मनः) मनको, अन्तःकरण को (युञ्जते) युक्त करते हैं, योगस्थ करते हैं (उत) और (धियः) प्राणोंको (युञ्जते) योगयुक्त करते हैं। क्योंकि वह परमात्मा (एकः) अकेला (इत्) ही (वयुनावित्) कर्मों और ज्ञानोंको, विचार और आचार-का जाननेवाला हैं, और वही तदनुसार (वि) विविध प्रकारकी सृष्टि तथा पदार्थों को (दधे) धारण करता है। यही (सवितुः) जगदुत्पादक, सत्कर्म प्रेरक, सर्वस्वामी, सर्वसुखदाता (देवस्य) दिव्यगुणसंपन्न प्रभुकी (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) स्तुति है।

परमात्मा शक्ति में सब से बड़ा, ज्ञान में सब से बड़ा है। अतः योग-जिज्ञासु शक्ति प्राप्ति के लिए प्रभुकी स्तुति करता है। वेद कहता है— परमात्मा की सबसे बड़ी स्तुति यही है, कि मनुष्य उसके गुण कर्म जान कर उन्हें प्राप्त करे। प्राप्तिका उपाय मन्त्र के पूर्वार्ध में है। जो लोग मनोयोग तथा प्राणायामका अनुष्ठान करते हैं, वे परमात्माकी यथार्थ और बड़ी स्तुति करते हैं।

प्राणियों के विचार और आचार परमात्मा से कभी भी छिप नहीं सकते। वह महाप्रभु जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार सृष्टिद्वारा इन्हें शुभाशभ फल देता रहता है। परमात्मा के इस गुण को जानकर मनुष्य प्रभु की ओर खिचता है।

पूर्वार्ध की व्याख्या प्रकारान्तर से यह भी हो सकती है—

मेधावी विद्वान् लोग अपने से बड़े, प्रभु के विशेष प्रेमी आप्त विद्वान् के शिक्षणानुकूल अपने मन तथा प्राणोंका निरोध करते हैं। अर्थात् योग्य गुरु से योगाभ्यास सीख कर अपना और पराया कल्याण करते हैं।

इस मन्त्र का अर्थ यों भी होसकता है—

जैसे विद्या के ग्रहण करने और देनेवाले मेधावी महात्मा अपनी अपेक्षा उच्च योगी जनों से शिक्षा प्राप्त करके मन और प्राणों को रोकते

हैं, वैसे ही मैं भी विचार और आचार को जानकर 'एकः इत्' = अकेला ही, निस्संग होकर करता हूं। यह निस्संगता निस्पृहता परमात्मा की बड़ी स्तुति है।

परमर्षि ने इसका भाव इसप्रकार दर्शाया है—

ये युक्ताहारविहारा एकान्ते देशे परमात्मानं युञ्जते।
ते तत्त्वविज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं यान्ति ॥

जो युक्त आहार विहार वाले मनुष्य एकान्तस्थान में परमात्मा का योग करते हैं, वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर हमेशा सुखी रहते हैं।

योग प्रेरणा

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर् वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

मैं (वां) तुम दोनों—प्राण और मनको, अथवा आत्मा और मनको (पूर्व्यं) पूर्ण ज्ञानीसे प्राप्य (ब्रह्म) परमात्मासे (नमोभिः) विनय आदि साधनों द्वारा (युजे) युक्त करता हूं। (श्लोकः) यश (सूरेः) सूर्य्यके (पथ्येव) मार्गकी भांति (वि+एतु) विविध स्थानोंको प्राप्त होता है। वे सब महात्मा (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) अवस्थाओं को आ+तस्थुः) प्राप्त होचुके हैं, और वे (विश्वे) सब (अमृतस्य+पुत्राः) अमर प्रभुके पुत्र (श्रृण्वन्तु) सुनें।

जो मन और प्राणको योगयुक्त करता है। उसका यश और कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है। योगी और अयोगी सब तक उसकी कीर्त्ति फैल जाती है।

अथवा

मैं तुम दोनों गुरुशिष्योंको नमस्कार आदि के द्वारा पूर्ण आप्त पुरुषों से विज्ञेय ब्रह्म, अथवा पूर्व्य ब्रह्म = सबसे पूर्व विद्यमान ब्रह्मज्ञानसे युक्त करता हूं। 'सूरेः श्लोकः'—विद्वान् का यह उपदेश मार्ग की भांति तुम्हें प्राप्त

हो। जो लोग दिव्य धामको प्राप्तकर अमृत प्रभुके पुत्र कहलानेके अधिकारी बन चुके हैं, उनसे सब लोग इस उपदेश को श्रवण करें।

जो योगमार्गमें चलना चाहे, उसे अत्यन्त विनम्र होना चाहिए। अहंकार, मत्सर का त्याग कर देना चाहिए। गुरुजनोंकी सदा नमस्कार आदि से अर्चना किया करे। प्रभुको सदा भक्तिभरी प्रणामांजलि अर्पित करे; सब ज्ञानियोंके हितकारी, ब्रह्मविद्याके महाभण्डार वेदका सदा अभ्यास करे। योगिजनोंसे योगविद्या सीख कर सदा अभ्यास बढ़ाए।

महाराजने इसका भावार्थ यह बताया है—

योगं जिज्ञासुभिराप्ता विद्वांसः संगन्तव्या। तत्संगेन योगविधिं विज्ञाय ब्रह्माभ्यसनीयम्। यथा विद्वत्प्रकाशितो धर्म्ममार्गः सर्वान् सुखेन प्राप्नोति, तथैव कृतयोगाभ्यासानां सङ्गाद्योगविधिः सहजतया प्राप्नोति। नहि कश्चिदेतत्संगमकृत्वा ब्रह्माभ्यासेन विनाऽऽत्मा पवित्रो भूत्वा सर्वं सुखमश्नुते, तस्माद्योगविधिना सहैव सर्वे परं ब्रह्मोपासताम्॥

योगके जिज्ञासुओंको सदा योगारूढ़ विद्वानोंकी संगति करनी चाहिए। उनके संगसे योगविधि जानकर ब्रह्माभ्यास करना चाहिए। जैसे विद्वानों का बताया धर्म्ममार्ग सबको सुखपूर्वक मिलता है, वैसे ही योगनिष्ठ पुरुषों के संगसे योगविधि सरलतासे प्राप्त होजाती है। कोई भी आत्मा योगाभ्यास किए बिना पवित्र होकर सुख नहीं पासकता, इसवास्ते योगविधि के साथ ब्रह्माभ्यास अवश्य करना चाहिए॥

पांच मन्त्रोंकी ऋषि श्वेताश्वतरकृत व्याख्या—

'योगोपनिषत्' के प्रथम पांच मन्त्र थोड़ेसे पाठभेदसे 'श्वेताश्वतर उपनिषत्' के द्वितीय अध्यायके आरम्भमें आए हैं। फिर उनके आगे शेष अध्याय उन पांच मन्त्रोंकी भावात्मक व्याख्या-सी है। यहां उस सारे अध्याय को उद्धृत करके प्रथम पांच मन्त्रोंको छोड़कर [क्योंकि उनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है] शेष श्लोकोंका भावार्थ दिया जाता है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥
युक्त्वाय मनसा देवान्त्सवर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिःकरिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्-
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्-
वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्तमक्षिपत् ॥७॥
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥
नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥
पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातःसजनिष्यमाणः

प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥
यो देवो ऽग्नौ यो ऽप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः ॥

भावार्थ—अग्नि जिस हालतमें मथी जाती है, वायु जिस अवस्थामें रोका जाता है, जिस दशामें सोम शेष रह जाता है, उस अवस्था में मन भली प्रकार संगत होता है। प्रभुकी आज्ञासे, अथवा गुरुकी प्रेरणासे पूर्व्य=पूर्णवेदज्ञ ऋषि मुनियोंसे उपास्य ब्रह्मका प्रीतिपूर्वक सेवन करे। यदि तू उस ब्रह्ममें ठिकाना कर ले, तो समय से पूर्व तेरी हानि न हो ॥७॥ शरीर को तीन स्थानों से सीधा ऊंचा रख कर, सम रखकर, मनके द्वारा इन्द्रियों को हृदय में प्रविष्ट कर (अर्थात् उनके विषयों से हटा कर) विद्वान् ब्रह्मरूपी नौका द्वारा संपूर्ण भयंकर (संसार) प्रवाहों को तर जाए ॥८॥ युक्ताहार विहारवान् और युक्त चेष्टा वाला होकर प्राणोंको रोक कर प्राण के दुर्बल होनेपर नासिका द्वारा उच्छ्वास ले। ज्ञानी दुष्ट घोड़ेसे युक्त रथकी भांति इस मनको सावधान होकर धारण करे ॥९॥ समान, समतल, पवित्र, कंकड़, आग, बालू से रहित, शब्दवान् नदी आदि से युक्त, मनके अनुकूल, आंखों को लुभानेवाले, निवास स्थानमें गुहा बनाए ॥१०॥ कुहरा, धुआं, सूर्य्य, आग, हवा; खद्योत, (जुगनू), बिजली, स्फटिक; चन्द्र, इनके रूप ब्रह्मसंबन्धी योग को प्रकट करने वाले होते हैं ॥११॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश रूपी पांच तत्त्वोंके बने शरीरमें योग गुण के प्रवृत्त होने पर उसके योगरूप अग्नि वाले शरीरको न बीमारी होती है न बुढ़ापा और न मृत्यु होती है ॥१२॥ शरीर में हलकापन, आरोग्य, अलोलुपता, शरीर के रंगकी सफाई, आवाज का सुधर जाना, पवित्र गन्ध, टट्टी पेशाब की अल्पता ये योग की प्रथम प्रवृत्ति= समाचारकी सूचना देती हैं ॥१३॥ जैसे मिट्टीसे लिपटा हुआ सुवर्णादि

धातुसे बना पात्र साफ करने पर चमकने लगता है, इसीप्रकार शरीरधारी आत्मतत्त्वका भलीभांति ज्ञानकर वह असंग पुरुष वीतशोक होकर कृतार्थ हो जाता है ॥१४॥ दीपकके समान आत्मतत्त्वसे युक्त होकर जब ब्रह्मतत्त्व को देखलेता है। तब सब तत्त्वोंसे विशुद्ध, अज, अविनाशी ब्रह्मको जानकर सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥१५॥ यह भगवान् सब दिशाओंमें व्यापक है, सबसे पूर्व है, प्रसिद्ध है। वही गर्भमें रहकर (संसार में रहकर) अन्त करता है। वह विद्यमान था, है, और रहेगा। समस्त उत्पन्न पदार्थोंके सब ओर वह रहता है ॥१६॥ जो प्रभु आगमें है, जो पानी में है, जो सब लोकोंमें व्यापक है, जो ओषधियोंमें विद्यमान है, जो वनस्पतियोंमें विराजमान है, उस प्रभु को बारबार नमस्कार है ॥१७॥

इन श्लोकोंमें प्रायः अनुभवमें आने वाली बातोंका वर्णन है :—

छठे श्लोकमें बताया है कि वायु=प्राण के निरोध=प्राणायामसे शरीरमें अग्नि=आत्माग्निका मथन होता है, सोम=ज्ञान और शान्ति का अतिरेक होता है। और परिणाम मनःस्थिति होती है, अर्थात् मन संकल्प विकल्पको छोड़ देता है। योगोपनिषत् के प्रथम मन्त्र के साथ तुलना कीजिए। अथर्ववेद [१०-८-२०] में भी यही बात कही है—

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

जो उन दोनों अरणियों को (पीपल या शमी की विशेष प्रकार से बनी दो लकड़िएं, जिन से आग पैदा की जाती है। यहां प्राण और अपान दो अरणी हैं) जानता है, जिनसे वसु=ऐश्वर्य का निर्मथन किया जाता है। वह ज्येष्ठ ब्रह्म को मान सकता है, वह महद्ब्रह्म को जान सकता है।

अथवा अरणीसे श्वेताश्वतरोपनिषत् [१. १४] के अनुसार देह और प्रणव समझना चाहिए। यथा—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

अपनी देह को अधर अरणि बनाकर और प्रणव=ओम् के जापको उत्तरारणि बनाकर ध्यानरूपी निर्मथन=निघर्षण=रगड़से छिपे हुए अग्नि की भांति देव=परमात्माके दर्शन करे।

किस प्रकार अपने देह तथा प्रणव को अरणियों का रूप दिया जाए; इसके ज्ञान के लिए तो गुरुके पास जाना ठीक है, योगोपनिषत् में भी इसका इशारा किया गया है। यहां भी सातवें श्लोक में 'सवित्रा प्रसवेन' उसका द्योतक है। भगवान्का आश्रय सर्वकष्टों का विघातक है, इसका भी संकेत इस श्लोकमें है। आठवें से दस श्लोकों में तो खोलकर योग करने की रीति यथावत् बता दी है। आसन, प्राणायाम तथा अभ्यास करनेका स्थान सब कुछ कह दिया है।

अभ्यास प्रवृत्त होने पर मनुष्य को कुछ विचित्र वस्तुओंका दर्शन होता है। किसीको कुछ दीखता है किसीको कुछ और ग्यारहवें में उन सबका वर्णन कर दिया है। अभ्यासीको इससे घबराना न चाहिए। वरन् उत्साहित होकर अपने अभ्यासको अधिक तत्परता से बढ़ाना चाहिए। बारहवें में शारीरिक लाभ बताकर तेरहवें में योगाभ्यास सफलता के मार्ग पर चल पड़ा है, इसका वर्णन किया है। देह हलका हो जाता है, आदतें सुधरने लगती हैं, कान्ति बढ़ती है, इत्यादि।

चौदहवें में योग से आत्मशुद्धि, हर्ष शोकसे विरतिका उल्लेख है।

पद्रहवें में बहुत ही सुन्दर बात कही है। अन्धेरी रात्रिमें जैसे दीपक दिखानेका काम करता है, इसीप्रकार परमात्मविषयक अज्ञाननिशामें योगसाधित आत्मदीपक हाथ में लेकर अभ्यास परमात्मदर्शन रूपी मार्ग का अवलम्बन करे, जिसके दर्शन से इसके सब फन्दे कट जाएँगे।

सोलह व सत्रहवें में भगवान् की महिमा तथा उसे नमस्कार है।

प्राण-महिमा

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा
देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो
रजाꣳसि देवः सविता महित्वना ॥६॥

(यस्य) जिस (देवस्य) देवके (प्रयाणं) प्रयाण तथा (महिमानं) महिमा के (अनु) पीछे (अन्ये) दूसरे (देवाः) देव (ओजसा) बलात् (ययुः+इत्) चलते ही हैं। (यः) जो (महित्वना) अपनी बड़ाई से (पार्थिवानि) विस्तृत (रजांसि) लोकों को (वि+ममे) विशेष रूपसे मापता है। (सः) वह सविता (देवः) देव (एतशः) गतिशील गति-दाता है।

आधिदैविक पक्ष में—सविता सूर्य्य है। सारे देव—ग्रह उपग्रह आदि उसके प्रयाण—आकर्षण विकर्षणके अनुकूल चलते हैं, क्योंकि वह अपने मण्डलान्तर्गत सब ग्रहों उपग्रहोंसे बड़ा तथा शक्तिशाली है। वह सारे विस्तृत लोक-लोकान्तरों का मानो मान=माप रखता है। वह अपनी शक्ति तथा महत्त्व के कारण इन सबको गति=हरकत देता है, तथा स्वयं गतिशील है।

अध्यात्मपक्ष में—(क) सविता देव मन है। शतपथ ब्राह्मण [६. ३. १.१३] में 'मनो वै सविता' कहा है। अन्य देव यहां प्राण=इन्द्रियां हैं। ('प्राणा देवाः' श. ६,३.१.१५) सारी इन्द्रियां मन के आधीन हैं, जिधर मनका प्रयाण होता है उधर ही इन्द्रियां चल देती हैं, क्योंकि मन इन सबका अधिष्ठाता है। इसी वास्ते उत्तरार्ध में कहा है—'यः पार्थिवानि विममे रजांसि,=जो पार्थिव विस्तृत विशाल अथवा विपुल शक्तिसम्पन्न रजांसि=लोक=ज्ञानसाधन इन्द्रियों को विशेष रूपसे मापन करता है, नियम में रखता है; अपने महत्त्व के कारण वह सविता देव=मनोदेव एतश=इन सबको गति देता है।

इस अर्थके द्वारा वेद एक गहन उपदेश देना चाहता है। यदि अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहते हो, तो इन सबके प्रेरक अधिष्ठाता मनको वशमें करो। इसका उपाय आरंभ के मन्त्रों में बता दिया है, अर्थात् योगसाधन करो।

(ख) सविता मुख्य प्राण है, अन्य देव दूसरे प्राण हैं। मुख्य प्राणके प्रयाणके साथ दूसरे देव भी प्रयाण करने लगते हैं। इस रीतिसे मानों मुख्य प्राणने इन सब प्राणोंके लोकोंको माप रखा है, अतएव यह इन सबका 'एतश' गतिदाता है। प्रश्नोपनिषत् में मानो इसी मन्त्र की व्याख्या-सी है। वह इसप्रकार है—

"अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठः इति ॥१॥

तस्मै स होवाच, आकाशो ह वा एष देवो अग्निरापः पृथिवी वाङ्-मनः चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्राणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच 'मा मोहमापद्यथाः। अहमेवैतत् पञ्च-धाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्राणमवष्टभ्य विधारयामि' इति ॥३॥

तेऽश्रद्धाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रा-मत्यथेतरे सर्वएवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते; तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥४॥ (प्रश्नोपनिषत् २ य प्रश्न)।

इसके बाद महाराज पिप्पलादसे विदर्भदेशोत्पन्न भार्गव ने पूछा। भगवन्! कितने देव इस स्थावरजंगम रूप सृष्टिका धारण करते हैं, इनमें से कौनसे इस शरीरको प्रकाशित करते हैं; और इनमें से कौन मुखिया है? ॥१॥ भार्गव को महाराज पिप्पलाद ने कहा, यह आकाश देव= गतिशील वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी और वाणी (वाणी कर्मेन्द्रियों का

उपलक्षण है) मन और आंख, कान (आंख, कान, ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं) वे सब शरीर का प्रकाश कर परस्पर अभिमान से कहते हैं—'हम इस शरीर को संभालकर धारण करते हैं, ॥२॥ उन सबसे मुखिया प्राण ने कहा—अज्ञानी मत बनो, मैं ही अपनी शक्ति का पांच प्रकारसे विभाग करके इस शरीर को संभाल कर धारण करता हूं ॥३॥ उन्होंने विश्वास न किया। तब वह (मुख्य प्राण) अभिमानपूर्वक थोड़ासा बाहर निकलने लगा। उसके उत्क्रमण करनेपर दूसरे सभी निकलने लगे। उसके ठहर जानेपर सब ठहर गए। जैसा कि रानी मक्खी के उड़ने पर सब मक्खियां उड़ने लगजाती हैं, उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, ऐसाही वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रने किया। वे प्रसन्न होकर प्राण=मुख्य प्राण की स्तुति करने लगे।

इस सन्दर्भमें वरिष्ठ=मुख्य प्राण आत्मा ही है, मन नहीं; मनको वरिष्ठ प्राणसे पृथक् कहा है। आत्मा से भी जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हैं। ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों की यह शैली है, कि वे आत्मा तथा परमात्मा का मिला कर वर्णन करते हैं। दोनों का मिश्रित वर्णन करते हुए वह कोई ऐसा संकेत कर देते हैं, जिससे प्रधानतया वहां क्या अभिप्रेत हैं, यह ज्ञात हो जाए। यहां ही लीजिए—उत्तर के आरंभमें आकाशादि की चर्चासे पता लगता है, कि यहां परमात्मा का वर्णन है। किन्तु उत्तर देते हुए चौथे वाक्य में आकाशादि की चर्चा न करके केवल वाणी आदि का उल्लेख किया है। उपनिषत्कार बताना चाहते हैं, कि शरीर का धारण वाणी आदि से न होकर आत्मा से होता है। उपनिषत्कार विशाल दृष्टिके उपदेशक हैं, वे पिण्डसे उठाकर ब्रह्माण्डकी ओर ले जाते हैं। ब्रह्माण्डका धारण आकाशादि से नहीं होता, किन्तु इसका धारक विश्वात्मा परमात्मा है।

इसका तात्पर्य यह नहीं, कि आकाशादि अपना कार्य्य भी नहीं कर सकते। अपितु सब कार्य्य करनेकी क्षमता इनमें नहीं है, परमात्माकी शक्तिसे ये अपना २ कार्य्य कर सकते हैं। इसी प्रकार आँख, नाक, कान,

अपने अपने काममें समर्थ तो हैं, किन्तु आत्मसत्ता से ही इनमें सामर्थ्य आता है।

उपनिषत् का यह सन्दर्भ मन्त्रकी कितनी सुन्दर व्याख्या है। इस उपनिषद्व्याख्या से आत्मा का महत्त्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्राणसंवाद शतपथब्राह्मण में बड़ी मनोरंजक रीति से वर्णित हुआ है। और इस विषय को अधिक स्पष्ट भी करता है, इस कारण उसे यहां उद्धृत करते हैं—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चस्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानाँ भवति, अपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद, वसिष्ठः स्वानां भवति। वाग्वै वसिष्ठा, वसिष्ठः स्वानां भवति, अपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद ॥२॥ यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, प्रतितिष्ठति समे, प्रतितिष्ठति दुर्गे। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे, य एवं वेद ॥३॥ यो ह वै सम्पदं वेद, सँहास्मै पद्यते यं कामं कामयते। श्रोत्रं वै संपत् श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः, सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥ यो ह वा आयतनं वेद, आयतनꣳ स्वानां भवति आयतनं जनानां। मनो वाऽआयतनम्, आयतनं स्वानां भवति, आयतनं जनानां, य एवं वेद ॥५॥ यो ह वै प्रजातिं वेद, प्रजायते प्रजया पशुभिः, रेतो वै प्रजातिः, प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥ ते हेमे प्राणाः। अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, 'को नो वसिष्ठ' इति। 'यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते, स वो वसिष्ठः' इति ॥७॥ वाग्घोच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः—यथा कदा अवदन्तो वाचा, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वाꣳसो मनसा, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह वाक् ॥८॥ चक्षुर्हीच्चक्राम, तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः— यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण,

विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्र ँ होच्चक्राम। तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच – 'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः 'यथा वधिराः अशृण्वन्तः श्रोत्रेण, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, विद्वाँसो मनसा, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म,' इति, प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥ मनो होच्चक्राम, तत्संवत्सरे प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः 'यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति। प्रविवेश ह मनः ॥११॥ रेतो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच —'कथमशकत मदृते जीवितुन्' इति। ते होचुः—'यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वाँसो मनसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥ अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्, यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशङ्कून् संवृहेदेवं हैवेमान् प्राणान् संववर्ह। ते होचुः 'मा भगव उत्क्रमीः, न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' इति। 'तस्य वै मे बलिं कुरुत' इति। 'तथा' इति ॥१३॥ सा ह वागुवाच—'यद्वा अहं वसिष्ठास्म त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' इति। चक्षुः—'यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठोसि' इति। श्रोत्रं—'यद्वा अहँ संपदस्मि, त्वं तत्सम्पदसि' इति। मनो—'यद्वा अहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसि' इति। रेतो 'यद्वा अहं प्रजातिरस्मि, त्वं तत्प्रजातिरसि' इति। 'तस्यो मे किमन्नं किं वासः' इति। यदिदं किं चाश्वभ्य आक्रिमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्ते अन्नमापो वासः' इति। न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं, य एवमेतदनस्यान्नं वेद ॥१४॥ तद् विद्वाँ सः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचमन्त्यशित्वाचामन्ति, एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वाऽऽचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते ॥१५॥ शतपथब्राह्मण १४।९।२।१-१५॥

भावार्थः—जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह अपनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण = आत्मा ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है। जो इस प्रकार

जानता है [कि प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है] वह अपनोंमें और जिनमें श्रेष्ठ होना चाहता है। ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है।१।। जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपनोंमें वसिष्ठ हो जाता है।। वाणी ही वसिष्ठा है। जो इसे जान लेता है। वह अपनोंमें वसिष्ठ हो जाता है, तथा जिनमें होना चाहता है, उनमें भी ।।२।। जो प्रतिष्ठा को जानता है। वह सममें प्रतिष्ठा पाता है, विषम में प्रतिष्ठा पाता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षु के द्वारा ही सममें प्रतिष्ठित होता है, और चक्षुसे ही विषम में प्रतिष्ठा पाता है। सम और विषम में प्रतिष्ठावान् होता है, जो इस बातको जान लेता है। ।।३।। जो संपद् को जानता है, जिस वस्तु की कामना करता है, उसकी यह पूरी होती है। श्रोत्र (कान) ही संपत् है, श्रोत्रमें ही सारे वेद ठीक तौर से संपन्न होते हैं [अर्थात् सब वेदों का ज्ञान श्रोत्रसे सुन कर ही होता है] जो इस को जान लेता है। उसकी सब कामना पूर्ण होती है, जिसकी उसे चाहना होती है। ।।४।। जो आयतन [आश्रय) को जानता है, अपनों का आश्रय बनता है, दूसरे लोगों का आश्रय होता है। मन ही आयतन है। जो इस बात को जानता है, वह अपनों परायों सबका आश्रय हो जाता है। ।।४।। जो प्रजाति प्रजननविद्या [उपनिषद् में प्रजातिके स्थानमें 'प्रजापति' पाठ आया है] को जानता है, वह सन्तान तथा पशुओं द्वारा प्रसिद्ध होता है। रेत (वीर्य्य) ही प्रजाति है [अर्थात् प्रजननका मूल वीर्य्य है। प्रजननाभिलाषियों को वीर्य्यरक्षा पर पूरा ध्यान देना चाहिए। सन्तान भी दो प्रकार की होती है—एक यौन, दूसरी मौख। 'यौन' के लिए तो वीर्य की आवश्यकता स्पष्ट है। 'मौख' के लिए संशय हो सकता है। उसका समाधान यह है, कि अब्रह्मचारी अजितेन्द्रय गुरु के शिष्य भी लम्पट एवं विषयी होंगें। विषयी गुरुकी वाणी में वह बल और ओज कहां? तभी तो 'ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः योगसूत्र [२।३८] के भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—'सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति' इति।। वीर्य्य प्रतिष्ठा से सिद्ध मनुष्य अपने शिष्यों में अपेक्षित ज्ञानका आधान करने में समर्थ होता है] जो इस रहस्य को जानता है, वह सन्तान

और पशुओं से समृद्ध होता है ॥६॥ वे सब ऐसे प्राण अपनी बड़ाई (मैं बड़ा हूं मैं बड़ा हूं) के विषय में विवाद करते हुए ब्रह्म [छान्दोग्योपनिषत् में 'प्रजापतिं पितरम्=प्रजापति पिता' पाठ आया है] के पास गए [और पूछा]

प्राणगण—हममें से कौन वसिष्ठ है ? [छान्दोग्योपनिषत् में, 'को नः श्रेष्ठः' इति=हममें से कौन श्रेष्ठ है ?]

ब्रह्म—'तुममें से जिसके निकल जाने पर यह शरीर पापी माना जाए, वह तुममें वसिष्ठ है।

तब वाणी निकल गई, वह एक वर्ष बाहर रहकर आकर बोली—'मेरे बिना तुम कैसे जी सके ?

वे प्राणगण बोले—'जैसे गूंगे वाणी से न बोलते हुए, किन्तु प्राण से जीवन धारण करते हुए, आंखसे देखते हुए, कान से सुनते हुए, मनसे विचार करते, वीर्य्यद्वार प्रजनन करते (हुए जीते हैं) ऐसे हम जीते रहे।'

[यह सुनकर लज्जित हो] वाणी शरीर में प्रविष्ट हो गई ॥८॥

तब आंख निकल गई, वह एक वर्ष बाहर रहकर आकर बोली—'मेरे बिना कैसे जी सके।"

वे बोले—"जैसे आंख से न देखते हुए अन्धे, किन्तु प्राणसे जीते हुए, वाणी से बोलते हुए, श्रोत्रसे सुनते हुए, मनसे मनन करते हुए, वीर्य्यसे प्रजनन करते हुए [जीते हैं]। ऐसे ही हम जीते रहे।"

[यह सुनकर लज्जित हो] आंख प्रविष्ट हो गई ॥९॥ तब श्रोत्र बाहर निकला। वर्ष भर बाहर रहकर लौट कर बोला—"मेरे विना कैसे जीते रहे।"

वे बोले—'जैसे बहिरे कान से न सुनते हुए, किन्तु प्राणसे जीते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, मनसे विचार करते हुए, वीर्य्यसे सन्तानविस्तार करते हुए [जीते हैं] ऐसे हम जीते रहे।"

[यह सुनकर लज्जित हो] कान शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥१०॥ अब

अब मन निकला। वह वर्ष भर बाहर रहकर लौटकर कहने लगा—"मेरे बिना कैसे जीते रहे।"

वे बोले—"जैसे मुग्ध=भोले मूर्ख मन से विचार न करते हुए, किन्तु प्राणसे जीते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंखसे देखते हुए, कानसे सुनते हुए, वीर्यसे सन्तान करते हुए [जीते हैं], ऐसे ही हम जीते रहे।"

[यह सुन, लज्जित हो] मन भी प्रविष्ट हो गया। ॥११॥ अब वीर्य्य =प्रजनन शक्ति बाहर निकल गई। वह वर्ष भर बाहर रहकर आकर बोला—"मेरे बिना कैसे जीते रहे।"

वे बोले—'जैसे वीर्य्यहीन नपुंसक संतान न पैदा करते हुए, किन्तु प्राणसे जीवन धारण करते हुए, वाणीसे बोलते हुए, आंखसे देखते हुए, कान से सुनते हुए, मनसे विचार करते हुए [जीते हैं], ऐसे ही हम भी जीते रहे।'

[यह सुन लज्जित हो] वीर्य्य शरीरमें प्रविष्ट हो गया ॥१२॥

अब प्राण निकलने लगा। जैसे सिन्धुदेशोत्पन्न महान् उत्तम अश्व पिछाड़ी के खूंटों को उखाड़ता है, ऐसे ही इन सब प्राणों को उसने उखाड़ दिया, [तब] वे [घबड़ाकर] बोले। "हे भगवन्! आप मत निकलिए, तेरे विना हम नहीं जी सकते।"

[प्राणने कहा] मेरे लिए बलि दो [मुझे कर दो]। वे बोले—तथास्तु ॥१३॥

तब वह वाणी बोली—"मैं जो वसिष्ठा हूं, तू उसका भी वसिष्ठ है।

आंख ने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूं, तू उसकी ही प्रतिष्ठा है।'

कानने कहा—'मैं जो संपत् हूं, तू उसकी संपत् है।'

मन ने कहा—मैं जो आयतन हूं, उसका आयतन तू है।'

वीर्य्य बोला—मैं जो प्रजाति हूं, उसका मूल प्रजाति तू है।

[तब वह मुख्य प्राण बोला]—'मेरे लिए क्या अन्न और क्या वस्त्र है?'

[वे बोले]—"कुत्तों से लेकर, कीड़े मकौड़े से कीटपतंग=पशु-पक्षी तक का जो अन्न है, वह तेरा अन्न है, और आपः=जल तेरा वस्त्र है।"

जो अन=प्राणके अन्नको इस प्रकार जानता है, अनन्न अभक्ष्य= उसका भोजन नहीं होता, और न ही वह अनन्न का प्रतिग्रह करता है ॥१४॥

इस बातको जानने वाले वेदज्ञ विद्वान् भोजन करने के आरंभ में आचमन करते है, भोजन करके आचमन करते हैं। इसप्रकार से इस प्राण को अनग्न करते हैं। इस वास्ते इस बात को जानने वाला खाने से पूर्व आचमन करे, खाकर आचमन करे। इसप्रकार से वह इस प्राण को अनग्न करता है ॥१५॥

किस प्रकारसे एक एक इन्द्रियकी असमर्थता प्रकट की गई है। प्रत्येक ने अनुभव कर अपनी दुर्बलता को जाना है। और फिर प्राण के महत्त्व को समझ कर उसके सहारे अपनी सत्ताका अनुभव इन्द्रियों को हुआ है।

ऋषि लोग बात स्पष्ट करने के लिए आख्यान का आश्रय लेते हैं। बात खोलने के लिए उन्हें पूर्वप्रयुक्त शब्दों को फिर प्रयोग करने में संकोच नहीं होता। वे आत्मरहस्य का उद्घाटन करने बैठे हैं, न कि शब्दाडम्बर द्वारा अपनी पण्डिताई दिखाने और अपना अज्ञान छिपाने। ऋषियों में और साधारण पण्डितों में यही भेद है। पण्डित अपनी महत्ता दिखाना चाहता है। ऋषि राह दिखाना चाहता है। अन्तरं महदन्तरं!!!

कई लोगों का कहना है, कि 'प्राण' शब्द से यहां 'सांस, अर्थ लेना ठीक है। आपाततः उनकी बात ठीक भी मालूम होती है। क्योंकि सब इन्द्रियों का यहां नाम लिया है, किन्तु सांसकी इन्द्रियका नाम नहीं लिया। और फिर जब सांस उखड़ने लगता है, तो सब इन्द्रिय व्याकुल होजाते हैं। सांसके निकलने पर सब समाप्त होजाते हैं। रात्रि को सब इन्द्रियां कार्य्य बन्द कर देती हैं। किन्तु प्राण के कारण जीवन बना रहता है। परन्तु एक बात है, जो प्राण का अर्थ यहां 'सांस' मानने में बाधक है। योगी जन

प्राण का निरोध करके इसकी गति रोक देते है, फिर भी उस समय शरीर मृतक नहीं होता। मृतक होनेपर शरीर दुर्गन्धमय होजाता है, किन्तु प्राण-निरोधसे शरीरमें कोई सड़ांद नहीं होती। इस वास्ते कोई शक्ति ऐसी है, जिसके चले जाने पर शरीर पापिष्ठतर हो जाता है, वह आत्मा है, प्राण आत्मा के विना रह ही नहीं सकता। इस वास्ते प्राण में जो भी शक्ति है, जो भी महत्ता है, वह सब आत्मा के बलसे ही है। इसवास्ते यहां प्राणसे आत्मा ही अर्थ लेना ठीक है। विशेष विवेचन 'अथर्ववेदीय प्राणोपनिषत्' की व्याख्या में करेंगे।

(ग) सविता यहां जगत्प्रसविता है। परमात्मदेव के प्रयाण=उत्तम प्रेरणासे अन्य देव—सूर्य्य चन्द्र आदि गतिमान् हैं। सविता प्रभु इन सब लोक लोकान्तरों को बनाते है, इन सबमें वे व्यापक है। प्रभु की सत्ता के विना यह कुछ नहीं कर सकते। शङ्कर कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

तेरी शुभ सत्ता विना हे प्रभु मंगलमूल।
पत्ता भी हिलता नहीं खिले न कोई फूल॥

भगवान् तलवकार ऋषिने मन्त्र के इस आशय को एक आलंकारिक आख्यायिका द्वारा बहुत ही मनोहर रीतिसे प्रकट किया है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्त 'अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमा' इति॥ तद्धैषां विजज्ञौ। तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति॥ तेऽग्निमब्रुवन्—'जातवेदः! एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षम्', इति॥ तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत्—'कोऽसि' इति। 'अग्निर्वा अहमस्मि' इत्यब्रवीत् 'जातवेदा वा अहमस्मि' इति॥ 'तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यम्' इति। 'अपीदं सर्वं दहेयं, यदिद पृथिव्याम्' इति॥ तस्मै तृणं निदधौ 'एतद्दह' इति॥ तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम्, स तत एव निववृते, 'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षम्' इति॥ अथ वायुमब्रुवन् 'वायो! एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षम्' इति। 'तथा' इति? तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत्—'कोऽसि' इति। 'वायुर्वा अहमस्मि' इत्यब्रवीत् 'मातरिश्वा वा अहमस्मि' इति॥ तस्मिंस्त्वयि किं

वीर्यम् ' इति । 'अपीदꣳ सर्वमाददीय, यदिदं पृथिव्याम्' इति ॥ तस्मै तृणं निदधौ 'एतदादत्स्व' इति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुम् । स तत एव निववृते—'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षम्' इति ॥ अथेन्द्रमब्रुवन्—'मघवन् ! एतद्विजानीहि, किमेतद्यक्षम्' इति । 'तथा' इति । तदभ्यद्रवत्, तस्मात्तिरोदधे । स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् । ताꣳ होवाच—'किमेतद्यक्षम्' इति ॥

इति तृतीयः खण्डः समाप्तः ।

सा 'ब्रह्म' इति होवाच । 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्' इति ततो हैव विदांचकार 'ब्रह्म' इति ॥ (केनोपनिषत्)

भावार्थ—ब्रह्म ने देवों के लिये विजय की । ब्रह्म की विजय के कारण देवों की महिमा बढ़ी । वे सोचने लगे—'यह हमारी विजय है, यह हमारी बड़ाई है ।' ब्रह्मने उनके इस भावकों जान लिया । अत एव वह इनके लिए प्रकट हुआ । वे सारे देव न जान सके, कि 'यह यक्ष कौन है ।' उन सबने अग्निसे कहा—'हे जातवेदः ! इसे जान कि यह यक्ष कौन है?'

(अग्नि ने कहा)—'तथास्तु', अच्छी बात है ।

तब अग्नि उसके पास दौड़ कर गया ।

यक्षने उससे पूछा—'तू कौन है ?

अग्निने उत्तर दिया–'मैं अग्नि हूं, निश्चय पूर्वक मैं जातवेदा हूं ।

(यक्षने पूछा)—'तुझमें क्या शक्ति है' ।

अग्निने कहा—चाहूं तो इस सबको जला दूं, जो इस पृथिवी पर है ।

(तब यक्षने) उसके आगे तिनका रख दिया और कहा—'इसको जला ।'

अग्नि पूर्ण शक्ति से उस (तिनके) के पास गया, किन्तु उसे न जला सका । 'यह यक्ष कौन है, ? इसे मैं नहीं जान सका । इस प्रकार लज्जित होकर अग्नि वहीं से लौट आया ।

इसके बाद वायुसे कहा—'हे वायो ! तू यह मालूम कर, कि यह यक्ष कौन है ?,

(वायुने) 'तथास्तु' (कहा)।

तब वायु उसके पास दौड़ कर गया।

(यक्ष ने उससे पूछा)—'तू कौन है ?'

वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, सचमुच मैं मातरिश्वा हूँ।'

यक्षने पूछा—'ऐसे तुममें क्या शक्ति है ?,

(वायु ने कहा), चाहूं तो इस सब कुछको उड़ा दूं जो पृथिवी पर विद्यमान है।

(तब यक्षने) उसके आगे एक तिनका रखा और कहा 'इसे उड़ा'।

वायु उसके पास पूरी शक्ति से गया, किन्तु उसे उड़ा न सका। 'यह यक्ष कौन है। इसे 'मैं नहीं जान सका', (इस लज्जा से) वायु वहीं से लौट आया'।

इसके बाद इन्द्रसे कहा–'मघवन्! तू ज्ञानकर यह यक्ष कौन है ?, (इन्द्रने कहा)—'तथाऽस्तु'।

इन्द्र उसकी तरफ दौड़कर गया, किन्तु यक्ष उस (इन्द्र) से छिप गया। वह इन्द्र उसी आकाशमें एक बहुत शोभावाली हैमवती उमा स्त्रीके पास आया, और उससे पूछा—'यह यक्ष कौन है ?" (तृतीय खण्ड समाप्त)।

उस स्त्री ने कहा—'यह ब्रह्म है। ब्रह्मकृत विजय से तुम बड़ाई पा-रहे हो', तब इसे (देव) जान पाए। (केनोपनिषत्)।

इस सन्दर्भ का विशेष स्पष्टीकरण अथर्ववेदीय केनोपनिषत् की व्याख्या में किया जाएगा। यहां संकेतमात्र कुछ निवेदन किया जाता है। अधिदेव पक्षमें अग्नि वायु लोकप्रसिद्ध ही ग्रहण किए जाते हैं। इन्द्रसे सूर्य्य अथवा बिजली दोनों लिए जा सकते हैं।

आध्यात्मिक पक्षमें-अग्नि वाणी अथवा चक्षु का उपलक्षण है। वायु श्रोत्र अथवा श्वास का उपलक्षण है। इन्द्र मन अथवा आत्मा है।

इन्द्रियों को प्राकृतिक कार्य्यों के कारण प्रभु की कुछ झलक मिल भी

जाती है, किन्तु परमात्मा सर्वथा इन्द्रियागोचर है। परमात्मा के आश्चर्यमय सामर्थ्यके सामने यह हार जाते हैं। आत्मा या मन जब परमात्माको जानने का प्रयत्न आरंभ करते हैं, तो वाह्येन्द्रियों से संबन्ध तोड़ देते हैं। उन इन्द्रियों से प्राकृतिक कार्य्यकी विलक्षणता का होने वाला जो ज्ञान परमात्माकी सत्ता का अनुमान करने में सहायक हो रहा था, वह भी अब बन्द हो जाता है। इससे आत्मा कुछ कालके लिए सर्वथा विमुग्ध सा हो जाता है। किन्तु यदि लगातार अभ्यास बनाए रखता है, उसमें त्रुटि नहीं आने देता, तब उसे दिव्य बुद्धि प्राप्त होती है। उस बुद्धिके द्वारा इसे ज्ञात होता है कि यह ब्रह्म है। और मुझ में जो सामर्थ्य है, वह भी ब्रह्म का है।

ऋषिने सूक्ष्म रीति से यहां ब्रह्मदर्शनकी विधि की ओर संकेत किया है। पाठक इसका मनन करें और लाभ उठाएं।

पाठक ! इन उपनिषदोंके अवतरणों के साथ वेदमन्त्रकी तुलना कीजिए। वेद कितने सरल शब्दोंमें कितने गहन विषय का उपदेश करता है।

ऋषियों का ऋषित्व इसमें है ना, कि वे मन्त्रार्थको साक्षात् कर लेते हैं। यदि हम लोग ऋषियोंके चरणचिह्नों पर चलें, तो कदाचित् हममें भी वह दिव्य दृष्टि आ जाए।

मन्त्रका आशय समझ कर मनुष्यके हृदयमें परमात्माकी भक्ति का उपजना स्वाभाविक ही है।

परमर्षि ने इस मन्त्रका अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाव इस प्रकार बताया है—

हे मनुष्याः ! सूर्यादीनां धर्तॄणां धर्त्ता, दातॄणां दाता, महतां महान् प्रकृत्याख्यात् कारणात् सर्वं जगद् विधत्ते, यमनु सर्वे जीवन्ति, तिष्ठन्ति च, स सर्वजगद्विधाता ध्यातव्योऽस्ति। (ऋ. ५. ८१.३ भाष्य)

ये विद्वांसः सर्वस्य जगतोऽन्तरिक्षेऽनन्तबलेन धर्त्तारं निर्मातारं सुखप्रदं शुद्धं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरमुपासते, त एव सुखयन्ति नेतरे ॥

(यजुः ११।६)

हे मनुष्यो ! जो सूर्य्यादि धारकों का धारक, दाताओं का दाता महानों का महान्, प्रकृतिनामक उपादान कारण से सारे जगत् को बनाता है, जिस की अनुकूलता से सब जीते तथा स्थिर रहते हैं, उसी जगद्विधाता का ध्यान करना चाहिए।

जो विद्वान्, सर्वजगत् के निर्माता और अनन्तबलसे अन्तरिक्ष में जगत् को धारण करनेवाने सुखप्रद सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी उपासना करते हैं, वही सुखी होते है, न कि अन्य।

योगी का कर्त्तव्य

देव सवितः प्रसुव यज्ञं
प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः
पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥७॥

हे (देव) दिव्यगुणयुक्त (सवितः) योगसंपन्न महात्मन् ! (भगाय) कल्याण के लिए (यज्ञं) योगयज्ञ, विद्वत्संगरूप यज्ञको (प्र+सुव) भली प्रकार चला। (यज्ञपतिं) यज्ञों के=शुभकर्म्मों के पालक भगवान् को प्रेर। वह (गन्धर्वः) पृथिव्यादि लोकों का धारक (दिव्यः) देवहितकारी (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला, ज्ञानशोधक अथवा अन्नशोधक प्रभु [अन्नं केतः। श. ६. ३. १. १९] हमारे (केतं) ज्ञान अथवा अन्न को (पुनातु) पवित्र करे। (वाचः+पतिः) वाणी=वेदवाणी का स्वामी (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) स्वादयुक्त=मधुर बनाए। अथवा वाचस्पति=प्राण (प्राणो वाचस्पतिः। श. ६. ३. १. १९) हमारे इस वाचं=इस कर्मको (वाग्वा इदं कर्म। श. ६. ३. १. १९) को पवित्र करे।

योगमार्गी के लिए यहां कई आवश्यक निर्देश किए गए हैं।

१. यज्ञ=श्रेष्ठ कर्मों को करे। अपकर्म और अकर्म्म का सदा त्याग करे। 'प्रसुव' का अर्थ है 'प्रेरणा कर'। कर्म की प्रेरणा तभी हो सकती है,

जब स्वयं भी कर्म करता हो और साथही दूसरों को भी शुभ कर्म करनेके लिए उत्साहित करता रहता हो।

२. यज्ञपति=शुभकर्म के पालक भगवान् को भग=लोककल्याण के लिए प्रेरे। अर्थात् सदा भगवान् से संसारके भले की कामना करे। भगवान् से किसी की बुराई के लिए कभी भी प्रार्थना न करे।

३. विद्वानों के सत्सङ्ग से सदा अपने ज्ञान का संशोधन करता रहे। प्रभु की उपासनासे भी ज्ञानकी विशुद्धि होती है। अतः प्रभुकी उपासनामें प्रमाद न करे।

४. केत=अन्नकी पवित्रताका सदा ध्यान रखे। अन्यायसे अर्जित, पापयुक्त अन्नका ग्रहण कभी न करे। मांस मदिरा अंडा आदि अभक्ष्य और अपेय पदार्थोंका सेवन न करे।

५. योगानुष्ठानके लिए प्राणशक्ति का संचय करे॥

ऋषि ने इसका भाव इसप्रकार दर्शाया है—

ये सकलैश्वर्योपपन्नं शुद्धं ब्रह्मोपासते, योगप्राप्तये प्रार्थयन्ते, तेऽखिलैश्वर्य्यं शुद्धात्मानं कर्तुं योगं च प्राप्तुं शक्नुवन्ति। ये जगदीश्वरवाग्वत् स्ववाचं शुन्धन्ति, ते सत्यवाचः सन्तः सर्वक्रियाफलान्याप्नुवन्ति॥

जो सम्पूर्णैश्वर्य्यसंपन्न शुद्ध ब्रह्मकी उपासना करते हैं, और योगप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे सकलैश्वर्य्यप्राप्त स्वात्माको शुद्ध—तथा योग प्राप्त—कर सकते हैं। जो प्रभुकी वाणीकी भान्ति अपनी वाणीको शुद्ध करते हैं, वे सत्यवाक् होकर सब क्रियाफलोंको प्राप्त करते हैं।

योगमहिमा

इमं नो देवसवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥८॥

इति यजुर्वेदीया योगोपनिषत्समाप्ता॥

ओं तत्सत्

(सवितः) अन्तर्यामिरूप से प्रेरक (देव) दिव्यभावयोजक प्रभो ! (नः) हमारे, हमें (इमं) इस, यह (देवाव्यं) दिव्यगुणरक्षक, दिव्यभाव-प्रापक (सखिविदं) सखा=परमात्माको प्राप्त कराने वाले, मित्रों से मिलाने वाले (सत्राजितं) सत्यकी सदा जय कराने वाले (धनजितं) धन=मृत्यु पर जय दिलाने वाले (स्वर्जितम्) आनन्द प्राप्त कराने वाले (यज्ञं) योगयज्ञ को (प्र) भली प्रकार (नय) चला, प्राप्त करा। (ऋचा) ऋचा के द्वारा (स्तोमं) स्तुतिमय यज्ञको (सम्+अर्धय) भली प्रकार बढ़ा। (गायत्रेण) स्तुतिके द्वारा (बृहत्) महान् (रथन्तरं) रमणसाधनों को अथवा गायत्र सामके द्वारा रथन्तरको, और बृहत् को और (स्वाहा) त्यागके द्वारा (गायत्रवर्तनि) स्तुतिव्यवहारको बढ़ा।

योगसे क्या क्या लाभ होते हैं, इनका वर्णन इस वेदमन्त्र में है—

१. देवाव्यं=भले गुणों से प्रीति बढ़ती है।

२. सखिविदं=सच्चा सखा परमात्मा है, भले गुणोंकी पराकाष्ठा भी उसीमें है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में भले गुण बढ़ते हैं, त्यों त्यों वह परमात्मा की समीपता प्राप्त करता है।

३. सत्राजितं=प्रभु प्रीतिके कारण सत्यप्रीति भी बढ़ती है। कोई प्रलोभन इसे सत्यसे डिगा नहीं सकता।

४. धनजितं=धन, निधन, और मृत्यु पर्य्यायशब्द हैं। जो योगाभ्यासी होता है, उसे मृत्युभय रहता ही नहीं। मृत्यु उसके लिए क्लेशप्रद नहीं रहता।

४. स्वर्जितं=आनन्द प्राप्त कराता है।

थोड़ा-सा ध्यान देने से पता चल जाता है कि इसमें एक विशेष क्रम रखा है—

पहले मनुष्यको भले गुणोंका अर्जन करना चाहिए, भले गुणोंके कारण प्रभुप्रीति बढ़ती है, प्रभुप्रेमके कारण सत्यनिष्ठासे मृत्युभय दूर भागता है।

मृत्युभय के दूर होने पर आनन्द ही आनन्द मिलता है। ऐसे लोगोंकी संसार में वृद्धि होती है।

ऋषिने इस मन्त्रका भावार्थ ऐसा लिखा है—

ये जना ईर्ष्याद्वेषादिदोषान् विहायेश्वर इव सर्वैः सह सुहृद्भावमाचरन्ति, ते संवर्धितुं शक्नुवन्ति ॥

जो लोग ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़कर ईश्वरकी भांति सबसे प्रीति करते हैं, वही बढ़ सकते हैं॥

ठीक है। परमेश्वर ही हमारा आदर्श है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेन वेदानन्देत्यन्वर्थाभिधानेन वे. शा. श्रीदयानन्दतीर्थ स्वामिना विरचिता योगोपनिषद्—

व्याख्या पूर्तिमगात् ॥

शुभं भूयात्

ओं शम्

परिशिष्ट

(क)

परमऋषि दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में योगप्रतिपादक अनेक मन्त्र दिये हैं। उनमें से दो मन्त्र यहां उद्धृत किये जाते हैं—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया॥ [यजु० १२। ६७]
युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं
कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ [यजु० १२। ६८]

(कवयः) क्रान्तदर्शी, लोकोत्तर बुद्धिमान् महाविद्वान् (धीराः) ध्यानी, योगी महात्मा, योगाभ्यास और उपासना के निमित्त (सीराः) नाडियोंको (पृथक्) पृथक् पृथक् (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं। अर्थात् उनमें धारणा ध्यान का अभ्यास करते हैं। और (सुम्नया) सुखद रीति से अर्थात् हठादि किये बिना (देवेषु) इन्द्रियों में अथवा विद्वानों में रहते हुए (युगा) योग साधक अथवा योगयुक्त कर्म (वितन्वते) करते हैं।

हे योगाभिलाषी परमात्मोपासक सज्जनो! (सीराः+युनक्त) प्राण-युक्त नाड़ियों को योगयुक्त करो। (युगा) उपासनायुक्त कर्मोंको (वि) विशेष प्रकारसे (तनुध्वं) करो। शरीर और अन्तःकरण को (योनौ+कृते) योग का कारण अर्थात् योग के योग्य बना लेने पर (इह) इस जन्म

में, इसी दिन (बीजं) उपासना बीज को (वपत) बोओ। और (गिरा) योगयुक्त सुशिक्षित वाणीके द्वारा (च) और सुविचारके द्वारा (श्रुष्टिः) शीघ्र (सभराः) फलयुक्त होओ। अथवा परमात्मा से प्रार्थना करो कि (नः गिरा श्रुष्टिः सभराः असत्) हमारी वाणी सुमधुर और फलवती हो। (सृण्यः) सर्वक्लेशघातक सद्वृत्तियां (नेदीयः) समीप (इत्) हों और योग का (पक्वं) परिपक्व फल (आ+इयात्) पूरी तरह से मिले।

यहां नाड़ियोंमें ध्यान करनेकी बात कही है। इडा, पिंगला, तथा सुषुम्णा प्रसिद्ध नाड़ियां हैं। वेद में इन्हें गंगा, यमुना तथा सरस्वती कहा जाता है। ऋषिवर "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति"—[ऋ० १०। ७५। ५] पर लिखते हैं—'इडापिंगलासुषुम्णाकूर्मनाडयादीनां गंगादिसंज्ञास्ति। (ऋ० भा० भू०। पृष्ठ ३१५) इडा, पिंगला सुषुम्णा कूर्म आदि नाडियों के गंगादि नाम हैं। पुनः उसी पृष्ठ पर लिखा है—

यत्र खल्वेतयोः (इडापिंगलयोः) नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति। तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति।

जहां इन इडा पिंगला नामक दो नाडियोंका सुषुम्णामें समागम होता है। वहां मानो स्नान करनेसे परमयोगी प्रकाशमय परमेश्वर, मोक्ष और सत्य विज्ञानको भलीप्रकार प्राप्त करते हैं।

योगदर्शन में भी नाड़ियों में संयम करने का विधान है—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। ३। ३१

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। ३। २९

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। ३। ३०

कूर्मनाडी में संयम करने से स्थिरता आती है।

नाभिचक्र में संयम करने से शरीररचना का बोध होता है।

कण्ठकूपमें संयम करने से भूखप्यास की निवृत्ति होती है।

इसीप्रकार अन्य भी कई नाडियों में संयम का विधान है।

'वपत इह बीजम्' (आज ही बीज बोओ) वचन बहुत ध्यानदेने योग्य है। समय मत गंवाओ। जो कुछ करना है, आजही करलो, कल जाने क्या हो। उपनिषद् में कहा है :—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' यदि इसी जन्म में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो ठीक, अन्यथा महान अनर्थ है।

योगसाधक की वाणी विफल नहीं होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब वह ठीक सत्योच्चार, सत्यविचार, एवं सत्याचार करता हो। वेद में 'गिरा—सभराः' कहा है। योगदर्शन में कहा—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम्। [२। ३६] सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया एवं फल का आश्रय होती है। इसपर व्यासजी कहते हैं:—'अमोघाऽस्य वाग्भवति' इसकी वाणी अमोघ (अवश्य सफल) होती है।

केवल घंटा दो घंटे नाड़ियों में योगध्यान से काम न चलेगा, अपितु अपना सारा व्यवहार योगमय बनाना चाहिए। अतएव वेद कहता है—'युगा वितनुध्वम्' विशेषरूप से योगसाधक कर्मों का विस्तार करो।

सार यह, कि अपनी वाणी आदि इन्द्रियों के पूर्ण नियन्त्रण, आचार व्यवहार की पवित्रता तथा ध्यान आदि करने से शीघ्रही क्लेशप्रद वृत्तियों का नाश होकर परमानन्द सुख मिलता है।

ख

योगोपनिषत् में जो विशेष विचारणीय शब्द हैं, उनका अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर नीचे लिखा जाता है, ताकि पाठकों को अधिक विचारने की स्फूर्ति हो।

सविता—

१. जगदुत्पादक, (सविता वै देवानां प्रसविता। श. १।१।१।२७)
(सर्वस्य जगतो निर्माता। दया., य. भा. ११।६)
२. जगत्स्वामी (सविता वै प्रसवानामीशे। ऐ. १।३०)
३. आदित्य (असौ आदित्यो देवःसविता। श. ६. ३. १. १८)

४. अग्नि (अग्निरेव सविता। गो. पू. १. ३३)

५. प्रजापति (प्रजापतिर्वै सविता। तां १६. ५. १७)

६. वरुण (वरुण एव सविता। जै. उ. ४।२७।६)

७- विद्युत्=बिजुली (विद्युदेव सविता। गो. पू. १. ३३)

८. स्तनयित्नु (स्तनयित्नुरेव सविता। जै. उ. ४।२७।६

९. वायु (वायुरेव सविता। गो. पू. १।३३)

१०. चन्द्र (चन्द्रमा एव सविता। गो. पू. १।६३)

११. यज्ञ (यज्ञ एव सविता। गो. पू. १।३३)

१२. पृथिवी (इयं वै सविता। श. १३।१।४।२)

१३. बादल (अब्भ्रमेव सविता। गो. पू. १।३३)

१४. वेद (वेदा एव सविता। गो. पू. १।३३)

१५. दिन (अहरेव सविता। गो. पू. १।३३)

१६. पुरुष (पुरुष एव सविता। जै. उ. ४।२७।१७)

१७. पशु (पशवो वै सविता। श. ३।२।३।११)

१८. प्राण (प्राण एव सविता। गो. पू. १।३३)

१९. मन (मन एव सविता। गो. पू. १।३३)

२०. जिगर (यकृत्सविता। श. १२।९।१।१५)

२१. राज्य तथा राजा (सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः। श. ११।४।३।३४)

२२. हिरण्यपाणि (तस्मात् सविता हिरण्यपाणिरिति स्तुतः गो. पू. १।२)

२३. गर्म (उष्णमेव सविता। गो. पू. १.३३)।

२४. सर्वान्तर्यामी (सवितुः=सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य। दया. ऋ. भा. भू., पृ. १६२)।

२५. सर्वप्रेरक (सविता सर्वस्य प्रसविता। निरु. १०।१)

२६. योगी
२७. पदार्थवेत्ता } योगपदार्थविज्ञानस्य प्रसविता। दया. य. भा. ११।३

२८. ऐश्वर्याभिलाषी (ऐश्वर्य्यमिच्छुः । दया. य. भा. ११।१)
इत्यादि अनेक अर्थ हैं।

ब्रह्म—

१. वाणी (वाग् ब्रह्म । गो. पू. २।१०)
२. वाणीका परम व्योम (ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम । तै. ३।६।५।५)
३. सत्यं (सत्यं ब्रह्म । श. १४।८।५।१)
४. ऋत (ब्रह्म वा ऋतम् । श. । ४।१।४।१०)
५. मन (मनो ब्रह्म । प. । १।५)
६. हृदय (हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म । श. १४।६।१०।१८)
७. चक्षु (चक्षुर्ब्रह्म । गो. पू. २।१०)
८. श्रोत्र (श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म । श. १४।६।१०।१२)
९. गायत्री (ब्रह्म हि गायत्री । तां. ११।११।९)
१०. प्रणव=ओम् (ब्रह्म वै प्रणवः । कौ. ११।४)
११. ऋचा (ब्रह्म वा ऋक् । कौ. ७।१०)
१२. मन्त्र (ब्रह्म वै मन्त्रः । श. ७।१।१।५)
१३. वेद (वेदो ब्रह्म । जै.उ. ४।२५।३)
१४. प्रजापतिः (ब्रह्म वै प्रजापतिः श. । १३।६।२।८)
१५. बृहस्पति (ब्रह्म वै बृहस्पतिः । श. ३।१।४।१५)
१६. चन्द्रमा (चन्द्रमा वै ब्रह्म । ऐ. २।४१)
१७. आदित्य (आदित्यो वै ब्रह्म । जै. उ. ३।४।९)
१८. अग्नि (अग्निरेव ब्रह्म । श. १०।४।१।५)
१९. यज्ञ (ब्रह्म वै यज्ञः । ऐ. ७।२२)
२०. वायु (अयं वै ब्रह्म योऽयं पवते । ऐ. ८।२८)
२१. प्राण (प्राणो वै ब्रह्म । श. १४।६।१०।२)
२२. ब्राह्मण (ब्रह्म वै ब्राह्मणः । तै. ३।९।१४।२)
२३. वसन्त (ब्रह्म हि वसन्तः । श. २।१।३।५)

२४. रथन्तर (ब्रह्म वै रथन्तरम् । तां. ११।४।६)
२५. विद्युत् (विद्युत् हि एव ब्रह्म । श. १४।८।७।१)
२६. पण (ब्रह्म वै पणः । तै. १।७। १।९)
२७. पलाश (ब्रह्म वै पलाशः । श. १।३।३।१९)
२८. अमृत (यद् ब्रह्म तदमृतम् । जै. उ. १।२५।१०)
२९. अभय (अभयं वै ब्रह्म । श. १४।७।२।३१)
३०. सर्व (ब्रह्म वे सर्वम् । गो. पू. ५।१५)
३१. त्रिवृत् (ब्रह्म वै त्रिवृत् । तां. २।१६।४)
३२. धन (निघंटु २।१०)
३३. जल (,, १।१२)
३४. अन्न (,, २।६)
इत्यादि अनेक अर्थ हैं

धी—

१. प्राण (प्राणा धियः । श. ६।३।१।१३)
२. कर्म (कर्माणि धियः । गो. १।३२)
३. बुद्धि (नि. ३।९)

विप्र—

१. प्रजापति (प्रजापतिर्वै विप्रः । श. ६।३।१०।१६)
२. देव (देवा विप्राः । ,,)
३. ऋषि (एते वै विप्रा यदृषयः । श. १।४।२।७)
४. सर्वज्ञ परमेश्वर (विप्रस्य=सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य । दया., ऋ. भा. भू., पृ. १६२)
५. ईश्वरोपासक मेधावी (विप्राः=ईश्वरोपासका मेधाविनः

ज्योति

१. अग्नि (अयमग्निर्ज्योतिः । श. ९।४।२।२२)
२. प्राण (प्राणो वै ज्योतिः । श. ८।३।२।१४)

३. अमृत (ज्योतिरमृतम् । श. १४।४।१।३२)
४. शुक्र (ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम् । ऐ. ७।१२)
५. हिरण्य (ज्योतिर्हिरण्यम् । गो. पू- २।२१)
६. दिन (अहर्ज्योतिः । श. १०।२।६।१६)
७. सूर्य्य (ज्योतिरेष य एष तपति । कौ. ३५।३।६)
८. पृथिवी (इयं वै ज्योतिः । तां. १६।१।१७)
९. स्वर्ग (सुवर्गो वै लोको ज्योतिः । तै. १।२।२।२)

देव—

१. प्राण (प्राणा देवाः । श. ६।३।१।१५)
२. आंख (चक्षुर्देवः । गो. पू. १।१०)
३. यज्ञिय (देवा यज्ञियाः । श. १।५।२।३)
४. स्वः=स्वर्ग=मोक्ष (देवा वै स्वः । श. १।६।३।१४)
५. उपदेशक (देवा वै नृचक्षसः । श. ८।४।२।५)
६. गातुविद्=तत्त्ववेत्ता (गातुविदो हि देवाः । श. ४।४।४।१३)
७. महिमा (देवा महिमानः । श. १०।२।२।२)
८. अमर (अमृताः देवाः । श. २।१।३।४)
९. विद्वान् (विद्वाँसो हि देवाः । श. ३।७।३।१०)
१०. मन (मनो देवः । गो. पू. २।१०)
११. वाणी (वाग्देवः । गो. पू. २।१०)
१२. वायु (वायुर्वै देवः । जै. उ. ३।४।८)
१३. यश (यशो देवाः । श. २।१।४।६)
१४. श्री=शोभा (श्रीर्देवाः । श. २।१।४।६)
१५. सत्यप्रतिज्ञ (सत्यसंहिता वै देवाः । ऐ. १.६)
१६. पापरहित (अपहतपाप्मानो देवाः । श. २।१।३।४)
१७. परोक्षाभिलाषी (परोक्षकामा हि देवाः । श. ६।१।१।२)
१८. प्रकाशक (देवस्य=सर्वजगत्प्रकाशकस्य । दया., ऋ. भा. भू., पृ० १६२)

१९. आनन्दप्रद ("सर्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य।")

२०. उपासक (देवान्=उपासकान् योगिनः। ऋ. भा. भू., पृ० १६२)

२१. दाता
२२. दीपक
२३. द्योतक
२४. द्युस्थानी
} देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता। निरु. ७।१५.

ऋषियोंने देव शब्दके और भी बहुत से अर्थ लिखे हैं।

स्वः—

१. अन्त (अन्तो वै स्वः। ऐ. ५।२०)

२. देव (देवा वै स्वः। श. १।९।३।१४)

३. यज्ञ (यज्ञो वै स्वः श. १।१।२।२१)

४. दूसरा लोक (स्वरिति असौ लोकः। श. ८।७।४।५)

५. स्वर्ग (स्वः स्वर्गलोकोऽभवत्। ष. १।५)

६. जल (निघण्टु १।१२)

७. द्यौ
८. आदित्य
} निघण्टु. १।४

अमृत—

१. प्राण (अमृतं वै प्राणः। गो. उ. १।१३)

२. जल (अमृतमापः। गो. उ. १।३)

३. दवा (यद्भेषजम् तदमृतम्। गो. पू. ३।४)

४. ब्रह्म (यदमृतं तद्ब्रह्म। ,,)

५. हिरण्य (अमृतं हिरण्यम्। तै. १।७।६।३)

६. सोम (अमृतं ह्येतदमृतेन क्रीणाति, यत्सोमं हिरण्येन। श. ३।३।३।६)

७. आदित्य (आदित्योऽमृतम्। श. १०।२।६।१६)

८. अग्नि (अग्निरमृतम्। श. १०।२।६।१७)

९. प्रजापति (प्रजापतिर्वा अमृतः। श. ६।३।१।१७)
१०. मनुष्य की पूर्ण आयु (एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति। श. ९।५।१।१०)
११. सौ वर्ष वा अधिक आयु (य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति। श. १०।२।६।८)
१२. मोक्षस्वरूप परमेश्वर (अमृतस्य=मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य। दया., ऋ. भा. भू, पृ० १६६)

पृथिवी

१. पृथिवी
२. अन्तरिक्ष (निघ. १।३, 'अतएव पार्थिवानि' पदका अर्थ 'अन्तरिक्षे विदितानि कार्य्याणि, ऋ.। दया. भा. ५।८१।३ सुसंगत है।)
३. शरीरका कारण (पृथिवी मे शरीरे श्रिता। तै. ३।१०।८।७)
४. लोकोंका आश्रय (पृथिव्यामिमे लोकाः। जै. उ. १।१०।२)
५. रमणसाधन (इयं वै देवरथः। तां० ७।७।१४)
६. वाणी (वागिति पृथिवी। जै. उ. ४।२२।११)
७. वेदि (पृथिवी वेदिः। ऐ. ५।२८)
८. देवों=इन्द्रियों का अधिष्ठान=शरीर (पृथिवी वै सर्वेषां देवानामायतनम्। श. १४।३।२।४)
९. देवयजनी (इयं वै पृथिवी देवी देवयजनी। श. ३।२।२।२०)
इसीप्रकार धेनु आदि अनेक अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थोंमें लिखे हैं।

यज्ञ

१. रक्षादि का साधन (यज्ञो वा अवति। तां० ६।४।५)
२. स्वर्ग (स्वर्गो वै लोको यज्ञः/श. ११।१।८।६)
३. दौड़ने वाला (मृगधर्म्मा वै यज्ञः/तां.। ६।७।१०)
४. वीर्य्य (रेतो वा अत्र यज्ञः। श. ७।३।३।२९)

५. जल (आपो वै यज्ञः। श. ३।८।५।१)
६. भुवन (यज्ञो वै भुवनम्। तै. ३।३।७।५)
७. पुरुषः (यज्ञो वै पुरुषः। श. १।३।२।१)
८. आत्मा (आत्मा वै यज्ञः। श. ६।२।१।७)
९. वाणी (वग्वै यज्ञः। श. १।१।२।२)
१०. उपदेश (यज्ञो वा आश्रावणम्। श. १।५।१।१)
११. देवरथ (देवरथो वा एष यज्ञः। ऐ. २।३७)
१२. देवान्न (यज्ञ उ देवानामन्नम्। श. ८।१।२।१०)
१३. श्रेष्ठकर्म (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। श. १।७।१।५)
१४. हिंसारहित कर्म (अध्वरो वै यज्ञः। श. १।२।४।५)
१५. नमः (यज्ञो वै नमः। श. ७।४।१।३०)
१६. भोगसाधन (यज्ञोहि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति। श. ९।४।१।११)

इसीप्रकार ब्रह्म, अग्नि, वायु, प्राण, सविता आदि अनेक अर्थ ऋषियों ने लिखे हैं।

—: ० :—

ग्रन्थनाम संकेत

श. = शतपथ ब्राह्मण
कौ. = कौषीतकी ब्राह्मण
ष. = षड्विंश ब्राह्मण
तै. = तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऐ. = ऐतरेय ब्राह्मण
जै. उ. = जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
गो. पू. = गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध
,, उ. = ,, उत्तरार्ध
तां = ताण्ड्य महाब्राह्मण
य. = यजुर्वेद
ऋ. = ऋग्वेद
अ. = अथर्ववेद
ऋ. भा. भू. = ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
दया. = दयानन्द
निरु. = निरुक्त
निघ. = निघण्टु

—:o:—

विरजानन्द वैदिक संथान के कतिपय प्रकाशन

आर्याभिविनय—सम्पादक–श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री एम० ए०।

यह प्रसिद्ध ग्रन्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती की रचना है। जिसमें कतिपय वेदमन्त्रों का भक्तिभावपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है।

इस विशिष्ट संस्करण में प्रत्येक मन्त्र व्याख्यान से पूर्व मन्त्र का शब्दार्थ' दे दिया गया है। साथ ही दुरूह स्थलों और क्लिष्ट शब्दों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से यथास्थान विवेकपूर्ण पादटिप्पणियाँ अंकित कर दी गई हैं।

ग्रन्थ में सर्वत्र टाइप विषयानुसार मोटा लगाया गया है, जिससे वृद्ध पाठकों को भी ग्रन्थ अध्ययन में किसी प्रकार का कष्ट न हो।

ग्रन्थ २० × ३०/८ आकार के पौने दो सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है। कागज, छपाई आदि स्वच्छ, सुन्दर, सजिल्द का मूल्य रु० ५.०० मात्र।

सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव—'सत्यार्थप्रकाश' के लिखे जाने के अस्सी वर्ष पश्चात् महर्षि के अनन्य भक्त श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने 'सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव' नामक प्रबन्ध लिखा। यह प्रबन्ध एक प्रतिवेदन है, इस बात का कि गत अस्सी वर्ष में ऋषि दयानन्दानुमोदित ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि पर्यन्त [जिन्हें प्रबन्ध लेखक ने 'विरजानन्द मुनि पर्यन्त' लिखा है] महाशय महर्षियों के मन्तव्य कहाँ तक सर्वत्र भूगोल में प्रवृत्त हो पाए हैं।

पाठक पुस्तक पढ़कर स्वयं जान लेंगे कि सत्य किस प्रकार अपने विरोधियों को मूक बना देता है। सत्यार्थप्रकाश में की गई समीक्षा की सुखद छाया में किस प्रकार अन्य धार्मिक लेखकों ने उत्साहपूर्वक असत् को त्यागकर सत्य को खोजने का यत्न किया है और इस प्रकार विभिन्न मत-मतान्तरों में बंटी हुई मानव जाति के विविध समुदायों को एक-दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया है। पुस्तक महत्त्वपूर्ण खोजों से भरी है। २० × ३०/१६ आकार की सवा सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य रु० १.५० मात्र।

ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य

ग्रन्थकार-विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति, प्रस्तुत भाष्य में शास्त्रारम्भ के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए—ब्रह्मसूत्रों के अर्थ को मौलिक रूप में स्पष्ट करने का अभिनन्दनीय प्रयास किया गया है। संभव है—प्रस्तुत 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य' आचार्य शंकर से प्राक्तन वेदान्ताचार्यों की पद्धति के अधिक समीप हो। विद्योदयभाष्य-प्रणेता के वास्तविक सूत्रार्थ-उद्घाटन की सफलता की परख सहृदय पाठक स्वयं करें। ग्रन्थ २३ × ३६।१६ आकार के ८२८ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। कागज़ उत्तम, छपाई स्वच्छ, सुन्दर, जिल्द सुदृढ़ आकर्षक है।

मूल्य २०) रु० मात्र।

वेदान्तदर्शन का इतिहास—ग्रन्थकार पूर्वोक्त। वेदान्तदर्शन पर शास्त्री जी की यह दूसरी रचना पन्द्रह अध्यायों में पूर्ण है। ग्रन्थ की मुख्य तीन विशेषता निम्न प्रकार हैं—

१—सूत्रकार बादरायण महाभारत के मूल रचयिता महर्षि वेद-व्यास कृष्णद्वैपायन हैं, सूत्ररचना का वही काल है।

२—सूत्ररचना के पूर्व अध्यात्म परम्परा का स्वरूप, तथा आद्य शंकराचार्य से प्राक्तन लगभग बारह आचार्यों का यथोपलब्ध जीवन विवरण, जिन्होंने वेदान्त पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे।

३—शंकर मठों में सुरक्षित पुष्कल इतिहास-सामग्री, तथा अन्य इतिहास साधनों के आधार पर आद्य-आचार्य शंकर का आदुर्भाव काल निर्णय-रत्नीष्ट एरा पूर्व ५०९ वर्ष। इससे सम्बद्ध अन्य विचारों की समीक्षा व विवेचन।

ग्रन्थ कलेवर सब प्रकार उत्तम, आकार पूर्ववत्।

मूल्य—२५) रु० मात्र।

वैशेषिकदर्शन विद्योदयभाष्य—ग्रंथकार-पूर्वोक्त। प्रस्तुत भाष्य व्याख्यारूप होते भी मौलिक रचना के समान है। परम्परागत भाष्य सरणि का अन्धानुकरण न करते हुए सूत्रपदों को संदर्भ-संगत अर्थों में जंचाकर दर्शनकार के वास्तविक अभिप्राय को प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। संभवतः यह प्रथम भाष्य है, जिसमें प्रारम्भिक सूत्रगत 'धर्म' पद की शास्त्रानुसार यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

भाष्य के अन्त में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट हैं। पहले में वैशेषिक के कतिपय उलझनपूर्ण सिद्धान्तों का विवरण, तथा दूसरे में आधुनिक विज्ञान [रसायन व भौतिकी शास्त्र] का संक्षिप्त परिचय तथा वैशेषिक प्रतिपादित पदार्थों के साथ उनका उपयुक्त सन्तुलन प्रस्तुत करने का प्रयास है। आकार आदि पूर्ववत्।

मूल्य—१५) रु० मात्र।

सत्यार्थप्रकाश स्थूलाक्षर (सटिप्पण)

विरजानन्द वैदिक संस्थान के संस्थापक महाविद्वान् स्वर्गीय स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज कृत 'सत्यार्थप्रकाश' पर विद्वत्तापूर्ण अद्भुत टिप्पणी सहित यह लगभग ७०० पृष्ठों का २०×२६।४ आकार पर २० पाइन्ट टाईप में फ़ोटो ग्राफ-सैट पद्धति से दो रंगों में छपा हुआ, अत्युत्तम सुबद्ध, अशुद्धिशून्य, अति-सुन्दर प्रकाशन है।

प्रारम्भ में अनेक पाठों के विषय में सम्पादकीय विवरण, तथा सत्यार्थ-प्रकाश के कतिपय कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण दे दिया गया है। अन्त में सत्यार्थप्रकाश-गत समस्त प्रमाणों की सूची तथा विस्तृत विषयसूची आधुनिक रीति पर अकारादि क्रम से श्री पं० उदयवीर शास्त्री द्वारा तैयार की जाकर जोड़ दी गई है। सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण को जनता ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ पसन्द किया है। मूल्य—२५) रु०

सांख्यसिद्धान्त—ग्रन्थकार—विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति।

शास्त्रीजी की सांख्यविषयक रचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम—सांख्यषडध्यायी का सूत्र-भाष्य, जो 'सांख्यदर्श विद्योदयभाष्य' के नाम से प्रकाशित है। द्वितीय—सूत्रभाष्य की भूमिका के भी पुनः दो भाग हैं—(१) सांख्यदर्शन का बहिरंग परिचय—सांख्यकार कपिल, उनका युग, सांख्य का उद्भव और विकास, सांख्यपरक अन्य साहित्य इत्यादि, जिसे 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के रूप में प्रस्तुत किया है। (२) सांख्य का अन्तरंग परिचय—'सांख्यसिद्धान्त' का विषय है।

लगभग पौने छह सौ पृष्ठ का यह बृहत्काय ग्रन्थ पाँच अध्यायों में पूर्ण हुआ है—पुरुष, प्रकृति, प्रकृति के विकार, सांख्यसिद्धांतों की वेदमूलकता, सांख्यदर्शन का प्राचीन साहित्य पर प्रभाव। अन्त में तीन महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणिकाएँ भी दे दी गई हैं। कागज़, छपाई, जिल्द आदि अत्युत्तम, आकार १८×२२/८, मूल्य १६ रु०।

अध्यक्ष—विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद (मेरठ) उ० प्र०

வேதாந்தம்
வழி நூல்கள்
திருக்கருவூர் மாவேகம்

VEDANTIC WAYS TO

SAMĀDHI

(दृग्दृश्य विवेकः - DṚK-DṚŚYA VIVEKAḤ)

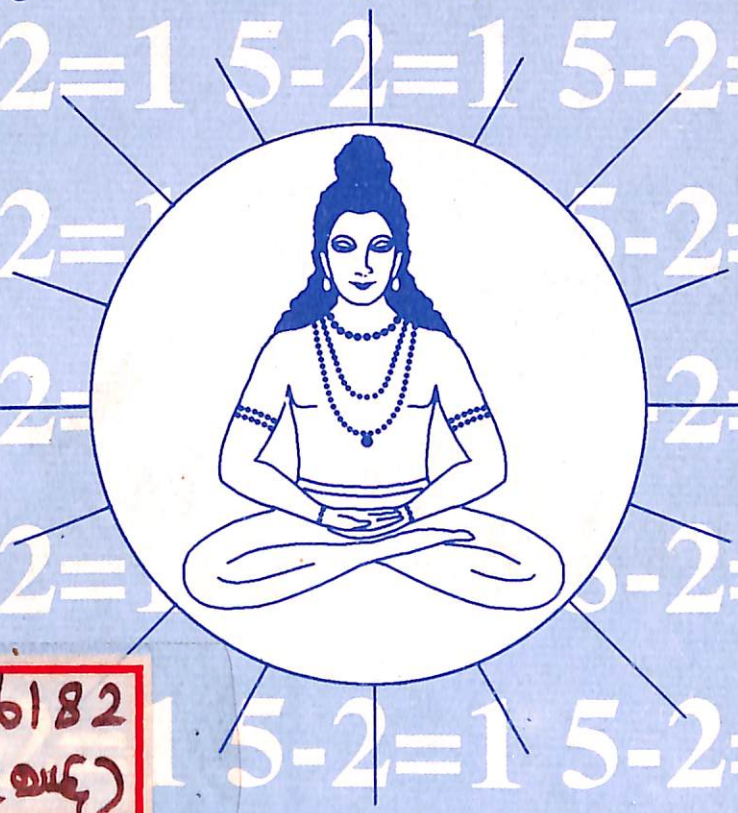

6182
R65(ஆங்)

COMMENTARY
BY
SWAMI ŚUDDHABODHĀNANDA SARASWATĪ
स्वामी शुद्धबोधानन्द सरस्वती

20-4

VEDĀNTIC WAYS TO

SAMĀDHI

(दृग्-दृश्य-विवेक: DṚK-DṚŚYA-VIVEKAH)

THE ASCERTAINMENT OF THE TRUE "I"

Sri Swami Sakshatkritanandaji
With Best Wishes
Sri Shuddhabodhananda
11-1-98

COMMENTARY
BY

SWAMI ŚUDDHABODHĀNANDA SARASWATĪ
स्वामी शुद्धबोधानन्द सरस्वती

A. No. 61891
R65 (ஆன்மீ)

SRI VISWESWAR TRUST
MUMBAI

Published by:
Sri Visweswar Trust
A-203, Parijat
Lallubhai Park Road (West) Extn.
MUMBAI-400 056

© Sri Visweswar Trust,1996

First Edition: 1996
3000 copies

Books are available with Publishers.

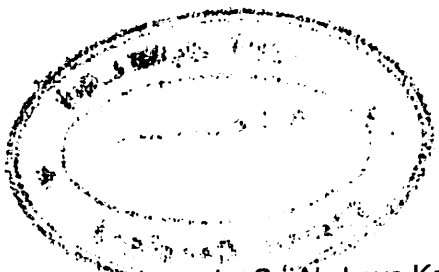

Cover picture by Sri Akshaya Kanakia and Ms.Shilpa Chendwanker
of Kvik Designs.
Printed by Ubsons Printers, 206, 211, Hammersmith
Industrial Estate, Mahim, Mumbai 400 016

20-4

PUBLISHER'S NOTE

We are glad that by publishing the book VEDĀNTIC WAYS TO SAMĀDHI (DṚK-DṚŚYA-VIVEKAḤ), we will reach a far greater number of seekers who have no direct access to Pūjya Swamiji's teaching. Despite being in the crowded hustling bustling atmosphere of a city, the seekers can withdraw themselves in their shell and pursue the study of the book as if they are listening to the teacher himself. This book is indispensable for all the spiritual seekers, initiates or advanced.

At present in the name of Vedānta under the garb of modernity, anything and everything else but Vedānta is dealt with. The unfortunate part of it is that the gullible audience is carried away by the oratory skill and accept it as true unfolding of Vedānta. This also shows the lack of their genuineness in the pursuit. The other objective branches of knowledge do have their importance, statuses and utilities in their respective fields. The communication ostentation therein may also fetch quick monetary gains to the speaker or the writer. But Vedānta is not a subject dealing with objective field and hence cannot be for playing to the gallery. Vedānta when presented in its pristine form is a great service to humanity.

The students of Pūjya Swami Śuddhabodhānanda Saraswatīji, have been fortunate to have exposure to Vedāntic teaching in its original sense. And this book - Vedāntic Ways To *Samādhi* (Dṛk-dṛśya-vivekaḥ) - is an evidence thereof. The book serves as a manual to refresh the in-depth knowledge of those who are listening

to Vedāntic teaching for a sufficiently long period, and practise contemplation (*nididhyāsana*). Like *Pūjya* Swamiji's teaching, his commentaries are marked by a style of mathematical precision coupled with the authenticity of the *Upaniṣads* and yet are characterised by simplicity. These commentaries are also free from irrelevant digressions and superfluous verbosity.

We are thankful to Oriental Institute (M. S. University of Baroda) for promptly furnishing us a xerox copy of the manuscript *Vākyasudhāṭīkā* by Ramachandrayatiḥ. We are grateful to the authorities of Śrī Akhaṇḍānanda Pustakālaya, Vṛndāvana, for lending us their copy of the book *Vākyasudhā* that carries the commentary of Swami Ātmānanda of Haradwār. Many of the students of Pūjya Swamiji have helped in different ways to publish this book in this finished form. We appreciate their services.

Mumbai
November 23, 1996

Trustees
Sri Visweswar Trust

PREFACE

To seek the best and the highest goal in a given field is quite natural for every human psyche. But hardly anybody really puts in efforts to achieve that goal by acquiring the eligibility to reach it. One rarely understands properly the goal aimed at. And to deploy suitable means for the same remains always wanting. To this phenomenon, the pursuit of attaining the acme of human existence called spirituality - in its true form, free from cults and fanaticism - is no exception. In fact such a state of inadequacy is far more prevalent in this field. For majority, such a goal is only in the realm of day-dream or at best it ends with groping in darkness.

Samādhi - totally absorbed state of mind in the true "I" (*ātmā*/Brahman) - is what almost all spiritual seekers aspire to attain. However, it becomes one more craze as any other pursuit of seeking sense enjoyment where one does not bother to find out the exact nature, role, pre-requisites of the sought and the means to achieve it. To avoid this pitfall and give proper direction to the seeker, this text, viz. Dṛk-dṛśya-viveka, develops the subject-matter of the highest goal of human life in a unique and concise way. It specifies the means to attain *samādhi* with self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*) and its role as per guidelines of Vedānta. The text is incisive and analytical to unfold the truth.

There is a vast contrast between a person ignorant of oneself - the true "I" (*ātmā*) - having the bodily identification attaining *samādhi* by the technique of *aṣṭāṅga-yoga* and the person having self-knowledge gaining it through the proper and adequate *nididhyāsana*

- contemplation of true "I". The contrast comprises the continuance of self-ignorance as against the absorption in self-knowledge. In the *samādhi* imbued with self-knowledge as described in this text, the seeker dwells all along on the knowledge of true "I" (*aparokṣa-jñāna*) during the stage of actual pursuit. Therefore to opine that aiming at such a *samādhi* postpones the liberation (*mokṣa*) is a misplaced fear. It is caused by the ignorance of the exact nature of self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*), the contemplation (*nididhyāsana*) and the true "I" (*ātmā*) itsef. The knowledge of a given thing is the cognition true to the nature of the thing. Any cognition not in conformity with the exact nature of the thing cannot be its knowledge. The same principle also holds good for self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*). The exact nature of self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*) is discussed at length in the Introduction. The commentary on this text also includes an exhaustive introduction to cover a vast range of relevant topics like why, what, how of Vedānta in general and those of this text itself. Hence these aspects are not mentioned here.

Samādhi imbued with self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*) is indispensable for *jīvanmukti* - liberation even while living - whereas mere self-knowledge (*aparokṣa-jñāna*) without *samādhi* by itself can confer *videhamukti* - liberation after the death. For further details regarding the role of *samādhi*, the reader can refer to my commentary on Vedānta *Pañcadaśī*, chapter-1, *Tattvaviveka* - Discovering Your Innate Greatness (pages 147 and 164 to 167).

A commentary in English language which has no suitable vocabulary to express the thought content and technicalities of Vedānta that has evolved in Sanskrit language has definite limitations. To understand an advanced Sanskrit Vedāntic text of Dṛk-dṛśya-viveka having technical nature, I seek the co-operation

of the readers in certain respects. This is to ensure that they derive the maximum benefit from this commentary.

Vedānta has its own terminologies, like in medical science or engineering. Many of the Sanskrit terms used in Vedānta have no direct equivalents in English. Their meaning has been elaborately explained in this commentary. But, this is not necessary for those who have already exposed themselves to Vedānta earlier, and therefore know the full significance of such words. The readers of this category are more at home if the original Sanskrit terms are just used in the commentary. In the case of such readers, employing the English counterparts of these words - at times quite lengthy - interrupts the lucidness of evolution of the full import contained in the sentences. If only Sanskrit Vedāntic parlance is used, even if fully the term being explained earlier, it becomes a major stumbling-block for a beginner without comprehension of Sanskrit. In order to grasp the meaning, the learner has to pay full attention to the sentence. But, if the reader is unable to do so because he is unfamiliar with the Sanskrit words whose meanings have not been imbibed by his mind, the thought content does not evolve through the sentence. The reader keeps on struggling with the words losing sight of the concept.

An index with references to Vedāntic terminologies is added to this book. But, providing a glossary by itself does not solve the problem in question. With such a provision, the reader has to punctuate his grasp of meaning gathered prior to interruption, turn to the glossary, search for the Sanskrit word, go back to the text and establish continuity in his mind. Only a few can survive such a discipline of mind needed to finish their study.

To balance the opposite requirement and not to deprive any one the opportunity of lucid following of this text in its vivid import, a via media is resorted to. At most of the places the original Sanskrit terms are used along with their English equivalents or explanations as parentheses marked off either by brackets or dashes. This is done even at the risk of repetition or lengthening the sentence. At places where this practice is not followed, the original word or its counterpart is used very often either in the immediate preceding textual portion or it is located in the close vicinity of that sentence itself. The reader is requested to get accustomed to this style. Besides this, the familiarization with the key to transliteration to facilitate the reading of diacritical marks is necessary. The keys and the pronunciation of Sanskrit letters are separately given after the abbreviations.

The book Dṛk-dṛśya-viveka is one of the very important texts of Vedānta. So far it is lacking in an extensive and complete commentary in English with all its thoroughness. This need has prompted me to undertake writing of this commentary. More than that, I consider this as an opportunity given to me to clear my own knowledge. To put it in the words of the great Vedāntic master Sureśvarācārya,

.... स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु ।

"(This work has been composed by me) for the purpose of purifying my knowledge by testing it on the touchstones of the knowers of Brahman" (Nai.Si. 1-6).

Many of my students have devotedly rendered their services in manifold ways to make publication of this book in this final form possible. I pray to *Īśvara* that they get liberation in this life itself.

20-4

I salute with reverential gratitude all my masters, of past and present, from whom I have learnt Vedānta directly through their teaching and indirectly through their books. I would like to make a special mention with immense gratitude of my *guru*, Pūjya Swami Dayānanda Saraswatī at whose feet I underwent my advanced studies of Vedānta. Besides imparting knowledge in depth, Sri Swamiji has, as it were, handed over to us the key to unravel still greater heights of Vedānta. Finally I conclude this book by offering it reverentially to the ONE from whom all knowledge ultimately originates and to whom it truly belongs.

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये । "Oh Lord ! I truly offer unto you, your own thing."

Mumbai
November 23, 1996

Swami Śuddhabodhānanda Saraswatī

CONTENTS

	Page
Publisher's Note	i
Preface	iii

Introduction

The why of the quest for the ultimate truth	1
Quest for the ultimate truth is unique	2
Vedas reveal the ultimate truth	3
Western philosophers commend *Upaniṣads*	4
Quest for truth entails proper efforts	4
Nature of discovery of ultimate truth	5
Nature of thoughts, experience and knowledge ..	7
Precise nature of 'I'/the ultimate truth	14

Vedāntic ways to samādhi

Dṛk Dṛśya Vivekaḥ

The nature of true 'I'

Impartial inquiry is necessary	31
The discovery of the ultimate truth is self-knowledge ..	32
Where to begin the inquiry	33
The how of the inquiry	34
Role of this text in discovering the ultimate truth ..	36
Eye as *dṛk* (cognitive principle/the seer)	37
Distinct features of *dṛk* (cognitive principle) and *dṛśya*(cognised things/the known)	37
Inert forms cannot be true "I"	38
Eye becomes *dṛśya* (the known) with mind as *dṛk* (the knower)	38

Page

Mind also becomes *dṛśya*(cognised thing/the known) - it is not true 'I' 39
Final *dṛk* (cognitive principle) - sākṣi - it is true 'I' .. 40
Sākṣi is always *dṛk* (cognitive principle) 41
Sākṣi never becomes *dṛśya* (cognised thing) 42
Why the form is the seen(*dṛśya*) and the eye is the seer (*dṛk*) 44
Why the eye is the known (*dṛśya*) and the mind is the knower (*dṛk*) 46
Extension of inquiry to other sense organs 47
Elaboration of "*sākṣī* is always *dṛk*" 49
Main varieties of thoughts 50
How does *citi/ sākṣī* illumine thoughts? 55
Sākṣī and *citi* are synonyms 55
Perception as explained by neuroscience 56
Lacunae in the discoveries of neuroscience 60
Speculations of a few scientists 60
Some wrong attitudes towards Vedānta 67
Exact nature of pure awareness *(citi)* 68

The source of human problem

Who is the sufferer (*saṃsārī*) ? 78
If the sufferer (*saṃsārī*) is not clearly defined, Vedānta will be wrong 79
Reflected pure awareness (*citicchāya*) provides the answer 81
The nature of inner instrument (*antaḥkaraṇa*) and its functional divisions 82
How does the inert physical body become sentient ? .. 86
Three connections of the ego (*ahaṅkāra*) and the types of their unity 88

	Page
Unities born of *karma* and self-ignorance end ..	91
The three states of consciousness	94
The deep sleep state	95
The dream state	95
The waking state	97
Functions of *mana* aspect of inner instrument (*antaḥkaraṇa*)	97
The actual *saṃsāra* and its main producer	100

The final cause of mundane existence (*saṃsāra*) and its remedy

The nature of creative power(*māyā*)	105
The projecting power of *māyā*	107
The veiling power of *māyā*	111
The individual *jīva (saṃsarī)*	114
The how of true 'I' *(ātmā)* appearing as the sufferer *jīva*	116
The means to correct the error of taking true 'I' as *jīva*	118
The how of apparently changing of Brahman	119
The means to dispel wrong notion about Brahman ..	120

The world minus the names and forms is Brahman

The five facets of all our dealings	124
Asti - exists	125
Bhāti -shines (Cognizably)	125
Priyam - pleasing	125
Rūpam - form	130
Nāma - name	131
Precise nature of Brahman	131
Precise nature of *Jagat* - the world	132

Page

Explanation of five facets: *sat, cit, ānanda,* name, form 134

Vedāntic ways to samādhi

Contemplation (*Nididhyāsanam*) 137
The ladder of spiritual pursuit - 13 essential steps .. 137
What is *samādhi* 143
Five minus two is equal to one = A *vedāntic* equation .. 143
Two loci for *samādhi* 144
Two types of *samādhi* 146
Three types of *samādhi* with heart as locus 149
Six types of *samādhi* in all 150
Dṛśyānuviddha - savikalpa - samādhi (internal) .. 150
Śabdānuviddha - savikalpa - samādhi (internal) .. 154
Nirvikalpa - samādhi (internal) 159
Dṛśyānuviddha - savikalpa - samādhi (external) .. 166
Śabdānuviddha - savikalpa - samādhi (external) .. 170
Nirvikalpa - samādhi (external) 173
How long the *samādhis* are to be practised 178
Obstacles in the contemplation/ *samādhi* 178
The result of this pursuit 179

The individual (*jīva*) and the world (*jagat*) are false (*mithyā*)

The relevance of the remaining textual portion .. 190
Three versions about *jīva* (the individual) 192
The correct understanding about *jīva* (the individual).. 194
Jīva and jagat are products of *māyā* and their basis is *sākṣī* identical with Brahman 199
Features of *jīva* (the individual) and *jagat* (the world).. 200

Page

Jiva and *jagat* are false 202

The example of *jiva* and *jagat* in dream 204

The illustration of water, wave and foam 213

Summing-up 226

Index 239

ABBREVIATIONS

Bṛ.U. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*

B.G. *Bhagavadgītā*

Br.S. *Brahma Sūtra*

Ch.U. *Chāndogyopaniṣad*

Kṭ.U. *Kaṭhopaniṣad*

K.U. *Kenopaniṣad*

Mu.U. *Muṇḍakopaniṣad*

Nai.Si. *Naiṣkarmya Siddhi*

P. *Pañcadaśī*

Śv.U. *Śvetāśvataropaniṣad*

S.R.U. *Sarasvatīrahasyopaniṣad*

S.V.S.S.S. *Sarvasidhāntasārasaṅgraḥ*

Tai.U. *Tattirīyopaniṣad*

अ	a (but)	ट	ṭ (start)*	tongue
आ	ā (master)	ठ	ṭh (anthill)*	on
इ	i (it)	ड	ḍ (dart)*	upper
ई	ī (beet)	ढ	ḍh (godhead)*	palate
उ	u (put)	ण	ṇ (under)*	
ऊ	ū (pool)			
ऋ	ṛ (rhythm)*	त	t (thirst)	
ए	e (play)	थ	th (thumb)	tongue
ऐ	ai (high)	द	d (father)*	on
ओ	o (toe)	ध	dh (breathe here)*	teeth
औ	au (loud)	न	n (numb)*	

ं ṃ - Anusvāra (nasalization of preceding vowel) written like the dot above अ in अंश:

ः ḥ - Visarga (aspiration of preceding vowel) written like the two dots after श in अंश:

क	k (skate)	प	p (spin)
ख	kh (blockhead)*	फ	ph (loophole)*
ग	g (gate)	ब	b (bin)
घ	gh (log hut)*	भ	bh (abhor)*
ङ	ṅ (sing)	म	m (much)
च	c (chunk)	य	y (young)
छ	ch (catch him)*	र	r (drama)
ज	j (John)	ल	l (luck)
झ	jh (hedgehog)*	व	v (in-between wile and vile)
ञ	ñ (bunch)	श	ś (shoe)
		ष	ṣ (bushel)
		स	s (so)
		ह	h (hum)
		क्ष	kṣa
		ज्ञ	jña

* There are no exact English equivalents for the letters listed with an asterisk.

INTRODUCTION

THE WHY OF THE QUEST FOR THE ULTIMATE TRUTH

Humans are utilitarian. The good old saying, "Even a dull person will not undertake a task without keeping in view its benefits," displays the human psychology. It is quite natural if we question the purpose when the most ancient scripture, the Vedas - to be more precise, its section called Vedānta containing the *Upaniṣads* - exhorts us all to discover the ultimate truth. One of the *Upaniṣads* itself answers rather in a tone of warning, "If you discover your true nature - identical with the ultimate truth - before your body dies, your life is fulfilled; if not, there is utter ruin in store for you!" (*K.U.* 2-5)

The answer has a direct bearing on our aspirations and the goals of life. Our goals of life are many and varied. Yet, there is a common universal goal underlying them all. Despite the differences in their individual goals, all would like to be free from death, live happily without any sorrow, and be free from ignorance. A perfect fulfilment of these urges is just not possible by commonly known means of actions to get or avoid something. Our true nature itself, in contrast to our mistaken notion about ourselves, is what we seek to be. It is free from birth, death and ignorance. It is also absolute happiness, free from sorrows. All our present problems and pursuits are born of our ignorance of our true "I". In fact in the case of majority of us, our inability to understand the real problem of life is the actual problem. To know our true nature - identical with the ultimate truth - is the remedy to our unending search of happiness,

and the freedom from sorrow, mortality and ignorance. This topic will become clearer as we proceed with the text.

QUEST FOR THE ULTIMATE TRUTH IS UNIQUE

The search of the ultimate truth leads us to that field of knowledge which is the most intricate and complex in nature to explore. Human tendency is to take many things for granted. Even the neuroscientists are unable to explain how exactly knowledge or experience "happens", in spite of their spectacular zeroing in on the physical aspect of the thought by powerful technologies such as magnetic resonance imaging (MRI) and positron-emission tomography (PET). One thing is certain: the scientists will never be able to explain it unless they change their method of approach by proper supplements wherever the science cannot probe any further. Some of them, no doubt are groping in the western philosophies to find a solution; but it is only Vedānta which can solve this riddle, nay, which has already done so with its mathematical approach as it were - to which this text stands as a testimony - into a field where there is even no access to words and the mind. But equally a precise approach - and not a haphazard meddling of a hasty critic - as guided by Vedānta is indispensable to discover the truth that it reveals.

The tenets which reveal the means and the ends related to this quest are wrongly interpreted more and more. It is true that the sophisticated fields in various branches of advanced science do have enormous uncertainties. You find every other day the old theories being toppled down by new ones, only to get themselves knocked down by the subsequent ones. But still they all have a definite tangible field to investigate with the help of equally concrete tools, whereas the nature of the inquiry into the totally abstract

ultimate truth is quite complicated and different. Inaccessibility by any objective means to the field of ultimate truth makes it still more difficult. The case becomes even worse when the authentic and proper guidance is not available to the seeker. As a result, the highest pursuit in life appears to be an unattainable utopia to the majority of people.

Such a plight of the people living in the other parts of the world where this kind of quest is not in an advanced and accomplished state, is quite understandable. But it is sad indeed that in India, the land where the knowledge of the ultimate truth forms the very backbone of its culture, the present situation of ignorance about the means is no good. So, it is all the more necessary that one should follow the tested path built on a firm foundation.

VEDAS REVEAL THE ULTIMATE TRUTH

The Vedas reveal both the final goal - the ultimate truth - and the means of discovering it. In fact this truth is the basis of the entire Creation. It is identical with the true nature of one and all, referred to as "I" - *ātmā* - at the individual level. The same is called Brahman with reference to the Creation. The nature of the ultimate truth is pure awareness - *caitanya* - free from all the attributes that we can be aware of. Proving the rationality of the entire pursuit of discovering the truth and the necessity of the pursuit are also an integral part of this culmination of education. The section of the Vedas dealing with this topic is called *Upaniṣad* or Vedānta. All the subsequent treatises on this subject also get included in Vedānta.

Vedānta is neither a theory nor any set of dogmas. It unfolds the ultimate truth for you to discover, provided you are available

and your mind is suitably receptive. *Vedāntic* knowledge is in fact meant for the entire humanity. It is beyond cults and religions.

WESTERN PHILOSOPHERS COMMEND *UPANIṢADS*

The western philosophers too have not missed the greatness of the *Upaniṣads*. Schopenhauer, the German philosopher, who was certainly not a man given to deal in extravagant praise of any philosophy but his own, observed:

> "In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the *Upaniṣads*. It has been the solace of my life - it will be the solace of my death."

Max Muller remarked, "If these words of Schopenhauer's (*sic*) required any endorsement, I should willingly give it as the result of my own experience during a long life devoted to the study of many philosophies and many religions." The great German thinker Schelling thought, in his old age, that the *Upaniṣads* contained the maturest wisdom of mankind. According to Will Durant, India can teach the world the tolerance and gentleness of the mature mind, the quiet content of the non-acquisitive soul, the calm of the understanding spirit and a unifying, pacifying love for all living things. This observation can be true only when the people adhere to *dharma* - prescribed code of conduct for human beings - as enunciated in the Vedas with their acme in the *Upaniṣads*.

QUEST FOR TRUTH ENTAILS PROPER EFFORTS

It may be emphasized at the outset that Vedānta expects that the seeker shall have a mature, disciplined, impartial and open mind to begin with. If the mind is full of inhibitions, prejudices,

biases and wrong conclusions reached earlier, then it cannot discover the truth revealed by Vedānta. It is to be taught by a competent teacher (*guru*) to an equally competent student (*śiṣya*), preferably in a conducive atmosphere of a *gurukula* - an institution wherein students live with the teacher and receive the instructions. For want of proper guidance, most of the times, the seekers get stuck up on the path to one or the other distractions, of wrong means and end. Such misguided pursuit takes one away from the very discovery of the ultimate truth which is the final goal.

NATURE OF DISCOVERY OF ULTIMATE TRUTH

Unlike the philosophy or metaphysics in the west, in our Vedic culture called *Sanātana Dharma*, Vedānta is not a speculation or an information bank. It is also not any hypothetical interpretation of the unknown. Vedānta - *Upaniṣads* - investigates into the true nature of human as a universal being and not as the one specified by caste, creed, cult, religion and generation. It discovers the highest unifying truth, or pure awareness (*caitanya*), which forms the basis of me, the individual, the entire Creation, and its Creator. That discovery is the ultimate "knowledge" identical with the ultimate "experience". All the types of knowledge or experiences of objects, events and beings in the Creation get presented to us through thoughts related to them arising in our mind. But the mind itself is inert and so are the thoughts. We cannot know inert thoughts. It is only because these thoughts in the mind get coupled with the reflection of pure awareness that we get to know them. Any knowledge - cognition - is possible only in the form of such inert thoughts being illumined by the presence of pure awareness. The "knowledge" or the "experience" referred to herein has no screen of thought (*vṛtti*) corresponding to anything. It is totally different from all the other types of knowledge and experiences.

The ultimate truth, pure awareness (*caitanya*), is the self-luminous knowledge or cognitive principle itself. For that very reason, it is also *anubhava-svarūpa* - the one whose nature is experience itself without the necessity of any other instruments of cognition. *Caitanya* or pure awareness by its nature is always experience, whether in our state of self-ignorance or that of self-knowledge (i.e. the knowledge of true "I"/*ātmā*). In the state of self-ignorance, "I" (*ātmā*) is experienced by us mixed with all the superimposed features of "not I" (*anātmā*/not self) and hence they are mistaken to be the characteristics of "I" (*ātmā*). In contrast to this, in self-knowledge "I" (*ātmā*) in its true nature which is free from all the superimposed features is appreciated without any mixed up cognition of superimposed *anātmā*. Such an appreciation itself is the experience of true "I" (*ātmā*) as *ātmā* is always *anubhava-svarūpa* (i.e. the one whose nature is experience itself). The one whose nature is experience itself does not need any separate thought (*vṛtti*) to illumine it. A specific - peculiar - *vṛtti* as described in Vedānta is essential in the penultimate stage to dispel the self-ignorance.

A complex nature of the topic under consideration demands a further elucidation at this juncture, though this text itself is going to apply a definite method of investigation to reveal the ultimate truth. The difficulty in understanding the subject matter is further heightened by our ignorance of how any specific knowledge or experience related to a given thing takes place. Our apathy towards delving deep into such matters is also an added disadvantage.

Let us now embark upon our investigation. It is carried out here in the form of a dialogue between a teacher and a student. This is to simplify the subject.

NATURE OF THOUGHTS, EXPERIENCE AND KNOWLEDGE

Student - *śiṣya* (*S*) - Sir, how does an experience take shape?

Teacher - *guru* (*T*) - The experiences during the waking state are of two types:

i) The experiences wherein there is the active participation of the external sense organs and the organs of action.

ii) The other experiences are purely mental without the direct involvement of both types of organs.

In the former case the interaction of the external organs with their respective objects depicts the corresponding thought patterns called *vṛttis* in the *antaḥkaraṇa* - a subtle inner instrument - functional in nature rather than a structural entity. It comprises the fourfold faculties, viz. *manas* (mind), *buddhi* (intellect), *cittaṃ* (memory), and *ahaṅkāra* (ego). *Ahaṅkāra* is the erroneous notion of placing "I"ness in the body etc. which are not truly "I", i.e. *anātmā* - not self.

In the second case, the patterns of thoughts arising in the *antaḥkaraṇa* are not born of present activities of sense organs or organs of action. However, such thoughts do have a bearing on the past perceptions and actions.

In either case, the thoughts (*vṛttis*) present us the experiences.

S - Is an experience the same as the knowledge?

T - It depends on the type of the experience. The correct experience, i.e. experience true to the nature of a given thing (*yathārtha-anubhava*), is its knowledge (*pramā*) itself. The incorrect one - experience not true to the nature of a thing - (*ayathārtha-anubhava*) is erroneous knowledge (*bhrama*). Let us see an example to this effect. Suppose you saw a snake in the diffused light at dusk. But, when your accompanying friend flashed the torchlight in that direction, you discovered it to be a rope. Your seeing a snake in this instance is an error, whereas the cognition of rope is the knowledge of that rope. Yet, in both the cases the experience is invariably there. The only difference is in its being incorrect or correct.

We experience or perceive that which is reported to us in our *antaḥkaraṇa* (inner instrument having mind etc.) through the medium of the thoughts based on the objects perceived by the senses, and not directly objects themselves. Here is the basis of the errors. When the thoughts are not in accordance with their corresponding objects we get mistaken notions.

S - Is there a rule that knowledge of a specific object cannot be an experience, or a given experience can never be knowledge?

T - How can it be so? In the illustration cited above it will be ridiculous to say that the moment you saw the rope as it is - which is knowledge - your seeing the rope ceased to be an experience. On the contrary the experience of a given thing is an essential prerequisite in gaining its knowledge. In fact the correct experience itself is the knowledge of the thing experienced.

S - If the knowledge is invariably the correct experience corresponding to the nature of the object, why in our scriptures, at times, both the words "knowledge" and "experience" are used simultaneously?

T - People have a tendency to conclude some information short of the true nature of the thing under consideration, as its knowledge. The word "experience" (*anubhava*) is used to avoid such lapses. It is worth noting that the word "experience" used in such cases is in the sense of the correct one and not the incorrect one.

S - Do the thoughts (*vṛttis*) give the experiences and the knowledge by themselves, or do they depend on any other factor?

T - *Upaniṣads* are never tired of repeating that *caitanya* - pure awareness (or consciousness) principle - is the only cognitive or knowledge principle in the entire Creation. So experiences and therefore the knowledge without any exception, are just not possible without a cognitive or knowledge principle distinct from all the inert things. If it were not so, the inert things must be capable of knowing on their own. This is far from the fact. *Caitanya* (pure awareness) is all pervasive and self-luminous (*svayaṃjyotiḥ* - *Bṛ.U.* 4-3-9 and 14). This is not an assumption, but the truth that is and can be discovered. That itself is the ultimate truth which is never extinct (*Bṛ.U.* 4-3-23). The Creation is subject to birth and destruction; but not the unborn, ever-existent principle, *caitanya*, the basis of the Creation. *Caitanya*, pure awareness, *cit, citi, saṃvit, ātmā,* pure consciousness and Brahman are synonyms.

The most subtle aspects of the food assimilated by us constitute the thoughts (*Ch.U.* 6-5-1 and 6-6-2). Thoughts are inert like their cause, the food. Their make up - constitution - is so subtle that pure awareness (*caitanya*) gets reflected in them like the light from a mirror or water. It is on account of this reflected pure awareness (*caitanyābhāsa* or *cidābhāsa*) that the inert thoughts are brought to the level of cognition producing experiences or knowledge. The cognition of all that is inert including the thoughts themselves depends on the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) just as all non-luminous objects are seen by the eyes in the presence of light. The reflection of pure awareness can never be independent of its origin, the pure awareness (*caitanya/cit*). Any reflection is a near-replica of its source. An ignorant child mistakes the mirror and the water to be the source of light themselves, not knowing that they have borrowed reflection of the sunlight to make them luminous. In a similar vein, people who lack discrimination between the nature of thought and that of pure awareness (*caitanya*), erroneously conclude that thoughts themselves have built-in cognitive power and hence they are known on their own.

THE WHY OF KNOWING THE ULTIMATE TRUTH

S - The ultimate truth - pure awareness (*caitanya*) - may be highly indispensable for our cognition. Yet, in what way are we concerned about gaining the knowledge of pure awareness? What difference does it make if we know pure awareness or not, when it functions without our volition or involvement?

T - Good, you have asked pertinent questions. The ultimate truth is the true nature of one and all. Its discovery is the highest accomplishment in life.

S - How?

T - Listen. Let us see what is the goal of any human life. Is it not that all of us without any exception whatsoever, want to be happy? In and through our varied pursuits all the time we seek happiness without any trace of sorrow, and also freedom from ignorance and death. A mature person finds that in spite of the acclaimed best accomplishments there is no perfect contentment. Such pursuits do not lead to the above goals. And yet, it is not possible to give up such pursuits either. Vedānta discloses the root cause of this basic problem. It points out the fundamental cause as our mistaken identity of ourselves with what we are not, due to the ignorance of our true nature. The ultimate truth viz. the pure awareness (*caitanya*), is the true "I" - our true self - and it is also the basis of the entire Creation. But we mistake our embodiments - the gross, the subtle and the causal bodies - as "I".

Our physical body is called the gross body (*sthūla śarīra*). It is prominent during our waking state.

The subtle body (*sūkṣma śarīra*) consists of the inner instrument (*antaḥkaraṇa*), five vital airs (*prāṇas*) corresponding to the physiological functions, and five each of the cognitive and active faculties known as sense organs (*jñānendriyas*) and organs of action or motor organs (*karmendriyas*). The subtle body manifests exclusively in the dream state.

The causal body (*kāraṇa śarīra*) is the same as the ignorance of our true nature. It is the cause of both gross and subtle bodies and the identification with them. The deep sleep state is the exclusive state of this body.

The true "I" (*ātmā*) is the ever-existence (*sat*) without birth or destruction. It is the ultimate knowledge (*cit*) principle not dependent on anything. It is the absolute happiness (*ānanda*) free from any infinitesimal shadow of sorrow. In short it is called *sat-cit-ānanda*. This is not any imagination of some fertile brain. It is the whole truth repeatedly asserted by the Vedas in the *Upaniṣads*. It is personally verified by many great past and present masters through their ultimate experience, identical with the ultimate knowledge. The Vedas and great masters have justified the ultimate truth with a sound reasoning. The scripture of Vedānta is totally dedicated to the pursuit of revealing this truth. This discovery is the highest fulfilment in life.

S - Why do we suffer the sorrows including those of the birth and the death if true "I" (*ātmā*) is *sat-cit-ānanda* ?

T - Without any exception our sufferings are invariably due to our mistaken identity as already mentioned. All the limitations, sorrows, birth and death experienced by us belong to our embodiments. These are erroneously superimposed on "I". The embodiments and their modifications are considered as the intrinsic features of pure awareness, the true "I". For example, the gross body when lit is considered to be characterised by light. Light is wrongly taken as the intrinsic feature of the body. Similarly, the *antaḥkaraṇa* - the inner instrument comprising thoughts carrying out different functions - always gets the reflection of pure awareness (*caitanyābhāsa* or *cidābhāsa*) and so *antaḥkaraṇa* is considered sentient. Based on this, *antaḥkaraṇa* is concluded to be "I". This is the universal mistake. Everyone commits this error because of the following.

"I" is a sentient entity, is a matter of universal experience. The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) operates through the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) because of which it always appears sentient. Therefore the sentient inner instrument is wrongly considered to be the true "I", despite the fact that the true "I" is pure awareness (*caitanya*) and is totally free from the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) and its modifications. This mistake is extended further to the gross physical body. It is like mistakenly considering light as the characteristic feature of the gross body: Such a mistaken notion is called the identification of the true "I" - pure awareness (*ātmā*) - with all the embodiments at gross, subtle and causal levels, whereby "I" appears to be sorrowful in nature. To put it differently, our present plight as a *saṃsārī* - a limited miserable creature, basically prone to many undesirable things notwithstanding the best of our accomplishments in life - is the direct outcome of our mistaken identity born of self-ignorance, i.e. the ignorance of true "I", the pure awareness (*caitanya*).

This is not a hypothesis. Its veracity can be gauged here and now. During our waking state we are identified with our gross physical body and the subtle body. In contrast to this, during the dream state the identification is restricted to the subtle body as our physical body remains out of our cognition during dream state. Sorrows are experienced only in the waking and the dream states while we are identified with the gross and subtle bodies. During deep sleep state there is neither any identification with the bodies nor any experience of sorrows. This universal experience proves that the identification with our bodies (embodiment) called *dehābhimāna* or *dehatādātmya* only is the cause of our misery. All the limitations and sorrows felt

by us are only related to our embodiment and never to the true "I" - pure awareness (*ātmā*).

PRECISE NATURE OF "I"/THE ULTIMATE TRUTH

S - Can we perceive the true "I" - pure awareness (*caitanya*) by seeing, hearing, tasting, touching and smelling? Or can we handle it by some action?

T - No, it is not possible. It is not an object which can either be perceived by sense organs or acted upon by the organs of action (*Mu.U.* 1-1-6).

S - Why is that so?

T - The sense organs can perceive only sense objects as they have attributes (*viśeṣas*) like sound, touch, form, taste and smell. On the contrary pure awareness (*caitanya*) is not an object with attributes. It is free from all the attributes (*nirviśeṣa*). The organs of action can handle only objects having limits, whereas the limitless (*ananta*) pure awareness (*Kṭ. U.* 1-3-15) cannot be acted upon by limited organs of action. Therefore it cannot be known as an object "this" and words cannot describe it directly.

S - Sir, then it may not exist at all.

T - No. It is the only ever-existent (*sat*) principle which is knowledge principle too, because of which the presence or absence of anything can be known, but it itself cannot be experienced as an object of perception or action.

S - Perhaps, it may be noumenon - conceivable but not knowable - as presumed by some western thinkers.

T - Not at all. Everything that is conceived - imagined - and known is only through the medium of thoughts (*antaḥkaraṇa-vṛttis*). Pure awareness (*caitanya*) is the very principle which illumines - makes known - all the thoughts irrespective of their objects of reference, either imagined or concrete. Its knowledge or experience is certainly possible; but with a difference that it cannot be known as an object of cognition, because of its unique nature unlike the other inert things which can be known as objects of cognition and action.

S - This seems to be quite strange and yet interesting. May I know its precise nature?

T - The eyes see, the ears hear, the nose smells, the skin feels the touch, and the tongue tastes. The vital airs (*prāṇas*) function at the physiological level. As for the inner instrument (*antaḥkaraṇa*), the mind (*manas*) entertains consideration (*saṅkalpa*) or thinks; the intellect (*buddhi*) decides; the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) mistakes the embodiment as "I"; and the faculty of memory (*cittam*) recollects. All these instruments and faculties are inert by themselves. The principle which enlivens them all enabling them to do their respective functions is pure awareness (*caitanya*) which is our true nature (*ātmā*) - (*K.U.* 1-2). It is this cognitive principle, also called *sākṣī* (direct illuminator) which in fact illumines - makes us known - all that we cognise (*K.U.* 2-4).

A computer, humorously called the giant fool, can be used as an illustration in this regard in a limited sense in the modern

context. Our embodiment may be taken as a computer. The CPU (central processing unit) with the various aspects of memory can be compared to an extent with our inner instrument (*antaḥkaraṇa*). The input/output controllers attached to the CPU are the sense organs. All the input/output devices, such as the VDU (monitor), keyboard etc., are the organs of action. The power supply unit is like the vital airs (*prāṇas*). Programs are the impressions gathered from various prior perceptions. Electricity that prompts all these parts and the faculties in the computer to function is equivalent to pure awareness (*caitanya*/true "I") which activates our embodiment.

S - Sir, the topic has become more abstruse in spite of the example.

T - Well, let me explain to you further with the help of two other illustrations. You certainly know what electricity is. Now try to analyse how exactly you know it. Is it ever possible for anyone to know electricity as a concrete object?

S - No.

T - Then how do you know electricity?

S - Through its varied effects like light, heat, sound, form etc. when manifested through different electrical gadgets.

T - That is right. Similarly, any form of energy or an abstract thing can be known only through its effects and not directly. The devices like ammeters used to measure the quantum of electrical energy are also calibrated based on the magnetic

effect of electricity. Even the electric shock is also an effect of electricity on biological tissue.

Now take another example of light. Bare light by itself is not visible. Similarly no objects can ever be seen without the light reflected from them. All that we thus see is the reflected light. Light is formless. Through its reflection it appears to assume the forms of the illumined objects despite the fact that it is totally free from those forms. Trying to comprehend light as the electromagnetic waves in a particular frequency is also an attempt to know through its specific effect. In spite of all such limitations we do know light.

Similarly, it is certainly possible to gain, however difficult it may be, the knowledge of our true nature, pure awareness (*caitanya*).

S - That means it is an intellectual understanding like knowing electricity or light. All that I have to do is to have the thoughts in this order, "Pure awareness (*caitanya*) is the one because of which all the functions of the sense organs and the organs of action take place including the cognition of all the thoughts. I cannot know it as an object; so I know its unknowability. I must have a thought (*vṛtti*) that no other thought can objectify it. All that is required is to negate all the things superimposed on true 'I' by saying, 'I am the illuminator (*sākṣī*) of them all.' By saying so, I disown everything other than me."

T - No. You are still far from gaining the actual knowledge of the ultimate truth. The peculiar thought (*vṛtti*) that reveals the ultimate truth necessarily has to be true to its nature. The

thoughts corresponding to mere verbalisation of a few statements or words from the teaching or the scriptures, by themselves cannot form the knowledge of the ultimate truth.

S - How can that be, sir? Did you not say that pure awareness (*caitanya*) cannot be objectified even by the thoughts? Is that not the way by which either electricity or light is known?

T - Yes, both light and electricity are known in that manner. But they are inert and so need to be objectified by the thoughts (*vṛttis*). However, the ultimate truth, viz. pure awareness (*caitanya*), is not inert. The mode of gaining its knowledge slightly differs from that of inert things. The how of gaining any knowledge will help you to understand this better.

A thought based on external perception, assumes the form of a given object (*viṣayākāra-vṛtti*). This is the first step to know it. This thought has in itself the reflected pure awareness (*cidābhāsa*). The thought (*vṛtti*) aspect having the form of the object, removes its ignorance in the perceiver's mind. Technically, it is called *vṛttivyāpti* - permeation of the thought. The reflected pure awareness (*cidābhāsa*) aspect reveals to the perceiver the said object which gets demonstrated as, "This is such and such an object," or "I perceive the object." This phenomenon is *phalavyāpti* - obtaining the result - which brings the object to the level of our consciousness or confers the knowledge of the object. In the absence of this phenomenon, an inert object cannot be known. Mere thought being inert in nature has no capacity to illumine - make known - the object, like the inability of the non-luminous water to illumine anything. But the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) does illumine the object like the reflected sunlight in the water. The fact that the

knowledge of a particular object is determined by the object (*vastutantra*) will be amply clear in the context of *vṛttivyāpti* - permeation of thought - wherein the relevant thought invariably corresponds to the form of the object; or else there will be erroneous notion instead of knowledge.

Let us now see what happens while gaining the knowledge of the ultimate truth. A specific - peculiar - thought (*vṛtti*), conforming to the true nature of pure awareness (*caitanya*), otherwise called *vṛttivyāpti* is certainly necessary to eliminate the ignorance. Thereafter, there is no need of a separate *phalavyāpti* because the ultimate truth is nothing but self-evident pure awareness (*caitanya*) principle. It does not need any other cognitive principle or thought to make it known like light not requiring any other light to illumine it. All that is necessary is the removal of ignorance of pure awareness (*caitanya*).

S - That means a thought assuming the form of the formless (*nirākāra*) and attributeless (*nirviśeṣa*) pure awareness (*caitanya*) is indispensable to gain the self-knowledge. In short, it is impossible to know the true "I" - pure awareness - the reason being that the thoughts can depict forms (*ākāra*) or attributes (*viśeṣa*), whereas pure awareness is formless (*nirākāra*) and attributeless (*nirviśeṣa*). So, no thought can have its form.

T - No. An understanding of the nature of the mind in relation to pure awareness (*caitanya*) will enable you to comprehend the distinction here. *Caitanya* (pure awareness) itself is pure (*nirmala*). It is unsullied (*svaccha*) by the entire Creation and its defects which are erroneously superimposed on it. It is the

most subtle and hence cannot be objectified at all. The mind or *antaḥkaraṇa* can gain purity, clarity (unsulliedness) and subtlety similar to pure awareness (*caitanya*). This enables the mind (or *antaḥkaraṇa*) to conform itself to the nature of pure awareness (*caitanya*), i.e. mind can zero in on *caitanya*, the true "I" (*ātmā*), whereby the true reflection of *caitanya* in the mind is possible. The seeker's mind which has sufficiently taken to the self-inquiry as guided by the *Upaniṣads* (i.e. the *Śruti pramāṇa* - the valid means of knowledge), when tuned to pure awareness (*caitanya*) as stated above, becomes *ātmākāra* (the one which has the form of *ātmā*) or *Brahmākāra* (the one which has the form of Brahman) or *akhaṇḍākāra* (the one which has the indivisible form). This is a specific thought (*vṛtti*) that eliminates the ignorance of our true nature "I" and dissipates itself into self-knowledge (*ātmajñāna* or *Brahmajñāna*). It is peculiar and unlike other thoughts based on objects, events and beings having attributes. A pure mind (*śuddha antaḥkaraṇa*) is of course indispensable to accomplish self-knowledge. Once the self-ignorance has gone, no other thought (*vṛtti*) is required thereafter to know the true "I", which is itself self-evident knowledge principle. Technically, *phalavyāpti* is not required. Self-knowledge cannot be gained in any other manner.

The cognition of pure awareness (*caitanya*) in the state of ignorance is always *saviśeṣa*, i.e. accompanied by all the attributes. They pertain to the names and forms constituting the not-self (*anātmā*). These are ignorantly superimposed on *ātmā*, the pure awareness (true "I"), whereas the true "I" (*ātmā*) is *nirviśeṣa* - totally free from all the superimposed attributes. As the knowledge of everything depends on the true nature of the thing itself to be known (i.e. knowledge being *vastutantra*),

self-knowledge or the cognition of true "I" cannot be short of its attribute-free (*nirviśeṣa*) nature. The knowledge of true "I" which is the knowledge of Brahman or the ultimate truth, calls for the proper self-inquiry to eliminate all that is superimposed on *ātmā* or Brahman due to self-ignorance. Unlike as in the case of the knowledge of any object, a separate effort to have a particular form of thought (*vṛtti*) with attribute (*saviśeṣa*) is not required. Ādi Śaṅkarācārya has often emphasised for gaining self-knowledge the importance of this essential means of termination of all that is superimposed on the true "I" - *ātmā* or Brahman (*B.G. Bhāṣya* 18-50; *Bṛ.U. Bhāṣya* 1-4-10). In the state of ignorance as well as of knowledge, true "I" (*ātmā*) is *anubhava-svarūpa* - the one whose nature itself is experience. But, in the former, the experience is accompanied by all the superimposed things mistaken to be the inherent features of "I", whereas in the latter, it is totally free from them.

S - Sir, I do agree that all that is superimposed on the true "I" (*ātmā*) has to be negated to gain the self-knowledge. Yet, I am unable to understand the why of actual termination or elimination of all the superimposed things on *ātmā*. After all, they are false and do not belong to me (*ātmā*). What then is the need of their actual elimination? When I say, "I am the illuminator (*sākṣī*) of all that is superimposed," do I not disown everything other than the true "I"?

T - No. Such a doubt arises because, before you have got the true knowledge (*yathārtha darśana*) of the basis (*adhiṣṭhāna*), you are concluding that all the superimposed (*adhyasta*) things are false. Consider the example of the rope being mistaken for a snake, cited earlier. Before actually seeing the rope, your statement that it is not a snake is not the outcome of your

personal verification. At best it is a useful and reliable piece of information borrowed from your trustworthy friend who has actually seen the basis, the rope. Your fear of the mistaken snake will not go totally until you see the rope firsthand. Then the mistaken snake will not appear any more.

In the state of self-ignorance, the pure awareness (*caitanya*) is always experienced by us only with the attributes of all the superimposed not self (*anātmā*). They mistakenly are taken to be the very characteristic features of *ātmā* (pure awareness). Unless the pure awareness (*caitanya*) free from all the superimposed things, is available for cognition, the knowledge of our true nature is not possible. Such direct discovery is called *aparokṣa-jñāna* or *aparokṣa-anubhava* (self-knowledge) . The scriptural statements - like the friend's statement that it is a rope and not a snake - certainly help as the means in our present pursuit of knowledge. However, simply repeating those statements is not the actual self-knowledge. Let me repeat that knowledge being determined by the thing, anything known short of its true nature cannot be knowledge of the thing. The actual termination of all the superimposed things on pure awareness (*caitanya/ātmā*) is thus an indispensable step in gaining the self-knowledge. The intensity of self-knowledge enables one to appreciate the falsity of superimposed (*adhyasta*) things even when cognised thereafter.

S - Now I have understood the necessity of actual termination of all the superimposed things, but I have my own reservations about its practicality. Sir, is it not that all the things superimposed on the true "I" are cognised only through the relevant thoughts (*vṛttis*) of superimposed things?

T - Yes, that is so.

S - Then how can we ever separate thoughts from the pure awareness (*caitanya*), because all the thoughts are invariably permeated by the latter. It is an impossible task. For instance, we can never separate an erroneous snake from its basis, the rope.

T - Please think carefully. What separation are you speaking of? Is it something to be effected with the scalpel and the forceps? Can you not see with sufficient light, the basis, the rope free from the snake mistakenly superimposed on it? There is no separation of the snake than such a sight of the rope. All that we need is the cognition of the true naturė (*yathārtha darśana*) of the basis (*adhiṣṭāna*). Such a cognition is possible in the case of pure awareness (*caitanya*) too. Though thoughts can never exist independent of pure awareness (*caitanya*), they are born and gone. Pure awareness need not always be accompanied by thoughts. In sleep there are no thoughts, yet pure awareness (*caitanya*) verily persists. Therefore, pure awareness (*caitanya*) free from thoughts, and so, free from all the things and their attributes superimposed on it, can also be cognised in our waking state. To achieve this, there are means available.

S - The means I know is *aṣṭāṅga-yoga*. Does that mean that self-knowledge is not possible without gaining the *samādhi* - a state of mind totally free from thoughts - of *aṣṭāṅga-yoga*? That *yoga* does eschew all the thoughts from the mind. However, as I learn, it is a very difficult technique and requires sustained practice over the years. In that event I am afraid if I shall ever be able to get self-knowledge.

T - Yes, *aṣṭāṅga-yoga* is a technique accepted by Vedanta. It is not the only one; besides its philosophy is based on the wrong premise that the world including all the thoughts is real, necessitating the termination of thoughts for all the time. There are other effective alternatives too.

S - What are they?

T - The most effective alternative means is the *cijjada viveka* - discrimination (*viveka*) of pure awareness (*cit*) from the inert (*jada*). Another name for this method is *dṛk-dṛśya-viveka* - discrimination of seer (*dṛk*) from the seen (*dṛśya*). The other means like chanting of long Om (*dīrgha praṇava*) accompanied by some other disciplines (P. 4-62) and the devotion to *Īśvara* - the Creator - can also confer to a great extent the tuning of the mind required as described earlier.

S - May I know if any great masters have spoken about this method of *cijjada viveka*?

T - Let me quote what Madhusūdana Saraswatī, a doyen of Vedānta, has to say in this matter. After specifying the function of *aṣṭāṅga-yoga samādhi* in the context of self-knowledge, he explains in his commentary on *Bhagavadgītā* (6-29) the role of *cijjaḍa viveka* as follows:

> "The separation (*pṛthakkaraṇam*) of the inherent (*anusyūta*) pure awareness (*caitanya*) in all the cognitions by distinguishing (*vivekena*) its inert counterpart is also a means (*hetu*) for the direct knowledge (*sākṣātkāra*) of the self-luminous true 'I' (*sākṣī*) like the *samādhi*

(*cittavṛttinirodhaḥ*) of *aṣṭāṅga -yoga*. Exclusive *aṣṭāṅga-yoga* is not necessarily required. Therefore sage Vasiṣṭha had said -

> 'O Rama! *Yoga* and *Jñāna* - knowledge - are the two methods leading to the destruction of mind. *Yoga* is stopping of thoughts and *jñāna* is the thorough ascertainment of the truth.'
>
> 'For some, *yoga* is very difficult to accomplish, whereas for others the ascertainment of knowledge is so. Hence, the Supreme Lord has prescribed two methods.' (*Laghuyogavāsiṣṭha* 27-72 and 29-60).

"..... Among the two, the first method is practised by the followers of *Hiraṇyagarbha* belief - *yoga* school of thought - who opine that the Creation is real. The followers of Ādi Śaṅkarācārya who conduct inquiry as guided by the *Upaniṣads* (Vedānta) and who hold that the Creation is false, take only to the second means. They easily attain the extinction of the falsely projected (and so) sublated mind and the visible Creation projected by it when they gain the firmness (*dārḍhya*) in the knowledge of the basis, the pure awareness. For that very reason Ādi Śaṅkarācārya has not justified anywhere the necessity of *yoga* for *Brahmajñānīs* - the knowers of Brahman. Therefore the followers of *Upaniṣads* who possess a thoroughly ready mind having approached a competent teacher engage themselves in the inquiry as guided by Vedānta for gaining the knowledge of Brahman (which is identical with true 'I'/*ātmā*), and not in the practice of *aṣṭāṅga-yoga*."

கோவிலூர் ஆண்டவர் A. No. 6182 R65 (வகுதி) நாலகம், கோவிலூர்

S - Is this method of discriminating the pure awareness from the inert aspects (*cijjada viveka*) in and through all the cognition, a new invention of later *Vedāntic* masters, or has it got the authenticity of the Vedas?

T - Of course, it has its basis in the Vedas. *Sarasvati-Rahasyopaniṣad* from *Kṛṣṇayajurveda* deals with it. In fact, our present text, viz. Dṛk-dṛśya-viveka is an exposition of the central teaching of that *Upaniṣad.* I have so far given you some idea of the basic principles of Vedānta.

Before beginning the study of this text let us know some details of secondary aspects of the book, such as its title, its author, etc.

The text Dṛk-dṛśya-viveka is also called Vākyasudhā. The component words of the title Dṛk-dṛśya-viveka mean as follows:

Dṛk: The one who sees, i.e. seer. *Draṣṭā* - seer - is synonym of *dṛk.*

Dṛśya: That which is seen or can be seen.

Viveka: Distinguishing or discriminating between two things, as distinct, sifting them apart; an investigation; judgement; discussion; true knowledge.

The title therefore means discriminating between or an inquiry into or the ascertainment of the true nature of seer and the seen. The word "seer" (*dṛk*) also stands for the hearer, feeler, taster, smeller, perceiver or in short the knower or the cogniser representing the very content of cognition, the cognitive principle because of which all cognitions are possible. The word "seen" (*dṛśya*) includes all the cognised things in the Creation that are inert without any exception. Thus finally the meaning of the title

Dṛk-dṛśya-viveka gets reduced to "An inquiry into or ascertainment of the cognitive principle or pure awareness (true 'I'/*ātmā*) and the inert (*jaḍa*) not self (*anātmā*) called the Creation."

Consider the other name. Its two words have the following meanings:

Vākya: Sentence; words; speech; aphorism.
Sudhā: Nectar; water; name of the holy river Ganges.

The word *vākya* in the present context can be taken as the *Upaniṣadic* aphorism (*mahāvākya*) viz. *tat tvam asi* - you are that Brahman - which reveals the identity of our (individual's) true nature with Brahman, the basis of the entire Creation. This text ascertains mainly our true nature at the individual level denoted by *tvam* (you) in the above aphorism. This knowledge is an essential prerequisite to know our identity with Brahman whereby our immortal nature is discovered. Figuratively the text contains the nectar in the form of such knowledge. Or, the said knowledge itself is equated with the holy Ganges. Traditionally the source of self-knowledge and the knowledge itself are called *jñāna-gaṅgā* - the Ganges or the fountainhead of knowledge. *Vākya-sudhā* can also be interpreted similarly. During the deliberation on the text proper we will understand that our sorrowful existence of limitation called *saṃsāra* is pinned down to the names and forms (*nāma* and *rūpa*) of the Creation. A bath in Vākya-sudhā (the Ganges of knowledge), i.e. discovering the truth contained therein, washes off the dirt of names and forms (*nāma-rūpa*), just as a dip in the holy river Ganges washes off the sins. The alternative title of the text, Vākya-sudhā also signifies our pristine nature.

The book does not stop after unfolding the ultimate truth, but it

proceeds to prescribe the practicable means of contemplation (*nididhyāsanam*) related to the truth so discovered. A successful practice of these means leads to *samādhi* wherein the mind gets totally absorbed without any divisions whatsoever into the true nature of oneself identical with Brahman, the basis of the entire Creation. In all there are six *Vedāntic* ways to *samādhi* described which form a unique feature of this text.

When we analyse the content of this book, we find that there are in all 46 verses. Verses 13 to 31 barring 14, 21 and 28 are *mantras* 52 to 67 quoted verbatim from *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad* of *Kṛṣṇayajurveda*. The said *Upaniṣad* in its first 48 *mantras*, deals with *upāsanā* (meditation) of Goddess Sarasvatī - the presiding deity of all the types of knowledge. Thereafter till the end, i.e. *mantra* 68, it deals with Vedānta. The distinction between *dṛk* (seer) and *dṛśya* (seen) referred to in the *Upaniṣad's mantra* 53 is elaborated with the accompanied aspects, by the author of Dṛk-dṛśya-viveka in the first 12 verses. The portion from verse 32 till the end constitutes to a great extent an exposition of the last *mantra* of the *Upaniṣad*. Thus this text serves as a commentary on *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad*.

Such exposition is not plagiarism. On the contrary a number of *Vedāntic* treatises (*prakaraṇa-granthas*) which deal with a particular topic of Vedānta do literally incorporate in them the *mantras* from the *Upaniṣads* and elaborate upon them for a better understanding. The only purpose of the authors of such treatises in composing them is to help the seekers in their pursuit of the highest goal of life. The acquisition of name, fame, honour, distinction, power and position was not the intention, nor the exhibition of one's scholasticity the motive of these authors. The greatness of ancient Indian culture was in acknowledging *Īśvara* - the Creator - as the

very source of both knowledge and medicines - the basic necessities of life. Hence these two were not to be exploited for monetary gains. Plagiarism is an evil prompted by vested interests. Copyright has relevance only in the modern world because there is every possibility of ill-intention.

Śrī Bhāratītīrtha. the co-author of the famous *Vedāntic* treatise Pañcadaśī, is the author of Dṛk-dṛśya-viveka. Some opine that Ādi Śaṅkarācārya is the author whereas still others consider it to be Śrī Vidyāraṇya Muni. It is highly unlikely that either Ādi Śaṅkarācārya or Śrī Vidyāraṇya has authored this text. Śrī Brahmānanda Bhāratī who has written a commentary on this text refers to Śrī Bhāratitīrthaguru as the author while introducing the first verse. It is worth noting that Brahmānanda Bhāratī was the disciple of Śrī Bhāratītīrtha. So, we expect him to know accurately the books authored by his *guru*. There is also an indirect statement in his commentary which indicates that Ādi Śaṅkarācārya cannot be its author. He refers to Ādi Śaṅkarācārya by the word *'ācārya'* in his commentary on verse 30 while quoting a couplet from another text Vākyavṛtti authored by Ādi Śaṅkarācārya. There is no proof to consider Śrī Vidyāraṇya Muni as the author.

Among the Sanskrit commentaries (*tīkā*) on Dṛk-dṛśya-viveka, that of Śrī Brahmānanda Bhārati is the only one which is readily available and is exhaustive. The other three of them not published so far are:

i) Vākyasudhātīkā by Rāmacandra Yatiḥ.
ii) Vākyasudhāvyākhyā by Bhīmadās Bhūpalaḥ.
iii) Vākyasudhāvyākhyā by Viśveśvaraḥ.

The manuscripts of the last two commentaries are with Tanjore Saraswatī Mahāl Library. There is also a mention of a commentary by Ānandagiri in the book published by Sri Ramakrishna Ashrama, Mysore, but its availability is not known. Even the bibliographical survey of Advaita Vedānta literature published by the University of Madras, does not mention it.

There is also another commentary available titled "Ātmānanda Prabhākara" by Swami Ātmānanda Saraswati. It was published in the year 1978 during the birth centenary of its commentator, though the particulars of the publishers are not known. Surprisingly enough, this commentary is the same as that of Vākyasudhātīkā by Rāmacandra Yatiḥ except that it is supplemented by elaborate passages at some places.

Let us now begin the study of Dṛk-dṛśya-viveka in detail.

VEDĀNTIC WAYS TO SAMĀDHI

दृग्दृश्य विवेकः

(DṚK-DṚŚYA-VIVEKAḤ)

THE NATURE OF TRUE "I"

IMPARTIAL INQUIRY IS NECESSARY

It has become a fashion nowadays to brush aside as myth or nonsense whatever we do not understand or have no valid rational verifiable explanation for, from our present limited level of understanding. This attitude is commonly observed among the educated people in general and those who claim to have knowledge of science or psychology in particular. At times they add a note of mockery to drive home their point. They pose as if they have the final answer to everything. Unfortunately, even some scientists believe that what meets their eyes is only real and all the rest is simply a fiction. This is mainly because, unlike the investigators of truth in India from ancient times, they never had the training in epistemology to verify the validity of the means of knowledge (i.e. *pramāṇa*) employed before accepting the final reality of what is discovered. Sense perception is certainly useful. The daily living is just impossible without it. Yet, what is reported through the sense organs need not be always true if tested on the touchstone of reality. The fascination for the technological glamour has robbed many of the sense of discrimination. As a result they even do not

inquire into the things not available to the sense perception, leave alone any discovery of them. By such deceptive self-acknowledged high esteem of oneself we can neither learn anything nor unlearn something. So an inquiry with an open mind, having the necessary prerequisites is highly indispensable if we are to discover the ultimate truth to end our limited existence of sorrows and mortality.

THE DISCOVERY OF THE ULTIMATE TRUTH IS SELF-KNOWLEDGE

All that Vedānta does is to provide us the means to gain self-knowledge i.e. the discovery that the true "I" is not our embodiment, though it is universally mistaken to be "I". Our sorrows and limitations are on account of our mistaken identity. The true "I" is absolute happiness, totally free from sorrows, mortality and ignorance. The happiness is absolute because it is limitless self-revealing principle. It is independent of any object, event or being. The direct cognition of true "I" as shown here is self-knowledge. That itself is the knowledge of the ultimate truth.

The above fact appears strange. It is totally contrary to the universally prevalent notions. But the truth cannot be denied just because the majority of people are ignorant of it. The acceptance or rejection of the fact cannot alter the truth. The wise discerning person probes into it with an impartial mind, and discovers the truth finally.

The discovery of the ultimate truth is synonymous with the highest accomplishment in life that one can ever aspire for,viz.knowing the true "I". An intense urge to discover it is indispensable. The food is for the hungry; water for the thirsty; and the medicine for the sick. So is Vedānta for the *mumukṣu* - the

one who is earnestly set to free oneself forever from the life of strife and struggle by discovering one's own limitless true nature. A dead person cannot be treated. A healthy does not need any treatment. Only the sick person who knows one's state of ill health and wants to get cured, can be benefited by the medicines. So is Vedānta for those who are cognizant of the human problem of limitations and are very keen on solving it. Academic study of Vedānta born out of some curiosity, cannot guarantee by itself its final result, though secondary results to an extent are possible like some peace of mind or insight into one's life. Thus an impartial inquiry backed up by an intense inner urge to know the true "I" is imperative in gaining the success.

WHERE TO BEGIN THE INQUIRY

Naturally, the question arises where are we to begin the inquiry? Any inquiry into the unknown has to proceed from the realm of known. Let us first put together what we know about "I", if we are to discover the true "I".

All of us know for certain, "I am," or "I exist." Never do I exist periodically. I always exist. In the waking state I am present in and through all the circumstances and I am aware of them all throughout. It is so even in the dream state. I continue to be present in deep sleep state also. If it was not so it would not be possible for me to recollect the sleep experience undergone by me. The memory of sleep experience surely proves that I was present and aware of it in that state. In spite of this universal experience if at all, anyone doubts one's own existence, the one who has doubts is the "I" we are talking about. And of course he certainly exists which enables him to doubt his presence.

The above observation also points out that I am a sentient (*sacetana*) entity. Never am I inert in nature. If one argues that oneself is inert, in spite of our open mindedness, we are forced to conclude that the person is dull. An inert thing can never assert one's inertness. In short, I am a sentient entity who exists at all times. A sentient entity should necessarily have an innate cognitive principle as its very characteristic feature. These facts lead us to establish a norm to ascertain our real nature - the true "I" - and to the field where it has to be applied. The norm established is, "I am always the cognitive (*dṛk*) principle and I can never be the non-cognitive (inert/*jaḍa*) one". It has to be applied to our entire embodiment which is universally considered as "I".

The questions that need to be considered now are as follows: "Can the physical body be the cognitive principle 'I'?" "Is it possible that the sense organs which perceive the objects, form the cognitive true 'I'?" "Can the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) be the cognitive principle 'I'?" "Is there a cognitive principle called 'I' totally distinct from all of these considered as 'I' so far?"

THE HOW OF THE INQUIRY

Our embodiments consist of both the inert (*jaḍa/dṛśya*) and the cognitive (*dṛk*) faculties. It is like the hot water that scalds or a 'hot' iron ball that burns. Both have incorporated temporarily the heat or the fire principle in them though it is not their intrinsic feature. Or, it is like water in a bucket wherein the sun is reflected. It appears luminous though basically water is non-luminous. A child may mistake the hot water or the iron ball to be the fire principle itself or the water itself as luminous. The child can come to know the iron ball or the water to be cold and the water as non-luminous in nature only when it discovers them to be free from fire or light respectively. It is worth emphasizing that fire can never be

cold. The fire itself cannot be an object of burning or heating by itself. The light can never be non-luminous. It is impossible for light to illuminate light itself, as it does all the objects which are in its presence. In the same manner the cognitive principle can never cognise itself as an object. In other words, the cognitive (*dṛk*) principle can never be non-cognitive i.e. inert (*jaḍa/dṛśya*) so as to become an object of knowing viz. *dṛśya* (the known) of the cognitive or knowledge (*dṛk*) principle. When an inert (*jaḍa/dṛśya*) thing appears to be cognitive (*dṛk*) in nature it is temporary and only till the cognitive (*dṛk*) aspect is manifest in it. It is like the cold iron or the water behaving as hot, and the non-luminous water as luminous. When such temporarily featuring cognitive faculties themselves are found to be the objects of knowledge, their non-cognitive (*dṛśya*) nature gets exposed. This fact establishes that they cannot be the true cognitive (*dṛk*) principle, the true "I". There has to be the continuance (*anvaya*) of the cognitive (*dṛk*) nature in the ever-existent cognitive principle. In contrast to this, some time or other, there is the discontinuance (*vyatireka*) of the cognitive (*dṛk*) faculty in a non-cognitive (*dṛśya*/inert) thing which temporarily appears to be cognitive (*dṛk*) in nature.

There are a few cognitive (*dṛk*) faculties at different levels in our embodiment by which we are aware of varied things. We have to investigate the level of each of these cognitive faculties whether any one of them is the true "I". The one among them that never loses its power of cognition and becomes non-cognitive (*dṛśya*) is only the true "I" (*ātmā*). The true "I" is always cognitive in nature. Such a mode of inquiry called *dṛk-dṛśya-viveka* enables us to discern or sift the true "I" (*ātmā*) being cognitive or knowledge (*dṛk*) principle from the rest inert (*jaḍa/dṛśya*) not-self (*anātmā*).

ROLE OF THIS TEXT IN DISCOVERING THE ULTIMATE TRUTH

The text Drk-dṛśya-viveka, by employing the method of discrimination between the cognitive principle and the inert (*cijjaḍa-viveka*), ascertains the true "I" (*ātmā*). An exact determination of "I" is technically called *Tvaṃ-pada-śodhanam* - ascertainment of the word "you" from the *Vedāntic* aphorism (*mahāvākya*) *Tat tvam asi*, i.e. you are that Brahman. Only knowing our true "I" without relating it to the basis of the entire Creation - the ultimate truth called Brahman - is not complete knowledge. The above aphorism by revealing the identity between the true "I" and the ultimate truth completes the knowledge. The abidance in the knowledge of the ultimate truth which is our true nature, itself is *mokṣa* - the liberation. But to gain this knowledge of identity, the discovery of the exact nature of "I" is indispensable. This text endeavours mainly in that direction as mentioned in the Introduction. The auxiliary aspects are also discussed here to the extent required.

The background is now set to probe into the first verse. It tells in nutshell the nature of true "I".The same is further elaborated in the next four verses.

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम् ।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ।।१।।

rūpaṃ dṛśyaṃ locanaṃ dṛk tad dṛśyaṃ dṛk tu mānasam
dṛśyā dhīvṛttayaḥ sākṣī dṛgeva na tu dṛśyate - (1)

रूपं - the form दृश्यं - (is) the seen/perceived लोचनं - the eye दृक् - (is) the seer/perceiver तत् - that (eye) दृश्यं - (is) the

perceived/known मानसं - the mind तु - but दृक् - (is) the perceiver/knower धीवृत्तय: - thoughts of inner instrument (*antaḥkaraṇa*) दृश्या: - (are) the perceived/known साक्षी - the self-luminous cognitive principle दृक् - (is) the knower एव - only तु - but न - (is) not दृश्यते - known. - (1)

1. The form is the seen; the eye is (its) seer. The eye is the known; but the mind is the knower. (All) the thoughts are known. The self-luminous cognitive principle is always the knower; but never becomes the known.

EYE AS *DṚK* (COGNITIVE PRINCIPLE/THE SEER)

Our eyes have the power of sight which is one type of cognitive faculty. All the forms and the colours perceptibly available to the eye become its *dṛśya* - the objects seen. The eye gets the status of seer (*dṛk*) with respect to the forms seen by it. This is a fact beyond doubt. But one may wonder how is it going to help us in our present investigation.

DISTINCT FEATURES OF *DṚK* (COGNITIVE PRINCIPLE) AND *DṚŚYA* (COGNISED THINGS / THE KNOWN)

There is distinct difference in the nature of the seer (*dṛk*) eye and the seen (*dṛśya*) forms. The following generalisations can be made based on the behavioural patterns:

i) The seer eye is independent of the seen forms, whereas the seen forms depend on the seer eye for their existence.
ii) The seer eye is one cognitive faculty as against the many seen forms.
iii) The seer eye is sentient, but the seen forms are inert.

iv) The seer eye is more lasting in nature than its seen counterparts which come and go.

v) The seen forms do not constitute the seer eye. The seer eye is free from all the seen forms and their attributes. The seer eye remains unaffected by the attributes of all the seen forms.

vi) The eye has the status of being the seer only with respect to the seen forms. The seer eye is only power of sight in the absence of the seen forms.

The above features, some of which are elaborated in the next three verses, are applicable to all the cognitive (*dṛk*) principles - the seer/knower - and their counterparts the cognised (*dṛśya*) things - the seen/known. These observations in the differences in the behavioural patterns of *dṛk* (knower) and *dṛśya* (known) are highly useful in our attempt to ascertain the true "I". One can isolate and discard the not-self (*anātmā*) - temporary cognitive (*dṛk*) faculties in our embodiment including the body as not the true "I".

INERT FORMS CANNOT BE TRUE "I"

All the forms that we see are themselves inert. Even the seen form of a living being including that of ours actually belongs to the inert physical body and not to its sentiency aspect. This can be easily verified from the sight of a corpse which has a form although it is a dead mass. The inert form which includes physical body seen by the eyes cannot be the cognitive principle true "I".

EYE BECOMES *DṚŚYA* (THE KNOWN) WITH MIND AS *DṚK* (THE KNOWER)

When we say, "I see", only the sense organ eye is considered

as "I". Can the eye having the power of vision be "I"? The eye cannot see itself because the subject and the object cannot be identical. Only the reflection of the eyes is seen in the mirror and not the eyes. Nevertheless the mind does know the eye as a seen object (*dṛśya*). That is how we know the ocular conditions like blindness, dullness and sharpness of vision. So the status of the eye as the cognitive (*dṛk*) principle is only relative. Otherwise it cannot become a seen object (*dṛśya*) of the mind. The faculty of sight also depends on the mind. That is why we do not see the objects right in front of our eyes when our mind is totally engrossed in something else. The typical statement, "My mind was preoccupied elsewhere. So I did not see." (*Bṛ.U.* 1-5-3), confirms the fact that the cognitive faculty in the eye is not its inherent feature. But the true "I" is always a cognitive (*dṛk*) principle and it never becomes an inert object of cognition just as light cannot be the object of light itself. So we find the eye as a seen or known object (*dṛśya*), it cannot be the true "I". This disqualifies the eye to be the true "I" because it becomes *dṛśya* - the known. Its cognitive faculty is not its own. The mind is the knower (*dṛk*) with respect to the known (*dṛśya*) eye.

The word *tu* - but - occurs twice in this verse. The first *tu* in the first line is to show the status of the mind as the knower (*dṛk*) with reference to all the sense organs and the organs of action. The mind is not the knower (*dṛk*) only in relation to the eye. We can verify this from our direct knowledge that the mind objectifies all the senses.

MIND ALSO BECOMES *DṚŚYA* (COGNISED THING/THE KNOWN) - IT IS NOT TRUE "I"

We are now facing a question whether this cognitive (*dṛk*)

principle called the mind is the true "I". The word *mānasam* - the mind - here implies the entire inner instrument (*antaḥkaraṇa*) comprising the mind, intellect, erroneous "I" notion called ego, and the faculty of memory (*manas, buddhi, ahaṅkāra* and *cittam*). All the modifications of the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) called *dhīvṛttayaḥ* - the thoughts - are inert in nature. The following experiment cited in *Chāndogya Upaniṣad* (6-7-1 to 6) verifies the inertness of thoughts. One has to fast or totally abstain from food continuously for fifteen days. Water of course must be drunk in abundance to protect the physiological faculties. At the end of the fifteenth day the person is unable to think or remember except for some meagre thoughts. Thereafter the food has to be eaten in a proper measure. The thoughts get restored soon. This shows that thoughts are the modifications of inert food. And yet, if the inert thoughts (being the entire inert inner instrument/*antaḥkaraṇa*) are able to cognise, it can only be possible if a distinct cognitive principle is available in them. It is like the non-luminous water appearing luminous with reflected sun. This cognitive (*dṛk*) principle which illumines - makes known - all the thoughts as *dṛśya* (known/cognised) is itself the final cognitive (*dṛk*) principle.

FINAL *DṚK* (COGNITIVE PRINCIPLE) - *SĀKṢĪ* - IT IS TRUE "I"

The final cognitive (*dṛk*) principle is called *sākṣī* - the self-existent and the self-luminous knowledge/cognitive principle. It is the same as pure awareness (*caitanya* or *ātmā*).

The word *sākṣī* can be resolved in Vedānta as follows:

स्वाध्यस्तं सर्वं साक्षादन्यानपेक्षया ईक्षते प्रकाशयति इति साक्षी ।

"*Sākṣi* is that which directly/independently reveals illumines/makes known - all that is (falsely) superimposed on it."

Unlike the sense organs and the mind, the *sākṣī* itself is the self-existent knowledge principle. It does not depend on anything else for its cognitive faculty. The difference will be clear when we consider our power of sight. The eye depends on the mind, without which it cannot see. The inert mind in turn has to depend on *sākṣī*, the only independent cognitive (*dṛk*) principle. Such dependence is indispensable for inert sense organs including the entire inner instrument (*antaḥkaraṇa*). They all are non-cognitive *(dṛśya)* in nature. They are all known by cognitive principle of higher level - the eyes by mind and the mind by the *sākṣī*. *Sākṣī* - pure awareness - is totally free from all the inert non-cognitive (*dṛśya*) things.

Generally the word *sākṣī* is translated in English as "witness". This English word is inadequate in conveying the actual meaning of *sākṣī*. The translation does not display the actual nature of *sākṣī* inherent in the original word. At best the word "witness" can show only two aspects of *sākṣī* namely, being not a party to the happenings and being unaffected by what is illumined.

SĀKṢĪ IS ALWAYS *DṚK* (COGNITIVE PRINCIPLE)

The eye was a cognitive faculty - *dṛk* (the seer) - with respect to the seen forms. But its status of being *dṛk* was taken away from it when the eye was found to be the *dṛśya* - the known - of the mind. Though the mind was the knower (*dṛk*) in relation to the known (*dṛśya*) eye, the status of mind being *dṛk* (the knower) was not accepted when all the thoughts which include the mind also, are discovered to be the *dṛśya* (the known objects) of *sākṣī* - the pure

awareness principle or the final cognitive principle. A novice, not knowing the exact nature of final *dṛk* (cognitive principle) called *sākṣī* may still doubt if the *sākṣī* also becomes non-cognitive as the known (*dṛśya*) of some other cognitive principle. To remove this doubt the author of this text emphasises the exclusive cognitive (*dṛk*) nature of *sākṣī* by the word *eva* - only - in the phrase *sākṣi dṛk eva* - the *sākṣī* is only *dṛk*. The word "only" (*eva*) negates the possibility of *sākṣī* becoming the *dṛśya* (the known) at any time.

SĀKṢĪ NEVER BECOMES *DṚŚYA* (COGNISED THING)

To consolidate the negation done indirectly by using the word "only" (*eva*), the author proceeds to directly negate the possibility of *sākṣī* becoming the *dṛśya* (the known) in so many words asserting in the last phrase of the verse, "But never becomes the known".

The second time use of the word *tu* - but - found in the last phrase distinguishes the independent and the permanent status as *dṛk* (cognitive principle) of *sākṣī* in contrast to the dependent and the temporary statuses of eye and the mind. The ever-*dṛk*, i.e. the cognitive (*dṛk*) principle which is always so, continues to exist in sleep even in the absence of thoughts. The absence of all thoughts in the sleep is verily cognised and it can be inferred from our memory of sleep experience in waking state. The absence of thoughts, as and when found, in the waking state also is cognised by us. Such cognition is possible only in the presence of the ever-existing cognitive principle - *sākṣī*.

To say that *sākṣī*, i.e. the self-existent and self-luminous (or self-evident) knowledge/cognitive principle, also called pure awareness or *caitanya*, becomes *dṛśya* (the known non-cognitive inert thing) is against the declarations of the Vedas. The Vedas

have never described *sākṣī* as becoming *dṛśya* (non-cognitive). On the contrary there are emphatic statements that it is self-evident/ self-luminous (*Bṛ.U.* 4-3-9 and 14) and is never extinct (*Bṛ.U.* 4-3-23).

We can deduce through reasoning also the permanency in cognitive status of *sākṣī*. If the final cognitive principle *sākṣī* is available as a *dṛśya* - the known - for some other cognitive principle it cannot be the ultimate cognitive principle. Another *dṛk* - cognitive principle (second order) - will be required to enable the earlier (first order) *sākṣī* to cognise. The later (second order) *dṛk* - cognitive principle - is akin to the earlier (first order) one called *sākṣī*. Like the earlier (first order) *sākṣī*, the later (second order) *dṛk* also will need another (third order) cognitive (*dṛk*) principle. This series will continue to infinity without any termination. It is a logical fallacy termed as the defect of regress ad infinitum (*anavasthā doṣaḥ*). Eventually, this can only end in stupor or no possibility of any cognition whatsoever. This is not valid because we do find cognition of things, a universal phenomenon in the Creation.

Taking into account what we know, we arrived at a norm that the true "I" is always the cognitive (*dṛk*) principle and it can never be a non-cognitive (*dṛśya*/inert) one. The eye and the mind - two of the cognitive faculties available in our embodiment - did not fulfil the criteria of "I" because they become at times non-cognitive (*dṛśya*). It was also ascertained that the pure awareness (*caitanya*) called *sākṣī* is the true "I" as it is the only self-existent, self-evident, ever-existing cognitive/knowledge (*dṛk*) principle. Our investigation cannot stop here. A few more aspects are yet to be discovered. We also need to make the present inquiry comprehensive. This is carried out by the next four verses. To begin with the second

verse clarifies the first quarter of the first verse by providing the reasons for why the form is the seen (*dṛśya*) and the eye is the seer (*dṛk*).

नीलपीतस्थूलसूक्ष्महृस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचनमेकधा ।।२।।

nīla-pīta-sthūla-sūkṣma-hrasva-dīrghādi-bhedataḥ
nānāvidhāni rūpāṇi paśyellocanamekadhā - (2)

रूपाणि - forms नीलपीतस्थूलसूक्ष्महृस्वदीर्घादिभेदतः - due to distinctions (*bhedataḥ*) like blue (*nīla*), yellow (*pīta*), gross (*sthūla*), subtle (*sūkṣma*), short (*hrasva*), long (*dīrgha*) etc. (*ādi*) नानाविधानि - various types (भवन्ति - are) (किन्तु - but) लोचनम् - the eye (तान् - them) एकधा - in one way (i.e. without changing itself) पश्येत् - sees. - (2)

2. The forms are many due to the distinctions like blue, yellow, gross, subtle, short, long etc. But the eye sees them without any changes in itself.

WHY THE FORM IS THE SEEN (*DṚŚYA*) AND THE EYE IS THE SEER (*DṚK*)

We observe in the world that a given cognitive (*dṛk*) faculty does not change even when the things cognised (*dṛśya*) change. The change or diversity is the characteristic of the perceived objects, while remaining changeless is the feature of the cognitive faculty. The rationale of this is the fact that only a changeless principle can cognise any change. The changes do

need a changeless base. The cognitive faculty will not be able to cognise the various things if that itself keeps on undergoing a change influenced by the diverse and changing cognised objects.

The forms that we see differ from one another. They differ in colours, dimensions, texture, lustre and many other aspects. The forms have the status of being the *dṛśya* (the seen) or the cognised things, because they are many and varied. They cannot be the *dṛk* (the seer), the ultimate cognitive principle, for the same reason. The eye sees different forms without taking unto itself the features of the things seen. When it sees blue, yellow or any other colour, it does not become so. If gross or subtle things are seen, the eyes do not grow or diminish in dimensions. The long or the short things seen do not elongate or shorten the eye. You may see a tumbler, a book, a man, a woman, a car, a cow, a tree or many other things which differ from one another. The eye as single power of sight sees them all without itself changing. Therefore eye is considered as *dṛk* (the seer) - a single cognitive principle - with respect to the varied forms seen. There is no means of knowledge other than the eye to know the existence of forms. The forms cannot be *dṛk* (the seer) because they can never see the eye or anything else and so they are fit to be only the *dṛśya* - the seen - with respect to *dṛk* (the seer), the eye.

The eye remains the same while seeing the different forms, no doubt, but it does undergo changes in itself. These changes are cognised by the mind. Thus the eye becomes the *dṛśya* (the known) in relation to the mind as its *dṛk* (the knower). This fact, mentioned already in the second quarter of the first verse, is now

explained in detail after which the present inquiry is extended to the rest of the sense organs.

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा ।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम् ।।३।।

āndhya-māndya-paṭutveṣu netradharmeṣu caikadhā
saṅkalpayenmanaḥ śrotratvagādau yojyatāmidam - (3)

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु - blindness, dullness and sharpness नेत्रधर्मेषु - characteristics of the eye मनः - mind एकधा - in one way (i.e. without itself changing) सङ्कल्पयेत् - cognises इदं - this (inquiry) श्रोत्रत्वगादौ - to ear, sense of touch, etc. च - also योज्यतां - may be applied. - (3)

3. The mind without any changes in itself, cognises the characteristics of the eye such as blindness, dullness and sharpness. May this inquiry be also applied to ear, the sense of touch etc.

WHY THE EYE IS THE KNOWN (*DṚŚYA*) AND THE MIND IS THE KNOWER (*DṚK*) ?

The eye may be or may become totally blind having no power of sight at all. Or the sight may be obscured taking away the clarity of the things seen. The eye may also be very sharp endowed with a capacity to see the minutest details of even the distant objects. All such characteristics of the eye are cognised by the mind without taking unto itself those features. When the mind cognises, "My eyes are blind.", the mind does not become blind or lose the power of thinking. Or if the mind objectifies, "My eyes are

dull.", it does not become dull. Similarly when the mind finds, "My eyes are very sharp.", the mind is not sharp or wise only because the eye is sharp. Otherwise the vulture will be a very wise bird. As the mind cognises the changes occurring in the eye without any changes in itself the mind is the knower (*dṛk*) with respect to the known (*dṛśya*) eye.

EXTENSION OF INQUIRY TO OTHER SENSE ORGANS

So far the inquiry of discriminating between the knower and the known, i.e. *dṛk-dṛśya-viveka,* was restricted only to the eye and the mind. We also use other sense organs, viz. ear, skin (the sense of touch), tongue and nose, for our perceptions. All of them including the mind or more precisely the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) are the two levels where the cognitive faculties are present in our embodiment. So our investigation of ascertaining the true "I" by employing this method can be valid only when our findings hold good with respect to all the cognitive faculties available in our body. Keeping this in view, the author is asking us to extend the present inquiry suitably to the rest of the sense organs. Thus, we have been given an exercise for validating what has been determined till now and on our own to discover a deeper insight in it.

Let us see the relevant aspects of rest of the sense organs:

Ear (the sense of hearing):

Sound (*śabda*) is the heard (*dṛśya*). The ear (*śrotram*) is the hearer (*dṛk*). The ear in turn is the known (*dṛśya*) with the mind as its knower (*dṛk*). Sounds differ on account of their distinctions of pitch, tone, timbre, melodious or jarring etc. Yet,

the ear hears them all without changing its auditive power. The mind cognises the characteristics of ear like deafness, poor audibility and sharp audibility without any change in itself.

Skin (the sense of touch):

Touch (*sparśa*) is the felt (*dṛśya*). The skin (*tvak*) is the feeler (*dṛk*). The skin itself is the known (*dṛśya*) with the mind as its knower (*dṛk*). Touches differ due to the distinctions of texture like soft, hard, hot, cold etc. But the skin feels them without any change in its tactile faculty. The mind cognises the characteristics of skin like numbness, semi-numbness, and an acute perceptibility of touch without any change in itself.

Tongue (the sense of taste):

Taste (*rasa*) is the tasted (*dṛśya*). The tongue (*rasanā*) is the taster (*dṛk*). The tongue is the known (*dṛśya*) with the mind as its knower (*dṛk*). The tastes differ due to their distinctions like sweet, bitter, sour, saline etc. But the tongue tastes them without any change in its tasting faculty. The mind, without any change in itself, cognises the characteristics of tongue such as tastelessness, dull taste and sharp taste.

Nose (the sense of smell):

Smell (*gandha*) is the smelt (*dṛśya*). The nose (*ghrāṇa*) is the smeller (*dṛk*). The nose is the known (*dṛśya*) with the mind as its knower (*dṛk*). Smells do differ due to their distinctions like fragrant, foul, faint, strong etc. But the nose smells them without any change in its olfactory faculty. The mind too, without any change in itself, cognises the characteristics of nose like total loss of olfaction, dull olfaction or sharp olfaction.

The facts that thoughts (*dhīvṛttayaḥ*) are the known (*dṛśya*) and the *sākṣī* (pure awareness/*caitanya*) - the self-existent and self-luminous cognitive principle - is only the final *dṛk* (the knower), hold good with respect to each of these four sense organs. The inert or non-cognitive *dṛśya* (the known) can never be the true "I" (*ātmā*). Our physical body is an object of the faculties of seeing, hearing, touching, tasting and smelling. The body is known (*dṛśya*) by each of the sense organs. The known body cannot be "I". The known (*dṛśya*) sense organs and the *antaḥkaraṇa* (inner instrument) comprising all thoughts, are not "I". Our organs of action and the physiological functions called *prāṇas*, are not "I" because they are also the known (*dṛśya*). In short the entire embodiment of ours is the known (*dṛśya*) and so it is not the true "I". Only *sākṣī* (pure awareness/*caitanya*) is the true "I" because that is the ever-existing only cognitive principle which corresponds to the norm of "I".

ELABORATION OF "*SĀKṢĪ* IS ALWAYS *DṚK*"

Now the statement *sākṣī dṛgeva* (*sākṣī* is always *dṛk*) from the second line of the first verse is further elaborated in the fourth verse.

कामः सङ्कल्पसन्देहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे ।
ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन्भासयत्येकधा चितिः ।।४।।

kāmaḥ saṅkalpasandehau śraddhāśraddhe dhṛtītare
hrīrdhīrbhīrityevamādīn bhāsayatyekadhā citiḥ - (4)

चितिः - pure awareness (*sākṣī*/*caitanya*) कामः - desire सङ्कल्पसन्देहौ - consideration and doubt श्रद्धाश्रद्धे - faith and

its absence धृतीतरे - fortitude and lack of it ह्रीः - shame धीः - determined knowledge भीः - fear इत्येवमादीन् - of such nature and the like एकधा - in one way (i.e. without changing itself) भासयति - illumines /makes known. - (4)

4. The pure awareness (*sākṣī*) without changing itself, illumines (i.e. makes known) the thoughts, "Desire, consideration and the doubt, faith and its absence, fortitude and the lack of it, shame, determined knowledge, fear", and the like.

Without any exception, all thoughts are the functional modifications of the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). The thoughts being inert, are non-cognitive in nature. The objects immersed in pitch darkness cannot be seen or appear bright unless illumined by light. Similarly the inert thoughts cannot be cognised or be known on their own. They can function as a cognitive faculty or can be known only when they get illumined by the pure awareness called *citi*. Before probing how exactly the pure awareness (*citi/caitanya*) illumines - makes known - all the thoughts, it will be useful to know the main varieties of different thoughts.

MAIN VARIETIES OF THOUGHTS

The verse narrates a long list of thoughts as follows:

Kāmaḥ:

In general a desire is called *kāma*. It is in the form of a thought. Here the word *kāma* includes all types of desires. They are born of the feeling of some deficiency by fulfilling which one hopes to be happy or better off. Desires are never ending. It is next to impossible to fulfil all of them. In fact the

seed of desires is ignorance of true nature of "I" (*ātmā*) which is complete and self-sufficient. The true "I" lacks nothing, wants nothing. It is indestructible, self-existent limitless happiness free from ignorance. Only in the wake of self-knowledge the desires get extinct and do not germinate.

Saṅkalpasandehau:

The two words *saṅkalpa* and *sandeha* are clubbed together in this compound word. *Saṅkalpa* is a consideration or surveying with the mind of varied aspects in order to reach a conclusion. When confronted with an object, the reflection or thinking about as to what it is, is *saṅkalpa*. It is in the form of thoughts that spring before reaching the conclusion or decision. The word *saṅkalpa* also has many other meanings like volition, mental resolve etc.

Sandeha means doubt - an undecided state of mind or a feeling of uncertainty. It is also a disinclination to believe. Doubts are not desirable to anyone in any field of worthwhile accomplishments. Lord Kṛṣṇa declares, *"saṃśayātmā vinaśyati"* - a person full of doubts is ruined (*B.G.* 4-40).

Śraddhāśraddhe:

This compound word has two components, *śraddhā* and *aśraddhā*. *Śraddhā* is generally translated as faith. It is the conviction (*āstikyabuddhi*) that what is told in the scriptures like the Vedas and similar other authentic sources of knowledge including the teaching of a competent teacher (*guru*) is true. It may not be possible for us to verify instantly about the veracity of many things told in the Vedas. Until we ourselves verify the truth, *śraddhā* serves like a seed capital in a business. It is not

a blind following wherein one never cares to verify the truth of what has been accepted.

There are some things told in the scriptures which are not possible for us to validate with the limited means of knowledge at our disposal as humans. Even in such cases the antecedents of the persons who have declared these things should help us to develop the required conviction that they are true. Take for instance the great sage Vyāsa who had compiled all the Vedas. He was the person who had not uttered a single lie even out of humour or sport. It is not the trait of such a noble person to hoodwink the humanity by bluffs. Those masters have nothing to get from the world because of the fullness they have discovered by gaining self-knowledge. Their very sojourn on this earth and what they do are born out of only selfless love for humanity. We have no reason not to accept the veracity of the scriptures given and taught by such masters. The truth of certain branches of knowledge like astronomy told in the Vedas can be verified by us now with the aid of modern gadgets. This also can help us to justify our acceptance of the remaining areas covered in them. It is in our interest that we develop *śraddhā* in the scriptures like the Vedas and the *Upaniṣads*.

Aśraddhā is the absence of *śraddhā*. One who has no *śraddhā* (i.e. *aśraddhadhānaḥ*) also is ruined *(B.G.* 4-40).

Dhṛtītare:

It means *dhṛti* (fortitude) and *itarā* - the other one, viz. the absence of *dhṛti* called *adhṛti*. *Dhṛti* is that mental faculty or the thought by which the sinking - declining in strength - body, senses, mind and intellect are enthused and revived

individually or collectively. Absence of such faculty is *adhṛti*.

Hrīḥ:

Shame, bashfulness or modesty are in general called *hrīḥ*. Shame here mainly refers to the feeling of being ashamed to do the things prohibited by the scriptures.

Dhīḥ:

Generally the intellect is called *dhīḥ*. But here this word means the ascertained knowledge (*prajñā*).

Bhīḥ:

Fear is *bhīḥ*.

The above list of thoughts is mentioned in the following *Bṛhadāraṇyakopaniṣad mantra* (1-5-3) as nothing but the modifications of *antaḥkaraṇa* (the inner instrument):

काम: सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ।

"All these, viz. desire, consideration, doubt, faith, absence of faith, fortitude, lack of fortitude, shame, determined knowledge and fear are only the mind, i.e. the modifications of *antaḥkaraṇa* (inner instrument)" (*Bṛ.U.* 1-5-3).

The word *ādi* (etc.) in the phrase *ityevamādīn* - of such nature and the like - of this verse includes other thoughts such as anger (*krodha*), greed (*lobha*) and many other varieties of them as mentioned in the *Aitareyopaniṣad* (3-2).

They are as follows:

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वशः ।

The following description gives their brief meanings:

Saṃjñānam: The feeling by which one feels sentient all over the body.

Ājñānam: The thought that prompts commanding or that by which the person is aware of one's status as a master.

Vijñānam: The knowledge pertaining to sixtyfour branches of knowledge available in the Creation.

Prajñānam: Quick wits or the presence of mind.

Medhā: The retentive power especially with respect to the texts studied.

Dṛṣṭiḥ: The thoughts corresponding to the knowledge of sense objects gained through all sense organs.

Dhṛtiḥ: The meaning was already told.

Matiḥ: Deliberation regarding politics, logistics etc. wherein the help of others is taken for granted.

Manīṣā: Independence in deliberation which is attributed to certain faculty of specific thought.

Jūtiḥ: Sorrow due to sickness.

Smṛtiḥ: The memory in general.

Saṅkalpaḥ: The meaning was already told.

Kratuḥ: Decision of the nature, "I shall certainly do this".

Asuḥ: Thoughts related to the functions like breathing etc. which are necessary for our survival.

Kāmaḥ: The meaning was already told.

Vaśaḥ: Conjugal desire.

The above exhaustive list of thoughts shows us that everything in the Creation can finally be experienced or known by us only through the medium of thoughts in our *antaḥkaraṇa* (the inner instrument). No experience or knowledge of the Creation and its different aspects is ever possible unless thoughts depict them for us. The *antaḥkaraṇa* (the inner instrument) can be viewed like a canvas on which thoughts weave for us the pictorial patterns of all that we cognise. This fact will be highly useful to us later in the context of the highest contemplation called *nididhyāsana.*

HOW DOES *CITI/SĀKṢĪ* ILLUMINE THOUGHTS?

The verse proceeds further to explain how exactly does the pure awareness (*citi*) illumine - makes known - to us all the thoughts. It illumines (*bhāsayati*) whatever is present in one way (*ekadhā*) - without undergoing changes in itself. The illumined thoughts which come and go in the presence of *sākṣī* are variegated and subject to changes. But the pure awareness (*citi*) does not assume itself all these changes. It is always changeless irrespective of presence or absence of thoughts. To put it differently whether in its presence the temporary thoughts are born or not, *citi* remains changeless. Change and destruction are the characteristics of limited things which are born. *Citi* (pure awareness) is limitless in nature as will be seen from what is told in the next verse.

SĀKṢĪ AND *CITI* ARE SYNONYMS

The *sākṣī* as *dṛk* (cognitive principle) was mentioned as the illuminator of all the thoughts, in the first verse. In this verse the same status is given to *citi.* Those who do not know the

meaning of these two words *sākṣī* and *citi* may see a contradiction in these two statements. But there is none. Both of them mean pure awareness. They are synonymous. The words *sākṣī* and *citi* are used till the end of this text interchangeably. In fact all the words *sākṣī, citi, caitanya, jñānam, bodhaḥ, ātmā, pratyagātmā, kūṭasthaḥ*, pure awareness etc. are synonymous.

PERCEPTION AS EXPLAINED BY NEUROSCIENCE

An analysis of perception according to neuroscience and what Vedānta has to tell about the thoughts and the cognition, can be mutually supplementary and so, beneficial. At the outset we acknowledge that both employ different approaches because of their different fields of work and the goals.

Vedānta deals with a thought as the unit required for a specific cognition. It does not probe into its anatomy, as it is not its field of investigation. Its main preoccupation as regards the thoughts is to improve them qualitatively and control them quantitatively. This makes the thoughts conducive to the higher pursuit of discovering the true nature of oneself being identical with the ultimate truth. Vedānta begins the pursuit by spelling out the required measures to prepare the mind through good thoughts, and thereafter a proper inquiry coupled with appropriate means, and one gets beyond the very thoughts to their very basis the pure awareness.

The neuroscientists analyse the anatomy of thoughts as related to the brain so that they can help those patients who have damage or disorder in their brains. Their discoveries also help psychiatrists to cure the psychic disorders.

The breakthrough made by neuroscientists regarding the physical aspect of the thought helps a student of Vedānta to have a better perspective of the thought. This is an added asset in one's higher pursuit. Their study of the victims of mental diseases or brain damage, if properly analysed, can serve as a stark demonstration of how false is the reality of the world around us, which is uncompromisingly emphasised by Vedānta as a fact. On the other hand Vedānta also can point out to the neuroscientists the missing link regarding perception. Such a gap if suitably bridged can lead to a leap from thought energy to the very source of all the energies called the ultimate truth.

We shall first consider how exactly according to the medical science, the sense stimuli from different sense organs reach the brain one by one. Thereafter the cognitive function in the brain discovered by the neuroscientists so far will be discussed.

Eye: In the act of seeing, light reflected off the object being seen, reaches the retina via the cornea, pupil, aqueous humour, lens and vitreous humour. Retina responds by generating eletrical impulses and transmitting to the brain via optic nerve, optic chiasma, optic tract, lateral geniculate body and optic radiation, to finally reach the grey matter of the occipital lobe of the brain.

Ear: Sound waves first reach the eardrum (tympanic membrane) to set it vibrating. The vibrating eardrum transmits its energy to the three minibones in the middle ear - malleus, incus and stapes. The foot of the stapes impinges on the membrane of inner ear. The fluid in the inner ear is activated and sets into motion the hair cells.

The endings of the auditory nerve, resting on the hair cells pick up these impulses and transmit them as electrical messages, along the auditory nerve, trapezoid body, lateral lemniscus, medial geniculate body, auditory radiation and finally the auditory grey matter in the cortex of the temporal lobe.

Skin: A wide variety of sensory receptors in the skin pick up the sensations of touch, temperature, pain and pressure, and convey them, along the ascending nerve tracts, to the somatosensory cortex in the parietal lobe.

Tongue: The taste buds on the tongue transmit the impulses of taste via the cranial nerves to the somatosensory cortex in the parietal lobe.

Nose: The olfactory membrane at the roof of the nose contains the olfactory receptors. The chemical substance present in an odour is carried by the inhaled air. The chemical gets bound with the local chemical called the odorant binding protein. This chemical binding initiates the electric impulses in the nerve endings of the olfactory membrane. These impulses are conveyed by the fibres of the olfactory nerve to the rhinen cepholon more commonly known as limbic system, a part of the old brain, which is also responsible for moods and emotions.

Cerebrum, the largest part of the brain is divided into two hemispheres each having four lobes. It has an outer layer of grey matter called the cerebral cortex and inner core of white matter that relays information to and fro the cortex. The cortex handles the most sophisticated functions of the brain, from processing all

special sense perception, commanding voluntary motor activities, thinking and planning. The functional units of the brain are the nerve cells called neurons. They transmit information in the form of electric impulses. The neurons are separated from one another by tiny gaps called synapses. When an electric impulse moves through a neuron, the cell releases a neuro-transmitter at the synapses. All neuro-transmitters induce electric impulse in the connected neurons.

The impulses starting from the nerve endings in the sense organs are transmitted through a series of regulating relays to the corresponding parts of the cortex where millions of neurons are induced to fire off minute electric impulses simultaneously in a pattern. These patterns provide the perception of the sense objects reported by the corresponding sense organs. The impulses die away within milliseconds, but their passage reinforces a particular set of connections among the related set of neurons giving them the ability to re-create the image of the object perceived. The persistence of the neuronal firing patterns over a time transforms the perception into the memory of that object. The memory can be short term or permanent/long term, depending on the repetition of a specific perception. The memory is re-created by inducing the neurons to send up electric impulses in the original pattern which by now has become a familiar one. By using advanced technologies like MRI and PET scanners, neuroscientists can watch a thought taking place, see the red glow of fear erupting in the cerebral part of the limbic system which regulates the heartbeat and other visceral functions and processes the emotions. They can also detect the firing of neurons as a long-buried memory is revived. This is where the present scientific explanation of the thought process stops. We are expected to take it to be so until something further is discovered.

LACUNAE IN THE DISCOVERIES OF NEUROSCIENCE

Even if we accept that with these discoveries and more to follow, the human beings may one day fully comprehend the human mind, a major lacuna persists. A very basic and prominent question remains untouched, leave alone its full answer and that is what is relevant here. It does not really make any difference whether Vedānta declares that thoughts make you cognise or neuroscientists demonstrate that neuronic firing of the electric impulses gives us the perception. Vedānta speaks of thought as a unit made up of five great elements (*pañca mahābhūta*), viz. space, air, fire, water and earth, in their subtle form before a process of grossification called *pañcīkaraṇa*. It does not probe further into the constitution of thought except bringing it to our notice that it is physical matter. Neuroscientists show us that the thought is a pattern of specific type of electric impulses which is of course a form of energy. It does not matter whether the thought is energy or matter, but what really matters is energy as well as matter themselves are inert. For, we know well that energy in motion is matter. There cannot be any difference of opinion regarding the fact that an inert thing, be it matter or energy, cannot know or cognise on its own. While Vedānta, based on what we have seen earlier, has already furnished an answer as to how an inert thought cognises, a few scientists who have by now become aware of this problem, are groping in the dark for an answer.

SPECULATIONS OF A FEW SCIENTISTS

That, as per Vedānta, the *sākṣī* or *citi* - the self-existent, self-luminous knowledge/ cognitive principle - enables the inert thoughts to cognise, has been pointed out so far. Some of its different aspects will be elaborated further in this text with due clarity.

Before doing that let us briefly scan a few of the speculative theories put forth by some of the scientists and consider their attitudes in general with reference to our cognitive ability:

i) According to one view "consciousness" is a concept of our own self. We reconstruct it moment by moment on the basis of the image of our own body, our own autobiography and a sense of our intended future. Those who hold this theory are also emphatic that consciousness is not some kernel of awareness corresponding to the "self", housed deep inside the brain. The proof is that the brain researchers after looking for it for more than a century, have concluded since long that there is no conceivable place for such a self to be located in the physical brain. And therefore they argue that it simply does not exist.

To avoid ambiguity, let us first clarify the accepted meaning of the two words "consciousness" and "awareness" as used in the above theory or speculation. In the current context, both the words refer to that faculty by which we are conscious of, or aware of, all that we cognise. It is not the totality of a person's thoughts and feelings. Because, when "consciousness" is taken as a conceptual product of the totality, a question arises. If "consciousness" takes shape subsequently how exactly can any one conceive oneself, reconstruct something, know the image of one's own body, know one's own autobiography and have a sense of one's intended future beforehand? Without being conscious, no conception about oneself is possible and without that conception "consciousness" can never be available. However, if it is argued that the present "consciousness" is the product of preceding "consciousness" which enables the required conception etc., it leads to the next question, when did the first moment of "consciousness" start?

If the answer is that it started at the time of our birth, then even at that time also the "consciousness" necessarily has to be the product of prior concept about one's own self. In that case how and where and when did the "consciousness" prior to the birth originate? Pointing out the foetus or the first union of sperm and ovum is not going to solve the problem. There also the same question arises which cannot be answered. It is a *non sequitur.* The above conjecture amounts to say that "consciousness" must be already there for the "consciousness" to exist. This is a logical fallacy called self-dependence, i.e. *ātmāśraya doṣa.* Such a notion of "consciousness" cannot hold good. Our anatomical structure called the body is inert by itself. It can be verified by seeing a corpse. Sperm and ovum including the genes, DNA and other biological material are themselves inert matter. They cannot be conscious on their own.

Citing the brain researches, to conclude that there is no conceivable place in the brain for the awareness or the self to be there, is as highly amusing as the declaration, "There is nothing called space in a jar because we could not see there such a thing called space even after scanning it with a scanning electron microscope!" The misguiding conclusion of science research is based on the assumption that the faculty of awareness is perceptible by the sense organs and also on the blind belief viz. "Only, what meets the eye, can exist".

Let us further consider four more speculative theories. The second and the third given below have their basis in biology and neurology. The fourth one is from a mathematician. The fifth speculation is floated by a computer scientist. It is interesting to note that one of the subscribers of the second

view candidly admits that he is groping his way through the jungle whereas the author of the fourth view wonders, "It may be that the scientists will eventually have to acknowledge the existence of something beyond their ken - something that might be described as the soul!" Though the following four views differ from one another, they have a common basic theory. So they can be answered together.

ii) Consciousness is a by-product of the simultaneous, high frequency firing of neurons in different parts of the brain. It is the meshing of these frequencies that generates consciousness like the tones from individual instruments produce the sound of a symphony orchestra.

iii) The second theory itself is presented with a subtle difference. The firing of neurons is considered to be not only simultaneous, but also co-ordinated. Based on the indirect measuring of electric currents in the brain by using a highly sensitive device called magnetoencephalograph, it is concluded that a number of cells must be jumping up and down while firing the electrical signals, and these oscillations are the basic building blocks of consciousness.

iv) Consciousness arises from quantum mechanics, the same process that governs the behaviour of subatomic particles.

v) The mind is like a parallel-processing computer and consciousness is the co-ordinated signal-processing of individual "agents" described as simple computer programs.

These four speculative theories differ in their details, but all of them have one common base, viz. a combination of a few inert

things in the form of either matter or energy or both, produces the cognitive principle, pure awareness. This theory is similar to an old Indian school of thought called *Cārvāka* who had no details on scientific basis. Despite this lacuna what both modern theory and *Cārvāka* refer to is the same. However, the proponents of such theory have been answered by Vedānta long back.

If a combination of a few inert things can produce cognitive principle or so called consciousness, it must be produced at all the places wherever there is any combination of inert things like a pen, car, house etc. also. Why should it be confined only to living organisms? For example, according to this theory, there cannot be a distinction of sentient and inert things at all. The subatomic particles are present everywhere. Therefore everything should be aglow with the consciousness. This is far from the truth. So this theory cannot be correct.

If it is argued further that the manifestation of cognitive principle is possible only with a specific type of combination of inert things as pointed out in the neuronic behaviour, and not with any type of combination, this is also not true. The following investigation proves why the supposition is wrong. As we find the presence of consciousness principle or cognitive principle even in the absence of specific neuronal firing or oscillations, the cognitive principle cannot be considered as the inherent feature of those neuronal patterns. In deep sleep there are no specific neuronal patterns manifest. Yet, there is the sleep experience which presupposes the presence of cognitive principle. Our memory of sleep does prove such an experience. Vedānta explains elsewhere (P. 11-66) why the sleep is not available as a present or the then cognition. Therefore the cognitive principle is not produced by neuronic

electric impulses. It is present even in the absence of those impulses.

Suppose a person is dead due to a cardiac arrest. His brain, ears and eyes are not damaged. Even the eyes of the corpse are wide open. Immediately after the death his relatives are wailing around him. These stimuli are within the purview of his open eyes and ears. Why there are no neuronic firing even when the neurons have yet not decayed? If it is due to the failure of heart and subsequent cessation of all the bodily functions, we would like to know that principle in the absence of which all the functions including the cognition stop. That principle must necessarily be a sentient or cognitive one distinct from neuronic firing which is one of the many functions that go on in this inert physical body after enlivening it.

A common sense observation also can refute the theory that the neuronic patterns produce consciousness. As seen earlier, "I" is a sentient entity and a cognitive principle. This fact cannot be disputed. It is also true that a possessor is different from the possessed. When we say my brain, my thought, my neurons, my neuronal firing patterns, all of them are distinct from the sentient "I" to whom they belong. These possessed things are themselves inert. So the cognitive principle must be distinct from all of them, even though neuronal firing may provide a conducive field for cognition. It is like the example of cold and non-luminous water feeling hot and appearing luminous by reflection of sun in it. Though water has served as a receptacle for heat and the light, yet it will be wrong to say that the water produced them both. Similarly neurons and their electric impulses do not produce the cognitive principle.

The firing of neuronal electric impulses has a definite place in cognising a thing. But it is a matter of further research if the so-called thought is identical with such emissions, or the thought is still something different. "Nothing else is found so far", cannot be the answer. It is well known that the absence of evidence is not an evidence of absence. Irrespective of what is clinically considered as death, the *Vedāntic* explanation of death as the departure of the subtle body (comprising the faculties of sense perceptions and actions, vital airs and the inner instrument) from the gross physical body which is left behind can throw much light in the research regarding how the cognitive aspect in our embodiment is available. Vedānta if appreciated with a right attitude can provide the missing link of the non-physical or metaphysical aspect in the neuroscience.

It is indeed surprising that those who have applied their intelligence in many sophisticated fields, are either unable or not ready to understand a simple fact that an inert thing can really never become a cognitive principle and vice versa. The irrevocable truth is, "A given thing can never give up its true nature (*sva svabhāvāt na nivṛttiḥ*)". If it is given up, we can conclude that the so assumed true nature is truly not so. The sun can never be cold, nor can ice be ever hot. If temporarily it appears that a given thing has given up the true nature, it can only be due to adding of features foreign to itself like water appearing hot and luminous. Perhaps there is some sense in the statement that a single pointed mind preoccupied in something profound misses to appreciate the thing obvious to common sense. Sir Isaac Newton is a glaring example. He had asked a carpenter to make two holes in his door for his cats to enter the house when he wanted to spend late nights in his laboratory during the freezing wintry nights. The big hole was meant for the cat and the small one for the kitten!

SOME WRONG ATTITUDES TOWARDS VEDĀNTA

The scientific orthodoxy may reject the *Vedāntic* discovery with mistrust from the pulpit of their own reason. But trusting the reason totally itself is not reasonable. The reasoning depends on the validity of sense perception, and that itself cannot be totally trusted in the quest of the ultimate truth. Basically Vedānta deals with the problems and the topic not open to the methods of science. Vedānta begins where science stops. To expect Vedānta to step into the shoes of science is a sign of ignorance of their basic nature.

In the west, as rightly put by Will Durant, each philosophy has grown from the ideas of the great thinkers out of their personal traits and adventures influenced by the economic, political and intellectual environment which prevailed. This is not the case with Vedānta. It does not use the reasoning to establish the truth but uses it only to explain rationally the truth already established by the Vedas. Vedānta knows the limitation of reasoning and employs it only where it is necessary for a better understanding. Its discoveries are based on the triple cardinal test of the Vedas, reasoning and the direct discoveries of great masters from time immemorial. The Vedas in fact reveal that knowledge which is not directly accessible to the human intellect because of the limitations of sense organs and the intellect itself. It is said:

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।

"The means that is not known by direct sense perception or inference, is known through the Vedas. Therefore the Vedas have the status of being the body of the highest knowledge."

The knowledge contained in the Vedas is universal though their origin is in India. The different religions in the world may or may not acknowledge, but the fact is all of them have their basis directly or indirectly in the Vedas, as all the houses and the mansions are centred on mother earth.

Some people may call the truth unfolded by Vedānta as intuition. The word "intuition" is very vague. It has been variously defined. For example, it is "a rapid unconscious thought process" or it is "the faculty of knowing without the use of rational process".

There are others like Daniel Cappon, a Jungian psychologist who has tried to demystify intuition by revealing its logic and function through tests like IQ-2. Whatever intuition may be, Vedānta has definite methodology, which has stood the test from ancient times. It cannot be intuition.

There are some others who shrug their shoulders with an air of authority remarking, "Oh, Vedānta is abstract". The true nature of everything is not governed by our whims and fancies. We have options to know them or not. But, once we decide to know, they have to be known as they are. Our will cannot change the nature of anything. If our true nature - the ultimate truth - itself is not tangible, it has to be known as it is. There is no choice. Vedānta does show the infallible method of its discovery.

Well, now let us put an end to this digression and revert to the mainstream of our discussion.

EXACT NATURE OF PURE AWARENESS (*CITI*)

For a given thing, the status of being the known (*dṛśya*) is only

with reference to an appropriate knower (*dṛk*). The sense organs and the mind, though they appear to have the knower faculties (*dṛk*) in the beginning of the discussion, were finally shown to be the known (*dṛśya*). As hinted earlier, a similar doubt, can crop up whether the pure awareness (*citi/sākṣī*) also may be proved finally to be another known (*dṛśya*). This possibility is ruled out for two reasons:

i) If the cognitive principle, pure awareness (*citi*) is to become the known (*dṛśya*), it would require another cognitive principle as its knower (*dṛk*). This will finally lead to regress ad infinitum. This was elaborated in the context of the first verse.

ii) If it is argued that let the pure awareness (*citi*) itself be its own illuminator (*dṛk*), even then there is a fallacy of subject becoming its own object, i.e. pure awareness (*citi*) will have to be illumined by itself. This cannot hold good. One cannot ride on one's own shoulders. Therefore pure awareness (*citi*) can only be independent self-luminous cognitive principle. It can never be the known (*dṛśya*). To drive home this point, the next verse explains the last phrase of first verse - *na tu dṛśyate* (but never becomes the known) - by showing the exact nature of pure awareness (*citi*) as totally distinct from all the known (*dṛśya*).

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत्साधनं विना ।।५।।

nodeti nāstametyeṣā na vṛddhiṃ yāti na kṣayam
svayaṃ vibhātyathānyāni bhāsayet sādhanaṃ vinā - (5)

एषा (चितिः) - this pure awareness न उदेति - is not born न अस्तम् एति - is not destroyed वृद्धिं न याति - does not grow क्षयम् न (याति) - does not decline स्वयं - spontaneously (on one's own) विभाति - shines (as knowledge principle) अथ- and साधनं विना - without any means अन्यानि - other things भासयेत् - illumines. - (5)

5. This pure awareness (*citi*) is neither born nor destroyed. It does not grow or decline. It is the spontaneous self-evident knowledge principle and illumines (all) other things without any means.

The word "this" is a demonstrative pronoun which indicates a proximate thing or that which is immediate in the mind. Here, "this" is used for *citi* (pure awareness) which has been already indicated, understood to some extent, and is under active consideration. Besides these aspects, the author has purposely used the pronoun "this" to show that *citi* (pure awareness) is the most proximate, nay, it is verily the true "I", with respect to which even the so considered proximate physical body of ours becomes remote. The said idea is not a fiction of the author's mind, but it is the truth declared by the *Upaniṣads*, verified by great masters, and is available to each and every one of us to verify if we pursue the inquiry properly without any laxity of efforts. The *Upaniṣad* declares -

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ।

"That which is immediate (without the intervention of anything) and the primary "I" is Brahman". (*Bṛ.U.* 3-4-1)

Pure awareness (*citi*) itself as the basis of the entire Creation is called Brahman. The exact nature of this *citi* is described now.

Pure awareness (*citi*) is neither born nor destroyed. The *Upaniṣad* also has declared, "*Na jāyate mriyate* - *ātmā* is neither born nor dies," (*Kṭ.U.* 1-2-18). That which does not exist before, but comes into existence later on is called born. Similarly that which exists earlier but not afterwards is said to be dead or destroyed. We can easily verify first all that is born and destroyed to contrast it with pure awareness (*citi*). Let us begin with our common concept of considering our embodiment as "I" called *ahaṅkāra* or ego. It is in the form of a thought known by us. It is the first thought on waking up from the sleep and the last to cease when we go off to sleep. Our thoughts are born and then they vanish. The individual embodiments are born and then they die. The Creation around us has a beginning and an end. In short, all that is known (*dṛśya*) has birth and death.

Pure awareness has no growth or decay. Absence of these two modifications also means, the absence of two remaining changes (*vikāras*), viz. an existence after being born (*astitva*) and modification (*vipariṇāma*), because growth and decay are possible only after the birth of a thing that continues to exist until it perishes. The existence or "isness" negated here is to be carefully noted as that facet which belongs to a thing after its birth and is subject to change. This form of existence should not be mistaken with the fundamental existence principle - pure awareness. That principle is not available for any modification. Thus *citi*/pure awareness is shown to be free from all the six modifications (*ṣaḍvikārās*), viz. born (*jāyate*), is (*asti*), grows (*vardhate*), undergoes metamorphosis (*vipariṇamate*), declines (*apakṣīyate*), and gets destroyed (*vinaśyati*). Obviously *citi* / pure awareness exists for ever. These six modifications are features of only the inert things which fall in the category of the known (*dṛśya*) and depend on the ultimate *dṛk* - cognitive principle, pure

awareness (*citi*) for their cognition. It is possible to refer to the known *dṛśya* as "this" (*idam*) i.e. object of our knowledge. In contrast "I" (*aham*) cannot be referred to as "this" meaning, it cannot become an object of our knowledge. The true "I" can only be pure awareness (*citi/sākṣī*) was already shown. Whatever is available as this (*idam/dṛśya*) cannot be the true "I". Therefore whatever is prone to any one or more of these six changes (*vikāras*) is not the true "I", pure awareness (*citi*). This is an effective norm to ascertain our true nature.

This pure awareness (*citi*) shines spontaneously or on its own (*svayaṃ vibhāti*), as the knowledge principle. The relative cognitive principles like sense organs also shine, i.e. they reveal to us the sense objects. But to know the sense organs we need the mind and pure awareness. The mind or the thoughts also shine - make us cognise. Yet, they can be known only by pure awareness (*citi*). In contrast to these, the pure awareness is the knowledge principle which does not depend on anything. Its spontaneity shows its independence as a cognitive principle. In other words it is the only self-evident or self-luminous knowledge principle. It is known on its own without dependence on any instruments of cognition. That is why the cognition "I am" is self-evident. Even in the deep sleep when the sense organs and the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) are absent, the presence of the cognitive principle "I" is verily evident which is inferred in waking state as "I did not know anything in sleep". The sun is self-luminous. It does not need any other light principle to illumine it. So is pure awareness. It does not need any other knowledge principle for its cognition.

Pure awareness (*citi*) is not only self-evident, but it also illumines - makes known - others, by its very nature of being ceaseless knowledge principle. It does not need any other

cognitive principle to illumine others, just as the sun does not borrow light from some other luminaries to illumine the world. Thus the phrase "Without any means" (*sādhanaṃ vinā*), shows its independence while illumining - making known - all the other things other than itself which are falsely superimposed on it. The independence of pure awareness (*citi*) in illumining all the other things will be clearer when its contrast to the sense organs and the mind is understood. The sense organs reveal to us the sense objects but only with the help of mind and pure awareness. The mind or the thoughts do make us cognise, but with their dependence on pure awareness. All the other things get illumined - are cognised - in the presence of pure awareness like the sunlight. We know well that the world gets illumined in the presence of the sun, but the sun does not put any efforts to illumine the world, even though we do say that the sun illumines. Here the verb "illumine" is not used in the sense of action but in the sense of sun's nature. Similarly pure awareness illumines other things without any action on its part. The content of the second line of this verse, which speaks of self-evident and all-illuminating nature of pure awareness, is actually the summary of a famous *mantra* - a Vedic declaration - appearing in the three *Upaniṣads* as follows:

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

"There (in Brahman) the sun does not shine, nor the moon or the stars; nor these flashes of lightning shine there. Depending on its shining everything else shines after it. All this shines diversely by its splendour" (*Kṭ.U.* 2-2-15, *Mu.U.* 2-2-10, *Śv.U.* 6-14).

The words "shining" and "splendour" in the above Vedic declaration refer to the knowledge principle which enables the

cognition. The luminaries like the sun, moon etc. cannot reveal Brahman (pure awareness) to you. On the contrary, everything that exists and is known, is only on account of Brahman.

Should anyone doubt the rationality of pure awareness (*citi*) being totally free from all the six types of changes (*vikāras*), as told in this fifth verse, the relevant reasoning is offered here. In our daily transactions the knowledge that we gain involves the division of knower, the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) and the known things or what is called the subject and the object. Such a knowledge is called *savikalpakajñānam* - the knowledge involving divisions. While the changes in the known (*dṛśya*) or the object are known by the knower (the subject), the knower or the subject (the erroneous "I"notion / *ahaṅkāra*) itself undergoes changes which are also known. The knowledge of the changing known as well as knower is possible only if there is a changeless knowledge principle as the basis. Therefore the knowledge with divisions of knower and the known or the subject and the object necessarily presupposes a changeless knowledge principle (*nirvikalpakajñānam*). Thus the ultimate cognitive principle pure awareness (*citi*) must necessarily be free from all the changes; otherwise it is not possible to gain any knowledge.

The following two inferences can be drawn to clarify the reasoning further:

i) The true "I" which is pure awareness (*citi*) has to be free from the six types of changes because it is the spontaneous self-evident knowledge principle, not needing any other cognitive faculties to know itself. Whatever that is not free from the six types of changes, cannot be spontaneous self-evident knowledge principle. All that can be known as "this"/*dṛśya*

(the known) - beginning from erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) to the gross objects in the Creation including ignorance - serves as an illustration in this respect. All these being prone to these changes, they are not self-evident knowledge principle.

ii) Pure awareness (*citi*) as described earlier is free from the six types of changes because it illumines - makes known - the things other than itself independent of any other cognitive faculty. Whatever that is not free from the six types of changes, cannot independently illumine the things other than itself. The erroneous "I" notion, the mind and the sense organs serve as the illustration in this respect because they are endowed with the six changes and they cannot illumine others without the aid of other cognitive faculties.

The true nature of pure awareness (*citi*) is, as already shown, based on the *Upaniṣads*. It is not deduced from logic. The reasoning was furnished only to prove its rationality. It is also possible for us to discover this truth for ourselves right here with the help of a properly prepared mind.

Based on what has been told so far, we know by now that pure awareness (*citi*) - the ultimate *dṛk* - is the spontaneous self-evident knowledge principle. It is also free from all the six changes (*ṣaḍvikāras*). This essential nature of *citi* (pure awareness) proves it to be distinct from all the known (*dṛśya*) - available as "this" - because the known (*dṛśya*) in its nature is inert or non-cognitive and is endowed with the six modifications. This proves that pure awareness (*citi*) by its nature itself is always *dṛk* (the cognitive principle) and it can never become the known (*dṛśya*). This fact is also revealed by many *Upaniṣads*. The following are two sample statements.

"This Brahman is not seen, but it is the seer; not heard, but is the hearer; not thought of, but is the thinker; not known, but is the knower;" (*Bṛ.U.* 3-8-11).

"The illuminator (i.e. *citi*) of the thought (*vṛtti*) related to the sight cannot be seen; the illuminator of the thought related to the sound cannot be heard; the illuminator of the thought related to the consideration (*saṅkalpa*) cannot be objectified; the illuminator of the thought in the intellect cannot be known;" (*Bṛ.U.* 3-4-2).

In the context of the first verse let us now apply to the ultimate *dṛk* and all *dṛśya* the features or the behavioural patterns observed in the case of the seer eye and the seen forms. This will further clear the distinct nature of *dṛk* and *dṛśya*. Consider the following aspects step by step:

i) The ultimate *dṛk* - the self-evident cognitive principle (pure awareness) - is independent of all *dṛśyas* (the known) which comprises the entire Creation; whereas *dṛśya* the Creation depends totally on *dṛk* (pure awareness) for its existence and functions.

ii) *Dṛk* (pure awareness) is only one as against the varied and innumerable types of *dṛśya* (the known).

iii) *Dṛk*, the cognitive principle is sentient in nature, but the *dṛśya* the Creation is inert.

iv) *Dṛk* (pure awareness) is everlasting in nature. In contrast to that, *dṛśya* the Creation is transient, being of the nature of birth and death. That is why Vedānta declares that *dṛk* (pure awareness) also called *ātmā* or Brahman is *satyam* - real - i.e.

that which exists for ever without any change, and *dṛśya* the Creation is *mithyā* - false. Not knowing the exact import of the word *mithyā* (false), Vedānta is criticised generally for pointing out that the experienced Creation is false. An experience is not a criterion of reality by itself. We do experience the dreams, yet, all of us know they are false. Vedānta would have called the Creation as *tuccham* - totally non-existent - if it were not experienced at all. False(*mithyā)* in *Vedāntic* parlance means, "Experienced but not ever-lasting in nature".

v) *Dṛśya* the Creation does not constitute - be a part of - *dṛk* (pure awareness). *Dṛk* is free from *dṛśya* the cognised Creation and its attributes. Obviously *dṛk* (pure awareness) is unaffected by the attributes of *dṛśya*, the entire Creation. This fact shows us the reason why the true "I" - *dṛk* (pure awareness) - is totally free from all limitations, sorrows etc.; popularly known as *saṃsāra.*

vi) The self-evident cognitive principle has the status of being *dṛk* (the knower) only with respect to *dṛśya* (the known). *Dṛk* is simply the self-evident, self-existent cognitive principle in the absence of *dṛśya*, the Creation.

Our investigation till now has ascertained the true "I" as pure awareness (*citi /sākṣī*). The same "I" itself is Brahman, the basis of the Creation, otherwise called the ultimate truth.

THE SOURCE OF HUMAN PROBLEM

WHO IS THE SUFFERER *(SAṂSĀRĪ)* ?

Without any exception each one of us has to carry one's own cross individually. The cross is nothing but our sorrows, insatiable wants, unending aspirations, confusions, tensions, strife, diseases, discontentment, restlessness, hatred, envy, rivalry, limitations and a cascade of consequences that follow. Even for some rare fortunate one who says "All is well with me", the Damoclean sword of death tied by a single hair is hanging over his head. Death too does not end this plight. Irrespective of what the majority believes, the life of limited existence is bound to continue hereafter. Our acceptance or rejection of it cannot alter the fate. Such a sad state of existence is called *saṃsāra* - a course of being on a constant move or always to be in a flux of mundane existence. The one who is in such a *saṃsāra* is a *saṃsārī.*

Vedānta does not highlight *saṃsāra* merely to draw a pessimistic picture of life. On the contrary Vedānta awakens the responsive humans from passive submission to the plight of *saṃsāra.* It shows how to stop resorting to the patchy remedies and solve the problem once and forever. The unbearable *saṃsāra* is an outcome of our mistaken identity born of self-ignorance. Vedānta and only Vedānta can remedy this problem by revealing our true nature which never gets sullied by *saṃsāra.* This statement may sound to some people as an unfounded assertion of a religious fanatic. But, it is not so. This statement is only an emphatic way of stating a plain fact that a problem born of ignorance can be solved

only by knowledge. Vedānta is a non-religious body of knowledge. Proper religious practices only confer a required frame of mind to pursue *Vedāntic* inquiry. Before proceeding to the remedial aspects of Vedānta, a clear identity of a *saṃsārī* - the one who actually undergoes the suffering of limited existence called *saṃsāra* - needs to be established.

The unique status of the cognitive principle - pure awareness (the ultimate *dṛk*, *sākṣī*, *citi*) or true "I" - with reference to the inert *dṛśya* (the known) leads to the following pertinent doubts:

i) The self-existent, self-evident cognitive principle (*citi*) is, as shown earlier, totally distinct from entire *dṛśya* (the known). The experiential *saṃsāra* is completely reported by the thoughts alien to cognitive principle (*citi*). So *citi* (pure awareness/true "I"), totally unattached (*asaṅga*) and unassailed by the known (*dṛśya*) thoughts, cannot have *saṃsāra* for itself. It is like the sun who is totally unconcerned with what happens in the world.

ii) The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) comprising thoughts is constituted of five types of inert subtle elements (*sūkṣma pañcamahābhūtas*). Not to give up one's true nature is the inherent characteristic feature of everything. Therefore the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) cannot have relative cognitive faculty, or else the stones and furniture will start having cognitive faculties! That means the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) and the gross body also cannot have *saṃsāra* for themselves either.

IF THE SUFFERER (*SAṂSĀRĪ*) IS NOT CLEARLY DEFINED, VEDĀNTA WILL BE WRONG

iii) If pure awareness (*citi*) the true "I" as well as the inner

instrument (*antaḥkaraṇa*) cannot have *saṃsāra*, then there is no other locus to whom it may be attributed. With no locus for *saṃsāra* being present there is no *saṃsārī* available. A sickness needs to be cured provided a patient having it exists in reality. In the absence of a *saṃsārī*, there cannot be any *saṃsāra* to be remedied either. Thereby self-knowledge, considered to be the antidote to *saṃsāra*, and Vedānta, the source of such knowledge, also are redundant or meaningless. In short, Vedānta loses its validity as the means of self-knowledge. The avalanche of such problems continues further. The attributes (*viśeṣas*) belong only to the known (*dṛśya*) and not to the cognitive principle, the ultimate truth being totally free from all (*dṛśya*). A thing devoid of the known (*dṛśya*) is necessarily attributeless (*nirviśeṣa*). Attributes enable the language to indicate a thing or convey meaning through the norms of species (*jāti*), property (*guṇa*), action (*kriyā*) and relation (*saṃbandha*). No language can have any words to indicate attributeless pure awareness (*citi*) which has no *jāti*, *guṇa*, *kriyā* and *saṃbandha*. That means Vedānta cannot describe pure awareness (*citi*) by direct use of words in an assertive style. Negating the attributes also cannot be a method of describing an existing thing. For instance, a rose cannot be described by only negating say lotus, jasmine and all other flowers. In view of such limitations Vedānta will fail to maintain the status of being a *pramāṇa* - valid means of knowledge.

All these limitations - especially Vedānta not retaining its status as the valid means of knowledge (*pramāṇa*) - lead to a final conclusion that pure awareness (*citi/sākṣī*) or the true "I" itself cannot be a self-luminous cognitive principle devoid of the known (*dṛśya*), but possibly it is a changing thing. Some persons

even cite our daily ever-changing experiences of waking, dream and deep sleep states to prove the changing nature of "I".

REFLECTED PURE AWARENESS (*CITICCHĀYĀ*) PROVIDES THE ANSWER

All the flaws recounted in accepting cognitive principle as self-luminous devoid of the known (*dṛśya*) so far based on doubts raised are dispelled by taking into account the reflection of pure awareness (*citicchāyā*) being present in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) or in all the thoughts. The reflection aspect was considered to an extent in our earlier discussion. The author proceeds now to establish the *saṃsārī* by specifying the reflected pure awareness (*citicchāyā/cidābhāsa/caitanyābhāsa*). Verses six to twelve show us the role of reflected pure awareness. They also give the description of the entity bearing the *saṃsāric* cross.

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता ।
एकाहङ्कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी ।।६।।

cicchāyāveśato buddhau bhānaṃ dhīstu dvidhā sthithā
ekāhaṅkṛtiranyā syādantaḥkaraṇarūpiṇī - (6)

चिच्छायावेशत: - due to the infusion of reflected pure awareness बुद्धौ - in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) भानं - cognitive faculty (स्यात् - occurs) धी: - the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) तु - indeed द्विधा - two-sided स्थिता - is एका - one (of them) अहङ्कृति: - the doer "I" स्यात् - is अन्या - the other अन्त:करणरूपिणी - of the nature of mind (स्यात् - is). - (6)

6. The cognitive faculty in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) occurs due to the infusion of reflected pure awareness (*citi*) in it (i.e. in *antaḥkaraṇa*). The inner instrument indeed is two-sided: one is the doer "I" and the other is the mind.

THE NATURE OF INNER INSTRUMENT (*ANTAḤKARAṆA*) AND ITS FUNCTIONAL DIVISIONS

The five subtle elements (*pañcamahābhūtas*) constitute the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). It is called "inner" because of its interior or subtler status with respect to the external sense organs and the organs of actions. The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) can modify itself in varied ways. Each of these modifications having a specific function is called a *vṛtti* - thought. All these *vṛttis* are classified into four main divisions called *ahaṅkāra* or *ahaṅkṛti, mana, buddhi* and *citta*. Their functions are as follows:

i) *Ahaṅkāra* or *ahaṅkṛti* - ego:

The thought (*vṛtti*) having the notion of identification (*abhimāna*) with one's embodiment is *ahaṅkāra* - erroneous "I" notion or ego. It corresponds to the subject, the author of all actions and experiences (*kartā* and *bhoktā*), according to grammar. *Ahaṅkāra* is the entity that claims the ownership (*vṛttimān*) of the entire embodiment including the other three types of the thoughts (*vṛttis*) in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). While performing all the actions (*karmas*) and undergoing all the experiences (*bhogas*) by an individual, these thoughts (*vṛttis*) - excluding erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) - serve as the means or the tools (*karaṇa*) for the *ahaṅkāra*. As a result of executing actions and

undergoing experiences, *ahaṅkāra* (ego) gets the statuses as *kartā* (doer/agent of action) and *bhoktā* (experiencer) respectively.

ii) *Mana* - mind:

The thought (*vṛtti*) of the nature of *saṅkalpa* - consideration, reflection - and *vikalpa* - doubt, uncertainty, hesitation, indecision, projecting many facets - constitutes *mana* (mind).

iii) *Buddhi* - intellect :

The thought (*vṛtti*) endowed with the decision making faculty (*niścayātmikā*) is *buddhi.*

iv) *Cittam* - memory:

The thought (*vṛtti*) comprising the faculty of recollection is *cittam* - memory.

All these four types of *vṛttis* are basically one and the same entity called *antaḥkaraṇa.* Their division into four types has been done only to emphasize the specific functions of each. It is like referring to the same person as a reader, singer, eater or player etc. depending on different functions being carried out. At times any one of these four divisions of *antaḥkaraṇa* is mentioned to suggest the entire *antaḥkaraṇa* (inner instrument). On the other hand sometimes the word *antaḥkaraṇa* itself is used to specify only one of its four facets. The four divisions are reduced to only two of them when the remaining two are suitably incorporated in the specified ones. The present verse has followed all these styles.

The words "*buddhiḥ*" and "*dhīḥ*" mentioned in the first line of the verse refers to the entire inner instrument (*antaḥkaraṇa*). The inert inner instrument appears to have cognitive faculty of its own but actually it is due to the infusion or presence of *citicchāyā* - reflected pure awareness - in it. The word *bhānaṃ* means the cognitive faculty that enables the thoughts to produce specific types of knowledge. Thus, it is the reflected pure awareness (*cicchāyā*/चिच्छाया) in the inert thoughts or the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) which actually imparts the cognitive faculty to them.

The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) engages itself in various functions in the presence of pure awareness (*sākṣī*). It is like a piece of iron moving in many ways in a magnetic field. The author classifies these functions into *ahaṅkṛti* - doer "I" or the erroneous "I" notion (ego) - and *mana* - the mind - called as *antaḥkaraṇarūpiṇī dhīḥ* here in the second line of the verse. These two divisions or the facets of *antaḥkaraṇa* do include the remaining two aspects, viz. *buddhi* and *cittam*. *Ahaṅkāra* (ego) also has decisive faculty of *buddhi* - the intellect. So the intellect (*buddhi*) is clubbed with *ahaṅkāra*. *Cittam* (memory) is included in the mind (*mana*) because both have *saṅkalpa* (faculty of consideration) in common.

The text Vedāntasāra of Sadānanda can be cited as another instance where grouping the functions of *antaḥkaraṇa* is done. In that book, only *buddhi* and *mana* are specified instead of all the four functions. *Ahaṅkāra* is included in *mana* - mind - in view of *saṅkalpa* (consideration) being common to both. *Cittam* - memory - is accounted in *buddhi* - intellect - considering that the faculty of distinguishing an object is common to them. In spite of the similarity of their basic nature,

ahaṅkāra and *cittam* are considered, at places, separately from the other two because the different objects related in their functions give them the distinct statuses. For example, the intellect (*buddhi*) deals with a new object whereas the memory (*cittam*) treats a previously experienced one. The mind (*mana*) deals with all the objects present internally and externally depending on the situation. But the ego has only one object and that is the "I" identified with the embodiment, the not-self (*anātmā*). So such groups of different combinations of two functions in each are also quite tenable. Depending on the context and the requirement, these different functional divisions of the one and the same inner instrument (*antaḥkaraṇa*) are resorted to.

Ahaṅkāra influenced by the reflected pure awareness conducts itself as the doer (*kartā*), experiencer (*bhoktā*) and the owner (*vṛittimān*) of entire embodiment. As per this division in the sixth verse, all the other *vṛttiṣ* (thoughts) which serve as the instruments of *ahaṅkāra* are included in the second aspect of *antaḥkaraṇa*, the mind (*mana*). These thoughts (*vṛttis*) are of nature of "I" (*ahaṃ*) and "this" (*idam*). The "I" thought (*ahaṃ vṛtti*) is not to be mistaken for *ahaṅkāra* - the erroneous "I" thought. The *ahaṅkāra* (mistaken "I") is centred on the embodiment wrongly concluded to be "I", whereas *ahaṃ vṛtti* ("I" thought) as in the case, "I am Brahman" (*ahaṃ Brahma asmi*), refers to the true "I" (*ahaṃ*) free from entire embodiment. *Ahaṃ vṛtti* ("I" thought) in *Vedāntic* parlance is called *ātmākāra* or *akhaṇḍākāra* or *Brahmākāra vṛtti* and it belongs only to the mind. The thoughts of the nature of this (*idam*) are all those enumerated in the context of verse four and those pertaining to memory. The two-sided division of one and the same inner instrument (*antaḥkaraṇa*) comprising

ahaṅkāra and *mana* as presented in this verse is to finally describe, rather exactly, the *saṃsārī*.

HOW DOES THE INERT PHYSICAL BODY BECOME SENTIENT?

The inert inner instrument (*antaḥkaraṇa*) as pointed out earlier, acquires the cognitive faculty due to the reflected pure awareness (*citicchāyā*) in it. How the inert gross body appears as sentient (*sacetana*) is explained next.

छायाहङ्कारयोरैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम् ।
तदहङ्कारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामगात् ।।७।।

chāyāhaṅkārayoraikyaṃ taptāyaḥpiṇḍavanmatam
tadahaṅkāratādātmyād-dehaścetanatāmagāt - (7)

छायाहङ्कारयोः - of reflected pure awareness and the ego (*ahaṅkāra*) ऐक्यं - union or identity तप्तायःपिण्डवत् - like a red-hot iron ball मतम् - is considered तदहङ्कारतादात्म्यात् - due to union with that ego (*ahaṅkāra*) देहः - the physical body चेतनताम् - sentiency अगात् - acquires. - (7)

7. The union of reflected pure awareness (*cicchāyā*/चिच्छाया) and the ego is like that of iron and heat in a red-hot iron ball. The physical body acquires sentiency due to its union with the ego, (in a like manner).

The word *chāyā* means a reflection. In this verse *chāyā* refers to the reflection of pure awareness. Its synonyms are *cicchāyā* (चिच्छाया), *citicchāyā, cidābhāsa, caitanyābhāsa*

and *ātmābhāsa*. For convenience, we shall hereafter use the word *cidābhāsa* for the reflected pure awareness.

Taptāyaḥpiṇḍa is a red-hot iron ball which virtually looks like a fireball. The ball glows. The fire permeates in and through the iron ball. It is not possible to separate the fire from the iron when the ball is red-hot. Similarly the separation in the ego of the inert thought content from the reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) in it is not possible. That is why, like the iron ball appearing as fireball because of the fire, the inert thought constituting the ego always appears sentient, because of *cidābhāsa*. The union between the ego (*ahaṅkāra*) and the reflection of pure awareness makes them appear identical with each other like in the red-hot iron ball.

The erroneous "I" notion(*ahaṅkāra*/ego) is already sentient due to its prior union with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*). This treats the entire embodiment as its object. The inert physical body gets united with the sentient ego when erroneously considered as "I". On account of this union between the physical body and the ego the sentiency in the latter extends to or gets infused in the physical body. As a result the inert body acquires apparent sentiency. Sleep proves this fact. The ego is not manifest in sleep. Thereby the physical body remains insensible - volitionally non-operative - during sleep.

The self-existent, independent cognitive principle, true "I" - pure awareness/*sākṣī* - is free from all the superimposed features. Yet, it makes the individual embodiment starting from ego to the gross body aglow with sentiency. It is like an emerald infusing its brightness in the region around it when thrown in milk. This was the mode of testing emeralds in the olden days.

Depending on the context, the words *aikyam* and *tādātmyam* employed in the verse mean the sameness of nature, reflection or union i.e. one projecting in the other, unity - appearance of oneness - or the status of being identical with each other.

So far the union of ego (*ahaṅkāra*) with reflected pure awareness and the body has been established. Based on our experiences, "I see", "I hear", etc. one may raise a doubt whether there is a separate identity or union of ego (*ahaṅkāra*) with each of the senses in our body. The answer is, it cannot be so. The senses cannot function without their external counterparts in the physical body. The body and its parts, viz. the external organs, are not separate entities. There is no separate union of the ego with each of the senses. This can also be verified from our experiences. We say, "I am a man.", "I am a woman.", "I am tall.", "I am short.", etc. but never do we say, "I am the eye.", "I am the ear.", etc. When asked, "Who are you?", the person replies as "I" by pointing out to the body but not to any of the senses alone. Even the Japanese while showing "I", mean only their body when they point out to the face, and not the face itself.

THREE CONNECTIONS OF THE EGO (*AHAṄKĀRA*) AND THE TYPES OF THEIR UNITY

The entity that is finally responsible for the *saṃsāra* will be indicated in verse twelve. For practical purposes it is the ego (*ahaṅkāra*) that runs the entire show of *saṃsāra.* It is desirable to know more about the modus operandi and connections of *ahaṅkāra* (ego). The next verse discloses the exact nature of the types of union or identity the ego (*ahaṅkāra*) has with other entities.

अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः ।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात् ।।८।।

ahaṅkārasya tādātmyaṃ cicchāyādehasākṣibhiḥ
sahajaṃ karmajaṃ bhrāntijanyañca trividhaṃ kramāt - (8)

अहङ्कारस्य - of ego (*ahaṅkāra*) तादात्म्यं - unity or identity चिच्छायादेहसाक्षिभिः - with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), physical body and pure awareness (*sākṣī*) क्रमात् - sequentially सहजं - inborn कर्मजं - born of *karma* (results of actions) भ्रान्तिजन्यं - erroneous or born (*janyam*) of self-ignorance च - and (इति - thus) त्रिविधं - of three types (अस्ति - is). - (8)

8. The unity (or identity) of ego (*ahaṅkāra*) with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), the physical body and pure awareness (*sākṣī*) is of three types, viz. inborn, born of *karma* (results of actions) and erroneous (i.e. born of self-ignorance), in that sequence.

The doer "I" called *ahaṅkāra* has its relation or unity with three things. These are the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), the physical body (*deha*) and pure awareness (*sākṣī*). However the type of unity - seeming oneness - differs in each case due to the difference in the causes that bring about the unity between *ahaṅkāra* and the three related things. The justification of the names given to these three types of unity can be seen from the following:

i) *Sahajaṃ tādātmyam* - Inborn unity:

The unity between ego (*ahaṅkāra*) and the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) is inborn (*sahajam*). It is a union that

Depending on the context, the words *aikyam* and *tādātmyam* employed in the verse mean the sameness of nature, reflection or union i.e. one projecting in the other, unity - appearance of oneness - or the status of being identical with each other.

So far the union of ego (*ahaṅkāra*) with reflected pure awareness and the body has been established. Based on our experiences, "I see", "I hear", etc. one may raise a doubt whether there is a separate identity or union of ego (*ahaṅkāra*) with each of the senses in our body. The answer is, it cannot be so. The senses cannot function without their external counterparts in the physical body. The body and its parts, viz. the external organs, are not separate entities. There is no separate union of the ego with each of the senses. This can also be verified from our experiences. We say, "I am a man.", "I am a woman.", "I am tall.", "I am short.", etc. but never do we say, "I am the eye.", "I am the ear.", etc. When asked, "Who are you?", the person replies as "I" by pointing out to the body but not to any of the senses alone. Even the Japanese while showing "I", mean only their body when they point out to the face, and not the face itself.

THREE CONNECTIONS OF THE EGO (*AHAṄKĀRA*) AND THE TYPES OF THEIR UNITY

The entity that is finally responsible for the *saṃsāra* will be indicated in verse twelve. For practical purposes it is the ego (*ahaṅkāra*) that runs the entire show of *saṃsāra.* It is desirable to know more about the modus operandi and connections of *ahaṅkāra* (ego). The next verse discloses the exact nature of the types of union or identity the ego (*ahaṅkāra*) has with other entities.

अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः ।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यञ्च त्रिविधं क्रमात् ।।८।।

ahaṅkārasya tādātmyaṃ cicchāyādehasākṣibhiḥ
sahajaṃ karmajaṃ bhrāntijanyañca trividhaṃ kramāt - (8)

अहङ्कारस्य - of ego (*ahaṅkāra*) तादात्म्यं - unity or identity चिच्छायादेहसाक्षिभिः - with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), physical body and pure awareness (*sākṣī*) क्रमात् - sequentially सहजं - inborn कर्मजं - born of *karma* (results of actions) भ्रान्तिजन्यं - erroneous or born (*janyam*) of self-ignorance च - and (इति - thus) त्रिविधं - of three types (अस्ति - is). - (8)

8. The unity (or identity) of ego (*ahaṅkāra*) with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), the physical body and pure awareness (*sākṣī*) is of three types, viz. inborn, born of *karma* (results of actions) and erroneous (i.e. born of self-ignorance), in that sequence.

The doer "I" called *ahaṅkāra* has its relation or unity with three things. These are the reflected pure awareness (*cidābhāsa*), the physical body (*deha*) and pure awareness (*sākṣī*). However the type of unity - seeming oneness - differs in each case due to the difference in the causes that bring about the unity between *ahaṅkāra* and the three related things. The justification of the names given to these three types of unity can be seen from the following:

i) *Sahajaṃ tādātmyam* - Inborn unity:

The unity between ego (*ahaṅkāra*) and the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) is inborn (*sahajam*). It is a union that

comes into existence at the time of very birth of *ahaṅkāra* and *cidābhāsa*. The thought (*vṛtti*) of *ahaṅkāra* without the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) and vice versa is not possible. Pure awareness is all-pervasive. The moment the thought (*vṛtti*) of *ahaṅkāra* is born, the reflection of pure awareness gets spontaneously cast in it. At the same time the reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) is impossible without the reflecting medium of the thought of wrong "I" notion. This inborn unity holds good in case of all the other thoughts (*vṛttis*) irrespective of their functions.

(ii) *Karmajaṃ tādātmyam* - Unity born of *karma* (results of actions):

The ego (*ahaṅkāra*) who conducts itself as the doer (*kartā*) and the experiencer (*bhoktā*), has unity with the physical body only in the waking state. This state is the main avenue for experiencing while awake the results of past actions (*karmaphalas*) done. In sleep the results of actions yielding vivid experiences as in the waking state are not manifest. Moreover the unity of ego (*ahaṅkāra*) with the physical body is also absent in sleep. Thus the unity between the ego (*ahaṅkāra*) and the physical body is born only by *karmaphalas* (results of actions) producing the waking state experiences. So, aptly it is called *karmajam* - born of *karma*. Even the unique embodiment of each individual is born of results of past actions (*karma*).

iii) *Bhrāntijanyaṃ tādātmyam* - Identification born of self-ignorance:

Bhrānti means an error or an illusion. *Bhrāntijanyam*

therefore literally means erroneous. But the word *bhrānti* is used here to mean ignorance of the true "I" (*ātmā*), the root cause of *bhrānti*. The cause can be termed after its effect. The mutual identification between the true "I" (*ātmā/sākṣī*) and erroneous "I" (*ahaṅkāra*) is verily born of ignorance of true "I". This ignorance is beginningless and inexplicable. So the name *bhrāntijanyam* is appropriate.

The cognitive principle, true "I" (*ātmā*) is the basis (*adhiṣṭhāna*) of ego (*ahaṅkāra*) and the Creation. Ignorance of the basis allows projection of many misapprehensions about its nature. For example, a rope in darkness may be mistaken for a snake or a stick etc. Such misapprehension about the rope disappears, the moment that rope is seen with proper light. The knowledge of the rope as the basis (*adhiṣṭhāna*) dispels the superimposed (*adhyasta*) snake or stick etc. projected by ignorance. The knowledge of the true "I" (*ātmā/sākṣī*), the basis of ego (*ahaṅkāra*) as the rope and the snake, ends the identification of *ahaṅkāra* with *sākṣī* (true "I"). This fact also validates the statement that the identification of ego (*ahaṅkāra*) with the true "I" (*sākṣī*) is born of self-ignorance.

UNITIES BORN OF *KARMA* AND SELF-IGNORANCE END

The apparent connections of ego (*ahaṅkāra*) with the physical body and the true "I" (*sākṣī*/pure awareness) can be ended by elimination of their respective causes. Absence of *karmas* (results of actions) yielding waking state experiences terminates the connection between ego (*ahaṅkāra*) and the physical body. An end to the identification of ego (*ahaṅkāra*) with pure awareness (true "I") can be brought about only by self-knowledge. There is no other way. However, the inborn unity, because it is inborn (innate), cannot be ended. The ninth verse details these three aspects.

सम्बन्धिनोस्सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु ।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ।।९।।

sambandhinossatornāsti nivṛttiḥ sahajasya tu
karmakṣayāt prabodhācca nivartete kramādubhe - (9)

सम्बन्धिनोः सतोः - of the two connected (by birth itself) सहजस्य - of inborn unity तु - indeed निवृत्तिः - termination न अस्ति - is not there उभे - the (other) two (unities) कर्मक्षयात् - by the ending of *karmas* (results of actions) प्रबोधात् - by self-knowledge च - and क्रमात् - respectively निवर्तेते - (the two) cease/ disappear. - (9)

9. The termination of the inborn unity pertaining to the two connected by birth itself is indeed not there. The other two unities cease by the ending of *karmas* (results of actions) and self-knowledge respectively.

The unity between the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) and reflected pure awareness (*cidābhāsa*) is from the time of the birth. The connection between them is thus inborn. That their unity cannot be terminated, means *ahaṅkāra* cannot be separated from *cidābhāsa*. Any one of them without the other cannot exist at all. So long as the body exists, the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) born of the thought of erroneous "I" (*ahaṅkāra*) will always be present as long as *ahaṅkāra* exists. It is like the continuance of the reflection of sun in a bucketful of water kept in the open sun. The reflection will not be there only when there is no water in the bucket. Similar phenomenon also operates in the reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) in all the thoughts.

The operation of other two unities stops on the non-functioning of their corresponding causes. During sleep and swoon or in death, results of actions (*karmaphalas*) yielding waking state experiences do not operate. At such time the ego (*ahaṅkāra*) and the physical body give up their mutual connections, brought about by their unity born due to *karmas*. *Karmaja tādātmya* - unity born of *karma* - is programmed. It has its own course according to the results of actions capable of producing waking state experiences. Practically there is little that an individual can do to overcome this unity.

To end the identification born of self-ignorance falls under the ambit of human choice. Appropriate self-effort is indispensable to sever the assumed ties between ego (*ahaṅkāra*) and the ultimate cognitive principle, the true "I" (*sākṣī*). One has to inquire into one's true nature and the basis of the Creation. This is to be done by exposing oneself to the proper teaching based on the *Upaniṣads* from a competent teacher. The discovery that "I" in reality is nothing but Brahman, the basis of the Creation, i.e. *ahaṃ Brahma asmi*, snaps off the mistaken identification born of self-ignorance (*bhrāntijanyaṃ tādātmyam*). Thereafter the ego (*ahaṅkāra*) disappears in its basis the true "I", like the superimposed silver vanishing from the sea-shell on seeing its actual basis - the shell. For a *jñānī* - person of self-knowledge (*ātmajñāna*) - there is no erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*). Yet, seeing the person of self-knowledge (*jñānī*) interacting in the world, the ignorant folks carry a wrong impression that such a person has ego (*ahaṅkāra*). An undisturbed burnt rope may still retain the appearance of a rope but it is non-functional. It cannot bind anything. So is the case with *ahaṅkāra*. It appears to be there in a *jñānī* from other's standpoint, but in reality it is non-functional.

THE THREE STATES OF CONSCIOUSNESS

The sum total of all our experiences called *saṃsāra* is comprised in our daily three cyclic - circadian - states of consciousness. They are the states of waking, dream and deep sleep. How exactly the ego (*ahaṅkāra*) authors these three states of consciousness is shown now. Incidentally the inert nature of our physical body is also made clear.

अहङ्कारलये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः ।
अहङ्कारविकासार्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ।।१०।।

ahaṅkāralaye suptau bhaveddehopyacetanaḥ
ahaṅkāravikāsārdhaḥ svapnaḥ sarvastu jāgaraḥ - (10)

सुप्तौ - in deep sleep अहङ्कारलये - when the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) disappears देहः - the physical body अपि - also अचेतनः - insensible भवेत् - becomes अहङ्कारविकासार्धः - the half growth (or manifestation) of *ahaṅkāra* स्वप्नः - (is called) dream सर्वः (विकासः) - complete (manifestation) तु - whereas जागरः - (is) waking state. - (10)

10. When the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) disappears in deep sleep, the physical body also becomes insensible - volitionally non-operative. The half manifestation of *ahaṅkāra* is called dream whereas (its) complete manifestation is the waking state.

The erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) born of self-ignorance is the director of our lives. Making use of the programs of the results of past actions, *ahaṅkāra* experiences waking and dream states.

The two sets of results of actions (*karmaphalas*) that produce the waking state and dream experiences are also distinct from each other.

THE DEEP SLEEP STATE

In the absence of these two types of results of actions, *ahaṅkāra* daily merges in its cause, the self-ignorance. This phenomenon of its merger is called the deep sleep state. The physical body which was responding in the waking state by its unity with *ahaṅkāra* becomes insensible (*acetana*) in sleep. Besides these statements made in Vedas, our experience of sleep also confirms this fact. *Chāndogyopaniṣad* declares, "In sleep a blind person is not aware of his blindness, the wounded one is not aware of the wound, the afflicted person is not aware of those afflictions etc." (*Ch.U.* 8-4-2).

THE DREAM STATE

The results of the actions capable of producing the subtle experiences of dream have, as their basis, the impressions of experiences during the waking state. When the dream experience is imminent, there is a part or half (*vikāsārdhaḥ*) manifestation of *ahaṅkāra* (ego). It is a state wherein the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) functions without getting identified with the physical body. Indeed, in that state *ahaṅkāra* exerts its activity in the *nāḍīs*.

What exactly are these *nāḍīs* alluded to and expanded upon in the *Upaniṣads* and the scriptures on Yoga, is a matter of interesting, prospective research.

Consistent with the observations made in *Upaniṣads*, *Yogic* texts, literature of *Āyurveda* - the traditional Indian medical science, as also the allopathic derivation of the term "nerve" from Sanskrit root *nāḍī*, it can be concluded that *nāḍīs* are the various nerves that emerge from roundabout the heart. The main ones have been computed to be 101, each of them branching into a hundred, and each of the latter sub-branching into 72,000. The total tally works out to be the figure of 727210201. They are spread all over the body and constitute the integral parts of both the somatic and the autonomic nervous systems. The thickest nerve of the body called sciatic nerve in standard modern anatomy, is named in *Āyurveda* as *gṛdhraśī nāḍī*. It is all the more interesting that the ailment sciatica, the term used in modern medicine, is called *gṛdhrasī* in *Āyurvedic* parlance.

Nāḍīs have been clearly referred to in the *Praśna* (3-6), *Kaṭha* (2-3-16), *Bṛhadāraṇyaka* (2-1-19) and *Chāndogya* (8-6-1 to 6) *Upaniṣads*. According to *Āyurveda*, the *nāḍīs* are coloured reddish brown, white, blue, yellow or red, depending on their content of *kafa, vāta, pitta* and *rakta*, the humours permeating the human body. After describing to some extent the causation of the varying colours, Ādi Śaṅkarācārya in his commentary (*Ch.U.* 8-6-1), suggests that the how and why of the *nāḍī* colours may better be gleaned from *Āyurveda*. Knowing that the sciences of neuroanatomy and neurophysiology are in a highly fluid state, modern medical science may stand to gain quite a few illuminating insights from the wisdom of *Āyurveda*.

The function of the "I" notion (*ahaṅkāra*) in *nāḍīs* without the gross body and the actual external objects is called *vikāsārdha* - half manifestation or growth - of *ahaṅkāra*. Dream experiences are produced in this way. It is a state of experience based on the

impressions born of waking state. The absence of external objects corresponding to those seen in the dream is a matter of universal experience. There are passages in *Śruti* - the Vedas - confirming this fact. In the *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* it is said, "In dream there are no chariots, no horses and roads" *(Bṛ.U. 4-3-9).*

THE WAKING STATE

Ahaṅkāra identifies itself with the entire physical body when the results of actions (*karmaphalas*) having the blueprint of waking state experiences are ready to manifest. Such an identification is called *sarvavikāsa* - complete manifestation - of *ahaṅkāra.* During the waking state the erroneous "I" notion (ego) operates through all the senses but with the world of objects, beings and events. Due to the identification with *ahaṅkāra,* the hitherto unconscious - non-operative - physical body becomes conscious - starts operating - in the waking state. There is greater vividness in the waking state experiences than in those of dream state though *ahaṅkāra* (ego) is active in both. The functioning of all the external senses and the presence of external objects in the waking state are responsible for this difference. More about the three states of experience can be known from the *Upaniṣads* like *Māṇḍūkya* and *Tāpanīya* etc.

FUNCTIONS OF *MANA* ASPECT OF INNER INSTRUMENT (*ANTAḤKARAṆA*)

From verse seven onwards, the functions of the doer "I" (*ahaṅkāra*) aspect of the two-sided inner instrument (*antaḥkaraṇa*) - was described. The other aspect of the same inner instrument, called *mana* - mentioned as *antaḥkaraṇarūpiṇī*

dhīḥ - in verse six, is also highly active. Its functions are as follows:

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता ।
वासनाः कल्पयेत् स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान्बहिः ।।११।।

antaḥkaraṇavṛttiśca citicchāyaikyamāgatā
vāsanāḥ kalpayet svapne bodhekṣairviṣayānbahiḥ - (11)

अन्तःकरणवृत्तिः - The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) of the nature of thought (i.e. *mana* - mind) च - also चितिच्छायैक्यमागता - is united with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) (सा - that *vṛtti*/thought) स्वप्ने - in dream वासनाः - fancies (mental images) कल्पयेत् - produces/creates बोधे - during the waking state अक्षैः - with the sense organs विषयान् - sense objects बहिः - externally (कल्पयेत् - produces/creates). - (11)

11. The inner instrument of the nature of thought is also united with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*). It produces the mental images in dream (whereas) during the waking state with the sense organs it creates the sense objects externally.

Antaḥkaraṇavṛtti mentioned in this verse indicates the inner instrument in the form of thought (*vṛtti*). Contentwise it refers to *mana* (mind) functioning as the instrument at the disposal of doer "I" (*ahaṅkāra*). This aspect was specified in the commentary of the sixth verse.

The conjunction *ca* - also - is to highlight some of the similarities between the unity of *ahaṅkāra* (the erroneous "I" notion) and

reflected pure awareness (*cidābhāsa*) on one hand and the unity of mind (*mana*) and *cidābhāsa* on the other. The thoughts (*vṛttis*) constituting the mind (*mana*) are inert like that of erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*). The erroneous "I" notion acquires the cognitive faculty on account of the reflected pure awareness. So is the case with *mana* (the mind). The unity of the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) and the mind (*mana*) is like the red-hot iron ball non-separable in two distinct components. There is an inseparable inborn unity of mind and the reflected pure awareness. The connection of mind with the physical body makes perceptions and actions possible. This link is due to the results of actions (*karmaphala*) which are capable of yielding the waking state experiences. This connection ceases in the absence of such results of actions. The mind is mistakenly identified with pure awareness (*sākṣī*) on account of self-ignorance. In this wrong identification the features of body along with all the experiences undergone by it are superimposed on the true "I" (*sākṣī*). Such erroneous identification can disappear only in the wake of self-knowledge.

The mind also like the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*) disappears in sleep. It has half manifestation (*ardhavikāsa*) in dream and full manifestation (*sarvavikāsa*) in the waking state. When the results of actions producing the dream are ready, the mind in union with *cidābhāsa* (reflected pure awareness) becomes active in *nāḍīs*, to manifest as dream. The mind gets connected to the physical body when the specific results of actions are ready to produce the waking state experiences. Therein the mind creates with the help of sense organs the external sense objects. The creation of external sense objects by the mind may be questioned because they are there even before the individual was born, leave alone his or her mind creating them. The entire Creation is

authored by the Creator - *Īśvara*. Yes, the public Creation in general is certainly created by the Creator (*Īśvara*); yet its features that actually produce the varied experiences are created by the individual mind. That is why the same manifest world is perceived differently by different persons. For some it may be a mansion of merriment or a heaven and for others the same world may be a dungeon of drudgery or a hell.

The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is shown to have two distinct facets viz. *ahaṅkāra* (ego) and the *mana* (the mind). This method has been adopted to analyse the different functions and facets of *antaḥkaraṇa*. *Ahaṅkāra* (ego) has the status of being the doer (*kartā*) with regard to the mind (*mana*) operating as a means (*karaṇa*). The same *ahaṅkāra* however becomes a means (*karaṇa*) in relation to its basis, the entire inner instrument (*antaḥkaraṇa*) mentioned as *buddhi* in verse six.

THE ACTUAL *SAṂSĀRA* AND ITS MAIN PRODUCER

It is the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) who is the main producer of *saṃsāra*. *Antaḥkaraṇa* provides a scope for the reflected pure awareness (*citicchāya/cidābhāsa*) to come into existence. The reflected pure awareness (*cidābhāsa*) in turn having its nexus with self-ignorance, becomes an accomplice in the fraudulent superimposition of the embodiment accompanied by its limitations, its vagaries, ills and sorrows, on the true "I" (*ātmā*). As a result of this, the true "I" despite being totally free from the embodiment and its features, falsely appears as a limited creature called *saṃsārī*. This explains the generation of the sufferer called *saṃsārī* or *jīva* even though true "I" (*ātmā*) and the inert embodiment individually cannot have the *saṃsāra*. To summarise,

for practical understanding the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is totally responsible for *saṃsāra* even though self-ignorance is at the root of this fundamental problem. The basic nature and functions in nutshell of inner instrument (*antaḥkaraṇa*), without considering its division of *ahaṅkāra* and *mana* separately, as the main producer of *saṃsāra* is described now.

मनोहङ्कृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम् ।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ।।१२।।

manohaṅkṛtyupādānaṃ liṅgamekaṃ jaḍātmakam
avasthātrayamanveti jāyate mriyate tathā - (12)

मनोहङ्कृत्युपादानं - the material cause (*upādānam*) of mind and the erroneous "I" notion (*ahaṅkāra*), viz. *antaḥkaraṇa* लिङ्गं - the subtle body (*sūkṣma-śarīra*) एकं - (is) the same जडात्मकम् (is) of inert nature अवस्थात्रयम् - the three states of consciousness अन्वेति - gains तथा - as well as जायते - is born म्रियते - dies. - (12)

12. The thing called *antaḥkaraṇa* (the inner instrument) is the same as the subtle body and is of inert nature. It gains the three states of consciousness, it is born and it dies.

The material cause of mind (*mana*) and ego (*ahaṅkāra*) is the thing called *antaḥkaraṇa*. It is identical with *liṅgam* - the subtle body (*sūkṣma-śarīra*). Literally *liṅgam* means a sign or a mark. The Indian logicians derive its etymology as - that which makes one cognise an invisible thing (*līnam artham gamayati iti).* That because of which something is known (*liṅgyate anena iti*) also

means *liṅgam*. The following account justifies the etymological meanings:

i) The cognition of sentiency in our embodiment is possible only on account of reflected pure awareness (*cidābhāsa*) that gets produced in *antaḥkaraṇa*.

ii) The nature of true "I" - *ātmā* identical with Brahman - is cognisable by a peculiar *vṛtti* (thought) called *akhaṇḍākāra vṛtti*.

Thus *antaḥkaraṇa* serves as the means to cognise sentiency and gain self-knowledge - unknown otherwise.

There is a definition of *liṅgam* found in Vedānta at variance with what is stated here, i.e. equating the entire *antaḥkaraṇa* (inner instrument) to the subtle body. This can raise a pertinent doubt. The subtle body (*sūkṣma-śarīra*) having seventeen facets comprising five sense organs, five organs of action and five vital airs (*prāṇas*) along with mind and intellect, i.e. *antaḥkaraṇa*, is called *liṅgam* (P.1-23). If this definition of Vedānta is accepted, the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) can at best be only a part of subtle body (*liṅgam*) but not the whole of it.

A closer scrutiny of seventeen parts of subtle body will clear up the seeming disagreement found in both the definitions. Vedānta at places speaks of sense organs, organs of action and the vital airs (*prāṇas*), totally fifteen in number, as separate entities made of five subtle elements. But this distinction between them and the *antaḥkaraṇa* (inner instrument) named as mind and intellect, is a practical rather than an actual one. The pentads of sense organs, organs of action and the vital airs (*prāṇas*) totally depend on the inner instrument (*antaḥkaraṇa*)

for their functions. While functioning with *antaḥkaraṇa*, they are in essence nothing but two types of *antaḥkaraṇa-vṛttis* (thoughts). Sense organs function due to the cognitive power (*jñāna-śakti*), and *prāṇas* (vital airs) with organs of action are fuelled by the power of action (*kriyā-śakti*). They all are accounted separately when required to bring about the distinction between the sense organs etc. and their functions. Essentially the three pentads and *antaḥkaraṇa*, all being *vṛttis* (thoughts), are identical. So the word *ekam* used in this verse suggesting the sameness or identical nature of *antaḥkaraṇa* - the material cause of mind and ego - and the subtle body called *liṅgam*, is quite tenable.

Such an *antaḥkaraṇa* (inner instrument) identical with *liṅgam* (subtle body) is itself inert. Yet, on the strength of the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) that gets cast in it, it takes itself as true "I" (*ātmā*) and assumes even the gross body as "I". Thereafter, it is this inner instrument (*antaḥkaraṇa*) after having its unity with the reflected pure awareness, that undergoes the three states of consciousness depending on its different degrees of functional manifestations as pointed out in verse ten. The three states of consciousness are solely programmed by the results of actions (*karmaphala*). The *antaḥkaraṇa* even gets itself subjected to birth and death as directed by the results of actions. Casting off the existing physical body by *antaḥkaraṇa* is called death and its entry into a new one to wield is the next birth. The word *tathā* from the verse indicates the non-stop cycles of repeated birth and death prompted by unending results of actions until the self-knowledge is gained. The incessant *saṃsara* consisting of sorrow, fleeting joy, fear, anger, greed, delusion, insatiable hankering, etc. belongs exclusively to this *antaḥkaraṇa* united with the reflected pure awareness, and not to the true "I" (*ātmā*). The *liṅgam* (subtle body) being identical with *antaḥkaraṇa* will be elaborated in verse sixteen.

Words cannot describe the attributeless true "I" (*ātmā*/Brahman) directly. But the presence of reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) non-distinguishable from *antaḥkaraṇa*, provides indirectly an access to the words to indicate what the true "I" (*ātmā*), pure awareness is. Any reflection does indicate the nature of the original thing. Vedānta, making use of *cidābhāsa*, unfolds through words the true "I" (*ātmā*), and thereby serves as a valid means (*pramāṇa*) of gaining self-knowledge.

THE FINAL CAUSE OF MUNDANE EXISTENCE (*SAṂSĀRA*) AND ITS REMEDY

THE NATURE OF CREATIVE POWER (*MĀYĀ*)

The nature of inner instrument (*antaḥkaraṇa*) also called *liṅgam* (subtle body), as the producer of *saṃsāra* - the flux of our mundane existence - was shown. But the root cause of *antaḥkaraṇa* and the entire Creation is the Creative power called *māyā*. It is a principle that depends for its existence on Brahman, the all-pervasive pure awareness. *Māyā* is not an ever-existent thing because it gets destroyed in the wake of self-knowledge; it is not totally non-existent either as its effect called the Creation is quite evident. So *māyā* cannot be described as *sat* (the ever-existent thing) nor can it be said as *asat* (non-existent). In the absence of a categorical definition as either *sat* or *asat*, Vedānta calls *māyā* as undefinable - *anirvacanīyā*. The effect of *māyā*, the Creation, is unfailingly experienced and yet both the Creation and its cause, *māyā*, disappear on knowing Brahman, the basis of everything. It is like the disappearance of dream on waking up. *Māyā* is therefore called false - *mithyā*. The word *mithyā* (false) does not permit assigning *māyā* the status of absolute reality, but does leave scope to have the experiential nature of its effect. The presence of the Creative power (*māyā*) can only be inferred through its effects (i.e. *karyānumeyā*). The words *avidyā* (self-ignorance), *ajñāna* (self-ignorance), *tamaḥ* (darkness of self-ignorance), *moha* (erroneous

notion about oneself and the Creation) are synonymous with *māyā*. It is the root cause of calamitous mundane existence - *saṃsāra* - too. The nature of *māyā* is being shown now by describing its two powers.

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ।।१३।।

śaktidvayaṃ hi māyāyā vikṣepāvṛtirūpakam
vikṣepaśaktirliṅgādi-brahmāṇḍāntam jagatsṛjet - (13)

मायाया: - of the Creative power (*māyā*) विक्षेपावृतिरूपकम् - having the features of projecting (creating) and veiling शक्तिद्वयम् - a pair of powers हि - as is well known (in the scripture) (अस्ति - is) विक्षेपशक्ति: - the projecting power लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं - beginning from inner instrument (*liṅgam*) and ending with the universe जगत् - the world सृजेत् - creates. - (13)

13. As is well known (in the scripture), the Creative power (*māyā*) has a pair of powers having the features of projection and veiling. The power of projection creates the world - from inner instrument (*liṅgam*) onwards to the (gross) universe (*S.R.U.* 52).

The power of veiling (*āvṛti* or *āvaraṇa śakti*) and the power of projection (*vikṣepa śakti*) are the two aspects of one and the same Creative power called *māyā*. Some self-styled scholars have wrongly criticised Ādī Śaṅkarācārya for coining the word *māyā* without having any basis for it in the Vedas. *Śvetāśvataropaniṣad* from *Kṛṣṇa Yajurveda* and *Nṛsimha pūrva* and *uttara tāpinyopaniṣads* from *Atharvaṇa Veda* speak of *māyā* explicitly. The word *hi* - as is well known - in the verse

shows the celebrity of *māyā* and its powers as described in the *Upaniṣads*.

Ideally the veiling power (*āvaraṇa śakti*) ought to have been mentioned first in the verse. Any misapprehension of a thing is possible only after its non-apprehension. Without the veiling of the basis (*adhiṣṭhāna*) no false things can be projected on it. A rope can be mistaken as a snake only when the rope is not seen clearly. However, the author has placed the projecting power (*vikṣepa śakti*) first only to maintain the prosodic meter.

THE PROJECTING POWER OF *MĀYĀ*

The nature of the projecting power (*vikṣepa-śakti*) of *māyā* is described in the second half of this verse and the next one. The veiling power (*āvaraṇa śakti*) of *māyā* covers true "I", identical with Brahman. This provides a basis to the projecting power to manifest the Creation. As mentioned above the description of veiling power has to be given first, prior to the elaboration of projecting power. The reason for not doing so may be one or more as given below:

i) We do experience the veiling power daily in our sleep. So, there cannot be any contention about its existence.

ii) The veiling power (*āvaraṇa śakti*) does deny us appreciation of true nature of *Brahmānanda* - absolute bliss - and subject us to *saṃsāra*. But it can do so only with help of the projecting power (*vikṣepa śakti*). Thus the projecting power makes the veiling one operative.

iii) For veiling power to function in its full measure, the projecting

power has to effect the Creation first. Then only the veiling power by its specific aspect of self-ignorance (*avidyā*) covers the natural distinction between our entire embodiment and the true "I" (pure awareness/*sākṣī*). It is this self-ignorance aspect of the veiling power (*āvaraṇa śakti*) that really produces the calamitous *saṃsāra*. So the actual adverse aspect of veiling power functionally operates later than projecting power.

This makes it essential to know first the details of projecting power in order to understand the exact havoc played by the subsequent veiling.

Vikṣepa means manifold actions (*karaṇam*) or appearances (*bhānam*) or productions (*bhavanam*). The power that is endowed with manifold actions, appearances or productions is *vikṣepa śakti* - the projecting power. *Vikṣepa śakti* presents a perfect semblance of having accomplished a task that is just next to impossible. The all pervasive non-dual pure awareness (*cit/ātmā*) called Brahman is free from all limitations. It has no divisions (*bheda*) in itself (*svagata*), or no other member having the same species (*sajātīya*). There is no division either on account of other species (*vijātīya*). Only a limited thing can modify itself or get destroyed. Pure awareness is not amenable to any change brought about by itself or through any other agent. Yet the projecting power (*vikṣepa śakti*) transforms as it were the pure awareness (*cit*) into varied divisions like the waker consciousness (*viśva*), dreamer consciousness (*taijasa*) and sleeper consciousness (*prājña*) at the individual level and the presiding deities at the totality level. The presiding deities are *Virāt, Hiraṇyagarbha* and *Antaryāmi Īśvara* respectively at the macrocosmic gross, subtle and causal levels. It is like falsely projecting a rope as a snake or a garland etc. which in reality is just not possible. The pure awareness though one, without any change

in itself apears as if there are manifold gross and the subtle worlds. This is due to the impact of inexplicable projecting power.

The Creation comes into existence (*jaayate*) when the projecting power manifests itself and gets extinct (*layam gacchati)* on the withdrawal of effect of the projecting power. Therefore the world is called *jagat* - that which is born and gone. The Creation beginning from all the subtle bodies (*liṅga*) and ending with the entire gross world is falsely projected by *vikṣepa śakti.* The five subtle elements, viz. space, air, fire, water and earth are created first. Certain aspects of these constitute the instrument (*antaḥkaraṇa*), sense organs, organs of action and vital airs (*prāṇas*). Thereafter their remaining parts undergo a process known as grossification (*pañcīkaraṇa*) giving rise to perceptible (grossified) elements. These gross elements in turn create the gross perceptible physical bodies and the entire gross world. More details about the order and the process involved in the Creation is available in texts such as *Taittirīyopaniṣad, Pañcadaśī* (Ch.1) and *Tattvabodha.*

This verse corresponds to the fiftysecond *mantra* of *Sarasvatī Rahasyopaniṣad.* Henceforward these references are mentioned after the translation of the relevant verses.

The *vikṣepa śakti* (projecting power) is further elaborated now through the description of the exact nature of its effect, the Creation.

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि ।
अब्धौ फेनादिवत्सर्वनामरूपप्रसारणा ।।१४।।

sṛṣṭirnāma brahmarūpe saccidānandavastuni
abdhau phenādivat sarva-nāma-rūpa-prasāraṇā - (14)

सच्चिदानन्दवस्तुनि - in the thing *sat* (the ever-existence principle) *cit* (the knowledge-principle) *ānanda* (the absolute bliss) ब्रह्मरूपे - namely Brahman सर्वनामरूपप्रसारणा - expansion (i.e. manifestation) of all the names and forms सृष्टि: - the Creation नाम - name (i.e. is called) अब्धौ - in the ocean फेनादिवत् - (it is) like the foam etc. - (14)

14. In the thing *sat-cit-ānanda* namely Brahman the manifestation of all the names and forms is called the Creation. It is like the foam etc. in the ocean.

Brahman, the existence principle (*sat*), the basis of the Creation, does not change, modify or get destroyed. Brahman itself is the self-evident knowledge principle (*cit*). It is also bliss absolute (*ānanda*). Any creation or birth necessarily entails modification. In reality, no creation is ever possible in Brahman. And yet, if there appears to be one, that creation has to be of the *vivarta* type wherein a given thing without changing itself appears as something else. We do find such instances in the world. A rope can appear as a snake. An oyster shell can be mistaken for a piece of silver. Similarly Brahman appearing as all forms and their names is called the Creation. This of course is the effect accomplished by the projecting power (*vikṣepa śakti*) of *māyā*. *Nāma* means the name and *rūpa* is the form. This is done in the sense of distinguishing a given thing as a separate and distinct entity from the rest of them. Other than these two there is nothing in the Creation.

The author gives an illustration to describe the inherent capacity of projecting power capable of creating a false effect. This shows the false nature of the Creation too. An ocean remains all the time as ocean but is seen as waves, bubbles and foam. This is

brought about by powers such as surface tension inherent in the ocean itself. In reality, oceanic waves, bubbles and foam have no existence independent of the ocean. Yet to an indiscriminate person they appear to be distinct entities having different names and forms. The ocean is the truth and the foam, bubble etc. are projections superimposed. Similarly the projecting power (*vikṣepa - śakti*) superimposes the false world on Brahman. The Creation is false, but its basis the Brahman is the ultimate truth. The word *vastu* - the thing - employed in the verse shows the distinction of Brahman from the non-entities (*avastu*) the superimposed names and forms.

The projecting power was described to depict the nature of *māyā* (the Creative power). The description of *māyā* is continued further by showing the effects of its veiling power (*āvaraṇa śakti*).

THE VEILING POWER OF MĀYĀ

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।।१५।।

antardṛgdṛśyayorbhedaṃ bahiśca brahmasargayoḥ
āvṛṇotyaparā śaktiḥ sā saṃsārasya kāraṇam - (15)

अपरा - the other शक्तिः - power, viz. the veiling power अन्तः - within (the physical body) दृग्दृश्ययोः - of cognitive principle and the cognised भेदं - mutual distinction बहिः - externally ब्रह्मसर्गयोः - of Brahman and the Creation (भेदं - mutual distinction) आवृणोति - covers सा - she i.e. that (veiling power) संसारस्य - of *saṃsāra* कारणम् - is the cause. - (15)

15. The other aspect, viz. the veiling power of *māyā* covers the mutual distinction of cognitive principle and the cognised within the physical body (at an individual level of internal world) and that of Brahman and the Creation, externally (in the external world). The veiling power is the cause of *saṃsāra* (*S.R.U.* 53).

The nature of *dṛk* - pure awareness, the ultimate cognitive principle called *sākṣī* or *citi* - and *dṛśya* (the cognised/ known) was described in the first five verses of this text. The mutual distinction between the two makes them poles apart.

The true "I" (*sākṣī/dṛk*) is nothing but pure awareness, the cognitive principle, totally free from all the known (*dṛśya*) including the status of experiencer (*bhoktā*) or the doer (*kartā*). These two statuses appear as if belonging to the true "I" due to erroneous identification with the gross, subtle and causal bodies. In contrast to the nature of true "I" (*ātmā / dṛk*), the not-self (*anātmā*) - from ego (*ahaṅkāra*) to the physical body - is inert. The final *dṛk* (*sākṣī*) is absolute happiness and it is free from the six types of modification. *Dṛśya* is the source of all sorrows and is in a flux of change. The *dṛk* and *dṛśya* have nothing in common.

Brahman and the Creation are the corresponding *dṛk* and *dṛśya* aspects at the macrocosmic level respectively. Brahman the all pervasive pure awareness principle is self-existent. It is independent of the Creation comprising all the names and forms. Brahman is changeless and is not a thing to be experienced as a *bhogya* - an object of enjoyment or suffering. On the other hand the world of names and forms is entirely dependent on Brahman, as it is falsely attributed to it. The world is the thing to be experienced (*bhogya*). It changes every moment. The basis (*adhiṣṭhāna*) of

falsely attributed - superimposed - things (*adhyasta*) is distinct from the latter.

As told earlier, the veiling power (*āvaraṇa śakti*) - the cause of projecting power (*vikṣepa śakti*) - actually starts its operation after the Creation produced by the projecting power comes into being. The veiling power covers the mutual - reciprocal - distinction between the *dṛk* and *dṛśya* inside the gross body. In the external world also it covers the distinction between Brahman and the Creation. In other words this covering of the ignorance effects a mutual superimposition (*anyonya adhyāsa*) of *dṛk* (pure awareness/*sākṣī*) and *dṛśya* within the body at an individual level and externally between Brahman and the Creation.

A superimposition (*adhyāsa*) is mistaking a given thing for something entirely other than itself or attributing the features of one to the other. For such an error to take place, the ignorance of the basis (*adhiṣṭhāna*) on whom the superimposition occurs, is essential. Not knowing the rope as a rope in dim light, and mistaking it as a snake is an instance of superimposition. A crystal is colourless. Considering it to be blue in colour when placed in the vicinity of a blue cloth is superimposing the blue colour of the cloth on the colourless crystal. Problems born of superimposition (*adhyāsa*) can be remedied only by knowing the true nature of the basis (*adhiṣṭhāna*).

In the present context the true "I" (*dṛk/sākṣī*) is identified with the embodiment. So the "I" is mistaken as the doer (*kartā*) and the experiencer (*bhoktā*) undergoing the suffering of *saṃsāra* - the cycle of mundane existence. Macrocosmically the world of names and forms is considered to be the part and parcel of Brahman. This leads to mistaking Brahman to be the experienced (*bhogya*). At the

same time the permanent nature of Brahman is attributed to the Creation seeing it as permanent and ignoring its ever-transient feature. In short, mutual identification of true "I" with the embodiment at an individual level and of Brahman with the world at the totality level is the outcome of veiling power. This is how the veiling power (*āvaraṇa śakti*) of *māyā* becomes the cause of this dreaded *saṃsāra*. This is a fact which Vedānta declares and the discriminative persons discover.

THE INDIVIDUAL *JĪVA* (*SAṂSĀRĪ*)

In the twelfth verse the identity of *saṃsāra*, with liṅga *śarīra* (subtle body) was mentioned. Thereafter *māyā* through its constituting powers was described in the last three verses. At the backdrop of *modi operandi* of both powers of *māyā*, the how of the subtle body (*liṅga*) becoming the *saṃsārī* called *jīva* - the individual - is shown in the next verse.

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम् ।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः ।१६।।

sākṣīṇaḥ purato bhātaṃ liṅgaṃ dehena saṃyutam
citicchāyāsamāveśājjīvaḥ syād vyāvahārikaḥ - (16)

चितिच्छायासमावेशात् - due to the unity with the reflected pure awareness साक्षिणः - of the self-evident cognitive principle (*sākṣī*) पुरतः - in the presence भातं - the one that exists लिङ्गं - the subtle body देहेन - with the physical body संयुतम् - identified with जीवः - the individual (*saṃsārī*) स्यात् - becomes (सः - that *jīva*) व्यावहारिकः - (is) the accomplisher of all the dealings. - (16)

16. The subtle body that exists in the presence of the self-evident cognitive principle (*sākṣī*), identified with the physical body becomes the individual (*saṃsārī*), due to the unity with the reflected pure awareness (*cidābhāsa*). That individual - *jīva* - is the accomplisher of all the dealings (*S.R.U.* 54).

The subtle body (*liṅga*) and the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) are basically the thoughts (*antaḥkaraṇa vṛttis*) of the nature of cognitive power (*jñāna śakti*) or power of action (*kriyā śakti*). Both are thus one and the same. There is always an inborn unity between the reflected pure awareness (*citicchāyā*/*cidābhāsa*) and the subtle body (*liṅga*). During the waking state the interaction at physical body level is imperative to experience the results of past actions (*karmaphala*) capable of producing the waking state. This brings about an identification of the subtle body (*liṅga*) with the gross one. Both these bodies are inert and function in the presence of the all-pervasive self-cognitive principle (*sākṣī*). *Liṅga* (subtle body or *antaḥkaraṇa*) as an object of *sākṣī* (pure awareness) gains direct *cidābhāsa* (the reflected pure awareness) whereas the gross body gets it as an extension from the subtle body. As a result *liṅga* (subtle body) coupled with the physical body operates as a sentient entity capable of carrying out manifold functions. It is like a sophisticated machine designed for varied tasks, endowed with a power supply and an operator. The subtle body (*liṅga*) along with the physical body is the machine. The reflected pure awareness (*cidābhāsa*) is the non-stop power supply. *Ahaṅkāra* (ego), a part of *antaḥkaraṇa* (the inner instrument) or called subtle body (*liṅga*) is the operator. But there is a slight difference. In the case of machine, the operator is distinct from the machine and is independent of power supply. But *ahaṅkāra* is a part of the subtle body (*liṅga*) and depends on the reflected pure awareness for its operation.

Such a subtle body (*liṅga*) is called *jīva* - the individual - or *saṃsārī* who is subject to all the vagaries of *saṃsāra*. This takes place only after the effects of projecting and veiling powers have become manifest.

Jīva, the individual *saṃsārī*, is the accomplisher of all the dealings and experiences here and hereafter. The statuses of doer (*kartā*), experiencer (*bhoktā*), and knower (*pramātā*) belong exclusively to this individual (*jīva*). The performance of actions, earning their results, the travel to other fields of experiences (*lokas*) to gain the resultant embodiments, etc. are also individual (*jīva*) based. *Jīva* is not real (*satya*) for the following reasons:

i) It is the product of inexplicable creative power (*māyā*) which is false. If the cause is false, the effect has to be false.

ii) It ceases to exist forever in the abidance of knowledge of identity between true "I" and Brahman, called *mokṣa* - liberation.The individual (*jīva*) is not totally non-existent (*tuccham*) either, because it is the actual accomplisher of entire *saṃsāra* - the course of mundane existence - whose experience cannot be denied. Therefore *jīva* is called *vyāvahārikaḥ* - the one who has empirical existence till self-knowledge is gained.

THE HOW OF TRUE "I" (*ĀTMĀ*) APPEARING AS THE SUFFERER *JĪVA*

At this juncture, a doubt may arise as follows. *Jīva* - the empirical individual - is false even though it accomplishes *saṃsāra*. A false entity is neither eligible nor can aspire for self-knowledge or

liberation (*mokṣa*). The true "I" *sākṣī* (the self-evident cognitive principle/pure awareness) is always free from *saṃsāra* because it is free from *dṛśya* (the known). Therefore an occasion of *sākṣī* (pure awareness) gaining liberation is not possible. There is no one else who can aspire for liberation. This void of ownership leads to a state wherein Vedānta which speaks of liberation from *saṃsāra* becomes superfluous. The answer is, it is not the case. There is the one who actually experiences *saṃsāra* and so needs liberation.

अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते ।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ।।१७।।

asya jīvatvamāropāt sākṣiṇyapyavabhāsate
āvṛtau tu vinaṣṭāyāṃ bhede bhātepayāti tat - (17)

अस्य - of this (empirical individual) जीवत्वम् - the status of being a *jīva* आरोपात् - due to superimposition साक्षिणि - in the true "I" (*ātmā*) अपि - even अवभासते - is experienced आवृतौ विनष्टायां - on the destruction of veiling तु - certainly भेदे भाते - when the distinction (of *dṛk* and *dṛśya*) is cognised तत् - it (superimposed status of being a *jīva*) अपयाति - disappears. - (17)

17. Due to superimposition the status of being a *jīva* pertaining to this empirical individual is experienced even in the true "I" (*ātmā*). It certainly disappears when the distinction (of *dṛk* and *dṛśya*) is cognised on the destruction of veiling (*S.R.U.* 55).

Saṃsāra is actually the production of false empirical individual - *jīva*. It is not possible for the ever-free true "I" (*ātmā*/*sākṣī*) to really have *saṃsāra* as its feature. Even then the veiling power of *māyā* plays the trick of covering the true nature of oneself and brings

about a mutual superimposition (*anyonyādhyāsa*) between the true "I" (*sākṣī*) and the embodiment with all its modifications. The nexus of reflected pure awareness (*cidābhāsa*) and the veiling power of *māyā* otherwise called self-ignorance effects this confusion. The superimposition generates a wrong notion that our embodiment, its limitations and sorrows are the inherent features of true "I" (*sākṣī*). The obvious outcome of such a mistake is to conclude the true "I" itself as the sufferer *jīva*. This is how the status of *jīva* or *saṃsārī* is experienced as if it is the nature of pure awareness (*sākṣī*) the true "I".

The situation is like the moon hidden behind the clouds that seems to be moving when the clouds move. Another example is that of your travelling in a train when it halts at an in between station. On the other side of the train away from the platform, on an adjacent parallel track another stationary train bound for opposite direction too is halting. While you are looking at it through the window, you find that your train is moving. But when you look at the platform side you realise that your train is still stationary. It was the other stationary one that had started moving in the opposite direction. The movement of other train was mistaken as that of your train. So does the status of *jīva* or *saṃsāra* appear to pertain to *sākṣī* (true "I"/*ātmā*) until one discovers *sākṣī* as totally free from it. The word *api* - even - in the first line of present verse suggests that *sākṣī* (*ātmā*) can never become *jīva* in reality.

THE MEANS TO CORRECT THE ERROR OF TAKING TRUE "I" AS *JĪVA*

The veiling power of *māyā* expresses itself in a twofold way. Covering the knowledge of true "I" (*ātmā*), the veiling power renders *ātmā* as if non-existent. This results in the conclusion that the true

"I" (*ātmā*) free from the status of *jīva* (empirical individual) does not exist, because it is not known by our day to day experience or knowledge. Such effect of ignorance can be dispelled by relevant self-knowledge. The direct discovery that I am Brahman free from *saṃsāra* totally dispels the veiling power including its dreaded effect of mistaking oneself as *jīva*. The prefix *vi* in *vinaṣṭāyām* shows that there is complete destruction of veiling power. This is done to highlight its non-return, in wake of self-knowledge.

Self-knowledge amply clears the distinction between *dṛśya* and *dṛk*. It shows that the accomplisher of *jīva* - the subtle body (*liṅga*) - is *dṛśya* (inert/the known) as pot, stone etc. whereas the true "I" the self-evident cognitive principle (*sākṣī*) is *dṛk* - free from all *dṛśya* (the known). Once this clarity based on the knowledge of true "I" (*ātmā*) is gained, the hitherto erroneous notion that *sākṣī* (*ātmā*) is *jīva* vanishes. The word *tu* is used as an emphatic particle to reveal the certainty of this fact based on the Vedas, reasoning and the direct discovery of *jñānīs* - the persons having self-knowledge.

Vedānta helps to get rid of the wrong notion of having the status of *jīva* or *saṃsārī* falsely superimposed on true "I" (*sākṣī*) by eliminating the veiling power of *māyā* through self-knowledge. Vedānta is not superfluous. It has a unique role in obtaining the freedom from *saṃsāra*.

THE HOW OF APPARENTLY CHANGING OF BRAHMAN

As the miseries of *jīva* are experienced in the true "I" (*sākṣī*) by superimposition born of veiling power, in the same way the Creation appears as if an integral part and parcel of Brahman due to mutual superimposition.

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ।।१८।।

tathā sargabrahmaṇośca bhedamāvṛtya tiṣṭhati
yā śaktistadvaśād brahma vikṛtatvena bhāsate - (18)

तथा - in that manner सर्गब्रह्मणो: - of Brahman and the Creation भेदम् - distinction आवृत्य - having covered या - who शक्ति: - veiling power तिष्ठति - remains/exists तद्वशात् - under its influence ब्रह्म - Brahman विकृतत्वेन - as modifying in nature भासते - appears. - (18)

18. In that manner, under the influence of veiling power that remains having covered the distinction of Brahman and the Creation, Brahman appears as modifying in nature.

The veiling power covers outside in the world the distinction of Brahman and the Creation, in the same manner as that of *dṛk* (self-cognitive principle, pure awareness) and *dṛśya* (the known) within the body. Brahman is always free from six modifications (*ṣaḍ-vikāra*) in contrast to the ever-changing Creation. But the veiling power effects a mutual superimposition of Brahman and the Creation. Thereby their distinction gets covered as mentioned earlier in the context of verse fifteen. This gives the wrong notion that Brahman is subject to six modifications with the Creation as its inherent feature.

THE MEANS TO DISPEL WRONG NOTION ABOUT BRAHMAN

As was the case within the body, in the external world also the elimination of veiling power by the knowledge, "I am Brahman", reveals the distinction of Brahman and the Creation. Thereafter

there is no occasion to mistake the falsely superimposed Creation as the characteristic feature of Brahman. So the author now tells:

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः ।
भेदस्तयोर्विकारस्स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ।।१९।।

atrāpyāvṛtināśena vibhāti brahmasargayoḥ
bhedastayorvikārassyāt sarge na brahmaṇi kvacit - (19)

अत्र - here (i.e. externally) अपि - also आवृतिनाशेन - by the destruction of veiling ब्रह्मसर्गयोः - of Brahman and the Creation भेदः - distinction विभाति - becomes clear तयोः - among the two सर्गे - in the Creation विकारः - modification स्यात् - is fit to exist ब्रह्मणि - in Brahman न क्वचित् - nowhere. - (19)

19. Externally also the distinction of Brahman and the Creation becomes clear by the destruction of veiling. Among the two, the modification is fit to exist in the Creation, (but) nowhere in Brahman (*S.R.U.* 57).

The mutual superimposition (*adhyāsa*) of Brahman and the Creation on each other is on account of the covering effected by the veiling power of *māyā*. The superimposition will not cease unless their distinction is clearly appreciated. A clear cognition of Brahman free from the false Creation attributed to it can reveal the distinction between the two. The continuance of ultimate cognitive principle (*dṛk*), pure awareness, and the discontinuance of all inert things (*dṛśya* /the known) enable us to ascertain true "I" within the body and Brahman with reference to the external world. Thereafter the statements of *Upaniṣads* like "*Tat tvam asi*" (You are that Brahman) can reveal the identity of both of them. Only the finale of such firm

knowledge expressed by the dictum, "I am Brahman of the nature *sat, cit, ānanda*." comprising the appreciation of attributeless all-pervasive pure awareness (*cit*) destroys the veiling power of *māyā* with all its residual traces. Then only, the distinction between Brahman and the Creation becomes as clear as that of any two objects like a clock and cloth.

After the appreciation of their vivid distinction only it becomes directly evident that at no time and nowhere the modifications are truly possible in Brahman. Even the words "no time" and "nowhere" have no reference/relation to Brahman. Brahman has no link with time and space - a part of the Creation. And yet, we have to use the language from the relative world of time and space to convey the absolute Brahman. All modifications can legitimately belong only to the Creation.

Thus it is the Creative power - *māyā* - that is at the root of this calamitous *saṃsāra* - the flux of our mundane existence.The projecting and veiling powers of *māyā* present the appearance of an impossible scene and make us believe the unbelievable. The entire Creation and our *saṃsāra* is nothing but a big will-o'-the-wisp (delusive design and hope). To know the reality, the sooner we end the veiling power the better for all.

THE WORLD MINUS THE NAMES AND FORMS IS BRAHMAN

In the preceding topic the veiling power (*āvaraṇa śakti*) of *māyā* (the Creative power) was shown as the root cause of *saṃsāra*. Microcosmically it brings about a mutual identification between the true "I" and one's embodiment. Macrocosmically a similar identification is effected between Brahman and the Creation. As a result the true "I" (*sākṣī* - pure awareness) at an individual level falsely appears as a miserable creature - *saṃsārī* - endowed with the statuses of experiencer (*bhoktā*) of joys and sorrow, doer (*kartā*) of all the deeds, and a constant victim of birth, death and other changes. On the other hand, at the external world levèl Brahman is mistaken to be the ever changing world with the status of an experienceable thing (*bhogyatva*).

All these false but dangerous effects are totally rooted out on the elimination of veiling power. This feat can be achieved only by gaining the knowledge of Brahman. That itself is self-knowledge wherein the identity of true "I" and Brahman is discovered. Thus the remedy against *saṃsāra* is totally the knowledge of Brahman, the true "I". The questions "What exactly is the nature of Brahman?", and "How can we ascertain Brahman with the means accessible to us?", naturally seize the mind of a serious seeker. For this, one of the most direct and yet simple modes of inquiry is employed by Vedānta. It begins with the inquiry of the nature of the world around us and finally reveals Brahman as the very basis of the whole Creation. During this search, the nature of true "I" also

gets revealed. The method adopted has a pointed suggestion which is highly helpful in the pursuit of contemplation of Brahman, the ultimate truth.

THE FIVE FACETS OF ALL OUR DEALINGS

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।।२०।।

asti bhāti priyaṃ rūpaṃ nāma cetyaṃśapañcakam
ādyatrayaṃ brahmarūpaṃ jagadrūpaṃ tato dvayam - (20)

अस्ति - exists भाति - shines (cognizably) or appears प्रियम् - pleasing रूपं - form नाम - name च - and इति - so अंशपञ्चकम् - (is) the group of five constituents आद्यत्रयं - the first triad ब्रह्मरूपं - (is) the nature of Brahman तत: - the other than that द्वयं - pair जगद्रूपं - (is) the nature of world. - (20)

20. The group of five constituents, "Exists, shines (cognizably), pleasing, form and name" pertains to all dealings (*vyavahāra*) in the world. The triad of first three is the nature of Brahman and the pair of remaining two is that of world (*S.R.U.* 58).

All our dealings or conducts (*vyavahāra*) in life with anything from the world invariably have the five facets enumerated in this verse. No pursuit is possible without this pentad. An assessment of the role of each one of them will establish the truth of this statement. It will also pave the way for our ascertaining the nature of both Brahman and the Creation - world.

ASTI - EXISTS

All our contacts and pursuits are with the existing things whether tangible or intangible. No one interacts with non-existing objects or beings. For that matter even the seeming action of lunatics or persons like Don Quixote are with reference to their imageries considered by them as real. So the thing we transact with, exists (*asti*/is). Our expression "A given thing is" also displays this fact. Existence (*sat*) aspect of everything in the Creation is clearly cognised.

BHĀTI - SHINES (COGNIZABLY)

The existence of a thing necessarily presupposes its cognition by a knower, the subject. Only after knowing can a thing be said as "exists/is". That is how we say a given thing shines cognizably (*bhāti*) or is known. Inert or non-cognitive things can neither know themselves nor can they ascertain the existence of something else and interact with it on their own. The cognitive/knowledge principle in the subject, the knower, is the all-pervasive pure awareness (*cit*). Yet the cognitive aspect operates effectively only through the reflected pure awareness (*cidābhāsa*) in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). It is like light which though present everywhere in a given region, is visible only when reflected from a surface, and not directly. The existence of a given thing indicates the presence of cognitive principle (*cit*/pure awareness) even if the knowledge principle (*cit*) is not objectified directly.

PRIYAM - PLEASING

The word *priyam* means pleasing, a locus of love or pleasure. With "pleasure" as its meaning *priyam* also suggests happiness

(*ānanda*) by implication.

In our interactions (*vyavahāra*) in life we confront objects, beings and events which give us either joy or sorrow. The former are desirable and the latter ones, the undesirable. The universal concept is to treat the objects, beings or events as the sources of sense pleasure and sorrow. But it is not so. If it were so, the same thing must impart either joy or sorrow to all persons at all periods of time. Our observation in the world shows it to be otherwise. The same thing can be joyous at one time and sorrowful at other even for the same person.

The desirability or undesirability of things is determined on the basis of a universal norm operating in our life - seeking happiness without sorrow. This is only found in the true "I" (*ātmā*), the locus of limitless love, because that is the only absolute happiness principle. That makes "I" an ever pleasing one. Those things which help to experience this happiness in a varying degree are desired by us. In fact all the things like sense objects are dear not for the sake of the objects themselves, but for one's own sake they all are dear (*Bṛ.U.* 2-4-5 and 4-5-6). The other things which suppress the happiness ("I" the absolute happiness) and make us suffer the sorrow are not at all desired. In both cases the point of reference to determine either of them is the absolute happiness, the true "I". Every one has an inkling of this in the deep sleep but it is usually not investigated. Experiences of joys and sorrows surface this way. Unfortunately almost all are ignorant of this basic fact. Whether a specific thing gives joy or not, the locus of love (*priyam*), the pleasing "I" is always present as the determining factor. Going into the details of the how of joyous and sorrowful experiences and figuring out from where they originate will facilitate a clear understanding about our likes,

dislikes and our values about objects, events and beings.

The true "I" (*ātmā*/pure awareness) is all-pervasive Brahman. Its nature is *sat-cit-ānanda*. The Creation is falsely superimposed on it. The existence (*sat*) aspect of Brahman is readily cognised in all the things in the world. The knowledge/cognitive (*cit*) feature of it is appreciated only wherever the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is present. That is how we get the division of sentient and insentient things although Brahman (pure awareness) is all-pervasive. However in our daily routine chores the happiness (*ānanda*) facet of Brahman comes to surface only through the three subtle *vṛttis* (thoughts) called *priya* (agreeable), *moda* (joy) and *pramoda* (intense joy). All the three are different from the gross thoughts (*vṛttis*) of the inner instrument (*antaḥkaraṇa*).

The happiness aspect of Brahman is hidden from our perception by the veiling brought about by *tamas* - ignorance and the consequent agitations. An individual in presence of the desired sense objects interacts with them at the mental level. Such an operation renders asunder *tamas* veiling the happiness - nature of Brahman - whereby there surface the subtle *vṛttis* of *priya, moda* or *pramoda* depending on the type of contact and mental interaction involved. Those subtle *vṛttis* elicit the happiness in varying degrees. In worldly parlance this is called sense pleasure. The sense objects have a role, no doubt in bringing out the experience of joy but the source of this happiness is Brahman and not the sense objects. The contacts with the objects are temporary, so is the sense pleasure born out of them short-lived. The same process is prevalent in the experience of joys in dream. The only difference is that there are no physical sense objects. *Priya, moda* and *pramoda vṛttis* also manifest in the absence of automatically/actively functioning *ahaṅkāra vṛtti* of *antaḥkaraṇa* as is the case in

sleep. This explains why there is an experience of happiness in sleep even though senses and their objects are not operating.

Let us understand *priya, moda* and *pramoda vṛttis*, subtle in nature. Suppose a close friend of yours whom you had not met for the last fifteen years calls you saying, he will visit you shortly for two days while in transit. You are delighted with this news. This joy of heralding is by *priya* (agreeable) *vṛtti*. When you meet your friend at the airport the joy you get of actual meeting is through *moda* (joy) *vṛtti*. At home when both of you revel in the memories of your sports, adventures, jokes and mischiefs of college days, you derive intense joy of reliving the past. This is conveyed by *pramoda vṛtti*. In all the three cases the actual source of happiness is the "I", Brahman only. Your friend is just a favourable means, but not happiness himself. If the same friend were to visit you after fifteen years, let us say in your bereavement, he will not evoke similar response of happiness. In this instance the thoughts of sorrow are so predominant that they do not allow the *vṛttis* like *priya* to surface.

The causes of sorrows may differ, but they are finally experienced through their connected thoughts (*vṛttis*) in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). In the absence of such thoughts, there is no sorrow even if its cause is really present. When totally engrossed in some preoccupation, you do not feel the pain in some part of your body. No one suffers one's ailments in sleep. The thoughts depicting the sorrows are absent in both the above cases in spite of the causes being present. The true "I" (*ātmā*/pure awareness) is free from all the thoughts. So the sorrow is totally alien to pure awareness (*ātmā*) whose nature is absolute happiness. In and through the sorrowful experiences the pure awareness (true "I"/*ātmā*) who illumines them is always present in

its nature, the happiness. The governing factor in not experiencing this happiness is the non-availability of favourable conditions as detailed earlier. The foregoing analysis proves the presence of latent happiness - and so *priyam* - even while encountering all sorrows. The first line of this verse does not tell that all things do produce happiness. It only points out the presence of *priyam* (pleasing or *ānanda*) factor in relation to everything whether joyous or not. Existence (*sat*) in *asti* and the cognitive principle (*cit*) in *bhāti* are also not produced by the objects, events or beings. In fact, all of them exist in *sat* which itself is *cit* and *ānanda*.

Sureśvarācārya, the author of *magnum opus* called *Vārtika* - poetic exposition - on the *Upaniṣads*, at one place shows sorrows as the features of *antaḥkaraṇa* (inner instrument) and not of *ātmā* (the true "I").

दु:खी यदि भवेदात्मा कस्साक्षी दु:खिनो भवेत् ।
दु:खिन: साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दु:खिता तथा ।।

"If *ātmā* (pure awareness) were to be a sufferer (i.e. the known/a changing phenomenon), who could be the illuminator (as cognitive principle)? A sufferer cannot be an illuminator (of one's suffering); in the same way, the illuminator (i.e. pure awareness/ *sākṣī*) cannot have the status of a sufferer" (*Nai.Si.* 2-76).

नर्ते स्याद्विक्रियां दु:खी साक्षिता का विकारिण: ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रिय: ।।

"Without change (of *antaḥkaraṇa*), there can be no sufferer. How can that which changes be the illuminator (*sākṣī*)? Therefore the true "I" (*ātmā*) is the changeless illuminator (*sākṣī*) of the thousands of modifications of the *antaḥkaraṇa* - inner instrument" (*Nai.Si.* 2-77).

Discoveries in neuroscience can also help us to understand better the mode involved in the production of sorrows. According to neuroscience, the emotional responses like sorrow, fear, despair, elation etc. get processed in the parts of brain called limbic system comprising temporal lobe, hypothalamus, the oldest brain and the recently evolved neocerebrum. The electric impulses received in the cortex from senses give us the perceptions whereas their resultant emotions do occur in the said parts of brain through specific patterns created as the neurons fire off minute electric impulses. When they do not function as in sleep or in the event of damage to any of these parts, the emotional responses cease even in the presence of external causes. This shows that things like sorrows and fear occur at our embodiment level. The cognitive principle, the true "I" (*ātmā*) simply illumines them - makes them known. The illuminator (*sākṣī*) is the basis of all cognitions but it is totally free from all that is cognised including sorrows. The nature of illuminator (*sākṣī/ātmā*) is absolute happiness. In other words, in every experience of sorrow too, the true "I" or happiness, also called *priyam* is invariably present.

RŪPAM - FORM

The fourth aspect is *rūpam* - form. The word "form" has to be taken in a wider sense. It means the nature of a thing as distinct from all the rest and the one that distinguishes the thing. *Rūpam* (form) as used in this verse is not restricted only to the forms seen by eyes. For example sound, touch, taste and smell have their own forms by which they are known to be so. Even in a given variety say the sound, there are many forms like being melodious, harsh, shrieking, loud, whispering and so on. The nature of a thought whether loving or painful or any other also has its form.

NĀMA - NAME

The fifth and the last facet that we encounter in all our dealings in the world is *nàma* - name. "Name" is the word or a label as it were, associated to each and everything in the Creation. All the things and beings are known, spoken of, and are referred to or dealt with by their corresponding names. The interaction in the world would be almost impossible without the names.

These are the five aspects invariably present in all our pursuits related to the world, without which our dealings (*vyavahāra*) with objects, beings and events are not possible. We can summarise that everything in the Creation presents itself through these five facets.

The first line of this verse can also mean that only these five aspects, "Exists, shines (cognizably), pleasing, form and name" are available to us for interaction with the objects, events and beings in the world. In this case, sorrows get included in the category of "form" as associated with specific types of thoughts. That means sorrows are the features of only names and forms.

PRECISE NATURE OF BRAHMAN

Of the five aspects mentioned above, the first three reveal the exact nature of Brahman, the basis (*adhiṣṭhāna*) or the ultimate truth of this world. The triad of *asti* (exists), *bhāti* (shines cognizably) and *priyam* (pleasing) stand for *sat* (the ever-existence principle), *cit* (the self-evident knowledge principle/pure awareness) and *ānanda* (the absolute happiness). Different things do differ in their names and forms, but the *sat, cit* and *ānanda* aspects are common to all. *Sat* as told here is not the relative existence of a thing which

gets destroyed. It refers to the absolute existence, which is never subject to any change or destruction. This *sat* only makes the relative existence of different things in the Creation possible. Pure awareness, alone, can be such an ever-existing principle .

Sat, cit and *ānanda* are not three qualities of some substance called Brahman. The one that always exists without birth, destruction and any change is called *sat.* If *sat* were inert (*dṛśya*), some other knowledge/cognitive principle will be required to know it. Existence of some knowledge principle distinct from *sat*, imposes a limitation on it, leading to its destruction. Any limited thing is bound to perish. Such an ephemeral thing cannot be the self-existent indestructible *sat.* Therefore the knowledge or cognitive principle *cit* must necessarily be the same as *sat.* So is the case with *ānanda* (happiness). It also has to be identical with *sat*, that is *cit.* We have also seen that the origin of happiness can only be traced to pure awareness, the true "I" (ultimate cognitive principle/*sākṣī*). Thus non-dual Brahman is *sat, cit, ānanda* and these are not three different qualities of Brahman. The *Upaniṣads* are never tired of repeating this truth. This fact can provide us a means to cognise Brahman in and through the perceived world. The actual method for this appreciation will be detailed later.

PRECISE NATURE OF *JAGAT* - THE WORLD

After stating the first three facets of the pentad as standing for Brahman, there remains the pair of last two comprising *nāma* (name) and *rūpa* (form) superimposed (*adhyasta*) on Brahman. These two exclusively constitute the world or the Creation called *jagat.* The features of the Creation (*jagat*) made of *nāma* and *rūpa* are in total contrast to what Brahman is. Birth, change, destruction, limitation, sorrow, inertness, dependence, falseness and duality

characterise *nāma* and *rūpa*, whereas Brahman is birthless, changeless, indestructible, limitless, absolute happiness, self-evident knowledge principle, self-existent, the ultimate truth and non-dual.

The people who lack discrimination (*viveka*) mix up the five facets by superimposing the triad of *sat, cit, ānanda* on the pair of name (*nāma*) and form (*rūpa*) and vice versa. This leads to the wrong conclusion that the cognised world is real and Brahman is transient.

Some may question the veracity of distinguishing the triad of *sat, cit, ānanda* from the name and form because the triad itself comprises names and forms. Yes, superficially it appears so, but not in reality. In the world, existence, knowledge and happiness are seen but in parts whereas Brahman is absolute -- independent, self-existent and limitless -- in this respect. Consider a glass jar. We say "The jar is". If it is broken "The jar is not". Though the jar does not exist now, the existence aspect of it free from the name and form of the jar continues, because the glass pieces do exist. Even when the glass pieces are crushed into powder, the silica exists. Like this the earlier names and forms may be lost, but the existence aspect continues. There is existence in the non-existence of a thing too, in the sense that absence of a thing is and it is cognised. Whether a thing exists or not, *sat* always is. This outlines the distinction between relative existence called name or form and the absolute existence called *sat.* Similar distinctions hold good with regard to *cit* and *ānanda.*

In fact, the words *sat, cit, ānanda* individually belong to the created world only, and so, they have the limitations of language. As experienced in the world, existence (*sat*) could be

inert, knowledge (*cit*) begins and *ānanda* becomes meaningful only as a foil to sorrow. The word "Brahman" literally means "big". Bigness can be only with reference to something small. Such a situation is possible only in the Creation. In Brahman there is nothing big or small. All words are confined to the relative world. They can operate in the realms of species (*jāti*), attribute (*guṇa*), action (*kriyā*) and relation (*sambandha*). Brahman is free from all these. In fact, strictly speaking no word or words can define Brahman. And yet to indicate Brahman, these impotent words are employed by adopting some specific usages. For example, the words *sat, cit, ānanda* or *satyam, jñānam, anantam* (*Tai.U.* 2-1) are juxtaposed (used in *sāmānādhikaraṇyam*) with one another. This enables them to eliminate the limitations of each word and to thus indicate Brahman though indirectly.

The analysis of the pentad in relation to the perceived world is also known as *Brahma-sarga-viveka* - the ascertainment of Brahman and the Creation. This method in principle, is similar to *dṛk-dṛśya-viveka*, discussed earlier, although the focuses differ. *Dṛk-dṛśya-viveka* - ascertainment of the cogniser (*dṛk*) and the cognised (*dṛśya*) - is carried out at the level of an individual whereas *Brahma-sarga-viveka* is related to the whole Creation. *Dṛk* - pure awareness (*sākṣī*) - is itself *sat, cit, ānanda.* At an individual level, in contrast, *dṛśya* (cognised) is nothing but some name (*nāma*) and form (*rūpa*), comprising the world.

EXPLANATION OF FIVE FACETS: *SAT, CIT, ĀNANDA,* NAME, FORM

The five facets are further elaborated upon by showing the continuance (*anvaya*) of *sat, cit, ānanda* and discontinuance

(*vyatireka*) of name (*nāma*) and form (*rūpa*) in all the things in the Creation.

खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु ।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी ।।२१।।

khavāyvagnijalorvīṣu devatiryaṅ narādiṣu
abhinnāḥ saccidānandā bhidyete rūpanāmanī - (21)

खवाय्वग्निजलोर्वीषु - in the space, air, fire, water and the earth देवतिर्यङ्नरादिषु - in the celestial beings, animals, humans etc. सच्चिदानन्दा: - the facets of existence (*sat*), knowledge principle (*cit*) and happiness (*ānanda*) अभिन्ना: - (are) the same रूपनामनी - form and name भिद्येते - differ. - (21)

21. The existence (*sat*), knowledge principle (*cit*) and happiness (*ānanda*) facets are the same in the space, air, fire, water and the earth as well as in the celestial beings, animals, humans etc. (whereas their) names and forms differ.

The five elements and different species of embodiments are mentioned to encompass the entire Creation - animate or inanimate. In all of them the *sat, cit, ānanda* facets are identical. Take for instance an apple and a rose. The apple exists and the rose also exists. Both of them shine (cognizably). The apple is pleasing and so is the rose. One and the same *sat, cit, ānanda* inheres in both.

The remaining two aspects - name and form - differ in all the five elements and whatever that is produced from them. In the example that we had considered earlier, the name "apple" and its

form - the nature i.e. the appleness - are distinct from rest of the things. They differ from those of rose. There is no exception to this separateness. Some may doubt that different members of the same species have identical names and forms. It does appear to be so. But when probed, a subtle distinction can be found on account of different origin, texture and abidance in different time and place. These additional features qualify the distinction amidst apparent similar names and forms.

The inquiry as employed in these two verses directly determines the exact nature of Brahman. The same inquiry also reveals the nature of true "I" at the individual level. Technically this is an ascertainment of the two words *tat* ("that" referring to Brahman) and *tvam* ("you" the individual *jīva* in your true nature) from the statement of *Chāndogyopaniṣad*, "*Tat tvam asi*" - You are Brahman. How this inquiry and its results help us to get absorbed in the appreciation of our true nature, identical with Brahman, will be the topic of the forthcoming section.

VEDĀNTIC WAYS TO *SAMĀDHI*

CONTEMPLATION (*NIDIDHYĀSANAM*)

The nature of Brahman and true "I" was shown in the preceding portion, establishing thereby their identity. In general, the knowledge of a given thing eliminates the ignorance of it then and there, revealing the real thing to be known. While, in principle, this fact is also true for self-knowledge, there is some practical difficulty. Self-knowledge has also to be well endowed with appropriate means for its birth to take place and then for attaining its maturity (*B.G.* 13-51 to 53). It should also be free from the obstructions that hamper its beginning or its path to maturity. Laxity of purpose or the presence of obstructions denies the persistent appreciation of true "I" (*ātmā*) despite the advent of knowledge. The ingrained habit of identifying with one's own embodiment (*viparītabhāvanā*) persists. This problem has to be overcome by repeated contemplation - *nididhyāsanam* - centered on one's true nature. It comprises maintaining a steady flow of similar thoughts that make one appreciate *ātmā*/Brahman to the exclusion of all other thoughts pertaining to not-self (*anātmā*) like body, sense objects etc. As a result the mind gets absorbed in *ātmā*, identical with Brahman. *Nididhyāsanam* (contemplation) steadies self-knowledge, thus promoting a persistent appreciation of one's true self. The means to effective contemplation are elaborated in the next eight verses.

THE LADDER OF SPIRITUAL PURSUIT - 13 ESSENTIAL STEPS

Before proceeding with contemplation, a retrospective glance at the steps preceding it and their results will help the seeker a lot

to make up for the shortcomings in one's endeavour. A brief account of these in the work of Sureśvaracarya written in some other context will help to get a bird's-eye view of the entire pursuit. The following thirteen steps in a sequential crescendo order are listed by him in pursuing the final goal of human life (*Nai.Si.*, Introduction to 1-52).

i) नित्यकर्मानुष्ठानात् धर्मोत्पत्ति : -

"*Puṇya* - merit (results of good deeds as entitling to a future reward) - is produced from the performance of daily and occasional obligatory duties".

In the entire Creation, interdependence prevails. A natural give and take rule governs all the strata of the phenomenal world. As individuals we depend much on many phenomenal powers. A life without air, water, earth, sun, moon, rain, flora, fauna and similar other forces is just not possible. In return to these indispensable services that we receive from the cosmos, the humans also have to contribute their mite.

This is accomplished by discharging one's own duties according to *dharma* - the prescribed code of conduct in the scriptures - in dedication to *Īśvara* (the Creator). Performing one's duties has to be accorded priority instead of being preoccupied with the results. Of course, the results on their own stand guaranteed. Such an attitude of detached actions is called *karma-yoga* (*B.G.* 2-47; 3-30). This approach maintains harmony in the cosmic wheel of action. The one who does not contribute his or her due is considered a thief misappropriating what the person deserves not. On the other hand a person who repays the obligation by discharging one's duties acquires *puṇya* - merit.

ii) धर्मोत्पत्ते: पापहानि: -

"The sins - the results of adverse past actions - become ineffective on account of *puṇya* - merit - born as specified earlier."

The results of past bad actions agitate the mind and impede the higher pursuit in life. *Puṇya* (merit) nullifies their adverse effects.

iii) तत: चित्तशुद्धि: -

"Thereupon the mind (*antaḥkaraṇa*) gets purified."

The purity of mind is seen as its composure and its capability to use the faculty of discrimination (*viveka*).

iv) तत: संसारयाथात्म्यावबोध: -

"Consequently the actual nature of the mundane existence is understood."

The actual nature of worldly existence (*saṃsāra*) refers to the resultant sorrows involved therein, the impermanent nature of objects, beings and events, and the erroneous notions of pleasure and displeasure superimposed (*śobhanā/ aśobhanādhyāsa*) on the world.

v) ततो वैराग्यम् -

"From that (is born) dispassion."

The assessment of the world in the right perspective loosens the firm stranglehold that the sense objects have on humans.

This is the outcome of proper discrimination (*viveka*).

vi) ततो मुमुक्षुत्वम् -

"Thereupon (dawns) intense longing for liberation - freedom from the existence of limitations, sorrows etc."

vii) तत: तदुपायपर्येषणम् -

"Afterwards (starts) the search for the means of liberation."

viii) तत: सर्वकर्मतत्साधनसंन्यास: -

"Then, renunciation of all actions along with their means."

The person who has accomplished what is indicated in the first seven steps grows out of the necessity of carrying out actions. He or she needs more leisure to take to the further pursuit. Scripture exempts such a person as an exceptional case, from the preoccupations of discharging duties. This withdrawal from actions is not out of laziness or inadvertency. It is a lifestyle sanctioned by the Vedas only to highly mature and ready seekers (*sādhakas*) to dedicate full time to the pursuit of accomplishing the final goal of life.

ix) ततो योगाभ्यास: -

"Thereupon (taking to) the repeated practice (*abhyāsa*) of *yoga*, i.e. self-inquiry (*śravaṇam*), reflection on it (*mananam*) and contemplation (*nididhyāsanam*)."

The word *yoga* primarily means self-knowledge or the knowledge of the ultimate truth (*paramārtha-jñāna*). In the present

context as the final goal of knowledge is yet to be attained, the word *yoga* refers to the means of gaining the ultimate knowledge.

First, the inquiry (*śravaṇam*) as per the scriptures, with the help of competent teacher has to be conducted to ascertain the truth. Thereby ignorance is dispelled. Then the reflection (*mananam*) is to be done on *śravaṇam* and whatever doubts arise are to be removed based on reasoning in accordance with scriptures. Afterwards one has to resort to continuous contemplation (*nididhyāsanam*) to overcome the contrary habitual notions. Self-knowledge and the clarity thereof are possible only when they are not obstructed by ignorance, doubts or erroneous contrary notions regarding the true I" (*tvam*) and Brahman (*tat*). The direct appreciation (*darśana*) of true "I" (*ātmā*)/Brahman is possible only by employing these three means together. Ādī Śaṅkarācārya in his commentary on *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* emphasises the need for collective and sustained practice of these means in the following words:

यदा एकत्वम् एतानि (श्रवणमननिदिध्यासनसाधनानि) उपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति नान्यथा श्रवणमात्रेण ।

"The thorough knowledge of (one's own) identity with Brahman is clear or bears fruit (*prasīdati*) when these (i.e. the means of *śravaṇam, mananam* and *nididhyāsanam*) are united - combined - and not otherwise by only self-inquiry/ *śravaṇam*" (*Bṛ.U.Bhāṣya,* 2-4-5).

x) ततः चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता -

"Consequently (there occurs) the effortless abidance of

the mind in the true nature of oneself."

xi) ततः तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानम् -

"Thereupon (is produced) the clear knowledge of aphoristic statements like *tat tvam asi* - You are that Brahman."

xii) ततः अविद्योच्छेदः -

"Then self-ignorance (is) destroyed."

The birth of clear self-knowledge and the ending of self-ignorance are identical with no time gap between them. Yet a sequential order is mentioned to show the two practical aspects involved therein. In knowledge, there is the attainment of the already accomplished, viz. *ātmā* - the true "I" (*prāptaprāpti*). In the case of destruction of self-ignorance, there is the termination of *saṃsāra* which in reality did never exist (*parihṛtaparihāraḥ*). To put it differently, both the statements are like stating, "Light came and darkness went away", despite the simultaneity of both the events.

xiii) ततश्च स्वात्मनि एव अवस्थानम् -

"Consequently (there is) firm abidance in one's own true nature, *ātmā*/Brahman."

At this stage the mind (i.e. *antaḥkaraṇa*) gets unswervingly absorbed in the true nature of oneself. Thereafter the person does not lose sight of *ātmā*/Brahman even during one's interaction with the world. This is the state of *jīvanmukti* - liberation while living.

WHAT IS *SAMĀDHI*?

In Vedānta, the totally absorbed state of our *antaḥkaraṇa* (inner instrument) in the knowledge of Brahman to the exclusion of all *dṛśya* - the known - is called *samādhi*. It is neither the state of dream nor that of sleep. Yet in this state, unlike as in the waking state, there is no awareness of any object of the Creation, including one's body.

Samādhi, as per Vedānta, calls for contemplation (*nididhyāsanam*) of *ātmā*/Brahman, for a sufficiently long period of time. A regular, repeated practice of *nididhyāsanam* gathers a momentum whereby the mind gets effortlessly absorbed in the appreciation of Brahman. Culmination of *nididhyāsanam* is *samādhi*.

Ādī Śaṅkarācārya defines *samādhi* as follows:

... ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः । (पञ्चीकरणम्)

"*Samādhi* is the state of undivided abidance in the appreciation of identity that I am nothing but Brahman."

FIVE MINUS TWO IS EQUAL TO ONE = A *VEDĀNTIC* EQUATION

How are we to proceed with contemplation based on the inquiry conducted so far and the consequent ascertainment? Verses 20 and 21 give us the clue. Consider the world as perceived with the five facets involved therein. The first three facets - exists (*asti*), shines cognizably (*bhāti*) and pleasing (*priyam*) as *sat, cit, ānanda* - refer to Brahman. The name (*nāma*) and form (*rūpa*) belong

exclusively to the world. So withdraw your attention from the falsely superimposed name and form by focussing the mind on *sat, cit, ānanda*. What remains is only the basis (*adhiṣṭhāna*) Brahman as *sat, cit, ānanda*. They are not three different qualities, but integrally define the nature of non-dual Brahman. Thus we get an equation as it were, i.e. five minus two is equal to one.

TWO LOCI FOR *SAMĀDHI*

The means to contemplation (*nididhyāsanam*) leading to *samādhi* is first introduced in the following verse.

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्द तत्परः ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथवा बहिः ।।२२।।

upekṣya nāmarūpe dve saccidānanda tatparaḥ
samādhiṃ sarvadā kuryād hṛdaye vāthavā bahiḥ - (22)

नामरूपे द्वे - both name and form उपेक्ष्य - having disregarded सच्चिदानन्दतत्परः (भूत्वा) - (being) engrossed in *sat, cit, ānanda* हृदये वा - either in the heart/*antaḥkaraṇa* अथवा - or बहिः - outside सर्वदा - always समाधिं कुर्यात् - one must make the mind absorbed (i.e. practise *samādhi*). - (22)

22. Having disregarded both name and form, the seeker engrossed in *sat, cit, ānanda*, must always make the mind absorbed in it (i.e. practise *samādhi*) either within the heart (*antaḥkaraṇa*) or without (*S.R.U.* 59).

This verse has an alternate reading as *saccidānandavastuni* in the truth that is *sat, cit, ānanda* - instead of

saccidānandatatparaḥ. However, it does not change its meaning radically.

Depending on the lack of preparedness, the mind has a habitual tendency of getting preoccupied with the world of names and forms or to identify with one's embodiment even after gaining self-knowledge. After taking recourse to the ascertained basis of either the individual or the world, the contemplator has to withdraw one's attention from names and forms. *Upekṣya* means "having disregard or being indifferent". By discarding the mental preoccupation with the world, including one's own embodiment, one's total attention is directed towards its basis, viz. *sat cit ānanda*. The aim is to get the mind fully engrossed in the appreciation of *ātmā* identical with Brahman whose nature is *sat cit ānanda*. This attempt at making the mind absorbed in the appreciation of Brahman is called the practice of *samādhi*. Withdrawal of the senses from their respective sense objects is indispensable as preparatory to *samādhi*. Figuratively, it is like obtaining a grain of rice from paddy by eliminating all its chaff.

Two loci are recommended for directing the practice of *samādhi* to overcome the habitual errors at two different levels. *Hṛdaya* - heart as the centre of thought, feeling and emotion - otherwise called the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is one of them. The point of reference in this case is within the body including the body itself to nullify our habitual identification with the gross and subtle bodies (i.e. *dehatādātmya*) and their modifications like sorrows etc. The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is a suitable locus for appreciating pure awareness (*sākṣī*) or *dṛk*, discarding all that is known (*dṛśya*).This enables the mind to get absorbed - have *samādhi* - in the true "I" (*ātmā*).*Dṛk-dṛśya-viveka*- the discrimination between *dṛk* cogniser) and *dṛśya* (cognised) - is the mode employed in the

practice of *samādhi* related to the heart (*hṛdaya*).

The second locus for the practice of *samādhi* is the external world, towards dispelling the wrong notion of taking the dualistic world as real. The erroneous values ascribed to the world in the state of ignorance including the status of reality do create the disturbances that hinder the direct appreciation of Brahman. With reference to the external world, the discrimination between Brahman and the Creation (*Brahma-sarga-viveka*) provides the method for making the mind absorbed in Brahman in this mode of *samādhi*. The name (*nāma*) and form (*rūpa*) are disregarded from the perceived world to focus the attention on its basis (*adhiṣṭhāna*) - Brahman available as *sat, cit, ānanda*.

Irrespective of the locus, whether internal or external, what is discarded is the falsely attributed (*adhyasta*) *dṛśya* (the known) or name (*nāma*) and form (*rūpa*). This leaves the mind free to get absorbed in one and the same *sat, cit, ānanda* principle called either *ātmā* (the true "I") or Brahman with respect to the internal and external loci respectively.

This verse exhorts a *mumukṣu* - seeker of self-knowledge - to practise contemplation (*nididhyāsana*) as one of the indispensable means in accordance with the scriptural injunction "*nididhyāsitavyaḥ*" (*Bṛ.U.* 2-4-5 and 4-5-6).

TWO TYPES OF *SAMĀDHI*

Before furnishing the modalities of the practice of *samādhi*, the next verse specifies the two distinct varieties of *samādhi* first. Then it gives the subdivisions of one of them. The actual methods and the details regarding the practice of

samādhi are enumerated in the verses from 24 to 29.

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ।
दृश्यशब्दानुविद्धेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ।।२३।।

savikalpo nirvikalpaḥ samādhirdvividho hṛdi
dṛśya-śabdānuviddhena savikalpaḥ punardvidhā - (23)

समाधिः - *samādhi* (absorption of mind) सविकल्पः - recognizing a distinction निर्विकल्पः - without recognizing any distinction (इति - so) द्विविधः - (is) of two kinds पुनः - further सविकल्पः - *savikalpa samādhi* दृश्यशब्दानुविद्धेन - due to association with *dṛśya* (cognised) or the word (of scripture) द्विधा - (is) in two parts (एवं त्रिप्रकारं समाधिं - thus the three types of *samādhi*) हृदि - in the heart (कुर्यात् - be practised). - 23

23. *Samādhi* (the absorption of the mind) is of two kinds, viz. absorption recognizing a distinction (*savikalpa-samādhi*) and the one without recognizing any distinction (*nirvikalpa-samādhi*). The *savikalpa-samādhi* has two further parts depending on its association with *dṛśya* (cognised) or the word (of scripture). Thus, three types of *samādhi* can be practised in the heart (*S.R.U.* 60).

Savikalpa-samādhi and *nirvikalpa-samādhi* are the two kinds of *samādhi* based on the recognition or non-recognition of distinction (*vikalpa*) in them. The distinction here is otherwise called a *triputī* - the triple form - like the knower, knowledge and the known; or the contemplator, contemplation and the contemplated; etc.

When the notion of the contemplator (*dhyātā*) and contemplation (*nididhyāsanam* or *dhyāna*) still persists but otherwise

the mind is absorbed in Brahman the contemplated (*dhyeya*), the state is called *savikalpa samādhi*. The word *savikalpa* - recognizing a distinction - is used to show recognition of subject and object or the knower and the known. As the intensity of contemplation progressively increases by repeated practice, the notion of contemplator doing the contemplation gradually vanishes. When there are no more thoughts of even the very presence of the contemplator and contemplation, the mind gets totally preoccupied or absorbed in Brahman. This state of absorption in Brahman is called *nirvikalpa samādhi*. The adjective *nirvikalpa* - without recognizing any distinction - indicates the utter absence of even the knower and the known.

The following two illustrations render clear the distinction between the two types of *samādhi*. Consider a child who mistook a distant elephant made of mud as the real one. The child was persuaded and helped to go near and touch the elephant. On doing so, the child clearly understood that it is mud and yet the vivid form of elephant is also cognised. Similarly on the appreciation of *ātmā*/Brahman in *savikalpa samādhi*, *triputī* - the triple form - is cognised along with it.

The salt thrown and dissolved in water becomes one with it. Thereafter, what is seen is water. The salt is not seen separately. Similarly, the *ātmākāra* or *Brahmākāra vṛtti* (thought of the form of *ātmā*/Brahman) in *nirvikalpa samādhi* is, like salt, undistinguishable from Brahman. What is appreciated is not any separate *vṛtti* but nondual Brahman. There being no division (*vikalpa*) of contemplator and contemplation, the mind is totally absorbed in the contemplated (*dhyeya*), viz. Brahman. So that state is called *nirvikalpa samādhi*. In the case of *savikalpa samādhi* also, there is absorption of mind but it is along with the duality of

contemplator and contemplation. Besides them there can be the presence of other two things used as a means to practise *samādhi*, that will be told hereafter. These two are the main two varieties of *samādhi* irrespective of their loci - internal or external.

THREE TYPES OF *SAMĀDHI* WITH HEART AS LOCUS

Savikalpa samādhi has two subtypes based on the means employed in its practice. The means are *dṛśya* (cognised) and *śabda* (scriptural word). In the initial stages these two are still present and cognised even when the mind is absorbed in *ātmā*/Brahman. In such cases, *samādhi* is said to be *anuviddha - miśra/sambaddha* - meaning "mixed with" or "associated with" or "connected to" by *dṛśya* or *śabda* depending on what is utilized.

The two subtypes of *savikalpa-samādhi* are:

a) *Dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* or *savikalpa-samādhi* mixed with *dṛśya.*
b) *Śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* or *savikalpa-samādhi* mixed with *śabda.*

Thus there can be two types of *savikalpa samādhi* and by adding *nirvikalpa samādhi* to them we get three varieties. To avoid ambiguity they are listed below in the order in which they are to be practised.

i) *Dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi.*
ii) *Śabdānuviddha-savikalpa-samādhi.*
iii) *Nirvikalpa-samādhi.*

These three kinds of *samādhi* are to be practised with the heart (*hṛdaya*) as the locus. Actually the practice pertains only to the first two. The third one, i.e. *nirvikalpa samādhi*, is a natural outcome of the earlier two when practised for a sufficiently long period of time.

SIX TYPES OF *SAMĀDHI* IN ALL

Like the three varieties of *samādhi* with respect to the heart, three more with external locus are recommended in the same order. That makes six types of *samādhi* in all to be practised by every seeker (*mumukṣu*). In each of these six kinds, the identity of *sākṣī* (*ātmā*) with Brahman has to be appreciated. Why so will be discussed in the context of verse 29. Now each type of *samādhi* is detailed.

DṚŚYĀNUVIDDHA-SAVIKALPA-SAMĀDHI (INTERNAL)

Savikalpa-samādhi has to be dealt with first because it leads to the *nirvikalpa* one. Among the two kinds of *savikalpa-samādhi* also, *dṛśyānuviddha* - the one connected to *dṛśya* - can serve as the means to *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* by effacing to an extent the erroneous identification with the embodiment. Therefore first of all *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* is described. Its method is based on *dṛk-dṛśya-viveka*. The attention is focussed on *dṛk* - pure awareness, the self-evident cognitive principle - in spite of the presence of various *dṛśyas* (the known thoughts) in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*/heart). The general tendency of almost all the spiritual seekers is to run away from thoughts as they are unable to face them. Here is an instruction to face the devil as it were if the tyrannical thoughts can be considered as devils. The thoughts themselves can be

used as the means to appreciate true "I"/*sākṣī* and get the mind absorbed in it.

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिःसविकल्पकः ।।२४।।

kāmādyāścittagā dṛśyāstatsākṣitvena cetanam
dhyāyed dṛśyānuviddhoyaṃ samādhiḥ savikalpakaḥ - (24)

कामाद्या: - desire etc. चित्तगा: - (are) available in the *antaḥkaraṇa* (inner instrument) दृश्या: - the known/cognised things तत्साक्षित्वेन - as their direct illuminator चेतनम् - pure awareness, the true "I" (*caitanya*) ध्यायेत् - must contemplate अयं - this (is) दृश्यानुविद्ध: - related to the (internal) cognised things सविकल्पक: - recognizing a distinction समाधि: - absorption of mind. - (24)

24. The internal cognised things (*dṛśyas*) like desire etc. are available in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*). The seeker (*mumukṣu*) must contemplate on pure awareness (*caitanya*) as the direct illuminator of them. This is called *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* - absorption of the mind recognizing a distinction, related to the (internal) cognised things (*S.R.U.* 61).

In verse four, a wide variety of modifications of *antaḥkaraṇa* (inner instrument) called *vṛttis* (thoughts), like desire (*kāma*), consideration (*saṅkalpa*) etc. was shown . There is no dearth of them in our mind. All of them are *dṛśyas* - cognised things - because we know them. However, they are inert (*jaḍa*), and hence they cannot be known on their own. As pointed out in the beginning of this text, the self-existent, self-evident cognitive principle, pure awareness called *sākṣī* (*cit/caitanya*) illumines not

only all of them every time they surface in *antaḥkaraṇa*, but also their absence. This fact is exploited as an effective means for contemplation.

Consider different thoughts as they spring up in the mind one by one without making any choice. Take for instance "desire" (*kāma*). It has a specific name (*nāma*) and form (*rūpa*). Now the thought called "desire" (*kāma*) has to be separated from its direct illuminator - one who makes it known - *sākṣī* or *caitanya* (pure awareness). This is accomplished by focussing the attention on *sākṣī* (*caitanya*) instead of the name and form of the desire (*kāma*). Contemplate that this *sākṣī* (pure awareness) is the true "I" (*ātmā*). Repeat this process without hurry for the next thought, let us say "consideration" (*saṅkalpa*). Thus, with respect to every thought, one has to continuously contemplate that "Pure awareness (*sākṣī/caitanya*) which illumines - makes the thought known - is my true nature (*ātmā*)".

Let us see this in greater detail. As it obtains we remain totally engrossed in thoughts based on different names (*nāma*) and forms (*rūpa*), their evaluations as good or bad, courting of desired thoughts, shunning the unwanted ones, and the consequent reactions. At no time pure awareness, the illuminator (*sākṣī*/the true "I") is under our attention.

Now the verse exhorts us to bring in our purview the indispensable factor, *caitanya* (pure awareness) without whom no cognition is ever possible in the following manner. Disregard all the preoccupations in *dṛśyas* (cognised things) in the mind and remain aware of their illuminator (*sākṣī*). Instead of being indifferent to *sākṣī*, let the indifference be directed towards *dṛśyas* occupying the mind. Thereby the mind gets the leisure to appreciate *caitanya*, the

true "I" (pure awareness). This is not mere imagination but the acknowledging of and the dwelling on the ever-existing pure awareness which was indiscriminately ignored so far. All that needs to be done is to withdraw our preoccupations from the *dṛśyas* by transferring the focus of our attention on *sākṣi* (pure awareness). In the beginning, *dṛśyas* though present, will lose their prominence and their impact will get gradually blunted. In spite of their presence, the mind in due course gets absorbed in pure awareness (*sākṣī*) depending on the intensity of its appreciation. Such state of mental absorption (*samādhi*) is called *dṛśyānuviddha* because of its co-existence or association with *dṛśyas* - cognisable things related to the body and *antaḥkaraṇa* of the individual. It is *savikalpa* due to persistence of notional distinctions as contemplator and contemplation.

Pure awareness (*sākṣī/caitanya*) is distinct from the *dṛśyas* (cognised things) illumined - made known - by it. All the erroneous notions about oneself are cognised as the modifications of *antaḥkaraṇa* or what is called as *cittagā dṛśyāḥ* - internal cognised things at the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) level. So the appreciation that the true "I" (*sākṣī*) is the illuminator of *dṛśyas* eliminates the erroneous identification with the gross body, the subtle body and their modifications. The main thrust of *dṛśyānuviddha-savikalpa*-samādhi is thus to nullify such erroneous identification. It also helps to make *dṛśyas* like desires (*kāma*) etc. disappear into its basis, the true "I" (*sākṣī*) by discarding them altogether as a result of the clear cognition of true "I". Following are some of the lasting discoveries that an effective *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* can confer upon the seeker by removal of wrong identifications:

"I" (the true 'I') am not the body, nor the vital airs (*prāṇas*), nor

the group of senses, nor the ego (*ahaṅkāra*), nor the mind, nor even the intellect. I still remain even when all of them including their modifications come to an end. I am truly pure awareness, *sākṣī* who exists for ever."

"I am the illuminator (*sākṣī*) of speech, functions of vital airs (*prāṇas*), intellect, its functions and the sense organs eyes, ears etc. I am truly pure awareness, *sākṣī* who exists for ever."

"I am not obese; I am not emaciated; I am not tall; I am not a child, nor a youth nor even an old person. I am free from all the deficiencies of senses. I am truly pure awareness, *sākṣī* who exists for ever."

"I am not a traveller, nor a doer, nor a prompter, nor a speaker, nor an experiencer, neither joyful nor sorrowful. I am truly pure awareness, *sākṣī* who exists for ever."

"I am not waker, nor dreamer, nor sleeper, nor omniscient, nor inert, nor hearer, nor thinker, nor the knower. I am truly pure awareness, *sākṣī* who exists for ever."

"In reality, I have no connection with body, senses or *antaḥkaraṇa* (inner instrument). Merit (*puṇya*) and sin (*pāpa*) have nothing to do with me. I am free from recurring hunger, thirst etc. I am truly pure awareness, *sākṣī*, who exists for ever."

ŚABDĀNUVIDDHA-SAVIKALPA-SAMĀDHI (INTERNAL)

Having shown the *dṛśya* related *savikalpa-samādhi*, *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi*, the next one in order, is now described. This *samādhi* is centred on the direct appreciation of

sākṣī to the total disappearance (*vilāpana*) of all *dṛśyas* - cognised things. Yet, it is mixed with *śabda* - the scriptural words utilized for this purpose. *Śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* (internal) has its emphasis on the appreciation of *sākṣī*, the true "I" by using the words from *Upaniṣads* which reveal this truth at an individual level.

असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।।२५।।

asaṅgaḥ saccidānandaḥ svaprabho dvaitavarjitaḥ
asmīti-śabdaviddhoyaṃ samādhiḥ savikalpakaḥ - (25)

असङ्गः - unattached सच्चिदानन्दः - *sat* (the ever-existence principle), *cit* (pure awareness), *ānanda* (the absolute happiness) स्वप्रभः - self-luminous (cognizably) द्वैतवर्जितः - non-dual अस्मि - I am इति (भावयेत्) - so (one must contemplate) अयं - this (is called) शब्दविद्धः - mixed with scriptural words सविकल्पकः - with the recognition of distinction समाधिः - absorption of mind. - (25)

25. The seeker must contemplate, "I am unattached, *sat cit ānanda*, self-luminous (cognizably) non-dual". This is called *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* - absorption of the mind with the recognition of distinction,and mixed with scriptural words (*S.R.U.* 62).

The words or the phrases from the Vedas/*Upaniṣads* that reveal the nature of true "I" (*ātmā*) are utilized in *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi*. Those words by which the true "I" was ascertained during *śravaṇa* (self-inquiry), become handy in contemplation to repeatedly appreciate the same *sākṣī* (*ātmā*).

This is not *japa* which entails merely a repeated preoccupation of a specific name of *Īśvara*/deity or a *mantra* - a formula of prayer. Earlier *śravaṇa* (self-inquiry) and *manana* (reflection) are necessary to enable those words to help in contemplation. The manifestation of knowledge (*sphuraṇa*) through these words is sought-after rather than their remembrance (*smaraṇa*). The verse mentions a few such words. Other similar words can also be co-opted according to one's need and flair.

Asaṅgaḥ :

Saṅga means a union, contact, connection or attachment. Not having any *saṅga* is *asaṅga* - unconnected/unattached. In the presence of pure awareness (*sākṣī*) the states of waking, dream and sleep come and go. They have no bearing on the *sākṣī*, because it is not a party to all the happenings in the three states of consciousness. A thing having form or more precisely attributes (i.e. *mūrta*) can establish contact with the body and senses, which themselves also have attributes. Such contacts provide the cause of actions. Pure awareness, the true "I" (*sākṣī*) is attributeless and formless (i.e. *amūrta*). It cannot have any connection or union with the embodiment. So it cannot be the cause of any actions. Thus true "I" (*sākṣī*) is totally unattached to all the actions and the experiences that take place in the embodiment even though they occur in the presence of *sākṣī* - pure awareness. It is like the sun being unattached (*asaṅga*) to the world that gets illumined in its presence. The clear recognition of true "I" (*sākṣī*) being *asaṅga* confers at once the freedom from limitations of *saṃsāra* - mundane existence. In this way the word *asaṅga* with the appreciation of its true import can induce contemplation on true "I" (*sākṣī*). *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* has declared, "This *ātmā* is indeed *asaṅga*" (*Bṛ.U.* 4-3-15/16).

Saccidānanda :

The phrase *sat cit ānanda* is already elaborated at length. It reveals the true "I" in sharp contrast to all *dṛśyas* - cognised things (*anātmā*) - whose nature is *asat* (false), *acit* (inert) and *anānanda* (sources of sorrow). There are many *Vedic* sentences that state the *sat cit ānanda* nature of *sākṣī*. "Brahman is *satyam jñānam anantam*" (*Tai.U.* 2-1) and "Brahman is pure awareness (*vijñānam*) that is *ānanda*" are good examples. The word *anantam* - limitless - in the above quotation, implies *ānanda* (happiness), because limitation invariably breeds sorrow and it is the characteristic feature of *anātmā* (not-self). So *ānanda* (happiness) can only be the nature of Brahman or *ātmā* (pure awareness) distinct from not self. This fact is also reaffirmed by another *Upaniṣadic* statement that Brahman is *ānanda*.

Svaprabhaḥ :

"Cognizably self-luminous" (*svaprabhaḥ* or *svaprakāśaḥ*) means the self-existent, self-evident cognitive principle, otherwise called *sākṣī*. The ultimate *dṛk* was shown to be self-luminous *sākṣī* in the course of inquiry regarding *dṛk* and *dṛśya*. Such nature of *sākṣī*, the true "I" can be known from the *Upaniṣads*. Passages like, "Brahman is not seen by any one because it is not an object of sight whereas it is the actual knowledge or cognitive principle by which eyes are able to see. Similarly Brahman is not heard, being not an object of hearing; on the contrary ears can hear only because of its presence" (*Bṛ.U.* 3-8-11), and "You cannot see or objectify *ātmā* who is the illuminator of thought (*antaḥkaraṇa vṛtti*) that makes you see the form" (*Bṛ.U.* 3-4-2) amply establish the self-luminous nature of true "I".

Dvaita-varjitaḥ :

Literally *dvaita-varjitaḥ* means "devoid of duality". One may doubt how can *dṛk* - pure awareness (*sākṣī*) - be free from duality when cognised things (*dṛśyas*) like desire (*kāma*) etc. are evidently experienced. Here the position of *dṛśya* vis-a-vis *dṛk* merits consideration. *Dṛk* (pure awareness) is the basis of all *dṛśyas* (cognised things) without whom *dṛśyas* have no existence. So *dṛk* is the truth that exists forever whereas the *dṛśyas* being transient are false. A false thing cannot impose duality like the falsely superimposed snake over the rope. That is how *dvaita-varjitaḥ* finally means non-dual, the one that is free from all types of divisions whatsoever. *Chāndogyopaniṣad* substantiates this fact in its statement "*Sat* (i.e. Brahman) is truly one (*ekam*) - free from divisions (*bheda*) obtained in itself (*svagata*) and within species (*sajātīya*). It is also non-dual (*advitīyam*) - free from divisions (*bheda*) due to different species, i.e. *vijātīya*" (*Ch.U.* 6-2-1/2).

A few more *Upaniṣadic* words or phrases that can be useful in this type of contemplation are cited below:

"I am free from ignorance (*śuddhoham*)." "I am cognitive principle *cit* (*buddhoham*)." "I exist for ever as the true 'I'." "I am limitless (*anantoham*)." "I am absolute happiness." "I am not an object of mind or words." "I am non-divisible knowledge principle (*akhaṇḍa-bodharūpoham*)." "I am distinct from both known and unknown (*viditāviditānyoham*)." "I am free from effects of *māyā*." "I am ceaseless cognitive principle." "I have no old age (*ajaroham*)." "I am indestructible (*akṣaroham*)." "I am self-evident knowledge principle (*svayaṃ-jyotiraham*)." "I am actionless/desireless (*nirīhosmi*)". "I am full (*niramśosmi*)". "I am independent (*svasthosmi*)". "I am content/free from

desires (*nispṛhaḥ asmi*)". "I am calm/undisturbed/free from passions (*śāntoham*)".

In this manner the true "I" (*sākṣī*) as unfolded by these words has to be continuously contemplated upon. Herein all the thoughts (*vṛttis*) pertaining to *dṛśyas* (cognised things) like *kāma* (desire) disappear from the mind because it is absorbed in the appreciation of true "I" - pure awareness (*cit*). Out of focus, the *dṛśyas* get out of mind. Yet, the words from *Upaniṣads* used for the purpose of contemplation along with the distinctions of contemplator (*dhyātā*) and contemplation (*dhyāna*) still persist. Such an absorbed state of mind centred in the appreciation of pure awareness (*sākṣī/cit*) is *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi.*

NIRVIKALPA-SAMĀDHI (INTERNAL)

So far two kinds of *savikalpa-samādhi* were described. These two when practised for a sufficiently long time lead to *nirvikalpa-samādhi* with the total and steady absorption of mind in the true "I" (*sākṣī* - pure awareness). The cognised things (*dṛśyas*), the words (*śabdas*) and the triple form (*triputī*) lingering in the earlier two types of *samādhi* no longer persist. Here follows the description of *nirvikalpa samādhi* at the internal level of an individual.

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः ।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ।। २६ ।।

svānubhūtirasāveśād dṛśyaśabdānupekṣituḥ
nirvikalpaḥ samādhiḥ syānnivātasthitadīpavat - (26)

स्वानुभूतिरसावेशात् - from the complete absorption in the true "I"

that is at once knowledge principle (*anubhūti/caitanya*) and happiness (*rasa*) दृश्यशब्दान् - *dṛśyas* (cognised things) and the words उपेक्षितुः - to the one who disregards निर्विकल्पः समाधिः - *samādhi* without the recognition of distinction स्यात् - pertains निवातस्थितदीपवत् - (the absorbed mind is) like a lamp placed in a calm place. - (26)

26. The person who disregards cognised things (*dṛśya*) and the words (*śabda*) has *nirvikalpa-samādhi* from the complete absorption in the true "I" that is at once knowledge principle and happiness. (The absorbed mind is) like a lamp placed in a calm - windless - place (*S.R.U.* 63).

Dṛśya-śabdān upekṣituḥ:

In the two *savikalpa-samādhis dṛśya* and *śabda* were utilized. Like the pole in the pole-vault, both *dṛśya* and *śabda* serve as the means to trigger off - lead - the mind into the absorption in the true "I" (*sākṣī* - pure awareness). Finally *dṛśya* and *śabda* will have to be left behind like the pole once the complete absorption is accomplished. They are now a hindrance like pole for jumping down in pole-vault. Therefore the contemplator too disregards *dṛśya* and *śabda*. This is shown by the phrase *dṛśya-śabdān upekṣituḥ* - to the one who withdraws the attention from *dṛśya* and *śabda* - to describe at this stage the status of the contemplator.

Svānubhūti-rasāveśāt:

The source of *nirvikalpa-samādhi* is pointed out in the first quarter of this verse, *svānubhūti-rasāveśāt* - from the complete absorption in the true "I" that is *caitanya* (pure awareness) and itself happiness (*ānanda*). Generally *anubhūti* means an experience, but

the word is also used for the ultimate cognitive/knowledge (*jñāna*) principle itself, i.e. *caitanya* (pure awareness) the true "I". Pure awareness (*caitanya*) being self-evident, is itself of the nature of experience (*anubhava-svarūpa*). So the name *anubhūti* is appropriate for pure awareness. *Sva* - natural or one's own - indicates *anubhūti* as the true "I" (*svānubhūti*). *Rasa* is *Paramātmā* - Brahman - whose nature itself is *ānanda* (happiness). *Raso vai saḥ* - *Paramātmā* (Brahman) is indeed happiness - is revealed in *Taittirīyopaniṣad* (2-7). The true "I" (*ātmā*) is identical with Brahman and so its nature is also *ānanda* (happiness). This can be verified from the fact that "I" is the locus of limitless love (*parama-premāspada*) which is possible only when "I" itself is limitless happiness (*parānanda*). Thus *svānubhūtirasa* stands for the true "I" (*ātmā*) that is pure awareness (*caitanya*) and is happiness (*rasa/ānanda*) itself .

The last word *āveśa* in the phrase under consideration has in this context the following four applicable meanings:

i) "Intentness - being attentively preoccupied with (*abhiniveśa*) - in the sense of being completely absorbed (*magnatvam*)."

Thereby *āveśa* shows the complete absorption of mind in *svānubhūtirasa*.

ii) "Manifestation - becoming evident (*āvirbhāva*)."

So, *svānubhūtirasāveśa* means the manifestation of the real nature of oneself in its true form of pure awareness (*caitanya*) identical with limitless happiness. The word "manifestation" may sound strange since the true "I" (*ātmā*) is always present in its real nature (*svarūpa*) and can never become otherwise. In

view of this fact, it may be argued whether there can ever be a specific event or occasion or place for it to manifest its nature ! It is true that *ātmā* (the true "I") never loses its nature. Yet, in the state of ignorance, as individuals we experience our nature contrary (*ayathārtha*) to what it really is. This happens due to erroneous superimposition of the not-self (*anātmā*), their functions, modifications and attributes on *ātmā*. Knowledge of a given thing is determined by its nature (i.e. it is *vastutantra*). Any appreciation of a thing not in accordance with the nature of the thing cannot be its true knowledge. Accordingly clear cognition (*yathārtha darśana*) of *ātmā* (the true "I") totally distinct from all the superimposed things can only be its direct knowledge (*aparokṣa jñāna* or *aparokṣa anubhava*) and not otherwise. Simply parroting the words from scriptures, like "I am free from all falsely superimposed not self (*anātmā*)" howsoever vociferously, cannot ever be the actual knowledge. In fact the falsenesss of superimposed not self (*anātmā*) can be really known only in the wake of the clear cognition of true "I" free from not-self. This being so, the clear cognition of "I" in its true nature is specified here as a manifestation (*āveśa*). It is like saying, "The sun is bright now", when the clouds covering it have moved away. Truly the sun had never lost its brightness. It is for people to interpret as they want, whether bright appearance of the sun is a manifestation or an event. The same stance applies to the clear cognition of true "I" (*ātmā*). It can be described as manifestation (*āveśa*) in contrast to earlier contrary notion about it. To argue that it is an event or not is futile. It is only an exercise of sidetracking the main issue of clear cognition (*yathārtha darśana*) of true "I" (*ātmā*) which is indispensable.

iii) "All around penetration (*āsamantāt praveśaḥ*)".

In this sense, the word *āveśa* in the phrase *svānubhūtirasāveśa* speaks of the fullness or non-dual status of true "I" as pure awareness (*caitanya*) of the nature of *ānanda*. This appreciation of fullness is on account of the direct cognition of what the true "I" (*ātmā*) is as stated in this verse.

iv) "Influence upon (the contemplator's mind)".

Through this meaning of *āveśa*, the grip of the influence that the appreciation of *svānubhūtirasa* has upon the contemplator's mind, leading the contemplator to *nirvikalpa-samādhi* is emphasized. The irresistible influence precludes the mind from persisting as a separate identity and makes it merge indistinguishably with *sākṣī*. What remains is the complete absorption in appreciation of *svānubhūtirasa*.

All the four meanings of *āveśa* alluded to here bring out the different facets of the direct appreciation of what the true "I" is. By taking the ablative case, the phrase *svānubhūtirasāveśa* becomes *svānubhūtirasāveśāt*. Thereby it indicates the source which confers *nirvikalpa samādhi* to the contemplator.

There is an alternate reading of *svānubhūtirasāsvadāt* in place of *svānubhūtirasāveśāt*. Literally *āsvāda* means tasting or experiencing. In either tasting or experiencing there is a close connection between the subject who tastes or experiences and what is being tasted or experienced. Let us investigate what kind of connection is there in the *āsvāda* (experiencing) of *svānubhūtirasa*.

The true "I" (*ātmā*) is the real nature or the content of the subject and so is not available as an object of experience. Yet, the nature of *ātmā* is nothing but experience (*anubhava-svarūpa*) that

needs no separate agency of experiencing it. In the state of ignorance also, *ātmā* ("I") is of the nature of experience (*anubhavasvarūpa*), but that experience of "I" is not in conformity (*ayathārtha*) with *svānubhūtirasa* as described here; it is on the contrary exactly the opposite to what it is. It is experienced as a miserable *saṃsārī*. In contrast to it, now with fructification of contemplation (*nididhyāsana*) after following a proper self-inquiry (*śravaṇa*) in accordance with *Upaniṣads* and reflection (*manana*) on it the experience of "I" - in its own true nature itself, but not as an object - is in conformity (*yathārtha*) with *svānubhūtirasa*. It is in this sense that *Upaniṣads* speak about the *anubhava* (experience) of true "I". Unlike all other experiences, this is a unique experience without the usual triple form (*triputī*). This is the direct knowledge (*aparokṣa jñāna*) of true "I" (*ātmā*). Anything falling short of it, is not so because, knowledge has to be *vastutantra* - in strict conformity with the thing. The word "knowledge" (*jñāna*) as used in Vedānta is distinct from all other kinds of knowledge which have the triple form (*triputī*).

In this context of true "I" (*ātmā*), in the light of what we have seen so far as regards the word *āsvāda* (experiencing), the close connection between the subject and the object - in fact *ātmā* cannot be an object - is acceptance (*svīkaraṇam*) based on the direct cognition,as follows. The acceptance (*svīkaraṇam*) of *svānubhūtirasa* as the true "I" (*ātmā*) in the form "I am of the nature of pure awareness (*cit*) and happiness (*ānanda*)" is *svānubhūti-rasāsvāda*. One can conclude that contextwise the word "*āsvāda*" thus means *āveśa*. Later we shall see how this discovery includes the appreciation of the identity of the individual "I" (*ātmā*) with Brahman.

The above mentioned alternate reading corresponding to this

verse is not available in the *mantra* of *Sarasvatī Rahasyopaniṣad.* But the word *rasāsvāda* appearing in the 29th verse, having the same meaning as arrived at here, is also found in the corresponding *mantra* of the same *Upaniṣad* (*S.R.U.* 65). This establishes that the word *āsvāda* - experiencing - as used in such contexts is in accordance with the *Upaniṣads*, and not coined by any of the later masters of Vedānta.

So far, how exactly the two *savikalpa samādhis* lead to *nirvikalpa* state was discussed. An illustration is now given to portray the steadiness of the absorbed mind in *nirvikalpa-samādhi.* Just as the flame of a lamp, placed in a calm place remains steady, so is the state of the mind absorbed in *nirvikalpa-samādhi.* Lord Kṛṣṇa has himself described in *Bhagavadgītā* such a state of an absorbed mind.

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।

"Just as a lamp, placed in a calm place, does not flicker,for describing what is the absorbed mind of the contemplator who practises contemplation of the self, this illustration is cited." (*B.G.* 6-19).

Another interesting description of such a state of *samādhi* can be considered.

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।।

"Empty within, empty without, like an empty pot in space; full within, full without, like a full pot in the ocean." (*Yogavāsiṣṭha,*

Nirvāṇa Prakaraṇa 126-68).

The emptiness in *nirvikalpa-samādhi* refers to the absence (*abhāva*) of otherwise cognised name (*nāma*) and form (*rūpa*) in other states of waking and dream. Lest the word "empty" (*śūnya*) is misunderstood as non-existence, the illustration of ocean is given to substantiate the fullness (*pūrṇatvam*). The pot (*kumbha*) indicates the erstwhile embodiment of the contemplator which has lost its false individuality of the name and form in the fullness that is Brahman.

DṚŚYĀNUVIDDHA-SAVIKALPA-SAMĀDHI (EXTERNAL)

The three kinds of *samādhi* with respect to the internal locus of heart (*hṛdaya*) have been described so far. The same three types of *samādhi* with the external locus are now discussed; the first being *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (external). The method adopted is *Brahma-sarga-viveka* - the discrimination between Brahman and the Creation. The attention of the contemplator is focussed on Brahman - *sat cit ānanda* - in the presence of the cognised things of the world (*dṛśyas*).

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ।।२७।।

hṛdīva bāhyadeśepi yasmin kasminśca vastuni
samādhirādyaḥ sanmātrānnāmarūpa-pṛthakkṛtiḥ - (27)

हृदि - in the heart (*antaḥkaraṇa*) इव - as बाह्यदेशे - in an external region अपि - also यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि - in any thing सन्मात्रात् - from the only Brahman नामरूपपृथक्कृतिः - distinguishing

the name and form आद्य: - the first समाधि: - *samādhi.* - (27)

27. As in the heart (*antaḥkaraṇa*), externally also distinguishing the name and form in any thing from the only Brahman is the first type of *samādhi* (viz. *dṛśyānuviddha savikalpa*) (*S.R.U.* 64).

The first variety of *samādhi* refers to *dṛśyānuviddha-savikálpa-samādhi.* With the heart (*antaḥkaraṇa*) as the locus, each thought having its name (*nāma*) and form (*rūpa*) was distinguished (*pṛthakkaraṇam*) from the true "I" (*ātmā*). This distinguishing or separating (*pṛthakkaraṇam*) is to contemplate that "I am *sākṣī* (pure awareness/*caitanya*) that illumines the thought" by disregarding the name and form. That was *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (internal).

Similarly, i.e. *hṛdi iva* - as in the heart - externally the contemplator has to consider any cognised object (*dṛśya*). It can be any object of one's choice or the one that one comes across. Each of the objects has the invariable pentad of facets comprising *sat, cit, ānanda,* name (*nāma*) and form (*rūpa*). As highlighted in verse 20, the triad of *sat cit ānanda* is Brahman, whereas pair of name and form is the world (*jagat*). No name (*nāma*) and form (*rūpa*) can exist or be cognised without *sat cit ānanda* (Brahman) as the basis (*adhiṣṭhāna*). Superimposed name (*nāma*) and form (*rūpa*) will have to be distinguished (*pṛthakkṛtiḥ*) from their basis (*adhiṣṭhāna*) Brahman who is *sat cit ānanda.* In this verse, Brahman is indicated through *sat* as existence aspect. This can be very readily appreciated in everything. Having thus distinguished, the attention has to be focussed on the basis (*adhiṣṭhāna*) Brahman disregarding the name and form of the object (*dṛśya*) under consideration. While appreciating the basis, Brahman, the identity of individual that "I

(*ātmā*) am Brahman" is also to be considered. Otherwise Brahman will not be so because of duality imposed by "I". Such a contemplation leads to the absorption of mind in the very basis of the world, Brahman, even though the external things (*dṛśyas*) are still cognizably present. This is called *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (external) - the absorption of mind in Brahman recognizing a distinction of contemplator and the contemplated (*vikalpa*) in the presence of external *dṛśyas* to begin with. The following are some demonstrations in the practice of *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (external):

"This name and form called earth is not Brahman, nor is the water, nor is the fire, nor is the air nor is the space. Whatever is the basis (*adhiṣṭhāna*) of these, that *sat* (existence) - Brahman - free from all the names and forms, is truly 'I' (*aham*)."

"The sound is not Brahman, nor is the visual form, nor is the touch, nor is the taste, nor is the smell. Whatever is the basis of these, that *sat* (existence) - Brahman, free from all the names and forms, is truly 'I'."

"The group of substances is not Brahman, nor are the attributes, nor are the actions, nor are the species, nor are any other things cognised. Whatever is the basis of these, that *sat* (existence) - Brahman - free from all the names and forms, is truly 'I'."

"This gross body is not Brahman, nor are the senses, nor are the vital airs (*prāṇas*), nor is the mind, nor is the intellect, nor is the faculty of recollection (*cittam*), nor is the ego (*ahaṅkāra*). Whatever is the basis of these, that *sat* (existence) - Brahman - free from all the names and forms, is truly 'I'."

"Space is not Brahman, nor is time, nor are the quarters, nor other things gross or subtle. Whatever is the basis of these, that *sat* (existence) - Brahman - free from all the names and other forms, is truly 'I'."

The following verse from *Yogavāsiṣtha* gives a clue towards contemplating on Brahman with the entire Creation as *dṛśya* at one stretch:

यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी ।
रज्ज्वां भुजङ्गवद्भाति सोऽहमात्मा सदोदितः ।।

"I am the ever-existent (and so never extinct) *ātmā* (pure awareness/*caitanya*) - identical with Brahman - abiding (being superimposed) in whom this splendour of the entire Creation in the form of only a false appearance is cognised like the snake in a rope."

In this verse, the presenting of *ātmā* itself as the basis (*adhiṣṭhāna*) of the Creation, reveals its identity with Brahman.

This type of *samādhi* can be practised at all times and all places. Ādī Śaṅkarācārya has given the following guidelines regarding the *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (external).

आरोपिते नामरूपे उपेक्ष्य ब्रह्मणः सतः ।
स्वरूपमात्रग्रहणं समाधिर्बाह्य आदिमः ।।

"Having disregarded the name and form, the appreciation of only the true nature of ever-existent Brahman is the first variety of external *samādhi*, viz. *dṛśyānuviddha*." - (*S.V.S.S.S.* 892/3).

गच्छंस्तिष्ठन्वा शयानोऽपि नित्यं कुर्याद्विद्वान्बाह्यदृश्यानुविद्धम् ।

"A wise person must always practise the external *dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* while walking, standing and also while lying down" (*S. V.S.S.S.* 891).

ŚABDĀNUVIDDHA-SAVIKALPA-SAMĀDHI (EXTERNAL)

The next in the order is *śabdānuviddha savikalpa samādhi* that causes both the macrocosmic (*samaṣṭi*) and microcosmic (*vyaṣṭi*) *dṛśyas* (the cognised things) to disappear from one's cognition. As in the similar type of *samādhi* but with internal locus, here also the *Vedic/Upaniṣadic* words that reveal Brahman and its identity with *ātmā/sākṣī* are used. Some words or phrases are common for both internal and external loci because of the non-dual nature of Brahman. The modality of *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* is described now.

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ।। २८ ।।

akhaṇḍaikarasaṃ vastu saccidānandalakṣaṇam
ityavicchinna-cinteyaṃ samādhir-madhyamo bhavet- (28)

इयं - this अखण्डैकरसं - full (undivided) and unchanging सच्चिदानन्दलक्षणम् - characterised by *sat cit ānanda* (यद् - which) वस्तु - thing (तदेव ब्रह्म - that itself is Brahman) इति - of this nature अविच्छिन्नचिन्ता - uninterrupted contemplation मध्यम: - middle समाधि: - *samādhi* भवेत् - is. - (28)

28. This uninterrupted contemplation as "the thing which is full (undivided) and unchanging, and characterised by *sat cit ānanda*

is Brahman itself" is the middle *samādhi*, i.e. *śabdānuviddha-savikalpa-samādhi.*

Akhaṇḍam:

That entity which is free from the limitations of space (*deśa*), time (*kāla*) and object (*vastu*) is called *akhaṇḍam* - full or undivided. Brahman being all pervasive, has no spatial limitations. It has no temporal - relating to time - limitation because it is eternal - indestructible. Brahman is the basis of everything. Nothing has existence apart from it. Thereby it has no limitations objectwise also. In short, Brahman has no divisions abiding in itself (*svagata*), or within all the members of same species (*sajātīya*) and members of other species (*vijātīya*). The *Upaniṣad* also asserts this truth in its statement "*Ekamevādvitīyam* - Brahman is truly one and non-dual" (*Ch.U.* 6-2-1/2).

Ekarasam :

The thing that remains the same at all the times - in past, present and future - without any modification in itself is *ekarasam* or also called *kūṭastham.* Brahman is so. Lord Kṛṣṇa describes it as *avikārī* (*B.G.* 2-25).

That which is both *akhaṇḍam* and *ekarasam* is called *akhaṇḍaikarasam. Sat cit ānanda* has been explained earlier. The continuous (*avicchinna*) - uninterrupted - contemplation (*cintā*) that the thing, as described in the above verse is Brahman, has to be practised. The contemplation has to be in the form of continuous flow of thoughts (*sajātīya-pratyaya-pravāha*) that appreciate Brahman without the distractions of dissimilar thoughts (*vijātīya-pratyayas*). The resultant absorption of the mind in Brahman is

śabdānuviddha-savikalpa-samādhi. The *śabda* - the words from scriptures - leaned upon are still present in the mind although the *dṛśyas* are no more registered.

Words or phrases similar to the one given in this verse can be employed to appreciate Brahman as the true "I". A few more useful phrases are mentioned below:

"I am really the changeless (*nirvikāram*), formless (*nirākāram*), free from afflictions (*nirañjanam*), free from sorrows (*anāmayam*), beginningless and the endless (*ādyantarahitam*) and full (*pūrṇam*) Brahman."

"I am verily stainless/free from passions (*niṣkalaṅkam*), fearless (*nirātaṅkam*), free from limitations of space, time and object (*trividhacchedavarjitam*), absolute happiness (*ānandam*), indestructible (*akṣaram*) and the liberated (*muktam*) Brahman."

"I am truly attributeless (*nirviśeṣam*), free from falsely projected world (*nirābhāsam*), ever-liberated (*nityamuktam*), unchangeable/immutable (*avikriyam*), unchanging cognitive principle (*prajñānaikarasam*), and the ultimate truth (*satyam*) Brahman."

"I am the most subtle - imperceptible to sense organs and the mind - (*susūkṣmam*), the only existence principle (*astitā-mātram*), undivided (*nirvikalpam*), all-pervasive (*mahattamam*), absolute (*kevalam*), the most exalted and non-dual (*paramādvaitam*) Brahman."

As already hinted it has to be kept in mind that these words or phrases can help to contemplate provided the mind is ready and

has previously undertaken fruitful self-inquiry (*śravaṇa*) and reflection (*manana*). The language - Sanskrit or otherwise - of these words is secondary. What is important is the content and not the container.

NIRVIKALPA-SAMĀDHI (EXTERNAL)

After having described the two types of *savikalpa-samādhi* (external) in this way, *nirvikalpa-samādhi* is considered. It is the outcome of earlier two types of *samādhi*. In this state both *dṛśyas* (cognised things) and *śabdas* (words) employed hitherto disappear. At the end of description the contemplator is exhorted to practise these six kinds of *samādhi* constantly for a sufficiently long period till it is no longer necessary.

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः ।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ।।२९।।

stabdhībhāvo rasāsvādāt tṛtīyaḥ pūrvavanmataḥ
etaiḥ samādhibhiḥ ṣaḍbhirnayetkālaṃ nirantaram - (29)

रसास्वादात् - Due to the absorption of mind in Brahman, the true nature of oneself पूर्ववत् - as aforesaid स्तब्धीभावः - steadiness तृतीयः - the third (*samādhi*) मतः - is regarded एतैः षड्भिः समाधिभिः - by the practice of these six *samādhis* (मुमुक्षुः - the spiritual seeker) निरन्तरम् - constantly कालं नयेत् - should spend the time - (29)

29. The steady abidance of mind due to the absorption in Brahman, the true nature of oneself, as told previously in the case of *nirvikalpa-samādhi* (internal) is regarded as the third type of

samādhi, viz. *nirvikalpa-samādhi* (external). The *mumukṣu* (spiritual seeker) should constantly spend the time in practice of these six types of *samādhi* (*S.R.U.* 65).

The word *rasa* - *Paramātmā*/Brahman whose nature itself is *ānanda* (happiness) - was commented upon in verse 26. The meaning of *āsvāda* (experiencing) compounded with *rasa* as *rasāsvāda* - direct discovery of true "I"/Brahman in the form of absorbed mind in it - also was discussed at that juncture in great detail. The synonymic nature of both the words *āsvāda* and *āveśa* in this context was also highlighted.

Before commenting on this verse it is imperative to understand properly the necessity and why of appreciating *Brahmātmaikya* - the identity of Brahman and *ātmā* (*sākṣī*) - in all *samādhis*. The reasons differ as regards the internal and external loci.

i) All the three *samādhis* based on internal (*āntara*) locus are centred on *sākṣī* - self-illuminating knowledge/cognitive principle, the true "I". The status of *sākṣī* as *sākṣī* and a steady absorption of the mind in *sākṣī* (i.e. *samādhi*) are possible only if *sākṣī* is identical with Brahman. If not so, *sākṣī* will exhibit limitations (*paricchinnatā*) on account of Brahman. A limited (*paricchinna*) thing is subject to change or modification (*vikāra*). Any modifying thing (*vikārī*) is invariably destructible (*naśya*). Any destructible (*naśya*) thing is inert (*jaḍa*). An inert thing cannot be *sākṣī* - the one who cognisably illuminates or makes known all *dṛśyas* (cognised things/*sākṣya*) in its presence. No other *sākṣī* distinct from Brahman can be available at individual level because Brahman is the only self-cognitive principle in and through the Creation. In the absence of such a *sākṣī*, the

three types of *samādhi* are not possible. Therefore all the three types of internal *samādhi* necessarily have at their backdrop the appreciation of identity (*abhinnatā*) with Brahman.

ii) The other three types of *samādhi* with external (*bāhya*) locus are centred on Brahman. Brahman is the basis (*adhiṣṭhāna*) of the Creation. So, it is the true nature of everything including all individuals. This is called *sarvātmatva* - the status of being *ātmā* or the true nature of all. This is not possible if Brahman is different from *ātmā/sākṣī* at individual level. Otherwise the individual having independence will impose limitations on Brahman. In that case it ceases to be limitless, non-dual Brahman. The nature of Brahman is also *rasa* - limitless happiness (*ānanda*) and that is the ultimate source of any form of happiness. The *rasa* (happiness) nature of *ātmā/sākṣī* can therefore be established and discovered provided Brahman and *ātmā* are identical. Then only the phrases *svānubhūtirasāveśa* of verse 26 and *rasāsvāda* in this verse can hold good. Hence the appreciation of identity with Brahman in these three types of external *samādhi* also is indispensable.

The absorption of mind in Brahman, wherein its nature of absolute happiness (*rasa*) is directly appreciated, leads to the steady abidance of the mind in Brahman. This state of mind is called *nirvikalpa-samādhi* (external). The only distinction between the two types of *nirvikalpa-samādhi*, internal and external, is the locus of practice. The mention of *pūrvavat* - as told previously - indicates the following similar features as found in the internal and external ones:

i) The constant practice of external *dṛśyānuviddha* and *śabdānuviddha samādhis* for a sufficiently long period results in

the absorption of mind in Brahman that leads to *nirvikalpa-samādhi* (external).

ii) The entire *dṛśyas* (cognised things) both microcosmic and macrocosmic in nature along with the scriptural words used as the initial means are given up (i.e. *upekṣa* of *dṛśya* and *śabda*) on the strength of mind being absorbed in Brahman directly cognized, viz. *āsvāda.*

iii) The steadiness of mind under the influence of such an absorption is like the flame of a lamp placed in a calm place (*nivātasthita-dīpavat*). It is described here by the word *stabdhībhāvaḥ* - steadiness or firmness - also called *niścalatvam.*

The following description of *nirvikalpa-samādhi* (external) can help us to understand it better.

ब्रह्मानन्दरसावेशादेकीभूय तदात्मना ।
वृत्तेर्या निश्चलावस्था स समाधिरकल्पकः ॥

"Having become one with *Brahmānanda* - happiness that is Brahman - the steady state of *Brahmākāravṛtti* (the thought of the form of Brahman) due to complete absorption in Brahman having the nature of happiness, is *nirvikalpa-samādhi* (*S.V.S.S.S.* 899)."

In all we have seen six kinds of *samādhi.* Out of these, four - two each having internal and external locus respectively - are *savikalpa* (with distinction of triple form/*triputī*) in nature whereas the remaining two are *nirvikalpa* (without distinction). *Savikalpa-samādhi* of both types internal and external has either *dṛśya* (cognised things) or *śabda* (*Upaniṣadic* words) as their

means. *Nirvikalpa-samādhi* of either type is totally free from *dṛśya, śabda* and *triputī* (the triple form). They are achieved by sufficiently long practice of *savikalpa* ones. In fact *savikalpa* and *nirvikalpa* are the only two basic types of *samādhi.* But based on the means and the locus employed we categorise them in the six varieties. The following chart will show at one glance the locus, the means, and the nature of all the types of *samādhi* :

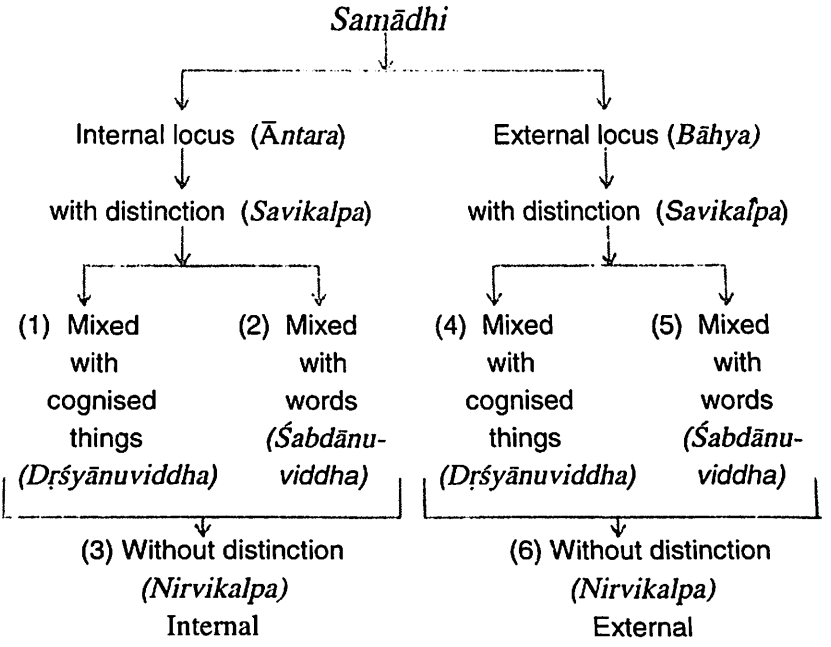

The second line of this verse lays emphasis on the constant practice of these six types of *samādhi* for a sufficiently long period. The constancy of practice is conveyed by the two words *nirantaram* (constantly) and *kāla* (time). These words from the verse also indicate the necessity of a highly disciplined life (*tapas*), a mastery

over the senses (*brahmacarya*), self-knowledge (*vidyā*) and a firm conviction (*śraddhā*) in the efficacy and the genuineness of the pursuit undertaken.

HOW LONG THE *SAMĀDHIS* ARE TO BE PRACTISED?

It is natural for the *mumukṣu* (spiritual seeker) to be eager to know how long these *samādhis* are to be practised. Ādī Śaṅkarācārya has answered the when and how long of this practice.

उत्थाने वाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
समाधिषट्कं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः ॥

"The zealous *sannyāsī/mumukṣu* who is careful and has conquered passions has to practise the six *samādhis* always while sitting or also otherwise" (*S.V.S.S.S.* 900).

विपरीतार्थधीर्यावन्न निःशेषं निवर्तते ।
स्वरूपस्फुरणं यावन्न प्रसिध्यत्यनिर्गलम् ।
तावत्समाधिषट्केन नयेत्कालं निरन्तरम् ॥

"The *mumukṣu* has to spend constantly the time in the practice of six *samādhis*, before the contrary notion (about oneself and the world) totally ceases and the steady or unobstructed knowledge of one's true nature is accomplished" (*S.V.S.S.S.* 901).

OBSTACLES IN THE CONTEMPLATION/*SAMĀDHI*

While practising contemplation (*nididhyāsana*) and the resultant *samādhis* thereof, the contemplator will inevitably face many obstacles. These are absence of appreciation of the contemplated

(*anusandhānarāhityam*), laziness (*ālasyam*), hankering for sense pleasure (*bhogalālasam*), some sort of fear of losing one's identity (*bhayam*), sleep (*tamaḥ*), agitations (*vikṣepaḥ*), a void or dejection born of absence of progress (*śūnyatā*) etc. All these have to be overcome on the strength of knowledge supplemented by consistent efforts and due discrimination without giving any room to despair. The thirteen essential steps in this pursuit mentioned earlier can serve as a check-list to detect one's deficiencies so as to mend them. A prayerful attitude imbued with devotion to *Īśvara* - the Creator principle - can also be immensely helpful to the contemplator at every stage of progress.

THE RESULT OF THIS PURSUIT

The final result that is accomplished by this pursuit of directly cognising the true nature of oneself - identical with the ultimate truth and the basis of the entire Creation - is described in the next two verses.

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।।३०।।

dehābhimāne galite vijñāte paramātmani
yatra yatra mano yāti tatra tatra samādhayaḥ - (30)

देहाभिमाने गलिते - when the identification with the body disappears (i.e. is removed) परमात्मनि विज्ञाते - when Brahman is clearly known यत्र यत्र - wherever मनः - the mind याति - goes तत्र तत्र - there समाधयः - *samādhis* (the absorption of mind in Brahman) (स्वयमेव भवन्ति - occur effortlessly). - (30)

30. Wherever the mind goes there occur *samādhis* effortlessly when the identification with the body disappears and Brahman is clearly known (*S.R.U.* 66).

The entire pursuit began with the investigation into the nature of true "I" on the guidelines of *dṛk-dṛśya-viveka.* In the first seventeen verses, the true "I" (*ātmā*) was ascertained as self-evident cognitive principle/pure awareness called *sākṣī.* Then its false status of being a *saṃsārī* - miserable individual - was shown to be the outcome of mutual superimposition between the embodiment and the true "I" effected by the veiling power of *māyā.* By fixing the true "I" (*ātmā*) in *sākṣī, dehābhimāna,* i.e. the erroneous notion of "I" in the embodiment, at different levels from ego to the gross body which creates errors such as "I am a human, I am doer (*kartā*), I am experiencer (*bhoktā*), I am happy (*sukhī*), I am sorrowful (*dukhī*) etc." has to be removed totally. The habitual error of identifying true "I" with the body, senses and *antaḥkaraṇa* (inner instrument) can be overcome by the practice of the three types of internal *samādhi.*

In verses 18 to 21 the ascertainment of Brahman - the ultimate truth - as the basis (*adhiṣṭhāna*) of the entire Creation, was effected through *Brahma-sarga-viveka.* Therein, the name (*nāma*) and form (*rūpa*) are disregarded by focusing the attention on *sat, cit, ānanda* aspects inherent in everything that constitutes the Creation at all levels. Based on the clear cognition of Brahman - *sat, cit, ānanda* - also called *Paramātmā* the falsity of the world is exposed. The habitual notions that ascribe reality to the world obstructing the clear knowledge of *Paramātmā* (Brahman) are dispelled by the practice of the three types of external *samādhi.*

Once the identification of "I" with body is completely eliminated and very clear knowledge of Brahman (*Paramātmā*) attained, the *mumukṣu* - the spiritual seeker - is able to appreciate the true "I" (*ātmā*) identical with Brahman, at all places and all times. The second line of this verse describes how such a person in and through the world, recognizes Brahman only. Wherever the mind goes either withdrawn internally or drawn externally, there is only the absorption of it (i.e. *samādhi*) in the ultimate truth, Brahman. Corresponding to this verse, in the *mantra* of *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad* we find the word *Parāmṛtam* - Brahman - in place of *samādhayaḥ*. Both words reveal the recognition of one and the same ultimate truth. To an ignorant person, wherever the mind goes, there is only the world of delusive hopes or plans, whereas to the well accomplished one as described here, the same world is nothing but absolute happiness - Brahman. This is the final stage of persistent and unobstructed abidance in the knowledge of oneself/Brahman without any effort. Till then the means like *śravaṇa* (self-inquiry), *manana* (reflection) and *nididhyāsana* (contemplation) leading to six types of *samādhi*, have to be pursued individually or collectively as the need be.

The great sage Vyāsa in his *Brahma-sūtras* - aphorisms on the inquiry into the nature of Brahman - has devoted two aphorisms (*sūtras*) to highlight the need to practise repeated *śravaṇa, manana* and *nididhyāsana*. They are as follows:

i) आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

"Repetition is necessary, since the *Upaniṣads* instruct repeatedly" (*Br.Sū.* 4-1-1).

ii) लिङ्गाच्च ।

"And (this is so) on account of the evidence (in the *Upaniṣad*)" (*Br.Sū.* 4-1-2).

Ādī Śaṅkarācārya while commenting on the second aphorism (*sūtra*) makes clear distinction between a person who needs repetition and the one who does not.

"..... भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात् । यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः । ..... सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः । न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते । ..... यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थ एवावृत्त्यभ्युपगमः ।"

" .... Repetition becomes redundant for the person who can experience *ātmā* (the true 'I') as Brahman on being taught only once: "You are that Brahman". But for the one who cannot experience so, repetition is indispensable. ....."I am the non-dual pure awareness (*caitanya*) free from all sorrows', is the experience of true 'I' (*ātmānubhava*). For the person who experiences *ātmā* (true 'I') thus, there is no other duty - the thing to be practised - left over. ..... The repetition is accepted only for gaining such an experience in the case of the person for whom this experience is not born quite instantly" (*Br.Sū. bhāṣya*; 4-1-2).

Incidentally, the above comments establish that the finale of *ātmajñāna/Brahma-jñāna* (self-knowledge) is such an experience in conformity with the true nature of oneself/Brahman. There is also a mention of this fact in the commentary on the second *Brahma-sūtra* (aphorism) from the first chapter (*Br.Sū.* 1-1-2). While drawing the contrast between the nature of *pramāṇa* (i.e. means of knowledge) needed for rituals and for undertaking inquiry into Brahman, in

addition to *Śruti* (the Veda) reasoning etc. to the extent necessary, the role of experience (*anubhava*) as *pramāṇa* is also accepted towards knowing Brahman. Ādi Śaṅkarācārya justifies this by pointing out the nature of *Brahma-jñāna* (the knowledge of Brahman) as follows:

".... अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य ।"

"(It is so) because *Brahma-jñāna* (the knowledge of Brahman) culminates in experience and it is centred on the existing thing" (*Br.Sū. bhāṣya* 1-1-2).

It is universally known that the knowledge of a given thing is the cognition thereof in strict conformity with its nature. So the knower has no option to fancy the thing otherwise.

The description of the result of such knowledge is continued further.

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।३१।।

bhidyate hṛdayagranthicchidyante sarvasaṃśayāḥ
kṣīyante cāsya karmāṇi tasmin dṛṣṭe parāvare - (31)

तस्मिन् परावरे दृष्टे - when the Brahman that is both cause and the manifest Creation is clearly known अस्य - of this person (i.e. knower's) हृदयग्रन्थि: - the desire(s) भिद्यते - is (are) destroyed सर्वसंशया: - all doubts छिद्यन्ते - are dispelled च - and कर्माणि - the results of actions क्षीयन्ते - get terminated. - (31)

31. When the Brahman that is both the cause and the manifest Creation is clearly known, the knower's desires are destroyed, all doubts are dispelled and the results of actions get terminated (*S.R.U.* 67, and also *Mu.U.* 2-2-8).

Tasmin Parāvare dṛṣṭe - when *parāvaram* Brahman is clearly known:

This phrase is derived from *tat parāvaram. Tat* - that - stands for Brahman, totally free from *saṃsāra.* The nature of Brahman is further described by *parāvara.* In general the one who is *para* (absolute/the highest/chief/final/transcendent) and also *avara* (relative/ unimportant/secondary/posterior/immanent) is *parāvaram.* This word can be viewed in more than one way depending on how the specific meanings of both the words are considered. But in every context it describes the nature of Brahman from varied angles. The relevant meanings of *parāvara* are as follows:

i) *Para* is the absolute cause, the basis of the world whereas *avara* indicates the superimposed relative Creation. The same Brahman appears as both the cause and effect. So, it is called *parāvaram.*

ii) *Paramātmā* of the nature *sat, cit, ānanda,* being the basis of the Creation is called para. The basis of the individual (*jīva*) called *sākṣī* is *avara.* Therefore *parāvara* is Brahman identical with the true "I" at the individual level.

iii) *Īśvara* - the Creator - is *para* and *saṃsārī jīva* (the individual) is *avara.* The one and the same Brahman appears as both *para* and *avara* in this sense. Therefore Brahman is *parāvara.*

The following are the results that ensue when the clear knowledge (*aparokṣa jñāna*) of *parāvaram* Brahman is gained (i.e. *dṛṣṭe*):

a) *Hṛdaya-granthiḥ bhidyate* - Desires are destroyed:

Anything that binds the individual (*jīva*) to *saṃsāra* or grieves the heart is called *hṛdaya-granthiḥ*. Self-ignorance (*avidyā*), desire (*kāma*) and actions or their results (*karma*) that serve as the causes of bondage at different stages are so called. Yet, a specific mention of *hṛdaya-granthi* as connoting desires is incorporated in this commentary because the elimination of self-ignorance (*avidyā*) is already accounted in the wake of knowledge (i.e. *tasmin parāvare dṛṣṭe*) and the termination of *karmas* is separately told in this verse. Literally *granthi* means the perversion of truth, falsehood or a knot. The following derivations of *hṛdaya-granthi* will clarify this fact:

i) *Hṛd* is *ahaṅkāra* - the erroneous "I" notion called ego. *Ayam* refers to the true "I" - pure awareness (*caitanya*) called *sākṣī*. Due to mutual superimposition caused by self-ignorance - or what is called the veiling power of *māyā* - there is an identification between *hṛd* and *ayam*. The one is taken for the other. The doership (*kartṛtva*) belonging to *ahaṅkāra* (ego) is superimposed on *sākṣī* the true "I", and the sentiency of *sākṣī* on inert ego (*ahaṅkāra*). Thus the mutual identification indicated by these two words put together as *hṛdayam* functions as though it is a knot (*granthi*) that fastens up both of them.

ii) The identification between *hṛd* (*ahaṅkāra*) and *ayam* (*sākṣī*)

itself is *hṛdaya-granthi* - a perversion of truth about both of them - as they cannot be identical.

iii) *Hṛd* can also mean the true "I" (*sākṣī/ātmā*) and *ayam* can refer to this body (*dehaḥ*). Not knowing the true "I" the error of taking the body as "I" is signified by *hṛdayam*. Actually this is a falsehood (*granthi*) or perversion of truth.

On knowing directly one's true nature as Brahman, *hṛdâya-granthi* is totally destroyed. *Hṛdaya-granthi* is the self-ignorance including its effects of erroneous identification as described earlier and the desires.

b) *Sarva-saṃśayāḥ chidyante* - All doubts are dispelled:

The mind is a Pandora's box having perennial doubts. This state persists till self-knowledge is gained. The prominent doubts arising during the pursuit of knowing our true nature, and that of the Creation are as under:

"Am I in reality, Brahman?"; "Though I am Brahman, have I its direct knowledge?"; "Even when I know I am Brahman, are there any duties required for me to undertake?"; "In spite of no duty to be discharged, now while living am I a liberated person (i.e. *jīvanmuktaḥ*)?"; "Though liberated here, will I get or not the liberation hereafter (i.e. *videha-mukti*) once this body dies?"; "Even if the liberation hereafter (*videha-mukti*) is ensured, will I be born again after a long period of time?".

However all these and other similar doubts are totally dispelled when the clear knowledge of oneself is gained. They disappear just like the darkness of night at sunrise.

c) *Karmāṇi kṣīyante* - Results of actions get terminated :

The results of actions (*karmaphala* or also called *karma*) can yield future births provided the ego or the erroneous identification with the embodiment (*ahaṅkāra*) persists. On gaining the knowledge of Brahman as the true "I", the ego (*ahaṅkāra*) born of self-ignorance gets extinct. So the results of actions are incapable of generating afresh further embodiments. The results of actions are of three types:

i) *Sañcita karma* - Accumulated results of past actions :

Karmas (results of actions) - good and bad - from past innumerable births, standing in the account of a given individual without producing their effects so far, are called *sañcita* or *anārabdha karmas*. They have the potential to produce countless future births. When the knowledge is gained, these *sañcita karmas* get totally destroyed like the well lit fire reducing the fuel to ashes.

ii) *Prārabdha karma* - The results of actions which have already begun their effect :

The present embodiment is produced by these. At the time of birth of this body, self-knowledge was yet to be born. Therefore *prārabdha karma*, unaffected by the knowledge of self acquired later, continues its function. That is why even after gaining self-knowledge we find the continuation of the body until the momentum for it of *prārabdha karma* gets over.

iii) *Āgāmī karma* - Future results of actions :

In the present context, the results born of actions performed after the birth of self-knowledge are called *āgāmi karma*. They have the potential to yield their results to the doer (*kartā*) in future. However, a *jñānī* - the person who knows Brahman/ātmā - has no ego (*ahaṅkāra*) and the consequent notion of doership (*kartṛtva*). As a result, *āgāmī karma* cannot have any bearing on a *jñānī*.

In view of such behaviour of these three kinds of *karmas*, the word *karmāṇi* from this verse is applicable only to *sañcita karma*. This understanding is of the people in general who see a *jñānī* (the person of knowledge) as still interacting with the world like any common person. But the comprehension of the person who knows Brahman is entirely different. *Prārabdha karmas* may concern the embodiment and not the true "I" (*ātmā*). To *jñānī* whose "I" is rooted in its true nature, viz. the bodiless (*aśarīra*) *ātmā* (pure awareness/*caitanya*), there is no *prārabdha karma* even. *Āgāmī* as shown earlier cannot have any locus after the person has got self-knowledge. In other words from *jñānī's* standpoint, the word *karmāṇi* from this verse applies to all *karmas* whether begun (*prārabdha*) or not (i.e. *anārabdha* - *sañcita* and *āgāmī*).

All these three-fold results occur at the time of gaining clear knowledge itself and not in future. There is no good or bad mode of death for the person who has self-knowledge. Being already liberated when self-knowledge took place, it does not make any difference to a *jñānī* even if the death occurs in the state of coma.

The present verse is the penultimate *mantra* of *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad*. It is also one of the verses in *Mundakopaniṣad* (2-2-8). With this verse, the *mantras* quoted from *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad* in this text come to an end. Verses 22 to 29

provide us with the necessary practical details about the means of eliminating the contrary notions (*viparyāya*) with reference to the true "I" (*ātmā*) and Brahman. To have the unobstructed self-knowledge, the repetition (*abhyāsa*) of contemplation (*nididhyāsana*) is totally necessary. Any laxity in efforts needs to be overcome, keeping in sight the goal of achieving unique and indispensable result.

THE INDIVIDUAL (*JĪVA*) AND THE WORLD (*JAGAT*) ARE FALSE (*MITHYĀ*)

THE RELEVANCE OF THE REMAINING TEXTUAL PORTION

Prior to the description of the six kinds of *samādhi*, *dṛk-dṛśya-viveka* (the investigation of the cogniser and the cognised) and *Brahma-sarga-viveka* (the discrimination between Brahman and the Creation) had ascertained the precise nature of true "I" (*sākṣī*) and Brahman. The following passing references substantiate by implication the conclusion that the *saṃsārī* individual (*jīva*) and the world (*sarga/sṛṣṭi*) are false (*mithyā*) - not true even though we perceive them or experience them.

i) The status of individuality (*jīvatvam*) appears in *sākṣī* (the true "I"/pure awareness) on account of the superimposition (*āropāt*) effected by the veiling power (*āvaraṇa sākti*) of *māyā* - the Creative power - (verse 17). So the individual (*jīva*) has to be false.

ii) The Creation (*sṛṣṭi*) is the expansion (i.e. manifestation) of names (*nāma*) and forms (*rūpa*) in Brahman as the foam or waves are to the ocean (verse 14). Brahman is non-dual *(advaya)*. The change (*vikāra*) is only in the Creation *(sarga)* and not in Brahman (verse 19). Brahman appears to get modified (*vikārī*) in nature by the influence of the veiling power (verse 18). This makes the world necessarily a false one. The illustration of foam or waves arising in the ocean helps to clarify this point.

iii) The individuality (*jīvatvam*) and the Creation disappear once the veiling *(āvṛti/avaraṇa)* is destroyed (verses 17 and 19). This shows that *sākṣī* (the true "I") is identical with Brahman and this is the ultimate truth *(satyam)* whereas the transient individual (*jīva*) and the world *(jagat)* are false.

Such a false nature of *jīva* and *jagat* is very clear to a person whose mind can get absorbed in Brahman anywhere and everywhere as described in verse 30. To others who are still on the path of accomplishing the goal, and to those to whom the vivid experiences of the world impress as real on their mind, the entities of *jīva* and *jagat* truly exist. It is very difficult for them to understand the false nature of the individual (*jīva*) and the world *(jagat)*. In view of this major hindrance, the remaining fifteen verses are exclusively devoted to prove in detail with illustrations, the following three aspects:

a) *Jīva* (the individual) and *jagat* (the world) are superimposed on - falsely attributed to - their basis (*adhiṣṭhāna*), viz. Brahman. Therefore they are false.

b) They have no independent existence apart from their basis (*adhiṣṭhāna*) - Brahman.

c) On gaining the direct cognition (*aparokṣānubhūti*) of the true nature of *ātmā*/Brahman, both *jīva* and *jagat* having no independent existence, disappear in their basis and what remains is only Brahman.

A close scrutiny of the last *mantra* of *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad* can also substantiate the above conclusion. The final *mantra* therein reveals the statuses of *jīva* (the individual) and *Īśvara* - the

Creator - as falsely attributed to Brahman and so they are not real. The status of Īśvara is with respect to the Creation *(jagat)*. Though the said *Upaniṣad* discusses about *Īśvara* to some extent besides *jīva* and *jagat*, Sri Bhāratitīrtha, the author of the present text - Dṛk dṛśya viveka - has focussed only on *jīva* and *jagat*. Thus to a great extent, the remaining portion serves as an elaboration of the last *mantra* of this *Upaniṣad* that constitutes the actual basis of this text.

THREE VERSIONS ABOUT JĪVA (THE INDIVIDUAL)

The author proceeds to show the false nature of *jīva* by presenting first the three prevailing concepts about it.

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः ।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ।।३२।।

avacchinnaścidābhāsastṛtīyaḥ svapnakalpitaḥ
vijñeyastrividho jīvastatrādyaḥ pāramārthikaḥ - (32)

अवच्छिन्नः - the conditioned/limited/separated/covered (*cit*) चिदाभासः - the reflection of *cit* (pure awareness) तृतीयः - the third one (is) स्वप्नकल्पितः - imagined as in dream (एवं - thus) जीवः - the individual *(jīva)* त्रिविधः - of three kinds विज्ञेयः - (is) to be regarded तत्र - among them आद्यः - the first variety पारमार्थिकः - is of the nature of Brahman. - (32)

32. The *jīva* (individual) is regarded as of three kinds, viz. the limited *cit* (pure awareness), the reflection of *cit*, and the one imagined as in dream. Among them the first variety is of the nature of Brahman.

Based on three different aspects of superimposition between *cit/sākṣī* (pure awareness) and the embodiment, there are three concepts about *jīva* in vogue as follows:

i) *Avacchinnaḥ* (limited) or also called *paricchinnaḥ* (covered):

Literally *avacchinnaḥ* means limited, conditioned or separated. The non-dual Brahman is all-pervasive pure awareness (*caitanya*) and cannot be limited by anything, nor can there be possibility of any division in it. Yet, the self-ignorance and the consequent identification with the body (i.e. *ahaṅkāra*) appears to limit *sākṣī caitanya*, i.e. the Brahman as the knowledge principle available at the individual embodiment level. Thereby *sākṣī caitanya* with the erroneously superimposed features of the bodies gives a semblance of being limited or separated from Brahman. It is like the space inside the pot appearing as if limited and separated by the pot from the total space, when in reality space, as everyone knows, cannot be limited. In spite of this fact the space seen in the pot is taken as limited pot space, having specific dimensions. Similarly *sākṣī caitanya* (pure awareness) at the level of an individual embodiment due to the limitations effected by self-ignorance, *ahaṅkāra* (ego) and the body, is considered as *jīva*. This is the first concept called *avacchinnaḥ* regarding what is *jīva*.

ii) *Cidābhāsaḥ* - The reflection of pure awareness :

That which is not the actual *cit* (pure awareness), but appears like *cit* at an individual level is *cidābhāsaḥ*. It is like seeing one's face *(mukha)* in the mirror. What one sees in the mirror is not one's face though it looks exactly so. It is called *mukhābhāsa* - semblance of face. Similarly

the reflection of *cit/caitanya* (pure awareness) available in the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) - *liṅga-śarīra* - is called *cidābhāsaḥ*. Some consider *cidābhāsaḥ* - the reflection of pure awareness - itself as *jīva*. This is the second version about what is considered as *jīva*.

iii) *Svapnakalpitaḥ* - The one who is imagined as in dream :

The dreamer takes unto oneself the various embodiments like human, bird, animal etc. in the dream and enacts therein. But it is only a mental projection because on waking, it is not there and the waker is the reality for the dreamer. In a similar manner the one who is imagined as an individual like the dreamer, is the third view about the nature of *jīva* called *svapnakalpitaḥ*.

THE CORRECT UNDERSTANDING OF *JĪVA* (THE INDIVIDUAL)

The above-mentioned three versions of *jīva* do describe different facets of an individual. The author has preference for the first view. The reason for it is given in the last quarter of this verse. Among those *(tatra)* three views the first one, viz. *avacchinnaḥ - sākṣī* who apears as limited - is of the nature of Brahman (*pāramārthikaḥ*). This is substantiated in verse 34.

One may wonder how the limited individual (*jīva*) can be the limitless Brahman. By describing the actual nature of *jīva*, it is shown now that the status of *jīva* is on account of false superimposition of embodiment whereas its true nature is nothing but Brahman.

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम् ।
तस्मिन् जीवत्वमारोपाद्ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ।।३३।।

avacchedaḥ kalpitaḥ syādavacchedyaṃ tu vāstavam
tasmin jīvatvamāropād brahmatvaṃ tu svabhāvataḥ - (33)

अवच्छेदः - limitation कल्पितः - falsely superimposed स्यात् - is अवच्छेद्यं - the one that is subjected to limitation, viz. *sākṣī* (pure awareness) तु - but वास्तवम् - the truth (स्यात् - is) तस्मिन् - in that (*sākṣī*) आरोपात् - due to mutual superimposition जीवत्वम् - the status of *jīva* स्यात् - occurs तु - whereas ब्रह्मत्वं - the nature of Brahman स्वभावतः- on account of innateness (स्यात् - is). - (33)

33. The limitation is falsely superimposed, but the *sākṣī* (pure awareness) that is subjected to limitation is the truth. (Therefore) the status of *sākṣī* as *jīva* occurs due to mutual superimposition whereas its nature as Brahman is on account of innateness.

The limitations exercised by self-ignorance (*avidyā*) and the ego (*ahaṅkāra*) in *sākṣī* (pure awareness) whose nature is Brahman are as false as the appearance of the blue canopy of the sky. This can be substantiated from our experience in sleep. *Ahaṅkāra* (ego) is dormant in sleep. So the limitations like "I am covered by ignorance" and "I am limited by *ahaṅkāra*" are absent therein. In contrast to this, the *sākṣī* that appears to be limited by ignorance (*avidyā*) and *ahaṅkāra* (ego), continues to exist immutably in the three states of consciousness. That proves the nature of *sākṣī* as ever-existing truth (*vāstavam*). This being so, the status of *jīva* superimposed on *sākṣi* (pure awareness/the true "I") by false limitations is equally false. It is effected by the mutual

superimposition between *sākṣī* and *ahaṅkāra* (ego) through the medium of unreal *cidābhāsaḥ* - reflection of pure awareness. In another text called *Pañcadaśī*. the same author Śrī Bhāratitīrtha describes how this mutual superimposition exactly occurs.

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ।

"The reflection of *cit* (pure awareness) manifests by assuming the features of *antaḥkaraṇa* (inner instrument) like doership (*kartṛtva*) etc. and the nature of *ātmā* called cognitive principle. Therefore it (*cidābhāsa*) is a misapprehension" (P. 8-52).

Sākṣī (pure awareness) by its innate nature is Brahman itself. *Sākṣi* is not transformed into Brahman by way of any action. But the erroneous notion that *sākṣī* is *jīva* is dispelled by knowing true nature of *jīva*. It is like the pot space never being different from the total space. A person lacking discrimination may mistake the pot space as limited or discontinuous from the total space. Yet it never undergoes such change in reality to become pot space.

The word *tu* - but/whereas - occurs twice in the verse. It is either to draw the contrast of limited *jīva* with Brahman that appears as if limited or to emphasise what is told therein.

Based on reasoning it was shown that *sākṣī* (pure awareness) appears as if it is a *jīva*, but not in reality. This is brought about on account of limitations imposed by *cidābhāsa* (reflection of pure awareness) and *ahaṅkāra* (ego), the product of ignorance. In reality *jīva* (individual) is Brahman itself. This fact is now corroborated by

pointing out the *Upaniṣadic* statements revealing the identity of *jīva* and Brahman. They do so only with respect to *jīva* considered as *avacchinnaḥ* (limited) and not in the case of the other two.

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ।।३४।।

avacchinnasya jīvasya pūrṇena brahmaṇaikatām
tattvamasyādivākyāni jagurnetara-jīvayoḥ - (34)

तत्त्वमस्यादिवाक्यानि - the statements "*Tat tvaṃ asi* - you are that Brahman." etc. अवच्छिन्नस्य - of the one who is limited जीवस्य - of *jīva* पूर्णेन ब्रह्मणा - with the indivisible (full) Brahman एकताम् - identity जगुः - declare (तु - but) इतरजीवयोः - of the other two *jīvas* न - not. - (34)

34. The (*Upaniṣadic*) statements " *Tat tvam asi* - you are that Brahman" etc. declare the identity of limited *sākṣī* (pure awareness) (mistaken) as *jīva* with the indivisible/full Brahman, but not of the other two *jīvas*.

The word *tvam* - you - in the said statement refers to the one limited by ignorance (*avidyā*) and *ahaṅkāra* (ego), who as a result, appears as if distinct from Brahman. *Avacchinnaḥ* and *pāramārthikaḥ* are the two terms used for such a *jīva* (in verse 32). Brahman free from all the limitations due to considerations of space, time and objects is meant by *tat* - that - in the statement. *Asi* - (you) are - therein reveals the identity of this limited (*avacchinnaḥ*) *jīva* and Brahman. Other statements like "*Ahaṃ Brahmāsmi* - I am Brahman", "*Ayamātmā Brahma* - this *ātmā* is Brahman", "*Prajñānam Brahma* - the cognitive principle, pure

awareness is Brahman" etc. also reveal the same identity. Though the words have no direct access - reference - to Brahman/*ātmā*, these statements having recourse to superimposed things, confer self-knowledge through an implied sense or indirectly.

Such statements are called *mahāvākyas*. They cannot establish the identity of Brahman with *jīvas* when the nature of *jīva* is viewed through the second or the third concept, viz. *jīva* is *cidābhāsaḥ* (the reflection of pure awareness) or *jīva* is *svapnakalpitaḥ* (the one who is imagined as in dream). *Jīvas* described in these two concepts do not have any true independent locus on their own. Both of them are the products of *māyā* - the Creative power. *Māyā* being false, they also remain false having no true locus. The true locus can be pinned down only in *sākṣī*, incorporated in the first concept on the nature of *jīva* called *avacchinnaḥ* and not in the later two.

Some persons may raise a very subtle doubt in this context. Any given knowledge belongs to a knower. To gain knowledge is to acquire a new status of becoming the knower. This is possible only for a changing entity (*vikārī*). So the doubt can be stated as follows:

Knowledge as "I am Brahman (*aham Brahmāsmi*)" is gained by *cidābhāsa* (the reflection of pure awareness/*cit*). Thereby the status of being knower should legitimately belong to *cidābhāsa* and not to the unchanging *(avikārī) sākṣī*(pure awareness). By its unchanging nature, *sākṣī* cannot be the knower of Brahman. The result gained by one cannot be ascribed to another is a rule. Therefore the knowledge of Brahman cannot belong to *sākṣī*. As a result, the *jīva* seen of the nature through first concept, viz. *avacchinnaḥ* cannot know its identity with Brahman.

But this is not a flaw. *Cidābhāsa* is based on *sākṣī*. It has no existence apart from *sākṣī*. *Cidābhāsa* is a product of inexplicable *māyā* (the Creative power) which is false in nature. *Māyā* cannot exist on its own and therefore *cidābhāsa* cannot be the locus of such a knowledge. As for *sākṣī* (pure awareness) the following points hold good:

i) *Sākṣī* is the basis (*adhiṣṭhāna*) of *cidābhāsa*.
ii) Therefore *sākṣī* is the true nature of *cidābhāsa*.
iii) *Sākṣī* is also the ultimate truth.

So the acquisition of knowledge can be attributed to *sākṣī* secondarily, while dealing in the realm of relative. It cannot be ascribed to *cidābhāsa* which in reality is non-existent entity. For further elaboration on this topic, the reader may refer to *Upadeśasāhasri* (18-107/108) and *Pañcadaśī* (7-14/15).

JĪVA AND *JAGAT* ARE PRODUCTS OF *MĀYĀ* AND THEIR BASIS IS *SĀKṢĪ* IDENTICAL WITH BRAHMAN

It was shown in the last two verses: *sākṣī* appears as limited *jīva* and it is identical with Brahman. The same *sākṣī* who is Brahman forms the basis (*adhiṣṭhāna*) of *jīva* (the individual) and *jagat* (the world). Both *jīva* and *jagat* are the products of *māyā* - the Creative power. In fact this topic has already been dealt with in verse 13. Yet, taking into account the difficulty in comprehending this subject and the importance of these aspects in the present discussion, it has been restated in the next verse in different words.

ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपाऽऽवृतिरूपिणी ।
आवृत्याऽखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ।।३५।।

brahmaṇyavasthitā māyā vikṣepāvṛtirūpiṇi
avṛtyākhaṇḍatāṃ tasmin jagajjīvau prakalpayet - (35)

विक्षेपाऽऽवृतिरूपिणी - the one characterised by projecting (creating) and veiling powers माया - *māyā* (the Creative power) ब्रह्मणि - in Brahman अवस्थिता - abides (सा - that *māyā* ब्रह्मण:- of Brahman) अखण्डतां - of indivisible/non-dual nature आवृत्य - having covered तस्मिन् - in that (Brahman) जगज्जीवौ - the world and *jīva* (individual) प्रकल्पयेत् - creates. - (35)

35. *Māyā* characterised by projecting and veiling powers abides in Brahman. *Māyā* after having covered the non-dual nature of Brahman, creates in Brahman the world and *jīva*.

In reality, the Creation (*jagat*) cannot be in non-dual Brahman. The word *akhaṇḍatā* - of indivisible nature - indicates Brahman as all-pervasive and non-dual. In spite of this *māyā* brings about a vivid appearance of the world (*jagat*) which though false appears real to all ignorant people. The commentary on verse 13 can be referred to for further details.

FEATURES OF *JĪVA* (THE INDIVIDUAL) AND *JAGAT* (THE WORLD)

Between the experiencer *jīva* and the experienceable *jagat*, *jīva* is primary and *jagat* (the world) is secondary, as the world is created for the sake of *jīva*. Their distinct features are now described so as to determine their false nature.

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत् ।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम् ।।३६।।

jīvo dhīsthaścidābhāso bhaved bhoktā hi karmakṛt
bhogya-rūpamidaṃ sarvaṃ jagat-syād bhūtabhautikam - (36)

हि - because धीस्थ: - identified with *antaḥkaraṇa* (inner instrument) चिदाभास: - the reflection of pure awareness (*cit*) कर्मकृत् - the doer of all actions भोक्ता - the experiencer (च - and तस्मात् - therefore) जीव: - *jīva* भवेत् - is इदम् - this cognised सर्वं - all भूतभौतिकम् - the five elements and the embodiments भोग्यरूपम् - of the nature of experienceable things जगत् - the world स्यात् - is. - (36)

36. The reflection of pure awareness (i.e. *cidābhāsa*) identified with *antaḥkaraṇa* (inner instrument) is *jīva* because it is the doer of all actions and the experiencer (of the world). All the cognised five elements and the experienceable embodiments and things constitute the world.

The one who does all the actions (*karmas*), both as per scriptures, e.g. rituals, meditations, sacrifices, self-inquiry and as required to be in the society, i.e. worldly such as earning the livelihood, spending the money, eating, sporting etc., is *karmakṛt*. The experiencer here or hereafter of results of one's own actions, is called *bhoktā*. Neither *sākṣī* (pure awareness) being free from the embodiment nor the body being inert can act or experience something belonging to this world on their own. It is the reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) due to self-ignorance, identified with *antaḥkaraṇa* (inner instrument) which can accomplish both these feats. This peculiar entity born of self-ignorance leading to mutual false superimposition is *jīva*. The existence of *cidābhāsa* - reflection of *cit* - is possible because *antaḥkaraṇa* is present. *Antaḥkaraṇa* itself is the product of *māyā* dependent on Brahman. This establishes that *jīva* as understood through the foregoing

deliberation is a false projection effected by the equally false *màyā.*

Bhūtam means the five elements, viz. earth, water, fire, air and space. *Bhautikam* comprises all varied embodiments and sense objects existing in the Creation. They are constituted of five elements. The embodiments serve as abodes for different *jīvas* to undergo their due experiences. In general these *bhūtam* and *bhautikam* together as perceived in the world provide a field of experience as deserved by *jīvas* (the individuals) as results seen in present through their past actions. That which is worthy of experience in this manner is called *bhogyam.* The five elements, all the embodiments and the things experienced together constitute *jagat* - the world.

JĪVA AND *JAGAT* ARE FALSE

Jīva and *jagat* of the nature described so far, both being the products of false *māyā,* cease to exist in the state of liberation. They continue to be present in the empirical sense during their tenure in the realm of self-ignorance. Therefore *jīva* and *jagat* get reduced to only empirical or transactional reality. This fact is now pointed out to reaffirm their false nature.

अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम् ।
व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ।।३७।।

anādikālamārabhya mokṣātpūrvamidaṃ dvayam
vyavahāre sthitaṃ tasmādubhayaṃ vyāvahārikam - (37)

इदं - this द्वयम् - pair (of *jīva* and *jagat*) अनादिकालम् आरभ्य - ever since the beginningless time मोक्षात् पूर्वम् - before the

incorporeal/bodiless liberation व्यवहारे स्थितं - exists empirically/transactionally तस्मात् - therefore उभयं - both व्यावहारिकम् - (are) empirical (in nature). - (37)

37. This pair of *jīva* and *jagat* exists empirically ever since the beginningless time before the *videha mukti* - liberation from any further embodiments. Therefore both are empirical in nature.

No one can establish when *jīva* and *jagat* came into existence since both their cause *māyā* and the basis (*adhiṣṭhāna*) Brahman themselves are beginningless. Lord Kṛṣṇa states in *Bhagavadgītā* that both *prakṛti* (*māyā*) and *Puruṣa* (Brahman) are beginningless (*B.G.* 13-19). Once the body of a *jnani* dies, that specific *jīva* (individual) existing hitherto and its *jagat* continue no more. This is what is called *videha mukti* indicated by the word *mokṣa* - liberation - in this verse. This is in contrast to *jīvan-mukti* - liberation from *saṃsāra* or state of *jīvahood* and clutches of *jagat* while living. After gaining self-knowledge until the body of that person - a *jīvan-mukta* - ends, the state of *jīva* and *jagat* do not exist any longer in reality for him or her. However, they continue to be in a sublated (*bādhita*) sense.

Vyavahāra - dealing/transaction - refers to all transactions such as knower (*pramātā*), the means of knowledge (*pramāṇa*) and the thing to be known (*prameya*), involving the three separate interacting entities - triple form (*triputi*). *Jīva* and *jagat* can only exist in the realm of such relative connections and dealings. Thereby the nature of *jīva* and *jagat* is a relative one and empirical as stated above. Therefore both *jīva* and *jagat* are referred to as *vyāvahārika* - belonging to *vyavahāra* (dealing/transaction). The word *vyāvahārika* excludes both *jīva* and *jagat* from being

pāramārthika - the one having absolute existence - and also precludes from being *prātibhāsika* - subjective in nature, i.e. existing only in appearance without being substantiated by concrete external perceptible reality like the objects in dream.

In verse 35 it was clearly told, "*Sākṣi*, identical with Brahman, is the basis (*adhiṣṭhāna*) of *jīva* along with *jagat* and both *jīva* and *jagat* are the effects of *māyā*". The direct expression in this verse that *jīva* and *jagat* are empirical in nature (*vyāvahārika*) implies that in reality both of them are false (*mithyā*) without any independent existence having their basis (*adhiṣṭhāna*) as Brahman. Their existence is of relative and transient nature as they cease to be after the liberation of the individual from their hold in wake of self-knowledge. Only that which exists for ever independently is absolute. Anything other than that is false (*mithyā*) even when it appears to be present during its period of existence. The fact that *jīva* and *jagat* are false (*mithyā*) in nature having Brahman as their basis (*adhiṣṭhāna*), means that they have no independent existence distinct from Brahman. (What remains after they cease to be is only Brahman, being their basis (*adhiṣṭhāna*)). It is universally known that the superimposed (*adhyasta*) thing is always located in its basis (*adhiṣṭhāna*) (and after the disappearance of what is superimposed, what remains is only the basis).

THE EXAMPLE OF *JĪVA* AND *JAGAT* IN DREAM

The content of the preceding three verses is now explained in the next five verses through the illustration of *jīva* and *jagat* as experienced in dream. First of all *jīva* and *jagat* as perceived in dream are shown to be the outcome of the veiling power of deep sleep.

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपाऽऽवृतिरूपिणी ।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत् ।।३८।।

cidābhāsasthitā nidrā vikṣepāvṛtirūpiṇī
āvṛtya jīvajagatī pūrve nūtne tu kalpayet - (38)

चिदाभासस्थिता - the one who abides in the reflection of pure awareness (*cidābhāsa*) विक्षेपाऽऽवृतिरूपिणी - is of the nature of projecting (creating) and veiling powers निद्रा - sleep पूर्वे - previous (of waking state) जीवजगती - *jīva* and *jagat* आवृत्य - having suppressed नूत्ने - new (*jīva* and *jagat*) तु - in contrast कल्पयेत् - produces. - (38)

38. Sleep abides in *cidābhāsa* (the reflection of pure awareness) and is of the nature of veiling and projecting (creating) powers. Having suppressed *jīva* and *jagat* of waking state, in contrast, it (sleep) produces the new ones.

The main cause of dream is sleep. The impressions registered during the waking state serve as the secondary cause. Sleep wherein there is a total withdrawal from all that is perceived while awake, including the cognition of the body, is necessary for the waking state impressions to produce the dream. The waking state impressions by themselves cannot project dream, in the absence of sleep. If it were not so, dreams will surface in the waking state as the impressions of waking remain active all along.

Sleep is a state wherein the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is dormant as it resolves into its cause, viz. self-ignorance. What remains there is only the inert ignorance without the usual manifestations of *antaḥkaraṇa*. Yet, we experience this state of not

knowing anything including one's presence at that time in sleep, due to the presence of *cidābhāsa*, operative through the subtle (*sūkṣma*) *vṛttis* (thoughts). This *cidābhāsa* is an essential constituent of the empirical (*vyāvahārika*) *jīva*.

Sleep, by its veiling power (*āvaraṇa śakti*) suppresses the earlier empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* functioning during the waking state. Thereafter, *cidābhāsa* the location (*āśraya*) of sleep, gets limited by sleep and so it abides in the *nāḍis* - nerves - within the body together with the impressions collected from the waking state experiences. Dreams are produced when the results of actions (*karmaphalas*) capable of producing the subtle experiences of dream are ready to manifest. At such a time, sleep with its projecting (creating) power produces a new *jīva* and *jagat* of dream, in *cidābhāsa* limited by sleep. The dream *jīva* is the dreamer and the dream *jagat* is the dreamt world. The word *tu* - to the contrary - in the verse is to emphasize the contrast between the two kinds of *jīva* and *jagat* as operative in the empirical (*vyāvahārika*) waking state and the subjective (*prātibhāsika*) dream state.

In the light of this illustration, the following parallels can be seen between sleep and *māyā*:

i) As sleep has its location (*aśraya*) in *cidābhāsa*, so has *māyā* in Brahman.

ii) Both sleep and *māyā* are endowed with veiling and projecting (creating) powers.

iii) *Jīva* and *jagat* of dream, i.e. dreamer and the dreamt world are the effects of sleep. Similarly the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* are produced by *māyā*.

iv) *Cidābhāsa* limited by sleep is the basis (*adhiṣṭhāna*) of *jīva* and *jagat* belonging to dream. Likewise *sākṣī*, identical with Brahman, limited by *māyā* is the basis (*adhiṣṭhāna*) of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat*.

Therefore what is told in verse 35 gets verified by this illustration and so it cannot be disputed.

The contrast of *jīva* and *jagat* of dream state with those of waking state is now brought out.

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके ।
न हि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः ।।३९।।

pratītikāla evaite sthitatvāt prātibhāsike
na hi svapnaprabuddhasya punaḥ svapne sthitistayoḥ - (39)

एते - these two (*jīva* and *jagat* of dream) प्रतीतिकाले - during the period of (dream) appearance एव - only स्थितत्वात् - on account of (their) existence प्रातिभासिके - subjective (इति उच्येते - thus they are called) हि - because स्वप्नप्रबुद्धस्य - of the person who has woken after seeing a dream स्वप्ने - in (another) dream तयोः - of those two (viz. *jīva* and *jagat* from the preceding dream) पुनः - again स्थितिः - occurrence न - (is) not (there). - (39)

39. On account of their existence only during the period of (dream) appearance, these two (*jīva* and *jagat* of dream) are called subjective in nature; because in (another) dream of the person who has woken after seeing a dream, the occurrence of those two, (viz. *jīva* - dreamer - and *jagat* - dreamt world - from the preceding dream) is not found any more.

Jīva and *jagat* in a given dream appear to be there only during that particular dream. They do not exist after the dream ends. The word *eva* - only - negates the existence of *jīva* and *jagat* operative in a given specific dream once that dream is over. Therefore they are subjective in nature.

The same fact is told negatively in the second line of this verse. A person, having undergone a dream, does not experience *jīva* and *jagat* of that dream in another one seen thereafter any time. This shows the subjective (*prātibhāsika*) nature of both dreamer and the dreamt world.

Because the *jīva* and *jagat* of dream are subjective (*prātibhāsika*) they cannot be even empirical (*vyāvahārika*), leave alone their being *pāramārthika* - of the nature of absolute existence. The subjective nature also substantiates the fact that *jīva* and *jagat* of a given dream are false (*mithyā*) because they exist only during the persistence of that single dream and not found in any subsequent one. Similarly existence of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* lasting till such time that the bodiless liberation (*videha-mukti*) takes place and not thereafter any more, also demonstrates their false (*mithyā*) nature.

The nature of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* told in the verse 37 is substantiated by this illustration. What was told in brief in the previous two verses is further detailed in verses 40 to 42 to give a thorough perspective. The false (*mithyā*) nature of *jīva* and *jagat* of the dream state is expressly highlighted to begin with.

प्रातिभासिकजीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम् ।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः ।।४०।।

prātibhāsika jivo yastajjagat prātibhāsikam
vāstavaṃ manyatenyastu mithyeti vyāvahārikaḥ - (40)

यः - the one प्रातिभासिकजीवः - the subjective/dream *jīva* (सः - he) तत् - that प्रातिभासिकम् - the subjective/dream जगत् - the world वास्तवम् - real मन्यते - considers तु - whereas अन्यः - the other व्यावहारिकः - the empirical (*jīva*) (स्वप्नजीवजगती - the dream *jīva* and *jagat*) मिथ्या इति - as false (मन्यते - considers). - (40)

40. The dream *jīva* (dreamer) considers the dream world as real, whereas the other empirical *jīva* (waker) considers both the dream *jīva* and *jagat* (world) as false.

The *jīva* projected in the dream is *prātibhāsika-jīva* (the subjective individual) and the world therein is the *prātibhāsikaṃ jagat* (the subjective world). So long as the dream *jīva* (dreamer) exists, till then the dream *jagat* (the dreamt world) also exists. Therefore the dream *jīva* considers the dream *jagat* as real, and not as false. The word *tu* - whereas - in the verse is meant to show the exclusion of *jīva* and *jagat* of one state from the other state as regards both the waking and dream states.

The dream *jīva* and the dream *jagat* of one dream do not exist prior to the beginning of the concerned dream. After waking up from the dream, they are absent both in the waking state as well as in the subsequent dreams of future. That is what makes the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* (waker) not to consider the dreamt *jagat* (world) and its experiencer the dream *jīva* (dreamer) as real, but takes them to be false instead.

The rule laid down in this illustration to ascertain the falsity (*mithyātva*) is now applied to the empirical (*vyāvahārika*) *jīva*

(waker) and *jagat* (waking world) to ascertain the falsity of their nature.

व्यावहारिकजीवः यस्तज्जगद्व्यावहारिकम् ।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः ।।४१।।

vyāvahārikajivo yastajjagadvyāvahārikam
satyaṃ pratyeti mithyeti manyate pāramārthikaḥ - (41)

यः - the one व्यावहारिकजीवः - the empirical *jīva* (सः - he) तद् - that व्यावहारिकम् - empirical जगत् - the world सत्यं - real प्रत्येति - believes पारमार्थिकः (जीवः) - *jñānī* (the person of self-knowledge) मिथ्या - false इति - as मन्यते - knows. - (41)

41. The empirical *jīva* (waker) believes the empirical world as real (whereas) *jñānī* (the person having self-knowledge) knows (the empirical *jīva* and the world) as false.

In the previous verse from the view of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* the dream *jīva* taking the dreamt world as real was shown to be wrong. But this empirical *jīva* (waker) fares no better than the dream *jīva* (dreamer) when it comes to his/her understanding of the empirical world. The empirical *jīva* (individual) considers the empirical world to be real because it exists all along during his or her existence in the waking state. But this view is erroneous. The falsity of this empirical *jagat* (world) is established in the light of self-knowledge by a *jñānī*.

As will be seen from the next verse, *pāramārthikaḥ* stands for *pāramārthika-jīvaḥ* meaning a person who knows Brahman (*jñānī*). Such a person who has firm abidance (*niṣṭhā*) in Brahman/

self-knowledge is nothing but Brahman. *"Sa yo Brahma veda Brahmaiva bhavati* - the knower of Brahman is truly Brahman" is the declaration of *Muṇḍakopaniṣad* (3-2-8). The title *jīva* refers to a *saṃsārī* individual and hence is a misnomer for a *jñānī* even when qualified by an adjective, viz. *pāramārthikaḥ* - the one who has absolute nature. Yet, there is no alternative than using the word *jīva* secondarily, representing the last tenuous straw of sublated (*bādhita*) embodiment of a *jñānī*. In Brahman there is no true *jagat* (world) perceived to express any view about it. Only the *jñānī* whose knowledge about the true nature of Brahman is clear and whose embodiment continues due to *prārabdha karmas,* can remark about what is the nature of empirical world. For this reason such a jñani is referred as *pāramārthika-jīva* adding the adjective *pāramārthika* - related to the absolute truth or its knowledge - to the earlier status of a *jīva.*

In *jñānī's* vision both the empirical *jagat* (world) and its experiencer *jīva* (individual) are false (*mithyā*) and not real (*satyam*). The following are the reasons why both of them are false:

i) It is universally experienced that both the empirical *jīva* and *jagat* cease to exist in terms of perception and interaction, in sleep for the individual who is in that state. A real thing *(satyam)* can never cease to be.

ii) Though the empirical *jīva* and *jagat* are beginningless (*anādi*), their total negation is revealed by the *Upaniṣads.* For example the statement from the *Muṇḍakopaniṣad* (3-2-7), *"gatāḥ kalāḥ* - all the facets of this Creation finally disappear in Brahman." points out the total absence of *jīva* and *jagat* in the state of *videha-mukti* (bodiless liberation). Thus the evanescent empirical *jīva* and *jagat* are necessarily false (*mithyā*).

iii) It is true that even after the firm abidance (*niṣṭhā*) in the knowledge of Brahman, in the state of *jīvanmukti* - liberation while living - at times there is the cognition of empirical *jiva* and *jagat*, by a *jñānī*. However the total negation of empirical *jīva* and *jagat* is very clear to a *jñāni*. This is known on the basis of *Upaniṣadic* statements (*śruti*), the reasoning (*yukti*) and one's own direct experience (*anubhava*), i.e. direct cognition (*aparokṣānubhūti*), strictly in conformity with the true nature of Brahman, totally free from the entire superimposed Creation (i.e. *prapañcopaśamam*).

All these facts lead us to the conclusion that the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* are as much false as the dream *jīva* and *jagat* are for a waker. The last phrase of this verse, viz. *jñānī* (called *pāramārthikaḥ*) knows them as false, is corroborated in the forthcoming verse.

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना ।।४२।।

pāramārthika-jīvastu brahmaikyaṃ pāramārthikam
pratyeti vīkṣate nānyad-vīikṣate tvanṛtātmanā - (42)

पारमार्थिकजीवः - *jñānī* (the knower of Brahman) तु - indeed ब्रह्मैक्यं - identity with Brahman पारमार्थिकम् - real (इति - thus) प्रत्येति - knows अन्यत् - another न वीक्षते - does not see अनृतात्मना - as false in nature तु - certainly वीक्षते - sees. - (42)

42. *Jñānī* (the knower of Brahman) knows indeed his/her identity with Brahman as real. He/she does not see another. (If at all *jñānī* sees, then) certainly sees (the other) as false in nature.

Pāramārthika-jīva, as described earlier, is a knower of Brahman (*jñānī*) who is nothing but Brahman itself. Such a person's vision until the body wielded by oneself dies, is that the Brahman having the nature of *sat cit ānanda*, free from all the limitations and the notions of bondage or liberation is the true nature of oneself. This fact is *pāramārthikam* - real - or itself the ultimate truth.

Due to the cognition of non-dual Brahman and the abidance in it, a *jñānī* does not see anything other than Brahman. The *Upaniṣads* also reveal this fact. The statements like "In *Bhūmā* (i.e. Brahman) nothing else is seen, nothing else is heard, nothing else is known" (*Ch.U.* 7-24-1); "In self-knowledge, for *jñānī*, everything becomes nothing but *ātmā*" (*Br.U.* 4-5-15), can be considered. At times due to strong *prārabdha karma* (already begun results of past action) when *jñānī* interacts with the world, the world (*jagat*) and one's own individuality (*jīvatvam*) are of course perceived. Yet, because of having the direct knowledge of Brahman, *jagat* and *jīvatvam* are cognised as false (*anṛta*) in nature. Both are no more treated as real (*satyam*) as used to be the case earlier in the realm of self-ignorance.

THE ILLUSTRATION OF WATER, WAVE AND FOAM

The example at an individual level of subjective *jīva* and *jagat*, confirmed that the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* are the products of *māyā*, and false in nature. It is well known that the dream *jīva* and *jagat* have no existence apart from *cidābhāsa* (reflection of pure awareness). When both dream *jīva* and *jagat* do not persist, what remains is only *cidābhāsa*, their basis. Even then this fact is explained further by citing a suitable illustration from the external world. With the help of both external (verse 43) and

internal (verses 38 to 40) illustrations, the following two facts are going to be laid down:

i) The empirical (*vyāvahārika*) *jīva* (individual) and *jagat* (world) have no existence apart from their basis (*adhiṣṭhāna*), viz. *sākṣī* who is identical with Brahman.

ii) After the existence (*sattā*) of empirical *jīva* and *jagat* is nullified by self-knowledge what remains is only *sākṣī*/Brahman.

To vindicate these two points first, the general rule that a superimposed thing (*adhyasta*) is non-different from its basis (*adhiṣṭhāna*) is amplified by an illustration from the external world. The same observation is further applied to the empirical (*vyāvahārika*) and subjective (*prātibhāsika*) *jīva* (individual) and *jagat* (world). The next two verses together form a sentence.

माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरङ्गके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ।।४३।।

mādhurya-drava-śaityāni nīradharmāstaraṅgake
anugamyātha tanniṣṭhe phenepyanugatā yathā - (43)

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके ।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ।।४४।।

sākṣisthāḥ saccidānandāḥ sambandhādvyāvahārike
taddvāreṇānugacchanti tathaiva prātibhāsike - (44)

यथा - as माधुर्यद्रवशैत्यानि - sweetness, liquidity (liquidness) and coolness नीरधर्माः - the characteristics of water तरङ्गके - in the

wave अनुगम्य - having inhered अथ - thereafter तन्निष्ठे - situated on it फेने - in the foam अपि - also अनुगता: - inhere. - (43)

तथा एव - exactly so साक्षिस्था: - existing in *sākṣī* (pure awareness) सच्चिदानन्दा: - *sat cit ānanda* सम्बन्धात् - by relation व्यावहारिके - in the empirical (*jīva* and *jagat*) अनुगच्छन्ति - inhere तद्द्वारेण - through it (*vyāvahārika*) प्रातिभासिके - in the subjective (i.e. dream *jīva* and *jagat*) (अनुगच्छन्ति - inhere). - (44)

43-44. As the characteristics of water, viz. sweetness, liquidity and coolness, having inhered in the wave inhere thereafter in the foam also situated on it (the wave); exactly so, *sat cit ānanda* existing in *sākṣī*, by relation, inhere in the empirical *jīva* and *jagat*. (Similarly) through the empirical *jīva* and *jagat* (they, viz. *sat cit ānanda*) inhere in the subjective *jīva* and *jagat*.

The characteristics of water are sweetness, liquidity - liquidness - and coolness. Sweetness here refers to the natural taste of water that provides the base for all the other tastes. It is a biological fact that a dry tongue cannot taste anything unless some moisture at least through saliva is available.

Waves arise from the water surface on account of wind. The wave seen on the water surface is nothing else but the water itself having taken a shape on the surface, thereby given a specific different name other than water. The water does not give up its nature when it is seen as a wave. The sweetness, liquidity and the coolness of water inhere in the wave too. Such a different appearance in the form of a distinct new thing without discarding original nature is called *vivarta* - an apparent form or a new appearance but unreal in nature. The wave is an apparent form

(*vivarta*) of water. It exists in the water.

After the wave is produced, foam can be born over it. The foam situated on the wave is again an apparent new form taken by the wave. The foam exists in the wave. The sweetness, liquidity and coolness of water abiding in the wave, continue to inhere further in the foam also.

In terms of perception the water, wave and foam differ from one another, but all the three have no existence independent of their basic nature of sweetness, liquidity and coolness. In fact, water, wave and foam are essentially their basic nature, having assumed distinct functional forms. All that happens when we say a wave or foam is formed is only this change in external perceptible appearance. The immediately preceding basis (*adhiṣṭhāna*) gets covered or ignored in terms of our perception - or more precisely in our understanding. Then it appears as the next apparent (*vivarta*) form. Therefore the subsequent apparent form or the unreal but perceptible appearance is non-different (*ananya*) from its immediately preceding basis (*adhiṣṭhāna*).

In this illustration, the water appears as wave and the wave in turn appears as foam. In the reverse order, the foam is non-different from its basis, the wave, and the wave is non-different (*ananya*) from its basis (*adhiṣṭhāna*), the water. The relation (*sambandha*) between the water and the wave or the wave and foam is of *vivarta* nature - an unreal but perceptible and functional appearance without discarding the original nature. The reason of seeing it as a new or distinctly different entity is either the ignorance of true nature of the basis (*adhiṣṭhāna*) or not paying attention to the basis. These facts will enable us to ascertain the true nature

of subjective (*prātibhāsika*) and empirical (*vyāvahārika*) *jīva* (individual) and *jagat* (world).

Let us now investigate into the empirical and subjective *jīva* and *jagat* on the guidelines of this illustration. *Sat cit ānanda* - existence, knowledge principle and happiness - is the essential nature of *sākṣī* who is identical with nothing else but Brahman. The relation between *sākṣī* and *vyāvahārika* - the empirical *jīva* and *jagat* - is that of *vivarta* (an unreal appearance). *Sākṣi* is the basis (*adhiṣṭhāna*) and the others are falsely superimposed (*adhyasta*). This is just like the relation between the water and the wave. Similar is the relation between *vyāvahārika* (empirical *jīva* and *jagat*) and *prātibhāsika* (the subjective/dream *jīva* and *jagat*) as is the case of the wave and foam. *Sat cit ānanda* aspects of *sākṣī* inhere in the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* through the relation of *vivarta* (an unreal though perceptible appearance) like the characteristics of water in the wave. The same *sat cit ānanda* aspects abiding in the empirical *jīva* and *jagat* inhere further in the subjective (*prātibhāsika*/dream) *jīva* and *jagat*, as seen in the wave and foam.

The words *vyāvahārikaḥ* and *prātibhāsikaḥ* used in this verse actually refer to empirical and subjective (dream) *jīvas* respectively. But they do include empirical and subjective *jagat* (world) by implication as *jīva* is an essential part of the Creation (*jagat*). There is no *jīva* without *jagat*. The word *sākṣisthaḥ* - existing in *sākṣī* - gives an impression of having a relation of support and the supported or a substance and its attributes between the two. But, it cannot be so between *sākṣī* and *sat cit ānanda* because *sat cit ānanda* itself is *sākṣī*. So the usage *sākṣisthaḥ* having a locative case has to be taken secondarily for want of better expression in the relative world due to limitation of language or words.

Actually the subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) are an apparent (*vivarta*) form featuring on empirical *jīva* (*cidābhāsa* endowed with impressions of waking world), and this is well known. The illustration makes us understand that only *sat cit ānanda* existing in *cidābhāsa* (empirical/*vyāvahārika jīva*) - corresponding to wave - inheres in the subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) - corresponding to foam.

Now consider the same in reverse order. The subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) are non-different (*ananya*) from their basis *cidābhāsa* (the empirical *jīva*). This is comparable to foam being non-different from the wave. As the wave in turn is non-different from water with the characteristics of water themselves inhereing in the wave, the *sat cit ānanda* (corresponding to innate characteristics of water) of *sākṣī* (corresponding to water) inhere in *cidābhāsa* (i.e. empirical *jīva*) and *jagat* (corresponding to wave). This proves the superimposed individual *jīva* (*cidābhāsa*) and *jagat* (world) to be non-different (*ananya*) from their basis (*adhiṣṭhāna*), viz. *sākṣī* who is identical with Brahman.

The following tabulated comparison will further clarify the different parallels between the illustration (*dṛṣṭānta*) and the illustrated (*dārṣṭānta*):

THE ILLUSTRATION	THE ILLUSTRATED COUNTERPART
1. Water.	1. *Sākṣi* (Brahman).
2. Sweetness, liquidity, coolness (the characteristics of water).	2. *Sat cit ānanda* (the nature of *sākṣī*/Brahman).
3. The wave is *vivarta* (unreal form) of water.	3.Empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* are *vivarta* of *sākṣī*.

4. Characteristics of water inhere in the wave.

5. Foam is *vivarta* of wave.

6. The characteristics of water inherent in the wave, inhere further in foam.

7. Foam is non-different (*ananya*) from the wave.

8. The wave is non-different from its basis (*adhiṣṭhāna*), the water.

9. In reality water only exists. The wave and foam are apparent perceptible functional entities and therefore false.

4. *Sat cit ānanda*, the nature of sākṣī inheres in the empirical jīva and jagat.

5. Subjective (*prātibhāsika*/ dream) *jīva* and jagat are *vivarta* of *vyāvahārika* (empirical *jīva*/*cidābhāsa*).

6. *Sat cit ānanda* inherent in *vyāvahārika* (empirical *jīva*/ *cidābhāsa*) inheres further in *prātibhāsika* (subjective/ dream *jīva* and *jagat*).

7. Subjective *jīva* and *jagat* are non-different from empirical *jīva* (*cidābhāsa*).

8. Empirical *jīva* and *jagat* are non-different from their basis, *sākṣī* (Brahman).

9. In reality *sākṣī* (Brahman) only exists for ever. *Vyāvahārika* and *prātibhāsika* are apparent perceptible functionally transacting entities and therefore false.

Thus the non-different nature (*ananyatvam*) or identity of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* with *sākṣī* (Brahman) their basis (*adhiṣṭhāna*) was shown. This truth is reaffirmed in the last two verses of the text with the amplification of the same illustration by pointing out that the existence of their basis is always present even when all the superimposed things cease to exist.

Actually the subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) are an apparent (*vivarta*) form featuring on empirical *jīva* (*cidābhāsa* endowed with impressions of waking world), and this is well known. The illustration makes us understand that only *sat cit ānanda* existing in *cidābhāsa* (empirical/*vyāvahārika jīva*) - corresponding to wave - inheres in the subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) - corresponding to foam.

Now consider the same in reverse order. The subjective *jīva* and *jagat* (of dream world) are non-different (*ananya*) from their basis *cidābhāsa* (the empirical *jīva*). This is comparable to foam being non-different from the wave. As the wave in turn is non-different from water with the characteristics of water themselves inhereing in the wave, the *sat cit ānanda* (corresponding to innate characteristics of water) of *sākṣī* (corresponding to water) inhere in *cidābhāsa* (i.e. empirical *jīva*) and *jagat* (corresponding to wave). This proves the superimposed individual *jīva* (*cidābhāsa*) and *jagat* (world) to be non-different (*ananya*) from their basis (*adhiṣṭhāna*), viz. *sākṣī* who is identical with Brahman.

The following tabulated comparison will further clarify the different parallels between the illustration (*dṛṣṭānta*) and the illustrated (*dārṣṭānta*):

THE ILLUSTRATION	THE ILLUSTRATED COUNTERPART
1. Water.	1. *Sākṣi* (Brahman).
2. Sweetness, liquidity, coolness (the characteristics of water).	2. *Sat cit ānanda* (the nature of *sākṣī*/Brahman).
3. The wave is *vivarta* (unreal form) of water.	3.Empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* are *vivarta* of *sākṣī*.

4. Characteristics of water inhere in the wave.	4. *Sat cit ānanda*, the nature of *sākṣi* inheres in the empirical *jīva* and *jagat*.
5. Foam is *vivarta* of wave.	5. Subjective (*prātibhāsika*/ dream) *jīva* and *jagat* are *vivarta* of *vyāvahārika* (empirical *jīva*/*cidābhāsa*).
6. The characteristics of water inherent in the wave, inhere further in foam.	6. *Sat cit ānanda* inherent in *vyāvahārika* (empirical *jīva*/ *cidābhāsa*) inheres further in *prātibhāsika* (subjective/ dream *jīva* and *jagat*).
7. Foam is non-different (*ananya*) from the wave.	7. Subjective *jīva* and *jagat* are non-different from empirical *jīva* (*cidābhāsa*).
8. The wave is non-different from its basis (*adhiṣṭhāna*), the water.	8. Empirical *jīva* and *jagat* are non-different from their basis, *sākṣī* (Brahman).
9. In reality water only exists. The wave and foam are apparent perceptible functional entities and therefore false.	9. In reality *sākṣī* (Brahman) only exists for ever. *Vyāvahārika* and *prātibhāsika* are apparent perceptible functionally transacting entities and therefore false.

Thus the non-different nature (*ananyatvam*) or identity of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat* with *sākṣī* (Brahman) their basis (*adhiṣṭhāna*) was shown. This truth is reaffirmed in the last two verses of the text with the amplification of the same illustration by pointing out that the existence of their basis is always present even when all the superimposed things cease to exist.

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके ।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ।।४५।।

laye phenasya taddharmā dravādyāḥ syustaraṅgake
tasyāpi vilaye nīre tiṣṭhantyete yathā purā - (45)

फेनस्य लये - when the foam dissolves तद्धर्माः- its characteristics द्रवाद्याः - (such as) liquidity etc. तरङ्गके - in the wave स्युः - abide तस्य - its अपि - also विलये - in the disappearance एते - these (characteristics) यथा - as पुरा - before नीरे - in the water तिष्ठन्ति - abide. - (45)

45. When the foam dissolves, its characteristics (such as) liquidity etc. abide in the wave. When the wave also disappears, these (characteristics) abide in the water as before.

The foam is an unreal form (*vivarta*) to be found in the realm of perception on its basis the wave. When the foam dissolves its characteristics, viz. liquidity, sweetness and coldness abide in its basis the wave. In the same manner, when the apparently perceptible wave also merges in its basis the water, the same characteristics like liquidity abide in the water as they were of water even before the wave and foam were born. Thus the liquidity, sweetness and coldness of water persist all along the three forms which means that the water exists in all three periods - before the birth of wave and foam, during their existence and after they cease to exist. The basis water therefore is always there whereas the superimposed wave and foam are born in between and disappear. They are born of water, exist in water and finally merge back in water. They have no existence separate from water. Therefore in

reality, there is nothing called wave and foam except their unreal but perceptible and functional appearance. What exists throughout is only water.

The fact that even when the superimposed (*adhyasta*) things cease to exist, only the basis (*adhiṣṭhāna*) finally remains is now shown in respect of *sākṣī*, *jīva* (individual) and *jagat* (world).

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके ।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ।।४६।।

prātibhāsika-jīvasya laye syurvyāvahārike
tallaye saccidānandāḥ paryavasyanti sākṣiṇi - (46)

प्रातिभासिकजीवस्य लये - when the subjective *jīva* (with dream *jagat*) disappears सच्चिदानन्दाः - *sat cit* and *ānanda* व्यावहारिके - in the empirical *jīva* (*cidābhāsa*) स्युः - abide तल्लये - when it (empirical *jīva*) ceases to exist (सच्चिदानन्दाः - *sat cit* and *ānanda*) साक्षिणि - in *sākṣī* पर्यवस्यन्ति - end in. - (46)

When the subjective *jīva* (with dream *jagat*) disappears, *sat cit* and *ānanda* (in it) abide in the empirical *jīva* (*cidābhāsa*). The same *sat cit* and *ānanda* end in *sākṣī* when it (empirical *jīva*) ceases to exist.

The word *prātibhāsika-jīva* (subjective/dream *jīva*) includes in itself the subjective (dream) *jagat* whereas *vyāvahārika* (empirical) stands for empirical *jīva* or what is called *cidābhāsa* endowed with the impressions of waking world (empirical *jagat*). In case of waking up from dream also, *sat cit ānanda* inherent in the

subjective (dream) *jīva* and *jagat* - dreamer and the dreamt world - merge in the empirical *jīva* (*cidābhāsa*) having the impressions of waking world.

The empirical *jīva* also ceases to exist along with the accompanied *jagat* (the world). The disappearance of *jīva* is its *laya* and it also suggests the dissolution of the world called *pralaya*. *Pralaya* includes *laya* in itself. There are following four kinds of *pralayas*:

i) *Nitya-pralaya* - daily dissolution - corresponds to our daily sleep when the world is extinct for the individual.

ii) *Naimittika-pralaya* - dissolution occasioned by some cause - occurs during the sleep or night of *Hiraṇyagarbha* - called *Brahmā* (not Brahman) in *purāṇas* - who is the presiding deity of macrocosmic subtle bodies (*samaṣṭi-sūkṣma-śarīras*). Its duration is 4320 million human years. By the by one full day comprising day and night of *Brahmā* consists of 8640 million human years.

iii) *Prākṛta-pralaya* - dissolution in *prakṛti* (i.e. *māyā* or the Creative power) - takeś place when the tenure of a given *Brahmā* (*Hiraṇyagarbha*) gets over. This span is 120 years of *Brahmā* called *Brahma-varṣas* (years). According to Indian chronology - with 360 days in a year - one *Brahma-varṣa* or year of *Brahmā* is equivalent to 3110400 million human years.

iv) *Ātyantika-pralaya* - total dissolution - is nothing but liberation from all embodiments - *videha-mukti*. In the first three types self-ignorance of *jīva* persists. Therefore the empirical *jīva* and *jagat* revive after the duration of each dissolution is complete

and the Creation manifests. It is only in the last type of dissolution that the *jiva* and *jagat* do not return, having been destroyed once for ever, in the wake of self-knowledge.

In all these dissolutions, *sat cit ānanda* inherent in the empirical *jīva* and *jagat* (world) culminate in *sākṣi* (Brahman). *Sākṣi* or Brahman is the ultimate truth and so, it has no other independent basis. Thus *sākṣī* (Brahman) always exists whereas the empirical *jīva* and *jagat* and their subjective extensions are absent before the Creation and after its dissolution. The basis *sākṣī* (Brahman) is always there in contrast to the superimposed *jīva* and *jagat* that are born periodically in between and disappear. They are born from *sākṣī*, exist in *sākṣī*, and then merge back in *sākṣī*. They have no existence independent of *sākṣī* (Brahman). To sum up, in reality, there is nothing like empirical or subjective *jīva* and *jagat* except their perceptible and functional but truly unreal, (*vivarta*) appearance. What exists is only *sākṣī* (Brahman).

Even *sākṣī* (Brahman) acquires the status of *sākṣī* - the independent direct illuminator (cognitively) of everything - only because there is perceptible but otherwise false empirical *jīva* (individual) and *jagat* (world) superimposed on *sākṣī*. Therefore from empirical view, *sākṣī* (Brahman) appears to acquire the following statuses:

i) *Māyāśrayatvam* - status of being the location (*āśraya*) of *māyā*.
ii) *Māyāhaṅkārābhyām avacchinnatvam* - status of being limited by *māyā* (the Creative power) and *ahaṅkāra* (erroneous "I" notion/ego).
iii) *Nāmarūpa-tādātmyena bhogyatvam* - the status of an experienceable or objectifiable or perceivable entity by its identification with name (*nāma*) and form (*rūpa*).

iv) The status of a *saṃsārī* endowed with notions of doer (*kartā*) and experiencer (*bhoktā*) by erroneously identifying with *antaḥkaraṇa* (inner instrument) imbued with *cidābhāsa* (reflection of pure awareness).

v) *Brahmasākṣāt-kartṛtvam* - the status of knowing Brahman directly through the inquiry (*śravaṇa*) as guided by the *Upaniṣads.*

vi) *Jīvanmuktatvam* - the status of being liberated while living.

vii) *Videha-muktatvam* - the status of liberation from all types of embodiments subsequently.

From the standpoint of ultimate reality, *sākṣī*/Brahman in its own true nature has none of the above statuses. Its true nature is uncompromisingly described in the following *Upaniṣadic mantra*:

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥

"There is no dissolution, no birth, none in bondage, none aspiring for self-knowledge, no seeker of liberation and none liberated. This is the nature of absolute truth."

This *mantra* appears in four *Upaniṣads*, viz. *Tripuratāpinyupaniṣad* (5-10), *Avadhūtopaniṣad* (8 or 11), *Brahmabindūpaniṣad* or also called *Amṛtabindūpaniṣad* (10), and *Ātmopaniṣad* - 31. Besides Gauḍapādācārya has also quoted it in *Māṇḍūkyopaniṣad-kārikā* (2-32).

The veracity of this *Upaniṣadic* declaration can be clear to those who have attained the acme (*niṣṭhā*) of *Brahmajñāna* - the knowledge of Brahman, the ultimate truth. Until then the pursuit of reaching this goal by the empirical (*vyāvahārika*) *jīva* through the

empirical means in the empirical world - though all are apparently functional even though false - are certainly relevant. It is like the utility of fright in dream, born of chasing by a dream tiger in waking up the dreamer from sleep to the reality of waking state to overcome the problem of the dreamt world.

The analysis and the discussion conducted so far in the last fifteen verses with added clarity through illustrations, clarify the false or apparent nature i.e. experiencable but not real, of the superimposed individual (*jīva*) and the world (*jagat*) in contrast to their unchangeable basis Brahman. That they have no existence apart from Brahman is emphasized and when both of them cease to exist, what always remains is Brahman and only Brahman is established very deftly.

SUMMING-UP

The ultimate - final - and only self-cognitive (*dṛk*) principle (*cit/caitanya*/pure awareness) is the true "I" and that is the basis of the entire Creation. *Dṛk* is ever-existent and is an independent knowledge or cognitive principle. That itself is limitless happiness and is free from mortality. Gaining the direct knowledge of this ultimate basis of everything including the self, is the prime goal of every individual in life. Therein lies the freedom from painful *saṃsāra* and the accomplishment of the only final goal of human life whether we know it and accept it or not. The text hence starts with the direct exercise of discrimination called *dṛk-dṛśya-viveka* making the perceptual field as its locus of inquiry.

"The true "I" (*ātmā*) is always the cognitive principle; it never becomes non-cognitive (*jaḍa*/inert)", is the norm accepted to ascertain the true "I". This is deduced by taking into consideration our own experience universally verifiable that I am never inert in all the three daily states of consciousness. Anything that to begin with poses as cognitive but turns out later on closer scrutiny to be non-cognitive (*dṛśya*/inert), cannot be the true "I". Our five sense organs (eye, ear, tongue, senses of smell and touch) and inner instrument (*antaḥkaraṇa* comprising mind, intellect, ego and the faculty of memory) do on first impression appear to be sentient (*sacetana*) and cognitive in their behaviour. But in reality, they are inert things, non-cognitive (*dṛśyas*) in nature. They become the *dṛśyas* (the cognised things) of *sākṣī* - the self-existent and self-luminous final cognitive (*dṛk*) or knowledge principle. *Sākṣī* is the same as pure awareness (*cit/caitanya*). It is the true "I" known as *ātmā*. Literally

sākṣī means that which independently illumines - makes known - all that is falsely superimposed - attributed - on it due to ignorance of the individual.

Sākṣī (pure awareness) is the ultimate cognitive principle (*dṛk*). If it were not so, *sākṣī* will need another cognitive principle to be able to cognise. The next cognitive principle will be therefore called *sākṣī*. That also will need still another cognitive principle being incapable of cognising on its own. Such a trend will lead to regress ad infinitum without any finality.

That a cognitive principle is changeless with respect to its cognised things is the rule. *Sākṣī* (pure awareness)/the true "I" does not change. All that is cognised (*dṛśya*) changes. A change can be known by only a changeless principle. If changes in the cognised things (*dṛśyas*) affect and change *sākṣī*, it cannot know anything. This fact is also substantiated by the Vedas.

Sākṣī - also called *citi* (pure awareness) - is neither born nor destroyed. It does not grow or decline. In short it is free from all the possible six changes (*ṣaḍ-vikāras*). It is the spontaneous self-evident knowledge (cognitive) principle and illumines - makes known - all other things in its presence without necessity of any other means.

The changeless *sākṣī* is totally unaffected by the defects and limitations of things (*dṛśyas*) that it illumines. All our thoughts - the modifications of *antaḥkaraṇa* - are invariably inert in nature. They are varied in names and forms and produce diverse experiences. The sum total of these experiences constitutes the *saṃsāra* of a given person. Like objects placed in the darkness which cannot be seen without throwing light on them, these thoughts cannot be

cognised without *sākṣī* - the final cognitive principle - making them known. Because *sākṣī*, the true "I" illumines all the thoughts enabling their experiences, *sākṣi* itself is totally free from all the thoughts and the impact of their experiences. In other words, true "I" (*ātmā*) is free from *saṃsāra.*

The distinction between *sākṣī* - ultimate cognitive principle (*dṛk*) - and the cognised world including one's embodiments along with thoughts can be clear from the following facts:

i) The ultimate *dṛk* (*sākṣī*) is independent of all *dṛśyas* (cognised things) whereas *dṛśya* depends on *dṛk* for its existence and function.

ii) *Dṛk* (*sākṣī*) is one as against *dṛśyas* being varied and innumerable.

iii) *Dṛk* (*sākṣī*) is sentient in nature, but *dṛśyas* are innately inert.

iv) *Dṛk* (*sākṣī*) exists for ever. It is *satyam. Dṛśyas* are transient. They are false in reality though apparent for a while.

v) *Dṛśya* is not a part of *dṛk* (*sākṣī*). *Dṛk* (*sākṣī*) is free from and unaffected by *dṛśya.*

vi) The status of self-evident cognitive principle ascribed to *sākṣī* or *dṛk* is relative on account of *dṛśyas* (also called *sākṣya*). When *dṛśyas* cease to exist, there is no such status of *dṛk* or *sākṣī.* What remains is only the self-evident *citi/caitanya* (pure awareness) - knowledge principle.

The true "I" (*sākṣī/dṛk*) can never have *saṃsāra* in reality. Yet it is so experienced due to *cicchāya* (चिच्छाया) or *cidābhāsa*

(the reflected pure awareness) in *antaḥkaraṇa* (inner instrument) and the erroneous notion imposed by ignorance. There is a union of reflected pure awareness with *ahaṅkāra* (ego) or for that matter with *antaḥkaraṇa* like fire with iron ball when red hot. This makes *antaḥkaraṇa* appear sentient. Further the physical body acquires the sentiency due to its union with ego (*ahaṅkāra*). The physical body becomes volitionally non-operative during sleep as *ahaṅkāra* withdraws its operation in that state. The *ahaṅkāra* manifests itself partly in the dream state whereas during the waking state it manifests fully.

The second aspect of *antaḥkaraṇa* - other than *ahaṅkāra* - known as mind or *antaḥkaraṇa* itself in the text, is also highly active. It comprises thoughts and is united with *cidābhāsa* (the reflected pure awareness) like *ahaṅkāra*. It produces the mental images in dream. During the waking state, with the functioning sense organs, it creates *vṛttis* (thoughts) corresponding to the sense objects of the external world.

For practical understanding the inner instrument (*antaḥkaraṇa*) is mainly responsible for *saṃsāra*, even though self-ignorance is at the root of it. It is *antaḥkaraṇa* who provides a scope for *cidābhāsa* (reflected pure awareness) to come into being. The *cidābhāsa* having nexus with self-ignorance and its effects brings about mutual - reciprocal - superimposition between the true "I" and the embodiment i.e. embodiment has as if the attributes of *cit* (true "I"), and the true "I" those of embodiment. This is how the true "I" features as a *saṃsārī*. The inert *antaḥkaraṇa* is the same as the subtle body (*liṅga-śarīra*). It is responsible for the daily cyclic three states of consciousness and for birth and death of an individual.

The inner instrument (*antaḥkaraṇa*) also called the subtle body

is the product of *māyā* - the Creative power which is dependent on Brahman. It is endowed with projecting (i.e. creating) and veiling powers. The projecting power (*vikṣepa-śakti*) of *māyā* creates the entire Creation including the subtle body. The manifestation of all the names and forms in Brahman is called the Creation. The Creation is actually false in nature but available for perception and interaction. The veiling power (*āvaraṇa-śakti*) of *māyā* covers the mutual distinction of *dṛk* (the cognitive principle) and *dṛśya* (the cognised things) within the body at an individual level and that present between Brahman and the Creation (*sarga*) in the external world. In fact this veiling power is the prime cause of *saṃsāra*.

The how of the subtle body becoming *saṃsārī* referred to as empirical individual (*vyāvahārika-jīva*) in *Vedāntic* parlance can be understood in a better way after knowing the modi operandi of the two powers that constitute *māyā*. The subtle body that always exists in the presence of all pervasive *sākṣī* has its unity with *cidābhāsa*. Such a subtle body when identified with a physical body becomes *saṃsārī jīva*. The status of *jīva* really cannot be attributed to the true "I" (*sākṣī*). But it is experienced as if in the true "I" (*ātmā*) due to the superimposition of embodiments effected by the veiling power (*āvaraṇa-śakti*) of *māyā*. This wrong notion about true "I" being a *saṃsārī* is totally dispelled when the veiling power of *māyā* is nullified - when the true "I" (*ātmā*) is clearly known. The same veiling power also covers the distinction between Brahman and the Creation (*sarga*). As a result Brahman appears as constantly changing in nature or having the world as its intrinsic feature. In reality, modifications (*vikāras*) can never belong to Brahman. On the destruction of veiling power, the distinction between Brahman and the false Creation stands out. This allows the knowledge of true "I" (*ātmā*) identical with Brahman called *ātmā-jñāna* or *Brahma-jñāna* to be gained by an individual.

The problem of *saṃsāra* can be totally eliminated as seen above by knowing the true nature of Brahman. The text provides one of the direct and yet simple modes of inquiry employed by Vedānta. The method adopted carries a pointed suggestion very useful for contemplation (*nididhyāsana*). It consists of ascertaining Brahman the only reality as distinct from the Creation which is false in nature. It is called *Brahma-sarga-viveka.*

The locus of this inquiry is any of our dealings (*vyavahāra*) with the world. A given thing is so because it exists (*asti*). This is the existence (*sat*) aspect present invariably in everything. The thing shines cognizably *(bhāti*) or is said to be known. Such a knowledge of the thing is possible provided the knowledge principle *cit* (pure awareness/*sākṣī*) is present. The presence of *cit* is itself that *ānanda* (happiness) called *priyam*, because *cit* (*sākṣī*) is truly so. This holds good even if the actual experience is that of sorrow, as the sorrow is known only on account of *cit* having the nature of *ānanda.* Sorrows belong to the modifications of *antaḥkaraṇa* occasioned by unfavourable things. The existence (*sat*) aspect is directly cognised in everything. The knowledge (*cit)* aspect needs for its cognition, the presence of *antaḥkaraṇa* whereas the happiness can be manifest only in a favourable disposition. What is pointed out in the present inquiry is the invariable presence of *sat cit* and *ānanda* as the constituents of every worldly dealing (*vyavahāra*) of ours. The thing considered has a name (*nāma*) and a specific form (*rūpa*). The form (*rūpa*) referred to here means the nature of a thing as distinct from all the rest of the things present defining the thing and not a mere visual form.

Out of these five facets, viz. *sat/asti* (existence), *cit/bhāti* (the knowledge principle), *ānanda/priyam* (happiness), *nāma* (name) and *rūpa* (form), the first three facets represent the exact nature of

Brahman. The remaining pair comprising name and form constitute *jagat* - the world. *Sat cit* and *ānanda* are the same in all the objects, beings and events existing in the Creation. However names and forms do differ with each of them. By focussing our attention on *sat cit ānanda* aspects instead of names and forms, in any dealing, we can cognise Brahman in and through the perceived world. This inquiry also unfolds the true "I" as *sat cit ānanda* at the individual level. Thus the true "I" (*ātmā*) and Brahman are identical. The clear knowledge of Brahman exposes the false nature of world consisting of names and forms.

The knowledge of a given thing reveals the thing then and there itself, by dispelling its ignorance. This is equally true for self-knowledge, provided the means that produce and mature self-knowledge are cultivated fully and are free from the obstructions which either hinder the process of knowledge to be born or do not allow to get it matured even after it has taken place. Laxity in the adoption of these means or the presence of obstructions deny the persistent appreciation of true "I" (*ātmā*) in spite of knowledge. This is essentially due to the persistence of previous habits of identifying "I" with one's own embodiment. This can also be due to some inadequacy in the preparation of mind such as the deficiency in the intensity of dispassion (*vairāgya*). The solution provided to overcome this handicap is to undertake contemplation (*nididhyāsana*). It steadies this knowledge enabling its persistent appreciation.

The consistent and constant contemplation (*nididhyāsana*) for a sufficiently long period of time culminates into *samādhi*. A totally absorbed state of *antaḥkaraṇa* (inner instrument) in the knowledge of Brahman to the exclusion of all the falsely superimposed *dṛśyas* - the known - is called *samādhi* in Vedānta. It is neither the dream

state nor the sleep. Unlike in the waking, there is no awareness of any objects, events and beings of the *jagat* including one's body.

Consider the world as perceived through its five facets of *sat, cit, ānanda*, name and form present therein. To begin with, withdraw the attention from the falsely superimposed names (*nāma*) and forms (*rūpa*), called the world. After having thus disregarded the names and forms focus instead the attention on *sat, cit, ānanda.* What remains now in one's vision is only Brahman if the locus of contemplation is the external world, or only *ātmā* (the true "I") if it is internal. Brahman or *ātmā*, both being the same, their identity also has to be kept actively in mind during contemplation. By repeated practice, the mind gets absorbed in *ātmā*/Brahman. Such a state is *samādhi.*

To counteract the habitual errors at two different levels two loci are recommended for the practice of *samādhi.* One is *hṛdaya* (heart) also called as *antaḥkaraṇa*, the centre of thoughts, feelings and emotions. Contemplation with this locus helps to nullify the hard formed habits of identification with the gross and subtle bodies along with their ramifications like sorrows. The second locus for practising *samādhi* is the external world to dispel the wrong notion of accepting the dualistic world as real. The two kinds of *samādhi* are *savikalpa* and *nirvikalpa* based on the presence or the absence of the recognition of distinctions (*vikalpa*). The distinction is *tripuṭī* - the triple form - such as the knower, knowledge and the known; or the contemplator, contemplation and the contemplated. Actual practice required is for *savikalpa-samādhi.* The momentum generated by its intense practice leads to *nirvikalpa-samādhi.*

Savikalpa-samādhis with respect to both the loci have two sub-divisions, based on the means employed, viz. *dṛśya* (cognised

thing) and *śabda* (scriptural word). In the initial stages of practice, these two remain present and are cognised even when the mind is absorbed in *ātmā*/Brahman. In such cases the *samādhi* is *anuviddha* meaning "mixed with" or "associated with" or "connected to" by *dṛśya* or *śabda* as the case may be.

Accordingly we get the following three types of *samādhi* having heart as its locus for practice. These are also called *samādhis* with internal locus:

i) *Dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (internal):

The contemplator has to contemplate on pure awareness (*caitanya*) as the direct illuminator of the cognised internal things (*dṛśya*) like desire etc. This is the state of absorption of the mind (*samādhi*) with *vikalpa* - the recognition of distinctions like contemplator - and is related to - *dṛśya* - the internal cognised things. The cognition of *dṛśya* is still present though the mind is otherwise absorbed in *ātmā* (the true "I").

ii) *Śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* (internal):

The words or the phrases from the *Upaniṣads* that reveal the nature of true "I" are employed in this type of practice. The mind here gets absorbed in *ātmā*/the true "I" with the recognition of triple forms (*tripuṭī*). It is also mixed with the scriptural words employed, though other *dṛśyas* are absent.

iii) *Nirvikalpa-samādhi* (internal):

As a result of consistent practice for a sufficiently long period, the earlier two *samādhis* fructify in *nirvikalpa-samādhi*

(internal). *Dṛśyas* and *śabdas* used in earlier two types of practice along with recognised distinctions, are totally discarded in this state. There is complete absorption of the mind in the *ātmā* (the true "I") that is both knowledge principle and itself happiness. The absorbed mind in the *nirvikalpa* state is like a lamp placed in a calm place.

Adopting the method of *Brahma-sarga-viveka*, there are similar three types of *samādhi* with the external locus. They are as follows:

iv) *Dṛśyānuviddha-savikalpa-samādhi* (external):

Taking recourse to any external thing (*dṛśya*), its name and form are disregarded to appreciate Brahman (*sat cit ānanda*) leading to the absorption of mind in Brahman. However the external *dṛśya* utilized for the purpose remains present with *vikalpa* (recognised distinctions).

v) *Śabdānuviddha-savikalpa-samādhi* (external):

The words or statements of the *Upaniṣads* revealing the true nature of Brahman are used to appreciate Brahman. Mind gets absorbed in Brahman, but the presence of words utilized and *vikalpa* remain. However, the other *dṛśyas* are absent.

vi) *Nirvikalpa -samādhi* (external):

The intense practice of two *samādhis* having external locus culminates in this type of *samādhi*. Herein, the mind is totally absorbed in Brahman. There are no *dṛśyas*, words or *vikalpas*

in it. Except for the difference in locus which leads to this type of *samādhi* it is similar to *nirvikalpa samādhi* achieved through internal locus.

The appreciation of one's identity with Brahman is necessary in all the six varieties of *samādhi*.The contemplator has to spend the time constantly in the practice of these six types of *samādhi*. The clear knowledge of Brahman accompanied by the total elimination of identification between the true "I" with the body enables *mumukṣu* - the spiritual seeker - to get the mind absorbed in Brahman at all places and time. The Brahman that is both the cause of and the manifest Creation is thus when clearly known, the knower's desires are extinguished, all doubts are dispelled and the results of actions get terminated.

The last portion of the text comprising fifteen verses is devoted to the ascertainment that *jīva* and *jagat* are false (*mithyā*). This aspect was suggested earlier in the text, but the same is enlarged clearly at the end with adequate reasoning and suitable illustrations. In the course of analysis the following aspects are highlighted:

a) *Jīva* and *jagat* are false (*mithyā*) because they are so superimposed on their basis Brahman.

b) They have no existence apart from their basis Brahman.

c) On gaining the knowledge of Brahman by an individual, both *jīva* and *jagat* disappear in their basis and what remains is the appreciation of only Brahman which is the ultimate truth.

The illustration of subjective (dream/*prātibhāsika*) *jīva* and

jagat at internal level confirms the false nature of empirical (*vyāvahārika*) *jīva* and *jagat*. It also shows that empirical *jīva* and *jagat* are non-different (*ananya*) from their basis *sākṣī* (Brahman). This is further corroborated by employing the illustration of water, wave and foam from the external world. Finally what remains is only the basis (*adhiṣṭhāna*) when all the superimposed things cease to exist as reality, is clearly demonstrated in this illustration. In reality nothing other than Brahman exists. The false *jīva* and *jagat* are born and disappear. But what always exists is unchangeable Brahman.

The working of the human mind is like playing musical chair. Only one feature can occupy the mind at a given time. When the mind is preoccupied with the names and forms comprising the *jagat* (world) it cannot direct itself to the investigation of their basis Brahman. An impartial assessment of the world in right perspective and withdrawal from the world are indispensable prerequisites to make the mind available to inquire into the nature of Brahman and abide in it. For those who lack discrimination (*viveka*), the fascination of sense pleasures is so great that it does not permit their mind even to have an inkling of the worth of the highest pursuit in life, leave alone gaining *Brahmajñāna* (self-knowledge). Knowing well the rarity and the lofty uniqueness of human life, such an inadvertence has to be carefully avoided. Unlike the remaining species of the biological world, the human embodiment is gifted with the potential to know this ultimate truth and not merely designed for sense enjoyments. To let this opportunity slip away is surely the sign of immaturity on one's part and sheer waste of precious human life. To inquire and to know the true "I", including the ultimate truth that underlies the entire Creation, is the highest duty that every human has towards oneself. Vedānta which is neither a religion nor a sect shows the direct path to this goal.

The teaching of *Dṛk-dṛśya-viveka* is the highest secret (*rahasya*) handed over in the *Sarasvatī-Rahasyopaniṣad* by Goddess Sarasvatī herself to sage Āśvalāyana, who in turn taught it to other sages. Srī Bhāratītīrtha, the author of the text is more of a commentator, as the main content herein is not his original contribution. Having known the authentic source of this teaching well, let us not cavil at it or pitch our puny intellect against it having all-knowing hubris. Let us receive it reverentially to accomplish the highest goal of human life.

INDEX

References of Vedāntic terminology in Sanskrit

A

abhāva, 166
abhiniveśa, 161
abhinnatā, 175
abhyāsa, 189
acetana, 95
adhṛtiḥ, 52
adhiṣṭhāna, 21, 113, 167, 217
adhyāsa, 113, 121
adhyasta, 21, 113, 132
advitīyam, 158
ādyantarahitam, 172
āgāmikarma, 187
aham, 72
ahaṅkāra, 7, 15, 82, 91
aikyam, 88
aṣṭāṅgayoga, 23,25
aśraddhā, 52
ajñāna, 105
ājñānam, 54
akhaṇḍākāra vṛtti, 85
akhaṇḍam, 171, 200
akṣaram, 172
ālasyam, 179
anāmayam, 172
ānandam, 172, 110
ananyatvam, 219
anātmā, 14, 27, 35, 38,127
anavasthā doṣaḥ, 43
anirvacanīya, 105
antaḥkaraṇa vṛttī, 15
antaḥkaraṇa, 7,20, 50, 79, 83, 129, 150, 229
anubhava, 9, 182, 183
anubhavasvarūpa,6, 21, 161, 164
anusandhānarāhityam, 179
anuviddha, 149, 234
anvaya, 35, 134
anyonyādhyāsa, 113, 118
aparokṣa anubhava, 22
aparokṣa jñāna, 22, 162, 164
ardhavikāsaḥ, 95
asaṅgaḥ, 156
asti, 125
astimātram, 172
asuḥ, 54
ātmābhāsa, 87
ātmajñāna, 93, 182
ātmākāra vṛtti, 85
ātmānubhava, 182
ātyantīka pralaya, 222
avaccīnnaḥ, 193, 194, 198
avara, 184
āvaraṇaśakti, 106, 107, 114
avastu, 111
āvṛti, 106, 191
āveśa, 161, 162
aviccīnna, 171
avidyā, 105
avikriyam, 172
āvīrbhāva, 161
ayathārtha anubhava, 8

B

bhānam, 84
bhāti, 125
bhautikam, 202
bhayam, 179
bheda, 158
bhīḥ, 53
bhogalālasam, 179
bhogya, 112
bhoktā, 85, 112, 123
bhūtam, 202
bhrama, 8
bhrāntijanyam tādātmyam, 90, 93
bodhaḥ, 56
brahmacarya, 178
Brahmajñāna, 82, 182,183
Brahmajñāni, 25
Brahmākāra vṛttī, 85
Brahmasākṣātkartṛtvam, 224
Brahma-sarga-viveka, 145, 150, 180, 190
Brahmātmaikya, 174
Brahmavarṣa, 222
buddhi, 15, 83

C

caitanya, 6,15,16,193
caitanyābhāsa, 10,11,81,86
cārvāka, 14
cicchaya, 228
cidābhāsa, 10, 86, 89, 92, 98, 115,193
cijjaḍaviveka, 24, 26, 36
cit, 127
citi, 55, 68, 70, 76
cittaśudhi, 139
citicchāyā, 81, 86, 98, 115
cittam, 15, 83
cittavṛttinirodhaḥ, 25

D

dārḍhya, 25
dṛṣṭiḥ, 54
dṛśya, 26, 35, 37, 40, 45, 158, 172
dṛśyānuviddha savikalpa-samādhi, 149, 153, 167, 168
dṛk dṛśya viveka, 24, 134, 146,166,180,190
dṛk, 26, 34, 35, 37, 38, 45, 150
dehābhimāna, 13, 146
dehatādātmya, 13, 146
dharma, 4, 138
dhṛti, 52
dhīḥ, 53, 84
dhīvṛttayaḥ, 40
dhyātā, 147
dhyāna, 147
dhyeya, 148
dīrghapraṇava, 24
dvaita varjitaḥ, 158

E

ekarasam, 171

G

ghrāṇa, 48
gurukula, 5

H

hṛdaya, 146, 150
hṛdayagranthiḥ, 185, 186
hetu, 24
Hiraṇyagarbha, 222
hrīḥ, 53

I

idam, 12
Iśvara, 24,28, 100

J

jaḍa, 27, 34
jñānagaṅga, 27
jñānaśakti, 101
jñānam, 5, 25
jñānendriyas, 11
jñāni, 93, 188, 203, 212
jagat, 132
jīva, 116, 118, 190, 192, 196, 200, 207
jīvanmuktatvam, 224
jīvanmukti, 142, 186
jūtiḥ, 54

K

kāmaḥ, 50, 54, 152
karmaja tādātmyam, 90, 93
karmaphala, 187
karma-yoga, 138
karmendriya, 11
kartā, 85, 112, 123
kevalam, 172
kūṭasthaḥ, 56
kratuḥ, 54
kriyaśakti, 101

L

liṅgam, 101, 102, 114

M

mahattamam, 172
mahāvākya, 27, 36, 197
mana, 15, 83
mananam, 140, 141, 181
manīṣa, 54
matiḥ, 54
māyā, 105, 122, 199, 206
medhā, 54
mithyā, 77, 105, 204
moda, 127, 128
mohaḥ, 105
mokṣa, 116
muktam, 172
mumukṣu, 146, 181
mumukṣutvam, 140

N

nāḍī,96, 99
naimittika pralaya, 222
nāma, 27, 130, 166, 180
nididhyāsanam, 28, 137, 140, 146,167,178
niṣkalaṅkam, 172
nirañjanam, 172
nirābhāsam, 172
nirākāra, 19, 172

nirantaram, 177
nirātaṅkam, 172
nirviśeṣa, 14, 19, 80, 72, 172
nirvikalpa jñanam, 74
nirvikalpa samādhi, 147, 148, 163, 165, 173, 176
nirvikalpa, 172
nirvikāra, 172
nityamuktam, 172
nityapralaya, 222

P

pañcīkaraṇa, 109
papahāni, 139
parā, 184
paramādvaitam, 172
paramapremāspada, 161
paramārthajñāna, 140
pāramārthikaḥ, 194, 197, 211
parānanda, 161
parāvara, 184
pariccinnatā, 174
pṛthakkaraṇam, 24, 167
phalavyāpti, 18
prāṇa, 15, 102, 16
prājña, 53, 108
prajñānaikarasam, 172
prajñānam, 54
prakaraṇa-grantha, 28
prākṛta pralaya, 222
pramā, 8
pramāṇa, 21, 80, 104, 182, 183
pramoda, 127, 128
prāptaprāpti, 142
prārabdhakarma, 187
prātibhāsikaḥ, 204, 206, 209
pratyagātmā, 56
priyam, 125, 126, 127
puṇya, 138

R

rasa, 174
rasanā, 48

S

śabda, 47, 176
saccidānanda, 157
sādhaka, 140
ṣaḍvikāras, 71
sahajatādātmya, 89
sajātīya, 108, 171
sākṣī, 5, 40, 55, 152, 174, 195, 199, 222
samādhi, 23, 143, 146, 166, 233
samaṣṭi, 170
samānādhikaraṇyam, 134
saṃjñānam, 54
saṃsāra, 27, 78, 100, 112, 117, 139
saṃsārī, 78, 100, 114, 115, 190
sanātana dharma, 5
sañcita karma, 187
sandeha, 51
sankalpa, 15, 51, 54, 76, 83, 152

sannyāsī, 178
sarvavikāsa, 99
sat, 127
sat-cit-ānanda, 12, 127, 132, 180
satyam, 172
savikalpa samādhi, 147, 148
savikalpakajñānam, 74
saviśeṣa, 21
smaraṇa, 156
smṛtiḥ, 54
sūkṣmaśarīra, 11
sparśa, 48
sphuraṇa, 156
śraddhā, 51, 178
śravaṇam, 140, 141, 181
śrotram, 47
śruti, 97
stabdhībhāva, 176
sthūlaśarīra, 11
śuddha antaḥkaraṇa, 20
sūkṣmaśarīra, 11
śūnyatā, 179
susūkṣmam, 172
svagata, 108, 171
svaprabhaḥ, 157
svayaṃjyotiḥ, 10

T

tādātmyam, 88
taijasa, 108
tamaḥ, 105
tamas, 127
tat-tvam-asi, 26, 136, 142
tvampadaśodhanam, 36

U

upaniṣad, 3
upāsanā, 28

V

vairāgyam, 139
vaśaḥ, 54
vastutantra, 19, 20
vṛtti, 7, 17, 85, 151
vṛttivyāpti, 18, 19
videhamuktatvam, 224
videhamukti, 186, 222
vidyā, 178
vijñānam, 54
vijātīya, 108, 171
vikalpa, 83, 148
vikārī, 174, 190, 198
vikāsārdhaḥ, 95, 99
vikṣepa, 108
vikṣepaḥ, 179
vikṣepaśakti, 106, 107, 109, 111
vilāpana, 155
viparīta bhāvanā, 137
viṣayākāra vṛtti, 18
viśeṣa, 14, 80
vivarta, 101, 206, 220, 222
viveka, 26, 139
vyaṣṭi, 170
vyavahāra, 124, 203, 204
vyāvahārīkaḥ, 116, 203, 210

Y

yathārtha anubhava, 8,162
yathārtha darśana, 21, 162
yoga, 25
yogābhyāsa, 140

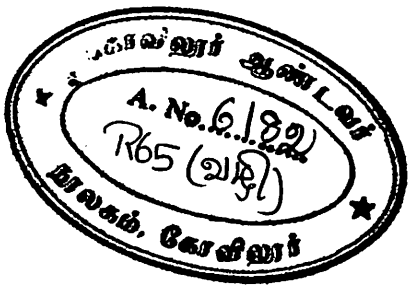

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

".....Human tendency is to take many things for granted. Even the neuroscientists are unable to explain how exactly knowledge or experience "happens", in spite of their spectacular zeroing in on the physical aspect of the thought by powerful technologies such as magnetic resonance imaging (MRI) and positron-emission tomography (PET). One thing is certain: the scientists will never be able to explain it unless they change their method of approach by proper supplements wherever the science cannot probe any further. Some of them, no doubt are groping in the western philosophies to find a solution; but it is only Vedānta which can solve this riddle, nay, which has already done so with its mathematical approach as it were - to which this text stands as a testimony - into a field where there is even no access to words and the mind. But equally a precise approach - and not a haphazard meddling of a hasty critic - as guided by Vedānta is indispensable to discover the truth that it reveals."

"..... The general tendency of almost all the spiritual seekers is to run away from thoughts, as they are unable to face them. Here is an instruction to face the devil as it were if the tyrannical thoughts can be considered as devils. The thoughts themselves can be used as the means to appreciate true "I"/*sāksī* and get the mind absorbed in it."

Other commentaries by the author:

1) Haṃsa-gītā (A treatise on self-knowledge from Bhāgavata)
2) Vedānta Pañcadaśī Chapter I - Tattva-viveka (Discovery of your innate greatness)
3) You are Absolute Happiness - Brahmānande Yogānandaḥ Vedānta Pañcadaśī Chapter XI
4) "Svanī Oḷakha" (Gujarati translation of Vedānta Pañcadaśī, Ch.I, Tattva-viveka - Discovery of your innate greatness)

SRI VISWESWAR TRUST
MUMBAI

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

योग चिकित्सा संदर्शिका

गायत्री तीर्थ, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

योग चिकित्सा संदर्शिका

भूमिका

डॉ. प्रणव पण्ड्या

कुलाधिपति

देव संस्कृति विश्वविद्यालय, गायत्रीकुञ्ज, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

प्रकाशक

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्-शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) पिन-249411

पंचम संस्करण 2011

मूल्य- 12.00

योग चिकित्सा संदर्शिका

❍ संकलन एवं प्रस्तुतिकरण

कामाख्या कुमार

एम०एस–सी० (व्यावहारिक योग विज्ञान)

प्रवक्ता, योग विज्ञान विभाग

देव संस्कृति विश्वविद्यालय

शांतिकुंज, हरिद्वार

❍ **पंचम संस्करण : 2011**

❍ **आवृत्तियाँ :5000**

❍ प्रकाशक

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्–शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) पिन–249411

दो शब्द

योग सभी प्रकार के कष्टों का निवारण करने में सक्षम है। आज मनुष्य अशांत है, दुखी है एवं शारीरिक–मानसिक विकारों से दग्ध है। कहा भी गया है "अशांतस्य कुतः सुखम्" – अशांत व्यक्तियों को सुख कहाँ से मिलेगा ? शांति के लिए भी एवं विभिन्न कष्टों से मुक्ति पाने हेतु योग व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान आदि का प्रावधान हमारे ऋषियों ने किया है। आज जिस तरह से जीवन शैली के रोग बढ़ते जा रहे हैं, योग की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जा रही है। विशेषकर जिनकी जीवनशैली आज के द्रुतगामी, विज्ञानप्रधान, भोगवादी समाज में जीते हुए गड़बड़ा गई है, कुछ प्रयोग ऐसे हैं जो कम समय में ही खूब लाभ देने में सक्षम हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय ने अपनी दो वर्ष की अल्प अवधि में ही ढेर सारी उपलब्धियाँ अपनी झोली में डाल ली हैं। "योग एवं मानवी चेतना विज्ञान" विभाग ने परम्परागत योग के साथ व्यावहारिक प्रयोगों को जोड़कर आसन–प्राणायाम–मुद्राओं आदि के कुछ मिश्रित प्रयोग ऐसे किये हैं, जिनसे ढेरों व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं। हमारे छात्र–छात्राएँ निष्णात आचार्य–आचार्याओं के मार्गदर्शन में स्वयं तो इसे करते ही हैं, अन्यों को भी सिखाते हैं। इसका लाभ उन्हें भी मिला है। शरीर, मन व अंतःकरण की समग्र स्वस्थता ही इस युग की चिकित्सा–पद्धति को देनी होगी। मैं समझता हूँ कि हमारे योग विज्ञान विभाग के प्रवक्ता श्री कामाख्या कुमार ने इन प्रयोगों को क्रमबद्ध कर एक पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत करने का अनूठा प्रयास किया है। इसे पढ़कर भली–भाँति समझकर किन्हीं भी उपयुक्त व्यक्ति के मार्गदर्शन में स्वयं भी किया जा सकता है एवं तनावमुक्त शांति से भरा स्वस्थ जीवन जिया जा सकता है। औषधियों के बिना जीते हुए व्यक्ति कर्मयोगी बन सही अर्थों में अपना जीवन सार्थक कर सकता है। मैं विभाग को एवं शिक्षक–शिक्षिकाओं को साधुवाद देता हूँ एवं इनकी उपचार प्रक्रिया की सफलता के लिए हार्दिक मंगलकामनाएँ सम्प्रेषित करता हूँ। गुरुसत्ता से भाव भरी प्रार्थना है कि वे उन्हें अनुदान दें एवं आगे चलकर और भी बड़े स्तर पर ऐसे प्रकाशनों हेतु अपने ज्ञान का प्रयोग करने की शक्ति दें।

डॉ० प्रणव पण्ड्या (एम०डी०)

अनुक्रमणिका

	विषय सामग्री	पृष्ठ
	(भाग–1)	
1.	स्वस्थ व्यक्तियों के लिए योगाभ्यास	06
2.	बच्चों व किशोरों के लिए योग	07
3.	महिलाओं के लिए योगाभ्यास	08
4.	वृद्धों के लिए योगाभ्यास	09
5.	अनिद्रा व तनाव के रोगियों के लिए योगाभ्यास	11
6.	अवसाद के रोगियों के लिए योग	12
7.	उच्च रक्तचाप के रोगियों के लिए योग	13
8.	हृदय रोगियों के लिए योगाभ्यास	14
9.	मधुमेह के रोगियों के लिए योग	15
10.	मोटापा के रोगियों के लिए योग	17
11.	अस्थमा के रोगियों के लिए योग	18
12.	ग्रीवादंश व कमर दर्द के लिए योग	19
13.	अर्थराइटिस के रोगियों के लिए योग	20
14.	कब्ज व अपच के रोगियों के लिए योग	
	(भाग–2)	
1.	संधि संचालन के अभ्यास	22
2.	उदर संचालन के अभ्यास	26
3.	शक्ति बंध के अभ्यास	27
4.	विशेष अभ्यास	29
5.	प्रज्ञायोग व्यायाम	30
6.	सूर्य नमस्कार	35
7.	ध्यानात्मक आसन	37
8.	शरीर संवर्ध्दनात्मक आसन	37
9.	शवासन	39
10.	प्राणायाम विधियाँ	41
11.	षट्कर्म विधियाँ	43
12.	सोऽहं साधना	44
13..	योग–निद्रा	45

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य एवं परम वंदनीया माता जी भगवती देवी शर्मा के सूक्ष्म संरक्षण में देव संस्कृति विश्वविद्यालय अपने अल्पकाल में ही कई उपलब्धियाँ हासिल कर चुका है। इसके अंतर्गत मानव चेतना एवं योगविज्ञान विभाग द्वारा भी कई महत्त्वपूर्ण शिक्षण सत्र एवं प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न हो चुके हैं। प्रशिक्षण शिविर एवं शिक्षण सत्र के समापन पर एक जो महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, वह है एक संदर्शिका की। यूँ तो इस क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण प्रकाशनों के माध्यम से कई पुस्तकें उपलब्ध हैं, पर समग्रता की कमी और आसानी से उपलब्ध न होने की वजह से जिज्ञासुओं को निराशा ही हाथ लगती है।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए माननीय कुलपति महोदय श्री एस. पी. मिश्रा जी ने यह जिम्मेदारी का कार्य मुझे सौंपा, यह मेरा सौभाग्य रहा। गायत्री जयन्ती 2004 पर प्रकाशित प्रथम संस्करण की सारी प्रतियाँ इस तेजी से समाप्त हो गईं, जिसकी किसी को आशा नहीं थी। पुस्तक की माँग को देखते हुए उसकी त्रुटियों में सुधार के साथ शीघ्र ही तृतीय संस्करण भी प्रकाशित किया जा रहा है। इससे सामान्य योगाभ्यासी, जो इस क्षेत्र में रूचि रखते हैं, निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे। साथ ही डिग्री, डिप्लोमा और सर्टिफिकेट कोर्स समाप्त कर चुके छात्र–छात्राओं के लिए यह संदर्शिका सहायक सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत पुस्तक को सरल व व्यावहारिक बनाने के लिए दो खण्डों में विभक्त किया गया है। पहला खण्ड विभिन्न व्याधियों के निवारण एवं भिन्न–भिन्न आयु वर्ग के लिए लाभदायी अभ्यासों का संकलन प्रस्तुत करता है। दूसरे खण्ड में योगाभ्यास की संक्षिप्त जानकारी, क्रिया–विधि एवं सामान्य दिशा–निर्देश है। पुस्तक को और बेहतर बनाने के लिए पाठकों के सुझाव को सदैव सम्मान है।

–कामाख्या कुमार

भाग-1
योग चिकित्सा सिद्धांत

स्वस्थ व्यक्तियों के लिए योगाभ्यास

जिनका शरीर व्याधियों से पीड़ित नहीं है, वही स्वस्थ नहीं है। स्वास्थ्य की परिभाषा ये कहती है कि शरीर स्वास्थ, मन प्रसन्न, इन्द्रियाँ नियंत्रित एवं सभी दोष, धातुएँ, मल, व अग्नि सम भाव में हों। आधुनिक युग में विश्व स्वास्थ्य संगठन भी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को ही पूर्ण स्वास्थ्य मानता है। इस तरह देखा जाये तो कोई भी पूर्ण स्वस्थ नहीं है; परन्तु इस ओर प्रयास किया जा सकता है। योग–अभ्यास की कुछ चुनी हुई प्रक्रिया यदि नियमित रूप से अपनाई जाये तो इस ओर सफलता पाई जा सकती है। जिनका शरीर स्वस्थ है उन्हें मानसिक, भावनात्मक संतुलन एवं आध्यात्मिक उत्थान हेतु प्रयास करने चाहिए।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन के अभ्यास, (श्वास–प्रश्वास के तालमेल के साथ) ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटि चक्र आसन (5–5 चक्र), सूर्य नमस्कार (5 चक्र), शवासन 15 मिनट। हलासन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, पद्मासन, सिद्धासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, (क्षमतानुसार) शवासन पुनः 5 मिनट

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, शीतली, भ्रामरी, भस्त्रिका।

क्रियाएँ : जलनेति (सप्ताह में 1 बार), कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित), वमन (सप्ताह में 1 बार), लघुशंख प्रक्षालन (महीने में 1 बार)।

विशेष : योगनिद्रा, सोऽहम साधना, गायत्री मंत्र जप।

अन्य सलाह : स्वस्थ रहने के लिए नियमित दिनचर्या, उचित खान–पान और योगाभ्यास की नियमितता बनाए रखें। सुबह–शाम टहलने का क्रम बनाएँ, तनाव मुक्त रहने का प्रयास करें।

बच्चों व किशोरों के लिए योग

बढ़ते बच्चों की चंचलता का कारण उनके अंदर की प्राण ऊर्जा है। उस ऊर्जा का सुनियोजन हो सके इस ओर प्रयास किया जाना चाहिए। उनकी रुचि के अनुरूप ही कार्य मिले, तो उनका हठी स्वभाव एवं तोड़फोड़ या नूकसान करने की प्रवृति बदली जा सकती है। पाठ भूलने और शीघ्र याद न होने की समस्या सामान्य है। योग के कुछ चुने हुए अभ्यास बच्चों की इन सभी समस्याओं को हल कर सकता है।

किशोरों की समस्या भी मिलती–जुलती है। उनके अन्दर हो रहे तेजी से परिवर्तन को सन्तुलित करना आवश्यक होता है। उनकी व्यावहारिकता एवं मानसिकता में एकाएक बदलाव का कारण अन्दर हो रहे हॉर्मोन्स का श्राव है, जिसे यदि देर तक बनाए रखा जा सके तो परिपक्वता आने में सहायता मिलेगी। योग–अभ्यास इसके लिए भी कारगर सिद्ध होता है।

अभ्यास :

आसन : ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटिचक्रासन (5–5 चक्र), सूर्य नमस्कार (5 चक्र), शवासन 15 मिनट। हलासन, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्यासन, कुक्कुटासन, नटराजासन, सर्वांगासन, धनुरासन, पद्मासन, शवासन पुनः 5 मिनट।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, शीतली, भ्रामरी, भस्त्रिका।

क्रियाएँ : जलनेति, कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित), वमन (सप्ताह में एक बार), त्राटक।

विशेष : योगनिद्रा, गायत्री मंत्र जप।

महिलाओं के लिए योगाभ्यास

समाज–परिवार में नारी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। एक स्वस्थ नारी ही स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ परिवार एवं सभ्य समाज के निर्माण की भूमिका अदा कर सकती है। घर के अन्दर और बाहर दोनों तरफ की जिम्मेदारी निभाने में अपने स्वास्थ्य की चिन्ता तो ये कम ही करती हैं। आज के समाज में महिलाओं ने अपने स्वास्थ्य के प्रति थोड़ी सजगता दिखलाई हैं। तेजी से हेल्थ–क्लब एवं फिजियो केन्द्रों की संख्या में वृद्धि हुई है। थोड़ी सी आहार–विहार की नियमितता एवं योगाभ्यास ही जीवन में समावेश स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मानसिकता देने में सक्षम है। जागरूक महिलाओं को परिवार एवं समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझते हुए इस ओर प्रयास करना ही चाहिए।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन श्वास–प्रश्वास के तालमेल के साथ, प्रज्ञायोग व्यायाम (3 से 4 चक्र), शवासन 15 मिनट। उदर संचालन एवं शक्ति संवर्धन के अभ्यास, विपरीतकरणी आसन, शवासन पुनः 5 मिनट।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, उज्जायी, भ्रामरी।

क्रियाएँ : जलनेति (सप्ताह में एक बार), कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित), वमन (सप्ताह में एक बार), लघुशंख प्रक्षालन (महीने में एक बार)।

विशेष : योगनिद्रा, गायत्री मंत्र जप।

अन्य सलाह : सुबह सूर्योदय से पहले शय्या त्यागें। पेट को स्वस्थ रखने के लिए ऊषापान एवं प्रातः भ्रमण का क्रम बनाएँ। दिन भर कुछ–कुछ खाने की आदत त्यागें, मसालों एवं बासी भोजन की उपेक्षा करें। मन को कुविचारों से बचाए रखने लिए स्वाध्याय या सत्संग–भजन आदि करें।

वृद्धों के लिए योगाभ्यास

आधुनिक जीवन शैली, यान्त्रिकता एवं उपयोगितावादी मानसिकता ने हमारे यहाँ आदरणीय माने जाने वाले समाज के बुर्जुगों की उपेक्षा सी कर दी है। उनकी उपलब्धियों को भुला दिया है एवं उन्हें बेकार समझा जाने लगा है। शारीरिक रूप से वे इतने दुर्बल नहीं हैं, जितने मानसिक रूप से हो जाते हैं। उनके सम्मान को ठेस पहुँचती है और उन्हें भी अपनी जिन्दगी बोझ लगने लगती हैं, जबकि वे अपने अनुभव का लाभ परिवार, समाज को दे सकते हैं। ऐसे में योग उनके सोचने, समझने और समभावी संतोषी बनाने में मदद करता है, साथ ही कमजोर हो रहे स्नायु एवं जोड़ों को सबल बनाने में मदद मिलती है।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन के अभ्यास पूरी तन्मयता से प्राणिक प्रवाह को महसूस करते हुए, प्रज्ञायोग व्यायाम (यदि सम्भव हो तो 1 से 4 चक्र), शवासन 15 मिनट। मार्जारी आसन, वक्रासन, वज्रासन, शशकासन।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, भ्रामरी, उज्जायी।

क्रियाएँ : जलनेति, कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित), वमन (सप्ताह में एक बार)।

विशेष : योगनिद्रा, गायत्री मंत्र जप, भजन–कीर्तन।

अन्य सुझाव–

नियमित रूप से प्रातः व सायं भ्रमण का अभ्यास बनाएँ। समभाव विकसित करने के लिए स्वाध्याय–सत्संग करें। अकेलापन हटाने के लिए किसी छोटे–मोटे कार्य में लगे रहें। रात्रि सोने से पहले भ्रामरी प्राणायाम व गायत्री मंत्र जप का क्रम बनाएँ।

अनिद्रा व तनाव के रोगियों के लिए (insomnia stress)

अपेक्षाएँ और असफलताएँ जीवन में सबके होती हैं, परन्तु इसे किस रूप में लिया गया यह बात महत्त्वपूर्ण है। सामर्थ्य से अधिक की अपेक्षा जीवन में असफलता एवं निराशा ही लाती है। निरंतर भूत और भविष्य की चिंता करने वाले तनाव की अवस्था में पहुँच जाते हैं। लंबे समय तक तनाव की स्थिति अनिद्रा आदि कई शारीरिक–मानसिक व्याधियों का कारण बनती है। तनाव प्रबन्धन (stress management) एवं मानसिक संतुलन के ऊपर जितने शोधकार्य हुए हैं, उनका निष्कर्ष यही आया है कि जीवन में असफलता से घबड़ाना नहीं चाहिए। एक नई शुरूआत वहीं से करनी चाहिए। योग एक ऐसी जीवन शैली है जो नई शुरूआत की शक्ति भी देता है और सफलता प्राप्ति के लिए एकाग्रता एवं सजगता भी। इसका जीवन में समावेश तनाव एवं अनिद्रा से त्वरित मुक्ति दिलाता है।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन के अभ्यास (श्वास–प्रश्वास के तालमेल के साथ), ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्र आसन (5–5 चक्र) शवासन 15 मिनट, सिद्धासन, पद्मासन, गोमुखासन, वज्रासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, शवासन 10 मिनट।

प्राणयाम : नाड़ीशोधन, भ्रामरी, उज्जायी।

क्रियाएँ : जलनेति, वमन, कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

विशेष : योगनिद्रा, सोऽहम साधना, गायत्री मंत्र जप।

अन्य सुझाव : अपेक्षा और आवश्यकता में अन्तर समझें तथा सामर्थ्य के अनुसार श्रम अवश्य करें। निरंतर चिंतन प्रक्रिया को रोकने के लिए लंबी–लंबी श्वास लें और मन को प्रफुल्लित रखने का प्रयास करें।

अवसाद (depression) के लिए

मानसिक बीमारियों में अवसाद एक ऐसी समस्या है, जो बहुत ही सामान्य होती जा रही है। कई लोग तनाव व अवसाद को एक ही मान लेते हैं और एक ही तरह का इलाज बता देते हैं। मनोवैज्ञानिक इसकी अलग–अलग परिभाषा देते हैं। इनका यौगिक उपचार भी अलग तरीके से ही किया जाना चाहिए। अन्तर्मुखी स्वभाव के ये व्यक्ति ध्यान और योग–निद्रा को ज्यादा पसंद करते हैं; परन्तु उन्हें यह अभ्यास कतई नहीं करना चाहिए; क्योंकि उन्हें वहाँ से बाहर निकालने के लिए जो क्रम अपनाना चाहिए वह कुछ ऐसे अभ्यास हों जो ऊर्जा दे और अन्दर की ग्रन्थियाँ खोले। अवसाद ग्रस्त लोग अधिक (तीव्र) अवसाद की अवस्था में इतने कमजोर हो जाते हैं कि कुछ भी करने में परेशानी महसूस करते हैं। इसलिए कुछ ऐसे ही चुने हुए अभ्यास करने चाहिए जो सामान्य रूप से किये जा सके।

अभ्यास :

आसन : ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि आसन (5–5 चक्र), सूर्य नमस्कार या प्रज्ञायोग व्यायाम (क्षमतानुसार) शवासन में श्वसन प्रक्रिया पर ध्यान। मार्जारी आसन, शशक–भुजंगासन, गोमुखासन, सिद्धासन, सिंह गर्जना 5 से 10 चक्र (सुबह–शाम)। काष्ठ तक्षण आसन 5–7 चक्र (सुबह–शाम)।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, भस्त्रिका।

क्रियाएँ : जलनेति (सप्ताह में दो दिन), वमन (सप्ताह में तीन दिन), कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

विशेष : महामृत्यंजय मंत्र जप, सोऽहम साधना, ॐ उच्चारण।

सावधानियाँ : योगनिद्रा या अन्य ध्यान व्यक्ति को अधिक अन्तर्मुखी बनाता है, इसलिए इसका अभ्यास अवसाद ग्रसित लोगों के लिए लाभदायक नहीं होगा।

अन्य सलाह : दिनचर्या नियमित करें और भोजन में राजसिक चीजों का प्रयोग करें।

उच्च रक्त चाप (Hypertension)

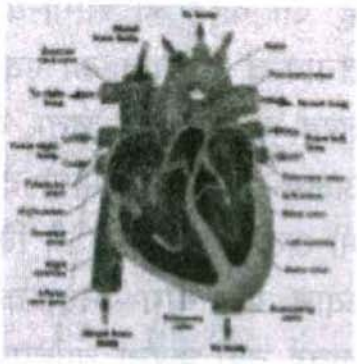

धमनियों के विरुद्ध रक्त का बढ़ा हुआ दबाव उच्च–रक्तचाप के नाम से जाना जाता है। रक्त परिसंचरण तंत्र की यह समस्या आज के दिनों में बहुत ही सामान्य हो गई है। बढ़ा हुआ रक्त चाप कई खतरनाक रोगों का कारण हो सकता है। इसकी मुख्य वजह लंबे समय का तनाव ही है। मुख्य रूप से यह दबाव तब बढ़ जाता है, जब हमारी रक्तवाहिनियाँ सख्त हो जाती हैं जिसकी वजह से अवरोध उत्पन्न होता है। अनुवांशिकता, उम्रवृद्धि, धूम्रपान, तैलीय एवं चर्बीयुक्त भोजन का अधिक प्रयोग एवं अकर्मण्य जीवन–शैली आदि इस रोग की अन्य वजहें हैं।

योगचिकित्सा सिद्धांत :

इस योग का काम सख्त हो गई धमनियों को सामान्य करना, रक्त में से चर्बी की मात्रा को कम करना तथा तनाव से मुक्ति दिलाना है।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन (श्वास प्रश्वास के तालमेल के साथ), ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्र आसन (5–5 चक्र) शवासन 15 मिनट।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, शीतली, सीत्कारी, भ्रामरी, उज्जायी।

क्रियाएँ : जलनेति, कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

सावधानियाँ : कोई भी उच्च अभ्यास बिना कुशल मार्गदर्शक के न करें। बीच में जब भी परेशानी महसूस हो, शवासन में लेट कर सोऽहम का ध्यान करें।

अन्य सलाह : सुबह–शाम टहलने का क्रम बनाएँ, तनाव मुक्त रहने का प्रयास करें।

हृदय रोग (Heart disease)

हृदय एवं रक्त परिसंचरण तंत्र शरीर की सबसे जटिल संरचना है। इसमें होने वाले असंतुलन उसी क्रम में जटिल व जीवन के लिए घातक है। हृदय शूल (anginapectoris), धमनी काठिन्य (atheroclerosis), हृत्पात (cardiac failure) एवं उच्च रक्तचाप (hyper-tension) आदि मुख्य हृदय संबन्धी समस्याएँ हैं। यूं तो ये सभी समस्याएँ अलग–अलग जानी जाती हैं, फिर भी ये आपस में काफी मिलती–जुलती हैं। रक्त में बढ़े हुए चर्बी एवं शर्करा की मात्रा रक्त के माध्यम से रक्त नलिकाओं में पहुँचकर उसे सख्त और संकरी बना देती है और रक्त प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है, ऐसी स्थिति में हृदय थकता एवं कई सारी समस्याओं को पैदा करता है। शुरुआत में तो उच्चरक्त चाप एवं हृदयशूल जैसे सामान्य लक्षण ही दिखाई पड़ते हैं, बाद में धमनी काठिन्य एवं हृत्पात तक की स्थिति आ सकती है।

योगचिकित्सा सिद्धांत :

हृदय की समस्या से ग्रसित लोगों के लिए बहुत ही सावधानी की आवश्यकता होती हैं; क्योंकि किसी भी तरह की लापरवाही घातक हो सकती है। रक्त संचार की प्रक्रिया बेहतर हो, रक्त से कोलेस्ट्रॉल एवं शुगर की मात्रा घटे एवं हृदय का कार्यभार घटे यही यौगिक चिकित्सा का उद्देश्य होता है। इसलिए आसन से ज्यादा प्राणायाम एवं ध्यान को प्रधानता दी जानी चाहिए।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन (श्वास–प्रश्वास के तालमेल के साथ), ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्र आसन (5–5 चक्र), शवासन 15 मिनट। शशकासन, वज्रासन, मकरासन, सर्पासन।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन (बिना कुम्भक के), सूर्य भेदन, शीतली, सीत्कारी, भ्रामरी, उज्जायी।

क्रियाएँ : जलनेति, कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

विशेष : योगनिद्रा, सोऽहम साधना, गायत्री मंत्र जप।

सावधानियाँ : कोई भी उच्च अभ्यास बिना कुशल मार्गदर्शक के न करें। बीच में जब भी परेशानी महसूस हो शवासन में लेट कर सोऽहम का ध्यान करें। किसी भी उच्च अभ्यास के लिए उत्सुकतावश प्रयास न करें।

अन्य सलाह : सुबह शाम टहलने का क्रम बनाएँ, तनाव मुक्त रहने का प्रयास करें। अधिक चिकनाई युक्त भोजन न लें, किसी भी तरह के व्यसन का परित्याग करें, जीवन के प्रति सकारात्मक रुख अपनाएँ।

मधुमेह (Diabetes)

मधुमेह शरीर के रक्त में बढ़ी हुई शर्करा की मात्रा के रूप में जानी जाने वाली बीमारी है। इसमें पेंक्रियाज नामक ग्रन्थि के कम काम करने या न काम करने के कारण शरीर में शर्करा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। जो कई तरह से, मूत्र के माध्यम से और घाव के न भरने के माध्यम से पहचान में आती है। डायबिटीज मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है। **जुविनाइल**– जो बच्चों तथा कम उम्र के लोगों में पायी जाती है तथा **मेच्यूरिटी आनसेट डायबिटीज**– जो प्रौढ़ावस्था में होती है। जुविनाइल की मुख्य वजह तो अनुवांशिकता हैं; परन्तु इसकी कई और वजहें भी हैं, जबकि मेच्यूरिटी आनसेट मुख्य रूप से एक क्षय प्रक्रिया है, जो उम्र की अधिकता, तनाव, अक्रियाशील जीवन शैली व मिठाइयों के अधिक सेवन की वजह से होती है।

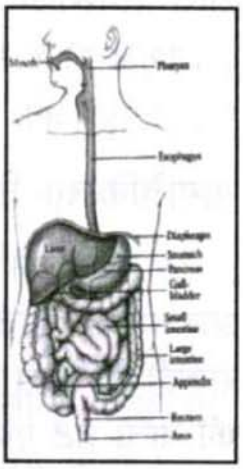

योगचिकित्सा सिद्धांत : यौगिक क्रियाओं का उद्देश्य यहाँ निष्क्रिया हो रहे पैंक्रियाज को पुनः ऊर्जा प्रदान करना तथा शरीर से अधिक शर्करा की मात्रा को निष्कासित करना है। ज्यादातर रोगी मोटापे से भी ग्रस्त होते हैं। इसलिए धीरे–धीरे अभ्यास की मात्रा में वृद्धि करके इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

योगाभ्यास :

आसन : संधि संचालन, उदर संचालन एवं शक्ति संवर्धन के अभ्यास (क्षमतानुसार), ताड़ासन, तिर्यक्ताड़ासन, कटिचक्रासन (5–5 चक्र), सूर्य नमस्कार (पहले धीरे–धीरे फिर तेजी से पाँच से सात चक्र), शवासन (10 मिनिट), पश्चिमोत्तानासन, शशकासन, भुजंगासन, धनुरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, वक्रासन, हलासन, सर्वांगासन, विपरीत करणी, शवासन (पुनः आवश्यकतानुसार)

प्राणायाम : भस्त्रिका, सूर्य भेदन, नाड़ीशोधन, शीतली, भ्रामरी।

क्रियाएँ : नेति, वमन, लघुशंखप्रक्षालन (सप्ताह में एक बार), कपालभाति (25 से 100 चक्र नियमित)।

विशेष : योगनिद्रा।

सावधानियाँ : यदि उच्च रक्तचाप या हृदय रोगी हैं, तो पहले उसे नियंत्रण में लाने वाले अभ्यास करें, पृ. सं. १२ पर देखें

मोटापा

यह आज की सबसे सामान्य समस्या है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ ज्यादा संख्या में प्रभावित हैं। मुख्यतः पुरुष की लम्बाई (इंच–4), महिलाओं की लम्बाई (इंच–6) किलो वजन सामान्य भार श्रेणी मानी गयी है। पांच किलो कम या ज्यादा को नियंत्रण रेखा में रखते हैं; परन्तु इससे अधिक भार मोटापा को दर्शाता है। जैसे किसी पुरुष की लम्बाई 5 फीट 6 इंच है, तो उसका भार 62 किलो आदर्श माना जाएगा, जबकि किसी महिला के लिए इसी ऊँचाई में भार 60 किलो आदर्श माना जाएगा। मोटापा आजकल बचपन में भी देखने को मिलता है। इसकी दो वजहें हैं। पहला थायराइड ग्रन्थि का असंतुलन और दूसरा अनुवांशिकता। महिलाओं में यह समस्या प्रथम प्रसव के बाद देखने को मिलती है। इसकी

वजह है अनियमित दिनचर्या और अनियंत्रित खान–पान। सामान्य क्रम में मोटापा अक्रियाशील जीवन शैली को अपनाने से ही होता है। मनोवैज्ञानिक इसे तनाव जनित समस्या भी मानते हैं, जबकि योग व आयुर्वेद इसे तमोगुण की प्रधानता के रूप में स्वीकार करता है।

यौगिक निदान के सिद्धान्त :

मोटे लोग बहुत जल्दी अभ्यास करके तुरंत आराम पा लेंगे ऐसा नहीं है। उन्हें हल्के और प्राणिक प्रवाह को बेहतर बनाने वाले अभ्यास ही लाभ पहुँचाएँगे। धीरे–धीरे शरीर सबल होता जाएगा और अभ्यास की जटिलता और संख्या बढ़ती जाएगी।

योगाभ्यास :

आसन : (संधिसंचालन), ताड़ासन, तिर्यक्ताड़ासन, कटिचक्रासन (5–5 चक्र), सूर्य नमस्कार (5 से 7 चक्र), शवासन (10 मिनट), द्रुत हलासन। पृष्ठसंचालन।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, भस्त्रिका, सूर्यभेदन, भ्रामरी।

क्रियाएँ : कुंजल (सप्ताह में एक बार), लघु शंख प्रक्षालन (सप्ताह में एक बार), कपालभाति (नियमित 25 से 100 चक्र), योगनिद्रा (यदि संभव हो तो)।

सावधानियाँ : यदि उच्च रक्त चाप एवं हृदय रोग से पीड़ित हैं तो पहले उन्हें नियंत्रित करें, इसके लिए पृ. सं. १२ देखें।

अस्थमा

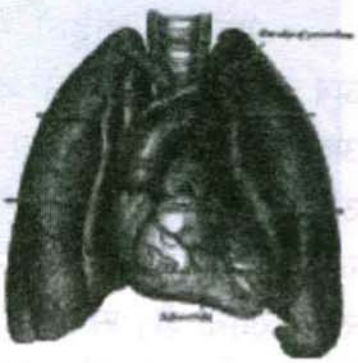

अस्थमा श्वसन प्रणाली एक जटिल समस्या है। अत्यधिक म्यूकस का श्राव हमारी श्वास के क्रम को बाधित करता है। दम फूलना और श्वास लेने में तकलीफ होना अत्यधिक श्लेष्मा का गाढ़े रूप में खांसी के साथ बाहर निकलना, इसके सामान्य लक्षण हैं। कभी–कभी तो श्वास ही अवरुद्ध होता जान पड़ता है। इसकी मुख्य वजह तो बाहरी एलर्जी ही है, मनोवैज्ञानिक व अनुवांशिक कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। इससे किसी भी उम्र के लोग प्रभावित हो सकते हैं।

योग चिकित्सा सिद्धान्त :

मुख्य रूप से इन रोगियों के अन्दर श्वास लेने की दिक्कत होती है, जो शरीर की प्राण ऊर्जा को कम करती है और व्यक्ति दुर्बल होता जाता है। योगाभ्यास उनमें प्राण ऊर्जा का संचार करने तथा अत्यधिक श्लेष्मा को बाहर निकालने के लिए कार्य करता है।

अभ्यास :

आसन : ताडासन, तिर्यक्ताड़ासन, कटिचक्रासन (5–5 चक्र), मार्जारी आसन, शशक–भुजंगासन (क्षमतानुसार), शवासन (10 मिनट), सूर्य नमस्कार धीरे–धीरे 1 से 5 चक्र (वृद्धि क्रम में), भुजंगासन, धनुरासन, गोमुखासन तथा अर्धमत्स्येन्द्रासन।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, भस्त्रिका, सूर्यभेदन।

क्रियाएँ : कुंजल (सप्ताह में तीन बार), नेति (सप्ताह में दो बार), कपालभाति (नियमित 25 से 100 चक्र)।

ग्रीवादंश एवं कमर दर्द

रीढ़ की हड्डियों में होने वाली यह समस्या अब सामान्य रूप से देखी जाती है। दोनों ही अवस्था में मुख्य समस्या दर्द के रूप में उमड़ती है और इसका मुख्य कारण दो हड्डियों के बीच पाई जाने वाली डिस्क का क्षय हो जाना और आपस में रगड़ खाना है। समस्या की वजह गलत तरीके से बैठना, ऊँचे तकिये व्यवहार में लाना या अक्सर आगे की तरफ झुक कर काम करना है। महिलाओं में कमर दर्द की समस्या ज्यादा होती है जबकि पुरुषों में गर्दन दर्द की। कभी–कभी दर्द के साथ सूजन भी दिखाई पड़ता है। विकृत अवस्था में गर्दन के पास (सर्वाइकल रीजन) में 3 या 4 नम्बर की वर्टीब्रा (कशेरुका) खिसकी नजर आती है।

यौगिक चिकित्सा सिद्धांत :

यहाँ गलत शारीरिक अवस्था को सही करने तथा क्षय प्रक्रिया को रोककर पुनः प्राण संचार तीव्र करने का प्रयास योग अभ्यास के माध्यम से किया जाता है। शरीर से मलों का निष्कासन भी बेहतर हो, इसका ध्यान रखा जाता है।

आसन : संधि संचालन के अभ्यास (ग्रीवा संचालन को छोड़कर), मार्जारी आसन, मकरासन, ताड़ासन, सूर्य नमस्कार (यदि सम्भव हो तो 2–5 चक्र), भुजंगासन, अर्ध शलभासन, सर्पासन।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, उज्जायी, भ्रामरी।

क्रियाएँ : नेति, वमन, लघुशंखप्रक्षालन (सप्ताह में एक बार), कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

विशेष : योगनिद्रा।

अन्य सलाह : पेट को साफ रखने का प्रयास करें। कब्ज से दर्द में वृद्धि होगी।

सावधानियाँ : जब तीव्र दर्द की अवस्था हो, तो जटिल अभ्यास न करें।

अर्थराईटिस (वात रोग)

अर्थराइटिस मुख्य रूप से जोड़ों (संधियों) की समस्या है। आयुर्वेद इसे वात की अधिकता के रूप में जानता है और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जोड़ों से सायनोवियल फ्लूइड की कमी के रूप में प्रस्तुत करता है। सामान्य रूप से गठिया के रूप में जाना जाता है। इसकी मुख्य वजहें हैं– पहली अक्रियाशीलता, दूसरी वात युक्त भोजन की प्रधानता। बढ़ती उम्र की क्षय प्रक्रिया भी इसकी प्रमुख वजहों में है।

जोड़ों के बीच उसे सामान्य क्रम में चलाने के लिए जिस चिपचिपे पदार्थ की आवश्यकता होती है (सायनोवियल फ्लूइड) उसकी कमी, दूसरे उसमें शरीर के दूषित द्रव्यों का वहाँ जमा हो जाना जोड़ों में अत्यधिक पीड़ा देता है और जकड़न सी महसूस होती है। यूँ तो यह अलग–अलग आयु वर्ग एवं अलग–अलग कारणों से कई प्रकार का होता है। जिनमें गाउट और रूमेटॉइड अर्थराइटिस मुख्य हैं।

योग चिकित्सा सिद्धान्त :

योग जहाँ विजातीय द्रव्य को बाहर निकालने एवं सायनोवियल फ्लूइड की कमी को पूरा करने का कार्य करता है वहीं जो प्राणिक प्रवाह अवरूद्ध हो गए हैं उसे सक्रिय करने को प्रधानता देता है।

अभ्यास :

आसन : संधि संचालन के अभ्यास, उदर संचालन (पवनमुक्तासन भाग 2), शवासन 10 मिनट, सूर्य नमस्कार (यदि सम्भव हो तो 2–5 चक्र), शवासन 5 मिनट।

प्राणायाम : नाड़ीशोधन, भस्त्रिका।

क्रियाएँ : नेति, वमन, लघुशंखप्रक्षालन (सप्ताह में एक बार), कपालभाति (25 से 50 चक्र नियमित)।

विशेष : योगनिद्रा।

आहार सम्बन्धी सलाह : दूध से बने (डेयरी प्रोडक्ट्स) न लें। शाक, सब्जी का प्रयोग अधिक करें। दिन में अधिकतम जल की मात्रा लें।

अन्य सलाह : सुबह–शाम टहलने का क्रम बनाएँ।

कब्ज एवं अपच

कब्ज एवं अपच दोनों अलग–अलग समस्याएँ हैं। अपच ऊपरी उदर (आमाशय) की समस्या है, जिसमें खाया गया खाद्य आसानी से पचता नहीं है और भूख नहीं लगने की समस्या होती है तथा खट्टी–तीखी डकारें आती हैं, जबकि कब्ज निचले उदर (बड़ी आँत) की समस्या है, जिसमें अवशोषण के बाद बचा हुआ मल आसानी से निकलता नहीं है। हरी शाक–सब्जी का कम प्रयोग कब्ज का मुख्य कारण है।

यौगिक चिकित्सा सिद्धान्त–

योग का उद्देश्य जहाँ अकर्मण्य जीवन–चर्या को बदलना एवं मंद जठराग्नि को तीव्र करना है, वहीं उदर की माँस–पेशियों को सक्रिय कर पाचन प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाना है।

अभ्यास–

आसन : ताड़ासन, तिर्यक्ताड़ासन, कटिचक्रासन (5–5 चक्र) सूर्य नमस्कार (5 से सात चक्र), शवासन (10 मिनट), वज्रासन (भोजन के बाद 10 मिनट), मार्जारी आसन, शशक–भुजंगासन, पश्चिमोत्तानासन, हलासन, धनुरासन या भुजंगासन, शवासन (पुनः 5 मिनट)।

प्राणायाम : नाड़ी शोधन, भ्रामरी।

क्रियाएँ : कुंजल (वमन), लघुशंख प्रक्षालन (सप्ताह में एक बार), कपालभाति, नौलि, अग्निसार क्रिया (जो भी संभव हो)

अन्य अभ्यास : सोऽहम साधना।

अन्य सुझाव : सुबह ऊषापान एवं टहलने का क्रम बनाएँ। कुछ–कुछ खाते रहने की आदत त्यागें। अधिक पानी व हरी साग सब्जी का प्रयोग करें।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप, हृदय रोग या तीव्र कब्ज की अवस्था में जटिल अभ्यास न करें।

भाग–2

योगाभ्यास विधि

योग–अभ्यास के लिए शांत, साफ व हवादार स्थान में आसन लगाइए। बेहतर हो एक कंबल या कालीन बिछाकर बैठें। समय प्रातः काल का सबसे श्रेष्ठ है, अन्यथा शाम में भी कर सकते हैं। जगह ऐसी चुनें जहाँ शोर गुल न के बराबर हो और फोन इत्यादि को बंद कर लें। ढीले–ढाले कपड़े पहनें। पाजामा–कुर्ता या ट्रैक–सूट अच्छा है।

सबसे पहले मन–ही–मन ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमें श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करें। बेहतर हो तीन बार ॐ का उच्चारण कर मानसिकता को गंभीर बनाएँ फिर गायत्री मंत्र का उच्चारण करें। गुरु का ध्यान करें और उनके संरक्षण की कामना करते हुए योगाभ्यास प्रारम्भ करें।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

(उस प्राण–स्वरूप, दुःख–नाशक, सुख–स्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पाप–नाशक, देव–स्वरूप परमात्मा को हम अपने अन्तःकरण में धारण करें, वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।)

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहे। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शांतिः ! शांतिः !! शांतिः !!!

भावार्थ – हे परमात्मा आप हम (गुरु–शिष्य) दोनों की साथ–साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का आप साथ–साथ समुचित पालन–पोषण करें, हम दोनों साथ–ही–साथ सब प्रकार से बल प्राप्त करें, हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो–कहीं किसी से हम विद्या में परास्त न हों और हम दोनों जीवन भर परस्पर स्नेह–सूत्र से बँधे रहें। हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन् तीनों पापों की निवृत्ति हो।

संधि संचालन के अभ्यास

पादांगुली नमन–

दोनों पैरों को सामने की ओर फैलाकर बैठें, हाथ को पीछे सहारा देने के लिए रखें। पैर की अँगुलियों को मोड़ना और खोलना शुरु करें। केवल अँगुलियाँ मुड़ेंगी, श्वास–प्रश्वास के ताल–मेल के साथ, श्वास छोड़ते हुए सामने की तरफ, श्वास लेते हुए अपनी तरफ, पाँच बार करेंगे। केवल अँगुलियाँ मुड़ेंगी, पंजा स्थिर, टखना स्थिर, केवल अँगुलियों में गति। पाँच बार अभ्यास करने के बाद थोड़ी देर का विश्राम। अभ्यास के प्रभाव को जानने का प्रयास कीजिए। हल्की खिंचाव, हल्की पीड़ा। महसूस करने का प्रयास कीजिए। (अगला अभ्यास)

गुल्फ नमन–

दोनों पंजों को आगे पीछे करना है। अँगुलियाँ स्थिर, केवल टखनों में गति, ध्यान में रखिए श्वास लेते हुए पंजा आगे और श्वास छोड़ते हुए पीछे, श्वास–प्रश्वास के ताल मेल के साथ। पूरी चेतना और सजगता टखने के आस–पास, कहाँ की नसें खींच रही हैं, कहाँ पर हल्की पीड़ा उत्पन्न की जा रही है, सारी चेतना, सजगता अभ्यास के प्रभाव के आसपास रखें। 5 बार इस अभ्यास को करें, इसके बाद थोड़ी देर का विश्राम करें। (अगला अभ्यास)

गुल्फ घूर्णन–

एक पैर को मोड़ कर जाँघ के पास रखिए, एक हाथ पैर के ऊपर और एक हाथ टखने पर, हाथ की सहायता से टखने को गोल–गोल घुमाइये। एक श्वास में एक बार, 5 बार क्लॉक वाइज 5 बार एन्टी क्लॉक वाइज। जहाँ पर पेन क्रियेट किया गया था, वहाँ पर हल्की मसाज कीजिए, बेहतर रक्त का प्रवाह, बेहतर प्राण का संचार अनुभव कीजिए। अब दूसरे पैर से इसी तरह इस अभ्यास को करें–

जानुनमन–

जाँघ के नीचे अपनी हथेलियों को फँसाइये, घुटने को मोड़ना और खोलना शुरु कीजिए, श्वास लेते हुए खोलिए, श्वास छोड़ते हुए मोड़िए, एड़ी जमीन को छुएगी नहीं, ऊपर ही ऊपर लाना और ले जाना है। खोलते वक्त घुटना सीधा रखने का प्रयास करेंगे। पूरी सजगता, पूरी चेतना घुटने के आस–पास रहे। श्वास–प्रश्वास के ताल–मेल के साथ 5 बार बायें से फिर 5 बार दायें से श्वास लेते हुए खोलिए और श्वास छोड़ते हुए मोड़िए। फिर थोड़ी देर का विश्राम प्रारम्भिक स्थिति में करें। अभ्यास के प्रभाव को जानने का प्रयास करें (अगला अभ्यास)।

जानु चक्र–

जाँघ के नीचे हाथों को कुहनियों तक फँसाइये। अब घुटने को गोल–गोल घुमाना है। जितना बड़ा चक्र बना सकते हैं, बनाने का प्रयास कीजिए, श्वास लेते हुए ऊपर और श्वास छोड़ते हुए नीचे। एक श्वास में एक बार। क्लॉक वाइज और एन्टी क्लॉक वाइज 3 से 4 बार करें। अभ्यास के प्रभाव को महसूस कीजिए। जाँघ की माँसपेशियों, पिंडली की माँसपेशियों में खिंचाव महसूस कीजिए, जोड़ों और टखने में हल्का दर्द महसूस कीजिए, उदर क्षेत्र पर हल्का दबाव दिया जा रहा है, महसूस कीजिए। 5–5 बार दोनों दिशाओं में करें, फिर दूसरे पैर से पहले की तरह–

जानुफलकाकर्षण–

घुटने की माँसपेशी को, सिकुड़िये और छोड़िए। श्वास लेते हुए माँसपेशियों को अपनी तरफ खींचिये, थोड़ी देर रोकिये, श्वास छोड़ते हुए माँसपेशियों को ढीला कीजिए। 5–5 बार अपनी श्वास व समय के मुताबिक, फिर थोड़ी देर का विश्राम, जानुफलक आकर्षण विशेष तौर से घुटने के दर्द के लिए असरकारक है। गठिया घुटने को बहुत ज्यादा दर्द देता है, ऐसी स्थिति में यह अभ्यास काफी लाभदायक है। (अगला अभ्यास)

अर्द्धतितली आसन–

एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर की जाँघ के ऊपर रखिए, एक हाथ टखने के ऊपर एक हाथ जाँघ के ऊपर रखिए, हाथ की सहायता से घुटने को ऊपर और नीचे लाइए, श्वास लेते हुए जमीन की तरफ और श्वास छोड़ते हुए अपनी तरफ घुटने को लाइये और ले जाइए, बहुत ही धीरे–धीरे 5–5 बार दोनों पैरों से किया जाए।

पूर्णतितली आसन–

दोनों पैर के पंजों को आपस में मिलाइये, दोनों हाथों को पैर के पंजों में लॉक कीजिए, घुटने को ऊपर नीचे करें। सामान्य श्वास–प्रश्वास के साथ, रीढ़ की हड्डी सीधी, सीना खुला हुआ, तेजी से ऊपर नीचे पैरों को कीजिए, फिर थोड़ी देर का विश्राम। (अगला अभ्यास)

श्रोणीचक्र–

अर्द्धतितली की अवस्था में बैठिये, एक हाथ घुटने के ऊपर, घुटने को गोल–गोल घुमाइये, श्वास लेते हुए जमीन की तरफ, श्वास छोड़ते हुए अपनी तरफ, क्लॉक वाइज और एन्टी क्लॉक वाइज, फिर दूसरे पैर से इसी तरह करें।

वज्रासन– अगले अभ्यास के लिए वज्रासन में बैठिए।

जहाँ तक संभव हो रीढ़ की हड्डी सीधी, रखने का प्रयास कीजिए। यदि वज्रासन ज्यादा देर तक सम्भव न हो सके तो किसी भी आराम दायक आसन में बैठिए। रीढ़ की हड्डी सीधी रखें। (अगला अभ्यास)

मुष्ठिका बंध–

हाथ को कंधे के सीध में ऊँचा उठायें, कुहनी सीधी रहेगी, अंगुठे को अन्दर रखते हुए मुट्ठी बाँधिये श्वास लेते हुए खोलिए और श्वास छोड़ते हुए मोड़िये। (अगला अभ्यास)

मणिबंध नमन–

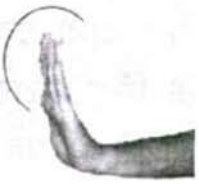

हथेली को सीधा रखते हुए कलाई को ऊपर–नीचे मोड़िये, श्वास लेते हुए ऊपर तरफ, श्वास छोड़ते हुए नीचे की तरफ मोड़ें। हथेली सीधी रहेगी। श्वास–प्रश्वास के साथ करें। (अगला अभ्यास)

मणिबंध चक्र–

मुट्ठी बाँध कर कलाई को गोल–गोल घुमाइये, एक श्वास में एक बार, बाहर से अन्दर फिर अन्दर से बाहर। 5–5 बार दोनों दिशाओं में, फिर थोड़ी देर का विश्राम, हथेलियों को जाँघ के ऊपर रखिए, भुजाओं में हल्की पीड़ा जो उत्पन्न की गई है उसको महसूस करें। (अगला अभ्यास)

कोहनीमन–

कोहनी को मोड़िये और खोलिए, श्वास लेते हुए सामने की तरफ, श्वास छोड़ते हुए अपनी तरफ कंधे तक लायें और ले लायें, फिर (साइडवेज) बगल की तरफ लायें और ले जायें, सारी सजगता–सारी सक्रियता कोहनी के आसपास। फिर थोड़ी देर के लिए विश्राम–(अगला अभ्यास)

स्कन्ध चक्र–

अँगुलियों को कंधे पर रखिए, कोहनियों को स्कन्ध से गोल–गोल घुमाइये, सिर्फ कंधा घूमेगा। श्वास लेते हुए सीने और हाथों को फैलाइये, श्वास छोड़ते हुए कोहनियों को मिलाइये। श्वास लेते हुए पीछे, श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर 5–5 बार पीछे से आगे और आगे से पीछे घुमाइये। पूरी चेतना, पूरी सजगता कंधों के आस–पास फिर थोड़ी देर का विश्राम करें। अब तक किये गए अभ्यास के प्रभाव को जानने का प्रयास करें। (अगला अभ्यास)

ग्रीवा संचालन–

श्वास लेते हुए गर्दन पीछे, श्वास छोड़ते हुए गर्दन सामने की तरफ धीरे–धीरे घुमाइये, गर्दन में मूवमेंट दीजिए, ध्यान रहे गर्दन की नसें नाजुक होती हैं, कहीं पर ज्यादा दबाव न पड़े, कहीं कोई ज्यादा न खिंच जाए। सामान्य गति में गर्दन आगे–पीछे लायें, फिर साइडवेज जैसे बग़ल झाँकने जैसा, श्वास लेते हुए पीछे, और श्वास छोड़ते हुए आगे 5–5 बार फिर थोड़ी देर का विश्राम करें। अब तक के अभ्यास को महसूस कीजिए। पूरा शरीर ऊर्जान्वित, पूरा शरीर सक्रिय, बेहतर प्राण का संचार अनुभव कीजिए, सक्रियता, चैतन्यता महसूस करें। (संधि संचालन का अभ्यास समाप्त होता है।)

उदर संचालन के अभ्यास

1. उत्तानपादासन

इस अभ्यास के लिए पीठ के बल लेट जाइए, दोनों पैर एक साथ मिलाइये, हथेलियाँ कमर के बगल में यह प्रारम्भिक स्थिति हुई, श्वास लेते हुए बाएँ पैर को धीरे–धीरे उठाइये, श्वास–प्रश्वास के साथ 3–3 बार दोनों तरफ से, पूरी सक्रियता, पूरी सजगता के साथ, घुटने के आसपास, जाँघ, पिंडली की माँस–पेशियों में खिंचाव अनुभव कीजिए, फिर थोड़ी देर का विश्राम कीजिए। शवासन में लेटिये, दोनों हाथ बगल में हथेलियाँ आसमान की ओर खुली हुई, रीढ़ की हड्डी, सिर और गर्दन एक सीध में, अभ्यास के प्रभाव को महसूस कीजिए। जाँघ, घुटना, कमर, टखना आदि सभी अंगों में बेहतर प्राण का संचार अनुभव कीजिए। (अगला अभ्यास)

2. पादचक्रासन–

पहले की तरह घुटने को सीधा रखते हुए गोल–गोल घुमाइये, श्वास लेते हुए ऊपर की तरफ श्वास छोड़ते हुए नीचे की तरफ, लम्बा बड़ा–सा घेरा बनाइये, धीरे–धीरे 3–3 बार क्लॉक वाइज और एन्टीक्लॉक वाइज, जाँघ और पिंडली की माँसपेशियों में बेहतर रक्त का प्रवाह, टखने व कमर में हल्की पीड़ा महसूस कीजिए। पूरी चेतना, पूरी सजगता घुटने के आसपास, फिर थोड़ी देर का विश्राम।

3. पादसंचलन–

पहले की तरह दोनों पैरों को मिला लीजिए, हथेलियाँ जमीन की तरफ बगल में, पादसंचलन–जैसे साइकिल चलाते हैं। पहले एक पैर के घुटने को मोड़िये, जाँघों को छाती के करीब लाइये, फिर श्वास लेते हुए खोलिए और साइकिल चलाने की तरह पंजों को आगे–पीछे लाइये और ले जाइये।

दूसरे पैर से इसी तरह, फिर दोनों पैर एक साथ इस क्रिया को 5–5 बार लय–बध तरीके से करेंगे। बहुत धीरे–धीरे, कोई जल्दी बाजी नहीं, फिर थोड़ी देर का विश्राम। शवासन की स्थिति में उदर क्षेत्र, छाती के क्षेत्र

में जो दबाव दिया गया है, जो दर्द पैदा किया गया है, सारी सजगता, सारी चेतना अभ्यास के प्रभाव पर ले जाइये। ये अभ्यास उदर विकारों को दूर करने में लाभदायक है। (अगला अभ्यास)

4. पवन मुक्तासन

दोनों घुटनों को मोड़िये, दोनों घुटनों के बाहर हथेलियों को फँसा लीजिए, श्वास भरिये और श्वास छोड़ते हुए नाक को घुटने से लगाने का प्रयास कीजिए, इस क्रिया को 3 से 4 बार, अपनी श्वास और समय के मुताबिक करें। फिर थोड़ी देर का विश्राम, शवासन में करें। (अगला अभ्यास)

5. उदराकर्षण

दोनों हथेली की अँगुलियों को आपस में फँसाइये, सिर के नीचे रखिए, दोनों घुटनों को मोड़कर सीने के पास रखिये, अब सर बायी और घुटने दायीं ओर मोड़िये। रीढ़ की हड्डियों में ऐंठन (मसाज) दीजिए, फिर विपरीत दिशा में सर दायीं और घुटने बायीं तरफ रीढ़ की हड्डियों में मसाज दीजिए, इससे पेंक्रियाज आदि ग्रंथियाँ सक्रिय होती हैं। इन्सुलिन का सिक्रेसन बेहतर होता है। कब्ज और गैस दूर होती हैं।

शक्ति बंध के अभ्यास

1. चक्की चलासन–

दोनों पैरों को फैला कर बैठिए, हथेलियों को आपस में फँसाकर आगे की तरफ रखिए, कोहनी सीधी; जैसा की इस अभ्यास के नाम से ही विदित है। चक्की चलासन चक्की की तरह चलाना है, यह महसूस करते हुए कि हमारे हाथ में बहुत भारी वजन है और उसे हम धकेल रहे हैं। इसी भावना के साथ कमर से आगे पीछे होइये, श्वास छोड़ते हुए आगे की तरफ और श्वास लेते हुए अपनी (पीछे की) तरफ, गोल–गोल घुमाइये। जांघ और पिंडजी की माँसपेशी में खिंचाव महसूस कीजिए। हल्की पीड़ा बाहों में उत्पन्न की जा रही है। उनके प्रति सजग होइये, अभ्यास के प्रभाव को आब्जर्ण कीजिए, अभ्यास के दौरान कोहनी सीधी रहेगी। (अगला अभ्यास)

2. नौका चलासन

दोनों पैरों को मिला लीजिए, हाथों को कमर की बगल में रखिये और अभ्यास कुछ ऐसे कीजिए जैसे नौका चलाते हैं। कमर से ऊपर का भाग श्वांस छोड़ते हुए आगे की तरफ भुजाओं सहित ले जाइये और श्वास लेते हुए अपनी तरफ वापस आइए। श्वांस छोड़ते हुए आगे और श्वास लेते हुए पीछे की तरफ वापस आइए, जैसे नाव का चप्पू अपने हाथ में है और आप नाव खे रहे हैं। श्वास–प्रश्वास के तालमेल के साथ इस अभ्यास को करें, फिर थोड़ी देर का विश्राम करें। (अगला अभ्यास)

3. रज्जुकर्षण आसन

रज्जुकर्षण अर्थात् रस्सी से पानी खिंचना। जैसे कुएँ से पानी निकालते समय रस्सी को खींचते हैं, उसी रह से ध्यान रखते हुए, श्वास लेते हुए एक हाथ ऊपर ले जाइये और श्वास छोड़ते समय बलपूर्वक मुट्ठी बाँधकर नीचे की तरफ खींचिए, दोनों हाथों से बारी–बारी से करें। बाहों में कंधों में, रीढ़ की हड्डियों में बेहतर प्राण का संचार, बेहतर रक्त का प्रवाह अनुभव कीजिए।(अगला अभ्यास)

4. काष्ठतक्षण आसन

यह अभ्यास तनाव और तनाव जनित रोगों के लिए काफी असर कारक है। साथ ही अवसाद के रोगियों के लिए असर कारक है, जो घबराते या दब्बू किस्म के हैं, उन्हें यह अभ्यास सक्रियता के साथ करना चाहिए। पैर के पंजों के बल उकड़ू बैठिये। दोनों पंजों के बीच थोड़ी दूरी, दोनों हाथ की अँगुलियों को आपस में फँसाकर हथेलियों को ऊपर ले जाइये, यह अनुभव करते हुए की हम कुल्हाड़ी चला रहे हैं। हाथ ऊपर ले जाकर 'हा' ध्वनि के साथ नीचे लाइए। श्वास छोड़ते हुए अन्दर के सारे आक्रोस बाहर निकल रही है, ऐसी भावना के साथ 5 से 10 बार इस अभ्यास को करें, फिर थोड़ी देर के लिए विश्राम। (अगला अभ्यास)

विशेष अभ्यास

ताड़ासन–खड़े होकर दोनों पैर एक साथ, हाथ की अँगुलियों को आपस में फँसाकर, पलट कर सर के ऊपर रखिए, सामने दीवार में एक बिन्दु निश्चित कीजिए, जिसमें अपनी चेतना को एकाग्र रखना है। चेतना को केन्द्रित रखते हुए, श्वास लेते हुए, एड़ी और हाथ को ऊपर उठाइये, कोहनियों को सीधा कीजिए, पंजों के बल आने का प्रयास कीजिए, श्वास छोड़ते हुए धीरे–धीरे नीचे। इस क्रिया को 5 बार कीजिए। खिंचाव अनुभव कीजिए–उदर, छाती, जाँघ, पिंडली व बाँह की माँसपेशियों में, फिर दोनों हथेलियों को बगल में झुलने दीजिए, इसी स्थिति में विश्राम। अभ्यास के प्रभाव को जानने का प्रयास कीजिए।

तिर्यक्ताड़ासन–दोनों पैरों के बीच में एक से डेढ़ फीट की दूरी। हाथ की अँगुलियों को ताड़ासन की स्थिति में ऊपर उठाकर फँसाये, श्वास छोड़ते हुए बायीं तरफ झुकिये। खिंचाब अनुभव कीजिये, श्वास लेते हुए बीच में आएँ, श्वास छोड़ते हुए दाहिनी तरफ झुकिये, कोहनी सीधी रहेगी, ध्यान रहे कोहनी आगे या पीछे नहीं झुकनी चाहिए, कटिप्रदेश में, कंधास्थि में, हल्की पीड़ा उत्पन्न की जा रही है, दोनों ओर समान रूप से श्वास के समय के मुताबिक झुकिये। बाँहों, जाँघों, उदर और छाती की माँसपेशियों में सक्रियता अनुभव कीजिए। अगले अभ्यास के लिए तैयार होइये।

कटिचक्रासन–हथेलियों को कंधे की सीध में ऊपर उठाइए, पैरों को फैलाए रखिये, श्वास छोड़ते हुए बायीं तरफ मुडिये, बायीं हथेली दायीं कमर में, दाहिनी हथेली बाएँ कंधे पर, रीढ़ की हड्डियों में ऐठन महसूस कीजिए। श्वास लेते हुए बीच में आइये, कोहनी को फैलाए रखिए। श्वास छोड़ते हुए, दूसरी तरफ बायीं ओर मुड़िये। दाहिनी हथेली दाएँ कमर में, बायीं हकोहनीथेली कंधों पर क्रमशः बाएँ– दाएँ इसी क्रिया को 5-5 बार दुहराएँ। आप को सक्रिय करने की चैतन्यता अनुभव करें। हमारा स्नायु तंत्र रीढ़ की हड्डी के माध्यम से ही काम करता है, इसलिए रीढ़ की हड्डी को सक्रिय करना इस अभ्यास का लक्ष्य है। शारीरिक–मानसिक किसी भी पीड़ा के लिए असरकारक अभ्यास है।

प्रज्ञायोग-व्यायाम

इसे बाल–वृद्ध, नर–नारी सभी प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं। इसमें सभी प्रमुख अंगों का व्यायाम संतुलित रूप से होता है। फलतः अंगों की जकड़न, दुर्बलता दूर होकर उनमें लोच और शक्ति का संचार होता है। परम पूज्य गुरुदेव के मार्गदर्शन में विकसित योग–व्यायाम की इस पद्धति में आसनों, उप–आसनों, मुद्राओं, श्वास–प्रश्वास क्रम तथा शरीर संचालन की लोम–विलोम क्रियाओं का सुन्दर समन्वय है। आसन और प्राणायाम का यह संयुक्त प्रयोग शरीर और मस्तिष्क, स्थूल और सूक्ष्म दोनों के लिए बहुत लाभदायक है।

व्यायाम श्रृंखला की हर मुद्रा के साथ गायत्री मंत्र के अक्षरों–व्याहृतियों को जोड़ देने से, शरीर के व्यायाम के साथ मन की एकाग्रता और भावनात्मक पवित्रता का भी अभ्यास साथ ही साथ होता रहता है।

प्रज्ञायोग व्यायाम की मुद्रायें चित्र सहित समझाई गई हैं। 16 निर्देशों में व्यायाम की एक श्रृंखला पूरी होती है। चित्रों के साथ शब्दों में चित्र संख्या छपी है इसी क्रम से व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में व्यायाम किया जा सकता है।

1. ॐ भूः (ताड़ासन)

धीरे–धीरे श्वास खींचना प्रारंभ करें। दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाएँ, दोनों पैर के पंजों के बल खड़े होते हुए शरीर को ऊपर की ओर खीचें। दृष्टि आकाश की ओर रखें। यह चारों क्रियाएँ एक साथ होनी चाहिए। यह व्यायाम ताड़ासन की तरह सम्पन्न होगा। सहज रूप से जितनी देर में यह क्रिया की जाए।

इससे हृदय की दुर्बलता, रक्तदोष और कोष्ठबद्धता दूर होती हैं। यह मेरुदण्ड के सही विकास में सहायता करता है। स्नायु तंत्र लचीला बनाता है तथा शरीर की जकड़न (आलस्य) शीघ्र दूर होती है, स्फूर्ति आती है।

2. ॐ भुवः (पाद हस्तासन)

श्वांस छोड़ते हुए सामने की ओर (कमर से ऊपर का भाग, गर्दन, हाथ साथ–साथ) झुकाएँ। हाथों को 'हस्तपादासन' की तरह नीचे की ओर ले जाते हुए दोनों हाथों से दोनों पैरों के समीप भूमि स्पर्श करें, सिर को पैर के घुटनों से यथा संभव स्पर्श कराने का प्रयास करें (घुटने से पैर मुड़ने न पाए)। इसे सामान्य रूप से जितना हो सके उतना ही करें। क्रमशः अभ्यास से सही स्थिति बनने लगती है।

इससे वायु दोष दूर होते हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को बल मिलता है। पेट व आमाशय के दोषों को रोकता तथा नष्ट करता है। आमाशय प्रदेश की अतिरिक्त चर्बी भी कम करता है। कब्ज को हटाता है। रीढ़ को लचीला बनाता एवं रक्त संचार में तेजी लाता है।

3. ॐ स्वः (वज्रासन)

हस्तपादासन की स्थिति में सीधे जुड़े हुए पैरों को घुटनों से मोड़ें, दोनों पंजे पीछे की ओर ले जाकर उन पर वज्रासन की तरह बैठ जायें। दोनों हाथ घुटनों पर, कमर से मेरूदण्ड तक शरीर सीधा, छाती आगे को उभरी हुई, श्वास–प्रश्वास सामान्य। यह एक प्रकार से व्यायाम से पूर्व की आरामदेह या विश्राम की अवस्था है।

इससे भोजन पचाने में सहायता, वायु दोष, कब्ज, पेट का भारीपन दूर होता है। यह आमाशय और गर्भाशय की माँसपेशियों को शक्ति प्रदान करता है, एवं हार्निया से बचाव करता है। गर्भाशय, अमाशय आदि में रक्त व स्नायविक प्रभाव को बल प्रदान करता है।

4. तत् (उष्ट्रासन)

घुटनों पर रखे दोनों हाथ पीछे की तरफ ले जायें। हाथ के पंजे पैरों की एड़ियों पर रखें। अब धीरे–धीरे श्वास खींचते हुए 'उष्ट्रासन' की तरह सीने को फुलाते हुए आगे की ओर ऊर्ध्वमुखी खींचे। दृष्टि आकाश की ओर से पीछे तरफ हो। इससे पेट, पेडू, गर्दन, भुजाओं सबका व्यायाम एक साथ हो जाता है।

इससे हृदय, मेरूदण्ड, इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना को बल मिलता है। पाचन, मल निष्कासन और प्रजनन–प्रणालियों के लिए लाभप्रद है। यह पीठ के दर्द व अर्द्ध–वृत्ताकार (झुकी हुई) पीठ को ठीक करता है।

5. सवितुः (योग मुद्रा)

अब श्वास छोड़ते हुए पहले की तरह पंजों पर सीधे बैठने की स्थिति में आयें, साथ ही दोनों हाथ पीछे पीठ की ओर ले जायें व दोनों हाथ की अँगुलियाँ आपस में फँसाकर धीरे–धीरे दोनों हाथ ऊपर की ओर खींचे और कमर से आगे झुकाते हुए मस्तक भूमि से स्पर्श कराने का प्रयास 'योगमुद्रा' की तरह करें।

इससे वायुदोष दूर होता है। यह पाचन संस्थान को तीव्र तथा जठराग्नि को तेज करता है। कोष्ठबद्धता को दूर करता है। यह आसन मणिपुर चक्र को जाग्रत् करता है।

6. वरेण्यं (अर्द्धताड़ासन)

अब धीरे–धीरे सिर ऊपर उठायें तथा श्वास खींचते हुए दोनों हाथ बगल से आगे लाते हुए सीधे ऊपर ले जायें। बैठक में कोई परिवर्तन नहीं। दृष्टि ऊपर करें और हाथों के पंजे देखने का प्रयत्न करें। यह 'अर्द्धताड़ासन' की स्थिति है।

इससे हृदय की दुर्बलता दूर होती है, रक्त दोष हटता है और कोष्ठबद्धता दूर होती है। जो लाभ ताड़ासन से होते हैं, वे ही लाभ इस आसन से भी होते हैं।

7. भर्गो (शशकासन)

श्वास छोड़ते हुए कमर से ऊपर के भाग (कमर, रीढ़, हाथ एक साथ) आगे झुकाकर मस्तक धरती से लगायें। दोनों हाथ जितना आगे ले जा सकें, ले जाकर धरती से सटा दें। 'शशकासन' की तरह करना है।

इससे उदर के रोग दूर होते हैं। यह कूल्हों और गुदा स्थान के मध्य स्थित माँसपेशियों को सामान्य रखता है। साइटिका के स्नायुओं को शिथिल करता है और एड्रिनल ग्रंथि के कार्य को नियमित करता है। कब्ज को दूर करता है।

8. देवस्य (भुजंगासन)

हाथ और पैर के पंजे उसी स्थान पर रखते हुए, श्वास खींचते हुए, कमर उठाते हुए धड़ आगे की ओर ले जायें। घुटने जंघाएँ भूमि से छूने दें।

सीधे हाथों पर कमर से पीछे धड़ को (ऊपर) मोड़ते हुए सीना उठायें, गर्दन को ऊपर की ओर तानें, 'भुजंगासन' जैसी मुद्रा बनायें।

इससे हृदय और मेरूदण्ड को बल मिलता है, यह वायु दोष को दूर करता है। भूख को उत्तेजित करता है तथा कोष्टबद्धता और कब्ज का नाश करता है। जिगर और गुर्दे के लिए लाभदायक है।

9. धीमहि (तिर्यक् भुजंगासन –बायें)

भुजंगासन की मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं, केवल गर्दन पूरी तरह बायीं ओर मोड़ते हुए दाएँ पैर की एड़ी को देखें।

इससे भुजंगासन जैसे लाभ अभ्यासकर्त्ता को प्राप्त होते हैं।

10. धियो (तिर्यक् भुजंगासन –दाएँ)

शरीर की स्थिति पहले जैसी रखते हुए। गर्दन दाहिनी ओर मोड़ते हुए बायें पैर की एड़ी देखें।

भुजंगासन जैसे लाभ अभ्यासकर्त्ता को मिलते हैं।

11. यो नः (शशकासन)

हाथ–पैर के पंजे अपने स्थान पर ही रखे रहें। श्वास छोड़ते हुए घुटने से पैर मोड़ते हुए 'शशकासन' की स्थिति में वापस आएँ।

12. प्रचोदयात् (अर्द्ध ताड़ासन)

यह मुद्रा, अर्द्ध ताड़ासन की तरह की होगी। गहरी श्वास लेते हुए कमर, गर्दन, दोनों हाथ एक साथ उठाएँ।
(क्रं0 6 की पुनरावृत्ति)

13. भूः (उत्कटासन)

इस मुद्रा में पैर के पंजों के बल 'उत्कटआसन' की तरह बैठते हैं। सीना निकला हुआ, हाथ पंजे के समीप भूमि छूते हुए, सीधे या नमस्कार की मुद्रा में रखें। श्वास की गति सामान्य रखें। इससे पिण्डली मजबूत बनती है। शरीर संतुलित होता है।

14. भुवः (पाद् हस्तासन)

तलवा धरती से पूरी तरह लगाएँ। घुटने से पैर सीधा करें। कूल्हे उठाएँ। हाथ के पंजों को पैर के पंजों के समीप रखें। श्वास बाहर निकालें। चित्र सं0 14 की भाँति 'पाद्–हस्तासन' में आएँ। (क्र0–2 की पुनरावृत्ति)

15. स्वः (ताड़ासन)

धीरे–धीरे श्वास लेते हुए कमर से ऊपर का हिस्सा गर्दन, हाथ एक साथ उठाएँ। ताड़ासन की भाँति शरीर को ऊपर की ओर खींचे। दृष्टि आकाश की ओर रखें। यह चारों क्रियाएँ एक साथ होनी चाहिए। सभी क्रियाएँ 'ताड़ासन' की तरह सम्पन्न होगी। सम्पूर्ण शरीर में खिंचाव अनुभव करें। (क्र0–1 की पुनरावृत्ति)

16. ॐ– बल की भावना करते हुए सावधान की स्थिति में आना

ॐ का गुंजन करते हुए, हाथों की मुट्ठियाँ कसते हुए बल की भावना के साथ कोहनियाँ मोड़तें हुए, मुट्ठियाँ कंधें के पास से निकालते हुए हाथ नीचे सावधान की स्थिति में लाना। यह क्रिया श्वास छोड़ते हुए सम्पन्न करें।

इन समस्त क्रियाओं को अपनी स्थिति व क्षमता के अनुरूप 3–4 बार करें। क्रिया के साथ पवित्र विचार भाव का समावेश अवश्य रखें। क्रिया व मंत्र के प्रभाव से शरीर में स्फूर्ति, मन में प्रसन्नता व हृदय में भाव–संवेदना का संचार होता हुआ अनुभव करें। सम्पूर्ण क्रिया के अन्त में 5–10 मिनट का शवासन अवश्य करें।

सूर्य नमस्कार

1. **प्रणाम स्थिति–** दोनों हाथों को जोड़कर सीने के पास रखें व दृष्टि सामन की ओर रखें। दोनों पैर की एड़ी को मिलाकर रखना है।

मंत्र – ॐ मित्राय नमः।

ध्यान– अनाहत चक्र का।

2. **हस्तोत्थानासन–** दोनों हाथों को श्वास भरते हुए ऊपर उठावें।

मंत्र – ॐ रवये नमः।

ध्यान– विशुद्धि चक्र।

3. **पाद हस्तासन–** श्वास छोड़ते हुए मस्तक को घुटने से व हाथों को जमीन से लगाने का प्रयास करें।

मंत्र – ॐ सूर्याय नमः।

ध्यान– स्वाधिष्ठान चक्र।

4. **अश्व संचालनासन–** एक पैर को पिछे ले जावें व दोनों हाथों को एक साथ रखें तथा छाती को ऊपर उठावें।

मंत्र – ॐ भानवे नमः।

ध्यान– आज्ञा चक्र।

5. **दण्डासन–** दोनों पैरों को पीछे ले जाते हैं व दोनों हाथों को आगे रखे रहें। इसमें हमारी स्थिति डंडे के समान होती है।

मंत्र – ॐ खगाय नमः।

ध्यान– मणिपुर चक्र।

6. **अष्टांग नमस्कार–** श्वास छोड़ते हुए घुटने, छाती, ठुड्डी व मस्तक को जमीन पर लगावें।

मंत्र – ॐ पूष्णे नमः।

ध्यान– अनाहत चक्र।

7. **भुजंगासन** – इसमें दोनों हाथों को कंधे के पास रखते हुए धड़ वाले हिस्से को ऊपर उठाते हैं। यह क्रिया श्वास लेते हुए करें।

मंत्र – ॐ हिरण्यगर्भाय नमः।

ध्यान– स्वाधिष्ठान चक्र।

8. **पर्वतासन**– इसमें श्वास छोड़ते हुए मस्तक को जमीन से लगावें व नाभी को देखने का प्रयास करें।

मंत्र – ॐ मारीचये नमः।

ध्यान– विशुद्धि चक्र।

9. **अश्वसंचालनासन**– श्वांस लेते हुए एक पैर को आगे ले आवें व दोनों हाथों को एक साथ रखकर छाती को ऊपर उठावें।

मंत्र – ॐ आदित्याय नमः।

ध्यान– आज्ञा चक्र।

10. **पाद् हस्तासन**– श्वास छोड़ते हुए दोनों पैरों को एक साथ ले आयें व मस्तक को घुटने से व हाथों को जमीन से लगाने का प्रयास करें।

मंत्र – ॐ सवित्रे नमः।

ध्यान– स्वाधिष्ठान चक्र।

11. **हस्तोत्थानासन**– दोनों हाथों को श्वास भरते हुए ऊपर उठावें।

मंत्र – ॐ अर्काय नमः।

ध्यान– विशुद्धि चक्र।

12. **प्रणाम स्थिति**– दोनों हाथों को जोड़कर सीने के पास रखें व दृष्टि सामने की ओर रखें।

मंत्र – ॐ भास्कराय नमः।

ध्यान– अनाहत चक्र।

अपनी स्थिति व क्षमतानुसार 5–5 बार सम्पूर्ण क्रिया को दुहराएँ। अन्त में शवासन 5–10 मिनट अवश्य करें। सूर्य (सविता) का प्रखर तेज हमें स्वस्थ, प्रसन्न व पवित्र बना रहा है, ऐसा भाव बनाए रखें।

ध्यानात्मक आसन

1. पद्मासन– सर्वप्रथम दोनों पैर सामने रखकर बैठें व एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर की जंघा के ऊपर तथा दूसरे पैर को मोड़कर पहले पैर की जंघा के ऊपर रखें। कमर सीधी कर बैठ जायें, यह पद्मासन हुआ। घुटनों पर हाथ (ध्यान मुद्रा में) रखें। आँखें बंद कर अपनी सुविधानुसार थोड़ी देर बैठें।

2. सिद्धासन– सर्वप्रथम दोनों पैर सामने रखकर बैठ जायें, तत्पश्चात् एक पैर की एड़ी को सीवनी (लिंग व गुदा के बीच) स्थान पर लगाएँ व दूसरे पैर को लिंग मूल के ऊपर रखें। घुटनों पर हाथ (ध्यान मुद्रा में) रखें। यह सिद्धासन है। आँख बंद कर थोड़ी देर बैठे रहें, शांति की अनुभूति करें।

शरीर संवर्धनात्मक आसन

3. पश्चिमोत्तान आसन– सर्वप्रथम दोनों पैर सामने रखकर बैठ जायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को ऊपर ले जाते हुए श्वास भरें, तथा धीरे–धीरे श्वास छोड़ते हुए मस्तक को घुटने से व हाथों को पैर के अंगुठे से लगाने का प्रयास करें। यह पश्चिमोत्तान हुआ। श्वास लेते हुए वापस आएँ।

4. धनुरासन– सर्वप्रथम इसके लिए पेट के बल लेट जायें। इसके बाद दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ते हुए टखनों को पकड़ें व श्वास भरते हुए छाती व पैरों को उठावें। धीर–धीरे श्वास छोड़ते हुए मस्तक व पैरों को जमीन पर लगावें। विश्राम करें।

5. **भुजंगासन** – इसमें हम पेट के बल लेटते हैं, तत्पश्चात् दोनों हाथों को कंधों के नीचे रखते हुए छाती व ऊपरी हिस्से को श्वास भरते हुए ऊपर उठाते हैं। यथा–शक्ति रोकें, तत् पश्चात् अपनी पूर्व स्थिति में आ जायें।

6. **शलभासन**– इसमें हम पेट के बल लेटते हैं, श्वास लेते हुए एक–एक पैर को ऊपर उठावें व यथा शक्ति रोकें। श्वास छोड़ते हुए अपनी पूर्व स्थिति में आयें, यह अर्द्धशलभासन हुआ। दोनों पैर एक साथ उठावें यह पूर्ण शलभासन हुआ।

7. **नौकासन**– पीठ के बल लेटें व धीरे–धीरे पैर व धड़ से ऊपरी हिस्से को श्वास भरते हुए उठावें, जिससे संपूर्ण भार नितम्ब स्थान पर रहे, यथा सम्भव रोकें। श्वास छोड़ते हुए धीरे–धीरे पहले वाली स्थिति में आयें।

8. **मार्जारी आसन**– यह आसन बिल्ली की विशेष स्थिति को देखकर आविष्कृत हुआ है। इसमें सर्वप्रथम दोनों घुटनों व दोनों हाथों के बल पर एक स्थिति में ठहरें, तत्पश्चात् श्वास लेते हुए कमर के भाग को नीचे की ओर व सर ऊपर उठावें तथा श्वांस को छोड़ते हुए कमर को ऊपर उठावें गर्दन नीचे लावें। यह मार्जारी आसन हुआ।

9. **सिंहासन**– यह सिंह गर्जना के आधार पर निर्मित किया गया है। इसमें हम वज्रासन में बैठते हैं दानों पैर को फैलाकर व दोनों हाथों को जांघ के नीचे जमीन पर रखते हुए, गर्जना करते हुए जीभ बाहर निकालते हैं, फिर यथा स्थिति में आते हैं। यह सिंहासन हुआ।

10. गोमुखासन– यह गाय के मुख की आकृति के आधार पर विनिर्मित किया गया। इसके लिए एक पैर को मोड़ते हुए दूसरे पैर की जंघा के नीचे तथा दूसरे पैर को प्रथम पैर के ऊपर रखें। पुनः दोनों हाथों के अंगुलियों को पीठ के पीछे में चित्रानुसार फँसाएँ, ध्यान रखें जो पैर ऊपर है उसी ओर के हाथ को भी ऊपर की ओर रखें। यह गोमुखासन हुआ।

11. विपरीत करणी आसन– शवासन में लेटें। श्वास भरते हुए दोनों पैर एक साथ धीरे–धीरे उठाते हुए अर्द्ध हलासन की स्थिति में आयें। तत्पश्चात् थोड़ा ऊपर उठाकर हाथों को नितम्ब पर लगायें। उसके बाद थोड़ी देर रूकें व पुनः धीरे–धीरे पूर्व स्थिति में आ जायें।

12. सर्वांगासान– पीठ के बल लेटें। श्वास लेते हुए धीरे–धीरे दोनों पैरों को ऊपर उठायें, कमर व धड़ के हिस्से को उठाएँ व ठुड्डी को कंठकूप पर लगावें। यथासंभव रोकें, फिर धीरे–धीरे शवासन में आयें।

13. नटराजासन– सामने की ओर दृष्टि जमाकर खड़े हों। एक पैर को मोड़ कर उसी हाथ से पकड़ें दूसरे हाथ को ऊपर उठा कर ज्ञान मुद्रा लगायें। धीरे–धीरे कमर से आगे की तरफ झुकें। थोड़ी देर स्थिर रहने का प्रयास करें। यह नटराजासन हुआ। अब धीरे–धीरे वापस आयें।

शवासन– अब शवासन में पीठ के बल लेट जाइये, दोनों पैरों के बीच में एक से डेड़ फीट की दूरी, हथेलियाँ आसमान की ओर खुली हुई, सर, गर्दन और रीढ़ की हड्डी एक सीध में, आँखें और होंठ सहजता से बंद, लम्बी गहरी श्वास लें। हर बाहर जाते श्वास के साथ अपने आप को शिथिल करने का प्रयास कीजिए, पूरा शरीर शिथिल मन शांत।

सम्पूर्ण शरीर का ख्याल कीजिए, सर से लेकर पाँव तक अपनी चेतना को घुमाइये, मन ही मन ओम का उच्चारण कीजिए, अंग–प्रत्यंग शिथिल, मन शांत, किसी भी अंग में कोई तनाव नहीं, दाहिने हाथ की तरफ अपनी चेतना को लाइये, हथेली, कलाई निचली भुजा, कोहनी, बाँह, कंधा पूरा दाहिना हाथ शिथिल, अब बायें हाथ की तरफ अपनी चेतना को लाइये, हथेली, कलाई, निचली भुजा, कोहनी बाँह, पूरा बायाँ हाथ शिथिल। अब दाहिने पैर की ओर अपनी चेतना को लाइये, पंजा, तलवा, एड़ी, टखना, पिंडली, घुटना, जांघ, पूरा दाहिना पैर रिलैक्स। बायें पैर की ओर अपनी चेतना को लाइये, पंजा, एड़ी, घुटना, जांघ, पूरा बायाँ पैर पूर्णतः आराम। अब धड़ के हिस्से में अपनी चेतना को लाइये, दोनों नितंब, कमर, पीठ, छाती, कंधा, रीढ़ की हड्डी, पूरे धड़ के हिस्से में अपनी चेतना को लाइये, दोनों नितंब, कमर, पीठ, छाती, कँधा, रीढ़ की हड्डी, पूरा धड़ का हिस्सा रिलैक्स।

सर के हिस्से में अपनी चेतना को लाइये, सर का हिस्सा, ऊपर कनपटी, पूरा चेहरा, पूरा सर का हिस्सा रिलैक्स, सम्पूर्ण शरीर एक साथ शवासन की स्थिति में अपने सम्पूर्ण शरीर को धरती पर पड़ा जानिये। शरीर के भार को धरती के विरूद्ध अनुभव कीजिए। यह जानने का प्रयास कीजिए की आप कितना अधिक बल धरती पर लगा रहे हैं। अधिक से अधिक भार धरती पर डालने का प्रयास कीजिए। आपका शरीर भारी हो रहा है, अंग–प्रत्यंग भारी हो रहा है ऐसा महसूस कीजिए। आपका वजन बढ़ता चला जा रहा है। अब अपने आप को हल्का करने का प्रयास कीजिए। शरीर हल्का, अंग–प्रत्यंग हल्का, आप धरती पर कुछ भी वजन नहीं डाल रहे हैं। आप अन्दर बाहर से एकदम हल्के हो रहे हैं, किसी भी अभ्यास का दबाव आपके ऊपर नहीं है। चिंता मुक्त, थकान मुक्त, परेशानी मुक्त, तनाव मुक्त हर तरह से रिलैक्स। धीरे–धीरे हाथ पैर को हिलाइये, हाथ ऊपर ले जाकर अंगड़ाई लीजिए। बायीं करवट लेते हुए उठकर बैठिये। हथेलियों को रगड़िये आँख पर रखिये, फिर धीरे–धीरे आँख खोलिए, सामान्य हो जाइए।

प्राणायाम विधियाँ

1. नाड़ी शोधन प्राणायाम

- किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन आदि) में बैठें, हाथ घुटनों पर। मेरूदण्ड, गर्दन सीधी रखें। सम्पूर्ण शरीर शिथिल करें नेत्र बंद, कुछ देर तक सजगता श्वास पर रखें।
- दाएँ हाथ की तर्जनी एवं मध्यमा को भ्रूमध्य पर रखें तथा अंगूठे को दायीं नासिका तथा अनामिका को बायीं नासिका की ओर रखें। अब दायीं नासिका को बन्द करते हुए बायीं नासिका से क्षमतानुसार धीमी गति से श्वास लें, क्षमतानुसार अन्दर रोकें तथा दायीं नासिका से उसे धीरे–धीरे बाहर छोड़ें। प्रयास रहे कि श्वास लेने, रोकने एवं छोड़ने का समयानुपात लगभग समान हो। प्रारंम्भिक अवस्था में यदि श्वास अन्दर रोकने में कठिनाई हो तो बिना रोके ही क्रिया सम्पन्न करें। अब यही क्रिया दायीं नासिका से सम्पन्न करें। यह एक चक्र नाड़ी शोधन प्राणायाम हुआ। प्रारम्भ में पाँच चक्र से प्रारम्भ करें। बाद में धीरे–धीरे चक्र को बढ़ाएँ।

  सावधानी– हृदय रोगी, उच्च रक्त चाप एवं अन्य जीर्ण रोगी, बिना कुम्भक के इसे कुशल मार्गदर्शक की देख–रेख में ही करें।

2. भ्रामरी प्राणयाम

- किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठें, पूरे शरीर को शिथिल करें। मेरुदण्ड, गर्दन सीधी, आँखें बंद। दोनों हाथों की पहली अँगुली से कान बंद कर लें।
- दोनों नासिका से लम्बी गहरी श्वास लें, संभव हो सके तो कुछ देर रोकें, तत्पश्चात् मधुमक्खी की भाँति गुंजार करते हुए श्वास धीरे–धीरे छोड़ें। मस्तिष्क में इस ध्वनि तरंग का अनुभव करें।

- प्रारम्भ में पाँच आवृत्ति ही करें, क्रमशः आवृत्तियों की संख्या बढ़ा सकते हैं।

3. उज्जायी प्राणायाम

- पूर्व की भाँति किसी ध्यानात्मक आसन में बैठें। कमर, रीढ़, गर्दन सीधी, आँखें बंद।

- गले को सिकुड़ते हुए गहरी, धीमी श्वास खींचे। अनुभव करें कि श्वास गले से स्पर्श करती हुई अन्दर जा रही है।
- क्षमतानुसार अन्दर रोकें तथा गले को सीधा करते हुए धीरे–धीरे छोड़ दें। यह क्रिया पाँच से दस मिनट तक प्रारंभ में करें, फिर धीरे–धीरे इसकी अवधि बढ़ा सकते हैं।

4. सूर्यभेदन– यह प्राणायाम सूर्य नाड़ी को चलाने वाला है, जिससे कि गर्मी उत्पन्न होती है। इसमें प्रणवमुद्रा बनावें व धीरे–धीरे दायीं नासिका से श्वास भरें व यथाशक्ति कुम्भक करें, तत्पश्चात् बायीं से निकाल दें। धीरे–धीरे श्वास लें और छोड़ें।

5. भस्त्रिका– यह भी सूर्य नाड़ी को गति प्रदान करता है, इसमें सर्वप्रथम श्वास को जोर–जोर से अन्दर बाहर करें, तत्पश्चात् कुम्भक करें।

6. शीतली– यह प्राणायाम शीतलता प्रदान करता है। इसमें कौवे की चोंच की तरह जीभ को मोड़ते हैं, तत्पश्चात् धीरे–धीरे श्वास भरते हैं और यथाशक्ति कुम्भक व पुनः नासिका रन्ध्रो से छोड़ें।

7. सीत्कारी– यह सीत्कार करते हुए किया जाता है, इसमें दोनों दातों को मिलाकर सीत्कार करते हुए प्राण वायु को ग्रहण करें। कुम्भक करें, तत्पश्चात् नासिका रन्ध्रों से छोड़ दें।

षट्कर्म

1. **जल नेति–** सर्वप्रथम जल नेति के लिए नेति लोटा में हल्का गर्म व नमक डाला हुआ जल लें व जिस नासिका से श्वांस चल रही हो उसमें पानी डालें व दूसरी नासिका से निकाल दें। यह क्रिया दोनों ओर से करें। अब कपालभाति करें जिससे जल निकल जाये।

2. **कुंजल–** कुंजल के लिए एक पात्र में नमक मिला हुआ जल गुनगुना लें व उकड़ू बैठकर यथासंभव 1–2 लीटर जल ग्रहण करें, तत्पश्चात् खड़े होकर झुकें व दो अंगुलियों को छोटी जीभ कौआ (अर्थात् गले के अन्दर ऊपर से लटकता हुआ माँस का टुकड़ा) पर स्पर्श करें। जिससे सम्पूर्ण जल बाहर निकल जाये।

3. **कपालभाति–** यह क्रिया पद्मासन या किसी सरल आसन में बैठकर गहरी श्वास लें तथा श्वास को छोड़ते रहें, जिसमें शरीर स्थिर रहे व पेट की माँसपेशियाँ अन्दर की ओर जाएँ, ऐसा करने का प्रयास करें।

4. **त्राटक–** यह क्रिया एक कोलाहल रहित स्थान में करें। अपनी आँखों की सीध में मोमबत्ती जलायें व लौ को देखते रहें जब तक कि आँसू न गिरने लगे। पुनः इस लौ को अन्तःत्राटक के रूप में देखें। यह क्रिया 1 मिनट से शुरू करें और तीन बार देखें।

5. **शंखप्रक्षालन (लघु)–** यह हमारे आहार नाल से लेकर बड़ी आँत तक की सफाई की क्रिया है। यह क्रिया तीन चरणों में पूरी होती है।

हल्का नमकीन गुनगुना पानी छः गिलास रख लें। दो–दो गिलास पीने के बाद ताड़ासन, तिर्यक्ताड़ासन, कटिचक्रासन, तिर्यक् भुजंगासन व उदराकर्षण आसन सभी आठ–आठ चक्र करें। पूरी आहार नाल की सफाई करता हुआ पानी निकल आएगा।

सावधानियाँ– किन्हीं कुशल मार्गदर्शक के संरक्षण में ही अभ्यास करें। इसके तुरंत बाद शवासन करें। बाद में खिचड़ी खाएँ।

सोऽहं साधना

सोऽहं साधना जीव व ईश्वर के मिलन का बोध कराती है। वास्तव में मनुष्य हर समय श्वास लेता–छोड़ता है व सोऽहं साधना करता रहता हैं, पर एकाग्रता न होने के कारण वह पहचान नहीं पाता है। इसमें श्वास लेते हुए 'सो' की ध्वनि तथा श्वास छोड़ते हुए 'हम' की ध्वनि होती है।

विधि– पद्मासन या सुखासन में स्थिर बैठें। शरीर सीधा व शिथिल। धीरे–धीरे श्वास लें व छोड़ें। श्वास लेते हुए "सो" की ध्वनि सुनें व भावना करें कि हम विश्वप्राण को धारण कर रहे हैं, फिर श्वांस छोड़ते हुए "हम्" की ध्वनि करते हैं। जिसमें भावना करें कि कसाय कल्मषों व अहंकार को बाहर कर रहे हैं। भाव "जो वो है वही मै हूँ"। स्थिर बैठे रहें, सोऽहम् ध्वनि को सुनते रहें। कोई विचार या बाहरी आवाज आपको आकृष्ट न करने पाए। हर अन्दर जाने वाली श्वास "सोऽऽऽ" बाहर जाने वाने वाली श्वास "हम्ऽऽऽ"। धीरे–धीरे श्वास लंबी होती जाएगी, एकाग्रता बढ़ती जाएगी पूरी सजगता श्वसन प्रणाली पर होगी। "जो वो है वही मैं हूँ" का भाव बलवान् होता जाएगा। कोई भी श्वास आपकी जानकारी के बगैर न अन्दर आएगी न बाहर जाएगी। पूरी सजगता, पूरी तन्मयता से 10 मिनट तक यह साधना करें। थोड़ी देर के बाद 'सोऽहम्' मंत्र से चेतना को हटाएँ। बाहरी वातावरण के प्रति सजग हों। मन ही मन साधना के प्रभाव को जानें–समझें। थोड़ी देर स्थिर बैठे रहें, फिर धीरे–धीरे हाथ पैर हिलाते हुए दोनों हथेलियों को आपस में रगड़ें। हाथों को आँख पर रखें, फिर धीरे–धीरे आँख खोलें। सोऽहम् साधना समाप्त हुई।

ॐ शांतिः

योग-निद्रा

विशेष निर्देश :–

यह अभ्यास किन्हीं कुशल मार्गदर्शक के निर्देशों को सुनकर किया जाता है। इसके लिए या तो निर्देशक के पास जाएँ या उनकी आवाज को टेप–रिकार्डर से सुनें। जहाँ तक संभव हो निर्देशों का अनुपालन करें। जो नहीं समझ में आए उसके लिए भी चिन्ता न करें। योग–निद्रा समग्र शिथिलता का अभ्यास है। इसके लिए संक्षिप्त दिशा निर्देश इस प्रकार है–

तैयारी– जमीन पर शवासन में लेट जाइये। इस अवस्था में आपका शरीर सिर से पैर तक एक ही सीध में, पैर एक दूसरे से थोड़े अंतर पर, दोनों हाथ कमर के बगल में सीधे, हथेलियाँ ऊपर की ओर खुली रहे। शरीर को किसी तरह हिलाना–डुलाना नहीं, आँखें बन्द, गहरी श्वास लें और अनुभव कीजिए कि शारीरिक एवं मानसिक थकान दूर हो रही है।

अनुभव कीजिए मानो आप रात्रि में सोने के लिए बिस्तर पर जा रहे हैं। आपको सोना नहीं है, पूर्णतः जागरूक रहना है। निर्देशक की आवाज को सुनें और उसे मानसिक रूप से क्रियान्वित करें और अपनी चेतना को आवाज के साथ जोड़ें।

विश्राम– शरीर को आंतरिक रूप से शिथिल करने की भावना कीजिए, अपने ध्यान को शरीर पर केन्द्रित कीजिए और पूर्ण शारीरिक स्थिरता के प्रति सजग रहिए। अपनी चेतना को सिर से पैर तक घुमाइये और मानसिक रूप से ओ३म् का उच्चारण कीजिए, पूर्ण स्थिरता के साथ–सम्पूर्ण शरीर।

आप ध्यान रखिये कि आप योग–निद्रा का अभ्यास करने जा रहे हैं। मानसिक रूप से कहिये "मैं सजग हूँ और मैं योग–निद्रा का अभ्यास करने जा रहा हूँ"।

संकल्प– कोई एक संकल्प चुनिये। संकल्प बहुत ही छोटा और सरल हो। संकल्प आपके विकास एवं रचनात्मक भाव से प्रेरित हो। यह संकल्प आपके स्वभाव व प्रकृति के अनुकूल छोटा, सरल और स्पष्ट भाषा में होना चाहिए। इस संकल्प को तीन बार मन ही मन दोहराइये। योग–निद्रा में किया गया संकल्प निश्चित ही फलीभूत होता हैं

चेतना को घुमाना– चेतना को शरीर के विभिन्न भागों में तेजी से घुमाइये तथा शरीर के प्रति सजग बनिये। अपने दाहिने हाथ पर अपनी मानसिक चेतना ले जाइये।

दायीं ओर– दायें हाथ का अंगूठा, पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी अंगुली, हथ्ेली, हथेली के पीछे का भाग, कलाई, कोहनी से नीचे की भुजा, कोहनी से ऊपर की भुजा, कंधा, काँख, बगल, दायीं कमर, दायाँ नितम्ब, दायीं जांघ दायाँ घुटना, दायीं पिण्डली, टखना, पंजा, तलवा, अँगूठे, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली, चौथी अँगुली।

बायीं ओर– बायें हाथ पर अपनी मानसिक सजगता को ले जाइये। बायें हाथ का अंगूठा, पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, बायीं हथेली, हथेली के पीछे का भाग, कलाई, नीचे की भुजा, कोहनी, ऊपर की भुजा, कंधा, बायीं बगल, बायीं कमर, बायीं जघां, बायाँ घुटना, बायाँ पिण्डली, टखना, एड़ी, बायाँ पैर का तलवा, पैर का पंजा, अँगूठा पहली अँगुली, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली चौथी अँगुली

पीठ– अपनी पीठ के प्रति सजग रहें– दायाँ पुट्ठा, दायाँ नितम्ब, बायाँ पुट्ठा, बायाँ नितम्ब, रीढ़ की हड्डी, पीठ का पूरा भाग।

सामने– अपनी चेतना को सिर के ऊपर के भाग पर लाइये। सिर का ऊपरी भाग, ललाट या माथा, सिर के दोनों पार्श्व, दायीं भौंहें, बायीं भौंह, भ्रूमध्य, दायीं आँख, बायीं आँख, दायाँ कान, बायाँ कान, दायाँ गाल, बायाँ गाल, नाक नासिकाग्र, ऊपर का होठ, नीचे का होठ, ठुड्डी, गला, दायीं छाती, बायीं छाती।

मुख्य अंग– पूरा दायाँ पैर–पूरा बायाँ पैर, दोनों पैर एक साथ, अपनी सम्पूर्ण चेतना को शरीर के समस्त भाग पर ले जाइये।

श्वास– अपनी श्वास प्रक्रिया के प्रति जागरूक बनिए। फेफड़ों में जो श्वसन क्रिया आप कर रहे हैं उसका अनुभव कीजिए, आप श्वास ले रहे हैं और छोड़ रहे हैं। स्वाभाविक श्वसन क्रिया करते जाइए। अब अपनी श्वास को 17 से 1 तक उल्टा गिनना शुरू कीजिए। नाभि के ऊपर उठने के साथ 17 गिनिए, ना भि के नीचे आने के साथ 17 गिनिए, गिनती मानसिक रूप से गिननी है। थोड़ी देर बाद गिनती बन्द कर दीजिए।

काल्पनिक अवलोकन– श्वास की सजगता का त्याग कर मानस दर्शन करें, आपको विभिन्न वस्तुओं और प्रतीकों के नाम बोलेंगे, आपको उन प्रतीकों का दर्शन जितना सम्भव हो सके करना है।

जलती हुई मोमबत्ती, जलती हुई मोमबत्ती। रेगिस्तान–असीम रेगिस्तान– असीम रेगिस्तान। भयंकर वर्षा। बर्फ से ढँके हुए पहाड़, ढंकें हुए पहाड़, ढंके हुए पहाड़। सूर्योदय के समय का सुन्दर दृश्य। कब्र के पास कफन। सूर्यास्त के समय उड़ते पक्षी, सूर्यास्त के समय उड़ते पक्षी। सूर्योदय के समय उड़ते पक्षी। लाल बादल चल रहे हैं, लाल बादल चल रहें हैं, लाल बादल चल रहे हैं। रात में आकाश में तारे, रात में आकाश में तारे, रात में आकाश में तारे। पूरा चन्द्रमा, पूरा चन्द्रमा, पूरा चन्द्रमा। मुस्कराते हुए बुद्ध की प्रतिमा। समुद्री हवा, समुद्री हवा, समुद्री हवा। लहरें रेतीले किनारे को काट रही हैं, लहरें रेतीले किनारे को काट रही हैं। अनन्त तूफानी समुद्र, अनन्त तूफानी समुद्र, अनन्त तूफानी समुद्र।

संकल्प– अब अपने संकल्प को दोहराइये जिसे आपने अभ्यास के पूर्व में लिया था, संकल्प बदलना नहीं है, पूर्ण जागरूकता के साथ अपने संकल्प को तीन बार दोहराइये, उसके साथ ही आपकी भावना भी प्रबल होनी चाहिए।

समाप्ति– सभी प्रयासों को शिथिल करिये, अपने मन को बहिर्मुखी बनाइये। आपका शरीर पूर्ण विश्राम की स्थिति में जमीन पर लेटा हुआ है। आप धीरे–धीरे शान्तिपूर्वक श्वास ले रहे हैं। अपनी मानसिक चेतना को सिर से पैर तक घुमाइए। जमीन और अपने लेटे हुए शरीर के प्रति सजग हो जाइये। अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति जागरूक हो जाइए। अपने शरीर को धीरे–धीरे हिलाइये और पूरे शरीर को तानिये। धीरे–धीरे उठकर बैठ जाइये और अपनी आँखें खोल लीजिये। योगनिद्रा का अभ्यास समाप्त होता है।

ॐ शांतिः

पता-

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुंज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

फोन- 91-01334-260602, 261955 फैक्स-01334-260866

Website: www.awgp.org E-mail: shantikunj@awgp.org

प्रज्ञा योग व्यायाम

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय शान्तिकुञ्ज

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्वारा
विक्रम संवत्सर २०५८-५९

Code No. SV 41

विचार क्रान्ति अभियान, शांतिकुंज, हरिद्वार

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्

कैलाशशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम् ।
पृच्छति स्म महादेवी ब्रूहि ज्ञानं महेश्वर ॥ १ ॥

देवी उवाच

कुतः सृष्टिर्भवेद् देव कथं सृष्टिर्विनश्यति ।
ब्रह्मज्ञानं कथं देव सृष्टिसंहारवर्जितम् ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताच्च भवेत् सृष्टिरव्यक्ताच्च विनश्यति ।
अव्यक्तं ब्रह्मणो ज्ञानं सृष्टिसंहारवर्जितम् ॥ ३ ॥

ओङ्कारादक्षरात् सर्वास्त्वेता विद्याश्चतुर्दश ।
मन्त्र-पूजा-तपो-ध्यानं कर्माकर्म तथैव च ॥ ४ ॥

षडङ्गं वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रपुराणानि एता विद्याश्चतुर्दश ॥ ५ ॥

तावद् विद्या भवेत् सर्वा यावद् ज्ञानं न जायते ।
ब्रह्मज्ञानं पदं ज्ञात्वा सर्वविद्या स्थिरा भवेत् ॥ ६ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
या पुनः शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ७ ॥

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः ।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥

अध्यात्मविद्या हि नृणां सौख्यमोक्षकरी भवेत् ।
धर्म कर्म तथा जप्यमेतत् सर्वं निवर्तते ॥ ९ ॥

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धः पयोऽमृतम् ।
देहमध्ये तथा देवः पुण्यपापविवर्जितः ॥ १० ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥ ११ ॥

त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२ ॥

देवी उवाच

कीदृशी खेचरी मुद्रा विद्या च शाम्भवी पुनः ।
कीदृश्यध्यात्मविद्या च तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच

मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनं
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम् ।
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं
सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी ॥ १४ ॥

बालस्य मूर्खस्य यथैव चेतः
स्वप्नेन हीनोऽपि करोति निद्राम् ।
ततो गतः पथो निरावलम्बः
सा एव विद्या विचरन्ती शाम्भवी ॥ १५ ॥

देवी उवाच

देवदेव जगन्नाथ ब्रूहि मे परमेश्वर ।
दर्शनानि कथं देव भवन्ति च पृथक् पृथक् ॥ १६ ॥

ईश्वर उवाच

त्रिदण्डी च भवेद् भक्तो वेदाभ्यासरतः सदा ।
प्रकृतिवादरताः शाक्ता बौद्धा शून्यातिवादिनः ॥ १७ ॥

अतोर्ध्व गामिनो ये वा तत्त्वज्ञा अपि तादृशाः ।
सर्वं नास्तीति चार्वाका जल्पन्ति विषयाश्रिताः ॥ १८ ॥

उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम् ।
पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशतिः ॥ १९ ॥

ईश्वर उवाच

अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम् ।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २० ॥

शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम् ।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २१ ॥

निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम् ।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २२ ॥

धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा ।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २३ ॥

कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभश्च पञ्चमम् ।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥ २४ ॥

आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः ।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥ २५ ॥

मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ॥ २६ ॥

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं विलीयते ।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥ २७ ॥

स्पर्शनं रसनं चैव घ्राणं चक्षुश्च श्रोत्रकम् ।
पञ्चेन्द्रियमिदं तत्त्वं मनः साधकमिन्द्रियम् ॥ २८ ॥

ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥ २९ ॥

निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत् ॥ ३० ॥

देवी उवाच

आदिनाथ मयि ब्रूहि सप्तधातुः कथं भवेत् ।
आत्मा चैवान्तरात्मा च परमात्मा कथं भवेत् ॥ ३१ ॥

ईश्वर उवाच

शुक्रशोणितमज्जा च मेदो मांसं च पञ्चमम् ।
अस्थि त्वक् चैव सप्तैते शरीरेषु व्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥

शरीरं चैवमात्मानमन्तरात्मा मनो भवेत् ।
परमात्मा भवेच्छून्यं मनो यत्र विलीयते ॥ ३३ ॥

रक्तधातुर्भवेन्माता शुक्रधातुर्भवेत् पिता ।
शून्यधातुर्भवेत् प्राणो गर्भपिण्डं प्रजायते ॥ ३४ ॥

देवी उवाच

कथमुत्पद्यते वाचा कथं वाचा विलीयते ।
वाक्यस्य निर्णयं ब्रूहि पश्य ज्ञानमुदाहर ॥३५॥

ईश्वर उवाच

अव्यक्ताज्जायते प्राणः प्राणादुत्पद्यते मनः ।
मनसोत्पद्यते वाचा मनो वाचा विलीयते ॥३६॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेत् सूर्यः कस्मिन् स्थाने वसेच्छशी ।
कस्मिन् स्थाने वसेद् वायुः कस्मिन् स्थाने वसेन्मनः ॥३७॥

ईश्वर उवाच

तालुमूले स्थितश्चन्द्रो नाभिमूले दिवाकरः ।
सूर्याग्रे वसते वायुश्चन्द्राग्रे वसते मनः ॥३८॥
सूर्याग्रे वसते चित्तं चन्द्राग्रे जीवितं प्रिये ।
एतद्युक्तं महादेवि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥३९॥

देवी उवाच

कस्मिन् स्थाने वसेच्छक्तिः कस्मिन् स्थाने वसेच्छिवः।
कस्मिन् स्थाने वसेत् कालो जरा केन प्रजायते ॥४०॥

ईश्वर उवाच

पाताले वसते शक्तिर्ब्रह्माण्डे वसते शिवः।
अन्तरिक्षे वसेत् कालो जरा तेन प्रजायते ॥४१॥

देवी उवाच

आहारं काङ्क्षते कोऽसौ भुञ्जते पिबते कथम्।
जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तौ च को वाऽसौ प्रतिबुध्यति ॥४२॥

ईश्वर उवाच

आहारं काङ्क्षते प्राणो भुञ्जतेऽपि हुताशनः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तौ च वायुश्च प्रतिबुध्यति ॥४३॥

देवी उवाच

को वा करोति कर्माणि को वा लिप्येत पातकैः।
को वा करोति पापानि को वा पापैः प्रमुच्यते ॥४४॥

शिव उवाच

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः ॥४५॥

देवी उवाच

जीवः केन प्रकारेण शिवो भवति कस्य च।
कार्यस्य कारणं ब्रूहि कथं किञ्च प्रसादनम् ॥४६॥

शिव उवाच

भ्रान्तिबद्धो भवेज्जीवो भ्रान्तिमुक्तः सदाशिवः।
कार्यं हि कारणं त्वञ्च पुनर्बोधो विशिष्यते ॥४७॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः ।
इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः ॥४८॥

आत्मतीर्थं न जानाति कथं मोक्षो वरानने ॥

न वेदं वेदमित्याहुर्वेदो ब्रह्म सनातनम् ।
ब्रह्मविद्यारतो यस्तु स विप्रो वेदपारगः ॥४९॥

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारं तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबन्ति पण्डिताः ॥५०॥

उच्छिष्टं सर्वशास्त्राणि सर्वा विद्या मुखे मुखे ।
नोच्छिष्टं ब्रह्मणो ज्ञानमव्यक्तं चेतनामयम् ॥५१॥

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥५२॥

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः ।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः ॥५३॥

न होमं होममित्याहुः समाधौ तत्तु भूयते ।
ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होमकर्म तदुच्यते ॥५४॥

पापकर्म भवेद् भव्यं पुण्यं चैव प्रवर्तते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तादृष्यं च त्यजेद् बुधः ॥५५॥

यावद् वर्णं कुलं सर्वं तावज्ज्ञानं न जायते ।
ब्रह्मज्ञानपदं ज्ञात्वा सर्ववर्णविवर्जितः ॥५६॥

देवी उवाच—

यच्चया कथितं ज्ञानं नाहं जानामि शङ्कर ।
निश्चयं ब्रूहि देवेश मनो यत्र विलीयते ॥५७॥

शंकर उवाच—

मनो वाक्यं तथा कर्म तृतीयं यत्र लीयते ।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥५९॥

एकाकी निस्पृहः शान्तश्चिन्तानिद्राविवर्जितः ।
बालभावस्तथा भावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥६०॥

श्लोकार्धं तु प्रवक्ष्यामि यदुक्तं तत्त्वदर्शिभिः ।
सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ॥६१॥

निमिषं निमिषार्द्धं वा समाधिमधिगच्छति ।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥६२॥

देवी उवाच—

कस्य नाम भवेच्छक्तिः कस्य नाम भवेच्छिवः ।
एतन्मे ब्रूहि भो देव पश्चाज्ज्ञानं प्रकाशय ॥६३॥

ईश्वर उवाच—

चलचित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः ।
स्थिरचित्तो भवेद्देवि स देहस्थोऽपि सिध्यति ॥६४॥

देवी उवाच—

कस्मिन् स्थाने त्रिधा शक्तिः षट्चक्रं च तथैव च ।
एकविंशतिब्रह्माण्डं सप्तपातालमेव च ॥६५॥

ईश्वर उवाच—

ऊर्ध्वशक्तिर्भवेत् कण्ठः अधशक्तिर्भवेद् गुदः ।
मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यतीतं निरञ्जनम् ॥६६॥

आधारं गुह्यचक्रं तु स्वाधिष्ठानं च लिङ्गकम् ।
चक्रभेदं मयाख्यातं चक्रातीतं नमो नमः ॥६७॥

कायोर्ध्वं च ब्रह्मलोकः स्वाधः पातालमेव च ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम् ॥६८॥

देवी उवाच—

शिव शंकर ईशान ब्रूहि मे परमेश्वर ।
दशवायुः कथं देव दशद्वाराणि चैव हि ॥६९॥

ईश्वर उवाच—

हृदि प्राणः स्थितो वायुरपानो गुदसंस्थितः ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥७०॥
व्यानः सर्वगतो देहे सर्वगात्रेषु संस्थितः ।
नाग ऊर्ध्वगतो वायुः कूर्मस्तीर्थानि संस्थितः ॥७१॥
कृकरः क्षोभिते चैव देवदत्तोऽपि जृम्भणे ।
धनञ्जयो नादघोषे निविशेच्चैव शाम्यति ॥ ७२ ॥
एष वायुर्निरालम्बो योगिनां योगसम्मतः ।
नवद्वारं च प्रात्यक्षं दशमं मन उच्यते ॥ ७३ ॥

देवी उवाच—

नाडीभेदं च मे ब्रूहि सर्वगात्रेषु संस्थितम् ।
शक्तिः कुण्डलिनी चैव प्रसूता दशनाडिका ॥ ७४ ॥

ईश्वर उवाच—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चोर्ध्वगामिनी ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च प्रसवा गमनायता ॥ ७५ ॥
अलम्बुसा यशा चैव दक्षिणाङ्गे च संस्थिताः ।
कुलश्च शङ्खिनी चैव वामाङ्गे च व्यवस्थिताः ॥ ७६ ॥
एतासु दशनाडीषु नानानाडीप्रसूतिका ।
द्विसप्ततिसहस्राणि शरीरे नाडिकाः स्मृताः ॥ ७७ ॥

एता यो विन्दते योगी स योगी योगलक्षणः ।
ज्ञाननाडी भवेद्देवी योगिनां सिद्धिदायिनी ॥ ७८ ॥

देवी उवाच—

भूतनाथ महादेव ब्रूहि मे परमेश्वर ।
त्रयो देवा कथं देव त्रयो भावास्त्रयो गुणाः ॥ ७९ ॥

ईश्वर उवाच—

रजोभावस्थितो ब्रह्मा सत्त्वभावस्थितो हरिः ।
क्रोधभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ॥ ८० ॥

एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते ॥ १ ॥

वीर्यरूपी भवेद् ब्रह्मा वायुरूपः स्थितो हरिः ।
मनोरूपः स्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ॥ ८२ ॥

दयाभावस्थितो ब्रह्मा शुद्धभावस्थितो हरिः ।
अग्निभावस्थितो रुद्रस्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ॥ ८३ ॥

एकं भूतं परं ब्रह्म जगत् सर्वं चराचरम् ।
नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न जायते ॥ ८४ ॥

अहं सृष्टिरहं कालोऽप्यहं ब्रह्माऽप्यहं हरिः ।
अहं रुद्रोऽप्यहं शून्यमहं व्यापी निरञ्जनम् ॥ ८५ ॥

अहं सर्वात्मको देवि निष्कामो गगनोपमः ।
स्वभावनिर्मलं स्वान्तं स एवाहं न संशयः ॥ ८६ ॥

जितेन्द्रियो भवेच्छूरो ब्रह्मचारी सुपण्डितः ।
सत्यवादी भवेद् भक्तो दाता धीरो हितेरतः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचर्यं तपोमूलं धर्ममूला दया स्मृता ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दयाधर्मं समाश्रयेत् ॥ ८८ ॥

देवी उवाच—

योगेश्वर जगन्नाथ उमायाः प्राणवल्लभ ।
वेदसन्ध्या तपो ध्यानं होमकर्म कुलं कथम् ॥ ८९ ॥

ईश्वर उवाच—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ९० ॥

सर्वदा सर्वतीर्थेषु यत् फलं लभते शुचिः ।
ब्रह्मज्ञानसमं पुण्यं कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ९१ ॥

न मित्रं न च पुत्राश्च न पिता न च बान्धवाः ।
न स्वामी च गुरोस्तुल्यं यद्दृष्टं परमं पदम् ॥ ९२ ॥

न च विद्यागुरोस्तुल्यं न तीर्थं न च देवताः ।
गुरोस्तुल्यं न वै कोऽपि यद्दृष्टं परमं पदम् ॥ ९३ ॥

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥ ९४ ॥

यस्य कस्य न दातव्यं ब्रह्मज्ञानं सुगोपितम् ।
यस्य कस्यापि भक्तस्य सद्गुरुस्तस्य दीयते ॥ ९५ ॥

मन्त्रं पूजां तपो ध्यानं होमं जप्यं बलिक्रियाम् ।
संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्यजेद् बुधः ॥ ९६ ॥

संसर्गाद् बहवो दोषा निःसङ्गाद् बहवो गुणाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यतिः सङ्गं परित्यजेत् ॥ ९७ ॥

अकारः सात्त्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः ।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते ॥ ९८ ॥

अक्षरा प्रकृतिः प्रोक्ता रक्षरः स्वयमीश्वरः ।
ईश्वरान्निर्गता सा हि प्रकृतिर्गुणबन्धना ॥ ९९ ॥

सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी ।
अविद्या मोहिनी या सा शब्दरूपा यशस्विनी ॥१००॥
अकारश्चैव ऋग्वेद उकारो यजुरुच्यते ।
मकारः सामवेदस्तु त्रिषु युक्तोऽप्यथर्वणः ॥१०१॥
ओङ्कारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिनाद इति संज्ञितः ।
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते ॥१०२॥
सव्यञ्जनो मकारस्तु स्वर्लोकस्तु विधीयते ।
अक्षरैस्त्रिभिरेतैश्च भवेदात्मा व्यवस्थितः ॥१०३॥
अकारः पृथिवी ज्ञेया पीतवर्णेन संयुतः ।
अन्तरीक्षं उकारस्तु विद्युद्वर्ण इहोच्यते ॥१०४॥
मकारः स्वरिति ज्ञेयः शुक्लवर्णेन संयुतः ।
ध्रुवमेकाक्षरं ब्रह्म ॐ इत्येवं व्यवस्थितम् ॥१०५॥
स्थिरासनो भवेन्नित्यं चिन्तानिद्राविवर्जितः ।
आसु स जायते योगी नान्यथा शिवभाषितम् ॥१०६॥
य इदं पठते नित्यं शृणोति च दिने दिने ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ॥१०७॥

देवी उवाच—

स्थूलस्य लक्षणं ब्रूहि कथं मनो विलीयते ।
परमार्थं च निर्वाणं स्थूलसूक्ष्मस्य लक्षणम् ॥१०८॥

शिव उवाच—

येन ज्ञानेन हे देवि विद्यते न च किल्बिषी ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
स्थूलरूपी स्थितोऽयं च सूक्ष्मश्च अन्यथा स्थितः ॥१०९॥

इति ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रं समाप्तम् ॥

—*—

❀ श्रीः ❀

❀ भूमिका ❀

क्या मनुष्यके जन्मका कोई उद्देश्य ही नहीं है ? क्या कुछ वर्षोंतक खाना पीना सोना आदि आपशुसाधारण कामोंके लिये ही है ? मनुष्य किस लिये जन्म लेता है ? किस अज्ञानान्धकार में के परदेके भीतरसे, किस अज्ञात मार्गसे, बिना निमन्त्रणके—बिना ही बुलाये आकर कुछ वर्षोंको बितादेना है, इसके बाद फिर किस मार्गसे किसप्रकार कहाँ चलाजाता है । उस समय कितना ही घबड़ाकर कितना ही पुकारो—कितने ही आदरके साथ निमन्त्रण दो—फिर लौटकर नहीं आता । यहाँ जिनको प्राणोंकी रस्सीसे बाँधकर रखता था, जिनके सुखके लिये अपना बलिदान करनेको तयार रहता था, उनको ही छोड़ कर चलाजाता है और फिर लौटकर आना नहीं चाहता । तो फिर किसलिये आया था ? क्यों चला गया ? इस आने जानेका—इस कुछ वर्षोंके नियमित मनुष्यजीवनका क्या कुछ उद्देश्य ही नहीं है ?

यदि कुछ उद्देश्य नहीं है तो फिर यह आना जाना क्यों है ? किसी उद्देश्यके बिना जीवनयज्ञकी इतनी तयारी क्यों है ? बिना उद्देश्यके जीवनयज्ञकी सफलताके लिये ऋत्विक्, उद्गाता, सदस्य और आचार्यकी आवश्यकता क्यों है ? क्या बिना उद्देश्यका वा बिना प्रयोजनका भी कोई काम होता है ?

मनुष्यजीवनका कोई उद्देश्य अवश्य है और वह उद्देश्य मुक्ति है । किसकी मुक्ति ? मेरी, मैं कौन हूँ ? सोऽहम् । तो मुक्तिका क्या प्रयोजन है ? सीपीमें स्वाति नक्षत्रका जल पड़ता है । सीपीमेंका कीड़ा अपने दोनों आवरणके मलिन बन्धनमें उस

स्वातीके जलको बाँधकर बैठजाता है और स्वातीके जलका मोती बन जाता है। वह कीड़ा सागरमें उत्पन्न हुआ है और सागरके भीतर ही डूबा पड़ा रहता है उसके पेटमें एक बिन्दु जल मोती बना हुआ है। वह जिससमय अपने बाहुबन्धनको छोड़देगा, उस समय जलका मोती जलमें गिरकर जल ही होजायगा उस समय जल होकर जलके साथ मिलकर मुक्त होजायगा। हम जीव हैं, हम भी किसी स्वाती नक्षत्रकी समान किसी एक क्षण (मुहूर्त्त) में महामायाके उदरमें घुसकर जीव बन बैठे हैं। महामायाके उस कराल कालकवलसे उद्धार पाकर अनन्तकी गोदीमें गिरते ही मुक्त होजायँगे। स्वाती नक्षत्रका वह जल ही मोती बनगया है, इसलिये इस समय उसको व्यक्त जल नहीं कहसकते। अनन्तका वह कण ही जीव बनजाता है, प्रकृतिके बाहुबन्धनमें पडगया है, इसलिये ही इस समय वह अव्यक्त है। आत्मामात्र अव्यक्त ब्रह्म है। बाहरी और भीतरी प्रकृतिको वशमें करके आत्माके इस ब्रह्मभावको व्यक्त करना ही जीवनका लक्ष्य व उद्देश्य है।

जिसको भूमि, जल, तेज, वायु वा आकाश नहीं कहसकते, इन्द्रिय वा इन्द्रियोंकी समष्टि नहीं कहसकते और जो सुषुप्तिकालमें एकमात्र शेष रहता है और जो महाप्रलयमें भी एकमात्र शेष रहता है वही आत्मा है। आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय अदि किसी वर्णके भीतर नहीं है। वर्णाश्रमका आचार वा धर्म उसका नहीं है। ध्यान धारणा आदिमें भी उसका योग नहीं है वह देहरूप नहीं है। अध्यासके बादल फटते ही वह केवल एकमात्र शेष रहजाता है उसके माता पिता नहीं हैं, स्वर्गादि लोक नहीं हैं, वेद नहीं हैं, यज्ञ नहीं हैं और तीर्थ भी नहीं हैं। सुषुप्तिके समय सबका विलय होजाने पर भी केवल वही शेष रहता है। वह सच्चिदानन्दमय है। जो स्वयं सब पदार्थोंका द्रष्टा है, जिसको कोई भी

देख नहीं सकता। जो बुद्धि आदि अन्तःकरणोंको प्रकाशित करता है, बुद्धि आदि अन्तःकरण जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते, वही आत्मा पुरुष है। जिससे यह विश्व व्याप्त होरहा है, जिसको कोई भी व्याप्त नहीं करसकता। अभावरूप यह सब जगत् जिसकी आभासे भासरहा है वही आत्मा है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जिसकी समीपतासे प्रेरित होकर सेवककी समान अपने २ काममें लगे हुए हैं, वही आत्मा है। अहङ्कारसे लेकर देहपर्यन्त सब पदार्थ और सुख आदि सब विषय, घटपटकी समान जिसके द्वारा जानेजाते हैं वह नित्यबोधस्वरूप पुरुष ही आत्मा है आत्मा पुराण, निरन्तर, आनन्दस्वरूप है। सर्वदा एकरूप और ज्ञानमात्र है। आत्मा अपनी आभासे सब विश्वको प्रकाशित करके सत्त्वस्वभाव बुद्धिरूप गुहाके भीतरके अव्यक्ताकाशमें सूर्यकी समान प्रकाशित होरहा है। आत्मा मन, अहङ्कार, देह, इन्द्रिय और प्राण इन सबोंकी क्रियाको जानता है। आगमें तपायाहुआ लोहा और अग्नि जैसे एकाकार होजाते हैं अर्थात् अग्निकी दाहिका शक्ति लोहेमें और लोहेका भारापन आदि अग्निमें आरोपित होजाता है, ऐसे ही आत्मा वा पुरुष अन्तःकरण आदि प्रकृतिके साथ एकत्र होनेके कारण दोनों दोनोंके गुणोंको पाजाते हैं, तथापि आत्मा एकाकी है, नित्य है। घड़ा फूटजाने पर जैसे उसके भीतरका आकाश नष्ट नहीं होता है, ऐसे ही जड़ देहादिके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता है।

हम मायाके परदेसे ढके जाकर अपने आपको भूलगये हैं। माया क्या है? भ्रान्त इन्द्रियें मनुष्यको खेंचकर बाहर ले जाती हैं। जहाँ किसी प्रकार भी सुख नहीं मिलता, जहाँ मनुष्य सुख को खोजता फिरता है। अनन्त युगोंसे हम सब यह उपदेश पाते चले आरहे हैं, कि—यह सब प्रपञ्च वृथा है, परन्तु हम सीखते

कुछ नहीं। अपने आप उद्योग किये बिना कोई नहीं सीख सकता मालूम होता है, कि हमें जबतक बड़ीभारी टक्कर नहीं लागेगी हम तबतक इश्वरको प्रवृत्त नहीं होंगे। क्या हम चोट खाकर ही सीखेंगे? नहीं ऐसा भी नहीं होता। जैसे पतङ्गा बार२ अग्निकी ओरको दौड़ता है तैसे ही हम भी बार२ विषयोंकी ओरको दौड कर जाते हैं कुछ भी सुख नहीं पाते तथापि बार २नये२ उत्साह से विषयोंकी ओरको दौडते हैं. अन्तमें धोखा पाकर हाथ पैर तोडकर मरजाते हैं, यही माया है।

पुराणमें मायाकी एक बड़ी सुन्दर कहानी है।एक दिन नारदजी ने श्रीकृष्णजीके पास जाकर कहा,कि--भगवन्!माया क्या पदार्थ है? इसको तो मैं समझकर भी नहीं समझ पाता। श्रीकृष्णने कोमल मुस्करानके साथ कहा, कि मायाके स्वरूपको समझते ही माया मरजाती है, जीव मुक्त होजाता है। अच्छा लो चलो मृत्यु-लोकमें घूम आवें हमारा एक काम है।

नारद और श्रीकृष्ण कितनी ही दूरतक चले गये बहुत दूरपहुँच कर श्रीकृष्णने कहा,कि,मुझे बडी प्यास लगी है--थोडासा जल तासकते हो नारदजी जल ढूँढनेको चलदिये।सामने ही ग्राम था, तहाँ एक गृहस्थके घर जाकर जल माँगा। एक सुन्दरी युवती जल लेकर आयी, नारद उसके रूपको देखकर मोहित होगये, जल और श्रीकृष्णकी प्यासकी बातको भूलकर उस सुन्दरीके पिताके पास पहुँच गये और उसके साथ अपना विवाह करनेकी प्रार्थना करनेलगे। नारदके साथ उस युवतीका विवाह होगया! कुछ दिनोंके बाद नारदजीके श्वसुर मरगये श्वसुरकी सब संपत्ति नारदजीको मिलगयी। नारदजीके तीन सन्तान होगयीं। पुत्र और धन सम्पदादि पाकर नारदजीने बारहवर्ष एकसे सुखमें बिता दिये अचानक एकदिन नारदजीका बडा लडका जलमें डूबकर

मरगया।जलके अहलेमें सब देश डूबा जारहा था। नारदजी बचे हुए दोनों पुत्र और स्त्रीको लेकर उस ग्रामको छोड़ेहुए जारहे थे। एक स्थान पर जलके भँवरमें पड़कर नारदजी के ये दोनों पुत्र और स्त्री भी डूबगये।सैंकड़ों चेष्टा करने पर भी नारदजी उनको रोक नहीं सके और किनारे पर आकर उनके लिये हाहाकार करनेलगे। इसी समय न जाने किसने उनकी पीठपर कोमल हाथसे थपका और मानो यह कहा, कि—नारद! कई घड़ी होगई तुम तो जल लेनेगये थे? कहो नारद! जल कहाँ है? कई एक घड़ी, नारदजीकी समझमें तो बारह वर्ष बीत गए हैं! कई घडी में ही इतना बडा समय बीतगया।यही माया है! आत्माके निकट तो न काल है, न स्त्री है न पुरुष! मायाके भीतर वर्त्तमान हैं, इसलिये ही हम सर्पमें रज्जुके भ्रमकी समान उसको पकड़नेके लिये दौडते हैं।

परन्तु सर्वसंहारकर्त्ता काल तो सबका ही ग्रास करेगा और ग्रास कररहा है—कुछ भी बाकी नहीं छोडता। हम इस बातको देखते हुए भी नहीं देखते, समझते हुए भी नहीं समझते। वह पापीको खाता है, पापको खाता है, राजाको, प्रजाको, सुन्दरको, कुरूपको सबको ही खाजाता है, किसीको छोडता ही नहीं, सब ही उस एक अन्तिम गति विनाशकी ओरको दौड़े चलेजारहे हैं। हमारा ज्ञान, शिल्प, विज्ञान सब ही उस एक अनिवार्य गति मृत्युकी ओरको बढ़ा चला जारहा है। इस तरफ़की गतिको कोई भी नहीं रोकसकता। इस विनाशाभिमुखी गतिको कोई एक मुहूर्तके लिये भी नहीं रोकसकता। हम उसको भूले रहनेकी चेष्टा करसकते हैं। पक्षाघातग्रस्थ (लकवेके) रोगीकी समान सब प्रकारसे इन्द्रियसुखके द्वारा उसके भूले रहनेकी चेष्टा करते हैं—परन्तु वह हमको नहीं भूलसकता। सडनेवाले मुर्देको सुगन्धित

फूलोंसे ढककर रखनेसे वह कै दिन रहसकता है ? एक दिन फूल कुम्हलाकर खिसक जायँगे और मुरदा पहलेसे भी अधिक भयानक दीखने लगेगा । हमारा सब जीवन भी ऐसा ही है । हम अपने पुराने सड़ेहुए घावको सोनेके कपड़ेसे लपेट कर रखनेकी चेष्टा करसकते हैं, परन्तु एक दिन आवेगा, कि—जब वह सोनेका कपडा खिसक जायगा और वह घाव बडा ही भयानक स्पष्ट दीखने लगेगा ।

तो फिर उपाय क्या है ? जिस मायाके लिये हमारी सब दिशायें नष्ट होती चलीजाती हैं, उस मायाको त्यागनेकी क्या कोई आशा ही नहीं है ? है, अवश्य है । वह सुनो—यमुनाके तटपर से मोहनकी वंशीका मधुर शब्द सुनाई आरहा है । वह सुनो महामायाके महा—समरके मध्यसे मेघगम्भीर वाणीमें प्राणोंको मोहित करनेवाले स्वरमें सुनायी आरहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

मेरी इस दैवगुणमयी मायाके पार होना बडा ही कठिन काम है, जो मेरी शरण लेते हैं वे ही इस मेरी मायाके पार होसकते हैं ।

हे थकेहुए और बोझेसे पिचेहुए पथिकों ! आओ मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूँगा और आश्रय दूँगा ।

इस अभय वाणीको-इस आनन्दकी बातको-इस रस भरे तत्व को सुननेके लिये हमें तयार होना होगा । मायाके मोहकोलाहल से चित्तको जरा स्थिर करना होगा । जिससे चित्त स्थिर हो, चित्तकी वृत्ति रुकजाय, उसका ही नाम योग है । इसलिये सब शास्त्रोंमें सब ग्रन्थोंमें सब साधुओंके मुखसे यही सुनते हैं, कि—योगकी साधना करो । शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य, और वैष्णव सब ही कहते हैं कि—योगके बिना मुक्ति नहीं हो सकती । वेद,

पुराण उपनिषद्, स्मृति आदि सबकी ही व्यवस्था है, कि-माया के पार जानेके लिये योगसाधना करनी होगी।

एक श्रेणीके लोग कहते हैं, कि—यह तो हम जानते हैं। परन्तु एकसाथ संसारको छोड़कर स्त्री पुरुष बूढ़े माता पिता आदि परिवारको मार्गमें बैठाल वनमें जाकर योगी बन जाना अधर्म है। वनमें जाना अधर्म नहीं है, परन्तु हठसे योंही घर द्वारको छोड़ जाना अवश्य ही अधर्म है। तुम हम वनमें न जाकर स्त्री पुत्र माता पिता आदिको लिए ही बैठे रहें तो क्या कर सकते हैं? मृत्युके जरा जरा अंगुली हिलाते ही सदाके लिये चलेजाते हैं। स्त्री पुत्र आदि भी हमको छोड़कर चले जा सकते हैं। यहाँ कौन किसका है? हरएक श्वास पर, हृदयकी हरएक धड़कन पर, अपनी हरएक हालतमें हम विचारते हैं, कि हम स्वाधीन हैं, परन्तु उसी क्षणमें हम देखते हैं, कि—हम स्वाधीन नहीं हैं, किन्तु हम प्रकृतिके मोल लिये हुए दास हैं—हम शरीर, मन, सकल चिन्तायें और सकल भावोंमें प्रकृतिके क्रीतदास हैं, तो भी हम संसारके कर्त्ता धर्त्ता बनकर, सबको त्यागकर संसारको छोड़नेमें अधर्म समझते हैं. यही तो माया है! मायाकी फाँसीको काटना क्या सहज है।

तो फिर उपाय क्या है? संसारको छोड नहीं सकते तो फिर काम कैसे होगा? संसारको तो छोड ही नहीं सकते। स्त्री पुत्र आदिके बीचमें रहकर कर्त्तव्यका पालन करनेसे ही काम बनेगा। इस शुभ संयोगके लिये हमारे पुरातन ऋषि साधन-तत्त्वके स्वर्गीय द्वारको खोलगये हैं। उनकी कृपासे अभी तक वह तत्त्व—वह सार—रत्न हिन्दुओंके घरोंमें—हिन्दुओंके हृदयोंमें—हिन्दुओंके साधनासाफल्यमें विद्यमान है। हम इस पुस्तकमें गृहस्थोंके लिये उन ही सब उपायोंको बतानेका यत्न करेंगे।

प्रिय गृहस्थों ! अनन्त मार्गके पथोहियों ! आओ हम कुछ यत्न, कुछ चेष्टा करके अपने पशुजीवनकी कुछ उन्नति करें। हम जो कुछ हैं, उसका अनुभव करें। बहुत्वपूर्ण जगत्में उस एक अखण्ड स्वरूपको देखनेकी चेष्टा करें। एकमात्र योगसाधनाके द्वारा ही वह होसकता है।

विनीत निवेदक—रचयिता।

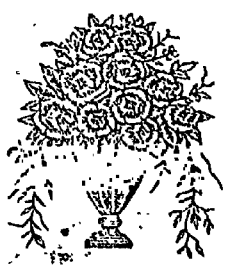

❀ श्रीः ❀

❀ भूमिका ❀

क्या मनुष्यके जन्मका कोई उद्देश्य ही नहीं है ? क्या कुछ वर्षोंतक खाना पीना सोना आदि आपशुसाधारण कामोंके लिये ही है ? मनुष्य किस लिये जन्म लेता है ? किस अज्ञानान्धकार में के परदेके भीतरसे, किस अज्ञात मार्गसे, बिना निमन्त्रणके—बिना ही बुलाये आकर कुछ वर्षोंको बिताजाता है, इसके बाद फिर किस मार्गसे किसप्रकार कहाँ चलाजाता है । उस समय कितना ही घबड़ाकर कितना ही पुकारो—कितने ही आदरके साथ निमन्त्रण दो—फिर लौटकर नहीं आता । यहाँ जिनको प्राणोंकी रस्सीसे बाँधकर रखता था, जिनके सुखके लिये अपना बलिदान करनेको तयार रहता था, उनको ही छोड़ कर चलाजाता है और फिर लौटकर आना नहीं चाहता । तो फिर किसलिये आया था ? क्यों चला गया ? इस आने जानेका—इस कुछ वर्षोंके नियमित मनुष्यजीवनका क्या कुछ उद्देश्य ही नहीं है ?

यदि कुछ उद्देश्य नहीं है तो फिर यह आना जाना क्यों है ? किसी उद्देश्यके बिना जीवनयज्ञकी इतनी तयारी क्यों है ? बिना उद्देश्यके जीवनयज्ञकी सफलताके लिये ऋत्विक्, उद्गाता, सदस्य और आचार्यकी आवश्यकता क्यों है ? क्या बिना उद्देश्यका वा बिना प्रयोजनका भी कोई काम होता है ?

मनुष्यजीवनका कोई उद्देश्य अवश्य है और वह उद्देश्य मुक्ति है । किसकी मुक्ति ? मेरी, मैं कौन हूँ ? सोऽहम् । तो मुक्तिका क्या प्रयोजन है ? सीपीमें स्वाति नक्षत्रका जल पड़ता है । सीपीमेंका कीड़ा अपने दोनों आवरणके मलिन बन्धनमें उस

स्वातीके जलको बाँधकर बैठजाता है और स्वातीके जलका मोती बन जाता है। वह कीड़ा सागरमें उत्पन्न हुआ है और सागरके भीतर ही डूबा पड़ा रहता है उसके पेटमें एक बिन्दु जल मोती बना हुआ है। वह जिससमय अपने बाहुबन्धनको छोड़देगा, उस समय जलका मोती जलमें गिरकर जल ही होजायगा उस समय जल होकर जलके साथ मिलकर मुक्त होजायगा। हम जीव हैं, हम भी किसी स्वाती नक्षत्रकी समान किसी एक क्षण (मुहूर्त्त) में महामायाके उदरमें घुसकर जीव बन बैठे हैं। महामायाके उस कराल कालकवलसे उद्धार पाकर अनन्तकी गोदीमें गिरते ही मुक्त होजायँगे। स्वाती नक्षत्रका वह जल ही मोती बनगया है, इसलिये इस समय उसको व्यक्त जल नहीं कहसकते। अनन्तका वह कण ही जीव बनजाता है, प्रकृतिके बाहुबन्धनमें पड़गया है, इसलिये ही इस समय वह अव्यक्त है। आत्मामात्र अव्यक्त ब्रह्म है। बाहरी और भीतरी प्रकृतिको वशमें करके आत्माके इस ब्रह्मभावको व्यक्त करना ही जीवनका लक्ष्य व उद्देश्य है।

जिसको भूमि, जल, तेज, वायु वा आकाश नहीं कहसकते, इन्द्रिय वा इन्द्रियोंकी समष्टि नहीं कहसकते और जो सुषुप्तिकालमें एकमात्र शेष रहता है और जो महाप्रलयमें भी एकमात्र शेष रहता है वही आत्मा है। आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि किसी वर्णके भीतर नहीं है। वर्णाश्रमका आचार वा धर्म उसका नहीं है। ध्यान धारणा आदिमें भी उसका योग नहीं है वह देहरूप नहीं है। अध्यासके बादल फटते ही वह केवल एकमात्र शेष रहजाता है उसके माता पिता नहीं हैं, स्वर्गादि लोक नहीं हैं, वेद नहीं हैं, यज्ञ नहीं हैं और तीर्थ भी नहीं हैं। सुषुप्तिके समय सबका विलय होजाने पर भी केवल वही शेष रहता है। वह सच्चिदानन्दमय है। जो स्वयं सब पदार्थोंका द्रष्टा है, जिसको कोई भी

देख नहीं सकता। जो बुद्धि आदि अन्तःकरणोंको प्रकाशित करता है, बुद्धि आदि अन्तःकरण जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते, वही आत्मा पुरुष है। जिससे यह विश्व व्याप्त होरहा है, जिसको कोई भी व्याप्त नहीं करसकता। अभावरूप यह सब जगत् जिसकी आभासे भासरहा है वही आत्मा है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जिसकी समीपतासे प्रेरित होकर सेवककी समान अपने २ काममें लगे हुए हैं, वही आत्मा है। अहङ्कारसे लेकर देहपर्यन्त सब पदार्थ और सुख आदि सब विषय, घटपटकी समान जिसके द्वारा जानेजाते हैं वह नित्यबोधस्वरूप पुरुष ही आत्मा है आत्मा पुराण, निरन्तर, आनन्दस्वरूप है। सर्वदा एकरूप और ज्ञानमात्र है। आत्मा अपनी आभासे सब विश्वको प्रकाशित करके सत्त्वस्वभाव बुद्धिरूप गुहाके भीतरके अव्यक्ताकाशमें सूर्यकी समान प्रकाशित होरहा है। आत्मा मन, अहङ्कार, देह, इन्द्रिय और प्राण इन सबोंकी क्रियाको जानता है। आगमें तपायाहुआ लोहा और अग्नि जैसे एकाकार होजाते हैं अर्थात् अग्निकी दाहिका शक्ति लोहेमें और लोहेका भारापन आदि अग्निमें आरोपित होजाता है, ऐसे ही आत्मा वा पुरुष अन्तःकरण आदि प्रकृतिके साथ एकत्र होनेके कारण दोनों दोनोंके गुणोंको पाजाते हैं, तथापि आत्मा एकाकी है, नित्य है। घड़ा फूटजाने पर जैसे उसके भीतरका आकाश नष्ट नहीं होता है, ऐसे ही जड़ देहादिके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता है।

हम मायाके परदेसे ढके जाकर अपने आपको भूलगये हैं। माया क्या है? भ्रान्त इन्द्रियें मनुष्यको खेंचकर बाहर ले जाती हैं। जहाँ किसी प्रकार भी सुख नहीं मिलता, जहाँ मनुष्य सुखको खोजता फिरता है। अनन्त युगोंसे हम सब यह उपदेश पाते चले आरहे हैं, कि—यह सब प्रपञ्च वृथा है, परन्तु हम सीखते

कुछ नहीं। अपने आप उद्योग किये बिना कोई नहीं सीख सकता मालूम होता है, कि हमें जबतक बड़ीभारी ठोकर नहीं लगेगी हम तबतक इधरको प्रवृत्त नहीं होंगे। क्या हम चोट खाकर ही सीखेंगे? नहीं ऐसा भी नहीं होता। जैसे पतङ्ग बार२ अग्निकी ओरको दौड़ता है तैसे ही हम भी बार२ विषयोंकी ओरको दौड़ कर जाते हैं कुछ भी सुख नहीं पाते तथापि बार २नये२ उत्साह से विषयोंकी ओरको दौड़ते हैं. अन्तमें धोखा पाकर हाथ पैर तोड़कर मरजाते हैं, यही माया है।

पुराणमें मायाकी एक बड़ी सुन्दर कहानी है।एक दिन नारदजी ने श्रीकृष्णजीके पास जाकर कहा,कि-भगवन्! माया क्या पदार्थ है? इसको तो मैं समझकर भी नहीं समझ पाता। श्रीकृष्णने कोमल मुस्करानके साथ कहा; कि मायाके स्वरूपको समझने ही माया मरजाती है, जीव मुक्त होजाता है। अच्छा तो चलो मृत्यु-लोकमें घूम आवें हमारा एक काम है।

नारद और श्रीकृष्ण कितनी ही दूरतक चले गये बहुत दूरपहुँच कर श्रीकृष्णने कहा,कि,मुझे बड़ी प्यास लगी है-थोड़ासा जल मासकते हो नारदजी जल ढूँढनेको चलदिये।सामने ही ग्राम था, तहाँ एक गृहस्थके घर जाकर जल माँगा। एक सुन्दरी युवती जल लेकर आयी, नारद उसके रूपको देखकर मोहित होगये, जल और श्रीकृष्णकी प्यासकी बातको भूलकर उस सुन्दरीके पिताके पास पहुँच गये और उसके साथ अपना विवाह करनेकी प्रार्थना करनेलगे। नारदके साथ उस युवतीका विवाह होगया! कुछ दिनोंके बाद नारदजीके श्वसुर मरगये श्वसुरकी सब संपत्ति नारदजीको मिलगयी। नारदजीके तीन सन्तान होगयीं। पुत्र और धन सम्पदादि पाकर नारदजीने बारहवर्ष एकसे सुखमें बिता दिये अचानक एकदिन नारदजीका बड़ा लड़का जलमें डूबकर

मरगया।जलके अहलेमें सब देश डूबा जारहा था। नारदजी बचे हुए दोनों पुत्र और स्त्रीको लेकर उस ग्रामको छोड़ेहुए जारहे थे। एक स्थान पर जलके भँवरमें पड़कर नारदजी के ये दोनों पुत्र और स्त्री भी डूबगये।सैंकड़ों चेष्टा करने पर भी नारदजी उनको रोक नहीं सके और किनारे पर आकर उनके लिये हाहाकार करनेलगे। इसी समय न जाने किसने उनकी पीठपर कोमल हाथसे थपका और मानो यह कहा, कि—नारद! कई घड़ी होगई तुम तो जल लेनेगये थे? कहो नारद! जल कहाँ है? कई एक घड़ी, नारदजीकी समझमें तो बारह वर्ष बीतगए हैं। कई घड़ी में ही इतना बड़ा समय बीतगया!यही माया है! आत्माके निकट तो न काल है, न स्त्री है न पुरुष! मायाके भीतर वर्त्तमान हैं, इसलिये ही हम सर्पमें रज्जुके भ्रमकी समान उसको पकड़नेके लिये दौड़ते हैं।

परन्तु सर्वसंहारकर्त्ता काल तो सबका ही ग्रास करेगा और ग्रस कररहा है—कुछ भी बाकी नहीं छोड़ता। हम इस बातको देखते हुए भी नहीं देखते, समझते हुए भी नहीं समझते। वह पापीको खाता है, पापको खाता है, राजाको, प्रजाको, सुन्दरको, कुरूपको सबको ही खाजाता है, किसीको छोड़ता ही नहीं, सब ही उस एक अन्तिम गति विनाशकी ओरको दौड़े चलेजारहे हैं। हमारा ज्ञान, शिल्प, विज्ञान सब ही उस एक अनिवार्य गति मृत्युकी ओरको बढ़ा चला जारहा है। इस तरङ्गकी गतिको कोई भी नहीं रोकसकता। इस विनाशाभिमुखी गतिको कोई एक मुहूर्तके लिये भी नहीं रोकसकता। हम उसको भूले रहनेकी चेष्टा करसकते हैं। पक्षाघातग्रस्थ (लकवेके) रोगीकी समान सब प्रकारसे इन्द्रियसुखके द्वारा उसके भूले रहनेकी चेष्टा करते हैं—परन्तु वह हमको नहीं भूलसकता। सड़नेवाले मुर्दोंको सुगन्धित

फूलोंसे ढककर रखनेसे वह कै दिन रहसकता है ? एक दिन फूल कुम्हलाकर खिसक जायँगे और मुरदा पहलेसे भी अधिक भयानक दीखने लगेगा। हमारा सब जीवन भी ऐसा ही है। हम अपने पुराने सड़ेहुए घावको सोनेके कपड़ेसे लपेट कर रखनेकी चेष्टा करसकते हैं, परन्तु एक दिन आवेगा, कि—जब वह सोनेका कपड़ा खिसक जायगा और वह घाव बड़ा ही भयानक स्पष्ट दीखने लगेगा।

तो फिर उपाय क्या है ? जिस मायाके लिये हमारी सब दिशायें नष्ट हो चलीजाती हैं, उस मायाको त्यागनेकी क्या कोई आशा ही नहीं है ? है, अवश्य है। वह सुनो—यमुनाके तटपर से मोहनकी वंशीका मधुर शब्द सुनाई आरहा है। वह सुनो महामायाके महा—समरके मध्यसे मेघगम्भीर वाणीमें प्राणोंको मोहित करनेवाले स्वरमें सुनायी आरहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

मेरी इस दैवगुणमयी मायाके पार होना बड़ा ही कठिन कर्म है, जो मेरी शरण लेते हैं वे ही इस मेरी मायाके पार होसकते हैं।

हे थकेहुए और बोझसे पिचेहुए पथिको ! आओ मैं तुम्हे सब पापोंसे मुक्त करूँगा और आश्रय दूँगा।

इस अभय वाणीको-इस आनन्दकी बातको इस रस भरे तत्व को सुननेके लिये हमें तयार होना होगा। मायाके मोहकोलाहल से चित्तको जरा स्थिर करना होगा। जिससे चित्त स्थिर हो, चित्तकी वृत्ति रुकजाय, उसका ही नाम योग है। इसलिये सब शास्त्रोंमें सब ग्रन्थोंमें सब साधुओंके मुखसे यही सुनते हैं, कि—योगकी साधना करो। शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य, और वैष्णव सब ही कहते हैं कि—योगके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। वेद,

पुराण उपनिषद्, स्मृति आदि सबकी ही व्यवस्था है, कि-माया के पार जानेके लिये योगसाधना करनी होगी।

एक श्रेणीके लोग कहते हैं, कि—यह तो हम जानते हैं। परन्तु एकसाथ संसारको छोड़कर स्त्री पुरुष बूढ़े माता पिता आदि परिवारको मार्गमें बैठाल वनमें जाकर योगी बन जाना अधर्म है। वनमें जाना अधर्म नहीं है, परन्तु हठसे योंही घर द्वारको छोड़ जाना अवश्य ही अधर्म है। तुम हम वनमें न जाकर स्त्री पुत्र माता पिता आदिको लिए ही बैठे रहें तो क्या कर सकते हैं? मृत्युके जरा जरा अंगुली हिलाते ही सदाके लिये चलेजाते हैं। स्त्री पुत्र आदि भी हमको छोड़कर चले जा सकते हैं। यहाँ कौन किसका है? हरएक श्वास पर, हृदयकी हरएक धड़कन पर, अपनी हरएक हालतमें हम विचारते हैं, कि हम स्वाधीन हैं, परन्तु उसी क्षणमें हम देखते हैं, कि—हम स्वाधीन नहीं हैं, किन्तु हम प्रकृतिके मोल लिये हुए दास हैं—हम शरीर, मन, सकल चिन्तायें और सकल भावोंमें प्रकृतिके क्रीतदास हैं, तो भी हम संसारके कर्त्ता धर्त्ता बनकर, सबको त्यागकर संसारको छोड़नेमें अधर्म समझते हैं, यही तो माया है! मायाकी फाँसीको काटना क्या सहज है।

तो फिर उपाय क्या है? संसारको छोड नहीं सकते तो फिर काम कैसे होगा? संसारको तो छोड ही नहीं सकते। स्त्री पुत्र आदिके बीचमें रहकर कर्त्तव्यका पालन करनेसे ही काम बनेगा। इस शुभ संयोगके लिये हमारे पुरातन ऋषि साधन-तत्त्वके स्वर्गीय द्वारको खोलगये हैं। उनकी कृपासे अभी तक वह तत्त्व—वह सार—रत्न हिन्दुओंके घरोंमें—हिन्दुओंके हृदयोंमें—हिन्दुओंके साधनासाफल्यमें विद्यमान है। हम इस पुस्तकमें गृहस्थोंके लिये उन ही सब उपायोंको बतानेका यत्न करेंगे।

प्रिय गृहस्थों ! अनन्त मार्गके पथिकों ! आओ हम कुछ यत्न, कुछ चेष्टा करके अपने पशुजीवनकी कुछ उन्नति करें। हम जो कुछ हैं, उसका अनुभव करें। बहुत्वपूर्ण जगत्में उस एक अखण्ड स्वरूपको देखनेकी चेष्टा करें। एकमात्र योगसाधनाके द्वारा ही वह होसकता है।

विनीत निवेदक—रचयिता।

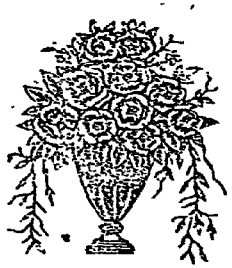

॥ ॐ तत्सद्-ब्रह्मणे नमः ॥

सहज-योगाभ्यास

अर्थात्

गृहस्थकी योगशिक्षा

योगपरिचय

योगकी शिक्षासे पहले, योग क्या वस्तु है ? पहले इस बात को अच्छे प्रकारसे समझलेना उचित है, क्योंकि—जिस बातको सीखना है, उसका परिचय, उसकी अवस्था और उसके स्वरूप को अच्छे प्रकारसे बिना जाने उसको सीखा ही कैसे जायगा ? कोई २ कहते हैं, कि—योग बडा ही गहन और जटिल विषय है, उसको सीखना तो बडा कठिन है। कोई २ कहते हैं, कि—योगको सीखनेके लिये संसारको छोडकर अनन्त अन्धकारपूर्ण किसी पहाडकी गुफामें अथवा जनहीन निर्जन वनमें जाना पडता है। स्त्री पुत्र आदि कुटुम्ब परिवारकी माया ममता छोडनी पडती है। कोई २ कहते हैं, कि—योगको सीखनेका कोई उपायही नहीं है, कलियुगमें कोई योग सिखानेवाला मिलता ही नहीं। कोई कहते हैं, कि—योगशास्त्रके मुख्य ग्रन्थका तो अभी पता ही नहीं चलता, जबतक वे ग्रन्थ न मिलजायँ तबतक योगको सीखनेका कोई उपाय ही नहीं है। कोई २ तो ऐसा कहनेका भी साहस करते हैं, कि—पाँच रुपये दो और हम योग सिखा देंगे, साथ ही जीवात्मासे परमात्माको मिलादेंगे। ऐसी २ बातें देख सुनकर लोग योगको हौआ मानकर इससे कोसों दूर भागते हैं, परन्तु योगको सीखनेकी उनकी आकांक्षा दूर नहीं होती इसका कारण बताना भी कुछ कठिन नहीं है। योगमें दुःख-

विहीन निरवच्छिन्न सुख मिलता है, सुखका अनुभव सबको ही ही होता है। कोई कुछ भी कहे, परन्तु योग हौआ नहीं है और बालकके हाथमें धरा हुआ लड्डू भी नहीं है। सीखनेसे सीखा जा सकता है और न सीखने पर दूसरे कार्योंकी समान अपने आप ही उसका भी अभ्यास भी नहीं होसकता।

योग जटिल या गुप्त विषय नहीं है, जरा ध्यान देकर यत्न-पूर्वक अभ्यास करने पर योग अवश्य ही सीखा जासकता है। योग सीखनेके लिये संसार और स्त्री पुत्र आदिको त्यागकर निर्जन वनमें या पहाडकी गुफामें जाना ही अवश्यक होता तब तो कभी किसीने योगशिक्षा पायी ही नहीं होती और योगविद्या आजतक अन्धकारमें ही पडी होती क्योंकि- जिनको योगका कुछ परिचय ही नहीं है, जो कामना और वासनाओंमें जड़ेहुए हैं, जो मायाके मोहजालमें बँधेहुए हैं, वे स्त्री पुत्र आदि कुटुम्ब परिवारको छोडकर वनमें कैसे जासकते हैं? मायाकी फाँसीको-वासनाके बन्धनको कैसे काटसकते हैं इससे प्रतीत होता है, कि-पहले योगशिक्षा है और उसके बाद संसारका त्याग है। इसलिये संसारमें रहकर ही-स्त्री पुत्र आदिसे संबन्ध रखतेहुए ही योग सीखा जाता है और योगसाधना की जासकती है।

योगशास्त्र किसी अन्धेरी कोठरीमें बन्द नहीं पडा है। योगके मुख्य ग्रन्थ तो यह विशाल प्रकृति है। चन्द्र सूर्य और तारागणों से शोभायमान आकाशमण्डल और जीव-जन्तु-तृण आदिसे ढके तथा नद-नदियोंसे घिरेहुए भूमण्डलसे हम योगशिक्षाकी सामग्री इकट्ठी करसकते हैं।

दशपाँच रुपये तो क्या यदि इस सब पृथ्वीका राज्य भी बदलेमें देदिया जाय तब भी कोई जीवात्मा-परमात्माके मिलनका दर्शन नहीं करासकता; वह तो अपनी साधनासे अपनी अन्तर्दृष्टिके विकाशमें ही दीखता है। जबतक साधकमें अपनी साधनाके बलसे

यह शक्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक कोई किसीको नहीं दिखा सकता। पूर्णतम ईश्वर महायोगीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन अर्जुनको उचित उपदेशके द्वारा कुछ तयार करके और बड़े ही अनुरोधसे दिव्य दृष्टि देकर परमात्मभाव दिखाते हुए कहा था, कि—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

हे सखे! अपने इस स्थूल नेत्रसे ही तू मेरे परमात्मभावको नहीं देखसकता, मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, उससे तू मेरी योग-विभूतिको देख!

परन्तु अर्जुन खरीखा शिष्य भी उस परमात्मविभूति देखनेमें स्थिर न रहसका, किन्तु व्याकुलचित्त होकर अनन्तसे शान्त होनेके लिये प्रार्थना करनेलगा, कि—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

हे देवेश! पहले न देखेहुए इस विश्वरूपको देखकर मैं प्रसन्न तो हुआ, परन्तु मेरा मन भयके मारे व्याकुल होगया है, इसलिये मुझे अपना वह पहला ही रूप दिखाइये, हे जगदाधार! मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये।

हम तुम तो क्षुद्र मनुष्य हैं! रुपयेके बदलेमें उस रूपको कैसे दिखासकते हैं? उसको तो धारण करनेकी भी शक्ति हममें नहीं है! इसलिये जो परमात्मदर्शन करानेका दावा करते हैं वे पाखंडी हैं। हाँ योगशास्त्रके एक कौशलके द्वारा केवल एक प्रकाशकी रेखा दिखायी जासकती है। उस प्रकाशको देखना वा दिखाना, कोई भी पुरुष जरासा यत्न करनेसे सीख सकता है, वह साधना इस पुस्तकमें आगे लिखदी गई है।

योगशिक्षा कठिन नहीं है। योगका उपदेश करनेवालोंका भी सर्वथा अभाव नहीं होगया है। फिर लोग योग सीखते क्यों नहीं? इसके लिये कुछ धर्मज्ञान, कुछ न्यायनिष्ठा, कुछ दृढ़ता और कुछ अभ्यासपटुता होनी चाहिये। अब योग क्या वस्तु है, पहले इसकी ही आलोचना करेंगे। योगका अठारह प्रकारका अर्थ है उतने अर्थका बोझा उठाकर हम कष्ट पाना नहीं चाहते। योगके ग्रन्थोंमें पातञ्जल दर्शन एक सामाजिक और दार्शनिक ग्रन्थ है, उसमें लिखा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"

मनकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। बात जितनी सहज मालूम होती है, वास्तवमें उतनी सहज नहीं है, इसलिये इसकी विस्तारसे आलोचना करनेकी आवश्यकता है।

यदि चित्तकी वृत्तिके निरोधका ही नाम योग है, तो चित्त क्या है? चित्तकी वृत्ति किसको कहते हैं? और उसका निरोध करना क्या पदार्थ है? यह समझना होगा, तब ही समझमें आवेगा, कि योग क्या पदार्थ है और चित्तवृत्तिके निरोधकी शिक्षाके लिये ही योगशिक्षा वा योगसाधना करनी होगी।

❀चित्त और चित्तकी वृत्ति❀

चित्त और चित्तकी वृत्ति कहनेसे हम किस वस्तुको समझे? चित्त मनस्तत्त्वरूप है—वृत्तियें उसकी तरङ्गरूप हैं। जब बाहरके कुछ कारण इसके ऊपर काम करने लगते हैं, उसी समय वे रूप धारण करते हैं, हम जिसको जगत् कहते हैं वह सब ये चित्तकी वृत्तियें हैं। इस बातको और भी स्पष्ट करके बताना होगा। पातञ्जल दर्शनके टीकाकार कहते हैं, कि—"विषयसम्बन्धाच्चित्तस्य या परिणतिः सा वृत्तिः।" विषयोंके सम्बन्धसे चित्तका

जो परिणाम होता है उसका ही नाम वृत्ति है। यहाँ एक नदीकी बात याद करनी चाहिये हम नदीकी तलीको नहीं देखपाते, उसके न दीखनेका कारण यह है कि—उसके ऊपर छोटी २ तरङ्गें बनी रहती हैं। यदि जल स्थिर होता तो हम उस नदीकी तलीको देखसकते यह जल क्षणमें तरङ्गें उठनेके कारण चञ्चल होरहा है, इसलिये ही हम तलीको नहीं देखपाते अब समझो, कि—नदीकी तली ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। नदी चित्त है और बुलबुले वा तरंगें उसकी वृत्तियें हैं। नदीमें जो तरङ्गें उठती हैं वह नदीकी तलीमेंसे ही उठती हैं, जब ऊपर आती हैं तब ही हम उनको देखपाते हैं। यह जो गाड़ी घर २ करती हुई चली गयी, जितने लोगोंके पासको होकर गई, उन सबोंको ही उस गाड़ीके जानेकी खबर नहीं है, यदि सबको खबर होती तो बहुतसे उससे लगेहुएसे क्यों होजाते? वे सब ही बचजाते। बहुतसे उधरको देखरहे थे तब भी उनको वह गाडी नहीं दीखी, इसका क्या कारण है? कारण यही है, कि—मन दर्शनेन्द्रिय (चक्षु) से संयुक्त नहीं था, इसलिये पहले बाहरका यन्त्र, फिर इन्द्रिय, इन दोनोंसे मन युक्त होना चाहिये। मन जो अनुभव करता है उसका संस्कार लेकर निश्चयात्मिका बुद्धिके पास पहुँचा देता है, उसके पहुँचते ही बुद्धिमेंसे उसकी एक प्रतिक्रिया होती है, इस प्रतिक्रियाके साथ अहंभाव जाग उठता है। यह क्रिया और प्रतिक्रिया मिलकर जीवात्माके पास पहुँचते हैं। उस समय जीवात्मा इस समष्टिरूप क्रिया और प्रतिक्रियाको एक वस्तुरूपसे पाता है। इन्द्रियें, मन, निश्चयात्मिका बुद्धि और अहङ्कार मिलकर जो कुछ होता है उसको अन्तःकरण कहते हैं। चित्त नामक मनके भीतर वे सब भिन्न २ प्रतिक्रियारूप हैं। चित्तके भीतरके इस सब चिन्तास्रवाहको वृत्ति कहते हैं।

अब यह जानना चाहिये, कि चिन्ता किसको कहते हैं। चिन्ता माध्याकर्षण वा विकर्षण शक्तिकी समान एक शक्ति है। प्राकृतिक शक्तिके अक्षय भण्डारमेंसे यह शक्ति लीगयी है। चित्त इस शक्तिको ग्रहण करता है और जब वह भौतिकशक्तिके दूसरे छोर पर पहुँचती है तब उसको चिन्ता कहते हैं। यह शक्ति जीवके खायेहुए पदार्थोंमेंसे संग्रह कीजाती है। खायेहुए पदार्थोंकी शक्तिसे ही शरीरकी गति इत्यादि शक्ति होती है और चिन्तारूप अतिसूक्ष्म शक्ति भी इससे ही उत्पन्न होती है। इसलिये मन चैतन्य नहीं है, परन्तु चैतन्यमयसा प्रतीत होता है। चैतन्यमय प्रतीत होनेका कारण यह है, कि-चैतन्यमय आत्मा उसके पीछे लगाहुआ है। तात्पर्य यह है, कि-जो 'मैं' है वह आत्मा है-मन केवल एक यंत्र है, उस यंत्रके द्वारा हम बाहरी जगत्का अनुभव-मात्र करते हैं

यह मन तीन प्रकारकी अवस्थाओंमें रहता है। शास्त्र कहता है, कि-सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंमें ये तीन प्रकारकी अवस्थायें होती हैं। मन जब शान्त होता है, निर्मल होता है, स्थिर होता है तब उसको सत्त्वगुणकी अवस्था कहते हैं यही मनकी स्वाभाविक अवस्था है। नदीका जल निर्मल और शान्त होने पर जैसे उसकी तली दीखती है ऐसे ही मनके निर्मल और शान्त होने पर उसकी तली अर्थात् चिद्धन, निरञ्जन आत्माका दर्शन होता है। दूसरी अवस्था रजोगुण है, इस अवस्थामें मन बाहरके कामकाजको लेकर बड़ा ही व्यस्त होता है। इस अवस्थामें केवल प्रभुता और भोगकी इच्छा होती है। इसमें चित्त बराबर चञ्चल रहता है, इसलिये ही अत्यन्त मलिन न होने पर भी चञ्चलताके कारण चित्तकी तली वा निरञ्जन आत्माका दर्शन नहीं होता। इसके बाद तमोगुणकी तीसरी अवस्था है। नदीके जलको मँघोल देनेके साथ इस अवस्थाकी तुलनाकी जासकती है,

पशुओंका मन ऐसा ही होता है, उसमें नित्य अन्धकार भरा रहता है। भोजन, निद्रा, स्त्री पुत्रोंका पालन और खाने पीनेके पदार्थों को इकट्ठा करनेके सिवाय जगत्में कोई और काम है, कोई और उच्च चिन्ता है, कोई ऊँचा उद्देश है, यह बात उनके मनमें आती ही नहीं। पशुओंके ऐसे मनकी समान ही तमोगुणी मनुष्योंका भी मन होता है।

नदीके जलकी स्वाभाविक अवस्था जैसी निर्मल होती है, चित्तकी स्वाभाविक अवस्था भी ऐसी ही निर्मल होती है। मट्टी आदिके मेलसे जैसे जल गदला हो जाता है, जैसे वायुके संयोगसे वह जल चंचल हो जाता है, ऐसे ही चित्त सदा सत्त्वगुणमय, निर्मल और शान्त होने पर भी तमोगुणके संयोगसे विशेष मलिन और रजोगुणके संयोगसे चंचल होजाता है। इसलिये ही हम स्वरूपावस्थाको नहीं समझ सकते। चित्त सदा ही अपनी स्वाभाविक पवित्र अवस्थाको फिर पानेके लिये चेष्टा करता है, परन्तु इन्द्रियें सदा बाहरको घसीटकर लेजानेके लिये खेंचती रहती हैं। इस बाहरको जानेकी प्रवृत्तिको रोकनेका ही नाम योग है। इस खिचावटका—इस सदा चंचल प्रवृत्तिका-दमन होने पर ही मनुष्य अपने स्वरूप को जान सकता है उस समय प्रकृति उसकी दृष्टिमें अतितुच्छ मालूम होती है। जैसे सोना और चाँदी पहले मट्टी आदिसे सने हुए होते हैं, अन्तमें उत्तम प्रकारसे धुलकर तेजोमय हो चमकने लगते हैं, ऐसे ही देही आत्मतत्त्वका दर्शन करके एक, स्वरूप, कृतार्थ और दुःखसे मुक्त होजाता है, उस समय वह कालको भी जीत लेता है, और सब ज्ञान एक मुहूर्तमें उसके सामने आकर खडा होजाता है, आत्मा अपनी खोई हुई महिमाको फिर पाजाता है।

चित्तकी वृत्तिको अवस्था भी कह सकते हैं। योगशास्त्रमें उस वृत्ति वा अवस्थाको पाँच भागोंमें बाँटा है यथा—क्षिप्त, मूढ,

विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, बाहरी वस्तुओंकी चाहनामें चित्त जिस समय चलायमान हो उठता है, जिस समय एक विषयका विचार करते ही और दूसरा विषय आकर उपस्थित हो जाते हैं उस समय चित्तकी क्षिप्त अवस्था होती है, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका ज्ञान न हो कर केवल शत्रुके वशमें होकर काम करते फिरनेका नाम मूढ़ अवस्था है, कभी शत्रुके वशमें कभी बड़ी भारी चिन्तामें, कभी वासनाकी आगमें और कभी धर्मामृतमें मग्न होजानेका नाम विक्षिप्त अवस्था है। इस अवस्थामें, मन अपने केन्द्रकी ओरको जानेकी चेष्टा करता है परन्तु इन्द्रियोंकी खिचावटसे बीचमें ही फिसल पड़ता है, फिर जाता है फिर फिसल जाता है। जब आत्माका एक भावसे एकतान होकर ध्यान किया जाता है तबही एकाग्र अवस्था होती है निरुद्ध अवस्थामें चित्त अपनी कारणीभूत प्रकृतिमें विलीन और किये हुए कामकी समान निश्चेष्ट होता है जले हुए डोरेकी समान केवल संस्कारभावको प्राप्त होता है उस समय उस चित्तमें कोई विसदृश परिणाम नहीं दीखता। आत्माके अस्तित्वसे ही उस समय पूर्णज्ञानवान् और आनन्दमय होताहै

निरुद्ध अवस्थामें चित्त प्रकृतिमें लीन होजाता है, परन्तु आत्मा के समीपमें उस प्रकृतिका काम समाप्त होजाता है, क्योंकि—इन्द्रियें फिर उसको नहीं चाहती हैं। वे उस समय घूमघाम कर अपने केन्द्रमें आकर ठहरी होगयी हैं। आत्मा उस समय प्रकृतिके स्वरूपको देखनेसे मुक्त है। प्रकृतिका काम भी निबटगया है, वह जो आत्मस्वरूपको भूलेहुए जीवात्माको क्रीडा करानेमें लगी हुई थी, जितने भी प्रकारका भोग है वह उसको करा रही थी, जितने प्रकारकी भी अभिव्यक्तियें और विकार हैं वे सब दिखा रही थी—वह सब समाप्त होजाता है। उस समय वह करुणामयी जिस मार्गसे आयी थी उसी मार्गसे लौटजाती है। जिन सकल क्रियाओंके द्वारा यह चित्त की निरुद्ध अवस्था आकर प्राप्त होती है

तथा दूसरी चारों अवस्थायें दूर होजाती हैं और जीवनके कर्त्तव्य मार्गको भूलेहुए मनुष्य फिर देखपाते हैं, उन सब क्रियाओंके अभ्यास वा शिक्षाका नाम योगसाधना है। तात्पर्य यह है, कि चित्त और चित्तकी वृत्तियोंको निरुद्ध अवस्थामें लेआना ही योगका उद्देश्य है।

गृहस्थकी योगसाधना

बहुतसे लोगोंसे सुननेमें आता है, कि—यह तो हम मानते हैं, कि—योगसाधना करनी चाहिये, परन्तु हम गृहस्थ हैं, हमारे ऊपर स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बके पालनका भार है, गृहस्थीकी अनेकों कमियोंको पूरी करनेमें ही हमें बड़े क्लेश भोगने पड़ते हैं, दूसरोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही हमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, फिर हम योगसाधना कैसे करसकते हैं? प्रातःकाल उठकर बहुतसा समय तो घरके कामधन्धे करनेमें ही बीतजाता है, फिर दफ्तरमें या दुकान पर जाकर हाड धुनने पड़ते हैं, जब सायङ्कालको घरमें आते हैं तो स्त्रीकी यह लाओ वह लाओसे नाकमें दम रहता है, यदि घरमें कोई बालक बच्चा बीमार हो जाता है तो रातमें दो घड़ीको सोरहना भी कठिन होजाता है, ये सब झंझटें एक दिनकी नहीं हैं, प्रतिदिन लगी रहती हैं। उरद पर सफेदीकी समान भी सुख शान्ति वा अवकाश नहीं मिलता, ऐसी दशामें भला हम परलोकसाधना या योगसाधना कैसे करसकते हैं?

हम इस बातको सर्वथा ठीक नहीं मानसकते, २४घण्टेके दिनरात में थोड़ासा समय भी नहीं निकाला जासके, यह कोई बात नहीं है; यह जो दुःख जंजालकी कहानी सुनाई है वह तो आजन्म हमारे साथ है। यह दुःखाग्नि ही तो अज्ञानान्ध जीवके लिये कालका कोड़ा है, यदि इस वज्राग्निसे भी सावधान नहीं हुआ यदि अब

भी आत्मदर्शनका उपाय नहीं किया तो क्या करोड़ों जन्मों तक ऐसी ही घोर ज्वालामें भस्म होना चाहता है ? जरा ध्यान देकर तो देख, तेरे साथमें क्या जायगा ? अपने चारों ओरको दृष्टि डाल कर देख, प्रतिदिन कितने लोग अज्ञात देशसे आते हैं और कितने लोग अज्ञात स्थानको चले जाते हैं, ऐसे ही हमको भी यह सब ठाठबाट और कुटुम्बपरिवारको छोड़कर जाना होगा। स्त्री, पुत्र, धन, रत्न आदि कुछ भी साथमें नहीं जायगा, तो फिर जन्म जन्ममें इस कष्टको पानेकी क्या आवश्यकता है ? जिससे अपनी मुक्ति होजाय, जिससे हम मायाके बन्धनको खोलसकें, जिससे दुःखका विनाश करके नित्य सुखको पासकें, उसका उद्योग करना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है ?

स्त्री पुत्रादिको त्यागनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है, घरमें रहकर ही योगसाधना होसकती है। गृहस्थीके सब कामधन्धे करतेहुए ही आरम्भकालकी योगशिक्षा होसकेगी, परन्तु कुछ मनुष्यताकी आवश्यकता है, पशुवृत्तिसे योगसाधनाका आरम्भ नहीं होसकेगा। योगसाधनाके लिये ऐसे तीन समय नियत करलो, कि-जिस समय तुम्हारे हाथमें अधिक काम न हो। उसके लिये अतिप्रातःकाल, सन्ध्याकाल और रातमें दो बजेका समय नियत कर लेना ठीक होगा। इन तीनों समयमें प्रायः किसीको भी बहुत अधिक काम नहीं होता है। अपनी दशाके अनुसार घरकी एक छोटीसी कोठरी या छोटीसी कुटिया नियत करलो। वहाँ दूसरे लोगोंका हरसमय आना जाना न रहे। उस घरको खूब साफ रक्खो, जिससे कि-उसमें शुद्ध वायु आ जासके। अच्छे भाव और अच्छी रुचिको बढानेवाली तसवीरें उसकी दीवारोंमें लटका दो। योगसाधनाके समय उस घरको धूपसे महकादो। इस प्रकार एक सच्चे हिन्दूके नित्यकर्मके लिये एक स्थान चुनलो और

वहाँ बैठकर नियत समय पर योगसाधनाका अभ्यास करो। पहली पहल भोजनादिमें कुछ कमी करनी पड़ती है, फिर साधनामें कुछ आगेको बढ़नेने पर बहुत अधिक कसनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। वृक्षकी पौधेकी दशामें ही चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है, बड़ा होजाने पर बाड़की कुछ आवश्यकता नहीं रहती।

साधनाकी पहली अवस्थामें सात्विक भोजन करना चाहिये। उसके लिये कुछ गरम अन्न, दाल, घी दूध, माखन और भाँति भाँतिके फल खाय। मत्स्य मांसका सेवन सर्वथा त्याग देय। बासी, जला, सड़ा, चरपरा, बहुत खट्टा, अधिक मिष्ट और भङ्ग आदि मादक पदार्थोंका सेवन न करे। चबेना न खाय। जल पानके समय लुचई कचौड़ी और चौले न खाय। अनेकों प्रकार के फल, मूल, मूँगकी दाल आदिका परिमित भोजन करे। ऐसा भोजन करनेवालेका चित्त प्रसन्न और शरीर नीरोग रहता है। सार यह है कि—देश, काल पात्रभेदसे निर्दोष, स्वच्छ, मधुररस वाला, चिकना (घीमें तर किया हुआ और जो तीक्ष्ण न हो) ऐसा भोजन खाय, कि—जिसको खाने पर या जितना खाने पर पेट फूलना आदिक कष्टदायक दशा न हो जाय। ऐसी दाल रोटी भाजी आदिको प्रेमके साथ खाय। भोजनका यही नियम घेरण्ड संहितामें बताया है।

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदराध्मानवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः॥

फिर भोजनके विषयमें यह भी कहा है, कि—

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचालने॥

जितनी भूख हो, अनुमानसे उसके चार भाग करके, उसमेंसे दो भागको अन्नसे, तीसरे एक भागको जल और दूध आदि तरल

पदार्थोंसे भरे और एक भाग वायुके सञ्चारके लिये खाली रक्खे, अधिक भ्रमण करना भी अच्छा नहीं होता है, अधिक भ्रमणका अर्थ है नित्य देश विदेशमें घूमते फिरना, अधिक बोलना भी अच्छा नहीं होता। प्रातःस्नान तो करना ही चाहिये, विदाहक पदार्थ, तेलमें बनाये हुए पदार्थ, हिंसा, द्वेष, कुटिलता, उपवास मिथ्या आचरण मिथ्या व्यवहार अहङ्कार, मोह, प्राणियों को पीडा देना, स्त्रीसङ्ग, अग्निसे तापना, अधिक लोगोंके साथ बातचीत और बैठना, अप्रिय आचरण और अधिक भोजन, इन सबको जितना भी छोडा जासके उतना ही अच्छा है। भगवद्गीता में लिखा है, कि—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अपनी जठराग्नि सुखके साथ जितना पचासके उससे अधिक भोजन करनेवालेसे योगसाधना नहीं होसकती, क्योंकि-वह शरीर के व्याकुल होजानेके कारण चित्त और प्राण आदिको रोक नहीं सकता तथा अजीर्ण होकर ज्वर आदि भी होजाता है, ऐसे ही केवल उपवास करनेवालेसे भी योगसाधना नहीं होसकती, क्यों कि-भूखेकी चित्तवृत्ति एकाग्र नहीं होसकती और उसका शरीर भी क्षीण होकर अशक्त होजाता है। अधिक सोनेवाला भी योग साधना नहीं कर सकता, क्योंकि—निद्रा तमोगुणको बढादेती है। ऐसे ही अधिक जागनेवालेसे भी योगसाधना नहीं हो सकती, क्योंकि—उसको योगाभ्यास करते समय अवश्य नींद आवेगी। तात्पर्य यह है, कि—योगीको अधिक विलास और कठोरता दोनों ही त्याग देनी चाहियें। उसको आहार विहार, कर्मचेष्टा, सोना और जागना सब ही नियमसे होना चाहिये।

बहुतसे ग्रन्थोंको देखनेका उलझनमें भी न पड़े। केवल कार्यसाधक सारभूत ज्ञानको पानेका ही उद्योग करे, क्योंकि—बहुतसी बातोंकी जानकारी भी योगमें विघ्न डालती है। यह भी जानलूँ, वह भी जानलूँ ऐसा करनेमें सहस्रों कल्पमें भी ज्ञेय पदार्थका ज्ञान नहीं होसकता, इसलिये योगके साधकको ज्ञानतृष्णामें नहीं पड़ना चाहिये।

ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेकी बड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है वीर्यको धारण करना। जिसका विवाह होगया हो, वह बड़े नियमके साथ केवल पुत्रके लिये स्त्रीसमागम करे, क्योंकि—यह काम शरीर, मन और इन्द्रियोंकी शक्तिको घटाता है, इसलिये इससे दूर ही रहना चाहिये। शरीरमें जितनी भी धातुएँ हैं, उन सबका ही अन्तमें वीर्य बनता है। शरीरमें यदि वीर्य अटल अचल रहता है तो उसका नाम ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा है। ब्रह्मचारी रहने पर मनुष्य चिरजीवी, बुद्धिमान्, विनयवान्, विद्वान् और परोपकारी एक बातमें कहें तो देवचरित्र होता है। ब्रह्मचारीके शरीरमें कोई रोग नहीं घुससकता, उसका शरीर पत्थरकी समान दृढ़ होजाता है और यदि ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा न कीजाय तो मनुष्यका शरीर रोगोंका घर बनजाता है, अकालमृत्यु आकर ग्रसलेतीहै, इसलिये यदि योगक्रिया सीखनी हो तो इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

बहुतसे लोग कहते हैं, कि जो अभ्यास पड़गया है उसका छूटना बहुत ही कठिन है। परन्तु यह बात नहीं है। दो एक बार गिरसकते हो दश दिनको प्रतिज्ञाभङ्ग होसकता है यदि तुम्हारे मनमें दृढता होगी और चेष्टा करोगे तो पहला अभ्यास छूटकर अवश्य ही नया अभ्यास होजायगा, उस अभ्यासके होजाने पर पहिली पशुवृत्तिका फिर ध्यान भी नहीं आवेगा, उन बातोंका प्रसङ्ग छिड़ते ही घृणा होने लगेगी।

मनको सदा पवित्र रखनेका उद्योग करना चाहिये । हिंसा, द्वेष, मिथ्या बोलना, इन बातोंको सर्वथा छोड़देना चाहिये । क्रमसे अभ्यास करना होगा । मन बड़ा ही मदमस्त है, वह सदा इधर उधरको दौड़ने लगता है इसलिये खूब सावधान रहो असत् मार्गमेंको जानेलगे तो बलात्कारसे रोककर रक्खो। बहुतसे लोग कहते हैं कि-संसारमें रहकर ऐसा करनेसे गृहस्थीका काम नहीं चल सकता यह कहना भूल है । गृहस्थमें यदि मनुष्य सत्य बोले, जितेन्द्रिय हो और विशेष तृष्णा न करता हो तो महा-शान्ति रहती है, यश होता है और धन प्राप्त होता है ।

आसन ।

हमने जिस देश कालकी बात कही है, उस स्थान और समय में पहले एक आसनका अभ्यास करना होगा । योगशास्त्रमें बहुत तरहके आसन बताये हैं, उन सबोंको जाननेका हमें कोई प्रयोजन नहीं । हम यहाँ दो प्रधान आसनोंका वर्णन करेंगे वे दोनों ही सबको सीखने होंगे, जिसको जिसमें सुगमता पड़े वह उसका ही अभ्यास करलेय । नीचे लिखे किसीभी आसन का अभ्यास करना आरम्भ करो, परन्तु उसका अनुष्ठान पहले बताये हुए एकान्त स्थानमें करो और अभ्यासके समय चित्त को विश्वाधार अनन्तके अनन्त और महान् भावमें लगाए रहो तथा अहंज्ञानको मनसे दूर करदो । ऐसा करने पर आसनके कारणसे देहको दुःख वा अङ्गोंके दबनेका कष्ट नहीं होगा तथा शीघ्र ही आसनका जय होजायगा ।

अब आसन क्यों कियाजाता है,इस बातको जान रखना भी अच्छा है । योगसाधना करनेके समय मन और देह दोनोंका काम चलता है । चिरकाल तक एक ही ढङ्गसे बैठना पड़ता है । देह न हिले, न काँपे, वेदना न हो और एक प्रकारसे बैठे रहने

में कष्ट न हो, इसके ही लिये आसनका अभ्यास रक्खा गया है। एक बात और है, योगसाधनाके समय देहमें वायुकी भाँतिर्की क्रिया होती है। जीवकी नसोंमें शक्तिप्रवाह नित्य चलता रहता है, उन नसोंकी स्वाभाविक गतिको सम्हाल कर नए मार्गमेंको लेजाना होगा, उस समय देहमें नया कम्पन प्रकट होगा। यह सब काम मेरुदण्डके मार्गमें ही होता है, इसलिये मेरुदण्ड जिस प्रकार रखनेसे यह काम सहजमें स्वच्छन्द और विना विपत्तिके ठीकर बनसके, उस प्रकारसे मेरुदण्डको रखनेके लिए ही आसनका अभ्यास करना पडता है। आसनके अभ्याससे मन स्थिर और देह नीरोग रहता है।आसनके अभ्यासके समय कुछ एक कष्ट अवश्य मालूम होगा, परन्तु अभ्यास होजाने पर वह बहुत ही सुखदायक मालूम होगा। जबतक आसन लगानेमें सुख न मालूम हो तब तक समझो,कि—अभी आसनका ठीकर अभ्यास नहीं हुआ है। हम जिन दो आसनोंका वर्णन करेंगे, उनमेंके एकका नाम सिद्धासन और दूसरेका नाम पद्मासन है।

सिद्धासन—

योनिं सम्पीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा ॥
दृष्ट्वा निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेदवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ॥

बायें पैरकी एडीसे अच्छे प्रकारसे और सावधानीके साथ लिङ्ग और गुदाके बीचके स्थानको दबाकर रक्खे, फिर दाहिने पैरकी एडीको इसप्रकार उपस्थके ऊपर रक्खे, कि—जिससे लिङ्ग नाल दबकर बन्द होजाय। फिर संयतचित्त, देह न हिले न डोले इसप्रकार स्थिर होकर दृष्टिको दोनों भौंके मध्यमें जमावे, इसका ही नाम सिद्धासन है।

एतत् सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ।
येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ॥
सिद्धासन सदा सेव्यं पवनाभ्यासिभिः परम् ।

योगियोंका निश्चय है, कि—इस सिद्धासनसे बैठकर योगाभ्यास करने पर शीघ्र ही योगकी सिद्धावस्था प्राप्त होती है। जो वायुका साधन करते हैं, उनको इस सिद्धासनका अभ्यास करना चाहिए।

पद्मासन—

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्व्याधिसमूहनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥

बाईं जङ्घाके ऊपर दाहिना पैर और दाहिनी जङ्घाके ऊपर बायाँ पैर रखकर दोनों हाथ उलटपुलट कर पीठकी ओरसे घुमातेहुए लाकर दाहिने हाथसे बायें पैरका अँगूठा और बायें हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा मजबूती से पकड़े तथा छातीके ऊपर ठोढी रखकर नासिकाके अग्रभागका देखे, इसको ही पद्मासन कहते हैं।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥
पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं हि पार्वति ॥

पद्मासनका अभ्यास होजाने पर प्राणवायु नाडीरन्ध्रमें समान भावसे बहने लगता है और प्राणायामके समय वायु शरीरमें सरल भावसे विचरता है। पद्मासनसे बैठकर यथाविधि प्राण और अपान वायुका रेचन पूरण आदि करनेपर सब बन्धनोंसे मुक्त होजाता है। सिद्धासनकी अपेक्षा पद्मासनका बाँधना सहज है। पद्मासनका अभ्यास स्त्री पुरुष सभीके लिये अच्छा है। पद्मासनको

करके प्रायः सब ही काम करसकते हैं। जब आसन सिद्ध होजाय तब आसन करके बैठने पर मनमें एक स्थिरभावका सुख मालूम होता है, बहुत देर बैठनेसे भी कष्ट वा उकताहट नहीं होती। सिद्धासन हो चाहे पद्मासन हो, काठके आसन पर बैठकर न करे। कम्बल, मृगछाला, बाघाम्बर या गलीचे आदि पर बैठे।

❀ मनको स्थिर करना ❀

सब ही कहते हैं, कि–"साधनके समय अमुक विषयमें मनको स्थिर करके, अमुक विषयमें एकाग्र होकर" परन्तु मनको स्थिर वा एकाग्र किसप्रकार कियाजाय, यह बात, अच्छे प्रकारसे नहीं समझायी जाती। योगशास्त्र आदिमें मुद्रावन्धन आदि जो कष्टसाध्य उपाय लिखे हैं, उनका साधन करना गृहस्थके लिये बहुत ही कठिन है, इसलिये योगियोंने मनको स्थिर करनेकी और भी बहुतसी रीतियोंका आविष्कार किया है, उनमेंकी ही एक रीति हम यहाँ बतावेंगे।

हमने जो एक एकान्त–कोठरीकी बात कही है उस एकान्त कोठरीको धूप आदिसे सुगन्धित करके पद्मासन वा सिद्धासनसे बैठे फिर अपने नाभिकुण्डकी ओरको देखता हुआ बैठा रहे। चित्तको और कहीं न लेजाकर विश्वपति भगवान्की अनंत मूर्त्ति या अपने२ इष्टदेवके विग्रहका ध्यान करे, यदि ऐसा ध्यान न होसके तब भी कोई हानि नहीं है, परन्तु चित्तको बाहर न घूमने देय। इसमें और कोई यत्न नहीं करना पड़ता है केवल नाभिकुण्ड पर दृष्टि और मनको लगाकर बैठने पर ही मन स्थिर होजाता है। कितने समय बैठना चाहिये, यह निश्चय करके नहीं बताया जासकता पहले २ उतने समय बैठे, जितने समय बैठनेसे चित्तमें अधिक घबराहट न हो, क्रम २ से समय अपनेआप बढ़ता चलाजायगा।

क्रमसे श्वास छोटा होता चलाजायगा, कुम्भक होने लगेगा, फिर नाभिमेंसे नाद उठेगा और चित्तलय होजायगा। चित्तके लयका उपाय नाद है। जब चित्तलय होगा तो फिर चञ्चल नहीं हो-सकेगा। जब बाहरको नहीं जासकेगा तो आप ही चञ्चल नहीं होगा।

प्राणवायु नासिकाके मार्गसे श्वासप्रश्वासरूपमें सदा दश बारह अंगुल तक बाहरको आता है और फिर भीरतको लौट जाता है। आसन लगाकर नाभिकुण्डमें मनको स्थिर करतेहुए दृष्टि लगाकर बैठने पर यह वायु क्रम२ से छोटा होता चलाजायगा। फिर शनैः२ अन्यान्य नसोंकी ग्रंथियोंमेंको झुककर नाभिकुण्डमें पहुँचजायगा। वायुके नाभिकुण्डमें पहुँचजाने पर फिर मन भी बाहरके विषयोंमें नहीं जासकता, इसलिये उस समय चित्त स्थिर होजाता है। वायु ही हमारा प्राण है, वायु ही इन्द्रियोंको बाहर लेजाकर विषयोंके आकारमें परिणत करदेता है। देखना, सुनना. खाना, छींकना, खाँसना आदि यह सब वायुका काम है, उस वायुके या वायुकी शक्तिके नाभिकुण्डमें स्थिर होजाने पर चित्त भी उस समय स्वयं स्थिर होजाता है। और एक काम होता है—

नाभ्याधारगे भवेत्पवनस्तत्र प्राणं समभ्यसेत्।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिदस्ततः॥ (योगस्वरोदय)

नाभिकुण्डमें वायु वा प्राण जब बसने लगता है तब स्वयं ही नाद उत्पन्न होता है। नादके होने पर चित्तलय होजाता है। नाद उठनेके समयसे लेकर क्रम २ से नीचे लिखा सात प्रकाराका शब्द सुनाई आता है। पहले पक्षीके छोटेसे बच्चेकेसा चूँ चूँ शब्द सुनाई आता है, इस शब्दके सुनाई आने पर साधकके रोमाञ्च खड़े होजाते हैं, शरीर पुलकित होजाता है, इस प्रथम अवस्थाको दूसरी अवस्था कह सकते है, क्योंकि-प्रथम अवस्थामें जो सूँ ऐसा शब्द होता है, उसका अनुभव बाहरी श्रवण इन्द्रियके द्वारा सब लोग नहीं करसकते; इसकारण द्वितीय अवस्थामें जो शब्द सुनाई

आता है उसको ही प्रथम कहदिया है। उसके बाद क्रम २ से निम्नलिखित अगले२ शब्द सुनाई आते हैं और साथ२ साधक को निम्नलिखित उत्तम भाव प्राप्त होता है। दूसरा शब्द विशुद्ध काँसीके छोटेसे घण्टेकेसा होता है, इस शब्दमें साधकका देह मानों निमग्न होजाता है। तृतीय शब्द शङ्खके शब्दकेसा होता है। इस शब्दके समय मस्तिष्कमें एकप्रकारका कम्पन होने लगता है, अचानक अधिक आनन्दका समाचार पाने पर जैसे मस्तिष्कमें कम्पन होकर वह मस्तकको घुमादेता है, इसमें भी वही दशा होजाती है। चौथा शब्द वाणीके मधुर शब्दके समान सुनाई आता है, इस समय साधकका शरीर अमृतरसमें स्नान किया हुआसा होकर एकप्रकारके अननुभूत अपूर्व आनन्दमें मग्न होजाता है, कण्ठकूप एकप्रकारका अत्यन्त ठण्डा, अतिमधुर, अति-पवित्र पहले कभी स्वाद न लियेहुए अपूर्व जलसे भरा हुआ होजाता है। यह जल सहस्रारमेंसे टपकाहुआ अमृत होता है। क्रमसे यह अमृत सकल देहमें व्याप्त होकर योगीके लावण्ययुक्त योगदेहका गठन करता है। पाँचवाँ शब्द पूरा वंशीकेसा शब्द होता है, उस समय साधकमें दूरका शब्द सुननेकी शक्ति आजाती है और श्रीभगवान् जिस रासरस विहारके लिये हमें नित्य पुकारते हैं, उसका अनुभव होने लगता है। छठा घर २ शब्द सुनाई आता है। इस समयसे साधकका मन आकाशमें पहुँचने लगता है। आकाश अनन्त और अपार है। प्राणप्यारे भग-वान् अनन्त और सीमाशून्य हैं, यह ज्ञान उत्पन्न होजाता है, अनन्त धारणाकी शक्ति उत्पन होना आरम्भ होजाती है। सातवाँ शब्द मेघके गर्जनेकी समान होता है, इस शब्दमें साधकका मन उसमें विलीन होजाता है इस अवसरपर ही चित्तलय होता है

बहुतसे लोग समझते हैं, कि-चित्तलय हुआ कि योगसिद्धि होगई, परन्तु ऐसा नहीं है, इसमें तो केवल मनका चञ्चलपन

दूर होता है और कुछ नहीं होता है। अतिचञ्चल बालकको बहला फुसलाकर पाठशालामें जानेका अभ्यास कराने पर ही उसको विद्याकी प्राप्ति नहीं होजाती है, किन्तु पाठशालामें जाने का अभ्यासमात्र होता है, उस समय यह आशा होने लगती है, कि-चेष्टा करने पर यह विद्या प्राप्त करसकेगा।

कितने दिनोंमें मन स्थिर होजाता है, यह निश्चय नहीं कहा जासकता, समयकी न्यूनाधिकता तो साधकके अभ्यास और यत्नके अनुसार होसकती है, हाँ यह निश्चय है, कि-नाभिकुण्डमें दृष्टि और मनको स्थापित करने पर मन स्थिर होजाता है। इस बातको साधक आप ही सहजमें समझ जायगा। नाभिकुण्ड उसको कहते हैं जहाँ नाल काटीजाती है।

❀ कुण्डलिनी ❀

चित्रिणी, गान्धारी आदि सहस्रों नाडियें हैं, डाकिनी, डाकनी लाकिनी असंख्यों शक्तियें वा अधिष्ठात्री देवियें हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ये मुख्य नाडियें हैं हं यं वं लं आदि बीज हैं। स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत आदि पद्म (कमल) हैं। इन सबके जटिल नाम, जटिल कहानी और जटिल भाषाका कथनरूप बडाभारा बोझा डालकर योगशिक्षाका आरम्भ करनेवालोंको इस उलझन में डालना नहीं चाहते, परन्तु उनका कुछ वर्णन ही न कियाजाय यह भी उचित नहीं है, क्योंकि-उन सबको लेकर ही योगसाधना चलसकती है। इसलिये जिस जगह जितना कहदेनेसे काम चल सकेगा तहाँ उतना ही कहदिया जायगा।

योगशास्त्रके मतमें देह एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है; इसमें कितनी शक्तियें, कितने स्थान और कितने व्यापार हैं उसको गिनाया, नहीं जासकता। जैसे बाहर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और नदी पहाडोंको देखते हो, देहके भीतर भी ऐसा ही है। देहमें कितने

देखता हैं कितने असुर हैं,और क्या२ है,उसको हम न देखसकते हैं न जान सकते हैं। बाहरके विज्ञानसे दैहिक व्यापार वा देह के भीतरकी घटनाको जाननेका उपाय नहीं है,क्योंकि-जब हम मृत शरीरके टुकडे २ करके शारीरविज्ञान (डाक्टरी) सीखते हैं, उस समय देहकी गति प्रकृति आदि सब नष्ट होचुकता है; जीवित शरीरको काटनेमें भी यही बात होती है,क्योंकि-काटने के बाद शक्ति नष्ट होजाती है। मृत्यु आकर एकसाथ देहकी दशा बदलकर कुछका कुछ करदेता है,परन्तु हमारे मनकी एकाग्रता होजाने पर हम शरीरके भीतरकी सूक्ष्म २ गतियोंको समझ सकते हैं। जब मन बाहरके विषयोंको छोडकर देहके भीतर घुस जाता है तब ही हम इन गतियोंको जान सकते हैं।पहले हम जो मनको स्थिर करनेका उपाय कह आये हैं, उसमें सिद्धि होजाने पर अर्थात् साधनसे इस अवस्थाके पार होजाने पर देहके भीतर जो कुछ है,उसको देखनेकी शक्ति पानेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। पहले प्राणको स्थिर करनेका उपाय बताया था, अब प्राणको एकाग्र करनेका उपाय बतावेंगे,प्राणको एकाग्र किये ध्यान धारणा आदि कुछ भी नहीं होसकेगा। अधिक क्या कहें,देहके भीतर कहाँ क्या है,यह कुछ भी जाननेमें नहीं आवेगा, प्राणको एकाग्र वा प्राणका जय करनेसे पहले और एक काम करना पडता है, उसको कुण्डलिनीचैतन्य वा कुण्डलिनीजागरण कहते हैं।

योगके द्वारा साधकको बहिर्मुख प्राणको अन्तर्मुखी करना होगा। उसकी गतिको लौटाकर दूसरे मार्गसे चलना होगा, परन्तु जो योगी नहीं है, उसके लिये यह द्वार बन्द है,उस बन्द द्वारको खोलना ही कुण्डलिनीको जगाना है।

योगियोंके मतमें मेरुदण्डके मध्यमें इडा और पिंगला नामके दो स्नायुसम्बन्धी शक्तियोंके प्रवाह हैं और मेरुदण्डकी मज्जाके मध्यमें सुषुम्ना नामकी एक शून्य नाली है। इस शून्य नालीके

नीचे कुण्डलिनीका आधारपद्म है, योगी कहते हैं कि-वह तिकोना है। योगियोंकी रूपक भाषामें इस स्थान पर कुण्डलिनी शक्ति कुण्डलाकार होकर विराजमान है। जिस समय यह कुण्डलिनी जागती है, उस समय वह इस शून्यनालीके मध्यमें वेगके साथ चढनेकी चेष्टा करती है और वह ज्यों २ एक २ पैंडी पर चढ़ती जाती है त्यों २ मन मानो तय२ में खिल उठता है। उस समय नाना प्रकारके अलौकिक दृश्य दीखते हैं और उस योग को नाना प्रकारकी अलौकिक शक्ति प्राप्त होजाती है। जिस समय वह कुण्डलिनी मस्तकमें पहुँचती है उस समय योगी पूर्णरूपसे शरीर और मनसे अलग होजाता है और उसका आत्मा अपने मुक्त भावको पाता है। हमको जान लेना चाहिये, कि-मेरुमज्जा एक विशेष प्रकारकी बनी हुई है। हिन्दीके ४के अक्षरको यदि लम्बा लिटाकर लिखा जाय तो, ऐसा दीखेगा और उसके दो भाग मध्य भागमें जुड़े हुए मालूम होंगे। ऐसे अक्षरको एकके ऊपर एक सजानेसे मेरुमज्जासी दीखने लगती है। इसका वाम भाग इडा और दाहिना भाग पिंगला है और जो शून्य नाली मेरुमज्जाके ठीक मध्यमेंको होकर गयी है वही सुषुम्ना है। जहाँ मेरुमज्जा कमरमेंके मेरुदण्डके एक भागमें कुछ हड्डियोंके बाद ही समाप्त होगई है। वहाँसे भी एक अतिसूक्ष्म डोरेकी समान पदार्थ बराबर नीचेको नमता चला आया है, सुषुम्ना नाली वहाँ भी है परन्तु यहाँ आकर अतिसूक्ष्म होगई है और नीचेकी ओरको इस नालीका मुख बन्द है। कमरकी नसोंके जालके पास तक यह नाली पहुँची हुई है। आजकलके शारीरविधान शास्त्र (Physiology) के मतमें इसका आकार तिकोना है, इन सब नाड़ियोंके जालका केन्द्र मेरुमज्जाके मध्य है, उनको योगियोंके भिन्न २ पद्मरूप कहसकते हैं।

योगी कहते हैं, कि—सबसे नीचे मूलाधारसे लेकर मस्तकके सहस्रदल पर्यन्त कितने ही स्नायुजाल वा चक्र हैं। यदि हम इन भिन्न२ चक्रोंको भिन्न२ स्नायुजाल मानलें तो आजकलके शारीर विधान शास्त्रके द्वारा अतिसहजमें योगियोंकी बातका भाव समझा जासकता है। हम जानते हैं, कि—हमारी नसोंमें दो प्रकारका प्रवाह है। उनमेंसे एकको अन्तर्मुखी और दूसरेको बहिर्मुखी, एकको ज्ञानात्मक और दूसरेको गत्यात्मक, एकको केन्द्राभिमुखी और दूसरेको केन्द्रापसारी कहाजासकता है। इनमेंसे एक प्रवाह मस्तिष्ककी ओरको सम्वाद लेजाता है और दूसरा मस्तिष्कमेंसे बाहरको संवाद लाता है, परन्तु ये सब ही प्रवाह परिणाममें मस्तिष्कके साथ जुडेहुए हैं। हमको यह भी जाने रहना चाहिये कि-सब चक्रोंमें सबसे नीचे मूलाधार है, मस्तकमेंका सहस्रदल पद्म तथा मूलाधारके ठीक ऊपरका स्वाधिष्ठान पद्म इन कई एककी बातको ध्यानमें रखनेकी बहुत आवश्यकता है। हमको पदार्थ विज्ञानसे एक बात और भी लेनी होगी। हमने विद्युत् तथा विद्युत्से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य शक्तियोंकी बात भी सुनी है विद्युत् क्या वस्तु है, इसके ठीक स्वरूपको कोई नहीं जानता, हाँ हम इतना ही जानते हैं, कि—विद्युत् एक प्रकारका गति है

जगत्में नानाप्रकारकी गतिका प्रकाश देखते हैं, अब देखना चाहिये, कि—तडित् नामक गतिके साथ उनका क्या भेद है? मानलो, कि—एक टेबिल इस तरहसे चलाई जाती है, कि—उस के परमाणु भिन्न २ दिशाओंमेंको चलायमान होते हैं। यदि इस टेबिलके सब परमाणु निरन्तर एक ही ओरको चलायेजायँ तो वही विद्युत शक्तिरूपमें बदलजायगी। सब परमाणुओंके एक ओरको गतिशील होने पर उसको ही विद्युत्की गति कहते हैं। यह घरमें जो पवनपुञ्ज है, उसके सब परमाणु यदि एक क्रमसे एक ओरको चलादियेजायँ तो वह एक महाविद्युताधार यंत्र(बैटरी)

बनजायगा। जो स्नायुकेन्द्र श्वासप्रश्वासके यंत्रोंको नियममें चलाता है सब स्नायुप्रवाहोंके ऊपर भी उसका ही प्रभाव है। यह केन्द्र वक्षःस्थलके ठीक विपरीत दिशामें मेरुदण्डरूपसे स्थित है। वह श्वासप्रश्वासके यंत्रोंको नियमसे चलाता है तथा दूसरे जो स्नायुचक्र हैं उनके ऊपर भी कुछ प्रभाव रखता है।

हम जो कुछ देखते हैं, कल्पना करते हैं अथवा जो कोई स्वप्न देखते हैं, उस सबका ही अनुभव हमें आकाशमें करना पडता है। यह दृश्यमान आकाश जो साधारणरूपसे देखनेमें आता है इसका नाम महाकाश है। योगी जब दूसरेके मनका भाव प्रत्यक्ष करके देखता है अथवा अलौकिक वस्तुओंको देखता है, उस समय इस सबको वह चित्ताकाशमें देखता है और जब हमारे अनुभवका विषय शून्य होता है, उस समय आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है, उस समय उसका नाम चिदाकाश है। जब कुण्डलिनी शक्ति जागकर सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करती है उस समय जिन विषयोंका अनुभव होता है वह सब चित्ताकाशमें ही होता है। जिस समय वह इस नाडीकी अन्तिम सीमा-मस्तिष्कमें पहुँचता है उस समय चिदाकाशमें एक विषयशून्य ज्ञानका अनुभव होता है। हम यदि बिजलीका दृष्टान्त दें तो देखते हैं, कि-मनुष्य केवल तारके द्वारा किसी बिजलीके प्रवाहको एक स्थानसे दूसरे स्थान परको चलासकता है, परन्तु प्रकृति तो अपने महा-महा शक्ति प्रवाहको चलानेमें किसी तारकी सहायता नहीं लेती है, इससे ही ठीक २ समझ सकते हैं, कि-किसी प्रवाहको चलानेके लिये तारकी वास्तवमें कोई आवश्यकता नहीं है, हाँ केवल हम उसके व्यवहारको छोडकर काम नहीं करसकते, इस लिये हमको तारकी आवश्यकता पडती है।

हम बाहर जिस किसी वस्तुको भी देखते वा सुनते हैं सब ही पहले शरीरके भीतर और फिर मस्तिष्कमें जाकर पहुँचती हैं।

और उसके बाद जो कुछ क्रिया होती है वह सब मस्तिष्कके भीतरसे बाहर आती है। मेरुमज्जाके मध्यमें जो ज्ञानात्मक और कर्मात्मक नसोंके दो गुच्छे हैं, वही योगियोंकी इड़ा और पिङ्गला नाडी हैं। इन नाड़ियोंके भीतरको होकर वह दोनों प्रकारका शक्तिप्रवाह आजा जाई करता है। परन्तु बात यह है, कि-किसी प्रकारके मध्यवर्त्ती पदार्थके बिना भी मस्तिष्कमेंसे चारों ओरको भिन्न२ संवादोंका भेजना और नाना स्थानोंसे इन मस्तिष्कमेंको भिन्न२ सम्वादोंके आनेका काम क्यों नहीं होगा? प्रकृतिमें तो ऐसी घटना होती देखते हैं। योगी कहते हैं, कि—इसमें सफलता होने पर भौतिकबन्धनके पार होसकता है, परन्तु इसमें सफलता होनेका उपाय क्या है? यदि मेरुदण्डमेंकी सुषुम्नाके भीतरको होकर स्नायुके प्रवाहको चलाया जासके तब ही यह सफलता होसकती है। मनने ही स्नायुजालको बनाया है उसको ही, इस जालको काटकर, किसी प्रकारकी सहायता न चाहते हुए अपना काम चलाना होगा, तब ही सब ज्ञान हमारे वशमें होगा, फिर देहका बन्धन नहीं रहेगा। इसलिये सुषुम्ना नाड़ीको वशमें करनेकी हमें बहुत ही आवश्यकता है। यदि हम इस शून्य नालीके मध्यमें होकर नाड़ीनालकी सहायताके बिना ही मानसिक प्रवाहको चला सकें, तब ही यह सफलता होगी। योगी कहते हैं, कि-इस बातका सिद्ध होना कुछ असम्भव नहीं है।

साधारण मनुष्योंके भीतर सुषुम्ना भीतरको बँधीहुई है, उससे कोई काम नहीं होसकता। योगी कहते हैं, कि—इस सुषुम्नाके द्वारको खोलकर उसके द्वारा स्नायुप्रवाहको चलानेको नियमित रीति है। उसके साधनमें सफल होजाने पर स्नायुप्रवाह उसमेंको होकर चलसकता है। जिस समय कोई बाहरी विषय किसी केन्द्रमें जाकर धक्का लगाता है, उस समय एक प्रतिक्रिया होती

है, इस प्रतिक्रियाका फल भिन्न २ स्थलोंमें भिन्न २ प्रकारका देखते हैं। हमारे शरीरके भीतर कितने ही भिन्न २ शक्तियोंके केन्द्र हैं, उनको दो भागोंमें बाँटा जासकता है। उनमेंसे एक प्रकारको ज्ञानरहित गतियुक्त केन्द्र और दूसरे प्रकारको चैतन्यमय केन्द्र कहते हैं। पहले प्रकारकी प्रतिक्रियाका फल केवल गति है, दूसरे प्रकारके केन्द्रमें पहले अनुभव और फिर गति होती है। बाहरसे जो हमारे ऊपर घात होते हैं उनका प्रतिघात ही सकल विषयोंका अनुभव है। अब यह प्रश्न होता है, कि-स्वप्नमें नाना प्रकारका अनुभव हमें कहाँसे होता है? उस समय तो बाहरसे हमारे ऊपर कोई घात नहीं लगाता है, इसलिये निश्चय होता है, कि-जैसे गत्यात्मक क्रियाएँ शरीरके भिन्न २ केन्द्रोंमें स्थित हैं, तैसे ही अनुभवरूप क्रियाएँ भी शरीरके किसी न किसी स्थानमें निःसन्देह अव्यक्त रूपसे रहती हैं। मानलो, कि-मैंने एक नगर देखा, वह नगर नामकी जो एक बाहरी वस्तु है, उसमेंसे हमारे भीतर जो एक घात लगा, उसका ही भीतरसे प्रतिघात अर्थात् प्रतिक्रिया होती है, उसके द्वारा हम इस नगरका अनुभव कर सकते हैं अर्थात् बाहरी वस्तुके द्वारा हमारे स्नायुमण्डलमें जो एक प्रकारकी क्रिया होती है उससे ही मानो मस्तिष्कके भीतर एक प्रकारकी क्रिया होकर उसमेंके परिमाणु चलायमान होजाते हैं। हम देखते हैं बहुत दिन बीतजाने पर भी वह नगर हमारे अनुभवमें आता है। स्मृति भी स्वप्नके समान एक प्रकारका व्यापार है। हाँ इसमें स्वप्नसे कुछ कम शक्ति होती है, परन्तु बात यह है कि-वह मस्तिष्कके भीतर जो साधारणसा कम्पन उत्पन्न करदेता है वह इस पहले उत्पन्न हुए विषयानुभवसे ही होता है-यह तो कभी कहा ही नहीं जासकता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि-इन विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हुए सब संस्कार

शरीरके किसी न किसी स्थानमें सञ्चित रहते हैं वे ही शरीरके भिन्न २ केन्द्रमें प्रतिक्रियाके द्वारा स्वप्नका अनुभवरूप कोमल प्रतिक्रियाको उत्पन्न करते हैं। जहाँ यह सब संचित विषयानुभवके संस्कार रहते हैं उसको मूलाधार कहते हैं और इस स्थान में जो क्रियाशक्ति संचित रहती है उसको कुण्डलिनी कहते हैं। शरीरके भीतरकी सब गतिशक्तियें इस स्थानमें ही कुण्डलीकृत होकर संचित रहती हैं। क्योंकि—बाहरी वस्तुओंकी चिरकाल तक चिन्ता और आलोचनाके बाद यह मूलाधार चक्र गरम होने लगता है। यदि इस कुण्डलिनी शक्तिको जगाकर ज्ञातदशामें सुषुम्ना नालीके भीतरको लेजाकर एक केन्द्रमेंसे दूसरे केन्द्रमें पहुँचा दिया जाय तो एक अतितीव्र प्रतिक्रिया होने लगती है। तब कुण्डलिनी शक्तिका अतिसाधारण भाग किसी नसके भीतर को बहने लगता है, तब उसको स्वप्न वा कल्पना कहते हैं, परन्तु जब चिरकाल तक कियेहुए ध्यानके बलसे यह सञ्चित शक्ति सुषुम्ना मार्गमें भ्रमण करती है, उस समय जो प्रतिक्रिया होती है वह स्वप्नकल्पना अथवा इन्द्रियके ज्ञानकी प्रतिक्रियासे बहुत श्रेष्ठ होती है। इसको ही अतीन्द्रिय अनुभव कहते हैं, इसमें सकल ज्ञानातीत वा पूर्णचैतन्य अवस्था प्राप्त होती है। जब वह सब ज्ञानोंके और सब अनुभवोंके केंद्रस्वरूप मस्तिष्कमें जाकर पहुँचती है तब सम्पूर्ण मस्तिष्कमेंसे एक महाप्रतिक्रिया होती है। शरीरमें का हरएक अनुभव करनेवाले भाग और अनुभववाले हरएक परमाणुमेंसे प्रतिक्रिया होने लगती है, इसका फल होता है ज्ञानालोकका प्रकाश वा आत्मानुभव। उसी समय हमको इन्द्रियज्ञान और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप जगत्के सकल कारणोंका यथार्थस्वरूप ज्ञान होजायगा, उस समय ही हमको पूर्ण ज्ञान प्राप्त होजायगा, कारणका ज्ञान हुआ, कि कार्यका ज्ञान अवश्य ही

आजायगा। इससे मालूम हुआ,कि-कुण्डलिनीको जगाना ही तत्त्वज्ञान है, यही ज्ञानतीत अनुभव और आत्मानुभवका एक मात्र उपाय है।

इस कुंडलिनीके उद्बोधन वा जागरणके अनेकों प्रकारके उपाय हैं-हम इसकी एक बड़ी ही सहज रीति बतावेंगे, कि-जिसके द्वारा गृहस्थयोगी सहजमें ही सिद्धि पासकेंगे,परन्तु उसको बताने से पहले षट्चक्रके विषयकी संक्षिप्त आलोचना करेंगे,क्योंकि-नाड़ीचक्र वा पात्रोंको बिनाजाने काम नहीं चलसकता।

षट्चक्र

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे,
मध्ये नाडी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।
षट्चक्रस्थेरपुष्पप्रथिततमवपुः स्कन्दमध्यच्छिद्रस्था,
वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमे स्याउज्वलन्ती॥

मेरुदण्डके बाहर बाईं ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिङ्गला तथा मेरुदण्डके बाहर इन दोनों नाडियोंके मध्यमें सुषुम्ना नामकी नाड़ी है, नाड़ी शब्दसे यहाँ स्नायु वा धमनी (नस) लीजायगी। सुषुम्ना नाडी मूलाधार कमलके मध्यभागसे सहस्र दल कमलमेंके परमशिवपर्यन्त फैली हुई है। सुषुम्नाके मध्यमें जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म छिद्र है, उसमेंको होकर वज्रनाडी मस्तक पर्यन्त चलीगई है।

तन्मध्ये चित्रिणी सा प्रणवविलसिता योगिनां योगगम्या,
सूक्ष्मानन्तूपमेया सकलसरसिजान्मेरुमध्यान्तरस्थान्।
भित्त्वा देदीप्यते तद् प्रयनचरया शुद्धिबुद्धिप्रबोधा,
तस्यान्तर्ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तरस्था॥

वज्रनाड़ीके मध्यमें एक ऐसा सूक्ष्म छिद्रहै,कि-योगियोंके सिवाय और लोगोंकी कल्पनामें भी नहीं आसकता,उसके मध्यमें मकड़ीके

जालेकी समान मूक्ष्म चित्रिणी नाडी है, चित्रिणी नाडी कुण्डलिनीसे दमकती रहती है, इस नाडीका ज्ञान योगीके सिवाय दूसरोंको नहीं होता है और वह नाडी प्रणवमें विलसित है। सुषुम्नामें जो छः चक्र हैं, चित्रिणी नाडी मध्यमेरुके छिद्रमार्गमेंसे होकर उन सब मार्गोंका भेदन करती हुई शोभा पारही है। चित्रिणीके मध्यभागमें ब्रह्मनाडी है, वह मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त चलीगई है

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधारसम्यप्रदेशः
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्नाख्यनाड्याःप्रपन्ति ॥

ब्रह्मनाडीके मुखमें ही ब्रह्मद्वार मूलाधार पद्म है। यहांसे नित्य अमृतकी धार टपकती रहती है और यह स्थान ही पद्मकी ग्रन्थि-रूप है, योगियोंके मतमें यह ब्रह्मद्वार ही सुषुम्ना नाडीका मुख है।

मूलाधारपद्म—

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्थलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥

गुदाके ऊपर और लिङ्गके नीचेका भाग इन दोनों के ठीक बीचमें आधारपद्म है, यह पद्म सुषुम्ना नाडीके मुखमें मिला हुआ है, यह कुण्डलिनी आदिका आधार है, इसलिये इस को मूलाधारपद्म कहते हैं। पद्मको चक्र भी कहते हैं। यह पद्म लाल रङ्गका, चार पत्तोंवाला और नीचेको मुख किये हुए खिल रहा है, इसके चारों पत्तों पर व, श, ष, स हैं और तपेहुए सोने की समान दमकरहा है।

अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं समुद्भासिशूलाष्टकैरावृतन्तत्।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं तदन्तः समास्ते धरायाः स्वबीजम्।

मूलाधार कमलके मध्यमें परमदीप्तिमान् चार कोनेवाला धरा चक्र है, उसके सब ओर आठ शूल बनेहुए हैं, उसका रङ्ग पीला

और बिजलीकी समान कोमल तथा उज्ज्वल है इस चक्रके मध्यमें 'लं' यह पृथ्वी बीज शोभा पारहा है।

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थम्,
कोणैरन्तस्त्रिपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्विलसति सततं तस्य मध्ये सपत्नात्,
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥

वज्रनामक नाडीके मुखस्थानमें मूलाधार कमलकी कलीके भीतर त्रैपुरनामका एक तिकोना यन्त्र है, यह यन्त्र बिजलीकी समान चमकदार और कोमल है। इस यन्त्रके मध्यमें कन्दर्प नामक वायु नित्य विराजमान है इस यन्त्रके भीतर जीवात्मा रहता है। जीवात्मा गुडहलके फूलसे भी अधिक लाल और करोडों सूर्यकी समान प्रकाशवान् है।

तस्योर्ध्वे विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी,
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम्।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद्भासया भासते।
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यं प्रबोधोदया॥

इस त्रिकोण यन्त्रमें स्वयम्भू लिङ्गके ऊपर मृणाल (कमलनाल) के तारकी समान अतिसूक्ष्म सर्पके आकारकी कुलकुंडलिनी अपने मुखको फैलाकर ब्रह्मद्वारको रोकरही है, कुंडलिनी के मध्यमें विद्युत्समूहकी समान त्रिगुणमयी प्रकृति रहती है, उसके दमकते हुए प्रकाशसे सकल ब्रह्माण्डकटाह प्रकाशित होरहा है। यहाँ सत्त्वगुणका काम होता है! यह जो एकके बाद एक पद्मका वर्णन किया है, ये गुथे हुए कमलके फूलोंकी समान है। मूलाधार कमलमेंसे नादरूप वर्ण उठकर हृदयमेंको जाता है, इसलिये कुण्डलिनी पंचाशद्वर्णरूपिणी है। इस कुण्डलिनीका नित्य ध्यान करनेसे जीवका अज्ञानान्धकार दूर होता है और

कुण्डलिनी जागती है, इसका वर्णन आगे करेंगे, पहले कुछ चक्रों की बात और कह देते हैं।

स्वाधिष्ठानपद्म—

सिन्दूरपूरुचिरारुणपद्ममन्यत्सौषुम्नमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे ।
अङ्गच्छदैः परिवृतं तडिदाभवर्णैर्बाधैः सबिन्दुलसितैश्च पुरंदरांतैः ॥
अस्यान्तरे धवलसद्विशदप्रकाशमर्धेन्दुभोजमंडलमथो वरुणस्य तस्य।
अर्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं रङ्गारबीजममलं मकराधिरूढम् ॥

लिङ्ग की जड़में सुषुम्नाके मध्यमें जो चित्रिणी नामकी नाडी है, उसमें सिन्दूरकी समान लाल २ छः दलवाला बिजलीकी समान चमकता हुआ एक चक्र है, उसका नाम स्वाधिष्ठान पद्म है। उसके छः दलोंमें क्रमसे बिजलीसी चमकवाले ब, भ, म, य, र, ल, ये छः वर्ण हैं। इस पद्ममें अर्धचन्द्राकार श्वेत वरुणचक्र वा वरुणका जलमण्डल है और उसके मध्यमें 'वं' यह वरुण बीज स्थित है। यह रजोगुणका स्थान है।

मणिपूरपद्म—

तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे,
नीलांभोजप्रकाशैरुपकृतजठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत्त्रिकोणं,
तद्बीजैः स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्ववीजम् ॥

उस स्वाधिष्ठानपद्मके ऊपरके भागमें नाभिके नीचे एक नसोंका जाल वा चक्र है, इसको ही मणिपूरपद्म कहते हैं। इसके दश दल हैं, उन दशों दलोंमें क्रमसे गाढी घनघटाकी समान नीलवर्ण ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये वर्ण हैं। इस पद्ममें अग्निका त्रिकोण मण्डल है और उस मण्डलमें 'रं' यह अग्निका बीज स्थित है। यह तमोगुणका स्थान है।

अनाहतपद्म—

तस्योर्ध्वे हृदि पंकजं सुललितं बन्धूककांत्युज्ज्वलं,
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपकृतं सिन्दूररागान्वितैः।
नाम्नानाहतसंज्ञकं सुरतरुं वाञ्छातिरिक्तप्रदं
वायोर्मण्डलमत्र धूपसदृशं षट्कोणशोभान्वितम् ॥
तन्मध्ये पवनात्मजञ्च मधुरं धूपावलीधूसरम्,
ध्यायेत्तानिचतुष्टयेन लसितं कृष्णादिरूढं परम्।
तन्मध्ये करुणानिधानमपलं हंसाभमीशाभिधम्
पाणिभ्यामभयं वरञ्च विदधन्लोकत्रयाणामपि ॥

इस मणिपूर नामक नाभिचक्रके ऊपरके भागमें विजयसारके फलकी समान उज्वल बारह दलका चक्र है। इसका नाम अनाहत पद्म है। उसके बारहों दलोंमें क्रमसे सिन्दूरके रङ्गके क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ये बारह वर्ण हैं, इस पद्ममें धुमैले रङ्गका छःकोनेवाला वायुमण्डल है और उस मण्डलमें, यं, यह वायुबीज स्थित है, इस अनाहत चक्रमें वायुशून्य स्थानमें दीपककी स्थिर लोहेकी समान जीवात्मा शोभायमान है।

विशुद्धपद्म—

विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजमपलं धूपधूम्राभभासं।
स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसितैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः ॥

कण्ठमें सोलह दलवाला विशुद्ध नामका पद्म है, यह पद्म धुमैले वर्णका है। इसके सोलहों दलोंमें क्रमसे लाल रङ्गके अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ, अं अः, ये सोलह स्वर हैं। इसमें हं बीज और चन्द्रमण्डल स्थित है।

आज्ञापद्म—

आज्ञानामांबुजं तद्दिनकरसदृशं ध्यानधामप्रकाशं,
अक्षाभ्यां केवलाभ्यां परिलसितवपुर्नेत्रपत्रं शुभ्रम्।

एतस्याभ्यन्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्,
योनौ तत्कर्णिकायामपितरशिवपदं लिङ्गचिन्हप्रकाशम् ॥
विद्युन्माला विलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधम्,
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण ॥

दोनों भौंके मध्यमें एक दो दलका चक्र है, उसका नाम आज्ञा पद्म है। वह पद्म चन्द्रमाकी समान स्वेत है और दोनों दलोंमें ह, क्ष, यह दो अक्षर हैं। इस द्विदल आज्ञापद्मके मध्यभागमें सूक्ष्मरूप मन स्थित है। कर्णिका बीजकोष में पुरुष और बिजलीकी मालाकी समान दमकती हुई शक्तिसा स्थान तथा ब्रह्मनाडीके प्रकाशक प्रणव (ॐ) का स्थान है।

तदन्तश्चक्रेऽस्मिन्निवसति सततं शुद्धबुद्धान्तरात्मा,
प्रदीपाभाज्योतिः प्रणवविरचनारूपवर्णप्रकाशः।
तदूर्ध्वे चन्द्रार्धस्तदुपरि विलसद्बिन्दुरूपी प्रकार-
स्तदादौ नादोऽसौ बलधवलसुधाधारसन्तानहासी ॥

इस आज्ञापद्मके अन्तश्चक्रमें (भौंसे कुछ ऊपरके भागमें) विशुद्धज्ञान और ज्ञेयस्वरूप अन्तरात्मा स्थित है। ओङ्कारके ऊपर अर्धचन्द्र और उसके ऊपर बिन्दु तथा बिन्दुके आदिभाग में नाद विराजमान है।

सहस्रार पद्म—

तदूर्ध्वे शङ्खिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशम्,
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णपूर्णेन्दुशुभ्रम्।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तकिञ्जल्कपुञ्जम्,
अकाराद्यैर्वर्णैः प्रविलसितवपुः केवलानन्दरूपम् ॥

इस आज्ञाचक्रके ऊपरके स्थानमें शङ्खिनी नाडीके मस्तक पर जो शून्याकार स्थान है, उस स्थानमें विसर्ग शक्ति है।

इस शक्तिके नीचे प्रकाशमान सहस्रदल कमल विराजमान है।

वह पूर्ण चन्द्रमाकी समान श्वेत है,नीचेको मुख कियेहुए खिल-रहा है,बडा ही मनोहर है और उसके केसर प्रातःकालके सूर्यकी समान दमकरहे हैं। इस पद्ममें,अकार आदि पचास वर्ण हैं और नित्यानन्दस्वरूप है।

समास्ते तत्रान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः,
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासः।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपम्,
तदन्तः शून्यन्तत्सकलसुरगुरुं चिन्तयेच्चातिशुभ्रम् ॥

इस सहस्रदल कमलके मध्यमें निष्कलङ्क चन्द्रमा और उसकी चाँदनी विराजमान है। चन्द्रमाकी सुधाराशि हास्यकी समान शोभा पारही है। उसके मध्यमें बिजलीकी समान त्रिकोण यन्त्र तथा उस यन्त्रके मध्यमें देवताओंका गुरुरूप परमगोपनीय शून्य स्थान है।

सुगोप्यं तद्यत्नादतिशयपरमामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं शशिसकलकलाशुद्धरूपमकाशम्।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धप्रसिद्धिः।
स्वरूपी सर्वात्मा रसविसरमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः ॥

यह शून्य स्थान परम आनन्दभोगका मूल है, अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्णचन्द्रमाकी समान प्रकाशवान् है। गगनरूपी परमात्मस्वरूप परमशिव यहाँ शोभायमान है, वह परम आनन्दस्वरूप और जीवोंके मोहान्धकारके नाश करनेका एकमात्र हेतु है।

शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणाः,
जपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे ॥
पदं देव्या देवी चरणयुगलानन्दरसिकाः।
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥

यहाँ जो परमशिवका वास कहा है वह शैवोंके लिये है, इस स्थानको ही वैष्णव परमपुरुष श्रीहरिका स्थान कहते हैं, इसको ही देवीके चरणोंके भक्त शक्तिका स्थान और कितने ही ऋषि इसको प्रकृति पुरुषका स्थान कहते हैं तात्पर्य यह है, कि—यह परमब्रह्मका स्थान है, सब ही अपने २ इष्टदेवको परमब्रह्म-स्वरूप मानते हैं ।

सहस्रार पद्ममें अमा नामकी षोड़शी चन्द्रकला है, यह कला प्रातःकालके सूर्यकी समान दमकती हुई और कमलनालके तारके सौवें भागकी समान सूक्ष्म है, यह बिजलीकी समान कोमल स्वयं प्रकाशमान और अधोमुख है। इस अमा-कलाके भीतर निर्माणकला नामक और एक कला है, वह केशके अग्रभागके हजारवें भागकी समान सूक्ष्म और बारह आदित्योंकी समान प्रकाशमयी है । इसको ही महाकुण्डलिनी कहते हैं। इस निर्माणकलाके भीतर परमनिर्माण शक्ति रहती है। परमनिर्माण शक्ति करोड़ों सूर्यकी समान दमकती है। यह प्रणवगर्भा है और योगियोंके हृदयोंमें तत्त्वज्ञानके साथ आनन्द देती है परम निर्माणशक्तिके भीतर निर्मल, नित्यानन्दस्वरूप, योगियों के ही जाननेमें आनेवाला परमात्मस्थान है, कोई इस स्थानको परमशिवका स्थान, कोई ब्रह्मपद, कोई विष्णुपद,कोई, हंसपद और कोई मोक्षपदका द्वाररूप कहते हैं ।

हम पहले ही बता चुके हैं, कि—जिनको पद्म नामसे कहा है, वे सब स्नायुचक्र (नसोंके गुच्छे) हैं, ये स्नायुचक्र इतने सूक्ष्म हैं कि—ध्यानमें ही नहीं आ सकते, इसलिये भावनाके समय चार अंगुलके कल्पना करके ध्यान कियाजाता है और इन सब पद्मोंके मुख नीचेको हैं, परन्तु ध्यानके समय इन सबको ऊर्ध्वमुख मान कर चिन्तवन करे ।

कुण्डलिनीको जगाना

पहले जिस एकान्त कोठरीकी बात कही है, उसको धूप आदिसे सुवासित करके उसमें सिद्धासन वा पद्मासन लगाकर बैठे। कुंडलिनीको जगाना कोई अद्भुत घटना नहीं है, वह एक मानसिक क्रिया है। तुमने मेंटल टेलीग्राफ वा मन ही मनमें बिजलीके द्वारा समाचार पहुँचाने की बात सुनी होगी, वह जिस प्रकार एक मानसिक क्रिया है, ऐसे ही यह भी कुछ २ वैसी ही मानसिक क्रिया है, वह बाहरी जगत्की क्रिया कुछ सहज है और यह अन्तर्जगत्की क्रिया उससे कुछ कठिन है।

केवल ध्यानके द्वारा देहमेंके शक्तिकेन्द्रको या वायवी शक्तिको ऊपरको उठाना होगा अर्थात् चिन्तवनके द्वारा प्राण अपान आदि दश प्राणोंको देहमें अन्य सब शक्तियोंके सहित शक्तिकेन्द्र कुण्डलिनीमें लेजाना होगा। जिस समय इडा पिङ्गलाके द्वारा बाहर नहीं आसकता है, उस समय सुषुम्नाके मार्गसे उठकर चक्रभेद करता है। यह काम क्रम२से करना पडता है। बहुतसे लोग कहते हैं कि—किसी भी उपायसे कुण्डलिनीको जगालेने पर सहजमें ही सहस्रारमें पहुँचजाते हैं। वास्तवमें जिन्होंने यह साधना की है वे जानते हैं, कि-ग्रंथमें ऐसी बातें लिखी होने पर भी उनका होना कठिन होता है। एक चक्रको भेदकर दूसरे चक्रमें जाना होता है। तहाँसे ऊपरको उठानेकी रीति यदि न मालूम हो तो उस स्थानसे ही गिरजाता है। यदि एकबार चक्रभेदका अभ्यास होजाय तो कुण्डलिनीके जागने पर तत्काल सहस्रारमें पहुँचता है। अभ्यासके समय एक२ करके चक्रको भेदनेका नियम ही ठीक है। आसन लगाकर मेरुदण्डको जैसा रखने पर कुण्डलिनीको जगानेमें सुभीता हो तैसा ही रक्खे, परन्तु आसन ठीक होना चाहिये।

प्रथमसे जिसप्रकार अभ्यास करना चाहिये वही यहाँ बताया गया है। आसनको ठीक करके बैठकर कुण्डलिनीका ध्यान करे अर्थात् अन्य सब चिन्ताओंको त्याग कर नीचे वर्णन कियेहुए कुण्डलिनीके रूपका ध्यान करे। कितनी देर ध्यान करना होगा, यह ठीक नहीं बताया जासकता, हाँ जितनी देर ध्यान करनेमें तुम्हारा मन तन्मय रहे तबतक ध्यान करो। प्रथम ध्यानके समय तन्मय होनेसे पहले मन दूसरी चिन्ताओंको लेकर बैठना चाहेगा, इस लिये हमने पहले मनको स्थिर करनेका उपाय कह दिया है। उस साधनामें सिद्धि पाकर यह काम करना चाहिये। यदि पूरा २ अभ्यास न हुआ हो तो जब २ दूसरी चिन्तायें आवें तब २ उन चिन्ताओंको हटाकर कुण्डलिनीका ध्यान करे, ऐसा करते २ अभ्यास होजायगा। ध्यानका अर्थ है चिन्तवन। कुण्डलिनीका ध्यान इसप्रकार करे—

ध्यायेत्कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामिनीभासां स्वयंभूलिङ्गवेष्टिनाम्।

मूलाधार पद्मकी कलीके मध्यमें त्रिकोण चक्र है उसमें नीचेको मुख कियेहुए स्वयं भूलिङ्ग है। साढ़े तीन लपेटसे लिपटे सोये हुए सर्पके समान, अतिसूक्ष्म, बारह अंगुलीकी सैकड़ों करोड़ बिजलियोंके समान प्रभावाली, साधनामें निज इष्टदेवतारूपिणी कुण्डलिनीशक्ति स्वयंभू लिङ्गको लपेटे हुए है। अन्तर्दृष्टिसे मूलाधारपद्म और कुण्डलिनीको देखनेका अभ्यास करो, फिर कुण्डलिनीके साथ अपने सब प्राण सब इन्द्रियें मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि मिलरहे हैं, ऐसा ध्यान करो। ध्यान करते २ जब अभ्यासमें ध्यान करते ही ज्ञान होजाय कि—सब एकस्थानमें आकर कुण्डलिनीके साथ मिलगये हैं, तब समझो, कि—अभ्यास होगया

इस अभ्यासको करनेमें कुछ दिन लगावे, इसका अभ्यास होजाने पर पहले बैठकर यह करे, फिर नासिकाके बायें और दायें दोनों छिद्रोंसे एकसाथ वायुको खेंचकर जोरके साथ हुम् इस बीजका ऊपरसे जरा झोंक देकर उच्चारण करता हुआ स्वरको खेंचकर मूलाधार पद्ममें उस स्वरको लेजाकर समाप्त कर देय। इसप्रकारसे उच्चारण करे, कि—'हुम्' का स्वर कण्ठसे मूलाधारतक उतरता चलाजाय। इसका भी कई दिनतक अभ्यास करे। फिर उस स्वरके साथ जो वायु गया हो उसको लौटकर ऊपरको अर्थात् नासिकाके मार्गसे न आनेदेय और साथ २ मूलाधारका सङ्कोच करे। इस सङ्कोचके समय शाक्त लोग 'हंसः' और वैष्णव 'सोऽहम्' तथा शैव शिवोऽहम्' कहें। यदि ऐसा न कहाजाय तब भी कोई विशेष हानि नहीं है। जिस रीतिसे मूलाधारका सङ्कोच कियाजाता है, योगशास्त्रमें उसका नाम अश्विनी मुद्रा है। वह और कुछ नहीं है, बारंबार गुह्यद्वारको सकोडना और फैलाना पडता है, वह क्रिया बहुत जल्दी २ करे।

ऐसा करते २ एकाग्र मनसे ध्यान करे, कि—पहले जो कुंडलिनी शक्ति स्वयंभू लिङ्गको लपेट ब्रह्मद्वारमें मुख दियेहुए सोरही थी, वह जागउठी है और दीपशिखाके आकारवाले जीवात्मा तथा इन्द्रियादिके साथ एकीभूत होकर ब्रह्मद्वारके मार्गमें अर्थात् सुषुम्नाके भीतरको चढना आरम्भ कररही है।

इसप्रकार ध्यान करते २ चिन्ता, इच्छा और क्रियाशक्तिके बलसे सर्वशक्तिमयी कुण्डलिनी वास्तवमें जागउठेगी और धीरे२ उठनेलगेगी, साधकको इसका स्पष्ट अनुभव होने लगेगा। कुंडलिनी जब जितनी जाग उठेगी तब मेरुदण्डमें उतना ही सिड२शब्दहोगा और एक प्रकारके अपूर्व अव्यक्त आनन्दका अनुभव होगा। ऐसी अवस्था होजाने पर मूलाधारके सब गुण, सब शक्तियें और सब

क्रियाएं कुण्डलिनीमें विलीन होजायँगी।तदनन्तर उससे ऊपरके स्वाधिष्ठानचक्रमें लेजानेका उद्योग करना होगा। स्वाधिष्ठानका वर्णन इसके पहिले किया जाचुका है। उस समय उस स्वाधिष्ठानके वर्णन और शतकोटि विजलियोंके प्रकाशवाली, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कुंडलिनी मूलाधारके सर्वस्वको अपने स्वरूपमें लीनकरके सुषुम्नाके मार्गसे स्वाधिष्ठानमेंको जारही है,ऐसा ध्यान करे।अभ्यास होजाने पर तो, करके कुण्डलिनी स्वाधिष्ठानमें पहुँच जायगी, उस समय एक सिद्धि करती रहेगी और साधक आनन्दका अनुभव करेगा। यहाँ एक बातका याद दिलाये देते हैं—तुम पहले जो नासिकाके दोनों छिद्रोंसे वायुको खेंचकर हुम् इस शब्दके साथ श्वास प्रश्वासको मूलाधारमें लेगये हो उसको त्याग नहीं सकोगे,किन्तु कुम्भक करके रोकना होगा। क्रम २ से अभ्यास करके यह शक्ति प्राप्त करनी होगी।

स्वाधिष्ठान पद्ममें कुंडलिनीके पहुँच जाने पर मणिपूर-पद्म का ध्यान तथा स्वाधिष्ठान—चक्रमेंकी सकल शक्तियोंके विलीन होनेका और कुण्डलिनीके उठनेका ध्यान करे।

मणिपूरको छोडकर इसप्रकार ही अनाहत पद्म और मणिपूर में समस्त शक्तियोंसे युक्त कुण्डलिनीके तहाँ चढनेका ध्यान करे इस अनाहत पद्ममें मानकी आशा चिन्ता आदि सब वृत्तियें और इस पद्ममेंके गुण आदि कुण्डलिनीके शरीरमें लीन होजायँगे,उस समय विशुद्ध—पद्मका ध्यान और कुंडलिनीके उठने का ध्यान करके विशुद्ध—पद्ममें पहुँचादेय, इस विशुद्ध—पद्ममें बिजलीकी समान चमकता हुआ प्रणव (ॐ) रहता है,यहाँ ही आकाशतत्व है,इसलिये निरन्तर ॐकारकी ध्वनि होती रहती है।

यहाँसे आज्ञाचक्रमेंको लेजाना होगा। आज्ञाचक्रका और कुण्डलिनीका ध्यान करके पहलेकी समान पहुँचावे। यहाँ मन

का मार्ग और सोमचक्र है। सुषुम्नाके मुखके नीचे कपाटस्वरूप अर्धचन्द्राकार मण्डलको भेदकर कुण्डलिनी चढेगी।

इस आज्ञाचक्र तक पहुँचजाने पर जीवात्माका बन्धन खुल जाता है। सोमचक्रमेंकी अमृतधारामें स्नान और ब्रह्मदर्शन होता है। इसके बाद ही सहस्रार है। कुण्डलिनी जीवात्माको सहस्रार में लेजाकर परमात्माके साथ मिलादेगी और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, वाणी, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि लीन होजायँगे। जीव शक्ति है, परमात्मा शक्तिमान् है, दोनोंके मिलनके अद्वितीय आनन्दसे भुवन भर जायगा, साधक कृतार्थ होगा। यही तांत्रिकोंका शिवशक्तिका मिलन है और वैष्णवोंका राधाकृष्णके रसरासका विहार है। परन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं है। कुण्डलिनी जिनको लेगईहै उनको लियेहुए लौटकर फिर अपने स्थानपर आजायगी। इस समय कुंडलिनीको उतारनेकीरीति भी सीख लेनी होगी। लौट आना ही उसका स्वभाव है, परन्तु उचित रीतिसे यदि नहीं लौटाया जायगा तो साधना क्रियामें गडबडी पड़जाना संभव है। सहस्रार वा जिस चक्रमेंसे कुण्डलिनीको उतारना होगा उससमय उसका ध्यान करना होगा। उन २ चक्रोंमेंसे कुण्डलिनीमें जो २ शक्तियें और जो २ गुण विलीन हुए हैं उनको फिर वहाँ ही रखकर उतर रही है, ऐसा ध्यान करना होगा। इसप्रकार उतारने के समय भी सिड २ शब्दका अनुभव होगा, यही उतारनेका क्रम है। कुण्डलिनी अपने मूलाधार पद्ममें आकर पृथिवीतत्त्व आदिकी सृष्टि करती हुई पहलेकी समान ही स्वयंभू लिङ्गको लपेट कर ब्रह्म बिवरमें मुख रूपी पहलेकी समान सोजायगी। उस समय साधक-कुम्भकको वायुको छोडदेगा। श्वास प्रश्वास चलने लगेंगे तथा

जीवात्मा भी भ्रान्ति और मायासे आच्छन्न होजायगा, साधक ऐसा भी ध्यान करे। इसप्रकार कुण्डलिनीको चढ़ाया और उतारा जाता है। ऐसा होने पर मनुष्यका ब्रह्मद्वार खुलजाता है और ब्रह्मसाक्षात्कारकी प्राप्ति होकर ब्रह्मनिष्ठा होती है। यह निष्ठा कभी विचलित नहीं होती है यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। दूसरेके मुखसे सुनी हुई बात वा शास्त्रपाठका फल नहीं है। किसी मनुष्यके मुखसे जो बात सुनीजाती है, दूसरे मनुष्यकी बातसे उसका खण्डन होसकता है। एक शास्त्रमें जो बात लिखी है, दूसरे शास्त्रके विभिन्न मतसे उसका खण्डन होसकता है, परन्तु यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं जासकता। इस नित्यानन्दका उपभोग करने पर फिर इस संसारके दुःख मिले आनन्दकी ओरको प्राण नहीं दौड़ता है। यहाँसे साधकके नवीन जीवनका आरम्भ होता है।

ब्रह्मज्योति ।

कुण्डलिनीको जगाना मानसी क्रिया है, मनमें ही इसका आनन्द और मानसिक नेत्रसे ही इसका दर्शन होता है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो बाहरके इस स्थूलनेत्रसे ब्रह्मज्योतिको देखना चाहते हैं। ऐसा कोई काम नहीं है जो योगसाधनासे सिद्ध न होसके। नीचे लिखे उपायसे ब्रह्मज्योतिका दर्शन किया और कराया जासकता है, परन्तु यहाँ यह बात कहे देते हैं, कि—जब तक जीव प्रकृतिके बन्धनको खोलकर केवल नहीं होजायगा तब तक मुक्त नहीं होसकेगा।

ब्रह्मज्योति क्या पदार्थ है, पहले इसकी आलोचना करना ही ठीक होगा। ब्रह्मज्योतिको समझनेके लिये पहले ब्रह्मके स्वरूप को समझ लेनेका उद्योग करना चाहिये। ब्रह्मको बिना जाने उसकी ज्योतिको कैसे समझा जासकेगा? परन्तु यह विषय बड़ा गहन है। सकल वेद जिसका कीर्तन करते हैं, सब प्रकारकी

तपस्या जिसको पानेके लिये कीजाती है, जिसको पानेके लिये लोग ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं, मैं अधम संसारान्ध जीव उस के विषयमें संक्षेपमें क्या कह सकता हूँ ? । वह आत्मा है, शास्त्रने इस आत्माकी बडीभारी महिमा गाई है । शास्त्र कहता है–"ज्ञानवान् आत्मा न कभी मरता है और न कभी जन्म लेता है । वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह अज नित्य शाश्वत और पुराण है । देहके नष्ट होजाने पर भी वह नष्ट नहीं होता । हन्ता यदि यह समझे,कि मैं किसीको मार सकता हूँ अथवा हत (माराजानेवाला) यह समझे कि-मैं मारा गया तो ये दोनों ही असली तत्त्वको नहीं समझते, आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं हत होता है ।" सब ज्ञान सब पवित्रता आत्मामें पहलेसे ही विद्यमान है । भेद इतना ही है,कि-कहीं अधिक प्रकाशक है और कहीं कम प्रकाशक है । मनुष्यके साथ मनुष्यका अथवा इस ब्रह्माण्डमेंकी हरएक वस्तुमें भेद देखते हैं, वह प्रकारगत नहीं है।परिमाणगत है हरएकके पीछे वह सत्य एकमात्र अनन्त, नित्यानन्दमय नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण ब्रह्म स्थित है । वह ही आता है। वह पुण्यात्मामें, पापीमें, सुखीमें, दुःखीमें, सुरूपमें, कुरूपमें, मनुष्यमें, पशुमें सर्वत्र एकरूप है । वह ज्योतिर्मय है । उसके प्रकाशकी न्यूनाधिकतासे ही नानाप्रकारके भेद होरहे हैं किसीके भीतर वह अधिक प्रकाशित है और किसीके भीतर थोडा परन्तु उस आत्माके सम्बन्धमें इस भेदका कुछ अर्थ नहीं है किसीकी पोशाकके भीतर उसके शरीरका अधिक भाग दीखता है और दूसरेके देहका थोडासा भाग दीखता है ऐसा होनेसे शरीरमें कुछ भेद नहीं पडता । केवल पोशाकसे ही जिसके शरीरका थोडासा भाग वा अधिक भाग दीखता है, इसकारणसे ही उसके शरीरका भेद दीखता है आवरण अर्थात् देह और मनकी न्यूनाधिकताके

अनुसार ही आत्माकी शक्ति और पवित्रता प्रकाशित होती है। इससे सिद्ध हुआ, कि—शास्त्रके सिद्धान्तमें भली और बुरी नामकी दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। वह एक वस्तु ही भली और बुरा दो बन रही है और उसमें जो भेद है वह केवल परिमाणके कारणसे है और कार्यदशामें भी हम ऐसा ही देखते हैं आज जिस वस्तुको हम सुखदायक कहते हैं कलको पहलेकी अपेक्षा हमारी कुछ अच्छी दशा होजाने पर उसको ही हम दुःखदायक समझकर घृणा करते हैं। इसलिये वास्तवमें वस्तु के परिमाणभेदक कारणसे ही भेद मालूम होता है, वस्तुमें कुछ भेद नहीं है वास्तवमें भली बुरी कुछ वस्तु है ही नहीं। जो अग्निकी तेजी हमारे शीतको दूर करती है वही एक बालकको झुलसा सकती है। यह क्या अग्निकी तेजीका दोष है? सबको ही कहना पड़ेगा, कि—नहीं। आत्मा परिपूर्ण और नित्य शुद्ध है, परन्तु जो प्राणी असत् (खोटा) काम करता है वह अपने स्वरूप के विपरीत काम करता है वह अपने स्वरूपको जानता ही नहीं हत्यारे मनुष्यके भीतर भी शुद्ध स्वभाव आत्मा विराजमान है, उसने भ्रमसे उसको ढक रक्खा है,वह अपने आत्माकी ज्योतिको प्रकाशित नहीं होने देता और जो मनुष्य यह समझता है, कि—वह मारागया उसका यह समझना भी धोखा ही है, क्योंकि—आत्मा नित्य है,उसका नाश तो कभी हो ही नहीं सकता। अणु (छोटे) से भी अणु और बड़ेसे भी बड़ा है, वह सबका प्रभु है और हरएक मनुष्यके हृदयके परमगुप्त स्थानमें रहता है निष्पाप पुरुष उसका दर्शन पाकर सकल दुःखोंसे छूटजाता है। जो देहशून्य होकर भी देहमें रहता है, जो देशविहीन होकर भी देशमें रहने वालेकी समान है. उस अनन्त सर्वव्यापी आत्माका इसप्रकार ध्यान करके ज्ञानी पुरुष फिर दुःखका अनुभव नहीं करते हैं।

आत्माकी स्थितिके विषयमें शास्त्र कहता है, कि—

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धः पयोघृतम् ।
देहमध्ये तथा देवः पापपुण्यविवर्जितः ॥

जैसे काठमें अग्नि रहता है फूलमें गन्ध रहता है और दूधमें घी रहता है तैसे ही पापपुण्यशून्य आत्मदेव वा परमात्मा देहमें स्थित है ।

आत्मदर्शनमात्रेण जीवन्मुक्तो न संशयः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्त्तव्यं स्वात्मदर्शनम् ॥

आत्मसाक्षात्कार होते ही मनुष्य कृतार्थ होजाता है.जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होजाती है, इसलिये सब प्रकारका उद्योग करके सब मनुष्योंको आत्मदर्शन करना चाहिये ।

भला आत्मदर्शन करना कौन नहीं चाहता है ? सर्वसन्ताप-हारी ब्रह्मदर्शनके लिये कौन उद्योग नहीं करता है? परन्तु वास्त-विक उद्योग करते हैं. यह नहीं कहा जासकता । मुखसे कहना और बात है, और काम करना दूसरी बात है । बहुत बोलनेसे,तीक्ष्ण बुद्धिसे वा केवल शास्त्र पढ़लेनेसे आत्माका दर्शन नहीं होता ।

तो फिर आत्मदर्शन कैसे होता है ? चारों ओरसे यही प्रश्न होता है, कि—आत्माका दर्शन कैसे मिलता है ? ऋषि महर्षि मेघगम्भीरस्वरमें उत्तर देते हैं, कि—योगसाधनासे । तब तो घूम फिरकर फिर योगकी ही बात आगई । जो असत् कर्म करने वाले हैं, जिनका मन शान्त नहीं है वे कभी भी आत्माको नहीं जानसकते, उनको ज्योतिकी लहर नहीं दीख सकती । केवल, जिनका हृदय पवित्र है, जिनके कर्म पवित्र हैं, जिनकी इन्द्रियें वशमें हैं, चित्त शुद्ध है, चित्तवृत्ति निरुद्ध है उनको ही आत्मदर्शन मिलता है । शास्त्रमें आत्माके विषयमें एक बड़ी सुन्दर उपमा दी है । आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथी, मनको लगाम और इन्द्रियोंको घोड़ेके रूपमें वर्णन किया है । जिस रथमें घोड़े

ठीक२ वशमें होते हैं, जिस रथके घोड़ेकी लगाम मजबूत होती है और सारथी हाथमें अच्छे प्रकारसे पकड़ेहुए होता है वह रथ ही विष्णुके परमपदमें पहुँच सकता है। परन्तु जिस रथमें इन्द्रियरूप घोड़े दृढताके साथ वशमें नहीं होते हैं, मनरूप लगाम भी ठीक२ काबूमें नहीं होती है वह देहरथ अन्तमें विनष्ट होजाता है। सकल भूतोंमें स्थित आत्मा चक्षु वा अन्य किसी इन्द्रियके समीप प्रकाशित नहीं होसकता, किन्तु जिनका मन पवित्र होगया है, वे ही उसका दर्शन पाते हैं। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके पार है, जो अव्यय है, जिसका आदि और अन्त नहीं है, जो प्रकृति के पार है, जिसका परिणाम नहीं होता है उसको जो पाजाते हैं वे ही सब प्रकारके दुःख और मृत्युके मुखसे छूटते हैं, परन्तु उस को प्राप्त करना ही कठिन है, यह मार्ग तेज तलवारकी धारकी समान दुर्गम है। मार्ग बडा ही लम्बा और विपत्तियोंसे भरा हुआ है, परन्तु निराश होनेका कोई कारण नहीं है, दृढ़ताके साथ चलना होगा। उठना होगा, जागना होगा और जबतक अपने अन्तिम लक्ष्य पर न पहुँचजाओ तबतक रुकनेसे काम नहीं चलेगा। अन्तिम लक्ष्य क्या है? आत्मशक्ति वा अव्यक्त ब्रह्मभावका व्यक्त होना। योगसे चित्तकी वृत्ति निरुद्ध होती है इसलिये सब इन्द्रियें वशमें होजाती हैं और मन स्थिर होजाता है, उस समय ध्यान धारणा और समाधिके द्वारा आत्माका दर्शन होता है और उससे पहले योगसाधनाके द्वारा उसकी जो ज्योति जहाँ तहाँ आकाशमें दमक रही है, जिसकी लहरलीलामें तरंगरूपमें जगत् प्रकट होरहा है, उसका दर्शन किया जासकता है।

चिदात्मा सर्वदेहेषु ज्योतीरूपेण व्यापकः।
तज्ज्योतिश्चक्षुरग्रेषु गुरुनेत्रेण दृश्यते॥

वह चित्स्वरूप आत्मा ज्योतिरूपसे सबके ही शरीरमें व्याप रहा है, गुरुनेत्रके द्वारा वह ज्योति नेत्रके अग्रभागमें दीखती है।

न ब्रह्मा न शिवो विष्णुः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
सर्वं क्रीडन्ति तत्रैते तत्सर्वेन्द्रियसम्भवम् ॥

वह ज्योति ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव है, वह ज्योति ही अक्षर-रूप परमपुरुष है । सब जगत् उस ज्योतिके भीतर ही क्रीडा कर रहा है और जो कुछ इन्द्रियोंके द्वारा अनुभवोंमें आता है वह सब भी ब्रह्मज्योतिसे ही उत्पन्न हुआ है ।

अब उस ही ब्रह्मज्योतिके दर्शनका जो उपाय योगशास्त्रमें कहा है वह उपाय अच्छे प्रकारसे समझमें नहीं आता है इस लिये उसकी और एक वार आलोचना करते हैं क्योंकि-योगी कहते हैं, कि-वह चित्तस्वरूप आत्मा ज्योतिरूपसे सबके देहोंमें व्याप रहा है, गुरुनेत्रसे उसको चक्षुके अग्रभागमें देखा जासकता है।

गुरुनेत्र

एक बडा ही शुभ दिन था, जब महायोगीश्वरके मुखसे निकली हुई गुरुनेत्रकी बात मेघगम्भीर स्वरमें सुनी थी। उस समय जगत्के पवनमें, अग्निमें, आकाशमें, पक्षियोंकी कुहुकमें और पुष्पोंकी सुगन्धमें यह बात गूँजरही थी । बिना प्रत्यक्ष किये अर्जुनको विश्वास ही नहीं हुआ था, कि-भगवान् श्रीकृष्ण ही विश्वात्मा हैं। प्रत्यक्ष किये बिना मनुष्यको किसी बात पर भी विश्वास नहीं होता-और करना भी नहीं चाहिये । इसलिये ही भगवान्के सखा और शिष्य अर्जुनने हाथ जोडकर विनीतभावसे प्रश्न किया कि-

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ (भ.गीता)

हे परमेश्वर ! आपने जो अपने रूपकी बात कही सो ठीक है, हे पुरुषोत्तम ! आपके उस ईश्वरीयरूपका मैं दर्शन करना चाहता हूँ। हे प्रभो! यदि आप मुझे उस रूपके दर्शन करनेका अधिकारी समझते हों तो हे योगेश्वर! मुझे अपना अविनाशी रूप दिखाइये।

यह सुनकर भगवान्ने अर्जुनको परमात्मज्योति—जगत्से जुदा हुआ विराटरूप दिखानेके लिये स्नेहभरे कण्ठसे कहा, कि—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥

हे अर्जुन ! तू मेरे भाँति २ के वर्ण और नानाप्रकारके आकारों वाले सैंकड़ों और सहस्रों रूपोंको प्रत्यक्ष देख। हे भारत ! आज मेरे कलेवरमें आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत्, अश्विनीकुमार तथा पहले कभी न देखी हुई आश्चर्यमयी और भी बहुतसी वस्तुओंको देखा मेरे देहमें सचराचर विश्वको तथा और जो कुछ भी देखना चाहता हो उसको देख, परन्तु मेरे देख, इतना कहनेसे ही तू नहीं देखसकेगा, मनुष्यके जो दो नेत्र होते हैं उनसे यह दृश्य नहीं देखाजासकता

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

तू अपने इस चक्षुसे मेरे रूपको नहीं देख सकेगा, इस लिये मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, उससे तू मेरी असाधारण योगेश्वर-मूर्त्तिका दर्शन कर ।

अर्जुनने दिव्य चक्षु पाकर विश्वरूपका दर्शन किया था योगी कहते हैं, कि—हर एक मनुष्यमें जो दो भौतिक नेत्र दीखते हैं, उनके सिवाय और एक नेत्र है। जब तक वह तीसरा नेत्र नहीं खुलता है तबतक उसका होना न होना एकसा है। योगी योगसाधनाके द्वारा उस तीसरे नेत्रको खोला करते हैं इन दीखने वाले दो चक्षुओंके द्वारा बाहरके सब पदार्थ देखे जा सकते हैं, परन्तु भीतरकी वस्तु सूक्ष्म वस्तु वा बहुत दूरकी वस्तु नहीं दीख सकती। और इस प्रज्ञानमय तीसरे चक्षुसे सूक्ष्म, व्यवहित (परदेमेंकी), बहुत दूरकी और भीतरकी सब वस्तुएँ देखी जासकती हैं—जाननेमें आसकती हैं। उस तीसरे चक्षुका नाम दिव्यचक्षु, आर्ष विज्ञान, ज्ञानचक्षु वा शुक्रनेत्र आदि हैं। वह चित्तमय वा ज्ञानमय तीसरा चक्षु दोनों भौंके ठीक बीचके स्थान ललाटमें है। हम महायोगी शिव और शिवानीके तीन नेत्र पाते हैं, उनका ज्ञानमय तीसरा नेत्र या ऊर्ध्व चक्षु जिस स्थानमें अङ्कित देखते हैं, ठीक उसी स्थान पर सब ही मनुष्योंके वह तीसरा चक्षु है, योगी बनने पर ही वह चक्षु खुलता है। शिवके बाहरी दोनों नेत्र सदा अर्धनिमीलित पाते हैं, बहुतसे लोग कहते हैं, कि—कि विषपान करनेके कारण शिवके दोनों नेत्र अधमुँद रहते हैं, परन्तु यह बात नहीं है। महायोगीका तीसरा ज्ञानचक्षु खुलाहुआ रहनेके कारण उसको नीचेके नेत्रोंसे कुछ अधिक देखना ही नहीं पड़ता है, वह दिव्य नेत्रसे ही निकटका, दूरका और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सब देख लेता है इसलिये बाहरके दोनों नेत्र प्रायः अधमुँदे रहते हैं। बाहरी चक्षुओंसे देखनेका उसको प्रयोजन ही नहीं रहता है। यदि हमारा ज्ञान-नेत्र खुल जायगा तो इन बाहरके नेत्रोंसे कुछ देखनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ज्ञाननेत्रके खुलजाने पर सब वस्तुएँ—सब विषय और जगत् तथा जगत्पतिका देखसकोगे, उसकी तुलनामें बाहरी नेत्रोंकी शक्ति कुछ है ही नहीं।

ब्रह्मज्योति-दर्शन

दिव्य चक्षु वा गुरुनेत्रके खुलजाने पर ब्रह्मज्योति वा आत्माका दर्शन होता है। उस नेत्रको खोलनेका उपाय क्या है ? । अनेकों उपाय हैं। यहाँ दो संप्रदायोंके दो उपायोंकी चर्चा करेंगे, जिसको जिसमें सुभीता मालूम हो, उसको उस ही उपाय वा मार्गका आश्रय लेकर साधना करनी चाहिये।

प्रथम-उपाय वा साधनप्रणाली-

चर्मचक्षुसे जोकुछ देखनेमें नहीं आता है, ऐसी किसी सूक्ष्म वस्तु या ब्रह्मज्योति अथवा दूरका पदार्थ इनमेंसे किसी वस्तुको देखनेकी इच्छा करो और उस इच्छाको खूब प्रबल करो। पहले उस इच्छाशक्तिके द्वारा इन्द्रियोंके द्वारको रोकतेहुए सकल पदार्थोंको देखनेकी जो वृत्तियें हैं उनको चित्तभूमिमें इकट्ठा करो और ललाटके भीतर चित्तको अर्पण करदो, ऐसा करनेसे उस समय चित्त एकतान होजायगा और बाहरके दोनों चक्षुओंकी सर्व शक्ति उस चित्तमें जाकर घुसजायगी। उस समय प्रबल इच्छाशक्तिके द्वारा भौतिक चक्षु तथा अन्य भौतिक इन्द्रियोंकी शक्तिको खेंचकर और उन सबोंको पुञ्जरूप, केन्द्ररूप वा एकमुख करके चित्तके ऊपर प्रयोग करो। यह काम करते ही तुम्हारा चित्तस्थान (ललाटके भीतर) मानो धक् २ करके जल उठेगा अर्थात् तहाँएकप्रकारका आश्चर्यमय प्रकाश प्रकट होजायगा इस प्रकाशमें, हम पहले जिन वस्तुओंको देखना चाहते थे वह उस समय दीखने लगेंगी, उस समय यदि भारतमें बैठकर विलायतकी किसी वस्तुको देखनेकी आवश्यकता हो, पृथ्वीलोकके वा स्वर्गलोकके किसी दृश्यको देखनेकी इच्छा हो अथवा किसी सन्दूकमें छिपाये हुए पदार्थको देखनेकी वासना हो तो अपनी इच्छानुसार देखसकते हो। इच्छित पदार्थको देखनेके लिये उस

समय हमें किसी बाहरके प्रकाशका सहारा नहीं लेना पड़ेगा। उस ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, प्रकाशमय तीसरे नेत्रके द्वारा वा ज्ञाननेत्रके द्वारा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान और सैकड़ों परदोंमें छिपेहुए भी चाहे जिसपदार्थको देखसकोगे।

यहाँ एक बात और कहनी है। वह यह है, कि—ज्ञानचक्षु वा गुरुनेत्रके द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखीजासकती है, परदेमेंका पदार्थ देखा जासकता है, दूरका पदार्थ देखाजासकता है, परन्तु नामरूपसे रहित ज्ञानविज्ञानकी सीमाके पार, अनलमें, अनिलमें, गगनमें, स्वर्गमें, कुसुमकलीमें, मनुष्यमें, पशुमें, विहङ्गमें, पतङ्गमें, पर्वतमें, रेतेके कणोंमें, वृक्षलताओंमें जलाशयोंमें—सर्वत्र, किसी गुप्त स्थानमें विराजमान परमात्मा वा परब्रह्मको कैसे देखाजासकता है?

उसको देखना तो दूरकी बात है, यह जो ग्रह, नक्षत्र, भूमि, सागर, महासागर, नदी, पर्वतमाला, नगर, ग्राम, मनुष्य जाति, अन्य प्राणी, वृक्ष लता आदि तथा पक्षी इन अनन्तों पदार्थोंको हम क्या समझें? किसको किस नामसे पुकारें? सब ही देखतेर बदलजाते हैं। एक छोटेसे पौधेको लेलो, उसकी ओर को खूब ध्यान देकर देखो और समझकर देखो, क्या चिरकाल तक समान भावसे उसको हम उद्भिद् ही कहसकेंगे या पहचान सकेंगे? उद्भिद् (वृक्ष लता आदिका पौधा) धीरे २ मट्टीको फोड़कर ऊपरको उठने लगता है। फिर बढ़ते २ एक बड़ा वृक्ष बनजाता है, परन्तु वह कई दिन, दो महीने, या दोसौ चारसौ वर्ष इसके बाद मर जाता है—केवल बीज ही रहजाता है। वह घूम २ कर अपने कर्त्तव्यको पूरा करता है, उस बीजसे फिर वृक्ष होजाता है और अन्तमें फिर उसका परिणाम बीज ही होता है। एक पक्षीको लेलो। वह एक अण्डेमेंसे उत्पन्न होता है सुन्दर पक्षीका रूप धारण करलेता है, कुछ दिन जीवित रहता है,

फिर मरजाता है, केवल थोड़ेसे अण्डे या बच्चे छोड़जाता है, उनसे ही आगेको और पक्षी हो जाते हैं। पशुओंके विषयमें भी यही बात है। हर एक पदार्थ मानो कुछएक बीज-कुछएक मूल उपादान कुछएक सूक्ष्म आकारोंसे आरम्भ होता है और स्थूलसे स्थूलतर होता चलाजाता है। कुछ समय ऐसा ही क्रम चलता रहता है और फिर सूक्ष्मरूपमें पहुँचकर विलीन हो जाता है। वर्षाकी जलधारें, जिनके भीतर इस समय सूर्यकी किरणें क्रीड़ा कर रही हैं, वे वर्षाकी जलधारायें कहाँ जाकर पहुँचती हैं? हवाके द्वारा दूरसे दूर पहाड़ोंमें जा पड़ती हैं, तहाँ पहुँचकर बरफ बनजाती हैं और फिर जल बनजाती हैं तथा सैकड़ों कोस तक घूमती हुई अपने उत्पत्तिस्थान समुद्रमें पहुँचजाती हैं। हमारे चारों ओर प्रकृतिकी सकल वस्तुओंका ऐसा ही संबन्ध है। इसप्रकार सिद्ध हुआ, कि- सब ही पदार्थोंका एक मूल है वह चाहे जिस रूपको धारण करे, वह रूप सदा एकसा नहीं रहसकता, इन सब वस्तुओंको मिथ्या भी कहसकते हैं और सत्य भी कहसकते हैं। चाहे सो कहो, एक महान् सत्य इन सबके भीतर विद्यमान है। वही सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है। वही सबका मूल है ब्रह्म है, ज्ञानचक्षुके वा गुरुनेत्रके खुलजाने पर यदि इनके स्वरूप वा सूक्ष्म अवस्थाको देख पाओगे तो तुम्हे ब्रह्मदर्शन क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

जिस प्रकार गुरुनेत्र खुलसके, उसकी साधनाकी बात पीछे कहचुके हैं, क्रम २ से उसी प्रकार काम करनेपर सिद्धि होगी, परंतु इस काम वा इस योगके सिद्ध होनेसे पहले नानाप्रकारके अलौकिक दृश्य देखनेमें आवेंगे, अलौकिक शब्द सुननेमें आवेंगे। देहके भीतर कभी बाँसुरी, कभी वीणा और कभी घण्टेकी ध्वनि सुनाई आवेगी, कभी अलौकिक घटनायें दीखेंगी-आकाशमें कितने ही देवी देव

वाओंकी मूर्तियें दीखेंगी, कभी देवताओंके अनुचरोंकी छाया नेत्रों के सामने आवेगी, कभी इष्टदेवकी तसवीर दीखेगी, कभी दिव्य सुगन्धिसे दिशाएँ महक उठेंगी, कभी दिव्य वाणी सुनाई देगी, कभी दिव्य नगाड़ोंका शब्द होगा। साधकको इस समय भुलावेमें नहीं पड़ना चाहिये-किसी अलौकिक भाव पर मोहित नहीं होना चाहिये। जब तक अपना इष्ट सिद्ध न हो, तबतक अपने साधनापथसे विचलित नहीं होना चाहिये। इस साधनाका आरम्भ करने पर कई दिन तक दोनों भौंके मध्यमें लाल २ प्रकाशकी रेखा क्रीडा करतीहुई दीखेगी।

और एक प्रकारका साधन—

जिस साधकको जो आसन सिद्ध होगया हो, वह उस ही आसनसे उत्तरको या पूर्वको मुख करके बैठे। फिर मनको स्थिर करनेके लिये नाभिमण्डलकी ओर दृष्टि लगाये हुए कुछ देर स्थिर बैठा रहे। जब चित्त स्थिर होजाय तब मुख ऊँचा कर ठीक सीधा होकर बैठे और नाभिस्थानकी ओर दृष्टि रखकर नाभि में वायुको रोके। वायुको धारण करनेके लिये कुम्भक किया जाता है और मनको तहाँ ही रखना होता है। कुछ एक दिनोंके अभ्याससे ही वायु आप ही उस स्थान पर पहुँचकर स्थिर होजाता है, यह काम एक दिनमें सिद्ध नहीं होगा। प्रतिदिन पिछली रात्रि और सन्ध्याके समय ऐसी क्रिया करता रहे। कुछ दिन ऐसा करते २ वह क्रिया ठीक होजायगी। फिर इसी नियमसे अर्थात् पिछली रात और सन्ध्याके समय क्रम २ से नीचेके काम तले ऊपर करता चला जाय और क्रमसे एक अवस्थाकी सिद्धि पाकर दूसरी अवस्थामें पहुँचे।

पूर्वोक्त अनुष्ठानको करने पर वायु अपने स्थानसे धीरे २ अग्निस्थानमें आयगा। उस समय अपान वायुके द्वारा अग्नि-

चलायमान होगा और क्रम २ से दीप्त होउठेगा। अग्निके दीप्त होने पर अर्थात् इस अवस्थाकी सिद्धि प्राप्त होजाने पर इससे आगेका काम करना होगा। अग्निके दीप्त होजाने पर साधककी जठराग्नि दीप्त होगी, देहके भीतर वेणु वीणा और घण्टे आदि का नानाप्रकारका शब्द सुनाई आवेगा, पलमूत्रमें कमी होजायगी ऐसा होने पर साधक समझे कि—इस साधनामें उत्तीर्ण होगया इसके बाद नीचे लिखा काम करे—

इस समय भी नाभिस्थानमें वायुको धारण करके इच्छा शक्ति के द्वारा कुण्डलिनी शक्तिको जगाना होगा अर्थात् नाभिचक्रमें मनको रखकर प्रबल इच्छा करे, कि—कुण्डलिनी शक्ति जाग उठे तथा कुण्डलिनीके ध्यान और रूपका चिन्तवन करे (कुण्डलिनी का वर्णन पहले किया जाचुका है) इस समय ऊपर वर्णित प्रदीप्त अग्निके द्वारा सन्तप्त और वायुके द्वारा लम्बी होकर सोई हुई सर्पाकारा कुण्डली फनोंको फैलाती हुई जाग उठेगी और मन उसमें लीन होजायगा। परन्तु यह याद रखना होगा, कि—जितने दिनों तक मन उसमें अच्छे प्रकारसे लीन नहीं हो तब तक इस साधनासे हटना ठीक नहीं होगा।

इस अवस्थाकी सिद्धि होजाने पर कुण्डलिनी जाग जायगी और वायु भी अग्निके साथ मिलकर नाभिचक्रमें होता हुआ सब देहमें फैल जायगा। इस अवस्थामें पहुँच जाने पर साधक बलवान् और तेजस्वी होजायगा और समय २ पर अतिउज्जल प्रकाशकी रेखा दोनों भौंके मध्यमें दिखाई देगी।

इस अवस्थाके पार होजाने पर साधक अनाहतपद्ममें वायु, मन और इच्छाशक्तिको धारण करनेका अभ्यास करेगा। इसके लिये हृदयमें जो अनाहत पद्म है मन ही मनमें दृढ़भावसे चिंतवन करे, कि—देहमेंका समस्त वायु आकर इस अनाहत—पद्ममें पहुँच

गया, तथा ऐसा चिन्तवन करके कुम्भक करे । इस साधनाको भी ऊपर लिखे अनुसार पिछली रातमें और सायङ्कालके समय करे । ऐसा करते २ प्राणवायु अनाहत-पद्ममें रुकजायगा । उस समय अनाहत-पद्मका मुख ऊपरको होजायगा तथा खिल उठेगा । इसके साथ ही साथ दूसरे पद्म भी ऊर्ध्वमुख होकर क्रमसे खिलते चलेजायँगे । इस समय अनाहत-पद्ममें आकाशमें उड़नेवाली बगलों की पंक्तिकी समान प्राणवायुकी शोभा होगी और सुषुम्ना नाडीमें अग्नि आकर उपस्थित होजायगा, उसके द्वारा दोनों भौंके बीचों बीचमें श्यामवर्ण गहरी घनघटामें बिजलीके चमकनेकी समान प्रकाशकी रेखा बराबर क्रीड़ा करेगी । साधक उस प्रकाशको भीतर और बाहर देखेगा । इस अवस्थाके पार होजाने पर साधक नीचे लिखी क्रियाका आरम्भ करे ।

इसके बाद साधक प्राणवायुको इच्छाशक्ति और चिन्ताशक्ति की सहायतासे और भी ऊपरको उठाये अर्थात् चिन्तवन और प्रबल इच्छाके द्वारा प्राणवायुको आज्ञाचक्रमें लेजाय और कुम्भक करके अन्तरात्माका ध्यान करता रहे । बाहरी नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौंके मध्यमें स्थापन करे और प्राणवायुके कार्यको स्थिर करे । इस अवस्थामें सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मज्योति वा ब्रह्मज्योति विकसित होजायगी और साधक उसका दर्शन करसकेगा । यही ब्रह्मज्योतिका दर्शन है ।

साधक इस अवस्थामें पहुँच जाने पर और भी कुछ दिनोंतक पहले कथनानुसार इस साधनाको करता रहेगा तो क्रम २ से ललाटमेंका विंदु विकसित होजावेगा और सहस्रारमें टपकनेवाले अमृतधारमें प्राण पुलकित और मन लीन होजायगा तथा क्रम २ से कैवल्यसमाधि होने लगेगी । उस समय जीवात्मा और परमात्मा एक होजायँगे, गृहस्थ साधक यहाँ तक करसकने पर ही कृतार्थ और जीवन्मुक्त होजायगा ।

और एक प्रकारकी साधना—

रात्रिके समय साधक साधन करनेकी एकान्त कोठरीमें आसन लगाकर उत्तराभिमुख वा पूर्वाभिमुख बैठे, बैठनेसे पहले एक दो फिट कँवे पनीलसोतके ऊपर एक साफ़ और चमकदार घृतका दीपक बालकर रक्खे। साधक जहाँ बैठे उससे तीन हाथकी दूरी पर घरकी दीवार होनी चाहिये और दीवार तथा साधकके मध्यके स्थानमें यह घृतका दीपक रहे। जहाँतक होसके साधक मनको स्थिर रक्खे और बाहरके विषयोंमेंसे मनको लौटाकर परब्रह्ममें लगावे और बाहरी नेत्रकी स्थिर दृष्टिको उज्ज्वल दीपशिखाके ऊपर जमावे। दीपशिखाकी ओरको देखते २ जब दृष्टि स्थिर और दृढ होजायगी उस समय साधकको पहले मटरकी समान एक ज्योतिर्मय नीलबिन्दु दीखेगा, योगियोंकी भाषामें इसको उत्तम पुरुष कहते हैं। इस बिन्दुके दीखने पर नेत्रका पलक न लगावे और गाढरूपसे चिन्ता तथा प्रबल इच्छा करे, यह ज्योतिर्बिन्दु हृदयमेंके अनाहत-पद्मसेंको जारहा है, ऐसा ध्यान और इच्छा करते २ वह अनाहत-पद्ममें पहुँच जायगा। फिर ऐसी ही प्रगाढ चिन्ता और इच्छाके द्वारा इस बिन्दुको नासिकाके अग्रभाग पर और नासिकाके अग्रभागसे क्रमशः दोना भौंके मध्यभागमें लाकर ऊपरको चक्षु करताहुआ इसका दर्शन करे। यह साधना भी एक दो दिनमें नहीं होसकती, अन्य क्रियाओंकी समान इसका भी कितने ही दिनोंतक बराबर अभ्यास करना होगा। ऊर्ध्वदृष्टिके समय पहले अंधकारमें ज्योतिकी रेखा दीखेगी और पीछेसे प्रकाशमें ही ज्योतिकी लहर दीखने लगेगी। उस ज्योतिका दर्शन होनेपर चित्त शांत और आनन्दमय होजायगा। परन्तु इस नियमसे जो ज्योतिका दर्शन होगा, उसमें जीवात्मा और परमात्माके एकाकार होनेकी वा प्रकृतिबन्धन खुलनेकी

संभावना नहीं है, परमात्मज्योतिके दर्शनसे केवल दृढ विश्वास होने लगता है।

साधनाके इस स्थानसे ही यथार्थ वैराग्य होने लगता है, नहीं तो केवल मुखकी बातके विश्वास पर अथवा अन्धविश्वास पर भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना वास्तविक समर्पण नहीं है। वह समर्पण एक प्रकारका दिखावा है। यदि भगवान्‌के ऊपर हमारा सच्चा भरोसा होता तो हम इन जड पदार्थोंको लेकर फँसे न पड़े रहते। रुपए पैसेके लिए, यशके लिए, रोगसे मुक्त होनेके लिए हम तुम्हारी और तुम दूसरोंकी शरण न लेते। हम सब ही अन्धकारमें है। जो स्पष्ट नास्तिकवादको स्वीकार करते हैं वे ही अच्छे हैं, हम तुम तो दोनों समय भगवान्‌का नाम लेते हुए भी नास्तिक हैं। जरा मन ही मनमें अच्छे प्रकार विचारकर देखो—धर्म तो मानो हमारी दृष्टिमें कुछ है ही नहीं, केवल विचार से पाईहुई कुछ बातोंका अनुमोदनमात्र है—केवल मुखकी बात ही बात है। अमुक खूब दान करता है, ब्राह्मणभोजन कराता है, कुटुम्बका पोषण करता है, अमुकने खूब धर्मशास्त्र पढा है, केवल इतना ही धर्मका विषय नहीं है, यह तो धनियोंका, पंडितों का विनोद है, हमारे लिए धर्मार्थ नहीं है। जिस समय हमें आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होनेलगेगा, जब हम अपने हृदयमें वा जगत्‌में सर्वत्र जगन्नाथकी ज्योतिका दर्शन पायेंगे, उस समय से ही हमारे सच्चे जीवनका आरम्भ होगा और उस समय ही नैतिक जीवनका भी आरम्भ होगा। तुम समझते होगे, कि—मैं इस बातको बढाकर कह रहा हूँ, परन्तु ऐसा नहीं है। हम इस समय वनके पशुओंसे भी अधिक नीतिपरायण नहीं है। जो कुछ भी करते हैं वह जाति वा कुटुम्बियोंके भयसे करते हैं जाति के लोग यदि आज कहें कि—चोरी करो, कुछ डर नहीं, हम साथी

हैं तो बहुतसे लोग तिलक-मालाधारी होकर भी इस काममें सम्मिलित हो जायँगे। सच्चे वैराग्यका आरम्भ हो जाने पर सब प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं, इसलिये उस समय इन्द्रियोंके भोगसे चित्त उकताने लगता है और बाहरकी वस्तुओंका लोभ ही नहीं रहता। इसलिये ब्रह्मज्योतिका साक्षात्कार वा आत्मदर्शन बिना हुए दृढ़ विश्वास वा सच्चा वैराग्य नहीं होता है। गृहस्थके लिये इतना हो जाने पर ही काम बन जाता है। वैराग्यके उदय होजाने पर त्यागी ब्रह्मसिद्ध हो जायगा, मुक्ति उसके करतलगत होजायगी।

अष्टांग-योग

अब योगशिक्षाके और एक मार्गकी बात कहेंगे। गृहस्थ साधक क्रम२ से इस मार्गका अवलम्बन करके भी आगेको बढ़ सकता है। इस मार्गको अष्टाङ्ग योग कहते हैं। परन्तु सर्वत्र ही स्मरण रखना होगा कि-अव्यक्त आत्माका ब्रह्मभाव व्यक्त करना ही योगका उद्देश वा अन्तिम लक्ष्य है। मत, अनुष्ठान, पद्धति सब उस ही लक्ष्य पर पहुँचनेके उपाय वा सोपान (सीढ़ी) मात्र हैं। सर्वत्र ही उस उपनिषद्की कथाको याद रखना होगा। एक दिन यम और नचिकेतामें बातचीत हुई थी। नचिकेताने प्रश्न किया था, कि-मृत्युके बाद मनुष्यकी क्या दशा होती है? यमने उत्तर दिया, कि-ज्ञानवान् आत्मा न कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है और किसीसे उत्पन्न भी नहीं होता है, वह अज, नित्य शाश्वत और पुराण है। देहके नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। घातक यदि समझे, कि मैं चाहे जिसे मार सकता हूँ अथवा हत व्यक्ति यदि यह विचारे, कि मैं मारागया तो इन दोनोंको ही नासमझ कहना होगा। आत्मा न किसीका वध करता है और न कोई इसका वध कर करसकता है। यदि यमका यह कहना ही ठीक है तो वह नित्य २ करता क्या है

और हम भी क्या करते हैं तथा हम जीवित रहकर इस दृश्यमान जगत्में काम करते हुए क्यों घूमते हैं और यमराज भी नित्य२ ही इस दृश्यमान जगत्मेंसे हमारे बन्धुबान्धवोंको खेंच२ कर क्यों ले जाते हैं ? वास्तवमें यह सब मायाका खेल है। हम अपने आपको पहचानते नहीं, समझते नहीं, जानते नहीं, इस लिये ही मिलनेके सुखमें आनन्द मानकर हँसते हैं और मरणके दुःखमें बड़ाभारी विलाप करते हैं।

इसके उत्तरमें तुम कहोगे कि–ऐसी बातें तो सब ही कहते हैं, सब देशोंके सब ही शास्त्रोंमें सुनते हैं, परन्तु जैसा समझना चाहिये वैसा समझते क्यों नहीं, जैसा समझने पर नासमझीका नाम भी न रहे वैसी समझ क्यों नहीं होती ? इसके सिवाय यमराजने आत्माके जो विशेषण दिये हैं उनसे भी सन्देह होता है, आत्माका पहला विशेषण है 'ज्ञानवान्' यदि वास्तवमें आत्मा ज्ञानवान् है, तो मैं आत्मा हूँ, मैं पूर्ण ज्ञानवान् हूँ, आत्म-स्वरूप हूँ, इस बातको हम जानते क्यों नहीं ? यह बात सत्य है कि–आत्मा अविनाशी अनादि और ज्ञानवान् है। फिर भी जो हम अपने स्वरूपको नहीं जान पाते इसका कारण माया है। सब ज्ञान, सब पवित्रता पहलेसे ही आत्मामें विद्यमान है परन्तु उसका प्रकाश कहीं अधिक है और कहीं कम है। मनुष्यके साथ मनुष्य का अथवा इस ब्रह्माण्डमेंकी जिस किसी वस्तुका भी जो भेद है वह प्रकारगत नहीं है, परिमाणगत है। हर एकके पीछे स्थित सत्य वही एकमात्र अनन्त, नित्यानन्दमय, नित्यशुद्ध और नित्य पूर्ण ब्रह्म है वही आत्मा है–वही पुण्यात्मामें, वही पापीमें, सुखी में, दुःखीमें, सुन्दरमें, कुरूपमें, मनुष्यमें, पशुमें सर्वत्र एकरूप है हाँ आवरणके भेदसे उसका प्रकाश अधिक वा कम होता है जिसने पोशाक अधिक पहरराखी है उसकी देह उस पोशाकके भीतरसे

कम दीखती है जिसने पोशाक कम पहरी है, उसका देह अधिक दीखता है। जिसने पोशाक बिलकुल पहनी ही नहीं है उसका सब अङ्ग उत्तमरूपसे दीखता है। मायाकी पोशाक जिसके आत्मा पर जितनी अधिक जढीहुई है उसके आत्माका प्रकाश उतना ही कम है। इसलिये हम इस मायाकी पोशाकके बोझेके कारणसे ही अपने आपको नहीं पहचानते हैं—इसलिये ही हमारे स्वरूपका जो परिपूर्ण ज्ञान है वह इस मायाकी पोशाकके भीतर लिपटा पडा है, पोशाकको खोलकर हटादो, कि-स्वरूप बाहर आजायगा उस समय तुम समझ सकोगे, कि-हम परिपूर्ण ज्ञानवान् हैं अविनाशी हैं। माया कहो चाहे प्रकृति कहो, एक ही बात है। जिस से यह मायाकी पोशाक खुलजाय, बाहरी भीतरी प्रकृति वशीभूत होजाय तथा आत्माका ब्रह्मभाव प्रकट होजाय वह उपाय करना ही जीवका लक्ष्य है। जिस उपाय व साधनसे यह काम सिद्ध होता है उसका ही नाम योग है।

जिस प्रकार मनुष्य इस मार्गमें बेखटके जासकें, इसके लिए योगसिद्ध पुरुषोंने अनेकों उपाय किये हैं, उनमें अष्टाङ्गयोग एक उत्तम मार्ग है। गृहस्थ अपने २ कर्त्तव्यको चलता रखकर जिस प्रकार इस मार्गमेंको बढसकें उसके लिए अष्टाङ्ग-योगकी सरल और सूधी बातें यहाँ बतलाते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना, होगा कि—पहले जो स्नान, भोजन और साधनागृह आदिका वर्णन किया है, अष्टाङ्गयोगके अभ्यासमें भी उन सब बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

योग एक है परन्तु उसकी साधनाकी रीतियें भिन्न २ हैं। इस अष्टाङ्गयोगकी साधनाके द्वारा भी साधक चित्तवृत्तिका निरोध और आत्मस्वरूपका दर्शन करसकता है यह मार्ग बहुत ही सरल और ज्ञानविज्ञान—सम्मत है। साधनाका अर्थ है—

अभ्यास । " यमनियमप्राणायाम-प्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । "यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये आठ योगके अङ्ग हैं । इस अष्टांग योगकी साधना वा अभ्यास किसप्रकार करना चाहिये, उसको हम बहुत ही सरल भाषामें समझानेकी चेष्टा करेंगे ।

यमसाधना

यम किसको कहते हैं?"अहिंसासत्यतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनका अभ्यास करने पर यमका साधन होजाता है । इसलिये अहिंसासाधन, सत्यसाधन, अस्तेयसाधन ब्रह्मचर्यसाधन और अपरिग्रहसाधन इन पाँच साधनोंका नाम ही यमसाधन है ।

अहिंसा—

अहिंसाके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं,कि"मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामपीडनमहिंसा" मन,वाणी और देहसे किसी भी प्राणीको कष्ट न देनेका नाम ही अहिंसा है । मनसे किसी प्राणीका बुरा चीतना, किसीकी भी उन्नति, लाभ वा सुन्दरताको देख कर उसका बुरा चीतना मानसिक हिंसा है । गाली देकर वा निन्दा करके दूसरेकी श्री,मान वा गौरव,प्रतिष्ठाकी हानि करने का नाम वाचिक-हिंसा है । मारपीट करके प्राणियोंको जो दुःख देना है उसका नाम कायिक वा शारीरिक-हिंसा है । इस तीन प्रकारकी हिंसाको त्याग देनेका नाम अहिंसा है. और इसको त्यागनेके अभ्यासको ही अहिंसासाधन कहते हैं । हिंसा और भी तीन प्रकारकी होती है-कृत,कारित और अनुमोदित । जो अपने आप कीजाय वह कृत,जो दूसरेसे कराई जाय वह कारित और दूसरेकी कीहुई हिंसाका अनुमोदन करने पर अनुमोदित कहलाती है । हिंसाकी उत्पत्ति लोभके,कारणसे,मोहके कारणसे और क्रोधके

कारणसे होती है। सब प्रकारकी हिंसाको त्यागनेका नाम ही अहिंसा है। साधन वा अभ्यासके द्वारा हिंसाको जीना जाता है पहले ही कहचुके हैं, कि वृत्तिका निरोध ही योगसाधना है। हिंसा भी एक वृत्ति है। इसलिये इसका निरोध करना होगा। विपरीत वृत्तिको उठानेके क्रमसे इस वृत्तिका नाश करना होगा। हिंसाकी विपरीत वृत्ति करुणा वा दया है।

यत्नादपि परिक्लेशं हर्त्तुं वा हृदि जायते।
इच्छाभूमिः सुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्त्तिता॥

यत्नसे दूसरेके क्लेशका नाश करनेके लिये हृदयमें जिस इच्छाका उदय होता है, उसका ही नाम दया है।

आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च।
वर्त्तते सततं हृष्टः क्रिया क्षेपा दया स्मृता॥

सब प्राणियोंको अपनी समान देखकर, उनके हित और शुभ कार्यके लिये निरन्तर जो हर्षका उदय होता है वही दया है।

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आत्मवद्वर्त्तितव्यं हि दयैषा परिकीर्त्तिता॥

दूसरे पुरुष, बन्धुबान्धव, मित्र वा शत्रु इन सबको अपनी समान समझनेका नाम दया है।

इस प्रकार सब भूतोंकी सेवाका नाम दया है, इसके अतीत जो वृत्ति है वही हिंसा है। अब समझो, कि हिंसा क्या है। मान लो कि-देशमें अशान्ति होरही है, अधर्मकी धारा बह रही है। ऐसे समय लाठी उठाकर यदि तुम किसीके ऊपर दश वार प्रहार करो तो तुमको हिंसा नहीं होगी, क्योंकि-यह काम भी तुमने सब प्राणियोंके हितके लिए ही किया है। परन्तु किसीने तुम्हारी निन्दाकी है या तुम्हारे बगीचेमेंसे एक फल तोड़कर ले लिया है, यदि उसको पकड़कर मारो तो उसका नाम हिंसा है। कोई चोर

तुम्हारे घरसे एक रुपयोंका भरा बक्स उठाकर लेगया है, ऐसी दशामें यदि तुम अपना रुपया लेजानेके कारण क्रोधमें भरकर उसको राजद्वारमें पकडवाकर जेल करवा दोगे तो भी वह हिंसा होगी और इस चोरको दण्ड न मिलनेसे यह और दश जनोंकी चोरी करेगा, ऐसा समझकर यदि उसको पकडकर जेल भिजवाओगे तो तुमको हिंसाका दोष नहीं लगेगा। अधिकतर दया वृत्तिका उत्थापन अभ्यास और साधना करने पर हिंसाका संस्कारतक दूर होकर और अहिंसासाधन होजायगा।

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"

जब हृदयमें दृढ़रूपसे अहिंसा प्रतिष्ठित होजायगी तब दूसरे अपने आप उसके साथ अपने स्वाभाविक वैरभावको त्याग देंगे।

हमारे देशमें एक किम्वदन्ती है,कि–"ब्राह्मणको साँप नहीं काटता है, परन्तु आजकल ब्राह्मणोंको साँपके काटनेसे मरते हुए देखकर बहुतसे लोग कहते हैं,कि–ब्राह्मणोंमें ब्राह्मणत्व नहीं रहा, इसलिये ऐसा होता है। वास्तवमें यही बात है। हिंसा न हो तो कोई प्रतिहिंसा करे ही नहीं, यह अटल सत्य है। पहले ब्राह्मण अहिंसाप्रतिष्ठित थे, इसलिये ही उनको सर्प नहीं काटते थे। अब भी हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होजाय तो देखोगे,कि–साँप सिंह तक तुम्हारे सामने अहिंसक बनजायँगे,अहिंसा साधकों के तलुओंको व्याघ्र चाटा करते हैं। ऐसी दशा होने पर ही समझना चाहिये, कि–तुम्हारा अहिंसाव्रत दृढ होगया।

सत्य–

"परहितार्थं वाङ्मनसोयथार्थत्वं सत्यम्"

सकल प्राणियोंके हितके लिये वाणी और मनका यथार्थभाव ही सत्य कहलाता है। सकल प्राणियोंके हितके लिये वाणी और मनकी जो स्वाभाविक अवस्था है उसका प्रचार ही सत्य

है। जो सत्य नहीं है वही मिथ्या है। मिथ्या भी कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका है। तथा कृत, कारित और अनुमोदित भी होसकता है। सब प्रकारके मिथ्याको त्याग देनेका नाम ही सत्य है।

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।"

अन्तःकरणमें सत्यकी प्रतिष्ठा होजाने पर कोई क्रिया न करके ही उसका फल मिलजाता है। जब सत्यकी साधना सिद्ध होजाती है अर्थात् जब धोखेसे भी मनमें मिथ्याका उदय न हो जब स्वप्नमें भी असत्यका दर्शन न हो तब समझो, कि-सत्यकी साधना में सिद्धि प्राप्त होगई। ऐसी अवस्था होजाने पर साधक जो कुछ भी कहेगा-क्रिया न करने पर भी उसका फल पा जायगा 'तू नीरोग होजा, ऐसा कहते ही रोगी कुछ क्रिया अर्थात् औषध सेवन आदि तथा यज्ञादि न करके भी रोगमुक्त होजायगा और 'तू कृतार्थ हो' ऐसा कहते ही तत्काल कृतार्थ होजायगा। पुराणों में पाते हैं, कि-अमुक ऋषिने वरदान वा शाप देते हुए कहा, कि-यदि मैंने अपने जीवनमें कभी मिथ्या नहीं बोला है तो मेरी बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती। कभी मिथ्या न बोलकर सत्यको अन्तःकरणमें दृढ़रूपसे प्रतिष्ठित करने पर सत्यकी साधना होती है।

अस्तेय

"परद्रव्यापहरणत्यागोऽस्तेयम्।"

पराई वस्तुओंके अपहरणको त्याग देनेका नाम 'अस्तेय' है। मन ही मनमें दूसरेके द्रव्यके ऊपर लोभ होने पर भी उसको चोरी कहते हैं। इसलिये अस्तेय मानसिक, वाचिक और कायिक तीन प्रकारका है। यह भी कृत, कारित और अनुमोदित तीन प्रकारका होसकता है। द्रव्य जहाँका तहाँ ही पड़ारहे-इसका,

उसकी यह दो दिनकी बात है, फिर उसके ऊपर लोभ कैसा ? हमारा उद्देश्य धनसंग्रह नहीं है। हमारा उद्देश्य है उन्नति। ऐसा भाव मनमें जमते ही परधनके अपहरणकी इच्छा दूर होजाती है।

दूसरेका द्रव्य क्या २ है और अपना द्रव्य क्या २ है ? सब ही बाहरी प्रकृतिरूप है। मैं पुरुष हूँ, मेरा उनसे क्या प्रयोजन है ? मेरा प्रयोजन तो प्रकृतिको त्यागना है। पुरुषको भोग करानेके लिये ही प्रकृतिका इतना प्रपञ्च है, परन्तु पुरुष तो निःस्पृह है। ऐसी धारणा होनेमें पराये द्रव्यमें कभी लोभ होगा ही नहीं और अस्तेयकी साधना सिद्ध होजायगी।

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।"

अस्तेयकी प्रतिष्ठा होने पर सब धन रत्न साधकके पास चले आते हैं। प्रकृति पुरुषको भोग करानेके लिये अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्शको लेकर कुञ्ज सजाये बैठी है, पुरुष जितना ही दूर जाना चाहेगा, प्रकृति उतना ही अपना सर्वस्व लेकर उसके चरणतलमें अर्पण करेगी। यदि तुम प्रकृतिकी ओरको ध्यान नहीं दोगे तो प्रकृति तुम्हारी दासी बनजायगी। बाहरी प्रकृति तुम्हारी आज्ञाकारिणी होजायगी।

ब्रह्मचर्य

"वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम्।"

वीर्यको धारण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। शरीरमेंके शुक्र धातुको अविचल और निर्विकार रखनेके उपायको ब्रह्मचर्य कहते हैं। शुक्र ही शरीररक्षक है। सुश्रुतमें लिखा है—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥
शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्थितम्।
गर्भबीजं वपुःसारो जीवस्पाशय उत्तमः॥

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रस्थानं परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और मज्जासे शुक्र (वीर्य) की उत्पत्ति होती है । शुक्र सौम्य, श्वेतवर्ण, स्निग्ध और बलपुष्टिकारक है । वह गर्भका बीजरूप, शरीरका सार और जीवका या जीवनका प्रधान आश्रय है । रससे शुक्रपर्यन्त सातों धातुओंके तेजको ओज कहते हैं । यद्यपि यह मुख्यरूपसे हृदयमें रहता है परन्तु वह सर्वदेहव्यापी है और शरीर रक्षाका प्रधान साधन है ।

शुक्रके नष्ट होनेसे ओजका नाश होजाता है, क्योंकि-शुक्र ही ओज है और अष्टम धातुका आश्रय है । ओजको ब्रह्मतेज भी कहते हैं । यूरुपके विद्वान् इस ओजको ह्यमैन मैग्निटिज्म (Human magnetism) कहते हैं । उनके मतमें भी यह देहकी रक्षा करने वाला एक मात्र पदार्थ है । इसके अभावमें मनुष्यकी सुन्दरता, शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी स्फूर्त्ति, बुद्धि, स्मरणशक्ति, धारणा शक्ति आदि सब ही नष्ट होजाता है और ऐसा देह यक्ष्मा, प्रमेह शक्ति-हीनता आदि अनेकों रोगोंका घर बनजाता है और सब कामोंमें उदासीन तथा जडकी समान होकर थोड़े ही दिनोंमें कालका कवल बनजाता है । इसलिये जो कोई भी काम करना हो उसमें देहरक्षाकी आवश्यकता है और देहरक्षाके लिये वीर्य-रक्षा या ब्रह्मचर्य-साधनकी बड़ी आवश्यकता है ।

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यधारण ही सबसे श्रेष्ठ तपस्या है । जो पुरुष इस तपस्यामें सिद्धि पाकर ऊर्ध्वरेता होजाता है वह देवता है, मनुष्य नहीं है । जो ऊर्ध्वरेता है मृत्यु उसकी इच्छाके अधीन

है, वीरता उसके हाथका खिलौना है। वह चाहे तो अद्भुत साधन करसकता है, जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है वह बड़ा आनन्द पाता है। इसके ही प्रतापसे भीष्म और परशुराम जगद्विजयी वीर हुए हैं। इसलिये ही महाशक्तिशाली इन्द्रजित् (मेघनाद) का संहार करनेके निमित्त लक्ष्मणको चौदह वर्ष तक वीर्यधारण (ब्रह्मचर्यपालन) करना पड़ा था।

श्रवणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

कामप्रवृत्तिके साथ रतिविषयक बातोंको सुनना, कहना, क्रीडा करना, देखना, एकान्तमें स्त्रियोंसे बातें करना, स्त्रियोंके विषयका सङ्कल्प करना, ऐसा निश्चय करना और मैथुन कर्म करना। ये मैथुनके आठ अङ्ग हैं। इन आठोंको त्यागदेनेका नाम ब्रह्मचर्य है। पहले समयमें ब्राह्मण अपने पुत्रका नवम वर्षमें उपनयन(यज्ञोपवीत) कर और ब्रह्मचर्यधर्मावलम्बी बनाकर वेदादिका अध्ययन करनेके लिये गुरुके घर भेजदेते थे। ब्रह्मचर्यकी साधनामें सिद्धि पाजाने पर गृहस्थाश्रममें प्रवेश और विवाह करते थे। जिस मनुष्यका वीर्य एकबार अच्छे प्रकारसे सुरक्षित होजाता है, उसका तो कहना ही क्या है? पुत्र उत्पन्न करनेके लिये जो साधारण व्यय होता है वह उसकी इच्छाके अधीन होता है। परन्तु वे दिन गये, अब तो कुशिक्षासे, कुसङ्गसे, बालक तक वीर्यका व्यय करडालते हैं। बालकोंसे लेकर प्रौढ अवस्थावाले पर्यन्त सब ही क्षणभरके सुखके लिये उचित और अनुचित रीतियोंसे वीर्य का नाश करके वज्रपातसे झुलसेहुए वृक्षकी समान घूमते फिरते हैं और उनकी उत्पन्न की हुई सन्तान और भी निर्वीर्य उत्पन्न

होती है और जीवनमें अनेकों दुर्जय रोगोंकीपीडा भोगकर अकाल में ही कालके गालमें जापडते हैं। यहाँ हमें एक कविका वाक्य याद आता है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ये चाम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहङ्गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥

विश्वामित्र पराशर आदि जो महर्षि जल और पत्तोंको खाकर जीवन धारण करते थे,वे भी जब स्त्रीके मुखकमलको देखकर मोहित होगए तो फिर जो घी मिला शाल्यन्न और दही दूध खाते हैं वे मनुष्य यदि इन्द्रियोंको अपने वशमें रखसकें तब तो विन्ध्याचल पर्वत भी समुद्रमें तैरने लगे। यद्यपि यह कथन आधुनिक कविका है तो भी विचारने योग्य है। परन्तु योग साधना में तो असम्भव प्रतीत होनेवाली बात भी संभव होजाती है। विश्वामित्र पराशर आदिकी जो बात कही है,वे भी ऐसे नष्ट नहीं हुए थे। योगमें ऐसा काम है,कि-जिसमें स्त्रियोंको देखकर जो उत्तेजना होती है वह दबजाती है और वीर्यका क्षय भी नहीं होता है। ब्रह्मचर्य साधनाका साधारण उपदेश यह है, कि—विपरीत वृत्तिको उठानेके क्रमसे भी इस साधनामें सिद्धि प्राप्त कीजाती है।

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।"

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठामें वीर्यलाभ होता है वीर्यका सञ्चय होजानेपर मस्तिष्कमें प्रबल शक्तिका संचय होता है। इस महती इच्छाशक्ति के बलसे मनकी एकाग्रताका साधन सहजमें ही होजाता है। ब्रह्मचर्यके बलसे नरदेहमें ब्रह्मतेज और नारीदेहमें सतीत्वकी निर्मल ज्योति प्रकाशित होती है।

अपरिग्रह-

"देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः ।,,

देहकी रक्षासे अधिक भोगके साधनको त्यागनेका नाम अपरिग्रह है। दुराकांक्षाको त्यागना और विलासके पदार्थोंकी इच्छाको तथा याचनाको त्यागना अपरिग्रह कहलाता है। मोटीरे बात यह है,कि-लोभको त्याग देना ही अपरिग्रह है।

ऊपरिग्रहप्रतिष्ठायां जन्मकथान्तासंबोधः।"

अपरिग्रहकी प्रतिष्ठा होजाने पर पूर्वजन्मकी सब बातें स्मरण हो आती हैं।प्रकृतिके सब पदार्थोंमें निर्लोभ होजाने पर चित्त कहीं बँधाहुआ नहीं रहता है। हम बाहरी प्रकृतिमें जितने ही बँधते हैं उतने ही पूर्वजन्मकी बातोंको भूल जाते हैं। इस जन्मकी भी यही बात है-जो बालक वस्त्रादि विलासके पदार्थोंकी ओरको अधिक खिंचा रहता है उसको पढना लिखना कुछ नहीं आता यह सब ही जानते हैं अथवा जो बाहरी टीपटापमें ही लगा रहता है वह ज्ञानसे बहुत दूर रहता है। जो ज्ञानी होगा। वह त्यागी अवश्य होगा। यदि बाहरी प्रकृतिके सब पदार्थोंसे मनको हटा कर संयमके मार्गमें लेजासकेंगे तो पूर्वजन्मकी बातें स्मरण क्यों नहीं आवेंगी ? याचना करने पर दान मिलता है,परन्तु उसमें दाताके पातक इकट्ठे होकर आजाते हैं और वे दान लेनेवालेके लिये बन्धन के कारण होते हैं इस लिये दान लेना भी ठीक नहीं है। पेट भरनेके लिये जितना काम किये बिना सरे नहीं उतना ही काम करना चाहिये। इस संसारमें कै दिन रहनेको आये हो ? फिर इतना आयोजन क्यों ? ऐसे ज्ञानकी दृढ धारणा ही निर्लोभ होनेका उपाय है।

इन सब बातोंकी साधना होजाने पर यम-साधन होता है। इन सब बातोंको सुनकर पहले तो तुम अपने मनमें कहोगे, कि-

यह बड़ा कठिन काम है, परन्तु कठिन कुछ भी नहीं है, ये बातें तो मनुष्यका अवश्य कर्त्तव्य है। मनुष्य बननेके लिये सब देशों के और श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंको इन बातोंमें सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। ऐसा किये मनुष्य ही नहीं होसकते मनुष्य और पशुमें कुछ भेद ही नहीं होसकता साधनाका उपाय पहले ही कह चुके हैं, इनकी विपरीत वृत्तिको उठानेपर इनका नाश होजाता है।

साधनाका अर्थ है अभ्यास, यह भी पहले ही बतायुके हैं। परन्तु अभ्यासके लिये भी शिक्षा चाहिये। अभ्यास कैसे करना चाहिये, यह भी सुनलो—तुम अपने मनमें दृढ करलो, कि, इस सप्ताहमें मैं ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। कदाचित् पहले सप्ताहमें तुम नियमसे गिर भी गये तो दूसरे सप्ताहमें अवश्य ही सफलता मिलेगी। फिर दो सप्ताहका नियम करो, इसप्रकार क्रम २ से अभ्यास होता चला जायगा। सबके ही विषयमें यह बात है। प्रतिज्ञा करके—समयका नियम बाँधकर यमके साधनमें उत्तीर्ण होते चलेजाओ।

नियमसाधन

योगशास्त्रमें कहा है-"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः" अर्थात्-शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इस पाँच प्रकारकी अनुष्ठानयोग्य क्रियाका नाम नियम है और इनकी साधनाका नाम ही नियम-साधन है। शौचका अर्थ है—शुद्धता अर्थात् शुद्धभावसे रहना। शौच दो प्रकारका है-बाहरी और भीतरी। मट्टी, जल गोबर आदिसे देह आदिको शुद्ध करनेका नाम बाहरी शौच है और सत्त्वगुणको बढानेवाले पदार्थोंके आहार आदिसे द्वारा चित्तको माँजनेका नाम भीतरी शौच है। हरएक मनुष्य प्रतिदिन अपने देहको साफ करता है, कोई मट्टी जलसे कोई गोमय जलके द्वारा और कोई साबनके जलसे

इसप्रकार किसी भी उपायसे हो नरनारी अपने देहका बाहरी शौच किया करते हैं। परन्तु योगीका शौच इन सबोंसे जुदाही होता है। यह भेद मनके भावसे होता है। मैं ईश्वरकी उपासना करूँगा, ज्ञान प्राप्त करूँगा, पापके बन्धनसे मुक्त होऊँगा यह भाव योगीके हृदयका होता है, योगी देहका बाहरी शौच करतेमें अपने चित्तमें ऐसा ही विचार रखते हैं और देहके सुखमात्रको चाहनेवाले पुरुष जो विचार रखते हैं इन दोनों विचारोंमें पृथिवी आकाशका अन्तर है। वह अन्तर ही दोनोंको दो मार्गोंमेंको लेजाता है। काम एक होनेहुए भी मनके भावके अनुसार उसका फल जुदा रही होता है। फिर भीतरी शौच उसके साथ मिलकर काम करता है मद्य, मांस आदिका भोजन, वैरीको उत्तेजना देनेवाले गति आदि ये सब दैहिक सुख चाहने वाले पुरुषोंको कुमार्गमेंको लेजातेहैं, । घृत दुग्ध आदि सात्त्विक पदार्थोंका भोजन अल्प भोजन और पुष्पमाला चन्दन आदिसे चित्त सन्मार्गमेंको जाता है। तात्पर्य यह है, कि बाहरी और भीतरी शौचका कुछ दिन अभ्यास करने पर देह तथा देहमेंका रक्त और मन सब शुद्ध होजाता है। अमृत नामक चित्तात्मा वा आध्यात्मिक तेज परमशुद्ध और पूर्णबलवान् हो उठता है।

"शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसङ्गश्च" शौचकी सिद्धिसे अपने शरीर पर तुच्छताका भय उत्पन्न होता है और दूसरोंके सङ्गकी इच्छा हट जाती है। बाहरी शौचका अभ्यास करते २ क्रमसे अपने शरीर पर एक प्रकारकी घृणा उत्पन्न होजाती है, उस समय जलके बुलबुलेकी समान मरणधर्मी और मलमूत्रादिसे भरेहुए देहके ऊपर आसक्ति कैसे रहसकतीहै? परायेदेहकोस्पर्श करनेकी जो बडीभारी इच्छा होती है वह भी दूर होजाती है। "सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियात्मदर्शनयोग्यत्वानि" भीतरी शौचसे सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य

(खेदके अनुभवसे रहित मनकी प्रीति) एकाग्रता, इन्द्रियका जय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है। जिस समय भाव-शुद्धिरूप भीतरी शौच पराकाष्ठाको पहुँचजाता है, उस समय चित्त एक प्रकारका अभूतपूर्व और सुखमय और प्रकाशमय बनजाता है, उस समय खेदका जरा भी अनुभव नहीं होता है, सदाके लिये पूर्ण और परमतृप्त होजाता है, इस पूर्णताको ही सौमनस्य कहते हैं। सौमनस्यके उत्पन्न होनेपर एकाग्रशक्ति प्रकट होजाती है तब मनका एकाग्र होना बहुत सहज होजाता है तथा इन्द्रियजय होजाता है, इन्द्रियजय हुआ, कि—चित्त निर्मल होजाता है। जैसे निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसे ही निर्मल चित्तमें आत्माकी छवि चमक उठती है, उस समय आत्मा दर्शनका गम्य होजाता है। शौचके साधनमें सिद्धि होजाने पर तुम्हारी समझमें आवेगा कि—तुम जो कुछ थे उससे बदलगये हो, तुम्हारे विषादसे मैले हुए हृदयके कोनेमें सुखके फूलने खिलकर तुमको आनन्दमय करडाला है। उस समय तुम्हारे चारों ओर सुखकी तरङ्गें, आनन्दकी हिलोरें क्रीड़ा करने लगेंगी, तब तुमको मालूम होगा कि—तुमने धर्मका जीवन पालिया है। पहिले अधर्मके जीवनमें जो दुःखके दंशनका अनुभव करते थे धन पास था, सुन्दरता थी, सुखभोगके सामान थे, धन, जन, मान, यश था, फिर भी जो तुम कमी ही कमी समझते थे वह अब नहीं रहसकता, अब धर्मजीवनके सुखका दीपक प्रज्वलित होउठा है।

प्राणधारणके अनुकूल तृष्णासे अधिक जो तृष्णा उसके त्यागका नाम सन्तोष है। सन्तोषकी साधनामें सिद्धि पाजानेपर फिर मनुष्यके सुखका पारावार नहीं रहता है। सन्तोषको पाजाने पर शान्ति तो उसके हाथका खिलौना होजाती है। जहाँ सन्तोष है वहाँ स्वर्गका सोपान बनाहुआ है। जिसमें मनुष्यका सब प्रकार

का प्रयोजन सिद्ध होजाय और प्राणधारणकी अनुकूलता पाकर तृष्णासे रक्षा होजाय, उस उपायको करनेसे मनुष्यका चित्त निरन्तर निर्मल और बराबर सुखी रहता है, इसके सिवाय तृष्णा ही मनुष्यको जन्मभर सुखकी मरीचिका दिखाकर पापके मार्गमेंको ले जाती है। जगत्में इच्छाका अन्त नहीं है। धनबल, जनबल और विषयबल किसीसे भी तृष्णाका निवारण नहीं होता है। खूब धन पाओ, खूब खाओ, पहरो, परन्तु तृष्णाका अन्त नहीं आता, केवल देओ देओ, लाओ लाओ बराबर बना रहता है। चाहे जितना धन पाजाओ, चाहे जितने विषय भोगो कितना ही रूप यौवन पाजाओ, चाहे जैसा चित्तानुकूल स्त्री पुत्र आदि पाजाओ परन्तु आशाका अन्त नहीं आता, प्रवृत्तिकी निवृत्ति नहीं होती ऐसी तृष्णा वा इच्छा ही दुःखका कारण है। वस्तुओंके तत्त्वका विचार करने पर वस्तुओं पर अश्रद्धा होने पर ही वास्तविक तृष्णाकी निवृत्ति होसकती है। मानलो, कि-तुम एक सुन्दरीके रूप यौवनको देखकर मोहित होगए परन्तु घरमें तुम्हारी अपनी स्त्री है, तुम विचारनेलगे, कि-यह स्त्री तो हमारी स्त्रीसे बड़ी सुन्दर है हमारी स्त्रीके बालबच्चे होचुके हैं और यह तो नवयुवती है। तुम्हारी कामपिपासा बढ़गई, उसके न मिलनेसे दुःखकी आगमें जलकर मरनेलगे और यदि वह मिलगई तो भी तुमने क्या सुख पाया? सुखकी आशामें दौड़कर गए, परन्तु घोर पश्चात्ताप लेकर लौटे, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। इसलिये पानेमें भी दुःख है और न पानेमें भी दुःख है परन्तु यदि विवेकी होते, यदि तुम तत्त्वविचारक होते तो पहले ही विचारकर देख सकते थे, कि-क्या देखकर तुम्हें यह प्यास लगी है? किसके लिये तुम्हारी यह वासनाको अग्नि धधकरहाई है? उसके देहको सुन्दरता ही तो देखी है! परन्तु देह क्या है? पृथिवी, जल, तेज, वायु और

आकाश इन पञ्चमहाभूतोंकी समष्टि अवस्थाके सिवाय और कुछ तो है ही नहीं। जिसके विकाशसे सब जगत् ठहरा हुआ है जो इस विश्वकी सब वस्तुओंमें विद्यमान है, उसके लिये एक सीमाबद्ध स्थानमें तेरी इतनी खिचावट क्यों है ? विशेषकर वह रूप, वह यौवन कितनी देरके लिये है ? वह बालकपनमें क्या था ? जवानीमें क्या होगया ? और बुढापेमें क्या होजायगा ? इसकी आलोचना करनेसे समझसकेगा, कि—तू जिसको चाहरहा है वह क्या पदार्थ है ? उसका कितना उलटफेर होजाता है ? और अन्तमें उस देहका क्या परिणाम होगा ? इस सबका विचार करना होगा। यह जो दुर्बल बुढ़िया मृत्युशय्या पर पडी है, यह भी अवश्य ही एक दिन युवती थी, परन्तु इस समय क्या होगया ? और इस जवानीमें ही यदि रोग आदबावे तो इस सुन्दर देहको प्रेतके देहसे भी अधिक भयानक बना सकता है। खाने पीनेके और घर मन्दिर आदि पदार्थोंकी भी ऐसी ही दशा है। इस वस्तुको कौन लेता है, कौन खाता है और कौन खायगा ? यह जो तुम्हारे घरके पास पुरानी स्मृति दिलानेवाला महल बना हुआ है, यह किसका बनाया हुआ है जानते हो ? निश्चय ही किसी धनगर्व-शालीका बनाया हुआ है, परन्तु वह बनानेवाला कहाँ है ? न जाने इस अज्ञात जगत्के अज्ञात परदेके भीतर अज्ञात नाटकका अभिनय कररहा है। सब यहाँ ही पडा रहजाता है, कुछ भी सङ्ग नहीं जाता फिर तुम्हारी ऐसी तृष्णा क्यों है ? कितनी देरके लिये यह यह दौडधाम करते हो ? इसप्रकार मनको समझालेने पर जब अभ्यास होजायगा तब मनको जो कुछ अनायासमें मिल जायगा, उसमें ही सन्तुष्ट होजायगा। ऐसा करने पर ही संतोष प्राप्त होता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।"

हिंसा, द्वेष, तृष्णा आदि पूर्वोक्त मनकी तामसी वृत्तियोंका दूसरा नाम वितर्क है। वितर्क वृत्ति योगका वैरी है, इसलिये हरएक वितर्कवृत्तिके विरुद्ध क्रमसे उसका नाश करनेवाली विपरीत वृत्तिको उत्तेजित करना पडता है अर्थात् हिंसा आदिके विरुद्धक्रमसे अहिंसा आदि वृत्तियोंको उठाना पडता है। ऐसा करते २ क्रमसे सब वितर्क-वृद्धि नष्ट होजाती है।

"वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभमोहक्रोधपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।"

वितर्क वा हिंसा आदि तीन प्रकारके होते हैं। इच्छापूर्वक वा अपने कियेहुए अथवा दूसरेके अनुमोदन पर कियेहुए वे तीन प्रकारके वितर्क वा हिंसा आदि वृत्तियें लोभ, मोह और क्रोधपूर्वक तथा अल्प, अधिक और मध्यभावसे उत्पन्न होती है। चाहे जिसप्रकारसे भी हिंसा आदि करो उससे दुःख, अज्ञान और असंख्यों प्रकारका दुःखमय फल अवश्य ही होगा और उसकी ही गुरुरूपसे भावना करनी होगी, इसका ही नाम प्रतिपक्षभावना है। हिंसा स्वयं करो, दूसरेसे कराओ अथवा दूसरेके हिंसा करने पर उसका अनुमोदन करो तो तुम हिंसक अवश्य बनोगे। तुम मांस खाते हो, परन्तु अपने हाथसे पशुको नहीं मारते हो जैसा मारना पाप है वैसा ही खाना भी पाप है दोनों ही हिंसा हैं अथवा तुम न मांस खाते हो, न पशुवध करते हो, परन्तु जो पशुवध करता है या मांस खाता है, उसके साथ बैठकर भोजन करते हो तो भी तुम हिंसाके भागी हो। एक मनुष्यने तुम्हारा अनिष्ट किया है, तुमने विचारा, कि-मैं इसका बदला लेनेके लिये कुछ भी नहीं करूँगा, भगवान ही इसका फल देंगे। अपने हाथसे उस का अनिष्ट करनेमें तुम्हें जो पातक होता वही पातक ईश्वरके ऊपर भार रखनेसे भी होगा। हाँ उसमें तीव्रता, मध्यमता वा

मृदुता हो यही दूसरी बात है। तात्पर्य यह है, कि—किसी असद् वृत्तिको दबानेके लिये उसकी विपरीत वृत्तिको उठाकर पहिली वृत्तिको नष्ट करदो।

"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः" सन्तोषसे योगी एक प्रकारका अनुपम सुख पाता है। वह सुख विषयका सुख नहीं है, इस लिये उसमें घटी बढी नहीं होती, किन्तु वह निविड़ सुख होता है।

ब्रह्मचर्य, सत्य, मौन, देवी देवताओंकी पूजा, जप, होम आदि नित्यधर्मका अनुष्ठान, वाणीका संयम मुख, दुःख द्वन्द्वोंको सहना और मित भोजन आदिका नाम तपस्या है। तपस्याका साधन बिना किये योगसिद्धि हो ही नहीं सकती। "नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति।" क्योंकि—मनुष्यके अन्तःकरण में अनादिकालसे वासना और अविद्याका संस्कार जमाहुआ है उसका क्षय तपस्यासे ही होता है। वासनाके पूर हुए बिना चित्तमें एकाग्रता नहीं आसकती जैसे सूखाहुआ तिनका विक्षिप्त वायुके प्रवाहमें चारों ओरको उड़ा२ फ़िरता है, ऐसे ही वासना में चित्तकी वृत्तियें चारों ओरको भागती रहती हैं। तपस्या वासना को क्षीण करके चित्तको एकाग्र करदेती है।

मनुष्यका मन, इन्द्रियें और शरीर आदि प्रसङ्गपरवश हैं अर्थात् जिस कामको करते हैं उसमें ही आसक्त होजाते हैं और उस कामको ही करना चाहते हैं। गोपालको सवेरे ही उठकर भ्रमण करनेका अभ्यास है, वह भोर ही उठकर बिना भ्रमण किये रह ही नहीं सकता, माधवको दिनमें भोजन कर सोनेका अभ्यास है, चाहे सौ काम पड़े रहो वह बिना सोये नहीं रहसकता। तात्पर्य यह है, कि-इस जगत्के जीवमात्र अभ्यासके दास हैं इस अभ्यासके सूक्ष्मभावको ही संस्कार कहते हैं। इस संस्कार-वासनाके बिना मनुष्य जब साधारण सांसारिक कांम भी नहीं

करसकता तो अतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्म राज्यकी आलोचना और अभ्यास कैसे करेगा ? इसलिए योगी बननेके लिए तपस्याके द्वारा इस सब अभ्याससे दूर जाना होगा । तपस्याके द्वारा हरएक कामको इच्छापूर्वक (जिस समय जिस कामको करनेका विचार हो उसको उसी समय) करनेका उपाय करना होगा । यदि चाहें तो दो रात जागकर कटादें और चाहें तो तीन राततक पड़े सोते रहें । चाहे जिस दिन भोजन न करें और बहुतसा खावें तब भी कष्ट न हो,इसके लिये व्रत, नियम, उपवास आदिका अनुष्ठान करना पड़ता है,इसमें क्रमसे संस्कार नष्ट होजाता है । संस्कारके नाशका यह अर्थ नहीं हैं,कि-सर्वथा संस्कार नष्ट ही होजाता हो,किन्तु सूक्ष्म अवस्थामें आजाता है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म होजाता है, कि उस समय उसमें योगमें विघ्न डालनेकी शक्ति नहीं रहती है । "ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः । तपस्यासे संस्कार वा संस्कारोंके क्लेश सूक्ष्म होजाते हैं, उस समय वे प्रतिलोम परिणामके द्वारा चित्त के साथ क्षयको प्राप्त होजाते हैं । संस्कारोंका सूक्ष्म होना उनके विनष्ट होजानेके ही समान है । जलाहुआ बीज होता है भले ही परन्तु उसके अंकुर उत्पन्न नहीं होता है,ऐसे ही तपस्यासे जले हुए संस्कारसे भी भोगादिकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है । तपस्याके फलसे कभी २ एकायकी दूरकी वस्तुको देखनेकी और दूरकी बातको सुननेकी शक्ति प्राप्त होजाती है । "कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" । अशुद्धिका क्षय होजाने पर दूरका श्रवण और दूरदर्शन आदिकी शक्ति प्राप्त होती है । पहले कहचुके हैं, कि संस्कार ही हमारा आवरण है । संस्कारों ने सूक्ष्मदशामें हमारे अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी सब वृत्तियोंको ढकरक्खा है । तपस्यासे उस संस्कारका नाश होजाने पर दूर-

दर्शन वा दूरश्रवण आदि होसकेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? मान लो कि-तुम खानेके लिये परम स्वादिष्ट शाक आदि राँधते हुए उसके सुन्दर स्वादकी भावना कररहे हो ऐसे समयमें तुम्हारा पुत्र आकर कुछ बात कहगया, स्वादके विचारमें लिप्त होनेके कारण तुम उसको सुन नहीं सके,परन्तु वह चिन्तवन यदि तुम्हारे मनमें नहीं होता तो उस बातको अवश्य ही सुनलेते चिंता का सूक्ष्मभाव संस्कार, आसक्तिका सूक्ष्मभाव संस्कार ये सब संस्कार ही हमें दूरकी बातें देखने सुनने वा जानने नहीं देते । जिन्होंने,तपस्याके द्वारा संस्कारका लय किया है वे दूरकी बातको सुननेके और दूरके पदार्थको देखनेके अधिकारी हुए हैं ।

प्रणव और सूक्तमन्त्रादिके जप और वेद तथा मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं । स्वाध्यायकी साधना करने पर ईश्वरमें रति और पार्थिव जड़ प्रकृतिमें आकर्षणकी कमी होजाती है । आत्मतत्त्व, परतत्त्व, रसतत्त्व और ईश्वरतत्त्वमें ज्ञान श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और प्रेम होता है इसका कारण यह है, कि-इन सब विषयोंकी आलोचना करते २ मनकी गति एकमुखी होजाती है । मनकी सब शक्तियें इकट्ठी होकर मनके ऊपर ही आपड़ती हैं । जैसे सूर्यकी तेज किरणोंके समीप अतिअन्धकार-मय स्थान भी अपने गुप्त रहस्योंको दिखादेते हैं । इसप्रकार ही वेदादिशास्त्रकी आलोचनारूप स्वाध्यायकी साधनामें एकाग्रचित्त होजाने पर वे अपने अत्यन्त गुप्त रहस्योंको भी प्रकाशित कर देते हैं । उस समय मालूम होता है, कि—मैं क्या कहूँ ? जगत् क्या है? ईश्वर क्या है? क्यों आया हूँ?कहाँ जाऊँगा । इस समय भी इन सब बातोंका तुम मनमें चिन्तवन करसकते हो परन्तु स्वाध्यायके बादका चिन्तवन और इस समयके चिन्तवनमें बड़ा भेद होता है वनमें बाघ है, यह बात सुनते ही जैसे वनके बाघका विश्वास

होजाता है। वृक्ष पर भूत है, यह सुनकर जैसे वृक्षके भूतका विश्वास करलेते हैं, ऐसे ही ईश्वरमें वा आत्मतत्त्वमें विश्वास करलिया जाता हैं, परन्तु वह विश्वास संदेहमिश्रित विश्वास है। जिसमें संदेह होता है वह सदा स्थिर नहीं रहता और स्वाध्याय साधनाके बाद जो विश्वास होता है वह वनमें जाकर वाघको देख आनेपर होनेवाले विश्वासकी समान, वृक्षपरके भूतको देख आनेपर होनेवाले विश्वासकी समान दृढ़विश्वास होता है। स्वाध्यायकी साधनामें मनुष्य विश्वासकी असली भूमिमें पहुँचता है। इस समय ही मनुष्यके धर्मजीवनका शुभ अन्नप्राशन होता है। इस समय ही मनुष्य नए उपनयनके नवीन सूत्रके कण्ठमें साधारण करके कोई ईश्वर है या नहीं, इसका दर्शन स्वयं करसकता है। स्वाध्याय-साधनामें सिद्धि प्राप्त होनाने पर उच्चश्रेणीके प्राणी जैसे देवता, अप्सरा, गन्धर्व आदिके दर्शनको पासकता है। हाँ जैसे उच्च श्रेणीके प्राणीके दर्शनकी इच्छा होगी, वैसा ही अभ्यास भी अधिक करना होगा "स्वाध्याय दिष्टदेवतासम्प्रयोगः,, स्वाध्याय की साधनामें सिद्धि होजानेपर अर्थात् वारम्बार मन्त्रोच्चारण, स्तुति पाठ और रूपका ध्यान करते २ जब अन्तःकरणकी उत्कृष्ट अवस्था होजाती है तब उस स्वाध्यायनिष्ठ पुरुषके नेत्र अनेकों दिव्य मूर्त्तियोंका दर्शन करनेके योग्य होजाते हैं।

ईश्वरप्रणिधानके विषयमें भगवान् पतञ्जलि कहते हैं, कि—भक्तिके साथ ईश्वरकी उपासना करना ही ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इस उपासनासे जीवकी समाधि लगजाती है। कायिक वाचिक और मानसिक सबही कामोंमें अपनेको ईश्वरके अधीन जानकर—ईश्वरमें अपने आपको समर्पित करके फलकी प्राप्ति पर दृष्टि न रखकर ईश्वरका ध्यान करे। इसमें मनुष्यके आत्मामें ईश्वरका अनुग्रह दीखने लगता है। स्मरण, मनन, कीर्त्तन, आदि

ईश्वरका प्रणिधान है। ईश्वर क्या पदार्थ है, इस बातकी आलोचना करना भी आवश्यक है, इस बातको ठीक किये बिना ईश्वरके ऊपर विश्वास हो ही नहीं सकता। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" क्लेश कर्म, विपाक और आशय जिसको छू भी नहींसकते, सकल संसार आत्मा और सकल मुक्त आत्माओंसे जो पृथक् है वही ईश्वर है। वितर्कवादी कहते हैं; कि—ईश्वर है, यह बहुत अच्छी बात है, परन्तु उसकी उपासना करनेकी जीवको क्या आवश्यकता है? हम अपने कर्मफलके संस्कारको लेकर हाय२ करतेहुए मरेजाते हैं। ऐसे संस्कारको दूर कर सकने पर ही जहाँकी वस्तु वहाँ ही लौटकर आजायगी। योगके द्वारा संस्कार नष्ट होसकता है, फिर ईश्वरकी उपासना करनेकी क्या आवश्यकता है। जब तक जीवके कर्मफलका संस्कार है, तबतक उसको सहस्रवार पुकार कर भी कोई मोक्षदान नहीं देसकता और कर्मबीजके दग्ध होजाने पर ईश्वरके कुपित होने पर भी उसको नहीं रोकसकता, फिर उसकी उपासनाका क्या प्रयोजन है यह बात हमारी समझमें नहीं आती। ईश्वरोपासनाका कुछ प्रयोजन नहीं होता तो ज्ञान-वृद्ध ऋषिगण तथा सब देशोंके विवेकी विद्वान् ईश्वरोपासना करनेकी व्यवस्था देते ही नहीं। वह प्रयोजन क्या है, इसकी ही कुछ आलोचना करेंगे।

जीवात्मा क्लेश आदि पाँच प्रकारके विषयोंको चित्तके साथ एक होकर भोगरहा है और इस भोगके कारणसे ही जीवात्मा कहलाता है, परन्तु ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आश्रयके पार है अब बद्ध जीवके मुक्त होनेके लिये ऐसे कौनसे विषयकी भावना करनी होगी, कि—उसके सारूप्यको पाकर हम मुक्त होसकें। भावनामें जो उसका सारूप्य प्राप्त किया जाता है उससे प्रतीत

होता है तुम विशेषरूपसे जानते हो भ्रमरी एक कीटेको पकड कर ले जाती है वह कीडा उसके भयसे उसका ध्यान करते २ भ्रमरी ही बनजाता है। यदि तुम मेरा एकांत मनसे ध्यान करते हो तो तुम्हारा स्वभाव मेरासा ही होजायगा! और एक बात है। भगवान्‌की भावना करने पर उनकी शुद्ध निर्मल ज्योति फैलकर जीवके चित्तको भी निर्मल करदेती है। मालूम होता है, तुम जानते हो, कि—चिन्ता शक्तिकी आकर्षण शक्ति बडी ही अद्भुत है। चिन्ताशक्तिके आकर्षणसे प्रबल शक्तिवाले वृक्ष आदि को भी खेंचलिया जासकता है, मनुष्यको वशमें करके आज्ञाकारी पुतलेकी समान बनालिया जासकता है वह चिन्तबन यदि दिनरात अचिन्त्य पदार्थके ऊपर जापडे तो उससे ही हमारा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयरूप कठोर भाव हृदयमेंसे दूर होजासकते हैं, इसके लिये ही ईश्वरोपासनाकी आवश्यकता है, यह बात याद रखनी चाहिये।

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय किसको कहते हैं, यह भी देखलेना चाहिये। क्लेश अज्ञान आदि पांच प्रकारका है। जिसको कि आत्मा चित्तके साथ एक होकर भोगता है और और जिसके होनेके कारणसे आत्मा जीव बनाहुआ है। कर्मका अर्थ है—कायिक वाचिक और मानसिक सब प्रकारकी क्रिया, जिसको कि—हम सदा किया करते हैं। विपाकका अर्थ है—कर्म-फल जोकि—जीवके सुख दुःख आदिको भोगनेका कारण होता है। आशयका अर्थ है—संस्कार। कर्मको कर चुकने पर चित्तमें जो किये हुए कर्मका भाव जमजाता है वही संस्कार कहलाता है।

योगियोंके मनमें ईश्वरप्रणिधान वा उपासना करनेका सहज और सरल उपाय यह है—"तस्य वाचकः प्रणवः" ईश्वरका वाचक प्रणव (ॐकार) है अर्थात् ॐकहनेसे साधकके हृदयमें ईश्वरके

स्वरूपका उदय होजाता है। क्यों होजाता है, इसका उत्तर देना बड़ी कठिन समस्या है। ईश्वरके साथ ॐकारका बड़ा घनिष्ठ संबन्ध कबसे और क्यों स्थापित हुआ है, इसको कोई नहीं बता सकता, परन्तु यह निश्चय है, कि-प्रणव और ईश्वरका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। "तज्जपस्तदर्थभावनम् प्रणवका जप-यथावत् उच्चारण, उसके अर्थकी भावना और उसमें मनको जड़ देनेका नाम ही ईश्वरोपासना" है योगी दूसरी प्रकारकी उपासनाके पक्षपाती नहीं हैं। संसारके कामकाज करते हुए भी योगी इस ज्ञान और इस ध्यानमें निमग्न रहते हैं महात्मा तुलसीदासजीने कहा है-

तुलसी ऐसा ध्यान धर जैसे ब्याही गाइ।
मुखसे तृण चारा चुगे चित्त निज बत्सहि पाइ॥

जैसे ब्याही हुई गौ मुखसे चारा चुगती है परन्तु चित्तको अपने बच्चेमें लगाये रहती है, ऐसे ही संसारके काम करते रहो, परन्तु चित्त भगवान्को अर्पण किये रहो। ऐसा करनेसे चित्त सहजमें ही एकाग्र होजाता है।

यथावत् उच्चारण करने पर ही प्रणव सार्थक होता है। अ, उ,-म्-इन तीन अक्षरोंका ॐ बना है। ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप ये तीन अक्षर सत्व, रज और तमका व्यक्त चीन हैं। संगीत शास्त्रके ज्ञाताओंने स्वरके उदारा, मुदारा और तारा ये तीन भेद किये हैं। ॐ शब्दका उच्चारण करने पर जो स्वरकी झङ्कार उठेगी, उसमें ये तीन विभाग होंगे और जीवके निवास स्थान रूप षट्दल कमलोंमेंसे पहले स्वरकी उत्पत्ति होगी, फिर अनाहत प्रतिध्वनि करके सहस्रारमें गूँजने लगेगा। इसप्रकार एक साथ स्वरको चलाना होगा। जोरसे चिल्लाने मात्रसे ऐसा नहीं होगा। मनही मनमें कहनेसे भी ऐसा स्वरकम्पन किया जासकता

है। परन्तु गानेका स्वर जैसे लिखकर नहीं समझाया जासकता, ऐसे ही प्राणायामका यह उच्चारण भी मुखसे नहीं बतायाजासकता, इसका उच्चारण किसी अभ्यासी योगीसे सीखनेमें ठीक रहता है।

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

निरन्तर प्रणवका जप और प्रणवके अर्थका ध्यान करते २ जब चित्त निर्मल होनेको आजाय, उस समय प्रत्यक्चेतन अर्थात् शरीरके भीतरका आत्मा यथार्थ ज्ञानका गोचर होता है और उस समय कोई विघ्न न रहकर निर्विघ्न सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।,,

विषयभोगकी अयोगी अवस्थामें यथार्थ आत्मज्ञान और समाधिलाभ न होनेका जो कारण है उसका ही नाम विघ्न है। विघ्न अनेकों हैं। उनमें ये कुछ विघ्न प्रधान हैं, यथा-व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितिधातुओंमें विषमता होनेसे जो ज्वर आदि होजाता है उसका नाम व्याधि है। मनकी अक्षमता (इच्छा होने पर भी काम करनेकी शक्ति न होना) स्त्यान कहलाता है। योगसाधना करसकूँगा या नहीं अथवा योगसाधनामें कोई फल है या नहीं, ऐसे विचारका नाम संशय है। चित्तकी उदासीनताका नाम प्रमाद है। जिससे योगमें प्रवृत्ति नहीं होती है उस शरीर और मनके भारीपनका नाम आलस्य है। विषयतृष्णाका नाम अविरति है। एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझ लेना भ्रमदर्शन कहलाता है, जैसे कि-सीपीके टुकड़ेको चाँदी समझलेना। योगमें भ्रम यह होता है कि-जो योगका साधन है उसको योगका साधन न समझना और जो साधन नहीं है उसको साधन समझलेना। किसी प्रतिबन्धक कारणसे योगकी अवस्थामें न पहुँचना अलब्ध-

भूमिकत्व कहलाता है, जैसे, कि–योगका आरम्भ करके किसी सिद्धिका लक्षण न दीखनेपर चित्तमें विक्षेप होना कि-यह तो वृथा परिश्रम है। चित्तकी अस्थिरता अर्थात् योगकी किसी अवस्थाको पाजाने परभी उसमें चित्तक स्थिर वा सन्तुष्ट न होना अनवस्थितत्व कहलाता है। इसमेंसे हरएक ही समाधिके लिये विघ्नरूप है,इन सब दोषोंके दूर हुए विना एकाग्रता वा समाधि नहीं होसकती। ये सब दोष रजोगुण और तमोगुणके प्रभावसे आकर चित्तको इधर उधरको विक्षिप्त करतेहुए एकाग्र नहीं होने देते हैं। पीछे बताई ईश्वरोपासना वा योगके अङ्गोंकी साधना करनेपर ये सब दोष लुप्त होजाते हैं, इन सब दोषोंके दूर होजानेपर शक्ति स्थायी होती है, समाधि लगने लगती है।

"तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।"

पीछे कहे सब दोषोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वाभ्यास करना होता है। एकतत्त्वके अभ्याससे उसमें मन लगजाने पर चित्तविक्षेप और उसके उपद्रव दुःख आदि नष्ट होजाते हैं किसी–एक इच्छित तत्त्वके ध्यानको एकतत्त्वाभ्यास कहते हैं। इच्छित–विषय, जैसे ईश्वरकी बहुतसी मूर्त्तियें कल्पना कीगई हैं–विष्णुमूर्त्ति, कृष्णमूर्त्ति, शिवमूर्त्ति, सूर्यमूर्त्ति, दुर्गामूर्त्ति इत्यादि बहुतसी मूर्त्तियें हैं। जिस साधकको जो मूर्त्ति अच्छी लगे उसका ही ध्यान करने पर एकतत्त्वाभ्यास होता है। जो मूर्त्ति जिसके मानसिक गठनके अनुकूल हो उसको उसका ही ध्यान करना चाहिये।इसको ही इष्टतत्त्व कहते हैं। इष्ट विश्वासको कभी नहीं त्यागना चाहिये। जब साधकका भेदज्ञान दूर होजाय तब भी उस मानसी प्रतिमाका ध्यान नहीं त्यागना चाहिये।

एक समय हनुमान्‌जी और अर्जुनका साक्षात्कार होगया। अर्जुनके साथमें श्रीकृष्ण भी थे। हनुमान्‌जीको किसी कामें

प्रवृत्त करनेके लिये अर्जुन और श्रीकृष्ण उनके पास गए थे। अर्जुनकी प्रार्थनाको पूरी करना स्वीकार करके हनुमान्‌ने कहा, कि—आप जरा ठहरिये, मेरा इष्टदेवके पूजनका समय होगया है, मैं पूजन करके निवटलूँ। अर्जुनने आश्चर्यमें होकर कहा, कि—मैंने सुना है, कि—तुम साक्षात् रुद्रके अवतार हो, परन्तु आपके इस भ्रमको देखकर मुझे सन्देह होगया है। तुम रामचन्द्रके उपासक हो, तुम्हारे सामने तुम्हारे इष्टदेव श्रीकृष्ण विद्यमान हैं. फिर साक्षात् दर्शनको छोडकर अपरोक्ष दर्शनको क्यों चाहते हो? क्या श्रीकृष्णकी उपासनासे ही रामकी उपासना नहीं होजायगी? श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रमें क्या कुछ भेद है? तुम्हारे इस भेदभावको देखकर मैं वास्तवमें बडी उलझनमें पडगया हूँ, यह सुनकर परमज्ञानी हनुमान्‌जीने मुस्कराकर कहा, कि—

श्रीनाथे जानकीनाथे न भेदः परमात्मनि ।
तथापि मम सर्वस्वो रामः कमललोचनः ॥

यद्यपि मैं जानता हूँ, कि—लक्ष्मीपति और सीतापतिमें कुछ भेद नहीं है और दोनों ही एक परब्रह्म परमात्मा हैं, परन्तु तो भी कमललोचन राम ही मेरे सर्वस्व—धन हैं।

इसका ही नाम इष्टनिष्ठा है, इसको ही एकतत्त्वाभ्यास कहते हैं। महात्मा तुलसीदासजीने और भी कहा है—

सबसे हिलिये सबसे मिलिये, सबका लीजिये नाम।
हाँजी हाँजी करते रहिये, बैठिये अपने ठाम ॥

सबके साथ बैठिये, सबके साथ आनन्द करिये, सबका नाम लीजिये, सबसे हाँ हाँ करिये, परन्तु अपने स्थान पर बैठे रहिये—अपने भावको दृढ़ बनाये रखिये।

जैसे छोटेसे बीजमें बडा वृक्ष उत्पन्न होजाता है ऐसे ही इस सच्ची एकतत्त्वनिष्ठासे परमात्माके ध्यानरूप ज्ञानवृक्षकी उत्पत्ति

होजाती है और उसकी शाखा प्रशाखाओंसे धर्मका क्षेत्र बड़ा ही सुहावना होजाता है।

"समाधिरीश्वरप्रणिधानात्।" ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर में चित्तका लगना जब परिपक्व होजाता है तब और कोई साधना न करने पर भी ईश्वरकी इच्छाके बलसे उत्तम समाधि लगजाती है ईश्वरका प्रणिधान करनेवाले योगीको योगसमाधि पानेके लिये और किसी योगके अङ्गका आश्रय नहीं लेना पड़ता है। केवल भक्तिके बलसे ही वह ईश्वरमें समाहित होजाता है। भक्त केवल भक्तिके द्वारा ही ईश्वरको प्रसन्न करके उनके अनुग्रहरूप तेजमें अपने क्लेशको भस्म करके और सकल विघ्नोंको नष्ट करके बेरोकटोक समाहित होकर योगका फल पाजाता है।

आसन-साधन

यम और नियमके विषय हैं जो कुछ कहागया उसके अभ्याससे चरित्र गठित होता है। तुम कहोगे, कि—योगसाधना करनेमें चरित्र गठनका क्या प्रयोजन है? हाँ चरित्रगठनका भी प्रयोजन है। चरित्रगठनको भिन्न २ मार्गोंमेंको चलाना ही योगसाधनका उद्देश्य है। पूर्णमनुष्यत्वके मार्गमेंको देवभाव पाना ही योगका फल है। इसलिये ही यम नियमकी साधना करके चित्तको निर्मल करे, भीतरी वृत्तिको लेकर कार्य करनेका आरम्भ करदेय यम और नियमकी साधनामें सिद्धि पाकर आसन सिद्ध करने आरम्भ करदेय। आसन और कुछ नहीं है, बैठनेकी रीतिमात्र है। योगी को जबतक खूब उच्च अवस्था प्राप्त न होजाय तब तक उसको नियमसे साधना करनी होगी और उसके लिये दैहिक और मानसिक दोनों प्रकारकी रीतिका अभ्यास करनी होगा, ऐसा करनेके लिये बहुत समय तक एकभावसे

एक स्थान पर बैठना होगा। फिर देहके भीतर वायु आदि सहजमें और सरलरूपसे आवाजाई कर सकें, इसका भी उपाय करना होगा इसलिये ऐसे एक नियमके साथ बैठना होगा, कि-जिसके अभ्याससे दोनों काम सुख और सहजमें होजायँ। योगी पुरुष दोनों काम खूब सरल और सहजरूपमें होसकें ऐसी बैठनेकी रीतिको नियममें बाँधचुके हैं, योगशास्त्रमें इस बैठनेकी रीतिको ही आसन कहते हैं। अलग २ कामोंके लिये अलग २ आसनोंकी रीति कही है। पतञ्जलिने आसनोंका बहुत फैलाव नहीं किया है, उन्होंने तो बस इतना ही कहा है-"स्थिरसुखमासनम्" जिस-प्रकार बहुत देरतक स्थिर होकर सुखसे बैठा जासके उसका नाम आसन है जब तक बहुत देरतक स्थिरताके साथ नहीं बैठ सकते हो तबतक तुम प्राणायाम आदि योगकी साधना कर ही नहीं सकते। आसन दृढ़ होनेका अर्थ यह है, कि-तुमका शरीरका सत्त्व बिलकुल मालूम ही न हो, ऐसा होने पर ही आसन दृढ़ होता है, परन्तु यदि तुम योंहीं साधारणरूपसे कुछ देर बैठनेकी चेष्टा करोगे तो तुमको अनेकों विघ्न दिक करेंगे। परन्तु जब तुम इस स्थूल देहभावको त्यागदोगे तब तुमको शरीरका अस्तित्व तक नहीं मालूम होगा। तब तुझे सुख वा दुःख किसीका भी अनुभव नहीं होगा और जब तेरे शरीरमें ज्ञान आवेगा, तब तुझे अनुभव होगा, कि-मैंने बहुत समय तक विश्राम किया है, यदि शरीरको पूर्णरूपसे विश्राम देना हो तो वह इसप्रकार ही होसकता है। जब तुम इसप्रकार शरीरको अपने वशमें करके दृढ़ रखसकोगे तब तुम्हारा अभ्यास बड़ा अच्छा होजायगा परन्तु जब तुम्हारी शारीरिक विघ्नबाधायें आवेंगी तब तुम्हारे स्नायु-जाल चञ्चल होजायँगे तुम किसी प्रकार भी मनको एकाग्र करके नहीं रखसकोगे। "प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।" शरीरमें

जो एकप्रकारका अभिमानरूप प्रयत्न है उसको शिथिल करनेसे और अनन्तके चिन्तवनके द्वारा आसन स्थिर और सुखदायक होसकता है। सकल द्वन्द्वोंके अतीत ब्रह्म वा आत्माको अनन्त कहते हैं, परन्तु हम यह धारणा उस समय कैसे करसकते हैं ? इसलिये इस दशामें अनन्त आकाशका-चिन्तवन करना सहल होगा। "ततो द्वन्द्वाभिघातः" इसप्रकार आसनजय होने पर शीतोष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्व कुछ विघ्न नहीं डालसकते। आसन बहुतसे हैं, परन्तु गृहस्थ योगीके लिये उन सबका अभ्यास करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। इस ग्रन्थमें दो आसनोंको सिद्ध करनेकी बात कही है, उनमेंसे किसी एकका अभ्यास करलेनेसे ही काम चलजायगा, अधिक आसनोंके अभ्यासकी कुछ आवश्यकता नहीं है।

प्राणायाम

अब प्राणायामकी बात कहेंगे। प्राणायामसे ही आध्यात्मिक साधनाका आरम्भ होता है "तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः। आसनका जय होजाने पर श्वासप्रश्वास दोनोंकी गतिको संयम (वशीभूत) करलेनेका नाम प्राणायाम है। आसनसिद्धिके बाद श्वासप्रश्वासकी गतिको तोड़कर जय करना होगा। जिस रीतिसे जय करना होगा, उस रीतिका नाम ही प्राणायाम है प्राणायाम और कुछ नहीं है शरीरोंमेंकी जीवनी शक्तिको वशमें ले आना है। अब यह देखना चाहिये, कि-प्राणायाम करनेसे हमारा क्या उपकार होता है।

योगशास्त्रमें श्वासप्रश्वासको प्राण नामसे कहा जाता है, परन्तु केवल श्वासप्रश्वास ही प्राण नहीं है। जगत्की सब ही शक्तियोंका नाम प्राण है। प्राण हर एक व्यक्तिमें है। उसकी गति

फुसफुसमें मालूम होती है। प्राण जब श्वासको भीतरकी ओरको खींचता है तब ही गतिका आरम्भ होता है। प्राणायाम करनेके समय हम उसका संयम करनेकी चेष्टा करते हैं इस प्राणके ऊपर अधिकार करनेके लिये हम श्वास प्रश्वासके संयमका आरम्भ करते हैं क्योंकि यह ही प्राणजयका सबसे सुधा मार्ग है। प्राणजय होने पर ही मृत्युलोकमें रहकर भी हम अमर पद पाजाते हैं प्राणायाम सुषुम्नाके द्वार वा ब्रह्ममार्गको स्वच्छ करने का मार्ग है।

प्राणायामको करनेका सहज उपाय—

"बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टेन दीर्घः सूक्ष्मः। बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति यह तीन प्रकारका प्राणायाम है"। देश काल और संख्याके द्वारा दीर्घ और सूक्ष्मरूपसे सिद्ध होता देखते हैं। प्राणायाम एक प्रकारका प्राणवायुका शिल्प है अर्थात् प्राणवायु जो स्वाभाविक रूपसे सदा भीतर और बाहरको आजाई करता है, उसकी स्वाभाविक आजाईको किसी विशेष क्रिया और यत्नके द्वारा रोककर उसको और एक प्रकारका नई रीतिके आधीन करदेना प्राणायाम है। पहले जो आसनोंका वर्णन करचुके हैं, उस रीतिसे ही आसन करके किसी निर्जन और पुष्प आदिसे सुगन्धित किये हुए स्थानमें बैठे और फिर प्राणायाम करनेका आरम्भ करे। प्राणायाम दो प्रकारका होता है एक सगर्भ और दूसरा निर्गर्भ। ॐ वा इष्टदेवताके बीजमन्त्रके द्वारा जो प्राणायाम किया जाता है वह सगर्भ प्राणायाम है और मन्त्रहीन केवल एक दो इसप्रकार संख्या रखकर जो प्राणायाम किया जाता है व निर्गर्भ प्राणायाम है ॐ वा और किसी बीजमन्त्रके साथ जो प्राणायाम किया जाता है वह बहुतही शीघ्र फलदायक होता है और निर्गर्भ प्राणायाम

में कुछ विलम्ब लगता है। जिनको मन्त्रके साथ प्राणायाम करने की सुभीता हो उनको यही करना चाहिये और जिनको इसमें सुभीता न हो वे एक, दो, तीन, इसप्रकार संख्याके द्वारा ही प्राणायाम करें, परन्तु मन्त्र वा संख्याको विना रक्खे प्राणायाम करने से फल मिलनेमें विलम्ब होता है अथवा फल मिलता ही नहीं।

पूरयेत्षोढशैर्वायु धारयेच्च चतुर्गुणैः। रेचयेत्कुम्भकार्धेन अशक्तस्तूत्तरोत्तरः॥ तदशक्तौ तच्चतुर्थ्या एवं प्राणस्य संयमः। प्राणायामं विना मन्त्री पूजने नैति योग्यताम्। कनिष्ठानामिकांगुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम्। प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमां विना"

दाहिने हाथके अंगूठेसे दाहिने नासापुटको पकड़कर वायुको रोके और ॐका अथवा इष्टदेवताके मूलमंत्रका सोलहवार जप करता हुआ वाम नासापुटसे वायुको भरे तथा कनिष्ठ और अनामिका अंगुलीसे बायें नासापुटको पकड़कर वायुको रोके और ॐ का वा मूलमंत्रका पहलेसे चौगुणा अर्थात् चौंसठ वार जप करता हुआ कुम्भक करे, तदनन्तर अँगूठेको दाहिने नासापुटपरसे हटा कर ॐका वा मूलमंत्रका बत्तीस बार जप करता हुआ दाहिने नासापुटसे, धीरे २ वायुको निकाले, बायें हाथकी रेखाओं पर जपकी संख्या करता जाय। इसप्रकार ही फिर उलटे क्रमसे अर्थात् श्वासको छोड़देनेके बाद इस दाहिने नासापुटसे ही पहले की समान अङ्क वा मूलका जप करता हुआ पूरक और दोनों नासा पुटको धारण करके कुम्भक तथा फिर रेचक करे, इसके बाद फिर उसीप्रकार पूरक कुम्भक और रेचक करें। पहले यदि ऊपर बताई हुई संख्याका जप करनेमें कष्ट हो तो क्रमसे ८।३२ १६ अथवा ८।१६।८ वार जप करताहुआ प्राणायाम करे।

प्राणायाममें जो ह्रस्व, दीर्घ और सूक्ष्मकी बात कही थी वह श्वास प्रश्वासकी गतिके अनुसार होती है तैजधाराको समान

अविच्छिन्न श्वास श्रेष्ठ कहलाता है। प्राणायामकी दीर्घता और सूक्ष्मता केवल स्थान काल और संख्याविशेषसे जानीजाती है। पहले तुम परीक्षा करके देखो, तुम्हारा छोड़ाहुआ श्वासका वायु कितनी दूरतक जाता है। रुई बहुत पतली तुनकर क्रम २ से दूर को हटाकर देखो, श्वासकी वायुसे कितनी दूरतक जाती है, इससे ह्रस्वपना और दीर्घपना मालूम होजायगा। कुम्भककी ह्रस्वता और दीर्घताको जाननेका यह उपाय है, कि-कुम्भकके समय यदि मालूम हो, कि सब शरीरमें वायु भरगया है तो वह दीर्घ है, प्राणायामकी दीर्घता ही श्रेष्ठ होती है, यदि ह्रस्व हो तो उसको दीर्घ करलेय। इसप्रकार ह्रस्व और दीर्घ करनेका उपाय ॐकार वा बीजमंत्रकी संख्याके ऊपर निर्भर है, यह बात तुमसे पहले ही कहदी है। इस समय देहके भीतर नियमित परिमाणमें श्वास को ग्रहण करना और निर्दिष्ट परिमाणमें ही बाहरको छोडना, इससे शरीरमें समता आजाती है। प्राणायाम करनेके समय मन ही मनमें भावना करे, कि-ओंकार वा बीजमंत्र ताल २ पर पूरकके समय भीतर जारहा है, कुम्भकके समय ताल २ पर नस २ में नसोंकी सब ग्रन्थियोंमें अर्थात् सब शरीरमें भरकर घूमरहा है तथा रेचकके समय ताल २ पर बाहरको निकलरहा है। इसप्रकार प्राणायामका अभ्यास करलेने पर पहले ही तुमको परमशान्ति मालूम होगी। सच्चा विश्राम किसको कहते हैं, इसका अनुभव होजायगा। सारे दिन अन्य कामोंमें बिताकर एक बार प्राणायाम करनेसे परम सुखका अनुभव होगा, ऐसे, विश्रामका-सुखका अनुभव जीवनमें और कभी किया ही नहीं होगा। फिर और भी अभ्यास बढजाने पर तुम्हारे मुखपर तेज दमक उठेगा, तुम्हारे मुख परसे सूखे दाग और चिन्ताकी रेखायें दूर होजायँगी। कण्ठके स्वरमें मोहकता आजायगी।

जवानीकी नई किरणें फूट निकलेंगी। इस प्रकार प्राणायामका कुछ दिनों अभ्यास करके फिर एक और भी ऊँचे दरजेका काम करना होगा। पहले इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें नासापुटके द्वारा धीरे धीरे वायुको खेंचकर फुसफुसको वायुसे भरदेना होगा इसी समय नसोंके प्रवाहमें मनको लगाकर चिन्तवन करना होगा, कि-मानो तुम इस स्नायुप्रवाहको इडानाडीके भीतर लेजाकर नीचेकी ओरको नमाकर कुण्डलिनी शक्तिके आधारभूत मूलाधारके उस त्रिकोण पद्मके ऊपर बड़ी जोरसे आघात कररहे हो। ऐसा करके फिर इस स्नायुप्रवाहको कुछ देरके लिये इसस्थान पर ही धारण किये रहो। तदनन्तर कल्पना करो, कि—उस सब स्नायुशक्तिके प्रवाहको श्वासके साथ दूसरी ओरको खेंचे लिये जारहे हो। फिर दाहिने नासापुटके द्वारा वायुको धीरे २ बाहर निकालदो। इस प्रक्रियाके बाद कुम्भक करना होता है। आधी रातके समय इसप्रकार फुसफुसमें वायुको भरकर दोनों कानोंको हाथसे बन्द करके कुम्भक करो। क्रमसे अभ्यास करते २ दाहिने कान में शरीरके भीतरका शब्द सुनाई आने लगेगा। पहले झींगर केसा शब्द सुनाई आवेगा। फिर और कुछ दिनों साधना करने पर क्रम २ से वंशीकेसा शब्द, मेघके गरजनेका शब्द, झांझ केसा शब्द, भौंरेकी गुञ्जारका शब्द, घण्टा, घड़ियाल—तुरही—भेरी—मृदङ्ग—नगाड़ा और दुन्दुभि आदि अनेकों बाजोंका शब्द क्रमसे सुनाई आवेगा। नित्य अभ्यास करते २ क्रमसे ये सब बाजोंके शब्द सुननेमें आते हैं। फिर और भी अभ्यास होजाने पर हृदयमेंके अनाहत चक्रके भीतरसे अपूर्व शब्द और तत्काल ही उसका प्रतिशब्द सुनाई आता है। तदनन्तर योगी नेत्रोंको मूँदने पर अपने हृदयमें उस अनाहत पद्ममें प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिका दर्शन करता है। उस ही दीपशिखाके ज्योतिर्मय ब्रह्म

में योगीका मन लगजाता है और ब्रह्मरूप विष्णुके परम पदमें लीन होनेकी शक्ति आजाती है।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"स्वस्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्"। इन्द्रियोंसे उनका अपना २ विषय छुटाकर चित्तके स्वरूपको ग्रहण करनेमें लगा देनेका नाम प्रत्याहार है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियें जो रूप आदिकी ओरको दौडती हैं, उस बाहरी आसक्तिसे उनका मुख फिरा देनेका वा उनकी उस विषयासक्तिको नष्ट करदेनेका नाम प्रत्याहार है।

साधु बन जाओ, आसक्तिको छोडो। यह बात विश्वभरमें गूँजरही है। सब देशोंके सब ही लोग कहते हैं, कि—हम साधु बनेंगे। स्त्री, पुत्र, कन्या, भ्राता सब साधु बनजायँ, यह इच्छा भी सबकी ही होती है, परन्तु यह होय कैसे? हम आप साधु क्यों नहीं बनजाते? जानते हो जी चाहता है तो भी ऐसा क्यों नहीं होता? एक दिन दो दिन न सही, दो महीनेमें साधु बन सकते हो, परन्तु उसके बाद ही जहाँ किसी कुमुहूर्त्तमें किसी कामिनीके कटाक्ष—बाणसे विंधे कि साधुता गई! अथवा धनके लोभमें वा प्रेमके उभारमें साधुता दूर भागजाती है। जिस उपाय से ऐसा न होनेपावे, जिस उपायसे इन्द्रियोंको विषयकी ओरको जानेसे रोकाजासके वही प्रत्याहार है। "खोटा काम न करो, यदि करोगे तो दुःख पाओगे" सब ही ऐसा कहते हैं, परन्तु खोटे कामसे बचना कैसे होता है, इसकी रीति कोई किसीको नहीं बताता। "खोटा काम न करो ऐसा कहकर ही सब चुप हो बैठते हैं, यदि ऐसा कहनेके साथ २ रीति भी बतादी जाती तो

विशेष काम होता और ऐसे उपदेशका ही नाम प्रत्याहार है।

जिस समय मन, इन्द्रिय नामक भिन्न २ शक्तियोंके केन्द्रसे मिलता है तब ही सब बाहरी और भीतरी काम हुआ करते हैं जानकर हो चाहे अनजानमें हो, मनुष्य अपने २ मनको इन्द्रिय नामक भिन्न २ केन्द्रोंके साथ लगा देनेमें विवश होता है, इस लिये ही मनुष्य नानाप्रकारके असत् कर्म करता है और अन्तमें उन दुष्कर्मोंके फलभोगसे कष्ट पाता है। जबतक इन्द्रियोंकी वृत्तियें अपने वशमें न होंगी तबतक केवल "खोटा काम नहीं करूँगा ऐसी साधारण इच्छामात्रसे इन्द्रियें कदापि नहीं लौटेंगी। इन्द्रियेंरूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयोंकी इदास बनी हुई हैं, उन विषयोंको पाजाने पर इन्द्रियोंको किसी प्रकारका ज्ञान नहीं रहता है। रूपको देखकर नेत्र उधरको झुकेंगे ही, नेत्र झुक, कि—मन भी उसका भाव ग्रहण करके मतवाला हो उठेगा। इन्द्रियें तो मनकी ही जुदी २ अवस्थामात्र हैं। मानलो, कि—तुम एक फूलको देखरहे हो, वास्तवमें इस फूलकी आकृति बाहर नहीं है, वह केवल मनमें ही है, बाहरकी इस आकृतिको वह केवल जगा-देती है, वास्तवमें वह मनमें ही है। ये इन्द्रियें जो विषयोंके सामने आती हैं और उनके साथ मिलकर उनका ही आकार धारण कर लेती हैं। इन्द्रियोंके इन भिन्न २ आकार धारण करनेको रोकनेका नाम ही प्रत्याहार है।

जब इन्द्रियोंको इस प्रकार आकार धारण करनेसे रोकदिया जायगा तब ही वास्तविक निष्काम कर्म हो सकेगा अर्थात् चित्तमें किसी प्रकारके संस्कारका दाग नहीं पड़ेगा। मानलो, कि—जब चक्षु रूप के ऊपर—आसक्त होनेको है उसी समय उसको रूपसे उठा लो और रूपरहित करके मनके अर्पण करदो अर्थात् ऐसा यत्न करो जिसमें चक्षु मनको रूप न देय, कान शब्द न देय

नासिका गन्ध न देय, रसना स्वाद न देय तथा त्वचा स्पर्श न देय। हरएक इन्द्रिय ही जिससे अपने २ ग्रहण करने योग्य विषयको त्यागकर अविकारी दशामें चित्तके अनुगत रहे, ऐसा करनेका नाम ही प्रत्याहार है और इसके अभ्यासका नाम प्रत्याहारसाधना है। जिनका भगवान्में प्रेम होगया है, जिनकी इन्द्रियें एकमुखी होकर भगवान्के अनुगत होगई हैं, उनका यह भाव ही प्रत्याहार है। दृढ़ विश्वाससे प्रत्याहारकी साधनामें सिद्धि होती है। इसके लिये चित्तको दृढ़ करना चाहिये और अभ्याससे स्थिर करना चाहिये। रूपका ग्रहण करके मैं क्या करूँगा ? रूपके अनन्त आधार भगवान् तो मेरे हृदयमें ही हैं। भगवान्को चित्त अर्पण करदेने पर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियोंके सब विषय तहाँ ही विलजाते हैं। ऐसा, दृढ़ विश्वासके साथ अभ्यास करने पर होता है। ऐसे अभ्यासके फलसे ही मैस्मरेजिम और हिपनोटिज्म आदि विद्याओंका आविष्कार हुआ है।

प्रत्याहारकी साधनाके लिये विश्वासके साथ चित्तकी दृढ़ एकाग्रता चाहिये। चक्षुने रूपको देखा, परन्तु उसको रूपके आकारमें परिणत होकर मनके पास नहीं आने देना चाहिये, दृढ़ विश्वासके साथ ऐसा अभ्यास करनेका नाम ही प्रत्याहार है। सब इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा ही करना चाहिये। कुछ दिनोंमें जब इन्द्रियसंयमका अभ्यास होजाय तब तुम चित्तको अपनी इच्छानुसार स्थिर रख सकोगे, चक्षु आदि इन्द्रियें भी साथ २ मनकी अनुगामिनी होजायँगी। जब तुम चित्तको इसप्रकार अपना इच्छानुगामी बनालोगे तब किसी प्रकारका भी रूप आदि विषय तुम्हारे चक्षु आदिको नहीं खेंचसकेगा। प्रत्याहारपरायण योगी प्रकृतिको चित्तके वशमें करके परम-स्थिरता पाता है। इसप्रकार बाहरी प्रकृति वशमें होजाने पर उस प्रत्याहार-परायण योगीके

लिये अपना हृदयद्वार खोलदेगी। उस समय योगी प्रकृतिके चेतन अचेतन सब वस्तुओंको क्रीड़ाकी पुतली बनाकर जो चाहेगा वही करसकेगा।

धारणा

धारणा योगवृक्षके खिलेहुए पुष्पका बीज है—"तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभावः, आसनादिभिरंकुरितः प्रत्याहारादिभिः कुसुमितो ध्यानधारणादिभिः फलिष्यति।" योगी कहते हैं, कि—योगको एक वृक्षरूप कल्पना किया जासकता है, यम नियम आदिसे उस वृक्षका रोपण करनेवाला बीज उत्पन्न होता है, आसन और प्राणायाम आदिकी साधनासे इस बीजमें अंकुर उत्पन्न होता है, प्रत्याहार आदिकी साधनासे इस योगवृक्ष पर फूल आजाता है। फिर ध्यान धारणा और समाधिसे फल आजाता है पहले बीज, फिर अंकुर फिर फूल और उसके बाद फल आता है, यह प्रकृतिका नियम है। यहाँ तक जो कुछ कहागया यह योगवृक्षका फूल है, अब आगे फलकी बात कहते हैं। ध्यान धारणा और समाधिकी साधनासे उस फलको पाना होगा।

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्तको देशविशेषमें बाँधकर रखनेका नाम धारणा है। रागद्वेष आदिसे शून्य होकर और यम नियम आदिसे शुद्धचित्त होकर किसी एक विषयमें चित्तको बाँधकर रखनेका नाम धारणा है। शास्त्र कहता है—

"नाड़ीचक्रहृदयनासाग्रादौ बाह्ये वा शास्त्रोक्तकृष्णविष्णुशिवहिरण्यगर्भादिमूर्त्तौ देशे अवलम्बने बन्धो विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणं धारणा।" नाड़ीचक्र अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रदल पद्ममें अथवा नासिकाके अग्रभागमें अथवा शास्त्रोक्त कृष्ण, विष्णु, शिव, सूर्य

आदिकी चिन्तानुकूल मूर्त्तिमें, उससे अन्य विषयोंको त्यागकर चित्तको स्थिर करनेका नाम धारणा है। वैष्णव कहते हैं—

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
एषा वै धारणा ज्ञेया तच्चित्तं तत्र धार्यते ।

प्राणायामके द्वारा श्वास प्रश्वासको, प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियों को वशमें करके चित्तको निर्मल करताहुआ भगवान् श्यामसुन्दरमें लगा देय अर्थात् किसी एक सुन्दर वस्तुमें चित्तको और विषयोंकी चिन्तासे हटाकर लगाना हुआ उसमें ही बाँधदेनेका उद्योग करे, इसप्रकार चित्तको एक वस्तुमें बाँधसकने पर चित्त एकमुखी होजाना धारण करनेका ही नाम धारणा है। धारणा ही स्थायी होजाने पर ध्यान कहलाती है। पहले पहल एक समय नियत करके ऐसी धारणा करनेका आरम्भ करे। पहले दो मिनट, फिर चार मिनट, फिर पाँच मिनट, इसप्रकार क्रमसे बढाता जाय। रात दिनमें चार पाँच बार ऐसा करे।

ध्यान

धारणा करने योग्य पदार्थमें चित्तकी एकतानताका नाम ध्यान है। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" पहले जिस धारणाकी बात कही है उस धारणीय पदार्थमें यदि चित्तवृत्तिकी एकतानता होजाय तो वही ध्यान है। 'यदेव धारणायामवलम्बनीकृतं वस्तु यदाकाराकारितचित्तवृत्तिश्चेदनन्तरिता प्रवहति तदा तद् ध्यानम्।" जिस वस्तुमें तुमने बाहरी इन्द्रियोंको रोककर अन्तरिन्द्रयको धारण किया है, उस वस्तुका ज्ञान यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रवाहरूपसे बहनेलगे तो उस मनोवृत्तिके प्रवाहको ध्यान कहते हैं। शास्त्रमें तीन प्रकारका ध्यान कहा है—

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्त्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ॥
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ।

ध्यान तीन प्रकारका है स्थूलध्यान, सूक्ष्मध्यान, और ज्योतिर्ध्यान । जिसमें मूर्त्तिमान् देवता की भावनाकी जाती है उसका नाम स्थूलध्यान है । जिसमें तेजोमय ब्रह्म वा प्रकृतिका चिन्तवन कियाजाता है उसको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और जिस ध्यानके द्वारा बिन्दुमय ब्रह्म और कुण्डलिनी शक्तिका दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है उसको सूक्ष्मध्यान कहते हैं ।

जिसका जो इष्टदेवता हो वह उस ही इष्टदेवताका हृदयकमलमें ऐसा ध्यान करे कि–मेरा इष्टदेव सकल आभूषणोंसे भूषित तथा सकल शोभामय रूपवाला है यही स्थूल ध्यान है । दोनों भौंके मध्यमें और मनःस्थानके ऊपर जो ॐकारमय तथा शिखासमूह-युक्त तेज है, उस तेजोराशिका ब्रह्मरूपसे ध्यान करना ही तेजो-ध्यान है । और सूक्ष्मध्यानमें पहले ध्यान करे, कि–सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति जागकर जीवात्माके साथ षट्चक्रको भेदती हुई नेत्ररन्ध्रके मार्गसे निकल कर ऊपरके राजमार्गमें जापहुँची है, ॐकारमय व्यक्त ब्रह्मबीज प्रकृति और पुरुष दो मूर्त्तियोंमें खडा होकर रसतत्त्वके विहारमें लगाहुआ है और टपकतीहुई रसधारको कुण्डलिनी पीरही है, मनको उन प्रकृति पुरुष वा राधाकृष्णके चरणोंकी धारणामें ही लगाये रक्खे, यही सूक्ष्म ध्यान है ।

इस ध्यानका भी अभ्यास करना होता है । एक २ दो२ मिनट करके बढाना चाहिये ।

समाधि

अब समाधिका स्वरूप और उसकी साधनाकी रीति कहते हैं–"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" आत्मज्ञानसे रहित अर्थात्–मैं ध्यान करता हूं' ऐसी भावनाको छोडकर उस

ध्यानको केवल ध्येय वस्तुमें ही प्रकाशित करे, इसका ही नाम समाधि है। जब ध्यान गाढ़ा होजाता है तब ध्येय वस्तु और मैं ऐसा पृथक्२ ज्ञान नहीं रहता है, उस समय चित्त ध्येय वस्तुमें ही प्रवेश करजाता है उस लयावस्थाको ही समाधि कहते हैं। ध्यानकी परिपक्व अवस्था ही समाधि है, इसलिये ध्यान करते२ ही वह उसकी परिपक्व अवस्था होजाती है, तब ही उसको समाधि कहते हैं। योगियोंने समाधि छः प्रकारकी बताई है और उसकी साधनाके उपाय भी छः ही कहे हैं—

शाम्भव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा॥
पञ्चधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्॥

छः प्रकारकी समाधि यह है—ध्यानयोगसमाधि, नादयोग-समाधि, रसानन्दयोगसमाधि, लययोगसमाधि, भक्तियोगसमाधि और राजयोगसमाधि।

ध्यानयोगसमाधि उसको कहते हैं, कि—जिसमें ध्यानके द्वारा आत्मप्रत्यक्ष होजाने पर विष्णुरूप ब्रह्मको दृष्टिमार्गमें लाकर इस बिन्दुस्थानमें स्थापित करदेय फिर शरीरमेंके ब्रह्मलोकमय आकाश में जीवात्माको लाना तथा जीवात्मामें इस शरिरमेंके ब्रह्मलोकमय शून्यस्थानको लानेका चिन्तवन करे। ऐसा होने पर ध्येय वस्तुका और अपना एकत्व भी लीन होजायगा, यही ध्यानयोगसमाधि है। नादयोग समाधिमें—जिह्वाको तालुकी जडमें लगाता हुआ ऊपरको पहुँचा देय, इसमें चित्त एकाग्र होकर परमपदमें लीन होजाता है। लययोगसमाधिमें—भ्रामरी कुम्भकके समय देहमें भौंरोंके गूँजनेकेसा शब्द होता है। इस स्थानमें मनको लगाना चाहिये। रसानन्दयोगसमाधिमें-योगी अपने आपको(जीवात्माको) शक्ति अर्थात् स्त्री (गोपी) और परमात्माको पुरुष (श्रीकृष्ण)

भावना करे। स्त्री पुरुषकी समान जीवात्माके साथ परमात्माका शृङ्गाररसपूर्ण विहार होरहा है, ऐसा चिन्तवन करे और ऐसे संभोगसे उत्पन्न हुए परमानन्दरसमें मग्न होकर परब्रह्मके साथ स्वयं अभेदरूपसे परमप्रेममें लीन हुआ समझे। भक्तियोग समाधि में—परम आनन्दके साथ अपने हृदयमें इष्टदेवताका ध्यान करता हुआ उसमें अपनेको लीन करदेय। राजयोगसमाधिमें मनोमूर्छा नामक कुम्भक करके परमात्मामें अपनेको लीन करदेय। इनमेंसे किसी एक योगका अवलम्बन करनेपर समाधि होजायगी, एकसे अधिककी साधना न करे, क्योंकि-ऐसा करनेपर सिद्धि नहीं होगी।

कैवल्य

पहले ही कहचुके हैं, कि—बाहरी और भीतरी प्रकृतिको वशमें करके आत्माके ब्रह्मभावको व्यक्त करना ही योगका प्रयोजन है। यहाँ तक हमने जोकुछ कहा उससे जीवको आत्मसाक्षात्कार होता है। मैं कौन हूँ, किसलिये आया हूँ, इसका तत्त्व मालूम होता है, ऐसा ज्ञान होते ही साधक कैवल्य नामक परमश्रेयके द्वारपर पहुँचजाता है 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति' जब सत्त्व और पुरुषकी समभावसे शुद्धि होजाती है तब ही कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य पर पहुँच जाने पर ही आत्माका ज्ञान होता है, कि—वह सदा ही एक है, उसको सुखी करनेके लिये और किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। जबतक हम अपने आपको सुखी करनेके लिये और किसी को चाहते हैं तबतक हम दास बनेहुए हैं। जब जानलेता है कि, वह मुक्तस्वभाव है, उसको पूर्ण करनेके लिये किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। जब जानलेता है, कि—यह प्रकृति क्षणिक है, इसका कुछ प्रयोजन नहीं हैं, तब ही मुक्ति पाजाता हैं, तब ही कैवल्य पाता है। जब समझता है कि—जगत्के अतिछोटे परमाणु से लेकर देवताओं तक किसीसे भी उसका कुछ प्रयोजन नहीं है,

तब ही आत्माकी उस अवस्थाको कैवल्य-पूर्णता कहते हैं। जब शुद्धि अशुद्धि दोनोंसे मिला हुआ मन पुरुषकी समान शुद्ध होजाता है तब ही सत्त्व (मन) में निर्गुण, पवित्र स्वरूप पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है। पीछे जो योगकी बातें कह आये हैं, उनके द्वारा आत्मदर्शन हो जाने पर—आत्मा वा ब्रह्ममें दृढ़ प्रत्यय उत्पन्न होजाने पर प्रकृतिके ऊपर घृणा होने लगती है, उस समय प्रतीत होता है, कि- प्रकृति कुछ है ही नहीं, इसलिये उस समय आत्मा केवल होता है। पातञ्जलि कहते हैं कि-"जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" जन्म, औषधि, मन्त्र तप समाधिसे सिद्धि (अवस्था) प्राप्त होती है। जन्म अर्थात् पहले जन्मकी सिद्धिशक्तिको लेकर बहुतसे लोग जन्म लेते हैं। ओषध अर्थात् संजीवनी अमृत (Elixirlite) राजयोगी कहते हैं, संयमसे मनुष्यमें यह अवस्था आ सकती है। मंत्र नामके कुछ पवित्र शब्द हैं, शास्त्रमें बताये हुए नियमसे उनका उच्चारण और अनुष्ठान करना चाहिये। तपस्या अर्थात् अष्टाङ्गयोगका इस समाधिसे पहला १ भाग। ये सब गौण साधन हैं। इनके बाद समाधि है। समाधिसे हम मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सब सिद्धि पा सकते हैं। इससे मालूम हुआ, कि- पहले समाधि पर्यन्त जो कुछ कहा है उसको साधना से सिद्धि प्राप्त होने पर आत्मा केवल—प्रकृतिके भोगसुखसे निःस्पृह होजाता है, यह चरम लक्ष्य है। पहले सब साधनोंसे धीरे २ हमारे ज्ञान और विवेकशक्तिकी शुद्धता होती है, समाधि से आत्मदर्शन होता है, हमारी दृष्टिके सामनेका परदा हट जाता है। उस समय हम वस्तुके यथार्थ-स्वरूपको पा जाते हैं। उस समय हम समझते हैं, कि- प्रकृति एक मिश्र पदार्थ है, वह साक्षि स्वरूप आत्मा वा ईश्वरके लिये ये सब विचित्र दृश्य दिखलाती है; उस समय हम समझते हैं कि प्रकृति ईश्वर नहीं है, प्रकृतिका

सब अभाव केवल हमारे हृदयसिंहासनके राजा पुरुषको ये सब दृश्य दिखानेके लिये हैं। जब चिरकाल तक अभ्यास करनेसे विवेकका उदय होता है उस समय परदा हट जाता है, बन्धन खुल जाता है, कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।" जब गुण पुरुषके किसी प्रयोजनमें नहीं आते हैं तब वे प्रतिलोम (उलटे) क्रमसे लय हो जाते हैं, इसको ही कैवल्य वा चितिशक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। यहाँ आकर प्रकृतिका काम समाप्त हो जाता है। प्रकृति अपनेआपेको भूले हुए जीवात्माको लेकर क्रीड़ा करती है, अनेकों प्रकारके भोगोंमें मोहित कर रखती है, परन्तु अब आत्मा उसको नहीं चाहता—वह समझगया है, कि—प्रकृतिके भोग आदि स्वप्नकी समान मिथ्या हैं, इसलिये ही प्रकृति जिस मार्गसे आई थी उस ही मार्गसे लौटजाती है और जो जीवनके मार्गको—चिन्हसे हीन रितीली भूमिमें मार्गको भूलगए हैं, उस समय उनको मार्ग दिखाने लगती है। योगी कहते हैं कि-स्वरूप को जान लेने पर यह पुरुषके सामने नहीं आती है। इस लिये प्रकृतिके बन्धनसे छूटाहुआ पुरुष उस समय केवल होजाता है।

भ्रातृगण! गृहस्थों! जन्मजन्मान्तरों तक बंधनमें पड़े रहे हो, आओ हम प्रकृतिके सुखदुःखके भीतर होकर—भले बुरेके भीतर होकर सिद्धि और आत्मसाक्षात्कारके समुद्रकी ओरको चलें!

परिशिष्ट—

योगसाधनाका अभ्यास करनेवाले गृहस्थके लिये यहाँ कुछ बातें बतादेनेकी आवश्यकता है। योगीका शरीर नीरोग और स्वस्थ रहना चाहिये। जो संसारको छोड़कर जङ्गलमें चले जाते हैं वे मुद्रा आदिकी साधनासे शरीरको दृढ़ और नीरोग कर लेते हैं, इसलिये वे गरमी सरदी आदिसे नहीं डरते। परन्तु उनकी देखा देखी गृहस्थ साधक गरमी सरदीसे कदापि असावधान न रहे,

ऋतुके अनुसार उपयोगी वस्त्रोंको काममें लावे। यदि कोई रोग होजाय तो औषधका सेवन करे। 'मैं योगसाधना करता हूँ' ऐसे अभिमानमें आकर गृहस्थियोंके योग्य काम करने न भूल-जाय। वस्त्र आदि गृहस्थोंकेसे ही पहरे; गेरुआ कपड़े गृहस्थोंके लिये नहीं हैं, दिखावट करना—पाखण्ड बनाना ठीक नहीं है। योगी 'पञ्चामरा' नामक एक औषधका सेवन करते हैं। बीच २ में इसका सेवन करते रहनेसे मनुष्यके बल, वर्ण, वीर्य और आयुकी वृद्धि होती है। गृहस्थ योगी इस औषधको तयार करके इसका नित्य सेवन किया करें तो लाभ होगा।

एका तु अमरा दूर्वा तस्या ग्रन्थि समानयेत्।
अन्या तु विजया देवी सिद्धिरूपा सरस्वती॥
अन्या तु विल्वपत्रस्तथा शिवसन्तोषकारिणी।
अन्या तु योगसिद्ध्यर्थे निर्गुण्डी चामरा मता॥
अन्या तु कालतुलसी श्रीविष्णोः प्रियतोषिणी।
एताः पञ्चामरा ज्ञेया योगसाधनकर्मणि॥

दूबकी गाँठ, भङ्ग, विल्वपत्र, निर्गुण्डी, काली तुलसी इन पाँचोंको पञ्च अमरा कहते हैं। इन पाँचोंको लाकर धूपमें सुखा-लेय, फिर अलग२ पीसलेय। तदनन्तर नीचे लिखे मन्त्रसे हरएक का शोधन करके, मिलादेय दूब, विल्वपत्र, तुलसी और निर्गुण्डी इन चारोंको मिलाने पर जितना वजन होय उतना ही भङ्गका चूर्ण मिलावे। सन्ध्याके समय दूध और शर्कराके साथ सेवन करे। मात्रा एक मासेसे दो मासे तक जितनी भी सहसके। शास्त्रकहता है,

पञ्चामराभक्षणेन अमरो योगसिद्धिभाक्।

पञ्चामराके सेवनसे शरीर स्वस्थ रहता है और योगसिद्धिमें सहायता मिलती है।

पञ्चामराके शोधनका मंत्र—

दूर्वाशोधन—ॐ हरे अमरपुष्टे त्वामृतोद्भवसम्भवे। अमरं मां

सदा भद्रे कुरुष्व त्वं हरप्रिये ॥ ॐ दूर्वायै स्वाहा । विजयाशोधन—ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतमाकर्षय आकर्षय सिद्धिं देहि सर्वं वशमानय स्वाहा । विल्वपत्रशोधन—ॐ कायसिद्धिकरे देवि विल्वपत्रनिवासिनि । अमरत्वं सदा देहि शिवतुल्यं कुरुष्व माम् ॥ शिवदायै नमः स्वाहा । निर्गुण्डीशोधन—ॐ निर्गुण्डि परमेशानि योगानामधिदेवते । सा मां रक्षतु अमरे भवसिद्धिप्रदे नमः ॥ ॐ शोकापहायै नमः स्वाहा । तुलसीशोधन—ॐ विष्णोः प्रिये महामाये कालज्वालनिवारिणि । तुलसीं मां सदा रक्ष मामेकममरं कुरु ॥ ॐ ह्रीं श्रीं ऐं ह्रीं अमरायै नमः स्वाहा ।

तदनन्तर पाँचों पदार्थ इकट्ठे करके विल्वपत्रशोधनके मन्त्रको एकवार पढ़े फिर शीशी या डिबियामें रखलेय और प्रयोजनके अनुसार व्यवहारमें लावे ।

रिपुजय—

गृहस्थ योगी बननेके लिये सब प्रकारसे उद्योग करके रिपुजय करें । इसके लिये योगशास्त्रमें अनेकों उपाय कहे हैं, परन्तु एक मात्र ब्रह्मचिन्तवनके द्वारा सकल शत्रुओंका जय होजाता है । मैं कौन हूँ ? और मेरा वैरी कौन है ? मेरे शत्रुके शरीरमेंका जो चैतन्य है वही मैं भी हूँ, तो क्या इस देहके साथ मेरी शत्रुता है ? शरीर तो दोनोंका श्मशानमें भस्म होजायगा, जोकुछ रहेगा वह तो मेरा उपास्य ब्रह्म है, उसके साथ शत्रुता कैसी ?

आत्मजय—

विवेकबुद्धिके द्वारा आत्माका संसारसे उद्धार करे, क्योंकि—आत्मा ही अपना बन्धु और और आत्मा ही अपना वैरी है । जिस आत्माने आत्माको जीत लिया वह आत्मा ही आत्माका बन्धु है और जिसने आत्माको नहीं जीता वह मानो वैरीकी समान अपना अपकार करता है । गरमी सरदी सुख दुःख, मान

अपमानका अवसर आने पर केवल जितात्मा शान्त पुरुषका आत्मा ही साक्षात् आत्मभावकी धारणा करता है। वैरी, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ बन्धु, साधु, असाधु सबको एकसमान देखे।

योगी पुरुष निर्जनस्थानमें अकेला रहे, केवल प्रयोजनके समय मनुष्योंसे मिले, आशा न रक्खे, दान न लेय, अन्तःकरण तथा देहको वशमें रक्खे। न अधिक भोजन करे, न निराहार ही रहे, न अधिक सोवे, न सर्वथा जगता ही रहे, जिसका आहार, विहार, कर्मचेष्टा, सोना और जागना नियमके साथ होता है वही योगमार्गमें आगेको बढ़सकता है।

सब विषय नाशवान् है, सुखके पीछे दुःख लगाहुआ है, एक आत्मा ही सुखकी वस्तु है, उसको ही पानेके लिये चेष्टा करे। इसके लिये सब कामनाओंको हटाकर, अन्तःकरणके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंमेंसे लौटाकर योगका अभ्यास करे। मनको आत्मामें लगाकर स्थिरबुद्धिसे धीरे २ विरतिका अभ्यास करे और किसी अनावश्यक विषयका चिन्तवन न करे। चञ्चल मन जिस विषयमेंको भी जाय उधरसे लौटाकर वशमें करे। योग-सिद्धिके लिये अधिक शीघ्रता न करे। मनुष्य एक ही जन्मके लिये नहीं है, इस जन्ममें जो कुछ करचुकेगा, अगले जन्ममें उससे आगेको आरम्भ करेगा। अगले जन्ममें पूर्वजन्मकी बुद्धि पाकर जो मुक्तिके लिये पहले जन्मसे भी अधिक उद्योग करता है वह किसी कारणवश न चाहे तो भी पहले जन्मका अभ्यास उसको ब्रह्म-चिन्तवनमें लगा देता है। जो जलमें रसरूप, चन्द्रसूर्यमें प्रभारूप, वेदमें ॐकाररूप, आकाशमें शब्दरूप, पृथिवीमें गन्धरूप, अग्निमें तेजोरूप, और सकल प्राणियोंमें जीवनरूपसे विद्यमान है, उस परमात्माका सर्वदा चिन्तवन करके समाधि लाभ करो, ॐशान्तिः

❀ समाप्त. ❀

॥ श्रीः ॥

श्रीमहर्षिपतञ्जलिप्रणीतं

योगदर्शनम् ।

आगरामण्डलान्तर्गततालजगंजाख्यवास्तव्यश्रीमत्पण्डितगुरु-
दयालस्यात्मज—श्रीमत्पण्डितरामप्रसादविरचितच्छन्दो-
बद्धदेशभाषाकृतव्यासभाष्यछायाऽनुरूप-
वार्तिकतिलकसमेतम् ।

तच्च

श्रीकृष्णदासात्मज—गंगाविष्णोः

स्वकीये " लक्ष्मीवेंकटेश्वर " मुद्रणयन्त्रालये

रामचन्द्र राघो इत्यनेन स्वाम्यर्थं

मुद्रितं प्रकाशितं च

संवत् १९७०, शके १८३५.

कल्याण—मुंबई.

Registered under Act XXV of 1867.

भूमिका।

यह योगदर्शन श्रीमत् महर्षि पतञ्जलिने सर्व जगतमात्रके सुखके निमित्त संस्कृत सूत्रोंमें निर्मित किया परंतु इस समयमें बहुधा लोग संस्कृतविद्यासे शून्य होनेके कारण इससे लाभ नहीं उठा सक्ते इस लिये श्रीमत् स्वामी जगदेवाश्रमकी आज्ञानुसार मूल पंडित रामभक्त आगरा ताजगंजनिवासीसे सर्व साधारणके समझने और लाभ उठानेके अर्थ श्रीमत् महर्षि व्यासभाष्यानुसार छंदोबद्ध दोहा, चौपाई, छन्द, सोरठामें रचना कर उसका तिलकभी वार्तिक सरल देशभाषामें आज पौषशुक्ल ७ शनिवार संवत् १९६७ विक्रमीयको पूर्ण किया गया है। यह पुस्तक सर्व साधारण और साधु महात्माओंको परमोपयोगी है इसके दृढ साधन और अभ्यास करनेसे प्राणीको सर्व सुखोंका मूल जो मोक्षसुख है वह प्राप्त हो सक्ता है फिर अणिमादि सिद्धि तो कुछ दुर्लभही नहीं. अब पठन पाठन करनेवाले सज्जनोंसे सविनय प्रार्थना है कि जहां कहीं त्रुटि और भूल रह गई हो तो कृपापूर्वक सुधार लेय इत्यलम्।

आपका कृपाभिलाषीः—

रामभक्त.

ॐ परमात्मने नमः ।

महर्षिपतञ्जलिप्रणीत

योगदर्शन ।

भाषाछन्दोबद्ध और वार्तिकटीकासहित.

मंगलाचरणम्

नत्वा रामं चिदानन्दं सर्वव्यापिनमीश्वरम् ।
योगभाष्यं सभाषार्थं छन्दोबद्धं करोम्यहम् ॥

श्रीहलधर प्रभुके चरण, वंदि कहों कर जोर ।
हुए दयाल पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोर ॥
चरणकमल वंदन करों, पातंजलिमुनिराय ।
योगशास्त्रभाषा करों, व्यासभाष्यका छाय ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

दो०—अथ मंगल और योग कह, जानहुँ वृत्तिनिरोध ।
अनुशासनते जानिये, प्रतिपादन चितबोध ॥

अर्थ—अथशब्द मंगलवाची और योगशब्दसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध और अनुशासन प्रतिपादन अर्थमें जानना चाहिये अर्थात् अथशब्दसे मंगलपूर्वक योगके उपयोगी साधन और सामिग्रियोंसहित योगको प्रतिपादन करते हैं ॥

भाष्य दो०—अब साधनकर सहित सब, शिक्षायोग बखान ।
अधिकारी सम्बन्ध फल, विषय चार पहिचान ॥

चौ०—जिज्ञासू अधिकारी जानो । विषय योग कह तुम अनुमानो ॥
अधिकारीके चितकी वृत्ती । करत योगसंबंध सुकृत्ती ॥
मोक्षरूप तिहिं फल अनुमानो । चहुँ अनुबंध योगकर जानो ॥
सो हम कहे सकल समुझाई । सुनतहि मिटहि सकल दुचिताई ॥

दो०—योगशास्त्रके विषयकर, लक्षण कहत सुनाय ।
सुन साधन जो करत हैं, चित्त निरोध कराय ॥

अर्थ—अब साधनसहित योगशिक्षाको कहते हैं । योगशास्त्रके चार अनुबंध हैं अधिकारी १, विषय २, सम्बंध ३ और फल ४ 'अधिकारी' को जिज्ञासू 'विषय' को योगशास्त्र 'सम्बंध' अधिकारीके चित्तकी वृत्तियां और योगके संयोगको कहते हैं और 'फल' सम्बंधका प्रभाव मोक्ष है इसके समझने और सुननेसे चित्तका दुश्चिंतन मिट जाता है. अब योगशास्त्रके विषय और लक्षण कहते हैं ॥ १ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

दो०—चितकी वृत्तिनिरोधको, योग कहत मुनिराय ।
करत योग अभ्यासके, चितनिरोधको पाय ॥

अर्थ—चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है तिस योगअभ्यास करनेसे चित्तनिरोध होता है ॥

भा. चौ०—चितकी वृत्ति रुकतहाहिं जबहीं। पावन योग कहावत तबहीं॥
द्वै प्रकारको योग कहावत । तिहिमहँ संप्रज्ञात बतावत ॥
असम्प्रज्ञात तुम दूजो जानो। तिनकी पांच भूमि अनुमानो॥
सो अब कहत सुनो सब भाई । पृथक् पृथक् वर्णहु चितलाई॥

दो०—क्षिप्र मूढ विक्षिप्त पुनि, एकाग्र और निरुद्ध ।
प्रथम तीन महँ योग नाहिं, उत्तरकी युग शुद्ध ॥
रज औ तमते तीन हैं, द्वै सतगुणते जान ।
उत्तरकी युग करतहाहिं, साक्षात मोक्ष प्रदान ॥

अर्थ–चित्तकी वृत्तियोंके रुक जानेसे पवित्र योग होता है सो योग दो प्रकारका है एक सम्प्रज्ञात दूसरा असम्प्रज्ञात तिन दोनों योगोंकी पांच भूमि हैं तिनका वर्णन पृथक् पृथक् किया जाता है उसको चित्त लगाकर सुनो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध पर इन पांचोंमेंसे प्रथमकी तीन भूमियोंमें योग नहीं होता है अगली दोनों भूमि शुद्ध हैं, क्योंकि पहली तीन तो रजोगुण और तमोगुणसे होती है और पिछली दोनों सतोगुणसे होनेसे शुद्ध और योगको उत्पन्न कर मोक्षकी देनेवाली हैं॥

चौ०–सतगुण कर एकाग्र चित्तको । तब निरोध रज तमस वृत्तिको ॥
सब अदृष्टिहू दीख परत जस । नासत क्लेश अविद्याके तस ॥
सम्प्रज्ञात कहावत सोई । केवल वृत्ति सतोगुण होई ॥
सात्विक वृत्ति निरोध होत जब । शेष रहत है संसकार तब ॥
जब नाहिं उठाह वृत्ति कोउ चितमें । असम्प्रज्ञात जानिये स्थितमें ॥
मत कोउ संशय कर मनमांही । निर्मल योग कतहुँ भ्रम नाहीं ॥
रजगुण चंचल क्षिप्त कहावत । तम आलसवश मूढ बतावत ॥
अथवा अति चंचल विक्षिप्ता । करत योगसाधन सब गुप्ता ॥

दो०–यदि कोउ अपने चित्तमहँ, संशय कर भ्रम लाय ।
त्रिगुणात्मिक वृत्ती महा, सो निरोध किमि पाय ॥

अर्थ–सतोगुणसे जब एकाग्र चित्त होता है तब सब चित्तकी वृत्तियां रुक जाती हैं उसी केवल सतोगुणी वृत्तिका नाम सम्प्रज्ञात योग है और जब सतोगुणी वृत्तियोंकाभी निरोध हो जाता है और केवल संस्कारमात्रही शेष रहजाता है और फिर चित्तमें किसी वृत्तिका उदय नहीं होता तब असम्प्रज्ञात योगकी स्थिति जाननी चाहिये इसमें कुछ संशय नहीं यही भ्रमरहित निर्मल योग है और रजोगुणसे जब चित्त चंचल होता है तब चित्तकी क्षिप्त और तमोगुणसे जब अत्यंत आलसी होता है तब मूढ अथवा चित्त अत्यंत चंचल होनेसे विक्षिप्त कहाता है यह तीनों चित्तकी अवस्था योगसाधनोंको गुप्त कर लेती हैं यदि कोई भ्रमवश ऐसा संशय करे कि वृत्तियां त्रिगुणात्मिका अपार हैं वे कैसे रुक जाती हैं तो इस संशयके निवारण करनेके निमित्त महर्षि अगले सूत्रसे समाधान करते हैं ॥ २ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

दो०-तब द्रष्टा निज रूपमें, कर स्थित सुख मान ।
पुनि न भ्रमत चित अनत कहुँ, निज स्वरूप पहिचान ॥

अर्थ-जब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब द्रष्टा अपनेही रूपमें स्थित होता है और अपने स्वरूपके चीन्ह लेनेसे उसे अत्यंत सुखकी प्राप्ति हो जाती है फिर चित्त वहीं सुख पानेसे दूसरी जगह नहीं जाता है ॥

भाष्य दो०-जैसे गुडहल पुष्पके, दूर होत भ्रम जात ।
शुद्धिरूप स्फटिकको, अपने आप दिखात ॥

अर्थ-जैसे स्फटिकके नीचेसे गुडहल पुष्पके दूर हो जानेसे गुडहलपुष्पजानित रक्तता दूर हो जाती है और स्फटिकका शुद्ध श्वेत स्वरूप भासित होता है तैसेही चित्तकी वृत्तियोंके निरोध हो जानेसे पुरुष अपन शुद्ध स्वरूपको पाय स्थित हो जाता है ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

दो०-वृत्तिनिरोध न होत जब, द्रष्टा वृत्तिस्वरूप ।
इतर अत्र ते जानिये, पृथक् रहत निज रूप ॥

अर्थ-जबतक वृत्तियोंका निरोध नहीं होता तबतक द्रष्टा अर्थात् पुरुष वृत्तियोंके स्वरूपमें मिला हुआ रहनेसे वृत्तिस्वरूपके तुल्यही प्रतीत होता है अपने निज स्वरूपसे पृथक् रहता है ॥

भाष्य दो०-जबलग रुकहिं न चित्तकी, वृत्ती महाकठोर ।
तबलग द्रष्टा वसत है, वृत्तिमाहिं कर ठोर ॥
द्रष्टामें तोहू नहीं, दोष जानिये तात ।
जैसे गुडहल पुष्पसों, स्फटिका दोष न पात ॥

अर्थ-जबतक महाकठोर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध नहीं होता तबतक द्रष्टा (पुरुष) चित्तकी वृत्तियोंमें स्थान बनाकर रहता है परंतु वृत्तियोंरूप स्थानमें रहनेसे द्रष्टा दोषभागी नहीं होता जैसे गुडहलफूलके नीचे आजानेसे स्फटिक दोषभागी नहीं होता केवल अज्ञानसे स्फटिकमें गुडहलके पुष्पकी रक्तता प्रतीत होनेसे स्फटिकको हा रक्त कहा जाता है परंतु स्फटिक सदैव शुद्ध श्वेतरूप है इसी प्रकार

वृत्तियोंके संयोगसे द्रष्टा वृत्तिस्वरूपसाही भ्रमसे प्रतीत होने लगता है वृत्तिसंयोगके रहित होनेसे द्रष्टा शुद्ध प्रतीत होता है वास्तवमें द्रष्टा सदा शुद्धस्वरूप है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

दो०—वृत्ती पांच प्रकारकी, क्लिष्टाक्लिष्ट बखान ।
तिहि निरोधते होत है, योगशक्ति बलवान ॥

अर्थ—चित्तवृत्ति पांच प्रकारकी होती है उसके क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद हैं इन वृत्तियोंके निरोध हो जानेसे योगशक्ति बलवान् होती है ॥

भा. चौ. तिनके नाम गनावत गावत । माण विपर्य्य विकल्प सुनावत॥
निद्रा स्मृति नाम कहावत । अब इनको सब अर्थ बतावत॥
राग द्वेष मोहादिक हेतू । वृत्ती क्लिष्ट दुखद जिमि केतू ॥
मोक्षप्रदा अक्लिष्टा जानहुं । रोकति क्लिष्ट वृत्ति अनुमानहुं ॥

अर्थ—तिनके नाम प्रमाण १ विपर्य्यय २ विकल्प ३ निद्रा ४ स्मृति ५ हैं राग-द्वेष मोह आदिकी उत्पन्न करनेवाली क्लिष्ट वृत्तियां हैं और इन राग द्वेष मोहादिके दूर करनेवाली वृत्तियोंको अक्लिष्टा जानना चाहिये ये अक्लिष्टा वृत्तियां साधन और वैराग्यद्वारा प्राणीको मोक्षसुखकी देनेवाली हैं ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

दो०—प्रमाण विपर्य्य विकल्प, और निद्रा स्मृति जान ।
पांच भेद चितवृत्तिकर, मुनिवर करत बखान ॥

अर्थ—प्रमाण १ विपर्यय २ विकल्प ३ निद्रा ४ स्मृति ५ यह पांच भेद चित्तकी वृत्तियोंके मुनिवर्य पातंजल कहते हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

दो०—प्रत्यक्ष अनुमान और, आगम तीन प्रमाण ।
इनते जान्यो जात है, सत्यासत्य विधान ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, आगम ३, इन तीनोंकी प्रमाण संज्ञा है इनसे सत्य और असत्य पदार्थका ज्ञान होता है ॥

भा. चौ०-इन्द्रियजन्यरहितव्यभिचाराव्यवसायात्म प्रत्यक्ष पसारा॥
पूर्व देख जस मानत तैसो। तिहि अनुमान जनावत ऐसो॥
भ्रमकर रहित सत्य जिहि ज्ञाना। तासु वाक्य आगम अनुमाना॥
तीन प्रमाण कहे समझाई। तातें सत्य ज्ञान प्रकटाई॥

अर्थ-इन्द्रियद्वारा उत्पन्न व्यभिचाररहित अर्थात् अन्यान्य ज्ञानसे रहित निश्चयात्मक जो ज्ञान है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं जैसा कि पूर्व निश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है उसी प्रकार मान लेनेको अनुमान और भ्रमरहित सत्य जिसका ज्ञान ऐसे आप्त पुरुषके वाक्यको आगम प्रमाण कहते हैं। इन प्रमाणोंके द्वारा सत्य असत्यका विवेक होता है॥ ७॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्॥ ८॥

दो०-जैसो जौन पदार्थ है, तस नहिं भासत सोइ।
मिथ्याज्ञानप्रभावते, ज्ञान विपर्य्यय होइ॥

अर्थ-जो पदार्थ जैसा है वैसा न दीखे विपरीत भासे मिथ्याज्ञान होनेसे उसे विपर्य्यय ज्ञान कहते हैं॥

भा. चौ०-संशय होत विपर्य्य विकल्पा। दोनों एकरूप संकल्पा॥
भेद कहा इन दोहूमांही। सो समुझाय कहहु मोपाही॥
मिथ्याज्ञान होत जिहिमांही। जैसे रज्जु सर्प भ्रमलाई॥
रज्जू सत्य सर्प भ्रमरूपा। ज्ञान असत्य विपर्यस्वरूपा॥
मिथ्या वस्तु विकल्पज्ञानमें। नहिं केवल विपरीति भानमें॥
मानुष शृंग सुनत जो सांचा। मान लेत निज मति भ्रम राचा॥
यद्यपि शृंग मनुष दोउ सत्या। मानुष शृंगवान नहिं सत्या॥
ताते सूत्रकार समझावहिं। उत्तर सूत्र विकल्प बतावहिं॥

अर्थ-विपर्य्यय ज्ञान और विकल्पज्ञान दोनोंकी तुल्यता प्रतीत होनेसे दोनों एकही हैं फिर विकल्प कथन करनेका क्या प्रयोजन है इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि विपर्य्यय ज्ञानमें केवल ज्ञानही मिथ्या होता है वस्तु पदार्थ सत्य होता है विकल्पमें मिथ्या ज्ञानके सिवाय वस्तुभी मिथ्या होती है जैसे रस्सीमें सर्पका ज्ञान

रस्सी सत्य पदार्थ है सर्पका ज्ञान मिथ्या है वह विपर्य्यय ज्ञान कहाता है विकल्प-ज्ञान जैसे मनुष्यके सींग सुनकर सत्य मान लेना विकल्प है यद्यपि मनुष्य सत्य है और शृंगभी सत्य है तथापि मनुष्यके सींग यह महा असत्य है इससे यह ज्ञान हुआ कि वस्तु अर्थात् मनुष्यके सींगभी मिथ्या और मनुष्यके सींग मान लेना ऐसा ज्ञानभी मिथ्या है सो जिसमें पदार्थ और पदार्थज्ञान दोनों मिथ्या हो उसे विकल्प कहते हैं इसीसे सूत्रकार आगेके सूत्रसे विकल्पका लक्षण कहते हैं ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

दो०—शब्द श्रवणते होत है, वस्तुशून्यको ज्ञान।
मुनिवर ताहि विकल्प कह, लेउ सत्य जिय मान ॥

अर्थ—शब्द सुननेसे जो शून्य वस्तुका ज्ञान हो जाता है उसे मुनिवर विकल्प ज्ञान कहते हैं इसमें वस्तुकी शून्यता और मिथ्या ज्ञान दोनों होते हैं इतनाही विपर्य्यय ज्ञानमें और इसमें भेद है ॥

दो०—जैसे शशके शृंग सुन, मान लेत जो सांच।
तिनकी बुद्धि विकल्पयुत, मणिहि बतावत कांच ॥

अर्थ—जैसे खरगोशके सींग नहीं होते और जो सुनकर खरगोशके सींगोंको सत्य मान ले और बुद्धिके विकल्पसे मणिको कांच बतावै उस बुद्धिको विकल्प कहते हैं॥९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

दो०—अखिल वस्तुको ज्ञान जब, रहत नहीं चितमाहिं।
आश्रयज्ञानअभावके, निद्रावृत्ति कहाहि ॥

अर्थ—जब संसारकी किसी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता तब ज्ञानके अभावसे वह निद्रावृत्ति कहाती है ॥

भा. चौ.-अभावहेतु तामस कह जानो। हेतुरूप प्रत्यय अनुमानो ॥
ताकों वृत्ति अलंबन करही। निद्रावृत्ति कहावत तबही ॥
जाग्रत और स्वप्नकर ज्ञाना। रहत न ज्ञान सुषुप्तिसमाना ॥
होत अभाव सकल दुख सुखको।ज्ञान रहत नहिं जीव मृतकको॥

अर्थ–अभावका कारण तमोगुणको जानना चाहिये और उस तमोगुणको जब चित्तकी वृत्ति आलंबन करती है उस समय ज्ञानका अभाव होनेसे निद्रावृत्ति होती है जाग्रत और स्वप्नका ज्ञानभी उस समय नहीं रहता और न दुःख सुख जीवन मरणका ज्ञान होता है उसीको निद्रावृत्ति कहते हैं ॥ १० ॥

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

दो०–पूरवमें जो जो विषय, करत रहे अनुभूत।
तिनको पुनि चितमें उदय, स्मृति कहत सुपूत ॥

अर्थ–पूर्वकालमें जो जो विषय अनुभूत हो चुके हैं तिनकाही फिर चित्तमें उदय हो जानेका नाम स्मृति है ॥

भा. चौ.-भूतकाल अनुभव जाहीको । स्मृतिरूप उदय ताहीको ॥
पै नहिं परअनुभवकृत जानो। निज अनुभव कर स्मृति मानो॥
वृत्तिरूप पांचों हम तोसों । कही बुझाय बूझि जो मोसो ॥
इनको जान त्याग जो देई । तब जानत आतम निज गेही ॥

अर्थ–भूतकालमें जिस पदार्थका अनुभव हो चुका है उसीका फिर चित्तमें उदय हो जानेका नाम स्मृति है परंतु परकृत अनुभवका नाम स्मृति नहीं है स्वकृत अनुभवका नाम स्मृति है इस कारणसे सूत्रमें असम्प्रमोष शब्द दिया गया है यह पांचों वृत्तियोंके स्वरूप वर्णन किये इनको जानकर इनके त्याग देनेसे अपनी आत्माको जानता है ॥ ११ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

दो०–अभ्यास और वैराग्यते, वृत्ती होत निरोध।
वृत्ति के अवरोधतें, होत आत्मकर बोध ॥

अर्थ–अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तियोंका निरोध होता है और वृत्तियोंके निरोधसे आत्मज्ञान होता है ॥

भाष्य दो०–जो वृत्ती वर्णन करीं, चितसों करत विरुद्ध।
अभ्यास और वैरागते, तिनको होत निरुद्ध ॥

अर्थ–पूर्वमें जो चित्तकी पांच वृत्तियां वर्णन की गई हैं वे सब चित्तको दुःख देनेवाली हैं उन वृत्तियोंका अभ्यास और वैराग्यसे निरोध होता है ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

दो०–निरोधादि थितके निमित, यत्न कह्यो अभ्यास ।
अनुष्ठान कर यत्नको, आत्मा करत प्रकास ॥

अर्थ–निरोध और चित्तकी स्थितिके लिये जो यत्न किया जाता है उसका नाम अभ्यास है यत्नके अनुष्ठान करनेसे आत्माका प्रकाश होता है ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः १४॥

दो०–नैरंतर सत्कारयुत, सेवित दीरघ काल ।
दृढभूमी तब जानिये, होय अभ्यास विशाल ॥

अर्थ–निरन्तर सत्कारपूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास करते करते अभ्यास बलवान और दृढ हो जाता है ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावै-राग्यम् ॥ १५ ॥

दो०–जोन जोन देखे सुने, इहामुत्रके भोग ।
तिनकी तृष्णाते रहित, वसीकार समयोग ॥

अर्थ–जो जो भोग विलास इस लोकके देखे हैं और परलोक अर्थात् स्वर्गादिके सुन रखे हैं उन सबका लालच जब मनसे जाता रहता है तब वसीकारसंज्ञा वैराग होता है ॥

भाष्य दो०–दीर्घकाल श्रद्धासहित, ब्रह्मचर्य तप साध ।
इहिं प्रकार कर चित्त दृढ, करहि न वृत्ती बाध ॥

अर्थ–बहुत कालपर्यंत श्रद्धासहित ब्रह्मचर्य और तपके साधन करनेसे चित्त दृढ निश्चल हो जाता है तब कोई वृत्ति चित्तको बाधित नहीं होती है ॥

चौ०—जो जो विषय सुने और देखे। तिनकी तृष्णा चितसों छेके॥
वसीकारसंज्ञा वैरागा। मुनिवर ताको करहि विभागा॥
यतमान व्यतिरेक जनावत। एकेन्द्रिय वसिकार बतावत॥
भोगनकी इच्छाको त्यागा। कहत ताहि यतमान विरागा॥

दो०—छांडत दृढ कर भोग सब, गृहत पूर्ण संतोष।
व्यतरेका और इन्द्रिजय, एकेन्द्रिय सम कोष॥
तीनोंके लक्षण मिलैं, वसीकार सो जान।
चार रूप वैराग्यके, तुमसन किये बखान॥

अर्थ—जो जो विषय देखे और सुन रक्खे हैं उन सबका लालच जब मनसे जाता रहै उसे वसीकार वैराग्य कहते हैं वह चार प्रकारका होता है १ यतमान २ व्यतिरेक ३ एकेन्द्रिय ४ वसीकार इसमें सर्व भोगोंकी इच्छाका त्याग यतमान और दृढपूर्वक सब भोगोंको त्यागकर पूर्ण संतोष धारण कर लेनेका नाम व्यतिरेक और इन्द्रियोंको जीत लेनेका नाम एकेन्द्रिय है और इन तीनोंके सब लक्षण जिसमें मिले उसे वसीकार वैराग्य कहते हैं यह चारों वैराग्यके रूप वर्णन किये गये हैं॥ १५॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १६॥

दो०—निजस्वरूपके ज्ञानते, गुणतृष्णा मिट जात।
प्रकटत परवैराग्य तब, पुरुष भिन्न दिखरात॥

अर्थ—जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है तब तीनों गुणोंसे उत्पन्न हुआ भया विषयोंका लालच मिट जाता है और परवैराग्य प्रकट हो जाता है तब पुरुष अर्थात् आत्मा सबसे भिन्न प्रतीत होने लगता है॥

भा. चौ.-पूरव कह्यौ अपर वैरागा। अब परवैराग्य सुनहुं जिय लागा॥
रज तम सत्व विषयकी तृष्णा। नास होत वैराग वितृष्णा॥
जासे पुरुष धर्म कर ज्ञाना। धर्ममेघसंज्ञा सोइ जाना॥
पुरुषख्याति अथवा वसिकारा। उपजत गुण वैतृष्ण पसारा॥

दो०—तीनों गुणके विषयकी, तृष्णा तनक न होय।
आत्मा ब्रह्मानन्दसुख, मगन रहत है सोय॥

अर्थ–पूर्वमें अपर वैरागको कहकर अब परवैराग्यको कहते हैं। जब सत्वगुण रजोगुण तमोगुणके विषयोंकी तृष्णा नाश हो जाती है तब वितृष्णासंज्ञा वैराग्य होता है उससे पुरुषधर्मका ज्ञान होता है इसी पुरुषधर्मकी धर्ममेधसंज्ञा जाननी चाहिये संस्कृतमें इसका भाव यह है कि धर्मका विशेष सिंचनको धर्ममेध कहते हैं अर्थात् कैवल्यस्वरूप अशुक्ल अकृष्ण कर्मोंका विशेष सिंचन धर्ममेध कहाता है। जब तीनों गुणोंके विषयोंकी किंचित्भी तृष्णा नहीं होती तब आत्मा ब्रह्मानंदके सुखमें डूबा रहता है॥ १६॥

वितर्कविचारा ऽऽनन्दास्मितारूपा ऽनुगमात्संप्रज्ञातः॥ १७॥

दो०–वितर्क विचार आनन्द और, अस्मितादि चहुँ रूप।
संप्रज्ञात विरागके, जानहु चार स्वरूप॥

अर्थ–वितर्क १ विचार २ आनन्दा ३ अस्मिता ४ ये चार रूप संप्रज्ञात योगके जानने चाहिये॥

भाष्य दो०–अब हम सम्प्रज्ञातको, तुमसन कहत विचार।
असम्प्रज्ञातहू कहत हैं, भवदुख टारनहार॥

चौ०–सम्प्रज्ञात चतुर्धा जानो। वितर्क विचार अनन्दा मानो॥
अस्मितारूप चतुर्थ बखानहु। संप्रज्ञात भेद मन मानहु॥
जो जन लक्ष वेधिवो चाहै। वाहिकर धनुष बाण ताकि ताहै॥
प्रथम स्थूल लक्ष कह वेधै। तदुपरि सूक्ष्म लक्ष्यको छेधै॥

दो०–स्थूल धारणा करत हैं, प्रथमहि योगी मीत।
तासे सुगमहिं लेत हैं, सूक्ष्म धारणा जीत॥

अर्थ–अब सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों वैराग्योंको कहते हैं सो संप्रज्ञात योग वितर्क १ विचार २ आनंदा ३ अस्मिता ४ रूप चार प्रकारका होता है जैसे निशाना मारनेवाले अभ्यासी पुरुष प्रथम स्थूल निसानेको वेधना सीखते हैं जब स्थूल निशाना वेधना आ जाता है तब सूक्ष्म निशाना लगाते हैं इसी प्रकार योगी

प्रथम स्थूल धारणा करै स्थूल धारणाके पूर्ण हो जानेसे फिर सूक्ष्म धारणाभी सुगम हो जाती है ॥

दो०—उत्तम ध्यान विराटको, स्थूलरूपमें जान।
तदुपर राम औ कृष्ण प्रभु, करहि विष्णुको ध्यान ॥

चौ०—साक्षात्कार होय इनका जब। पूरण भयो वितर्क योग तब ॥
ताके पाछै सूक्ष्मयात्रा। ध्यान करहि पांचौं तन्मात्रा ॥
तिनको साक्षात्कार भयेपर। कहत विचार योगसाधनकर ॥
इन्द्रियनको जो साक्षात्कारा। योगानन्दस्वरूप अपारा ॥

दो०—पुरुषबुद्धिकी होत जब, तन्मयता सुखखान।
योग अस्मिता जानिये, सत्तामात्र सुजान ॥

अर्थ—इसलिये योगीको प्रथम स्थूलरूप जो विराट है उसका ध्यान करना उत्तम है इसके सिद्ध हो जानेपर शनैः शनैः राम तथा कृष्ण अथवा विष्णुके स्वरूपका ध्यान करै जब इनका पूर्ण साक्षात् रूप दीखने लग जावै तब वितर्कयोगकी पूर्णता जाननी चाहिये और इसके अनंतर सूक्ष्म रूप जो शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध पंचतन्मात्रा तिनका ज्ञान विचारद्वारा सिद्धि हो जानेको विचारयोग कहते हैं इसके अनन्तर इन्द्रियोंका ध्यानद्वारा साक्षात्कार होजानेका नाम आनंदयोग है इसी प्रकार जब पुरुष और बुद्धिकी तन्मयता एकरूप हो जाना अर्थात् बुद्धिसे यह प्रतीत न होना कि मैं कौन हूं और किसका ध्यान करता हूं ध्येयाकार होजानेका नाम अस्मिता योग है इसमें केवल सत्तामात्र भासित होती है ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

दो०—पूर्व कथित जो भावना, तिनके होत अभाव।
संस्कारके शेषते, असम्प्रज्ञात कहाव ॥

अर्थ—प्रथम जो भावना अर्थात् वृत्तियां कही गई हैं तिनके अभाव होजानेपर जब संस्कार मात्र बाकी रह जाता है उसीको असंप्रज्ञात और परवैराग्य कहते हैं ॥

भाष्य दो०—वृत्तिनको जु अभाव है, ताको कहत विराम।
प्रत्ययकारण जानिये, है विराम अस नाम ॥

करत योग अभ्यासके, शेष रहत संस्कार ।
असम्प्रज्ञात सुजानिये, परवैराग्य विचार ॥

चौ०—सम्प्रज्ञातके संस्कार जब । देत मिटाय राखि अपने सब ॥
ताहीको निर्बीज समाधा । मुनिवर कहहिं जिनन यह साधा ॥
तासे सब कर्मनके बीजा । नास होत पातक सब छीजा ॥
असम्प्रज्ञात कहतहहिं वाको । दुइ प्रकारको मारग ताको ॥

अर्थ—वृत्तियोंके अभावको विराम और कारणको प्रत्यय कहते हैं सो जो वृत्तियोंके अभावका करनेवाला जिसमें केवल संस्कार मात्र शेष रहता है उसको असंप्रज्ञात और परवैरागभी कहते हैं ॥

दो०—एक त्याग भव दुखद है, दूजो जानो ग्राहि ।
दुखप्रदको त्यागन करे, सुखप्रद अंग लगाहि ॥

अर्थ—तिन दोनोंमें एक दुःख देनेवाला त्यागनीय और दूसरा सुख देनेवाला ग्रहण करने योग्य है तिनमें त्यागनीयको प्रथम कहते हैं । जब असंप्रज्ञात वैराग होता है तब सम्प्रज्ञात वैरागके सब संस्कार मिट जाते हैं इसीको मुनीश्वर निर्बीज समाधिभी कहते हैं इससे सर्व कर्मोंके बीजोंका नाश होकर निष्पाप हो जाता हैं इस असम्प्रज्ञात योगके दो भेद हैं वह आगे सूत्रकार कहते हैं ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

सो०—प्रकृतिमाहिं जे लीन, सो विदेह पहिचानिये ।
जन्म मरण आधीन, भवप्रत्ययके वश भये ॥

अर्थ—जिस योगीका चित्त प्रकृतिमें लीन होता है वह विदेह कहाता है उसको भवप्रत्यय कहते हैं भव नाम संसारका है और प्रत्ययनाम कारणका है सो विदेह योगीका जन्ममरणरूप संसार नहीं छुटता क्योंकि यह प्रकृतिलय विदेहयोग भवसागरका कारण है इससे वह त्यागनीय है ॥

भाष्य दो०—भवप्रत्ययके रूपको, प्रथम कहत हम तोहि ।
संप्रज्ञातको पायकर, प्रकृति लीन जो होहि ॥

ताको भवप्रत्यय कहत, करत अविद्या हानि।
डारत भवके कूपमें, त्याग देहु छति जानि॥

अर्थ—अब भवप्रत्ययात्मक जो सम्प्रज्ञातका भेद है उसे कहते हैं। जब चित्त प्रकृतिमें लीन हो जाता है प्रकृतिमें लीन होनेसे विदेहभी कहाता है जो विदेह प्रकृतिलय है उसको भवप्रत्यय होता है इसका कारण अविद्या है यह भवप्रत्यय संसृतिके कूपमें डाल देता है इससे योगी इसको क्षति जानकर त्याग कर देवे १९॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूवक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दो०—तज विदेह और प्रकृतिलय, पृथक योगिजन जोइ।
ताको श्रद्धा वीर्य और, स्मृतिसमाधितें होइ॥

अर्थ—विदेह और प्रकृतिलयको छोडके अन्य योगियों अर्थात् मुमुक्षुपुरुषोंको श्रद्धा वीर्य स्मृति और समाधिसे मुक्ति प्राप्ति होती है॥

भा.चौ.—मोक्षइच्छु पहिले श्रद्धा कर। वीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञावर॥
प्रथमहिं होय सात्विकी श्रद्धा। तासे वीर्य यत्न परिसिद्धा॥
यत्न करहि संयम नियमादिक। उपज तासु स्मृति ध्यानादिक॥
ध्यानते निपजत सत्य समाधा। ताते प्रज्ञा होत अबाधा॥

दो०—प्रज्ञाके अभ्यासवश, हुइ है संप्रज्ञात।
याही संप्रज्ञाततें, परवैराग्य समात॥
याही क्रमते होत है, यत्नप्रज्ञा पर्यंत।
ताहीको मुनिवर कहत, हेतु उपाय अनन्त॥

चौ०—संसकार पूरव चलि आवै। तब उपाइ प्रत्ययको पावै॥
त्रिविधि उपाय करत अनयासा। मृदु और मध्यधिमात्र सुवासा॥
इन तीनोंके चय त्रिय जानो। मृदु और मध्य तीव्र अनुमानो॥
याही क्रमते मध्याधिमात्रा। जानहुं नव प्रकारकी मात्रा॥

दो०—चिरचिरतर और क्षिप्रतर, सिद्धी प्रापति होय।
शीघ्र शीघ्र तर शीघ्रतम, सिद्धी पावहि सोय॥

पूरवके संस्कारवश, सिद्धी पावैं जोइ ।
जैसो जाको यत्न है, तैसो पावत सोइ ॥
अब हम तीव्र सवेगको, कहत सुनो चितलाय ।
तीव्रवेग वैरागको, और अधिमात्र उपाय ॥
अधिमात्रसंवेगते, शीघ्रही मिलत समाधि ।
असंप्रज्ञातकें मिलतही, पावत मोक्ष अबाधि ॥

अर्थ–मुमुक्षुको प्रथम श्रद्धा होती है श्रद्धासे वीर्य अर्थात् प्रयत्न अर्थात् यम नियमादिक साधनद्वारा स्मृति अर्थात् ध्यान और ध्यानसे प्रज्ञा दृढ होती है प्रज्ञा अर्थात् सत्यसमाधिसे संप्रज्ञातयोग प्राप्त होता है इसी प्रकार श्रद्धासे लेकर प्रज्ञा-पर्यंतको मुनीश्वर यत्न और उपाय कहते हैं। पूर्वके संस्कारसे जैसा जिसका संस्कार होता है तैसेही उपायप्रत्ययको पाता है। उपाय प्रत्यय तीन प्रकारका होता है १ मृदु, २ मध्य, ३ अधिमात्र, इसी क्रमसे प्रत्येकके तीन तीन भेद हैं इस क्रमसे नव प्रकारके योगी होते हैं १ मृदुसंवेग, २ मध्यसंवेग, ३ तीव्रसंवेग ४ मध्य-मृदुसंवेग, ५ मध्यमध्यसंवेग, ६ मध्यतीव्रसंवेग, ७ अधिमात्रमृदुसंवेग, ८ अधि-मात्रमध्यसंवेग, ९ अधिमात्रतीव्रसंवेग जैसा जिसका उपाय होता है चिरकाल और चिरतरकाल और चिरतमकालमें अथवा क्षिप्र क्षिप्रतर क्षिप्रतम देरमें तथा बहुत देरमें वा सबसे जादा देरमें वा जल्दी बहुत जल्द सबसे जल्द सिद्धि प्राप्त हो जाती है २०

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

दो०–श्रद्धा आदिकयत्नते, तीव्र होत वैराग ।
ताको फल शीघ्रही मिले, पाव मोक्षकर भाग ॥

अर्थ–इसमें जिस योगीका अधिमात्र उपायका तीव्र संवेग होता है उसे असंप्रज्ञात समाधिद्वारा बहुतही जल्दी मोक्षप्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

दो०–तीव्रवेगवैरागते, मृदुमध्याधिकमात्र ।
शीघ्र शीघ्रतर शीघ्रतम, है विशेष फलदात्र ॥

अर्थ–तीव्रसंवेग वैरागते मृदुमध्याधिक मात्र विशेष है क्योंकि मृदुतीव्रसंवेग, मध्यतीव्रसंवेग, अधिमात्रतीव्रसंवेग जल्द जल्दतर सबसे जल्द जानना चाहिये ॥

भा. चौ.–मृदु मध्याधि कहत अब मात्रा। पूरवसे उत्तर अधिमात्रा॥
मृदुल तीव्र संवेग योगसों। मध्य तीव्र संवेग अधिक सो॥
जो अधिमात्र तीव्र संवेगा। सबसे अधिक जानतेहिं वेगा॥
जाको जैसो होत उपाई। सो तस शीघ्र पाव फल भाई॥

अर्थ–मृदु, मध्य, अधि ये तीनों पूर्वसे उत्तरके अधिक फल देनेवाले हैं जैसे मृदुतीव्रसंवेगसे मध्यतीव्रसंवेग अधिक है और मध्यतीव्रसंवेगसे अधिमात्रतीव्रसंवेग अधिक है सो जैसा जिसका प्रयत्न होता है वह वैसी जल्दी सिद्धि पाता है॥२२॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ २३॥

दो०–अथवा ईश उपासना, शीघ्रहि मिलत समाधि।
दृढपूर्वक धारण किये, मिटत सकल जगव्याधि॥

अर्थ–अथवा ईश्वरके प्रणिधानसे शीघ्रही समाधि मिलती है जो दृढपूर्वक ध्यान करता है उसकी संसृतिरूपी व्याधि मिट जाती है।

भा. दो–कायिक वाचिक मानसी, चित चिन्तन कर जास।
ताको लक्षण कहत अब, ईश्वर करे प्रकाश॥

अर्थ–काया मन और वाणीसे जिसका चिन्तवन करना चाहिये उस ईश्वरके लक्षणोंको सूत्रकार कहते हैं कि उस ईश्वरके प्रकाशको उन लक्षणोंसे जानना चाहिये २३॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ २४॥

दो०–क्लेशकर्मफलरहित जो, आशय सुखदुखहीन।
असंबद्ध जो पुरुष है, ईश्वर जानहु चीन॥

अर्थ–क्लेश, कर्मफल और अविद्या सुख दुःखसे जो रहित और सब बंधनोंसे रहित है वह ईश्वर है॥

भा. चौ.-कर्म विपाक क्लेश और आशय इनते रहित पुरुष परकाशहि॥
अस्मिता अविद्या राग और द्वेषा। अभिनिवेश यह पञ्च कलेशा॥

कर्म अधर्म धर्म तिनके फल । तिनते रहित ईश आते निर्मल ॥
ईश्वरके लक्षण यह जानहु । तिहिंकर ध्यान हृदयमें ठानहु ॥

अर्थ–कर्मविपाक अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके फल और अविद्याजानित सुखदुःखरूप बंधनोंसे जो रहित अस्मिता अविद्या राग द्वेष और अभिनिवेश यह पंच क्लेश धर्माधर्मकर्मोंके फलसे रहित निर्मल निष्कलंक ईश्वरका लक्षण है इन लक्षणोंसे संपन्न ईश्वरका ध्यान दृढपूर्वक करे ॥ २४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

दो०–यथातथ्य सर्वज्ञता, बीज ईश कह जान ।
निरअतिशय सोइ जानिये, नून्याधिक नहिं मान ॥

अर्थ–जैसा चाहिये वैसा न्यून्याधिकतासे रहित ईश्वर सर्वज्ञताका बीजरूप है अर्थात् सर्वज्ञ है उससे विशेष कोई और सर्वज्ञ नहीं है इसीसे ईश्वर निरातिशय सर्वज्ञताका बीज है ॥

भा. चौ.-तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजा । करत अर्थ पातक सब छीजा ॥
जासे अधिक अन्य नहिं कोई । ताते नाम निरतिशय होई ॥
जाकर ज्ञान निरतिशय होई । अति सर्वज्ञ कहावत सोई ॥
न्यून्याधिक जहां ठहरत नाहीं । ज्ञाननिरतिशय ताके माहीं ॥

अर्थ–अब निरतिशय सर्वज्ञबीज इस सूत्रका अर्थ करते हैं कि जिसके जान लेनेसे पातकोंका नाश होता है जिसका ज्ञान निरतिशय होता है वही सर्वज्ञताका बीज है निरतिशयशब्दका यह भाव है कि जिससे न तो न्यून कहनेमें आ सके और न अधिक कहा जा सके ऐसे स्थानको निरातिशय कहते हैं सो ईश्वर इस प्रकार सर्वज्ञताका बीज है कि उससे सर्वज्ञतामें न तो कोई कम है और न कोई जादा है अर्थात् यथार्थ सर्वज्ञ है ॥ २५ ॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

दो०–कालते अवछिन्न नहिं, तिहिं कारणते ईश ।
ब्रह्मा आदिकको गुरू, गावत जाहि मुनीश ॥

अर्थ—कालके भेद अर्थात् तीनों कालसे रहित सदा एकरस रहनेवाला होनेसे ब्रह्मा विष्णु शंकर आदिकका भी गुरु है क्योंकि ब्रह्मा आदिक सब कालावच्छिन्न हैं अर्थात् उत्पत्तिविनाशवान् हैं ॥

भाष्य दो०—जो कहु संशय होय अस, हरि शिवादि उपदेश।
ता कारणते कहत अब, सूत्रकार आदेश ॥

छंद०—सो ईश है तिनसों अधिक जिन पूर्वमें सिद्धी लही।
काल और परिमाणसों जो है रहित गुरुता गही ॥
सो पूर्व सिद्धनको गुरू जिहि काल अवछेदन करे।
पूर्वके योगीश शिव हरि कालके आश्रित परे ॥
काल और परिमाणसों है रहित सो गुरु सर्वको।
आधीन है सब कालके परिणामवश कर सर्वको ॥
तस्य वाचक प्रणव अरु ओंकार जाको नाम है।
ताहि जपकर अर्थ भावन आतमा सब ठाम है ॥

अर्थ—जो कदापि ऐसा संशय होय कि ईश्वर, ब्रह्मा तथा विष्णु अथवा शिवका नाम है इस संशयके समाधानके निमित्त सूत्रकारने यह सूत्र कहा है कि वह ईश्वर उन सबकाभी गुरु है जिन्होंने पूर्वमें सिद्धि प्राप्ति की है क्योंकि ईश्वर काल और परिमाणसे रहित है इससे गुरुरूप हैं इसीसे वह पूर्व सिद्धोंका भी गुरु है पूर्वके योगीश ब्रह्मा-विष्णु शिवादि सब कालके आश्रय रहे हैं और ईश्वर काल और परिमाण आदिसे रहित निराश्रय होनेसे सबका गुरु है संपूर्ण कालके आधीन हैं और परिणामके वश है सिवाय एक ईश्वरके कि जिसका नाम ॐकार है इससे इस नामको अर्थसहित भावना कर जप करना चाहिये ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

दो०—प्रणव कहत ॐकारको, है ईश्वरको नाम।
सुमिरणते सब दुख कटत, चित्त लहत विश्राम ॥

अर्थ—प्रणवनाम ॐकार परमेश्वरका नाम है इस नामके सुमिरणसे सर्व दुःखोंका नाश होकर चित्त विश्रामको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

दो०–ओंकारजप अर्थयुत, अर्थअनुरूप स्वरूप ।
ईश्वरकी कर भावना, भासत रूप अनूप ॥

अर्थ–ॐकारशब्दका अर्थ विचारता हुआ अर्थके अनुसार रूपका ध्यान करता भया जप करनेसे अनुपम ईश्वरका स्वरूप भासित होता है ॥

भा. चौ०–अ उ म त्रयवर्णसंयोगा । प्रकट भयो ओंकार प्रयोगा ॥
विष्णु विराट अग्नि अकारा । हेमगर्भ शिवतेज उकारा ॥
ईश्वर प्राज्ञ प्रकृतिमय जानो । ओंकारकर भेद बखानो ॥
अर्थविचार जपइ जो कोई । ईश प्रकट ताके जिय होई ॥

अर्थ–अ उ म इन तीन अक्षरोंके संयोगसे ॐ शब्द बना है अकारसे विष्णु विराट और अग्निका ग्रहण है, उकारसे हिरण्यगर्भ शिव और तैजस और मकारसे ईश्वर प्रकृति और प्राज्ञ जानना चाहिये सो इस अर्थकी भावना करता हुआ जप करनसे उसके हृदयमें ईश्वर प्रकट हो जाता है ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

दो०–ईश्वरके प्रणिधानतें, होत आतमा भान ।
आन्तरीय सब विघ्नको, तब अभाव पहिचान ॥

अर्थ–ईश्वरके ध्यानसे आत्माका दर्शन होता है तब संपूर्ण अंतरके विघ्नोंका अभाव हो जाता है ॥

भाष्य दो०–चेतनको जब होत है, साक्षात्कार अनंत ।
विघ्ननाश और क्लेशहत, होत महा निश्चिंत ॥

अर्थ–जब चेतन आत्माका प्रकाश होता है तब सब विघ्न और क्लेशोंका नाश होनेसे महानिश्चिंत हो जाता है फिर कुछभी चिन्ता नहीं रहती ॥ २९ ॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

दो०—चितविक्षेपक नव कहे, विघ्न महाबुलरूप।
योगविघ्नहू जानिये, ते डारत भवकूप॥
व्याधि स्त्यान अरु संशय, और प्रमाद आलस्य।
अविरति भ्रांति अरु दर्शन, अलब्धभूमिको पस्य॥
अनवस्थित नव जानिये, विघ्न महाबलवानु॥
इनते छूटहि हरिकृपा, योगउदय जिमि भानु।

अर्थ—चित्तके विक्षेप करनेवाले तो विघ्न महापापरूप हैं वेही योगमेंभी विघ्न डालनेवाले हैं अपने प्रभावसे संसृतिसे रहित नहीं होने देते हैं भवसागरमें डाल देते हैं इनके नाम आगे लिखे जाते हैं व्याधि १, स्त्यान २, संशय ३, प्रमाद ४, आलस्य ५, अविरति ६, भ्रांतिदर्शन ७, अलब्धभूमिकत्व ८, अनवस्थितत्व ९, ये नव विघ्न महाबलवान् हैं इनसे योगी ईश्वरकी कृपाहीसे छूटता है तब योग पूर्ण होता है॥

भा. छंद—वात पित्त कफ धान्यरसं। विषयेन्द्रिय मानहु व्याधिवसं॥
मन चाहत कर्म समर्थ नहीं। तिहि स्त्यान कहत मुनिव्यास सही॥
संशय भ्रमत्यागन योग सदा। योगांगनप्रीत करै प्रमदा॥
गरुताकर तन मन करै वसं। तब जानहु आलस त्रास वसं॥
विषयारस विरति विलासवसं। मन भ्रांति भये अन्यान्यलसं॥
नहिं भूमि समाधि हुलासअसं। अनवस्थित चित नव विघ्न यसं॥
वर्णन किये विघ्न सबै दुखदा। ते करन उपद्रव मोक्ष विदा॥
सो जरत जन्म मरण विपती। तिहिं ज्ञान कृपाण कराहि निवृती॥

अर्थ—वात, पित, कफ, अन्नादिके रससे तथा विहारादिसे इन्द्रियोंकी विषमताद्वारा किसी व्याधिकी उत्पत्ति हो जानेको व्याधि कहते हैं और जिस कर्मके करनेको मन तो चाहे परंतु उसके करनेकी सामर्थ्यका न होना स्त्यान कहाता है। जिसकी सत्यता वा असत्यतामें भ्रम हो उस भ्रमके होनेको संशय और योगके अंगोंमें प्रीतिका न होना प्रमाद, शरीर और चित्तकी गरुताईसे चित्तको आरामी होजानेसे आलस होता है, विषयोंके रसके विलासमें प्रीति होनेका नाम विरति है, यथार्थरूपका ज्ञान न होकर औरका औरही प्रतीत होना भ्रांतिदर्शन, समाधिमें चित्तका न लगन अलब्धि भूमि और समाधिमें चित्त लगकर स्थिर न रहनेका नाम अनवस्थितत्व है,

ये नव विघ्न दुःखके देनेवाले मोक्षमार्गमें उपद्रव करके मोक्ष नहीं होने देते और जन्ममरणरूप विपत्तिमेंही डाले रखते हैं इन नवों विघ्नोंको ज्ञानके खड्गसे काटकर निवृत्त करना चाहिये ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दो०—दुख दुर्मन और अङ्गजय, श्वास और प्रश्वास ।
सहकारी विक्षेपके, सङ्गहि करत प्रकाश ॥

अर्थ—दुःख वैर अंगोंका कंप श्वास प्रश्वास ये सबभी व्याधि आदिकके सहकारी अर्थात् उपद्रवरूप हैं ॥

भाष्य दो०—दुख दुर्मन और अङ्गजय, श्वास और प्रश्वास ।
साथ रहत विक्षेपके, कहहिं चित्तमें वास ॥

चौ०—शारीरिक दुख व्याधि कहावत । कामादिक मानस बतरावत ॥
व्याघ्र आदिते उत्पति भौतिक । ग्रहपीडादुख जानो दैविक ॥
इच्छा पूरण जब नाहिं होई । दौर्मनस्य तुम जानहु सोई ॥
इच्छाविना जो कंपत अंगा । अंगमेजय तिहिं नाम अभंगा ॥

दो०—पूरक रेचकके विना, श्वासा आवत जात ।
श्वास और प्रश्वास दोउ, विघ्नमाहिं समात ॥

अर्थ—दुःख, दुर्मन, और अंगमेजय, श्वास, प्रश्वास ये सब विक्षेपों अर्थात् विघ्नोंके साथ रहते हैं क्योंकि ये सब विघ्नोंके अंतरमेंही समाये हुए और चित्तमें वास करते हैं । शारीरिक दुःख व्याधि कहाता है और कामादिकको मानसिक कहते हैं । दोनोंके इन्हीं अध्यात्मिकभी कहते हैं व्याघ्र आदिकसे उत्पन्न भये दुःखका नाम भौतिक और ग्रहपीडाका नाम दैविक दुःख है जब इच्छा पूर्ण नहीं होती तब द्वेष अर्थात् दौर्मनस्य होता है विना इच्छाके अंगोंका कांपना अंगमेजय और विना पूरक रेचकके श्वासका आवागम श्वास प्रश्वास कहाता है ये सब विक्षेप अर्थात् नवों विघ्नोंके अंतरमें समाये हुए रहते हैं ॥ ३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

दो०-तिनके प्रतिषेधन निमित, एकत तत्व अभ्यास।
ईश्वर एक उपासना, करत विघ्न सब नाश ॥

अर्थ-तिन विघ्नोंके नाशके निमेत्त एकतत्व जो ईश्वर है उसकी उपासना और ध्यान करनेसे संपूर्ण विघ्नोंका नाश हो जाता है ॥

भा. दो.-तत्प्रतिषेधन करन हित, एक ईशको ध्यान।
नासत विघ्न विपति सब, लेहु सत्य जिय मान ॥
चित्त शुद्धिकर हेतु सब, और एकाग्र विधान।
उत्तर सूत्र मुनिवर कहत, कर देखहु अनुमान ॥

अर्थ-तिन विघ्नोंके दूर करनेके हित एक ईश्वरका ध्यान करनेसे संपूर्ण विघ्नोंकी विपत्तियोंका नाश हो जाता है यह सत्य मानना चाहिये अब चित्तकी शुद्धिके कारण चित्तकी एकाग्रताका उपाय आगेके सूत्रस महर्षि कहते हैं अनुमान द्वारा जान सक्ते हैं कि यह उपाय चित्तकी शुद्धि और चित्तकी एकाग्रताका परम कारण है ॥ ३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

दो०-सुखिपनते मैत्री करहि, दुखिपन करुणा मूर।
पुण्यात्माते हर्ष अरु, अघ उदास भरिपूर ॥
इहिं प्रकार साधन करे, चित्त लहत आनन्द।
सब जगसों हिलमिल रहै, पावत परमानन्द ॥

अर्थ-सुखी पुरुषोंसे मित्रता और दुखियोंपर बहुतही दया, पुण्यात्माओंसे हर्ष पापियोंसे उदासीन, उदासीनका यह अर्थ है कि न तो प्रीति हो और न द्वेष हो सममावसे वर्ताव करनेका नाम उदासीन है इस प्रकारके साधन करनेसे चित्त प्रसन्न रहता है इससे संपूर्ण संसारसे हिलमिलके रहनेसे परमानन्द प्राप्त होता है ॥

भा. दो.-सुखियनते मैत्री करत, ईर्षा मल जरजांय।
दुखियनपर करुणा करे, सब अपकार विहाय ॥

धर्मनते हर्षित रहे, होत असूया ध्वंस।
उदासीन पापी विषें, करत क्रोधकर भ्रंस॥

चौ०—इहि प्रकार रजतमकी करणी। होत निवृत्ति पाँव सतसरणी॥
शुद्धि सतोगुणकर चित वासा। होइ प्रसन्न मन योग प्रकाशा॥
होत प्रकाश मिटहि अज्ञानू। तिमिर नाश जिमि प्रकटत भानू॥
होत प्रकाश भेद भ्रमनाशा। सत्य पदारथ करत प्रकाशा॥

अर्थ—इस प्रकार साधन करनेसे रजोगुणतमोगुणकृत रागद्वेषादिका नाश होकर चित्त सतोगुणी कृत्योंमें लवलीन होता है सतोगुणके प्रकाशसे चित्तकी प्रसन्नता और योगका उदय होता है तिस प्रकाशसे अज्ञान ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यके प्रकाशसे अंधकार नाश होता है अज्ञानके नाश और ज्ञानके प्रकाशसे संपूर्ण भेद और भ्रमका नाश होकर यथार्थ पदार्थ प्रकाशित होता है॥ ३३॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

दो०—प्रछर्दन और विधारणा, प्राणवायुको जीत।
चित स्थित और स्वस्थ कर, आनंद पावत मीत॥

अर्थ—इस मैत्री आदि यत्नके सिवाय रेचक प्राणायाम अर्थात् भीतरसे वायुको नासापुटद्वारा निकालकर रोक लेनेका नाम विधारणा है सो रेचक करके प्राणवायुकी धारणा करनेसे चित्त स्थित और स्वस्थ होकर आनन्दको प्राप्त होता है॥

भा. चौ.-प्रछर्दन और विधारणप्राण। कर अभ्यास चित्त विश्रामा॥
प्राणवायु नासापुटद्वारा। रेचन नाम कहत निरधारा॥
ताहीको बाहर अतिरुद्धा। कहत विधारण नाम विशुद्धा॥
द्वितीय उपाय पतंजलि गायो। मन थिर कर सब भेद बतायो॥

अर्थ—रेचक प्राणवायुको बाहर रोके रहनेका नाम विधारणा है सो विधारणाके अभ्याससे चित्तको विश्राम होता है प्राणवायुको नासाके छिद्रोंद्वारा बाहर निकालनेका नाम प्रछर्दन और उसीको बाहर रोके रहना भीतर न जाने देनेका नाम विधारणा है इस विधारणासे चित स्थिर हो जाता है॥ ३४॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ३५॥

दो०—औरों कहत उपाय अब, विषयावती सुगंधि ॥
चितकी वृत्ति निवृत्ति कर, मनको राखत बाँधि ॥

अर्थ—औरभी उपाय अब चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका कहते हैं कि विषयवती प्रवृत्तिके उत्पन्न हो जानेसेभी चित्त स्थिर हो जाता है ॥

भा. चौ.—नासिकाग्र संयम जे करई । साक्षात् होत सुगंधी तबहीं ॥
जिह्वा अग्र मध्य और मूला । रसस्पर्श शब्द अनुकूला ॥
हुइ प्रसन्न संयम अभ्यासा । विषयवती जननी विश्वासा ॥
शास्त्र कथित अनुभव कर जोई । श्रद्धायुत चित स्थिर होई

अर्थ—नासिकाके अग्रभागमें संयम करनेसे सुगंधिका साक्षात् होता है जिह्वाके अग्रमें संयमसे रस, मध्यमें संयमसे स्पर्श, मूलमें संयमसे शब्दका साक्षात्कार होनेसे इसका नाम विषयवती प्रवृत्ति है । इससे जब सुगंधि आदिकका साक्षात्कार हो जाता है तब विश्वास हो जाता है कि सूक्ष्म पदार्थमेंभी संयम किया जावेगा तो उसकाभी साक्षात् हो सक्ता है इस विश्वाससे अत्यंत सूक्ष्म जो ईश्वर है उसमें मनको जोडकर साक्षात् करानेसे यहभी चित्तकी स्थिति करनेवाली है अथवा शास्त्रमें कहे हुए किसी अनुभवसेभी योगीकी प्रवृत्ति ईश्वरमें होती है और ईश्वरका साक्षात् होनेसे मोक्ष होती है इसीसे विषयवती प्रवृत्तिभी मोक्षका एक उपाय है ॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

दो०—विशोका वा ज्योतिष्मती, चित्त स्थिरकर मूल ।
दुखहर करत प्रकाश अरु, संवित प्रवृति अभूल ॥

अर्थ—विशोका और ज्योतिष्मती यह दोनों रूप संवित्के हैं विशोकासे दुःखोंका नाश होकर शोकरहित होता है जोतिष्मतीसे प्रकाशकी प्राप्ति होती है ॥

भाष्य दो०—हृदय मध्य जो कमल है, ताहि अधोमुख जान ।
रेचकतें कर ऊर्धमुख, सुषमन संयम मान ॥
मनकर संवित होत है, जस स्वरूप कर ध्यान ।
सूर्यचंद्र उडुगणनकी, ज्योति परत पहिचान ॥

चौ०-ताके भेद युगम कर जानो। ज्योतिष्मती विशोका मानो॥
ज्योतिष्मती प्रकाशक मानो। दुखहर नाम विशोका जानो॥
ज्योतिष्मती विशोका संगा। मन स्थिर कर हेतु अभंगा॥
ताते उपजत अचल समाधा। साधक सुखद मोक्ष कर साधा॥

अर्थ-हृदयके बीचमें जो अधोमुख कमल है उसे रेचक वायुसे ऊर्ध्वमुख करके सुषुम्नानाडीमें संयम करनेसे मनमें संवित् अर्थात् एक प्रकारका प्रकाश उत्पन्न होता है उससे मनहीमें सूर्य चन्द्र और तारागणोंकी ज्योतिका प्रशाश होता है उस संवित्के दो भेद है जोतिष्मती और विशोका जोतिष्मतीसे प्रकाश विशोकासे सपूर्ण दुःखोंका नाश होता है यह ज्योतिष्मती और विशोका प्रवृत्ति जब मनमें भर जाती है तब मन स्थिर हो जाता है इसीसे ये दोनों मनकी स्थिरताका कारण है मनके स्थिर हो जानेसे समाधि अचल होती है इसका साधन साधकको मोक्षसुख देनेवाला है॥ ३६॥

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

दो०-अथवा रागविहीन चित, मन थिर करन उपाय।
रागसहित चित होत जब, कबहुँ न थिरता पांय॥

अर्थ-अथवा चित्तका रागरहित होनाभी चित्तकी स्थिरताका उपाय है रागसहित चित्त कभी स्थिर नहीं होता है॥

भा. चौ.-अथवा वीतराग शुक व्यासा। तिनको भाव चित्त परकासा॥
वीतराग चित जस वैरागा। तस वैराग रहत चित पागा॥
रागरहित चित सुखकर मूला। वीतजात सब संसृतिशूला॥
यावत सुख दुःख सकल सिराने। लहत मुक्ति ईश्वर पहिचाने॥

अर्थ-अथवा वीतराग जो शुकदेवजी व व्यासजी तिनका भाव जो वैराग है वह चित्तमें समाय जाय तब रागरहित चित्त होनेसे संपूर्ण जन्म मरण आदिक जो संसृतिके शूल हैं मिटकर ईश्वरके पहिचाननेसे मुक्तिसुखको पाता है॥ ३७॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा॥ ३८॥

दो०-यथा स्वप्न निद्राविषै, आलम्बन चित होय।
मन थिरताकर विषय यह, मानहु दृढ कर सोय॥

अथ-जैसे निद्रामें स्वप्न विषयके आलंबन करनेसे चित्त स्थिर होता है और निद्रा अर्थात् सुषुप्ति अवस्था है उसमें जैसे सुखदुःखोंसे चित्त रहित हो जाता उसी प्रकारकी भावनाज्ञानको चित्तमें धारण करनेसे चित्त स्थिरताको प्राप्त होता है । इसीसे स्वप्नज्ञानका आलंबन और सुषुप्तिज्ञानका आलंबन करनेसे योगीके चित्तकी स्थिरता होनेको कहा गया है ॥

भाष्य दो०-जैसे स्वपनेमाहिं कोउ, मूर्ति मनोहर देख ।
तन्मय होइ चित चाहकर, तेज पदारथ पेख ॥
जैसे ज्ञान सुषुप्ति नाहिं, सुख दुख कवनेहुँ भांति ।
तैसे मन निश्चित कर, निद्रालंबन शांति ॥

अर्थ-जैसे स्वप्नमें किसी तेजवान् तथा मनोहर मूर्तिको देखकर चित्त तन्मय हो जाता है और सुषुप्तिमें दुःखसुखसे रहित होनेसे शांति पाता है इस प्रकारसे मनको निश्चित करनेसे चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

यथाऽभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

दो०-अथवा अभिमत ध्यानते, मन निश्चलता होय ।
चित चाहै जिहि वस्तुको, तिहि ध्याये थिर होय ॥

अर्थ-अथवा अभिमत ध्यानसे मनकी निश्चलता होती है अभिमतध्यान अर्थात् जिसको चित्त चाहे उसका ध्यान करनेसे मन निश्चल हो जाता है ॥

भाष्य दो०-अथवा अभिमत ध्यानते, चित एकागर होय ।
जाको चित चाहै तिही, ध्याये थिरता सोय ॥

अर्थ-जिस वस्तुमें अधिक प्रीति होती है उसकी चित्तमें चाह होती है इसीका नाम अभिमत है उस अभिमत वस्तुके ध्यानसे चित्त चंचलतारहित स्थिर हो जाता है ॥ ३९ ॥

परमाणुपरमहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

दो०-पूरव उक्ति उपायते, चित्त स्थिर अस होइ ।
आते सूक्ष्म स्थूलको, सुगम लेत है जोइ ॥

अर्थ—पूर्व कहे भये उपायोंसे मन ऐसा स्थिर हो जाता है कि अतिसूक्ष्म परमाणुतक और स्थूलसे परम महान् जो विराट उसकाभी ज्ञान सुगमतासे प्राप्त कर लेता है ॥

भा. छंद०—सूक्ष्मते परमाणु यावत् स्थूल परम महत्वलों ।
अंत इनलों जानिये वशिकार संज्ञक चित्तलों ॥
सूक्ष्म और स्थूल दोनों कोटिमें चित नहिं रुके ।
कहुँ राग प्राप्ती होत नहिं बस भये पर वशिकारके ॥
वशिकारको फल जानिये परिपूर्ण चित स्थिर भयो ।
पुनि कर्म और अभ्यासकी कछु होत नहिं इच्छा कह्यो ॥
जब चित्त थिरता लहत तब पाव कैसे रूपको ।
कहत सो समुझाय अब सुनहु विषय अनूपको ॥

अर्थ—सूक्ष्मसे परमाणुतक और स्थूलसे परम महत्वतक ज्ञान होनेकी अवधि है जब चित्त वश हो जाता है तब यहांतक उसकी ज्ञानगति हो जाती है सूक्ष्म और स्थूल दोनों कोटिमें फिर चित्त किसी रागको पाकरभी नहीं रुकता है इस वशिकारका यही फल है कि इससे चित्त दृढ स्थिर हो जाता है फिर उसको कर्म और अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं रहती जब चित्त स्थिरताको प्राप्त हो जाता है तब उसका कैसा रूप होता है इस अनुपम विषयको सूत्रकार आगे कहते हैं ॥ ४० ॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

दो०—क्षीणवृत्तिकर चित्त जब, स्वच्छ होत मणिरूप ।
जिहिं उपाधि अनुरक्तचित, भासत तिहिं अनुरूप ॥
गृहीत ग्रहण और ग्राह्यमें, जहां चित स्थित होइ ।
तिहिं समान भासन लगत, समापत्ति कह सोइ ॥

अर्थ—जब चित्तकी वृत्तियोंका नाश हो जाता है तब चित्त स्वच्छमणिरूप प्रकाशित होता है फिर जिस उपाधिमें वह चित्त लग जाता है तब उसीके तुल्य प्रतीत होने लगता है ग्रहीता अर्थात् ग्रहण करनेवाला ग्रहण ग्रहण करना ग्राह्य वह पदार्थ

जो ग्रहण किया जाय इन तीनोंमें जहां चित्त स्थित हो जाता है उसीके समान चित्त प्रतीत होने लगता है वही समापत्ति कहाती है ॥

भा.चौ.—शुद्ध स्फटिकतुल्य चित ऐसो। जस संग मिलहि होत तब तैसो
रज तम वृत्तिहीन सतरूपा। ग्रहीतृ ग्राह्य और ग्रहणस्वरूपा॥
सूक्ष्म स्थूल ग्राह्य अनुमानो। और ग्रहीतृ कर्ता पहिचानो॥
ग्रहण करण इन्द्रियकहँ पायो। तदाकार होय रूप दिखायो॥
सूक्ष्ममें सूक्ष्म आभासै। स्थूलरूप स्थूल प्रकासै॥
इन्द्रियमें इन्द्रियकर रूपा। पुरुषमाहिं वस पुरुषस्वरूपा॥
समापत्तिकर रूपदिखायो। जैसो भाष्यकार समुझायो॥
साधनतें चित निर्मल होई। जस पदार्थ तस भासत सोई॥

दो०—जासु वस्तुमें शुद्ध चित, संयम करहि दृढाय।
तौन वस्तु ह्वै जात चित, संप्रज्ञात समाय॥

अर्थ—जब चित्त शुद्ध स्फटिक तथा मणिके तुल्य हो जाता है तब उसका जिसके साथ संयोग होता है उसीके तुल्य प्रतीत होने लगता है रजतमवृत्तियोंके रहित होनेसे चित्तके बल सतोगुणसे शुद्ध होता है तब उसको कर्ता करण और कर्मका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् ध्याता ध्यान और ध्येय आदि किसीका बोध न होनेसे वह तन्मय अर्थात् तुल्यरूप हो जाता है यहां पुरुष कर्ता इंद्रियां करण अर्थात् ग्रहण और सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ ध्येय जानना चाहिये सो शुद्ध चित्त सूक्ष्ममें सूक्ष्म स्थूलमें स्थूल इन्द्रियोंमें इन्द्रियां पुरुषमें जाकर पुरुषरूप हो जाता है जैसा कि समापत्तिका रूप भाष्यकारने कहा है, कह गये साधनद्वारा चित्त ऐसा निर्मल हो जाता है कि जैसे पदार्थको देखे उसका वैसाही स्वरूप हो जाता है अर्थात् जैसे दर्पणके सामने जो वस्तु आ जावेगी उस वस्तुका यथार्थ प्रतिबिम्ब दर्पणमें पडनेसे दर्पण उसके रूपके तुल्य रूपवाला हो जाता है तैसेही मणिके समान शुद्ध चित्तके सामने जो पदार्थ आ जावे चित्त उसीके तुल्य भासित हो जाता है ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सो०—शब्द अर्थ अरु ज्ञान, पृथक् पृथक् तीनों अहैं।
सम्मीलित त्रय जान, सवितर्का समापत्तिमें॥

अर्थ-शब्द अर्थ और ज्ञान ये तीनों जुदे जुदे हैं जब शब्द अर्थ और ज्ञान तीनों मिल जाते हैं तब सवितर्का समापत्ति कहाती है ॥

भाष्य दो०-याहीते मुनिराजने, समापत्ति ठहराय।
सवितर्का समापत्तिको, गावत व्यास दृढाय ॥

चौ०-समापत्ति सवितर्का भेदा। शब्द अर्थ अरु ज्ञान अखेदा ॥
धेनुशब्दसंज्ञाकर जानो। वाचक शब्द अर्थ अनुमानो ॥
शब्द अर्थ अरु ज्ञान यथारथ। नाम ज्ञानतें जान पदारथ॥
योगिनकहँ समाधिके माही। शब्द और अर्थ ज्ञान प्रकटाई॥

दा०-योगीको अभ्यासवश, होत पृथक् सब ज्ञान।
शब्द अर्थ अरु ज्ञानसों, संकीर्णा अनुमान ॥

अर्थ-इससे मुनिराज पातंजलिने इसका नाम समापत्ति कहा है और श्रीमहर्षि-व्यासजीने इसको दृढपूर्वक समझाया है जैसे धेनु शब्द है यह धेनुशब्द गौ अर्थात् गायवाचक होनेसे धेनुशब्दका अर्थ गो है और शब्द अर्थ दोनोंके बोधको ज्ञान कहते हैं सो जिसमें यह तीनों मिले हुए हों वह सवितर्क समापत्ति कहाती है। यद्यपि विकल्पसे यह तीन है तथापि विना विभागके इससे १ गोमात्रका ग्रहण होता है परंतु जिस समाधिमें इन तीनोंका पृथक् २ बोध हो उसको संकीर्णा अर्थात् शब्द अर्थ ज्ञान इन तीनोंका संयुत ज्ञान होता है अर्थात् ये तीनों अलग २ भासित होते हैं इसीको सवितर्का समापत्ति कहते हैं ॥ ४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये वाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

दो०-स्मृतिकी परिशुद्धितें, रहत नहीं कछु याद।
नहिं जानत निज रूपसो, भासत अर्थ अबाद ॥
निर्वितर्कको पायकर, केवल भासत ध्येय।
ध्याता ध्यान न भास कछु, होत स्मृती हेय ॥

अर्थ-स्मृतिके परिशुद्धि हो जानसे अर्थात् याददास्त न रहनेसे अपने रूप-कोभी नहीं जानता केवल उसको अर्थमात्र अर्थात् पदार्थमात्र भासित होता है

इसका यह अभिप्राय है कि वह यहभी नहीं जानता है कि मैं कौन हूं और क्या करता हूं ध्याता और ध्यानकाभी ज्ञान न होनेसे उसका चित्त ध्येयाकार हो जाता है इसीको निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं ॥

भा. चौ.-स्मृतिको परिशुद्ध स्वरूपा। शून्य समान अर्थ अनुरूपा ॥
ताते व्यास कहत निर्वितर्का। भगिनी समापत्ति सवितर्का॥
स्मृतिरहित ज्ञान जब होई। ध्येयस्वरूप होत चित सोई ॥
शब्द अरु अर्थ कछू नाहिं भासै। केवल ज्ञान ध्येय परकाशै॥

दो०-ध्याताको नहिं रहत जब, किंचित अपनो ध्यान।
मैं ध्याता हुइ ध्येयको, धारत हों चित ध्यान ॥

अर्थ-जब स्मृति परिशुद्ध होती है तब अर्थमात्रस्वरूपसे शून्य भासित होता है अर्थात् जब स्मृति याददास्तसे रहित होता है तब उस योगीका चित्त ध्येयाकार हो जाता है उसको शब्द अर्थ आदिका कुछ बोध नहीं होता केवल वह ध्येयाकार हो जाता है यहभी ज्ञान नहीं रहता कि मैं ध्याता हूं और किसका ध्यान करता हूं सो स्मृतिके रहित होनेसे चितका ध्येयाकार हो जानेको निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं यह स्थूल समापत्ति कहाती है ॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

दो०-सवितर्का निर्वितर्कसम, सविचार निविचार।
स्थूला पहिली जानिये, पिछली सूक्ष्म सम्हार ॥
पंचभूत परमाणु अरु, देश काल गंधादि।
भान होत सविचारमें, सूक्षम विषय अनादि ॥
निर्विचार भासत रहै, शून्य अर्थ अनुरूप।
सब विकल्पकर रहित जो, भासहि सूक्ष्म स्वरूप ॥

अर्थ-सवितर्क निर्वितर्कके समानही सविचार और निर्विचार दो समापत्ति और होती हैं। पहली दोनों सवितर्क व निर्वितर्क स्थूल समापत्ति है और सविचारा निर्विचारा सूक्ष्मविषयक जानना चाहिये। सविचारा समापत्तिमें पंचभूत पृथिवी जल तेज वायु आकाश और पांचों तन्मात्रा शब्द स्पर्श रूप रस गंध देश काल सूक्ष्म विषयों-

का ज्ञान होता है । निर्विचार समापत्तिमें अर्थमात्र शून्य स्वरूपका भान होता है सर्व विकल्पोंसे रहित होनेसे अर्थमात्र भासित नहीं होता शून्य स्वरूपका ज्ञान होता है इसीसे निर्विचार समापत्ति कहाती है ॥

भा. चौ.-स्थूलासमापत्ति यह जानो । अब हम सूक्ष्म कहत अनुमानो॥
याहीके समान सविचारा । दूजी नाम जान निविचारा ॥
पंचभूतको सूक्ष्म स्वरूपा । देश काल संयुक्त अनूपा ॥
परमाणू गंधादिक मात्रा । भान होत सविचार सुयात्रा ॥

दो०-निर्विचारमें भासहहि, शून्य अर्थ अनुरूप ।
सब विकल्पको छांडकर, भासत सूक्ष्म स्वरूप ॥

अर्थ-पूर्व कथित सवितर्का आदि जो समापत्ति कही गई हैं ये स्थूला है अब सूक्ष्म समापत्तिका वर्णन किया जाता है इन्ही स्थूला समापत्तिके समान सविचारा निर्विचारा सूक्ष्मसमापत्ति है सविचारा समापत्तिमें पृथिवी आदिक पंचभूत वा शब्दादिक पंचतन्मात्रा और देशकालका ज्ञान होता है और निर्विचारमें अर्थमात्रका शून्य स्वरूप भासित होता है ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्य्यवसानम् ॥ ४५ ॥

दो०-सूक्ष्म विषयकी अवधिगत, जानहु प्रकृतिपर्यंत ।
प्रकृति अलिंगसमान अरु, सूक्ष्म विषयकर अंत ॥

अर्थ-सूक्ष्मविषयकी गतिकी अवधि प्रकृतितक जाननी चाहिये प्रकृति अलिंगरूप है और सूक्ष्म विषयोंकी अवधि अर्थात् हद है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजा समाधिः ॥ ४६ ॥

दो०-समापत्ति जो पूर्वमें, कथन करीं हम चार ।
सोई सबीज समाधि है, जानहु सत्यविचार ॥

अर्थ-जो पूर्वमें चार समापत्ति कही गई हैं उन्हींका नाम सबीज समाधि जानना चाहिये ॥

भा. चौ०—तिहिंको जान सबीज समाधा।अष्ट रूप इनके मुनि साधा॥
सवितर्क निवितर्क विचारा । निर्विचार चहु रूप पसारा ॥
सानंदाअसानंद असास्मिता । अष्टम जानहु रूप अस्मिता॥
आठौं भेद सबीज समाधा । निर्विचार अब सुनहु अबाधा॥

अर्थ—इन्हींका नाम सबीज समाधि है इसके आठ रूप मुनियोंने कहे हैं सवितर्क १, निर्वितर्क २, सविचार ३, निर्विचार ४, सानंदा ५, असानंदा ६, असास्मिता ७ और सास्मिता ८ ये आठ भेद सबीज समाधिके जानने चाहिये अब निर्विचार समापत्तिको कहते हैं ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

दो०—निर्विचार समाधिमें, जबहि विशारद होय ।
अधिआत्मा परिसाद और, निखिलज्ञानयुत सोय ॥

अर्थ—जब निर्विचार समाधिमें प्रवीण हो जाता है तब आत्मा प्रसन्न होता है और संपूर्ण स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है ॥

भा. चौ.-निर्विचार जब होत प्रकट अस । तब उद्योत अध्यात्मकेर रस॥
रज तम मल मिट जात यथारथ। होत ज्ञान वैराग्य पदारथ ॥
तिहि प्रभाव अध्यात्म प्रसादा । मिटत सकल रज तम सप्रमादा ॥
शुद्धि बुद्धि रविसरिस प्रकाशा । गुप्त प्रकट जस तस सब भासा ॥

अर्थ—जब निर्विचारा प्रकट होती है तब आत्मामें प्रकाश होता है रजोगुण तमोगुणके मल दूर हो जानेसे यथार्थ वैराग्य और यथार्थ वैराग्यके होनेसे आत्मा प्रसन्न होता है और बुद्धिका सूर्यके तुल्य प्रकाश होता है तब योगीको गुप्त प्रकट जहां जो वस्तु हो सबका साक्षात्कार होने लगता है ॥ ४७ ॥

ऋतंभरेति तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

दो०—अध्यात्मा परसादते, बुद्धी होत अनूप ।
ऋतंभरा प्रज्ञा सोई, शुद्धिबुद्धि अनुरूप ॥

अर्थ–आत्माके प्रसन्न होनेसे बुद्धि अत्यंत निर्मल हो जाती है उसीका नाम ऋतंभरा प्रज्ञा जानना चाहिये ॥

भा. दो०–ऋतंभरा प्रज्ञा विषैं, सत्यज्ञान परतीत ।
श्रवण और अनुमानते, पृथक् कहावत मीत ॥

अर्थ–ऋतंभराप्रज्ञासे सत्यज्ञान होता है यह श्रुतप्रज्ञा और अनुमानप्रज्ञासे पृथक् है ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

दो०–श्रवण और अनुमानते, ऋतंभरा अति भिन्न ।
प्रज्ञा अर्थ विशेषके, करत विदित सब चिह्न ॥

अर्थ–श्रुतप्रज्ञा और अनुमानप्रज्ञासे ऋतंभरा प्रज्ञा अति भिन्न है श्रुतप्रज्ञा आदिसे अर्थमात्रका ज्ञान होता है और अनुमानप्रज्ञासे अनुमान किया जाता है इसलिये अनुमानज्ञानभी श्रुतप्रज्ञाके समान होनेसे ये दोनों सामान्य है और ऋतंभरा प्रज्ञा इनसे अधिक है क्योंकि उससे सत्य भ्रमरहित ज्ञान होता है ॥

भा. चौ०–श्रुतप्रज्ञा वेदनकर ज्ञाना । प्रज्ञा अनुमान ज्ञान अनुमाना॥
इन दोउनतें पृथक कहावत । ऋतंभरा प्रज्ञा अस गावत ॥
श्रुत अनुमान ज्ञान जो होई । सो सामान्य कहत सब कोई॥
ऋतंभरा निर्भ्रम चित होई । सत्यज्ञान आकर है सोई ॥

दो०–वेद और अनुमानते, ज्ञान होत सामान ।
ऋतंभरातें होत है, सत्यपदारथ ज्ञान ॥

अर्थ–श्रुतप्रज्ञा वेदोंके ज्ञानका नाम है और अनुमानप्रज्ञा अनुमानज्ञानका नाम है ऋतंभराप्रज्ञा इन दोनोंसे पृथक् ज्ञानभी चाहिये श्रुतप्रज्ञा और अनुमानप्रज्ञासे सामान्य ज्ञान होता है और ऋतंभराप्रज्ञासे भ्रमरहित सत्य ज्ञान होनेसे ऋतंभराप्रज्ञा इन दोनोंसे विशेष होनेके कारण पृथक् जाननी चाहिये ॥ ४९ ॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी ॥ ५० ॥

दो०–ऋतंभराते होत जो, संस्कार अति शुद्ध ।
प्रतिबंधक है अन्यको, जे संस्कार अशुद्ध ॥

अर्थ–ऋतंभरा प्रज्ञासे सब संस्कार शुद्ध हो जाते हैं और फिर अशुद्ध संस्कार उत्पन्न नहीं होने देती है इससे अशुद्ध संस्कारोंकी प्रतिबंधक है ॥

भा. दो०–ऋतंभराते उपज जो, संस्कार अतिशुद्ध।
रोकत दुख संस्कार सब, डारत जो न अशुद्ध ॥

अर्थ–ऋतंभरा प्रज्ञासे अत्यंत शुद्ध संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं और दुखदाई अशुद्ध संस्कारोंका निरोध हो जाता है फिर दुखदाई अशुद्ध संस्कारोंका चित्तमें उदय नहीं होता है ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

दो०–ऋतंभरा संस्कारहू, जब निरोधको साधि।
सब निरोधतें होत है, तब निर्बीज समाधि ॥
पुनि निर्बीज समाधिते, जीवनमुक्ती होत।
नाशत दुख उत्कर्ष सब, सुख स्वरूप लह जोत ॥

अर्थ–जब ऋतंभरा प्रज्ञाकाभी निरोध हो जाता है तब निर्बीज समाधि जाननी चाहिये तिस निर्बीज समाधिसे जीवन्मुक्त होता है तब दुःख सब नाश होकर सुख-स्वरूप ज्योतिको पाता है ॥

भा. दो०–ऋतंभराके रुकतही, पावै सर्व निरोध।
उपजत है निर्बीज तब, पावत मोक्ष प्रबोध ॥
निजस्वरूपमें आपही, रहत मगन अतिहर्ष।
पूरण सुखको लहत सो, नासत दुख उत्कर्ष ॥
मुनिवरचरणसरोजकी, कृपाकटाक्ष प्रभाव।
रामबकस पूरण कियो, पादसमाधि सुभाव ॥

अर्थ–ऋतंभराके रुकतेही सर्व निरोध हो जाता है सर्व निरोध होनेसे निर्बीज समाधि कही जाती है इस निर्बीज समाधिके द्वारा योगी मोक्षको पाता है जब निर्बीज समाधि दृढ हो जाती है तब वह योगी अपने स्वरूपमेंही अत्यंत आनंदको पाकर मग्न रहता है और उसके सर्व दुख उत्कर्ष नष्ट होकर पूर्ण सुख जो जीव-

न्मोक्ष है उसे प्राप्त कर लेता है। श्रीमन्महर्षिपातंजलिके चरणकमलकी कृपासे मुझ रामबक्ससे यह समाधिपादका सुन्दर भाष्य पूर्ण किया गया है ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जलियोगशास्त्रभाषाभाष्ये श्रीमत्पंडितगुरुदयालस्यात्मजपंडित-रामबक्सविरचिते समाधिपादः प्रथमः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ साधनपादप्रारंभः।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

दो०—श्रीमत्पातञ्जलिचरण, शीस नाय कर जोरि।
भाषाबंध सुछन्द कर, साधनपाद बहोरि ॥
क्रियायोगके रूप अब, जानहु तीनि अनूप।
तप स्वाध्याय और ईशको, दृढ प्रणिधानस्वरूप ॥

अर्थ—क्रियायोगके तीन रूप हैं १ तप, २ स्वाध्याय, ३ ईश्वरप्रणिधान ॥

भा. चौ.-तप स्वाध्याय ईशप्रणिधाना। क्रियायोग शुचि करत बखाना॥
सत्य वचन मित भोजन देवा। गुरुकुल ब्रह्मचर्य्य कर सेवा ॥
आश्रमधर्म नियम कर साधन। सहत कलेश होत अतिपावन॥
मोक्षशास्त्र और जप ओंकारा। कर स्वाध्याय होत भव पारा ॥

दो०—फलकी इच्छा छांडकर, जो कछु कर शुभ कर्म।
ईश्वरमें अर्पण करहि, सो प्रणिधान अभर्म ॥
क्रियायोगको अर्थ जिमि, सो अब करत बखान।
प्राप्ती करहि समाधिकी, नाशत क्लेश महान ॥

अर्थ—तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, तीन प्रकारका क्रियायोग होता है सत्य बोलना, मित भोजन करना, देवता गुरु तथा गुरुकुलकी सेवा करना, ब्रह्मचर्य्यका साधन करना, आश्रमोंके धर्मोंको नियमानुकूल साधन करनेसे कष्टोंको सहारना पवित्र तप कहाता है। मोक्षशास्त्र और ओंकारका जप स्वाध्याय प्राणीको भवसागरसे

पार कर देता है। जो जो शुभ कर्म करे उनके फलकी इच्छा न करके ईश्वरमें अर्पण करे और भ्रमरहित होकर ईश्वरका ध्यान करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है अब क्रियायोगके प्रयोजनको कहते हैं जिससे क्लेशोंका नाश होकर समाधिकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

दो०—क्रियायोग पूरण भये, सिद्धी होत समाधे।
क्लेशहु सूक्ष्म होत सब, सहज मिटत जगव्याधि ॥

अर्थ—क्रियायोगके पूर्ण हो जानेसे समाधिसिद्धि होती है और संपूर्ण क्लेशभी सूक्ष्म हो जाते हैं क्लेशोंके सूक्ष्म होजानेसे सांसारिक व्याधियोंसे छूट जाता है ॥२॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥ ३ ॥

दो०—अविद्यास्मिता राग अरु, द्वेष महा बलवान।
अभिनिवेश मिल पांचहूं, क्लेश सकल दुखखान ॥

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश यह पांचों क्लेश महादुःखकी खान हैं ॥

भा. चौ.-अविद्यास्मिता राग अरु द्वेषा। अभिनिवेश यह पंच कलेषा॥
यह सब कर्मबंध दृढ करहीं। अरु परिणाम पाप चित चरहीं ॥
जाति आयु और भोगनिरूपा। ये त्रय कर्म विपाक स्वरूपा ॥
तिनमें दुखप्रद मूल अविद्या। नाश होत पावहि सतविद्या ॥

अर्थ—अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, अभिनिवेश ५ यह पांच क्लेश कर्मबंधनोंको दृढ करके चित्तमें परिणामोंको स्थापन कर विचरते हैं। जाति, आयु और भोग ये तीनों कर्मके विपाक अर्थात् फल हैं इन पांचों क्लेशोंमें दुखदाई सब क्लेशोंकी मूल अविद्या है इसके नाश हो जानेसे सद्विद्या प्राप्त होती है जो मोक्षका कारण है ॥ ३ ॥

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

दो०—एक अविद्या छांडिकर, अस्मितादि जो चार।
तिनके भेद प्रसुप्ततनु, और विछिन्न उदार ॥

सो०—सब क्लेशनकी मूल, एक अविद्या जानिये ।
उपजावत सब शूल, क्षेत्रनुरूप स्वरूप धरि ॥

अर्थ—एक अविद्याको छोडकर अस्मितादि जो चार क्लेश हैं उनके प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार चार भेद हैं अविद्या सब क्लेशोंकी मूल है जैसे क्षेत्रमें बीज पडनेसे नाना वस्तु उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार अविद्या क्षेत्ररूप होकर संपूर्ण क्लेशोंको उत्पन्न करती है ॥

भा० दो०—अविद्याके उत्तर रहत, अस्मितादि जे चार ।
तिनकी उत्पति भूमि है, अरु कारण निरधार ॥
अस्मितादि प्रत्येकके, भेद कहे जो चार ।
कर विचार प्रसुप्त और, तनु विछिन्न उदार ॥

छंद०—योगीश रहित विवेकते लय होत प्रकृती माहिं सों ।
शयन सम रह क्लेश तिनके नसत बीज न योगसों ॥
विना ब्रह्मज्ञानके अंकुरित समयो पायके ।
तप होत इन्द्रिय अर्थ सब जैसे सुषुप्ती आयके ॥
ज्ञानशक्ती जोनसो चैतन्य स्थित रहत है ।
जगे पर सब इन्द्रियनके विषय रसको गहत है ॥
प्रकृतिलय योगीनके सब क्लेश चितमें सुप्त हैं ।
समयको सो पाय प्रकटत होत जो चित गुप्त है ॥
करत साधन दृढ कियाके क्लेश तनु हुइ जात सब ।
सर्वथा नाहिं नाश तिहिं अंकुरित समयो पाय तब ॥

दो०—विषयी पुरुषनकेर दुख, होत विछिन्न उदार ।
राग होत जिहि कालमें, क्रोध क्षीण निरधार ॥
जोन समयमें क्रोधको, होत उदारस्वरूप ।
राग क्षीण हुइ जात सब, समय समय अनुरूप ॥

अर्थ—जो योगी विवेकसे रहित होकर प्रकृतिमें लय होते हैं उनके क्लेशोंका बीज नाश नहीं होता उनके क्लेश सोये हुएके समान रहते हैं विना ब्रह्मज्ञानके जब समय

पाते हैं तभी उदय हो जाते हैं जैसे सुषुप्तिअवस्थामें इन्द्रिय और अर्थ सबका लय हो जाता है और जागने पर सब इन्द्रियां अपने २ विषयरसको ग्रहण करने लग जाती हैं इसी प्रकारसे प्रकृतिमें लय हुए योगियोंके चित्तमें सब क्लेश सोये हुएक तुल्य रहते हैं वे सर्व क्लेश समय पायके तुरतही प्रगट हो जाते हैं सो वे सब क्लेश क्रियायोगसे क्षीण हो जाते हैं परंतु सर्वथा उनका नाश नहीं होता जब समय पाते हैं प्रकट हो जाते हैं विषयी पुरुषोंके क्लेश विच्छिन्न और उदार होते हैं जिस समय राग उदार होता है क्रोध क्षीण हो जाता है और जिस समयमें क्रोधका उदार स्वरूप होता है राग क्षीण हो जाता है इसी प्रकार अपने २ समयके अनुसार क्षीण और उदार होते रहते हैं॥

चौ.—जबहि क्रोध धर रूप उदारा। करत प्रीतिको छीण पसारा॥
प्रीतिकालमें क्रोध न होई। क्रोधसमयमें प्रीति न सोई॥
सांसारिक वस्तुनके मांही। प्रीति रागकृत जान तहांही॥
तिनके माहि विकार और हानी। देख अंत दुख दाता मानी॥
द्वेष वैरकर तिनके मांहीं। दुखद जान नहिं प्रीति करांही॥
इहि प्रकार चारोंके भेदा। जानहु अस्मितादि जे खेदा॥
मुक्ति दशामें ज्ञान पायकर। नाशत क्लेश अविद्याके घर॥
मुक्ति दशा सो इनतें न्यारी। जानहु परमानंद महतारी॥

अर्थ—जब क्रोधका उदार रूप होता है तब प्रीति अर्थात् रागका क्षीण विच्छिन्न रूप होता है अर्थात् क्रोधसमयमें प्रीति नहीं होती है और प्रीतिकालमें क्रोध नहीं होता और न क्रोधसमयमें प्रीति होती है। सांसारिक जिस वस्तुमें राग सुख होता है उसीमें प्रीति होती है और जिसमें विकार और हानि तथा दुःख समझता है उसमें द्वेष बैर अर्थात् क्रोध होता है दुखदाई जाननेसे उनमें राग अर्थात् प्रीति नहीं होती मुक्तिदशामें ज्ञान होनेसे अविद्या अर्थात् अज्ञानकृत क्लेशोंका नाश हो जाता है सो यह मुक्तिदशा इनसे अलग है और परमानन्द अर्थात् मोक्षसुखकी उत्पन्न करनेवाली है यह अस्मितादिक चारोंके भेद वर्णन किये गये हैं॥ ४॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्या-तिरविद्या॥ ५॥

दो०—अनितमें नित मान है, और अशुचिमें शुचि जान।
दुःखहूमें सुख मानत, देह आत्मा ज्ञान॥
होत विपर्यय ज्ञान इमि, तबहि अविद्या आय।
करत रहत उत्पात नित, विन वैराग्य न जाय॥

अर्थ—अनित्यमें नित्य और अशुचिमें शुचि दुःखमें सुख और अनात्मा जो देह उसमें आत्मबुद्धिका होना अविद्याका लक्षण है जब ऐसा विपरीत ज्ञान होता है तब अविद्या प्रकट होकर उत्पात करती है यह अविद्या विना वैराग्यके नाश नहीं होती है॥

भा. दो०—प्रथम अविद्याके कहों, लक्षण पृथक् बखान।
अशुचि अनित्य अनात्मदुख, शुचि नितात्मसुखमान॥
इहि प्रकार जब होत है, बुद्धी परम विरुद्ध।
तबहि अविद्या जानिये, उपजी महा अशुद्ध॥

छं०—सूर्य्य आदि अनित्यको जो मान नित सेवन करैं।
तिमिहि नित सुख स्वर्गके सम जान साधन दुख गरैं॥
अस जान मुनिवर कहत इमि जे अनितमें नित ख्यात है।
विचार कर देखो महा अपवित्र सबको गात है॥
मल मूत्र और कफ रुधिरको ग्रह अशुचि व्रणभंडार सो।
तिहि धोय जलसों बाह्य मल सब पूर्ण कर शृंगारसो॥
कामिनीको देखकर मन मान अंग सुढार यों।
कमलदल सम नयन बांके बोल कोकिलनारि ज्यों॥

दो०—जैसे त्रियको रूप लखि, पुरुष मोह वश होय।
तैसे तिरिया पुरुषके, रूप देख वश सोय॥

चौ.-अशुचिमाहि शुचिख्यात कहावत। संसृतिके दुख सुखसम भावत॥
दुखमें सुख जानत है जोई। दुखमें सुःख कहावत सोई॥

तनको जो आत्मा कर मानत । अनआत्मा आत्मा कर जानत॥
अनआत्मा आत्माकर ख्याता । रूप अविद्याकर विख्याता ॥

दो०—कोउ ऐसो जिन जानियो, विद्याकेर अभाव ।
जो विद्या होती नहीं, तो किम ज्ञान प्रभाव ॥

अर्थ—प्रथम अविद्याके लक्षण वर्णन किये जाते हैं अशुचि, अनित्य, अनात्म, दुःख आदिमें शुचि नित्य आत्म सुख मानना अविद्याके लक्षण हैं जब बुद्धि इस प्रकार विरुद्ध हो जाती है तबही अविद्याका उदय जानना चाहिये जो सूर्य आदिक अनित्यको नित्य मानकर सेवन करते हैं और स्वर्गादि सुखको नित्य समझके उसके साधनसे कष्ट उठाते हैं इसीको महर्षि अनित्यमें नित्य ख्याति ऐसा कहते हैं और विचारके द्वारा देखा जाय तो सबका शरीर अपवित्र है क्योंकि कफ मूत्र रुधिरका घर और अशुद्धिताका भंडार है तिस अपवित्र शरीरके बाहरके मलोंको जलसे धोकर पूर्ण शृंगारको किये भये कामिनीको देखके उसके अंगोंकी सुघडता कमल-रूपी नेत्र और कोकिलकी स्त्री कोकिलाकी वाणीके समान उसकी वाणीको सुन पवित्र जानकर मन मान लेता है सो जैसे स्त्रीके रूपको देखके पुरुष वश हो जाता है उसी प्रकार पुरुषको देखकर स्त्री मोहित हो जाती है यही अशुचिमें शुचिख्याति कहाती है इसी प्रकार संसृतिके दुःखोंको सुखके समान मानता है यह दुःखमें सुख माननेका नाम दुःखमें सुखख्याति है शरीरको आत्मा करके जाननाही अनआत्मामें आत्माका मानना है इसीको अनात्मामें आत्मख्याति जानना चाहिये ये सब अविद्याके रूप हैं इससे ऐसा नहीं जानना चाहिये कि विद्याका अभाव है सो यदि विद्या नहीं होती तो ज्ञानका भाव कैसे होता है ज्ञानका भाव होनेसे विद्याका होना स्पष्ट है ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दो०—एक और दर्शन शक्तिको, एकभाव जब होय ।
तबहि अस्मिता जानिये, देत महादुख सोय ॥
एकशक्ती है पुरुषकी, दर्शन बुद्धी जोइ ।
एक आत्म जब होत दोउ, जान अस्मिता सोइ ॥

अर्थ—दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक भाव होजानेको अस्मिता कहते हैं यह

अस्मिता महादुखदाई जानना चाहिये दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति बुद्धि है जब पुरुष और बुद्धि एकरूप हो जाते हैं उसे अस्मिताक्लेश कहते हैं ॥

भा. छंद-पुरुष है दृगशक्ति दर्शन शक्ति बुद्धी लखत जे।
नित्य अत्मा सुखी बंधनरहित पाप अधर्मते ॥
बुद्धि सुख दुख भोगकारण जान पाप अधर्मकी।
मानवो एकात्मता दुहु पुरुष बुद्धि अधर्मकी ॥
अस्मिताको रूप तुम सन कह्यो चित देकर सुनो।
अज्ञानवश हुइ आतमाको सुःख दुख भोक्ता गुनो ॥

अर्थ-पुरुष दृक्शक्ति और बुद्धिदर्शनशक्ति है आत्मा नित्यसुखी पाप और अधर्मके बंधनोंसे रहित है और बुद्धि अधर्म और पाप दुःख सुखके भोगकी कारण है यदि भ्रमरहित पुरुष और बुद्धिकी एकात्मता हो जावे तो अस्मितानाम क्लेश प्रकट हो जाता है उस अज्ञानके वशमें होकर आत्माकोही सुख और दुःखका भोक्ता मान बैठता है इसीको अस्मिताक्लेश कहते हैं ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

दो०-सुख अभिलाषा राग है, तामें चित वस जाय।
तब सुखहित नाना करम, धर्म अधर्म कराय ॥

अर्थ-सुखकी अभिलाषाका नाम राग है जब चित्त सुखसे वसकर सुखकी इच्छा करता है तब सुखके निमित्त नाना प्रकारके धर्म अधर्म कर्मोंको करने लग जाता है॥

भा. छंद०-सुख अनंतर स्मृती जो राग ताको नाम है।
जौन जौन पदार्थमें सुख भयो पूरव भान है ॥
पुनि देखि ताही वस्तुको जो होत तृष्णा सुःखकी।
राग ताको नाम है जिहि माहि इच्छा चित्तकी ॥

अर्थ-सुख होनेके पश्चात् जो उस सुखकी यादका उदय होता है उसे राग कहते हैं पहले जिस २ पदार्थसे सुख पाया है उसी पदार्थको फिर देखकर जो सुखकी तृष्णा होती है सो सुखकी प्राप्तिके निमित्त पदार्थमें चित्तकी इच्छा तथा तृष्णा होनेका नाम राग है ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दो०—दुखसाधनको देखकर, होत चित्तमें क्रोध।
द्वेषरूप सो जानिये, रहत नहीं कछु बोध ॥

अर्थ—दुःखदाई साधन और सामिग्रियोंको देखकर जो चित्तमें क्रोधका उत्पन्न होना है वही द्वेष कहाता है क्रोधके वश हो जानेसे उस समय कुछ ज्ञान नहीं रहता है ॥

भाष्य दो०—दुःख अनंतर होत है, जौन दुःख तिहि देखि।
होत क्रोध ताको कहत, मुनिवर दृष्टी द्वेषि ॥
जौन जौन दुख पूर्वमें, भोग चुके जो जंतु।
तिनके मिलतहि क्रोधवश, होत द्वेषयुत संतु ॥

चौ०—पूर्व काल जिनसो दुख पायो। तिनने पुनि कहुँ दर्श दिखायो॥
कर पूरव दुखस्मृति मनमें। करत क्रोध इच्छा नहिं तिनमें ॥
जैसे अजहूं जीव जंतु भव। दुखदाताको देखि डरत सब ॥
तिनको डरत देखि यह भासै। पूरवको दुख तिनहिं प्रकाशै ॥
ताहीसो डरपत है तिनसों। पूरव दुख भये सब जिनसों ॥
याको नाम द्वेष कर जानों। सत्य कहत जियमें अनुमानों ॥
द्वेष अविद्याकृत अनुमानो। त्याग करहु दुखदा पहिचानो ॥
द्वेषरूप बुद्धी जिहिं होई। तासों वैर करत सब कोई ॥

अर्थ—दुःखके पीछे फिर कभी जो दुःखका दर्शन होवे तो चित्तमें क्रोध होता है दुःखसे चित्तको द्वेष करनेका नाम द्वेष है जिस पदार्थमें जिस जीवको दुःख हो चुका है उस पदार्थको फिर देखनेसे चित्त उसको नहीं चाहता। क्रोध हो आता है दुःखद पदार्थकी मनमें अभिलाषाका न होनेका नाम द्वेष है। पूर्व समयमें जिससे दुःख पाया है उसका फिर दर्शन होनेसे पूर्वभोग दुःखकी याद करके चित्त क्रोधयुक्त होता है और उस दुःखकी इच्छा नहीं करता। जैसे अबभी संपूर्ण जीवजंतु जिनसे पूर्व दुःख पाया हो उनसे डरते हैं उनको डरते देखकर यह विदित होता है कि इनको पूर्वमें कभी इनसे दुःख हुआ होगा इससे अब इनको देखकरही यह डरते हैं चित्तका

दुःखोंसे डरकर पीछेको हटना द्वेष कहाता है यह द्वेष अविद्याकृत है इससे दुखदाई समझके त्यागनीय है और जिसकी बुद्धि द्वेषयुक्त होती है उससे सब कोई वैर करने लगता है और कभी इस द्वेषके वश वह सुख नहीं पाता इससे श्रेष्ठ पुरुषोंको त्यागनीय है ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

दो०—विदुषनकोहू मरणभय, रहत मूर्खके तुल्य ।
स्वाभाविकही जानिये, मरण त्रास बाहुल्य ॥

अर्थ—मरणभय पंडितोंकोभी मूर्खोंके तुल्यही होता है । यह मरणभय स्वाभाविक सबको होता है इससे यह मरणत्रास अपार और अखंड प्रवाहरूप जानना चाहिये ॥

भा. चौ.-स्वरसवाहि विद्वान विमूढा । होवैं अभिनिवेश आरूढा ॥
पूरव जन्म मरण बहु वारा । अभिनिवेश कर अर्थ विचारा ॥
मरणत्रास वश सब जग जानों।स्वाभाविक प्रभाव तिहि मानो ॥
तातै जान अखंड प्रवाहा । पुनि पुनि जन्मत मरत अथाहा ॥

दोहा—पूर्वजन्मके मरणभय, डरपत इहि तनु पाय ।
जैसे बालक डरत है, देख भयावन काय ॥
इहि प्रकार भय करत सब, जीव जन्तु मनुजात ।
देख भयानक वस्तुको, कंपत तिनको गात ॥

छंद—यहि कहहिं ऐसो है असंभव तौ सुनो चितलायके ।
अविद्यादि दुख पांचके पर्याय गण फल पायके ॥
तम मोह पुरुष महामोह जो तामिस्र अँधतामिस्र हैं ।
सो अविद्या अस्मिता और राग द्वेष निवेश हैं ॥

दोहा—अहमिति प्रकृति महत्व अरु, शब्द स्पर्श स्वरूप ।
रस गन्धादिक जानिये, अष्ट अनातम रूप ॥

चौ०—अनआत्मा आत्माकर जानहु। ताहि अविद्यातम कर मानहु॥
अणिमादिक आठहु सिधिपाहीं। करत अहंबुद्धी मनमाहीं॥
मोह अस्मितारूप कहावत। दिव्य अदिव्य आदि दस गावत॥
इनसों प्रीति कहावत रागा। महामोह कर मान विभागा॥
ते दश विषम भोग जो विघ्ना। द्वेष कहत तामिस्र प्रतिघ्ना॥
अणिमादिक शब्दादि अष्टदश। पावत नाश मनोरथके रस॥
अभिनिवेश याहीको गावै। अँधतामिस्रहु ताहि बतावै॥
द्वै प्रकारके होत कलेशा। स्थूल और सूक्ष्म भेद लवलेशा॥

दोहा—भोगकाल स्थूल हैं, क्रिया योगते सूक्ष्म।
अब सूक्षमको नाशहित, कहत उपाइ सभूम॥

अर्थ—विद्वान् और मूढ दोनोंको स्वाभाविकही मरणभय होता है पूर्वजन्ममें जो अनेक वार मरण भया है उसेही मरणत्रासवा अभिनिवेश कहते हैं यह मरणत्रास स्वाभाविकही संपूर्ण जगत्को होता है इसीसे इसका अखंड प्रवाह है बारबार जन्म लेना और बारबार मरना यदि इसका अथाह प्रवाह है पूर्वजन्ममें जो मरणभय हो चुका है उसीकी वासना बनी रहनेसे इस जन्ममें डरता है तत् क्षणके जन्म लिये बालक आदिकी मुखकी आकृति देखनेसे विदित होता है कि यह किसी भयावनी वस्तुको जिससे इसने पूर्वजन्ममें दुख पाया है डरता है इसी प्रकार संपूर्ण जीव जंतु भयानक रूपको देखकर कांप उठते हैं इससे पूर्व जन्मका डरा हुआ प्रतीत होता है यदि यह कहा जाय कि ऐसा भय होना असंभव है तो चित्त लगाकरके सुनो अविद्या आदिक पंचक्लेशोंके पर्य्याय है (तम अविद्याका, मोह अस्मिताका, महामोह रागका, तामिस्र द्वेषका, अंधतामिस्र अभिनिवेशका पर्याय है) अर्थात् अविद्याको तम, अस्मिताको मोह, रागको महामोह, द्वेषको तामिस्र, अभिनिवेशको अंधतामिस्रभी कहते हैं। अहंकार १, प्रकृति २, महत्तत्त्व ३, शब्द ४, स्पर्श ५, रस ६, रूप ७, गंध ८ इन आठोंका नाम अनात्मा है सो अनात्मामें आत्मबुद्धिके होनेका नाम अविद्या तथा तम कहाता है इसी प्रकार अणिमादिक आठों सिद्धियोंको पाकर उनमें अहंबुद्धि करना अस्मिता अथवा मोह जानना चाहिये। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व ये ८ सिद्धि कहाती हैं और शब्दादिक विषयके दिव्य अदिव्य भेदसे दस भेद हैं इनमें प्रीति होनेको राग वा महामोह और इन दस विषयोंके भोगमें विघ्न होनेका नाम द्वेष और तामिस्र है और अणि-

मादिक आठ सिद्धि और शब्दादिक दश इन अठारह मनोरथोंके नाश होनेके मद-का नाम अभिनिवेश वा अंधतामिस्र जानना चाहिये। ये क्लेशभी दो प्रकारके एक स्थूल दूसरे सूक्ष्म होते हैं भोगकालमें क्लेश स्थूल होते हैं और क्रियायोगसे सूक्ष्म हो जाते हैं अब सूक्ष्म भये क्लेशोंके नाशका उपाय कहते हैं ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवं हेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

दोहा–क्रियायोगते होत हैं, पञ्च क्लेश अति छीन ।
असंप्रज्ञात समाधिवश, होत मूलते हीन ॥

अर्थ–क्रियायोगसे पांचों क्लेश अति दुर्बल हो जाते हैं और असंप्रज्ञात समाधिसे मूलसे उनका नाश हो जाता है ॥

भा. छं.-सर्वथा नहिं नाश पावत कहे पूर्व कलेश जे ।
योगकृततें होय सूक्ष्म रहत प्रकृती देशजे ॥
हुइ विवेक अख्याति ते जब ज्ञान आत्मारामको ।
तब अविद्या नाश पावत चित्तलय परिणामको ॥
लय होत चितके नशत हैं सब बीज सूक्ष्म क्लेश कर ।
नाहिं रहत है लवलेश दुखसुख पाव मोक्ष विशेषकर ॥

अर्थ–जो पूर्वमें अविद्यादि पांच क्लेश वर्णन किये गये हैं उनका सर्वथा नाश नहीं होता वे क्रियायोगसे अत्यंत सूक्ष्म होकर प्रकृतिमें लय रहते हैं जब विवेक-द्वारा आत्माका ज्ञान होता है तब अविद्याका नाश और चित्त परिणामको प्राप्त होकर लय हो जाता है जब चित्तका आत्मामें लय होता है तभी सूक्ष्म क्लेशोंके बीज नाश हो जाते हैं और दुःखका लवलेशभी नहीं रहता और मोक्षके विशेष सुखको पाता है ॥ १० ॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

दोहा–क्रियायोगते सूक्ष्मकर, क्लेशवृत्ति है जोइ ।
प्रसंख्यानके ध्यानसो, दग्धबीजसम होइ ॥

अर्थ–क्रियायोगसे क्लेशवृत्तियां सूक्ष्म करके फिर ईश्वरके ध्यान करनेसे उनका बीज दग्धतुल्य होता है ॥

भा. छंद.-मोहात्मिका जे वृत्ति हैं तिहिं जीत ईश्वरध्यानसों।
होंहि ते निर्मूल जब तब पाव आतमज्ञान सो।
विना आतमज्ञानके लय होत नहिं चित राममें।
नहिं पाव मुक्ती विना चितलय जात नहिं विसराममें।

अर्थ-मोहात्मिका जो वृत्ति है उनको ईश्वरके ध्यानसे जीते जब मोहात्मिका वृत्तियोंका मूल नाश होता है तब आत्मज्ञान होता है विना आत्मज्ञानके चित्तका लय आत्मामें नहीं होता और विना चित्तके लय हुए मुक्तिरूप विश्राम नहीं मिलता है॥११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टा दृष्टजन्मवेदनीयः॥ १२॥

दो०-आशय धर्म अधर्मको, क्लेशमूल तिहिं जान।
इहामुत्रमें जन्मप्रद, दृष्टादृष्ट प्रमान॥

अर्थ-जो धर्म अधर्मका आशय है वही क्लेशोंका मूल है यह कर्माशय दो प्रकारका है एक दृष्टजन्मवेदनीय दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय दृष्टजन्मवेदनीय इस जन्मके भोगादिका नाम है अदृष्टजन्मवेदनीय वह है जो जन्मान्तरमें होनेवाला हो॥

भाष्य० दो०-कर्मनको आशय महा, है क्लेशनकी मूल।
दृष्ट अदृष्ट जन्म सब, देत जनाय अभूल॥

चौ०-जो इहि जन्म जान ये योगा। दृष्ट जन्म जानहु सब लोगा॥
जो जन्मांतर जान्यो जाई। जन्म अदृष्ट जान सो भाई॥
कर्माशयते उत्पति मोहा। काम और लोभ क्रोध पुनि जोहा॥
इनके विषयन प्राप्त होत जब। प्राप्त भये पुनि नष्ट होत तब॥
उपजत क्लेश महा दुखखानी। क्लेशमूल कर्माशय जानी॥
इहिं प्रकार मोहादिक जेते। मोक्षबंध अरु दुखप्रद तेते॥

दो०-कर्माशयको जानिये, पुण्य पापकी खान।
उपजत हैं ताते महा, काम क्रोध मद मान॥
आराधन प्रभुके किये, ज्ञान अरु सिद्धि विभूति।
पावत यही शरीरमें, पुण्य कर्म करतूति॥

ऐसेही या देहमें, पाप आचरण जासु।
पावत क्लेश और ग्लानि सब, होय निरादर तासु॥

अर्थ–कर्माशय संपूर्ण क्लेशोंकी मूल है और दृष्ट अदृष्ट जन्मके शुभाशुभ कर्मोंके फलको दिखानेसे दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कहाता है जो इसी जन्ममें जानने योग्य है वह दृष्टजन्मवेदनीय और जो जन्मान्तरमें जाना जाता है वह अदृष्ट-जन्मवेदनीय कहाता है कर्माशयसे काम क्रोध लोभ मोह उत्पन्न होते हैं और इनके विषय जब प्राप्त नहीं होते अथवा प्राप्त होनेपर नष्ट हो जाते हैं तबही महादुःखदाई क्लेश उत्पन्न होते हैं इसलिये कर्माशयको क्लेशोंकी मूल जानना चाहिये इसी प्रकारसे मोहादिक अर्थात् काम क्रोध लोभ मोह जितने हैं वे सब मोक्षके बंधन और दुःखके देनेवाले हैं कर्माशय पुण्य पापकी खान है उसीसे काम क्रोध लोभ मोहादिक उत्पन्न होते हैं सो प्रभु अर्थात् ईश्वरके आराधन ध्यान और पुण्यकर्मसे ज्ञान और सिद्धि इसी शरीरमें प्राप्त हो जाती है इसी प्रकार इस देहमें जिसके पाप आचरण है उसको संपूर्ण क्लेश और ग्लानि प्राप्त होती है और संसारमें उसका निरादरभी होता है॥

छ०–वेदनिय दृष्ट जन्मके जे पूर्वमें वर्णन किये।
अब कहत आगे अदृष्टको तिहि ध्यान दे धारहु हिये॥
धर्मयुत जे स्वर्ग पावत पाव नरक अधर्मते।
मरणके पर्यंत जो कछु होत कर्म अकर्मते॥

दो०–पुण्य कर्मके करतही, नन्दीश्वर इहि जन्म।
प्राप्त भयो इहि देहमें, देवरूप विन शर्म॥
पापकर्मके करत ऋषि, शाप कोपहर दीन।
देहत्याग अपराधते, नहुष सर्पतन लीन॥

अर्थ–दृष्टजन्मवेदनीयका वर्णन तो पहले किया गया है अब आगे अदृष्टजन्म-वेदनीयको कहते हैं ध्यान देकरके हृदयमें धारण करना चाहिये। धर्म करनेवालोंको स्वर्ग और पाप करनेवालोंको नरक प्राप्त होता है मरणके पर्यंत जो कुछ शुभाशुभ कर्मको प्राप्त होता है वह अदृष्टजन्मवेदनीय है देखो पुण्यकर्मसे नंदीश्वरने इसी जन्ममें देवशरीरको पाया और पापकर्मके करनेसे ऋषियोंके शापसे नहुषको सर्प-शरीर धारण करना पडा॥ १२॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

दो०–क्लेशमूल धर्माधरम, तिहि विपाक फल तीन।
जाति आयु और भोगकर, जानहि परम प्रवीन ॥

अर्थ–धर्म और अधर्मही क्लेशमूल है तिनके फल तीन प्रकारके होते हैं एक जाति दूसरा आयु तीसरा भोग इसको चतुर पुरुष जानते हैं ॥

भा. चौ०–मूलरूप क्लेशनकर आशय।जाति आयु अरु भोग प्रकाशय
जैसे तुषयुत धान्य अदग्धा। निपजत क्षेत्र माहिं अति शुद्धा ॥
तुषारहित और दग्ध धान्य जो। निपजत नाहिं कर कोटि यतनसो॥
तैसे क्लेशसमूल निमूला। कर विचार जानहु युग कूला ॥

दोहा–असंप्रज्ञातकी अग्नितें जल्यो न जाकर बीज।
जाति आयु और भोगके, पावत दुःख अछीज ॥

छं०–देव मानुष तीर्यगादिक, जाति ते जानहु घनी।
श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ योनी पाव सुख दुखदा भनी ॥
आयुते सामान्य न्यून और अधिक समयो जानियें।
आतमा और देहको संयोग इन्द्रिय मानियें ॥
इन्द्रियनके विषयवश जन सुःख दुख पावत घने।
भोग तिनको नाम जानो गणित वर्णन नहिं बने ॥
विचारकर मनमाहिं देखो ज्ञान ऐसो होत है।
अनुमानद्वारा कहत ताको कर्मजन्म उद्योत है ॥

दो०–एक जन्म कर हेतु नहिं, एक कर्म सुन मीत।
अमित जन्म नहिं होत हैं, एक कर्म यह नीत ॥
अमित कर्मते होत नहिं, जन्म अनेक सुजान।
अमित कर्म मिल करत हैं, एक जन्म अनुमान ॥

अर्थ–मूलरूप क्लेशोंके आशयके परिपक्व होनेसे उनके तीन जाति, आयु और

भोग फल होते हैं समूल क्लेशोंके आशयसेही तीन फल होते हैं मूलहीन क्लेशोंके आशयसे कोई फल नहीं होता जैसे तुषसहित अदग्ध धान्य क्षेत्रमें पडनेसे शुद्धतासे उपजता है और तुषरहित दग्धधान्य कोटि यत्न करनेपरभी अंकुरित नहीं होता इसी प्रकार समूल क्लेशसे जाति आयु योगरूप फल होता है निर्मूल क्लेशाशयसे कुछभी फल इनमेंसे नहीं होता है जिन क्लेशोंका बीज असंप्रज्ञात समाधिकी अग्निमें नहीं जला उनसे जाति आयु भोगरूप दुःख सुख होते रहते हैं देवता मनुष्य, तीर्यग्योनि अर्थात् पशु पक्षी आदिकका नाम जाति है वह जाति श्रेष्ठ अश्रेष्ठ दो भांतिकी होकर सुख दुःखकी देनेवाली कही गई है और आयुस सामान्य काल न्यूनकाल अधिककाल जानना चाहिये यह समयवाची है आत्मा और देहके संयोगसे जो सामान्य नूनाधिक समयतक जो दुःख सुख होता रहता है उस दुःख सुख होनेका नाम आयु है और आत्मा और देहके संयोगसे इंद्रियद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंके दुःख सुखको भोगनेका नाम भोग है यह भोग अनेक प्रकारका होता है यदि विचार करके मनमें देखा जाय तो ऐसा ज्ञान होता है उसे आगे कहते हैं अब अनुमानके द्वारा कर्मोंके अनुसार जन्म होनेको आगे कहेंगे एक जन्मका कारण एक कर्मको कहा जाय तो नहीं बनता क्योंकि पूर्व जन्मोंमें जो कर्म शेष रहे उनके फलका और वर्तमान कर्मोंके फलका अभाव सिद्ध होता है इससे एक जन्मका कारण एक कर्म नहीं हो सक्ता है और यदि अनेक जन्म एक कर्मसे माने जांय तो शेष कर्मोंके फल प्राप्त होनेके लिये कोई समयही नहीं मिलता इससे यह सिद्ध हुआ कि एक कर्मसे अनेक जन्मभी नहीं होते और अनेक कर्मसे अनेक जन्मका होनाभी संभव नहीं क्योंकि एक साथ अनेक जन्म नहीं हो सक्ते इससे यही सिद्ध भया कि अनेक कर्म मिलकर एक जन्मका कारण होते हैं अर्थात् अनेक कर्मोंसे एक जन्म होता है यही अनुमानद्वारा सिद्ध होता है ॥

छंद०—हेतु वर्णत नहिं बने इक जन्मको इक कर्म जो ।
शेष कर्मन भोग अघटित लहत चित्त न शर्म जो ॥
जो अमित जन्महु कहत हैं इक कर्मते सुन तातजू ।
तो मिलत नाहीं कालभोगन कर्म बाकी जातजू ॥
यदि कहत हैं जो अनेक जन्मन हेतु अगणित कर्मको ।
नहिं होत कबहूँ जन्म देख्यौ एक बार अनेकको ॥
विचार कर इहि भांति जान्यो जन्मते गण मरणलों ।
किये जे शुभ अशुभ मिल सब इते एकहि जनमको ॥

सो०—भोगत है यह जीव, पूर्वजन्मसंस्कारको।
त्रियविपाककी सीव, जात आयु पुनि भोगप्रद॥

दो०—एक जन्मकी प्रकटता, एक भविक तिहि जान।
नियतानियत विपाकके, युग्म भेद पहिचान॥

चौ०—वेदनीय दृष्ट जन्म जो होई। नियतविपाक कहावत सोई॥
एकभविक और त्रीण विपाका। नियत कर्मफल है पुनि जाका॥
जन्म अदृष्ट वेदनीय जानो। ताहि विपाक अनीयत मानो॥
एक भविक नहिं इनकर रूपा। अनियत फल गतिकृष्ण अनूपा॥

छंद०—कृत पाप होत विशेष नाही पुण्यते तिहि नाश हैं।
ताहि गावत हैं श्रुती और वेद करत प्रकाश हैं॥
कर्म कृष्ण और शुक्ल पापी पुरुषके द्वै भांतिके।
नसत हैं ते पुण्यकृतसों पाप नाना जातिके॥
कर्म है त्रिय भांतिको जिहि शुक्ल केवल पुण्य है।
कृष्ण शुक्ल हु जानिये मिल पुण्य पातकपुंज है॥
पाप केवल देत दुख बहु नाम जाको स्याम है।
नसत प्रायश्चित्तसों सब कर्म मिश्रित नाम है॥

दो०—इहि प्रकारते कर्मगति, जानहु महा विचित्र।
दुर्ज्ञेय अति मुनिवर कहत, कर विचार सुन मित्र॥

अर्थ—एक कर्म एक जन्मका कारण कहते नहीं बनता क्योंकि शेष कर्मोंके फलका भोग नहीं घटता और जो एक कर्मसे अनेक जन्म कहें तो शेष कर्मोंके भोगको समय नहीं मिलता और अनेक कर्मसे अनेक जन्म माने जांय तो कभी एक समयमें अनेक जन्म होते नहीं देखे गये विचारपूर्वक देखनेसे यही निश्चय होता है कि, जन्मसे मरणतक जितने शुभ अशुभ कर्म किये हों वे सब मिलके एक जन्मकोही देते हैं। जीव पूर्वजन्मके कर्मसंस्कारको भोग करता है सो कर्मका फल तीन प्रकारका है जाति आयु और भोग एक जन्मके होनेसे एकभविकभी कहाता है और कर्मविपाकके नियत और अनियत दो भेद और होते हैं दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात्

जो इस जन्मके भोग हैं उन्हें नियतविपाक कहते हैं। एकभविक अर्थात् एक जन्ममें जाति आयु भोग तीन विपाक होते हैं और हरएक विपाक नियतानियतभेदसे दो प्रकारका है जिस कर्मका फल इस जन्ममें दृष्टपथ हो उसको नियतविपाक कहते हैं और अदृष्टजन्मवेदनीयको अनियतविपाक कहते हैं अर्थात् जिसका फल जन्मान्तरमें होनेसे अदृष्ट रहता है उसे अनियतविपाक कहते हैं परंतु इसकेभी तीन विपाक होते हैं जो पाप थोडा होता है वह पुण्यसे नाश हो जाता है ऐसे वेदकी श्रुति कहती हैं पापी पुरुषोंके कृष्ण कर्म और शुक्ल कर्म दो प्रकारके होते हैं वे सब पुण्य कर्मसे नाश हो जाते हैं कर्म तीन प्रकारका होता है शुक्ल कर्म केवल पुण्यका नाम है कृष्ण शुक्ल कर्म पाप पुण्यमिश्रितका नाम है कृष्ण कर्म केवल पापकोही कहते हैं यह अत्यंत दुखदाई है इसका नाश प्रायश्चित्तसे हो जाता है इस प्रकारसे कर्मगति विचित्र है मुनिवर इस कर्मगतिको दुर्ज्ञेय कहते हैं विचार करके जानना चाहिये॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

दो०-जाति आयु और भोगचय, देत हर्ष परताप।
पुण्य हर्षप्रद जानिये, पापमहादुखदाय॥

अर्थ-वे जाति आयु और भोग तीनों हर्ष और ताप देनेवाले हैं पुण्यसे हर्ष और पापसे महादुःख और ताप होता है॥

भा.चौ.-पापपुण्यमय तीन विपाका। फल सुख दुःखरूप युत जाका॥
जिनकी उत्पति पुण्य हेतुकर। ते सुखप्रद मानहु सब प्रियवर॥
पापहेतुकर उत्पतिदापा। देत महादुख और परितापा॥
जाति आदि गति त्रिधा बखानी। कर विचार मन समुझहिं ज्ञानी॥

अर्थ-पाप पुण्यमय तीन विपाकोंका फल सुख और दुःखरूप है जिस विपाककी उत्पत्ति पुण्यसे होती है उससे सुख होता है और जिसकी पापसे होती है उससे दुःख और परिताप होता है यह जाति आदिकी तीन प्रकारकी गति कही गई विचारपूर्वक ज्ञानीजन इसको समझ सक्ते हैं॥ १४॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

दो०–विषयनमें सुख लखैं, दुःखरूप सब जान।
परिणामताप जिहि सुखमें, ताहि दुःखकर मान॥
मूढनको तो विषय सब, सुखसमान कर भास।
ज्ञानीजनको जगत सुख, दुखसम करत प्रकाश॥

अर्थ–जो सुख विषयोंमें दीखता है वह सब दुःखरूप है क्योंकि जिस सुखका परिणाम दुःखरूप हो वह सुख दुःखही मानना चाहिये मूढ पुरुषोंको तो विषयसुख सुखके समान प्रतीत होते हैं और ज्ञानी पुरुषोंको जगत्के सर्व सुख दुःखकेही समान प्रकाशित होते हैं॥

भा. दो०–परिणाम ताप संस्कारके, दुख गुणवृत्तिविरोध।
सांसारिक सुख दुःखसम, पुरुष विवेकी सोध॥
विषययोगकी प्राप्तिते, इन्द्रिय जानहु शांति।
शांतिरूप सो सुख है, मत मानो चितभ्रांति॥

चौ०–तृष्णाविषय न पूर्ण भये पर। नाश भये पुनि प्रिय पदार्थकर॥
तथा वियोग होत हित करते। प्राप्ति भये पुनि द्वेष वयरते॥
इन्द्रियादिमें व्याकुलता जो। दुखपरिताप कहावत है सो॥
राग होत जिन विषयनमाहीं। होत विदित सुख तिहिं छिनमाहीं
वह सुख अंत दुःखकर कारण। होत अविद्याकृत दुख दारुण॥
यद्यपि होत प्रतीत सुःख जो। होत दुःख परिणामकाल सो॥
क्लेशमूल तिहिं जानत योगी। त्याग करत अस सुःखवियोगी॥
रागते होत विषयकी इच्छा। पूर्ण होत जिहि काल प्रतिच्छा॥
तिहिं क्षणमें सुख स्थित जानो। ताते लोभ विषयकर मानो॥
तृष्णा बढत अभ्यास लोभके। बढत मनोरथ विषय भोगके॥
जब लालसा पूर्ण न होई। इष्ट पदारथ पाव न सोई॥
तबहिं विषयसुख हुइ दुखरूपा। डारत पुनि संसृतिके कूपा॥

दो०–ईहिं प्रकारते विषयसुख, अंत होत दुखहेत।
पुनि पुनि डारत बंधमें, मुक्ति होन नहिं देत॥

छं०—रागके बाढत मनोरथ पूर्ण हो जिहिं भांतिते ।
करत धर्म अधर्म पाप और पुण्य जातिते ॥
परिणाममें दुख होत तिनसो जन्म हो पुनि पुनि मरें ।
विचारते जो रहित सो अज्ञानवश अनुचित करें ॥
यदपि होत सुखभोगमें अरु अंत दुखकर हेतु जो ।
परिणाममें दुख होत नाना दण्ड व्याधि विपत्ति जो ॥
भोगको सुख नित्य सो दर्शात पै सो अनित्य है ।
नाश सुखको भय महा परिणाम दुखदा अमित है ॥

दो०—दुखदाता जो वस्तु जग, चेतन और अचेत ।
भयसों तिनके नाशहित, रचत यत्न सुखहेत ॥

सो०—लक्षण मानहु ताप, सुखकारण अनुचित करत ।
ताको फल परिताप, त्याग देहु अस जान तिय ॥

दो०—पूर्वमें दुख सुख भये, कर स्मरण तिनकेर ।
दुख साधनते द्वेष कर, सुखसो प्रीति घनेर ॥
सुखनिमित्त ते करत है, पाप पुण्य बहु भांति ।
तत्व दृष्टिते दुखद सब, नहिं कहुं पावत शांति ॥

चौ०—तापदुःखके जो कछु भेदा । तुमसन कहे मिटाहि जिहि खेदा ॥
अब सब कहत दुःख संस्कारा । तिहिं प्रवाह कर नहिं विस्तारा ॥
जैसे ऊर्णा तंतु परत चखु । कोमल नेत्र विदित ताकर दुख ॥
तिमि योगिनको अनुभव होई । विषयी पुरुष न जानहि सोई ॥
अन्य अंग इव विषयी लोगा । दृगसम योगी जानन योगा ॥
स्वाभाविक दुख गावत सोधा । ते जानहु गुण वृत्ति विरोधा ॥
सुख आत्मिक सतगुण कह जानो । रजकह दुख आत्मिक अनुमानो ॥
मोहात्मिक तम जानहु भाई । सत रज तमकी वृत्ति सुहाई ॥

धर्म विराग ज्ञान सत गुणते। राग ऐश्वर्य अधर्म रजसतते॥
तमते अनऐश्वर्य अज्ञाना। वृत्ति विरोध होत दुख नाना॥
वृत्ति चपलता दुखका हेतू। धर्माधर्म विमुख गति चेतू॥
कबहुँ गहत चित धर्म और कर्मा। गतिहि विरोधकरकबहुंअधर्मा॥

दो०—कबहूं विमुख अधर्मते, धर्म करहि चित लाय।
तिहि कर उपजत ग्लानि जो, सो दुखमूल बताय॥

अर्थ—परिणाम ताप संस्कार तीन प्रकारका दुःख होता है अथवा गुणवृत्तियोंके विरोधसे अर्थात् गुणवृत्तियोंका फल न होनेसे सांसारिक सब सुखोंको विवेकी पुरुष दुःखहीके तुल्य मानते हैं अब सांसारिक विषय सुख व दुःखके लक्षण इस प्रकार जानने चाहिये जब विषयभोग करके इन्द्रियां शांत होती हैं यह इन्द्रियोंका शांत होनाही संसारिक सुख है यहां शांतिका अर्थ तृप्ति होनेका है और विषयोंकी लालसाका पूर्ण न होना अथवा प्राप्त विषयोंके नाश होजानेसे दुःख होता है उसे सांसारिक दुःख कहते हैं अथवा हित पदार्थके वियोग हो जानेका नामभी दुःख और परिताप कहा जाता है जिस समयमें विषयमें राग अर्थात् प्रीति होती है उस समय तो विषयोंमें सुख प्रतीत होता है और जब वह विषय न प्राप्त हो अथवा नाश हो जाय तो अंतमें वह विषयसुख दुःखका कारण होता है यद्यपि अविद्याके वश अज्ञान होनेसे वह सुखके समान प्रतीत होता है परंतु परिणाममें वह दुःखरूप होनेसे दुःखही है उस सुखको अंतमें वियोगी अर्थात् न रहनेवाला जानकर योगीजन उसको संपूर्ण क्लेशोंकी मूल जान त्याग कर देते हैं। रागसे विषयोंमें इच्छा होती है और इच्छा पूर्ण होनेके समय सुख प्रतीत होता है फिर जिस विषयसे सुख भया है उसमें अत्यंत लोभ बढता है लोभसे अभिलाषा होती है लालसासे विषयोंके मनोरथ बढते चले जाते हैं जब मनोरथ पूर्ण नहीं होता तथा जिसको चाहे वह पदार्थ प्राप्त नहीं होता तबही ये विषयसुख सब दुःखरूप हो जाते हैं और इस संसृतिके कूपमें डाल देते हैं इस प्रकारसे विषयसुख अंतमें दुःखका कारण होते हैं और इस जीवको बार २ बंधनमें डालते हैं इसको मुक्ति नहीं होने देते हैं रागके बढनेसे मनोरथोंके पूर्ण होनेके लिये जिस भांतिसे उसे मनोरथ पूर्ण होते दीखते हैं उसी प्रकार यत्न करनेको उद्यत हो जाता है और मनोरथोंकी पूर्णताके लिये धर्म अधर्म पाप पुण्य नाना प्रकारसे करता है तनकभी उसे धर्माधर्म पापपुण्यका ध्यान नहीं रहता सो वही धर्माधर्म पाप पुण्य अंतमें दुखदाई होकर बार २ जन्म धारण कराते और बार २ मारते हैं अर्थात् बार २ जन्मता और मरता है जो

विचारसे रहित हैं वे अज्ञानवश ऐसा अनुचित कर्म करते हैं यद्यपि भोगमें सुख प्रतीत होता है परंतु अंतमें वह दुःखका कारण है क्योंकि अज्ञानवश अनुचित कर्म करनेसे दण्ड व्याधि विपत्ति आदिक होते हैं। भोगका सुख नित्यसा दीखता है परंतु उसको अनित्य समझना चाहिये क्योंकि उस सुखमें उस सुखके नाशका भय लगा रहता है इससे परिणाममें अमित दुखदाई है यह परिणामदुःख है जो दुखदाता सांसारिक चेतन अथवा अचेतन वस्तु है उनसे दुःख प्राप्त हो जानेके भयसे उनके नाशका उपाय अपने सुखके निमित्त रचता है इसीको संताप कहते हैं जो अपने सुखके निमित्त अनुचित करता है इससे परितापरूपी फल प्राप्त होता है इससे इसे परितापका देनेवाला जानकर त्याग देना चाहिये पूर्वमें जो दुःख सुख हो चुके हैं तिनका स्मरण करके दुःखसाधनोंसे द्वेष और सुखसाधनोंसे प्रीति करता है सुखके कारणसे प्राणी नाना प्रकारके पाप पुण्य करता है, परंतु ये सब सुख तत्त्वदृष्टिसे दुःखही प्रतीत होते हैं शांति नहीं मिलती यहांतक ताप दुःखोंके जो भेद थे कहे गये इसके सुननेसे दुःखोंसे छूट जाता है। अब संस्कारदुःख कहे जाते हैं जिनके प्रवाहका विस्तार नहीं है जैसे ऊनवस्त्र अथवा मकडीके तंतुका अवयव नेत्रमें पड जानेसे नेत्र कोमल होनेके कारण उस ऊनके तंतुके दुखको जानता है अन्य अंग नहीं जान सक्ता है इसी प्रकार संस्कारज दुःखको योगी जन जिनका आत्मा कोमल है जानते हैं अन्य पुरुष नहीं जान सक्ते जो दुःख गुणवृत्तियोंके विरोधसे होते उसको स्वाभाविकभी कहते हैं सतोगुण सुखात्मिक और रजोगुण दुःखआत्मिक और तमोगुण मोहात्मिक जानना चाहिये। धर्म वैराग्य और ज्ञान सतोगुणकी वृत्ति हैं। राग ऐश्वर्य और अधर्म रजोगुणकी वृत्ति है तमोगुणकी वृत्ति अनैश्वर्य और अज्ञान है इन वृत्तियोंके परस्पर विरोधसे नाना प्रकारका दुःख होता है। यह वृतियोंकी चंचलता दुःखका कारण है इसके वश चित्तकी गति ऐसी हो जाती है कि कभी धर्मसे विमुख होकर अधर्म करता और कभी अधर्मसे विमुख धर्म करने लग जाता है ऐसा करनेसे जो ग्लानि आदि उत्पन्न होती है वह दुःखकी मूल जाननी चाहिये॥

छंद—जैसे अरंभत धर्मको नर सत्व गुण प्रेरण किये।
रज तथा तम होय उद्यत कष्ट दर्शावत हिये॥
आप सबला होय चितमें धर्मको उच्चाट कर।
थाप देत अधर्मको परिणाम दुःख दुरायकर॥
जब सतोगुण सबल होइकर नाश करत अधर्मको।
स्वयं राज महीप ज्यों प्रकटात सकल सुधर्मको॥

इहि प्रकार विपर्यता गुणवृत्ति चित्त विरोधके ।
जानत विवेकी पुरुष दुख परिणाम सुख संसारके ॥
दो०—इहिं कारणते त्याज्य हैं, सांसारिक सुख सर्व ।
दुःखरूप परिणाममें, जान विवेकी खर्व ॥

अर्थ—जैसे मनुष्य सतोगुणकी प्रेरणासे धर्म करता है और सुख पाता है इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण जब उद्यत होते हैं प्राणीसे पाप कराके कष्ट देते हैं तमोगुण रजोगुण आप सबल होकर मनुष्यके चित्तसे धर्मको हटाके अधर्मको स्थापित कर देते हैं उस समय प्राणीको यह ज्ञान नहीं रहने देते कि इसके करनेसे परिणाममें कैसा दुःख भोगना होगा और जब सतोगुण सबल होता है तब अधर्मके कारण रजोगुण तमोगुणको हटाके स्वयं राजाके तुल्य राज्य करता है और धर्मोंको प्रकट करता है इस प्रकारसे गुणविपर्यता होनेसे चित्त विरोधको अर्थात् दुःखको पाता है इसीसे विवेकी पुरुष संतति सुखोंको परिणाममें दुखदाई जानते हैं इसलिये सब सांसारिक सुख त्यागने योग्य हैं यह बात विवेकी पुरुष जानते हैं कि यह सांसारिक सुख परिणाममें दुःखरूप हो जाते हैं ॥

दो०—जैसे वैद्यकशास्त्रमें, रोग निमित्त उपाय ।
नीरुजके लक्षण कहै, तैसे हि योग जनाय ॥
हेय आर हेयहेतु सब, मोक्ष और मोक्ष उपाय ।
इनके लक्षण मुनि कहत, सुनो सकल चितलाय ॥

अर्थ—जैसे वैद्यकशास्त्रमें रोग रोगका कारण और रोगका उपाय तथा आरोग्यताके लक्षण कहे हैं तैसेही योगशास्त्रमें महर्षिपातंजलिनेभी कहे हैं हेय त्यागने योग्य हेयहेतु त्यागनीयका कारण मोक्ष सर्व दुःखोंसे छूटना और मोक्षउपाय अर्थात् मोक्षप्राप्ति हानक उपायोंका कथन किया गया है उसको चित्त लगाकर सुनना चाहिये ॥ १५ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

दो०—होनहार जो दुःख है, ताको करहि उपाइ ।
मूलनाश तिनको करहि, पुनि प्रकटैं नहिं आइ ॥

अर्थ—जो आनेवाला दुःख है उसका उपाय करना चाहिये उपायद्वारा उनका मूल नाश करे जिससे फिर कभी प्रकट न होने पावे ॥

भा.चौ.-दुःख अनागत हेय कहावत । ताकों मुनिवर त्याज्य बतावत
दुःख व्यतीत भये जो कोई । ते नाहिं त्याज्य कहावत सोई ॥
वर्तमान दुख भोग वियोगा । अनआगत दुख त्याग न योगा ॥
ऐसो यत्न करहि चितलाई । जासे दुखकृत मूल नसाई ॥

अर्थ-अनागत अर्थात् जो आनेवाला दुःख है वह त्यागनीय कहाता है जो दुःख व्यतीत हो चुका है वह तो भोग लेनेसे नाशही हो चुका और वर्तमान दुःख भोगद्वारा मिटही जाता है इससे जो दुःख आनेवाला है वह त्यागनीय है उसका मन लगाके ऐसा यत्न करना चाहिये जिसके द्वारा दुःखोंकी मूल नाश हो जाय और फिर अंकुरित न हो ॥ १६ ॥

दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

दो०-पुरुष और परधानको, जो संयोग विचार ।
होत सकल अज्ञानवश, हेय हेतुको सार ॥

अर्थ-प्रकृति दृश्य पुरुष द्रष्टा इनका जो संयोग है वह अज्ञानकृत हेय हेतु अर्थात् दुःखका कारण है ॥

भा. चौ०-द्रष्टु दृश्य कर जो संयोगा । जानहु हेय हेतु सब लोगा ॥
द्रष्टा पुरुष दृश्य गुणभोगा । हेय हेतु तिनकर संयोगा ॥
दृश्य रूप अब कहत होत जस । अगिल सूत्र मांहि वर्णत तस ॥
कर विचार धारहु मनमांही । जासे सकल दुःख मिट जांही ॥

अर्थ-द्रष्टा और दृश्यके संयोगको हेय हेतु जानना चाहिये द्रष्टा नाम पुरुषका है और दृश्य गुणकृत विषय जो इन्द्रियद्वारा भोगे जाते हैं उनका नाम है इन दोनोंका संयोगही हेय हेतु अर्थात् दुःखोंका कारण है अब अगले सूत्रसे दृश्यका जैसा रूप है कहा जाता है उसको विचार करके हृदयमें धारण करनेसे संपूर्ण दुःख मिट जाते हैं इससे उसको विचारद्वारा धारण करना चाहिये ॥ १७ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

दो०—सत्व रजस तम दृश्य हैं, प्रकाश क्रिया थित जान।
भूतेन्द्रियकी आत्मा, भोग मोक्ष हित मान॥

अर्थ—प्रकाशस्वभाव सत्वगुण क्रियास्वभाव रजोगुण स्थितस्वभाव तमोगुणको जानना चाहिये ये पंच भूत और इन्द्रियोंकी आत्मा हैं और भोग और मोक्षके कारण हैं॥

भा. चौ-प्रकाश क्रिया और स्थितशीला। भूतेन्द्रिय आत्मिक सब लीला
भोग और अपवर्गनिमित ये। लक्षण दृश्य कहे सब हम ते॥
सत्व रजस अरु तमस स्वरूपा। प्रकाश क्रिया और स्थितरूपा॥
भोग मोक्ष कारण तिहिं जानो। मोक्षहेतु मनमें गहि ठानो॥

दो०—सतगुणरूप प्रकाश है, क्रियाबुद्धि रजरूप।
रहित क्रिया औ प्रकाशकर, ते स्थित तमकूप॥
सतगुन कोमल बुद्धि है, तुरतहि पावत ताप।
रजगुन दाता दुःखको, तमते मोह प्रताप॥
ताहीते जीवातमा, कहत कि मोको ताप।
अविवेकी भोगत रहत, ज्ञानी तजत प्रताप॥

छंद०—तीन गुण जब होत सम तब रहत ज्ञान न द्वितीयको।
नाम जानो प्रकृति ताको साम्यता गुण त्रीयको॥
जो प्रकाश और क्रिया स्थितरूप गुणसमुदायको।
प्रधान कारजरूप पांचों भूत इन्द्रिय कार्यको॥
ज्ञान और अज्ञानरूपा देत और मोक्षको।
भोग कारण है रजोगुण और तमोगुण योगको॥
ज्ञानदाता सत्वगुणको मोक्षप्रद अनुमानिये।
बुद्धिदाता भोगकी और मोक्षहू पहिचानिये॥

सो०—पुरुष अहै निर्दोष, बध मोक्ष संग दृश्यके।
होत जबहि संतोष, बंधन पावत पुरुष नहिं॥

अर्थ–प्रकाश क्रिया और स्थित यह तीनों रूप सतोगुण आदि तीनों गुणके पंच भूत और इन्द्रियादिके द्वारा प्रकट होते हैं इसीसे भूतेन्द्रियात्मिक कहाते हैं और भोग मोक्षके कारण हैं दृश्यके लक्षण संपूर्ण कहे गये सतोगुण प्रकाशरूप रजोगुण क्रियारूप तमोगुण स्थितरूप और भोगमोक्षके कारण जानकर मोक्षकारणोंको अपने हृदयमें धारण करना चाहिये सतोगुणका रूप प्रकाश रजोगुणका क्रिया बुद्धिरूप है जो क्रिया और प्रकाशसे रहित केवल स्थितरूप मोह है वह तमोगुणका रूप है सत्वगुण कोमल बुद्धिका नाम है सतोगुणी बुद्धिवालेको तुरंतही गुणकृत तापप्राप्ति होती है रजोगुणसे दुःख और तमोगुणसे मोह होता है जिसका फल अधिक तापरूप है इसी कारणसे जीवात्मा कहने लगता है कि मुझे ताप है दुःख है अविवेकी पुरुष उस तापको अज्ञानवश नहीं जाननेसे भोगते रहते हैं। ज्ञानीजन उस तापदुःखको ज्ञानद्वारा जानकर त्यागनेका यत्न करते हैं जब तीनों गुणकी साम्यावस्था होती है तब द्वितीयज्ञान अर्थात् भेदज्ञान नहीं होता उसी तीनों गुणकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है जो प्रकाशक्रिया और स्थितरूप तीनों गुणोंका है उसका समुदाय अर्थात् साम्यावस्था प्रधानरूप है वही पंच भूत इन्द्रिय और काया आदिका कारण है और भूतादिक उसके कार्य हैं ज्ञान और अज्ञानमिश्रित इस दृश्यका रूप है इसलिये भोग मोक्षकी देनेवाली है रजोगुण और तमोगुण और इन दोनोंका संयोग भोगका कारण है और केवल सतोगुण ज्ञानदाता होनेसे मोक्षका कारण है इसी कारण बुद्धि भोग मोक्षकी देनेवाली कही है जब बुद्धि रजोगुणी तमोगुणी होती है भोग और दुखका कारण है और जब केवल सतोगुणी होती है तब मोक्ष देनेवाली होती है पुरुष सदा निर्दोष है परंतु दृश्यके संयोगसे बंधन और मोक्षको पाता है जब संतोष होता है तबही पुरुष निर्बंधन हो जाता है ॥

दो०–जैसे सेवक भूपके, हार जीतको पाइ ।
नाम होत है भूपको, सेना कही न जाइ ॥

सो०–तैसे मोक्ष अरु बंध, होत बुद्धिकों पुरुष नहिं ।
पुरुष सदा निर्बंध, नाम होत धीपति भये ॥
बुद्धि मोह सविकार, बद्ध कहावत पुरुष तब ।
मोक्ष होत निरधार, ज्ञान होत जब बुद्धिमें ॥

अर्थ–जैसे युद्धमें सेनाकी हार जीत होनेसे वह हार जित राजाकीही कहाती है

सेनाकी हारजीत कहनेमें नहीं आती तैसेही बंध और मोक्ष बुद्धिको होता है पुरुषको नहीं होता परंतु बुद्धिका राजा पुरुषके होनेसे पुरुषही बंध और मोक्ष कहाता है जब बुद्धि विकार जो रजोगुण तमोगुणकृत विषय है उनमें मोहित होती है तब पुरुष बद्ध कहा जाता है और जब केवल सतोगुणी ज्ञानका प्रकाश बुद्धिमें होता है तब पुरुष मोक्ष कहा जाता है ॥ १८ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

दो०—विशेष और अविशेष पुनि, लिंग अलिंग सुचार।
पूर्वक कथित सब गुणनके, ते परिणाम विचार ॥

अर्थ—विशेष १ अविशेष २, लिंग ३, अलिंग ४, यह चार रूप जो तीनों गुणोंके कहे गये हैं येही गुण परिणाम कहाते हैं ॥

भा.चौ-अब सब कहत त्रिगुण परिणामा।सुनतहि मिटत सकल दुखसामा
विशेष अरु अविशेष सलिंगा। गुण परिणाम चतुर्थ अलिंगा ॥
पंच भूत इन्द्रिय एकादश। सृष्ट क्रिया व्योपार कार्य अस ॥
यह षोडश परिणाम विशेषा। अहंकार तन्मात्र सुवेषा ॥
षट परिणाम जान अविशेषा। शांति घोर मूढ नहिं लेशा ॥
सबते प्रथम होत जाहीसों। संज्ञालिंगमात्र ताहीसों ॥
महततत्व संज्ञा समुदाई। कहत अलिंग प्रकृति मुनि गाई ॥
यह सब मायाकर परिवारा। दर्शन सांख्य कह्यो विस्तारा ॥
ताके भेद चार और वीसा। मायारहित पुरुष पच ईसा ॥
प्रकृति महान पंच तन्मात्रा। पंच भूत इन्द्रिय दश यात्रा ॥
अहंकार मन यह चौवीसा। सांख्यशास्त्रमें वर्ण मुनीशा ॥
सब हम दृश्य कह्यो समुदाई। द्रष्टा लक्ष मनो मनलाई ॥

सो०—द्रष्टा है अति शुद्ध, यद्यपि देखत बुद्धि सम।
भोगति भोगहि बुद्धि, भोक्ता मानत स्वयमही ॥
आत्मा जानहु भिन्न, है नहिं बुद्धिस्वरूप सो।
पुरुष ज्ञान अवछिन्न, बुद्धिविषय सुख दुख कहत ॥

अर्थ–अब तीनों गुणोंके परिणामोंको कहते हैं जिनके सुननेसे संपूर्ण दुःखोंकी सामा मिट जाती है विशेष अविशेष सलिंग और अलिंग ये चार परिणाम गुणोंके होते हैं पांच भूत और ग्यारह इन्द्रियां जो सृष्टिके कार्यव्यवहार हैं इन सोलहको विशेष परिणाम कहते हैं पांच तन्मात्रा और छठा अहंकार ये छः अविशेष परिणाम हैं इनमें शांति घोर मूढका लेशभी नहीं होता प्रधान सबसे पहले होनेसे प्रधानकी संज्ञा लिंगमात्र है महत्तत्त्वकी संज्ञाके समुदायको प्रकृति कहते हैं उसी प्रकृतिकी अलिंगसंज्ञा है यह सब मायाका कुटुम्ब है इसका विस्तार सांख्यदर्शनमें कपिलदेवजीने किया है इसके २४ भेद हैं मायासे रहित पुरुष पचीसवां है वे सब ये हैं प्रकृति १, महत्तत्व २, शब्द ३, स्पर्श ४, रूप ५, रस ६, गंध ७, आकाश ८, वायु ९, अग्नि १०, जल ११, पृथिवी १२, कर्ण १३, नेत्र १४, नासिका १५, मुख १६, त्वचा १७, हस्त १८, पाद १९, गुदा २०, लिंग २१, वाक् २२, मन २३, अहंकार २४ और पचीसवां पुरुष सबसे भिन्न है सांख्यशास्त्रमें इसका वर्णन विशेषतासे किया गया है यह चारों गुण परिणाम हैं दृश्यको समझकरके कहा अब द्रष्टाके लक्षणोंको कहते हैं मन लगाके सुनो। यद्यपि द्रष्टा बुद्धिके समान अपनेको कर्त्ता भोक्ता जानता है परंतु वह न कर्ता है न भोक्ता है वह तो अत्यंत शुद्धस्वरूप है जो बुद्धि भोगोंको भोगती है अज्ञानवश अपनेको भोक्ता मान लेता है आत्मा बुद्धिसे भिन्न है बुद्धिस्वरूप आत्मा नहीं है क्योंकि पुरुष ज्ञानस्वरूप है बुद्धि अज्ञान और सुखदुःखका विषय है ॥ १९ ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

दो०–दृशिधर्मनते रहित सो, द्रष्टा अतिहि विशुद्धि।
तदपि होत प्रतिबिम्बित, मुकुरधर्म जो बुद्धि॥

अर्थ–दृश्यके धर्मोंसे रहित द्रष्टा अत्यंत शुद्धस्वरूप है परंतु बुद्धिरूप दर्पणमें द्रष्टाकी परछांही अर्थात् प्रतिबिंब पडनेसे बुद्धिही पुरुषके समान प्रतीत होने लगती है ॥

भाष्य छन्द०–पुरुष ज्ञाता नित्य अव्यय ज्ञान चेतनरूपको।
अविवेक बुद्धी जाल फंस सो जान नहिं निज रूपको॥
मान कर्त्ता भोगता सुख दुःख धर्म अधर्मको।
कहत है हम कीन जैसो भोगि है फल कर्मको॥

अर्थ–पुरुष ज्ञाता नित्य अविनाशी ज्ञान और चैतन्यरूप है वह अविवेकरूप बुद्धिके जालमें फँसकर अपने रूपको भूल जाता है और जान नहीं सक्ता दुःख सुख धर्म अधर्मका कर्ता और भोक्ता अपनेको मानने लग जाता है और कहता है कि हमने जैसा कर्म किया है उसके फलका भोग करते हैं ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

दो०–पुरुष भोक्ता कि निमित्त, दृश्य भोगकर रूप।
भोग करत है पुरुष सब, दृश्य भोग अनुरूप ॥

अर्थ–पुरुष भोक्ताके लिये दृश्य भोग्यरूप है इसलिये पुरुष दृश्यरूप भोगोंको भोगनेसे दृश्यका आत्मा कहलाता है ॥

भा. छंद.-पुरुष कारण दृश्य आत्मा ज्ञानकर पहिचानियें।
दृश्य जानो भोग्य सब तुम पुरुष भोक्ता मानियें ॥
यदपि मोक्ष कृतार्थ जनके दृश्य सब नाशत घने।
तदपि दृश्य प्रधानरूपा अन्य जन प्रति रहैं बने ॥

अर्थ–पुरुष कारण और दृश्यका आत्मस्वरूप है दृश्य सब भोग्य अर्थात् भोग करने योग्य है और पुरुष भोग करनेवाला भोक्ता है यद्यपि मोक्ष और कृतार्थ पुरुषोंके दृश्य सब नाश हो जाते हैं तथापि मोक्ष और कृतार्थ पुरुषोंको छोडके अन्य पुरुषोंमें दृश्य बने रहते हैं सर्वथा दृश्यका नाश नहीं होता है ॥ २१ ॥

कृतार्थ प्रतिनष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

दो०–दृश्य हेतु है भोगको, अरु अपवर्गहु जान।
नष्ट दृश्य कृतार्थ जनते, दृश्य नष्ट नहिं मान ॥
ज्ञानीके दृशनाशते, दृश्य नाश नहिं होय।
अज्ञानी जनके विषैं, बनो रहत है तोय ॥

भा० दो०–अमित पुरुष संसारमें, तिनमें मुक्तिन केर।
नाश दृश्यको होत है, योग न पावत फेर ॥

संसारी जे पुरुष हैं, मुक्ति न पावत सोइ ।
बनो रहत तिनके विषैं, दृश्य नाश नहिं होइ ॥

अर्थ–इस संसारमें अनेक पुरुष हैं उन सबमें मुक्तिपुरुषोंकाही दृश्य नाश होता है और फिर कभी दृश्यका संयोग नहीं होता और जो संसारी पुरुष हैं उनको मुक्ति प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनमें दृश्य बना रहता है नाश नहीं होता इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष दृश्यके नाशका यत्न करे ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

दो०–बुद्धीको अरु पुरुषको, जो अनादि संयोग ।
अज्ञानीको भोग प्रद, मोक्षज्ञानके योग ॥
अज्ञानी वश दृश्यके, भूलत अपनो रूप ।
भोगत जगके भोग सब, परे रहत भवकूप ॥
ज्ञानी अपने ज्ञानसों, भोग त्यागि निज रूप ।
पहिचानत निज रूपको, पावत मोक्षस्वरूप ॥

अर्थ–बुद्धिका और पुरुषका जो अनादि संयोग है वही अज्ञानीको भोगका और ज्ञानीको मोक्षका सुख देता है अज्ञानी दृश्यके वश होनेसे अपने स्वरूपको भूलकर सांसारिक सब भोगोंको भोगते हैं और इस जगद्रूप कूपमें पडे रहते हैं और ज्ञानी अपने ज्ञानके प्रतापसे भोगोंको त्यागकर अपने स्वरूपको जान लेनेसे मोक्षको पालेते हैं ॥

भा.चौ.-दृश्य अरु पुरुष शक्ति संयोगा । कारण सत्य भोग्य अरु भोगा ॥
दृश्यशक्ति जो भोगन योगा । पुरुषशक्ति भोगत सब भोगा ॥
भोक्ता पुरुष भोग्य परधाना । विन संयोग बनत नहिं कामा ॥
पुरुष प्रकृति संयोग होत जब । भोक्ता भोग्य कहावत हैं तब ॥
दोनों शक्ति मिले संयोगा । अनमिल चेतन भोग्य न भोगा ॥
तिहि कारण इन कर संयोगा । पावत शक्तिरूप सब भोगा ॥

अर्थ–दृश्य शक्ति और पुरुषशक्तिका संयोग जो दोनोंके स्वरूपोंकी प्राप्तिका कारण है भोग्य और भोक्तारूपसे जानो दृश्यशक्ति भोग्यका नाम है और पुरुषशक्ति

भोक्ताका नाम है पुरुषका नाम भोक्ता और प्रधानका नाम भोग्य है इन दोनोंके संयोगसेही दोनोंके स्वरूपोंकी प्राप्ति होती है पुरुष और प्रकृतिका जब संयोग होता है तब इन दोनोंका नाम भोक्ता और भोग्य कहा जाता है इन दोनों शक्तिके मिलनेका नाम संयोग है अनमिल रहनेसे भोक्ता व भोग्य नहीं कहाते इसलिये इनके संयोगसे शक्ति अनुकूल भोग प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

दो०-दृश्य पुरुष संयोग कर, हेतु अविद्या जान।
ज्ञानप्राप्तिते होत है, तिहि संयोग विहान ॥

अर्थ-दृश्य और पुरुषके संयोगका कारण अविद्या है ज्ञानके प्राप्त हो जानेसे उस संयोगका नाश हो जाता है ॥

भा.चौ.-तिहि संयोगकर हेतु अविद्या। मिथ्याज्ञान विपर्य अबुध्या॥
अशुचि माहि शुचि मानत जोई।अनआत्मा आत्मा कर सोई ॥
दुखको सुख अनित्यको नित्या। लक्षण जान बुद्धिविपरित्या॥
रूप अविद्या जानहु भाई । ताहि तजे संयोग विहाई ॥

अर्थ-दृश्य और पुरुषके संयोगका कारण अविद्या है मिथ्या ज्ञान और बुद्धिकी विपर्ययता अविद्याका रूप है और अशुचिमें शुचि मानना और अनात्माको आत्मा जानना दुखको सुख और अनित्यको नित्य जानना अविद्याका लक्षण है ये अविद्याके रूप हैं इनको त्याग देनेसे दृश्य और पुरुषके संयोगका अभाव हो जाता है ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

दोहा०-पुनि अज्ञान अभावते, हान होत संयोग।
हानि ताहि पहिचानिये, केवल आत्मसुभोग ॥

अर्थ-अज्ञानके अर्थात् अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होता है इसीको हानि कहते हैं इस दुःखके नाशसे केवल मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥

भा० दो०-अज्ञ वासनासहित जे, होत प्रकृतिमें लीन।
सतगुणके उत्पतिसमय, होत रहत अतिछीन ॥

सो०–चितको लय जब होय, पावत मोक्षस्वरूपकहँ ।
अन्य उपाय न कोय, साधन पर वैराग्य विन ॥
अज्ञानीको बंध, विज्ञानीको मोक्ष है ।
बुद्धी कारण फंध, पावत दोउ संयोगते ॥

अर्थ–जो अज्ञानकी वासनासहित प्रकृतिमें लीन होते हैं उनकी सत्वगुणकी उत्पत्तिसमयमें क्षीणता होती रहती है जब चित्तका लय हो जाता है तब मोक्षरूप पाता है सो इस मोक्षका परवैराग्यके सिवाय अन्य उपाय कोई नहीं है अज्ञानीको बंधन होता है विज्ञानीको मोक्ष प्राप्त होता है यह अज्ञान बुद्धिको फंदेमें डालनेका कारण है सो दृश्य पुरुषके संयोगसे होता है यहांतक हानको कहके अब हानिउपायको कहते हैं ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

दो०–ज्ञानविपर्ययरहित जो, हुइ विवेक निज रूप ।
हानयत्न मुनिवर कहत, मानहु ज्ञान स्वरूप ॥

अर्थ–विपरीत ज्ञानको छोडके जो अपने निज रूपका ज्ञान हो जाना वही हानिका उपाय है ॥

भा० दो०–नाश अविद्याके भये, होत अभाव संयोग ।
हान होत सब दुःखकी, चेतन मुक्ती योग ॥

छंद–पुरुष अपने रूपसे है शुद्ध मोक्षस्वरूप सो ।
पर अविद्या दृश्यके वश पाव बंधन दुःखसो ॥
हुइ अविद्या अभावसे संयोग दृशिको नाश है ।
दृश्यको संयोग दुख सो पूर्ण भवकी त्रास है ॥
रहित जो संयोगते सो पुरुष मोक्षस्वरूपसे ।
परिणाम दुखको टारकर कैवल्य राजत भूपसे ॥
हेय अरु हेयहेतुको और हानिको वर्णन कियो ।
अब अगाडी कहत हानोपाय श्रवणनपुट पियो ॥

दो०–विवेक ख्याति दृढ होत जब, तब संयोग विनाश।
इहिं कारणते कहत मुनि, हान उपाय प्रकाश॥

अर्थ–अविद्याके नाश होनेसे संयोग नाश होता है संयोगके नाशसे सब दुःखोंकी हानि होती है दुखोंकी हानिसे चैतन्यपुरुष मुक्तिके योग्य हो जाता है पुरुष अपने रूपसे शुद्ध और मोक्षरूप है परंतु अविद्याके वशमें पडके दुःख और बंधनको पाता है अविद्याके अभाव होनेसे संयोगकाभी अभाव होता है दृश्यका और पुरुषका संयोगही पूर्ण दुःख और जन्ममरणकी त्रासरूप है जो पुरुष दृश्यके संयोगसे रहित है वह मोक्षरूपही है वह परिणामदुःखोंसे छूटकर कैवल्य मोक्षका भोग करनेको राजाके समान शोभित होता है यह हेय अर्थात् त्याग करने योग्य दुःख और दुःखोंका कारण और दुखोंकी निवृत्तिका वर्णन किया गया अब आगे दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय वर्णन किया जाता है उसको सुनो जब विवेकख्याति अर्थात् ज्ञान दृढ होता है तब संयोगका नाश होता है इसलिये महर्षि क्लेशनिवृत्तिके उपायको कहते हैं॥

चौ०–करि विचार देखहु मनमांही। दृश्य बुद्धिते भिन्न सदाही॥
ज्ञानरूप सब रहित विकारा। नाम विवेक ख्याति विस्तारा॥
मिथ्याज्ञान रहित जब होई। विवेक ख्याति कहावत सोई॥
तासे उपजत पर वैरागा। होत विरोध वृत्ति चित लागा॥
सबही क्लेश नाश हुइ जांही। हान उपाय कह्यो मुनि गाई॥
जो कहुँ उपजहि सास संदेहा। बुद्धिरहित चित जड़ कर गेहा॥
बुद्धिविहीन पुरुष कस होई। बुद्धि सहित सो चेतन सोई॥
उत्तर सुनहु सकल मनलाई। समझत मिटहि सकल दुचिताई॥

दो०–बुद्धि अहै त्रिगुणात्मिका, सत रज तम गुण जान।
रज तम भोग और मोह है, सतविवेक अनुमान॥
बुद्धी तीन प्रकारकी, रज तम मिथ्या ज्ञान।
तिहि त्यागतही होत है, बुद्धी सत्वप्रधान॥

चौ०–सत्वप्रधान बुद्धि है जोई। ताते पुरुष रहित नहिं होई॥
रज तम बुद्धि मोह अरु भोगा। त्याज्य कह्यो इनकर संयोगा॥

पुरुष निरंतर ज्ञानशक्तिमय । होत न दोष पुरुष चेतनमय ॥
मोक्षरूप महज्ञान शक्ति जो । रहत सर्वदा नशत नहीं तो ॥
केवल शब्दभाव विन जाने । होत महाभ्रम विन पहिचाने ॥
बुद्धिरहित तुम पुरुष न जानो । रजतमहीन कह्यो मम मानो ॥

अर्थ–विचारपूर्वक देखो पुरुष दृश्य बुद्धिसे सदा भिन्न है और ज्ञानस्वरूप सर्व विकारोंसे और मिथ्याज्ञानसे रहित विवेकख्याति है उससे परवैराग्य प्राप्त होता है और सर्व चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे क्लेशोंका नाश हो जाता है इसीको महर्षि हानका उपाय कहते हैं यदि कहीं ऐसा संदेह हो कि बुद्धिसे रहित चित्त जडसमान ठहरेगा बुद्धिके विना पुरुष चेतन नहीं हो सक्ता बुद्धिसंयोगसेही चेतन प्रतीत होता है तो इसके उत्तरको सुनो जिससे तुम्हारा चित्तका दुश्चिंतन मिट जावे सुनो बुद्धि सत्व रजस तमस भेदसे त्रिगुणात्मिका है रजस तमस भोग और मोहका रूप है औ सत्वगुण पूर्ण विवेक जानना चाहिये सो इन तीनों भेदोंमेंसे रजोगुणरूपी भोग और तमोगुणरूपी मोहको त्यागकर केवल सतोगुणी विवेकरूप बुद्धिका ग्रहण है सत्वप्रधान बुद्धिसे पुरुष कभी रहित नहीं होता रजस तमस भोगमोहरूप बुद्धिका त्याग कहा है पुरुष तो निरंतर ज्ञानशक्तिमय है पुरुषका चैतन्यतामें दोष नहीं आता मोक्षरूपमें ज्ञान शक्ति सर्वदा रहती है उसका नाश नहीं होता केवल शब्द जानकर भाव न जाननेसे भ्रम होता है सो तुम बुद्धिसे रहित पुरुषको न जानो हमने तो रज तम भोग मोहसे रहित होनेको कहा है यह माननीय है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

दो०–ता विवेकअख्यातिकी, प्रज्ञाभूमी सात ।
प्रान्तभूमिहू जानिये, तिनहि गनावत भ्रात ॥

अर्थ–विवेकी पुरुषकी विवेकबुद्धिकी सात प्रकारकी अंत अवस्था होती है तिनको गिनाते हैं ॥

भाष्य० दो०–हेय अरु हेयहेतु है, संप्रज्ञात तृतीय ।
चौथी ख्यातिविवेक है, मुक्तिस्वरूप सुधीय ॥

चौ०–अब उत्तरकी तीनों भूमी । चित्त विमुक्तिरूप गति घूमी ॥
भोग त्यागकर मुक्ति विधाना । द्वितीय अविद्या नाश सिराना ॥

विजय कियेते गुणसंबंधा । होय रहित तिनसो निरबंधा ॥
निर्मल मुक्तिरूप हुइ जाई । सातों रूप कहे हम गाई ॥

अर्थ-हेय १, हेयहेतु २, संप्रज्ञात ३, विवेकख्याति ४, यह चार प्रकारकी बुद्धि मुक्ति देनेवाली हैं और उत्तर तीन भूमि चित्तकी मुक्तिरूप हैं भोगोंको त्यागकर मुक्तिका साधन करना १, दूसरी अविद्याके नाश होनेसे गुणसंबंधोंको जीत निर्बंध होना, तीसरी निर्मल मुक्तिरूप हो जाना यह सातों प्रज्ञाभूमि जाननी चाहिये ॥२७॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुचिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः ॥ २८ ॥

दो०-योगअंग साधन किये, अशुची सब मिट जात ।
विवेकख्यातिको पायकर, ज्ञानप्रदीप दिखात ॥

अर्थ-योगके अंगोंका साधन करनेसे सब अपवित्रताका नाश हो जाता है और विवेकख्यातिके उत्पन्न होनेसे ज्ञान प्रदीप्त होता है ॥

भा.चौ.-विन साधनके सिधि नहिं पावत । ताते साधन वर्ण सुनावत ॥
योग अंग जो साधन करई । होत अशुचि क्षय पाप न हरई ॥
अशुचि नाशते दीपित ज्ञाना । तथा विवेक ख्याति अनुमाना ॥
विवेकख्यातिते अशुचि वियोगा । जैसे विटप कुठार संयोगा ॥

अर्थ-विना साधनके सिद्धि प्राप्ति नहीं होती इसलिये अब साधनोंका कथन किया जाता है योगके अंगोंका जो साधन करता है उसकी अशुचि नाश होकर पाप नष्ट हो जाते हैं अशुचि नाश होनेसेज्ञा नदीप्त हो जाता है और विवेकख्यातिका उदय होता है उस विवेकख्यातिसे अशुचि ऐसे नाश हो जाती है जैसे कुठारके संयोगसे वृक्षका नाश हो जाता है ॥ २८ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

सो०-यम नियमासन साधि, प्राणायाम प्रतिहार अरु ।
धारण ध्यान समाधि, अष्ट कहे अंग योगके ॥

अर्थ–यम १, नियम २, आसन ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, समाधि ८ ये आठ योगके अंग हैं ॥

भा. दो.–आठ अंग हैं योगके, यम नियमासन साधि।
प्राणायाम प्रतिहार अरु, धारणा ध्यान समाधि ॥

अर्थ–आठ अंग योगके हैं यम १, नियम २, आसन ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५ धारणा ६, ध्यान ७, समाधि ८ ॥ २९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

दो०–अहिंसा सत्य आस्तेय पुनि, ब्रह्मचर्य जिय जान।
अपरिग्रह सब पांच मिल, यमस्वरूप पहिचान ॥

अर्थ–अहिंसा १, सत्य २, आस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपरिग्रह ५ ये पांचों मिलकर यम कहाते हैं ॥

भा. दो.–सर्व देश सब कालमें, वध और वैर न होय।
जबहि अहिंसा जानिये, धर्म सत्य है सोय ॥

छंद–मन तथा इन्द्रीनते जो होत ज्ञान अभर्म है।
छलरहित छलहीन बोलत कहत सत्य सुधर्म है ॥
अस सत्य बोलत होत अनहित देत परको ताप है।
होत ऐसे सत्य भाषत महा अधरम पाप है ॥
विना आज्ञा धनीके धन हरत नहिं अन्यायसो।
गुप्तमें मनमांहि इच्छा होत नहिं धन पापसो ॥
आस्तेय याको नाम है सुन लेहु अस मुनिवर कहै।
तेहिं वश कर लिंग इन्द्री काम अति कसकर गहैं ॥

सो०–ब्रह्मचर्य अस नाम, वर्णन जिहिं पूरव कियो।
साधनते विश्राम, चित नहिं चंचलता गहत ॥

दो०-जिहि पदार्थमें दोष लखि, राग बढावत जोइ ।
इच्छा तिनमें करत नहिं, मान परिग्रह सोइ ॥
अपरिग्रह यह जानिये, भेदसहित सब गाय ।
लक्षण पांचों यमनके, कहे सकल समुझाय ॥

अथ-सर्व देश और सर्व कालमें वध और वैरकी इच्छा न होना अहिंसा धर्म कहाता है मन और इंद्रियोंके द्वारा जो निर्भ्रम ज्ञान हो छलरहित उसको वैसाही जानना मानना कहना सत्य कहाता है जो सत्य परका अनहित करनेवाला और ताप देनेवाला हो उस ऐसे सत्य बोलनेसे अधर्म और पापभागी होता है विना आज्ञा धनीके जो अन्यायसे किसीका धन नहीं लेते और गुप्तमेंभी अन्यायसे धन पानेकी इच्छा भी नहीं करते यह विना आज्ञा धनीके धनकी अन्याय गुप्त और प्रकटमें इच्छाकाभी न होनेका नाम आस्तेय है लिंगेंद्रियको वश कर कामदेवका रोकना ब्रह्मचर्य कहाता है इसको प्रथम कह चुके हैं इसके साधनसे विश्राम और चित्त निश्चल होता है जो पदार्थ रागको बढाता है उसको दोषरूप और परिग्रहरूप जान उनमें इच्छाका न करना अपरिग्रह जानना चाहिये ये पांचों यमके भेद लक्षणोंसहित समझकर कहे गये हैं ॥ ३० ॥

एत जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

सो०-अनहिंसादिक पांच, जाति देश और काल विन ।
समयरहित यह पांच, सार्वभौम और महाव्रत ॥

अर्थ-अहिंसा आदिक पांचों यम जाति देश काल और समयसे रहित होनेसे सार्वभौम महाव्रत कहाते हैं ॥

भा.चौ.-जाति देश और कालसमय जो। इनते रहित अहिंसादिक सो ॥
सार्वभूमि पालन यह धर्मा । नाम महाव्रत परम सुकर्मा ॥
शौच और संतोष तपस्या । वेद पठन स्वाध्याय समस्या ॥
पंचम ईश्वर कर प्रणिधाना । पांचों नियम कहत कर गाना ॥

अर्थ-जाति देश काल समयसे रहित अहिंसादिक पांच नियमोंकी सार्वभौम महा-

व्रत संज्ञा है । शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान पांचों नियमोंका वर्णन आगे किया जाता है ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ३२॥

दो०–शौच और संतोष तप, स्वाध्याय ईश्वरध्यान ।
पांच नियम मुनिवर कहे, मानहु सत्य प्रमान ॥

अर्थ–शौच १, संतोष २, तप ३, स्वाध्याय ४, ईश्वरप्रणिधान ५ ये पाच नियम जानने चाहिये ॥

भा.चौ.-शौच नाम पावनता जानो । अंतर बाह्य द्विधा अनुमानो ॥
रक्षा प्राणमात्रकी होई । इच्छा अधिक न राखहि जोई ॥
यह संतोष नाम कर गायो । ताको मुनिवर भेद बतायो ॥
क्षुधा पिपासा शीत उष्ण जो । चांद्रायण और कृच्छ्रव्रत जो॥

दो०–शुभ कर्मनते करत जो, मन और आत्मा ताप ।
निर्मल करत सुवर्ण सम, इमि तप नाशत पाप ॥

छं०–प्रणव जप अरु मोक्ष विद्या पठन वेद अरु शास्त्रको ।
स्वाध्याय जानो नाम याको मुक्तदाता पात्रको ॥
सब कर्म और शुभ धर्म अर्पण ईशमें जो करत हैं ।
प्रणिधान कर चित स्वस्थ सकल कुतर्क मनते हरत हैं ॥

अर्थ–शौच अर्थात् पवित्रता यह अंतर और बाह्य भेदसे दो प्रकारकी है अपने प्राणमात्रकी रक्षाके निमित्त इच्छा होना अधिक न होना संतोष कहाता है भूख प्यास शीत उष्णका सहन कृच्छ्रचांद्रायणादि व्रत करना शुभ कर्मोंकी आग्निमें मन और आत्माको तपाकर स्वर्णके समान निर्मल करनेका नाम तप है ॐकारका जप और मोक्षविद्या और वेदशास्त्रोंका पठन स्वाध्यायपात्रको मुक्तदाता है सर्व कर्मों और शुभधर्मोंके फलको ईश्वरमें अर्पण करना और ध्यान करके चित्तको स्वस्थ करना ईश्वरप्रणिधान कहाता है इससे संपूर्ण मनकी कुतर्कोंका नाश होता है ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

दो०–जो संयम और नियमते, चित्त होय विपरीति ।
तो तिनके प्रतिपक्षकी, भावन कर चित जीति ॥

अर्थ–जो संयम और नियमके भारसे चित्त पीछेको हटे तो संयमनियमके प्रतिपक्षकी भावना अर्थात् विचार करके चित्तको जीते और हटने न देवे ॥

छं०–वितर्क बाधित होय मन तब करहि सत्य विचार सो ।
प्रतिपक्ष असिसों काट कुत्सित तर्क चितते रारसो ॥
अशुभमें जो लालसा अनुमोदिता सुखकारने ।
अस करत अपने लोभवश नहिं गनत परदुख दारुने ॥

अर्थ–जब मन कुतर्कोंसे बाधित होय तब सत्य विचारको कामभें लावे और उस कुतर्कको प्रतिपक्षके विचाररूपी खड्गसे कुत्सित तर्कोंको चित्तसे काटकर हटा देवे अशुभ कर्मोंकी जो लालसा और प्रसन्नता सुखके निमित्त हुई है उसे इस विचारसे हटा देवे कि मैं अपने सुखके निमित्त दूसरेको दुःख देना चाहता हूं क्या मेरी इस करतूतिसे किसीको दुःख नहीं होगा यदि अपने सुखके निमित्त कोई मुझे दुःख देवे तो क्या मुझे दुःख न होगा फिर क्या कारण कि मैं अपने भलेके निमित्त किसीको दुःख दूं ॥ ३३ ॥

वितर्कहिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

दो०–लोभ क्रोध और मोह ये, न्यून्याधिक जस होत ॥
हिंसा आदि वितर्क तस, मृदु मध्यादि उदोत ॥
आप करे और अन्यकी, प्रेरणकृत जो होइ ।
प्रथम मान अनुमोदिता, दुख अनंत फल सोइ ॥
हिंसा आदिकसे कबहुँ, होत न सुख लवलेश ।
क्लेश रहत है सर्वदा, कर प्रतिपक्ष विशेष ॥

अर्थ–लोभ, क्रोध, मोह जैसे जैसे न्यून्याधिक होता है वैसेही हिंसादिक वितर्कभी मृदु मध्य अधिक होते रहते हैं प्रथम तो उन हिंसादिक वितर्कोंसे प्रसन्नता

है परन्तु उसका फल अनन्त दुःख होता है चाहे वह स्वयं करे या किसी अन्यकी प्रेरणासे करे हिंसा आदिकसे तो कभी लवलेशमात्रभी सुख नहीं होता सर्वदा क्लेश रहता है इससे इनकी निवृत्तिके लिये यत्न करे ॥

भा० दो०–हिंसा आदि वितर्क जो, कृत अनुमोदित लोभ।
क्रोध मोह मृदु मध्य अधि, करत दुःखकृत छोभ ॥
कर विचार देखहि सुजन, हिंसादिक दुखखान।
इन कर फल अज्ञान दुख, है अनंत जिय जान ॥
लोभ मोह और क्रोधवश, पर अनहित निज काज।
अनुमोदित चित करत है, अंत बिगारे खाज ॥
दृढ कर सकल वितर्ककों, त्याग करै सुखलागि।
कर विचार त्यागन करै, रहै मोक्ष सुखपागि ॥

अर्थ–लोभ, क्रोध, मोहके वश हिंसा आदि वितर्कको करता है और अनुमोदित होता है जैसा मृदु मध्य अधिक लोभ क्रोध मोह होता है वैसाही दुःखभी होता है बुद्धिमान् विचारद्वारा देखे हिंसादिक दुःखकी खान है इनका फल अज्ञानकृत अनन्त दुःखही है लोभ क्रोध और मोहके वश होकर अपने सुखके लिये पराया अनहित करता है सो इससे पहले तो चित्त प्रसन्न होता है परन्तु अंतमें सब सुख नष्ट होकर अनन्त दुःख प्राप्त होता है सो जो सुख चाहे वह दृढ करके हिंसादिक सब वितर्कोंका विचारद्वारा त्यागके मोक्षसुखके यत्नमें लगा रहे ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

दो०–हिंसा जो नहिं करत हैं, तिनको फल अस होइ।
तिनसों वैर न करहि कोउ, जगत जीव जो कोइ ॥

अर्थ–जो हिंसा नहीं करते हिंसा न करनेसे उनसे संसारमें जितने जीवमात्र हैं कोई वैर नहीं करता है यही अहिंसाका प्रतिष्ठित फल है ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

दो०–सत्य वचन बोलत सदा, झूठ न चितमें लाव।
अति अमोघ वाणी लहै, वचन सिद्धि कह पाव ॥

अर्थ–जो सदा सत्य वचन बोलता झूठको चित्तमेंभी नहीं आने देता उसका अति अमोघ वाणी और वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है यह सत्यका प्रतिष्ठित फल है ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

दो०–तनसों चोरी करहि नहिं, मनहूमें नहिं लाइ ।
जहँ चाहे तहँ मिलत हैं, स्वयं रत्न सब आइ ॥

अर्थ–जो तनसे चोरी नहीं करता और चोरीरूप कुकर्म मनमेंभी नहीं आने देता उसको जहां वह चाहे वहांही सब रत्न स्वयंही आकर प्राप्त हो जाते हैं यह अस्तेयका प्रतिष्ठित फल है ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

दो०–ब्रह्मचर्य धारण किये, बल अरु वीर्य दृढाय ।
अणिमादिक सिद्धीनकों, सहज लेत सो पाय ॥

अर्थ–ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे बल और वीर्य दृढ होता है और अणिमादिक आठों सिद्धिको सहजही पा लेता है यह ब्रह्मचर्यका प्रतिष्ठित फल है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥

दो०–अपरिग्रह थिर होत जब, लहत ज्ञान निज कर्म ।
तीन कालके जन्मको, पावत ज्ञान अभर्म ॥

अर्थ–जब अपरिग्रह स्थिर होता है तब उसको अपने कर्मोंका ज्ञान होता है इससे वह भूत वर्तमान भविष्यत् तीनों कालके जन्मको जान लेता है यह अपरिग्रहका फल है ॥ ३९ ॥

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

दो०–पूरण शुचिकी प्राप्तिते, होत घृणा निज काय ।
पर अंग शुद्ध अशुद्ध कर, कबहुँ न संग कराय ॥

अर्थ-पूर्ण शुचिकी प्राप्तिसे अपनेही शरीरमें घृणा होने लगती है पराया अंग कैसाही शुद्ध अशुद्ध हो वह कभी उसका संग नहीं करता यह शुचि बाह्य और अभ्यंतर भेदसे दो प्रकारकी है ॥

भा. चौ.-पूरण शुचि निश्चल जब होई । अपने अंग घृणा कर सोई ॥
अपने अंग घृणा जब होई । परसंसर्ग करै नहिं सोई ॥
अंतरीय शुचि करत बखाना । होत शुद्ध नाशत अज्ञाना ॥
तबही ज्ञान प्रकट हुइ जाई । पूरण शुचि जानहु तब पाई ॥

अर्थ-जब पूर्ण शुचि निश्चल हो जाती है तब अपनेही अंगमें घृणा उत्पन्न कर लेता है जब अपने अंगमें घृणा हो जाती है तब अन्यका संसर्गभी वह नहीं करता यह बाह्य शुचिका लक्षण है अन्तरीय शुचि जब प्राप्त होती है तब अज्ञान और अज्ञानके कार्य नष्ट होके ज्ञानका प्रकाश हो जाता है इसीको पूर्ण शुचि कहते हैं ॥४०॥

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

दो०-मैत्रियादिते होत है, रागादिककी हानि ।
रागहानितें होत पुनि, सत्वशुद्धि जिय जानि ॥
सत्वशुद्धिते स्वच्छता, चित्त स्थितहू जान
चित्तकी स्थिरता भये, इन्द्रिय सब वश मान ।
इन्द्रियके वशिकारते, होत योग्यता पर्म ।
आत्माको दर्शन करत, पुनि लहत कछु शर्म ॥

अर्थ-मैत्री आदिकसे रागादिकका नाश होता है, रागनाश होनेसे सत्वगुणकी शुद्धता होती है सत्वशुद्धिसे स्वच्छता और चित्त स्थिर होता है, चित्तके स्थिर होनेसे इन्द्रियां वश हो जाती हैं, इंद्रियोंके वश होनेसे योग्यता प्राप्त होती है योग्यतासे आत्माका दर्शन होता है फिर कुछभी क्लेश नहीं रहता ॥

भाष्य दो०-सत्वशुद्धि और इन्द्रिजय, मन प्रसन्न जब होइ ।
आत्मज्ञानके योगते, अव्यय सुख लह सोइ ॥

अर्थ–सत्वकी शुद्धि और इन्द्रियोंकी विजयसे मन प्रसन्न होता है मनकी प्रसन्नतासे आत्मज्ञानद्वारा अक्षय सुखको पाता है ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तम सुखलाभः ॥ ४२ ॥

दो०–होत सकल संतोषते, अति उत्तम सुख जोइ ।
प्राप्त होत है विनहि भ्रम, संशय करो न कोइ ॥

अर्थ–संतोषसे अति उत्तम सुख विनाही श्रम प्राप्त हो जाता है इसमें सशय नहीं है ॥

भाष्य चौ०–पूर्ण होत संतोष जब, अति उत्तम सुख लेत ।
नाश होत तृष्णा दुखद, कबहुँ दुःख नहिं देत ॥

अर्थ–जब पूर्ण संतोष हो जाता है तब अति उत्तम सुख पाता है और दुखदाई तृष्णाका नाश होकर कभी दुःख नहीं देती है ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

दो०–तपते रज तम अशुचि सब, सहज होत है दूर ।
काया और इन्द्रीनकी, सिद्धि पाय भरपूर ॥

अर्थ–तपस्यासे रजोगुण तमोगुणी अशुचि सहजमें दूर होकर काया और इन्द्रियोंकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है ॥

भाष्य दो०–तपते नाशत अशुचिके, प्राप्ति सिद्धि अणिमादि ।
शारीरिक इन्द्रियनकी, दूर दृष्टि श्रवणादि ॥

अर्थ–तपस्यासे अशुचिका नाश होकर अणिमादिक सिद्धि और शारीरिक और इन्द्रियादिककी सिद्धि दूरदृष्टि दूरश्रवणभी प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

दो०–स्वाध्यायकी पूर्णता, इष्ट देवको देखि ।
हुई अभीष्टहु सिद्धि सब, देव आप तिहि पेखि ॥

अर्थ–स्वाध्यायकी पूर्णतासे इष्टदेवका दर्शन और अभीष्ट मनोरथ सिद्ध होता है और देवता आपही उसपर कृपा करता है ॥

भाष्य छंद०–स्वाध्यायते जप मंत्र ईश्वर ध्यान जे नर करत हैं ।
होत दर्शन देवता निज इष्ट कह अनुसरत हैं ॥
मंत्र जानो प्रणव जाको आतमा निज देवको ।
आतमा परसादते तब जीव पावत मुक्तिको ॥

अर्थ–स्वाध्याय वेदादिका पठन और मंत्रका जप और ईश्वरका ध्यान करनेसे अपने इष्टदेवका दर्शन होता है जिसका मंत्र प्रणव और नाम जिसका आत्मा है वह प्रसन्न होता है आत्माके प्रसन्न होनेसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

दो०–ईश्वरके प्रणिधानते, होत समाधी सिद्ध ।
संप्रज्ञात समाधिकी, लगी रहत सब रिद्ध ॥

अर्थ–ईश्वरके प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है और संप्रज्ञातसमाधिकी संपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

दो०–स्थिर सुख जासों मिलै, आसन ताको नाम ।
पद्मासन वीरासन, भद्रासन सुखधाम ॥

अर्थ–आसनसे स्थिर सुख प्राप्त होता है सुखदाई आसन कई प्रकारके होते हैं जैसे पद्मासन वीरासन भद्रासन आदि ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

दो०–सहज चेष्टा देहकी, करत शेषसम काय ।
निश्चल करहि शरीर तब, आसन सिध हुइ जाय ॥

अर्थ–इस आसनजीत हो जानेसे काया ऐसी शिथिल और प्रयत्नहीन हो जाती है कि तनकभी नहीं चलती जैसी अनंत शेषजीकी काया निश्चल है अथवा अनंत जो परमेश्वर है उसमें निश्चल चित्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

दो०—आसनकी सिद्धी लहे, द्वन्द्व करत नहिं घात ।
शीत उष्ण दुख सुख कछू, व्यापत नहिं तिहि गात ॥

अर्थ—आसनसिद्धि होनेसे सर्व द्वन्द्वोंका नाश होता है और शीत उष्ण दुःख सुखकी कुछ बाधा शरीरको नहीं होती तब आसनसिद्धि भयी जाननी चाहिये ॥

भा. दो०—आसनजित जब होत तब, मिटत सकल दुखद्वंद ।
शीत उष्ण बाधित नहीं, होत ध्यान स्वच्छंद ॥

अर्थ—आसनसिद्धि होनेसे संपूर्ण दुख और द्वंद्व व शीत उष्ण बाधित नहीं होते और निष्कंटक ध्यान लग जाता है ॥ ४८ ॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ४९

दो०—जब आसनजित होत तब, श्वास और प्रश्वास ।
गति अभाव तिहि होत है, प्राणायाम प्रकाश ॥

अर्थ—आसनजित होनेसे श्वास और प्रश्वासकी गतिका अभाव हो जाता है और प्राणायामका प्रकाश होता है ॥ ४९ ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

दो०—बाह्यवृत्ति अरु अंतर, स्तम्भवृत्ति जिय जान ।
प्राणायाम विभेद त्रय, लेहु तिने पहिचान ॥

अर्थ—बाह्यवृत्ति १, अंतर्वृत्ति २, स्तम्भवृत्ति ३ ये प्राणायामके तीन भेद है ॥

भाष्य सो०—रेचक वायूरोध, बाह्यवृत्ति जानो सबै ।
पूरकको अवरोध, अंतरवृत्ती जानियें ॥
दोनों केर प्रभाव, स्तम्भवृत्ति है तीसरी ।
देशकालको पाव, संख्याते लघु दीर्घ है ॥

अर्थ–रेचक वायुके अवरोधका नाम बाह्यवृत्ति और पूरकवायुके अवरोधका नाम अंतर्वृत्ति और दोनोंके अवरोधको स्तंभवृत्ति कहते हैं । देशकाल और संख्यासे लघु और दीर्घ प्राणायाम हो जाता है ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

दो०–रेचक पूरक दोउनको, आक्षेपी जो कोइ ।
चौथो प्राणायाम सो, कुम्भक जानो सोइ ॥

अर्थ–रेचक पूरक दोनोंका आक्षेपी जो है उसका नाम कुंभक चौथा प्राणायाम है॥५१॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

दो०–प्राणायामप्रयोगते, होत विवेक प्रकाश ।
तब आवरण अज्ञान तम, सहज होत सब नाश ॥

अर्थ–प्राणायाम प्रयोगसे विवेक प्रकाश होता है तब अज्ञानरूपी आवरण सहजही नाश हो जाता है ॥

भा०दो०–ताते क्षीण होत अज्ञाना । जो आवरण मोह मद नाना ॥
ज्ञानदीप्त और आत्मप्रकाशा । प्राणायाम बंधकर नाशा ॥
संशय कछू न जामें जानो । जो फल कह्यो सत्य जिय मानो ॥
राग द्वेष सब क्लेश मिटाई । आत्मप्रकाश सुःख सरसाई ॥

अर्थ–इससे अज्ञान क्षीण होकर मोहमदमानरूपी आवरणका नाश होता है और ज्ञानदीप्त होनेसे आत्माका प्रकाश होता है और संपूर्ण बंधनोंका नाश होता है इसमें कुछ संशय नहीं है जो फल कहा है वह सत्य जानना चाहिये राग, द्वेष और क्लेशोंका नाश होनेसे आत्माके प्रकाशका अक्षय सुख होता है ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

दो०–मन स्थिरकर हेतु है, प्राणायाम विशुद्ध ।
तिहि निश्चल कर धारणा, भ्रमत नहीं कहुँ बुद्धि ॥

अर्थ–मन स्थिरका कारण प्राणायाम है तिससे निश्चल धारणा होती है और फिर बुद्धि कहीं नहीं भ्रमती है ॥ ५३ ॥

स्वविषयात्संयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

दो०—इन्द्रिय अपने विषयसों, होत रहित अतिस्वच्छ।
चितस्वरूप सम होत तब, प्रत्याहार प्रत्यक्ष ॥

अर्थ—जब इंद्रियां अपने २ विषयोंसे रहित होकर अतिस्वच्छ हो जाती हैं और तिनका चित्तस्वरूप हो जाता है तब प्रत्याहार प्रत्यक्ष भया जाननीय है ॥५४॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

दोहा—प्रत्याहार जब होत है, पूर्ण महाबलवान।
इन्द्रिय सहजहि होत वश, यह निश्चय जिय जान ॥

अर्थ—जब प्रत्याहार पूर्ण होकर बलवान् होता है तब इन्द्रिय वश हो जाती है यह निश्चय है ॥

भाष्य दो०—इन्द्रिय जित जब होत चित, धारत प्रत्याहार।
धर्मविरुद्ध न जाय चित, पावत ध्येयाकार ॥

अर्थ—जब इन्द्रियां वश हो जाती हैं और धारणा दृढ हो जाती है तब धर्मविरुद्ध चित्त कहींभी नहीं जाता ध्येयाकार हो जाता है ॥५५॥

दो०—श्रीपातंजलियोगको, साधनपाद द्वितीय।
रामबकस पूरण कियो, तिहिं जाने दुख छीय ॥

अर्थ—श्रीपातंजलिमहर्षिप्रणीतयोगशास्त्रके साधनपादरूपभाषाभाष्यको पूर्ण किया जिसके जाननेसे सर्व दुःखोंका नाश होता है ॥

इति श्रीपतंजलियोगशास्त्रे भाषाभाष्ये श्रीमत्पंडितगुरूदयालस्यात्मजपंडित रामभक्तविरचिते साधनपादद्वितीयः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ विभूतिपादतृतीयप्रारम्भः ।

सो०—विनय करौं कर जोरि, सीस नाय मुनिवर चरण ।
पातंजलहि निहोरि, विभूतिपाद वर्णन करौं ॥

देशबंधश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

दो०—एकदेशमें चित्तको, बंधन दृढ कर होइ ।
डिगहि नहीं तिहु कालमें, कहत धारणा सोइ ॥

अर्थ—एक देशमें चित्तका दृढपूर्वक ऐसा बंधन हो जानेका नाम धारणा है जो तीनों कालमें फिर वहांसे चित्त कहीं न डिगने पावे ॥

भाष्य दो०—हृदयकमल बिच चित्तको, कै मस्तकके देश ।
जिह्वा और नासाग्रमें, करहि धारणा शेष ॥
चंचलतासे रोककर, चित स्थिरता लाय ।
अर्थसहित जप प्रणवको, प्रभुमें चित्त लगाय ॥

सो०—एक देशमें चित्त, बंध कहावत धारणा ।
अचल होहि सब वृत्ति, डिगमिगाहि नहिं कतहुँ कोउ ॥

अथ—हृदयकमल मस्तक जिह्वा और नासाके अग्रमें निश्चल चित्त हो जानेका नाम धारणा है चित्तको चंचलतासे रोक स्थिरतापूर्वक अर्थसहित ओंकारके रूपको विचारता हुआ ईश्वरका ध्यान करे । जब एक देशमें चित्त बन्ध जावे और चित्तकी वृत्तियां निश्चल हो जावें और फिर चित्त तनकभी न डिगे उसका नाम धारणा है ॥१॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

दो०—जौन विषयकी धारणा, चितमें करहि बनाय ।
ताहि त्याग चित जाय नहिं, सो दृढ ध्यान कहाय ॥

अर्थ—जिस वस्तु और विषयकी धारणा चित्तमें की जाय उसको छोडके जब चित्त कहीं अन्त नहीं जाता उसमें चित्तका निश्चल हो जानेका नाम ध्यान है ॥

भाष्य छंद०—धारणाते ध्यान उपजत ध्येयमें चित मगन सो ।
अन्य विषयन त्यागकर मन ध्याव प्रभुपद लगनसो ॥
ध्यानहीमें ध्येय भासत भेद कछु नहिं रहत है ।
ध्यान ध्याता रूप सबको ध्येयसो लखि परत है ॥

अर्थ—धारणासे ध्यान होता है ध्येयमें चित्तका मगन हो जानेका नाम ध्यान है । सर्व विषयोंको छोडके अत्यन्त प्रीतिसे ध्येय जो ईश्वर है उसका ध्यान करे जब ध्यानद्वारा ध्येयका प्रत्यक्ष हो जावे भेदरहित हो जावे अर्थात् ध्यान ध्याता सब ध्येयाकारही भासित होने लगे इस भेदरहित ध्येयके भासित होनेका नाम ध्यान है ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

दो०—रहत भेद किंचित् नहीं, चित हुइ ध्येयाकार ।
लक्षण पूर्ण समाधिके, मुनिवर कहे विचार ॥

अर्थ—ध्यान और समाधिमें किंचित्भी भेद नहीं है ध्यानकेही अर्थके समान अर्थात ध्येयाकारही भासता है यही महर्षिने पूर्ण समाधिके लक्षण कहे हैं ॥ ३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

सो०—धारण ध्यान समाधि, तीनोंके संयोगकों ।
संयम नाम अबाधि, एक नाम ते ज्ञानत्रय ॥

अर्थ—धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनोंके संयोगका नाम संयम है एक संयमनामके कहनेसे धारणा ध्यान समाधि तीनोंका बोध होता है ॥ ४ ॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

दो०—संयमके जय होतही, प्रज्ञा करत प्रकाश ।
ताते दृढ संयम करै, होत सकल भ्रमनाश ॥

अर्थ—संयमके जय होनेसे बुद्धिमें प्रकाश उत्पन्न होता है इसलिये दृढपूर्वक संयम करना चाहिये जिससे भ्रमका नाश होय ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सो०—संयमका संयोग, करहि भूमि सवितर्कमें ।
प्रज्ञा होत निरोग, चित लागत वैराग्य तब ॥

अर्थ—तिस संयमका संप्रज्ञातकी सवितर्कादि चारों भूमियोंमें क्रमानुसार प्रथम सवितर्क फिर निर्वितर्क इसी प्रकार सविचार और निर्विचार भूमियोंमें संयम करे अर्थात संयमको जोरे इससे बुद्धि निर्मल होकर चित्त वैराग्यमें प्रवृत्ति होता है ॥

भा. चौ.-संयम संप्रज्ञात भूमिमें । कर विनियोग विराग शून्यमें ॥
सवितर्क निर्वितर्क विचारा । निर्विचार यह भूमि पसारा ॥
प्रथम स्थूलमांहि कर संयम । तदुपर सूक्ष्म भूमिकर संगम ॥
विन संयम स्थूल कराई । सूक्ष्म लक्ष नहिं वेध्यो जाई ॥

अर्थ—संप्रज्ञात वैराग्यकी सवितर्क निर्वितर्क सविचार और निर्विचार ४ भूमि हैं उनमें संयमको संयोग करे प्रथम स्थूल भूमियोंमें संयम करे फिर सूक्ष्म भूमियोंमें संयम करे विना स्थूल भूमियोंमें संयम किय सूक्ष्म लक्षको नहीं वेध सक्ता अर्थात् सूक्ष्म पदार्थको नहीं जान सक्ता ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

दो०—धारण ध्यान समाधित्रय, अंतरअंग सबीज ।
इन तीनोंके पूर्व यम, ते बहिरंग अछीज ॥

भा. चौ०—अंतरंग संयम समाधिके । हरण सकल दुखद्वंद्व्याधिके ॥
पूरवके यम आदिक पांचहु । बहिरअंग सबीजके सांचहु ॥
असंप्रज्ञातयोगमें तेहू । बाह्य अग जानहु गति गेहू ॥
संप्रज्ञात सविचारा जानहु । निर्विचार पुनि योग बखानहु ॥

अर्थ—धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों सबीज समाधिके अंतरअङ्ग हैं इन तीनोंके पूर्वमें जो पांच यम कहे गये हैं वे सबीज समाधिके बाह्य अङ्ग हैं ये सबीज समाधिके धारणादि तीन अन्तरअङ्ग दुखद्वंद्व व्याधिके नाशक हैं और पूर्वकथित पांचों यम सबीज समाधिके बहिरङ्ग है सो असंप्रज्ञात योगमें धारणा ध्यान समाधि भी बाह्य अंग गिने जाते हैं संप्रज्ञानको सविचारा असंप्रज्ञातको निर्विचारामी कहते हैं ॥ ७ ॥

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

दो०—तदपि धारणा ध्यान अरु, पुनि समाधि ये तीन ।
बहिरंग निर्बीजके, कहत विवेकी चीन ॥

अर्थ—तबभी धारणा ध्यान समाधि ये तीनों निर्बीज समाधिके बहिरङ्ग हैं ऐसा विवेकी कहते हैं ॥ ८ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

दो०—व्युत्थानके संस्कार सब, होत व्यतीत निरोध ।
प्रकट होत संस्कार सब, जब निरोध कृत बोध ॥
यह परिणाम निरोधकर, वर्णो महामुनीश ।
चितसम्मेलन होत जब, जानहु विस्वा वीस ॥

अर्थ—चित्तकी वृत्तियोंके निरोध न होनेका नाम व्युत्थान है संप्रज्ञातयोगमेंभी पूर्णतः चित्तवृत्तियोंका निरोध न होनेसे इससे उसकी व्युत्थान दशाभी कही जाती है सो व्युत्थानदशाके सब संस्कारोंका नाश निरोध अवस्था जो असंप्रज्ञातयोगकी है उसमें हो जाता है सो निरोधसमाधि अर्थात् असंप्रज्ञातयोगमें व्युत्थानसंस्कारोंका क्षय और व्युत्थान अर्थात् संप्रज्ञातयोगमें संस्कारोंका उदय हो जाता है निरोधसंस्कार चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर चित्तका निर्मल हो जाना निरोधका परिणाम कहाता है इसीको चित्तसम्मेलन कहते हैं ॥

भा. छन्द०—व्युत्थान और निरोध जो संस्कारवृत्ति प्रवृत्तिको ।
क्षय उदय जय होत तिहि क्षण नाम तैसी कृत्तिको ॥
व्युत्थानमें लय होत नाहीं चित्तकी वृत्ति महा ।
उठत है संस्कार तिनको रुकत नहिं मुनिवर कहा ॥
क्षय होत जब संस्कार सब व्युत्थानके जो कछु रहे ।
उदय होत निरोध तिहि क्षण योग चित वश कर रहे ॥
परिणामभोग निरोध जानो चित्तके संयोगते ।
प्रकृति और व्युत्थानको अवरोध मानो भोगते ॥

अर्थ-वृत्तियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके व्युत्थान और निरोध दो भेद हैं व्युत्थान-कालमें संस्कारोंका उदय व निरोधकालमें संस्कारोंका क्षय होता रहता है व्युत्थानदशामें चित्तकी अपार वृत्तियोंका लय नहीं होता उनका संस्कार उठता रहता है रुकता नहीं है और जब निरोधकाल होता है तब सब संस्कारोंका क्षय होकर चित्त वश हो जाता है जब रुकी हुई चित्तवृत्तियोंका चित्तसे संयोग होता है उसको निरोधपरिणाम कहते हैं व्युत्थानमें प्रवृत्ति वृत्तियोंका भोगोंसे रुक जानेका नाम निरोधपरिणाम कहाता है ॥ ९ ॥

तस्य प्रशांतवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

दो०-हुइ निरोध संस्कारते, ताको शांति प्रवाह।
पुनि न ग्रहत व्युत्थानचित, सदा रहत इक ठाह ॥

अर्थ-निरोधसंस्कारसे उस व्युत्थान संस्कारका प्रवाह शांत होकर चित्तकी स्थिति एकही स्थानपर होती है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

दो०-सम्प्रज्ञात समाधिमें, चितभ्रम नानाअर्थ।
ताहि कहत सवार्थता, क्षयव्युत्थानसमर्थ ॥
उदय होत एकाग्रता, चितसर्वारथहीन।
तब समाधिपरिणाम तुम, जानहु मुनि कह दीन ॥

अर्थ-सम्प्रज्ञातसमाधिमें चित्त नाना अर्थोंमें भ्रमता है उसको सर्वार्थता कहते हैं क्षय अर्थात् एकाग्रताका उदय होना यह संप्रज्ञातसमाधिका परिणाम है ॥

भाष्य दो०-संप्रज्ञातसमाधिमें, चितभ्रम नाना अर्थ।
ताहि कहत सर्वार्थता, क्षयको होत समर्थ ॥

अर्थ-संप्रज्ञातसमाधिमें नाना अर्थोंमें चित्त भ्रमित रहता और एकाग्रतामें सर्वार्थका क्षय होता है यह अर्थोंका उदयका क्षयरूप सर्वार्थता और एकाग्रता चित्तसमाधिके परिणाम हैं ॥ ११ ॥

ततः पुनः शांतोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतायाः परिणामः ॥ १२ ॥

दो०—एकाग्रता समाधिमें, पुनि पुनि भासत सोइ ।
जाको ध्यायो चित्तमें, अन्य न भासत कोइ ॥

अर्थ—एकाग्रतासमाधिमें बारबार वही भासित होता है जिसका ध्यान किया गया हो समाधि छूट जानेपरभी अन्य पदार्थ भासित न होना यह चित्तकी एकाग्रताका परिणाम अर्थात् फल है ॥

भाष्य छं०—सर्वार्थशांती उदय दोऊ काल चित एकाग्रता ।
होत चित थिर ध्येयमें परिणाम पूर्ण समग्रता ॥
एकाग्रता परिणाम जानो तुल्य भूत भविष्यकी ।
जो ज्ञान पूरव भयो पुनि चितमाहि उद्यत ताहिकी ॥
शांति हुइ कर उदित तिनको तुल्य चितमें भासि है ।
समाधिके पर्यंत तिनको विनहिं क्रम परकाश है ॥
एकाग्रता परिणामको सब कह्यो मुनिवर गायके ।
सो कह्यो हम समझाय तुम सन सुनहु चित्त लगायके ॥

अर्थ—सर्वार्थकी शांतिदशामें जब चित्तकी वृत्तियोंका क्षय होकर किसी ध्येयपदार्थमें चित्त लग जाता है और इस चित्तके ध्येयाकार हो जानेका नाम समाधि है जब समाधिकाल और समाधिके छूट जानेपरभी चित्त ध्येयाकारही बना रहे इस अवस्थाका नाम एकाग्रतापरिणाम है सो इस एकाग्रतापरिणामको हमने तुमसे कहा जैसा कि मुनिवर्यने कहा है यह चित्तकी एकाग्रताका फल है ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

दो०—जैसे चितपरिणाम त्रय, तैसेहि भूतइन्द्रीय ।
धर्मलक्षण और आयुको, मानो अपने जीय ॥

अर्थ—जैसे चित्तके तीन परिणाम हैं वैसेही पञ्च भूत आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी और इन्द्रियेंभी धर्म, लक्षण, अवस्था तीन परिणाम होते हैं ॥

भाष्य दो०—जैसे चित परिणामको, वर्णन कीन मुनीश ।
जैसे पांचों भूत अरु, इन्द्रिय दसमे दीश ॥
धर्मलक्षणा युग्म है, तृतीय अवस्था जान ।
तीन भेद इनकर कहै, काल तीन अनुमान ॥
धर्मीकी जो शक्ति है, धर्म कहावत सोइ ।
शक्ती जामें रहत है, धर्मी मानो सोइ ॥
पूर्वधर्मके मिटतही, अन्य धर्म प्रकटात ।
बदलत दूजो धर्म जो, सो परिणाम कहात ॥

चौ०—जैसे पिंड धर्म मृतिकाको । नाश भये घट धर्म सु जाको ॥
तैसेही चितका व्युत्थाना । नाशतही निरोध ठहरना ॥
कार्य रूप और धर्मप्रमाना । कालभेद लक्षण परिणामा ॥
भूत और वर्तमान अनागत । काल तीन परिणाम लक्षमत ॥
ईहि प्रकार व्युत्थानके माहीं । काल निरोध अनागत पाहीं ॥
वर्तमान जब होय निसेधा । होत भूत व्युत्थान सुबोधा ॥
कालनिरोध और व्युत्थाना । वर्तमान लक्षण जिय जाना ॥
वर्तमान संबंध अतीता । होत नवीन पुरातन मीता ॥

दो०—घट पट आदि पदार्थकी, तीन अवस्था जान ।
तैसेही दुर्बल सबल, होय निरोध व्युत्थान ॥
धर्मी जानो धर्मते, धर्मते लक्षण मान ।
लक्षणते पुनि होत है, सत्य अवस्था ज्ञान ॥
तीन कालमें एकरस, धर्मी तजे न वर्ण ।
धर्म पलट पुनि पुनि परत, ज्यों आभूषणस्वर्ण ॥

अर्थ—जैसे चित्तपरिणामको महर्षिने वर्णन किया है वैसेही पांचों भूत और दसों इन्द्रियोंमेंभी जानो धर्म, लक्षण, अवस्था यह तीन परिणाम और कालभेदसे तीन भेद जानने चाहिये जिसमें शक्ति होती है वह धर्मी कहाता है और धर्मीकी

शक्तिका नाम धर्म है पूर्वधर्मके मिट जानेपर जो अन्य धर्म प्रकट होता है वही परिणाम कहाता है जैसे पिंडधर्म मट्टीमें होता है जब पिंडधर्मके मिट जानेपर उस मृत्तिकाका घट बन जावे तब घटधर्म हो जानेका नाम परिणाम है इसी प्रकार जब चित्तका व्युत्थान धर्म नाश होकर निरोध धर्म प्राप्त हो जाता है तब उसको निरोध परिणाम कहते हैं इसीका नाम धर्मपरिणाम है कालभेदहीको लक्षणपरिणाम कहते हैं. भूत, वर्तमान, भविष्यत् ये तीन काल लक्षणपरिणाममें होते हैं धर्मका भविष्यत्-कालमें प्राप्त होना अनागतअध्वा और धर्मका वर्तमान होना वर्तमान अध्वा और धर्मका वर्तमानसे पहले हो जानेका नाम अतीतअध्वा कहाता है इसी प्रकार व्युत्थानमें निरोधका अनागत अध्वा और निरोधके वर्तमानमें व्युत्थानका अतीत अध्वा और व्युत्थान तथा निरोधके वर्तमानकालमें दोनोंका वर्तमान अध्वा होता है अध्वा कालका नाम है इसीका नाम लक्षणपरिणाम है वर्तमान और अतीतकालके संबंधसे घट आदिके नये पुराने होनेके ज्ञानका नाम अवस्थापरिणाम है इसी प्रकार निरोधलक्षणमें निरोधसंस्कार बलवान् और व्युत्थानसंस्कार पुराने तथा दुर्बल जानने चाहिये यह बलवान् व निर्बल होना अवस्थापरिणाम है धर्मीका धर्मसे धर्मोंका लक्षणसे लक्षणका अवस्थासे परिणाम होता है इस प्रकारसे तीन परिणाम जानने चाहिये तीनों कालमें धर्मी एकरस रहता है और धर्म बारबार बदला करता है जैसे स्वर्ण सदा एकरस रहता है परंतु धर्मरूप आभूषण उस स्वर्णके नाना प्रकारके बदलते रहते हैं ॥ १३ ॥

शांतोदितोऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

सो०—तीन कालके मांहि, धर्मी अनुगत धर्मके।
कबहुँ न सो विलगाहि, जैसे घटतें मृत्तिका ॥

अर्थ—तीनों कालमें धर्मी अपने धर्ममें बना रहता है कभी अलग नहीं होता जैसे घट आदिसे मृत्तिका अलग नहीं होती है वैसेही धर्मसे धर्मी अलग नहीं होता मृत्तिका धर्मी और घट धर्म है ॥

भा. चौ.-शांति उदित और अव्यपदेशा। तीन धर्म सामान्य विशेषा ॥
सब धर्मनमें जिहिं संबंधा। धर्मी नाम जान निरबंधा ॥
भूत और वर्तमान भविष्यत। रहत धर्मीके अन्वित ॥
जाते प्रकट होत सब धर्मा। धर्मी नाम रहित सब मर्मा ॥

अर्थ–शांत उदित और अव्यपदेश्य ये तीन प्रकारसे सामान्य विशेषरूपसे धर्मी धर्मका संयोगी है जिसका अपने सब धर्मोंमें संबंध हो उसे धर्मी जानना चाहिये शांतसे भूत उदितसे वर्तमान अव्यपदेश्यसे भविष्यत् इन तीनों कालमें धर्म धर्मीमें मिला रहता है धर्मीसेही सर्व धर्म प्रकट होते हैं उसीका नाम भ्रमरहित धर्मी है जिससे अनेक धर्म उत्पन्न होकर वहभी अर्थात् धर्मीभी उन धर्मोंमें बना रहे॥१४॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

दो०–क्रमकी जो है अन्यता, हेतु अन्य परिणाम ।
दृढ कर जानहु चित्तमें, दृष्टादृष्ट सुनाम ॥

अर्थ–क्रमका अन्य होनाही परिणामके अन्य होनेका कारण है चाहे वह दृष्ट हो चाहे अदृष्ट हो ॥

भा.चौ.-क्रमके अन्य भये परिणामा । होत अन्य यह हेतु ललामा ॥
सुवरणके आभूषण क्रमते । होत अनेक परिणाम यतनते ॥
कुंडल बाजूबंद सुहाये । सीसफूल कर कंकण गाये ॥
इहि प्रकार जो जाकर हेतु । उपजत क्रम अनुसार सुखेतु ॥

अर्थ–क्रमके अन्य होनेसे परिणामभी अन्य होता है इससे क्रमका अन्य होनाही परिणामके अन्य होनेका हेतु जानना चाहिये जैसे क्रमानुसार एक स्वर्णके अनेक आभूषण, कुंडल, बाजूबंद, सीसफूल करकंकण होते हैं इसी प्रकार जो जिसका कारण है वह अपने कारणसे उत्पन्न होता है इसी क्रमसे एक धर्मीसे अनेक धर्म क्रमानुसार होनेसे क्रमही परिणाम अर्थात् फलका हेतु है ॥

छंद०–ज्ञात तिनको होत आगम न्याय और अनुमानते ।
परिणाम जान अदृष्टको तिहिं सप्तधा चितज्ञानते ॥
प्रथम जान निरोध दूजो कर्म त्रिय संस्कार सो ।
त्रिगुणते पुनि होत चौथो पंच जीवन प्राण सो ॥
षष्ठ चेष्टा कहत मुनिवर शक्ति सप्तमकों गने ।
अनुमान द्वारा जान सब कह मान जो मुनिवर भने ॥

निरोध द्वारा रुकत वृत्ती कर्म दुख सुख भोगकी ।
संस्कार भासत स्मृतीते त्रिगुण चंचल योगकी ॥
श्वास और प्रश्वास जीवन क्रिया चेष्टा मानियें ।
स्थूलते अनुमान द्वारा सूक्ष्म शक्ती जानियें ॥

दो०–संयमते जब होत है, साक्षात परिणाम ।
धर्म लक्षण और आयु त्रय, करहिं चित्तमें ठाम ॥

अर्थ–दृष्ट अदृष्टका ज्ञान आगम न्याय और अनुमानसे होता है दृष्ट जैसे कामसुख आदि अदृष्ट परिणाम सात प्रकारका होता है निरोध १, कर्म २, संस्कार ३, चौथा त्रिगुणकृत चित्तकी चंचलता ४, जीवन जो श्वास प्रश्वास प्राणधारणसे ५, चेष्टा अर्थात् क्रिया ६, शक्ति अर्थात् कार्योंकी सूक्ष्म अवस्था चित्तका धर्म ७ इनको अनुमानद्वारा जानना चाहिये निरोधसे चित्तकी वृत्तियोंका अवरोध होता है दुःख सुखके होनेके कर्मका बोध स्मृतिसे संस्कारका बोध चित्तकी चंचलतासे त्रिगुणपरिणामका प्राणवायुके आवागवनसे जीवनका क्रियासे चेष्टाका स्थूलसे सूक्ष्म भासित होनेसे शक्तिका अनुमानद्वारा ज्ञान होता है संयम करनेसे परिणामका साक्षात्कार हो अर्थात् धर्मलक्षण अवस्थाका चित्तमें साक्षात्कार होता है ॥ १५ ॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

दो०–धर्मलक्षणा आयुमें, संयम दृढ कर जोइ ।
भूत अनागत ज्ञानको, सहजहि पावत सोइ ॥

अर्थ–धर्मलक्षणा और अवस्था तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे सहजमेंही अतीत अनागत अर्थात् भूत भविष्यत् कालका ज्ञान हो जाता है ॥

भाष्य दो०–परिणामत्रयके दर्शते, रज तम मल जरि जात ।
तब सतगुणके उदयते, तीनों काल दिखात ॥

अर्थ–तीनों परिणामके साक्षात्कार होनेसे रजोगुण तमोगुण रूप मल जर जाते हैं तब तीनों कालका ज्ञान हो जाता है ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

दो०—शब्द अर्थ और ज्ञानको, भावहेतु संकेत ।
ताके भेदाभेदमें, संयम कर चित देत ॥
दृढकर संयमके किये, होत शब्दकर ज्ञान ।
प्राणिमात्रके शब्दमें, होत अर्थको भान ॥

अर्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान और उनके भाव, हेतु, संकेतके भेदाभेदमें जो चित्तका संयम करते हैं उस संयमसे सर्व प्राणिमात्रके शब्द और उन शब्दोंके अर्थका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्वजातेज्ञानम् ॥ १८ ॥

दो०—संस्कार संयम किये, साक्षात्कार प्रधान ।
तबही पूरव जन्मकी, जाति होत सब भान ॥
जैसे जैगीषव्य ऋषि, साक्षात्कार संस्कार ।
दस कल्पनकी योनि निज, जानी सुगम विचार ॥

अर्थ—जब संस्कारमें पूर्ण संयम हो जाता है तब पूर्व जन्मोंकी ज्ञातिका बोध होता है जैसे जैगीषव्यऋषिको संस्कार साक्षात् करनेसे दश कल्पोंकी अपनी पूर्व जन्मोंकी योनिका ज्ञान हो गया था ॥

भाष्य छंद—वासनाके ज्ञानसे उत्पन्न स्मृति हेतु जो ।
पुनि अविद्या क्लेश धर्माधर्म आयू भोग जो ॥
पूर्वजन्मनिरोध जीवन धर्मकर चितमें वसे ।
साक्षात कर इन सर्वको योगीश समरथता लसे ॥

अर्थ—वासनाके ज्ञानसे स्मृति हेतु उत्पन्न होता है और अविद्यादि क्लेशोंके हेतु धर्म अधर्म जाति आयु भोग पूर्वजन्मोंमें हुए निरोधशक्ति और जीवनधर्ममें होनेवाले जो संस्कार चित्तमें रहते हैं इन सबका साक्षात्कार करनेसे योगीको संस्कार साक्षात् करनेकी सामर्थ्य होती है इस प्रकार अपनी और अन्यकी जातिका ज्ञान योगीको होता है ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

दो०—परके चितकी वृत्तिमें, कर संयम चित साध।
परके चितके ज्ञानको, पावत तब निर्बाध॥

अर्थ—परके चित्तकी वृत्तियोंमें संयम करनेसे परके चित्तका निर्बाधित ज्ञान होता है॥ १९॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तंभे चक्षुःप्रकाशा-संयोगेऽन्तर्द्धानम्॥ २०॥

दो०—काया और स्वरूपमें, संयम दृढ कर होय।
ताहि ग्रहणकी शक्ति जो, रोकहि मुनिवर सोय॥
परको नेत्रप्रकाश जब, परत न योगी काय।
नहिं देखत तब रूपको, अंतर्धान कहाय॥

अर्थ—काया और स्वरूपमें दृढपूर्वक संयम करनेसे काया और रूपके ग्रहण करनेकी शक्तिको रोक लेय तब परके नेत्रका प्रकाश योगीको कायापर न पडनेसे अन्यको योगीका दर्शन नहीं होता इससे इसका नाम अंतर्धानशक्ति कहा जाता है॥ २०॥

न च सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २१॥

दो०—ज्ञान होत परचित्तको, परचित संयम देत।
विषयन कर संयम नहीं, चित्त विषय नहिं लेत॥
परचितमें संयम किये, होत ज्ञात परचित्त।
विषयनके संयम भये, ज्ञानविषयकर नित्त॥
कर आलंबनचित्त जिह, तिहँकर उपजत ज्ञान।
चितते परचित ज्ञान लह, विषय विषयकर मान॥

अर्थ—परचित्तमें संयम करनेसे परचित्तका ज्ञान होता है परचित्तके विषयोंमें संयमन करनेसे परचित्तके विषयोंका ज्ञान नहीं होता। परचित्तमें संयमसे परचित्तका ज्ञान होता है और परचित्तके विषयोंमें संयम करनेसे परचित्तके विषयोंका ज्ञान होता है। इसका भाव यह है जिसको चित्त आलंबन अर्थात् संयम करता है उसीका

ज्ञान होता है परचित्तमें संयम करनेसे परचित्तका और परचित्तके विषयोंमें संयम करनेसे परचित्तके विषयोंका ज्ञान होता है ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरांतज्ञा-नमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

दो०—सोपक्रम निरुपक्रम, कर्म कहे द्वे भांति ।
संयम तिनमें करत ही, अपनो मरण दिखात ॥
सोपक्रमते शीघ्रही, निरुपक्रमकर देर ।
अथवा तीन अरिष्टतें, मरणज्ञानको हेर ॥

अर्थ—सोपक्रम निरुपक्रम भेदसे कर्म दो प्रकारका होता है कर्ममें संयम करनेसे अपने मरणका ज्ञान होता है सोपक्रमसे शीघ्रता विदित होती है निरुपक्रमसे विलंब प्रतीत होता है अथवा अरिष्टसेभी मरणका बोध हो जाता है ॥

भा.चौ.-सोपक्रम निरुपक्रम कर्मा । कर्मभेद हम कहे अभर्मा ॥
जो कोउ कर संयम निज मनमें । होत ज्ञान निज मृतु कर तनमें ॥
अथवा ज्ञान अरिष्टते होई । ताको जान लेत सब कोई ॥
सोपक्रमकर फल अतिशीघ्रा । निरुपक्रम विलब कृत दीर्घा ॥

दो०—जैसे गीले वस्त्रकों, लेवे घाम सुखाय ।
सोपक्रम सो जानिये, सद्य सूखि सो जाय ॥
निरुपक्रम यह जानिये, भीज्यौ वस्त्र लपेट ।
धरहि छांहमें सूखवे, सो विलंब कृति ठेट ॥

अर्थ—सोपक्रम निरुपक्रम भेदसे कर्म दो प्रकारका होता है सोपक्रमका अर्थ क्रमानुसार तथा यथाक्रम है और निरुपक्रमका अर्थ क्रमरहित तथा विपरीतक्रम है सो जो कोई कर्मोंमें संयम करता है उसे निज मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके अरिष्टोंसेभी मरणज्ञान हो जाता है अध्यात्मिक जैसे कर्णछिद्रोंके बन्द करनेसे जो प्राणशब्द सुन परता है उसका न सुनना, आधिभौतिक जैसे यमदूत आदिक तथा अपने मृतकोंको देखना आधिदैविक अकस्मात्ही स्वर्ग तथा देवता आदिका दर्शन होना, सोपक्रममें संयमसे शीघ्र

ज्ञान होता है निरुपक्रममें संयम करनेसे विलंबमें ज्ञान होता है जैसे गीले वस्त्रको घाममें सुखानेसे वह वस्त्र जल्द सूख जाता है और उसी गीले वस्त्रको लपेटकर छांहमें रख देनेसे विलंबमें सूखता है इसी प्रकारसे सोपक्रममें संयमसे जल्द ज्ञान होता है निरुपक्रममें संयम करनेसे देर लगती है ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

दो०–मैत्री आदिकमें किये, संयम दृढकर साध ।
बल बाढत ताको विपुल, मिटत सकल जगव्याधि ॥

अर्थ–मैत्री आदिक जो पूर्व कह चुके हैं उनमें संयम करनेसे बलकी वृद्धि होती है और सांसारिक वैर वैमनस्य दूर हो जाता है ॥

भा. दो.–मैत्री आदिक जे कहे, तिनमें संयम कीन ।
बलकी प्राप्ती होत है, विन संयम बलहीन ॥

अर्थ–मैत्री आदिमें संयम करनेसे बल प्राप्त होता है विना संयमके बलहीन रहता है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

दो०–बलमें संयमके किये, हस्तिसम बल होय ।
गरुड़वायुबलमें करे, तिनसमही बल सोय ॥

अर्थ–बलमें संयमके करनेसे हाथीके समान बल होता है गरुड वायुबलमें संयम करनेसे उनहीके समान बल हो जाता है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥

दो०–प्रथम पादमें जो कही, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ।
ताको कर व्यवहार सब, सूक्ष्म भासत चित्त ॥

अर्थ–प्रथमपादमें जो ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका वर्णन किया गया है उसमें संयमका व्यवहार करनेसे सूक्ष्म वस्तु भासित होती हैं ॥

भा. चौ०–जोतिष्मतीप्रवृत्तिप्रकाशा । तिहिंके प्रेरण विना प्रयासा ॥
अड छिपी वस्तूकर ज्ञाना । अथवा अवनि गढी अनुमाना ॥
अथवा दूर देशको ज्ञाना । मेरू आदि रसायन जाना ॥
अतिसूक्षम परिमाणु दिखाही । अतिप्रकाश रविकर सम भाई॥

अर्थ–ज्योतिष्मती प्रवृत्तिकी प्रेरणासे आडमें छिपी अथवा पृथिवीमें गडी तथा पर्वतोंमें रसायन अतिसूक्ष्म परमाणुभी उसके सूर्यके समान प्रकाशमें दीखने लगते हैं २५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

दो०–सूरजमें संयम करत, भुवन ज्ञान त्रय होय ।
लोक चतुर्दश नरक सब, दीख परत जस जोय ॥

अर्थ–सूर्यमें संयम करनेसे तीनों लोक और चौदह भुवन और नरकादि सब दृष्टपथ हो जाते हैं ॥ २६ ॥

चंद्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

दो०–चंद्रामें संयम किये, होत व्यूहकर ज्ञान ।
जहँ जहँ तारा वसत है, लेत सबहि पहिचान ॥

अर्थ–चंद्रमामें संयम करनेसे ताराव्यूहका ज्ञान होता है और जो तारा जहां होता उसको पहचान लिया जाता है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

दो०–ध्रुव निश्चलकी ज्योतिमें, संयम कर मुनि कोइ ।
तारागणकी चालको, सुगम लेत सो जोइ ॥

अर्थ–निश्चल ध्रुवमें संयम करनेसे तारागणकी चालको सुगमतासे जान लेता है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

दो०–नाभिचक्रमें योगिजन, संयम कर चितलाय ।
कायव्यूहको ज्ञान सब, प्रकट होत जिय आय ॥

अर्थ–नाभिचक्रमें संयम करनेसे कायाव्यूह जो कायाके वात पित्त कफ धातु आदिक वस्तु हैं सबका ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

दो०–कंठकूप संयम करे, भूख प्यास नहिं होत।
उदर रहत परिपूर्ण तब, होत बंद तिहिं सोत ॥

अर्थ–कंठकूपमें संयम करनेसे भूख प्यास नहीं लगती उदर भरा रहता है भूख प्यासके सोत बंद हो जाते हैं ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

दो०–नाभिमाहि जे कूर्म है, तामें संयम देत।
पूरण स्थिरता चित्तकी, स्वाभाविक गहि लेत ॥

अर्थ–नाभिमें जो कूर्म है उसमें संयम करनेसे चित्त स्वाभाविकही पूर्ण स्थिरताको प्राप्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धिदर्शनम् ॥ ३२ ॥

दो०–मूर्धामें इक ज्योति है, तिहि संयम कर लेत।
तीन लोकके सिद्ध सब, आय दर्श तिहिं देत ॥

अर्थ–जो मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करता है उसे तीनों लोकके सिद्ध आय प्रकट अपना दर्शन देते हैं ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

दो०–अथवा प्रातिभ ज्ञानते, पुरुष होत सर्वज्ञ।
तीन काल तिहुँ लोकमें, सबको जानत सुज्ञ ॥

अर्थ–अथवा प्रातिभज्ञान अर्थात् विवेकजन्य ज्ञानसे पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है कि तीनों काल और तीनों लोकोंकी संपूर्ण बातको जान लेता है ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

दो०–हृदयमध्य जो कमल है, कर संयम यह नीत ।
सो प्रकाश चितमें करै, धारत ध्यान प्रतीत ॥

अर्थ–हृदयमध्यमें जो कमल है उसमें संयम करनेसे चित्तमें प्रकाश होता है यह निश्चय जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

दो०–पुरुष विलग है बुद्धिते, भोगत है सब बुद्धि ।
पै भासत दोउ एकसे, भासत अज्ञ विरुद्ध ॥
बुद्धि पुरुष दोउ भिन्न है, पै अभेद कर भान ।
भोगधर्म हैं बुद्धिके, पुरुष अर्थ सो जान ॥
तासे भोगहु जानिये, पुरुष निमित उत्कर्ष ।
ताहि त्यागकर स्वार्थमें, संयम पुरुष प्रदर्श ॥
जब जानत या भेदको, आत्मज्ञान तब जान ।
रज तम कर पाखंड सब, मिटत आत्मकर ज्ञान ॥

अर्थ–पुरुष बुद्धिसे पृथक् है और भोगोंको भोग करती है परंतु अज्ञानीसे उनकी पृथक्ता नहीं भासित होती बुद्धि पुरुष जो भिन्न २ हैं उनको अज्ञानवश अभेद करके मानता है भोगधर्म बुद्धिके हैं उनको पुरुष अपने अर्थ जान बैठता है इसी अज्ञानसे भोगोंको पुरुषके निमित्त मानता है जब इस बातको त्यागकर भेदको जान लेता है और अपनी आत्माको शुद्ध जानता है तब रजोगुण तमोगुणकृत सब पाखंड नाश होकर आत्मज्ञान होता है ॥

भा.चौ.-भोगत दुख सुख बुद्धी भोगा । जानत पुरुष अज्ञान संयोगा ॥
अज्ञानते आत्मा आपनको । मानत दुख सुख परितापनको ॥
इहि प्रकार जब मानत नाहीं । स्वयं ज्ञानकर रूप सदाहीं ॥
बुद्धीको निजरूपते भिन्ना । जानकरहि संयम अवछिन्ना ॥
आत्मज्ञान प्रकट तब होई । तब माया सब नासत सोई ॥
आत्माकर जो पूरण ज्ञाना । जिहि संयम प्रातिभ मन माना ॥

अर्थ–दुःख सुख भोगोंको बुद्धि भोगती है पुरुष अज्ञानके वश अपनेको दुःख-सुखभोक्ता मानता है जब इस प्रकार अपनेको भोक्ता नहीं जानता तब चित्त अपने २ ज्ञानरूप सदाको जान लेता है बुद्धिको अपने रूपसे भिन्न मानकर संयम करता है तब आत्मज्ञान प्रकट होनेसे मायाका नाश होकर पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥३६॥

दो०–स्वारथमें संयम किये, पावत सब ऐश्वर्य ।
प्रातिभ श्रावण वेदना, रूप गंध रस वर्य ॥

अर्थ–स्वार्थ अर्थात् आत्मामें संयम करनेसे दूर श्रवण अर्थात् दूर देशमें हुये भये शब्दका श्रवण और दिव्य स्पर्श दूर देशस्थित तथा अत्यंत सूक्ष्म वस्तुके स्पर्शको करना दिव्य रस दिव्य रूप दिव्य गन्धका ज्ञान होता है ॥

भा. चौ.-आत्माकर जो पूरण ज्ञाना । तिहिं संयम प्रातिभ मन माना ॥
प्रातिभ छुये भये शब्दादिक । तिनको प्राप्त होत श्रवणादिक ॥
दिव्य श्रवण और दिव्य स्पर्शा । दिव्य गंध अरु स्वाद प्रदर्शा
दूर देशमें जो कछु होई । भासत रहत निकट सम सोई ॥

दो०–दूर भये शब्दादिको, होत स्वभाविक ज्ञान ।
प्रातिभ दर्शन अरु श्रवण, स्पर्श गंध रस जान ॥

अर्थ–आत्मज्ञान होनेके अनन्तर प्रातिभज्ञान होता है प्रातिभशब्दका अर्थ गुप्त भये हुएका है सो गुप्तशब्दादिका ज्ञान होता है दिव्य श्रवणसे दूर देशमें भये हुए शब्दको सुनना और दिव्य दर्शसे दूर देशकी सर्व वस्तुओंको देखना इसी प्रकार दिव्य स्पर्श दिव्य स्वाद दिव्यदर्शन आदि होता है । जो कुछ दूर देश अथवा गुप्तमें होता है उसका निकटके समान भान होता है और त्रिकालज्ञ होता है अर्थात् उसको दूर देशके शब्दादिका ज्ञान स्वाभाविकसा हो जाता है और उसको दूर देशकी सब वस्तु निकटके समान भासित होने लगती हैं ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

दो०–पूर्व उक्ति ऐश्वर्य सब, विघ्न समाधी जान ।
पै व्युत्थान समाधिमें, है सब सिद्धि समान ॥

अर्थ–पूर्व कहे भये जो ऐश्वर्य हैं वे समाधिके विघ्नरूप हैं परन्तु व्युत्थानदशा अर्थात् समाधिके पूर्व तथा पश्चात्में सिद्धियोंके समान हैं ॥

भाष्य दो०–ये सब सिद्धी करत है, विघ्न समाधीमाहिं ।
तासे इनको त्यागकर, परमानंद समाहिं ॥

अर्थ–ये सब सिद्धियां समाधिमें विघ्न करती हैं परमानन्दमोक्षके चाहनेवाले योगी इन सिद्धियोंका त्याग कर देते हैं और इनके फंदेमें नहीं पडते हैं ॥ ३७ ॥

बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

दो०–धर्म और अधर्मको, बंधन कारण जान।
संयमते तिनका करै, शिथिल शक्ति जिय मान ॥

सो०–पुनि कर नाडीज्ञान, जिहिं मारग चित गवन कर ।
परकायामें जान, चित्त करत परिवेश पुनि ॥

अर्थ–धर्म और अधर्म ये बंधनके कारण हैं इनकी शक्तिको संयमद्वारा शिथिल कर फिर जिस नाडीमें चित्तका गवन होता है उसमें संयम करनेसे योगी अपने चित्तको परकी कायामें प्रवेश कर लेता है ॥

भाष्य छंद–बंधकारण जोन धर्माधर्म पावत शिथिलता ।
प्राचार नाडी चित्तकी कर गवन आगम सफलता ॥
ज्ञान नाडी गवन आगम चित्तको जब होत है ।
प्रवेश कर परचित्तमें निज चित्तको उद्योत है ॥
चित्तके संग इन्द्रियांहू जात परके कायमें ।
करत है परवेश पर अंग जाय अपने छायमें ॥

अर्थ–बन्धकारण जो धर्म अधर्म है जब उनकी शिथिलता होती है और प्रचारनाडी जो चित्तकी गवन आगवन नाडी उसका ज्ञान होनेसे उसके द्वारा योगी अपने चित्तको परकी कायामें प्रवेश कर उद्यत होता है और चित्तके संग सब इन्द्रियांभी परशरीरमें अपने शरीरसे जाकर प्रवेश करती हैं ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

दो०—उदानवायुके विजय, गवन करत आकाश ।
जलकंटक औ पंकपर, थल इव चालन जात ॥

अर्थ—उदानवायुके जीतनेसे आकाशमें गवन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है और जलकंटक तथा कीचमें थलकी भांति चलने लगता है ॥

भाष्य छंद०—उदानवायू जीत योगी चलत जलकंटकादिपर ।
करत नाहीं व्यथा तिनको जात जैसे थलहि पर ॥
करत इच्छा जबहि अपने मरणकी चित माहिते ।
मरत इच्छा पाय अपनी विना इच्छा नाहिते ॥

अथ—उदानवायुके जयसे जलकंटक और कीचपर थलभांति चलनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है और जलकंटक आदि उसको कुछ व्यथा नहीं देते जब अपने मरनेकी इच्छा करता है तब वह अपनी इच्छासे मरता है विना इच्छा मृत्यु उस योगीको नहीं मार सक्ती है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

दो०—जो समान जीतहि पुरुष, तो हुइ अग्नि स्वरूप ।
तम नाशत सब चित्तकर, करत प्रकाश अनूप ॥

अर्थ—समानवायुके जीतनेसे योगीका अग्निके समान तेज होता है और चित्तका अंधकार नाश होकर प्रकाश होता है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बंधसंयमाद्दिव्यश्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

दो०—श्रोत्र और आकाशमें, संयम कर जो कोइ ।
सूक्ष्म शब्दहू सुन परत, दिव्य श्रोत्र हुइ सोइ ॥

अर्थ—जो श्रोत्र और आकाशमें संयम करता है उसको अत्यंत सूक्ष्म शब्दभी सुनाई देने लगता है वह दिव्यश्रोत्र हो जाता है ॥

भाष्य दो०—समान जबसे होत है, जैसे अग्निस्वरूप ।
तिमिहिं श्रोत्र आकाशते, दिव्यशब्द जो गूप ॥

अर्थ–समानजयसे योगीका जैसे अग्निस्वरूप हो जाता है तैसेही श्रोत्र और आकाशमें संयम करनेसे गुप्त दिव्य शब्द सुनाई देने लगता है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोःसम्बंधसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चा-काशगमनम् ॥ ४२ ॥

दो०–काया औ आकाशको कर संयम लघु तूल ।
करत गवन आकाशसो, तनक होत नहिं भूल ॥

अर्थ–काया और आकाशको लघु और तूल अर्थात् रुईके समान हलका संयम जान करनेसे आकाशमें गवन करनेकी सामर्थ्य रुईके समान हो जाती है ॥

भाष्य दो०–इहि प्रकारसे करत जो, संयम इन्द्रियभूत ।
तिनकी सिद्धीको लहत, इन्द्रियधर्म अकूत ॥

सो०–पंचभूतके मांहि, कारण जो इन्द्रियन कर ।
ताको संयम लाहि, दिव्य होत तिनकर विषय ॥

चौ०–जैसे श्रोत्र अकाशक संगा । दिव्यशब्दकर मिलन प्रसंगा ॥
तैसेहि त्वक अरु वायुयोगते । होत दिव्यस्पर्श भोगते ॥
नेत्र तेज रसना जल नासा । संयम गंध करहि परकाशा ॥
दिव्यदृष्टि अतिरस और गंधा । होत दिव्य सब विषय अमंदा ॥
काया और आकाशसंयोगा । संयम कर लघु तूल अमोघा ॥
लघु अरु सूक्षम तूल समाना । होत गवन अकाश भ्रमाना ॥
जलपर चलहि थलहिकी नाई । सूरज किरण विहार कराई ॥
लघुता गहि डोलहि सब ठांई । जहँ इच्छा कर गवन तहांहीं ॥

अर्थ–काया आकाशके पञ्चभूत और इन्द्रियोंमें संयम करनेसे उनके विषय सब दृढपथ होते हैं पञ्चभूतमेंसे जो जिस इन्द्रियका कारण है उसमें और उसकी इन्द्रियमें संयम करनेसे सब इन्द्रियोंकी विषय दिव्य होकर दृढपथ होते हैं जैसे श्रोत्र और आकाशके संयमसे दिव्य शब्द होता है और त्वचावायुसे दिव्यस्पर्श नेत्र और नेत्रसे दिव्य दृष्टि जिह्वा और रससे दिव्य स्वाद नासिका और गन्ध व पृथ्वीके

दिव्य गन्ध होता है काया और आकाशको लघु और तूलके समान संयम करनेसे आकाशगवन जलपर गमन और सूर्यकी किरणोंका विहार प्राप्त होता है और हलका होनेसे उसकी सर्वगत हो जाती है जहां उसकी इच्छा होती है गवन करता है ॥४२॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा-वरणाक्षयः ॥ ४३ ॥

दो०—महाविदेहा जानिये, वृत्ती बाहिर शरीर ।
सब आवरण विनाश कर, बुद्धि प्रकाश गंभीर ॥

अर्थ—चित्तकी वृत्ति शरीरके बाहर जानकर उसमें संयम करनेसे सब आवरणका नाश होकर बुद्धिमें प्रकाश होजाता है ॥

भाष्य दो०—कायाते बाहर जबहिं, मनकी वृत्ती जाहि ।
लाभ होत सो जानिये, विदेहधारणा ताहि ॥

सो०—शरीरमाहि मन होय, वृत्ति बाहिर निष्कल्पना ।
महाविदेश सोय, क्षय आवरण प्रकाशकर ॥

अर्थ—कायासे बाहर मनकी वृत्ति प्राप्त होनेका नाम विदेहधारणा है शरीरसे मनको बाहिर करके वृत्तियोंकोभी बाहर मान धारण करनेका नाम अकल्पिता महाविदेहा है उसके रोकनेवालेको क्लेशकर्म फल है वही आवरण कहाते हैं सो आवरणका नाश होके आवरणरहित योगी अपनी इच्छानुसार विहार करता है ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वर्यार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥४४॥

दो०—आकाशादिक भूतकी, पांच अवस्था जोइ ।
स्थूल रूप अरु सूक्षम, अन्वयार्थवत सोइ ॥
इहिमें संयम करत जब, भूत विजय तब होत ।
पावत सिद्धी अमित सो, दिव्य होत चित जोत ॥

अर्थ—आकाश आदिक पञ्चभूतकी स्थूल स्वरूप सूक्ष्म अन्वय अर्थवत् जो पांच अवस्था हैं इनमें संयम करनेसे पञ्चभूत वश होते हैं और इनके वश होनेसे अमित सिद्धियां प्राप्त होती और चित्तमें दिव्य प्रकाश हो जाता है ॥

भा. छन्द-स्थूल और स्वरूप सूक्षम अन्वयार्थवत् रूप हैं।
करत संयम विजय पावत होत वश सब भूत हैं॥
स्थूल शब्दादिकनको जो धर्म आकाशादिके।
एक एक बढायकर गुण पांव अपनी आदिके॥
मूर्ति पृथिवी स्नेह जल अरु अग्नि उष्ण स्वरूप है।
वायुचालन धर्मयुत आकाश काश अनूप है॥
सूक्ष्मते परिमाण मानहूं त्रिगुण अन्वय जानिये।
अगुणके ये कार्य मुक्ती हेतुकर अनुमानिये॥

सो०-अर्थवत सब पांच, रूप कहे हम भूतके।
सब मानहूं तुम सांच, भूतवश्य संयम किये॥

दो०-भूतविजयसे होत है, अणिमादिक सिधि अष्ट।
योगी साधन करत है, सिद्धीफल रुपष्ट॥

अर्थ-स्थूल और स्वरूप सूक्ष्म अन्वय अर्थवत् ये पांच अवस्था पंचभूतकी हैं इनमें संयम करनेसे सब भूत वश होते हैं स्थूलसे आकाश प्राणीके जो धर्म हैं तिनमें एक एक बढाके पांचोंके गुण जानना चाहिये जैसे आकाशका शब्द वायुके स्पर्श शब्द अग्निके रूप स्पर्श शब्द जलके रस रूप स्पर्श शब्द पृथिवीके गंध रस रूप स्पर्श शब्द यह स्थूल कहाता है पृथिवी मूर्तिमान् जल रस है अग्नि उष्ण वायुका चालन आकाशका अवकाश ये स्वरूप हैं सूक्ष्म और परमाणुको और तीन गुणोंको अन्वय जानना चाहिये त्रिगुणके मुक्ति हेतु जो कार्य है वह अर्थवत् कहाते हैं ये सब भूतोंके रूप हैं इनमें संयम करनेसे अणिमादिक आठ सिद्धि प्राप्त होती हैं॥४४॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च॥ ४५॥

दो०-पंच भूतकी विजयते, सिद्धी आवत धाय।
अणिमादिक सिद्धि आठहू, अरु स्वरूप अधिकाय॥

अर्थ-पंचभूतकी विजयसे सिद्धि आपही प्रकट प्राप्त होती है अणिमादिक आठों सिद्धि और स्वरूपकी अधिकता प्राप्त होती है॥

भा. छं०—स्थूलमें संयम कियेसे प्राप्त सिद्धी चारकी।
स्थूलसे सूक्षम बनाहि और भार लघुता सारकी॥
बहुत भारी रूप धारत करत महिमा विदित सब।
अंगुलीसे शशिहि महिकर होत जगमें प्राप्त तब॥
रूपते प्राकाम्य सिद्धी करत भूमिप्रवेशसो।
जलद्रुमेते ना रुकत है पाइ सिद्धि प्रदेशसो॥
सूक्ष्ममें जब होत संयम प्राप्त सिद्धे वासित्व जो।
स्वाधीन पांचों भूत जाके और भौतिकतत्व जो॥
ईशत्व प्रापत होत अन्वय किये संयम चित्तको।
होत समरथ रचन नासन सबै भौतिक तत्वको॥

दो०—अर्थवतते होत है, सिद्धी प्राप्त वाशित्व।
सत्य कल्पना जीयकी, पूर्ण होत सब नित्य॥

अर्थ—स्थूलमें संयम करनेसे चार सिद्धि प्राप्त होती हैं स्थूलसे सूक्ष्म हो जाना अणिमा १ और भारीसे हलका हो जाना लघिमा २ बहुत भारीरूपादि धर लेनेका नाम महिमा ३ पृथिवीमें बैठ हुए अंगुलीसे चंद्रमाका स्पर्श करना प्राप्त ४ स्वरूपके संयमसे जलकी नाईं भूमिमें प्रवेश करना प्राकाम्य ५ सूक्ष्ममें संयम करनेसे भूत भौतिक पदार्थका स्वाधीन होजाना वाशित्व ६ अन्वयमें संयम करनेसे सर्वभौतिक पदार्थोंके उत्पन्न और नाश करनेमें समर्थ हो जाना ईशत्व ७ अर्थवत्में संयम करनेसे वाशित्व सिद्धि प्राप्त होती है उससे चित्तके संपूर्ण संकल्प पूर्ण हो जाते हैं॥ ४६॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहनत्वानि कायसम्पत्॥ ४७॥

दो०—कायाकी संपति यह, रूप कांति बल जान।
वज्रसमान शरीर कर, चार रूप पहिचान॥

अर्थ—रूप, कांति, बल, कठोरता यह चार कायाकी संपत्ति हैं सो पूर्व कथित स्थूलादि भूतसंयमसे प्राप्त होती हैं॥ ४७॥

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादि-न्द्रियजयः॥ ४७॥

दो०–ग्रहणरूप अरु अस्मिता, अन्वयार्थवत रूप ।
इनमें संयमके किये, इन्द्रियविजय अनूप ॥

अर्थ–ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय अर्थवत् इनमें संयम करनेसे इन्द्रिय वश होती हैं ॥

भा. चौ.-ग्रहणस्वरूप अस्मिता जानो । अन्वयार्थवत् संयम ठानो ॥
इन्द्रिय जीत लेत योगीजन । संयम कर फल पावत दुखहन ॥
शब्द स्पर्श रूप रस गंधा । तिनको ग्रहण करत निरबंधा ॥
ज्ञानरूप दूसर अनुमानो । अहंकार अस्मिता जानो ॥
तीनो गुणकर कारज जोई । अन्वयरूप कहावत सोई ॥
गुण पुरुषार्थ अर्थवत जानो । संयम करे इन्द्र जित मानो ॥
इन्द्रियजयते मन जय जानो । जय विकर्ण प्रकृती अमानो ॥
तीनो सिद्धी पावत सोई । इन्द्री वश कर राखे जोई ॥

अर्थ–ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय अर्थवत् ये इन्द्रियोंके दूसरे रूप हैं इनमें संयम करनेसे इन्द्रिय मन विकरणप्रकृतिका जय होता है पंचतन्मात्रा शब्दादिकका नाम ग्रहण और ज्ञानका नाम स्वरूप अहंकारका अस्मिता, तीनों गुणोंके कार्योंका नाम अन्वय गुणोंके पुरुषार्थका नाम अर्थवत् है इनमें संयम करनेसे इन्द्रिय वश होती हैं ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वविकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

दो०–इन्द्रियजयते होत हैं, तीन प्रभाव अरूप ।
मनजवित्व विकर्ण अरु, जय प्रधान अनुरूप ॥

अर्थ–इन्द्रियजयसे तीन फल होते हैं मन विकरण और प्रधान तीनों जय होते हैं ॥

भा० दो०–मनके सम न वेग, मनोजवित्व कहाव सोइ ।
विन कायाको वेग, गवनहिं दूर विकर्णकर ॥

प्रकृति कार्यवश होय, जो प्रधान जीते पुरुष।
तीनो सिद्धी जोय, मधुप्रतीक तिहि नाम कह॥

अर्थ—मनके समान वेग होनेको मनोजवित्व विना कायाके दूर देशमें गवन विकरण और प्रकृतिके कार्योंको वश कर लेनेका नाम प्रधान जय है इन तीनों सिद्धियोंकी मधुप्रतीक संज्ञा है॥ ४८॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

दो०—प्रकृति पुरुषको ज्ञान जब, होत चित्तमें आय।
सर्व भाव अधिपति बने, अमित ज्ञान सो पाय॥

अर्थ—जब प्रकृति पुरुषका ज्ञान हो जाता है तब सब पदार्थोंका अधिपति और सर्वज्ञ हो जाता है॥ ४९॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥

दो०—विवेकख्याति वैराग्यते, दोषबीज क्षय होत।
नशत अविद्याबीजके, पावत मुक्ती जोत॥

अर्थ—विवेकज ज्ञानसे दोषोंके अर्थात् अविद्यादि क्लेशोंके बीज नष्ट हो जानेसे कैवल्य मुक्ति होती है॥ ५०॥

स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं पुनिरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

दो०—जब देवादिक आयकर, करैं निमंत्रणा जासु।
तिनमें प्रीति न करहि सो, हुए अनिष्ट पुनि तासु॥

अर्थ—जब कैवल्य मोक्ष प्राप्त हो जाती है तब देवता आयके उसको स्वर्गादिके सुख दिखाकर निमंत्रण करते हैं सो योगीको चाहिये उनके निमंत्रणमें लोभ न करे क्योंकि फिर क्लेश प्राप्त हो जानेका प्रसंग है॥

भा. चौ.-जब योगीजन मुक्ती पावें। विघ्न अनेक स्थानी लावें॥
देव आय सब सुख दिखावें। आदर कर पुनि विनय सुनावें॥
उत्तम भोग रसायन कन्या। भोगहु इनहिं करो तुम धन्या॥
यह विमान और कल्पवृक्ष है। वन उपवन रमणीक स्वच्छ है॥

दो०-कर विहार इहिं ठाह, ऐसो सुख नाहिं मोक्षमें।
कहत देव यापांह, मत कहु जावो अनत कहुँ॥

अर्थ-जब योगी जनोंको मुक्ति प्राप्त होती है उस समय स्थानी जो देवता हैं वे विघ्न करते हैं और देवता उस योगीके निकट आयकर आदर और विनयसे उसको सब स्वर्गके सुखोंको दिखाते हैं और कहते हैं कि यह सब उत्तम भोग है यह रसायन है यह सुन्दर कन्या है इनको भोगके इन सबको धन्य करो ये विमान यह कल्पवृक्ष यह वन उपवन अत्यंत रमणीक और स्वच्छ है इस स्थानपर रहकर विहार करो अंत कहीं मत जाओ ऐसा सुख मोक्षमें नहीं है॥ ५१॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

दो०-क्षण और क्षणक्रममें करत, संयम योगी जोय।
तिनको होत विवेक सब, ज्ञान सकल दृढ होय॥

अर्थ-क्षण क्षणोंके क्रममें संयम करनेसे योगीको विवेकजन्य ज्ञान होता है॥

भाष्य दो०-क्षण क्षण क्रम दोऊ विषैं, संयम जो कर लेत।
तावत ज्ञान विवेक सो, कर प्रकाश तब देत॥

छंद-परमाणु चालन तजत हैं इक देशते इक देशको।
ताहि जानो क्षणिक समयो क्रम अनंतर देशको॥
क्रमसमूह यथार्थ नाहीं शून्यकाल स्वरूपको।
वस्तुरूपा भासि है भ्रम होत ताके रूपको॥
क्षणनमें और क्रमनमें जो करत संयम चित्तको।
होत है प्रत्यक्ष तिनके हृदय ज्ञान विवेकको॥

अर्थ–परमाणु एक देशको छोडकर दूसरे देशमें जाता है उसको क्षण और इन क्षणोंका प्रवाहरूप जो है उसे क्रम कहते हैं यह यथार्थ नहीं है क्योंकि यह क्षणोंका समूह जो है सो मुहूर्त रात दिन आदि कालरूप है और काल कोई वस्तु न होकर शून्यरूप है भ्रमवश यह काल वस्तुके समान भासित होता है सो जो क्षणोंमें और क्षणोंके क्रमोंके समूहमें संयम करते हैं उनके हृदयमें विवेकजन्य ज्ञान प्रकट होता है५२॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययो-
स्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

दो०–होत विवेकज ज्ञानते, तुल्य वस्तु कर ज्ञान।
लक्षण जात अरु देसकर, भेद परत नहिं जान॥

अर्थ–जब दो वस्तु जो समान जाति लक्षण देशसे है उनका ज्ञान नहीं होता तब विवेकज ज्ञानसे उसका ज्ञान होता है ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति
विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

दो०–भवतारक सब विषयकर, ज्ञान सर्वथा होय।
तीन कालमें क्रमरहित, ज्ञान विवेकज सोय॥

अर्थ–संसारसागरसे तारनेवाला होनेसे इसका नाम तारक ज्ञान है सो इस तारक ज्ञानसे क्रमरहित तीनों कालमें सर्व विषयोंका विवेकज ज्ञान होता है इसीका नाम तारक है॥

भाष्य दो०–तारक ज्ञान विवेकको, सर्व ज्ञानकी खान।
शेष विषय कोउ रहत नहिं, होत सर्वको ज्ञान॥
सो०–तारक तरणि समान, भववारिधिते पार कर।
यह निश्चय जिय जान, तारकमें संयम करो॥

अर्थ–तारक विवेकजन्य ज्ञानका नाम है यह सर्व ज्ञानकी खानि है इसके होनेसे सर्व विषयका ज्ञान होता है कोई विषय शेष नहीं रहता ये तारक नौकाके समान भवसागरसे तारनेवाला है ऐसा निश्चय जान इसका संयम करना चाहिये ॥५४॥

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

दो०—बुद्धि पुरुषकी शुद्धि अरु, साम्यावस्था जोइ ।
ताहि कहत कैवल्यता, मुक्तिरूप है सोइ ॥

अर्थ—बुद्धि और पुरुष दोनोंकी शुद्ध साम्यावस्थाका नाम कैवल्यमुक्ति है ॥

भा.छं.—जब होत निर्मल बुद्धि सतगुण शुद्ध पुरुष समानसी ।
जर जात मरु सब तम रजोगुण उदय मानो भानुसी ॥
तिमि पुरुषसम और शुद्ध हुइकर कर प्रकाश अनंत सो ।
सब कर्म फल नसि जात क्षणमें होत दुखको अंत सो ॥
कैवल्य राजत ज्योतिसम तब रहत तम कतहूं नहीं ।
पूर्ण होत समाधि जबही पाव परमानंद सही ॥
ऐश्वर्य सब तब आप आवत धायकर तिहिं निकट सो ।
भोग करत समाधिमें सब दुख अविद्या मिटत सो ॥

अर्थ—जब बुद्धि निर्मल शुद्ध पुरुषके समान सतोगुणी हो जाती है और रजोगुण तमोगुणरूपी मल सब जल जाते हैं और बुद्धिमें सूर्यके समान प्रकाश होता है इसी प्रकार पुरुषभी शुद्ध होकर अपने अनंत प्रकाशको करता है उस समय सर्व कर्मोंके फलका नाश होकर दुःख उसी क्षणमें मिट जाते हैं और बुद्धि पुरुषकी साम्यावस्था अर्थात् समानता हो जाती है उसी साम्यावस्थाको कैवल्यमोक्ष कहते हैं. कैवल्यमोक्ष होनेसे अंधकारका नाश होकर केवल प्रकाशही प्रकाश रहता है और समाधि पूर्ण होनेसे परमानन्द पाता है तब संपूर्ण मोक्ष ऐश्वर्य अपने आप उसके पास आते हैं और वह समाधिमें मोक्षसुखोंको भोगता है और अविद्या आदि दुःखोंका लवलेशभी नहीं रहता ॥

दो०—श्रीपातंजलिमुनिकृपा, पूर्ण विभूती पाद ।
रामभक्त पूरण कियो, मुनिवरचरण प्रसाद ॥

अर्थ—श्रीमहर्षिपातंजलिकी कृपासे और उनके प्रसादसे रामभक्तने विभूतिपाद पूर्ण किया है ॥

दो०—सुन समझहिं जन मुदित मन, पूर्ण विभूतीपाद ।
नाश अविद्या आदि दुख, पावत मोक्षप्रसाद ॥

अर्थ—जो पुरुष इस पूर्ण विभूतिपादको सुनकर प्रसन्न मनसे समझते हैं उनके अविद्यादि क्लेश नाश होकर मोक्षरूप आनंद प्राप्त अवश्य हो जायगा ॥

इति श्रीपतंजलियोगशास्त्रे भाषाभाष्ये श्रीमत्पंडितगुरुदयालस्यात्मजपंडित-रामभक्तविरचिते विभूतिपादस्तृतीयः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्यपादप्रारम्भः ।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

दो०—चरणकमल वंदन करों, पातंजलिमुनिकेर ।
कैवल्यपाद वर्णहु सुमिरि, मुक्ति न लावहि देर ॥
जन्मौषधि और मंत्र तप, पुनि समाधि ते जान ।
सिद्धी प्राप्ती होत हैं, कर साधन सन्मान ॥

अर्थ—श्रीमहर्षिपतंजलिके चरणकमलोंको वंदना करके कैवल्यपादका वर्णन करता हूं जिसका यत्नपूर्वक साधन करनेसे सद्य मुक्ति प्राप्त होती है. जन्म, औषधि, मंत्र, तप वा समाधिके यथार्थ साधन करनेसे सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥

भाष्य छंद—जन्मते शुभ कर्मके फल पाव देवशरीरको ।
देवरूपा होय तह अणिमादि सिद्धी तीरको ॥
औषधीते होत काया कल्प सब दुख नाशहीं ।
मंत्रद्वारा गगनगति लहि सर्व सिद्धी प्रकाशहीं ॥
अणिमादि तपवश आयकै सब सेवा करैं ।
होत सब मनअर्थ पूरण चित्त चाहैं तह चरैं ॥
समाधि सिद्धी करी वर्णन पूर्व हम सब रीतिसों ।
परिणाम जैसे पलटि है अब कहत ताकों प्रीतिसों ॥

अर्थ–जन्मसे शुभ कर्मोंके करनेके फलसे देवशरीरको पाकर सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है और औषधिके सेवन करनेसे कायाकल्प होकर शरीरके दुःख नाश होते हैं मंत्रके जप करनेसें आकाशमें गमन करनेकी शक्ति और सिद्धियोंका प्रकाश होता है और तपस्याके करनेसे सब अणिमादि सिद्धि वश होकर दासीकी नाईं आज्ञाकारी हो जाती हैं और मनोरथ सब पूर्ण होकर वह सर्वगति हो जाता है यह समाधिसे सिद्धि प्राप्त होती है अब हम जैसे परिणाम पलटता है उसको कहते हैं ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

दो०–प्रकृतिके पूरण भये, जात्यन्तरको पाय ।
होत पृथक परिणामसों, जन्मान्तरमें जाय ॥

अर्थ–प्रकृतिके पूर्ण हो जानेसे अन्य जन्ममें अन्य जाति परिणाम होता है ॥

भा.चौ.-पंच भूत और प्रकृति शरीरा । अहमित इन्द्रिय ज्ञान गँभीरा ॥
कारणते कारजमें भरई । तब आपूर प्रकृतिअनुसरई ॥
प्रकृति पूर्णताते जात्यन्तर । तब परिणाम होत जन्मांतर ॥
जात्यन्तर नहिं विना धर्मके । होत कबहुँ परिणाम कर्मके ॥
धर्माधर्म पुण्य अरु पापा । तिहिं अनुरूप जन्मकर थापा ॥
देव मनुज पश्वादिक जन्मा । पावत निज निज कृत अनुकर्मा ॥
वर्णभेद प्रकृती जिमि होई । आगिल सूत्र कहत मुनि सोई ॥
सो दृष्टांत कहत अब गाई । प्रकृति भेद सब कहौं बुझाई ॥

अर्थ–पृथिवी आदिक जो पञ्च भूत हैं वह शरीरकी प्रकृति है और अस्मिता अर्थात् अहंकार इन्द्रियोंकी प्रकृति है जब ये कारणसे कार्यरूप हो जाते हैं तब प्रकृतिकी पूर्णता कहाती है विना धर्म अधर्म कर्मके जात्यंतर परिणाम नहीं होता धर्म अधर्म पुण्य और पापके अनुसार जात्यन्तर परिणाम होता है देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि जातिको कर्मानुसारही पाता है जातिभेदसे जैसी प्रकृति होती है उसको आगेके सूत्रसे महर्षि कहते हैं ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

दो०—प्रकृति प्रयोजक धर्म नहिं, केवल अहै निमित्त।
पै तासे कृषिकार सम, नाशत बंधप्रकित्त॥

अर्थ—धर्म आदिक प्रकृतिका कारण होनेसे प्रकृतिका प्रयोजक अर्थात् प्रवर्तक धर्म नहीं है धर्म केवल निमित्तकारण है निमित्तकारणसे आवरणका निवारण होता है जैसे किसान क्षेत्रमें जल भर जाने पर उसके रोकनेवाली जो आडरूप नदी है उसको दूर करता है आड दूर होनेसे जल आपही उस खेतसे बाहर निकल अन्यक्षेत्रमें प्राप्त होता है इसी प्रकार धर्म अपनी शक्तिके अनुसार अधर्म जो देवादि उत्तम जातियोंका आवरण प्रतिबंधक है उसे निवारण करता है तब प्रकृति आपही देव-जाति आदि परिणामोंमें प्रवृत्त हो जाती है तथा धर्म जो तिर्यग्योनि आदिका आवरण है उसे अधर्म अपनी शक्तिसे दूर कर देता है तब प्रकृति अपने आप तिर्यग्योनिके परिणामको उत्पन्न कर देती है॥

भाष्य सो०—कारणके आधीन, कारज नितही रहत है।
कारज कारणहीन, कछु न होत ताके किये॥

चौ०—जैसे विन कुम्हार घट नाहीं। होत जुरे मृदु जल इकठांई॥
नहि पुनि चक्र दण्ड घटकर्तक। घटकारण स्वतंत्र परिवर्तक॥
जैसे घट परिवर्त कुम्हारा। तैसे ईश्वर प्रकृति पसारा॥
धर्म आदि परिणामनिमित्ता॥ प्रकृति प्रयोजक नहिं परवृत्ता॥
कृषिकर सम निमित्त अनुमानो। कर्ता नाश आवरण मानो॥
जिमि जल रुकत क्षेत्रके मांहीं। क्यारि फोर देत सब ठांई॥
इहि प्रकार ईश्वर कृत नियमा। करत धर्म आदिक सब कर्मा॥
दुर्गति सुगति नरक और स्वर्गा। जाति पांति अवरों अपवर्गा॥

अर्थ—जैसे सदा कारणके आधीन कार्य रहता है कार्य विना कारणके कुछ नहीं कर सक्ता इसी प्रकार धर्म प्रकृतिका प्रेरक नहीं केवल निमित्तमात्र है जैसे विना कुम्हारके घटकी उत्पत्ति नहीं होती चाहे मृत्तिका और जल दण्ड चक्र आदिक स्वयं घटके करनेवाले नहीं हैं विना कुम्हारकी सहायता घटकी उत्पत्ति मृत्तिकादिसे नहीं हो सक्ती तैसेही ईश्वर प्रकृति आदिका प्रेरक है और धर्म आदिक परिणामके निमित्त-कारण है. प्रकृतिके प्रयोजक अर्थात् प्रवृत्ति करनेवाले नहीं है धर्मादिक तो किसानके समान आवरणका नाश करनेवाले हैं जैसे क्षेत्रमें जब जल रुक जाता है तब

किसान उस रोकरूप आवरणको दूर करके एक क्यारीसे दूसरी क्यारी फोडकर अन्य स्थानमें जलको पहुँचा देता है इसी प्रकार ईश्वरकृत नियमोंके अनुकूल धर्माधर्म आवरणको दूर करते हैं धर्मसे नरक और दुर्गतिरूप आवरणका नाश और अधर्मसे स्वर्ग और सुगतिरूप आवरणका नाश हो जाता है इसी प्रकार जाति और अपवर्गादिभी जानने चाहिये ॥ ३ ॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

दो०–होत अस्मितामात्रते, संज्ञाचित निर्माण ।
योगी निर्मित चित्तको, योगप्रभावप्रमाण ॥

अर्थ–अस्मितामात्रसे चित्तकी निर्माणसंज्ञा होती है योगी अपने योगबलसे अनेक चित्तयुक्त शरीर उपन्न करता है इसमें यह संशय होता है कि अनेक चित्तोंके होनेसे योगीको भोगकी सिद्धि नहीं होती इसको आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

दो०–प्रवृतिभेदते अन्य चित, प्रेरण करहि सु एक ।
पूर्व सिद्ध चित प्रेरण, आज्ञा करत अनेक ॥

अर्थ–प्रवृत्ति भेदसे एकही चित्त अनेक चित्तोंका प्रेरक और प्रयोजक है पूर्वसिद्धचित्तकी प्रेरणासे अन्य सब चित्त उस एक चित्तकी आज्ञा करते हैं ॥

भा. चौ०–चित्त अनेक भिन्न तिहि भावा । कैसे योगी भोग न पावा ॥
प्रवृतिभेदते एकहि चेता । करत प्रवृत्ति अनेक निकेता ॥
जो निर्माण चित्त योगीकर । करत प्रवृत्ति सर्व भोगनपर ॥
चितकर भेद कह्यो हम गाई । चितनिर्माण सकल समुदाई॥

अर्थ–प्रवृत्तिके भेदसे एकही चित्त अनेक चित्तमें प्रवृत्ति करता है चित्तोंकी अनेकतासे उनके भावभी अनेकही माने जावेंगे फिर एक चित्त अनेक चित्तोंको कैसे भोग सक्ता है इसका उत्तर यह है कि योगीने जो एकचित्त निर्माण किया है वही एक चित्त सब चित्तोंके भोगोंमें प्रवृत्त होता है यह चित्तके भेद और निर्माण चित्तका प्रभाव समझाकर कहा गया है ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

सो०–तिन पांचोंके माहि, ध्यानजन्य जो चित्त है ।
ताहि वासना नाहि, सर्वाशयते रहित सो ॥

अर्थ–जन्म औषधि मंत्र तप समाधि इन पांचोंमेंसे जो ध्यानजन्य चित्त है वह आशय अर्थात् राग आदि जो नाना प्रकारकी वासना तिनसे रहित है ॥ ६ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

दो०–कर्म अशुक्ल अकृष्ण दोउ, योगीजनके जान ।
कृष्णाकृष्णअरु शुक्लतम, अन्य जननके मान ॥

अर्थ–योगीजनोंके अशुक्ल अकृष्ण कर्म अर्थात् पाप और पुण्य दोनोंसे रहित होते हैं अन्य सबके तीन प्रकारके होते हैं एक कृष्णकर्म अर्थात् पाप दूसरा शुक्ल कर्म अर्थात् पुण्यकर्म तीसरा शुक्ल व कृष्ण कर्म अर्थात् पापपुण्यमिश्रित इस भांति कर्म चार प्रकारका होता है ॥

भा.चौ.-कृष्ण शुक्ल अरु शुक्ल अशुक्ला । चौथो जान अकृष्ण अशुक्ला ॥
कर्म अशुक्ल अकृष्ण योगिकर । तीन कर्म सब संसृतिके घर ॥
संन्यासी फल आसा नाही । पाप न पुण्य न भोग सिराही ॥
सब फल अर्पण प्रभुपद करहीं । संसृतिकर्म दुःख सब टरहीं ॥

अर्थ–कर्म चार भांतिका होता है एक कृष्ण कर्म दूसरा शुक्ल कर्म तीसरा कृष्ण-शुक्ल कर्म चौथा अकृष्ण अशुक्ल कर्म सो इन चारोंमेंसे चौथा जो अकृष्ण अशुक्ल कर्म अर्थात् न पाप न पुण्य ये कर्मयोगी संन्यासी कहाता है क्योंकि उनको फलकी इच्छा नहीं होती वे सब कर्म ईश्वरके अर्पण कर देते हैं इससे उनके सांसारिक दुःख नष्ट हो जाते हैं क्योंकि तीन कर्म अर्थात् कृष्णकर्म पाप, शुक्लकर्म पुण्य, शुक्लकृष्ण कर्म पापपुण्यमिश्रित सब संसारके होते हैं ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

दो०–त्रिविधि कर्मके पाकतें, गुण उपजत हैं जोइ ।
तिहि गुण योग्य स्वरूपकी, प्रकट वासना होइ ॥

अर्थ–त्रिविध कर्मका जैसा पाक अर्थात् फल होता है उसीके गुणके अनुकूल वासना उत्पन्न होती है ॥

भाष्य दो०–कर्म शुभाशुभ पाकको, जैसो गुण अरु रूप।
जैसी जाकी वासना, तैसोही प्रकट स्वरूप ॥

चौ०-उत्तम कृत परिपाक होत जब। उपज न नरकवासना जिय तब ॥
देवयोनिकों पावत सोई। नीचयोनिमें जन्म न होई ॥
नारककर्म करहि जो कोई। देवयोनि नहिं पावत सोई ॥
तिर्यक मनुष देहके माही। जन्म लेत जस कर्म कराहीं ॥
जैसो जोन कर्मफल होई। तैसी पाव वासना सोई ॥
पाप पुण्य कर भेद बतायो। भाष्यअनुसार यथामति गायो ॥

अर्थ–शुभाशुभ कर्मोंका जैसा फल होता है उसीके तुल्य वासना प्रकट होती है उत्तम कर्मके फलके प्रभावसे नरकवासना नहीं होती उत्तम कर्मसे उत्तम देवादिककी योनि प्राप्त होती है उनका नीच योनियोंमें जन्म नहीं होता और अशुभ कर्मके फलके प्रभावसे स्वर्गादिकी वासना नहीं होती उनको देवादिककी उत्तम योनिया प्राप्त नहीं होती जैसा उनका कर्म होता है वैसी मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंगादिकी योनिकी वासना होती है यह सब पाप और पुण्यका भेद भाष्य अनुरूप अपनी बुद्धिके अनुकूल वर्णन किया गया है ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ८ ॥

दो०–स्मृति अरु संस्कार सम, ताते अंतर नाहिं।
जाति देश और काल सब, पूरव जाय समाहिं ॥

अर्थ–स्मृति और संस्कारका एक रूप होनेसे जाति देश कालके भेद होनेके कारण वासनामें अन्तर नहीं होता है ॥

भा.चौ.–संस्कार स्मृति इक रूपा। देश काल और जाति अनूपा ॥
होत अनेक देश और काला। जाति अनेक भेद जगजाला ॥

संस्कार स्मृति सम होई । तातें भेद न इनकर सोई ॥
अंतर होत वासना नाहीं । संस्कार स्मृति सममाहीं ॥

दो०—जैसे काहू कालमें, होत वासना देव ।
जन्मकाल और देशके, वीते रुकत न भेव ॥
देवयोनि ताको मिलाहि, भेद कतहुँ नहिं होय ।
स्मृति और संस्कारकी, भये एकता सोय ॥

अर्थ—संस्कार स्मृति दोनोंका एक रूप होनेसे देश काल और जातिके भेदके कारण वासनामें भेद नहीं होता जैसे किसी कालमें देववासना हो वह देश काल और जातिके भेद होनेसे रुक नहीं सक्ती स्मृति और संस्कारका एकरूप होनेसे देवयोनिही प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

दो०—आशिषाको कहत मुनि, नित्य जान सतरूप ।
तिहि कारणते, वासना, है अनादि अनुरूप ॥

अर्थ—आशिषाके सत्य होने और नित्य रूप होनेसे वासनाओंका अनादित्व होता है ॥

भा.छ०—आशिषाकी नित्यताते वासनाहू अनादि हैं ।
जिमि जीव कवनहुँ योनिमें अभिलाष मनमें साधि है ॥
मरों नहिं तिहुँ काल कबहूं रहों नित इहि योनिमें ।
प्रार्थना तब ईश पाहीं करत अपने भोनमें ॥
तिमिहिं जन्मत बालकाको देख मुख आकृति ढरी ।
अनुमान कर सब ज्ञान पावत पूर्व मृत दुखसों डरी ॥
होत अनुभवजन्म पूरव वासनाकी अनादिता ।
चित्तको सब दुःख सुख अरु आतमा निरबाधिता ॥

अर्थ—वासनाभी अनादि है क्योंकि आशिषाके नित्य होनेसे वासना सादि नहीं हो सक्ती जैसे जीव किसी योनिमें अभिलाषा करता है कि मैं किसी कालमें मरूं

इसी योनिमें रहूं ऐसी प्रार्थना ईश्वरसे करता है इसी प्रकार तत्काल जन्मे हुए किसी बालकके मुखकी बुरी चेष्टाको देखकर यह प्रतीत होता है कि यह पूर्व मृत्यु आदिके भयसे भयभीत है इससे पूर्वजन्म होनेका अनुभवद्वारा सिद्ध होता है और वासनाकी अनादितामी सिद्ध होती है सो वह दुःख सुख सब चित्तको होते हैं आत्मा सदा बाधारहित है । आशिषाका अर्थ अभिलाषा है अर्थात् सुखके बने रहनेकी और दुःखसे निवृत्त रहनेकी अभिलाषा बने रहनेसे आशिषा अनादि है अब अनादि वासनाओंकी जिस प्रकार निवृत्ति होती है वह अगिले सूत्रसे कहते हैं ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ११

दो०–हेतु और फल आश्रय, आलंबनके नाश ।
नष्ट होत सब वासना, करत न फेर प्रकाश ॥

अर्थ–हेतु अर्थात् धर्म अधर्म फल दुःख सुख आश्रय मन आलंबन विषय इनके आश्रित वासना रहती हैं इस लिये हेतु फल आश्रम आलंबन इनके नाश होनेसे वासनामी नाश होती हैं ॥

भा.चौ.–धर्म आदि सुखहेतु कहावै । दुखकर हेतु अधर्म बतावै ॥
सुखते राग दुःखते द्वेषा । उपजत प्रीति क्रोधकर लेशा ॥
सबकी मूलहेतु तुम जानो । कहत अविद्या मन अनुमानो ॥
ताके आश्रय उपजत जोई । फल अनुरूप कहावत सोई ॥
धर्म आदिते सुख दुख भोगा । अनालंब जानो सब लोगा ॥
इनमेंते जो सन्मुख होई । आलंबन कर जानों सोई ॥
तातै प्रकट वासना जैसी । आलंबन अनुरूप सुतैसी ॥
जिमि कामिनि आलंबन कामा । रूप आदि सबविषयललामा

दो०–होय प्रभाव जिहि कालमें, हेतु फलाश्रय सर्व ।
तब प्रभाव सब वासना, होत रहत नहिं सर्व ॥

अर्थ–धर्म पुण्य आदि सुखका हेतु अधर्म पापादिक दुःखका हेतु हैं सुखसे राग और दुखसे द्वेष और रागमें प्रीति द्वेषमें क्रोध होता है इस सबकी मूल अविद्या है उसीके आश्रित होनेसे हेतुके तुल्य फल होता है धर्मसे सुख अधर्मसे दुःख इनको

भोगनेवाला आश्रय मनको जानना चाहिये इनमेंसे जो मनके सन्मुख होता है वह आलंबन कहाता है जैसा आलंबन होता है वैसीही वासना प्रकट होती है जैसे कामिनी कामकी आलंबन है उसके रूप आदिकके देखनेसे कामदेवकी प्रकटता होती है तैसेही आलंबनके अनुकूल वासना प्रकट होती हैं जिस कालमें हेतु फल और आश्रयादि सबका अभाव होता है उस कालमें सब वासनाओंकाभी अभाव होता है फिर वासना उत्पन्न नहीं होती । यदि यह संशय हो कि असत्का भाव और सत्का नाश नहीं होता फिर सत् वासनाओंका अभाव कैसे हागा इसका समाधान आगे करते हैं ॥११॥

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

दो०—भूत अनागत वस्तु सब, विद्यमान निज रूप ।
धर्मकालके भेदते, नहिं विरोध अनुरूप ॥

अर्थ—अतीत और अनागत सब वस्तु अपने निजरूपमें विद्यमान रहती हैं धर्म और कालके भेद होनेसे कुछ विरोध नहीं होता ॥

भा. दो.—कालभेदते धर्मको, भूत अनागत सोत ।
सत न होत यदि युग्म ये, वर्तमान किमि होत ॥

छन्द—असतकी उत्पत्ति नहिं और सत्त अव्यय मानिये ।
कालके तिहुँ भेदते तिहि उदय और लय जानिये ॥
सूत्रमें पुनि कह्यो ऐसो भूत भवि अनुमानिये ।
जो कहूं कोउ कहै शंका भूत भवि सत नाहिं ये ॥
मत जान कोऊ यथार्थ भूत भवि सत रूप हैं ।
जो नहीं सत होत तो किमि ज्ञान इनके रूप हैं ॥
असत है फल हीन और सत फलप्रदाता सत्य हैं ।
कालके सब भेदकों मत मान असत अनित्य हैं ॥

अर्थ—कालके भेदसे धर्म जो सत् है उसको भूत अनागत होता है यदि भूत भविष्यत् सत न होते तो इनका ज्ञान और वर्तमान होनेकाभी ज्ञान न होता । असत्का संभव नहीं और सत्का नाश न होनेसे अविनाशी है कालके भेदसे सत्का उदय और लय होता रहता है सूत्रमें ऐसा कहा है कि भूत और भविष्यत्कालका

भेद है इससे यह शंका हो कि भूत भविष्यत् असत् हैं तो ऐसा कहना यथार्थ नहीं भूत भविष्यत् सतरूप हैं जो असत होते तो इनके स्वरूपका ज्ञान कैसे होता असत् फलहीन है और सत् फलका देनेवाला है इसलिये कालके भेदोंको असत् और अनित्य न जानना चाहिये । यदि भूत भविष्यत् सत् हैं तो उनका स्वरूप कैसा है इसे आगे कहते हैं ॥ १२ ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

सो०—ते सूक्षम अरु व्यक्त, गुण आत्मा तिहिं जानिये ।
वर्तमान है व्यक्त, भूत भविष्याति सूक्ष्म अति ॥

अर्थ—वह भूत वर्तमान भविष्यत् गुणोंकी आत्मा है और वर्तमानकाल व्यक्तरूप है और भविष्यत्काल और अतीतकाल ये दोनों अत्यंत सूक्ष्मस्वरूप हैं ॥

भा.दो०—मृतिका अरु तंदुल रुई, ये सब भिन्न प्रत्येक ।
सबकर सम परिणाम किमि, बहुगुणकृत नहिं एक ॥
उत्तरमें वर्णन करत, जैसे बाती तेल ।
दीपकमें सबके जुरे, हुइ परिणाम अकेल ॥

अर्थ—यदि ऐसा संशय होय कि अनेकका एक परिणाम कैसे हो सक्ता है जैसे मृत्तिका तंदुल और रुई ये सब प्रत्येक भिन्न पदार्थ और गुणवाले हैं इन सबका परिणाम एक कैसे हो सक्ता है तो इसका उत्तर यह है कि बहुतोंकाभी एक परिणाम होता है जैसे तेल बत्ती दीपक इनका एक दीपक परिणाम है इसी प्रकार मृत्तिका और तंदुल रुईकी एकत्रतासे जो वस्तु निर्मित होगी वही उसका परिणाम होगा इसी प्रकार अनेकका एक परिणाममी होता है इसीको सूत्रकार आगे कहते हैं ॥१३॥

परिणामैकत्वाद्वस्तुत्वम् ॥ १४ ॥

दो०—परिणामहुकी ऐक्यता, एकहि वस्तु कहात ।
भिन्न भिन्न अज्ञानसों, ज्ञान एक दर्सात ॥

अर्थ—परिणामके एक होनेसे वस्तुका एकत्व होना प्रतीत होता है अज्ञानदशामें पृथक् २ और ज्ञानकालमें एकही वस्तु प्रतीत होती है ॥

भा.चौ.–पृथिवीके सब कार्यनमाहीं। जुदो नहीं परिणाम दिखाई॥
तिमि जानो अप तेज अकाशा। वायुकार्य सोइ रूप प्रकाशा॥
पशू वृक्ष पर्वत कहँ देखा। जानत इक परिणाम विशेषा॥
इहि प्रकार अन्यत्रहु जानो। तिहिमें भेद विज्ञता मानो॥
अर्थ न कछु विज्ञता माहीं। विन विज्ञान अर्थ कछु नाहीं॥
अर्थ विना विज्ञान प्रकटसो। स्वप्न आदिमें कल्प्य वस्तु जो॥
इहि प्रकार जाग्रतमें जानो। वास्तवमें कछु अर्थ न मानो॥
अर्थते पृथक जान विज्ञाना। तिहि कारण मुनिसूत्र बखाना॥

अर्थ–जैसे पृथिवीके कार्य पशु पक्षी वृक्ष पर्वत आदिका एकही परिणाम है तैसेही आकाशादिके शब्दादिकका भी एकही परिणाम जानना चाहिये इसी प्रकार अन्यत्रभी माननीय है इसमें भेद होनेका कारण विज्ञान है विना विज्ञानके अर्थ कुछ वस्तु नहीं विज्ञानही अर्थरूप है विना विज्ञानके अर्थ स्वप्नमें कल्पित वस्तुके समान है इसी प्रकार जाग्रतमेंभी जानो वास्तवमें अर्थ कुछ वस्तु नहीं विज्ञानसे अर्थ पृथक् नहीं है इसके प्रतिषेधके लिये आगे सूत्र कहते हैं कि विज्ञानसे अर्थ भिन्न अर्थात् पृथक् है विज्ञान अर्थका रूप नहीं॥ १४॥

वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः॥ १५॥

सो०–सम वस्तू जो होंय, तोहू चितके भेदते।
तिनके मारग दोय, भिन्न भिन्न अनुमानिये॥

अर्थ–समानरूप वस्तु होनेमेंभी चित्तके भेद होनेसे दोनोंके मार्ग पृथक् पृथक् जानने चाहिये॥

भा. चौ.–जैसे एक त्रियाके संगा। पतिको सुख दुख सवतिप्रसंगा॥
कामी मोह ज्ञानि निष्कामा। मारग भिन्न चित्त इक भामा॥
इत्यादिक चित वस्तूभेदा। भिन्न अर्थ और ज्ञान विभेदा॥
विज्ञानीके मतमें एका। है विज्ञान अर्थ नहिं छेका॥
सुख सम अर्थ भोग्यको जानो। ज्ञान संगतिहि भिन्न न मानो॥
यदि होय भिन्न ज्ञानते अर्था। जडस्वरूप नहिं सिद्ध कुतर्का॥

ज्ञानकालमें अर्थ प्रकाशा । ज्ञान गये नहिं अर्थ विभाषा ॥
ज्ञानसमयमें प्रकटत सोई । पाछे भाव अर्थ नहिं होई ॥

दो०–अर्थ पृथक् विज्ञानते, मुनिवर कहत प्रमान ।
कहत सुनहुँ तुम कान दे, अर्थ पृथक अनुमान ॥

अर्थ–वस्तुके एक सम होनेमेंभी चित्तके भेद होनेसे चित्त व वस्तु भिन्न भिन्न है दोनोंका एक होना सिद्ध नहीं होता जैसे एक स्त्रीके संग उसके पतिको सुख सवतिको दुःख कामीको मोह ज्ञानीको निष्काम अर्थात् विराग इत्यादिक एकही पदार्थमें चित्तके भेद होनेसे अर्थ और विज्ञान भिन्न हैं और विज्ञानीके मतमें एक हैं विज्ञान और अर्थ एकही है अर्थ भोग्यरूप होनेसे सुखके समान अर्थज्ञानके साथही है ज्ञानसे अर्थ पृथक् नहीं यदि पृथक्भी है तो जड पदार्थके तुल्य होनेसे विना विज्ञानके प्रकाश नहीं होता ज्ञानकालमेंही अर्थका प्रकाश होता है इससे अर्थ कुछ पदार्थ नहीं इसके उत्तरमें विज्ञानसे अर्थको पृथक् होना सप्रमाण वर्णन करते हैं ॥१५॥

न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

दो०–एक चित्त आधीन जो, वस्तु नित्यता जान ।
तो अनिष्ट तिहि चित्तके, किमि अनित्य इव मान ॥

सो०–एक चित्त आधीन, वस्तू कोउ नहिं होत है ।
तो प्रमाणते हीन, कैसे ताकों मानियें ॥

अर्थ–एक चित्तके आधीनही जो वस्तु अर्थात् अर्थकी नित्यता मानी जाय तो. उस चित्तके नष्ट हो जानेसे उस वस्तु अर्थात् अर्थको अनित्य मान लें नहीं एक चित्तके आधीन कोई वस्तु व अर्थ नहीं तो विना प्रमाणके वस्तु तथा अर्थकी अनित्यता कैसे मान लेने योग्य है ॥

भा. छं०–आधीन इकचित ज्ञान अरु सब वस्तु अथवा अर्थको ।
मानहू जो लेय ऐसो देख घट जिहि चित्तको ॥
घट त्यागि पुनि पट पेख घट प्रत्यक्ष कैसे होत है ।
अन्यको घट अन्यको पट होत चित्त उद्योत है ॥

एकचितते बोध जो नहिं होत दूसर चित्तके ।
व्याप्य व्यापक भावते सब ज्ञान पूर्व निमित्तके ॥
अवयवीके बोधते सब होत अवयव ज्ञान जिमि ।
अर्थ और विज्ञानको सब बोध मानहु छान तिमि

दो०—अर्थ अरु चित्त स्वतंत्र दोउ, तिनको जो संबंध ।
बोध होत जा वस्तुको, पुरुषभोग स्वच्छंद ॥

अर्थ—यदि एक चित्तके आधीन ज्ञान व वस्तु तथा अर्थको मानभी लिया जाय तो जो घटका देखनेवाला चित्त घटमेंसे हटकर पटके आधीन हो जावे अर्थात् घटको त्यागकर फिर पटमें लग जानेसे घटका प्रत्यक्ष न होना चाहिये परंतु घटके प्रत्यक्ष होनेसे जाना जाता है जो चित्त घट छोडकर पटका प्रत्यक्ष करता उससे अन्य चित्तको घटका प्रत्यक्ष होता है एक चित्तसे घट त्याग देनेसे घटका अभाव नहीं होता किंतु अन्य चित्तसे घटका प्रत्यक्ष होता है जिस पदार्थका बोध एक चित्तसे नहीं होता उसी पदार्थका बोध दूसरे चित्तसे होता है व्याप्य और व्यापक भावसे सब पूर्व निमित्तका ज्ञान होता जैसे अवयवीके ज्ञान हो जानेसे अवयवका ज्ञान होता है तैसेही अर्थ और विज्ञानका बोध जानना चाहिये अर्थभी स्वतंत्र और चित्तभी स्वतंत्र है और दोनोंके संबंधसे जो ज्ञान होता है वह ज्ञान पुरुषका भोग है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

दो०—वस्तूके उपरागते, होत वस्तुको ज्ञान ।
चित्त अपेक्षा जासुमें, तासु ज्ञान नहिं आन ॥

अर्थ—जिस वस्तुमें चित्तका उपराग होता है उसकी अपेक्षा होनेसे उसीका ज्ञान होता है जिसमें अपेक्षा नहीं उसका ज्ञान नहीं होता ॥

भा. दो.—जैसे चुम्बक लोहकों, खैंचहि अपनी ओर ।
तैसे वस्तु विषयजड़, आकर्षहि चित चोर ॥

छन्द—वस्तुके सब विषय खैंचत चित्तकों अति प्रीतिसों ।
प्रीति जामें होत ताको ज्ञान नहिं विपरीतिसों ॥

वस्तुको जो ज्ञान और अज्ञान चितमें होत है ।
हेतु तिहितें चित्तको परिणामसिद्धि उद्योत है ॥

अर्थ–जैसे चुम्बक अपनी शक्तिसे लोहको खींचता है, तैसेही वस्तुविषय जड होनेपरभी उनकी शक्ति चित्तचैतन्यको आकर्षण करती है वस्तुओंके विषय प्रीति होनेके कारण चित्तको खैंचते हैं इसलिये जिस वस्तुमें और विषयमें प्रीति होती है उसीका ज्ञान होता है इसके विपरीत प्रीति न होनेसे ज्ञान नहीं होता वस्तुका जो ज्ञान और अज्ञान चित्तमें होता है वस्तुओंके ज्ञात और अज्ञात होनेसे चित्तका परिणामी होना अर्थात् बदलनेवाला सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याप-
रिणामित्वात् ॥ १८ ॥

दो०–परिणामी नहिं चित्त प्रभु, सदा जान चितवृत्ति ।
परिणामी प्रभु होत यदि, तो कस ज्ञानप्रवृत्ति ॥

अर्थ–चित्तका प्रभु पुरुष परिणामी नहीं होता वह सदा चित्तकी वृत्तियोंको जानता है यदि चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी होता तो पूर्वकालमें भोग किये हुए विषयरूप चित्तकी वृत्तियोंको कैसे जानता अर्थात् नहीं जान सक्ता ॥

भा. दो०–भूतकालमें सुःख दुख, भये पुरुष कह जोइ ।
विन श्रम उपजत सुमिर तव, शेष रहत नहिं कोइ ॥

सो०–परिणामी जो होत, कैसे सुमिरत दुःख सुख ।
चितसम पुरुष न जोत, परिणामी कहँ पुरुष किमि ॥

अर्थ–भूतकालमें जो पुरुषको दुःख सुख हो चुका है विनाही कष्टके वह उसको जान लेता है उसमें कुछ शेष नहीं रहता यदि पुरुष परिणामी बदलनेवाला होता तो उसको पूर्वकालमें भये सुखदुःखका स्मरण कैसे होता पुरुष चित्तके समान परिणामी नहीं है फिर पुरुषको परिणामी कैसे कह सक्ते हैं अर्थात् पुरुष परिणामी नहीं है ॥ १८ ॥

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

दो०—स्वयं प्रकाश न जानिये, चित्त दृश्यको रूप।
दृश प्रकाशकों देत है, पुरुशप्रकाशस्वरूप॥

अर्थ—दृश्य और चित्त दोनों स्वयंप्रकाश नहीं हैं इन दोनोंका प्रकाश देनेवाला प्रकाशरूप पुरुषको जानना चाहिये॥

भा. दो०—विन कर्ता और कर्मके, क्रिया करहि किमि कोइ।
आत्मा कर्ता कर्म चित, क्रिया प्रकाश न होय॥

अर्थ—जैसे विना कर्ता और कर्मके क्रियाका प्रकाश नहीं होता तैसेही प्रकाशरूप क्रियाका विना आत्मा कर्तारूप और चित्तकर्मरूपके प्रकाशक्रियाका प्रयोग नहीं होता इसी प्रकार प्राणीको अपने चित्त वा बुद्धि और व्यापार व ज्ञेयवस्तुके संबधसे ऐसा ज्ञान होता है कि मैं सुखी हूं मैं दुखी हूं इत्यादि॥ १९॥

एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥

दो०—एक कालमें होत नहिं, युग पदार्थको ज्ञान।
तैसेहि आत्मा चित्तको, होत न दोऊ भान॥

अर्थ—एक समयमें अपनी आत्मा और चित्तका धारण अर्थात् ज्ञान नहीं हो सक्ता जैसे एक कालमें दो पदार्थका ज्ञान नहीं होता॥

भा.दो०—जबहि अविद्यावश भये, भूलत आत्मा जोइ।
मोह क्रोधकों आपनो, मान लेत पुनि सोइ॥
हुइ विवेकते आपनो, निज आत्माको ज्ञान।
ताते भेद प्रकाश्य अरु, क्रिया प्रकाशक जान॥

अर्थ—जब अविद्यासे अपने आत्माको भूल जाता है तब क्रोध और मोहादिकको अपना मान लेता विवेक होनेपर अपने आत्माको जाननेसे प्रकाश्यक्रिया और प्रकाशक पुरुषका भेद होना प्रतीत होता है॥ २०॥

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च॥ २१॥

दो०—अन्य चित्तते अन्यको, माने जो कहुँ ग्राह्य ।
चित्त चित्तको संग अति, स्मृतियोग कहाय ॥

अर्थ—अन्य चित्तसे अन्य चित्तको ग्राह्य माना जाय तो चित्त व अन्य चित्तके अतिप्रसंगसे स्मृतिसंकर अर्थात् स्मृतियोंका योग होता है ॥

भा. छं०—अन्य चितकी दृश्यताते बुद्धिमें अतिसंगधी ।
और स्मृति योग जानहु अनवस्थित दोषधी ॥
चित्त द्रष्टा दृश्य मानत पाव कहुँ विश्राम नहिं ।
एक बुद्धी द्वितीयकों और द्वितीय जानो तृतीयमहिं ॥
तृतीय जान चतुर्थमें इमि पार कबहुँ न पावहिं ।
एक ज्ञाता नहिं ठहरत ताहि कारण गावहीं ॥
पुरुष स्वामी चित्तको सुनु मानकर सब मानहीं ।
दोष कोऊ होत नाहीं सत्य मुनिवर छामहीं ॥

अर्थ—यदि चित्तसे पृथक् कोई पदार्थ न माना जाय चित्तही द्रष्टा व चित्तही दृश्य मान लिया जाय अर्थात् एक चित्तको द्रष्टा व अन्यको दृश्य माना जाय तो बुद्धि-रूप चित्तका अन्य चित्तरूप बुद्धिसे ग्रहण किया जाना माना जायगा एकसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी व तीसरीसे चौथीका ग्रहण करना मानते चले जानेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होनेसे विश्राम न होगा इस प्रकारसे एक द्रष्टा अर्थात् ज्ञान नहीं ठहरता इसलिये चित्तका स्वामी पुरुष अनुमानसे सिद्ध होता है इसमें कोई दोष न होनेसे पुरुष द्रष्टा अर्थात् ज्ञाता है चित्तसे पृथक् है वही चित्तका स्वामी मोक्ता जानना चाहिये ॥ २१ ॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

दो०—इन्द्रिनके संचारते, पुरुष रहित जब होइ ।
निज स्वरूप अनुरूपसो लखत बुद्धिको सोइ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके संचारसे जब पुरुष रहित होता है, तब ब्रह्म पुरुष बुद्धिको अपनेही तुल्य देखता है ॥

भा.दो०–पुरुष शक्ति परिणामते, रहित जानिये तात।
बुद्धीके आकारको, प्राप्ती भये लखात॥
कहत पुरुषकी बुद्धिको, संवेदन अनुमान।
ताहीको तुम पुरुषकी, बुद्धि वृत्ति जिय जान॥
अमित क्रियापरिणामयुत, जैसी बुद्धी होय।
तिहि समान भासत पुरुष, धीसंवेदन सोय॥
जैसे जलमें चंद और, निराकार आकाश।
भासत तैसे पुरुषमें, बुद्धीवृत्ति प्रकाश॥

अर्थ–पुरुषका चित्त परिणामसे रहित है उसको बुद्धिके आकारको प्राप्त होना अर्थात् अनेक परिणामोंको प्राप्त होनेवाली बुद्धिके तुल्य भासित होना पुरुष और बुद्धिका संवेदन कहाता है जैसे जलमें चंद्रमा तथा निराकार आकाश भासित होता है तैसेही पुरुषमें चित्त व बुद्धिका भासित होना बुद्धिसंवेदन जानना चाहिये॥ २२॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

दो०–द्रष्टु दृश्य उपरक्त चित, सर्वारथ जिहि नाम।
स्फटिकासम तिहि रूप है, जस रंग तस हुइ ज्ञान॥

अर्थ–द्रष्टा पुरुष दृश्य अर्थात् शब्दस्पर्शादि विषय इनमें जब चित्त उपरक्त होता है तब चित्त सर्व अर्थरूप कहाता है जब चित्त द्रष्टामें उपरक्त होता है तब द्रष्टाके आकारसे प्रतीत होता है और इन्द्रियोंके द्वारा जब दृश्यमें उपरक्त होता है तब दुःख सुख भोगरूपसे दृश्यके तुल्य प्रतीत होने लगता है चित्तका द्रष्टा और दृश्यमें उपरक्त होनेसे चित्त सर्वार्थरूप कहाता है॥

भा. छं०–द्रष्टु दृशि उपरक्तताते चित्त सर्वारथमयं।
पुरुष चेतन द्रष्टु अरु शब्दादि मानहु दृशिचयं॥
चित्त जिहिं जिहिं विषयमें उपरक्त रागी होत है।
आकार तिहिं तिहिं रूप भासित होत रहत उद्योत है॥
जब चित्त द्रष्टा पुरुषते उपरक्तताको गहत है।
इन्द्रियादिक द्वारते दृशि रक्तताको लहत हैं॥

दुःख सुख दृश्य रक्तताते चित्तमें भासत रहैं ।
ताहि कारण कहत मुनि सर्वार्थता चितमें वहै ॥

दो०—द्रष्टामें कोउ दोष नहिं, दोष दृश्यसंयोग ।
स्फटिकासम चित शुद्ध है, जब हुइ दृश्यवियोग ॥

अर्थ—द्रष्टा पुरुष दृश्य शब्दादिविषय इनमें चित्त उपरक्त होनेसे सर्व अर्थरूप कहाता है जिस जिस विषयमें चित्त रागी होता है तिसी रूपसे चित्त भासित होता है जब चित्त द्रष्टा पुरुषसे उपरक्त होता है तब पुरुषाकार होता है और जब इन्द्रियादिकके द्वारा दृश्यकी उपरक्तताको ग्रहण करती है तब दृश्यकी रक्ततासे दुःख सुख भोगरूप दृश्यके अनुसार चित्त भासित होता है इसीसे चित्तको सर्वार्थरूप कहा गया है द्रष्टामें कोई दोष नहीं है दृश्यके संयोगसे दोष प्रतीत होता है चित्त स्फटिकके समान शुद्ध है जब दृश्यसे चित्तका वियोग होता है तब चित्त शुद्धस्वरूप है ॥२३॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य कारित्वात् ॥ २४ ॥

दो०—इन्द्रियके संबंधते, पुरुष रहित पर अर्थ ।
अमित वासना चित्र चित, लखि भ्रम तावत व्यर्थ ॥
ग्रहस्वामी गृह वसत जिमि, भोगत चित्रित भोग ।
सो पदार्थते भिन्न जिम, देह पुरुष संयोग ॥

अर्थ—इन्द्रियसंबन्धसे रहित होनेसे असंख्य वासनाओंसे चित्रित होनेपरभी चित्तपर अर्थात् पुरुषके भोगके अर्थ है क्योंकि जैसे गृहस्वामी गृहमें वसकर नाना भोगोंको भोगता है परन्तु सबसे भिन्न है इसी प्रकारसे पुरुष दुःख सुखका भोग करनेवाला होकरभी इन्द्रिय और विषयोंसे पृथक् है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

सो०—दीर्घ ज्ञानते जान, आत्मभावकी भावना ।
तब प्रवृत्तिकी हान, पावत पुरुष निवृत्तिसुख ॥

दो०–जैसे वर्षाके विषै, तृण अंकुरको पेखि।
भान होत है बीज तिमि, मोक्षमार्गको देखि॥

अर्थ–विशेष ज्ञानसे आत्मभावकी भावना होती है तब प्रवृत्तिकी हानि और निवृत्तिका सुख प्राप्त होता है जैसे वर्षाकालमें तृण और अंकुरोंको देखकर बीजका भान होता है इसी प्रकार मोक्षमार्गके देखनेसे ज्ञानीको आत्माकी भावना होती है॥

भा. चौ.–दीर्घ दर्शि लक्षण यह जानो। सुनतहि मोक्षमार्ग हर्षानो॥
अश्रुपात रोमांच होत तन। पावत तत्वज्ञान अपने मन॥
आत्मभाव भावना तोई। क्लेश अरु कर्मनिवृति कर सोई॥
तब उपजत मनमहि रुचि ऐसी। मैं हों कौन मोर मति कैसी॥
ये सब कहां कहांते आयों। कवन कर्मकर यह फल पायो॥
कवन दुःख सुख करहु विचारा। सब दुख जहां लगि स्वर्गपसारा॥
केवल सुखस्वरूप अपवर्गा। दुखद जान संसृतिकर सर्गा॥
निवृतिमार्ग दुखसागर सेतू। सुगम पवित्र मोक्षकर हेतू॥

अर्थ–विशेषदर्शी अर्थात् ज्ञानीका यह लक्षण है कि मोक्षमार्गको सुननेसे उसको ऐसा हर्ष होता है कि उसके नेत्रोंसे अश्रुपात और रोमांच होता है और तत्वज्ञान होनेसे उसे आत्मज्ञानकी भावना होती है इससे उसके क्लेशकर्मकी निवृत्ति हो जाती है तब उसके मनमें ऐसी रुचि होती है कि मैं अपनेको जानूं मैं कौन हूं और मेरी वृद्धि कैसी है ये सब जो मैं देखता हूं क्या है और यह कहांसे आया और किस कर्मके फलसे यह सब पाया है कौन दुःख और कौन सुख है इसको विचारसे देखूं विचारद्वारा जानता है कि जहांतक स्वर्गका पसार और यह सब जो देखा और सुना जाता है दुःखरूपही है सुखस्वरूप तो केवल मोक्षही है यह संसृति सर्ग सब दुःखदाई है और इन और इन दुःखोंसे छूटनेका उपाय तो निवृत्तिमार्ग संसृतिसे तरनेके लिये पुलरूप है और सुगम पवित्र मोक्षका देनेवाला है ऐसी रुचिके होनेसे चित्तके धर्मोंसे रहित होकर अपने शुद्धरूपको प्राप्त कर लेता है॥ २५॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

दो०–ज्ञानीको चित मोक्षते, पूर्वहि होत गँभीर।
विषयवासनारहित सो, आत्मभावना तीर॥

जैसे गरुआ होत चित, विषयभोगको पाय।
तैसेहि नासत कर्मके, निवृतिज्ञान गरुआय॥

अर्थ–ज्ञानीका चित्त मोक्ष होनेसे पूर्वही विवेकके भारसे निम्न होता है उसकी विषयवासना नष्ट होकर आत्मभावकी भावनासे भारी हो जाता है। जैसे विषयों और भोगोंसे चित्त गरुआ होता है तैसेही निवृत्तिज्ञानसे सब कर्मोंके नाश हो जानेसे हलका होकर विवेकभारसे निम्न अर्थात् निश्चल हो जाता है॥ २६॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

दो०–जो विवेक निश्चल नहीं, रहत छिद्र तामाहिं।
संस्कारते पलट पुनि, मैं अरु मोर कहांहि॥
भेदरहित चित थिर भये, छिद्र रहत नहिं कोइ।
होत भेद विज्ञानकृत, छिद्र लहत अति सोइ॥

अर्थ–जो विवेक निश्चल नहीं होता तो उस विवेकमें छिद्र रह जाता है ऐसा सछिद्र विवेक पलटकर मेरा तेरा कहने लग जाता है॥

भा. दो.–संसकारछिद्रनविषैं, प्रत्यय प्रकट करांहि।
ज्ञान छांडि अज्ञानवश, पुनि चित विषय भ्रमाहिं॥

अर्थ–जब भेदरहित चित्त स्थिर हो जाता है तब उसमें कोई छिद्र नहीं रहता विज्ञानसे भेद होता है और भेदसे छिद्र होता है छिद्र पाकर संस्कारसे अनेक प्रत्यय प्रकट होते हैं ज्ञानको छोडकर फिर चित्त विषयोंमें भ्रमण करने लगता है॥ २७॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥

सो०–संस्कारकी हान, क्लेशनाशसम कहत मुनि।
पक्व होत जब ज्ञान, नसत क्लेश व्युत्थान सब॥

अर्थ–संस्कारकी हान और क्लेशोंका नाश समानही है जब ज्ञान परिपक्व हो जाता है तब क्लेशव्युत्थान सब नाश हो जाता है॥ २८॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्म-मेघः समाधिः॥ २९॥

सो०–प्रसंख्यानको पाय, इच्छा नहिं जिहिं सिद्धिकी ।
कुत्सित विषय विहाय, विवेकख्यातिते सर्वथा ॥
पावत फल कैवल्य, कर्म अशुक्ल अकृष्णकर ।
धर्ममेघसमतुल्य, लहै समाधिक अक्षयसुख ॥

अर्थ–जो तत्व व पुरुषका यथार्थ ज्ञान है उसे प्रसंख्यान कहते हैं सो प्रसंख्यानको पाकर जो सिद्धियोंकी इच्छा नहीं करता उसको सर्वथा विवेकख्यातिसे धर्ममेघसमाधि जिसके केवल अशुक्ल अकृष्ण कर्म व कैवल्यफल है प्राप्ति होती है और कुत्सित विषय सब नष्ट हो जाते हैं और संस्कारका बीज नष्ट हो जानेसे फिर प्रत्ययोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

दो०–धर्ममेघसमाधिते, होत क्लेशकी हान ।
जन्ममरणके दुःखते, सहज निवृत्ती जान ॥

अर्थ–धर्ममेघसमाधिसे सब क्लेशोंकी हान होती है और जन्ममरणके दुःखसे सहजमें निवृत्ति हो जाती है ॥

भा.छं.–धर्ममेघसमाधिते निरवृत्ति क्लेश अरु कर्म सब ।
क्लेशकर्म निवृत्तिते जन पाव जीवनमुक्ति तब ॥
लेत नहिं पुनि जन्म और नहिं मरत जगमें आयके ।
अज्ञान कारण नसत जब तब जन्म कैसे पायके ॥

अर्थ–धर्ममेघसमाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है और क्लेश व कर्मोंकी निवृत्तिसे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है वह फिर इस संसारमें आकर न जन्म लेता न मरता है जन्ममरणका कारण जो अज्ञान उसके नाश होनेसे उसका जन्म नहीं होता ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

दो०—तब सब मल आवर्ण कर, होत नाश अति शुद्ध ।
पावत ज्ञान अनंतके, ज्ञेय अल्पसम बुद्ध ॥

अर्थ—तब सब क्लेश कर्मरूप आवरणमलोंके नाश हो जानेसे योगी अनन्त ज्ञान पाता है और ज्ञेय अर्थात् जानने योग पदार्थ उसको अल्प समान प्रतीत होते हैं अर्थात् उनको सुगमतासे जान लेता है ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

दो०—धर्ममेघसमाधिके, उदय भये पर तात ।
गुणकृतार्थता पाप कर, क्रमपरिणाम नसात ॥
गुणप्रवृत्तिसों होत हैं, भोग मोक्ष दुखसुःख ।
भोग अनंतर ज्ञानते, जीवनमुक्ति सुमुख्य ॥
सो०—मुक्तिअवस्था पाय, गुणकृतार्थ हुइ रहत नहिं ।
गुण अस्थिर न रहाय, पुनि प्रवृत्ति नहिं कर सकहिं ॥

अर्थ—धर्ममेघसमाधिके उदय होनेसे कृतार्थ गुणोंके परिणामका क्रम नाश होता है गुणोंकी प्रवृत्तिसे भोगमोक्षसुख और दुःख होता है भोगके अनन्तर ज्ञान होनेसे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है । जीवन्मुक्ति प्राप्त होजानेपर गुण कृतार्थताको पाकर फिर एक क्षणभी स्थिर नहीं रहते अर्थात् नाश होनेके कारण फिर प्रवृत्ति नहीं कर सक्ते गुणोंकी प्रवृत्ति भोग और मोक्षके निमित्त होती है जब भोगके अनन्तर ज्ञान होनेसे अर्थात् वैराग्यके द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त होगई । मुक्तिप्राप्ति हो जानेसे गुण अपने अर्थको पूर्ण कर चुके इससे गुण कृतार्थ होकर फिर गुणोंकी समाप्ति हो जाती है समाप्त होनेसे फिर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ३२ ॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरांतनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

दो०—क्षण प्रति है संयोग, पूरवते उत्तर क्षणहु ।
अहै ग्रहणके योग, क्रम परिणामपर्यंतलों ॥

अर्थ—हर एक क्षणका परस्पर संयोग है अर्थात् पूर्व क्षणोंके अभाव होनेसे उत्तरके क्षणोंका संबंध होता है यह क्रम परिणामके अंततक ग्रहण योग्य है ॥

भा.चौ.-पूरव क्षिण अभाव जब होई । उत्तर क्षण प्रगटन है सोई ॥
इहि प्रकार क्षणकर संसर्गा । होत रहत जबलगं अपवर्गा ॥
जइ अपवर्गप्राप्ति क्रम अंता । ग्रहणयोग्य परिणामपर्यंता ॥
क्रम अतिगूढ समुझ नहिं परई।आदि मध्य कछु बोध न करई
जब परिणाम अतक्षिण आवे । तब विज्ञान क्रम न दर्सावे ॥
सूक्षमते स्थूल होत जब । मान होत प्रत्यक्ष रूप तब ॥
जैसे घट पट होत पुराना । कालांतरको पाय चिराना ॥
नित नहिं जीरणता दिखराई । होत नित्यप्रति जीर्ण सदाई ॥

दो०-जैसे बालक जन्मते, नितप्रति बाढत जात ।
नित्य प्रति न लखात सो, कालांतर दिखरात ॥

चौ०-क्षणक्षणप्रति नूतन परिणामा । क्रमपरिणाम जान गतिधामा ॥
जो परिणाम नित्य कर जानो । शंका होत नित्य कस मानो ॥
तो उत्तर सुन होहु निसंका । द्वै प्रकार परिणाम सुअंका ॥
कूटस्थिति परिणामनित्यता । पुरुषबुद्धिगुणकेर मित्रता ॥

दो०-प्राप्त भये परिणामके, तत्वनाश नहिं होत ।
नित्य वस्तु सोई अहै, सदा रहत जिहि जोत ॥
पुरुष और गुण नसत नहिं, तत्व नित्य परकाश ।
याते दोऊ नित्य है, मानहु कर विश्वास ॥
प्रश्न उदय अस होतहैं, गुणस्थिति गतिमाहिं ।
वर्तमान संस्कार क्रम, है समाप्त के नाहिं ॥
प्रश्न जान त्रिय भांतिके, इक वचनीय विभज्य ।
अवचनीय सो जानिये, उत्तर पृथक विरज्य ॥

चौ०-इक वचनीय प्रश्न दिखरावैं । भेदाभेद सकल समझावे ॥
कहा कहो यह जगत मरैगो । उत्तर इक मृतुरूप लहैगो ॥

कह सब मरहिं जन्म सब तेही । ज्ञानी विन जन्मत सब रहहीं ॥
यह विभज्य उत्तर तुम जानो । आगे अवचनीय कर मानो ॥
कहा संसार अंत वा अनंता । उत्तर देत बनहि नहिं संता ॥
आगम शब्द कहत अस वानी । ज्ञानी अंत अनंत अज्ञानी ॥
विज्ञानी संसृतिकर अंता । लहत मोक्ष केवल निश्चंता ॥
लक्षण सुनहु मोक्षके अब सब । होत मोक्ष केवल सुख अतिसब॥

अर्थ–जब पूर्व क्षणका अभाव होता है उत्तर क्षण प्रकट हो जाया करता है इसी तरह क्षणोंका संसर्ग अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होनेतक होता रहता है और मोक्ष होनेके पर्यंत क्रम नष्ट हो जाता है इसलिये परिणामके अंततक क्रमका ग्रहण है यह क्रम अत्यंत गूढ है समझ नहीं पडता इसका आदि मध्य प्रतीत नहीं होता जब परिणामके अन्तका क्षण आता है तब विज्ञानसे क्रमका बोध होता है सूक्ष्मसे जब स्थूल होता है तब उसके प्रत्यक्ष स्वरूपका भान होता है जैसे घट और वस्त्रका पुराना होना कालांतरसेही जाना जाता है नित्य उस घट पटकी जीर्णता नहीं दीखती परन्तु वह नित्यप्रति जीर्ण होता रहता है जैसे बालक जन्मकालसे नित्य नित्य बढता जाता है परन्तु उसका नित्य प्रति बढना दृष्टपथ नहीं होता कालांतरमेंही वह बढा हुआ दिखाता है इसी प्रकार क्षण क्षणमें नवीन परिणाम होता रहता है यही क्रमकी गति जानना चाहिये यदि परिणामके नित्य होनेमें शंका हो तो इसके उत्तरमें सुनो परिणाम दो प्रकारका होता है एक कूटस्थ नित्यता दूसरी परिणाम नित्यता पुरुषको कूटस्थनित्यता और बुद्धि आदि गुणोंको परिणाम नित्यता है परिणामके प्राप्त होनेपरभी जिसका नाश न हो वही नित्य कहाता है जो सदा बना रहे सो पुरुष और गुणोंका नाश नहीं होता सदा इनका तत्व रूप बना रहता है इससे ये दोनों नित्य हैं वह विश्वास कर मानना चाहिये ऐसा कहनेसे यह प्रश्न उदय होता है स्थित रहनेकी गतिके साथ गुणोंमें जो यह संसार रहता है सो इस वर्तमान संसारक क्रमकी समाप्ति होती है वा नहीं तो सुनो प्रश्न तीन भांतिका होता है एक एकवचनीय दूसरा विभज्य तीसरा अवचनीय इन तीनों प्रश्नोंके उत्तरभी पृथक् २ हैं प्रथम एकवचनीय प्रश्नको भेदोंसहित दिखाते हैं यदि कोई प्रश्न करे कि क्या यह जगत् मरेगा तो उत्तर उसका एकही होगा हां मृत्यु पावेगा यदि कोई कहे कि क्या सब मरेंगे और सबका जन्म होगा तो उसका उत्तर यह होगा एक ज्ञानीको छोडकर सबका जन्म मरण होता रहेगा यह विभज्य प्रश्नका उत्तर है अब अवचनीयका कहते हैं क्या यह संसार अन्तवान् है वा अनन्त इसका उत्तर

देते नहीं बनता आगमशास्त्र ऐसा कहते हैं ज्ञानीको संसार गुणवान् और अज्ञानीको अनन्त है अब हम मोक्षके लक्षण कहते हैं कि जिसमें केवल सुखहीकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

दो०–पुरुषार्थकी शून्यता, त्रिगुणादिक लय जान ।
शेष रहत है शक्ति चित, तब कैवल्य बखान ॥

अर्थ–पुरुषार्थ जो मोक्ष उससे शून्य तीनों गुणोंका लय हो जाना अथवा चित्त-शक्तिमात्र शेष रहना कैवल्य मोक्षका प्रतिष्ठित स्वरूप है अर्थात् अवस्था है ॥

भा. छं०–अपवर्गकारण प्रकृति जानो कार्य त्रिगुण महत्वकों ।
लय होत क्रमते सर्वकर और रहित बुद्धि प्रबंधसों ॥
रहत केवल आतमाकी शक्ति अपने ज्ञानमें ।
ईशमें प्रणिधान और आनंदसिद्धि समाधिमें ॥

सो०–केवल युक्तीमांहिं, शेष रहत चितमात्रही ।
तब सब दुःख विलांहि, केवल परमानंद लहहिं ॥

अर्थ–अपवर्गका कारण गुणोंकी साम्यावस्था जो प्रकृति है उसे जानना चाहिये और महत्तत्व और गुणोंको कार्य जानो क्रमानुसार इन सबका लय और बुद्धिके बंधनसे रहित होकर केवल आत्मशक्तिका ज्ञानमात्र रहना ईश्वरमें ध्यान और समाधि सिद्धका आनंद प्राप्त होता है मुक्ति होनेपर केवल चित्तमात्रही शेष रहता है तब सब दुःख मिटकर केवल परमानंद प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

सो०–मुनिवरचरणप्रसाद, कैवल्य पाद पूरण भयो ।
सुनतहि मिटहि विषाद, पावत पर्म अनंत सुख ॥

चौ०–संवत उनविंसत और अडसठ । पौषकृष्ण आठे शनि निज मठ ॥
श्रीमत्स्वामी जगदेवाकाम । कृपासहित निरवार सकल भ्रम ॥
खटदर्शन वक्ता शुभशीला । गुण आकर निर्गुण गुणलीला ॥

भावसहित हितकर उपदेशा । व्यासभाष्य अनुवादप्रवेशा ॥
भाषाबंध करहु जगहेतू । सुगम अगम भवसागरसेतू ॥
सुन समुझहि दृढ कर विश्वासा । सहज होय भवदुखकर नासा
इमि उपदेश मोहि जब दीनो । भाषाबंध सकल मैं कीनों ॥
जो कहुं चूक परी मोपांही । सकल सुधारहु गुरुकी नाईं ॥
सो०—श्रीस्वामी जगदेव, आश्रम चरण निहोरि कह ॥
पार करहु भव खेव, अपने चरणप्रसादते ॥

अर्थ—इति महर्षिपातंजलिके चरणोंके प्रसादसे यह कैवल्यपाद पूर्ण भया इसके सुनने और समझनेसे विषाद मिटकर अनंत सुखको पाता है सम्वत् १९६७ विक्रमीय पौषकृष्ण अष्टमी शनिवारको अपने स्थानपर छःहों शास्त्रके ज्ञाता गुणवान् निर्गुण गुणवाले श्रीमत् स्वामी जगदेवाश्रमने कृपापूर्वक सब भ्रम दूर करके भावसहित हितसे ऐसा उपदेश किया कि तुम व्यास भाष्य जो पातंजलयोगदर्शनपर है संसारके हितके अर्थ भाषाबद्ध करो कि जो अगम भवसागरका सुगम सेतुरूप हो जावे जो उसको सुनकर विश्वासपूर्वक समझेंगे उनके संसृतिके दुखोंका नाश सहजही हो जायगा ऐसा उपदेश मुझे किया तब उनकी कृपासे यह मुझसे भाषा छंदोबद्ध सतिलक अनुवाद किया गया है जो कहीं मुझसे चूक रह गई हो उसको मुझे शिष्य जान गुरुभावसे सुधार लेना चाहिये श्रीस्वामी जगदेवाश्रमके चरणोंको निहोरा करता हूं कि जिन्होंने मेरा यह खेवा अपने चरणोंके प्रसादसे भवसागरसे पार कर दिया ॥

श्रीगुरुचरण प्रसाद, कैवल्यपाद पूरण भयो ।
सुनतहि मिटहि विषाद, रामभक्तकी विनय यह ॥

अर्थ—श्रीगुरुके चरणोंके प्रसादसे कैवल्यपाद पूर्ण हो गया अब मुझ राममक्तकी यह विनती है कि जो पुरुष इसको सुने उनके संपूर्ण विषादोंका नाश होकर मोक्षका आनंद उनको प्राप्त हो ॥

इति श्रीपातंजलियोगशास्त्रे भाषाभाष्ये श्रीमत्पण्डितगुरुदयालस्यात्मजपण्डितरामभक्तविरचिते कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ।

इति भाष्यभाषाटीकासहित योगदर्शन समाप्त ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापाखाना, कल्याण—मुंबई.

वेदान्तग्रन्थाः ।

नाम.		की.	रु.	आ.	ट.	म.	रु.	आ.
१२ रामगीता मूल	क		०–१॥		०–॥			
१३ श्रीरामगीता भाषाटीका पदप्रकाशिका अनुवाद और विषमपदी सहित	क		०–८		०–१			
१४ श्रीरामतापनी उपनीषद्–भाषाटीका– तथा श्रीरामउपनिषद् भाषाटीका यंत्र- राजके श्लोकके अनुक्रम सहित	डा		१–०		०–२			
१५ अष्टावक्रगीता सान्वय भाषाटीका	क		१–०		०–२			
१६ अवधूतगीता भाषाटीका	क		०–६		०–१			
१७ आत्मबोध, तत्त्वबोध, वेदस्तुतिभाषा	(१)		०–३		०–॥			
१८ आनन्दामृतवर्षिणी (आनन्दगिरिजीप्रणीत-गीताके कठिन स्थलोंका भाव प्रतिपादन है)	क		०–१२		०–१			
१९ आत्मबोध भाषाटीका	क		०–४		०–॥			
२० अद्वैतसुधा–संस्कृत सुगम अपूर्व आजतक कहींभी न छपा वेदांत ग्रंथ मुमुक्षु लोगोंको अस्यादरणीय है	क		०–१२		०–२			
२१ कैवल्योपनिषद् संस्कृत	क		०–१		०–॥			
२२ कपिलगीता भाषाटीका	क		०–५		०–१			
२३ गीताचिद्घनानन्दस्वामिकृत गूढार्थदीपिका मूल अन्वय पदच्छेदसहित भाषाटीका	(१)		६–०		१–०			

नाम.		की.	रु.	आ.	ट.	म.	रु.	आ.
२४ गीताश्लोकार्थदीपिका अतिउत्तम टिप्पणी- सहित तैयार है गीता वाक्यार्थबोधिनी और गीता अमृततरंगिणीसेंही अच्छी बनी है.	क		१–४		०–१			
२५ गीता भा० टी० पाकेटबुक	क		०–८		०–३			
२६ गीता आनन्दगिरीकृत भाषाटीकासह	क		२–८		०–६			
२७ ,, ,, रफ	क		२–०		०–६			
२८ गीता भाषाटीका अन्वय दोहासाहितउत्तम....	क		१–४		०–३			
२९ गीता भाषाटीका १२ पेजी	क		०–१४		०–२			
३० गीतामृततरंगिणी भा.टी.(रघुनाथप्रसादकृत)	क		०–१४		०–२			
३१ गीतामृततरंगिणी भाषाटीका पाकिटबुक् (१)			०–१०		०–१॥			
३२ गीतापंचदश भाषाटीका-[काश्यपगीता, शौनक गीता, अष्टावक्रगीता, नहुषगीता, सरस्वतीगीता, युद्धिष्ठिरगीता, बकगीता, धर्मव्याधगीता, श्री- कृष्णगीतादि]	के		०–१२		०–१॥			
३३ गीता पञ्चरत्न अक्षरमोटा गुटका रेशमी अतिउत्तम ७ पंक्ती	क		१–४		०–३			
३४ गीता श्रीधरीटीकासहित	*		१–०		०–२			
३५ गीता बडे अक्षरकी १६ पेजी गु.	क		०–१२		०–२			
३६ गीता बडे अक्षरकी ६ पंक्ती विष्णुसाहित खुली	क		०–१४		०–२			

	नाम.	की.	रु.	आ.	ट.	म.	रु.	आ.
३७	गीता पंचरत्न अत्यंत बडे अक्षर खुलापत्रा	क	२	०	०		०	४
३८	गीता अत्यंत बडे अक्षरकी खुलापत्रा	क	१	४	०		०	३
३९	गीता गुटका ३२ पेजी....	क	०	७	०		०	१
४०	गीता गुटका विष्णुसहस्रनामसहित	क	०	८	०		०	१
४१	" पञ्चरत्न और एकादशरत्न	क	०	१२	०		०	२
४२	" पञ्चरत्न द्वादशरत्न	क	०	८	०		०	१॥
४३	" पञ्चरत्ननवरत्न पाकिट बुक	क	०	७	०		०	१
४४	गीता पञ्चरत्न सप्तरत्न बुकफेसन	क	०	१२	०		०	२
४५	गीता पंचरत्न भाषाटीका सहित बडा	क	१	८	०		०	४
४६	गीता गुटका पाकिट बुक ६४ पेजी	क	०	६	०		०	१
४७	गीता पंचरत्न गुटका भा० टी०	क	१	०	०		०	२
४८	गर्भगीता भाषाटीका	क	०	१	०		०	॥
४९	गणेशगीता भाषाटीकासहित	क	०	६	०		०	१
५०	गोरखनाथपद्धती भाषाटीका (योगसाधन)	क	०	१०	०		०	१॥
५१	गीतारामानुज-भाष्य (संस्कृत)	क	१	८	०		०	४
५२	घेरंडसंहिता भाषाटीका (योगशास्त्र)....	क	०	१०	०		०	१॥
५३	जीवन्मुक्त गीता भा० टी०	क	०	१	०		०	॥
५४	तत्त्वबोध भाषाटीका	क	०	२	०		०	॥
५५	तत्त्वबोध शंकरानंदी भा० टी० बडा	क	०	६	०		०	१
५६	तत्त्वानुसन्धान वेदान्तका	खे	२	०	०		०	६

	नाम.	की.	रु.	आ.	ट.	म.	रु.	आ.
५७	दशोपनिषद् भाषा श्रीअच्युतानंदजीकृत....	खे	२	०	०		०	४
५८	द्वादशमहावाक्यविवरण (मूल)	क	०	४	०		०	॥
५९	नारदगीता	क	०	१	०		०	॥
६०	नारदगीता भा० टी०	डा	०	१	०		०	॥
६१	पञ्चरत्न अक्षरबडा कम्बी संची खुली	क	१	४	०		०	३
६२	पञ्चदशी सटीक (संस्कृत टीका)	खे	२	०	०		०	४
६३	पञ्चदशी पं० मिहिरचंदकृत भा० टी.	खे	३	८	०		०	८
६४	पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश-वेदांत वर्णन (कामलिवाले बाबाकी बनाई हुई) भाषा.	खे	२	८	०		०	६
६५	पातंजलि (योगदर्शन) भाषानुवाद	*	०	१२	०		०	२
६६	पाण्डवगीता भाषाटीका	क	०	३	०		०	॥
६७	पाण्डवगीतामूल मध्यम	क	०	१॥	०		०	॥
६८	पाण्डवगीतामूल छोटी	क	०	१	०		०	॥
६९	प्रश्नोत्तरी भाषाटीका	क	०	२	०		०	॥
७०	प्रश्नोत्तर मुक्तावली भाषाटीका (वेदान्त)	खे	०	३	०		०	॥
७१	प्रश्नोत्तररत्नमाला	क़	०	२	०		०	॥
७२	ब्रह्मसूत्र शारीरक भाषाटीका	ख	१	४	०		०	३
७३	भक्तिमीमांसा शाण्डिल्यऋषिप्रणीता आचार्य स्वप्नेश्वरविरचितेन भाष्येण संयुता .... (१)		०	८	०		०	१

	नाम.			की.रु.आ.ट.म.रु.आ.
७४	मुक्तिकोपनिषद् भा० टी०	....	क	०-६ ०-१
७५	वृत्तिप्रभाकर स्वामीनिश्चलदासकृत (वेदान्तका ग्रंथ शुद्धकर नया छपाहै) भाषा	....	ह	२-८ ०-६
७६	वेदांत डिम्डिम्	....	खे	०-१॥ ०-॥
७७	वैराग्यभास्कर भाषाटीका	....	खे	०-८ ०-१
७८	वेदान्तरामायण भाषाटीका	....	(१)	१-४ ०-४
७९	वेदान्तसंज्ञा भाषाटीका	....	खे	०-६ ०-१
८०	वेदान्तग्रन्थपञ्चक वाक्यप्रदीपः वाक्यसुधारसः हस्तामलकगीर्वाणपञ्चकं मनीषापञ्चकं इमे सटीकाः		(१)	०-८ ०-१
८१	वेदस्तुति भाषाटीका	....	क	०-४ ०-॥
८२	वेदस्तुति अन्वितार्थप्रकाशिकाख्य संस्कृत टीकासहित	....	क	०-४ ०-॥
८३	विवेकचूडामणि (शंकराचार्यकृत) भा०टी०		खे	१-० ०-२
८४	वेदांतसार संस्कृतमूल और संस्कृतटीका तथा भाषाटीकासहित	....	खे	०-१२ ०-१
८५	शिवस्वरोदय भाषाटीका	....	क	०-८ ०-१
८६	शिवसंहिता योगशास्त्र भाषाटीका	....	क	१-० ०-२
८७	शतश्लोकी भाषाटीका (वेदांत)	....	क	०-८ ०-१
८८	शाङ्करदिग्विजय सटीक	....	ज्ये	४-० ०-८
८९	शिवगीता भाषाटीकासहित	....	क	०-१० ०-२
९०	सांख्यदर्शन अत्युत्तम भाषानुवाद	....	खे	१-४ ०-२
९१	सारुक्तावली भाषामें	....	क	०-३ ०-॥
९२	हठयोगप्रदीपिका भाषाटीकासहित	....	*	१-४ ०-२

छन्दार्णवपिंगल.

यह ग्रंथ श्रीमत्सकलकविकुलसरसिजवनप्रकाशनदिवाकरश्रीरामचन्द्रभक्तिप्रकाशितान्तःकरण प्रतापगढदेशीय टर्यौंगा ग्रामवासी भिखारीदासने बनाया है. इसमें मात्रावृत्त वर्णवृत्त मेरु मर्कटी पताका और प्रति छन्द लघु गुरु गणस्थापनरीति और अति रमणीय छन्दोंके उदाहरण हिन्दीभाषाकवित्वरसिकोंके उपकारार्थ अति सुगमतासे वर्णित हैं. की० १२ आना.

वैद्यविनोद मूलभाषाटीकासह.

" यथा नाम तथा गुणाः " की बात इसही ग्रंथमें पाई जाती है. क्योंकि सचमुच इस ग्रन्थमें वे परमोपयोगी और अवश्य ज्ञातव्य विषय लिखे गये हैं जिन्हें देखकर वैद्यको विनोद होता है. मूल्य २ रु० डा. म. ६ आना ।

अनर्घनलचरित्र.

महानाटक.

महाशय ! इस अनर्घनलचरित्रनाटकमें महाभारतोक्त नलदमयंतीकी समग्र कथा लिखीगई है. नलदमयंतीकी कथा जैसी कुछ सारगर्भित तथा अनेक प्रकारसे शिक्षाप्रद है उसका समग्र संसार जानता है और सभी लोग इस कथाके जानने तथा सुननेमें रुचि रखते हैं। ऐसा किसका हृदय पत्थर होगा जो नलदमयंतीकी करुणकथाको पढसुनकर पिघल न जाय। और भाषामें आजतक महानाटक नहीं बना यह महानाटक है। और आजकलहके नाटकोंमें मनमाने गर्भांक दिये जातेहैं इसमें संस्कृतके नाट्यशास्त्रकी रीतिसे गर्भांक दियागयाहै। संस्कृतनाट्यशास्त्रसे अनभिज्ञलोग इस अनर्घनलचरित्रनाटकको पढकर संस्कृतके नाट्यशास्त्रकी मर्यादाको तथा गर्भाककी मर्यादाको भलीभांति जानसकते हैं, क्योंकि यह नाटक संस्कृतनाट्यशास्त्रकी मर्यादासे बतायागयाहै। और इस ग्रंथके पढनेसे संस्कृतभाषाका बोधभी बहुत कुछ होसकताहै।

महाशय ! आजदिन साहित्यशास्त्रके परमाचार्य काशीके महामहोपाध्याय सी. आई. ई. विद्वद्वरश्री ७ श्रीगंगाधरशास्त्रीजी महाराजही हैं ऐसा कौन पुरुष है जो उक्त श्रीशास्त्रीजीमहाराजको विद्यासमुद्र न जानताहो यह नाटक उक्त श्रीशास्त्रीजी महाराजके एकवात्सल्यपात्र छात्र पंजाबी पंडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रीने बनाया है और क्या लिखें आप एक वेर देखिये तभी आप कविके चातुर्यको जानसकते हैं। कविने औरभी अनेक ग्रंथ संस्कृतमें तथा भाषामें लिखकर विद्वत्समाजमें नाम पाया है। कविने भूमिकामें नलदमयंतीकी मूलकथाभी समग्र लिखदी है। सभकी सुलभताके कारण इसका दाम केवल १ एकही मुद्रा नियत कियाहै। जिसके हाथमें यह ग्रंथ गया उसने फिर छोडा नहीं।

भगवद्गीतासतसई.

इस ग्रंथमें भगवद्गीताके एक एक श्लोकका एक एक दोहेमें अर्थ लिखा गया है कवितामी सुंदर है, वस्तुगत्या इसे भाषाकी भगवद्गीता कहना चाहिये यह ग्रंथ स्त्रीपुरुष तथा बाल वृद्ध सभीको देखना चाहिये. मूल्य आ. ६.

और अधिक क्या लिखें ये पांचों ग्रंथ काशीके पूर्ण विद्वान् तथा जगत्के प्रसिद्ध लेखक पण्डित श्रीसुदर्शनाचार्यशास्त्रीजीके बनाये हैं।

रामरसोदधि.

(सुन्दरकांड)

अर्थात्

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका हिन्दीपद्यमें भावानुवाद ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके अमृतमयी कथाका रसास्वादन संस्कृतज्ञ विद्वानोंहीको सुखसाध्य था परंतु रामरसोदधिके तैयार होनेसे वह अनुपम चरित्र अब हिन्दी जाननेवाले कथारासिक सज्जनोंकोभी सुगम होगया है। इसकी रचना दोहा चौपाई आदि छंदोंमें अत्यंत सरलता और सरसतापूर्वक हुई है। किसीभी अध्यायका पढना आरंभ कर उसे समाप्त कियेविना छोडनेकोभी जी नहीं चाहता। इसमें महर्षि वाल्मीकजीने हनूमान्जीका लंका निरीक्षण बहुतही विलक्षणताके साथ वर्णन किया है। इसलिये हम हिन्दीप्रेमी पाठकोंसे आग्रह पूर्वक निवेदन करते हैं कि वे एक बार इस अनुपम ग्रंथका अवश्यही अवलोकन करें फिर वे आपही प्रशंसा करने लगेंगे। सर्व साधारणके सुभीतेके लिये मूल्य केवल १ रुपैया मात्र लिया जाता है।

बृहद्दैवज्ञरंजन ।

(यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्)

आजकल ज्योतिषके एक ऐसे ग्रन्थकी देशमें असाधारण आवश्यकता थी कि, जिसमें हिन्दू गृहस्थियोंके प्रयोजनके यावन्मात्र विषय एकत्र उपलब्ध हो सकें। इसी अभावकी पूर्त्तिके लिये हमने उक्त नामका अपूर्व संग्रह ग्रन्थ छापके प्रसिद्ध किया है। मुहूर्त्त, जन्मपत्र, संस्कार, वास्तुप्रकरण, यात्रा, विवाह, राज्याभिषेक और प्रतिष्ठा आदि बडे महत्वके ६०० विषयोंका इसमें विद्वद्वर पं.रामदीनजीने बडी सरलता और स्पष्टतासे संग्रह कर सागरको गागरमें भर दिया है। ज्योतिषका जो विषय बृहद्दैवज्ञरंजनमें नहीं, वह संसारमें कहीं नहीं है। मूल्य २॥ रु०

श्रीकृष्णक्रीडाकासार ।

इसमें श्रीनंदनंदजीकी दस लीला नाना रागरागिनियोंमें गाने योग्य पद्यभूषित काव्य है यह रासधारियोंके अत्यन्त उपयोगी है. दाम ८ आना.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापाखाना कल्याण—मुंबई.

योगदर्शनका शुद्धाशुद्धपत्र.

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
६	९	हुए	हुई
६	११	भाष्यका	भाष्यकी
७	१२	नाह उठाह	नहिं उठहि
११	२०	कहाहि	कहाहिं
१४	६	गृहत	गृहत
१४	२२	अबपर	पर
१५	१९	वाहिकर	गहिकर
१५	२०	छेघै	छेघै
१६	६	इनका	इनको या इनकर
१६	७	सूक्ष्म	सूक्षम
१८	१९	प्रज्ञा	प्रज्ञ
१८	२३	चय	त्रिय
१८	२४	मात्रा	यात्रा
१९	५	और	औ
१९	२२	उसे	उसे श्रद्धा होती है तब
२०	१५	करे	केर
२३	८	विराट	विराट औ
२४	८	तो	नौ
२४	९	डालनवाले	डालनेवाले
२४	१४	वात	मारुत
२४	१७	करै	केर
२४	२०	करन	करत
२४	२१	जरत	डारत
२४	२१	करहि	करहु
२५	१२	कहहिं	करहिं
२५	२१	दोनोंके इन्हीं	इन्हीं दोनोंको
२५	२५	आवागम	आवागमन
२६	३	एकत	एक
२६	८	विपति	विपत्ति
२६	१३	सूत्रस	सूत्रसे
२७	१९	प्राण	प्राणा
२९	१६	पांय	पाय
३०	७	माहिं	महिं
३०	२४	परमहत्त्वा	परममहत्त्वा
३१	११	थिरता	स्थिरता
३१	१२	अब	अब तुम
३२	१०	सभापत्ति	समापत्ति
३२	१६	चित्तके बल	चित्त केवल
३२	२१	कहे गये	कहा गया
३५	२१	सबीजाः	सबीजः
३६	४	असानंद	ऽसानंद
३६	४	असास्मिता	ऽसास्मिता
३६	४	अस्मिता	असास्मिता
३६	२३	ऋतंभरेति	ऋतंभरा
३७	१५	प्रज्ञा	प्रज्ञ
३७	२२	ज्ञानभी	जाननी
३८	५	डारत	टारत
३८	२३	ऋतंभराक	ऋतंभराके
३९	५	रामबक्स	रामभक्त
४०	२२	इसक	इसका
४१	१५	तप	लय
४१	१५	अर्ध	अर्थ
४२	५	हुएकं	हुएके
४३	२५	ह्वै	है
४४	२४	एक	दृगं
४४	२६	एक	दृग
४५	१८	वसकर	वश होकर
४६	१६	दुख	दुःख
४७	२०	यहि	
४७	२१	अविद्यादि दु	

२ शुद्धाशुद्धपत्र.

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
४७	२२	पुरुष	और
४८	१४	होता	होती
४८	१५	यदि	यह
४९	६	प्रसर्ग	प्रसव
४९	१२	सूक्ष्म	सूक्षम
४९	१५	क्लेश	कलेश
५१	१७	अब कहत	कहत
५३	३१	इते	देत
५६	२	सुख	जो सुख
५६	३	परिणामताप	जिहि सुखके
		जिहि सुखमें	परिणाम दुख
५६	२४	न	नहिं
५७	३	पुण्य	पुण्य नाना
५७	६	यदपि होत सुख	भोगमें सुख
		भोगमें अरु	होत यद्यपि
५७	१३	तिय	जिय
५८	२	रजसतते	रजसते
५८	४	दुखका	दुखकर
५८	५	गतिहि	गहि
५९	२२	प्रज्ञान	अज्ञान
६०	१३	संतति	संसृति
६२	२१	देत	देत भोग
६२	२२	और	औ
६३	३०	जित	जीत
६३	३०	ह	है
६४	२	सना	सेना
६४	१६	मूढ नहिं लेशा	नहिं मूढ कलेशा
६४	२३	मनो	सुनो
६५	१४	समझकरके	समझाकरके
६६	७	भोक्ता कि	सुभोक्ताके
	१९	कृताथ	कृतार्थ
			जाना है
			है

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७०	२०	सास	अस
७१	१३	सत्वगुण	सत्वगुणको
७३	२२	तेहि	लेहिं
७४	१६	समझकर	समझाकर
७४	१७	एते जाति	जाति
७६	७	रारसो	टारसो
७७	२	है	होती है
७७	३	क्लेश	क्लेशित
७७	१०	खाज	साज
७८	३	प्रतिष्ठत	प्रतिष्ठित
७८	५	रत्नोप्रस्थानम्	रत्नोपस्थानम्
७९	२०	पुनि	पुनि न
८०	६	भ्रम	श्रम
८०	२४	हुई	होय
८७	१३	किय	किये
८८	२१	जय	जस
८८	२२	वृति	वृत्ती
८९	११	ग्रहत	गहत
९१	३	जैसे	तैसे
९१	११	चितका	चितको
९१	१५	निसेधा	निसोधा
९२	२८	रहत	रहत सर्व
९५	९	जाते	जाति
९६	१३	योगीको	योगीकी
९६	१६	न च	न च तत्
९६	२३	परचित्तके	
		विषयोंमें	परचित्त
९९	३	अड	आड
९९	१४	चंद्राम	चंदामें
९९	१६	ह	है
१००	१८	प्रकट	प्रकट हो
१०२	४ २	ज्ञानरूप	सदा
		सदाको	ज्ञानरूपको

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१०२	४	बुद्धिका	बुद्धिको
१०३	११	तिनका	तिनको
१०४	४	जात	जास
१०४	११	थलभांति	थलभांतिकी
१०४	२५	जबसे	जयसे
१०५	२४	इन्द्रियोंकी	इन्द्रियोंके
१०५	२६	नेत्रसे	तेजसे
१०५	२६	गन्ध व पृथ्वीके	गंन्धसे
१०६	६	प्रकाशा-वरणाक्षयः	प्रकाशावर-णक्षयः
१०६	१४	महाविदेश	महाविदेहा
१०६	१९	सूक्ष्मान्वर्याथ	सूक्ष्मान्वयार्थ
१०७	८	मानहूं	मानहुं
१०७	११	मानहूं	मानहुं
१०७	१५	आकाश प्राणीके	आकाशादिके
१०७	२५	सिद्धि	सिधि
१०७	२६	प्रकट	प्रकट और
१०८	५	महिकर	गहिकर
१०८	१२	वाशित्व	वशित्व
१०८	१७	करनेस	करनेसे
१०८	२१	संहनत्वानि	संहननत्वानि
१०८	२२	संपति	संपत्ति
१०९	१२	अमानो	अनुमानो
१०९	२४	न	जिहि
११०	२०	निमंत्रणा	निमंत्रण
११०	२१	हुए	हुइ
१११	३	सुख	सुःख
१११	७	यापांह	यापांहि
१११	१६	सब	कृत
११२	२५	नाकाके	नौकाके
११३	११	परमानंद	परमानँद
११४	२०	सिद्धी	सिद्धि
११४	२१	सब	सब सिद्धि मिल
११५	२	जन्मसे	जन्मसे अर्थात्
११५	९	प्रकृतिके	प्रकृतीके
११६	६	नदी	मेड
११६	२०	क्यारि	क्यारी
११८	२०	संन्यासी	संन्यासियोंका
११९	११	भाष्यअनुसार	भाष्यऽनुसार
१२०	२६	मरू	न मरू
१२१	१३	आश्रम	आश्रय
१२१	२२	प्रभाव	अभाव
१२१	२३	प्रभाव	अभाव
१२१	२३	सर्व	खर्व
१२२	१६	नहिं	नहीं
१२२	१९	कहै	करै
१२२	२०	भूत	निज मन भूत
१२४	६	कछु	कछू
१२५	१७	वस्तू कोउ	वस्तू कोऊ
१२६	२	चित्तके	चित्तको
१२६	३	निमित्तके	निमित्तको
१२८	३	पुरुश	पुरुष
१२९	३	कहाय	अबाह्य
१२९	७	अनवस्थित	अनावस्थित
१२९	११	नहिं	नाहिं
१२९	१३	छामहीं	गावहीं
१३०	१६	तिहि रूप है	रूप तिहि
१३१	५	चित शुद्ध है	शुद्ध चित
१३२	९	तोई	जोई
१३२	११	आयो	आयो
१३२	१९	बृद्धि	बुद्धि
१३२	२३	इन	इनके
१३३	२०	हानमेषा	ह

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.	पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१३४	५	लहै समाधिक अक्षय	लह समाधिकर अक्षत	१३७	४	अंतवा	सअंत
				१३७	७	सब	तब
१३५	९	पाप	पाय	१३८	८	हे	है
१३५	११	सुमुख्य	अदुःख	१३८	१५	केवल मुक्ती	देखहु मुक्ती
१३६	२	प्रगटन	प्रगटत	१३८	१६	परमानंद	परमानँद
१३६	६	अतक्षिण	अंतक्षिण	१३८	२५	जगदेवाकाम	जगदेवाश्रम
१३६	६	न	हि	१३९	२१	रामबकसकी	रामबकसकर
१३६	७	मान	भान	१३९	२१	यह	अस
१३७	२	तेही	धरहीं				

इति शुद्धाशुद्धपत्र समाप्त ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' छापाखाना,
कल्याण—मुंबई.

महर्षि पतञ्जलिकृत

योगदर्शन

प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या

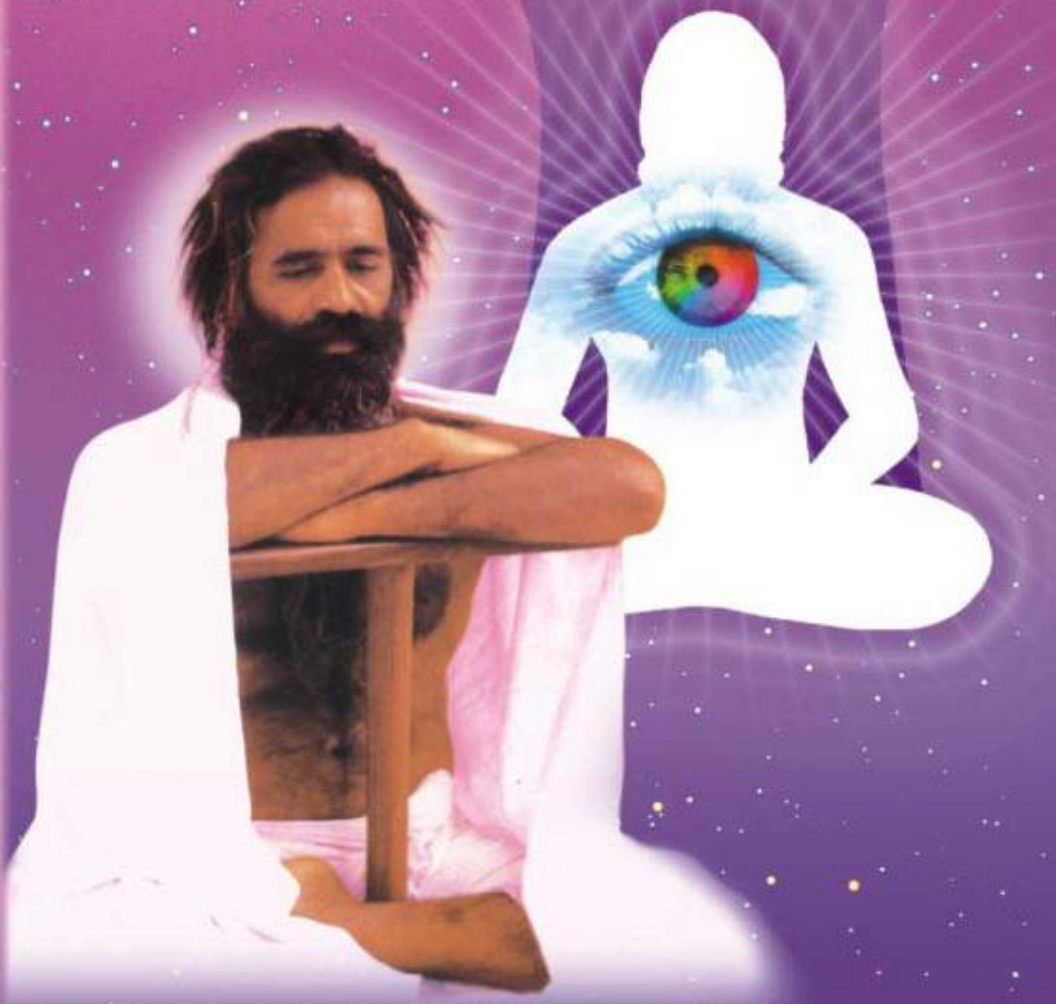

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

महर्षि पतञ्जलिकृत

योगदर्शन

(प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या)

व्याख्याकार–

परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज

श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़

ग्रा.पो.–शक्तेषगढ़, चुनार, मिर्जापुर (उ.प्र.)

फोन : (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युगपितामह

परमपूज्य स्वामी श्री परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

-अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	क – ङ
प्रथम अध्याय – समाधिपाद	१–३२
द्वितीय अध्याय – साधनपाद	३३–६४
तृतीय अध्याय – विभूतिपाद	६५–१००
चतुर्थ अध्याय – कैवल्यपाद	१०१–१२४
उपशम	१२५–१५२
एक भक्त का प्रश्न	१५३–१५९

।। ॐ ।।

प्राक्कथन

योग शब्द 'युज्' धातु में 'धञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु तीन गणों में पायी जाती है– १. युज् समाधौ दिवादिः आत्मने पदी, २. युजिर योगे रुधादिः उभयपदी और ३. युज् संयमने चुरादिः परस्मैपदी। इस प्रकार योग का अर्थ क्रमशः समाधि, जोड़ और संयमन होता है।

प्रसिद्ध संस्कृत कोश 'अमरकोश' में है– **'योगः सन्नहनोपायः ध्यान संगति युक्तिषु'**– योग ध्यान की संगति है, ध्यान की युक्ति है। 'सन्नहन' उस ध्यान में संघर्षशील होना योग है। वैद्यक में नुस्खे (उपाय) को भी योग कहते हैं। ध्यान द्वारा चित्त को एकाग्र करना योग है। दो वस्तुओं की संगति अर्थात् मेल को योग कहते हैं।

साधारण जन योग को वह अभ्यास मानते हैं जिससे कोई अलौकिक सिद्धि मिल जाय, जिससे ऐसे कार्य किये जा सकें जो साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर हों।

ऋग्वेद, पंचम मण्डल, सूक्त इक्यासी की पहली ऋचा में है–

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महीं देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।।

विप्रा अर्थात् ज्ञानीजन बुद्धि और ज्ञान के स्रोत परमात्मा में **'मनः युञ्जते'**– अपना मन लगाते हैं और **'धियः युञ्जते'**– उसी में बुद्धि लगाते हैं। वही **'एकः इत देव'**– एकमात्र देव है, सब कुछ जानने वाला है, यशों को धारण करता है, उसकी स्तुति महान् है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में योग का आशय मन को परमात्मा में लगाना है।

योग अनादि है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कहा– **'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'** इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा। **'स एवायं मया तेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः।' (४/३)–** वही पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है।

इस प्रकार गीता योगशास्त्र है जिसमें भगवान ने योग के लिए राजयोग, हठयोग, सुरति योग, लय योग जैसे विशेषणों का प्रयोग न कर मात्र योग शब्द को ही समग्रता से लिया है। **'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।' (१८/७८)** गीता उन्हें महायोगेश्वर कहती है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! **'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।' (६/४७)** योगियों में भी वह योगी मुझे अत्यन्त प्रिय है जो अन्तरात्मा से मुझे भजता है और निरन्तर मुझमें लगा हुआ है। अर्थात् मन, वचन, कर्म से एक परमात्मा में लगने का नाम योग है।

गीता में भगवान कहते हैं– **'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।' (९/२२)–** अनन्य अर्थात् अन्य न! मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न भजता हुआ जो केवल मुझे भजता है, ऐसे निरन्तर मुझसे संयुक्त भक्त के योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् अनन्य भाव से भगवान में लगने का नाम योग है।

गीता के अनुसार योग में लगने की विधि क्या है?–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (८/१२)

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को विषयों से समेटकर, मन को हृदय–देश में स्थिर कर, सुरत को मस्तिष्क में स्थिर कर, **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।' (८/१३)**– 'ओम्' बस इतना ही उस परमतत्त्व परमात्मा का परिचायक है, उसका जप करते हुए और **'मामनुस्मरन्'**– मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए जो देहाध्यास का त्याग कर देता है वह परमगति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् एक परमात्मा के मिलन का नाम योग है। आप मिलेगें कब?

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८/१४)

अनन्य भाव से अर्थात् अन्य किसी देवी-देवता का चिन्तन न करके जो निरन्तर मुझे भजता है, सदा मुझसे संयुक्त उस योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। अर्थात् योग का परिणाम है भगवान का दर्शन, न कि सिद्धियों का प्रदर्शन। योग है क्या?–

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६/२३)

जो संसार के संयोग-वियोग से रहित है, उसी का नाम योग है। जो आत्यन्तिक सुख है, जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं, उसके मिलन का नाम योग है।

वर्तमानकाल में अनेक विशेषणों के बीच योग अपना मूल आशय खो चुका है। लोग ऐन्द्रजालिक कौशल को योग कहते हैं। मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि की ओर ही इनके प्रचारकों का विशेष ध्यान रहता है। अस्वाभाविक क्रियाओं तथा यंत्र, मंत्र, ताबीज, कवच इत्यादि द्वारा कर्मफल खण्डन करने का दावा कतिपय योगी करने लगे हैं। सचमुच के योगी ईश्वर-चिन्तन में इतने तन्मय हो जाते थे कि वे शरीर की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते थे। बालों में जटाएँ बन जाती थीं, शरीर पर धूल-मिट्टी जम जाती थी; किन्तु आजकल लोग कृत्रिम जटाएँ बना लेते हैं, मिट्टी लगा लेते हैं। ईश्वर प्रेम, चिन्तन और विरह का पथ है, किन्तु देश-विदेश में 'योगा' के नाम पर मात्र आसनों का प्रचार, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान-शिविर, प्राणायाम-प्रशिक्षण प्रचलन देख प्रतीत होता है कि वर्तमान समाज योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के आशय से वंचित होता जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में योगसूत्रों पर आश्रम में आने वाले भक्तों की जिज्ञासाओं तथा साधकों द्वारा योगदर्शन पर बार-बार प्रश्न करने पर साधकों को बैठाकर महर्षि पतञ्जलि के सूत्रों पर जो क्रमबद्ध उपदेश दिया गया, वह प्रस्तुत कृति के रूप में आप सबके समक्ष प्रस्तुत है।

मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट बृहद्रथ के निधन के पश्चात् उनके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग का शासनकाल आया, जिसने भगवान बुद्ध के सिद्धान्तों का खण्डन कर जन्म से निर्धारित ब्राह्मणों की पूज्यता पर आधारित चातुवर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की। इस नवीन व्यवस्था की पोषक स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के नाम से उसी काल में प्रतिष्ठित हुईं।

महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन कहे जाते हैं। उस काल में धर्म की नयी-नयी व्यवस्थाओं से आशंकित हो उन्होंने योग के कल्याणपरक ज्ञान को संक्षिप्त सूत्रों में प्रस्तुत किया, जिससे भारत की प्राचीन विद्या का लोप न हो। योग के सिद्धान्तों को उन्होंने सूत्र-रूप में किन्तु स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया, जिससे प्रतीत होता है कि शब्दानुशासन व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था। लोकोक्ति भी है कि भगवान पतञ्जलि ने मनोवाक्काय दोष निवारणार्थ योगसूत्र महाभाष्य और चरकसंहिता की संरचना की।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

महर्षि पतञ्जलि ने योग के नाम पर नया कुछ नहीं लिखा, बल्कि वही सूत्रबद्ध किया जो गीता में है। चित्तवृत्तियों का निरोध गीता में है- '**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।।**' (६/२०); यमों में परिगणित अपरिग्रह गीता के '**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।**' (६/१०) से लिया गया है। '**स्थिर सुखमासनम्**' (**योग.**, २/४६) गीता के '**स्थिरमासनमात्मनः**' (६/१०) की पुनरुक्ति है। अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध (गीता, ६/३५) महर्षि पतञ्जलि को भी अभिमत है। ओम् का जप, वीतराग सद्गुरु का ध्यान, उनके द्वारा साधना की जागृति, स्वरूप की उपलब्धि- महर्षि का सब कुछ गीता का ही रूपान्तर है।

वर्तमानकाल में योग की दो प्रमुख प्रणालियाँ प्रचलित हैं- एक तो वह जो महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों पर आधारित है और दूसरी प्रणाली हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। पातंजलयोग '**चित्तानुशासनम्**'-चित्तवृत्तियों को अनुशासित करने पर आधारित है। जबकि हठयोग का सम्बन्ध शरीर-संचालन, स्वास्थ्य

एवं रोग-मुक्ति से है। पतञ्जलि ने मन की स्थिरता एवं सुख से बैठने को आसन कहा है, जबकि हठयोग के ग्रन्थ चौरासी से चौरासी लाख आसनों की लम्बी शृंखला देते हैं। हठयोग में नेति, धौती, वस्ति, नौली, त्राटक, कपालभाति, महामुद्रा, खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्ध, बज्रोली, अमरोली एवं सहजोली-जैसी क्रियाएँ प्रचलन में हैं, जिनके विषय में योग-दर्शन मौन है। हठयोग प्रणाली में षट्चक्रों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र तक ले जाना होता है। उसमें योग के आठ अंगों के स्थान पर छः अंगों की ही चर्चा है, यम-नियमों को छोड़ दिया गया है। हठयोग का प्राणायाम श्वासों के पूरक, कुम्भक और रेचक पर दृष्टि रखना है जिसके कई रूप उज्जाई, भस्त्रिका, सूर्यभेदी, भ्रामरी, शीतली इत्यादि हैं। सिद्धियों को महर्षि पतञ्जलि ध्येय की प्राप्ति में व्यवधान मानते हैं, जबकि हठयोगी इसे योग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानकर इसका प्रदर्शन करते रहते हैं। कहना न होगा कि योग के नाम पर अनेक भ्रान्त धारणाओं का सृजन इन दोनों प्रणालियों को मिला देने से हुआ है अथवा यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शारीरिक क्रियाओं को योग की संज्ञा देने से विकृतियों को प्रोत्साहन मिला है। कल्याणकारक योगविधि वही है जिसकी परम्परा वेदों से लेकर गीता तक अक्षुण्ण है, शुंगकाल में जिसे महर्षि पतञ्जलि ने पुनः सूत्रबद्ध किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन विश्व के मानवमात्र को उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत किया है, जिसमें मानवमात्र के अन्तःकरण में निहित दुःख के कारणों का उन्मूलन कर शाश्वत कैवल्य की प्राप्ति का मार्गदर्शन है।

योगसूत्र कठिन हैं और योगाभ्यास की कतिपय अवस्थाओं की पूर्ण व्याख्या उपस्थित नहीं करते। वे संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में हैं, मानो निर्देश करते हैं कि किसी तत्त्वदर्शी सद्गुरु की शरण में जायँ। इसी सन्देश के साथ महर्षि के सूत्रों की व्याख्या आप सबके समक्ष प्रस्तुत है।

श्री गुरु पूर्णिमा
२ जुलाई, २००४ ई०

सद्गुरु कृपाश्रयी, जगद्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन

प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन के चार पाद अर्थात् चार अध्याय हैं– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। समाधिपाद का पहले वर्णन कर उन्होंने योग की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जिससे रुचि जागृत हो, वहाँ तक पहुँचने की साधना बता दी, साधना से ईश्वरीय विभूतियों का प्राकट्य होगा और अंत में अविनाशी परमपद कैवल्य पद की प्राप्ति का विधान प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय – समाधिपाद

शास्त्र के आरम्भ में ही प्रश्न स्वाभाविक है कि योग मूलतः है क्या?

अथ योगानुशासनम्।।१।।

अब आरम्भ करते हैं योगशास्त्र। योग है क्या? योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें– पास-पड़ोस को? एक-दूसरे को? एक देश दूसरे देश को? एकान्त में चिन्तन करनेवाला किसे अनुशासित करे? नियंत्रित किसे करना है? इस पर कहते हैं–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।।२।।

चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है। वृत्ति तो एक तरंग है– मन में उठनेवाली संकल्पों की लहर। उसका सर्वथा रुक जाना, अचल स्थिर ठहर जाना योग है। मान लें, अथक परिश्रम कर किसी ने चित्तवृत्तियों का निरोध कर ही लिया तो उससे लाभ?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।३।।

उस समय द्रष्टा की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। द्रष्टा आत्मा जो चैतन्य है, सर्वथा निर्मल है, अपने ही परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। वृत्तियों के निरोध से यही लाभ है, यही प्राप्ति है–नैष्ठिकीम् सिद्धि या परम तत्त्व का विदित होना। प्रश्न उठता है, चित्तवृत्तियों का निरोध होने से पहले क्या द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहता? उस समय द्रष्टा का क्या स्वरूप रहता है? इस पर कहते हैं–

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।।४।।

दूसरे समय में द्रष्टा का वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है। जैसी वृत्ति वैसा पुरुष, वही हैं आप! लोग कहते हैं– मैं तो शुद्ध हूँ, आत्मा हूँ; किन्तु यह महापुरुष कहते हैं कि जैसा वृत्ति का प्रवाह है वैसा ही पुरुष का स्वरूप है।

अर्जुन के प्रश्न करने पर कि– "भगवन्! इस शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर जो भजते हैं, उनकी क्या गति होती है?" (गीता, १७/१) भगवान ने कहा– "अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय है। एक भी पुरुष सृष्टि में ऐसा नहीं है जिसमें श्रद्धा न हो। जो जैसी श्रद्धावाला है, स्वयं भी वही है।" (गीता, १७/३) यही महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं कि जैसी वृत्ति वैसा पुरुष। चित्तवृत्ति-निरोध और स्वरूप में स्थिति से पूर्व वृत्ति का जैसा प्रवाह है वैसा ही आपके लिए द्रष्टा है। वृत्ति से होकर परमात्मा का उतना ही प्रतिबिम्ब प्राप्त होगा।

प्रश्न उठता है, यह वृत्ति क्या है? वृत्तियों का स्वरूप क्या है?–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।।५।।

पाँच तरह से विभक्त ये वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं– क्लिष्ट और अक्लिष्ट। एक क्लेशों को धारण करनेवाली, दूसरी क्लेशों से मुक्ति दिलानेवाली। पाँच प्रकार की वृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं–

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।।६।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनमें से 'प्रमाण' वृत्ति को संचालित करता है, 'स्मृति' संस्कारों को धारण करती है। मूलतः वृत्तियाँ दो

हैं- विपर्यय और विकल्प। विपर्यय वृत्ति मिथ्याज्ञान की संवाहिका है, तो विकल्प वृत्ति अपौरुषेय शब्द, द्रष्टा-दृश्य के संयोग से मिलनेवाले शब्द को समझकर चलती है। एक वृत्ति 'निद्रा' है। यह सम्पूर्ण वृत्तियों की सुप्तावस्था है। इसमें न तो अज्ञान की जड़ता या व्यर्थज्ञान की जकड़न है और न शब्दज्ञान से उत्पन्न वस्तु (द्रष्टा) का विकल्प ही है। यह जड़ शरीर तक ही सीमित है। जो हैं ही नहीं, भूतादिकों के शरीर जिनका अस्तित्व नहीं है, अभाव है, वहीं तक सीमित है। यह वृत्ति की निद्रा अवस्था है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, **'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।' (१६/७)** अर्जुन! आसुरी वृत्तिवाले लोग कार्यम् कर्म में प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होना नहीं जानते अर्थात् करने योग्य क्या है उसे न जानते हैं न प्रवृत्त होते हैं तथा न अकर्तव्य कर्म समझते हैं, न उससे निवृत्त होना जानते हैं।" वृत्ति की यह सुप्त अवस्था निद्रा है जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत ही प्रस्तुत किया है।

अब देखें प्रमाण-वृत्ति का स्वरूप-

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।।७।।

प्रमाण तीन हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष (प्रति अक्ष) का अर्थ है- आँखों के समक्ष होना। किन्तु इतना ही प्रत्यक्ष नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की अनुभूति 'प्रत्यक्ष' है। अनुसुइया आश्रम में एक बार मध्य रात्रि में हम चट्टान पर सोये थे। ठण्डी-ठण्डी एक लकीर पेट के ऊपर चलती प्रतीत हुई। नींद खुल गई। हमने सोचा, इतना ठण्डा! बर्फ जैसा! वह भी चलती हुई लकीर! यह सर्प हो सकता है। धीरे-धीरे ठण्डा लगना बन्द हुआ। हमने टार्च जलाया तो सचमुच सर्प था। आँखों ने तो देखा नहीं था किन्तु स्पर्श से वह देखने में आ गया।

वन्यपशु एक किलोमीटर दूर से ही शेर की गंध पहचान जाते हैं, चिक-पिक कर अपनी टोली को सतर्क करने लग जाते हैं। कोल-भील भी आधा किलोमीटर दूर से ही सिंह की गन्ध पा जाते हैं, अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध

करने लग जाते हैं। नासिका में गन्ध प्रत्यक्ष होते ही 'अनुमान' क्रियाशील हो उठता है।

तीसरा प्रमाण 'आगम' है। परमात्मस्वरूप कैवल्य पद की ओर अग्रसर होने के लिये आप्तपुरुषों का दर्शन, उनकी वाणी, उनका सान्निध्य आगम कहलाता है। प्रमाण पाते ही वृत्तियाँ संचालित हो जाती हैं। यदि वे ईश्वरोन्मुखी हैं, वैराग्य, विवेक, कल्याण के भाव, श्रद्धा जगाती हैं तो अक्लिष्ट तथा प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हैं तो क्लिष्ट कहलाती हैं। प्रमाण से वृत्ति संचालित होती है। प्रथम वृत्ति है 'विपर्यय'–

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।।८।।

जो उस वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है– ऐसा मिथ्याज्ञान विपर्यय है। अस्तित्वहीन वस्तुओं में आसक्ति विपर्यय है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– "अर्जुन! आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि मेरे पास इतना धन है, उतना होगा! मैं बड़े कुटुम्ब वाला हूँ! मेरे द्वारा यह शत्रु मारा गया, उसे मारूँगा, यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, यश को प्राप्त करूँगा और इस प्रकार कभी न पूर्ण होनेवाली अनन्त इच्छाओं, वासनाओं का सदैव आश्रय लिये रहता है। ऐसे पुरुष शनैः–शनैः घोर नरक में गिरते हैं, वे अन्धकार की ओर उन्मुख हैं।" यह वृत्ति सम्पूर्ण की सम्पूर्ण क्लिष्ट हैं; किन्तु इसे कहीं प्रमाण मिल गया, जैसे– आप्तपुरुषों का दर्शन; तत्काल यह क्लिष्ट वृत्ति अक्लिष्ट की ओर उन्मुख हो जायेगी। वाल्मीकि, अंगुलिमाल इत्यादि की वृत्ति में सत्पुरुषों के दर्शन से परिवर्तन का सूत्रपात हो गया। पूज्य परमहंस जी महाराज के साहचर्य से सती अनुसुइया क्षेत्र में दस्युओं के एक गिरोह का हृदय–परिवर्तन हो गया। उसका सरदार संत हो गया। दूसरी वृत्ति है 'विकल्प'–

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।।९।।

जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान के साथ–साथ होनेवाला है, जिसका विषय–वस्तु वास्तव में नहीं है वह विकल्प है।

इसी पाद के बयालीसवें सूत्र में है '**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।**' अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से

मिली हुई समाधि सवितर्क है। किन्तु किसी शब्द के सुनने या उसका आशय समझ लेने से समाधि तो नहीं लग जाती। विभीषण श्रीराम की शरण में आया, निवेदन किया; किन्तु मंत्रियों ने सन्देह ही व्यक्त किया–'**कामरूप केहि कारन आया।**' **(मानस, ५/४२/६)** शब्द भी मिला, आशय भी मिला, उसके अनुसार विभीषण को बाँधने की तैयारी भी हो गयी। समाधि तो किसी की नहीं लगी!

वास्तव में यह शब्द–'अनुभव' है, जो सक्षम सद्गुरु द्वारा अधिकारी साधक में भजन की जागृति के रूप में प्रस्फुटित होता है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग से जो प्रेरणा मिलती है वह शब्द है। जो दृश्य का प्रयोजन है– पुरुष के लिए भोग और मुक्ति प्रदान करना– यह प्रयोजन सिद्ध करके द्रष्टा और दृश्य का संयोग भी शान्त हो जाता है। (देखें, साधनापाद, सूत्र १७, १८ और १९) वह चेतन द्रष्टा जिस प्रकार मुक्ति–प्रयोजक दृश्य संचालित करते हैं, समझाते हैं उसका नाम शब्द है। इस शब्द के आश्रित होकर चलनेवाली चित्त की प्रवृत्ति विकल्प कहलाती है। यहाँ वस्तु परमात्मा तो नहीं है, लेकिन उसका विकल्प सुदृढ़ हो जाता है। '**सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत् पसार।**' सत्य का तीनों कालों में अभाव नहीं है। आत्मा ही सत्य है, सनातन है। इस प्रकार वस्तु परमात्मा तो नहीं है, किन्तु उसका विकल्प भली प्रकार पुष्ट हो जाता है। इसका नाम विकल्प–वृत्ति है। यह सम्पूर्ण वृत्ति अक्लिष्ट है; किन्तु संग–दोष से प्रमाण मिलते ही यह क्लेशों की ओर उन्मुख हो जाती है– '**शृंगी की भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।**'

पूज्य परमहंस महाराज जी को अनुभव में दिखायी पड़ा था कि वह पिछले कई जन्मों से साधु थे। पिछले जन्म में आवागमन से निवृत्ति होने ही वाली थी कि एक–दो कुतूहल मन में होने लगे कि यह शादी–विवाह होता क्या है? कुछेक महात्मा गाँजा पीकर झूम क्यों रहे हैं? मन की इतनी–सी फिसलन के कारण एक जन्म और लेना पड़ा। महाराज जी सर्वथा अक्लिष्ट वृत्ति में चल रहे थे, मन में स्फुरण से क्लिष्ट वृत्ति में आ गये।

शब्द पर महापुरुषों ने बहुत बल दिया है–

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहो कहाँ लौं जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर फिर भटका खाय।। (कबीर)

शब्द के बिना चिन्तन में जो सुरति लगायी जाती है, अन्धी है। शब्द के बिना श्रुति का अध्ययन बुद्धिस्तर के अनुसार अटकल लगाना मात्र है। यदि शब्द का द्वार नहीं मिला, भजन जागृत नहीं हुआ; शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान समझते हुए आचरण में ढालते नहीं बना तो बार-बार भटकना पड़ता है। अनुभव को भी पढ़ना पड़ता है। भगवान लिंग-अलिंग, प्रतीक या बिना प्रतीक के ही जानकारी देते रहते हैं। यह विद्या पढ़नी पड़ती है। यही है-'**शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**' शब्द को समझें कि इष्ट द्वारा कहा क्या गया? उसका आशय क्या है? उस शब्द से उत्पन्न ज्ञान के साथ मन में उठनेवाली वृत्ति, जिसका विषय-वस्तु इष्ट नहीं है किन्तु उसका विकल्प अवश्य है। यही विकल्प-वृत्ति है।

भगवान श्रीराम ने अनुज लक्ष्मण से कहा- माया के दो रूप हैं विद्या और अविद्या। '**एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव पड़ा भव कूपा।।**' **(मानस, ३/१४/५)** अविद्या दुष्ट है, अत्यन्त दुःखरूप है। उससे विवश होकर यह जीव भव-कूप में पड़ा है। '**एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।**' **(मानस, ३/१४/६)** माया का दूसरा रूप विद्या है जो जगत् के तीनों गुणों को नियन्त्रित करने में समर्थ है। '**गुन बस जाके**'- सत्, रज और तम-तीनों गुणों को बस में करनेवाली है। किन्तु वह विद्यामाया प्रभु-प्रेरित है। यदि भगवान प्रेरणा न करें तो उसके पास कोई बल नहीं है, वह विद्या है ही नहीं। इस प्रकार द्रष्टा के सहारे चलनेवाली वृत्ति विकल्प-वृत्ति कहलाती है।

यह विकल्प-वृत्ति जो सर्वथा अक्लिष्ट है, विजातीय दृश्य प्रत्यक्ष होते ही यह क्लिष्ट की ओर परावर्त हो सकती है। जैसे- यह साधन-पथ दुर्गम है, कुछ काल के लिये भोग त्याज्य नहीं है। एक कुटिया बना लेना बहुत परिग्रह तो नहीं है!

अब निद्रा-वृत्ति के लक्षण बताते हैं-

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।।१०।।

अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाली वृत्ति निद्रा है। न तो यह संसार के मिथ्याज्ञान से बँधी है और न शब्द से उत्पन्न ज्ञान ही है। यह वृत्ति की सुप्तावस्था है– जब व्यक्ति न प्रकृति की ओर गतिशील है और न स्वरूप की ही ओर गतिशील है। इन महापुरुष ने इसे भी वृत्ति की सुप्तावस्था माना है। यह वृत्ति निद्रा है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। (गीता, २/६९)- 'जगत्रूपी रात्रि में सभी अचेत पड़े हुए हैं।'– यह निद्रा–वृत्ति है। जगत्रूपी रात्रि में प्रायः लोग प्रकृति में आसक्त रहते हैं; किन्तु निद्रा–वृत्तिवाला प्रकृति की जड़ता से भी नहीं बँधा है। मान लें, दो मार्ग हैं। एक पर प्रकाश ही प्रकाश और दूसरा अंधकार से परिपूर्ण! दोनों के मध्य एक पगडंडी पर कोई व्यक्ति चला जा रहा है– एक पाँव इस मार्ग पर, दूसरा उस मार्ग पर। कभी इधर देखता है, कभी उधर। यह निद्रा की वृत्ति है– न संसार की ओर, न स्वरूप की ओर!

हम भी जब पूज्य महाराज जी की शरण में आये, महाराजश्री ने कहा, " कुच्छउ नहीं जानत है!" वास्तव में हमें कुछ भी जानकारी नहीं थी। एकदम निद्रा–वृत्ति! न तो संसार की जड़ता थी, न भगवान की राह का ज्ञान था।

यह निद्रा–वृत्ति भी सदैव नहीं रहेगी। ज्योंही कुछ प्रत्यक्ष हुआ, अनुमान लगा, वृत्ति गतिशील हो उठेगी। शुभ प्रत्यक्ष हुआ तो अक्लिष्ट वृत्ति, अशुभ पड़ा तो वृत्ति क्लिष्ट हो जायेगी। किसी वैभवसम्पन्न व्यक्ति को देखा, सांसारिक जीवन में सफलता की कामना करने लगा। जो है ही नहीं, 'मिथ्याज्ञानम्' की ओर आकृष्ट हो क्लिष्ट वृत्ति का सृजन कर बैठा। कहीं आगम प्रमाण मिल गया महापुरुष का दर्शन, तो वह परमात्मा की ओर उन्मुख हो जायेगा, अक्लिष्ट वृत्ति प्रवाहित हो जायेगी।

यह सम्पूर्ण वृत्तियाँ जिस पर अंकुरित होती हैं, वह धरातल है स्मृति–

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।।११।।

भूतकाल में जिन कार्यों का अनुसरण होता चला है उनका पुनः प्रकट हो जाना, न छिपना स्मृति–वृत्ति है।

कैवल्यपाद के सप्तम सूत्र में महर्षि पतञ्जलि बताते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके कर्मों का न शुभ संस्कार पड़ता है न अशुभ; क्योंकि वे स्वरूपस्थ हैं। किन्तु अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं– भले, बुरे और मिश्रित। प्राणी और उसके संस्कारों के बीच जाति अर्थात् जन्म, देश और काल का व्यवधान बना रहता है। चित्तवृत्ति का एक प्रकार से दूसरे में परिवर्तित हो जाना जाति अर्थात् एक जन्म है। शरीर परिवर्तित हो गया, यह भी जन्म है। इन जन्म-परिवर्तनों, देश और काल का व्यवधान होने पर भी संस्कारों के प्रकट होने में कोई व्यवधान नहीं होता। ठीक समय पर वैसा ही प्रकट हो जाता है; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। स्मृति वह धरातल है जहाँ संस्कार प्रकट होते हैं। संस्कार स्मृति-पटल पर उभरते हैं। किन्तु एक स्तर ऐसा आता है जब चित्त का निरोध हो जाता है, ऐसी दशा में **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ मात्रनिर्भासा निर्वितर्का।' (१/४३)** स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो गयी, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो गया, लक्ष्यमात्र का आभास रह गया– यह निर्वितर्क समाधि है। उस समय स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है। उसमें न कुछ भला अंकुरित होता है न बुरा; क्योंकि चित्त का स्वरूप ही शून्य हो गया। अन्तिम संस्कार भी उभरकर सामने आ चुका, फल दे चुका और शान्त हो चुका, उस समय स्मृति पूर्णतः शुद्ध है; किन्तु जीवित है।

स्मृति कोई वृत्ति नहीं है। महर्षि ने वृत्तियों को समझाने के लिए पाँच तरीके से बाँटा है। उनमें से यह ऐसा धरातल है जिस पर शेष वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं। अंतिम संस्कार के निकलते ही चित्त का स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, स्मृति परिशुद्ध हो जाती है, केवल लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है, उस समय निर्वितर्क समाधि की अवस्था आ जाती है।

अतः स्मृति वह धरातल है जिस पर पूर्व में अनुसरण किये हुए अनन्तकाल के संस्कार अंकुरित होते हैं। ये क्लिष्ट भी हो सकते हैं, अक्लिष्ट भी।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– "इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र आदि मनु से इसी को कहा।" उन्होंने कुछ दिया नहीं, केवल कहा। मनु ने उसे अपनी स्मृति में

धारण कर लिया। यह आध्यात्मिक प्रक्रिया आरम्भ से ही चली आ रही है। मानव के प्रादुर्भाव के साथ ही यह प्रसारित हुई और तब से लेकर अब तक वृत्ति के दो ही रूप हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परमश्रेय प्रदान करती है, अक्लिष्ट है; तो दूसरी अधोगति की ओर ले चलती है, क्लिष्ट है। यही है- शुभ-अशुभ, प्रवृत्ति मार्ग-निवृत्ति मार्ग, सजातीय-विजातीय, विद्या-अविद्या। (विद्या जो परमगति प्रदान करती है, अविद्या जो भवकूप में भरमाती है।) यही है पुण्यमयी प्रवृत्ति-पापमयी प्रवृत्ति, धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र। कालक्रम से भाषाएँ बदलती गईं, इनके सम्बोधन बदलते गये; किन्तु वृत्तियाँ दो ही रहीं- एक ईश्वरोन्मुखी वृत्ति और दूसरी अनन्त योनियों में बार-बार भटकानेवाली वृत्ति। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने इन वृत्तियों की गति को समझने-समझाने के लिये इन्हें पाँच दृष्टियों से लिया। वृत्ति संचालित कैसे होती है? प्रमाण से! वृत्ति किस धरातल पर अंकुरित होती है? स्मृति-पटल पर! यदा-कदा यह सुषुप्त रहती है तो निद्रा। यह चलती है किसकी प्रेरणा से? किस दिशा में? विपरीत ज्ञान की जड़ता का बन्धन है तो 'विपर्यय' तथा द्रष्टा-दृश्य के संयोग से जो शब्द मिलता है उसको समझना और लगना-यह 'विकल्प' है। इस प्रकार वृत्तियों को कई दृष्टियों से रेखांकित किया गया है जिससे साधक सरलता से वृत्तियों की चाल को समझ सके और चल सके।

वृत्तियाँ शान्त कैसे हों? वृत्तियों का निरोध कैसे हो? इसके लिये आरम्भिक उपाय बताते हैं-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।१२।।

उन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। इन्हीं से साधन का आरम्भ है। पूर्तिपर्यन्त ये साथ चलते हैं। इन दोनों में से प्रथम 'अभ्यास' का स्वरूप देखें-

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।।१३।।

चित्त की स्थिरता के लिये जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास कहलाता है। यह अभ्यास वृत्तियों के अन्तिम निरोध तक चलता है, इसलिये इसका भली प्रकार पालन करना चाहिए। इस पर कहते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।।१४।।

किन्तु वह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर तथा श्रद्धा के साथ करते रहने से दृढ़ होता है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- **'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।'(६/२३)** वह योग न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्त्तव्य है। धैर्यपूर्वक लगा रहनेवाला ही योग में सफल होता है।

अब वैराग्य का स्वरूप बतलाते हैं–

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।१५।।

लोक और परलोक के देखे-सुने विषयों में तृष्णारहित चित्त की वशीकार नामक अवस्था वैराग्य है। अर्थात् संसार में जो कुछ देखा-सुना गया है, यहाँ से लेकर स्वर्ग तक के भोगों में राग का त्याग वैराग्य कहा गया है। यही वैराग्य-अभ्यास सम्पन्न होने पर पुरुष विदित हो जाता है, जिससे 'पर-वैराग्य' की अवस्था आती है–

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।।१६।।

पुरुष अर्थात् परमतत्त्व परमात्मा के ज्ञान से द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, उस समय प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव पर-वैराग्य है, वैराग्य की पराकाष्ठा है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, **'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।'(२/५९)**-इन्द्रियों को विषयों से समेटनेवालों का राग भी परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है। जब श्रेष्ठतर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है तो साधक तृष्णा भी करे तो किसमें? जिस पुरुष के ज्ञान से 'पर-वैराग्य' की उपलब्धि हुई है, उसका स्वरूप क्या है? पूर्ण ज्ञान की पूर्व अवस्था का चित्रण करते हुए कहते हैं–

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।।१७।।

वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता के साथ जो समाधि होती है, वह संप्रज्ञात कहलाती है। योग में सुरत सम है, योग भली प्रकार ज्ञात है किन्तु इस योग में वितर्क चलता रहता है। साधनपाद, सूत्र ३३ में कहते हैं–**'वितर्कबाधने**

प्रतिपक्षभावनम्।'- योग-साधन में विरोधी भाव आने पर उनमें कमजोरी देखना, उनके द्वारा होनेवाली अनिष्ट की भावना करके उनसे बचना प्रतिपक्ष भावना है। ऐसे वितर्क भी उठते हैं, उनके निवारण के लिये विचार भी चलता रहता है। ज्योंही निवारण हुआ, आनन्द भी है। और अस्मिता– प्रकृति-पुरुष का मिश्रण, इनसे मिली-जुली चित्त का जो समाधान है वह सम्प्रज्ञात योग की अवस्था है। अब देखें प्राप्ति–

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।।१८।।

जब वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता पर भी विराम लग जाय, अभ्यास करते-करते इस पूर्व अवस्था पर जहाँ विराम लग गया, जिसमें चित्त का स्वरूप संस्कार मात्र ही शेष रहता है, वह योग अन्य ही है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है अर्थात् वह कैवल्य की अवस्थावाला है, सूक्ष्म है, अनिर्वचनीय है। जिसमें अनेक जन्म से चले हुए पथिक ही इस स्थिति तक पहुँच पाते हैं। जैसे-अनेक जन्मों के पश्चात् जब बुद्ध राजप्रासाद में जन्मे, वह उनका प्राप्तिवाला अन्तिम जन्म था। काकभुशुण्डि का अंतिम जन्म एक हजार जन्म पश्चात् प्राप्तिवाला जन्म था। गुरु महाराज का भी अंतिम जन्म प्राप्ति वाला था। जड़भरत, शुकदेव, ध्रुव, भगवान श्रीकृष्ण इत्यादि ऐसे महापुरुष थे जिन्हें पूर्णत्व की प्राप्ति जन्मना थी। ऐसे महापुरुषों का योग शीघ्र सिद्ध होता है। क्योंकि–

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।।१९।।

भजन करते-करते जिनकी विदेहावस्था आ गयी, प्रकृति लय हो चली है ऐसे योगियों को इस योग की प्राप्ति में 'भवप्रत्यय' अर्थात् जन्म ग्रहण करना ही माध्यम होता है, भजन का विशेष सहयोग नहीं रहता; जैसे– शुकदेव, श्रीकृष्ण, ध्रुव इत्यादि होते आये हैं। इन्होंने जन्म लिया। जन्मते ही इनके सामने सिद्धियाँ भली प्रकार कार्य कर रही थीं। इनका भजन पूर्ण हो चुका है। अब पूर्णत्व की प्राप्ति में इनका जन्म लेना ही माध्यम है।

ध्रुव ने पूछा, "भगवन्! सुना है, साधक करोड़-करोड़ वर्ष यत्न करते हैं तब कहीं आप दर्शन देते हैं। हमें आप अत्यन्त अल्प साधन से ही मिल गये।

ऐसी अनुकम्पा क्यों?" भगवान ने कहा, "वत्स! तुम कई जन्मों से भजन करते आये हो। इस पहाड़ को देखो जो अस्थिपंजरों का ढेर है। यह सब तुम्हारी ही हड्डियाँ हैं। यहीं चट्टान पर तुमने भजन किया, इसी स्थल पर तुम्हारा शरीरपात हुआ। यह तुम्हारा प्राप्तिवाला जन्म है। प्राप्ति में छः माह ही शेष थे जिसे तुमने पूर्ण कर लिया। अब तुमने अचल पद प्राप्त कर लिया।"

महाभारत में कथा आती है कि भगवान श्रीकृष्ण पिछले दस जन्मों से लगातार चिन्तन-परायण थे। वे उन जन्मों में विष्णु, वामन, नारायण इत्यादि रूपों में अवतार भी कहलाये; किन्तु अपूर्ण थे। "राजन्! इस जन्म में यह परब्रह्म परमात्मा के रूप में आपके साथ हैं, विजय आपकी होगी- ऐसा हमें देवर्षि नारद जी ने बताया है।"-युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करते हुए अर्जुन ने ऐसा कहा। वस्तुतः भगवान के जन्म के साथ ही उनकी अलौकिक विभूतियाँ प्रदर्शित होने लगी थीं। भजन स्वल्प ही शेष था। "आप तीन दिन बद्रिकाश्रम में ध्यानस्थ हुए। ब्राह्मवेला में दो बजे से ही उठकर आँखों पर जल के छींटे देकर भजन में बैठ जाया करते थे।"-इस प्रकार श्रीकृष्ण भवप्रत्यय योगी थे। भव माने शरीर! इनकी पूर्णत्व प्राप्ति में जन्म लेना ही माध्यम था, साधन नहीं।

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।' **(३/४३)**- बाहर देखी-सुनी वस्तु में कल्पनारहित वृत्ति का सीधा प्रवाह जब चलता हो-यह महाविदेहावस्था है। इसके जागृत होते ही ज्योतिर्मय द्रष्टा आत्मा और तुम्हारे बीच का आवरण शान्त हो जाता है। इस स्थितिवाले साधक का शरीर यदि छूट जाता है तो जन्म लेना ही उसकी पूर्णता का माध्यम बन जाता है। उसकी प्राप्ति में 'भवप्रत्यय'-पुनः जन्म लेना ही माध्यम है न कि साधना। साधना तो उसकी पूरी हो चुकी। इसीलिए इन महापुरुषों का योग तत्काल सिद्ध होता है। किन्तु अन्य लोगों का योग कैसे सिद्ध होता है? इस पर कहते हैं-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।।२०।।

दूसरे साधकों का चित्तवृत्ति-निरोध और लक्ष्यप्राप्तिरूप योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रमशः सिद्ध होता है।

पहले तो ईश्वर-पथ में श्रद्धा आवश्यक है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, किया हुआ कर्म सब व्यर्थ चला जाता है, इसलिये–

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (गीता, ४/३९)

अर्जुन! श्रद्धावान्, संयतेन्द्रिय तथा तत्परायण पुरुष उस ज्ञान को प्राप्त होता है जिसे प्राप्त करने के पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। ईश्वर-पथ में श्रद्धा-भाव अनिवार्य है। श्रद्धा के बिना भगवान से कुछ मिलता ही नहीं, सब व्यर्थ चला जाता है। इसलिये इस पथ में श्रद्धा अनिवार्य है, वह भी केवल ईश्वर के प्रति! ईश्वर के स्वरूप की चर्चा महर्षि इसी पाद के चौबीसवें सूत्र में करेंगे। इस पथ में दूसरी आवश्यकता मन की दृढ़ता है। साधक को शौर्य के साथ कमर कसकर साधना में लगना चाहिए। ऐसा न हो कि थोड़ा कष्ट मिलते ही पीछे हट गये। ध्रुव, प्रह्लाद या मीरा की तरह टेक के साथ लगने का विधान है। साधक को लक्ष्य सदैव स्मृत रहना चाहिए। सदैव सचेतावस्था अनिवार्य है। खाते-पीते, उठते-बैठते, प्रत्येक क्रियाकलाप के साथ सुरत लक्ष्य पर टिकी रहे। सुरत जिह्वा के स्वाद या इन्द्रिय-भोगों में रस न लेने लगे। ईश्वरीय सन्देशों, निर्देशनों को पकड़नेवाली बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है। प्रज्ञापूर्वक क्रम-क्रम से यह योग सिद्ध होता है। पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण पराक्रम तथा पूर्ण स्मृति के साथ रहनेवाले साधकों के कई स्तर हैं–

तीव्रसंवेगानामासन्नः।।२१।।

जिनके साधन की गति तीव्र है उनके लिये यह योग शीघ्र सिद्ध होता है। अभ्यास और वैराग्य की साधना में आनेवाले विघ्नों को टालते हुए अपने लक्ष्य पर अडिग रहनेवाले चित्तवृत्तियों का निरोध शीघ्र कर लेते हैं। साधना की मात्रा भी प्राप्तिकाल को प्रभावित करती है–

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः।।२२।।

साधना की हल्की, मध्यम और उच्च मात्रा के अनुसार तीव्र गति से चलनेवाले योगियों की सिद्धि में भी भेद हो जाता है, प्राप्तिकाल में कुछ

अन्तराल बढ़ जाता है। किसी साधक के अन्तराल में संस्कारों का वेग अधिक है, किसी के संस्कार अल्प हैं। उसी के अनुसार लक्ष्य की प्राप्ति में शीघ्रता अथवा विलम्ब हो सकता है।

भगवान बुद्ध बोधगया में भजन कर रहे थे। पाँच भिक्षु भी उन्हीं के समीप साधना कर रहे थे। एक दिन उन्होंने बुद्ध को भोजन करते देखा। उन्होंने बुद्ध को शरीर में आसक्त समझ उनका साथ छोड़ अन्यत्र तप करने सारनाथ चले आये। इधर बुद्ध को स्थिति मिल गयी। उन्हें आदेश मिला कि अल्प मल वालों का कल्याण करें! तथागत सीधे वहीं चले आये, जहाँ वे पाँचों भिक्षु थे।

दूर से ही गौतम को देखकर उन भिक्षुओं ने निश्चय किया था कि इनका अभिवादन न किया जाय, स्वागत में चरण न धुलाया जाय। किन्तु ज्योंही तथागत समीप पहुँचे, सब खड़े हो गये। किसी ने तौलिया लिया, किसी ने जल प्रस्तुत किया। किसी ने आसन लगाया, किसी ने चरण प्रक्षालन कराया। तथागत बैठ गये। उन भिक्षुओं ने प्रश्न किया। बुद्ध का उपदेश आरम्भ हुआ। उपदेश के दौरान ही एक को स्थिति मिल गयी। दूसरे को चौदह दिन पश्चात् कैवल्यपद प्राप्त हो गया। तीसरे भिक्षु को उन्हीं उपदेशों पर चलकर दो माह पश्चात् परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हुई, जबकि उन सबने साधन में एक जैसा ही श्रम किया था। यही कारण है कि तीव्र संवेगवालों में भी प्राप्ति में काल का भेद हो जाता है। अब बताते हैं, अभ्यास किसमें करें?

महर्षि ने पहले तो यह बतलाया कि वैराग्य और अभ्यास बिना उकताये चित्त से, सांगोपांग निरन्तर करने पर दृढ़ स्थितिवाला होता है। इससे चित्तवृत्तियाँ शान्त और निरुद्ध हो जाती हैं; किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि अभ्यास में चित्त को कहाँ ठहरायें? आरम्भ कहाँ से करें? इस पर कहते हैं–

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।।२३।।

अथवा ईश्वर के प्रति समर्पण से समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं! ईश्वर का स्वरूप क्या है? इस पर कहते हैं–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।।२४।।

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय- इन चारों से जो '**अपरामृष्टः**'-

सम्बन्धित नहीं है, पूर्णतः निर्लेप है, परे है, जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यही ईश्वर की परिभाषा है।

संसार क्लेश, कर्म, कर्मों के संग्रह और उसके आशय से बँधा है। इन सबसे अत्यन्त परे (जैसे कभी कोई सम्बन्ध था ही नहीं– इतना परे) विशेष पुरुष ईश्वर है। क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– जो जीव के दुःख के कारण हैं; शुभ, अशुभ, मिश्रित एवं शुभाशुभरहित कर्म, उनके परिणाम और उन कर्म-संस्कारों की वासना से जो सर्वथा उपराम है, ईश्वर है।

देखें, उस ईश्वर की विशेषता–

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।।२५।।

वह ईश्वर सर्वज्ञता का कारण है, वह अनन्त सर्वज्ञता का सहज स्रोत है। इसी प्रकार अन्यान्य गुणों का भी स्रोत है। बिना किसी सहयोग के वह सबको जानता है, सब देखता और समझता है। उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है। वह ईश्वर–

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।।२६।।

वह ईश्वर '**पूर्वेषाम्**'- पूर्व में जो प्रत्याशी होते आये हैं, उन गुरुओं का भी गुरु है; क्योंकि '**कालेनानवच्छेदात्**'- काल से उसका अवच्छेद नहीं है, वह अकालपुरुष है। सृष्टि में अनन्त गुरु हुए हैं उनमें प्रवाहित गुरुत्व यही है। काल से परे है। भगवान श्रीकृष्ण को गीता में '**गुरुर्गरीयान्**'-गुरुओं का भी परम गुरु कहा गया है।

उस ईश्वर को कैसे पुकारें? उसका नाम क्या है?–

तस्य वाचकः प्रणवः।।२७।।

उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव, ओंकार ॐ है।

गीता, सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में है– 'ॐ, तत् और सत्– यह तीनों उस परब्रह्म परमात्मा का निर्देश करते हैं, स्मृति दिलाते हैं। इसी ओम् के द्वारा यज्ञ, वेद और ब्राह्मण रचे गये हैं।' '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**'-'ओम्'

इतना ही अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। उस ईश्वर का नाम प्रणव है; क्योंकि प्राणों द्वारा ही उसका संचार है। प्रणव और ओम् पर्यायवाची शब्द हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।२८।।

उस ओम् का जप और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान, ईश्वर-प्रणिधान है।

पहले बताया गया कि अभ्यास दीर्घकाल तक बिना उकताये चित्त से आदरपूर्वक निरन्तर करना चाहिए; किन्तु यह नहीं बताया गया कि अभ्यास में किया क्या जाय? यहाँ महर्षि स्पष्ट करते हैं कि ओम् का जप करें और उसके अर्थस्वरूप उन परमेश्वर का ध्यान करें। उनके प्रति श्रद्धा स्थिर करें। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं, तब चिन्तन कैसे करें? पहले ध्यान श्रद्धा से ही होता है, क्रमशः ईश्वर ही बोध करा देता है कि सद्गुरु कौन हैं। ध्यान सद्गुरु का ही किया जाता है। सद्गुरु अव्यक्त ईश्वरस्वरूप हैं, मानव-तन के आधारवाले हैं। गीता (९/११) में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु हूँ मनुष्य-शरीर के आधारवाला! यही सद्गुरु का स्वरूप है। जब सद्गुरु का परिचय मिल जायेगा तब ध्यान और स्पष्ट हो जायेगा।

भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में ईश्वर का निवास और ईश्वर-प्राप्ति का उपाय :-

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता, १८/६१)- अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयदेश में निवास करता है। जब इतना समीप है तो लोग उसे देखते क्यों नहीं? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर लोग भ्रमवश भटकते रहते हैं, इसलिये नहीं देख पाते।" तो शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।(गीता,१८/६२)

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ, सम्पूर्ण भावों से जाओ। थोड़ा भाव किसी अन्य देवता में है; थोड़ा भूत, भवानी, यक्ष राक्षसादि में

उलझ गया, तब तो आपकी श्रद्धा बँट गयी। अतः सम्पूर्ण भावों से हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। परम्परागत मान्यताएँ समाज में प्रचलित हैं। इन्हें तोड़ना कठिन होता है। मान लें कि हमने मान्यताएँ तोड़ीं, मात्र एक ईश्वर की शरण में चले ही गये, उससे लाभ? **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं'**–उसकी कृपा से तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे और उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है, सनातन है। सदैव तुम रहोगे, तुम्हारा अस्तित्व रहेगा और निवास भी शाश्वत हो जाएगा। इसी का नाम है अक्षयधाम, कैवल्य पद।

किन्तु हृदयस्थित ईश्वर को हमने देखा नहीं, उसकी शरण में जायँ तो कैसे? उसकी विधि क्या है? अगले ही श्लोक में कहते हैं– अर्जुन! इससे भी अति गोपनीय मेरे रहस्ययुक्त वचन को सुन,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (गीता, १८/६५)

अर्जुन! मुझमें मन को लगा, मुझे नमस्कार कर, मेरा अनन्य भक्त हो। मैं सत्य कहता हूँ, तू मुझमें निवास करेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।(गीता,१८/६६)

अर्जुन! सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर दो। एकमात्र मेरी शरण हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक न कर।

भगवान ने पहले दो श्लोकों में बताया कि ईश्वर का निवास हृदय में है, उसकी शरण जाओ। अगले ही दो श्लोकों में कहते हैं, "नहीं! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ केवल मेरी शरण में आओ।" मन तो एक है। सम्पूर्ण भाव हृदयस्थ ईश्वर में भीतर लगायें या दूसरा बाहर जो श्रीकृष्ण खड़े हैं उनकी शरण में जायँ?

वास्तव में यदि हृदयस्थित ईश्वर को प्राप्त करना है तो वर्तमान में जो ईश्वरभाव को प्राप्त शरीर में सद्गुरु हैं, उनकी शरण में जाना होगा। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर एवं सद्गुरु थे। अतः सम्पूर्ण भावों से इन सद्गुरु की शरण जाना है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, **'मानुषीं तनुमाश्रितम्' (गीता, ९/११)**- मैं परम का स्पर्श कर परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु मनुष्य-तन के आश्रित हूँ। शरीर तो एक आधार है। ऐसे सद्गुरु के स्वरूप के ध्यान की विधि बतलाते हुए भगवान कहते हैं–

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। (गीता, ८/११)

प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिसे अविनाशी कहते हैं, वीतराग महापुरुष, परम विरक्त जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसे चाहनेवाले ब्रह्मचर्य आदि कठोर व्रतों का पालन करते हैं उस परमपद को मैं संक्षेप में कहूँगा–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (गीता, ८/१२)

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को संयमित कर, वासनाओं से समेट कर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, अन्तःकरण में योगविधि धारण कर–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (गीता, ८/१३)

'ओम्' जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उस नाम का जप करते हुए **'मामनुस्मरन्'**- मेरे स्वरूप का भली प्रकार ध्यान धरते हुए, सतत चिन्तन करते हुए जो देहाध्यास का त्याग कर जाता है तत्क्षण वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने हृदयस्थ उस ज्योतिर्मय ईश्वर को प्राप्त करने के लिये ईश्वर की ही शरण जाने पर बल दिया। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं, शरण जायँ तो कैसे? इस पर उन्होंने कहा कि मेरी शरण में आओ। श्रीकृष्ण के ही शब्दों में वह एक सद्गुरु हैं अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के लिये ईश्वर-भाव को प्राप्त सद्गुरु की शरण जाओ। सद्गुरु एक अवस्था है, एक स्थिति है। इन सद्गुरु की शरण, उनके चरणों का ध्यान ही एक उपाय है।

भगवान कहते हैं– "अर्जुन! '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**'– चार वर्णों की रचना मैंने की।" तो क्या चार भागों में मनुष्यों को बाँट दिया? भगवान कहते हैं– "नहीं, '**गुणकर्मविभागशः**' **(गीता, ४/१३)**– गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बाँटा।" गुण एक पैमाना है, तराजू है। गुण तीन हैं– सात्त्विक, राजस और तामस। तामसी होगा तो आलस्य-प्रमाद रहेगा, राजसी होगा तो कामनाओं का बाहुल्य रहेगा, सात्त्विक होगा तो धारणा-ध्यान की पकड़ सहज हो जायगी। इन गुणों के माध्यम से ही कर्म को चार भागों में भगवान ने बाँटा। योग-विधि यज्ञ है, उसे क्रियान्वित करना कर्म है। गीता के अनुसार कर्म केवल आराधना है, चिन्तन है, योग की निश्चित विधि है। इसीलिये इसे नियत कर्म कहा गया। इस नियत कर्म को भगवान ने चार भागों में बाँटा– अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। इसके कर्त्ता मुझ अव्यक्त आत्मा को तू अकर्त्ता ही जान! आप बोलते हैं, शरीरधारी हैं, विभाजन करते हैं तो आप अकर्त्ता क्यों? इस पर भगवान कहते हैं–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। (गीता, ४/१४)

अर्जुन! कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते; क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। इस कर्म का फल है परमात्मा। परमतत्त्व परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और स्थिति मुझसे भिन्न नहीं है। मैं वही अव्यक्त स्वरूप हूँ। कर्मों का फल मुझसे विलग नहीं है। '**इति मां योऽभिजानाति**'– इस स्तर से जो भी मुझे जान लेता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। श्रीकृष्ण जो भी रहे हों-पुरुषोत्तम, परब्रह्म, वह स्थिति सबके लिये सुलभ है।

इसी आशय को यहाँ महर्षि पतंजलि ने भी प्रस्तुत किया है कि ईश्वर का वाचक प्रणव है उसका जप करें और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का चिन्तन करें – जो सर्वज्ञ है, गुरुओं का गुरु है, सद्गुरु है। किन्तु शरीर के अन्तराल में कुछ ऐसे विघ्न हैं जो जप और ध्यान में मन को टिकने ही नहीं देते। इस पर कहते हैं–

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।२९।।

उक्त साधन नाम (ओम्) के जप और ईश्वर सद्गुरु के ध्यान के अभ्यास से '**अन्तरायाभावः**'-अन्तराय अर्थात् विघ्नों का अन्त हो जाता है तथा अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

जिन विघ्नों का अभाव हो जाता है वे कौन हैं? इस पर कहते हैं–

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।।३०।।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व ये नौ चित्त के अन्तराय हैं, आन्तरिक विघ्न हैं। बाह्य संग-दोष न होने पर भी साधक को भीतर ही भीतर उद्वेलित कर देते हैं जिससे साधन में मन नहीं लगता। इन विघ्नों में सर्वप्रथम 'व्याधि' अर्थात् रोग है। शरीर या किसी इन्द्रिय में रोग उत्पन्न हो जाना, चित्त का उससे प्रभावित हो जाना और चिन्तन छूट जाना व्याधि है। दूसरा विघ्न 'स्त्यान' अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता है। इच्छा होने पर भी साधन में प्रवृत्त न होने का स्वभाव स्त्यान है। योग-साधन के फल में अथवा अपनी ही शक्ति में सन्देह हो जाना 'संशय' है। साधनों के अनुष्ठान की अवहेलना, साधन के अतिरिक्त अन्य व्यर्थ की वार्ता में समय नष्ट करना 'प्रमाद' है। चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण नाम-जप या ध्यान में मन न लगना 'आलस्य' है। अधिक भोजन कर लेने से अथवा पेट साफ न होने से भी आलस्य बढ़ जाता है। '**आलस्य निद्रा जमुहाई, तीनों काल के भाई।**' आलस्य से बचने के लिये महात्मा लोग स्वल्प भोजन, स्वल्प निद्रा का अनुष्ठान करते हैं तथा सदा सचेत रहते हैं। भजन करते-करते कभी ऐसा संयोग आ जाता है कि वासना ही प्रिय लगने लगती है, वैराग्य में त्रुटि आने लगती है, यही 'अविरति' है। योग के साधनों तथा उसके फल को मिथ्या मान लेना 'भ्रान्तिदर्शन' है। साधन करने पर भी योग की भूमिकाओं में स्थिति का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है। इससे साधक का उत्साह भंग हो जाता है। योग-साधन से किसी भूमिका में चित्त की स्थिति होने पर भी उसमें चित्त का न ठहरना 'अनवस्थितत्व' अन्तराय है। ईश्वर-प्रणिधान, ॐ के जप तथा ईश्वर के सतत ध्यान-चिन्तन से ये

अन्तराय भली प्रकार शान्त हो जाते हैं। इन विघ्नों का साथ देनेवाले पाँच विघ्न और हैं–

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।३१।।

दुःख, मन का क्षोभ, अंगों में कम्पन, अनियमित श्वास–प्रश्वास ये पाँच विघ्न '**विक्षेपसहभुवः**'–व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमादादि उपर्युक्त नौ विक्षेपों के साथ उत्पन्न होते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं– दैहिक, दैविक और भौतिक। देहजन्य विकार से चिन्तन में मन न लगना दैहिक दुःख है; जैसे–वायु का प्रकोप, स्नायविक व्याधियाँ इत्यादि। शरीर में रोग अथवा वासनाओं से चित्त की चंचलता दैहिक दुःख का कारण है। जल तथा वायु द्वारा भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अत्यधिक ग्रीष्म, शीत इत्यादि दैविक दुःख कहे जाते हैं। जड़, चेतन, स्थावर प्राणियों द्वारा मिलनेवाला आघात भौतिक दुःख है; जैसे– भगवान महावीर भजन में बैठे थे। किसी चरवाहे ने उनके कान में कुश की कील ठोंक दी।

बहुत से साधक कहते हैं, 'यह सज्जन ठीक नहीं हैं, हमसे द्वेष रखते हैं।' आप भजन करने आये हैं या लोगों की भावना संग्रह करने! मन में अनमनापन, खिन्नता, इच्छा के विरुद्ध घटित होने पर क्षोभ इत्यादि 'दौर्मनस्य' है। अंगों में आकस्मिक कम्पन 'अंगमेजयत्व' है। चिन्तन में सुरत स्थिर होते ही जिस पल मन विचारों से रिक्त होता है, शरीर को एक झटका–सा लगता है। साधक उछल पड़ता है। आगे–पीछे, दाएँ–बायें कहीं गिर भी सकता है। इससे सतर्क करते हुए पूज्य महाराजजी निर्देश देते थे कि साधक का आसन न अति नीचा और न अत्यन्त ऊँचा ही होना चाहिए। इस प्रकार शारीरिक कम्पन अंगमेजयत्व है और कभी–कभी इन व्याधि इत्यादि अन्तरायों के प्रभाव से योग का सांगोपांग अनुष्ठान नहीं हो पाता। योग के किसी अंग के अनुपालन में त्रुटि आ जाने से मन खिन्न हो जाता है। हठात् श्वास का बाहर निकल जाना भी योग का सह–विक्षेप है। जो कुछ भी साधक ने थोड़ा–बहुत सीखा है, न चाहते हुए भी उस जानकारी का व्यक्त हो जाना प्रश्वास–सम्बन्धी विक्षेप है। अनधिकारी द्वारा उपदेश एक ऐसी ही चेष्टा है। उसी तरह श्वास–सम्बन्धी विक्षेप क्लिष्ट

संकल्प, वाह्य संकल्पों का साधक के भीतर प्रवेश कर जाना है जिससे साधक व्यर्थ चिन्तन करने लग जाता है।

ये विघ्न बार-बार मन को उद्वेलित करते ही रहते हैं। इन्हें शान्त करने के उपायों पर महर्षि प्रकाश डालते हैं–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।।३२।।

उन विक्षेपों तथा उप-विक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। नाम या रूप में से किसी भी एक स्थान पर बारम्बार चित्त को समेटकर स्थिर करने का यत्न करना चाहिए। क्षण में नाम, क्षण में रूप-ऐसा नहीं, जिसमें मन अधिक लगता हो उसी में अधिक देर तक अभ्यास बढ़ायें। इस प्रकार करने से विघ्न शान्त होकर चित्तवृत्ति भजन में लगनेवाली हो जाती है। साधक संसार में रहकर ही भजन करता है, भले-बुरे लोग टकराते ही रहते हैं। उनसे निर्लेप रहने की विधि बताते हैं–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।३३।।

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता जाता है।

राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह, असूया, अपकार, द्वेष इत्यादि चित्त के मल हैं। **'रागु रोगु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू।।' (रामचरितमानस, २/७४/५)** वस्तु के प्रति लगाव राग है। दूसरों के गुणों में भी दोष देखना असूया है। इन मलों से निवृत्ति हेतु प्रस्तुत सूत्र में महर्षि कहते हैं कि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए। गीता (५/२१) में है कि बाहर संसार के विषय-भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा में जो सुख है, उस सुख को प्राप्त होता है। वह पुरुष परमब्रह्म परमात्मा के साथ मिलन से युक्त आत्मावाला है, इसलिये वह अक्षय सुख का अनुभव करता है– जिस सुख का कभी क्षय नहीं होता। इस सुख का उपभोग कौन कर सकता है? जो बाहर के विषय-भोगों से अनासक्त है! ऐसे सुखी व्यक्तियों में प्रीति रखने से साधना में सहयोग मिलता है।

समस्त आप्तपुरुषों की वाणी में सुख एक ही प्रकार का है– एक हरि की भक्ति! रामचरितमानस में है–

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।।
(मानस, ७/१२१/१४)

हिम ते अनल प्रगट बरू होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।।
(मानस, ७/१२१/१४)

अतः इन ईश्वर-परायण पुरुषों में मैत्रीभाव से चित्त-निरोध की दशा में सहायता मिलेगी; क्योंकि उनकी संगति से जो भी उपलब्धि होगी वह साधना-परायण ही होगी। इसी प्रकार संसार में फँसे, आकण्ठ डूबे दुःखी व्यक्तियों के प्रति दया की भावना होनी चाहिए, न कि घृणा की भावना। '**दया बिन सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।**' सीता ने रावण को भिक्षा देने में दया की, जिसका परिणाम उन्हें लंका जाना पड़ा। एक स्तर से पहले साधक के लिये दया का विधान नहीं है, उसे सतत चिन्तन में ही अनुरक्त रहने का विधान है। दया सन्त का सहज स्वभाव है। साधक को भी दुःखियों के प्रति करुणा की भावना रखनी चाहिए; किन्तु भावना रखने और दुःख निवृत्तिहेतु क्रियाशील हो उठने में अन्तर है जिसके लिए इष्ट के आदेशों के अनुपात में ही संलग्न होना चाहिए। पुण्यात्माओं के प्रति मन में प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए। गीता में कर्म की नियत विधि को ही पुण्यकर्म कहा गया है। इस नियत कर्म का आचरण करनेवालों के प्रति प्रसन्नता की भावना होनी चाहिए कि भगवान की इन पर कितनी कृपा है, यही विधि है, इन्हीं सोपानों पर मुझे भी चलना है; न कि उनकी नकल करने लगें या उनमें दोष ढूँढने लगें। पापात्मा अर्थात् जो पतन की ओर उन्मुख हैं– ऐसे लोगों का संसर्ग होने पर उनके गुण-दोषों से तटस्थ रहना चाहिए– '**उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं ।।**' (**रामचरितमानस, ७/१०५/१५**) उसका त्याग नहीं, असंग रहना चाहिए।

व्यक्ति बुरा नहीं होता, उसकी परिस्थिति ही ऐसी है। आप उनसे कुछ ग्रहण न करें। इन भावनाओं से चित्त निर्मल होने लगता है। चित्तवृत्ति को स्वच्छ करने के लिए अन्य उपाय बतलाते हैं–

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।।३४।।

अथवा प्राणवायु को बारम्बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त स्थिर होता है।

श्वास को बाहर निकालें। जितना सम्भव हो उसे बाहर रोकें। बार-बार श्वास बाहर निकालें और रोकें। चार-छः बार भी ऐसा करने से दूषित वायुमण्डल बाहर हो जाता है। चिन्तन में बैठने पर मन शीघ्र एकाग्र होता है। चिन्तन, भजन, नाम, रूप में मन अधिक लगता है।

चित्त को स्थिर करने का एक अन्य उपाय महर्षि बतलाते हैं–

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।।३५।।

हमारा जो विषय-वस्तु है- योग, चित्तवृत्ति का निरोध, अन्तरायों से मुक्ति, ईश्वर-प्रणिधान, नाम-रूप का सतत चिन्तन- इन विषयों में लव लग जाय, प्रवृत्ति जग जाय। विषय के अनुरूप प्रवृत्ति मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है।

चिन्तन का स्तर उन्नत हो जाने पर ईश्वरीय सहयोग मिलने लगता है, वह भी मन स्थिर करने में सहायक होता है–

विशोका वा ज्योतिष्मती।।३६।।

प्रकाशमय, ज्योतिर्मय द्रष्टा एकमात्र परमात्मा है उस ज्योतिस्वरूप द्रष्टा का दर्शन होने पर भी मन की तरंगें शान्त हो जाती हैं। भगवान की अनुकूलता का अनुभव कर साधक का उत्साह बढ़ जाता है। यह दर्शन विघ्नों का शमन कर मन को स्थिर करने में सहायक होता है–

वीतरागविषयं वा चित्तम्।।३७।।

वीतराग अर्थात् रागमुक्त महापुरुषों की जीवनचर्या को अंतःकरण में धारण करने से चित्त स्थिर होता है। ऐसे आप्तपुरुषों की स्थिति, उनकी रहनी, उनकी प्राप्ति का स्मरण, चिन्तन-मनन करने से, उसके अनुरूप अपने को ढालने से भी चित्त स्थिर होने लगता है, विघ्न शान्त होने लगते हैं। एक उपाय है स्वप्न–

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।।३८।।

निद्राकाल में स्वप्न का ज्ञान अवलम्बन करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है। पूज्य गुरु महाराज का कहना था- योगी कभी स्वप्न नहीं देखता। वह जो कुछ देखता है होनी देखता है, भविष्य देखता है। वह स्वप्न में भी साधना की पकड़, क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति का विकास कैसा है- इसे देखता है। निद्राकाल में जो दृश्य मिलता है भगवान से प्रसारित होता है, सद्गुरु से मिलता है। उसका अनुसरण करनेवाला चित्त स्थिरता की ओर अग्रसर हो जाता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा।।३९।।

जैसा अभिमत है- ईश्वर-शरणागति, ओम् के जप से अन्तरायों का अन्त, चित्तवृत्ति का शान्त प्रवाहित होना, समाधि की जागृति, चित्त का एकाग्र होना- ऐसा कहीं से कुछ मिले, उसे ध्यान में लेने से चित्तवृत्ति स्वच्छ हो जाती है। वातावरण को साधना के अनुरूप ढाल लेना, आशय को बदलकर साधन के अनुकूल ढाल लेना यथाभिमत ध्यान है।

एक बार अर्जुन चिन्तनरत था। अकस्मात् कर्णकुहरों में संगीत-लहरी झनझना उठी। उसने सिर उठाकर देखा तो उर्वशी खड़ी थी जो देवलोक की अप्सरा, नृत्यांगना थी। सभी उसके रूप पर मुग्ध हो झूम रहे थे। किन्तु अर्जुन ने उसे स्नेहिल दृष्टि से मातृवत् देखा। शब्द-रूप से मिलनेवाले विकारों के स्थान पर अर्जुन ने आशय बदलकर साधनानुकूल मातृवत् ध्यान किया।

पूज्य महाराज जी के संरक्षण में साधनरत एक महात्मा निराधार विचरण की अनुमति चाहते थे। उनके बार-बार आग्रह पर महाराज जी ने अनमनस्क भाव से अनुमति दे दी। वह महात्मा कुछ ही दूर आये होंगे, छोटे बच्चे पाँव के बीच लकड़ी डालकर घोड़े का खेल खेल रहे थे। अचानक एक लड़का एक पाँव उठाकर कूदते हुए कहने लगा- '**लँगड़ा चींटा चला रिसाय। नौ दिन में बीता भर जाय।। अस्सी कोस जमुना का तीर। कै दिन में पहुँचा वह वीर।।**' इतना सुनते ही उन महात्मा को अपशकुन होने लगा। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि बच्चे तो खेल-खेल में कुछ बोलते ही हैं,

इस पर हमें अपशकुन क्यों हो रहा है? क्या वह मेरे लिये कह रहा है? भगवान ने समाधान दिया कि हाँ, तुम्हारी यही दशा है। तुम्हारा वैराग्य लंगड़ा है। योगरूपी यमुना दूर है। तुम्हारी गति औसतन एक इंच प्रतिदिन है। अभी तुम्हारी क्षमता नहीं है। बस, वे लौट आये।

महाराज जी कहते थे, "हो! भगवान जब कृपा करते हैं तो पेड़ से, पौधे से, पशु से, पक्षी से, मनुष्य से- कहीं से भी प्रेरणा कर सकते हैं, बोल सकते हैं और पढ़ा देते हैं। वे सर्वत्र हैं इसलिये सर्वत्र से बोल सकते हैं।" इस प्रकार साधना में जो सहायक हो उसी को आशय में ढालकर ध्यान करते जायँ। ऐसा करने से चित्त स्वच्छ, निर्मल और स्थिर होता जाता है।

भगवान दत्त ने चौबीस उदाहरणों से शिक्षा ग्रहण की। अजगर में भी उन्हें साधनोपयोगी एक गुण दृष्टिगत हो गया। उन्होंने देखा, भारी भरकम अजगर के मुख के समीप कोई-न-कोई जीव-जन्तु आ ही जाता जो उसका आहार बन जाता था। दत्त भगवान ने उससे सीखा कि साधु को उदर-पोषण के लिये द्वार-द्वार नहीं घूमना चाहिए। अजगर कोई गुरु नहीं था; किन्तु भगवान दत्त ने उससे भी सद्गुरुओं की विद्या को उद्दीप्त करनेवाला एक गुण आचरण में ढाल लिया।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।।४०।।

इस प्रकार ध्यान करते-करते योगी का मन परमाणु से लेकर परम-महत्त्व के विषय पर एकाग्रता का अधिकार प्राप्त कर लेता है। उस समय अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु से लेकर बड़ी से बड़ी जिस किसी वस्तु में एक बार सुरत स्थिर हो गई, चित्त वहाँ स्थिर रहेगा। यह योगी के जीते हुए चित्त की विशेषता है। अभ्यास करते-करते जब साधक का चित्त भली-भाँति स्थिति की योग्यता प्राप्त कर लेता है उस समय वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ से लेकर महानतम पदार्थ तक जहाँ चाहे तत्काल स्थिर कर सकता है।

गीता में भगवान कहते हैं- **'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृतः।'** (**६/१९**)- वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की लौ जिस प्रकार सीधे ऊपर जाती है, योगी के भली प्रकार ठहरे हुए चित्त की यही उपमा है। न

उसके चित्त में भले उद्वेग पैदा होते हैं न बुरे; न हृदय से उद्वेग पैदा हों, न वाह्य वायुमण्डल के संकल्प उसके भीतर प्रवेश कर पायें– यह योगी के जीते हुए स्थिर चित्त की परिभाषा है। ऐसे चित्त में साधना का क्या स्वरूप है?

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।।४१।।

जिसकी क्लिष्ट, अक्लिष्ट समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, उसका चित्त ग्रहीता अर्थात् साधक पुरुष, ग्रहण अर्थात् अंतःकरण की दृष्टि सुरत और ग्राह्य ईश्वर एवं उसका नाम इत्यादि में उसी प्रकार तदाकार (तद्रूप) हो जाता है, जैसे उत्तम जाति की विशुद्ध स्फटिक मणि जिस वस्तु के समक्ष होती है वैसा ही रंग धारण कर लेती है। ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य का बोध सम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें साधक को अपना एवं अपनी स्थिति का भान रहता है कि मैं कहाँ हूँ? कैसा हूँ? अब समाधि के अगले चरण पर प्रकाश डालते हैं–

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।।४२।।

'**समापत्तिः**' अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधियों में भी शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण अर्थात् मिश्रित चित्त का समाधान सवितर्क समाधि है।

संसार में तरह–तरह के शब्द लोग सुनते ही रहते हैं, उसका अर्थ लगाते हैं, वस्तुओं का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं; किन्तु उससे किसी की समाधि लगती दिखायी नहीं देती। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य के संयोग से भगवान जो प्रेरणा देते हैं उसी का नाम शब्द है। संत कबीर कहते हैं–

शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्द छुड़ाया राज।
जिन जिन शब्द विवेकिया, तिन्ह के सर गयो काज।।

जब शब्द पकड़ में आया, साधक गिर पड़ा, समर्पित हो गया। 'मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ'– ऐसा अहं खो गया। शब्द में इतना बल है कि कोई राज्य– सुख तिनके की तरह त्यागकर अलग हो गया और जिन–जिन ने शब्द पर विवेक किया '**तिन्हके सर गयो काज**'–उनके कार्य की सिद्धि हो गयी, बेड़ा पार हो गया।

'शब्द बिना श्रुति आँधरी' कोई चिन्तन में मन लगाता है, सुरत में स्वरूप पकड़ता है किन्तु उसके साथ निरीक्षक-परीक्षक के रूप में शब्द नहीं मिलता, भगवान निर्णय नहीं देते तो सुरत भी अन्धी है।

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहो कहाँ लौं जाय।
द्वार न पाये शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।।

यदि शब्द का स्रोत नहीं मिला तो सुरत लगाने और योग साधने से कोई लाभ नहीं! जाने कहाँ ले जाकर पटक दे! ये शब्द हैं भगवान के। द्रष्टा स्वयं जो दृश्य प्रसारित करते हैं, जिसका प्रयोजन पुरुष के लिये साधनोपयोगी भोग तथा मोक्ष प्रदान करना है। वे द्रष्टा जैसा-जैसा दृश्य प्रस्तुत करते हैं, उसका नाम है शब्द। चित्त शान्त प्रवाहित है, ऐसे में कैसा शब्द सुनायी-दिखायी पड़ा उसका अर्थ और उसकी जानकारी- इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण (मिली हुई) चित्त की समाधि सवितर्क है। यहाँ परमात्मा तो नहीं है, केवल सम्प्रज्ञात समाधि है; किन्तु परमात्मा का विकल्प भली प्रकार पुष्ट है। कबीर कहते हैं- **'शब्द सो प्रीति करे सो पावे।'** इससे उन्नत समाधि की अवस्था निर्वितर्क है, जिस पर प्रकाश डालते हैं-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।।४३।।

जब चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, केवल लक्ष्यमात्र का ही आभास रह जाता है, उस समय **'स्मृतिपरिशुद्धौ'**- स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है, तब वह निर्वितर्क समाधि है। न शब्द है, न अर्थ है, न ज्ञान है, चित्त का स्वरूप ही शून्य हो गया, कौन शब्द सुने तथा कौन ज्ञान रखे, लक्ष्य का आभास मात्र है उस समय स्मृति विशेष रूप से शुद्ध है, यह निर्वितर्क समाधि की अवस्था है; क्योंकि स्मृति और संस्कार का एक ही स्वरूप होता है। अब स्मृति-पटल पर कोई संस्कार अंकुरित नहीं होगा। कैवल्यपाद के नवम सूत्र में महर्षि बताते हैं कि जाति अर्थात् जन्म-परिवर्तन, देश और काल के लम्बे अन्तराल से भी संस्कारों में परिवर्तन या विराम नहीं होता। वे ठीक समय पर प्रकट होते हैं, किन्तु यहाँ वे संस्कार निर्मूल हो गये फिर भी संस्कारों का बीज अभी बना हुआ है; क्योंकि चित्त अभी जीवित है। इससे उन्नत अवस्था पर प्रकाश डालते हैं-

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।।४४।।

'**एतया एव**'-इसी से (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्क के वर्णन से) सविचार और निर्विचार समाधि का तथा '**सूक्ष्मविषया**'– साधना की सूक्ष्म अवस्था का भी वर्णन कर दिया गया है।

अब देखें इन समाधियों का परिणाम–

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।४५।।

साधना की इन अति सूक्ष्म अवस्थाओं में '**अलिङ्गपर्यवसानम्**'– प्रकृति की अति सूक्ष्म परतों, मूल प्रकृतिपर्यन्त भली प्रकार वशीकार हो जाता है। अब प्रकृति भी उसे उद्वेलित नहीं कर सकती।

ता एव सबीजः समाधिः।।४६।।

उपर्युक्त सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार समाधियाँ निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नहीं हैं। चित्त का बीज विद्यमान है इसलिए ये सब-की-सब सबीज समाधि ही हैं। इन चार प्रकार की समाधियों में भी निर्विचार समाधि के निर्मल हो जाने पर–

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।४७।।

निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर योगी में '**अध्यात्मप्रसादः**'– आत्मिक विभूतियाँ भली प्रकार प्रसारित हो जाती हैं। सनातन पुरुष अजन्मा, शाश्वत जिन विभूतियोंवाला है, वे सारी विभूतियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं। आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। आत्मिक विभूतियों का सारा प्रसाद उसे प्राप्त हो जाता है। अब कोई विभूति उससे अलग नहीं है। उस समय योगी की बुद्धि ऋतंभरा होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।४८।।

उस समय योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतंभरा अर्थात् सत्य से संयुक्त हो जाती है। अब वह परमतत्त्व परमात्मा को धारण करने की क्षमतावाली हो जाती है। जब अध्यात्म का प्रसाद मिल गया तो अब केवल परम चेतन को पाना मात्र शेष रह गया। यह बुद्धि साधारण बुद्धियों से अलग है। इस पर कहते हैं–

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।।४९।।

श्रुत अर्थात् श्रवण किये हुए और अनुमान से होनेवाली बुद्धि की अपेक्षा इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय भिन्न है। जिसका ज्ञान श्रुत और अनुमान से नहीं होता उसकी जानकारी इस प्रज्ञा से होती है; क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है। विशेष पुरुष ईश्वर है, उस अर्थवाली है, उसको ग्रहण करने की क्षमता वाली है, इसलिए श्रवण और अनुमान से जो बुद्धि तैयार होती है उसकी अपेक्षा यह बुद्धि अत्यन्त परिमार्जित है। इस बुद्धि का विषय भिन्न है; क्योंकि यह केवल प्रकृति से परे आत्मा (द्रष्टा) को धारण करने की क्षमतावाली है।

'**श्रुत**'-केवल सुनने से कोई बुद्धि तैयार नहीं होती। श्रवणेन्द्रिय में कोई ध्वनि टकराते ही स्पर्श, रूप, रस इत्यादि प्रत्येक के अभ्यास तथा अन्य जन्मों के संस्कार स्मृति-पटल पर उभरते ही अनुमान का सूत्रपात होने लगता है, वस्तुओं की जानकारी हो जाती है; किन्तु यह प्रज्ञा विशेष अर्थवाली है।

श्रुति या सुरत मन की दृष्टि है। यह भला-बुरा सब कुछ ग्रहण करती है। सुरति में स्फुरण के साथ ही अनुमान होने लगता है; किन्तु इस ऋतंभरा प्रज्ञा का स्तर उससे उन्नत है। यह '**पुरुषविशेष ईश्वरः**' को धारण करने की क्षमता वाली होती है। इसके महत्त्व पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।।५०।।

इस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है, उन सबका निरोध कर देता है। इसके पश्चात् प्रकृति बाधक नहीं रह जाती। अब कोई संस्कार प्राप्ति में बाधक नहीं होता।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।।५१।।

ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार भी जब शान्त हो जाता है, उस समय सर्वनिरोध के साथ निर्बीज समाधि हो जाती है। ऋतंभरा प्रज्ञा के प्रभाव से जब अन्य समस्त संस्कारों का अभाव हो जाता है, उससे उत्पन्न संस्कार ईश्वर को धारण करने की क्षमतावाला हो जाता है, वह ईश्वर मिलकर इस संस्कार को भी शान्त कर देता है- इस प्रकार संस्कारों के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने

से इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि है। इसी को कैवल्य पद, कैवल्य समाधि भी कहते हैं।

निष्कर्ष–

योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि ने इसके चार पादों में प्रथम पाद समाधिपाद में योग–निरूपण के क्रम में बताया कि योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें? उन्होंने बताया, 'चित्त की वृत्तियों को!' वृत्तियों को अनुशासित कर ही लिया तो उससे क्या लाभ है? महर्षि ने बताया, "उस समय द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है।" क्या इसके पूर्व द्रष्टा स्थित नहीं था? क्या द्रष्टा मलिन था? महर्षि बताते हैं, "इसके पूर्व जैसा वृत्तियों का प्रवाह था, वही द्रष्टा का रूप था।"

वृत्तियाँ अनन्त हैं। समस्त वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, क्लिष्ट या अक्लिष्ट। कुछ क्लेश प्रदान करती हैं और कुछ क्लेशों से मुक्ति दिलाती हैं। इन वृत्तियों को पाँच प्रकार से विभाजित किया गया है– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण वृत्तियों को संचालित करता है। प्रमाण के तीन भेद बताये गये– प्रत्यक्ष, आप्तपुरुषों के दर्शन तथा अनुमान। इन इन्द्रियों के समक्ष कुछ भी प्रत्यक्ष हुआ, अनुमान लगा और वृत्ति गतिशील हो गयी। यदि प्रमाण अविद्याजन्य मिला तो यह क्लिष्ट वृत्ति बन गयी। आप्तपुरुषों का दर्शन और उनकी वाणी मिल गयी तो वृत्ति अक्लिष्ट हो गयी। प्रमाण वृत्तियों को केवल संचालित करता है। प्रमाण पाते ही वृत्ति गतिशील हो उठती है। विपर्यय मिथ्याज्ञान है, अविद्याजन्य है, जिसमें मिथ्याज्ञान को ही जड़तावश ज्ञान मान लिया जाता है। विकल्प शब्द के सहारे मिलनेवाली जानकारी है जिसमें वस्तु तो शून्य है किन्तु वस्तु का विकल्प पुष्ट होता जा रहा है। यह अनुभव से संचालित है। इसका नाम दैवी सम्पद् भी है। किन्तु प्रमाण विपरीत मिल गया तो यह वृत्ति क्लिष्ट हो सकती है। यदि प्रमाण इष्टोन्मुखी मिल गया तो विपर्यय वृत्ति भी अक्लिष्ट स्वभाव की हो जायेगी। वृत्ति की चौथी अवस्था है निद्रा – जो न तो मिथ्याज्ञान की जड़ता से बँधी है, न अनुभव से ही

संचालित है। अभाव का आलम्बन करनेवाली यह वृत्ति निद्रा है, जो न तो सजातीय संस्कारों का अर्जन कर रही होती है न विजातीय संस्कारों का। कभी इधर तो कभी उधर, भले-बुरे का कुछ ज्ञान ही नहीं है। पाँचवाँ प्रकार है स्मृति। समस्त वृत्तियाँ स्मृति-पटल पर अंकित रहती हैं। अवसर आने पर अंकुरित होती हैं। स्मृति भी उस समय शुद्ध हो जाती है जब चित्त का निज स्वरूप शुद्ध हो जाय–'**स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये**'। जब मात्र लक्ष्य का आभास रह जाय, समाधि की उस अवस्था में वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। अनन्त वृत्तियाँ इन्हीं पाँच रूपों में घटती-बढ़ती कार्यरूप लेती रहती हैं।

इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा किया जा सकता है। अभ्यास किसका करें? '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**' अभ्यास का आश्रय ईश्वर है। उसका नाम प्रणव है। ओम् का जप करें और उस ईश्वर का ध्यान धरें। इससे अन्तराय (विघ्न) शान्त हो जायेंगे। नाम और रूप के अतिरिक्त जो हमें अभिमत है– योग, चित्तवृत्तियों का निरोध– जो साधन इस योग में अवरोध उत्पन्न न करते हों, साधना में सहायक हों उनका भी अभ्यास किया जा सकता है। ऐसे चार-पाँच सहयोगी साधनों की चर्चा महर्षि ने की; जैसे– स्वप्न में मिलनेवाले निर्देशों या दृश्यों से शिक्षा ग्रहण करना, ज्योतिर्मय परमात्मा में ध्यान केन्द्रित करना, आप्तपुरुषों के संसर्ग में रहना इत्यादि। इस अभ्यास से चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल, पारदर्शी हो जाता है। प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है, विशेष पुरुष ईश्वर को धारण करनेवाली हो जाती है। अमृतपद का बोध कराकर उसकी प्राप्ति और उसमें स्थिति दिलाकर प्रज्ञाजन्य संस्कार भी शान्त हो जाता है। यही कैवल्य है, अमृतपद है जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं; सदा रहनेवाला सुख, सदा रहनेवाली शान्ति और सदा रहनेवाला जीवन है। इसके साथ ही प्रथम पाद 'समाधिपाद' पूर्ण होता है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

द्वितीय अध्याय – साधनपाद

प्रथम अध्याय में योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास और वैराग्य से साधना का आरम्भ बताया। धैर्यपूर्वक इनके सतत अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि अभ्यास किसका करें। ईश्वर का स्वरूप बताया, जो क्लेश और कर्मों से अत्यन्त परे है। वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता का सहज बीज है। उसका नाम प्रणव है। उस ओम् का जप करें, ईश्वर का चिन्तन करें। इससे योगमार्ग के विघ्न शान्त होंगे, आप समाधि की ओर अग्रसर होते जायेंगे। उन्होंने समाधि के सहयोगी साधनों का उल्लेख किया। स्वप्न से सहयोग, आप्तपुरुषों की रहनी और उनके दर्शन से सहयोग लेने का निर्देश दिया। योग का अनुष्ठान, जो आपको अभिमत है उसके अनुकूल आशय बदल लेने की सम्मति दी; फिर भी ध्यान जमता नहीं, निरन्तर अभ्यास होता नहीं, नाम-रूप में चित्त नहीं टिकता। अतः इस द्वितीय अध्याय साधनपाद में सम्पूर्ण साधन-विधि प्रस्तुत करते हैं जिसमें योग के आठ अंगों का वर्णन लोकविश्रुत है। सर्वप्रथम महर्षि बतलाते हैं कि साधन आरम्भ कहाँ से होता है?–

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।१।।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति) से योग की क्रिया आरम्भ होती है।

गत अध्याय में महर्षि ने एक ईश्वर का स्वरूप, एक ईश्वर की शरण और उसके नाम का जप बताया, अब प्रस्तुत अध्याय में वे कहते हैं कि मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप ढालना तप है। अपने मन का स्वयं अध्ययन करना स्वाध्याय है कि मन कितना लगना चाहिए और कितना लगा पाया हूँ, आप्तपुरुषों की वाणी के अनुरूप मैं कितना ढल पाया हूँ, अभी कितनी त्रुटियाँ हैं?–इस प्रकार स्वयं का अध्ययन करते हुए साधना में अग्रसर

होना स्वाध्याय है। ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् एक ईश्वर के प्रति मन, कर्म, वचन से समर्पण। बस इतना करते ही योगक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस क्रियायोग की आवश्यकता ही क्या है? इस पर कहते हैं–

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।।२।।

इन क्रियाओं से समाधि के प्रति श्रद्धा-भावना स्थिर हो जाती है तथा क्लेश क्षीण होकर बलहीन हो जाते हैं।

जिन क्लेशों को क्षीण होना है, वे कौन-कौन हैं?–

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।।३।।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पाँच क्लेश हैं। ये पाँचों क्लेश ही जीवमात्र को संसार-चक्र में घुमानेवाले महादुःखदायक हैं। यही जन्म-मृत्यु के कारण हैं। किन्तु इनमें भी प्रधान है अविद्या–

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।।४।।

अविद्या परवर्ती चार क्लेशों अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश का उत्पादक क्षेत्र है। ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार- इस प्रकार चार अवस्थाओं में रहते हैं। अस्मितादि सभी क्लेशों का कारण अविद्या है। ये चारों अविद्या से ही जागृत होते हैं। ये चारों मिट भी जायँ, अविद्या बनी रहेगी। यही सन्त कबीर के प्रस्तुत भजन में भी है–

पाँच सखी पाँचों गुनवन्ती, पाँच में सरबस एकै जनी।
बलम संग सोइ गयीं पाँचों जनी।। (कबीर)

क्लेश जब अपना कार्य नहीं करते, वह उनकी प्रसुप्त अवस्था है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे हैं ही नहीं। वे हैं, किन्तु क्रियाशील नहीं हैं। उद्दीपन पाने पर वे क्रियाशील हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, देवर्षि नारद हिमालय की कंदरा में तप करने लगे। हरि के स्मरणमात्र से एक स्थान पर दो घड़ी से अधिक न रुक पानेवाले दक्ष के श्राप की गति कुंठित हो गयी। तपस्या से इन्द्र विचलित हो उठे। उन्होंने मुनि को तपस्या से विरत करने के लिए अप्सराओं को प्रेरित किया; किन्तु **'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।' (रामचरितमानस, १/१२५/७)**-देवर्षि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। काम ने

उपाधि भी दे डाली कि 'आप जितेन्द्रिय हैं, मनोनिग्रही हैं।' ऐसा नहीं था कि उन्होंने काम को सदा-सदा के लिए जीत लिया था। वह विकार प्रसुप्त था। शीलनिधि राजा की सुन्दर नगरी, सुन्दर नर-नारी तथा सुन्दरी राजकन्या और उसकी हस्तरेखा देखते ही प्रसुप्त विकार जागृत हो गया। वह कहीं गया नहीं था, सुप्त था।

इस प्रकार क्लेश कभी प्रसुप्त रहते हैं, कभी योग-साधन के फलस्वरूप उनका प्रभाव क्षीण (तनु) हो जाता है। योग-साधना द्वारा शनैः-शनैः उनकी प्रभावोत्पादकता का ह्रास हो जाता है, तब ये हीनशक्तिवाले क्लेश 'तनु' कहलाते हैं। उन क्लेशों का जितना प्रभाव विषयी लोगों पर पड़ता है, उतना प्रभाव वे साधकों पर नहीं डाल पाते।

क्लेशों की विच्छिन्न अवस्था तब होती है जब दूसरे क्लेश क्रियाशील रहते हैं। जैसे कोई राग से आप्लावित है तो उस समय उसमें द्वेष दिखायी नहीं देता, वह विच्छिन्न है। वह कहीं गया नहीं है, किन्तु उस समय ऐसा आभास होता है मानो दूसरे क्लेश हैं ही नहीं।

जिस समय कोई क्लेश अपना कार्य पूर्णतः कर रहा हो, वह उस क्लेश की उदार अवस्था है। जो भोग में आकर शान्त होनेवाला है, यही उसकी उदारता है।

इन सभी क्लेशों का मूल कारण जिस अविद्या को इस सूत्र में कहा गया उसका स्वरूप क्या है?

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।।५।।

अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्मा में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की प्रतीति अविद्या है। **'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार'**– सत्य अर्थात् नित्य, एकरस द्रष्टा पुरुष! संसार में शरीर और शरीरों के सम्बन्ध अनित्य हैं। इस अनित्य संसार को नित्य मान बैठना अविद्या है।

इसी प्रकार जो अपवित्र है, अन्ततः दुःखों का ही कारण है उसे पवित्र मानना, उसी में सुख की अनुभूति करना अविद्या है। सन्त कबीर की साखी में है–

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा, "अर्जुन! आत्मा ही सत्य है और समस्त भूतादिकों के शरीर नाशवान हैं, इनका अस्तित्व नहीं है, यह सब अनात्मा है।" फिर भी शरीरों को आत्मा मानना अविद्या है। यही सब दुःख के कारण हैं, फिर भी उसी सांसारिक वातावरण में ऐश्वर्य और सुख की मान्यतायें गढ़ लेना अविद्या है।

सारांशतः जो परमात्मा नहीं है उसी को भगवान माने हुए लोग बैठे हैं। इस प्रकार अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना, उसमें व्यस्त रहने का नाम ही अविद्या है। अब शेष क्लेशों में अस्मिता का स्वरूप बतलाते हैं–

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।।६।।

दृक्–शक्ति और दर्शन–शक्ति इन दोनों का एकरूप–सा हो जाना 'अस्मिता' है। दृक्–शक्ति अर्थात् द्रष्टा–पुरुष तथा दर्शन–शक्ति अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियाँ जिन उपकरणों पर दृश्य उभरते हैं इन दोनों की एकरूपता अस्मिता है। द्रष्टा चेतन है और उपकरण जड़। द्रष्टा अपने को मन, बुद्धि, चित्त इत्यादि मान बैठता है- '**जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।**' **(रामचरितमानस, ७/११६/४)** चेतन का जड़ के साथ यही मिश्रण अस्मिता नामक क्लेश है। अब देखें 'राग'–

सुखानुशयी रागः।।७।।

सुख की प्रतीति के पीछे दौड़नेवाले मन के स्वभाव को 'राग' कहते हैं। जिस किसी वस्तु में सुख की प्रतीति होती है, तुरन्त उससे लगाव हो जाता है। यह भी एक क्लेश है। अनुकूल पदार्थों में सुख की प्रतीति तथा उसे सदैव भोगने की आकांक्षा आसक्ति है, यही राग है। यह राग नामक क्लेश सुख की प्रतीति के साथ–साथ रहनेवाला कहा जाता है। इसी प्रकार 'द्वेष' का स्वरूप देखें–

दुःखानुशयी द्वेषः।।८।।

प्रकृति के जिस किसी पदार्थ में दुःख की प्रतीति होती है, मन उसका विरोध करने लगता है। यही द्वेष नामक क्लेश है। दुःख के पीछे रहने वाली प्रतीति द्वेष है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (३/३४)

इन्द्रियों और इन्द्रियों के भोगों में राग और द्वेष निवास करते हैं। साधन-पथ के ये दुर्जय शत्रु हैं। इनके वश में नहीं आना चाहिए। राग और द्वेष इन्द्रियों और भोगों के टकराव से होते हैं। भोग अनुकूल मिला तो राग तथा प्रतिकूल मिल गया तो द्वेष का भाव पनपने लगता है। साधक को इनसे सतर्क रहना चाहिए। अब अन्तिम क्लेश अभिनिवेश का स्वरूप बताते हैं–

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।।९।।

पूर्व-निवास के प्रति ममत्व अभिनिवेश है, जो मूढ़ों की ही भाँति विवेकशील पुरुषों में भी परम्परागत स्वभाव से विद्यमान है। जहाँ हम पहले निवास करते थे उसके प्रति खिंचाव, आकर्षण अभिनिवेश है। यह स्वर में प्रवाहित होकर जन्म-जन्मान्तरों तक पीछा करता है। सांसारिक निवास हमारा घर नहीं है। इसे हमने अपना मान भर रखा है–

तवन घर चेतिहे रे भाई। तोहरा आवागमन मिटि जाई।।
कह कबीर निज घर चलो। जहाँ काल नहीं जाय।।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' (१८/६१)- ईश्वर समस्त भूतप्राणियों के हृदय में निवास करता है। उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ।" मान लें, किसी ने पूर्वाग्रह त्यागा और शरण चला ही गया तो उससे लाभ? भगवान कहते हैं, "'**तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।**' (१८/६२)- उसके कृपा-प्रसाद से तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे और उस निवास-स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है।" यही है आप का घर, जहाँ आपका जीवन सदैव रहेगा, निवास रहेगा।

साधक को इस अभिनिवेश से सतर्क रहना चाहिए। अगले पल प्राप्ति होनी है, किन्तु एक पल पूर्व तक यह अभिनिवेश पीछा करता है। पूज्य गुरुदेव को विचरणकाल में मधवापुर में चातुर्मास्य करने का निर्देश भगवान से मिला था। वहाँ महाराज सायंकाल विचरण में निकलते थे। एक गृह के समीप पहुँचने पर मन में आकर्षण होने लगा कि घर में घुस जायँ मानो यह अपना ही घर हो। दो-तीन बार ऐसा ही आकर्षण होने पर आपने इष्ट से जानना चाहा कि ऐसा क्यों होता है? भगवान ने बताया कि पिछले जन्म में दो-ढाई महीने इस घर में जन्म लेकर रहने का संस्कार पीछा कर रहा है। आपको जन्म देने वाली माता जी अभी जीवित हैं। महाराज जी ने भक्तों से जानना चाहा कि उस घर में क्या किसी दो-ढाई महीने के बच्चे का देहान्त हुआ है? गाँव में चर्चा हुई। वह वृद्धा माँ महाराज जी के पास आयीं, रो-रोकर उस पुत्र के गुणों का वर्णन कर रही थीं; किन्तु महाराज जी ने अनुभव में प्राप्त संकेतों को प्रकाशित नहीं किया। जीव प्रकृति में जहाँ-जहाँ भी रहता आया है, पूर्व-निवास का आकर्षण उसे खींचता रहता है। चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित होने पर निर्बीज समाधि की अवस्था में यह क्लेश भी शान्त हो जाता है, केवल अविद्या जीवित रहती है। बीज के शान्त होने पर वह भी शान्त हो जाता है।

कुछ लोग आत्मा के निवास शरीर में ममत्व और मरण-भय को अभिनिवेश कहते हैं; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। जीव विभिन्न शरीरों की यात्रा ही तो करता चला आ रहा है, किस-किस शरीर के प्रति ममत्व रखेगा? भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "अर्जुन! तू पण्डितों-जैसी बातें करता भर है किन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये और जिनके प्राण नहीं गये, उन सबके लिए शोक नहीं करते। शरीर में जैसे बाल्य, कैशोर, युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्थाएँ आती हैं, ऐसे ही अन्य शरीरों का परिवर्तन है। इसमें धीर पुरुष कभी मोहित नहीं होते।" योगसाधना में महापुरुषों ने यह भय छोड़कर ही प्रवेश लिया है; किन्तु जीव जहाँ अब तक जीवित रहा है, उस पूर्व-निवास के प्रति स्वाभाविक खिंचाव अंतिम संस्कार तक पीछा करता है और मूढ़ों की भाँति विवेकशील व्यक्तियों में भी पाया जाता है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।।१०।।

क्रियायोग से सूक्ष्मावस्था को प्राप्त वे क्लेश आत्मपथ के विरोधी विकारों को ही '**प्रसव**'–उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये '**हेयाः**'–नष्ट करने योग्य हैं।

क्लेशों से विपरीत परिणाम प्राप्त करने का उपाय क्या है? इस पर कहते हैं–

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।।११।।

क्लेश से संयुक्त वृत्तियाँ ध्यान द्वारा नाश करने योग्य हैं अर्थात् क्लेशों के निरसन के लिए ध्यान धरना है। ध्यान की विधि तीसरे पाद के द्वितीय सूत्र में द्रष्टव्य है। जहाँ कहा गया है कि अभ्यास में चित्त को जहाँ लगाया जाय वहाँ वृत्ति का एकरस चलना, उच्चाटन न होना ध्यान है। ध्यान द्वारा इन क्लेशों को मिटाना ही होगा; क्योंकि ये शुभाशुभ संस्कार दुःख के ही कारण हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।।१२।।

क्लेश का मूल जब तक विद्यमान है, तब तक कर्म–संस्कारों का समुदाय दृष्ट अर्थात् वर्तमान में तथा अदृष्ट अर्थात् भविष्य में होनेवाले दोनों ही प्रकार के जन्मों में भोगा जानेवाला है। उन भोगों का स्वरूप क्या होगा? वे किस रूप में प्रकट होते हैं?–

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।१३।।

क्लेशरूपी मूल विद्यमान रहने तक '**तद्विपाकः**'–उस कर्म–संस्कार के संग्रह का परिणाम जन्म, पुनर्जन्म, आयु और भोग होता ही रहता है।

परिणाम के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हैं–

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४।।

वे जन्म, आयु और भोग, हर्ष और शोकरूपी फल देनेवाले होते हैं; क्योंकि उनके कारण दो हैं– पुण्यकर्म और पापकर्म। पूर्णत्व की ओर ले जानेवाले कर्म पुण्यकर्म हैं तथा पतनोन्मुख कर्म पापकर्म हैं। पुण्यकर्म–अक्लिष्ट वृत्ति से संचालित कर्म जन्म, आयु और भोगों में हर्ष प्रदान करते हैं।

इसी तरह पापकर्म– क्लिष्ट वृत्ति से संचालित कर्म जन्म, आयु और भोगों के रूप में परिताप प्रदान करते हैं।

विवेकियों के लिए सुख की तृष्णा भी दुःख ही है–

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।१५।।

परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण एवं तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकियों के लिए सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।

प्रत्येक कर्मफल भोगकाल के उपरान्त परिणामदुःख प्रदान करता है। आज हर्ष भले मना लें, कल इससे संश्लिष्ट दुःख भी आयेगा। उसके पास अधिक भोग हैं, हमारे पास कम क्यों?– ऐसी भावना तापदुःख कही जाती है। कभी–कभी न चाहता हुआ भी हठात् दुःख को प्राप्त हो जाता है। यह संस्कारदुःख है। **'गुणवृत्तिविरोधाच्च'**–सत्, रज, तम तीनों गुणों के स्वभाव में विरोध होने के कारण परस्पर विरोधी परिणाम प्रदान करती हैं। सात्विकी वृत्ति प्रकाश की ओर ले जाती है, जबकि तामसी वृत्ति अंधकार की ओर प्रवृत्त करती है। इस प्रकार एक ही परिणाम के भोग में दूसरी गुणवृत्ति बाधक बन जाती है। इसीलिए विवेकी पुरुष के लिए सभी कर्मफल–भोग दुःखरूप ही हैं। अतः इन क्लेशों को नष्ट कर देना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (गीता, १८/३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश भासता है परन्तु परिणाम में विष के सदृश है। इसलिए वह सुख राजस कहा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जन्म, आयु और भोगरूपी सभी कर्म विपाक दुःखरूप ही हैं। इसलिए उसका मूलसहित उच्छेद करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

हेयं दुःखमनागतम्।।१६।।

अब कल की बात बना ले रे।
जो बीती बीत गई। दुनिया की रीति यही।

कर्मों के दुःखरूप फल का जो अंश व्यतीत हो गया, वह तो बीत ही गया। कुछ अंश वर्तमान में भोगने में आ रहा है। किन्तु जो दुःख अभी आया नहीं है, अनागत है, आनेवाला है, वह दुःख हेय है–नष्ट करने योग्य है। प्रश्न उठता है कि नष्ट कैसे करें? उसकी विधि क्या है?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।।१७।।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का कारण (उपाय) है।

पहले दृश्य का स्वरूप बताते हैं–

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।१८।।

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं; पुरुष के लिए भोग और मोक्ष का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है–ऐसा वह दृश्य है।

प्रकाश एक परमात्मा में है, प्रकृति में अन्धकार है। ईश्वरीय प्रकाश आत्मस्वरूप की ओर ले जाना, प्रकाश का बोध कराना, उसके लिये क्रियाशील करना, योग-साधना में लगाना, प्रवृत्त करना और स्थिति दिलाना दृश्य का यही प्रयोजन है। भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप है। जो कुछ भी सृष्टि में दिखायी देता है भूत है। भूत और इन्द्रियों द्वारा उसको ग्रहण किया जाता है। पुरुष के लिए भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है। ये भोग सांसारिक नहीं हैं। '**इष्टान्भोगान् हि वो देवाः**' **(गीता, ३/१२)**– इष्ट-सम्बन्धी भोग देना दृश्य की विशेषता है। जो भोग आपको अभीष्ट है, उसके सम्पादन में क्या-क्या चाहिए?–वह सुविधा प्रदान करना दृश्य का कार्य है। भगवान का भोजन यही है। '**भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।**' **(गीता, ५/२९)**–यज्ञ, तप, स्वाध्याय इत्यादि जो भी इष्टोन्मुखी साधन हैं उन्हें मैं खाता हूँ। यही भगवान का भोजन है।

अस्तु, पुरुष के लिए साधनोपयोगी भोगों की व्यवस्था करना तथा अन्त में मुक्ति का भली प्रकार सम्पादन करना, मुक्तिपर्यन्त दूरी तय करा देना जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है। यदि प्रकृति ही दृश्य होती तो मोक्ष देती! प्रकृति तो संसार में फँसानेवाली है, उसी से तो हमें मुक्ति पाना है।

यहाँ 'दृश्य' प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय परमात्मा की प्रेरणा है। प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, वह दृश्य है। भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं, वह दृश्य है। अनुभव में इन भूतों में से, जीव-जगत् से कुछ भी दृश्य आ सकता है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। यज्ञ, तप इत्यादि साधन जुटाना और मुक्तिपर्यन्त दूरी तय कराना जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है। यह दृश्य जिस विधि से प्रसारित करते हैं, उस प्रसारण-सूत्र का नाम शब्द है।

दृश्य मुक्ति का सम्पादन कैसे करता है?-इस पर कहते हैं-

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।।१९।।

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग **'गुणपर्वाणि'**-गुण-भेद से इन चार विधियों से दृश्य चलता है।

विशेष परमात्मा है- **'पुरुषविशेष ईश्वरः।'** विशेष का बोध कराना, अविशेष अर्थात् प्रकृति का आवरण घना हो रहा है। सचेत हो जाओ, अभ्यास बढ़ाओ। विशेष- ईश्वरीय आलोक का बोध कराना कि बढ़ते रहो, साधना ठीक है। लिङ्गमात्र- स्वरूप प्रकट कर समझाना; अलिङ्ग- अदृश्य रूप से समझाना, जैसे- अंग-स्पंदन, आकाशवाणी या अदृश्य संकेत से भगवान समझाते रहते हैं, कोई दृश्य नहीं रहता और अनुभव मिलता रहता है। गुणों के दबाव के अनुसार ये दृश्य चलते हैं।

रामचरितमानस में है-

जगु पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा।।
(मानस, २/१२६/१)

जगत् दृश्य है, आप देखनेवाले हैं। विधि- परमात्मा की प्रशक्ति जिससे साधना जागृत होती है, हरि- जो भरण-पोषण करता है, शंभु- जो शुभ-

अशुभ संकल्पों का संहार कर स्थिति प्रदान करते हैं – इनको नचानेवाले, इन्हें संचालित करनेवाले स्वयं भगवान हैं। वे संचालित तो होते हैं; किन्तु ईश्वरीय रहस्य वे भी नहीं जानते, अन्य कोई क्या जानेगा! अर्थात् भगवान रथी होते हैं, संचालन करते हैं। अब द्रष्टा का स्वरूप बताते हैं–

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।।२०।।

चेतनमात्र ज्ञानस्वरूप द्रष्टा आत्मा यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है, फिर भी बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। बुद्धि में जैसी वृत्ति है वैसा ही उसका स्वरूप है। द्रष्टा देखकर करता क्या है?–

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।।२१।।

उस दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के लिए ही है। जो दृश्य पुरुष के लिए भोग एवं अपवर्ग की व्यवस्था करता है, उस दृश्य का उपयोग उस द्रष्टा के लिए ही है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।।२२।।

जिसका भोग और अपवर्गरूपी कार्य पूर्ण हो गया, उस पुरुष के लिये नाश को प्राप्त हुआ वह दृश्य नष्ट नहीं होता। उसके लिए अब दृश्य की आवश्यकता न रह जाने पर भी अन्य साधारण लोगों के लिए उसका उपयोग है। यही महापुरुष सद्गुरु होते हैं। उनके पास दूसरों में द्रष्टा-दृश्य संयोग प्रसारित करने की जागृति रहती है। दूसरों के लिए दृश्य का उपयोग है, महापुरुष के लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता।

एक बार पूज्य गुरुदेव भगवान को दृश्य मिला कि एक भ्रष्ट योगी आ रहे हैं, उनका मार्गदर्शन करें। दिन भर की प्रतीक्षा के पश्चात् अन्ततः वे आये। यही हम लोगों के सतीर्थ, अग्रज और महाराज जी के प्रथम शिष्य हुए। उस दृश्य का उन महापुरुष के लिये कोई उपयोग नहीं है; किन्तु जागृति की यह प्रशक्ति उनमें अन्य लोगों के कल्याण के लिए विद्यमान रहती है।

पूज्य महाराज जी कहा करते थे, "हो! भजन की जागृति एक ऐसी विद्या है कि लिखने, पढ़ने, सुनने से नहीं आती। वाणी से वह कहने में नहीं आती। वह तो किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अधिकारी के

हृदय में जागृत हो जाया करती है।'' अतः साधारण लोगों के कल्याण के लिए उस दृश्य का उपयोग है। अब दृश्य और द्रष्टा के संयोग का स्वरूप बतलाते हैं–

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।।२३।।

स्वशक्ति, जो मुक्ति का सम्पादन करती है अर्थात् दृश्य और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुष– इन दोनों का मिलन और कार्य करने लग जाना, जो स्वरूपप्राप्ति का कारण है, वह संयोग है। दृश्य और द्रष्टा, स्वशक्ति और स्वामिशक्ति कार्य करने लगें, यही है संयोग। इसी से भजन जागृत होता है।

संयोग की आवश्यकता क्यों पड़ी?–

तस्य हेतुरविद्या।।२४।।

इस संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के मिटने के साथ ही संयोग भी मिट जाता है। मिटी तो अविद्या, संयोग क्यों मिट गया? इसका कारण भी अविद्या ही है। न यह होती, न द्रष्टा को दृश्य समझाना पड़ता। दृश्य ने अपवर्ग की व्यवस्था कर दी तो कृतार्थ महापुरुष के लिए न तो दृश्य की आवश्यकता है, न संयोग की उपयोगिता।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।।२५।।

उस अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है। यही 'हान' पुनर्जन्मादि के कारण भूत, वर्तमान और भविष्य में आनेवाले दुःखों का अत्यन्त अभाव है। वही चेतनात्मा का कैवल्य पद है, अमृतमय अविनाशी पद है।

यह कैवल्य पद कैसा है? दुःखों का अत्यन्त अभाव 'हान' कब हो जाता है?–

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।।२६।।

निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञानयुक्त 'हान'– दुःखों के अत्यन्त अन्त का उपाय है। विवेकख्याति उस अवस्था का नाम है जब विवेक अपना परिणाम देने की अवस्था पार कर परिणाम दे चुका हो। विवेकख्याति हान का उपाय है। उस अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता है। फिर अब भगवान किसे समझायें, किसे पढ़ायें? अतः वह संयोग उस महापुरुष के लिए

नष्ट हो जाता है। वही हान है; क्योंकि अब न उसके लिए बन्धन है न मुक्ति का सम्पादन शेष है। पुनर्जन्मादि दुखों का अभाव हान है। वही इस चेतनात्मा का कैवल्य है। निश्चल, निर्दोष विवेकख्याति अपनी पराकाष्ठा पर है। यही **'हानोपाय'**- दुःख-मुक्ति का उपाय है। उस समय-

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।।२७।।

उस विवेकख्याति ज्ञान की सात अवस्थाएँ होती हैं। सातों भगवत्पथ की सात भूमिकाएँ हैं। महर्षि ने तो इनका नामोल्लेख नहीं किया; किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में इन्हें शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा कहा गया है।

यह विवेकख्याति कब प्राप्त होती है?-इस पर कहते हैं-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।।२८।।

योग के विभिन्न अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

ज्ञान आरम्भ में है, मध्य स्तर का है और उन्नत भी है; ख्याति अर्थात् ज्ञान भी अपने पूर्ण प्रकाश का अंतिम लक्ष्य दे चुका है- वह है विवेकख्याति। इसके पश्चात् रह जाता है कैवल्य पद। किन्तु इन सभी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योग के अंगों का अनुष्ठान ही एक माध्यम है।

अब योग क्या है? इसके कितने अंग हैं?-

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि।।२९।।

योग के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

इनमें योग के प्रथम अंग 'यम' का वर्णन करते हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।३०।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच यम हैं। आत्मरमण 'अहिंसा' है। 'सत्य' एकमात्र आत्मा की प्राप्ति का प्रयत्न सत्याचरण

है। इष्ट के समक्ष निष्कपट भाव 'अस्तेय' है। मनसहित इन्द्रियों का ब्रह्माचरण में प्रवाहित होना 'ब्रह्मचर्य' है। विजातीय संस्कारों के संग्रह से बचना 'अपरिग्रह' है।

इन यमों की विशेषता बताते हैं–

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।३१।।

उपर्युक्त यम जाति, देश, काल और समय अर्थात् निमित्त की सीमा से बाधित न होने पर सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं।

चित्त की वृत्तियों का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन जाति अर्थात् जन्म है। मनुष्य वैसा ही है जैसा उसके चित्तवृत्ति का प्रवाह है, जिसमें निम्न अवस्था से उन्नत अवस्थाओं का क्रम आता रहता है। काकभुशुण्डि को अजगर का तन मिला, कौवे का शरीर मिला; जड़भरत को मृग का शरीर मिला; भगवान बुद्ध पिछले सैकड़ों जन्मों में विभिन्न योनियों में थे– उन सबमें यमों का पालन होता रहा। इसी तरह देश में अर्थात् नाम, रूप या योग के किसी अंग में जहाँ चाहे मन को लगा लें। काल अर्थात् इतने ही समय में मन लगता है। ब्राह्मवेला में मन ठीक लगता है, दूसरे समय में नहीं लगता। छोटे–मोटे निमित्तों (जैसे– किसी अवसर विशेष पर हिंसा नहीं करेंगे या इन तिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे...इस प्रकार की शर्तें) से यम बाधित नहीं होते। हर समय जब चाहें जहाँ चाहें निरन्तर इन यमों के पालन में मन लगे, उस समय ये यम सार्वभौम हो जाते हैं। सभी योनियों (भूमियों) में, सभी समय में, सब अवस्थाओं में, सभी देशों में, सभी निमित्तों में अबाध रूप से जब इनका आचरण होने लगता है तब यह महाव्रत कहलाते हैं।

यमों का वर्णन कर अब नियमों का वर्णन करते हैं–

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।३२।।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–शरणागति– इन पाँचों का नाम 'नियम' है।

यम और नियमों के पालन में विरोधी संकल्प आते रहते हैं। विरोधी संकल्पों का परिहार कैसे करें?–

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।।३३।।

विरोधी भाव उठने पर उनके प्रतिरोधी (प्रतिपक्षी) विचारों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। प्रतिपक्षी विचारों का चिन्तन कैसे करें?–

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।।३४।।

यम-नियमों के पालन के समय उनके विरोधी भाव आते हैं। जैसे- सत्य के स्थान पर असत्य, अस्तेय के स्थान पर चोरी, ब्रह्मचर्य की जगह वासना, अपरिग्रह में संग्रह, शौच की जगह अशुद्धि– ये विरोधी भाव आते हैं। इन्हें 'वितर्क'-विरोधी तर्क कहा जाता है। ये तीन प्रकार के होते हैं- कृत, कारित और अनुमोदित अर्थात् स्वयं किये हुए, दूसरों से करवाये हुए तथा अनुमोदन किए हुए। विरोधी विचार क्यों आते हैं? इसका कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं। इनसे प्रेरित होकर मनुष्य तपस्या में लापरवाही करने लगता है। इनसे प्रेरित वितर्क की मात्रा किसी में अल्प, किसी में मध्यम तथा किसी-किसी को अत्यधिक प्रभावित करती है। इन वितर्कों के प्रतिपक्षी विचारों की भावना करनी चाहिए कि "वितर्क के भाव दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फल देनेवाले हैं। ये पुनः नरक की ओर, पतन की ओर ले जायेंगे। यही सब तो अभी तक किया गया, फिर वही? हे मन! तूँ तो इनसे मुक्त होने के लिये आया है। किस महापुरुष की शरण में हो? क्या अपने साथ गुरु महाराज की विमल कीर्ति पर प्रश्नचिन्ह लगाओगे?"-मन को इस तरह से समझाना प्रतिपक्ष भावना है।

अब यम-नियमों की पराकाष्ठा बताते हैं–

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।।३५।।

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के सन्निकट सब प्राणी वैर त्याग देते हैं, क्योंकि उनके चतुर्दिक वायुमण्डल शान्त रहता है। ऐसे महापुरुषों के निवास-स्थल आश्रमों की व्यवस्था भी विलक्षण होती है। मानस में है कि जब से भगवान श्रीराम चित्रकूट में निवास करने लगे- **'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।।'** (२/२३७/१) पूज्य

गुरु महाराज अनुसुइया के बीहड़ वन-प्रान्तर में निवास करते थे जहाँ शेर, भालू, लम्बे-लम्बे सर्पों का बाहुल्य था; किन्तु इन वन्यहिंसक जीवों द्वारा आश्रम परिसर में कभी कोई दुर्घटना नहीं घटित हुई।

भगवान महावीर स्वामी का निर्णय है कि आत्मा को अधोगति में ले जानेवाले जितने भी विकार हैं, वही हिंसा के कारण हैं। इन विकारों का निरोध कर लेना ही विशुद्ध अहिंसा है। वास्तव में हिंसा का अर्थ किसी जीव को मारना मात्र नहीं है बल्कि आत्मपथ से विचलित हो जाना ही हिंसा है और आत्मपथ की ओर अग्रसर होना अहिंसा है। अपने आत्मस्वरूप में प्रवेश जीव का परम कल्याण है। अतः आत्मस्वरूप की सुरक्षा ही अहिंसा है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर अहिंसा का प्रयोग किया है। योगविधि यज्ञ के चौदह लक्षणों में संशित व्रत अहिंसा है, जिसका परिणाम सनातन ब्रह्म का दर्शन और स्थिति है। स्वरूप में स्थित महापुरुष क्षेत्रज्ञ हैं और क्षेत्रज्ञ के लक्षणों में एक है अहिंसा। दैवी सम्पद् जो परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाती है, मोक्ष प्रदान करती है। उनमें इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, अनुभवी उपलब्धि, वास्तविक जानकारी इत्यादि छब्बीस लक्षणों में एक अहिंसा है। "अर्जुन! आत्मा ही शत्रु और आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गई हैं उसके लिये उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है। जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गईं उनके लिये उन्हीं की आत्मा शत्रु है, शत्रुता में बरतती है, अधम और निम्न योनियों का कारण बनती है। इसलिए पुरुष को चाहिए कि अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे, अधोगति में न पहुँचाये।"

अहिंसाप्राप्त महापुरुष के सन्निकट इस वैर के कारणों का त्याग हो जाता है, संयम सधता जाता है, आत्मा की स्थिति मिलती जाती है, आत्मोद्धार होता जाता है। यह शिक्षा महापुरुष देते हैं। अतः अहिंसा किसी विरले महापुरुष के क्षेत्र की वस्तु है। ऐसे महापुरुष के चतुर्दिक एक प्रभाव-क्षेत्र निर्मित हो जाता है। (जैसा काकभुशुण्डि आश्रम का प्रभाव था कि '**व्यापहिं तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत।**') वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध और शान्त हो

जाता है। उनकी परिधि में जो भी पहुँच जाता है, उसमें भी योग के संस्कारों का सूत्रपात हो जाता है।

'**वैरत्यागः**' दुनिया में वैरी काटे जाते हैं, 'अहिंसा' में त्यागे जाते हैं। वैरी कौन हैं? मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (गीता, ३/३७)

अर्जुन! काम और क्रोध अग्नि के सदृश कभी न तृप्त होनेवाले दुर्जय शत्रु हैं। ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाले ये निरन्तर वैरी हैं। महापुरुषों की सन्निधि में इन वैरियों का अन्त हो जाता है।

'**परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।**' **(मानस, ७/१२०/२२)** सुरत अर्थात् मन की दृष्टि जो वायु से भी तेज चलनेवाली है, स्थायित्व ले ले। इस निरोध के साथ जो छिपी सत्ता है, वह है कल्याणतत्त्व द्रष्टा आत्मा। उसके स्पर्श के साथ ही जिसे धारण करना था – धर्म को, वह कार्य पूर्ण हुआ। यह अहिंसा की पराकाष्ठा है। ऐसे महापुरुषों की दृष्टि पड़ते ही व्यक्ति हिंसा के मार्ग से हटकर अहिंसा की राह पर आ जाते हैं, जैसे– वाल्मीकि, अंगुलिमाल इत्यादि। पूज्य गुरुदेव भगवान के सान्निध्य में अनुसुइया क्षेत्र के दस्युओं की वृत्ति बदल गयी, वे भजन करने लग गये।

दूसरा यम है सत्य। उसकी पराकाष्ठा कहाँ तक है?

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।।३६।।

सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर क्रियाफल का आश्रय प्राप्त हो जाता है।

सत्य केवल द्रष्टा आत्मा है। सृष्टि में अन्य जो कुछ है, नश्वर है। इस सत्य एकमात्र परमात्मा में भली प्रकार स्थिति आ गयी, श्रद्धा केन्द्रित हो गयी, समर्पण सधा, साधना गतिशील हुई तो '**क्रियाफलाश्रयत्वम्**'- क्रिया का फल है परमात्मा, उस परब्रह्म परमात्मा का आश्रय मिल जाता है। अर्थात् भगवान विधिवत् योगक्षेम करने लगते हैं।

यम का तीसरा अंग 'अस्तेय' देखें–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।।३७।।

प्रायः चोरी के अभाव को अस्तेय कहा जाता है। चौर्यवृत्ति का अभाव होते ही योगी के समक्ष सभी रत्नों को प्रकट हो जाना चाहिए। आपके शास्त्रों में समुद्र-मन्थन से निःसृत चौदह रत्नों का उल्लेख है–

श्री मणि रम्भा वारुणी, अमिय शंख गजराज।।
कल्पद्रुम शशि धेनु धनु, धनवन्तरि विष बाजि।।

मान लें अचौर्यवृत्ति दृढ़ हो गयी, योगी के समक्ष रम्भा या वारुणी प्रकट हो गयी तो वह करेगा क्या? उसके शान्त एकान्त भजन में ये भयंकर विघ्न हैं। रम्भा विश्वामित्र के समक्ष पहुँची तो उनका पतन हो गया। अतः अस्तेय या रत्नों का यह आशय संगत प्रतीत नहीं होता।

भगवान महावीर से एक राजा ने प्रश्न किया, "भगवन्! सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए हम लोगों का कल्याण कैसे हो?" उन्होंने बताया, "राजन्! त्रिरत्न धारण करें।" '**सम्यक्दर्शनज्ञानचरित्राणि।**' तीर्थंकर अर्थात् तीर्थस्वरूप महापुरुष सद्गुरु का दर्शन करें, उनमें श्रद्धा स्थिर करें, उनसे साधन-विधि ज्ञात करें और उसे आचरण में ढालें। यही त्रिरत्न हैं।

पूज्य गुरुदेव कहते थे, "सद्गुरु के समक्ष जो हृदय में हो, वही जुबान पर हो। हृदय में कुछ और जुबान पर कुछ और- ऐसा साधक कभी सफल नहीं होता।" भगवान से कुछ छिपाया भी तो नहीं जा सकता। '**सब के उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।**' (**रामचरितमानस, २/२५७**)-ईश्वर सबके हृदय में निवास करता है, वह भाव-कुभाव सब जानता है। संकल्प बाद में उठते हैं, भगवान पहले ही बता देते हैं कि कब विजातीय संकल्प आनेवाले हैं। वितर्क पैदा हुआ नहीं, परिस्थिति या खतरा आया नहीं, उसके पहले ही भगवान बता देते हैं; साधक तुरन्त सावधान हो जाता है। अस्तु, भगवान से कुछ छिपा नहीं है फिर भी जीव का स्वभाव है, कुछ-न-कुछ कपट रहता ही है। जब यह दुराव समाप्त हो जाता है, '**नवम सरल सब सन छलहीना।**' (**रामचरितमानस, ३/३५/५**) हो जाता है तो साधना में

सहायक सभी रत्न विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि आवश्यकतानुसार योगी के समक्ष प्रकट होते रहते हैं।

अब ब्रह्मचर्य का परिणाम बताते हैं–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।।३८।।

ब्रह्मचर्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।

मात्र जननेन्द्रिय-संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार हठपूर्वक इन्द्रियों को रोकने किन्तु मन से विषयों का चिन्तन करनेवाला दम्भाचारी है। अपने पूर्वजन्मों का संस्मरण सुनाते हुए पूज्य गुरुदेव बताया करते थे कि गत जन्म में उनकी निवृत्ति हो चली थी; किन्तु मन में दो-एक इच्छायें शेष थीं कि शादी-व्याह क्या होता है और लोग गाँजा पीकर मस्ती में भजन करते हैं, इसमें कितना आनन्द है? उस जन्म में इच्छा रहने पर भी न तो विवाह किया और न गाँजे का स्पर्श ही किया; किन्तु मन में एक कुतूहल था इसीलिए जन्म लेना पड़ा। भगवान ने थोड़े ही समय में शादी-विवाह कराकर, दिखा-सुनाकर, दो-एक झिड़कियाँ देकर साधु बना दिया। आकाशवाणी मिली कि इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं। उन तपोधन के सान्निध्य में स्वल्प समय में ही साधना जागृत हो गयी, भगवान रथी हो गये, योगक्षेम करने लगे। भजन के लिए जगाने, उठाने, बैठाने लगे। भोजन पर भगवान ने नियंत्रण लगा दिया– यह खाओ, यह न खाओ। जागरण-शयन सन्तुलित कर दिया। सब कुछ अपने हाथ में ले लिया। जैसे कोई अपना गड़ा धन पा जाय, योग की विभूतियाँ मिलने लगीं, रत्न प्रकट होते गये। उस जन्म में पूज्यश्री ब्रह्मचारी ही तो थे, संयम के पक्के थे, फिर भी जन्म लेना पड़ा।

कुतर्क शान्त होता है ब्रह्माचरण से, मनसहित इन्द्रियों को समेटकर ब्रह्मचिंतन में लगने से। '**ब्रह्माचरति स ब्रह्मचारी।**' आँखें दूसरा न देखें, कान दूसरा न सुनें। कानों से विषयोत्तेजक बातें सुनकर, आँखों से उत्तेजक दृश्य देखकर शरीर को बचाये रखना सर्प के मुख में ऊँगली डालकर बचने के समान है। ब्रह्माचरण से, सतत चिन्तन से सकलेन्द्रिय-संयम सध जाता है। उसी से विशुद्ध ब्रह्मचर्य की अवस्था आती है।

ब्रह्मचर्य में स्थिति दृढ़ होने पर '**वीर्यलाभः**'–सामर्थ्य का लाभ होता है। आत्मा का विलुप्त पराक्रम प्रकट होने लगता है। जिस मन को हठ से भजन में लगाना पड़ता था, सहज ही भजन में लगने की सामर्थ्य आ जाती है। विघ्नों के आने पर भी वह पीछे नहीं हटता। मीरा पीछे नहीं हटी। जहर का प्याला, शूली की शैया भी उसे विचलित न कर सके। प्रह्लाद को जलाने का प्रयास किया गया, समुद्र में डाला गया, हाथियों से कुचलवाया गया– विघ्न आये और निकलते चले गये। साधक में अपने ध्येय पर अडिग रहने की सामर्थ्य आ जाती है। अब उसे प्रयासपूर्वक मन को नहीं लगाना है।

नोट– सकलेन्द्रिय–संयम में भी जननेन्द्रिय–संयम ब्रह्मचर्य की अनिवार्य शर्त है। पूज्य गुरुदेव भगवान कहते थे कि गृहस्थों द्वारा इस संयम में भूल–चूक होने पर भगवान क्षमा कर देते हैं; किन्तु साधुवेश में ऐसी भूल हो जाने पर भगवान कभी क्षमा ही नहीं करते। ऐसे पतित साधक के लिए शरीर–त्याग ही एकमात्र प्रायश्चित है।

अब देखें 'अपरिग्रह'–

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।।३९।।

अपरिग्रह की दृढ़ स्थिति हो जाने पर '**जन्मकथन्तासम्बोधः**'– पूर्व–जन्म कैसे हुए थे?–इसका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह का अभाव या कुछ भी न रखें– अपरिग्रह है। जंगल निवासी आदिवासी जनता प्रातः जीविकोपार्जन हेतु निकलते हैं। दिनभर में जो कुछ अर्जित किया, उससे येन केन प्रकारेण उदरपूर्ति ही कर पाते हैं। उनके घर खुले हैं! जमीन पर शयन! संग्रह के नाम पर एल्यूमिनियम के दो–एक पिचके हुए बर्तन! सब–के–सब अपरिग्रही! पूर्वजन्म तो दूर की बात है, कल क्या बीतेगी?–इसका भी उन्हें ज्ञान नहीं है। सम्राट होते हुए भी राजर्षि जनक अपरिग्रही थे।

अपरिग्रह वस्तु–संग्रह से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना चिन्तन से! चिन्तन इतना उन्नत हो जाय कि उसके द्वारा नवीन संस्कारों का संग्रह न हो। नवीन संस्कारों का संग्रह तो होता नहीं फिर भी चित्त में पुराने संस्कारों के

कारण विकलता बनी रहती है, जिससे भले-बुरे संकल्प उठने लगते हैं। उस अवस्था में साधक को यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्वजन्मों के कितने संस्कार शेष थे? उनका निदान और कब तक उनसे निवृत्ति होगी?–इसका ज्ञान भी हो जाता है।

इस प्रकार यम में स्थिति का परिणाम बताकर महर्षि नियमों के आचरण का फल बताते हैं। नियम पाँच हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। इनमें से प्रथम है 'शौच'–

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।।४०।।

शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा बलवती होती है।

शौच का अर्थ शरीर की सज्जा, केश विन्यास या प्रसाधन नहीं है। इससे शरीर के अंगों के प्रति वैराग्य की भावना का उदय नहीं होता, प्रत्युत् यह ममत्व का ही परिचायक है। कुछ लोगों ने दिन में कई बार स्नान इत्यादि को शौच की संज्ञा दी है। किन्तु सन्तों ने कायिक स्वच्छता को बहुत महत्व प्रदान नहीं किया- '**पानी ले ले साबुन ले ले, मल मल काया धोई। अन्तर घट का दाग न छूटे, निर्मल कैसे होई।।**' भजन मन से होता है। यह मुख्यतः मानसिक क्रिया है। शरीर को सजाने-सँवारने से उसका प्रयोजन नहीं है। हमारे गुरु महाराज छः-छः महीने, एक-एक वर्ष तक स्नान नहीं करते थे। सदा श्वास में सुरत लगाकर बेगम (निश्चिन्त) रहते थे। कोई पूछता तो वह कहते– जब कोई कष्ट नहीं है, नहाने-धोने में अकारण समय क्यों नष्ट करें! फिर भी देखने से अनुमान भी नहीं होता था कि इन्होंने स्नान नहीं किया।

शौच का अर्थ है– मन की शुद्धि, जिसके पालन में अंतःकरण की पवित्रता मन, दृष्टि, श्रवण, वाणी इत्यादि सर्वत्र पवित्रता आ जाय। शरीर का भान ही न रहे, सुरत चिन्तन में लगी रहे, इससे स्वाङ्गों में विरक्ति आ जाती है और '**परैः असंसर्गः**'- दूसरों के संसर्ग से दूर रहने की क्षमता आ जाती है।

पूज्य महाराज जी जब चिन्तन में बैठते थे, कोई आकर उनके पास बैठता, पूज्यचरण बतलाते थे, "मन करता था कि यह कितना शीघ्र उठकर

चला जाता।" क्रमशः लोग दूर होने लगे। दूसरों से असंग रहने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। अपने अंगों में वैराग्य हो जाता है। स्नान किया है या नहीं– भान ही नहीं रहता। शौच से कुछ अन्य क्षमताओं का विकास भी होता है–

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।।४१।।

और इसके अतिरिक्त अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, मनसहित इन्द्रियों का वश में होना और आत्म-साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है। अन्तःकरण शान्त और चिन्तन में प्रवाहित होने की क्षमतावाला हो जाता है। चिन्तन में अनुरक्ति देखकर मन में प्रसन्नता बढ़ती है। चित्त की एकाग्रता, अन्तःकरण में निर्मलता आ जाती है; क्योंकि अंतःकरण की धुलाई ही शौच है।

अब दूसरा नियम 'संतोष' देखें–

संतोषादनुत्तमसुखलाभः।।४२।।

सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है, जिससे उत्तम कोई सुख नहीं है। ऐसा सुख मात्र परमात्मा में है। सन्तोष की पराकाष्ठा में उन प्रभु से तोष मिलने लगता है। '**जो आनन्द सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।**' **(मानस, १/१९६/५)**– भगवान आनन्द के सिंधु हैं, सुख की राशि हैं। इस आनन्दसिंधु की एक बूँद से त्रैलोक्य तृप्त हो जाता है। परिस्थितियों से समझौता संतोष नहीं है। सन्तोष से कामनाओं का नाश हो जाता है; क्योंकि जब सम– उस परमात्मा का तोष मिल गया तो कामना भी किसकी करे! आगे ऐसी कोई सत्ता नहीं जिसकी स्पृहा हो सके।

अब 'तप' का सर्वोपरि परिणाम बताते हैं–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।४३।।

तप के अनुष्ठान से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब '**कायेन्द्रिय सिद्धिः**'–शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। उस समय इन्द्रियों को जहाँ चाहें आप लगा सकते हैं। सर्दी-गर्मी जिस वातावरण में रखना चाहें, राग-द्वेष से रहित रख सकते हैं। सामान्य जीव '**जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो**' **(विनयपत्रिका, ८८/१)** इन्द्रियों के बहाव में खिंच जाता है।

गीता में भगवान कहते हैं कि विषयों में विचरती हुई जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय अयुक्त पुरुष के मन का अपहरण उसी प्रकार कर ले जाती है, जैसे झंझावात नाव का अपहरण कर उसे डुबो देता है। इसलिए पहले इन्द्रियों का संयम कर मन को साधना में लगा। मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना तप कहलाता है।

अब देखें 'स्वाध्याय' का स्वरूप–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।।४४।।

स्वाध्याय का अर्थ है स्वयं का अध्ययन। मुझे साधन में कितना समय देना चाहिए, कितना दे पाता हूँ?–इसका निरीक्षण करते हुए सदैव सचेतावस्था में रहते हुए, समझते हुए साधनरत रहने से '**इष्टदेवतासम्प्रयोगः**'– योग की अवस्था इष्टदेव से ओत-प्रोत हो जाती है।

ईश्वर-प्रणिधान की पराकाष्ठा देखें–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।४५।।

ईश्वर की शरणागति तथा मन, क्रम, वचन से उनके प्रति समर्पण एवं उनके हाथ का यन्त्र बन जाने से समाधि की सिद्धि हो जाती है।

ईश्वर पर निर्भर करनेवाले साधक का योगक्षेम भगवान स्वयं देखते हैं। अतः साधन का अनायास और शीघ्र पूर्ण होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में 'समाधि' अर्थात् सम और आदि तत्त्व ईश्वर के साथ समत्व प्राप्त होने में शीघ्र सफलता मिल जाती है।

अब 'आसन' का स्वरूप देखें–

स्थिरसुखमासनम्।।४६।।

निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। आसन लगाकर बैठना तो सरल है, लेकिन सुख कहाँ? सुख का उतार-चढ़ाव मन पर है, तन पर नहीं। यह आसन कैसे सिद्ध होता है? यह बताते हैं–

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।।४७।।

उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त अर्थात् परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है।

यदि शरीर के ही बैठने का नाम आसन होता तो अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी? अनेक विभूतियाँ ऐसी रही हैं; जैसे– महर्षि अष्टावक्र, गुरु महाराज के गुरुदेव पूज्य सत्संगी महाराजजी, जिनके पाँव टेढ़े-मेढ़े थे, आसन की मुद्रा का प्रश्न ही नहीं उठता, कभी बनी ही नहीं; किन्तु वे अपने युग के सर्वोपरि महापुरुष थे।

'**प्रयत्नशैथिल्य**' अर्थात् यम, नियम, तप, स्वाध्यायादि में जो प्रयत्न चलता है, उस प्रयत्न में शिथिलता आ जाय, इनका पालन सहज स्वाभाविक होने लगे, एक बार जहाँ मन लगाया शान्त प्रवाहित होने लगे– इस प्रकार एक परमात्मा में भली प्रकार मन लग जाने से आसन सिद्ध हो जाता है। अतः यह आसन मन का है। मन का स्थिरीकरण ही आसन है। भजन के लिए शरीर की एक निर्धारित मुद्रा है, जिसमें शरीर, शिर, मेरुदण्ड और गर्दन एक सीध में होने चाहिए। आँखें अर्धोन्मीलित, नासाग्र दृष्टि आवश्यक है। किन्तु महर्षि पतंजलि ने मन के शान्त-स्थिर टिकने को ही आसन की संज्ञा दी है। '**आसन मारे क्या भया, मुई न मन की आस। ज्यों कोल्हू के बैल को, घर ही कोस पचास।।**' मन में उभरने वाली आशाएँ हैं जो स्थिर बैठने नहीं देतीं।

आसन का प्रभाव क्या होता है?–

ततो द्वन्द्वानभिघातः।।४८।।

आसन सिद्ध होते ही द्वन्द्वों का आघात नहीं होता। राग-द्वेष, भले-बुरे उद्वेग द्वन्द्व हैं जो मन को दुविधा में डाल देते हैं। प्रकृति के विरोधी पहलू से भी उसके हृदय में कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उस समय उसकी अवस्था कैसी होती है?–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।४९।।

उस आसन के सधते ही श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।

प्राणायाम अलग से कोई क्रिया नहीं है। अभ्यास किया गया तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान का, साधन किया जाता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का। इसमें सहजता ढलते ही आसन-सिद्धि और आसन

सधते ही प्राणायाम! प्राण के व्यापार पर विराम लग गया। इस प्रकार यह स्थिति परिणामजन्य है। यह यम-नियमों के परिपालन का प्रतिफलन है।

श्वास जो लेते हैं, प्रश्वास जो त्यागते हैं। (प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं इसके विपरीत उल्लेख भी मिलते हैं, जिसमें प्राण जो त्यागा जाता है और प्रश्वास जो भीतर लेते हैं-ऐसा अर्थ किया गया है। किन्तु अधिकांश मनीषियों ने श्वास या प्राण उसे कहा है जो हम ग्रहण करते हैं।) आत्म-उत्कर्ष के लिए आप लेते हैं विद्या और आत्मा का पतन करनेवाली अविद्या त्यागते हैं। इन दोनों की गति पर विराम लग जाना, जब त्यागना और ग्रहण करने की वृत्तियाँ शान्त हो जायँ, श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाती है, इसी का नाम है प्राणायाम।

आसन के सधते ही चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित होने लगती है। न भीतर से कोई संकल्प स्फुरित होता है, न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। यही कारण है कि ऐसी अवस्था में चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है, यही श्वास-प्रश्वास की गति का रुकना है। यदि आंतरिक या बाह्य वायुमण्डल के संकल्प टकराते हैं तो स्पष्ट है कि अभी आसन नहीं सिद्ध है, क्योंकि आसन सधते ही संकल्प शान्त हो जाते हैं। प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है।

प्राण अंतःकरण को कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार '**सर्वाणीन्द्रिय-कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।**' **(गीता, ४/२७)** सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को, '**इन्द्रियकर्माणि**'– इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, '**प्राणकर्माणि**'– प्राण कर्म करते हैं। बाहर इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, भीतर अंतःकरण में प्राण कर्म करते हैं। दोनों के कर्मों को ईश्वरीय निर्देशन से प्रकाशित आत्मा में संयमरूपी योगाग्नि में हवन करना योग है।

सारांशतः अभ्यास यम-नियमों का किया जाता है। इससे आसन की सिद्धि होती है। इसका ही उन्नत स्तर प्राणायाम है।

उक्त प्राणायाम की अवस्था कैसे आयेगी? इस पर कहते हैं–

बाह्याभ्यंतरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।५०।।

बाह्यवृत्ति, आभ्यंतरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति के भेद से देश, काल और संख्या द्वारा भलीभाँति देखने से प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

बाह्यवृत्ति प्रकृति की ओर ले जाती है, जो अविद्या से प्रभावित क्लिष्ट वृत्ति है। आभ्यन्तरवृत्ति योग-साधना में लगाती है, परमात्मा की ओर अग्रसर करती है। तीसरी वृत्ति स्तम्भवृत्ति है, जिसमें न तो बाह्य चिन्तन होता है न आभ्यन्तर चिन्तन, अतः यह स्थिरवृत्ति है। मन बाह्यवृत्ति में गया तो काम-क्रोध, राग-द्वेषादि किस देश में गया? कितने काल तक वह वहाँ रुका?- संख्या द्वारा उसे देखते रहना चाहिए। मन यदि आभ्यन्तरवृत्ति में गया तो विवेक का विश्लेषण कर रहा है या वैराग्य का? श्रद्धा या समर्पण किस देश में चिन्तन कर रहा है? कितने समय तक वहाँ टिका? वहाँ से हटाकर उसे स्तम्भवृत्ति में लगायें। बाह्यवृत्ति से मन को हटाकर आभ्यंतर और स्तम्भवृत्ति में स्थिर करें। आभ्यंतरवृत्ति में भी संकल्प ही तो कर रहा है। इस प्रकार देखते रहने से, सचेत रहने से प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। इस प्राणायाम में श्वास से छेड़खानी नहीं करनी है, वृत्ति को देखना है।

प्राणायाम का अंतिम स्तर देखें-

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।।५१।।

बाहर और भीतर के विषयों का रुक जाना, त्याग हो जाना चौथा प्राणायाम है। न बाह्य विजातीय संकल्प उठें, न आभ्यंतर के अक्लिष्ट-दैवी सम्पद् के ही संकल्प उठें। सुरत सहज प्रवाहित है। यह प्राणायाम की चतुर्थ सर्वोन्नत अवस्था है। यही शुद्ध प्राणायाम है जिसमें प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है।

प्राणायाम वृत्तियों का निरोध है, न कि श्वास का! श्वास तो शरीर की जीवनीशक्ति है। जैसे- आँख, कान, नाक क्रियाशील हैं वैसे ही श्वास शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसे रोकना, घटाना या बढ़ाना नहीं है। श्वास के साथ भले-बुरे संकल्प भी मिश्रित रहते हैं। दोनों ही प्रकार के संकल्पों को ग्रहण न करने की क्षमता प्राणायाम है।

प्राणायाम में श्वास को कुछ नहीं करना होता है, केवल चित्त को विषयों से हटाना है। श्वास तो बच्चों में बच्चों-जैसी, वृद्धों में वृद्ध-जैसी, प्रौढ़ों या युवकों में उनके आयु के अनुपात में चलती ही है। इसमें छेड़खानी करने से

बीमारी हो सकती है। चित्त बाह्य आभ्यंतर से स्तम्भवृत्ति में स्थिर करें। विषयों का शान्त हो जाना, चित्त का शान्त प्रवाहित स्थिर होकर चलना प्राणायाम है। इससे लाभ?–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।५२।।

प्राणायाम के सधने से बाह्याभ्यन्तर विषय शान्त हो गये। प्राण का व्यापार शान्त प्रवाहित हो गया, प्राणों के व्यापार में विराम लग गया, प्राण एक आयाम में स्थिर हो गया। इस प्राणायाम से ज्योतिर्मय परमात्मा और साधक के बीच जो आवरण बाह्य या आभ्यंतर वृत्तियों का था वह आवरण क्षीण हो जाता है। रहता अवश्य है, किन्तु वह आवरण निष्प्राण हो जाता है। इस प्राणायाम से एक अन्य लाभ भी है–

धारणासु च योग्यता मनसः।।५३।।

प्राणायाम से मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है। आज आप ध्यान में रूप धारण करने का प्रयास करते हैं या मन को नाम में लगाते हैं, किन्तु थोड़ी ही देर में आप पाते हैं कि नाम या रूप मन से भाग जाते हैं। मन में धारण करने की क्षमता का अभाव पाया जाता है; किन्तु प्राणायाम के सधते ही मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है जिससे नाम, रूप या योग-साधना के किसी भी अंग में मन का संयम सहज हो जाता है। इससे उन्नत स्तर है 'प्रत्याहार'–

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।५४।।

जब इन्द्रियाँ अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होकर चित्त के स्वरूप में तदाकार-सी हो जाती हैं, उसी का नाम प्रत्याहार है।

इससे लाभ?–इस पर कहते हैं–

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।।५५।।

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय मिल जाती है। अतः प्रत्याहार का अभ्यास तब तक करना होता है जब तक इन्द्रियाँ भली प्रकार वश में न आ

जायँ। जब इन्द्रियाँ भली प्रकार वश में हो जाती हैं, उनमें भले-बुरे संकल्प नहीं आते। यही जितेन्द्रिय पुरुष के लक्षण हैं।

इस प्रकार दूसरा पाद 'साधनपाद' यहीं सम्पन्न होता है।

निष्कर्ष-

साधनपाद में महर्षि ने बताया कि साधना आरम्भ कहाँ से होती है? एक ईश्वर के प्रति समर्पण, मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना (तप) और स्वाध्याय–स्वयं का अध्ययन कि वृत्ति में योग-विधि को कितना धारण कर पाये और कितनी त्रुटि रही?–इस प्रकार अध्ययन करते हुए अग्रसर होने से योगक्रिया आरम्भ हो जाती है।

इस योगक्रिया के प्रभाव से क्लेश हलके हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं, 'तनु'-बलहीन हो जाते हैं और समाधि की भावना परिपुष्ट हो जाती है। जो क्लेश क्षीण होते हैं उनके नाम हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँच क्लेश हैं। ये पाँचों क्लेश जब कार्य नहीं करते तो प्रसुप्त, कभी 'तनु'-बलहीन, कभी 'विच्छिन्न'–जैसे हैं ही नहीं और कभी उदार अवस्था में रहते हैं। एक क्लेश के उदार होने पर दूसरा विच्छिन्न-सा प्रतीत होता है जबकि वह यथावत् है। इन सभी क्लेशों का आधार अविद्या है। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मानना अर्थात् असत्य में सत्य की प्रतीति होते रहना अविद्या है। प्रकृति और पुरुष, दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का एक-सा हो जाना अस्मिता है। रामचरितमानस में आता है–

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

(मानस, ७/११६/४)

सुख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश राग है। जहाँ सुख मिला, राग होगा। दुःख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश द्वेष है। जिस किसी वस्तु या व्यक्ति से दुःख होगा उससे द्वेष अवश्य होगा। जो स्वभाव से चला आ रहा है, जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान पाया जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् पूर्व-निवास के प्रति ममत्व, जो हमारा निवास-स्थान नहीं

है किन्तु हमने उसे अपना मान रखा है– यह अन्तिम क्लेश है। प्रकृति के अन्तर्गत जीवन यद्यपि हमारा नहीं है, फिर भी अनादिकाल से उसी में रहते आने के कारण उसके प्रति लगाव अभिनिवेश है। जीव का शुद्ध निवास तो परमात्मा है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान से बलहीन और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त ये क्लेश नष्ट करने योग्य हैं।

क्लेश से संयुक्त वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा शान्त होती हैं। इन क्लेशों को नष्ट करना आवश्यक है; क्योंकि इन कर्म–संस्कारों का परिणाम जन्म, पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है। ये संस्कार पुण्य और पाप से होने के कारण हर्ष और शोकरूपी फल देते हैं। जो संस्कार हर्ष उत्पन्न करते हैं वे भी दुःखरूप ही हैं, जन्म देंगे। गुण परिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तन के क्रम में सात्विक गुण तामसी गुण में ज्योंही परिवर्तित होगा, यह आह्लाद शोक में बदल जायेगा। इसलिए प्रायः सभी फल विवेकशील पुरुष के लिए दुःखरूप हैं। इनका त्याग कर देना चाहिए। जो दुःख अभी आये नहीं हैं, आनेवाले हैं, नष्ट करने योग्य हैं। ये नष्ट कैसे होंगे? द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही 'हेयहेतुः'–हेय का साधन है। वास्तव में ईश्वर–प्रणिधान होने पर वह ईश्वर किस प्रकार योगक्षेम करता है, कैसे दृश्य प्रसारित करता है, उसे संयोग कहते हैं। वह दृश्य नाम, रूप या योग के विभिन्न अंगों के अनुष्ठान को सही दिशा देनेवाला है। इसके बिना क्लेश नष्ट होते ही नहीं। उस दृश्य और द्रष्टा का मिलन संयोग है। यह मिलन ही हेय का साधन है। उन्होंने दृश्य का स्वरूप बताया जो प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववाला है। ज्योतिर्मय प्रकाशस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति, प्राप्ति की क्रिया में आपकी अवस्था कैसी है?–इस स्थिति का बोध कराना, पुरुष के लिए भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है। यह दृश्य जीवित प्राणियों और इन्द्रियों के द्वारा ही स्वरूप प्रकट करता है। यह दृश्य प्रकृति के अंतर्गत नहीं है; क्योंकि यह द्रष्टा के संसर्ग से संचालित है। दृश्य चार रूपों में प्रसारित होता है– विशेष, अविशेष, लिंग और अलिंग। '**पुरुषविशेष ईश्वरः**' दृश्य बताता है कि विशेष के परिवेश में आपकी पहुँच कैसी है? अविशेष प्रकृति है। दृश्य से सूचना मिलती है कि प्रकृति का कितना दबाव आपके ऊपर है। कभी यह दृश्य मूर्तरूप में (लिङ्गरूप में) प्रकट होता है और

कभी भगवान अमूर्त होकर समझाते हैं। आकाशवाणी, अंग-स्पन्दन आदि जिसके कई रूप हैं।

द्रष्टा आत्मा चेतन, ज्ञानस्वरूप और स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है; किन्तु बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। बुद्धि में वृत्तियों का जैसा दबाव है उसी आधार से यह दृश्य प्रसारित करता है। दृश्य का प्रयोग केवल द्रष्टा के लिये है। किन्तु जिस पुरुष का भोग और अपवर्गरूपी कार्य पूर्ण हो चुका है उस पुरुष के लिए इस संयोग का कोई उपयोग नहीं रह जाता, फिर भी यह नष्ट नहीं होता। अन्य साधारण व्यक्तियों के मार्गदर्शन के लिए उसका उपयोग बना रहता है। उसके हित के लिए इस जानकारी का सूत्रपात उसे महापुरुष के माध्यम से होता रहता है।

यह 'संयोग' है क्या? '**स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः।**' (२/२३)- स्वशक्ति अर्थात् दृश्य, जो मोक्ष दिलाता है और स्वामिशक्ति पुरुष-इन दोनों के स्वरूप की उपलब्धि संयोग है। यह दोनों साथ-साथ कार्य करें, हमें उपलब्ध हों, हमारे साथ इनका संयोग हो- इनका मिलना संयोग है। इस संयोग के बिना साधन जागृत ही नहीं होता।

संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के नष्ट होते ही संयोग भी नष्ट हो जाता है। यही 'हान' है-पुनर्जन्मादि दुःखों का अत्यन्त अभाव है। यही चेतन आत्मा का कैवल्य पद है। गुरुदेव कहते थे- '**हानि हो जिससे चौरासी**' अर्थात् अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज- इन चार रूपों में प्रसारित अनन्त सृष्टि का अन्त हो जाना, भव-बन्धन का छूट जाना 'हान' है। यह हान विवेकख्याति से आता है। विवेक-ज्ञान के समय साधना ज्ञान की सात भूमिकाओं से होकर गुजरती है। सातों में दक्षता आ जाने पर अशुद्धि का अन्त होकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

विवेक-ज्ञान की प्राप्ति योग के अनुष्ठान से होती है, जिसके आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। यम पाँच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सतत अभ्यास से देश, काल और जन्मादि की सीमा से ऊपर उठते ही ये यम सार्वभौम और महाव्रत बन जाते हैं। चिन्तन द्वारा वृत्तियों का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में

परिवर्तन और उत्कर्ष जन्म-परिवर्तन है। उत्कर्ष जिस स्तर तक है वैसा ही जन्म भविष्य में मिलता है। जन्म-परिवर्तन से यमों के पालन में व्यवधान नहीं पड़ता तब वे महाव्रत हो जाते हैं। यम सध जाने पर नाम, रूप किसी भी देश में चित्त लगाने से तत्क्षण सुरत लग जाती है। गर्मी-सर्दी इन यमों के पालन में बाधक नहीं रह जाते। यम इन अवरोधों से बाधित न होने पर, इससे ऊपर उठ जाने पर सार्वभौम कहलाते हैं।

योग का दूसरा अंग 'नियम' - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति का समुच्चय है। वितर्क अर्थात् विजातीय तर्क इन नियमों के पालन में बाधा डालते हैं। इसके निवारण के लिए वितर्कों के विरोधी भावों की संकल्पना करनी चाहिए। यम-नियमों के परिपालन से भजन में शान्त, स्थिर, सुखपूर्वक बैठने की क्षमता आती है, जो योग का तृतीय अंग है 'आसन'। योगासन के नाम पर समाज में तरह-तरह के शारीरिक व्यायाम सिखाये जा रहे हैं, जबकि योग से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। योगसम्मत आसन यम-नियमों के सहज ढल जाने के कारण उनके पालन में प्रयत्न की शिथिलता आने और परमात्मा में मन लगाने से सम्पन्न होता है। यदि बाह्य शारीरिक व्यायाम ही आसन होता तो परमात्मा में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी?

आसन सधते ही द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। इसके उपरान्त प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो साधक को विचलित कर सके। राग-द्वेषादि द्वन्द्व साधक पर अब प्रभाव नहीं डाल पाते।

आसन की परिपक्वता में श्वास-प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। किया गया था आसन और अवस्था प्रकट हो गयी प्राणायाम की! जब आसन में सुखपूर्वक सुरत स्थिर हो जाती है, उस समय श्वास जो हम लेते हैं (सजातीय प्रवृत्ति-अक्लिष्ट वृत्ति) और प्रश्वास (जो हम-आप बाहर निकालते हैं, त्यागते हैं, विजातीय प्रवृत्ति-क्लिष्ट वृत्ति) इन दोनों का नियंत्रण हो जाता है। श्वास एक निर्धारित आयाम में (नाम या रूप में) प्रवाहित होने लगती है- इसी का नाम प्राणायाम है। यम-नियमों के परिपालन से आसन की अवस्था आयी और आसन सधते ही प्राणायाम की स्थिति प्रकट हो गयी। प्राणायाम के चार क्रमोन्नत सोपान हैं। वाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम देश,

काल और संख्या द्वारा देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। बाह्यवृत्ति प्रकृति की ओर देखती है। आभ्यन्तरवृत्ति ईश्वर-पथ में योग-साधना के अंग-प्रत्यंगों का विश्लेषण करती है। चिन्तन बाह्यवृत्ति का है तो काम, क्रोध, लोभ इत्यादि किस देश में कितने समय तक रुका, वहाँ से उसे हटाकर स्तम्भ वृत्ति में लगायें। इसी तरह आभ्यन्तरवृत्ति में गया चित्त विवेक, वैराग्य, शम, दम किस देश में कितने समय तक रुका, संख्या द्वारा ज्ञात करें और वहाँ से हटा कर स्तम्भवृत्ति में लगायें। इस प्रकार निरीक्षण करने से एक स्तर ऐसा आता है कि **'बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'** (२/५१)- बाह्य और आन्तरिक विषयों का सर्वथा रुक जाना चौथा प्राणायाम है।

प्राणायाम सम्पन्न होते ही प्रकाशस्वरूप परमात्मा और साधक के बीच पड़ा वृत्तियों का आवरण क्षीण हो जाता है, ईश्वर प्रतिभासित होने लगता है। मन में स्वरूप को धारण करने की क्षमता आ जाती है। आरम्भिक अवस्था में साधक का मन नाम या रूप में टिकता नहीं। प्राणायाम के सधते ही यह विचलन समाप्त हो जाता है। नाम या रूप में कहीं भी सुरत स्थिर करना चाहें, कर सकेंगे।

योग का पाँचवाँ प्रस्तर है 'प्रत्याहार'। विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के साथ तदाकार हो जाना प्रत्याहार है। जिन विषयों से इन्द्रियाँ प्रभावित थीं उनका प्रभाव समाप्त हो जाता है। प्रत्याहार सधते ही इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है, जो जितेन्द्रिय पुरुष की अवस्था है।

इस प्रकार महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शन का द्वितीय पाद 'साधनपाद' पूर्ण होता है, जिसमें योग के आठ अंगों में से पाँच (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) का निरूपण इस पाद में हुआ। शेष तीन अंगों-धारणा, ध्यान और समाधि को महर्षि ने अग्रतः तृतीय पाद विभूतिपाद के अन्तर्गत किया है क्योंकि लक्ष्य परमात्मा को धारण करते ही ईश्वर द्वारा मिलनेवाली विभूतियाँ ध्यान और समाधि स्तर में भी प्रकट होने लगती हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

तृतीय अध्याय – विभूतिपाद

योग के आठ अंगों में से प्रथम पाँच का वर्णन दूसरे पाद साधनपाद में किया गया। अंतिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन इस तृतीय पाद विभूतिपाद में प्रस्तुत है। प्रथम पाँच को बहिरंग साधन कहा जाता है जो संप्रज्ञात समाधि में परोक्ष रूप से सहायक हैं। अंतिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग कहा जाता है किन्तु निर्बीज समाधि के सन्दर्भ में ये तीनों भी बहिरंग हैं; क्योंकि इन तीनों के अभाव में ही निर्बीज समाधि संभव है। धारणा, ध्यान और समाधि– ये तीनों अभ्यास के द्वारा एक ही लक्ष्य पर स्थिर हो जाते हैं तो इसे संयम कहा जाता है, जो योग का पारिभाषिक शब्द है। इस संयम के साथ ही विभूतियों का प्राकट्य है। इस विभूतिपाद में तीनों शब्दों के स्थान पर अधिकांश सूत्रों में 'संयम' शब्द ही प्रयुक्त है।

धारणा, ध्यान और समाधि योग की क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं। इन तीनों का अभ्यास संयम है और संयम से अनेक विभूतियों का प्रस्फुटन होता है, इसीलिये इन तीनों का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है। विभूति परमात्मा से मिलनेवाला ऐश्वर्य या अलौकिक क्षमताएँ हैं, जो योग के इन अंगों के अभ्यास के समय महापुरुष में आ जाती हैं। रामचरितमानस में भगवान शिव की विभूतियों का वर्णन है–

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।
(बालकाण्ड, मंगलाचरण, चौपाई)

पुण्यात्मा शंकर जी के शरीर में निर्मल विभूति पायी जाती है; जैसे– अवढरदानी, दान में औदार्य–चाहे जिसका उद्धार कर दें, सर्वज्ञता–'**सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।**' **(मानस, १/५५/४)** ये विभूतियाँ गुरु महाराज के चरणों की देन हैं।

संसार में सर्वप्रथम अवतरित अपौरुषेय वाणी गीता के अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। (१०/४०)

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह वर्णन तो संक्षेप में कहा गया। वस्तुतः वे अनन्त हैं। जैसे– भगवान ने कहा कि सूर्य में प्रकाश मैं हूँ, पृथ्वी में क्षमता मैं हूँ, आकाश की व्यापकता मैं हूँ; वृष्णिवंशियों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, ऋषियों में सनकादि इत्यादि। इस प्रकार जो कुछ भी अध्याय दस में कहा गया, संक्षेप में है; क्योंकि अगले ही अध्याय में है कि अर्जुन इन विभूतियों को देखना चाहता है। प्रत्यक्ष दर्शन से ही विभूतियाँ समझ में आती हैं।

काकभुशुण्डि ने भगवान का दर्शन किया। उनके उदर में प्रविष्ट हुए तो– **'उदर माझ सुनु अण्डज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया।।' (मानस, ७/७९/३)**–उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखें। यह पृथ्वी, तारागण, सूर्य, चन्द्र इत्यादि एक ब्रह्माण्ड है, उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखा। **'प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा।' (मानस, ७/८०/८)**–प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अवतार देखा। ऐसा भी कुछ देखा–**'जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवन बिधि जाइ।।' (मानस, ७/८० क)**– कभी देखा नहीं, सुना नहीं, समझने में भी नहीं आ रहा था, ऐसा अलौकिक दृश्य दिखायी पड़ा। **'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।।' (मानस, ७/८०/१); 'दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।।' (मानस, ७/८०/७); 'भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन।। (मानस, ७/८१ क)** ब्रह्मा, विष्णु, महेश कभी वृद्ध, कभी युवा भिन्न-भिन्न दिखायी पड़े, केवल परमात्मा राम अपरिवर्तनशील मिले। अर्थात् चिन्तन एक परमात्मा का और उन्हीं परमात्मा के चिन्तन के अन्तराल में ये विभूतियाँ फलीभूत होती हैं।

सन्त कबीर के समक्ष यही दृश्य आया तो उन्होंने कहा–

देखि देखि जिय अचरज होई।
यह पद बूझै बिरला कोई।।
धरती उलटि अकासहिं जाई।
चींटी के मुख हस्ति समाई।।
सूखे सरवर उठे हिलोरा।
बिन जल चकवा करे किलोला।।
बैठा पण्डित पढ़े पुराना।
बिन देखे का करै बखाना।। (सबद, १०१)

कबीर ने अचम्भा देखा, आश्चर्य देखा और '**जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ।**' एक ही बात है। हर महापुरुष के समक्ष ये विभूतियाँ आती हैं; किन्तु अन्तर्चिन्तन में धारणा, ध्यान, समाधि की अवस्था के साथ ही इनका प्रस्फुटन है, जिनमें प्रस्तुत है 'धारणा'–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।।१।।

किसी एक स्थल पर चित्त को बाँधना धारणा है। चित्त को जहाँ ठहराया जाय, उस लक्ष्य को धारण किये रहना धारणा है। योगपथ में नाम, रूप धारण करने के मुख्यतः दो देश अथवा स्थल हैं। साधना हल्की होने पर शौच, संतोष, तप, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इन्हें धारण किया जाता है। अवस्था उन्नत हो जाने पर केवल नाम में, श्वास में सुरत लगाया जाता है। यह धारणा ही 'ध्यान' में परिवर्तित हो जाता है–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।२।।

जहाँ चित्त को लगाया गया, उसी में वृत्ति का एकतार चलना, क्रम न टूटना ध्यान कहलाता है।

पूज्य महाराज जी कहते थे, "हो! चिन्तन तैल-धारावत् अविच्छिन्न होता रहे, श्वास बाँस की तरह खड़ी हो जाय, ओम् ओम् ओम् ओम्... दूसरा कोई विकल्प न आये, इस प्रकार चिन्तन में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।" अन्य एक भी विकल्प आ गया तो ध्यान खण्डित हो गया। ध्यान में

ध्याता और ध्येय का द्वैत पाया जाता है, ध्यान के प्रयास की चेतनता नहीं पायी जाती। ध्यान सूक्ष्म होते-होते जब केवल ध्येय ही प्रकाशित रहता है, तब 'समाधि' की अवस्था आ जाती है–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।३।।

जब केवल ध्येयमात्र की प्रतीति रह जाय और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाय, तब वही ध्यान समाधि में परिवर्तित हो जाता है।

यही सन्त कबीर कहते हैं, '**सुरत समानी शब्द में, ताहि काल ना खाय।**' मन की दृष्टि का नाम सुरत है। सुरत शब्द में समा जाय, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाय, जिसे देखता है वह ध्येयमात्र ही रह जाय– इसका नाम समाधि है। '**सम आदि स समाधिः**', '**सम्यकधीयते चित्ते यस्मिन् स समाधिः**' आदि तत्त्व परमात्मा में समत्व प्राप्त करने की अवस्था आ जाती है; जिसमें लगाया था चित्त को, चित्त उसी के तदाकार हो गया, यही समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों साधनों का सामूहिक नाम 'संयम' है–

त्रयमेकत्र संयमः।।४।।

एक ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का होना संयम है। 'संयम' शब्द से इन तीनों का ही अभिप्राय है। पहले ध्येय को धारण करना होगा, ध्यान की स्थिति से गुजरना होगा, केवल ध्येय की अनुभूति रहने पर समाधि– इस प्रकार संयम सध गया। इन तीनों का प्रतिफलन संयम है।

संयम सहज होते ही इसका प्रभाव देखें–

तज्जयात्प्रज्ञालोकः।।५।।

संयम सधते ही बुद्धि ज्योतिर्मय परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो जाती है। '**प्रज्ञालोकः**'– प्रज्ञा अलौकिक पकड़वाली हो जाती है।

यह संयम अकस्मात् नहीं हो जाता, क्रम-क्रम से चलने पर ही सिद्ध होता है–

तस्य भूमिषु विनियोगः।।६।।

उस संयम को क्रम से भूमियों में लगाना चाहिए। धारणा भूमि है, ध्यान भूमि है, समाधि भूमि है, इस प्रकार क्रम-क्रम से चलने पर संयम सध जाता है।

इस संयम की विशेषता बताते हैं–

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।।७।।

पाद दो में जो पाँच साधन बताये गये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार- इनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि सूक्ष्म हैं, गहराई में हैं, अन्तरंग साधन हैं; फिर भी,

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।।८।।

अंतरंग होने पर भी धारणा, ध्यान और समाधि के बीज तो विद्यमान ही हैं अतः निर्बीज समाधि की तुलना में ये साधन बहिरंग ही हैं। बहिरंग का आशय प्रकृति की ओर गमन नहीं है बल्कि यह समाधि की ऊपरी परत है। निर्बीज समाधि और गहराई में है, तुलना में बहिरंग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।।९।।

व्युत्थान संस्कार अर्थात् मन की चंचलता के अभिभव अर्थात् तिरोहित हो जाने और निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव (प्रकटीकरण) के क्षण में चित्त का निरोध-संस्कारों से ओतप्रोत होना चित्त का निरोध-परिणाम है। इससे लाभ?–

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।।१०।।

इस निरोध-संस्कार के बल से चित्त एकदम '**प्रशान्तवाहिता**'-प्रशान्त प्रवाहित हो जाता है।

गीता में भगवान कहते हैं- '**जितात्मनः प्रशान्तस्य**' अर्थात् जिसने अंतःकरण और मनसमेत इन्द्रियों को जीत लिया है, चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित है, उस योगी में '**परमात्मा समाहितः**' (**६/७**)-परमात्मा सदैव समाया हुआ रहता है। यही महर्षि पतञ्जलि भी यहाँ कहते हैं कि निरोध-परिणाम के

प्रभाव से चित्तवृत्ति प्रशान्तवाहिता होती है। बुरे संकल्प तो समाप्त ही हो जाते हैं, भले संकल्प भी नहीं उठते। चित्त में कोई उद्वेग नहीं रह जाता।

इस समाधि का परिणाम देखें–

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।।११।।

चित्त से सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करनेवाली वृत्ति का मिट जाना और ध्येय विषय का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता अवस्था का उदय हो जाना चित्त का समाधि-परिणाम है। उसकी समाधि भली प्रकार है।

उसके पश्चात् की स्थिति का वर्णन करते हैं–

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।।१२।।

वृत्तियों के निरोध के पश्चात् विषयों का उदय होना, शान्त होने पर चित्त का ध्येय में समाहित हो जाना समाधि है। तदनन्तर जब शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली दोनों वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, वह चित्त का एकाग्रता-परिणाम है। अब चित्त भली प्रकार एकाग्र है, न तो वृत्ति उदय होती है और न आगे किसी को शान्त करना है।

अब तक तीन परिणाम बताये गये- निरोध-परिणाम (संस्कारों का निरोध), समाधि-परिणाम (लक्ष्यमात्र का आभास), इन दोनों के पश्चात् शान्त और उदय होनेवाली वृत्तियाँ एक-सी हो जाने पर चित्त एकाग्रता में परिणत हो जाता है।

अब चित्त के सदृश ही भूत और इन्द्रियों के परिणाम बतलाते हैं–

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।।१३।।

निरोध, समाधि और एकाग्रता इन्हीं के परिणामों के द्वारा पंच सूक्ष्मभूतों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध मे होनेवाले अर्थात् सभी इन्द्रियों के अन्तराल में होनेवाले धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम की व्याख्या भी हो गई। योगदर्शन में महर्षि ने यहाँ पहली बार धर्म का नाम लिया। जब संस्कार का निरोध हो गया, समाधि की स्थिति आप्लावित है, उदय तथा अस्त होने वाले दोनों विकार शान्त हो गये, चित्त में एकाग्रता-परिणाम आया, तब 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ – यह धर्म-परिणाम है। योगी के लक्षण क्या होते

हैं, लक्षण प्रकट हो गये – यह लक्षण–परिणाम है। योग की अवस्था उसमें भली प्रकार आ गयी है – यह अवस्था–परिणाम है। निरोध–परिणाम, समाधि–परिणाम और एकाग्रता–परिणाम के माध्यम से उक्त तीनों का भी वर्णन हो गया। योग की अवस्था, लक्षण और धर्म प्रकट हैं। यह धर्म क्या है?–एक प्रश्न है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।१४।।

शान्त और उदित होनेवाली वृत्तियों के लिए कोई देश नहीं अर्थात् उन वृत्तियों के व्याप्त होने के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा – धर्म का यह अनुपात जहाँ है वही धर्मी है।

शान्त होनेवाली अविद्या, अस्मितादि, पुनर्जन्मादि, जन्म, आयु और भोग के कारणवाली वृत्तियाँ तथा उदित होनेवाले समाधि–एकाग्रता–परिणाम इत्यादि के '**अव्यपदेश्य**'–व्याप्त होने के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म का ऐसा अनुपात अर्थात् धर्म की इस तुलनात्मक अवस्था में पुरुष धर्मी अर्थात् धर्मात्मा होता है। इसी अनुपात का नाम धर्म है। वह ईश्वरप्राप्त है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।।१५।।

क्रम की भिन्नता परिणाम की भिन्नता का कारण है। एक ही साथ चलने वाले साधकों में कोई शीघ्र प्राप्त कर लेता है तो कोई कुछ अन्तराल से। निरोध–समाधि–एकाग्रता तथा धर्म–लक्षण–अवस्था–परिणाम सबके साथ एक–जैसा प्रकट नहीं होते। इसमें '**क्रमान्यत्वम्**'–क्रम की भिन्नता ही कारण है।

पाद एक में उल्लेख है कि एक साथ एक–जैसे साधक योग–साधन में प्रवृत्त होते हैं किन्तु उन सबके प्राप्तिकाल में भिन्नता आ जाती है। क्रम की भिन्नता ही इसका कारण है। सबके चित्त की अवस्था एक–जैसी नहीं है, वही इस अन्तराल का हेतु है। अनुभूति की उपलब्धि में श्रद्धा का स्तर पूर्वापर परिणाम का कारण बन जाता है। '**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**' (**गीता, ४/३९**)– श्रद्धावान्, संयतेन्द्रिय तथा उस तत्त्व के परायण पुरुष ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, जिसे यहाँ निरोध–समाधि–एकाग्रता; धर्म–लक्षण–अवस्था–परिणाम द्वारा कहा गया है।

संयम के सधते ही विभूतियाँ मिलने लगती हैं। अभी तीन प्रकार के परिणामों का वर्णन किया गया अतः सर्वप्रथम इनमें संयम करने का फल कहते हैं–

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।१६।।

तीनों परिणामों में संयम सध जाने से अतीत अर्थात् भूतकाल तथा '**अनागत**'–जो अभी आया नहीं, ऐसे भविष्य या होनी का ज्ञान हो जाता है।

हम लोगों के गुरु महाराज किसी के भी भूत और भविष्य को देख लेते थे। हमारे सतीर्थ अग्रज स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज के चार–पाँच बालसखा भी पूज्य महाराजश्री की शरण में आ गये। महाराज जी ने उनसे कहा, "बेटा! तुम लोगों में साधु होने का संस्कार नहीं है, अतएव घर लौट जाओ, अपने व्यवसायों में लग जाओ। हाँ, तुममें से एक का संस्कार लगता है।" सब तो चले गये लेकिन वह एक रुक गया। महाराज जी बोले, "बेटा! नाम तो यही है गुलाबसिंह, लेकिन वह व्यक्ति तुम नहीं हो, कोई दूसरा ही है।" उसे भी महाराज जी ने किसी प्रकार समझा–बुझाकर वापस भेज दिया।

इस घटना के दो वर्ष पश्चात् हम अनुसुइया आश्रम पहुँचे। मेरे आश्रम पहुँचने से पूर्व ही पूज्यश्री को भगवान ने अनुभव में दिखाया कि एक नदी है उसमें किंचित् काला जल बह रहा है, भयंकर लहरें उठ रही हैं। नदी के तट पर एक नवयुवक बैठा विकल होकर रो रहा है। पूज्यश्री वहाँ आते हैं, कह रहे हैं, "क्यों रोते हो? जल में उतरो, पार हो जाओगे। मैं हूँ न! मैं देख रहा हूँ। डरो मत! इस तरह तैरो।" युवक तैरने लगा। चार–पाँच मीटर तैरने के पश्चात् युवक को प्रोत्साहित करते हुए महाराज जी ने कहा, "बस बेटा! ऐसे ही तैरते रहो, पार हो जाओगे।"

प्रातः गुरुदेव ने इस संकेत पर विचार किया कि नदी भव–सरिता है। इसकी भयंकरता इतनी है। उत्ताल तरंगें इसे अगाध और अगम बना रही हैं। कोई युवक इस भव–सरिता को पार करने के लिए विकल है, जिसका मार्ग–दर्शन करना है।

हम पर दृष्टि पड़ते ही महाराज जी ने मुझे पहचान लिया और बहुत प्रसन्न हुए। सन्तों में मेरी श्रद्धा थी। अभी तक जितने महात्माओं को हमने देखा

था, महाराज जी सबसे अच्छे प्रतीत हुए - घोर जंगल का एकाकी निवास, देदीप्यमान चेहरा, सौम्य मूर्ति, स्नेहिल व्यवहार! हमने सादर प्रणाम किया, बैठ गये। महाराज जी ने कुशलक्षेम, सामान्य परिचय लिया। दस-पाँच मिनट की वार्ता के अनन्तर उन्होंने पूछा, "साधु तो नहीं होना है?" हमने सोचा, अपरिचित महात्मा; 'हाँ' कहने पर कहीं किसी रूढ़ि में न उलझा दें। अतः सावधानीपूर्वक टाल-मटोलवाला उत्तर दिया- "महाराज! अपने बल पर कोई कह तो नहीं सकता कि हम साधु हो जायेंगे।" हम महाराज जी से कुछ दूर चले गये कि कहीं कुछ और पूछ न बैठे। महाराज जी ने समीप बैठे लोगों से कहा, "अबउँ सार कवई काटत है (अर्थात् अब भी यह पैंतरा भाँज रहा है।) मैंने देखा है, इसे रहना है। हमें इसे रास्ता बताना है।" हमने सोचा, अब तक जीवन में जितने महापुरुष मिले, आप सबसे अच्छे हैं। इनसे कुछ साधना की लाईन सीख लें, फिर कहीं निकल जायेंगे। क्योंकि भजन तो हमें करना है। यह नहीं मालूम था कि भजन गुरु महाराज कराते हैं। न चाहते हुए भी वहाँ रहना पड़ा। भजन भी जागृत हो गया और आज भी गुरु महाराज श्वास पकड़कर आगे-पीछे साथ हैं। यही है संयम सध जाने के पश्चात् महापुरुष की स्थिति। भूत-भविष्य का ज्ञान उनकी सहज विभूति है। इसी प्रकार-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्
संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।।१७।।

शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का परस्पर अध्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है। उसके विभागों में संयम करने से '**सर्वभूतरुतज्ञानम्**'- सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है।

अनुसुइया आश्रम में ऐसी घटनाएँ होती ही रहती थीं। महाराज जी प्रायः कहते थे कि यह बन्दर ऐसा कह रहा है, वह चिड़िया ऐसा बोल रही है। एक बार एक व्यक्ति मंदाकिनी गंगा में स्नान कर रहा था। उसकी गठरी खो गयी। उसे आश्चर्य था कि कोई व्यक्ति दिखायी नहीं पड़ा, पोटली कौन ले गया? उस पोटली में सरकारी कागजात, कुछ रुपये, घड़ी इत्यादि थे। लगभग एक घण्टा ढूँढ़ने के पश्चात् उसने महाराज जी से निवेदन किया कि सरकार! उसमें सरकारी कागजात थे, हमारी नौकरी चली जायेगी। महाराज जी द्रवित हो गये,

आसन से उठे, एक ओर चल पड़े। कुछ दूर चट्टान पर एक बंदरिया बैठी थी। महाराज जी ने उधर देखा तो उसने गर्दन झुका दिया, बोली, 'ऊँ....।' महाराज जी ने कहा, "देख रे! वह बता रही है, वहाँ देख।" वह व्यक्ति उस चट्टान पर गया। झाड़ियों की ओट में पोटली पड़ी हुई थी। पोटली फट गयी थी किन्तु सामान सुरक्षित मिल गये।

एक समय गुरुदेव एक भक्त के यहाँ थे। थोड़ी दूर पर एक कुत्ता गाढ़ निद्रा में भी भूँक रहा था और यदा-कदा पाँव भी हिलाता था। महाराज जी ने कहा– "यह भी स्वप्न में किसी को भगा रहा है।" भक्तों ने पूछा, "भगवन्! यह किसे भगा रहा है?" महाराज जी ने उसकी ओर दृष्टिपात किया और दो मिनट पश्चात् बोले, "लगता है कल यहाँ भण्डारा होगा, पत्तलें फेंकी जायेंगी। यहाँ पर पत्तल खाने के लिए गायें, कुत्ते, बकरी इत्यादि एकत्र होंगे, यह कुत्ता उन्हें भगा रहा है। यह भविष्य देख रहा है।"

उस समय वहाँ भण्डारे की कोई योजना भी नहीं थी। बात आई, गयी और हो भी गयी। रात्रि को कुछ सभ्रान्त सेठ लोग भी महाराज जी के दर्शनार्थ आये और चले गये। दूसरे दिन प्रातः ही कुछ लोग कारीगरों के साथ कलछी, तवा और कड़ाह लेकर आ गये। भण्डारे का उपक्रम बन गया। भण्डारा सम्पन्न हो गया। पत्तल भी फेंके गये। सबने देखा कि वही कुत्ता गायों को भगा रहा था। महाराज जी ने स्मरण दिलाया, "देखो, यह भगा रहा है।" सच ही भण्डारा हो गया। यह है '**भूतरुतज्ञानम्**'-प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाना।

सती ने भगवान शंकर से कहा, "भगवन्! मैंने कोई परीक्षा नहीं ली, आपकी तरह मैंने भी उन्हें प्रणाम कर लिया।" शंकर जी को सन्देह हुआ। ध्यानस्थ होकर बैठ गये और '**सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।**' **(मानस, १/५५/४)**-सती के चरित्र प्रकट हो गये। भगवान शिव ने देख लिया कि सती ने सीता का रूप धारण कर परीक्षा लेने का अपराध किया है।

शब्द, अर्थ और आशय को अलग-अलग करने की क्षमता आ जाने पर इन पर संयम करने से सभी प्राणियों का आशय व्यक्त हो जाता है। उसने किसी की वाणी सुनी, वक्ता को देखा, वाणी को धारण किया, कुछ ही पलों में वृत्ति एकतार चलने लगी, ध्यान हो गया, ध्येयमात्र की प्रतीति रह गयी।

समाधि की अवस्था आ गयी। तीनों जहाँ एकत्र हुए, संयम सध गया। उस संयम से ज्ञात हो जाता है कि उस वाणी का आशय क्या है? यह समस्त क्रिया मिनट-दो मिनट में सम्पन्न हो जाती है; क्योंकि संयम सध चुका है। अब देखें, प्रकारान्तर से संयम और विभूतियाँ–

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।।१८।।

संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

प्राणी अपनी इन्द्रियों द्वारा जो कुछ कर्म करता है तथा बुद्धि द्वारा जो कुछ चिंतन करता है, वह सब उसके अंतःकरण में संस्काररूप में संचित हो जाते हैं। ये संस्कार जन्म-जन्मान्तरों से संग्रहीत होते चले आ रहे हैं। इन संस्कारों में संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार अपने संस्कारों के साक्षात् से अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरों के संस्कारों में संयम करने से उनके भी पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

हम लोगों के सतीर्थ स्वामी शिवानन्द जी पूज्य महाराज जी की शरण में आये तो तीसरे दिन महाराज जी ने उन्हें सम्बोधित कर कहा, "देखो, कई जन्मों पूर्व हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध था, वही संस्कार तुम्हें खींचकर यहाँ ले आया है। भजन के लक्षण तो नहीं हैं फिर भी सेवा करोगे तो पार हो जाओगे।" महापुरुष संयम का प्रयोग कहीं भी कर लें, उन्हें निर्णय मिल जायेगा कि संस्कारों की स्थिति कैसी है। ऐसे महापुरुषों द्वारा संयम के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा में कहते हैं–

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।।१९।।

दूसरे के चित्त का संयम द्वारा साक्षात् कर लेने से उसके चित्त का ज्ञान हो जाता है।

किसी के चित्त का हाल जानने के लिए महाराज जी कहा करते थे कि उस व्यक्ति का स्वरूप पकड़कर ध्यानस्थ हो जाओ। उसके अन्दर क्या है?– प्रकट हो जायेगा। यह विभूति महापुरुषों में सहज ही पायी जाती है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।।२०।।

किन्तु वह जानकारी बिना अवलम्बन के होती है; क्योंकि योगी के चित्त का वह विषय नहीं है। योगी का चित्त शान्त प्रवाहित है और उसका चित्त वेगवान है, चंचल है। वह जिस क्षण किसी का चित्त पकड़ते हैं उन क्षणों में क्या प्रवाहित है, उतना समझ में आ जाता है। वह चंचल चित्त अगले क्षणों में न जाने कहाँ पहुँचा देता!

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-
प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।।२१।।

शरीर के रूप में संयम कर लेने से जब वृत्ति की ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब चक्षु का प्रकाश से सम्बन्ध न होने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाता है।

शरीर के अन्तराल में भजन में लव लग गयी- यह संयम है। शरीर के अन्तराल में जब संयम सध जाता है तो '**तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**'-तब वह दूसरे के देखने में आनेवाली शरीर की दृश्यता-शक्ति को रोक लेने से दूसरों के नेत्रों की प्रकाशन-शक्ति से उसका सम्बन्ध न होने के कारण योगी अंतर्धान हो जाता है।

ध्यान की आरम्भिक अवस्था में तिल-जैसी छोटी-सी वस्तु को नासाग्र के समक्ष देखने का प्रयास करते हैं, उसे देखते-देखते सुरत को अन्दर ले जाते हैं। ध्यान में सुरत अन्दर चली गयी तो आँखें खुली रहती हैं किन्तु दिखायी कुछ भी नहीं पड़ता; क्योंकि आँखें नहीं देखतीं, उनके पीछे विचार देखते हैं। विचार हृदय के अन्दर ध्यान में चले जाते हैं। ध्यान के समय जिस व्यक्ति की पलकें खुली रहती हैं, उसका मन ध्यान में अधिक लगता है। इसीलिए आँखें बन्द कर भजन करने का विधान नहीं है। आँखें खुली रखकर भजन करें, पलक न गिरे तो मन अधिक लगता है। मन चंचल है। आँखें खुली रहने पर भी मन भजन से भागने लगता है; किन्तु भागने का संकल्प ज्ञात हो जाता है, उसका निवारण भी हो जाता है- इस प्रकार मन अधिक लगता है। भगवान शिव की ध्यान-मुद्रा देखें- आँखें अर्धोन्मीलित हैं, आधी खुली हैं। साधकों को ऐसा ही करना चाहिए।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म
तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।।२२।।

कर्म दो प्रकार के हैं– '**सोपक्रमम्**'–उपक्रमसहित और '**निरुपक्रमम्**'–उपक्रमरहित। गीता में इन्हीं को पुण्यकर्म और पापकर्म कहा गया है। उपक्रम सहित अर्थात् उपाय से होनेवाले और बिना उपाय के होनेवाले। पुण्यकर्म जो पूर्णता प्रदान करते हैं, उपायजन्य हैं। उपक्रमरहित बिना उपाय के होने वाले पापकर्म अधोगति की ओर ले जाते हैं। इन दोनों की स्थिति में संयम की पहुँच हो जाने पर, दोनों संस्कारों की स्थिति समझ लेने पर योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। ये संस्कार कब तक चलेंगे, कब ये शान्त होंगे?–इसका ज्ञान हो जाता है और '**अरिष्टेभ्यः**'–अरिष्टों से भी साधक को ज्ञात हो जाता है कि विपदाओं का प्रवाह कैसा है? कितना है? उनके उतार–चढ़ाव और उनकी गति से भी ज्ञात हो जाता है कि अंतिम संस्कार के विलय में अभी कितना शेष है?

शरीर का निधन तो वस्त्र–परिवर्तन मात्र है, यह मृत्यु नहीं है। मृत्यु वही सराहनीय है जिसके पीछे जन्म न हो। संत कबीर कहते हैं कि यह अवस्था जीते जी आती है–

जीवत में मरना भला, मरै जो जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सो होय।।

जा मरने से जग डरै, सो मेरो आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द।।

मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह।
जाका कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह।।

मैत्र्यादिषु बलानि।।२३।

संसार में कहीं मित्रता नहीं होती। जो प्रतीत होती है वह पारस्परिक व्यवहार है। कदाचित् आप किसी से मैत्री करने का प्रयास करें तो उसके विकार आप में भी आ सकते हैं या आपके विकार उसमें संक्रमित हो सकते हैं। जीवों के प्रति करुणा हो सकती है; किन्तु जहाँ तक मैत्री का प्रश्न है, आदि शंकराचार्य जी ने कहा था, '**कः शत्रुवे सन्ति निजेन्द्रियाणि, तान्येव मित्राणि**

जितानि यानि।'–संसार में शत्रु कौन है? अपनी इन्द्रियाँ! यही इन्द्रियाँ यदि जीत ली जाती हैं तो वही मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं, परम कल्याण करनेवाली हो जाती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इसी इन्द्रियजय पर बल दिया, "अर्जुन! आत्मा ही शत्रु तथा आत्मा ही मित्र है।" कैसे? जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीत ली गईं, उनके लिये उन्हीं की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उनके लिये उन्हीं की आत्मा शत्रु है, शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः मैत्री इन्द्रिय-संयम की है। मैत्री आदि संयम में अर्थात् इन्द्रिय-संयम सध जाने पर बल प्राप्त होता है। सर्वोपरि बल आत्मस्थिति, आत्मकल्याणवाला बल मिल जाता है। बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो **'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।।' (मानस, ४/६/१८); 'सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।।' (मानस, २/९२/६)**

बलेषु हस्तिबलादीनि।।२४।।

विविध बलों में संयम जैसे-जैसे उत्तरोत्तर सधता जाता है, हर प्रकार के सामर्थ्य का बल मिल जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। (गीता, ७/११)

काम और राग से रहित बलवानों का बल मैं हूँ। संसार में शाश्वत बल किसी के भी पास नहीं है। काम (कामना) तथा राग (प्रकृति से लगाव)-इनसे अतीत बल, भगवान कहते हैं कि मैं हूँ। ज्यों-ज्यों संयम सधता जाता है, त्यों-त्यों हर प्रकार के क्रमोन्नत सामर्थ्य का बोध होता जाता है। **'अपबल तपबल बाहुबल, चौथो है बल दाम। 'सूर' किशोर कृपा ते सब बल, हारे को हरि नाम।।'** उसे हरि-कृपा का बल प्राप्त हो जाता है।

पूर्वकाल में 'हस्ति' बल का मापदण्ड था। भीम में अस्सी हजार हाथी का, दुःशासन में दस हजार तथा धृतराष्ट्र में एक लाख हाथी का बल था।

आजकल 'हार्स पावर' बल का पैमाना है। इसी प्रकार साधनाओं की हर अवस्थाओं का बल उत्तरोत्तर उपलब्ध होता जाता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।।२५।।

इसी पाद के पाँचवें सूत्र में महर्षि ने बताया कि संयम सध जाने से '**प्रज्ञालोकः**'-बुद्धि अलौकिक प्रकाश धारण करनेवाली हो जाती है। ठीक इसी प्रकार समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की चर्चा है। यहाँ महर्षि कहते हैं, '**प्रवृत्त्यालोकः**'–प्रवृत्ति भी अलौकिक ज्योति से संयुक्त हो जाती है। इस आलोक का न्यास करने से '**सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**'- सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त और दूर देश में कहीं भी स्थित वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

उदाहरण के लिए, १९६२ ई. में भारत पर चीन ने आक्रमण कर दिया। पूज्य महाराज जी ने अनुसुइया में भक्तों से कहा, "हो, चीन ने हिमालय लाँघकर हमारे देश पर हमला कर दिया है। अब क्या हो रहा है, कोई हमें भी बताता!" एक भक्त ने महाराज जी को एक रेडियो अर्पित कर दिया। महाराज ने पूछा, "क्यों रे! आदमी बताता है कि लोहे का यंत्र?" भक्त ने कहा, "सरकार! यह रेडियो है। यह समाचारों से आपको अवगत कराता रहेगा।" उस क्षेत्र में रेडियो का प्रचार-प्रसार उस समय तक नहीं था।

एक निश्चित समय पर रेडियो से समाचारों का प्रसारण होता था। समाचारों को सुनकर महाराज जी चिन्तित हो उठते थे। एक दिन शाम को महाराज जी खिन्न मुद्रा में बैठे थे। अकस्मात् वे बोल उठे, "कल समाप्त हो जायेगा। कल युद्ध समाप्त हो जायेगा। भगवान ने अभी-अभी दिखाया कि मैं उस बर्फ की पहाड़ी पर चिलम हाथ में लिये बैठा हूँ। कुछ समयोपरान्त टीले पर खड़ा होकर मैं ही घोषित कर रहा हूँ- बस, बहुत हो गया। बन्द करो यह सब। इस रेखा के उस पार चीन है, इस ओर भारत है।"

दूसरे दिन प्रातः समाचार प्रसारित हुआ कि युद्ध-विराम हो गया है। युद्ध-विराम हो जाना सामान्य घटना है। स्वप्न में कुछ भी सुनायी पड़ सकता है; किन्तु वहाँ का वातावरण, जिसकी चर्चा एक दिन पूर्व ही कर दी, पहाड़ी दृश्य, बर्फ की पहाड़ियाँ- यह सब गुरुदेव ने अनुसुइया में बैठे-बैठे देखा।

रामचरितमानस में आता है, '**जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान। कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।।**' (१/१)–गुरु महाराज के चरण–रज मृदु अंजन तुल्य है। उस अंजन से हृदय के नेत्र खुल जाते हैं। वह एकान्त शान्त स्थल में रहते हुए भी कहीं का भी कोई कृत्य देख लेता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।२६।।

सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

'भुवन' यौगिक शब्द है। श्रीरामचरितमानस में तीन भुवन (त्रिभुवन), चौदह भुवन और अगणित भुवनों का उल्लेख है। वस्तुतः दस इन्द्रियाँ और अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) जीव की वृत्तियों के टिकने के ये चौदह स्थल ही चौदह भुवन हैं। इनकी अगणित प्रवृत्तियाँ अगणित भुवन हैं। इन चतुर्दश स्थलियों में भूत–प्राणियों की जब शरणस्थली रहती है तो यही चौदह अधिभूत हैं, भूतों के जन्म–मृत्यु के कारण हैं। साधना के फलस्वरूप इन चौदहों में दैवी सम्पद् प्रवाहित हो जाती है तो यही चौदह अधिदैव अर्थात् दैव का अधिष्ठान बन जाते हैं। स्तर उन्नत होने पर यही अधि आत्म, आत्मा का प्रसारण केन्द्र बन जाते हैं। दर्शन, स्पर्श और स्थिति मिलने के पश्चात् भुवन समाप्त हो जाते हैं, प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है।

सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। सूर्य ज्योतिर्मय परमात्मा का प्रतीक है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि सूर्य के मार्ग से गये हुए लोग पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होते। यही महर्षि पतंजलि भी कहना चाहते हैं कि चिन्तन जब परमात्मोन्मुखी हो जाता है तो '**भुवनज्ञानम्**'– भुवनों का ज्ञान हो जाता है। किस भुवन में हमारा कहाँ लगाव है? भूत कितना, दैव कितना, आत्मा का आधिपत्य कितना है?–इन सबका ज्ञान हो जाता है। और कदाचित् वह सूर्यस्तर का संयम नहीं है तब? इस पर कहते हैं–

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।।२७।।

चन्द्रमा में संयम करने से तारों की संरचना का ज्ञान हो जाता है।

यह जगत् ही एक रात्रि है। **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' (गीता, २/६९)** जगत्रूपी रात्रि में सब सोये हैं। इसमें संयमी पुरुष जाग जाता है। इस जगत् रूपी रात्रि में जब उन्हें परमात्मा का क्षीण प्रकाश मिलने लगता है तो **'ताराव्यूहज्ञानम्'**-तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है कि चित्तवृत्ति के तार, सूत्र, इनकी गति कहाँ-कहाँ है? ग्रन्थि कहाँ-कहाँ पड़ी हुई है? इसके व्यूह का ज्ञान हो जाता है।

अब देखें साधना में स्थिर ठहरने का परिणाम-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।।२८।।

ध्रुवतारे में संयम स्थिर करने से तारों की गति का ज्ञान होता है।

स्तम्भवृत्ति की परिपक्व अवस्था में जब सुरत अचल स्थिर ठहर गयी **'तद्गति ज्ञानम्'**-उन तारों की गति का ज्ञान हो जाता है कि चित्तवृत्ति का वेग कैसा है। कभी चित्त अचल ठहरने लगता है, कभी उद्वेग आता है। कब कैसा चिन्तन उभरने वाला है, उभरने से पूर्व ही उसका ज्ञान हो जाता है इसलिए उद्वेग आने से पूर्व ही शान्त हो जाता है। यह सब चिदाकाश में ही होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।।२९।।

संयम से नाभिचक्र की पकड़ आ जाती है तो **'कायव्यूहज्ञानम्'**-शरीर की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

नाभि केन्द्र का प्रतीक है। वृत्ति सिमटकर जब अपने उद्गम में स्थित हो जाती है तो **'कायव्यूहज्ञानम्'**-पुनः-पुनः काया-निर्माण के क्या कारण हैं, कितने शरीर और पाने हैं?- इसका ज्ञान हो जाता है। बुद्ध को पिछले कई सौ जन्मों का ज्ञान हो गया था। गुरु महाराज को दिखायी पड़ा कि वे गत सात जन्मों से साधु थे। जड़भरत को मृग-योनि में भी ज्ञान था। काकभुशुण्डि को हजारों जन्मों का ज्ञान था। संयम इस स्तर पर पहुँचते ही ज्ञान हो जाता है कि शरीरों का क्रम (तारतम्य) कहाँ तक है, कैसा है?

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।।३०।।

कंठकूप में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

जब कण्ठ पर केवल परमात्मा का ही नाम रह जाता है, परमात्मा की स्मृति सदैव कण्ठ पर रहती है तो समस्त आशा, तृष्णा और वासनाओं की भूख-प्यास तिरोहित हो जाती है। श्रीरामचरितमानस में प्रकरण आता है कि भगवान राम विश्वामित्र आश्रम पहुँचे तो महर्षि ने उन्हें अधिकारी के रूप में पहचाना और उन्हें विद्या प्रदान की। '**जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा।।**' (१/२०८/८)-मंत्र तो वे इतना प्रभावशाली जानते थे किन्तु इसी मंत्र-ग्रहण के अनन्तर जब वे जनकपुर पहुँचे, वहाँ राम जी तो मुख्य अतिथि ही ठहरे, वहाँ तो छप्पनों प्रकार के व्यंजन चल रहे थे। रहे गुरुदेव विश्वामित्र जी! वह भी '**करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी।।**' (१/२३६/५)-पहले विधिवत् भोजन किया तत्पश्चात् पुरातन कथा कहने लगे। मन्त्र का प्रभाव दिखायी नहीं देता, जहाँ भूख-प्यास न लगे।

वस्तुतः यह है रामचरितमानस। राम के वे चरित्र, जो मन में प्रवाहित हैं। इसमें हैं विज्ञानरूपी राम और विश्वासरूपी विश्वामित्र। विज्ञान, बिना तार का ज्ञान अर्थात् अनुभव। विश्वास जब अनुभव से संयुक्त हो जाता है तो विद्या ब्रह्मतत्व को विदित करानेवाली हो जाती है। अतुलनीय शक्ति है परमात्मा, साधक उससे संयुक्त हो जाता है फिर उसे किसी प्रकार की आकांक्षा-पिपासा नहीं रहती, वह सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाता है।

परमात्मा में सुरत लगते ही भूख-प्यास का भान समाप्त हो जाता है। यही कारण था कि महाराज जी के साधनकाल में दो-तीन दिनों का उपवास एक सामान्य घटना थी। सात उपवास, चौदह उपवास करने पर भी महाराज जी के चेहरे पर थकान के लक्षण नहीं होते थे। चौदह उपवास के पश्चात् शरीर में गर्मी की अधिकता से लघुशंका के साथ रक्त-जैसा कुछ देखकर पूज्यश्री ने भगवान को भी कुछ खरी-खोटी सुना दिया कि इष्टदेव बने बैठे हो! घोर जंगल में लाकर बिठा दिया, जहाँ न कुछ खाने को है न पीने को! अभी तो रक्त ही निकल रहा है, दो-चार दिन में शरीर भी छूट जायेगा। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा! उस दिन भगवान ने कहा, "ठीक है, खाना ही चाहते हो तो कल से खाओ।" दूसरे दिन से भोजन की अयाचित व्यवस्था

चल निकली किन्तु महाराज जी विचार करने लगे कि भगवान ने रुखे शब्दों में ऐसा क्यों कहा कि खाना ही चाहते हो तो कल से खाओ। भगवान चाहते क्या थे? भगवान से उत्तर मिला, "यदि इक्कीस दिनों तक अन्न ग्रहण न करते तो जीवनपर्यन्त भोजन करने की आवश्यकता ही न रहती। इसी प्रकार बैठे रहते, चेहरे पर शिकन तक न आती।" तात्पर्य यह है कि जब संयम कण्ठकूप में पहुँच जाती है तब साधक में भूख-प्यास सहन करने की क्षमता आ जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।३१।।

कूर्म नाड़ी में संयम सधने से स्थिरता आती है।

आयुर्वेद शास्त्र में प्राण की संवाहिका मुख्य नाड़ी को 'कूर्म नाड़ी' संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्राणवायु में व्यक्ति केवल श्वास ही नहीं ग्रहण करता अपितु उसी के साथ वायुमण्डल के संकल्प भी ग्रहण कर लेता है। श्वास के साथ आनेवाले संकल्पों पर संयम करने से योगी संकल्पों से परे हो जाता है, पुनः संकल्प उसमें विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर पाते जिससे चिन्तन धारावाही होने लगता है। महर्षि ने नाम से तादात्म्य स्थापित करते हुए यहाँ कूर्म का दृष्टान्त दिया है। किंचित् आहट पाते ही कछुआ अपनी ग्रीवा, पाँव इत्यादि अंगों को सुरक्षित आवरण में समेट लेता है, इसी प्रकार साधक विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को अंतर्मुखी कर लेते हैं।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण भी कूर्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता, २/५८)

जिस प्रकार कच्छप अपने अंगों को समेट लेता है, ठीक वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। खतरे का भान मिटते ही कछुआ अपने अंगों को पुनः फैला लेता है– क्या इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष पुनः विषयों में अनुरक्त हो जाता है? इसका समाधान भगवान इस प्रकार करते हैं–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (गीता, २/५९)

इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुषों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे ग्रहण ही नहीं करते, किन्तु विषयों के प्रति उनका राग निवृत्त नहीं होता। ऐसे योगी का वह राग भी '**परं दृष्ट्वा**'–परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात् कर निवृत्त हो जाता है। कूर्म नाड़ी में संयम से महर्षि पतंजलि का भी यही अभिप्राय है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।।३२।।

मूर्धा की ज्योति में संयम होने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

मूर्धा मस्तिष्क या मस्तक को कहते हैं, जहाँ से संकल्प-विकल्प जागृत होते हैं। उसमें संयम भली प्रकार सध जाने पर '**सिद्धदर्शनम्**'–सम्पूर्ण सिद्धों का दर्शन हो जाता है कि इन सिद्धों का सिद्धत्व क्या है? उन सब में जो परमतत्त्व का संचार है उस परमात्मा का विदित हो जाना, सध जाना ही सर्वोपरि सिद्धि है।

गीता में भी इस संयम की चर्चा है–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (गीता, ८/१२)

सब इन्द्रियों के दरवाजों को रोककर अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से समेटकर, मन को हृदय में स्थिर कर, प्राण अर्थात् अंतःकरण के व्यापार को '**मूर्ध्न्याधाय**'–मस्तिष्क में ही निरोध कर, 'ॐ' इतना ही जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप तथा मेरा स्मरण (ध्यान) करता हुआ जो '**त्यजन्देहं**'–देहाध्यास का त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

महर्षि पतंजलि का भी अभिप्राय यही है कि मूर्धा में स्थित ज्योति में संयम करने से सिद्धपुरुषों के दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् नैष्ठिकीम् सिद्धि परमतत्त्व परमात्मा का विदित होना है। उसके मार्ग में आनेवाली छोटी-बड़ी सिद्धियों का स्तर भी वह पार कर जाता है।

प्रातिभाद्वा सर्वम्।।३३।।

प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से बिना संयम के ही योगी को समस्त बातें ज्ञात हो जाती हैं।

परमात्मा के निर्देशन से संचालित ज्ञान प्रातिभ है। प्रातिभ ज्ञान हो जाने से बिना किसी प्रयास सहज बैठे-बैठे सब कुछ जानकारी हो जाती है। व्यक्तियों के आने से पूर्व ही पूज्य महाराज जी उनके बारे में बता दिया करते थे।

कभी-कभी महाराज जी स्वगत कथन करने लगते थे- "हूँ अब चले हैं। ससुराल से कूड़ा लेकर आ रहे हैं। इन्हें बैठने को दो, खाने को दो! हल दे, हलवाह दे, खोदने को पैना दे।" हम लोग सोचते, महाराज जी किसे खरी-खोटी सुना रहे हैं? कुछ ही समयोपरान्त चार-छः महात्मा दृष्टिगोचर हुए। महाराज जी ने कहा, "लगता है घर पर जुताई-बुवाई, धान की रोपाई इत्यादि कार्य समाप्त हो गया। अब धोती का पुँछल्ला छोड़कर उसे अचला बना लिया और चल पड़े तीर्थ करने।" कुछेक डाट सुनकर भाग जाते; किन्तु फिर भी यदि वे दर्शन करने आ जाते तो महाराज जी उनके लिए समस्त व्यवस्थाएँ प्रदान कर देते थे।

कभी-कभी महाराज जी को संकेत मिलता कि कोई अच्छे महात्मा आ रहे हैं। हम सब को सचेत कर वे निर्देश देते, "देखना! निकलने न पायें। कोई अच्छे महात्मा आ रहे हैं।" इतने में विक्षिप्त-सा कोई दृष्टिगोचर होते ही पूज्य श्री कहते- "यही हैं! इन्हें ससम्मान ले आओ, इनकी सेवा करो।" अपने समीप आसन देकर महाराज जी उनका कुशलक्षेम पूछते कि आजकल किधर विचरण हो रहा है? इस प्रकार परस्पर वार्तालाप में सत्संग के सूक्ष्म पहलुओं को सुनने का सौभाग्य हम सबको भी मिल जाता। महाराज जी को हर प्रकार की जानकारी वहाँ बैठे ही बैठे अहर्निश होती ही रहती थी। यह प्रातिभ ज्ञान का ही प्रभाव था।

हृदये चित्तसंवित्।।३४।।

हृदय में संयम होने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उस समय चित्त का स्वरूप कितना सूक्ष्म, निर्मल या कितना विकृत है- इसकी स्पष्ट जानकारी हो जाती है। ऐसे चित्त में न किसी प्रकार का उद्वेग आता है न साधना में कोई परिवर्तन। इसलिये जो कुछ है, प्रत्यक्ष है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः
परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।।३५।।

सत्त्व अर्थात् बुद्धि में प्रसारित प्रकृति तथा पुरुष दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। उसका 'अविशेष प्रत्यय' अर्थात् एकता-सा होना भोग है, जीव के आवागमन का कारण है। परार्थ जो परम धन को उपलब्ध करानेवाली क्रमोन्नत योग-विधि है उसके द्वारा स्व-अर्थ (स्वार्थ) अर्थात् आत्मिक सम्पद् में संयम करने से पुरुष का ज्ञान हो जाता है। परम पुरुष केवल आत्मा है, उस विशुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाता है, उसकी विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है।

भजन की विधि वही निर्धारित विधि है। अभ्यास करना है प्रणव का, ओम् का जप, मात्र सद्गुरु में श्रद्धा, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, अष्टाङ्ग योग का विधिवत् पालन, संयमस्वरूप की स्थितिपर्यन्त जितने भी साधन हैं उनका नाम परार्थ-विद्या है। इस परार्थ-साधन के द्वारा जो स्वार्थ को साध लेता है, स्वार्थ में संयम करने से '**पुरुषज्ञानम्**'-परम पुरुष परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अब द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही शेष रहता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।।३६।।

उस स्वार्थ-संयम के सधते ही कई-एक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं; जैसे-

१. प्रातिभ- परमात्मा के निर्देशन से संचालित ज्ञान, जिससे योगी को बिना किसी प्रयास (संयम) के सहज बैठे-बैठे सब कुछ जानकारी होती रहती है।

२. श्रावण- योगी दूरस्थ ध्वनियों को भी सुन सकता है। उसकी श्रवणेन्द्रिय दिव्य हो जाती है। वह दिव्य ही सुनता है।

३. वेदन- योगी का स्पर्श-ज्ञान भी दिव्य हो जाता है।

४. आदर्श- उसे दिव्य रूप दर्शन करने की शक्ति आ जाती है।

५. आस्वाद- योगी ब्रह्म-पीयूष का पान करने लगता है। भौतिक रसों में उसे कोई स्वाद नहीं रह जाता।

६. वार्ता- 'वर्ति' शब्द में अण् प्रत्यय लगने से 'वार्त' शब्द बनता है। उसी का बहुवचन 'वार्ता' है। वर्ति सुगन्धयुक्त होता है। ऐसे योगी में भी दिव्य गन्ध अनुभव करने की शक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

इन सिद्धियों के प्रादुर्भाव से योगी को उनमें अनुरक्त नहीं हो जाना चाहिए। उसकी दृष्टि मात्र लक्ष्य पर होनी चाहिए। सिद्धियाँ साधना को उत्साहित करती हैं। ये मार्ग में मिलनेवाली सुविधायें हैं। इनमें उलझकर साधक को अपना गन्तव्य नहीं भूलना चाहिए। इसीलिए महर्षि सतर्क करते हैं–

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।३७।।

उक्त छः प्रकार की सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में, कैवल्यप्राप्ति में विघ्न हैं, सम और आदि तत्त्व परमात्मा में प्रवेश के मार्ग में व्यवधान हैं। ये योगपथ की विभूतियाँ हैं, शोभास्वरूप होती हैं; किन्तु जिस साधक की दृष्टि लक्ष्य पर है वह इनकी ओर देखता भी नहीं। ये विभूतियाँ साधक में आती ही हैं, इन्हें प्रकट होना भी चाहिए, इससे साधक का उत्साहवर्धन होता है; किन्तु साधक इन्हीं को उपलब्धि मानकर इनके भोग में उलझ गया तो यही सिद्धियाँ कैवल्यप्राप्ति में उसी प्रकार बाधक हैं जितना काम–क्रोध, राग–द्वेष इत्यादि। अतः साधक की दृष्टि सदैव लक्ष्य पर होनी चाहिए। इसके साथ ही–

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च
चित्तस्य परशरीरावेशः।।३८।।

बन्धन के कारणों (कर्म और तज्जनित संस्कारों) की शिथिलता से और '**प्रचारसंवेदनात्**'– चित्त की शान्त प्रवाहित अवस्था का ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश संभव है। ऐसे चित्त के द्वारा किसी के स्वरूप को पकड़ लें, उसके मन में उठनेवाले संकल्प–विकल्पों का ज्ञान हो जाता है। यह प्रयोग पूज्य गुरु महाराज प्रायः करते ही रहते थे। कोई अनुसुइया आश्रम में आता तो वे गुनगुनाते, '**काम रूप केहि कारन आया।**' वे ध्यान द्वारा तत्काल देख लेते थे और बता भी देते थे, "कपटी कहीं का! ऊपर से बक ध्यान लगाता है। पक्का ढोंगी!" यह जानकारी प्राप्त करना संयम का ही एक स्तर है। दूसरे के शरीर को चिंतन से पकड़कर ज्योंही धारण किया, ध्यान जमा, समाधि में सुरत सम हुई, संयम सधा, दूसरों का हालचाल पकड़ में आ जाता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।।३९।।

उदान वायु को जीत लेने से जल, कीचड़, कण्टकादि से योगी के शरीर का संयोग नहीं होता। उसकी गति ऊर्ध्व हो जाती है।

उदान वायु का क्षेत्र कण्ठ से शिर तक है, जो ऊपर की ओर गमन करती है। यह जीव को पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार भली-बुरी योनियों में फेंकती है। इस क्षेत्र पर संयम सध जाने पर योगी संसार-समुद्र की विषय-वारि से निर्लिप्त रहता है। काम, क्रोधादि षड्विकारों के शूल उसे व्यथित नहीं कर पाते। उसकी गति प्रकृति की ओर अधोमुखी न होकर परमात्मा की ओर ऊर्ध्वरेता की हो जाती है।

एक स्थान पर सत्संग का आयोजन था। जैसा कि सत्संग में प्रायः होता है, श्रोताओं को नींद आ गयी। सत्संग करनेवाले महात्मा जी बोले- सत्संग में फूल बरसते हैं, खुशबू फैलती है। मधुर गन्ध से निद्रा आ जाती है। नाच-गाने में निद्रा नहीं आती; क्योंकि वहाँ काँटे बरसते हैं - कभी लोभ के, कभी राग के, कभी द्वेष के तो कभी वासना के। '**ते सब सूल नाम को जाना।**' ये शूल अनन्त हैं। महापुरुष में उनसे निर्लेप रहने की क्षमता आ जाती है।

'**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।**' गीता (५/१०) में भगवान कहते हैं कि जिस प्रकार कमल के पत्ते के ऊपर लाखों लहरें दिनभर में आती और जाती हैं किन्तु वह पत्र जल या कीचड़ से प्रभावित नहीं होता, इसी प्रकार महापुरुष पर इन विकारों का प्रभाव नहीं पड़ता।

समानजयाज्ज्वलनम्।।४०।।

समान वायु को संयम द्वारा जीत लेने से योगी का शरीर दीप्तिमान् हो जाता है। ज्योतिर्मय परमात्मा है, उस परमात्मा का तेज उस योगी में प्रस्फुटित हो जाता है।

समान वायु शरीर में हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त रहती है। चित्तवृत्ति एक वायुमण्डल है। जब संयम इसे सम प्रवाहित करने में सध जाय तो योगी भले-बुरे उद्वेगों से विचलित नहीं होता, ईश्वरीय तेज की दीप्ति उभर आती है।

पूज्य गुरु महाराज जी कहते थे, 'हो! मेरा शरीर काला-काला न जाने कैसा था, किन्तु जिस दिन से स्वरूप में स्थिति मिली यह शरीर ही बदल

गया।' '**अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी।।**' (**मानस, ७/२/९**) अवध यह शरीर है जिसमें अवध्य स्थिति का सूत्रपात है। इस मानव-तन में जब भगवान के प्रादुर्भाव का समय आता है तो यह शरीर सम्पूर्ण शोभा की खान हो जाया करता है। जीव-श्रेणीवाले स्वभाव तिरोहित हो जाते हैं, ईश्वरीय वायुमण्डल-उन प्रभु की विभूतियाँ उतर आती हैं। चित्त शान्त सम प्रवाहित हो जाता है। इस समता में संयम सध जाने पर चित्त में उद्वेग नहीं आते, '**ज्वलनम्**'-परमात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का प्रभाव-प्रकाश उसमें उभर आता है। योगी का शरीर दीप्तिमान् हो उठता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।।४१।।

श्रोत्र अर्थात् कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं।

संयम इतना उन्नत हो गया कि श्रोत्र आकाश से शब्द पकड़ने लायक हो गया, तब श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं; अलौकिक वायुमण्डल को ग्रहण करने लायक हो जाते हैं। श्रोत्र केवल श्रवणेन्द्रिय का नाम नहीं है। बधिरत्व दोषवाले भी परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। जो प्रशक्ति कान को सुनने के लिए प्रेरित करती है उसमें दिव्यता का संचार हो जाता है। एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि '**बिन बाजा झंकार उठे तहँ, समुझि पड़े जब ध्यान धरे।**' प्रकृति की कोई ध्वनि या संगीत-लहरी उस योगी को प्रभावित नहीं कर पाती। उसके श्रोत्र दिव्य क्षमता से संयुक्त हो जाते हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।।४२।।

'**कायाकाशयोः**'- शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से '**लघुतूलसमापत्तेः**'-शरीर रूई के सदृश हल्का हो जाता है और आकाश में ही सदा चलने की शक्ति आ जाती है। सुरत आकाशवत् हो जाती है, धारावाहिक चलने लगती है। '**कोइ अवकास कि नभ बिनु पावइ।**' (**मानस, ७/८९/३**)-आकाश ऐसी वस्तु है जहाँ लोगों को शान्ति मिलती है। यह चिदाकाश और कायाकाश में संयम योगपथ में मिलनेवाली विभूतियाँ हैं। इस क्षमता के अनन्तर देहाध्यास मिट जाता है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।।४३।।

बाहर सृष्टि में जो कुछ दिखायी-सुनाई पड़ता है उसमें कल्पनारहित वृत्ति का प्रवाहित होना महाविदेहावस्था है। कुछ भी सामने पड़ जाय उसके प्रति संकल्प-विकल्प नहीं कि क्या है?-इस महाविदेहावस्था के आने से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है, द्रष्टा और साधक के बीच का आवरण क्षीण हो जाता है। आवरण था भला-बुरा ग्रहण करना, अब वह ग्रहण ही नहीं करता तो आवरण कहाँ से आयेगा? बुद्धि में आत्मा का प्रकाश जितनी मात्रा में हुआ है, आगे जितना शेष है, उसे समझने की बाधा अब समाप्त हो गयी।

गीता में भगवान कहते हैं-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। (५/२१)

बाह्य संसार के विषय-भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा के सुख को प्राप्त होता है। यही महर्षि पतंजलि कहते हैं कि उसके प्रकाश का आवरण समाप्त हो जाता है। बुद्धि में ईश्वरीय प्रकाश के आने में जो रुकावट थी, वह दूर हो जाती है।

अग्रेतर सूत्र में कहते हैं-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।।४४।।

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व- इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से '**भूतजयः**'- समस्त भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

गीता में है, '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' (१८/६१) समस्त भूतों के हृदय में ईश्वर का निवास है। भूत का अर्थ है जीवित प्राणी। किन्तु जीवित प्राणियों का मूल कारणभूत पंचमहाभूत- आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु; इनकी पाँच तन्मात्राएँ- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- यह भूतों का स्थूल स्वरूप है। जहाँ इनका दृश्य दिखायी पड़ा तो स्वरूप प्रकट हो गया। दृश्य देखा – वह स्थूल है। स्वरूप स्पष्ट होते ही उसकी सूक्ष्म अवस्थाएँ समझ में आ गयीं। उनका अन्वय, उन्हें अलग-अलग विश्लेषण करके देखना

होता है। अन्तिम अवस्था अर्थवत्त्व अर्थात् उसकी गुणवत्ता, प्रयोजनवत्ता है कि वस्तु सजातीय है या विजातीय । इसका जो स्वरूप प्रकट हुआ है, क्लेशों की ओर ले जानेवाला है – यह क्लिष्ट है। जब इस अवस्था का संयम हो जाता है, पंचभूतों का विश्लेषण करने की क्षमता आ जाती है तब भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। यह संयम क्रम-क्रम से होता है। स्थूलरूप जब दिखाई पड़ा, कानों से सुन लिया, स्थूलरूप समक्ष आ गया; उसका स्वरूप कैसा, उसके अंतराल में गहराई कैसी, सूक्ष्मता क्या, विश्लेषण क्या, प्रयोजन क्या है?–उस प्रयोजन को समझा और समझकर जो लग गया तो सदैव स्वरूप की ओर ही बढ़ेगा। पंचभूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। इन भूतों से उत्पन्न इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला कोई भी दृश्य योगी को भटका नहीं सकता। इसके साथ ही एक विशेष लाभ होता है–

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।।४५।।

उस भूतजय से अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना, कायसम्पत् की प्राप्ति और उन भूतों के धर्मों से बाधा न होना– यह तीन प्रकार की योग्यता आ जाती है। शास्त्रों में अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व अष्टसिद्धियाँ कही गयी हैं। अष्टधा मूल प्रकृति में अष्टसिद्धियों का संचार हो जाता है।

सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान 'अणिमा' है। महापुरुष का बालवत् स्वभाव 'लघिमा' है, जिसके सन्दर्भ में किसी भी सेवा को वह तुच्छ नहीं समझते। भगवान श्रीकृष्ण पत्तल उठाने लगे। भगवान बुद्ध अपने एक रुग्ण शिष्य को स्नान कराने लगे, दवा पिलाने लगे। पूज्य महाराज जी दर्द से छटपटाते एक शिष्य को पाँव से दबाने लगे। साधक ने संकुचित हो कहा, "महाराज! आप स्पर्श न करें", किन्तु आपने गर्दन से पाँव तक दो-चार बार दबाकर कहा, "देखो! अब ठीक हो जायेगा।" दर्द दूर भी हो गया। ईश्वर की 'महिमा' साधक में आ जाती है, उसकी महिमा प्रसारित होने लगती है।

संयम सध जाने पर दत्तात्रेय की महिमा का विस्तार होने लगा, भीड़ बढ़ने लगी, भजन-चिन्तन में व्यवधान होने लगा तो उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि इतनी भीड़ पीछे क्यों पड़ी है। भगवान ने कहा, "आपके

हृदय में मैं आ गया हूँ, इसलिये लक्ष्मी जी आपकी सेवा करना चाहती हैं।" 'गरिमा' के रूप में योगी की गौरवपूर्ण अवस्था आ जाती है। बिना रुकावट इच्छित पदार्थों की आपूर्ति 'प्राकाम्य' है। पूज्य गुरुदेव को मुंबई विचरणकाल में एक ठेले पर नारियल देख उसे खाने की इच्छा हुई किन्तु पैसे तो थे नहीं अतः आगे बढ़ गये। एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। इतने में एक कौवा उसी ठेले से गरी का एक टुकड़ा उठाकर उसी वृक्ष पर आ बैठा। नारियल का टुकड़ा उससे छूटकर महाराज जी के समक्ष गिरा। भगवान से शकुन संकेत मिला। दाहिने पेट और दाहिने पैर में स्पन्दन होने लगा, जिसका आशय था कि लेकर खा लो। **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।' (मानस, ७/११३/४)** सब भावों पर स्वामिभाव 'ईशित्व' है, जैसा गीता में क्षत्रिय स्वभाव के वर्णन में आता है- **'दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।' (१८/४३)** इन्द्रियों और मन का सदैव वश में रहना 'वशित्व' कहलाता है।

'तद्धर्मानभिघातश्च'-उन भूतों के विषय शान्त हो गये हैं इसलिए अब धर्म में किसी प्रकार का व्यवधान नही होता। कायसम्पत् का स्वरूप सूत्रकार ने स्वयं प्रस्तुत किया है-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।।४६।।

रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान गठन- ये शरीर की सम्पदायें हैं। संयम की इस ऊँचाई पर योगी में कान्ति और शारीरिक सौष्ठव आ जाता है। महापुरुष को निवृत्ति के पश्चात् रोग होते ही नहीं। ऐसे योगी किसी का रोग स्वयं स्वीकार कर लें तभी वे रुग्ण होते हैं अन्यथा कभी नहीं।

पूज्य महाराज जी के जीवन की एक घटना इसी तथ्य को उद्घाटित करती है। पूज्य गुरुदेव आसन पर बैठे थे। एक दिन एक पण्डित जी समीपवर्ती गाँव से आये, प्रणाम किया। उन पर दृष्टि पड़ते ही गुरु महाराज ने कहा, "पाण्डेय! अच्छा हुआ आ गये। पूड़ी बनाओ।" उसने कहा, "महाराज! मैं तो मर रहा हूँ। मेरा तो हाथ ही नहीं उठ रहा है। पता नहीं क्या हो गया है हाथ में? दो दिन से नींद तक नहीं आयी।"

महाराज जी ने कहा, "हाथ इधर ला।" उन्होंने उसका हाथ पकड़कर दो-चार बार उसका हाथ दबाकर देखा और कहा– "विभूति खा लो। अब जाओ, बनाओ पूड़ी।" उसने पूड़ी बनाया, खा-खिला कर चला भी गया किन्तु महाराज जी के हाथ में दर्द होने लगा। नवें दिन तो न रात चैन पड़े न दिन। गर्म जल से सिंकाई करने से कुछ राहत होती थी। प्रतीत होता था मानो हड्डी से फोड़ा निकल रहा हो।

गुरुदेव ने भगवान से पूछा, "जब निवृत्ति हो गई, पाप हैं ही नहीं, तब यह मरणांतक पीड़ा क्यों?" भगवान ने बताया, 'बारह महीने उस पाण्डेय को कष्ट उठाना था। उसका रोग आपने ले लिया है तो बारह दिन तो झेलें।' महाराज ने कहा, "गणना करो, कितने दिनों से फोड़ा हुआ है?" शिष्यों ने बताया, आज नवाँ दिन है। महाराज ने कहा, "दस, ग्यारह और बारह! तीन दिन शेष हैं।" बारहवें दिन फोड़ा फट गया, दर्द समाप्त हो गया। ऐसी कई घटनाओं के पश्चात् कोई दुःखी आता भी तो महाराज जी उसका स्पर्श नहीं करते थे। केवल उस धूने की विभूति दिला देते थे। इतने से वह ठीक भी हो जाता था।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।।४७।।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व–इन पाँचों अवस्थाओं में अलग-अलग संयम करने से मनसहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

इन्द्रियों का कार्य है ग्रहण करना। आँखों ने देख लिया, ग्रहण कर लिया। श्रवण करना कान का ग्रहण करना है। रसना को स्वाद का बोध उसका ग्रहण करना है। नासिका गन्ध ग्रहण करती है। ग्रहण से उन वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट होता है। अस्मिता उन वस्तुओं के भले-बुरे उपयोग का मिश्रण है। अन्वय में वस्तु का विश्लेषण तथा अर्थवत्त्व में वस्तु की प्रयोजनता का विचार किया जाता है कि यह क्लिष्ट है अथवा अक्लिष्ट। इस प्रकार विश्लेषण द्वारा साक्षात् कर लेने से इन्द्रियों पर विजय हो जाती है।

यही भाव रामचरितमानस की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है–

जड़ चेतन गुण दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।। (१/६)

भरतु हंस रबिबंश तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा।। (२/२३२/३)

भरत जी में यह क्षमता थी। हनुमान जी में भी ऐसी क्षमता थी। वह समुद्र–लंघन कर रहे थे, मार्ग में सिहिंका नामक राक्षसी मिली। वह उनकी छाया पकड़कर अवरोध कर रही थी। हनुमान ने उसका कपट पहचान लिया। **'ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा।।' (मानस,** ५/२/५)–उसे मारकर वे आगे बढ़ गये। इस प्रकार विवेकपूर्वक संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है। साधक में जब सदा सचेत रहने की क्षमता आ जाती है तो इन्द्रियों पर विजय हो जाती है। ऐसी दशा में इन्द्रियाँ विकार उत्पन्न कर भटका नहीं सकतीं; क्योंकि इन्द्रियों की गतिविधि साधक पहचान चुका है, इसीलिए वे भटका नहीं सकतीं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।।४८।।

उस इन्द्रियजय से **'मनोजवित्वम्'**- मन के सदृश गति, **'विकरणभावः'**– शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और **'प्रधानजयः'**- प्रकृति पर अधिकार–ये तीनों योग्यताएँ आ जाती हैं।

इन्द्रियों पर विजय से **'मनोजवित्वम्'**-मन में ही साधना गतिशील हो जाती है। वह बाहर कुछ भी नहीं सोचता। जब गति मन में ही सिमट गई, तब शरीर का सम्बन्ध कट जाता है। यही बिना शरीर के विषयवस्तु को समझ लेना है।

वैष्णव सन्त नाभादास जी के गुरु ध्यान में बैठे थे। उनके किसी भक्त की नाव समुद्र में फँस गई। उसने गुरुदेव से रक्षा की पुकार लगायी। गुरुदेव परेशान थे कि कोई संकट में है। नाभा जी गुरुदेव के कक्ष के बाहर इस सेवा में थे कि कोई गुरुदेव के भजन में बाधा न पहुँचाये। नाभा जी बोले, "महाराज! नाव तूफान से बाहर हो गई। अब आप चिन्ता छोड़ें।" गुरुजी कक्ष से बाहर आ गये। बोले, "यह तो नाभि का हाल जान गया। हमारे अन्तर्मन का समाचार

इसे ज्ञात हो गया। आज से तुम्हारा नाम नाभा जी है। अब तुम्हारा एक ही ऋण शेष है, एक सौ आठ दाणों की माला मुझे पहनाओ।" नाभा जी आध्यात्मिक सन्त थे। उन्होंने सोचा, '**माला तो मन की भली।**' जो सन्त मन का निरोध कर चुके थे, ऐसे महापुरुषों का जीवन-चरित्र लिखकर उन्होंने गुरु जी को अर्पित किया, जो 'भक्तमाल' के नाम से प्रसिद्ध है। वे बिना शरीर के ही सब जान गये।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।।४९।।

सत्य से संयुक्त बुद्धि और पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा इन दोनों की भिन्नतामात्र का जिसे ज्ञान रहता है, सबीज समाधि को प्राप्त ऐसे योगी का सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञभाव हो जाता है, सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है, वह सब कुछ जानने की योग्यतावाला हो जाता है। ऐसे योगी का केवल मनसहित इन्द्रियों या शरीर पर ही नहीं, बल्कि समस्त प्रकृति पर नियंत्रण हो जाता है। परमतत्त्व से केवल मिलना ही शेष है, किसी भी क्षण प्राप्ति हो सकती है। सर्वज्ञता और स्वामिभाव भी मार्ग की विभूतियाँ मात्र हैं, इनसे भी वैराग्य अपेक्षित है। इस पर देखें-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।।५०।।

इन सभी सिद्धियों के प्रति वैराग्य होने से दोषों के बीज का क्षय होने पर कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है। बुद्धि और पुरुष अर्थात् सेवक और स्वामी में लेशमात्र भिन्नता शेष है तो कहीं-न-कहीं राग है, बीज-दोष है, कहीं से तो ग्रस्त है- जब उसमें भी वैराग्य हो गया तहाँ दोष समाप्त हो गया। दोष-बीज का क्षय हो जाने पर वह कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। ऐसी उन्नत अवस्था में भी लोक-संसर्ग के विघ्न आते हैं, उनसे बचने के लिए सावधान करते हैं-

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।।५१।।

योगी जिन भूमिकाओं में है, उन भूमियों की शक्तियाँ उसे प्रलोभित करने का प्रयास करती हैं। उन स्थानों के अधिकारियों द्वारा आदृत होने पर भी उसमें लगाव या घमंड नहीं करना चाहिए; क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट

होना संभव है। जब योगी में सर्वज्ञतादि गुण आ जाते हैं, उस समय इन शक्तियों के अधिष्ठातृ देवता भोगों का सुख दिखाकर या योगी की प्रशंसा द्वारा उसे उलझाते हैं।

महाराज मनु जब भजन करने लगे, देवाधिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनके पास आये, कहा– "वर माँगो!" '**बहु भाँति लोभाए**' **(मानस, १/१४४/३)** कुछ दे नहीं रहे थे बल्कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे षड्विकारों में लोभ का ही संवर्धन कर रहे थे; परन्तु परम धैर्यशाली मनु विचलित नहीं हुए। भगवान ने आकाशवाणी दी और मनु ने सर्वस्व प्राप्त कर लिया।

साधक को सावधान रहना चाहिए, उनके प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए। उन्हें अपने मन में बार-बार यह चिन्तन करना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तरों से कर्मों का भोग करते-करते मनुष्य-शरीर बड़े सौभाग्य से मिला है। ईश्वर की परम दया से योग-पथ में सफलताएँ मिल रही हैं। ये भोग क्षणभंगुर हैं। सदैव के लिए ये भी नहीं मिलेंगे। साधन-मार्ग से च्युत होते ही यह भी तिरोहित हो जायेंगे। उनमें दुःखों का स्वरूप ही देखना चाहिए। स्मय अर्थात् आत्म-प्रशंसा का भाव भी नहीं होना चाहिए कि अब तो राजपुरुष मेरा चरण धोते हैं, देवता भी सत्कार करते हैं– मैं ऐसी उच्चस्थिति को प्राप्त हो गया हूँ! भोगों में आसक्ति या अपनी स्थिति का अहंकार दोनों ही दशाओं में पुनः अनिष्ट होने की सम्भावना है।

कैवल्य के लिए विवेक-ज्ञान की आवश्यकता होती है–

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।।५२।।

क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है।

क्षण के पश्चात् दूसरे क्षण का जो क्रम है उसके बीच में दो क्षणों के अन्तराल में अन्य संकल्प न उठें। श्वास आई तब ओम्, गई तब ओम्- इसका क्रम न टूटे, विघ्न न आयें। जब क्षण और उसके क्रम में संयम सध जाता है, विवेकजनित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देवता, स्वर्गिक भोगों के प्रलोभन और

शक्तियों के अहं से बचने के लिए क्षण-अनुक्षण का संयम रखना चाहिए, उसमें इतर संकल्पों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए।

इस विवेक-ज्ञान से लाभ?-

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।। ५३।।

जाति, लक्षण और देश से भेद का निश्चय न होने से दो तुल्य वस्तुओं का निश्चय उस विवेक-ज्ञान से होता है।

विवेक-ज्ञान से उत्पन्न अवस्था में जाति, लक्षण और देश-भेद से भी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। चित्तवृत्ति का एक प्रकार से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाना जाति-परिवर्तन है। ऐसे क्रमिक परिवर्तनों के माध्यम से साधक लक्ष्यपर्यन्त दूरी तय करता है। ऐसी कुछ अवस्थाओं के अनंतर शरीर का निधन हो गया- ऐसा साधक जन्म लेता है। यह भी एक जाति-परिवर्तन है। किन्तु विवेक-ज्ञान के पश्चात् जाति-भेद, उसके अनुरूप लक्षण और देश-परिवर्तन से भी विवेक-ज्ञान में कमी नहीं आती। उस विवेक-ज्ञान की विशेषता कहते हैं कि वह उद्धार करनेवाला होता है-

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।। ५४।।

यह विवेकज ज्ञान संसार-समुद्र से तारनेवाला, सबको जाननेवाला, सब प्रकार से जाननेवाला तथा बिना किसी पूर्वपरम्परा या सहयोग के जाननेवाला होता है।

इसके पश्चात् अवस्था आती है कैवल्य की-

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।।५५।।

जब चित्त और पुरुष इन दोनों की समान रूप से शुद्धि हो जाती है, दोनों समत्व में स्थित हो जाते हैं तब कैवल्य होता है।

इसी अध्याय के उनचासवें सूत्र में इसका उल्लेख हुआ है। बुद्धि और पुरुष में किंचित् अन्तर था, अन्तरमात्र का ही भान था; जब इन दोनों की ऐसी शुद्धि हो गयी कि दोनों समान हो गये - न सत्य-परायण बुद्धि अलग है न पुरुष; तब वही कैवल्य है।

यही श्रीमद्भगवद्गीता में है–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५/१९)

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है, क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उनका मन भी निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया– '**तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**'–इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी का नाम अपुनरावर्ती परमगति है।

इन्द्रियों और मन पर भली प्रकार विजय कर लेने पर भी बुद्धि और पुरुष में किंचित् अन्तर रहता है। उस समय सर्वज्ञता, स्वामिभाव इत्यादि उपलब्धियाँ रहती हैं। बुद्धि और पुरुष इन दोनों के ही अत्यन्त शुद्ध हो जाने पर साम्य अवस्था आ जाती है। दोनों को भिन्न किया नहीं जा सकता। बुद्धि के स्थान पर पुरुष खड़ा है, बुद्धि पुरुष में समाहित है–इसी का नाम कैवल्य है।

इस प्रकार इस तृतीय अध्याय में क्रम से संयम के उत्कर्ष के साथ मिलनेवाली विविध सिद्धियों का वर्णन है जिन्हें विभूति कहा गया, इसीलिए इस अध्याय का नाम विभूतिपाद है। इन सबका अंतिम लक्ष्य 'कैवल्य' है। कैवल्य की चर्चा प्रथम अध्याय में भी है। यहाँ कैवल्य का विस्तार से वर्णन किया गया; किन्तु यह भी जानना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों को पार करके साधक को यह स्थिति मिली है। इस प्रकार यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है। अस्तु, अग्रेतर पाद है कैवल्य।

निष्कर्ष–

अष्टांग योग–साधना के तीन अंग– धारणा, ध्यान और समाधि विभूतिपाद के अंग हैं; क्योंकि इनमें स्थिति के साथ ही योग की विभूतियों का प्रस्फुटन होने लगता है। धारणा में ध्येय के आते ही ध्यान के रूप में वृत्ति एकतार चलने लगती है, लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है। इस प्रकार समाधि की अवस्था आ जाती है। '**त्रयमेकत्र संयमः।**' **(३/४)**–क्रमशः तीनों के सध

जाने का नाम संयम है। इस संयम के सधते ही विभूतियाँ मिलने लगती हैं। ये विभूतियाँ क्रम-क्रम से छोटी, बड़ी अवस्था के अनुसार मिलती जाती हैं। यह संयम एक बार सध गया तब सदा बना रहता है।

योगदर्शन के इस तृतीय पाद में धर्म का नाम पहली बार आया है। जहाँ वृत्तियों का निरोध, समाधि और एकाग्रता-परिणाम में संयम हो जाता है उसी संयम को धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम भी कहते हैं। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और यहाँ निरोध-परिणाम सामने है तब धर्म शब्द का उच्चारण हुआ है। इसी पाद के सोलहवें सूत्र में है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य में जो अनुगत है, एकरस शान्त प्रवाहित है, वह धर्म है। जो उस अनुगत को जानता है, वह धर्मी है। पैंतालीसवें सूत्र में पुनः धर्म का प्रयोग है। पंचभूत अर्थात् क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर; इन पंचमहाभूतों की पंचतन्मात्राएँ रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श – इन पर विजय से उनके कृत्य शान्त हो जाने पर धर्म में बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि यही तो अवरोधक थे। जब यही शान्त हो गये तो धर्म निर्बाध होने लगता है। निरोध, समाधि एकाग्रता के ही पर्याय हैं।

धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम- इनमें संयम सधने से अतीत और वर्तमान का ज्ञान हो जाता है; किन्तु '**प्रातिभाद्वासर्वम्।**' (३/३४)-प्रातिभ अर्थात् परा में वृत्ति एकरस प्रवाहित है, ऐसे योगी को बिना किसी प्रयास, बिना किसी संयम के सब कुछ जानकारी मिलती रहती है। पूज्य गुरुदेव की दिनचर्या में ऐसे उदाहरण मिलते ही रहते थे। किसी आगन्तुक की भलाई-बुराई का विवरण उसके आने से पूर्व ही गुरु महाराज को ज्ञात हो जाता था। कभी अर्धरात्रि में महाराज जी अकस्मात् निद्रा से उठकर बैठ जाते थे, कहते थे, "देखो हो, कोई भयभीत चला आ रहा है।" तब तक कोई अवश्य ही आ जाया करता था।

शरीरस्थ वायु पाँच भागों में विभक्त है- प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। प्रस्तुत पाद में उदान और समान इन दो के नाम आये हैं जो साधनोपयोगी हैं । उदान-जय से प्रकृति के कण्टकों से मुक्ति तथा ऊर्ध्वगति होती है और समान-जय से ज्योतिर्मय का प्रकाश मिलने लगता है।

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।'– बाहर देखी और सुनी वस्तुओं में वृत्ति की कल्पनारहित अवस्था महाविदेहावस्था है। कैसा भी दृश्य दृष्टिगोचर हो जाय, कैसा भी शब्द सुनायी पड़े, न भला प्रभाव पड़े न बुरा, उससे लिप्त न हों– ऐसी विदेहावस्था के प्राप्त होने से प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्योतिर्मय प्रकाशस्वरूप द्रष्टा है, उसके और साधक के बीच का पर्दा मिट जाता है।

भूतजय से अष्टसिद्धि, कायसम्पत् प्राप्त होती है। भूतजय से भूतों के विविध कृत्य शान्त हो जाते हैं, इसलिए धर्म में बाधा नहीं होती। बुद्धि सत्य से संयुक्त हो जाती है, परम चेतन पुरुष की अलग प्रतीति मात्र शेष रहती है। ऐसी सबीज समाधि में योगी का सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञ ज्ञान हो जाता है। इस स्वामिभाव और सर्वज्ञ सिद्धि से भी वैराग्य होने से कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है; किन्तु उस समय बड़े विघ्न आते हैं, देवताओं और लोकपालों के आमंत्रण आते हैं। यह भी योग–साधना का एक स्तरमात्र है, लक्ष्य नहीं। साधक को न तो उनके भोगों में राग होना चाहिए न अपनी स्थिति का अभिमान ही होना चाहिए। इससे पुनः पतन की आशंका अधिक रहती है।

इन उलझनों से बच जाने पर चित्त का एकतार चिन्तन में प्रवाहित होने पर क्षण–अनुक्षण के क्रम में संयम सध जाता है तब विवेक से उत्पन्न ज्ञान हो जाता है। श्वास आई तो 'ओम्', गई तो 'ओम्'; दूसरा विकल्प बीच में न पैदा हो– यह क्षण और अनुक्षण के क्रम में संयम का सधना है। अब एक भी क्षण चिन्तन के विपरीत व्यर्थ नहीं जाता। ऐसी अवस्था आने पर विवेक से उत्पन्न ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह विवेकजन्य ज्ञान संसार–समुद्र से तारनेवाला है, सबको सब प्रकार से जाननेवाला है।

सत्त्वसंयुक्त बुद्धि अर्थात् साधक और पुरुष भिन्न–भिन्न हैं–ऐसा आभास जब समत्व में स्थित हो जाय, ऐसी साम्यावस्था में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। यह सब योगजन्य है, साधना अत्यन्त निर्मल होने पर है। योग–साधना द्वारा सहस्रों सिद्धियाँ सुलभ हैं। इन समस्त सिद्धियों में सर्वोच्च है कैवल्य, जिस पर महर्षि ने योगदर्शन के चतुर्थ पाद में सम्यक् विचार किया है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

चतुर्थ अध्याय – कैवल्यपाद

महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शन का प्रथम पाद 'समाधिपाद' है। '**सम्यक् अधीयते मनः यस्मिन् स समाधिः**'– जिसमें मन भली प्रकार समाहित हो जाय वह समाधि है। सम और आदि तत्त्व के साथ समत्व की प्राप्ति समाधि है। चित्त का स्वरूप शून्य होना, ध्येयमात्र की प्रतीति समाधि है जिससे द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है, अभय पद की प्राप्ति हो जाती है। यह समाधि का महान् फल है।

जब किसी वस्तु का फल बता दिया जाता है तो उसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है, तभी उसे प्राप्त करने के लिये इच्छुक प्रयत्नशील होता है। इसीलिये समाधिपाद का वर्णन सर्वप्रथम है। जब समझ में आ गया कि यही सत्य है, तब उसे साधने के लिये 'साधनपाद'; जिसमें अष्टाङ्ग योग, सम्पूर्ण योग-साधना की प्रस्तुति विस्तार से की गयी है। वैसे साधना सभी अध्यायों में उल्लिखित है। नाम, रूप, अभ्यास, वैराग्य इत्यादि साधनाएँ साधक की क्षमता के अनुरूप वर्णित हैं; किन्तु साधनपाद में साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है।

तृतीय अध्याय 'विभूतिपाद' है। साधन से जब संयम सध जाता है, विभूतियाँ प्रकट होती हैं। विभूति अर्थात् ऐश्वर्य! योग से मिलनेवाले विविध ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान शंकर के तन में निर्मल विभूति, अवढरदानी इत्यादि उल्लेख है। जैसे-जैसे संयम की अवस्था आती है उससे अष्टधा सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। सिद्धियाँ मार्ग में मिलनेवाली सुविधाएँ हैं। रास्ते में ये पड़ाव अवश्य पड़ने चाहिए; किन्तु साधक यदि इन्हीं में उलझ जाता है, लक्ष्य से स्खलित हो सकता है, इसीलिए परमसिद्धि कैवल्यपर्यन्त सतर्कता अपेक्षित है।

आदि शंकराचार्य जी के अनुसार, '**आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त सर्वमायामयं जगत्। सत्यं सत्यं पुनर्सत्यं हरेर्नामैव केवलम्।।**'–विधाता और उससे उत्पन्न यावन्मात्र सृष्टि मरणधर्मा है। इसमें यदि कुछ सत्य है तो वह है हरि और हरि का नाम।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि आत्मा ही परम सत्य है, ज्योतिर्मय है। वह द्रष्टा है। उसे प्राप्त करने के लिये नियत विधि, नियत कर्म का अनुपालन है। इस कर्म को चार भागों में बाँटा, जो वर्ण कहलाते हैं। अपने स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ पुरुष परमसिद्धि को प्राप्त करता है। उसी को परम नैष्ठिकीम् सिद्धि कहा गया है। इसी को महर्षि पतंजलि कैवल्य कहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

जिन परमात्मा से यावन्मात्र जीव–जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो तत्त्व रूप से सर्वत्र व्याप्त है, उस एक परमात्मा को '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'–स्वभाव से उत्पन्न कर्म की क्षमता के अनुसार अर्चन कर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है, जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। यही परमसिद्धि है। इसी का नाम कैवल्य पद है। कैवल्य कैसा होता है? कब होता है? वह पद है क्या? इस पर देखें– कैवल्यपाद!

जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।।१।

सिद्धि–प्राप्ति के दो माध्यम हैं– जन्म से होनेवाली सिद्धि और औषधि, मंत्र, तप तथा समाधिजन्य सिद्धि।

ईश्वरपथ में आरम्भ का नाश नहीं है। साधन समझकर यदि इस जन्म में चार कदम चलते बन गया तो अगले जन्म में पाँचवाँ कदम ही पड़ेगा। गीता में है– '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।**' **(६/४५)** अनेक जन्मों के क्रम से साधक वहाँ पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति है। कई जन्म भजन करते–करते जो प्राप्तिवाला जन्म है, वह मेरा स्वरूप है,

वह मुझमें निवास करता है। ऐसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते ही उस शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं। उनके कैवल्य पद या परमसिद्धि प्राप्त करने में किसी साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उदाहरण के लिये; महाभारत, वनपर्व, द्वादश अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए अर्जुन ने कहा कि पिछले दस जन्मों से आप निरन्तर महापुरुष के रूप में थे। एक जन्म में आप 'यत्र सायं गृह मुनि' के रूप में लगातार भ्रमण करते रहे। जहाँ शाम होती, वहीं रात्रि-निवास कर लेते थे। आयुपर्यन्त मौन धारण कर आप साधनरत रहे। एक कल्प अर्थात् एक जन्म में आप प्रभास क्षेत्र में क्षेत्रीय जनता को उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहे। एक कल्प में पुष्कर तीर्थ में बारह वर्ष तक एक पैर पर खड़े होकर आपने यज्ञ किया। एक जन्म अर्थात् एक कल्प में आप बद्रिकाश्रम में ध्यानस्थ रहे। उस समय दो ऋषि साथ-साथ थे-एक नर और दूसरे नारायण! आप नारायण थे। स्तर उन्नत होने पर आप ही वामन और विष्णु कहलाये- ऐसा हमने व्यास जी से सुना है।

अस्तु, भगवान श्रीकृष्ण का भजन उनके पूर्वजन्म में ही सम्पन्न हो चुका था, केवल प्राप्ति ही शेष थी। ऐसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते ही प्राप्ति कर लेते हैं। उनके पूर्णत्व में जन्म माध्यम है, साधन नहीं। भगवान की साधना में तीन दिन शेष था। वे बद्रिकाश्रम गये और तीन दिन ध्यानस्थ रहे। वे ब्राह्मवेला में दो-ढाई बजे रात्रि से ही परमात्मा के ध्यान में बैठते थे। वे पहले अपनी आँखों पर जल के छींटे मारते थे, तब ध्यान में बैठते थे। ध्यान में आप एकदम बेसुध हो जाया करते थे।

ध्रुव ने भगवान का दर्शन होने पर उनसे प्रश्न किया, "भगवन्! मुनि-जन जन्म-जन्मान्तरों तक यत्न करते हैं तब कहीं आपके दर्शन हो पाते हैं; परन्तु मुझे तो केवल छः महीनों में ही आपने दर्शन दे दिया! ऐसी अनुकम्पा क्यों?" प्रभु बोले, "वत्स! इधर देखो! (भगवान ने एक पहाड़ की ओर उँगली से संकेत किया। वहाँ अस्थि-पंजरों का पहाड़ था) ये तुम्हारे ही अस्थि-पंजर हैं। तुमने इतनी बार जन्म लिया, यहीं भजन किया, यहीं शरीर

छूटा। इस बार केवल छः महीने शेष थे, अतः जन्म के साथ ही तुम्हें उपलब्धि मिल गयी।"

महापुरुषों का ऐसा जन्म जन्मना सिद्धि के अन्तर्गत आता है। वे धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था से गुजर चुके होते हैं। ऐसा नहीं होता कि उन्होंने कभी भजन किया ही नहीं।

सिद्धि का एक माध्यम है औषधि। प्रकृति में विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है। गीता में है, '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**' (**८/१६**) सृष्टि का रचयिता विधाता और उससे उत्पन्न यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है, दुःखों की खानि क्षणभंगुर और नश्वर है! तो किसी मायिक वस्तु के प्रयोग से कैवल्य पद कैसे प्राप्त होगा?

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "इस कर्म को किये बिना न पूर्व में कोई परमात्मा को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में ही कोई प्राप्त कर सकेगा। जितने भी पूर्व महर्षि, मनीषी हुए हैं इसी नियत कर्म को करके हुए हैं। अर्जुन! कर्मों के परिणाम में ज्योतिर्मय आत्मा विदित है, आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त करने योग्य कुछ भी अप्राप्त नहीं है।" अतः इस साधन का अनुष्ठान किये बिना कोई परमात्मा को प्राप्त ही नहीं कर सकता, तब नश्वर वस्तु औषधि जड़ी-बूटी या कुछ भी प्रयोग करने से वह परमात्मा कैसे सिद्ध हो जायेगा?

वस्तुतः बाह्य जगत् में जिस प्रकार अनेकानेक शारीरिक रोग हैं उसी प्रकार कुछ मानसिक रोग अध्यात्म जगत् को प्रभावित करते हैं, जो बारम्बार अनन्त योनियों, गर्भवास की यातना तथा कीट-पतंगपर्यन्त उच्च या निम्न शरीर-धारण के कारण बनते हैं। इन्हीं को भवरोग कहा जाता है। रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन रोगों का परिचय देते हुए बताया कि इसका मूल मोह या अज्ञान है। '**मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।**' सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है, जिससे अनन्त शूलों की सृष्टि होती है। '**काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।। प्रीति करहिं जौं तीनिउ**

भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।'–काम मानो वायु-विकार है, क्रोध पित्त है, कफ लोभ है। यदि तीनों का प्रकोप है तो सह-निपात अर्थात् मृत्यु की आसन्नता का दुःखद रोग उत्पन्न हो जाता है। **'अहंकार अति दुखद डमरुआ।'**–अहंकार अत्यन्त कष्टप्रद गाँठ का रोग है। तृष्णा, अनन्त वासनायें उदर-सम्बन्धी शूल हैं। बीस-पचीस रोगों का चित्रण कर उन्होंने अन्त में कहा- **'मानस रोग कछुक मैं गाए।'** मन के अनन्त रोगों में से मैंने कुछ का ही गायन किया है। **'हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।।'** (**७/१२०/२**) ये रोग प्रायः सभी को हैं, किन्तु विरला ही कोई इन्हें देख पाता है। **'जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।'** इन्हें जान लेने से ये कुछ कमजोर पड़ जाते हैं, कुछ क्षीण हो जाते हैं, पर नष्ट नहीं होते। इन रोगों की औषधियाँ भी बतायी जाती हैं- **'नेम धर्म आचार तप, ज्ञान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान।।'** (**७/१२१ ख**) नियम, धर्म, उत्तम आचरण, तप, ज्ञान, दान तथा अन्य भी करोड़ों औषधियाँ हैं; परन्तु हे गरुड़ जी! उन औषधियों से भी ये रोग नहीं जाते। इस भवरोग के नष्ट होने का एक ही उपाय है- **'राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।'**- भगवान की कृपा से रोग समाप्त हो जाता है। **'जौं एहि भाँति बनै संयोगा।।'**–यदि इस प्रकार का संयोग बन जाय। किस प्रकार का संयोग? **'सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।'** सद्गुरु वैद्य हैं, उनके वचन में विश्वास होना चाहिए। विषयों की कामना न करें, यही परहेज है। **'रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।'**–भगवान की भक्ति संजीवनी जड़ी है। श्रद्धापूरित बुद्धि ही दवा के साथ लिया जानेवाला अनुपान है। **'एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।'**–इस विधि से ये रोग अवश्य नष्ट हो जायँगे, अन्यथा करोड़ों यत्नों से भी ये जानेवाले नहीं हैं। इनका वास्तविक उपचार ईश्वर-भक्ति ही है। भक्ति का ऐसा प्रभाव है कि **'राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।।** (**७/११९ ख/९**)–स्वप्न में भी उसे रंचमात्र दुःख नहीं होता।

विभक्त का अर्थ है 'विभाजन' और भक्ति का तात्पर्य है 'जोड़ना'! नियम, धर्म, आचरण यह सभी भक्ति में भली प्रकार सम्पन्न हो जाते हैं; किन्तु यदि श्रद्धा और समर्पण नहीं है तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि यदि श्रद्धा नहीं है तो तपा हुआ तप, किया हुआ कर्म, जपा हुआ जप सब व्यर्थ चला जाता है, मानो कुछ हुआ ही नहीं। अस्तु, सम्पूर्ण समर्पण का नाम भक्ति है। यह ईश्वर-प्रणिधान भवरोग की महौषधि है, जिसमें साधक को इष्ट के हाथ का यंत्र बनकर चलना होता है। औषधि से महर्षि पतंजलि का यही अभिप्राय है।

सिद्धि का एक माध्यम 'मंत्र' है। मनन करने से जो साधक की रक्षा करता है वह मंत्र है। मंत्र का उल्लेख इन महापुरुष ने स्वयं किया है- '**तस्य वाचकः प्रणवः।**' (१/२७), '**तज्जपः**' (१/२८)-उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव है, उसका जप करें। '**मन अंतर स मंत्र**', जप करते-करते एक स्तर ऐसा आता है कि नाम मन को अपने अन्तराल में स्थान दे देता है। उस समय वह नाम मंत्र की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। क्रमशः उन्नत अवस्था में, परावाणी के प्रवेशकाल में यह नाम मन को अपने अंतराल में समेट लेता है और ध्रुवसिद्धि प्रदान करनेवाला हो जाता है।

'तप' सिद्धि का एक आवश्यक उपकरण है। साधक इष्ट के प्रति समर्पित होता है, मंत्र जपता है किन्तु शरीर और इन्द्रियाँ साथ नहीं देतीं। कभी निद्रा घेर लेती है तो कभी आलस्य आ जाता है। अतः मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना तप है। टेक के साथ लगने का नाम तप है। '**कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**' (२/४३)-तपस्या से शरीर और इन्द्रियों के विकारों का अभाव हो जाता है। काय और इन्द्रियाँ सध जाती हैं।

अंततः 'समाधि' सिद्धि से संलग्न सोपान है जिसमें अर्थ अर्थात् लक्ष्यमात्र का आभास, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाना और कैवल्य अनामय परमपद की प्राप्ति, उसमें स्थिति हो जाती है। सारांशतः भवरोग की औषधि भक्ति, उसके सहयोगी मंत्र और तप तथा क्रमशः समाधि द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। यह कैवल्य-प्राप्ति के उपकरण हैं। प्रश्न उठता है कि जन्म

क्या है? जन्म कैसे होता है? जन्म-परिवर्तन का क्या कारण है? इस पर प्रकाश डालते हैं–

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।।२।।

'**जात्यन्तरपरिणामः**'- एक जन्म से दूसरे जन्म में बदल जाना जात्यन्तर-परिणाम है। यह प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

प्रकृति ने चित्त को बाँध रखा है। जिन विकारों से बाँध रखा है वे शान्त हो जायँ, आगेवाली उन्नत अवस्था पकड़ में आती जाय– चित्त का यही परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है। इस उत्कर्ष के साथ यदि शरीर छूट गया तो उसी स्तर से जन्म होगा। पूर्व प्रकृति के शान्त होने और अग्रेतर उन्नत प्रकृति की जागृति जन्म-परिवर्तन है। चित्त की एक अवस्था से दूसरी अवस्था का परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है।

आरम्भ में चित्तवृत्ति का धरातल मलिन होता है। साधना के आरम्भ में साधक अल्पज्ञ है। ऐसी अवस्थावाले साधक तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। सेवा, समर्पण, सान्निध्य और साधन-श्रवण के प्रभाव से भजन जागृत हो जाता है; हृदय से चिन्तन की विधि जागृत हो जाती है। वही अल्पज्ञ शूद्र श्रेणीवाला साधक वैश्य श्रेणी का हो जाता है। एक प्रकृति पूर्ण हुई और दूसरी जागृत हो गयी। यह एक जन्म-परिवर्तन हो गया।

इस विधि के अनुसार लगते ही साधक दैवी सम्पत्ति का अर्जन करने लगता है। क्रमशः स्वभाव में धैर्य, शौर्य, साहस, संघर्ष झेलने की क्षमता आने लगती है तो वही साधक क्षत्रिय है। उस क्षत्रिय श्रेणी से लगा हुआ साधक विकारों को समाप्त कर ले जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि स्वभाव में ढल जाता है, ब्रह्म में विलय की योग्यता सहज स्वभाव बन जाता है। उस समय क्षत्रिय प्रकृतिपूर्ण है, एक उन्नत प्रकृति की जागृति हो गयी। अब वही साधक ब्राह्मण है।

चित्त का एक प्रकार की जीवनचर्या से दूसरे प्रकार में परिवर्तित हो जाना, पूर्व प्रकृति का शान्त हो जाना और उन्नत प्रकृति की जागृति यही जात्यन्तर-परिणाम है। उस साधक का दूसरा जन्म हो गया। अन्त में आत्मा

विदित हो आती है, आत्मस्थिति आ जाती है। उस समय सभी श्रेणियाँ समाप्त हो जाती हैं, प्रकृति समाप्त हो जाती है – न निकृष्ट प्रकृति है न प्रकृष्ट। इस उपलब्धि से पूर्व कदाचित् शरीर छूट जाता है तो पुनः शरीररूपी वस्त्र मिलेगा, उसी स्तर की साधना रहेगी। यही जन्म-परिवर्तन का रहस्य है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।(गीता,२/४५)

अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ! कैसे उठे? भगवान बतलाते हैं- नित्य सत्त्व परमात्मा के प्रति श्रद्धा स्थिर कर, योगक्षेम की चिन्ता न कर आत्मपरायण हो। ऐसा कर तू गुणों से ऊपर उठ जायेगा, वेदों की अधिकृत भूमि तीनों गुणों से आगे बढ़ जायेगा।

आगे बढ़ने से पायेगा क्या? वेदों से ऊपर उठकर किसने क्या पाया? इस पर भगवान कहते हैं–

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (गीता, २/४६)

सब ओर से परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर गड्ढे-जैसे क्षुद्र जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है। उदाहरण के लिये, राजस्थान में टंकियों में एकत्र वर्षा-जल से आवश्यकता की पूर्ति होती है। वहीं गंगा की स्वच्छ धारा प्रवाहित हो जाय तो कोई उन कुण्डों का कितना प्रयोग करेगा? किन्तु वे जलाशय रहेंगे अवश्य! वेद पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिये ही तो रहते हैं। जो वेदों से ऊपर उठता है, ब्रह्म को जानता है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण होता है। अर्जुन! तू वेदों की परिधि से ऊपर उठ, ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन! यही है जात्यन्तर-परिणाम। अर्जुन था तो क्षत्रिय, उसे ब्राह्मण बनने का निर्देश हुआ।

ये क्रमोन्नत श्रेणियाँ हैं। एक प्रकार की प्रकृति ज्यों-ज्यों दबती है, दूसरी प्रकृति का उदय होने लगता है। चित्त पर तामसी प्रकृति का दबाव

हटना और दूसरी सात्त्विक प्रकृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना- यह जन्म-परिवर्तन है।

क्या उपर्युक्त पाँचों साधन (जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि) प्रकृति को घटा-बढ़ा देते हैं? इस पर महर्षि पतंजलि कहते हैं, नहीं!-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।।३।।

निमित्त में औषधि, मंत्र, तप, समाधि इत्यादि प्रकृतियों के नियामक या संचालक नहीं हैं। ये निमित्त ऐसे ही हैं जैसे क्षेत्रपाल किसान '**वरणभेदः**'- आवरण का भेदन कर देता है।

किसान खेत की सिंचाई करता है। नाली में कहीं रुकावट है, वह उस अवरोध को दूर कर देता है, पानी तो स्वतः चला आता है। इसी प्रकार जितनी मात्रा में साधक का संयम सधता जाता है उतनी प्रकृति हटती जाती है, प्रकृति का आवरण झीना होने लगता है, ज्योतिर्मय परमात्मा का सहज प्रकाश होता जाता है। साधक प्रकृति में परिवर्तन नहीं करता बल्कि विजातीय अवरोधकों को फसल में बाधक विजातीय वनस्पतियों की भाँति निर्मूल उच्छेद कर देता है- '**कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।।' (रामचरितमानस, ४/१४/८)**

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।।४।।

चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में नियुक्त होना निर्मित चित्त है। निर्मित चित्त '**अस्मितामात्रात्**'-अस्मिता तक ही है।

आत्मा और वृत्तियों का मिश्रण अस्मिता है। जब तक अस्मिता है, चित्त एक अवस्था से दूसरे में परिवर्तित या निर्मित होता रहेगा। जब यह मिश्रण समाप्त हो जाता है तो चित्त-निर्माण नहीं होता, चित्त ही समाप्त हो जाता है।

चित्त में अनेक प्रवृत्तियों का बहाव है, वह स्थिर कैसे हो?-

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।।५।।

चित्तवृत्तियाँ अनन्त हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ लक्ष्य से भटकाती हैं, अक्लिष्ट वृत्तियाँ इष्ट से जोड़ती हैं। चित्त की अनेक प्रवृत्तियों को भेदकर उन्हें स्थिर

करनेवाला एक चित्त होता है– एक लक्ष्य के प्रति समर्पित चित्त होता है। निर्मित चित्तों के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं फिर भी एक मूल चित्त ही उन सबका नियन्त्रक है, प्रेरक है, संचालक है।

साधना में शनैः-शनैः उत्कर्ष करनेवाले चित्त नष्ट हो सकते हैं; किन्तु ध्यान में समाहित चित्त नष्ट नहीं होता, इस पर प्रकाश डालते हैं–

तत्र ध्यानजमनाशयम्।।६।।

एक चित्त जो सभी प्रवृत्तियों को भेदकर इष्ट से जोड़ता, उसमें नियुक्त करता है उसमें भी ध्यानजनित चित्त '**अनाशयम्**'-वासना और संस्कारों से रहित होता है, वह कभी नष्ट नहीं होता।

पूज्य गुरुदेव महाराज जी कहते थे, "हम नष्ट होना भी चाहें तो भगवान हमें नष्ट होने ही नहीं देंगे।" सम्पूर्ण साधन सिमटकर ध्यान में परिवर्तित हो जाने पर अनाशय हो जाता है। प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं जो उसे नष्ट कर दे। माया में ऐसा कोई उपद्रव नहीं जो उसे मिटा दे। ऐसे खतरे गुरु महाराज जी के समक्ष बार-बार आये; किन्तु भगवान् ने सँभाल लिया। अर्थात् इस अवस्थावाला योगी कर्म-संस्कारों से निर्विघ्न होता है।

अब ध्यान के पश्चात् की योग-स्थिति पर प्रकाश डालते हैं–

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।।७।।

ध्यान के पश्चात् जो प्राप्तिवाला योगी है उसके लक्षण बताते हुए महर्षि कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं, अन्य सब के कर्म तीन प्रकार के होते हैं।

योगी के कर्म करने के न शुभ परिणाम निकलते हैं, न अशुभ संस्कार बनते हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं– जो आत्मतृप्त है,आत्मस्थित है, जिसका योग पूर्ण है उस पुरुष को कर्म करने से न कोई लाभ है और न कर्म छोड़ देने से कोई क्षति; क्योंकि अब उसे कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो पुकारेगा किसको? न ही उसके पीछे कोई विकार है, तो काटेगा किसे?

गीता (४/१३) में ही भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, '**चातुवर्ण्यं मया सृष्टम्**'-चार वर्णों की रचना मैंने की। '**तस्य कर्तारमपि मां विद्धय कर्तारमव्ययम्।**'-उसके कर्त्ता मुझ अव्यय आत्मा को अकर्त्ता ही जान। कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते; क्योंकि कर्म के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। इस नियत कर्म का फल परमात्मा है और वह मुझसे विलग नहीं है। आगे कुछ नहीं तो इच्छा किसकी होगी? यही महर्षि पतंजलि भी कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके कर्म का न शुभ परिणाम होता है, न अशुभ।

योग-पथ वृत्तियों के संयम का है। कोई भी साधक, जो भगवान के निर्देशन में है, वह इस पथ को प्राप्त कर सकता है। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे; किन्तु जब उन्हें स्थिति प्राप्त हुई तो बोले, '**आँख न मूदूँ कान न रुँधू, काया कष्ट न धारों। उघरे नयना साहब देखूँ, सुन्दर रूप निहारों। सन्तो! सहज समाधि भली।**'

अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। गीता में भी है–

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।। (१८/१२)

सकामी पुरुषों के कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसा तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी होता है, जन्म-जन्मान्तरों तक मिलता है किन्तु '**संन्यासिनाम्**'- सर्वस्व का न्यास करनेवाले पूर्ण त्यागी पुरुषों के लिये कर्मों का फल किसी भी काल में नहीं होता अर्थात् योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं।

पुनः उसी सामान्यजनों के कर्म पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं–

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।८।।

उक्त तीन प्रकार के कर्मों से फलभोग के समय अनुकूल वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् वासनायें उपयुक्त वातावरण और क्षेत्र पाने पर ही प्रकट होती हैं। जिस समय जिन वासनाओं के प्रकट होने का अवसर आता है उस समय केवल वे ही प्रकट होंगी, शेष सब संचित रहेंगी।

जो योगी नहीं हैं, अभी बाह्य स्तर पर हैं, उनके कर्मों का फल तीन प्रकार का होता है– सात्त्विक, राजस और तामस। यही है शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित फल। वे भोग अवश्य मिलते हैं, उनमें कोई बाधा ही नहीं है; क्योंकि–

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।।९।।

जाति अर्थात् जन्म, देश अर्थात् किसी भी स्थान और काल अर्थात् समय– इन तीनों का व्यवधान रहने पर भी कर्म–संस्कारों में '**आनन्तर्यम्**'– व्यवधान नहीं पड़ता; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। स्मृति में वही उभरता है जो संस्कारों में होता है।

उस समय स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है, जब इन संस्कारों का उभरना शान्त हो जाय। '**स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।**' (१/४३) स्मृति उस समय पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है जब चित्त का स्वरूप शून्य हो जाता है, ध्येय लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है। यह निर्वितर्क समाधि की अवस्था है, बीज विद्यमान है। जब भीतर कुछ संस्कार शेष ही नहीं है तो अब स्मृति में उभड़े भी क्या?

संस्कारों की गति अबाध है। यह जन्म–जन्मान्तरों में यत्र–तत्र–सर्वत्र कर्ता का अनुगमन करती है। काकभुशुण्डिजी को अनेक जन्म मिले, अनेक देशों में गये, काल–चक्र से गुजरे; किन्तु कोई व्यवधान नहीं पड़ा। '**कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना।।**' (**मानस, ७/१०८ घ/८**) किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटा। यह अवश्यंभावी है–

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।।१०।।

'**तासाम्**'–उन स्मृतियों और संस्कारों की एकता अर्थात् कर्म–संस्कारों में व्यवधान न पड़ना '**अनादित्वम्**'–अनादि से है; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। वासनाओं का स्मृति पर उभरना अनादि है, आरम्भ से ही है। इसी के कारण प्राणियों में '**नित्यत्वात्**'– शाश्वत स्वरूप पाने की इच्छा नित्य बलवती होती रहती है। गीता में है–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। (१३/१९)

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि जान। सम्पूर्ण विकारों को भी त्रिगुणमयी प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।

जिजीविषा, सुख-संसाधनों की तृष्णा के अन्त का उपाय?–

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।।११।।

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन चारों से संस्कारों का संग्रह होता है, जिससे वासना गतिशील होती है। इन चारों का अभाव होने से संस्कारों का भी अभाव हो जाता है।

वासना और तज्जनित संस्कारों का कारण अविद्यादि क्लेश, उनसे होनेवाले कर्म और साधनाजनित कर्म भी हैं। ये सब मिलकर भले अथवा बुरे संस्कार ही तो देते हैं। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। ये चित्त के माध्यम से चलते हैं इसलिये इनका आश्रय चित्त है और जिसके द्वारा चलते हैं, जिसे धारण करनेवाले हैं वे शब्दादि विषय आलम्बन हैं। आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, विभाव और संचारी भावों से रसों का उद्रेक होता है, जिससे चित्त द्रवीभूत होकर संस्कारों से संश्लिष्ट हो जाता है। उपर्युक्त चारों माध्यमों के अभाव से इन वासनाओं और संस्कारों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इनके अभाव के साथ ही धर्म का उदय होता है। यहाँ महर्षि ने 'धर्म' शब्द का पुनः प्रयोग किया है–

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।।१२।।

'**धर्माणाम्**'-धर्मों में '**अध्वभेदात्**'-काल का भेद होता है। इस कारण जो अतीत हो गये हैं– वासना इत्यादि; और जो '**अनागतम्**'-आनेवाले हैं, अभी प्रकट नहीं हुए हैं- स्वरूप की उपलब्धि - उनमें भी स्वरूप से धर्म विद्यमान रहता है।

धर्म में काल का भेद होता है। इस कारण से अविद्या, वासना, चित्तवृत्तियाँ इत्यादि जो अतीत हो गये हैं; भजन के द्वारा जो संस्कार कट चुके हैं और '**अनागत**'-जो प्रकट नहीं हुए हैं, आनेवाले हैं; स्थिति जो

मिलनी है, उनमें भी धर्म स्वरूप से विद्यमान रहता है। परम चेतन परमात्मा धर्म है। '**धरमु न दूसर सत्य समाना।**' (**मानस, २/९४/५**); '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' (**गीता, १८/६६**) अर्जुन! समस्त धर्मों की चिन्ता छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा। एक ईश्वर की शरण ही धर्म है। किन्तु वे धर्म–

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।।१३।।

वे धर्म व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में गुणस्वरूप ही हैं। गुणों का जैसा सात्त्विक, राजस, तामस – उन्नत, मध्यम, मलिन प्रभाव रहता है वैसा ही इनका रूप है। जैसा कि प्रथम पाद के चौथे सूत्र में है- '**वृत्ति सारूप्यमितरत्र।**' जैसा वृत्ति का रूप है, वही आप हैं।

किन्तु जब तीनों गुणों का प्रभाव सम हो गया, तब इस पर कहते हैं–

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।।१४।।

किन्तु '**परिणाम एकत्वात्**'-परिणाम की एकता से वे न सात्त्विक, न राजस और न तामस ही हैं। इनका कार्य शान्त हो गया, तब '**वस्तुतत्त्वम्**' जो विषय-वस्तु है- योग, योगाभ्यास तत्त्वरूप में प्रकट हो जाता है अर्थात् सत्य वस्तु द्रष्टा आत्मा परमात्मा को विदित कराने, दर्शानेवाला हो जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने इसी पर बल दिया– अर्जुन! इस कर्म (नियत कर्म) को किये बिना न कोई सृष्टि में प्राप्त कर सका है, न ही भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। जनकादि ऋषि इसी कर्म को करके नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त हुए थे; किन्तु अभ्यास इतना उन्नत हो गया कि कर्मों के परिणाम में आत्मा विदित है, आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस पुरुष के लिये किंचित् भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। यही है वस्तु 'परम तत्त्व'। गुणों का कार्य समाप्त हो जाने पर वह वस्तुतत्त्व प्रकट हो जाता है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।।१५।।

वस्तु यहाँ परमात्मा है। '**वस्तुसाम्ये**'-वस्तु की सम स्थिति में '**चित्तभेदात्**'-चित्त का भेद प्रत्यक्ष है। इसलिये '**तयोर्पन्थाः विभक्तः**'

चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु इन दोनों का मार्ग अलग-अलग है।

वस्तु पूर्ण है। चित्त उसमें विलीन हो जाता है। प्रकृति उस वस्तु में परिवर्तित हो जाती है। '**तयोर्पन्थाः विभक्तः**'-इन दोनों का पथ अलग-अलग है। चित्त तीनों गुणों तक, प्रकृति तक ही कर्म करते हैं। वह द्रष्टा व्यापक है। पुनः उसी चित्त पर प्रकाश डालते हैं–

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।।१६।।

इसके अतिरिक्त वस्तु (वह परमात्मा) किसी एक चित्त के अधीन नहीं है; क्योंकि जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी, उस समय '**किं स्यात्**'-चित्त का क्या उपयोग रह जाता है? वह शान्त प्रवाहित रहता है। अतः वस्तु जब प्रमाणित हो जाती है तब चित्त का अलग से क्या काम? चित्त चेतन का ही प्रसारण केन्द्र बन जाता है।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।।१७।।

चित्त उपरागापेक्षी है– अपने में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने की अपेक्षावाला है, इसलिये उसके द्वारा वस्तु कभी ज्ञात तो कभी अज्ञात होती रहती है अर्थात् कभी ध्यान पकड़ में आता है, कभी नहीं आता। जितना भगवान का प्रतिबिम्ब आया, उतना देखता है; नहीं आया तो नहीं देखता। किन्तु भगवान सब जानते हैं। भगवान जितना बताते हैं, चित्त उतना ही जानता है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।।१८।।

उस चित्त का स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है अर्थात् उसका कोई परिणाम नहीं निकलता, इसलिये चित्त की वृत्तियाँ सदा उसे ज्ञात रहती हैं।

'**तत्प्रभोः**'–उस चित्त का स्वामी एकरस है, इसलिये चित्त की वृत्तियों को वह सदैव जानता है कि कब कौन कहाँ पर हैं और उन्हें संचालित करता रहता है। चित्त जो जानता है, वह दृश्य के द्वारा है–

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।।१९।।

वह चित्त स्वप्रकाश– प्रकाशस्वरूप नहीं है; क्योंकि वह '**दृश्यत्वात्**'-दृश्य से है।

चित्त में जो प्रकाश दिखायी पड़ता है वह पुरुष के द्वारा प्रसारित दृश्य के द्वारा ही है। चित्त में स्वयं का कोई प्रकाश नहीं है, स्वाभास नहीं है। चित्त जो कुछ देख लेता है, चित्त में जो प्रकाश देखने में आता है, वह दृश्य के द्वारा ही है। यह दृश्य द्रष्टा-दृश्य-संयोग ही है जो हेयहेतु है। दृश्य वैसा है जो प्रकाश, क्रिया और स्थिति दिलाता है; जो इस आत्मा के लिये भोग, अपवर्ग, परम मुक्ति का सम्पादन करता है। यह पुरुष से संचालित है जिसे चित्त विदित है। चित्त में जो प्रकाश है वह इस दृश्य के द्वारा है अन्यथा मनुष्य अन्धा है। वृत्ति तो वृत्ति है- **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।' (मानस, ३/१५/३)** इसलिये अपने से कोई कल्पना करता है तो माया है, अन्धकार है, उसमें प्रकाश कुछ भी नहीं है- जो कुछ है वह 'दृश्यत्वात्'। दृश्य का कार्य है- पुरुष के लिये भोग प्रदान करना। क्या ऐसे भोग मोक्ष में सहायक हैं? श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- **'भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।।' (५/२९)** उन पुरुष का भोग है यज्ञ, तप और संयम। वह दृश्य मुक्ति का पूर्ण सम्पादन करनेवाला है। अस्तु, चित्त में जो प्रकाश है, दृश्य के द्वारा है।

एकसमये चोभयानवधारणम्।।२०।।

'उभय अनवधारणम्'- एक ही समय में चित्त और दृश्य-इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हो सकता; क्योंकि चित्त तो चित्त ही है। दृश्य जब भी आता है, स्वतंत्र ढंग से आता है। कब क्या प्रसारित होनेवाला है, उसे एक साथ ही नहीं जाना जा सकता। वह तो अनुभव में उभरने पर ही समझ में आता है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च।।२१।।

'चित्तान्तरदृश्ये'-चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन दृश्य के माध्यम से होता है और **'बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः'**-बुद्धि में बौद्धिक विकास का जो अन्तरंग प्रसंग है वह भी दृश्य के द्वारा ही प्रकट होता है और **'स्मृतिसंकरश्च'**-स्मृति में इसका मिश्रण होता जाता है। स्मृति तभी पूर्ण होगी, जब भजन पूरा हो जायेगा। इसलिये पूर्व विचारों में साधनात्मक दृश्य का मिश्रण होता जाता है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।।२२।।

यद्यपि चेतन-शक्ति पुरुष क्रिया से रहित और असंग है फिर भी '**तदाकारापत्तौ**'-तदाकार स्थिति, एकाग्रता आ जाने पर उसे अपने चित्त का ज्ञान होता है। '**स्वबुद्धिसंवेदनम्**'-तदाकार हो जाने पर स्वरूप की स्थितिवाली बुद्धि हो जाती है, स्व-स्वरूप का बुद्धि में संवेदन चलने लगता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।।२३।।

द्रष्टा और दृश्य- इन दोनों से रंगा हुआ चित्त '**सर्वार्थम्**'-सम्पूर्ण अर्थ- दैवी सम्पद् की प्राप्ति करा देनेवाला होता है; क्योंकि द्रष्टा-दृश्य का संयोग आत्मा, पुरुष के लिये मुक्ति का सम्पादन करनेवाला है। इसलिये द्रष्टा-दृश्य का संयोग 'सर्वार्थ'-सम्पूर्ण अर्थवाला, कैवल्य पद की उपलब्धि करानेवाला होता है। इसमें '**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।**' **(गीता, २/१८)** अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये सभी शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही अविनाशी है, जिसका कि तीनों कालों में नाश नहीं होता। आत्मा ही सत्य है। '**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्**' द्रष्टा जो चैतन्य है, निर्मल है और दृश्य-पुरुष के लिये भोग, अपवर्ग (मुक्ति) का साधन जुटाना जिसका प्रयोजन है; क्रिया, स्थिति प्रदान करना ही जिसका प्रयोजन है- इन दोनों से संचालित होकर चलनेवाला चित्त सब अर्थ वाला होता है, सम्पूर्ण अर्थ नैष्ठिकीम् सिद्धि प्रदान करनेवाला होता है। आगे कहते हैं-

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।।२४।।

वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी परार्थ अर्थात् परम अर्थ को सिद्ध करनेवाला होता है; क्योंकि वह समस्त वासनाओं को काटने वाला है। जिसका चित्त द्रष्टा और दृश्य के संयोग से रँगा है ऐसा योगी असंख्य वासनाओं से संसर्ग होने पर भी अपने लक्ष्य पर होता है। वासनाओं से वह लिपायमान नहीं होता। '**पद्मपत्रमिवाम्भसा**'-कीचड़ और जल से

निरन्तर धुलता हुआ कमल का पत्र उससे भींगता नहीं, स्वच्छ रहता है; उसी प्रकार ये महापुरुष भी निर्मल और अमल रहते हैं। उनके संसर्ग में जो आ जाता है उसका भी कल्याण हो जाता है। पूज्य गुरुदेव का निवास बर्बर दस्युओं एवं जंगली कोल-भीलों के मध्य था; किन्तु महाराज जी के साहचर्य से उन सबका हृदय-परिवर्तन हो गया, उनकी बर्बरता समाप्त हो गयी और वे भी भजन-चिन्तन में प्रवृत्त हो गये।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।।२५।।

'**विशेषदर्शिनः**'-उस विशेषपुरुष का दर्शन करनेवाले योगी के चित्त में आत्मभाव नहीं रह जाता कि मैं योगी हूँ, समर्थ हूँ, आत्मवान् हूँ; क्योंकि वह जानता है कि कर्ता-धर्ता तो वह विशेषपुरुष ईश्वर है। देहाध्यास समाप्त हो जाता है। इस अवस्थावाले योगी के चित्त की स्थिति कैसी रहती है?-

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।।२६।।

उस समय योगी का चित्त विवेक की ओर झुका हुआ कैवल्य पद की ओर उन्मुख हो जाता है। विशेष-दर्शन के साथ आत्मश्लाघा की निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु अभी दर्शन ही तो हुआ है, स्वरूप की स्थिति तो नहीं मिली, उस समय चित्त गंभीर रूप से विवेकवान् होता है, कैवल्य की ओर गमन कर जाता है। ऐसे चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता।

किन्तु उस चित्त में जो उद्वेग उठते हैं, वे क्या हैं?-इस पर कहते हैं-

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।।२७।।

उस समाधिस्थ चित्त के अन्तराल में विपरीत वस्तुओं का स्फुरण पूर्व-संस्कारों से होता है। विवेक में झुका हुआ चित्त है अर्थात् सबीज समाधि की अवस्था है। '**तच्छिद्रेषु**'-उसके अन्तराल में जो विजातीय छिद्र हैं, दूसरे पदार्थों का ज्ञान है, वह पूर्वसंस्कारों से होता है। अभी संस्कार है, भले ही स्वल्प हैं, निरोध के संस्कार हैं लेकिन जीवित हैं। उसमें जो विरोधी भाव अन्तराल में उभरते हैं, संस्कार से होते हैं। नया कर्म-संग्रह तो होता नहीं, पूर्वसंस्कार से ही होते हैं। नया कुछ नहीं बनता।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।।२८।।

इन संस्कारों का क्लेशों की भाँति ही विनाश करने को कहा गया है। जितना हानिकारक क्लेश इत्यादि हैं, उतना ही ये भी हैं। इनका विनाश क्लेशों की ही भाँति करना आवश्यक है। अभ्यास में प्रमाद नहीं होना चाहिए। इन संस्कारों के उच्छेद के साथ ही धर्ममेघ समाधि है–

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।।२९।।

जिस योगी का विवेक–ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका विवेक–ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है– जहाँ धर्म–ही–धर्म है, चिदाकाश में सर्वत्र धर्म ही छाया हुआ है। धर्म शाश्वत है, सनातन है, परम सत्य है; वह है क्लेश कर्मों से अतीत ईश्वर! सर्वत्र उसे उस द्रष्टा का संचार ही दिखाई देता है– **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।' (ईशावास्योपनिषद्, १)**।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।।३०।।

इस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के साथ ही क्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और इनसे उत्पन्न कर्म–संस्कारों का सर्वथा नाश हो जाता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।।३१।।

उस समय जिसके सभी आवरण और मल हट चुके होते हैं, ऐसा ज्ञान अनन्त सीमारहित हो जाता है, इस कारण **'ज्ञेयं अल्पम्'**– ज्ञेय पदार्थ परमात्मा और साधक के बीच अत्यन्त अल्प दूरी रह जाती है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।।३२।।

द्रष्टा की अनुभूति, तदनन्तर ज्ञेय की अनुभूति, अल्प दूरी जो शेष थी, वह भी पूर्ण हो गयी– इस प्रकार साधक जब कृतार्थ हो गया, अपना कार्य पूर्ण कर चुका– ऐसे पुरुष के समक्ष गुणों का प्रभाव, परिणाम–क्रम समाप्त हो जाता है। सत्, रज, तम तीन गुण हैं। ये उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार का प्रभाव डालते रहते हैं। इनका क्रम चलता रहता है। इस अवस्था

में यह क्रम सदा के लिये समाप्त हो जाता है अर्थात् वह योगी गुणों से अतीत हो जाता है।

उस समय साधना का क्रम कैसा रहता है?–

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।।३३।।

जो क्षणों का प्रतियोगी है और '**परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः**'– जिसका स्वरूप परिणाम के अन्त में समझ में आता है, वह क्रम है।

आरम्भिक साधक भजन में घण्टों बैठता है किन्तु कुछ ही मिनट भजन हो पाता है। कभी उन्नत अवस्था में घण्टों के मध्य कुछ मिनट ही व्यर्थ जाते हैं और संयम परिपक्व हो जाने पर श्वास आई तो ओम्, गई तो 'ओम्'– बीच में कोई भी श्वास आपकी जानकारी के बिना व्यर्थ नहीं जाने पाती तो आप क्षणों के प्रतियोगी हैं, अब हर क्षण पर आपका नियंत्रण है। साधना इस अवस्था में पहुँच जाती है कि एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाती, उस समय परिणाम-क्रम अन्तिम परिणामपर्यन्त निर्ग्राह्य हो जाता है, उसका कोई उपयोग ही नहीं रह जाता। अब क्षण-क्रम कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इस परिणाम के साथ पुरुषार्थ पूर्ण हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।३४।।

जिनका पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, अब साधना पूर्ण है, गुणों का अपने कारण में विलीन होने के साथ द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना–'**चितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठा**' द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना '**कैवल्यम्**'– कैवल्य पद है। गुण और कुछ भी नया प्रसव नहीं करते, अपने कारण में लीन हो गये। यहाँ द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही कैवल्य पद है। साधना सम्पन्न हो गयी।

इस शास्त्र के आरम्भ में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' की जो प्रस्तावना थी, 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' की जो प्रस्थापना थी, उसी का यहाँ

समापन है कि द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो गया। यही कैवल्य-स्थिति है। इसी के साथ ही योगी शाश्वत जीवन, शाश्वत शान्ति और शाश्वत स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह कैवल्यपाद पूर्ण हुआ।

निष्कर्ष-

सिद्धियाँ अनन्त हैं। संसार से अलग कुछ विलक्षणता प्राप्त कर लेना सिद्धि कहलाती है। इन सिद्धियों में अष्ट सिद्धियों तथा अन्यान्य सिद्धियों का उल्लेख इस योगदर्शन के तृतीय पाद में है; किन्तु परमसिद्धि है- परमतत्त्व परमात्मा का विदित हो जाना, सध जाना। यह सिद्धि अनेक जन्म से साधन कर रहे साधक को साधना की परिपक्व अवस्था आने पर जन्म के साथ ही (भगवान श्रीकृष्ण की तरह) प्राप्त हो जाती है। साधन में अवस्था-भेद के अनुसार शेष साधकों को औषधि अर्थात् भक्ति [**'रघुपति भगति सजीवन मूरी।' (मानस, ७/१२१/७)**], मंत्र, तप और समाधि के द्वारा सफलता मिलती है।

पूर्वप्रकृति के पूर्ण हो जाने तथा अग्रेतर उन्नत प्रकृति के जागृत होने से जन्म-परिवर्तन हो जाता है। जिस प्रकृति ने चित्त को बाँध रखा है, वह प्रकृति शान्त हो गयी, उन्नत प्रकृति का प्रादुर्भाव हो गया- यही जन्म-परिवर्तन है। ऐसी अवस्था में यदि शरीर छूट गया तो उसी स्तर से जन्म होता है। जन्म, औषधि अर्थात् भक्ति, मंत्र, तप और समाधि- ये निमित्त हैं। इनके द्वारा प्रकृति का संचालन नहीं होता प्रत्युत् अवरोध दूर कर दिया जाता है, जिससे उन्नत प्रकृति स्वतः प्रसारित हो जाती है। इस प्रकार चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन जात्यन्तर-परिणाम है, जाति-परिवर्तन है, जन्म-परिवर्तन है, एक रचना है। यह निर्माण चित्त जब तक अस्मिता है, तभी तक होता है। आत्मा और वृत्तियों का मिश्रण अस्मिता है। चित्त की अनेक प्रवृत्तियों को स्थिर करना, एक ईश्वर में समर्पित करना, एक ईश्वर में नियुक्त करना चित्त का कार्य है। इनमें से क्रमशः ध्यान की स्थिति मिल गयी तो ध्यानजनित चित्त का **'अनाशयम्'**-कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। अन्य लोगों के कर्म तीन

प्रकार के होते हैं। वे सभी कर्म वासनाओं को ही जन्म देते हैं। अनन्त जन्म-परिवर्तन और काल का अन्तराल होने पर भी वे कर्म नियत समय पर प्रकट हो जाते हैं; क्योंकि स्मृति और संस्कार का एक ही स्वरूप है। स्मृति में वही उभरता है जो संस्कार की परत में होता है। इनकी एकता अनादिकाल से है इसलिये सदा '**नित्यत्वात्**'- 'नित्य स्वरूप पा जाऊँ'- यह भावना इसमें बनी रहती है। हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन्हीं के द्वारा इन संस्कारों का, वासनाओं का सृजन होता है। इन चारों के अभाव के साथ ही वासनायें, ये संस्कार सदा के लिये मिट जाते हैं।

संस्कारों का हेतु अविद्या इत्यादि क्लेश हैं। फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। चित्त इनका आधार और विषय आलम्बन है। इनके अभाव के साथ ही ये संस्कार सदा के लिये मिट जाते हैं। इनके मिटते ही धर्म का नाम आया है जो काल का भेद होने पर भी हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन; जो अतीत हो गया, '**अनागत**'- जो अभी प्रकट नहीं हुआ है; जैसे- स्वरूप की प्राप्ति, स्थिति इत्यादि इन सब में धर्म '**स्वरूपतोऽस्ति**'-सदा स्वरूप से विद्यमान और प्रसारित रहता है। गुणों के अनुसार ये धर्म उत्तम, मध्यम और मलिन अवस्था में दिखायी देते हैं; किन्तु हैं स्थिर और प्रत्यक्ष। परिणाम की एकता में '**वस्तुतत्त्वम्**'- जो योग-साधना कर रहे थे, उससे उपलब्ध वस्तु चेतन द्रष्टा का तत्त्वरूप में विदित हो जाना सम्भव है। '**वस्तुसाम्ये चित्तम्**'- वस्तु की साम्य अवस्था में चित्त का भेद स्पष्ट हो जाता है कि चित्त का रास्ता अलग है और वस्तु इससे भिन्न सत्ता है। वस्तु है परमात्मा। यह चित्त इस वस्तु के प्रतिबिम्ब की अपेक्षावाला है। वस्तु का जितना प्रतिबिम्ब पड़ता है, उतना ही चित्त जानता है; अन्यथा नहीं जानता। किन्तु वह वस्तु द्रष्टा है अर्थात् परमात्मा है। उसे चित्तवृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं। चित्त में जो प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, वह द्रष्टा-दृश्य के द्वारा है। जितना चित्त में दृश्य प्रसारित होता है उतना ही चित्त जानता है, इसके आगे नहीं देखता।

यद्यपि वह चेतन-शक्ति क्रिया से रहित और असंग है तब भी तदाकार हो जाने पर '**स्वबुद्धिसंवेदनम्**'- बुद्धि में स्वरूप का संवेदन प्राप्त कर लेता है। वह संवेदन कैसे प्राप्त करता है? किसके द्वारा प्राप्त करता है?

इसके लिए महर्षि कहते हैं- द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ चित्त '**सर्वार्थम्**'- सम्पूर्ण अर्थ को प्राप्त करानेवाला होता है। यही है अनुभव। द्रष्टा और दृश्य से रँगा होने पर ही चित्त '**परार्थम्**'-परमार्थिक अर्थ को सम्भव करनेवाला होता है; क्योंकि यह समस्त वासनाओं को काटनेवाला है, '**विशेषदर्शिनः**'- क्लेश-कर्म से परे विशेषपुरुष ईश्वर के दर्शनवाला हो जाता है। ऐसा चित्त उसे प्रत्यक्ष कर लेता है। उस समय उसका आत्मभाव, अहं, कि मैं योगी हूँ- यह भाव सदा के लिये धुल जाता है। उस समय चित्त विवेक में झुका हुआ और कैवल्य स्वरूप की ओर उन्मुख रहता है।

ऐसे चित्त में कभी-कभी यत्किंचित् स्फुरण आते हैं, सूक्ष्म संस्कार प्रस्फुटित होते हैं। ये संस्कार भी क्लेशों की ही तरह भयंकर हैं। साधक को असावधानी या प्रमाद नहीं करना चाहिए। इन अत्यन्त सूक्ष्म संस्कारों का भी विनाश क्लेशों की ही भाँति अनिवार्य है। साधक को इनके भी उन्मूलनपर्यन्त साधना में लगे रहना चाहिए।

इन सूक्ष्म संस्कारों के उच्छेद होने पर योगी विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य- परम वैराग्य की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण '**धर्ममेघः समाधिः**'-आकाशवत् रहनी प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही समस्त क्लेश और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का अन्त हो जाता है। उस समय जिसके सभी आवरण और मल समाप्त हो चुके हैं- ऐसा ज्ञान अनन्त, सीमारहित हो जाता है। '**ज्ञेय अल्पम्**'- ज्ञेय ज्योतिर्मय द्रष्टा अल्पमात्रा में ही अनजाना रहता है। सब कुछ जानने में आ चुका है, जरा-सा भेद है और जब वह भी जानने में आ गया तब योगी कृतार्थ हो जाता है, उसके कर्त्तव्य पूर्ण हो जाते हैं- '**ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।**' (४/३२) इसके पश्चात् अपना कार्य पूर्ण कर गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति हो जाती है। अब गुण कोई परिणाम नहीं दे सकेंगे। उस समय योगी का हर श्वास, हर क्षण पर नियंत्रण हो जाता है। पहले साधक घण्टों का प्रतियोगी था, साधन पकड़ में आने पर क्षणों का प्रतियोगी हो जाता है, एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाती। इस परिणाम के उपरान्त '**निर्ग्राह्य क्रमः**'-क्रम कुछ निर्माण या ग्रहण नहीं करते

– न भला न बुरा। यही उनका परिणाम है। यहाँ पुरुषार्थ पूर्ण हुआ, साधना पूर्ण हुई।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।' (४/३४) जिनका स्वरूप के लिये पुरुषार्थ, योग-साधन का क्रम, परिश्रम पूर्ण हुआ, समाप्त हो गया, उस समय गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य पद है। जहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं; सुख नहीं, दुःख नहीं– अभय पद, अमृतमय पद, सदा रहनेवाली शान्ति है। **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।'** (**गीता, १८/६२**) भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! हृदय में स्थित ईश्वर की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परमशान्ति को प्राप्त होगा। उस स्थान को पा जायेगा जो शाश्वत है, सनातन है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

उपशम

- **दो प्रकार के पुरुष**

गीता के अनुसार, '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।**' (१५/१६) संसार में दो प्रकार के पुरुष होते हैं– क्षर और अक्षर। तीसरा उत्तम पुरुष है, वह अनिर्वचनीय है। परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा जाता है; किन्तु है अनिर्वचनीय।

ठीक इसी प्रकार महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में पुरुष के दो ही स्वरूप हैं– एक तो द्रष्टा की काल से अतीत आत्मस्वरूप में स्थिति और दूसरा जैसा वृत्तियों का प्रवाह है वैसा ही आपके लिये पुरुष है। वही आपका रूप है, वही द्रष्टा का रूप है।

महर्षि ने आरम्भ में ही वृत्तियों का स्वरूप बताया। वे दो प्रकार की होती हैं– क्लिष्ट और अक्लिष्ट। इन वृत्तियों का निरोध योग का लक्ष्य है। योगशास्त्र का उपक्रम करते हुए महर्षि कहते हैं, '**अथ योगानुशासनम्।**' अब ध्यान दें कि योग क्या है? योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें? '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' (१/२)–चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। किसी ने श्रम किया, अभ्यास और वैराग्य को साधा, वृत्तियों का निरोध हो ही गया, तो उससे लाभ क्या? '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**' (१/३)–निरोध के साथ ही द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। जो चैतन्य है, अविनाशी है, निर्लेप है उस स्वरूप की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस निरोध के पूर्व द्रष्टा का स्वरूप क्या होता है? '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**' (१/४)–दूसरे समय में जैसा वृत्तियों का स्वरूप है, वैसा ही आपके लिये द्रष्टा है।

जब तक वृत्तियाँ हैं, शरीरों का परिवर्तन होता रहता है। '**जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्।।**' (४/२) जाति अर्थात् जन्म। इस जन्म का

उस जन्म में बदल जाना जात्यन्तर-परिणाम है। यह '**प्रकृत्यापूरात्**'-प्रकृति के पूर्ण होने से होता है। जिस प्रकृति ने चित्त को जकड़ रखा है उस प्रकृति का शान्त होना और उन्नत प्रकृति का प्रादुर्भाव- यही जाति-परिवर्तन अर्थात् जन्म-परिवर्तन है, जात्यन्तर-परिणाम है। क्रमशः उन्नति करते हुए चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में बदल जाना जन्म-परिवर्तन है। इस परिणाम की जैसी स्थिति में शरीर छूटता है तो पुनः उसी अवस्था से शरीर मिलता है; किन्तु पुरुष के दो ही रूप हैं। वृत्तियों का निरोध होते ही द्रष्टा अपने अविनाशी परमात्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है; अन्यथा वृत्तियों का जैसा प्रवाह है, वैसा ही आपके लिये द्रष्टा का स्वरूप है और वही आप हैं, वही आपका स्वरूप है। वृत्तियों के कारण ही जन्म-परिवर्तन है।

- **भजन कहाँ से आरम्भ करें?**

'**तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (२/१) तप- मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप संयमित करना तप है। स्वाध्याय- कितनी मात्रा में मन लगना चाहिए, कितना मैं भजन में लग पाया हूँ?- इसका भली प्रकार आकलन करते हुए भजन में प्रवृत्त होना स्वाध्याय है। ईश्वर-प्रणिधान- एक ईश्वर के प्रति समर्पण ही ईश्वर-प्रणिधान है। यहीं से योग-क्रिया का आरम्भ हो जाता है। योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर उस ज्योतिर्मय परमात्मा के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है (२/२८)।

- **अभ्यास**

'**स्थिरसुखमासनम्।**' (२/४६)-स्थिर, हलन-चलन से रहित जिसमें सुख प्रवाहित है- ऐसा अचल स्थिर बैठने का नाम आसन है। सीधा स्थिर बैठने से कहीं सुख मिलता है? सहज सुख एकमात्र परमात्मा में है। जब वह चिन्तन में प्रसारित हो, तभी आसन की सिद्धि है। '**प्रयत्नशैथिल्यानन्त-समापत्तिभ्याम्।**' (२/४७)-उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता तथा अनन्त परमात्मा में मन लगाने से स्थिर होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान में जो प्रयत्न

चल रहा था, उस अभ्यास में शिथिलता आ जाय, प्रयत्न करना न पड़े, सहज होने लगे तथा एक परमात्मा में मन लग जाय, तब आसन सिद्ध होता है।

चित्तवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं- क्लिष्ट और अक्लिष्ट। इनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। इन दोनों में चित्त को स्थिर करने का प्रयास अभ्यास है। अभ्यास का आरम्भ ईश्वर की शरणागति, ॐ के जप, योगाङ्ग के स्वाध्याय के साथ आरम्भ हो जाता है। यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक, सांगोपांग श्रद्धापूर्वक करने से '**दृढभूमिः**'- दृढ़ अवस्थावाला होता है। जब चित्त अचल स्थिर ठहरने की अवस्था में आता है तब आसन सध जाता है।

अभ्यास का अंतिम चरण कैवल्य की प्राप्तिपर्यन्त है- '**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।**' (४/३४) '**पुरुषार्थशून्यानाम्**'- जिस पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, चित्त को रोकने के लिए जो प्रयत्न किया जाता था, उसमें जो पुरुषार्थ होता था वह पुरुषार्थ पूर्ण हो जाय- यह अभ्यास का पूर्तिकाल है। उस समय गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य स्वरूप है अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य पद है- जहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, न सुख न दुःख। यहाँ अभ्यास पूर्ण हो जाता है।

- **वैराग्य**

अनन्त चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है- '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' (१/१२) वैराग्य क्या है? समाधिपाद के पन्द्रहवें सूत्र में महर्षि ने बताया- '**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**' (१/१५) सृष्टि में जो कुछ भी देखने में आता है, इससे भी अधिक भोगों की व्यवस्था जो स्वर्ग-बैकुण्ठ की महिमा में सुनने को मिलती है – इन सबके प्रति तृष्णारहित चित्त का जो प्रवाह है, चित्त की वशीकार अवस्था है, उसी का नाम वैराग्य है।

अभ्यास साथ में चल ही रहा है। अभ्यास वहाँ तक पहुँच गया जहाँ परमतत्त्व परमात्मा विदित हो गया, तब प्रकृति के गुणों के प्रति भी तृष्णा का

सर्वथा अभाव हो जाता है। **'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्।।' (१/१६)** पुरुष अर्थात् परम पुरुष चेतन, निर्मल परमात्मस्वरूप के ज्ञान से प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है कि वह है ही नहीं– उसमें भला ढूँढ़ा क्या जा सकता है? जब कुछ है ही नहीं तो उसमें तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है– यह पर–वैराग्य है, वैराग्य की पराकाष्ठा है।

विभूतिपाद में पुनः इसी पर प्रकाश डालते हैं– **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति मात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।' (३/४९)** बुद्धि और पुरुष अर्थात् साधक और साध्य– इन दोनों की भिन्नतामात्र का ही जिसमें भान है ऐसे सबीज समाधिप्राप्त योगी का समस्त भावों पर स्वामिभाव हो जाता है, वह सब कुछ जानने की क्षमतावाला हो जाता है और जब स्वामित्व तथा सर्वज्ञता भावों में भी वैराग्य हो जाय, तब दोष के बीज का सर्वथा नाश हो जाता है और कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् यह वैराग्य कैवल्य पद शाश्वतधामपर्यन्त पीछा करता है, साथ चलता है। अतः इसका अनुपालन अनिवार्य है।

● ईश्वर

योगदर्शन में परम चेतन परमात्मा को आत्मा, द्रष्टा, पुरुष तथा चितिशक्ति कहकर सम्बोधित किया गया है। उदाहरणार्थ, साधनपाद के इकतालीसवें सूत्र में है कि शौच में प्रतिष्ठित होने पर आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। समाधिपाद के तृतीय सूत्र में है कि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। कैवल्यपाद के सत्रहवें सूत्र में है कि चित्त का स्वामी पुरुष अपरिणामी है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदैव ज्ञात रहती हैं। इसी पाद के अंतिम सूत्र में है कि द्रष्टा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। इस प्रकार उस परमतत्त्व परमात्मा को द्रष्टा, चितिशक्ति, पुरुष, प्रभु और आत्मा कहकर संबोधित किया गया है जो ज्योतिर्मय है, तत्त्व है। किन्तु इस शास्त्र में एक शब्द 'ईश्वर' है। वह इससे भिन्न एक उपलब्धि है। यह भी वही स्वरूप है। परम चेतन परमात्मा सहज है; किन्तु यह ईश्वर एक उपलब्धि है।

प्रश्न उठता है, अभ्यास और वैराग्य में हम किसका सहारा लें? किसकी शरण जायँ? महर्षि ने समाधिपाद में एक सूत्र दिया– **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'** (१/२३) ईश्वर–शरणागति से यह निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है।

ईश्वर किसे कहते हैं? **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'** (१/२४) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– ये पाँच क्लेश हैं। इनसे उत्पन्न कर्म, कर्मों का संग्रह और उसका परिणाम तथा इनकी वासना– इन चारों से जो सम्बन्धित नहीं है, समस्त पुरुषों से जो उत्तम है, वह विशेष पुरुष ईश्वर है। पहले कभी उसका इन चारों से सम्बन्ध था, आज इनसे सम्बन्ध नहीं है। यही विशेष पुरुष ईश्वर है अर्थात् स्वामी है।

गीता में क्षात्र–धर्म का उल्लेख करते हुए बताया गया है– **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।** (१८/४३) शौर्य, तेज, धैर्य, **'दाक्ष्यं युद्धे'** अर्थात् साधना में दक्षता, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण और ईश्वरभाव अर्थात् सब भावों पर स्वामिभाव – ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं। यहाँ ईश्वर का अर्थ 'स्वामी' है।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' (१/२५)– उस ईश्वर में अत्यन्त सर्वज्ञता का भाव रहता है। सर्वज्ञता उसमें सहज है। कुछ भी उसके समक्ष छिपा हुआ नहीं है, 'मैं सर्वज्ञ हूँ'– ऐसा उसे भान भी नहीं है। यह उसमें स्वाभाविक है। यही सद्गुरु का अनादिकाल से स्वरूप रहा है।

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' (१/२६)– वह ईश्वर आदिकाल से पूर्वजों का भी गुरु है; क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है। वह पुरुष काल से निर्लेप है। यही सद्गुरु की स्थिति है। यह अकाल पुरुष की स्थिति है।

'तस्य वाचकः प्रणवः।' (१/२७)–उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव या ओम् है। प्राप्ति के पश्चात् हर महापुरुष का नाम ओम् है जिसमें वह स्थित है। जप उसी ओम् का करना है। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**

(१/२८) उस ॐ का जप और अर्थस्वरूप उन परमेश्वर सद्गुरु का चिन्तन, उनका ध्यान अनिवार्य है। ऐसा करने से '**अन्तरायाभावः**'- विघ्नों का अभाव हो जाता है, अन्तरात्मा के स्वरूप में स्थिति मिल जाती है, उस परमात्मा का ज्ञान हो जाता है।

लोग कहते हैं कि योग आरम्भ कहाँ से होता है?–इस पर महर्षि ने बताया, '**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (२/१)- तप, स्वाध्याय और ईश्वर–शरणागति- इन तीनों से योगक्रिया आरम्भ हो जाती है। ईश्वर–प्रणिधान अर्थात् सद्गुरु के प्रति समर्पण के बिना भजन जागृत ही नहीं होता।

- **अन्तराय (विघ्न)**

महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद के अट्ठाइसवें सूत्र में निर्देश दिया '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'- उस ईश्वर के वाचक प्रणव अर्थात् ओम् का जप करें और उसी के अर्थस्वरूप उस ईश्वर का ध्यान धरें, उन सद्गुरु के प्रति श्रद्धा स्थिर करें। ध्यान का प्रयास तो सभी करते हैं; किन्तु मन लगता नहीं। मन के अन्तराल में कुछ ऐसे विघ्न हैं जो उद्वेग पैदा करते रहते हैं। ओम् के जप और सद्गुरु के ध्यान से '**अन्तरायाभावः**'-अन्तराल में उभरनेवाले (जो बाह्य रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, भीतर ही भीतर घटित होते रहते हैं) विकारों का अभाव और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

जिन अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव हो जाता है वे अंतराय हैं क्या? इस पर महर्षि समाधिपाद के तीसवें सूत्र में कहते हैं कि व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व - ये नौ चित्त के विक्षेप हैं। यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।

व्याधि - शरीर, इन्द्रियों में किसी प्रकार का रोग होना, जिससे चिन्तन से चित्त हटकर उन रोगों की चिन्ता में लग जाता है।

स्त्यान - अकर्मण्यता अर्थात् साधन में प्रवृत्त न होने का स्वभाव स्त्यान कहलाता है।

संशय – अपनी शक्ति किंवा योग के फल में संदेह हो जाना संशय है।

प्रमाद – योग-साधना के अनुष्ठानों की अवहेलना करते रहना, व्यर्थ की चेष्टाओं में समय नष्ट करना प्रमाद है।

आलस्य – 'भजन फिर कभी कर लेंगे'–इस प्रकार टालते रहना आलस्य है। कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी शरीर में आलस्य घेर लेता है।

अविरति – तीव्र वैराग्य का अभाव अविरति है। कभी-कभी विषयों का संसर्ग होने पर इन्द्रियों से वैराग्य के स्थान पर उन्हीं विषयों का चिंतन होने लगता है।

भ्रान्तिदर्शन – 'यह साधना ठीक है भी या नहीं'– योग-साधना में कुछ का कुछ मान लेना भ्रान्तिदृष्टि है।

अलब्धभूमिकत्व – साधना की उत्तरोत्तर उन्नत अवस्थाओं, भूमिकाओं का स्पष्ट ज्ञान न होना अलब्धभूमिकत्व है।

अनवस्थितत्व – योग में भली प्रकार स्थिर चित्त में भी अकस्मात् उच्चाटन हो जाना, बिना किसी कारण के ही पाँच-सात मिनट में ही उद्वेग का स्फुरण उत्पन्न हो जाना अनवस्थितत्व है।

ये अन्तराय (विघ्न) हैं, बाहर से न किसी का संग-दोष है, न किसी विषय का आघात है। अन्दर ही अन्दर ये उद्वेलित करते रहते हैं। इनके साथ-साथ इनको सहयोग देनेवाले पाँच विघ्न और हैं। इनमें सर्वप्रथम है–

दुःख – दैहिक, दैविक और भौतिक तीन ताप ही तीन दुःख हैं। देह अर्थात् शरीर में कष्ट; दैविक अर्थात् भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि से होनेवाला दुःख और भौतिक अर्थात् भूतप्राणियों के संसर्ग से होनेवाला दुःख।

दौर्मनस्य – अपने अभीष्ट पद की पूर्ति न होने पर मन का दुविधा में पड़ जाना, मन में क्षोभ होना दौर्मनस्य है।

अंगमेजयत्व – चिन्तन में भली प्रकार बैठने पर भी अंगों में कम्पन होना अंगमेजयत्व है। कभी-कभी सम्पूर्ण शरीर उछल पड़ता है। योग के आठ अंगों का ठीक-ठीक न होना भी अंगमेजयत्व है।

अनियमित श्वास-प्रश्वास - श्वास जो आप ग्रहण करते हैं और प्रश्वास जो आप त्यागते हैं। साधक ग्रहण करता है सजातीय प्रवृत्ति को, त्यागता है विजातीय प्रवृत्तियों को। कभी-कभी साधक के न चाहने पर भी बाह्य अविद्याजनित स्वर उसके भीतर प्रवाहित हो जाते हैं। न चाहते हुए भी उसके भीतर के विद्याजनित स्वर बाहर प्रस्फुटित होने लगते हैं, वह उपदेश देने लग जाता है।

उपर्युक्त विजातीय तर्क-वितर्क जब यम और नियमों के अनुष्ठान में बाधा पहुँचावें तो '**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।**' (२/३३)- उनके प्रतिपक्षी विचारों का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए। अहिंसा के स्थान पर हिंसा, सत्य के स्थान पर असत्य इत्यादि विचार वितर्क कहलाते हैं। ये विपरीत या विजातीय तर्क कभी स्वयं किये जाते हैं, कभी दूसरों से कराये जाते हैं। कभी-कभी केवल अनुमोदन करना भी वितर्क बन जाता है। इसका कारण लोभ, मोह अथवा क्रोध होता है। इन विकारों में कोई अल्प, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़े हो जाते हैं। सभी विकार दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फल देने वाले हैं। इस प्रकार की भावना द्वारा इन विकारों से बचना प्रतिपक्ष भावना है; जैसे- ये विकार दुःख और अनन्त योनियों के कारण हैं, यही इनका निकृष्ट फल है। इससे भी अन्तराय (विघ्न) घटने लगते हैं, शनैः-शनैः हट जाते हैं, हल्के पड़ जाते हैं; किन्तु वे निर्मूल तो चिन्तन से ही होंगे, द्रष्टा और दृश्य के संयोग से ही होंगे। वह इष्ट चाहते क्या हैं, उनके निर्देशों के अनुसार चलने से, ईश्वर के आदेशों का पालन करने से ही वे अन्तराय मिटते हैं।

● चित्त-शुद्धि का उपाय

ॐ के जप और ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा होने से अन्तराय (विघ्न) भली प्रकार शान्त हो जाते हैं; किन्तु इनके साथ ही साधक की रहनी कैसी होनी चाहिए?-इन अन्तरायों को शीघ्र दूर करने के लिए महर्षि पतंजलि कई उपायों का सुझाव देते हैं। सर्वप्रथम उनका सुझाव है कि इन अन्तरायों को दूर करने के लिए नाम, रूप इत्यादि में से किसी एक तत्त्व का सतत अभ्यास करना चाहिए (१/३२)। इसके अतिरिक्त सुख, दुःख, पुण्य और पाप- इन

भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, आनन्द और उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। सुखी लोगों से (वास्तविक सुख एक परमात्मा के सम्मुख होने में है, ऐसे भक्तों से) मित्रता; इसी प्रकार संसार में आसक्त, दीन-दुखियों के प्रति दयावान हों; पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापात्माओं के प्रति तटस्थता का भाव प्रदर्शित करें। साधक को समाज में रहकर ही भजन करना होता है, इसलिए उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए-उसी का उल्लेख है। तीसरा सुझाव महर्षि ने दिया कि प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त भारहीन (हल्का) हो जाता है। उनका आशय है कि प्राणवायु को बाहर निकालें, जितना हो सके बाहर ही रोकें; पुनः श्वास लें, पुनः बाहर निकालें और रोकें। तीन-चार बार ऐसा करने से शरीर के भीतर रुकी वायु और उसके साथ विजातीय संकल्प भी बाहर निकल जाते हैं। शरीर हल्का प्रतीत होने लगता है। इसके साथ ही चिन्तन में लग जायँ- नाम में, रूप में कहीं भी मन को तत्काल लगायें, मन लगेगा और ये विकार बाधा नहीं डाल पायेंगे।

योग-साधन जो साधक का विषय है, जैसे- चित्तवृत्तियों का निरोध, द्रष्टा की उपलब्धि, स्वरूप में स्थिति, कैवल्य पद- जो साधक का अभीष्ट विषय है उसमें सहायक प्रवृत्तियों का चिन्तन भी चित्त को स्वच्छ करने, मन को स्थिर करने में सहायक होता है। '**समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।' (रामचरितमानस, ४/१३/४)** सृष्टि गुण-दोषमय है। करोड़ों दुर्गुणों के मध्य एकाध गुण अवश्य होंगे। साधक की दृष्टि मात्र उस गुण पर होती है। साधनोपयोगी गुण ग्रहण करने से चित्त स्वच्छ होता जाता है।

साधना उन्नत होने पर शोकरहित ज्योतिर्मय परमात्मा से सन्देश मिलने पर चित्त में उत्साह, उमंग भर जाता है। उसका आश्रय लेकर चलने से चित्त हल्का और स्थिर होने लगता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई राग से मुक्त वीतराग महापुरुष मिल जायँ तो उनका संसर्ग, दर्शन, वाणी-श्रवण, स्पर्श, सेवा करने से अन्तरायों (विघ्नों) को हटाने में तथा नाम-रूप के चिन्तन में भली प्रकार सहायता मिलती है।

स्वप्न तो सभी देखते हैं लेकिन योगी स्वप्न कभी नहीं देखता। वह स्वप्न में जो कुछ देखता है भविष्य देखता है, होनी देखता है। भगवान द्रष्टा-दृश्य के संयोग से बताते हैं। जागृत अवस्था में भी वह दृश्य प्रस्तुत करते हैं। साधक सो जाता है; किन्तु उसका मन तब भी जागृत रहता है। उसके स्वप्न-जगत् को भगवान धारण कर लेते हैं। वहाँ भी वे अपना प्रसारण करते रहते हैं। अतः साधक को समझना होगा कि स्वप्न क्या कहता है? इसका आशय क्या है? निद्राकाल में स्वप्न के रूप में आनेवाले दृश्यों का आशय समझते हुए चलने से अन्तराय (विघ्नों) का अन्त होना और चित्त का नाम-रूप में लगना एक साथ होता रहता है।

मन को स्थिर करने के परिप्रेक्ष्य में महर्षि एक महत्त्वपूर्ण सूत्र कहते हैं- **'यथाभिमतध्यानाद्वा।'** (१/३९)- जैसा आपको अभिमत है उसी के ध्यान से मन स्थिर होता है। साधक का अभिमत है अभ्यास और वैराग्य का पालन, योग का अनुष्ठान, चित्तवृत्तियों का निरोध, द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति। इनके अनुरूप कोई विचार, कोई दृष्टान्त, कोई भाव मिलता है तो उससे साधक को सहयोग लेना चाहिए। उदाहरण के लिए- भगवान दत्तात्रेय को कुत्ता मिला, पक्षी मिला, अजगर मिला। उन्होंने इन सबसे योग-साधना में सहायक, सद्गुरु की विद्या के ही अनुरूप अर्थ ग्रहण किया। वे एक दिन महायोगेश्वर, अवतार कहलाये। इसी प्रकार साधक प्रकृति के घटना-चक्र से योग के अनुकूल सहयोग लेते हुए एक ईश्वर के प्रति श्रद्धा, उस ईश्वर का नाम प्रणव (ओम्) का जप करते हुए, अभ्यास-वैराग्य से सतत आगे बढ़ता रहता है। ऐसे योगी का परमाणु से लेकर परममहत्त्व तक वशीकार हो जाता है। वह बड़ी से बड़ी या सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में जब चाहे जिस क्षण वह अपने चित्त को वहाँ रोक सकता है। यह साधना के सहायक अंग हैं, न कि अलग से कोई साधना।

सृष्टि में अनन्त दृश्य साधक के समक्ष आते ही रहते हैं; किन्तु साधक को उनका आशय योगपरक बनाकर ही धारण करते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए- शस्त्रों के अनुसंधानहेतु अर्जुन देवराज इन्द्र के यहाँ था। इन्द्र की सभा में अर्जुन ने उर्वशी को देखा तो देखता ही रह गया। सभा समाप्त होने

पर देवताओं ने कहा, "देवेन्द्र! आप तो कह रहे थे कि हमारा पुत्र त्यागी है, तपस्वी है, जितेन्द्रिय है। यह तो जब से वह अप्सरा आई, उसी को देखता जा रहा था। इसे इतना भी ज्ञान नहीं कि यह कितनी पवित्र सभा है या यहाँ कौन बैठे हैं?" इन्द्र ने कहा, "देख तो मैं भी रहा था, उसी से पूछें कि उसने क्या देखा? नृत्य कैसा था?" देवताओं द्वारा प्रश्न किये जाने पर अर्जुन प्रकृतिस्थ हुआ। देवताओं को उसने सादर प्रणाम किया और बोला, "क्षमा करें! मैंने कोई नृत्य नहीं देखा।" देवताओं ने पुनः सस्मित कहा, "तुम देख क्या रहे थे?" अर्जुन ने बताया, "माताजी से बिछुड़े वर्षों हो गये थे, जब देवी जी पर दृष्टि पड़ी मुझे प्रतीत हुआ कि कदाचित् माताजी ही आ गई हों। तभी से मैं मातृस्नेह में ही खोया हूँ।" थी तो वह अप्सरा, किन्तु अर्जुन ने उसे मातृवत् देखा। उसने श्राप भी दिया; किन्तु वह भी अर्जुन के लिए सहायक ही हुआ। जब साधक लक्ष्य पर अडिग रहता है तो श्राप भी आशीर्वाद बन जाता है। विपद् भी सम्पद् हो जाती है। इस प्रकार योगपरक अर्थ ढालने से साधक का चित्त शान्त, सम और स्थिर होता ही चला जाता है।

- **क्लेश**

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की भावना स्थिर होती है तथा '**क्लेशतनूकरणार्थश्च**' (२/२)- क्लेशों को क्षीण करने के लिए भी क्रिया-योग की आवश्यकता है। क्लेश क्या हैं?- **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।। (२/३)**- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पाँच क्लेश हैं। अविद्या इन सबका मूल है। शेष सभी क्लेश इसी अविद्या के साथ चलते हैं।

अविद्या - अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्मा में आत्मभाव की प्रतीति अविद्या है।

अस्मिता - दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति - इन दोनों का एकरूप हो जाना अस्मिता है अर्थात् प्रकृति और पुरुष आत्मा का मिश्रण अस्मिता है।

राग - अनुकूल सुखकर वस्तुओं की ओर दौड़नेवाले मन के प्रवाह को राग कहा जाता है।

द्वेष – जिनसे दुःख मिलता है उन्हें त्यागने का प्रयत्न द्वेष है, जो दुःख का अनुगमन करता है।

अभिनिवेश – 'स्वरसवाही'–जो परम्परागत चला आ रहा है तथा मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी सदा विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् पूर्व सांसारिक जीवन है, जिसके प्रति लगाव अब तक चला आ रहा है। प्रकृतिस्थ जीवन हमारा घर है नहीं; किन्तु हमने उसे अपना निवास मान रखा है। हमारा वास्तविक घर तो सन्त कबीर के शब्दों में– **'तवन घर चेतो हो भाई। तोहरा आवागमन मिटि जाई।'** यही भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, **'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।' (गीता, १८/६२)** शाश्वत स्वरूप ही हमारा–आपका धाम है। किन्तु इस संसार में जहाँ हम पहले निवास करते थे, उसके प्रति खिंचाव अभिनिवेश है, एक क्लेश है। कल प्राप्ति होनेवाली है फिर भी आज तक वह खींचता है। अगले पल प्राप्ति होनी है, तब तक यह पीछा करता है, इसलिए मूढ़ों की भाँति विवेकशीलों में भी यह देखा जाता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान से ये क्लेश क्षीण हो जाते हैं, नष्ट नहीं होते। सूक्ष्मावस्था को प्राप्त ये क्लेश नष्ट करने योग्य हैं। इन पूर्व वृत्तियों का अभाव ध्यान से होता है।

क्लेश जिसका मूल है, उससे उत्पन्न संग्रहीत कर्म–संस्कारों का समुदाय पुनर्जन्म, आयु और भोग देता ही रहता है। वे जन्म–मृत्यु और भोग, कभी हर्ष तो कभी शोक देनेवाले होते हैं; क्योंकि पुण्यकर्म या पापकर्म उनके कारण हैं। पुण्यकर्म जो आह्लाद प्रदान करता है, वह भी दुःखरूप ही है; क्योंकि जहाँ उसका संस्कार शान्त हुआ, पापकर्मों के संस्कारों का क्रम आरम्भ हो जाता है। परिणामतः पुनः दुःख स्वाभाविक है। अतः विवेकी के लिये सभी कर्म दुःखस्वरूप ही हैं।

'हेयं दुःखमनागतम्' (२/१६)–जो दुःख आनेवाला है वह नष्ट करने योग्य है। इन क्लेशों को नष्ट करने का उपाय द्रष्टा–दृश्य–संयोग है। क्रिया चल रही थी तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान की, उससे क्लेश

हल्के भी हुए थे; किन्तु महर्षि ने एक नवीन सूत्र दे दिया कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही इन क्लेशों के अन्त का एकमात्र उपाय है। ये दृश्य क्या हैं? प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिनका स्वभाव है अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश, प्रकाश की ओर बढ़ाने वाली क्रिया और प्रकाश में स्थिति प्रदान करना जिसका स्वभाव है; भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं अर्थात् इन्द्रियों और विविध स्वरूपों में उदाहरण की तरह से प्रकट होते हैं, कभी लिंगमात्र और कभी अलिंग अरूप आकाशवाणी इत्यादि के माध्यम से चलते हैं; पुरुष के लिये भोग और मुक्ति का सम्पादन करना जिसका प्रयोजन है; (**'भोक्तारं यज्ञतपसां' (गीता, ५/२९)**– श्रद्धा, यज्ञ, तप, स्वाध्याय यही पुरुष के भोग हैं), उनकी व्यवस्था करते हुए अपवर्ग परमश्रेय की प्राप्ति करा देना दृश्य का प्रयोजन है।

द्रष्टा चेतन मात्र ज्ञानस्वरूप है। द्रष्टा स्वभाव से सर्वथा शुद्ध और निर्विकार है; किन्तु बुद्धिवृत्ति के अनुरूप ही वह देखता है अर्थात् बुद्धि में जैसा दबाव है, उसके अनुरूप ही वह दृश्य प्रसारित करता है।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभिप्राय है अनुभव। जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम बैठे हैं, हमारी साधना, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, लगन अनुरागपूरित हृदय से ऐसी हो कि वह जागृत हो जाय। वह निर्विकार द्रष्टा दृश्य प्रसारित करने लगे, परमात्मा अपनी ओर से दृश्य प्रस्तुत करने लगे। वे अर्जुन की तरह दृष्टि प्रदान करें, संचार प्रदान करें, अपनी विभूतियों से अवगत करायें– यही है द्रष्टा और दृश्य का संयोग। भजन जागृत होना, परमात्मा का जागृत होना, रथी हो जाना द्रष्टा-दृश्य का संयोग है। **'जाके रथ पर केशो, ताको कौन अंदेशो।'** उन ईश्वर के निर्देशन की प्राप्ति करना, उनके संरक्षण में चलने से क्लेशों का अन्त हो जाता है, जो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष (सद्गुरु) के द्वारा सम्भव है।

जिन आत्मतृप्त, आप्तकाम महापुरुष के भोग और अपवर्ग का कार्य पूर्ण हो गया है, उनके लिए उस दृश्य का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता; किन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के लिये उस महापुरुष के अन्तर्जगत् से ही दृश्य

प्रसारित होता रहता है। कैवल्यपाद में इसी पर पुनः बल दिया गया है कि द्रष्टा और दृश्य के संयोग से रंगा हुआ चित्त '**सर्वार्थ**'-सम्पूर्ण अर्थ को ही ग्रहण करानेवाला होता है। वह चित्त असंख्य वासनाओं से घिरा रहने पर भी परमार्थिक अर्थ को ही ग्रहण करनेवाला तथा '**विशेषदर्शिनः**'-विशेष पुरुष ईश्वर के दर्शनवाला होता है। वह आत्मभाव, अहंभाव, उस भाव से भी ऊपर उठकर कैवल्य के अभिमुख होता है।

विवेकप्रवण तथा कैवल्य के अभिमुख चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता; किन्तु ऐसी अवस्था में भी अन्तराल में स्फुरण उठते हैं, अन्य संकल्प आते हैं, वे '**संस्कारेभ्यः**'- संस्कारों से आते हैं। संस्कार की परत में अतिसूक्ष्म कुछ पड़ा है, वही स्फुरित होते हैं। '**हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।**' (४/२८)- इन संस्कारों का विनाश क्लेशों की भाँति ही करना चाहिए; क्योंकि इन संस्कारों का मूल क्लेश है, जिसका परिणाम जाति (पुनर्जन्म), आयु और भोग है।

ये सूक्ष्म संस्कार भी कब नष्ट होते हैं? जिस योगी का विवेकज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उस समय उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान हो जाता है। उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है। चिदाकाश में सर्वत्र धर्म ही प्रकाशित रहता है, अन्य कुछ भी नहीं। उसके प्रभाव से समय, क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

सारांशतः महर्षि पतंजलि के अनुसार अभ्यास, वैराग्य, यम, नियम, आसन, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इत्यादि का विधिवत् अनुष्ठान करने से क्लेश क्षीण अवश्य होते हैं; किन्तु नष्ट नहीं होते। हमारी श्रद्धा ऐसी हो कि वह परमात्मा हृदय से जागृत होकर अपना दृश्य प्रसारित करने लगे, जो पुरुष के लिए मुक्ति का सम्पादन करता है। उन्हीं के द्वारा संचालित होकर उन क्लेशों का सर्वथा नाश हो पाता है अर्थात् इष्ट की जागृति अनिवार्य है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति से यह सम्भव है। महर्षि पतंजलि के अनुसार 'ईश्वर' एक पूर्णत्वप्राप्त योगी, महायोगेश्वर का स्वरूप है और द्रष्टा, चेतन, प्रभु, आत्मा, अविनाशी, चितिशक्ति इत्यादि एक परमात्मा, शाश्वत ब्रह्म के सम्बोधन हैं।

● योग के आठ अंग

योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते-करते जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, उस समय ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- ये आठ अंग हैं। इन योगाङ्गों में प्रथम यम है। यम के पाँच अंग हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अहिंसा - शरीर एक वस्त्र है। जीवन-मृत्यु संस्कारों पर आधारित है। संस्कार जीर्ण होते ही पुराना वस्त्र बदल जाता है। एक दिन इन शरीरों से परे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के साथ ही शरीर-धारण के क्रम पर विराम लग जाता है। अहिंसा का तात्पर्य अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाना है। अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर '**तत्सन्निधौ वैरत्यागः**'-उस योगी के निकट सभी प्राणी वैर त्याग देते हैं। वैरी हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इन महापुरुष की शरण आते ही इन विकारों का त्याग होने लगता है।

अर्जुन ने पूछा, "प्रभो! किसकी प्रेरणा से मनुष्य पाप का आचरण करता है?" भगवान ने कहा, "**काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।' (गीता, ३/३७)**-अर्जुन! काम और क्रोध अग्नि के सदृश भोगों से कभी न पूर्ण होनेवाले साधना के निरन्तर वैरी हैं, दुर्जय शत्रु हैं। दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा इन्हें काट। राग और द्वेष, इनके वश में नहीं होना चाहिए। ये तुम्हारे प्रतिपंथी हैं, विरोधी हैं। अहिंसा की दृढ़ स्थितिवाले महापुरुष के शरण-सान्निध्य में पहुँचते ही पुरुष इनका त्याग करने लगता है।

सत्य - संसार नश्वर है। सत्य, नित्य, परमतत्त्व, सनातन, द्रष्टा, ध्येय केवल परमात्मा है। सत्य में दृढ़ स्थिति आ जाने पर, समर्पण से डोर लग जाने पर, समर्पण सध जाने पर '**क्रियाफलाश्रयत्वम्**'-योग-क्रिया का फल जो परमात्मा है उसका आश्रय, उसका संरक्षण मिल जाता है। भगवान योगक्षेम की व्यवस्था करने लग जाते हैं।

अस्तेय - चोरी अर्थात् छिपाव का अभाव अस्तेय है। गीता में है-

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।' (३/१२)–इन दैवी गुणों को बढ़ाये बिना जो कहता है– 'मैंने प्राप्त कर लिया', निश्चय ही वह चोर है। जब पाया ही नहीं तो भोगेगा क्या? इस पथ से मुँह छिपानेवाला वह निश्चय ही चोर है। साधक में चोरी का अभाव होना ही चाहिए।

पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि सद्गुरु के सामने जो हृदय में हो, वही जबान पर होना चाहिए। हृदय में कुछ है और जबान पर कुछ और, वह योगी कभी कामयाब नहीं होता है।

अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर **'सर्वरत्नोपस्थानम्'**–सभी रत्न प्रकट हो जाते हैं। ये रत्न हैं– विवेक, वैराग्य, शम, दम, ज्ञान, तप, चरित्र इत्यादि। ये दैवी गुण सुलभ हो जाते हैं।

महावीर ने कहा, "राजन्! त्रिरत्न धारण करें।" **'सम्यक्दर्शनज्ञान-चरित्राणि।'** तीर्थस्वरूप महापुरुष का दर्शन, उनमें श्रद्धा स्थिर करें, उनसे साधना ज्ञात करें और उसे आचरण में ढालें। ईश्वर-पथ के यही सर्वोपरि रत्न हैं।

समुद्र-मन्थन में कतिपय रत्न निकले थे– **'श्री मणि रम्भा वारुणी, अमिय संख गजराज। कल्पद्रुम शशि धेनु धनु, धनवन्तरि विष बाज।।'** कदाचित् इन रत्नों में से वारुणी या रम्भा ही उपलब्ध हो जाय तो साधक क्या करेगा? योगपथ के रत्न वे हैं जिनसे साधन सुलभ होता है।

भगवान ने काकभुशुण्डि जी को दर्शन देकर कहा– **'ग्यान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना।। आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं।।'** (**मानस, ७/८३/१-२**) यही सब गुण वास्तव में रत्न हैं। अस्तेय से सम्पूर्ण साधन-विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

ब्रह्मचर्य - 'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'–जो ब्रह्म का आचरण करता है, शाश्वत-सनातन ब्रह्म के लिए जो प्रयत्नशील है वह ब्रह्मचारी है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'**–उस शाश्वत परब्रह्म को जानने के लिए जितने साधन हैं, उन साधनों को अपने में ढालने का प्रयत्न व्यक्ति जिस दिन से आरम्भ करता है उस दिन से वह ब्रह्मचारी है। केवल जननेन्द्रिय-संयम ही

ब्रह्मचर्य नहीं है। साधक का मुख्य लक्ष्य वह परमात्मा है जिसे पाने के लिए सभी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को रोकना है। उस एक परमात्मा के निरन्तर स्मरण से जननेन्द्रिय-संयम ही नहीं, सकलेन्द्रिय-संयम हो जाता है। न आँखें दूसरा कुछ देखती हैं, न कान दूसरा सुनते हैं, न त्वचा से किसी का स्पर्श है और न मन से अन्य विकल्प ही उठता है, केवल इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति जागृत है– इस प्रकार ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति आ जाने पर '**वीर्यलाभः**'- सम्पूर्ण सामर्थ्य का लाभ हो जाता है।

उपस्थेन्द्रिय (जननेन्द्रिय) संयम अनिवार्य है। यह ब्रह्मचर्य व्रत के अंतर्गत है। कुछ लोग हठपूर्वक जननेन्द्रिय-संयम तो कर ले जाते हैं किन्तु शेष इन्द्रियों से विषयों का चिन्तन चलता रहता है। सब प्रकार के विषयों का चिंतन मिट जाना विशुद्ध ब्रह्मचर्य है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह दम्भाचारी है, पाखंडी है। अतः समस्त इन्द्रियों को उस ब्रह्म- बृहद् तत्त्व परमात्मा के अनुरूप प्रवाहित करना ब्रह्मचर्य है। जब ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ अवस्था आ जाती है तो सामर्थ्य, वीर्य, शौर्य और पराक्रम का लाभ हो जाता है। वह धैर्यवान् हो जाता है। विपत्तियाँ भी आ पड़ीं तो मीरा की तरह, प्रह्लाद की तरह वह घबड़ाता नहीं, न पीछे हटता है। ऐसी विपदायें होती ही नहीं जो उसे पदच्युत कर दें। वह अजातशत्रु है।

अपरिग्रह - सामाजिक सन्दर्भों में आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का स्वार्थ की दृष्टि से संग्रह न करना अपरिग्रह कहा जाता है। दूसरों की वस्तु स्वीकारना उनके द्वारा अनुग्रहीत होना है। दान स्वीकार करने से दाता के पाप लेने की सम्भावना भी है, इसलिए परिग्रह के त्याग से मन शुद्ध एवं स्वाधीन रहता है। परन्तु योगी के लिए अपरिग्रह का आशय कुछ विशेष है। ध्यान की स्थिति जागृत होने पर ध्यानजनित चित्त '**अनाशयम्**' (४/६)–नष्ट नहीं होता; क्योंकि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। कर्मों का न शुभ परिणाम निकलता है न अशुभ। उस समय वह अपरिग्रह की स्थितिवाला हो जाता है। उसके कर्मों से न शुभ ही ग्रहण होता है न अशुभ की ही रचना होती

है। उस समय नवीन रचना तो होती नहीं; किन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों की परत में क्या निहित है, वह कब तक रहेगा और कितनी साधना करने पर वह शान्त होगा?–इन सब बातों का ज्ञान हो जाता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।' (२/३९)–** अपरिग्रह में दृढ़ स्थिति होने पर 'पूर्वजन्म कैसे हुए थे?'–इसका भलीभाँति बोध हो जाता है। ऐसे चित्त से कोई नवीन निर्माण तो होता नहीं, फिर भी कुछ स्फुरण उठते हैं; **'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' (४/२७)**–दूसरे पदार्थों के दृश्य प्रकट होते हैं वह संस्कारों के कारण हैं, उन संस्कारों की जानकारी हो जाती है। अपरिग्रह की स्थिति आ जाने पर उन सभी संस्कारों की जानकारी हो जाती है; क्योंकि उतना ही स्फुरित होता है।

- **नियम**

पाँच यमों की ही तरह नियम भी पाँच हैं– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान। इनमें सर्वप्रथम है–

शौच – शौच के विषय में इन महापुरुष ने दो सूत्र दिये हैं। साधनपाद के चालीसवें सूत्र में वे कहते हैं कि शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य तथा अन्य संसर्ग से अलग रहने की भावना जागृत होती है। इकतालीसवें सूत्र में भी शौच का महत्व बताया कि इससे अंतःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्म–साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है।

वस्तुतः तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान के अभ्यास से अंतःकरण पूर्णतः शुद्ध और शान्त प्रवाहित हो जाता है। इसी का नाम शौच है। शौच अन्तःकरण की शुद्धि है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार– ये चतुष्टय अंतःकरण इष्ट के अनुकूल प्रवाहित हो जायँ, उस समय अपने शरीर से भी वैराग्य हो जाता है। ऐसे महापुरुष वर्षों स्नान न करें तब भी कोई आश्चर्य नहीं है। वे पड़े हैं तो पड़े हैं, खड़े हैं तो खड़े हैं। वे जानते हैं कि यह शरीर तो **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' (मानस, ७/४२/८)**–एक धाम है, वस्त्र है इसलिए जीव–जगत् में जितने भी शरीर हैं उनके संसर्ग से अलग रहने की क्षमता आ जाती है। तब मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश

में होना और आत्मदर्शन की क्षमता आ जाती है। देहाध्यास नहीं रहता। कैसा भी संग-दोष आ जाय तब भी असंग रहने की क्षमता आ जाती है। बाह्य शरीर को धोना, सजाना, अलंकृत करना – यह तो भयंकर देहासक्ति और देह-तृष्णा का प्रतीक है। आंतरिक शुद्धि वाले महापुरुषों का नहाना-धोना कुछ समझ में नहीं आता। वे अंततः दिगम्बर भी पाये जाते हैं। किसी वृक्ष के नीचे बैठे हैं। भगवान महावीर के ऊपर लोगों ने कीचड़ फेंका, गुरुदेव भगवान पर बच्चों ने कंकड़ फेंके; किन्तु वे अविचल रहे।

सांसारिक लोग शरीर-सम्बन्धों को लेकर कुछ कह देने से आग बबूला हो उठते हैं; किन्तु ऐसे महापुरुष की साधना में बाधा पड़ने लगे तभी वे चिन्तित होते हैं। सन्त कबीर की अनुभूति देखें- **'एक अचम्भा ऐसन देखा, मुरदा रोटी खाय। सनकारे ते बोलत नाहीं, मारे ते चिल्लाय।।'** चिन्तनपरायण साधक मृतप्राय हैं। कुछ भी कह दें, उससे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इन्हें आभास भी नहीं होता। कदाचित् कोई पूर्वसंस्कार उद्वेग पैदा करते हैं तभी ये चिल्लाते हैं, प्रार्थना करते हैं।

सन्तोष - सन्तोष में दृढ़ स्थिति का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं, **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।'** (२/४२)-जिससे उत्तम कोई सुख नहीं है ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ सन्तोष से होता है। सर्वोत्तम सुख एक परमात्मा के दर्शन और स्थिति में है। **'राम बिमुख सुख सपनेहुँ नाहीं।' (मानस,** २/२५५/१) जब है नहीं तो पायेगा कहाँ से? सन्तोष का अर्थ है- जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है। ऐसा एक परमतत्त्व परमात्मा है। उससे तोष या तृप्ति प्राप्त होना संतोष है। वह सर्वोत्तम सुख का स्रोत है। इस संतोष में प्रभु का प्रभाव जानने में आता है- **'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना।।' (मानस, ५/३३/३); 'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई।।' (मानस, ५/** ३१/३) उसे चिन्तन से ही सहज सुख मिलने लगता है इसलिए वह बाह्य सुखों की अपेक्षा नहीं करता।

तप - तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब **'कायेन्द्रिय-सिद्धिः' (२/४३)-** शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। शरीर और

इन्द्रियाँ इष्ट के अनुरूप चलने की क्षमतावाली हो जाती हैं। ये सध जाती हैं– शरीर सध जाता है और साधना में साथ देनेवाला हो जाता है।

इष्ट के अनुरूप मनसहित इन्द्रियों को तपाना तप है। साधक जब इस कसौटी पर आ गया तो शरीर भी सध जाता है, इन्द्रियाँ भी सध जाती हैं। आज मन लगाने से नहीं लगता, उस समय सहज लगने लगता है। इन्द्रियाँ साथ देने लगती हैं अर्थात् मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जाता है।

स्वाध्याय – स्वयं का अध्ययन स्वाध्याय है। साधक स्वयं का अध्ययन करता है कि चित्त को कितना लगना चाहिए और कितना लग पाया है?–ऐसा अध्ययन करते हुए जहाँ–जहाँ कमी है, वहाँ से हटाकर पुनः साधना में लगाते हुए आगे बढ़ना स्वाध्याय है। ऐसे स्वाध्याय की पराकाष्ठा में इष्टदेवता का साक्षात्कार हो जाता है, '**इष्टदेवतासंप्रयोगः**'–इष्टदेवता का भली प्रकार सम्बन्ध हो जाता है। योग–साधना में स्वाध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

ईश्वर–प्रणिधान – ईश्वर–प्रणिधान अर्थात् ईश्वर–शरणागति से समाधि की सिद्धि हो जाती है। जो सम है, आदि है उसके साथ समत्व प्राप्त हो जाता है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से जो उपराम है, ऊपर उठ चुका है, ऐसा विशेष पुरुष ईश्वर है। जिसका काल से अवच्छेद नहीं है, वह कालातीत, गुरुओं का भी गुरु परम गुरु है। यही आदि गुरुपद है। इनके प्रति समर्पण के साथ साधन करने से समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है; क्योंकि साधन की सिद्धि का भार ईश्वर के ऊपर हो जाता है। वे योगक्षेम, सार–सँभाल करने लग जाते हैं। यही सद्गुरु हैं।

आसन – यम नियमों के पश्चात् आसन का क्रम आता है। स्थिर, हलन–चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। '**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**' (२/४६)–प्रयत्न की शिथिलता से अर्थात् यम, नियम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्यायादि में जो प्रयत्न चल रहा था, उस प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त परमात्मा में मन लगने से यह आसन सिद्ध हो जाता है। अनन्त में मन लगने से स्पष्ट है कि यह स्थिरता मात्र शरीर की नहीं बल्कि मन की स्थिरता है। यम–नियम का अभ्यास इतना हो जाय

कि वे स्वाभाविक होने लगें, प्रयास न करना पड़े। परमात्मा में मन लगने से आसन सिद्ध हो जाता है।

प्राणायाम – आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाना प्राणायाम है। सधा था आसन, अवस्था आ गयी प्राणायाम की। श्वास जो आप लेते हैं और प्रश्वास जो आप त्यागते हैं – इन दोनों की गति रुक जाना प्राणायाम है। साधक अक्लिष्ट वृत्ति – दैवी सम्पद् ग्रहण करता है और क्लिष्ट वृत्ति – आसुरी सम्पद् त्यागता है। यह ग्रहण करना और त्यागना शान्त हो जाय, इनकी हलन-चलन का रुक जाना प्राणायाम है। यह साधना का एक स्तर है। इसे पार करना है।

यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यंतरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति- तीन प्रकार से देश, काल और संख्या द्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। बाह्यवृत्ति अर्थात् राग, द्वेष, काम, क्रोध के किस देश में वृत्ति गयी, कितने काल (समय) तक रुकी?-संख्या द्वारा देखते हुए चित्त को लगायें। आभ्यंतरवृत्ति का तात्पर्य विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारणा, ध्यान में से किसके विश्लेषण में वृत्ति लगी है, वृत्ति वहाँ कितने काल तक लगी?- संख्या द्वारा उसे देखें और उसे वहाँ से हटाकर स्तम्भवृत्ति में लगायें। भली प्रकार देखा जाता हुआ यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। इससे उन्नत अवस्था में **'बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'** (२/५१)- जब बाह्य विषय जो प्रकृतिजन्य है, क्लेशों से प्रवाहित है, अविद्याजन्य है – क्लिष्ट है; तथा आभ्यन्तर वृत्ति, दैवी सम्पद् – अक्लिष्ट- दोनों शान्त हो जायँ, सम हो जायँ, इन पर रोक लग गया, विराम लग गया, चित्त एक आयाम में प्रवाहित हो गया – इसका नाम प्राणायाम है।

'धारणासु च योग्यता मनसः।' (२/५३)- प्राणायाम के सधते ही मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है। आरम्भिक साधक नाम या रूप मन में धारण करने का प्रयास करता है किन्तु थोड़ी ही देर में नाम या रूप खो जाता है, विलुप्त हो जाता है, न जाने क्या-क्या आने लगता है; किन्तु प्राणायाम के सधते ही चित्त में धारण करने की क्षमता आ जाती है।

प्रत्याहार - 'स्वविषय असम्प्रयोगे'- अपने विषयों का सम्बन्ध त्यागकर इन्द्रियों का **'चित्तस्वरूप अनुकारः इव'-** चित्त के स्वरूप में अनुकरण-जैसा प्रवाहित होना प्रत्याहार है। चित्त जहाँ लगता है इन्द्रियाँ उसी के रंग में रँग गयीं, अपने विषयों का उन्होंने परित्याग कर दिया - इसका नाम प्रत्याहार है। उस समय इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्णरूप से जय प्राप्त हो जाती है।

धारणा - विषयों से लौटी हुई इन्द्रियों का चित्त का अनुकरण करनेवाली होते ही चित्त में धारण करने की क्षमता आ जाती है। **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' (३/१)**-जिस किसी देश में, नाम में, रूप में, ब्रह्मविद्या में, योग के अंगों में से किसी एक अंग में चित्त को रोक लेना धारणा है।

ध्यान - 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' (३/२)-जहाँ चित्त को लगाया जाय उस ध्येय में वृत्ति का एकतार चलना, क्रम न टूटना ध्यान कहलाता है। तैलधारावत् वृत्ति चलने लगी, अन्य संकल्प न आयें। ध्यान एक परिणाम है। **'तत्र ध्यानजमनाशयम्।' (४/६)** ध्यानजनित चित्त आशयरहित होने से नष्ट नहीं होता।

गुरुदेव भगवान कहते थे, "हो! हम पतित होना चाहें, तब भी भगवान नहीं होने देंगे।" अभ्यासकाल में प्रकृति के आवरण आते ही रहते हैं। वे हमारे ही पूर्वजन्म के संस्कार हैं। किन्तु साधन उन्नत होते-होते जब ध्यान की अवस्था आती है तो उससे नये संस्कार नहीं बनते, इसीलिये ध्यान से उत्पन्न चित्त की जो अवस्था है, उसका कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि **'कर्माशुक्लाकृष्णम्' (४/७)-** ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं।

समाधि - पातंजल योग-दर्शन में समाधि का वर्णन लगभग आठ बार हुआ है। **'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।' (१/१७)-** वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से संयुक्त समाधि सम्प्रज्ञात है। **'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।' (१/४२)-** शब्द, अर्थ और ज्ञान- इन तीनों विकल्पों से संकीर्ण अर्थात् मिश्रित चित्त का समाधान सवितर्क समाधि है। **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा**

निर्वितर्का।' (१/४३)-चित्त का स्वरूप जब शून्य हो जाता है, केवल अर्थमात्र (लक्ष्यमात्र) का आभास रह जाता है, उस समय स्मृति पूर्णतः शुद्ध हो जाती है। वही निर्वितर्क समाधि है। **'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।'** (१/४४), **'एतया एव'**-इसी से ही, सवितर्क और निर्वितर्क इन दो व्याख्याओं के द्वारा ही सूक्ष्मतर विषयवाली सविचार और निर्विचार समाधियों की व्याख्या कर दी गयी; किन्तु **'ता एव सबीजः समाधिः।'** (१.४६)-वे सभी सबीज समाधि हैं। इन समाधियों में पूर्व कर्मों का, प्रकृति का बीज नष्ट नहीं होता, बीज विद्यमान रहता है; किन्तु यही निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर योगी को **'अध्यात्मप्रसादः'**-आत्मा के आधिपत्य में चलने का महान् प्रसाद प्राप्त हो जाता है और **'तस्यापि निरोधे'** (१/५१)-उसका भी निरोध हो जाने पर **'सर्वनिरोधात्'**-पुरातन-नूतन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है। अब प्रकृति का अंतिम बीज, जो जन्म-मरण का कारण है, शान्त हो जाता है। इस प्रकार समाधिपाद में समाधिपूर्व की पीठिका, समाधि का आरम्भ, शनैः-शनैः उत्कर्ष तथा निर्बीज समाधि का चित्रण है।

अध्याय तीन 'विभूतिपाद' के द्वितीय सूत्र में महर्षि कहते हैं कि चित्तवृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। वही ध्यान जब अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में पहुँच जाता है, **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'** (३/३)-जब केवल ध्येयमात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, तब वही ध्यान समाधि में परिवर्तित हो जाता है। **'सम आदि स समाधि'**-जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है, जो आदितत्त्व अनादितत्त्व है वह है परमात्मा, उस समय ध्यान परमात्मा में प्रवेश दिलाने की अवस्थावाला हो जाता है।

चतुर्थ अध्याय 'कैवल्यपाद' के उन्तीसवें सूत्र में महर्षि बताते हैं कि जिस योगी का विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उस योगी को **'धर्ममेघ समाधि'** की प्राप्ति हो जाती है। उस अवस्था में चिदाकाश में केवल धर्म-ही-धर्म छाया रहता है, सृष्टि के अन्य विकल्प आते ही नहीं। परमधर्म

परमात्मा है, उसकी व्यापकता का बोध हो जाता है। उस समय सारे क्लेश और कर्मों से निवृत्ति मिल जाती है। ज्ञेय हल्का-सा अनजाना रहता है। उसमें भी सफलता मिल जाने पर गुणों का परिणाम-क्रम समाप्त हो जाता है। योगी क्षणों का प्रतियोगी हो जाता है। इस अवस्था के उपरान्त कर्म 'निर्ग्राह्य' हो जाते हैं, कर्म से कुछ भी रचना नहीं होती। '**पुरुषार्थशून्यानाम्**'-पुरुषार्थ कुछ करना शेष नहीं रह जाता। अभ्यास के पूर्तिकाल में गुण अब कुछ भी उत्पन्न नहीं करते, अपने कारण में विलीन हो जाते हैं- इसी का नाम कैवल्य है। इस प्रकार समाधि का परिणाम कैवल्य है। द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सारांशतः योग-पथ में गुणों के विलयपर्यन्त, समाधिपर्यन्त अभ्यास नितान्त आवश्यक है।

- **संयम**

अभ्यास-क्रम सधते हुए धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीनों का एक हो जाना संयम है। उदाहरण के लिये; सुरत में नाम या रूप को धारण किया जाता है, वृत्ति को सुरत से संयत किया जाता है। उस नाम या रूप में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है और ध्येय, लक्ष्यमात्र का आभास रह जाना समाधि है। क्रमशः सधते हुए तीनों का एक हो जाना संयम है।

संयम के सधते ही विभूतियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। '**तज्जयात् प्रज्ञालोकः।**' (३/५)-बुद्धि अलौकिक ज्योतिर्मय द्रष्टा से संयुक्त, प्रकाशित हो जाती है; किन्तु '**तस्य भूमिषु विनियोगः।**' (३/६)-उस संयम को क्रम से नीची-ऊँची भूमिकाओं में साधते हुए आगे बढ़ाना होता है।

जैसे-जैसे संयम सधता जाता है, क्रमोन्नत अनुभूतियाँ मिलती जाती हैं; किन्तु एक स्तर ऐसा आता है कि '**प्रातिभाद्वा सर्वम्।**' (३/३३)- प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने पर भूत, भविष्य और वर्तमान सब की जानकारी बिना किसी संयम के, प्रयास के सहज होती रहती है।

परावाणी जब उन्नत अवस्था में प्रवेश करती है, यह संयम सध जाता है। ऐसा योगी जिस पल किसी वस्तु का स्मरण करता है, चित्त में दृश्य

उभरता है। वृत्ति एकतार चली, ध्यान आया, समाधि की स्थिति आई, ध्येयमात्र शेष बचा और इस प्रकार उस वस्तु का रहस्य जान लेता है।

योगियों द्वारा ऐसे प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। आदियोगी भगवान शंकर के सन्दर्भ में देखें- **'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।।' (मानस, १/५५/४)**

विभूतियाँ परिणाम हैं, उपहार हैं। समय आने पर वृक्षों में फूल-फल लगते ही हैं। साधक को इनकी कामना या इनका चिन्तन नहीं करना चाहिए। साधक को चिन्ता योग-साधना और ईश्वर के प्रति समर्पण की होनी चाहिए। साधन की परिपुष्टता में ये विभूतियाँ वसन्त ऋतु की तरह समय पर स्वयं प्रकट होती हैं।

- **बुद्धि**

निर्विचार समाधि के अत्यन्त निर्मल होने पर योगी को **'अध्यात्म-प्रसादः'**-अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त हो जाता है अर्थात् उस समय आत्मा का आलोक मात्र रह जाता है। इससे अन्य संस्कारों का अंत हो जाता है और **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।' (१/४८)**-उस समय योगी की बुद्धि ऋत अर्थात् सत्य से संयुक्त हो जाती है। सत्य एकमात्र परमात्मा है, वह उस परमात्मा को धारण करने की क्षमतावाली होती है। श्रवण और अनुमान से होनेवाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है; क्योंकि यह विशेष अर्थवाली होती है।

बुद्धि के दो रूप हैं। इसी प्रसंग को कैवल्यपाद के इक्कीसवें सूत्र में पुनः स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं- **'चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च।' (४/२१)** चित्त के अन्तराल में जो दृश्य उभरते हैं, वे बुद्धि में बहुत-सा प्रश्न खड़ा कर देते हैं। **'अतिप्रसंगः'**-अत्यन्त अनन्त प्रसंग छिड़ जाते हैं। इससे **'स्मृतिसंकरः'**-स्मृति मिश्रित हो जाती है। स्मृति और संकल्प एक है। अनन्त संकल्पों का क्रम आरंभ हो जाता है। यद्यपि वह चेतन-शक्ति पुरुष असंग है, क्रिया से हीन है; किन्तु **'तदाकारपत्तौ' (४/२२)**-चित्त जब उसका आकार धारण करता है, तब **'स्वबुद्धिसंवेदनम्'**-स्थिरबुद्धि में 'स्व'रूप का ज्ञान प्राप्त करता है।

सारांशतः महर्षि पतंजलि के अनुसार बुद्धि के दो रूप हैं– एक तो बाह्य बुद्धि, जो श्रवण और अनुमान से होती है। इसकी अपेक्षा ऋतम्भरा बुद्धि श्रेष्ठ होती है। चित्त में उभरनेवाले अनन्त संकल्पों से, अनन्त निर्णयों से स्मृति मिश्रित हो जाती है; किन्तु चेतन क्रियाहीन असंग पुरुष के तदाकार होने पर '**स्वबुद्धिसंवेदनम्**'– बुद्धि में स्व–स्वरूप का, स्वयं का संवेदन प्राप्त करता है।

दूसरे शब्दों में, बुद्धि के दो रूप हैं एक तो श्रवण और अनुमान से होने वाली सामान्य बुद्धि, यही विशुद्ध हो जाने पर योग–साधनों से अपनी बुद्धि में स्व–स्वरूप का प्रतिबिम्ब पानेवाली बुद्धि। इसके पश्चात् बुद्धि भी लय हो जाती है।

● धर्म

जहाँ चित्त का निरोध, समाधि और एकाग्रता–परिणाम निकला, पातंजल योगसूत्र में वहीं 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे– अभ्युदय होनेवाले संस्कारों का दब जाना, निरोध अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना– यह चित्त का निरोध–परिणाम है। इससे चित्त की वृत्ति शान्त प्रवाहित रहती है। इसी तरह सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करनेवाली वृत्ति का क्षय हो जाना और एक ही ध्येय नाम या रूप का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता अवस्था का उदय हो जाना चित्त का समाधि–परिणाम है और जब शान्त तथा उदय होने वाली दोनों ही वृत्तियाँ एक–सी हो जायँ, सम हो जायँ– यह चित्त का एकाग्रता–परिणाम है। इन तीनों के द्वारा ही इन्द्रियों के संयम तथा रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श इन पाँचों महाभूतों में होनेवाले धर्म, लक्षण और अवस्था–परिणामों का भी वर्णन किया जा चुका है। यहाँ धर्म शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ है। (३/१३)

कैवल्यपाद के सातवें सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं; किन्तु दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं, उनसे फलानुकूल वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। वे वासनायें कितने ही जन्म व्यतीत हो जायँ, कितने ही देश–काल परिवर्तित हो जायँ तब भी

कर्मजन्य संस्कारों के समुदाय में व्यवधान नहीं पड़ता। वे नियत समय पर प्रकट हो जाते हैं। उनमें व्यवधान नहीं पड़ता; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप होता है। स्मृति-पटल पर वही उभरता है जो संस्कार में होता है- इसलिये दोनों एक हैं। स्मृति और संस्कारों की एकरूपता अनादि है। इसलिये '**नित्यत्वात्**' (४/१०)- नित्य, शाश्वत स्वरूप पाने की इच्छा सदा रहती है। शाश्वत सुख, शाश्वत निवास और अमृतमय स्वरूप पाने की लालसा मानव में सदैव रहती है।

इन वासनाओं तथा संस्कारों का विनाश कैसे हो? इस पर कहते हैं- हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन चारों से संस्कारों अर्थात् वासनाओं का संग्रह होता है। अतः इन चारों का अभाव होने से उन वासनाओं का तथा वासनाजन्य संस्कारों का सदा के लिये अभाव हो जाता है। इन संस्कारों का हेतु अविद्यादि क्लेश और उनके रहते हुए होनेवाले कर्मों का समुदाय है। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग हैं, जो कभी आह्लाद तो कभी दुःखप्रद हैं। इनका आश्रय चित्त है और रूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि इनके आलम्बन हैं। इन्हीं से ये वासनाएँ संग्रहीत होती हैं। इनके अभाव के साथ उन मूल संस्कारों का, वासनाओं का सदा के लिये अभाव हो जाता है। इन वासनाओं के अभाव के साथ ही यहाँ धर्म शब्द का पुनः प्रयोग हुआ है- **अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।।** (४/१२) धर्म की गति में काल का भेद होने पर भी जो हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं, अभी प्रकट नहीं हुए हैं; जैसे- स्वरूप की प्राप्ति इत्यादि, उनमें स्वरूप से धर्म की गति सदा विद्यमान रहती है अर्थात् संस्कार-वासनाओं का अंत और स्वरूप की प्राप्तिकाल में धर्म की विद्यमानता है।

समस्त धर्म की गति का प्रवाह व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में सदैव गुणस्वरूप ही है। गुणों का जैसा सात्त्विक, राजस, तामस अथवा उन्नत, मध्यम और मलिन प्रभाव रहता है वैसा ही धर्म का रूप देखने में आता है; किन्तु '**परिणामैकत्वात्**'-परिणाम की एकता से '**वस्तुतत्त्वम्**'-विषय-वस्तु है योग, वह तत्त्वरूप में प्रकट हो जाता है। अर्थात् चेतन द्रष्टा का तत्त्वरूप में विदित हो जाना सम्भव है। यहाँ धर्म का दूसरी बार नाम आया है।

तीसरी बार धर्म का नाम कैवल्यपाद के उत्तरार्ध में द्रष्टव्य है कि विशेषदर्शी पुरुष के चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता; किन्तु जो उद्वेग उठते हैं, वे क्या हैं?–इस पर कहते हैं, '**तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।**' (४/२७)- उस समाधि के अन्तराल में विपरीत वस्तुओं या विचारों का स्फुरण '**संस्कारेभ्यः**'-संस्कारों से होता है। संस्कारों की परत में अतिसूक्ष्म कुछ पड़ा है वही स्फुरित होता है। ये संस्कार क्लेशों के समान ही घातक हैं। '**हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।**' (४.२८)-इन संस्कारों का विनाश क्लेशों की भाँति ही कर देना चाहिए; क्योंकि इन संस्कारों का मूल क्लेश है। इन सूक्ष्म संस्कारों के नष्ट होने पर '**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।**' (४/२९)–जिस योगी का विवेक–ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका यह विवेक–ज्ञान सर्वथा प्रकाशवान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है। चिदाकाश में सर्वत्र धर्म–ही–धर्म होता है, अन्य कोई स्फुरण नहीं होता है; क्योंकि जो अंतिम संस्कार थे वह भी मिट गये। इस समाधि के प्रभाव से क्लेश और कर्मों से सदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। यहाँ धर्म उन परमात्मा को धारण करने की अवस्था में प्रयुक्त हुआ है।

भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की परिभाषा दी- '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' (**गीता, १८/६६**)-सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जाओ। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा- '**सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। जोगु कुजोगु ग्यानु अज्ञानू। जहँ नहि राम पेम परधानू।।**' (**मानस,२/२९०/१-२**)–उस धर्माचरण में, उस कर्म में आग लग जाय जहाँ राम के चरणों में श्रद्धा न हो। यदि ऐसा नहीं है तो कर्म नहीं कुकर्म है, धर्म नहीं अधर्म है, योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अज्ञान है। इसी आशय से इन महापुरुष ने तीन बार 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। चित्तवृत्ति–निरोध के साथ, समाधि के परिणाम के साथ तथा अंतिम संस्कारों के विलय के साथ धर्म का प्रयोग है।

।। ॐ ।।

एक भक्त का प्रश्न

प्रश्न– *महाराज जी! आजकल हम स्कूल में योग पढ़ते हैं जिसमें सभी प्रकार के आसनों का अभ्यास कराया जाता है, समय-समय पर गीता और पतञ्जलि के श्लोक बोले जाते हैं; किन्तु गीता और पातञ्जल योगदर्शन में इन आसनों का विवरण मिलता नहीं है। कृपया इसका समाधान प्रस्तुत करें।*

उत्तर– आजकल शिक्षा संस्थानों में, सन्त-महात्माओं में योगासनों की सूची पर्याप्त विस्तृत है; किन्तु आदि योगशास्त्र गीता एवं महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन' में इस सम्बन्ध में मात्र एक श्लोक और एक सूत्र मिलता है–

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्।। (गीता, ६/११)

स्थिर सुखमासनम्।। (योगदर्शन, २/४६)

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया कि आत्मा ही सत्य है। आत्म-साक्षात्कार करानेवाली योगविधि यज्ञ है। उस यज्ञ का गीता के अध्याय चार में विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु यज्ञकर्त्ता के लिये स्थान कैसा हो, आसन कैसा हो, उस पर कैसे बैठा जाय, कर्ता के द्वारा पालन किये जाने वाले नियम, आहार, विहार, शयन-जागरण, परिश्रम, कर्म पर लगन इत्यादि पहलुओं को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय ६ में श्लोक १० से १९ तक स्पष्ट किया है।

सर्वप्रथम उन्होंने स्थान और आसन बताया। गीता, ६/१० में है कि चित्त को जीतने में लगा हुआ योगी मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में रखकर वासना और संग्रहरहित होकर एकांत स्थान में अकेले ही चित्त को योगक्रिया में लगाये।

उसके लिये भूमि कैसी हो? आसन कैसा हो? अध्याय ६.११ में योगेश्वर कहते हैं कि शुद्ध भूमि में कुश, मृगछाल, वस्त्र, तख्त इत्यादि बिछाकर आसन को न अति ऊँचा न नीचा, स्थिर स्थापित करें। शुद्ध भूमि का तात्पर्य

उसे झाड़ने-बुहारने, सफाई करने से है। जमीन पर कुछ बिछा लेना चाहिए– चाहे मृगछाल हो या चटाई अथवा कोई वस्त्र– जो भी उपलब्ध हो। आसन हिलने-डुलनेवाला न हो।

पूज्य महाराज जी लगभग पाँच इंच ऊँचे आसन पर बैठते थे। एक बार भाविकों ने लगभग एक फीट ऊँचा संगमरमर का एक तख्त मँगा दिया। महाराज जी उस पर एक दिन तो बैठे, फिर बोले– "नहीं हो! बहुत ऊँचा हो गया, ऊँचे नहीं बैठे का चाही। अभिमान हो जाया करता है। नीचे भी बैठना नहीं चाहिए; क्योंकि उससे भी हीनता आती है, अपने से घृणा हो जाती है।" उन्होंने उसे उठवाया और जंगल में एक बगीचा था, वहाँ रखवा दिया। वहाँ न कभी महाराज जी जाते थे और न अब ही कोई जाता है। यह था पूज्य परमहंस जी महाराज का क्रियात्मक प्रशिक्षण।

अध्याय ६/१२ में है कि आसन व्यवस्थित हो जाने पर उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए अंतःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें। यहाँ आसन बैठने के लिए तैयार की गई चौकी है।

अध्याय ६/१३ में बैठने का तरीका बतलाते हुए योगेश्वर कहते हैं कि शरीर, गर्दन और शिर को सीधा, अचल स्थिर धारण कर दृढ़ होकर बैठ जायँ। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे। (यहाँ नासिका की नोंक देखते रहने का निर्देश नहीं है बल्कि सीधे बैठने पर नाक के सामने जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहाँ दृष्टि रहे– दाहिने-बायें देखने की चंचलता न रहे, अन्य दिशाओं को न देखते हुए।)

अध्याय ६/१४– ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर भयरहित और अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला, मन को संयत रखते हुए, मुझमें लगे हुए चित्त से संयुक्त, मेरे परायण होकर स्थित हो।

अध्याय ६/१५– इस प्रकार अपने आपको निरन्तर उसी चिन्तन में लगता हुआ संयत मनवाला योगी मेरे में स्थितिरूपी परम पराकाष्ठावाली शान्ति को प्राप्त होता है।

यहाँ आसन बैठने की जगह है, वस्तु है, नासिका के अग्रभाग को अपलक देखते हुए अचल स्थिर बैठने का तरीका है। गीता में अन्य किसी आसन का उल्लेख नहीं है। इसी प्रसंग में योगेश्वर बतलाते हैं कि परमानन्द वाली शान्ति के लिए शारीरिक संयम, युक्ताहार-विहार तथा कर्म में उपयुक्त चेष्टा आवश्यक है।

अध्याय ६ के सोलहवें तथा सत्रहवें श्लोक में वे कहते हैं- यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवाले का सिद्ध होता है, न अत्यन्त सोनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का सिद्ध होता है। दुःखों का नाश करनेवाला यह योग उचित आहार-विहार, कर्म में उपयुक्त चेष्टा और सन्तुलित शयन-जागरण करनेवाले का ही पूर्ण होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेरेंगे, तब साधना नहीं होगी। भोजन छोड़ देने से इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, अचल-स्थिर बैठने की क्षमता नहीं रह जायेगी। विहार अर्थात् साधन के अनुकूल विचरण, कुछ परिश्रम भी करते रहना चाहिए अन्यथा रक्त-संचार शिथिल पड़ जायेगा, रोग घेर लेंगे। आयु शयन, जागरण, आहार और अभ्यास से घटता-बढ़ता रहता है। कर्म में चेष्टा अर्थात् आराधना में प्रयत्न आवश्यक है।

उन्नीसवें तथा बीसवें श्लोक में योगेश्वर कहते हैं कि जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा गया दीपक चलायमान नहीं होता, लौ सीधे ऊपर जाती है, उसमें कम्पन नहीं होता, यही उपमा ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की दी गयी है। चित्त भले ही जीता गया है, किन्तु अभी जीवित तो है। जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त भी उपराम हो जाता है, उस अवस्था में योगी '**आत्मना**'-अपने आत्मा के द्वारा, '**आत्मानम्**'-परमात्मा को देखता हुआ, '**आत्मनि एव**'-अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है।

योगी देखता तो परमात्मा को है, लेकिन सन्तुष्ट अपनी ही आत्मा से होता है। क्योंकि प्राप्तिकाल में तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है; किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने ही आत्मा को उन शाश्वत ईश्वरीय विभूतियों से ओतप्रोत पाता है। ब्रह्म अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है,

तो इधर आत्मा भी अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है। है तो, किन्तु अचिन्त्य भी है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह आपके उपभोग के लिए नहीं है। चित्त का निरोध और निरुद्ध चित्त के भी विलयकाल में परमात्मा का साक्षात् होता है और दर्शन के ठीक दूसरे क्षण उन्हीं ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त अपने ही आत्मा को पाता है इसलिए वह अपनी ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। यही योग की पराकाष्ठा है।

यहाँ शारीरिक व्यायाम के रूप में प्रचलित बाह्य आसनों का योग-साधना में कोई उपयोग नहीं है। बाह्य आसन योगी और भोगी, रोगी तथा स्वस्थ सबके लिए स्वास्थ्यवर्धक है। यदि जिमिनास्टिक का अभ्यास है तब इन बाह्य आसनों की कोई आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंगों का व्यायाम समान रूप से हो जाता है। चित्त का निरोध तो नियत कर्म के अभ्यास से ही होता है।

पातञ्जल योगदर्शन

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध हो जाता है। ईश्वर-शरणागति और प्रणव (ओम्) अभ्यास के आधार हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से योग-क्रिया आरम्भ हो जाती है। योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये क्रमोन्नत स्थितियाँ हैं, जिनमें तीसरा स्थान आसन का है–

स्थिर सुखमासनम्।। (योगदर्शन, २/४६)

स्थिर अर्थात् हलन-चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। ऐसा नहीं कि शिर के बल खड़े हो जायँ या कमर को धनुषाकार ऊपर की ओर तान दें। आसन से महर्षि का आशय स्थिर बैठने से है। हलन-चलन शरीर में नहीं होती, मन में होती है। मन में संकल्पों की लहर आते ही शरीर क्रियाशील होकर उधर ही बढ़ने लगता है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। (योगदर्शन, २/४७)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान साधने में जो प्रयत्न चलता था उसमें शिथिलता आ जाय, श्रम न करना पड़े और ये सभी स्वाभाविक होने लगे तथा परमात्मा में मन लगाने से आसन सध जाता है। वह सुखपूर्वक शान्त सम बैठने की क्षमतावाला हो जाता है।

आसन के सधते ही प्राण-अपान की गति का विच्छेद हो जाना प्राणायाम है। प्राणायाम से प्रत्याहार अर्थात् मन को विषयों से समेटने की क्षमता और इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है, साथ ही '**धारणासु च योग्यता मनसः।**' (**योगदर्शन, २/५३**)'-मन में धारण करने की क्षमता आ जाती है। चिन्तन में जो धारण किया गया– उसमें वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है और '**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**' (**३/३**)-केवल लक्ष्य का आभास रह जाय, चित्तवृत्ति का निज स्वरूप शून्य हो जाय तब वही ध्यान समाधि में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार योग के आठों अंग क्रम-क्रम से उभरनेवाली अवस्थाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में आसन का इतना ही विवरण है, वह भी शान्त एकान्त में बैठकर अभ्यास से उपलब्ध होता है।

गीता और पातंजल योगदर्शन में इतना ही अन्तर है कि गीता में पहले आसन का वर्णन है, इसके तुरन्त पश्चात् ब्रह्मचर्य इत्यादि यम और ईश्वर-प्रणिधानादि नियमों पर बल दिया गया है; जबकि महर्षि पतंजलि ने पहले यम और नियम का वर्णन किया और बाद में आसन का स्थिर ठहर जाना बताया है। महर्षि का आसन शरीर की अपेक्षा मन की स्थिरता से अधिक है। उनका 'आसन' अनन्त परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है।

भगवान महावीर गो-दोहन आसन से बैठकर ध्यान करते थे जिससे निद्रा, आलस्य साधना में अवरोध न कर सकें। भगवान बुद्ध साधना के अंतिम चरण में एक पीपल के वृक्ष के नीचे विराजमान थे। स्वास्ति नामक ग्यारह वर्षीय चरवाहे ने उन्हें शान्त मुद्रा में बैठे देखा। उसने अध्ययन किया कि दोनों पाँव जंघे पर इस प्रकार रखे हुए थे कि पैर के तलवे दिखायी दे रहे

थे। बायीं हथेली में दाहिनी हथेली! आँखें अर्धोन्मीलित! दृष्टि आगे की ओर! यह उनका प्रिय आसन पद्मासन था।

गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में भी आसनों का प्रचुर उल्लेख है; जैसे– सीता-स्वयंवर के समय महाराज जनक ने कहा–

तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू।।

(१/२३९/८)

जब बारात आ गयी–

सादर सब के पाय पखारे। जथाजोगु पीढ़न्ह बैठारे।।

(१/३२७/३)

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे।।

(१/३२७/७)

चारि सिंघासन सहज सुहाए। जनु मनोज निज हाथ बनाए।।

(१/३४९/१)

पुनि वशिष्ठु मुनि कौशिकु आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये।।

इस प्रकार राजाओं के लिए सिंहासन, मुनियों को सुन्दर आसन कहीं पीढ़ा, कहीं सुखासन, कहीं कुशासन, कहीं मृगचर्म! यहाँ आसन बैठने की वस्तु का नाम है। कुछ स्थानों पर बैठने की मुद्रा का नाम आसन है– **'कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन।।'** (२/८९/२) धनुष पर बाण चढ़ा हुआ, हर समय सावधान! लक्ष्मण जी वीरासन से बैठे थे। भगवान शंकर के लिए आया है– **'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन।।'** (१/५०/७) सती-त्याग की प्रतिज्ञा का स्मरण कर भगवान शंकर वट-वृक्ष के नीचे कमलासन लगाकर भजन में बैठ गये। यहाँ किसी बिछे हुए आसन की चर्चा नहीं है, बल्कि बैठने की एक मुद्रा है।

'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।' (१/३२० **छन्द**)–विवाह के समय देवताओं ने भगवान राम को देखा तो मानसिक आसन देकर उनका पूजन किया, जो हृदय के अन्दर था। एकान्तसेवी सिद्ध

महात्माजन सिद्धासन से बैठते हैं। पालथी मारकर एक पाँव जाँघ पर रखकर, वह भी एड़ी कमर से छू जाय अथवा जाँघ पर कहीं भी रखा रहे इसका नाम सिद्धासन है। पूज्य गुरुदेव प्रायः इसी आसन से बैठते थे। महाराज जी की शरण में आने पर उनको इस मुद्रा में बैठा हुआ देखकर हमने भी जाँघ पर उसी तरह पाँव चढ़ाया और उनके समक्ष बैठ गये। सतीर्थ अग्रजों ने संकेत से मुझे मना किया और बताया कि सिद्धासन से सिद्धपुरुष ही बैठ सकते हैं। उनके समक्ष पाँव ऊपर कर बैठना उनका अपमान और अशिष्ट प्रदर्शन है।

सारांशतः सभी आर्षग्रन्थों में बैठने की मुद्रा, उपयुक्त स्थान और बैठने के लिए प्रयोग में आनेवाली वस्तु का नाम आसन है।

आधुनिक व्यायाम शिक्षक रोगों के निवारण के लिए विभिन्न शारीरिक मुद्राओं की शोध कर योगासन के नाम से उनका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं तथा इन मुद्राओं के सम्पादन में गीता के श्लोक और महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों का उद्धरण देते हैं; कदाचित् इसीलिए देश-विदेश में एक भ्रान्ति की लहर व्याप्त है कि शाश्वत परमात्मा की उपलब्धि करानेवाला वास्तविक योग यही शारीरिक मुद्राएँ हैं। व्यायाम प्रशिक्षकों को चाहिए कि इन मुद्राओं के समर्थन में गीता या योगदर्शन के उद्धरण न दें। सृष्टि में किसी भी मांगलिक कार्य को करने से पूर्व धर्मशास्त्रों का पाठ उचित है; किन्तु इन्हें योगासन की संज्ञा न दें।

।। ॐ ।।

धर्मशास्त्र

विश्व का आदि धर्मशास्त्र गीता

आज से ५२०० वर्ष पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में कहा कि इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा । मनु ने इस स्मृति ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए स्मृति की परम्परा चलाई और अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा । उनसे राजर्षियों ने जाना । इस महत्वपूर्ण काल से यह योग इसी पृथ्वी में लुप्त हो गया था । वही पुरातन योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ । इस प्रकार सृष्टि का आदि धर्मशास्त्र आदि मनुस्मृति गीता ही है ।

कालान्तर में उन्हीं आदि मनु के समक्ष अवतरित वेद इसी गीता का विस्तार है । अन्य शास्त्र समयानुसार विश्व की विविध भाषाओं में ईश्वरीय गायन श्रीमद्भगवद्गीता की ही प्रतिध्वनि हैं । आपका धर्मशास्त्र गीता है । धर्म क्या है? सत्य क्या है? उसे प्राप्त कैसे करें? यज्ञ, कर्म, वर्ण, यज्ञ करने का अधिकार मानव मात्र को क्यो? और गीता का फल लोक में समृद्धि, परमश्रेय की प्राप्ति इत्यादि जानकारियों के लिए देखें पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी कृत श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या ''यथार्थ गीता''।

''यथार्थ गीता''

द्रष्टा–दृश्य संयोग से योग–साधना की जागृति

द्रष्टा–दृश्य संयोग–जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम हैं वह परमात्मा उसी स्तर से मार्ग–दर्शन करने लगे । हमारी साधना ऐसी हो कि वह जागृत हो जाय, वह निर्विकार द्रष्टा दृश्य प्रसारित करने लगे, पुरुष के लिये भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने लगे अर्थात् लोक में समृद्धि और परमश्रेय की व्यवस्था देने लगे, अपनी विभूतियों से अवगत कराये–यही है द्रष्टा–दृश्य का संयोग–जिससे क्लेश नष्ट होते हैं और कैवल्य, अनामय पद की प्राप्ति होती है ।

–योगदर्शन

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069 फोन - (022) 28255300
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

न्यायाचार्य श्रीयशोविजयोपाध्यायकृत व्याख्योपेत

पातञ्जल योगदर्शन

तथा

हारिभद्री योगविंशिका

(हिन्दी सार सहित

सम्पादक—

प्रज्ञाचक्षु विद्वद्वर्य श्रीमान् सुखलाल

प्रकाशक—

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तकप्रचारक
रोशनमुहल्ला—आगरा ।

प्रति ८०० ।

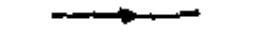

वीरसंवत् २४४८ | मूल्य— | विक्रमसंवत् १९७८
आत्मसंवत् ८ | रुपया १॥) | ईस्वीसन् १९२२

मुद्रक —
शा. गुलाबचंद लल्लुभाई.
आनंद प्रिन्टींग प्रेस
भावनगर.

प्रकाशक —
मंत्री लाला डालचन्दजी जौहरी.
श्री आत्मानन्द जै० पु० प्र० मंडल,
रोशन मुहल्ला, आग्रा.

समर्पण.

श्रीमान् प्रवर्त्तक कान्तिविजयजी !

आपके प्रति मेरी अनन्य-साधारण पूज्य बुद्धि है, इसका कारण न तो स्वार्थ ही है और न अंधश्रद्धा, आपके विद्यानुराग, शास्त्रप्रेम और निरवद्य साधुभावसे मैं आकर्षित हुआ हूं-इसीसे यह पुस्तक आप के करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूं.

आपका सेवक,—

सुखलाल.

विषयानुक्रमणिका.

विषय.	पृष्ठ.
विषयानुक्रमणिका	०
परिचय	१
प्रस्तावना	१
योगदर्शन....	२
योगशब्दका अर्थ	२
दर्शनशब्दका अर्थ....	४
योगके आविष्कारका श्रेय	४
आर्य संस्कृतिकी जड	
और आर्य जातिका लक्षण	१०
ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा	११
व्यावहारिक और पारमार्थिक योग	१३
योगकी दो धारायें....	१४
योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन	१५
योगशास्त्र....	३८
महर्षि पतञ्जलीकी दृष्टिविशालता	४६
आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा.	५९
उपसंहार	६६
पातञ्जलयोगदर्शन वृत्तिसह	१
योगविंशिका सटीक	९६
योगवृत्तिका सार	९१
योगविंशिकाका सार	११४
योगमूलवृत्ति तथा योगविंशिकावृत्तिमें प्रमाणरूपसे आये हुए अवतरणोंका वर्णक्रमानुसारी परिशिष्ट नं० १	१४०
योगमूलवृत्ति और योगविंशिकाटीकामें आये हुए अवतरणोंका कर्ता और ग्रन्थके नाम निर्देशसंबन्धी परिशिष्ट नं० २.	१४१

परिचय.

पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत पुस्तक उपस्थित करते हुए इसका संक्षेपमें परिचय कराना जरूरी है। शुरूमें प्रस्तावना रूपमें योगदर्शन पर एक विस्तृत निबन्ध दे दिया गया है जिसमें योग तथा योग-सम्बन्धी साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों पर सप्रमाण विचार किया गया है। तत्पश्चात् इस पुस्तकमें मुख्यतया योगसूत्रवृत्ति और सटीक योगविंशिका इन दो ग्रन्थोंका संग्रह है, तथा साथमें उनका हिंदी सार भी दिया हुआ है। अतएव उक्त दोनों ग्रन्थोंका, उनके कर्ता आदिका तथा हिंदी सारका कुछ परिचय कराना आवश्यक है, जिससे वाचकोंको यह मालुम हो जाय कि ये ग्रन्थ कितने महत्त्वपूर्ण हैं, और इनके कर्ताका स्थान कितना उच्च है। साथ ही यह भी विदित हो जाय कि मूल ग्रन्थोंके साथ उनका हिंदी सार देनेसे हमारा क्या अभिप्राय है। आशा है इस परिचय-को ध्यानपूर्वक पढनेसे वाचकोंकी रुचि उक्त दो ग्रन्थोंकी ओर विशेष रूपसे उत्तेजित होगी, ग्रन्थकर्ताओंके प्रति बहु-मान पैदा होगा। और हिंदी सार देख कर उससे मूल ग्रन्थके भावको समझ लेनेकी उचित आकांक्षा पैदा होगी।

(१) योगसूत्रवृत्ति—यह वृत्ति योगसूत्रोंकी एक छोटी सी टिप्पणिरूप व्याख्या है। योगसूत्रोंमें सांगोपांग योगप्रक्रिया है, जो सांख्य-सिद्धान्तके आधार पर लीखी गई है। उन सूत्रों-के ऊपर सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वकी टीका महर्षि व्यासका भाष्य है। यह प्रसन्न गंभीर और विस्तृत भाष्य सांख्य सिद्धान्तके अनुसार ही रचा गया है, पर वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार रची गई है। अतएव जिस जिस

विषयमें सांख्य और जैन शास्त्रका मत-भेद है तथा जिस जिस विषयमें मतभेद न होकर सिर्फ वर्णन-पद्धति या सांकेतिक शब्द मात्रका भेद है उस उस विषयके वर्णनवाले सूत्रोंके ऊपर ही वृत्तिकारने वृत्ति लीखी है, और उसमें भाष्यकारके द्वारा निकाले गये सूत्रगत आशयके ऊपर जैन प्रक्रियाके अनुसार या तो आक्षेप किया है या उस आशयके साथ जैन मन्तव्यका मिलान किया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि यह वृत्ति योगदर्शन तथा जैन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तोंके विरोध और मिलानका एक छोटा सा प्रदर्शन है। यही कारण है कि प्रस्तुत वृत्ति सब योगसूत्रोंके ऊपर न हो कर कतिपय सूत्रोंके ऊपर ही है। योगसूत्रोंकी कुल संख्या १९५ की है और वृत्ति सिर्फ २७ सूत्रोंके ऊपर ही है। सब सूत्रोंकी वृत्ति न होने पर भी प्रस्तुत पुस्तकमें हमने सूत्र तो सभी दे दिये हैं पर भाष्य तो सिर्फ उन्हीं सूत्रोंका दिया है जिन पर वृत्ति है। ऐसा करनेके मुख्य दो कारण हैं (१) सूत्रोंका परिमाण बडा नहीं है और (२) वृत्ति पढनेवालेको कमसे कम मूल सूत्रोंके द्वारा भी संपूर्ण योगप्रक्रियाका ज्ञान करना हो तो इसके लिए अन्य पुस्तक ढूँढनेकी आवश्यकता न रहे। इसके विपरीत भाष्यका परिमाण बहुत बडा है और वह कई जगह अच्छे ढंगसे छप भी चुका है। यद्यपि वृत्ति पढनेवालेको योगदर्शनके मौलिक सिद्धान्त जानने हों तो उसका वह उद्देश्य भाष्य विना देखे भी सिद्ध हो सकता है। फिर भी वृत्तिवाले सूत्रोंका उपयोगी भाष्य उस उस सूत्रके नीचे इस लिए दिया है कि वृत्ति समझनेमें पाठकोंको अधिक सुभीता हो, क्योंकि वृत्तिकारने भाष्यकारके आशयको ध्यानमें रख कर ही अपनी वृत्तिमें अर्थसूचक मतभेद और ऐकमत्य दिखाया है। केवल जैन दर्शनको जाननेवाले संकुचित दृष्टिके कारण यह नहीं जानते

कि अन्य दर्शनके साथ जैन दर्शनका किस किस सिद्धान्तमें कितना और कैसा वास्तविक मतभेद या मतैक्य है। इसी प्रकार केवल वैदिक दर्शनको जाननेवाले विद्वान् भी एकदेशीय दृष्टिके कारण यह नहीं जानते कि जैन दर्शन किन किन बातों-में वैदिक दर्शनके साथ कहाँ तक और किस प्रकार मिल जाता है। इस पारस्परिक अज्ञानके कारण दोनों पक्षके विद्वान् तक भी बहुधा, एक दूसरेके ऊपर आदर रखना तो दूर रहा, अनुचित हमला किया करते हैं, जिससे साधारण वर्गमें भ्रम फैल जाता है और वे खंडन मंडनमें ही अपनी शक्तिका खर्च कर डालते हैं; इस विषमताको दूर करनेके लिए ही यह वृत्ति लिखी गई है। यही कारण है कि इसका परिमाण बहुत छोटा होने पर भी इसका महत्त्व उससे कई गुना अधिक है। जैन दर्शनकी भित्ति स्याद्वाद सिद्धान्तके ऊपर खड़ी है। प्रामाणि-क अनेक दृष्टियोंके एकत्र मिलानको ही स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद सिद्धान्तका उद्देश्य इतना ही है कि कोई भी समझ-दार व्यक्ति किसी वस्तुके विषयमें सिद्धान्त निश्चित करते समय अपनी प्रामाणिक मान्यताको न छोड़े परन्तु साथ ही दूसरोंकी प्रामाणिक मान्यताओंका भी आदर करे। सचमुच स्याद्वादका सिद्धान्त हृदयकी उदारता, दृष्टिकी विशालता, प्रामाणिक मतभेदकी जिज्ञासा और वस्तुकी विविध-रूपताके ख्याल पर ही स्थिर है। प्रस्तुत वृत्तिके द्वारा उसके कर्ताने उक्त स्याद्वादका मंगलमय दर्शन यात्र जिज्ञासुओंके लिए सुलभ कर दिया है। हमें तो यह कहनेमें तनीक भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत वृत्ति जैन और योग दर्शनके मिलानकी दृष्टिसे गंगा यमुनाका संगमस्थान है, जिसमें मतभेदरूप जलका वर्ण भेद होने पर भी दोनोंकी एकरसता ही अधिक है।

वृत्तिके महत्त्वका पूरा खयाल उसको मनन पूर्वक उदार दृष्टिसे पढ़ने पर ही आसकता है।

(२) योगविंशिका—यह मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है। इसका परिमाण और विषय इसके नामसे प्रसिद्ध है, अर्थात् यह बीस गाथाओंका योग सम्बन्धी एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसके प्रणेताने बीस बीस गाथाओंकी एक एक विंशिका ऐसी बीस[1] विंशिकाएँ रची हैं, जो सभी उपलब्ध हैं। उनमें प्रस्तुत योग-विंशिकाका सत्रहवाँ नंबर है, इसमें योगका वर्णन है।

इसके प्रणेताके संस्कृत भाषामें भी जैन दृष्टिके अनुसार योग पर बनाये हुए योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय और षोडशक ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो छप चुके हैं। इसके सिवाय उनका बनाया हुआ योगशतक नामका ग्रन्थ भी सूना जाता है। एक ही कर्ताके द्वारा एक ही विषय पर लिखे गये उक्त चारों ग्रन्थोंकी वस्तु क्या क्या है और उसमें क्या समानता तथा क्या असमानता है इत्यादि कई प्रश्न वाचकोंके दिलमें पैदा हो सकते हैं जिनका पूरा उत्तर तो वे उक्त ग्रन्थोंके अवलोकन के द्वारा ही पा सकेंगे, फिर भी हमने प्रस्तुत पुस्तकमें इसका अलग सूचन किया है जिसके लिए हम पाठकोंका ध्यान प्रस्ता-

---

१ बीस बीसीयोंके नाम इस प्रकार है—१ अधिकारविंशिका, २ अनादि-विंशिका, ३ कुलनीतिलोकधर्मविंशिका, ४ चरमपरावर्त्तविंशिका, ५ बीजादिविंशिका, ६ सद्धर्मविंशिका, ७ दानविधिविंशिका, ८ पूजाविधिविंशिका, ९ श्रावकधर्मविंशिका, १० श्रावकप्रतिमाविंशिका, ११ यतिधर्मविंशिका, १२ शिक्षाविंशिका, १३ भिक्षा-विंशिका, १४ तदन्तरायशुद्धिलिङ्गविंशिका, १५ आलोचनाविंशिका, १६ प्रायश्चित्त-विंशिका, १७ योगविधानविंशिका, १८ केवलज्ञानविंशिका, १९ सिद्धविंशिका, २० सिद्धसुखविंशिका।

वना पृष्ठ ५९ परके "आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नयोन दिशा" नामक पेरेकी ओर खींचते हैं।

योगविंशिकाकी योगवस्तुका स्थूल परिचय तो पाठक यहींसे कर लेवें, पर उसमें एक सामाजिक परिस्थितिका चित्रण है जिसका निर्देश यहाँ करना उपयुक्त है.

हर एक देश, हर एक जाति और हर एक समाजमें धार्मिक गुरुओंकी तरह धर्मधूर्त गुरुओंकी भी कमी नहीं होती। वैसे नामधारी गुरू भोले शिष्योंको धर्मनाशका भय दिखा कर धर्मरक्षाके निमित्त अपने मनमाने ढँगसे धर्मक्रियाका उपदेश देते हैं और धर्मकी ओटमें शास्त्रविरुद्ध व्यवहारका प्रवर्तन कराया करते हैं, ऐसे धर्मढोंगी गुरुओंकी खबर जैसे [1]आवश्यक-निर्युक्तिमें श्रीभद्रबाहुस्वामीने ली है वैसे बहुत संक्षेपमें पर मार्मिक रीतिसे योगविंशिकामें भी ली गई है। उसमें वैसे पाखंडिओंको संबोधित करके कहा गया है कि "संघ या जैन-तीर्थ मनमाने ढँगसे चलनेवाले मनुष्योंके समुदाय मात्रका नाम नहीं है, ऐसा समुदाय तो संघ नहीं किन्तु हड्डिओंका ढेर मात्र है। सच्चा जैन-तीर्थ या महाजन तो शास्त्रानुकूल चलने वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसलिए तीर्थरक्षाके नामसे अशुद्ध प्रथाको जारी रखना यही वास्तवमें तीर्थनाश है, क्योंकि शुद्ध धर्मप्रथाका नाम ही तीर्थ है जो अशुद्ध धर्मप्रथासे नष्ट हो जाता है"। इसके सिवाय योगविंशिकाके अन्तिम भाग-में रूपी, अरूपी ध्यानका भी अच्छा वर्णन है। यह ग्रन्थ छोटा होनेसे इसमें जो कुछ वर्णन है वह संक्षिप्त ही है, पर इसकी संस्कृत टीका जो इस ग्रन्थके साथ ही दे दी गई है वह बहुत

१ देखो वंदननिर्युक्ति गाथा ११०९ से ११९३।

स्पष्ट और सर्वांग परिपूर्ण है। मूलपर उसकी टीकामें टीकाकारने पूरा प्रकाश डाला है, जिसका पूरा परिचय तो उस टीकाके देखनेसे ही हो सकेगा।

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे योगविंशिकाकी टीकाको पढकर टीकाकारकी बहुश्रुतगामिनी बुद्धि और अनेकशास्त्रदोहनका थोडे ही में आस्वाद लेवें।

ग्रन्थकर्त्ता—ऊपर जिस वृत्तिका परिचय कराया गया है, उसके रचयिता जैन विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी हैं। योगविंशिकाकी टीकाके कर्ता भी वे ही हैं। वृत्तिके मूलरूप योगसूत्रके प्रणेता वैदिक विद्वान् महर्षि पतञ्जलि हैं और मूल योगविंशिकाके रचयिता जैन विद्वान् आचार्य हरिभद्र हैं। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकर्तारूपसे उक्त तीन व्यक्तिओंका परिचय कराना आवश्यक है।

(१) पतञ्जलि—इनके जन्मस्थान, माता, पिता, समय आदिके विषयमें विद्वानोंने बहुत ऊहापोह किया है पर अभीतक यही निश्चित नहीं हुआ कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, पाणिनीय व्याकरणसूत्र पर भाष्य रचनेवाले महाभाष्यकार-नामसे प्रसिद्ध पतञ्जलिसे जुदा थे या दोनों एक ही थे। महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतञ्जलिकी भिन्नता या एकताके सम्बन्धमें आजतक कीगई खोजोंसे अधिक विचार प्रदर्शित करनेके लिए न तो हमने पर्याप्त अवलोकन ही किया है और न उसकी अधिक गवेषणा करनेके लिए अभी हमें समय ही प्राप्त है, इसलिए इस विषयके जिज्ञासुओंके लिए हम सरल भावसे अन्य विद्वानोंकी गवेषणाओंको देखनेकी ही सिफारिश करते हैं।

हम अन्य इतिहासज्ञ [1]विद्वानोंके इस अनुमानके आधार पर सिर्फ संतोष मान लेते हैं कि योगसूत्रकार यदि महाभाष्यकार ही थे तो उनका समय इ. पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाना चाहिए और यदि दोनों भिन्न थे तो योगसूत्रकार पतञ्जलिका समय इ. के बाद दूसरीसे चौथी शताब्दी तकमें माना जाना चाहिए। अस्तु! पतञ्जलिके बाह्य आवरणको निश्चित रूपसे जाननेका साधन अभी पूर्णतया प्राप्त न होने पर भी इनको विचार-आत्माका साक्षात् दर्शन योगसूत्रमें हो ही जाता है जो कम सौभाग्यकी बात नहीं है। इनकी आत्मा इतना काल बीत जाने पर भी योगसूत्रोंमें जागती है। जिसके पास एक बार आनेवाला पाषाण हृदय व्यक्ति भी सिर झुकाये बिना, किंयहुना दासानुदास हुए बिना नहीं रह सकता। इनके योग सूत्रका थोडेमें परिचय करनेके अभिलाषिओंका ध्यान हम प्रस्तावना पृष्ठ ३८ पर 'योगशास्त्र' शीर्षक पैरेकी ओर खींचते हैं और इनके महर्षिपनका परिचय करनेकी इच्छावालोंका लक्ष्य "महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता" शीर्षक भागकी ओर खींचते है प्रस्तावना पृ. ४६

(२) हरिभद्र—इस नामके श्वेताम्बर संप्रदायमे अनेक आचार्य हुए हैं। पर योगविंशिकाके कर्ता प्रस्तुत हरिभद्र उन सबमे पहले है जो याकिनि महत्तरा सूनुके नामसे और १४४४ ग्रन्थप्रणेताके रूपसे प्रसिद्ध हैं उनका समय वि. की [2]आठवीं नवमीं शताब्दी अभी निर्णय किया गया है। उनके जीवनका हाल अभी तक जो कुछ [3]प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा अधिक

१ देखो खुद अनुवादित योगदर्शनकी इंग्लीश प्रस्तावना। २ देखो श्रीजिन विजयजी लिखित हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय जैन साहित्यसंशोधक अंक १। ३ देखो प हरगोविंददास लिखित जीवनचरित्र।

लिखनेकी अभी हमारी तैयारी नहीं है, अलबत्ते यह हमारा खयाल हुआ है कि उनके जीवन पर पूरा प्रकाश डालनेके वास्ते जैसा चाहिए वैसा उनके ग्रन्थोंका गहरा अवलोकन अभीतक किसीने नहीं किया है वैसा अवलोकन करके निश्चित सामग्रीके आधार पर विशेष लिखनेकी हमारी हार्दिक इच्छा है। परंतु ऐसा सुयोग कब आयेगा यह कहा नहीं जा सकता। अतएव अभीतकके उनके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उत्पन्न हुए भावको सिर्फ एक, दो वाक्योंमें जना देना ही समुचित है।

जैन आगमों पर सबसे पहले संस्कृतमें टीका लिखनेवाले, भारतीय समग्र दर्शनोंका सबसे पहले वर्णन करनेवाले, जैन शास्त्रके मूल सिद्धान्त अनेकान्तपर तार्किक रीतिसे व्यवस्थित रूपमें लिखनेवाले और जैन प्रक्रियाके अनुसार योगविषय पर [1]नई रीतिसे लिखनेवाले ये ही हरिभद्र हैं। इनकी प्रतिभाने विविध विषयके जो अनेक ग्रन्थ उत्पन्न किये हैं उनसे केवल जैन साहित्यका ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृत, प्राकृत साहित्यका मुख उज्ज्वल है।

---

१ यह कथन उपलब्ध ग्रन्थोंकी अपेक्षासे समझना अन्यथा हरिभद्रसूरिके पहले भी योगविषय पर लिखनेवाले विशिष्ट जैनाचार्य हुए हैं, जिनके अनेक वाक्योंका अवतरण देते हुए हरिभद्रसूरिने योगदृष्टि समुच्चयकी टीकामें 'योगाचार्य' इस प्रतिष्ठासूचक नामसे उल्लेख किया है इसके लिए देखो यो० स० श्लो० १४, १९, २२, ३५ आदिकी टीका

अवतरण वाक्योंसे साफ जान पड़ता है कि 'योगाचार्य जैनाचार्य ही थे। यह नहीं कहा जा सकता है कि वे श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। उनका असली नाम क्या था सो भी मालूम नहीं, इसके लिए विद्वानोंको खोज करनी चाहिए। सम्भव है उनके किसी ग्रन्थकी उपलब्धिसे या अन्यत्र उद्धृत विशेष प्रमाणसे अधिक बातोंका पता चले'।

इनके बनाये हुए जो '१४४४' ग्रन्थ कहे जाते हैं वे सब उपलब्ध नहीं हैं परन्तु आज जितने उपलब्ध हैं वे भी हमारे लिए तो सारी जिन्दगी तक मनन करने और शास्त्रीय प्रत्येक विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं।

यशोविजय—ये विक्रमकी सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दीमें हुए हैं। इनका इतिहास अभीतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। इनके विशिष्ट इतिहासके लिए इनके सभी ग्रन्थोंका सांगोपांग बारीकीके साथ अवलोकन आवश्यक है। इसके लिए समय और स्वास्थ्य चाहिए जो अभी तो हमारे भाग्यमें नहीं है पर कभी इस कामकी तैयारी करनेकी ओर बहुत लक्ष्य रहता है। अस्तु अभी तो वाचक-यशोविजयका परिचय इतनेहीमें कर लेना चाहिए कि उनकी सी समन्वयशक्ति रखनेवाला, जैन जैनेतर मौलिक ग्रन्थोंका गहरा दोहन करनेवाला, प्रत्येक विषयकी तह तक पहुँच कर उस पर समभावपूर्वक अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रकाशित करनेवाला, शास्त्रीय व लौकिक भाषामें विविध साहित्य रच कर अपने सरल और कठिन विचारोंको सब जिज्ञासु तक पहुंचानेकी चेष्टा करनेवाला और सम्प्रदायमें रह कर भी सम्प्रदायके बंधनकी परवा न कर जो कुछ उचित जान पड़ा उस पर निर्भयता पूर्वक लिखनेवाला, केवल श्वेताम्बर, दिगंबर समाजमें ही नहीं बल्कि जैनेतर समाजमें भी उनका सा कोई विशिष्ट विद्वान अभी तक हमारे ध्यानमें नहीं आया। पाठक स्मरणमें रक्खें यह अत्युक्ति नहीं है। हमने उपाध्यायजीके और दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका अभीतक जो अल्प मात्र अवलोकन किया है उसके आधार पर तोल नापकर ऊपरके वाक्य लिखे हैं। निःसन्देह श्वेताम्बर और दिगम्बर समाजमें अनेक बहुश्रुत विद्वान् हो गये हैं, वैदिक तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भी प्रचंड

विद्वान्‌की कमी नहीं रही है; खास कर वैदिक विद्वान् तो सदाहीसे उच्च स्थान लेते आये हैं, विद्या मानों उनकी बपौती ही है; पर इसमें शक नहीं कि कोई बौद्ध या कोई वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा नहीं हुआ है जिसके ग्रन्थके अवलोकन से यह जान पड़े कि वह वैदिक या बौद्ध शास्त्रके उपरान्त जैन शास्त्रका भी वास्तविक गहरा और सर्वव्यापी ज्ञान रखता हो। इसके विपरीत उपाध्यायजीके ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक देखने-वाला कोई भी बहुश्रुत दार्शनिक विद्वान् यह कहे बिना नहीं रहेगा कि उपाध्यायजी जैन थे इसलिए जैनशास्त्रका गहरा ज्ञान तो उनके लिए सहज था पर उपनिषद्, दर्शन आदि वैदिक ग्रन्थोंका तथा बौद्ध ग्रन्थोंका इतना वास्तविक, परिपूर्ण और स्पष्ट ज्ञान उनकी अपूर्व प्रतिभा और काशी सेवनका ही परिणाम है।

हिंदी सारका उद्देश्य—ग्रन्थका महत्त्व, उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। उपयोगिताकी मात्रा लोकप्रियताकी मात्रासे निश्चित होती है। अच्छा ग्रन्थ होने पर भी यदि सर्व साधारणमें उसकी पहुँच न हुई तो उसकी लोकप्रियता नहीं हो सकती। जो अच्छा ग्रन्थ जितने ही प्रमाणमें अधिक लोकप्रिय हुआ देखा जाता है उसको लोगों तक पहुँचानेकी उतनी ही अधिक चेष्टा की गई होती है। गीताका उतना अधिक प्रचार कभी नहीं होता यदि विविध भाषाओंमें विविध रूपसे उसका उल्था न होता, अतएव यह साबीत है कि शास्त्रीय भाषाके ग्रंथोंको अधिक उपयोगी और अधिक लोकप्रिय बनानेका एक मात्र उपाय लौकिक भाषाओंमें उनका परिवर्तन करना है। भारत वर्षके साहित्यको भारतके अधिकांश भागमें फैलानेका साधन उसको राष्ट्रीय हिंदी भाषामें परिवर्तित करना यही है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तकमें मूल मूल योगसूत्र

वृत्ति और सटीक योगविंशिका छपवानेके बाद भी उनका हिंदी सार पुस्तकके अन्तमें दिया गया है। सार कहनेका अभिप्राय यह है कि यह मूलका न तो अक्षरशः अनुवाद है और न अविकल भावानुवाद ही है। अविकल भावानुवाद नहीं है इस कथनसे यह न समझना कि हिंदी सारमें मूल ग्रंथका असली भाव छोड दिया है, जहाँतक होसका सार लिखनेमें मूल ग्रन्थके असली भावकी ओर ही खयाल रक्खा है। अपनी ओरसे कोई नई बात नहीं लिखी है पर मूल ग्रन्थमें जो जो बात जिस जिस क्रमसे जितने जितने संक्षेप या विस्तारके साथ जिस जिस ढँगसे कही गई है वह सब हिंदी सारमें ज्यों की त्यों लानेकी हमने चेष्टा नहीं की है। दोनों सार लिखनेका ढँग भिन्न भिन्न है इसका कारण मूल ग्रंथोंका विषयभेद और रचना भेद है।

पहले ही कहा गया है कि वृत्ति सब योग सूत्रोंके ऊपर नहीं है। उसका विषय आचार न होकर तत्त्वज्ञान है। उसकी भाषा साधारण संस्कृत न होकर विशिष्ट संस्कृत अर्थात् दार्शनिक परिभाषासे मिश्रित संस्कृत और वहभी नवीन न्याय परिभाषाके प्रयोगसे लदी है। अतएव उसका अक्षरशः अनुवाद या अविकल भावानुवाद करनेकी अपेक्षा हमको अपनी स्वीकृत पद्धति ही अधिक लाभदायक जान पडी है। वृत्तिका सार लिखनेमें यह पद्धति रखी गई है कि सूत्र या भाष्यके जिस जिस मन्तव्यके साथ पूर्णरूपसे या अपूर्णरूपसे जैन दृष्टिके अनुसार वृत्तिकार मिल जाते हैं या विरुद्ध होते हैं उस उस मन्तव्यको उस उस स्थानमें पृथक्करण पूर्वक संक्षेपमे लिखकर नीचे वृत्तिकारका संवाद या विरोध क्रमशः संक्षेपमें सूचित कर दिया है। सब जगह पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी सब दलीलें सारमे नहीं दी हैं। सिर्फ सार लिखनेमें यही ध्यान रक्खा गया है कि वृत्तिकार कौस बात पर क्या कहना चाहते हैं।

योगसूत्र वृत्तिके अधिकारी तीन प्रकारके हो सकते हैं। पहले विशिष्ट विद्वान्। दूसरे संस्कृत भाषाको साधारण जाननेवाले किन्तु दर्शनप्रेमी। तीसरे संस्कृत भाषाको बिल्कुल नहीं जाननेवाले किन्तु दर्शनविद्याकी रुचिवाले। पहले प्रकारके अधिकारी तो हिंदी सारके सिवाय ही मूल ग्रन्थ देख सकेंगे उनके लिए यह सार नहीं है। दूसरे प्रकारके अधिकारीको मूल ग्रन्थ सुगम हो सके और तीसरे प्रकारके अधिकारीको मूल वस्तु मात्र सुगम हो सके इस दृष्टिसे वृत्तिका सार लिखा गया है।

योगविंशिका गाथाबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसका विषय योग (चारित्र) है और उस पर परिपूर्ण समर्थ टीका है इस लिए इसका सार लिखनेकी पद्धति भिन्न है। प्रत्येक गाथाका नंबरवार भावानुसारी अर्थ लिखकर उसके नीचे खुलासेके तौर पर टीकाका उपयोगी अंश लेकर सार लिखा गया है। प्राकृत, संस्कृत कम जाननेपर या बिल्कुल नहीं जानने पर भी जो जैन योगके जिज्ञासु हैं उनको न तो बुद्धि पर बोझ ही पड़े और न वस्तु ही अज्ञात रहे इस दृष्टिसे अर्थात् वैसे अधिकारिओंको विशेष उपयोगी होसके इस खयालसे यह सार लिखा गया है।

दोनों सार विशेष उपयोगी होसके इस दृष्टिसे हमने समय और श्रमकी परवा न करके सारको विशेष उपयोगी बनानेकी चेष्टा की है, फिर भी रुचिभेद या अन्य किसी कारणसे जिसको कुछ भी कमी जान पड़े वह हमें सूचित करे या स्वयं उस कमीको दूर करनेकी चेष्टा करे।

आभार प्रदर्शन—आंखोंसे लाचार होनेके कारण पढ़ने, लिखने आदिका मेरा सब काम पराश्रित है, अतएव उत्साह होनेपर भी यह कभी सम्भव नहीं कि योग्य सहायकोंके अभावमें प्रस्तुत पुस्तक मुझसे तैयार हो पाती। पाठक! आप इस

पुस्तकको सब सुख मेरे परम श्रद्धास्पद उन सहायकोंकी सहायताका ही परिणाम समझें, मैं तो इसमें स्वल्प निमित्त मात्र रहा हूँ। वे सहायक हैं प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजीके शिष्य मुनि श्री चतुरविजयजी और उनके शिष्य लघुवयस्क मुनि श्री पुण्यविजयजी। हस्तलिखित प्रतीयोंको संपादित कर उन परसे प्रेस कापी करना, प्रुफ देखना तथा हिंदीसारका संशोधन करके उसके प्रुफोंको देखना आदि सब बौद्धिक तथा शारीरिक काम उक्त लघुवयस्क मुनिने ही प्रधानतया किये हैं। उनके गुरु श्री चतुरविजयजी महाराजने उक्त काममें सहायता देनेके अलावा प्रेस, छपाई तथा अर्थसे संबध रखनेवाली अनेक उलझनोंको सुलझाया है। निःसन्देह उक्त दोनों गुरु शिष्यकी सहृदयता, उत्साह शीलता और कुशलता सिर्फ मेरे ही नहीं बल्कि सभी साहित्यप्रेमीके धन्यवादके पात्र है। संक्षेपमें निष्पक्षभावसे इतना ही कहूँगा कि ह्रीयमान साधुभावका विरलरूपसे आज जिन इनि गिनि व्यक्तियोंमें दर्शन होता है उनमें प्रवर्त्तकजीकी गणना निःसंकोच भावसे की जानी चाहिए। प्रवर्त्तकजीके ही गुण उक्त दोनों गुरु शिष्योंमें, खासकर उक्त लघुवयस्क मुनिमें उतर आये हैं यह बात उनके परिचयमें आनेवाला कोई भी स्वीकार किये विना न रहेगा।

योगसूत्रवृत्तिकी एक ही लिखित प्रति न्यायांभोनिधि आत्मारामजी महाराजके भाण्डारसे मिल सकी थी जिसके उपरसे प्रेस कॉपी तैयार की गई। उस प्रतिमें यत्र तत्र कई जगह अक्षर, पद या वाक्य तक खंडित हो गये थे। दूसरी प्रतिके अभावमें उस खंडित भागकी पूर्ति बहुधा अर्थानुसंधानजनित कल्पनासे किंवा उपाध्यायजीके ही रचित शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले समान विषयक

वर्णनके आधारसे की गई है। फिर भी कई जगह त्रुटित पाठकी पूर्ति नहीं हो सकी। जहाँ कल्पनाद्वारा पूर्ति की गई है वहाँ कोष्ठक आदि खास चिह्न किये हैं या नीचे फुट नोटमें सूचना की है।

योगविंशिकाके सम्बन्धमें भी यही बात है क्योंकि उसकी टीकाकी भी एक ही नकल मिल सकी। उस एक नकलको खोज नीकालनेका श्रेय प्रवर्तकजीके ही स्वर्गवासी शिष्य मुनि श्री भक्तिविजयजीको ही है। यह एक नकल कालके गालमें जा ही रही थी कि सौभाग्यवश उक्त मुनिजीको मिल गई। प्रसंग ऐसा हुआ कि अमदाबादमें किसी श्रावकके यहाँ कचरेके रूपमें पुराने पन्ने पडे थे, जिनको उक्त मुनिजीने देखा और उनमेंसे उनको उपाध्यायजी कृत योगविंशिका टीकाकी एक अखंड नकल मिली जो उनके स्वहस्तलिखित ही है। यद्यपि उपाध्यायजीने श्री हरिभद्रकृत बीसों विंशिकाओंके ऊपर टीका लिखी है जैसा कि योगविंशिकाटीकाके इस अन्तिम उल्लेखसे स्पष्ट है—

इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजयगणिसमर्थितायां विंशिकाप्रकरणव्याख्यायां योगविंशिकाविवरणं सम्पूर्णम् ॥

तथापि प्रस्तुत एक विंशिकाकी टीकाके सिवाय शेष उन्नीस विंशिकाओंकी टीकायें आज अनुपलब्ध हैं। न जाने वे समयका ग्रास हो गईं, या कहीं अज्ञात रूपसे उक्त एक टीकाकी तरह कुडे कचरेके रूपमें किसी संग्रह लोलुपके द्वारा रक्षित

होंगी। अस्तु, जो कुछ हो पर अब भी इतना सौभाग्य है कि मूल मूल चीजों विशिकाएँ कुछ खंडित रूपमें, कुछ अशुद्ध-रूपमें भी उपलब्ध हैं। छाया सहित उनको प्रकाशित करनेका नया हो सका तो साथमें हिंदी सार देनेका हमारा विचार है। हमारा निवेदन है कि जिनके पास उक्त सब विंशिकाएँ या उनकी अपूर्ण, पूर्ण टीकाएँ हों वे हमें सूचित करें; क्योंकि यह सार्वजनिक संपत्ति है, एकबार जैसा छपा प्राय. फिर वैसा ही रहता है। छपनेके बाद लिखित प्रतियोंको कौन देखता है। इस दशामें छपानेसे पहले अधिकसे अधिक सामग्रीके द्वारा संशोधन आदि करना यही सच्ची श्रुत-भक्ति है। हमारा काम प्राप्त सामग्रीका उपयोग करना मात्र है। इस लिए पुण्यशाली महानुभावोंका यह कर्त्तव्य है कि वे लिखित प्रति आदि अपने पास जो कुछ साधन हो उसको देकर प्रकाशकके नि.स्वार्थ कार्यको सरल करें।

पहले इस पुस्तकको पाँच सौ नकलें निकलवानेका इरादा था पर पीछे हजार नकलें निकलवानेका विचार हुआ। किन्तु उस समय एक तरहके उतने कागज न थे और न तुरत मिल ही सकते थे, इसलिए निरुपाय होकर दो किसमके कागजों पर पाँच सौ पाँच सौ नकलें निकलवानी पडी हैं। फिर भी धारणासे कुछ अधिक मॅटर बढ जानेके कारण और कई दिनों तक कोशीश करने पर भी एक जातिके मोटे ॲन्टिक कागज न मिलनेसे अन्तमें लाचार होकर करीब दो फर्मे दूसरी किसमके मोटे कागज पर छपवाने पडे हैं। अस्तु जो कुछ हो बाह्य कलेवरमें थोडी सी विभिन्नता हो जाने पर भी पुस्तकका आन्तरिक स्वरूप एक ही प्रकारका है जिस पर वस्तुग्राही पाठक संतोष कर लेवें।

प्रस्तुत पुस्तकमें आर्थिक सहायता तीन व्यक्तिओंकी ओरसे प्राप्त है। जिसमें मुख्य भाग वडोदावाले शाह चुनीलाल नरोतमदासका है, प्रांतीजवाले शेठ मगनलाल करमचंद और भावनगरवाले शेठ दीपचंद गांडाभाइकी धर्मपत्नी बाइ मोतीबाइकी भी आर्थिक मददका इसमें हीस्सा है अतएव उक्त तीनों महानुभाव धन्यवादके भागी हैं।

अन्तमें विचारशील पाठकोंसे हम इतना ही निवेदन करते हैं कि वे इस पुस्तकमें जो कुछ त्रुटी देखें वह हमें सूचित करें।

भावनगर.
वि. स. १९७८
फाल्गुन कृष्ण १३ रवि.

निवेदक—
सुखलाल संघजी.

प्रस्तावना.

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य। अत एव राष्ट्र तो मानों अनेक सूर्योंका मण्डल है। फिर भी जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवरमें पडता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है?। बहुत विचार कर देखनेसे मालूम पडता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योग-का (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेह-शील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जानेके कारण शक्तियां इधर उधर टकराकर आदमीको बरबाद कर देती हैं। इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुंचानेके लिये अनिवार्यरूपसे सभीको योगकी जरूरत है। यही कारण है कि प्रस्तुत ×व्या-ख्यानमालामें योगका विषय रक्खा गया है।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्द्वारा आर्यसंस्कृतिके एक अंशका थोडा, पर निश्चित रहस्य विदित हो।

× गूजरात पुरातत्त्व मंदिरकी ओरसे होनेवाली आर्यविद्या-व्याख्यानमालामें यह व्याख्यान पढा गया था।

योगदर्शन.

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है। इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं।

योग शब्दका अर्थ—योग शब्द युज् धातु और घञ् प्रत्ययसे सिद्ध हुवा है। युज् धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोडना[1] और दूसरेका अर्थ है समाधि[2]—मनः स्थिरता। सामान्य रीतिसे योगका अर्थ संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थ हो जानेसे वह बहुरूपी बन जाता है। इसी बहुरूपिताके कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्यमें गीताका तात्पर्य दिखानेके लिये योगशब्दार्थनिर्णयकी विस्तृत भूमिका रचनी पडी है[3]। परंतु योगदर्शनमें योग शब्दका अर्थ क्या है यह बतलानेके लिये उतनी गहराइमें उतरनेकी कोइ आवश्यकता नहीं है, क्यों कि योगदर्शनविषयक सभी ग्रन्थोंमें जहां कहीं योग शब्द आया है वहां उसका एक ही अर्थ है, और उस अर्थका स्पष्टीकरण उस उस ग्रन्थमें

---

१ युजंपी योगे गण ७ हेमचंद्र धातुपाठ.

२ युजिंच् समाधौ गण ४ ,, ,, ,,

३ देखो पृष्ठ ५५ से ६०

ग्रन्थकारने स्वयं ही कर दिया है। भगवान् पतंजलिने अपने योगसूत्रमें[1] चित्तवृत्ति निरोधको ही योग कहा है, और उस ग्रन्थमें सर्वत्र योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। श्रीमान् हरिभद्र सूरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थोंमें मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापारको ही योग कहा है। और उनके उक्त सभी ग्रन्थोंमें योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है। चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो वाक्योंके अर्थमें स्थूल दृष्टिसे देखने पर बडी भिन्नता मालूम होती है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनके अर्थकी अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्यों कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इस शब्दसे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्षके लिये अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों। 'मोक्षप्रापक धर्मव्यापार' इस शब्दसे भी वही क्रिया विवक्षित है। अत एव प्रस्तुत विषयमें योग शब्दका अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली

---

१ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

२ योगबिन्दु श्लोक ३१—

अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥
योगविंशिका गाथा ॥१॥

क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समझना चाहीये। योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें योग, ध्यान, समाधि ये शब्द बहुधा समानार्थक देखे जाते हैं।

दर्शन शब्दका अर्थ—नेत्रजन्य[2] ज्ञान, निर्विकल्प (निराकार) बोध[3], श्रद्धा[4], मत[5] आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्दके देखे जाते हैं। पर प्रस्तुत विषयमें दर्शन शब्दका अर्थ मत यह एक ही विवक्षित है।

योगके आविष्कारका श्रेय—जितने देश और जितनी जातियोंके आध्यात्मिक महान् पुरुषोंकी जीवनकथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखनेवाला कोइ भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जातिकी ही बपौती है, क्यों कि सभी देश और सभी जातियोंमें न्यूनाधिक रूपसे आध्यात्मिक विकास-वालें महात्माओंके पाये जानेके प्रमाण मिलते है[6]। योगका

---

१ लोर्ड एबेबरीने जो शिक्षाकी पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकारकी है:—"Education is the harmonious development of all our faculties."

२ दृशं प्रेक्षणे—गण १ हेमचन्द्र धातुपाठ.

३ तत्त्वार्थ अध्याय २ सूत्र ६—श्लोक वार्तिक.

४ ,, ,, १ ,, २

५ षड्दर्शन समुच्चय—श्लोक २—"दर्शनानि षडेवात्र" इत्यादि.

६ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महम्मद आदि.

संबन्ध आध्यात्मिक विकाससे है। अत एव यह स्पष्ट है कि योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियोंमें रहा है। तथापि कोइ भी विचारशील मनुष्य इस बातका इनकार नहीं कर सकता है कि योगके आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय भारतवर्ष और आर्यजातिको ही है। इसके सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं। १ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता; २ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता; ३ लोकरुचि।

१ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता—पहिलेसे आज तक भारतवर्षमें आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी संख्या इतनी बडी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियोंके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी कुल संख्या इतनी अल्प जान पडती है जितनी कि गंगाके सामने एक छोटीसी नदी।

२ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता—तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्यका कोइ भी भाग लीजिये उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोक्ष ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णनने वेदका बहुत बडा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह

वर्णन वेदका शरीर मात्र है। उसकी आत्मा कुछ और ही है—वह है परमात्मचिंतन या आध्यात्मिक भावोंका आविष्करण। उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तनकी बुन्याद पर ही खडा है। प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोइ भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो उसमें भी तत्त्वज्ञानके साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा[१]। आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थोंमें आचारपालनका मुख्य उद्देश मोक्ष ही

---

१ वैशेषिकदर्शन अ० १ सू० ४—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥

न्यायदर्शन अ० १ सू० १—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥

सांख्यदर्शन अ० १—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

वेदान्तदर्शन अ० ४ पा० ४ सू० २२—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

जैनदर्शन तत्त्वार्थ अ० १ सू० १—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

माना गया है। रामायण, महाभारत आदिके मुख्य पात्रोंकी महिमा सिर्फ इस लिये नहीं कि वे एक बडे राज्यके स्वामी थे, पर वह इस लिये है कि अंतमें वे संन्यास या तपस्याके द्वारा मोक्षके अनुष्ठानमें ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्थामें वशिष्ठसे योग और मोक्षकी शिक्षा पा लेते[1] हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण-शय्यापर सोये हुये भीष्मपितामहसे शान्तिका ही पाठ पढते[3] हैं। गीता तो रणांगणमें भी मोक्षके एकतम साधन योगका ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगारप्रिय कहलानेवाले कवि भी अपने मुख्य पात्रोंकी महत्ता मोक्षकी ओर झूकनेमें ही देखते हैं[4]। जैन आगम और बौद्ध पिटक तो निवृत्तिप्रधान होनेसे

---

१ याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३ यतिधर्मनिरूपणम्;
मनुस्मृति अ० १२ श्लोक ८३

२ देखो योगवासिष्ठ.

३ देखो महाभारत-शान्तिपर्व.

४ कुमारसंभव-सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्.
शाकुन्तल नाटक अंक ४ कण्वोक्ति.

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं,
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

मुख्यतया मोक्षके सिवाय अन्य विषयोंका वर्णन करनेमें बहुत ही संकुचाते हैं। शब्दशास्त्रमें भी शब्दशुद्धिको तत्त्व-ज्ञानका द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है। विशेष क्या? कामशास्त्र तकका भी आखिरी उद्देश मोक्ष है[२]। इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोइ भी स्रोत देखिये, उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक चतुर्थ पुरुषार्थकी ओर ही होगी।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥ सर्ग १
अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥ ,, ३
रघुवंश.

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥
श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ० १ पा० १ सू० २ लघुन्यास.

२ "स्थाविरे धर्मं मोक्षं च" कामसूत्र अ० २ पृ० ११
Bombay Edition.

३ लोकरुचि—आध्यात्मिक विषयकी चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोइ भी ग्रन्थ किसीने भी लिखा कि लोगोंने उसे अपनाया। कंगाल और दीन हीव अवस्थामें भी भारतवर्षीय लोगोंकी उक्त अभिरुचि यह सूचित करती है कि योगका सम्बन्ध उनके देश व उनकी जातिमें पहलेसे ही चला आता है। इसी कारणसे भारतवर्षकी सभ्यता अरण्यमें उत्पन्न हुइ कही जाती है[1]। इस पैतृक स्वभावके कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफरके लिये पहाडों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानोंमें जाते हैं तब वे डेरातंबु डालनेसे पहले ही योगियोंको, उनके मठोंको और उनके चिह्नतकको भी ढुंढा करते हैं। योगकी श्रद्धाका उद्रेक यहां तक देखा जाता है कि किसी नंगे बावेको गांजेकी चिलम फूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुंहके धुंएमें या उसकी जटा व भस्मलेपमें योगका गन्ध आने लगता है। भारतवर्षके पहाड, जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दुःसंभव है। ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जातिमें दुर्लभ है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि योगको आविष्कृत करनेका तथा परा-

---

१ देखो कविवर टागोर कृत "साधना" पृष्ठ ४. "Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth etc"

काष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय बहुधा भारतवर्षको और आर्य-जातिको ही है। इस बातकी पुष्टि मेक्षमूलर जैसे विदेशीय और भिन्न संस्कारी विद्वान्के कथनसे भी अच्छी तरह होती है[1]।

आर्यसंस्कृतिकी जड और आर्यजातिका लक्षण—उपरके कथनसे आर्यसंस्कृतिका मूल आधार क्या है यह स्पष्ट मालूम हो जाता है। शाश्वत जीवनकी उपादेयता ही आर्यसंस्कृतिकी भित्ति है। इसी पर आर्यसंस्कृतिके चित्रोंका चित्रण किया गया है। वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रणका अनुपम उदाहरण है। विद्या, रक्षण, विनिमय और सेवा ये चार जो वर्णविभागके उद्देश्य हैं। उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदानमें अलग अलग बह कर भी वानप्रस्थके मुहानेमें मिलकर अंतमें संन्यासाश्रमके अपरिमेय समुद्रमें एकरूप हो जाते हैं। सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियोंका निर्माण, स्थूलजीवनकी परिणामविरसता और आ-

---

१ This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown. इत्यादि देखो पृ २३—वोल्युम १—सेक्रेड बुक्स ओफ धि ईस्ट मेक्षमूलर—प्रस्तावना.

ध्यात्मिक जीवनकी परिणाम सुन्दरता उपर ही किया गया है। अत एव जो विदेशीय विद्वान् आर्यजातिका लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडोल, व्यापार-व्यवसाय, भाषा, आदिमें देखते हैं वे एकदेशीय मात्र है। खेतीबारी, जहाज-खेना, पशुओंको चराना आदि जो जो अर्थ आर्यशब्दसे निकाले गये है[1] वे आर्यजातिके असाधारण लक्षण नहीं हैं। आर्यजातिका असाधारण लक्षण परलोकमात्रकी कल्पना भी नहीं है क्यों कि उसकी दृष्टिमें वह लोक भी त्याज्य[2] है। उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत्के उसपार वर्तमान परमात्मतत्त्वकी एकाग्रबुद्धिसे उपासना करना यही[3] है। इस सर्वव्यापक उद्देश्यके कारण आर्यजाति अपनेको अन्य सब जातियोंसे श्रेष्ठ समझती आइ है।

ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा—व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाय। असलमें यह आचरण ही योग है।

---

१ Biographies of Words & the Home of the Aryans by Max Muller page 50। २ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं, विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ गीता अ० ९ श्लोक २१॥ ३ देखो Apte's Sanskrit to English Dictionary.

अत एव ज्ञान योगका कारण है। परन्तु योगके पूर्ववर्ति जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है। और योगके बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्व होता है। इसीसे यह समझ लेना चाहिये कि स्पष्ट तथा परिपक्व ज्ञानकी एक मात्र कुंजी योग ही है। आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोइ भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जातिमें जितने प्रमाणमें पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जातिका विकास उतना ही अधिक प्रमाणमें होता है। सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी[2] है। जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवाशिष्ठकी परिभाषामें ज्ञानबन्धु[3]।

---

१ इसी अभिप्रायसे गीता योगिको ज्ञानीसे अधिक कहती है.

गीता अ० ६, श्लोक ४६—
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन! ॥

२ गीता अ० ५. श्लोक ५—
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

३ योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग २१—
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ इत्यादि.

है। योगके सिवाय किसी भी मनुष्यकी उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्यों कि मानसिक चंचलताके कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिन्न भिन्न विषयोंमें टकराती हैं, और क्षीण हो कर यों ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिये क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभीको अपनी नाना शक्तियोंको केन्द्रस्थ करनेके लिय योग ही परम साधन है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—योगका कलेवर एकाग्रता है, और उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है। जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रताके साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है। यदि योगका उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्तिमें—चाहे वह दुनियाकी दृष्टिमें बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो—वर्तमान हो तो उसे पामार्थिक योग ही समझना चाहिये। इसके विपरीत स्थूलदृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योगका उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यवहारिक योग ही कहना चाहिये। यही बात गीताके साम्यगर्भित कर्मयोगमें कही गई है।[1]

---

१ अ० २ श्लोक ४८—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

योगकी दो धारायें—व्यवहारमें किसी भी वस्तुको परिपूर्ण स्वरूपमें तैयार करनेके लिये पहले दो बातोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चितेरेको चित्र तैयार करनेसे पहले उसके स्वरूपका, उसके साधनोंका और साधनोंके उपयोगका ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करता है तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी मोक्षके जिज्ञासुके लिये बन्धमोक्ष, आत्मा और बन्धमोक्षके कारणोंका तथा उनके परिहार, उपादानका ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संक्षेपमें यह कहा गया है कि "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"। योग क्रियामार्गका नाम है। इस मार्गमें प्रवृत्त होनेसे पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयोंका आरंभिक ज्ञान शास्त्रसे, सत्संगसे, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशाका ज्ञान होनेसे सबको एकाकार और एकसा नहीं हो सकता। इसीसे योगमार्गमें तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्षस्वरूपमें तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमार्गके प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञानमें कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस

प्रवर्तक ज्ञानका मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व माननेवालोंमें भी मुख्य दो मत हैं-पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्माकी व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादोंको एकतरफ रख कर मुख्य जो आत्माकी एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्गकी दो धारायें हो गइ हैं। अत एव योगविषयक साहित्य भी दो मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें,[1] योगवाशिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवादको लक्ष्यमें रख कर रचे गये हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गये हैं।

योग और उसके साहित्यके विकासका दिग्दर्शन—आर्यसाहित्यका भाण्डागार मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त है-वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्यका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमे आध्या-

---

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस.

त्मिक भाव अर्थात् परमात्मचिन्तनका अभाव नहीं है[1]। परमात्मचिन्तनका भाग उसमें थोडा है सही, पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह साफ मालूम पड जाता है कि तत्कालीन लोगोंकी दृष्टि केवल बाह्य न[2] थी। इसके सिवा उसमें

---

१ देखो " भागवताचा उपसंहार " पृष्ठ २५२.

२ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं:—

ऋग्वेद मं. १ सू. १६४-४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

भावांतरः—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक ही सत्का विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते है। कोइ उसे अग्नि, यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मण्ड. ६ सू. ६

वि मे कर्णो पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥६॥
विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने ! तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ७ ॥

भावांतरः—मेरे कान विविध प्रकारकी प्रवृत्ति करते हैं। मेरे नेत्र, मेरे हृदयमें स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ति मन (भी)

ज्ञान[1], श्रद्धा[2], उदारता[3], ब्रह्मचर्य[4] आदि आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावोंके चित्र भी बडी खूबीवाले मिलते हैं। इससे

विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूँ और क्या विचार करूँ ?। ६। अंधकारस्थित हे अग्नि ! तुजको अंधकारसे भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अमर्त्य हमारा रक्षण करे। ७।

पुरुषसूक्त मण्डल १० सू ९० ऋग्वेदः—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

भावांतरः—(जो) हजार सिरवाला, हजार आंखवाला, हजार पाँववाला पुरुष (है) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर (फिर भी) दस अंगुल बढ कर रहा है। १। पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि। (वह) अमृतत्वका ईश अन्नसे बढ़ता है। २। इतनी इसकी महिमा—इससे भी

---

१ मं. १० सू. ७१ ऋग्वेद। २ मं. १० सू० १५१ ऋग्वेद।
३ मं. १० सू. ११७ ऋग्वेद। ४ मं. १० सू. १० ऋग्वेद।

यह अनुमान करना सहज है कि उस जमानेके लोगोंका झुकाव आध्यात्मिक अवश्य था। यद्यपि ऋग्वेदमें योगशब्द

वह पुरुष अधिकतर है। सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं— उसके अमर तीन पाद स्वर्गमें है। ३।

क सूक्त मं. १० सू. १२१ ऋग्वेदः—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

भावांतरः—पहले हिरण्यगर्भ था। वही एक भूत मात्रका पति बना था। उसने पृथ्वी और इस आकाशको धारण किया। किस देवको हम हविसे पूजें ?। १। जो आत्मा और बल देनेवाला है। जिसका विश्व है। जिसके शासनकी देव उपासना करते हैं। अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है। किस देव हम हविसे पूजें ?। २।

ऋग्वेद मं. १०—१२९—६ तथा ७—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद

अनेक स्थानोंमें आया है, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोडना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। तना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्यमें ध्यान, राग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया प्रसिद्ध ब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेदमें बिलकुल नहीं हैं। ऐसा होनेका ता रण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन दृष्टियोंमें ध्यानकी भी रुचि थी। ऋग्वेदका ब्रह्मस्फुरण जैसे दर्श विकसित होता गया और उपनिषदके जमानेमें उसने मोक्ष ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी क पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता चला। यही कारण है चीन उपनिषदोंमें भी समाधि अर्थमें योग, ध्यान

वादज

निःश्रेयपांतरः—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह द्रव्यगुणसृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुइ ?। देव इसके विविध सर्जनके भ्यां तत्त्वे) हैं। कौन जान सकता है कि यह कहांसे आई ? दुःखात्यन्य सृष्टि कहांसे आई और स्थितिमें है वा नहीं है ? यह शून्यानां व्योममें जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित् रिति। यो जानता हो।

४-४-२ डल १ सूक्त ३४ मंत्र ६। मं. १० सू. १६६ मं. ५। सम्य १८ मं. ७। मं १. सू. ५ मं. ३। मं. २ सू. ८ द०। बौद्ध ९ सू. ५८ मं. ३।

चाहिये कि ऋग्वेदमें जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदोंमें पल्लवित पुष्पित हो कर नाना शाखा प्रशाखाओंके साथ फल अवस्थाको प्राप्त हुवा। इससे उपनिषदकालमें योगमार्गका पुष्टरूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है।

उपनिषदोंमें जगत, जीव और परमात्मसम्बन्धी जो तात्त्विक विचार है, उसको भिन्न भिन्न ऋषियोंने अपनी दृष्टिसे सूत्रोंमें ग्रथित किया, और इस तरह उस विचारको दर्शनका रूप मिला। सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश मोक्ष *ही रहा है, इससे उन्होंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्व-

---

* प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। गौ० सू० १–१–१ ॥ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ वै० सू० १–१–४ ॥ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सा० द० १–१। पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो० सू० ४–३३ ॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति. शब्दात् ४–४–२२ ब्र. सू.।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ १–१ जैन० द०। बौद्ध दर्शनका तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है।

विचार करनेके बाद भी संसारसे छुट कर मोक्ष पानेके साधनोंका निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते है। विना चारित्रका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र यह योगका किंवा योगांगोंका संक्षिप्त नाम है। अत एव सभी दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्रग्रन्थोंमें साधन रूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य बतलाइ है। यहा तक की–न्यायदर्शन जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार मुख्य है उसमें भी महर्षि गौतमने योगको स्थान दिया है[1]। महर्षि कणादने तो अपने वैशेषिक दर्शनमें यम, नियम, शौच आदि योगांगोंका भी महत्त्व गाया है[2]। सांख्यसूत्रमें योगप्रक्रियाके वर्णनवाले कइ सूत्र हैं[3]। ब्रह्म-

---

१ समाधिविशेषाभ्यासात् ४–२–३८। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४–२–४२। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४–२–४६॥

२ अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। ६–२–२। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य। ६–२–८।

३ रागोपहतिर्ध्यानम् ३–३०। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः

सूत्रमें महर्षि बादरायणने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रक्खा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगोंका वर्णन किया है[1]। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचारका ही ग्रन्थ ठहरा, अत एव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रियाकी मीमांसाका पाया जाना सहज ही है। योगके स्वरूपके सम्बन्धमें मतभेद न होनेके कारण और उसके प्रतिपादनका उत्तरदायित्व खासकर योगदर्शनके उपर होनेके कारण अन्य दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्र ग्रन्थोंमें थोडासा योगविचार करके विशेष जानकारीके लिये जिज्ञासुओंको योगदर्शन देखनेकी सूचना दे दी[2] है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने योगका निर्देश तक नहि किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूम-मार्गकी ही मीमांसा है। कर्मकाण्डकी पहुंच स्वर्गतक

३-३१। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३-३२। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ३-३३। स्थिरसुखमासनम् ३-३४।

१ आसीनः संभवात् ४-१-७। ध्यानाच्च ४-१-८। अचलत्वं चापेक्ष्य ४-१-९। स्मरन्ति च ४-१-१०। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४-१-११।

२ योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। न्यायदर्शन ४-२-४६ भाष्य।

ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योगका उपयोग तो मोक्षके लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदोंमें सूचित और सूत्रोंमें सूत्रित है, उसीकी महिमा गीतामें अनेक रूपसे गाइ गइ है। उसमें योगकी तान कभी कर्मके साथ, कभी भक्तिके साथ और कभी ज्ञानके साथ सुनाइ देती है[1]। उसके छट्ठे और तेरहवें अध्यायमें तो योगके मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है[2]। कृष्णके द्वारा अर्जुनको

---

१ गीताके अठारह अध्यायोंमें पहले छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बिचके छह अध्याय भक्तियोग प्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

२ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥ अ० ६

गीताके रूपमें योगशिक्षा दिला कर ही महाभारत सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसके अथक स्वरको देखते हुए कहना पडता है कि ऐसा होना संभव भी न था। अत एव शान्ति-पर्व और अनुशासनपर्वमें योगविषयक अनेक सर्ग वर्तमान हैं, जिनमें योगकी अथेति प्रक्रियाका वर्णन पुनरुक्तिकी परवा न करके किया गया है। उसमें बाणशय्यापर लेटे हुए भीष्मसे बार बार पूछनेमें न तो युधिष्ठिरको ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजाको शिक्षा देनेमें भीष्मको ही थकावट मालूम होती है।

योगवाशिष्ठका विस्तृत महल तो योगकी भूमिकापर खडा किया गया है। उसके छह[1] प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गये है। योगकी जो जो बातें योगदर्शनमें संक्षेपमें कही गई है, उन्हींका विविधरूपमें विस्तार करके ग्रन्थकारने योगवाशिष्ठका कलेवर बहुत बढा दिया है, जिससे यही कहना पडता है कि योगवाशिष्ठ योगका ग्रन्थराज है।

पुराणमें सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिये, उसमें योगका सुमधुर पद्योंमे पूरा वर्णन[3] है।

---

१ शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४ इत्यादि। अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि। २ वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण। ३ स्कन्ध ३ अध्याय २८। स्कन्ध ११. अ० १५, १९, २० आदि।

योगविषयक विविध साहित्यसे लोगोंकी रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालोंने भी तन्त्र-ग्रन्थोंमें योगको जगह दी, यहां तक कि योग तन्त्रका एक खासा अंग बन गया। अनेक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा है, पर उन सबमें महानिर्वाणतन्त्र, षट्चक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं[1]।

---

१ देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय। देखो षट्चक्रनिरूपण.

ऐक्यं जीवात्मनोरत्र योगं योगविशारदाः।
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः॥ पृष्ठ ८२
Tantrik Texts में छपा हुआ

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम्॥ पृ० ६१ ,,
यदत्र नात्र निर्मासः स्तिमितोदधिवत् स्मृतम्।
स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते॥ पृ० ६०,,
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं।
तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम्॥ पृ ६०,
"आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः"
पृ० ६१ ,,
ध्यै चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्चिन्ता तत्त्वेन निश्चला।
एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा॥ पृ० ७३ ,,

जब नदीमें बाढ आता है तब वह चारों ओरसे बहने लगती है। योगका यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगोंमें प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगोंका भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उसपर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे वह योगकी एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोगके नामसे प्रसिद्ध है।

हठयोगके अनेक ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुंभक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगोंका पेट भर भरके वर्णन किया है, और घेरण्डने तो चौरासी आसनको चौरासी लाख तक पहुंचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्यों कि उसीका विषय अन्य ग्रन्थोंमें विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्यके जिज्ञासुओंको योगतारावली, बिन्दुयोग, योगबीज और योगकल्पद्रुमका नाम भी भूलना न चाहिये। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें मैथिल पण्डित भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्त-लिखित ग्रन्थ भी देखनेमें आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके हवाले दे कर योगसम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषामें योगका वर्णन होनेसे सर्व साधारणकी जिज्ञासाको शान्त न देख कर लोकभाषाके योगियोंने भी अपनी अपनी जबानमें योगका अलाप करना शुरु कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषामें गीताकी ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके छट्ठे अध्यायका भाग बडा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेवने अपने अनुभव और वाणीको अवन्ध्य कर दिया है। सुहीरोबा अंबिये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योगके जिज्ञासुओंके लिये देखनेकी वस्तु है।

कबीरका बीजक ग्रन्थ योगसम्बन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तोंने भी भाषामें अपने अपने योगानुभवकी प्रसादी लोगोंको चखाई है, जिससे जनताका बहुत बडा भाग योगके नाम मात्रसे मुग्ध बन जाता है।

अत एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बडे ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषामें भी योगशास्त्रपर अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया है, जिसमें वूडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद ही विशिष्ट है।[१]

१ प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानंद, श्रीयुत रामप्रसाद आदि कृत

जैन सम्प्रदाय निवृत्ति-प्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीरने बारह सालसे अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तनद्वारा योगाभ्यासमें ही मुख्यतया जीवन बिताया। उनके हजारों शिष्य तो ऐसे थे जिन्होंने घरबार छोड कर योगाभ्यासद्वारा साधुजीवन बिताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदायके मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते है। उनमें साधुचर्याका जो वर्णन है, उसको देखनेसे यह स्पष्ट जान पडता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रिय-जय-रूप प्रत्याहार इत्यादि जो योगके खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधुजीवनका एक मात्र प्राण मानो है।

जैनशास्त्रमें योगपर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओंको आत्मचिन्तनके सिवाय दूसरे कार्योंमें प्रवृत्ति करनेकी संमति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करनेको कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्तिका नाम उसमें अष्टप्रवचनमाता है। साधुजीवनकी दैनिक और रात्रिक

---

१ "चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाहिं अज्जिआसाहस्सीहिं" उववाइसूत्र।

२ देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार, आदि। ३ देखो उत्तराध्ययन अ० २४।

चर्यामें तीसरे प्रहरके सिवाय अन्य तीनों प्रहरोंमें मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करनेको ही कहा गया है[1]।

यह बात भूलनी न चाहिये कि जैन आगमोंमे योग-अर्थमें प्रधानतया ध्यानशब्द प्रयुक्त है। ध्यानके लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमोंमें[2] है। आगमके बाद निर्युक्तिका[3] नंबर है। उसमें भी आगमगत ध्यानका ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमा-स्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रमें भी ध्यानका वर्णन है, पर उसमें

---

१ दिवसस्स चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ १ ॥
पढमं पोरिसिं सज्झाय, बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए गोअरकालं, पुणो चउत्थिए सज्झायं ॥ १२ ॥
रत्तिं पि चउरो भाए भिक्खु कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राईभागेसु चउसु वि ॥ १७ ॥
पढमं पोरिसिं सज्झायं बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए निद्दमोक्खं तु चउत्थिए भुज्जो वि सज्झायं ॥ १८ ॥
उत्तराध्ययन अ० २६।

२ देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उद्देश १। समवायाङ्ग स० ४। भगवती शतक—२५ उद्देश ७। उत्तराध्ययन अ० ३०, श्लो० ३५।

३ देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा. १४६२—१४८६। ४ देखो अ० ९ सू० २७ से आगे।

आगम और निर्युक्तिकी अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका ध्यानशतक[1] आगमादि उक्त ग्रन्थोंमें वर्णित ध्यानका स्पष्टीकरण मात्र है, यहां तकके योगविषयक जैन विचारोंमें आगमोक्त वर्णनकी शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैलीको श्रीमान् हरिभद्रसूरिने एकदम बदलकर तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचिके अनुसार नवीन परिभाषा दे कर और वर्णनशैली अपूर्वसी बनाकर जैन योग-साहित्यमें नया युग उपस्थित किया। इसके सबूतमें उनके बनाये हुए योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक[2] और षोडशक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने सिर्फ जैन-मार्गानुसार योगका वर्णन करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातञ्जलयोगसूत्रमें वर्णित योगप्रक्रिया और उसकी खास परिभाषाओंके साथ जैन संकेतोंका मिलान भी किया है[3]। योगदृष्टिसमुच्चयमें

---

१ देखो हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८१

२ यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावलिमें उल्लिखित है पृ० ११३।

३ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ ४१८ ॥
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥ ४२० ॥ इत्यादि,
योगबिन्दु।

चतुर्विधा मैत्री । मोहासुखसंवेगाऽन्यहितयुता चैव करुणा तु ॥ २ ॥ सुखमात्रे सद्धेतावनुबन्धयुते परे च मुदिता तु । करुणा तु बन्धनिर्वेदतत्त्वसारा श्रुपेक्षेति ॥ ३ ॥ " इति भेदप्रदर्शनपूर्वं " एताः खल्वभ्यासात् क्रमेण वचनानुसारिणां पुंसाम् । सद्वृत्तानां सततं श्राद्धानां परिणमन्त्युचैः ॥ ४ ॥ " इति परिकर्मविधिमाहुः । तत्त्वमत्रत्यमसत्कृतषोडशकटीकायाम् । प्रकृतम्—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १–३४ ॥

भाष्यम्—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥

(य०)–अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावात् " ऊसासं ण णिरुंभइ " (आवश्यकनिर्युक्ति १५१०) इत्यादि पारमर्षेण तन्निषेधाच्च, इति वयम् ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ १–३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ १–३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ १–३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ १–३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ १–३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥१–४०॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ १–४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ १–४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १–४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ १–४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ १–४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १–४६ ॥

भाष्यम्—ताः चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचारः स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥

(य०)—पर्यायोपरक्तानुपरक्तस्थूलसूक्ष्मद्रव्यभावनारूपाणामेतासां शुक्लध्यानजीवानुभूतानां चित्तैकाग्र्यकारिणीनामुपशान्त-

मोहापेक्षया सबीजत्वम्, क्षीणमोहापेक्षया तु निर्बीजत्वमपि स्यात् इति त्वार्हतसिद्धान्तरहस्यम् ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ १–४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १–४८ ॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ १–४९ ॥

भाष्यम्—श्रुतमागमविज्ञानं तत् सामान्यविषयं, नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्, कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः, यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति इति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्, न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥

(य०)—"संध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलाच्च श्रुतात्पृथग्[1] । बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्करुणोदयः ॥१॥" इत्यस्मदुक्तलक्षणलक्षिता-

---

१ ज्ञानसार अष्टक २६ श्लो. १ । २ "केवलश्रुतयोः" इत्यपि.

नुभवापरनामधेया शास्त्रोक्ताया दिशि, तेदतिक्रान्तमतीन्द्रियं विशेषमवलम्ब्यमाना तत्त्वतो द्वितीयापूर्वकरणभाविसामर्थ्ययोग-प्रभवेय समाधिप्रज्ञा, इति युक्तः पन्थाः । प्रकृतम्—

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ १—५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥१-५१॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे
समाधिपादः प्रथमः ॥

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यात् ? इत्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥२-१॥

भाष्यम्—नातपस्विनो योगः सिध्यति, अनादिकर्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनम-बाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवि-त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्व-क्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ।

---

२ शास्त्राविक्रान्तम् ।

(य०)–"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरध्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।" इत्यस्मदीयाः ॥ सर्वत्रानुष्ठाने मुख्यप्रवर्तक-शास्त्रस्मृतिद्वारा तदादिप्रवर्तकपरमगुरोर्हृदये निधानमीश्वरप्रणिधा-नम् । तदुक्तम्–" अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति । हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ १ ॥ " इत्यादि, इत्यस्मन्मतम् ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २–२ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥२–३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २–४ ॥

भाष्यम्–अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः, प्रसंख्यानवतो दग्ध-क्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्ध-बीजस्य कुतः प्ररोह इति । अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था, नान्यत्रेति । सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधः इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते–प्रतिपक्षभावनो-

पहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः । कथं ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति । रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिः, अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति स हि तदा प्रसुप्ततनुर्विच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः, सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेशः ? इति, उच्यते—सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं, यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जनेनाभिव्यक्त इति सर्व एवैते क्लेशा अविद्याभेदाः । कस्मात् ? सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते । यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥

(य०)—अत्राविद्यादयो मोहनीयकर्मण औदयिकभावविशेषाः । तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणोऽबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभावः । तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा । विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम् । उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्, इत्यवसेयम् ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ २—५ ॥

भाष्यम्–अनित्यकार्ये नित्यख्यातिः, तद्यथा–ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकसः इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये–"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ १ ॥" इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्यमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी ह्यवगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसंबन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः, तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति, "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" [२. १५.] इति, तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिः–बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदन्यत्रोक्तम्–"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनु नन्दत्यात्मसंपदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्राभोप्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किंतु तद्विरुद्धः

सपत्नः। यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ २–६॥

भाष्यम्–पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति, कुतो भोगः? इति। तथा चोक्तम्–"बुद्धितः परमपुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति"॥

सुखानुशयी रागः॥ २–७॥

भाष्यम्–सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥

दुःखानुशयी द्वेषः॥ २–८॥

भाष्यम्–दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥२–९॥

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, "मा न भूवं, भूयासम्" इति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चाय-

मभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः, कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति॥

(य०)--अत्राविद्या स्थानाङ्गोक्तं दशविधं मिथ्यात्वमेव। अस्मिताया अदृश्ये (अ दृश्ये) हगारोपरूपत्वे चान्तर्भावः(?)। बौद्धदृश्यदृगैक्यापत्तिस्वीकारे तु दृष्टिवादसृष्टिवादापत्तिः (?)। अहङ्कारममकारबीजरूपत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति। रागद्वेषौ कषायभेदा एव। अभिनिवेशश्चोदाहृतोऽर्थतो भयसंज्ञात्मक एव, स च संज्ञान्तरोपलक्षणम्, विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात्। केवलं विदुषा(षोऽ)प्रमत्ततादशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणे न कश्चिदयमभिनिवेशः। संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभिव्यक्तं चैतन्यमिति सर्वेऽपि क्लेशा मोहमकृत्युदयजभाव एव, अत एव क्लेशक्षये कैवल्यसिद्धिः, मोहक्षयस्य तद्धेतुत्वात् इति पारमर्षरहस्यम्॥

---

१ स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने। २ अस्मितायाः अपि दृश्ये दृगारोपरूपत्वे दृशि वा दृश्यारोपरूपत्वे मिथ्यात्व एवान्तर्भावः। आरोपानङ्गीकारे 'बौद्धदृश्य' इत्यादिना दृष्टिसृष्टिवादापत्तिदोषः। (दृष्टिसृष्टिवादप्रक्रियालेशस्तु अद्वैतसिद्धि पृ०५३३। 'सिद्धान्तलेश' परिच्छेद २ श्लो. ४० आदिषु द्रष्टव्यः)। ३ 'दृष्टिसृष्टिवाद' इति स्यात्।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ २–१० ॥

भाष्यम्–ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरितार्थिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥

(य०)–क्षीणमोहसंबन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थः ॥

स्थितानां तु बीजभावोपगतानां—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २–११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः ॥२–१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २–१३ ॥

भाष्यम्–सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्थाः भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति । तत्रेदं विचार्यते–किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम् ? अथैकं कर्मानेकं जन्मादिपतीति ? । द्वितीया विचारणा–किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति ? अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयति ? इति । न तावदेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात् ?

अनेकेषु जन्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकजन्मकारणम्, कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न भवतीति क्रमेण वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्तः एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयते। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्मिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततं इत्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनाः, ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमः, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनी-

१ 'कर्मसु' इति.

योऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः, कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा-शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम्-"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये, पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते"। प्रधानकर्मण्यावापगमनम्, यत्रेदमुक्तम्-"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बहन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति। नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्, कथमिति? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यच्चदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत् आवाप वा गच्छेत्। अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत् समान कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्ज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥

(य०) अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे-"जात्यायुर्भोगा विपाकः" इत्यवधारणमनुपपन्नं, गङ्गामरणमुद्दिश्य कृतेन त्रिसन्ध्यस्तवपाठा-

दिना जनितमदृष्टं गङ्गामरणे विपच्यते इत्यस्यापि शास्त्रार्थत्वादायुष इव मरणस्यापि [1]विपाककल्पातिरेकात्। किं च जन्म-आयुःक्षणसबन्धरूपमायुःप्रतिलम्भनद्वारा [य] दि पूर्वकर्मविपाकः स्यात् तदोत्तरोत्तरक्षणानामपि तथात्वापत्तिः, आयुर्यैव तदुपसंग्रहे च जन्मनोऽपि [2]नैवोपसंग्रहो युक्तः, तस्माज्जन्मपदं गतिजात्यादिनामकर्मकृतजीवपर्यायोपलक्षणम्। गत्यादिभोगत्वावच्छिन्ने च गत्यादिनामकर्मप्रकृतीना पृथक्पृथक्कारणत्वमवश्यमेष्टव्यम्, अन्यथा संकरापत्तेः। आयुरपि मनुष्यायुर्भेदेन जीवनपर्यायलक्षण चतुर्विध फलभूत, तज्जनकमायुष्कर्माऽपि च चतुर्विधमवश्यमभ्युपगमनीयम्। भोगपदेनावशेषकर्मपट्कफलमुपलक्षणीयम्, ज्ञानावरणादिफले ज्ञानावरणीयादीना पृथक्पृथक्कारणत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। पूर्वापरभावव्यवस्थितजन्मान्तरीयकर्मप्रचयस्य तादृशोत्तरजन्मफलभोगे हेतुत्वं तु दुर्वचम्, क्वचित्फलक्रमवैपरीत्यस्यापि दर्शनाद्। बुद्धिविशेषविषयत्वा[3]दीना कर्मप्रचयफलप्रचयावनुगमव्य हेतुहेतुमद्भावाभ्युपगमे तु घटपटादिकार्यप्रचयेऽपि दण्डवेमादीनां तथा [हेतु] हेतुमद्भावापत्तिः। अनन्यगतिकत्वात्कर्मफलभोगस्थल एवेत्थ कल्प्यते नान्यत्रेति चेत्, न, अवगतभगवत्प्रवचनरहस्यस्यानन्यगतिकत्वासिद्धेः। तथाहि-प्रारब्धबद्धमेकमेवायुष्कर्म प्रायणलब्धविपाकमेव जन्म निर्वर्तयति, कर्मान्तराणि च कानि-

१-विपाककोटिप्रविष्टत्वात् इति भावः। २ 'तथैवोप' स्यात् अथवा 'तेनैवोप' इति स्यात्। ३ 'त्वादिना' स्यात्।

चित्तञ्जन्मनियतविपाकानि, कानिचित्नानाजन्मनियतविपाकानि, कानिचिदनियतविपाकानि वा। तत्राद्यैर्नामगोत्रवेदनीयैः सवलित-मायुर्भवोपग्राहिताव्यपदेशमश्नुते, यत्रान्ये प्रारब्धसञ्ज्ञा निवेशयन्ति। एकस्मिन्भवे आयुर्द्वयस्य बन्ध उदयश्च प्रतिषिद्ध एवेति न जन्मान्तरसकरादिप्रसङ्गः। नन्दीश्वरनहुषादीनामप्यायुःसकराभ्युपगमे जन्मसकरो दुर्निवारः। प्रायण विना हि नायुष्कर्मान्तरोद्बोधः। शरीरान्तरपरिणामे प्रायणाभ्युपगमे च वक्तव्य जन्मान्तरमिति। तस्माद्वैक्रियशरीरलाभसदृशोऽय नैकस्मिन् जन्मन्यायुर्द्वयमाक्षिपतीत्यलं मिथ्यादृष्टिसघट्टेन। तस्मादेकभविकः कर्माशय इति भवोपग्राहिकर्मापेक्षयैव युक्तम्, नान्यथा, कर्मानुभवनिर्मितानां वासनानामनेकजन्मानुगमाभ्युपगमेऽर्थतः कर्मान्तराणां स्वैव तथोपगमात्। क्रोधादिवासनानामपि मोहनीयकर्मभावस्वरूपत्वात्, अन्यथा जातिव्यक्तिपक्षयोर्वासनाया दुर्निरूपत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। भवोपग्राहिकर्मणोऽप्यायुष्करूपस्यैकभविकत्वे कथ सप्तजन्मविप्रत्वप्रदकर्मविपाकोपपत्ति? इति चेत्, देवनारकयोरेकमेव भवग्रहण पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्ययोः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, पृथ्वीकायिकादीनामसख्येयानि कायस्थितिः इत्यादि सिद्धान्तोक्तक्रमेण तादृशगतिजातिनामकर्मादिसचयसम्पादनतादृशनवायु-परम्परानुबन्धान्नेयमनुपपत्तिरस्माकम्। भवतु, नैकमेव कर्म प्रारब्धतामश्नुते, किन्तु तत्तत्क्षणवर्तिबहुल्पसुखदुःखहेतु-

१ 'णामेव' इति शुद्धम्।

गुरुलघुकर्मणामनेकेषां प्रायणकालोद्बुद्धवृत्तिकानां प्रारब्धतयैकत्र जन्मनि जन्मसप्तकभोगाकर्मस्यापत्तिरेव[1] जन्मकृतस्य तादृशकर्मप्रचयस्य प्रायणसप्तकेन "यं यं चापि स्मरन् भावं"(गीता.अ.८.श्लो.६.)इत्यादि स्मृत्यनुरोधेन प्रायणसप्तककालोत्पादितदेहान्तरविषयान्तिमप्रत्ययैर्वा क्रमशो लब्धप्रारब्धताकस्य सप्तजन्मविप्रत्वोपपादकत्वाभ्युपगमे [2]गतमैहिकभाविककर्माशयप्रतिज्ञया, एवमनन्तभवविपाकिताया अपि वक्तुं शक्यत्वात्। किञ्च तस्य तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन प्रारब्धत्वं तदन्यावच्छेदेन च सञ्चितत्वं वाच्यम्, अन्यथा तत्त्वज्ञानिनोऽपि तादृशकर्मवतो देहान्तरोत्पत्त्यापत्तिः, सञ्चितं हि कर्म तत्त्वज्ञाननाश्य न तु प्रारब्धम्। जन्मान्तरावच्छेदेन च तस्य सञ्चितत्वात्तत्त्वज्ञानेन नाशान्नोक्तप्रसङ्ग इति। एवं च तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेन तज्जन्मप्रारब्धत्वम्, तज्जन्मप्रारब्धत्वावच्छेदेन च तज्जन्मभोगप्रदत्वमिति व्यक्त एवान्योऽन्याश्रयः। तस्मादायुष्कर्मैव प्रारब्धं तदेव च कर्मान्तरोपगृहीतं तत्तद्भवभोगप्रदम्। अत एव जातिनामनिधत्तायुष्कादिभेदोऽपि सिद्धान्तसिद्धः। केवलिनश्चायुरधिककर्मसत्त्वे केवलिसमुद्घातेन तत्समीकरणान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति अन्यत्रायुषो नैकभाविकत्वनियमः कर्माशयस्य श्रद्धेयः। प्रायणमेव प्राग्भवकृतकर्मप्रचयोद्बोधकमित्यपि तु शिक्षितामिधानम्, पुद्गलजीवभवक्षेत्रवि-

---

१ 'ं भोग्यकर्मविपाकस्या' इति समीचीनम्। २ 'ं रेकजन्म' इति शु०। ३ "गतमिहैक—" इति।

पाकभेदेन कर्मणां नानाविपाकत्वाद्ध्रुवविपाक्यायुष्प्रकृतिविपाकस्य प्रायणोद्बोध्यत्वेऽपि सर्वत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्। दृश्यते हि निद्रादिविपाकोद्बोधे कालविशेषस्यापि हेतुत्वम्, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, स्वानन्तरकर्मविपाकोद्बोधद्वारा प्रायणस्याग्रिमसंततत्युद्बोधकत्वस्वीकारे चातिप्रसङ्गः, नानाभवसंततिद्वारघटनायास्तत्र तत्पूर्वं च वक्तुं शक्यत्वात्। प्रधानत्वमपि कर्मण एकायुष्परिग्रहं विना दुर्वचम्। न ह्येकत्र भवे नानागतियोग्यकर्मोपादानेऽन्ते इदमेव फलवदित्यन्यन्नियामकमस्ति, आयुस्त्वेकत्र भवे एकवारमेव बध्यत इति तदनुसारेणान्ते तादृग्लेश्योपगमात्, " यल्लेश्यो म्रियते तल्लेश्येषूत्पद्यते " इति प्राग्भवबद्धमायुस्तादृशलेश्यया विपाकप्राप्तं प्रधानीभवदन्यकर्माण्युपगृह्णातीति सर्वं [सं] गच्छते। प्रधानकर्मण्यानापगमनादिकमपि "मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः। नन्वात्माऽमूर्तत्वाद्ध्यवसायप्रयोगेण॥" इत्याद्युक्तनीत्या संक्रमविधिपरिज्ञानं विना न कथमप्युपपादयितुं शक्यम्, अन्यथा किं कुत्र संक्रामति? इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। तस्मादत्रार्थेऽस्मत्कृतकर्मप्रकृतिवृत्तिं सम्यगवलोक्य वीतरागसिद्धान्तानुरोधि कर्माशयस्वरूपं व्याख्येयमिति कृतं विस्तरेण॥ प्रकृतं प्रस्तुमः—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥२-१४॥

कथं? तदुपपाद्यते—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ २–१५ ॥

भाष्यम्—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति। तथा चोक्तम्–" नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः "–इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धते रागः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी [1]विषयाननुव्यवसितो महति दुःखपङ्के मग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति। अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःख-

१ " विषयानुवासितः " इत्यपि।

तोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति, यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् । इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुस्रवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा गुणाः परस्परानुग्रहपरतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति । गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन

इति। तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा-संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते॥

(य०)--निश्चयनयमतमेतद्, यदुपजीव्याह स्तुतौ[1] महावादी--"[2]भवबीजमनन्तमुज्झित विमलज्ञानमनन्तमर्जितम्। न च हीनकलोऽसि नाधिकः समतां नाप्यतिवृत्त्य[3] वर्तसे॥ १॥" इति॥

हेयं दुःखमनागतम्॥ २-१६॥

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते-

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥२-१७॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः २ चतुर्थद्वात्रिंशिका श्लो. २९॥
३ 'चाप्यनिवृत्त्य' इति मुद्रिते पाठांतरं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २–१८ ॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥२–१९॥

भाष्यम्–तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः, गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः, तद्यथा–शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतीयन्ति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निस्सत्तासत्त चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषा-

र्थता कारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। सर्वार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते, व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रतिभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमालिङ्गस्य प्रत्यासन्न तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमानियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्ताद्—"न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति"—इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यास्यन्ते॥

(य०) प्रागभावप्रध्वंसाभावानभ्युपगमे सर्वमेतदुक्तमनुपपन्नम्। तदुक्तमकलङ्केन—"कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्यापलापे तु सदैवानन्तता व्रजेत्॥ १॥" तदुपगमे तु द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वाद्वस्तुनः सर्वत्र वैलक्षण्येन कथंचिदेषा व्यवस्था युज्येतापीति वयं वदामः॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२—२०॥

---

१ 'स चार्थो' इत्यपि।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २–२१ ॥

कस्मात्—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारण-
त्वात् ॥ २–२२ ॥

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवर्तते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः
संयोगः ॥ २–२३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २–२४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्, अतः परं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः
कैवल्यम् ॥ २–२५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २–२६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २–२७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपायः। न च सिद्धि-रन्तरेण साधनम् इत्येतदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेक-
ख्यातेः ॥ २–२८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २–२९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२–३०॥

ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा
महाव्रतम् ॥ २–३१ ॥

भाष्यम्–तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्ये-
ष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति।
सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां पुण्येऽहनि हनिष्यामीति।
सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे हनिष्या-
मीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति।
एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव प्रति-
पालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविहितव्यभिचारा।
सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥

---

१ " वाविदित–" इति।

(य०)–सर्वशब्दगर्भप्रतिज्ञया महाव्रतानि, देशशब्दगर्भप्रतिज्ञया चाणुव्रतानीति पुनः पारमर्षविवेकः। एकवचनं चात्र सर्वप्रतिज्ञया पञ्चानामपि तुल्यत्वाभिव्यक्त्यर्थम् ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २–३२ ॥

भाष्यम्–तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।

(य०)–भावशौचानुपरोध्येव द्रव्यशौचं बाह्यमादेयमिति तत्त्वदर्शिनः ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ २–३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥२–३४॥

प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्का यदा स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचक भवति, तद्यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२–३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २–३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २–३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ २–३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ २–३९ ॥

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ २–४० ॥

किञ्च—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-
योग्यत्वानि च ॥ २–४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ २–४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ २–४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ २–४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ २–४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—

स्थिरसुखमासनम् ॥ २–४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ २–४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ २–४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः
प्राणायामः ॥ २–४९ ॥

स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २–५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ २–५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥२–५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ २–५३ ॥

अथ कः प्रत्याहारः ?—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रि-
याणां प्रत्याहारः ॥ २–५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ २–५५ ॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्ति-र्न्याय्या । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तै-काग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमा त्विय वश्यता

यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्न-कृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥

(य०)—व्युत्थानध्यानदशासाधारणं वस्तुस्वभावभावनया स्वविषयप्रतिपत्तिप्रयुक्तरागद्वेषरूपफलानुपधानमेवेन्द्रियाणां परमो जयः इति तु वयम्। तथोक्तं शीतोष्णीयाध्ययने (आचाराङ्ग, अध्ययन ३ उद्दे० १.)–" जस्सिमे सद्दा य रूपा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं " इत्यादि। अत्र "अभिसमन्वागता" इत्यस्य अभीत्याभिमुख्येन मनःपरिणामपरतन्त्रा इन्द्रियविषयादस्युपयो-गलक्षणेन (?) समिति सम्यक्स्वरूपेण नैते इष्टा अनिष्टा वेति निर्धारणया अनु पश्चादागताः परिच्छिन्ना यथार्थस्वभावेन यस्ये-त्यर्थः, स आत्मवानित्यादि परस्परमिन्द्रियजयस्य फलार्थवादः। अन्यत्राप्युक्तम्–" ण सक्का रूवमद्दुं चक्खू विसयमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ " इत्यादि। चित्तनिरोधादतिरिक्तप्रयत्नानपेक्षत्वं तु परमेन्द्रियजये ज्ञानैकसाध्ये प्रयत्नमात्रानपेक्षत्वादेव निरूप्यते, तथा च स्तुतिकारैः–" संय-तानि तवा(न चा)क्षाणि न चोच्छृङ्खलितानि च। इति सम्यकप्रति-पदा(द्य)[त्व]येन्द्रियजयः कृतः ॥१॥" इति। न च प्राणायामा-दिहठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि,

---

१ सिद्धसेनदिवाकरः।

"ऊसासं ण णिरुंभइ" [आव० नि० १५१०] इत्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात् । तस्मादध्यात्मभावनोपबृंहितसमतापरिणामप्रवाही ज्ञानाख्यो राजयोग एव चित्तेन्द्रिय[जय]स्य परमेन्द्रियजयस्य चोपाय इति युक्तम् ॥

॥ इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३–१ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३–२ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३–३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३–४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ३–५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ३–६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ३–७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ३–८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं सुखवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ?—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरो-
धक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३–९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ ३–१० ॥
सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य
ततः पुनः समाधिपरिणामः ॥ ३–११ ॥
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यै-
काग्रता परिणामः ॥ ३–१२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याताः ॥ ३–१३ ॥

तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥३–१४॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ ३–१५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥३–१६॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रवि-
भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ ३–१७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ ३–१८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ ३–१९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥२

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशा-
सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ ३–२१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ ३–२२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ ३–२३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ ३–२४ ॥

प्रवृत्त्या लोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थ-
ज्ञानम् ॥ ३–२५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ ३–२६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ ३–२७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ ३–२८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ ३–२९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३–३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३–३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३–३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३–३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३–३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३–३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३–३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३–३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरप्रवेशः ॥ ३–३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३–३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३–४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥३-४१॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ३–४२ ॥

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ३–४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूत-
जयः ॥ ३–४४ ॥
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा-
नभिघातश्च ॥ ३–४५ ॥
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि काय-
संपत् ॥ ३–४६ ॥
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रिय-
जयः ॥ ३–४७ ॥
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-
जयश्च ॥ ३–४८ ॥
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ३–४९ ॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥३–५०॥
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-
प्रसङ्गात् ॥ ३–५१ ॥
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥३–५२॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ३–५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ३–५४ ॥

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥३–५५॥

भाष्यम्—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः । एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा । न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति । सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुनर्दरयत्वेनोपतिष्ठन्ते । तत् पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति ॥

(य०)—अत्रेदं चिन्त्यम्–ऐश्वर्यं लब्धिरूपं न समाधिरूपसंयमजन्यं, वैचित्र्यप्रतियोगिनस्तस्य विचित्रक्षयोपशमादिजन्यत्वात् । एकत्र त्रयरूपस्य च संयमस्य चित्तस्थैर्य एवोपयोगो

बाह्यत्वेन, आत्मद्रव्यगुणपर्यायगुणस्य [रूपस्य] च नशरीरघटकतया कैवल्यहेतुत्वमपि। ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानवत्तत्तदभाववतो[वा] "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" इत्यप्ययुक्तम्, विवेकजं केवलज्ञानमन्तरेणोक्तशुद्धिसाम्यस्यैवानुपपत्तेः। "दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा नास्ति" इत्युक्तेर्निर्युक्तिकत्वादात्मदर्शनप्रतिबन्धकस्यैव कर्मणः केवलज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन तदपगमे तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वान्निष्प्रयोजनस्यापि फलरूपस्य तस्य स(स्व)स्वसामग्रीसिद्धत्वात्। न हि प्रयोजनज्ञातिभिया सामग्रीकार्यं नार्जयतीति। तदिदमुक्तम्-"क्लेशपङ्किर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात्। तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिप्रभवं हि तत् ॥ १ ॥" इति गुणविशेषजन्यत्वेऽप्यात्मदर्शनवन्मुक्तौ तस्यान्यभिचारित्वं तुल्यम्। वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं स्वभावः, छद्मस्थस्य च विचित्रज्ञानावरणेन स प्रतिबध्यत इति। निःशेषप्रतिबन्धकापगमे ज्ञाने सर्वविषयकत्वमावश्यकम्। तदुक्तं-"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यात् असति प्रतिबद्धरि। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः" ॥ (योगबिन्दु. ४३१.) इति। एतेन विवेकजं सर्वविषयकं ज्ञानमुत्पन्नमपि सत्त्वगुणत्वेन निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ प्रविलीयमानं नात्मानमभिस्पृशतीत्यात्मार्थशून्यानिर्विकल्पचिद्रूप एव मुक्तौ व्यवतिष्ठत इत्यप्यपास्तम्। चित्त्वावच्छेदेनैकस्यैवविषयकत्वस्वभावकल्पनाद्, अर्थशून्यायां चिति मानाभावाद्, बिम्बरूपस्य चित्सामान्यस्याविवर्तस्य कल्पनेऽचित्सामान्यस्यापि

ादृशस्य कल्पनापत्तेः व्यवहारस्य बुद्धिविशेषधर्मैरेवोपपत्तेः, यदि वाचित्सामान्यनिष्ठ एवाचिद्विवर्तः कल्प्यते तदा तुल्यन्यायाचिद्विवर्तोऽपि चित्सामान्यनिष्ठ एवाभ्युपगन्तुं युक्तो न तु चिदचिद्विवर्ताधिष्ठानमेव कल्पयितुं युक्तं, नयादेशस्य सर्वत्र द्रव्ये तुल्यप्रकारत्वात्। कौटस्थ्यं त्वात्मनो यच्छ्रुतिसिद्धं तदितरावृत्तिस्वाभाविकज्ञानदर्शनोपयोगवत्त्वेन समर्थनीयम्। निर्धर्मकत्वं चितः कौटस्थ्यमित्युक्तौ तत्र प्रमेयत्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च "सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म" इत्यादेरनुपपत्तिः। असदादिव्यावृत्तिमात्रेण सदादिवचनोपपादने च चित्त्वमप्यचिद्व्यावृत्तिरेव स्यादिति यतं चित्सामान्येनापि। यदि च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्" इति गुणस्थलोपदर्शितरीत्या स (द्र)लक्षणं सर्वत्रोपपद्यते तदा संसारेमुक्तयोरसाङ्कर्येण स्वविभावस्वभावपर्यायैस्तद्बाधमानं बन्धमोक्षादिव्यवस्थामविरोधेनोपपादयतीति, एतज्जैनेश्वरप्रवचनामृतमासीय "उपचरितभोगाभावो मोक्षः" इत्यादि मिथ्यादृग्वचनवासनाविषमनादिकालनिपीतमुद्वमन्तु सहृदयाः!। अधिकं लतादौ॥

॥इति पातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥४–१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ ४–२ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ४–३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्काः ? इति—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४–४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥४–५॥

तत्र ध्यानजमनाशयः ॥ ४–६ ॥

यतः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां ॥४–७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ४–८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ४–९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ ४–१० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ४–११ ॥

नास्त्यसतः संभवो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्त्तिष्यन्ते वासना इति—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ ४–१२ ॥

भाष्यम्—भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतं, स्वव्यापारोपारूढं वर्त्तमानं, त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरूपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं करोति नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य वाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्ति एवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य वाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वाभावस्त्रयाणामध्वनामिति ॥

(य०)—द्रव्यपर्यायात्मनैवाध्वत्रयसमावेशो युज्यते नान्यथा, निमित्तस्वरूपभेदस्य परेणाप्यवश्याश्रयणीयत्वात्। तथा चाभूत्वा भावाभावयोरपि पर्यायद्रव्यस्वरूपाभ्यां स्याद्वाद एव युक्तोऽन्यथा प्रतिनियतवचनव्यवहाराद्यनुपपत्तेरिति तु श्रद्धेयं सचेतसा ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ ४–१३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ ४–१४ ॥

भाष्यम्—अल्पाक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथ्वी गौः वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः ॥

(य०)—एकानेकपरिणामस्याद्वादाभ्युपगमं विना दुःश्रद्धानमेतत् ॥

कुतश्चैतदन्याय्यम् ?—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥४-१५॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ ४–१६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।४-१७

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ ४–१८ ॥

भाष्यम्–यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत तदा तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवद् ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥

(य०)—ज्ञानरूपस्य चित्तस्यात्मनि धर्मितापरिणामः सदा सन्निहितत्वेन तस्य सदाज्ञातत्वेऽप्यनुपपन्नः[1], शब्दादीनां कादाचित्कसन्निधानेनैव व्यञ्जनावग्रहादिलक्षणेन ज्ञाताज्ञातत्वसंभवात्। अत एव केवलज्ञाने शक्तिविशेषेण विषयाणां सदा सन्निधानाद् ज्ञानावच्छेदकत्वेन तेषां सदाज्ञातत्वमबाधितमिति तु पारमेश्वरप्रवचनप्रसिद्धः पन्थाः ॥ प्रकृतम्—

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यत्यग्निवत्—

---

१ ' तत्प्रमाणकं ' इत्यपि। २ ' पि नानुपन्नः ' इति स्यात्।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ ४–१९

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ ४–२० ॥

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ ४–२१ ॥

कथम् ?—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ ४–२२ ॥

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ ४–२३ ॥

भाष्यम्—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं, तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसंबद्धं, तदेतच्चित्तमेवं द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ता केचित्तदेव चेतनमित्याहुः। अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वम्, नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति। अनुकम्पनी

यास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकार-निर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बी-भूतः तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थः चित्तमात्रं स्याद् कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्य-रूपचित्तभेदात्त्रयमप्येतज्ज्ञातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः तैरधिगतः पुरुष इति ॥

(य०)—वयं तु ब्रूमः—अग्निरूपात्मके प्रकाशे संयोगं विनाऽपि यथा स्वतःप्रकाशकत्वं तथा चैतन्येऽपि प्रविभागि परानपेक्षतयानुभूयमाने, अन्यथाऽनवस्थाव्यासङ्गानुपपत्त्यादिदो-षप्रसङ्गात् । परप्रकाशकत्वं च तस्य क्षयोपशमदशायां प्रतिनिय-तविषयसंबन्धाधीनम् । क्षायिक्यां च दशायां सदा तन्निरावरण-स्वभावाधीनम् । यच्चैतन्यं रूपादिवत्सामान्यवदस्पन्दात्मकानुपादा-नकारणत्वेन गुण इति गुण्याश्रित एव स्यात् । यश्च तस्य गुणी स एवात्मा । निर्गुणत्वं च तस्य सांसारिकगुणाभावापेक्षयैव (न) अन्यथा, (तस्य) स्वाभाविकानन्तगुणाधारत्वाद् । बिम्ब-भूतचितो निर्लेपत्वाभ्युपगमे च तत्प्रतिबिम्बग्राहकत्वेन बुद्धौ प्रका-शस्यानुपपत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बभावसंबन्धस्य द्विष्टत्वेन द्वयोरपि लेपकत्वतौल्यात् । उपचरितबिम्बत्वोपपादने चोपचरितसर्वविषय-त्वाद्युपपादनमपि तुल्यमिति नयादेशविशेषपक्षपातमात्रमेतत् ॥

प्रकृतं प्रस्तुमः—

पास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति ॥

(य०)—सर्वत्र द्रव्यतयाऽक्रमस्य पर्यायतया च क्रमस्यानुभवात् क्रमाक्रमानुविद्धत्रैलक्षण्यस्यैव सुलक्षणत्वात् कूटस्थनित्यतायां मानाभावः । पर्याये च स्थितिचातुर्विध्याद्वैचित्र्यमिति प्रवचनरहस्यमेव सयुक्तिकमिति तु श्रद्धेयम् ॥ प्रकृतम्—

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वा ? इति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति । ॐ भो इति । अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी ? इत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः, पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्चाधिकृत्य नेति । अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति ?। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः । तस्माद्व्याकरणीय मवायं प्रश्न इति ॥

गुणाधिकारक्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमवधार्यते—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ४–३४ ॥

॥ इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचने
कैवल्यपादश्चतुर्थः ॥

अयं पातञ्जलस्यार्थः किञ्चित्स्वसमयाङ्कितः ।
दर्शितः प्राज्ञबोधाय यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्-हरिभद्रसूरिसंदर्भितः

श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचितव्याख्यासंवलितः

योगविंशिका ।

॥ ऐँ नमः ॥ अथ योगविंशिका व्याख्यायते—

मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ॥ १ ॥

'मुक्खेण' त्ति। 'मोक्षेण' महानन्देन योजनात् 'सर्वोऽपि धर्मव्यापारः' साधोरालयविहारभाषाविनयभिक्षाटनादिक्रियारूपो योगो विज्ञेयः, योजनाद्योग इति व्युत्पत्त्यर्थानुगृहीतमोक्षकारणीभूतात्मव्यापारत्वरूपयोगलक्षणस्य सर्वत्र घटमानत्वात्। कीदृशो धर्मव्यापारो योगः? इत्याह— 'परिशुद्धः' प्रणिधानाद्याशयविशुद्धिमान्, अनीदृशस्य द्रव्यक्रियारूपत्वेन तुच्छत्वात्, उक्तं च—"आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः। भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा॥" (षोडशक ३-१२) 'एते' प्रणिधानादयः सर्वेऽपि कथञ्चित्क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्या आशय-

भेदाः, ' अयं ' धर्मोऽप्यप्रकारोऽप्याशयो भावः, अनेन विना ' चेष्टा ' का मनोव्यापाररूपा द्रव्यक्रिया ' तुच्छा ' असारा अभिलषितफलासाधकत्वादित्येतदर्थः ॥ अथ के ते प्रणिधानाद्याशयाः ? उच्यते—प्रणिधानं प्रवृत्तिर्विघ्नजयः सिद्धिर्विनियोगश्चेति पञ्च, आह च—" प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्न-जय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः । धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥ " (षो० ३-६) इति । तत्र हीनगुणद्वेषाभावपरोपकारशासनाविशिष्टोऽधिकृतधर्मस्थानस्य कर्तव्यतोपयोगः प्रणिधानम्, उक्तं च—" प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव । निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥ " (षो० ३-७) ' तत्समये ' प्रतिपन्नधर्मस्थानमर्यादायां ' स्थितिमत् ' अविचलितस्वभावम्, ' तदधः ' स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्तनगुणस्थानवर्त्तिषु जीवेषु ' कृपानुगं ' करुणापरम्, न तु गुणहीनत्वाच्चेषु द्वेषान्वितम्, शेषं सुगमम् ॥ अधिकृतधर्मस्थानोद्देशेन तदुपायविषय इतिकर्तव्यताशुद्धः शीघ्रक्रियासमाप्तीच्छादिलक्षणौत्सुक्यविरहितः प्रयत्नातिशयः प्रवृत्तिः, आह च—"तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् । अधिकृतयत्नातिशयादौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥ " (षो० ३-८) ' तत्रैव ' अधिकृतधर्मस्थान एव शुभः-प्रकृष्टः सारो-नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन संगता ॥ विघ्नजयो नाम विघ्नस्य जयोऽस्मादिति व्यु-

त्पत्त्या धर्मान्तरायनिवर्त्तकः परिणामः । ६ च जेतव्यविघ्नत्रैविध्यात्त्रिविधः, तथाहि—यथा कस्यचित्कण्टकैरुत्कीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति, तदपनयनं तु पथि प्रस्थितस्य निराकुलगमनसंपादकं, तथा मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य कण्टकस्थानीयशीतोष्णादिपरीषहैरुपद्रुतस्य न निराकुलप्रवृत्तिः, तत्तितिक्षाभावनया तदपाकरणे त्वनाकुलप्रवृत्तिसिद्धिरिति कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो हीनो विघ्नजयः । तथा तस्यैव ज्वरेण भृशमभिभूतस्य निराकुलगमनेच्छोरपि तत्कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादधिको यथा ज्वरविघ्नस्तज्जयश्च विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुस्तथेहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव रोगा विशिष्टधर्मस्थानाराधनप्रतिबन्धकत्वाद्विघ्नास्तदपाकरणं च "हियाहारा मियाहारा" (पिंडनिर्युक्ति-गा० ६४८) इत्यादिसूत्रोक्तरीत्या तत्कारणानासेवनेन, 'न मत्स्वरूपस्यैते परीषहा लेशतोऽपि बाधकाः किन्तु देहमात्रस्यैव'इति भावनाविशेषेण वा सम्यग्धर्माराधनाय समर्थमिति ज्वरविघ्नजयसमो मध्यमो द्वितीयो विघ्नजयः । यथा च तस्यैवाध्वनि जिगमिषोर्दिग्मोहविघ्नोपस्थितौ भूयो भूयः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः स्यात्तद्विजये तु स्वयमेव सम्यग्ज्ञानात्परैश्चाभिधीयमानमार्गश्रद्धानान्मन्दोत्साहतात्यागेन विशिष्टगमनसंभवस्तथेहापि मोक्षमार्गे दिग्मोहकल्पो मिथ्यात्वादिजनितो मनोविभ्रमो विघ्नस्तज्जयस्तु गुरुपारतन्त्र्येण मिथ्यात्वादिप्रतिपक्षभावनया

मनोविभ्रमापनयनादनवच्छिन्नप्रयाणसंपादक इत्ययं मोहविघ्नजयसम उत्तमस्तृतीयो विघ्नजयः। एते च त्रयोऽपि विघ्नजया आशयरूपाः समुदिताः प्रवृत्तिहेतवोऽन्यतरवैकल्येऽपि तदसिद्धेरित्यवधेयम् उक्तं च—" विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः। मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसमः प्रवृत्तिफलः॥" (षो० ३-९) इति॥ अतिचाररहिताधिकगुणे गुर्वादौ विनयवैयावृत्त्यबहुमानाद्यन्विता हीनगुणे निर्गुणे वा दयादानव्यसनपतितदुःखापहारादिगुणप्रधाना मध्यमगुणे चोपकारफलवत्यधिकृतधर्मस्थानस्याहिंसादेः प्राप्तिः सिद्धिः, उक्तं च-" सिद्धिस्तच्चद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया। अधिके विनयादियुता, हीने च दयादिगुणसारा॥ " (षो० ३-१०) इति॥ स्वप्राप्तधर्मस्थानस्य यथोपायं परस्मिन्नपि संपादकत्वं विनियोगः, अयं चानेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तेरवन्ध्यो हेतुः, उक्तं च—" सिद्धेश्चोत्तरकार्यं, विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन्। सत्यन्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत्॥ " (षो० ३-११) 'अवन्ध्यं' न कदाचिन्निष्फलं 'एतत्' धर्मस्थानमहिंसादि, 'एतस्मिन्' विनियोगे सति 'अन्वयसंपत्त्या' अविच्छेदभावेन 'तत्' विनियोगसाध्यं धर्मस्थानं सुन्दरम्। 'इतिः' भिन्नक्रमः समाप्त्यर्थश्च, यावत्परमित्येवं योगः, यावत् 'परं' प्रकृष्टं धर्मस्थानं समाप्यत इत्यर्थः। इदमत्र हृदयम्-धर्मस्तावद्रागा-

दिमलविगमेन पुष्टिशुद्धिमच्चित्तमेव। पुष्टिश्च पुण्योपचयः, शुद्धिश्च घातिकर्मणां पापानां क्षयेण या काचिन्निर्मलता, तदुभयं च प्रणिधानादिलक्षणेन भावेनानुबन्धवद्भवति, तदनुबन्धाच्च शुद्धिप्रकर्षः संभवति, निरनुबन्धं च तदशुद्धिफलमेवेति न तद्धर्मलक्षणम्, ततो युक्तमुक्तं "प्रणिधानादिभावेन परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारः सानुबन्धत्वाद् योगः" इति। यद्यप्येवं निश्चयतः परिशुद्धः सर्वोऽपि धर्मव्यापारो योगस्तथापि 'विशेषेण' तान्त्रिकसंकेतव्यवहारकृतेनासाधारणेन स्थानादिगत एव धर्मव्यापारो योगः, स्थानाद्यन्यतम एव योगपदप्रवृत्तेः सम्मतत्वादिति भावः ॥ १ ॥

स्थानादिगतो धर्मव्यापारो विशेषेण योग इत्युक्तम्, तत्र के ते स्थानादयः ? कतिभेदं च तत्र योगत्वम् ? इत्याह—

ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ ॥२॥[1]

'ठाणुन्नत्थे'त्यादि। स्थीयतेऽनेनेति स्थानं-आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम्, ऊर्णः-शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः, अर्थः-शब्दाभिधेयव्यवसायः, आलम्बनं-बाह्यप्रतिमादिविष-

१ "नाणजोगा उ" इत्यपि।

ध्यानम्, एते चत्वारो भेदाः, ' रहितः ' इति रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप इत्येवं 'एषः' योगः पञ्चविधः ' तन्त्रे ' योगप्रधानशास्त्रे, प्रतिपादित इति शेषः, उक्तं च-" स्थानोर्णार्थालम्बनतदन्ययोगपरिभावनं सम्यक्। परतत्त्वयोजनमलं, योगाभ्यास इति समयविदः ॥ " (षोड० १३-४) इति । स्थानादिषु योगत्वं च " मोक्षकारणीभूतात्मव्यापारत्वं योगत्वम्" इति योगलक्षणयोगादनुपचरितमेव। यत्तु " यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य" (पातं० सू० २-२९) इति योगाङ्गत्वेन योगरूपता स्थानादिषु हेतुफलभावेनोपचारादभिधीयत इति षोडशकवृत्तावुक्तं तद् " चित्तवृत्तिनिरोधो योगः" (पा० यो० द० १-२) इति योगलक्षणाभिप्रायेणेति ध्येयम्। अत्र स्थानादिषु 'द्वयं' स्थानोर्णलक्षणं कर्मयोग एव, स्थानस्य साक्षादूर्णस्याप्युच्चार्यमाणस्यैव ग्रहणादुच्चारणांशे क्रियारूपत्वात्। तथा 'त्रयं' अर्थालम्बननिरालम्बनलक्षणं ज्ञानयोगः, ' तुः ' एवकारार्थ इति ज्ञानयोग एव, अर्थादीनां साक्षाद् ज्ञानरूपत्वात् ॥ २ ॥

एष कर्मयोगो ज्ञानयोगो वा कस्य भवतीति स्वामिचिन्तायामाह—

---

२ ' तत्त्वविदः ' इत्यपि ।

देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ ।
इयरस्स बीयमित्तं, इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ॥ ३ ॥

'देसे सव्वे य' त्ति । सप्तम्याः पञ्चम्यर्थत्वाद्देशतस्तथा सर्वतश्च चारित्रिण एव 'एषः' प्रागुक्तः स्थानादिरूपो योगः 'नियमेन' इतरव्यवच्छेदलक्षणेन निश्चयेन भवति,' क्रियारूपस्य ज्ञानरूपस्य वाऽस्य चारित्रमोहनीयक्षयोपशमनान्तरीयकत्वात्, अत एवाध्यात्मादियोगप्रवृत्तिरपि चारित्रप्राप्तिमारभ्यैव ग्रन्थकृता योगबिन्दौ प्ररूपिता, तथाहि—"देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः । अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥ १ ॥" (३५६ श्लोक) इति, 'देशादिभेदतः' देशसर्वविशेषाद् 'इदं' चारित्रं 'अध्यात्मादिः' अध्यात्मं १ भावना २ आध्यान ३ समता ४ वृत्तिसंक्षयश्च ५, तत्राध्यात्मं उचितप्रवृत्तेर्व्रतभृतो मैत्र्यादिभावगर्भं शास्त्राज्ञीवादितत्त्वचिन्तनम् १, भावना अध्यात्मस्यैव प्रतिदिनं प्रवर्धमानश्चित्तवृत्तिनिरोधयुक्तोऽभ्यासः २, आध्यानं प्रशस्तैकार्थविषयं स्थिरप्रदीपसदृशमुत्पातादिविषयमुक्तमोपयोगयुतं चित्तम् ३, समता अविद्याकल्पितेष्टानिष्टत्वसंज्ञापरिहारेण शुभाशुभानां विषयाणां तुल्यताभावनम् ४, वृत्तिसंक्षयश्च मनोद्वारा विकल्परूपाणां शरीरद्वारा परिस्पन्दरूपाणामन्यसंयोगात्मकवृत्तीनामपुनर्भावेन निरोधः ५ । अथैतेषामध्यात्मादीनां स्थानादिषु कुत्र

कस्यान्तर्भावः इति चेद्, उच्यते—अध्यात्मस्य चित्तभेदस्य देवसेवाजपतत्त्वचिन्तनादिरूपस्य यथाक्रमं स्थाने ऊर्ध्वेऽर्धे च। भावनाया अपि भाव्यसमानविषयत्वात्तत्रैव। ध्यानस्यालम्बने। समतावृत्तिसंचययोश्च तदन्ययोग इति भावनीयम्। ततो देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगप्रवृत्तिः संभवतीति सिद्धम्। ननु यदि देशतः सर्वतश्च चारित्रिण एव स्थानादियोगः तदा देशविरत्यादिगुणस्थानहीनस्य व्यवहारेण श्राद्धधर्मादौ प्रवर्तमानस्य स्थानादिक्रियायाः सर्वथा नैष्फल्यं स्यादित्याशङ्क्याह—'इतरस्य' देशसर्वचारित्रिव्यतिरिक्त [स्य] स्थानादिकं 'इत एव' देशसर्वचारित्रं विना योगसंभवाभावादेव 'बीजमात्रं' योगबीजमात्रं 'केचिद्' व्यवहारनयप्रधाना इच्छन्ति। "मोक्षकारणीभूतचारित्रतत्त्वसंवेदनान्तर्भूतत्वेन स्थानादिकं चारित्रिण एव योगः, अपुनर्बन्धकसम्यग्दृशोस्तु तद्योगबीजम्" इति निश्चयनयाभिमताः पन्थाः। व्यवहारनयस्तु योगबीजमप्युपचारेण योगमेवेच्छतीति व्यवहारनयेनापुनर्बन्धकादयः स्थानादियोगस्वामिनः, निश्चयनयेन तु चारित्रिण एवेति विवेकः। तदिदमुक्तम्—"अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः। अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ २ ॥" (यो० वि० ३६८ श्लोक.) इति। अपुनर्बन्धकस्य उपलक्षणात्सम्यग्दृष्टेश्च 'व्यव-

हारेण ' कारणे कार्यत्वोपचारेण तात्त्विकः, कारणस्यापि कथञ्चित्कार्यत्वात् । ' निश्चयेन ' उपचारपरिहारेण ' उत्तरस्य तु ' चारित्रिण एव ॥ सकृद्धन्धकादीनां तु स्थानादिकमशुद्ध-परिणामत्वान्निश्चयतो व्यवहारतश्च न योगः किन्तु योगाभ्यास इत्यवधेयम्, उक्तं च—" सकृदावर्त्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः । प्रत्यपायफलप्रायस्तथा चेषादिमात्रतः ॥ ३ ॥ " (यो० बिं० ३६६ श्लोक.) सकृद्-एकवारमावर्तन्ते-उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति ये ते सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद्विरावर्तनादिग्रहः, 'अतात्त्विकः' व्यवहारतो निश्चयतश्चातत्त्वरूपः॥३॥

तदेवं स्थानादियोगस्वामित्वं विवेचितम्, अथैतेष्वेव प्रतिभेदानाह—

इक्किक्को य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए ॥ ४ ॥

'इक्किक्को य'त्ति । 'अत्र' स्थानादौ 'पुनः' कर्मज्ञानविभेदाभिधानापेक्षया भूयः एकैकश्चतुर्द्धा 'तत्त्वतः' सामान्येन दृष्टावपि परमार्थतः ' समयनीत्या ' योगशास्त्रप्रतिपादितपरिपाट्या ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदतः ' इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धिभेदानाश्रित्य ' मुणेयव्वो ' त्ति ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

तानेव भेदान् विवरीषुराह—

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा।
सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवत्ती उ ॥ ५ ॥
तह चेव एयवाहग-चिंताराहियं थिरत्तणं नेयं।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥६॥

'तज्जुत्तकहा' इत्यादि। तद्युक्तानां-स्थानादियोगयुक्तानां कथायां प्रीत्या-अर्थबुभुत्सयाऽर्थबोधेन वा जनितो यो हर्षस्तल्लक्षणया संगता-सहिता 'विपरिणामिनी' विधिकर्तृबहुमानादिगर्भं स्वोल्लासमात्राद्यत्किञ्चिदभ्यासादिरूपं विचित्रं परिणाममादधाना इच्छा भवति, द्रव्यक्षेत्राद्यसामग्र्येणाङ्गसाकल्याभावेऽपि यथाविहितस्थानादियोगेच्छया यथाशक्ति क्रियमाणं स्थानादि इच्छारूपमित्यर्थः। प्रवृत्तिस्तु 'सर्वत्र' सर्वावस्थायां 'उपशमसारं' उपशमप्रधानं यथा स्यात्तथा 'तत्पालनं' यथाविहितस्थानादियोगपालनम्, 'ओ' त्ति प्राकृतत्वात्। वीर्यातिशयाद् यथाशास्त्रमङ्गसाकल्येन विधीयमान स्थानादि प्रवृत्तिरूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥
'तह चेव' त्ति। 'तथैव' प्रवृत्तिवदेव सर्वत्रोपशमसारं स्थानादिपालनमेतस्य-पाल्यमानस्य स्थानादेर्बाधकचिन्तारहितं स्थिरत्वं ज्ञेयम्। प्रवृत्तिस्थिरयोगयोरेतावान् विशेषः—यदुत प्रवृत्तिरूपस्थानादियोगविधानं सातिचारत्वाद्बाधकचि-

न्वासहितं भवति । स्थिररूपं त्वभ्याससौष्ठवेन निर्बाधकमेव जायमानं तज्जातीयत्वेन बाधकचिन्ताप्रतिघाताच्छुद्धिविशेषेण तदनुत्थानाच्च तद्रहितमेव भवतीति । 'सर्वं' स्थानादि स्वस्मिन्नुपशमविशेषादिफलं जनयदेव परार्थसाधकं-स्वसन्निहितानां स्थानादियोगशुद्ध्यभाववतामपि तत्सिद्धिविधानद्वारा परगतस्वसदृशफलसंपादकं पुनः सिद्धिर्भवति । अत एव सिद्धाऽहिंसानां समीपे हिंसाशीला अपि हिंसां कर्तुं नालम्, सिद्धसत्यानां च समीपेऽसत्यप्रिया अप्यसत्यमभिधातुं नालम् । एवं सर्वत्रापि ज्ञेयम् । 'इति' इच्छादिभेदपरिसमाप्तिसूचकः । अत्रायं मत्कृतः संग्रहश्लोकः—"इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, पालनं शमसंयुतम् । पालनं (प्रवृत्तिः) दोषभीहानिः स्थैर्यं सिद्धिः परार्थता ॥१॥" इति ॥६॥ उक्ता इच्छादयो भेदाः, अथैतेषां हेतूनाह—

एए य चित्तरूवा, तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइजोगओ भव्वसत्ताणं ॥ ७ ॥

'एए य' त्ति । 'एते च' इच्छादयः 'चित्ररूपाः' परस्परं विजातीयाः स्वस्थाने चासङ्ख्यभेदभाजः, 'तस्य तु' अधिकृतस्य स्थानादियोगस्यैव श्रद्धा-इदमित्थमेवेति प्रतिपत्तिः, प्रीतिः-तत्करणादौ हर्षः, आदिना धृतिधारणादिपरिग्रहस्तद्योगतः 'भव्यसत्त्वानां' मोक्षगमनयोग्यानामपुनर्बन्ध-

क्षादिजन्तूनां ' तथाक्षयोपशमयोगतः ' तत्तत्कार्यजननाकुल-विचित्रक्षयोपशमसंपत्त्या भवन्ति, इच्छायोगादिविशेषे आशयभेदाभिव्यङ्ग्यः क्षयोपशमभेदो हेतुरिति परमार्थः। अत एव यस्य यावन्मात्रः क्षयोपशमस्तस्य तावन्मात्रेच्छादिसंपत्त्या मार्गे प्रवर्त्तमानस्य सूक्ष्मबोधाभावेऽपि मार्गानुसारिता न व्याहन्यत इति संप्रदायः ॥ ७ ॥ इच्छादीनामेव हेतुभेदमभिधाय कार्यभेदमभिधत्ते—

अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति ।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥ ८ ॥

'अणुकंप' त्ति । ' अनुकम्पा ' द्रव्यतो भावतश्च यथाशक्ति दुःखितदुःखपरिहारेच्छा, ' निर्वेदः ' नैर्गुण्यपरिज्ञानेन भवचारकाद्विरक्तता, ' संवेगः ' मोक्षाभिलाषः, तथा ' प्रशमश्च ' क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः, इत्येते ' एतेषां ' इच्छादीनां योगानां यथासङ्ख्यं अनु—पश्चाद् भावाः ' अनुभावाः ' कार्याणि भवन्ति । यद्यपि सम्यक्त्वस्यैवैते कार्यभूतानि लिङ्गानि प्रवचने प्रसिद्धानि तथापि योगानुभवसिद्धानां विशिष्टानामेतेषामिहेच्छायोगादिकार्यत्वमभिधीयमानं न विरुध्यत इति द्रष्टव्यम्। वस्तुतः केवलसम्यक्त्वलाभेऽपि व्यवहारेणेच्छादियोगप्रवृत्तेरेवानुकम्पादिभावसिद्धेः । अनुकम्पादिसामान्ये इच्छायोगादिसामान्यस्य तद्विशेषे च तद्विशेषस्य

हेतुत्वमित्येव न्यायसिद्धम्। अत एव शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणानां सम्यक्त्वगुणानां पश्चानुपूर्व्यैव लाभक्रमः। प्राधान्याच्चेत्थमुपन्यास इति सद्धर्मविंशिकायां प्रतिपादितम्॥ ८॥ तदेवं हेतुभेदेनानुभावभेदेन चेच्छादिभेदविवेचनं कृतम्, तथा च स्थानादावेकैकस्मिन्निच्छादिभेदचतुष्टयसमावेशादेतद्विषया अशीतिर्भेदाः संपन्ना एतन्निवेदनपूर्वमिच्छादिभेदभिन्नानां स्थानादीनां सामान्येन योजनां शिक्षयन्नाह—

एवं ठियम्मि तत्ते, नाएण उ जोयणा इमा पयडा।
चिइवंदणेण नेया, नवरं तत्तण्णुणा सम्मं॥ ९॥

'एवं' इत्यादि। 'एवं' अमुना प्रकारेणेच्छादिप्रतिभेदैरशीतिभेदो योगः, सामान्यतस्तु स्थानादिः पञ्चभेद इति 'तत्त्वे' योगतत्त्वे 'स्थिते' व्यवस्थिते 'ज्ञातेन तु' दृष्टान्तेन तु चैत्यवन्दनेन इयं 'प्रकटा' क्रियाभ्यासपरजनप्रत्यक्षविषया 'योजना' प्रतिनियतविषयव्यवस्थापना 'नवरं' केवलं तत्त्वज्ञेन 'सम्यग्' अवैपरीत्येन ज्ञेया॥ ९॥ तामेवाह—

अरिहंतचेइयाणं, करेमि उस्सग्ग एवमाइयं।
सद्धाजुत्तस्स तहा, होइ जहत्थं पयन्नाणं॥१०॥
एयं चऽत्थालंबण—जोगवओ पायमविवरीयं तु
इयरेसिं ठाणाइसु, जत्तपराणं परं सेयं॥ ११॥

'अरिहंत' इत्यादि। "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" एवमादि चैत्यवन्दनदण्डकविषयं 'श्रद्धायुक्तस्य' क्रियास्तिक्यवतः 'तथा' तेन प्रकारेणोच्चार्यमाणस्वरसंपन्मात्रादिशुद्धस्फुटवर्णानुपूर्वीलक्षणेन 'यथार्थं' अभ्रान्तं पदज्ञानं भवति, परिशुद्धपदोच्चारे दोषाभावे सति परिशुद्धपदज्ञानस्य श्रावणसामग्रीमात्राधीनत्वादिति भावः ॥ १० ॥ 'एवं च' त्ति। 'एतच्च' परिशुद्धं चैत्यवन्दनदण्डकपदपरिज्ञानम्, अर्थः—उपदेशपदप्रसिद्धपदवाक्यमहावाक्यैदंपर्यार्थपरिशुद्धज्ञानम्, आलम्बनं च—प्रथमे दण्डकेऽधिकृततीर्थकृद्, द्वितीये सर्वे तीर्थकृतः, तृतीये प्रवचनम्, चतुर्थे सम्यग्दृष्टिः शासनाधिष्ठायक इत्यादि, तद्योगवतः—तत्प्रणिधानवतः 'प्रायः' बाहुल्येन 'अविपरीतं तु' अभीप्सितपरमफलसंपादकमेव, अर्थालम्बनयोगयोर्ज्ञानयोगतयोपयोगरूपत्वात्, तत्सहितस्य चैत्यवन्दनस्य भावचैत्यवन्दनत्वसिद्धेः, भावचैत्यवन्दनस्य चामृतानुष्ठानरूपत्वेनावश्यं निर्वाणफलत्वादिति भावः। प्रायोग्रहणं सापायोगवद्व्यावृत्त्यर्थम्। द्विविधो हि योगः—सापायो निरपायश्च, तत्र निरुपक्रममोक्षपथप्रतिकूलचित्तवृद्धिकारणं प्राक्कालार्जितं कर्म अपायस्तत्सहितो योगः सापायः, तद्रहितस्तु निरपाय इति। तथा च सापायार्थालम्बनयोगवतः कदाचित्फलविलम्बसम्भवेऽपि निरपायतद्वतोऽविलम्बेन फलोत्पत्तौ न व्यभिचार इति प्रायोग्रहणार्थः। 'इतरेषां'

अर्थालम्बनयोगाभाववतामेतचैत्यवन्दनसूत्रपदपरिज्ञानं 'स्थानादिषु यत्नवतां' गुरूपदेशानुसारेण विशुद्धस्थानवर्णोद्यमपरायणानामर्थालम्बनयोगयोश्च तीव्रस्पृहावतां 'परं' केवलं श्रेयः, अर्थालम्बनयोगाभावे वाचनायां प्रच्छनायां परावर्तनायां वा तत्पदपरिज्ञानस्यानुप्रेक्षाऽसंवलितत्वेन "अनुपयोगो द्रव्यम्" इतिकृत्वा द्रव्यचैत्यवन्दनरूपत्वेऽपि स्थानोर्णयोगयत्नातिशयादर्थालम्बनस्पृहयालुतया च तद्धेत्वनुष्ठानरूपतया भावचैत्यवन्दनद्वारा परम्परया स्वफलसाधकत्वादिति भावः ॥ ११ ॥ स्थानादियत्नाभावे च तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानमप्राधान्यरूपद्रव्यतामास्कन्दन्निष्फलं विपरीतफलं वा स्यादिति लेशतोऽपि स्थानादियोगाभाववन्तो नैतत्प्रदानयोग्या इत्युपदिशन्नाह—

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ।
ता अणुरूवाणं चिय, कायव्वो एयविन्नासो ॥१२॥

'इहरा उ'त्ति। 'इतरथा तु' अर्थालम्बनयोगाभाववतां स्थानादियत्नाभावे तु तत् चैत्यवन्दनानुष्ठानं 'कायवासितप्रायं' सम्मूर्च्छनजप्रवृत्तितुल्यकायचेष्टितप्रायं मानसोपयोगशून्यत्वात्, उपलक्षणाद्वाग्वासितप्रायमपि द्रष्टव्यं, तथा चानुष्ठानरूपत्वान्निष्फलमेतदिति भावः। 'अथवा' दोषान्तरे, तच्चैत्यवन्दनानुष्ठानं महामृषावादः, "स्थानमौन-

ध्यानैरात्मानं व्युत्सृजामि" (ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि")इति प्रतिज्ञया विहितस्य चैत्यवन्दनकायोत्सर्गादेः स्थानादिभङ्गे मृषावादस्य स्फुटत्वात्, स्वयं विधिविपर्ययप्रवृत्तौ परेषामेतदनुष्ठाने मिथ्यात्ववुद्धिजननद्वारा तस्य लौकिकमृषावादादतिगुरुत्वाच्च, तथा च विपरीतफलं तेषामेतदनुष्ठानं सम्पन्नम् । येऽपि स्थानादिशुद्धमप्यैहिककीर्त्यादीच्छयाऽऽमुष्मिकस्वर्लोकादिविभूतीच्छया चैतदनुष्ठानं कुर्वन्ति तेषामपि मोक्षार्थकप्रतिज्ञया विहितमेतत्तद्विपरीतार्थतया क्रियमाणं विषगरानुष्ठानान्तर्भूतत्वेन महामृषावादानुवन्धित्वाद्विपरीतफलमेवेति । विषाद्यनुष्ठानस्वरूपं चेत्थमुपदर्शितं पतञ्जल्याद्युक्तभेदान् स्वतन्त्रेण संवादयता ग्रन्थकृतैव योगविन्दौ—" विषं गरोऽननुष्ठान, तद्धेतुरमृतं परम् । गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥ १ ॥ " (१५५ श्लो) ' विषं ' स्थावरजङ्गमभेदभिन्नम् , ततो विषमिव विषम्, एवं गर इव गरः, परं गरः क्षुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, ' अननुष्ठानं ' अनुष्ठानाभासं, 'तद्धेतुः' अनुष्ठानहेतुः, अमृतमिवामृतं अमरणहेतुत्वात्, अपेक्षा-इहपरलोकस्पृहा, आदिशब्दादनाभोगादेश्च यद् विधानं-विशेषणं तस्मात् ॥ " विष लब्ध्याद्यपेक्षातः, इदं सच्चित्तमारणात् । महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा ॥२॥" (१५६ श्लो) लब्ध्यादेः-लाब्धिकीर्त्यादेः अपेक्षातः-स्पृहातः ' इदं ' अनुष्ठानं विषं 'सच्चित्तमारणात्' परिशुद्धान्तःकरण-

परिणामविनाशनात्, तथा महतोऽनुष्ठानस्य 'अल्पार्थनात्' तुच्छलब्ध्यादिप्रार्थनेन लघुत्वस्यापादनादिदं विषं ज्ञेयम् ॥ " दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः । एतद्विहितनीत्यैव, कालान्तरनिपातनात् ॥३॥ " (१५७ श्लो.)'एतद्' अनुष्ठानं ऐहिकभोगनिस्पृहस्य स्वर्गभोगस्पृहया गरमाहुः 'विहितनीत्यैव' विषोक्तनीत्यैव, केवलं कालान्तरे-भवान्तररूपे निपातनात्-अनर्थसम्पादनात् । विषं सद्य एव विनाशहेतुः, गरश्च कालान्तरेणेत्येवमुपन्यासः ॥ " अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यतेऽसम्प्रमुग्धं मनोऽस्येति, ततश्चैतद्यथोदितम् ॥४॥ " (१५८ श्लो) ' अनाभोगवतः ' कुत्रापि फलादावप्रणिहितमनसः ' एतद् ' अनुष्ठानं ' अननुष्ठानं ' अनुष्ठानमेव न भवतीत्यर्थः । सम् इति समन्ततः प्रकर्षेण मुग्धं सन्निपातोपहतस्येवानध्यवसायापन्नं मनोऽस्य, ' इतिः ' पादसमाप्तौ । यत एवं ततो यथोदितं तथैव ॥ " एतद्रागादिदं हेतुः, श्रेष्ठो योगविदो विदुः । सदनुष्ठानभावस्य, शुभभावांशयोगतः ॥४॥ " (१५९ श्लो) ' एतद्रागात् ' सदनुष्ठानबहुमानात् ' इदं ' आदिधार्मिककालभावि देवपूजाद्यनुष्ठानं ' सदनुष्ठानभावस्य ' तात्त्विकदेवपूजाद्याचारपरिणामस्य मुक्त्यद्वेषेण मनाग् मुक्त्यनुसारेण वा शुभभावलेशयोगात् ' श्रेष्ठः ' अवन्ध्यो हेतुरिति योगविदो ' विदुः ' जानते ॥ " जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमदः पुनः । संवेगगर्भमत्यन्तममृतं

मुनिपुङ्गवाः ॥ ६ ॥" (१६० श्लो०) जिनोदितमित्येव 'भावसारं' श्रद्धाप्रधानं 'अदः' अनुष्ठानं 'संवेगगर्भं' मोक्षाभिलाषसहितं 'अत्यन्तं' अतीव अमरणहेतुत्वादमृत-संज्ञमाहुः 'मुनिपुङ्गवाः' गौतमादिमहामुनयः ॥ एतेषु त्रयं योगाभासत्वादहितम्, द्वयं तु सद्योगत्वाद्धितमिति तत्त्वम्। यत एवं स्थानादियत्नाभाववतोऽनुष्ठाने महादोषः 'तत्' तस्मात् 'अनुरूपाणामेव' योग्यानामेव 'एतद्विन्यासः' चैत्यवन्दन-सूत्रप्रदानरूपः कर्तव्यः ॥ १२ ॥ क एतद्विन्यासानुरूपा इत्याकाङ्क्षायामाह—

जे देसविरइजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति।
सुव्वइ विरईए इमं, ता सम्मं चिंतियव्व मिणं ॥१३॥

'जे' इत्यादि। ये 'देशविरतियुक्ताः' पञ्चमगुण-स्थानपरिणतिमन्तः ते इह अनुरूपा इति शेषः। कुतः? इत्याह—यस्मात् 'इह' चैत्यवन्दनसूत्रे "व्युत्सृजामि कायम्" इति श्रूयते, इदं च विरतौ सत्यां संभवति, तदभावे काय-व्युत्सर्गासम्भवात्, तस्य गुप्तिरूपविरतिभेदत्वात्, ततः सम्य-क् चिन्तितव्यमेतत् यदुत "कायं व्युत्सृजामि" इति प्रति-ज्ञान्यथानुपपत्त्या देशविरतिपरिणामयुक्ता एव चैत्यवन्दना-नुष्ठानेऽधिकारिणः, तेषामेवागमपरतन्त्रतया विधियत्नसम्भ-वेनामृतानुष्ठानसिद्धेरिति। एतच्च मध्यमाधिकारिग्रहणं तुला-

दण्डन्यायेनाद्यन्तग्रहणार्थम्, तेन परमामृतानुष्ठानपराः सर्वविरतास्तत्त्वत एव तद्धेत्वनुष्ठानपराः। अपुनर्बन्धका अपि च व्यवहारादिहाधिकारिणो गृह्यन्ते, कुग्रहविरहसम्पादनेनापुनर्बन्धकानामपि चैत्यवन्दनानुष्ठानस्य फलसम्पादकतायाः पञ्चाशकादिप्रसिद्धत्वादित्यवधेयम्। ये त्वपुनर्बन्धकादिभावमप्यस्पृशन्तो विधिबहुमानादिरहिता गतानुगतिकतयैव चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं कुर्वन्ति ते सर्वथाऽयोग्या एवेति व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥ नन्वविधिनाऽपि चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठाने तीर्थप्रवृत्तिरव्यवच्छिन्ना स्यात्, विधेरवान्येपणे तु द्वित्राणामेव विधिपराणां लाभात् क्रमेण तीर्थोच्छेदः स्यादिति तदनुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमप्यादरणीयमित्याशङ्कायामाह—

तित्थस्सुच्छेयाइ वि, नालंबण जं ससमएमेव।
सुत्तकिरियाइ नासो, एसो असमंजसविहाणा॥१४॥

'तित्थस्स' इत्यादि। 'अत्र' अविध्यनुष्ठाने तीर्थोच्छेदाद्यपि नालम्बनी(नम्), तीर्थानुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमपि कर्तव्यमिति नालम्बनीयम्। 'यद्' यस्मात् 'एवमेव' अविध्यनुष्ठाने क्रियमाण एव 'असमञ्जसविधानात्' विहितान्यथाकरणादशुद्धपारम्पर्यप्रवृत्त्या सूत्रक्रियाया विनाशः, स

१ श्रीहरिभद्रसूरिकृतः। २ "तित्थस्सुच्छेयाइ वि, एत्थ नालबण जमेमेव" इति भवेत्।

एष तीर्थोच्छेदः । नहि तीर्थनाम्ना जनसमुदाय एव तीर्थम्, आज्ञारहितस्य तस्यास्थिसङ्घातरूपत्वप्रतिपादनात्, किन्तु सूत्रविहितयथोचितक्रियाविशिष्टसाधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायः, तथा चाविधिकरणे सूत्रक्रियाविनाशात्परमार्थतस्तीर्थविनाश एवेति तीर्थोच्छेदालम्बनेनाविधिस्थापने लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायातेत्यर्थः ॥ १४ ॥ सूत्रक्रियाविनाशस्यैवाहितावहतां स्पष्टयन्नाह—

सो एस वंकओ चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेयभीरूहिं ॥ १५ ॥

'सो एस' त्ति । 'स एषः' सूत्रक्रियाविनाशः 'वक्र एव' तीर्थोच्छेदपर्यवसायितया दुरन्तदुःखफल एव । ननु शुद्धक्रियाया एव पक्षपाते क्रियमाणे शुद्धायास्तस्या अलाभादशुद्धायाश्चानङ्गीकारादानुश्रोतसिक्या वृत्त्याऽक्रियापरिणामस्य स्वत उपनिपातात्तीर्थोच्छेदः स्यादेव, यथाकथञ्चिदनुष्ठानावलम्बने च जैनक्रियाविशिष्टजनसमुदायरूपं तीर्थं न व्यवच्छिद्यते, न च कर्तुरविधिक्रियया गुरोरुपदेशकस्य कश्चिद्दोषः, अक्रियाकर्तुरिवाविधिक्रियाकर्तुस्तस्य स्वपरिणामाधीनप्रवृत्तिकत्वात्, केवलं क्रियाप्रवर्तनेन गुरोस्तीर्थव्यवहाररक्षणाद्गुण एवेत्याशङ्कायामाह—न च स्वयंमृतमारितयोरविशेषः, किन्तु विशेष एव, स्वयंमृते स्वदुष्टाशयस्यानिमित्तत्वात्

मारिते च मार्यमाणकर्मविपाकसमुपनिपातेऽपि स्वदुष्टाशयस्य निमित्तत्वात्, तद्वदिह स्वयमक्रियाप्रवृत्तं जीवमपेक्ष्य गुरोर्न दूषणम्, तदीयाविधिप्ररूपणमवलम्ब्य श्रोतुरविधिप्रवृत्तौ च तस्योन्मार्गप्रवर्तनपरिणामादवश्यं महादूषणमेव, तथा च श्रुतकेवलिनो वचनम्—" जहं सरणमुवगयाणं, जीवाण सिरो निकिंतए जो उ। एवं आयरिओ वि हु, उस्सुत्तं पएणवेंतो य ॥१॥" न केवलमविधिप्ररूपणे दोषः, किन्तु विधिप्ररूपणाभोगेऽविधिनिषेधासम्भवात् तदाशंसनानुमोदनापत्तेः फलतस्तत्प्रवर्तकत्वाद्दोष एव, तस्मात् " स्वयमेतेऽविधिप्रवृत्ता नात्रास्माकं दोषो वयं हि क्रियामेवोपदिशामो न त्वविधिम् " एतावन्मात्रमपुष्टालम्बनमवलम्ब्य नोदासितव्यं परहितनिरतेन धर्माचार्येण, किन्तु सर्वोद्यमेनाविधिनिषेधेन विधावेव श्रोतारः प्रवर्तनीयाः, एवं हि ते मार्गे प्रवेशिताः, अन्यथा तून्मार्गप्रवेशनेन नाशिताः। एतदपि भावितव्यमिह तीर्थोच्छेदभीरुभिः—विधिव्यवस्थापनेनैव ह्येकस्यापि जीवस्य सम्यग् बोधिलाभे चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकेऽमारिपटहवादनात्तीर्थोन्नतिः, अविधिस्थापने च विपर्ययात्तीर्थोच्छेद एवेति। यस्तु श्रोता विधिशास्त्रश्रवणकालेऽपि न संवेगभागी तस्य धर्मश्रावणेऽपि महादोष एव, तथा चोक्तं ग्रन्थकृतैव षोड-

१ "यथा शरणमुपगतानां जीवानां शिरो निकृन्तति यस्तु। एवमाचार्योऽपि खलूत्सूत्रं प्रज्ञापयंश्च ॥" २ 'अविधि'—इति स्यात्।

शके—"यः शृण्वन् सिद्धान्तं, विषयपिपासातिरेकतः पापः। प्राप्नोति न संवेगं, तदापि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥ १ ॥ नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि। कुर्वन्नेतद्गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ २ ॥" (पो० १०-१४-१५) मण्डल्युपवेशनं-सिद्धान्तदानेऽर्थमण्डल्युपवेशनम्। 'तदधिकदोषः' अयोग्यश्रोतुरधिकदोषः, पापकर्तुरपेक्षया तत्कारयितुर्महादोषत्वात्। तस्माद्विधिश्रवणरसिकं श्रोतारमुद्दिश्य विधिप्ररूपणेनैव गुरुस्तीर्थव्यवस्थापको भवति, विधिप्रवृत्त्यैव च तीर्थमव्यवच्छिन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥ ननु किमेतावद्रूढार्थगवेषणया?, यद्बहुभिर्जनैः क्रियते तदेव कर्तव्यं "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति वचनात्, जीतव्यवहारस्यैवेदानीं बाहुल्येन प्रवृत्तेस्तस्यैवाऽतीर्थकालभावित्वेन तीर्थव्यवस्थापकत्वादित्याशङ्कायामाह—

मुत्तूण लोगसन्नं, उड्ढूण य साहुसमयसब्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥ १६ ॥

'मुत्तूण' त्ति। मुक्त्वा ['लोकसञ्ज्ञां'] "लोक एव प्रमाणं" इत्येवंरूपां शास्त्रनिरपेक्षां मतिं 'उड्ढूण य' त्ति वोह्वा च 'साधुसमयसद्भावं' समीचीनसिद्धान्त [रहस्यं] 'सम्यग्' विधिनीत्या प्रवर्त्तितव्यं चैत्यवन्दनादौ 'बुधेन' पण्डितेन 'अतिनिपुणबुद्ध्या' अतिशयितसूक्ष्मभावानुधाविन्या मत्या।

१ 'शृण्वन्नपि सिद्धान्तं' इत्यपि।

साधुसमयसद्भावश्चायम्-" लोकमालम्ब्य कर्तव्य, कृतं बहुभिरेव चेत्तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात्कदाचन ॥ १ ॥ (ज्ञानसारे २३-४) स्तोका आर्या अनार्येभ्यः, स्तोका जैनाश्च तेष्वपि। सुश्रद्धास्तेष्वपि स्तोकाः, स्तोकास्तेष्वपि सत्क्रियाः ॥ २ ॥ श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे च न। स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मशोधकाः ॥ ३ ॥ (ज्ञानसारे २३-५) एकोऽपि शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः। किमज्ञसार्थैः ? शतमप्यन्धानां नैव पश्यति ॥ ४ ॥ यत्सविग्नजनाचीर्णं, श्रुतवाक्यैरबाधितम्। तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पारम्पर्यविशुद्धिमत् ॥५॥ यदाचीर्णमसंविग्नैः, श्रुतार्थानवलम्बिभिः। न जीतं व्यवहारस्तदन्धसंततिसम्भवम् ॥ ६ ॥ आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न व्यवहारकम्। इतिवक्तुर्महत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥ ७ ॥ तस्माच्छ्रुतानुसारेण, विध्येकरसिकैर्जनैः। संविग्नजीतमालम्ब्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ८ ॥ " ननु यद्येवं सर्वादरेण विधिपक्षपातः क्रियते तदा " अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति सव्वन्नू। पायच्छित्तं जम्हा, अकए गुरुयं कए लहुअं ॥ १ ॥ " इत्यादि वचनानां का गतिः ? इति चेत्, नैतानि वचनानि मूलत एवाविधिप्रवृत्तिविधायकानि, किन्तु विधिप्र-

१ " अविधिकृतादकरणमकृतं असूयवचनं भणन्ति सर्वज्ञाः। प्रायश्चित्तं यस्मादकृते गुरुकं कृते लघुकम् ॥ "

वृत्तावप्यनाभोगादिनाऽविधिदोषरुद्धमस्यस्य भवतीति तक्रिया न क्रियात्यागो विधेयः । प्रथमाभ्यासे तथाविधज्ञानाभावादन्यदापि वा प्रज्ञापनीयस्याविधिदोषो निरनुबन्ध इति तस्य तादृशानुष्ठानमपि न दोषाय, विधिबहुमानाद् गुर्वाज्ञायोगाच्च तस्य फलतो विधिरूपत्वादित्येतावन्मात्रप्रतिपादनपराणीति न कश्चिद्दोषः । अवोचाम चाध्यात्मसारप्रकरणे—" अशुद्धापि हि शुद्धायाः, क्रिया हेतुः सदाशयात् । ताम्रं रसानुवेधेन, स्वर्णत्वमुपगच्छति ॥ १ ॥ " (२-१६ श्लो.) यस्तु विध्यबहुमानादविधिक्रियामासेवते तत्कर्तुरपेक्षया विधिव्यवस्थापनरसिकस्तदकर्ताऽपि भव्य एव, तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये ग्रन्थकृतैव—" तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥" (२२१ श्लो०) इत्यादि । न चैवं तादृशषष्ठसप्तमगुणस्थानपरिणतिप्रयोज्यविधिव्यवहाराभावादस्मदादीनामिदानीन्तनभावश्यकाद्याचरणमकर्तव्यमेव प्रसक्तमिति शङ्कनीयम्, विकलानुष्ठानानामपि " जा जा हविज्ज जयणा, सा सा से णिज्जरा होइ । " इत्यादिवचनप्रामाण्यात् यत्किञ्चिद्विध्यनुष्ठानस्येच्छायोगसंपादकतादितरस्यापि बालाद्यनुग्रहसम्पादकत्वेनाकर्तव्यत्वासिद्धेः।

---

१ " मधिगच्छति " इत्यपि । २ " या या भवेद्यतना सा सा तस्य निर्जरा भवति " ।

इच्छायोगवद्भिर्विकलानुष्ठायिभिर्गीतार्थैः सिद्धान्तविधिप्ररूपणे तु निर्भरो विधेयस्तस्यैव तेषां सकलकल्याणसम्पादकत्वात्, उक्तं च गच्छाचारप्रकीर्णके—"जइ नि ण सक्कं काउं, सम्मं जिणभासियं अणुट्ठाणं। तो सम्मं भासिज्जा, जह भणियं खीणरागेहिं ॥ १ ॥ ओसन्नो वि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही य। चरणकरणं विसुद्धं, उववूहंतो परूवितो ॥२॥"(गाथा ३२-३४) इति। ये तु गीतार्थाज्ञानिरपेक्षा विध्यभिमानिन इदानीन्तनव्यवहारमुत्सृजन्ति अन्यं च विशुद्धं व्यवहारं संपादयितुं न शक्नुवन्ति ते बीजमात्रमप्युच्छिन्दन्तो महादोषभाजो भवन्ति। विधिसम्पादकानां विधिव्यवस्थापकानां च दर्शनमपि प्रत्यूहव्यूहविनाशनमिति वयं वदामः ॥ १६ ॥ अथेमं प्रसक्तमर्थं संक्षिपन् प्रकृत निगमयन्नाह—

कयमित्थ पसंगेणं, ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु।
हियमेयं विन्नेयं, सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥१७॥

'कयमित्थ' त्ति। 'कृतं' पर्याप्तं 'अत्र प्रसङ्गेन' प्ररूपणीयमध्ये स्मृतार्थविस्तारणेन 'स्थानादिषु' प्रदर्शित-

---

१ "यद्यपि न शक्य कर्तुं सम्यग्जिनभाषितमनुष्ठानम्। तत्सम्यग्भाषयेद्यथा भणितं क्षीणरागैः ॥ अवसन्नोऽपि विहारे कर्म शोधयति सुलभबोधिश्च। चरणकरणं विशुद्धमुपबृंहन् प्ररूपयन् ॥"

योगभेदेषु 'यत्नसंगतानां तु' प्रयत्नवतामेव 'एतत्' चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं 'हितं' मोक्षसाधकं विज्ञेयम्, चैत्यवन्दनगोचरस्थानादियोगस्य मोक्षहेतुत्वे तस्यापि तत्प्रयोजकत्वादिति भावः। 'तथा' इति प्रकारान्तरसमुच्चये। सदनुष्ठानत्वेन,योगपरिणामकृतपुण्यानुबन्धिपुण्यनिबन्धाद्विशुद्धचित्तसंस्काररूपया प्रशान्तवाहितया सहितस्य चैत्यवन्दनादेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षहेतुत्वादिति भावः। प्रकारभेदोऽयं नयभेदकृत इति न कश्चिद्दोषः ॥ १७ ॥ सदनुष्ठानभेदानेव प्ररूपयंश्चरमतद्भेदे चरमयोगभेदमन्तर्भावयन्नाह—

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगयाजुत्तं।
नेयं चउव्विहं खलु, एसो चरमो हवइ जोगो ॥१८॥

'एयं च' त्ति। 'एतच्च' सदनुष्ठानं प्रीतिभक्त्यागमानुगच्छति तत् प्रीतिभक्त्यागमानुगं-प्रीत्यनुष्ठानं भक्त्यनुष्ठानं वचनानुष्ठानं चेति त्रिभेदं तथाऽसंगतया युक्तं असंगानुष्ठानमित्येवं चतुर्विधं ज्ञेयम्। एतेषां भेदानामिदं स्वरूपम्—यत्रानुष्ठाने प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमा च प्रीतिरुत्पद्यते शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्, आह च—"यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः। शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ १ ॥" (षो० १०-३) एतत्तुल्यमप्यालम्बनीयस्य पूज्यत्वविशेषबुद्ध्या

विशुद्धतरव्यापारं भक्त्यनुष्ठानम्, आह च—गौरवविशेषयोगाद्बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्। क्रियया इतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥" (षो० १०-४) प्रीतित्वभक्तित्वे संतोष्यपूज्यकृत्यकर्तव्यताज्ञानजनितहर्षगतौ जातिविशेषौ, आह च—" अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति। तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ३ ॥" (षो० १०-५) 'तुल्यमपि कृत्यं' भोजनाच्छादनादि 'ज्ञात' उदाहरणम्। शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिर्वचनानुष्ठानम्, आह च—" वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु। वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ४ ॥" (षो० १०-६) व्यवहारकाले वचनप्रतिसंधाननिरपेक्षं दृढतरसंस्काराच्चन्दनगन्धन्यायेनात्मसाद्भूतं जिनकल्पिकादीनां क्रियासेवनमसङ्गानुष्ठानम्, आह च—" यच्चभ्यासातिशयात्, सात्मीभूतामिव चेष्यते सद्भिः। तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥ ५ ॥" (षो० १०-७) 'तदावेधात्' वचनसंस्कारात्, यथाऽऽद्यं चक्रभ्रमणं दण्डव्यापारादुत्तरं च तज्जनितकेवलसंस्कारादेव, तथा भिक्षाटनादिविषयं वचनानुष्ठानं वचनव्यापाराद् असङ्गानुष्ठानं च केवलतज्जनितसंस्कारादिति विशेषः, आह च—" चक्रभ्रमणं दण्डात्तदभावे चैव यत्परं भवति। वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तज्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥" (षो०

१०-८) इति ॥ 'खलु' इति निश्चये। एतेष्वनुष्ठानभेदेषु 'एषः' एतदः समीपतरवृत्ति (वर्त्ति)वाचकत्वात्समीपाभिहिताऽसङ्गानुष्ठानात्मा चरमो योगोऽनालम्बनयोगो भवति, सङ्गत्यागस्यैवानालम्बनलक्षणत्वादिति भावः ॥ १८ ॥ आलम्बनविधयैवानालम्बनस्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

आलंबणं पि एयं, रूवमरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥१९॥

'आलंबणं पि' त्ति। आलम्बनमपि 'एतत्' प्राकरणिकबुद्धिसंनिहितं 'अत्र' योगविचारे 'रूपि' समवसरणस्थजिनरूपतत्प्रतिमादिलक्षणम्, 'च' पुनः 'अरूपी परमः' सिद्धात्मा इत्येवं द्विविधम्। तत्र तस्य—अरूपिपरमात्मलक्षणस्यालम्बनस्य ये गुणाः—केवलज्ञानादयस्तेषां परिणतिः—समापत्तिलक्षणा तया रूप्यत इति तद्गुणपरिणतिरूपः सूक्ष्मोऽतीन्द्रियविषयत्वादनालम्बनो नाम योगः, अरूप्यालम्बनस्येषदालम्बनत्वेन "अलवणा यवागूः" इत्यत्रेवात्र नञ्पदप्रवृत्तेरविरोधात्। "सुहुमो आलंबणो नाम" त्ति क्वचित्पाठस्तत्रापि सूक्ष्मालम्बनो नामैष योगस्ततोऽनालम्बन एवेति भाव उन्नेयः, उक्तं चात्राधिकारे चतुर्दशषोडशके

१ "सुहुमो आलंबणो" इति पाठान्तरम्।

ग्रन्थकृतैव—" सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः । जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥" (१४-१) सहालम्बनेन-चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनः । आलम्बनात्-विषयभावापत्तिरूपान्निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि च्छद्मस्थेन ध्यायते न च स्वरूपेण दृश्यते तद्विषयो निरालम्बन इति यावत् । जिनरूपस्य-समवसरणस्थस्य ध्यानं खलु 'आद्यः' सालम्बनो योगः । तस्यैव-जिनस्य तत्त्वं-केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं केवलज्ञानादिस्वभावं तस्मिन् गच्छतीति तत्तत्त्वगः, 'तुः' एवार्थे, 'अपरः' अनालम्बनः, अत्रारूपितत्त्वस्य स्फुटविषयत्वाभावादनालम्बनत्वमुक्तम् । अधिकृतग्रन्थगाथायां च विषयतामात्रेण तस्यालम्बनत्वमनूद्यापि तद्विषययोगस्येपदालम्बनत्वादनालम्बनत्वमेव प्रासाधीति फलतो न कश्चिद्विशेष इति स्मर्तव्यम् । अयं चानालम्बनयोगः " शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्योयमुत्तमः ॥ १ ॥" (योग० समु० ३ श्लोक) इति श्लोकोक्तस्वरूपचपकश्रेणीद्वितीयापूर्वकरणभाविक्षायोपशमिकवान्त्यादिधर्मसन्न्यासरूपसामर्थ्ययोगतो निस्सङ्गानवरतप्रवृत्ता या परतत्त्वदर्शनेच्छा तल्लक्षणो मन्तव्यः, आह च—"सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गशक्त्याढ्या । साऽनालम्ब-

नयोगः, प्रोक्तस्तंददर्शनं यावत् ॥ १ ॥ " (षो० १५-८) ' तत्र ' परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ' इति ' एवंस्वरूपा असङ्गशक्त्या-निरभिष्वङ्गाविच्छिन्नप्रवृत्त्या आढ्या-पूर्णा 'सा' परमात्मदर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः, परतत्त्वस्यादर्शनं-अनुपलम्भं यावत्, परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेनानालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् । अलब्धपरतत्त्वस्तल्लाभाय ध्यानरूपेण प्रवृत्तो ह्यनालम्बनयोगः, स च क्षपकेण धनुर्धरेण क्षपकश्रेण्याख्यधनुर्दण्डे लक्ष्यपरतत्त्वाभिमुखं तद्वेधाविसंवादितया व्यापारितो यो बाणस्तत्स्थानीयः, यावत्तस्य न मोचनं तावदनालम्बनयोगव्यापारः, यदा तु ध्यानान्तरिकाख्यं तन्मोचनं तदाऽविसंवादितत्पतनमात्रादेव लक्ष्यवेध इतीषुपातकल्पः सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश एव भवति, न त्वनालम्बनयोगो (ग) व्यापारः, फलस्य सिद्धत्वादिति निर्गलितार्थः । आह च—" तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र । सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ १ ॥ द्रागस्मात्तद्दर्शनमिषुपातज्ञातमात्रतो ज्ञेयम् । एतच्च केवलं तत्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ २ ॥ " (षो० १५-९, १०) ' तत्र ' परतत्त्वे ' अप्रतिष्ठितः '

---

१ " प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् " इति पाठानुसारेण यशोभद्रसूरिणा व्याख्यातम् । तथाहि—" प्रोक्तस्तत्त्ववेदिभिः तस्य—परतत्त्वस्य दर्शनमुपलम्भस्तद्यावत् " इति ।

अलब्धप्रतिष्ठः सर्वोत्तमस्य योगस्य-अयोगाख्यस्य अनुजः-पृष्ठभावी ॥ 'तद्दर्शनं' परतत्त्वदर्शनं 'एतच्च' परतत्त्वदर्शनं 'केवलं' सम्पूर्णं 'तत्' प्रसिद्धं यत् तत् केवलज्ञानं 'परं' प्रकृष्टं ज्योतिः स्यात् ॥ अत्र कस्यचिदाशङ्का-इषुपातज्ञातात्परतत्त्वदर्शने सति केवलज्ञानोत्तरमनालम्बनयोगप्रवृत्तिर्मा भूत्, सालम्बनयोगप्रवृत्तिस्तु विशिष्टतरा काचित्स्यादेव, केवलज्ञानस्य लब्धत्वेऽपि मोक्षस्याद्यापि योजनीयत्वात्, नैवम्, केवलिनः स्वात्मनि मोक्षस्य योजनीयत्वेऽपि ज्ञानाकाङ्क्षाया अविषयतया ध्यानानालम्बनत्वात्क्षपकश्रेणिकालसम्भविविशिष्टतरयोगप्रयत्नाभावादावर्जीकरणोत्तरयोगनिरोधप्रयत्नाभावाच्चार्वाक्तनकेवलिव्यापारस्य ध्यानरूपत्वाभावादुक्तान्यतरयोगपरिणतेरेव ध्यानलक्षणत्वात्। आह च महाभाष्यकारः—"सुदढप्पयत्तवावारणं णिरोहो व विज्जमाणाणं। झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमित्तागं ॥१॥" (विशेषावश्यक-गाथा ३०७१) इति। स्यादेतद्, यदि क्षपकश्रेणिद्वितीयापूर्वकरणभावी सामर्थ्ययोग एवानालम्बनयोगो ग्रन्थकृताऽभिहितस्तदा तदप्राप्तिमतामप्रमत्तगुणस्थानानामुपरतसकलविकल्पकल्लोलमालानां चिन्मात्रप्रतिबन्धोपलब्धरत्नत्रयसाम्राज्यानां जिनकल्पिकादीनामपि निरालम्बनध्यानमसं-

१ "सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम्। ध्यान करणाना मतं न तु चित्तनिरोधमात्रम् ॥"

तताभिधानं स्यादिति, नैवम्, यद्यपि तत्त्वतः परतत्त्वलक्ष्यवेधाभिमुखस्तदविसंवादी सामर्थ्ययोग एव निरालम्बनस्तथापि परतत्त्वलक्ष्यवेधप्रगुणतापरिणतिमात्रादर्वाक्तनं परमात्मगुणध्यानमपि मुख्यनिरालम्बनप्रापकत्वादेकध्येयाकारपरिणतिशक्तियोगाच्च निरालम्बनमेव। अत एवावस्थात्रयभावने रूपातीतसिद्धगुणप्रणिधानवेलायामप्रमत्तानां शुक्लध्यानांशो निरालम्बनोऽनुभवसिद्ध एव। संसार्यात्मनोऽपि च व्यवहारनयसिद्धमौपाधिकं रूपमाच्छाद्य शुद्धनिश्चयनयपरिकल्पितसहजात्मगुणविभावने निरालम्बनध्यानं दुरपह्नवमेव, परमात्मतुल्यतयाऽऽत्मज्ञानस्यैव निरालम्बनध्यानांशत्वात् तस्यैव च मोहनाशकत्वात्। याह च—"जो जाणइ अरिहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥ १ ॥" इति। तस्माद्रूपिद्रव्यविषयं ध्यानं सालम्बनं अरूपिविषयं च निरालम्बनमिति स्थितम् ॥ १९ ॥

अथ निरालम्बनध्यानस्यैव फलपरम्परामाह—

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव।
तत्तो अजोगजोगो, कमेण परमं च निव्वाणं ॥२०॥

---

१ "जो जानात्यर्हतो द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः। स जानात्यात्मानं मोहः खलु तस्य याति लयम् ॥"

'एतस्मिन्' इति। 'एतस्मिन्' निरालम्बनध्याने लब्धे मोहसागरस्य-दुरन्तरागादिभावसंतानसमुद्रस्य तरणं भवति। ततश्च 'श्रेणिः' क्षपकश्रेणिर्निर्व्यूढा भवति, सा ह्यध्यात्मादियोगप्रकर्षगर्भिताशयविशेषरूपा। एष एव सम्प्रज्ञातः समाधिस्तीर्थान्तरीयैर्गीयते, एतदपि सम्यग्-यथावद् प्रकर्षेण-सवितर्कनिश्चयात्मकत्वेनात्मपर्यायाणामर्थानां च द्वीपादीनामिह ज्ञायमानत्वादर्थतो नानुपपन्नम्। ततश्च 'केवलमेव' केवलज्ञानमेव भवति। अयं चासम्प्रज्ञातः समाधिरिति परैर्गीयते, तत्रापि अर्थतो नानुपपत्तिः, केवलज्ञानेऽशेषवृत्त्यादिनिरोधाल्लब्धात्मस्वभावस्य मानसविज्ञानवैकल्यादसम्प्रज्ञातत्वसिद्धेः। अयं चासंप्रज्ञातः समाधिर्द्विधा-सयोगिकेवलिभावी अयोगिकेवलिभावी च, आद्यो मनोवृत्तीना विकल्पज्ञानरूपाणामत्यन्तोच्छेदात्सम्पद्यते। अन्त्यश्च परिस्पन्दरूपाणाम्, अयं च केवलज्ञानस्य फलभूतः। एतदेवाह—'ततश्च' केवलज्ञानलाभादनन्तर च 'अयोगयोगः' वृत्तिबीजदाहायो-

---

१ "वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः।" (पात० योग० १-१७)। २ "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (पात० १-१८) "यदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः॥" इति १-१८ सूत्रभाष्ये व्यासर्षिः।

गारूप्यः समाधिर्भवति, अयं च " धर्ममेघः " इति पातञ्ज-
लैर्गीयते, " अमृतात्मा " इत्यन्यैः, " भवशत्रुः " इत्यपरैः,
" शिवोदयः " इत्यन्यैः, " सच्चानन्दः " इत्येकैः, " परश्च "
इत्यपरैः । ' क्रमेण ' उपदर्शितपारम्पर्येण ततोऽयोगयोगात्
' परमं ' सर्वोत्कृष्टफलं निर्वाणं भवति ॥ २० ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्य-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनय-
विजयगणिचरणकमलचञ्चरीकपण्डितश्रीपद्म-
विजयगणिसहोदरोपाध्यायश्रीजसविजय-
गणिसमर्थितायां विंशिका प्रकरण-
व्याख्यायां योगविंशिका-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

१ " वैदेय रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यता-
ख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोत्थं भवति " इति पातं० यो० १-२
भाष्ये व्यासर्षिः ॥

उपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी कृत—

योगवृत्तिका सार.

प्रथम पाद ।

सूत्र २—सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ऐसे दो योग-जैसा कि पा० १ सू० १७-१८-४६-५१ में कहा है-मानकर उनका 'चित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया है। इस लक्षणमें उन्होंने 'सर्व' शब्दका ग्रहण इस लिए नहीं किया है कि यह लक्षण उभययोग साधारण है। सम्प्रज्ञात योगमें कुछ चित्तवृत्तियाँ होती भी हैं पर असम्प्रज्ञातमें सब रुक जाती हैं। अगर 'सर्वचित्तवृत्तिनिरोध' ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता, सम्प्रज्ञात नहीं। जब कि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इतना लक्षण किया है तब तो कुछ चित्तवृत्तियोंका निरोध और सकल चित्तवृत्तियोंका निरोध ऐसा अर्थ निकलता है जो क्रमशः उक्त दोनों योगमें घट जाता है।

सूत्रकारका उपर्युक्त आशय जो भाष्यकारने नीकाला है उसको लक्ष्यमें रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि-सर्व-शब्दका अध्याहार न किया जाय या किया जाय, उभय-पक्षमें सूत्रगत लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि अध्याहार न

करनेमें संप्रज्ञात योगका तो संग्रह हो जाता है पर विक्षिप्त अवस्था जो सूत्रकारको योगरूपसे इष्ट नहीं है और जिसमें कितनीक चित्तवृत्तियोंका निरोध अवश्य पाया जाता है उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त अतिव्याप्तिके निरासके लिये अध्याहार किया जाय तो सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें सब चित्तवृत्तियाँ नहीं रुक जाती। इस तरह 'सर्व' शब्दका अध्याहार करनेमें या न करनेमें दोनों तरफ रज्जु-पाशा होनेसे 'क्लिष्ट' पदका अध्याहार करके "योगः क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः" इतना लक्षण फलित करना चाहिए, जिससे न तो विक्षिप्त अवस्थामें अतिव्याप्ति होगी और न सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति। यह तो हुई सूत्रको ही संगत करनेकी बात, पर श्रीहरिभद्र जैसे आचार्यकी सम्मति बतलाकर उपाध्यायजी जैन शैलीके अनुसार योगका लक्षण इस प्रकार करते हैं—'जो धर्मव्यापार—अर्थात् स्वभावोन्मुख या चेतनाभिमुख क्रिया—समितिगुप्ति स्वरूप है वही योग है; क्योंकि उसीसे मोक्षलाभ होता है।"

सूत्र ११—पाद १ सूत्र ६ से ११ तकमें निरोध करने योग्य पाँच वृत्तियोंका निरूपण है। इसपर उपाध्यायजीका कहना यह है कि-सूत्रकारने वृत्तियोंके जो पाँच भेद किये हैं सो तात्त्विक नहीं किन्तु उनकी रुचिका परिणाममात्र है। क्यों कि विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पीछली तीनों वृत्तियाँ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती है, इस-

लिये उनका समावेश प्रमाण और विपर्यय (अप्रमाण) इन दो वृत्तियोंमें ही हो जाता है। अतएव वृत्तिके दो ही विभाग करने चाहिये। यदि किसी न किसी विशेषताको लेकर अधिक विभाग करना हो तो फिर पाँच ही क्यों? क्षयोपशम-(योग्यता) की विविधताके कारण असंख्यात विभाग किये जा सकते हैं।

विषयके न होते हुए भी जो बोध सिर्फ शब्दज्ञानके बलसे होता है वह विकल्प है। जैसे 'आकाशपुष्प' ऐसा कहनेसे एक प्रकारका भास हो ही जाता है। इसी तरह 'चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है' ऐसा सुननेसे भी भास होता है। यह दोनों प्रकारका भास विकल्प है। पहले प्रकारका विकल्प विपर्यय-कोटिमें सम्मिलित करना चाहिये, क्योंकि 'आकाशपुष्प' यह व्यवहार प्रामाणिक-सम्मत नहीं है। दूसरे प्रकारका विकल्प जिसमें भेदबोधक षष्ठीविभक्तिके बलसे आत्मा और चैतन्यका भेद भासित होता है वह नय अर्थात् प्रमाणांशरूप है। क्योंकि ऐसे विकल्पका व्यवहार शास्त्रीय व प्रामाणिक-सम्मत है। प्रमाणांश कहनेका मतलब यह है कि व्यवहर्त्ताकी दृष्टि कभी भेदप्रधान और कभी अभेदप्रधान होती है। दोनों दृष्टियोंको मिलानेसे ही प्रमाण होता है। दृष्टिको अपेक्षा या नय कहते हैं। वस्तुतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है, पर उसके अनेक स्वरूपोंमेंसे जब चैतन्यस्व-

रूपका कथन करना हो तब भेददृष्टिको प्रधान रखकर प्रामाणिक लोक भी ऐसा बोलते हैं कि चैतन्य यह आत्माका स्वरूप है। इस कथनसे यह सिद्ध है कि जो जो 'आकाशपुष्प' आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विपर्ययरूप हैं। और 'चैतन्य यह पुरुषका स्वरूप है' इत्यादि जो जो विकल्प शास्त्रप्रसिद्ध है वह सब नयरूप होनेसे प्रमाणके एकदेशरूप हैं।

निद्रावृत्ति एकान्त अभाव विषयक नहीं होती। उसमें हाथी घोडे आदि अनेक भावोंका भी कभी कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरहकी निद्रा ही है। इसी तरह वह सच भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक वार जागरित अवस्थामें जैसा अनुभव हुआ हो निद्रामें भी वैसा ही भास होता है, और कभी कभी निद्रामें जो अनुभव हुआ हो वही जागनेके बाद अवश्यः सत्य सिद्ध होता है।

स्मृति भी यथार्थ अयथार्थ दोनों प्रकारकी होती है। अतएव विकल्प आदि तीन वृत्तियोंको प्रमाण विपर्ययसे अलग कहनेकी खास आवश्यकता नहीं है।

सूत्र १६—सूत्रकारने योगके उपायभूत वैराग्यके अपर और पर ऐसे दो भेद किये हैं, उनको जैन परिभाषामें उतारकर उपाध्यायजी खुलासा करते हैं कि—पहला वैराग्य 'यावत्यथर्मसंन्यास' नामक है, जो विषयगत दोषोंकी भावनासे शुरू शुरूमें पैदा होता है। दूसरा वैराग्य 'तात्त्विकधर्मसंन्यास'

नामक है, जो स्वरूपचिंतासे होनेवाली विषयोंकी उदासीनतासे उत्पन्न होता है। जिसका संभव आठवें गुणस्थानमें है, और जिसमें सम्यक्त्व चारित्र आदि धर्म क्षायोपशमिक अवस्था-अपूर्णता-को छोडकर क्षायिकभाव-पूर्णता-को प्राप्त करते हैं।

सूत्र १८—सूत्रकारने संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो योग कहे हैं। जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच भेदोंमें जो पाँचवाँ भेद वृत्तिसंक्षय है उसीमें उक्त दोनों योगका समावेश हो जाता है। आत्माकी स्थूल सूक्ष्म चेष्टायें तथा उनका कारण जो कर्मसंयोगकी योग्यता है, उसके ह्रास-क्रमशः हानि-को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। यह वृत्तिसंक्षय ग्रंथिभेदसे होनेवाले उत्कृष्टमोहनीयकर्मबंधसंबंधी व्यवच्छेदसे शुरू होता है, और तेरहवें गुणस्थानमें परिपूर्ण हो जाता है। इसमें भी आठवेंसे बारहवें गुणस्थानतकमें पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कअविचार नामक जो शुक्लध्यानके दो भेद पाये जाते हैं उनमें संप्रज्ञात योगका अंतर्भाव है। संप्रज्ञात भी जो निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासरूप है वह पर्यायरहितशुद्धद्रव्यविषयक शुक्लध्यानमें अर्थात् एकत्ववितर्कअविचारमें अन्तर्भूत है। असंप्रज्ञात योग केवलज्ञानकी प्राप्तिसे अर्थात् तेरहवें गुणस्थान-

कसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकमें आजाता है। इन दो गुणस्थानोंमें जो भवोपग्राही अर्थात् अघातिकर्मका संबन्ध रहता है वही संस्कार है। और उसीकी अपेक्षासे असंप्रज्ञातको संस्कारशेष समझना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मतिज्ञानविशेषरूप संस्कारका संभव नहीं है अर्थात् उस समय द्रव्यमन होनेपर भी भावमन नहीं होता।

सूत्र १९—सूत्रकारने विदेह और प्रकृतिलयोंमें जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योगका पाया जाना कहा है उसकी संगति जैनमतके अनुसार लवसप्तम देवों-अनुत्तर विमानवासी-में करनी चाहिये, क्योंकि उन देवोंको जन्मसे ही ज्ञानयोगरूप समाधि होती है।

सूत्र २६—सूत्र २४, २५, २६ में ईश्वरका स्वरूप है। भाष्यकार और टीकाकारने ईश्वरके स्वरूपके विषयमें सूत्रकारका मंतव्य दिखलाते हुए मुख्यतया उसके छह धर्म बतलाये है। जैसे—१ केवल सत्त्वगुणका प्रकर्ष, २ जगत्कर्तृत्व, ३ एकत्व, ४ अनादिशुद्धता-नित्यमुक्तता, ५ अनुग्रहेच्छा और ६ सर्वज्ञत्व।

उपाध्यायजी उक्त धर्मोंमेंसे (क) पहले दो धर्मोंको अर्थात् केवलसत्त्वगुणप्रकर्ष और जगत्कर्तृत्वको जैनदृष्टिसे ईश्वरमें अस्वीकार ही करते है, (ख) तीन धर्मोंका अर्थात् एकत्व, अनादिशुद्धता और अनुग्रहेच्छाका कथंचित् समन्वय

करते हैं, और (ग) एकधर्मका अर्थात् सर्वज्ञपनका सर्वथा स्वीकार करते हैं।

(क) सत्त्वगुण जो जड प्रकृतिका अंश है वह तथा जगत्कर्तृत्व इन दो धर्मोंका सम्बन्ध ईश्वरमें युक्तिसंगत न होनेसे जैनदर्शनको मान्य नहीं है।

(ख) एकत्व शब्दके संख्या और सादृश्य ये दो अर्थ होते हैं। जैनशास्त्र ईश्वरकी एक संख्या नहीं मानता, वह सभी मुक्त आत्माओंको ईश्वर मानता है। अतएव उसके अनुसार ईश्वरमें एकत्वका मतलब सदृशतासे है। जब ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति नहीं है तब जैनप्रक्रियाके अनुसार यह भी सिद्ध है कि अनादिशुद्धता मुक्तजीवोंके प्रवाहमें ही घट सकती है, एक व्यक्तिमात्रमें नहीं। अनुग्रहकी इच्छा जो रागरूप होनेसे द्वेष सहचरित होनी चाहिये उसका तो ईश्वरमें सम्भव ही नहीं हो सकता, अतएव जैनशास्त्र कहता है कि ईश्वरोपासनाके निमित्तसे योगी जो सदाचार लाभ करता है वही ईश्वरका अनुग्रह समझना चाहिये।

ईश्वरमें सर्वज्ञत्व जैनशास्त्रको वैसा ही मान्य है जैसा कि योगदर्शनको, पर जैनमतकी विशेषता यह है कि सर्वज्ञत्व दोषोंके नाशसे उत्पन्न होता है। अतएव वह नित्यमुक्तताका साधक नहीं हो सकता।

सूत्र ३३—उपाध्यायजी कहते हैं कि-जैनशास्त्र भी

मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तशुद्धिका उपाय मानता है, और मैत्रीका अर्थ उसमें विशाल है। सूत्रमें सुखी प्राणिको ही मैत्रीभावनाका विषय बतलाया है, पर जैनाचार्य प्राणिमात्रको मैत्रीका विषय बतलाते हैं। इसके सिवाय उपाध्यायजीने षोडशकप्रकरणके चतुर्थ और तेरहवें षोडशकके अनुसार चारों भावनाओंके भेद और उनका स्वरूप भी बतलाया है।

सूत्र ३४—जैनशास्त्र प्राणायामको चित्तशुद्धिका पुष्ट साधन नहीं मानता, क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो जाता है।

सूत्र ४६—चित्तका ध्येयविषयके समानाकार बन जाना उसकी समापत्ति है। जब ध्येय स्थूल हो तब सवितर्क, निर्वितर्क और ध्येय सूक्ष्म हो तब सविचार, निर्विचार; इस तरह समापत्तिके चार भेद हैं, जो सभी सबीज ही हैं और संप्रज्ञात कहलाते हैं। जैनशास्त्रमें समापत्तिका मतलब उन भावनाओंसे है जो भावनायें चित्तमें एकाग्रता उत्पन्न करती हैं और जिनका अनुभव शुक्लध्यानवाले ही आत्मा करते हैं। पर्यायसहित स्थूल द्रव्यकी भावना सवितर्क समापत्ति, पर्यायरहित स्थूल द्रव्यकी भावना निर्वितर्क समापत्ति, पर्यायसहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना सविचार समापत्ति, और पर्यायरहित सूक्ष्म द्रव्यकी भावना निर्विचार समापत्ति है।

इन भावनाओंको मोहकी उपशम दशामें अर्थात् उपशम-श्रेणिमें सम्प्रज्ञात समाधिकी तरह सबीज और मोहकी क्षीण अवस्थामें अर्थात् क्षपकश्रेणिमें असम्प्रज्ञात समाधिकी तरह निर्बीज घटा लेना चाहिये।

सूत्र ४६—जैनप्रक्रियाके अनुसार ऋतंभराप्रज्ञाका समन्वय इस प्रकार है-जो समाधिप्रज्ञा दूसरे अपूर्वकरण अर्थात् आठवें गुणस्थानमें होनेवाले सामर्थ्ययोगके बलसे प्रकट होती है, और जो शास्त्रके द्वारा प्रतिपादन नहीं किये जा सकनेवाले अतीन्द्रिय विषयोंको अवगाहन करती है, अतएव जो प्रज्ञा न तो केवलज्ञानरूप है और न श्रुतज्ञानरूप; किन्तु जैसे रातके खतम होते समय और सूर्योदयके पहले अरुणोदयरूप संध्या रात और दिन दोनोंसे अलग पर दोनोंकी माध्यमिक स्थितिरूप है, वैसे ही जो प्रज्ञा श्रुतज्ञानके अंतमें और केवलज्ञानके पहले प्रकट होनेके कारण दोनोंकी मध्यम दशा रूप है, जिसका दूसरा नाम अनुभव है, उसीको ऋतम्भराप्रज्ञा समझना चाहिये।

द्वितीय पाद।

सूत्र १—जैसे भाष्यमें चित्तकी प्रसन्नताको बाधित नहीं करनेवाला ही तप योगमार्गमें उपयोगी कहा गया है, वैसे

ही जैनशास्त्र भी अत्यन्त दुष्कर ऐसे बाह्य तप करनेकी सम्मति वहांतक ही देता है, जहांतक कि आभ्यन्तर तप अर्थात् कषायमन्दताकी वृद्धि हो, और ध्यानकी पुष्टि हो।

जैनशास्त्रके अनुसार ईश्वरप्रणिधानका मतलब यह है कि प्रत्येक अनुष्ठान करते समय शास्त्रको दृष्टिसम्मुख रख करके तद्द्वारा उसके आदि उपदेशक वीतराग प्रभुको हृदयमें स्थान देना।

सूत्र ४—अस्मिता आदि चारों क्लेशोंकी जड अविद्या है, और चारों क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इस प्रकारकी चार चार अवस्थावाले हैं। इस विषयका समन्वय जैनपरिभाषामें इस प्रकार है—अविद्यादि पाँचों क्लेश मोहनीयकर्मके औदयिकभाव-विशेषरूप हैं। अबाधाकाल पूर्ण न होनेके कारण जबतक कर्मदलिकका निषेक (रचनाविशेष) न हो तबतककी कर्मावस्थाको प्रसुप्तावस्था समझना चाहिये। कर्मका उपशम और क्षयोपशम भाव उसकी तनुत्व अवस्था है। अपनी विरोधी प्रकृतिके उदयादि कारणोंसे किसी कर्मप्रकृतिका उदय रुक जाना यह उसकी विच्छिन्न अवस्था है। उदयावलिकाको प्राप्त होना कर्मकी उदार अवस्था है।

सूत्र ६—सूत्रकारने सूत्र ५ से ६ तकमें पाँच क्लेशोंके लक्षण कहे हुए हैं उनका जैनप्रक्रियाके अनुसार समन्वय इस प्रकार है—

अविद्याको जैनशास्त्रमें मिथ्यात्व कहते हैं। स्थानाङ्गसूत्रमें मिथ्यात्वके दस भेद दिखाये हैं। जैसे–अधर्ममें धर्म, धर्ममें अधर्म, अमार्गमें मार्ग, मार्गमें अमार्ग, असाधुमें साधु, साधुमें असाधु, अजीवमें जीव, जीवमें अजीव, और अयुक्तमें युक्त, तथा युक्तमें अयुक्त ऐसी बुद्धि करना।

अस्मिता आरोपको कहते है आरोप दो प्रकारका है–दृश्य अर्थात् प्रपंचमें द्रष्टा–चेतन-का आरोप और द्रष्टामें दृश्य-का आरोप। यह दोनों प्रकारका आरोप यानि भ्रम जैन परिभाषाके अनुसार मिथ्यात्व ही है। यदि अस्मिताको अहंकार ममकारका बीज मान लिया जाय तो वह राग या द्वेष रूप ही है।

राग और द्वेष कषायके भेद ही है।

अभिनिवेशका उदाहरण भाष्यकारने दिया है कि–मैं कभी न मरूं, सदा बना रहूं, अर्थात् मरणसे भय और जीवितकी आशा, यह जैनपरिभाषाके अनुसार भयसंज्ञा ही है। भयसज्ञाकी तरह अन्य–अर्थात् आहार, मैथुन और परिग्रहसंज्ञाको भी अभिनिवेश ही समझना चाहिये, क्योंकि भयके समान आहार आदिमें भी विद्वानोंकाभी अभिनिवेश देखाजाता है। विद्वानोंमें अभिनिवेशका अभाव सिर्फ उस समय पाया जाता है जब कि वे अप्रमत्तदशामें वर्त्तमान हों और अप्रमत्तभावसे उन्होंने दस संज्ञाओंको रोक दिया हो। संज्ञा यह मोहका विलास या मोहसे व्यक्त होनेवाला चैतन्यका स्फुरण

ही है। इस प्रकार सभी क्लेश जैन संकेतके अनुसार मोहनीयकर्मके औदयिकभावरूप ही हैं। इसीसे योगदर्शनमें क्लेशक्षयसे कैवल्यप्राप्ति और जैनदर्शनमें मोहक्षयसे कैवल्य प्राप्ति कही गई है।

सूत्र १०—सूक्ष्म—अर्थात् दग्धबीज सदृश—क्लेशोंका नाश चित्तके नाशके साथ ही सूत्रकारने माना है। इस बातको जैनप्रक्रियाके अनुसार यों कह सकते हैं कि जो क्लेश अर्थात् मोहप्रधान घातिकर्म दग्धबीजसदृश हुए हों, उनका नाश बारहवें गुणस्थानसंबंधी यथाख्यात चारित्रसे होता है।

सूत्र १३—प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें कर्म, उसके विपाक और विपाकसंबंधी नियम आदिके विषयमें मुख्य सात बातें ऐसी हैं जिनके विषयमें मतभेद दिखा कर उपाध्यायजीने जैनप्रक्रियाके अनुसार अपना मन्तव्य बतलाया है। वे सात बातें ये हैं—१ विपाक तीन ही प्रकारका है। २ कर्मप्रचयके बंध और फलका क्रम एक सा होता है, अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मका फल पहले ही मिलता है और पश्चात्बद्ध कर्मका फल पश्चात्। ३ वासनाकी अनादिकालीनता और कर्माशयकी एकभविकता अर्थात् वासना और कर्माशयकी भिन्नता। ४ कर्माशयकी एकभविकता और प्रारब्धता। ५ कर्माशयका उद्बोधक मरण ही है, अर्थात् जन्मभर किये

१ पा० ४ सू० ३–३४। २ तत्त्वार्थ अध्याय १० सूत्र १।

हुए कर्माशयका फल मरणके बाद ही मिलता है। ६ मरणके समय कर्माशयका फलोन्मुख होना यह उसकी प्रधानताका लक्षण है, और उस समय फलोन्मुख न होना उसकी गौणताका लक्षण है। ७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवाप-गमन अर्थात् संमिलित होकर उसमें दब जाना।

इनके विषयमें क्रमशः जैनसिद्धांत इस प्रकार है—१ विपाक तीन ही नहीं बल्कि अधिक है, क्योंकि वैदिक लोगोंने ही गंगामरणको अदृष्ट विशेषका फल माना है, जो सूत्रोक्त तीन विपाकोंसे भिन्न है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो कमसे कम ज्ञानावरण आदि आठ विपाक तो मानने ही चाहिये।

२ यह एकान्त नियम नहीं है कि जो कर्मव्यक्ति पूर्व-बद्ध हो उसका फल प्रथम ही मिले और पश्चात्बद्ध कर्मव्य-क्तिका फल पीछे मिले, किन्तु कभी कभी कर्मके बन्धन और फलक्रममें विपर्यय भी हो जाता है।

३ वासना भी एकप्रकारका कर्म अर्थात् भावकर्म है अतएव वासना और कर्म ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

४ एकभविकताका नियम सिर्फ आयुष्कर्ममें ही लागू पड सकता है। ज्ञानावरणादि अन्य कर्म अनेकभविक भी होते हैं। प्रारब्धता—विपाकवेद्यता—का नियम भी सिर्फ आयु-

ष्कर्ममें लागू पडता है, क्योंकि अन्य सभी कर्म विपाकोदयके सिवाय अर्थात् प्रदेशोदयद्वारा भी भोगे जा सकते हैं।

५ मरणके सिवाय अन्य अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त भी कर्माशयके उद्बोधक होते है।

६ मरणके समय अवश्य उदयमान होनेवाला कर्म आयु ही है, इस लिये यदि प्रधानता माननी हो तो वह सिर्फ आयुष्कर्ममें ही घटाई जा सकती है, अन्य कर्मोंमें नहीं।

७ गौणकर्मका प्रधानकर्ममें आवापगमन होता है यह बात गोल-माल जैसी है। आवापगमनका पूरा भाव संक्रमणविधिको विना जाने ध्यानमें नहीं आसकता, इस लिये कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थोंमेंसे संक्रमणका विचार जान लेना चाहिये।

सूत्र १५-सूत्रकारने संपूर्ण दृश्यप्रपंचको विवेकिके लिये दुःखरूप कहा है, इस कथनका नयदृष्टिसे पृथक्करण करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि दृश्यप्रपंच दुःखरूप है सो निश्चयदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे तो वह सुख दुःख उभयरूप है। इस पृथक्करणकी पुष्टि वे सिद्धसेनदिवाकरके एक स्तुतिवाक्यसे करते हैं। उस वाक्यका भाव इस प्रकार है "हे वीतराग! तूने अनंत भवबीजको फेंक दिया है, और अनंत ज्ञान प्राप्त किया है, फिर भी तेरी कला न तो कम हुई है और न अधिक, तू तो समभाव अर्थात् एक रूपताको ही तारण, धारण

किये हुए है।" इसमें जो अनंत भववीजका फेंकना कहा गया है सो संसारको निश्चयदृष्टिसे दुःखरूप माननेसे ही घट सकता है।

सूत्र १६—इसमें भाष्यकारने सृष्टिसंहार क्रमको सांख्यसिद्धांतके अनुसार वर्णन किया है। सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद मानता है अर्थात् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव नहीं मानता। इसपर उपाध्यायजी कहते हैं कि—उक्त सिद्धांत एकांतरूप नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एकांतरूप मान लेनेमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अस्वीकार करना पडता है, जिससे कार्यमें अनादि-अनंतताका प्रसंग आता है जो इष्ट नहीं है। इसलिये उक्त दोनों अभाव मान कर कथंचित् असत् का उत्पाद और सत् का अभाव मानना चाहिये। ऐसा मान लेनेसे वस्तुमात्रकी द्रव्यपर्यायरूपता घट जायगी, और इससे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप जो वस्तुमात्रका त्रिरूप लक्षण है वह भी घटित हो जायगा।

सूत्र २१—सूत्रकारने जाति, देश, काल और समयआचार व कर्त्तव्य-के बंधनसे रहित अर्थात् सार्वभौम ऐसे पाँच यमोंको महाव्रत कहा है। इस विषयमें जैनप्रक्रिया बतलाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि-सर्व शब्दके साथ अहिंसादि पाँच यमोंकी जब प्रतिज्ञा की जाती है तब वे महाव्रत कहलाते हैं, और देश शब्दके साथ जब उनकी प्रतिज्ञा ली जाती है तब वे अणुव्रत कहलाते हैं।

सूत्र ३२—भाष्यकारने दो प्रकारका शौच कहा है, बाह्य और आभ्यंतर। शुद्ध भोजन, पान तथा मिट्टी और जलसे होने वाला शौच बाह्य शौच है, और चित्तके दोषोंका संशोधन आभ्यंतर शौच है।

जैन परिभाषाके अनुसार बाह्य शौच द्रव्यशौच कहलाता है और आभ्यंतर शौच भावशौच कहलाता है। जैन शास्त्रमें भावशौचको बाधित न करनेवाला ही द्रव्यशौच ग्राह्य माना गया है। उदाहरणार्थ शृंगार आदि वासनासे प्रेरित होकर जो स्नान आदि शौच किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है।

सूत्र ५५— इसके भाष्यमें इन्द्रियोंकी परमवश्यताका स्वरूप और उसका उपाय ये दो बातें मुख्य हैं। भाष्यकारने अनेक मतभेद दिखा कर अन्तमें अपने मतसे परमवश्यताका स्वरूप दिखाते हुए लिखा है कि इन्द्रियोंके निरोधको अर्थात् शब्दादि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संबंध रोक देनेको परम-वश्यता (परमजय) कहते हैं। परमवश्यताका उपाय उन्होंने चित्त निरोधको माना है।

इन दोनों बातोंके विषयमें जैन मान्यतानुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि-इन्द्रियोंका निरोध उनकी परमवश्यता नहीं है, किन्तु अच्छे या बुरे शब्द आदि विषयोंके साथ कर्ण आदि इन्द्रियोंका संबंध होनेपर भी तत्त्व ज्ञानके बलसे जो रागद्वेषका पैदा न होना वही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है। परमवश्यताका एक मात्र उपाय ज्ञान ही

है, चित्तनिरोध नहीं। ज्ञान भी ऐसा समझना चाहिये जो अध्यात्म भावनासे होनेवाले समभावके प्रवाहवाला हो, यही ज्ञान राजयोग कहलाता है। सारांश यह है कि चित्तका जय हो या बाह्य इन्द्रियोंका जय हो सबका मुख्य उपाय उक्त ज्ञानरूप राजयोग ही है, प्राणायाम आदि हठ-योग नहीं। क्योंकि विकासमार्गमें विघ्नरूप होनेसे हठयोगके अभ्यासका शास्त्रमें बार बार निषेध किया है।

तृतीय पाद.

सूत्र ५५—इसके भाष्यमें भाष्यकारने सांख्यसिद्धांतके अनुसार योगदर्शनका सिद्धांत बतलाते हुए मुख्य तीन बातें लिखी हैं। (१) कैवल्य अर्थात् मुक्तिका मतलब भोगके अभावसे है। भोग सुख, दुःख, ज्ञान आदिरूप है जो वास्तवमें प्रकृतिका विकार है, आत्मा—पुरुष—का नहीं। पुरुष तो कूटस्थ—नित्य होनेसे वास्तवमें न तो बद्ध है और न मुक्त। इसलिये पुरुषकी मुक्तिका मतलब उसमें आरोपित भोगके अभावमात्रसे है। (२) विवेकख्याति अर्थात् जड चेतनका भेदज्ञान ही मोक्षका मुख्य उपाय है। भेदज्ञान हो जानेसे अविद्या आदि क्लेश और कर्मविपाकका अभाव हो जाता है। इस अभावका होना ही मुक्ति है। मुक्तिके पूर्वमें सर्वज्ञत्व (सर्वविषयक ज्ञान) किसीको होता है और

किसीको नहीं (३) जिसको सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है उसको भी मुक्ति प्राप्त होनेपर अर्थात् मन, शरीर आदि छूट जाने पर वह नहीं रहता, क्योंकि सर्वज्ञत्व यह मनका कार्य है आत्माका नहीं, आत्मा तो कूटस्थ-निर्विकार चेतनस्वरूप है।

इन तीनों बातोंके विषयमें जैनशास्त्रका जो मतभेद है उसीको उपाध्यायजीने दिखाया है—(१) सुख, दुःख आदिरूप भोग संसार अवस्थामें आत्माका वास्तविक विकार है, मनका नहीं। इसलिये मुक्तिका मतलब संसारकालीन वास्तविक भोगके अभावसे है, आरोपित भोगके अभावसे नहीं। (२) विवेकख्याति (जैन परिभाषानुसार सम्यग्दर्शन) से और क्लेश आदिके अभावसे मोक्ष होता है सही,-पर क्लेशका अभाव होते ही सर्वज्ञत्व अवश्य प्रकट होता है। मुक्तिके पहले क्लेशकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है, और क्लेश (मोह) की निवृत्ति हो जाने पर सर्वज्ञत्व (केवलज्ञान) अवश्य हो जाता है। (३) मुक्ति पानेवाले सभी आत्माओंको सर्वज्ञत्व नियमसे प्रकट होता है इतना ही नहीं, बल्कि वह प्रकट होने पर कायम रहता है, अर्थात् मुक्ति होने पर चला नहीं जाता। क्योंकि सर्व विषयक ज्ञान करना यह आत्माका स्वभाव है, मनका नहीं। संसारदशामें आत्माको ऐसा ज्ञान न होनेका कारण उसके ऊपर आवरणका होना है। मोक्षदशामें आवरणके न रहनेसे उक्त ज्ञान आप ही

आप हुआ करता है, ऐसा ज्ञान होते रहनेसे आत्मामें कूट-स्थत्वके भंगका जो दूषण दिया जाता है वह जैन शास्त्रका भूषण है। क्योंकि जैन शास्त्र केवल जड (प्रकृति) को ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप नहीं मानता, किन्तु चेतनको भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप मानता है।

चतुर्थ पाद.

सूत्र १२—प्रस्तुत सूत्रमें वस्तुके प्रत्येक धर्मकी भावि, भूत और वर्तमान ऐसी तीन अवस्थायें मान कर उसमें अध्वभेद अर्थात् कालकृत भेदका समावेश बतलाया गया है, और वर्तमानकी तरह भूत तथा भावि अवस्थाका भी अपने अपने स्वरूपमें प्रत्येक धर्मके साथ संबंध है ऐसा कहा है।

इस मन्तव्यका जैन प्रक्रियाके साथ मिलान करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप माननेसे ही पूर्वोक्त अध्वभेदकी व्यवस्था घट सकती है अन्यथा नहीं। वस्तुको द्रव्यपर्यायरूप मान लेना यही स्याद्वाद है। ऐसा स्याद्वाद मान लेनेसे ही सब प्रकारके वचन-व्यवहारकी ठीक ठीक सिद्धि हो जाती है।

सूत्र १४—सूत्रकारने सांख्य प्रक्रियाके अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिका एक परिणाम मान कर कार्यमें एकताके

व्यवहारका समर्थन किया है। इस प्रक्रियाके स्वरूपके द्वारा स्याद्वाद पद्धतिका समर्थन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि एकसे अनेक और अनेकसे एक परिणाम माननेवाली स्याद्वाद शैलीका स्वीकार करने ही से उक्त सांख्य प्रक्रिया घट सकती है।

सूत्र १८—इस सूत्रमें आत्माको अपरिणामी साबीत किया है। इसका समर्थन करते हुए भाष्यकारने कहा है कि शब्द आदि विषय कभी जाने जाते हैं और कभी नहीं। इसलिए चित्त तो परिणामी है, परंतु चित्तकी वृत्तियाँ कभी अज्ञात नहीं रहतीं। इसलिए आत्मा अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ ही है। इस मन्तव्यका प्रतिवाद करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि-जैसा चित्त परिणामी है वैसा आत्मा भी। आत्माको परिणामी मान लेने पर भी चित्तकी सदाज्ञाततामें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि चित्त ज्ञान-रूप है और ज्ञान आत्माका धर्म है। धर्म होनेसे वह आत्माके सन्निहित होनेके कारण कभी अज्ञात नहीं रहता। शब्द आदि विषय कभी ज्ञात, और कभी अज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द आदि विषयका इन्द्रियके साथ जो व्यञ्जनावग्रहरूप सम्बन्ध है वह सदा नहीं रहता अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं। यद्यपि इन्द्रियके द्वारा शब्द आदि विषय सदा नहीं जाने जाते परन्तु केवलज्ञानद्वारा सदा ही

जाने जाते हैं। क्योंकि केवलज्ञानमें एक ऐसी शक्ति है जिससे वह शब्द आदि विषयोंको सदा ही जान लेता है।

सूत्र २३—उन्नीससे तेईसतकके पाँच सूत्रोंमें सूत्रकारने जो कुछ चर्चा की है उससे आत्माके विषयमें सांख्यसिद्धान्तसम्मत तीन बातें मुख्यतया मालूम होती हैं। वे ये हैं—(१) चैतन्यकी स्वप्रकाशता। (२) जो चैतन्य अर्थात् चिति-शक्ति है वही चेतन है अर्थात् चिति-शक्ति स्वयं स्वतंत्र है। वह किसीका अंश नहीं है और उसके भी कोई अंश नहीं हैं। अतएव वह निर्गुण है। (३) चिति-शक्ति सर्वथा कूटस्थ होनेसे निर्लेप है। इन बातोंके विषयमें जैन मन्तव्यके अनुसार मतभेद दिखाते हुए उपाध्यायजी अन्तमें कहते हैं कि ये बातें किसी नयकी अपेक्षासे मान्य की जा सकती हैं सर्वथा नहीं। उक्त बातोंके विषयमें मतभेद क्रमशः इस प्रकार है—

(१) चैतन्य स्वप्रकाश भी है और परप्रकाश भी। उसकी स्वप्रकाशता अग्निके प्रकाशके समान अन्य पदार्थके संयोगके सिवाय ही प्रत्येक प्राणिको अनुभव-सिद्ध है। चैतन्यकी परप्रकाशता आवरणदशामें विषयके सम्बंधके अधीन है और अनावरण-दशामें स्वाभाविक है।

(२) चैतन्य यह शक्ति (गुण) अर्थात् अन्य मूल वस्तुका अंश है, वह अन्य तत्त्व चेतन या आत्मा है।

उसमें चैतन्यकी तरह दूसरे भी अनन्त गुण (शक्तियाँ) हैं, अर्थात् आत्मा अनंत गुणोंका आधार है। वह जो निर्गुण कहा जाता है उसका मतलब उसमें प्राकृतिक गुणोंके अभावसे है।

(३) आत्मा एकांत-निर्लेप नहीं है उसमें संसार-अवस्थामें कथंचित् लेपका भी संभव है।

सूत्र ३१—भाष्यकारने प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें सांख्य मतके अनुसार ज्ञानको सत्त्वगुणका कार्य कह कर उसे प्राकृतिक बतलाया है, और कहा है कि निरावरण दशामें ज्ञान अनन्त हो जाता है जिससे उसके सामने सभी ज्ञेय (विषय) अल्प बन जाते है, जैसे कि आकाशके सामने जुगनू। इन दोनों बातोंका विरोध करते हुए वृत्तिकार जैन-मन्तव्यको इस प्रकार दिखाते है-ज्ञान प्राकृतिक अर्थात् अचैतन्य नहीं है किन्तु वह चैतन्यरूप है। यह बात नहीं कि ज्ञानके अनन्त हो जानेके समय सभी ज्ञेय अल्प हो जाते है, बल्कि ज्ञानकी अनन्तता ज्ञेयकी अनन्तता पर ही अवलम्बित है अर्थात् ज्ञेय अनन्त हैं। अतएव उन सबको जाननेवाला निरावरण ज्ञान भी अनन्त कहलाता है।

सूत्र ३३—इसकी व्याख्यामें भाष्यकारने क्रमका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि नित्यता दो प्रकारकी है। (१) कूटस्थ-नित्यता अर्थात् अपरिणामि तत्त्व। (२) परिणामि

नित्यता अर्थात् परिवर्तनशील तत्त्व। इनमेंसे पहली नित्यता पुरुष (आत्मा) में है और दूसरी प्रकृतिमें।

इस पर जैन मतभेद दिखाते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि- कूटस्थनित्यता माननेमें कोई सबूत नहीं। आत्मा हो या प्रकृति सभीमें परिणामिनित्यता ही है, अर्थात् वस्तुमात्रमें द्रव्यरूपसे नित्यता और पर्यायरूपसे अनित्यता युक्तिसंगत होनेके कारण सबका एकमात्र लक्षण "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य" ऐसा ही करना चाहिये।

योगविंशिकाका सार.

गाथा १—मोक्ष-प्राप्तिमें उपयोगी होनेके कारण यद्यपि सब प्रकारका विशुद्ध धर्म-व्यापार योग ही है तथापि यहाँ विशेष रूपसे स्थान आदि सम्बन्धी धर्म-व्यापारको ही योग जानना चाहिए ॥

खुलासा—जिस धर्म-व्यापारमें प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग इन पाँच भावोंका सम्बन्ध हो वही धर्म-व्यापार विशुद्ध है। इसके विपरीत जिसमें उक्त भावोंका सम्बन्ध न हो वह क्रिया योग रूप नहीं है। उक्त प्रणिधान आदि भावोंका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अपनेसे नीचेकी कोटीवाले जीवोंके प्रति द्वेष न रख कर परोपकारपूर्वक अपनी वर्तमान धार्मिक भूमिकाके कर्तव्यमें सावधान रहना यह प्रणिधान है।

(२) वर्तमान धार्मिक भूमिकाके उद्देश्यसे किया जानेवाला और उसके उपायकी पद्धतिसे युक्त जो चञ्चलता-रहित तीव्र प्रयत्न वह प्रवृत्ति है।

(३) जिस परिणामसे धार्मिक प्रवृत्तिमें विघ्न नहीं आते वह विघ्न-जय है। विघ्न तीन तरहके होते हैं, १ भूख, प्यास आदि परीषह, २ शारीरिक-रोग और ३ मनो

विभ्रम। ये विघ्न धार्मिक प्रवृत्तिमें वैसे ही बाधा डालनेवाले हैं जैसे कहीं प्रयाण करनेमें रास्तेके काँटे-पथ्थर, शरीर-गत ज्वर और मनोगत दिग्भ्रम। तीन तरहका विघ्न होनेसे उसका जय भी तीन प्रकारका समझना चाहिये।

(४) ऐसी धार्मिक भूमिकाको प्राप्त करना जिसमें बडोंके प्रति बहुमानका भाव हो, बराबरीवालोंके प्रति उपकारकी भावना हो और कम दरजेवालोंके प्रति दया, दान तथा अनुकंपाकी भावना हो वह सिद्धि है।

(५) अहिंसादि जो धार्मिक भूमिका अपनेको सिद्ध हुई हो उसे योग्य उपायोंके द्वारा दूसरोंको भी प्राप्त कराना यह विनियोग है॥

स्थान आदि क्या क्या है और उसमें योग कितने प्रकारका है यह दिखलाते हैं—

गाथा २—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये योगके पाँच भेद हैं। इनमेंसे पहले दो कर्मयोग हैं और पिछले तीन ज्ञानयोग हैं॥

खुलासा—(१) कायोत्सर्ग, पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनोंको स्थान कहते हैं। (२) प्रत्येक क्रिया आदिके समय जो सूत्र पढ़ा जाता है उसे ऊर्ण अर्थात् वर्ण या शब्द समझना चाहिए। (३) अर्थका मतलब सूत्रार्थके ज्ञानसे है। (४) बाह्य प्रतिमा आदिका जो ध्यान वह आलंबन

है। (५) रूपी द्रव्यके आलंबनसे रहित जो शुद्ध चैतन्य-मात्रकी समाधि वह अनालंबन है। स्थान तो स्वयं ही क्रिया-रूप है और सूत्रका भी उच्चारण किया जाता है इसीलिए स्थान तथा ऊर्णको कर्मयोग कहा है। ऊपर की हुई व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये तीनों ज्ञानयोग हैं। योगका मतलब मोक्षके कारणभूत आत्म-व्यापारसे है। स्थान आदि आत्म-व्यापार मोक्षके कारण हैं इसलिए उनकी योग-रूपता सिद्ध है॥

स्थान आदि उक्त पाँच योगके अधिकारिओंको बतलाते हैं—

गाथा ३—देशचारित्रवाले और सर्वचारित्रवालेको यह स्थान आदि योग अवश्य होता है। चारित्रवालेमें ही योगका संभव होनेके कारण जो चारित्ररहित अर्थात् अपुनर्बंधक[१] और सम्यग्दृष्टि हो उसमें उक्त योग बीजमात्ररूपसे होता है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं॥

खुलासा—योग क्रियारूप हो या ज्ञानरूप, पर वह चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशम अर्थात् शिथिलताके होनेपर अवश्य प्रकट होता है। इसीलिए चारित्री ही योगका अधिकारी है, और यही कारण है कि ग्रन्थकार हरिभद्रसू-

१ जो फिरसे मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधता वह अपुनर्बंधक कहलाता है।

रिने स्वयं योगबिंदुमें अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच योगोंकी संपत्ति चारित्रमें ही मानी है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जब चारित्रीमें ही योगका संभव है तब निश्चयदृष्टिसे चारित्रहीन किन्तु व्यवहार-मात्रसे श्रावक या साधुकी क्रिया करनेवालेको उस क्रियासे क्या लाभ, इसका उत्तर ग्रंथकारने यही दिया है कि- " व्यवहार-मात्रसे जो क्रिया अपुनर्बंधक और सम्यग्दृष्टिके द्वारा की जाती है वह योग नहीं किन्तु योगका कारण होनेसे योगका बीजमात्र है। जो अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि नहीं है किन्तु सकृद्बंधक[1] या द्विर्बंधक आदि है उसकी व्यावहारिक क्रिया भी योगबीजरूप न होकर योगाभास अर्थात् मिथ्या-योगमात्र है। अध्यात्म आदि उक्त योगोंका समावेश इस ग्रंथमें वर्णित स्थान आदि योगोंमें इस प्रकार है—अध्यात्मके अनेक प्रकार हैं। देव-सेवारूप अध्यात्मका समावेश स्थानयोगमें, जपरूप अध्यात्मका समावेश ऊर्ण-योगमें और तत्त्वचिंतनरूप अध्यात्मका समावेश अर्थयोगमें होता है। भावनाका भी समावेश उक्त

१ जो मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक बार बांधनेवाला हो वह सकृद्बन्धक या सकृदावर्तन कहलाता है और जो वैसी स्थिति दो बार बांधनेवाला हो वह द्विर्बन्धक या द्विरावर्तन कहलाता है।

तीनों योगमें ही समझना चाहिये। ध्यानका समावेश आलंबन योगमें है और समता तथा वृत्तिसंक्षयका समावेश अनालंबन योगमें होता है॥

स्थान आदि योगके भेद दिखाते हैं—

गाथा ४—उक्त स्थान आदि प्रत्येक योग तत्त्वदृष्टिसे चार चार प्रकारका है। ये चार प्रकार शास्त्रमें ये हैं—इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि॥

उक्त इच्छा आदि भेदोंका स्वरूप बतलाते हैं—

गाथा ५, ६—जिस दशामें स्थान आदि योगवालोंकी कथा सुन कर प्रीति होती हो और जिसमें विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंके प्रति बहुमानके साथ उल्लासभरे विविध प्रकारके सुंदर परिणाम अर्थात् भाव पैदा होते हों वह योगकी दशा इच्छा-योग है। प्रवृत्तियोग वह कहलाता है जिसमें सब अवस्थामें उपशमभावपूर्वक स्थान आदि योगका पालन हो॥

जिस उपशमप्रधान स्थान आदि योगके पालनमें अर्थात् प्रवृत्तिमें योगके बाधक कारणोंकी चिंता न हो वह स्थिरता योग है। स्थानादि सब अनुष्ठान दूसरोंका भी हितसाधक हो तब वह सिद्धियोग है॥

खुलासा—हर एक योगकी चार अवस्थायें होती हैं, जो क्रमशः इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धियोग कहलाते हैं। (१) जिस अवस्थामें द्रव्य, क्षेत्र आदि अनुकूल

साधनोंकी कमी होनेपर भी ऐसा उल्लास प्रकट हो जिससे शास्त्रोक्त विधिके प्रति बहुमान-पूर्वक अल्पमात्र योगाभ्यास किया जाय वह अवस्था इच्छायोग है। (२) जिस अवस्थामें वीर्योल्लासकी प्रबलता हो जानेसे शास्त्रानुसार सांगोपांग योगाभ्यास किया जाय वह प्रवृत्तियोग है। (३) प्रवृत्तियोग ही स्थिरतायोग है, पर अंतर दोनोंमें इतना ही है कि प्रवृत्तियोगमें अतिचार अर्थात् दोषका डर रहता है और स्थिरतायोगमें डर नहीं रहता। (४) सिद्धियोग उस अवस्थाका नाम है जिसमें स्थानादि योग उसका आचरण करनेवाले आत्मामें तो शांति पैदा करे ही, पर उस आत्माके संसर्गमें आनेवाले साधारण प्राणियोंपर भी शांतिका असर डाले। सारांश यह है कि सिद्धियोगवालेके संसर्गमें आनेवाले हिंसक प्राणी भी हिंसा करना छोड़ देते हैं और असत्यवादी भी असत्य बोलना छोड़ देते हैं अर्थात् उनके दोष शांत हो जाते हैं।

उक्त इच्छा आदि योगभेदोंके हेतुओंको कहते हैं—

गाथा ७—ये विविध प्रकारके इच्छा आदि योग प्रस्तुत स्थान आदि योगकी श्रद्धा, प्रीति आदिके सम्बन्धसे भव्य प्राणियोंको तथाप्रकारके क्षयोपशमके कारण होते हैं॥

खुलासा—इच्छा आदि चारों योग आपसमें एक दूसरेसे भिन्न तो हैं ही, पर उन सबमेंसे एक एक योगके

भी असंख्य प्रकार हैं। इस विविधताका कारण क्षयोपशम-भेद अर्थात् योग्यताभेद है। यहाँ भव्यप्राणिका मतलब अपुनर्बंधक तथा सम्यग्दृष्टि आदिसे है ॥

इच्छा आदि योगोंका कार्य—

गाथा ८—इन इच्छा आदि उक्त चारों योगोंके कार्य क्रमसे अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम है ॥

खुलासा—अनुकम्पा आदिका स्वरूप इस प्रकार है—(१) दुःखित प्राणिओंके भीतरी और बाहरी दुःखोंको यथाशक्ति दूर करनेकी जो इच्छा वह अनुकम्पा है। (२) संसाररूप कैदखानेकी निःसारता जान कर उससे विरक्त होना निर्वेद है। (३) मोक्षकी अभिलाषाको संवेग कहते है। (४) काम, क्रोधकी शान्ति प्रशम है ॥

अब स्थान आदि योगभेदोंको दृष्टांतमें घटा लेनेकी सूचना करते हैं—

गाथा ९—इस प्रकार योगका सामान्य और विशेष स्वरूप तो दिखाया गया परंतु उसकी जो चैत्यवंदनरूप दृष्टांतके साथ स्पष्ट घटना है अर्थात् उसको चैत्यवंदनमें जैसे विभाग-पूर्वक उतार कर घटाया जा सकता है उसे ठीक ठीक तत्त्वज्ञको समझ लेना चाहिये ॥

अब चैत्यवन्दनमें योग घटा देते हैं—

गाथा १०—जब कोई श्रद्धावाला व्यक्ति 'अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं' इत्यादि चैत्यवंदन सूत्रका यथाविधि (शुद्ध) उच्चारण करता है तब उसको शुद्ध उच्चारणसे चैत्यवंदनसूत्रके पदोंका यथार्थ ज्ञान होता है।

खुलासा—स्वर, संपदा[1] और मात्रा[2] आदिके नियमसे शुद्ध वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना यह यथाविधि उच्चारण अर्थात् वर्णयोग है। वर्णयोगका फल यथार्थ पदज्ञान है, अतएव जब चैत्यवन्दन सूत्र पढ़ते समय वर्णयोग हो तभी सूत्रके पदोंका ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

गाथा ११—यह यथार्थ पदज्ञान अर्थ तथा आलंबन योगवालेके लिए बहुत कर अविपरीत (साक्षात् मोक्ष देनेवाला) होता है और अर्थ तथा आलम्बन-योगरहित किन्तु स्थान तथा वर्ण योगवालेके लिए केवल श्रेय (परम्परासे मोक्ष देनेवाला) होता है।

खुलासा—जो अनुष्ठान मोक्षको देनेवाला हो वह सदनुष्ठान है। सदनुष्ठान दो प्रकारका है, पहला शीघ्र (साक्षात्) मोक्ष देनेवाला, दूसरा विलंबसे (परम्परासे) मोक्ष देनेवाला। पहलेको अमृतानुष्ठान और दूसरेको तद्धेतु-अनुष्ठान कहते हैं।

---

१ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। २ विश्रान्तिस्थान। ३ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत।

चैत्यवंदन एक प्रारम्भिक अनुष्ठान है, इसलिए यह विचारना चाहिये कि वह अमृतानुष्ठानका रूप कब धारण करता है और तद्धेतु-अनुष्ठानका रूप कब धारण करता है।

जब चैत्यवंदन-क्रियामें स्थान, वर्ण, अर्थ और आलंबन इन चारों योगोंका सम्बन्ध हो तब वह अमृतानुष्ठान है और जब उसमें स्थान, वर्ण-योगका तो सम्बन्ध हो किन्तु अर्थ, आलम्बन-योगका सम्बन्ध न हो पर उनकी रुचि मात्र हो तब वह तद्धेतु-अनुष्ठान है।

जब विधिके अनुसार आसन जमा कर शुद्ध उच्चारणपूर्वक सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता है और साथ ही उन सूत्रोंके अर्थ (तात्पर्य) तथा आलम्बनमें उपयोग रहता है तब वह चैत्यवंदन उक्त चारों योगोंसे संपन्न होता है ऐसा चैत्यवंदन भावक्रिया है, क्योंकि उसमें अर्थ तथा आलंबन योगमें उपयोग रखने रूप ज्ञान-योग वर्तमान है। यथाविधि आसन बांध कर शुद्ध रीतिसे सूत्र पढ़ कर चैत्यवंदन किया जाता हो पर उस समय सूत्रके अर्थ तथा आलंबनमें उपयोग न हो तो वह चैत्यवंदन ज्ञानयोगशून्य होनेके कारण द्रव्यक्रियारूप है, ऐसी द्रव्यक्रियामें अर्थ, आलंबन-योगका अभाव

१ चैत्यवंदनकी चार स्तुतियोंमें पहलीका आलम्बन विशेष तीर्थंकर, दूसरीका सामान्य तीर्थंकर, तीसरीका प्रवचन और चौथीका शासनदेवता है।

होनेपर भी उसकी तीव्र रुचि हो तो वह द्रव्यक्रिया अन्तमें भावक्रियाके द्वारा कभी न कभी मोक्षको देनेवाली मानी गई है, इसीसे वैसी क्रियाको तद्धेतु-अनुष्ठान और उपादेय कहा है॥

स्थान आदि योगोंके अभावमें चैत्यवंदन केवल निष्फल ही नहीं बल्कि अनिष्टफलदायक होता है, इसलिए योग्य अधिकारीको ही वह सिखाना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं-

गाथा १२—जो व्यक्ति अर्थ, आलंबन इन दो योगोंसे शून्य होकर स्थान तथा वर्ण योगसे भी शून्य हैं उनका वह अनुष्ठान कायिक चेष्टामात्र अर्थात् निष्फल होता है अथवा मृषावादरूप होनेसे विपरीत फल देनेवाला होता है, इसलिए योग्य अधिकारिओंको ही चैत्यवन्दन सूत्र सिखाना चाहिये॥

खुलासा—जो अनुष्ठान निष्फल या अनिष्टफलदायक हो वह असदनुष्ठान है। इसके तीन प्रकार हैं, (१) अननुष्ठान (२) गरानुष्ठान (३) विषानुष्ठान। चैत्यवन्दनमें ही यह देख लेना चाहिये कि वह कब किस प्रकारके असदनुष्ठानका रूप धारण करता है?।

जिस चैत्यवन्दनक्रियामें न अर्थ, आलंबन योग है न उनकी रुचि है और न स्थान, वर्ण-योगका आदर ही है वह क्रिया संमूर्च्छिम जीवकी प्रवृत्तिकी तरह मानसिकउपयोगशून्य होनेके कारण निष्फल है; इसी निष्फल क्रियाको

अननुष्ठान समझना चाहिये। इसी तरह चैत्यवंदन करते समय "ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि" इन पदोंसे स्थान, मौन, और ध्यान आदिकी प्रतिज्ञा की जाती है। ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद स्थान, वर्ण आदि योगका भंग किया जाय तो वह चैत्यवन्दन महामृषावाद होनेसे निष्फल ही नहीं बल्कि कर्मबंधका कारण होनेसे अनिष्टफलदायक अतएव अननुष्ठान है।

स्थान, वर्ण आदि योगोंका सम्बन्ध होनेपर भी जो चैत्यवन्दन स्वर्ग आदि पारलौकिक सुखके उद्देश्यसे किया जाता है वह गरानुष्ठान और जो धन, कीर्ति आदि ऐहिक सुखकी इच्छासे किया जाता है वह विषानुष्ठान है। गरानुष्ठान और विषानुष्ठान मृषावादरूप है, क्योंकि पारलौकिक और ऐहिक सुखकी कामनासे किये जानेके कारण उनमें मोक्षकी प्रतिज्ञाका स्पष्ट भङ्ग है। इस प्रकार अननुष्ठान, गरानुष्ठान और विषानुष्ठान ये तीनों चैत्यवंदन हेय हैं। इसी कारणसे योग्य अधिकारियोंको ही चैत्यवंदनसूत्र सिखानेको शास्त्रमें कहा गया है। इस चैत्यवंदनके उदाहरणसे अन्य सब क्रियाओंमें सदनुष्ठान और असदनुष्ठानका रूप स्वयं घटा लेना चाहिये॥

चैत्यवन्दनके लिए योग्य अधिकारी कौन है यह दिखाते हैं—

गाथा १३—जो देशविरतिपरिणामवाले हों वे चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दनसूत्रमें "कायं वोसिरामि" इस शब्दसे जो कायोत्सर्ग करनेकी प्रतिज्ञा सुनी जाती है वह विरतिके परिणाम होनेपर ही घट सकती है। इसलिए यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि देशविरति परिणामवाले ही चैत्यवन्दनके योग्य अधिकारी हैं॥

खुलासा—चैत्यवन्दनके अंदर "ताव कायं, ठाणेणं" इत्यादि पाठके द्वारा कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञा की जाती है। कायोत्सर्ग यह कायगुप्तिरूप विरति है, इसलिए विरति परिणामके सिवाय चैत्यवंदन-अनुष्ठान करना अनधिकारचेष्टामात्र है। देशविरतिवालेको चैत्यवन्दनका अधिकारी कहा है सो मध्यम अधिकारीका सूचनमात्र है। जैसे तराजूकी डण्डी बीचमें पकडनेसे उसके दोनों पलडे पकडमें आ जाते हैं वैसे ही मध्यम अधिकारीका कथन करनेसे नीचे और ऊपरके अधिकारी भी ध्यानमें आ जाते हैं। इसका फलित अर्थ यह है कि सर्वविरतिवाले मुनि तो चैत्यवन्दनके वास्तविक अधिकारी हैं और अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि व्यवहारमात्रसे उसके अधिकारी हैं, परन्तु जो कमसे कम अपुनर्बंधक भावसे भी खाली हैं अतएव जो विधिबहुमान करना नहीं जानते वे सर्वथा चैत्यवन्दनके अनधिकारी हैं।

इससे वैसे आत्माओंको चैत्यवन्दन न तो सिखाना चाहिए और न कराना चाहिए। चैत्यवन्दनके अधिकारकी इस चर्चासे अन्य क्रियाओंके अधिकारका निर्णय भी स्वयं करलेना चाहिए ॥

जो लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि अविधिसे भी चैत्यवन्दन आदि क्रिया करते रहनेसे दूसरा फायदा हो या नहीं पर तीर्थ चालू रहनेका लाभ तो अवश्य है। अगर विधिका ही खयाल रक्खा जाय तो वैसा अनुष्ठान करनेवाले इने-गिने अर्थात् दो चार ही मिलेंगे और जब वे भी न रहेंगे तब क्रमशः तीर्थका उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए कमसे कम तीर्थको कायम रखनेके लिए भी अविधि-अनुष्ठानका आदर क्यों न किया जाय? इसका उत्तर उन शङ्कावालोंको ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १४—अविधि अनुष्ठानकी पुष्टिमें तीर्थके अनुच्छेदकी बातका सहारा लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविधि चालु रखनेसे ही असमञ्जस अर्थात् शास्त्रविरुद्ध विधान जारी रहता है, जिससे शास्त्रोक्त क्रियाका लोप होता है यह लोप ही तीर्थका उच्छेद है ॥

खुलासा—अविधिके पक्षपाती अपने पक्षकी पुष्टिमें यह दलील पेश करते हैं कि अविधिसे और कुछ नहीं तो तीर्थकी रक्षा होती है, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि तीर्थ

सिर्फ जनसमुदायका नाम नहीं है किन्तु तीर्थका मतलब शास्त्रोक्त क्रियावाले चतुर्विध संघसे है। शास्त्राज्ञा नहीं मानेवाले जनसमुदायको तीर्थ नहीं किन्तु हड्डीओंका संघातमात्र कहा है। इस दशामें यह स्पष्ट है कि यदि तीर्थकी रक्षाके बहानेसे अविधिका स्थापन किया जाय तो अन्तमें अविधिमात्र बाकी रहनेसे शास्त्रविहित क्रियारूप विधिका सर्वथा लोप ही हो जायगा। ऐसा लोप ही तीर्थका नाश है, इससे अविधिके पक्षपातियोंके पल्लेमें तीर्थ-रक्षारूप लाभके बदले तीर्थ-नाशरूप हानि ही शेष रहती है जो मुनाफेको चाहनेवालेके लिए मूल पूँजीके नाशके बराबर है॥

सूत्रोक्त क्रियाका लोप अहितकारी कैसे होता है यह दिखाते हैं—

गाथा १५—वह अर्थात् अविधिके पक्षपातसे होनेवाला सूत्रोक्त विधिका नाश वक्र (अनिष्ट परिणाम देनेवाला) ही है। जो स्वयं मरा हो और जो मारा गया हो उन दोनोंमें विशेषता अवश्य है, यह बात तीर्थके उच्छेदसे डरनेवालोंको विचारना चाहिए॥

खुलासा—जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्योंको धर्मके नामसे अपनी जालमें फाँसते हे और अविधि (शास्त्र विरुद्ध) धर्मका उपदेश करते हैं उनसे जब कोई शास्त्रविरुद्ध उपदेश न देनेके लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेदका

भय दिखा कर बिगड कर बोल उठते हैं कि "जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहनेसे भी तीर्थ (धर्म) टिक सकेगा। बहुत विधि (शास्त्र अनुकूलता) का ध्यान रखनेमें शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता (प्रमादवृत्ति) स्वयं लोगोंपर आक्रमण करेगी जिससे तीर्थका नाश होगा।" इसके सिवाय वे अपने अविधिमार्गके उपदेशका बचाव यह कह कर भी करते हैं कि "जैसे धर्मक्रिया नहीं करनेवालेके लिए हम उपदेशक दोष भागी नहीं हैं वैसे ही अविधिसे क्रिया करनेवालेके लिए भी हम दोषभागी नहीं। हम तो क्रियामात्रका उपदेश देते हैं जिससे कमसे कम व्यावहारिक धर्म तो चालु रहता है और इस तरह हमारे उपदेशसे धर्मका नाश होनेके बदले धर्मकी रक्षा ही हो जाती है।"

ऐसा पोचा बचाव करनेवाले उन्मार्ग-गामी उपदेशक गुरुओंसे ग्रंथकार कहते हैं कि एक व्यक्तिकी मृत्यु स्वयं हुई हो और दूसरी व्यक्तिकी मृत्यु किसी अन्यके द्वारा हुई हो इन दोनों घटनाओंमें बडा अन्तर है। पहली घटनाका कारण मरनेवाले व्यक्तिका कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्युके लिए दूसरा कोई दोषी नहीं है। परन्तु दूसरी घटनामें मरनेवाले व्यक्तिके कर्मके उपरान्त मारनेवालेका दुष्ट प्रा[illegible]

मित्त है, इससे उस घटनाका दोषभागी मारनेवाला अवश्य है। इसी तरह जो लोग स्वयं अविधिसे धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकपर नहीं है, पर जो लोग अविधिमय धर्मक्रियाका उपदेश सुन कर उन्मार्गपर चलते हैं उनकी जवाबदेही उपदेशकपर अवश्य है। धर्मके जिज्ञासु लोगोंको अपनी क्षुद्र स्वार्थवृत्तिके लिए उन्मार्गका उपदेश करना वैसा ही विश्वासघात है जैसा शरणमें आये हुएका सिर काटना। जैसा चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी उपेक्षा रखनेसे शुद्ध धर्मक्रियाका लोप हो जाता है जो वास्तवमें तीर्थोच्छेद है। विधिमार्गके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहनेसे कभी किसी एक व्यक्तिको भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोकमें अमारीपटह बजवानेकीसी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाला एक भी व्यक्ति अविधि पूर्वक धर्मक्रिया करनेवाले हजारों लोगोंसे अच्छा है। अतएव जो परोपकारी धर्मगुरु हों उन्हें ऐसी दुर्बलताका आश्रय कभी न लेना चाहिये कि इसमें हम क्या करें? हम तो सिर्फ धर्मक्रियाका उपदेश करते हैं, अविधिका नहीं। धर्मोपदेशक गुरुओंको यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि विधिका उपदेश भी उन्हींको देना चाहिये जो उसके श्रवणके लिये रसिक हों। अयोग्य पात्रको ज्ञान देनेमें भी महान् अनर्थ

होता है, इसलिए नीच आशयवाले पात्रको शास्त्र सुनानेमें उपदेशक ही अधिक दोषका पात्र है। यह नियम है कि पाप करनेवालेकी अपेक्षा पाप करानेवाला ही अधिक दोषभागी होता है। अतएव योग्यपात्रको शुद्ध शास्त्रोपदेश देना और स्वयं शुद्ध प्रवृत्ति करना यही तीर्थरक्षा है, अन्य सब बहाना मात्र है॥

उक्त चर्चा सुन कर मोटी बुद्धिके कुछ लोग यह कह उठते हैं कि इतनी बारीक बहसमें उतरना वृथा है, जो बहुतोंने किया हो वही करना चाहिए, इसके सबूतमें "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह उक्ति प्रसिद्ध है। आज कल बहुधा जीतव्यवहारकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। जबतक तीर्थ रहेगा तबतक जीतव्यवहार रहेगा इसलिए उसीका अनुसरण करना तीर्थ रक्षा है। इस कथनका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—

गाथा १६—लोकसंज्ञाको छोड कर और शास्त्रके शुद्ध रहस्यको समझ कर विचारशील लोगोंको अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे शुद्ध प्रवृत्ति करना चाहिए॥

खुलासा—शास्त्रकी परवा न रख कर गतानुगतिक लोकप्रवाहको ही प्रमाणभूत मान लेना यह लोकसंज्ञा है। लोकसंज्ञा क्यों छोडना? महाजन किसे कहते हैं और जीतव्यवहारका मतलब क्या है? इन बातोंको समझानेके लिए

ज्ञानसारके जो श्लोक टीकामें उद्धृत किये गये हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनमेंसे कुछका सार दिया जाता है–

यदि लोगोंपर भरोसा रख कर ही कर्तव्यका निश्चय किया जाय अर्थात् जो बहुतोंने किया वही ठीक है ऐसा मान लिया जाय तो फिर मिथ्यात्व त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि उसका सेवन अनेक लोक अनादि कालसे करते आये हैं।

अनार्योंसे आर्य थोड़े हैं, आर्योंमें भी जैनोंकी अर्थात् समभाववालोंकी संख्या कम है। जैनोंमें भी शुद्ध श्रद्धावाले कम, और उनमें भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं।

व्यवहार हो या परमार्थ, सब जगह उच्च वस्तुके अधिकारी कम ही होते है, उदाहरणार्थ–जैसे रत्नोंके परीक्षक (जौहरी) कम, वैसे आत्मपरीक्षक भी कम ही होते है।

शास्त्रानुसार वर्तन करनेवाला एक भी व्यक्ति हो तो वह महाजन ही है। अनेक लोग भी अगर अज्ञानी हैं तो वे सब मिल कर भी अन्धोंके समूहकी तरह वस्तुको यथार्थ नहीं जान सकते।

संविग्न (भवभीरु) पुरुषने जिसका आचरण किया हो, जो शास्त्रसे बाधित न हो और जो परम्परासे भी शुद्ध हो वही जीतव्यवहार है।

शास्त्रका आश्रय न करनेवाले असंविग्न पुरुषोंने जिसका आचरण किया हो वह अन्ध-परम्परा मात्र है, जीतव्यवहार नहीं।

क्रिया बिल्कुल न करनेकी अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करनेको ही शास्त्रमें अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि शुरूसे अविधिमार्गमें ही प्रवृत्ति करना, किन्तु उसका भाव यह है कि विधिमार्गमें प्रवृत्ति करने पर भी अगर असावधानी वश कुछ भूल हो जाय तो उस भूलसे डर कर बिल्कुल विधिमार्गको ही नहीं छोड़ देना किन्तु भूल सुधारनेकी कोशीस करते रहना। प्रथमाभ्यासमें भूल हो जानेका सम्भव है पर भूल सुधारलेनेकी दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तवमें भूल नहीं है। इसी अपेक्षासे अशुद्ध क्रियाको भी शुद्ध क्रियाका कारण कहा है। जो व्यक्ति विधिका बहुमान न रख कर अविधिक्रिया किया करता है उसकी अपेक्षा तो विधिके प्रति बहुमान रखनेवाला पर कुछ भी न करनेवाला अच्छा है॥

मूल विषयका उपसंहार करते हैं—

गाथा १७—प्रस्तुत विषयमें प्रासंगिक विचार इतना ही काफी है। स्थान आदि पूर्वोक्त पाँच योगोंमें जो प्रयत्नशील हों उन्हींके [illegible] समझना

खुलासा—मुख्य बात चैत्यवन्दनमें स्थानादि योग घटानेकी चल रही थी; इसमें प्रसंगवश तीर्थोच्छेद क्या वस्तु है ? और तीर्थरक्षाके लिए विधिप्ररूपणाकी कितनी आवश्यकता है ? इत्यादि प्रासंगिक विषयकी चर्चा भी की गई। अब मूल बातको समाप्त करते हुए ग्रन्थकारने अन्तमें यही कहा है कि चैत्यवंदन आदि क्रिया धर्मका कलेवर अर्थात् बाह्यरूप मात्र है। उसकी आत्मा तो स्थान, वर्ण आदि पूर्वोक्त योग ही हैं। यदि उक्त योगोंमें प्रयत्नशील रह कर कोई भी क्रिया की जाय तो वह सब क्रिया शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम संस्कारोंकी पुष्टिका कारण हो कर सदनुष्ठानरूप होती है और अन्तमें कर्मक्षयका कारण बनती है ॥

सदनुष्ठानके भेदोंको दिखाते हुए उसके अन्तिम भेद अर्थात् असंगानुष्ठानमें अन्तिम योग (अनालम्बनयोग)का समावेश करते हैं—

गाथा १८—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगके सम्बन्धसे यह अनुष्ठान चार प्रकारका समझना चाहिए। चारमेंसे असङ्गानुष्ठान ही चरम अर्थात् अनालम्बन योग है।

खुलासा—भावशुद्धिके तारतम्य (कमीबेशी) से एक ही अनुष्ठानके चार भेद हो जाते हैं। वे ये हैं—(१) प्रीति-अनुष्ठान, (२) भक्ति-अनुष्ठान, (३) वचनानुष्ठान, और (४) असङ्गानुष्ठान।

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) जिस क्रियामें प्रीति इतनी अधिक हो कि अन्य सब काम छोड कर सिर्फ उसी क्रियाके लिए तीव्र प्रयत्न किया जाय तो वह क्रिया प्रीति-अनुष्ठान है। (२) प्रीति-अनुष्ठान ही भक्ति-अनुष्ठान है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि प्रीति-अनुष्ठानकी अपेक्षा भक्ति-अनुष्ठानमें आलम्बनरूप विषयके प्रति विशेष आदर-बुद्धि होनेके कारण प्रत्येक व्यापार अधिक शुद्ध होता है। जैसे पत्नी और माता दोनोंका पालन, भोजन, वस्त्र आदि एक ही प्रकारसे किया जाता है परन्तु दोनोंके प्रति भावका अन्तर है। पत्नीके पालनमें प्रीतिका भाव और माताके पालनमें भक्तिका भाव रहता है, वैसे ही बाहरी व्यापार समान होनेपर भी प्रीति-अनुष्ठान तथा भक्ति-अनुष्ठानमें भावका भेद रहता है। (३) शास्त्रकी ओर दृष्टि रख करके सब कार्योंमें साधु लोगोंकी जो उचित प्रवृत्ति होती है वह वचनानुष्ठान है। (४) जब संस्कार इतने दृढ हो जायँ कि प्रवृत्ति करते समय शास्त्रका स्मरण करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् जैसे चन्दनमें सुगंध स्वाभाविक होती है वैसे ही संस्कारोंकी दृढताके कारण प्रत्येक धार्मिक नियम जीवनमें एकरस हो जाय तब असङ्गानुष्ठान होता है। इसके अधिकारी जिनकल्पिक साधु होते हैं। वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठानमें फर्क इतना ही है कि पहला तो शास्त्रकी प्रेरणासे किया जाता है और दूसरा उसकी प्रेरणाके सिवाय

शास्त्रजनित संस्कारोंके बलसे; जैसे कि चाकके घूमनेमें पहला घूमाव तो डंडेकी प्रेरणासे होता है और पिछेका सिर्फ दंडजनित वेगसे। असङ्गानुष्ठानको अनालम्बन योग इसलिए कहा है कि-" संगको त्यागना ही अनालम्बन है "।

योगके कुल अस्सी भेद बतलाये है सो इस प्रकार— स्थान, ऊर्ण आदि पूर्वोक्त पाँच प्रकारके योगके इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि ऐसे चार चार भेद करनेसे बीस भेद हुए। इन बीसमेंसे हर एक भेदके प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, वचनानुष्ठान और असङ्गानुष्ठान ये चार चार भेद होते है अतएव बीसको चारसे गुनने पर अस्सी भेद हुए ॥

आलम्बनके वर्णनके द्वारा अनालंबन योगका स्वरूप दिखाते है—

गाथा १६—आलम्बन भी रूपी और अरूपी इस तरह दो प्रकारका है। परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलम्बन है, उस अरूपी आलम्बनके गुणोंकी भावनारूप जो ध्यान है वह सूक्ष्म (अतीन्द्रिय विषयक) होनेसे अनालम्बन योग कहलाता है ॥

खुलासा—योगका ही दूसरा नाम ध्यान है। ध्यानके मुख्यतया दो भेद हैं, सालम्बन और निरालम्बन। आलम्बन (ध्येय विषय) मुख्यतया दो प्रकारका होनेसे ध्यानके उक्त दो भेद समझने चाहिए। आलम्बनके रूपी और अ-

रूपी ये दो प्रकार हैं। इन्द्रियगम्य वस्तुको रूपी (स्थूल) और इन्द्रिय-अगम्य वस्तुको अरूपी (सूक्ष्म) कहते हैं। स्थूल आलम्बनका ध्यान सालम्बन योग और सूक्ष्म आलम्बनका ध्यान निरालम्बन योग है, अर्थात् विषयकी अपेक्षासे दोनों ध्यानमें फर्क यह है कि पहलेका विषय आँखोंसे देखा जा सकता है और दूसरेका नहीं। यद्यपि दोनों ध्यानके अधिकारी छद्मस्थ ही होते हैं, परन्तु पहलेकी अपेक्षा दूसरेका अधिकारी उच्च भूमिकावाला होता है; अर्थात् पहले ध्यानके अधिकारी अधिकसे अधिक छट्ठे गुणस्थान तकके ही स्वामी होते हैं परन्तु दूसरे ध्यानके अधिकारी सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके स्वामी होते हैं।

आसनारूढ वीतराग प्रभुका या उनकी मूर्ति आदिका जो ध्यान किया जाता है वह सालम्बन और परमात्माके ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंका या संसारीआत्माके औपाधिक रूपको छोड कर उसके स्वाभाविक रूपका परमात्माके साथ तूलना पूर्वक ध्यान करना निरालम्बन ध्यान है, अर्थात् निरालम्बन ध्यान आत्माके तात्त्विक स्वरूपको देखनेकी निःसंग और अखंड लालसारूप है। ऐसी लालसा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी दूसरे अपूर्वकरणके समय पाये जानेवाले धर्मसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगसे होती है।

हरिभद्रसूरिने षोडशकमें वाणमोचनके एक रूपकके द्वारा अनालंबन ध्यानका स्वरूप समझाया है सो इस प्र-

कार है—क्षपकआत्मारूप धनुर्धर, क्षपकश्रेणीरूप धनुषके ऊपर अनालम्बनयोगरूप बाणको परमात्मतत्त्वरूप लक्ष्यके सम्मुख इस तरह चढाता है कि बाण छूटनेरूप अनालम्बन ध्यानकी समाप्ति (जिसको शास्त्रमें ध्यानान्तरीका कहते हैं) होते ही लक्ष्यवेधरूप परमात्मतत्त्वका प्रकाश होता है, यही केवलज्ञान है जो अनालम्बन ध्यानका फल है। आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके पूर्वमें जबतक उसकी प्रबल आकाङ्क्षा थी तबतकका विशिष्ट प्रयत्न निरालम्बन ध्यान है, परन्तु केवलज्ञान होनेपर आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी इच्छा न रहनेसे अनालम्बन ध्यान नहीं है तो भी आत्मतत्त्वविषयक केवलज्ञानरूप प्रकाशको सालम्बन योग कह सकते हैं। यहाँ यह जानना चाहिए कि केवलिअवस्था प्राप्त होनेके बाद जबतक योग निरोधके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता तबतककी स्थितिको एक प्रकारकी विश्रान्ति मात्र कह सकते हैं, ध्यान नहीं; क्योंकि ध्यान विशिष्ट प्रयत्नका नाम है जो केवलज्ञानके पहले या योगनिरोध करते समय होता है ॥

उक्त रीतिसे सालम्बन, निरालम्बन ध्यानका वर्णन करके अब निरालम्बन ध्यानसे होनेवाले फलोंको क्रमसे दिखाते हैं—

गाथा २०—इस निरालम्बन ध्यानके सिद्ध हो जाने पर मोहसागर पार हो जाता है यही क्षपकश्रेणीकी सिद्धि

है, इस सिद्धिसे केवलज्ञान और केवलज्ञानसे अयोग नामक योग तथा परम निर्वाण क्रमशः होता है ॥

खुलासा—मोहकी रागद्वेषरूप वृत्तियाँ पौद्गलिक अभ्यासका परिणाम है और निरालम्बन ध्यानका विषय शुद्ध चैतन्य है। अतएव मोह और निरालम्बन ध्यान ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। निरालम्बन ध्यानका आरम्भ हुआ कि मोहकी जड कटने लगी, जिसको जैनशास्त्रमें क्षपकश्रेणीका आरम्भ कहते हैं। जब उक्त ध्यान पूर्ण अवस्था तक पहुँचता है तब मोहका पाशबंधन सर्वथा टूट जाता है, यही क्षपकश्रेणीकी पूर्णाहुति है। महर्षि पतञ्जलिने जिस ध्यानको सम्प्रज्ञात कहा है वही जैनशास्त्रमें निरालम्बन ध्यान है। क्षपकश्रेणीके द्वारा सर्वथा वीतराग दशा प्रकट हो जाने पर आत्मतत्त्वका पूर्ण साक्षात्कार होता है, जो जैनशास्त्रमें केवलज्ञान और महर्षि पतञ्जलिकी भाषामें असम्प्रज्ञात योग कहलाता है। केवलज्ञान हुआ कि मानसिक वृत्तियाँ नष्ट हुई और पीछे एक ऐसी अयोग नामक योगावस्था आती है जिससे रहे-सहे वृत्तिके बीजरूप सूक्ष्म संस्कार भी जल जाते हैं, यही विदेह मुक्ति या परम निर्वाण है ॥

॥ समाप्त ॥

योगसूत्रवृत्ति तथा योगविंशिकावृत्तिमें प्रमाण-रूपसे आये हुए अवतरणोंका वर्ण-क्रमानुसारी परिशिष्ट. नं० १

श्लोक.	पृष्ठ.
अ	
अत्यन्तवल्लभा खलु	८२
अनाभोगवच्चैत-	७२
अपुनर्बन्धकस्यायं	६३
अविद्विकया वरमकयं	७८
अशुद्धापि हि शुद्धाया	७९
अस्तो णत्थि णिसेहो	४
असंमज्ञात एषोऽपि	७
अस्मिन् हृदयस्थे सति	१५
आ	
आकल्पव्यवहारार्थं	७८
आशयभेदा एते	५६
इ	
इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः	६६
उ	
उपकारिस्वजनेतर-	१०
ऊ	
ऊसासं ण णिरुंभइ	११
"	३८
ए	
एकोऽपि शास्त्रनीत्या	७८
एतद्रागादिदं हेतुः	७२
एताः खल्वभ्यासात्	११
एसो अणाइमं चिय	९
ओ	
ओसन्नो वि विहारे	८०
क	
का अरइ के आणंदे	६
कार्यद्रव्यमनादि स्या-	३१
क्लेशपक्तिर्मतिज्ञानात्	४४
ग	
गौरवयिशेषयोगात्	८२
च	
चक्रभ्रमणं दण्डात्	८२
ज	
जइ वि ण सक्कं काउं	८०
जस्सिमे सद्दा य	३७
जह सरणमुवगयाणं	७६

ना जा हविज्ञ-	७९
जिनोदितमिति	७२
जो जाणइ अरिहंते	८७
सो होये कयमज्ञ:	४४
ण.	
ण सक्का रूवमद्दट्ठं	३७
त.	
तत्राप्रतिष्ठितोऽयं	८५
तत्रैव तु प्रवृत्ति:	५७
तस्माच्छ्रुतानुसा-	७८
तात्त्विक: पक्षपात-	७९
द.	
दिव्यभोगाभिलाषेण	७२
देशादिभेदतश्चित्र-	६२
द्रागस्मात्तददर्शन-	८५
ध.	
धर्ममेघोऽमृतात्मा च	७
न.	
नैवंविधस्य शस्तं-	७७
प.	
परहितचिंता मैत्री	१०
प्रणिधानादिभावेन	६०
प्रणिधानं तत्समये	५७
प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्न-	५७
ब.	
बाह्यं तप: परमदुश्चर-	१५
भ.	
भवबीजमनन्तमुज्झितं	२९
म.	
मुक्खेण जोअणाओ	२
मूलप्रकृत्यभिन्ना:	२६
य.	
यं यं चापि स्मरन् भावं	२५
यत्राादरोऽस्ति परम:	८१
यत्त्वभ्यासातिशयात्	८२
यत्संविज्ञजनाचीर्णं	७८
यदाचीर्णमसंविग्नै:	७८
यमनियमासन-	६१
य: शृण्वन् सिद्धान्तं	७७
ल.	
लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं	७८
व.	
वचनात्मिका प्रवृत्ति:	८२
विघ्नजयस्त्रिविध:	५९
विषं गरोऽननुष्ठानं	७१
विषं लब्ध्याद्यपेक्षात:	७१
श.	
शास्त्रसंदर्शितोपाय-	८४
श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो	७८

स.

सयतानि नवाक्षाणि ३७
सकृदायतनादीनां ६८
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां १३
समाधिरेष पत्रान्यैः ६
सामर्थ्ययोग्यता या ८८
सालम्बना निरालम्ब- ८८
सिद्धिस्तत्तद्धर्म- ८९
सिद्धेश्चोत्तरकार्य ५९
सुखमात्रे सद्वेता- ११
सुदृढप्रयत्नवाधारण ८६
सूक्त चात्मपरार्थ- ५३
स्तोका आर्या अना- ७८
स्थानोर्णार्थालम्बन- ६१

ह.

हियाहारा मियाहारा ५८

योगसूत्रवृत्ति और योगविंशिकाटीकामें आये हुए अवतरणों-का कर्त्ता और ग्रंथके नाम निर्देश संबंधी परिशिष्ट. २

—⁂(◎)⁂—

(आर्ष)—

(आचारागसूत्र पत्र ६)

शीतोष्णीयाध्ययन (आचारागगत) पत्र ३७।

स्थानाङ्ग पत्र १९।

(भगवतगीता पत्र २५)

गच्छाचार पत्र ८०।

महावादी —

(सिद्धसेन दिवाकर)—(द्वात्रिंशिका पत्र २९।)

स्तुतिकारः—पत्र ३७

(कुन्दकुन्द)—

(प्रवचनसार) पत्र ८७ 'जो जाणइ अरिहते०' प्र-१ गा-८४।

भाष्यकृत्—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)-(विशेषावश्यक पत्र ४।)

महाभाष्यकार—

(जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)-(विशेषावश्यक पत्र ८६।)

---

१ ऐसे कोष्टकसे हमारा मतलब यह है कि-उस उस स्थानमें ग्रंथकारने आचार्य या ग्रंथका उल्लेख नहीं किया किन्तु हमने अपनी ओरसे खोज करके सूचन किया है।

२ इस स्तुतिकार शब्दसे ग्रंथकारको सिद्धसेन अभिप्रेत है या समन्तभद्र, इसका पता हमें अभी नहीं लगा।

पतञ्जलि—

(योगसूत्र पत्र ६१)

अकलङ्क—पत्र ३१।

हरिभद्र—

(योगविंशिका पत्र २।)
अनादिविंशिका पत्र ९।
सद्धर्मविंशिका पत्र ६८।
योगबिन्दु पत्र (६) ७ (४४) ६२ (६३-६४) ७१ (७२)।
षोडशक पत्र ११ (५६-५७-५९) ६१-७६ (८१-८२)
८३ (८५)।
योगदृष्टि समुच्चय—पत्र ७९ (८४)।

(यशोभद्रसूरि)—

षोडशकवृत्ति पत्र ६१।

यशोविजय—

षोडशक टीका-पत्र-११।
(ज्ञानसार पत्र-१३-७८।)
कर्मप्रकृति वृत्ति-पत्र-२६।
लता पत्र-४५।
संग्रहश्लोक पत्र-६६।
सद्धर्मविंशिका (टीका) पत्र-६८।

अलब्धकर्तृनाम-अलब्धग्रन्थनाम—

१८-२६-३७-४४-५३-७८-७९।

पुस्तक मिलनेका पता—

आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल.

ठि० रोशन मुहल्ला,

आग्रा शहर (यू. पी.)

श्री जैन आत्मानन्द सभा.

ठि० आत्मानन्द भवन—

भावनगर—(काठियावाड).

योगकी आठ दृष्टियोंका जो वर्णन [1] है, वह सारे योगसाहित्यमें एक नवीन दिशा है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिरुचि और योगविषयक व्यापक बुद्धिके खासे नमूने हैं।

इसके बाद श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रका नंबर आता है। उसमें पातञ्जल-योगशास्त्र-निर्दिष्ट आठ योगांगोंके क्रमसे साधु और गृहस्थ जीवनकी आचार-प्रक्रियाका जैन शैलीके अनुसार वर्णन है, जिसमें आसन तथा प्राणायामसे संबन्ध रखनेवाली अनेक बातोंका विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखनेसे यह जान पडता है कि तत्कालीन लोगोंमें हठयोग-प्रक्रियाका कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रमें हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थोंकी नवीन परिभाषा और रोचक शैलीका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ,

---

१ मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

इन आठ दृष्टियोंका स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योगजिज्ञासुओंके लिये देखने योग्य है। इसी विषयपर यशोविजयजीने २१, २२, २३, २४ ये चार द्वात्रिंशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जाननेवालोंके हितार्थ आठ दृष्टियोंकी सज्झाय भी गुजराती भाषामें बनाई है।

रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानका विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया है। अन्तमें उन्होंने स्वानुभवसे विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदोंका वर्णन करके नवीनता लानेका भी खास कौशल दिखाया है। निस्सन्देह उनका योगशास्त्र जैनतत्त्वज्ञान और जैनआचारका एक पाठ्य ग्रन्थ है।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योगग्रन्थोंपर नजर ठहरती है। उपाध्यायजीका शास्त्रज्ञान, तर्ककौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयाँ योग संबन्धी विषयोंपर लिखी है, जिनमें जैन मन्तव्योंकी सूक्ष्म और रोचक मीमांसा करनेके उपरान्त अन्य दर्शन और जैनदर्शनका मिलान भी किया है। इसके सिवा

---

१ देखो प्रकाश ७-१० तक। २ १२ वाँ प्रकाश श्लोक २-३-४। ३. अध्यात्मसारके योगाधिकार और ध्यानाधिकारमें प्रधानतया भगवद्गीता तथा पातञ्जलसूत्रका उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यानविषयोंका उक्त दोनों ग्रन्थोंके साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषद्के शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारो योगोंमें प्रधानतया योगवाशिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्योंका अवतरण दे कर तात्त्विक ऐक्य बतलाया है। योगावतार बत्तीसीमें खास कर पातञ्जल योगके पदार्थोंका जैनप्रक्रियाके अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

उन्होंने हरिभद्रसूरिकृत योगविंशिका तथा षोडशकपर टीका लिख कर प्राचीन गूढ तत्त्वोंका स्पष्ट उद्घाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि-पतञ्जलिकृत योगसूत्रोंके उपर एक छोटीसी वृत्ति भी लिखी है। यह वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार लिखी हुई है, इस-लिये उसमें यथासंभव योगदर्शनकी भित्ति-स्वरूप सांख्य-प्रक्रियाका जैनप्रक्रियाके साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलोंमें उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजीने अपनी विवेचनामें जो मध्यस्थता, गुणग्राह-कता, सूक्ष्म समन्वयशक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाई है ऐसी दूसरे आचार्योंमें बहुत कम नजर आती है।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्यमें है। कर्ताका उल्लेख उसमें नहीं है, पर उसके दृष्टान्त आदि वर्णनसे जान पडता है कि हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके

---

१ इसके लिये उनका ज्ञानसार जो उन्होंने अंतिम जीवनमें लिखा मालूम होता है वह ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। शास्त्रवार्तासमुच्चयकी उनकी टीका(पृ० १०)भी देखनी आवश्यक है।

२ इसके लिये उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यान-पूर्वक देखने चाहिये, और खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मननपूर्वक देखनेसे हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पडेगा।

आधारपर किसी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्यमें ज्ञानार्णव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखनेमें आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाणमें छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायके योगविषयक ग्रन्थोंका कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावलि पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहांतकहीमें जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदायकी तरह निवृत्तिप्रधान है। भगवान् गौतम बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त होनेसे पहले छह वर्ष-तक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थों-में जैन आगमोंके समान योग अर्थमें बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उनमें ध्यानके चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेदके नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शनकी प्रक्रियामें हैं[1]। बौद्ध सम्प्रदायमें समाधि-

१. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुस-लेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्क विचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिज पीतिसुखं दुति-यज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्खको च

राज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक जैन और बौद्ध संप्रदायके योगविषयक साहित्यका हमने बहुत संक्षेपमें अत्यावश्यक परिचय कराया है, पर इसके विशेष परिचयके लिये—कॅट्-लोगस् कॅट्लॉगॉरम्, वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावलि है वह देखने योग्य है।

विहासि; सतो च संपजानो सुखं च कायेन पटिसंवेदेसि, यं तं अरिया आचिक्खन्ति—उपेक्खको सतिमा सुखविहारीऽसि ततियज्झानं उपसंपज्ज विहासि; सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेऽव सोमनस्स दोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसंपज्ज मज्झिमनिकाये भयभेखसुत्तं विहासि।

इन्हीं चार ध्यानोंका वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें है। देखो प्रो. सि. वि. राजवाडे कृत मराठी अनुवाद पृ. ७२।

वही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बी लिखित बुद्धलीलासार संग्रहमें है। देखो पृ. १२८।

जैनसूत्रमें शुक्लध्यानके भेदोंका विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ९ सू० ४१–४४।

योगशास्त्रमें संप्रज्ञात समाधि तथा समापत्तिओंका वर्णन है[1]। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १–१७, ४२, ४३, ४४।

१ थिओडोरे आउफ्रेटकृत लिप्सिगमें प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति।

यहां एक बात खास ध्यान देनेके योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें अनेक जगह हठयोगकी प्रथाको अग्राह्य कहा है, तथापि उसमें हठयोगकी प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थोंका और मार्गोंका निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्यमें हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोगका स्पष्ट निषेध भी किया है।

---

१ उदाहरणार्थः—

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढा कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्ते बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्त चित्तस्य वाऽदूर संस्थितं स्वशरीरकम् ।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हतान् विदुः ॥३९॥

योगवाशिष्ठ—उपशम प्र० सर्ग ९२.

२ इसके उदाहरणमें बौद्ध धर्ममें बुद्ध भगवान्ने तो शुरूमें कष्टप्रधान तपस्याका आरंभ करके अंतमें मध्यमप्रतिपदा मार्गका स्वीकार किया है-देखो बुद्धलीलासारसंग्रह.

जैनशास्त्रमें श्रीभद्रबाहुस्वामिने "आवश्यकनिर्युक्तिमें "ऊसासं ण णिरुभइ" १५२० इत्यादि युक्तिसे हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्य

योगशास्त्र—ऊपरके वर्णनसे मालूम हो जाता कि-योगप्रक्रियाका वर्णन करनेवाले छोटे बडे अने ग्रन्थ ह। इन सब उपलब्ध ग्रन्थोंमें महर्षि-पतञ्जलिक्र योगशास्त्रका आसन ऊंचा है। इसके तीन कारण है—' १ न्थकी संक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषयकी स्पष्टता त पूर्णता, ३ मध्यस्थभाव तथा अनुभवसिद्धता। यही कार है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योग सूत्रका स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्यने अपने ब्रह्मसू त्रभाष्यमें योगदर्शनका प्रतिवाद करते हुए जो ' अथ स म्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः " ऐसा उल्लेख किया है, उससे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पात ञ्जल योगशास्त्रसे भिन्न दूसरा कोइ योगशास्त्र रहा है। क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्रका आरम्भ " अथ योगानुशा सनम् " इस सूत्रसे होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्य में भी ग्रन्थारम्भसूचक अथ शब्द है, यद्यपि उक्त भाष्यमें

" तन्नाप्नोति मन.स्वास्थ्य प्राणायामैः कदर्थित। प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्यात् चित्तविप्लवः ॥ " इत्यादि उक्तिसे उसी बातको दोहराया है। श्रीयशोविजयजीने भी पातञ्जलयोगसूत्रकी अपनी वृत्तिमें (१–३४) प्राणायामको योगका अनिश्चित साधन कह कर हठयोगका ही निरसन किया है।

आवृत्ति ।

ष्यगत ।

अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो[1] उल्लेख हैं, जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्रका संपूर्ण सूत्र ही है,[2] और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्रसे मिलता जुलता[3] है। तथापि "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" इस उल्लेखकी शब्दरचना और स्वतन्त्रताकी ओर ध्यान देनेसे यही कहना पडता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी भिन्न योगशास्त्रके होने चाहिये, जिसका कि अंश "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलिका ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है। इसलिये बहुत संक्षेपमें भी उसका बाह्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्रके चार पाद और कुल सूत्र १९५ हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरेका साधन, तीसरेका विभूति,

---

१ "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" ब्रह्मसूत्र १–३–३३ भाष्यगत। योगशास्त्रप्रसिद्धाः मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते, "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः नाम" २–४–१२ भाष्यगत।

पं वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्रके मराठी अनुवादके परिशिष्टमें उक्त दो उल्लेखोंका योगसूत्ररूपसे निर्देश किया है, पर "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" इस उल्लेखके संबंधमें कहीं भी ऊहापोह नहीं किया है.

२ मिलाओ पा. २ सू. ४४। ३ मिलाओ पा. १ सू. ६।

और चोथेका कैवल्यपाद है। प्रथमपादमें मुख्यतया योगका स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरताके उपायोंका वर्णन है। दूसरे पादमें क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्व्यूहका मुख्य वर्णन है[1]॥

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियोंके वर्णनकी प्रधानता है। और चोथे पादमें परिणामवादके स्थापन, विज्ञानवादके निराकरण तथा कैवल्य अवस्थाके स्वरूपका वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जलिने अपने योगशास्त्रकी नींव सांख्यसिद्धान्तपर डाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पादके अन्तमें "योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने" इत्यादि उल्लेख मिलता है। "सांख्यप्रवचने" इस विशेषणसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्यके सिवाय अन्यदर्शनके सिद्धांतोंके आधारपर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय मौजुद थे या रचे जाते थे इस योगशास्त्रके ऊपर अनेक छोटे बडे टीका ग्रन्थ हैं, पर[2]

---

१ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्व्यूह करलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६–२६ तकमें है।

२ व्यास कृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्तंड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विज्ञानभिक्षु कृत वार्तिक, योगचन्द्रिका, मणिप्रभा, भावागणेशीय वृत्ति, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आदि।

व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीकासे उसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

सब दर्शनोंके अन्तिम साध्यके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम पक्षका अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है। उसका मानना है कि मुक्तिमें शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसमें जो कुछ है वह दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही। दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है। ऐसा मोक्ष हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध-दर्शन प्रथम पक्षके अनुगामी हैं। वेदान्त और जैनदर्शन, दूसरे पक्षके अनुगामी हैं।

---

१ " तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः " न्यायदर्शन १-१-२२। २ ईश्वरकृष्णकारिका १। ३ उसमें हानतत्त्व मान कर दुःखके आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है। ४ बुद्ध भगवान्के तीसरे निरोध नामक आर्यसत्यका मतलब दुःख नाशसे है। ५ वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको सच्चिदानंदस्वरूप माना है, इसीलिये उसमें नित्यसुखकी अभिव्यक्तिका नाम ही मोक्ष है। ६ जैन दर्शनमें भी आत्माको सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्षमें स्वाभाविक सुखकी अभिव्यक्ति ही उस दर्शनको मान्य है।

योगशास्त्रका विषय-विभाग उसके अन्तिमसाध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूपसे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सबका संक्षेपमें वर्गीकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय २ हेय-हेतु ३ हान ४ हानोपाय। यह वर्गीकरण स्वयं सूत्रकारने किया है। और इसीसे भाष्यकारने योगशास्त्रको चतुर्व्यूहात्मक कहा है[१]। सांख्यसूत्रमें भी यही वर्गीकरण है। बुद्ध भगवान्‌ने इसी चतुर्व्यूहको आर्य-सत्य नामसे प्रसिद्ध किया है। और योगशास्त्रके आठ योगाङ्गोंकी तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्यके साधनरूपसे आर्य अष्टाङ्गमार्गका उपदेश किया है[२]।

दुःख हेय[३] है, अविद्या हेयका कारण है, दुःखका

---

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

२ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संग्रह, पृ. १५०। ३ "दुःखं हेयमनागतम्" २-१६ यो. सू.। ४ "द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २-१७। "तस्य हेतुरविद्या" २-२४ यो. सू.।

आत्यन्तिक नाश हान[1] है, और विवेक-ख्याति हानका उपाय[2] है।

उक्त वर्गीकरणकी अपेक्षा दूसरी रीतिसे भी योगशास्त्रका विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्योंका ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है-१ हाता २ ईश्वर ३ जगत् ४ संसार मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१ हाता दुःखसे छुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतनका नाम है। योग-शास्त्रमें सांख्य[3] वैशेषिक[4], नैयायिक, बौद्ध, जैन[5] और पूर्णप्रज्ञ (मध्व[6]) दर्शनके समान द्वैतवाद

---

१ "तदभावात् संयोगाभावो हान तद् दृशेः कैवल्यम्" २-२६ यो. सू। २ "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" २-२६. यो. सू। ३ "पुरुषबहुत्व सिद्ध" ईश्वरकृष्णकारिका-१८। ४ "व्यवस्थातो नाना"-३-२-२०-वैशेषिकदर्शन। ५ "पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि"-५-५. तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य।

६ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिभेदेनाशमाप्नुयात्॥
सर्वदर्शनसंग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शन॥

अर्थात् अनेक चेतन माने गये हैं।

योगशास्त्र चेतनको जैन दर्शनकी तरह[2] देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं मानता[3], किन्तु सांख्य, वैशेषिक[5], नैयायिक और शांकरवेदान्तकी[6] तरह वह उसको व्यापक मानता है[7]।

इसी प्रकार वह चेतनको जैनदर्शनकी तरह परिणामि-

---

१ "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" २-२२ यो. सू.। २. "असंख्येयभागादिषु जीवानाम्"। १५। "प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्" १६-तत्त्वार्थसूत्र अ० ५।

३. देखो "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्"। ब्रह्मसूत्र २-३-१८ पूर्णप्रज्ञ भाष्य। तथा मिलान करो अभ्यंकरशास्त्री कृत मराठी शांकरभाष्य अनुवाद भा. ४ पृ. १५३ टिप्पण ४६।

४. "निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" सां. सू. १-४६. निष्क्रियस्य-विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्-भाष्य विज्ञानभिक्षु।

५. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा।" ७-१-२२-वै. द.।

६. देखो ब्र. सू. २-३-२९. भाष्य।

७. इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूपके विषयमें सांख्य-सिद्धान्तानुसारी है।

८. "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" ३। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। २९। "तद्भावाव्ययं नित्यम्" ३०। तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ भाष्य सहित

नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शनकी तरह उसको क्षणिक-अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनोंकी तरह[1] वह उसे कूटस्थ-नित्य मानता है।

२ ईश्वरके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत सांख्य दर्शनसे भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनोंके अतिरिक्त ईश्वरको नहीं मानता[2], पर योगशास्त्र मानता है। योगशास्त्र-सम्मत ईश्वरका स्वरूप नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनोंमें माने गये ईश्वरस्वरूपसे कुछ भिन्न है। योगशास्त्रने ईश्वरको एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदिकी तरह ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्ध न मान कर इसके स्थानमें सत्त्वगुणका

---

१. देखो ई० कृ० कारिका ६३ सांख्यतत्त्वकौमुदी। देखो न्यायदर्शन ४-१-१०। देखो ब्रह्मसूत्र २-१-१४। २-१-२७। शांकरभाष्य सहित।

२. देखो योगसूत्र. "सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्" ४-१८। "चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" ४-२२। तथा "द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थ-नित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम" इत्यादि ४-३३-भाष्य।

३ देखो सांख्यसूत्र १-९२ आदि।

परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगत्उद्धारादिकी सब व्यवस्था बटा दी है।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत्को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनोंकी तरह परमाणुका परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्तदर्शनकी तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्मका परिणाम ही मानता है, और न बौद्धदर्शनकी तरह शून्य या विज्ञानात्मक ही मानता है, किन्तु सांख्य दर्शनकी तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि-अनन्त-प्रवाह-स्वरूप मानता है।

४ योगशास्त्रमें वासना, क्लेश और कर्मका नाम ही संसार, तथा वासनादिका अभाव अर्थात् चेतनके स्वरूपावस्थानका नाम ही मोक्ष है। उसमें संसारका मूल कारण अविद्या और मोक्षका मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योगजन्य विवेकख्याति माना गया है।

महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता—यह पहले

---

१ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योगसूत्रमें नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपपादन किया है। देखो पातञ्जल यो. सू. पा. १ सू २४ भाष्य तथा टीका।

२ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम्। १-३ योगसूत्र।

कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धान्त और उसकी प्रक्रियाको ले कर पतञ्जलिने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कम पाई जाती है। इसी विशेषताके कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शन-समन्वय बन गया है। उदाहरणार्थ सांख्यका निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंके द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोक-स्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासनाकी ओर विशेष मालूम पडा, तब अधिकारि-भेद तथा रुचिविचित्रताका विचार करके पतञ्जलिने अपने योगमार्गमें ईश्वरोपासनाको भी स्थान दिया, और ईश्वरके स्वरूपका उन्होंने निष्पक्ष भावसे ऐसा निरूपण किया है जो सबको मान्य हो सके।

पतञ्जलिने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगोंका साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासनाकी भिन्नता और उपासनामें उपयोगी होनेवाली प्रतीकोंकी भिन्नताके व्या-

---

१ "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" १-२३।

२ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"। "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्"। (१-२४, २५, २६)

मोहमें अज्ञानवश आपस आपसमें लड मरते हैं, और इस धार्मिक कलहमें अपने साध्यको लोक भूल जाते हैं। लोगोंको इस अज्ञानसे हटा कर सत्पथपर लानेके लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसीका ध्यान करो। जैसी प्रतीक तुम्हें पसंद आवे वैसी प्रतीककी ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो। और तद्द्वारा परमात्म-चिन्तनके सच्चे पात्र बनो। इस उदारताकी मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेशके द्वारा पतञ्जलिने सभी उपासकोंको योग-मार्गमें स्थान दिया, और ऐसा करके धर्मके नामसे होनेवाले कलहको कम करनेका उन्होंने सच्चा मार्ग लोगोंको बतलाया।

---

१ "यथाऽभिमतध्यानाद्वा" १-३९

इसी भावकी सूचक महाभारतमें—

ध्यानमुत्पादयत्यत्र, संहितावलसंश्रयात्
यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती ॥

शान्तिपर्व अ० १९४ श्लो. २०

यह उक्ति है। और योगवाशिष्ठमें—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १९।

यह उक्ति है।

उनकी इस दृष्टिविशालताका असर अन्य गुण-ग्राही आचार्योंपर भी पडा, और वे उस मतभेदसहिष्णुताके तत्त्वका मर्म समझ गये।

---

१. पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥
गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्विशेषेऽप्येतदिष्यते।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥
योगविन्दु श्लो. १६-२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो किसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेषको स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकारकी प्रतीक माननेवालों या अन्य प्रकारकी उपासना करनेवालोंसे द्वेष नहीं रखते, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेदके व्यामोहसे ही आपसमें लड मरते हैं। इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करनेके लिये ही श्रीमान् हरिभद्रसूरिने उक्त पद्योंमें प्रथमाधिकारीके लिये सब देवोंकी उपासनाको लाभदायक बत-

वैशेषिक, नैयायिक आदिकी ईश्वरविषयक मान्यताका तथा साधारण लोगोंकी ईश्वरविषयक श्रद्धाका योगमार्गमें उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होंने वैदिके-

---

लानेका उदार प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नका अनुकरण श्री-यशोविजयजीने भी अपनी "पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका" "आठ-दृष्टियोंकी सज्झाय" आदि ग्रन्थोंमें किया है। एकदेशीयसम्प्रदायाभिनिवेशी लोगोंको समजानेके लिये 'चारिसजीवनीचार' न्यायका उपयोग उक्त दोनों आचार्योंने किया है। यह न्याय बडा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

इस समभावसूचक दृष्टान्तका उपनय श्रीज्ञानविमलने आठदृष्टिकी सज्झाय पर किये हुए अपने गूजराती टबेमें बहुत अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है। इसका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है। कीसी स्त्रीने अपनी सखीसे कहा कि मेरा पति मेरे अधीन न होनेसे मुझे बडा कष्ट है, यह सुन कर उस आगन्तुक सखीने कोई जडी खिला कर उस पुरुषको बैल बना दिया, और वह अपने स्थानको चली गई। पतिके बैल बनजानेसे उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुषरूप बनानेका उपाय न जाननेके कारण उस बैलरूप पतिको चराया करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी। कीसी समय अचानक एक विद्याधरके मुखसे ऐसा सुना कि अगर बैलरूप पुरुषको संजीवनी नामक जडी चराई जाय तो वह फिर असली रूप

तर दर्शनोंके सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्गके लिये सर्वथा उपयोगी जान पडी उसका भी अपने योगशास्त्रमें बडी उदारतासे संग्रह किया। यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववादको युक्तिहीन समझ कर या योगमार्गमें अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चौथे पादमें किया है, तथापि उन्होंने बुद्धभगवान्के परमप्रिय चार आर्यसत्योंका हेय, हेयहेतु, हान और होनोपाय रूपसे स्वीकार निःसंकोच भावसे अपने योगशास्त्रमें किया है।

धारण कर सकता है। विद्याधरसे यह भी सुना कि वह जडी अमुक वृक्षके नीचे है, पर उस वृक्षके नीचे अनेक प्रकारकी वनस्पति होनेके कारण वह स्त्री संजीवनीको पहचाननेमें असमर्थ थी। इससे उस दुःखित स्त्रीने अपने बैलरूपधारि पतिको सब वनस्पतियाँ चरा दीं। जिनमें सजीवनीको भी वह बैल चर गया, और बैलरूप छोड कर फिर मनुष्य बन गया। जैसे विशेष परीक्षा न होनेके कारण उस स्त्रीने सब वनस्पतियोंके साथ संजीवनी खिला कर अपने पतिका कृत्रिम बैलरूप छुडाया, और असली मनुष्यत्वको प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाधिकारी भी सब देवोंकी समभावसे उपासना करते करते योगमार्गमें विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है।

१ देखो सू० १५, १८।

२ दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग।

जैन दर्शनके साथ योगशास्त्रका सादृश्य तो अन्य सब दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक ही देखनेमें आता है। यह बात स्पष्ट होनेपर भी बहुतोंको विदित ही नहीं है, इसका सबब यह है कि जैनदर्शनके खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्रका अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्रके खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शनका बारीकीसे ठीक ठीक अवलोकन किया हो। इसलिये इस विषयका विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

योगशास्त्र और जैनदर्शनका सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकारका है। १ शब्दका, २ विषयका और ३ प्रक्रियाका।

१ मूल योगसूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतकमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध नहीं है, या बहुत कम प्रसिद्ध है, किन्तु जैन शास्त्रमें खास प्रसिद्ध हैं। जैसे–भवप्रत्यय[1], सवितर्क सविचार निर्विचार[2], महाव्रत[3], कृत

---

१ "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" योगसू. १–१९। "भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्" तत्त्वार्थ अ. १–२२।

२ ध्यानविशेषरूप अर्थमें ही जैनशास्त्रमें ये शब्द इस प्रकार हैं "एकाश्रये सवितर्के पूर्वे" (तत्त्वार्थ अ. ९–४३) "तत्र

कारित अनुमोदित, प्रकाशावरण, सोपक्रम निरूपक्रम, वज्रसं-

सविचारं प्रथमम् " भाष्य " अविचारं द्वितीयम् " तत्त्वा-अ ६-४४ । योगसूत्रमें ये शब्द इस प्रकार आये हैं—"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः " " स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" "एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता " १-४२, ४३, ४४ ।

३ जैनशास्त्रमें मुनिसम्बन्धी पाँच यमोंके लिये यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध है । " सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति " तत्त्वार्थ अ० ७-२ भाष्य । यही शब्द उसी अर्थमें योगसूत्र २-३१ में है।

४ ये शब्द जिस भावके लिये योगसूत्र २-३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भावमें जैनशास्त्रमें भी आते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जैनग्रन्थोंमें अनुमोदितके स्थानमें बहुधा अनुमत-शब्द प्रयुक्त होता है । देखो-तत्त्वार्थ, अ. ६-९।

५ यह शब्द योगसूत्र २-५२ तथा ३-४३ में है । इसके स्थानमें जैनशास्त्रमें ' ज्ञानावरण ' शब्द प्रसिद्ध है । देखो तत्त्वार्थ. अ. ६-११ आदि ।

६ ये शब्द योगसूत्र ३-२२ में हैं । जैन कर्माविषयक साहित्यमें ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, देखो—अ. २-५२ भाष्य ।

७ यह शब्द योगसूत्र (३-४६) में प्रयुक्त है । इसके स्थानमें जैन ग्रन्थोंमें ' वज्रऋषभनाराचसंहनन ' ऐसा शब्द मिलता है । देखो तत्त्वार्थ (अ० ८-१२) भाष्य ।

हनन, केवली, कुशल, ज्ञानावरणीयकर्म, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ, क्षीणक्लेश, चरमदेह आदि।

२ प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था, पाँच यम, योगज-

---

१ योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० ६-१४)।

२ देखो योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तथा दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६।

३ देखो योगसूत्र (२-५१) भाष्य, तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८६३।

४ योगसूत्र (२-२८) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-१)।

५ योगसूत्र (४-१५) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-२)।

६ योगसूत्र (३-४९) भाष्य, तत्त्वार्थ (३-४९)।

७ योगसूत्र (१-४) भाष्य। जैन शास्त्रमें बहुधा क्षीणमोह 'क्षीणकषाय' शब्द मिलते हैं। देखो तत्त्वार्थ (अ० ९-३८)।

८ योगसूत्र (२-४) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० २-५२)।

९ प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओंका योगसूत्र (२-४) में वर्णन है। जैनशास्त्रमें वही भाव मोहनीयकर्मकी सत्ता, उपशमक्षयोपशम, विरोधिप्रकृतिके उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्थाके वर्णनरूपसे वर्तमान है। देखो योगसूत्र (२-४) की यशोविजयकृत वृत्ति।

१० पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थोंमें है सही, पर

न्य विभूति, सोपक्रम निरुपक्रम कर्मका स्वरूप, तथा उसके

उसकी परिपूर्णता " जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् " (योगसूत्र २–३१) में तथा दशवैकालिक अध्ययन ४ आदि जैनशास्त्रप्रतिपादित महाव्रतोंमें देखनेमें आती है।

१ योगसूत्रके तीसरे पादमें विभूतियोंका वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रकारकी हैं। १ वैज्ञानिक २ शारीरिक। अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञानविभूतियाँ हैं। अन्तर्धान, हस्तिबल, परकायप्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंपत्, इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं। जैनशास्त्रमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, जातिस्मरणज्ञान, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं। देखो आवश्यकनिर्युक्ति (गा० ६६, ७०) लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है।

२ योगभाष्य और जैनग्रन्थोंमें सोपक्रम निरुपक्रम आयुष्कर्मका स्वरूप बिल्कुल एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूपको दिखाते हुए भाष्यकारने (यो. सू. ३–२२) के भाष्यमें आर्द्र वस्त्र और तृणराशिके जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा–९५६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा–३-६१) आदि जैनशास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर

दृष्टान्त, अनेक कायोंका निर्माण आदि।

तत्त्वार्थ (अ० -२५२) के भाष्यमें उक्त दो दृष्टान्तोंके उपरान्त, एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा है। इस विषयमें उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है।

" यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम्। यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाऽग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् (योग. ३-२२) भाष्य। यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति, तद्वत्। यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिच्छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति,तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत्। यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति। स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति। (अ०२-५२ भाष्य)।

१ योगबलसे योगी जो अनेक शरीरोंका निर्माण करता

३ परिणामि-नित्यता अर्थात् उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य-रूपसे त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्मधर्मीका विवेचन इत्यादि।

इसी विचारसमताके कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचार्योंने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थोंमें गुणग्राहकताका निर्भीक

है, उसका वर्णन योगसूत्र (४-४) में है, यही विषय वैक्रिय-आहारक-लब्धिरूपसे जैनग्रन्थोंमें वर्णित है।

१ जैनशास्त्रमें वस्तुको द्रव्यपर्यायस्वरूप माना है। इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ (अ० ५-२९) में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा किया है। योगसूत्र (३-१३, १४) में जो धर्मधर्मीका विचार है वह उक्त द्रव्यपर्यायउभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिरूपताका ही चित्रण है। भिन्नता सिर्फ दोनोंमें इतनी ही है कि-योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होनेसे "ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः" यह सिद्धान्त मानकर परिणामवादका अर्थात् धर्मलक्षणावस्थापरिणामका उपयोग सिर्फ जडभागमें अर्थात् प्रकृतिमें करता है, चेतनमें नहीं। और जैनदर्शन तो "सर्वे भावाः परिणामिनः" ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड चेतन दोनोंमें करता है। इतनी भिन्नता होनेपर भी परिणामवादकी प्रक्रिया दोनोंमें एक सी है।

परिचय पूरे तौरसे दिया है, और जगह जगह पतञ्जलिके योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दोंका जैन सङ्केतोंके साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालोंके लिये एकताका मार्ग खोल दिया है। जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसूरि-सूचित एकताके मार्गको विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलिके योगसूत्रको जैन प्रक्रियाके अनुसार समझानेका थोडा किन्तु मार्मिक प्रयास किया है। इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्तीसियोंमें उन्होंने पतञ्जलिके योगसूत्रगत कुछ विषयोंपर खास बत्तीसियाँ भी रची हैं। इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेका

१ उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः।
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः॥
(योग. वि. श्लो. ६६) टीका 'उक्तं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः'॥ एतत्प्रधानः सच्छ्राद्धः शीलवान् योगतत्परः। जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः"॥ (योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १००) टीका 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः'। ऐसा ही भाव गुणग्राही श्रीयशोविजयजीने अपनी योगावतारद्वात्रिंशिकामें प्रकाशित किया है। देखो—श्लो. २० टीका।

२ देखो योगबिन्दु श्लोक ४१८, ४२०।

३ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति।

४ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, ईशानुग्रहावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य।

उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योग-शास्त्रके पास आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकरूपताका अनुभव करने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि–महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टि–विशालता उनके विशिष्ट योगानुभवका ही फल है, क्योंकि–जब कोई भी मनुष्य शब्दज्ञानकी प्राथमिक भूमिकासे आगे बढ़ता है तब वह शब्दकी पूंछ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञानके उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकतावाले प्रदेशमें अभेद आनंदका अनुभव करता है।[1]

आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा—श्रीहरिभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्योंमें एक हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयशक्तिका पूरा परिचय करानेका यहाँ प्रसंग नहीं है। इसके-लिये जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियोंको देख लेवें। हरिभद्रसूरिकी शतमुखी प्रतिभाके स्रोत उनके बनाये हुए चार-[2]

---

१ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञानका स्वरूप श्रीयशोविजयजीने अध्यात्मोपनिषद्में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगोंको देखने योग्य है अध्यात्मोपनिषद् श्लो. ६५, ७४।

२ द्रव्यानुयोगविषयक–धर्मसंग्रहणी आदि १, गणितानुयोगविषयक बृहत्क्षेत्रसमास टीका आदि २, चरणकरणानुयोग-

अनुयोगविषयक ग्रन्थोंमें ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भारतवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धांतोंकी चर्चावाले ग्रन्थोंमें भी बहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई, उसने योगमार्गमें एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्यमें ही नहीं बल्कि आर्यजातीय संपूर्ण योग-विषयक साहित्यमें एक नई वस्तु है। जैनशास्त्रमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थान-रूपसे, चार ध्यान रूपसे और बहिरात्म आदि तीन अवस्थाओंके रूपसे मिलता है। हरिभद्रसूरिने उसी आध्यात्मिक विकासके क्रमका योगरूपसे वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रक्खी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्यमेंसे किसी भी ग्रंथमें कमसे कम हमारे देखनेमें तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रन्थोंमें अनेक[2] योगियोंका नामनिर्देश करते हैं। एवं योगविषयक[3] ग्रन्थोंका उल्लेख करते

विषयक—पञ्चवस्तु, धर्मबिन्दु आदि ३, धर्मकथानुयोगविषयक—समराइच्चकहा आदि ४ ग्रन्थ मुख्य हैं।

१ अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि।

२ गोपेन्द्र (योगबिन्दु श्लोक. २००) कालातीत (योगबिन्दु श्लोक ३००)। पतञ्जलि, भदन्तभास्करबन्धु, भगवदन्त(त्त) वादी (योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका)।

३ योगनिर्णय आदि (योगदृष्टि० श्लोक १ टीका)।

है जो अभी प्राप्त नहीं भी हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रन्थोंमें उनके वर्णनकी सी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु बिल्कुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रसूरिके योगविषयक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखनेमें आये है। उनमेंसे षोडशक और योगविंशिकाके योगवर्णनकी शैली और योगवस्तु एक ही है। योगबिंदुकी विचारसरणी और वस्तु योगविंशिकासे जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चयकी विचारधारा और वस्तु योगबिंदुसे भी जुदा है। इस प्रकार देखनेसे यह कहना पडता है कि हरिभद्रसूरिने एक ही आध्यात्मिक विकासके क्रमका चित्र भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न वस्तुका उपयोग करके तीन प्रकारसे खींचा है।

कालकी अपरिमित लंबी नदीमें वासनारूप संसारका गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर (मूल) तो अनादि है, पर दूसरा (उत्तर) छोर सान्त है। इसलिये मुमुक्षुओंके वास्ते सबसे पहले यह प्रश्न बडे महत्त्वका है कि उक्त अनादि प्रवाहमें आध्यात्मिक विकासका आरंभ कबसे होता है? और उस आरंभके समय आत्माके लक्षण कैसे हो जावे हैं? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने योगबिंदुमें दिया है। वे कहते हैं कि—" जब आत्माके ऊपर मोहका प्रभाव घटनेका आरंभ होता है, तभीसे आध्यात्मिक विकासका सूत्रपात हो जाता

है। इस सूत्रपातका पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकास-रहित होता है, वह जैनशास्त्रमें अचरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकासके क्रमवाला होता है, वह चरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्तन और चरमपुद्गलपरावर्तनकालके परिमाणके बीच सिंधु और बिंदुका सा अंतर होता है। जिस आत्माका संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्तपरिमाण शेष रहता है, उसको जैन परिभाषामें 'अपुनर्बंधक' और सांख्य-परिभाषामें 'निवृत्ताधिकार प्रकृति' कहते हैं[२]। अपुनर्बन्धक या निवृत्ताधिकार प्रकृति आत्माका आंतरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोहका दबाव कम होकर उलटे मोहके ऊपर उस आत्माका दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विकासका बीजारोपण है। यहींसे योगमार्गका आरंभ हो जानेके कारण उस आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सरलता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदाचार वास्तविकरूपमें दिखाई देते हैं। जो उस विकासोन्मुख आत्माका बाह्य परिचय है"। इतना उत्तर देकर आचार्यने योगके आरंभसे लेकर योगकी पराकाष्टा तकके आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये उसको

१ देखो मुख्यद्वेषद्वात्रिंशिका २८।

२ देखो योगबिंदु १७८, २०१।

पाँच भूमिकाओंमें विभक्त करके हर[1] एक भूमिकाके लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये हैं। और जगह जगह जैन परिभाषाके साथ बौद्ध तथा योगदर्शनकी परिभाषाका मिलान करके परिभाषाभेदकी दिवारको तोडकर उसकी ओटमें छिपी हुई योगवस्तुकी भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये योगमार्गकी पाँच भूमिकायें है। इनमेंसे पहली चारको पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिकाको असंप्रज्ञात कहते हैं[3]। यही संक्षेपमें योगविन्दुकी वस्तु है।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका वर्णन योगविन्दुकी अपेक्षा दूसरे ढंगसे है। उसमें आध्यात्मिक विकासके प्रारंभके पहलेकी स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण संसारकालीन आत्माकी स्थितिको ओघदृष्टि कहकर उसके तरतम भावको अनेक दृष्टांत द्वारा समझाया

---

१ योगविंदु, ३१, ३५७, ३५८, ३६१, ३६३, ३६५।

२ "यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्बन्धवैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥२७३॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः" ॥२७४॥
योगविन्दु।

३ देखो योगविंदु ४१८, ४२०।

है,[1] और पीछे आध्यात्मिक विकासके आरंभसे लेकर उसके अंततकमें पाई जानेवाली योगावस्थाको योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्थाकी क्रमिक वृद्धिको समझानेके लिये संक्षेपमें उसे आठ भूमिकाओंमें बाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थमें आठ योगदृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं[2]। इन आठ दृष्टिओंका विभाग पातंजलयोगदर्शन-प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टिमें एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टिओं योगकी प्रारम्भिक अवस्थारूप होनेसे उनमें अविद्याका अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत ग्रंथमें अवेद्यसंवेद्यपद कहा है[3]। अगली चार दृष्टिओंमें अविद्याका अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भावको आचार्यने वेद्यसंवेद्यपद शब्दसे जनाया है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रंथमें पिछली चार दृष्टियोंके समय पाये जानेवाले विशिष्ट आध्यात्मिक विकासको इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योगभूमिकाओंमें विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओंका बहुत रोचक वर्णन किया है[4]।

---

१ देखो—योगदृष्टिसमुच्चय १४।
२ ,, ,, १३।
३ ,, ,, ७५।
४ ,, ,, ७३।
५ ,, ,, २–१२।

आचार्यने अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णनकरके योगशास्त्रके अधिकारी कौन हो सकते हैं ? यह भी बतला दिया है। यही योगदृष्टिसमुच्चयकी बहुत संक्षिप्त वस्तु है।

योगविंशिकामें आध्यात्मिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाका वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओंका ही वर्णन है।

इसीसे उसमें मुख्यतया योगके अधिकारी त्यागी ही माने गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक-क्रियाको ही योगरूप बतलाकर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है। और उस आवश्यक-क्रियाके द्वारा योगको पाँच भूमिओंमें विभाजित किया है। ये पाँच भूमिकायें उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंबन और निरालंबन नामसे प्रसिद्ध हैं। इन पाँच भूमिकाओंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी घटना करते हुए आचार्यने पहली दो भूमिकाओंको कर्मयोग और पिछली तीन भूमिकाओंको ज्ञानयोग कहा है। इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकामें इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धिरूपसे आध्यात्मिक विकासके तरतम भावका प्रदर्शन कराया है। और उस प्रत्येक भूमिका तथा इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थितिका लक्षण बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है[1]। इस प्रकार उक्त

१ योगविंशिका गा० ५, ६।

पाँच भूमिकाओंकी अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितिओंका वर्णन-करके योगके अस्सी भेद किये हैं, और उन सबके लक्षण बतलाये हैं, जिनको ध्यानपूर्वक देखनेवाला यह जान सकता है कि मैं विकासकी किस सीढ़ीपर खडा हूँ। यही योगविंशिकाकी संक्षिप्त वस्तु है।

उपसंहार—विषयकी गहराई और अपनी अपूर्णताका खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिये किया गया है कि अबतकका अवलोकन और स्मरण संक्षेपमें भी लिपिबद्ध हो जाय, जिससे भविष्यत्में विशेष प्रगति करना हो तो इस विषयका प्रथम सोपान तयार रहे। इस प्रवृत्तिमें कई मित्र मेरे सहायक हुए हैं जिनके नामोल्लेख मात्रसे मैं कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता। उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदयमें अखंड रहेगी।

पाठकोंके प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस निबंधमें अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आये हैं। खासकर अन्तिम भागमें जैन-पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो बहुतोंको कम विदित होंगे उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं किया है, पर खुलासावाले उस उस ग्रन्थके उपयोगी स्थलोंका निर्देश कर दिया है, जिससे विशेषजिज्ञासु मूलग्रन्थद्वारा ही ऐसे कठिन शब्दोंका खुलासा कर सकेंगे।

अगर यह संक्षिप्त निबंध न होकर खास पुस्तक होती तो इसमें विशेष खुलासोंका भी अवकाश रहता।

इस प्रवृत्तिके लिये मुझको उत्साहित करनेवाले गुजरात पुरातत्त्व संशोधन मंदिरके मंत्री परीख रसिकलाल छोटालाल है जिनके विद्याप्रेमको मै नहीं भूल सकता।

संवत् १९७८ पौष
वदि ५
नगर.

लेखक—
सुखलाल संघवी.

॥ अर्हम् ॥

न्यायाम्भोनिधि-श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्-व्यासर्षिप्रणीतभाष्यांशसहित

भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितं

पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

(न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीमद्यशोविजयवाचकवरविहितया जैनमतानुसारिण्या लेशव्याख्ययोपबृंहितम्)

ॐ नमः ॥ ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा वीरं सूत्रानुसारतः ।
वक्ष्ये पातञ्जलस्यार्थं साक्षेपं प्रक्रियाश्रयम् ॥ १ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥१-१॥

तस्य (संप्रज्ञातासंप्रज्ञातरूपद्विविधयोगस्य) लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवर्तते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १-२ ॥

भाष्यम्—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत् परं[1] प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च; सत्त्वगुणात्मिका [2]चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिः इत्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निर्बीजः समाधिः । न तत्र किञ्चित् संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः ।

(य०) सर्वशब्दाग्रहणेऽप्यर्थात्तल्लाभादव्याप्तिः संप्रज्ञात इति "क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योगः" इति लक्षणं सम्यग्, यद्वा "समितिगुप्तिसाधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्" इति त्वस्माकमाचार्याः । तदुक्तम्—"मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो" [योगविंशिका, गा० १]

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १–३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १–४ ॥

---

१ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्त धर्ममेघपर्यन्त ।

२ विवेकख्यातेः बोधकमेतत्पदम् ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ १–५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १–६ ॥

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ १–७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ १–८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ १–९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १–१० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १–११ ॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्य ? इति । ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनः तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी–भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्मभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः

---

१ एतत्पदं मुद्रितपुस्तके न दृश्यते

पुनराविर्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति।

(य०) अत्र विकल्पः शब्दान्नाऽखण्डालीकनिर्भासोऽसत्ख्यात्यसिद्धेः, किन्तु "असतो णत्थि णिसेहो" इत्यादि भाष्यकृद्वचनात्खण्डशःप्रसिद्धपदार्थानां संसर्गारोप एव, अभिन्ने भेदनिर्भासादिस्तु नयात्मा प्रमाणैकदेश एव। निद्रा तु सर्वा नाऽभावालम्बना, स्वप्ने करितुरगादिभावानामपि प्रतिभासनात्। नापि सर्वा मिथ्यैव, संवादिस्वप्नस्यापि बहुशो दर्शनात्। स्मृतिरप्यनुभूते यथार्थतत्तास्वधर्मावगाहिनी, संवादविसंवादाभ्यां द्वैविध्यदर्शनाद्, इति तिसृणामुत्तरवृत्तीनां द्वयोरेव यथायथमन्तर्भावात् पञ्चवृत्त्यभिधानं स्वरुचितप्रपञ्चार्थम्। अन्यथा त्रयोपरागभेदादसङ्ख्यभेदानामपि संभवात्, इत्याईतसिद्धान्तपमार्थवेदिनः।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १–१२॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १–१३॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १–१४॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १–१५॥

---

१ विशेषावश्यकभाष्यगा. १५७९

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १–१६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। तस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते–प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

(य०) विषयदोषदर्शनजनितमापातधर्मसन्यासलक्षणं प्रथमम्, सतत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यम्, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्[1]

त्संप्रज्ञातः ॥ १–१७ ॥

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वा इति.

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।१-१८।

भाष्यम्–सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य

---

१ 'पुरुषदर्शनाभ्या' इत्यपि।

समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते, स चार्थशून्यः । तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः॥

(य०) द्विविधोऽप्ययं अध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति । वृत्तिक्षयो ह्यात्मनः कर्मसंयोगयोग्यतापगमः, स्थूलसूक्ष्मा ह्यात्मनश्चेष्टा वृत्तयः, तासां मूलहेतुः कर्मसंयोगयोग्यता, सा चाकरणनियमेन ग्रन्थिभेदे उत्कृष्टमोहनीयबन्धव्यवच्छेदेन तत्तद्गुणस्थाने तत्तत्प्रकृत्यात्यन्तिकबन्धव्यवच्छेदस्य हेतुना क्रमशो निवर्तते । तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये सम्प्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्यर्थाना सम्यग्ज्ञानात् । तदुक्तम्–" समाधिरेष एवान्यै सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते । सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ १ ॥ " (४१८ यो. बिं.) निर्वितर्कविचारानन्दास्मितानिर्भासस्तु पर्यायविनिर्मुक्तशुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येय(यः),यत्नयमालम्ब्योक्तम्–" का अरई के आणंदे ? इत्थ पि अग्गहे चरे " इत्यादि । क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः, भावमनोवृत्तीना ग्राह्यग्रहणाकारशालिनीनामवग्रहादिक्रमेण तत्र सम्यक्परिज्ञानाभावात् । अत एव भावमनसा सज्ञाऽभावाद् द्रव्यमनसा

---

१ आचाराङ्ग १–३–३ पृ. १५८ का अरतिः क आनन्दः ? अत्रापि अग्रहश्चरेत् ।

च तत्सद्भावात्केवली नोसंज्ञीत्युच्यते । तदिदमुक्तं योगबिन्दौ—
" असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः । निरुद्धाशेषवृत्त्यादि-
तत्स्वरूपानुवेधतः ॥१॥ धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योऽन्योऽप्यैवार्थयोगतः ॥२॥ " (४२०-२१)
इत्यादि । संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपग्राहिकर्माशरूपसंस्कारापेक्षया
व्याख्येयम्, मतिज्ञानभेदस्य संस्कारस्य तदा मूलत एव विनाशात्।
इत्यस्मन्मतनिष्कर्ष इति दिक् । प्रकृतं प्रस्तूयते—

स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रो-
पायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १—१९ ॥

भाष्यम्—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसं-
स्कारमात्रोपगतेन[1] चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार-
विपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधि-
कारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न
पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥

(य०) उपशान्तमोहत्वेनोक्तानां लवसप्तमानां ज्ञानयोगरूप-
समाधिमधिकृत्येदं प्रवृत्तम् । एत[दस्म]न्मतम् ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक
इतरेषाम् ॥ १—२० ॥

---

१ ' मात्रोपयोगेन ' इत्यपि.

तत्राधिमात्रोपायानाम्—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १—२१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ १—२२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १—२३ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १—२४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १—२५ ॥

स एषः—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १—२६ ॥

भाष्यम्—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥

(य०)—अत्र वयं वदामः—कालेनानवच्छेदादिकं नेश्वरस्योपास्यतावच्छेदकम् । सार्वज्ञ्यं तु तथासंभवदपि दोषक्षयजन्यतावच्छेदकत्वेन नित्यमुक्तेश्वरसिद्धौ साक्षिभावमालम्बते । 'नित्यमुक्त ईश्वरः' इत्यभिधाने च व्यक्त एव वदतोव्याघातः, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वाद्बन्धपूर्वस्यैव मोक्षस्य व्यवस्थितेः, अन्यथा घटादेरपि नित्यमुक्तत्वं

दुर्निवारम्। केवलसत्त्वातिशयवतः पुरुषविशेषस्य कल्पने च केवलरजस्तमोऽतिशयवतोरपि कल्पनापत्तिः। कथं चैवमात्मत्वावच्छेदेनानादिसंसारसंबन्धनिमित्ततोपपत्तिः ? । ईश्वरातिरिक्तात्मत्वेन तथात्वकल्पने च गौरवम्। केवलसत्त्वोत्कर्षवदृष्टपुरुषकल्पने च नित्यज्ञानाद्याश्रयो नैयायिकाद्यभिमत एव स किं न कल्प्यते ?, तस्मात्सकलकर्मनिर्मुक्ते सिद्ध एव भवतीश्वरत्वं युक्तम्, उपासनौपयिककेवलज्ञानादिगुणानां तत्रैव संभवात्। अनादिशुद्धत्वश्रद्धापि प्रवाहापेक्षया तत्रैव पूरणीया। यदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः—"एसो अणाइमं चिय सुद्धो य तओ अणाइसुद्धो त्ति। जुत्तो य पवाहेणं ण अन्नहा सुद्धया सम्मं ॥ १ ॥" (अनादिविंशिका. १२) सिद्धानामनेकत्वात् "एक ईश्वरः" इति श्रद्धा न पूर्यत इति चेत्, न, सिद्धेतरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोग्यतिशयत्वरूपस्यैकत्वस्य सिद्धानामनेकत्वेऽप्यबाधात्सङ्ख्यारूपस्यैकत्वस्य चाप्रयोजकत्वात्। गम्यतां वा समष्ट्यपेक्षया तदपि, स्वरूपास्तित्वसादृश्यास्तित्वयोरविनिर्भागवृत्तित्वस्य सार्वत्रिकत्वात्। जगत्कर्तुः सर्वथैकस्य पुरुषस्याभ्युपगमे च जगत्कारणस्य शरीरस्यापि बलादापत्तिः, कार्यत्वे सकर्तृकत्वस्येव शरीरजन्यत्वस्यापि व्याप्तेरभिधातुं शक्यत्वादिति। तस्य च सिद्धस्य भगवत ईश्वरस्यानुग्रहोऽपि योगिनोऽपुनर्बन्धकावस्थोचितसदाचारलाभ एव, न त्वनुजिघृक्षारूपस्तस्या रागरूपत्वात्, तस्य च द्वेषसहचरितत्वात्, रागद्वेषवतश्चेतरवदनाराध्यत्वादिति संक्षेपः ॥ प्रकृतम्—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १–२७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १–२८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।१-२९।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-
विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १–३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-
सहभुवः ॥ १–३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १–३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ १–३३ ॥

भाष्यम्—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् । दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् ।

(य०)–अस्मदाचार्यास्तु–"परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविनाशिनी तथा करुणा । परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १ ॥" इति लक्षयित्वा "उपकारिस्वजनेतरसामान्यगता

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला

ग्रन्थाङ्काः २४६, २८६

(ग्रन्थ संख्या ५०)

॥ श्रीः ॥

सांख्यसंग्रहः

[श्रीषिमानन्द–(क्षेमेन्द्र)–विरचितं 'सांख्यतत्त्वविवेचनम्', श्रीभावागणेशविरचितं 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्', 'सर्वोपकारिण्यभिधकापिलसूत्रटीका', 'सांख्य-सूत्रविवरणाख्य-कापिलसूत्रवृत्तिः', 'श्रीतत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः', यजुर्वित्-केशवविरचिता 'सांख्यार्थतत्त्वप्रदीपिका', कविराजयतिविरचितः 'सांख्यतत्त्वप्रदीपः', आचार्यकृष्णमिश्रकृता 'तत्त्वमीमांसा', 'सांख्यपरिभाषा' च ।]

सम्पादकः

म० म० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी

Vindhyeshwari Prasada Dvivedi

प्रस्तावनारचयिता

श्रीसत्कारिशर्मा वङ्गीयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६९

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१
संस्करण : द्वितीय, सं० २०२६ वि०
मूल्य : १२-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ३१४५

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ३०७६

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES
A
Collection of Rare & Extraordinary Sanskrit Works.
Nos. 246, 286
(Work No. 50)

SĀṂKHYA-SAṄGRAHA

A Collection of nine works on the Sāṃkhya Philosophy, viz. Sāṃkhyatattvavivecana of Śrī Ṣimānanda (Kṣemendra), Sāṃkhyatattvayāthārthyadīpana of Śrī Bhōvāgaṇeśa, Sarvopakāriṇī Commentary on the Sūtras of Kapila, Sāṃkhyasūtravivaraṇa, Tattvasamāsa-sūtravṛtti, Sāṃkhyārthatattvapradīpikā, Sāṃkhyatattvapradīpa of Kavirāja yati, Tattvamīmāṃsā of Ācārya Kṛṣṇa Miśra and Sāṃkhya-paribhāṣā.

EDITED BY
M. M. VINDHYEŚVARĪ PRASĀDA DVIVEDĪ

WITH
AN INTRODUCTION BY
ŚRĪ SATKĀRIŚARMĀ VAṄGĪYA

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

Publisher : The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.
Printer : Vidyavilas Press, Varanasi-1
Edition : Second, 1969.
Price : Rs. 12-00

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office
Publishers and Oriental & Foreign Book-Sellers
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

Am
B132
.S3D84
1969

भूमिका

मनुस्मृतौ—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ च—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ॥
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ इति ।

विष्णुपुराणादौ—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति च त्रयम् ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥ इत्यादि ।

अत्र चतुर्दशविद्यासु अष्टादशविद्यासु वा सांख्यशास्त्रस्य नामापि नास्तीति न्यायस्यानेकात्मप्रतिपादकत्वादनेकात्मप्रतिपादकानि वैशेषिकसांख्ययोगादीनि शास्त्राणि न्यायविस्तरपदेन संगृहीतानि भवन्तीति हृदयम्, तथात्वे छान्दोग्योपनिषदि तृ० प्रपाठके सप्तदशखण्डे "तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच" इति। भगवता श्रीकृष्णेन तु भगवद्गीतायाम् पञ्चमाध्याये—

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ इति ।

चतुर्थाध्याये—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥ इति ।

अपि च श्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठाध्याये—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥ इति ।

अत्रेदं न भ्रमितव्यं यत् तदानीं कापिलं सांख्यं नासीदेव पञ्चमाध्याये-ऽत्रैवोपनिषदि "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे" इत्युक्तत्वात्। देवकीपुत्रेण भगवता श्रीकृष्णेन भगवद्गीतायाम् दशमाध्याये "सिद्धानां कपिलो मुनिः" इत्युक्तत्वात्। इत्थं च कापिलं सांख्यशास्त्रमतीव श्रद्धेयम्। तच्च सांख्यं सूत्र-षडध्यायी समाससूत्रं चेति द्विविधमुपलभ्यते अस्योपाख्यानं समाससूत्रसर्वो-पकारिणीटीकायामुक्तमपि च समाससूत्रनाम्नापि द्वैविध्याश्चर्यशङ्कानिरासः तत्र सूत्रषडध्याय्याः भाष्यं वृत्तिश्च प्रकाशितमेव अन्येऽपि सांख्यतत्त्वकौमुदीसांख्य-चन्द्रिकागौडपादभाष्यादयोऽनेके ग्रन्थाः प्रकाशिताः परं तु—

समाससूत्रमालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च।
भावागणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्॥

इत्युक्त्या महर्षिकपिलप्रशिष्यपञ्चशिखाचार्यो[1]नुसृतोऽपि समाससूत्र-ग्रन्थ इदानीं लुप्तप्रचार इति तस्य बहूनि व्याख्यानानि[2] सङ्कलय्यास्मिन् सांख्यसंग्रहे प्रकाशयितुं प्रवृत्तोऽस्मि। अत्र केचिद्वदन्ति समाससूत्रमेव महर्षिकपिलप्रणीतं सांख्यशास्त्रं सूत्रषडध्यायी तु विज्ञानभिक्षुणैव प्रणीतेति। तन्मन्दम्, विज्ञानभिक्षुसमयाद्बहु पूर्वं भोजराजेन षडध्याय्या व्याख्यातत्वाद् विस्तरस्तु न्यायवार्तिकभूमिकायां द्रष्टव्य इति शम्।

गवर्नमेन्टसंस्कृतकालेज
सरस्वतीभवन बनारस
२६ मई १९१६ ई०

—विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी

१. कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः॥ इति सांख्यतत्त्वकौमुद्याम्।

२. सांख्यतत्त्वविवेचनम् श्रीषिमानन्द (क्षेमेन्द्र) विरचितम्।
सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् श्रीभावागणेशविरचितम्।
समाससूत्रसर्वोपकारिणी टीका। कापिलसूत्रवृत्तिः। तत्त्वसमाससूत्रव्याख्या। तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः। सांख्यसूत्रप्रक्षेपिका। एतानि व्याख्यानानि।
प्रसङ्गादन्येऽपि ग्रन्थाः संगृहीता यथा—सांख्यतत्त्वप्रदीपः। तत्त्वमीमांसा। सांख्यपरिभाषा।

प्रस्तावना

दुःखपरिहाराय सुखाप्तये च जीवमात्रस्य प्रवृत्तिः स्वाभाविकी। वस्तुतः सर्वविधदुःखानामात्यन्तिकमैकान्तिकं च प्रहाणमेव सुखमिति सर्वशास्त्राणाम-वितथः सिद्धान्तः। दुःखेषु चानेकविधेषु जरामरणादिपरिपूरितेऽस्मिन्नतिकराले संसारचक्रे भूयोभूयः परिक्रमणं नाम कष्टतमम्, अतस्तस्मात् परित्राणमेव सर्वदुः-खनिवृत्युपाय इत्यत्रापि न कस्यचिच्छास्त्रस्य विप्रतिपत्तिरवलोक्यते। संसारचक्र-भ्रमणाज्जीवात्मनस्तदेव परित्राणं मोक्षो मुक्तिर्निःश्रेयसं निर्वाणमित्यादि-परिभाषाभिर्व्यपदिश्यते। यद्यपि मोक्षस्वरूपं तत्प्राप्त्युपायश्च संहिताद्युपनिषदन्तासु श्रुतिषु बहुधा प्रतिपादितौ तथापि मुमुक्षूणां स्वस्वजन्मान्तरीणसुकृतादिजन्याधिका-रभेदाद् रुचिवैविध्याच्च गच्छति काले मार्गभेदः समजनि, श्रुतिविहितमननानु-कूल्याय चोहापोहद्वारेण तत्त्वनिर्णयार्थं दर्शनाभिधमोक्षशास्त्राणामपि प्रवृत्तिरभूत्।

मोक्षशास्त्राणां दर्शननाम्नाऽभिहितत्वे किं निदानमित्यत्र विद्वद्भिर्बहुधा विमृष्ट-पूर्वम्। दर्शनशब्दस्य 'दृशिर् प्रेक्षणे'[3] इति धातोः "करणाधिकरणयोश्च"[4] इति सूत्रेण करणवाच्यविहितल्युटा निष्पन्नत्वाद् दृश्यते प्रेक्ष्यते स्वरूपतयाऽवलोक्यतेऽ नेनेति चक्षुरिति लौकिकोऽर्थः। शास्त्रे तु 'दृश्यते' यथार्थतत्त्वमनेनेत्यस्मिन्नर्थे परिभाषितत्वाद् दर्शनशब्द ऊहापोहद्वारेण तत्त्वनिर्णयपरे शास्त्रविशेषे रूढ इति न काऽपि विप्रतिपत्तिः। कामं प्रस्तुतेऽर्थे दर्शनशब्दस्य प्रयोगो न सुतरां प्राचीनस्तथापि शुक्लयजुर्वेदगतो 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।[3] इति मन्त्र एव दर्शनशब्दस्य प्रयोगे निदानमिति केचिन्मन्यन्ते। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'[4] 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'[5] इति वा श्रुतय इत्यन्ये। वैदिकसमये तत्त्वविद्याया आप्तोपदेशमात्रत्वे दर्शनशब्दस्य प्रयोगो नासीत् किन्तु तत्त्वज्ञानविषयके विचारशास्त्रे प्रवृत्त एवायं दर्शनशब्दो व्यवहार-पदमभजतेति निश्चप्रचमेव। वस्तुतस्तु साक्षात्कृतधर्मभिर्ऋषिभिर्मनीषिभिर्वाऽ-

१. पा० धा० ९८८।
२. पा० ३।३।११७।
३. शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिता, ४०।१५।
४. बृहदारण्यकोपनिषत्, २।४।५
५. मुण्डकोपनिषत्, २।२।९

नुभूतस्य तत्त्वविशेषस्य तर्केण प्रतिपादनपरं शास्त्रमेव दर्शनमिति[1] परिभाषा वेदान्तादिनास्तिकपर्यन्तदर्शनशास्त्रेषु सामान्यतया संगच्छते। अतः सांख्य-दर्शनमेव दर्शनपदवाच्यं नान्यद् वेदान्तादिकमिति यत् केनचिन् नवीनालोचक-प्रकाण्डेनोक्तं तत्तु प्रौढिवादमात्रम्।

भारतवर्षीयं दर्शनशास्त्रं मुख्यतया द्विधा विभज्यते—आस्तिकदर्शनं नास्तिक-दर्शनं चेति। एतत्रावधेयं यत् प्राचामाचार्याणां मतेन वेदप्रामाण्याङ्गीकरणमेव आस्तिकलक्षणम्, तद्विरुद्धत्वमेव नास्तिकत्वम्। अतः सांख्ययोगन्यायवैशेषिक-मीमांसावेदान्तशास्त्राणीति षडास्तिकदर्शनानि, तदितराणि बौद्धजैनचार्वाकादीनि नास्तिकदर्शनानीत्यभिधीयन्ते।

सांख्यदर्शनस्य महिमा

इदानीमुपलभ्यमानेषु आस्तिकदर्शनेषु सांख्यदर्शनमेव प्राचीनतममित्यत्र प्रायेण सर्वेषामेव विपश्चितामैकमत्यम्। दर्शनान्तरेभ्यः सांख्यस्य प्राचीनत्वे किं मानं तद्वयमग्रे विस्तरेण विमर्शयिष्यामः। इदानीं प्राचीनार्षग्रन्थेषु बहुकृत्वः समुल्लिखितः सांख्यदर्शनस्य महिमा समासतः पर्यालोच्यते। सांख्यशास्त्रं महर्षिणाऽऽदिविदुषा कपिलेन प्रवर्तितमिति न कस्यापि तिरोहितम्। स तु महर्षिः कपिलः श्रुतिष्वपि परमादरेण स्तुत इत्यहो ऋषेरस्य लोकातिशायी महिमा। यथा च श्रूयते श्वेताश्वतरोपनिषदि—

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्।' इति।[2]

सांख्यशास्त्रमपि तत्रैवोपनिषदि नाम्ना समुल्लिखितम्।[3] तदनन्तरं च महर्षिकृष्ण-द्वैपायनकृते श्रीमन्महाभारते सांख्यशास्त्रस्य मुक्तकण्ठं प्रशंसा दरीदृश्यते। तत्र सांख्यज्ञानं न केवलं यथार्थज्ञानतया प्रशस्यतमज्ञानतया[4] वा स्तुतमपि तु अखिलमेव तत्त्वज्ञानं सांख्यागतमिति उद्घोषितम्।[5] महाभारतस्य सारभूतायां

१. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, London 1929, Vol. I, pp. 43–44.

२. श्वेताश्वतरोपनिषत्, ५।२।

३. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामम्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥—तत्रैव, ६।१३।

४. नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।—महाभारतम्, शान्ति पर्व, ३०४।२।

५. ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्।—महाभारतम्, शान्तिपर्व, २९०।१०४।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्यपि सांख्यशास्त्रं सुमहता समादरेण समुल्लिखितम्। यथा—

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'[1]
'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥'[2]
'अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।'[3]

इत्येवमादीनि।

यद्यपि प्राचीनाचार्यैः कृतेषु भाष्यटीकादिषु गीतोक्तसांख्यशब्दस्य परमार्थवस्तु-विषयकज्ञानमित्येवंरूपमर्थमवलोक्य[4] केचिदत्र पर्यवतिष्ठन्ते—गीतायां विशेषेण सांख्यशास्त्रस्य प्रशंसा नास्ति किन्तु सामान्यतया आत्मज्ञानस्यैव महिमा श्रीभगवता कीर्तित इति, तथापि तत्र सांख्येत्यस्य परमार्थज्ञानेन सह पर्यायतया परोक्षतः सांख्यस्यैव गौरवमङ्गीकर्तुं शक्यते। वस्तुतो यद्यपि सांख्यशब्दस्य प्रायेण 'ज्ञानापेक्षः संन्यासः'[5] इत्येवमर्थः भाष्यकृतां श्रीमच्छंकराचार्यपादानामभिप्रेत-स्तथापि तस्य सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वपरत्वमपि तत्रभवद्भिर्न सर्वथा निरस्तमिति

१. श्रीमद्भगवद्गीता, २।३९।

२. तत्रैव, ५।५।

३. ,, १३।२४।

४. 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इत्यादिश्लोकस्थसांख्यपदं व्याख्यातार इत्थं व्याकुर्वते—
"सांख्ये परमार्थवस्तुविवेकविषये···" इति भगवच्छङ्कराचार्याः।
"सांख्ये, सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या उपनिषत्, तत्र विदिते सांख्ये औपनिषदब्रह्मणि विषये·····" इति महाभारतटीकाकर्ता नीलकण्ठसूरिः।
"सांख्ये सम्यक् ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत् तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्यः। औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः।"—इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्रताः श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीपादाः।
"सम्यक्ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या सम्यग्ज्ञानं तस्मिन् प्रकाशमान-मात्मतत्त्वं सांख्यम्·····" इति श्रीधरस्वामिपादाः।
"संख्या बुद्धिः। बुद्ध्याऽवधारणीयमात्मतत्त्वं सांख्यम्···" इति श्रीमद्भगवद्रामानुजा-चार्याः। किन्त्वत्र 'सांख्यशब्देन सांख्यशास्त्रमेव ग्राह्य न पुनरर्थान्तरं कल्पनीयम्' इति विज्ञानभिक्षुचरणानां विमर्शः (सांख्यप्रवचनभाष्योपोद्घातः)

५. "सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिः···ज्ञानापेक्षस्तु संन्यासः सांख्यम् इति मयाऽभिप्रेतः।···"
श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यम्, ५।५।

त्रयोदशाध्यायवर्तिचतुर्विंशश्लोकस्य भाष्यदर्शनादवगम्यते।[1] किं पुनः श्रीमद्भगवद्-गीतासु स्वयं सांख्यकर्ता महर्षिः कपिलः सिद्धश्रेष्ठत्वेन स्मृतः।[2] श्रीमद्भागवत-महापुराणेऽपि सांख्यकृतः परमर्षेः कपिलस्य भगवदवतारत्वकथनात् परोक्षतया सांख्यस्यैव महिमा समुद्घोषितः।[3]

परमर्षेः कपिलस्य भगवदवतारत्वं न केवलं श्रीमद्भागवत एव अपितु महाभार-तेऽपि कृष्णद्वैपायनव्यासेनोपवर्णितम्। यथा च तत्र स्मर्यते—

'योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिषूदनः।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः॥'[4]

अथवा, 'वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम्।'[5]

श्रीमद्रामायणेऽपि भगवता वाल्मीकिना कपिलर्षेरवतारत्वमुररीकृतम्।

तथा चोक्तम्—

'यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः।
महिषी माधवस्यैषा स एष भगवान् प्रभुः॥
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम्।'[6]

पुराणानि च पुनः सांख्यदर्शनस्य महिमवर्णनेन परिपूरितान्येव दृश्यन्तेऽ-तस्तेभ्यो विशिष्टोदाहरणेनालमिति तस्माद्विरम्यते।

आयुर्वेदशास्त्रेऽपि सांख्यदर्शनस्य समादरपूर्वकः समुल्लेखो दृश्यते।

---

१. 'अन्ये सांख्येन योगेन, सांख्यं नाम—इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्योऽन्यस्तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनम् एव सांख्यो योगस्तेन पश्यन्ति।'

२. सिद्धानां कपिलो मुनिः।—१०।२६।

३. वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया। भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने॥
—श्रीमद्भागवतम्, ३।२५।१६।

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये साख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥
—तत्रैव, १।३।१०।

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः। लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥
—तत्रैव, ३।२५।१९।

४. महाभारतम्, वनपर्व, ४७।१८।

५. तत्रैव, १०७।३२-३३।

६. श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्, बालकाण्डः, ४०।२-३।

स्वयं महर्षिश्चरकोऽपि सांख्यानुयायिन इत्थमस्तौत्,

'अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥'[1]

किं बहुना, इदानीन्तना अनेके पाश्चात्यविद्वांसो भारतीयाश्च मनीषिप्रकाण्डाः सांख्यदर्शनमादिदर्शनशास्त्रतया दर्शनानन्तराकरत्वेन विचारस्वान्तन्त्र्यप्रवर्तकत्वेन च मुक्तकण्ठं प्रशंसन्ति।[2]

सांख्यशब्दनिरुक्तिः

कपिलप्रवर्तितं प्रकृतिपुरुषतत्त्वनिरूपणपरमिदं तन्त्रं स्मरणातीतकालत एव सांख्यनाम्नाऽभिधीयते। किन्तु का नाम सांख्यशब्दस्य निरुक्तिः को वा पुनस्तया

---

१. चरकसंहिता, शारीरस्थानम्, १।१५१।

२. तासां सर्वासां प्रशंसापराणामुक्तीनां संग्रहेण कश्चिन्महाकायो ग्रन्थ एव सम्पद्येत। अतोऽत्र दिङ्मात्रमेव दर्श्यते।

क. स्वामिविवेकानन्दपादा आहुः ".....I want this to be clear because it is the first stepping stone to *Vedanta*, and it is absolutely necessary for you to know, because this is the basis of the different systems of philosophy of the whole world. There is no philosophy in the world that is not indebted to Kapila, the founder of the *Samkhya* system.....This was the first rational system that the world saw, this system of Kapila. Every metaphysian in the world must pay homage to him, and respect what he said."—*The Science and Philosophy of Religion*, Seventh Edition, Calcutta 1961, p. 28.

ख. तथा चोक्तं शार्मण्यदेशीयेन भारतीयदर्शनशास्त्रवेत्रा रिचॉर्ड गार्वे इतिनाम्ना विद्वत्प्रकाण्डेन,—"In Kapila's doctrine for the first time in the history of the world, the complete independence and freedom of human mind, its full confidence in its own powers, were exhibited."—*Philosophy of Ancient India*, p. 44. अथवा ".....the most significant system of philosophy that India has ever produced."—*The Sāṁkhya-pravacana-bhāṣya*, HOS, Vol. II, Second Edition, Harvard 1943, p. XIV.

निरुक्त्या साकं कापिलतन्त्रस्य सम्बन्ध इत्यस्यां जिज्ञासायामिदानीन्तनानां विपश्चितामन्योन्यं भूयान् मतभेदो विद्यते। 'संख'-नामा आचार्य आसीत्, तेनैव प्रवर्तितत्वात् सांख्यमिति प्रसिद्धिरिति चीनपरम्परानुसारिमतं नोपपत्तिसहं सांख्यशास्त्रस्य श्रुतिपुराणेतिहासेषु कपिलकृतत्वेन प्रसिद्धत्वात्, तत्र तत्र शास्त्रेषु कुत्रापि संखाचार्यनाम्नोऽश्रवणाच्च। वस्तुतः 'सांख्य'-शब्दोऽयं 'संख्या'-शब्दाद् अण्-प्रत्ययनिष्पन्न इत्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। किंतु 'संख्या'-शब्दस्य तात्पर्यमाश्रित्यैव मतभेदः प्रवर्तते। 'संख्या' इति तु सम्पूर्वस्य ख्याधातोः[1] चक्षिङ्धातोर्वा[2] अङि टापि च रूपम्। ख्याधातोश्चक्षिङ्धातोर्वाऽर्थनिर्देशस्य स्पष्टत्वेऽपि उपसर्गेण धात्वर्थस्य बलादन्यत्रनीतत्वात्, प्रस्तुतस्थले तात्पर्यग्रहो न सुकरः। संख्याशब्दस्तु गणनापर्यायतया लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः। अतोऽनेकैर्विद्वद्भिः सांख्यशब्दमूलीभूतस्य संख्याशब्दस्य एकद्विक्रमेण गणनरूपं मुख्यार्थमङ्गीकृत्य प्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां संख्या यस्मिन् शास्त्रे विहिता तत्सांख्यमिति निश्चीयते। कण्ठतः संख्योल्लेखेन तत्त्वानां परिगणनं सर्वेष्वेवेदानीमुपलभ्यमानेषु सांख्यग्रन्थेषु दृश्यत एव। यथा—

१. तत्त्वसमाससूत्रे—

'अष्टौ प्रकृतयः (१)', 'षोडश विकाराः (२)', 'त्रैगुण्यम् (४)' इत्येवमादीनि,

२. सांख्यप्रवचनसूत्रे—

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः (१।६१)', इति

३. ईश्वरकृष्णकृतसांख्यकारिकायाम्—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' ॥ ३ ॥
'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥' २२ ॥

इत्येवमादीनि च। अतः सांख्यदर्शनतत्त्वविचारपरिपाट्या परिगणनरूपसंख्यायाः कोऽपि सम्बन्धो न सहसा निराकर्तुं शक्यते।

किन्तु सांख्यशब्दमूलीभूतसंख्याशब्दस्य प्रागुक्तरूपं परिगणनार्थं गौणं मन्वानाः संख्याया विवेकज्ञानादिरूपमर्थमेव मुख्यं समर्थयन्ते, पूर्वोक्तसंख्यार्थ-

१. ख्या प्रकथने, पा० धा० १०६०।

२. चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, पा० धा० १०१७।

वादिन आक्षिपन्ति चेदानीं केचित्[1]। श्रीमद्भगवद्गीतागतसांख्यशब्दस्य व्याख्यानावसरे प्रायः सर्व एवाचार्या भाष्यटीकाकर्तारः सांख्यशब्दस्य विवेकज्ञानमेवार्थमङ्गीकुर्वन्तीति त्वस्माभिः प्रतिपादितपूर्वम्। इदानीं शास्त्रान्तरेषु स्थितां सांख्यशब्दनिरुक्तिं समासेन विमृशामः। श्रीमन्महाभारते तूक्तम्[2]—

'सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम्।
सांख्यं[3] प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥' इति।

अत्र महाभारतीयश्लोके सांख्यशब्दप्रकृतिभूतः संख्याशब्दः (पाठान्तरानुसारं साक्षात्पठितो वा संख्याशब्दः) विवेकज्ञानपरतयैव प्रतिभाति। स्वयं महर्षिणा कृष्णद्वैपायनेनान्यत्रापि संख्याशब्दतात्पर्यमित्थमुदाहृतम्—

'दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागशः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥'[4] इति।

१. 'मध्यकाल के कुछ व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणना-परक समझकर इस प्रकार के व्याख्यान (भागवतम्, ३।२५।१ तमश्लोकस्य श्रीधरस्वामिकृतटीकायां 'तत्त्वानां संख्याता गणकः सांख्यप्रवर्तकः' इत्यर्थः) [कोष्ठकान्तर्गतांशस्थापनं तु मम भूमिकाकर्तुः] किये हैं। वस्तुतः इसका अर्थ 'तत्त्वज्ञान' है।

—पं० श्रीउदयवीरशास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ६ पादटीका।

सांख्यशब्देन पञ्चविंशतितत्त्वरूपमर्थं ग्रहीतॄन् भास्कराचार्यादीन् प्रकाममाक्षिप्य स्वयं ८६४०००००० संख्याकक्षराक्षरपुरुषत्वं निरूपयन्तो मूलोच्छेदिनं पाण्डित्यप्रकर्षं प्रकटीकुर्वन्ति केचिन्नवीनाः।

२. महाभारतम्, शान्तिपर्व, २९४।४१–४२ (भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरसंस्करणम्)।

३. अत्र 'संख्याम्' इति पाठान्तरमाश्रित्य डॉ० आद्याप्रसादमिश्रप्रमुखैर्विद्वद्भिः सांख्यशब्दनिरुक्तिनिरूपणाय बहु विमृष्टम्। किन्तु प्रागुक्तपरिशुद्धसंस्करणे, चित्रशालामुद्रणालयप्रकाशिते च संस्करणे 'संख्याम्' इति पाठो नास्माभिरुपलब्धः। प्रथमत्र 'सांख्यम्' इति उत्तरत्र तु 'सांख्याः (प्रकुर्वते)' इति च पाठौ। वस्तुतः पाठभेदोऽयं प्रस्तुतस्थले सांख्यशब्दस्य यौगिकार्थनिर्णयं दुष्करतरं विदधाति। द्रष्टव्यम्—डॉ० आद्याप्रसादमिश्रः, सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, इलाहाबाद, १९६७, पृ० ५।

४. महाभारतम्, शान्तिपर्व, ३०८।८२।

किन्तु 'सांख्यं प्रकुरुते' इत्यादिश्लोकस्योत्तरार्धस्थितेन 'तत्त्वानि च चतुर्विंशत्' इत्यनेन पूर्वार्धगतं 'प्रचक्षते' इति क्रियापदं संगमय्य चतुर्विंशतितत्त्वप्रख्यापनात् सांख्यास्तथा प्रकीर्तिता इति तात्पर्यपर्यवसानेन तत्रापि परिगणनरूपस्यार्थस्य न सम्यक् तिरस्कारः सम्भवति। अतो महाभारतकर्तुर्मतेन सांख्यशब्देन ज्ञानं परिगणनमित्युभयमेव ग्रहणीयमिति विश्वसिमः, येन

'सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।'[1]

इत्यादि पुराणवचनमपि सर्वथा संगच्छेत। श्रीमद्भागवतपुराणे सांख्यप्रवक्ता भगवदवतारः कपिलर्षिस्तत्त्वसंख्यातृत्वेनोक्तः[2]। 'तत्त्वसंख्याता' इत्यस्य व्याख्यावसरे श्रीधरस्वामिपादास्त्वाहुः—'तत्त्वानां संख्याता गणकः·····' इति। यद्यपि पण्डितश्रीमदुदयवीरशास्त्रिमहाशयास्तदर्थं श्रीधरस्वामिपादानाक्षिपन्ति तथापि अत्र स्वामिपादाः श्रीमद्भागवतकर्तुराशयं नातिवर्तन्त इति प्रतिभाति। श्रीमद्भागवतकाराणां मतेन सांख्यं तत्त्वाम्नायपरम्।[3] आम्नायपदस्य एकैकशः परिगणनार्थस्वीकारे न कापि हानिः प्रसिद्धिपरित्यागो वा, 'अइउण्' इत्यादि वर्णक्रमोपदेशपरस्य शिवसूत्रजालस्य पाणिनीयनये वर्णसमाम्नायशब्देन प्रसिद्धेः। पुनश्च 'संख्याता गणकः' इति पर्यायकथनस्य पुष्टिः श्रीमद्भागवतादपि सुष्ठु सम्भवति। तत्र तृतीयस्कन्धे षड्विंशाध्याये—

'यत्तद्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥ १०॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥ ११॥
महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे॥ १२॥
इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते॥ १३॥

१. मत्स्यपुराणम्, ३।२९ (गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलिकाता १९५४)।
२. श्रीमद्भागवतम्, ३।२५।१।
३. विदितार्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम्॥—तत्रैव, ३।२५।३१।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया'॥ १४॥

इत्येतेषु श्लोकेषु सुव्यक्तं संख्यावाचकैः शब्दैः सांख्योक्ततत्त्वानां परिगणनं कृत्वाऽनन्तरश्लोकेनाह—

'एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
संनिवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः'॥ १५॥

अतः 'संख्याता' इत्यस्य 'गणकः' इत्ययमर्थो, मूलकाराणां सर्वथा सम्मत एव। अत एवेदं पर्यवस्यति—परिगणनार्थसंख्याशब्दात् सांख्यशब्दनिष्पत्तिर्भागवतकृतां सम्मता।

वस्तुतस्तु, कापिलतन्त्रे प्रकृतिपुरुषादिविचारार्हतत्त्वानां पूर्वमनिश्चितसंख्याकानामिदंप्रथमतया निश्चयेन परिगणनात् संख्याशब्दस्य मुख्यार्थमादाय तत्तन्त्रं सांख्यनाम्ना प्रसिद्धिं जगाम। तदनन्तरं सांख्यशास्त्रस्योत्कृष्टज्ञानप्रतिपादकत्वेन प्रसिद्धौ जातायमुपचारेण लक्षणया च सांख्यसंख्यादिशब्दा अपि तत्त्वज्ञानाद्यर्थेषु रूढिमभजन्तेति न काऽपि असङ्गतिः।

सांख्यप्रवर्तकः

एतत्त्वस्माभिरालोचितपूर्वं यन्महर्षिः कपिल एव सांख्यप्रवर्तकतया श्रुतिस्मृतीहासेषूल्लिख्यते। महर्षेः कपिलस्य सांख्यप्रवर्तकत्वे भारतीय शास्त्रपरम्परासु कुत्रापि विप्रतिपत्तिर्नावलोक्यते। किन्तु श्रुत्यादिशास्त्राणामकुण्ठितमैकमत्यमपि नवीनेतिवृत्ततत्त्वपरिशीलिनां सन्तोषाय न सम्पद्यते, नोचेत् तादृशमैकमत्यञ्चेत् मुद्राऽभिलेखादि स्थूलप्रमाणान्तरेण समर्थ्येत। ईदृशीं प्रामाण्यबुद्धिं प्रातःस्मरणीयाः परमगुरुवर्या महामहोपाध्यायश्रीहरप्रसादशास्त्रिचरणाः[1] प्रस्तरीरप्रमाणशब्देनोपहसन्ति स्म। इदानीं तु वयं सांख्यस्य कपिलकर्तृत्वे सर्वशास्त्राणां सम्मतिं पर्यालोचयिष्यामः।

परमर्षेः कपिलस्य नामधेयमिदंप्रथमतया श्वेताश्वतरोपनिषद्येवोट्टङ्कितमवलोक्यते। श्रूयते च तत्र—

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येदिति।' इति।[2]

अनेन मन्त्रेण कपिलस्यादिविद्वत्त्वं ध्वन्यते यत् खलु उत्तरकाले पुराणेतिहासेषु बहुधा पल्लवितमवलोक्यते। कामं मन्त्रस्यास्य व्याख्यानावसरे श्रीभगवच्छङ्कराचा-

१. 'पाथुरे प्रमाण' इति वङ्गीयशब्दस्तत्रभवद्भिः प्रयुज्यते स्म।
२. ५।२।

र्यपादाः 'कपिलं कपिलकनकवर्णं·····हिरण्यगर्भम्' इत्यादिना कपिलस्य हिरण्यगर्भत्वं प्रतिपादयन्ति यदाधारेण कीथप्रभृतयश्च नवीना नायं मन्त्रः सांख्यप्रवर्तकं स्पष्टतयोल्लिखतीति संशेरते,[1] किन्त्वेतदपि न विस्मर्तव्यं यत्तत्रैव कपिलस्य ऋषिविशेषत्वं भाष्यकर्त्रा न निराकृतं प्रत्युत भङ्ग्यन्तरेण कपिलर्षेरेव हिरण्यगर्भत्वमनेकपुराणवचनोद्धारेण प्रतिपादितम्। सांख्यकर्तुः कपिलस्य हिरण्यगर्भेतिनामान्तरमपि बहुप्रसिद्धम्। यथा चोक्तं पाताञ्जलयोगदर्शनभास्वतीटीकाकर्त्रा हरिहरानन्दारण्यस्वामिपादेन[2]—'भगवतः कपिलस्यापि धर्मज्ञानादिनां सहजातत्वात् स श्रद्धावद्भिर्ऋषिभिर्हिरण्यगर्भाख्यया पूजित इति तस्यापि हिरण्यगर्भसंज्ञा···" इति। स्वामिपादस्य सिद्धान्तोऽयं सर्वथा महाभारतानुकूल एव। यथा च स्मर्यते—

'कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः॥
हिरण्यगर्भो द्युतिमानेष यश्छन्दसि स्तुतः।'[3] इति

---

१. "The idea that in this verse we are to see the first mention of the founder of the Sāṁkhya as a real person is too fantastic to be seriously upheld though it is not at all unlikely."
—A. B. Keith, *The Sāṁkhya System*, Second edition, Calcutta1949, p. 9.
किन्तु एतदप्यत्रावधेयं यत् कपिलस्यानैतिहासिकत्वकथनदोषेण पं० श्रीउदयवीरशास्त्रिमहाशयेन (सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० २१) तथा तदनुसारिणा डॉ० आद्याप्रसादमिश्र-महाभागेन (सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० ५२) कीथमहोदयस्योपरि यावानाक्षेपः कृतः कीथमहोदयस्तु न तस्य भाजनमिति मन्यामहे। वस्तुतः कीथमहोदयः शांकरभाष्यस्थव्याख्यानद्वयस्यैवाधारेण संशयानः पुनरपि अनुपदमेव मन्त्रेऽस्मिन् सांख्यप्रवर्तककपिलर्षेरुल्लेखस्य सम्भावनामपि अङ्गीकुर्वन्ति—
".....though it is not unlikely that the origin of the doctrine of Kapila as the founder of Sāṁkhya is to be traced to this passage."

२. साङ्गं योगदर्शनम्, काशीसंस्कृतसीरिजपुस्तकमाला ११०, वाराणसी १९३५, पृ० १।

३. महाभारतम्, पुण्यपत्तनस्थ-भण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरेण प्रकाशितम्, शान्तिपर्व, ३३०।३०–३१।

अथवा,

'सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः॥'[1] इति च।

वस्तुतस्तु सांख्यप्रवर्तकस्येदं हिरण्यगर्भेतिनामान्तरं बहोः कालात्परमपि परम्परया स्मर्यते स्म। येन सांख्यमतप्रतिपादिकाया ईश्वरकृष्णकृतायाः सांख्यकारिकायाः 'हिरण्यसप्ततिः' सुवर्णसप्ततिः,[2] 'कनकसप्ततिः' इत्येवमादीनि नामानि अभूवन्।[3] अस्तु प्रकृतमिदानीमनुसरामः।

कपिलस्य सांख्यसिद्धान्तप्रवर्तकत्वे महाभारतीयं प्रमाणमस्माभिरुपन्यस्तपूर्वम्, तन्निरासकं च किमप्यन्यदूरीयः प्रमाणान्तरं न वयं पश्यामः। श्रीमद्भागवतेऽपि महर्षिकपिल एव सांख्यप्रवक्तृत्वेनोक्तः। गरुडपुराणे सिद्धेशेन कपिलेनासुरये सांख्योपदेशः स्मर्यते। तत्र तु कपिलस्य विष्ण्ववतारत्वमपि वर्णितम्।[4] तथैव [5]मत्स्य–स्कन्द-विष्णुपुराणादिष्वपि कपिलस्य सांख्यकर्तृत्वं बहुधा प्रपञ्चितम्।

न केवलं पुराणेतिहासादिष्वेव स्मर्यते अपि तु सर्व एव सांख्यशास्त्रीयग्रन्थकर्तारो विविधसांख्यशास्त्रीयग्रन्थानां टीकाकर्तारोऽपि शास्त्रप्रवर्तकत्वेन महर्षिकपिलमेव ऐकमत्येन स्मरन्ति। सांख्यप्रवचनसूत्रसांख्यतत्त्वससासूत्राख्यग्रन्थद्वितयस्य प्राचीनत्वे यद्यपि नवीनानां विप्रतिपत्तिर्दृश्यते (विषयमिममग्रे विमर्शयिष्यामः) किन्तु ईश्वरकृष्णकृतकारिकाग्रन्थानां प्राचीनत्वे न संशीतिर्लेशतोऽपि वर्तते। स तु सांख्यकारिकाकारः श्रीमदीश्वरकृष्णाचार्यः सांख्यशास्त्रस्य आद्याचार्यं भक्तिवशात् प्रख्यातत्वाच्च न नाम्ना किन्तु मुनिपरमर्षिशब्दाभ्यां स्म-

---

१. तत्रैव, ३३७।६०।

२. निघण्टौ 'हिरण्यं' 'कनकं' 'काञ्चनम्' इत्येवमादीनि पर्यायतया पठितानि (१।२)।

३. सांख्यकारिकायाः परमार्थनाम्ना बौद्धभिक्षुणा चीनभाषायामनूदितायां टीकायां मूलकारिकाभागस्य 'सुवर्णसप्ततिशास्त्रम्' इति नामधेयमवलोक्यते। द्रष्टव्यम्—
N. Aiyaswami, *Sāṁkhya Kārikā Saptati af Īśvarakṛṣṇa with a Commentary reconstructed into Sanskrit from the Chinese Translation of Paramārtha*, Tirupati 1944.

४. पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥—गरुडपुराणम्, १।१।१८।

५. सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते। ३।२९।
सांख्याचार्यो हि मतिमान् कपिलो ब्राह्मणो वरः। १७०।४।

रति[1]। किन्तु तस्य मुनिपरमर्षिशब्दाभ्यां कपिल एवाभिप्रेत इत्यत्र तु सर्वेषां तदीयटीकाकर्तॄणामैकमत्यम्।[2] अतः कपिलस्य महर्षेः सांख्यप्रवर्तकत्वं सर्वथा भारतीयपरम्परासिद्धम्, अकारणं संशयानैः पाश्चात्यविद्वद्भिस्तदनुगामिभिर्वा एतद्देशीयपण्डितैर्न सहसा निराकर्तुं शक्यम्।

महर्षेः कपिलस्य जन्मभूर्निवासश्च।

भारतभूखण्डस्य कतमं प्रदेशं तत्रभवान् स्वजनुषाऽलञ्चकारेत्यत्रापि विदुषां नैकमत्यमवलोक्यते। परन्तु तद्विषयकवृत्तानां प्राचीनपरम्परासु आधारितत्वात् तद्विषये क्वचित् क्वचिद् भूयांसः प्रमादा अपि समुत्पद्यन्ते यैः खलु प्राचीनटीकाकर्तारोऽन्तराऽन्तरा विमोह्यन्त एव। पुराणेतिहासेषु विधृतानां वृत्तान्तानाम् आपातार्थपर्यालोचनया प्रतीयमानं कपिलत्रैविध्यमपि तादृशमेकं प्रमादस्थलम्। सांख्यकारिकाभाष्यकर्त्रा गौडपादाचार्येण सांख्यप्रवर्तको महर्षिः कपिलः ब्रह्मणः पुत्रत्वेन स्मृतः।[3] भाष्यकर्तुरिदमवधारणं तु न स्वकपोलकल्पितं परन्तु किञ्चित्

१. पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।—कारिका ६९।
एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया ददौ।—कारिका ७०।

२. (क) "परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा" इति गौडपादः। तथा च 'सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि। यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम्॥' इति तदीयभाष्यसमाप्तिश्लोकः।

(ख) "परमर्षिणा कपिलेन···मुनिः कपिलः" इति वाचस्पतिमिश्रः। तथा च पुनर्योगसूत्रीयव्यासभाष्यगतस्य 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय' (१।२५) इत्यादिसन्दर्भस्य व्याख्यानावसरे मिश्रपादस्त्वाह—'पञ्चशिखाचार्येण-आदिविद्वान् कपिल इति।··· कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयंभूर्हिरण्यगर्भः। तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।'

(ग) 'मुनिर्भगवान् कपिलः·····' इति माठरवृत्तिः।

(घ) "·····परमर्षिर्भगवान् सांसिद्धिकैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैरविष्टपिण्डो विश्वाग्रजः कपिलमुनिः। तेन कपिलमुनिना समाख्यातम्।···"—इति युक्तिदीपिका।

(ङ) "परमर्षिणा समाख्यातमिति कपिलमहर्षिणा यथाक्रममाख्यातम्।···मुनिरनुकम्पया प्राहेति···यदुत कपिलमहर्षिः···।"—अज्ञातकर्तृकटीकायाः परमार्थकृतचीनभाषानुवादतोऽप्यास्वामिकर्तृकं पुनः संस्कृतरूपान्तरम्, पृ० ९७।

३. 'इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तत् यथा—
सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥' इति।

पुराणवचनमाधारीकृत्यैव प्रवृत्तमिति अनुमीयते। वस्तुतस्तु केनचित् नवीनालोचकमहोदयेन अध उपन्यस्तं वचनमिदं पुराणवचनत्वेनैवाङ्गीकृतम्।[1] अतः, ब्रह्मसुतः (पाठान्तरानुसारं ब्रह्मणो मानसपुत्रो वा) कश्चित् कपिलः, स हि गौडपादाचार्यस्य मतेन सांख्यप्रवर्तक इत्येकः पक्षः।

स्वायम्भुवस्य मनोर्देवहूतिरिति अन्यतमा दुहिता। प्रजापतिः कर्दमस्तामुपयेमे। तस्मान्महर्षेः कदर्मात् देवहूत्यां भगवान् विष्णुः कपिलरूपेणावतारेति श्रीमद्भागवतीया वार्ता।[2] तस्य भगवदवतारभूतस्य कपिलस्य सांख्यप्रवर्तकत्वमपि तत्रैव श्रीमद्भागवते कीर्तितम्।[3] अतः, भगवतो विष्णोरवतारभूतः[4] कर्दमदेवहूत्योः पुत्रत्वेनावतीर्णः महर्षिः कपिलः, स एव श्रीमद्भागवतानुसारं सांख्यप्रवर्तक इत्ययं द्वितीयः पक्षः।

पुनस्तु कपिलर्षेरग्न्यवतारत्वमपि स्मर्यते।

महाभारते कपिलस्याग्नित्वमुक्तं (न स्पष्टतया अग्न्यवतारत्वम्) यथा—
'कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥'[4]

कपिलस्याग्नित्वं पुराणान्तरेऽपि स्मर्यत एव। किन्तु स कपिलः सांख्यप्रवर्तककपिलर्षेरभिन्नो न वेति न निश्चयेन वक्तुं पारयामः।[5]

१. तन्मते तु श्लोकस्यास्यान्तिमचरणे 'सप्तैते मानसाः पुत्रा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः' इति पाठः। सनकादिमानसपुत्रैः साकमुल्लिखितत्वादेतन्मते कपिलस्यापि ब्रह्मणो मानसपुत्रत्वकथनं समीचीनमेव प्रतिभाति।

२. 'तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः। कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥ ६॥
अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः। लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥'१९॥
—श्रीमद्भागवतम्, ३।२४।

३. 'एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥ ३६॥'—तत्रैव।
'कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥'—तत्रैव, ३।२५।१।
कपिलस्य विष्ण्ववतारत्वं वाल्मीकेरपि सम्मतमित्यस्माभिः प्रतिपादितपूर्वम् (दशमं मपुटमवलोकनीयम्)। किन्तु वाल्मीकिरामायणे तस्य महर्षेः सांख्यकर्तृत्वं नोल्लिखितम्।

४. वनपर्व, २११।२१। भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरेण प्रकाशितं संस्करणम्।

५. 'आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः।
हिरण्मयस्य गर्भोऽभूद्धिरण्यस्यापि गर्भजः॥'—वायुपुराणम्, १।५।४५

अतः, अग्नेरवतारभूतः परमर्षिः कपिलः सांख्ययोगप्रवर्तकः इति महाभारतीया वार्तेति तृतीयः पक्षः।

अनेनापाततः प्रतीयमानेन कपिलत्रैविध्येन न केवलं वयं प्राचीना मनीषिणः सांख्यतत्त्ववेत्तारष्टीकाकारा अपिटीकान्दिशिकत्वमापन्नाः। अतः तत्त्वसमाससूत्रस्य सर्वोपकारिणीवृत्तिकृता इत्थमभ्यधायि[1]—

'अथात्रानादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रनिपतितानाथदीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धतत्त्वज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादित्त। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां च सूचनं भवति इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीता। इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।'

अतः स्पष्टतया सर्वोपकारिणीवृत्तिकृतो मतेन कपिलद्वैविध्यम्। एकेन कपिलेन द्वाविंशतिसूत्रात्मकं तत्त्वसमाससूत्रं विनिर्मितम् अपरेण तु तदाधारेणैव विस्तरेण सूत्रषडध्यायी प्रणीतेति। स तु वृत्तिकारो न खलु स्वबुद्ध्यैवमाह, अपि तु 'इति वृद्धाः' इत्युक्त्या तत्र पूर्वतनाचार्यसम्मतिमपि प्रदर्शयति। किन्तु सिद्धान्तोऽयं सर्वथा भ्रमविजृम्भित एव। त्रिधोल्लिखितस्यास्य कपिलस्यैकपुरुषत्वप्रतिपादनार्थं विद्वद्धौरेयेण श्रीमता उदयवीरशास्त्रिमहोदयेन भूरिः परिश्रमो विहितः। अस्मिन्विषये विस्तरस्तु तदीयकृतावेव द्रष्टव्यः।[2] समासत एतदेवात्र प्रतिपादयामो यत् महाभारतकर्तुर्मतेनापि सांख्यप्रवर्तकः कपिलो विष्णोरवतार एव[3] किन्तु स क्रोधाग्निना सगरपुत्रान् भस्मीचकारेति तस्याग्नित्वकल्पनं प्रसिद्धमभूदिति श्रीशास्त्रिमहोदयानां सिद्धान्तं सर्वथा शास्त्रोपपत्तिसम्मतमेव तर्कयामः। एतद्विषये सांख्यप्रवचनभाष्यकर्तुर्विज्ञानभिक्षोरुक्तिरपि सम्यगवधानमर्हति यत्र प्रागुक्तकपिलद्वैविध्यं प्रकामं निरस्तम्।[4]

स तु महर्षिः कपिलः सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः कदा कुत्राविर्बभूव इत्यत्र विदुषां भूयान् मतभेदोऽस्ति। केषांचिद् विदुषां मतेन कपिलस्य ऐतिहासिकपुरुषत्वं नास्ति

१. प्रस्तुतसंस्करणस्य ५९ तमं पुटमवलोकनीयम्।

२. श्रीउदयवीरशास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ८–१२।

३. तथ्यमेतत् महाभारतशान्तिपर्वणः ३३० तमाध्यायवर्तिषु २९–३१ संख्याकश्लोकेषु श्रीभगवदुक्तेः स्पष्टीभवति।

४. सांख्यप्रवचनभाष्यम्, ६।७०।

योगसूत्रीयव्यासभाष्ये (१।२५) 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति' इत्युक्तेः। वचनमिदं पञ्चशिखाचार्यस्येति वाचस्पतिमिश्रस्य विमर्शः। किन्तु आसुरये सांख्यज्ञानोपदेशार्थं कपिलेन निर्माणचित्ताधिष्ठानस्येयं वार्ता न प्रमाणान्तरेण पुराणेतिहासादिगतेन समर्थ्यते। पुनस्तु 'निर्माणचित्तम्', 'निर्माणकायः' इत्यनयोर्महान् भेदोऽस्ति इति योगसूत्रभाष्यादिदर्शनादवगम्यते। विशेषतः निर्माणचित्ताधिष्ठानं पाञ्चभौतिकदेहेऽवतीर्णेण भगवदवतारेण अशक्यमित्यपि न सहसा प्रतिपादयितुं शक्यते। अतः कपिलर्षेरैतिहासिकपुरुषत्वे न किमपि संदेहास्पदं पश्यामः।[1]

'कपिलवस्तु[2]-(पालिभाषायां कपिलवत्थु[3] इति)-नाम नगरं भगवतो गौतमबुद्धस्य जन्मस्थानतया बौद्धशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। तदेव नगरं महर्षेः कपिलस्य जन्मभूर्वासभूर्वा इति जनरलकनिंहममहोदया आमनन्ति।[4] रिचार्ड-गार्वेमहोदया अपि तथैव मन्यन्ते। बौद्धधर्मः सांख्यदर्शनस्य महदाधमर्ण्यमादधातीति निश्चयेन गार्वेमहोदयः स्वकीयमनुमानं द्रढयितुमीहते। तन्मतेन तु 'कपिलवत्थु' इति पालिभाषाशब्दस्य 'कपिलवास्तु' इत्येव संस्कृतरूपान्तरम्, न तु 'कपिलवस्तु' इति। डॉ० आद्याप्रसादमिश्रस्तु गार्वेपण्डितमतमसहमानः कपिलवस्तुनाम्ना कपिलनाम्नः ऋषेः सम्पर्केऽपि संदेग्धि, 'कपिल' इति तु शाक्यक्षत्रियाणां कस्यचित् शूरस्य पूर्वजस्य नाम स्यादिति वदन्।[5]

किन्तु मिश्रमहोदयस्य मतमिदमविचारितं बौद्धग्रन्थपरिचयाभावजन्यं च मन्यामहे। कथमिति चेद् ब्रूमः—इक्ष्वाकुवंशोद्भूतानां क्षत्रियाणां (अनन्तरं शाक्यनाम्ना प्रसिद्धिं गतानाम्) तस्मिन् प्रदेशे वासार्थमागमनसमये तत्र कपिलनामा ऋषिरासीत् तन्निर्देशेनैव तैस्तत्र नगरं निर्माय वासः कल्पित इत्यत्र

१. Ram Chandra Pandeya (ed.), *Yuktidīpikā*, Delhi 1967, Introduction, pp. xxii ff; श्रीउदयवीरशास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० २२ तथा अग्रे। डॉ० आद्याप्रसादमिश्र, सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, इलाहाबाद १९६७, पृ० ५३ तथा अग्रे।

२. दिव्यावदानम्, पृ० ४१, २४९।

३. "……इदं चेत्थ कपिलवत्थुकं नाम नगरं, तत्थ मया निब्बत्तितब्बन्ति निट्ठं अगमासि।"—जातकत्थवण्णना (फ़ज़बोलसम्स्करणम्), १।४९।

४. The Ancient Geography of India.

५. सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० ६१।

पालिसंस्कृतेत्युभयग्रन्थानां पूर्णतया संवादोऽवलोक्यते। यथा चोक्तं परमत्थजोतिकानाम्न्यां सुत्तनिपातट्ठकथायाम् (१।३५३)—

'तत्थ नगरमापनोकासं परियेसमाना, हिमवति कपिलो नाम घोरतपो तापसो पटिवसति पोक्खरिणीतीरे महासाकसण्डे—तस्स वसनोकासं गता। सो ते दिस्वा पुच्छित्वा सब्बं पवत्तिं सुत्वा तेसु अनुकम्पं अकासि। सो किर भूम्मजालं नाम विज्जं जानाति, याय असीतिहत्थे आकासे च हेट्ठा भूमियञ्च गुणदोसे पस्सति। अथेकस्मिं पदेसे सुकरमिगा सिहब्यग्घादयो तासेत्वा परिपातेन्ति, मण्डुकमूसिका सप्पे भिंसापेन्ति; सो ते दिस्वा 'अयं भूमिप्पदेसो पुथुविअग्ग'न्ति तस्मिं पदेसे अस्समं मापेसि। ततो सो राजकुमारे आह—'स चे मम नामेन नगरं करोथ, देमि वो इमं ओकास'न्ति। ते तथा पटिजानिंसु। तापसो 'इमस्मिं ओकासे ठत्वा चण्डालपुत्तो पि चक्कवत्तिं बलेन अतिसेती'ति वत्वा 'अस्समे घरं मामेत्वा नगरं मापेथा' ति तं ओकासं दत्वा सयं अविदूरे पब्बतपादे अस्समं कत्वा वसि। ततो कुमारा तत्थ नगरं मापेत्वा कपिलस्स वुत्थोकासे कतत्ता कपिलवत्थुन्ति नामं आरोपेत्वा तत्थ निवासं कप्पेसुं।' बुद्धचरितादिनिर्माता महाकविः बौद्धदार्शनिकानां मूर्धन्यभूतो भदन्ताश्वघोषोऽपि अट्ठकथाकर्तुः बहोः कालात् प्रागेव इममर्थं विस्तरेण वर्णयामास स्वकीये सौन्दरनन्दे महाकाव्ये। स तु कपिलनामग्रहणेनैव काव्यारम्भं विधाय कपिलवास्तुनगरनामकरणमित्थमभ्यधात्—

'कपिलस्य च तस्यर्षेस्तस्मिन्नाश्रमवास्तुनि।
यस्मात्ते तत् पुरञ्जकुस्तस्मात् कपिलवास्तु तत्॥' [1]

इदमप्यत्रावधेयं यत्, नगरस्य नामविषयेऽपि गार्वेमहोदयस्यानुमानमश्वघोषेण समर्थ्यत एव। यद्यपि दिव्यावदानादिमिश्रसंस्कृतग्रन्थेषु 'कपिलवस्तु' इति नामावलोक्यते तथापि भदन्ताश्वघोषः 'कपिलवास्तु' इत्येवं लिलेख। तदेव नगरस्यास्य शुद्धं संस्कृतं नामेति अनुमातुं शक्यते। अतः कस्यचिदृर्षेः नाम्नैव 'कपिलवास्तु' इति नामाभूत् इति सम्यक् प्रतिपादितम्। स एव कपिलः सांख्यशास्त्रप्रवर्तक इत्यत्र न किमपि बाधकं पश्यामः। सत्यमेतत्—श्रीमद्भागवतादिशास्त्राणां प्रामाण्यात्[2] सरस्वत्या नद्यास्तीरे बिन्दुसरःसमीपवर्तिनि कस्मिंश्चिदाश्रमपदे महर्षिः कपिलः कर्दमदेवहूत्योः पुत्ररूपेण जनिमलभत। महाभारतरामायणादीन् आर्षग्रन्थान् विलोड्य तदाश्रमस्थाननिर्देशार्थं पं० श्रीमता उदयवीर-

१. सौन्दरनन्दकाव्यम्, १।५७।

२. द्रष्टव्यम्—श्रीमद्भागवतम्, ३।२१।६, ३।२१।३३, ३।२४।९।

शास्त्रिमहाभागेन डॉ० आद्याप्रसादमिश्रेण च भूयान् श्रमो विहितः।[3] तदनुसारेण कपिलर्षेर्जन्मस्थानं हिमालयमध्ये इदानीं मानससरोवरनाम्ना प्रसिद्धात् सरोवरात् पश्चिमायां दिशि कुत्रचिदासीदिति सुनिरूपितं भवति।[4] न तत्रास्ति अस्माकं काऽपि विप्रतिपत्तिः। किन्तु तेन निरूपणेन कपिलवास्तुनगरस्य कपिलसम्पर्को न निराक्रियत इति तर्कयामः। प्रागुल्लिखितेषु बौद्धग्रन्थसन्दर्भेषु कुत्रापि कपिलवास्तुनगरं कपिलस्य जन्मस्थानमासीदिति नोल्लिखितम्। अतः बिन्दुसरःसमीपवर्तिनि आश्रमे जनिमासाद्यापि महर्षिः कियन्तं कालं कपिलावास्तुसन्निहिते प्रदेशे आश्रमं निर्मायोवासेत्यत्र न किमप्यसामञ्जस्यम्। बौद्धमतप्रादुर्भावक्षेत्रे सांख्यदर्शनस्य महीयान् प्रभाव आसीत्[2] इति गार्वेकृतस्यानुमानस्य निरसनार्थं कीथमहोदयेन[3] यदुक्तं तन्नोपपत्तिसहं मन्यामहे। कीथमहोदयस्तु बौद्धधर्मस्य सांख्याधमर्ण्यं निराकर्तुं प्रयतते उभयोरेव समानतया उपनिषन्मूलत्वं प्रतिपादयन्। किन्तु वस्तुस्थितेस्तथात्वेऽपि भारतवर्षस्य पूर्वप्रान्ते बुद्धसमये सांख्यप्रचारसम्भावना न निरस्यते। गौतमबुद्धस्य गुरूणामन्यतमः कालायसगोत्रीयोऽराडनामा कश्चित्तपस्वी आसीत्। गौतमो गृहात् अभिनिष्क्रम्य प्रथममेव धर्मलाभार्थमराडस्याश्रममगमदिति अश्वघोषकृतबुद्धचरितावलोकनात् ज्ञायते।[4] न केवलं सोऽराडाश्रमं गतवानेव अपि तं गुरुवत् सम्मान्य तस्मिन्नात्मानं समर्प्य दुःखपरित्राणोपायमपि प्रार्थयामास, सोऽपि महात्मा तं यथावदुपदिदेश।[5] अयमराडः

१. पं० श्रीउदयवीरशास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४७–६९। डॉ० आद्याप्रसादमिश्र, सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ० ५९–६०

२. 'At any rate, if we are allowed to assume that Sankhya System was regarded as authoritative at Kapilavastu and its environs, this explains most naturally why the founder of Buddhism who was born there, relied on that system'

३. A. B. Keith, *The Sāṁkhya System*, p. 61.

४. 'ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः। अराडस्याश्रमं भेजे वपुषा पूरयन्निव॥'
—बुद्धचरितम्, १२।१।

५. 'इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नरर्षभः। बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च॥
दिदृक्षुरिव हि ज्योतिर्यियासुरिव दैशिकम् त्वद्दर्शनमहं मन्ये तितीर्षुरिव च प्लवम्॥
तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे। जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते॥
इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः। संक्षिप्तं कथयाञ्चक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम्॥
—तत्रैव. ११, १३–१४।

कपिलमतानुसारी आसीदिति श्रीमदश्वघोषो विस्पष्टाभिरुक्तिभिः प्रकट्यकरोत्।[1]

अराडेनोपदिष्टः सिद्धान्तोऽपि सांख्यानुसारी आसीत्, तदुपदेशे सांख्यीय-पारिभाषिकशब्दानां बाहुल्यमेव सविशेषमवधानमर्हति।[2] यद्यपि केनचिद् बौद्धाचार्येण विवृतत्वात् बुद्धचरित उपन्यस्तेऽराडसिद्धान्ते अधुना प्रसिद्धात् सांख्यसिद्धान्तात् स्तोकाद्भेदोऽप्यवलोक्यते तथापि तस्य सांख्यसिद्धान्तत्वे इदानीन्तनानां केषांचिद् बौद्धशास्त्राभिज्ञानां संशयो नो विस्मयमेव समुत्पादयति।[3] अश्वघोषकथिते बुद्धस्य अराडशिष्यत्वेऽपि किमपि संदेहकारणं न वयं पश्यामः, स्वकालीनबौद्धविद्वत्समाजे प्रमाणकोटिकपरम्परामन्तरेण अश्वघोषसदृशो बौद्धाचार्यः कदापि इत्थं नालिखिष्यत्। अतः तद्वचःप्रामाण्ये कीथमहोदयस्य संशीतिरपि निर्मूलैव।[4] किन्तु अराडगौतम-वृत्तान्तो न केवलं भदन्ताश्वघोषेणैव इदंप्रथमतया वर्णितः, अपि तु स्थविरवादिशास्त्रेऽपि एतद्विषये किमपि प्रमाणमुपलभ्यत एव। तत्र तु अराडस्य 'आळारकालाम' इति नामधेयम्। मज्झिमनिकायगत-वृत्तान्तात् यद्यपि आळारस्य सिद्धान्तविषये न स्पष्टतया किमपि निश्चेतुं शक्यते तथाऽपि अयं कश्चित्सांख्ययोगाचार्य आसीदित्यनुमानं निर्विवादमेव।[5] अतः, बुद्धप्रादुर्भावकाले कपिलवास्तुसन्निहितप्रदेशे सांख्यदर्शनस्य भूयान् प्रचार आसीदित्यत्र न लेशतोऽपि संशीतिः।

इत्थं कपिलवास्तुसन्निकर्षे कियन्तं कालं कपिलस्थितौ सिद्धायामपि स परमर्षिः आ शरीरान्तात् तत्रैवोवासेत्यत्रापि न विश्वसिमः। कपिलेन सगर-राजस्य षष्टिसहस्रं पुत्राः भस्मसात् कृता इति रामायणमहाभारताभ्यां ज्ञायते। सगर-पुत्राणां कपिलेन भस्मीकरणं कुत्र संवृत्तमिति जिज्ञासायां रामायण-महाभारत[6]-गत

'अथ मोक्षवादिनमराडमुपशममर्ति तथोट्टूकम्।
तत्त्वकृतमतिरुपास्य जहावयमप्यमार्गं इति मार्गकोविदः॥'—सौन्दरनन्दकाव्यम्, ३।३।

१. 'सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः।'—तत्रैव, ११।२१।

२. यथा—'तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद।
पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च॥'—तत्रैव, ११।१८।

३. द्रष्टव्यम्—G.P. Malalasekera, *Dictionary of Pāli Proper Names*, Vol. I., p. 296.

४. A. B. Keith, *The Sāṁkhya System*, p. 27.

५. मज्झिमनिकाय, १।११२, २९५।

६. 'श्रुत्वा तु वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन॥

एव वृत्तान्तः सूक्ष्मदृशा पर्यालोचनीयः। सगरपुत्रैः स्वपितुर्यज्ञीयाश्वमिन्द्रेणापहृत-मन्विच्छद्भिः महताऽऽटोपेन भूदारणं समारब्धम्। तेन समुद्रो भूयोऽपि विस्तार-मगमदित्यपि ऐतिहासिकी वार्ता। अतस्तदानीन्तनः कपिलाश्रमः समुद्रकूले एव कुत्रचित् अनुसन्धेयः स्यात्।[1] पुनरपि भस्मीभूतानां सगरात्मजानामुद्धारार्थं सगरवंशीयेन भगीरथेन स्वतपोबलेन भगवती भागीरथी धरातलं समानीता।[2] भगीरथेन समानीता गङ्गा सगरपुत्राणाम् उद्धारं विधाय तत्रैव समुद्रं प्रविवेश इति कल्पयितुं युज्यते। गङ्गायाः सागरप्रवेशस्तु कपिलाश्रमसन्निधौ यत्र सगरपुत्राः भस्मीभूता अपतन् तत्रैव जात इत्यपि सङ्गच्छते। अतः गङ्गासागरसङ्गमे कपिलमुनिराश्रमं निर्मायोवास इति नैतिह्यविरुद्धम्। गङ्गासागरसङ्गमस्तु इदानीं वङ्गप्रान्ते कलिकातानगर्याश्चत्वारिंशति क्रोशेषु दृश्यते, तत्राद्यापि कपिलस्याश्रमस्थलं निर्दिश्यते च, यत्र प्रतिवर्षं मकरसंक्रान्तिदिवसे पुण्यस्नानार्थिनां महान् समावेशोऽपि भवति।

अत एवात्रायं निष्कर्षः—महर्षिः कपिलः हिमवत्प्रदेशवर्तिनि बिन्दुसरः-सन्निकर्षे जन्म लब्ध्वा कपिलवास्तुसमीपे कञ्चित्कालमुषित्वाऽन्ते गङ्गासागर-सङ्गमवर्तिनि आश्रमे उवास।

महर्षेः कपिलस्याविर्भावसमयः

सांख्यकारस्य कपिलस्य महर्षेः निश्चयेन कालनिरूपणं न किमपि सुकरं कर्म तस्य उपनिषन्महाभारतादिकालापेक्षितत्वात्, तेषामपि कालविषयेऽद्यापि इतिवृत्त-तत्त्वविदामन्योन्यं भृशं मतानैक्याच्च। डॉ० आद्याप्रसादमिश्रमहोदयेन स्वनिबन्धे[3] सुष्ठु निरूपितं यत् शतपथब्राह्मणसंकलनादपि पूर्वं महर्षिः कपिल आविर्बभूव। मतमिदं महाभारतभागवतादिग्रन्थदर्शनादपि सत्यतयैव प्रतिभाति। अतः कपिलाविर्भावकालो न्यूनतया पञ्चसहस्रवर्षेभ्यः पूर्वमेवासीत्, न कथमपि तस्मादर्वाचीन इति तु निश्चप्रचमेव।

रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत्तदा। ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना॥
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थाः सगरात्मजाः॥—वा० रा०, बालकाण्ड०, ४०।२९-३१।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः। वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिसत्तमम्॥
स चक्षुर्विवृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजत्। ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान्॥
—महाभारतम्, वनपर्व, १०६।२-३।

१. महाभारतम्, वनपर्व, १०५।२३-२४

२. वाल्मीकिरामायणम्, बालकाण्डम्, ४३।४०-४४।३; महाभारतम्, वनपर्व, १०८।१५-१९।

३. पूर्वोल्लिखितो ग्रन्थः, पृ० ६८-७१।

महर्षेः कपिलस्य कृतिः

ऋषिकृतानि दर्शनशास्त्राणि सूत्रात्मकान्येवावलोक्यन्ते । यथा—वैशेषिकसूत्राणि कणादकृतानि, न्यायसूत्राणि गौतमकृतानि, ब्रह्मसूत्राणि बादरायणकृतानि, मीमांसासूत्राणि जैमिनिकृतानि, योगसूत्राणि पतञ्जलिकृतानि । अतः सांख्यदर्शनेनापि सूत्ररूपेण भाव्यमिति विदुषामनुमानं सर्वथा समीचीनमेव । वर्तेते च द्वौ सांख्यग्रन्थौ सूत्रषडध्यायी, तत्त्वसमासश्च पञ्चविंशतिसूत्रात्मकः ।[1] किन्तूभयोरप्येतयोरर्वाचीनत्वमामनन्ति इदान्तीन्तना विद्वांसः । मन्यन्ते च ईश्वरकृष्णकृतां सांख्यकारिकामेव अद्यत्वे उपलभ्यमानेषु सांख्यग्रन्थेषु प्राचीनतमाम् । तत्रायं हेतुः—सर्वेषामेव ऋषिकृतानां सूत्रनिबद्धदर्शनग्रन्थानामुपरि प्राचीनभाष्यटीकाग्रन्था विद्यन्ते किन्तु प्रागुक्तयोः सूत्रात्मकसांख्यग्रन्थयोरुपरि न दृश्यते एकमपि सुप्राचीनं भाष्यं न वा वाचस्पतिमिश्रादिप्राचीनमनीषिप्रणीता काऽपि टीका । गौडपादाचार्येण कारिकाग्रन्थस्योपरि भाष्यं निर्मितं, निरमायि च वाचस्पतिमिश्रेण तस्यैव सांख्यतत्त्वकौमुदीनाम्नी पेशला टीका । न केवलमेतावदपि, एतस्यैव कारिकाग्रन्थस्य काचन प्राचीना टीकाऽऽसीत् या खलु क्रिस्तीयषष्ठशताब्द्याः पश्चिमे भागे परमार्थनाम्ना उज्जयिनीवास्तव्येन बौद्धभिक्षुणा चीनभाषान्तरमारोपिताऽभूत् । ईश्वरकृष्णस्य तथाऽन्येषां प्राचीनानां ग्रन्थकर्तृणां ग्रन्थेभ्योऽपि सूत्रषडध्यायाः कोऽपि परिचयो न लभ्यते किं बहुना भगवता शङ्कराचार्येण स्वकृते शारीरकभाष्ये सांख्यमतखण्डनावसरे सांख्यकारिकैवोद्भिद्यते, न षडध्यायी न वा तत्त्वसमास इति विद्वांसो मन्यन्ते । षडध्यायीग्रन्थस्य तत्त्वसमासस्य च कपिलप्रणीतत्वे सुप्राचीनत्वे च मनीषिभिरनयोरेतादृश्या उपेक्षाया न किमपि कारणमुत्प्रेक्ष्यते । अतः, सूत्रषडध्यायी क्रिस्तीयनवमशताब्द्या अनन्तरम् अर्थतो वाचस्पतिमिश्रादुत्तरं, तत्त्वसमासश्च ततोऽपि ऊर्ध्वं विरचित इति नवीनानां सिद्धान्तः ।[2] रिचार्डगार्बेमहोदयानां मतेन सूत्रषडध्यायी रचनाकालस्तु क्रिस्तीयचतुर्दशशताब्दी एव[3] यद्यपि डॉ० सुरेन्द्रदाशगुप्तस्तु पुनरिमां

१. सर्वोपकारिणीवृत्तिकर्तुर्मतेन द्वाविंशतिसूत्रात्मकः ।

२. Surendra Nath Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, Cambridge 1922, Vol. I, p. 212.

३. Richard Garbe, *The Sāmkhya-Pravacana-Bhāṣya*, HOS II, Preface, p. ix.

तावतीमर्वाचीनां न मन्यते[1] । तत्त्वसमासोऽपि तत्तन्मतेन चतुर्दशशतकात्पूर्वं न प्राकाश्यं प्राप ।

वस्तुत इदानीमुपलभ्यमानेषु सांख्यग्रन्थेषु कतमः कपिलस्य कृतिः, कपिलस्य कृतिः अद्यत्वे करालेन कालेन ग्रसिता वा न वेत्यादीनां जिज्ञासानां समाधानं न सुकरं प्रतिभाति । ईश्वरकृष्णकृतसांख्यकारिकाणां द्विसप्ततितमकारिकादर्शनात् तदुपजीव्यस्य ग्रन्थस्य षष्टितन्त्रमिति नामासीदिति प्रतीयते ।[2] अस्मात्, कपिलकृतमूलग्रन्थ एव षष्टितन्त्राख्य आसीत् स इदानीं लुप्त इत्येके वदन्ति[3], सांख्यप्रवचनसूत्रापराभिधा अद्यत्वे बहुलप्रचलिता सूत्रषडध्याय्येव कपिलकृतं षष्टितन्त्रमित्यन्ये[4], परिमितपदैः सांख्यीयतत्त्वानां प्रतिपादकः परमतखण्डनविरहितस्तत्त्वसमास एव कपिलकृतिरित्यपरे ।[5]

षष्टितन्त्रेति न कस्यचिद् ग्रन्थविशेषस्य नाम परन्तु सांख्यसिद्धान्तस्यैव विषयानुरूपाऽभिधा इति श्रीकीथमहोदयस्य पक्षपातः, स पुनरत्र वाचस्पतिसम्मतिमपि चिन्तयति ।[6]

कपिलतन्त्रस्य कपिलकृतेर्वा षष्टितन्त्रनाम्नाऽभिहितत्वे तद्गतविचार्यविषयाणां षष्टिसंख्याकत्वमेव निदानम् । के तावत्ते षष्टिसंख्याका विषया इत्यत्रापाततो मतद्वयमुपलभ्यते । सांख्यकारिकानुसारं षष्टिविषयाणामिदं परिगणनम्—

पञ्च विपर्ययाः, नव तुष्टयः, अष्टौ सिद्धयः, अष्टाविंशतिरशक्तयः,[7] दश मौलिकार्थाश्चेति श्रीमान् उदयवीरशास्त्रिमहोदयः । किन्तु कारिकासु कुत्रापि कण्ठतः मौलिकार्थपदस्य परिगणनं नास्ति ।[8] परिगणनमिदं तत्त्वकौमुदीकर्तुर-

१. प्रागुल्लिखितो ग्रन्थः, पृ० २२२ ।

२. सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।

३. Surendranath Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, Vol. I. p. 221

४. प० श्रीउदयवीरशास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० १०४–१७३

५. माठरवृत्ति-भूमिका, चौखम्बासंस्कृतसीरीज, पृ० २; Max Müller, *The Six Systems of Indian Philosophy*, London 1919, p. 317.

६. A. B. Keith, *The Sāṃkhya System*, p. 72.

७. पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥—सांख्यकारिका, ४७।

८. तत्त्वसमाससूत्रे (१६) मूलिकार्थशब्दोऽवलोक्यते यः खलु पुनः कुत्रचित् चूलिकार्थेत्यपि पठ्यते ।

भिप्रेतम्, स तु ७२तमकारिकाव्याख्यावसरे राजवार्तिकवचनोद्धारपूर्वकं तथैव प्रतिपादयति।[1]

पञ्चरात्रागमेऽहिर्बुध्न्यसंहिता नाम ग्रन्थो विद्यते। तत्रापि कपिलतन्त्रं षष्टितन्त्रनाम्नाऽऽख्यायते, दृश्यते च तत्र षष्टिसंख्याकानां तन्त्राणां परिगणनमपि।[2] तत्र प्रयुक्ताः पारिभाषिकशब्दाः प्रागुक्तशब्देभ्यो भिद्यन्ते। किन्तु राजवार्तिकोक्तवचनेन साकं तेषामभेदप्रदर्शनार्थं शास्त्रिमहोदयेन भूयान् प्रयासः कृतः।[3] यद्यपि कारिकाया इदं षष्टिसंख्याकार्थनिरूपणं सर्वथा तत्त्वसमाससम्मतिमधिगच्छतीति शास्त्रिमहोदय आह तथापि आनुपूर्व्या तेषां तत्र संगमनं न सुकरं मन्यामहे। अस्माकं तु मतेन कपिलतन्त्रे कानि तावत् षष्टितन्त्राणि उक्तानि आसन् इति प्रत्यक्षरूपेण निश्चेतुं वाचस्पतिमिश्रा अपि नाशक्नुवन्। अतः राजवार्तिकादिमतमुद्धृत्य कथमपि तैः संगतिर्विहिता। इदानीं समुपलभ्यमाना सूत्रषडध्याय्येव प्राचीनैर्भूयोभूय उल्लिखितं षष्टितन्त्रमिति प्रतिपादयितुं पं० श्रीमान् उदयवीरशास्त्रिमहोदयस्तदनुसारी डॉ० आद्याप्रसादमिश्रमहोदयश्च यथाशक्ति प्रयतेते तथापि तदीयसिद्धान्तं सर्वथोपपत्तिसहं न मन्यामहे। इदमत्रावधेयम्—तत्त्वकौमुदीकारा वाचस्पतिमिश्रपादाः ईश्वरकृष्णकृतकारिकाणां शास्त्रत्वमङ्गीकुर्वन्ति।[4] साक्षात् महर्षिकपिलप्रणीते सूत्रग्रन्थे पुरतो विराजमाने मिश्रपादसदृशा आस्तिकमूर्धन्या अन्यकर्तृकं कारिकात्मकं ग्रन्थं शास्त्रतयोररीचक्रुरिति तु न तर्कयितुं युक्तं प्रतीमः। अतः, वाचस्पतिसमयात् पूर्वमेव कपिलनिर्मितो मूलग्रन्थो विलुप्तिमभजतेति निश्चितुमः।

१. 'तथा च राजवार्तिकम्—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥
इति।'

२. *Ahirbudhnya Saṃhitā of the Pāñcarātrāgama*, Edited by Pandit M. D. Ramanujacharya, under the supervision of F. Otto Schrader, Revised by Pandit V. Krishnamacharya, Second edition, Madras 1966, XII. 18–31.

३. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० १४८–१५०

४. 'सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणम् अपि शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्'
—७२तमकारिकायाष्टीका।

सूत्रषडध्याय्याः साक्षाद्रूपेण कपिलकृतत्वाङ्गीकारेऽन्या अपि विप्रतिपत्तयः सन्ति। महर्षिणा चरकेण सांख्यदर्शनं नाम्ना समुल्लिखितमिति त्वस्माभिरुपन्यस्तपूर्वम्। चरकाङ्गीकृतात् सांख्यदर्शनात् ईश्वरकृष्णप्रतिपादितः सांख्यसिद्धान्तः स्तोकाद्भिद्यत इति तु अशेषदर्शनशास्त्रपारावारीणः डॉ० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहोदयः प्रतिपादयति।[1] अतश्चरकेश्वरकृष्णयोरुभयोरेव पूर्वं मूलग्रन्थस्य विलुप्तिः परिवृत्तिर्वाऽभूदिति निश्चप्रचमेव। सूत्रषडध्याय्याः केषुचित्सूत्रेषु अनन्तरकालोत्पन्नदर्शनान्तराणां खण्डनादिकमवलोक्यते, प्रागुक्तशास्त्रिमहोदयास्तेषां सूत्राणां प्रक्षिप्तत्वकथनेन स्वमतं द्रढयितुं प्रयतते, किन्तु विनिगमकाभावेऽपि स्वप्रतिपाद्यबाधकप्रमाणानां प्रसभं प्रक्षिप्तत्वकथनान्नूनमन्योन्याश्रयदोषापत्तिर्भवत्येव। विशेषतः, सूत्रषडध्यायी उत्तरकालवर्त्तिवेदान्तसिद्धान्तप्रभावं प्रकटयतीति गार्वेपण्डितमतं सविशेषमवधानमर्हति। तादृशी स्थितिरपि सांख्यप्रवचनसूत्राणामनतिप्राचीनत्वं साधयति। किन्तु सूत्रषडध्यायीतत्त्वसमाससूत्रगतवचनानां तत्तत्सदृशवचनानां भूयःसु प्राचीनग्रन्थेषु उपलम्भात् तौ सांख्यग्रन्थौ क्रिस्तीयचतुर्दशकशतकोद्भूताविति पक्षः सुष्ठु निराक्रियते श्रीशास्त्रिमहोदयेन।

वस्तुतः महर्षिणा कपिलेनासुरये प्रदत्तं तेन चासुरिणा पञ्चशिखाय प्रोक्तम्, पञ्चशिखेन च पुनः बहुधाकृतं तन्त्रं न साक्षाद्रूपेण सूत्रषडध्याय्यां यथावद्वर्तते न च पुनस्तत्त्वसमाससूत्रे। गुरुपरम्परया प्रचलितं सिद्धान्तमवलम्ब्य केनापि सांख्याचार्येण प्रथमं तत्त्वाम्नायपरं समासेन तत्त्वसमाससूत्रं प्रणिन्ये, यत् तत्त्वसमासनाम्नैव सम्यक् प्रतीयते। तदनन्तरं च दर्शनान्तरविषयकसूत्रात्मकग्रन्थानामनुकृत्याऽपरेण केनापि प्रतिभावताऽऽचार्येण सूत्रषडध्यायी निर्मिताऽभूत्। षडध्यायीतत्त्वसमासयोर्निर्माणम् ईश्वरकृष्णकर्तृककारिकानिर्माणात् पूर्वं तस्मादनन्तरं वा विहितमिति जिज्ञासायां माध्यस्थ्यमेवावलम्ब्यतेऽस्माभिः। ईश्वरकृष्णसमये तयोर्विद्यमानत्वेऽपि ऋषिकृतत्वाभावात् टीकाकर्तॄणां तयोरनादरः कारिकाणां च सुव्यवस्थितत्वात्तत्र समादरोऽभूतामित्यत्र न कापि असङ्गतिः।

केचन प्राचीनाः सांख्याचार्याः

सांख्यसम्प्रदायपरम्परायां परमर्षेः कपिलस्य साक्षाच्छिष्यत्वेन आसुरिनाम्न आचार्यस्य नाम स्मर्यते।[2] यद्यपि आसुरेरस्तित्वस्वीकारे कीथप्रभृतयः प्रतीच्य-

१. Surendranath Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, Cambridge 1922, Vol. I. pp. 213 ff.

२. यथाऽऽह्वरीश्वरकृष्णपादाः—

'एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥'—सांख्यकारिका, ७०।

पण्डिता विप्रतिपद्यन्ते[1] तथाऽपि महाभारतादीतिहासेषु[2] तस्य भूयोभूय उल्लेखात्तदीयास्तित्वं सुष्ठु प्रतिपाद्यत एव।

स तु आसुरिराचार्यः पूर्वाश्रमे कर्मकाण्डपरायणो गृहस्थो ब्राह्मण आसीदनन्तरं कपिलकृपया वैराग्यमाश्रितः प्रव्रजितश्च इति माठरवृत्त्यादिदर्शनात्[3] ज्ञायते। तस्यासुरेर्वैराग्यं तु प्राकृतिकमासीदिति युक्तिदीपिकाकारः।[4] तेन आसुरिणा कश्चित् सांख्यग्रन्थो निर्मितो वा न वेति न निश्चयेन वक्तुं शक्यते। किन्तु, जैनपण्डितहरिभद्रसूरिकृते षड्दर्शनसमुच्चये—

'विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥'

---

१. A. B. Keith, *The Sāṃkhya System*, pp, 49–50,

"The question arises whether we can on the strength of these notices, attribute any serious value to the tradition perserved in the Sāṃkhya Kārikā. The answer as regrds Kapila and Āsuri can hardly be in the affirmative..... .....Āsuri is a mere name, and we can not possibly accept him as a historical philosopher without more proof. The epic asserts that he taught Pañcaśikha, whence no doubt comes the statement in the Kārikā.

किन्त्वेतदत्रावधेयम्—ईश्वरकृष्णः केवलं महाभारतप्रामाण्यादेव कपिलात् आसुरिरासुरेः पञ्चशिखः इति शिष्यपरम्परां स्मरतीति कीथमहोदयस्याक्षेपो निर्मूल एव। योगसूत्रीयव्यासभाष्ये (१।२५) 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये तन्त्रं प्रोवाच' इति यद्वचनमुपलभ्यते तत्तु पञ्चशिखार्यवचनत्वेन वाचस्पतिरङ्गीकरोति तत्रत्यतत्त्ववैशारद्याम्; न पुनस्तत्र वाचस्पतिकथिते कस्यापि प्राचीनस्य व्याख्यातुर्विप्रतिपत्तिरस्माभिरुपलब्धा। अतः कपिलात् प्रभृति पञ्चशिखपर्यन्ता सम्प्रदायपरम्परा स्वयं पञ्चशिखाचार्येणैवोक्तेति अनुमातुं शक्यते।

२. महाभारतम्, शान्तिपर्व, २११।१०–१४।

३. 'स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणः शिष्यो बभूव।'

—सांख्यकारिकामाठरवृत्तिः, अस्मत्सम्पादितं द्वितीयं संस्करणम्, पृ० २।

४. '···प्राकृतास्तु तद्यथा वैराग्यं भगवदासुरेः। तस्य हि परमर्षिसम्भावनादुत्पन्नो धर्मः। अशुद्धिः प्रतिद्वन्द्विभावादपजगाम। तस्यामपहतायां प्रकृतेः शुद्धिस्रोतः प्रवृत्तं येनानुगृहीतो दुःखत्रयाभिघातादुत्पन्नजिज्ञासः प्रव्रजितः।'

—४३संख्याककारिकास्था युक्तिदीपिका (डा० रामचन्द्रपाण्डेयसम्पादिता, ई०१९६७)।

इति श्लोक आसुरिकृततया समुदाहृतः इति श्रीमता डॉ० आद्याप्रसादमिश्रमहोदयेन यदुक्तं तन्न, षड्दर्शनसमुच्चये कुत्रापि श्लोकस्यास्यादर्शनात्। वस्तुतस्तु श्लोकोऽयं न षड्दर्शनसमुच्चये प्रत्युत गुणरत्नकृतायां तदीयटीकायां तर्करहस्यदीपिकायामेवोपलभ्यते, उद्धियते च स्याद्वादमञ्जरीकर्त्रादिभिरन्यैर्जैनविद्वद्भिः। किन्तु जैनपण्डितानामस्या उक्तेः कमपि आधारमपश्यन्तो वयमासुरिणा कतमो कीदृशो वा ग्रन्थो निर्मित आसीदिति निर्णेतुमसमर्थाः। तस्याविर्भावकालोऽपि निर्णेतुमशक्य एव।

सांख्यसम्प्रदाये आसुरेरुत्तरं पञ्चशिखाचार्य आविर्बभूवेति ईश्वरकृष्णोक्त्या महाभारतीयवृत्तान्तस्य संवादः। पञ्चशिखाचार्य आसुरेः प्रथमशिष्यत्वेन तत्रोक्तः।[1] कपिलर्षौ पाञ्चभौतिके शरीरे विद्यमान एव पञ्चशिखाचार्यः जनकसभायामन्यत्र च विद्वत्संसदि महतीं प्रतिष्ठां लेभे। तेनैव पञ्चशिखाचार्येण सांख्यशास्त्रस्य भूयान् प्रचारो विहित इति निश्चप्रचमेव। अवश्यमेव तेनाचार्यवर्येण सूत्रात्मकः कश्चिद् ग्रन्थो निरमायि य खल्विदानीं न समग्रतयोपलभ्यते। किन्तु योगभाष्येऽन्तरान्तरा तत्प्रणीतैकविंशतिसंख्याकानां सूत्राणामुद्धरणमुपलभ्यत इति विदुषामाशयः।[2] गौडपादाचार्यस्तु स्वकीयकारिकाभाष्योपोद्घाते सप्तानां ब्रह्मसुतानां नामेत्थं स्मरति—

'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।'

किन्तु तत्र सांख्यसम्प्रदायपरम्परा क्रमश उक्तेति तु नानुमातुं शक्यते। विशेषतः ते सर्वे ब्रह्मसुताः सांख्याचार्या आसन् न वेति गौडपादेन न स्पष्टतया प्रत्यपादि। तथापि तेषु कपिलो, वोढुः, आसुरिः, पञ्चशिखश्च सांख्याचार्या एवासन् इत्यत्र सर्वेषामैकमत्यम्। कुल्लूककृतमनुटीकादर्शनात् सनन्दोऽपि[3] सांख्याचार्य आसीदिति प्रतीयते। एतदतिरिक्ताः पुलहपुलस्त्य-मरीचि-प्रभृतयः प्राचीनाः जैगीषव्य-वार्षगण्य-विन्ध्यवासिप्रभृतयश्च तदपेक्षयाऽर्वाचीनाः, कात्स्न्र्येन अन्यूनचत्वारिंशत्संख्याकाः सांख्याचार्याः स्मर्यन्ते। तेषां विषये विस्तरभयान्नात्र किमप्युच्यते। वार्षगण्यविन्ध्यवासिनोर्विषये तु अस्मत्सम्पादितमाठरवृत्तिप्रस्तावनायां विमर्शः करिष्यत एव।

अस्तु, सांख्यदर्शनस्येतिहासविषय एवात्र दिङ्मात्रं विवृतम्। न तु सांख्यसिद्धान्तविषये। तदर्थं च प्रागुक्तमाठरवृत्तिप्रस्तावनैवावलोकनीया।

प्रस्तुतसंग्रहविषये तु इदं निवेदनीयम्—

---

१. 'आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्यम्।
तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः॥'—महाभारतम्, शान्तिपर्व, २११।१३-१४।

२. तेषां सूत्राणां संग्रहः काशीसंस्कृतग्रन्थमालायां (सं० ११०) प्रकाशितस्य साङ्ख्ययोगदर्शनस्य चतुर्थे परिशिष्टे वाचकमहाभागैरवलोकनीयः।

३. १।५६

सांख्यदर्शनस्य पठनपाठनयोरिदानीं सांख्यकारिकायाः सूत्रषडध्यय्याश्चैव प्राधान्यम्। अतः, विरलप्रचाराणां नवसंख्याकानां सांख्यग्रन्थानामस्मिन् संग्रहे एकत्र संकलनेन संकलनकर्तृभिः अशेषशास्त्रनिष्णातैरिदानीं द्युलोकमधिवसद्भिस्तत्रभवद्भिः पण्डितश्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदिमहोदयैर्जिज्ञासूनां महानुपकारः कृतः। संग्रहेऽत्र तत्त्वसमाससूत्रस्य सप्तव्याख्यानानि। यथा—

१. श्रीषिमानन्ददीक्षितविरचितं सांख्यतत्त्वविवेचनम्।

२. श्रीभावागणेशविरचितं सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्।

३–७. अज्ञातकर्तृकाश्चेतराः पञ्चवृत्तिव्याख्यादिनाम्न्यष्टीकाः। प्रसङ्गादन्येऽपि त्रयो ग्रन्थाः सांख्यतत्त्वप्रदीप-तत्त्वमीमांसा-सांख्यपरिभाषानामानोऽपि संकलिताः।

एतेषां ग्रन्थकर्तृणां विषये न विस्तरेण किमपि वक्तुं शक्यते।

सांख्यतत्त्वविवेचनकर्ता षिमानन्दस्तु कान्यकुब्जान्तर्गतेष्टिकापुरनिवासिरघुनन्ददीक्षितस्यात्मज आसीत्। तेन न्यायरन्ताकराख्योऽन्योऽपि ग्रन्थो निरमायि।

सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनकर्ता श्रीभावागणेशः विज्ञानभिक्षोः शिष्यः श्रीविश्वनाथदीक्षितसूनुरिति तदीयमङ्गलश्लोकपुष्पिकाभ्यां परिज्ञायते। तेन तु पञ्चशिखाचार्यकृतव्याख्याया आधारेण तत्त्वसमासटीकाऽकारि। अन्येषां टीकाकर्तृणां नामादिकमपि न ज्ञायते तैः स्वयमनुल्लिखितत्वात्।

प्रस्तुतसंग्रहस्य द्वितीयं संस्करणमिदम्। प्रथमसंस्करणे इदानीमनुपलब्धे दुर्लभसंस्कृतग्रन्थप्रचारैकव्रतैः वाराणसीस्थ-चौखम्बा-संस्कृतग्रन्थमालासंचालकैरिदं द्वितीयं संस्करणं विदुषामुपकाराय प्राकट्यं प्रापितम्। तैरेव महानुभावैः प्रोत्साहितोऽहं प्रस्तावनायां सांख्यदर्शनविषये यथाबुद्धि किञ्चित् प्रस्तौमि। अतस्ते महानुभावाः सर्वथा मे साधुवादानर्हन्ति। येषां पूर्वसूरिणां ग्रन्थेभ्यः सामग्रीराहृत्याहृत्य मया प्रस्तावना विरचिता तेऽभ्योऽपि विद्वत्प्रकाण्डेभ्यः कृतवेदिताप्रकटनपूर्वकं साधुवादान् भूयसो वितरामि। बुद्धिमद्वर्यान् वाचकमहाभागानपि प्रार्थये यत्तेऽत्र विद्यमानान् मदीयबुद्धिमान्द्यादिजन्यान् भ्रमप्रमादान् करुणया मर्षयन्त्विति। इति

वाराणस्यां
विषुवसंक्रान्तिदिवसे
वि० स० २०२६

निवेदयति
विदुषां वशंवदः
सत्कारिशर्मा वङ्गीयः

ॐ नमः परमात्मने

सांख्यसंग्रहः

तत्र

सांख्यतत्त्वविवेचनम्

श्रीषिमानन्द (क्षेमेन्द्र) विरचितम्

रघुनन्दनसुतेनेदमिष्टिकापुरवासिना।
कान्यकुब्जद्विजाग्र्येण षिमानन्देन[1] तन्यते ॥ १ ॥
सांख्योपज्ञ नमस्तुभ्यं कपिलाय महात्मने।
पञ्चविंशतितत्त्वानां तत्त्वज्ञानप्रवर्त्तकः ॥ २ ॥
दुःखत्रयाभिभूतस्य शान्तिर्मे स्यात् कुतस्त्विह।
तथोपदिश जन्मादि यथा न स्यात् कृपानिधे ॥ ३ ॥
एवं पृष्टो मुनिः प्राह निर्विण्णाय कृपानिधिः।
पञ्चविंशतिसूत्राणि व्याख्यातानि महात्मभिः ॥ ४ ॥
बबन्धुः कवयः काव्ये व्याचिख्युः कवयः परे।
सांख्यशास्त्रस्य याथार्थ्यं तदेवेदं विविच्यते ॥
षिमानन्देन मन्देन कुक्षिम्भरिशतादिना ॥ ५ ॥

अष्टौ प्रकृतयः ॥ १ ॥

प्रकृतिर्बुद्ध्यहंकारौ तन्मात्रैकादशेन्द्रियम्।
भूतानि चेति सामान्याच्चतुर्विंशतिरेव ते ॥

१. अत्र क्षेमेन्द्रेणेत्यनुमीयते। 'षिमानन्द' इति तु मातापित्रोरुल्लापने नामेति सर्वजनप्रसिद्ध्यर्थं तथैव लिखितमिति सम्भाव्यते।

एतेष्वेव धर्मधर्म्यभेदेन गुणकर्मसामान्यानामन्तर्भावः। प्रकृतित्वं च साक्षात्परम्परयाखिलविकारोपादानत्वम्। व्युत्पत्तिस्तु प्रकृष्टा परिणामरूपा आकृतिरस्या इति। सा च साम्यावस्थयोपलक्षितसत्त्वादिद्रव्यत्रयरूपा। साम्यावस्था च शान्तघोरमूढादिरूपाणामपि असमुदायवद्रूपत्वेपि अतिशयैः समुदायवद्भिरविरोधेन वर्तमानत्वं सामान्यात्मना गुणभावोऽतिशयात्मना प्राधान्यं विशेषात्मना वैषम्यमित्यतो न्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थाऽकार्यावस्थेति यावत्। महदादिकं तु कार्यसत्त्वादिकं न कदाप्यकार्यावस्थं भवतीति तद्व्यावृत्तिः। वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धये उपलक्षितमित्युक्तं सत्त्वादिगुणवती प्रकृतिः सत्त्वाद्यनतिरिक्तत्वात् तथा च सूत्रं सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वादिति सत्त्वादीनां प्रकृतिस्वरूपत्वं न तु प्रकृतिधर्मत्वम्। गुणेभ्य एव सर्वकार्योपपत्तौ तदन्यप्रकृतिकल्पनावैयर्थ्यात्। सूत्रभाष्याभ्यामपि तथोक्तत्वात्। यत्तु प्रकृतेर्गुणा इतिवद् वनस्य वृक्षा इतिवद् व्यष्टिसमष्ट्यभिप्रायेणेति सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेरभवन् गुणा इति च न सत्त्वादीनां प्रकृतिकार्यत्ववचनं गुणनित्यतावाक्यविरोधेन महत्तत्त्वकारणीभूतकार्यसत्त्वादिपरम्। महदादिसृष्टिर्गुणवैषम्यात्। तच्च सजातीयसंवलनेन गुणान्तरव्यावृत्तप्रकाशादिफलोपहितः सत्त्वादिव्यवहारयोग्यः परिणाम इति सत्त्वादिव्यवहारो वैषम्य एवेत्याह श्रुतिः यथा तम एवेदमग्र आसीत् तत्परे स्यात् परेणेरितं विषमत्वं[1] प्रत्ययाद्वै रजसो[2] रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रत्ययाद्वै सत्त्वस्य[3] रूपमिति सत्त्वादित्रयं च सत्त्वादिस्वरूपमिति सत्त्वादित्रयं च सुखप्रकाशलाघवप्रसादादिगुणकतया संयोगविभागादिमत्तयानाश्रितत्वोपादानत्वादिना द्रव्यत्वेपि पुरुषोपकारत्वात् पुरुषबन्धकत्वाच्च गुणशब्देनोच्यते इन्द्रियादिवत् गुणानां सुखदुःखमोहात्मकत्वप्रवादस्तु धर्मधर्म्यभेदात्

१. क्षोभककालरूपेण कार्यपरिणामोन्मुखत्वम्।
२. रजोव्यवहारयोग्यं कार्यं रजसः।
३. कार्यस्य सत्त्वव्यवहारयोग्यस्य।

मनसः सङ्कल्पात्मकत्ववत् तत्र सत्त्वं सुखप्रसादप्रकाशाद्यनेकधर्मकमपि प्रधानतस्तु सुखात्मकमुच्यते। एवं रजोपि दुःखकालुष्यप्रवृत्त्याद्यनेकधर्मकं प्राधान्यतस्तु दुःखात्मकमुच्यते। एवं तमोपि मोहावरणस्तम्भनाद्यनेकधर्मकं प्राधान्यतस्तु मोहात्मकमुच्यते। सतो भावः सत्त्वं धर्मप्राधान्येनोत्तमं पुरुषोपकरणं रागयोगाद्रजो मध्यमम्। तमोधर्मावरणयोगादधमं सत्त्वादीन्यसंख्यव्यक्तयः प्रतिक्षणपरिणामित्वात् लघुत्वादिधर्मैरन्योन्यं साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानामसंख्यातमितिसूत्रात्। एकदानेकपुरुषादिसृष्टिश्रवणाच्च एकैकव्यक्तित्वे विभुत्वं स्यात् तथा च संयोगवैचित्र्याभावादनन्तवैचित्र्यं कार्याणां न स्यात्। द्रव्यान्तरस्यावच्छेदकीभूतस्याभावाच्च। तस्मादसंख्यातान्येव सत्त्वादीनि त्रित्वकथनं तु विभाजकोपाधित्रयेणैव वैशेषिकाणां नवद्रव्यवचनवत् सत्त्वादीनि च यथायोग्यमणुविभुपरिमाणकानि इतरथा रजसश्चलस्वभावत्ववचनविरोधः स्यात्। आकाशकारणस्य विभुत्वौचित्यात् सर्वकारणद्रव्यविभुत्वे कार्यपरिच्छेदासम्भव इति।

शब्दस्पर्शविहीनं तद्रूपादिभिरसंहतम्।
त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्॥

इत्याद्युक्तेर्न परमाण्वादावन्तर्भावः प्रकृतेरिति।

अथैवमपि प्रकृतेरणुविभुसाधारणसत्त्वाद्यनेकव्यक्तिरूपत्वे अपरिच्छिन्नत्वैकत्वाक्रियत्वसिद्धान्तक्षतिरिति चेन्न, कारणद्रव्यत्वरूपप्रकृतित्वेनैवापरिच्छिन्नत्ववचनाद्गन्धत्वेन गन्धानां पृथिवीव्यापकतावत् आकाशादिप्रकृतीनां विभुत्वेनैव प्रकृतिविभुत्वसिद्धान्तोपपत्तेश्च। तथा पुरुषभेदेन सर्गभेदेन च भेदाभावस्यैव एकशब्दार्थत्वात्। अजामेकामितिश्रुतेस्तथावगमात्। तथाध्यवसायोभिमानादिक्रियाराहित्यस्यैवाक्रियशब्दार्थत्वादित्यन्यथा श्रुतिस्मृत्युक्तस्य प्रकृतिक्षोभस्यानुपपत्तेरिति। तत्रायं प्रयोगः सुखदुःखमोहात्मकमहदादिकार्यं सुखदुःखमोहात्मकद्रव्यकार्यं सुखदुःखमोहात्मकत्वात् वस्त्रादिकार्य-

शय्यावदिति प्रकृतौ प्रमाणम्। बाह्यवस्तुषु सुखादिकमुत्तमत्वादिकमेव घटरूपमितिवच्चन्दनसुखं स्त्रीसुखमित्यादिप्रत्ययाच्चेति दिक्।

अव्यक्तबुद्ध्यहङ्कारास्तन्मात्राणां च पञ्चकम्।
अष्टौ प्रकृतयस्त्वेताः सप्त च व्यक्ततामियात्॥
अव्यक्तप्रकृतिजन्यत्वादव्यक्तानीति चोच्यते।
व्यज्यन्ते च यथा लोके घटाद्या न तथा हि तत्॥
अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम्।
अव्याकृतं तमःपुष्पं क्षेत्रमक्षरनामकम्॥
बहुधात्मकादिनामानि तस्यामी ते जगुर्बुधाः।
व्यज्यते नेन्द्रियैर्यस्मादव्यक्तमत उच्यते।
अनादिमध्यनिधनान्निरङ्गत्वेन तत् तथा॥

तदेवाह श्रुतिः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं यथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः॥ इति।
तस्मादलिङ्गकं सूक्ष्मं तथा प्रसवधर्मिकम्।
एकं साधारणं तत्र कार्यं कस्यापि नेतरे॥
बुद्धिर्महान् मनो ब्रह्मा मतिः ख्यातिरपूर्वकम्।
प्रज्ञा भूतिर्धृतिर्ज्ञानं सन्ततिः स्मृतिरित्यपि॥
हैरण्यगर्भ्या बुद्धेस्तु महतो नाम सूचितम्।
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो वेदा विजज्ञिरे॥
एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। इति।
विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयंभूर्भवति प्रभुः॥

अत्र सत्त्वाद्यंशत्रयेण महतो देवतात्रयोपाधित्वात्तदविवेकेन तिस्र इति।

सात्त्विकांशात् प्रधानात् तु महत्तत्त्वमजायत इति महत्त्वस्य प्राधान्येन चाध्यवसायो वृत्तिर्महदहंकारमनस्त्रितयात्मकस्यान्तः-

करणवृक्षस्य महत्तत्त्वं बीजावस्था तदुक्तं सांख्यसूत्रे इदमेव महत्तत्त्वमंशतो रजस्तमःसंभेदेन परिणतं सत् व्यष्टिजीवानामुपाधिरधर्मादियुक्तं क्षुद्रमपि भवति महदुपरागाद्विपरीतमिति। महतस्त्रिगुणस्वरूपत्वाद्देहस्य देहिना कालरूपविष्णुना क्षोभ्यदशायां गुणरूपोपाधिप्राधान्यादविवेके ब्रह्मविष्णुशिवत्वं तत्र महान् सुषुप्त्यभिमानी शिवस्तदुपाधिस्तमःकार्यरूपी तत्र स्वप्नाभिमानी विष्णुस्तदुपाधिः कार्यसत्त्वं तत्र जाग्रदभिमानी ब्रह्मा तदुपाधिः कार्यरजः तत्र समुदायसमुदाय्यनन्यन्यायेन समष्टेर्व्यष्टयनन्यत्वान्मशकादिरपि विष्णुरेवेति भावः। सृष्टिस्तु महदादिक्रमेणैव न तु भूतादिक्रमेणेति।

सा च कौर्मे—

भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज ह।
आकाशसुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम्॥
आकाशं तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।
वायुरुत्पद्यते तस्मात्तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥ इत्यादि।

नन्वेवं चेदाकाशादीनां केवलं विकृतित्वं कथं तत्र आकाशादीनां स्पर्शादितन्मात्रेषु अहंकारोपष्टम्भमात्रेण कारणत्वस्य पुराणादिषूक्तत्वात्।

न पुमान् स्थाणुरेवायं बुद्धिरध्यवसायिनी।
पुरुषाधिष्ठितात् सर्वगताज्ञाता प्रधानता॥
चिच्छक्तिर्यादृशी तादृग् वृत्तिः सत्त्वविमिश्रिता।
रजोगुणस्वरूपा यत् त्रिवृत्करणतः श्रुतेः॥
ज्ञानं धर्मश्च वैराग्यमैश्वर्यं सत्त्वतो ह्यमी।
अनैश्वर्यमवैराग्यमधर्मोऽज्ञानमेव तु॥
तमसश्चापि ते ज्ञेया बुद्धेर्भेदा इतीरिताः।
ज्ञानं तत्त्वावबोधोऽयं धर्मः श्रुत्युक्तपालनम्॥
वैराग्यमर्थानासक्तिरैश्वर्यमणिमादिकम्।

तत्तद्विपर्ययेणैव तामसं तच्चतुष्टयम् ॥
ज्ञानेन मोक्षो धर्मेण गतिरूर्ध्वा भवेदिति ।
वैराग्येनाक्षरलय ऐश्वर्येणाहता गतिः ॥

एवमेषाष्टधा शक्तिर्व्याख्याता बुद्धिसञ्ज्ञिता ।
प्रधानविकृतिस्त्वेषाहंकारप्रकृतिश्च सा ॥
मूलप्रकृतिरित्यादि कविभिश्च निरूपितम् ।
एकोहंकार इत्येतज्जिज्ञासा चेद्विभावय ॥
योहंशब्दं करोत्येष अभिमान इति स्मृतः ।
स्पृशेहं रसये वाहं स्वामी चाहं मया हृतः ॥
इत्यादि नाम यस्यासीत्तस्य भेदा अमी शृणु ।
वैकारिकस्तैजसोपि भूतादिः सानुमानकः ॥
निरनुमानश्च पञ्चैते भेदास्तस्य प्रकीर्त्तिताः ।
वैकारिकः सात्त्विकोऽयं भूतादिस्तामसः स्मृतः ॥
तैजसो राजसो ज्ञेयस्तस्मात् तन्मात्रपञ्चकम् ।
एकादशेन्द्रियगणः सात्त्विकादभिजायते ॥
देवतास्त्वभिमानिन्यस्तैजसादपि चोच्यते ।
तदेव कथमेवं चेत् त्रिवृत्करणहेतुतः ॥
शब्दतन्मात्रमित्येतत् शब्द एवोपलभ्यते ।
न तूदात्तनिषादादिभेदस्तस्योपलभ्यते ॥
स्पर्शतन्मात्रमेवैतत् स्पर्श एवोपलभ्यते ।
न तु शीतमृदुत्वादिविशेषस्तस्य लभ्यते ॥
रूपतन्मात्रमेवं वै रसतन्मात्रमप्यथ ।
गन्धतन्मात्रमेतेषु विशेषो नोपलभ्यते ॥
तन्मात्राण्यविशेषाणि सूक्ष्मभूतानि चोच्यते ।
भोग्यानि शान्तघोराणि प्रकृत्याऽणव एव च ॥
कुर्वद्रूपात् प्रकृतयः संख्ययाऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥

षोडश विकाराः ॥ २ ॥

एकादशैवेन्द्रियाणि महाभूतानि पञ्च च ।
विकाराः षोडशैवैते न तु प्रकृतिताजुषः ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियं त्विदम् ।
वाक्पाणिपायूपस्थपादाः कर्मेन्द्रियं मतम् ॥
स्वं स्वं कर्म प्रकुर्वन्ति ज्ञानं चेति यथैषितम् ।
उभयात्मकं मनश्चैव संकल्पादिस्वरूपवत् ॥
करणानीन्द्रियाणीति वैकारिकमयं रयः ।
पदानि नियतानीहेत्यक्षाणीत्यभिधीयते ॥
पृथिवीजलतेजांसि वायुराकाश इत्यपि ।
महाभूतानि पञ्चैव धारणाद्युपकारतः ॥
आपः संग्रहभावेन चतुर्णामुपकारिकाः ।
तेजः पाचकभावेन वायुर्वहनभावतः ॥
शब्दादिपञ्चगुणवत्पृथ्वी पञ्चगुणा मता ।
आपः शब्दादिसहिता गन्धेन रहितास्तथा ॥
तेजः शब्दस्पर्शवच्च रूपवच्छ्वसने पुनः ।
शब्दश्च स्पर्श इत्येवमाकाशे शब्द एव तु ॥
न तु विग्रहभूतानि विशेषाकृतयस्तथा ।
विकाराः शान्तघोराख्यमूढाः त्रिविधकीर्त्तिताः ॥

पुरुषः ॥ ३ ॥

पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुवृत्तितः ।
स चानादिः सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽपरः ॥
द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मकः ।
सूक्ष्मो नित्यो ह्यथानादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि सः ॥
सर्वमाप्तमनेनेति तस्मात् सर्वगतस्तु सः ।

सुखोपलब्धिमत्त्वाच्च चेतनोऽनिर्गुणस्तथा ॥
सत्त्वादिगुणराहित्यात् परः परतया स्मृतः ।
दृश्यप्रकृतिसम्बन्धाद् द्रष्टा भोक्तानुभावनात् ॥
क्षेत्रे गुणगतं वेत्ति क्षेत्रज्ञ इति कीर्त्तितः ।
शुभाशुभादिसंसर्गाभावादमल इष्यते ॥
निर्बीजत्वात् प्रसूते च नेत्यप्रसवधर्मकः ।
निरङ्गत्वातीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मो नित्यः सदातनात् ॥
एवं सांख्यः स पुरुषो व्याख्यातः पूर्वसूरिभिः ।
जीवो जन्तुः पुमानात्मा पुरुषः पूजको नरः ॥
क्षेत्रज्ञश्चाक्षरः प्राणः को य एषः स ज्ञस्तथा ।
अज एतानि नामानि सांख्ये पुरुषसञ्ज्ञिते ॥

एवम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
मुण्डी जटी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥
अयं कर्तेथवाऽकर्त्ता पुरुषः प्रकृतेः परः ।
शुभाशुभानि कर्त्ता चेत् कुर्याद् वृत्तित्रयं विना ॥
लोकदृष्टगुणानां चेत् कर्तृता धर्मिता कथम् ॥
साहित्यं यमनियमनिषेचनप्रसंख्यानात् ।
ज्ञानैश्वर्यविकारप्रकाशने सात्त्विकी वृत्तिः ॥
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादो निन्दा तुष्टिः ।
विकृताकृतपारुष्यं प्रख्यातैषा रजोबुद्धिः ॥
उन्मादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसङ्गिता ।
निद्रालस्यं नैर्घृण्यं त्वशौचमिति तामसी वृत्तिः ॥
एतद् वृत्तित्रयं दृष्ट्वा गुणानां कर्तृताथवा ।
अकर्ता पुरुषः सिद्ध इति सिद्धान्त इष्यते ॥
प्रवर्त्तमानप्रकृतेरिमान् गुणान् रजस्तमोभ्यां विपरीतदर्शनात् ।

आत्मानमाच्छाद्य स आत्मने तद् अहङ्करोमीत्यबुधोऽवमन्यते ॥
बालाग्रकुक्षीकरणासमर्थः सर्वं मयेदं कृतमित्यमन्यत ।
उन्मत्तवद्भाव्यत इत्यबोधो ह्यहो विधेः पण्डितमानिनः कः ॥

तदुक्तं गीतासु—

प्रकृतेः[1] क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति सदात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ इत्यादि ।
स एकः पुरुषः किं वा नानेति च विचारय ।
सुखदुःखमोहसङ्करविशुद्धजन्ममरणानाम् ।
नानात्वात् पुरुषबहुत्वं सिद्धं लोकाश्रमवर्णभेदाच्च ॥
यद्येकः पुरुषः स स्याद् बुद्धिहानिः प्रसज्यते ।
एकस्मिन् सुखिते सर्वे सुखिनः स्युरतः परम् ॥
एकस्मिन् दुःखिते सर्वे दुःखिताः स्युरिति क्रमात् ॥
अतो बहुत्वं संसिद्धं बहवः पुरुषाः स्मृताः ।

आकृतिगर्भाशयभावसङ्गतिशरीरविभागाल्लिङ्गबहुत्वात् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषबहुत्वं वर्णयन्ति । वेदवादिन आचार्या हरिहरहिरण्यगर्भव्यासादय एकमात्मानं, तथा च श्रुतिः—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्येनातिरोहति ।
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥

---

१. अत्र प्रकृतेरिति षष्ठी अभेदे एकशतं षष्ठ्यर्था इति भाष्योक्तेः । चित्स्वरूपपुरुषस्य व्यपदेशे पुरुषस्य चैतन्यमिति विकल्पोदाहृतेश्च ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।
तदेव सत्यममृतं स मोक्षः सा परा गतिः ॥
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् ।
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ॥
वृक्ष इव स्तम्भो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥
सर्वस्य पशुमीशानं सर्वस्य शरणं महत् ।
सर्वतः सर्वसत्त्वानि सर्वात्मा सर्वसम्भवः ॥
सर्वं विलीयते यस्मिन् तद् ब्रह्म मुनयो विदुः ।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।
स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ इत्यादि ।

त्रैगुण्यम् ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा भावे ण्यस्त्रैगुण्यम् ।
प्रसादो लाघवं सङ्गः प्रसङ्गात् प्रीतिरार्जवम् ॥
तुष्टिस्तितिक्षा सत्त्वस्य रूपं साक्षात् सुखावहम् ।
शोकस्तम्भद्वेषतापखेदभोगाभिमानिता ॥
रजोरूपाण्यनेकानि बहुदुःखप्रदानि वै ।
तमो नामाच्छादनादि बीभत्सावरणादि च ॥
दैन्यगौरवनिद्रादिप्रमादालस्यलक्षणम् ।
मोहात्मकमनन्तं तदेवं त्रैगुण्यमीरितम् ।
सत्त्वं प्रकाशकं विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्त्तकम् ॥
विनाशकं तमो विद्यात् त्रैगुण्यं नाम सञ्ज्ञितम् ।

सञ्चरः ॥ ५ ॥

साम्यावस्था गुणानां या प्रकृतिः सा स्वभावतः ।
कालक्षोभेण वैषम्यात् क्षेत्रे परयुते पुरा ॥
बुद्धिस्ततश्चाहङ्कारस्त्रिविधोपि व्यजायत ।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च क्रमात् ॥
एवं क्रमेणैवोत्पत्तिः सञ्चरः परिकीर्तितः ।

प्रतिसञ्चरः ॥ ६ ॥

व्युत्क्रमेणैव लीयन्ते तन्मात्रे भूतपञ्चकम् ।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि अहङ्कारे विलीयते ॥
अहङ्कारोऽथ बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्तसञ्ज्ञके ।
अव्यक्तं न क्वचिल्लीनं प्रतिसञ्चर इति स्मृतः ॥

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं च ॥ ७ ॥

बुद्ध्यहङ्कारमनसी श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी तथा ।
जिह्वा घ्राणं पादपायूपस्थमध्यात्मसञ्ज्ञितम् ॥
यत्तु मोक्षधर्मे—
आदौ मन अहङ्काराज्जायते वृत्तयश्च ताः ॥
शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धजिघृक्षया ॥
इत्यादिनेन्द्रियाणां मनोवृत्तिरागादिकार्यत्वं तद्भेदान्तरीत्यैवेति मन्तव्यम्—

अधिभूतम्—
यथाक्रमेण बोद्धव्यमभिमन्तव्यमेव च ।
सङ्कल्पितव्यं श्रोतव्यं स्प्रष्टव्यं द्रष्टव्यमेव च ॥
रसयितव्यं घ्रातव्यं गन्तव्यमुत्सृष्टव्यं च ।
आनन्दयितव्यमित्येवमधिभूतं प्रकीर्तितम् ॥

अधिदैवतं च—

ब्रह्मा रुद्रश्चन्द्रमाश्च आकाशो वायुरेव च ।
सूर्यो वरुण इन्द्रश्च विष्णुर्मित्रं तथैव च ॥
अनेनैव क्रमेणेदं संप्रोक्तमधिदैवतम् ।
चत्वारि यो वेदयते यथा चक्षुषा स्वरूपाण्यधिदैवतं वा ।
विमुक्तयाथागतदोषसङ्गो गुणांस्तु भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते ॥

पञ्चाभिबुद्धयः ॥ ८ ॥

इच्छाभिबुद्धिर्विज्ञेया आभिमुख्येन कर्मणः ।
इदं मे कार्यमित्येषोऽध्यवसायः करोम्यहम् ॥
इच्छा वाञ्छाथ सङ्कल्पो मनसः कर्म चेष्यते ।
एवमेताश्च पञ्चाभिबुद्धयः परिकीर्तिताः ॥

पञ्च कर्मयोनयः ॥ ९ ॥

धृतिः श्रद्धा सुखेच्छा विविदिषा तदभावकौ ।
सामान्यतः समुद्दिष्टाः पञ्चैते कर्मयोनयः ॥
वाचि कर्मणि संकल्पे प्रतीतिर्याभिरज्यते ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः ।
प्रतिग्रहश्च होमश्च श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखं सुखार्थी सेवेत विद्या कर्म तपांसि च ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ॥
विषधूममूर्च्छितवद् विविदिषा ध्यानिनां प्रज्ञायोनिः ।
एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं वेदमचेतनम् ॥
सूक्ष्मसत्कार्यसंक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा हि सा ।
कार्यकरणक्षमकरी विविदिषा प्राकृती वृत्तिः ॥
धृतिः श्रद्धा विविदिषा सुखा चेति चतुष्टयम् ।

ज्ञेयं बन्धो विविदिषा मोक्षाय परिकल्पिता ।
कर्मयोनिस्वरूपोयं विशिष्य परिकीर्त्तितः ॥

पञ्च वायवः ॥ १० ॥

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
मुखनासाधिचारी यः प्राणनात् प्राण उच्यते ।
नाभेरधिचरत्येवोपानयेऽपान इष्यते ॥
हृद्यधिष्ठाननयनात् समान इति कीर्तितः ।
कण्ठादूर्ध्वावगमनादुदान इति च स्मृतः ॥
सन्ध्यधिष्ठानतो व्यानो विक्षेपणविजृम्भणात् ।

पञ्च कर्मात्मानः ॥ ११ ॥

वैकारिकादयः पूर्वं यथाक्रममुदाहृताः ।
शुभं वाऽशुभमूढौ च शुभमूढाऽशुभमूढके ॥
यथाक्रमं च कर्त्तारस्तत्तत्कर्म समीरितम् ।

पञ्चपर्वा अविद्या ॥ १२ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रश्चान्धतामिस्रः ॥
अष्टकौ तौ तमोमोहौ प्रकृत्यष्टकनिष्ठितौ ।
आत्मज्ञानाभिमान्येयं प्राप्त्याद्यैश्वर्यमानितां[1] ॥
निर्वृत्ते विषये दृष्टे पञ्चानुश्रविके तथा ।
मोहोऽहमभिमानो यो महामोहो दशात्मकः ॥
अष्टैश्वर्ये दशविषये सिद्धतामिस्र उच्यते ।
विषादः सोऽन्धतामिस्रो मरणे प्रतिपद्यते ॥
अविद्या पञ्चपर्वैषा भिन्ना द्वाषष्टिभेदतः ॥

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्या ।

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३ ॥

जडत्वकुष्ठिकुब्जत्वरूपताऽघ्राणत्वमूकत्वसुपङ्गुताश्च ।
कुणिर्गुदावर्तिं च षण्ढता च उन्माद इत्येष निरूपितोऽयम् ॥
एकादशेन्द्रियवधो बाधिर्यादिस्वरूपतः ।
बुद्धेर्वधः सप्तदश तुष्टिसिद्धिविपर्ययः ॥
नास्ति प्रधानमिति या प्रतिपत्तिरजम्भिका ।
न महानित्यसलिला नायाच्छा चानहंकृतौ ॥
न वास्त्यदृष्टिस्तन्मात्रपञ्चकं भूतकारणम् ।
सर्वमेवेदं ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।
यथा वेदान्तिनां तद्वत् सांख्यानामीदृशी मतिः ॥
असुता विषयार्जने प्रवृत्तिः सुतरा परिरक्षणे प्रवृत्तिः ।
क्रयदोषमपश्यतो धने प्रवृत्तिः असुनेत्रा परिकीर्त्यते हि सांख्यैः ॥
अकुर्भरीचिका[1] भोगशक्तिर्हिंसाद्यपश्यतः ।
अनुत्तमाम्भसिका दोषभोगादम्भः प्रवर्त्तनम् ॥
नवधा कथिता ह्येते तत्र तुष्टिविपर्ययाः ।
कथ्यन्ते सिद्धयो ह्यष्टौ तेऽमी सिद्धिविपर्ययाः ॥
नानात्वमूहमानस्य सिद्धमेकमतारकम् ।
विपरीतग्रहः शब्दश्रवणादसुतारकम् ॥
नानात्वज्ञो मुक्त इति श्रुत्वैकज्ञो न मुक्तिभाक् ।
अतारयन्तमज्ञानासदच्छास्त्रनिवेशतः ।
दुःखितस्याप्यनुद्वेगादप्रमोदा हि संसृतौ ॥
अप्रमुदं तदज्ञानमप्रमुदितमप्रमोदमानं वा ।
असम्यग्वचनादप्युपरोधेन वा गुरौ ॥
अभाग्यस्य न सिद्धिः स्यात् ज्ञाने तत् समुदीरितम् ।
स्निग्धसंसर्गतो ज्ञानोत्तराज्ञानमरम्यकम् ॥

१. 'दुर्मरीचिका' इति कचित् ।

व्याख्याताः पूर्वरीत्याष्टावेते सिद्धिविपर्ययाः ।
अष्टाविंशतिधा शक्तिर्व्याख्यातोभययोगतः ॥

नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥

प्रकृतौ परमात्मत्वं प्रतिपद्यैव तुष्टिभाक् ॥
माध्यस्थ्यमवलम्बेत अम्भः सा तुष्टिरुच्यते ।
बुद्धौ च परमात्मत्वे तुष्टिः सा सलिला स्मृता ॥
अहंकारे यदा सा स्यादायाच्छा इति शब्दिता ।
तन्मात्रेषु यदा सा स्यात् तुष्टिर्दृष्टिर्निगद्यते ॥
आध्यात्मिकाश्चतस्रस्तु तुष्टयः प्रभवन्ति हि ।
मोक्षस्तास्वपि नास्त्येव तत्त्वज्ञानाद्यथोदिता ॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
त्यागे दुःखं क्षये[1] दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥ इति ।
दोषदर्शनसन्तुष्टः परब्रह्मैव मोक्षभाक् ।
सुतेयं पञ्चमी तुष्टिस्तत्त्वज्ञानाद्यभावतः ॥
रक्षणे सुतरा षष्ठी सप्तमी क्षयदर्शनात् ।
सुनेत्रा सङ्गदोषा चाष्टमी कुर्मरीचिका ॥
अर्थे हिंसादिदोषेण निवृत्तिश्च समस्करी ।
तुष्टिस्तु नवमी प्रोक्ता ह्युत्तमाम्भसिका तव ॥

अष्टधा सिद्धिः ॥ १५ ॥

ज्ञानं यद्दूरमुत्पन्नं ताराख्या प्रथमा हि सा ।
शब्दमात्रेण भूतेषु सुतारा ज्ञानमिष्यते ॥
ज्ञानमध्ययनेनैव तारयन्ती तृतीयका ।
अध्यात्मदुःखापनयात् प्रमोदेत्यभिधीयते ॥

१. 'व्यये' इति कचित् पाठः ।

भौतिकक्लेशहरणात् प्रमुदा सिद्धिरुच्यते ।
आधिदैवक्लेशहरणात् ज्ञानमुत्पद्यते नृणाम् ॥
प्रमोदमानेत्याख्याता षष्ठी सिद्धिः स्वयं सताम् ।
स्निग्धसंसर्गनाशात्तु रम्यका सप्तमी स्मृता ॥
प्रमुदा चाष्टमी सिद्धिः परिचर्यादिना गुरोः ।
इत्येताः सिद्धयो ह्यष्टौ व्याख्याता ज्ञानसाधिकाः ॥

दश मूलिकार्थाः ॥ १६ ॥

अस्तित्वमेकत्वयथार्थवत्त्वे पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृकत्वम् ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥
एषा सा दशमूलिकार्थगणना सङ्गतपारार्थ्यतः
सिद्धा सा पुरुषास्तिता परिणतेर्भेदस्य तत्कारणम् ।
अस्त्यव्यक्तमनन्तमेकमिति च प्रेमाविषादात्मकं
नानापायपरार्थता त्रिगुणतोन्यत्वस्य सिद्धिस्तथा ॥
विपर्यासादकर्तृत्वं योगः पुरुषदर्शनात् ।
प्राप्ते शरीरभेदे तु चरितार्थत्वदर्शनात् ॥
जन्मादिकरणान्तानां भेदान्नाना हि ते स्मृताः ।
चक्रभ्रमिवच्छेषवृत्तिः सिद्धार्था दश मूलिकाः ।
सप्तत्या प्रागुपदिष्टाः पञ्चाशत् प्रत्यया इमे ।
दशषष्टिपदार्थैस्तु षष्टितन्त्र इतीर्यते ॥

अनुग्रहसर्गः ॥ १७ ॥

ब्रह्मानुग्रहमसृजद्रूपतन्मात्रतः पृथक् ।
उत्पाद्यानुग्रहध्यानात् प्राक्तनाधारवर्जनात् ॥

चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८ ॥

अष्टविकल्पं दैवं पैशाचं राक्षसं तद्वत् ।
गान्धर्वमैन्द्रं ब्राह्मं च सौम्यं ब्राह्मयमथाष्टकम् ॥

देवयोनय एवैते तिर्यग्योनिस्तु पञ्चधा ।
मृगपशुपक्षिसरीसृपस्थावरमिति भेदसम्भिन्ना ॥
मानुष्यकं चैकविधं ब्राह्मणादिचाण्डालान्तम् ।
पशवो गवादिमूषान्ताः पक्षिणो गरुडादिकाः ॥
मशकान्ता मृगाश्चापि सिंहादि च शिवान्तकाः ।
शेषादि अलगर्दान्ताः सर्पाः पर्वतभूतृणाः ॥
स्थावरा भौतिकः सर्ग एतत्संसारमण्डलम् ॥

त्रिविधो बन्धः ॥ १९ ॥

प्रकृतिबन्धः प्रकृतिलयः परत्वेनाभिमन्यतः ।
संन्यासिनामिन्द्रियेषु लयो वैकारिकोऽपरः ॥
गृहिणां दक्षिणाबन्धो वदान्यत्वाभिमानिनाम् ।
इत्येष त्रिविधो बन्धस्त्रिविधो मोक्ष उच्यते ॥

त्रिविधो मोक्षः ॥ २० ॥

ज्ञानोद्रेकादुपरतेश्च धर्माधर्मक्षयो भवेत् ।
धर्माधर्मक्षयाच्चाथ कैवल्यमिति गीयते ॥
तदुक्तम्—आद्यो हि मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
कृत्स्नक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं चैतत् प्रमाणकम् ।
पञ्चेन्द्रियाणि प्रत्यक्षं वृष्टिर्मेघोदयेन तु ॥
अनुमानमिन्द्रो देवानां राजाशब्दः प्रमापकः ।
आगमेऽपि—स्वकर्मभिर्विनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः सोऽपि ज्ञेयश्च तादृशः ॥

त्रिविधं दुःखम् ॥ २२ ॥

दुःखं तु त्रिविधं प्रोक्तमध्यात्ममधिभूतकम् ।
आधिदैवं च तत्रापि प्रथमं द्विविधं स्मृतम् ॥

शारीरं मानसं चेति वातकामादिदोषजम् ।
भूतेभ्यो मानुषादिभ्यो जातं स्यादाधिभौतिकम् ॥
देवेभ्यः शीतवातादिभवं स्यादाधिदैविकम् ।
एतत् समासतः प्रोक्ता सूत्रव्याख्या यथामति ॥
प्रक्रियां च प्रवक्ष्यामि पौराणिकहिताय वै ।
एतत् परम्परया याथातथ्यम् ॥ २३ ॥
एतत् सर्वं ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात् ॥ २४ ॥
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ॥ २५ ॥[1]

महान् अहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि अव्यक्तसंज्ञानि भवन्ति महच्छब्देन हैरण्यगर्भो बुद्धिरुच्यते । प्रधानं मूलमव्यक्तसंज्ञम् । ज्ञः पुरुषः । एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि । तत्र प्रधानं कारणमेव न कार्यम् । महदादयः सप्त पूर्वपूर्वस्य कार्याणि उत्तरोत्तरस्य कारणानि । इन्द्रियाण्येकादश पञ्च महाभूतानि कार्याण्येव न कारणानि । पुरुषस्तु न कार्यं न वा कारणम् । तदुक्तम्—मूलप्रकृतिरित्यादि । महान् अहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि सप्त प्रकृतिविकृतयः । प्रधानाद् बुद्धिर्जायत इति प्रधानविकारः सैवाहङ्कारं जनयतीति प्रकृतिः अहङ्कारोऽपि बुद्धेर्जायत इति विकृतिः सोऽपि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि जनयतीति प्रकृतिः ।

तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्काराज्जायत इति विकृतिस्तस्मादाकाशं जायत इति शब्दतन्मात्रं प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्काराज्जायत इति विकृतिस्तदेव वायुं जनयतीति प्रकृतिः । एवं रूपतन्मात्रमहङ्काराज्जायत इति विकृतिस्तदेव तेजो जनयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्काराज्जायत इति विकृतिस्तदेवाम्भो जनयतीति प्रकृतिः । तथा गन्धतन्मात्रमहङ्काराज्जायत इति विकृतिस्तदेवावनिं जनयतीति प्रकृतिः ।

एतानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि स्थूलभूतानां कारणानि

१. २३।२४।२५। सूत्राणि प्रथमादर्शपुस्तके न सन्ति ।

षोडशकश्च विकारः । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च महाभूतानि एष षोडशको गणो विकार एव न प्रकृतिः । पुरुषस्तु नोभयमित्यर्थः ।

प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपं त्रिविधं प्रमाणम् । तत्र प्रत्यक्षं तावत् श्रोत्रादिपञ्चकं लोकोचितशब्दादिगुणग्राहकम् । अनुमानं चाप्रत्यक्षार्थग्राहकं धूमादि । शब्दस्तावत् त्रिविधो भवति वागिन्द्रियविषयः श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्रविषयश्च । तेषु कण्ठतालवादिस्थलाद्यच्छिन्नः शब्दो वागिन्द्रियविषयः तत्कार्यत्वात् वागिन्द्रियव्यवहितश्रोत्रस्थश्च शब्दतः शब्दः श्रोत्रस्य विषयस्तद्ग्राह्यत्वात् । घट इत्यादिपदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात् ।

तानि पदान्येवार्थस्य करणत्वात् स्फोट इत्युच्यते । तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योतिरिक्तं वर्णानामाशुतरविनाशितया मेलनाभावेनैकं पदमिति व्यवहारगोचरत्वासम्भवात् अर्थस्मारकत्वासम्भवाच्च । अस्य च स्फोटस्य कारणमेकः प्रयत्नविशेषः प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सति एकपदव्यवहाराभावादर्थाप्रत्ययाच्च तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वीविशिष्टतया अन्त्यवर्णप्रत्ययः अतश्च बुद्धेरेव स्फोटग्राहकत्वम् आनुपूर्व्या बुद्ध्यैव ग्रहणसम्भवेन सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात् । अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते घोत्तरटत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण ग्रहणासम्भवात् आशुतरविनाशितया वर्णानां मेलनासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णसंस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्वस्यैवौचित्यादिति ।

स्यादेतत् स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थप्रत्यायकत्वं वास्तु अलं स्फोटेन तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायात् । एतदेव सांख्यसूत्रेणोक्तं प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्द इति । एकत्वप्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यते ।

अत्रोच्यते—एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः । असमवायिकारणसंयो-

गविशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां लाघवात् तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायसाम्यात् एको घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येकं वनमित्यादिप्रत्ययवदुपपत्तेः। अथ परमाणूनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेत् तुल्यं स्फोटेऽपि आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रियघटिततया आनुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोटसाधकमिति। अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत् कल्प्यते इत्यतस्तत्र लौकिकप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः।

तथा हि प्रणवस्याकारोकारमकारूरूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवं देवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकं चतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति। सा चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव सम्भवति सैव चार्द्धमात्रेत्युच्यते राशिवदविभक्तयोर्वर्णपदयोर्वर्णा एकमर्द्धं पदं चान्यदर्द्धमित्युपपद्यते। यथा चावयवेभ्यो विविच्यावयवी न व्यवहार्यो भवति एवमेव प्रत्येकवर्णेभ्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इति। अतः स्मर्यते "अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषत" इति।

ननु स्यादेवमर्द्धमात्रोपपत्तिः। नादबिन्दोस्तु किं स्वरूपम्, उच्यते—प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्खनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः। या च नादस्योपरमावस्था अतिसूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया बिन्दुरुच्यत इति। तस्मादवयवेभ्योऽवयवीव वर्णेभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम्। नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेन्न, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक्।

शब्दस्तावत् यथोपदेष्टृपुरुषवाच्यलक्षणः इन्द्रो देवराडित्यादिः। अर्थापत्तिसम्भवाभावैतिह्यप्रतिभोपमानानि यदि प्रमाणानि तर्ह्यत्रैवान्तर्भाव्यानि न पृथक्। प्रकृतिपुरुषौ विद्यमानावपि नोपलभ्येते सूक्ष्मत्वात् यथाकाशे धूमोष्मनीहारपरमाणवः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते। महदादिकार्यदर्शनेन तत्कारणमिव प्रधानमनुमीयते। त्रिगुणप्रधानजन्यं महदादिकार्यं किञ्चित्प्रकृतिसदृशं लोके उभयथा पुत्ररूपकार्यदर्शनात्।

तच्च कार्यं सत् नासत् न सदसत् नानिर्वचनीयम् अत्यन्तासत्त्वे सिकताभ्योऽपि तैलमुत्पद्येत। अन्यौ च पक्षौ विरुद्धावेव अव्यक्तसञ्ज्ञं प्रधानं स्वतन्त्रं व्यापि नित्यं च व्यक्तसञ्ज्ञं कार्यमस्वतन्त्रमव्यापि अनित्यं च। पुरुषः स्वतन्त्रो व्यापी नित्यश्च। त्रयाणां लोकानां कारणं प्रधानं तच्चैकं लाघवात्। प्रलयकाले महदादिकार्यं प्रधाने लीयते। तच्च प्रधानं सत्त्वरजस्तमोमयम्। गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः। प्रधातमचेतनं पुरुषस्तु चेतनः। व्यक्तप्रधानविलक्षणः शुद्धो गुणरहितः। कार्यस्य सुखदुःखमोहजनकत्वेन तत्र कारणीभूतानि सत्त्वरजस्तमांसि अनुमेयानि। दृष्टं च यथाक्रमं भर्तृसपत्नीविटेषु सुखदुःखमोहजनकत्वं कामिन्याः। त्रिगुणमयेऽपि कार्ये यदा सत्त्वमुद्रिक्तं भवति जनादृष्टात् तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वकार्यं सुखं जनयति। एवं यदा रज उद्रिक्तं भवति तदा सत्त्वतमसी अभिभूय स्वकार्यं जनयति दुःखम्। एवं यदा तम उद्रिक्तं भवति तदा सत्त्वरजसी अभिभूय स्वकार्यं मोहं जनयति।

दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदात्। तथा हि तत्र आध्यात्मिकं द्विरूपं शारीरं मानसं चेति। शारीरं तावत् वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि। मानसं तु प्रियवियोगाप्रियसंयोगादिजम्। आधिभौतिकं तु चतुर्द्धाभूतग्रामनिमित्तं पशुपक्षिमृगमनुष्यसरीसृपदंशयूकामत्कुणस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यो जायते। दिवः प्रभवति तद्दैवं तदधिकृत्य यज्जायते तदाधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशनिपातजम्। समुदिततन्तवः पटमिव गुणसमुदायात्मकं प्रधानं महदादिकार्यं जनयति। एकरसमपि यथा आकाशसलिलं वाप्यादौ पतितं सद् वाप्यादिसंश्लेषाद् रसान्तरमापद्यते तथा एकरूपादपि प्रधानाद्देवादयः क्रमेण सुखिनो दुःखिनो अत्यन्तमूढाश्च भवन्ति। तथा सत्त्वौत्कट्याद्रजस्तमसोरौदासीन्याद्देवाः अत्यन्तं सुखिनः। रजस औत्कट्यात् सत्त्वतमसोरौदासीन्यान्मनुष्याः अत्यन्तं दुःखिनः। तमस

औत्कट्यात् सत्त्वरजसोरौदासीन्यात्तिर्यञ्चः अत्यन्तं मूढाः। महदादिसङ्घातः भोक्तृसापेक्षः भोग्यत्वात् पर्यङ्कवत्। महदादिसङ्घः पराधीनः अचेतनत्वात् मालावत्। एवं पुरुषोऽनुमीयते। स च नाना जन्ममरणकरणानां प्रत्येकं भेदात्। अयमर्थः—एकस्य मरणे सर्वे म्रियेरन् यद्येक एव आत्मा स्यात् एकस्य च जन्मनि सर्वे जायेरन् एकस्य करणवैकल्ये सर्वे करणवैकल्यवन्तः स्युः। न चैवं दृश्यते तस्मान्नाना। पञ्चविंशतितत्त्वगोचरसम्यग्ज्ञानात् पुरुषस्य कैवल्यं भवति। तच्चान्यत्वं प्रधानादिभेद इति यावत्। अविवेकात् संसारः विवेकात् कैवल्यम्। अर्थतः अख्यातिवादाङ्गीकारः। अत एव इदं रजतमिति ज्ञानं न भ्रमः किंतु स्वरूपतः अर्थतश्च अविविक्तं ज्ञानद्वयम्। यस्य यादृशमिदं रजतमिति रजतज्ञानविषयीभूतं तस्य तादृशमेव जगदिति निर्णयः।

अत एव वस्तुतस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम इत्येव लक्षणलक्षितः परिणामोऽङ्गीकृतः स च पुरुषः प्रतिशरीरं नानेत्यवादिष्म अविकारित्वात्। वस्तुतोऽकर्ता मुक्तवत् साक्षिवदुदासीनः। सत्त्वरजस्तमांसि कर्तृणि कर्माण्यपि भवन्ति। अकर्तापि पुरुषः कर्तेव व्यवहियते। अचोरश्चोरैः सह धृतश्चोर एव। गुणाभेदात् प्रकृतिः कर्त्री न पुरुषः। दर्शनशक्तिमतः क्रियाशक्तिरहितस्य पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगः महदादिभूतपर्यन्तं प्रधानं द्रष्टुम्। दर्शनशक्तिरहितस्य क्रियाशक्तिमतः प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः मोक्षार्थं पुरुषस्य भिन्नत्वेन व्यक्ताव्यक्तपुरुषज्ञाने जाते प्रधानस्य मोक्षो भवति। नित्यसुखोपलब्धिर्मोक्ष इति चेदुपलब्धेरपि नित्यानित्यविवेकग्रस्तत्वादसारम्। न च नित्यसुखगोचरस्याविद्यादियत्किञ्चिदावरणभङ्ग एव पुरुषार्थो वाच्यः सुखानुभवस्यैव पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरणस्यापि असम्भवाच्च। मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयस्तु मोक्षशास्त्रपरिभाषामात्रा।

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात् तदुपलभ्यते।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसञ्ज्ञा विधीयते॥

दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखात्ययः स्मृतः।

इत्यादिस्मृतिभिर्दुःखनिवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिता। सांख्यसूत्रमपि दुःखनिवृत्तिगौण इति विमुक्तिप्रशंसा मन्दानामिति च। आनन्दावाप्तिस्तु गौणमोक्षो ब्रह्मलोके भवति इति पश्चात् कृतार्थयोः प्रधानपुरुषयोर्वियोगो भवति अन्धपङ्गुसंयोगवत्। तथाहि एकः पङ्गुरपरश्चान्धः द्वावप्येतौ दुष्टे पथि गच्छन्तौ महता सार्थेन सह दैवाद्बन्धुभिः परित्यक्तौ यथायोगं गमनशक्तिदर्शनशक्तिरहितौ दर्शनार्थं गमनार्थं च संयुक्तौ भवतः। तथा चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितस्तदर्शितमार्गेणान्धो याति पङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः सन् याति। पश्चात् स्वस्वदेशप्राप्त्यनन्तरं कृतार्थौ सन्तौ वियुक्तौ भवतः। तथा च प्रधानं पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्त्तते। पुरुषो न प्रवर्त्तते नापि निवर्त्तते। द्रष्टा भोक्ता च पुरुषः। भोगश्चिदवसानतालक्षणः। न क्रियावेशात्मा स च पुरुषः अनाद्यविवेकात् संसरति। सच्छास्त्रश्रवणेन गुर्वनुग्रहेण च निर्विचिकित्सो विवेकज्ञाने जाते मुच्यते। प्रकृतिपुरुषसंयोगात् संसारः सञ्जायते। स्त्रीपुरुषसंयोगादपत्यमिव प्रकृतेर्महत्तत्त्वं जायते। महत्तत्त्वादहङ्कारो जायते। स च त्रिविधः वैकारिको भूतादिस्तैजसश्च। यो हि वैकारिकः स एव सात्त्विकः यो भूतादिः स एव तामसः यो हि तैजसः स एव राजसः। तत्र वैकारिकादहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि तदभिमानिन्यो देवताश्च जायन्ते। भूतादेश्चाहंकारात् तन्मात्राणि जायन्ते तैजसादहङ्कारादेकादशेन्द्रियगणस्तन्मात्रपञ्चकं च जायते। एतद्गणद्वयस्य यथासंख्यं वैकारिकाद्भूतादेश्चाहारङ्गाजातत्वात् कथं पुनरुत्पत्तिरुच्यत इति चेच्छृणु।

यदा रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वगुण उत्कटो वैकारिकसञ्ज्ञां लभमानोऽहङ्कारोऽप्रवृत्तिधर्मा तैजसाहङ्कारं सहायीकृत्य प्रवृत्तिधर्माण्येकादशेन्द्रियाणि जनयति तदा तानि स्वसाहाय्यच्छलमधिगम्य तैजसस्वरूपेणापि कृतानीत्युच्यते। यदा च सत्त्वरजसी अभिभूय तमोगुणोत्कटो

भूतादिस्तैजसाहङ्कारस्य रूपं सहायीकृत्य तन्मात्रपञ्चकं प्रवृत्तिधर्मकं करोति तदा तत्तन्मात्रपञ्चकं स्वसाहाय्येनैव तैजसेनापि कृतमित्युच्यते तस्मात् प्रवृत्तिधर्मकात् तत्तन्मात्रपञ्चकाद् भूतपञ्चकमुत्पद्यते। एष परिणामक्रमः। वैकारिकादेकादशेन्द्रियाणि भूतादेस्तन्मात्रपञ्चकमिति।

अयमर्थः—वैकारिकस्य भूतादेश्च स्वस्वप्रवृत्तिधर्मककार्यद्वयस्य यथासंख्यं जनने तैजसाहङ्कारस्य साहाय्यम्। तैजसाहङ्कारस्य साहाय्यकरणादेव एतद्गणद्वयलक्षणककार्यस्य प्रवृत्तिधर्मकत्वम्। बुद्धिजनकानीन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि तानि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि। तेषां च विषयाः रूपशब्दगन्धरसस्पर्शाः। कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि तानि च वाक्पाणिपादपायूपस्थानि। तेषां च विषयाः वाग्वदनादानगमनोत्सर्गानन्दाः। मनो बुद्धीन्द्रियं च यतो बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिं सङ्कल्पयति कर्मेन्द्रियाणां च अत उभयात्मकं मनः। मनोऽपि विभु धर्माधर्मवासनाश्रयतः प्रतिपुरुषमन्तःकरणं नित्यमाकाशवत्। न च प्रकृतिधर्मा एव सन्त्वदृष्टादय इति वाच्यम् अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखाद्युत्पादेऽतिप्रसङ्गात्। तच्च नाणु सम्भवति योगिनां सर्वावच्छेदेन एकदाखिलसाक्षात्कारासम्भवात्। न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात् संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने मानाभावाद् गौरवाच्च अन्योन्यव्यभिचाराच्च। साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने जातिसाङ्कर्यात् अतिगौरवाच्च। योगिमते सर्वार्थग्रहणसमर्थस्यान्तःकरणस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेरिति नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति प्रलये विनाशेनादृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः। अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभ्वेव सिद्ध्यति तदुक्तम्—

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥

स्यादेतत्। अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्यावरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते। अत एव सांख्यसूत्रं "न व्यापकं मनः करणत्वा" दिति। तद्गतिश्रुतेरिति वेति किं चैवं सति लाघवात् चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितं किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यते।

अत्रोच्यते—गतिश्रुतिस्तावत् आत्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपद्यते कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्। कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं च सांख्यैरप्येष्टव्यम्, केवलकार्यत्वेऽन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनामिति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः। केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः। यत्तूक्तं चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्। कूटस्थचैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासम्भवात्। न च चैतन्यस्यार्थसम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्; एवमप्यात्मदर्शनानुपपत्तेः करणद्वारं विना स्वस्मिन् प्रतिबिम्बादिरूपेण स्वस्वसम्बन्धासम्भवात्। अपि च इच्छाकृत्याद्याधारतयान्तःकरणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दृश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्प्यन्ते कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यौचित्यात्। एवं च घटाद्याकारपरिणताश्चैतन्ये भासन्ते तदविभागेनैव बाह्यघटादिकं भासतेऽतस्तादृशपरिणामप्रतिबन्धकमेवावरणं तत्रैव युक्तम् किञ्च बाह्यकरणस्यावरणदर्शनेनान्तरावरणस्यापि करणनिष्ठत्वं चानुमीयते आत्मनोऽनावृतत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां चेति।

नन्वन्तःकरणस्य विभुत्वे सति कथं कार्यत्वं स्यादिति चेन्न, विभ्व्या अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणामवद् गुणान्तरसम्भेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूपपरिणामोपपत्तिः श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतदिष्यत इति दिक्।

मनसः सङ्कल्पो विषयः। एतान्येकादश वैकृताहङ्काराज्जातानि

इत्यवादिष्मैव बुद्धिप्रतिबिम्बितमर्थं पुरुष उपलभते । तदुक्तं बुद्धिस्थमर्थं पुरुषश्चेतयते । अहं धर्मं करिष्यामीत्यध्यवसायो बुद्धेर्लक्षणम् । धर्मो ज्ञानं विरागः ऐश्वर्यमेतत् सात्त्विकबुद्धेः । तद्विपरीतमविरागादि तामसम् ।

पञ्चविंशतितत्त्वैरेव जगद्व्याप्तं न न्यूनैर्नाधिकैश्च वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्येव अज्ञस्यापि प्रधानस्य पुरुषमोक्षार्थं प्रवृत्तिरुचितैव । लिङ्गशरीरं तु बुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियपञ्चतन्मात्राणामष्टादशानां समुदायः त्रयोविंशतितत्त्वमध्ये पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसञ्ज्ञं भवति वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात् । तच्च सर्वपुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति तेन चैवेह लोकपरलोकयोः संसरणं जीवानां भवति । प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो न लिङ्गशरीरात् पृथङ् निर्दिश्यते तस्य च लिङ्गशरीरस्य सूक्ष्माणि पञ्चभूतानि आश्रयश्चित्रादिवदाश्रयं विना परमसूक्ष्मस्य लोकान्तरगमनासम्भवात् ।

इदं च लिङ्गशरीरमादौ स्वयंभुव उपाधिभूतमेकमेव जायते तस्यैव विराडाख्यवक्ष्यमाणस्थूलशरीरवत् । ततश्च व्यष्टिजीवानामुपाधिभूतानि व्यष्टिलिङ्गशरीराणि तदंशभूतानि ततो विभज्यन्ते । पितुर्लिङ्गशरीरात् पुत्रलिङ्गशरीरवत् । तदुक्तं सूत्रकारेण—व्यक्तिभेदः कर्मविशेषादिति । मनुनाप्युक्तम्—

तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ इति ।

षण्णामिति षडिन्द्रियं समस्तलिङ्गशरीरोपलक्षकम् । तथा च स्वयम्भूः स्वलिङ्गशरीरावयवान् सूक्ष्मानल्पान् आत्ममात्रासु स्वांशचेतनेषु संयोज्य सर्वप्राणिनः ससर्जेत्यर्थ इति लिङ्गशरीरम् । स्थूलशरीरोत्पत्तिस्तु दशगुणितमहत्तत्त्वमध्येऽहङ्कारस्तस्यापि दशगुणितस्य मध्ये व्योम्नोपि दशगुणितस्य मध्ये वायुर्वायोरपि दशगुणितस्य मध्ये तेजस्तेजसोऽपि दशगुणितस्य मध्ये जलं जलस्यापि दशगुणितस्य मध्ये पृथिवी समुत्पद्यते । सैव च स्थूलशरीरस्य बीजं तदेव च पृथिवीरूपं बीजमण्डरूपेण परिणमते तस्यापि दशगुणिताण्डरूपस्य पृथिव्यावरणस्य मध्ये चतुर्दशभुवनात्मकं स्वयम्भुवः स्थूलशरीरं तत्सङ्कल्पादेवोत्पद्यते तेनैव शरीरेण स्वयम्भूर्नारायण इत्युच्यते । तदुक्तं मनुना स्वयम्भुवं प्रकृत्य—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदास्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ इत्यादिनेति ।

तत एव चादिपुरुषाद् व्यष्टिपुरुषाणां विभागादन्ते च तत्रैव लयात् स एव चैव आत्मेति श्रुतिस्मृत्योर्व्यवह्रियते अतो न व्यवहारपरतया नारायण एव सर्वभूतानामात्मेत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोध इति । ततश्च स नारायणो विराट्शरीरी स्वनाभिकमलकर्णिकास्थानीयस्य सुमेरोरुपरि चतुर्मुखाख्यं स्वयम्भुवं सृष्ट्वा तद्वारान्यानपि व्यष्टिशरीरिणः स्थावरान्तान् ससर्ज । तदुक्तम्—

तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः कारणैः सह ।
क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः ॥ इति ।

यत्तु शेषशायिनो नारायणस्य नाभिकमलश्रोत्रचक्षुरादिभ्यश्चतुर्मुखस्याविर्भावः श्रूयते तद्दैनन्दिनसर्गेष्वेव कल्पभेदेन मन्तव्यम् । दैनन्दिनप्रलयेष्वेव हि नारायणशरीरे प्रविश्यैकीभूय सुप्तानां देवानां चतुर्मुखादिक्रमेणाविर्भावः शेषशायिनः सकाशात् घटते न त्वादिसर्गेषु दैनन्दिनप्रलय एव लीलाविग्रहेण शयनादिति ।

तदेवं संक्षेपतश्चतुर्विंशतितत्त्वानि तेषां सृष्टिक्रमं प्रयोजनं चोक्तम् ।

तत्र यद्यस्माज्जायते तस्य तदाऽऽपूरणेनैव स्थितिः ततस्तस्य संहारोऽपि तत्रैव भवति। तथा च भारते—

यद्यस्माज्जायते तत्त्वं तच्च तत्र प्रलीयते।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम्॥ इति।

एते च सृष्टिस्थितिसंहाररूपाः स्थूला एव परिणामाश्चतुर्विंशतितत्त्वानां कूटस्थपुरुषविवेकाय प्रदर्शिताः सूक्ष्मा अप्यन्ये प्रतिक्षणपरिणामा एतेषां स्मर्यन्ते—

नित्यदाह्यङ्गभूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न गृह्यते॥ इति।

अतस्तु सर्वं जडवस्तु परमार्थतः सर्वदैवासदुच्यते। ततश्च तस्माद्विरज्य आत्मैव परमार्थसत्यो दुःखभीरुभिर्द्रष्टव्यः। तदुक्तम्—

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः॥
महाभूतप्रशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वेन ज्ञानेन परमासिना॥
कृत्वा चाक्षरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी। इति।

तदुक्तं—इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च नोपसर्पन्त्यतः खलु।
हीनश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति॥
तस्मात्सर्वात्मकाद्रागाज्जायन्ते सर्वजन्तवः॥ इति।

नरकादौ विशेषरागाभावेऽपि सामान्यरागसत्त्वाद्रागस्य कर्मसहकारित्वं विपाकारम्भे तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्येति श्रुतावभिमानरागद्वेषादिजन्यस्य विषयवासनाख्यसङ्गसामान्यस्यैव जन्मादिविपाकारम्भे सहकारित्वसिद्धेः।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् गुणाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥ इति स्मृतेः।

सोऽथ प्रतिनिवृत्ताक्षो गुरुदर्पणबोधितः।
स्वतोऽन्यां विक्रियां मौढ्यादस्थितामज्ञसैक्षत॥
अथासौ प्रकृतिर्नाहमियं हि कलुषात्मिका।
शुद्धबुद्धस्वभावोऽहमिति त्यजति तां विदन्॥
एवं देहेन्द्रियादिभ्यः शुद्धत्वेनात्मनि स्मृते।
निखिला सविकारेयं त्यक्तप्राया हि चर्मवत्॥

नन्वनात्मन्यात्मबुद्धिरूपा याऽविद्या तस्याः कथमात्मविशेष्यकविवेकज्ञाननाश्यत्वं प्रकारादिभेदादिति चेत् न, तादृशाविद्याया अनात्मविशेष्यकविवेकद्वारेणात्मविशेष्यकविवेकनाश्यत्वादिति। यच्च योगेन निर्विकल्पकमात्मज्ञानं जायते तद्विवेकज्ञानद्वारैव मोक्षकारणं भवति न तु साक्षात्। अविद्यानिवर्तकत्वाभावात्। अहं गौरः कर्ता सुखी दुःखीत्यादिज्ञानमेव ह्यविद्या संसारानर्थहेतुतया श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धा तस्याश्च निवर्तिका नाहं गौर इत्यादिरूपा विवेकख्यातिरेव भवति। समाने विषये ग्राह्याभावत्वप्रकारकग्राह्याभावज्ञानत्वेनैव विरोधात्। अन्यथा मुक्तिनिर्विकल्पकस्यापि इदं रजतमिति ज्ञानविरोधित्वापत्तेः। किञ्च यथोक्ताभावज्ञाने ग्राह्यज्ञानविरोधित्वस्यावश्यकतया निर्विकल्पज्ञानस्य भ्रमनिवर्तकत्वं न पृथक् कल्प्यते गौरवात्।

अपि च अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्तीत्यादिश्रुत्या विवेकोपदेशापेक्षयोत्तम उपदेशो नास्तीत्युच्यते।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

इति गीतावाक्यैश्च विवेकज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वमुच्यतेऽतो विवेकज्ञानमेव साक्षादविद्यानिवृत्त्या मोक्षहेतुः। योगेन केवलात्मसाक्षात्कारस्तु योग्यानुपलब्धिविधयोपाध्यादिगतधर्माभावमुपाध्यादिभेदं च ग्राहयति ततोऽविद्यानिवृत्तिरिति। एतेन सर्वभूतेषु समताज्ञानम् आत्मनः सर्वात्मकत्वादिज्ञानं च श्रुतिस्मृत्योर्गीयमानं विवेकज्ञानस्यैव

शेषभूतं सर्वदर्शनेषु मन्तव्यम् । ज्ञानान्तराणां साक्षादभिमानानिवर्तकत्वाद् ब्रह्ममीमांसायां त्वयं विशेषो यत्परमात्मविवेकशेषत्वम् । सांख्यशास्त्रे तु सामान्यात्मविवेकशेषत्वमिति दिक् ।

विवेकख्यातेस्त्ववियानाशकत्वमेव न तु शुक्तिरजतविवेकदर्शिन इव पुनर्भ्रमदर्शनात् प्रतिबन्धकत्वं दृष्टान्ते पटलकामादिदोषबाहुल्यात् पुनरुज्जीवनं भ्रमस्य । अत्र च अनात्मन्यात्माभिमानेऽनादिवासनैव दोषः सर्वास्तिकसम्मतः जातमात्रस्याभिमाने दोषान्तरानुपलब्धेः सा मिथ्याज्ञानवासना यदा विवेकख्यातिपरम्पराजन्यदृढवासनयोन्मूलिता तदैव विवेकसाक्षात्कारनिष्ठोच्यते तत्पूर्वमवश्यं वासनालेशतो मिथ्यांशस्य कस्याप्यात्मनि भानात् तस्यां च विवेकख्यातिनिष्ठायां जातायां न पुनरभिमानः सम्भवति वासनाख्यदोषाभावादिति । यदि तु बुद्धिपुरुषयोरन्योन्यप्रतिबिम्बनादिकमविवेककारणं दोष इष्यते तदा तु तं दोषं बाधित्वैव विवेकसाक्षात्कार उदित इति न तस्य पुनर्भ्रमहेतुत्वं फलबलेन योगजधर्मासहकृतस्यैव तस्य दोषत्वकल्पनासम्भवादिति । यद्यपि विवेकप्रतियोगिपदार्थानामानन्त्याद्विशेषरूपेण विवेकग्रहो न सम्भवति तथापि दृश्यत्वपरिणामित्वादिरूपैः सामान्यविवेकग्रहसम्भवात् प्रकृत्यादिपदार्थानां विशिष्टज्ञानाभावेऽपि सामान्यतो विवेकख्यातेर्मोक्षहेतुत्वम् । तदुक्तम्—

घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।
देहद्रष्टा तदा देही नाहमित्यादिरूपतः ॥ इति ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यत्र तु न आत्मनो दृश्यत्वं वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि फलव्याप्यत्वरूपं यत्तु बौद्धैरपि सुखदुःखादिमत्त्वेनापि बुद्धिरनुभूयमाना स्वप्रकाशतया चैतन्यव्याप्या न भवति यथा वेदान्तिनामहमित्यनुभूयमानोऽप्यात्मा चैतन्याख्यफलव्याप्यो न भवतीत्युच्यते तन्निष्प्रमाणत्वादुपेक्ष्यम् । तत्प्रधानादिसर्गे उत्पद्यते । अधर्मवशात् पश्वादौ धर्मवशादेवादौ संसरति । अतत्त्वज्ञानादेव धर्माधर्मोपरञ्जितं प्रलयकाले प्रधाने लीयते । यद्यपि प्रधानपुरुषौ विभू तथापि प्रकृतिरेव लिङ्गव्यवस्थां करोति । लिङ्गं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं मानुषादिषु व्यवतिष्ठते नटवत् । यथा नटः स्वरूपेण एकोपि वेषान्तरेण नानारूपः तथा लिङ्गमुदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमानिति भवति पश्चविपर्ययसंज्ञा भवति यथा तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । धर्मेण प्राजापत्याद्यूर्ध्वलोकप्राप्तिः । अधर्मेण पश्वादिरज्ञानेन बन्धः पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानेनापवर्गः । तच्च तत्त्वज्ञानं गुरोः सकाशात् शास्त्रश्रवणेनैतादृशं जायते । तथा हि प्रधानादन्यः पुरुषः अन्या बुद्धिः अन्योऽहंकारः अन्यानि तन्मात्राणि इन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति । सर्वं कार्यं त्रिगुणात्मकमपि उद्रिक्तगुणापेक्षया सात्त्विकादिशब्दव्यपदेशभाक् चेतनः पुरुषः नानायोनिषु जरामरणकृतं दुःखं चेतयते प्राप्नोतीत्यर्थः । यावत् तत्त्वज्ञानेन लिङ्गशरीरं न निवर्तते तावत् स्थूलं शरीरं प्रतिजन्म नूतनं जायते नश्यति च । स्वप्रयोजनाभावेऽपि प्रत्युपकारनिरपेक्षं सुमित्रवत् प्रधानं महदादिविषयभूतपर्यन्तं कार्यं पुरुषस्य भोगाय मोक्षाय चारभते प्रकृतिः पुरुषस्य भेदेन बुद्ध्यहंकारादि दर्शयित्वा निवर्तते । यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसैर्हास्यादिभावैश्च निबद्धगीतादीनि रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते कृतार्थत्वात् तद्वत् । किञ्च प्रकृतिर्गुणवती अगुणस्य पुंसः जगद्योनिभावेन सुखदुःखमोहात्मकेन शब्दादिविषयभावेन वेत्येवंविधैरुपकारैरनुपकारिणः पुरुषस्योपकुर्वती पश्चादात्मानं प्रकाश्य अहमन्या त्वमन्य इति निवर्तते सुमित्रवत् आत्मनः प्रत्युपकारं नेच्छति ।

सर्गस्य नेश्वरः कारणं न स्वभावो न कालः कालोऽपि योगिनां क्षणरूप एव न तु न्यायवैशेषिकयोरिवात्मवदखण्डो नित्य एको लाघवात् स एव तत्तदुपाध्यवच्छिन्नः सन् क्षणमुहूर्तादिवत्सरान्तं व्यवहारं करोतीति । न तु क्षणनामा पृथक् पदार्थोऽस्तीति ॥

सांख्यैस्तु दिक्कालावाकाशादिभ्य इति सूत्रितं महाकालो वा

क्षणादिर्वा पृथक् पदार्थो नास्ति किन्त्वाकाशमेवोपाधिभिर्विशिष्टं क्षणादिमहाकालान्तव्यवहारं कुरूते इति मन्यते। तदेतन्मतद्वयमप्यसमञ्जसमित्याह योगी स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासम्भवात्। तथाहि उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्ना परमाण्वादिक्रिया अन्यद्वा एतादृशं किञ्चिन्महाकालाकाशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते तत्र उक्तं संयोगविशिष्टक्रियादिकं चेत् विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपरैः स्थिरत्वाभ्युपगमात् न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति यदि च तत्तेभ्योऽतिरिक्तमिष्यते न तु तन्महाकाल आकाशं वा तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यवहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात् स च विशिष्टादिरस्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तत्वापत्तिः। तस्यैव क्षणस्य प्रचयविशेषैर्मुहूर्ताहोरात्रादिर्द्विपरार्द्धान्तव्यवहारो भवति न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति प्रमाणाभावात् अद्येत्यादिव्यवहारः क्षणप्रचयेनैव कालनित्यत्वश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति तस्मादावश्यकत्वात् क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालेऽस्ति नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति किं तु प्रधानम्। पुरुषो न बध्यते न मुच्यते नापि संसरतीति किं तु नानाश्रया प्रकृतिरेव तथेति सर्वं समञ्जसम्[1] ॥

इति कान्यकुब्जश्रीषिमानन्ददीक्षितविरचितं सांख्यतत्त्वविवेचनं समाप्तम्।

१. अत्रादर्शपुस्तके समाप्तिसूचकं पुष्पिकादिवाक्यं नास्ति किन्तु अतः परं कश्चित् पाठोऽपि नास्तीति ग्रन्थसमाप्तिरनुमीयत इति। इदं पुस्तकं च ग्रन्थकर्तुरेवेति भूमिकायां निरूपयिष्यते॥

श्रीभावागणेशविरचितं

सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्

पुरुषः स जयत्याद्यः सा च प्रकृतिरीश्वरी[1]।
याभ्यां संसृज्य सृज्यन्तेऽनन्तब्रह्माण्डकोटयः॥ १॥
कपिलासुरिपञ्चशिखान् गुरून् विज्ञानाचार्यवर्यांश्च।
प्रणमामि बुद्धिवृद्ध्यै सिद्ध्यै वा सर्वकार्याणाम्॥ २॥
समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च।
भावागणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्॥ ३॥

तत्र तावद्विविक्तपुरुषज्ञानं मोक्षसाधनमिति। येभ्यो विवेक्तव्यो यश्च विवेचनीयः तदुभयं सूत्रत्रयेणोद्दिशति[2]।

अष्टौ प्रकृतयः। प्रकर्षेण कुर्वन्तीति प्रकृतयः। तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वमिति सामान्यलक्षणम्। ताश्च अव्यक्तबुद्ध्यहङ्कार[3]-पञ्चतन्मात्ररूपाः। तत्राव्यक्तं नित्यं शब्दादिगुणशून्यं सत्त्वादिगुणत्रयं च। साम्यावस्थोपलक्षिता गुणाः प्रकृतिरित्येकं लक्षणं च। अकार्या गुणा इत्यपरम्। तथा प्रकृतिपर्याया अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं तमः माया ब्राह्मी विद्या अविद्या प्रकृतिः शक्तिः अजा इत्यादयः। सत्त्वादिगुणवती सत्त्वाद्यतिरिक्ता प्रकृतिरिति तु न शङ्कनीयम्। किन्तु गुण एव प्रकृतिः। सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वादिति सांख्यप्रवचनसूत्रेण सत्त्वादीनां प्रकृतिस्वरूपत्वहेतुना प्रकृतिधर्मत्वप्रतिषेधात्। प्रकृतेर्गुण इत्यादि वाक्यं तु वनस्य वृक्षा इतिवद् बोद्धव्यम्। 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेरभवन् गुणा' इति प्रकृतिकार्यत्ववचनं तु गुणनित्यतावाक्यविरोधेन महत्तत्त्वकारणीभूतकार्यसत्त्वादिपरमेव।

१. प्रकृतिः सा जायत्यजा—पा० १ पु०।
२ लक्षणपरीक्षादिकं तु सांख्यप्रवचनेनैव कर्त्तव्यमित्याचार्याशयः।
३. महदहङ्कार—पा० २ पु०।

महदादिसृष्टिर्हि गुणवैषम्याच्छ्यते तच्च वैषम्यं सजातीयसंवलनेन प्रकाशादिफलोपहितः सत्त्वादिव्यवहारयोग्यः कारणगुणानां परिणाम इति। एतेनाष्टाविंशतितत्त्वपक्षोऽप्युपपादितो मन्तव्यः। सत्त्वादित्रयं च द्रव्यत्वेऽपि पुरुषोपकरणत्वाद् गुणा इत्युच्यन्ते। द्रव्यत्वं चैषां संयोगविभागादिमत्तया उपादानकारणत्वेन सिद्धम्। एषां सुखदुःखमोहात्मकत्वप्रवादस्तु धर्मधर्म्यभेदात्। मनसः सङ्कल्पात्मकत्ववत्। तानि च सत्त्वादीनि प्रत्येकं संख्याव्यक्तिकानि लघुत्वादिधर्मैरन्योन्यं साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानामिति सांख्यप्रवचनसूत्रात्। अत्र हि सूत्रं लघुत्वादिना बहूनां सत्त्वानां साधर्म्यं तेनैव रजस्तमोभ्यां वैधर्म्यम्। एवं च लघुत्वादिना बहूनां रजसां गुरुत्वादिना बहूनां तमसां साधर्म्यवैधर्म्ये उक्ते इति। तेषु त्रित्ववचनं तु सत्त्वत्वादिविभाजकोपाधित्रयेणैव वैशेषिकाणां नवद्रव्यवचनवदिति। तानि च सत्त्वादीनि यथोपयोगमणुविभुपरिमाणकानि। मध्यमपरिमाणत्वेऽनित्यत्वापत्तिः। सर्वेषां विभुत्वे कार्याणां परिच्छिन्नत्वानुपपत्तिः। आकाशप्रकृतेर्विभुत्वस्यैवौचित्यात्। ननु प्रकृतेश्चापरिच्छिन्नत्वैकत्वाक्रियत्वमिति सांख्यसिद्धान्तः। स च विरुध्यत इति चेन्मैवम्, गन्धस्य पृथिवीव्यापकत्ववत्प्रकृतेर्व्यापकत्वम्। तच्च प्रकृतित्वस्य दैशिकाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वम्। एकत्वं च सर्गभेदेन नानात्वाभावः। अक्रियत्वं चाध्यवसायाभिमानादिप्रतिनियतक्रियाराहित्यम्। अन्यथा श्रुतिस्मृतिसिद्धप्रकृतिक्षोभस्यानुपपत्तेरिति। प्रकृत्यनुमानं चेत्थं[1] महदादिकार्यं पक्षः सुखदुःखमोहात्मकद्रव्यकार्यमिति साध्यं कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वादिति हेतुः वस्त्रादिकार्यशय्यासनवदिति दृष्टान्तः। श्रुतिस्मृती चात्रानुग्राहकस्तर्कः॥

ननु सुखस्यान्तरेवानुभवात् शय्यासनादौ सुखे किं प्रमाणं येन दृष्टान्तता स्यादिति चेन्न, कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते इति

१. चेदं—पा० १ पु०।

न्यायेन विषयेषु त्रिगुणकार्येषु सुखदुःखमोहसिद्धेः घटरूपमिति[1] प्रत्ययवत् चन्दनसुखं स्त्रीसुखमित्यादिसुखप्रत्ययादपि विषये सुखाद्युचितं सुखदुःखोत्पादकत्वाच्च तद्गतमेव सुखदुःखादिकं सिध्यति। अन्तःकरणसुखादिहेतुतयापि विषये सुखादिकं सिद्ध्यति। कालादिभेदैरेकस्या एव व्यादिव्यक्तेः सुखदुःखोत्पादकत्वाच्च तद्गतमेव सुखदुःखादिकं सिद्ध्यति॥

इति मूलप्रकृतिनिरूपणम्।

अथ बुद्धिर्निरूप्यते। त्रिगुणात्मकमाद्यं कार्यं बुद्धिरित्येकं लक्षणम्। निश्चयवृत्तिकमन्तःकरणं बुद्धिरिति द्वितीयं लक्षणम्। तस्या धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याख्यप्रकृष्टगुणयोगात् महत्सञ्ज्ञा तदपि तृतीयं लक्षणम्। तस्याः पर्यायाः—मनो मतिर्महान् ब्रह्मा पूर्वं बुद्धिर्वृत्तिः ख्यातिः प्रज्ञा सन्ततिः स्मृतिरिति। अनुस्मृतौ च।

महानात्मा [2]मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ब्रह्मा धृतिः स्मृतिः॥
पर्यायवाचकैरेतैर्महानात्मा निगद्यते।
सर्वतः पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः॥
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति[3]।
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत।
विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः॥ इति।

इदमेव महत्तत्त्वमंशतो रजस्तमःसम्भेदेन परिणतं सद् व्यष्टिजीवानामुपाधिरधर्मादियुतं क्षुद्रमपि भवति। महदुपरागाद्विपरीतमिति सांख्यप्रवचनसूत्रात्। महदहङ्कारमनस्त्रितयात्मकस्यान्तःकरणवृक्षस्य महत्तत्त्वमङ्कुरावस्थेति। अत्र प्रकृतेर्महानित्यादिसृष्टिक्रमे शास्त्रमेव

१. पटरूपमिति—पा० २ पु०।
२. मनुर्विष्णुः—पा० २ पु०।
३. सर्वमावृत्य तिष्ठति—पा० २ पु०।

प्रमाणम् । इदमेव महत्तत्त्वंकार्येश्वरस्य स्वयम्भुव उपाधिस्तेनैवोपाधिना स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वकर्त्ता सर्वपालकः सर्वसंहर्त्ता च । मात्स्ये—

सविकारात् प्रधानात् तु महत्तत्त्वमजायत ।
महानिति यतः ख्यातिर्लोकानां जायते सदा ॥
गुणेभ्यः क्षोभमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे ।
एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ इति ।

स च स्वयम्भूः क्रियाशक्तिमत्केवलमहत्तत्त्वोपाधिकः सूत्रात्मेत्युच्यते । स एवार्द्धसुषुप्तावर्द्धलयात् प्राज्ञ इत्युच्यते । समग्रसुषुप्तौ तु समग्रलयेन निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपेणावस्थानादीश्वर इत्युच्यते श्रुतिस्मृतिपुराणेषु स च महांस्त्रिधा तदुक्तं वैष्णवे—

सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महानिति । ब्रह्मशङ्करोपक्षयाप्यादौ विष्णुरेवाविर्भवतीत्यर्धेनोक्तम् । पूर्वोक्तधर्मादिषु धर्मेणोर्ध्वगमनमूर्ध्वगमनेन भोगस्थानान्युपलक्ष्यन्ते । तेन पातालभूस्वर्गादीनामपि सङ्ग्रहः । ज्ञानेन मोक्षः वैराग्येण प्रकृतिलयः पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यात् प्रकृतिलयो भवति । तथा चोक्तं पुराणे—

प्रकृतिचिन्तकानधिकृत्य "पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्ति विगतज्वरा" इति । अत्र प्रकृतिग्रहणेन महदहङ्कारभूतेन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते । तत्र वैराग्यपूर्वकं तेषु तेष्वात्मभावेनोपास्यमानेषु लयो हि प्रकृताविति च श्रूयते । पूर्ववाक्यानन्तरमेव ।

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥ इति च ॥

अयं च प्राकृतिको बन्ध इत्युच्यते योगिभिः महदादिभावश्च वैकृतिको बन्ध इति । ऐश्वर्येणाप्रतिघातः ऐश्वर्यं चाणिमादिसिद्धयः ।

इति बुद्धिर्व्याख्याता ।

अहङ्कारो व्याख्यायते । महत्तत्त्वादहङ्कार उत्पद्यते अङ्कुराच्छाखावत् । तस्य चाहमाकारवृत्तिमत्त्वादहङ्कार इति संज्ञा ।

अहंवृत्तिमदन्तःकरणमहङ्कार इत्येकं लक्षणम् । एकादशेन्द्रियोपादानत्वं द्वितीयं लक्षणम् । तन्मात्रोपादानत्वं तृतीयं लक्षणम् । तस्य च पर्यायाः—

अहङ्कारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च स स्मृतः ।
आत्मा च प्रकृतो जीवो यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ इति ।

कौर्मप्रोक्ता अविशेषा इति च । स चाहङ्कारस्त्रिविधः । तदुक्तं कौर्मे—

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महतः सम्बभूव ह ॥
तैजसानीन्द्रियाणि स्युर्देवा वैकारिका दश ।
एकादशं मनश्चात्र स्वगुणेनोभयात्मकम् ॥
भूततन्मात्रसर्गस्तु भूतादेरभवत् प्रजा ॥ इति ।

वैकारिकः सात्त्विकस्तैजसो राजसः । स्वगुणेन सर्वेन्द्रियेषु साहाय्यरूपेणोत्कर्षेणोभयात्मकं ज्ञानकर्मेन्द्रियोभयात्मकमित्यर्थः । इन्द्रियदेवताश्च दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकामचन्द्रश्चेति एकादश ।

इत्यहङ्कारनिरूपणम् ।

अथ तन्मात्रा उच्यन्ते । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा निर्विशेषास्तद्वन्ति सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राः । निर्विशेषशब्दादिगुणवद् द्रव्यं तन्मात्रा इति सामान्यलक्षणम् । अहङ्कारोपादानत्वे सति तत्त्वान्तरारम्भकत्वं द्वितीयं लक्षणम् । तत्तन्निर्विशेषगुणवत्त्वं तत्तन्मात्रलक्षणम् । तानि च पञ्च शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति । शान्तघोरमूढाः पञ्चस्वपि विशेषाः शब्दत्वस्पर्शत्वादिव्याप्या जातिविशेषा एव । शब्दे तु उदात्तानुदात्तस्वरिताः निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः पञ्चमश्चेति स्वराः । स्पर्शे शीतोष्णत्वे । रूपे शुक्लत्वादयो विशेषाः । ते च श्वेतपीतरक्तश्यामहरितकपिशाः । रसे मधुरत्वादयो विशेषास्ते च

मधुरतिक्तकषायकट्वम्ललवणाः षड्रसाः । गन्धे सुरभित्वासुरभित्वे । एतैर्विशेषैः रहिता अविशेषास्तद्वन्ति द्रव्याणि तन्मात्राः । तेषां पर्यायाः—तन्मात्राणि तमोविग्रहाः सूक्ष्मविग्रहाः सूक्ष्मभूतानि अविशेषा इति ॥

इति पञ्च तन्मात्राः ।

एवमष्टौ प्रकृतयो व्याख्याताः ।

षोडशविकारा इति द्वितीयं सूत्रम् । एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च एते षोडश विकाराः । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि स्वस्वविषयकबुद्धिजनकत्वात् पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि स्वस्वकर्मकरणात् पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । तत्र उच्चारणं वाचः हस्तयोरादानं पादयोर्गतिः पायोरुत्सर्गः उपस्थस्यानन्दः । सर्वसहायत्वादुभयात्मकं मनः । एतान्येकादशेन्द्रियाणि । तत्त्वान्तरानारम्भकत्वे सति अहङ्कारोपादानत्वमित्येकं[1] लक्षणम् । अहङ्कारोपादानकत्वे सति शरीरसंयुक्तं क्रियाकरणमतीन्द्रियमिन्द्रियमिति द्वितीयम् । अथ पर्यायाः इन्द्रियाणि करणानि निपातनानि[2] वैकारिकाणि तैजसानि ।

इतीन्द्रियनिरूपणम् ॥

अथ महाभूतानि । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमिति । सविशेषशब्दादिमत्त्वं महाभूतत्वमित्येकं लक्षणम् । तत्त्वान्तरानारम्भकत्वे सत्यारम्भकत्वं द्वितीयं लक्षणम् । सविशेषशब्दगुणवत्त्वमाकाशस्य[3] लक्षणम् । सविशेषशब्दस्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणम् । सविशेषशब्दस्पर्शरूपवत्त्वं तेजसः । सविशेषशब्दस्पर्शरूपरसवत्त्वमपाम् । सविशेषशब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्त्वं पृथिव्याः । एतानि विशेषलक्षणानि । एतानि पञ्च महाभूतानि परस्परोपकारीणि । अथामीषां पर्यायाः—भूतानि विकारा विशेषा आकृतयः तमोविग्रहाः शान्ता घोरा मूढा इति ।

इति षोडशविकारा व्याख्याताः ॥

१. अहङ्कारमात्रोपादानकत्वमिन्द्रियत्वमित्येकं—पा० २ पु० ।
२. नियतानि—पा० १ पु० ।
३. गुणकत्वमाकाशस्य—पा० १ पु० ।

पुरुष इति तृतीयं सूत्रम् । अनादिः सूक्ष्मश्चेतनः सर्वगतः निर्गुणः कूटस्थो नित्यो द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रवित् अमनः प्रसवधर्मा चेति स्वरूपम् । कूटस्थनित्य इत्येकं लक्षणम् । मुख्यभोक्तृत्वमित्यपरं लक्षणम् । वृत्तिसाक्षित्वमिति तृतीयं लक्षणम् । अथ पर्यायाः—पुरुष आत्मा पुमान् पुद्गलजन्तुः जीवः क्षेत्रज्ञः नरः कविः ब्रह्म अक्षरः प्राणः ज्ञः यः कः स एक इति । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि एतज्ज्ञानात् कृतकृत्यो भवति । तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे स्थितः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

स च पुरुषो नाना सुखदुःखमोहजन्ममरणबन्धमोक्षव्यवस्थातः जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वमिति सांख्यप्रवचनसूत्रात् । यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन् सुखिते सर्वे सुखिताः स्युः । एवं सर्वत्र एवं पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चदिति न्यायवैशेषिकाश्च बहून् पुरुषानात्मत्वेन वदन्ति । औपनिषदाश्चाचार्या हरिहरहिरण्यगर्भव्यासादयः एभ्योऽतिरिक्तमेकमेव नित्येश्वरं सर्वेषामात्मानं वदन्ति । कस्मादेवं पुरुष एवेदꣳसर्वमिति । तदेवाग्निस्तदादित्य इति । तदक्षरं तद्विभुर्वरेण्यं यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ।

ब्राह्मणे कृमिकीटेषु श्वपाके गवि हस्तिनि ।
पशुगोदंशमशके रूपं पश्यन्ति सूरयः ॥
एकमेव यथा सूत्रं सुवर्णे वर्त्तते पुनः ।
मुक्तामणिप्रवालेषु मृन्मये रजते तथा ॥
तद्वत् पशुमनुष्येषु तद्वद्वस्तिमृगादिषु ।
एकोऽयमात्मा विज्ञेयः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ॥

इत्यादि प्रमाणेभ्यः। सांख्यास्तु आदिपुरुषविषयतया लयावशिष्ट-निर्विशेषचिन्मात्रविषयतया वा एतानि श्रुतिवाक्यानि योजयन्ति।

इति पुरुषनिरूपणम्।

एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि व्याख्यातानि।

सांख्यकारिका च—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ इति।

इदानीं प्रथमसूत्रेणैव गुणात्मकप्रकृतेरुद्दिष्टत्वेऽपि गुणानामवान्तर-विभागं तद्धर्माश्च विवेचयितुं वक्ष्यमाणसञ्चरप्रतिसञ्चरोपोद्घातसङ्गत्या[1] च सूत्रं प्रवर्त्तते।

त्रैगुण्यमिति चतुर्थं सूत्रम्। सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः तेषां समाहारस्त्रिगुणं त्रिगुणमेव त्रैगुण्यम्। तत्र सत्त्वं नाम प्रकाश-लाघवप्रसन्नताभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षादिलक्षणमनन्तभेदम्। समासतः सुखा-त्मकम्। रजो नाम शोकतापस्वेदस्तम्भोद्वेगोन्मादादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो दुःखात्मकम्। तमो नाम अदानापुण्यदैन्यगौरवालस्यनिद्रा-प्रमादादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो मोहात्मकम्। एतेषां लक्षणानि।

सत्त्वं प्रकाशकं विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्त्तकम्।
तमो लयात्मकं विद्यात्त्रैगुण्यं नाम संज्ञितम्॥
एते त्रयो गुणाः सर्वे उत्पत्तिस्थितिलयहेतवः॥

इति त्रैगुण्यं व्याख्यातम्।

इदानीं सगुणनिर्गुणश्रुतिविषयोपपत्त्यर्थं सर्गादावुत्पन्नं स्वयम्भुवं प्रलयावशिष्टनिर्विशेषचित्सामान्यं च दर्शयितुं सृष्टिप्रलययोः सूत्रद्वयं प्रवर्तते। सञ्चरः प्रतिसञ्चरः सञ्चरः सृष्टिः प्रतिसञ्चरः प्रलयः। तत्र सृष्टिर्यथा। अव्यक्ताख्या प्रकृतिः प्रवृत्तिस्वभावा स्वतन्त्रा च। सर्गादौ स्वयमेव क्षुब्धासती भाविनारायणबीजभूता पूर्वकल्पे स्वयम्भू-पालकेन नामकेन व्यक्तेन नारायणपुरुषेण संयुज्यते। ततश्च सजातीयै-

१. चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधा इति।

रन्यैः प्रकृत्यंशैर्न्यूनाधिकभावेन मिलिता सती चेतनाचेतनात्मकं महत्तत्त्वमारभते। ननु पुरुषस्य प्रकृतिसंयोगित्वे असंयोगो ह्ययं पुरुष इति श्रुतिविरोध इति चेन्न, विकारहेतुसंयोगस्यैव सङ्गशब्दार्थत्वात्। अन्यथा श्रुतिस्मृतिषु जलसंयोगिनोऽपि पद्मपत्रस्याऽसङ्गताद्दृष्टान्तता न स्यात्। तत्र महत्तत्त्वस्य स्वरूपेण मुख्योत्पत्तिः चेतनस्य तु अभिव्यक्तिरूपा कार्यता। योगभाष्ये व्यासधृतवाक्यान्नवधा कार्यता।

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥ इति।

एवमादिशक्तिरपि चेतनविशेषो महत्तत्त्वकारणीभूतगुणत्रयसम्ब-न्धात् स्वयम्भवाप्यादावुत्पद्यते। उत्पत्तौ च प्रमाणं प्रयोगसारे—

तस्माद्विनिर्गता नित्या सर्वगा विष्णुसम्भवा॥ इति।

वायवीयसंहितायां च—

शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव॥ इति।

पञ्चरात्रेऽपि—

एवमालोक्य तां शक्तिं सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
समस्ततत्त्वसन्धामस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम्॥
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्॥ इति।
प्रादुरासीज्जगन्माता वेदमाता सरस्वती।
गुणत्रयमयी शक्तिर्मूलप्रकृतिसञ्ज्ञिता॥

तस्यामहं समुत्पन्नस्तत्त्वैस्तैर्महदादिभिःइत्यादिशिववाक्याच्च। सैव प्रकृत्यधिष्ठात्री देवता महालक्ष्मी अम्बा भवानी हैमवती दुर्गा इत्यादिपदैरभिलप्यते पुराणादिषु। सैव च लीलाविग्रहैरादिपुरुषेण मिलिता सती सृष्टिं पालयति। तदुक्तं शङ्कराचार्यैः—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। इति।

एवं सर्वतत्त्वानां तत्तद्देवतानां च सहैवोत्पत्तिर्ज्ञेया। उत्पत्तिक्रमस्तु निरूपणक्रमेणैव। एतस्मान्महतो गुणान्तरसंवलितात् त्रिविधोऽहङ्कार उत्पद्यते चेतनाचेतनात्मकः वैकारिको राजसस्तामसश्चेति। ततश्चाहङ्कारात् सङ्कल्पपूर्वकं देहेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि चोत्पद्यन्ते। स्वयम्भुव इन्द्रियाणि देवतारूपाणि वैकारिकाद् व्यष्टीन्द्रियाणि च तैजसात् तेष्विन्द्रियेष्वादौ मन उत्पद्यते।

शब्दरागाच्छोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धजिघृक्षया॥

इत्यादिना मोक्षधर्मादौ श्रोत्रादीनां मनोवृत्तिरागादिकार्यत्वश्रवणात्। इन्द्रियतन्मात्रयोश्च कार्यकारणभावस्याभावात् क्रयनियमो नास्ति। तत्रेन्द्रियेषु नास्त्यवान्तरकार्यकारणभावः प्रमाणाभावात्। तन्मात्रेषु त्वस्ति स यथा अहङ्काराच्छब्दतन्मात्रं तस्मादहङ्कारोत्पन्नाच्छब्दतन्मात्रादहङ्कारसहितात् स्पर्शतन्मात्रं शब्दस्पर्शोभयगुणकम्। एवं क्रमेणैकैकगुणवृद्ध्या तन्मात्रत्रयमुत्पद्यते। ततश्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि जायन्ते। तत्राहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणां तद्वारा पञ्चमहाभूतानां चोत्पत्तौ पुराणे क्रम उक्तः स यथा—

भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज हि।
आकाशं सुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम्॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज हि।
वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥

इत्यादिक्रमेणेति। नन्वेवमाकाशादिभूतचतुष्टयस्यापि तत्त्वान्तरप्रकृत्यापत्त्या केवलविकृतित्वाष्टप्रकृतित्वसिद्धान्तक्षतिरिति चेन्न आकाशादीनां स्पर्शादितन्मात्रेष्वहङ्कारोपष्टम्भमात्रेण कारणत्वस्य पुराणेषूक्तत्वादिति। एवं त्रयोविंशतितत्त्वानां सृष्टिः। तेषु पञ्चमहाभूतानि वर्जयित्वाहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसञ्ज्ञं भवति। वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां स्वस्व-

बीजभूतप्रकृतिसंयोगात् सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति। तेनैव चेहलोकपरलोकयोर्जीवानां संसरणं भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो लिङ्गशरीरे पृथक् न निर्दिश्यते बुद्धावेवान्तर्भावात्। तस्य च लिङ्गशरीरस्य परमसूक्ष्माणि पञ्च महाभूतानि तेजःप्रधानान्याश्रयः चित्रादिवत् आश्रयं विना लोकान्तरगमनासम्भवात्। तदुक्तं सप्तत्याम्—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ इति।

इदं च लिङ्गशरीरमादौ स्वयम्भुवः समष्टिचेतनस्य उपाधिभूतमेकमेव समष्टिरूपं जायते ततश्च व्यष्टिजीवानामप्युपाधिभूतानि व्यष्टिलिङ्गशरीराणि तदंशभूतानि ततो विभज्यन्ते पितुर्लिङ्गशरीरात् पुत्रलिङ्गशरीरवत्। तदुक्तं सांख्यप्रवचनसूत्रेण—व्यक्तिभेदः कर्मविशेषादिति। मनुनाप्युक्तम्—

तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ इति।

षण्णामिति षडिन्द्रियं समस्तलिङ्गशरीरोपलक्षकम्। तथा चायमर्थः—स्वयम्भूः स्वलिङ्गशरीरावयवान् सूक्ष्मानल्पान् आत्ममात्रासु स्वांशचेतनेषु संयोज्य सर्वप्राणिनः ससर्जेति।

इति लिङ्गशरीरनिरूपणम्।

अथ स्थूलशरीरोत्पत्तिः। दशगुणितमहत्तत्त्वमध्येऽहङ्कारस्तस्मिन्नपि दशगुणे व्योम तथैव व्योम्न्यपि वायुः वायावपि तेजः तेजसि दशगुणे जलं तथैव जलस्यापि दशगुणस्य मध्ये पृथिवी समुत्पद्यते। सैव स्थूलशरीरस्य बीजमण्डरूपेण परिणमते। तस्यापि दशगुणितस्याण्डस्य पृथिव्यावरणस्य मध्ये चतुर्दशभुवनात्मकं स्वयम्भुवः स्थूलशरीरं तत्सङ्कल्पादेवोत्पद्यते। तेनैव शरीरेण स्वयम्भूर्नारायण इत्युच्यते। स्वयम्भुवं प्रकृत्य मनुनाऽप्युक्तम्—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

इत्यादिनेति । तत एवादिपुरुषाद्व्यष्टिपुरुषाणां विभागाद् अन्ते च तत्रैव लयात् स एवैक आत्मेति श्रुतिस्मृत्योर्व्यवहियते । ततश्च स नारायणो विराट्शरीरी पृथिवीरूपस्वनाभिकमलकर्णिकास्थानीयस्य सुमेरोरुपरि चतुर्मुखमवान्तरब्रह्माणं सृष्ट्वा तद्वारान्यानपि व्यष्टिशरीरिणः स्थावरान्तान् ससर्ज । तथा च स्मर्यते—

तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणै सह ।
क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः ॥ इति ।

यत्तु शेषशायिनो नारायणस्य नाभिकमलश्रोत्रचक्षुरादिभ्यश्चतुर्मुखस्याविर्भावः श्रूयते । तद्दैनन्दिनसर्गेष्वेव हि कल्पभेदेन मन्तव्यम् । दैनन्दिनप्रलयेष्वेव हि नारायणशरीरे प्रविश्यैकीभूय सुप्तानां देवानां चतुर्मुखादिक्रमेणाविर्भावः शेषशायिनः सकाशाद् घटते न त्वादिसर्गेषु । दैनन्दिनप्रलय एव नारायणस्य लीलाविग्रहेण शयनादिति । अस्यां सृष्टौ महत्तत्त्वस्य बुद्धिपूर्वकः त्रिगुणात्मकः प्रथमः सर्गः । तदनन्तरं तदुपाधिकस्वयम्भुवः सकाशाद् बुद्धिपूर्वकः सर्गः । स्वयम्भुवोऽज्ञदेवताः स्वयम्भूश्च स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण ज्ञानवत्त्वाद् विदेहा देवा इत्युच्यन्ते । तासु स्वयम्भूरेवेश्वरः नित्येश्वरानङ्गीकारात् । देवताश्चेश्वरकोटयः अविद्यानावृतोपाधिकत्वात् । अविद्यावृतोपाधिकाश्च जीवकोटय एव । अविद्यावृतानावृतोपावृतोपाधिकत्वे एव जीवेश्वरविभाजके । तदुक्तं स

ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयादित इति । तदेवं सञ्चरो निरूपितः ।

तत्र यद्यस्माज्जायते तस्येतरापूरणेनैव स्थितिः । तद्व्यतिरेकेणैव तत्संहारोऽपि तत्रैव भवति । तथा चोक्तं महाभारते—

यद्यस्माज्जायते तत्त्वं तत्तत्र प्रविलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ इति ।

एते च सृष्टिस्थितिसंहाररूपाः स्थूला एव परिणामाः कूटस्थपुरुषविवेकाय प्रदर्शिताः । सूक्ष्मा अप्येषां परिणामाः स्मर्यन्ते । यथा—

नित्यदाद्यङ्गभूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ इति ।

अत एव सर्वं जडवस्तु परमार्थतः सर्वदैव असदुच्यते । ततश्च तस्माज्जडवर्गाद्विरज्यात्मैव परमार्थसत्यो दुःखभीरुभिर्द्रष्टव्यः । परमार्थसत्यत्वं च कूटस्थनित्यत्वम् । तत्र कूटस्थनित्यत्वासंहतत्वापरार्थत्वचिन्मात्रत्वाद्यसाधारणधर्मैरुत्कृष्टैः प्रकृत्यादिभ्यो विवेक्तव्यः । इदानीं सदेवेत्यादिश्रुत्यर्थ उपपाद्यते । प्रतिसञ्चरान्ते यन्निर्विशेषं चित्सामान्यमवशिष्यते । तदेव सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिषु सद्ब्रह्मादिपदवाच्यम् । अद्वितीयत्वं तु अवैधर्म्याविभागाख्याभेदेनेति । इदानीमन्तकालीनभगवत्स्मरणस्य परमगतिहेतुत्वश्रवणात् तत्स्मरणस्य च साध्यात्मसाधिभूतसाधिदैवभगवदनुचिन्तनजन्यत्वादध्यात्मादिविभागः प्रदर्श्यते सूत्रत्रयेण । तत्र च प्रमाणम्—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ इति ।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ इति ।
अध्यात्मम् ॥ ७ ॥ अधिभूतम् ॥ ८ ॥ अधिदैवम् ॥ ९ ॥

सूत्रत्रयस्यापि क्रमेणैव व्याख्या । बुद्धिरध्यात्मम् । बोद्धव्य-

मधिभूतम् । ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् । अहङ्कारोध्यात्मम् । अधिमन्तव्यमधिभूतम् । रुद्रस्तत्राधिदैवतम् । मनोध्यात्मम् । सङ्कल्पयितव्यमधिभूतम् । चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । श्रोत्रमध्यात्मम् । श्रोतव्यमधिभूतम् । दिशस्तत्राधिदैवतम् । त्वगध्यात्मम् । स्पर्शयितव्यमधिभूतम् । वायुस्तत्राधिदैवतम् । चक्षुरध्यात्मम् । द्रष्टव्यमधिभूतम् । सूर्यस्तत्राधिदैवतम् । रसनमध्यात्मम् । रसोऽधिभूतम् । वरुणस्त्वधिदैवतम् । घ्राणमध्यात्मम् । गन्धोधिभूतम् । पृथिवी तत्राधिदैवतम् । वागध्यात्मम् । वचनमधिभूतम् । वह्निस्तत्राधिदैवतम् । पाणिरध्यात्मम् । आदेयमधिभूतम् । इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । पादावध्यात्मम् । गन्तव्यमधिभूतम् । विष्णुस्तत्राधिदैवतम् । पायुरध्यात्मम् । उत्सृष्टव्यमधिभूतम् । मित्रस्तत्राधिदैवतम् । उपस्थमध्यात्मम् । आनन्दयितव्यमधिभूतम् । प्रजापतिस्तत्राधिदैवतमिति त्रयोदशविधं त्रितयमपि । तत्रात्मानं सङ्घातमधिकृत्य वर्तते तदध्यात्मं त्रयोदशकरणवर्गः । भूतानि अधिकृत्य वर्तते तदधिभूतं विषयवर्गः । देवतामधिकृत्य वर्तत इत्यधिदैवतं करणाभिमानिदेवतावर्गः । एतत्सहितेश्वरानुचिन्तितस्यान्तकालीनभगवत्स्मृत्या परमगतिः फलम् । तस्मादेतत्त्रिकमवश्यं ज्ञातव्यमिति भावः । सर्वतत्त्वानां ज्ञानफलं चोक्तं पञ्चशिखधृतवाक्येन—

तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च ।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्गो गुणांस्तु भुङ्क्ते न गुणैः स भुज्यते ॥

तत्त्वानीति तान्त्रिकी संज्ञा । तदर्थश्चात्मानात्मविवेकप्रतियोग्यनुयोगिनस्तत्पदार्थाः तेषां भावस्तत्तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तानि पुरुषत्वप्रकृतित्वादीनि पञ्चविंशतिजातयः धर्मधर्म्यभेदाद् व्यक्तयोपि तत्त्वानीत्युच्यन्ते । वेदयते वेत्तीत्यर्थः । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तान्येव स्वरूपाणि तात्त्विकरूपाणि येषां तानि गुणस्वरूपाणि । अधिदैवतञ्च अध्यात्माधिभूतयोरुपलक्षणम् । गुणांस्तु भुङ्क्ते गुणास्तस्य वशे भवन्तीति । न गुणैः स भुज्यते गुणवशो न भवतीत्यर्थः ।

इति तत्त्वपादः प्रथमः ।

इदानीं द्वितीयः प्रकीर्णकपाद आरभ्यते । तत्र—

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रचक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

इत्यादिश्रुत्यर्थोपपत्तये पञ्चकानि निरूपयति सूत्रजातेन—

पञ्चाभिबुद्धयः ॥ १० ॥ अभिबुद्धिरभिमान इच्छा कर्त्तव्यता क्रियेति पञ्चाभिबुद्धिसंज्ञिताः । तत्राभिबुद्धिर्नाम अभिमुखी बुद्धिः इदमवश्यं करणीयमितिरूपा बुद्धिवृत्तिः । अभिमानश्चाहं करोमीति वृत्तिः । इच्छा वाञ्छा सङ्कल्पो मानसी वृत्तिः । कर्त्तव्यता ज्ञानेन्द्रियाणां शब्दादिविषया वृत्तिः । क्रिया वचनादिलक्षणा कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिरिति । अभिबुद्धयो व्याख्याताः ।

पञ्च कर्मयोनयः ॥ ११ ॥ कर्मजन्याः कर्मजनकाश्च धृतिः श्रद्धा सुखाऽविविदिषा विविदिषा चेति पञ्च ।

वाचि कर्मणि सङ्कल्पे प्रतिष्ठां योभिरक्षति ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः ।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
अर्थार्थी यस्तु सेवेत विद्याकर्मतपांसि च ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ॥
अविविदिषा वेदवेदनेच्छाप्रतिबन्धकक्रिया ॥

विविदिषा यथा—

एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चेदमचेतनम् ।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा हि सा[1] ॥

आत्मनि एकत्वपृथक्त्वादिविषयिणी जिज्ञासा विविदिषा । एतासु चतस्रो बन्धाय विविदिषैका मोक्षाय ज्ञानमोक्षप्रतिबन्धनाशककर्मजन्यत्वात्तज्जनकत्वाच्च ।

१. विविदिषा क्रिया—पा० २ पु० ।

पञ्च वायवः ॥ १२ ॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानो व्यानः सर्वशरीरगः ।
उदानः कण्ठदेशे च समानो नाभिसंस्थितः ॥

एते पञ्च क्रियाशक्तिमदन्तःकरणवृत्तिभेदा अपि वायुसमानगतिकत्वाद्वायुदेवताकत्वाच्च वायव इत्युक्तम् । प्रकर्षेण अननाद्प्रमनात् प्राण इत्युच्यते । अधो गमनादपानः । भुक्तस्यान्नस्य रसादेर्विक्षेपणाद् विजृम्भणाच्च व्यान इत्युच्यते । उद्गारवमनादिकं करोतीति उदानस्तेन गीयते । भुक्तस्य समाशं रसं नयतीति समानः । तन्त्रान्तरोक्ता अप्यन्ये नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तत्रैवान्तर्भाव्याः ।

इत्येते पञ्च प्राणा व्याख्याताः ।

पञ्च कर्मात्मानः ॥ १३ ॥ वैकारिकस्तैजसो भूतादिः सानुमानो निरनुमानश्चेति कर्मात्मानः कर्मिण इत्यर्थः । तत्र वैकारिकः शुभकर्मकर्त्ता । तैजसोऽशुभकर्मकर्त्ता । भूतादिर्मूढकर्मकर्त्ता । सानुमानः शुभमूढकर्मकर्त्ता । निरनुमानोऽशुभमूढकर्मकर्त्ता ॥

इति पञ्च कर्मात्मानो व्याख्याताः ॥

इदानीं पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीम इति श्रुत्यर्थोपपत्तये बुद्धेः पञ्चाशत्सर्गान् बहुभिः सूत्रैरुद्दिशति ।

पञ्चपर्वाऽविद्या ॥ १४ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या पतञ्जल्युक्ता सर्वदर्शनसम्प्रतिपन्ना । सा च पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशजनकत्वात् क्लेशा इति योगे परिभाषिताः । अस्मितादीनां चतुर्णामविद्याकार्यत्वादविद्यात्वम् । अस्मिता अनात्मन्यहंवृत्तिः अविद्यास्मितयोरयं भेदः अविद्यायामधिकरणमपि पृथग् भासतेऽस्मितायां त्वारोपरूपत्वेऽपि नाधिकरणं भासते । विषयेषूत्कटेच्छा रागः । द्वेषः वैरबुद्धिः । अभिनिवेशो मरणत्रासः । विदुषामपि स्वरसवाही अनादिमरणदुःखानुभवजनितवासनाजन्यः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु एते अविद्याभेदास्तमआदिशब्दैः परिभाषिताः । तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रश्चेति तत्तन्नामकनरकप्रदत्वात्तत्तन्नामकाः । ते च विषयभेदाद् द्विषष्टिभेदाः ते यथा—अष्टप्रकृतिषु आत्मत्वारोपाद् अष्टभेदं तमः । देवा अणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्य वयममृता इत्यभिमानिनो भवन्ति सोऽयमभिमानो मोहोऽष्टविधः । दृष्टानुश्रविकेषु द्वादशसु विषयेषु प्राप्तेषु मुक्तोऽहमिति मन्यते सोऽभिमानो रागातिशयनिमित्तत्वाद् महामोहो दशविधः । अणिमाद्यष्टगुणैश्वर्ये दशविधविषये च प्रतिहतस्य क्रोधाद् यद्दुःखमुत्पद्यते स तामिस्रोष्टादशविधः । देवा अणिमाद्यष्टकमैश्वर्यं शब्दादींश्च दश विषयान् भुञ्जानाः क्षयशङ्कयात्र सन्ति सत्रास एवाष्टादशविधोन्धतामिस्र इति द्विषष्टिभेदा पञ्चपर्वा अविद्या ।

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १५ ॥ नवधा तुष्टिः ॥ १६ ॥ अष्टधा सिद्धिः ॥ १७ ॥ तत्राशक्तयः एकादशेन्द्रियवधाः सप्तदश बुद्धिवधाः । तत्रेन्द्रियवधाः । स्वस्वार्थक्रियाऽक्षमतारूपाः फलतो बुद्धेरेव ते ।

बाधिर्यं कुण्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा ।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वं क्लैव्योदावर्त्तमुग्धताः ॥

सप्तदश बुद्धेरेव वधाः तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययरूपाः । तत्र तुष्टिविपर्ययाः । नास्ति प्रधानमिति ज्ञानमस्तीत्यभिधीयते । महत्तत्त्वं नास्तीति ज्ञानमज्ञानसलिलाः । अहङ्कारो नास्तीति मोहाः । नैव सन्ति पञ्चतन्मात्राणीति दृष्टिरदृष्टिः । विषयाणामर्जने प्रवृत्तिः असुतारा । रक्षणे प्रवृत्तिरसुपारा । क्षयदोषमपश्यतः प्रवृत्तिः असुनेत्रा । भोगे शक्तिः असुमात्रिका । हिंसादोषमपश्यतो भोगे प्रवृत्तिः अनुत्तमाम्भसिका । इति तुष्टिविपर्याया नवधा ।

सिद्धिविपर्यासाद् अष्टौ बुद्धिवधा उच्यन्ते । नानात्वमूहमानस्यैकत्वानुसन्धानं सुतारमुच्यते । शब्दमात्रश्रवणाद्विपरीतग्रहणमसुतारा । यथा नानात्मज्ञो मुक्त इति श्रुत्वा विपरीतं प्रतिपन्नो नानात्मज्ञोऽहममुक्त इति । अध्ययनश्रवणनिविष्टस्यापि जडत्वादसच्छास्त्रोपहतबुद्धित्वाद्वा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानसिद्धिर्न भवति तदज्ञानम् । यदा

आध्यात्मिकेन दुःखेन चाभिभूयते तदज्ञानप्रमादम् । एवमाधिभौतिकदुःखेनाभिभूयते तत्प्रमोदमानम् । एवमेवाधिदैविकदुःखेनाभिभवः प्रमुदितमिति । सुहृदुपदिष्टेष्यात्मनि अनिश्चयबुद्धिरनर्थकम् । स्वदानमनर्थकं ज्ञात्वा दानपात्रस्य गुरुणि दुःखे जाते प्रमोदः प्रमुदिता । एवमष्टौ सिद्धिविपर्यया व्याख्याताः । एवं सप्तदश बुद्धिवधाः ॥

नवधा तुष्टिरुच्यते । तत्र कारिका—

आध्यात्मिकयश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोभिहिताः ॥

कुतश्चित् सर्वाकारेण परिणममाना प्रकृतिरेव ज्ञानं करिष्यतीति श्रुत्वा या तुष्टिः सा प्रकृत्याख्या तस्या अस्तेति संज्ञा । प्रव्रज्ययैव ज्ञानं भविष्यतीति श्रुत्वा प्रव्रज्योपादानेन या तुष्टिः सा सलिलसंज्ञा । कालेनैव ज्ञानं भविष्यतीति श्रुत्वा प्रव्रज्यया बहुकालेन या तुष्टिः सा आद्येत्युच्यते । भाग्येनैव ज्ञानं भविष्यति मदालसा बालकानामिवेति कुतश्चिच्छ्रुत्वा या तुष्टिः सा वृष्टिरिति संज्ञा । एताश्चतस्र आध्यात्मिक्यः । अथ बाह्याः पञ्च शब्दादिविषयेष्वर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादिदोषदर्शनाद्या निवृत्तितुष्टयस्तास्वेका तुष्टिः अपारमुच्यते द्वितीया सुपारं तृतीया पारम् अनुत्तमाम्भसिका चतुर्थी उत्तमाम्भः पञ्चमी इति नव तुष्टयो व्याख्याताः ॥

अथाष्टौ सिद्धयः । तत्र कारिका—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोङ्कुशस्त्रिविधः ॥

अस्यार्थः—भगवत्कृपावशादूहनेन तर्केणैव ज्ञानमुत्पद्यते सा प्रथमा सिद्धिस्तारेत्युच्यते । शब्दश्रवणमात्रादेव यद् ज्ञानं सा द्वितीया सुतारा । शिष्यभावेनाध्ययनेन यद् ज्ञानं सा तृतीया तारतारेति । यदाध्यात्मिकदुःखस्यापनोदकं ज्ञानं सा चतुर्थी प्रमोदेति । यदाधिभौतिकदुःखापनोदकं ज्ञानं सा पञ्चमी प्रमुदितेति । यदाधिदैविकदुःखनाशकं ज्ञानं सा षष्ठी प्रमोदमाना । यत् सुहृत्संसर्गितया ज्ञानं सा सप्तमी रम्यकेति । यदानेन परितोषिताद् गुरोर्ज्ञानं साष्टमी सदामुदितेति । आसु प्रथमास्तिस्रो दुःखविघातात्मकानां मुख्यानां तिसृणां सिद्धीनामङ्कुश आकर्षकः साधक इति यावत् सिद्धयस्त्वेता एव । अणिमाद्यास्तु ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादसिद्धय एवेत्याचार्याशयः । एवमष्टौ सिद्धयो व्याख्याताः ॥

इदानीं सांख्यशास्त्रस्य षष्टितन्त्रत्वप्रतिपादनाय पञ्चाशत्सु सिद्धिसर्गेषु दशान्यान् पूरयति सूत्रेण । दश मूलिकार्थाः ॥ १८ ॥

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥

मूलयोः प्रकृतिपुरुषयोरर्था धर्मा मूलिकार्थाः । तत्रास्तित्वं द्वयोर्धर्मः । एकत्वं सर्गभेदेन नानात्वाभावरूपं प्रकृतेः । अर्थवत्त्वं पुरुषार्थत्वं पुरुषस्यैव । पाराध्यं च प्रकृतेरेव । अन्यत्वं जडवर्गाद् भिन्नत्वं पुरुषस्यैव । अकर्तृता च पुरुषस्यैव । योगो वियोगश्च द्वयोः । बहुत्वं पुरुषस्यैव । जीवन्मुक्तस्य संस्कारमात्रेण चक्रभ्रमिवच्छरीरस्य या स्थितिः सा शेषवृत्तिः पुरुषस्य । इति दशपदार्थाः प्रत्ययसर्गाख्याः पञ्चाशत् पूर्वोक्ताः एते च दश मूलिकाः । एवं षष्टिपदार्था षष्टितन्त्रे उक्ताः ॥

इदानीं पञ्चतन्मात्रसर्गं सूत्रयति । अनुग्रहसर्गः ॥ १९ ॥ पञ्चतन्मात्रा अनुगृह्योपादानकारणत्वेन स्वीकृत्य यः सर्गः सोऽनुग्रहसर्गः । पञ्चानां ब्राह्मणानां सचतुर्मुखसनकादीनां स्वस्य लीलाविग्रहे सर्गो भक्तानामनुग्रहार्थं सोऽप्यनुग्रहसर्गः पञ्चतन्मात्रेभ्य एव ॥

इदानीं भूतसर्गमाह । चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ २० ॥ ब्राह्मप्राजापत्यसौम्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचा इत्यष्टौ देवसर्गाः । पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरा इति पञ्चविधास्तैर्यग्योनयः । मानुषश्चैकविधो ब्राह्मणादिश्चाण्डालान्त इति । गवादिमूषकान्ताः पशवः । गरुडादिमशकान्ताः पक्षिणः । सिंहादिश्शृगालान्ता मृगाः । शेषादिदुन्दुभान्ताः सरीसृपाः । पर्वतादितृणान्ताः स्थावरा इति । अत्र कारिका ।

अष्टविधो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ इति ।

एतत्संसारमण्डलम् अन्यानप्यनुक्तान् सर्गानुद्दिशति सूत्रत्रयेण । त्रिविधो बन्धः ॥ २१ ॥ त्रिविधो मोक्षः ॥ २२ ॥ त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २३ ॥ प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिण इति त्रयो बन्धाः । प्राकृतोष्टप्रकृतिष्वभिमानरूपः । द्वितीयस्तु प्रव्रजितानामपि शब्दादिषु मनसः सङ्गः । तृतीयस्तु गृहस्थादीनां कामोपहतचेतसां दक्षिणां ददतां दक्षिणाबन्धः । उक्तं च पञ्चशिखाचार्यैः ॥

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ॥ इति ।

मोक्षत्रैविध्यं चोक्तम्—

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥

ज्ञानोद्रेकादविद्यानिवृत्तिरूप एकः रागसंक्षयादिन्द्रियोपशमरूपो द्वितीयः कृच्छ्रक्षयाद्धर्माधर्माकरणरूपाद्धर्माधर्मानुत्पादरूपस्तृतीयः । एतत्त्रयं ज्ञानद्वारभूतत्वाद् गौणं मोक्षत्रयम् । आत्यन्तिकत्रिविधदुःखनिवृत्तिरेव मुख्यो मोक्षः । तदुक्तं गोतमेन सूत्रेण—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति ।

उक्तानां पदार्थानां सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्याह मानाधीनत्वान्मेयसिद्धेः । त्रिविधं प्रमाणमिति । प्रत्यक्षानुमानशब्दा इति । तत्रानधिगतयथार्थज्ञानं प्रमा तत्करणं प्रमाणमिति सामान्यलक्षणमेकम् । अर्थाकारानधिगतयथार्थान्तःकरणवृत्तिरिति द्वितीयम् । तत्र प्रत्यक्षमिन्द्रियजन्यमनधिगतयथार्थज्ञानं प्रत्यक्षप्रमा । तत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । इन्द्रियजन्यानधिगतयथार्थान्तःकरणवृत्तिरिति द्वितीयम् । यथार्थलिङ्गज्ञानाज्जायमानं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमित्येकम् । लिङ्गज्ञानाज्जायमाना साध्यविशिष्टपक्षाकारान्तःकरणवृत्तिरिति द्वितीयम् । आप्तवचनजन्यज्ञानं शब्दप्रमा तत्करणं शब्दप्रमाणमित्येकं लक्षणम् ।

आप्तवचनजन्या पदार्थसंसर्गाकारान्तःकरणवृत्तिरिति द्वितीयं शब्दप्रमाणलक्षणम् ।

आप्तस्तु स्वकर्मण्यभियुक्तो रागद्वेषरहितो ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः । इदं तु ज्ञानोपदेष्टुरेवाप्तलक्षणम् । वस्तुतो यथाभूतार्थस्योपदेष्टा पुरुष इत्येव ॥

उक्तपदार्थेषु केचित्प्रत्यक्षसिद्धाः केचिदनुमानसिद्धाः । उभाभ्यां यन्न सिद्धं तच्छब्दप्रमाणेन सिध्यति यथेन्द्रो देवानां राजा उत्तराः कुरवः सौवर्णो मेरुः स्वर्गेप्सरसः एते पदार्था न प्रत्यक्षानुमानगम्याः किन्तु शब्दैकगम्याः ।

अत्र चैषा ज्ञानप्रक्रिया । अन्तःकरणस्येन्द्रियाणां चाविभक्तः सङ्कोचविकासशाल्यग्रभागो वृत्तिरभ्युपेयते भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति सांख्यप्रवचनसूत्रात् । भागो विभक्तोवयवस्तस्माद् गुणाच्च तत्त्वान्तरं पदार्थान्तरमविभक्तोऽवयव इत्यर्थः । तथा चान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियवृत्तिद्वारार्थसन्निकृष्टा भवति तत इन्द्रियवृत्त्या सहार्थाकारा परिणमते सा चार्थाकारा वृत्तिर्गुणरूपा सर्वात्मनां विभुत्वेपि स्वस्वामिन्येवात्मनि प्रतिबिम्बते नान्यत्र अबादिस्वस्वामिभावस्य प्रतिबिम्बनियामकत्वात् । अन्यथातिप्रसङ्गात् प्रतिविम्बश्चाधिष्ठानगताया बुद्धेर्विकारः परिणामः स्वत्वं च स्वामिप्रकाशितवृत्तिजन्यसंस्कारवत्त्वम् । स्वामित्वं च स्वनिष्ठसंस्कारजनकवृत्तिप्रकाशकत्वं सा च वृत्तिरात्मनि स्थिता सती अर्थाकारा आत्माकारा च स्वसमानाकारं परिणामान्तरं धत्ते स एवात्मनि वृत्तिप्रतिविम्बो विषयताख्यः सम्बन्ध इति तदवच्छिन्नं चैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा घटमहं जानामीत्याकारार्थात्मविषयिणी । तदुक्तम्—

अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
तथानुभवमात्रात्मा दृश्येनात्मावलोक्यते ॥

दृश्येन वृत्त्या । इयं च प्रत्यक्षा वृत्तिर्विषयदेशे जायमाना तत्रै-

वात्मनि प्रतिबिम्बते आत्मनो विभुत्वाद् यत्र चेन्द्रियद्वारं विना मनः स्ववासनावशाद्यत्रार्थेन सम्बद्ध्यते तत्र तदाकारा वृत्तिर्मानसं प्रत्यक्षम् । उक्तं च—

शरीरलयमुत्सृज्य यत्र चित्तविहङ्गमः ।
स्ववासनावशाद्याति तत्रैवात्मानुभूयते ॥ इति वासिष्ठे ।

इति प्रत्यक्षप्रक्रिया ॥

एवं व्याप्तिप्रमाजन्यसाध्यविशिष्टपक्षाकारा वृत्तिरनुमानम् तत्प्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यमनुमितिः । इत्यनुमानप्रक्रिया ॥

यथार्थपदस्मृतिजन्या पदार्थसंसर्गाकारा वृत्तिः शब्दप्रमाणम् । तत्प्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यं शाब्दी प्रमा इदं प्रमाणद्वयमान्तरमेव । अपरोक्षत्वं परोक्षत्वं स्मृतित्वं संशयत्वं विपर्ययत्वं प्रमात्वमप्रमात्वं च सर्वे वृत्तिधर्मा एव । तत्प्रतिबिम्बवशाच्चैतन्येष्युपचर्यन्ते । तत्रापरोक्षत्वपरोक्षत्वस्मृतित्वानि जातयः संशयश्च भासमानविरोधोभयकोटिस्पृग्वृत्तिः । यत्र यन्नास्ति तत्र तन्निश्चयो विपर्ययः यथार्थवृत्तिः प्रमा अयथार्थवृत्तिरप्रमा । अत्र प्रमात्रादिविभागविषये विज्ञानाचार्याणां कारिका—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च ।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम् ॥ इति ।

ज्ञानस्य च जन्यत्वं विनाशित्वमात्मधर्मत्वं च प्रतिबिम्बावच्छिन्नत्वेनोपपादनीयम् आत्मरूपस्य ज्ञानस्य नित्यत्वात् । विशिष्टे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः सति विशेष्ये बाध इति न्यायात् । आधाराधेयभावोऽपि खे खगोदय इतिवदुपपादनीयः । वृत्तीनामात्मनि प्रतिबिम्बे प्रमाणम् ।

तस्मिंश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ इति वासिष्ठम् ।

इति समासतो ज्ञानप्रक्रिया ॥

अत्र शास्त्रेऽनुक्ताः स्वाऽविरोधिनः शास्त्रान्तरीया अपि पदार्थाः ग्राह्याः सारादानं षट्पदवदिति सांख्यप्रवचनसूत्रात् । सर्वतः सारमाद्याद् पुष्पेभ्य इव षट्पद इति स्मृतेश्च । एते च प्रकृत्यादयः पदार्थाः संहतत्वपदार्थत्वजडत्वप्रतिक्षणपरिणामित्वादिदोषैर्दुष्टत्वाद्धेयास्तेभ्योप्यधिकं हेयमाह—

त्रिविधं दुःखमिति ॥ २४ ॥ आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्येणोत्पन्नं ज्वरातिसारादि । कामक्रोधलोभादिजन्यं मानसं मानुषमृगसर्पादिजन्यमाधिभौतिकं शीतोष्णवातवृष्टिजन्यमाधिदैविकम् । अनेन त्रिविधदुःखेनाभिभूतस्य तरति शोकमात्मविदिति श्रुत्वा आत्मनि जिज्ञासा जायते । यथा तृषितस्य पानीयपिपासा ।

कृतस्य तत्त्वनिरूपणस्य पुरुषार्थसम्बन्धं दर्शयति । एतत्परं याथार्थ्यम् एतज्ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यान्न पुनस्त्रिविधदुःखेनाभिभूयते ॥ २५ ॥ एतद्याथार्थ्यं परं शास्त्रान्तरोक्ताद्याथार्थ्यादुत्कृष्टं न्यायवैशेषिकोक्तयाथार्थ्यस्याष्टप्रकृत्यकथनादपूर्णत्वम् इदं तु तत्कथनेन पूर्णं श्रुतिसम्मतत्वाच्च परं सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः । श्रुतिश्च गोपालतापनीये एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तादव्यक्तमेवाक्षरं तस्मान्महन्महतोहङ्कारस्ततः पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि इति स्पष्टमेव सांख्ययोगोक्तमहदादिक्रमेण सृष्टिः श्रूयत इति । एतज्ज्ञात्वा आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारद्वारा कृतकृत्यः स्यान्निष्प्रयोजनः स्यादित्यर्थः । किं पुनस्तत्प्रयोजनं तत्राह—न पुनस्त्रिविधदुःखेनाभिभूयत इति । पूर्वोक्तत्रिविधदुःखेन न युज्यते दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपो मोक्षो भवतीत्यर्थः । ननु दुःखं तावत् त्रिविधम्—अनागतं वर्तमानमतीतं चेति । सांख्ययोग-

वेदान्तानां सत्कार्यवादाश्रयणात् सर्वमेव कार्यमवस्थात्रयेण नित्यम्। अनागतो घटो वर्त्तमानो घटोऽतीतो घट इत्यवस्थात्रयेऽपि घटस्यावस्थाधर्मिणोऽनुगतप्रत्ययात्। प्रागभावप्रध्वंसयोश्चानङ्गीकारात्। न च तत्काले कथमभावप्रत्यय इति वाच्यम् वर्त्तमानप्रतियोगिकसामयिकात्यन्ताभावेनैव तदुपपत्तेरिति। एवं चानागतातीतदुःखयोरभावेऽपि न पुरुषार्थः भोग्यदुःखाभावस्यैव पुरुषार्थत्वात्। वर्तमानदुःखं च भोग्यमपि भोगेनैव नङ्क्ष्यतीति तदभावो न पुरुषार्थः पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षत्वात् पुरुषप्रयत्नसापेक्षस्यैव पुरुषार्थत्वात्। तथा च कथं दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वमिति चेदुच्यते। अनागतदुःखस्य भोग्यहेतुतया तदभावस्य च पुरुषकृतिसाध्यतया पुरुषार्थत्वं दुःखहेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात् प्रायश्चित्तवदिति। तदुक्तं पतञ्जलिना—हेयं दुःखमनागतं विवेकख्यातिरवित्प्रवा हानोपाय इति सूत्रद्वयेन।

सांख्यानां च सर्वात्मनामवैधर्म्याभेद एव तत्त्वमसिवाक्यार्थो नाविभागादिः तद्ज्ञानस्यैवाभिमाननिवर्त्तकत्वात्। तद्वाक्यस्य च श्वेतकेतोरनूचानत्वाद्यभिमाननिवृत्त्यर्थमेव प्रवृत्तेः। तथा च लयावशिष्टचित्सामान्यं तत्पदार्थः तदुक्तं विज्ञानाचार्यवर्यैरस्मद्गुरुभिर्भाष्याद्यश्लोकेन—

एकोऽद्वितीय इति वेदवचांसि पुंसि
सर्वाभिमानविनिवर्तनतोस्य मुक्त्यै।
वैधर्म्यलक्षणभिदा विरहं वदन्ति
नाखण्डतां ख इव धर्मशताविरोधात्॥ इति।

तथा च प्रकृत्यादिविविक्तसर्वात्मनामवैधर्म्यभेदसाक्षात्कारात् कर्तृत्वाद्यभिमाननिवृत्तौ तत्कार्यरागद्वेषधर्माद्यनुत्पादात् पूर्वोत्पन्नकर्मणां[1] चाविद्यारागादिसहकार्युच्छेदेन जन्माद्यनारम्भकत्वाद्भोगेन प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभावेन भोगापवर्गसमाप्त्या चान्तःकरणस्य नाशेनैव त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपो मोक्षो भवतीति परमकृत-

१. पूर्वोक्तकर्मणां—पा० १ पु०।

कृत्यता। इदं चात्रावधेयम्—गुरूपदेशशास्त्राभ्यामुत्पन्नमपि ज्ञानमपरोक्षत्वायाभ्यसनीयमेव। तेन विनाऽपरोक्षाविद्यानिवृत्त्यसम्भवात्[1]। अपरोक्ष्यभ्रमे हि समानविशेष्यकाऽपरोक्ष्यविपरीतनिश्चयस्यैव निवर्तकत्वावधारणात्। तदुक्तं वासिष्ठे—

अपि विज्ञाततत्त्वेन नेत्यभ्यस्यमिदं सदा।
न नाममात्रात् कतकफलमम्बुप्रसाधकम्॥
अन्तर्ध्वान्तविनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः।
न नश्यति तमो राम कृतया दीपवार्तया॥ इति।

एवमभ्यासात् कमलकण्टकन्यायेन ज्ञाने जाते योगरूढ इत्युच्यते योगी अस्मात् पूर्वस्तु युञ्जानः ततः परमहंसाश्रमेण विक्षेपकाणि कर्माणि त्यक्त्वा ज्ञाननिष्ठापर्यन्तमभ्यसेत्। सवासनाविद्योच्छेदो ज्ञाननिष्ठा। ततः स युक्तो जीवन्मुक्तो गुणातीत इति चोच्यते। गुणाभिमानशून्यत्वमेव गुणातीतत्वं जीवन्मुक्तस्य च लक्षणम्।

नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखे मुखप्रभा।
यथापूर्वस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदस्वच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्त्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह-
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम्॥ इति।

अन्यचात्र सांख्यविद्यायां भगवद्भक्तेरेवासाधारणकारणत्वं ज्ञेयम्। अन्यथा देवकृतविघ्नैर्योगध्वंसो[2] भवत्येव। यथोक्तं भागवते—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

१. अपरोक्षज्ञानं विना परोक्ष्याविद्यानिवृत्त्यसम्भवात्—पा० १ पु०।
२. योगभ्रंशो—पा० १ पु०।

श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ इति ।

इदानींतनाः केचन वैष्णवा एतादृशवाक्यैर्भगवद्भक्तिं पुरस्कृत्य सामान्यतो ज्ञानमार्गं खण्डयन्ति ते तु विद्याविवेकानभिज्ञाः स्थूलमतय एव । नारदीये च सांख्यविद्याधिकारे—

मायाप्रवर्तके विष्णौ कृता भक्तिर्दृढा नृणाम् ।
सुखेन प्रकृतेरन्यं स्वं दर्शयति दीपवत् ॥
चित्ते हि स्ववशे योगः सिद्ध्येत् तत्तु जगत्पतिम् ।
कोऽन्याश्रित्य निगृह्णीयादव्यक्तमतिचञ्चलम् ॥
तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः ।
चित्तेन चिन्तयानेन वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा ॥ इति ।

गीतायां चतुर्दशाध्याये—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैव[1] ब्रह्मभूयाय कल्प्यते ॥ इति ।

ब्रह्मभूयाय पूर्णत्वेनाभिव्यक्तये गुणाभिधानं तत्तदवच्छिन्नत्वेनैवाभिव्यज्यते (?) तस्माद् भगवद्भक्तिरेव मुख्यं साधनं सांख्ययोगविद्यायामिति सिद्धम् ।

कृतं परोपकाराय तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् ।
तेन मे प्रीयतां कृष्णः परमात्मा जगद्गुरुः ॥
स्वतन्त्रत्वात् स एवैकः कर्ता गोपालबालकः ।
श्रीकृष्णाख्यो महेशानो दारुयन्त्रसमस्त्वहम् ॥
पुराणार्थं बुभुत्सूनां·····च मयेरितम् ।
तेभ्यः समर्पितं चैतत् तेनापि प्रीयतां हरिः ॥

इति श्रीभावाविश्वनाथदीक्षितसूनुभावागणेशविरचितं तत्त्वयाथार्थ्यदीपनं समाप्तम् ।

१. समतीत्यैतान्–पा० १ पु० ।

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ समाससूत्रसर्वोपकारिणी टीका

यद्वाग्विभूतिरमलाखिलतत्त्वजाता-
न्नानाद्य तत्त्वममलं परिबोधयन्ती ।
श्रेयः करोति जगतां भगवन्तमाद्यं
तं श्रीमहर्षिकपिलं प्रभुमानतोऽस्मि ॥ १ ॥
उद्दिधीर्षुस्तदुन्नीतसूत्रतत्त्वार्थबुद्धये ।
सर्वोपकारिणीं कुर्वे टीकां गुणवशंवदः ॥ २ ॥

अथात्रानादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रनिपतिताननाथदीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धतत्त्वज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत् । सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः । तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां च सूचनं भवति । इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव । सूत्रत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीता । इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः । तत्रादौ प्रथमसूत्रत्रयेण सकलप्रपञ्चमूलभूतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि सूचयति—अष्टौ प्रकृतयः ॥ १ ॥ षोडश विकाराः ॥ २ ॥ पुरुषः ॥ ३ ॥ अयमर्थः—सांख्यराद्धान्ते पञ्चविंशतितत्त्वानि । तत्र मूलप्रकृतिः महत्तत्त्वम् अहङ्कारः शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा गन्धतन्मात्रा चेत्यष्टौ प्रकृतयः सन्ति । अत्र तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वम् । अतश्च महदादीनां सप्तानां पूर्वपूर्वविकृतित्वेऽपि न क्षतिः लक्षणसमन्वयात् । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनः गगनपवनज्वलनसलिलधरण्याख्यानि पञ्च भूतानि चैतानि षोडश विकाराः विकृतय एव न तत्त्वान्तरारम्भकाणि सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् । पुरुषः पञ्चविंशतितमं तत्त्वम् । अयं च न प्रकृतिर्न विकृतिः ताभ्यः पृथक्कृत्य निरूपणात् । अनेन

जडत्वपरिणामित्वकर्तृत्वादिधर्मवद्भ्यः प्रकृत्यादिभ्यः पुरुषस्य वैलक्षण्यमपि सूचितं भवति । तथा च कारिका—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ इति ॥१-३॥

नन्वेतेभ्योऽतिरिक्ता अन्येऽपि बहवो घटपटादयः पदार्था दृश्यन्ते तत्कथमेषामुपपत्तिरत आह—त्रैगुण्यसञ्चारः ॥४॥ त्रिगुण एव त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि तेषां सञ्चारः मत्तकपोतकण्ठन्यायेन प्रतिक्षणं विलक्षणपरिणामो वर्त्तते इति शेषः । अनेन मूलप्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका त्रित्वेन च भेदबोधकेन गुणाः परस्परविरुद्धस्वभावाः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः सञ्चारेण च सङ्गतसम्यक्चरणार्थकेन तेषां नित्यसहभावः पुरुषार्थे जननीये कार्यानुसारेण परस्परसहायता च । ततश्च प्रकृतेर्महदादीनां भूतेभ्यश्च घटपटादिसकलपदार्थानां त्रिगुणलक्षणपरिणामादेव संसिद्धिः कार्योत्पादश्च नापूर्वः किन्त्वाविर्भावमात्रं सूक्ष्मकारणरूपेण स्थितस्य स्थूलकार्यक्षमरूपेण विपरिणाम इति सञ्घातिवादश्च इत्येते सिद्धान्ताः संसूचिता भवन्तीति बोध्यम् ॥ ४ ॥

ननु गुणानामनवरतपरिणतिस्वभावत्वात् कदाचिदपि दृश्यजातादर्शनं न स्यात् ततश्च प्रलयोच्छेदः स्यादत आह—प्रतिसञ्चरः ॥५॥ यथा सृष्टिप्रक्रियानिर्वाहकस्त्रिगुणपरिणामस्तथा प्रतिसञ्चारः प्रतिकूलोपि विपरिणामोस्ति । तथा च प्रतिलोमपरिणामेन तत्तत्कार्याणां स्वस्वकारणे लये जाते त्रिगुणायाः प्रकृतेः साम्यस्थितिरेव प्रलय इति सूचितम् । तदा च समानपरिणामत्वेन वैलक्षण्यानाविर्भाव इति भावः ॥ ५ ॥

अथ जायमानस्य सुखदुःखादेर्विवेकार्थं त्रैविध्यं वक्तुमेकेनादावान्तरमाह—अध्यात्मम् ॥ ६ ॥ आत्मानमधिकृत्येत्यध्यात्मम् । तद्द्विविधं शारीरं मानसं चेति । शारीरं वातपित्तश्लेष्मवैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयविशेषदर्शनादर्शननिमित्तम् । एतदुभयमपि आन्तरोपायसाध्यत्वादध्यात्ममित्युच्यते ॥ ६ ॥

बाह्यभेदद्वयमाह द्वाभ्याम्—अधिभूतम् ॥ ७ ॥ मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरादिभूतान्यधिकृत्य तदधिभूतमित्यर्थः ॥ ७ ॥

आधिदैवम् ॥ ८ ॥ यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिमित्तमेतत् । इदं द्वयमपि बाह्योपायसाध्यत्वाद्बाह्यमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

ननु सत्स्वपि विलक्षणेषु बहुषु पदार्थेषु पुरुषस्य तत्सम्बन्धाभावात् कथं ततो दुःखमतस्तत्सामग्रीं निरूपयिषुरादौ बुद्धीन्द्रियाण्याह—पञ्चाभिबुद्धयः ॥ ९ ॥ अभितो बुद्ध्यन्ते ज्ञायन्ते वस्तून्याभिरित्यभिबुद्धयः । बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि रूपशब्दगन्धरसस्पर्शबोधकानि ॥ ९ ॥

अनेन च ज्ञानद्वारा योगं दर्शयितुं कर्मेन्द्रियाण्याह—पञ्च कर्मयोनयः ॥ १० ॥ पञ्च इन्द्रियाणि कर्मयोनयः कर्मणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दानां योनयः कारणानि । तानि च वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । अनेन कर्मणा तत्तद्विषयसान्निध्येन तत्तत्सम्बन्धः सूचितः ॥ १० ॥

अथ महदहङ्कारमनसामध्यवसायाभिमानसङ्कल्पा असाधारण्यो वृत्तयः ताभिर्विनेन्द्रियद्वारा विषयग्रहासम्भवात् तैस्तद्ग्रहोक्त्या तासां निरूपितप्रायत्वेन तत्साधारणी वृत्तिराह—पञ्च वायवः ॥ ११ ॥ पञ्चसंख्याकाः प्राणापानसमानोदानव्यानाख्याः वायवः महदहङ्कारमनसां साधारणवृत्तयः जीवनसाधनानि । तत्र प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः, अपानः कृकाटिकापृष्ठपायुपार्श्वोपस्थवृत्तिः, समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः, उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्द्ध्रुमध्यवृत्तिः व्यानस्त्वग्वृत्तिरिति ॥ ११ ॥

पञ्चानामुपयोगमाह—पञ्च कर्मात्मानः ॥ १२ ॥ भुक्तपीताहारजलादे रसरुधिरादेश्च यथायथं प्रापणमेषां कर्म । तदेकानुमेयत्वेन तत्स्वरूपात्मकता (१) इत्यर्थः ॥ १२ ॥

नन्वस्तु ज्ञानक्रियाद्वारा महदभिमानसर्वसङ्कल्पानां विषययोगित्वं पुरुषस्य स्वपरिणामितया तन्न घटते इत्याशङ्कां विनिवर्तयिषुराह—

पञ्चपर्वाविद्या ॥ १३ ॥ अनात्मस्वात्मख्यातिरविद्या सा च विद्याविरोधिनी पञ्चपर्वा भवति । तानि च पर्वाणि अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यानि । तथा च यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु अस्मितादयस्तत्स्वभावास्तदभिनिविशन्ते ततश्चात्मनो विवेकेन तत्सम्बन्ध इति भावः ॥ १३ ॥

पञ्चाशद्भेदेषु प्रत्ययसर्गेषु पञ्चविपर्यया निरूपिताः । अधुना विशिष्टेष्वष्टाविंशतिमशक्तिमाह—अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥१४॥ इन्द्रियवधा एकादश बुद्धिवधाश्च सप्तदश इत्येताः अशक्तय उच्यन्ते । इन्द्रियवधा यथा—

बाधिर्यं १ कुण्ठता २ ऽन्धत्वं ३ जडता ४ ऽजिघ्रता ५ तथा ।
मूकता ६ कौण्य ७ पङ्गुत्व ८ क्लैब्योदावर्त १० मन्दताः ११ । इति

बुद्धिवधास्तु नवतुष्टीनामष्टसिद्धीनां च विपर्ययाद्भवन्ति तदित्थं जाता अशक्तयोऽष्टाविंशतिधेति ॥ १४ ॥

प्रसक्ते तुष्टिसिद्धी एवाह द्वाभ्याम्—नवधा तुष्टिः ॥१५॥ यथोक्तम्—

आध्यात्मिकयश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्याः विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोभिहिताः ॥ इति ।

अस्यार्थः—विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदः । तं च सैव करोतीति कृतं ध्यानाभ्यासेनेति केनचिदुपदिष्टे तत्र तुष्टिः प्रकृत्याख्या १, अथ प्रकृतेः सर्वान् प्रत्यविशेषान्न केवलं तत एव विवेकसाक्षात्कारः किन्तु प्रव्रज्ययेत्युपदिष्टे तुष्टिरुपादानाख्या २, प्रव्रज्यापि कालविशेषादरेणैव विवेकं जनयत्यलमुत्तप्ततया इत्युपदिष्टे तुष्टिः कालाख्या ३, भाग्येनैव विवेकख्यातिरिति तुष्टिर्भाग्याख्या ४, इत्येताश्चतस्रः प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य जायन्त इत्याध्यात्मिक्य उच्यन्ते । विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्याः पञ्च तेषु अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनं तत उपरमा विरतयोपि पञ्च ते च महदहङ्कारादीननात्मन आत्मनोभिमन्यमानस्य वैराग्ये सत्युत्पद्यन्तेऽतो बाह्या उच्यन्ते ।

इमाश्च नव उक्तविपर्ययाः ५ अशक्तिभिः २८ सह द्विचत्वारिंशत् ४२ सिद्धिपरिपन्थित्वाद्धेयाः ॥ १५ ॥

अष्टधासिद्धिः ॥ १६ ॥ तद्यथा—ऊहः शब्दोध्ययनं ३ दुःखविघातास्त्रयः ६ सुहृत्प्राप्तिः ७ दानञ्च ८ सिद्धयोष्टाविति । तत्रोपदेशमन्तरेण तत्त्वज्ञानस्य स्वयमूहाद्या असिद्धिः सा प्रथमा १ अन्यदीयशास्त्रपाठमाकर्ण्य ज्ञानोत्पत्तौ शब्दाख्या द्वितीया २ अध्ययनतस्तत्त्वज्ञाने तृतीया ३ आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकदुःखत्रयविघातेन तत्त्वज्ञाने जाते सिद्धित्रयम् ६ ज्ञानवत्सुहृदो लाभेन तत्त्वज्ञाने सुहृत्प्राप्त्याख्या सप्तमी ७ धनादिनाराधिते ज्ञानिनि तत्त्वज्ञानेऽष्टमी ८ । अत्र दुःखविघातरूपाणां तिसृणां सिद्धीनां मुख्यत्वमितरासां तदुपायत्वाद्गौणत्वं बोध्यम् । पञ्चविपर्ययादारभ्याष्टसिद्धिपर्यन्तमेते प्रत्ययसर्गाः तेषु प्रकृतिप्रत्ययान्यताख्यातिप्रेप्सुभिर्द्विचत्वारिंशदादितो हेयाः । सिद्धयस्तु उपादेया इति तत्स्वरूपव्याक्रिययैव सूचितं भवति ॥ १६ ॥

प्रत्ययसर्गमभिधाय प्रकृतिसर्गमाह—दश मूलिकार्थाः ॥ १७ ॥ दश अर्थाः पदार्थाः मूलिकाः सन्ति मूलं प्रकृतिः पुरुषश्च तावाश्रयत्वेन विद्येते येषाम् अथवा मूलं स्वभावः स प्रयोजकत्वेनास्ति येषामिति मूलिका मूलप्रकृतौ पुरुषे च विद्यमाना इति यावत् । तथा च राजवार्त्तिकम्—

प्रधानास्तित्व १ मेकत्व २ मर्थवत्त्व ३ मथान्यता ४ ।
पारार्थ्यं ५ च तथा नैक्यं ६ वियोगो ७ योग ८ एव च ॥
शेषवृत्ति ९ रकर्त्तृत्वं १० मौलिकार्थः स्मृता दश ॥

अत्रैकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं ३ प्रधाने अन्यत्वं प्रकृत्यपेक्षया अकर्तृत्वं बहुत्वं ६ पुरुषे अस्तित्वं ७ योगो ८ वियोग ९ श्चोभयोः । शेषवृत्तिः १० अङ्गाङ्गिभावेन गुणानां वृत्तिः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोरिति । अत्र प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणेन द्वयोः पार्थक्येन ज्ञानं

प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिबीजमिति सूचितं भवति । तथा चैतेषां धर्माणां तत्तत्स्वभावभूतत्वेन प्रकृतिसर्गताव्यवहार इति ॥ १७ ॥

ननु बुद्ध्यादिभिरेव त्रिगुणात्मकैः सकलकार्यसिद्धौ किमधिकप्रकृत्यङ्गीकारेण अत आह—अनुग्रहसर्गः ॥ १८ ॥ बुद्ध्यादिभिः स्वकार्येऽहङ्कारादौ जनयितव्ये प्रकृतेरनुग्रहसहायोपेक्ष्यते । अन्यथा बुद्धिः क्षीणा सती नालमहङ्कारं जनयितुमिति सकलोपि सर्गस्तदनुग्रहमूलक एवेत्यर्थः । अयमेव प्रकृत्यापूर इत्युच्यते तथा च प्रकृत्यैवायं सर्गो नेश्वरेण नापि ब्रह्मोपादानो नाप्यकारणो नेश्वराधिष्ठितप्रकृतित इति सूच्यते ॥ १८ ॥

तन्मात्रसर्गमाह—चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १९ ॥ दैवतैर्यग्योनमानुष्यभेदेन भूतसर्गश्चतुर्दशप्रकारको भवति । तच्चेत्थम्—ब्राह्म १ प्राजापत्यै २ न्द्र ३ पैत्र ४ गान्धर्व ५ याक्ष ६ राक्षस ७ पैशाच ८ भेदेनाष्टविधो दैवः । पशु ९ मृग १० पक्षि ११ स्थावर १२ सरीसृप १३ भेदेन पञ्चविधस्तैर्यग्योन एकविधो मानुष्य १४ इति ॥ १९ ॥

ननु पुरुषार्थशिरोमणीभूतमोक्षतत्त्वाकाङ्क्षा सति बन्धस्वरूपज्ञान एवोपपद्यतेऽतो बन्धानेवाह—त्रिविधो बन्धः ॥ २० ॥ विपर्ययादतत्त्वज्ञानाज्जायमानो बन्धस्त्रिविधः—प्राकृतो १ वैकृतो २ दाक्षिण ३ श्चेति । तत्र पुरुषधिया प्रकृत्युपासनं प्राकृतो बन्धः । तथा भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्ध्युपासनं वैकृतः । पुरुषतत्त्वमजानतः केवलमिष्टापूर्तकारिणो दाक्षिण इति त्रयाणामपि पुरुषस्वरूपवेदकत्वाभावे बन्धकत्वम् ॥ २० ॥

नन्वेतदज्ञानत्रयनिवृत्तौ कीदृशो मोक्षो जायत इत्याह—त्रिविधो मोक्षः ॥ २१ ॥ इष्टापूर्तादिकर्मस्वसारतां पुरुषस्वरूपोपलब्धेरेव सारतां बुद्ध्यमानस्य प्रथमः ततो भूतेन्द्रियादिष्वपि विकारतां[२] ततः पृथगात्मानं जानतः । प्रकृतिरूपस्तृतीयः । यद्यपि प्रथमद्वितीयौ न तात्त्विकमोक्षौ तथाप्यैकदेशिकान्यतारूयत्या तावद्बन्धापगमेन मोक्षत्वव्यवहार इति द्रष्टव्यम् । अत्र बन्धमोक्षसंसाराः प्रकृतावेव न पुरुषे सवासनक्लेशकर्माशयानामपरिणामिनि पुरुषेऽसम्भवात् । तथा च भृत्यजयपराजययोः स्वामिन्युपचारात् प्रकृतिगतानां बन्धादीनां पुरुषे उपचार एव भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्बन्धः सुसाधितो भवति । एवं च धर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यैः सप्तभी रूपैः प्रकृतिर्भोगापवर्गरूप-पुरुषार्थं प्रत्यात्मानं बध्नाति, तत्त्वज्ञानेन विवेकरूयात्या एकेन रूपेण विमोचयति-इतीदृशस्य तत्त्वज्ञानस्याभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितात् सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारि केवलं ज्ञानमुत्पद्यते तेनानादिरपि विपर्ययवासना प्रतिबध्यते । ततश्चाध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनानि अन्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धा भवन्ति अयमेव मोक्ष इति राद्धान्तः ॥ २१ ॥

ननु पुरुषप्रकृत्यादीनामलक्ष्याणां लक्ष्याणां च घटपटादीनामखिलप्रमेयाणां लौकिकैः कथमनुभवो विधेयोऽत आह—त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २२ ॥ असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिर्बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा तस्याः करणं प्रमाणम् । तत् त्रिविधं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् । एतेनाधिकान्युपमानादीनि नैयायिकाद्यभ्युपगतानि प्रमाणानि एष्वेवान्तर्भवन्तीति नातिरिक्तान्युपयुज्यन्ते । तत्रार्थसन्निकृष्टमिन्द्रियं प्रत्यक्षम् । व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानम् । आप्तवचनाद्वेदादिरूपाच्छब्दमिति । विशेषत एषां लक्षणोदाहरणान्याकरादवसेयानीति शिवम् ॥ २२ ॥

एकस्मिन्त्रिगुणात्मतत्त्वयुतितो जाता द्विधा साप्यतो
द्वित्वं प्राप्य प्रकाशयत्यविरतं भोगापवर्गौ स्वतः ।
इत्येवं परिसूचयन् मतिमतां भोगापहं कापिलं
सूत्राणाममलं द्विकद्वयमिदं जीयाच्चिरं चेतसि ॥

इति सर्वोपकारिणी संक्षिप्तकापिलसूत्रवृत्तिः समाप्ता ॥

२. अत्र कश्चिदंशो निपतितः ।

श्रीकपिलाय नमः

सांख्यसूत्रविवरणम्

प्रकृतिं पुरुषं नत्वा सांख्यसूत्रे विधीयते ।
संक्षेपतो विवरणमविवेकापनुत्तये ॥

इह खलु भगवान् कपिलो मुनिरासुरयेऽनुकम्पया पञ्चविंशति-तत्त्वान्युपदिश्य सूत्रयामास । अष्टौ प्रकृतय इत्यादि । काः पुनस्ता इत्युच्यन्ते । प्रधानं महानहङ्कारस्तन्मात्राणि च । प्रधानं प्रकृतिरव्यक्तमव्याकृतं चेत्यनर्थान्तरम् । महान् महत्तत्त्वं बुद्धिरध्यवसायलक्षणम् । अहङ्कारोऽभिमानलक्षणो वैकृतिकस्तैजसो भूतादिश्चेति त्रिविधः । तन्मात्राणि तु पञ्च शब्दतन्मात्रमाकाशहेतुः । स्पर्शतन्मात्रं वायुयोनिः । रूपतन्मात्रं तेजोयोनिः । रसतन्मात्रमप्प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रं पृथिवीहेतुः । इति पञ्चतन्मात्राणि इत्यष्टौ प्रकृतयः ।

के पुनर्विकाराः कति । षोडशविकाराः । एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि च । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धालोचनवृत्तीनि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दवृत्तीनि । ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकं सङ्कल्पविकल्पलक्षणं मन इत्येकादशेन्द्रियाणि । भूतानि चाकाशवायुतेजःसलिलपृथिवीलक्षणानि पञ्चेति षोडशविकाराः ॥

अथ कः पुरुष इत्युच्यते । पुरुषोऽनेकस्त्रिगुणरहितो विवेकी अविषयोऽसाधारणोऽप्रसवधर्मा चेतनः साक्षी केवलो मध्यस्थो द्रष्टाऽकर्ता च ॥

अथ के पुनस्त्रयो गुणा इत्युच्यन्ते । त्रैगुण्यं सत्त्वं रजस्तम इति । त्रय एव गुणास्त्रैगुण्यम् । सत्त्वं नाम पाटवमार्दवलाघवप्रसन्नताभिसङ्गप्रीतितुष्ट्यनीहासन्तोषादिलक्षणमनन्तभेदं समासतः सुखावहम् । रजो नाम शोकतापस्वेदस्तम्भोद्गमोद्वेगरोषमानादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो दुःखावहम् । तमो नामाच्छादनावरणबीभत्सदैन्यगौरवालस्यनिद्राप्रमादादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो मोहात्मकम् एतत् त्रैगुण्यं व्याख्यातम् ॥

सत्त्वं प्रकाशकं विन्द्याद्रजो विन्द्यात् प्रवर्तकम् ।
विनाशकं तमो विन्द्यात् त्रैगुण्यं नाम सञ्ज्ञितम् ॥

अत्राह कः सञ्चरः प्रतिसञ्चरश्चेति । उच्यते । उत्पत्तिः सञ्चरः । प्रलयः प्रतिसञ्चरः । तत्रोत्पत्तिर्नामाव्यक्तात् समुपदिष्टात् सर्वजगतः परेण रूपेणाधिष्ठानात्मकात् महान् महतोऽहङ्कारः । स च त्रिविधः । वैकृतिको भूतादिस्तैजसश्चेति । तत्र वैकृतादिन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते भूतादेस्तन्मात्राणि तैजसादुभयम् इन्द्रियाणि तन्मात्राणि चेति । तन्मात्रेभ्यो भूतानि । अयं सञ्चरः । प्रतिसञ्चरो नाम भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते । तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे । अहङ्कारो बुद्धौ । बुद्धिरव्यक्ते । ततोऽव्यक्तं तु क्वचिन्न लीयते कस्मात् अनुत्पन्नत्वात् । इत्येवं प्रतिसञ्चरः । एवमेतौ सञ्चरप्रतिसञ्चरौ व्याख्यातौ ॥

अत्राह किंविधमध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं च । अत्रोच्यते । बुद्धिरध्यात्मम् । बोधयितव्यमधिभूतम् । ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् । अहङ्कारोऽध्यात्मम् । अभिमन्तव्यमधिभूतम् । रुद्रस्तत्राधिदैवतम् । मनोऽध्यात्मं सङ्कल्पमधिभूतम् । चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । श्रोत्रमध्यात्मम् । श्रोतव्यमधिभूतम् । दिशस्तत्राधिदैवतम् । त्वगध्यात्मम् । स्पर्शयितव्यमधिभूतम् । वायुस्तत्राधिदैवतम् । चक्षुरध्यात्मम् । दर्शयितव्यमधिभूतम् । सूर्यस्तत्राधिदैवतम् । जिह्वाध्यात्मम् । रसयितव्यमधिभूतम् । वरुणस्तत्राधिदैवतम् । नासाध्यात्मम् । घ्रातव्यमधिभूतम् । पृथिवी तत्राधिदैवतम् । वागध्यात्मम् । वक्तव्यमधिभूतम् । अग्निस्तत्राधिदैवतम् । पाणिरध्यात्मम् । आदातव्यमधिभूतम् । इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । पादावध्यात्मम् । गन्तव्यमधिभूतम् । विष्णुस्तत्राधि-

दैवतम् । पायुरध्यात्मम् । उत्सृष्टव्यमधिभूतम् । मित्रस्तत्राधिदैवतम् । उपस्थमध्यात्मम् । आनन्दयितव्यमधिभूतम् । प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् । एवमेव त्रयोदशकरणस्याध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च व्याख्यातम् । कानि चत्वारीत्यत आह चेति । त्रीणि गुणरूपाणि चतुर्थमधिदैवतमित्यर्थः ॥

चत्वारि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च ।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्गो गुणांस्तु भुङ्क्ते न गुणैः स भुज्यते ॥

अथ कास्ता अभिबुद्धय इत्युच्यन्ते । पञ्चाभिबुद्धयः । बुद्धिरभिमान इच्छा कर्तव्यं तत्क्रिया चेति । अभिमुखी बुद्धिरभिबुद्धिः । इदं करणीयमित्येतदध्यवसायो बुद्धिः क्रियात्मपरामर्शस्वरूपप्रत्ययः । अभिमुखो मानोऽहं करोमीत्यहंकारोऽभिमानः । बुद्धिक्रिया इच्छा वाञ्छा । कर्तव्यं संकल्पो मनसो वृत्तिः । क्रिया एतद्वस्तुस्वरूपमिति कर्तव्यालोचनं यद्बुद्धीन्द्रियाणां सा क्रिया । इत्थमेतत् कर्तव्यमिति यत्प्रवृत्तिः कर्मेन्द्रियाणां सा क्रियेति । एवमेताः पञ्चाभिबुद्धयो व्याख्याताः ॥

अथ काः पञ्चकर्मयोनयः उच्यन्ते । धृतिः श्रद्धा सुखा अविविदिषा विविदिषा चेति पञ्च कर्मयोनयः ।

वाचि कर्मणि काये च प्रतीतिर्याभिरज्यते ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः ।
प्रतिग्रहोऽत्रहोमश्च श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्याकर्मतपांसि च ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ॥
विषधूममूर्च्छितवदविविदिषा । विविदिषा ध्यानिनां प्रज्ञायोनिः ।
एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चेदमचेतनम् ।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा हि सा ॥

कार्यकारणक्षमकरा विविदिषा प्राकृतिकी वृत्तिः ।
धृतिः श्रद्धा सुखा अविविदिषा चतस्रो बन्धाय विविदिषैका मोक्षाय इति पञ्च कर्मयोनयो व्याख्याताः ॥

अत्राह के ते पञ्चवायवः । उच्यन्ते ।

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥

तत्र प्राणो नाम वायुर्योऽयं मुखनासिकाधिष्ठानप्राणनात् क्रमेणाननात् प्राण इत्यभिधीयते । अपानो नाम वायुर्नाभेरधिष्ठाता अपनयनादधोगमनाच्चापान इत्यभिधीयते । समानो नाम वायुर्हृदधिष्ठाता समनात् समगमनाच्च समान इत्यभिधीयते । उदानो नाम वायुः कण्ठाधिष्ठाता ऊर्ध्वं गमनाच्च उदान इत्यभिधीयते । व्यानो नाम वायुः सन्ध्यधिष्ठाता प्राणादिजृम्भणाच्च व्यान इत्यभिधीयते । इति पञ्चवायवो व्याख्याताः ॥

आह के ते पञ्चकर्मात्मानः उच्यन्ते । वैकारिकस्तैजसो भूतादिश्च सानुमानो निरनुमानश्चेति । तत्र वैकारिकः शुभकर्मकर्ता । तैजसोऽशुभकर्मकर्ता । भूतादिर्मूढकर्मकर्ता । सानुमानः शुभमूढकर्मकर्ता । निरनुमानोऽशुभमूढकर्मकर्ता । इत्येते पञ्चकर्मकर्तारो व्याख्याताः ॥

आह का सा पञ्चपर्वाविद्येति । उच्यते । तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रश्चेति । तत्र तमोमोहावुभावेतावष्टात्मकौ । महामोहो दशात्मकः । तामिस्रान्धतामिस्रौ चाष्टादशात्मकौ । तत्र तमो नामाष्टासु प्रकृतिष्वव्यक्तबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्रसञ्ज्ञितासु अनात्मस्वात्मज्ञानाभिमानस्तम इत्यभिधीयते । मोहो नामाणिमाद्यष्टगुणैश्वर्यप्राप्तये योऽभिमान उत्पद्यते स मोह इत्यभिधीयते । महामोहो नाम दृष्टानुश्रविकेषु विषयेषु दशसु निवृत्तेषु मुक्तोऽहमिति मन्यते स महामोह इत्यभिधीयते । तामिस्रो नाम अष्टगुणैश्वर्येऽणिमाद्ये दशविधे च विषये प्रतिहतस्य दुःखमुत्पद्यतेऽसौ तामिस्र इत्यभिधीयते ।

अन्धतामिस्रो नाम अणिमाद्यष्टगुणैश्वर्ये दशविधे च विषये सिद्धे मरणकाले च यो विषादः प्रत्युपपद्यते सोऽन्धतामिस्र इत्यभिधीयते। एवमेषा पञ्चपर्वाऽविद्या द्विषष्टिभेदा व्याख्याता ॥

अत्राह काऽष्टाविंशतिधा शक्तिः। अत्रोच्यते। एकादशेन्द्रियवधाः सप्तदशबुद्धिवधाः। एषाष्टाविंशतिधा शक्तिः। तत्रेन्द्रियवधास्तावत् बधिरस्त्वग्बधिरः अन्धः जडजिह्वः अजिघ्रः मूकः कुणिः पङ्गुः नपुंसकः उर्ध्ववायुयुक्तः अमनाः। तदुक्तम्।

बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वं क्लैब्योदावर्तमत्तताः ॥

एतदिन्द्रियद्वारा बुद्धेरेव वधाः। साक्षादबुद्धिवधा यथा। नवविधतुष्टिवैकल्यात् अष्टविधसिद्धिवैकल्याच्च सप्तदशबुद्धिवधा इत्यष्टाविंशतिधा शक्तिः ॥

का पुनर्नवधा तुष्टिः उच्यते। चतस्र आध्यात्मिक्यस्तुष्टयः बाह्याः पञ्च। आद्याः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। प्रकृत्यैव मुक्तिः किं पुनः साधनैरिति तुष्टिः प्रकृत्याख्या अम्भो नाम। साधनैः संन्यासादिभिरुपात्तैस्तुष्टिः साधनाख्या सलिलं नाम। कालेनैव मुक्त्यादिकं सेत्स्यति किं दुःखैः संन्यासादिसाधनैरिति तुष्टिः कालाख्याऽघो नाम। या तु भाग्यादेव सर्वं सेत्स्यति किं साधनादिध्यानादिक्लेशैरिति सा भाग्याख्या तुष्टिर्नाम। बाह्याः शब्दादिविषयवैराग्यास्तुष्टयः अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनं वैराग्यहेतुः पञ्चविधस्तद्भेदेन पञ्चतुष्टयः ॥

अथ काः सिद्धयः उच्यन्ते। अष्टौ सिद्धयः। उच्यन्ते। अध्ययनं तारं नाम सिद्धिः। ततोऽर्थज्ञानं सुतारं नाम। ततस्तर्केणार्थपरीक्षणं तारतरं नाम सिद्धिः। ततः परीक्षकसंवादनं रम्यकं नाम। ततो विवेकख्यातिः सदामुदितं नाम। एताः पञ्च गौण्यः सिद्धयः।

दुःखत्रयविघातास्तास्त्रयो मुख्याः सिद्धयः। प्रमोदमुदितमोदनामाख्याः फलमित्यष्टौ सिद्धयः। तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् सप्तदशधा बुद्धिवधाः ॥

के पुनर्मौलिकार्थाः कतिधा उच्यन्ते। दशधा मौलिकार्थाः। एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं प्रधानस्य। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं पुरुषस्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभययोः। शेषवृत्तिः परिशिष्टत्वं प्रलये तदुभययोः। तदुक्तम्—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वं यथार्थता।
पारार्थ्यं च तथा नैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ॥ इति।

अत्राह कोऽनुग्रहसर्गः। अनुगृह्णाति प्रत्ययभूतादिसर्ग यः सर्गः सोऽनुग्रहसर्गः। तन्मात्रसर्ग एवासौ विशेषापरनामा।

के विशेषाः कियन्तश्च। उच्यन्ते। लिङ्गदेहाः स्थूलदेहाः स्थूलभूतानि च। तत्र लिङ्गं स्थूलदेहात् पूर्वमुत्पन्नमव्याहतं स्थूलनाशेऽप्यनश्वरम्। महदहंकारेन्द्रियतन्मात्रात्मकम्। धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याख्यभाववासितं संसरति। स्थूलभूतानि तु भूगोलसमुद्रवह्निशिशुमारब्रह्माण्डविराटादीनि। स्थूलदेहाः के कतिविधाश्चेति उच्यते ॥ चतुर्दशविधो भूतसर्गः। तत्राष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनः पञ्चधा मानुष्य एकविधः ब्राह्मः प्राजापत्यः पैत्रो गान्धर्वो याक्षो राक्षसः पैशाचश्च दैवसर्गः पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः तिरश्चां सर्गः। ब्राह्मणादिजातिभेदेऽपि संस्थाने विशेषाभावात् एकविधो मानुष्य इति चतुर्दशविधाः स्थूलदेहाः। कः पुनर्बन्धः कतिधाः च। त्रिविधो बन्धः। काः पुनस्ता विधा उच्यन्ते। प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्च बन्धः। प्रकृतिमात्मानं ज्ञात्वा तच्चिन्तनात् प्राकृतिकः अत्रोच्यते पूर्णवर्षसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तका इति। महदादीनात्मत्वेन ज्ञात्वा तच्चिन्तनाद्वैकारिकाः। अत्रोच्यते।

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।

भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं चाभिमानिकाः ।
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
अमी विदेहाः ।

इष्टापूर्त्ती दक्षिणा तन्निमित्तो दाक्षिणकः अत्रोच्यते—

स्वर्गस्था नरकं यान्ति नारकाश्च त्रिविष्टपमिति ।

गतागतं कामकामा लभन्त इति च । अत एव हि त्रिष्वपि बन्धेषु एकैकापाये ततस्ततो मोक्ष इति ।

त्रिविधो मोक्षः । कर्मणो विकारात् प्राकृतश्च मोक्षः । यदुक्तम्—

प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बृद्धो नान्येन मुच्यते ॥ इति ॥

अथ कुतस्त्यानां तत्त्वानां सिद्धिः । प्रमाणादिति ब्रूमः । तत्र प्रमाणं किं कतिविधं वा उच्यते—त्रिविधं प्रमाणम् । तिस्रो विधा यस्येति त्रिविधम् । कास्ता विधाः । उच्यते—दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च । अर्थसन्निकृष्टेन्द्रियजो निश्चयो दृष्टम् । इन्द्रियाणि पञ्च चक्षुरादीनि मनश्च । व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानम् । तच्च त्रिविधम् । पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च । पूर्ववद्यथा कर्दमेन पूर्ववृत्तवृष्ट्यनुमानम् । शेषवद्यथा—समुद्रात् पलमुदकं क्षारमुपलभ्य शेषस्यापि क्षारत्वानुमानम् । सामान्यतो दृष्टं च यथा—रूपाद्युपलभ्य तदुपलब्धेः कारणस्यानुमानम् । रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियत्वात् छिदिक्रियावत् । आप्तश्रुतिराप्तवचनं च । यथार्थवाक्यजार्थविषयोऽध्यवसाय इति यावत् । प्रावादुकोद्भावितानां तु उपमानार्थापत्तिसम्भवाभावैतिह्यप्रतिभानामित्युक्तेष्वेवान्तर्भावः । यत् तद्यथा गौर्गवयस्तथेति वाक्यम् । तद्ज्ञानिधीरागम एव । गवयेपि गोसदृशस्य गवयशब्दो वाचक इति प्रत्ययः सोऽयमनुमानमेतत्सङ्केतग्रहरूपत्वात् । यद् गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टगोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव । अत एव स्मर्यमाणायां गवि सादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । गोगवययोः सादृश्यस्य गवयान्तरवर्त्ति-

भूयोऽवयवसामान्यरूपस्य योगरूपस्यैकत्वादित्युपमानं न मानान्तरम् । जीवतो गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावकल्पनादित्यर्थापत्तिरनुमानमेव । सम्भवोऽपि खार्यादौ द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमरूपोऽनुमानमेव । इह भूतले घटो नास्तीत्यादिरभावावगमोऽपि प्रत्यक्षमेवेति नाभावः पृथक् प्रमाणम् । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादमात्रमैतिह्यमपीह वटे यक्षः प्रतिवसतीत्यप्रमाणमेव । आप्तमूलत्वे त्वागम एव । द्वारवती पुण्यभूमिरिति श्रुतेः तत्र वसता श्रेयांसस्तत्र गमने पुण्यं भवतीत्यादिबुद्धिर्जायमाना प्रतिभा । यत्रोच्यते । अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन इति । सा तु प्रायेण प्रमाणमेव । आर्षं तु दर्शनं प्रत्यक्षमेव । या प्रतिभा साप्यनुमानमेव ॥

त्रयोविंशतिसूत्रैर्हि सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ।
कृतो मुनिवरेणात्र यथामति सचीवृतः (?) ॥

इति सांख्यसूत्रविवरणाख्या कापिलसूत्रवृत्तिः समाप्ता ॥

॥ श्रीः ॥

तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः

पञ्चविंशतितत्त्वेषु जन्मना ज्ञानमाप्तवान् ।
आदिसृष्टौ नमस्तस्मै कपिलाय महर्षये ॥ १ ॥

अथातस्तत्त्वसमासाख्यसाङ्ख्यसूत्राणि व्याख्यास्यामः । इह कश्चिद् ब्राह्मणस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूतः साङ्ख्याचार्यं कपिलमहर्षिं शरणमुपागतः । स्वकुलनामगोत्रस्वाध्यायं निवेद्याह । भगवन् किमिह परं किं याथातथ्यं किं कृत्वा कृतकृत्यः स्यामिति । कपिल उवाच कथयिष्यामि । अष्टौ प्रकृतयः ॥ १ ॥ षोडश विकाराः ॥ २ ॥ पुरुषः ॥ ३ ॥ त्रैगुण्यम् ॥ ४ ॥ सञ्चरः ॥ ५ ॥ प्रतिसञ्चरः ॥ ६ ॥ अध्यात्मम् अधिभूतम् अधिदैवतं च ॥ ७ ॥ पञ्चाभिबुद्धयः ॥ ८ ॥ पञ्चकर्मयोनयः ॥ ९ ॥ पञ्चवायवः ॥ १० ॥ पञ्चकर्मात्मानः ॥ ११ ॥ पञ्चपर्वाऽविद्या ॥ १२ ॥ अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३ ॥ नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥ अष्टधा सिद्धिः ॥ १५ दशधा मूलिकार्थाः ॥ १६ ॥ अनुग्रहसर्गः ॥ १७ ॥ चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८ ॥ त्रिविधो धातुसर्गः ॥ १९ ॥ त्रिविधो बन्धः ॥ २० ॥ त्रिविधो मोक्षः ॥ २१ ॥ त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २२ ॥ त्रिविधं दुःखम् ॥ २३ ॥(१)एतत् परम्परया याथातथ्यमेतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यान्न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते । इति तत्त्वसमासाख्यसाङ्ख्यसूत्राणि ॥

अथ का अष्टौ प्रकृतय इत्यत्रोच्यते—अव्यक्तं बुद्धिरहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणीत्येता अष्टौ प्रकृतयः । तत्राऽव्यक्तं तावदुच्यते यथा लोके व्यज्यन्ते घटपटकुड्यशयनकाद्या न तथा व्यज्यत इत्यव्यक्तम् ।

१—एतेषु सूत्रेषु व्याख्याकार मतभेदाद् बहूनि पाठान्तराण्युपलभ्यन्ते इति तत्र तत्र द्रष्टव्यानि ।

श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्न गृह्यत इत्यर्थः । कस्मात् अनादिमध्यान्तत्वान्निरवयवत्वाच्च ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम् ।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः ॥

सूक्ष्ममलिङ्गमचेतनमनादिनिधनं तथाप्रसवधर्मि निरवयवमेकमेव हि साधारणमेतदव्यक्तम् । अव्यक्तस्यामी पर्यायशब्दा भवन्ति । अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म परं ध्रुवं बहुधानकमक्षरं क्षेत्रं तमः प्रसूतमिति ।

का बुद्धिरत्रोच्यते—अध्यवसायो बुद्धिः । सोऽयमध्यवसायो गवादिषु द्रव्येषु यस्मात् प्रतिपत्तिः । एवमेतन्नान्यथा । गौरेवायं नाश्वः । स्थाणुरेवायं न पुरुषः । इत्येषा बुद्धिः । अस्यास्तु बुद्धेरष्टौ रूपाणि भवन्ति धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । तत्र धर्मो नामाऽधर्मविपर्ययः श्रुतिस्मृतिविहितः शिष्टाचाराऽविरुद्धः शुभलक्षणः । ज्ञानं नामाऽज्ञानविपर्ययस्तत्त्वभावभूतानां सम्बोधः । वैराग्यं नामाऽवैराग्यविपर्ययः शब्दादिविषयेष्वप्रशक्तिः । एश्वर्यं नामाऽनैश्वर्यविपर्ययोऽणिमादयोऽष्टगुणाः । एतानि सात्त्विकानि चत्वारि । अधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति अधर्मो नाम धर्मविपर्ययः श्रुतिस्मृतिविरुद्धः शिष्टाचारविरुद्धोऽशुभलक्षणः । अज्ञानं नाम ज्ञान विपर्ययस्तत्त्वभावभूतानामनवबोधः । अवैराग्यं नाम वैराग्यविपर्ययः शब्दादिविषयेष्वभिषङ्गः । अनैश्वर्यं नामैश्वर्यविपर्ययोऽणिमादिरहितत्वम् । एतानि तामसानि चत्वारि । तत्र धर्मेण निमित्तेनोर्ध्वगमनम् । ज्ञानेन निमित्तेन मोक्षः । वैराग्येण निमित्तेन प्रकृतिलयः । ऐश्वर्यनिमित्तेनाऽप्रतिहतगतिर्भवति । एवमेषाऽष्टरूपा बुद्धिर्व्याख्याता । बुद्धेरमी पर्यायशब्दा भवन्ति ।

मनो मतिर्महान् ब्रह्मा ख्यातिः प्रज्ञा श्रुतिर्धृतिः ।
प्रज्ञानं सन्ततिः स्मृतिर्धीर्बुद्धिः परिकथ्यते ॥

अत्राह कोऽहङ्कार इत्युच्यते—अभिमानोऽहङ्कारः ।

अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे ।
अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ॥ १ ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः ।
अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ॥ २ ॥

योऽयमभिमानप्रत्ययः सोऽहङ्कारः । अहङ्कारस्याऽमी पर्यायशब्दाः । अहङ्कारो वैकारिकस्तैजसो भूतादिः सानुमानो निरनुमानश्चेति ॥

अत्राह—कानि पञ्चतन्मात्राणीत्युच्यते । अहङ्कारान्वितानि पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति पञ्चतन्मात्राणि । तत्र तावच्छब्दतन्मात्राणि शब्देष्वेवोपलभ्यन्ते उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादादयः शब्दविशेषादुपलभ्यन्ते । तस्माच्छब्दतन्मात्रेऽविशेषः । अथ स्पर्शतन्मात्राणि स्पर्शेष्वेवोपलभ्यन्ते तत्र मृदुकठिनकर्कशपिच्छिलशीतोष्णादयः स्पर्शविशेषा उपलभ्यन्ते । तस्मात् स्पर्शतन्मात्रेऽविशेषः । रूपतन्मात्राणि रूपेष्वेवोपलभ्यन्ते । तत्र शुक्लरक्तकृष्णहरितपीतहारिद्रमाञ्जिष्ठादयो रूपविशेषा उपलभ्यन्ते । तस्माद्रूपतन्मात्रेऽविशेषः । तथा रसतन्मात्राणि रसेष्वेवोपलभ्यन्ते । तत्र कटुतिक्तकषायक्षारमधुराम्ललवणादयो रसविशेषा उपलभ्यन्ते । तस्माद्रसतन्मात्रेऽविशेषः । अथ गन्धतन्मात्राणि गन्ध एवोपलभ्यन्ते । तत्र सुरभिरसुरभिश्च गन्धविशेषा उपलभ्यन्ते(१) । तस्माद् गन्धतन्मात्रेऽविशेषः । एवमेतत्पञ्चतन्मात्राणि सूचितानि । अथैषां पर्यायशब्दाः । तन्मात्राण्यविशेषाणि महाभूतप्रकृतयो भोग्यान्यणवः शान्तघोरमूढानीति । एवमेता अव्यक्तबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रसञ्ज्ञिता अष्टौ प्रकृतयो व्याख्याताः । अथ कस्मात् प्रकृतयः । प्रकुर्वन्तीति प्रकृतयः ।

१. गन्धतन्मात्राद् गन्ध एवोपलभ्यते न सुरभिरसुरभिश्च गन्धविशेषः—पा० २ पु० । एवमेव पूर्वं सर्वत्र पाठान्तराणि वर्तन्ते ।

अथ ते के षोडशविकारा इत्यत्रोच्यते—एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येते षोडशविकाराः । तत्रेन्द्रियाणि तावदुच्यन्ते—श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । श्रोत्रं स्वविषयं शब्दं गृह्णाति त्वक्स्पर्शविषयं चक्षू रूपविषयं रसना रसविषयं घ्राणं गन्धविषयमिति । वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि स्वं स्वं कर्म कुर्वन्ति । तत्र वाग्वचनमुच्चरति । हस्तौ कर्म कुरुतः । पादौ विहरणम् । पायुर्विसर्गम् । उपस्थमानन्दम् । उभयात्मकं मनः । स्वसङ्कल्पविकल्पवृत्ती कुरुते । एवमेकादशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि । अथैषां पर्यायाः । इन्द्रियाणि करणानि वैकारिकाणि खानि नियतानि पदानि अवधृतानि अणूनि अक्षाणीति ।

अथ कानि पञ्चमहाभूतानीत्यत्रोच्यते—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानीति महाभूतानि । तत्र पृथिवी धारणभावेन प्रवर्तमाना चतुर्णामुपकारं करोति । आपो जलानि संग्रहभावेन प्रवर्त्तमानाश्चतुर्णामुपकारं कुर्वन्ति । तेजः पाचकभावेन प्रवर्तमानं चतुर्णामुपकारं करोति । वायुर्वाहनभावेन प्रवर्त्तमानश्चतुर्णामुपकारं करोति । आकाशमवकाशदानेन प्रवर्तमानं चतुर्णामुपकारं करोति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवती पञ्चगुणा पृथिवी । शब्दस्पर्शरूपरसवत्यश्चतुर्गुणा आपः । शब्दस्पर्शरूपवत् त्रिगुणं तेजः । शब्दस्पर्शवान् द्विगुणो वायुः । शब्दवदेकगुणमाकाशम् । एवमाख्यातानि पञ्च महाभूतानि । अथैषां पर्यायाः । भूतानि भूतविशेषाः विकाराः आकृतयः तनवः विग्रहाः शान्ताः घोराः मूढा इत्येते षोडशविकारा व्याख्याताः ।

अथाह कः पुरुष इत्युच्यते । पुरुषोऽनादिः सूक्ष्मः सर्वगतश्चेतनोऽगुणो नित्यो द्रष्टा भोक्ताऽकर्त्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मी चेति । अथाह कस्मात् पुरुषः पुराणात् पुरिशयनात् पुरोहितवृत्तित्वाच्च पुरुषः । अथ कस्मादनादिः । नस्यादिरन्तो मध्यो वा विद्यत इत्यनादिः । कस्मात् सूक्ष्मः । निरवयवत्वादतीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मः । कस्मात् सर्वगतः

सर्वं प्राप्तमनेन नास्य गगनमस्तीति सर्वगतः । कस्माच्चेतनः । सुखदुःखमोहोपलब्धिमत्त्वात् । कस्मादगुणः । सत्त्वरजस्तमांस्यस्मिन्न सन्त्यतोऽगुणः । कस्मान्नित्यः अकृतकत्वादनुत्पादकत्वाच्च । कस्माद् द्रष्टा । प्रकृतिविकारानुपलम्भेन इति । कस्माद्भोक्ता । चेतनभावात् सुखदुःखपरिज्ञानाच्च । कस्मादकर्ता । उदासीनत्वादगुणत्वाच्च । कस्मात् क्षेत्रविद् । क्षेत्रेभ्यो गुणान् वेत्तीति क्षेत्रविद् । अथ कस्मादमलः । शुभाऽशुभकर्माण्यस्मिन् पुरुषे न सन्तीत्यमलः । कस्मादप्रसवधर्मी । निर्बीजत्वात् । न किञ्चिदुत्पादयतीत्यर्थः । एवमेष सांख्यपुरुषो व्याख्यातः। अथास्य पुरुषस्य पर्यायाः—पुरुषः आत्मा पुमान् पुंगुणः बहुलः जन्तुः जीवः क्षेत्रज्ञः नरः कविः ब्रह्म अक्षरः प्राणः अजः यः कः सः एषः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्याख्यातानि । अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः पुरुषश्चेति ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

अत्राह—पुरुषः किं कर्ता अकर्त्ता वेति । यदि कर्त्ता पुरुषः स्यात् तदा शुभानि कुर्यात् । ननु वृत्तित्रयं लोके दृष्टं पुरुषस्य ततः किं गुणानां कर्तृताऽसिद्धा ? ।

धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम् ।
ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्विकी वृत्तिः ॥
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः ।
विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः ॥
प्रमादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसङ्गिता निद्रा ।
आलस्यं नैर्घृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः ॥

एतद्वृत्तित्रयं दृष्ट्वा लोके गुणानां कर्तृत्वं सिद्धमिति चाकर्त्ता पुरुषः सिद्धो भवति ॥

प्रवर्त्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणान्
रजस्तमोभ्यां विपरीतदर्शनात् ।
अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते
तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः ॥

सर्वमिदं मया कृतं ममेदमिति वदन्नभिमानादबुध उन्मत्तः कर्तृवद्भवति अत्राह—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहऽमिति मन्यते ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

एवम् ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

तत्राह किमयमेकः पुरुषो बहवो वेत्युच्यते ।

सुखदुःखमोहसङ्करविशुद्धकरणपाटवजन्ममरणकरणानां नानात्वात् पुरुषबहुत्वं सिद्धं लोकाश्रमवर्णभेदाच्च । यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन् सुखिनि सर्व एव सुखिनः स्युः । एकस्मिन् दुःखिनि सर्व एव दुःखिनः स्युः । एकस्मिन् करणपाटवे सर्वेषामेव करणपाटवं स्यात् । एकस्मिञ्जाते सर्व एव जायेरन् । एकस्मिन् मृते सर्व एव म्रियेरन्निति । न चैवम् इतश्च बहवः पुरुषाः सिद्धाः । आकृतिगर्भाशयभावसङ्गतिशरीरविभागे लिङ्गबहुत्वात् । एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो बहून् पुरुषान् वर्णयन्ति । वेदान्तवादिन आचार्या हरिहरहिरण्यगर्भव्यासादय एकमेवात्मानं वर्णयन्ति । कस्मादेवं तदाह—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद्वि चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः ॥
तदेव सत्यममृतं स मोक्षः सा परा गतिः ॥
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् ॥

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वेषां प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं महत् ॥
सर्वतः सर्वतत्त्वानि सर्वात्मा सर्वसम्भवः ।
सर्वं विलीयते यस्मिन् तद् ब्रह्म मुनयो विदुः ॥
एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥
एकोऽयमात्मा जगतामेकेन बहुधा कृतः ।
पृथग् वदन्ति चात्मानं ज्ञानादिकप्रवर्तने(?) ॥
ब्राह्मणे कृमिकीटेषु श्वपाके शुनि हस्तिनि ।
पशुगोदंशमशके समं पश्यन्ति पण्डिताः ॥
एक एव यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तामणिप्रवालेषु मृन्मये रजते तथा ॥
तद्वद् गोषु मनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
एकोऽयमात्मा विज्ञेयः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ॥

अत्राह किं त्रैगुण्यं नामोच्यते । सत्त्वरजस्तमांसीति त्रिगुणा एव

त्रैगुण्यम् । सत्त्वं नाम प्रसादलाघवप्रसन्नताभिषङ्गप्रीतितुष्टितितिक्षासन्तोषादिलक्षणमनन्तभेदं समासतः सुखात्मकम् । रजो नाम शोकतापस्वेदस्तम्भोद्वेगरोषमानादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो दुःखात्मकम् । तमो नामाऽऽच्छादनावरणबीभत्सदैन्यगौरवालस्यनिद्राप्रमादादिलक्षणमनन्तभेदं समासतो मोहात्मकम् । एतत् त्रैगुण्यं व्याख्यातम् ।

सत्त्वं प्रकाशकं विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्तकम् ।
तमोऽप्रकाशकं विद्यात्त्रैगुण्यन्नाम संज्ञितम् ॥

अत्राह—कः सञ्चरः प्रतिसञ्चरश्च । अत्रोच्यते—उत्पत्तिः सञ्चरः प्रलयः प्रतिसञ्चरः । तत्रोत्पत्तिर्नामाऽव्यक्तात् प्रागुपदिष्टात् सर्वतः पुरुषेण परेणाधिष्ठिता बुद्धिरुत्पद्यते । अष्टगुणा बुद्धिः । बुद्धितत्त्वादहङ्कार उत्पद्यते । स चाऽहङ्कारस्त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति । तत्र वैकारिकादहङ्कारादेव इन्द्रियाणि चोत्पद्यन्ते । भूतादेस्तन्मात्राणि । तैजसादुभयम् । तन्मात्रेभ्यो भूतानीति सञ्चरः । प्रतिसञ्चरो नाम भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते । तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे । अहङ्कारो बुद्धौ । बुद्धिरव्यक्ते । तदव्यक्तं क्वचिन्न लीयते । कस्मादनुत्पद्यमानत्वात् प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादि इत्येवं प्रतिसञ्चरो व्याख्यातः । तत्राह—किं तदध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं चेति । तत्रोच्यते—बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् । अहङ्कारोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् । मनोऽध्यात्मं सङ्कल्पितव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतमाकाशस्तत्राधिदैवतम् । त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम् । चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतम् । जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतम् । घ्राणमध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथ्वी तत्राधिदैवतम् । वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतम् अग्निस्तत्राधिदैवतम् । पाणी अध्यात्मं ग्रहीतव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् । पायुरध्यात्ममुत्स्रष्टव्यमधि-

भूतं मित्रस्तत्राधिदैवतम् । उपस्थमध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् । एवमेतत् त्रयोदशविधस्य करणस्याध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं व्याख्यातम् ।

तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च ।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्गो गुणाँस्तु भुङ्क्ते न गुणैः स भुज्यते ॥

अथ कास्ताः पञ्चाभिबुद्धय उच्यते—व्यवसायोऽभिमानेच्छा कर्तव्यता क्रियेति । अभिमुखी बुद्धिरिदं करणीयं मयेति व्यवसायो बुद्धिक्रिया । आत्मपरात्मस्वरूपप्रत्ययाभिमुखोऽभिमानोऽहङ्कारो बुद्धेः क्रिया । इच्छा वाञ्छा सङ्कल्पो मनसो बुद्धिक्रिया । शब्दादिविषयालोचनश्रवणादिलक्षणकर्तव्यता बुद्धीन्द्रियाणां बुद्धिक्रिया । वचनादिलक्षणबुद्धिक्रिया कर्मेन्द्रियाणां सा क्रियेति । एवमेताः पञ्चाभिबुद्धयो व्याख्याताः ।

अथ कास्ताः पञ्चकर्मयोनय उच्यन्ते । धृतिः श्रद्धा सुखाऽविविदिषा विविदिषा च पञ्चकर्मयोनयः ।

बाह्यकर्माणि सङ्कल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः ।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्तिता ॥

विषयमधुमिश्रितान्तःकारणत्वमविविदिषा । विविदिषा च ध्यानिनां प्रज्ञानयोनिः ।

एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम् ।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा ॥

कार्यकारणक्षयकरी विविदिषा प्राकृतिकी वृत्तिः । धृतिः श्रद्धा

सुखाऽविविदिषा चतस्रो बन्धाय विविदिषैका मोक्षाय । एवमेताः पञ्च कर्मयोनयो व्याख्याताः । अत्राह के पञ्च वायव उच्यन्ते—

प्राणोपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ।

तत्र प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकाधिष्ठाता प्रणयनात्प्रक्रमणाच्च प्राण इत्यभिधीयते । अपानो नाम वायुर्नाभ्यधिष्ठाताऽपनयनादधोगमनाच्चापान इत्यभिधीयते । समानो नाम वायुर्हृदधिष्ठाता समनयनात् सङ्गमनाच्च समान इत्यभिधीयते । उदानो नाम वायुः कण्ठाधिष्ठाता ऊर्ध्वगमनादुत्क्रमणाच्चोदान इत्यभिधीयते । व्यानो नाम वायुः सन्ध्यधिष्ठाता विक्षेपणाद्विजृम्भणाच्च व्यान इत्यभिधीयते । इति पञ्चवायवो व्याख्याताः ।

अत्राह के ते पञ्चकर्मात्मान इत्युच्यते । वैकारिकस्तैजसो भूतादिः सानुमानो निरनुमानश्च । तत्र वैकारिकः शुभकर्मकर्ता । तैजसोऽशुभकर्मकर्ता । भूतादिर्मूढकर्मकर्ता । सानुमानः शुभमूढकर्ता । निरनुमानोऽशुभमूढकर्ता चैवं पञ्चकर्मात्मानो व्याख्याताः ।

अत्राह का सा पञ्चपर्वाऽविद्येत्युच्यते । तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रश्चेति । तत्र तमोमोहावुभावष्टात्मकौ । महामोहो दशात्मकः । तामिस्रोऽन्धतामिस्रश्चाष्टादशात्मकौ । तमो नामाष्टसु प्रकृतिष्वव्यक्तबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्रसंज्ञितास्वनात्मस्वात्माभिमानस्तम इत्यभिधीयते । मोहो नामाणिमाद्यष्टैश्वर्यप्राप्तये योऽभिमान उत्पद्यते स मोह इत्यभिधीयते । महामोहो नाम दृष्टानुश्रविकेषु शब्दादिविषयेषु दशसु वृत्तिषु मुक्तोहमिति मन्यते स महामोह इत्यभिधीयते । तामिस्रो नामाष्टगुणैश्वर्येऽणिमाद्ये दशविधे च विषये यो द्वेषोऽप्रतिहतस्तत्र यद् दुःखमुत्पद्यतेऽसौ तामिस्र इत्यभिधीयते । अन्धतामिस्रो नामाष्टगुणैश्वर्येऽणिमाद्ये दशविधे च विषये सिद्धे मरणकाले यो विषाद उत्पद्यते

सोऽन्धतामिस्र इत्यभिधीयते । एवमेषा पञ्चपर्वाऽविद्या द्विषष्टिभेदा व्याख्याताः ।

अत्राह का साऽष्टाविंशतिधाऽशक्तिरत्रोच्यते । एकादशेन्द्रियवधाः सप्तदश तुष्टिसिद्धि(बुद्धि)वधाः । एषाष्टविंशतिधाऽशक्तिरिति । तत्रेन्द्रियवधास्तावदुच्यन्ते । श्रोत्रे वाधिर्यं जिह्वायां जडत्वं त्वचि कुष्ठित्वं चक्षुष्यरूपत्वं नासिकायामघ्राणत्वं वाचि मूकत्वं हस्तयोः कुणित्वं पादयोः पङ्गुत्वं वागिन्द्रिय उदावर्त्त उपस्थेन्द्रिये क्लैब्यं मनस्युन्माद इत्येकादशेन्द्रियवधाः । सप्तदशतुष्टिसिद्धिवधा नाम विपर्ययास्तुष्टिसिद्धीनाम् । तुष्टिविपर्ययास्तावदुच्यन्ते । तत्र नास्ति प्रधानमिति या प्रतिपत्तिरनन्ता । एवमहमित्यात्मज्ञाने तामसलीना तथाहङ्कारस्याऽदर्शनमविद्या । नैव सन्ति तन्मात्राणि भूतकारणानीत्यवृष्टिः । विषयाणामर्जने प्रवृत्तिरसुतारा । रक्षणे तु प्रवृत्तिरसुपारा च । क्षयदोषमदृष्ट्वाऽर्थे प्रवृत्तिरसुनेत्रा । भोगा शक्तिरसुमरीचिका । हिंसादोषमपश्यतो भोगारम्भोऽनुत्तमाम्भसिका । इति तुष्टिविपर्यया नवधाऽतुष्टयो व्याख्याताः । अथ सिद्धिविपर्यया असिद्धयोऽष्टौ चाभिधीयन्ते । नानात्वं भूतमात्रस्यैकत्वमाविर्भूतमतारमुच्यते । शब्दमात्रश्रवणाद्विपरीतग्रहणमासुतारं यथा नानात्वज्ञो मुक्त इति श्रुत्वा विपरीतं प्रतिपन्नो नानात्वज्ञो ह्यमुक्त इति । अध्ययनश्रवणाभिनिविष्टस्यापि जडत्वादसच्छास्त्रोपहतबुद्धित्वाद्वा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानसिद्धिर्न भवति तदाऽतारतारं तदज्ञानम् । कस्यचिदाध्यात्मिकेन दुःखेनाभिभूतस्यापि संसारेऽनुद्वेगादजिज्ञासोर्न ज्ञानं तत्प्रमादम् । एवमप्रमुदिताप्रमोदमानयोश्चान्योन्ययोर्द्वयमपरं द्रष्टव्यम् । सुहृदुपदिष्टेऽप्यनिश्चयबुद्धेरज्ञानं परस्परमसम्पा । असम्पावचनादथवा पराङ्मुखे गुरौ दुर्भाग्यस्य ज्ञानासिद्धिरतदज्ञानमसत्प्रमुदितमिति । एवमेते सिद्धिविपर्यया असिद्धयोऽष्टौ व्याख्याताः ; एवमेषाष्टाविंशतिधाऽशक्तिर्व्याख्याता ।

अत्राह का सा नवधा तुष्टिरत्रोच्यते । प्रकृतिं परमार्थत्वेन परिकल्प्य परितुष्टे माध्यस्थं लभते तस्य तुष्ट्या सा तान्त्रिकी संज्ञाऽम्भ इति । अपरो बुद्धिं परमार्थत्वेन प्रतिपद्य परितुष्टस्तस्यास्तुष्टेः शलिला इति संज्ञा । अन्योऽहङ्कारं परमार्थत्वेनाभ्युपगम्य परितुष्टस्तस्यास्तुष्टेः रोध इति संज्ञा । इतरस्तन्मात्राणि भोग्यानि परमार्थत्वेन विनिश्चित्य परितुष्टस्तस्य तुष्टेर्वृष्टिरिति संज्ञा । एवमाध्यात्मिकयश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति । चतसृष्वपि तुष्टिषु नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानस्यासम्भवात् । बाह्यार्थार्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषदर्शनाद्विषयोपरमे पञ्चतुष्टयो भवन्ति । अर्थानामर्जने दोषदर्शनात् तुष्टः प्रव्रजितस्यापि नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानाभावात् । सा पञ्चमी तुष्टिः सुतारेत्यभिधीयते । अन्योर्थानां रक्षणे दोषदर्शनात् तुष्टः प्रव्रजितस्यापि नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानाभावात् सा षष्ठी तुष्टिः सुपारेत्युच्यते । अन्योर्थानां क्षयदोषदर्शनात् तुष्टः प्रव्रजितस्यापि नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानाभावात् सा सप्तमी तुष्टिः सुनेत्रेत्यभिधीयते । अन्योर्थानां सङ्गदोषदर्शनात् तुष्टः प्रव्रजितस्यापि नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानाभावात् साऽष्टमी तुष्टिः सुमरीचिकेत्यभिधीयते । अन्यो भूतानामर्थनिमित्तं हिंसादिदोषदर्शनान्निवृत्तस्तुष्टः प्रव्रजितस्यापि नास्ति मोक्षस्तत्त्वज्ञानाभावात् सा नवमी तुष्टिरुत्तमाम्भसिकेत्यभिधीयते । इत्येता नवतुष्टयो व्याख्याताः ।

अत्राह काऽष्टौ सिद्धय इत्यत्रोच्यते । यदूहेन ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा प्रथमा सिद्धिस्तारेत्यभिधीयते । यच्छब्दमात्रेण ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा सिद्धिः सुतारेत्यभिधीयते । यदध्ययनेन ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा तृतीया सिद्धिस्तारयन्तीत्यभिधीयते । यदाध्यात्मिकस्य दुःखस्यापनोदनं कृत्वा ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा चतुर्थी सिद्धिः प्रमुदितेत्यभिधीयते । यदाधिभौतिकस्य दुःखस्यापनोदनं कृत्वा ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा पञ्चमी सिद्धिः प्रमुदितेत्यभिधीयते । यदाधिदैविकस्य दुःखस्यापनोदनं कृत्वा ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा षष्ठी सिद्धिः प्रमोदमानेत्यभिधीयते । यत्तु स्निग्ध-

संसर्गाव्यपायाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु सा सप्तमी सिद्धिः रम्यकेत्यभिधीयते । यत् परिचर्यादानेन ज्ञानमुत्पद्यते तत्त्वभावभूतेषु परितोषिते गुरौ साष्टमी सिद्धिः सत्प्रमुदितेत्यभिधीयते । इत्येता अष्टसिद्धयो व्याख्याताः ॥

अत्राह के दशमूलिकार्था इत्यत्रोच्यते ।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥

इत्येते दशमूलिकार्थाः । सङ्घातपरार्थत्वादिति पुरुषास्तित्वं सिद्धम् । भिदानपरिमाणात् कारणमस्त्यव्यक्तमिति पर्यायद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वं सिद्धम् । हेतुमदनित्यमित्येकत्वं सिद्धम् । प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका इत्यर्थवत्त्वं सिद्धम् । नानाविधैरुपायैरिति परार्थत्वं सिद्धम् । त्रिगुणमविवेकि विषय इत्यन्यत्वं सिद्धम् । तस्माच्च विपर्यासादित्यकर्तृत्वं सिद्धम् । पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्यापीति योगसिद्धिः । प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वादिति वियोगसिद्धिः । जन्ममरणकरणानामिति पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । चक्रभ्रमिवदिति शेषवृत्तिः सिद्धा । एते दशमूलिकार्था व्याख्याताः । एतेषां दशानां प्रागुपदिष्टानां च पञ्चाशत्प्रत्ययाः । एते च षष्टिपदार्थाः षष्टितन्त्रमित्युच्यते ।

अत्राह कोऽनुग्रहसर्गः अत्रोच्यते । बाह्यान् पञ्चतन्मात्रेभ्यश्चोत्पाद्याऽनुग्रहसर्गध्यानोत्पन्नेनाधारवर्जितान् पुत्रान् दृष्ट्वा तेभ्यस्तन्मात्रेभ्योऽनुग्रहसर्गमसृजद् ब्रह्मा ।

अत्राह कश्चतुर्दशविधो भूतसर्ग इत्यत्रोच्यते । अष्टविकल्पो दैवः पैशाचो राक्षसो याक्षो गान्धर्व ऐन्द्रः प्राजापत्यो ब्राह्म इत्यष्टौ देवयोनयः । पञ्चधा तिर्यग्योनयश्च पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरा इति । गवादिसूषकान्ताः पशवः । गरुडादिमशकान्ताः पक्षिणः । सिंहादिशृगालान्ताः मृगाः । शेषादिकीटान्ताः सरीसृपाः । पर्वतादितृणान्ताः स्थावराः । मानुष्यं चैकविधं ब्राह्मणादिचाण्डालान्तम् । अष्टविकल्पो

दैवस्तिर्यग्योनयश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ।

समासतो ये त्रिधाः सर्गाः तत्राह कस्त्रिविधो धातुसर्गः अत्रोच्यते सूक्ष्माः मातापितृजाः प्रभूता इति । ज्ञानेन्द्रियपञ्चप्राणबुद्धिमनसां गणः सूक्ष्मः । लिङ्गशरीराणीत्यर्थः । मातापितृजाः षाट्कौशिकाः तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि पितृतः स्नाय्वस्थिमज्जान इति षट्को गणः । प्रभूताः पञ्चमहाभूतानि महाभूते घटादीनां निवेश इति त्रिविधो धातुसर्गो व्याख्यातः । एतत्संसारमण्डलमुक्तम् ।

अत्राह कस्त्रिविधो बन्ध इत्यत्रोच्यते । प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्धश्चेति । तत्र प्रकृतिबन्धो नामाष्टौ प्रकृतयस्ताः परत्वेनाभिमन्यमानस्य प्रकृतिलयः प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते । तत्र वैकारिकबन्धो नाम प्रव्रजितानां लौकिकानां वैकारिकैरिन्द्रियैर्वशीकृतानां शब्दादिविषये प्रशक्तानामजितेन्द्रियाणामज्ञानिनां काममोहितानां वैकारिकबन्ध इत्युच्यते । दक्षिणाबन्धो नाम ब्रह्मचारिगृहस्थभिक्षुवैखानसानां काममोहोपहतचेतसामभिमानपूर्विकां दक्षिणां प्रयच्छतां दक्षिणाबन्ध इत्युच्यते । इति त्रिविधो बन्धो व्याख्यातः । उक्तं च—

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च ।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बन्धोयं च निगद्यते ॥

अत्राह कस्त्रिविधो मोक्ष इत्यत्रोच्यते । ज्ञानोद्रेकादिन्द्रियरागोपशमात् कृत्स्नक्षयाच्चेति । ज्ञानोद्रेकादिन्द्रियरागोपशमात् स्वधर्माधर्मक्षयो भवति धर्माधर्मक्षयाच्च कैवल्यमिति । उक्तं च—

आद्यो हि मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् ।
कृत्स्नक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥

किं त्रिविधं प्रमाणमित्येत्रोच्यते । दृष्टमनुमानमाप्तवचनं चेति

एतत् त्रिविधं प्रमाणम्[1]। दृष्टं तावद् व्याख्यायते यावदिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियार्थाः प्रत्यक्षा एव दृष्टम्। अनुमानं प्रमाणं लिङ्गदर्शने जायमानं ज्ञानम्। यथा मेघोदयेन वृष्टिः साध्यते वकपङ्क्तिभिः सलिलं धूमेनाग्निः तदनुमानम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योर्थो न साध्यते स आप्तवचनात् साध्यते। यथेन्द्रो देवानां राजा उत्तराः कुरवः सौवर्णो मेरुः स्वर्गेऽप्सरस इति। त इन्द्रादयः प्रत्यक्षानुमानासाध्याश्च वसिष्ठादयो मुनयो वदन्ति सन्तीन्द्रादयः आगमोप्यस्ति।

स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्न आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः॥

एवमेतत् त्रिविधं प्रमाणमभिहितम्। अत्राह तेन त्रिविधेन प्रमाणेन किं साध्यते अत्रोच्यते। यथा लोके मानेन प्रस्थादिना धान्यानि मीयन्ते। तुलया चन्दनादीनि द्रव्याणि। एवमनेन तत्त्वभावभूतानि प्रमीयन्ते। त्रिविधेन दुःखेनाभिभूतो ब्राह्मणः कपिलमहर्षिशरणमुपागतः अत्राह।

किं त्रिविधं दुःखमित्यत्रोच्यते। आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकमिति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं चेति। शरीरे भवं शारीरं मनसि भवं मानसमिति। तत्र शारीरं नाम वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्याद्यद्दुःखमुत्पद्यते ज्वरातिसारविसूचिकामूर्च्छादिकं तच्छारीरमुच्यते। कामक्रोधलोभमोहमदेर्ष्यादिकं प्रियवियोगादिकं तन्मानसमित्युच्यते। अधिभूतेभ्यो भवमाधिभौतिकम्। मानुषपशुमृगसरीसृपस्थावरेभ्यो यद्दुःखमुत्पद्यते तदाधिभौतिकम्। अधिदेवेभ्यो

१. प्रत्यक्षमेकमिति चार्वाकः। प्रत्यक्षानुमाने इति कणादसुगतमतानुयायिनः। शब्देन सह त्रीणीति सांख्याः। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति नैयायिकाः। अर्थापत्त्या सह पञ्चेति प्राभाकराः। अनुपलब्ध्या सह षडिति वेदान्तिनः। संभवेन सह सप्तेति आलङ्कारिकाः। ऐतिह्येन सहाष्टौ प्रमाणानीति पौराणिका इति प्रमाणनिर्णयः॥

जातमाधिदैविकम्। शीतोष्णवातवर्षासन्निपातादिनिमित्तं[1] यद्दुःखमुत्पद्यते तदाधिदैविकम्। अनेन त्रिविधेन दुःखेनाभिभूतस्य ब्राह्मणस्य जिज्ञासोत्पन्ना। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। यथा तृषितस्य पानीयं पातुमिच्छा पिपासा। एतत्समासतो निःश्रेयसं ज्ञानम्। यज्ज्ञात्वा पुनर्जन्म न स्यादिति।

एतन्महर्षेर्विज्ञानं कपिलस्य महात्मनः।
यच्छ्रुत्वा ब्राह्मणः श्रेयः कृतकृत्योऽभवत् तदा॥
सांख्यसूत्रक्रमेणैषा व्याख्याता क्रमदीपिका।
अनुष्टुप्छन्दसा चात्र ज्ञेयं श्लोकशतत्रयम्॥

इति श्रीतत्त्वसमासाख्या सूत्रवृत्तिः समाप्ताः[2]॥

१. वर्षाद्यावेशनिमित्तं—पा० ३ पु०।
२. इति सांख्यसूत्रप्रक्षेपिका—पा० ३ पु०।

नमः परमात्मने

सांख्यतत्त्वप्रदीपिका

दुर्निवारमनस्तापनिवारणपटीयसीम् ।
जगदानन्दसन्दोहजननीमहमाश्रये ॥ १ ॥
भट्टकेशवसम्भूतसदानन्दात्मजः सुधीः ।
यजुर्वित् केशवः प्राह किञ्चित् सांख्ये यथामति ॥ २ ॥

इह द्विविधं तत्त्वं प्रकृतिः पुरुषश्चेति । प्रकृतिरेव प्रधानमित्यभिधीयते सत्त्वादित्रिगुणा नित्येति प्रकृतिस्वरूपलक्षणम् । विकाररहितत्वाच्च नित्यैवेयम् । पुरुषे अतिव्याप्तिवारणाय सत्त्वादित्रिगुणेत्युक्तम् । सत्त्वादयस्त्रयो गुणा यस्या इति विग्रहः । महदादितत्त्वानामपि त्रिगुणात्मकत्वात् तत्रातिप्रसङ्गवारणाय नित्येति । तटस्थलक्षणं तु जगदुपादानकारणं प्रकृतिरिति । तथाहि विमतं सुखदुःखमोहसामान्योपादानकं नियमेन तदन्वितस्वभावत्वाद् यन्नियमेन यदन्वितस्वभावं तत् तत्सामान्योपादानकं यथा मृत्सामान्यान्वितस्वभावं घटशरावादि तथाहि काचन तरुणी कस्यचित् कान्तस्य सुखमुत्पादयति कस्यचिन्मोहं कस्यचिद्द्वेषमिति तत्कस्य हेतोस्तं तं प्रति सुखदुःखमोहात्मकसत्त्वरजस्तमसामाविर्भावात् ।

सा च चतुर्विंशतिधा प्रकृतेः प्रथमो महानिति विकारः परिणाम इति यावत् महत्तत्त्वमेव बुद्धितत्त्वमित्यभिधीयते अहमित्यहङ्काराख्यो महत्तत्त्वस्य प्रथमो विकारः तदनन्तरं पञ्चतन्मात्राः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्या भवति अथाकाशादिभूतपञ्चकं अथैकादशाक्षाणि श्रोत्रस्पर्शनचक्षूरसनघ्राणवाग्गुदलिङ्गकरचरणान्तःकरणान्येकादशेन्द्रियाणि भवन्ति । तत्र महत्तत्त्वमहङ्कारतत्त्वं शब्दाद्याः पञ्चतन्मात्रा इत्येतत् तत्त्वसप्तकं प्रकृतिविकृतिभावापन्नं पूर्वं पूर्वं प्रति कार्यत्वमुत्तरोत्तरं प्रति

कारणत्वमित्यर्थः । तथाहि महत्तत्त्वं मूलप्रकृतेः कार्यं कारणं चाहङ्कारतत्त्वस्य अहङ्कारतत्त्वं तथा महत्तत्त्वस्य कार्यं कारणं च शब्दतत्त्वाख्यादितन्मात्रं प्रति तथाहि तदपि पूर्वं प्रति कार्यमुत्तरं प्रति कारणं चेति बोध्यम् । आकाशादिभूतपञ्चकमेकादशेन्द्रियाणीत्येते पुनः षोडशभावाश्च प्रकृतिजन्या एव न तु कस्यचित् प्रकृतिः तत्त्वान्तरोपादानरूपत्वाभावात् । सेयं प्रकृतिरचेतना परिणामित्वात् ।

ननु विषयाणां घटादीनां चेतनसम्बन्धः साक्षादेवास्तु किं महदादिप्रणालिकयेति चेत् । तत् किं चितिरेव विषयबन्धनस्वभावा तथा सति चैतन्यनित्यतया मोक्षः कदापि न स्यात् । अथ चैतन्यं प्रकृतौ प्रतिबिम्बितं प्रकृतिविषययोस्तु साक्षात् सम्बन्धः स्यात् किं महदादिनेति चेत् तथाहि पुरुषवन्नित्यतया पुनरनिर्मोक्षापत्तिरेव । अथ चितिर्विषयसम्बद्धस्वभावा मास्तु विषया एव चितिसम्बद्धस्वभावाः सन्तु तथा च विषयतिरोभावे मोक्षः स्यादिति चेत् तर्हीदं दृष्टमिति न स्यात् सर्वथा चितिसम्बन्धस्वाभाव्येनाव्यवधानात् । अथ विषया इन्द्रियद्वारा चितिसम्बद्धात्मानः सन्तु दृष्टादृष्टव्यवहारादि सन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यामुपपत्स्यत इति चेन्न व्यासङ्गानुपपत्तेः इन्द्रियसम्बद्धे विषये ज्ञानोत्पत्तेरावश्यकत्वात् । अथ व्यासङ्गानुपपत्त्या मनः कल्प्यतां किमहङ्कारेण मैवम् एवं च सति स्वस्मिन् व्याघ्रोहं वराहोहमिति नारोपयेत् किन्त्विन्द्रियं मनोद्वारा चितिसम्बद्धं स्वकीयं नरत्वमेव गृह्णीयात् । अथैवमहङ्कारोस्तु स्वप्नदशायामारोपार्थं बुद्धितत्त्वे न मानमस्ति मैवं सुषुप्त्यवस्थायां मनोवदहङ्कारोपि निवृत्तव्यापार एव तथा च श्वासप्रयोजकजीवनयोनियत्नस्य व्यापारः स्यादिति तदनुरोधेन बुद्धितत्त्वस्याप्यावश्यकत्वात् तस्माद् बुद्धितत्त्वं परिगमेन(?) सम्बद्धो विषयो गजतुरगमहिषादिः पुरुषेण चैतन्येन सम्बध्यते तत आसंसारबुद्धितत्त्वनाशादेव च मोक्ष इति नानिर्मोक्षः ।

अकारणमकार्यं च कूटस्थचैतन्यरूपः पुरुषः अत्रायं पुरुषः स्वयं

ज्योतिरिति श्रुत्या तावत् स्वप्रकाशमात्मनोऽभिधीयते स्वप्रकाशं च विज्ञानमेव तेनात्मनः स्वप्रकाशत्वमभिदधतीयं श्रुतिर्विज्ञानात्मकतां पुरुषस्यावेदयति । न च क्षणिकस्य ज्ञानस्य नित्यपुरुषात्मकत्वं सम्भवतीति ज्ञानस्य क्षणभङ्गुरत्वासिद्धेः विनाशव्यवहारस्य तव घटाकाशादिविनाशव्यवहारवदौपाधिकत्वेनाप्युपपत्तेः पुरुषातिरिक्त-चैतन्यस्वीकर्तुस्तवापि मते ज्ञानस्य क्षणिकत्वे मानाभावः अन्यथा कालान्तरेऽनुभूतस्मरणानुपपतिः । न च संस्कारो द्वारं तत्कल्पना-पेक्षया ज्ञानस्य स्थैर्यकल्पनायां लाघवात् नित्यत्वाच्चासौ न कस्य-चिद्विकारः न वा कारणं स्वप्रकाशत्वाद् यदि हि स्वप्रकाशस्याप्यस्य प्रकृतित्वमाश्रीयते तर्ह्येतद्विकृतित्वेनाभिमतस्यापि स्वप्रकाशत्वमस्य वा जडत्वमापद्येत समानयोरेव प्रकृतिविकृतिभावोपलम्भाद् भेदाग्रहाच्च निष्क्रियेपि पुरुषे कर्तृत्वाभिमानः एवं सुखदुःखादिव्यवहारोपि तथाहि परिशुद्धचैतन्यविग्रहः प्रकृतिविकृतिभावानपेततटस्थः पुष्करपलाशव-न्निर्लेपोऽप्यन्तःकरणाकारपरिणतप्रकृतितादात्म्यमविवेकलक्षणमविद्यया प्रतिपद्यते ततश्चेतरेतराध्यासादन्तःकरणावृत्तीनां दुःखादीनां पुरुषे पुरुषधर्माणां चिच्चैतन्यादीनामन्तःकरणेऽध्यासादहं दुःखीत्यादि-व्यवहारो भवतीति । अविद्यानामातात्त्विकी ख्यातिः सा च तमोगुणो-द्रेकादाविर्भवन्ती विविक्तयोस्तादात्म्यमवभासयति । ततश्चोत्तरेषा-मस्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां क्लेशशब्दाभिधेयानां हेतुरविद्येति गीयते । तत्सिद्धं निर्लेप एवायमिति । असङ्गो ह्ययमिति श्रुतेरुपपद्यते च । न च कोप्यस्य व्यापार इति आलोचनं तावदिन्द्रियव्यापारः विकल्पस्तु मनसः अभिमानोहङ्कारस्य कृत्यध्यवसायो बुद्धेः । अथ कृत्यध्यवसायः कृतिमत्तया ज्ञानं तत्कथमचेतनाया बुद्धेरिति बुद्धिरंश-त्रयवती पुरुषोपरागो विषयोपरागो व्यापारावेशश्चेति । भवति हि ममेदं कर्तव्यमिति तत्र ममेत्यंशश्चेतनस्य दर्पणनिर्मलाया बुद्धेः प्रति-बिम्ब उपधानं तच्चातात्त्विकमेव चैतन्येन बुद्धेर्वास्तवसम्बन्धाभावाद्

यथा दर्पणं मुखसम्बन्धमन्तरेणापि पुरुषभ्रमस्तद्वदिहापि । इदमिति विषयोपधानं तच्च वास्तवमेक इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ ज्ञानरूपविषय-सम्बन्धाद् दर्पणस्येव निश्वासाभिहतस्य मलिनिमा पारमार्थिकः पुरुषोपरागः विषयोपरागमहिम्ना च कृतिमत्तयाध्यवसायः अयमेव व्यापारावेशः । अथ ज्ञानमेव चैतन्यं कथमनयोर्भेद इति उच्यते कृत्यध्यवसायलक्षणव्यापारविशिष्टा बुद्धिरिन्द्रियप्रणालिकया बुद्धेर्विष-यस्य घटादेः सम्बन्धो वृत्तिविशेषस्तदेव ज्ञानं विषयोपरागेण सह यः पुरुषोपरागस्यातात्त्विकः सम्बन्धः स उपलब्धिः तथा दर्पणनिष्ठा मलिनिमा दर्पणप्रतिबिम्बितमुखे दृश्यते तथेति यावत् । तथा घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायाख्योपलब्धिरिति विभावनीयम् ।

तदेव ज्ञानं सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मरूपा अष्टौ भावा बुद्धेरेव अहं जाने सुखीत्यादिसामानाधिकरण्यप्रतीतेः । ननु यत्रैते धर्माः स एव चेतनः किं न स्यादिति चेन्न अनित्यधर्मरूपतया परिणामित्वाद् धर्मधर्मिणोरभेदात् । ये पुनस्तयोर्भेदं प्रतिपन्नास्तार्किकप्रभृतयस्ते तावन्नीलो घट इत्याद्यभेदावगाहिप्रत्ययमपश्यन्त उपेक्षणीयाः । ननु प्रधानस्याचैतनस्य कथं जगत्कर्तृत्वं यत् खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते तच्चेतनकर्तृकं दृष्टं यथा घटादि । विवादाध्यासितं च जगन्नामरूपेण व्याकृतं तस्माच्चेतनकर्तृकमिति सम्भाव्यते चेतनो हि बुद्धावालिख्य नामरूपे घट इतिनाम्ना रूपेण च कम्बुग्रीवादिना बाह्यं घटं निष्पादयति । अत एव घटस्य निवर्त्यस्याप्यन्तःसंकल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकभावो घटं करोतीति ।

अत्र वदामः चैतन्यस्य जगदुपादानत्वे जगतो जडत्वानुपपत्तिः यत् कार्यं तच्चेतनकर्तृकमिति व्याप्त्या शरीरी कर्ता स्यात् किं च तथापि ज्ञानस्य चैतन्यविशिष्टस्य क्षित्यादिजनकत्वे मानाभावः कुलालादिज्ञानेच्छयोः कृतिजनकत्वेनैवान्यथासिद्धत्वाद् ईश्वरकृतेश्च जन्यत्वात् । अथ यः कृतिमान् स ज्ञानवानिति व्याप्त्या तत्सिद्धिः ।

एवं हि यो ज्ञानवान् स सुखीत्यादिव्याप्त्या सुखमपीश्वरे स्यात् अप्रयोजकत्वं चेत् तुल्यं तवापि। कर्मैव जगत्कारणमित्यपि ये प्रतिपन्नास्ते तावन्नात्यन्तं परिहर्तव्याः धर्माधर्मात्मकार्थानर्थलक्षण-चोदनालक्षणस्य प्रकृत्यभेदाद् बुद्ध्याकारपरिणताया एव प्रकृतेरष्टौ भावा इत्यभ्युपगमात्।

अथेदानीं प्रमाणं विवेचयामः। तत् तावत् त्रिविधम् प्रत्यक्षा-नुगमानागमभेदात्। प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। लिङ्गमनुमानम्। अथातीतानागतयोः कथं लिङ्गभावः जात्या धर्माधर्मात्मना तत्स-त्त्वात्। आप्तवचनं शब्दः यथास्मिन्नरपतिनिलये गजरथतुरगाः सन्तीति। पान्थसकलाध्यायवचन(?)मनुमाने चरितार्थत्वान्नोपमान-मर्हति।

अर्थापत्तिरभावश्च सम्भवश्चेष्टितं तथा।
नैतिह्यमागमात्तद्धि व्यक्तमन्यत्र विस्तरात्॥

स चायं पुरुषः प्रतिशरीरं भिन्नः। तथाहि विमतानि शरीराणि स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति शरीरत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् किं चैवं यथैक-स्मिन्नेव जीवति देवदत्ते शरीरे जाते वा चेष्टावति वा मृते वा भावोपि जातचेष्टावान् मृतः किलेति लोको व्यवहरति तथा शरीरा-न्तरेपि तथैव व्यवहारात् तस्मात् पुरुषभेदोभ्युपेयः।

एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिश्च कथञ्चिदुपचरितार्थत्वेन तथा आत्मनो हि विभुनित्यत्वादभिन्नदेशकाला इत्येकत्वेनोच्यते अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य इत्यादिश्रुतेश्च पुरुषभेदमवगच्छामः। किं पुनरस्य प्रयोजनं निःश्रेयसं किं तद् अखिलानर्थमूलभूताया अविद्यायाः सत्त्वातिशयविशेषाविर्भूतविद्यया विनाशे सति तत्पुरुषस्य सहजचैतन्यात्मनावस्थानं तन्मोक्षापरपर्यायं निःश्रेयसं प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं च तद्धेतुः।

ननु प्रकृतेर्नित्यत्वात् पुनरपि तमोद्रेकसम्भवादविद्याविर्भावसम्भवे

मुक्तिप्रच्युतिः स्यादिति। नैतद् दृढतमचित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगबलात् पुनरुद्रेकानुपपत्तेः। यदाहुः स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिर्व्युत्थानसंस्कारेण न बाध्यत इति। अथ निर्लेपस्यास्य महापुरुषस्य सम्बन्ध एव न कुतोऽपवर्ग इति सत्यमाह किं तु प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ पुंस्युपचर्येते तदाहुः—

रूपैः सप्तभिरेवं बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषस्यार्थं विमोचयत्येकरूपेण॥ इति।

अयमर्थः धर्माधर्मवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यज्ञानाज्ञानान्यष्टौ प्रकृति-रूपाणि तत्र ज्ञानव्यतिरिक्तैः धर्माधर्माद्यैः सप्तभीरूपैः प्रकृतिरात्मनै-वात्मानं बध्नाति एकरूपेण ज्ञानाख्येन च विमोचयतीति। यदाहुः—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धम्॥ इति।

शिष्टं सकलमकलङ्कं चाभ्युदयसिद्धान्तसिद्धमित्युपेक्षितमिति।

दलितानर्थमूलाय सर्वतत्त्वार्थदर्शिने।
करुणापूर्णचित्ताय कपिलाय नमो नमः॥

इति सांख्यार्थतत्त्वप्रदीपिका समाप्ता।

श्रीगणेशाय नमः

सांख्यतत्त्वप्रदीपः

प्रकृतिं पुरुषं शुद्धं प्रणिपत्य प्रणीयते ।
प्रदीपः सांख्यतत्त्वस्य परोपकृतये मया ॥

इह खलु प्रवाहविध्वस्तोत्तरणोपाया इव सांख्यतन्त्राध्ययन-परिश्रमालसास्तत्प्रक्रियाज्ञानतरीविहीनाः शब्दोदधावनन्यावलम्बनाः सीदन्ति तत्तरणोपायः सकलसांख्यप्रक्रियाद्योतको बह्वर्थोऽल्पाक्षरो मया प्रकाश्यते । कापिलतन्त्राध्ययनालसैस्तत्प्रक्रियाजिज्ञासायामिदमेव प्रकरणं सम्यगवलोकनीयमत्युग्रशुभाशुभादृष्टफलवत् प्रयत्नं विनैव सर्वम-त्रैवाधिगन्तव्यम् अयत्नलब्धेर्थे यत्नादर्शनात् । उक्तं च सांख्याचार्यैः—

अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥

ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोर्थस्य वक्रेण साधनायोगात् इति केचित् ।

दुःखत्रयाभिघातोद्विग्नचित्तास्तन्निवृत्त्युपायमेव तावदभिकामयन्ते । तं चाग्रे दर्शयिष्यामः । दुःखत्रयं च आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधि-दैविकं च । तत्राध्यात्मिकं द्विधा शारीरं मानसं च वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं शारीरम् । कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्श-नकारणकं मानसम् । आन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति व्यपदिश्यते । बाह्योपायसाध्यमपि दुःखं द्विविधम् । आधिभौतिक-माधिदैविकं च । तत्राधिभौतिकं मानुषपक्षिसरीसृपस्थावरनिबन्धनम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिमित्तम् । सर्वं मानस-प्रत्यक्षम् । एतद् दुःखं रजःपरिणामविशेषो नित्यपरिणामित्वादिदमपि नित्यमिति न शक्यते बाधितुं तथापि शक्य एव तदभिभवः कर्तुं साधनेन तच्च साधनं शास्त्रजनितं प्रकृतिपुरुषान्यताज्ञानं नान्यदिति

तच्छास्त्रप्रतिपाद्यार्थश्चतुर्विधः । तद्यथा कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव न तु कस्यचिद् विकृतिर्यथा मूलप्रकृतिः सा सर्वस्य मूलमादिकारणं न तु तस्याः कारणान्तरं किञ्चित् प्रमाणसिद्धं तथात्वे वा मूलक्षतिकारी-त्यनवस्था स्यात् । स्वस्यैव स्वकारणत्वे तु तस्यापेक्षया कारणत्वात् स्वस्यैव पूर्ववर्तित्वं कार्यत्वात् पश्चाद्वर्तित्वमित्यसम्भवः । सकारणत्वे अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामित्यजत्वप्रतिपादनपरश्रुतिविरोधः स्यात् । सा च प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ।

कश्चिदर्थः प्रकृतिर्विकृतिश्च तच्च महत्तत्त्वमहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेति सप्तसङ्ख्याको गणः कस्यचित्प्रकृतिः कस्यचिद्विकृतिः । तद्यथा महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिर्विकृतिश्च मूलप्रकृतेः तथा अहङ्कारः पञ्चत-न्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिर्विकृतिर्महतः तथा पञ्चतन्मात्राणि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो विकृतयश्चाहङ्कारस्य । पञ्च महाभूता-न्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशसङ्ख्याको गणो विकृतिरेव न तु कस्यचित्प्रकृतिः । ननु पृथिव्यादीनामपि गोघटवृक्षादयो विकारा उपलभ्यन्ते तथा तद्विकारविशेषाणां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादय इति कथं विकृतित्वमेव तेषामिति चेन्न, तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृति-त्वमिहाभ्युपगतं न त्वेतेषां तदस्ति स्थौल्येन्द्रियग्राह्यतया गोघटा-दीनां समानत्वाद् न तत्त्वान्तरता पृथिव्यादिभ्यः । उक्तं च तत्त्व-कौमुद्याम् 'सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति' न तत्त्वान्तरम् । पुरुषस्तु न कस्यचित् प्रकृतिरपरिणामित्वान्नापि विकृतिर्नित्यत्वादन्यथा साधनसाध्याभिव्यक्तिः स्याद् घटवत् । प्रमाणविरहिणोऽर्थस्य नृशृङ्गसादृश्याभ्युपगमात् । उक्तप्रमेयसाधकं त्रिविधं प्रमाणमुररीकृतं प्रत्यक्षमनुमानमाप्तवचनं चेति सांख्या-चार्यैः । अन्यवाद्यङ्गीकृतप्रमाणानामेतेष्वेव त्रिष्वन्तर्भावः । उक्तं च 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति' सर्वेषां वाद्यन्तराभ्युपगतानां प्रमाणानां सिद्धत्वात् त्रिष्वेवान्तर्भावादित्यर्थः । ननु यत्र यत्र प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं

तत्तदत्यन्ताऽसदिति व्याप्तिः सुप्रसिद्धा शशशृङ्गकूर्मलोमादौ एवं प्रधानस्यापि प्रत्यक्षासिद्धत्वात् तदत्यन्तासत्त्वमेव युक्तं गगनकुसुमादीनामिवेति चेन्न, नहि यत् प्रत्यक्षागोचरं तदत्यन्तासदिति व्याप्तिग्रहो युक्तोऽन्यथा गृहान्निर्गतस्य गृहधनपुत्रपशुवनितादीन् सुखसाधनभूतानपश्यतस्तन्नाशनिश्चयजदुःखविप्लुष्टान्तःकरणस्य रुदतो मरणं स्याद् न त्वेवमस्ति। किञ्च किं सर्वप्रत्यक्षविषयत्वं सत्त्वे हेतुः किञ्चित्प्रत्यक्षविषयत्वं वा? नाद्यः नहि गृहान्तरदेशान्तरकालान्तरगतं वस्तु केनाप्ययोगिना प्रत्यक्षेण विषयीकर्तुं शक्यमन्यथा सर्व एव सर्वज्ञः स्यात् परबुद्धेरप्रत्यक्षतया सर्वैः सर्वं प्रत्यक्षेण गृह्यते नवेत्यसर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः। नापि चरमः व्यभिचारात्, नहि नगरस्थेन स्वेनानुपलब्धो गवय एतावतैवारण्यकोपलब्धस्य तस्यापलापसम्भवः। उक्तञ्च लीलावतीकारेण 'सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारत' इति। तस्मात् प्रत्यक्षप्रवृत्तिप्रतिकूलाभावविशिष्टं प्रत्यक्षं यत्र न प्रवर्तते तदत्यन्तासदिति निश्चेतुं शक्यं न तु प्रत्यक्षाप्रवृत्तिमात्रात्। अन्यथा पुरुषप्रधानमहत्स्वर्गापूर्वदेवतादीनामतीन्द्रियाणामत्यन्ताभावः स्यात्। तेन वियति गच्छतः पतत्रिणो ग्रहणेऽतिदूरत्वमेव प्रतिकूलं तथा नेत्रगतकज्जलग्रहणेऽतिसामीप्यम् एवं रूपशब्दादिग्रहणे आन्ध्यबधिरत्वादयः तथा विषयग्रहणे मनसः कामाद्यभिव्याप्तिः यथा कामाद्यभिव्याप्तमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमप्यर्थं न पश्यति। परमाण्वादिविषयतायां सौक्ष्म्यमेव प्रतिकूलं यतः प्रणिहितमना अपि तं न पश्यति। भित्त्यादिपरवस्तुग्रहणे तद्व्यवधानमेव प्रतिकूलं सम्प्रतिपन्नपदार्थग्रहणे हस्तादिव्यवधानवत्। क्वचिदभिभवः यथा अहनि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं नक्षत्रसूर्यादिग्रहे चक्षुः समर्थं न भवति। क्वचित् समानाभिहारः प्रतिकूलं यथा जलाशयेऽम्बुदविमुक्तजलबिन्दुग्रहणे नेत्रासामर्थ्यम्। क्वचिदनुद्भवः यथा क्षीरद्रव्याद्यवस्थायां दधिघृतादिविवेचनासामर्थ्यम्। एवं सति

दृढतरप्रमाणान्तरप्रसिद्धे वस्तुनि प्रत्यक्षाप्रवृत्तावेतदन्यतमं प्रतिबन्धकं कल्प्यते न तु तदभावादेवाप्रवृत्तिः। उक्तञ्च सांख्यमूलकारेण 'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात्'। ननु क्वचित्प्रत्यक्षप्रसिद्धस्य क्वचित्सन्देहादनुमानविषयता न त्वस्य तदस्तीत्यभाव एव युक्त इति चेन्न, कार्यं हि कारणानुमापकं भवतीति सर्ववाद्यभिमतम्। तथा च महदादिकार्यान्यथानुपपत्त्यैव प्रधानसिद्धिरिति न तदभावो युक्तः। ननु कार्यान्यथानुपपत्त्या कारणसिद्धौ तन्त्रान्तराभिमतकारणसिद्धिः सेत्स्यति न तु त्वदभिमतप्रधानसिद्धिरिति चेन्न, मतपर्यालोचनेन यन्मतं कपिलसूत्रनिबद्धं प्रधानसाधनानुगुणं तदेव युक्तिसहमन्यत् तु बाह्यमतवद् मताभासत्वाद्वाध्यमेव। तद्यथा 'असतः सज्जायत' इति बौद्धमते प्रधानसिद्धिः 'सतः सज्जायत' इति सांख्यमतविरुद्धत्वान्न पण्डितमुखमण्डनायालम् सदसतोः कार्यकारणभावासम्भवात् असदलीकं कारणं सत्त्वादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात् सदसतोस्तादात्म्यादर्शनात् कार्यं हि कारणसमवेतं तन्तुपटादिस्थलेषु प्रसिद्धम्। तथा च घटोऽसन् पटोऽसन्नित्यसत्समवेतं सर्वो व्यवहर्ता व्यवहरेत न तु सदिदमिति सत्तावैशिष्ट्येन प्रतीतिः स्यात्।

अथ सद्विवर्तोऽयं प्रपञ्च इति यद्वेदान्तिमतं तदप्यसाधु। अनेनापि सतः सज्जायत इति मतसिद्धिर्न स्यात्। अद्वयस्य सद्वयतया भाने रज्जोः सक्खण्डसर्प्याद्यात्मना भानवत् भ्रान्तिरेव स्यात् बाधितविषयतया रज्जुसर्पप्रत्ययवत् प्रपञ्चज्ञानस्याप्रमाणतया प्रमारूपं ज्ञानमेवास्तमियात्। न चेष्टापत्तिर्गुरुशिष्योत्तरप्रश्नयोरप्रमाणबुद्धया व्यवहारमात्रोच्छेदः स्यात् लौकिकवैदिकव्यवहारानुष्ठाने च कस्यचित् प्रवृत्त्यनुपपत्त्या भोगापवर्गौ न स्यातामिति तच्छास्त्राप्रामाण्यं स्यात्। अपसिद्धान्तश्च नहि वेदान्तिमते ब्रह्म विवर्तं भवति। उक्तञ्च—

बालान् प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।
अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा॥ इति।

सतोऽसज्जायत इति सतः परमाणोरसद्द्व्यणुकाख्यं कार्यं जायत इति कणभक्षाक्षचरणमतमपि न युक्तिसहम् तथाहि परमाणुर्हि द्व्यणुकसमवायिकारणं द्व्यणुकं चासदित्यसत्त्वाविशेषाच्छशशृङ्गादिसमवायिकारणतापि परमाणौ स्यात् सदसतोः समवायासम्भवाच्च असता तादात्म्ये सतोप्यसत्त्वं स्यात् । नन्वसत्त्वं नाम प्रागभावप्रतियोगित्वं न तु वायुरूपादिवत् त्रिकालासत्त्वमिति चेन्न, किमिदं प्रागभावप्रतियोगित्वमसत्त्वं किं प्रागभावप्रतियोगित्वादसत्त्वमसत्त्वाद्वा प्रागभावप्रतियोगित्वम् ? नाद्यः सर्वेषां कार्यपदार्थानामसत्त्वाविशेषेणाकाशपुष्पादिष्विवासत्त्वेनैव व्यवहारः स्यात् तेषामपि प्रागभावप्रतियोगित्वात् । तथा च कार्यपदार्थगतगुणसामान्यादीनामुच्छेदः स्यात् तेषां भावधर्मत्वेनासत्त्वेनावस्थानात् । न च कूर्मलोमादेरस्यासतो विशेषः सामान्याद्यभावेन भेदकधर्माभावात् । नापि चरमः असत्त्वात् प्रागभावप्रतियोगित्वे नरशृङ्गादीनामपि प्रागभावप्रतियोगित्वं स्यात् प्रागभावस्य च स्वप्रतियोग्युत्पादकत्वनियमेन सर्वेषामसतां सत्त्वं स्यात् सदसद्विभागो जगति दत्तजलाञ्जलिः स्यादिति न तार्किकवैशेषिकमतं विचारसहम् । तस्मात् सतः सज्जायत इति सांख्यमतमेव युक्तिसहम् । सतः कारणात् स्वोत्पत्तेः प्रागपि सदेव कार्यं कारणव्यापारादभिव्यक्तिमाप्नोति । न च सिद्धसाधनता कारणवैयर्थ्यं चेति वाच्यम्, कार्यसत्त्वेऽपि तदभिव्यक्तौ कारणं प्रयोजनवदिति न किञ्चिदवद्यम् । असत्कार्यपक्षे तु कारणवैयर्थ्यं स्फुटमेव न ह्यसतः कारणसम्बन्धो निरूपयितुं शक्यते सम्बद्धमेव सम्बद्धेन जन्यते असम्बद्धस्य जन्यत्वे सर्वस्मात् सर्वं स्यात् कारणनियमोऽस्तमियात् । असच्चेत्कार्यं न कारणव्यापारात् सद्भवितुमर्हति उक्तञ्च तत्त्वकौमुद्याम्—नहि नीलं शिल्पसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यम् । न च कारणव्यापारात् पूर्वं घटोऽसन् संश्च व्यापारानन्तरमिति घटस्य सत्त्वासत्त्वे धर्माविति वाच्यम्, धर्मस्य भावधर्मत्वेन तेनैव धर्मिणः सत्त्वं स्वस्थित्यन्यथानुपपत्त्या साधितमिति सदेव कार्यं कारणव्यापारादूर्ध्वमिव प्रागपि । कारणव्यापारस्तु तदभिव्यक्तावनन्यथासिद्धः अन्यत्रापि कारणव्यापारादभिव्यक्तिरेव दृश्यते यथाऽवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम् अवपीडनेन तिलेषु तैलस्य दोहनेन सौरभेयीणां पयस इति । असदुत्पत्तौ तु न दृष्टान्तोऽस्ति तस्मात् सदेव कार्यं कारणव्यापारेणाभिव्यज्यते । असता कारणसम्बन्धासम्भवाद् न तस्य तदुत्पादकत्वम् । उक्तञ्च सांख्याचार्यैः—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः ॥
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥

किञ्च सम्बद्धमपि तदेव करोति यत्र यत् कारणं शक्तम्, शक्तिश्च कार्यैकाधिगम्या यथा चक्षुषैव रूपज्ञानं भवति नेन्द्रियान्तरेणेतीदमेव तत्र शक्तमित्यधिगम्यते । तथा च सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया शक्यकार्याश्रया सर्वत्र वा स्यात् ? अन्त्ये सर्वस्मात् सर्वं स्यात् । अथ कार्ये सा शक्तिस्तदा कथमसतः कार्यस्य शक्त्याश्रयता तथा च शक्तेन शक्यमुत्पाद्यते शक्यं च कारणात्मकम्, कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसत्स्यात् 'उक्तञ्च शक्तस्य शक्यकरणादिति' । उपादानोपादेयभावग्रहणाच्च न भेदस्तन्तुपटयोर्ययोर्भेदो न तयोरुपादानोपादेयभावो यथाश्ववृक्षयोः । इतोऽपि नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः संयोगाप्राप्त्यदर्शनाद् अर्थान्तरत्वे संयोगो दृष्टो रज्जुघटकुण्डबदरादौ अप्राप्तिरपि दृष्टा सुमेरुविन्ध्ययोरिव इह च संयोगाप्राप्त्योरभावान्न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः । कार्यकारणयोरभेदसाधकं प्रमाणं चोक्तं सांख्याचार्यैः तद्यथा न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते तद्धर्मत्वात् इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य धर्मश्च पटस्तन्तूनान्तस्मान्नार्थान्तरम् । गुरुत्वान्तराग्रहणादपि न कारणादर्थान्तरं कार्यम् । एवमभेदे सिद्धे तन्तव एव तेन तेन संस्थानविशेषेण परिणताः पटो न तु पटस्तन्तुभ्योऽर्थान्तरम् । न चात्माश्रयबुद्धिभेदादर्थक्रिया-

भेदाच्च भेदसिद्धिः कार्यकारणयोरिति वाच्यम्, एकस्मिन्नपि विशेषान्तराविर्भावतिरोभावाभ्यामात्माश्रयार्थक्रियाबुद्धिभेदसम्भवान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदसिद्धिः। तत्र एकस्यापि कूर्मस्यावयवा निःसरन्त्याविर्भवन्ति त एव कूर्मशरीरे निविशमानास्तिरोभवन्ति नहि ते कूर्मावयवा उत्पद्यन्ते ध्वंसन्ते वा एवमेकस्यापि सुवर्णस्य मृदो वा कटककुण्डलादयो घटादयो निःसरन्त उत्पन्ना इति व्यवहारं भजन्ते त एव निविशमानास्तिरोभवन्ति नश्यन्तीत्युच्यन्ते न पुनः सदसतोर्निरोधोत्पादयोर्निदर्शनमस्ति। उक्तं च भगवता नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इति। यथा सङ्कोचविकाशवन्द्यः स्वावयवेभ्यः कूर्मो न भिद्यते तथा मृत्सुवर्णादिभ्योऽपि कटककुण्डलादयो न भिन्नाः। न च नाम बुध्यर्थक्रियाभेदात् कार्यकारणयोर्भेदसिद्धिरिति वाच्यम् नटे व्यभिचारात्। नटो हि दशरथोहं रामोहं युधिष्ठिरोऽहमिति स्वयमनन्तनामा भूत्वा नामान्तरेण वेशान्तरमर्थक्रियान्तरञ्च कुरुते तथा च सत्यपि भेदत्रये नटभेदादर्शनात्। यथाहुः—

रूपमथो अपि कार्यमथो अभिधापि नटस्य पृथग्विदिता।
न पृथक्त्वमुपैति नटः किमिति प्रतिवाच्यमवश्यमिदं कुशलैः॥

एकस्यापि वह्नेर्दाहकत्वपाचकत्वभेदेन नानार्थक्रियाकारित्वं दृश्यते न ह्येतावता वह्निर्भेदमधिगच्छति एकैकस्य तृणस्यातपवृष्ट्यादिनिवृत्तावसामर्थ्येऽपि बहूनि मिलित्वावस्थाविशेषमवाप्य यथा तान्येव तन्निवृत्तौ सामर्थ्यमधिगच्छन्ति तथैक एव तन्तुः प्रावरणाद्यर्थक्रियाऽसमर्थोपि मिलितास्त एवावस्थाविशेषं प्राप्याविर्भूतपटभावाः प्रावरणाद्यर्थक्रियां करिष्यन्ति तस्मात्सदेव कार्यं कारणात् तदभिव्यक्तिरिति। नन्वाविर्भावः कारणव्यापारात्पूर्वं सन्नसन् वा? आद्ये कारणव्यापारासम्भवः नहि सदुत्पत्तौ केनापि कारणानि व्यापार्यन्ते। अन्त्ये प्राप्तमसदुत्पादनत्वमिति चेन्न, तवापि केयमुत्पत्तिः सत्यसती वा? आद्ये न कारणप्रयोजनं पश्यामः। अन्त्येऽसदुत्पत्तिरुत्पद्यत इति

तदुत्पत्तेरप्युत्पत्त्यन्तरं तत्राप्यन्यदिति स्फुटैवानवस्था। अथ पटात् तदुत्पत्तिर्नातिरिच्यते तदा पट इत्युक्ते पुनरुत्पद्यते इति न वाच्यं पौनरुक्त्यात् तथोत्पद्यते इत्युक्त्वा पुनः पट इति न वाच्यं पूर्वोक्तदोषादेव पटो विनश्यतीत्यपि न वाच्यं विरोधात्। तस्मात्स्वसत्तासमवायो वा स्वकारणसमवायो वा घटोत्पत्तिः। समवायस्य च नित्यत्वेन सर्वथापि न पटोत्पत्तिः सम्भवति न तदर्थश्च कारणानि व्यापार्यन्ते। तथा च सत एव पटादेराविर्भावे कारणापेक्षेति न किञ्चिदवद्यम्। न च पटादिकार्यरूपेण कारणसम्बन्धस्तस्याक्रियत्वात् क्रियासम्बन्धित्वात्कारकाणामन्यथा कारकत्वक्षतिः स्यात् तस्मात्सत्कार्यमिति स्थितम्।

दुःखत्रयाभिभवसाधनं प्रकृतिपुरुषान्यताज्ञानं तोदुपयगित्वाद् व्यक्तवैरूप्यं प्रतिपादनीयम्। तच्च व्यक्तं पृथिव्यादि तच्चाव्यक्तात्प्रधानाद्विलक्षणम्। यत इदं सकारणकं तत एवानित्यं पराभिमतविनाशसामग्र्या तिरोभवति। अव्यापकं च कारणं हि कार्यं व्याप्नोति न तु कार्यं कारणम्। सक्रियं च बुद्ध्यादयः पूर्वपूर्वोपात्तं देहं परित्यजन्ति देहान्तरं चोपाददते सैव तेषां क्रिया पृथिव्यादीनां क्रिया परिणामरूपेण प्रसिद्धैव। प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादिभेदादनेकम्। तथा घटशरीरादिभेदेन पृथिव्याद्यप्यनेकम्। स्वकारणाश्रितं यद्यपि बुद्ध्यादीनां प्रधानभेदाभावात् नाश्रयाश्रयिभावस्तथापि कथञ्चित् भेदविवक्षयाश्रयाश्रयिभावो यथेह वने तिलकाः। सावयवमवयवावयविसंयोगसंयोगि। बुद्धिप्रधानयोस्तु न संयोगस्तादात्म्यात् नापि सत्त्वरजस्तमसां संयोगः अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगस्तदभावात्। नित्यमेव परतन्त्रं स्वकार्येऽहङ्काराख्ये जनयितव्ये प्रकृत्या पूरमपेक्षते। अन्यथा क्षीणा सती नाहङ्कारं जनयितुं क्षमा भवति तथाहङ्कारोऽपि स्वकार्ये प्रकृत्या पूरमपेक्षते। एवं कारणमात्रं स्वकार्ये जनयितव्ये तदपेक्षां कुरुते तथा च स्वकार्ये जनयितव्ये परतन्त्रं व्यक्तम्। यत इत्यभिव्याप्य यदुक्तं तद्विपरीतम-

व्यक्तम् । यद्यप्यव्यक्तस्य परिणामलक्षणा क्रियास्ति तथापि न परिस्पन्दः ॥

इदानीं व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यं पुरुषाच्च वैधर्म्यं प्रतिपादनीयम् । व्यक्तं हि त्रिगुणं त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहात्मका अस्येति । अत्र कार्यकारणयोरभेदात् सुखादिशब्दैः सत्त्वादयोऽभिधीयन्ते त्रिगुणमित्युक्त्या सत्त्वादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतं वेदितव्यम् । तथा अविवेकि यथा प्रधानं सतो न विविच्यन्ते तथा महदादयोऽपि प्रधानान्न विविच्यन्ते तत्स्वरूपत्वात् । यद्वा संभूयकारिताऽविवेकः नह्येकं किञ्चित्कार्यं जनयितुं क्षमं भवत्यपि तु संभूय सर्वः सर्वं करोति । एवमचेतनं प्रधानबुद्ध्यादयः सर्वे अचेतना तथा प्रसवरूपधर्मवन्तः । एते व्यक्तधर्माः कथितास्त एवाव्यक्तस्यापीत्यवगन्तव्यमिदमेव व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यम् ॥

एते साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्यक्ताव्यक्ते निरूपिते तदुभयगतधर्मरहितत्वाद् विपरीतः पुरुष इति पुरुषस्य व्यक्ताव्यक्तवैधर्म्यम् । नन्वहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यं पुरुषस्य प्रतीयते तथाचानेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यमेवंसति कथं व्यक्ताव्यक्तविपरीतः पुरुष इति चेन्न, अहेतुमत्त्वादिसाधर्म्येऽप्यत्रैगुण्याद्यस्यास्त्येव वैधर्म्यमिति न दोषः । न च त्रैगुण्यमप्रसिद्धं प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका गुणा इति सांख्याचार्य्याः । अत्र क्रमेण प्रीतिः सुखं तदेव सत्त्वं तथा अप्रीतिर्दुःखमप्रीत्यात्मको रजो गुणः एवं विषादो मोहो विषादात्मकस्तमोगुणः । यन्मते प्रीतिर्दुःखाभावः तथा दुःखमपि प्रीत्यभावस्तन्निवृत्त्यर्थं मूलकारेणात्मग्रहणं कृतमात्मशब्दस्य भावतत्त्वेन नेतरेतराश्रयस्तथासत्येकस्यापि सिद्धिर्न स्यात् । प्रकाशप्रवृत्तिनियमनमेषां क्रमेण प्रयोजनमप्यवगन्तव्यम् । क्रियात्मकेन रजसा लघु सत्त्वं सर्वत्र नीतं स्यादतिवायुना तूलावयववद्यदि गुरुणा तमसा नियमनं न स्यात्तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्तयति ततस्तमो नियमार्थम् । अन्योन्याभिभववृत्तयः ।

एतेषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यतममभिभूयते । तद्यथा सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूयाऽऽत्मनः शान्तां वृत्तिमधिगच्छति तथा रजः सत्त्वरजसी अभिभूय घोरां वृत्तिमेति एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति । तथाऽन्योन्याश्रयवृत्तयः । यथाहुः सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति । तथा अन्योन्यजननवृत्तयः । अन्यतमोऽन्यतमं जनयति जननमत्र परिमाणः स च गुणानां सदृशरूपः । अत एव न हेतुमत्त्वं तत्त्वान्तरस्य हेतोरभावात् । नाप्यनित्यत्वं तत्त्वान्तरे लयाभावात् । अन्योन्यसंज्ञाव्यभिचारिणश्च । उक्तञ्च—

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः ।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे ।
मिथुनवृत्तित्वं सहचाराव्यभिचारित्वम् ॥
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।
नैषामादिः संप्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥ इति ।

नियतकृत्यं तु तेषामिदं लघुत्वं प्रकाशकत्वं च सत्त्वस्यैव न तु तयोः कस्यचित् तत्रोर्ध्वगमनहेतुभूतो धर्मो लाघवं गौरवासहवर्ति यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वाला गतिर्भवति तदेव कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्यथा वायोः । एवं करणानां वृत्तिकुशलताहेतुर्लाघवं गुरुत्वे तु तानि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वमुक्तम् । सत्त्वतमसी अक्रियतया स्वकार्योत्पादनेऽवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते । अवसादाद्विमुच्योत्साहे प्रयत्नवती क्रियेते । उक्तं च—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।

कुत उपष्टम्भकं यतश्चलमिति । रजश्चलतया सर्वतस्त्रैगुण्यं चालयेद्यदि गुरुणा आवृण्वता तमसा तत्र प्रतिबन्धो न स्यात् । तमसा तु

ततस्ततो व्यावृत्य क्वचिदेव प्रवर्त्यते इति नियामकं तमः। यथाहुः गुरु वरणकमेव तम इति। तथा च लघु प्रकाशकं सत्त्वमेव उपष्टम्भकं चलं च रज एव गुरु वरणकं तम एव। ननु परस्परं विरोधशीलानां गुणानां सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परं बाध एव युक्तो न त्वेककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न, एवं भूतानामप्येककार्यकर्तृतायाः प्रदर्शनात्। तद्यथा वर्त्तितैले अनलविरोधिनी अथानलेन मिलित्वा रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परं विरोधशीला अपि मिलिताः सन्तः शरीरधारणकार्य्यकारिणः तथा सत्त्वरजस्तमांसि विरुद्धशीलान्यपि सह वर्त्स्यन्ति मिलित्वा चैकं कार्य्यं करिष्यन्ति च पुरुषार्थवशात्। उक्तञ्च प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिरिति। गुणानां प्रधानात्मकत्वादैक्येऽप्यभिभाव्याभिभावकरूपेण नानात्वम्। उक्तम् एकैव स्त्री गुणकुलरूपशीलयौवनसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति तत् कस्य हेतोस्तं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात् सैव सपत्नीर्दुःखाकरोति तत्कस्य-हेतोस्तां प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात् एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति तत्कस्य हेतोस्तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्। अनया स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः। तत्र यत्सुखकारणं तत्सुखात्मकं सत्त्वम् एवं यत् दुःखकारणं तद् दुःखात्मकं रजः तथा यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः। तस्मात्कारणव्यापारात्सदेव कार्यं पूर्वम्। तदेव पुनस्तद्व्यापारादाविर्भवति यथा सन्त्येव कूर्माङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते इदं कूर्मशरीरमेतानि तदङ्गानि तेन तानि सङ्कोचितानि तस्मिन्नव्यक्तीभवन्ति तथा मृत्सुवर्णादिभ्यः सन्त्येव घटकुण्डलादीन्याविर्भवन्ति विभज्यन्ते इयं मृदयं तत्कार्यो घट इत्यादि। तथा सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्रादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते इदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमिति तथा सन्त्येव तन्मात्राण्यहङ्कारादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते एवं सन्नेवाहङ्कारो महतोऽभिव्यक्तिमेति सन्नेव च महान्मूलप्रकृतेरभिव्यक्तिं याति। एवं कारणभूतात्परमाव्यक्तात्साक्षात्पारम्पर्येण समन्वितस्य कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य विभागः। सर्गमात्रे मृत्पिण्डं हेमपिण्डं वा विशन्तो घटकुण्डलादयोऽव्यक्तीभवन्ति कारणरूपेणाभिव्यक्ता अपि कार्यरूपेणानभिव्यक्तीभवन्ति तथा पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वस्वरूपेण तन्मात्राण्यभिव्यक्तयन्ति स्वस्वरूपेण कारणमभिव्यक्तमपि कार्यस्वरूपं स्वकीयं स्वस्मिन्ननभिव्यक्तयति तन्मात्राणि तथाहङ्कारं विशन्त्यहङ्कारं स्वापेक्षयाऽव्यक्तयन्ति तथाहङ्कारो महान्तं विशन् महान्तमव्यक्तयति महान्प्रधानं स्वकारणं विशन् तदव्यक्तयति प्रधानस्य तु न क्वचित्प्रवेशोऽकारणत्वादपि तु तत्सर्वकार्याणामव्यक्तं कारणम् एवमविभागः। प्रकृतौ विश्वस्यैवं विभागाविभागौ।

केचन अव्यक्तं वा महान्तं वाहङ्कारं वा इन्द्रियाणि वा भूतानि वा आत्मत्वेनादाय तानेवोपासते ते तु वक्ष्यमाणरीत्याऽपाकरणीयाः। अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः पुरुषोऽस्ति अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः कुतः सङ्घातत्वात् यः सङ्घातो भवति स परार्थो दृष्टस्तैलताम्बूलघृतदधिदुग्धान्नवस्त्रादिवत् सुखदुःखमोहात्मकत्वेन सर्वे सङ्घातास्तथा च यदर्थं सङ्घाताः स एव पुरुषः। ननु शयनासनादिः सङ्घातः सङ्घातशरीरादिपरार्थो दृष्टो न त्वात्मानं प्रति परार्थः तस्मात्सङ्घातान्तरमेव साधयेयुर्नासंहतमात्मानमिति यदुक्तं तन्न साधु सङ्घातस्य सङ्घातान्तरार्थत्वे तस्यापि सङ्घातत्वात्संघातान्तरार्थता तस्यापि सङ्घातत्वात्तथात्वं तस्यापि तथात्वमित्यनवस्था दुस्तरा स्यात्। किञ्च सङ्घातस्य पारार्थ्यमात्रेण व्याप्तिर्न तु सङ्घातपारार्थ्येन। न च दृष्टान्तदृष्टत्वात्तथा कल्प्यत इति वाच्यम्। दृष्टान्तदृष्टयावद्धर्माणां दार्ष्टान्तिके साधनायानुमानमिच्छतो दृष्टान्तमहानसादिगतमहानसत्वादेः पर्वतादावभावात्सर्वानुमानोच्छेदः स्यात्। यथाहुः त्रिगुणत्वादयो हि धर्मा सङ्घातत्वेन व्याप्ताः ते तु अस्मिन्परे व्यावर्तमानास्त्रैगुण्यादि व्यावर्तयन्ति ब्राह्मण्यमिव निवर्तमानं कठत्वादिकम्। अधिष्ठानादपि पुरुषास्तित्वं

सिद्ध्यति त्रिगुणात्मकानां बुद्ध्यादीनामधिष्ठीयमानत्वात् यथा रथादिर्यन्त्रादिभिरधिष्ठीयते तथा सुखदुःखमोहात्मकं बुद्ध्यादि परेणाधिष्ठातव्यम्। भोक्तृभावादपि पुरुषास्तित्वमवसेयम्। भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्ममनुभूयेते तेनानयोरनुकूलतया प्रतिकूलतया वाऽनुभवित्रा केनचिद्भवितव्यम्। न च बुद्ध्यादिरेव तथेति वाच्यम्, तेषां सुखाद्यात्मकत्वेन स्वेनैव स्ववेदने आत्माश्रयः स्यात्। कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरपि पुरुषास्तित्वं सिद्धम्। दुःखत्रयात्यन्तिकनिवृत्तिलक्षणं कैवल्यं न तावद् बुद्ध्यादीनां ते हि सुखदुःखमोहात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्याः तस्मात्कैवल्यार्थमागमानां महाधियां च प्रवृत्तेरस्ति बुद्ध्याद्यतिरिक्त आत्मेति पुरुषास्तित्वं सिद्धम्। ननु भवत्वेवं बुद्ध्याद्यतिरिक्तात्मसिद्धिस्तथापि स किं प्रतिशरीरं भिन्न एक एव वेति चेद्भिन्न एवेति ब्रूमः जन्ममरणादिव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या बहुत्वस्यैव सम्भवात्। उक्तं च सांख्याचार्यैः—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

जातिविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म न तु पुरुषस्य परिणामस्तस्यापरिणामित्वात् तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणं न त्वात्मनो विनाशस्तस्य कूटस्थस्य नित्यत्वात्। बुद्ध्यादीनि करणानि त्रयोदश तेषां जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था सा त्वियं सर्वशरीरेष्वेकस्मिन्पुरुषे न सम्भवति तथासत्येकस्मिन्सुखिनि सर्वे सुखिनः स्युः दुःखिनि वा दुःखिनो भवेयुः तथा एकस्मिन् म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन् जायमाने च जायेरन् एवमेकस्मिन्बन्धबधिरादौ सर्व एव तथा स्युः न त्वेवमस्ति तथा एकस्मिन्विचित्ते सर्वे विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था, पुरुषभेदे तु सम्यगुपपद्यते व्यवस्था। नचैकस्मिन्नपि पुरुषे देहान्तरोपाधिवशाद् उपपद्यत एव व्यवस्थेति वाच्यम्, करचरणस्तनादिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्था स्यात्। गुणत्रयविपर्ययादपि पुरुषबहुत्वमवसेयम्। तद्यथा केचित्सत्त्वबहुलाः यथोद्ध्वस्रोतसः केचिद्रजोबहुलाः यथा मनुष्याः केचित्तमोबहुलाः यथा तिर्यग्योनयः।

पुरुषस्य बहुत्ववदत्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वं साक्षित्वादिकमपि बोद्धव्यम्।

प्रधानपुरुषयोः संयोगकृतोऽयं सर्गः स चापेक्षां विना भिन्नयोर्न सम्भवति, अपेक्षा च स्वदर्शनार्थं पुरुषेण प्रधानस्य, प्रधानं हि विषयात्मकतया भोग्यम्, भोगश्च भोक्तारमन्तरेण न भवतीति भोक्रपेक्षा प्रधानस्य पुरुषस्य स्वकैवल्यार्थं प्रधानापेक्षा प्रधानेन हि भोग्येन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते। तत्तु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिकारणकं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिश्च प्रधानमन्तरा न भवतीति पुरुषस्य प्रधानापेक्षा पङ्ग्वन्धवदुभयोः संयोगः भोगायानादिपरम्परासंयुक्तोपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते स च संयोगो महदादिसर्गमन्तरेण भोगापवर्गयोः समर्थो न भवतीति संयोग एव महदादिसर्गं करोति। उक्तञ्च—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि चेति षोडशसंख्यामितो गणः षोडशकः। उक्तञ्च तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहिताच्च स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणं जलम्, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रासहितादगन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते।

अध्यवसायो बुद्धिः क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया व्यपदेशः। धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमिति सात्त्विकाः बुद्धिधर्माः एतद्विपरीतास्त्वधर्मादयस्तामसाः। बुद्धिधर्मादैश्वर्यादणिमादिप्रादुर्भावः। तच्च—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ इति ।

नन्वेकादशक इन्द्रियगणः पञ्चतन्मात्रकं चेति द्विविधः प्रवर्तते सर्गोऽहङ्कारात् तथा चैकस्मादहङ्कारात् कारणात्कथं प्रकाशजडात्मको विलक्षणः सर्ग इति यदुक्तं तन्न सुन्दरम् प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विकादहङ्काराद्भवति भूतादेस्त्वहङ्कारात् तामसात्तन्मात्रगणः । यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथापि गुणोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोति । ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव सर्गः कृतः तर्हि रजसा अकिञ्चित्करेणेति चेन्न, तैजसादुभयमिति मूलकारः तैजसादुभयं गणद्वयं भवति सर्गद्वयं सत्त्वतमसोरिति । यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न कार्यं कुरुतो रजसा चालिते तु तत्प्रसादात् प्राप्तक्रिये स्वकार्योत्पादने समर्थे भवत इति राजसादुभयम् । यथाहुः उभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति । इन्द्रियविचारस्तु तत्त्वदीपे कृत इति विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते । महदहङ्कारमनांस्यन्तरिन्द्रियाणि तानि स्वलक्षणानि स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि तच्च महतोऽध्यवसायः अहङ्कारस्याभिमानः सङ्कल्पो मनसो वृत्तिर्व्यापारः । एतेषां वृत्तिद्वैविध्यं साधारणत्वासाधारणत्वाभ्यामाह सैषा भवत्यसामान्या इति । एषोक्ताऽसाधारणी वृत्तिः साधारणी वृत्तिस्तु करणानां प्राणाद्या वायवः पञ्च करणत्रयस्य पञ्च वायवो वृत्तिर्जीवनं तद्भावे भावात् अभावे चाभावात् । तत्र प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः अपानः कृकाटिकापृष्ठपार्श्वपायूपस्थवृत्तिः समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः उदानो हृत्कण्ठतालमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः व्यानस्त्वग्वृत्तिरिति पञ्च वायवः ।

अविद्या पञ्चविधा तथाहि अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञका चेति पञ्चपर्वा ।

प्रत्ययसर्गतद्भेदास्त्वतिविस्तरभयात्सन्तोऽपि न निदर्श्यन्ते प्रत्ययसर्गो बुद्धिसर्गः उक्तश्च एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः । प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिस्तस्य सर्गः प्रत्ययसर्गः । दैवसर्गस्तु मूलकारेणैव स्पष्टो निरुक्तः । स च अष्टविकल्पो दैवः सर्गः ब्राह्मप्राजापत्यऐन्द्रपैत्र्यगान्धर्वयाक्षराक्षसपैशाच इत्यष्टविकल्पो दैवसर्गः । तिर्यग्योनयश्च पञ्चविधा भवन्ति पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः । मानुषश्चैकविधः ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया संस्थानस्य चतुर्व्यवस्थविशेषादिति ।

ननु प्राधानिकोऽयं सर्गः प्रधानं च जडं कथं स्वार्थं परार्थं वा प्रवृत्तिं कर्तुमर्हति तस्मात्केनचिच्चेतनेन प्रकृत्यधिष्ठात्रा भवितव्यम् । न च क्षेत्रज्ञास्तथा तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात् तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता कश्चित्सर्वज्ञः स एवेश्वर इति चेन्न, अचेतनमपि प्रयोजनवशात् प्रवर्तमानं दृष्टं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनमपि क्षीरं प्रवर्तते तथा जडापि प्रकृतिः पुरुषविमोक्षाय प्रवर्तिष्यते । किञ्चाभोक्तुरीश्वरस्य प्रवृत्तौ न करुणां विनाऽन्यत् प्रयोजनं पश्यामः । सा च निरुपाधिपरदुःखप्रहाणेच्छा सृष्टेः पूर्वं प्राण्यभावादेव तत्सम्बन्धिदुःखाभावात् कस्य निवृत्तौ प्रवृत्तिः स्यादीश्वरस्य । न च सर्गानन्तरमीश्वरप्रवृत्तिः सर्गस्य जातत्वादेव नेश्वरप्रयोजनं पश्यामः । न च दुःखनिवृत्तिः प्रयोजनं तदर्थं तत्प्रवृत्तौ जगति कोऽपि दुःखी न स्यात् । उक्तश्च प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्तत्वात् ते च जगत्सर्गाद्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि निवर्तयतः न ह्याप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत्सृजतः किमप्यभिलषितं भवति नापि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति परस्पराश्रयः । अपि च करुणया प्रवृत्तः सुखिन एव जन्तून्सृजेत् न दरिद्रान् । न च कर्मवैचित्र्यात् जगद्वैचित्र्यम् तर्हि कृतमीश्वरेण तत

एव जगद्वैचित्र्योपपत्तेः प्रवृत्तिस्तु पारार्थ्यप्रयोजनवशात् जडस्यापि दृश्यते वत्सविवृद्धिनिमित्तं दुग्धस्येव ।

ननु भवतु प्रकृतेः प्रवर्तकः पुरुषार्थो निवर्तकं न तु कमपि पश्याम इति चेन्न यथा नर्तकी परिषद्भ्यो नृत्यं दर्शयित्वा स्वयमेव निवर्तते न तु तस्याः स्वनिवृत्तौ निवर्तकान्तरापेक्षा तथा शब्दाद्यात्मकं स्वस्वरूपं पुरुषाद्भेदेन प्रकाश्य साधितपुरुषप्रयोजना स्वयमेव निवर्तते प्रकृतिः । यथाहुः सांख्याचार्याः—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते यथा नर्तकी नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥

ननु यथा दर्शितनृत्या नर्तकी द्रष्टृकौतुहलात्पुनः प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनश्चेत् प्रवर्तेत तदा मुक्तानामपि पुनः संसारप्राप्तिः स्यादिति चेन्न, यथा परपुरुषदर्शनासहा सूर्यदर्शनवर्जितापि कुलवधूः प्रमादाद्विगलिताङ्गपटा चेदवलोक्यते परपुरुषेण तदाऽसौ तथा प्रवर्ततेऽप्रमत्तां यथैनां पुनः पुरुषान्तराणि न पश्यन्ति तथा प्रकृतिः कुलवधूतोप्यधिका दृष्टा विवेकेन पुनर्न दर्शनमार्गमेति । उक्तं च—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ इति ।

धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमिति सात्त्विका बुद्धिधर्माः अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वारस्तामसाः । अत्र ज्ञानवर्जितैः सप्तभिः प्रकृतिर्बध्नात्यात्मानं विवेकख्यात्या प्रकृतिपुरुषान्यताज्ञानेन सैव विमोचयति । उक्तञ्च—

रूपैः सप्तभिरेवम्बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥

यथा विद्रुममणिमौक्तिकशुक्तिमकरकच्छपनागशंखकपर्दकादीन् विहाय परमकारुणिकेन लीलाविग्रहधारिणा भगवता रत्नान्येव समुद्धृ-

तान्युदधेर्देवसमृद्ध्यर्थं तथा जल्पतर्काभासाख्याऽन्यत्रसुलभप्रमेयवितण्डादींश्च विहाय सांख्यमात्रैकलभ्यप्रमेयरत्नानि सांख्यतंत्राध्ययनपरिश्रमालसानां सांख्यतन्त्रोदधेर्मया समुद्धृतानि ।

रामकृष्णकथा यावद्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
सांख्यतत्त्वप्रदीपोऽयं तावदस्तु महीतले ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादश्रीवैकुण्ठशिष्ययतिकविराजयतिप्रकाशितः सांख्यतत्त्वप्रदीपः समाप्तः ।

श्रीगणेशाय नमः

तत्त्वमीमांसा

सुखैकविषया भूतानां प्रवृत्तिः। सुखं च सति दुःखहेतावसम्भवति। अतो भवति दुःखाऽभिघातके जिज्ञासा सा च तत्त्वज्ञानात्। अतस्तत्त्वमत्र निरूप्यते। ननु त्रिविधं दुःखम् आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं च। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसञ्च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं, मानसं कामक्रोधादिनिबन्धनम्। आधिभौतिकं मानुषपशुपक्ष्यादिनिमित्तम्। आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्। तेषां चैषां लौकिकैरेवोपायैः प्रतीकारः शक्यते। तथा हि शारीरस्यौषधादिभिः, मानसस्य मनोज्ञस्त्रीपानभोजनवस्त्रालङ्कारादिप्राप्त्या, आधिभौतिकस्य नीतिशास्त्राभ्याससुस्थानोपवेशादिना, आधिदैविकस्य मणिमन्त्राद्युपयोगेनेति सुकर उपायः, तत्त्वज्ञानं त्वनेकजन्मपरम्पराभ्याससाध्यम्। तथा च लौकिकानामाभाणकः।

अके चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥ इति।

अके गृहकोणे। मैवम्। न ह्येतैरुपायैः सर्वमेव दुःखं निवर्तते। निवृत्तं पुनर्नोत्पद्यते। यद्यपि शास्त्रीयमपि अहोरात्रमासवर्षादिसाध्यमुपायान्तरं सुकरं श्रूयते—अपाम सोममभूता अभूमेति तथापि एतदपि लौकिकोपायतुल्यमेव। तथाहि सोमयागः पशुवधादिसाधनत्वान्न विशेषतः शुद्धः। अकृते हि तद्वधप्रायश्चित्ते स्वर्गादिगत्यनन्तरं परिपच्यते एव तद्दुःखम्। न च न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेणाग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यनेन बाधः शङ्क्यः

भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावासम्भवात् अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति वाक्येन हि वधस्य क्रतूपकारकत्वमेव बोध्यते न तु पुरुषप्रत्यवायाभावः। एवं स्वर्गादेरनित्यत्वमपि सत्त्वे सति कार्यत्वादनुमीयते। तथा च श्रुतिरपि—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥

कर्मणा ज्योतिष्टोमादिना प्रजया पुत्रेण धनेन देवताज्ञानेन पुत्रेणायं लोको जेयो विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोक इति श्रुत्यन्तरात् एभिः पित्रादिलोकस्यैव प्राप्तिर्नामृतत्वस्येति भावः। तर्हि कथममृतत्वमित्यत आह त्यागेनेति। सर्वकर्मसंन्याससाध्यज्ञानेनेत्यर्थः। तदमृतत्वं स्वर्ग एव चेत्तत्राह परेण नाकमिति। तर्हि दूरस्थत्वान्न प्राप्यमिति चेत्तत्राह निहितं गुहायामिति। तच्चासन्नत्वात्पृथग्जनैरपि लभ्यमिति चेत्तत्राह यद्यतय इति। अदूरभूतमप्यविवेकिनां दूरभूतमेव। तथा श्रुत्यन्तरम्—

कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।
तथाऽपरे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुरिति॥

अपाम सोममभूता अभूमेत्यमृतत्वाभिधानं तु चिरस्थित्यभिप्रायम्। यदाहुः—'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं शास्त्रकृद्भिः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। अस्यार्थः। तस्मात्सोमपानादेरविशुद्धादनित्यात् विपरीतो हिंसाद्यसङ्कराद्विशुद्ध उपायः श्रेयान्। स च कथम्? व्यक्तस्य कार्यजातस्य तत्कारणस्य अव्यक्तस्य प्रधानस्य ताभ्यां परस्य तस्यात्मनश्च विवेकेन ज्ञानाद्भवति इति। न च विवेकोत्पन्नफलस्यापि कार्यत्वादनित्यत्वं शंक्यम्। भावरूपकार्यस्यैवानित्यत्वात् दुःखध्वंसस्य तु कार्यत्वेपि नित्यत्वात्।

अथात्र शास्त्रे चतस्रो विधाः । प्रकृतिर्विकृतिरुभयमनुभयश्चेति । तत्र जगतो मूलकारणभूतं प्रधानं न विकारः किन्तु प्रकृतिरेव प्रकरोतीति प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था । अस्याश्च मूलान्तरमनवस्थाभयान्नास्तीति मूलप्रकृतिरित्युच्यते । सैव शास्त्रान्तरे अविद्या मायाशब्देनोच्यते । एतदेवाव्यक्तं सत्त्वादीनां गुणानां वैषम्ये सति व्यक्तमित्युच्यते । यथाहि समुद्रजले चलिताचलितप्रदेशाः । एवं त्रिगुणात्मके प्रधाने परिणामवांस्तद्विधुरश्च प्रदेशः । तत्र प्रकृतिविकारेषु मध्ये आद्यो विकारो महानित्युच्यते स एतद्बुद्धिलक्षणः । स च महान्सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति त्रिविधः । बुद्धेस्तु प्रथमो विकारोऽहङ्कारः । एते च महदादयः प्रकृतयो विकृतयश्च । तथाहि महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिर्विकृतिश्च मूलप्रकृतेः । अयं हि क्रमः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राः ताभ्यः पञ्च भूतानि तन्मात्राणि पुनः क्षीरदध्योरन्तराले कललपरिणामात्परिणतानि सूक्ष्मभूतानि कुसुमसौरभ्येन सूक्ष्मस्थूलतयोपलक्ष्यमाणं गुणवैषम्यमेव तन्मात्रशब्देन भूतशब्देन चोच्यते । पञ्च भूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति एष षोडशको गणस्तु विकार एव न प्रकृतिः । पुरुषस्त्वात्मा न प्रकृतिर्न विकृतिः । तदेतदाहुः ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ इति ।

अथ शास्त्रपरिभाषा । दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेति त्रिविधं लौकिकं प्रमाणम् । आर्षं तु विज्ञानं योगिनामेवेति तदत्र नोक्तम् । तत्र पृथिव्यादयः सुखादयश्चास्मदादीनां विषयाः । तन्मात्रलक्षणास्तु देवानां योगिनां च विषया न त्वस्मदादीनाम् तेषां चेन्द्रियैः सम्बन्धः सन्निकर्षः । एवञ्च विषयसम्बद्धेन्द्रियाश्रितो यो बुद्धिधर्मोऽध्यवसायः स एव प्रमाणम् । अयं हि क्रमः । विषयसम्बद्धानामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां

बुद्धेस्तु तमोभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति ज्ञानमिति वृत्तिश्चाख्यायते । तदिदं प्रत्यक्षप्रमाणम् । अस्माच्च यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः । बुद्धिसत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः घटादिवत् । एवं हि बुद्धिसत्त्वस्य परिणामभेदाः सुखादयोऽप्यचेतनाः । पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः । सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्त्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितो बुद्धिसादृश्यप्राप्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवति चितिसादृश्यप्राप्त्या च अचेतनापि बुद्धिस्तदवध्यवसायश्च चेतन इव भवति । चार्वाकास्तु प्रत्यक्षादन्यत् न मानमिति वदन्ति । तन्मते संदिग्धविपर्ययस्तु पुरुषबोधनं नोपपद्येत । नहि पुरुषान्तरगतः संशयः अनुमानं कथनं विना वा ज्ञातुं शक्यः ।

प्रमाणान्तराणि त्वत्रैवान्तर्भवन्ति । तथाहि उपमानं तावत् गोसदृशो गवय इति वाक्यं तज्जनितो बोधः शब्द एवान्तर्भवति चक्षुःसंनिकृष्टस्य गवयस्य यत् गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव । एवं जीवतश्चैत्रस्य गृहासत्त्वेन बहिःसत्त्वकल्पनमर्थापत्तिः साप्यनुमान एवान्तर्भवति । विमतश्चैत्रो बहिर्भवितुमर्हति गृहेष्वविद्यमानत्वात् । यदा त्वव्यापकः सन्नेकत्रास्ति तदान्यत्र नास्ति यदैकत्र नास्ति तदान्यत्रास्तीति व्याप्तिग्रहात् । एवमिह वटे यक्षः प्रतिवसति इति ऐतिह्यं न प्रमाणमनिर्दिष्टस्ववक्तृकत्वेन सन्देहात् । आप्तोक्तत्वनिश्चये त्वागम एव । एवमभावो नानुपलब्धिगम्यः किन्तु प्रत्यक्ष एव । न हि भूतलस्य कैवल्यलक्षणात्परिणामविशेषादन्यो घटाभावो नाम । सर्व एव हि भावाः प्रतिक्षणं परिणामिनः स च परिणामभेद ऐन्द्रियक एवेत्यलम् ।

तत्र सूक्ष्मस्याव्यक्तस्याप्रत्यक्षत्वेपि महदादिकार्येण तदनुमीयते । तथाहि सदेव कार्यं कारणव्यापारात्प्रागपि । असतो हि सत्त्वं दुष्करम् नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं शक्यं कर्तुम् । किन्तु तिलेषु पीड-

नेन तैलस्येव आविर्भावमात्रमुत्पत्तिः तिरोभाव एव विनाशः। किञ्चासम्बद्धस्यापि कार्यस्य जन्यत्वे सम्बद्धत्वाविशेषात्सर्वं कार्यं सर्वस्माद्भवेदिति कार्यसम्बद्धस्यैव कारणस्य जनकत्वमुपेयम्। न च सदसतोः सम्बन्धोऽस्तीति सत्कार्यम्। किञ्च तन्तुधर्मत्वात्तन्तूपादेयत्वाच्च न पटस्यार्थान्तरत्वम् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटपटौ। तथा अर्थान्तरयोः संयोगो वा भवति यथा कुंडबदरयोः अप्राप्तिर्वा भवति हिमवद्विन्ध्ययोः। तस्माद्यथा कूर्मशरीरे कूर्माङ्गानि निविशमानानि तिरोभवन्ति न तत्र तान्युत्पद्यन्ते न विनश्यन्ति वा एवमेकस्मात्सुवर्णादेर्मुकुटादिप्रादुर्भाव एवोत्पत्तिः। एवञ्च महदादिकार्यं प्रधानेऽभिनिविशते अव्यक्तं भवति इति। कारणे सत्येव कार्यस्य विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्तीति गम्यते। तच्चाव्यक्तं नित्यं व्यापकं च सर्वं कार्यं व्याप्नोति तथा निष्क्रियं क्वचिदप्यनाश्रितञ्च एवं निरवयवं स्वतन्त्रं च। एतद्विपरीतन्तु व्यक्तम्। एवं व्यक्तमव्यक्तं च सुखदुःखमोहरूपगुणत्रयान्वितमचेतनं प्रसवधर्मि च तद्विपरीतः पुरुषः सुखादयश्च गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः। सत्त्वस्य प्रयोजनं तु प्रकाशः रजस्तु तस्य प्रवर्तकं तमस्तु नियामकं यदि हि तमसा गुरुणा न नियम्येत तदा रजः लघु सत्त्वं सर्वत्र प्रवर्त्तयेत्। यथा सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तां वृत्तिमधिगच्छति यथा च रजः सत्त्वरजसी अभिभूय घोरां तथा तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति। यद्यप्येते परस्परं विरोधशीलाः तथापि यथा वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणरूपैककार्यकारिणः एवमेतेपि। एवं सुखहेतुत्वात्सत्त्वं सुखात्मकं दुःखहेतुत्वाद् दुःखात्मकं रजः यन्मोहकं तत्तमः। ते च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वानुरूपाण्येव परस्परं विरुद्धानि सुखदुःखमोहात्मकानि निमित्तानि कल्पयन्ति। तथाहि एकैव स्त्री स्वामिनं प्रति सुखरूपसद्भावात्तं सुखाकरोति सपत्नीस्तु दुःखाकरोति एवमत्राप्येकस्यापि निमित्तभेदाद्भेदः। सुखप्रकाशलाघवैस्तु परस्परमविरोधान्न निमित्तभेदाः कल्प्यन्ते। सर्गादौ तु परिणामस्वभावा गुणाः क्षणमप्यपरिणम्य न तिष्ठन्तीति सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रवर्त्तते। यथाहि घनविमुक्तजलानां जम्बीरकरवीरनारिकेराद्याश्रयभेदादस्ति भेदः, एवमेकरूपाणामपि गुणानां प्रतिगुणाश्रयविशेषादनेकरूपता। आत्मा तु व्यक्ताव्यक्तसंघातभिन्नः। परार्थो हि संघातो भवति। यथा शयनासनादयः संघाताः शरीरार्था दृष्टाः। किञ्च यथा रथादि यन्त्रादिनाधिष्ठितं एवं त्रिगुणात्मकमपि परेण केनचिदधिष्ठीयमानं युक्तम्। स चात्मा प्रतिशरीरं भिन्नः न ह्येकस्मिन् सुखिनि सर्वे सुखिनः। स चायं पुरुषः साक्षी च भवति प्रकृतिर्हि स्वविषयचरितं पुरुषाय प्रदर्शयति। तथाहि लोके अर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः। एवं चायं द्रष्टापि भवति। तथा अत्रैगुणादस्य कैवल्यं च धर्मः। आत्यन्तिको हि दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्। अतएवात्रिगुणत्वान्मध्यस्थोऽपि भवति सुखी हि सुखे तृप्यन् दुःखी द्विषन् मध्यस्थो न भवति। अत एवोभयराहित्यादुदासीन इत्युच्यते। एवमप्रसवधर्मित्वादकर्तापि। यद्यपि चेतनोऽहं करोमीति कृतिचैतन्ययोरैकाधिकरण्यं प्रतीयते तथापि पुरुषप्रधानादिसम्बन्धात्पुरुषचैतन्यमव्यक्ते गुणकर्तृत्वं च पुरुषे उपचर्यते। भोग्यं हि प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न संभवति इति भवति तस्य भोक्त्रपेक्षा पुरुषस्तु भोग्येन प्रधानेन संयुक्तस्तद्गतं दुःखमात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते। तच्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम् न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षत इति तयोः संयोगः अत एव संयोगो न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीति॥

अथ विवेकज्ञानोपयोगिनी बुद्धिर्निरूप्यते। तस्याश्च व्यापारोऽध्यवसायः तदभिन्नः। एष बुद्धेर्लक्षणं समानासमानजातीयव्यवच्छेदक-

त्वात् । तथाहि सर्वोपि व्यवहर्ताऽहमत्राधिकृत इति अभिमत्य मया एतत्कर्तव्यमिति अध्यवस्यति ततश्च प्रवर्तते । तत्र चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेर्योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयः सोऽध्यवसायः । तत्र धर्मो यागाद्यनुष्ठानजनितः । ज्ञानं गुणपुरुषान्यताख्यातिः । वैराग्यं रागाभावः । एवमैश्वर्यमपि बुद्धिधर्मो यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः । अहमत्र शक्तः मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः अतोऽहमस्मि इत्यादिको योऽभिमानः सोऽहङ्कारव्यापारत्वादहङ्कारः । तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति कर्त्तव्यमेतन्मयेति अहङ्काराच्च द्विविधः सर्गः सात्त्विकादेकादशेन्द्रियाणि तामसात्तु पञ्चतन्मात्राः । रजसस्तु तत्प्रवर्तकत्वमात्रात्कारणत्वम् । सात्त्विकराजसतामसाहङ्काराणामेव क्रमेण वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति संज्ञाः । चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि । मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियञ्च । चक्षुरादीनां च मनोधिष्ठितानां स्वविषयेषु प्रवृत्तेः । प्रथमं वस्तुदर्शनानन्तरं बालमूकादिवन्निर्विकल्पात्मकं सामान्यतो ज्ञानमुत्पद्यते । पश्चाच्च वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्योऽध्यवसायः स सङ्कल्पाख्यो मनसो व्यापारः । एकस्मादहङ्कारादेकादशविधानि इन्द्रियाणि भवन्तीत्यत्र तु शब्दाद्युपभोगसम्प्रवर्तकादृष्टभेद एव नियामकः । अदृष्टभेदस्तु गुणपरिणाम एव । पञ्चबुद्धीन्द्रियाणां सम्बद्धवस्त्वालोचनं वृत्तिः वागादिकर्मेन्द्रियाणां तु वचनादयो वृत्तयः । एवं महतोऽध्यवसायः अहङ्कारस्याभिमानः सङ्कल्पो मनसो वृत्तिर्व्यापारः । कार्यकरणाभिमुखानां करणानां वृत्तिसङ्करस्तु न भवति । यथाहि परावस्कन्दाय प्रवृत्ताः शाक्तीकयाष्टीकादयः स्वं स्वं शक्त्यादिकमेवाददते न परस्परयष्ट्यादिकम् । ननु याष्टीकादीनां चेतनत्वादस्तु तथा प्रवृत्तिः करणानां त्वचेतनानां प्रवृत्तेरयुक्तत्वात्तत्स्वरूपसामर्थ्योपभोगाभिज्ञः, अधिष्ठाता स्वीकार्य इति चेन्न तत्प्रवृत्तौ पुरुषार्थस्यैव हेतुत्वात् एतच्चोपपादयिष्यति । करणानि तु त्रयोदश । करणत्वं तु शब्दस्पर्शादिप्रकाशनं कर्मेन्द्रियाणां तु

वचनादिव्यापारः । एतद्बाह्यकरणं वर्त्तमानकालमन्तष्करणं तु त्रिकालम् । नदीपूरभेदादभूद् वृष्टिः अस्ति धूमादिहाग्निः पिपीलिकाण्डसंचरणाद्भविष्यति वृष्टिरिति प्रत्ययात् । ये तु वैशेषिकाः कालमेकमतिरिक्तं स्वीकुर्वते । तन्मतेऽप्यतीतानागतादिव्यवहारभेदः उपाधिभेदादेव भवति एवं च तैस्तैरुपाधिभिरेवातीतानागतादिभेदसिद्धौ किमतिरिक्तकालस्वीकारेणेति सांख्याः । एषां चेन्द्रियाणां प्रधानाप्रधानभावोऽप्यस्ति । यथाहि ग्रामाध्यक्षाः कर्षकादिभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छन्ति विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय स च भूपतये एवं बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च सङ्कल्प्याहङ्काराय अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षायामिति । एते च बुद्धीन्द्रियमनोहङ्कारा गुणविशेषा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विकाराः परस्परं विरुद्धा अपि पुरुषार्थेनैकवाक्यतापन्नाः यथा सन्तमसापनयनेन प्रकाशाय मिलिता वर्त्तितैलवह्नयः प्रदीपो भवति । ननु कस्माद् बुद्धौ प्रयच्छन्ति न पुनरहङ्काराय मनसे वेति चेन्न, पुरुषार्थस्य प्रयोजकतया साक्षात्साधनं प्रधानं बुद्धिरेव अहङ्कारादयस्तु तं प्रति गौणाः । अस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते इति शब्दादितन्मात्राणि अविशेषाः सूक्ष्माणि च । आकाशादिषु तु स्थूलेषु क्वचित्सत्त्वप्रधानतया शान्ताः सुखाः प्रसन्ना लघवः केचिद्रजस्तमःप्रधानतया घोरा मूढाश्च । ते विशेषाः पुनः त्रिधा सूक्ष्मं शरीरं मातापितृजं महाभूतानि च । प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितं तथाऽव्याहतं शिलामप्यनुप्रविशति । सर्गादामहाप्रलयमवतिष्ठते सूक्ष्मं शरीरं तच्च महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रसमुदायः । एतच्च शरीरं भोगानर्हं इति स्थूलं शरीरं षाट्कौशिकमाश्रयति । लोमलोहितमांसानि मातृतः, स्नाय्वस्थिमज्जानः पितृत इति षट् कोशाः । ननु धर्माधर्मनिमित्तः संसारः तस्य च सूक्ष्मशरीरेऽभावात्कथं स्थूलशरीराश्रयणमिति चेत् न, धर्माद्यन्वितबुद्ध्या संयोगेन तस्यापि धर्माद्यभिवासितत्वात् । यथाहि सुरभिपुष्पादिसम्बन्धाद्वस्त्रमपि तदामोदवासितं भवति । धर्मा-

धर्मादिनिमित्तकं च स्थूलशरीरग्रहणं तयोः संसर्गेण सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरमाश्रित्य देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा भवति। यथाहि नटस्तां तां भूमिकां विधाय धर्मराजो वा भवति वत्सराजो वा भवति इति। हेतुस्त्वत्र पुरुषार्थ एव। तत्रोर्ध्वगमनस्य निमित्तं धर्मः। एवमधर्मेणाधोगतिः। ज्ञानेन मोक्षोऽज्ञानेन बन्धः। तत्त्वानभिज्ञस्य पुरुषस्य वैराग्यमात्रात्प्रकृत्यादिष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु तत्रैव लयः रागात्संसारः ऐश्वर्यादिच्छाया अविघातः विघातश्चानैश्वर्यात्। अयं बुद्धिसर्गः चतुर्धा विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभेदात्। तत्र विपर्ययोऽज्ञानमविद्या। विपर्ययः पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञाभेदात्। प्रकृत्यादिष्वनात्मस्वात्मबुद्धिरविद्या तमः। देवादीनामणिमाद्यैश्वर्येषु शाश्वतिकत्वाभिमानोऽस्मिता मोहः। शब्दादिषु विषयेषु राग आसक्तिर्महामोहः। देवादीनामसुरादिभ्यः स्वैश्वर्याणिमाभिघातभयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। अशक्तिस्तु अन्धत्वपङ्गुत्वादिरूपा करणवैकल्यहेतुका। तुष्टयो द्वेधा आध्यात्मिका बाह्याश्च प्रकृतिव्यतिरिक्त आत्मास्तीति निश्चित्य संन्यासादेव तत्रापर्गो भविष्यतीति उपदेशादौ या तुष्टयस्ता आध्यात्मिक्यः पञ्चविषयोपरमात् या तुष्टयस्ता बाह्याः। आत्मविद्यानामध्ययनमननादयः सिद्धिभेदाः। एवं निरूपितो बुद्धिसर्गः। तन्मात्रसर्गोपि देवमनुष्यपश्वादिभेदाद्बहुधा। तत्रोर्ध्वाधोमध्यलोकाः सत्त्वरजस्तमोबहुलाः। ननु सुखदुःखादयः प्राकृता बुद्धिगुणाः कथं चेतने भवन्तीति चेत्सत्यम्, पुरि लिङ्गे शेरते स पुरुषः। एवं च लिङ्गपुरुषयोः सम्बन्धाल्लिङ्गधर्मानात्मन्यध्यवस्यति। अयं च महदादिः पृथिव्यादिमहाभूतान्तः सर्गः प्रकृत्यैव कृतः। निष्कारणत्वे तु सदैव स्यान्नैव वा स्यात्। ईश्वरस्तु न तत्रोपादानं चितिशक्तेरपरिणामात्। नापि ईश्वराधिष्ठितायाः प्रकृतेः कर्तृत्वं निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवात्। नहि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति। ननु प्रकृतेः कर्तृत्वे तस्या नित्यत्वेनानुपरमात्कदापि मोक्षो न स्यादिति चेन्न।

यथाहि ओदनकामः पक्वौदनो न प्रवर्तते पुनस्तत्र एवं यं यं पुरुषं प्रकृतिर्भोचितवती न तं प्रति पुनः प्रवर्तते। नन्वचेतनायां प्रकृतौ कथं चेतनधर्मः प्रवृत्तिः तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः आत्मानस्तु प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वान्नाधिष्ठातुमर्हन्ति तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता स चेश्वर एवेति चेत्सत्यम्। यथाहि वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनमपि क्षीरं प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषमोक्षाय प्रवर्तिष्यते। न चेश्वराधिष्ठानत्वेन क्षीरे प्रवृत्तिः शङ्क्या। द्विधा हि प्रवृत्तिर्भवति स्वार्थाय कारुण्याय वा। न चाप्तसकलकामस्येश्वरस्य किमपि प्रार्थनीयमस्ति सर्गात्प्राक् दुःखाभावेन करुणाया असंभवात्। किञ्च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव सर्वान् प्राणिनः सृजेत् न विचित्रान्। प्रकृतेस्त्वचेतनतया नेदं द्वयं किन्तु परार्थैव प्रवृत्तिः यथा पारिषदान्प्रदर्शयन्निवर्तते नटः। एवं प्रकृतिः आत्मानं शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन प्रकाश्य निवर्तते।

फलाभावेपि निर्गुणे उपकारिण्यपि पुरुषे प्रकृतिस्तपस्विनी प्रवर्तते एव यथाहि गुणवानुपकार्यपि भृत्यो निर्गुणे उपकारिण्यपि स्वामिनि निष्फलाराधनः। यद्यपि नाट्यान्निवृत्तोपि नटः कालान्तरे पुनरपि प्रवर्तते एवं मुक्तं प्रति प्रकृतिस्तु न पुनः प्रवर्तते यथाहि विगलितवसना कुलवधूः कदाचित्केनचिद् दृष्टा चेत्तदासौ तथा यतते यथा न पुरुषान्तराणि पश्यन्ति एवं प्रकृतिरपि विवेकेन साक्षात्कृताऽतिलज्जावशात्पुनः स्वात्मानं न प्रदर्शयति। ननु सवासनक्लेशकर्माशयानां बन्धनसंज्ञितानामप्यपरिणामिनि पुरुषेऽसम्भवात्कथं मोक्षः मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्। अत एव न संसारोपि सम्भवति निष्क्रियत्वात्। मैवम्। यथाहि भृत्यगतौ जयपराजयौ स्वामिन्युपचर्येते एवं प्रकृतिगतयोरपि भोगापवर्गयोर्विवेकाग्रहात्पुरुषे उपचारः। तत्र धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यरूपैः सप्तभिर्भावैर्बध्नाति तत्त्वज्ञानेन तु मोचयति। एवं च कृतादस्मात्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमिति शुद्धमुत्प-

द्यते ज्ञानं यद्विषयो अभ्यासस्तं साक्षात्कारयतीति। नास्मीत्यनेन क्रियामात्रन्निषिध्यते अस्तेः क्रियार्थत्वात्। नाहमित्यनेन कर्तृत्वं न मे इत्यनेन स्वामित्वं निषिध्यते। भोगविवेकसाक्षात्कारौ प्रकृतेः प्रसोतव्यौ तौ च प्रसृताविति निवृत्ता प्रकृतिस्तां निष्क्रियः स्वच्छपुरुषः पश्यति प्रकृतिपुरुषयोरसंसर्गेप्यविवेकख्यातिनिबन्धनः संसारः पुनर्न भवति इति। अन्ते तत्त्वज्ञानस्य तदानीमेव शरीरपातस्तु न भवति। यथाहि निवृत्ते कुलालव्यापारे संस्कारवशात् चक्रं भ्रमत्तिष्ठति एवं संस्कारवशात् शरीरमपि शरीरपातानन्तरं तु प्रधानस्य निवृत्तत्वादात्यन्तिकमपि दुःखं नश्यति दुःखाभावरूपं कैवल्यमाप्नोति।

इति श्रीमद्देवीदत्तात्मजरामसेवकसद्गुरुवाचार्यकृष्णमित्रकृता तत्त्वमीमांसा समाप्ता।

श्रीगणेशाय नमः

श्रीदक्षिणामूर्त्तिगुरुभ्यो नमः

अथ सांख्यपरिभाषा

स्वानुभवं यथामति व्याख्यास्यामः।

ॐ नमो नारायणाय प्रकृत्यै पुरुषाय च।
वेदान्तसारगुह्याय सांख्यतत्त्वस्वरूपिणे ॥ १ ॥
योगिनां परहंसानां तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
अन्येषां च न दातव्यं मायया मोहितं जगत् ॥ २ ॥
शब्दश्रोता च व्याजेन निर्वाणार्थं च कथ्यते।
यदा कश्चिन्महाभागस्तस्य विश्रान्तिकारकम् ॥
विभक्तिमत्र यो पश्येत्तस्य ज्ञानं च दूरतः ॥ ३ ॥

अथ गुरुः।

गुरुयुक्त्या प्रसादेन ग्रन्थगर्भावलोकनम् ॥ ४ ॥
गुरुश्च द्विविधः प्रोक्तो वार्त्तिकाम्नाय एव च ॥
वार्त्तिको भक्तिभावेन आम्नायो मूलकारिका ॥ ५ ॥

किन्तु—

ब्राह्मणस्त्रीशूद्रमुखोपास्या ये ते तु वार्त्तिकाः।
संन्यासादिपारम्पर्येण स आम्नायः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
आदौ शिवस्तथा विष्णुर्ब्रह्मा वसिष्ठ एव च।
शक्तः पाराशरो व्यासः शुको गौडस्तथैव च ॥
गोविन्दपादपूज्येभ्यः शङ्करः शङ्करो परः।
इयं परम्परा प्रोक्ता गुरोराम्नायसिद्धिदा ॥ ७ ॥
गुरुर्गायत्र्युपदेशो गुरुश्चोदरपोषकः।
सद्गुरुर्मोक्षदाता च गुरोस्त्रिविधलक्षणम् ॥ ८ ॥
मन्त्राध्ययनं च व्याख्यानं कर्मतन्त्राणि चेटकाः।

वैदिकी शिल्पविद्या च श्रीगुरोस्तस्य उच्यते ॥ ९ ॥
कार्यकारणतां हित्वा समाधिः पूर्णबोधकः ।
तारको मोक्षदाता च सद्गुरुस्तस्य उच्यते ॥ १० ॥

अथ शिष्यः ।

रिक्तकामं मनो धृत्वा विश्वासं गुरुभक्तिदम् ।
आशामोक्षं विना नास्ति तच्छिष्यमुद्धरेद् गुरुः ॥ ११ ॥
भो भो स्वामिन् कृपासिन्धो प्रार्थयिष्यामि तेऽधुना ।
तप्तसंसारदावाग्नौ मुक्तिं कुरु दयानिधे ॥ १२ ॥
विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽखिलवेदार्था अस्मिन् ।

तथा च श्रुतिः—

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपश्रित्य तमनुसरति ॥
तद्धि सम्प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥

'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहः' इति गीतासु ।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज ॥
लोलुपः साधुसङ्गस्य अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

इति गुरुपरम्परा ।

अथ सांख्यसम्प्रदायेन ज्ञानमाह । तत्र प्रथमं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य इहामुत्रार्थफलभोगविरागः । द्वितीयं शमदमादिषट्कम् । तृतीयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः । चतुर्थं मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा । किन्तु इह नाम स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगविरागः । अमुत्र नाम स्वर्गभोगाद्यनिच्छा । शमो नाम मनोनिग्रहः । दम इन्द्रियनिग्रहः । तितिक्षा शीतोष्णादिपरोत्कर्षसहनम् । समाधानं सृष्ट्यादिमायाविलक्षणम् । श्रद्धा गुरावध्यात्मशास्त्रे रतिः । उपरमः कार्यकारणातीतम् । नित्य आत्मा । अनित्या दृश्यपदार्थाः । अतः परं मोक्षेच्छा ॥

इति साधनचतुष्टयम् ।

कम्बलो खर्परी वेणुर्बुद्धेस्त्रिविधलक्षणम् ।
चित्तक्षिप्तगतायातालीनताभूमिकात्रयम् ॥ १ ॥

अथ भूमिका । विक्षेप्ता विषयपदार्थे रतिः । गतायाता संशयात्मिका । सुलीनता प्रीतिरूपा तुरीया ।

अथ बुद्धयः । गुरुः शास्त्रादियुक्त्या बोधयति तथापि शून्यं कम्बलपेशीवत् । सा अधिकप्रकाशो न भवति खर्परच्छिद्रवत् । अनेकयुक्त्या विस्तारयति भग्नवेणुवत् जले तैलवत् । तत्रादौ वैराग्यम् । तत्र प्रमाणं श्रुतिः—न वाऽरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति इति ।

बृहदारण्यके 'त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः' । तत्रादौ शबलत्यागः ॥

विष्ठामूत्रं च दुर्गन्धि कृम्यगारं च नश्वरम् ।
तत्सौख्यमानिनो मूढा अहंममेतिगविताः ॥ १ ॥
कस्य माता पिता कस्य कस्य भ्राता सहोदरः ।
कस्य स्त्री कस्य पुत्रस्तु नराणां कर्मबन्धनम् ॥ २ ॥
जाया-पत्य-गृह-क्षेत्र-स्वजन-द्रविणादिषु ।
उदासीनसमं पश्येत्सर्वं व्यर्थमिवात्मनि ॥ ३ ॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षमी विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ ४ ॥
कायारण्यसमाविष्टो मनोव्याघ्रो महाबली ।
भक्षते सकलांल्लोकान्देवानुरगमानवान् ॥ ५ ॥
ज्ञानखड्गं दृढं कृत्वा वैराग्यं भूमिशोधनम् ।
दुर्लभो यस्य संग्रामो कोऽसौ शूरश्च आत्मवान् ॥ ६ ॥

अथ शुद्धत्यागः ।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥ ७ ॥

पदमिच्छसि ब्रह्मत्वं तदा विज्ञानतः शृणु ।
सर्वार्थेषु च वैराग्यं सर्वभूतेषु चात्मता ॥ ८ ॥
मुक्तिमिच्छसि चेत्त्वन्तु विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ ९ ॥
मनसा ध्यायते योगी कृपणस्तु धनं यथा ।
मनसा येन पीत्वा च तेन जित्वा जगत्त्रयम् ॥ १० ॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ११ ॥
अकिञ्चनश्च दान्तश्च शान्तश्च सममानसः ।
स लिङ्गानाश्रमं त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ १२ ॥
देहे च शृणु तं तात गुप्तप्रकटलक्षणम् ।
दशगुप्तकरं मोक्षद्वादशं सहजस्थितिः ॥ १३ ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेदङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १४ ॥
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ॥ १५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १६ ॥
निरालम्बपदं प्राप्य चित्ते तत्र लयं गते ।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः स योगी निर्गुणः परः ॥ १७ ॥
विषयेन्द्रिय–कारण–माकर्ष–चित्तविभ्रमः ।
यथा बहुसपत्नीनां लुठन्ति पतिमेकतः ॥ १८ ॥
साधु साधु शृणु स्वार्थमस्थियन्त्राच्च दूरतः ।
अस्य भागकृता लोके ममत्वं श्वानवत्कृतम् ॥ १९ ॥
शृणु तात द्वयं त्याज्यमाशा भेदस्तथैव च ।
आशया दीनतां कृत्वा भेदश्च भेदवर्धनम् ॥ २० ॥

रोदनहास्यकाऽऽननेन पिशाचस्थितिमाश्रयेत् ।
अस्य सङ्गं सदा त्यज्य भव चिन्मात्र सर्वदा ॥ २१ ॥
छायाकार्यं यथा नास्ति तथैवायं हि देहकः ।
तत्त्व गृहरसं त्यज्य परमां स्थितिमाश्रय ॥ २२ ॥
गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका ।
तृणं त्रिभुवनं राम वैराग्यालंकृता कृतिः ।
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥ २३ ॥

इति वैराग्यम् ॥

अथ भक्तिद्वारा चतुर्विधा मुक्तिः ।

वेदाक्षराणां सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते ॥
प्रथमं चित्तशुद्धिं च मानसं पूजनद्वयम् ।
तृतीयं च सदा ध्यानं व्यापकं च चतुर्थकम् ॥ १ ॥
पञ्चमं तु निरालम्बं मोक्षभूमिर्यथाक्रमम् ।
यत्नेन साधयेन्मर्त्यो तस्य मुक्तिर्न संशयः ॥ २ ॥
जपानुष्ठानयोर्द्वारा चित्तशुद्धिर्विधीयते ।
पञ्चाच्चतुर्विधा मुक्तिः शृणु साधु द्विजोत्तम ॥ ३ ॥
मानसे लोकसम्प्राप्तिस्तत्सदा च समीपता ।
तथा तस्य स्वरूपं च निरालम्बेन शाश्वतम् ॥ ४ ॥
ये ये यान् यान् यजन्देवांस्ते ते चत्वारमोक्षगाः ।
आत्मज्ञानं विना मोक्षो न भवेत्सच्चिदात्मनि ॥ ५ ॥

किन्तु—

मानसं नाम आसनस्थां सावयवमूर्त्तिं ध्यायेत् । निवातदीपवत्स्वस्थं यथाबुध्या षोडशोपचारैः पूजयेत् । तस्य गच्छतस्तिष्ठतश्च न समीपावभासः । स एव सर्वभूतस्थं स्वरूपं पश्यति । ततः सावकाशमिव भासते सा सायुज्यता ।

इति चतुर्विधा उपासना मुक्तिः ।

अथाद्वैतभक्तिः ।

सर्वेश्वरमयं भक्तिर्ज्ञानं चाभेददर्शनम् ।
निरपेक्षं च वैराग्यं मुक्तं निर्विषयं मनः ॥ १ ॥

किन्तु चाण्डालादिब्रह्मपर्यन्तं सर्वभूतेषु ईश्वररूपं भावयेत् । यथार्हं षोडशोपचारेण पूजयेत् । सा भक्तिः न तु प्रतिमा । ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं स्वशरीरवद्भेदं ज्ञात्वा तज्ज्ञानं परदेहाहिस्वदेहावयवमेकीकृत्य सर्वत्र एकमेव पिण्डमवधारयेत् ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तमिहामुत्र निराशा । मुक्तो नाम वृत्तिशून्यम् । तत्र प्रमाणम्—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि च भवत्यात्मलेषभागवतोत्तमः ॥ २ ॥
यदा भूतपृथक्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३ ॥
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मनस्तुष्टः स्वपतः स न खिद्यते ॥ ४ ॥

गीतासु ।

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं यद्धि जायते ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥ ५ ॥

इति अद्वैतभक्तिः ।

अथ विवेकज्ञाननिर्णयः ।

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयाशान्तिजनप्रियत्वम् ।
निर्लोभदाता भवमुक्तिहेतुर्ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणानि ॥ १ ॥
कर्म अध्यात्मतत्त्वं च ब्रह्मज्ञानमतः परम् ।
इन्द्रं चत्वारि वाच्यार्थमात्मलक्षं सुखावहम् ॥ २ ॥
कर्मज्ञानी भवेज्जीवः पुरुषोऽध्यात्मसंज्ञकः ।
ईश्वरस्तत्त्ववेत्ता च सर्वं ब्रह्मेति ब्रह्मता ॥ ३ ॥
वर्णाश्रमं च धर्मं च होत्रादिकर्मतत्पराः ।

भजनं सर्वभूतेषु ज्ञानं च कर्मसंज्ञितम् ॥ ४ ॥
वैराग्याध्यात्मशास्त्रं च यस्य माया विनिर्गता ।
जिज्ञासा मननाध्यासं ज्ञानमध्यात्मसंज्ञितम् ॥ ५ ॥
आलोक्य धर्मसांख्यादिधर्मकर्मक्रियाविधीः ।
तदर्थव्यतिरेकेण तत्त्वज्ञानं तदोच्यते ॥ ६ ॥
समाधिशब्दवाक्यार्थं ब्रह्माकारतया वृतिः ।
एकाकी निस्पृहः शान्तो ब्रह्मज्ञानं तदोच्यते ॥ ७ ॥
वाचो यस्मिन्निवर्तन्ते लिङ्गं गलितसर्वधीः ।
स्वयमेव स्वरूपस्थं खमिव स्वं विराजते ॥ ८ ॥
उक्ताचारविहीनस्य स्वबुद्धिर्वर्ततेऽखिलम् ।
द्रव्यादिविषयस्वार्थान्स जीवो नीचशब्दितः ॥ ९ ॥
सदाचाररतो नित्यं द्वन्द्वातीतश्च निस्पृहः ।
शुष्कश्चाप्यशनं चैव पुरुषस्तस्य उच्यते ॥ १० ॥
दण्डकाशायमात्रं च कामक्रोधविवर्जितः ।
भ्रमरीभुक्तसन्तोषमीश्वरस्तस्य उच्यते ॥ ११ ॥
दिग्वासं च स्वसंवेद्यमानन्दं स्वपरं न हि ।
पाणिपात्रे च यद्भुंक्ते स ब्रह्म राजते महीम् ॥ १२ ॥
देहान्तितं सदाकालं वर्णाश्रमविवर्जितम् ।
यत्कृतं तत्सदाचारमात्मारामो विराजते ॥ १३ ॥

इति ।

अथ धर्मशास्त्रे—

अनिष्टमिष्टमिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥
पशुमिश्रस्तथा ज्ञानी सिद्धज्ञेयं च पञ्चकम् ।
एतैर्लक्षणसंयुक्तं वृत्तिभेदेन कथ्यते ॥ १४ ॥
उक्त्वा उक्त्वा च कार्येण द्रव्यं च साधयेत्ततः ।
शिश्नोदररताः स्वार्थं सत्पशोर्लक्षणं स्मृतम् ॥ १५ ॥

युगाचारेण वर्तन्ते संमतं वर्णमाश्रमम् ।
आत्मस्वार्थं न जानाति स मिश्रं लक्षणं स्मृतम् ॥ १६ ॥
वेदशास्त्रार्थसर्वज्ञो उक्ताचारश्च तत्परः ।
यथोक्त्वा च वदेद्वाक्यं स ज्ञानी लक्षणोच्यते ॥ १७ ॥
कार्यं च अन्यथाकर्तुं यद्वक्तुं तत्तु साधयेत् ।
सञ्चितार्थान्वदेत्प्राज्ञः स सिद्धिर्लक्षणोच्यते ॥ १८ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वं विहाय विचरेन्महीम् ।
स्तुनादपी निकामी च आनन्दं ज्ञेयलक्षणम् ॥ १९ ॥

इति निर्वेदज्ञाननिर्णयः ।

देहवर्णाश्रया धर्मा कल्पनावेदनिर्मिताः ।
ता हि निर्मोकवत्त्याज्याः सोऽहमेको निरञ्जनः ॥ २० ॥
तस्माज्ज्ञानात्तु कैवल्यमित्यादिश्रुतेः ज्ञानाग्निदग्धकर्माणीति गीता ।
परोक्षं शास्त्रियज्ञानमपरोक्षं च शाश्वतम् ।
प्रथमं जन्मकर्माणि द्वितीयं सच्चिदात्मकम् ॥ २१ ॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारभूतं भूतेषु युज्यते ।
आत्मा च तत्र साक्षी च जगद्द्रष्टा च सूर्यवत् ॥ २२ ॥
भूतादिव्यक्तिरूपं च अचरं चरमेव च ।
तदिन्द्रजालवत्पश्येद्यथा नु वीचिवज्जगत् ॥ २३ ॥
कल्पनाबद्धजन्तुश्च सदा जल्पति दोषवत् ।
वपुर्नृत्यति रथ्यायां यावत्पतति भूतले ॥ २४ ॥
जनो बालपिशाचत्वं किं लज्जायोगिवृन्दिनाम् ।
जल्पन्ति विविधा वाचो किमर्थं सुखदुःखयोः ॥ २५ ॥
अस्ति भाति प्रियं स्थिरमस्थिरं नाम रूपकम् ।
चत्वार ईषणा त्याज्याः सोहमेको निरञ्जनः ॥ २६ ॥
मातृकाध्वनिरूपा च वर्तते विश्वमायया ।
जानीहि तत्र तन्नादं व्यर्थोऽर्थः प्रतिपाद्यते ॥ २७ ॥

अमनस्तु सदा देहो यथा ग्रामो विना जनात् ।
ब्रह्माद्योपि न कर्त्तव्यः स पशुश्चात्मघातकः ॥ २८ ॥
उत्तमा च लये लीना ध्यानधारणमध्यमाः ।
अधमा प्रतिमापूजा गीतनृत्यं धमोधमः ॥ २९ ॥
स्नानं मनो मलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ ३० ॥
स्थूलपेशिवत् प्रत्यक्षं लिङ्गं वन्ध्यं यथा स्त्रियः ।
मनसात्मैकरूपेण स्वयं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३१ ॥
श्रुतिस्मृत्यर्थपूर्णं च समाधेश्चित्तसौरसम् ।
यावद्देहाभिमानं च तावत्यो निष्फलाः क्रियाः ॥ ३२ ॥
संसारकर्म आसक्तो ब्रह्माहमिति मन्यते ।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टस्तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥ ३३ ॥
समाधेर्विक्षेपो यस्य नानायुक्तिप्रकारकः ।
यावद्देहलयं नैतावन्तो मोहकारकाः ॥ ३४ ॥
एकोसौ योगवासी च द्वयं ग्रामस्तथैव च ।
तृतीयं नगरं चैव मन्ये यद्वनवासिनाम् ॥ ३५ ॥
वेदशास्त्रपुराणानि नानायुक्ति च वल्गुना ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न तु साधनरूपका ॥ ३६ ॥
आलोड्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि सर्वदा ।
यो वै तत्त्वं न जानाति दर्वीपाकरसं यथा ॥ ३७ ॥
शब्दब्रह्मणि निष्णातो न्यायात्स परमे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलं ह्यधेनुरिव रक्षकः ॥ ३८ ॥
आकाशदर्पणे यस्मिन्यज्जगद्भासतेऽखिलम् ।
तत्सर्वं ब्रह्मरूपं च मायामयविचेष्टितम् ॥ ३९ ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ४० ॥

नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च ।
न मनो हन्त बुद्धिश्च नैव चित्तमहङ्कृतिः ॥ ४१ ॥
नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो न ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यशूद्रः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥४२॥
कार्यकारणचेष्टा च त्रिविधं कल्पनाकृतम् ।
मनोहङ्कारसंयुक्तं व्यर्थं च शब्दमालिका ॥ ४३ ॥
शब्दे शब्दस्य ज्ञानार्थं योगी वदति निस्पृहः ।
यथा वाद्येषु नादश्च पारतन्त्र्येण वर्तते ॥ ४४ ॥
योगी च सर्वकार्याणि वर्तते देहकर्मणि ।
कौमारं क्रीडनं चैव सर्वं मिथ्यैव कारणम् ॥ ४५ ॥
यद्यावत्क्रियते जन्तुः स्वगृहे राजते पुमान् ।
यो यो यस्य यथा भावस्तत्तत्तेषां च सौख्यता ॥ ४६ ॥
तत्कामोपचेष्टितम् सर्वं वृथा भवति आयतौ ॥
न चास्य क्रिया काचिन्नेह नानास्ति कर्हिचित् ॥ ४७ ॥
अहं चेष्ट इतो देहे सर्वकर्मसु चेष्टते ।
इति ज्ञानं विजानीयाद्यज्ज्ञानं स्मरणेन हि ॥ ४८ ॥
तडागः पूर्णतो येन यद्दातुं बलं राजते ।
किंचिच्छिद्रेण आद्यं च मनसात्मोदकक्रियाः ॥ ४९ ॥
बन्धं विहाय पूर्णानि कुर्वन्तु स्वस्थमानसम् ।
ये हि युक्ति सदाभ्यासात्स वै ज्ञानोत्तमोत्तमः ॥ ५० ॥
देहादिसर्वकर्माणि ज्ञानाज्ञानेषु ज्ञायसे ।
सोहं चिन्मात्ररूपेण जानीहि ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५१ ॥
अहं मूर्खमहं ज्ञाता यो धर्मः प्रतिपाद्यते ।
सोहं चिन्मात्ररूपेण जानीहि ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५२ ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि यस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ५३ ॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मण्याभाति चिन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥ ५४ ॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स सत्त्ववित् ॥ ५५ ॥
न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥ ५६ ॥
देहाभिमानगलिते विदिते च चिदात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥ ५७ ॥
आत्मैकभावनिष्ठस्य या या चेष्टास्तदर्चनम् ।
यो यो जल्पः स संमन्त्रस्तद्ध्यानं च निरीक्षणम् ॥ ५८ ॥
न संकल्पविकल्पस्य न लीनोपाधिवासनाः ।
निजस्वरूपे निर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥ ५९ ॥
देहादिसर्वेन्द्रियाणि सत्तामात्रेण चेष्टते ।
यथा दीपे प्रपञ्चस्य चुम्बकं लोहमेव च ॥ ६० ॥
देहद्वयं तथा नाम वर्णाश्रमा च व्यर्थता ।
महीआकाशब्रह्माहमलमेतत्समाधिना ॥ ६१ ॥
अव्यक्तस्य कथं ध्यानं व्यापकस्य विसर्जनम् ।
अमूर्तस्य कथं पूजा स्वयं ब्रह्म सनातनम् ॥ ६२ ॥
फलस्य कारणं पुष्पं फले पुष्पं विनश्यति ।
ज्ञानस्य कारणं कर्म ज्ञाने कर्म विनश्यति ॥ ६३ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥ ६४ ॥
भूतादिव्यक्तिरूपं च अचरं चरमेव च ।
तदिन्द्रजालवत्पश्येद्यथाम्बुवीचिवज्जगत् ॥ ६५ ॥
शब्दभागद्वयं कृत्वा व्यर्थो ज्ञानार्थयोगिनम् ।
कदाचिद्वक्तुं ज्ञानार्थं व्यर्थो वक्तुं न शक्यते ॥ ६६ ॥

गर्वं नो वहते न निन्दति परान्नो भाषते निष्ठुरं
प्रोक्तं केनचिदप्रियं च हसते क्रोधं च नालम्बते ।
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं सन्तिष्ठते मूकवद्-
दोषान्नाददते स्वयं न कुरुते चैतत्सतां लक्षणम् ॥ ६७ ॥
बीजमध्ये यथा वृक्षं वृक्षमध्ये च बीजता ।
व्याप्यव्यापकसर्वात्मा स पृथक् नैव दृश्यते ॥ ६८ ॥
एकात्मा सर्वभूतेषु बन्धमोक्षः कथं द्विधा ।
जन्मसंस्कारयोगेन भिन्नत्वं वर्त्तते सदा ॥ ६९ ॥
प्रतिबिम्बयथोपाधिं दीर्घन्तिर्यक् च वर्त्तुलम् ।
तस्माद्विलक्षणो जीवः कथमेकं भविष्यति ॥ ७० ॥
यथा योनिस्तथाचारपूर्वकर्म्मानुसारतः ।
तत्तज्ज्ञानाधिकारेण द्विविधा बन्धमोक्षयोः ॥ ७१ ॥
यथायमलमुत्पत्तिं प्रारब्धं विविधाकृतम् ।
तथैव सुखदुःखानि कथं भवति एकता ॥ ७२ ॥
द्रव्यं न भक्षयेत्प्राज्ञः स्वद्रव्यं नैव पोषयेत् ।
सन्तुष्टः सर्वदा नित्यं स नरो ज्ञानवान्भवेत् ॥ ७३ ॥
शरीरं नश्वरं सर्वं सम्बन्धः किन्तु शाश्वतः ।
वयसा सूत्रमार्गेण यथा स्थानेषु गच्छति ॥ ७४ ॥
यथा परगृहे वासो मार्गस्थं कुरुते सदा ।
तथैव सुखदुःखेन न स्पृशेत् ज्ञानिनो नरः ॥ ७५ ॥
नटी च नटनाट्यं च नानाक्रीडा च रञ्जनम् ।
अहं प्रत्ययजानाति तथैव ज्ञो सदा नरः ॥ ७६ ॥

इति ज्ञाननिर्णयः ।

अथ श्रोता उवाच ।

इदं किं दृश्यते केन कथं जातम् ?

तं होवाच—

प्रथम अनादिवस्तु चैतन्य आत्मा । तस्य स्फुरणं जातं स इमामेवात्मानं द्विधा पातयेत्ततः ।

पतिश्च पत्नी चाभवतामिति बृहदारण्ये ।

तत्त्वमसीति यस्मिन् त्रिपदानि भवन्ति । तत् त्वं असि ।

ब्रह्माहमस्मीति सकलब्रह्मान्तं निश्वसितम् । अथ तत्सर्वं त्वमेव । इदमाश्चर्यम् । तर्हि चित्त एकाग्रम् अतिसूक्ष्मतरं कुरु । परमार्थमित्युक्तम् । आत्मायं गुरुरचलधर्मव्यापकत्वादिति । अथ—

अन्धः पङ्गुरसङ्गे च सङ्गात्कर्म प्रतिष्ठितम् ।
यत्र पङ्गुस्वतन्त्रत्वं तत्रान्धो निःफलो भवेत् ॥ १ ॥
अन्धातीतं भवेत्पङ्गुरचलं च सनातनम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं भूतं यथाकाशं च दृश्यते ॥ २ ॥

किन्तु माया अन्धा अविवेकित्वात् । उभयोरेकीभूत्वा मिथ्या जीवेश्वरौ व्याजेनापि ब्रह्माण्डयोः । सृष्टिनिर्मिताः ।

तस्मान्मायापरित्यागेन स्वयमेव चिदाकाशे च वर्तते ।

तत्र प्रमाणं श्रुतिः । आकाश आत्मा खं ब्रह्म ।

अथ जीवेश्वरयोर्लक्षणम् । तत्र प्रमाणं श्रुतिः । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति । अथ वेदेति । कार्योपाधिचैतन्यं जीवशब्दवाच्यम् । कारणोपाधिचैतन्यम् ईश्वरशब्दवाच्यम् ।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधो विधीयते ॥ ३ ॥

तत्र कार्यं नाम अहङ्कारादिसृष्टिव्यापारः कारणं नाम साक्षी ह्यन्तःस्फुरणम् । इति वेदान्ते ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥ ४ ॥

इति ईश्वरः ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ १ ॥

इति जीवः ।

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो मुखत्वात्पृथक् ते न हि वाऽस्ति वस्तु ॥
चिदाभासकोधीशजीवोपि तद्वत् स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१॥

इति हस्तामले । सलिल एको इष्टाद्वैतो भवति ।

इति बृहदारण्ये । तथाबिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन जीवेश्वरौ कल्पितौ । तज्जीवस्य मोक्षसाधनमाह कर्मपरं अहरहः सन्ध्यामुपासिता यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् । ज्योतिष्टोमौ स्वर्गकामो यजेत । ॐमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति ।

इति कर्म ।

अथ ज्ञानपरम् । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।

प्रथममायाशबलसृष्ट्यादिपुत्रकलत्रद्रव्याद्विलक्षणः । द्वितीयं स्थूलसूक्ष्मादिशरीरस्य विलक्षणम् । तृतीयं केवलमोक्षसङ्कल्पः । यथा शुकनालकान्यायेन मिथ्यारज्जुसर्प्पे भ्रममाणे सति तस्य मोक्षसाधनमाह । तत्र जीवस्वरूपं लक्षणं दृष्टिसम्बन्धेन सूर्यप्रभया प्रतिभाति तद्वासना महद्धृदि ग्रन्थिः ।

इति जीवलक्षणम् ।

जीवस्य मोक्षकामाय त्रिवर्गं च पुरा कृतम् ।
कर्म पातञ्जलिं साङ्ख्यं तत्समासेन कथ्यते ॥ १ ॥
पञ्चभूतात्मिका पूजा विधिरेष समाश्रृणु ।
त्रयं कर्म पूजायोग्यं वा यो पातञ्जले स्मृतः ॥ २ ॥
द्वयं देहाभिमानेन एकं नाहं च सांख्यता ।
अहं नाहं द्वयं शब्दबन्धमोक्षं च कारकम् ॥ ३ ॥

तथा च श्रुतिः । अथातो धर्म जिज्ञासा । अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

पूर्वपूर्वश्रुतियुक्त्यानुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यानुभवाभासबोधदर्शनात् ।

सामान्यशास्त्रं स्यान्न्यूनं विशेषो बलवान्भवेत् ।
परेण पूर्ववाधो वा प्रायशो दृश्यतामिह ॥ ४ ॥

इति वेदान्ते कर्मपरम् । ज्ञानादेव तु कैवल्यमित्यादिश्रुतेः ।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि ।
उदराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

इति ज्ञानपरम् ।

अथ वेदोक्तकर्मयोगः ।

वर्णाश्रमं च धर्मं च वेदादिविधिपूर्वकम् ।
तच्च साध्यमसाध्यं वा जन्मकर्मफलप्रदम् ॥ १ ॥
ज्योतिष्टोमे भवेत्सर्गः श्रोता स्यादिति कर्मणि ।
निषेधविधिनिघ्नानि न भवन्मोक्षसिद्धिदम् ॥ २ ॥
जपानुष्ठानयोर्द्वारा देवतानुग्रहो भवेत् ।
तत्सकाशाद् भवेत् सिद्धिश्चैतन्योपाधिवर्जिता ॥ ३ ॥

तत्र भूतपूजा । पार्थिवस्थावरादितीर्थयात्रा अग्निहोत्रज्वालामुखीयागादि । आपः गङ्गायाः नैमिषारण्यादिजलपूजा । तथा च—

संहिता ब्राह्मणारण्यं द्वन्द्वदीक्षा निघण्टकम् ।
ज्योतिषं च निरुक्तं च दशग्रन्थानि सूत्रकम् ॥ ४ ॥
एकया लिङ्गग्रन्थ्या च बद्ध्यते सकलं जगत् ।
दशग्रन्थ्या यदा बद्धो तस्य मुक्तिः कथं भवेत् ॥ ५ ॥
एवं पठति वेदानां हङ्कारं पिण्डपोषणम्(?) ।
एतज्ज्ञानपरं ज्ञात्वा स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ६ ॥

किन्तु—

संहिता कार्यच्छन्दं च दृश्यब्रह्मेति ब्राह्मणम् ।

नभमारण्यमाश्रित्य छन्दम्ब्रह्मास्मि वाक्यता(?) ॥ ७ ॥
मन आदिरोधनं शिक्षा निघण्टं वृत्तिधारणम् ।
विवेकं ज्योतिषं चैव ममेदं सूर्यमुच्यते ॥ ८ ॥
निरुक्तं संशयच्छेद्यं सूत्रपाठं च ज्ञानधीः ।
अन्नोपाधिश्च वेदाद्या यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ९ ॥

अस्यार्थः । संहिता नाम स्वहितम् । कार्यकारणातीतं न तु कर्मचोदना । ब्राह्मणं नाम सर्वस्वं ब्रह्मैव न तु यागादि । आरण्यं नाम नभलक्ष्यं न तु आरण्यरोदनम् । छन्दो नाम ब्रह्मास्मीति स्मरणं न तु पिशाचवच्छलनम् । शिक्षा नाम शासनं मन आदिधारणा न तु पाठः निघण्टं नाम काठिन्यं वृत्तिसावधानता न तु देशान्तरम् । ज्योतिषं नाम विवेकता न तु गणकादिव्यापारः । सूत्रं नाम अभेदानुसन्धानं न तु कर्मप्रेरणा । निरुक्तं नाम संशयच्छेद्यं न तु वेदार्थप्रौढिः । सूत्रपाठं नाम ज्ञानदृष्टिः । न तु व्याकरणबलम् ।

एतज् ज्ञानं परं ज्ञानमन्यत् संसारपोषणम् ।

इति वेदोक्तकर्मयोगः । प्रमाणं वेदाक्षराणां सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुत इति श्रुतेः ॥

अथ पातञ्जलहठयोगः ।

अथ पातञ्जलयोगं कथयत्यङ्गानि वै क्रमात् ।
देहसाध्यं भवेन्मोक्षं तज्ज्ञानं साधनं शृणु ॥ १ ॥

तत्र हंसोपनिषदि—गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धे प्राणान्निरुद्ध्य आज्ञामनु ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायेत् । तत्र नादमनुभवति चिणिति प्रथमः १ चिणिचिणि २ घण्टा ३ शङ्ख ४ तन्त्री ५ ताल ६ वेणु ७ भेरि ८ मृदङ्ग ९ मेघ १० नवमं त्याज्यं दशममभ्यसेत् । तस्मान्मनो विलीनं भवति । यस्य मनसि विष्टना मनसोऽन्तरायं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरो यमयति ।

चक्रं सप्त त्रिकूटं च श्रीहठं गोहठं तथा ।
भ्रूवोर्गुम्फा ब्रह्मरन्ध्रं सूलो यानं जलन्धरम् ॥ १ ॥
टाली लोली तथा धोती लम्बिकाशोधनं क्रमात् ।
खेचरी भूचरी चैव महाकाष्ठा तथैव च ॥ २ ॥
उद्गानं लोपनं चैव गाठनं चावकाशकम् ।
इडापिङ्गलयोर्नामान्यष्टाविंशत्यनुक्रमात् ॥ ३ ॥
प्रणवं व्याहरन् जाप्यं सोहं यामं मतान्तरे ।
अस्य कर्ता भवेज्जीवो देहभाजनसम्मतम् ।
साधनेन भवेत्सिद्धिरहं ब्रह्मोऽभिजायते ॥ ४ ॥
अणिमादि भवेत्तेषां भूतं भविष्यं वर्तमानम् ।
वाचां सिद्धिर्मृतं मोक्षं देहसङ्गेन मानिता ॥ ५ ॥
यथा प्रेते क्षमा लिङ्गं तत्सकाशाच्च सौख्यता ।
तथा देहसमीरेण अहं ममेति मानिता ॥ ६ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे गते प्राणे ह्यहं मोक्षोऽपि जायते ।
यथा दग्धगृहस्वामी पलायन् सौख्यमानिता ॥ ७ ॥
पुनरहङ्कृतो वासो वासना जन्मदायिनी ।
तथा देहगतो मोक्षो बुद्धिरभ्रकसंमता ॥ ८ ॥

तत्र गीता—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ ९ ॥

द्रष्टा दृश्यं यदा वर्त्ते देहे सङ्गेन मोक्षकः(?) ।
आत्मा देही कथं कृत्वा सर्वव्यापिविलक्षणः ॥ १० ॥
तस्मादुन्मीलद्योगी च विकलः कौलशिक्षया ।
समाभ्युत्थानमन्यानि देहसङ्गेन व्यर्थता ॥ ११ ॥
आत्मा प्रज्ञानमानन्दनित्यशुद्धनिरामयः ।
विचरेज्ज्ञप्तिमात्रेण देहातीतं च सर्वदा ॥ १२ ॥

यावद्देहाभिमानं च यावत्सिद्धिः प्रवर्त्तते ।
तावज्जन्यानदानं च भवेत्कर्मानुसारतः ॥ १३ ॥

तत्र निषेधार्थश्रुतिः—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः इति श्रुतेः । आब्रह्मभुवनाल्लोकात् इति गीतासु ।

इष्टादर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
तस्माद्विलक्षणं ह्यात्मा ह्यपरोक्षे भवेत्स्वयम् ॥ १ ॥
यावन्न ज्ञायते आत्मा कर्तृलाभलवं मुनिः ।
तावत्सर्वं भवेद्व्यर्थं यथा वन्ध्या विभूषिता ॥ २ ॥

इति कर्मपरः । परन्तु अनर्थकारी देहनाशकारी । तस्माज्ज्ञानाय साधयेत् । तत्र चक्रं आधारं नाम देहम् ॥ १ ॥ स्वाधिष्ठानं सात्त्विकमहङ्कारः ॥ २ ॥ मणिपुरं बुद्धिः ॥ ३ ॥ अनाहतं सदाचारः ॥ ४ ॥ विशुद्धं गुहभक्तिः ॥ ५ ॥ आज्ञाचक्रे ज्ञाने सावधानता ॥ ६ ॥ सहस्रदलं तुर्या ॥ ७ ॥ त्रिकूटं गुणरहितम् ॥ ८ ॥ श्रीहठं मायारहितम् ॥ ९ ॥ गोहठमविद्यातिरस्कारः ॥ १० ॥ भ्रुवोर्गुम्फा कामनाशून्यम् ॥ ११ ॥ ब्रह्मरन्ध्रं मनोलयः ॥ १२ ॥ मूलबन्धमिन्द्रियनिग्रहः ॥ १३ ॥ यानं विषयनिरासः ॥ १४ ॥ जालन्धरं स्वपररहितम् ॥ १५ ॥ टाली पदार्थवार्ताशून्यम् ॥ १६ ॥ लोली युक्ताहारः ॥ १७ ॥ धोती सर्वजलेष्वैक्यम् ॥ १८ ॥ लम्बिका स्तुतिनिन्दारहितम् ॥ १९ ॥ खेचरी अवकाशे दृष्टिः ॥ २० ॥ भूचरी युग्ममात्रमवलोकनम् ॥ २१ ॥ महाकाष्ठा सर्वं ब्रह्मेतिनिश्चयः ॥ २२ ॥ उद्दानमनिकेतम् ॥ २३ लोपनं कार्यातीतम् ॥ २४ ॥ गाठनं देहदुःखसहनम् ॥ २५ ॥ अवकाशं देहातीतम् ॥ २६ ॥ इडा पिङ्गलयोर्नाम ॥ २७ ॥ प्रपञ्चबुद्धिरहितम् ॥ २८ ॥

एवन्तु साधयेत्प्राज्ञो न तु देहविडम्बनम् ।
देहाद्विलक्षणं आत्मा वृथा भ्रमन्ति मानवाः ॥

इति पातञ्जलहठयोगः ॥

अथ साङ्ख्यराजयोगः ।

विना साङ्ख्येन प्रत्यक्षं न भवेदात्मयोगिनाम्(१) ।
देहः कञ्चुकवत्त्याज्यः स्वस्वं खमिव राजते ॥ १ ॥
यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सर्वे घूर्णिपराः प्रपञ्चविकलाः सांख्यात्परं नान्यथा ॥ २ ॥
सांख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं पञ्चविंशतिः ।
इति श्रुतिर्वदेद्वाक्यं वेदान्तैः सद्भिरुच्यते ॥ ३ ॥
आकाशपूरकं सांख्यं योगः समीरपूरकः ।
देहाद्विलक्षणं आत्मा तस्मात्सांख्यं समभ्यसेत् ॥ ४ ॥
प्रलयः सर्वतद्वाचामात्मनो व्यतिरेकता(१) ।
स सांख्ययोगसंज्ञा च इतरं भ्रामिकं मतम् ॥ ५ ॥
सर्वाद्विलक्षणोह्यात्मा एकमनेकरूपिणम् ।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अलं ततः परं भवेत्(१) ॥ ६ ॥

इति सांख्ययोगः ।

अथ देहलक्षणम्—

भोगरोगं तथा मलं निधनं क्षेत्रगामिता ।
प्रारब्धमनुवर्त्तन्ते यथा तद्वै विनिश्चितम् ॥ १ ॥
पञ्चतन्मात्रभूतानि प्रत्यक्षमखिलं जगत् ।
प्रकृतिर्गुणकर्माणि वर्त्तन्ते चित्प्रकाशतः ॥ २ ॥
मनोत्थाय यदा देहे तत्कर्म जीवसंज्ञकम् ।
देहेन मनमुत्थाय तत्कर्म देहसंज्ञितम्(१) ॥ ३ ॥

भक्ष्यभक्ष्यकभावं च भूतं भूतेषु युज्यते ।
तदर्थं शृणु मे वत्स पञ्चभूतान्यनुक्रमात् ॥ ४ ॥
आपः पृथिवी भक्ष्यं च वायुरग्निश्च भक्षकः ।
तत्राकाशमावपनं सत्ता चिन्मात्रसंज्ञिता ॥ ५ ॥
क्षुत्पिपासाविसर्गं च देहे कर्माणि केवलम् ।
अन्यत्कार्याणि कर्माणि वेदसंज्ञा विधीयते ॥ ६ ॥
धैर्यं समरसश्चैव सर्वभक्षस्य निस्पृहः ।
अखण्डपञ्चभूतानि लक्षणैर्देह उच्यते ॥ ७ ॥

तत्राहमन्तःकरणं भोक्ता, भोक्ता नाम साक्षित्वम् इन्द्रियाणां भोगसाधनता नाम रसपरीक्षा पञ्चभूतानां भोग्यं नाम स्थूलकृशादि-द्रव्यगुणाः । यथा भवन्ति तथा । तत्र प्रमाणं श्रुतिः—ताभ्यः पुरुष-मानयत्ता अब्रुवन्पुरुषं स्तुतेति पुरुषो वा वसु कृतं यथायतनं प्रविशामि क्षुत्पिपासे भवतेति श्रुतेः माताबालकन्यायेन तत्र गीतासु—

इदं शरीरं कौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ ८ ॥

इति सांख्यपरिभाषा[1] ॥

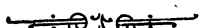

---

१. सांख्यपरिभाषाग्रन्थस्य एकमेवादर्शपुस्तकं प्राप्तमपि च ग्रन्थकृता ग्रन्थप्रारम्भे—

विभक्तिमत्र यो पश्येत्तस्य ज्ञानं च दूरतः ।
गुरुयुक्त्या प्रसादेन ग्रन्थगर्भावलोकनम् ॥

इति प्रतिज्ञातत्वादस्य मुद्रणे कारिते बहुषु स्थलेषु अगत्याऽशुद्धिरस्ति किन्तु ग्रन्थार्थरक्षार्थं न तन्निरासेऽस्माभिर्दृष्टिपातः कृतः । ग्रन्थोऽपि खण्डित इवाभाति ।

सांख्य-योग दर्शनों में मान्य मानसिक तत्त्वों

का

आलोचनात्मक अध्ययन

[A Critical Study of Psychic Elements in the Systems of Sankhya and Yoga]

●

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्त्री

श्रीमती आशा टन्डन

●

निर्देशक

डा० आद्याप्रसाद मिश्र

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

विक्रमाब्द २०२९

(जून, १९७२ ई०)

श्रावण शुक्ल द्वादशी

संस्कृत विभाग

प्रयाग विश्व विद्यालय

प्रयाग

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है --'सांख्ययोग दर्शनों में मान्य मानसिक तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन' । एक भगवत्प्रिय और ईश्वरप्रेमी परिवार में जन्म लेने के कारण बाल्यावस्था से ही मुझे विविध महात्माओं के मुख से आत्मा सम्बन्धी विचारों के श्रवण का सौभाग्य समय-समय पर प्राप्त होता रहा, फलस्वरूप मन में आत्मा के यथार्थज्ञान की जिज्ञासा बढ़ती गई । आत्म-तत्त्व या स्वतत्त्व का ज्ञान दर्शन के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि दर्शन का अर्थ ही है --'दृश्यते तत्त्वत: ज्ञायते आत्मादितत्त्व-मनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सके, वही दर्शन है । अत: अपनी इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए बी० ए० में दर्शन विषय का वरण किया, यद्यपि दर्शन के साथ-साथ मैंने संस्कृत का भी अध्ययन सम्यक् प्रकार से किया, क्योंकि इसी के माध्यम से हमें अपनी पुरानी संस्कृति का ज्ञान सम्भव है । अत: संस्कृत भी मेरा एक विषय रहा । इसप्रकार बी०ए० में भारतीय दर्शन का अध्ययन करने से मेरी जिज्ञासा का कुछ समाधान हो पाया ।

उपर्युक्त जिज्ञासा की पूर्ण निवृत्ति पौराणिक ग्रन्थों या भारतीय दर्शन के मूलग्रन्थों के अध्ययन के बिना असम्भव है और ये ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध हैं । अत: हमने एम०ए० कक्षा में संस्कृत

विषय ही लिया और प्रमुख दर्शनों, सांख्य, योग, न्याय, वेदान्तादि का अध्ययन करने से आत्म तत्त्व का कुछ ज्ञान हो सका । दर्शनवर्ग से एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् शोध-विषय के चयन का प्रश्न सामने आया ।

साधारणत: भारतीय दर्शन के विषय में ऐसा विचार प्रचलित रहा है कि यह विद्या अध्यात्मविद्या ही है, मनोविज्ञान का उसमें कोई स्थान नहीं तथा मन का उसमें कोई उल्लेख न हुआ परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा का ज्ञान था, परन्तु साथ ही इस दर्शन में मन तत्त्व पर भी विस्तृत विवेचन हुआ है । मन के विभिन्न कार्यों अर्थात् विभिन्न मानसिक वृत्तियों पर भी भारतीय दार्शनिकों ने पूर्ण विचार किया है । अत: लोक में प्रचलित उपर्युक्त धारणा की निवृत्ति के लिए और भारतीय दर्शन की व्यापकता के प्रदर्शन के लिए ही मेरे पूज्य गुरुवर्य ने मुझे प्रस्तुत विषय पर शोध करने की अनुमति दी । यद्यपि भारतीय सभी दार्शनिकों ने मन या चित्त पर विचार प्रस्तुत किए हैं, अत: मन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, परन्तु शोध का विषय इतना व्यापक नहीं हो सकता, उसे कुछ सीमित ही होना चाहिए और साथ ही मन का विस्तृत अध्ययन 'Concept of mind in Indian Philosophy.' विषय के अन्तर्गत इसी विश्वविद्यालय में हो रहा है, अत: मैंने केवल सांख्य योग दर्शनों (संयुक्त शास्त्रों) में मान्य मन की क्रियाओं को ही अनुसन्धान का विषय बनाया । मैं इस प्रयत्न में कहां तक सफल हो सकी, यह विद्वज्जन ही स्थिर कर सकेंगे ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में छ: अध्याय हैं । इन सभी से पूर्व एक विषय-प्रवेश है, जिसमें मानसिक तत्त्वों पर विचार प्रस्तुत किया

गया है । प्रथम अध्याय में सांख्य योगाभिमत सभी प्रमेयों या तत्त्वों के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार करते हुए मन: तत्त्वों पर विशेष विचार किया गया है । द्वितीय अध्याय में इन तत्त्वों के सृष्टिक्रम और सृष्टि के प्रयोजन आदि का उल्लेख किया गया है । तृतीय अध्याय में इन सभी मानसिक तत्त्वों के सामान्या-सामान्यादि व्यापारों या क्रियाओं पर विशद् विवेचन हुआ है । चतुर्थ अध्याय में चित्त की विशिष्ट वृत्तियों पर व्यापारों पर विचार किया गया है । पंचम अध्याय चित्तवृत्तियों के निरोध के विविध उपायों का वर्णन करता है । षष्ठ अध्याय में वृत्तिनिरोध के पश्चात् चित्त की स्थिति किस प्रकार की होती है, इसका उल्लेख किया गया है । इन सभी के पश्चात् अन्त में अर्थात् उपसंहार रूप में उस परम पुरुषार्थ को स्पष्ट किया गया है, जिसकी प्राप्ति के लिए मानव को जन्म-जन्मान्तरों तक तपस्याएं, और प्रयत्न करने पड़ते हैं, वह है कैवल्य या मोक्ष ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सफल सम्पादन का श्रेय मेरे पूज्यगुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र को ही है, जिनका पर्याप्त निर्देशन मुझे यथावसर प्राप्त होता रहा । अत: हम इनकी महती अनुकम्पा के प्रति अत्यन्त आभारी हैं । हम उन सभी गुरुजनों के ऋणों से मुक्त नहीं हो सकते, जिन्होंने दर्शनादि का अध्यापन कर मुझे इस कार्य के योग्य बनाया ।

हम अपने पारिवारिक सदस्यों और विशेषकर अपने पूज्य पिता जी श्री मौतीलाल के विशेष आभारी हैं, जिनकी असीम उत्साह और प्रबल अभिलाषा ने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया । साथ ही अपने पतिदेव श्री भगवान्नारायण जी टण्डन के विशेष कृतज्ञ हैं, जिन्होंने विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी मुझे इस कार्य की पूर्ति में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है ।

अन्त में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकक श्री रामहित त्रिपाठी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं अपना कथन समाप्त करती हूं । प्रस्तुत प्रबन्ध जिस रूप में भी है, विद्वद्वर्ग के समक्ष मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत है ।

-०-

श्रीमती आशा टण्डन

जून, १९७९ई०
श्रावण शुक्ल तृतीया

(श्रीमती आशा टण्डन)

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठसंख्या
भूमिका	
विषय-प्रवेश	१-७
प्रथम अध्याय : योगाभिमत प्रमेयों का निरूपण	८-४०
सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश	
(क) अव्यक्त का स्वरूप	
(ख) महत् तत्त्व का स्वरूप	
(ग) व्यक्त तत्त्वों का स्वरूप	
महत्	
अहंकार	
इन्द्रिय	
तन्मात्र और पंचमहाभूत	
(घ) एक अन्य तत्त्व ईश्वर	
योगदर्शन में ईश्वर का स्थान	
द्वितीय अध्याय : प्रमेयों की सृष्ट्यादिविषयक विचार	४१-७२
(क) आचार्य कपिलदेव और पतंजलि का सृष्टिविषयक मत	
सृष्टि का कारण और प्रयोजन	
(क) सृष्टि का प्रयोजन	
(ख) सृष्टि का कारण	
(ग) सृष्टि के अन्य कारण	
सृष्टि की निवृत्ति	
इन्द्रियों की उत्पत्ति	
(क) उत्पत्तिविषयक आचार्य कपिल और पतंजलि का मत	
(ख) सूत्र के वृत्तिकारों का एतद्विषयक मतभेद	
(ग) कारिकाकार और टीकाकारों का विज्ञानभिक्षु से मतभेद	
त्रयोदश करणों में बुद्धि का प्राधान्य	

विषय पृष्ठसंख्या

(क) करण का स्वरूप और प्रकार

(ख) बाह्यकरणों की अपेक्षा अन्तःकरणों का प्राधान्य

(ग) अन्तःकरणों में बुद्धि का प्राधान्य

तृतीय अध्याय : त्रयोदश करणों के कार्य

त्रयोदश करणों के सामान्य व्यापार

(क) करणों की सामान्यवृत्तिविषयक आचार्यों का विचार

(ख) वृत्तिकारों के अनुसार पंचवायु अन्तःकरणमात्र की वृत्ति

(ग) अन्याचार्यों के अनुसार पंचवायु करणसामान्य की वृत्ति

त्रयोदश करणों के असमान व्यापार

(क) पंच ज्ञानेन्द्रियों के असमान कार्य

(ख) पंच कर्मेन्द्रियों के असमान कार्य

(ग) महदहंकार और मन के असमान कार्य

करणों के युगपद् और क्रमिक व्यापार

(क) युत पद्वृत्तिविषयक सूत्रकार और अनिरुद्ध के मत

(ख) विज्ञानभिक्षु द्वारा अनिरुद्ध का खण्डन और स्वमतस्थापन

(ग) अन्याचार्यों का एतद्विषयक मत

विषय — पृष्ठसंख्या

(घ) दृष्टादृष्ट विषयों में करणों की द्विविध वृत्ति

(ङ०)करण व्यापारों का आश्रय

करणों के अन्य कार्य और विषय

(क) करणों की वृत्तियां आहरण धारणादि

(ख) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विशेषाविशेषविषय

(ग) त्रयोविध करणों के त्रिविध विषय

(घ) महत्त्व के कार्य धर्माधर्मादि

(ङ०) प्रमाणों में करणों का व्यापार

(च) समाधि, सुषुप्ति और मोक्षावस्था में चित्त के व्यापार

चतुर्थ अध्याय : चित्त की विशिष्ट वृत्तियां — १०६–१५७

चित्तवृत्ति क्या है ?

वृत्तियों के प्रकार

प्रमाणवृत्ति

(क) प्रमाणवृत्ति क्या है ?

(ख) प्रमाण के प्रकार

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण

(घ) योगाचार्यों का एतद्विषयक मत

(ङ०)अनुमान प्रमाण

(च) योगदार्शनिकों का एतद्विषयक मत

विषय	पृष्ठसंख्या
(ङ) अनुमान के प्रकार	
(ज) आप्त वचन	
(झ) योगाचार्यों का एतद्विषयक मत	
(ट) अन्य प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव	
विपर्यय -वृत्ति	
विपर्यय के प्रकार	
विकल्प वृत्ति	
विकल्प के प्रकार	
निद्रावृत्ति	
स्मृति वृत्ति	
स्मृति के प्रकार	
चित्त की अवस्था वृत्तियां	
चित्त के त्रिविध व्यवसाय	
पंचम अध्याय : चित्तवृत्ति और उनके उपाय	१५८-२०८
वृत्तिनिरोध के उपाय	
(क) अभ्यास	
(ख) वैराग्य का स्वरूप और प्रकार	
अपर वैराग्य	
पर वैराग्य	
वृत्तिनिरोध के अन्य उपाय	
(क) क्रियायोग	
(ख) अष्टांग योग	
यम	
नियम	
आसन	
प्राणायाम--प्राणायाम के प्रकार, रेचकादि	

विषय	पृष्ठसंख्या
प्रत्याहार	
धारणा	
ध्यान	
समाधि	
(ग) स्वकर्म	
निरोधकालिक चित्तविक्षेप और उनका प्रशमन	
(क) चित्तविक्षेप क्या है ?	
(ख) चित्तविक्षेप के प्रकार	
व्याधि	
स्त्यान	
संशय	
प्रमाद	
आलस्य	
अविरति	
भ्रान्तिदर्शन	
अलब्धभूमिकत्व	
अनवस्थितत्व	
दुःख	
दौर्मनस्य	
अंगमेजयत्व	
श्वास	
प्रश्वास	
(ग) चित्तविक्षेपों के प्रशमन के उपाय	
(घ) चित्त के अन्य परिकर्म	
षष्ठ अध्याय : वृत्ति-निरोध के फल	२०६–२४६
(क) चित्त के तीन परिणाम	
(ख) परिणामों के प्रकार	

विषय	पृष्ठसंख्या
चित्त का निरोध परिणाम	
चित्त का समाधि परिणाम	
चित्त का एकाग्रता परिणाम	
(ग) भूतेन्द्रियों के धर्मादि परिणाम	
विवेकज्ञान	
(क) विवेकज्ञान के फल	
(ख) संप्रज्ञात योग	
(ग) संप्रज्ञात योग के प्रकार	
वितर्कानुगत	
विचारानुगत	
आनन्दानुगत	
अस्मितानुगत	
(घ) धर्ममेघ समाधि	
(ङ०) असंप्रज्ञात योग	
(च) असंप्रज्ञात योग के प्रकार	
भवप्रत्यय असंप्रज्ञात योग	
विदेह	
प्रकृतिलीन	
उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात योग	
समापत्ति	
(क) सवितर्का समापत्ति	
(ख) निर्वितर्का समापत्ति	
(ग) सविचारा और निर्विचारा समापत्तियां	
वृत्तिनिरोध के अन्य फल	
उपसंहार	२५०-२६७
योगापन्न चित्त की विभूतियां	
केवल्य	
सहायक ग्रन्थ सूची	

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत विषय 'सांख्ययोग दर्शनों में मान्य मानसिक (आन्तरिक) तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन' में सांख्य योग दार्शनिकों को अभिमत मनस् तत्त्वों या मन: सम्बन्धी तत्त्वों की सीमा समीक्षा प्रस्तुत की जायगी। मानसिक तत्त्व के अन्तर्गत कौन-कौन तत्त्व आते हैं, यह निश्चय करना आवश्यक है । मनस् वस्तुत: मनोविज्ञान का विषय है । मनोविज्ञान का अर्थ है -- मन का विज्ञान । मनोविज्ञान को साइकालोजी (Psychology) भी कहते हैं-- यह शब्द ग्रीक शब्द 'Psyche' और 'Logos' से मिलकर बना है-- Psyche का अर्थ है-- आत्मा या मन और Logos का अर्थ है ज्ञान या विचार । अत: मनोविज्ञान का अर्थ है-- आत्मा या मन का ज्ञान । परन्तु आगे चलकर यह शब्द बहुत संकुचित हो गया और मनोविज्ञान का अर्थ मानसिक ज्ञानमात्र रह गया ।अत: आचार्यों ने मनोविज्ञान का ऐसा ही अर्थ किया -- 'Psychology deals with the phenomena of mind. It is the science of mind or mental processes.' [1] निरंजन कुमार भी ऐसा ही लक्षण कहते हैं--'मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है, जिसमें मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है[2]।' अत: जिस विधा के द्वारा मन की विभिन्न क्रियाओं, व्यवहारादि पर विचार किया जाता है, वही मनोविज्ञान है ।

---

१ 'मेनुअल आफ साइकालोजी', पृ०२

२ शिक्षा-मनोविज्ञान, पृ०१

अब प्रश्न यह है कि मन से यहां मनोवैज्ञानिकों का क्या अभिप्राय है ? मनोवैज्ञानिकों ने इस पद पर भी प्रकाश नहीं डाला, परन्तु सामान्यत: वे मन से अन्तरिन्द्रिय मन (Mind) का ही ग्रहण करते हैं । हां, विभिन्न दार्शनिकों में इस विषय में मतभेद है । मन एक अन्तरिन्द्रिय है,अत: मन से अभिप्राय अन्त: तत्त्वों से है । इसलिए प्रस्तुत विषय में मन सम्बन्धी या यह कहिए कि सभी अन्त: तत्त्वों या करणों पर विचार होगा । परन्तु जहां तक अन्त:करणों की संख्या का प्रसंग है, विभिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न मत स्वीकार करते हैं । नैयायिकों को एक ही मन रूप अन्त:करण मान्य है । इनसे भिन्न वेदान्ती चतुर्विधान्त: करणों को स्वीकार करते हैं, यद्यपि इनमें से दो का अन्य दो में अन्तर्भाव भी उन्हें अभिमत है । ये चार हैं-- चित्त,अहंकार,बुद्धि और मन । उनके अनुसार इनमें से चित्त और अहंकार का बुद्धि और मन में अन्तर्भाव होता है । अत: मुख्यत: दो ही अन्त:करण हैं-- बुद्धि और मन । जैसा कि वेदान्तसार की इन पंक्तियों से स्पष्ट है --`बुद्धिर्नाम निश्चयात्मकान्त: करणवृत्ति: । मनो नामसंकल्पविकल्पात्मिाऽन्त:करणवृत्ति: । अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भाव:` [१] ।

उपर्युक्त दोनों से भिन्न सांख्यदार्शनिकों को त्रिविधान्त:करण ही अभीष्ट है -- बुद्धि,अहंकार और मन । योग दर्शन सांख्य का समानतन्त्र होने पर भी चार अन्त:करण मानते हैं । उन्हें इन तीनों के अतिरिक्त एक चित्त भी अन्त:करण रूप से मान्य है । भिन्नता केवल इतनी ही है कि सांख्यदार्शनिक चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव मानते हैं । अत: सांख्यदर्शन में बुद्धि का ही प्राधान्य है । अत: प्रमाणादि को भी इस दर्शन में `बुद्धिवृत्य:` पद से कहा गया है । बुद्धि का प्राधान्य सांख्यदर्शन में अनेकश: वर्णित है, इसका उल्लेख प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जायगा ।

---

१ वेदान्त सार,पृ०३६

योग में चित्त ही प्रधान है, योगभाष्य और वृत्तियों में प्राय: चित्त का ही प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं चित्त का प्रयोग सभी अन्त:करणों के लिए अथवा अन्त:करणसामान्य के लिए,कहीं केवल बुद्धि के लिए और कहीं-कहीं केवल मन के लिए ही हुआ है । जैसे--`चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन....स्वामिन:` यहां चित्त का प्रयोग बुद्धि के अर्थ में हुआ है । इसी प्रकार प्रमाणों के प्रसंग में भी अनेकश: बुद्धि के स्थान पर चित्त का ही प्रयोग हुआ है । अभ्यास के प्रसंग में चित्त का प्रयोग अन्त:करणसामान्य के लिए हुआ --`चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थिति:` । इसीप्रकार बुद्धि आदि का मन संज्ञा से भी कथन हुआ है । `महदाख्यमार्षं कार्यं तन्मन:` इस सूत्र में सांख्य सूत्रकार ने महत् या बुद्धि के लिए मन का प्रयोग किया है ।

अब प्रश्न यह है कि चित्त क्या है ? इस विषय में कुछ मतभेद है । कुछ आचार्य चित्त शब्द के अन्तर्गत बुद्धि,अहंकार और मन इन त्रिविध अन्त:करणों को ग्रहण करते हैं । विज्ञानभिक्षु ने `चित्तमन्त:करणसामान्यं` कहकर तादृश मत स्पष्ट किया है । इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने चित्त शब्द से बुद्धि या मनोमात्र का ग्रहण किया है--`चित्तशब्देन अन्त:करणं बुद्धिमुपलक्षयति` । अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त को ही मन संज्ञा से भी कहते हैं । अत: इनसे केवल एकादशेन्द्रिय मन का ही ग्रहण न करना चाहिए, वरन् चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन इन चारों का ही मन में अन्तर्भाव हो जाता है । इसी कारण सांख्य योग दार्शनिक प्रमाण में बौद्ध बोध और पौरुषेय बोध रूप से द्विविध बोध मानते हैं । बौद्ध बोध से तात्पर्य बुद्धिगत ज्ञान से है और पौरुषेय बोध पुरुषगत ज्ञान को कहते हैं । जैसे— घट को देखकर घटाकाराकारित बुद्धि होती है और बुद्धि को घट का `अयं घट:` इस प्रकार से ज्ञान होता है, तत्पश्चात् पुरुष को `घटमिमं जानामि` तादृश ज्ञान होता है , यही पौरुषेय बोध है यद्यपि इस ज्ञान को नैयायिक तो

अनुव्यवसाय कहते हैं और सांख्य-योगियों के मत में भी यह उपपन्न नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनका पुरुष निर्गुण, अपरिणामी और कूटस्थ है[1]। अत: वह विविध विषयों के आकार को धारण नहीं कर सकता साथ ही बोध व्यवसायात्मक होता है और व्यवसाय बुद्धि का धर्म है न कि पुरुष का अत: बोध पुरुष को हो यह सम्भव नहीं। इस प्रकार पुरुष को ज्ञान नहीं होता, परन्तु अज्ञान के कारण पुरुष बुद्धिगत ज्ञान को स्वयं में आरोपित करके स्वयं को विविध कर्मों का कर्ता और विविध फलों का भोक्ता समझ बैठता है। बोध की इस प्रक्रिया के विषय में द्विविध मत प्रचलित हैं-- एक वाचस्पति का एकप्रतिबिम्बवाद और दूसरा विज्ञानभिक्षु का द्विप्रतिबिम्बवाद। पुरुष और बुद्धि का अज्ञान के कारण सन्निकर्ष होने से पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है और चित् तत्त्व के प्रतिबिम्ब के कारण बुद्धि चेतन सी प्रतीत होने लगती है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष बुद्धिकृत कर्मों को अपना समझकर स्वयं को इन कार्यों का कर्ता भोक्तादि समझने लगता है। इसी अज्ञानकृत अभिमान के कारण पुरुष उस बुद्धिवृत्ति का साक्षी, द्रष्टा और भोक्ता बनता है। अत: बुद्धिगत ज्ञान का अभिमानी होने से अथवा बुद्धिगत ज्ञान को स्वयं में आरोपित करने से पुरुष को उस ज्ञान का जो अभिमान होता है वही पौरुषेय बोध है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर तटस्थ ज्ञान को प्राप्त करना ही एकप्रतिबिम्बवाद है।

इनसे भिन्न विज्ञानभिक्षु द्विविध प्रतिबिम्ब मानते हैं। पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब तो उन्हें भी ग्राह्य है अर्थात् सर्वप्रथम पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, फलस्वरूप बुद्धि चेतन सी हो जाती है और विषयाकाराकारित होकर विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है, तत्पश्चात् बुद्धि उस ज्ञान सहित पुन: पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। अत: चित् पुरुष बोद्ध ज्ञान का साक्षी या द्रष्टा प्रतीत होता है।

---

१. 'कूटेन मूलस्वरूपेण तिष्ठतीति कूटस्थ:

इस प्रकार बुद्धि का स्वज्ञान सहित पुरुष में प्रतिबिम्बन और पुरुष में उस ज्ञान का आरोप ही पौरुषेय बोध है । जिसे सांख्य-योगदार्शनिक प्रमा या प्रमाण का फल मानते हैं । इस प्रकार इस सिद्धान्त में दो बार प्रतिबिम्बन होने के कारण ही इसे द्विप्रतिबिम्बवाद कहते हैं-- एक बार पुरुष का बुद्धि में और दूसरी बार बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्ब ।

इस प्रकार मन से ही बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन इन चतुर्विध अन्त:करणों का ग्रहण होने के कारण मनोविज्ञान में इनका भी अध्ययन होना चाहिए । ये ही सांख्ययोग दर्शनों को मान्य मानसिक या अन्त: तत्त्व हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या केवल अन्त:करण का ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अध्ययन ह किया जायगा अथवा अन्य बाह्य करणों का भी । वस्तुत: अन्त:करण तो चार ही हैं और उनमें भी बुद्धि ही प्रधान है अत: बुद्धि को सांख्य दार्शनिकों ने द्वारिणी कहा है[१] । बुद्धितत्त्व सूक्ष्म होने से बाह्यार्थों से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती और विषयों से सन्निकर्ष के अभाव में तद्विषयक ज्ञान भी सर्वथा असम्भव है । अत: इन सभी विषयों के ज्ञान के लिए उनसे सन्निकर्ष अनिवार्य है । बुद्धि के असमर्थ होने से उसे बाह्य करणों या इन्द्रियों की अपेक्षा होती है । बुद्धि द्वारी है, बाह्यार्थों से सन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय रूप द्वारों की आवश्यकता है । अत: सर्वप्रथम इन्द्रियों का विषयों से सन्निकर्ष होता है । तत्पश्चात् इन्द्रियां इस ज्ञान को मन और अहंकार के माध्यम से बुद्धि को अर्पित करती हैं तभी बुद्धि उनके ज्ञानार्जन में समर्थ होती है । अत: इन्द्रियां बुद्धि की सहायक होने से ही द्वार या प्रणालिका कही जाती है । अत: बिना बाह्य करणों (इन्द्रियों) की सहायता से अन्त: करणों की क्रियाओं आदि पर विचार करना सम्भव नहीं है । इसलिए अन्त:करणों

---

१ सान्त:करणा बुद्धि: सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ।।
--का०३५, पृ०२६६

पर सम्यक् विचार या उनकी सम्यक्रूपेण समीक्षा करने के लिए बाह्यकरणों का भी विवेचन करना आवश्यक है । अब प्रश्न यह है कि बाह्यकरण कितने और कौन-कौन हैं ? इन पर विस्तृत विचार शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जायगा । परन्तु यहां भी उनकी गणना आवश्यक ही है । बाह्य-करण संख्यामें दश हैं-- पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियां जैसा कि इस कारिका[१] से स्पष्ट है --'अन्त:करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्' । अत: सभी इन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं । अन्ततोगत्वा यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध में सभी अन्त: और बाह्य करणों की समीक्षा प्रस्तुत की जायगी ।

अब इन मानसिक तत्त्वों या अन्त: और बाह्य त्रिविध करणों के स्वरूप, क्रियाओं और प्रक्रियाओं पर आगे विचार किया जायगा । सांख्य योगदर्शन में ये करण उनके प्रमेयों या तत्त्वों के अन्तर्गत आते हैं । अर्थात् ये प्रमेय या विषय हैं, परन्तु इनकी वृत्तियां अन्य प्रमेयों या विषयों को ग्रहण करती है, अर्थात् विषयों के ग्रहण को ही वृत्ति कहते हैं । अत: इस प्रबन्ध में इन बुद्धि आदि का गृहीता रूप से उल्लेख हुआ है ।अत: गृहीता के ग्राह्य या विषयों का उल्लेख भी अनिवार्य है । अतस्व सर्वप्रथम इन दर्शनों में मान्य तत्त्वों पर ही विचार किया जायगा । मुख्यत: सांख्य योगी द्विविध तत्त्व स्वीकार करते हैं-- पुरुष और प्रकृति । इन दोनों के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थों को उन्होंने तत्त्व संज्ञा दी है । वे तत्त्व संख्या में २३ हैं और प्रकृति के अनान्तर परिणाम रूप हैं । इन्हीं परिणामों या तत्त्वों के अन्तर्गत ही उपर्युक्त त्रयोदश करण भी आते हैं । अत: पच्चीस ही प्रमेय या तत्त्व हैं । यद्यपि योगीजन इनसे भिन्न एक और तत्त्व ईश्वर को स्वीकार करते हैं, लेकिन इसे तत्त्व संज्ञा से नहीं कहा गया । वह पुरुषविशेष है अत: पुरुष में ही योगी इसका अन्तर्भाव कर देते हैं । अत: ये पच्चीस

---

१ कारिका ३३ ,पृ० २६०

प्रमेय ही हैं । आगे प्रथम अध्याय में इन प्रमेयों का साधारणरूपेण विचार करते हुए उपर्युक्त अन्तः और बाह्य करणों का पर विशेष विचार किया जायगा ।

-o-

प्रथम अध्याय

-o-

सांख्ययोगाभिमत प्रमेयों का निरूपण

सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश्य

(क) अव्यक्त का स्वरूप

(ख) महत् तत्त्व का प्रथम विकारतत्व

(ग) व्यक्त तत्त्वों का स्वरूप

महत्

अहंकार

इन्द्रिय

तन्मात्र और पंचमहाभूत

(घ) एक अन्य तत्त्व ईश्वर

योग दर्शन में ईश्वर का स्थान

-o-

प्रथम अध्याय

-०-

सांख्ययोगाभिमत प्रमेयों का निरूपण

सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश्य

किसी दर्शन में मान्य तत्त्वों का उद्देश्य या स्वरूप स्पष्ट करना सहज है, परन्तु सर्वप्रथम तत्त्व क्या है ? इसे निश्चय करना कुछ दुष्कर है । 'तत्त्व' जैसा कि इस पद से ही स्पष्ट है, 'तद्भाव' को कहते हैं, अर्थात् सत् पदार्थ की सत्ता या अस्तित्व अथवा असत् पदार्थ की असत्ता या अस्तित्व को ही तत्त्व कहते हैं । अत: सत् वस्तु को सत् है, इस प्रकार यथार्थ रूप से ग्रहण करना ही तत्त्व-ज्ञान है और असत् वस्तु का असत् है, इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान होना ही तत्त्व ज्ञान है[१] । अर्थात् ऐसे तत्त्व का जो सत् या असत् विषय है वे ही तत्त्व कहे जाते हैं । सर्वदर्शनसंग्रहकार[२] ने भी तत्त्व की ऐसी ही व्याख्या की है । तत्त्वज्ञान या वस्तु के मूलरूप का ज्ञान ही मोक्ष के लिए उपयोगी है, अत: जिस वस्तु का ज्ञान मोक्षोपयोगी हो, वही तत्त्व है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सायनमाधव ने तत्त्व का यह लक्षण आस्तिक दर्शन के तत्त्वों की दृष्टि से किया है, क्योंकि अना-स्तिक दर्शन या यह कहिए कि चार्वाक् दर्शन में तत्त्व का यह लक्षण नहीं घटता, क्योंकि वे मोक्ष जैसी कोई अवस्था नहीं स्वीकार करते । उनके लिए शरीर ही

---

१ न्यायभाष्य, पृ०४७

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८६

आत्मा है और शरीर का नाश ही मुक्ति है, परन्तु वे इसे 'मुक्ति' संज्ञा नहीं देते। अत: इन्हें मोक्षोपयोगी कोई तत्त्व अभीष्ट नहीं। इस प्रकार मुख्यत: तत्त्व का लक्षण आस्तिक दर्शनों के लिए ही है।

सभी भारतीय दार्शनिकों में तत्त्वों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है और यह स्वाभाविक है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' उक्ति के अनुसार सभी प्राणियों की बुद्धि या विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। अत: कुछ दार्शनिक जैसे वेदान्ती एकमात्र परमतत्त्व या परब्रह्म को ही सत् तत्त्व मानते हैं। वस्तुत: एक तत्त्व ब्रह्ममात्र का ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्य सभी तत्त्व इन्द्रियादि मिथ्या हैं। ये तत्त्व अज्ञानावृत या तमसावृत बुद्धि के लिए ही सत् प्रतीत होते हैं। अत: इनकी व्यावहारिक सत्ता मात्र ही है न कि पारमार्थिक भी। पारमार्थिक स्तर पर एक परमेश्वर या ब्रह्म ही सत् है। इस प्रकार वेदान्तियों को एक तत्त्व ही अभिमत है। इनसे भिन्न नैयायिक[1] षोडश पदार्थों को मानते हैं और उनके अनुसार इन १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान या यथार्थज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति होती है, परन्तु इनके विपरीत सांख्यदार्शनिक दो तत्त्व ही स्वीकार करते हैं-- (१) प्रकृति और (२) पुरुष। इन दोनों तत्त्वों के पार्थक्यज्ञान से अथवा प्रकृतिपुरुष-विवेकज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। ये दो ही मुख्य तत्त्व हैं, यद्यपि प्रकृति के २३ अवान्तर परिणाम भी हैं, जिन्हें सांख्ययोगाचार्यों ने 'तत्त्व' संज्ञा दी है। अत: इन्हें भी मिलाकर कुल २५ तत्त्व होते हैं। अब प्रश्न यह है कि ये पच्चीस तत्त्व ही क्यों है, इनकी संख्या पच्चीस से कम या अधिक क्यों न मानें। जहां तक तत्त्वसंख्या के निर्णय का प्रश्न है, सांख्यसूत्रकार ने सूत्र १।६१[2] के अन्त में 'पंचविंशतिर्गण:' पद का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि २५ ही तत्त्व है, न अधिक और न कम। सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु[3] भी कपिल के मत से सहमत हैं।

---

१ न्यायसूत्र, पृ०५

२ सांख्यसूत्र, पृ० ४४

३ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०४५

यद्यपि उन्होंने तर्कत: यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया है कि २५ तत्त्व ही मानने का क्या कारण है । सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये तत्त्व कौन-कौन हैं-- प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां, पंच तन्मात्र, पंचमहाभूत और पुरुष । इन तत्त्वों की गणनामात्र से उपर्युक्त शंका का समाधान नहीं हो जाता । पंचमहाभूतपर्यन्त पदार्थों० क ो ही 'तत्त्व' संज्ञा क्यों दी गई । इन भूतों के परिणाम घटपटादि को तत्त्व क्यों नहीं कहा गया ? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं । इनका समाधान तत्त्वकौमुदीकार[१] तथा अन्य टीकाकारों के वचनों से हो जाता है । गौघट आदि पदार्थ भी पृथिवी आदि भूतों के समान स्थूल और बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य हैं । अत: गो आदि पृथिवी आदि के कार्यभूत तत्त्व नहीं हो सकते, क्योंकि कारण को सदैव कार्य से सूक्ष्म अर्थात् कार्य को कारण से स्थूल होना चाहिए । जब पृथिवी और गो आदि समानरूप से स्थूल और उन्हीं इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, गो आदि के पृथक् तत्त्व रूप से ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता । वंशीधरमिश्र[२] ने इस विषय को अनुमान प्रमाण से स्पष्ट किया । गौघटादि स्थूल और इन्द्रियग्राह्य तो हैं ही, साथ ही शान्तादि धर्मों या गुणों से भी युक्त हैं । अत: ये कदापि भिन्न तत्त्व के रूप से ग्राह्य नहीं । तत्त्वकौमुदी के टीकाकार शिवनारायणशास्त्री[३] ने भी उपर्युक्त विषय पर विचार प्रकट करते हुए विज्ञानभिक्षु[४] की सहायता ली । विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में तत्त्वान्तर परिणाम का लक्षण किया है-- 'तत्त्वत्वं च द्रव्यत्वं तत्त्वान्तरत्वं च स्वावृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्' अर्थात् तत्त्व ही द्रव्य है, स्व अर्थात् अपने उपादान कारणमें न रहने वाली द्रव्यत्व की जो साक्षात् व्याप्य जाति है, उससे युक्त होना ही तत्त्वान्तर होना है । इस लक्षण के आधार पर गौघटादि की परीक्षा करने पर जब यह लक्षण गो आदि में पूर्णतया घटित हो, तब तो गो आदि तत्त्वान्तर हैं अन्यथा नहीं । जिस प्रकार ----------

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ०९५
२ सांख्यतत्त्वविभाकर, पृ०९३, का०३
३ सारबोधिनी, पृ०९२, का०३
४ योगवार्तिक, पृ०२०९, कृ० सूत्र २।१९

अहंकार के स्व उपादानकारण महत् में न रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्य जो अहंकारत्वादि जाति है, उस जाति से अहंकार युक्त है, अत: वह महत् का तत्त्वान्तर है । परन्तु गो आदि के उपादान पृथिवी आदि में द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्व जाति नहीं होना चाहिए, परन्तु स्व पृथिवी में (स्वोपादानपृथिव्यादिवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य) पृथिवीत्वादि जाति होने के कारण गो आदि पृथिवी आदि के तत्त्वान्तर नहीं । इस प्रकार तत्त्वत्व का पर्यवसान पृथिव्यादि पंचभूतों तक ही है न कि गो घटादि पर्यन्त । साथ ही गो घटादि को तत्त्व संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब पृथिवी आदि भूतों में प्रकृतित्व हो । अर्थात् जिस प्रकार शब्दस्पर्शादि पृथिवी आदि की प्रकृति हैं अत: पृथिवी आदिभूत तत्त्व कहे जाते हैं, उसी प्रकार यदि पृथिवी आदि भूतों में प्रकृतित्व हो, तभी गो आदि भी तत्त्व होंगे । जहां तक प्रकृतित्व का प्रश्न है `तत्त्वान्तरोपादकत्वं प्रकृतित्वं' अर्थात् अन्य तत्त्व या तत्त्वान्तर को उत्पन्न करना ही प्रकृतित्व है । अत: जो तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करता है, वही प्रकृति या कारण है । शब्दादि आकाशादि भूतों की प्रकृति है, और आकाशादि से वे सूक्ष्म भी हैं । सूक्ष्म होने से वे स्थूल भूतों की प्रकृति कहे जा सकते हैं, परन्तु स्व स्थूलता सूक्ष्मता के आधार पर पृथिवी को प्रकृति नहीं कह सकते, क्योंकि स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता भूतों और उनके गोघटादि परिणामों में समान है । अत: यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भूतादि और गो आदि में कौन किसका कारण है? कारणत्व के निश्चय के अभाव में पृथिवी में प्रकृतित्व का अवधारण नहीं हो सकता, इस प्रकार गोघटादि को तत्त्व रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। मुक्तिदीपिकार[१] ने इस तथ्य को भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है-- पृथिव्यादि भूतों से तत्त्वान्तर की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है । ग्राहकान्तर का अभाव होने से अर्थात् जिस प्रकार तन्मात्राओं से उत्पन्न महाभूतों को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय रूप तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होता है, उस प्रकार पृथिवी आदि महाभूतों के विकार

---

१ मुक्तिदीपिका, पृ० २६

घटादि का अन्य कोई ग्राहक नहीं । अत: ग्राहकान्तर तत्त्वों के अभाव में घटादि को तत्त्वान्तर मानना उपयुक्त नहीं । अत: पृथिव्यादि विकार ही हैं और इन्हीं में तत्त्वसंख्या का पर्यवसान होता है । इस प्रकार पच्चीस ही तत्त्व होते हैं ।

सांख्य दार्शनिकों के समान योगदार्शनिक भी मुख्य दो तत्त्व ही स्वीकार करते हैं और प्रकृति के अवान्तर परिणामों को सम्मिलित करके कुल पच्चीस परन्तु योगियों ने एक अन्य ईश्वर को भी स्वीकार किया,यद्यपि उनका ईश्वर पुरुष का एक प्रकार ही है[1] । अत: उसे एक अन्य तत्त्व के रूप में मानना उचित नहीं । हां, उसे पुरुषविशेष कह सकते हैं । योगसूत्रकार पतंजलि ने[2] इन सभी तत्त्वों का उद्देश्य नहीं किया, परन्तु द्वितीय पाद के १९ सूत्र में उन्होंने गुणों के सभी परिणामों का मुख्य चार रूपों में विभाजन किया है -- विशेष,अविशेष,लिंगमात्र और अलिंग । इनके अतिरिक्त पुरुष या चितिशक्ति एक अन्य तत्त्व है ही[3] । योगसूत्रों के विविध भाष्यकारों ने यह स्पष्ट कर दिया कि पंचमहाभूत,पंचतन्मात्ररूप अविशेषों के विशेष हैं । पंच बुद्धीन्द्रियां,पंच कर्मेन्द्रियां मन और पंचतन्मात्र अविशेष हैं, और अस्मिता या महत् लिंगमात्र है । प्रधान या मूलप्रकृति अलिंग है । इस प्रकार इन चारों गुणपर्वों के अन्तर्गत २४ तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है[4] । महाभारत के अनुशासन पर्व में भी कई स्थलों में सांख्ययोग दर्शनों के पंचविंशति तत्त्वों का उल्लेख हुआ है ।

(क) अव्यक्त का स्वरूप

उपर्युक्त द्विविध तत्त्वों (प्रकृति और पुरुष) में प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन,परन्तु इनसे भिन्न कौन-कौन तत्त्व व्यक्त हैं और कौन अव्यक्त, ऐसी जिज्ञासा होती है । जहां तक अव्यक्त तत्त्व का प्रश्न है, प्रकृति के ही एकमात्र अव्यक्त है । अव्यक्त शब्द सापेक्ष है, अत: यह किन व्यक्त तत्त्वों की

---

१ `क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: ईश्वर:`,योगसूत्र१।२४,पृ०१२८

२ `विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि`,योगसूत्र,२।१९,पृ०३७७

३ योगभाष्य, पृ०३७८-७९

४ अनुशासनपर्व, पृ०१२२५

अपेक्षा अव्यक्त है, यह जानना आवश्यक है । सभी आचार्यों[1] ने इस विषय में अपने मत दिये हैं । सांख्यकारिका २ के `व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्` पद की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने व्यक्त तत्त्वों की गणना की है । अत: अव्यक्त तो प्रकृति, परन्तु व्यक्त तत्त्वों के अन्तर्गत अन्य महत् से लेकर पंचमहाभूतपर्यन्त सभी तत्त्व सम्मिलित हैं । ये तत्त्व प्रकृति से स्थूल होने के कारण व्यक्त कहे जाते हैं । महाभारत के शान्तिपर्व[2] में भृगु ने व्यक्ताव्यक्त पदार्थों को स्पष्ट किया है । जो तत्त्व इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं, वे व्यक्त तत्त्व कहलाते हैं और जो इन्द्रियातीत और अपने कार्य रूप लिंग से अनुमित होते हैं वही अव्यक्त हैं।

अब प्रश्न है कि प्रकृति है क्या ? अथवा प्रकृति किसे कहते हैं ? प्रकृति के दो प्रकार के लक्षण हो सकते हैं -- स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण । सांख्यसूत्रकार ने प्रकृति का एक साधारण लक्षण किया है । सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है । यह लक्षण उपयुक्त ही है और सांख्ययोगदार्शनिक ही नहीं, वरन् सर्वदर्शनसंग्रहकार[3] भी इससे सहमत हैं । ब प्रधान त्रिगुणात्मक है, जिस अवस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् समभाव रहते हैं, वही प्रकृति है । इस अवस्था में किसी की भी न्यूनता या आधिक्य न होने के कारण यह कहना सम्भव नहीं कि यह रज है और यह तम । इस प्रकार प्रकृति की अवस्था में तीनों गुण एक ही प्रतीत होते हैं । अत: एक ही `प्रकृति` इस संज्ञा से कहे जाते हैं । स्कान्दपुराण[4] में भी प्रकृति के इस स्वरूप का वर्णन हुआ है । इस प्रकार गुणों की न्यूनाधिक्यहीनावस्था अथवा अकार्यावस्था ही प्रकृति है । `देवीभागवत` में भी यह `साम्यावस्थात्मिकात्वं` पद से कही गई है । प्रश्न यह है कि सत्त्वादि की साम्यावस्था को प्रकृति मानने पर सृष्टिकाल में जब

---

१ गौडपादभाष्य, पृ०४, माठरवृत्ति, पृ०६
२ राजधर्मानुशासनपर्व, पृ०५२२
३ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ०३११
४ स्कान्दपुराण, काशीखण्ड, पृ०११

उन गुणों में जब वैषम्य होता है, तभी महदादि की उत्पत्ति होती है । अत: सृष्टिकाल में प्रकृति का स्वरूप नष्ट हो जायगा,क्योंकि गुणों में साम्य न रह-कर उस समय उनमें विषमता आ जाती है, अत: वह प्रकृति कैसे ? परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं होता । विज्ञानभिक्षु ने इसी शंका के निवारणार्थ प्रकृति का लक्षण करते हुए गुणों की साम्यावस्था मात्र को प्रकृति नहीं कहा,वरन् साम्यावस्था से उपलक्षित सत्त्वादि गुणों को ही प्रकृति कहा है -- `अकार्यावस्थोपलक्षितं गुण-सामान्यं प्रकृतिरित्यर्थ:`[1] प्रकृति का तादृश लक्षण उचित ही है । इसका डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य ने भी समर्थन किया है[2] ।

यह सर्वमान्य है कि अकार्योपलक्षित सत्त्व,रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है, परन्तु समस्या यह है कि विज्ञानभिक्षु ने इन तीनों को गुण न कहकर द्रव्य कहा है[3] । ये वस्तुत: गुण हैं अथवा द्रव्य ? वस्तुत: ये द्रव्य हैं संयोगविभाग युक्त होने से । संयोगादि से युक्त होना द्रव्य के लिए ही सम्भव है,गुणों के लिए नहीं, इसके अतिरिक्त सत्त्वादि लघुत्वगुरुत्वादि धर्मों से भी युक्त है, हां इन द्रव्यों को सांख्य शास्त्र में पुरुष के अकारण रूप से प्रति-पादित होने के कारण गुण संज्ञा दी गई, यह अवश्य है कि इनकी गुण संज्ञा उनके परार्थ या पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने से है[4] । परार्थ का अर्थ है, जिसकी स्थिति दूसरे के लिए हो, अर्थात् उस पर की अपेक्षा जिसका अप्रधानभाव या गौणभाव है वे ही गुण है । इसी कारण सत्त्वादि गुण कहे जाते हैं । अत: सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है । यह हुआ प्रकृति का स्वरूप लक्षण।

प्रकृति का तटस्थ लक्षण करते समय सर्वप्रथम प्रकृति पद के अर्थ को समझना आवश्यक है । `प्रकृति` इस पद में `प्र` शब्द प्रकृष्ट वाचक(श्रेष्ठता का वाचक) है । `प्रकृति` शब्द क्रिया या सृष्टि रूप व्यापार का वाचक है, इस प्रकार सृष्टि रूप कार्य में जो प्रकृष्ट या मुख्य परम प्रवीण (देवी) है, वही प्रकृति

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०४४
२ `आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान`,पृ०१६०
३ `सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिकगुणा: संयोगविभागवत्त्वात्` - सांख्यप्रवचनभाष्य पृ०४६।
४ `गुणा: इति परार्था:` । तत्त्वकौमुदी,कारिका१२,पृ०१०३ ।

है[१]। यह हुआ प्रकृति का तटस्थ लक्षण। प्रकृति का स्वरूप लक्षण भी इसी प्रकार है। 'प्र' शब्द सत्त्व गुण का द्योतक है, सत्त्व के श्रेष्ठ होने से 'कृ' शब्द रज का माध्यम होने से और 'ति' शब्द तम का द्योतक है, अन्त का होने से। इस प्रकार तीनों गुणों के समूह हैं या जो त्रिगुणात्मक है वही शक्तिवत् होकर सृष्टि करने से प्रकृति कही जाती है। इस प्रकार सृष्टि का जो आदि है या जो सृष्टि के आदि में विद्यमान रहती है, वही प्रकृति या प्रधान है[२]। अतः इन द्विविध लक्षणों से यह स्पष्ट ही है कि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इसका व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ स्पष्ट ही है 'प्रकरोतीति प्रकृतिः' अर्थात् जो उत्पन्न करे वही प्रकृति है। इस प्रकार प्रकृति सभी महदादि कार्यों को उत्पन्न करती है। अतः इन कर्मों की सृष्टि का मूल है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर 'प्रकृति' शब्द निष्पन्न हुआ। इसी कारण प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति को माया, शक्ति, अजा, ज्ञान और अव्यक्त भी कहा गया है[३]। प्रकृति जैसा कि उपर्युक्त लक्षण से स्पष्ट है, इसमें प्रकृति का स्वभाव अर्थ ही लिया गया है। क्योंकि त्रिगुण ही प्रकृति का स्वरूप या स्वभाव है। इनसे भिन्न इनका कोई अस्तित्व नहीं है। प्रकृति का तादृश अर्थ मानने पर ही प्रकृति को एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व कहा जा सकता है, क्योंकि मनोविज्ञान मन के रूप और व्यवहार आदि को विषय बनाता है। आचार्य विश्वेश्वर लिखते हैं--'अव्यक्तमनोवादिनामव्यक्तमचेतनं वा मनोऽपि मनोविज्ञानस्य महदुपकारकं भवति'[४]। अन्यथा प्रकृति का यदि सृष्टि(मेकर, क्रिएशन) अर्थ किया जाय तो सृष्टि का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं, मनोविज्ञान से मनोव्यापारों और व्यवहारादि पर ही प्रकाश डालता है।

जहां तक प्रकृति के वर्णन का प्रश्न है, इसके द्विविध रूप प्राप्य हैं। एक तो सांख्य दार्शनिकों को मान्य इसका त्रिगुण रूप और दूसरा

---

१ देवीभागवत, द्वितीय खण्ड, पृ० १२६

२ 'प्रलीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमिति प्रधानमुच्यते' --सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ४८८

३ 'प्रकृतिः शक्तिरजा, प्रधानमव्यक्तं तथा मायाऽविद्येत्याद्याः प्रकृतेः पर्यायाः'
सांख्यसार, पुरुषमान, तृतीय परिच्छेद, पृ० १०१।

४ 'मनोविज्ञानमीमांसा, पृ० ७

पुराणादि में प्रतिपादित ईश्वराधिष्ठित रूप । सांख्य की प्रकृति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है,अर्थात् उसे सृष्टि आदि की उत्पत्ति में किसी अन्य कारण ईश्वरादि की अपेक्षा नहीं । वह जड़ होते हुए भी स्वत: पर्याप्त है । पुरुष का उससे संयोग होता है यह तो आधुनिक सांख्याचार्यों का मत है । इनसे भिन्न पौराणिक सांख्य प्रकृति को देवी स्वरूप और परब्रह्म अर्थात् परमात्मा को उसका अधिष्ठाता रूप से स्वीकार करते हैं । इसका वर्णन कोटिश: पुराणों में हुआ है । देवीभागवत में देवी ने स्वत: उपदेश करते हुए अपनी विभिन्न संज्ञाओं को स्पष्ट किया है । वह कहती है कि वह पहले सत् चिद्रूप कहलाती थी, तत्पश्चात् उसी में माया नामक एक शक्ति स्वयं प्रकट हुई[१] । इसी शक्ति को विविध आचार्यों ने विविध संज्ञाओं से कहा । इस प्रकार उस(माया) शक्ति का ज्ञान,माया,प्रधान,प्रकृति,शक्ति और अजा नाम पड़ा । उसी को कुछ विचारकों ने अविद्या भी कहा[२] । वही शक्ति अव्यक्त या अव्याकृत है तथा सभी का कारण या तत्वों का आदि है[३] ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यह प्रकृति एक साधारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही नहीं,वरन् देवी का साक्षात् स्वरूप है । यह प्रकृति-रूपिणी देवी परब्रह्म का वामांग है और पुरुष दक्षिणांग[४] । यह प्रकृति सांख्य-योगदर्शनों में वस्तुत: एक प्रकृति रूप से ही ग्राह्य है, परन्तु पुराणकार ने उसमें पांच देवियों के रूप को ग्रहण किया है-- वे पांच हैं-- दुर्गा,राधा,लक्ष्मी,सरस्वती और सावित्री । इस प्रकार प्रकृति इन पांचों देवियों के रूप को धारण करती है । साथ ही इन्हीं पांच देवियों तक सीमित नहीं,वरन् मूलप्रकृति के आदेशानुसार वह भक्तों के अनुरोध पर उन पर कृपा करने के लिए गंगा,तुलसी, जरत्कारु ,देवसेना, मातृका,मंगलचण्डी,काली आदि अनेक देवियों के रूप को प्राप्त होती है । इतना ही नहीं,इसके अतिरिक्त संसार की सभी नारियों में आचार्य वेदव्यास ने उसी प्रकृति का दर्शन किया[५] । अब जिज्ञासा होती है कि प्रकृतिविषयक ऐसे वर्णन से

---

१ देवी भागवत- द्वितीय खण्ड,पृ०८५
२ ,, ,, पृ०८६
३ ,, ,, पृ०८७
४ ,, ,, पृ०१२७
५ ,, ,, पृ०१२८

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति अनेक है,क्योंकि अनेक देवी के रूपों को धारण करती है । अत: प्रकृति का अनेकत्व स्वीकार करना आवश्यक है,परन्तु जहां तक सांख्यशास्त्र का प्रश्न है, सांख्य दार्शनिक प्रकृति को एक ही मानते हैं[१] और उन्हें एक प्रकृति और एक पुरुष इस प्रकार दो तत्त्व इष्ट हैं । इन दोनों विरोधी अनेकत्व और एकत्व रूप धर्मों का एक साथ एक स्थल पर रहना सम्भव नहीं । अत: यह निश्चय करना आवश्यक है कि प्रकृति एक है या अनेक । इस शंका का समाधान भिक्षु आदि अनेक विद्वानों ने किया है । प्रकृति अनेक है,सभी सृष्टियों के आदि में प्रकृति अवश्य रहती है, किन्तु वे सभी प्रकृतियां अभिन्न हैं, उनके व्यक्तित्व मात्र का भेद है । अत: व्यक्तित्व भेदस्वीकार करने पर भी प्रकृति के एकत्व सिद्धांत को हानि नहीं होती[२] । इसका समर्थन एक लौकिक उदाहरण से हो जाता है -- जिस प्रकार वन के कोई वृक्ष विभिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं, अत: ऋतु भेद से उनमें भेद अवश्य प्रतीत होता है,परन्तु उनके व्यक्तित्व का ही भेद है । वस्तुत: वह एक ही है,उसी प्रकार प्रकृति भी यथार्थत: अभिन्न या एक ही है[३] । जहां तक प्रधान के एकत्व का प्रश्न है, सभी ने इस मत का समर्थन किया है । प्रधान एक है,अनेक नहीं । प्रधान के विषय में ऐसा प्रश्न करना सर्वथा असंगत है, क्योंकि संख्या का व्यवहार तो बुद्धि की अपेक्षा से होता है । अर्थात् जो अभिन्न या समान बुद्धि को उत्पन्न करे वह एक और जो भिन्न-भिन्न बुद्धि को उत्पन्न करे वह अनेक । प्रधानावस्था में त्रिविध गुण साम्य को प्राप्त कर अपनी विशिष्टताओं को त्यागकर अभिन्न या समान बुद्धि उत्पन्न करते हैं,अर्थात् प्रधान एक है । परन्तु सृष्टिकाल में वे ही गुण विशेषताओं से युक्त होकर परस्पर उपकार से ~~उपकार से~~ सहत होकर व्यक्तादि भिन्न-भिन्न पदार्थों को उत्पन्न करते हैं[४] । यदि यह कहा जाय कि अनेक पुरुष होने से उनके अनेक शरीरों की उत्पत्ति

---

१ तत्त्वकौमुदी,का०१०,पृ०१६५

२ अनेकत्वं सर्गभेदेऽप्यभिन्नत्वम् । अत: प्रकृतेरनेकव्यक्तित्वेऽपि नैकत्वहानि: सांख्य प्रवचनभाष्य,पृ०८६ ।

३ आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान,पृ०१६५

४ युक्तिदीपिका, पृ०६६

के लिए अनेक प्रधान को मानना चाहिए । अर्थात् एक-एक प्रधान या प्रकृति प्रति-शरीर की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है । यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि एक प्रकृति एक ही शरीर को उत्पन्न करे । यह प्रत्यक्षागोचर है नहीं, एतद्विषयक कोई लिंग भी अप्राप्य और साथ ही किसी आप्तजन ने एतद्विषयक उपदेश भी नहीं किया । प्रमाणाभाव के साथ-साथ जब एक ही प्रधान से सम्पूर्ण सृष्टि का होना सम्भव है, प्रधान को अनेक मानना कल्पनागौरव ही होगा । प्रधान अपरिमित या व्यापक है अत: सभी पुरुषोपयोगी शरीरादि का उत्पत्ति में सक्षम है । अत: प्रधान एक है । प्रतिशरीर प्रधान को भिन्न मानने में प्रधान में अनवस्था का भी प्रसंग होगा[1] । षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में श्री गुणार्थ ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया है । कुछ[1] सांख्याचार्य प्रकृति को प्रतिपुरुष या प्रत्यात्मा भिन्न-भिन्न मानते हैं, ऐसे आचार्यों को उन्होंने मूला आचार्य कहा है । सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल ने भी प्रकृति को एक ही कहा है । अधिकतर आचार्य इसी मत के पोषक हैं । राजेश्वर शास्त्री ने भी इसी मत का समर्थन किया है अत: प्रकृति एक ही है[2] ।

अब देखना यह है कि विभिन्न पुराणों[3] और स्मृतियों[4] में प्रकृति के आविर्भाव का कथन हुआ है । यदि प्रकृति उत्पन्न होती उसका अनादि और अज होना सम्भव नहीं है, अत: उसे अनादि कैसे कहा गया । इस शंका का समाधान देवीभागवतपुराण के एक आख्यान से ही हो जाता है । नारद जी ने भगवान् नारायण से पूछा कि प्रकृति का आविर्भाव कैसे होता है तथा उसके पांच रूपादि कैसे हुए[5] । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री नारायण ने कहा -- जैसे

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० १४१

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण, पृ० १०१

३ देवीभागवतपुराण-द्वितीयखण्ड, पृ० १२७

४ मनुस्मृति, पृ० ६

५ देवीभागवत, द्वितीय खण्ड, पृ० १४३

आत्मादि नित्य है, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म की सनातनी लीला प्रकृति भी नित्य है । प्रकृति परमात्मा के समान है । अर्थात् परमात्मा के समान ही प्रकृति भी नित्या,अनादि और अजा है । सदा उसी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से प्रतिष्ठित रहती है[१] । अत: प्रकृति का आविर्भाव नहीं होता, वह नित्य है । सृष्टि काल में वह अपने सूक्ष्म रूप से स्थूल हो जाती है,अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त महदादि उत्पन्न होते हैं[२] ।

अन्य पुराणों में भी प्रकृति का विविध रूप से प्रतिपादन हुआ है । अब प्रश्न यह है कि प्रकृति को ये संज्ञाएं क्यों प्राप्त हुईं ? प्रकृति का आदि नहीं,क्योंकि सभी महदादि कार्य उत्पत्ति क्रमानुसार अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं,अर्थात् महत् तत्त्व स्वकारण प्रकृति में लय को प्राप्त होता है । यदि प्रकृति का भी आदि या जन्म मानें, तो प्रकृति का भी किसी अन्य तत्त्व में लय मानना होगा, वह तत्त्व कौन है जिसमें इसका लय हो और उसका क्या स्वरूप है, इसे स्पष्ट करना दुष्कर है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है,अत: इसका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए । जब प्रकृति भी त्रिगुणस्वरूप है और उसका कारण भी त्रिगुण ही है, उन दोनों के बीच कार्यकारणभाव कैसे सम्भव है । अत: प्रकृति अजा या अनादि है । सूत्रकार ने १।६७ सूत्र में प्रकृति को ही मूलकारण कहा है । प्रकृति २३ तत्त्वों का मूल है, परन्तु स्वयं वह अमूल अर्थात् निष्कारण है । कारणहीन होने से वह अनादि और अजा है । योगभाष्यकार व्यास ने भी इसका समर्थन किया है । यदि प्रकृति से पर उसके कारणरूप से कोई तत्त्व मानें, तब तो उस तत्त्व का भी कोई अन्य कारण होगा, इस प्रकार इस कारणकार्यपरम्परा का कहीं अन्त न होगा और अनवस्था दोष भी होगा । इस अनवस्था के निवारणार्थ प्रकृति को ही परमतत्त्व मानना उपयुक्त है ।

प्रकृति त्रिगुण स्वरूप है न कि तीनों गुण प्रकृति के धर्म । ये गुण प्रकृति के धर्म नहीं हो सकते,क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर धर्मी से

---

१ देवीभागवत-द्वितीयखण्ड,पृ०१४३

२ विष्णुपुराण- प्रथम खण्ड, पृ०४८

अतिरिक्त धर्मी की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी होगी, जिसमें धर्म रहते हैं । प्रकृति के ~~विकृत~~ त्रिगुणों के पृथक् हो जाने पर कुछ शेष नहीं जिसको धर्मी के रूप से ~~स~~ स्वीकार करे । अत: गुण प्रकृति के धर्म नहीं वरन् तद्रूप ही है[१] ।

(ख) महत् तत्त्व का प्रथम विकारत्व

अव्यक्त तत्त्व के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् व्यक्त तत्त्वों का प्रसंग है । परन्तु व्यक्त तत्त्व तो अनेक हैं,उसमें किसका वर्णन पूर्व और किसका बाद में करना है, इसे ही निश्चय करना आवश्यक है । यदि इस सृष्टि-क्रम के अनुसार प्रकृति से सर्वप्रथम महत् की,महत् से अहंकार और अहंकार से इन्द्रियों और तन्मात्राओं की सृष्टि होती है । अत: सर्वप्रथम महत् का ही वर्णन करना उपयुक्त होगा । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि प्रकृति से सर्वप्रथम महत् की ही उत्पत्ति हो । इस विषय पर विचार करना आवश्यक है । जिस क्रम से इन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है,उसी के विलोम क्रम से इनका प्रलयकाल में लय भी[२] । प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन होता हुआ उसे अव्यक्त या सूक्ष्म सिद्ध करता है । यह निश्चित है कि जिस क्रम से इन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, तद्विपरीत क्रम से ही लय भी[३] । इस प्रलयक्रम का उल्लेख अय्यास्वामी शास्त्री ने भी स्वकृत परमार्थ के अनुवाद में किया है[४] ।

उपर्युक्त सृष्टि और प्रलय का यह क्रम सभी आचार्यों को मान्य है, परन्तु किसी ने इसको प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया । क्या कारण है कि प्रकृति से विलोम होने पर सर्वप्रथम महत् की ही उत्पत्ति होती है अहंकार की नहीं । इस प्रश्न का उत्तर अद्यावधि किसी आचार्य ने नहीं दिया ।

---

१ `सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ` सांख्यसूत्र ६।३६,पृ०२५२

२ तत्त्वकौमुदी,पृ०१६४

३ महाभारत—शान्तिपर्व,पृ०६६२

४ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०१४

यहां तक कि प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने भी लिख दिया कि इस सृष्टिक्रम को तर्कत: या प्रमाणत: सिद्ध करना असम्भव ही है[१] ।यद्यपि उन्होंने इसे सिद्ध करने का कुछ प्रयास किया और इसकी सिद्धि के लिए आचार्य वाचस्पति की सहायता ली । वाचस्पति मिश्र ने कहा है[२]--' इन्द्रियों का बाह्यार्थों से सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम मन उसका संकल्प करता है,अर्थात् मन के द्वारा उस पदार्थ का संदिग्ध या अस्पष्ट ज्ञान होता है । तत्पश्चादेव अहंकार उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और अन्ततोगत्वा बुद्धि द्वारा निश्चय या अध्यवसाय होता है[३] । इस मत से अन्य सभी आचार्य सहमत हैं । किसी पदार्थ से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से सविकल्पक या निश्चयात्मक ज्ञान असम्भव है, क्रमिक ज्ञान होता है । अत: सर्वप्रथम निर्विकल्पक या मन की सहायता से संशयात्मक ज्ञान,तत्पश्चादेव निश्चय । अत: यह निश्चित है कि बुद्धि ही श्रेष्ठ है । बुद्धि के निश्चय के बिना प्राणी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता । यदि अहंकार को ही प्रथम मानें या यही प्रकृति का प्रथम विकार हो तो अभिमान होने पर ही प्राणी की प्रवृत्ति हो जाय, निश्चय की क्या आवश्यकता ? अथवा संशय होने के पश्चात् ही निश्चय हो जाय और तब अभिमान । परन्तु ऐसा नहीं होता । अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह सिद्ध है कि अहंकार के पश्चात् ही निश्चय होता है और यही सभी आचार्यों की भी मान्यता है । अत: अहंकार को प्रथम विकार मानना अयुक्त ही है । बुद्धि या महत् ही प्रकृति के निकटतम है,क्योंकि चित्त की प्रवृत्ति के लिए महत् की सहायता अनिवार्य है,अत: प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् ही है[४] ।

---

१ The different principles of the Samkhya system cannot be logically deduced from Prarti, and they seem to be set down as its products, thanks to historical accidents. There is no deductive development of the products from the one Prakrti-" Indian Philosophy by Radhakrishnan Page. 274.

२ तत्त्वकौमुदी,पृ०२५०

३ गौडपादभाष्य,पृ०२८, सांख्यचन्द्रिका, पृ०२६
'महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मन:' १।७१ सांख्यसूत्र । शान्तिपर्व,पृ०६६७,कूर्मपुराण पृ०४६२, श्रीमद्भागवत्,पृ०२३६ ।

सांख्यशास्त्र में प्रकृति महदादि के बीच प्रकृतिविकृतिभाव[१] या कार्यकारणभाव का प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् प्रकृति ही मूल कारण है[२]। और महत् उसका कार्य। कार्यकारणभाव तभी सम्भव है, जब कि कारण पूर्वभावी हो और कार्य पश्चाद्भावी क्योंकि `यत् पूर्वभावी तत् कारणं यच्च पश्चाद्भावी तत्कार्यम्'[३]। प्रकृति अनादि और कारणरहित है[४]। उसका कभी आदि अन्त संभव नहीं और महदादि अनित्य और सादि हैं[५]। प्रकृति का पूर्वभावित्व स्पष्ट है अनादि होने से। अतः प्रकृति ही कारण है और महदादि कार्य।

रोधक्रम में भी जब कोई पदार्थ जिसमें लीन होता है, वह उसका कार्य होता है और निरोध काल में पंचमहाभूतों का तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं का और इन्द्रियों का अहंकार में अहंकार का महत् और महत् का प्रकृति में लय शास्त्रप्रतिपादित है। प्रकृति विकार हो नहीं सकती अनादि होने से और साथ ही इसको विकार मानने में इसके भी कारण का प्रश्न होगा। तत्पश्चात् इसके कारण के भी कारण का इस प्रकार की अनवस्था होगी। अतः प्रकृति के पश्चात् होने वाला महत् ही प्रथम विकार होगा। इस प्रकार महत् के प्रथम विकारत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गई। जब प्रत्यक्षतः यह सिद्ध है, तब अनुमानादि से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं। क्योंकि अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष की सहायता की अपेक्षा रखते हैं[६]। तथापि अत्यन्त संक्षेप में अनुमान प्रमाण से इसे सिद्ध करना आवश्यक ही है।

---

१ सांख्यकारिका, पृ०९३

२ `प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः' सांख्यसूत्र ६।३२, पृ०२५०

३ सांख्यसूत्र-युगपदनायमानयोर्वां न कार्यकारणभावः', १।३८, पृ०२८

४ तत्त्वकौमुदी, पृ०१६५

५ `हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्' -सांख्यसूत्र १।१२४, पृ०८७

६ तत्त्वकौमुदी, पृ०१०२

सांख्यसूत्रों १।६२-६५[1] में सूत्रकार ने बताया है कि महत् अहंकारादि कार्यों से उनके कारणों का अनुमान प्रमाण से बोध होता है। इस अनुमान का स्वरूप क्या है? इसपर सूत्रकार ने प्रकाश नहीं डाला, वृत्तिकार विज्ञानभिक्षु ने अवश्य स्पष्ट किया। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों से और पंचतन्मात्राओं से उसके कारण अहंकार का अनुमान होता है[2]। अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है। एकादशेन्द्रियां और तन्मात्राएं अभिमान से युक्त द्रव्य रूप उपादान कारणवाली हैं कार्य होते हुए भी अभिमान से युक्त होने के कारण। अतः इन्द्रियों के और तन्मात्राओं का कारण अभिमान से युक्त ही हो सकता है। जो पदार्थ अभिमान रूप कार्यद्रव्यवाला नहीं है वह अभिमान रूप कारणवाला भी नहीं है। अतः अन्वय व्यतिरेक से भी इन्द्रियों और तन्मात्राओं के कारणरूप से अहंकार का ज्ञान होता है। अतः अहंकार ही इनसे सूक्ष्म और पूर्ववर्ती पदार्थ है। इसी प्रकार अहंकार रूप कार्य से उसके कारणभूत महत् का अनुमान होता है[3]। अतः महत् ही अहंकार से सूक्ष्म और पूर्ववर्ती है। इसी प्रकार अनुमान के ही आधार पर महत् के कारण रूप से प्रकृति को सिद्ध कर सकते हैं। यदि महत् प्रकृति का प्रथम विकार न हो, महत् के कारण रूप से प्रकृति का बोध नहीं होना चाहिए, परन्तु महत् से प्रकृति का ही अनुमान प्रमाण से बोध होता है[4]। सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धि सुखदुःखमोहात्मक पदार्थ से उत्पन्न है, कार्य होते हुए सुखदुःखमोहात्मक होने से कान्तादि के समान। इस प्रकार प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान भी महत् को प्रकृति का प्रथम विकार सिद्ध करता है। यदि सांख्यप्रतिपादित सृष्टिक्रम उपयुक्त न मानकर अहंकार

---

१ सांख्यसूत्र, पृ०४६-५२

२ 'बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैरहंकारस्य' -सांख्यसूत्र १।६३, पृ०४८

३ 'तेनान्तःकरणस्य' सांख्यसूत्र १।६४, पृ०४९

४ सांख्यप्रवचनभाष्य, सूत्र १।६५, पृ०५१

या इन्द्रियों को प्रथम विकार मानें, अनुमान से भी अहंकार या इन्द्रियों के कारणरूप से प्रकृति की ही सिद्धि होनी चाहिए न कि महदादि की । इस स्थल पर ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महत् तो प्रथम विकार है परन्तु महत् के पश्चात् अहंकार को ग्रहण करना उपयुक्त है या नहीं । महत् के समान ही अहंकार को भी महत् के विकार रूप से प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं । किसी भी पदार्थ से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर सर्वप्रथम संशय या अस्पष्ट ज्ञान ही होता है, तत्पश्चात् उसउसके कुछ निकट जाने पर अहंकार या अभिमान , तब निश्चय । यदि मन को महत् का विकार मानें तो निश्चय के पूर्व संशय ही होना चाहिए । जब तक उस पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान ही नहीं, अर्थात् जब साधक संशय में है, अभिमान किस बात का ? जब स्पष्ट ज्ञान ही नहीं है कि यह पदार्थ है क्या? उसमें अहंभाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् कुछ निकट जाने पर जब कुछ पदार्थ का किंचित् स्पष्ट ज्ञान होता है तभी उसमें अभिमान या अहंभाव सम्भव है । अब महत् के विकार रूप से अहंकार को ही स्वीकार करना चाहिए, अहंकार ही महत् के निकटतम है । अनुमान प्रमाण से भी अहंकार के कारण रूप से महत् का अनुमान होता है । यदि सृष्टिक्रम में महत् के पश्चात् अहंकार का क्रम न होकर मनादि का हो, मनादि के कारण रूप से महत् का अनुमान होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं । अनुमान इस प्रकार है-- अहंकार निश्चय से युक्त द्रव्य रूप उपादान कारण वाला है,कार्य होते हुए निश्चयात्मक होने से । जो निश्चयकार्य द्रव्य नहीं है, वह निश्चयरूप उपादान कारण वाला भी नहीं जैसे पुरुषादि । इस प्रकार भी ऐसा निश्चित है कि महत् के पश्चात् अहंकार को मानना उचित ही है ।

इस प्रकार इन्द्रियों के कारण रूप से अहंकार को सिद्ध करना सहज ही है । सर्वप्रथम बाह्यार्थों से इन्द्रियों का ही सन्निकर्ष होता है, तत्पश्चात् मन संकल्प करता है तत्पश्चादेव अहंकार । यदि अहंकार को इन्द्रियादि का कारण न मानें या इन्द्रियों को इसके पूर्व ही मानें, तो बाह्यार्थों से

सर्वप्रथम इन्द्रियों का सन्निकर्ष ही नहीं होना चाहिए । जब तक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही न हो अभिमान या निश्चय कुछ भी नहीं हो सकता । जब सन्निकर्ष ही नहीं अभिमान या निश्चय किस वस्तु का ? अर्थात् किसी कार्य के ज्ञान के लिए इन्द्रियों का उससे सन्निकर्ष परमावश्यक है । इन्द्रियों के अभाव में अन्त:करण साक्षात् उस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं कर सकते । उनका सम्बन्ध तो इन्द्रियों के द्वार से ही सम्भव है । यदि इन्द्रियों के अभाव में सन्निकर्ष और ज्ञान सम्भव हो तब तो अन्धों को भी पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए, बधिरों में भी श्रवण रूप क्रिया होनी चाहिए,क्योंकि अन्धे और बहरे व्यक्तियों में चक्षु और श्रोत्र रूप इन्द्रियों का ही अभाव है न कि अहंकार, बुद्धि का । प्रत्यक्षत: ऐसा नहीं देखा जाता अर्थात् अन्धेको पदार्थों का ज्ञान और बहरों को श्रवण का ज्ञान नहीं होता । अत: सृष्टिक्रम में अहंकार के पश्चात् इन्द्रियों का ही क्रम उचित है । कार्य होते हुए अभिमान से युक्त होने कारण एकादशेन्द्रियां और तन्मात्राएं अभिमान से युक्त द्रव्यरूप उपादानकारण-वाली है । अत: इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानना सर्वथा युक्तिसंगत है । यही बात भूतों की,पंचभूत स्थूल है, अत: सूक्ष्म तन्मात्राओं से उनकी उत्पत्ति सर्वथा स्वीकार्य है । सूक्ष्म तन्मात्राओं को उनके पश्चात् या भूतों के कार्य रूप से स्वीकार नहीं कर सकते । कारण सदैव कार्य से सूक्ष्म होता है । साथ ही पंचमहा-भूत उपर्युक्त २५ तत्त्वों में स्थूलतम है और बाह्येन्द्रियों के ग्राह्य भी हैं । यह सम्पूर्ण विश्व इन्हीं पांचों का परिणाम है । अत: इन्हीं को सृष्टिक्रम का अंतिम तत्त्व कह सकते हैं । अनुमान से भी ये तन्मात्र के कार्य हैं । अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है-- अपकर्षकाष्ठापन्न स्थूलभूत अपने विशेष गुण से युक्त द्रव्यरूप उपादान वाले हैं । स्थूल होने से घटपटादि के समान है ।अर्थात् आकाश का कारण शब्द उसके विशेष गुण से युक्त, वायु का कारण स्पर्श उसके विशिष्ट गुण से युक्त इस प्रकार अन्य तीन भी । इस पंचभूतों के कारण रूप से तन्मात्राओं का अनुमान होता है । बुद्धि के द्वारा निश्चय करने के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक है यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया है । इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय और अर्थ का विषय इन द्विविध तत्त्वों का अस्तित्व अनिवार्य है है,अत: इन्द्रियों की सत्ता सिद्ध ही हो चुकी, इन विषयों या इन भूतों की भी सिद्ध हो गई । इन्द्रियों के विषय रूप से इनको----------

स्वीकार करना आवश्यक है । इस प्रकार इन्द्रियों के पश्चात् इन्हें मानना चाहिए । अत: तन्मात्राओं से इनकी उत्पत्ति का सिद्धान्त उपयुक्त ही है । अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि सांख्याचार्यों को अभिमत यह सृष्टि क्रम सर्वथा युक्तिसंगत है ।

(ग) व्यक्त तत्त्वों का स्वरूप :--

महत्

महत् प्रकृति का प्रथम विकार है । यह उपर्युक्त विवेचन से ही स्पष्ट है[१] । अत: सर्वप्रथम महत् का ही लक्षण करना चाहिए । महत् अहंकारादि के लक्षण के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि इनके जो लक्षण हैं,वही उनका कार्य भी । इस प्रकार इनके कार्य या वृत्ति और उनके लक्षण या वृत्तिमान् में पूर्ण अभेद है[२] ।

यह स्पष्ट है कि महत् का कार्य है,निश्चय करना, क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर बुद्धि या महत् अध्यवसाय या निश्चय करते ही प्रतीत होते हैं-- जैसे अन्धकार में स्थाणु को देखकर भ्रम होता है, `स्थाणु है या पुरुष` । तत्पश्चात् मन में संशय बना रहता है । अंततोगत्वा उसके निकट आने पर उसके आकारों को देखकर बुद्धि पूर्णरूपेण निश्चय कर लेती है , यह स्थाणु ही है, पुरुष नहीं । अत: अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है,यही उसका लक्षण भी होगा । बुद्धि को शास्त्रों में अनेक स्थलों पर अध्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका कहकर सम्बोधित किया गया है[३] । सांख्यसूत्रकार[४] ने इसका स्पष्ट लक्षण किया है, और विज्ञानभिक्षु[५] ने भी

---

१ `महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मन:` -सांख्यसूत्र १।७१,पृ०५७

२ युक्तिदीपिका,पृ० २६

३ योगवासिष्ठ--पंचम व प्रकरण,पृ० ११६

४ `अध्यवसायो वृत्ति:` --सांख्यसूत्र--२।१३,पृ०१-२०

५ `महत्तत्त्वस्य प्राधान्येनासाधारण्येन चाध्यवसायो वृत्ति:` -सांख्यसार,पृ०३०७

इसका समर्थन किया[1] । कारिकाकार ने भी सांख्यसूत्र को उद्धृत किया है । इनके पूर्व और पश्चात् के सभी आचार्यों गौडपाद,माठर,युक्तिदीपिकाकार,कल्पवल्लीरामोदासीन[2] आदि ने भी इसका समर्थन किया है, यह उपयुक्त ही है । महाभारत और पुराणों[3] में भी बुद्धि के निश्चयरूप कार्य का उल्लेख हुआ है । बुद्धि के विविध पर्यायों को भी कुछ आचार्यों ने स्पष्ट किया । भावागणेश ने महत् का त्रिविध लक्षण किया है-- इस प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति का त्रिगुणात्मक प्रथम विकार या कार्य ही बुद्धि है, यह हुआ बुद्धि का प्रथम लक्षण । निश्चय रूप कार्य वाला अन्त:करण ही बुद्धि है, यह द्वितीय लक्षण और बुद्धि के धर्मज्ञानवैराग्यादि गुणों का योग होने से उसकी महत् संज्ञा यह है तृतीय लक्षण । भावागणेशकृत बुद्धि का तृतीय लक्षण उपयुक्त नहीं प्रतीत होता,क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है । यदि धर्मज्ञानवैराग्यादि से युक्त होना बुद्धि का लक्षण हो, तब तो सिद्ध योगी जन भी इन धर्मादि से युक्त होते हैं । अत: उन्हें भी महत् कहना होगा । अत: यह लक्षण दूषित है । साथ ही यह लक्षण,लक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । `लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्`[4] या पदार्थ के असाधारण धर्म का कथन करना ही उस पदार्थ का लक्षण है,अर्थात् जो धर्म उस पदार्थ को अन्य सभी सजातीय, विजातीय पदार्थों से व्यवच्छिन्न करता है । वही उस पदार्थ का लक्षण है । धर्मादि गुणों से युक्त होना बुद्धि का असाधारण धर्म नहीं हो सकता । क्योंकि वह सिद्ध योगी पुरुषों में भी व्याप्त है । अत: धर्मादियुक्तत्व को बुद्धि के लक्षण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, हां यह अवश्य कह सकते हैं कि धर्मादि श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के कारण बुद्धि की `महत्` संज्ञा हुई । अत: बुद्धि निश्चयात्मिका है । बुद्धि को मति ,मन,महत्,ब्रह्मा, पुर: , बुद्धिवृत्ति: , ख्याति:, प्रज्ञा, स्मृति आदि अन्य संज्ञाएं[5] भी दी गई । बुद्धि को मन भी कहते हैं , परन्तु ग्यारहवां

---

१ सांख्यकारिका २३,पृ०२२६
२ महाभारत--भीष्मपर्व,पृ०१३५
३ कूर्मपुराण,पृ०४८६, वायुपुराण,पृ०६७
४ तर्कभाषा,पृ०८
५ सांख्यसूत्र--१।७१,पृ०५७

इन्द्रिय संशयात्मक मन के समान बुद्धि को संशयात्मिका न समझना चाहिए । उसको मन संज्ञा उसके चिन्तन-मनन रूप व्यापार के कारण है । बुद्धि का अध्यवसाय रूप कार्य चिन्तन या मनन का ही एक रूप है । अत: बुद्धि को मन भी कहते हैं, सूत्रकार ने स्वयं भी बुद्धि को मन संज्ञा दी है । योगवासिष्ठ में चित्त,अहंकार और बुद्धि आदि भी मन के पर्याय रूप से कहे गए हैं । अर्थात् मन जिस समय जिस प्रकार की क्रिया करता है, तदनुसार ही उसका नाम भी है । डा० आत्रेय के अनुसार बुद्धि, चित्त,अहंकार,कर्म,कल्पना,स्मृति और वासनादि मन के पर्याय हैं[1] । उनके अनुसारमन ही सब प्रकार के दु:ख-सुखों का उत्पादक है । मन के हाथमेंही बन्ध और मोक्ष है। यह उचित ही है,क्योंकि यदि मन से तात्पर्य एकादशेन्द्रियमात्र से न लेकर चित्त सामान्य से लिया जाय, तो बन्ध मोक्ष सुख-दु:खादि चित्त के धर्म तो हैं ही । अत: चित्त ही इनका कारण है । इस प्रकार योगवासिष्ठ में मन पद का प्रयोग चित्तसामान्य के लिए हुआ है,परन्तु मन का स्वरूप निश्चय करते समय मन के संकल्प-विकल्पात्मक पक्ष का ही प्राधान्य है । अत: संकल्प करने का नाम मन है, मन संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है, जैसे जल द्रव्यत्व से और वायु स्पन्दन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं । जहां संकल्प है,वहीं मन है । अत: यह स्पष्ट है कि मन प्रधानत: इन्द्रिय को ही कहते हैं । संकल्प करना उसी का धर्म है न कि बुद्धि आदि का । हां इनका भी मन शब्द से कथन होता है मननात्मक होने से । यह महत् भी तीन प्रकार का होता है -- राजस्,सात्त्विक और तामस् । महत् के इन त्रिविध प्रकारों का उल्लेख उसके गुणों की प्राधान्य के आधार पर हुआ है ।अत: सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर सात्त्विक,तमस् के आधिक्य पर तामस और रजस् का आधिक्य होने पर राजस । इस प्रकार त्रिविध प्रकार हैं । पुराणादि में इन तीनों प्रकारों को ब्रह्मा,विष्णु और महेश रूप त्रिविध देवता कहा गया है । ये देवता ही अहंकारोपाधिक होकर सृष्टि संहारादि करते हैं । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्यसार के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण करते हुए महत् को स्वयम्भू: ईश्वर

---

१ 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त',पृ०२२४-२२६

या देवता रूप कहा है[1] । पुराणों में किया गया यह वर्णन उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सांख्ययोगदार्शनिक महदादि को जड़ या अचेतन ही मानते हैं । पुराण प्रतिपादित देवता चेतन रूप हैं अत: इन परस्पर विरोधी पदार्थों का ऐक्य कैसे सम्भव है ? अर्थात् महदादि ब्रह्मादि रूप नहीं हो सकता । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सात्त्विकादि त्रिविध प्रकार स्वयं देवता स्वरूप नहीं है वरन् इन तीनों की उपाधि से उपहित चैतन्य विशेष उपर्युक्त त्रिविध देवरूप हैं । इस चैतन्य का ही ब्रह्मादि संज्ञाओं से कथन होता है, क्योंकि पुराण में ब्रह्मा तीनों ब्रह्म के गुणावतार रूप से प्रतिपादित हैं । अत: महदादि का देवरूपों में पुराणों में प्रतिपादन कुछ उचित ही प्रतीत होता है, परन्तु केवल सेश्वर सांख्य की दृष्टि से । निरीश्वर सांख्याचार्य देव या ईश्वर नामक कोई पदार्थ मानने को प्रस्तुत नहीं । पुराण प्रतिपादित सम्पूर्ण सांख्यदर्शन सेश्वर ही है । इसका पूर्व ही उल्लेख हुआ है, वह प्रकृति को देवी और उससे उत्पन्न अन्य तत्त्वों को भी देवरूप ही स्वीकार करता है ।

अहंकार

महत् के पश्चात् अहंकार का ही प्रसंग है । सूत्रकार कपिल ने महत् के पश्चात् अहंकार की ही गणना की है[2] । वृत्तिकार विज्ञानभिक्षु ने भी अहंकार के कार्य का उल्लेख किया है-- `तस्यानन्तरो य: सोऽहंकारोऽहमिति-त्यहंकारोऽभिमानवृत्तिकमूद इत्यर्थ:` । अत: अहंकार का कार्य है अभिमान । इस प्रकार अहंकार या अभिमान करने वाला तत्त्व ही अहंकार है[3] । योगदार्शनिकों ने अहंकार को अस्मिता भी कहा है[4] । अत: अस्मिता ही अहंकार है ।अस्मिता

---

१ `महादाख्य: स्वयम्भूर्यो जगदंकुरईश्वर: ।
सर्वात्मने नमस्तस्मै विष्णवे सर्वविष्णवे ।।`--सांख्यसार,पृ०१

२ `चरमोऽहंकार:`-सांख्यसूत्र, १।७२,पृ०५७

३ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन,पृ०२७१

४ `तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकार:`--योगभाष्य,पृ०७०३

क्या है? इसे स्पष्ट करने के लिए योगसूत्रकार ने `दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता` लिखा है। अत: दृक् शक्ति पुरुष, दर्शन शक्ति बुद्धि इन भिन्न-भिन्न तत्त्वों में एकरूपता की प्रतीति ही अस्मिता है, अर्थात् अपरिणामी शुद्ध और चेतन दृक् शक्ति का परिणामिना, मलिन, जड़ बुद्धि से पूर्ण पार्थक्य होने पर भी अविद्या के कारण इनमें ऐक्य की भावना रहना अथवा पुरुष में अहम् की प्रतीति ही अस्मिता है । यह अहंभाव ही अहंकार है । कारिकाकार और अन्य टीकाकारों का भी ऐसा ही मत है । अत: अभिमान का भाव ही अहंकार है[१] । मनुस्मृति में भी अस्मिता को अहंकार कहा गया है[२] । महत् के समान प्रकृति के अन्य सभी कार्य त्रिगुणात्मक हैं । अत: सभी गुणों के प्राधान्य के अनुसार अहंकार तीन प्रकार के होते हैं, इस प्रकार अहंकार भी त्रिविध है[३] ।

इन्द्रिय

अहंकार के पश्चात् इन्द्रियां ही प्रसंगप्राप्त हैं । इन्द्रियां क्या है? लगभग सभी आचार्य इन्द्रिय को इन्द्र या आत्मा का लिंग मानते हैं, जैसा कि इन्द्रिय पद से ही स्पष्ट है । इन्द्र अथवा आत्मा का लिंग या ज्ञापक होने से इन्द्रिय आत्मा का लिंग है । इन्द्रियां आत्मा का लिंग कैसे हो सकती हैं ? इन्द्रियां करण या साधन हैं । करण की सत्ता कर्ता के अभाव में असम्भव है । कर्ता के अभाव में करण का प्रयोक्ता कोई न होगा । अत: इन्द्रिय रूप करण की सत्ता के लिए उसके कर्ता रूप आत्मा की सत्ता मानना आवश्यक है । अत: आत्मा का अनुमापक होने से इन्हें इन्द्रियों को आत्मा का लिंग कहा गया ।

---

१ `योगवासिष्ठ`, पृ०८७ , सांख्यकारिका, पृ० २३३

२ अस्मिप्रत्ययमात्रमहंकार:`, पृ०१३, मनुस्मृति

३ मार्कण्डेयपुराण--प्रथम खण्ड, पृ०३६८ । श्रीमद्भागवत-तृतीयस्कन्ध, पृ०१०६ ।

यदि कारण होने से ही इन्हें इन्द्रिय कहा गया तब तो बुद्धि अहंकार को भी करण होने से इन्द्रिय कहना होगा । वस्तुत: ये करण होने पर भी इन्द्रिय नहीं, अत: इन्द्रलिंगत्व 'इन्द्रिय' का लक्षण नहीं, वरन् व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ-मात्र है[१] । इन्द्रिय का लक्षण 'सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियम्'[२] अर्थात् सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होता है । अर्थात् इन्द्रियां सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होती है, यह हुआ इन्द्रिय का असाधारण धर्म क्योंकि अन्य कोई भी तत्त्व सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न नहीं होता । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है,इसका विस्तृत विवेचन 'इन्द्रियों की उत्पत्ति' प्रकरण में होगा,परन्तु यहां इतना कहना ही आवश्यक है कि इन्द्रियां सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होती हैं । विज्ञानभिक्षु ने भी सूत्रों के भाष्य में--'इन्द्रस्य संघातेश्वरस्य करणमिन्द्रियम्'[३] ऐसा लिखा है । पाणिनि के सूत्र 'इन्द्रियमिन्द्रलिंगम्' से भी यह स्पष्ट है । अत: सभी आचार्य इसी मत से सहमत हैं । निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य का भी यही मत है[४] । इन सभी आचार्यों से भिन्न सांख्य कारिकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार नारायणतीर्थ ने इन्द्रिय का भिन्न लक्षण स्वीकार किया । 'इन्द्रेण विषयास्तान् प्रति द्रवन्तीति व्युत्पत्त्येति गृहाण'[५] अर्थात् विषयों को ग्रहण करने वाला तत्त्व ही इन्द्रिय है । इन्द्रिय पद की यह व्युत्पत्ति भी उपयुक्त है । अत: इन्द्रियां आत्मा का लिंग है, यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया । इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करती है, यह भी बुद्धीन्द्रियों से स्पष्ट है । एकादशेन्द्रियों में पंच ज्ञानेन्द्रियां प्रतिनियतविषयक होती हैं । इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध नियत हैं,इनके अतिरिक्त अन्य विषयों को यह प्रकाशित नहीं करती । इस प्रकार विषयों को ग्रहण करना ही इनका कार्य है । यहां तक कि

---

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी,पृ०२४४ ।

२ ,, ,, पृ०३३६ ।

३ सांख्यप्रवचनभाष्य',पृ०१२३

४ 'इन्द्र: --आत्मा, स येन ईयते-लिंगयते ,अनुमीयते चास्त्यत्राह पस्येदं करणं, नाकर्तृकं करणमस्तीति,तद् इन्द्रियम् ।' --सारबोधिनी,पृ०२६ ।

५ सांख्यचन्द्रिका,पृ०२४ ।

इन इन्द्रियों का लक्षण इन्हीं कार्यों के आधार पर किया गया है[१]। इस प्रकार बुद्धि या ज्ञान की इन्द्रिय ही ज्ञानेन्द्रिय है । शब्दादि विषयों के ज्ञान करने में बुद्धि स्वत: समर्थ नहीं । बुद्धि अन्त:करण है, वह साक्षात् बाह्य विषयों से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकती । अत: इन्द्रियां बाह्य विषयों से उदित होकर विषय ग्रहण करती है, तत्पश्चात् अन्त:करण उन विषयों को प्राप्त करता है । इस प्रकार बुद्धि को बाह्य विषयों का ज्ञान कराने में द्वार या प्रणाली होने के कारण ज्ञानेन्द्रियां बुद्धि की इन्द्रियां कही जाती हैं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रियां कर्मों का करण या कर्मों के लिए होने के कारण कर्मेन्द्रियां कहा जाता है । ये प्रतिनियतकर्म वाली होती है । पांचों कर्मेन्द्रियां--वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ वचन, आदान, विहरण आनन्द और उत्सर्ग रूप क्रियाओं के करण हैं[२]। योगभाष्यकार ने भी इन्द्रिय का लक्षण किया है[३]। प्रकाशरूप महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुतसिद्धावयवरूप सात्त्विकाहंकार है, उसमें कार्य रूप से अनुगत जो सामान्यविशेष पदार्थों का समूह रूप द्रव्यविशेष हैं, वही इन्द्रिय कहलाती है । अर्थात् प्रकाशात्मक सात्त्विक क बुद्धि का कार्य प्रकाशरूप अहंकार है। और उस सात्त्विक अहंकार के कार्य रूप से ग्राह्य जो पदार्थ या तत्त्व है, वही इन्द्रिय कहलाती है । योगवार्तिकार ने भी इनका समर्थन किया है[४]। भाष्यकार कृत यह लक्षण भी वाचस्पति आदि सांख्याचार्यों के मत का समर्थन करता है । इन्द्रियों को करण, निपातन, वैकारिक और तैजसादि भी कहते हैं[५]। इन इन्द्रियों के अतिरिक्त एक अन्य इन्द्रिय मन है । मन एक इन्द्रिय है यह सभी

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २३

२ ,, पृ० २४

३ योगभाष्य, पृ० ७०३ 'स्वरूपं पुन: प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगत: समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् ।'

४ तत्त्व योगवार्तिक, पृ० ३७५

५ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, पृ० २७३

आचार्य स्वीकार करते हैं और मन को इन्द्रियों के साथ उन्होंने गणना भी की है[१]। मन इन्द्रिय है, परन्तु आत्मा का लिंग नहीं मन का इन्द्रियत्व सात्त्विक-अहंकारोपादानत्व (सात्त्विक अहंकार रूप उपादानवाला होने से) के कारण है न इन्द्रलिंगत्व के आधार पर। यदि आत्मा का लिंग होने के कारण मन को इन्द्रिय मानें तब तो बुद्धि और अहंकार के भी इन्द्रियत्व का प्रसंग जैसा कि पूर्व ही स्पष्ट हो चुका है। इन्द्रलिंगत्व इन्द्रिय का लक्षण नहीं अतः इसे इन्द्रियत्व का प्रयोजक या कारण नहीं कहा जा सकता[२]। अतः मन भी इन्द्रिय है अन्य इन्द्रियों से समानधर्मता होने कारण।

कारिकाकार[३] ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। मन उभयात्मक है विविध इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है[४]। मन का कार्य है, संकल्प करना, इन्द्रियों से (सात्त्विकाहंकारोपादानत्व रूप) साधर्म्य होने से मन इन्द्रिय भी है। सभी आचार्यों गौड़पाद, नारायणतीर्थ उदासीन आदि ने इनका समर्थन किया है। मन को इन्द्रियों का ईश्वर भी कहते हैं[५]। इस प्रकार जिसके द्वारा पदार्थों का साक्षात् ज्ञान करे वही इन्द्रिय है।

तन्मात्र और पंचमहाभूत

अब शेष हैं, पंच तन्मात्रक और पंचमहाभूत। ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय शब्दादि तन्मात्र के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। 'सा सा मात्रा यस्मिन् तत् तन्मात्रम्' अर्थात् वह मात्रा जिसमें है वह तन्मात्र है तन्मात्राओं का लक्षण पुराणों में भी किया गया है[६]। तन्मात्राओं को अविशेष भी कहते हैं।

---

१ 'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियेरान्तरमेकादशकम्' —सांख्यसूत्र २।१६, पृ०१२३
२ तत्त्वकौमुदी, पृ०२४४ 'व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिंगत्वम् न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्।'
३ 'उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं चसाधर्म्यात्।', कारिका २७, पृ०२४१
४ मनुस्मृति, पृ०४
५ महाभारत—शान्तिपर्व, पृ०६६७
६ मार्कण्डेय पुराण—प्रथमखण्ड, पृ०३६६, विष्णुपुराण, पृ०५२, प्रथम खण्ड।

ये पांच हैं-- शब्द,स्पर्श,रूप,रस और गन्ध । इनके विशेष धर्म शान्तत्वादि अनुभवातीत हैं, अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि अनुभव के विषय नहीं बनते,अत: इन्हें अविशेष कहते हैं । तन्मात्राओं की तमोविग्रह,सूक्ष्म विग्रह और सूक्ष्मभूत आदि विविध संज्ञाएं हैं[1] । इनके विपरीत आकाशादि पंचभूतों के विशेष धर्म शान्तत्वादि स्थूल होने से अनुभवगोचर होते हं, अत: इन्हें विशेष कहा जाता है । ये हैं-- आकाश,वायु,तेज,जल,पृथिवी । तन्मात्राओं को सूक्ष्म और महाभूतों को स्थूल भी कहते हैं[2] ।

एक अन्य तत्त्व : ईश्वर

सांख्यदार्शनिकों में ईश्वरविषयक विचार में बहुत मतभेद है । कारण यह कि ईश्वर के न मानने के विषय में प्राय: सभी सांख्याचार्यों का मतैक्य है । प्रकृति और पुरुष के संयोग मात्र से ही सृष्टि होती है, ईश्वर की अपेक्षा नहीं । ईश्वराधिष्ठित सृष्टि का सूत्रकार ने खण्डन किया है और उससे होने वाली विभिन्न आपत्तियों को भी प्रस्तुत किया है । सांख्यसूत्रों के पंचमाध्याय के प्रारम्भ में ही सूत्रकार लिखते हैं-- "नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्ति: कर्मणा तत्सिद्धे:[3]" अर्थात् कर्मफल की निष्पत्ति ईश्वराधिष्ठान रूप कारण से नहीं होती, कर्मफल प्राप्ति कर्मों के द्वारा ही होती है । अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर उनमें स्वोपकार कर्त्तव्य का आरोप होगा,क्योंकि संसार में किसी भी

---

१ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन,पृ०२७२

२ विष्णुपुराण,पृ०५३ ।

३ सांख्यसूत्र, ५।२, पृ०२६०।

कार्य को कर्ता अपनी उपकार या लाभ की दृष्टि से करता है । इस प्रकार अधिष्ठाता होने पर ईश्वर भी लौकिक या संसारी हो जायगा, अर्थात् उसकी पूर्णकामता सर्वज्ञता आदि असिद्ध हो जायेंगे । 'लौकिकेश्वरवदि-तरथा'[१] इस सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ईश्वर और लौकिक पुरुष में भेद स्वीकार करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में भी पुरुषों से भिन्न ईश्वर नामक कोई तत्त्व है यद्यपि वह एक प्रकार का पुरुष ही हो परन्तु कुछ तो विशेषता है ही । इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व और अस्तित्व विषयक विचार के आधार पर सांख्य को दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है-- सेश्वर सांख्य । प्रथम जो पुराणों महाभारतादि में प्रतिपाद्य है और जिसे सांख्य सूत्रकार ने भी स्वीकार किया है अर्थात् प्राचीन सांख्य । दूसरा निरीश्वर या आधुनिक सांख्य जो सांख्य दार्शनिकों ईश्वरकृष्ण वाचस्पति मिश्रादि को भी मान्य है ।

पौराणिक और महाभारतादि में प्रतिपादित सांख्य सेश्वर तो है ही साथ ही वह सृष्टि को ईश्वराधिष्ठित मानता है अर्थात् प्रकृति स्वत: सृष्टि करने में पर्याप्त समर्थ नहीं, उसे ईश्वर की सहायता की अपेक्षा रहती है ।सभी पुराणों में पुराणकार ने एतादृश सृष्टि का प्रतिपादन किया है । इनसे भिन्न सांख्यसूत्रकार यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु कर्मफल देने में या सृष्टि में ईश्वर को प्रकृति की अपेक्षा नहीं यह तो पूर्व ही स्पष्ट हो चुका है ।

पौराणिक सांख्य से भिन्न निरीश्वर या आधुनिक सांख्याचार्यों अपने ग्रन्थों में ईश्वर का उल्लेख ही नहीं करते । निरीश्वर सांख्य से तात्पर्य ईश्वरकृष्ण और उनके पश्चाद्भावी ग्रन्थकारों

---

१ सांख्यसूत्र , ५।४,पृ०२६१

से है । उन ग्रन्थों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके युग में या यह कहना चाहिए कि उनकी दृष्टि में ईश्वर नामक कोई तत्त्व है ही नहीं । ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं में तत्त्वों की गणना करते समय ईश्वर का नाम भी नहीं लिया । प्रकृति पुरुष और प्रकृति के अवान्तर परिणामों का ही उल्लेख किया है[१] । इनके पश्चाद्भावी अन्य टीकाकारों ने भी ईश्वर पर किंचिदपि प्रकाश नहीं डाला ।

अब प्रश्न यह है कि इस ईश्वर का स्वरूप क्या है, जिसे विभिन्न प्राचीन सांख्यदार्शनिक स्वीकार करते हैं । ईश्वर का किसी सांख्याचार्य ने लक्षण नहीं किया । हां, योगसूत्रकार ने इसे स्पष्ट किया है,यद्यपि उनका ईश्वर पुरुष रूप ही है । उससे भिन्न तत्त्व नहीं । योगदार्शनिक ईश्वर को एक भिन्न तृतीय तत्त्व के रूप से नहीं वरन् कुछ विशेष गुणों से युक्त पुरुष मानते हैं । वे विशेष गुण कौन-कौन हैं यह योगसूत्रकार १।२४ से ही ज्ञात है[२] । अर्थात् अविद्यादि पंचक्लेशों धर्माधर्म रूप द्विविध कर्मों, इन कर्मों के फलस्वरूप होने वाले पाप और पुण्य फल एवं उन फलों से बनने वाले संस्कार या वासनाएं, इन सभी से सर्वथा असंस्पृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर संज्ञा को प्राप्त करता है । यद्यपि पुरुष चेतन होने से क्लेशादि से सर्वथा विलग है, क्योंकि क्लेशादि वस्तुत: मन या चित्त के धर्म हैं,परन्तु चित्त के होने पर भी पुरुष के कहे जाते हैं जैसे युद्ध में प्राप्त जय और पराजय वस्तुत: सैनिकों की होने पर भी उनके स्वामी राजा की कही जाती है । अत: पुरुष में क्लेशादि का उपचारमात्र है,परन्तु ईश्वर क्लेशादि के उपचरित भोग में भी सर्वथा

---

१ सांख्यकारिका ३,पृ०९३

२ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष: ईश्वर:" --योगसूत्र १।२४

असम्बद्ध है । इस प्रकार सूत्रकार का अभिप्राय यहां उपचरित भोग के सम्बन्धाभाव से है । हां, एक संशय यह है कि प्रकृतिलीन और विदेह उपासकों[१] को भी सिद्धावस्था में उपर्युक्त भोगादि का परामर्श नहीं रह जाता, अत: उनकी भी ईश्वर संज्ञा होनी चाहिए । ईश्वर से उन विविध उपासकों की भिन्नता है । ईश्वर में भोगों का सम्बन्धाभाव सार्वकालिक है, परन्तु इन प्रकृतिलीनादि उपासकों का किंचित्कालिक[२]। वे सिद्धावस्था के पूर्व तक भोगों से सम्बद्ध रहते हैं । अत: उन्हें ईश्वर नहीं कह सकते । पंचदशीकार विद्यारण्य का भी पुरुषविषयक ऐसा ही मत है ।इसप्रकार ईश्वर पुरुष विशेष है । पुरुष इस अर्थ में कि वह भी पुरुष की भांति चिच्छक्ति है, परन्तु इनमें भिन्नता भी है।पुरुष क्लेशादि को अविद्या-वश आरोपित कर लेता है, परन्तु ईश्वर उन सभी से सर्वथा असंस्पृष्ट है । इसी भिन्नता के कारण ईश्वर को पुरुष ही न कहकर पुरुष विशेष अर्थात् कुछ विशेष गुणों से युक्त पुरुष कहा है ।

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को पुरुष विशेष क्यों न कहें? उनको 'ईश्वर' संज्ञा की क्या आवश्यकता ? ईश्वर में निरतिशय ऐश्वर्य है अत: इसे ईश्वर कहते हं । जहां ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है वही निरतिशय ऐश्वर्य है[३] । यह ऐश्वर्य ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी

---

१ जहां तक प्रकृतिलीन और विदेहों का प्रश्न है, आचार्यों का इस विषय में मतभेद है, परन्तु साधारण रूप से पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय रूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं वे विदेह और प्रकृति महत्, अहंकार, और पंचतन्मात्ररूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं, वे प्रकृतिलीन उपासक कहे जाते हैं ।

२ पंचदशी, पृ० २७३ ।

३ योगभाष्य, पृ० १३६ ।

का नहीं[१]। इस प्रकार ईश्वर तत्त्व योगियों की एक विशिष्ट मान्यता है।

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान

ईश्वरविषयक विचार में भिन्नता होने के कारण ही सांख्य और योगदर्शन समानतन्त्र होने पर भी कुछ भिन्न हैं। परन्तु योगीजन ईश्वर को क्रिया-वासनाओं आदि से सर्वथा विमुक्त पुरुष ही मानते हैं। यह तो स्पष्ट हो चुका है। उनका ईश्वर न कर्ता है और न भोक्ता ही। इन सभी क्रियाओं का उसमें पूर्ण अभाव है। अर्थात् सर्वथा निष्क्रिय होने से ईश्वर निरर्थक सा प्रतीत होता है। योगियों का ईश्वर को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है, यह जानना आवश्यक है। सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग का एक परिणाम है। इस संयोग में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। प्रकृति स्वतन्त्र है, उसका अधिष्ठातादि भी ईश्वर नहीं हो सकता। इस विषय पर सृष्टि प्रकरण में विचार किया जायगा, परन्तु यह मानना ही होगा कि ईश्वर का सृष्टि में कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रश्न यह है कि जब ईश्वर सृष्टि के सम्बन्ध में पूर्णतः निरर्थक या निष्प्रयोजन है। अतः ईश्वर की मान्यता व्यर्थ ही है, ऐसा नहीं। ईश्वर का एक मुख्य प्रयोजन है योगाभिमत ईश्वर भक्ति योगीजन ईश्वरप्रणिधान या भक्ति से भी ज्ञानप्राप्ति मानते हैं। अर्थात् ईश्वर-भक्ति भी ज्ञानप्राप्ति का साधन है और ज्ञान के पश्चात् मोक्ष सुकर है। अतः अन्ततोगत्वा ईश्वर की भक्ति मोक्षप्राप्ति का एक उपायविशेष है। ज्ञान और कर्म मार्गी होने पर भी उस स्थल पर उनके

---

१ "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" --योगसूत्र १।२५, पृ० १४४

भक्तिमार्गी विचार पर भी प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार भक्तिमार्ग में ईश्वर रूप एक आराध्य देव का होना अत्यन्त आवश्यक है । जिसको सर्वात्म समर्पण करके उसी का दिन-रात ध्यान किया जाय । इस ध्यान के पूर्ण पक्वावस्था को प्राप्त हो जाने पर संप्रज्ञातादि विभिन्न समाधियां और तत्पश्चात् ही विवेकज्ञान की प्राप्ति होगी । इसी विवेकज्ञान से मोक्ष या अपवर्ग सिद्ध होगा । इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के ईश्वरप्रणिधान रूप साधन की सार्थकता के लिए ईश्वर का पृथक् अस्तित्व मानना परमावश्यक है । योगदर्शन में ईश्वर का मुख्य यही प्रयोजन है । इसपर ईश्वरप्रणिधान रूप साधन के विवेचन के मध्य में सम्यक् विचार होगा ।

-0-

द्वितीय अध्याय

-0-

प्रमेयों का सृष्ट्यादि विषयक विचार

आचार्य कपिल और पतंजलि का सृष्टिविषयक मत

सृष्टि का प्रयोजन और कारण

(क) सृष्टि का प्रयोजन

(ख) सृष्टि का कारण

(ग) सृष्टि के अन्य कारण

सृष्टि की निवृत्ति

इन्द्रियों की उत्पत्ति

(क) उत्पत्तिविषयक आचार्य कपिल और पतंजलि का मत

(ख)सूत्र के वृत्तिकारों का एतद्विषयक मतभेद

(ग)कारिकाकार और टीकाकारों का विज्ञानभिक्षु से मतभेद

षोडश करणों में बुद्धि का प्राधान्य

(क) करण का स्वरूप और प्रकार

(ख) बाह्य करणों की अपेक्षा अन्तःकरणों का प्राधान्य

(ग) अन्तःकरणों में बुद्धि का प्राधान्य

-0-

द्वितीय अध्याय

-०-

प्रमेयों का सृष्ट्यादि विषयक विचार

आचार्य कपिल और पतंजलि का सृष्टि विषयक मत

प्रकृति से पंचमहाभूतपर्यन्त पच्चीस तत्त्वों का सृष्टिक्रम क्या है ? इसे यह सर्वथा निश्चित ही कहते हैं । सांख्यसूत्रकार ने १।६१ सूत्र में ही इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है । त्रिगुण स्वरूप प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र और एकादश इन्द्रियां और तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है । सूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने भी इस क्रम का समर्थन किया है । तत्त्वों का यह सृष्टिक्रम सभी योगदार्शनिकों को भी मान्य है । आचार्य पतंजलि ने किसी सूत्र से इस क्रम को स्पष्ट नहीं किया, परन्तु सूत्र १।४५[१] में उन्होंने सूक्ष्मता की पराकाष्ठा किस तत्त्व में है, इसका उल्लेख किया है । सबसे सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति या अलिंग है, यह तो सभी आचार्यों को मान्य है और साथ ही यह एक सामान्य विषय भी है, कारण कार्य से सूक्ष्म होता है, कारण को सदैव सूक्ष्म और कार्य को स्थूल होना चाहिए । अतः प्रकृति को सूक्ष्मतम मानने का अर्थ है, कि प्रकृति के परिणाम रूप से प्राप्त महदादि कार्य होने से स्थूल ही होंगे । प्रकृति ही सूक्ष्मतम होने से सभी अवान्तर तत्त्वों का कारण है । इस प्रकार यह निश्चय है कि प्रकृति ही आदि कारण है, परन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि इन तत्त्वों की सृष्टि का क्रम क्या है? हां इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने

---

१ 'सूक्ष्मविषयत्वंचालिंगपर्यवसानम्' —योगसूत्र १।४५, पृ० २३७

इस क्रम पर भी प्रकाश डाला है[१]। इस सूत्र के अतिरिक्त पतंजलि ने सूत्र २।१९[२] में सभी तत्त्वों को चार पर्वों में विभाजित किया है-- विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग। इन चारों पर्वों का सूत्र में क्रम से उल्लेख हुआ है। इससे तत्त्वों के सृष्टिक्रम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके भाष्य में भी इस क्रम का वर्णन हुआ है। लिंगमात्र अर्थात् महत्तत्त्व अलिंग प्रकृति में रहता हुआ सृष्टिकाल में उससे विभक्त होता है, उसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र महत् से उत्पन्न होता है[३]। यह मत सांख्याचार्यों से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वे महत् से अहंकारमात्र की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, पंच तन्मात्राओं की नहीं। क्या भाष्यकार का यह महत् से षडविशेष तत्त्वों की उत्पत्ति का सिद्धान्त उपयुक्त है, कदापि नहीं। भाष्यकार स्वयं भी १।४५ सूत्र के भाष्य में तन्मात्राओं का कारण अहंकार को और अहंकार का कारण महत् को स्वीकार करते हैं[४]। सभी सांख्य और योग-दार्शनिक इसी मत के पोषक हैं। तत्त्वकौमुदी के प्रसिद्ध टीकाकार उदासीन[५] ने भाष्यकार व्यास के मत को स्पष्ट किया। महत् अहंकार का साक्षात् कारण है परन्तु तन्मात्राओं का परम्परया अर्थात् महत् के आवेश से ही अहंकार तन्मात्राओं को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अतः साक्षात् कारण अहंकार होने पर भी महत् तन्मात्राओं का परम्परित कारण है। इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी सांख्य-दर्शनाभिमत क्रम के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। अतः सांख्य और योग दोनों ही आचार्यों का सृष्टिविषयक मत समान ही है[६]।

---

१ योगभाष्य, पृ० २३८

२ विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि २।१९, पृ० ३७७

३ योगभाष्य, पृ० २८६

४ ,, पृ० २३८

५ विवृतिचोषिणी, पृ० १७२

६ मनुस्मृति, पृ० १०-१६, श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० १०६

कारिकाकार ईश्वरकृष्ण[1] और उनके टीकाकार माठर,वाचस्पति आदि ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[2]। सांख्याचार्यों के अतिरिक्त योगदार्शनिकों ने भी इसी मत का समर्थन किया[3]। तत्त्वों के सृष्टिक्रम का तादृश उल्लेख स्कान्द,विष्णु,मार्कण्डेय आदि पुराणों[4] में भी हुआ है। मनुस्मृति[5] और सर्वदर्शनसंग्रह[6] में किया गया सृष्टि का वर्णन सांख्यसूत्रकार के मत के समान ही है। महाभारत में भी तादृश उल्लेख हुआ है।

सृष्टि का प्रयोजन और कारण

(क) सृष्टि का प्रयोजन :-

उपर्युक्त विवेचन से सृष्टि का क्रम ज्ञात है,परन्तु सृष्टि क्यों होती है, इसका क्या कारण और प्रयोजन है ? यह किंचित् स्पष्ट है नहीं। सांख्यसूत्रकार ने सृष्टि का कोई कारण नहीं बताया, सृष्टि के कारण के स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम प्रयोजन ही का उल्लेख किया है। सांख्यसूत्रों में द्वितीय अध्याय सृष्टि के प्रयोजन से ही प्रारम्भ होता है। सूत्रों के अतिरिक्त कारिकाओं में सृष्टि का प्रसंग उठते ही सर्वप्रथम प्रयोजन पर ही विचार हुआ है अत: कारण से पूर्व प्रयोजन पर ही विचार करना उपयुक्त है। द्वितीय अध्याय के प्रथम सूत्र 'विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' से ही ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के द्विविध प्रयोजन हैं -- एक परार्थ और दूसरा स्वार्थ। प्रश्न यह है कि ये दो प्रयोजन ही मानने चाहिए या कोई एक ही। परार्थ सृष्टि का क्या अर्थ है-- प्रकृति जगत् की सृष्टि क्यों करती है और पुरुष

---

१ कारिका २२,पृ०२२४

२ माठरवृत्ति,पृ०३६, तत्त्वकौमुदी,पृ०२२४

३ योगवार्तिक,सूत्र १।४५,पृ०१२२

४ मनुस्मृति,पृ०१३

५ सर्वदर्शनसंग्रह,पृ०६०

उससे पर या पूर्णरूपेण भिन्न है । अतः पर पुरुष के लिए होना ही परार्थ होना है और स्वार्थ का अर्थ है स्व अर्थात् प्रकृति स्वयं के लिए ही सृष्टि करती है । प्रकृति दूसरे के लिए सृष्टि करे, यह तो उपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु वह पर (पुरुष) जो नित्यमुक्त और निष्क्रिय है, स्वभाव से ही जो मुक्त है, उसे सृष्टि रूप भोग्य से क्या प्रयोजन ? जिस पुरुष को मोक्ष स्वतः सिद्ध उसके मोक्ष के लिए ही सृष्टि हो, यह सर्वथा अयुक्त है । साथ ही सांख्य--योगदार्शनिक पुरुष को सत्त्व, रजस् आदि गुणों से रहित मानते हैं, वह सर्वथा निर्गुण है । अतः दुःख से भी उसका कोई सम्पर्क न होगा । दुःख तो इन्हीं गुणों में से रजस् का परिणाम है । रजस् के अभाव में उसके परिणाम का भी पुरुष में पूर्ण अभाव होगा । अतः जब पुरुष स्वतः दुःख से सर्वथा असंस्पृष्ट है, तो दुःख से उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यदि पुरुष के मोक्ष का प्रसंग ही नहीं, तब इन सभी आचार्यों ने कैसे इसका प्रतिपादन किया । सूत्रों में ही नहीं, कारिकाओं में सृष्टि को परार्थ या पुरुष के मोक्षार्थ माना गया है । पुरुष यद्यपि मुक्त है, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर वह बद्ध हो जाता है । अर्थात् अज्ञानवश वह बुद्धि के विभिन्न कार्यों--दुःखसुखादि को स्वयं में आरोपित करके स्वयं को ही इन दुःखों का भोक्ता समझ बैठता है । अतः मोक्ष होने पर उसे कष्ट भी होता है । इस प्रकार इसी अज्ञान के निवारणार्थ या यह कहिए कि आरोपित दुःखादि से मुक्ति के लिए ही सृष्टि के प्रयोजन रूप से पुरुष के मोक्ष का प्रतिपादन हुआ । इसी तथ्य का प्रतिपादन सांख्यप्रवचनभाष्य में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने किया[१] । साथ ही प्रकृति के स्वार्थ प्रयोजन का भी उल्लेख हुआ है । प्रकृति स्वयं अपने लिए

---

१ `स्वभावतो दुःखबन्धादिमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिबिम्बरूपदुःखमोक्षार्थं प्रतिबिम्बसम्बन्धेन दुःखमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वम्' ,पृ०११४

सृष्टि करती है अर्थात् त्रिगुणात्मिका होने से प्रकृति में दु:ख वस्तुत: रहता है । इसी दु:ख का वास्तविक अधिष्ठान होने से प्रकृति की प्रवृत्ति भी उपयुक्त ही प्रतीत होती है ।

सृष्टि के प्रयोजनपरक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि के दो ही प्रयोजन हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन विविध प्रयोजनों का पर्यवसान वस्तुत: एक में ही है और वह है त्रिविध दु:खों का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश । सृष्टि परार्थ अर्थात् पुरुष के मोक्ष (दु:ख के नाश) और प्रकृति में स्थित दु:ख क से मोक्ष के लिए ही है । प्रश्न यह है कि क्यों न सृष्टि को किसी एक के लिए ही मान लें । प्रकृति और पुरुष दोनों का नहीं । परन्तु यह सम्भव नहीं, सृष्टि को पुरुष मात्र के लिए मानने पर प्रकृति के अभाव में पुरुष का मोक्ष सम्भव न होगा,क्योंकि मोक्षप्राप्ति के पूर्व विवेकज्ञान का अधिगम अनिवार्य है और विवेकज्ञान प्रकृति और पुरुष दोनों के रहने पर ही सम्भव है,क्योंकि सांख्याभिमत ज्ञान नैयायिकों की भांति षोडश पदार्थों का ज्ञानमात्र नहीं,वरन् प्रकृति पुरुष के पार्थक्य का ज्ञान अर्थात् `अहमन्योप्रकृतिरन्या' ऐसी अनुभूति या ज्ञान को ही विवेक कहते हैं । दोनों का पार्थक्य ज्ञान दोनों में से किसी एक की भी अनुपस्थिति में सर्वथा असम्भव है,अत: इन दोनों के लिए सृष्टि मानना ही उचित है । २१ वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति और पुरुष की परस्पर अपेक्षाभाव का प्रतिपादन किया है-- अर्थात् प्रधान के दर्शन के लिए और पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष का संयोग उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अंधे और लंगड़े का संयोग[१] । इस प्रकार प्रधान का दर्शन पुरुष को ही अत: दर्शन के लिए पुरुष को प्रधान की अपेक्षा है और पुरुष के

---

१ `पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग: ।।

कैवल्य सम्पादन के लिए पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा होता है, क्योंकि कैवल्य विवेकज्ञान का फल है । अत: इन दोनों के परस्पर सापेक्ष होने से सृष्टि इन दोनों के लिए ही होती है । जिस प्रकार अंधे और लंगड़े व्यक्तियों में दोनों के ही विकलांग होने से इन दोनों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु इनका प्रयोजन एक होना चाहिए, यदि इन दोनों का गन्तव्य एक ही स्थान हो तब तो वे दोनों साथ-साथ जा सकते हैं, यदि इनका गन्तव्य ही भिन्न है, इनका संयोग या यों कहिए इनका परस्पर सहयोग भी असम्भव होगा, क्योंकि दोनों का लक्ष्य भिन्न है और लक्ष्य भिन्न होने पर मार्ग भी भिन्न-भिन्न होंगे । ऐसी दशा में परस्पर सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता । यह दृष्टान्त उपयुक्त ही है, यद्यपि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में यह पूर्णरूपेण घटित नहीं होता अर्थात् पुरुष के मुक्त होने से उसका कोई प्रयोजन न होगा और प्रकृति के जड़ होने से उसके भी प्रयोजन का प्रश्न न होगा । जड़ का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है, परन्तु फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से पुरुष के लिए सृष्टि का सिद्धान्त उपयुक्त ही है, क्योंकि अज्ञानवश पुरुष बद्ध हो जाता है । अत: उसकी मुक्ति आवश्यक है । भोग और अपवर्ग रूप विविध पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सृष्टि का होना अनिवार्य है । यद्यपि प्रकृति पुरुष का अपेक्षाभाव शास्त्रप्रतिपादित है, परन्तु इस अपेक्षा के अन्तर्गत प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं, प्रकृति के जड़ होने से है । पुरुष को प्रकृति के दर्शन के लिए प्रकृति की अपेक्षा है, परन्तु उसमें प्रकृति का कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा, पुरुषमात्र के भोग और मोक्ष के लिए सम्पूर्ण दृश्य या भोग्य प्रकृति को मानना आवश्यक है, परन्तु जहां तक प्रयोजन का प्रश्न है, इतना तो मानना ही होगा कि प्रकृति की प्रवृत्ति परार्थ या परस्वरूप पुरुष के लिए ही होती न कि स्वार्थ । प्रकृति त्रिगुण-स्वरूप अर्थात् त्रिगुणों का संघात रूप है और संघात रूप होने से परपुरुष के लिए ही हो सकती है साथ ही प्रकृति को स्वार्थ के लिए मानना उपयुक्त नहीं सृष्टि का मुख्य प्रयोजन है पुरुष की मुक्ति । पुरुष निर्गुण अपरिणामी है अत:

वह आरोपित दु:खादि से मुक्त हो सकता है,परन्तु प्रकृति जब स्वयं ही त्रिगुण-स्वरूप है,अत: कैसे दु:ख से मुक्त हो सकती है, दु:ख तो रजस् का परिणाम है, और जब रज उसका स्वरूप ही है तब उसके परिणाम या उससे मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: सृष्टि परार्थ ही होती है ।

अधिकतर आचार्यों ने परार्थ सृष्टि को ही अधिक महत्व दिया है-- सांख्यसूत्रों में कई स्थलों पर सृष्टि परार्थ ही कहा गई है[१] । स्वत: मोक्त्री न होने से प्रधान की सृष्टि परार्थ ही होती है । जिस प्रकार ऊंट के द्वारा ढोया गया कुंकुमादि स्वामी के लिए होता है न कि ऊंट के लिए । सूत्रकार के अतिरिक्त कारिकाकार ने भी ५८ वीं कारिका से लेकर ६० कारिका तक सृष्टि के परार्थ प्रयोजन पर ही अपने मत व्यक्त किए हैं । प्रकृति पुरुष के लिए प्रवृत्त होती है । ईश्वरकृष्ण द्वारा दिया गया यह दृष्टान्त उतना सटीक नहीं,क्योंकि दुग्ध की प्रवृत्ति स्वत: होती है या किसी के द्वारा अधिष्ठित होकर, इसी विषय में पर्याप्त मतभेद है । कुछ लोग दुग्ध की स्वत: प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं,परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । जड़ पदार्थ स्वत: कैसे प्रवृत्त हो सकता है और कुछ लोग दुग्ध की प्रवृत्ति का कारण गाय की बछड़े के वर्धन की इच्छा मानते हैं[२] । जिस प्रकार स्वेच्छा की पूर्ति के लिए जगत् में लोग प्रवृत्त होते हैं,उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है[३] । योगदार्शनिक भी इसी मत के पोषक हैं । तदर्थ अर्थात् पुरुष के लिए दृश्य या भोग्य महदादि की सृष्टि हुई, अत: पुरुष के भोग और मोक्ष रूप अर्थों के सम्पादन के लिए ही सृष्टि होती है[४] । योगसूत्र२।२१ में प्रतिपादित

---

१ प्रधानसृष्टि: परार्थं स्वतोऽप्यमोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्--सांख्यसूत्र३।५८,पृ०१६३
अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टि: प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् -- ,, ६।४०,पृ०२५३

२ 'सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा' : डा० आधाप्रसाद मिश्र-पृ० २३१

३ सांख्यकारिका,कारिका ५८,पृ०३१५

४ 'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा', योगसूत्र २।२१,पृ०३६६

इस मत का सभी अन्य टीकाकारों ने भी समर्थन किया है । अत: योगशास्त्रानुसार साथ ही सभी योगदार्शनिकों के अनुसार सृष्टि परार्थ या पुरुष के भोगापवर्ग रूप त्रिविध प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही होती है न कि प्रकृति के लिए । अत: सृष्टि का परार्थ प्रयोजन ही सभी को अभिमत है ।

अब सृष्टि का प्रयोजन स्पष्ट हो गया ,परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि करता कौन है ? सांख्ययोगदार्शनिक प्रकृति को ही सृष्टि की कर्त्री मानते हैं,परन्तु ऐसी शंका होती है कि प्रकृति तो जड़ और अचेतन रूप है,सृष्टि रूप क्रिया जड़ का धर्म नहीं हो सकता,अपितु किसी चेतन का ही धर्म होगा । इस प्रकार अवश्य ही सृष्टि का कर्ता ईश्वर होगा । ईश्वर स्वत: सृष्टि का कारण नहीं हो सकता वह तो निर्गुण और अपरिणामी है । सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका और परिणामरूप है, परिणामित्व के अभाव में ईश्वर को सृष्टि का कारण मानना उचित नहीं । यदि यह कहें कि ईश्वर स्वार्थवश सृष्टि करता है,तो यह भी उपपन्न नहीं,ईश्वर तो आप्तकाम या पूर्ण है, जब उसकी कोई इच्छा ही नहीं, या जिसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं वह स्वार्थवशेन सृष्टि कैसे करता है । अत: स्वप्रयोजन के अभाव में ईश्वर सृष्टि नहीं करता । यदि ऐसी शंका हो कि ईश्वर सर्वसाधारण प्राणियों पर करुण या दयाभाव से सृष्टि करता है, यह भी सर्वथा अनुपपन्न है । करुणा-भाव से सृष्टि का अर्थ है-- कोई करुणा का पात्र अवश्य होगा । जीव या पुरुष ईश्वर की करुणा के विषय नहीं बन सकते,क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के इन्द्रिय शरीर आदि की उत्पत्ति नहीं होती । इसके अभाव में जीव को कष्ट या दु:ख कैसे प्राप्त होगा । कष्ट होने पर ही उनपर करुणा या सहानुभूति हो सकती है । अत: ईश्वर को किसी प्रकार सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता[१], परन्तु जड़ होने से प्रकृति स्वत: सृष्टि करने में समर्थ नहीं अत: उसे प्रेरक

---

१ सांख्य तत्त्व कौमुदी,पृ०३१४

या अधिष्ठाता रूप से किसी चेतन की अपेक्षा है । यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर तो निष्क्रिय है, निष्क्रिय होते हुए वह अधिष्ठातृत्व रूप क्रिया कैसे कर सकता है । अत: ईश्वर को अधिष्ठाता भी नहीं कहा जा सकता ।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति अचेतन है, परन्तु अचेतन होते हुए भी वह सृष्टि करने में समर्थ है, क्योंकि सभी दार्शनिकों का मत है कि पुरुष को पूर्वजन्मकृतकर्मों के फलरूपेण ही दूसरा जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते हैं । जब पूर्वजन्मों के किए गए अचेतन या जड़ कर्म समूह फल देने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं तो ये अचेतन प्रकृति क्या सृष्टि रूप कार्य करने में समर्थ नहीं ? प्रकृति तो त्रिगुणात्मिका होने से स्वत: क्रियाशील है, क्योंकि क्रियाशीलता रजोगुण का धर्म है, अत: ऐसी प्रकृति पुरुष के सन्निधानमात्र से स्वत: प्रवृत हो सकती है । इस प्रकार प्रकृति ही स्वत: सृष्टि करती है ।

(ख) सृष्टि का कारण

प्रयोजन के पश्चात् कारण पर विचार करना आवश्यक है । सांख्यकारिका में कारिकाकार ने सृष्टि के कारण रूप से संयोग का उल्लेख किया है । योगसूत्रकार भी संयोग को सृष्टि का कारण मानते हैं । संयोग क्या है? यह किसी आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया । हां, योगसूत्रकार ने द्वितीय पाद में संयोग के स्वरूपावधारण का प्रयास किया है[1] । भाष्यकार व्यास ने इस सूत्र की अवतरणिका में यह कहा है -- 'संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते' अर्थात् स्वशक्ति दृश्य रूप बुद्ध्यादि और स्वामिशक्ति पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि या ज्ञान का हेतु जो सम्बन्ध(संयोग) वह संयोग कहा जाता है । भोग्य होने से महदादि दृश्य स्वशक्ति है, और भोक्ता होने से पुरुष

---

१ 'स्वस्वामिशक्त्यो: स्वरूपोपलब्धिहेतु: संयोग: ' --योगसूत्र२।२३,पृ०४०६।

स्वामिशक्ति । अत: स्व और स्वामी की क्रमश: भोग्य रूप से और भोक्ता रूप से उपलब्धि का कारणभूत सम्बन्ध ही संयोग है ।यह संयोग ही संसार रूप हेय का कारण है । संयोग से दृश्य की उपलब्धि होती है,अत: दृश्य की उपलब्धि ही भोग है और भोक्ता या द्रष्टा की उपलब्धि है अपवर्ग अर्थात् प्रकृति का दर्शन होते ही पुरुष को विवेकज्ञान हो जाता है । इस ज्ञान के पश्चात् मोक्ष या अपवर्ग की प्राप्ति होती है । इस प्रकार दृश्य का उपलब्धि का हेतु ही संयोग है,न परन्तु स्वामी की उपलब्धि का हेतु संयोग नहीं,वरन् उस संयोग का वियोग । अत: स्वस्वामि शक्तियों का सम्बन्ध ही संयोग है । योगदार्शनिकों ने संयोग के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला, परन्तु सांख्यदार्शनिकों ने इसे स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया । हां, यह संयोग किसके मध्य होता है और संयोग का भी क्या कारण और फल है ? यह निश्चित है । प्रकृति के त्रिविध गुणों का साम्य नष्ट होने पर अथवा क्षोभ होने पर ही सृष्टि होती है । यह क्षोभ प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है अर्थात् सृष्टि का कारणभूत संयोग प्रकृति और पुरुष के मध्यहोता है, परन्तु विज्ञानभिक्षु का मत इनसे भिन्न है । वे संयोग को क्षोभ का कारण न मानकर क्षोभ को ही साक्षात् संयोग का कारण मानते हैं[१] । यद्यपि यह उचित नहीं प्रतीत होता, ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होने की सम्भावना है,क्योंकि संयोग का कारण यदि क्षोभ को मानें,क्षोभ का कारण क्या होगा? इस अनवस्थादोष के निवारणार्थ संयोग को ही क्षोभ का कारण मानना अधिक उपयुक्त है । ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता,क्योंकि संयोग के कारण रूप से अविद्या का ग्रहण होता है । सभी आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में अविद्या को संयोग के कारणरूप से स्वीकार किया है[२] ।

---

१ `प्रकृते: क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्त:`
--सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०२२५

२ `अविवेकनिमित्तो वा पंचशिख: `सांख्यसूत्र ६।६८,पृ०२६४

`तस्य हेतुरविद्या` -- योगसूत्र २।२४,पृ०४१७

जहां तक अविद्या के भी कारण का प्रश्न है, अविद्या का कोई आदि नहीं । वह तो अनादि है[1]। इसके समान क्षोभ को अनादि नहीं कहा जा सकता, यदि क्षोभ अनादि होगा तो क्षोभ से होने वाली सृष्टि भी नित्य या अनादि होगी । सृष्टि के नित्य होने पर उसकी निवृत्ति या मोक्ष का प्राप्ति ही असम्भव होगी । अत: विज्ञानभिक्षु का उपर्युक्त सृष्टि सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ।

अत: संयोग ही हेय या संसार रूप दु:ख का कारण है । सुख-दु:ख बुद्धि के ही धर्म है न कि पुरुष के[2]। अत: द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का कारण है । अब शंका यह है कि जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का संयोग कैसे सम्भव है ? इस संयोग का मुलकारण है अविद्या, यह पूर्व ही स्पष्ट हो गया । अत: अविद्यावश पुरुष प्रकृति के द्वारा किए गए कर्मों का स्वयं को कर्ता समझता है । साथ ही संयोग होने पर अचेतन बुद्धि आदि चेतनवत् प्रतीत होते हैं । इस प्रकार पुरुष और प्रकृति में इतना तादात्म्य हो जाता है कि पुरुष स्वयं को विविध कर्मों का कर्ता और विविध दु:खादि फलों का भोक्ता समझने लगता है[3]। पुरुष कर्ता नहीं, कर्ता न होने पर भी पुरुष उस फल का भोक्ता माना जाता है, जिस प्रकार कि एक व्यक्ति अन्न उत्पन्न करता है और अन्य उसका भोग करते हैं[4]। अत: अविवेकजन्यसंयोग के कारण ही पुरुष स्वयं को भोक्ता समझने लगता है । इसके अतिरिक्त प्रकृति भी चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्रभावित होकर स्वयं भी लाल भासित होने लगती है, यद्यपि वस्तुत: उसपर किसी पदार्थ का कोई रूप नहीं आ सकता, भ्रान्तिमात्र होती है, उसी प्रकार बुद्धि सूक्ष्म स्फटिक मणि के समान

---

१ `अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषप्रसक्ते:` --सांख्यसूत्र ६।१२,पृ०२४२

२ `वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिते:` -- ,, १।५८,पृ०४२

३ सांख्यसूत्र--सूत्र १।१०५, सूत्र १।१०४, १।१०६,पृ०७७-७८ ।

४ `प्रकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्-- सांख्यसूत्र १।१०५, पृ ७८।

स्वच्छ होने से पुरुष के सन्निकर्ष से ही चेतन तत्त्व के समान भासित होती है, अतः जिस प्रकार स्फटिक का जपा से संयोग होना प्रत्यक्षतः भी असम्भव है, ठीक उसी प्रकार पुरुष प्रकृति का परस्पर संयोग सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होता है, तथापि इन दोनों भाव पदार्थों का किसी-न-किसी रूप में संयोग हो ही सकता है, यद्यपि वह सूक्ष्म ही है । प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् दो पदार्थ हैं । यह सभी सांख्ययोगाचार्यों की मान्यता है । संयोग या सम्बन्ध सदैव दो के मध्य ही होता है, अतः किसी एक में हो नहीं सकता । अतः इन दोनों जड़ और चेतन पदार्थों के मध्य संयोग होना कोई असम्भाव्य नहीं । राधानाथफुरवन ने भी इसी मत को विविध उदाहरणों से स्पष्ट किया है । अब प्रश्न यह है कि जब संयोग हो सकता है, तो क्यों न हो सदैव बना रहता । संयोग होता है परन्तु उसको भी प्रयोजन की अपेक्षा है । कोई ऐसा प्रयोजन हो, जिसको सम्पन्न करने के लिए इन पदार्थों को एक-दूसरे का सहायता की आवश्यकता हो, ऐसी स्थिति में उनका संयोग होता है और उस प्रयोजन की पूर्ति होने पर संयोग निवृत्त हो जाता है । अन्ततोगत्वा प्रकृति और पुरुष ये दोनों तत्त्व पृथक्-पृथक् (संयोग के पूर्व) पूर्व के समान ही स्थित रहते हैं । कारण के साथ-साथ संयोग का फल क्या है यह स्वतः ही व्यक्त हो गया । पुरुष स्वतः भोक्ता कर्तादि न होने पर भी स्वयं को कर्ता समझता है यह अविद्या के परिणामभूत संयोग का ही फल है[१] । पुरुष के सम्पर्क के से अचेतन महदादि चित् के प्रतिबिम्ब से वशीभूत होकर चेतन प्रतीत होते हैं और चेतन पुरुष गुणों के कार्यों को अपना समझ लेता है । इस विषय में सभी आचार्यों का मत समान है[२] ।

---

१ सांख्यकारिका २०, पृ०२१६ । सांख्यसूत्र २।५८, पृ०१६२

२ सांख्यचन्द्रिका ,पृ०१६

(ग) सृष्टि के अन्य कारण

संयोग के अतिरिक्त सृष्टि के कुछ अन्य कारण भी हैं, जैसे प्रारब्धादि कर्म । वे ही मुख्य प्रतीत होते हैं । इन कारणों के प्रवृत्त होने पर ही प्रकृति और पुरुष का संयोग सम्भव है । वस्तुत: कर्मों को ही सृष्टि का मुख्य कारण कहना चाहिए । कर्मों की सृष्टिकारणता सांख्ययोगदर्शनों में ही नहीं, वरन् अन्य धार्मिक ग्रन्थों और शास्त्रों में भी वर्णित है[1] । प्रश्न यह है कि कर्म सृष्टि का कारण कैसे बन सकते हैं । चित्त प्रतिक्षण परिणामी है, अत: वह कुछ-न-कुछ क्रिया अवश्य ही करता रहता है । उसकी ये क्रियाएं ही कर्म कहलाती हैं । अत: यह स्पष्ट है कि मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का और सब वृत्तियों का बीज है । अब प्रश्न यह है कि मन कर्म तो करता है, परन्तु उससे सृष्टि का क्या प्रयोजन ? कर्म करने से ही सृष्टि नहीं होती । कर्म किस प्रकार सृष्टि में सहायक है, यह स्पष्ट करना अत्यन्तावश्यक है । कर्म करने के पश्चात् उनके कर्माशय बनते हैं, धार्मिक कर्मों के बाद धर्म रूप और पापकर्मों के बाद अधर्म रूप संस्कार बनते हैं । चित्त में कोई भाव होने से उसके अनुरूप जो स्थितिभाव हो जाता है, उसका नाम ही संस्कार है । ये कर्माशय कुछ दृष्टजन्मवेदनीय और कुछ अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं । वे कर्म जो एक ही जन्म में फल दे देते हैं अर्थात् जिस जन्म में वे कर्म किए जाते हैं, उसी जन्म में फल भी देते हैं वे दृष्टजन्मवेदनीय हैं । परन्तु इनसे भिन्न अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्म एक जन्म में किए जाते हैं और दूसरे जन्म में भोगे जाते हैं । सामान्यत: कर्मों के त्रिविध प्रकार आचार्यों को मान्य हैं-- प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित । प्रारब्ध कर्म उन्हें कहते हैं जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया हो । इनसे भिन्न जो कर्म वर्तमानकाल में किए जा रहे हैं । उन कर्मों को क्रियमाण

---

१ 'कर्माकृष्टेर्वाऽनादित:' -- सांख्यसूत्र ३।६२, पृ०१६४

कर्म कहते हैं । ये कर्म ही फल देना प्रारम्भ करने पर प्रारब्ध कहलाते हैं । संचित कर्म उन्हें कहते हैं,जो अतीत में किए जा चुके हों,परन्तु अभी फल देना प्रारम्भ न किया हो । संचित कर्म जन्मजन्मान्तरों तक चलते रहते हैं । अत: यह स्पष्ट है कि कर्म फल अवश्य देते हैं । कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता,चाहे वह इस जन्म में किया गया हो अथवा पूर्व जन्मों में । अत: कर्म सदैव फलदायक होते हैं और जिस प्रकार का कर्म होगा उसी प्रकार का फल भी । यदि हिंसात्मक या पापकर्म है,उस कर्म से तादृश या पापफल ही प्राप्त होगा और पुण्यात्मक कर्मों से पुण्य फल । इस प्रकार इन कर्मों के द्विविध फल हो सकते हैं, परन्तु योगसूत्रकार और उनके अन्य टीकाकारों ने इसके त्रिविध फल स्वीकार किए हैं-- जाति,आयु और भोग । जाति का अर्थ है जन्म अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा ही द्वितीय जन्म का निर्णय होता है, अर्थात् द्वितीय जन्म में प्राप्य शरीर ही जाति है, आयु का अर्थ है-- उस शरीर का स्थितिकाल और भोग का अर्थ है-- उस जन्म में सुखदु:ख की प्राप्ति[१] । विशेषता यह है कि अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों के ही जाति आदि त्रिविध फल हैं न कि दृष्टजन्यवेदनीय कर्मों के भी । ये कर्म जाति रूप फल नहीं दे सकते, जाति तो दूसरे जन्म में ही सम्भव है अत: ये कर्म भोग और आयु रूप द्विविध फल ही देते हैं ।

इन त्रिविध फलों के भोगने के लिए ही सृष्टि आवश्यक है । सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष सर्वथा असंस्पृष्ट है, अत: सृष्टि के अभाव में महदादि का भी पूर्ण अभाव है,उस अवस्था में जात्यादि फलों को भोगेगा कौन ? कर्म तो महदादि के धर्म हैं, वे ही इनका फल भी प्राप्त करेंगे । अत: फलप्राप्ति के लिए सृष्टि का होना अनिवार्य है । इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म फलोन्मुख होने पर प्रकृति को सृष्टि करने को बाध्य करते हैं[२] । अत: कर्म ही सृष्टि का कारण है ।

---

१ `सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा: ` --योगसूत्र २।१३,पृ०३१८

२ `कर्मविचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्` -- सांख्यसूत्र २।५१,पृ०१६०

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म भी सृष्टि का कारण है, परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि में वैचित्र्य या विभिन्नता क्यों है । इसका भी कारण कर्म ही है । सभी के कर्म भिन्न-भिन्न हैं, धर्माधर्म भेद से । अत: कर्मों के में विचित्रता होने से सृष्टि में भी विचित्रता होना स्वाभाविक ही है, अर्थात् सृष्टि में (जगत् में) कोई दु:खी, कोई सुखी आदि होते हैं । सांख्यसूत्रों में इसे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है --

'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।'[1]

यह अवश्य है कि यदि कर्म सदैव फलदायक है तब तो समाधि भी सम्भव न होगी, क्योंकि मुक्ति के पूर्व किए गए कर्मों के फल भोगने के लिए सृष्टि आवश्यक होगी । इस प्रकार कर्म कभी समाप्त न होंगे और सृष्टि परम्परा चलती रहेगी । यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि सभी दार्शनिक कर्मों का क्रियायोग अभ्यासवैराग्यादि उपायों से दाह या नाश स्वीकार करते हैं । अभ्यासादि के द्वारा क्लेशों का क्षय या चित्तवृत्तियों का उपशम होता है । यह पंचम अध्याय में स्पष्ट किया जायगा । क्लेशों के दग्धबीजभावत्व को प्राप्त हो जाने पर उससे होने वाले कर्मों का दाह तो स्वाभाविक ही है । क्लेश तो कर्मों के मूल ही है, क्लेश होने पर ही कर्म होते हैं और कर्म से ही कर्माशय या संस्कार बनते हैं, अत: चित्त के समाहित होने पर या क्लेशों के तिरोभाव हो जाने पर क्रियमाण कर्मों के अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता, शेष है संचित कर्म । जहां तक संचित कर्मों का प्रश्न है ये भी समाहित चित्त में नहीं रह सकते । असंप्रज्ञात समाधिकाल में चित्त के संस्कारों का भी पूर्ण निरोध हो जाने पर निरोध संस्कार मात्र शेष रहते हैं, अत: संचित कर्मों के संस्कार कहां रहेंगे ? चित्त में उनके लिए स्थान नहीं, इस प्रकार ये कर्म भी दग्धबीजभाव को प्राप्त करके निष्फल हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्म ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् तक भी फल देते रहते हैं ।

---

१ सांख्यसूत्र ६।४१, पृ० २५३

प्रारब्ध कर्म के फलभूत जाति, आयु और भोग आदि फलों के सम्पन्न होने के पश्चात् ही समाप्त होते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने पर साधक का चित्त निरुद्ध हो जाता है, परन्तु वह सभी कर्म करता रहता है, यद्यपि उन कर्मों का फल नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उन कर्मों के मूल में क्लेश नहीं । उस अवस्था में उसके सभी कार्य निस्पृह होते हैं, साधक की इस अवस्था को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं, उसको वस्तुत: जीवित रहने पर भी मोक्ष प्राप्त है और जब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं, उसका भोग करने के लिए उसे शरीरधारण करना पड़ता है और प्रारब्ध समाप्त होते ही शरीर पात होकर मोक्ष या विदेहमुक्ति भी प्राप्त हो जाती है । इसलिए यह आवश्यक नहीं कि कर्म सदैव फलदायक ही हो । यदि फल निष्कामभाव से किया गया है तो वह निष्फल हो सकता है । सांख्ययोगदर्शनों का यही कर्म गीता के निष्काम कर्मयोग के नाम से प्रसिद्ध है । अत: कर्म भी सृष्टि के कारण है । ये ही प्रकृति की सृष्टि करने के लिए बाध्य करते हैं ।

सृष्टि की निवृत्ति

जहां तक संयोग या सृष्टि की निवृत्ति का प्रश्न है, जिस प्रयोजन से सृष्टि होती है, उसके सम्पन्न होने के पश्चात् ही वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् पुरुष का भोग और अपवर्ग सम्पन्न होने पर भी संयोग निवृत्त होता है । ज्योंही पुरुष को प्रकृति का दर्शन होता है, या उसे 'अहमन्योऽप्रकृतिरन्या' इस प्रकार का ज्ञान होता है, तादृश विवेकज्ञान से पूर्वाविद्या का निराकरण[१] और तत्पश्चात् अविद्या रूप कारण के अभाव में संयोग भी असंभव। अत: संयोग के अभाव में सृष्टि का अस्तित्व कैसे? इस प्रकार सृष्टि भी निवृत्त

---

१ 'दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या । सति संयोगेऽपि ययो: प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।' --का०६६, पृ०३२७

हो जाती है । अब प्रश्न यह है कि प्रकृति सभी पुरुषों के लिए एक साथ निवृत्त होती है अथवा क्रम से । सांख्ययोग दोनों दार्शनिक प्रकृति की सभी पुरुषों के प्रति एक साथ निवृत्ति को नहीं स्वीकार करते[१] । जहां तक सृष्टि की निवृत्ति का प्रश्न है, जिस पुरुष के सभी भोग और अपवर्ग रूप विविध पुरुषार्थ की सिद्धि हो चुकी हो उस पुरुष के प्रति सृष्टि निवृत्त हो जाती है । अर्थात् ऐसे पुरुष को महदादि का दर्शन नहीं होता, परन्तु उससे भिन्न असिद्ध पुरुषों के प्रति सृष्टि उसी प्रकार स्थित रहती है[२] ।

इन्द्रियों की उत्पत्ति

(क) उत्पत्तिविषयक आचार्य कपिल और पतंजलि का मत

इन्द्रियां प्रकृति का ही अवान्तर परिणाम हैं, अत: चित्त या बुद्धि के परिणाम होने के साथ-साथ बुद्धि को बाह्य पदार्थों की ज्ञानप्राप्ति में उनकी सहायता की आवश्यकता है । अत: चित्त या यह कहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन्द्रियों का बहुत महत्त्व है, इन्द्रियां हैं, यह ज्ञात है परन्तु कौन है, इस विषय में कुछ विवाद है । लगभग सभी दार्शनिक इन्द्रियों के उपादान रूप से अहंकार को स्वीकार करते हैं । सांख्य-सूत्रकार[३] ने इसी तथ्य को स्वीकार किया, परन्तु उनके सूत्र से प्रतीत होता है कि आचार्य किसी मत का खण्डन करके स्वमत की स्थापना कर रहे हैं । किस दार्शनिक के मत का उन्होंने खण्डन किया यह नहीं कहा । हां, विज्ञान-भिक्षु ने प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में `परप्रतिपत्तिं निराकरोति' ऐसा

---

१ `अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य' --सांख्यसूत्र ३।५६, पृ० १६३

२ `अन्यसाधारणत्वेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धस्तत्त्वस्येवोपरागः' --सांख्यसूत्र ३।६६ पृ० १६६

३ `न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः' --सांख्यसूत्र ५।८४, पृ० २१६

लिखा है । अनिरुद्ध ने भी `केचित् भौतिकानीन्द्रियाणीति तन्निरस्यति' ऐसा कहा है । जहां तक इन्द्रियों की भौतिकता का प्रश्न है, नैयायिक ही उन्हें भौतिक कहते हैं । उनकी इन्द्रियां भौतिक हैं । यदि प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् अप्रकाशक महाभूतों से उत्पन्न हैं, वह प्रकाशक कैसे हो सकती है । उन्हें पंचभूतों की भांति प्रकाश्य होना चाहिए । अत: इन्द्रियां बाह्य विषयों को प्रकाशित कैसे करेंगी । ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिकों के इसी मत के खण्डन करते हुए सांख्यसूत्रकार ने उपर्युक्त सूत्र में इन्द्रियों के अहंकारिकत्व का प्रतिपादन किया ।

शंका होती है कि संसार में विलक्षणता है, इस लोक में विभिन्न प्रकार के प्राणी हैं, अत: उनकी इन्द्रियां भी विलक्षण हैं, अत: इन विभिन्न इन्द्रियों का उपादान कारण भी भिन्न-भिन्न होगा, यह शंका उचित नहीं । इन्द्रियों की भिन्नता होने पर उनके उपादान कारण भी भिन्न हों, यह आवश्यक नहीं[1] । इन्द्रियों का उपादान कारण अस्मिता ही है । हां, यत्र-तत्र इन्द्रियों के भौतिकत्व का कथन हुआ है वह निमित्ताश्रित अर्थात् इन्द्रियों का उपादान कारण पंचभूत नहीं हो सकते, परन्तु निमित्तकारण तो है ही । पंचमहाभूत इन्द्रियों के प्रधान निमित्त कारण है, अत: इस निमित्तता के प्राधान्य के आधार पर ही इन्हें उपादान कारण भी कहा जाता है । अत: इन्द्रियों की उत्पत्ति में पंचभूतों को मूलभूत क्रिया की हेतुता है । इसी कारण[2] भूतों को इन्द्रियों का कारण कहा गया है । वस्तुत: ये आहंकारिक ही हैं[3] । सूत्रकार के इस मत का वृत्तिकारों ने भी समर्थन किया । सांख्यसूत्रकार के समान

---

१ `न देशभेदेऽप्यन्यौपादानतास्मदादिवन्नियम:' --सांख्यसूत्र ५।१०९, पृ० २२९

२ `निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेश:' --सांख्यसूत्र ५।११०, पृ० २२९

३ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० २२९

पतंजलि ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु २।१९ सूत्र[१] में प्रतिपादित चार प्रकार के पदार्थों में से प्रथम विशेष में ही एकादशेन्द्रियों का अन्तर्भाव हो जाता है[२]। अत: पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और मन अस्मिता या अहंकार के ही परिणाम है। अत: इन्द्रियां आहंकारिक हैं। आचार्य व्यास के इस मत का ही अन्याचार्यों ने भी समर्थन किया है[३]।

अत: इन्द्रियां आहंकारिक हैं, यह उपयुक्त है परन्तु अहंकार भी सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों के प्राधान्य के आधार पर त्रिविध होता है[४]। इन तीनों में किस अहंकार से इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं-- इस विषय में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्य इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से और कुछ को राजसाहंकार से उत्पन्न मानते हैं। जहां तक सूत्रकार का प्रश्न है, उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न ही माना है। अर्थात् एकादश इन्द्रियों का सात्त्विक गण वैकृत अहंकार से उत्पन्न होता है[५]। वैकृताहंकार क्या है? यह तो स्पष्ट है, वस्तुत: सात्त्विकाहंकार को ही वैकृत संज्ञा दी गई है[६]। अत: सूत्रकार ने इन्द्रियों के उपादानरूप से सात्त्विकाहंकार को ही स्वीकार किया है[७], परन्तु योगाचार्य ने इसे स्पष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया। हां, कुछ योगवृत्तिकारों ने इसे स्पष्ट किया। वे ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विकाहंकार से, कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति राजसाहंकार से मानते हैं, मन उभयात्मक है, अत: सत्त्व रजस् दोनों ही उसके उपादान रूप से गृहीत हैं।

---

१ योगसूत्र २।१९, पृ०३७७
२ योगभाष्य, पृ०३७८
३ योगवार्तिक, पृ०२०२
४ मार्कण्डेय पुराण, पृ०२९८
श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ०१०६
५ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०३७, माठरवृत्ति, पृ०४२
६ योगतत्त्ववैशारदी, पृ०२००
७ सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्, सांख्यसूत्र २।१८, पृ०१२२।

(ख) सूत्र के वृत्तिकारों का एतद्विषयक मतभेद

सूत्रकार सात्त्विकाहंकार को ही उपादान कारण मानते हैं, परन्तु उनके वृत्तिकारों ने भिन्न मतों को स्वीकार किया है। सूत्रों के आदि वृत्तिकार अनिरुद्ध ने सात्त्विकाहंकार से ही पंच ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन इन सभी की उत्पत्ति स्वीकार की, इस प्रकार सूत्रकार का समर्थन किया है[१]। उन्होंने सूत्र के एकादशकं पद को एकादश गण के अर्थ में ही स्वीकार किया है, परन्तु इनके विपरीत उनके परवर्ती आचार्य विज्ञानभिक्षु ने एकादशकं पद का अर्थ ग्यारहवां इन्द्रिय केवल मन से लिया है। अर्थात् मन ही सात्त्विकाहंकार का कार्य है न कि सभी इन्द्रियां। अतः डट् प्रत्ययान्त एकादशकं पद मनोमात्र का द्योतक है। यदि मन सात्त्विकाहंकार का कार्य है तो इन्द्रियों का उपादान क्या होगा? राजसाहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों की तथा तामसाहंकार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है[२]। आचार्य ने अपने इस मत की पुराणवाक्यों से पुष्टि की है[३]। समष्टिरूप से इन्द्रियां अल्पत्व वाली होने से राजसाहंकार के कार्य रूप से ही स्वीकृत है, परन्तु स्मृतियों में व्यष्टिरूप से इन्द्रियां अधिक सत्त्ववाली होने से राजसाहंकार के कार्य रूप से कही गई हैं[४]। यही मत विज्ञानभिक्षु को ग्राह्य है। अग्निपुराण[५] में भी मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को तैजस् कहा गया है।

---

१ अनिरुद्धवृत्ति, पृ० ५६

२ सांख्यप्रवचनभाष्यं, पृ० १२२

३ श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० १०६-१०७

४ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १२२

५ अग्निपुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ५८

(ग) कारिकाकार और टीकाकारों का विज्ञानभिक्षु से मतभेद

विज्ञानभिक्षु के उपर्युक्त मत का कारिकाकार ने विरोध किया । कारिका २५ के पूर्वार्द्ध के रूप में उन्होंने सांख्यसूत्र २।१८ को ही स्वीकार किया है । हां कारिका में `सात्त्विकमेकादशक` के स्थान पर `सात्त्विक: एकादशक:` पद का प्रयोग हुआ । हो सकता है कि सांख्य-सूत्रों में एकादशकं पद का प्रयोग पूर्व सूत्र[1] में आए `तत्कार्यम्` पद की अपेक्षा से हो और कारिका में[2] प्रयुक्त एकादशक: पद उसके पूर्व की कारिका में प्रयुक्त `गण:` पद की अपेक्षा से । सूत्र और कारिका में केवल इतना ही अन्तर है परन्तु अर्थ दोनों का समान ही होना चाहिए । एकादशकं पद से मनोमात्र का ही नहीं, वरन् दशेन्द्रियों का भी ग्रहण होना चाहिए[3] । उदासीन ने भी इसी मत का समर्थन किया है । `एकादशक` शब्द एकादश संख्या परिमितगण का ही वाचक है न कि केवल मन का । यदि यह कहें कि एकादश शब्द में पूरणार्थक डट् प्रत्यय लगाने से `एकादश:` शब्द निष्पन्न हुआ और उसमें पुन: स्वार्थे `क` प्रत्यय लगाकर एकादशक शब्द बना । अत: एकादशक का अर्थ गण न होकर ग्यारहवां इन्द्रिय मन होगा, यह उपयुक्त नहीं । यदि एकादशक पद मनमात्र का वाचक है, मनस् शब्द नपुंसकलिंग में है, अत: कारिका में एकादशक: के स्थान पर एकादशकं का ही प्रयोग होना चाहिए । अत: वस्तुत: एकादशक: पद पूर्व की कारिका में प्रयुक्त गण के ही आधार पर प्रयुक्त हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी मत को स्वीकार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों के लक्षण में `सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं` पद

---

१ `एकादशपंचतन्मात्रम् तत्कार्यम्`, पृ० १२१, सूत्र २, २७

२ सांख्यकारिका २४, पृ० २३३

३ विद्वत्तोषिणी, पृ० १७७

४ [illegible]

का प्रयोग किया है[१]। इनके पूर्ववर्ती और पश्चाद्भावी सभी टीकाकार इसी मत केपोषक है[२]।

इस प्रकार कारिका के टीकाकारों का मत समान है। तत्त्वकौमुदी के टीकाकार उदासीन[३] ने विज्ञानभिक्षु के मत का खण्डन किया। विज्ञानभिक्षु ने पुराणवाक्यों के आधार पर मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को राजस् माना है, परन्तु यह उपयुक्त नहीं। एकादशकं पद का एकादशसंख्यापरिमितगण अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है न कि केवल मन। हां यह अवश्य है सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक है। अतः उत्कट सत्त्व प्रधान अहंकार से मन, मध्यम सत्त्वप्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां और निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन एकादशेन्द्रियों में सत्त्व की मात्रा समान नहीं। स्मृति और पुराणों में जो तैजस् से इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन है, वहां मन की अपेक्षा अल्प सत्त्व वाली होने के कारण इन्द्रियां तैजस् कही गई है। साथ ही यदि एक ओर कुछ पुराण इन्हें राजस सिद्ध करते हैं, कुछ स्कान्द,वायु आदि इसके विपरीत इन्हें सात्त्विक भी कहते हैं[४]। यही वंशीधर ,हरिराम शुक्लादि का भी मत है[५]। इन्द्रियां सात्त्विक होने से विषयों को प्रकाशित करती हैं। यदि विज्ञानभिक्षु के मत को ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् मन को सात्त्विक और इन्द्रियों को राजस मानें, मन तो सात्त्विक होने से विषय प्रकाशन करेगा ,परन्तु ज्ञानेन्द्रियां

---

३ तत्त्वकौमुदी,पृ०२३५

गौडपादभाष्य, पृ० २३ , जयमंगला,पृ०३३, युक्तिदीपिका,पृ०६८

शविद्वत्तोषिणी, पृ०१७७

४ स्कान्द पुराण, पृ०३६,वायु पुराण,पृ०६८

५ सांख्यतत्त्वविभाकर, पृ०३४३, 'सुषमा',पृ०१२८

राजस् होते हुए भी कैसे विषयों का प्रकाशन करेगी ? इन्द्रियों का विषय-प्रकाशन रूप कार्य प्रत्यक्ष सिद्ध है । अत: विषय प्रकाशनकरने के कारण इन्द्रियां भी सात्त्विक हैं । यह तो ठीक है, परन्तु यदि एकादशेन्द्रियों को सात्त्विक ही मानें, सात्त्विक होने से कर्मेन्द्रियों को भी ज्ञानेन्द्रियों की भांति विषय-प्रकाशन करना चाहिए । परन्तु कर्मेन्द्रियां प्रकाशन नहीं करतीं । वस्तुत: सभी इन्द्रियां सात्त्विक हैं, परन्तु सत्त्व की मात्रा की न्यूनता और आधिक्य के अनुसार ही कार्य करती है । कर्मेन्द्रियों में सत्त्व की मात्रा न्यून होने से वे प्रकाशन रूप कार्य में असमर्थ हैं । इस प्रकार कारिकाकार का मत भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । पंचदशीकार[1] विद्यारण्य भी ज्ञानेन्द्रियों को सात्त्विक और कर्मेन्द्रियों को राजस् ही मानते हैं । सायनमाधव[2] इन्द्रियों को सात्त्विक ही कहते हैं ।

त्रयोदश करणों में बुद्धि का प्राधान्य

(क) करण का स्वरूप और प्रकार --

सांख्यशास्त्र में करणों का विस्तृत विवेचन किया गया है । करण क्या है? यह तो उसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है । 'कृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर यह शब्द निष्पन्न हुआ, इसका अर्थ है-- 'करने का साधन' । अर्थात् जो साधकतम है वही करण है 'साधकतमं करणम्' इति हि पाणिनिसूत्रम् । इस प्रकार करण एक कारकविशेष है । कारक होने के लिए करण को किसी-न-किसी क्रिया या कार्य से अन्वित होना आवश्यक है -- 'क्रियान्वयि कारकमिति हि कारकलक्षणम्' । तत्त्वकौमुदीकार

---

१ पंचदशी -- प्रत्यक् तत्त्वविवेक प्रकरण, पृ० ५८

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ६६

को ऐसा ही अभिमत है[१]। अतः यह सिद्ध है कि करण क्रिया और कारक के मध्य का सम्बन्ध है[२]। सप्ततिसूत्रों में करण को पुरुषार्थ के उपाय या साधन रूप से कहा गया है, अर्थात् करण पुरुष के भोग और मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने में साधन ही नहीं, वरन् साधकतम या करण है[३]। अतः करण भी प्रधान के समान पुरुषार्थ के लिए प्रवृत्त होते हैं। अन्ततोगत्वा करण के सभी अर्थ एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं। वह है 'साधन'।

करण संख्या में कितने हैं और कितने प्रकार के होते हैं। ये प्रश्न स्वाभाविक हैं, परन्तु अधिक विवादास्पद नहीं। कुछ आचार्यों का इनकी संख्या के विषय में मतभेद अवश्य है। वार्षगण ११ करण मानते हैं, पंचाधिकरण आदि तान्त्रिक १० ही, पातंजल द्वादश और इन सभी से भिन्न सांख्यसूत्रकार ने त्रयोदश करण स्वीकार किये हैं[४]। इस विषय में अन्याचार्यों का मतैक्य है। यह नहीं समझना चाहिए कि इस विषय में सांख्य और योग इन द्विविध समानतन्त्रों में ही परस्पर विप्रतिपत्ति है। भिन्नता केवल इस बात की है कि सांख्यदार्शनिकों ने करणों की गणना करते समय महत् और मन को पृथक् दो तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया और योगदार्शनिक इन दोनों तत्त्वों को समान या एक मानकर ही द्वादश करण कहते हैं। इन दोनों की समानता के विचार से सांख्याचार्य भी 'मनस्' संज्ञा से ही कथन करते हैं, परन्तु करणों की गणना में इनका पृथक् उल्लेख किया है। आचार्यों ने इनकी संख्या के साथ-साथ इनका नाम से कथन भी किया है[५]। महत्, अहंकार, मन, पंचज्ञानेन्द्रियां और पंचकर्मेन्द्रियां ये ही १३

---

१ 'कारकविशेषः करणं न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह। का०३२, पृ०२५७।

२ 'करणमिति क्रियाकारकसम्बन्धधर्मोऽयं निर्देशः' — युक्तिदीपिका, पृ०११२

३ पुरुषार्थोपायसाधनसमर्थत्वात्करणमित्यभिधीयन्ते। -सुवर्ण सप्ततिसूत्र, पृ०४६

४ 'करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्' — सांख्यसूत्र २।३८

५ 'महदादि त्रयं पंच बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पंच कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति त्रयोदशविधं करणम्' — गौडपाद पृ०२६।

करण हैं । इनका करण संज्ञा से कथन क्यों होता है? यह तो स्पष्ट ही है । ये सभी करण पुरुषार्थ सम्पादन में साधकतम है[1] ।

करण मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं-- आभ्यन्तर और बाह्य । कौन-कौन अन्त:करण हैं और कौन बाह्य,इनके पृथक् कथन की सूत्रकार ने कोई आवश्यकता नहीं समझी,परन्तु वृत्तिकार अनिरुद्ध ने इन्हें स्पष्ट किया[2] । बुद्धि,अहंकार और मन अन्त: करण हैं और दश इन्द्रियां बाह्यकरण । अत: प्रश्न यह है कि करणत्व तो सभी में समान रूप से है, महत्,अहंकार और मन अन्त:करण क्यों कहे जाते हैं । ये त्रिविध करण शरीर के अन्दर स्थित होने के कारण ही, अन्त:करण कहलाते हैं[3] । ये त्रिविध करण बाह्यार्थों का ज्ञान करने में स्वत: समर्थ नहीं[4], अत: ये त्रिविध करण बाह्यार्थ के प्रकाशन के लिए वे बाह्य करण की अपेक्षा रखते हैं । इनके विपरीत बाह्य करण स्वत: बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करके उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं । अत: पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रियां बाह्य करण हैं । इन दोनों प्रकार के करणों में भिन्नता यह है कि बाह्य करण वर्तमानकालिक विषयों को ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् वर्तमानकाल में जिन पदार्थों से इन इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है, उन्हीं पदार्थों को ज्ञान करने में समर्थ है,परन्तु अन्त:करण तीनों कालों के पदार्थों को अपना विषय बनाते हैं[5] । इस मत का सभी आचार्यों ने समर्थन किया ।

---

१ 'पुरुषार्थाचरण क्रियाया: साधकतमत्वाद्यानि करणमित्यभिधीयन्ते' --सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १०

२ 'अवान्तराणि बुद्ध्यहंकारमनांसि । बाह्यानिदश चक्षुरादीनीन्द्रियाणि' --सांख्यसूत्र २।३८,पृ०६१

३ 'बुद्धिरहंकार मन:' इति शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्त:करणम् --तत्त्वकौमुदी, पृ० २६०

४ युक्तिदीपिका, पृ० ११०

५ सांख्यकारिका ३३ गौडपादभाष्य, पृ० ३०

(ख) बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करणों का प्राधान्य

इन त्रिविध करणों में बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करण ही प्रधान है, क्योंकि बाह्यकरण द्वार है और अन्त:करण द्वारि । बाह्यकरण अन्त:करणों के विषयों को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् विषयों के सम्बन्ध में होने वाले संकल्पादि में साधन होने से द्वार कहलाते हैं और त्रिविधान्त:करण उन करणों का अवगाहन करते हैं । अत: द्वारि कहलाते हैं । अत: इन्हीं की प्रधानता है । जिस प्रकार गृह के द्वार गृह में प्रवेश करने के द्वार मात्र हैं, गृह ही प्रधान है, उसी प्रकार १० इन्द्रियां हव द्वार हैं, अन्त: करणों के ज्ञान कराने के माध्यम मात्र है, प्रधान तो अन्त:करण ही है । अत: ये दश बाह्य करण पदार्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को अन्त:करणों को सौंप देते हैं । अत: बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करणों का ही प्राधान्य है[१] । आचार्य व्यास भी ध इन्द्रियों को द्वार या प्रणालिका रूप ही मानते हैं । प्रत्यक्ष के लक्षण में 'इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तुपरागात्' शब्द का प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है । महाभारत में भी शान्तिपर्व में इन्द्रियों को द्वार कहा गया है[२] । शंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में इस द्वारद्वारिभाव का समर्थन किया[३] ।

(ग) अन्त:करणों में बुद्धि का प्राधान्य

बाह्य करणों की अपेक्षा अन्त:करण अधिक प्रधान है, परन्तु अन्त:करण समान नहीं, इनमें भी मन की अपेक्षा अहंकार प्रधान, अहंकार की अपेक्षा बुद्धि और अन्ततोगत्वा बुद्धि ही प्रधान है[४] । अर्थात् करणों में गुण प्रधान

१ तत्त्वकौमुदी--कारिका ३५, पृ० २६६ 'द्वारि प्रधानम् ...बुद्धिरिति ।'

२ महाभारत--शान्तिपर्व, पृ० २३४।६

३ बृहदारण्यक भाष्य, पृ० ४।३७

४ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३५

भाव आपेक्षिक है[१]। प्रश्न यह है कि जब करणत्व सभी में समानरूप से है, बुद्धि ही क्यों प्रधान है । इस प्रश्न का समाधान सूत्र २।३९ से हो जाता है । `इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुठारवत्[२]` अर्थात् इन्द्रियों में भी साधकतमत्वरूप गुण विद्यमान होने से ये सभी करण हैं,परन्तु जिस प्रकार वृक्षच्छेदन रूप व्यापार में करणत्व प्रहार का ही है अर्थात् प्रहार के पश्चात् ही यह कार्य होता है । अत: गौण रूप से कुठार को भी करण कहा जाता है । उसी प्रकार सभी करणों में साधकतमत्व गुण होने से सभी को करण कहते हैं,परन्तु साक्षात् साधन होने से बुद्धि ही प्रधान है[३]। बुद्धि का प्राधान्य कारिका ३५ के `सान्त:करणा बुद्धि:` इन पदों से भी स्पष्ट है । जब `सान्त:करणा` पद के ग्रहण मात्र से बुद्धि का भी उसमें अन्तर्भाव हो जाता है तो बुद्धि का पृथक् ग्रहण किस कारण से हुआ । इसका कारण बुद्धि का प्राधान्य ही है । यही युक्तिदीपिकाकार तथा अन्याचार्यों का भी मत है । युक्तिदीपिकाकार ने तो बुद्धि का प्राधान्य एक उदाहरण से स्पष्ट किया है । जिस प्रकार `जगाम तं वनोद्देशं व्यास: सह महर्षिभि:[४]` इस वाक्य में महर्षि के ग्रहण के साथ ही व्यास का भी उसी में अन्तर्भाव हो जाता है,परन्तु व्यास के प्राधान्य के कारण उनका पृथक् ग्रहण हुआ, उसी प्रकार बुद्धि का भी अन्त:करणों में अन्तर्भाव होने पर भी पृथक् ग्रहण हुआ है । अत: यद्यपि मन और अहंकार की बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा प्रधानता है, परन्तु बुद्धि की अपेक्षा वे गौण ही है, बुद्धि ही प्रधान है[५]।

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ० १३५

२ `आपेक्षिको गुणप्रधानभाव: क्रियाविशेषात्` सांख्यसूत्र २।४५,पृ० १३५

३ `पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत्प्रधानम् । बुद्धिश्चास्य साक्षात्साधनं तस्यात्सैव बुद्धि:` तत्त्वकौमुदी कारिका ३७ ,पृ० २६८

४ युक्तिदीपिका,पृ० ११६

५ `यस्येन्द्रियापेक्षयाऽहंकारमनसो: प्राधान्यं बुद्ध्यपेक्षया तु तयोरंगत्वमेवेत्युपक्षिप्तं विद्वेषाभिणी` —कारिका ३५,पृ० १९६ ।

बुद्धि के प्राधान्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने अनेक हेतु दिये हैं । उनके अनुसार बुद्धि का प्राधान्य उसके व्यापक होने से ही सिद्ध है । बुद्धि सभी विषयों में इन्द्रियों या अन्य करणों के माध्यम से व्याप्त होती है । बुद्धि का अध्यवसाय धर्म सभी करणों में अनुस्यूत है तथा बुद्धि में ही सर्वकरण व्यापार का प्राकाश्य पर्यवसित होता है । यह उसकी अव्यभिचारिता है, अर्थात् सभी करणों में व्यापक होने से अथवा फल का व्यभिचारहोने से भी बुद्धि ही प्रधान है[१] । इसके अतिरिक्त बुद्धि ही सभी संस्कारों का आधार है । अर्थात् सभी करणों में साधारण होने से बुद्धि ही सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है । अत: ज्ञानजन्य संस्कार उसी में रहते हैं,चक्षुरादि में नहीं । यदि चक्षुरादि को सभी संस्कारों का आधार कहा जाय, यह उपयुक्त नहीं,क्योंकि चक्षुरादि को आधार मानने में अन्धे और बहरे व्यक्ति को भी पूर्वदृष्ट या श्रुत पदार्थों का स्मरण होना चाहिए, परन्तु ऐसा प्रत्यक्षत: असिद्ध है । बुद्धि में ही मन और अहंकार के लय हो जाने पर भी स्मरण रूप कार्य होता है,अत: बुद्धि ही प्रधान है । सभी संस्कारों का आधार होने के कारण बुद्धि की प्रधानता है[२] । चक्षुरादि के संस्कार मानने पर तो नष्टेन्द्रिय व्यक्तियों में संस्कार की उपलब्धि नहीं हो सकती,परन्तु वस्तुत: लोक में नष्टेन्द्रिय प्राणियों में भी संस्कार विद्यमान देखे जाते हैं[३] । आचार्य वंशीधर मिश्र ने भी सूत्रकार के इसी मत का समर्थन किया है[४] ।

स्मृति और अनुमान के आधार पर भी बुद्धि का प्राधान्य स्पष्ट कर सकते हैं[५] । चिन्तन रूप वृत्ति के कारण भी बुद्धि की

---

१ 'अव्यभिचारात्' सूत्र २।४१,पृ०१३४

२ 'तथाऽशेष संस्काराधारत्वात्' सांख्यसूत्र २।४२,पृ०१३४

३ "नष्टेन्द्रियाणामपि संस्कारलीनादिति" वृत्तिरुद्धृत, सूत्र २।४२

४ बुद्धिरेवाखिलसंस्काराधायकतया ऽपि प्राधान्यम्',सांख्यतत्त्वविभाकर,पृ०४२१

५ 'स्मृत्यानुमानाच्च',पृ०२४३ पृ०१३५

प्रधानता है । चिन्तावृत्ति ही ध्यान शब्द से कही जाती है । चिन्तावृत्ति ही सभी वृत्तियों में श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ वृत्ति के आधार रूप से भी बुद्धि की श्रेष्ठता स्पष्ट है[१] । चिन्तन बुद्धि का धर्म है । यह पुरुष का धर्म नहीं हो सकता, पुरुष के कूटस्थ और त्रिगुण होने से बुद्धि ही पुरुष का भोग सम्पादन करती है । बुद्धि स्वयं बाह्यार्थों से सन्निकर्ष नहीं प्राप्त करती, परन्तु इन्द्रियां बाह्यार्थों से सम्बद्ध होकर तज्जन्यज्ञान को मन को, मन उस ज्ञान को अहंकार को और अहंकार उन्हें बुद्धि को सौंपता है । बुद्धि से सभी विषयों का सुखादि पुरुष प्राप्त करता है । अर्थात् पुरुष अविद्यावश बुद्धि के कार्यों को अपने में आरोपित करता है । इस प्रकार बुद्धि के विषयसुखादि को भी भोगता है । इस प्रकार बुद्धि पुरुष के भोग को सम्पादन करती है । इस मत को कारिकाकार ने भी व्यक्त किया[२] । कारिकाकार के इस विचार से लगभग सभी आचार्य सहमत हैं । अतः ये द्वादश करण प्रदीप के समान हैं, यद्यपि ये परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं अर्थात् इनका परस्पर सहकारित्व असम्भव सा प्रतीत होता है, परन्तु पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए ये परस्पर सहकारित्व को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि अन्धकार को दूर करने के लिए परस्पर मिलकर दीपक का रूप धारण कर रूप का प्रकाशन करते हैं । इसी प्रकार बुद्धि विषयों के सम्बन्ध से होने वाले पुरुष के भोग को सम्पादित करती है[३] ।

पुरुष के भोग के साथ-ही-साथ बुद्धि पुरुष की मोक्ष सम्पादिका भी है । यदि बुद्धि सदैव भोग ही सम्पन्न करे, तो बुद्धि के

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य, सूत्र २।४२, पृ० १३५

२ 'ते प्रदीपकल्पाः' परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।। 'कारिका ३६, पृ० २६६

३ सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साध्यति बुद्धिः । कारिका ३७, पृ० २६७

सत् होने से उसका नाश या अन्त असम्भव है । बुद्धि के अन्त के अभाव में बुद्धि का भोग रूप कार्य भी नित्य होगा । अत: मोक्ष कभी सम्भव न होगा, परन्तु मोक्षप्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है, भोग के पश्चात् बुद्धि प्रकृतिपुरुष विवेकज्ञान प्राप्त करती है । ज्ञान बुद्धि का धर्म है अत: प्रकृति और पुरुष के पृथक्त्व का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता है अर्थात् 'प्रधानं सविकारमन्यदहमन्य:' एतादृश विवेकज्ञान होताहै । इस ज्ञान के उदय होने पर ही मोक्ष सम्भवहै । जिज्ञासाहोती है कि बुद्धि को ज्ञान यदि उत्पन्न होता है तो उस उत्पाद्य या अनित्य ज्ञान से उत्पन्न मोक्ष भी अनित्य होगा । अत:मोक्ष के पश्चात् पुनर्संसरण भी हो सकता है । इस शंका के निवारणार्थ तत्त्वकौमुदीकार ने कहा है कि विवेकज्ञान उत्पन्न नहीं होता । वस्तुत: यह पूर्व से ही विद्यमान है, परन्तु अज्ञान के कारण अविद्यमान सा प्रतीत होता है । अत: इस अव्यक्त या अज्ञानावृत ज्ञान को बुद्धि प्रकट करती है न कि उत्पन्न करती । जब यह ज्ञान ही उत्पाद्य या अनित्य नहीं तज्जन्य मोक्ष भी अनित्य न होगा । अत: बुद्धि पुरुष का भोग और मोक्ष सम्पादन करती है । सभी सांख्याचार्य इस मत से सहमत हैं[1] । अत: अन्ततोगत्वा उपर्युक्त हेतुओं से सिद्ध है कि सभी करणों में करणत्व समानरूप से होने पर भी बुद्धि ही मुख्य करण है,जैसे लोक में राजा के अनेक सैनिकों का सहयोग होने पर भी मन्त्री की ही प्रधानता होती है । इसी दृष्टान्त के आधार पर सूत्रकार ने २।४७ सूत्र के उपसंहार रूप से बुद्धि के प्राधान्य को स्पष्ट किया है ।

योगसूत्रकार इस विषय में सर्वथा मूक ही हैं, परन्तु भाष्यकार व्यास ने २।१७ सूत्र के भाष्य में इसे युक्तित: स्पष्ट किया है[2] ।

---

१ सांख्यचन्द्रिका, का० ३७

२ व्यासभाष्य, पृ०३६२

विज्ञानभिक्षु ने भी बुद्धि और पुरुष के इस स्वस्वामिभाव पर प्रकाश डाला है । लोहशलाका के समान चित्त सभी विषयों को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ सन्निधिमात्र से दृश्यत्व रूप से उपकार करते हुए ष पुरुष रूप स्वामी का स्व होता है, पुरुष का भोग का साधन होने से । अत: बुद्धि ही श्रेष्ठ है, वही सभी करणों के विषयों को पुरुष तक प्रस्तुत करती है[१] । इस प्रकार बाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) अन्त:करण मन और अहंकार इन द्वादश करणों की अपेक्षा बुद्धि की ही प्रधानता है, जैसे संसार में अनेक भृत्यों में कोई एक ही स्वामी या प्रधान होता है[२] ।

-0-

---

१ योगभाष्य ,पृ०३५

२ `द्वयो: प्राधान्यं मनो लोकवत् भृत्यवर्गेषु` सांख्यसूत्र २।४०,पृ०१३४

तृतीय अध्याय

-0-

त्रयोदश करणों के कार्य

त्रयोदश करणों के सामान्य व्यापार

(क) करणों की सामान्यवृत्तिविषयक आचार्यों का विचार

(ख) वृत्तिकारों के अनुसार पंचवायु अन्तःकरण मात्र की वृत्ति

(ग) अन्याचार्यों के अनुसार पंचवायु करणसामान्य की वृत्ति

त्रयोदश करणों के असमान व्यापार

(क) पंचज्ञानेन्द्रियों के असमान कार्य

(ख) पंचकर्मेन्द्रियों के असमान कार्य

(ग) महदहंकार और मन के असमान कार्य

करणों के युगपद् और क्रमिक व्यापार

(क) युगपद्वृत्तिविषयक सूत्रकार और अनिरुद्ध के मत

(ख) विज्ञानभिक्षु द्वारा अनिरुद्ध का खण्डन और स्वमतस्थापन

(ग) अन्याचार्यों का एतद्विषयक मत

(घ) दृष्टादृष्ट विषयों में करणों की त्रिविध वृत्ति

(ङ०) करण व्यापारों का आश्रय

करणों के अन्य कार्य और विषय

(क) करणों की वृत्तियां आहरण धारणादि

(ख) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विशेषाविशेषविषय

(ग) त्रयोदश करणों के त्रिविध विषय

(घ) महत् के कार्य धर्माधर्मादि

(ङ०) प्रमाणों में करणों का व्यापार

(च) समाधि, सुषुप्ति और मोक्षावस्था में चित्त के व्यापार

-0-

तृतीय अध्याय

-०-

त्रयोदश करणों के कार्य

त्रयोदश करणों के सामान्य व्यापार

(क) करणों की सामान्यवृत्ति विषयक आचार्यों का विचार

अधतन सांख्य योगदर्शनों को मान्य विविध तत्त्वों का उद्देश्य और लक्षण हुआ, साथ ही उनका सृष्टि का क्रम और कारणादि पर भी विचार हुआ । अब विविध करणों के विभिन्न व्यापारों पर विचार किया जायगा । जहां तक करणों का प्रश्न है,सभी करणों की अवश्य ही कोई-न-कोई क्रिया होगी । बिना क्रिया के ये करण, करण कहलाने के अधिकारी नहीं हैं । कार्य के प्रमुख साधन कोही करण कहते हैं । अत: इन करणों का भी कोई-न-कोई व्यापार अवश्य होगा । त्रयोदश करणों के कार्यों के विषय में कोई मतभेद नहीं है । सभी आचार्य इनके चतुर्विध व्यापार स्वीकार करते हैं-- सामान्य,असामान्य, युगपत् और क्रमिक । इनका उल्लेख करते हुए जयमंगलाकार ने लिखा है -- `एषां च बुद्ध्यादीनां त्रयोदशानां चतुर्विधा: वृत्ति: सामान्यासामान्ययुग-पत्क्रमशश्चेति' सर्वप्रथम करणों के सामान्य व्यापार का प्रसंग है । इस विषय में सांख्यसूत्रकार की षडध्यायी में `सामान्यकरणवृत्ति: प्राणाद्या: वायव: पंच' में करणों की सामान्य वृत्तियां पंचप्राणों को ही माना है । इसमें `सामान्यकरणवृत्ति:' इस पद का `करणानां सामान्या वृत्ति:' यह विग्रह करने से यह स्पष्ट है कि प्राणादि इन त्रयोदश करणों के व्यापार हैं ।

योगसूत्रकार पतंजलि ने इस विषय में कोई मत नहीं दिया । हां योगसूत्रों के विविध भाष्यकारों के विविध मत हैं, परन्तु अधिकतर आचार्य प्राणों को त्रिविधान्त:करणमात्र की वृत्ति मानते हैं । योगवार्तिक[1] में विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य सूत्रकार के मत का समर्थन किया ।

(ख) वृत्तिकारों के अनुसार पंचवायु अन्त:करण मात्र की वृत्ति

सूत्रकार के विपरीत वृत्तिकार अनिरुद्ध ने `पंच प्राणाद्या: वायवस्त्रिभि: करणैर्धार्यन्ते` लिखकर प्राणादि को अन्त: - करणों की ही वृत्ति रूप से स्वीकार किया है । इनके पश्चाद्भावी विज्ञान-भिक्षु ने भी `प्राणादिरूपा: पंच वायुवत् संचारात् वायवो ये प्रसिद्धास्ते सामान्या साधारणी करणस्यान्त: करण त्रयस्य वृत्ति: परिणाम भेदा इत्यर्थ:` कहकर उनका ही समर्थन किया है । कारिकाकार श्री ईश्वरकृष्ण ने का०२९ के उत्तरार्द्ध के रूप में सांख्यसूत्र २।३१ को उसी प्रकार उद्धृत किया, परन्तु कारिका के पूर्वार्द्ध में उन्होंने तीनों अन्त:करणों की असामान्य वृत्तियों का उल्लेख किया है । इससे ज्ञात है कि प्रसंगानुसार वह प्राणों को अन्त:करणमात्र की वृत्ति मानते हैं, इन्द्रियों का तो वहाँ प्रसंग ही नहीं । इनके टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने `सांख्यतत्त्वकौमुदी` में कारिका २९ की कारिकानुसारी व्याख्या करके प्राणादि को तीनों अन्त:करणों की वृत्ति रूप में प्रस्तुत किया ।अत: ये अन्त:करणों का ही व्यापार है । अन्त:करणों के रहने पर ये रहते हैं और न रहने पर नहीं रहते । तत्त्वकौमुदी के टीका-कार बलराम, हरिरामशुक्ल ने भी तत्त्वकौमुदी का ही समर्थन किया है ।

---

१ `अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूलसूक्ष्मोभ्यपरतया करणमात्रग्रहणम् । समस्तशब्दोऽपि सामान्यवचन: सामान्यकरणवृत्ति: प्राणाद्या वायव: पंच इति सांख्ये दर्शनात् ।` -- योगवार्तिक, पृ०३५७

(ग) अन्याचार्यों के अनुसार पंचवायु करणसामान्य की वृत्ति

उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न युक्तिदीपिकाकार तो प्राणों को त्रयोदश करणों की सामान्यवृत्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[१] इनके पश्चात् अधिकतर टीकाकारों में गौडपाद[२] और नारायणतीर्थादि भी युक्तिदीपिकाकार का समर्थन करते हैं। त्रयोदश करणों के रहने पर ही प्राणादि का अस्तित्व है, अत: ये करणसामान्य की वृत्ति हैं। जयमंगलाकार ने भी `ते त्रयोदशानामपि करणानां सामान्यवृत्ति: `लिखकर अपना मतैक्य प्रदर्शित किया है। अत: यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है। सूत्र के अनुसार प्राणादि को वस्तुत: त्रयोदशकरणों की सामान्य वृत्ति ही मानना चाहिए, क्योंकि करण के अन्तर्गत बाह्य और अन्त: इन त्रिविध करणों का अन्तर्भाव हो जाता है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र[३] भी इसी को व्यक्त करता है। आचार्य व्यास ने इसी[४] मत का समर्थन किया है। उन्होंने प्राणादि को इन्द्रियों की वृत्ति बताया है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने भी व्यास के समान प्राणों को त्रयोदश करणों[५] या करणसामान्य की वृत्ति कहा है, परन्तु पंचप्राणों की त्रयोदशकरणों की वृत्ति मानना उपयुक्त नहीं। यदि ये समस्त करणों की वृत्ति हैं तो समी

१ सामान्या चासौ करणवृत्ति: सामान्यकरणवृत्ति: प्राणश्चाद्यो येषां ते प्राणाद्या: प्राणापानसमानोदानव्याना: पंच समस्तकरणवृत्ति: प्रत्यवगन्तव्येति।`--युक्तिदीपिका, पृ० २०५।

२ `सामान्येन करणानां वृत्ति: प्राणाद्या: वायव: पंच..... वायव: सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोविधस्यापि करणसामान्यवृत्तिरित्यर्थ:।`-- गौडपादभाष्य, पृ० २७

३ सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ०४३

४ समस्तेन्द्रियवृत्ति: प्राणादिलक्षणा जीवनम्` व्यासभाष्य ३।३९ सूत्र पृ० ६६९

५ योगचन्द्रिका, पृ० १३४।

या त्रयोदशकरणों के रहने पर ही इनका अस्तित्व सम्भव है, परन्तु जिस पुरुष में ये सभी करण नहीं हैं अर्थात् यदि कोई अन्धा या बधिर है अथवा उसमें चक्षु या कर्णेन्द्रिय का अभाव है, उस अवस्था में भी उसमें प्राणादि तो रहते ही हैं । यदि प्राणादि का अभाव है तो अन्धे आदि का जीवित रहना भी असम्भव हो जायगा । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणादि उनमें कुछ बाह्य करणों के अभाव में भी रहते हैं । अत: प्राणादि सभी बाह्य और अन्त:करणों का व्यापार नहीं, वरन् अन्त:करणमात्र का ही व्यापार है, क्योंकि त्रिविधान्त:करणों में से किसी एक का भी अभाव हो जाने पर प्राणादि का अस्तित्व असम्भव हो जाता है, अत: वस्तुत: प्राणादि अन्त: - करणमात्र के व्यापार ही प्रतीत होते हैं । बाह्यकरण अन्त:करणों के द्वार है, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि द्वार होने के कारण कुछ आचार्यों ने प्राणादि को सभी करणों की वृत्ति रूप से स्वीकार किया है ।

जहां तक प्राणादि पंच के स्वरूप का प्रश्न है सभी का विचार समान ही है । सभी आचार्य प्राणों को वायुरूप ही मानते हैं । विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वायुरूप महाभूत के समान वायु नहीं, परन्तु ये सम्पूर्ण शरीर में वायु के समान संचार करते हैं, इसलिए इन्हें वायु संज्ञा से कहा गया है । विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता । प्राणादि की वायुरूपता तो प्रत्यक्षसिद्ध है । अत: इन्हें वस्तुत: वायु ही मानना होगा । हाँ, इनके समान उदानादि भिन्न नाम उनके भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण दिये गये । अत: ये प्राणवायु, समान वायु रूप से विभिन्न कार्यों के कारण कहे जाते हैं । पंचवायु के द्वारा देहधारण रूप क्रिया की सिद्धि होती है[१] । अत: वायु जीवन धारण करने का साधन है, अतएव कुछ

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २६

आचार्यों ने कारण और कार्य के अभेद की दृष्टि से वायु को जीवनयोनि-प्रयत्नरूपा या जीवन ही कहा है[१]। तत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति ने 'वायवो जीवनं वृत्तिः' ऐसा उल्लेख किया है। युक्तिदीपिका में द्विविध वायु का वर्णन हुआ है, अन्तर्वृत्त्यः (अन्तरंगों हृदयादि में रहने वाली) और बहिर्वृत्त्यः (वाह्यांगों--हस्तपादादि में रहने वाली)। योगवासिष्ठ में प्राणादि को मन की गति कहा गया है, यह उपयुक्त ही है।

प्राणों की संख्या के विषय में कोई मतभेद नहीं है। सभी आचार्य पांच ही वायु स्वीकार करते हैं-- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। परन्तु इनसे भिन्न महाभारत, स्कान्धपुराणादि[२] में कुछ स्थलों पर पंचप्राणों का और कुछ स्थान पर सात वायु का उल्लेख हुआ। उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं-- प्रवह, आवह, उद्वह, संवह, विवह, परिवह और परावह। इन सप्तवायु की स्थिति खगोल में बताई गई है। इनमें से कुछ जैसे प्रवह मेघमंडल में, कुछ आवह सूर्यमंडल में और कुछ नक्षत्रमंडल तथा चन्द्रमंडल में रहती हैं। अतःयह तो स्पष्ट है कि ये प्राणादि से भिन्न हैं। प्राणादिक का इन वायु से मिश्रण करना उचित नहीं। कपिलादि आचार्यों को पंचप्राण ही अभिमत है। सांख्यसूत्रकार[३] ने सूत्र २।३१ में 'पंच' शब्द का प्रयोग करके अपनी स्वीकृति दी है। कारिकाकार और अन्य टीकाकारों को भी यही अभीष्ट है।

अब प्रश्न यह है कि प्राण की स्थिति कहां है? सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि प्राणवायु मुखनासिकान्तर्वर्ती,

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० २२

२ महाभारत --शान्तिपर्व- मोक्षधर्मपर्व, पृ० ६६०, स्कान्दपुराण-माहेश्वर खंड, पृ० १५०

३ सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पंच। सांख्यसूत्र २।३१, पृ० १२८

अपान मलमूत्रेन्द्रिय पीठपादादि में रहने वाली, समान मध्यप्रदेश हृन्नाभि आदि में रहने वाली, उदान नाभिदेशमस्तकान्तर्वर्ती और व्यान आकाश के समान शरीर व्याप्य समग्र में रहता है । युक्तिदीपिका, तत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्य में भी ऐसा ही वर्णन है[१] ।

जहां तक प्राण की क्रियाओं का प्रश्न है, पंच प्राणों की भिन्न-भिन्न या अपनी विशिष्ट क्रियाएं या कार्य हैं । प्राण वायु अन्नाशनादि के द्वारा शरीर का धारण करती है । अपान मलमूत्रादि का अपनयन करती है । समानवायु से रसों का नाड़ियों में समानरूप से या अनुकूल मात्रा में संचरण होता है, उदानवायु से रसादि का ऊपर के अंगों में संचार होता है । व्यान वायु बलवान कर्म का कारण है[२] । इन्हीं परस्पर भिन्न कर्मों के कारण वायु के उपर्युक्त पांच भेद किए गए । प्राणों की क्रियाओं का पुराणादि में कोटिशः उल्लेख हुआ है[३] । ज्योतिष्मती[४] में पंचप्राणों के कार्यों का वर्णन हुआ है । डा० रामकृष्ण भट्टाचार्य ने उपनिषदों के तद्विषयक मंत्रों को भी उद्धृत किया है । प्राण का लक्षण करते हुए वे कहते हैं-- `बाह्योद्भवबोधाधिष्ठानधारणं प्राणकार्यम्' बाह्य उद्भव का ज्ञान प्राप्त करना ही प्राण का कार्य है । `मलापनयनशक्त्यधिष्ठानधारणम् अपानकार्यम्' मलापनयनादि की शक्ति से युक्त होना अपान का कार्य है । `देहोपादाननिर्माणशक्त्यधिष्ठान-धारणं समानकार्यम्' देह के उपादान निर्माणादि शक्ति से युक्त होना समान

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० १०६, तत्त्वकौमुदी, पृ० २४८, व्यासभाष्य, पृ० ६७१

२ सारबोधिनी, पृ० ३६३

३ स्कान्दपुराण, पृ० ३८, माठरवृत्ति, पृ० ४६

४ ज्योतिष्मती, पृ० २६८

का कार्य है । `शारीरधातुगतबोधाधिष्ठानधारणमुदानकार्यम्` शरीरधातु में स्थित होकर ज्ञान प्राप्त करना उदान का कार्य है । पंचम और अंतिम है व्यान । `चालकशक्त्यधिष्ठानधारणं व्यानकार्यम्` व्यान वायु ही चालन प्रसारणादि कर्मों का कारण है । अत: संक्षेप में ये ही पंचप्राणों के कार्य हैं ।

त्रयोदश करणों के असमान व्यापार

(क) पंचज्ञानेन्द्रियों के असमान कार्य

करणों के समान व्यापारों का ऊपर विवेचन किया जा चुका है । जहां तक असमान व्यापारों का प्रश्न है, सर्वप्रथम असमान व्यापार के अर्थ को समझना अनिवार्य है-- जो समान न हो अर्थात् जो वृत्ति इन सभी करणों की न हो या जिस कार्य को एक कोई एक करण करता हो और अन्य करण किसी अन्य कार्य को ही करता हो । अत: इस स्थान पर असमान कार्य का अर्थ है प्रत्येक करणका अपना विशिष्ट कर्म । जिसके आधार पर प्रत्येक करण को अन्य से व्यावृत्त किया जा सके और ऐसे व्यापार वस्तुत: इनके लक्षण ही होंगे । ज्ञानेन्द्रियां प्रतिनियतविषयक और कर्मेन्द्रियां प्रतिनियतकर्म वाली हैं । युक्तिदीपिकाकार ने तो यहां तक कहा है कि इन करणों का जो लक्षण है वही इनका कार्य है अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद है[१] । लगभग इसी मत का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने २६ वीं कारिका की टीका में `रूपग्रहणलिंगं चक्षु:, शब्दग्रहणलिंगं श्रोत्रम्, गन्धग्रहणलिंगं रसनम्, स्पर्शग्रहणलिंगं त्वक् इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञा ।` ऐसा लिखा है[२] । अर्थात् रूप ग्रहण करने के करण या साधन को चक्षु कहते हैं ।

---

१ युक्तिदीपिका, पृ० २६

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २८

यह चक्षुरिन्द्रिय का लक्षण है और रूपग्रहण करना ही उसका कार्य भी । इस प्रकार रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध अन्य चारों ज्ञानेन्द्रियों के नियत कार्य है । अत: रूपादि विषयों में आलोचन ही बुद्धीन्द्रियों का व्यापार है । आलोचन क्या है ? इस विषय में सभी आचार्यों ने अपना विचार व्यक्त किया है । वाचस्पति मिश्र ने `बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्' इस प्रकार कहा है, अर्थात् वस्तु का अस्पष्ट ज्ञान ही आलोचन है । युक्तिदीपिकाकार ने भी `आलोचनं ग्रहणमित्यनर्थान्तरं' कहकर इसको स्पष्ट किया है । सांख्यतत्त्वालोक में आरण्यक ने कुछ विशिष्ट अर्थ लिया है । `आलोचनं हि स्वेनैवेन्द्रियेण स्वदा गृह्यमाणविषयस्यात्यात्मकं' अर्थात् स्व ही इन्द्रिय के द्वारा स्व बार में ग्रहण किया गया विषय का ज्ञान ही आलोचन है । ये बुद्धीन्द्रियों का व्यापार है । योगसूत्रों के व्याख्याकारों ने भी ज्ञानेन्द्रियों के रूपादि कार्यों पर प्रकाश डाला है । आचार्य भोज ने भी लिखा है, `चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिकस्तेन सम्प्रयोगस्तदभिमुख्येन वर्तनं.....[1] ।नारायणतीर्थ ने योगचन्द्रिका में इन्द्रियों की त्रिविध प्रवृत्ति का उल्लेख किया है[2] ।

(ख) पंच कर्मेन्द्रियों के असमान कार्य

बुद्धीन्द्रियों के समान वचनादानविहरणोत्सर्ग और आनन्द क्रमश: पंच कर्मेन्द्रियों के असमान कार्य हैं । सांख्यसूत्रों में सूत्रकार ने `रूपादिरसमलान्त: उभयो:' लिखकर इन्द्रियों के नियत कार्यों को स्पष्ट किया है[3] । प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में अनिरुद्ध ने भी इन्हें स्पष्ट किया है ।

---

१ योगसूत्र राजमार्तण्डवृत्ति, सूत्र २।५४, पृ०३८

२ त्रयी सत्त्वेन्द्रियाणां प्रवृत्ति: बाह्या आभ्यन्तरी च । आद्या आलोचनरूपा। अन्त्या जीवनयोनिप्रयत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी--नारायणतीर्थकृत सूत्रार्थबोधिनी, पृ०४४।

३ अनिरुद्धवृत्ति--, पृ०५८

विज्ञानभिक्षु भी इनका समर्थन करते हैं । कारिकाकार ने कारिका २८ में त्रिविध इन्द्रियों की वृत्तियों का उल्लेख किया है ।

(ग) महदहंकार और मन के असमान कार्य

उपर्युक्त दश इन्द्रियों के अतिरिक्त महदहंकार और मन के क्या नियत कार्य हैं? यह इस शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ही इनके लक्षण के प्रसंग में स्पष्ट हो चुका है । अत: पुन: इनका ग्रहण करना पिष्टपेषण मात्र होगा । इनके लक्षण ही इनके असमान कार्य हैं । यह कारिका २६ से[१] ही ज्ञात है । अत: महत् का कार्य निश्चय अहंकार का अभिमान और मन का कार्य है संकल्प करना[२] ।

करणों के युगपद् और क्रमिक व्यापार

(क) युगपद्वृत्तिविषयक सूत्रकार और अनिरुद्ध के मत

अत: करणों के त्रिविध व्यापार --समान और असमान का विवेचन हो गया । अब शेष हैं— युगपद् और क्रमिक । इन त्रिविध व्यापारों के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है । कुछ आचार्य इन त्रिविध व्यापारों को स्वीकार करते हैं और कुछ एक ही । सांख्यसूत्रकार त्रिविध कार्य मानते हैं । `क्रमेणोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्ति:` अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से और युगपद् दोनों ही प्रकारों की होती है । परन्तु इनसे भिन्न अनिरुद्ध ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इन्द्रियों के साथ-साथ बुद्धि और अहंकार मन का भी ग्रहण किया[३] । अत: उनके मतानुसार

---

१ `स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या` ,का० २६, पृ० २४८

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० २४८

३ `क्रमशश्च यथा.... एकदा वृत्ति: ।` ,सूत्र २।३२, पृ० ५६

व त्रयोदशकरणों की त्रिविध वृत्ति होती है । इस प्रकार उन्होंने इन त्रिविध वृत्तियों को उदाहरण सहित स्पष्ट किया है । वृत्ति में उन्होंने `चतुर्णाम्` पद का प्रयोग किया है । `चतुर्णाम्` के अन्तर्गत मन, अहंकार और बुद्धि इन त्रिविधान्तः करणों का और इन्द्रिय रूप बाह्य करण इन चारों का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इन्हीं चारों का क्रमशः वृत्ति के व्याख्यान में उल्लेख हुआ है । इस प्रकार इन चतुर्विध करणों की मूलप्रतिपाद्यरूप से युगपद्वृत्ति की व्याख्या करने पर भी अन्त में वे `वृत्तीनामेकदाऽसम्भवात्रापि क्रम स्व, तथाप्युत्पलव्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति` कहकर युगपद् व्यापार की असम्भाव्यता को स्पष्ट करते हैं । वे सूत्र प्रतिपाद्यार्थ का औचित्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि व्याघ्रादि के दर्शनकालमें भी करणों की क्रमशः वृत्ति ही होती है, युगपत् होना असम्भव है । परन्तु इन करणों के व्यापारों में अत्यल्प व्यवधान होने के कारण उनकी क्रमिकता स्पष्ट नहीं होती, जिस प्रकार कि कमल के सैकड़ों पत्तों के क्रम से हुई सुई द्वारा विद्ध होने पर भी समय व्यवधान के अत्यल्प होने से उस क्रमिकता की प्रतीति नहीं होती ।

(ख) विज्ञानभिक्षु द्वारा अनिरुद्ध का खण्डन और स्वमतस्थापन

विज्ञानभिक्षु अनिरुद्धकृत उपर्युक्त व्याख्या का खण्डन करते हैं[1] । सूत्र २।३२ में इन्द्रियमात्र की वृत्ति का प्रसंग है न कि बुद्धि और अहंकार का । अनिरुद्ध ने जो त्रयोदशकरणों की वृत्तियों का विवेचन किया वह तो अप्रासंगिक है । विज्ञानभिक्षु का यह कथन उपयुक्त ही है, क्योंकि सूत्र में इन्द्रिय का शब्दतः कथन है तथा नैयायिकाभिमत मन के अणुत्व का खण्डन करने के लिए इन्द्रियों के त्रिविध व्यापारों का यहां कथन हुआ ।

---

१ `सः (अनिरुद्धः) स्व ..... न तु काकदन्तान्वेषणपरत्वमिति ।`

—सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० १३०

मन को अणु मानने से उसका युगपत् समस्तेन्द्रियों से सम्बन्ध होना असम्भव है । अत: नैयायिक इन्द्रियों का क्रमिक व्यापार ही मानते हैं, परन्तु सांख्यशास्त्र में ऐसा कोई बाधक नहीं । इसमें इन्द्रियवृत्तियों का यौगपद्य सम्भव है । क्योंकि सांख्यानुसार मन तो मध्यम परिमाण वाला है । अत: यहां नैयायिक मत खण्डनार्थ इन्द्रियों की वृत्ति का कथन ही पर्याप्त और प्रासंगिक है तथा उसमें स्वगत (मन के मध्यमपरिणामत्व) की स्थापना भी हो जाती है । अत: यहां महदादि का प्रसंग ही नहीं ।

(ग) अन्याचार्यों का तद्विषयक मत

करणों की वृत्तियों के क्रमिकत्व और यौगपद्य के विषय में सूत्र के वृत्तिकार, कारिकाकार और अन्य टीकाकारों की भी विप्रतिपत्ति है । मुख्यत: इनके द्विविध विचार प्रसिद्ध हैं । कुछ क्रमिक व्यापार ही मानते हैं और कुछ क्रमिकाक्रमिक दोनों ही स्वीकार करते हैं । ईश्वरकृष्ण की ३०वीं कारिका से यह स्पष्ट है कि वह बाह्यकरण, मन, अहंकार और बुद्धि इन चारों करणों की द्विविध वृत्तियों को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार इन करणों की प्रत्यक्ष पदार्थ और परोक्षपदार्थ दोनों के विषय में द्विविध वृत्तियां होती हैं, परन्तु कारिकाओं के सर्वप्रथम टीकाकार माठर ने युगपद्वृत्ति को असम्भव सा बताया है । वे और युक्तिदीपिकाकार दोनों ही दृष्ट और अदृष्ट दोनों विषयों में करणों की क्रमिक वृत्ति ही मानते हैं । माठर युगपत् व्यापार का खण्डन करते हुए कहते हैं--`ह्रस्वकालत्वात् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते' अर्थात् अत्यन्तह्रस्व काल का व्यवधान होने से वृत्तियों के युगपत् व्यापार की प्रतीति होती है । वस्तुत: व्यापार क्रमश: ही होते हैं । युक्तिदीपिका की `मेघस्तनितादिषु क्रमानुपलब्धेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्' पंक्तियों से भी यह स्पष्ट है । दृष्ट

पदार्थ में करणों की युगपद्वृत्ति मानें तो वह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियों के वैयर्थ्य का प्रसंग होने से और अन्त: करणों और बाह्य करणों के द्वारद्वारिभाव के व्याघात का प्रसंग होने से अन्त:करण साक्षात् विषयों को ग्रहण नहीं करते । इसलिए सर्वप्रथम इन्द्रियों का बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है । तत्पश्चात् इन्द्रियाँ तदाकाराकारित होती है । तब मन द्वारा संकल्प अहंकार से अभिमान और बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है । अतएव अंत:करणों का व्यापार क्रमश: ही होता है । अदृष्ट पदार्थों में भी अन्त:करणों की वृत्ति बाह्येन्द्रियपूर्वक क्रम से ही होती है[१] । परोक्ष पदार्थ से इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने पर भी उसके अनुमान, आगम या स्मृति में प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता होती है । अत: बाह्येन्द्रिय पूर्वक ही अन्त:करणों की वृत्ति होती है । इस प्रकार माठर तथा युक्तिदीपिकाकार का मत वृत्तिकार अनिरुद्ध के मत का समर्थन करता है ।

(घ) दृष्टादृष्ट विषयों में करणों की द्विविध वृत्ति

उपर्युक्त दोनों टीकाकारों के पश्चाद्भावी गौडपाद[२] दृष्ट विषयों में करणों के क्रमिकाक्रमिक द्विविध तथा अदृष्ट पदार्थ में क्रमिक व्यापार को ही स्वीकार करते हैं । अत: परोक्ष पदार्थ में बुद्धि, अहंकार और मन की चक्षु आदिपूर्वक क्रमश: वृत्ति होती है । इनके बाद के जयमंगलाकार और नारायणतीर्थ ने लगभग कारिकाकार के मत का का ही अनुकरण किया है । वे चारों करणों को दृष्ट और अदृष्ट द्विविध

---

१ अदृष्टेऽतीतादावपि क्रमशश्च क्रमेणैव, यतस्त्रयस्यान्त: करणस्य तत्पूर्विका ..... स्मृतिरित्येवं वृत्तिर्बाह्येन्द्रियपूर्विकेति ।' -युक्तिदीपिका, पृ० ११०

२ बुद्ध्यहंकारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसायो युगपद्वृत्ति: .....तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्यतत्पूर्विका वृत्ति: ।'

विषयों में क्रमिक और अक्रमिक दोनों व्यापार मानते हैं ।जैसे अन्धकार में (विद्युत् सम्पात में) काले सांप का दर्शन होने पर आलोचन अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प एक साथ ही होते हैं । यह तो हुआ युगपद् व्यापार । हल्के प्रकाश में ठूंठ को देखकर क्रमश: संकल्प अभिमान और अध्यवसाय होता है, यह है क्रमिकवृत्ति । इसी प्रकार अदृष्ट पदार्थ में भी समझना चाहिए। ऐसा ही जयमंगलाकार का भी मत है--`येयमुभयथा वृत्ति: स कस्मिन् विषय इत्याह `दृष्टे अदृष्टे तर्हि नास्तीत्याह--`तथाऽप्यदृष्टे इति ।`सांख्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र[१] ने भी इसी मत का समर्थन किया है । हरिराम शुक्ल ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए `सुषमा` में अपना मत स्पष्ट किया है `यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति वृत्तिर्योगपद्यायोगपद्ये बोध्ये` । विद्वच्चोषिणीकार और किरणावलीकार का भी यही मत है । इससे यह स्पष्ट है कि जयमंगलाकार और गौडपाद के विचारों में पर्याप्त भिन्नता है । अत: पं० उदयवीर स्वामी ने जो जयमंगलाकार को गौडपादानुसारी बताया है और इस आधार पर वाचस्पति मिश्र ने उनका भेद प्रदर्शित किया है,सर्वथा अयुक्त है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है कि अनिरुद्ध माठर और युक्तिदीपिकाकार के मतों में समानता है । इन तीनों का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है । अत: डा० गार्बे का यह कथन कि अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्र २।३२ की वृत्ति के उत्तरार्द्ध के रूप में तत्त्वकौमुदी की ३०वीं आर्या को लिया है, सर्वथा असंगत है,परन्तु उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि यद्यपि कुछ आचार्य बाह्य और आभ्यन्तर करणों की युगपद्वृत्ति स्वीकार करते हैं । तथापि यह उचित नहीं,क्योंकि सामान्य अनुभव के अनुसार सर्वप्रथम इन्द्रियों का ही बाह्य

---

१ `अन्त:करणस्य युगपत्क्रमेण युगपत्क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति .....
यथा दृष्टे तथाऽप्यदृष्टेऽपीति योजना । तत्त्वकौमुदी,पृ०२५०

पदार्थों से सम्बन्ध देखा जाता है, तत्पश्चादेव मन से संकल्प, अहंकार से अभिमान, और अन्ततोगत्वा बुद्धि द्वारा संकल्प होता है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय के लिए उन्हें बाह्यकरणों की मध्यस्थता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, और बाह्य करणों की मध्यस्थता होने पर अवश्य ही निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति में कुछ क्षण नहीं तो कम से कम दो क्षण तो मानने ही होंगे । प्रथम क्षण में बाह्यार्थों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष और द्वितीय क्षण में ज्ञान होगा । इस प्रकार यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि विषयों के लिए करणों की एक साथ प्रवृत्ति होना असम्भव ही है, सभी करणों के व्यापारों में क्रमिकता अवश्य ही है, यद्यपि वहां क्षणमात्र का ही व्यवधान है ।

(ङ०) करणव्यापारों का आश्रय

इस प्रकार त्रयोदशन्तः करणों के चतुर्विध व्यापारों का विचार हुआ । अब प्रश्न यह है कि करणों के इन व्यापारों का आश्रय क्या है? जिसके अधीन होकर ये व्यापार प्रारम्भ करें । वस्तुतः इनका कोई आश्रय तो है नहीं, ये करण परस्पर एक-दूसरे के अभिप्राय से ही स्वकार्यसम्पादन करते हैं । इस प्रकार एक करण के स्वकार्योन्मुख होने पर उसके संकेत से अन्य करण भी स्व स्व कार्यों में प्रवृत्त होते हैं । इनका व्यापार पुरुष के लिए ही होता है, प्रधानाश्रित होकर नहीं । इस विषय में सभी टीकाकारों का मत समान है । कारिका ३१ में ईश्वरकृष्ण लिखते हैं-- "स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्परावृतहेतुकां वृत्तिम्" । इसी का अन्य टीकाकारों ने समर्थन किया है ।

करणों के अन्य कार्य और विषय

(क) करणों की ७ वृत्तियां आहरण धारणादि

अब प्रश्न उठता है कि पंच ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, बुद्धि आदि को सांख्यशास्त्र में "करण" संज्ञा क्यों प्रदान की गई । यदि ये करण हैं तो करण तो कारक होता है और कारक

सदैव क्रिया से अन्वित होता है, अत: इन करणों की क्या क्रियाएं या वृत्तियां हैं? त्रयोदश इन्द्रियादि करण है, आलोचन संकल्पादि का करण होने से, अत: आलोचनादि इनके कार्य हैं, परन्तु इन करणों की वृत्तियों के विषय में विभिन्न विचारधाराएं हैं। कारिकाकार ने ३२वीं आर्या में करणों की त्रिविध क्रियाओं का उल्लेख किया है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि ये तीनों क्रियाएं करण सामान्य की हैं अथवा कुछ विशिष्ट करणों की आहरण, कुछ की धारण, और कुछ की प्रकाशन क्रियाएं हैं। कारिकाओं के प्राचीनतम टीकाकार माठर ने 'तत्राहरकमिन्द्रियलक्षणं, धारकमभिमानमनोलक्षणं, प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्' कहा है, परन्तु इनके इस मत से युक्तिदीपिकाकार[१] का मत भिन्न है। इनके अनुसार आहरण कर्मेन्द्रियों की क्रिया है, कर्मेन्द्रियों के विषयग्रहण करने में समर्थ होने से धारण बुद्धीन्द्रियों की वृत्ति है विषय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञानेन्द्रियों के तदाकाराकारित होने की योग्यता होने से और निश्चय करने में समर्थ होने से प्रकाशन क्रिया अन्त:करणों की है। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य मत का खण्डन किया है। 'अपर आह --आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहंकारश्च। प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति।' यह मत किस आचार्य का है, यह स्पष्ट नहीं, परन्तु पं० उदयवीर स्वामी ने इस मत को आचार्य माठर का कहा है, जो संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि माठर वृत्ति में तद्विषयक मत भिन्न है। उन्होंने आहरण को इन्द्रियसामान्य की क्रिया रूपसे स्वीकार किया है, परन्तु इस मत में तो वह कर्मेन्द्रियमात्र की क्रिया है। इस प्रकार यद्यपि युक्तिदीपिकाकार

---

१ तत्राहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयार्जनसमर्थत्वात्। धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति..... प्रकाशमन्त: करणं करोति, निश्चयसामर्थ्यात्, पृ०११२।

द्वारा खण्डित मत माठर से भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उसमें पर्याप्त साम्य है । माठर ने भी धारण को अभिमान और मन का कार्य कहा है और प्रकाशन को बुद्धि का और इसी मत का युक्तिदीपिका में खण्डन किया गया है । आचार्य गौडपाद का विचार इन सभी से पूर्णतया भिन्न है । 'तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि ।' (पृष्ठ २६) इस प्रकार गौडपाद के अनुसार आहरण आदि त्रिविध व्यापार बाह्य करणों या इन्द्रियमात्र का है । अन्तःकरणों का नहीं यद्यपि कारिका में स्पष्टतः त्रयोदश करणों का उल्लेख हुआ है । तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र का मत गौडपाद से तो पूर्णतया भिन्न है, हां, जयमंगलाकार से अवश्य मिलता हुआ प्रतीत होता है । मिश्र के अनुसार कर्मेन्द्रियां विषयों का आहरण करती हैं । विषयों को व्यापार से व्याप्त करती है । बुद्धि, अहंकार और मन अपने प्राणादि से देह को धारण करते हैं, ज्ञानेन्द्रियां प्रकाशित करती हैं । इस प्रकार इस विषय में विभिन्न विचारधाराएं हैं ।

(ख) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विशेषाविशेष विषय

ये त्रिविध क्रियाएं सकर्मक हैं, अतः इनका कर्म क्या है? इसके कर्मों को कारिकाकार ने ३२वीं आर्या के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट किया है--'कार्यं च तस्य दशधाऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ।' इस प्रकार इन्द्रियों के विषय दश हैं । पंच शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध और पंच वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः । गौडपाद ने इन्हीं दश प्रकार के कार्यों को माना है, इन्हीं(दश) को बुद्धीन्द्रियां प्रकाशित करती हैं, उनके द्वारा प्रकाशित विषयों का कर्मेन्द्रियां आहरण और धारण करती हैं । यद्यपि गौडपाद का मत उचित नहीं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियां पंचरूपरसगन्धादि का प्रकाशन कर सकती है, परन्तु कर्मेन्द्रियां इनका आहरणकृत्य करने में असमर्थ हैं । ये शब्दादि कर्मेन्द्रियों के विषय नहीं । कर्मेन्द्रियों का कार्य तो वचनादानादि हैं । उनके अनुसार

बुद्धीन्द्रिय सविशेष और निर्विशेष द्विविध विषयों को ग्रहण करती हैं। मानव के सविशेष अर्थात् स्थूल सुखदु:ख मोहादि से युक्त स्थूल शब्दादि को और देवों के सूक्ष्म शब्दादि की। कर्मेन्द्रियां देवों और मानवों दोनों की समान ही होती हैं। वागिन्द्रिय शब्द मात्र को विषय बनाती है, परन्तु शेष चार कर्मेन्द्रियां शब्दादि पांचों को। युक्तिदीपिकाकार का भी लगभग यही मत है। उन्होंने पंच विशेष और अविशेष इस प्रकार दश प्रकार के कार्य कहे हैं। इन दश विषयों का ही आहरण धारणादि इन्द्रियां करती हैं। बुद्धीन्द्रियां विशेषाविशेष विषय वाली है तथा कर्मेन्द्रियां विशेष विषय वाली हैं। इस विषय में गौडपाद का इनसे पूर्ण साम्य है। इसके अतिरिक्त अन्य व्याख्याकार जयमंगलाकार, वाचस्पति मिश्रादि का ही इस विषय में मतैक्य है। सभी बुद्धीन्द्रियों को विशेषविशेष विषयक और कर्मेन्द्रियों को विशेषविषयक मानते हैं। मन तो उभयात्मक है। वह त्रिविध इन्द्रियों के त्रिविध विषयों को ग्रहण करता है। अत: वह कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रिय दोनों के विषयों को विषय बनाता है। उभयात्मक होने से वह सर्वार्थ भी है। योगसूत्र २।१९ के भाष्य में व्यास ने `स्कादशं मन: सर्वार्थम्` लिखा है। विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है। इन सभी सांख्ययोग-दार्शनिकों का मत है कि इन्द्रियां सामान्यविशेषविषयक हैं अर्थात् इन्द्रियां स्थूल सामान्य, सूक्ष्म-विशेष उभयात्मक विषयों को ग्रहण करती हैं।

(ग) त्रयोविध करणों के त्रिविध विषय

कुछ आचार्य इन्द्रियों के त्रिविध विषय मानते हैं, आहार्य धार्य, प्रकाश्य। ये तीनों भी दश दश प्रकार के होते हैं। तत्त्व-कौमुदीकार[1] इसी मत के पोषक हैं। कर्मेन्द्रियों के कार्य वचनादि चिन्न और

---

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ०२५९।

अदिव्य दोनों रूप वाले होने से दश प्रकार के होते हैं । इसी प्रकार (तीनों अन्त:करण के कार्य) प्राणादि के द्वारा धारण किया जाने वाला शरीर पांचभौतिक है । इन पंचभूतों में से प्रथम पृथिवी भी शब्दादि पांच तन्मात्राओं का समूह है । अत: पंच तन्मात्राओं सहित पृथिवी आदि महाभूत भी दिव्य और अदिव्य के भेद से दश-दश धार्य भी होते हैं । अत: अन्त:करणों के विषय धार्य भी दश प्रकार के होते हैं । इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का कार्य प्रकाश्य भी दिव्यादिव्य रूप से १० प्रकार का होता है । जयमंगलाकार का[1] मत लगभग इनसे मिलता-जुलता है । वे ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि कर्मों को स्थूल और सूक्ष्म अथवा अदिव्य और दिव्य के भेद से १० प्रकार के मानते हैं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के कर्म भी । आरण्यक महोदय उपर्युक्त सभी व्याख्याकारों के कर्म-भेद-+-अभिन्न मत को स्वीकार करते हैं । उन्होंने सांख्यतत्त्वालोक में प्रकाशन कार्यों को पंचभेदों वाला माना है, न कि दश प्रकार का ।[2] 'प्रत्यक्षविषयाणां प्रकाश्यधर्माणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: इति पंच भेदा: ।' कर्मेन्द्रियों के कार्यों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-- ध्वनि उत्पादन, शिल्प, गमन, उत्सर्ग और जनन क्रमश: कर्मेन्द्रियों के कार्यों व्यापार हैं । इस प्रकार आरण्यक महोदय का कर्मेन्द्रियों के विषय में तो अन्य आचार्यों से साम्य है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के विषय में कुछ मतभेद है ।

(घ) महत् के कार्य धर्माधर्मादि

त्रयोदश करणों के चतुर्विध व्यापारों का विवेचन के साथ-साथ इनके अन्य कार्य आहरण, धारणादि का भी संक्षिप्त रूप से विचार किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य धर्माधर्मादि शेष हैं । ये कार्य किस तत्व के हैं इस विषय में कोई मतभेद नहीं, सभी आचार्य

---

१ 'तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: पंच..... दानादि कर्मकर्तृत्वात् कार्यम् ।'

पृ०३६

२ सांख्यतत्त्वालोक, पृ०३२ ।

इन्हें महत् या बुद्धि के कार्य या धर्म रूप से स्वीकार करते हैं । सूत्रकार कपिल ने सूत्र २।१४ में लिखा है--`तत्कार्यं धर्मादि:` अर्थात् धर्मादि उसके कार्य हैं । इस सूत्र में तत् पद से किस तत्त्व की ओर संकेत है, यह तो इसके पूर्व के सूत्र[1] से ही स्पष्ट है । सूत्र २।१३ में महत् का लक्षण दिया गया है । अत: प्रसंगवश यहां महत् का ही अभिप्राय है, अत: धर्मादि महत् के कार्य हैं । ये अन्त:करण के धर्म भी कहे जाते हैं । महत् के कार्य रूप से ये सभी आचार्यों को मान्य हैं । परन्तु धर्मादि के अन्तर्गत किन-किन धर्मों का समावेश है, इसे सूत्रकार ने स्पष्ट नहीं किया । हां, वृत्तिकार अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने सूत्र में प्रयुक्त धर्मादि के स्थान पर धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य इन चारों का कथन किया है । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मादि से सूत्रकार का इन्हीं चारों धर्मों की ओर संकेत है । ये चार ही महत् के सात्त्विक परिणाम हैं, अर्थात् जब महत् में सत्त्व की प्रधानता हो और दोनों गुण अभिभूतावस्था में हों, तभी ये चतुर्विध धर्मरूप परिणाम होते हैं । कारिकाकार[2] ने कारिका २३ में इस मत का समर्थन किया है । अध्यवसाय ही बुद्धि है, धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य ये चार इनके सात्त्विक रूप हैं और इनके तामस रूप इनसे विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य हैं । सूत्रकार[3] ने सूत्र २।१५ में बुद्धि के तामस रूपों का उल्लेख किया है । बुद्धि ही धर्माधर्मादि अष्टविध रूपों को धारण करती है । इन्हीं अष्टविध रूपों के कारण शास्त्रों में बुद्धि अष्टांगिका कही गई है,

---

१ `अध्यवसायो बुद्धि:` २।१३--सांख्यसूत्र, पृ०१२०

२ अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानविरागरैश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।`
--का०२३, पृ०२२६

३ `महदुपरागाद्विपरीतम्`, २।१५, सांख्यसूत्र, पृ०१२०

`सा च बुद्धिरष्टांगिका सात्त्विकतामसरूपभेदात्[1]` ।

उपर्युक्त धर्म ज्ञानादि धर्मों का स्वरूप क्या है, अर्थात् धर्म क्या है? ज्ञान क्या है? यह जानना आवश्यक है । सर्वप्रथम धर्म का ही प्रसंग है । धर्म का लक्षण आचार्य कणाद ने इस प्रकार किया -- `यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:` अर्थात् जिससे अभ्युदय या लौकिक सुख और नि:श्रेयस् या पारलौकिक सुख (मोक्ष) इन द्विविध सुखों की प्राप्ति होती है, वही धर्म है । वाचस्पति मिश्र[2] ने भी कारिका २३ की टीका में तादृश लक्षण किया । युक्तिदीपिकाकार[3] ने इससे कुछ भिन्न लक्षण किया । उनके अनुसार श्रुति और स्मृति में कहे गये कार्यों के अनुष्ठान से बुद्धि में अवस्थित जो सत्त्व का अवयव या आशय है वही धर्म है । माठर ने भी धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है-- `धर्मो नामवर्णिनामाश्रमिणां च समयविरोधेन य: प्रोक्तो यमनियमलक्षण: स धर्म: ।` धर्म भी दो प्रकार के होते हैं-- यागदानादि के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म अभ्युदय का कारण और अष्टांगयोगादि के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म नि:श्रेयस का कारण[4] । इन्हीं यागदान धर्मोंनियमादि के अनुष्ठान से ही लौकिक और पारलौकिक द्विविध सुखों की प्राप्ति होती है । अधर्म धर्म की विपरीतावस्था को कहते हैं । अर्थात् शास्त्रप्रतिपादित नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान न करने से

---

१ गौडपादभाष्य, पृ० २१

२ `धर्म: अभ्युदयनि:श्रेयसहेतु:` --तत्त्वकौमुदी, पृ० २२७

३. तत्र श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थ: सत्त्वावयव: आशयभूतो धर्म इत्युच्यते, पृ० ६४ ।

४ `तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतु: । अष्टांगयोगानुष्ठानजनितश्च नि:श्रेयसहेतु: ।` -- तत्त्वकौमुदी, पृ० २२७

जो बुद्धि में अवस्थित तम का आशय है,वही अधर्म है[1]। धर्म के समान अधर्म भी विविध है ।

ज्ञान क्या है? इस विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं । वेदान्तदार्शनिक ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को ही विवेकज्ञान कहते हैं अर्थात् `अहं ब्रह्मास्मि` `तत्त्वमसि` इत्यादि महावाक्यों के अनुशीलन से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होता है, यह है वेदान्तियों का ज्ञान । सांख्याचार्यों और योगियों का ज्ञान इसके विपरीत ही है । वे प्रकृति और पुरुषों के ऐक्य या संयोगजन्य ज्ञान को अज्ञान या अविद्या कहते हैं । प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य ज्ञान ही वस्तुत: विवेकज्ञान है । इसी ज्ञान की प्राप्त होने पर सृष्टि की निवृत्ति होती है और मोक्षप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है । अत: `अहमन्योप्रकृतिरन्या` इस प्रकार का ज्ञान ही विवेकज्ञान है । अत: तत्त्वकौमुदीकार ने ज्ञान का लक्षण करते समय `गुणपुरुषान्यतारव्यातिर्ज्ञानम्` ऐसा ही लक्षण किया है । ज्ञान को गौडपाद ने प्रकाश और माठर ने इसे आत्मसाक्षात्कार कहा है । ज्ञान भी धर्म के समान बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है । उपर्युक्त ज्ञान आभ्यन्तर है । बाह्य ज्ञान षड् वेदांगों और न्यायमीमांसा धर्मशास्त्रों से प्राप्त होता है[2]। युक्तिदीपिकाकार ने शब्दाद्युपलब्धि लक्षण ज्ञान और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि लक्षण ज्ञान इस प्रकार दो रूप माने । इसमें प्रथम ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त और द्वितीय अभ्यास से प्राप्त हैं ।

जहां तक विराग का प्रसंग है, विराग राग के अभाव को कहते हैं--`वैराग्यं रागाभाव:`[3]।युक्तिदीपिका में इसका

---

१ `शास्त्रचोदितस्य नित्यस्य च कर्मणोऽनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थस्तयोऽवयव: क्षयतां प्रतिपन्नोऽधर्म:` । --युक्तिदीपिका,पृ०६६

२ तत्र बाह्यं नाम वेदा शिक्षा.... न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम् । ,पृ०२१

लक्षण इस प्रकार दिया गया है[१]। विराग मुख्य दो प्रकार का योगियों को मान्य है। योगसूत्रकार ने ही पर और अपर के भेद से दो ही वैराग्य स्वीकार किए हैं। परन्तु अन्य सभी सांख्य योगदार्शनिक इनके चार प्रकारों को मानते हैं-- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। इन चतुर्विध वैराग्यों का सभी आचार्यों ने लक्षण किया है जिसे प्रस्तुत करना यहां अधिक आवश्यक नहीं है। इनका विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय में किया जायगा। फिर भी मुख्य दो वैराग्यों का संक्षिप्त लक्षण करना आवश्यक ही है। अपर वैराग्य का पतंजलि ने `दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' ऐसा लक्षण किया है, अर्थात् जब साधक की दृष्ट या ऐहलौकिक और आनुश्रविक या पारलौकिक विषयों में उपेक्षा की दृष्टि हो जाती है, उस अवस्था को ही वशीकार नामक वैराग्य कहते हैं। अतः चित्त या मन की अवस्थाविशेष ही वैराग्य कही जाती है। इस सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्याचार्यों को मान्य वैराग्य की चतुर्थ अवस्था या यह कहिए चरमावस्था ही अपर वैराग्य कही जाती है। क्योंकि सांख्य-दार्शनिक वैराग्य की चतुर्थ अवस्था को ही `वशीकार' इस संज्ञा से पुकारते हैं। योगदार्शनिकों[२] ने अपर वैराग्य को ही वशीकार नामक वैराग्य कहा है। योगकारिकाकार ने अपर वैराग्य के चार यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार भेद कहे हैं।

योगीजन वशीकार के पश्चात् वैराग्य की एक अन्य अवस्था स्वीकार करते हैं, जिसे वे पर वैराग्य कहते हैं और उनके अनुसार यही वैराग्य की अन्तिम या चरमावस्था है। परवैराग्य क्या है, इस विषय

---

१ `विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धिः प्रसादः।', पृ०९५

२ वैराग्यं द्विविधं प्रोक्तमपरं परमेवच। यतमानादिभेदेन चतुर्धाऽप्यपरं पुनः।३४
प्रथमं यतमानश्च व्यतिरेकः ततः परम्। एकेन्द्रियं ततोऽभ्यस्तं वशीकारः प्रसिध्यति।
३५, पृ०६

में योगसूत्रकार[१] ने १।१६ सूत्र में अपना मत स्पष्ट किया है । जब साधक की प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञान के प्रति भी उपेक्षा की दृष्टि हो जाती है, उसी अवस्था को परवैराग्य कहते हैं । अर्थात् इस अवस्था में वह स्वतः अपने अस्तित्व को भूलकर ज्ञानप्रसादमात्र रह जाता है । वैराग्य के इन प्रकारों का उल्लेख योगवासिष्ठ, पुराणों, महाभारत और जीवन्मुक्तिविवेकादि में अनेक स्थलों पर हुआ है । विराग के अभाव अर्थात् राग के अस्तित्व को ही अवैराग्य कहते हैं । इस प्रकार बुद्धि के धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान और विराग अविराग रूप षड्विध धर्मों पर विचार हुआ । अब शेष हैं ऐश्वर्य और अनैश्वर्य । ऐश्वर्य का किसी दार्शनिक ने लक्षण नहीं किया । हां, गौडपाद ने ईश्वरीभाव को ही ऐश्वर्य कहा है । ऐश्वर्य आठ प्रकार होता है । इन प्रकारों का विवेचन बाद में होगा । ऐश्वर्य के अभाव को ही अनैश्वर्य कहते हैं । इस पकार धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्त्विक और अधर्मादि तामस परिणाम कहे जाते हैं ।

सांख्य कारिकाओं में उपर्युक्त आठ धर्मों का विपर्यय अशक्ति, अतुष्टि और सिद्धि इन चार परिणामों में अन्तर्भाव किया गया है--

`एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पंचाशत् ।।[२]

प्रश्न यह है कि इन विपर्ययादि चारों में धर्माधर्मादि का अन्तर्भाव कैसे होगा, अथवा किसमें किसका अन्तर्भाव संभव है ।

---

१ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' --सूत्र १।१६, योगसूत्र, पृ०६५

२ सांख्यकारिका, कारिका४६, पृ० २१८

इस विषय में किसी आचार्य ने प्रकाश नहीं डाला । 'सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा' में डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र ने इसे स्पष्ट किया है । अज्ञान का विपर्यय में, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य का अशक्ति में, धर्म, वैराग्य एवं ऐश्वर्य का तुष्टि में अन्तर्भाव होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कौमुदीकार ने अन्तर्भाव का प्रदर्शन इसलिए किया कि किसी को ऐसा भ्रम न हो जाय कि प्रस्तुत कारिका में कहे गए चारों बुद्धिपरिणाम पूर्वोक्त आठ बुद्धि-परिणामों से भिन्न है । अर्थात् यह स्पष्ट है कि ये चार परिणाम बुद्धि के पूर्वोक्त आठ धर्मादि परिणामों से भिन्न न होकर तद्रूप ही हैं । इन विपर्ययादि के अनेक प्रकार हैं, जिसे यहां स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है । उपर्युक्त आठ धर्मों में से अज्ञानादि सात से युक्त बुद्धि स्वयं को बांधती है, अर्थात् ये बन्धन के कारण हैं और ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है वही मोक्ष का कारण है[१] ।

(ङ०) प्रमाणों में करणों का व्यापार

इन्द्रियों के व इन सभी व्यापारों और विषयों के अतिरिक्त प्रमाणों में भी इन्द्रियों की सहायता सभी आचार्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि बाह्य वस्तु से इन्द्रियों का सन्निकर्ष बिना हुए इन्द्रियां वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करती[२] । सूत्रकार के इस मत से सभी दार्शनिक सहमत है । बिना इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष प्रमाण असम्भव है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों का कार्य अनिवार्य है । अब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां करती क्या हैं? इन्द्रियां ही वस्तुतः बाह्यार्थ से सम्बन्ध स्थापित ----------

---

१ रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ।

--सांख्यसूत्र ३।७३, पृ० १६६

२ 'नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्ते सर्वप्राप्तेर्वा' ।

५।१०४, पृ० २२७

करके सर्वप्रथम उसका निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करती है । तत्पश्चात् ही मन इन्द्रियों के द्वार से उन बाह्य पदार्थों से सम्बद्ध होकर उनका सविकल्पक या नामजात्यादि सहित ज्ञान प्राप्त करता है । कुछ आचार्य जैसे अनिरुद्ध[१] सविकल्पक ज्ञान को केवल मन से और निर्विकल्पक ज्ञान को इन्द्रियों से उत्पन्न मानते हैं,क्योंकि वह सादृश्य के संस्कारों के उद्बोध द्वारा स्मृति में होने वाले वस्तु के नामादि से युक्त ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । अत: सविकल्पक ज्ञान स्मृतिजन्य है और स्मृति मनोमात्रजन्य है अत: सविकल्पक ज्ञान भी मनोमात्रजन्य होगा । इनके परवर्ती विज्ञानभिक्षु इनके मत से सहमत नहीं और `कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यं च भवति सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह, तन्न ।' लिखकर खण्डन किया और अपने मत को स्पष्ट किया है, `परमुत्तरकालीनं च पुनर्वस्तु धर्मैर्द्रव्यरूपधर्मैस्तथा जात्यादिभिर्ज्ञानं सविकल्पकं तत्रालोचनात्मकं भवतीत्यर्थ: ।' अर्थात् द्रव्य वस्तु जाति आदि धर्मों से युक्त जो सविकल्पक ज्ञान है वह भी आलोचन है अर्थात् वह भी इन्द्रियजन्य है केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही ह नहीं । तत्त्वकौमुदी के व्याख्याकार बालरामोदासीन[२] ने सविकल्पक ज्ञान को ही इन्द्रियों की सहायता से युक्त मन से उत्पन्न बताया है और उसे भी प्रत्यक्षज्ञान माना है । अत: वस्तुत: सविकल्पक ज्ञान को भी इन्द्रियजन्य मानना ही चाहिए क्योंकि बिना इन्द्रियों का बाह्यार्थ से सन्निकर्ष हुए सविकल्पक ज्ञान भी नहीं हो सकता । अत: इन्द्रिय का साहाय्य सविकल्पक ज्ञान में भी आवश्यक है ।

---

१ `सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्..... प्रत्यक्षत्वेन संमता ।
सूत्र १।८६,पृ०२६।

२ यत्प्रथमं केवलेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं ज्ञानं जनितं तदेव प्रत्यक्षमिति न किन्तु यच्चान्तरमिन्द्रियसहायेन मनसा सविकल्पकं ज्ञानं जनितं तदपि प्रत्यक्षमिति भाव: ।,पृ०१८१

सांख्यदार्शनिकों के समान योगीजन भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों के द्वारा ही मन या चित्त का बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है । मन स्वत: विषयों का ग्रहण नहीं करता । इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों को ही वह ग्रहण करता है । योगसूत्र ३।४७ के भाष्य में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है--'बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्तते'[१] । विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है । इन्द्रियों की सहायता के अभाव में प्रमाण असम्भव है ।

सांख्याचार्यों से भिन्न योगियों ने इन्द्रियों के अन्य तीन प्रकार के ही परिणाम या कार्य माने हैं । उनके अनुसार इन्द्रियों के धर्म,लक्षण और अवस्था तीन अन्य कार्य हैं । अब ये तीनों परिणामों का क्या स्वरूप है, यह अन्य अध्याय में स्पष्ट होगा,परन्तु संक्षेप में इसका इस स्थल पर उल्लेख भी आवश्यक है । व्युत्थान और निरोध संस्कारों का क्रमश: अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी के में धर्म-परिणाम है । धर्म का अनागतादि काल के त्यागपूर्वक वर्तमान काल का लाभ होना ही लक्षण परिणाम है । जब निरोध संस्कार बलवान् हो और व्युत्थान संस्कार दुर्बल, उसे अवस्था परिणाम कहते हैं । इस प्रकार इन्द्रियों में व नील पीतादि का आलोचन रूप धर्मपरिणाम,नीलादि के आलोचन रूप धर्म की वर्तमानता लक्षणपरिणाम,लक्षण के आलोचन का स्फुटत्वादि अवस्था परिणाम है । इस प्रकार ये तीनों भी इन्द्रियों के कार्य हैं । इस विषय में लगभग सभी योगाचार्यों का मतैक्य है । इसके अतिरिक्त मन के भी त्रिविध निरोध,समाधि और एकाग्रता रूप परिणाम होते हैं। वस्तुत:

---

१ इन्द्रियाण्येव नाड़ी चित्तसंचरणमार्ग: ते: संयुज्य तद्गोलक द्वारा.... चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकार: परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य... । १।७,पृ०३१

मन की विविधावस्थाओं में मन के विविध कार्य हैं । परन्तु समापत्ति[१] काल में मन इन्द्रियों को भी अपना विषय बनाता है, तब ग्रहण समापत्ति होती है । इस प्रकार प्रमाणों में इन्द्रियों का साहाय्य अनिवार्य है ।

(च) समाधि, सुषुप्ति और मोक्षावस्था में चित्त का व्यापार

समाध्यादि में करण व्यापारों पर विचार करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि ये अवस्थाएं हैं क्या या समाधि किसे कहते हैं? समाधि आदि अवस्थाओं पर पंचमाध्याय में विस्तृत विचार किया जायगा । इस स्थलपर भी इनका संक्षिप्त वर्णन वांछनीय है । जहां तक समाधि का प्रसंग है, समाधि अष्टांग योग में परिगणित अष्ट अंगों में अन्तिम या चरम अंग है । इसके पूर्व के लगभग सभी अंग समाधि अवस्था तक पहुंचने के उपाय हैं । समाधि का अर्थ है समाधान । `समाधीयते चित्तमनेनेति समाधि:' अर्थात् जिसके द्वारा चित्त का समाधान हो वही समाधि है । इसकी व्युत्पत्ति से प्रतीत होता है कि समाधि चित्त के समाधान का साधन है । `सम्यगाधानं चित्तावस्थानं समाधि:'[२] । इससे भिन्न कुछ आचार्य या यह कहिए भाष्यकार व्यास ने

---

१ समापत्ति पर विस्तृत विचार शोधप्रबन्ध के ~~पंचम~~ षष्ठ अध्याय में किया जायगा, परन्तु समापत्ति क्या है यह जानना आवश्यक है--समापत्ति का अर्थ है (क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणे) गृहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्ति:' अर्थात् जिस साधक के चित्त की (राजस् और तामस्) वृत्तियां क्षीण हो गई हैं, ऐसे साधक के चित्त की गृहीता, ग्रहण या ग्राह्य विषयों में स्थिति होती है तथा चित्त पूर्णरूपेण उन विषयों के आकारका हो जाता है ।--योगसूत्र १।४१।

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ०३३१

भी समाधि कोयोग कहा है । वस्तुत: समाधि को योग नहीं, यदि समाधि को योग कहा जाय तो चित्त की क्षिप्त,मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं को भी योग ही कहना चाहिए । इन अवस्थाओं में समाधि रहती है,क्योंकि समाधि सभी अवस्थाओं का धर्म है । ये अवस्थाएं योग नहीं,क्योंकि इनमें चित्त का समाधान क्षणिक ही होता है, तत्पश्चात् चित्त पुन: व्युत्थित हो जाता है । अत: यह क्षणिक समाधान मोक्षोपयोगी नहीं । अत: इस स्थल पर भाष्यकार ने समाधि का प्रयोग अंगांगि के अभेद विवक्षा से ही किया है । योग अंगी है, और समाधि उसका अंग है । समाधि भी मुख्यत: दो प्रकार की है-- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । ये द्विविध समाधि मोक्षोपयोगी होने से योग कही जाती है । चित्त की चतुर्थ या एकाग्र अवस्था में सत् या पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है, क्लेश क्षीण होते हैं और कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं, इस प्रकार चित्त चित्तनिरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि के अभिमुख होता है । चित्त की ऐसी अवस्था को संप्रज्ञात योग या समाधि कहते हैं । इस अवस्था में राजस् तामस् वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी ज्ञानाकार सात्त्विक वृत्ति रहती ही है । इससे भिन्न असंप्रज्ञात काल में इस वृत्ति का भी पूर्णरूपेण दाह या निरोध होने पर इनका संस्कार मात्र शेष है । इसी कारण इसका नाम असंप्रज्ञात पड़ा । अत: इसमें चित्त व्यापारों का अभाव ही सभी आचार्यों को अभिमत है । इसके पश्चात् चित्त की सभी वृत्तियों का पूर्ण निरोधहो होने पर संस्कारमात्रावशेष अवस्था ही असंप्रज्ञात समाधि है ।

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त द्विविध समाधि काल में चित्त का व्यापार किस प्रकार का होता है । अर्थात् चित्तवृत्तियां हैं अथवा नहीं । जहां तक संप्रज्ञात समाधि का प्रश्न है । इस अवस्था में राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है । परन्तु सात्त्विक ध्येयाकार रूप वृत्ति विद्यमान है । इस प्रकार इस अवस्था में भी चित्त कार्य करता है । यद्यपि एक ध्येय रूप विषय से ही सम्बद्ध हो इसके पश्चात् असंप्रज्ञात समाधि में

ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है और उस वृत्ति(या ज्ञान) के संस्कार मात्र शेष हैं । इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधि काल में चित्त कार्य नहीं करता है । अधिकतर आचार्य इसी मत को स्वीकार करते हैं[1] ।विज्ञान-भिक्षु ने इस अवस्था में चित्तवृत्ति का पूर्ण लय माना है । चित्तवृत्ति के अभाव में पुरुष स्वस्वरूप से स्थित रहता है । समाधि से भिन्न व्युत्थान काल में पुरुष वृत्ति के स्वरूप के आकार वाला होकर भासता है,अर्थात् यद्यपि पुरुष इन वृत्तियों से सर्वथा असंस्पृष्ट है ,परन्तु अज्ञानवश वह वृत्तियों से तादात्म्य स्थापित कर वृत्तियों के आकार का प्रतीत होता है,यद्यपि वृत्तियां चित्त का ही धर्म है । इस प्रकार असंप्रज्ञान समाधि काल में चित्तवृत्तियों का पूर्ण अभाव है । अत: यह न समझना चाहिए कि समाधि अवस्था में चित्त-वृत्तियों का अभाव होने से चित्त का भी अभाव हो रहता है । चित्त का लय नहीं, क्योंकि समाधि चित्त के समाधान को ही कहते हैं । अत: समाधि चित्त की ही अवस्थाविशेष है । चित्त के अभाव में समाधि का अस्तित्व सम्भव नहीं । हां, समाधि में बुद्धिवृत्ति का लय अवश्य ही मान्य है ।

समाधि के पश्चात् सुषुप्ति का प्रश्न है। सुषुप्ति का लक्षण किसी सांख्ययोगाचार्य ने नहीं किया । हां, योगवासिष्ठ में चित्त की इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है । जब कि शरीर में मन-वचन और कर्मरूपी कोई भी क्रिया नहीं होती, तब जीव धातु अपने स्वरूप में शान्त भाव में स्थित रहती है । प्राणों की क्रिया में समता आ जाती है और हृदय में स्थित जीव धातु में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता । जैसे कि हवारहित स्थान में चांदनी देने वाला दीपक भी क्षोभरहित होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार जीवधातु

---

१ सांख्यसूत्र का भाष्य, पृ०२३१

भी शान्त रहती है । उस अवस्था में जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर नहीं दौड़ती है । इस कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का अभाव रहता है,और उनकी क्रिया बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती ।उस समय चेतनता जीव के भीतर ही ऐसे रहती है ,जैसे कि तिलों में तेल,बर्फ में शीतलता और घी में चिकनाई । प्राणों के सौम्य हो जाने पर, बाह्यज्ञान के हो जाने पर जीव के आकार वाली कला नामक चिति सुषुप्ति की दशा में पहुंच जाती है । अत: चित्तवृत्तियां जब पूर्णरूपेण शान्त रहें वही सुषुप्ति अवस्था है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सुषुप्ति को अर्धलय और समग्रलय के भेद से द्विविध कहा है । अर्धलय सुषुप्ति में चित्त की वृत्तियां बहिर्मुखी या बाह्यविषयाकाराकारित नहीं होती । इस अवस्था में चित्तवृत्तियां आभ्यन्तर ही सुख-दु:ख मोह के आकार को प्राप्त होती रहती है । अत: चित्तवृत्ति का अभाव नहीं अन्यथा सुषुप्ति से उठे हुए व्यक्ति की `सुखमहमस्वाप्सम्` ऐसी अनुभूति की अनुपपत्ति होगी । इससे भिन्न समग्रसुषुप्ति की अवस्था में बुद्धि की वृत्ति सामान्य या सभी वृत्तियों का पूर्ण अभाव हो जाता है । अत: इस समय पुरुष स्वरूप या ब्रह्मरूप से स्थित रहता है । इस प्रकार अधिकतर दार्शनिक सुषुप्ति में वृत्तियों का अभाव या बुद्धिवृत्तियों का लय मानते हैं । कुछ तो मन या चित्त का भी लय कहते हैं । सांख्यतत्त्वकौमुदी के टीकाकार राजेश्वरशास्त्री ने निद्रा को सुषुप्तिकालिक वृत्ति कहा है । अत: उनके विचारानुसार सुषुप्ति में भी वृत्तियों का अस्तित्व है । सुषुप्ति से इनका तात्पर्य किस सुषुप्ति से है अर्धलय या समग्रलय यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया।ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वृत्ति का कथन अर्धलय सुषुप्ति की अपेक्षा से किया है । समग्रसुषुप्ति अवस्था में वृत्ति का अस्तित्व मानना उचित नहीं । हां यह अवश्य है कि इस अवस्था में भी वृत्ति के अस्तित्व का पूर्ण निराकरण नहीं किया जा सकता,क्योंकि यदि सुषुप्ति में वृत्ति न हो तो सुषुप्ति के पश्चात् सुषुप्तिकालिक वृत्तियों की स्मृति भी न हो, परन्तु सुषुप्ति के पश्चात् `सुखमहमस्वाप्सम्` ऐसी स्मृति

होती है,अत: सुषुप्ति में भी सुखात्मक वृत्ति थी । यह अवश्य है कि वृत्ति के रहने पर भी उसी काल में उसका अनुभव या प्रतीति नहीं होता । यही समाधि और सुषुप्ति की भिन्नता है । समाधि में वृत्ति का पूर्ण अभाव या लय होता है,परन्तु सुषुप्ति में वृत्ति होने पर भी उसकी प्रतीति का अभाव है और चित्त के दोनों अवस्थाओं में रहता है ।

अब प्रश्न है मोक्षावस्था का । जहां तक मोक्षावस्था के स्वरूप का प्रश्न है आगे विचार किया जायगा । यहां संक्षेप में उसे स्पष्ट करना आवश्यक है,अन्यथा इस अवस्था में चित्तवृत्तियों के अस्तित्वादि की समस्या का समाधान न हो सकेगा । जहां तक सांख्याचार्यों का मत है वे सभी त्रिविध दु:खों के आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश को ही मोक्ष मानते हैं । सांख्यसूत्रों का भी प्रारम्भ ही इसी मोक्ष रूप पुरुषार्थ को लेकर हुआ है--`अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:` अर्थात् आध्यात्मिक,आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दु:खों की पूर्णरूपेण निवृत्ति में ही परम मोक्षरूप पुरुषार्थ है,इसी प्रकार योगदार्शनिकों ने भी अविद्या के प्रभाव होने पर प्रकृति पुरुष के संयोग के अभाव को ही हान या मोक्ष कहा है[1] । इस प्रकार इस अवस्था में भी पुरुष स्वस्वरूप से ही स्थित रहता है । अज्ञान की पूर्णरूपेण निवृत्ति होने पर पुरुष का प्रकृति से संयोग समाप्त हो जाता है,क्योंकि यह संयोग अविद्याहेतुक ही है तथापि पुरुष प्रकृति के परिणामों से पूर्णत: असंस्पृष्ट है । तथापि अज्ञानवश बुद्धि आदि कृत कार्यों को स्वयं में आरोपित करके बुद्धिवृत्ति के आकार का प्रतीत होता है । परन्तु मोक्षावस्था में पुरुष की प्रकृति से पार्थक्य ज्ञान होने पर वह स्वरूप को पहचान लेता है । अत: अन्ततोगत्वा योगसूत्रकार ने कैवल्य का लक्षण इसप्रकार किया है--`पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति`[2] ।

१`तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम् ।` योगसूत्र २।१५,पृ०४२३

२ योगसूत्र ४।३४,पृ०८७३ ।

अर्थात् समाप्त हो गया है भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ जिसका ऐसे कृतकार्य रूपसे पुरुषार्थशून्य एवं बुद्ध्यादि रूप से परिणत गुणों का जो प्रतिलोम रूप से या यह कहिए अपने-अपने कारणों में लय द्वारा प्रधान में लय होता है । यह प्रधान का मोक्ष और वृत्तिरूप्य की निवृत्ति होने पर शुद्धस्वभावमात्र से अवस्थित चितिशक्ति रूप पुरुष का होना, पुरुष का कैवल्य कहा जाता है ।

प्रश्न यह है कि मोक्षावस्था में चित्तवृत्तियां हैं अथवा नहीं । मोक्षावस्था के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि इस समय सृष्टि की निवृत्ति होती है । सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग का ही परिणाम है, संयोग के निवृत्त होते ही सृष्टि भी निवृत्त हो गई । जब सृष्टि ही नहीं, अर्थात् जब महदादि का क्रमशः स्वस्वकारण में लय हो जाता है, अतः चित्तवृत्तियों का अस्तित्व असम्भवही है । चित्त का ही जब अस्तित्व नहीं तो उनके व्यापारों का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः मोक्षावस्था में चित्तवृत्तियों का पूर्ण अभाव है । यह सभी दार्शनिकों को मान्य है । परन्तु यह कथन कुछ अनुपयुक्त है । जीवन्मुक्ति दशा में मनादि रहते हैं । मोक्ष भी द्विविध है-जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति । जीवन्मुक्ति अवस्था में पुरुष अनागतादि दुःखों का नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगता है । अतः फलभोग के लिए बुद्धि आदि का होना अत्यन्त आवश्यक है । भोग के चित्त का धर्म होने से चित्त का अस्तित्व अनिवार्य है, परन्तु इससे भिन्न विदेहमुक्ति काल में शरीर इन्द्रियादि का स्वकारणमें लय होने से चित्तवृत्तियों का पूर्णाभाव स्वीकार करना ही उपयुक्त है । इस अवस्था में चित्त का भी अस्तित्व नहीं है[१] । अतः चित्तवृत्तियों का अभाव वस्तुतः विदेहमुक्ति से ही होता है ।

इस प्रकार पूर्व दो अध्यायों में सांख्ययोगाभिमत तत्त्वों का उद्देश, उनका सृष्टिक्रम और साथ ही त्रयोदश (त्रिविध अन्तःकरणों और दश बाह्यकरणों) के विविध व्यापारों का विचार किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय

-0-

चित्त की विशिष्ट वृत्तियां

चित्तवृत्ति क्या है ?

वृत्तियों के प्रकार

प्रमाण वृत्ति

(क) प्रमाण वृत्ति क्या है?

(ख) प्रमाण के प्रकार

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण

(घ) योगाचार्यों का तद्विषयक मत

(ङ०)अनुमान प्रमाण

(च) योगदार्शनिकों का तद्विषयक मत

(छ) अनुमान के प्रकार

(ज) आप्त वचन

(झ)योगाचार्यों का तद्विषयक मत

(ट) अन्य प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव

विपर्यय वृत्ति

विपर्यय के प्रकार

विकल्प वृत्ति

विकल्प के प्रकार

निद्रा वृत्ति

स्मृति वृत्ति

स्मृति के प्रकार

चित्त की अवस्था वृत्तियां

चित्त के त्रिविध व्यवसाय

-0-

चतुर्थ अध्याय

-०-

चित्त की विशिष्ट वृत्तियां

चित्तवृत्ति क्या है ?

अभी तक सभी करणों--बाह्य और अन्त: के विभिन्न सामान्यासामान्यादि व्यापारों का विचार हुआ । अब चित्त की कुछ ऐसी वृत्तियों का विवेचन किया जायगा, जो केवल चित्त रूप अन्त:करण का व्यापार हैं । अर्थात् उन्हें चित्त की विशिष्ट वृत्तियां कहा जा सकता है । चित्त क्या है, इस विषय में कुछ मतभेद है । कुछ आचार्य 'चित्त' शब्द के अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार और मन इन तीन अन्त:करणों को स्वीकार करते हैं । विज्ञानभिक्षु ने 'चित्तमन्त:करणसामान्य' कहकर तादृश मत स्पष्ट किया है । परन्तु इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र 'चित्त' शब्द से बुद्धि या मनोमात्र का ग्रहण करते हैं । 'चित्तशब्देन अन्त:करणं बुद्धिमुपलक्षयति' अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त को ही मन भी कहते हैं । यहां मन शब्द से एकादशेन्द्रिय मन का ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन् प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि का ही ग्रहण होना चाहिए । अत: बुद्धि ही चित्त है । चित्त प्रकृति रूप त्रिविध गुणों का ही परिणाम है । अत: त्रिगुणों का परिणाम होने से यह भी त्रिगुणात्मक ही होगा। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण स्वभावत: चंचल हैं, अत: प्रतिक्षण किसी-न-किसी परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं, चाहे वह सरूप परिणाम हो अथवा विरूप । अर्थात् सृष्टिकाल में विरूप परिणाम और प्रलयकाल में सरूप परिणाम प्राप्त होते हैं । इनके परिणामी होने से त्रिगुणात्मक चित्त भी प्रतिक्षण किसीन-किसी परिणाम को प्राप्त

करता रहता है । चित्त के ये परिणाम ही चित्तवृत्ति कहलाते हैं । चित्तवृत्ति शब्द की `वर्तनेऽनया इति वृत्तिः अथवा `वर्तनं वृत्तिः चित्तस्य` इस व्युत्पत्ति से ही प्रतीत होता है कि रहने या सत्ता का साधन ही वृत्ति है, अर्थात् चित्त-वृत्ति चित्त के अस्तित्व का साधन ही है । विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में चित्तवृत्ति का यही स्वरूप बताया है -- ` यैः प्रमाणादिलक्षणव्यापारैः चित्तं जीवति ते तद्वृत्त्यः उच्यन्ते ` अर्थात् जिन प्रमाणादि व्यापारों की सहायता से चित्त जीवित है, अर्थात् चित्त का अस्तित्व है, उन्हें ही चित्त की वृत्तियां कहते हैं । अतः वस्तुतः चित्त के व्यापार को चित्तवृत्ति कहते हैं । नागोजी भट्ट ने भी ऐसा ही वर्णन किया है । सांख्यसूत्रकार ने चित्तवृत्ति का लक्षण नहीं किया, परन्तु सूत्र ५।१०६ से ८ में इसका संकेत किया है[1] । सूत्र १०८ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्त लक्षण को ग्रहण किया है, जिससे जो जीवित रहे, वही उसकी वृत्ति है । जैसे ब्राह्मण की वृत्ति याजनादि कर्म[2] । अतः वृत्ति के अधीन ही चित्त की स्थिति है, अर्थात् चित्त के निर्वाह का साधन होने से प्रमाणादि परिणाम चित्त की वृत्ति कहलाते हैं ।

उपर्युक्त सभी आचार्यों से भिन्न आचार्य भोज ने राजमार्तण्ड वृत्ति में वृत्तियों को चित्त का परिणामविशेष कहा है--`वृत्त्यश्चित्तस्य परिणामविशेषः` चित्त सदैव किसी न किसी परिणाम रूप से ही रहता है । परिणामों से भिन्न उसकी कोई स्थिति नहीं, अतः चित्त का परिणाम ही वृत्तियां हैं । वंशीधर मिश्र ने भी इसी मत का समर्थन किया है--'विषयाकारवृत्तिरूपपरिणामविशेषः` । सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने वृत्ति का अर्थ सन्निकर्ष किया है । इन्द्रियों का बाह्य विषयों से जो

---

१ `भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पति` --सांख्यसूत्र५।१०७पृ०२२८
`न द्रव्यनियमस्तद्योगात्` सांख्यसूत्र ५।१०८, पृ०२२८ ।

२ `वृत्तिर्वर्तनजीवन इति हि योगिकोऽयं शब्दः । जीवनं च स्वस्थितिहेतुर्व्यापारः । वैश्यवृत्तिः शूद्रवृत्तिरित्यादिव्यवहाराच्च ।` --सांख्यप्रवचन-भाष्य, पृ०२२८ ।

सम्पर्क या सम्बन्ध होता है, वह सन्निकर्ष रूप व्यापार ही वृत्ति है । `वृत्तिश्च सन्निकर्ष: । अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थ:` । शिवनारायणशास्त्री का भी यही मत है । किसी भी वस्तु का प्रामाणिक ज्ञान करने के लिए इन्द्रियादि का उन वस्तुओं से सन्निकर्ष या सम्बन्ध होता है । उस सम्बन्ध रूप व्यापार को ही वृत्ति कहते हैं । उस व्यापार के अभाव में ज्ञान भी असम्भव है[१] ।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगसारसंग्रह में वृत्ति को बुद्धि का अंशभाग माना है । चित्त या बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा के समान बुद्धि का अंशभाग है, जिससे कि चित्त की एकाग्रता रूप व्यवहार होता है । चित्तवृत्तियां चित्त को स्पष्ट करने वाला व्यापार है, अत: चित्त का अंशभाग कहना उचित ही है । वह अंशभाग ही मूषा में डाले हुए द्रवीभूत ताम्बे के समान इन्द्रिय के द्वारा बाह्य विषय से मिलने पर विषयाकार हो जाता है[२] । योगकारिकाओं में भी ज्ञान की लय और उदयशील अवस्था को चित्तवृत्ति कहा गया है[३] । अत: चित्त की भिन्न-भिन्न रूप से स्थिति का नाम ही चित्तवृत्ति है । चित्त सदैव किसी-न-किसी परिणाम के रूप में ही स्थित रहता है । वे परिणाम ही उसकी अवस्थाएं हैं । अत: चित्तवृत्ति चित्त का परिणाम या अस्तित्व का साधन है । इस प्रकार चित्तवृत्ति का अर्थ है-- ज्ञानरूपसमस्त अवस्थाएं । उनके अभाव हो जाने पर चित्त का लय होता है ।

अब प्रश्न इस बात का है कि चित्तवृत्ति चित्त का अंश है अथवा चित्त का गुण । वृत्तियां न तो चित्त का अंश ही हैं, और

१`तथैवापीन्द्रियादिना ..... भवति व्यापार: `--सारबोधिनी, पृ० ११३

२`बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य .... मूषानिक्षिप्तद्रुतताम्रवत् ।`योगसार, पृ०४

३`प्रत्ययरूपं चित्तसत्त्वं सर्वविज्ञानलक्षणम् । प्रत्ययोलयोदयशीलावस्था तस्य वृत्तिरित्युरिता ।`, पृ०४ ।

न ही चित्त के गुण[१]। यदि वृत्ति चित्त का भाग या अंश होगी तब तो उस वृत्ति के माध्यम से चक्षु आदि का सूर्यादि से सन्निकर्ष सम्भव न होगा। (क्योंकि वह विषयों से सन्निकर्ष स्थापित करने के लिए जाती है) अतः वह चित्त का अंश नहीं। यदि चित्त का गुण मानें तो गुण में क्रिया सम्भव नहीं है, परन्तु वृत्ति में सर्पण रूप क्रिया होती है। क्रियावान् द्रव्य ही हो सकता है। अतः चित्तवृत्तियों को चित्त का गुण मानना भी अयुक्त है। हां, यह अवश्य कह सकते हैं कि चित्तवृत्तियां द्रव्य हो सकती हैं। सूत्रकार के इस मत का विज्ञानभिक्षु ने समर्थन किया है और वृत्तियों को द्रव्य ही माना है[२]। अतः वृत्ति द्रव्य है, परन्तु सांख्यसूत्रकार ने वृत्ति के द्रव्यत्व का भी निषेध किया है[३]। अतः वृत्ति द्रव्य हो, यह आवश्यक नहीं। प्रसर्पणरूप क्रिया से युक्त होने के कारण ही वृत्तियां द्रव्य हैं। वस्तुतः ये घटादिसदृश-देशव्यापी द्रव्य के समान द्रव्य नहीं है। अतः अन्त में यह कह सकते हैं कि वृत्तियों के रूप से ही सदैव चित्त की अवस्थिति है। अतः वृत्तियां चित्त की अवस्थाविशेष ही हैं।

वृत्तियों के प्रकार

जहां तक वृत्तियों के प्रकारों का प्रश्न है, वृत्तियां वस्तुतः अनेक हैं। चित्त प्रतिक्षण परिणामशील हैं। अतः प्रतिक्षण चित्त की वृत्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उन सभी वृत्तियों में जो चित्त को अधिक विक्षिप्त करती हैं, और ज्ञान और मोक्षप्राप्ति के लिए जिन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है, उन सभी वृत्तियों के मुख्यतः पांच प्रकार स्वीकृत है। सांख्य और योगसूत्रकारों ने एक ही सूत्र में इसे स्पष्ट कर

---

१ 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति' —सूत्र ५।१०७, पृ० २२८

२ 'बुद्धिर्विषयेण सम्बन्धार्थं.... क्रियासंज्ञादित्यर्थः', पृ० ४

३ न द्रव्यनियमस्तद्योगात्' —सांख्यसूत्र ५।१०८, पृ० २२८

किया--`वृत्त्य: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:` अर्थात् वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं और ये पांचों वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की हैं । सांख्यसूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु आदि सभी ने इस मत का समर्थन किया है । उपर्युक्त सूत्र में `वृत्त्य:` पद बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है । बहुवचनान्त पद का प्रयोग विविध व्यक्तियों की विविध वृत्तियों के कारण हुआ है । सूत्र में प्रयुक्त `पंचतय्य:` पद का अर्थ -- पांच अवयव वाली या पांच प्रकार की । असंख्य व्यक्तियों की असंख्य वृत्तियां हैं ये पांच वृत्तियां उन सभी की अवयव है । इसी कारण पंच में अवयवार्थक तयप् प्रत्यय लगा है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में इसका खण्डन किया है ।उनके अनुसार `पंचतय्य:` पद का पांच प्रकारों से अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है[1] । इनके विपरीत आचार्य भोज और वाचस्पति मिश्र ने अवयवार्थ ही स्वीकार किया है[2] । जहां तक वृत्तियों की संख्या का प्रश्न है, सभी सांख्ययोगदार्शनिक मुख्यत: पांच ही प्रकार स्वीकार करते हैं । ये पांच वृत्तियां कौन-कौन हैं ? इनका योगसूत्र१।६ में पतंजलि ने उद्देश[3] किया है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियां हैं । सांख्यतत्त्वालोक में हरिहरानन्द ने आरण्यक ने पांच ही वृत्तियां मानी हैं, परन्तु वृत्तियों का उद्देश करते समय निद्रा के स्थान पर विज्ञान का कथन किया है । निद्रा और विज्ञान अत्यन्त भिन्न है, अत: यह कहना कि निद्रा के स्थान पर विज्ञान का कथन हुआ है, सर्वथा अयुक्त है । परन्तु साथ ही भास्वती में हरिहरानन्द ने ही योगभाष्याभिमत पांच वृत्तियों को स्वीकार किया और निद्रा का भी

---

१ `वृत्तीनामसंख्यव्यक्तितयाऽवयवार्थकत्वानुपपत्त्या लक्षणयाऽत्र प्रकारवाचित्वं ता: पंचधा वृत्त्य: ।` --योगवार्तिक, पृ० २७

२ `वृत्तिरूपोऽवयव्येक:, तस्य प्रमाणादयोऽवयवा: पंच । ततस्तदवयवा पंचतयी पंचावयवा वृत्तिर्भवति ।` --योगतत्त्ववैशारदी, पृ० २५

३ `प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय: ` --योगसूत्र १।६, पृ० ४३ ।

वहां कथन हुआ है । यह उनका स्ववचोव्याघात दोष है । अत: निद्रा को ही स्वीकार करना चाहिए, वही अधिक उपयुक्त और अधिक आचार्यों को मान्य भी है । इन पांच वृत्तियों पर लक्षणसहित विचार आगे किया जायगा । ये पांच वृत्तियां ही क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से द्विविध है । क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां क्या हैं, यह प्रश्न स्वाभाविक है । वस्तुत: जिन वृत्तियों का मूल अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेश रूप पंच क्लेशों में है । वे क्लेशमूलक या क्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं और जिनका विषय प्रकृति और पुरुष का पार्थक्यज्ञान या विवेकज्ञान है वे वृत्तियां अक्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं । योगभाष्यकार कहते हैं[१]-- जो वृत्तियां धर्माधर्म रूप कर्मसंस्कारों की उत्पत्ति का कारण बनती है और क्लेशमूलक है वे ही क्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं,क्योंकि शुभ और अशुभ ये दोनों ही कर्म भोग और बन्धन का कारण होते हैं । अत: वे अक्लिष्ट वृत्तियां ही हैं । विवेकज्ञान को विषय बनाने वाली और गुणों के कार्य(संसार से अनुरक्ति) का विरोध करने वाली वृत्तियां अक्लिष्ट है । सांख्यसूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी एतादृश लक्षण किया है[२] । दु:ख देने वाली वृत्तियां क्लिष्ट और उससे विपरीत अक्लिष्ट वृत्तियां होती हैं । क्लिष्ट वृत्तियां क्लेशमूलिका होने से इन पांच क्लेशों में से किसी क्लेश के प्रकट होने पर ही उत्पन्न होती है । इन वृत्तियों से जो संस्कार संचित होते हैं, वे भी क्लेशमूलक होने से क्लेशरूप या दु:खरूप फल ही देते हैं । दु:ख देने के कारण ही इन्हें क्लेशमूलिका कहते हैं । आचार्य भोज भी इसी मत के पोषक हैं[३] । इनसे भिन्न अक्लिष्ट वृत्तियां

---

१ 'क्लेशहेतुका: कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता: क्लिष्टा: । ख्यातिविषया: गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा ।' --व्यासभाष्य , पृ०३६

२ 'क्लिष्टा: दु:खदा: सांसारिक वृत्त्योऽक्लिष्टा: च तद्विपरीता योगकालीन-वृत्त्य: ।' सांख्यप्रवचन भाष्य, पृ०१३१ ।

३ तदुक्तं भवति पंचवृत्त्य: कीदृश्य: । क्लिष्टा: अक्लिष्टा:,क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराकृष्टा तद्विपरीताक्लिष्टा: ता एव पंचवृत्त्य: सदित्यप्य उद्दिश्यन्ते ।'

विवेकज्ञान को विषय बनाती हैं,क्योंकि विवेकज्ञान से ही चित्त निवृत्त होता है । ये वृत्तियां गुणाधिकार का विरोध करती हैं । गुणाधिकार का अर्थ है-- गुणों की प्रवृत्ति । गुणों की प्रवृत्ति से ही क्लेश होता है, अत: गुणों को निवृत्त करने वाली वृत्तियों को ही गुणाधिकारविरोधिनी कहा है । किसी आचार्य ने गुणों के कार्यारम्भण रूप अधिकार को स्वीकार किया है जब कार्य ही न होगा, तब उनसे दु:ख या क्लेश होने के का प्रश्न ही नहीं उठता, इस प्रकार विवेकज्ञान को उत्पन्न करने वाली वृत्तियां ही अक्लिष्ट वृत्तियां कहलाती हैं ।

कुछ आचार्य क्लेशमूलक वृत्तियों को तामसिक और अक्लिष्ट वृत्तियों को सात्त्विक मानते हैं । वस्तुत: सात्त्विक वृत्तियां भी सत्त्वगुण का परिणाम रूप होने से गुणाधिकारविरोधिनी नहीं हो सकती,परन्तु यहां ऐसा प्रतीत होता है कि सात्त्विक से आचार्य का अभिप्राय सत्त्वगुण के परिणाम से नहीं,वरन् विवेकज्ञान से है,क्योंकि ज्ञान को सत्त्व रूप या प्रकाशस्वरूप माना गया है और विवेकज्ञान मोक्षप्रद होने से सात्त्विक है । अत: अक्लिष्ट वृत्तियां इसी अर्थ में सात्त्विक हैं । अब प्रश्न यह है कि वृत्तियां पांच प्रकार की हैं,परन्तु यहां उनका उल्लेख किस क्रम से है । शास्त्रों में प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है और यह ठीक ही है कि प्रमाण चित्त-वृत्ति रूप होने पर भी आत्मज्ञान या विवेक प्राप्ति में सहायक है । श्रुतियों में प्रमाणों को ही ज्ञानप्राप्ति का साक्षात् उपाय कहा गया है-- 'आत्मा-वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्य: निदिध्यासितव्यश्च' क्योंकि प्रमाणों से यथार्थ ज्ञान होता है और साधना की दृष्टि से प्रमाण अधिक महत्त्वपूर्ण है । विवेकज्ञान भी एक प्रकार का यथार्थ ज्ञान ही है । अत: प्रमाण का फलस्वरूप सम्यग्रूपेण जानना अधिक आवश्यक है । रही अन्य तीन विपर्यय,विकल्प और निद्रा की बात । इसमें निद्रा तो तम: प्रधान और तमस् का प्राबल्य होने पर साधना में अनेक बाधाएं या विघ्न होंगे । अत: साधना को सुव्यवस्थित और

सुदृढ़ बनाने के लिए निद्रा वृत्ति का निरोध अत्यन्त आवश्यक है । विकल्प और विपर्यय वस्तुत: मिथ्याज्ञान हैं । वस्तु के अभाव में उसका ज्ञान या पदार्थ का विपरीत ज्ञान भी विवेकज्ञान का साधक है । पंचम वृत्ति है, स्मृति । स्मृति अनुभवजन्य होती है,अत: अनुभव के बाद ही होगी । अनुभव प्रमाण विपर्ययादि से ही प्राप्त होता है,अत: निरोधक्रम में यदि प्रमाणादि का निरोध हो जाय तो स्मृति वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । उसका निरोध स्वत: सिद्ध है । अत: उसी क्रम से यहां भी इनका निरूपण किया जा रहा है ।

प्रमाण वृत्ति

(क) प्रमाण क्या है ?

उपर्युक्त पांच वृत्तियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रमाण की ही गणना की गई है । अत: सर्वप्रथम प्रमाण पर ही विचार करना आवश्यक है । जहां तक प्रमाणों के स्वरूप का प्रश्न है, वह तो उसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है । `प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्` अर्थात् जिसके द्वारा प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाय, वही प्रमाण है । प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से ल्युट प्रत्यय लगने से यह शब्द निष्पन्न हुआ,जिसका अर्थ है प्रमा का करण या मुख्य कारण[१] । लगभग सभी आचार्यों ने प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा है और यह युक्तिसंगत ही है । योगवासिष्ठ में भी ऐसा ही लक्षण किया गया है--`प्रमाण` उस साधन का नाम है,जिसके द्वारा किसी विषय का प्रमाण (अर्थात् सत्य ज्ञान) होता है[२] ।यद्यपि योगसूत्रकार और भाष्यकार ने इसका लक्षण नहीं किया,परन्तु अन्य टीकाकारों ने इसे स्पष्ट किया है । साथ ही योगसूत्र १।७ में `प्रत्यक्षानुमानागमा:

---

१ प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । करणसाधनो ल्युट। युक्तिदीपिका,पृ० २६ ।
२`योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त`,पृ०१८६ ।

प्रमाणानि' के प्रमाणानि पद का आचार्यों ने द्विविध अर्थ किया है । एक पद प्रमाणसामान्य का लक्षणपरक है और दूसरा प्रमाणविशेष का है । अर्थात् सूत्र के प्रमाणानि पद में तन्त्र है । तन्त्र का अर्थ है एक बार उच्चरित पद से अनेक अर्थ का बोधन करना । अतः प्रमाणानि पद में 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' से दो प्रमाणपदों का एकशेष समझना ही उपयुक्त है । इस प्रकार अज्ञात पदार्थ का ज्ञान ही प्रमा है और प्रमा का करण या साधन प्रमाण है । सांख्यकारिकाओं के टीकाकार वाचस्पति मिश्र भी इसी मत के पोषक है[१] । तत्त्वालोक में हरिहरानन्द का और सप्ततिकार का भी यही मत है[२] । सांख्यसूत्रकार भी प्रमाण को प्रमा का करण ही मानते हैं, परन्तु इसे भिन्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है--'द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थ-परिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्'[३] अर्थात् असन्निकृष्ट या अज्ञात अर्थ की परिच्छित्ति या अवधारण ही प्रमा है । वह प्रमा चाहे बुद्धि और पुरुष दोनों का धर्म हो अथवा किसी एक का ही । उस प्रमा का सर्वोत्तम साधन या साधकतम ही प्रमाण है । सूत्र में 'द्वयोरेकतरस्यवापि' पदों के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमा के विषय में दो मत प्रचलित हैं । वे दोनों मत कौन-कौन हैं, यह जानना आवश्यक है । जहां तक प्रमा के स्वरूप का प्रश्न है, सभी विद्वानों का मत समान है । सभी अनधिगत तत्त्व के बोध को ही प्रमा मानते हैं । भिन्नता केवल इस बात की है कि कुछ आचार्य बोध शब्द से बुद्धि के बोध्य को और कुछ पौरुषेय बोध का ग्रहण करते हैं । अज्ञात पदार्थ का बोध या ज्ञान मुख्यतः बुद्धि को ही होता है । पुरुष को

---

१ अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निवर्चनं च लक्षणम् । प्रमीयते--ऽनेनेति निर्वचनाच्च प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते ।', पृ०६७ ।

२ 'अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा । प्रमायाः करणं प्रमाणम्'--सांख्यतत्त्वालोक, पृ०१५

३ सांख्यसूत्र १।८७, पृ०६४

तो उसका केवल अभिमान होता है यही बौद्ध बोध है । अर्थात् बुद्धि में होने वाला ज्ञान ही प्रमा है । आचार्य अनिरुद्ध ने इसी मत को स्वीकार किया है[१] । परन्तु इनके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने पौरुषेय बोध को प्रमा कहा है । पौरुषेय बोध का अर्थ है, पुरुषगत ज्ञान । अब प्रश्न यह है कि पौरुषेय बोध की प्रक्रिया क्या है? बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान सर्वप्रथम मन इत्यादि बुद्धि को अर्पित करते हैं, तत्पश्चात् बुद्धि उस ज्ञान के साथ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है और इस प्रकार पुरुष को भी उस विषय का ज्ञान होता है । यही है पौरुषेय या पुरुषगत बोध । अत: विज्ञानभिक्षु पुरुषनिष्ठ बोध के साक्षात् कारण बुद्धिगत बोध को ही प्रमाण मानते हैं, क्योंकि प्रमा का कारण ही प्रमाण है । विज्ञानभिक्षु का यह मत योगभाष्यकार के मत के अधिक समीप है । प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करके प्रसंगत: प्रमा को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं--`फलमविशिष्ट: पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध:` अर्थात् बाह्यार्थों का बुद्धिगत बोध प्रमाण है और उसका कार्यभूत पौरुषेय बोध चित्तवृत्ति ही प्रमा है । वाचस्पति ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[२] । अन्य टीकाकारों उदासीन, शिवनारायणादि ने बौद्ध बोध और पौरुषेयबोध दोनों को ही प्रमा माना है । परन्तु ये मत मूल टीकाकार वाचस्पति से भिन्न है, क्योंकि वाचस्पति ने कई स्थलों पर इसे स्पष्ट किया है[३] । पुरुष में पड़ने वाला बुद्धिवृत्ति का अनुग्रह या प्रतिबिम्ब ही प्रमा है[४] । इस प्रकार वे बुद्धिवृत्ति और पौरुषेय बोध दोनों को प्रमा

---

१ `द्वयोरिति इन्द्रियार्थयोर्विद्यमानयो:..... परिच्छित्ति: प्रमा प्रमिति: फलम् ।` अनिरुद्ध वृत्ति--सूत्र १।८७, पृ० २६।

२ `तत्र असंदिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्ति:।बोधश्च पौरुषेय: प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति` --तत्त्वकौमुदी, पृ०६७ ।

३ द्वयो: एकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति: प्रमा `इति सांख्यसूत्रे प्रमाद्वैविध्यस्याभिहितत्वेन बुद्धिवृत्ति: पौरुषेयबोधश्चेत्युभयमपि प्रमेति भाव: ।` पृ०७३ विद्वत्तोषिणी ।

४ `अनेन यश्चेतनाश्चतेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोध:`, पृ० १०३

मानने के लिए सर्वथा अप्रस्तुत है । हां, सांख्यसूत्र १।८७ के `द्वयोरेकतरस्य` पद से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार को बुद्धिवृत्ति और पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमारूप से अभिमत है । विज्ञानभिक्षु ने भी प्रमा के इन विविध रूपों को स्वीकार किया है[१] । प्रमाविषयक विचारों में भिन्नता होने के कारण प्रमाणविषयक मतभेद होना स्वाभाविक है अर्थात् बौद्ध बोध को प्रमा मानने पर उसका करण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रमाण होगा और पुरुषनिष्ठ बोध को प्रमा मानने पर बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण होगा ।

जहां तक प्रमाण के लक्षण का प्रश्न है, आचार्य भोज ने सर्वथा भिन्न शब्दों से इसका लक्षण किया है--`प्रमाणलक्षणंतु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति` अर्थात् विवादरहित पदार्थ का ज्ञान ही प्रमाण है । नागोर्जा ने भी ऐसा ही लक्षण किया है और `प्रमाकरणं प्रमाणम्` इसका भी समर्थन किया है[२] । इस प्रकार उन्होंने भोज और अन्याचार्यों के एतद्विषयक मत का स्वयं प्रदर्शित किया है । अतः संक्षेप में प्रमा का करण ही प्रमाण है ।

(ख) प्रमाण के प्रकार

सांख्ययोगदार्शनिकों ने चित्त की प्रमाणरूप चित्तवृत्ति का तीन प्रकारों में विभाजन किया है-- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । इनसे भिन्न न्याय, बौद्धादि दार्शनिक चार और पांच प्रमाण मानते हैं । कोई उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को कोई अभाव को भी प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, परन्तु सांख्ययोगाचार्यों को तीन ही प्रमाण स्वीकृत है । योगसूत्रकार ने १।७ सूत्र में ही `प्रत्यक्षानुमानागमाः

---

१ `अत्र यदि..... प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति ।`, पृ० ६५

२ `अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा । तत्करणं प्रमाणमिति सामान्यलक्षणम्।
अविसंवादिज्ञानं वा प्रमा ।`, पृ० ६

इन त्रिविध प्रमाणों का उल्लेख किया है । सांख्यसूत्रों में प्रमाण का लक्षण करते समय सूत्र के अन्त में 'त्रिविध' पद का ग्रहण करने से सूत्रकार का मत स्पष्ट हो जाता है । अत: सांख्य और योगशास्त्रों के मूल आचार्य तीन ही[१] प्रमाण मानते हैं । सभी वृत्तिकार, कारिकाकार और टीकाकारों को भी यही मत अभिमत है । परन्तु सांख्यकारिकाओं के टीकाकार युक्तिदीपिकाकार ने मुख्यरूप से एक ही प्रमाण माना है । एक ही प्रमाण उपाधि के कारण भिन्न-भिन्न आख्या को प्राप्त होते हैं, अत: भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से कहे जाते हैं । जहां तक प्रमाणों की संख्या का प्रश्न है, यदि एक प्रमाण से ही कार्य हो जाय तो तीन मानने की क्या आवश्यकता । एक ही प्रमाण मानने पर शास्त्र का प्रयोजन पूर्ण न हो सकेगा । शास्त्र तो साधारण जनों के ज्ञान के लिए ही प्रवृत्त हुआ है और प्रमाण साधारण जनों के ज्ञानोत्पादन में उपयोगी है । अत: उनको ज्ञान-प्राप्ति के लिए तीनों प्रमाणों की आवश्यकता है । अत: लौकिक प्रमाणों की संख्या तीन ही मानना उचित है। आर्ष (आगम) प्रमाण उर्ध्वरेत योगियों का है । वह साधारण या लौकिक जनों के ज्ञान में उपयोगी और समर्थ नहीं । अत: एक ही प्रत्यक्ष नामक प्रमाण को स्वीकार करना उपयुक्त न होगा । लौकायतिक या चार्वाक दार्शनिकों के एक ही प्रमाण मानने में एक आपत्ति है । प्रत्यक्ष प्रमाण से स्थूल पदार्थों पुरुषों आदि का ज्ञान होता है । सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं । किसी अज्ञानी पुरुष के अन्तर्वर्ती विपर्यय अथवा संशय का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं, अत: लौकायतिक उसका ज्ञान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ होगा । अनुमान

---

१ दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि ।
--कारिका ४, पृ०६६ ।

प्रमाण को स्वीकार करने पर ही उस पुरुष के मिथ्याज्ञानादि का उस पुरुष के आकृति और वचनादि लिंगों से अनुमान सम्भव है। अनुमानप्रमाण को मानने पर भी कुछ ऐसे पदार्थ शेष हैं, जिनका ज्ञान नहीं हो सकता । कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके विषय में न प्रत्यक्ष ही सम्भव है और न उसका कोई लिंग ही प्राप्त है । अत: अनुमान भी नहीं हो सकता । ऐसे स्थलों पर ज्ञानी ऋषियों आप्त अर्थात् आप्त जनों के तद्विषयक वाक्यों को ही प्रमाण मानना पड़ता है और यही शब्द प्रमाण है । अत: इन तीनों ही प्रमाणों को मानना आवश्यक है और तीनों को मानने पर ही सांसारिक सभी विषयों का ज्ञान हो सकता है ।

प्रश्न यह है कि सांख्य योगदार्शनिकों को तीन ही प्रमाण क्यों अभीष्ट है । वे अन्य अर्थापत्ति अभावादि प्रमाणों की क्यों नहीं स्वीकार करते ? कारिकाकार ने इस प्रश्न का समाधान अपनी चतुर्थ कारिका में 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' पद से किया है । इस पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है-- इन तीन प्रत्यक्षानुमानादि में ही अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है[1] । अन्य आचार्यों का भी ऐसा ही मत है । परन्तु इनसे भिन्न नारायण तीर्थ ने इसका पृथक् ही अर्थ किया है[2] । सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् का अर्थ है पतंजलि आदि ऋषियों को प्रत्यक्षादि तीन ही प्रमाण अभीष्ट होने से तीन ही प्रमाण होते हैं, अन्य उपमानादि नहीं । उपमानादि का प्रत्यक्षादि में ही अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु यह कैसे सम्भव है? यह इन सभी प्रमाणों का

---

१ 'एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् अन्तर्भावादित्यर्थ: ।', पृ०१०१

२ सर्वै: प्रमाणै: प्रमातृभि: पतंजलिप्रभृतिभि: सिद्धत्वात् प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानीति स्वीकृतत्वात् ।, पृ०५

स्वरूप जानने के पूर्व स्पष्ट नहीं हो सकता । प्रत्यक्षादि प्रमाण किसे कहते हैं, इस शंका का पूर्ण समाधान होने के पश्चात् ही यह समझा जा सकता है कि उपमानादि प्रमाणों का किस प्रमाण में अन्तर्भाव सम्भव है और इसी प्रकार अभावादि का भी अन्तर्भाव किनमें होता है । अत: सर्वप्रथम प्रत्यक्षादि का लक्षण आवश्यक है ।

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण जानने के पूर्व यह शंका होती है कि सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही क्यों विचार किया जाय ? क्यों न अनुमानादि का प्रथम विवेचन करें ? इस शंका का समाधान अत्यन्त सुगम है । प्रत्यक्ष प्रमाण ही अन्य (अनुमानादि) प्रमाणों का मूल है । अर्थात् अनुमानादि को प्रत्यक्ष की सहायता की अपेक्षा है । अनुमान प्रमाण का आधारभूत व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं, अत: इस पर ही सर्वप्रथम विचार करना उचित होगा । योगवासिष्ठ में भी प्रत्यक्ष को ही प्राथमिकता दी गई है । आचार्य वसिष्ठ ने भी प्रत्यक्ष को ही परम प्रमाण और अन्य प्रमाणों के आधार रूप से स्वीकार किया है ।

'सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदत: शृणु ।'[1]

प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है, ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है । जहां तक सांख्यसूत्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण विषयक मत का प्रश्न है । उन्होंने 'यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'[2] स्तादृश लक्षण किया है, अर्थात् चित्त जिस पदार्थ से सम्बद्ध हो

---

१ योगवासिष्ठ २।१९।१६

२ सांख्यसूत्र १।८९, पृ०६८

उसी पदार्थ के आकार या रूप का परामर्श करने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । अत: बुद्धि के सम्बद्ध विषयानुरूप परिणाम को ही सूत्रकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है । उनके दोनों वृत्तिकारों --अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने भी इसी मत का समर्थन किया है --`सम्बद्धं सत्तु सम्बद्धवस्त्वाकारधारि सवति यज्ज्ञानं बुद्धिवृत्तिस्तत् प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यर्थ: ।`[1]

उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न कारिकाकार ने कारिका ५ में प्रयुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का `प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं` लक्षण किया है । अर्थात् विषय से सम्बद्ध इन्द्रियों के आधार पर प्राप्त तद्विषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । वस्तुत: ईश्वरकृष्ण का मत भी सूत्रकार के समान ही है,परन्तु उन्होंने उसे एक दूसरे रूप में ही प्रस्तुत किया है--`प्रतिविषयाध्यवसायो` पद का सभी आचार्यों ने लगभग एक ही अर्थ किया । तत्त्वकौमुदी गौडपाद,युक्तिदीपिकाकार सभी के अनुसार प्रतिविषय के प्रति शब्द का अर्थ है-- पदार्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रिय और पृथ्वी आदि पंच महाभूत अर्थात् सभी स्थूल पदार्थ विषय हैं । इन स्थूल पदार्थों के साथ साथ सूक्ष्म तन्मात्रादि का भी विषय शब्द से कथन हुआ । यद्यपि ये सूक्ष्म तत्त्व साधारण लौकिक जनों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं,अपितु ये योगियों के ही विषय बनते हैं । `विषय` शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कौमुदीकार कहते हैं-- जो बुद्धि को बांधते हैं या स्वाकार में रंगकर उसे भी तद्रूप बना देते हैं, वे ही विषय कहलाते हैं । प्रतिशब्द विषयों से सन्निकर्ष रूप वृत्ति को प्रकट करता है । अत: पदार्थों से सन्निकृष्ट इन्द्रियों से प्राप्त तद्विषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । यह ज्ञान बुद्धि का ही धर्म है । अत: इस ज्ञान के आकार की वृत्ति ही प्रमाण है । गौडपाद[2] और

---

१ सांख्यप्रवचनभाष्य,पृ०६८

२`प्रतिविषयेषु श्रौत्रादीनां.... प्रत्यक्षमित्यर्थ:` --गौडपादभाष्य,पृ०६

युक्तिदीपिकाकार[१] का भी ऐसा ही मत है । परन्तु इन आचार्यों से हव भिन्न नारायण तीर्थ ने कारिकाकार से भिन्न अर्थ किया है । अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियाधीन ज्ञान रूप अर्थ न मानकर, जिसके द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त हो, ऐसी इन्द्रियमात्र को `प्रतिविषयाध्यवसाय:` पद के अर्थरूप से स्वीकार किया है । इन्द्रियां पदार्थों से सम्बद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करती हैं और उस ज्ञान को बुद्धि को समर्पित करती हैं । अत: बुद्धि में उस ज्ञान का अर्पण करने में कारण या करण होने से इन्द्रिय ही प्रमाण है, क्योंकि चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्ट तद्विषयक बुद्धिवृत्ति ही प्रमा है । इसी कारण चन्द्रिकाकार ने इन्द्रियों को ही प्रमाण माना । उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे बुद्धिवृत्ति या बौद्ध बोध को ही प्रमा मानते हैं, और उसके कारण इन्द्रिय को करण, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन्द्रिय बौद्ध बोध का करण नहीं हो सकती, कारण भले ही हो, क्योंकि यदि इन्द्रिय करण है, इन्द्रिय के रहने पर पदार्थ का ज्ञान बुद्धि को अवश्य ही होना चाहिए, इन्द्रिय का उन पदार्थों से सन्निकर्ष हो अथवा न हो, परन्तु ऐसा नहीं होता ।इन्द्रिय हो और पदार्थ भी हो, जब तक उनका सन्निकर्ष न होगा तद्विषयक ज्ञान होना सर्वथा असम्भाव्य है । अत: वस्तुत: बुद्धिवृत्ति का करण इन्द्रिय नहीं, वरन् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है । हां, यह अवश्य है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के करणरूपेण इन्द्रियों को स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु बुद्धिवृत्ति का साक्षात् कारण न होने से वह करण नहीं और करण न होने से इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण मानना उपयुक्त नहीं । इसके अतिरिक्त यह तो पूर्णरूपेण स्पष्ट ही हो गया कि प्रमाण एक चित्तवृत्ति है, अत: वह चित्त की ही अवस्थाविशेष है । इन्द्रिय को चित्त की

---

१ `विषयं विषयं प्रति.....प्रतिविषयाध्यवसाय:` —युक्तिदीपिका, पृ०३५

अवस्था या वृत्ति के रूपसे नहीं स्वीकार कर सकते । इन्द्रिय चित्त से पृथक् तत्त्व ही है, उनका पृथक् अस्तित्व है । अत: इन्द्रिय चित्तस्वरूप नहीं हो सकती । वृत्ति तो वस्तुत: चित्तस्वरूप ही है, चित्त से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं ।इस प्रकार सांख्यदर्शन में इन्द्रिय प्रमाण रूप चित्तवृत्ति नहीं हो सकती । यद्यपि नैयायिक इन्द्रियों को भी प्रमाण मानते हैं ।उनका प्रमाण विषयक विचार ही भिन्न है । वे प्रमाण को चित्तवृत्ति रूप नहीं मानते । सांख्याचार्यों को मान्य बौद्धबोध रूप प्रमाण को नैयायिक प्रमा या प्रमाण का फल कहते हैं । अत: वे कभी इन्द्रिय,कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान इन तीनों को ही करण या प्रमाणरूप से स्वीकार करते हं । अत: सांख्यदर्शन में इन्द्रियां प्रमाण नहीं । इस प्रकार नारायण तीर्थ का उपर्युक्त मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ।

अत: यह तो स्पष्ट है कि बुद्धि को इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त बाह्यार्थविषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है,परन्तु इसकी प्रमा क्या है? अधिकतर आचार्यों ने इस ज्ञान के साथ बुद्धि के पुरुष में प्रतिबिम्ब को ही प्रमा कहा है[१]। युक्तिदीपिका में भी ऐसा ही लक्षण हुआ । प्रमा और प्रमाण एक ही है अथवा प्रमा अर्थान्तर इस विषय पर विचार करना आवश्यक है । यदि यह कहा जाय कि दोनों अनर्थान्तर या एक हैं तब तो करण और कार्य भाव ही सम्भव न होगा । एक ही पदार्थ में करण कार्यभाव का सम्बन्ध सम्भव नहीं, सम्बन्ध सदैव दो के मध्य ही होता है । अत: प्रमा को प्रमाण का अर्थान्तर मानना ही उचित है । प्रमाण और प्रमा के आश्रय में भी भिन्नता है । प्रमाण बुद्ध्याश्रित और प्रमा पुरुषाश्रित । भिन्नाधिकरण वाले पदार्थों का एकत्व सम्भव नहीं । अत: प्रमा और प्रमाण का अर्थान्तरत्व है । इस प्रकार प्रमा और प्रमाण भिन्न है ।

---

१ `अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोध:' --तत्त्वकौमुदी,पृ० १०३

अब प्रश्न यह है कि लक्षण में `अध्यवसाय` पद का ग्रहण संशयादि में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए हुआ, अर्थात् यदि केवल `प्रतिविषयो दृष्टम्` ही लक्षण हो तो संशयादि ज्ञान अर्थ से सन्निकृष्ट इन्द्रियों से प्राप्त होने के कारण वे भी प्रत्यक्ष कहलायेंगे । अतः यह लक्षण अतिव्याप्तिदोष[१] से दूषित होगा । संशय दोलायमान उभयकोटिक ज्ञान है, अनिश्चित होने के कारण यह प्रमाण नहीं हो सकता, प्रमाण निश्चयात्मक या अध्यवसायात्मक ज्ञान को कहते हैं । अतः लक्षण में अध्यवसाय पद का ग्रहण करना आवश्यक ही है । लक्षण में विषय शब्द का प्रयोग असद्विषयक मिथ्याज्ञानादि के बहिष्कार के लिए है । लक्षण में प्रयुक्त प्रति शब्द बाह्यार्थों से सम्बन्ध को प्रकटकरता है । सम्बन्ध के अभाव में अनुमानादि प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण हो जायेंगे । अतः वस्तुतः `प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्` यह लक्षण उपपन्न ही है ।

(घ) योगाचार्यों का स्तद्विषयक मत

जहां तक योगसूत्रकार का प्रश्न है, उन्होंने प्रमाण विशेषों का कोई लक्षण नहीं किया, केवल गणना ही की है । पातंजलसूत्रों के प्रमुख भाष्यकार व्यास ने `विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्` स्तादृश लक्षण किया है । अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से चित्त का सन्निकर्ष होने पर उन पदार्थों को विषय बनाने वाली सामान्य और विशेष रूप पदार्थों की जो विशेष रूप का ज्ञान करने वाली चित्तवृत्ति है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है । इस प्रकार सभी

---

१ अतिव्याप्ति दोष का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है-- `अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः` अर्थात् जो लक्षण अपने लक्ष्य के भिन्न या अलक्ष्य में भी व्याप्त हो, वही अतिव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण होगा ।

पदार्थों का एक सामान्य रूप और एक विशेष रूप इस प्रकार द्विविध रूप हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण इनके सामान्य रूप का नहीं, वरन् विशेष रूप का ज्ञान प्राप्त करता है । सामान्य रूप भी उसमें अवश्य भासित होता है, परन्तु चित्तवृत्ति विशेषरूपात्मक ही होती है । इस प्रकार व्यास ने भी सांख्याचार्यों के मत का ही समर्थन किया है । वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं । 'हां, यह अवश्य है कि वह ज्ञान विशेषविषयक होना चाहिए । क्या कारण है कि 'विशेषावधारणप्रधाना' पद का प्रयोग लक्षण में किया गया है । यदि यह पद निकाल दिया जाय तब प्रत्यक्ष का यह लक्षण अनुमान प्रमाण में अतिव्याप्त होगा । जब बुद्धि और पुरुष का तादात्म्य होता है, बुद्धिवृत्ति या ज्ञान पुरुष में प्रतीत होने लगता है । यह ज्ञान या बुद्धि के ज्ञान का पुरुष में प्रतिबिम्ब ही पौरुषेय बोध है । पुरुष वस्तुतः अपरिणामी है, अतः वह बिम्बरूप से ही बुद्धि के रूप को प्राप्त कर बुद्धि का संवेदन या ज्ञान प्राप्त करता है । यही योगसूत्रकार ने ४।२२ सूत्र[१] में स्पष्ट किया है । अन्य सभी आचार्य विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति और नारायण तीर्थ ने भी इसी मत समर्थन किया है ।

(ङ) अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण का लक्षण सांख्यसूत्रकार ने भी सूत्र १।१०० में इस प्रकार किया है--'प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्' अर्थात् प्रतिबन्ध या व्याप्तिज्ञान से प्रतिबद्ध या व्यापक का ज्ञान ही अनुमान है, ऐसा ही विज्ञानभिक्षु और अनिरुद्ध ने स्वीकार किया है । अब प्रश्न यह है कि व्याप्ति है क्या, जिसके ज्ञान से व्यापक का ज्ञान अनुमान प्रमाण

---

१ चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्' --योगसूत्र ४।२२, पृ०८८

में किया जाता है । व्याप्ति वस्तुत: नित्य साहचर्य को ही कहते हैं । सूत्रकार ने भी स्वयं व्याप्ति का लक्षण किया है--`नियतधर्मसाहित्य-सम्भ्योरेकतरस्य वा व्याप्ति:` अर्थात् किसी एक पदार्थ का अन्य से अथवा दोनों का दोनों से जो नियतधर्म साहित्य है,उसे ही व्याप्ति कहते हैं । किसी धर्म का दोनों में सदैव एक साथ रहना या एकत्रावस्थिति ही नियत-धर्मसाहित्य है । इस साध्य-साधन में नियतधर्मसाहचर्य रूप व्याप्ति के आधार पर साध्य का ज्ञान करना ही अनुमान प्रमाण है । कारिकाकार ने भी लगभग इसी अर्थ को स्वीकार किया है, परन्तु एक दूसरे ही प्रकार से उसे स्पष्ट किया है[1] । लिंग और लिंगी के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है । लिंग का अर्थ है व्याप्य या जो अपेक्षाकृत कम स्थानों में प्राप्त हो, लिंगि का अर्थ है व्यापक या जो अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में प्राप्त है[2] । व्याप्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति कहते हैं-- जो शंकित और समारोपित द्विविध उपाधियों के कारण नहीं,वरन् वस्तु स्वभाव से ही जिसका साहचर्य हो,उसे ही व्याप्य कहते है और व्याप्य जिससे सम्बद्ध हो उसे व्यापक । जिज्ञासा होती है कि ये शंकित और समारोपित उपाधियां क्या हैं, जिनका तत्त्वकौमुदीकार ने उल्लेख किया है । जब एक वस्तु या दूसरी वस्तु के साथ साहचर्य सम्बन्ध कार्य कारण रूप या स्वाभाविक न होकर कल्पित हो, तब जिसके कारण वह सम्बन्ध कल्पित होता है, उसे उपाधि कहते हैं । अर्थात् जो हेतु साध्य साधन या कार्य-कारण के वास्तविक सम्बन्ध को न बताकर अवास्तविक सम्बन्ध को सिद्ध

---

१ `तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्` ,पृ० १०२

२ `लिंगम्-व्याप्यम् । लिंगि-व्यापकम् ।.... तद् व्यापकम् ।`

— तत्त्वकौमुदी,पृ० ११०

करता है वही उपाधि है । इन त्रिविध उपाधियों का लक्षण सुषमा, विद्वतोषिणी आदि में किया गया । इनका लक्षण करते समय आचार्यों ने न्यायदार्शनिकों की सहायता ली[१] । इस प्रकार अनुमान प्रमाण में उपाधि का निराकरण होता है, अनुमान तो व्याप्तिजन्य ज्ञान: है । साध्य और साधन के नित्यसाहचर्य का ज्ञान ही व्याप्ति का पूर्ण ज्ञान है, परन्तु व्याप्ति ज्ञानमात्र से अनुमान प्रमाण सम्भव नहीं, जब तक साधन का पुन: पक्षादि में प्रत्यक्ष न होजाय[२] । अब प्रश्न यह है कि कारिकाकार ने तो अनुमान के लक्षण में पक्षहेतु के पक्षधर्मताज्ञान को नहीं स्पष्ट किया । कारिकाओं में अनुमान का `तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्' ३ लक्षण किया गया, परन्तु आचार्यों ने इस समस्त पद का लिंगि च लिंगी च लिंगिनी लिंग च लिंगिनी च लिंगलिंगिनी लिंगीलिंगिनौ[३] यस्य तत् तादृश विग्रह करके लिंगि शब्द की पुनरावृत्ति की है । अर्थात् लिंग और लिंगी या व्याप्य और व्यापक का नित्यसाहचर्य (व्याप्तिज्ञान) साथ ही पक्ष में लिंग के अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही उस प्रत्यक्षीकृत हेतु से उसके साध्य का अनुमान होता है और यही अनुमान प्रमाण का सामान्य लक्षण है ।

---

१ जिसका साध्य में व्यापकत्व और साधन में अव्यापकत्व प्रत्यक्षसिद्ध या निश्चित न हो वह संदिग्धोपाधि है और जिस स्थल पर साध्य में व्यापकत्व और साधन में अव्यापकत्व प्रत्यक्षसिद्ध या निश्चित हो वहां निश्चितोपाधि होती है । --सुषमा, पृ०३८, का०५

२ `ननु केवलाद् व्याप्यव्यापकत्वज्ञानादेवानुमितिर्न संभवति, व्याप्यस्य पक्षावृत्तित्वज्ञानमन्तरेणानुमित्यसंभवात् ।', पृ०१३६

३ सुषमा, पृ०३८

(च) योगदार्शनिकों का तद्विषयक मत

योगसूत्रों में अनुमान प्रमाण का कोई लक्षण नहीं किया गया है । प्रमाणों के अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण पतंजलि ने उसका लक्षण करने की कोई आवश्यकता न समझी । अतः उन्होंने[१] सभी का उद्देशमात्र किया । भाष्यकार और टीकाकारों ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है । आचार्य व्यास ने 'सामान्यावधारणप्रधाना-वृत्तिः अनुमानम्' ऐसा लक्षण किया है । अनुमान वह वृत्ति या ज्ञान है जिसमें वह्नित्व इत्यादि सामान्य का ही निश्चय होता हो । उन्होंने अनुमान का पूर्ण लक्षण इस प्रकार किया है । अनुमान के विषय या साध्य अग्नि आदि का सदृश स्थलों महानसादि में रहने वाला तथा असदृश या असमान जलह्रदादि में न रहने वाला जो सम्बन्ध या व्याप्ति को विषय बनाने वाली पदार्थों के सामान्य अंश का ज्ञान कराने वाली चित्तवृत्ति ही अनुमान प्रमाण है । अन्य योगाचार्यों नारायणतीर्थादि ने भी व्यास के मत का समर्थन किया है । परन्तु भोज का मत सांख्यकारिकाओं के समान ही है ।[२] पदार्थों के साहचर्य रूप सम्बन्ध के ज्ञान से हेतु को पक्ष में देखकर उसके साध्य का सामान्य विषयक ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है ।

(छ) अनुमान के प्रकार

अनुमान के प्रकारों के विषय में सांख्य न्यायादि दर्शनों के मत समान हैं । ये सभी अनुमान को तीन प्रकार का स्वीकार करते हैं[३]-- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । गौतमसूत्र से भी यह स्पष्ट है ।

१ यत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदलक्षणेनैव प्राप्तत्वात्-लक्षणस्य पृथक् लक्षणं न कृतम् ।', भोजवृत्ति, पृ० २८ ।

२ गृहीतसम्बन्धात् लिंगात् लिंगिनि सामान्याध्यवसायोऽनुमानम् ।', पृ०४

३ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टम् च । न्यायसूत्र, १।५, पृ०२१

सांख्य और योगदर्शनों के मूलाचार्यों ने अनुमान के प्रकारों का कहीं उल्लेख नहीं किया है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने १।१०३ सूत्र के भाष्य में इन त्रिविध प्रकारों की गणना की है । सांख्यकारिकाओं में ईश्वरकृष्ण ने उपर्युक्त तीन ही प्रकार माने हैं । तत्त्वकौमुदीकार का अनुमान का विभाजन कुछ भिन्न है । वे अनुमान के मुख्य दो प्रकार मानते हैं--वीत और अवीत । इन्हीं दोनों के अन्तर्गत उपर्युक्त त्रिविध प्रकारों का भी समावेश हो जाता है । वीत और अवीत क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सर्वप्रथम इनका लक्षण करना ही उपयुक्त है । वीत का अर्थ है विशेषरूप से ज्ञात या प्रसिद्ध अर्थात् अन्वयव्याप्ति रूप कारणवाला अनुमान[१] । अन्वयव्याप्ति के आधार पर पक्ष में साध्य की सत्ता सिद्ध करना वीतानुमान और व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर साध्य का पक्ष में निषेध करने वाला अनुमान ही अवीतानुमान होता है[२] । अर्थात् वीत में अन्वयव्याप्ति का प्राधान्य और अवीत में व्यतिरेक व्याप्ति का प्राधान्य होता है । वाचस्पति के इस मत का अन्य टीकाकारों ने भी समर्थन किया । तत्त्व-कौमुदीकार वीतानुमान के भेद रूप से पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान को स्वीकार करते हैं और अवीत ही शेषवत् है । ये त्रिविध अनुमान क्या हैं? इनका क्या स्वरूप है यह जानना आवश्यक है । जहां तक पूर्ववत् अनुमान का प्रश्न है । अधिकतम दार्शनिकों ने पूर्ववत् का 'पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्' ऐसा विग्रह करके 'जिसके पूर्व कुछ है' ऐसा अर्थ किया है । पूर्व का अर्थ है कारण अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान ही पूर्ववत् अनुमान है-- जैसे मेघोन्नत्या भविष्य-दृष्टि:' मेघ को घिरा हुआ देखकर वृष्टि होने का अनुमान ही पूर्ववदनुमान है,

---

१ 'तत्र वीतम्-वि-विशेषेण इतं ज्ञातं--प्रसिद्धम्--अन्वय व्याप्तिहेतुकमित्यर्थ:
..... इत्येवं प्रवर्तमानं सद् यद् विधायकं वह्नेर्वे साधकं तद् वीतमित्यर्थ: ।'
तत्त्वसारबोधिनी, पृ० १४०-

२ तत्त्वकौमुदी, पृ० ११३

तत्त्वकौमुदी में पूर्ववदनुमान का `दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् यत् पूर्ववत्' तादृश लक्षण किया । अर्थात् पूर्ववदनुमान उसे कहते हैं, जिसमें ऐसी वस्तु के सामान्यरूप का ज्ञान हो रहा हो, जिसका विशिष्ट रूप पूर्व ही प्रत्यक्ष हो चुका है । इस लक्षण में प्रयुक्त स्वलक्षण शब्द का अर्थ है असाधारण लक्षण अर्थात् जिस सामान्य पदार्थ का स्वलक्षण या विशेषलक्षण का पूर्व ही प्रत्यक्ष किया जा चुका हो । तादृश पदार्थ को विषय बनाने वाला अनुमान ही पूर्ववदनुमान है । इसके उदाहरण रूप से हम धूम और अग्नि को ले सकते हैं । पर्वत में धूम को देखकर वह्नित्व सामान्य से अविच्छिन्न वह्निविशेष का अनुमान करना ही पूर्ववद् है । इस अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है--`धूमाद्वह्नित्वसामान्य-विशेषो वर्ततेऽनुमीयते, तस्य वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्नि विशेषो दृष्टो रसवत्याम् ।'[1] इसमें प्रयुक्त वह्नित्वसामान्यविशेष: पद के अर्थ में मतभेद है । कुछ टीकाकारों --बलराम, शिवनारायणादि ने इसके अर्थ रूप से ऐसे वह्नित्व को स्वीकार किया है, जो सामान्य और विशेष उभयरूप है, परन्तु यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि जब पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है कि पर्वत में वह्नि है, न कि यह भी कि वह्नि किस आकार की या कितनी ऊंची है । वह्नि का आकारादि का ज्ञान ही वह्नि का विशेषरूप का ज्ञान होगा । अत: अनुमान प्रमाण में वस्तु के सामान्यविशेष द्विविध रूपों का ज्ञान होता है । यह कहना उपयुक्त नहीं । हां यह अवश्य है कि जिस पदार्थ का अनुमान हुवा वह अवश्य ही सामान्यविशेषात्मक होगा । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि बलराम, शिवनारायण आदि का अभिप्राय भी ऐसा ही है । इस प्रकार वह्नित्वसामान्यविशेष: पद का कुछ भी अर्थ लें, परन्तु यह मानना ही होगा

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० ११३

कि अनुमान में वस्तु के सामान्य या जातिपरक अंश का ही ज्ञान होता है न कि विशेष अंश का । अत: अनुमान का विषय वह्नित्व रूप सामान्य ही है । योगभाष्य में व्यास ने भी `सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्' ऐसा लिखा है । इनके विपरीत सुषमाकार ने इस मत का खण्डन किया । वे वह्निमात्र को अनुमान का विषय मानते हैं,वह्नित्व को नहीं[1] । उनका यह कथन सर्वसाधारण की अनुभूति के आधार पर किया गया,क्योंकि अनुमान काल में `पर्वतेवह्निमनुमिनोमि' ऐसा ही अनुमान होता है न कि वह्निविशेष का । जिज्ञासा यह है कि यदि वह्निमात्र को ही अनुमान का विषय मानें तब तो योगाचार्यों से विरोध होगा, क्योंकि वे वह्नित्व इत्यादि सामान्य के निश्चय को ही अनुमान प्रमाण मानते हैं । इसका भी समाधान सुषमाकार ने किया है-- योगभाष्य से उनका कोई विरोध नहीं, क्योंकि योगदार्शनिकों के सामान्यावधारण प्रधाना वृत्ति: का अर्थ वह्नित्व आदि सामान्य से न होकर, सामान्यरूप से ही वह्नि आदि के ज्ञान से है । अत: वे भी वह्निमात्र को ही अनुमान का विषय मानते हैं, वह्नित्व को नहीं । इस प्रकार सुषमाकार का मत हमारे अनुभव के अधिक निकट और युक्तिसंगत है । नारायणतीर्थ ने भी इसी मत का समर्थन किया[2] । इसप्रकार यद्यपि पूर्ववदनुमान के तत्त्वकौमुदी प्रतिपाद्य लक्षण को सभी आचार्य मानते हैं,परन्तु सामान्य के विषय में इनका पर्याप्त मतभेद है ।

जहां तक सामान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रसंग है चन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने कार्य और कारण से भिन्न हेतु के आधार पर साध्य के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा है । परन्तु तत्त्वकौमुदी

---

१ `केचित्तु..... उपेक्षितम्' --सुषमा,पृ०४०

२ `साध्यस्य सामान्यात्मना अध्यवसायोऽनुमानम्' --योगसिद्धान्तचन्द्रिका,

में वाचस्पति ने पूर्ववत् से विपरीत अर्थात् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यं ऐसा लक्षण किया है । अत: सामान्यतोदृष्ट का विषय वह सामान्य पदार्थ है, जिसका असाधारण या विशिष्ट रूप पहले देखा न गया हो, जैसे इन्द्रिय-विषयक अनुमान । रूप रस आदि क्रियाएं किया होने से अवश्य ही करण से युक्त होंगी, ' या या क्रिया सा सा करणवती ' ऐसा नियम होने से । अत: रूपादि क्रियाओं को भी करण से युक्त ही मानना होगा । इसप्रकार रूपादि क्रियाओं के करण रूप से इन्द्रियों का अनुमान होता है, परन्तु इनके विशेष रूप अर्थात् इनको अपना कार्य या व्यापार करते हुए किसी व्यक्ति ने कभी इनका प्रत्यक्ष नहीं किया । अर्थात् इन्द्रियत्वसामान्य का यह अपना विशिष्ट रूप भी कभी प्रत्यक्षगोचर नहीं होता । क्योंकि इन्द्रियां तो सदा अतीन्द्रिय हैं । इस प्रकार इन्द्रियविषयक उपर्युक्त अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही है ।

शेषवदनुमान जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट है, शेष या बचे हुए को अपना विषयम बनाता है । इस अनुमान का उदाहरण देते हुए वाचस्पति ने न्यायभाष्य वे की भी सहायता ली । न्यायभाष्य की एक पंक्ति को उद्धृत किया और तदनुसार ही उसका लक्षण भी किया । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि वे न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से बहुत प्रभावित हैं । अत: शेषवत् अनुमान एक ऐसी चिकीर्षा है जो शेष को ही विषय बनाती है। इसी को स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन[१] कहते हैं— ' स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्रा-प्रसंगाच्चिकीर्ष्यमाणे सम्प्रत्यय: ' अर्थात् परिशेषानुमान उसे कहते हैं, जिसमें किसी वस्तु का जहां प्रसंग या सम्भावना होती है, वहां उसका निरोध होने पर तद्भिन्न स्थल में इनका प्रसंग ही न होने के कारण जो शेष पदार्थ है, उसी के ज्ञान के आकार की चिकीर्षा को परिशेषानुमान कहते हैं । जैसे शब्द गुण

---

१ न्यायभाष्य, पृ० २२

है,अत:उसका आश्रय द्रव्य ही हो सकता है । द्रव्य कितने हैं और उनमें से कौन सा द्रव्य शब्द का आश्रय है यही निश्चय करना है । न्यायवैशेषिक द्रव्यों की संख्या नौ ही मानते हैं,उनमें से पृथ्वी आदि शब्द का आश्रय हो नहीं सकते । इस प्रकार शब्द के आश्रय रूप से आकाश नामक एक नवम् द्रव्य का अनुमान होता है । यही है परिशेष अनुमान,क्योंकि इसमें द्रव्यत्व जाति का प्रसंग है, अत: सभी द्रव्य प्रसंगवश प्राप्त हैं,परन्तु इन आठ द्रव्यों का निषेध हो जाता है और द्रव्य से भिन्न सामान्यादि का यहां प्रसंग ही नहीं शब्द गुण का आश्रय द्रव्य ही हो सकता है,अत: द्रव्य से भिन्न पदार्थों में प्रसंग न होने से नवम द्रव्य आकाश ही शेष है । अत: इस आकाश का ही शब्द के आश्रय रूप से अनुमान होता है । अत: संक्षेप में यही अनुमान है । इस प्रकार अनुमान वृत्ति का निरूपण समाप्त हुआ ।

(ज)आप्त वचन

आप्त प्रमाण को ही शब्द प्रमाण कहते हैं । इस विषय में सभी आचार्यों का मतैक्य है । आप्त जनों के वाक्य या उपदेश के आकार की चित्तवृत्ति ही आप्त प्रमाण है । यद्यपि सूत्रकार ने[१] आप्तजनों के उपदेश को ही शब्द प्रमाण कहा है,परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं,क्योंकि प्रमाण एक चित्तवृत्ति है और उपदेश कोई चित्तवृत्ति नहीं,वह तो वाक्यरूप ही हो सकता है । अत: भाष्यकार ने इसका अर्थ वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान ही लिया है । कारिकाकार ने भी सूत्रकार के मत का समर्थन किया है । `आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु` अर्थात् आप्त श्रुति ही आप्त वचन नामक प्रमाण है । `आप्त श्रुति:` पद का अर्थ क्या है, इस विषय में मतभेद है । कुछ आचार्य गौडपाद,नारायणतीर्थादि इसका अर्थ आप्तजनों के वाक्य या श्रुति से लेते हैं। आप्तजन कौन होते हैं-- जिस व्यक्ति को शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सम्यग्प्रकारेण ज्ञात हो अर्थात् जिस व्यक्ति ने वाक्यार्थज्ञान सम्बन्ध का प्रत्यक्ष किया हो

---

१ `आप्तोपदेश: शब्द:` सांख्यसूत्र १।१०१,पृ०७५

वही आप्तजन है[१]। चरकसंहिता में भी आप्तजनों का ईदृश वर्णन हुआ है। जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती, जो राग-द्वेष के वश में नहीं होते और जो पक्षपातशून्य हैं वे आप्त हैं[२]। परन्तु इन सभी से भिन्न वाचस्पति ने आप्तजनों के वाक्यों को ही प्रमाण मानना उचित नहीं समझा। उन्होंने `आप्तश्रुतिः` पद का `प्राप्ता आप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चाऽसौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्` अर्थ किया है। अतः आप्त या यथार्थ श्रुति अथवा वाक्य से उत्पन्न वाक्य के अर्थ के ज्ञान को ही शब्द प्रमाण कहा है। इस प्रकार यथार्थविषयक वाक्यार्थों के आकार की चित्तवृत्ति या चित्त का व्यापार ही शब्द प्रमाण है।

इस प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान के आकार की चित्तवृत्तियां बोद्ध बोध ही आचार्य को शब्द प्रमाण रूप से अभिमत है और यही युक्तिसंगत भी है। इनके सभी टीकाकारों ने भी इस मत को स्वीकार किया, परन्तु इनसे भिन्न युक्तिदीपिकाकार का कुछ भिन्न ही मत है। उन्होंने आप्तश्रुति शब्द का द्विविध अर्थ किया है, परन्तु एक ही पद कैसे दो तीन अर्थ दे सकता है, क्योंकि `प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते` ऐसा नियम है। अतः `आप्तश्रुतिः` पद में `आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिः` इस प्रकार दो पदों का `सरूपाणामेकशेष विभक्तौ` इस पाणिनीय सूत्र से अथवा जतुकाष्ठन्याय से एक रूप मानकर एक ही आप्तश्रुति पद प्रयुक्त हुआ। अतः दो तीन एकाकार पदों का एकशेष होने के कारण यह द्विविध अर्थ देता है।

---

१ `आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृत-धर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थ ग्राही तदुक्तमाप्तवचनम्। `माठरवृत्ति, पृ० १२

२ `देवी भागवतांक` (कल्याण), पृ० ५। चरकसंहिता--विमानस्थान ४।४

वे दोनों अर्थ इस प्रकार हैं-- प्रथम अर्थ है,आप्तजनों की श्रुति या वचन । आप्तजन का अर्थ वे रागादि से वियुक्त जनों से लेते हैं । इनके द्वारा गृहीत वचन ही आप्तवचन है । द्वितीय आप्तश्रुति का अर्थ है-- मनु आदि द्वारा प्रणीत स्मृति,वेदांग,तर्क, इतिहास,पुराणादि शिष्टों का नाना शिल्पादि से युक्त अदुष्ट मन वाले जनों का जो वचन है,वही आप्तवचन है । इनवचनों के आकार की साधक की चित्तवृत्ति ही आप्तप्रमाण है ।

(क) योगाचार्यों का एतद्विषयक मत

योगभाष्यकार व्यास ने `आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वा ऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते । शब्दाच्चदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः `ईदृश लक्षण किया । इस प्रकार व्यास को भी आप्तजनों के द्वारा दृष्ट पदार्थों का उनकेही द्वारा किए गए वर्णन के आकार की चित्तवृत्ति ही शब्दप्रमाणरूप से अभिमत है । परन्तु इनके विपरीत भोज ने राजमार्तण्ड में आप्तवचन को ही आगम प्रमाण कहा है[1] । जहां तक आप्तजनों का प्रश्न है विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र दोनों ने हीआप्त जनों का स्वरूप स्पष्ट किया है । वाचस्पति कहतेहैं-- यथार्थ विषय का कारुण्य तथा इन्द्रियदोषादि से रहित जनों से जो सम्बन्ध होता है,वही आप्ति है और इस आप्ति के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करने वाला व्यक्ति ही आप्त पुरुष है[2] । विज्ञानभिक्षु ने भी लगभग इसी का समर्थन किया है । अतः सभी दोषों से रहित सर्वथा विश्वसनीय पुरुष ही आप्त है और उनके वचनों के आकारकी चित्तवृत्ति आप्त या आगम प्रमाण । भावागणेश और

---

१ `आप्तवचनमागमः` भोजवृत्ति,पृ०४

२ `तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवाभिसंबन्धः आप्तिः,तया सह वर्तत इत्याप्तः ..... ।` --तत्त्ववैशारदी,पृ०३० ।

हरिहरानन्द ने भी चित्तवृत्ति को ही शब्द प्रमाण माना है,आप्तजनों के वचनमात्र को नहीं[१] । यही उपयुक्त भी है,क्योंकि सांख्ययोग दर्शनों का प्रमाण चित्तवृत्ति रूप है ।

अन्य प्रमाणों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव

इस प्रकार उपर्युक्त त्रिविध प्रमाणों का विचार किया जा चुका है । ये तीन ही सांख्ययोगदार्शनिकों को मान्य हैं । इनके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक न्याय वैशेषिकादि उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं । अतः उनके अनुसार तीन ही प्रमाण मानना पर्याप्त नहीं,परन्तु सांख्ययोग आचार्य उपर्युक्त तीन ही प्रमाणों ने उपमानादि का अन्तर्भाव मानते हैं । अब प्रश्न यह है कि उपमान का अन्तर्भाव किस प्रमाण में और कैसे हुआ ? जहां तक उपमान प्रमाण के अन्तर्भाव का प्रश्न है,सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने उपमान प्रमाण को आगम ही कहा है,परन्तु उपमान के स्वरूप के ज्ञान के अभाव में यह कहना उपयुक्त नहीं । उपमान के विषय में नैयायिक कहते हैं--`प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्` अर्थात् प्रसिद्ध या ज्ञात गौ आदि पदार्थ के सादृश्यकथन के द्वारा साध्य या अप्रसिद्ध पदार्थ गवयादि का बोध कराना ही उपमान प्रमाण है । इस प्रकार वे `यथा गौस्तथा गवयः` इसको ही उपमान कहते हैं,परन्तु सांख्य दार्शनिक इसे उपमान प्रमाण मानने को किंचिदपि प्रस्तुत नहीं । यह वाक्य गुरु आदि के द्वारा कहा जाने के कारण आप्त वाक्य ही होगा और आप्तवाक्य होने से इससे उत्पन्न ज्ञान आगम प्रमाण ही होगा ।अतः आगम से भिन्न उपमान नामक प्रमाण मानने से क्या लाभ ?

१`योग्यशब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति--नागेशः

`आप्तोक्तशब्दश्रवणात् यः श्रोतुस्तदर्थनिश्चयः ।

प्रमाणमागमः सः स्याद् यः सिध्येदविचारतः ।

--योग का० २५,पृ० ७४

यदि हम न्यायवार्तिककार के उपमान के लक्षण को स्वीकार करें अर्थात् `समाख्या सम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थः` या `समाख्या` या शब्द का ज्ञान ही उपमान प्रमाण का फल या उपमिति है तथापि उपमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक नहीं । वाचस्पति उपमान के फल या `अर्थ गवयशब्दो गोसदृशस्य पिण्डस्य वाचकः` इस उपमिति को भी अनुमिति या अनुमान का फल ही मानते हैं । शंका इस बात की है कि यह उपमिति कैसे अनुमिति हो सकती है और अनुमिति हो भी परन्तु इसके अनुमान का स्वरूप क्या होगा ? वाचस्पति अनुमान का स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं--गवय शब्द गो सदृश पिण्ड का वाचक है, यह हुआ प्रतिज्ञा वाक्य । क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ या वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है,वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर उसी का वाचक होता है । यह हेतु है । `जैसे गोशब्द गोत्व का` यह है उदाहरण और गवय-शब्द गोसदृश पिण्ड के लिए प्रयुक्त होता है, यह हुआ उपनयवाक्य तथा अन्त में `गवय शब्द गो सदृश पिण्ड का ही वाचक है` यह निगमन वाक्य है[१] ।इस प्रकार इस अनुमान वाक्य से स्पष्ट है कि उपमान प्रमाण की कोईआवश्यकता नहीं । जिसे नैयायिक उपमान प्रमाण कहते हैं वह वस्तुतः अनुमान ही है । इसप्रकार उपमान का अनुमान में ही अन्तर्भाव है या यह कहिए उपमान अनुमान प्रमाण ही है इससे भिन्न कुछ नहीं अब प्रश्न है अर्थापत्ति का । अर्थापत्ति का लक्षण मीमांसकों ने किया है, क्योंकि वे इसे उपर्युक्त तीनों से भिन्न प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं । कोई सांख्ययोगाचार्य इन्हें स्पष्ट नहीं करते केवल उदाहरण देकर ही उसका खण्डन करते हैं । तत्त्वविमाकर में वंशीधर ने अर्थापत्ति का एतादृश लक्षण किया है[२] -- जिसके द्वारा अर्थ की कल्पना हो उसे ही अर्थापत्ति

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० १२६ ।

२ `अर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मात्.... येन विना यदनुपपन्नं तदुपपादयमित्यर्थः`

पृ० १७६ ।

प्रमाण कहते हैं, उपपाद्यज्ञान से उत्पन्न उपपादक का ज्ञान ही अर्थापत्ति है और उसका साधन अर्थापत्ति प्रमाण । तत्त्वकौमुदीकार का भी ऐसा ही मत है--'जीवतश्चैत्रस्यगृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम्' अर्थात् जीवित चैत्र का घर में अभाव होने से उसका बाहर अस्तित्व आवश्यक ही है,क्योंकि कोई भी सत् पदार्थ एक स्थान पर नहीं है तो अन्यत्र अवश्य होगा,क्योंकि वह सत् है और सत् की सत्ता या अस्तित्व अनिवार्य है । यही है अर्थापत्ति प्रमाण परन्तु सांख्य योगी जन इसे भी अनुमान ही मानते हैं, क्योंकि सत् होते हुए भी चैत्र के घर में न होने से ही उसके बहिरस्तित्व का ज्ञान होता है । अत: उसके बाह्य अस्तित्व में गृहाभाव ही लिंग है और इसी हेतु से बहिर्भाव का अनुमान अनुमान होता है । यदि यह कहें कि गृहाभाव रूप हेतु ही असिद्ध है-- यह भी उचित नहीं है । घर में चैत्र का अभाव तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है-- प्रत्यक्ष सिद्ध होने से यह सोचना कि चैत्र घर में भी हो सकता है, सर्वथा असिद्ध है, अत: गृहाभाव अनुमान का सद्हेतु है हेत्वाभास नहीं । यदि यह कहें कि चैत्र घर में नहीं है तो कहीं न होगा । यह भी अयुक्त है,क्योंकि वह जीवित या सत् है, अत: उसका कहीं न कहीं अस्तित्व तो अनिवार्य ही है । क्योंकि 'सदा सत्वव्यापक: सन्नेकत्र नास्ति तदान्यत्रास्ति । यदा व्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति ।' ऐसी व्याप्ति है अत: चैत्र भी घर में न होने पर कहीं न कहीं होगा । अत: गृहाभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है । इस हेतु के आधार पर चैत्र की बाहर सत्ता का भी निराकरण करना उचित व नहीं, ----------

क्योंकि गृहाभाव का घर के अभाव से विरोध है न कि भावमात्र से । विरोध एकविषयक होता है,यहां विरोध के विषय घर और बाहर दो स्थल है,अत: भिन्नविषयक होने से इनके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता ।

इसके अतिरिक्त अभाव सम्भवादि अन्य प्रमाण भी कुछ दार्शनिकों को मान्य है,परन्तु सांख्य और योगी अभाव का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं । भूतलादि में घटादि का अभाव स्वीकार करने के लिए ही अभाव प्रमाण माना गया । परन्तु वस्तुत: घट का भूतल में अभाव भूतल का ही परिणामविशेष है । सभी पदार्थ चिति तत्त्व पुरुष को छोड़कर अन्य सभी तत्त्व परिणामी है । और भूतल का परिणाम घटाभाव इन्द्रिय (चक्षुरूप) से ग्राह्य है । अत: इन्द्रियग्राह्य होने से यह भी प्रत्यक्ष ही होगा। अत: अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय होने से अभाव प्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।

सम्भव प्रमाण इस प्रकार **हवेव ह** का होता है-- `सार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगम:` अर्थात् सारी में द्रोण आढक प्रस्थादि का सद्भाव सम्भव है,अर्थात् सारी में ये अन्य परिमाण वाले पदार्थ रह सकते हैं परन्तु यह भी अनुमान ही है,क्योंकि सारी का अस्तित्व बिना द्रोण आढ़कादि के सम्भव नहीं, अत: सारी को देखकर द्रोण आढ़कादि के अस्तित्व का तो अनुमान होता ही है । इस प्रकार पौराणिकाभिमत सम्भव भी पृथक् प्रमाण नहीं ।

जहां तक ऐतिह्य प्रमाण का प्रश्न है सांख्य योगदार्शनिक ऐतिह्य को प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं ऐतिह्य वस्तुत: परम्परागत जनश्रुति ही है । जब इस श्रुति के वक्ता का पता ही नहीं तो यह आप्त वाक्य भी नहीं हो सकती,अत: यह आप्त या आगम भी नहीं और निश्चित वक्ता के अभाव में यह प्रमाण कहलाने की अधिकारी भी नहीं

~~और निश्चित वक्ता के अभाव में यह प्रमाण कहलाने की अधिकारी भी नहीं~~, अत: ऐतिह्य प्रमाण नहीं है । इस प्रकार सांख्ययोगदार्शनिकों को मुख्यत: तीन ही प्रमाण अभिमत है, इन्हीं तीनों में अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है । इन तीन प्रमाणों के द्वारा सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

अत: उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उपमान प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव हो गया । इसी प्रकार अर्थापत्ति का भी अनुमान प्रमाण में, अभाव का प्रत्यक्ष में और सम्भव का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है । इस विषय को तत्त्वकौमुदीकार ने अत्यन्त सरल भाषा में स्पष्ट किया है और उनके अन्य टीकाकारों ने भी इसकी प्रचुर व्याख्या की है, अत: इसे यहां स्पष्ट करना आवश्यक नहीं ।

विपर्यय वृत्ति

प्रमाण वृत्ति के पश्चात् विपर्यय का ही प्रसंग है । विपर्यय भी एक चित्तवृत्ति है । विपर्यय ज्ञान क्या है, यह अत्यन्त स्पष्ट है । सभी आचार्य अविद्या, अज्ञान या मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं । सांख्य-सूत्रकार ने विपर्यय का लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु तत्त्वकौमुदी में[1] 'तत्र विपर्यय: अज्ञानमविद्या साऽपि बुद्धिधर्म:' अर्थात् अविद्या को ही विपर्यय कहा गया । अर्थात् तत्व का विपरीत ज्ञान ही विपर्यय ज्ञान है । योगसूत्रकार ने[2] इसे सूत्र १।८ में स्पष्ट किया है कि पदार्थ के रूप से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित (भ्रमज्ञान) पदार्थ के रूप में अप्रतिष्ठित या (अनिश्चित ज्ञान, संशय) मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है । इस प्रकार विपर्यय के इस लक्षण के अन्तर्गत भ्रमज्ञान और संशय दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है । लक्षण में प्रयुक्त

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ० २८८

२ 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' --योगसूत्र १।८, पृ० ५६

`अतद्रूपप्रतिष्ठम्` पद का विविध विग्रह करने पर एक संशय के पक्ष में और एक भ्रमज्ञान के पक्षमें होगा ।अर्थात् जब हम इसका विग्रह `तस्य रूपमिति तद्रूपम्, न तद्रूपम् इति अतद्रूपम् तथा अतद्रूपे प्रतिष्ठा यस्य तत् ज्ञानमिति अतद्रूपप्रतिष्ठिम् `इस प्रकार करेंगे, अर्थात् जो तद्भिन्न रूप से या जो अपने से विपरीत रूप में प्रतिष्ठित हो, ऐसे मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं। ऐसा विपरीत ज्ञान ही भ्रमज्ञान है । इस विषय में नञ् समास के विविध अर्थों पर विचार करना होगा । नञ् समास के विविध अर्थ हैं,परन्तु मुख्य दो ही अर्थ हैं,-- पर्युदास और प्रसज्यक । ये विविध अर्थ इस श्लोक से स्पष्ट है--

`द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ,
पर्युदास: सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत ।`

इस प्रकार पर्युदास और प्रसज्यक इन विविध अर्थों में पर्युदास तत्सदृश अन्य का ज्ञान कराता है । अत: उपर्युक्त भ्रमज्ञान के पक्ष में यही अर्थ प्रयुक्त है । क्योंकि भ्रमज्ञान में तत्सदृश अन्य वस्तु का ही यथार्थ ज्ञान होता है । इसप्रकार भ्रम भी विपर्यय है । अत: अतद्रूपतिष्ठम् के प्रथम विग्रह में पर्युदासरूप विधि-परक अर्थ ही ग्राह्य है ।

नञ् का दूसरा अर्थ है प्रसज्यक जो निषेधपरक होता है जैसे `अतद्रूपप्रतिष्ठिम्` में तस्य रूपम् इति तद्रूपे, तद्रूपे प्रतिष्ठा यस्य तत् तद्रूपप्रतिष्ठम् न तद्रूपप्रतिष्ठमिति अतद्रूपप्रतिष्ठम्` जो उसके यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित न हो या जो यथार्थ रूप से अनिश्चित हो वही अतद्रूपप्रतिष्ठ है । इस प्रकार इस पद का विग्रह करने पर विपर्यय के अन्तर्गत संशय को भी स्वीकार करना होगा । अत: भ्रम और संशय दोनों ही विपर्यय ज्ञान है । केवल भ्रम या केवल संशय ही नहीं । इस प्रकार वास्तव में ज्ञेय से भिन्न या

अयथार्थ रूप ज्ञान के आकार की चित्तवृत्ति ही विपर्यय वृत्ति है । व्यास, भोज, विज्ञानभिक्षु आदि सभी ने विपर्यय में भ्रम और संशय दोनों को ही स्वीकार किया है । यदि यह कहें कि विपर्यय को पृथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता, प्रमाण में ही इनका अन्तर्भाव क्यों नहीं हो जाता । कारण यह है कि प्रमाण यथार्थवस्तु का ज्ञान करता है, परन्तु विपर्यय अयथार्थ पदार्थ का जैसे स्थाणु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष । इस प्रकार यह अयथार्थ वस्तु का ज्ञान ही विपर्यय है, क्योंकि वास्तव में तो वह स्थाणु है पुरुष आदि नहीं ।

विपर्यय के प्रकार

विपर्यय वृत्ति मुख्यत: पांच प्रकार की होती है-- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश । सांख्यसूत्रकार के अतिरिक्त अन्य सभी सांख्य योग दार्शनिकों ने भी इसी मत का समर्थन किया है[1] । सूत्रकार ने `विपर्ययभेदा: पंच` इस सूत्र में विपर्यय को पांच भेदों वाला कहा है[2] । यद्यपि उन्होंने पांचों भेदों का नाम से कथन नहीं किया । विपर्यय को क्लेश भी कहते हैं । ये सदैव कष्टदायक होते हैं । इनके उपर्युक्त पंच प्रकारों में अविद्या ही प्रमुख है, अत: सर्वप्रथम इनका ही वर्णन योग-सूत्रकार ने किया है । अनित्य, अशुचि, दु:ख और अनात्म पदार्थों में नित्य-शुचिसुख और आत्म की भावना रखना ही अविद्या नामक चित्तवृत्ति है[3] ।

---

१ `अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा:` --योगसूत्र २।३, पृ० २७३

२ `सांख्यसूत्र ३।२७, पृ० १५३

३ `अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या` -योगसूत्र २।५, पृ० २८७।

तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार आठ अव्यक्तमहदहंकार और पंचतन्मात्राओं आदि अनात्म पदार्थों में आत्मा की बुद्धि ही अविद्या है । अविद्या को तम भी कहा जाता है । ये आठ प्रकार की होती हैं । योगवासिष्ठ में भी अविद्या का लक्षण किया गया है । जब वस्तुत: विद्यमान न होते हुए भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का भान होने लगे, उसे ही अविद्या कहते हैं[१] । इसे अविद्या इसलिए कहते हैं, क्योंकि ज्ञान होने पर यह विद्यमान नहीं रहती[२] । अविद्या अनन्त प्रकार की होती है[३] । अविद्या चित्त की एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है । अत: चित्त में इसी का प्राधान्य होने से चित्त को ही अविद्या शब्द से कहा जाता है । चित्त को ही सम्पूर्ण आडम्बर उत्पन्न करने वाला समझना चाहिए ।

विपर्यय वृत्ति का दूसरा प्रकार है अस्मिता । अस्मिता का अर्थ है दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि इन विविध शक्तियों की एकात्मता या अभिन्नता की प्रतीति[४] ही अस्मिता है, अर्थात् यद्यपि दृक् पुरुष अपरिणामी शुद्ध, नित्य और चेतन है और इनके विपरीत बुद्धि प्रतिक्षण परिणामी, अनित्य और जड़ इन दोनों के अत्यन्त भिन्न होने पर भी अज्ञानवश अभिन्नता का अनुभव ही अस्मिता है । इसको ही मोह भी कहते हैं । अविद्या के समान इसके भी अष्ट अवान्तर प्रकार होते हैं ।

सुख के पश्चात् अन्त:करण में रहने वाली तत्सजातीय सुख के प्रति अभिलाषाविशेष ही राग रूप चित्तवृत्ति है । राग को महामोह भी कहते हैं । इसके दश प्रकार होते हैं । इसी प्रकार दु:ख

---

१ योगवासिष्ठ ३।९६

२ ,, ६।२, पृ०१८८

३ ,, ६।२, पृ०१६०

४ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' --योगसूत्र २।६, पृ० २९६

भोग के अनन्तर अन्त:करण में रहने वाला क्रोध या उस दु:ख को दूर करने की इच्छा ही द्वेष रूप क्लेश है । द्वेष की दूसरी संज्ञा तामिस्र है । यह १८ प्रकार की होती है ।

विपर्यय का पंचम प्रकार है अभिनिवेश । अभिनिवेश रूप क्लिष्ट वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं `स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश:`[१] अर्थात् पूर्वजन्म के मरणभय विषयक अनुभवजन्य स्वभावत: सिद्ध विद्वानों के मन में जो अज्ञानियों के समान मरणभय होता है, उसे ही अभिनिवेश कहते हैं । इस क्लेश को अन्धतामिस्र की संज्ञा दी गयी है । यह भी तामिस्र के समान अष्टादश प्रकार का होता है । उपर्युक्त पंच क्लेशों को सभी अन्य सांख्ययोगाचार्यों ने स्वीकार किया । साथ ही इसका उल्लेख अनेक पुराणादि में भी हुआ है ।[२] अत: यह स्पष्ट है कि प्रमाण की भांति विपर्यय भी चित्त की विशिष्टवृत्ति है, भिन्नता इस अंश में है कि सत्त्व या यथार्थ ज्ञान का प्राधान्य होने से प्रमाण को सात्त्विक वृत्ति कहते हैं । और अज्ञान या भ्रमज्ञान का प्राधान्य होने से विपर्यय को तामसवृत्ति कहते हैं ।

विकल्प वृत्ति

विकल्प योगाचार्यों की एक विशिष्ट मान्यता है । यद्यपि विकल्प का अर्थ `अथवा` से ही भी लिया जाता है, परन्तु दार्शनिक स्तर पर हम इसे इसी रूप में नहीं स्वीकार कर सकते । विकल्प वृत्ति से दार्शनिकों का तात्पर्य एक विशिष्ट चित्तवृत्ति से है । इस वृत्ति का लक्षण

---

१ ~~दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता~~ --योगसूत्र २।६, पृ०२९६

२ योगसूत्र २।६, पृ०३०२

३ वायुपुराण ६।३५, पृ०८८

करते हुए योगसूत्रकार लिखते हैं--'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'[1] अर्थात् ऐसे वस्तु का ज्ञान जिसका अस्तित्व ही न हो या जो अभाव रूप है, ऐसी वस्तु के ज्ञान की अनुगामिनी चित्तवृत्ति ही विकल्प वृत्ति है। अतः ऐसे शब्द ज्ञान के आकार की वृत्ति, जो शब्द अवास्तविक पदार्थ का ज्ञान करावें वे ही विकल्प हैं। इस प्रकार इस वृत्ति में शून्य वस्तु का (जो विद्यमान न हो) शब्द या आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है। यद्यपि उस अवास्तविक पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु उस वस्तु का कथन शब्दों में किया। जब कथन या व्यवपदेश हुआ है, अतः उस कथनानुसारिणी चित्तवृत्ति भी अवश्य होगी, यद्यपि वह शून्य वस्तुविषयक ही क्यों न हो। इसी वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं। अतः भाव यह है कि विकल्पज्ञान में मैं कुछ स्थानों पर अभेद में भेदका ज्ञान और कुछ में भेद में अभेद का आरोप व्यवहार का हेतु होता है। इस प्रकार उस भेद या अभेद का वस्तुतः अभाव होने से उसका आभासमात्र ही विकल्प ज्ञान है। योगसूत्रों के सभी टीकाकारों ने विकल्प का ईदृश लक्षण ही किया है। हरिहरानन्द ने तत्त्वालोक में भी विकल्पवृत्ति का ऐसा ही लक्षण किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र २।३२ के भाष्य में 'विकल्पस्तु विशेषदर्शनकालेऽपि राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिज्ञानम्' ऐसा लिखकर अन्त में 'एतत् सर्वं पातंजले सूत्रितम्'[2] ऐसा कहा है, जिससे स्पष्ट है कि वह पंतजलि का समर्थन करते हैं।

विकल्प को विभिन्न उदाहरणों के आधार पर आचार्यों ने स्पष्ट किया है, जैसे 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इस वाक्य में पुरुष का स्वरूप चैतन्य बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि पुरुष विशेषण और चैतन्य विशेष्य है, यद्यपि पुरुष तथा चैतन्य में

---

१ योगसूत्र १।९, पृ०६२

२ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०१३१

विशेषण-विशेष्य भाव जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु पुरुष ही चैतन्य है । उन दोनों में अभेद है । इस अभेद में ही भेदका ज्ञान शब्दों से किया जा रहा है । अत: यह विशेषण विशेष्यरूप भेद का जो वस्तुत: शून्य है इस वाक्य में शब्दों से कथन हो रहा है, अत: इस कथन के अनुसार की वृत्ति ही विकल्प वृत्ति है । यद्यपि चिति और पुरुष का भेद वास्तविक नहीं, तथापि प्रकट किया जा रहा है ,अत:यही विकल्प वृत्ति है ।

विकल्प के प्रकार

जहां तक विकल्प वृत्ति के प्रकारों का प्रश्न है, योगसूत्रकार ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया । हरिहरानन्द ने सांख्यतत्त्वालोक में त्रिविध विकल्पों पर प्रकाश डाला है । वे हैं-- वस्तुविकल्प, क्रियाविकल्प और अभावविकल्प । इन तीनों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं--'अत्र वस्तुनोरेकत्वेऽपि व्यवहारार्थं तयोर्भेदवचनं वकल्पितम्[१]' जहां किन्हीं दो वस्तुओं में परस्पर ऐक्य होने पर भी व्यवहार में उसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है,वह वस्तु विकल्पवृत्ति है,जैसे उपर्युक्त उदाहरण में पुरुष और चैतन्य परस्पर एक हैं । पुरुष के बिना चैतन्य का अस्तित्व नहीं और चैतन्य के बिना पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं,परन्तु दोनों का पूर्ण तादात्म्य होने पर भी उनका भिन्न रूप में कथन हुआ है । इससे भेदका पूर्ण अभाव होने पर भी वाक्य से उस भेद की प्रतीति होती है । यह है-- वस्तु विकल्प ।

द्वितीय है क्रिया विकल्प । जहां अकर्ता पदार्थ का भी व्यवहार के लिए कार्य रूप से प्रतिपादन किया जाय[२] । वहां क्रिया-विकल्प होता है-- जैसे 'बाणस्तिष्ठति' स्था धातु का अर्थ है--स्थित होना अर्थात् गति से निवृत्त होना । इस गति निवृत्ति रूप क्रिया के कर्ता रूप से बाण का कथन हुआ है यद्यपि बाण में गतिनिवृत्ति आदि क्रिया का पूर्ण अभाव है ।

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १७

२ 'अकर्ता यत्र व्यवहारसिद्धयर्थं कर्तृवत् व्यवह्रियते स क्रियाविकल्प: ।'

इस प्रकार इस वाक्य में उस अवास्तविक या असत् कर्तृत्व का शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया गया, अत: यह क्रिया विकल्प है ।

तृतीय या अन्तिम है-- अभाव विकल्प । जो पदार्थ अभावार्थक है अर्थात् जिनका पूर्ण अभाव है, ऐसे पदार्थों के विषय में कुछ कहना, उस कथनानुसार उस अभाव वस्तुविषयक चित्तवृत्ति ही अभाव विकल्प है[1] । जैसे--`अनुत्पत्ति धर्मा पुरुष:` अर्थात् पुरुष उत्पत्तिधर्म-शून्य है । अर्थात् पुरुषमें उत्पत्ति धर्म का पूर्ण अभाव है । पुरुष कभी भी उत्पत्ति नहीं करता, परन्तु उस अभाव का भी कथन या प्रतिपादन इस वाक्य में हुआ, अत: यह अभाव विकल्प है । इस प्रकार वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा बिना केवल शब्द ज्ञान के माहात्म्य से जो शश शृंग आकाश कुसुमादि अलीक यथार्थविषयक चित्तवृत्तियां उदय होती हैं वे सभी विकल्प वृत्ति के अन्तर्गत ही आती हैं ।

निद्रा वृत्ति

उपर्युक्त ~~प्रतिपादित~~ विविध वृत्तियों के पश्चात् निद्रा वृत्ति का प्रसंग आता है । निद्रा भी चित्त की ही एक विशिष्ट वृत्ति है । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है । कुछ आचार्य निद्रा को वृत्ति रूप से स्वीकार नहीं करते, अत: सर्वप्रथम यह निश्चित करना आवश्यक है कि निद्रा वस्तुत: वृत्ति है अथवा नहीं ? जहां तक सांख्ययोग सूत्रकारों का मत है । वे निद्रा को वृत्तिरूप ही मानते हैं । `वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:` इस सूत्र में पांच प्रकार की वृत्तियों का कथन है । उनमें निद्रा भी सम्मिलित है । यद्यपि सांख्यसूत्रकार ने किसी सूत्र में पांचों वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया परन्तु योगशास्त्रकार पतंजलि ने सूत्र १।६ में इनकी गणना की है । सूत्रकारको

१`अभावपदाश्रिता चित्तवृत्तिरभावविकल्प:`, वृ० सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १७

मी यही अभिमत है, अत: उन्होंने इन वृत्तियों की गणना करने का प्रयत्न नहीं किया । सूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने इन पंचवृत्तियों का उल्लेख भी नहीं किया । इनसे भिन्न योगसूत्रों के विभिन्न टीकाकारों ने निद्रा वृत्ति को स्पष्ट किया है, परन्तु उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न हरिहरानन्द ने वृत्तियों का उद्देश करते हुए निद्रा वृत्ति का ग्रहण नहीं किया । पांच वृत्तियों को वे स्वीकार करते[1] हैं परन्तु उनके नाम इस प्रकार हैं-- प्रमाण, स्मृति, विज्ञान, विकल्प और विपर्यय[2]। उन्होंने निद्रा को वृत्ति रूप से स्वीकार नहीं किया, परन्तु अवस्थावृत्तियों का विवेचन करते हुए जहां सुषुप्ति का प्रसंग आया है, उन्होंने योगसूत्र २।१० को उद्धृत करके निद्रा को ही सुषुप्ति कहा है[3] । उनके अनुसार निद्रा और सुषुप्ति समान ही है । अन्य कुछ आचार्यों ने निद्रा को सुषुप्ति की वृत्ति कहा है, परन्तु उन्होंने इतना भी भेद करने की आवश्यकता नहीं समझी । सुषुप्ति में चित्त जड़ रहता है और वृत्ति भी तामसी होने से जड़ ही है । अत: ऐसे ही विचारकों के मत के निवारणार्थ निद्रा का वृत्तित्व स्पष्ट करने के लिए ही योगसूत्रों में निद्रा का लक्षण करते हुए वृत्ति पद का ग्रहण किया[4] हुआ । अन्यथा लक्षण सूत्र में ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

---

१ 'प्रमाणस्मृतिप्रवृत्तिविज्ञानविकल्पविपर्यया: इति' , पृ०१४

२ 'सांख्यतत्त्वालोक में अवस्थावृत्तियों का भी उल्लेख हुआ है हम इस पर बाद में विचार करेंगे ।

३ 'सुषुप्ति लक्षणं यथाह--अभावप्रत्ययालम्बनावृत्ति: निद्रा । तथाचित्तेन्द्रियाधिष्ठानानां सम्यग्जडत्वम्' -- तत्त्वालोक, पृ०२२ ।

४ तत्त्वकौमुदी, पृ०१६

अब प्रश्न यह है कि निद्रा वृत्ति का स्वरूप क्या है? सांख्यसूत्रों में इसका कोई लक्षण नहीं मिलता, हां विज्ञानभिक्षु ने सूत्र के भाष्य में 'निद्रा च सुषुप्तिकालीना बुद्धिवृत्तिः' इतना मात्र लिखा है, अर्थात् निद्रावृत्ति चित्त की सुषुप्ति अवस्था में रहती है। इस प्रकार सुषुप्ति में सत्त्व, रजस् अभिभूत और तमस् का प्राबल्य होता है। ऐसी अवस्था में ही तमः प्रधान निद्रावृत्ति होती है। सुषुप्तिकालीन वृत्तियों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इसका पूर्व ही उल्लेख हो चुका है, परन्तु इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि सुषुप्ति में भी कोई-न-कोई वृत्ति रहती है। चित्त प्रतिक्षण परिणामी है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। सुषुप्ति में चित्तवृत्ति का अभाव ही स्वीकार करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि सुषुप्ति के पश्चात् जागृतावस्था में उसका स्मरण होता है। अर्थात् (सुख या आनन्दपूर्वक सोये) 'सुखमहमस्वाप्सम्' इसका अर्थ यह हुआ मेरा मन शान्त या चंचलता से रहित था। यदि सुषुप्ति में वृत्ति का पूर्ण अभाव है तब तत्कालीन सुख या दुःख का स्मरण होना सम्भव नहीं, परन्तु लोकव्यवहार में ऐसा देखा जाता है। अतः सुषुप्ति में वृत्ति है वह निद्रारूप ही क्यों न हो। निद्रा का लक्षण योगसूत्रों में इस प्रकार किया गया[1]--'अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा' अर्थात् जागरण और स्वप्नावस्था की वृत्तियों से अभिभूत जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों को विषय बनाने वाली वृत्तियों के कारण सत्त्व और रजस् के अभिभूत हो जाने पर तमस् द्रव्य रूप अज्ञान को विषय बनाने वाली या तमः प्रधान वृत्ति निद्रा है। अन्याचार्यों ने भी इसे तामसी ही स्वीकार किया है। तामस होने के कारण इस वृत्ति के पूर्व ही शरीर जड़ हो जाता है। वृत्ति क्षीण हो जाती है। इस प्रकार

---

१ योगसूत्र १।१०, पृ० ६४

सभी योग आचार्यों को निद्रा वृत्ति अवश्य ही मान्य है । सांख्यसूत्रों के मूल आचार्य ने इनका उल्लेख भी किया है, मुख्य पांच वृत्तियां ही माना यद्यपि इनका उद्देश नहीं किया ।

स्मृति वृत्ति

स्मृति चित्त की मुख्य पांच वृत्तियों में अंतिम वृत्ति है । स्मृति का वृत्तित्व सर्व स्वीकृत है । यह भी एक ज्ञानविशेष या विशिष्ट अवस्थामात्र है । इसका लक्षण योगसूत्रकार ने इस प्रकार किया `अनुभूतविषयासंप्रमोष: स्मृति:`[1] अर्थात् प्रमाणादि के द्वारा अनुभव किए गए विषय में जो अनपहरण रूप या ठीक उसी अनुभव प्रकारिणी अस्तेय रूप वृत्ति बनती है,उसे ही स्मृति कहते हैं । इस प्रकार जिस विषय का अनुभव किया गया हो,वह विषय अनुभवपूर्वक अपने उसी रूप में जब पुन: चित्त में वृत्ति रूप से उपस्थित हो, उसे स्मृति वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार पूर्व अनुभूत पदार्थ ही स्मृति का विषय होता है । स्मृति का अर्थ है स्मरण करना । स्मरण सदैव पूर्व अनुभव किए गए या देखे गए पदार्थ का ही सम्भव है न कि अनाधिगत पदार्थों का । जब तक हम किसी पदार्थ का अनुभव न करेंगे तब तक उसका अभाव होने पर भी उसका स्मृति रूप से चित्त में उपस्थित होना सम्भव नहीं । अत: स्मृति पूर्वानुभूतविषयक होती है । इस प्रकार स्मृति में दो रूप हैं-- एक तो वह विषय जिसका अनुभव किया जा चुका है और दूसरा उसका पुन: स्मृतिकाल में ज्ञान होना । अब प्रश्न उठता है कि इन द्विविध रूपों में कोई एक स्मृति है अथवा दोनों ही स्मृति हैं । भाष्यकार ने कहा है कि ज्ञेय वस्तु या अनुभूतविषय के साथ

---

१ योगसूत्र १।११,पृ०७५

उसका पुनर्ज्ञान इस प्रकार के उभयात्मक संस्कार बनते हैं, तथा उसके अनुसार उभयाकार चित्तवृत्ति भी उत्पन्न होती है । अत: स्मृति उभयात्मक है, परन्तु भाष्यकार ज्ञानाकार वृत्ति को बुद्धि या अनुभव रूप ही मानते हैं अर्थात् `ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धेः स्मृतिः` अनुभूत जो विषय है, उस विषय के पूर्व ज्ञान का हमें ज्ञान हो रहा है, वह उस ज्ञान का अनुभव या ज्ञान हुआ न कि स्मृति । व्यास ने इस बुद्धि: पद का `ज्ञानशक्ति: प्रमाणमित्यर्थ:` ऐसा अर्थ किया है अर्थात् किसी विषय के पूर्व ही प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होने पर वह ज्ञान जब पुन: चित्त में उपस्थित हो वह तो उस ज्ञान का अनुभव है न कि स्मृति। जैसे यदि हमें वृक्षज्ञान की स्मृति हो रही है, उसके दो अंश होंगे । पहले तो एक बार वृक्ष का ज्ञान हुआ और अब उस ज्ञान का पुन: ज्ञान या अनुभव कर रहे हैं कि हम उसी वृक्ष का, जो कि अनुभूत विषय है, पुनर्ज्ञान कर रहे हैं, इसमें जो पुनर्ज्ञान है वह तो अनुभव मात्र है, क्योंकि वह ज्ञान अनुभूत नहीं । उस पूर्ववृक्षज्ञान का प्रथम बार अनुभव हो रहा है, परन्तु उस वृक्ष रूप विषय का तो हमें पूर्व ही अनुभव हो चुका था, अत: वह वृक्ष अनुभूत विषय है । इस प्रकार स्मृतिकाल में उस अनुभूत विषय के आकार की चित्तवृत्ति बनती है । अत: `ग्राह्याकारपूर्वास्मृति:` अर्थात् ग्राह्य विषयाकाराकारित वृत्ति ही स्मृति है न कि ज्ञानाकाराकारित वृत्ति भी स्मृति है । अत: `वृक्षमहं ज्ञानामि` इस प्रकार की वृक्षग्रहण प्रधाना वृत्ति ही स्मृति है । इनके पश्चाद्भावी अन्य आचार्यों --विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, भावागणेश आदि ने भी स्मृति का तादृश लक्षण किया है । परन्तु योगवार्तिककार का तद्विषयक मत कुछ भिन्न है । पूर्व काल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो, किन्तु उसका निश्चय के साथ जब ऐसा ध्यान आए कि यह वस्तु पूर्व काल में अनुभूत हो चुकी है, उस ध्यानाकार वृत्ति को स्मृति कहते हैं ।

इसप्रकार योगवासिष्ठ में अनुभूत विषयक ज्ञान को ही स्मृति रूपसे स्वीकार किया है।[१]

इस विषय में यदि ऐसी धारणा हो कि जो अनुभव है, उसी को स्मृति कहते हैं, वह अनुभव मिथ्या ही क्यों न हो। इस प्रकार अनुभव के ही पुनर्ज्ञान को स्मृति कहा गया, परन्तु उस अनुभव का सत्य या प्रामाणिक होना आवश्यक नहीं, यदि इस लक्षण को स्वीकार कर लें। उनका भास्वतीकार से विरोध होगा। उन्होंने अनुभव के स्थान में प्रमाण पद का प्रयोग किया है। जिस विषय का पहले प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त हो चुका हो ऐसे विषय के आकार की पुनः वृत्ति होना ही स्मृति है। अनुभव तो वस्तुतः अज्ञातविषयक होता है, अर्थात् जिस वस्तु का पहले ज्ञान न हुआ हो उसका ज्ञान प्राप्त करना ही स्मृति है। अनुभव के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, भ्रम तर्कादि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। हरिहरानंद के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्य अनुभूत विषयक ज्ञान को ही स्मृति कहते हैं और यही उपयुक्त भी है। प्रामाणिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

सांख्यसूत्रकार ने कोई विशिष्ट लक्षण नहीं किया,[२] परन्तु वृत्तिकार अनिरुद्ध ने भी `स्मृतिरतीतज्ञानम्' कहकर अतीत या भूतकालिक ज्ञान को ही स्मृति कहा है। विज्ञानभिक्षु ने `स्मृतिस्तु संस्कारजन्यं ज्ञानम्'[३] ईदृश लक्षण किया है। अर्थात् संस्कार से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है। उनके इस कथन से प्रतीत होता है कि उन्होंने आचार्य व्यास के मत का समर्थन किया है। व्यास १।११ सूत्र का भाष्य करते हुए स्मृति वृत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं। ग्राह्यग्रहणोभयाकार ज्ञान से उभयाकार

---

१ पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयः।
यदैवेहां विधत्ते ऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृत्य ।। ३।९६।२४, पृ०२२५

२ अनिरुद्ध वृत्ति सूत्र २।३३, पृ०५६

३ सांख्यप्रवचनभाष्य, सूत्र २।३३, पृ०१३१

संस्कार उत्पन्न होता है । तत्पश्चात् उस संस्कार से उभयात्मिका चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है । अत: स्मृति को संस्कारजन्य कहना उपयुक्त नहीं है । क्योंकि स्मृति प्रमाण की अपेक्षा अल्पप्रकाशक होने से सात्त्विक राजस् है[1] ।

स्मृति के प्रकार

जहां तक स्मृति के प्रकारों का प्रश्न है, लगभग सभी आचार्य द्विविध स्मृति स्वीकार करते हैं--भावितस्मर्तव्या और अभावितस्मर्तव्या भावितस्मर्तव्या स्मृति का अर्थ है, जिसमें भावित का कल्पित अर्थात् अयथार्थ पदार्थ का स्मरण हो उसे अयथार्थ स्मृति भी कहते हैं । स्वप्न काल की स्मृति इसी प्रकार की होती है । प्राय: स्वप्न में अयथार्थ का या ऐसे पदार्थ का स्मरण होता है, जिसका आज तक कभी ज्ञान भी न हुआ हो ऐसी स्मृति भावितस्मृति ही कही जाती है । अभावित स्मृति सदैव यथार्थ पदार्थों का ही स्मरण करती है । अत: इसे यथार्थ स्मृति भी कहते हैं । यह प्राय: जाग्रदवस्था में ही होती है । जाग्रदवस्था में मिथ्यावस्तु का स्मरण असम्भव ही है । इन द्विविध स्मृतियों में प्रथम अर्थात् भावितस्मृति को श्लोकवार्तिककार मुनि स्मृति न कहकर स्मृत्याभास ही कहते हैं[2] ।अयथार्थविषयक होने के साथ ही संस्कारजन्य होने से स्मृति जैसी प्रतीत होती है । इन द्विविध स्मृतियों से भिन्न प्रमुष्टतत्त्वाकनामक स्मृति भी है परन्तु इसका क्या स्वरूप है, यह तो किसी आचार्य ने स्पष्ट नहीं किया है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने प्रमुष्टतत्त्वाक स्मृति का खण्डन अवश्य किया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके पूर्व किसी आचार्य ने स्मृति के इस प्रकार को भी स्वीकार किया होगा,परन्तु अबतक उस आचार्य का नाम प्राप्त न हो सका । अब प्रश्न यह है कि प्रमुष्ट तत्त्वाक और अप्रमुष्ट-तत्त्वाक स्मृति क्या है? श्लोकवार्तिककार मुनि पातंजलि सूत्रों की व्याख्या में इन्हें

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १५

२ पातंजलयोगदर्शनम्, पृ० ७७

स्पष्ट करते हैं । जिस स्मृति के आकार में तत् पद हो उसको अप्रमुष्ट तद्वाक स्मृति कहते हैं, जैसे ' सा में माता' और जिसके आकार में तत् पद न हो वह प्रमुष्ट तद्वाक स्मृति कही जाती है, जैसे-- 'मे माता' ।

स्मृति के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त हरिहरानन्द ने तीन अन्य प्रकार स्वीकार किया है--विज्ञानस्मृति, प्रवृत्तिस्मृति और निद्रादिरुद्धभाव स्मृति[1] । इन प्रकारों की उन्होंने गणना तो की है, परन्तु लक्षण नहीं । अत: इनका स्वरूप स्पष्ट करना सर्वथा असम्भव-सा है । इनसे भिन्न किसी अन्य आचार्य ने न तो इनका समर्थन किया और न ही खण्डन करने का प्रयास किया । अत: अन्ततोगत्वा प्रमाणत: हम यही कह सकते हैं कि स्मृति दो प्रकार की होती हैं-- भावितस्मर्तव्या और अभावित स्मर्तव्या । स्मृति को आरण्यक ने सात्त्विकराजस कोटि में ही रखा है । प्रमाण की अपेक्षा ये अल्पप्रकाशक हैं, प्रमाण पूर्ण सात्त्विक वृत्ति है, उससे पदार्थ का सात्त्विक ज्ञान होता है । इससे भिन्न स्मृति में अयथार्थ ज्ञान भी सम्मिलित है, अत: यह सात्त्विकराजस वृत्ति है ।

चित्त की अवस्थावृत्तियां

जहां तक चित्त की अवस्थावृत्तियों का प्रसंग है किसी आचार्य ने भी इनका उल्लेख नहीं किया, केवल हरिहरानन्द ने सांख्यतत्त्वालोक में उपर्युक्त पंच विशिष्ट वृत्तियों के अतिरिक्त चित्त की अन्य नवधा वृत्तियों का भी उल्लेख किया है । अब प्रश्न यह है कि अवस्थावृत्तियां हैं क्या ? ज्ञान क्रिया के समय में चित्त की जिस जिस रूप में अवस्थिति होती है, उन्हें ही चित्त की अवस्थावृत्ति कहते हैं[2] । ये अवस्थावृत्तियां संख्या में नौ

---

१ सांख्यतत्त्वालोक, पृ० १६

२ ज्ञानक्रियाकाले चित्तस्य यद्यद्भावेनावस्थानं भवति ता एवावस्थावृत्तय: , पृ० २०

मानी गई हैं । इन नौ को भी तीन वर्गों में विभाजित किया गया है-- बोध्यगत, चेष्टागत और धार्यगत । बोधगत अवस्था वृत्तियां त्रिविध हैं -- सुख, दु:ख और मोह[1] । ये तीनों सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के परिणाम हैं । जिन वृत्तियों में इन तीनों का प्राधान्य हो वे वृत्तियां बोध्यगत अवस्थावृत्तियां कहलाती हैं । अनुकूलविषयके उद्रेक से सुख, प्रतिकूलविषय के उद्रेक से दु:ख होता है । सुख और दु:ख के अत्यधिक भोग से सुख और दु:ख के पार्थक्यज्ञान न कर सकने वाली जड़ता की प्रतीति को मोह ही कहते हैं ।

चेष्टागत अवस्थावृत्तियां भी त्रिविध हैं--इनमें राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप वृत्तियों का अन्तर्भाव है । रागादि पर क्लेशों के प्रसंग में विचार होगा, परन्तु यहां भी संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है । सुखविषयक इच्छाविशेष ही राग है तथा दु:ख विषयक क्रोध ही द्वेष तथा मरणत्रास या मरणभय ही अभिनिवेश है । चित्त की सभी चेष्टाएं रागादि त्रिविध क्लेशों से प्रेरित होकर ही होती हैं, अत: इन्हें चित्त की चेष्टागत अवस्था वृत्तियां कहते हैं[2] ।

तृतीय और अन्तिम है धार्यगत अवस्थावृत्तियां ये भी तीन प्रकार की हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । धार्य का अर्थ है शरीर अर्थात् शरीर से सम्बन्धित वृत्तियों को ही धार्यगत वृत्तियां कहते हैं । शरीर और चित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: शरीरगत उपर्युक्त त्रिविध वृत्तियों को चित्त की वृत्तियां कहा गया है[3] । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन

---

१ `सुखदु:खमोहा: सत्त्वरजसतम: प्रधाना: बोध्यगता: अवस्थावृत्तय:`, पृ० २०

२ `रागद्वेषाभिनिवेशाश्चेष्टागतावस्थावृत्तयस्त्रिगुणानुसारिण्य:`, पृ० २१

३ `जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयोधार्यगतावस्थावृत्तय: । धार्यं शरीरं ।तत्सम्पर्कादार्यगतावस्थावृत्तयश्चित्तस्य`, पृ० २१ ।

अवस्थाओं का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है । हरिहरानन्द ने इस जाग्रदवस्था का वर्णन इस प्रकार से किया है जागरे चित्तेन्द्रियाधिष्ठानान्यजडानि चेष्टन्ते अतः जागरितावस्था में ये सक्रिय रहते हैं । इससे भिन्न स्वप्नावस्था में इन्द्रियां जड़ता को प्राप्त होती हैं और उसके अनियत बुद्ध्यनुव्यवसायाधिष्ठान की जब चेष्टा होती है । उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं[१] । आरण्यक सुषुप्ति और निद्रा में कोई भेद नहीं मानते उनके अनुसार ये समान ही हैं ।

चित्त के त्रिविध व्यवसाय

चित्त के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उसके त्रिविध व्यवसायों का भी उल्लेख हुआ है । प्रश्न यह है कि व्यवसाय क्या क्या है? कतिपयशक्तीरधिकृत्यैकदा यच्चित्तेनेष्टितं स व्यवसायः' अर्थात् कुछ शक्ति को दृष्टि में रखकर एक बार में ही जो चित्त के द्वारा चेष्टा की जाती है, वही चित्त का व्यवसाय है । व्यवसाय भी त्रिविध हैं-- सद्व्यवसाय, अनुव्यवसाय और अपरिदृष्ट व्यवसाय । हरिहरानन्द ने सद्व्यवसाय को ग्रहण, अनुव्यवसाय को चिन्तन और अपरिदृष्टव्यवसाय को धारण कहा है । यद्यपि उन्होंने इन व्यवसायों का अधिक वर्णन नहीं किया, परन्तु एक एक पंक्ति में इनको स्पष्ट किया है । ज्ञानेन्द्रियरूप शक्तियों के द्वारा वर्तमानविषयक जो चित्त की चेष्टा या व्यापार होता है उसे सद्व्यवसाय कहते हैं[१] । इनसे भिन्न जो अतीत और अनागतकालीन विषयों के प्रति स्मृतिविषयक व्यापार होता है उसे अनुव्यवसाय कहते हैं[२] ।

---

१ 'जाड्यापन्नेषु - - - - - - - - - - - - तदवस्था स्वप्नः' पृ० २१

१ ज्ञानेन्द्रियादीनधिकृत्य वर्तमानविषयो व्यवसायः सदाख्यः, पृ० २२

२ अतीतानागतविषयोऽनुव्यवसाय स्मृतविषयालोऽन्यात्मक । , पृ० २२

जिस व्यवसाय के द्वारा निद्राप्ति में भी चित्त का परिणाम होता रहता है और उसके द्वारा संस्कार जीवित रहते हैं, वह अपरिदृष्ट व्यवसाय कहलाता है[१]। इस प्रकार ये तीनों व्यवसाय आरण्यक को अभिमत है, यद्यपि इनके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने इस विषय में कुछ विचार नहीं किया। अत: इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना असम्भव है।

इस प्रकार यद्यपि इसके पूर्व अर्थात् तृतीय अध्याय में चित्तादि तत्त्वों के विभिन्न कार्यों या व्यापारों के पर विचार हो चुका है तथा इस अध्याय में कुछ ऐसे व्यापारों या कार्यों का विवेचन किया जा चुका है, जो मुख्यत: चित्त के ही कार्य हैं। यद्यपि उनमें चित्त को अन्य तत्त्वों की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है, तथापि ये वृत्तियां चित्त की ही कही गई हैं। ये चित्त के विशिष्ट व्यापार हैं।

-0-

---

१ यैन चावेक्षमाणेन व्यवसायेन निद्रायामपि सदा चित्तपरिणामो जायते संस्काराश्च येनानुजीवन्ति सोऽपरिदृष्टव्यवसाय:', पृ० २२

पंचम अध्याय

-o-

चित्तवृत्ति निरोध और उसके उपाय

वृत्ति-निरोध क्या है ?

वृत्ति-निरोध के उपाय

(क) अभ्यास

(ख) वैराग्य का स्वरूप और प्रकार

अपर वैराग्य

पर वैराग्य

वृत्ति निरोध के अन्य उपाय

(क) क्रियायोग

(ख) अष्टांग योग

यम
नियम
आसन
प्राणायाम-- प्राणायाम के प्रकार, रेचकादि
प्रत्याहार
धारणा
ध्यान
समाधि

(ग) स्वकर्म

निरोधकालिक चित्तविक्षेप और उनका प्रशमन

(क) चित्तविक्षेप क्या है?

(ख) चित्तविक्षेप के प्रकार

व्याधि
स्त्यान
संशय
प्रमाद
आलस्य
अविरति
भ्रान्तिदर्शन
अलब्धभूमिकत्व
अनवस्थितत्व
दुःख
दौर्मनस्य
अंगमेजयत्व
श्वास
प्रश्वास

(ग) चित्तविक्षेपों के प्रशमन के उपाय

पंचम अध्याय

-०-

चित्तवृत्तिनिरोध और उसके उपाय

वृत्ति-निरोध क्या है?

द्वितीय और तृतीय अध्याय में चित्त के और साथ ही अन्य बाह्य और अन्तःकरणों के विभिन्न व्यापारों का विवेचन हुआ है। चित्त तो प्रतिक्षणपरिणामी है, अतः प्रतिक्षण उसकी वृत्तियां भी भिन्न ही होंगी। इन वृत्तियों के रहने पर ही पुरुष को भोग का सम्पादन हो सकता है, परन्तु मोक्ष रूप पुरुषार्थ सर्वथा असम्भव है। इन विविध पुरुषार्थों की प्राप्ति ही जीवन का परम प्रयोजन है। अतः भोग के पश्चात् मोक्षप्राप्ति का विवेचन भी आवश्यक है।

जहां तक मोक्ष का प्रसंग है, यह तो प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट है कि मोक्ष का मुख्य उपाय विवेकज्ञान है[१]। विवेकज्ञान या प्रकृति पुरुषविवेकज्ञान से ही मुक्ति होगी। प्रकृति को अपना समझकर उससे तादात्म्य होने पर सृष्टि निवृत्ति हो न होगी और पुरुष अज्ञानवश भोग या संसार में ही लिप्त होता जायगा। अतः सर्वप्रथम अज्ञान का निराकरण करना अत्यन्तावश्यक है। परन्तु ज्ञान प्राप्ति या अज्ञान का निराकरण सहज नहीं है। ज्ञानप्राप्ति मात्र से ही अज्ञान का नाश या यह कहिए कि तिरोभाव हो जाता है। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश एक स्थल पर ही कदापि नहीं रह सकते, ठीक उसी प्रकार ज्ञान रूप प्रकाश के आते ही अज्ञान रूप तम स्वतः भाग जाता है।

---

१ ज्ञानान्मुक्तिः -- सांख्यसूत्र ३।२३, पृ० १४८

प्रश्न यह है कि ज्ञान की प्राप्ति होगी कैसे? इसके अनेक उपाय शास्त्रों में वर्णित हैं और सांख्ययोगाचार्य भी समाधि योगादि उपायों को ही स्वीकार करते हैं, अत: चित्त समाधि के अभाव में योग असम्भव और चित्त की समाधि के लिए सर्वप्रथम इन चंचल चित्त की विभिन्न वृत्तियों का निरोध या उपशम अत्यन्तानिवार्य है[१]। यहां तक कि चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग संज्ञा भी दी गई `योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:` अर्थात् प्रमाणादि वृत्तियों का निरोध ही योग है[२]। योग-वासिष्ठ में संसार से उतरने की युक्ति को ही `योग` संज्ञा दी गई[३]। इसी में एक स्थल पर योग को वृत्तिनिरोध रूप भी कहा गया है[४]। चित्तवृत्ति के निरोध को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने अपने-अपने मत दिये हैं। चित्तवृत्तियों का उपशम ही निरोध है। उपशम प्रतिलोमपरिणाम रूप होना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार का परिणाम होता है, उसके विपरीत रूप से उसका स्वस्वकारण में लय ही निरोध है। अर्थात् राजस् और तामस वृत्तियों का क्रमश: सात्विक वृत्तियों में लय ही योग है[५]। आचार्य भोज ने भी निरोध का लगभग ऐसा ही अर्थ किया है -- `चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्त्योऽगांगिभावपरिणामरूपा: तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते` अर्थात् चित्त की अंग रूप वृत्तियों का बाह्यविषयों के रूप में परिवर्तितवृत्तियों को उन विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना अर्थात् भीतर

---

१ `वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि:` -- सांख्यसूत्र ३।३१, पृ०१५१

२ चित्तस्य वृत्तीनां प्रमाणविपर्ययादीनां यो निरोधो निवर्तनं स योग इत्यर्थ:।`
-- सर्वदर्शन संग्रह--पृ०३३१

३ `संसारोत्तरेण युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।` ६/१।१३।३

४ योगस्तद्धिवृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्`।
-- ५।७८।३

५ `चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां वक्ष्यमाणानां निरोध: प्रतिलोमपरिणामेनोपशमो योग इत्यर्थ:।`
--सूत्रार्थबोधिनी, पृ० २

की ओर उन्मुख करने से इस प्रकार विलोमपरिणाम के द्वारा वृत्तियों को स्वकारण (वृत्तियों के कारण) चित्त में लीन करना ही योग है । भावागणेश ने भी चित्तनिग्रह को अतीन्द्रिय प्रयत्नविशेष कहा है[१] । सर्वदर्शनसंग्रहकार सायन-माधव ने भी इसी मत का समर्थन किया है[२] । इनसे भिन्न अधिकतर टीकाकार वृत्तियों की संस्कारमात्रावशेषावस्था को ही योग या चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं । आचार्य विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति और नागोजी भी इसी मत के पोषक हैं । विज्ञानभिक्षु लिखते हैं-- `चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था निरोधः` अर्थात् चित्त की वृत्तियों की संस्कारमात्र रूप से अवस्थिति ही निरोध है । चित्तवृत्ति-निरोध के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विविध आचार्यों के तद्विषयक मतों में कुछ भिन्नता है । मुख्यतः इनके द्विविध मत हैं । एक तो सभी वृत्तियों का पूर्ण लय अर्थात् निःशेष लय स्वीकार करते हैं, परन्तु दूसरे सविशेष लय अर्थात् उनके अनुसार चित्तवृत्तिनिरोधकाल में भी वृत्तियों के संस्कार शेष हैं, अर्थात् उनका लय सावशेष या संस्कारशेष है । इस प्रकार द्वितीय मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि संप्रज्ञात योगकाल में भी सात्त्विक वृत्तियां रहती हैं । तथापि उसे योग संज्ञा दी गई है । साथ ही असंप्रज्ञात काल में भी सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी उनके संस्कार रहते हैं । अतः चित्तवृत्तिनिरोध का द्वितीय अर्थ ही अधिक उपयुक्त है । सांख्ययोगदार्शनिक किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश स्वीकार नहीं करते । उत्पत्ति का अर्थ होता है— कार्य के अभाव से पुनः उसी का उत्पन्न होना, यह तो नैयायिकों का मत है । परन्तु सांख्यदार्शनिकों और योगियों का कथन है `कार्य सदैव अपने कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है, उसी विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ का पुनः स्थूलरूप ग्रहण करना ही अभिव्यक्ति या उत्पत्ति है और इसी प्रकार जो

---

१ `इदं च चित्ते निर्वर्त्तनं जीवनयोनिवर्तनीन्द्रियः प्रयत्नविशेष श्चित्तनिग्रहरूपो-
..... । भावागणेशीय वृत्ति, पृ० २ ।

२ वृत्तिनिवर्त्तनं च चित्तनिग्रहरूपोऽपीन्द्रियो यत्नविशेषः ।
-- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३३१

पदार्थ सत् या भावरूप है, उसका पुनः नाश भी सर्वथा असम्भव है। जो सत् है वह अवश्य रहेगा, वह कभी असत् या अभाव रूप नहीं हो सकता। अतः उसके नाश का प्रसंग ही नहीं, नाश का अर्थ सांख्ययोगी तिरोभावमात्र से लेते हैं। अर्थात् स्थूलावस्था या व्यक्तावस्था से सूक्ष्मावस्था या अव्यक्तावस्था की प्राप्ति ही नाश है। अतः कार्य रूप स्थूल पदार्थ का पुनः स्वकारण में सूक्ष्म रूप को प्राप्त करना ही तिरोभाव है। इस प्रकार वृत्तियों का नाश सम्भव नहीं। उनका तिरोभाव हो सकता है और वह है चित्त में स्थूल या व्यक्त रूप में न रहकर सूक्ष्म या संस्कारमात्र रूप में रहना। अतः वृत्तियों की संस्कारमात्रावस्थिति ही निरोध या योग है। इस प्रकार निरोधावस्था का अर्थ वृत्त्यभावावस्था से न लेना चाहिए, अपितु वृत्तियों की तारतम्य विशिष्ट संस्कारों की परिणाम धारा ही निरोध है[1]। यही निरोध योग है। जहां तक योग का प्रसंग है चित्तवृत्तिनिरोधमात्र को सूत्रकार पतंजलि ने योग कहा है, परन्तु योग के विशिष्ट प्रकारों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात इन दोनों को योग संज्ञा दी यद्यपि संप्रज्ञातावस्था में चित्त की सात्त्विक वृत्ति का निरोध नहीं होता केवल राजस और तामस वृत्तियां ही निरुद्ध होती हैं और सात्त्विक वृत्ति का अस्तित्व रहता है। अतः उसे योग कहना संभव नहीं, योग तो चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं, परन्तु ऐसी शंका करना उचित नहीं। सूत्रकार ने सूत्र में चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा है, परन्तु यह नहीं कि सभी चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। अतः संप्रज्ञात भी योग कहलाने का अधिकारी है। इस स्थल पर इतना ही पर्याप्त है। इसका विशद् विवेचनसंप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के वर्णन के प्रसंग में इसी षष्ठ अध्याय के मध्य में होगा।

वृत्तिनिरोध के उपाय

मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विवेकज्ञान की आवश्यकता है और चित्तवृत्तिनिरोध विवेकप्राप्ति का प्रथम सोपान है।

---

१ सा च अवस्था तारतम्यविशिष्ट संस्कार परिणामधारा न तु वृत्त्यभाव स्व।
—नागेशवृत्ति, पृ० २२१

विवेकज्ञान भी वृत्तिरूप है, अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध को उसका उपाय कैसे कहा जा सकता है । जब वृत्तियां ही न होंगी तो विवेकरूप वृत्ति कैसे सम्भव होगी । इस शंका का समाधान यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ जहां राजस तामस-वृत्तियों के निरोध से लेना चाहिए न कि सात्त्विक वृत्ति से भी । अत: चित्तवृत्तिनिरोध होने पर भी सात्त्विक वृत्ति तो होगी ही और विवेकज्ञान सात्त्विकवृत्ति रूप ही है । अत: वृत्तिरोध को विवेकज्ञानप्राप्ति का कारण या ज्ञानपाप्ति का प्रथम सोपान कहा जा सकता है । यह तो पूर्व ही स्पष्ट हो गया परन्तु वृत्तिनिरोध हो कैसे ? यही समस्या है । इस समस्या का समाधान आचार्यों ने कोटिश: किया है । वे अष्टांग योग क्रियायोगादि सभी को चित्तवृत्तिनिरोध का साधन कहते हैं, परन्तु क्या यह आवश्यक है कि एक मुमुक्षु इन सभी साधनों को करे तत्पश्चात् ही उसे विवेक और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होगी, नहीं कदापि नहीं । उपर्युक्त सभी उपाय भिन्न-भिन्न स्तर वाले व्यक्तियों के लिए है अर्थात् चित्त के चांचल्य की दृष्टि से साधक को मुख्यत: तीन श्रेणियों में बांटा गया है-- उत्तम, मध्यम और न्यून । उत्तमश्रेणी के साधक वे हैं, जिनका चित्त विक्षिप्त न हो और पूर्वजन्म के कर्मानुसार जिन्हें कुछ मात्रा में संयम प्राप्त हो । योगसार में विज्ञानभिक्षु ने इन साधकों का लक्षण किया है-- 'उत्तमाधिकारिणस्तु स्व ये पूर्वमनुष्ठित-बहिरंगसाधनतया तन्मेरपेक्ष्येणैव योगारूढ़ा यथा जड़भरतादय:'[1] जो पूर्व जन्म में किए गए साधनों के कारण इस जन्म में उनका अनुष्ठान किए बिना ही योगारूढ़ हो जाते हैं, वे उत्तमाधिकारी कहे जाते हैं । ऐसे योगीजनों को मोक्ष या ज्ञानप्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य रूप विविध उपायों का उल्लेख

---

१ योगसार, पृ०३० ।

हुआ है[1]। यह सभी आचार्यों को मान्य है । साथ ही ऐसे साधक ईश्वरप्रणिधान से भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । अभ्यासादि उपाय क्या है, इस विषय में विचार किया जायगा । इस प्रकार संक्षेप में ये उत्तम श्रेणी के साधक हैं ।

द्वितीय श्रेणी के वे साधक हैं, जिनका चित्त समाहित न हो अपितु व्युत्थित हो ऐसे साधकों के लिए क्रियायोग[2] का कथन हुआ है । क्रियायोग रूपसाधन का अनुशीलन करने से चित्तवृत्ति का निरोध तो होगा ही साथ ही उसको ज्ञान का भी अधिगम होगा ।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त अन्य अष्टांगयोगादि का भी उल्लेख हुआ है, सर्वसाधारण अर्थात् सभी मनुष्य इनका अनुशीलन करके ज्ञानार्जन कर सकते हैं । सांख्ययोग में ही नहीं, इन साधनों का विशद् विवेचन महाभारत, योगवासिष्ठ आदि में भी हुआ है, इनसे भिन्न सांख्य दार्शनिक स्वकर्म रूप एक अन्य साधन भी मानते हैं, जिससे चित्त की वृत्तियां निरोध को प्राप्त होती हैं । अतः मुख्यतः ये ही साधन हैं इन साधनों का स्वरूप क्या है, इस पर विचार किया जायगा ।

(क) अभ्यास

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों के प्रसंग में सर्वप्रथम अभ्यास का प्रसंग आता है । अभ्यास क्या है? इस विषय में योगसूत्र में पतंजलि ने लिखा है[3]-- `तत्र स्थितौयत्नोऽभ्यासः` अर्थात् चित्त की स्थिति के लिए किया

---

१ `अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः` योगसूत्र १।१२, पृ०८२
`वैराग्याभ्यासाच्च` -- सांख्यसूत्र ३।३६, पृ०१५२

२ `तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः` -- योगसूत्र २।१, पृ०२६५

३ योगसूत्र १।१३, पृ०८५

गया प्रयत्न ही अभ्यास है । योगसारसंग्रह में भी ऐसा ही लक्षण किया गया है[१] । चित्त की स्थिति का क्या तात्पर्य है, यह सभी भाष्यकारों ने स्पष्ट किया है । व्यास ने इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है--'चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहस्तत्सम्पादयिषया तत्साधनानामनुष्ठानमभ्यासः' अर्थात् वृत्तिशून्य या वृत्तिरहित चित्त की प्रशान्त-वाहिता या निरोध प्रवाह ही चित्त की स्थिति है । इसी स्थैर्य के लिए किया गया प्रयत्न ही उत्साह और उसको सम्पादन के करने के लिए उपायों का अनुष्ठान ही अभ्यास है । भाष्यकार के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिति का अर्थ चित्त की सभी वृत्तियों के निरोध से है न कि कुछ वृत्तियों के निरोध से ही । अन्य टीकाकारों भास्वतीकारादि ने भी एतादृश अर्थ किया है, परन्तु इन सभी से भिन्न विज्ञानभिक्षु और वाचस्पतिमिश्र आदि ने स्थिति में राजस और तामस इन द्विविध वृत्तियों का निरोध ही स्वीकार किया है न कि सात्त्विक वृत्तियों का भी । अर्थात् राजस तामस इन दो वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त में सात्त्विक वृत्तिमात्र की अवस्थिति या चित्त की सात्त्विकवृत्तिरूप एकाग्रवृत्तिधारा ही चित्त की स्थिति या प्रशान्तवाहिता है और इसके लिए होने वाले उपायों का अनुष्ठान ही अभ्यास है । उपर्युक्त द्विविध मतों में द्वितीय विचार ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि अभ्यासमात्र से चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध संभव नहीं, यदि अभ्यास से ही चित्त पूर्णरूपेण निरुद्ध हो जाय तो वैराग्य की क्या आवश्यकता है । अतः योगशास्त्र में वैराग्य रूप उपाय का प्रतिपादन निरर्थक होगा । अतः अभ्यास चित्त की राजस तामस वृत्तियों के निरोध का उपाय है[२] । योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी ने किसी कार्य को पुनः पुनः करने को ही अभ्यास

---

१ तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः', पृ०४१

२ मणिप्रभा, पृ०७

३ योगवासिष्ठ ६ १६७।११

कहा है -- पौन: पुन्येन करणमभ्यास: इति कथ्यते[१]।' सांख्यसूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने अभ्यास को ध्यानरूप ही माना है । 'केवलाभ्यासध्यानरूपादेव वैराग्यसहिताज्ज्ञानं तत्साधनयोश्च भवति' उनकी इस पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान और अभ्यास एक ही है, परन्तु वस्तुत: इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है । इसका ध्यान के प्रसंग में उल्लेख होगा । अत: अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है-- 'स्वत: स्व वहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोधयिष्यामी-त्येवंविध उत्साहोऽभ्यास इत्युच्यते' इस प्रकार का उत्साह ही अभ्यास है ।

अब प्रश्न यह है कि अभ्यास पुन: पुन: किया जाता है, अत: कम से कम कितने समय तक अभ्यास करने से यह सुदृढ़ होगा । आचार्यों ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है-- अभ्यास को दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन करना चाहिए । सूत्र में प्रयुक्त सत्कार शब्द के अन्तर्गत तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा को ग्रहण करना चाहिए । यह तो स्पष्ट ही है कि अभ्यास का एक ही जन्म में नहीं, वरन् जन्म-जन्मान्तरों तक अनुष्ठान करना चाहिए और वह भी निर्विघ्न अर्थात् इसे मध्य में ही त्यागना नहीं चाहिए अत: जन्म-जन्मान्तरों तक अव्यवहित रूप से तपादि द्वारा किया गया अनुष्ठान ही अभ्यास है[२] ।

(ख) वैराग्य का स्वरूप और प्रकार

वैराग्य का स्वरूप स्पष्ट करने के पूर्व यह प्रश्न उठता है कि क्या अभ्यास के पश्चात् वैराग्य होता है अथवा विवेकज्ञान प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है या किसी एक का ही । वस्तुत: इन दोनों का ही अनुष्ठान करना चाहिए,

---

१ योगवासिष्ठ ६ । ६७।४३

२ प्रवृत्तिकी स्थितिस्तस्या: शान्तावस्था या चेतस: ।
साधनानुष्ठानमभ्यासो वीर्यपूर्वकम् ।' -- योगकारिका ३२

क्योंकि दार्शनिकों ने अभ्यास से राजस तामस वृत्तियों का और वैराग्य से सात्त्विक वृत्तियों का निरोध स्वीकार किया है । अत: इन दोनों का अनुष्ठान आवश्यक ही है, परन्तु समस्या यह है कि ये दोनों साथ-साथ किए जाते हैं अथवा क्रम से ही किये जाते हैं । आचार्यों ने इनका क्रमिक अनुष्ठान ही स्वीकार किया है और यह उचित ही है । क्रमिक होने पर कौन पूर्वभावी और पश्चाद्भावी होगा यह विषय कुछ दुष्कर प्रतीत होता है क्योंकि भाष्यकार[1] और टीकाकारों ने सर्वप्रथम वैराग्य के साहाय्य से चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाना और अभ्यास से उन वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना ही स्वीकार किया है, परन्तु सूत्रकार ने सूत्र में सर्वप्रथम अभ्यास का ही प्रयोग किया है । व्यासभाष्य की व्याख्या करते हुए ब्रह्मलीनमुनि ने लिखा है--'यद्यपि सूत्र में प्रथम अभ्यास पद का उपादान है तथापि बहिर्मुख चित्तवृत्ति का निरोध क किए बिना अभ्यास असम्भव है । अत: यौगयतानुसार प्रथम वैराग्य से चित्त के बहि: प्रवाह को रोककर उसके बाद अभ्यास से अन्त: प्रवाह चालू किया जाता है[2]।' वास्तविकता कुछ ऐसी ही है अर्थात् विषयाभिमुखी वृत्तियों का निरोध अधिक आवश्यक है । इनके निरोध के पश्चात् ही विवेकज्ञान रूप वृत्ति का अभ्यास सम्भव होगा । अत: क्रियात्मक दृष्टि से वैराग्य पूर्वभावी है । अत: उसका ही प्रथम निरूपण होना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि यदि वैराग्य पूर्वभावी हो तो शास्त्र-प्रतिपादित विषय का बाध होगा । अर्थात् राजस तामस वृत्तियों का निरोध अभ्यास का विषय है, इनका निरोध होने पर भी जब विवेकज्ञान रूप सात्त्विक वृत्ति शेष हो, तब उस वृत्ति का वैराग्य से निरोध होना अर्थात् वैराग्य

---

१ तत्र वैराग्येण विषयस्रोत: खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत: उद्घाट्यते इत्यभ्यासाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध:' सूत्र १।१२ योग भाष्य, पृ०८४

२ तत्र विषयदोष ..... चित्तवृत्तिनिरोध: । भोजवृत्ति, पृ०६
भावागणेशीयवृत्ति, नागेशभट्ट, सूत्र १।१२, पृ०११
योगवार्तिक सूत्र १।१२, पृ०४७

अभ्यास का पश्चाद्भावी प्रतीत होता है । शंका का समाधान यह है कि वैराग्य से पहले बहिर्वृत्ति को रोकना, तत्पश्चात् अभ्यास से अन्तर्मुखी वृत्तिप्रवाह का होना । तत्पश्चात् पुनः वैराग्य से सात्त्विक वृत्ति का निरोध होता है ।

वैराग्य विराग के भाव को कहते हैं-- विरागस्य भावः -- वैराग्यम् । विराग को अधिकतमाचार्य राग का अभाव ही कहते हैं-- `विराग वैराग्यं रागाभावः`[1] न्यायसूत्रों के भाष्य में भी यही लक्षण किया गया है । परन्तु विज्ञानभिक्षु ने रागाभावमात्र को ही वैराग्य नहीं, वरन् अलंबुद्धि को ही वैराग्य कहा है । राग क्या है ? वात्स्यायन ने राग के अर्थ रूप से आसक्ति को स्वीकार किया है--`आसक्तिलक्षणो रागः`[2] । इनसे भिन्न प्रशस्तपाद में `पुनः पुनर्विषयानुरंजनेच्छारागः` ईदृश लक्षण किया गया है । अतः राग वस्तुतः आसक्ति रूप ही है । इन सभी से भिन्न कुछ अन्य शास्त्रकार राग का कषाय अर्थ ग्रहण करते हैं । कषाय मल को कहते हैं और अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेश ही चित्त के मल या कषाय हैं । इन क्लेशों का अभाव ही वैराग्य है । प्रशस्तपाद में इसका लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं--`दोषदर्शनाद् विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्` अर्थात् विषयों में दोष का दर्शन या प्राप्ति होने पर इन विषयों को त्यागने की इच्छा करना ही वैराग्य है । इनके विपरीत युक्तिदीपिकाकार ने वैराग्य को ज्ञान का प्रसादमात्र या ज्ञानविशेष कहा है[3] । परन्तु युक्तिदीपिकाकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न प्रतीत होता है । वे विराग को बुद्धि का प्रसादमात्र मानते हैं । बुद्धि के प्रसाद से उनका क्या तात्पर्य है, यह किंचित् ज्ञात नहीं, परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि वैराग्य के चतुर्विध प्रकारों में से अन्तिम जो वशीकार संज्ञक वैराग्य है, उस अवस्था में बुद्धि में

---

१ तत्त्वकौमुदी, पृ०२२७

२ न्यायसूत्र ४।१।३ पृ०२७६

३ "विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानान्यासोपजनितो बुद्धेः प्रसादः", पृ०६५

ज्ञान का प्रकर्ष होता है, अत: इस अवस्थाविशेष को ज्ञान का प्रसादमात्र कहा जा सकता है । योगभाष्य में भी इसी मत का समर्थन हुआ । अत: अन्त में वैराग्य को राग का अभाव ही कहा जा सकता है । सांख्यसूत्रकार ने वैराग्य का कोई लक्षण नहीं किया यद्यपि ये भी चित्तरोध के उपायरूप से अभ्यास और वैराग्य को ही स्वीकार करते हैं[1] ।

जहां तक वैराग्य के प्रकारों का प्रश्न है आचार्य पतंजलि तो दो प्रकार ही मानते हैं-- अपर वैराग्य और परवैराग्य । यद्यपि इनसे भिन्न अन्य आचार्यों ने इनके चार प्रकार स्वीकार किए--यतमानसंज्ञक वैराग्य, व्यतिरेकसंज्ञक, एकेन्द्रियसंज्ञक और वशीकारसंज्ञक वैराग्य । हां इन चारों का अपर वैराग्य में अन्तर्भाव हो जाता है । ऐसा ही अन्य योग-दार्शनिकों का मत है ।

अपर वैराग्य

अब अपर वैराग्य का प्रसंग है । इसका लक्षण करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं--[2] दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् अर्थात् दृष्ट या लौकिक और आनुश्रविक या पारलौकिक (स्वर्ग के) इन सभी विषयों के प्रति वितृष्ण या तृष्णाहीन भाव का होना ही वशीकार नामक वैराग्य है । इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी कहते हैं-- स्त्री अन्न ऐश्वर्य आदि अलौकिक या दृष्ट विषयों में निस्पृह और साथ ही स्वर्ग प्राप्ति होने पर विदेहत्व या प्रकृतिलयत्व की प्राप्ति होने पर उन वेद प्रतिपादित पारलौकिक विषयों में भी वैरस्य, नश्वरत्व एवं दु:खरूपत्वादि दोष को देखने वाला अत: उस भोग में भी चित्त की राग-द्वेषशून्य स्थिति ही वैराग्य है । अत: लौकिकपारलौकिक विषयों के अभाव में तो उनके प्रति इच्छा का अभाव होना ही चाहिए, साथ ही उन

---

१ "वैराग्याभ्यासाच्च" -- सांख्यसूत्र ३।३६, पृ०४७

२ योगसूत्र १।१५, पृ०६१

विषयों के उपस्थित होने पर भी उनके प्रति निस्पृहभाव का होना अपरवैराग्य का लक्षण है । यह वैतृष्ण्य विवेकज्ञान के बल से ही प्राप्य है । भाष्यकार के मत का सभी योग दार्शनिकों ने समर्थन किया है[१] । अत: जिस अवस्थाविशेष में पुरुष की भोगलोलुपता या भोगेच्छा समाप्त हो जाती है, उसे ही अपर वैराग्य कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि इसे अपर वैराग्य क्यों कहा गया ।सूत्रकार ने तो सूत्र में अपर शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु इसके पश्चात् १।१६सूत्र में वैराग्य का लक्षणकरते हुए उसे `परवैराग्य` ऐसी संज्ञा दी गई । इससे स्पष्ट है कि पतंजलि को अपर और पर रूप से द्विविध वैराग्य अभिमत है । इस सूत्र में सूत्रकार ने `वशीकार संज्ञा` इस शब्द का प्रयोग किया है, जिससे प्रतीत होता है कि अपर वैराग्य को ही वे वशीकार वैराग्य भी मानते हैं । यद्यपि अन्य टीकाकार वाचस्पति विज्ञानभिक्षु आदि वशीकार अवस्था के पूर्व वैराग्य की तीन अवस्था मानते हैं और उन तीनों का क्रमश: अभ्यास होने पर ही वशीकार नामक अवस्था सिद्ध होती है,अर्थात् वशीकार ही वैराग्य की चरमावस्था है । वशीकार वैराग्य का तात्पर्य है चित्त का पूर्ण वशीकार अर्थात् चित्त विषयाधीन न होकर स्वाधीन होना ही वस्तुत: चित्त का वशीकार या वशीकार वैराग्य है ।

इन चतुर्विध अपर वैराग्यों के पश्चात् ही पर वैराग्य की प्राप्ति होती है । यतमान, व्यतिरेक वैराग्यों का लक्षण कई आचार्यों ने किया है । कई सांख्यआचार्यों ने भी कारिकाओं की टीका में इनका लक्षण किया है[२] । इनके अतिरिक्त योगसूत्रों की योगवार्तिक,तत्त्ववैशारदी, योगचन्द्रिकादि में भी उनका उल्लेख है और इन सभी आचार्यों का एतद्विषयक मत समान ही हैं । अत: सामान्यत: यह कहा जा सकता है—अविद्यास्मितादि

---

१ योगभाष्य,पृ०६२

२ तत्त्वकौमुदी,पृ०२२६-२३२

सुखिसदीपिका,पृ०६५

पंचकषाय ही इन्द्रियों को विविध विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं, ये इन्द्रियों को प्रवृत्त न करें, इस प्रकार की इच्छा से रागादि को निवृत्त करने के लिए किए गए प्रयत्न ही यतमानसंज्ञक अपर वैराग्य कहलाता है । इस प्रकार रागादि की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करने पर कितने क्लेश निवृत्त हो गए, कितने अभी हो रहे हैं और कितने अभी शेष हैं । इस प्रकार निवृत्त क्लेशों से अनिवृत्त या शेष क्लेशों को पृथक् करना ही व्यतिरेक संज्ञक अपर वैराग्य होता है । तत्पश्चात् जब सभी क्लेश या मल निवृत्त हो गए हों अर्थात् अब वे इन्द्रियों को बाह्य विषयों के प्रति प्रवृत्त करने में पूर्णतया असमर्थ हों, तथापि कभी-कभी प्रवृत्त करने को उत्सुक हो जाय अर्थात् उनकी मन रूप इन्द्रिय में ही औत्सुक्य रूप से अवस्थिति होने पर एकेन्द्रिय नामक वैराग्य होता है । इसके बाद जिस अवस्था में ज्ञान के बल से सभी विषयों के प्रति उत्कण्ठा की निवृत्ति होने पर इन्द्रियों के वशीभूत होने पर उपेक्षा वृत्ति होती है, वही वशीकार नामक वैराग्य होता है । उसे ही अपर वैराग्य कहा जाता है, जिसका पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है । इस प्रकार अपर वैराग्य चार प्रकार के होते हैं। विद्यारण्यादि आचार्यों ने भी इस विषय में सांख्ययोगदार्शनिकों का समर्थन किया है[1]। सांख्यचन्द्रिका में नारायणतीर्थ ने केवल इन्हीं चार वैराग्यों को स्वीकार किया है न कि परवैराग्य को भी[2]।

पर वैराग्य

अपर वैराग्य के पश्चात् पर वैराग्य का प्रसंग है । पर वैराग्य का लक्षण करते हुए योगसूत्रकार लिखते हैं--'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यं' अर्थात् जब पुरुष ख्याति या विवेक ज्ञान के प्रति

---

१ 'वैराग्यं द्विविधम् । अपरं परं चेति । यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञमेदेरपरं चतुर्विधम्' । पृ०२१६, जीवन्मुक्ति विवेक ।

२ विरागो वैराग्यं तच्चतुर्विधं । यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाभेदात् ।'

भी वितृष्णा का भाव होता है उसे ही परवैराग्य कहते हैं । अपरवैराग्य सिद्ध हो जाने पर विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है तत्पश्चात् विवेकज्ञान के उदित होने से सत्त्वरजसादि त्रिविध गुणों के प्रति भी निस्पृहा का भाव या गुणों के कार्य ज्ञानादि के प्रति भी वैतृष्ण्य होने पर परवैराग्य होता है और परवैराग्य निष्पन्न होने पर ही मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति होती है । अत: कैवल्य का नान्तरीयक होने से परवैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा या चरमावस्था है ।

वृत्तिनिरोध के अन्य उपाय

चित्तवृत्तिनिरोध के इन द्विविध मुख्य उपायों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी हैं,जैसे ईश्वरप्रणिधान अष्टांगयोगादि । इनमें से अष्टांगयोग सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए और क्रियायोग मध्यम कोटि के साधक के लिए शास्त्रों में प्रतिपादित है । ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख आचार्य पतंजलि ने उत्तम श्रेणी के साधक के प्रसंग में किया है । अभ्यासवैराग्य ही समाधि प्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं, ईश्वरप्रणिधान से भी समाधि सुलभ होती है[1] । ईश्वरप्रणिधान से उनका तात्पर्य ईश्वर रूप पुरुषविशेष की भक्ति से है । प्रकर्षेण निधानमिति प्रणिधानम्' अर्थात् ईश्वर में चित्त की एकाग्र करना ही ईश्वरप्रणिधान है । अत: ईश्वर का ही प्रकृष्ट रूप से ध्यान करने से ईश्वर या परमात्मा भक्त के अभीष्ट सिद्धहेतु संकल्पमात्र से भक्त पर दया करता है और उस अनुग्रहमात्र से समाधि सुलभ हो जाती है[2] । ईश्वर का स्वरूप तो प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कर चुके हैं । ईश्वर एक विशेष पुरुष है जो क्लेश कर्मादि से असंस्पृष्ट पुरुषमात्र है,कोई अन्य तत्त्व नहीं ।

---

१ ईश्वरप्रणिधानाद्वा —योगसूत्र १।२३,पृ०१२६

२ व्यासभाष्य,पृ०१२६-१२७।

केवल ईश्वर का ध्यान या ईश्वर में मन को स्काग्र करने पर समाधि आसन्नतर होती है । आचार्य पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है । ईश्वर में ध्यान किस प्रकार किया जाय, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं-- ईश्वर का वाचक प्रणव शब्द है अर्थात् ईश्वर को ही ओऽम् या प्रणव कहते हैं । प्रणव शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति मात्र से स्पष्ट है । प्रकर्षेण प्रकृष्टं नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणव:' अर्थात् जिसके द्वारा विशेष स्तुति की जाय वही प्रणव है । प्रणव को ही 'ओऽम्' भी कहते हैं-- ओऽम् की त्रिविधा मात्रायें ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिविध देवों की वाचक हैं । साथ ही ये मात्रायें पृथ्वी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक की वाचक भी हैं । इस प्रकार प्रणव त्रिविध देवों और लोकों में व्याप्त ईश्वर का वाचक है, अत: ईश्वर और प्रणव के मध्य वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है, भाष्यकार व्यास ने इस सम्बन्ध के विषय में शंकायें कीं और उनका समाधान भी स्वत: किया है । अन्ततोगत्वा यह सिद्ध किया कि ईश्वर इस वाच्यवाचकसम्बन्ध को केवल प्रकट करता है अर्थात् यह सम्बन्ध पूर्व भी अनेक सृष्टियों से अवस्थित है । अब प्रश्न यह है कि ईश्वर का वाचक प्रणव हो, परन्तु उसका ध्यान कैसे होता है ? सूत्रकार कहते हैं-- 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[1] अत: उस प्रणव रूप पद का जप करना चाहिए अर्थात् प्रणव के अर्थ का या विषयभूत ईश्वर की भावना करनी चाहिए । सूत्र का वस्तुत: यही अर्थ निकलता है, परन्तु भाष्यकार और विभिन्न टीकाकारों ने कुछ भिन्न अर्थ किया, उनके अनुसार प्रणव रूप शब्द का उच्चारण या जप करना चाहिए और उसके वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिए । अर्थात् शब्दका पुन:-पुन: उच्चारण या जप करना ही उनका जप है और भावना का अर्थ है उसका पुन: पुन: चित्त में निवेश । अर्थात् बार-बार चित्त को उसी ईश्वर रूप अर्थ में लगाना चाहिए । इस प्रकार जप और भावना से ही ईश्वर की भक्ति होती है और चित्त स्काग्र हो जाता है । अन्य

---

१ योगसूत्र १।२८, पृ०१५६

सभी टीकाकारों विज्ञानभिक्षु वाचस्पति आदि ने भी इसको स्वीकार किया है । भाष्यकार स्वमत को स्पष्ट करके विष्णुपुराण के एक श्लोक को समर्थन रूप से उद्धृत करते हैं--

`स्वाध्यायात् योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।'[१]

अतः यह ज्ञात है कि ईश्वरप्रणिधान भी समाधि प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और इस साधन के अभ्यास के लिए ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना अत्यन्तानिवार्य है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस साधन की सार्थकता के लिए ही योगदार्शनिकों ने ईश्वर को स्वीकार किया और उसका स्वरूपस्पष्ट करने का प्रयत्न किया ।

(क) क्रियायोग

उपर्युक्त प्रतिपादित अभ्यास और वैराग्य के अनुशीलन से जब चित्त निरोध हो जाता है और समाधि प्राप्त होती है,तो अन्य क्रियायोगादि उपायों की क्या आवश्यकता है ? अतः शास्त्र में किया गया क्रियायोगादि का प्रतिपादन निरर्थक या व्यर्थ है । ऐसी शंका प्रायः उठती है,परन्तु इसके समाधान रूप से सभी योगदार्शनिकों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है । अभ्यास वैराग्य रूप साधनों का उल्लेख समाहित चित्तवाले साधकों की दृष्टि में रखकर किया गया अर्थात् वे ही इन साधनों का सम्यगनुष्ठान करने में समर्थ है और तत्पश्चात् सफल भी होतेहैं । परन्तु इनसे भिन्न जो व्युत्थित चित्त वाले साधक है, अर्थात् जिसका चित्त अभी किंचिदपि एकाग्र या विरुद्ध नहीं है, ऐसे साधक अभ्यासादि के अनुष्ठान में सर्वथा असफल है अर्थात् ऐकाग्र्य के व

---

१ योगभाष्य १।१।२,पृ०१६०

अभाव में अभ्यास करना असम्भव ही है । अत: ऐसे साधकों के लिए युक्ति-प्राप्ति के साधनरूप से क्रियायोग का प्रतिपादन हुआ है[1] । अत: इन्हें निरर्थक मानना उचित नहीं । अब प्रश्न यह है--क्रियायोग है क्या ? वस्तुत: योगप्राप्ति में सहायक होने के कारण इसे क्रियायोग कहा जाता है । सभी योगदार्शनिकों की भी यही मान्यता है । वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं-- 'क्रियैव योग: क्रियायोग: योगसाधनत्वात्' अर्थात् क्रिया ही योग का साधन होने से योग है । वस्तुत: क्रिया तो योग हो नहीं सकती, परन्तु यह साध्य-साधनाभेदोपचारात् क्रिया को ही योग कहा है, क्योंकि ये तपस्वाध्यायादि क्रियाएं योगप्राप्ति में साधन हैं । अत: वाचस्पति मिश्र का क्रियाओं को ही क्रियायोग कहना उपयुक्त ही है । हरिहरानन्द[2] ने भी यही स्वीकार किया है-- योग या चित्तवृत्तिनिरोध को उद्देश्य कार क्रिया करना ही क्रियायोग है । आचार्य विज्ञानभिक्षु लिखते हैं-- योग का उपायरूप होने के कारण ही इन क्रियाओं या कर्मों को योग संज्ञा दी गई । अत: क्रियायोग भी योग-प्राप्ति के साधन हैं । यदि क्रियायोग शब्द का विग्रह 'क्रियया एव योग:' ऐसा माना जाय तो उसका अर्थ होगा क्रिया से ही जो योग प्राप्त होता है । इस विग्रह से ऐसा प्रतीत होता है कि ये क्रियाएं और इनसे प्राप्य योग वस्तुत: भिन्न भिन्न है । अत: तप स्वाध्याय और प्रणिधान ये तीनों तो क्रियाएं होंगी और योग कोई भिन्न, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं यदि तप आदि क्रिया मात्र होते तो उन्हें क्रियायोग संज्ञा कैसे दी जाती और शास्त्र में इन उपायों को ही साक्षात् क्रियायोग शब्द से कहा गया है । अत: क्रियायोग का प्रथम विग्रह ही अधिक उपयुक्त है । ये क्रियाएं कौन-कौन हैं? अथवा क्रियायोग कितने प्रकार के हैं । योगसूत्रों का द्वितीयपाद क्रियायोगों के ही वर्णन से प्रारम्भ हुआ है[3] और उसमें त्रिविध क्रियायोगों का

---

१ 'क्रियायोगं प्रवक्ष्यामि देवतार्थानुकीर्तिनम् ।
मुक्तिमुक्तिप्रदं यस्मान्नान्यत् लोकेपि विद्यते ।'

उल्लेख हुआ है-- तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रविधान[1]।

जहां तक तप आदि के स्वरूप का प्रश्न है सूत्रकार ने इन्हें स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, हां भाष्यकार ने २।१ और २।३२ सूत्रों के भाष्य में इनका उल्लेख किया है। सुखदु:खादि के द्वन्द्व को सहना ही तप है--`तपो ब द्वन्द्व सहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासेन काष्ठमौनमाकारमौनं च।...`[2] अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, स्थान, आसन आदि द्वन्द्व हैं। इन द्वन्द्वों को सहना ही तप है। साथ ही कृच्छ्र, चान्द्रायण शान्तपन आदि व्रत भी तप के अन्तर्गत आते हैं। हरिहरानन्द ने तप को सुख का त्याग का कायसंयम भी कहा है अर्थात् तपस्या में शरीर पर नियंत्रण भी हो जाता है। जहां तक स्वाध्याय का प्रश्न है व्यास ने कहा है--`प्रणवादि पवित्राणां जप: मोक्षशास्त्राध्ययनं वा` अर्थात् प्रणव या ओंकार जिसका उल्लेख ईश्वरप्रणिधान के प्रसंग में किया गया है, का जप तथा मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। मोक्ष-शास्त्रों से तात्पर्य उन शास्त्रों से है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति के साधनों और मार्गों का प्रतिपादन हुआ है। ऐसे शास्त्रों का अध्ययन करने से मोक्ष साधन सुलभ होंगे तत्पश्चात् मोक्षप्राप्ति भी सहज हो सकती है। तृतीय और अंतिम क्रियायोग है ईश्वरप्रणिधान। ईश्वरप्रणिधान पर पूर्व ही विचार किया जा चुका है, परन्तु क्रियायोग के प्रसंग में आचार्य व्यास ने उसे भिन्न शब्दों से व्यक्त किया है--`तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं` अर्थात् उस परम गुरु या ईश्वर में सभी कर्मों का अर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है[3]।

---

१ तपआदीनि त्रीणि क्रियायोग इत्यर्थ: ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोऽप्यत्र क्रियायोग मध्य स्व प्रवेशित:। --योगवार्तिक २।१, पृ०१३८

२ व्यासभाष्य, पृ०४५६

३ ईश्वरप्रणिधानं लौकिक वैदिकसाधारणकर्मणामन्तर्यामित्या परमगुरावीश्वरे-र्पणम्।--नागेशवृत्ति, पृ०२६४।

पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी

२ योगमुद्दिश्च क्रियाचरण क्रियायोग:` -- भास्वती, पृ० १४०

३ तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:`--योगसूत्र २।१, पृ०२६५

वस्तुत: ईश्वरप्रणिधान के इन विविध निरूपणों में कोई विशेष भेद नहीं केवल कथन में ही भेद है । अर्थात् ईश्वर की इतनी भावना करे या उसमें भक्ति करने में उसे सभी स्वकर्मों को अर्पित करे दे अर्थात् ईश्वर ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है । इस प्रकार की भावना करने को ही ईश्वरभक्ति कहते हैं और ऐसी भावना करते करते चित्त में ईश्वरीय गुण आ जाते हैं । धीरे-धीरे योगी भी ईश्वररूप या ज्ञानी हो जाता है ।

अब प्रश्न यह है कि क्रियायोग का फल क्या है ? सूत्रकार कहते हैं-- 'समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च'[1] अर्थात क्रियायोगों के अनुष्ठान से चित्त में स्थित सभी क्लेशों का तनूकरण होता है । क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं । तनूकरण का अर्थ भोज ने 'स्वकार्यकरणप्रतिबन्ध:' से लिया है । अर्थात् क्लेशों की फलों की उत्पादक शक्ति का नष्ट या अभिभूत हो जाना ही क्लेशों का तनूकरण है । जब क्लेश फल न देंगे तो चित्त समाधि के योग्य होगा । अब समस्या यह है कि क्रियायोग के अनुष्ठानमात्र से विवेकज्ञान और समाधि की प्राप्ति होगी अथवा उनके पश्चात् भी अभ्यासादि का अनुष्ठान आवश्यक होगा । भाष्यकार व्यास ने क्लेशों का तनूकरण क्रियायोग से और पुन: उन तनूकृत क्लेशों का दाह प्रसंख्यानरूपाग्नि या विवेकज्ञान से स्वीकार किया है[2] । यही सभी आचार्यों की मान्यता है इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियायोगों के पश्चात् वैराग्यादि की आवश्यकता नहीं, हां क्रियायोग का अभ्यास अवश्य ही अपेक्षित है । आचार्य व्यास के अनुसार जिन वृत्तियों क या क्लेशों का क्रियायोग से तनूकरण न हुआ हो उनका ध्यान रूप प्रसंख्यान से दग्धबीजभाव होना चाहिए, वैराग्यादि से नहीं[3] । यह जीवन तो पूर्वजन्म में किए गए

---

१ योगसूत्र २।२, पृ० २७०

२ योगभाष्य , पृ० २७१

३ योगभाष्य, पृ०३०६

कर्मों का फल है ।

(ख) अष्टांग योग

अभ्यास, वैराग्य क्रियायोगादि के पश्चात् अष्टांगयोग है में भी सांसारिक तापों से मुक्ति प्राप्त होती है[1] । इसका उल्लेख वस्तुत: गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले साधकों के लिए हुआ है । गृहस्थाश्रमी साधकों के लिए अत्यन्त दु:साध्य अथवा परिश्रमसाध्य योगकर्मों का अनुष्ठान करना कुछ दुष्कर होता है अर्थात् गृहस्थाश्रम के धर्मों के साथ -साथ उन योगों को करना संभव नहीं है । अत: उनके लिए अष्टांगयोग रूप सुकर साधनों का उपदेश हुआ है । इनमें क्रमश: एक-एक का अनुष्ठान होता है अर्थात् एक यम के सुदृढ़ हो जाने पर नियम और नियम के दृढ़ होने पर ही आसनादि का अनुष्ठान किया जा सकता है । इसकी अष्टांग योग संज्ञा से यह स्पष्ट है कि इनके आठ ही अंग हैं । ये सभी अंग योगप्राप्ति में साधन या सहायक होने से योग कहे जाते हैं । ये अंग कौन-कौन से हैं, इनकी गणना योगसूत्रकार ने २।१९ सूत्र में की है[2] । ये हैं-- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इनमें सर्वप्रथम यम का ही कथन हुआ है । अत: सर्वप्रथम इसे ही स्पष्ट करना चाहिए । सांख्यसूत्रों के भाष्य में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी इन्हीं आठ अंगों को स्वीकार किया है[3] ।

---

१ संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टांगयोगकम्` --अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड १।१८३ अध्याय

२ `यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि` --योगसूत्र २।२९, पृ०४४३।

३ `पातंजले योगोऽङ्गानामष्टानामेव विवेकसाक्षात्कारहेतुत्वश्रवणादिति` -- सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०१५०

यम
--

जहां तक यम का प्रश्न है `यम' शब्द `यम उपरमे' धातु से निष्पन्न हुआ है । इसका अर्थ है उपरम या अभाव । `यम उपरम इत्यस्य रूपंयमा इति उपरम्यन्ते निवर्त्यन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्ते चाहिंसादय: पंच इति ।'[1] यम मुख्यत: पांच प्रकार के होते हैं-- `अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा:'[2] ये पांच ही अन्य सभी आचार्यों को मान्य हैं । गरुड पुराण में भी इन्हीं पांच का उल्लेख है[3] । सूत्रकार ने इनका लक्षण नहीं किया, किन्तु भाष्यकार क्रमश: लक्षण करते हुए लिखते हैं --`तत्राहिंसा--सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:' अर्थात् सभी प्रकार से सभी कालों में सभी प्राणियों से द्रोह न करना ही अहिंसा है । यह अनभिद्रोह भी तीन प्रकार से हो सकता है-- मन से, वचन से और काम या शरीर से । अत: मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्रकार से द्रोह की इच्छा न करना ही अहिंसा है । स्कान्दपुराण में अहिंसा का उल्लेख इस प्रकार हुआ है-- आत्मवत्सर्वभूतेषु[4] यो हिताय प्रवर्तते । अहिंसेषा समाख्याता वेदसंविहिता यथा । अर्थात् प्राणियों को अपने समान समझकर जो उनके हित के लिए प्रयत्न किया जाता है, वही अहिंसा है । आचार्यों ने अहिंसा को मूल कहा है अर्थात् अहिंसा के निर्मल और पुष्ट होने के पश्चात् ही यमनियमादि का अनुष्ठान सम्भव है अन्यथा नहीं । अत: अहिंसा को इन यमादि का कारण न समझना चाहिए वरन् सर्वप्रथम अहिंसा के अनुष्ठान का ही प्रयत्न करना चाहिए ।

---

१ पातंजलरहस्यम्, पृ०२४७

२ योगसूत्र २।३०, पृ०४४४

३ `अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो । यमा: पंचार्थ..... ।
--गरुण पुराण, पृ०१६२

४ स्कान्दपुराण ५५।१५

अहिंसा के बाद असत्य का प्रश्न है । असत्य का अर्थ है जो सत्य न हो परन्तु सत्य क्या है --' सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे' अर्थात् वाणी और मन का जो यथार्थत्व है वही सत्य है । अत: जो पदार्थ जिस प्रकार देखा गया , जिस प्रकार अनुभव किया गया और जिस प्रकार सुना गया, ठीक उसी रूप से उसका शब्दों में वर्णन या कथन करना ही सत्य है । स्कान्दपुराण में सत्य का तादृश लक्षण हुआ-- 'दृष्टं श्रुतं-यानुमितं स्तानुभूतं यथार्थत: । कथनं सत्यमित्युक्तं पर पीड़ा विवर्जितम् ।' प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सत्य भी कभी कभी अप्रिय या प्राणियों का अवघात करता है अत: वह सत्य है अथवा नहीं । इस विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि जो सभी के उपकार के लिए हो, अर्थात् जिसका फल अपकार न होकर उपकार के लिए हो, ~~अर्थात् जिसका फल अपकार न होकर उपकार ही हो~~ वह सत्य तो वस्तुत: सत्य है । इससे भिन्न अपकारक सत्य सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं । वह सत्याभास या असत्य ही है[1] । अत: ऐसा असत्य न बोलना या असत्य भाषण पर संयम करना ही द्वितीय असत्य नामक यम है ।

तृतीय यम है अस्तेय । जो स्तेय रूप न हो वही अस्तेय है । स्तेय को भाष्यकार कहते हैं--' स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम्' शास्त्रोक्तविधि के बिना ही दूसरे के धन को ले लेना स्तेय है और उससे विपरीत या मन से भी किसी दूसरे के धन लेने की इच्छा न करना ही अस्तेय है ।

चतुर्थ यम है ब्रह्मचर्य । ब्रह्मचर्य उपस्थ संयम को कहते हैं अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषयों में इन्द्रियों को संयम क या निगृहीत करना और उपस्थेन्द्रिय पर पूर्ण संयम प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य है' ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योप-स्थस्य संयम:[2]' । अब प्रश्न यह है कि अब्रह्मचर्य के विषय से क्या तात्पर्य है

---

१ योगभाष्य, पृ०४४८

२ ,, पृ०४५०

अथवा अब्रह्मचर्य है क्या ? दक्षसंहिता में आठ अब्रह्मचर्य बताए गए हैं, इन्हें ही आचार्यों ने भी स्वीकार किया है[1], ये इस प्रकार हैं-- स्मरण, कीर्तन, केलि प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिवृत्ति, ये आठ ही अब्रह्मचर्य हैं । इनके विषयों का ग्रहण न करना या पूर्णरूपेण परित्याग करना ही वस्तुत: ब्रह्मचर्य है ।

पंचम और अन्तिम यम है अपरिग्रह । अपरिग्रह शब्द का अर्थ है ग्रहण न करना, अर्थात् विषयों में विविध अर्जन रक्षणादि दोष देखकर उनका ग्रहण न करने की जो इच्छा उठती है उसे ही अपरिग्रह नामक यम कहते हैं । `विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शना स्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमा:` । इस प्रकार ये ही पांच ह यम हैं, जिनका चित्तशुद्धि के लिए साधक को सर्वप्रथम अनुष्ठान करना चाहिए शास्त्रों में इन पांच प्रकार के यम को सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है[1] । सार्वभौम का अर्थ है जो समस्त पृथ्वी में या समस्त देशों में ही अर्थात् जो सभी विषयों में सभी प्रकार के व्यभिचार से रहित अहिंसादि होते हैं, उन्हें ही वस्तुत: महाव्रत की संज्ञा दी गई है, परन्तु प्रत्येक अहिंसादि महाव्रत नहीं कहलाते, जब तक ये जाति, देश, काल और संयम इन चारों की परिधि से सर्वथा अनवच्छिन्न न हो ।

इन उपर्युक्त पंच यमों के अनुष्ठान से चित्त की क्या स्थिति होती है यह जानना आवश्यक है, परन्तु इस विषय पर किसी आचार्य ने प्रकाश नहीं डाला । ऐसा प्रतीत होता है कि अहिंसा के अनुष्ठान से चित्त का द्वेष रूप क्लेश या कषाय निवृत्त हो जाता है । अस्तेय और अपरिग्रह से चित्तवृत्तियां निरुद्ध होती हैं अर्थात् चित्त विविध विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता और ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय पर संयम होता है अर्थात्

---

१ `जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा: महाव्रतम्`

--योगसूत्र २।३१, पृ०४५१

विविध विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होता और ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय पर संयम होता है अर्थात् इस इन्द्रिय का निरोध होता है । संक्षेपत: ये यमों के फल हैं इनसे भिन्न इनके फलस्वरूप कई सिद्धियां प्राप्त होती हैं । जिनका द्वितीय पाद में विविध सूत्रों से उल्लेख हुआ है,उनका चित्त से विशेष संबंध न होने से यहां उल्लेख अपेक्षित नहीं ।

नियम

यम के पश्चात् नियम का अनुष्ठान करना चाहिए जिनके द्वारा चित्तादिवृत्तियों का निश्चयपूर्वक नियमन किया जाय वे ही नियम कहलाते हैं -- 'नियम्यन्ते नितरां (निश्चयेन) चित्तादिवृत्त्य: यैभिस्ते नियमा:' । नियम भी पांच ही होते हैं -- शौच,संतोष, तप,स्वाध्याय,ईश्वरप्रणिधान । यम के समान ही शौचादि का लक्षण भी सूत्रकार ने नहीं किया । उनका नाममात्र कथन किया है । नियमों में सर्वप्रथम शौच का प्रसंग है । शौच दो प्रकार के होते हैं -- बाह्य और आभ्यन्तर । 'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्'[1] अर्थात् मिट्टी,जल और गोमय आदि के द्वारा बने हुए पवित्र भोज्य पदार्थों से जो शौच होता है, वह बाह्य शौच कहा जाता है । 'आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्' और मैत्री करुणा(मुदिता और उपेक्षा की भावना द्वारा चित्त के मदमानादि मलों का प्रक्षालन करना ही आभ्यन्तर शौच है । शौच के फल का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-- 'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि'[2] अर्थात् शौच के अनुष्ठान से सत्त्वशुद्धि या चित्तसत्त्व बुद्धि विमल होती है । चित्त समाहित या एकाग्र होता है । चित्त के समाहित होने से इन्द्रियों पर संयम या जय प्राप्त होती है । तत्पश्चात् इन्द्रियजय से आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है ।

---

१ योगभाष्य, पृ०४५५

२ योगसूत्र २।४१,पृ०४७४

द्वितीय नियम है संतोष । संतोष वस्तुत: निश्चिंत भाव को कहते हैं अर्थात् इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होने पर उतने से ही निश्चिन्त रहना, तद्भिन्न की इच्छा न करना ही तुष्टि या संतोष है । 'संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा'[1] भाष्यकार ने ऐसा लक्षण किया है अर्थात् जो पदार्थ प्राप्त है उससे अधिक की कभी इच्छा न करना ही संतोष है ।

तृतीय नियम है तप । तप के विषय में क्रियायोग के प्रसंग में वर्णन हो चुका है । वही तप यहां नियम रूप से कहा गया है । उसी प्रकार स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का भी उसी स्थल पर वर्णन कर चुके हैं । यहां पर उस विषय में कुछ कहना पिष्टपेषण मात्र होगा । अत: जैसे मंत्रों का अनुष्ठान करने से विविध इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त होता है । अहिंसादि से वागिन्द्रिय पर, ब्रह्मचर्य से उपस्थेन्द्रिय इत्यादि पर चित्त का वशीकार होता है । ठीक उसी प्रकार नियमों शौचसंतोषादि के अनुष्ठान से भी विविध इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त होता है । साथही चित्त भी एकाग्र हो जाता है । ईश्वरप्रणिधान में इन्द्रियां तो विषयों से निवृत्त हो ही जाती हैं,साथ ही चित्त भी एक ही ईश्वर रूप विषय में एकाग्र हो जाता है । ईश्वरप्रणिधान का अनुष्ठान करने से अथवा ईश्वर में सर्वकर्मार्पण से चित्त संप्रज्ञात समाध्यवस्था को प्राप्त हो जाता है —'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'[2] तत्पश्चात् असंप्रज्ञात और मोक्ष सन्निकट होते हैं ।

आसन

अष्टांगयोग का तृतीय अंग है आसन । 'आस्य आस्ते वा अनेन इति आसनम्' आसन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा

१ योगभाष्य ,पृ०४५६

२ योगसूत्र, पृ०४७८

स्थिरता तथा सुख प्राप्त हो उसे ही आसन कहते हैं । सांख्यसूत्रकार और योग-सूत्रकार दोनों ही आचार्यों ने 'स्थिरसुखमासनम्'[1] इस सूत्र के से जिस अवस्थाविशेष में योगी को स्थिर सुख की प्राप्ति होती है, वही आसन है । अर्थात् आसन स्थिर सुख का साधन है ।

जहां तक आसन के प्रकारों का प्रश्न है, आसन वस्तुत: कई प्रकार के होते हैं । हठयोगप्रदीपिका में आसन के २४ प्रकारों की गणना हुई है -- सिद्धासन पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ही श्रेष्ठ हैं । व्यासभाष्य में भी इन आसनों की गणना हुई है-- पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन आदि । इनके विषय में यहां कथन करना कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि योगियों को ये सभी आसन मान्य नहीं हैं । भाष्यकार को स्थिरसुखासन ही मान्य है । अर्थात् योगियों को इस आसन का ही अनुष्ठान करना पर्याप्त है न कि अन्य का भी । भाष्यकार और अन्य टीकाकारों ने भी योगियों के लिए इसी आसन को उपयोगी बताया है । हठयोगप्रदीपिका में चार आसनों को श्रेष्ठ बताकर सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है । योगसूत्रकार ने आसन के साधन और फल का भी निरूपण किया है । फल के विषय में सिद्धियों के प्रसंग में विचार होगा । तथापि यहां इतना कहना आवश्यक ही है कि आसन सिद्ध होने पर या आसन पर जय प्राप्त होने से भी चित्त की विक्षिप्तता समाप्त हो जाती है अर्थात् सुख-दु:खादि, शीतोष्णादि द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी चित्त व्युत्थित या चंचल नहीं होता । अर्थात् सुख आने पर प्रसन्न और दु:ख आने पर दु:खी या चिन्तित नहीं हो सकता[2] । हां साधन के विषय में यहां विचार करना श्रेयस्कर है । सूत्र २।४७ में सूत्रकार कहते हैं-- 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' अर्थात् प्रयत्न को शिथिल करके और अनन्त पर समापत्ति या ध्यान लगाने से आसन सिद्ध होता है । प्रयत्न का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक चेष्टा । स्वाभाविक शारीरिक चेष्टाओं या क्रियाओं

१ योगसूत्र, पृ०४७६

२ 'ततो द्वन्द्वानभिघात:'

का उपरम करके अथवा स्थिर देव को अपनी समापत्ति का विषय बनाने पर आसन शीघ्र ही सिद्ध होता है । अत: आसन के ये ही कारण हैं, ये ही सभी योग दार्शनिकों को अभिमत भी हैं ।

प्राणायाम

आसन की सिद्धि के पश्चात् ही साधक प्राणायाम का अनुष्ठान करने में समर्थ हो सकता है, अर्थात् जिसने आसन का पूर्णरूपेण अनुष्ठान कर लिया हो वेही प्राणायाम करने के अधिकारी हैं । प्राणायाम आसन के बाद का ही सोपान है, परन्तु इस विषय में सभी आचार्यों का मत भिन्न-भिन्न है । कुछ विज्ञानभिक्षु आदि प्राणायाम को आसन की पश्चाद्भावी ही मानते हैं अर्थात् आसन के पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाने पर ही साधक प्राणायाम का अनुष्ठान कर सकता है । अत: उन्होंने 'सति आसने' का 'आसनजये सति' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु इनसे भिन्न कुछ वाचस्पति आदि आसनजय को नहीं वरन् स्थिर या दृढ़ रूप को स्वीकार करते हैं । आसन पर पूर्ण जय प्राप्त करना आवश्यक नहीं । प्रश्न यह है कि प्राणायाम है क्या ? इसका लक्षण करते हुए योगसूत्रकार कहते हैं—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:'[1] अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति में जो रोध या विच्छेद होता है उसे ही प्राणायाम कहते हैं । श्वास का अर्थ है बाह्य वायु का अन्दर प्रवेश और प्रश्वास का अर्थ है अन्तर्वर्ती वायु का बहिर्निष्कासन । इन द्विविध श्वास-प्रश्वास वायुओं का विच्छिन्न या यह कहिएकि अभाव ही प्राणायाम का तात्पर्यार्थ है । योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु ने सूत्र के गतिविच्छेद पद का भिन्न ही अर्थ किया है । गति का अर्थ स्वाभाविक श्वास और प्रश्वास का विच्छेद या प्रतिषेध है । अत: उनके अनुसार प्राणायाम का अर्थ प्रतिषेधमात्र से है । परन्तु उनका यह लक्षण

१ योगसूत्र २।४९, पृ०४८३

अतिव्याप्ति दोष से दूषित प्रतीत होता है, क्योंकि इनका यह लक्षण उन रोगियों में अतिव्याप्त हो जाता है जिनकी श्वास कभी कभी कुछ कारणों से अवरुद्ध हो जाया करती है । क्योंकि उस पक्ष में भी श्वासादि की स्वाभाविक गति तो विच्छिन्न हो ही जाती है । अतः इस दोष से मुक्ति प्राप्ति के लिए उन्हें गतिविच्छेद शब्द का वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए जो आचार्य व्यासादि भाष्यकारों को मान्य है । इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने प्राणायाम का `रेचकपूरककुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्य-लक्षणमेतदिति[1]' तादृश लक्षण किया है ।

सांख्यसूत्रकार ने प्राणायाम को चित्तवृत्ति के निरोध या ज्ञानप्राप्ति का उपाय कहा है—`निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्[2]' इस सूत्र से वे कहते हैं कि प्राण का निरोध प्रच्छर्दन और विधारण से ही होता है । इसी सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने रेचक पूरक और कुम्भक इन त्रिविध प्राणायामों की गणना की है । परन्तु योगसूत्र में प्रतिपादित प्राणायाम के लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणायाम दो प्रकार के ही होते हैं ।

प्राणायाम के प्रकार

प्राणायाम के उपर्युक्त लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणायाम दो ही प्रकार के होते हैं, एक में श्वास का विच्छेद और दूसरे में प्रश्वास का विच्छेद होता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । योगसूत्रकार ने ही प्राणायाम के तीन प्रकार स्वीकार करने के पश्चात् इन तीनों से परे एक अन्य प्राणायाम माना है । परन्तु इनसे भिन्न पुराणों में अधिकतर त्रिविध प्राणायामों का ही उल्लेख हुआ है —रेचक, पूरक और

---

१ योगसूत्रभाष्यविवरण, पृ० २६३

२ सांख्यसूत्र ३।३३, पृ० १५१

कुम्भक । जीवन्मुक्तिविवेक में श्री विद्यारण्य जी ने रेचक का प्रतिपादन करने के पश्चात् कुम्भक के द्विविध आन्तर और बहि: प्रकारों का उल्लेख किया है । अर्थात् वे इन तीनों प्राणायामों को स्वीकार करते हैं । इन्हीं के अनुष्ठान के पश्चात् एक चतुर्थ प्राणायाम होता है जिसे केवल कुम्भक कहते हैं । विद्यारण्य का यह विचार आचार्य पतंजलि के विचार के समान ही है । पतंजलि भी चार ही प्राणायाम मानते हैं । यद्यपि उन्होंने इन्हें रेचकादि शब्दों से सम्बोधित न किया । वे बाह्यवृत्ति, आन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति रूप से तीन और केवल कुम्भक नामक चतुर्थ प्राणायाम मानते हैं । आचार्य ने रेचकादि शब्दों के स्थान पर श्वास और प्रश्वास का प्रयोग किया और सूत्र १।३४ में प्रच्छर्दन और विधारण शब्दों का प्रयोग किया है ।

रेचकादि

रेचकादि के स्वरूप को योगसूत्रकार ने एक ही सूत्र में स्पष्ट न किया है । अत: यहां उन्हें साथ ही लेना उपयुक्त है । जहां तक रेचकादि के स्वरूप का प्रश्न है, भाष्यकार व्यास ने लिखा है--'यत्र प्रश्वास-पूर्वको गत्यभाव: स बाह्य: । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभाव: स आभ्यन्तर: । तृतीय: स्तम्भवृत्तिर्यो भयाभाव: सकृत्प्रयत्नाद्भवति[1] इस प्रकार बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति ये तीन प्राणायाम हैं । इनका उल्लेख योगसूत्र २।५० में किया गया --'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:' अर्थात् बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति ये त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या के अभ्यास द्वारा परिवर्धित होते हुए दीर्घ सूक्ष्म हो जाते हैं । जहां तक इन त्रिविध प्राणायामों के देश काल और संख्या से परिदृष्ट या परिवर्धित होने की बात है, भाष्यकार ने इसे सम्यक्रूपेण स्पष्ट किया है । जब प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव होता है, वह बाह्य या रेचक प्राणायाम कहलाता है । प्रश्वास अन्तर्वर्ती वायु के बाहर निकलने को कहते हैं अर्थात् जब

---

१ योगभाष्य, पृ०४८५

वायु बाहर ही स्थित रहे या वायु का ग्रहण न हो इस प्रकार का स्वाभाविक प्राणों का रोध और साथ ही साथ चित्त का बन्धन भी यह रेचक प्राणायाम कहलाता है भास्वतीकार ने तादृश लक्षण किया--'प्रश्वासपूर्वकः चित्तावधान-प्रयत्नसहितरेचनपूर्वको गत्यभावः..... नायं रेचनमात्रः किन्तु रेचकान्तनिरोधः।'[१]

इनसे भिन्न जब प्रश्वासपूर्वक प्राण की गति का अभाव होता है तब पूरक प्राणायाम कहलाता है। श्वास का अर्थ है --'बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः' अर्थात् बाहर की वायु का अन्दर प्रवेश ही श्वास है। और इन दोनों से भिन्न तीसरा अर्थात् कुम्भक प्राणायाम होता है, जब एक ही बार के प्रयत्न से बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के वायु अर्थात् श्वास और प्रश्वास इन दोनों ही स्वाभाविक प्राण की गति का अभाव हो जाता है-- वह उभयाभाव या स्तम्भवृत्ति रूप कुम्भक प्राणायाम होता है। अतः यह स्पष्ट है कि ये प्राणायाम एक बार के प्रयत्न से ही सम्भव हैं अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं है।

योगसूत्रकार एक अन्य केवलकुम्भक नामक प्राणायाम मानते हैं। यह प्राणायाम अनेक बार के प्रयत्नों का परिणाम है। सूत्रकार कहते हैं--'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' अर्थात् बाह्य या रेचक और आभ्यन्तर या पूरक इन विविध प्राणायामों का भी अतिक्रमण करने वाला प्राणायाम चतुर्थ केवल कुम्भक कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि चतुर्थ केवल कुम्भक और तृतीय कुम्भक में भेद क्या है। भिन्नता केवल इतनी ही है कि कुम्भक प्राणायाम एक बार के प्रयत्न से ही साध्य है, परन्तु केवल कुम्भक अनेक बार के प्रयत्नों का विषय है। साथ ही कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्राणायामों की अपेक्षा नहीं रहती है, परन्तु केवल कुम्भक

---

१ भास्वती, पृ० २६९

में इनका भी अतिक्रमण हो जाता है । अत: ये चार ही प्राणायाम हैं जिसके अनुष्ठान से क्लेशोंका क्षय होता है । प्राणायामों के फल का सिद्धियों के प्रसंग में उल्लेख होगा । इन चतुर्विध प्राणायामों के अनुष्ठान का फल है-- अज्ञान का निराकरण । `तत: क्षीयते प्रकाशवरणम्` अर्थात् प्रकाश या ज्ञान के आवरण रूप अज्ञान या अविद्यादि क्लेशोंका प्राणायाम से ही क्षय होता है । इस प्रकार अविद्यादि क्लेशों के क्षीण होने पर चित्त विवेकज्ञानोन्मुख अथवा समाधि के योग्य होता है ।

प्रत्याहार

प्रत्याहार भी अष्टांगयोग का एक अंगमात्र है । प्रत्याहार जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है-- इन्द्रियाणि विषयेभ्य: प्रतीयम् , प आह्रियन्ते अस्मिन् इति प्रत्याहार:` इन्द्रियों के इन्द्रियप्रवर्तन रूप व्यापार के निरोध को कहते हैं[1] । अर्थात् जब इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करने का कार्य समाप्त कर दें उस अवस्थाविशेष को ही प्रत्याहार कहते हैं । इसका लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं--`स्वविषया-संप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:` अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के प्रति प्रवर्तन न होने पर अर्थात् बाह्य पदार्थों से इन्द्रियों का सम्पर्क या सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर जब इन्द्रियां चित्त के स्वरूप के समान रूप को प्राप्त हो जाती है, इन्द्रियों की तादृश अवस्था को ही प्रत्याहार कहते हैं, परन्तु सूत्र में इव शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि वस्तुत: इन्द्रियां चित्त के समान अवस्था को प्राप्त नहीं होती, परन्तु ऐसा आभास या प्रतीति होती है । इन्द्रियां चित्त के समान निरुद्ध होती है अर्थात् इनका विषय प्रकाशरूप कार्य समाप्त हो जाता है अर्थात् प्रत्याहार से

---

१ `प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्तत: स्मृत:`

--मार्कण्डेयपुराण, प्रथम खण्ड, अध्याय३१, श्लोक ४२

इन्द्रियों पर भी जय प्राप्त हो जाती है' अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं । ऐसा आचार्य व्यास का मत है । इसी मत का विज्ञानभिक्षु ने भी समर्थन किया है । सांख्ययोग दर्शनों में प्रत्याहार के विशेष प्रकार नहीं बताए गए ।

अष्टांगयोगों में प्रत्याहार रूप साधन का अनुष्ठान करने पर इन्द्रियजय प्राप्त होता है । इन्द्रियजय का अर्थ तो वस्तुत: इन्द्रियों पर जय प्राप्त करने से है अर्थात् इन्द्रियों की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति पर निरोध करना या जय प्राप्त करना ही इन्द्रियजयहै ।' ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' अत: इन्द्रियों को वश में करना ही + इन्द्रियवशीकारहै । इस सूत्र का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने विविध मतों का उल्लेख किया है सभी ने इन्द्रिय के वशीकार का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है । कुछ आचार्य शब्दादि विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति का अभाव या अनासक्ति को ही इन्द्रियजय कहते हैं--

'शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति कैचित्'[1]

कुछ अन्य आचार्य इन्द्रियजय का अर्थ इन्द्रियों की विषयों की ओर स्वेच्छया प्रवृत्ति से लेतेहैं ।' शब्दादिसंप्रयोग: स्वेच्छयेन्यै'[2] अर्थात् इन्द्रियों का विषयों की ओर स्वत: प्रवृत्त न होना । इनसे भिन्न कुछ आचार्य इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिविषयों का राग द्वेष या सुखदु:खादि से रहित ज्ञान को ही इन्द्रिय कहते हैं--'रागद्वेषाभिन्ने सुखदु:खशून्यं शब्दादिज्ञान-मिन्द्रियजय इति कैचित्'[3]

इनसे भिन्न आचार्य जैगीषव्य ने 'चित्तैकाग्र्यादप्रति-पत्तिरेवेति जैगीषव्य:' चित्त की एकाग्रता होने पर इन्द्रियों का भी एकाग्र या

---

१ योगभाष्य, पृ०४९९

२ ,, पृ०४९९

३ ,, पृ०५००

इन्द्रियों की चित्ताधीन प्रवृत्ति ही इन्द्रियजय है । इन्द्रियजय के इसी रूप को भाष्यकार ने उचित माना है । अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने के साथ-साथ इन्द्रियों का निरोध होना ही वास्तविक इन्द्रियवशीकार है ।

धारणा

प्रत्याहार के पश्चात् धारणा का ही प्रसंग है । इसका लक्षण पतंजलि ने तृतीय पाद के प्रथम श्लोक में ही किया है--'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'[१] अर्थात् चित्त का किसी देशविशेष के साथ सम्बन्ध या बद्ध होना ही धारणा है । अर्थात् जब चित्त किसी स्थानविशेष पर स्थाग्र हो जाय और कुछ काल तक स्थित रहे उसे ही धारणा कहते हैं । सूत्र के देश शब्द को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं--'नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्निज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये' मेरुदण्ड के ६ चक्रों में, हृदयकमल में मस्तकस्थ ज्योति में नाक या जिह्वा के अग्र भाग में और साथ ही बाह्यस्थ विषय में जो चित्त की तदाकारा वृत्ति या ज्ञानात्मक स्थिति होती है, उसे ही धारणा कहते हैं । भोज ने चित्त की अन्य सभी विषयों के त्यागपूर्वक जो विषयविशेष में स्थिरीकरण को ही धारणा कहा है । अतः धारणा चित्त के स्थैर्य को कहते हैं । प्रत्याहार के समान धारणा को भी याज्ञवल्क्य[२] ने पांच प्रकारकी माना है , परन्तु अन्य सांख्य योगाचार्य किसी ने भी इनके प्रकारों पर किंचित् प्रकाश न डाला ।

ध्यान

धारणा के सिद्ध हो जाने पर ध्यान रूप योगांग का भी अनुष्ठान किया जाता है , अतः धारणा के पश्चात् ही ध्यान का भी वर्णन करना चाहिए । सांख्यसूत्रकार ने ध्यान की सिद्धि में उपायरूप से

---

१ योगसूत्र ३।१, पृ०५०४

२ "धारणा पंचधा प्रोक्ता" , अध्याय १, योगियाज्ञवल्क्य , पृ०१०

धारणा का उल्लेख किया है --'धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धि:'[1] अर्थात् धारणा, आसन और स्वकर्म से तत् अर्थात् ध्यान की सिद्धि होती है, क्योंकि इस सूत्र के पूर्व दो सूत्रों में ध्यान का ही प्रसंग है । अत: अब ध्यान का वर्णन होना चाहिए । ध्यान का लक्षण करते हुए पतंजलि ने लिखा है--'तत्प्रत्ययैकतानताध्यानम्' अर्थात् प्रत्यय या ज्ञान की एकतानता या प्रवाह ही ध्यान है । जिस विषय से चित्त का सम्बन्ध हुआ है उसी विषय के तदाकार की वृत्ति या तदाकाराकारित वृत्ति का प्रवाह ही ध्यान है, अर्थात् तद्विषयक सदृशज्ञानों का प्रवाह ही ध्यान है । यह ध्यान ही अष्टांगयोग का सप्तम अंग है । ध्यान का लक्षण करते हुए सांख्यसूत्रकार ने कहा है --'रागोपहतिर्ध्यानम्'[2] अर्थात् राग का क्षय ही ध्यान है । इस सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान का प्रतिबन्धक जो राग नामक क्लेश है, उस क्लेश के क्षय का हेतु होने से क्षय को ही ध्यान कहा गया । (कार्यकारणाभेदविवक्षा से) ध्यान रूप यौगांग राग के क्षय या नाश का कारण या साधन है । इनसे भिन्न अनिरुद्ध ने ध्यान का अर्थ चित्त के स्थैर्य से लिया है । वे कहते हैं--'रागाङ्गयोगुणाच्चलितत्वम् तदुपहतिर्निश्चलितत्वं ध्यानम्'[3] अर्थात् चित्त के राग रूप क्लेश के चलितत्व को दूर करके निश्चल अर्थात् स्थिरता को प्राप्त होना ही ध्यान है । ध्यान की सिद्धि के उपाय या साधन रूप से सूत्रकार ने वृत्तिनिरोध[4]

---

१ सांख्यसूत्र ३।३२, पृ०१५१

२ ,, ३।३०, पृ०१५०

३ अनिरुद्धवृत्ति ३।३०, पृ०६७०

४ सांख्यसूत्र ३।३१, पृ०१५१

और धारणादि[१] का उल्लेख किया है अर्थात् चित्त की पंच विशिष्ट वृत्तियों के निरोध होने पर ही ध्यान सम्भव है ।

समाधि

समाधि अष्टांगयोग का अंतिम और महत्वपूर्ण अंग है[२] । समाधि शब्द की व्युत्पत्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि मन का निश्चल अर्थात् जिस अवस्था में मन सभी विक्षेपों पर जय प्राप्त कर लेता है अथवा सभी विक्षेप निरुद्ध हो जाते हैं । मन की उस स्थिर या निश्चलावस्था को ही समाधि कहते हैं । वस्तुतः तो ध्यान अवस्था में भी मन निश्चल ही रहता है, परन्तु समाधि परिनिष्ठित ध्यान या ध्यान की चरमावस्था है । समाधि का लक्षण करते हुए योगसूत्रकार ने लिखा है--`तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः`[३] अर्थात् ध्यान ही जब पदार्थ या ध्येय वस्तु के आकार का ज्ञान कराता है, ध्यान रूपया ज्ञान रूप को त्याग देता है । ध्यान की इस अवस्था विशेष को ही समाधि कहते हैं । ध्यान रूप अंकालिक चित्त में त्रिपुटी अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों ही विद्यमान रहते हैं । यह ज्ञान होता रहता है कि यह पदार्थ है और मैं इसका ध्यान कर रहा हूं परन्तु समाधि काल में स्वयं भी अपना अस्तित्व भूलकर अर्थ या ध्येय विषयमात्र में ही लीन हो जाते हैं । यद्यपि उस समय भी ध्यान की स्थिति रहती है, परन्तु उसकी शून्यता या अभाव सा प्रतीत होता है । इस अंग समाधि से सभी योगांगों का अनुष्ठान करने पर संप्रज्ञात

---

१ सांख्यसूत्र ३।३२, पृ०१५१

२ `सम्यङ् आधीयते स्वाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः`
-- भोजवृत्ति, पृ०४०

३ योगसूत्र ३।३, पृ०५०७

और असंप्रज्ञात रूप द्विविध योगों की प्राप्ति होती है । जिनका उल्लेख सिद्धियों के प्रसंग में होगा ।

योगांगों के अंतिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान, और समाधि इन को आचार्यों ने त्रय संयम कहा है अर्थात् संयम इनकी सामूहिक संज्ञा है । जब किसी एक ही विषय पर क्रमशः इन तीनों का अनुष्ठान हो तब ये साधन संयम कहे जाते हैं । भिन्न-भिन्न विषयक होने पर नहीं । सूत्र ३।४ में सूत्रकार ने एक शब्द से इनकी एकविषयता स्पष्ट की है --`त्रयमेकत्र संयमः` इस प्रकार उपर्युक्त अष्टांगयोग का निरूपण मन्द या अधम अधिकारियों की दृष्टि से किया गया ।

इस प्रकार इन उपर्युक्त उपायों से चित्तवृत्तियों का चित्त में लय होता है, तत्पश्चात् ही प्रलयकाल में चित्त स्वकारण प्रकृति में लीन होता है और यही मोक्ष का कारण है ।` गुणानां प्रतिप्रसवः स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ,` इस सूत्र के अनुसार गुणों का स्वकारण में लीन हो जाना और पुरुष का स्वरूप से स्थित हो जाना ही कैवल्य है । इस प्रकार अष्टांगयोग भी कैवल्य प्राप्ति में सहायक है ।

(ग) स्वकर्म

उपर्युक्त इन सभी साधनों के अतिरिक्त सांख्यसूत्रकार ने स्वकर्म का भी उल्लेख किया है । स्वकर्म से चित्तवृत्तियों का निरोध या ध्यान की सिद्धि होती है[१] । स्वकर्म का उल्लेख किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया । सूत्रकार ने सूत्र ३।३५ में लिखा है-- स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् अर्थात् स्वकर्म से तात्पर्य उन कर्मों के अनुष्ठान से है जो आश्रम के अनुरूप ही शास्त्रों में प्रतिपादित है । अतः साधक जिस आश्रम का है उसी आश्रमानुसार शास्त्रों में प्रतिपादित कर्मों के अन्तर्गत यमनियमादि अष्टांगयोग का भी अन्तर्भाव किया है ।

---

१ `धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः` --सांख्यसूत्र ३।३२, पृ० १५१

अतः स्वकर्म उपयुक्त साधनों से भिन्न कोई साधन नहीं, वरन् यमादिही है ।

निरोधकालिक चित्तविक्षेप और उनका प्रशमन

(क) चित्तविक्षेप क्या है?:-

विक्षेप शब्द वि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से निष्पन्न हुआ है । इसमें घञ् प्रत्यय लगने पर अर्थ हुआ मन को तोड़ने या मोड़ने वाला। अर्थात् जो मन को किसी-न-किसी विषय से हटाकर अन्य विषय पर ले जाय अर्थात् मन या चित्त को किसी एक ही विषय पर न स्थिर रहने दे ऐसे पदार्थों या तत्वों को विक्षेप या चित्तविक्षेप कहते हैं । अतः चित्तविक्षेप का अर्थ है चित्त की एकाग्रता से विच्छिन्न करना यही विक्षेपों का कार्य है । आचार्य भोजदेव ने ऐसा ही लिखा है --`तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चितं विक्षिप्यत इत्यर्थः` अन्य किसी आचार्य ने इन्हें सुगम जानकर स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया और यह उपयुक्त ही है । योगचन्द्रिकाकार ने भी विक्षेपों का तादृश अर्थ ही किया है[1] । वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु ने भी इनका समर्थन किया है ।

(ख) चित्तविक्षेप के प्रकार

जहां तक चित्त के विक्षेपों का प्रश्न है, इनकी गणना करना सर्वथा असम्भव है, तथापि इनके प्राधान्य के आधार पर आचार्यों ने इन्हें गिनाने का प्रयास किया है । योगसूत्रों में कुलमिलाकर १४ विक्षेप गिनाए गए हैं[2], वे इस प्रकार हैं-- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व । इन विक्षेपों की पतंजलि ने व्याख्या करना आवश्यक न समझा । हां, भाष्यकारों और टीकाकारों ने

---

१ ये चित्तं योगादिक्षिपन्ति ते विक्षेपाः योगस्यान्तराया विघ्ना इति`, पृ० ११

२`व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः`। १।३०, पृ० १६५ ।

इन्हें स्पष्ट किया है ।

व्याधि

आचार्य व्यास ने व्याधि को इस प्रकार स्पष्ट किया है — 'तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्' अर्थात् धातु की विषमता, उस की विषमता और करणों की विषमता को व्याधि कहते हैं । धातु के अन्तर्गत वात, पित्त, आदि का अंतर्भाव हो जाता है । अत: वातादि का न्यूनाधिक्य ही धातु वैषम्य है और रस का तात्पर्य सार गत जलादि से बने रस से । अर्थात् इन अन्न जलादि का सम्यक्प्रकारेण परिपाक न होने पर उस वैषम्य और इससे भिन्न करण अर्थात् इन्द्रियों की विषमता ही करणवैषम्य है । अत: श्रोत्रादि दश इन्द्रियों में से किसी की शक्ति क्षीण हो और किसी की तीव्र इस प्रकार का न्यूनाधिक्य ही करणवैषम्य है । अर्थात् इन धातु आदि के वैषम्य को ही व्यास व्याधि कहते हैं । इनसे भिन्न आचार्य भोज ने 'तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादि:' अर्थात् धातु के वैषम्य के जो ज्वरादि परिणाम होते हैं उन्हें ही व्याधि कहते हैं, अर्थात् धातु का वैषम्य स्वयं ही व्याधि नहीं । वरन् उस वैषम्य के फलस्वरूप जो भी ज्वर, पीतादि रोग होते हैं, वे ही व्याधि हैं । आचार्य भोज ने धातु मात्र को व्याधि के कारण रूप से स्वीकार किया न कि रस और करण को भी परन्तु अन्य आचार्यों विज्ञानभिक्षु आदि ने भी इस करण के वैषम्य को भी व्याधि रूप से स्वीकार किया है और यही उपयुक्त भी प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार धातु के वैषम्य होने से ज्वरादि कष्टदायक परिणाम होते हैं, ठीक उसी प्रकार इस रस और करण की विषमता से भी अधिक कष्टदायक परिणाम या रोग होते हैं । अत: उन्हें भी व्याधि कहना उपयुक्त ही है । योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु ने लिखा है 'शरीरधारकत्वात् धातूनां वातकफपित्तानां रसानामाहरणपरिणामानां करणानां च ज्ञानक्रियानवादीनां च वैषम्यं विसदृशभावो

व्याधि:[१] ।

व्याधि या रोग ही प्राय: चित्त को कार्य करने या किसी कार्य में स्थित रहने में विघ्न डालते हैं । अत: व्याधि को चित्तविक्षेप कहा गया है ।

स्त्यान

स्त्यान का अर्थ है अकर्मण्यता अर्थात् कार्य करने की असमर्थता या यह कहिए आलस्य ही स्त्यान रूप विक्षेप है[२] । चित्त की किसी भी कार्य करनेकी इच्छा होने पर भी शरीर का अलस होना या चित्त की उस कार्य की ओर प्रवृत्ति न होना ही स्त्यान है । इस प्रकार स्त्यान चित्त को समाधि आदि करने में भी विघ्न डालता है । अर्थात् चित्त को एकाग्र या समाहित नहीं होने देता ,अत: इसे भी चित्त के प्रमुख विक्षेपों में रखा गया है ।

संशय

संशय चित्त की दोलायमाना स्थिति है,इसका विपर्यय रूप चित्तवृत्ति के प्रसंग में कुछ विचार हो चुका है । अर्थात् किसी पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान न होना या विविध पदार्थों में सन्देह बना रहने से एक पदार्थ का अवधारण न हो सकना ही संशय है । अत: 'संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति' अत: एक ही पदार्थ का उभयकोटि का ज्ञान संशय

---

१ योगवार्तिक १।३०,पृ०६०

२ 'स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य'

—योगभाष्य, पृ०१६७ ।

ज्ञान है । संशय बना रहने पर अर्थात् 'योग साध्यहै अथवा असाध्य' इस प्रकार का संशय होने पर चित्त कदापि योग के साधनभूत विविध अंगों के अनुष्ठान को प्रस्तुत न होगा । अत: संशय को भी चित्त की समाधि आदि में बाधक होने से चित्तविक्षेप है ।

प्रमाद

प्रमाद भी एक प्रकार का आलस्य ही है । भाष्यकार ने प्रमाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है--' प्रमाद: समाधिसाधनानामभावनम्' अर्थात् समाधि के साधनों का अनुसंधान न करना ही प्रमाद है या समाधि के साधनों के प्रति उदासीनता का भाव रखना इसे ही प्रमाद कहते हैं । औदासीन्य ही चित्त की अप्रवृत्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण है । अत: प्रमाद भी चित्तविक्षेप है ।

आलस्य

आलस्य का अर्थ आचार्यों ने चित्त की अप्रवृत्ति से लिया है । शरीर के अथवा चित्त के गुरु या भारी होने से चित्त का न प्रवृत्त होना आलस्य है । गुरुता तमोगुण का धर्म है अर्थात् तम का आधिक्य ही आलस्य का कारण है । आलस्य के कारण समाधि आदि विषयों में चित्त के प्रवृत्त न होने से आलस्य चित्त का अन्तराय या विघ्न कहा जाता है ।

अविरति

अविरति तृष्णा को कहते हैं चित्त की सांसारिक विषयों से सम्बन्ध होने पर तद्विषयों की ओर तृष्णा का भाव होना या उनकी प्राप्ति की इच्छा ही अविरति है । आचार्यों ने इसका लक्षण करते हुए 'अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्ध:' 'गर्ध' शब्द का

प्रयोग किया है । गर्द का अर्थ आचार्य वामन आप्टे ने इच्छा उत्कण्ठा या लालच से किया है । यही अमरकोषकार का भी मत है । चित्त में लालच या उत्कण्ठा होने पर अर्थात् चित्त की सांसारिक विषयों में अनुरक्ति होने से चित्त कदापि समाधि की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि समाधि तो चित्त की विशिष्ट वृत्तियों का निरोध होने पर ही सम्भव है । चित्त में लिप्सा या इच्छा होने पर चित्त निरुद्ध नहीं हो सकता ।

भ्रान्तिदर्शन

सप्तमयोगविघ्न है भ्रान्तिदर्शन । भ्रान्तिदर्शन का अर्थ है विपर्ययज्ञान । अर्थात् किसी भी पदार्थ का विपरीत ज्ञान या उसमें तद्भिन्न का ज्ञान । अत: योग साधनों यमनियमादि में असाधन होने का विचार रखना ही भ्रान्तिदर्शन है । साधनों को योग का असाधन मानने पर कोई भी व्यक्ति उनके विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकता अर्थात् चित्त की योगांगों में प्रवृत्ति न होने पर समाधि और योग प्राप्त न होगा । इस प्रकार भ्रान्तिदर्शन भी योगप्राप्ति में बाधक है ।

अलब्धभूमिकत्व

अलब्धभूमिकत्व का अर्थ है भूमि को न प्राप्त करना अर्थात् समाधि की विशिष्ट मधुमती, मधुप्रतीका आदि भूमियों को प्राप्त न कर सकना भी एक प्रकार का अन्तराय है । समाधि की इन भूमियों का छठें अध्याय में उल्लेख किया जायगा । किन्हीं अन्य कारणों से समाधि न प्राप्त कर सकना परिणामत: योगप्राप्ति में भी असमर्थ होना ही अलब्धभूमिकत्व है ।

अनवस्थितत्व

अनवस्थितत्व का अर्थ आचार्यों ने चित्त के अस्थैर्य से लिया है--`अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा` अर्थात् चित्त के समाधि की जो भूमि प्राप्त हुई है उस भूमि में भी उसका स्थित न रहना या एकाग्र न होना ही अनवस्थितत्व नामक दोष या अन्तराय है । संक्षेप में आचार्य ने ये नव विघ्न या चित्तविक्षेप ही स्वीकार किया है । इनसे भिन्न पांच विघ्न और हैं जिन्हें पतंजलि ने इन नव विघ्नों का साथी या सहायक माना है, वे हैं-- `दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेप-सह्भुवः`, दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ।

दुःख

दुःख कष्ट को कहते हैं । दुःख को आचार्य भोज ने बाधना रूप कहा है[1] । व्यास ने भी ऐसा ही लक्षण किया है --`येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्`[2] वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में दुःख को प्रतिकूलवेदनीय शब्द से स्पष्ट किया है। अर्थात् जिससे पीड़ित होकर प्राणी इस प्रतिकूलवेदनीय दुःख की निवृत्ति के लिए उपाय कर करते हैं । वही दुःख है । दुःख तीन प्रकार के होते हैं-- आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक । त्रिविध दुःखों का लक्षण सांख्यसूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु इस प्रकार करते हैं --

`तत्रात्मानं स्वसंघातमधिकृत्य प्रवृत्तमित्याध्यात्मिकं शरीरं मानसं च ।`

---

१ `तत्र दुःखं चित्तस्य रजसः परिणामो बाधनालक्षणः, यद्बाधात्प्राणिनः तदुपघाताय प्रवर्तन्ते` --भोजवृत्ति १।३१, पृ० १३

२ योगभाष्य, पृ० २७१

अर्थात् जो दु:ख स्वयं अपने शरीर या मन को लेकर प्रवृत्त होता है, वह आध्यात्मिक दु:ख है। ये भी द्विविध हैं -- शारीरिक और मानसिक। शारीरिक दु:ख शरीर से सम्बन्धित ज्वरादि हैं और मानसिक दु:ख मन से सम्बद्ध कामक्रोधादि से उत्पन्न दु:ख हैं।

आधिभौतिक दु:ख प्राणियों के अधिकार से प्रवृत्त होता है--'भूतानि प्राणिनोऽधिकृत्य प्रवृत्तमित्याधिभौतिकम्' प्राणियों से तात्पर्य स्वभिन्न प्राणियों से है अर्थात् अपने से भिन्न चोर व्याघ्र और अन्य पशुओं से जो दु:ख होता है, उसे आधिभौतिक दु:ख कहते हैं।

तीसरा और अन्तिम है आधिदैविक दु:ख। जो दु:ख देवताओं के कारण होते हैं उसे आधिदैविक दु:ख कहते हैं। 'देवानग्निवाय्वादीनधिकृत्य प्रवृत्तमित्याधिदैविकम्' जैसे इन्द्रादि देवों द्वारा वज्रपात अनावृष्टि आदि से होने वाले दु:ख हैं। इस प्रकार त्रिविध दु:ख भी समाधि आदि में बाधक होते हैं।

दौर्मनस्य

दौर्मनस्य चित्त के दौम को कहते हैं। अभिलषित पदार्थ विषयक इच्छा की पूर्ति न होने पर अथवा व्याघात होने पर मन में जो दौम होता है उसे ही दौर्मनस्य कहते हैं-- दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतस: दौम्य:[1] आचार्य भोज ने इससे भिन्न अर्थ किया है--'दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरै: कारणैर्मनसो दु:खत्वम्' अर्थात् बाह्य अथवा आन्तरिक कारणों से मन का विक्षोभयुक्त होना ही दौर्मनस्य कहलाता है।

---

१ व्यासभाष्य, पृ० १७२

वह
अंगमेजयत्व

जिससे शरीर के अंगविशेष में या सम्पूर्ण शरीर में कम्पन हो उसे अंगमेजयत्व कहते हैं--'अंगमेजयत्वं सर्वांगिणवेपथुः'[1] यह भी समाधि के साधनभूत आसन में बाधक हैं अतः यह भी चित्तविक्षेपों का सहकारी ही है ।

श्वास

श्वास पर प्राणायाम के प्रसंग में विचार हो चुका है, जो बाह्य वायु का आचमन या नासिका के द्वारा अन्दर ले जाता है । उसे ही श्वास कहते हैं । यह प्राणायाम का बाधक है अतः चित्तविक्षेप है ।

प्रश्वास

जो अन्दर की वायु को बाहर निकालता है, उसे प्रश्वास कहते हैं । प्राणायाम में प्रश्वास पर भी संयम करना पड़ता है । अतः ये भी चित्तविक्षेप है । इस प्रकार ये पांच भी चित्त को समाहित करने में या चित्तवृत्तियों के निरोध में विघ्न डालते हैं । अतः मुख्यतः ये बीस ही चित्तविक्षेप हैं ।

(ग) चित्तविक्षेपों के प्रशमन के उपाय

चित्तवृत्तियों चित्तविक्षेपों के प्रशमन के विविध उपायों का आचार्य पतंजलि ने प्रथमपाद में ही वर्णन किया है और उन्हें चित्तपरिकर्म के उपाय कहा है । चित्त का परिकर्म क्या है-- यह तो किसी आचार्य ने स्पष्ट

---

१ मोक्षवृत्ति, पृ० १३

नहीं किया । हां आचार्य भोज ने परिकर्म के बाह्य कर्म कहा है `परिकर्म चेतत् बाह्यं कर्म` ।

चित्तविक्षेपों के एक प्रमुख उपाय को बताते हुए पतंजलि कहते हैं--`तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:` अर्थात् तत् या विक्षेपों के प्रतिषेध या प्रशमन के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए । एक तत्त्व से आचार्य का क्या अभिप्राय है ? इस विषय में विभिन्न भाष्यकार और टीकाकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं । वाचस्पति मिश्र[१] ने एकतत्त्व से ईश्वर का ग्रहण किया है, क्योंकि विक्षेपों के पूर्व ईश्वर का ही प्रसंग है । अत: उनके अनुसार एकमात्र तत्त्व ईश्वर का अभ्यास अर्थात् चित्त में पुन: पुन: ध्यान करने से विक्षेपों का प्रशमन हो जाता है । अत: ईश्वर का ही अभ्यास करना चाहिए, परन्तु इनके विपरीत विज्ञानभिक्षु[२] ने एकतत्त्व शब्द का अर्थ स्थूलादि किसी तत्त्व से लिया है । अत: उनके मत से पंच महाभूतों या उनके परिणामभूत विभिन्न स्थूल तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व का अभ्यास करने से चित्त विक्षेप शान्त हो जाते हैं, परन्तु विज्ञानभिक्षु द्वारा मान्य एक स्थूल तत्त्व रूप अर्थ यहां उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । यहां स्थूल तत्त्वों का कोई प्रसंग ही नहीं है । साथ ही जिस विषय का उपक्रम में प्रसंग हो उसी का उपसंहार में भी मानना चाहिए और उसे ही विषय रूप से स्वीकार करना चाहिए । इस पाद में विक्षेपसूत्रों के पूर्व ईश्वर प्रणिधान का ही प्रसंग है और ईश्वरप्रणिधान से ही अन्तरायों का प्रशमन और प्रत्यगात्म तत्त्व की प्राप्ति रूप फल बताया है-- तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च

१ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:` एकतत्त्वम् --ईश्वर: प्रकृतत्वादिति` सूत्र१।३५

२`तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास: एवं स्थूलादि किंचित्--यत्तु एकतत्त्वशब्देनात्र परमेश्वर उक्त इति तन्न--वाचकं विना सामान्यशब्दस्य विशेषत्वानेचित्यात्... ।`यौगवार्तिक ,पृ०६१ पृ०६१।

अत: स्वतत्त्वाभ्यास: पद का अर्थ स्व तत्त्व ईश्वरमात्र के अभ्यास से लेना ही उपयुक्त प्रतीत होता है । उपर्युक्त द्विविध आचार्यों से भिन्न आचार्य भोज ने 'राजमार्तण्ड' में स्वतत्त्वाभ्यास का 'स्वस्मिन् कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतस: पुन: पुननिवेशनं कार्य: ' तादृश अर्थ किया है । अत: जो भी अभिमत या इष्ट तत्त्व हो उसी स्वमात्र इष्टतत्त्व में चित्त को पुन: पुन: लगाना ही स्वतत्त्वाभ्यास है और इसी अभ्यास से चित्त के विक्षेपों या समाधि में बाधक तत्त्वों का प्रशमन होता है । उस इष्ट तत्त्व के रूप में ईश्वर को भी स्वीकार कर सकते हैं ।

(घ) चित्त के अन्य परिकर्म

इसके अतिरिक्त चित्तविक्षेपों के प्रशमन के कुछ अन्य उपाय भी आचार्य ने कई सूत्रों में बताए हैं । जिनसे चित्त का प्रसाद[1] होता है चित्त के प्रसाद का अर्थ है चित्त का विषय की मलीनता से शून्य होना । इनमें प्रथम परिकर्म है-- 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'[2] अर्थात् सुख दु:ख पुण्य या अपुण्यात्मक विषयों में क्रमश: मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से ही चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है अर्थात् सुखात्मक विषयों में मुदिता की भावना और अपुण्यात्मक विषयों में उपेक्षा की दृष्टि रखने पर चित्त का प्रसाद होता है । अत: चित्त की प्रसन्नता का यह भी एक साधन है । सभी आचार्यों ने यथा विज्ञानभिक्षु नारायणतीर्थ आदि ने भी सूत्र का तादृश अर्थ किया है । परन्तु वाचस्पति मिश्र इनका ऐसा अर्थ करने के साथ-साथ इन चारों प्रकारकी भावनाओं के फलों

---

१ 'प्रसादश्च विषयकालुष्यसाहित्यम्' योगसारसंग्रह, पृ०४४

२ योगसूत्र - १।३३ पृ० १८६

को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- सुखात्मक विषयों में मैत्री की भावना करने से ईर्ष्याकालुष्य निवृत्त होता है । दु:खात्मक विषयों पर करुणा या दयाभाव रखने से परापकारचिकीर्षाकालुष्य निवृत होता है, पुण्यात्मक विषयों में मुदिता या प्रसन्नता की भावना करने से असूया कालुष्य और अपुण्यात्मक विषयों में उपेक्षा दृष्टि रखने पर अमर्षकालुष्य निवृत्त होते हैं । अत: इन चतुर्विध भावनाओं से चतुर्विध कालुष्य की निवृत्ति होती है । अब प्रश्न यह है कि ये चार प्रकार के कालुष्य क्या हैं ? किसी भी योग-दार्शनिक ने इन कालुष्यों का विवेचन नहीं किया । यहां तक कि वाचस्पति मिश्र ने भी इन्हें स्पष्ट करना आवश्यक न समझा परन्तु व्याख्याकार ब्रह्मलीनमुनि ने योगसूत्र और व्यासभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते समय इन्हें स्पष्ट करने का अ प्रयास किया है -- कालुष्य का अर्थ मलिनता से है अर्थात् उपर्युक्त सभी कालुष्य चित्त को मलिन करते हैं । अत: चित्त के मल कहलाते हैं । इन कालुष्य या चित्तमलों के चित्त में रहते हुए चित्त का निरोध या ज्ञानप्राप्ति सर्वथा असम्भव है । अत: विवेक ज्ञानाधिगमार्थ इन मलों को निवृत्त करना अनिवार्य है । कालुष्य के विशेष प्रकारों को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-- जब मनुष्य अन्य मानव को सुखी या वैभव सम्पन्न देखकर उसमें ईर्ष्या आदि करने लगता है चित्त के उस ईर्ष्या भाव की ईर्ष्याकालुष्य कहते हैं । अत: ऐसे ही वैभवयुक्त मनुष्यों से मित्रता करना ईर्ष्याकालुष्य के निराकरण का प्रमुख साधन है । यह प्रथम कालुष्य है ।

द्वितीय है परापकारचिकीर्षाकालुष्य । परापकार का अर्थ दूसरे के अहित या हानि से है । अत: दूसरे मनुष्यों या स्वभिन्न जनों को हानि पहुंचाना या उनके अहित या अपकार की भावना करना ही परापकारचिकीर्षाकालुष्य है । अत: ऐसे पुरुषों के साथ क्या भावना करना ही परापकारचिकीर्षाकालुष्य है । अत: ~~ऐसे पुरुषों के साथ क्या~~

भावना करना ही परापकारनिर्वीजकालुष्य है । अतः ऐसे पुरुषों के साथ दया भावना रखने पर उसके अहित का प्रश्न ही न होगा और इस प्रकार परापकार निर्वीजकालुष्य पर जय प्राप्त होगी ।

किसी पुण्यात्मा पुरुष पर अथवा उसके गुणों अथवा पुण्यों पर दोषारोपण करना अर्थात् उसको पुण्यवान् समझने पर भी उसको दोषी ठहराना असूयाकालुष्य कहलाता है । अतः ऐसे पुरुषों को दोषी न समझकर उनके पुण्य कार्यों को देखकर प्रसन्न होने से अर्थात् उनमें मुदिता का भाव व करने से असूया कालुष्य पर जय प्राप्त होती है ।

चतुर्थ और अन्तिम कालुष्य है अनर्थकालुष्य । किसी भी पुरुष को स्वद्रोही या दुश्मन जानकर उससे बदला लेने की इच्छा करना ही अनर्थकालुष्य है । अतः ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा दृष्टि रखना अर्थात् उनके कुकर्मों पर ध्यान भी न देना या उदासीन होने से यह कालुष्य स्वतः ही दूर हो जाता है इस प्रकार व ये चतुर्विध भावनाओं के फल हैं ।

उपर्युक्त सूत्र के व पश्चात् छः सूत्रों तक पतंजलि ने चित्त के भिन्न-भिन्न परिकर्मों का उल्लेख किया है । 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' उनके अनुसार प्राणवायु के प्रच्छर्दन और विधारण से भी चित्त विशुद्ध हो जाता है । प्रच्छर्दन और विधारण रेचक और पूरक प्राणायाम को कहते हैं[१] । इन प्राणायामों का उल्लेख पूर्व ही हो चुका है ।

व इनसे भिन्न एक साधन है विषयवती प्रवृत्ति । विषयवती अर्थात् विषयों में अभ्यास करने से उनका साक्षात्कार होना ही

---

१ कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषेणोद्वमनं प्रच्छर्दनम् ।
विधारणं प्राणायामः ।' —भोजवृत्ति, पृ० १९१

विषयवती प्रवृत्ति है । विषय गन्धादि पंचतन्मात्र है । अर्थात् इन पंच गन्धादि तन्मात्राओं में अभ्यास करने से ही इन तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है[१] ।

इन तन्मात्राओं के निश्चित स्थान हैं अर्थात् नासिका के अग्रभाग में गन्ध, जिह्वाग्र में रस, तालु में रूप, जिह्वा के मध्यभाग में स्पर्श और मूल में शब्द की स्थिति मानी जाती है । अतः इन स्थानों पर अभ्यास करने से गन्ध, रस रूपादि विषयक प्रवृत्ति होती है अर्थात् इन रूपादि का साक्षात्कार होता है । ये प्रवृत्तियां चित्तस्थैर्य का कारण होने से विवेकज्ञान प्राप्ति में सहायक भी होती हैं । इन विविध प्रवृत्तिसूत्रों में प्रयुक्त का शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्तस्थैर्य के लिए इन प्रवृत्तियों का करना आवश्यक नहीं, परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति से भी चित्त स्थिर हो सकता है ।

`विशोका वा ज्योतिष्मती` इस सूत्र से एक अन्य विशोका नामक प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है । विशोका का अर्थ है `विगताः शोकः` अर्थात् शोकरहित । अतः आनन्द के उद्रेक के कारण शोकरहित ज्योति रूप अर्थात् प्रकाशरूप प्रवृत्ति को विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति करते हैं । यह प्रवृत्ति प्रकाश रूप अर्थात् सत्वप्रधान विषयों पर होती है । वे विषय हैं चित्त और अस्मिता या अहंकार । इस प्रकार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है । चित्त के स्थान हृदय कमल में धारणादि संयम करने से जो बुद्धि का साक्षात्कार होता है वह बुद्धि या चित्तसंवित् रूप ज्योतिष्मती और अस्मिता या अहंकार में संयम करने से होने वाला साक्षात्कार अस्मितासंवित् रूप ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही जाती है[२] ।

---

१ `तत्रैव प्रकाशबाहुल्यात्तदिषयकमप्यस्तु ज्योर्ज्योतिष्मती त्वम्`

—योगसारसंग्रह, पृ० ४६ ।

इसके अतिरिक्त विरक्त या वैरागी पुरुषों को विषय बनाकर अर्थात् उनमें धारणादि संयम करने से चित्त को उसी विरागी व्यक्ति के चित्त के समान स्थैर्य होता है । अत: यह प्रवृत्ति भी चित्तस्थिति में सहायक है[१] ।

इनसे भिन्न 'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा' इस सूत्र के अनुसार स्वप्नावस्था के सात्विक ज्ञान के विषय निद्रा या सुषुप्ति अवस्था के सात्विक ज्ञान के विषय इन सभी विषयों पर भी धारणा का संयम करने से चित्त स्थिति को प्राप्त होता है अर्थात् चित्त के विक्षेप स्वत: निवृत्त हो जाते हैं ।

अन्तिम परिकर्म का निरूपण आचार्य ने इस सूत्र में किया है--'यथाभिमतध्यानाद्वा' अभिमत या इष्ट पदार्थ को विषय बनाने या इष्टार्थ पर संयम करने से भी चित्तस्थिति को प्राप्त करता है । उपर्युक्त सभी परिकर्म चित्तविक्षेपों की निवृत्ति में सहायक होते हैं ।

इन उपर्युक्त परिकर्मों से चित्तविक्षेपों का प्रशमन हो जाने पर अथवा चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर भी समाधि आदि प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधक को आवश्यकता होती है[२] । इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में उन उपायों का उल्लेख हुआ है जिनके द्वारा चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध होता है ।

-०-

---

१ वीतरागविषयं वा चित्तं --योगसूत्र १।३७, पृ० २०४

२ तदेवमभ्यासवैराग्याभ्यां परिकर्मितं योगसाधनमभिहितं सामान्यतो योगचित्तयं --योगवार्तिक सूत्र १।४१, पृ० २०८ ।

षष्ठ अध्याय

-०-

वृत्तिनिरोध के फल

चित्त, भूत और इन्द्रियों के विविध परिणाम

(क) चित्त के परिणाम

(ख) परिणामों के प्रकार

चित्त का निरोध परिणाम

चित्त का समाधि परिणाम

चित्त का एकाग्रता परिणाम

(ग) भूतेन्द्रियों के धर्मादि परिणाम

विवेकज्ञान

(क) विवेकज्ञान का फल

(ख) संप्रज्ञात योग

संप्रज्ञात योग के प्रकार

वितर्कानुगत

विचारानुगत

आनन्दानुगत

अस्मितानुगत

(ग) धर्ममेघ समाधि

(घ) असंप्रज्ञात योग

असंप्रज्ञात योग के प्रकार

भव प्रत्यय असंप्रज्ञात योग

विदेह

प्रकृतिलीन

उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात योग

समापत्ति

(क) सवितर्का समापत्ति

(ख) निर्वितर्का समापत्ति

(ग) साविचारा और निर्विचारा समापत्ति

वृत्तिनिरोध के अन्य फल

-०-

षष्ठ अध्याय

-०-

चित्त, भूत और इन्द्रियों के विविध परिणाम

(क) चित्त के परिणाम

प्रस्तुत अध्याय में निरुद्ध चित्त के विविध परिणामों और चित्तवृत्तिनिरोध के विविध फलों का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा। यद्यपि इसके पूर्व के अध्यायों में भी चित्त की विविध वृत्तियों और कार्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है और वे भी चित्त के परिणामरूप ही हैं, परन्तु उन परिणामों से और प्रस्तुत अध्याय में प्रतिपादित परिणामों में पर्याप्त भिन्नता है। ये परिणाम निरुद्ध चित्त के हैं और अन्य वृत्तियां और कार्य अज्ञानावृत्त चित्त के हैं। इन निरोधकालिक परिणामों को शास्त्र में विशेषरूप से 'परिणाम' संज्ञा दी गई है।

प्रकृति के सभी परिणाम त्रिगुणात्मक हैं, अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक होने से और रजस् के क्रियाशील होने के कारण प्रतिक्षण क्रियाशील या चंचल है। अतः वह प्रतिक्षण विविध परिणामों को या यह कहिए कि विविध विषयों के आकार को प्राप्त करता रहता है। इसकी यह भिन्नरूपता ही उसकी चंचलता कही जाती है। यही चित्त का स्वभाव है। साधारणतः यह देखा जाता है कि चित्त क्षण भर में सुखात्मक विषयों के संयोग से सुखी और दुःखात्मक विषयों के संयोग से दुःखी प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रतिक्षण इसके रूप भिन्न हैं। अतः यदि हम कोई लक्ष्य बनायें तो सर्वप्रथम तो चित्त के विक्षिप्त होने से उस लक्ष्य का निर्धारण ही असम्भव है। साथ ही चित्त उस लक्ष्य विषय पर स्थिर नहीं होता। चित्त की इस वृत्तिता

या स्वभाव को बदलना ही योग है । क्योंकि `योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः` ऐसा कहा गया है । अतः चित्त की वृत्तियों को रोकना उनका निरोध ही योग है । ऐसे चित्त के योगी को स्थिरचित्त कहा जाता है-- गीता में इसे ही स्थितप्रज्ञ कहा गया है[1] । इस प्रकार के योगी को सुख-दुःख, मानापमान, लाभ-हानि आदि में समान बुद्धि होती है । इस प्रकार गुणों के विभिन्न व्यापार उन्हें प्रभावित नहीं करते ।

इस प्रकार चित्त का इन विविध रूपों में परिणत होना ही उसके विविध परिणाम हैं, यद्यपि आचार्यों ने परिणाम को स्पष्ट नहीं किया, परन्तु फिर भी किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को उसका परिणाम कहा जा सकता है । अतः चित्त के अथवा इन्द्रियों के परिणामों से तात्पर्य उसकी विविध अवस्थाओं से ही है, परन्तु परिणाम का ऐसा अर्थ करने पर चित्तादि की विभिन्न वृत्तियां भी उनके परिणाम ही कहे जायेंगे । बात वस्तुतः ऐसी ही है, चित्त की विभिन्न अवस्थाएं ही उनकी वृत्तियां कही जाती हैं और ये अवस्थाएं चित्त के विभिन्न परिणाम ही हैं, परन्तु योगाचार्यों ने शास्त्र में परिणाम शब्द का प्रयोग कुछ विशेष अर्थ में किया है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक के प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र में ही परिणाम का लक्षण करते हुए लिखा है-- `चितिशक्तिः पुरुषाख्या न परिणामिनी पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामस्तद्रहिता कूटस्थनित्या परमार्थसत्येति यावत्[2] ।` वस्तुतः किसी वस्तु में पूर्वधर्मों के तिरोभूत हो जाने पर अन्य धर्मों का आविर्भाव ही

---

१ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते । --गीता, अध्याय २, पृ० ५८ ।

२ योगवार्तिक, पृ० १४७

परिणाम है । आचार्य व्यास का भी ऐसा ही मत है[१]। अब प्रश्न यह है कि क्या चित्त ही विभिन्न परिणामों में परिणत होता है अन्य तत्त्व नहीं । वस्तुत: प्रकृति के कार्यभूत सभी तत्त्व महत् से स्थूलभूतो पर्यन्त सभी त्रिगुणात्मक होने के कारण और त्रिगुणों में रजस् को क्रियाशील या परिणामी होने के कारण ये सभी क्रियाशील या परिणामी होते हैं,परन्तु शास्त्र में मुख्यतया चित्त,भूत और इन्द्रियों के परिणामों का ही उल्लेख हुआ है ।

(ख) परिणामों के प्रकार

चित्तादि तत्वों के परिणाम तो अनेक हैं,क्योंकि वे प्रतिक्षण परिणामी हैं,अत: इनके प्रतिक्षण परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं । परन्तुमुख्यत: इनके त्रिविध परिणाम हैं-- निरोध परिणाम,समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम । इनके अतिरिक्त चित्त,भूत और इन्द्रियों के त्रिविध अन्य परिणाम भी मान्य हैं-- धर्म परिणाम,लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम । इस प्रकार चित्त के छ: परिणाम और भूतेन्द्रियों के तीन परिणाम हुए ।

चित्त का निरोध परिणाम

चित्त के निरोधादि परिणाम वस्तुत: धर्म,लक्षण और अवस्था ही है । अर्थात् निरोध परिणाम ही धर्म परिणाम कहा जा सकता है । अब प्रश्न यह है कि निरोध परिणाम है क्या ? योगसूत्रकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है -- `व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणाम: ` अर्थात् व्युत्थान और निरोध संस्कारों का

---

१ अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्ति: परिणाम: इति ।`
--व्यासभाष्य,पृ०५६३

२ योगसूत्र ३।९, पृ०५२१

क्रमशः अभिभव और प्रादुर्भाव होने पर चित्त निरोध क्षण से अन्वित होता है उसे चित्त का निरोध परिणाम कहते हैं । चित्त का प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों की ओर दौड़ना ही चित्त का व्युत्थान है और इन विविध विषयक ज्ञानों पर निग्रह प्राप्त करने की प्रक्रिया अर्थात् इन ज्ञानों को न उत्पन्न होने देने के प्रयत्न को निरोध कहते हैं । इस निरोध को करने से चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें ही संस्कार कहते हैं । अतः जब व्युत्थान संस्कारों का अभिभव हो और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव चित्त की ऐसी अवस्था ही निरोध परिणाम है । अभिभव का अर्थ है--`अभिभवो न्यगभूततया कार्यकारणासामर्थ्येनावस्थानं प्रादुर्भावो वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः`[1] निर्बल होकर कार्य करने की सामर्थ्य से रहित होकर अथवा फलोत्पादकत्व की सामर्थ्य से रहित होना ही अभिभव है । अर्थात् व्युत्थान संस्कार जब फल उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय और चित्त में स्थित हो । व्युत्थान संस्कारों का इस प्रकार का अभिभव होने पर और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव, प्रादुर्भाव का अर्थ है--`प्रादुर्भावः वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः`[2] अर्थात् वर्तमान काल या मार्ग में चित्त में व्यक्त या स्पष्ट रूप से स्थित रहना ही प्रादुर्भाव है । इस प्रकार व्युत्थान संस्कारों का अभिभव क्ष या तिरोभाव होने पर और निरोध संस्कारों का आविर्भाव होने पर चित्त इन विविध अवस्थाओं से अन्वित होता है अर्थात् निरोध संस्कारों के प्रबल होने के कारण चित्त का उन संस्कारों से सम्बन्ध ही चित्त का निरोध परिणाम है । इसी परिणाम को चित्त का धर्म परिणाम भी कहते हैं सकते हैं -- अर्थात् पूर्व व्युत्थान रूप धर्म का अभिभव और निरोध रूप धर्मों का आविर्भाव ही चित्त का धर्म परिणाम है, क्योंकि

---

१ भोजवृत्ति, पृ०४१

२ ,, पृ०४२

धर्म परिणाम पूर्व धर्म के अभिभवपूर्वक अन्य धर्म कीउत्पत्ति को ही कहते हैं[1]। इसी प्रकार चित्त के निरोध परिणाम के द्वारा ही चित्त के लक्षण और अवस्था परिणाम भी स्पष्ट हो जातेहैं। आचार्य व्यास ने लक्षण परिणाम का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया --'लक्षणपरिणामश्च निरोधस्तिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स[2] खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा वर्तमानलक्षणमध्वानं द्वितीयमापन्नो .... लक्षणाभ्यां वियुक्तम्' यहां लक्षण का अर्थ 'लक्ष्यते भिद्यतेऽनेनेति लक्षणम्' इस व्युत्पत्ति से शब्द भेद कराने वाला या कालवाचक लिया गया है,अर्थात् कालभेद के कारण अथवा अतीत,वर्तमान और अनागत रूप त्रिविध कालभेदों से युक्त जो त्रिविध धर्म युक्त निरोध है वही लक्षण परिणाम कहा जाता है अर्थात् अनागतादि धर्म के त्यागपूर्वक वर्तमानादि धर्म का लाभ होना ही लक्षणपरिणाम है। इस प्रकार इसका ऐसा अर्थ न लेना चाहिए कि अनागत लक्षण के नष्ट होने पर वर्तमान के और वर्तमान के नष्ट होने पर अतीतलक्षण परिणाम होता है, क्योंकि सांख्ययोगी नाश को स्वीकार नहीं करते वे तो सत्कार्यवादी हैं,अतः अनागतादि का नाश का उनके मत में सम्भव ही नहीं। इस प्रकार अनागतलक्षण ही वर्तमानता को और वर्तमान ही अतीतता को प्राप्त होतेहैं,यही स्वीकार करना चाहिए और यही लक्षण परिणाम है। विज्ञानभिक्षु भी एतादृश अर्थ का करते हैं[3] -- किसी धर्म की अनागतावस्था को त्याग देने पर वर्तमान रूप को प्राप्त होना अथवा वर्तमानावस्था को त्याग कर अतीतावस्था को प्राप्त करना ही लक्षण परिणाम है। अतः विद्यमान धर्मों के एक

---

१ 'तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः'
--व्यासभाष्य,पृ०५३४

२ योगभाष्य, पृ०५३५

३ लक्षणपरिणामौ हि अवस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे वर्तमानादिलक्षणलाभः स चाभिभव प्रादुर्भाववचनेनैव लब्धः अतीततावर्तमानतयोरेवाभिभवप्रादुर्भावत्वादिति भावः।' --योगवार्तिक,पृ०२६७।

लक्षण को छोड़कर लक्षणान्तर से होने वाले परिणाम को लक्षण-परिणाम कहते हैं[1]। अर्थात् चित्त के निरोध परिणाम में जब तक निरोध संस्कार रूप धर्म का आविर्भाव न हुआ हो, वह हुई उसकी अनागत लक्षणवाली अवस्था और आविर्भाव होने पर वर्तमान लक्षणवाली और उसके नष्ट हो जाने पर अतीत लक्षण वाली कही जाती है। इस प्रकार निरोध परिणाम के कथन से ही लक्षणपरिणाम स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार व्युत्थान संस्कारोंका तिरोभाव से तात्पर्य है अनागतकाल का त्याग, निरोध संस्कारों का आविर्भाव वर्तमानकाल का लाभ रूप है।

इसी प्रकार निरोधपरिणाम के माध्यम से ही अवस्थापरिणाम भी स्पष्ट हो जाता है-- अवस्थापरिणाम का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं[2]-- निरोध परिणामकाल में निरोधसंस्कार बलवान होते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल होते हैं। संस्कारों का यही दुर्बल और सबल होना ही चित्त का अवस्थापरिणाम है। यही मत विज्ञानभिक्षु को भी अभीष्ट है-- लक्षणस्यैव नवपुराणत्वादिनाऽवस्थापरिणाम इति वक्ष्यमाणत्वाच्च[3] लक्षण परिणाम में कथित लक्षण का नया पुराना आदि होना ही अवस्था परिणाम है। अर्थात् किसी एक संस्कार का दुर्बल होना और किसी अन्य संस्कार का प्रबल होना यही उस धर्म का अवस्था परिणाम है। जिस प्रकार निरोध परिणाम के प्रसंग में व्युत्थान संस्कार की

---

१ षड्दर्शनरहस्यं, पृ० १६२

२ तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थान संस्कारा इति। स्व धर्माणामवस्थापरिणामः।' --व्यासभाष्य, पृ० ५४०

३ योगवार्तिक, पृ० २६८

दुर्बलता ही उसका तिरोभाव रूप है और निरोध संस्कारों की प्रबलता उसका आविर्भाव रूप है । इस प्रकार निरोध परिणाम का जो अर्थ है वही लक्षण रूप परिणाम का और वही अवस्थापरिणाम का भी है । अत: निरोध परिणाम के कथन से ही चित्त के लक्षण और अवस्था परिणाम भी व्याख्यात हो गए । अब प्रश्न यह है कि निरोध परिणाम कैसे होता है । जब चित्त की निरुद्धावस्था होती है, उस अवस्था में परिणाम का अनुभव कैसे होगा, अत: अनुभव न होने के कारण परिणाम का अस्तित्व स्वीकार करना कुछ सम्भव नहीं प्रतीत होता, परन्तु चित्त के त्रिगुणात्मक होने से और सदैव परिणामी होने से क्षण भर भी बिना परिणाम के उसका अस्तित्व सम्भव नहीं । अत: परिणाम तो होतेही हैं और निरुद्धावस्था के होने के कारण उस अवस्था के परिणाम की भी निरोध रूप ही होंगे, व्युत्थान रूप नहीं । इस प्रकार चित्त के व्युत्थान रूप या विक्षेपों के अभिभूत हो जाने पर चित्त शान्त हो जाता है अर्थात् एक ध्येय रूप विषय में ही चित्तस्थिर रहता है विक्षेपों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त ध्येय विषय को छोड़कर अन्य विषयों की ओर नहीं जाता । अत: चित्त सदैव एक ही विषय को ग्रहण करता हुआ शान्त, स्थिर होता है । यही चित्त का निरोध परिणाम है ।

चित्त का समाधि परिणाम

समाधि परिणाम जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, चित्त की समाध्यवस्था के परिणाम को कहते हैं, उस समय परिणाम का क्या स्वरूप है, उसे स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार लिखते हैं—'सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयो चित्तस्य समाधिपरिणाम:' अत: सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय ही चित्त का समाधि परिणाम है । सर्वार्थता से तात्पर्य सभी अर्थों या पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्यविशेष से है अर्थात् चित्त के चंचल होने से वह सभी विषयों की ओर प्रवृत्त होता है और ग्रहण भी करता है इसी सर्वार्थग्रहण करने की सामर्थ्य को विक्षिप्तता भी कहसकते हैं । अत: चित्त की विक्षिप्तता

का अभिभव या क्षय और एकाग्रता का उदय ही समाधि परिणाम है । क्षय से तात्पर्य यहां पूर्ण नाश से नहीं है । सांख्ययोगदार्शनिक किसी भी सत् पदार्थ का नाश स्वीकार नहीं करते, जो सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता । अतः चित्त के सर्वार्थता रूप धर्म का नाश भी नहीं हो सकता । उसका अस्तित्व तो होगा ही यद्यपि वह अतीतावस्था में ही हो । इस सूत्र में प्रयुक्त क्षय शब्द का अर्थ अतीतावस्था की प्राप्ति से ही लेना चाहिए । इसी प्रकार उदय से तात्पर्य वर्तमानावस्था को प्राप्त होना ही है । अतः एकाग्रता का उदय ही चित्त का समाधि परिणाम है । एकाग्रता का अर्थ है एकमात्रविषयता । अर्थात् किसी एक विषय में ही चित्त का स्थिर रहना अर्थात् किसी एक को अपना विषय बनाना ही एकाग्रता है । अतः विक्षिप्तता का अभिभव और एकाग्रता का प्रादुर्भाव ये दोनों अवस्थाएं लगभग एक ही हैं । जब चित्त के चांचल्य का अभाव होगा और चित्त किसी एक विषय पर स्थिर हो सकेगा, यही उसकी एकाग्रता है । चित्त की चंचलता या विक्षिप्तता ही समाधि आदि के अनुष्ठान में बाधक है, अतः इसका अभिभव या चित्तवृत्तियों का निरोध आवश्यक है, इसी कारण योगसूत्रों में पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहा है चित्तवृत्तियों का निरोध योग में सहायक और योगप्राप्ति का अनिवार्य अंग है अतः इसे ही योग कहा गया । जब चित्त विक्षिप्त न होगा और विक्षिप्तता के अभाव में भी उसका अस्तित्व होगा, तो अवश्य ही वह किसी न किसी को अपना विषय बनाएगा । इस प्रकार सर्वार्थता व रूप धर्म के संस्कारों का अभिभवपूर्वक एकाग्रता रूप धर्म के संस्कारों का आविर्भाव होने पर चित्त के इन विविध धर्मों से अन्वित होने पर चित्त का समाधि परिणाम होता है । निरोधपरिणाम के समान समाधिपरिणाम के माध्यम से भी चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गए ।

अब शंका यह है कि ये क्षय और उदय जब सर्वार्थता और एकाग्रता के होते हैं तो इन्हें सर्वार्थतादि का धर्म कहना चाहिए न कि चित्त का । इस शंका का समाधान भाष्यकार कहते हैं -- सर्वार्थता और एकाग्रता का

धर्मी होने के कारण चित्त अन्वयीरूप से स्थित होता है, इसलिए यद्यपि क्षायोदय चित्त के साक्षात् परिणाम न होने पर भी अथवा चित्त के धर्म सर्वार्थतादि का होने पर भी चित्त के कहे जाते हैं[1]। अतः सर्वार्थता और एकाग्रता के धर्म रूप होने से क्षायोदय उनमें रह नहीं सकते, अतः उन्हें चित्त रूप धर्मी का ही मानना चाहिए। इसी कारण क्षायोदय चित्त के धर्म कहे जाते हैं।

चित्त का एकाग्रता-परिणाम

निरोध और समाधि परिणामों के समान चित्त का एकाग्रता परिणाम भी होता है। जिस प्रकार समाधिपरिणामकाल में चित्त, व्युत्थान और एकाग्रता के साथ अन्वित होता है, उसी प्रकार एकाग्रता परिणाम काल में चित्त एकाग्रता से अन्वित होता है। एकाग्रता परिणाम को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—'ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः'[2] जब चित्त शान्त और उदित अर्थात् अतीत और वर्तमान इन दोनों प्रकार की समानविषयक वृत्तियों से अन्वित होता है। तब चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है। इस अवस्था में जो वृत्तियां हो शान्त हुई हैं उनके विषय और जो उदित हुई हैं उनके इन दोनों के विषयों में पर्याप्त साम्य होता है अर्थात्, एक वृत्ति के शान्त या अतीतावस्था को प्राप्त होने पर तत्सजातीय ही दूसरी वृत्तियां उदित होती हैं। इस प्रकार सजातीय वृत्तियों की एक धारा सी चलती रहती है, यही एकाग्रवृत्ति धारा कहलाती है और उससे चित्त का अन्वय होने पर चित्त का

---

१ योगसूत्र—योगसिद्धि व्याख्या, पृ० ३५६

२ योगसूत्र ३।१२, पृ० ५२८

परिणाम होता है । एकाग्रता की यह धारा चित्त की समाहित अवस्था में ही सम्भव है, व्युत्थित में नहीं । व्युत्थान दशा में तो चित्त भिन्न-भिन्न विषयों की ओर दौड़ता ह रहता है । अत: सम्यक्प्रकारेण समाधिप्राप्त चित्त का ही एकाग्रता परिणाम होता है । सम्प्रज्ञात समाधि के प्रारम्भ काल में ही चित्त का समाधि परिणाम होता है । निरोध,समाधि परिणामों के समान एकाग्रतापरिणाम से भी धर्मादिपरिणामों का स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(ग) भूतेन्द्रियों के धर्मादि परिणाम

जहां तक भूतों और इन्द्रियों के विविध परिणामों का प्रश्न है, किसी आचार्य ने इनका पृथक् विवेचन नहीं किया । सूत्रकार ने भी `एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा: व्याख्याता:`[1] कहकर छोड़ दिया । यहां ऐसा प्रतीत होता है कि एतेन पद से इनके पूर्व के निरोध,समाधि, एकाग्रतादि परिणामों का वर्णन करने वाले सूत्रों का परामर्श है,परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । यद्यपि इनके पूर्व के सूत्रों से निरोध,समाधि आदि परिणामों का ही कथन हुआ है,परन्तु उनके माध्यम से चित्त के धर्मलक्षणावस्था परिणामों का भी कथन हो जाता है, अत: सभी भाष्यकार और टीकाकारों ने यहां एतेन से धर्म लक्षणावस्था परिणामों का ही परामर्श किया है । अत: उपर्युक्त सूत्र का अर्थ हुआ जिस प्रकार चित्त के विविध धर्मादि परिणाम होते हैं ठीक उसी प्रकार पंचमहाभूतों तन्मात्राओं और इन्द्रियों के भी धर्म,लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं । अब प्रश्न यह है कि भूतादि के परिणामों का क्या रूप होगा? सूत्रकार और भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, हां वाचस्पति मिश्र ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है--`तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणाम:.... वेदितव्य:`[2] ।

---

१ योगसूत्र ३।१३,पृ०५३१

२ योगतत्ववैशारदी,पृ०२६३

पंचभूतात्मक यह संपूर्ण सृष्टि है, अत: भूतों के गो घट आदि ही उसके धर्म-परिणाम कहे जाते हैं, अर्थात् पंचभूत किसी-न-किसी विषयरूप से रहते हैं, किसी एक विषय के तिरोभूत हो जाने पर उन भूतों के दूसरे विषय के रूप को धारण करना ही भूतों का धर्मपरिणाम है । इसी प्रकार गोघटादि के ही अपने अतीत, वर्तमान, और अनागत धर्म भूतों के लक्षण परिणाम कहे जाते हैं। अर्थात् अतीत धर्म का तिरोभाव और वर्तमान लक्षण का आविर्भाव, इसी प्रकार वर्तमान लक्षण का तिरोभाव और अनागत लक्षण का आविर्भाव ही भूतों का लक्षण परिणाम है । गो आदि की बाल्य, कौमार, यौवनादि, अवस्थाएं भूतों की अवस्था परिणाम कहलाती हैं । इसी प्रकार बाल्यावस्था का तिरोभाव और कौमारावस्था का आविर्भाव ही भूतोंका अवस्था परिणाम है ।

इन्द्रियों के कार्य नीलादि विषयों का आलोचन ही उसका धर्म है, अत: वह आलोचन ही धर्मपरिणाम है । इसी प्रकार इन नीलादि विषयों का आलोचन की वर्तमानत्व, अतीतत्वादि इन्द्रियों के लक्षण परिणाम हैं । ठीक उसी प्रकार इस आलोचन रूप धर्म की स्पष्टता अथवा अस्पष्टता रूप अवस्था ही इन्द्रियों का अवस्था परिणाम है । उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं, ताद्रूप्य प्रकारेण भूतों और इन्द्रियों के भी धर्मादि परिणाम होते हैं । इसी कारण सूत्रकार ने इनका पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी । केवल एक सूत्र से ही इनका कथन कर दिया ।

विवेकज्ञान

विवेकज्ञान बुद्धिनिरोध का मुख्य फल है । चित्त की विभिन्न वृत्तियों के निरुद्ध होने पर अर्थात् विकल्पों का भी प्रशमन होने पर साधक का चित्त विवेकख्याति की ओर अग्रसर होता है अर्थात् साधक को तत्त्वज्ञान होता है । बुद्धिनिरोध का प्रमुख फल है तत्त्वज्ञान की प्राप्ति । सांख्ययोगदर्शनों

में प्रकृति और पुरुष रूप इन द्विविध तत्त्वों के पार्थक्य का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान या विवेकज्ञान है । यह तो पूर्व ही स्पष्ट है । `अहमन्य: प्रकृतिरन्या` यही सांख्ययोगाभिमत तत्त्वज्ञान का स्वरूप है ।

तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त चित्त परिकर्मों के द्वारा चित्त की स्थिति होने पर चित्त को वशीकार होता है । वशीकार को स्पष्ट करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं-- `परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:`[१] अर्थात् जिस साधक या योगी का चित्त स्थैर्य को प्राप्त हो गया है, उसका साधक को परमाणु अर्थात् सूक्ष्मपदार्थों से लेकर महान् या सभी स्थूल पदार्थों में भी पूर्ण वशीकार हो जाता है । अत: सूक्ष्म पदार्थों में प्रवेश करके चित्त उसमें स्थिति प्राप्त करता है और उसी प्रकार स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश करके चित्त स्थिर होता है । अत: परिकर्मों से निरुद्ध चित्त में सूक्ष्म और स्थूल विषयों में प्रवेश करने की योग्यता आ जाती है और योग्यता आने पर साधक का चित्त पूर्णतया स्थिर समझा जायगा । इस प्रकार वशीकृत चित्त किसी भी स्थल में बाधाओं से बाधित नहीं होता, अर्थात् स्वतंत्र रूप से निर्बाध गति से सर्वत्र या सभी विषयों तक जाता है । अत: एकाग्र चित्त को किसी भी विषय पर धारण करना ही वशीकार है ।

(क) विवेकज्ञान का फल

चित्तभूमिनिरोध होने पर, चित्तपरिकर्मों के द्वारा चित्त को संयमित हो जाने पर चित्त को विवेकज्ञान या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और उस अवस्था में साधक समाधि अवस्था को प्राप्त होता है । `समाधि` शब्द `सम आङ्` उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न हुआ और `समाधानं समाधि:` इस व्युत्पत्ति से `उपसर्गे घो: कि:` इस सूत्र से भावार्थ कि प्रत्यय लगने पर

---

१ योगसूत्र १।४०, पृ० २०७

समाधि का अर्थ चित्त का सम्यग् आधान हुआ । इस शब्द का 'समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिः' एतादृश विग्रह करने पर करणार्थ में कि प्रत्यय लगने से जो समाधि शब्द निष्पन्न हुआ उसका अर्थ है जिसके द्वारा चित्त को समाहित किया जाय, वह समाधि है । इस प्रकार इस शब्द के द्विविध अर्थ द्विविध समाधियों के द्योतक हैं । एक तो अंगभूत समाधि का और एक अंगी समाधि का । उपर्युक्त द्वितीय अर्थ अंगभूत समाधि का द्योतक है । जिसका उल्लेख इसी अध्याय में अष्टांग-योग के प्रसंग में किया गया है । जिस समाधि रूप अंग के अनुष्ठान से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, इससे विपरीत अंगी समाधि रूप संप्रज्ञात योग में भिन्नता यह है-कि अंग समाधि में ध्येय स्वरूप का किंचिदपि भास नहीं होता, परन्तु संप्रज्ञात में साक्षात्कार के द्वारा समाधि के अविषयरूप विषय भी भासित होने लगते हैं[१] । अर्थात् संप्रज्ञात योग काल में जो विषय समाधिकाल में स्थूल न होने से उसके विषय नहीं बन सकते, उनका भी साक्षात्कार या ज्ञान हो जाने के कारण वे समाधि के वास्तविक विषय न होने पर भी विषय रूप से प्रतीत होने लगते हैं ।

समाधि अवस्था ही अत्यन्त स्थिर या सुदृढ़ हो जाने पर योग शब्द से कही जाती है । योग सामान्य का लक्षण करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने लिखा है--'तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्ति-निरोधो योग इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम्'[२] अर्थात् पुरुष की आत्यन्तिक अवस्थिति का हेतुरूप चित्तवृत्तिनिरोध ही योग का साधारण लक्षण है अर्थात्

---

१ 'अस्य समाधिरूपस्यांगस्यांगिनः संप्रज्ञातयोगाख्यं भेदो यदत्र चित्तारूपतया निश्चिता ध्येयस्वरूपं न भासते, संप्रज्ञाते तु साक्षात्कारेण समाध्यविषया अपि विषया भासन्ते इति । एवं च साक्षात्कारयुक्तैकाग्र्यकाले संप्रज्ञात-योगोऽन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः ।' --योगवार्त्तिक, पृ०२१८

२ योगसार, पृ०२

चित्त की पंचभूमियों में से अन्तिम दो एकाग्र और निरुद्ध में होने वाला निरोध या समाधि तो योग पद से आचार्य को अभीष्ट है, क्योंकि इन भूमिकाओं में चित्तवृत्तियों का निरोध क्षणिक न होकर चिरकालिक होता है और समाधि योगावस्था के लिए उपयोगी भी है, परन्तु इससे भिन्न इनसे पूर्वकालिक क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्तादि अवस्थाओं में भी निरोध तो होता है, किन्तु क्षणिक ही। इन अवस्थाओं में भी चित्तवृत्तियां क्षणमात्र के लिए अवश्य ही समाहित होती है, परन्तु तत्क्षण ही पुनः विक्षिप्त होकर अपना कार्य करने लगती है। अतः योगकालीन चित्तपूर्णतया निरुद्ध रहता है। साथ ही तत्कालिक निरोध सार्वकालिक ही होता है। अतः योग का उपर्युक्त लक्षण ही उपयुक्त है। योग सामान्य का लक्षण करते हुए वाचस्पति ने भी लिखा है,[1] जिस अवस्था विशेष में चित्त की प्रमाणादि सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। उसी अवस्था को योग कहते हैं। योग मुख्यतः दो प्रकार का होता है--संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।

(क) संप्रज्ञात योग

संप्रज्ञात योग क्या है? इसकी व्युत्पत्ति प्रायः इस प्रकार की जाती है--'तत्र सम्यक्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति संप्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः'[2] अर्थात् जिस अवस्था में ध्येय-विशेष विषय का सम्यक् प्रकार से साक्षात्कार किया जाय और उस ध्येयविषयक वृत्ति से भिन्न अन्य सभी वृत्तियों का निरोध हो जाय चित्त की एकाग्र अवस्था को संप्रज्ञात योग कहते हैं। संप्रज्ञात शब्द का लक्षण आचार्य भोज ने इस प्रकार किया--'सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं यैन सः संप्रज्ञातः' अर्थात् भाव्य या विषय का सम्यक् संशय और विपर्यय से रहित या वास्तविक ज्ञान ही संप्रज्ञात ह योग है। अतः इस अवस्था में ध्येयमात्र का ज्ञान होता है। इस योग का वर्णन करते हुए भाष्यकार व्यास

कहते हैं[१]-- चित्त की पांच भूमियों में से अंतिम या एकाग्रभूमि में जब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो, साथ ही अविद्या के नाश के द्वारा क्लेशों का भी क्षय हो गया हो, क्योंकि अविद्या ही सभी क्लेशों की मूल है और 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' इस नियम से अविद्या रूप मूल के नष्ट हो जाने पर क्लेशादि शाखाओं के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । क्लेशों के अभाव में कर्मबन्धन भी न होगा । अतः चित्त की तादृश क्लेशरहित अवस्था को ही संप्रज्ञात योग कहते हैं ।

संप्रज्ञात योग के प्रकार

संप्रज्ञात समाधि के चतुर्विध प्रकारों को पतंजलि ने स्वतः ही सूत्र में स्पष्ट किया है । अतः इस विषय में विद्वानों में सर्वथा मतैक्य है । इनमें सर्वप्रथम वितर्क है । तत्पश्चात् क्रम से ही विचार, आनन्द और अस्मिता नामक योग होता है । अर्थात् संप्रज्ञातयोग क्रमशः स्थूल विषयों से प्रारम्भ किया जाता है और अन्त में सूक्ष्म अस्मितादि विषयों की भावना होती है । क्योंकि कोई भी साक्षात् व एक ही प्रकार में ही सूक्ष्मविषयों में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकता, ऐसा स्मृतियों से भी स्पष्ट है--'स्थूले विनिर्जितं चित्तं सः सूक्ष्मं शनैर्नयेत्' अतः उपर्युक्त सभी समाधियां समान ही विषय पर क्रमशः करनी चाहिए । अर्थात् सर्वप्रथम उस पदार्थ के स्थूल रूप पर तत्पश्चात् सूक्ष्मादि पर समाधि करनी चाहिए ।

वितर्कानुगत

जहां तक वितर्क योग का प्रश्न है भाष्यकार ने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है--'वितर्कः चित्तस्य आलम्बने स्थूलः आभोगः' अर्थात् चित्त का आलम्बन रूप या ध्येय विषय में स्थूल आभोग ही वितर्क है । आभोग का अर्थ है परिपूर्णता या चित्त की तदाकारता । वाचस्पति मिश्र ने

आभोग को स्पष्ट करते हुए लिखा है-- `स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा भोग:` स्थूल या पंच महाभूतों से बने पदार्थों में (जैसे चतुर्भुजादि, शरीर, विराट्शरीर, घटादि) चित्त की भावना करने से यह वितर्क नामक योग होता है । योग-वार्तिक[1] में इसका कुछ भिन्न लक्षण किया गया, विशेष रूप से तर्क या निश्चय करना ही वितर्क है और इस प्रकार का चित्त का निरोध वितर्कानुगत योग कहलाता है । योगसार[2] में विज्ञानभिक्षु ने ही इसका लक्षण करते हुए लिखा है । आलम्बन या ध्येयविषय के स्थूल भाग की त्रैकालिक विशेषताओं, गुणों आदि जिनका अद्यतन साक्षात्कार न हुआ हो उसपर चित्त को लगाना ही वितर्क योग है । अत: इस अवस्था में इन्द्रियादि का साक्षात्कार होता है । वितर्क संप्रज्ञातयोग को भी आचार्यों ने द्विविध भागों में बांटा है-- सवितर्क और निर्वितर्क । आचार्य भोज ने राजमार्तण्ड[3] में इन दोनों का स्पष्ट लक्षण किया है । जब इन्द्रियादि स्थूलपदार्थों को विषय रूप से ग्रहणकरके उनके उद्भव और तिरोभाव आदि के विचार से उसमें भावना की जाती है उसे ही सवितर्का समापत्ति कहते हैं । इससे भिन्न जब उन्हीं विषयों पर उनके उद्भवादि का विचार किए बिना ही भावना की जाती है उसे ही निर्वितर्क योग कहते हैं[4] । इन द्विविध प्रकारों का उल्लेख अन्याचार्यों ने नहीं किया, हां समापत्तियों का वर्णन करते समय उसके विशिष्ट प्रकार रूप से इनका भी उल्लेख पातंजल सूत्रों और भाष्यों में हुआ है।

---

१ `विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगतनामा योग इति भाव:`, पृ० ५५ ।

२ `तत्रालम्बने प्रथमं च स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभ्यां: स्थूलसावशेषवर्तमानाऽतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामज्ञातानां साक्षात्कार: स वितर्क इत्युच्यते` ।पृ० १७

३ `तत्र यदा महाभूतानि इन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्क: समाधि: । पृ०७

४ अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेख शून्यत्वेन यदा भावेना प्रवर्तते, तदा निर्वितर्का । ,पृ०७

विचारानुगत

विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुए आचार्य वाचस्पति ने लिखा है-- 'स्वं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोग: स्थूलकारण-भूतसूक्ष्मपंचतन्मात्रलिंगालिंगविषयो विचार:'[1] अर्थात् चित्त का आलम्बन या विषय में, विषय के सूक्ष्मरूप तन्मात्रादि में भावना करना ही विचार है और जिस अवस्था विशेष में यह विचार हो उसे विचारानुगत समाधि कहते हैं। अत: यह समाधि वितर्क से सूक्ष्म है। इस प्रकार यह समाधि उसी विषय में हो सकती है, जिसके स्थूल रूप का साक्षात्कार हो चुका हो, अर्थात् जो विषय वितर्कानुगत समाधि का होता है, उसी विषय पर विचारानुगत समाधि होती है और स्थूलविषय महाभूत इन्द्रियादि के कारणभूत तन्मात्रा, अहंकार, महत् और प्रकृति में भावना या धारणादि संयम करने से विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि होती है। इस प्रकार सूक्ष्म शब्द से इन्द्रियादि के कारणों का ही ग्रहण आचार्यों ने किया है और यह उपयुक्त ही है। कार्य की अपेक्षा कारणों को सूक्ष्म ही कहा गया है। योगसारसंग्रह में इसे स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है-- 'सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र तन्मात्राहंकारमहच्चप्रकृतय: सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते'[2] वितर्क के समान विचार के भी दो प्रकार होते हैं। जिनका उल्लेख भोज ने राजमार्तण्ड में किया है -- सविचार और निर्विचार। सविचार का लक्षण करते हुए वे लिखते हैं-- जब किसी विषय पर के देशकाल और धर्म पर भावना की जाय उसे सविचारा कहते हैं[3]। इससे भिन्न जब सूक्ष्म विषय के देश

---

१ योगतत्त्ववैशारदी, पृ०५४

२ योगवार्तिक, पृ० १८

३ तन्मात्रान्त: करणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदं यदा भावना तदा सविचार: । --राजमार्तण्ड, पृ०७ ।

काल धर्मादि से भिन्न धर्मी मात्र पर भावना की जाती है उसे निर्विचारा कहते हैं[1]। इन द्विविध समाधियों का उल्लेख समापत्तियों के प्रसंग में होगा।

आनन्दानुगत

आनन्दानुगत समाधि का उल्लेख करते हुए भाष्यकार व्यास ने कहा है--'आनन्दो ह्लादः' अर्थात् ह्लाद को ही आनन्द कहते हैं। अतः चित्त की स्थूल विषयों में भावना करने पर जो आनन्द या ह्लाद होता है, चित्त की उस आनन्द से युक्त अवस्था को ही आनन्दानुगत समाधि कहते हैं। इस प्रकार आचार्य ने आह्लाद मात्र को ही सुख रूप समाधि कहा है परन्तु किन-किन स्थूल विषयों में यह सुख प्राप्त होता है, यह लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अन्य आचार्यों विशेषकर विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र में तद्विषयक मतभेद है। वाचस्पति इन्द्रियमात्र में भावना करने से सुखरूप आनन्द मानते हैं। अर्थात् इन्द्रियमात्र ही सत्त्वांश से उत्पन्न होने के कारण सुखात्मक है, क्योंकि सुख सत्त्वगुण का ही धर्म है। अतः इन्द्रियरूप स्थूल विषय में ही धारणादि संयम करने से आह्लाद या आनन्दानुगत समाधि होती है[2]। इससे भिन्न विज्ञानभिक्षु ने इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी स्थूल पदार्थों का ग्रहण किया है, अर्थात् स्थूल पदार्थों में अनुगत सुख रूप धर्म में धारणादि संयम करने से जो पूर्व के समान ही सुख का पूर्णरूपेण साक्षात्कार होता है--चित्त की तादृश अवस्था को ही आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं[3]। इन्द्रिय-

---

१ 'अस्मिन्नेवालम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते'। पृ०७

२ 'इन्द्रिये स्थूलालम्बने चित्तस्यामोगो आह्लादः आनन्दः। प्रकाशशीलतया खलु सत्त्वप्रधानादहंकारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि'। पृ०५४

३ 'चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखस्वरूपे चार्थे धारणादिक्रमेण यः पूर्ववदेव विशेषतः सुखाकारसाक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते'। --योगसार, पृ०२०

मात्र का ग्रहण वितर्कानुगत समाधि के स्थूल तत्वों में ही हो जाता है । अत: सूक्ष्म होने से इस प्रसंग में इन्द्रियों के कारण का ही ग्रहण है ।साथ ही इन्द्रियों को सूक्ष्म रूप से इस समाधि में ग्रहण करने में कोई प्रमाण भी नहीं है । नागोजी ने भी वाचस्पति मिश्र के इस मत का खण्डन किया है ।

अस्मितानुगत

संप्रज्ञात समाधि का चतुर्थ और अन्तिम प्रकार है अस्मितानुगत समाधि । चित्त का जो अस्मिता रूप आभोग है, उसी से अनुगत समाधि अस्मितानुगत कहलाती है । प्रश्न यह है कि अस्मिता क्या है ? अस्मिता का उल्लेख करते हुए पतंजलि ने द्वितीय पाद के ६ सूत्र में लिखा है-- `दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता` अर्थात् दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि आदि इन दोनों की परस्पर भिन्नता होने पर भी इनमें ऐक्य की सी बुद्धि रखना अर्थात् दृक् को दर्शनादि रूप का समझना ही अस्मिता कहलाता है । अत: इन विविध शक्तियों के धर्मों में पार्थक्य न कर सकना वस्तुत: अस्मिता शब्द का वाच्य है । ऐसी अस्मिता रूप वृत्ति में भावना करने पर ही अस्मितानुगत समाधि होती है । अस्मिता शब्द को प्राय: आचार्यों ने अहंकार रूप ही कहा है । वस्तुत: इन दोनों में अल्प भेद होने पर भी इस स्थल पर अस्मिता शब्द से अहंकार का ही ग्रहण उपयुक्त प्रतीत होता है । अत: अहंकार में `अहमस्मि` इत्याकारा वृत्ति अर्थात् `अहं पुरुष:` इस प्रकार पुरुषमात्रविषयक वृत्ति का ही ग्रहण है । अहंकार ही इन्द्रियादि का कारण और सूक्ष्मतर भी है । यद्यपि अस्मिता में वृत्ति अभेदात्मक सी होती है परन्तु इसी वृत्ति पर भावना कर लेने पर इनकी भिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् `अहं देहादिभिन्नोऽस्मि` इत्याकार अहं प्रकारक या पुरुषमात्रविषयक

वृत्ति पर भावना करने से अस्मितानुगत समाधि होती है[1]। नागोजी ने लिखा है--"विविक्तचैतनाकारस्यैवास्मिताशब्देनोपलक्षणान्नदनुगतः सास्मित इति" अस्मितानुगत समाधि का उल्लेख करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं--"अस्मिता प्रभवानीन्द्रियाणि। तेनैषामस्मिता सूक्ष्मं रूपम्। सा चात्मना गृहीत्वा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्।" समाधि की इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् कुछ अन्य ज्ञातव्य नहीं रह जाता, सांख्य योगदर्शनों में पुरुष ही एकमात्र चित्तत्व है, उसी का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, अतः इस समाधि की अवस्था में उस चित् तत्त्व का भी ज्ञान हो जाने पर कुछ ज्ञातव्य शेष रहने का प्रश्न नहीं उठता। अतः समाधि की इस अवस्था में विवेकज्ञान या ख्याति हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त चार समाधियां वस्तुतः संप्रज्ञात समाधि के प्रकार नहीं है वरन् ये तो एक मूल समाधि का चार सोपान है, अर्थात् ये अवस्थाएं क्रमशः प्राप्य हैं न कि भिन्नक्रम से। सर्वप्रथम स्थूल तत्पश्चात् सूक्ष्म तत्पश्चादेव सूक्ष्मतरानन्दादि समाधियां होती हैं। साथ ही समाधि के चतुर्थ सोपान में वितर्क, विचार और आनन्दादि का सर्वथा अभाव रहता है अर्थात् इन तीनों अवस्थाओं पर जय प्राप्त कर लेने पर इनके चिन्तन का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु प्रथम वितर्कानुगत में विचार आनन्द और अस्मिता इन त्रिविध रूपों का भी अस्पष्ट चिन्तन होता ही है। इसी प्रकार विचारानुगत में भी वितर्क को छोड़कर अन्य दो आनन्द और अस्मिता का और आनन्दानुगत में अस्मितामात्र का चिन्तन होता रहता है। परन्तु

---

[1] "एक एतात्मास्यां विषयत्वेनास्ति इत्येकात्मिका (तथा चोक्तम्) एकालम्बने या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् सादात्कारोऽस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः।" --योगवार्तिक, पृ० ४७

अस्मितानुगत में ज्ञान प्राप्त हो जाने पर स्थूलविषयक समाधियों का सर्वथा अभाव ही है ।

(ग) धर्ममेघ समाधि

संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को ही वस्तुत: धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्ममेघ समाधि क्या है? जैसा कि धर्ममेघ शब्द से ही स्पष्ट है--`धर्मं विवेकख्यातिं मेहति वर्षति इति धर्ममेघ:` अत: जो धर्म की वृष्टि करने वाला है उसे ही धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्म का अर्थ ज्ञान से है ।[१] इस अवस्था में ज्ञानमात्र ही शेष है ।चित्तपुर्णत: विवेकज्ञाना-कारित होता है,अत: इसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं । धर्ममेघ समाधि का लक्षण करते हुए पतंजलि ने लिखा है--`प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:` अर्थात् प्रसंख्यान या विवेकज्ञान का अभ्यास करने वाले योगी की विविध सिद्धि आदि प्राप्ति की इच्छा से रहित होने पर भी अर्थात् सर्वथा विरक्त या रागशून्य हो जाने पर भी निरन्तर ज्ञान का प्रवाह होने से धर्ममेघ नामक समाधि होती है । अर्थात् जिस अवस्था में साधक विवेकज्ञान से भी सर्वथा निस्पृह हो जाता है साथ ही ज्ञान के फल रूप से प्राप्त होने वाली विविध अणिमालघिमादि सिद्धियों में भी लिप्सा नहीं रखता, ऐसे साधक को जो स्वत: ज्ञान प्राप्त है अर्थात् ज्ञान का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है,अत: ज्ञान रूप फल देने के कारण ही इस समाधि को धर्ममेघ समाधि कहते हैं । इस प्रकार सर्वथा विरक्त या अनुरागरहित उस योगी को विवेकज्ञान भी नहीं होता क्योंकि वह भी ज्ञान रूप होने से चित्त की वृत्ति ही है, अत: वृत्ति त्रिगुणात्मक होने से दु:खात्मिका ही है,अत: ऐसे विवेकज्ञान के प्रति भी अहं भावना पर ही

---

१ `धर्ममेघमिमं प्राहु: समाधि: योगविद्भा: ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारा सहस्रश: ।।
--१।६० ,पृ०६०

परवैराग्य या यह कहिए कि असंप्रज्ञात योग की अवस्था होती है[1]। इस प्रकार इस अवस्था को प्राप्त योगी को जीवन्मुक्ति प्राप्त रहती है अर्थात् मृत्यु न होने पर भी या संसार में जीवित रहने पर भी वह सर्वथा अनुरक्त या विरक्त होकर जीवित रहता है और निष्कामी के समान कर्म करने से कर्मफलों से उसका सम्बन्ध छूट जाता है, परन्तु पूर्वकृत प्रारब्धादि कर्मों के फल भोग रूप से वह जीवन धारण करता है। अतः जीवित रहता हुआ भी पूर्णतया मुक्त है। अर्थात् असंप्रज्ञात योग धर्ममेघ समाधि का नान्तरीयक है। संप्रज्ञात की पराकाष्ठावस्था या धर्ममेघावस्था में योगी के पूर्ण विरक्त होने पर भी ज्ञानप्रवाह शेष है। अतः धर्ममेघ समाधि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात की मध्यावस्था है और न असंप्रज्ञात से उसकी केवल यही भिन्नता है कि असंप्रज्ञातकाल में ज्ञान भी शेष नहीं रहता अथवा ज्ञान के प्रतिभी पूर्ण वितृष्णा हो जाने के कारण संस्कारमात्र ही शेष है। संस्कारमात्र से सूत्रकार का क्या अभिप्राय है— ज्ञान संस्कारों अथवा अन्य किसी से यह जानना आवश्यक है। साधारण रूप से तो "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः"[2] इस सूत्र में प्रयुक्त संस्कारशेष पद का सभी आचार्यों ने प्रज्ञारूपसंस्कारों से अर्थ लिया है। अर्थात् ज्ञान के प्रति भी अरुचिबुद्धि हो जाने पर ज्ञान के संस्कारमात्र शेष होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है, परन्तु यह प्रारम्भिक असंप्रज्ञातावस्था है। असंप्रज्ञात की परिपक्वावस्था होने पर इन प्रज्ञावृत संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार इन सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर ही इस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं[3]।

---

१ योगसार संग्रह, पृ० २८

२ योगसूत्र, १।१८, पृ० १०७

३ ,, १।५१ पृ० २५६

(घ) असंप्रज्ञात योग

संप्रज्ञात समाधि के पश्चात् धर्ममेघ समाधि की परिपक्वावस्था होने पर साधक का चित्त असंप्रज्ञात योग की ओर उन्मुख होता है।[1] 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' अर्थात् विराम सभी वृत्तियों का निरोध, प्रत्यय-कारण है। अतः वृत्तियों के निरोध के प्रत्यय या कारण का अभ्यास या पुनः पुनः अनुष्ठान करने से जो चित्त की संस्कारमात्रशेषावस्था होती है, उसे ही असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। अतः संप्रज्ञात समाधि में जो रजस् तमोवृत्तियों का निरोध होने पर भी सात्त्विक वृत्तियों का अस्तित्व रहता है अर्थात् विवेकज्ञान रूप सात्त्विक वृत्ति शेष है, परन्तु असंप्रज्ञातकालिक चित्त में ज्ञानात्मक वृत्ति का भी सर्वथा अभाव या निरोध हो जाता है। इस विवेकज्ञान को भी दुःखरूप जानकर उसके प्रति भी साधक विरक्त हो जाता है। अतः इस अवस्था में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। उन सभी निरुद्ध वृत्तियों का संस्कारमात्र चित्त में अवशिष्ट रहता है। वृत्तिहीनावस्था होने से ही इसे असंप्रज्ञात नाम दिया गया। योगवार्तिक-कार ने इस शब्द का विग्रह करते हुए लिखा है--[2] 'न विद्यतेऽत्र योगे ज्ञायते इति विग्रहेण असंप्रज्ञातनामा चेति' इस योग को ही पंचशिख आदि आचार्यों ने निर्बीज संज्ञा भी दी है। निर्बीज का अर्थ है जो बीज से हीन हो या जिस अवस्था से बीज निकल गए हों। बीज क्या है, इस विषय में कुछ मतभेद है--[3] बीज शब्दका अर्थ वाचस्पति मिश्र ने क्लेशकर्माशयादि से लिया है--'क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगाः बीजं तस्मान्निर्गतः इति च निर्बीजः' अर्थात् क्लेशमूलक

---

१ योगसूत्र १।१८, पृ० १०७

२ योगवार्तिक, पृ० १५

३ योगतत्त्ववैशारदी, पृ० १२

विभिन्न कर्माशय जाति,आयु,भोगादि ही बीज संज्ञा से कहे जाते हैं । इन बीजों के रहित होने के कारण इस असंप्रज्ञातावस्था को निर्बीज समाधि कहते हैं । अर्थात् कर्म सदैव संस्कार रूप से ही चित में रहते हैं । वाचस्पति मिश्र का 'बीज' शब्द से तात्पर्य उन संस्कारों के निरोध से है,जो फलोन्मुख या भोग संस्कार हों । इनसे भिन्न प्रज्ञासंस्कार अथवा जो संस्कार फल देने योग्य न हों ऐसे संस्कार शेष हों । निर्बीज का वाचस्पतिकृत यह अर्थ असंप्रज्ञात की प्रारम्भावस्था वज्र में घटित होता है । इस अवस्था में जात्यादि व्युत्थान संस्कारों का निरोध होने से प्रज्ञाकृत संस्कारमात्र शेष है । परन्तु इनसे भिन्न विज्ञानभिक्षु ने बीज शब्द का अर्थ विभिन्न संस्कारों से लिया है और वे लिखते हैं--'असंप्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्त-स्थाशेषतो दाहात् निर्बीजः संज्ञा ।'[1] अतः असंप्रज्ञातकाल में चित्त के बीज भूत विभिन्न संस्कारों का यहां तक ज्ञान या प्रज्ञाकृत संस्कारों का पूर्णरूपेण दाह या निरोध हो जाने के कारण इस अवस्था को निर्बीज कहा जाता है । विज्ञानभिक्षुकृत यह लक्षण असंप्रज्ञात की पराकाष्ठावस्था को प्रकट करता है । क्योंकि वे व्युत्थान संस्कारों के साथ-साथ प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध स्वीकार करते हैं,अर्थात् इन सभी संस्कारों का पूर्ण निरोध होने पर निरोध संस्कारमात्रशेषावस्था ही निर्बीज समाधि है । साथ ही इस अवस्था विशेष में कोई आलम्बन या ध्येय विषय भी नहीं रह जाता । संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा होने पर ही ध्येयविषयक ज्ञान निरुद्ध हो जाता है । अतः हरिहरानन्द ने बीज का अर्थ ध्येयविषयक से ही लिया है[2] । अर्थात् ध्येयविषय रूप बीज का अभाव होने से इस अवस्था को निर्बीज कहते हैं । इस प्रकार यद्यपि उपर्युक्त आचार्यों के बीज के अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है तथापि इन सभी का मत

---

१ योगवार्तिक,पृ० १५

२ 'ध्येयविषयरूपस्य बीजस्याभावात् निरोधः समाधिः निर्बीजः' भास्वती,पृ० १७

उपयुक्त ही है । अतः असंप्रज्ञात योग को ध्येय या आलम्बनहीन साथ ही सभी वृत्तियों और तज्जन्यसंस्कारों से रहित होने से निर्बीज कहने से ही स्पष्ट हो जाता है कि संप्रज्ञात योग अवश्य ही सबीज होगा, क्योंकि इस अवस्था में स्थूल सूक्ष्म पदार्थों ध्येय विषय या आलम्बन रूप से विद्यमान रहता है और उसका ज्ञान भी होता रहता है । सूत्रकार ने इन चतुर्विध संप्रज्ञात समाधियों[1] को सबीज संज्ञा दी है—'ता एव सबीजः समाधिः' भाष्यकार व्यास ने सबीज का अर्थ 'बहिर्वस्तुबीजा इति' लिया है । अर्थात् महदादि बाह्य पदार्थ इन समाधियों में ध्येय या आलम्बन रूप से रहते हैं । अतः ये सबीज समाधि हैं । इनसे भिन्न असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि होती है । निर्बीज शब्द का अर्थ इस प्रकार[2] 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' अर्थात् तस्यापिप्रज्ञाकृतसंस्कारों का भी निरोध हो जाने पर सभी वृत्तिसंस्कारों का निरोध हो जाता है । सर्वनिरोधावस्था होने के कारण इस अवस्था को निर्बीज कहते हैं ।

असंप्रज्ञात समाधि के प्रकार

भवप्रत्यय असंप्रज्ञात योगः-

संप्रज्ञात के समान असंप्रज्ञात योग के दो प्रकार हैं । इन दोनों का उल्लेख भिन्न-भिन्न योगियों के लिए हुआ है—केवल्येच्छुक योगियों के लिए उपाय प्रत्ययरूप असंप्रज्ञात समाधि और विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों के लिए भवप्रत्यय समाधि होती है । ये दोनों प्रकार क्या हैं इन्हें स्पष्ट करना अत्यन्तावश्यक है । सुगमता के कारण सूचीकटाहन्याय से सूत्रकार ने भवप्रत्यय का ही पहले उल्लेख किया है । सूत्र १।१९ में सूत्रकार कहते हैं—'भव-प्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों की असंप्रज्ञात

---

१ योगसूत्र १।४६, पृ० २४१

२ योगसूत्र १।५१, पृ० २५६

समाधि भवप्रत्यय रूप होती है,। वास्तविक योग नहीं । भव प्रत्यय क्या है ? इस विषय में विविध मत हैं । प्रत्यय का अर्थ है कारण ,परन्तु भव का अर्थ विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न किया है । वाचस्पति ने भव से तात्पर्य अविद्या से लिया है । अविद्या रूप कारणवाला जो वृत्तिनिरोध होता है,उसे तो भवप्रत्यय समाधि कहते हैं । उनसे भिन्न भोजराज ने भव का अर्थ इस प्रकार किया है — जन्म रूप कारण वाला अर्थात् भव से तात्पर्य जन्म से है । उनके अनुसार भव का अविद्या अर्थ करने पर अविद्यायुक्त प्राणी में असंप्रज्ञात योग का साधनभूत परवैराग्य ही सम्भव न होगा । परवैराग्य तो तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा है । अत: ऐसे प्राणियों को परवैराग्य के अभाव में योग भी असम्भव ही होगा । अत: भव का जन्म अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है । भवप्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने योगसार में लिखा है--'प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानादोत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसंप्रज्ञातो विदेहप्रकृतिलयानां देवतादिविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते जन्ममात्रकारणत्वात् ।'[1] पूर्वजन्मों में साधनों के अनुष्ठान करने से जो विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों को जन्मसिद्ध ज्ञानादि से इच्छामात्र से जो असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है उसे ही भवप्रत्यय समाधि कहते हैं । अत: तादृश उपासक संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त से कुछ काल तक कैवल्य पद के समान आनन्द सा प्राप्त करते रहते हैं और उन कर्मफलों के विपाकोन्मुख होने पर पुन: संसार में प्रवृत्त होते हैं । इस प्रकार इन उपासकों की वृत्तियां अवश्य ही समाप्त हो जाती हैं,परन्तु उनके वृत्तिहीन होने पर भी वस्तुत: विवेकख्याति या ज्ञान न होने के कारण उनका चित्त साधिकार होता है और कार्यारम्भण रूपअधिकार से युक्त होने के कारण पुन: ये सांसारिक कार्यों

---

१ योगसार,पृ०३३

में प्रवृत्त हो जाते हैं । अत: यह समाधि वस्तुत: मोक्षोपयोगी नहीं, इसलिए यह योग कहलाने का अधिकारी नहीं, वस्तुत: ये योग नहीं परन्तु इसे योग की संज्ञा दी जाती है । योग की वास्तविकता इसमें नहीं है । अत: भवप्रत्यय समाधि असंप्रज्ञात समाधि है योग नहीं । यह समाधि योगियों का धर्म भी नहीं हो सकती । यह अवस्था संस्कारमात्र शेष होने से समाधि है । परन्तु योग नहीं है । इस समाधि से युक्त व्यक्ति वास्तविक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, हां बुद्धिरहित संस्कारमात्र शेष होने से कैवल्य का सा अनुभव करते हैं और कर्मों के फलोन्मुख होने पर पुन: संसार में आ जाते हैं । अब प्रश्न यह है कि विदेह और प्रकृतिलीन उपासक हैं कौन ? जिनके लिए इस योग का निरूपण हुआ है ।

विदेह

विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों के विषय में द्विविध मत प्रचलित हैं--एक तो योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु का और दूसरा तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति का । विज्ञानभिक्षु ने योगसार में विदेह उपासकों का इस प्रकार उल्लेख किया है--"तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिंगदेहेनाखिल-व्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भोपास्य:"[1] अर्थात् जो उपासक स्थूल शरीर के बिना ही लिंग या केवल सूक्ष्म शरीर से सम्पूर्ण व्यापार करने में समर्थ होते हैं, उन्हें ही विदेह कहते हैं-- उनसे भिन्न वाचस्पति ने विदेह का लक्षण करते हुए लिखा है--"भूतेन्द्रियाणामन्यतमात्मकल्पेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तत्साधनावासितान्त:करणा: पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीना: संस्कारमात्रावशेषकर्माण: बाह्यो-पकरणशरीररहिता: विदेहा:[2] । अर्थात् जो उपासक भूत या इन्द्रियों आदि षोडश

---

१ योगसार, पृ०३३

२ योगतत्त्ववैशारदी, पृ०५६

पदार्थों में से किसी तत्त्व में आत्म की भावना करते हुए उस वासना से वासित अन्तःकरण वाला होकर पिण्डपात या शरीरपात हो जाने पर इन्द्रियादि में ही लीन होकर संस्कारमात्रावशिष्ट से चित्त वाले स्थूलशरीर से रहित होते हैं ऐसे साधकको विदेह उपासक कहते हैं अर्थात् तादृश उपासक इन्द्रिय या भूतोंको ही परमतत्व समझता है । इससे भिन्न अन्य तत्त्वों के ज्ञान की उसको कोई आकांक्षा भी नहीं होती । आचार्य भोज ने इनका लक्षण इस प्रकार किया है--'तस्मिन्नेव समाधौ यो बद्धधृत्यस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति[1] ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः' इस लक्षण में 'तस्मिन्नेव समाधौ' शब्दों से सानन्द संप्रज्ञात समाधि का ग्रहण किया गया है क्योंकि इनके पूर्व की पंक्तियों में आचार्य ने इसी समाधि का विवेचन किया है । अतः आनन्द समाधि में ही धैर्यपूर्वक भावना करने वाले अर्थात् आनन्द[2] को ही परमतत्व रूप से स्वीकार करके प्रकृति पुरुषादि अन्य तत्वों के ज्ञान की इच्छा न करने वाले साधक विदेह कहलाते हैं, क्योंकि उनके चित्त से अपने शरीर के अभिमान की भावना या वृत्ति निरुद्ध हो चुकी है । विदेहोपासकों को नागोजी भट्ट ने हेय भी कहा है ।

प्रकृतिलीन

जो उपासक प्रकृति को ही परम तत्व समझते हैं अर्थात् प्रकृति में ही समाधि परिनिष्ठित करते हैं, ऐसे उपासकों को प्रकृतिलीन उपासक कहते हैं । विज्ञानभिक्षु ने लिखा है[3]--'ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबलपरमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोट्यस्ते प्रकृतिलयाः उच्यन्त इति' जो प्रकृतिविशिष्ट परमात्मा की उपासना

---

१ भोजवृत्ति, पृ०७

२ आनन्द पर आनन्दानुगत समाधि के प्रसंग में विचार हो चुका है । आनन्द के विषय में आचार्यों में विवाद है । सामान्यतः आनन्द ह्लाद को कहते हैं ।

३ योगवार्तिक, पृ०३३

के कारण ब्रह्माण्ड का भेदन करके महत्तत्वपर्यन्त सम्पूर्ण आवरणों को पार कर प्रकृति के आवरण में पहुंच गए हैं । ऐसे उपासक ईश्वर रूप होते हैं और प्रकृतिलीन कहे जाते हैं । इनसे भिन्न वाचस्पति मिश्र ने कहा है[1]-- 'तथा प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकारपंचतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तदासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीनाः ।' अतः अव्यक्त या प्रकृति, महत् अहंकार या पंचतन्मात्र रूप सूक्ष्म तत्वों में से किसी तत्व पर आत्म भावना करके उसकी ही उपासना करके उन्हीं अव्यक्तादि में लीन हो जाता है उसे ही प्रकृतिलीन उपासक कहते हैं । आचार्य भोज[2] इनका लक्षण इस प्रकार करते हैं जो साधक अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि अवस्था से ही सन्तुष्ट है, अर्थात् जिन्हें परमतत्व पुरुष के ज्ञान की इच्छा नहीं है, ऐसे साधकों का चित्त अपने कारण प्रकृति में लय को प्राप्त हो जाता है और वे साधक ही प्रकृतिलीन कहे जाते हैं ।

इस प्रकार इन विविध साधकों की प्रकृति आदि तत्वों में भावना होने से और उनमें पुरुष ज्ञान का सर्वथा अभाव होने से वे तत्वज्ञान प्राप्ति में सर्वथा असमर्थ होते हैं और तत्वज्ञान के अभाव में मोक्ष तो उनके लिए सर्वथा असम्भव ही है । अतः ऐसे साधक वास्तविक मोक्ष प्राप्त न करके समाध्यवस्था के बाद मोक्ष के समान आनन्द प्राप्त करते हुए कर्म संस्कारों के फलोन्मुख होने पर पुनः इस संसार में प्रवृत्त होते हैं ।

उपायप्रत्ययअसंप्रज्ञात योग

भव प्रत्यय समाधि योगियों के लिए उपयोगी न होने से पतंजलि ने उपायप्रत्यय रूप समाधि का भी उल्लेख किया और व्यास ने भी

---

१ योगतत्ववैशारदी, पृ०६०

२ राजमार्तण्ड , सूत्र १।१७, पृ०८

'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति' कहकर यह स्पष्ट कह कर दिया कि केवल्येच्छुक अथवा मुमुक्षु उपासकों या योगियों को उपायप्रत्यय रूप समाधि का अनुष्ठान करना चाहिए। उपाय प्रत्यय का अर्थ है-- उपाय ही है साधन जिस समाधि का। भोज ने भी उपायप्रत्यय को इस प्रकार स्पष्ट किया है-- 'विदेहप्रकृतिलय-व्यतिरिक्तानां श्रद्धादिपूर्वकः, श्रद्धाद्यः पूर्वं उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः'[1] ते च श्रद्धाद्यः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते अर्थात् श्रद्धादि उपायों से साध्य समाधि ही उपायप्रत्यय समाधि है। श्रद्धादि उपायों की गणना पतंजलि ने १।२० सूत्र में की है-- श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ये संप्रज्ञात योग के विभिन्न उपाय हैं। इन उपायों का क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिए। क्रमशः इन सभी के अनुष्ठान से अन्ततोगत्वा निरोध समाधि प्राप्त होती है। इन सभी उपायों को आचार्यों ने स्पष्ट किया है।

भाष्यकार कहते हैं-- 'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः' अर्थात् चित्त के संप्रसाद या वैशारद्य का नाम ही श्रद्धा है। अतः चित्त की योगविषयक प्रसन्नता को ही श्रद्धा कहते हैं। यह उपाय योगियों की माता के समान जन्मादि अनर्थों से रक्षा करता है। इस प्रकार श्रद्धावान् विवेकाभिलाषी योगी को वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य का अर्थ भोज ने उत्साह से लिया है-- 'वीर्यमुत्साहः' भास्वतीकार ने वीर्य को बल भी कहा है। अर्थात् चित्त के क्लान्त होने या विषयान्तर में दौड़ने पर जिस बल के द्वारा उसे पुनः साधन की ओर लौटाया जाता है, वही वीर्य होता है। इस प्रकार वीर्यवान् योगी में स्वतः स्मृति उत्पन्न होती है-- इस स्थल पर स्मृति का स्मृति रूप चित्तवृत्ति अर्थ न लेकर ध्यान अर्थ किया है। वाचस्पति लिखते हैं-- 'स्मृतिर्ध्यानमिति'[2] परन्तु भोज ने चित्तवृत्ति रूप अर्थ ही ग्रहण किया है-- 'स्मृतिरनुभूतासंप्रमोषः'[3] परन्तु यहां ध्यान अर्थ लेना

---

१ भोजवृत्ति, पृ०६
योगतत्त्ववैशारदी, पृ०६२
३भोजवृत्ति, पृ०६

ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि भाष्यकार ने स्मृति के पश्चात् चित्त के समाधान की बात कही है सूत्र में स्मृति के बाद समाधि कही गई है अर्थात् स्मृति या ध्यान प्राप्त होने पर चित्त समाधि के योग्य हो जाता है अर्थात् तत्पश्चादेव चित्त समाध्यवस्था को प्राप्त होता है । इस प्रकार समाहित चित्तवाले योगी को विवेकज्ञान का अधिगम होता है, विक्षिप्त चित्त होने पर नहीं । विवेकज्ञान की पराकाष्ठा को ही प्रज्ञा कहते हैं । इसी प्रज्ञा को ऋतम्भरा भी कहते हैं ।[1] `ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा` अर्थात् तदवस्था में सत्यस्वरूप का ज्ञान हो जाने के कारण ऐसे ज्ञान को ऋतम्भरा कहते हैं-- अर्थात् `ऋतं सत्यं बिभर्ति इति ऋतम्भरा` इस प्रकार असंप्रज्ञात योग की प्राप्ति के उपर्युक्त उपायशास्त्र में प्रतिपादित है, जिनका योगी को अनुष्ठान करना चाहिए । इस प्रकार असम्प्रज्ञात योग के उपर्युक्त दो प्रकार ही हैं और यही चित्तवृत्ति निरोध का चरम फल है ।

समापत्ति

इस प्रकार विभिन्न परिकर्मादि के द्वारा स्थिति को प्राप्त चित्त का स्वरूप और विषयादि भिन्न हो जाते हैं और ऐसे साधक को चित्तस्थैर्य का अभ्यास हो जाने पर समापत्ति की प्राप्ति होती है । समापत्ति का अर्थ है--`समापत्तिः सम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिः प्रत्यक्तावृत्तिरित्यर्थः`[2] अर्थात् आलम्बन के आकार को सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर लेना ही समापत्ति है । सूत्रकार १।४१ सूत्र में एतादृश लक्षण करते हैं--`क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः` अर्थात् किस साधक के चित्त की (राजस और तामस) वृत्तियां क्षीण हो गई हैं, ऐसे साधक के चित्त की ग्रहीता ग्रहण

---

१ योगसूत्र १।४८, पृ० २४७

२ योगवार्तिक , पृ० १७८

या ग्राह्य विषयों में स्थिति होती है तथा चित्त पूर्णरूपेण उन विषयों के आकार का हो जाता है चित्त की वह अवस्था समापत्ति कही जाती है अर्थात् अर्थात् जिस प्रकार अभिजात मणि अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल होता है और जिस किसी भी पदार्थ के सन्निकर्ष को प्राप्त होता है । उसी विषय के आकार को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेता है उसी मणि के समान जिस साधक का चित्त राजस तथा तामस वृत्तियों के सम्यग्रूपेण निरुद्ध हो जाने के कारण अत्यन्त निर्मल हो गया है, ऐसे चित्त का ध्येय पदार्थ में पूर्णरूपेण उपरक्त होना या तदाकाराकारित होना ही समापत्ति है । इस प्रकार इससूत्र से तो ऐसा प्रतीत होता है कि गृहीतृविषयक, ग्रहणविषयक और ग्राह्यविषयक ये त्रिविध विषय होने से त्रिविध समापत्तियां होती हैं, परन्तु आचार्यों ने मुख्यत: वितर्क और विचार रूप अथवा सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा से चतुर्विध समापत्तियां स्वीकार की हैं । इनमें प्रथम दो व स्थूलविषयक और अन्त की दोनों सूक्ष्मविषयक है । अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त चतुर्विध समापत्ति स्थूल और सूक्ष्म विषयों को विषय बनाने के कारण ग्राह्य विषयक ही कही जायगी, अत: गृहीता और ग्रहण विषयक समापत्तियां कौन सी हैं । अधिकतर आचार्यों ने ये ही चार प्रकार स्वीकार किये हैं और इनमें से सूक्ष्मविषयक सविचारा में ही गृहीता और ग्रहण को भी स्वीकार किया है, क्योंकि ये भी सूक्ष्म विषय ही हैं । जिस प्रकार, अहंकार का कार्य तन्मात्रांस० सूक्ष्म है उसी प्रकार इन्द्रियां भी अहंकार का कार्य होने से सूक्ष्म अत: सविचारा समापत्ति का ही विषय है । उसी प्रकार गृहीता पुरुष भी । भाष्यकार से भिन्न वाचस्पति ने अष्टविध समापत्तियां स्वीकार की हैं । उपर्युक्त ग्राह्यविषयक चार ग्रहण विषयक दो(सविचारा और निर्विचारा) और गृहीतृविषयक भी दो । इस प्रकार आठ समापत्तियां हैं[१] ।

---

१ तेन ग्राह्ये चतस्र: समापत्तयो गृहीतृग्रहणयोश्च चतस्र एव इत्यष्टौ सिद्धा भवन्तीति -- सूत्र १।४६,पृ०१२३

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु ने ५ ही समापत्ति स्वीकार की है । उनके अनुसार ग्राह्य और ग्रहण विषयक चतुर्विध और गृहीतृविषयक एक इस प्रकार ५ प्रकार की समापत्तियां हैं[१] । परन्तु वस्तुत: यह मत भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि सवितर्का आदि चारों में ही गृहीतृविषयक समापत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है । अत: उनका पृथक्ग्रहण व्यर्थ ही है ।

(क) सवितर्का समापत्ति

जहां तक समापत्तियों के स्वरूप का प्रश्न है अधिक कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं । सूत्रकार ने पृथक्-पृथक् सूत्रों में[२] इनका लक्षण किया है । 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:' अर्थात् जब शब्द, अर्थ, (शब्द का वाच्य विषय या पदार्थ) और उस शब्दार्थ से उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रकार के विकल्प जब मिश्रित होकर अर्थात् अभेद रूप से साधक के चित्त में उपस्थित हों अर्थात् जब विषय, ज्ञान और पदार्थ के वाचक शब्द में भेद होने पर कोई भेद प्रतीत न हो रहा हो उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं । इस अवस्था में ये तीनों अभेद रूप से चित्त में भासित होते रहते हैं जैसे यदि गौ शब्द का उच्चारण किया जाय यह हुआ शब्द, उस शब्द का वाच्य जिस पदार्थ या सास्नादियुक्त वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है यह उस शब्द का अर्थ हुआ । साथ ही उस प्रस्तुत पदार्थ के आकार की जो साधक की चित्तवृत्ति हुई, अत: उसकी बुद्धि जब गो के आकार में परिणत हो गई यह ज्ञान हुआ । इस प्रकार जब 'अयं गौरिति' कहा जाय उस समय उसमें

---

१ 'तस्मादवान्तरभेदेन पंच समापत्तय: —ग्राह्यग्रहणयो: स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काश्च सविचारा श्चतस्र:, पंचमी च गृहीतृविषयेति ।', पृ० १२४ ।

२ योगसूत्र १।४२, पृ० २४१

'गौ' शब्द गौ अर्थ, और गौवर्थविषयक ज्ञान इन तीनों का अभेदात्मक ज्ञान हो रहा है उस अभेद में ही जब चित्त समाहित होकर अभिन्नगवाद्याकारित हो जाता है, उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं । इनमें वस्तुत: शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न हैं, परन्तु उसमें मिथ्यारूप से अभेद बुद्धि होती है । अब प्रश्न यह है कि वस्तुत: सवितर्का के विषय कौन पदार्थ हो सकते हैं । सूत्रकार ने तो सूत्र में ऐसा कोई उल्लेख न किया और भाष्यकार ने इस पर कोई प्रकाश न डाला परन्तु सूत्र १।४६ के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं-- तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्का निर्वितर्का, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारा निर्विचारा इति... [१] । भाष्यकार की इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि सवितर्का समापत्ति का विषय स्थूल पदार्थ ही हैं सूक्ष्म नहीं । इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने भी सविचारा निर्विचारा समापत्तियों का स्वरूप निर्धारण करते हुए 'स्तयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' [२] सवितर्कादि से इनकी यही विशेषता है । यदि ये भी सूक्ष्मविषयक होती तो उनके लक्षण सूत्रों में भी सूक्ष्मविषय पद का प्रयोग होता । योगवार्तिक में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी ऐसा ही लिखा है [३] । अत: यह स्पष्ट है कि इस समापत्ति का विषय स्थूल पदार्थ या पंचभूतात्मक सभी पदार्थ हैं । इस प्रकार इन्द्रियगोचर इन त्रिविध पदार्थों का उनके शब्द और शब्दजन्य ज्ञान की अभेदरूपेण चित्त में उपस्थिति ही सवितर्का समापत्ति है ।

(ख) निर्वितर्का समापत्ति

सवितर्का के समान निर्वितर्का भी स्थूलपदार्थों को ही विषय बनाती है, परन्तु इस अवस्था में चित्त को यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है । सवितर्का में विकल्पात्मक या मिथ्याज्ञान । इसका लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं--'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' [४]

१ योगभाष्य १।४६, पृ० २४१

२ 'एतेन पूर्वस्या: स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति' --योगसूत्र १।४४, पृ० भोजवृत्ति, पृ० १७

३ 'तदेव स्थूलविषये सूत्रद्वयेन समापत्तिद्वैविध्यं विभागं कृत्वा--तया सवितर्कानिर्वितर्कारूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या सूक्ष्मविषया चि... । योगसूत्र, १।४४, पृ० १२०

४ योगसूत्र १।४३, पृ० २२०

अर्थात् जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प समाप्त हो जायं साथ ही स्मृति, आगम और अनुमानादि प्रमाणों से उत्पन्न विकल्प भी पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाय तथा ग्राह्य विषय अपने स्थूल स्वरूप से जब चित्तवृत्ति में न भासित हो, अर्थात् जब चित्तवृत्ति अपने ज्ञान स्वरूप को पूर्णतया त्यागकर पदार्थ के स्थूल रूप के आकार को प्राप्त कर लेती है तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं । सूत्र में प्रयुक्त स्मृति शब्द का अर्थ भाष्यकार और अन्य वृत्तिकारों ने 'शब्दसंकेतश्रुतानुमानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ' इस प्रकार किया है । अर्थात् शब्दसंकेत या शब्दार्थ-ज्ञान श्रुत--आगम और अनुमान ज्ञान रूप विविध विकल्पात्मक या अध्यास या मिथ्यात्मक स्मृतियों के निवृत्त हो जाने पर जब चित्त विषयगोचर और विषय या ध्येय के भी स्थूलरूपगोचर हो जाता है अर्थात् वह वृत्यात्मक या ज्ञानात्मक रूप को भी भूल सा जाता है चित्त की ऐसी अवस्था को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं । इस प्रकार सवितर्का में तो शब्द, शब्दार्थ और तज्जन्य ज्ञान इनका मिश्रित - रूपेण भान होता है और वह विकल्पात्मक है, परन्तु निर्वितर्का में शब्दार्थ या ध्येयमात्र का ही ज्ञान होता है । अन्य ग्रहणादि का नहीं । अतः यह समापत्ति संकीर्णता से रहित है । अतः इस समापत्ति के यथार्थविषयक होने से आचार्यों ने वर प्रत्यक्ष भी कहा है ।

(ग) सविचारा और निर्विचारा समापत्ति

अब सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों का प्रसंग है । इन दोनों का लक्षण एक ही सूत्र में किया गया है—'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता'[1] इसी से सूक्ष्म विषयक सविचारा, और निर्विचारा समापत्तियां भी स्पष्ट हो गईं । सूत्र में प्रयुक्त एतया पद से इसके पूर्व के समापत्ति सूत्र(निर्वितर्का समापत्ति) का ग्रहण किया

---

१ योगसूत्र १।४४, पृ० २३२

गया है अर्थात् जिस प्रकार सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियां होती हैं उसी प्रकार सविचारा और निर्विचारा भी । भिन्नता केवल इस बात की है कि प्रथम दो स्थूलविषयक और अन्तिम दो सूक्ष्मविषयक । अब प्रश्न उठता है कि सूक्ष्म विषय कौन हैं-- इनका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने 'सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिंगपर्यवसानम्'[1] इस सूत्र से किया है, अर्थात् वस्तुभूतों (पृथ्वी, अप्, तेजादि) के सूक्ष्म रूप तन्मात्राओं से लेकर अव्यक्त या लिंग पर्यन्त अर्थात् अहंकार एकादशेन्द्रियां महत्, और अव्यक्त प्रधान में सभी सूक्ष्म विषय कहे जाते हैं । इस प्रकार सविचारा और निर्विचारा दोनों ही समापत्तियां सूक्ष्मविषयक होती हैं, अर्थात् ये दोनों ग्राह्य, ग्रहण और गृहीता तीनों को अपना विषय बनाती है, क्योंकि तन्मात्राएं ग्रहण इन्द्रियां और गृहीता अहंकार या अस्मिता ये सभी सूक्ष्म विषय हैं । अव्यक्त यद्यपि सूक्ष्मविषयक होती हैं, परन्तु उसमें समापत्ति नहीं होती । समापत्ति तो उसी विषय में होती है, जो व्यक्त हो अव्यक्त में समापत्ति मानने पर तो वह भी व्यक्त हो जायगा । अतः यह समापत्ति का विषय नहीं है ।

अब प्रश्न यह है कि जब सविचारा और निर्विचारा दोनों ही समापत्तियां सूक्ष्मविषयक हैं, तो उनमें अन्तर क्या है ? भाष्यकार कहते हैं-- " तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः स सविचारा इत्युच्यते ।[2]

अर्थात् देश, (स्थान), काल और निमित्त (कारणों) से युक्त सूक्ष्म विषयों या भूतों के सूक्ष्म रूपों (अहंकार> इन्द्रियादि) में जब

---

१ योगसूत्र १।४५, पृ० २३७

२ योगभाष्य, पृ० २३३

चित्त समापन्न होता है । तब सविचारा समापत्ति होती है । इस प्रकार सविचारा समापत्ति काल में भूतसूक्ष्म का तत्कालिक रूप अपने कारणादि सहित चित्तवृत्ति में भासित होता रहता है, परन्तु निर्विचारा समापत्ति में भूतसूक्ष्म के देशकालादि का ज्ञान नहीं होता । जैसा कि भाष्यकार कहते हैं — ' या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु[1] सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारा इति उच्यते' अर्थात् निर्विचारा समापत्ति काल में सविचारा समापत्ति के समान चित्त सूक्ष्मविषयों के भूत, वर्तमान, भविष्यादि काल के धर्मों से संकीर्ण नहीं होता । भूतसूक्ष्म में सभी धर्मों का आश्रय रूपसे युक्त होने की यौगपद्यता बीज या कारण रूप से विद्यमान रहती है । अतः निर्विचारा समापत्ति का विषय अपने शुद्ध रूप में चित्तवृत्ति में भासित होता है । इस प्रकार ये चार ही समापत्तियां हैं । योगसूत्रकार ने इन्हें सबीज समाधि कहा है — ' ता एव सबीजः समाधिः' ता से यहां पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध समापत्तियों का ही परामर्श होता है । इन्हें समाधि क्योंकहा गया? समापत्ति और समाधि एक ही हैं । वस्तुतः समाधि साधक को होती है, परन्तु समापत्ति चित्त को । यदि समाधि और समापत्ति समान हो तो निर्बीज समाधि भी समापत्ति हो सकती है, परन्तु ऐसा नहीं सबीज समाधि काल में ही चतुर्विध समापत्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है । इससे प्रतीत होता है कि संप्रज्ञात समाधिकाल में समापत्ति हो सकती है । अब प्रश्न यह है कि संप्रज्ञात समाधि तो चार प्रकार की हैं—वितर्क, विचार, आनन्द, और अस्मिता । वितर्कानुगत संप्रज्ञातसमाधिकाल में सवितर्का और निर्वितर्का, स्थूलग्राह्यविषयक

---

१ यौगभाष्य, पृ० २३४

समापत्तियां होती हैं । आनन्दानुगत समाधि काल में गृहीतृविषयक सविचारा और निर्विचारा । इस प्रकार सम्पूर्ण संप्रज्ञात समाधि काल में इन चार समापत्तियों का इन्हीं चार में अन्तर्भाव हो जाता है । अत: ये चार ही समापत्तियां अधिक मान्य हैं ।

इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध के पंचमाध्याय में प्रतिपादित विविध उपायों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का उपशम हो जाने पर चित्त के समाध्यादि परिणाम होते हैं और साथही चित्त को विवेकज्ञान प्राप्त होता है और तत्पश्चात् ही ये विविध समाधियां होती हैं ।

वृत्तिनिरोध के अन्य फल

उपर्युक्त समाध्यादि के अतिरिक्त वृत्तिनिरोध के कुछ अन्य फल भी हैं,जिन्हें विभूति इस संज्ञा से कहा गया है । ये विभूतियां साधारण चित्त का धर्म नहीं । साधारण चित्त चंचल होने के कारण किसी भी विषय पर स्थिर नहीं हो सकता और स्थैर्य के अभाव में विभूतियों का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: ये परिशुद्ध या योगापन्न चित्त का धर्म है । योगापन्न से अभिप्राय निरुध्यमान चित्त से है,अर्थात् जिस चित्त की चंचलता या विक्षिप्तता का विविध उपायों या परिकर्मादि से निरोध हो चुका हो । अत: ऐसा चित्त किसी भी विषय पर स्थिर किया जा सकता है । विभूतियों को ही सिद्धि भी कहते हैं । अत: वस्तुत: ये सिद्धियां भी चित्तवृत्तिनिरोध के परिणाम या फल ही हैं,परन्तु मोक्षप्राप्ति में सहायक न होने से अथवा वृत्तिनिरोध का मुख्यफल न होने से ही इनका इस अध्याय में उल्लेख नहीं किया गया । ये सिद्धियां मुमुक्षु साधकों के लिए विघ्न या बाधक हैं,परन्तु व्युत्थान की अपेक्षा ये स्थायी हैं अत: इन्हें सिद्धि कहा गया है,परन्तु समाधि

आदि में ये विघ्न रूप हैं,[1] क्योंकि ये विभिन्न आलम्बन वाली होने से समाहित चित्त वाले योगी व्यक्ति को इन विषयों की ओर प्रवृत्त करती हुई विक्षिप्त करती हैं । अतः एकाग्रता की विरोधी होने से समाधि में अन्तराय रूप हैं । अतः व्युत्थान की अपेक्षा इन्हें सिद्धि संज्ञा दी गई है । मोक्षप्राप्ति में सहायक न होने से इनका यहां निरूपण उतना आवश्यक है नहीं है । अतः इनका उपसंहार में संक्षिप्त विचार किया जायगा ।

-०-

---

१ 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'

--योगसूत्र ३।३७, पृ०६६५

उपसंहार

(१) योगापन्न चित्त की विभूतियां

(२) कैवल्य

उपसंहार

(१) योगापन्न चित्त की विभूतियां

सिद्धियां या विभूतियां मुख्यत: निरुध्यमान चित्त की हैं। सिद्धियां चित्तवृत्तिनिरोध का फल हैं, परन्तु इनका क्या स्वरूप है, या सिद्धियां किसे कहते हैं, यह जानना अनिवार्य है। 'कायचित्तेन्द्रियाणामभीष्ट उत्कर्ष: सिद्धि:' अर्थात् काय या शरीर, चित्त और इन्द्रियों के अभीष्ट या उपयुक्त पर्याप्त उत्कर्ष की सिद्धि कहते हैं। योगवासिष्ठ में सिद्धि को समझाते हुए कहा गया है --'ऐसी शक्तियों को प्राप्त कर लेने को, जो कि साधारण तौर से लोगों को प्राप्त नहीं है, उसे सिद्धि कहते हैं'[१]। परन्तु सांख्ययोगाचार्यों ने इसका कोई लक्षण नहीं किया। हां, जयमंगलाकार ने सिद्धि को 'सिद्धिर्ज्ञान-प्राप्ति: तस्या: भेदा: उपायभेदात्'[२] इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति कहा है। अत: सिद्धियां भी चित्त की स्थितिविशेष हैं।

जहां तक सिद्धियों की संख्या या प्रकारों का प्रश्न है, सिद्धियां अनेक हैं। योगसूत्रों का तृतीय पाद विविध सिद्धियों का निरूपण करता है। इसी आधार पर इस पाद का विभूतिपाद नाम भी पड़ा। परन्तु सूत्रकार पतंजलि ने सिद्धि के मुख्य पांच प्रकार स्वीकार किए हैं--'जन्मौषधिमन्त्र-तप: समाधिजा: सिद्धय:'[३] अर्थात् जन्मजा, ओषधिजा, मंत्रजा, तपोजन्य और

---

१ 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त', पृ० २६२

२ जयमंगला, पृ० ५४

३ योगसूत्र ४।१, पृ० ७४२

समाधिजा ये पांच प्रकार की सिद्धियां होती हैं । सूत्रकार ने इनको नामनिर्देश उद्देश किया है । इनका लक्षण करने की उन्होंने कोई आवश्यकता न समझी । परन्तु भाष्य एवं वृत्तियों में इन सभी का पृथक् लक्षण हुआ है । प्रथम है जन्मजा सिद्धि । आचार्य व्यास ने जन्मजा सिद्धि के विषय में लिखा है-- `देहान्तरिता जन्मजा सिद्धिः' देहान्तर में होने वाला अर्थात् अन्य शरीर में जो सिद्धि जन्म लेने के साथ ही प्राप्त होती है,उसे ही जन्मजा सिद्धि कहते हैं । जैसे-- पक्षियों के आकाशादि में उड़ने का सामर्थ्य उन्हें पक्षी रूप जन्म लेने के साथ ही प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार कपिलादि ऋषि मुनियों को पूर्वजन्मों के संस्कार-वश मानव जन्म में दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार औषधिजन्य सिद्धि भी । `औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः' अर्थात् असुरों के भवन में उपलब्ध असुरकन्याओं के द्वारा रसायन प्राप्त होने पर जब मनुष्य उस रसायन के प्रभाव-वश से शरीरक्ष के समान बना लेता है । ऐसी ही रसायन रूप औषधि से उत्पन्न होने के कारण औषधिजन्य सिद्धि कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या केवल असुर भवनों में ही रसायन का सेवन सम्भव है । इस शंका का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं--`असुरभवनेष्विति प्रायिकाभिप्राये-णोक्तम् अन्यत्रापि औषधिभिः सुवर्णादिसिद्धीनां भावात्'[1] इस प्रकार असुर भवनों में यह सिद्धि प्राप्त होती है । अतः इसी का भाष्यकार ने कथन किया,परन्तु अन्य में अन्यादि पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि अन्य स्थलों पर भी यह सिद्धि सम्भव है अर्थात् इस लोक या पृथ्वी में भी पारा आदि औषधियों से जो सामर्थ्यविशेष प्राप्त होता है, उसे औषधिजन्य सिद्धि कहते हैं, जैसे--माण्डव्य मुनि रसायन के उपयोग से दिव्यशक्तिवाले हो गए ।

---

१ योगवार्तिक, पृ०३६७

अब मन्त्रादि के जप करने से मनुष्य को आकाश गमनादि की सामर्थ्य प्राप्त होती है, उसे ही मंत्रज सिद्धि कहते हैं, जैसे दशरथादि को प्राप्त सिद्धियां । तप के अनुष्ठान से जो संकल्पसिद्धि या संकल्पमात्र से कामनानुसार इच्छित स्थान पर गमन की सिद्धि प्राप्त होती है, उस सिद्धि को तपोजन्य सिद्धि कहते हैं । जैसे-- विश्वामित्र को प्राप्त विविध सिद्धियां । अन्तिम और पंचम ही समाधिज सिद्धि है । समाधि का अनुष्ठान करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है, अर्थात् चित्त को जो सामर्थ्यविशेष प्राप्त होता है उसे ही समाधिज सिद्धि कहते हैं । समाधिज सिद्धियां अनेक प्रकार की होती हैं, जिनका उल्लेख पातंजलदर्शन के तृतीयपाद में किया गया है । वस्तुत: ये सभी सिद्धियां मोक्षप्राप्ति में अन्तराय है, यह पूर्व अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने समाधिज सिद्धियों को मोक्षोपयोगी बताया है। उनके अनुसार ये सिद्धियां साधक को और योगमार्ग पर और अधिक आरूढ़ करती है अर्थात्समाधिज ऐश्वर्य से युक्त चित्त समाधिसंस्कृतहोकर आत्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षात् मोक्ष का हेतु बनता है[१] । परन्तु यह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि समाधिज सिद्धियां भी विभिन्न आलम्बनों पर समाधि करने से ही प्राप्त होती है । अत: ये सिद्धियां भी समाहित चित्त वाले साधक को विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त करती हैं ।

सांख्याचार्यों ने योगदार्शनिकों से भिन्न सिद्धियों को आठ प्रकार की ही बताया है । सांख्यसूत्रकार ने[२] `सिद्धिरष्टधा` लिखकर इसे स्पष्ट किया । सांख्यकारिकाओं तत्त्वसमाससूत्रादि में[३] भी सिद्धियों की

---

१ `समाधिसंस्कृतं चित्तमात्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षान्मोक्षहेतुं जन्मादि सिद्धमिति` -- योगसार, पृ० १०५

२ सांख्यसूत्र ५।४०, पृ० १५५

३ तत्त्वसमाससूत्र --` अष्टधा सिद्धि:` ४।१७, पृ० २८७

अष्ट संख्या ही बताई गई है । इन अष्ट सिद्धियों की गणना करने की सांख्यसूत्रकार ने अधिक आवश्यकता नहीं समझी, तथापि 'ऊहादिभिः सिद्धिः'[1] सूत्र लिखकर ऊहादि को ही सिद्धि कहा है । ऊहादि के अन्तर्गत किनका अन्तर्भाव है, यह सूत्र की वृत्तियों और कारिकाओं से स्पष्ट है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन भाष्य में प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए कारिका ५७ को उद्धृत किया है--

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातस्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ।'

अर्थात् ऊह, शब्द अध्ययन, त्रिविध दुःखों के नाश से त्रिविध सिद्धियां, सुहृत्प्राप्ति और दान ये आठ प्रकार की सिद्धियां होती हैं । सभी आचार्यों ने (वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु) इन आठ सिद्धियों में दुःखों के विघात से होने वाली त्रिविध सिद्धियों को ही मुख्य बताया है । और एतद्भिन्न पांच सिद्धियां गौण हैं । अतः सर्वप्रथम मुख्यसिद्धियों का उल्लेख आवश्यक है । दुःख तीन ही प्रकार के होते हैं--आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख के प्रणाश या उपशम से जो होने वाली सिद्धि प्रमोद कहलाती है । जब आध्यात्मिक दुःख का अपनयन या दूर करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रकर्ष आनन्द देने के कारण उसे ही प्रमोद नामक सिद्धि कहते हैं[2] । इसी प्रकार जब आधिभौतिक दुःख का अपनयन करने वाला ज्ञान होता है, उसे प्रमुदिता नामक सिद्धि कहते हैं और तीसरी अर्थात् आधिदैविक दुःख का नाश करने वाला ज्ञान ही प्रमोदमाना

---

१ सांख्यसूत्र ३।४४, पृ० १६०

२ 'यदाध्यात्मिकदुःखस्यापनोदकं ज्ञानं सा चतुर्थी प्रमोदेति,

--तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, पृ० २८७

नामक सिद्धि कही जाती है । अत: मुख्यत: ये तीन ही सिद्धियां होती हैं, क्योंकि दु:ख का विनाश या प्रशमन के पूर्व किसी भी सिद्धि की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है । अत: सर्वप्रथम इन दु:खनाश का उपशम करके इन सिद्धियों की उपलब्धि करना चाहिए ।

ऊह नामक सिद्धि का लक्षण करते हुए तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं[१] -- आगम के अविरोधी युक्तियों से अर्थात् शास्त्रोक्त युक्तियों से शास्त्रोक्त विषयों की परीक्षा करना ही तर्क या ऊह है । परीक्षण का अर्थ है संदिग्ध पूर्वपक्ष का निराकरण करके उत्तर पक्ष या निश्चित पक्ष का स्थापन । इस ऊह या तर्क नामक सिद्धि को ही अधिक तारक होने से सांख्यदर्शन में 'तारतारम्' संज्ञा दी गई है । इसे अन्य दार्शनिक मनन भी कहते हैं । 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्यश्च' उपनिषद् की इस पंक्ति को स्पष्ट करते हुए किसी आचार्य ने 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभि:' ऐसा लिखा है अर्थात् जिसका गुरुमुखादि से श्रवण किया जा चुका है उसका उपपत्तियों के या तर्कों से मनन करना चाहिए । अत: मनन तर्क से ही सम्भव है । इस कारण तर्क या ऊह को मनन कहना उचित ही है ।

ऊह के पश्चात् शब्द का प्रसंग है । शब्द के विषय में समी का मतव्य है-- वाचस्पति मिश्र कहते हैं-- शब्द: इति पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति कार्यं कारणोपचारात्' अर्थात् शब्दों से प्राप्त अर्थ का ज्ञान ही शब्द नामक सिद्धि कही जाती है, अर्थात् शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान शब्द शब्द का कार्य हुआ, परन्तु कार्य और कारण में अभेद का आरोप करके यहां शब्दजनितज्ञान को भी शब्द ही कहा गया है । इसी सिद्धि को सुतार भी

---

१ 'ऊहस्तर्क: आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणं परीक्षणं च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम्', पृ० २०२ ।

कहते हैं । सुखपूर्वक या सरलतया संसार से तारक होने के कारण ही इसे 'सुतार' सिद्धि कहते हैं । अब अध्ययन नामक सिद्धि को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति लिखते हैं--'विधिवत् गुरुमुखादध्यात्मविधानामधारस्वरूपग्रहणमध्ययनं' शास्त्रोक्त नियमों के या विधि के अनुसार गुरु के मुख से अध्यात्मविद्या का पारायण या श्रवण ही अध्ययन नामक सिद्धि कहलाती है । इसकी शास्त्रीय संज्ञा तार है । संसार से तरण करने का हेतु होने से ही इसे तार नामक सिद्धि कहते हैं । अध्ययन का तादृश लक्षण ही विज्ञानभिक्षु ने भी किया है--'अध्ययनं च यथा--शिष्याचार्यभावेन शास्त्राध्ययनात् ज्ञानमिति'[१] ।

उपर्युक्त त्रिविध सिद्धियों में स्वरूप की दृष्टि से इस प्रकार का पौर्वापर्य नहीं जिस क्रम से इसका प्रतिपादन किया गया है । क्योंकि सर्वप्रथम अध्यात्मविद्या का गुरु के मुख से अध्ययन या पारायण करके तत्पश्चात् ही गुरुमुख से श्रवण या श्रवणजन्य ज्ञान के या शब्द सम्भव है । अतः अध्ययन के बाद ही शब्द और उसके बाद ही उस अध्यात्मविद्या का तर्कों या उपपत्तियों से मनन होगा । अतः इन सिद्धियों का क्रम इस प्रकार का है-- अध्ययन, शब्द और तब मनन । परन्तु इस स्थल पर उनका निरूपण अर्थापेक्षी न होकर कारिकानुसारी है । कारिका में प्रतिपादित यह क्रम अर्थापेक्षी नहीं है और कारिका के इसी क्रम को यहां अपनाया गया है । क्रियात्मक दृष्टि से इनका विपरीत क्रम ही मान्य है ।

सुहृत्प्राप्ति जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है-- सुहृज्जनों से प्राप्त परामर्श को कहते हैं । अर्थात् ऊह द्वारा स्वयं परीक्षित विषयों पर गुरु शिष्य, या सुहृज्जनों से संवाद करना ही सुहृत्प्राप्ति है । वाचस्पति

---

१ योगवार्तिक, पृ० १५७

इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- स्वतः परीक्षित पदार्थ भी तब तक विश्वास करने योग्य नहीं होता, जब तक कि उसके विषय में गुरु आदि से संवाद न किया जाय । शास्त्रार्थादि होने से रमणीय होने के कारण इस सिद्धि को रम्यक् भी कहते हैं ।

दान शब्द के सामान्यार्थ को छोड़कर आचार्यों ने यहां भिन्न अर्थ किया है । अर्थात् `दैप् शोधने` इस धातु से निष्पन्न दान शब्द का अर्थ भी शोधन अर्थात् विवेकज्ञान की शुद्धि ही लिया है[१] । तत्त्वकौमुदी वीटीका में शिवनारायणशास्त्री ने भी तादृश अर्थ किया है[२] । शिष्य के द्वारा धनादि के दान से सन्तुष्ट गुरु जब प्रसन्न होकर शिष्य को ज्ञान का उपदेश करता है, उसे ही दान संज्ञा से कहा जाता है । इस सिद्धि को सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने से सदामुदित भी कहते हैं ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धियां भी योगदार्शनिकों को अभिमत है, जो परिणामों, परिकर्मों आदि पर संयम करने से प्राप्त होती है । उन सभी सिद्धियों के मुख्य दो प्रकार हैं -- एक ज्ञानरूपसिद्धियां और दूसरी क्रियारूप सिद्धियां । अर्थात् कुछ सिद्धियां ऐसी हैं, जो ज्ञान या चित्तवृत्ति रूप है अथवा जिनमें विविध प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं, जैसे परिणामों में संयम करने से अतीत और अनागतकाल का ज्ञान, शब्दार्थों में संयम से सभी प्राणियों की वाणी का ज्ञान, प्रत्यय या चित्त में संयम

---

१ `दानं च शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य, `दैप् शोधने` इत्यस्माद्दातोर्दानपदव्युत्पत्तेः`
-- तत्त्वकौमुदी, पृ०३०३।

२ `यत्र धनस्य दानेन संतुष्टो मुदा गुरुर्ज्ञानं ददाति सा सिद्धिः धनादान-कारणकत्वात् दानमिति माध्यते` -- सारबोधिनी, पृ०४४७

से सभी प्राणियों की वाणी का ज्ञान, प्रत्यय या चित्त में संयम करने से परचित्त का ज्ञान इत्यादि । ये सभी सिद्धियां ज्ञानात्मक होने से चित्तवृत्ति रूप हैं । इनसे भिन्न कुछ सिद्धियां क्रियात्मक हैं,जैसे--'बन्धन कारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः'[1] अर्थात् बन्धन के कारणों के शिथिल हो जाने पर और चित्त प्रचार का ज्ञान होने पर स्वचित्त को योगी दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर सकता है । अतः योगी में इतनी सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने चित्त को अपने जीवित शरीर से निकाल कर अन्य मृत या जीवित किसी शरीर में प्रवेश कर सकता है और चित्त का परशरीरावेश हो जाने पर इन्द्रियां भी चित्त की अनुगामिनी होने से उस परशरीर में चली जाती है । चित्त के बिना इन्द्रियों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं अर्थात् चित्त का परशरीरावेश होने पर इन्द्रियां उसी प्रकार उनका अनुगमन करती है,जिस प्रकार मधुमक्खियां मधुकरराज के उड़ने पर उनका अनुगमन करती है । इसी प्रकार उदानजय से कण्टकादि स्थलों पर सुखपूर्वक गमन की और समानजय से ऊर्ध्वगमन की सामर्थ्य से युक्त जठराग्नि प्रज्ज्वलित होती है । ये सिद्धियां क्रियात्मक होने से संयमजन्य क्रियारूप सिद्धियां कहलाती हैं ।

इन सभी के अतिरिक्त कुछ अणिमादि सिद्धियां भी सांख्य योगियों को मान्य हैं साथ ही पुराणों महाभारतादि में भी सिद्धियों के प्रसंग में उनका उल्लेख हुआ है[2] । ये सिद्धियां संख्या में आठ हैं--अणिमा,

---

१ योगसूत्र ३।३८,पृ०६६६

२ 'स्तान्गुणान्निराकृत्य यश्चतो योगिनस्तया
सिद्धयोऽष्टौ प्रवर्तन्ते योगसंसिद्धिकारकाः ।
अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च । प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथापरे।
यत्र कामावसायित्वं माहेश्वरपदस्थिता ।,- स्कान्द माहेश्वरखण्ड,अध्याय५५,पृ०११६

लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और कामावसायित्व । अणिमा अणुभाव को कहते हैं, अत: इस सिद्धि को प्राप्त करने पर योगी अणु-- अत्यन्त छोटा या सूक्ष्म रूप आकार वाला-- परिमाण वाला हो जाता है । लघिमा लघुभाव को कहते हैं-- अत: लघिमा की प्राप्ति होने पर योगी लघु-- हल्का-- हो जाता है । महिमा महानभाव का नाम है इस सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी महान रूप को धारण कर सकता है । प्राप्ति नामक सिद्धि को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं-- 'प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्'[१] प्राप्ति सिद्धि को प्राप्त होने पर योगी अपनी अंगुली की नोक या अग्रभाग से ही चन्द्रमा को स्पर्श कर सकता है ।ये चार प्रकार की सिद्धियां भूतों के स्थूल रूप में संयम करने से प्राप्त होती हैं । प्राकाम्य इच्छा के अनभिघात को कहते हैं--अर्थात् प्राकाम्य सिद्धि प्राप्त होने पर योगी अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, जैसे जल में स्नान करता है, उसी प्रकार पृथिवी में घुसकर पुन: पुन: बाहर निकल जाता है । यौगियों को मान्य भूतों के द्वितीय रूप में अर्थात् स्वरूप में संयम करने से प्राकाम्य नामक सिद्धि प्राप्त होती है । वशित्व सिद्धि प्राप्त होने पर योगी को भूत और भौतिकादि पदार्थों में वश हो जाता है अर्थात् ये पदार्थ योगी के अधीन हो जाते हैं, परन्तु वह स्वत: किसी के अधीन नहीं होता । ईशित्व वस्तुत: ईश्वरत्व को कहते हैं । अत: ईश्वर के समान होता हुआ प्रकृति को वश में करके सभी पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति आदि कर सकता है । इसी को तत्त्वकौमुदीकार ने ईशित्व कहा है । अन्तिम है कामावसायित्व । इसका उल्लेख करते हुए भाष्यकार कहते हैं[२]-- जिसका योगी का संकल्प हो ठीक उसी प्रकार का भूतों

---

१ व्यासभाष्य, पृ०६९५

२ 'यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनांभवस्थानम्'

--योगभाष्य, पृ०६९७

का स्वभाव हो जाना ही सत्यसंकल्पता है,इसी को कामावसायित्व भी कहते हैं । भूतों के अर्थवत्व रूप पर संयम करने से यह सिद्धि प्राप्त होती है । तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति ने एक अन्य गरिमा नामक सिद्धि भी स्वीकार की है,परन्तु इनको आठ संख्या मानना ही अधिक उपयुक्त है । इस प्रकार ये आठ अणिमादि सिद्धियां हैं ।

इन सभी से भिन्न कुछ अन्य सिद्धियां भी हैं जो यम, नियमादि पर संयम करने से प्राप्त होती हैं,जिनका उल्लेख आचार्य पतंजलि ने द्वितीय पाद में ही किया है । अहिंसादि यमों का अनुष्ठान करने से अर्थात् योगी की इन यमों में स्थिति हो जाने पर उस योगी को विभिन्न सिद्धियां प्राप्त होती हैं-- जैसे अन्य प्राणियों से वैर का त्याग, सभी रत्नों की प्राप्ति, सभी प्रकार की शक्ति या सामर्थ्य से युक्त होना, भूत,भावि आदि जन्मों का साक्षात्कार आदि । इसी प्रकार विभिन्न नियमों एवं आसनादि के अनुष्ठान से भी विविध सिद्धियां प्राप्त होती हैं । इस प्रकार संक्षेप में ये मुख्य सिद्धियां हैं,इनसे भिन्न अनेक सिद्धियां भी हैं,जिनका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं है ।

कैवल्य

पुरुष के द्विविध पुरुषार्थ हैं--भोग और मोक्ष । पुरुष के भोग का सम्पादन तो अविद्याकृत होने पर ही अर्थात् प्रकृति के संयोग से ही होता है,क्योंकि प्रकृति ही पुरुष के भोग को प्रस्तुत करती है । अज्ञान के कारण पुरुष स्वयं को प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत किए गए विविध भोगों का भोक्ता समझ लेता है, परन्तु यथार्थतः पुरुष सर्वथा निर्गुण,अपरिणामी,और इन सभी सांसारिक विषयों से सर्वथा असंस्पृष्ट है,अतः वह कर्ता,भोक्तादि भी नहीं है । अज्ञान के कारण ही ये सब धर्म उसमें आरोपित हैं । अतः पुरुष की अज्ञानावस्था मेंही भोग रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है ।

त्रिविध दु:खों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति को या पुरुष की आत्यन्तिक स्वस्भावस्थिति को मोक्ष कहते हैं । आत्यन्तिक से अभिप्राय दु:ख के पूर्णरूपेण दाह से है । अर्थात् दु:खों के स्थूल और सूक्ष्म इन द्विविध रूपों में न रहना ही कैवल्य है । दु:ख की निवृत्ति को विज्ञानभिक्षु ने चित्त की निवृत्ति कहा है--`अतो यावच्चित्तसत्ता तावदेवा-नागतदु:खसम्भावनुमीयते तन्निवृत्तिश्च पुरुषार्थ इति`[1] । यह कहना उचित है क्योंकि जब तक चित्त की स्थिति है, तब तक दु:ख की सम्भावना बनी ही रहती है । अत: दूसरे शब्दों में चित्त की निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जा सकता है । सांख्ययोग सभी दार्शनिक मोक्ष का एक ही स्वरूप स्वीकार करते हैं, वह है पुरुष की एकाकिता या केवलता[2] ।

जहां तक मोक्ष के स्वरूप का प्रश्न है योगसूत्रकार ने चतुर्विध सूत्रों से इसका उल्लेख किया है-- प्रथम पाद के तृतीय सूत्र `तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानं`, द्वितीय पाद के `तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशे: कैवल्यम्`, तृतीय पाद के `सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्` और चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्र `पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति` में मुख्य रूप से इसका प्रतिपादन हुआ । इनमें प्रथम सूत्र में कैवल्य और उसकी प्राप्ति के साधनभूत योग के सम्बन्ध का और साथ ही कैवल्य के स्वरूप का भी उल्लेख हुआ है । `तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानं` का अर्थ है, इसमें अथवा चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग के होने पर द्रष्टा का स्वरूप से ही

---

१ सांख्य प्रवचनभाष्य, पृ०७

२ `तस्माच्च संयोगाद्युत्पद्यमानस्य प्राकृतदु:खस्य पुरुषे य: प्रतिबिम्ब: स स्व दु:खभोगो दु:खसम्बन्धस्तन्निवृत्तिरेव च मोक्षाख्य: पुरुषार्थ इति ।`

-- सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ०११२

अवस्थान होता है । निरोध रूप योग से तात्पर्य यहां असंप्रज्ञात योग से है-- परन्तु असंप्रज्ञात की संस्कारमात्रशेषावस्था होने के कारण उस अवस्था में स्वरूपावस्थिति का कथन उपयुक्त नहीं है । अत: यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि असंप्रज्ञात से तात्पर्य यहां उसकी प्रारम्भावस्था से नहीं, वरन् उसकी चरमावस्था अथवा निर्बीज समाधिकाल से है । जब साधक के चित्त की वृत्तियों के साथ-साथ उनके संस्कार भी निरुद्ध हो जाते हैं यही पुरुष की चिद्रूपता है । और चिद्रूपता ही पुरुष का स्वरूप है । अत: चिद्रूप होना ही उसकी स्वरूपावस्थिति है । अब प्रश्न यह है कि क्या व्युत्थान काल में पुरुष स्वभिन्न रूप को प्राप्त होता है और असंप्रज्ञातदशा में पुन: स्वरूप से उसकी अवस्थिति होती है । वस्तुत: पुरुष तो अपरिणामी है अत: वह भिन्न भिन्न अवस्थाओं को कैसे प्राप्त होता है, इस शंका के समाधान रूप से भाष्यकार कहते हैं--'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये । व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ।'[१] अर्थात् संप्रज्ञातसमाधिकाल में चितस्वरूप में स्थित रहता है, जिस प्रकार केवल्यावस्था में । परन्तु व्युत्थान काल में अपने रूप में स्थित होने पर भी स्वरूप का प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार पुरुष की स्थिति दोनों अवस्थाओं में समान ही है । वह परिणामी नहीं,अत: भिन्न-भिन्न रूपों को नहीं धारण करता,परन्तु अज्ञानावृत होने के कारण बुद्धि के प्रतिबिम्ब से युक्त होने से बुद्धिस्थ ज्ञान का अभिमान करता हुआ बुद्धिवृत्तियों

---

१ योगभाष्य,पृ०३२

के आकार का प्रतीत होताहै । इस प्रकार यद्यपि सूत्र में केवल्य का कोई प्रसंग नहीं, परन्तु भाष्यकार ने 'यथा केवल्ये' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि केवल्य में पुरुष का क्या स्वरूप होता है । चित्त की सभी वृत्तियों के सम्यक्-प्रकारेण निरुद्ध हो जाने पर अर्थात् असंप्रज्ञात काल में पुरुष की सभी विषयों के प्रति यहां तक कि ज्ञान के प्रति भी पूर्ण वैतृष्ण्य होने पर पुरुष को मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के फलभोगार्थ वह शरीर धारण करता है और प्रारब्ध समाप्त होने पर शरीरपात होने से विदेहमुक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार इस अवस्था में पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है एवं विविध वृत्तियों आदि का उसमें आरोप नहीं होता । वस्तुत: निर्गुण होने से वह इन वृत्तियों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है । इस प्रकार असंप्रज्ञातकाल और केवल्यावस्था दोनों में ही उसकी स्वरूपावस्थिति ही होती है । भिन्नता केवल इस बात की है कि चिद्रूप से रहने पर भी असंप्रज्ञातावस्था में वह प्रारब्ध कर्मों के फलभोग के लिए शरीर धारण करता है और केवल्य में उन कर्मों का पूर्ण दाह हो जाने पर उस शरीर का भी त्याग कर चिन्मात्ररूप से ही रहता है ।

इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य का संयोग निवृत्त हो जाने पर अथवा वियोग होने पर द्रष्टा का अकेले रहना ही पुरुष का केवल्य है-- 'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम्' तत् अर्थात् अविद्या का अभाव होने पर संयोग (प्रकृतिपुरुषसंयोग) का भी अभाव हो जाता है । यही हान है और यही द्रष्टा का केवल्य है । विवेकज्ञान सिद्ध हो जाने पर अज्ञान की निवृत्ति और तत्पश्चात् अज्ञानजन्य संयोग की भी निवृत्ति होती है । इस

प्रकार पुरुष का प्रकृति के विषयों से सम्बन्ध न होने से वह उन विषयों को आरोपित नहीं करता । बुद्धि की वृत्ति के आकार को प्राप्त करना ही पुरुष

का बन्ध है और इस अज्ञानारोपित विषयों का हान ही पुरुष की मुक्ति है । पुरुष के कैवल्य से अभिप्राय उसके एकाकीपन से है और ज्ञान होने पर ही यह सम्भव है । इस प्रकार पुरुष का प्रकृति से अथवा व उसके विषयों से पुनः कभी संयोग न होना ही पुरुष का कैवल्य है। अतः त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक विनाश अथवा बुद्धि या गुणों से सन्निधिमात्र का भी न होना ही पुरुष का मोक्ष है[1] । तत्त्व-कौमुदी में भी कैवल्य का ऐसा ही स्वरूप वर्णित है[2] । सांख्यसूत्रकार का भी तादृश मत है--'द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः[3]' अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों का अथवा किसी एक का उदासीन रूप से रहना ही अपवर्ग है । अब प्रश्न यह है कि प्रकृति और पुरुष का परस्पर औदासीन्य कैसे सम्भव है । प्रकृति तो जड़ है अतः उसमें उदासीनता का कथन कुछ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । इसी को दृष्टि में रखकर सूत्रकार ने सूत्र में 'एकतरस्य.वा' पदों का ग्रहण किया है अर्थात् किसी एक का उदासीन होना ही अपवर्ग है । एकतरस्य से उनका तात्पर्य वस्तुतः पुरुष से है । विज्ञानभिक्षु इस उदासीनता को ही एकाकिता या अपवर्ग कहते हैं--'द्वयोः प्रधानपुरुषयोरे-वौदासीन्यमेकाकिता परस्परवियोग इति यावत् सोऽपवर्गः । अथवा पुरुषस्यैव कैवल्यम्... ।' अतः दोनों के औदासीन्य का अर्थ है-- प्रकृति

---

१ 'पुरुषस्य कैवल्यं पुनर्गुणासंयोगरूपमपि भवतीत्यर्थः' योगवार्तिक, पृ०३८०
तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः' --व्यासभाष्य पृ०४२४
अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' --सांख्यसूत्र १।१, पृ०७

२ 'प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ 'ऐकान्तिकम्' अवश्यम्भावि 'आत्यन्तिकम्' अविनाशि इत्युभयं 'कैवल्यं दुःखत्रयविगमं प्राप्नोति पुरुषः' ।
--सांख्य तत्त्वकौमुदी, पृ०३३१

३ सांख्यसूत्र ३।६५, पृ०१६५

का विवेकी पुरुषों के प्रति प्रवृत्त न होना और पुरुष का प्रकृति से असम्बन्ध होना।[1]

तृतीय पाद के इस सूत्र `सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' से भी कैवल्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है-- सत्त्व बुद्धि और पुरुष इन दोनों की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य होता है। अर्थात् विवेकज्ञान होने पर बुद्धि और पुरुष दोनों शुद्धता को प्राप्त होते हैं। अत्यन्त निर्मल बुद्धि पुरुष के भोग को उपस्थित न करके अपने कारण में लीन होती है और पुरुष भी अविद्या के कारण प्राप्त बुद्धि के संयोग को त्यागकर निर्गुण चिन्मात्र रूप से रहता है, यही पुरुष की शुद्धि है। पुरुष की शुद्धता से तात्पर्य पुरुष में उपचरित भोगों के अभाव से है। बुद्धि जब रजतमरूप मलों से रहित केवल विवेकज्ञान में ही तत्पर ~~दग्धक्लेशबीजजाली~~ होती है, उसे ही बुद्धि की शुद्धता कहते हैं। यद्यपि बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से बुद्धि की शुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता। बुद्धि की शुद्धता को स्पष्ट करते हुए तत्त्वकौमुदीकार ने भी लिखा है[2] पुरुष का राजस तामस वृत्तियों से मलिन बुद्धि से सम्पर्क का अभाव होने पर भी सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा सा सम्बन्ध बना ही रहता है, अन्यथा प्रकृति का दर्शन असम्भव है। अर्थात् बुद्धि में सत्त्व का प्राबल्य रहता है। इसी कारण भाष्यकार ने

---

१ `स्वच्छः' इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्यासम्भिन्नः। सात्त्विकया बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथेदम्भूत प्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति
-- सांख्यकौमुदी, पृ०३२६

प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए 'शुद्धिसाम्यमिवापन्नं भवति' ऐसा अर्थ किया है । पुरुष की व्युत्थानकालिक भोगों का अभाव रूप शुद्धि उपयुक्त है । परन्तु बुद्धि की पूर्णतः शुद्धि सम्भव न होने के कारण वह पुरुष के समान शुद्ध नहीं हो सकती, इसीलिए यहां 'इव' पद का ग्रहण किया गया । अत्यन्त शुद्ध हो जाने के कारण पुरुष के समान शुद्ध सी प्रतीत होती है । बुद्धि जीवन्मुक्तिदशा में विवेक का प्राबल्य होने से उस प्रकार के भोगों को प्रस्तुत नहीं करती । इस प्रकार वैराग्यादि की प्राप्ति ही बुद्धि की शुद्धि है । इस शुद्धि के कारण पुरुष के साथ बुद्धि का साम्य कहा गया है । अतः दुःख के भोग का पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाना ही मोक्ष के रूप पुरुषार्थ है[१] ।

इन सभी के अतिरिक्त कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र 'पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति' में पतंजलि ने कैवल्य के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट किया है । इस सूत्र में कैवल्य का विविध दृष्टियों से प्रतिपादन हुआ है— गुणों की दृष्टि से और पुरुष की दृष्टि से । गुणों की दृष्टि से मोक्ष का तात्पर्य है , गुणों का पुनः कर्मों में प्रवृत्त न होना अर्थात् गुणों का कार्यारम्भण रूप व्यापार का न होना । पुरुष के भोग रूप पुरुषार्थ का सम्पादन कर चुकने के कारण चरितार्थाधिकार इन गुणों का सृष्टि से निवृत्त हो जाना अर्थात् इन्द्रियादि सभी का स्वस्वकारण में लय होना और अन्ततोगत्वा गुणों का भी अलिंग

---

१ बुद्धिधर्मत्वात्पुरुषस्य उपचरितमात्रस्य प्रत्ययविशेषास्ययोगस्याभावः पुरुषस्य तु शुद्धिः, बुद्धेरपि जीवन्मुक्तदशायां विवेकित्वेन तादृशो भोगो नास्तीति शुद्धिसाम्यमित्यर्थः' —यौगवार्तिक, पृ०३६४

में लीन हो जाना ही गुणों की दृष्टि से मोक्ष है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि सम्पूर्ण सृष्टि सभी पुरुषों के प्रति निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः जिस पुरुष का भोग समाप्त हो चुका हो ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए गुणों का कार्य समाप्त हो जाता है। अतः इसके लिए सृष्टि भी निवृत्त हो जाती है। ऐसे कृतार्थ गुणों का लय होना ही मोक्ष है। पुरुष का कैवल्य या मोक्ष पुरुष की एकाकिता या केवलरूपता ही है, जिस प्रकार जपा के सन्निकर्ष से स्फटिक विविधः रंगों को प्राप्त होता है, परन्तु जपा के हटा देने पर स्फटिक अपने निर्मल रूप से रहता है ठीक उसी प्रकार पुरुष का बुद्धि रूप उपाधि के अभाव में अपने चिद्रूप से रहना ही पुरुष की एकाकिता है, अतः औपाधिक रूप की शाश्वतिक निवृत्ति अथवा पुरुष स्वरूप की आत्यन्तिक निरुपाधिता ही पुरुष का कैवल्य है।

यह मुक्ति या कैवल्य द्विविध है— जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। साधक को विवेकज्ञान प्राप्त हो जाने से वस्तुतः उसे मोक्ष प्राप्त ही है, अर्थात् क्लेशों का दग्धरूपत्व सम्पन्न हो जाता है अर्थात् कर्ममात्र का नाश हो जाता है, क्योंकि कर्म भी अविद्याजन्य है। अतः अविद्या के नाश से क्रियमाण कर्म तो समाप्त हो ही जाते हैं, संचित कर्म भी फल देना प्रारम्भ नहीं करते, क्योंकि उनके प्रति अहंता की भावना समाप्त हो जाने से उन कर्मों का स्वतः दाह हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म शेष हैं और उन कर्मों के रहने से उनके फलों के भोगने के लिए उसे शरीरधारण करना पड़ता है। वस्तुतः उसका उस शरीर या सांसारिक विषयों के प्रति भी निस्पृहभाव रहता है। यही साधक की जीवित रहते हुए मुक्ति है। अतः धर्ममेघ समाधि की स्थिति ही जीवन्मुक्ति है। इसे विज्ञानभिक्षु ने कार्य मुक्ति या कर्तव्य समाप्ति भी कहा है। इन फलों का पूर्णरूपेण भोग हो जाने पर अतः प्रारब्ध के समाप्त

हो जाने पर साधक का स्वत: शरीरपात हो जाता है तभी उसे पूर्ण या विदेहमुक्ति प्राप्त होती है । शरीरादि के अभाव में स्वरूप से रहना ही पूर्ण या परमुक्ति है । तत्त्वसमाससूत्रों ४ में त्रिविध मुक्ति का प्रतिपादन हुआ है, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति और परममुक्ति परन्तु वस्तुत:ये दो ही हैं, विदेहमुक्ति ही परममुक्ति है ।

इस प्रकार शोधप्रबन्ध के प्रस्तुत विषय -- सांख्य योग-दर्शनों में मान्य मानसिक -(आन्तरिक) तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन -- में प्रतिपाद्य विषयों पर अब प्रवृत्ति विचार हुआ । उन विषयों में मुख्यता चित्त की ही थी, अत: चित्त के स्वरूप, विविध व्यापारों, उनकी विविध वृत्तियों के निरोधादि के पश्चात् होने वाली चित्त की विविध अवस्थाओं का विवेचन हो चुकने पर साधक का जो मुख्य प्राप्तव्य है, उस मोक्ष के रूप पुरुषार्थ को भी स्पष्ट किया गया, यही योगी के जीवन का उद्देश्य है । इस संसार से मुक्त होना या पुन: संसरण का न होना मोक्षावस्था में ही सम्भव है । जन्म अविद्याजन्य है, अत: अविद्या के निराकरण से जन्म का भी निराकरण होगा, वही पुरुष की स्वरूपावस्थिति है । इस प्रकार उस परम प्रयोजन के निरूपण के साथ ही हम इस प्रबन्ध का उपसंहार करते हैं ।

-0-

सहायक ग्रन्थ-सूची

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	सम्पादक	प्रकाशक	काल
१	अनुराधा	डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	--	नारायण पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९६९
२	अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्य मुनि	देवकीनन्दन शास्त्री	विद्याविलास प्रेस	१९२४
३	अग्निपुराण	आचार्य व्यास	श्री राम शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब	१९६८
४	कूर्म पुराण	,, ,,	नीलमणिमुखोपाध्याय	गिरीशविद्यारत्न	१८९०
५	गरुड़ पुराण	,, ,,	,, ,,	,, ,,	१८९०
६	ज्योतिष्मती	डा०रामशंकर भट्टाचार्य	--	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस	१९६७
७	जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्यमुनि	हरिनारायण आप्टे	आनन्दाश्रम मुद्रणालय	१९१६
८	तत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	डा०आद्याप्रसाद मिश्र	सत्यप्रकाशन, प्रयाग	१९६६
	तत्त्वकौमुदी प्रभा	डा०आद्याप्रसाद मिश्र	मिश्र		
९	तत्त्वविभाकर	वंशीधर मिश्र	महामहोपाध्याय०विश्वेश्वरद श्रीरामशास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	१९२७
१०	तर्कभाषा	केशव मिश्र	आचार्य विश्वेश्वर	,, ,,	१९५३
११	देवीभागवत पुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान स्वाजा कुतुब	१९६८
१२	पंचदशी	विद्यारण्य मुनि	हरीशचन्द्र विद्यालंकार	लक्ष्मी प्रिंटिंग वर्क्स	१९६०
१३	प्रशस्तपादभाष्य	आचार्य व्यास	दुण्ढिराज शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	१९६६
१४	ब्रह्मवैवर्तपुराण	,, ,,	राधाकृष्ण मारे	गोपाल प्रिंटिंग वर्क्स	१९५५
१५	भास्वती योगकारिका	हरिहरानन्द विज्ञानभिक्षु	श्रीगोस्वामी दामोदरशास्त्री	चौखम्बा सं०सिरीज	१९२५

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	सम्पादक	प्रकाशक	काल
१६	मनोविज्ञानमीमांसा	आचार्य विश्वेश्वर	--	आत्माराम एण्ड संस	१९५९
१७	मत्स्यपुराण	आचार्य व्यास	राधाकृष्ण मारे	गोपाल प्रिंटिंग प्रेस	१९५४
१८	महाभारत (अनुशासनपर्व)	,,	पी०पी०एस०शास्त्री	विविल्ला प्रेस	१९३६सं०
१९	महाभारत (शांतिपर्व)	,,	--	गीताप्रेस,गोरखपुर	सं० २०१४
२०	महाभारत (भीष्मपर्व)	,,	पी०एस०शास्त्री	विविल्ला प्रेस	सं० १९३४
२१	मार्कण्डेय पुराण	,,	श्रीराम शर्मा	संस्कृत संस्थान ख्वाजाकुतुब	१९६८
२२	मनुस्मृति	आचार्य मनु	गंगानाथ झा	इण्डियन प्रेस,प्रयाग	१९३२
२३	युक्तिदीपिका	अज्ञात	रामचन्द्र पाण्डेय	मोतीलाल बनारसीदास	१९६७
२४	योगसूत्र योगभाष्य	पतंजलि आचार्य व्यास	ब्रह्मलीन मुनि	चेतन प्रकाशन मंदिर,गुजरात	१९५८
२५	योगतत्त्ववैशारदी योगवार्तिक	वाचस्पति मिश्र विज्ञानभिक्षु	श्रीनारायण मिश्र	भारतीय विद्या प्रकाशन	१९७१
२६	योगसूत्रवृत्ति	नागेश भट्ट	अभ्यंकर वासुदेव शास्त्री	आर्य भूषण प्रेस	१९८७
२७	योगसूत्रवृत्ति	भावागणेश	महादेव गंगाधर	निर्णय सागर प्रेस	१९२७
२८	योगसिद्धांतचंद्रिका (सूत्रार्थबोधिनी)	नारायणतीर्थ	रत्नगोपाल भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सिरीज	१९११
२९	योगसूत्रे मणिप्रभा	रामानन्दयति	दामोदरलाल गोस्वामी	विद्याविलास प्रेस	१९०३
३०	योगसार संग्रह	विज्ञानभिक्षु	स्वामी सनातनदेव	मोतीलाल बनारसीदास	सं० २०१४
३१	योगवासिष्ठ	००वसिष्ठ	[illegible]	गणपतिकृष्णजी मुद्र०	--
३२	योग याज्ञवल्क्य	योगी याज्ञवल्क्य	प्रह्लादचन्द्रदीवान जी	बी०बी०आर०ए०मानोग्राफ बम्बई	१९५४
३३	राजमार्तण्डावृत्ति	भोजदेव	डा०रामशंकर भट्टाचार्य	भारतीय विद्या प्रकाशन	१९६९
३४	विद्वत्तोषिणी	बालरामोदासीन	आत्मस्वरूपउदासीन	गुजराती मुद्रणालय	१९३१
३५	विष्णुपुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृत संस्थान	१९६७

क्रम	ग्रन्थ	रचयिता	संपादक	प्रकाशक	काल
३६	वायुपुराण	आचार्य व्यास	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६७
३७	वेदान्त सार	सदानन्द	रामसरन त्रिपाठी	चौखम्बा सं०विद्याभवन	१९६५
३८	श्री मद्भागवतम् स्कन्ध ११	व्यास	मुंशी नवलकिशोर	सी०आई०बी०प्रेस,लखनऊ	१८९७
३९	,, स्कन्ध ३	,,	नित्यस्वरूपशास्त्री	देवकीनन्दन मुद्राणालय	सं० १९
४०	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्रसूरि	--	ऐशियाटिक सोसायटी	१९०५
४१	षड्दर्शन रहस्य	पं०रंगनाथ पाठक	--	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्	१९५८
४२	सांख्यसूत्र	आचार्य कपिल	रामकृष्ण भट्टाचार्य	भारतीय विद्याप्रकाशन	१९६६
	सांख्यप्रवचनभाष्य	विज्ञानभिक्षु			
	सांख्यसार	,,			
	तत्त्वसमाससूत्र	भावागणेश			
४३	सांख्यसूत्रवृत्ति	अनिरुद्ध	,, ,,	प्राच्य भारतीय प्रकाशन	१९६४
४४	सांख्यकारिका	गौडपाद	ढुण्ढिराजशास्त्री	चौखंबा सं०सिरीज	१९६८
४५	,,	माठर	विष्णुप्रसादशर्मा	,, ,,	१९२२
४६	,,	जयमंगला	हरदत्त शर्मा	बेताब प्रिंटिंग प्रेस	—
४७	सांख्यतत्त्वालोक	हरिहरानन्द	गोपीनाथ कविराज	हितचिन्तक प्रेस	१९३६
४८	सुषमा	हरिराम शुक्ल	--	चौखंबा सं०सिरीज	सं० १९
४९	सुवर्णसप्ततिसूत्र	परमार्थ	अय्यास्वामीशास्त्री	तिरुपति प्रेस	१९४४
५०	सांख्यचन्द्रिका	नारायणतीर्थ	ढुण्ढिराजशास्त्री	चौखंबा सं०सिरीज	१९५३
५१	सारबोधिनी	शिवनारायण शास्त्री	पाण्डरंग जावाजी	निर्णयसागर प्रेस	१९४०
५२	सर्वदर्शन संग्रह	सायनमाधव	काशीनाथ शास्त्री	तिरुपति प्रेस	१९५४
५३	स्कान्द पुराण	आचार्य व्यास	कीकृष्णदास	श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय	सं० १९
५४	२० स्मृतियां	,,	श्रीरामशर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६७
५५	सांख्यतत्त्वकौमुदी	राजेश्वरशास्त्री	--	विद्याविलासप्रेस	१९१७
५६	हठयोग प्रदीपिका	आत्माराम योगीन्द्र	मिहिरचन्द्र	श्रीकृष्णदास श्रेष्ठ	सं० १९

(हिन्दी ग्रन्थ)

५७	आचार्यविज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान ।	डा० सुरेशश्रीवास्तव्य		लोकभारती,इलाहाबाद

क्रम	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्रकाशन	काल
६०	सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा ।	डा०आद्याप्रसाद मिश्र	सत्य प्रकाशन	१९६७
६१	सांख्य योग दर्शनों का जीर्णोद्धार।	हरिशंकर जोशी	चौखम्बा विद्याभवन	१९६५
६२	सांख्यदर्शन	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान	१९६९
		(अंग्रेजी ग्रन्थ)		
६३	ए क्रिटिकल स्टडी आफ द सांख्य सिस्टम ।	वी०वी० सोवानी	पूना ओरियण्टल एजेंसी	१९३५
६४	ए स्टडी आफ भागवतपुराण	पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा ।	दि थियासाफिकल पब्लिशिंग हाउस ,मद्रास	१९३७
६५	ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी अंक १	एस०एन०दासगुप्ता	युनिवर्सिटीप्रेस केम्ब्रिज	१९३७
६६	क्लैसिकल सांख्य	गेराल्ड जेम्स	मौतीलाल बनारसीदास	१९६९
६७	इंडियन फिलासफी अंक २	डा० राधाकृष्णन्		
६८	मेनुअल आफ साइकालोजी	यदुनाथ सिन्हा	दि सेण्ट्रल बुक एजेंसी	१९५९
६९	सांख्य सिस्टम	प्रो०एच०वी० कीथ	दि कलकत्ता एसोसिएशन प्रेस	१९१८
७०	दि सांख्य कारिका आफ ईश्वर कृष्ण ।	जान डेवीस	सुशीलगुप्ता लिमिटेड	१९५७
७१	तत्व कौमुदी	गंगानाथ झा	तुकाराम तात्य	१८९६
७२	योग फिलासफी	एस०एन०दास गुप्ता	युनिवर्सिटी आफ कलकत्ता	१९३०

(हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं)

क्रम	विषय	लेखक	पत्रिका
१	प्रकृति पुरुष योग	श्रीगोपालचैतन्य डेमजी	`कल्याण` साधनांक,सं० २,सितम्बर १९४०
२	योग का सोपान	श्री शिवानन्द जी सरस्वती	`कल्याण` साधनांक सं० १
३	देवी भागवत में तन्त्राधिकारी	श्री शंकरतीर्थ जी महाराज	,, देवीभागवतांक,अंक १, १९६०

(अंग्रेजी पत्रिकाएं)

क्रम	विषय	लेखक	पत्रिका
१	प्राणायाम इन योगसूत्राज् एण्ड व्यासभाष्य ।	स्वामी कुवलयानन्द	योग मीमांसा, जून १९५०
२	स्केच आफ इ साइकालाजी फाउण्डेड बाई योग ।	मेसिना स्कालिगेरो	लिवेण्ट फेयर, नवम्बर १९५६
३	दि सांख्य	प्रो० हरियन्ना	दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया खण्ड ३
४	योग साइकालोजी	हरिदास भट्टाचार्य	,, ,,

The University Library

ALLAHABAD

Accession No..... 317370

Call No..... 3774-10 1881

Presented by ....

20,000—67

* सांख्यदर्शन = सांख्यकारिका ||

DATE

* प्रणेता - कपिलमुनि सांख्यदर्शन के
सांख्यकारिका - ईश्वरकृष्ण ||

सांख्यकारिका - 70 कारिका
छन्द = आर्या
तत्व = 25
अपरनाम सांख्यकारिका के - सांख्यसप्तति, हिरण्यसप्तति, सुवर्णसप्तति,

* प्रमुख सिद्धान्त - सत्कार्यवाद
ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है - सांख्यदर्शन
नित्य तत्व - पुरुष एवं प्रकृति
सृष्टि का आदि कारण - प्रकृति
प्रमाण - 3 प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द,
दुःख - 3 आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक,

* सांख्य शब्द = चक्षिङ्ख्याने, सम् उपसर्ग पूर्वक, अण् प्रत्यय।
⇒ पञ्चविंशति तत्वानां संख्याप्रचारः। तमधिकृत्यो ग्रन्थः सांख्य इति।

* सांख्यदर्शन के आचार्य = "कपिलाय महामुनये मुनिने शिष्याय तस्यचासुरये,
पञ्चशिखाय तमेश्वरकृष्णयेते नमस्यामः ||"

* कपिलमुनि = कपिलो नामविष्णोरवतार विशेषः प्रसिद्धः।

Scanned by CamScanner

* सांख्यकारिका ॥

DATE

* 1 कारिका = "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥"

(दुःखम्) (प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।)

आध्यात्मिक	आधिभौतिक	आधिदैविक
शरीरं — मानसं	[चतुर्विध भूतप्राण निमित्त सांसारिक दुःखम्।]	[देवानामिदं दैवं शीतोष्ण वातवर्षहिमनि पातादिकम्।]
(वातपित्तश्लेष्म विषमकृतं ज्वरातीसारादि)	(प्रियाविमोगाऽप्रिय संयोगादि।)	

दुःखनाशनोपायाः ⇒ लौकिक = स्त्री धन अन्नादिर्लौकिकोपायाः अस्ति।)
वैदिक = कर्म काण्ड परक, वैदिक यज्ञादि।

* वास्तविक दुःखोच्छेदोपाय जिज्ञासा =
कारिका 2 दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि क्षयातिशय युक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्त ज्ञविज्ञानात् ॥
वैदिक उपाय में तीन दोष :- 1 अशुद्धि - (मल आदि)
2 क्षय - (नाशवान फल)
3 अतिशय - (फल की न्यूनाधिकता)
एतद्विपरीत अशुद्धि क्षयातिशयदोषयुक्त : उपायः यः व्यक्त, अव्यक्त ज्ञ ज्ञानं अस्ति।

* सांख्यीय तत्वपरिगणन ⇒ मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
कारिका-3 षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

पञ्चविंशति तत्वानां चतुर्धा विभज्यते —

(विभाग)	(तत्व)	(विवरणम)
1. प्रकृतिः	→ 1	→ मूलाप्रकृतिः, प्रधानम, अव्यक्तं वा।
2 विकृतिः	→ 16	→ 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 महाभूत, मन।
3 प्रकृति-विकृति	→ 7	→ महत, अहंकार, 5 तन्मात्राए।
4 न प्रकृति न विकृति	→ 1	→ पुरुषः, ज्ञ, चेतन।

* पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ = श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, त्वक, रसना।
पञ्च कर्मेन्द्रियाँ = वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।
पञ्चतन्मात्राएँ = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
पञ्चमहाभूत = आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

classmate

PAGE

Scanned by CamScanner

DATE

लक्षणम् ⇒

* प्रमाण ~~लक्षणम्~~ ⇒ * प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

कारिका ⇒ 5

प्रमाण त्रयविधम् –

1 प्रत्यक्ष – 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्', 'प्रमाकरणं प्रमाणम्', 'निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

2 अनुमान – 'लिङ्गलिङ्गि पूर्वकज्ञानं अनुमानं'

3 आप्तवचनं – आप्तवचनं = 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं'।

अनुमान प्रमाणं त्रिविधम् – 1 पूर्ववत्, 2 शेषवत्, 3 सामान्यतो दृष्टवत्।

1 पूर्ववत् = पूर्वं अस्याज्ञानं इति पूर्ववत्। मेघोन्नत्यावृष्टिं साधयति।

2 शेषवत् = एक पक्वं अन्नकणं ज्ञात्वा अन्येषामपि तद्वत् ज्ञानम्।

3 सामान्यतो दृष्टवत् = गतिमन्तः जीवं ज्ञात्वा सर्वे जीवाः गतिमन्त इति ज्ञानम्।

आप्तवचनं, शाब्द प्रमाण = 'आप्तश्रुतिराप्तवचनम्'।
(यथार्थं वक्ता ईश्वरः वाक्यं शाब्दः प्रमाणं अस्ति)

* ~~प्रमाण~~ प्रमाण मीमांसा ⇒ "दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
कारिका-4 त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥"

प्रमाण त्रय विधम्

- प्रत्यक्ष (प्रमाकरणं प्रमाणम्) – 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' प्रमाणैरेव प्रमेयाणां सिद्धिर्भवति।
- अनुमान
- आप्तवचनं

प्रमाता – ज्ञान प्राप्त करने वाला
प्रमेय – विषय
प्रमाण – वास्तविक साधन
प्रमा – बुद्धिज्ञान।

* प्रमाण विषय विवेचन ⇒ "सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
कारिका = 6 तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥"

* सामान्यतो दृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है। जो वस्तु इन्द्रियों से परे है। उसका ज्ञान अनुमान से होता है। और जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से न हो उसका ज्ञान शाब्द प्रमाण से होता है।

अतीन्द्रिय ⇒ इन्द्रिय जन्य लौकिक प्रत्यक्ष विषयत्व मतीन्द्रियत्वम्।

परोक्ष ⇒ अक्ष्णो परं परोक्षम्, असाक्षात् अप्रत्यक्षम्।

classmate PAGE

Scanned by CamScanner

DATE

* प्रत्यक्षीकरणे अष्ट बाधा ⇒ "अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥"
कारिका - 7

प्रत्यक्षस्य विघटम् ⇒

1. अतिदूरता = यथा विशाल हिमालय पर्वत।
2. सामीप्यता = यथा नेत्रस्य केशः।
3. इन्द्रिय घात = काणत्व, बधिर दोषः।
4. मनोऽनवस्थानात = मनस्य एकाग्रता न कारणात्।
5. सूक्ष्मता = अति सूक्ष्म परमाणु।
6. व्यवधानता = यथा - नेत्रयो विषयोमध्ये भित्ति आगच्छेत।
7. अभिभवता = तिरस्कारः, सूर्य सः दीप प्रकाशः तिरोभूयते।
8. समानाभिहार = समुद्रस्य सर्वे गङ्गादिनां जलं पृथक रूपेण न जायते।

* प्रकृति प्रत्यक्ष का विघटक हेतु ⇒ "सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः
कारिका - 8 महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरूपं विरूपं च॥

कार्यम = क्रियते सत् तत् कार्यम्। कारणपश्चाद्भवति कार्यम्।
कारण = कार्यते ऽनेनेति कारणम्।
(प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म विषयास्ति तच्चकारणात् तेषां प्रत्यक्षं न भवति। यतेहि बुद्धि आदि 23 तत्व प्रकृत्यस्य कार्य अस्ति। बुद्धि इत्यादि व्यक्त तत्व प्रकृते कार्ये अस्ति। प्रकृति तेषां कारणं अस्ति। इयं कारणभूत प्रकृत्यात् भिन्नं अपि अस्ति अभिन्नऽपि।)

* सत्कार्यवाद ⇒ "असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारिका - 9 शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावच्च सत्कार्यम्॥"

सत्कार्यवादस्य हेतु -

1. असदकरण = असत् वस्तु केनापि प्रकारेण सत् कर्तुं न शक्यते।
यथा - बालु में घी का अभाव।
2. उपादान ग्रहण = प्रत्येक वस्तु लाभाय तदुपादान कारणमेव गृह्यते।
यथा - पट लाभाय तन्तवः, दधि लाभाय दुग्धं।
3. सर्वसम्भवाभाव = नहि सर्वस्मात् वस्तुनः सर्वम् वस्तु उपलभ्यते।
4. शक्तशक्यभाव = समर्थीत करणादेव तद्विधकार्योपलब्धिर्भवति।
(दुध से केवल मिठाईयां दही, घी, बन सकता है। घड़ा नहीं)
5. कारणभाव = कार्य कारणयो रैक्यं तात्विकम्।
(कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है।)

classmate PAGE

Scanned by CamScanner

DATE

* व्यक्त तथा अव्यक्त के भिन्न धर्म ⇒

कारिका - 10 हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥"

प्रकृत्यात उत्पन्न 23 तत्व व्यक्ताः सन्ति।

1 हेतुमत्ता = 23 तत्वानां निश्चित कार्य कारण अस्ति। परञ्च प्रकृत्या कोऽपि हेतु नास्ति।
2 अनित्यता = 23 तत्व अनित्य अस्ति। प्रकृति नित्य अस्ति।
3 अव्यापकता = 23 व्यक्त तत्व सर्वत्र व्यापक नास्ति परञ्च प्रकृति सर्वत्र व्यापक अस्ति।
4 सक्रियता = 23 तत्व सर्वदा सक्रिय भवति। परञ्च प्रकृति निष्क्रिय है।
5 अनेकता = व्यक्त तत्व अनेकानि सन्ति। प्रकृति एकमस्ति।
6 आश्रयता = व्यक्त तत्व आश्रयेण विना न भवन्ति। प्रकृति निराश्रित अस्ति
7 लिङ्गता = 23 तत्वानां लिङ्ग अपि उच्यते। प्रकृति कल्यापि नास्ति।
8 सावयवता = व्यक्त तत्वाणां अनेक अवयवाः सन्ति। प्रकृते कोऽपि अवयव नास्ति।
9 परतन्त्रता = व्यक्त तत्व प्रकृते ~~अपि~~ अधीनास्ति। परञ्च प्रकृतिः स्वतन्त्रा अस्ति।

* व्यक्त-अव्यक्त के सामान्य धर्म ⇒

कारिका - 11 त्रिगुणमविवेकिः विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मी।
व्यक्त तथाप्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान ॥

1 त्रिगुणम् = व्यक्त अव्यक्त द्वयो त्रिगुणी अस्ति।
2 अविवेकि = व्यक्ताव्यक्तयो अविवेकी अचिन्तशील अस्ति।
3 विषय = इमे द्वयो तत्वस्य विषयास्ति।
4 सामान्यम् = द्वयो सामान्यम् अस्ति।
5 अचेतनम् = द्वयो जड़ाऽस्ति।
6 प्रसवधर्मि = द्वयो तत्वं प्रसवधर्मि अस्ति।

* गुण निरूपणम् ⇒

कारिका - 12 ⇒ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रय जननमिथुन वृत्तयश्च गुणाः॥

Scanned by CamScanner

DATE

॥ गुण ॥

सत्वगुण — रजोगुण — तमोगुण

॥ स्वरूप ॥

प्रीति — अप्रीति — विषाद

॥ प्रयोजन ॥

प्रकाश — प्रवृति — नियमन

॥ व्यापार ॥

अन्योन्याभिभव — अन्योन्याश्रय — अन्योन्यमिथुनवृत्ति

अन्योन्यजनन

॥ अवस्था ॥

साम्यावस्था (प्रलय) — वैषम्यावस्था (सृष्टि)

* गुणों का स्वरूप ⇒ "सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
कारिका-13 गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥"

1. सत्वगुण – लघु प्रकाशक
2. रजोगुण – उत्तेजक चञ्चलश्च
3. तमोगुण – गुरु आवरणश्च

(त्रयाणां गुणानां एका वृत्तिः – दीपकवत यथा वस्त्रं घृतं अग्निश्च परस्परं विरोधिनः सन्ति परञ्च प्रकाशार्थं त्रयः मिलित्वा दीपकरूपेण कार्यं कुर्वन्ति ॥)

* व्यक्ताव्यक्त में अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि ⇒
कारिका-15 "अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥

(अव्यक्त और व्यक्त त्रिगुणात्मक है। इसलिए उनमें अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि होती है।)
कारण के धर्मों से कार्य युक्त होने की वजह से महदादि की कारणभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी सिद्ध होती है।)

PAGE

classmate

Scanned by CamScanner

DATE

* अव्यक्त की सिद्धि ⇒ भेदानां परिमाणात्, समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारिका-15 कारण कार्य विभागाय विभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥
प्रकृति की दो अवस्थाएँ ⇒ (1) साम्यावस्था, 2 वैषम्यावस्था।

1 भेदानां परिमाणात् - जगत के सम्पूर्ण प्रपंच सीमित है।
2 समन्वयात् - जगत के सभी प्रपंच सुख दुःखात्मक मोहात्मक है।
3 शक्तितः प्रवृत्तेश्च - कोई भी कारण तभी उत्पन्न होता है। जब उसके लिए समर्थ कारण विद्यमान हो।
4 कार्य कारण विभागात् - कारण की व्यक्त अवस्था ही कार्य करते है।
5 अविभागात् वैश्वरूपस्य - कारण से कार्य का आविर्भाव तथा कारण में ही कार्य का तिरोभाव होता है।

* प्रकृति परिणाम की विधाएं ⇒
कारिका-16 कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रति गुणाश्रय विशेषात्॥
मूल कारण प्रकृति अव्यक्त है। तीनों गुणों के सक्रिय होने के कारण प्रकृति प्रवृत्त होती है। जब तीनों गुणों में क्रिया होती है तब कारण रूप प्रकृति कार्य रूप में प्रकट होती है।
साँख्य सिद्धान्त मानता है कि जैसे एक ही जल गुण एवं आश्रय के भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। जैसे जल मधुर रस के साथ मधुर, कड़वे के साथ कटु हो जाता है। तथा पात्र के भेद से जलका स्वरूप पात्र जैसा हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति अपने भिन्न-भिन्न व्यक्त कार्यों में परिणत हो जाती है।

* पुरुष की सिद्धि ⇒ "सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
कारिका-17 पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥"
पुरुष की सिद्धि हेतु ⇒
1 सघातपरार्थत्वात् ⇒ (संघात-समुदाय) इसका साध्य वही हो सकता है जो चेतन तथा भोक्ता है।
2 त्रिगुणादि विपर्ययात् ⇒ प्रकृति अपने स्वरूप में त्रिगुणात्मक है। यह निस्त्रैगुण्य तथा अपरिणामिता ही पुरुष है।
3 अधिष्ठानात् ⇒ अधिष्ठानात् ज्ञाता, विषयी तथा चेतन होना चाहिए। यह पुरुष है।
4 भोक्तृभावात् ⇒ प्रकृति भोग्य है और भोक्ता की अपेक्षा रखती है। भोक्ता चेतन ही हो सकता है।

classmate

Scanned by CamScanner

DATE

5 कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च - बहुत से व्यक्ति कैवल्य की प्रवृत्ति से युक्त होते हैं। यह सत्ता पुरुष की है।

* पुरुष बहुत्ववाद = "जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद युगपत्प्रवृत्तेश्च।
कारिका - १८ पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥"

सांख्य दर्शन, जैन, न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन के समान आत्मा की अनेकता में विश्वास रखता है। उसके लिए तीन तर्क भी प्रस्तुत करता है।

1 जननमरणकरणानाम् = यदि पुरुष को अनेक ना माने जाए तो विभिन्न व्यक्तियों के जन्म मृत्यु तथा अनुभव अलग-अलग नहीं माने जा सकते।
2 अयुगपत्प्रवृत्तेश्च = व्यक्तियों की प्रवृत्ति परस्पर भिन्न-भिन्न मानसिक तथा शारीरिक कर्म।
3 त्रैगुण्यविपर्ययात् = तीन गुणों की आनुपातिक विभिन्नता पुरुषों की अनेकता सिद्ध करती है।

* पुरुष के धर्म = "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कारिका - १९ कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृ भावश्च ॥"

पुरुषस्य पञ्च धर्मा =>
1 साक्षित्वम् - पुरुष चेतन तत्व है।
2 कैवल्यम् - पुरुष कैवल्य प्राप्त करने की इच्छा करता है।
3 माध्यस्थ - पुरुष दोनों पक्षों के मध्यस्थ रहता है।
4 द्रष्टृत्वम् - जिसमें साक्षित्व धर्म निहित है।
5 अकर्तृत्वञ्च - परिणामरूपक्रिया से शून्य पुरुष अकर्तृत्व धर्म सिद्ध होता है।

* पुरुष में कर्तृत्व व्यवहार गौण =>
कारिका २० "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥"

चेतन तत्व पुरुष के संयोग से जड़ तत्व भी चेतन की तरह प्रतीत होता है। पुरुष को अज्ञानता के कारण कर्ता मान लिया जाता है। जबकि वह उदासीन है।

PAGE

classmate

Scanned by CamScanner

DATE

* प्रकृति पुरुष के संयोग का कारण :-

कारिका -21 पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

सृष्टि कार्य हेतु प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है।

प्रकृति पुरुष का संयोग कैवल्य कार्य के लिए होता है।

(पङ्गु-अन्धवत्) पुरुष - पङ्गु है। (दर्शनशक्ति)
प्रकृति - अंध है। (क्रियाशक्ति है)

* सृष्टे व्यवस्था ⇒ "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
कारिका -22 तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥"

सांख्यदर्शनानुसार पञ्चविंशति तत्वानां सृष्टि चक्रम् -

पुरुष (ज्ञ) ⟵ प्रकृति (अव्यक्त)
↓
महत् (बुद्धि)
↓
अहंकार
↓ ↓ ↓
सत्वगुण रजोगुण तमोगुण

ज्ञानेन्द्रिया	कर्मेन्द्रिय	उभयात्मक इन्द्रिय
1 नेत्र	1 वाक् (वाणी)	↓
2 श्रोत्र	2 पाणि (हाथ)	मन
3 घ्राण	3 पाद (पैर)	
4 रसन	4 पायु (गुदा)	
5 त्वक	5 उपस्थ (लिङ्ग)	

(पञ्चतन्मात्राएं)

शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध
↓ ↓ ↓ ↓ ↓
पञ्चमहाभूत → आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी

Scanned by CamScanner

DATE

* बुद्धि का स्वरूप ⇒ अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
कारिका-23 सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥

बुद्धि :- अध्यवसायो बुद्धि :।
निश्चयात्मिका बुद्धिः उच्यते।
सात्विक बुद्धि - धर्मज्ञानविरागऐश्वर्ययुक्ता।
तामसिकबुद्धि :- अधर्म अज्ञान अविराग अनैश्वर्य युक्ता।
राजसी बुद्धि - धर्माधर्मादि अष्टभाव मिश्रिता बुद्धि राजसी।

॥ बुद्धि धर्म ॥

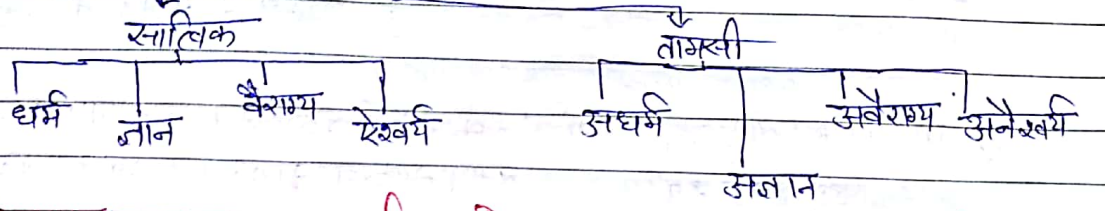

* अहंकार का स्वरूप ⇒ अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
कारिका २५ एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पञ्चकश्चैव॥

अहंकार :- अभिमानोऽहंकार।
अहंकारात् द्विविधः सृष्टि :- 1 इन्द्रियात्मक सृष्टि।
2 तन्मात्रात्मक सृष्टि।

* अहंकार की द्विविध सृष्टि ⇒ सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
कारिका 25 भूतादेस्तन्मात्रः स तामस स्तैजसादुभयम्॥

वैकृत अंकहार - सात्विक अहंकार - एकादश इन्द्रिय समुदाय।
भूतादि अहंकार - तमोगुणी अहंकार - पञ्चतन्मात्राणां समुह।
तैजस अहंकार - राजसी अहंकारात् - उभयम्।

* इन्द्रियसर्ग ⇒ बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्र घ्राण रसन त्वगाख्यानि।
कारिका २६ वाक्पाणि पादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥

ज्ञानेन्द्रिया - नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वक।
कर्मेन्द्रिया - वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।
(वाग वदति, हस्तौ नानाव्यापारं कुरुतः, पादौ गमनाऽऽगमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्या।)

* मनस इन्द्रिय ⇒ उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणाम विशेषान्नानात्वं वाह्यभेदाश्च॥

मनः - उभयात्मकं, सकल्पकं इन्द्रियं मनः अस्ति।
गुण परिणाम भेदात् मनसः नानात्वं सिद्धयति।

classmate PAGE

Scanned by CamScanner

DATE

* इन्द्रियों की वृत्तिः ⇒ रूपादि पञ्चानामालोचनमात्रामिष्यते वृत्तिः।
कारिका २८ वचनादानविहरणोत्सर्गनिन्याश्च पञ्चानाम्॥

ज्ञानेन्द्रिया विषयस्य आलोचनं करोति।

1 चक्षु – रूप का ज्ञान
2 श्रवण – शब्द का ज्ञान
3 नासिका – गन्ध का ज्ञान
4 जिह्वा – रस का ज्ञान
5 त्वचा – स्पर्श का ज्ञान

कर्मेन्द्रियाणां कार्य

1 वाक् – बोलने का कार्य
2 पाणि – आदान प्रदान का कार्य
3 पाद – भ्रमण, विहरण
4 पायु – मलत्याग
5 उपस्थ – आनंद का अनुभव,

* पञ्च प्राण वायु ⇒ ~~सामान्य~~ स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सेषा भवत्यसामान्या,
कारिका २९ सामान्यकरण वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥

पञ्च प्राणवायु ⇒

1 प्राण – प्राणनात् प्राणः।
2 अपान – अपनयात् अपानः।
3 व्यान – व्याप्नोतीति व्यानः।
4 उदान – ऊर्ध्वनयनात् उदानः।
5 समान – समम् अन्नरसं नाडीषु समनात् समानः।

* करणों का विभाजन ⇒ "करणं त्रयोदशविधं तदाहरण धारण प्रकाशकरणम्।
कारिका ३२ कार्यं च तस्य दशधाऽऽहर्तृ धार्यं प्रकाश्यं च॥

करण के 13 प्रकार – (बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिया, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ)

इनका कार्य –

आहरण – कर्मेन्द्रियों का व्यापार
धारण – अन्तःकरण त्रय का व्यापार
प्रकाश – ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार
(इनका आहर्य, धार्य, तथा प्रकाश्य कार्य दस-दस प्रकार का है।)

* सूक्ष्मशरीर का स्वरूप = पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
कारिका - ४० संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, व्यवधानरहित, परमाणु आदि में प्रवेश की सामर्थ्य से, भोक्षपर्यन्त नित्य, महदादि से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रपर्यन्त पदार्थों निर्मित, स्थूलशरीर के बिना भोग की सामर्थ्य से रहित, धर्मादि आठ भावों से युक्त तथा महाप्रलय के समयलय को प्राप्त होनेवाला 'लिङ्गशरीर' (सूक्ष्मशरीर) संसरण करता है।

classmate PAGE

Scanned by CamScanner

DATE

* सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता = चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया।
कारिका-५१ तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्।
जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र और स्थाणु के बिना छाया नहीं रह सकती है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर के बिना निराधार बुद्धि आदि (अवयव) नहीं रह सकते हैं।

* भावनिरूपण = सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः।
कारिका-५३ दृष्टा करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः॥
भाव तीन प्रकार के होते हैं -
सांसिद्धिकभाव - जन्म से पूर्व ही जो उत्पन्न होते हैं। यथा कपिल भगवान का जन्म ज्ञानादिभावविपुलता के साथ उनका जन्म हुआ।
प्राकृतिकभाव = जन्म के पश्चात जो स्वभावतः उत्पन्न हो। यथा ब्रह्मा के चार मानस पुत्र।
वैकृतभाव = जो प्रयत्नसाध्य होते हैं, यथा गुरूजनों के द्वारा शिष्यों में ज्ञान ज्योति जागृत होती है।

⇒ ज्ञान के उत्पन्न होने से वैराग्य और वैराग्य से धर्म की ओर प्रवृत्ति होती है। धर्मभाव की पराकाष्ठा काल में शक्ति विशेष उत्पन्न होता है। जिसे ऐश्वर्य कहते हैं।
चार सात्विक भाव - धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य।
चार तामसिक भाव - अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य।
बुद्धि को 'करण' कहा जाता है।

* धर्मादि भावों के फल ⇒ "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
कारिका ४५ ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥"
'धर्मेण ऊर्ध्वगमन'
'अधर्मेण अधस्तात् गमनं'
ज्ञानेन च अपवर्गो (मोक्ष)
विपर्ययात् बन्ध इष्यते।
(अज्ञान)

"वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात्।
कारिका ४५ ऐश्वर्याविघातो विपर्ययान्नाद्विपर्ययसः॥"
वैराग्य से प्रकृतिलयः
राजसात् रागात् संसारो (रजोगुण से संसरण)
ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता
ऐश्वर्य के अभाव से उसका हनन होता है।

PAGE

classmate

Scanned by CamScanner

DATE

* प्रत्यय सर्ग ⇒ "एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्ति तुष्टि सिद्धयाख्यः।
कारिका-46 गुणवैषम्य विमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥"

बुद्धि सर्ग चार प्रकार के है।-
1 विपर्यय, 2 अशक्ति, 3 तुष्टि, 4 सिद्धि।
गुणों की न्युनाधिकता के कारण उसके विस्तार से 50 भेद होते है।

* विपर्ययादि के 50 भेद ⇒
कारिका-47 पञ्च विपर्यभेदा भवन्त्यशक्तश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशति भेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धि॥

विपर्य के = 5 भेद, अवान्तर भेद 62 भेद है।
अशक्ति के = 28 भेद
तुष्टि के = 9 भेद
सिद्धि के = 8 भेद

(प्रत्यसर्ग बोधक चक्र)

सर्ग

- प्रत्यय सर्ग (50 भेद)
  - विपर्यय (5)
    - 1 तमस (8)
    - 2 मोह (8)
    - 3 महामोह (10)
    - 4 तामिस्र (18)
    - 5 अन्धतामिस्र (18)
  - अशक्ति (28)
    - 1 आन्ध्य, 2 वाधिर्य
    - 3 मूक, 4 जड,
    - 5 अजिघ्रत्व
    - 6 कुष्ठित्व, 7 पगुत्व
    - 8 कौण्य, 9 क्लैत्य
    - 10 उदावर्त, 11 उन्माद
    - 12 असुवर्णा
    - 13 अज्ञान, 14 मनोज्ञा
    - 15 अदृष्टि, 16 अपरा
    - 17 सुपरा, 18 असुनेत्रा,
    - 19 अप्रतार, 20 असुतार
    - 21 अतारतार, 22 अरम्यक
    - 23 अप्रमोद, 24 अमुदित
    - 25 अमोदमान, 26 असदामुदिन
  - तुष्टि (9)
    - 1 प्रकृति
    - 2 उपादान
    - 3 काल
    - 4 भाग्य
    - 5 पार
    - 6 सुपार
    - 7 पारापार
    - 8 अनुत्तमाम्भ
    - 9 उत्तमाम्भ
  - सिद्धि (8)
    - 1 अणिमा
    - 2 महिमा
    - 3 गरिमा
    - 4 लघिमा
    - 5 प्राप्ति
    - 6 प्राकाम्य
    - 7 ईशित्व
    - 8 वशित्व
- भौतिक सर्ग (14) प्रकार की)
  - दैवसृष्टि (8) प्रकार
    - 1 ब्रह्म
    - 2 प्राजापत्य
    - 3 सौम्य
    - 4 ऐन्द्र
    - 5 गान्धर्व
    - 6 याक्ष
    - 7 राक्षस
    - 8 पैशाच
  - तैर्यक् सृष्टि (5 प्रकार)
    - 1 पशु
    - 2 पक्षी
    - 3 मृग
    - 4 सरीसृप
    - 5 स्थावर
  - मानुषसृष्टि एक प्रकार

Scanned by CamScanner

DATE

* भौतिकसृष्टि → अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
कारिका 53 मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिक सर्गः॥
भौतिक सर्ग 14 प्रकार का है।
देवताओं की सृष्टि 8 प्रकार की है। – ऊर्ध्व – सत्वगुण
पशुपक्षियों की सृष्टि 5 प्रकार की है। – मूल – तमोगुण
मनुष्यों की सृष्टि 1 प्रकार की है। – मध्य – रजोगुण

* शिष्यपरम्परा = एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥
महर्षि कपिल ने आसुरि, आसुरि ने भी पञ्चशिख, पञ्चशिख ने भी ...
इस शास्त्र का (शिष्य परम्परा द्वारा) बहुत प्रचार किया)

प्रमुख ग्रन्थ := षष्टि तन्त्रम् – पंचशिख
सांख्यकारिका – ईश्वरकृष्ण
सांख्यतत्वकौमुदी – वाचस्पति मिश्र
सांख्यप्रवचन भाष्य – विज्ञान भिक्षु
ब्रह्मसूत्र भाष्य – माध्वाचार्य।

* पुरुष :- आत्मा को पुरुष कहते हैं।
सूक्ष्म शरीर – धर्मादि आठ भावों से युक्त, संसरणील, अष्टादशतत्वात्मक शरीर 'सूक्ष्मशरीर' कहलाता है।
(महत्, अहंकार, मन, 5 ज्ञाने., 5 कर्मे., 5 तन्मात्राएं)
तुष्टि :- सन्तोष को तुष्टि कहते हैं।
निःश्रेयस – मोक्ष को निःश्रेयस कहते हैं।
विदेह मुक्ति – जीवन्मुक्ति के पश्चात 'विदेहमुक्ति' का क्रम है।

कोष :- सूक्ष्मशरीर के आवेष्टक लोम, रुधिर, मांस, अस्थि, स्नायु, तथा शुक्र, ये छः कोष कहलाते हैं।
अपवर्ग - आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति को अपवर्गः कहते हैं।
अन्तःकरण := मन, बुद्धि एवं अहंकार का सामुहिक नाम अन्तःकरण है।
अध्यवसाय = बुद्धि (महत्) की निश्चयात्मिका वृत्ति को अध्यवसाय कहते हैं।
वृत्ति = व्यापार को वृत्ति कहते हैं।

classmate PAGE

Scanned by CamScanner